॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

6

श्रीमद्भगवद्गीता

साधक-संजीवनी (परिशिष्टसहित)

हिन्दी-टीका

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]
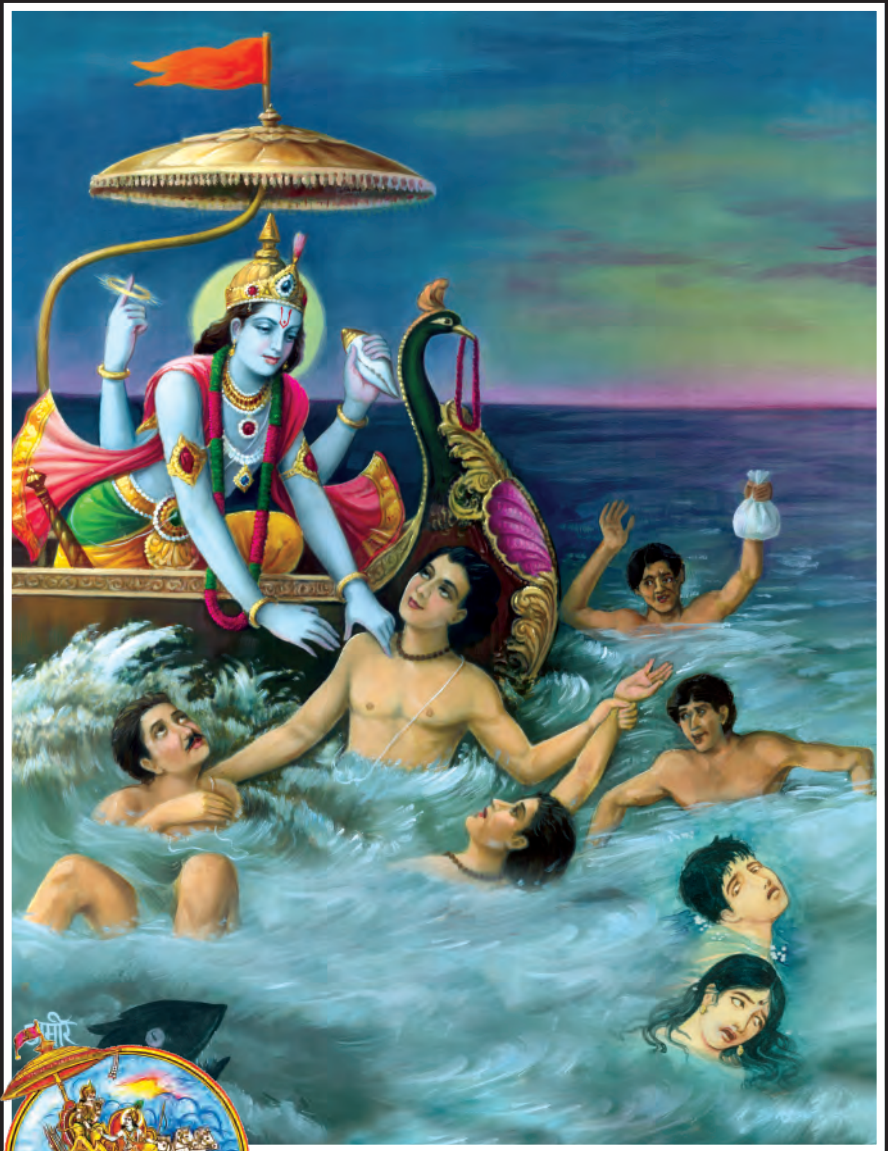
स्वामी रामसुखदास

श्रीमद् भगवद्गीता

सचित्र साधक-संजीवनी

(परिशिष्टसहित) हिन्दी-टीका

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

विश्व-साहित्यमें श्रीमद्भगवद्गीताका अद्वितीय स्थान है। यह साक्षात् भगवान्‌के श्रीमुखसे निःसृत परम रहस्यमयी दिव्य वाणी है। इसमें स्वयं भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये उपदेश दिया है। इस छोटे-से ग्रन्थमें भगवान्‌ने अपने हृदयके बहुत ही विलक्षण भाव भर दिये हैं, जिनका आजतक कोई पार नहीं पा सका और न पा ही सकता है।

हमारे परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने इस अगाध गीतार्णवमें गहरे उतरकर अनेक गुह्यतम अमूल्य रत्न ढूँढ़ निकाले हैं, जिन्हें उन्होंने इस 'साधक-संजीवनी' हिन्दी-टीकाके माध्यमसे साधकोंके कल्याणार्थ उदारहृदयसे वितरित किया है। गीताकी यह टीका हमें अपनी धारणासे दूसरी टीकाओंकी अपेक्षा बहुत विलक्षण प्रतीत होती है। हमारा गीताकी दूसरी सब टीकाओंका इतना अध्ययन नहीं है, फिर भी इस टीकामें हमें अनेक श्लोकोंके भाव नये और विलक्षण लगे; जैसे—*पहले* अध्यायका दसवाँ, उन्नीसवाँ-बीसवाँ और पचीसवाँ श्लोक; *दूसरे* अध्यायका उनतालीसवाँ-चालीसवाँ श्लोक; *तीसरे* अध्यायका तीसरा, दसवाँ, बारहवाँ-तेरहवाँ और तैंतालीसवाँ श्लोक; *चौथे* अध्यायका अठारहवाँ और अड़तीसवाँ श्लोक; *पाँचवें* अध्यायका तेरहवाँ-चौदहवाँ श्लोक; *छठे* अध्यायका बीसवाँ और अड़तीसवाँ श्लोक; *सातवें* अध्यायका पाँचवाँ और उन्नीसवाँ श्लोक; *आठवें* अध्यायका छठा श्लोक; *नवें* अध्यायका तीसरा और इकतीसवाँ श्लोक; *दसवें* अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक; *ग्यारहवें* अध्यायका छब्बीसवाँ-सत्ताईसवाँ और पैंतालीसवाँ-छियालीसवाँ श्लोक; *बारहवें* अध्यायका बारहवाँ श्लोक; *तेरहवें* अध्यायका पहला और उन्नीसवाँ-बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक; *चौदहवें* अध्यायका तीसरा, बारहवाँ, सत्रहवाँ और बाईसवाँ श्लोक; *पन्द्रहवें* अध्यायका सातवाँ और ग्यारहवाँ श्लोक; *सोलहवें* अध्यायका पाँचवाँ और बीसवाँ श्लोक; *सत्रहवें* अध्यायका सातवाँ, आठवाँ, नवाँ, दसवाँ श्लोक; *अठारहवें* अध्यायका सैंतीसवा और तिहत्तरवाँ श्लोक आदि-आदि। अगर पाठक गम्भीर अध्ययन करें तो उसे और भी कई श्लोकोंमें आंशिक नये-नये भाव मिल सकते हैं।

वर्तमान समयमें साधनका तत्त्व सरलतापूर्वक बतानेवाले ग्रन्थोंका प्रायः अभाव-सा दीखता है, जिससे साधकोंको सही मार्ग-दर्शनके बिना बहुत कठिनाई होती है। ऐसी स्थितिमें परमात्मप्राप्तिके अनेक सरल उपायोंसे युक्त, साधकोपयोगी अनेक विशेष और मार्मिक बातोंसे अलंकृत तथा बहुत ही सरल एवं सुबोध भाषा-शैलीमें लिखित प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

परमश्रद्धेय स्वामीजीने गीताकी यह टीका किसी दार्शनिक विचारकी दृष्टिसे अथवा अपनी विद्वत्ताका प्रदर्शन करनेके लिये नहीं लिखी है, अपितु साधकोंका हित कैसे हो—इसी दृष्टिसे लिखी है। परमशान्तिकी प्राप्ति चाहनेवाले प्रत्येक साधकके लिये, चाहे वह किसी भी देश, वेश, भाषा, मत, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, यह टीका संजीवनी बूटीके समान है। इस टीकाका अध्ययन करनेसे हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मोंके अनुयायियोंको अपने-अपने मतके अनुसार ही उद्धारके उपाय मिल जायँगे। इस टीकामें साधकोंको अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये पूरी सामग्री मिलेगी।

परमशान्तिकी प्राप्तिके इच्छुक सभी भाई-बहनोंसे विनम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ-रत्नको अवश्य ही मनोयोगपूर्वक पढ़ें, समझें और यथासाध्य आचरणमें लानेका प्रयत्न करें।

—प्रकाशक

तैंतीसवें संस्करणका नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीताकी 'साधक-संजीवनी' टीका लिखनेके बाद गीताके जो नये भाव उत्पन्न हुए, उन्हें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने परिशिष्टके रूपमें लिख दिया। पहले यह परिशिष्ट अलग-अलग तीन भागोंमें प्रकाशित किया गया। अब उसे साधक-संजीवनी टीकामें सम्मिलित करके प्रकाशित किया जा रहा है। परिशिष्टके साथ-साथ साधक-संजीवनी टीकामें भी कहीं-कहीं आवश्यक संशोधन किया गया है। परिशिष्टमें गीताके अत्यन्त गुह्य एवं उत्तमोत्तम भावोंका प्राकट्य हुआ है। अतः आशा है कि पाठकगण साधक-संजीवनीके इस संशोधित तथा संवर्धित संस्करणसे अधिकाधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करेंगे।

—प्रकाशक

ॐ श्रीपरमात्मने नम:

साधक-संजीवनी परिशिष्टका

नम्र निवेदन

भगवान् अनन्त हैं, उनका सब कुछ अनन्त है, फिर उनके मुखारविन्दसे निकली हुई गीताके भावोंका अन्त आ ही कैसे सकता है? अलग-अलग आचार्योंने गीताकी अलग-अलग टीका लिखी है। उनकी टीकाके अनुसार चलनेसे मनुष्यका कल्याण तो हो सकता है, पर वह गीताके अर्थको पूरा नहीं जान सकता। आजतक गीताकी जितनी टीकाएँ लिखी गयी हैं, वे सब-की-सब इकट्ठी कर दें तो भी गीताका अर्थ पूरा नहीं होता! जैसे किसी कुएँसे सैकड़ों वर्षोंतक असंख्य आदमी जल पीते रहें तो भी उसका जल वैसा-का-वैसा ही रहता है, ऐसे ही असंख्य टीकाएँ लिखनेपर भी गीता वैसी-की-वैसी ही रहती है, उसके भावोंका अन्त नहीं आता। कुएँके जलकी तो सीमा है, पर गीताके भावोंकी सीमा नहीं है। अत: गीताके विषयमें कोई कुछ भी कहता है तो वह वास्तवमें अपनी बुद्धिका ही परिचय देता है—***'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥'*** (मानस, बाल० १३। १)।

भगवान्‌की वाणी बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंकी वाणीसे भी ठोस और श्रेष्ठ है; क्योंकि भगवान् ऋषि-मुनियोंके भी आदि हैं—'**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः**' (गीता १०। २)। अत: कितने ही बड़े ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा क्यों न हों और उनकी वाणी कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हो, पर वह भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य वाणी 'गीता' की बराबरी नहीं कर सकती।

पगडण्डीको 'पद्धति' कहते हैं और राजमार्ग, घण्टापथ अथवा चौड़ी सड़कको 'प्रस्थान' कहते हैं। गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—ये तीन प्रस्थान हैं, शेष सब पद्धतियाँ हैं। प्रस्थानत्रयमें गीता बहुत विलक्षण है; क्योंकि इसमें उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र दोनोंका ही तात्पर्य आ जाता है।

गीता उपनिषदोंका सार है, पर वास्तवमें गीताकी बात उपनिषदोंसे भी विशेष है। कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है; जैसे—आकाशमें केवल एक गुण 'शब्द' है, पर उसके कार्य वायुमें दो गुण 'शब्द और स्पर्श' हैं।

वेद भगवान्‌के नि:श्वास हैं और गीता भगवान्‌की वाणी है। नि:श्वास तो स्वाभाविक होते हैं, पर गीता भगवान्‌ने योगमें स्थित होकर कही है*। अत: वेदोंकी अपेक्षा भी गीता विशेष है।

सभी दर्शन गीताके अन्तर्गत हैं, पर गीता किसी दर्शनके अन्तर्गत नहीं है। दर्शनशास्त्रमें जगत् क्या है, जीव क्या है और ब्रह्म क्या है—यह पढ़ाई होती है। परन्तु गीता पढ़ाई नहीं कराती, प्रत्युत अनुभव कराती है।

गीतामें किसी मतका आग्रह नहीं है, प्रत्युत केवल जीवके कल्याणका ही आग्रह है। मतभेद गीतामें नहीं है, प्रत्युत टीकाकारोंमें है। गीताके अनुसार चलनेसे सगुण और निर्गुणके उपासकोंमें परस्पर खटपट नहीं हो सकती। गीतामें भगवान् साधकको समग्रकी तरफ ले जाते हैं। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि सब रूप समग्र परमात्माके ही अन्तर्गत हैं। समग्ररूपमें कोई भी रूप बाकी नहीं रहता। किसीकी भी उपासना करें, सम्पूर्ण उपासनाएँ समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाती हैं। सम्पूर्ण दर्शन समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाते हैं। अत: सब कुछ परमात्माके ही अन्तर्गत है, परमात्माके सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—इसी भावमें सम्पूर्ण गीता है।

गीताका तात्पर्य '**वासुदेवः सर्वम्**' में है। एक परमात्मतत्त्वके सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहनेसे प्रवृत्तिका उदय

---

* **न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥**
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। (महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

भगवान् बोले—'वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात नहीं है। उस समय मैंने योगयुक्त होकर परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

योगयुक्त अर्थात् योगमें स्थित होकर गीता कहनेका तात्पर्य है कि सुननेवालेका हित किसमें है? उसके हितके लिये क्या कहना चाहिये? भविष्यमें भी जो सुनेगा अथवा पढ़ेगा, उसका हित किसमें होगा?—इस प्रकार सभी साधकोंके हितमें स्थित होकर गीता कही है।

होता है और दूसरी सत्ताकी मान्यता मिटनेसे निवृत्तिकी दृढ़ता होती है। प्रवृत्तिका उदय होना 'भोग' है और निवृत्तिकी दृढ़ता होना 'योग' है। गीता 'सब कुछ परमात्मा है'—ऐसा मानती है और इसीको महत्त्व देती है। संसारमें कार्यरूपसे, कारणरूपसे, प्रभावरूपसे, सब रूपोंसे मैं-ही-मैं हूँ—यह बतानेके लिये ही भगवान्‌ने गीतामें चार जगह (सातवें, नवें, दसवें और पन्द्रहवें अध्यायमें) अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), कृत्स्न अध्यात्म (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव), अखिल कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ), अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पांच-भौतिक जगत्), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—ये सब-के-सब '**वासुदेवः सर्वम्**' के अन्तर्गत आ जाते हैं (सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि सत्, असत् और उससे परे जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा ही हैं—'**त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्**' (गीता ११। ३७)। संसार अपने रागके कारण ही दीखता है। रागके कारण ही दूसरी सत्ता दीखती है। राग न हो तो एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है। जैसे, भगवान्‌ने कहा है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५) 'मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ'। जिस हृदयमें भगवान् रहते हैं, उसी हृदयमें राग-द्वेष, हलचल, अशान्ति होते हैं। हृदयमें ही सुख होता है और हृदयमें ही दुःख आता है। समुद्र-मन्थनमें वहींसे विष निकला, वहींसे अमृत निकला। भगवान् शंकरने विष पी लिया तो अमृत निकल आया। इसी तरह राग-द्वेषको मिटा दें तो परमात्मा निकल आयेंगे। सन्त-महात्माओंके हृदयमें राग-द्वेष नहीं रहते; अतः वहाँ परमात्मा रहते हैं।

सब कुछ परमात्मा ही हैं—यह खुले नेत्रोंका ध्यान है। इसमें न आँख बन्द करने (ध्यान)-की जरूरत है, न कान बन्द करने (नादानुसन्धान)-की जरूरत है, न नाक बन्द करने (प्राणायाम)-की जरूरत है! इसमें न संयोगका असर पड़ता है, न वियोगका; न किसीके आनेका असर पड़ता है, न किसीके जानेका। जब सब कुछ परमात्मा ही है तो फिर दूसरा कहाँसे आये? कैसे आये?

गीता समग्रको मानती है, इसीलिये गीताका आरम्भ और अन्त शरणागतिमें हुआ है। शरणागतिसे ही समग्रकी प्राप्ति होती है। परमात्माके समग्र-रूपमें सब रूप होते हुए भी सगुणकी मुख्यता है। कारण कि सगुणके अन्तर्गत तो निर्गुण भी आ जाता है, पर निर्गुणमें (गुणोंका निषेध होनेसे) सगुण नहीं आता। अतः सगुण ही समग्र हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७। १)। गीता समग्रकी वाणी है, इसलिये गीतामें सब कुछ है। जो जिस दृष्टिसे गीताको देखता है, गीता उसको वैसी ही दीखने लगती है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११)।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन ही योग हैं। शरीर (अपरा)-को लेकर कर्मयोग है, शरीरी (परा)-को लेकर ज्ञानयोग है और शरीर-शरीरी दोनोंके मालिक (भगवान्)-को लेकर भक्तियोग है। भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें पहले शरीरीको लेकर और फिर शरीरको लेकर क्रमशः ज्ञानयोग और कर्मयोगका वर्णन किया। फिर ध्यानयोगका वर्णन किया; क्योंकि वह भी कल्याण करनेका एक साधन है। फिर सातवें अध्यायसे भक्तिका विशेषतासे वर्णन किया, जो भगवान्‌का खास ध्येय है। मनुष्य कर्मयोगसे जगत्‌के लिये, ज्ञानयोगसे अपने लिये और भक्तियोगसे भगवान्‌के लिये उपयोगी हो जाता है।

गीतामें समताको 'योग' कहा गया है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। वास्तवमें 'योग' की आवश्यकता कर्ममें ही है, ज्ञानमें भी योगकी आवश्यकता नहीं है और भक्तिमें तो योगकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। ज्ञान और भक्ति वास्तवमें 'योग' ही हैं। कर्म जड़ हैं, बाँधनेवाले हैं और विषय हैं, इसलिये उनमें योगकी आवश्यकता है—'**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (गीता २। ४८)। कर्मोंमें योग ही मुख्य है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (गीता २। ५०)। योगके सिवाय कर्म कुछ नहीं है—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' (गीता २। ४९)। कर्तृत्व भी कर्म करनेसे ही आता है। इसलिये गीतामें 'योग' शब्द विशेषकर 'कर्मयोग' का ही वाचक आता है। गीताकी पुष्पिकामें भी '**योगशास्त्रे**' पदका अर्थ कर्मयोगकी शिक्षा है।

कर्मयोगमें दो विभाग हैं—कर्मविभाग और योगविभाग। कर्मविभाग पूर्वार्ध है और योगविभाग उत्तरार्ध है। कर्म करणसापेक्ष है और योग करणनिरपेक्ष है। कर्मविभागमें कर्तव्यपरायणता है और योगविभागमें स्वाधीनता, निर्विकारता, असंगता, समता है। संसारमें हमारा जो कर्तव्य होता है, वह दूसरेका अधिकार होता है। इसलिये व्यक्तिका जो कर्तव्य है, वह परिवारका, समाजका और संसारका अधिकार है। जैसे, वक्ताका जो कर्तव्य है, वह श्रोताका अधिकार है और श्रोताका जो कर्तव्य है, वह वक्ताका अधिकार है। वक्ता बोलकर श्रोताके अधिकारकी रक्षा करता है और श्रोता सुनकर वक्ताके अधिकारकी रक्षा करता है। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेसे मनुष्य ऋणमुक्त हो जाता है और उसको

'योग' की प्राप्ति हो जाती है। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेका तात्पर्य है—शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यको अपनी न समझकर, प्रत्युत दूसरोंकी ही समझकर दूसरोंकी सेवामें अर्पित कर देना।

संसारमें वस्तु और व्यक्तिके साथ हमारा संयोग होता है। जहाँ संयोग होता है, वहीं कर्तव्यका पालन करनेकी आवश्यकता होती है। वस्तुका संयोग होनेपर उस वस्तुमें ममता न करके उसका सदुपयोग करना, उसको दूसरोंकी सेवामें लगाना हमारा कर्तव्य है। व्यक्तिका संयोग होनेपर उस व्यक्तिमें ममता न करके उसकी सेवा करना, उसको सुख पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। कामना और ममतासे रहित होकर कर्तव्यका पालन करनेसे शरीर-संसारके संयोगका वियोग हो जाता है और योगकी प्राप्ति हो जाती है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३)। संयोगका तो वियोग होता है, पर योगका कभी वियोग नहीं होता। योगकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसको स्वाधीनता, निर्विकारता, असंगता, समताकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं; मैं सब कुछ जान जाऊँ, कभी अज्ञानी न रहूँ; मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दुःखी न रहूँ। परन्तु मनुष्यकी यह चाहना अपने बलसे अथवा संसारसे कभी पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य जो चाहता है, वह संसारके पास है ही नहीं। वास्तवमें मनुष्यको जो चाहिये, वह उसको पहलेसे ही प्राप्त है। उससे गलती यह होती है कि वह उन वस्तुओंको चाहने लगता है, जिनका संयोग और वियोग होता है, जो मिलने और बिछुड़नेवाली हैं। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु कभी भी हमारेसे अलग होती है, वह सदा ही हमारेसे अलग है और अभी (वर्तमानमें) भी हमारेसे अलग है। जैसे, शरीर कभी भी हमारेसे अलग होगा तो वह सदा ही हमारेसे अलग है और अभी भी हमारेसे अलग है। इसी तरह जो वस्तु (परमात्मा) कभी भी हमारेसे अलग नहीं होती, वह सदा ही मिली हुई है और अभी भी हमारेको मिली हुई है। तात्पर्य यह निकला कि वास्तवमें संसारका सदा ही वियोग है और परमात्माका सदा ही योग है।

कोई आचार्य पहले कर्मयोग, फिर ज्ञानयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम मानते हैं और कोई आचार्य पहले कर्मयोग, फिर भक्तियोग, फिर ज्ञानयोग—यह क्रम मानते हैं। परन्तु गीता पहले ज्ञानयोग, फिर कर्मयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम मानती है। गीता कर्मयोगको ज्ञानयोगकी अपेक्षा विशेष मानती है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (५। २)। कारण कि ज्ञानयोगके बिना तो कर्मयोग हो सकता है—'**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः**' (३। २०), '**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (४। २३), पर कर्मयोगके बिना ज्ञानयोग होना कठिन है—'**सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः**' (५। ६)। श्रीमद्भागवतमें भी पहले ज्ञानयोग, फिर कर्मयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम कहा गया है*। एक विलक्षण बात और है कि गीता कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको समकक्ष और लौकिक बताती है—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा०**' (३। ३)। क्षर (जगत्) और अक्षर (जीव)—दोनों लौकिक हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६), पर भगवान् अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः**' (१५। १७)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक हैं। परन्तु भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है; अतः भक्तियोग अलौकिक है।

गीताने भक्तिको सर्वश्रेष्ठ बताया है (छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। गीताकी भक्ति भेदवाली नहीं है, प्रत्युत अद्वैत भक्ति है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञानमें द्वैत है और भक्तिमें अद्वैत है। कारण कि ज्ञानमें तो जड़-चेतन, जगत्-जीव, शरीर-शरीरी, असत्-सत्, प्रकृति-पुरुष आदि दो-दो हैं, पर भक्तिमें केवल भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। भगवान्‌ने ज्ञानके साधनोंमें भी भक्ति बतायी है—'**मयि चानन्ययोगेन०**' (१३। १०) और गुणातीत होनेका उपाय भी भक्ति बताया है—'**मां च योऽव्यभिचारेण०**' (१४। २६)। ज्ञानकी परानिष्ठासे भी पराभक्तिकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (१८। ५५)। इस पराभक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—तीनोंकी प्राप्ति हो जाती है (ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)। भगवान् अपने भक्तको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंकी प्राप्ति करा देते हैं (दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक)। भगवान्‌ने अपने भक्तको सबसे उत्तम योगी बताया है—'**स मे युक्ततमो मतः**' (६। ४७), '**ते मे युक्ततमा मताः**' (१२। २), '**स योगी परमो मतः**' (६। ३२)। ध्यानयोगमें भी भक्ति आयी है—'**युक्त आसीत मत्परः**' (६। १४)। कर्मयोगमें भी भगवान्‌ने भक्ति बतायी है—'**युक्त आसीत मत्परः**' (२। ६१)। भगवान्‌ने सभी योगोंमें अपनी भक्ति (परायणता) बतायी है, यह भक्तिकी विशेषता है।

---

* **योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।**
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

अर्जुनका प्रश्न भक्तिविषयक नहीं था, फिर भी भगवान्‌ने अपनी तरफसे भक्तिका वर्णन किया (अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक)। भक्तिसे समग्र परमात्माकी प्राप्ति होती है (सातवें अध्यायका उनतीसवाँ–तीसवाँ श्लोक)।

गीताका सातवाँ, नवाँ और पन्द्रहवाँ अध्याय, दसवें अध्यायका आरम्भ तथा अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे छाछठवेंतकके श्लोक हमें बहुत विलक्षण दीखते हैं। इनमें '**अर्जुन उवाच**' नहीं है अर्थात् ये भगवान्‌ने अपनी तरफसे अत्यन्त कृपा करके कहे हैं।

गीतामें कर्मयोगके वर्णनमें ज्ञानयोग–भक्तियोगकी, ज्ञानयोगके वर्णनमें कर्मयोग–भक्तियोगकी और भक्तियोगके वर्णनमें कर्मयोग–ज्ञानयोगकी बात भी आ जाती है। इसका तात्पर्य है कि साधक कोई भी योग करे तो उसको तीनों योगोंकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् उसको मुक्ति और भक्ति—दोनों प्राप्त हो जाते हैं। कारण कि परा और अपरा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं। ज्ञानयोग पराको लेकर और कर्मयोग अपराको लेकर चलता है। इसलिये किसी एक योगकी पूर्णता होनेपर तीनों योगोंकी पूर्णता हो जाती है। परन्तु इसमें एक शर्त यह है कि साधक अपने मतका आग्रह न रखे और दूसरेके मतका खण्डन या निन्दा न करे, दूसरेके मतको छोटा न माने। अपने मतका आग्रह रहनेसे और दूसरेके मतको छोटा मानकर उसका खण्डन या निन्दा करनेसे साधकको मुक्ति (तत्त्वज्ञान)–की प्राप्ति तो हो सकती है, पर भक्ति (परमप्रेम)–की अर्थात् समग्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

परिशिष्टके सम्बन्धमें

श्रीमद्भगवद्‌गीता एक ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है, जिसका आजतक न तो कोई पार पा सका, न पार पाता है, न पार पा सकेगा और न पार पा ही सकता है। गहरे उतरकर इसका अध्ययन–मनन करनेपर नित्य नये–नये विलक्षण भाव प्रकट होते रहते हैं। गीतामें जितना भाव भरा है, उतना बुद्धिमें नहीं आता। जितना बुद्धिमें आता है, उतना मनमें नहीं आता। जितना मनमें आता है, उतना कहनेमें नहीं आता। जितना कहनेमें आता है, उतना लिखनेमें नहीं आता। गीता असीम है, पर उसकी टीका सीमित ही होती है। हमारे अन्तःकरणमें गीताके जो भाव आये थे, वे पहले 'साधक-संजीवनी' टीकामें लिख दिये थे। परन्तु उसके बाद भी विचार करनेपर भगवत्कृपा तथा सन्तकृपासे गीताके नये–नये भाव प्रकट होते गये। उनको अब 'परिशिष्ट भाव' के रूपमें 'साधक–संजीवनी' टीकामें जोड़ा जा रहा है।

'साधक–संजीवनी' टीका लिखते समय हमारी समझमें निर्गुणकी मुख्यता रही; क्योंकि हमारी पढ़ाईमें निर्गुणकी मुख्यता रही और विचार भी उसीका किया। परन्तु निष्पक्ष होकर गहरा विचार करनेपर हमें भगवान्‌के सगुण (समग्र) स्वरूप तथा भक्तिकी मुख्यता दिखायी दी। केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता। परन्तु केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं। भगवान्‌ने भी सगुणको ही समग्र कहा है—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७। १)।

परिशिष्ट लिखनेपर भी अभी हमें पूरा सन्तोष नहीं है और हमने गीतापर विचार करना बन्द नहीं किया है। अतः आगे भगवत्कृपा तथा सन्तकृपासे क्या–क्या नये भाव प्रकट होंगे—इसका पता नहीं! परन्तु मानव–जीवनकी पूर्णता भक्ति (प्रेम)–की प्राप्तिमें ही है—इसमें हमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

पहले 'साधक–संजीवनी' टीकामें श्लोकोंके अर्थ अन्वयपूर्वक न करनेसे उनमें कहीं–कहीं कमी रह गयी थी। अब श्लोकोंका अन्वयपूर्वक अर्थ देकर उस कमीकी पूर्ति कर दी गयी है। अन्वयार्थमें कहीं अर्थको लेकर और कहीं वाक्यकी सुन्दरताको लेकर विशेष विचारपूर्वक परिवर्तन किया गया है।

पाठकोंको पहलेकी और बादकी (परिशिष्ट) व्याख्यामें कोई अन्तर दीखे तो उनको बादकी व्याख्याका भाव ही ग्रहण करना चाहिये। यह सिद्धान्त है कि पहलेकी अपेक्षा बादमें लिखे हुए विषयका अधिक महत्त्व होता है। इसमें इस बातका विशेष ध्यान रखा गया है कि साधकोंका किसी प्रकारसे अहित न हो। कारण कि यह टीका मुख्यरूपसे साधकोंके हितकी दृष्टिसे लिखी गयी है, विद्वत्ताकी दृष्टिसे नहीं।

साधकोंको चाहिये कि वे अपना कोई आग्रह न रखकर इस टीकाको पढ़ें और इसपर गहरा विचार करें तो वास्तविक तत्त्व उनकी समझमें आ जायगा और जो बात टीकामें नहीं आयी है, वह भी समझमें आ जायगी!

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नब्बेवाँ संस्करणका नम्र निवेदन

साधक महानुभावोंकी सेवामें **'साधक-संजीवनी'** का संवर्धित नब्बेवाँ संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है! इस ग्रन्थके अन्तमें एक नया विषय—**'साधक-संजीवनी-कोश'** को सम्मिलित किया गया है। इस कोशका कार्य परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजकी इच्छासे उनके सशरीर विद्यमान रहते ही आरम्भ हो चुका था। इस कोशको सम्मिलित करनेसे ग्रन्थकी उपयोगितामें और अधिक वृद्धि हो गयी है।

आशा है कि पाठकगण **'साधक-संजीवनी'**के इस संवर्धित संस्करणसे अधिक लाभान्वित होंगे और इस ग्रन्थमें आये हुए विभिन्न विषयोंका और अधिक गहराईसे अध्ययन-मनन कर सकेंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

(रेखाचित्र)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति। सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये। ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्। देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः॥

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

प्राक्कथन

वंशीधरं तोत्त्रधरं नमामि मनोहरं मोहहरं च कृष्णम्।
मालाधरं धर्मधुरन्धरं च पार्थस्य सारथ्यकरं च देवम्॥
कर्तव्यदीक्षां च समत्वशिक्षां ज्ञानस्य भिक्षां शरणागतिं च।
ददाति गीता करुणार्द्रभूता कृष्णेन गीता जगतो हिताय॥
संजीवनी साधकजीवनीयं प्राप्तिं हरेर्वै सरलं ब्रवीति।
करोति दूरं पथिविघ्नबाधां ददाति शीघ्रं परमात्मसिद्धिम्॥*

गीताकी महिमा

श्रीमद्भगवद्गीताकी महिमा अगाध और असीम है। यह भगवद्गीताग्रन्थ प्रस्थानत्रयमें माना जाता है। मनुष्यमात्रके उद्धारके लिये तीन राजमार्ग 'प्रस्थानत्रय' नामसे कहे जाते हैं—एक वैदिक प्रस्थान है, जिसको 'उपनिषद्' कहते हैं; एक दार्शनिक प्रस्थान है, जिसको 'ब्रह्मसूत्र' कहते हैं और एक स्मार्त प्रस्थान है, जिसको 'भगवद्गीता' कहते हैं। उपनिषदोंमें मन्त्र हैं, ब्रह्मसूत्रमें सूत्र हैं और भगवद्गीतामें श्लोक हैं। भगवद्गीतामें श्लोक होते हुए भी भगवान्‌की वाणी होनेसे ये मन्त्र ही हैं। इन श्लोकोंमें बहुत गहरा अर्थ भरा हुआ होनेसे इनको सूत्र भी कह सकते हैं। 'उपनिषद्' अधिकारी मनुष्योंके कामकी चीज है और 'ब्रह्मसूत्र' विद्वानोंके कामकी चीज है; परन्तु 'भगवद्गीता' सभीके कामकी चीज है।

भगवद्गीता एक बहुत ही अलौकिक, विचित्र ग्रन्थ है। इसमें साधकके लिये उपयोगी पूरी सामग्री मिलती है, चाहे वह किसी भी देशका, किसी भी वेशका, किसी भी समुदायका, किसी भी सम्प्रदायका, किसी भी वर्णका, किसी भी आश्रमका कोई व्यक्ति क्यों न हो। इसका कारण यह है कि इसमें किसी समुदाय-विशेषकी निन्दा या प्रशंसा नहीं है, प्रत्युत वास्तविक तत्त्वका ही वर्णन है। वास्तविक तत्त्व (परमात्मा) वह है, जो परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे सर्वथा अतीत और सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें नित्य-निरन्तर एकरस-एकरूप रहनेवाला है। जो मनुष्य जहाँ है और जैसा है, वास्तविक तत्त्व वहाँ वैसा ही पूर्णरूपसे विद्यमान है। परन्तु परिवर्तनशील प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्तियोंमें राग-द्वेषके कारण उसका अनुभव नहीं होता। सर्वथा राग-द्वेषरहित होनेपर उसका स्वतः अनुभव हो जाता है।

भगवद्गीताका उपदेश महान् अलौकिक है। इसपर कई टीकाएँ हो गयीं और कई टीकाएँ होती ही चली जा रही हैं, फिर भी सन्त-महात्माओं, विद्वानोंके मनमें गीताके नये-नये भाव प्रकट होते रहते हैं। इस गम्भीर ग्रन्थपर कितना ही विचार किया जाय, तो भी इसका कोई पार नहीं पा सकता। इसमें जैसे-जैसे गहरे उतरते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे इसमेंसे गहरी बातें मिलती चली जाती हैं। जब एक अच्छे विद्वान् पुरुषके भावोंका भी जल्दी अन्त नहीं आता, फिर जिनका नाम, रूप आदि यावन्मात्र अनन्त है, ऐसे भगवान्‌के द्वारा कहे हुए वचनोंमें भरे हुए भावोंका अन्त आ ही कैसे सकता है ?

इस छोटे-से ग्रन्थमें इतनी विलक्षणता है कि अपना वास्तविक कल्याण चाहनेवाला किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, सम्प्रदाय, मत आदिका कोई भी मनुष्य क्यों न हो, इस ग्रन्थको पढ़ते ही इसमें आकृष्ट हो जाता है। अगर मनुष्य इस ग्रन्थका थोड़ा-सा भी पठन-पाठन करे तो उसको अपने उद्धारके लिये बहुत ही सन्तोषजनक उपाय मिलते हैं। हरेक दर्शनके अलग-अलग अधिकारी होते हैं, पर गीताकी यह विलक्षणता है कि अपना उद्धार चाहनेवाले सब-के-सब इसके अधिकारी हैं।

भगवद्गीतामें साधनोंका वर्णन करनेमें, विस्तारपूर्वक समझानेमें, एक-एक साधनको कई बार कहनेमें संकोच नहीं किया गया है, फिर भी ग्रन्थका कलेवर नहीं बढ़ा है। ऐसा संक्षेपमें विस्तारपूर्वक यथार्थ और पूरी बात बतानेवाला दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं दीखता। अपने कल्याणकी उत्कट अभिलाषावाला मनुष्य हरेक परिस्थितिमें परमात्मतत्त्वको

*** 'जो अपने हाथोंमें वंशी तथा चाबुक और गलेमें दिव्य माला धारण किये हुए हैं एवं जो प्राणियोंके मनका तथा मोहका हरण करनेवाले हैं, उन पार्थसारथि धर्मधुरन्धर दिव्यस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।'**

'भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गायी हुई करुणार्द्रभूता गीता जगत्‌के हितके लिये कर्तव्यकी दीक्षा, समताकी शिक्षा, ज्ञानकी भिक्षा और शरणागतिका तत्त्व प्रदान करनेवाली है।'

'परमात्मप्राप्तिको सरल बनानेवाली और साधकोंका जीवन यह 'साधक-संजीवनी' साधन-पथकी विघ्न-बाधाओंको दूर करके शीघ्र ही परमात्मप्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्रदान करनेवाली है।'

प्राप्त कर सकता है; युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी अपना कल्याण कर सकता है—इस प्रकार व्यवहारमात्रमें परमार्थकी कला गीतामें सिखायी गयी है। अत: इसके जोड़का दूसरा कोई ग्रन्थ देखनेमें नहीं आता।

गीता एक प्रासादिक ग्रन्थ है। इसका आश्रय लेकर पाठ करनेमात्रसे बड़े विचित्र, अलौकिक और शान्तिदायक भाव स्फुरित होते हैं। इसका मन लगाकर पाठ करनेमात्रसे बड़ी शान्ति मिलती है। इसकी एक विधि यह है कि पहले गीताके पूरे श्लोक अर्थसहित कण्ठस्थ कर लिये जायँ, फिर एकान्तमें बैठकर गीताके अन्तिम श्लोक '**यत्र योगेश्वरः कृष्णः.....**'—यहाँसे लेकर गीताके पहले श्लोक '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे....**'—यहाँतक बिना पुस्तकके उलटा पाठ किया जाय तो बड़ी शान्ति मिलती है। यदि प्रतिदिन पूरी गीताका एक या अनेक बार पाठ किया जाय तो इससे गीताके विशेष अर्थ स्फुरित होते हैं। मनमें कोई शंका होती है तो पाठ करते-करते उसका समाधान हो जाता है।

वास्तवमें इस ग्रन्थकी महिमाका वर्णन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। अनन्तमहिमाशाली ग्रन्थकी महिमाका वर्णन कर ही कौन सकता है ?

गीताका खास लक्ष्य

गीता किसी वादको लेकर नहीं चली है अर्थात् द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि किसी भी वादको, किसी एक सम्प्रदायके किसी एक सिद्धान्तको लेकर नहीं चली है। गीताका मुख्य लक्ष्य यह है कि मनुष्य किसी भी वाद, मत, सिद्धान्तको माननेवाला क्यों न हो, उसका प्रत्येक परिस्थितिमें कल्याण हो जाय, वह किसी भी परिस्थितिमें परमात्मप्राप्तिसे वंचित न रहे; क्योंकि जीवमात्रका मनुष्ययोनिमें जन्म केवल अपने कल्याणके लिये ही हुआ है। संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है, जिसमें मनुष्यका कल्याण न हो सकता हो। कारण कि परमात्मतत्त्व प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान है। अत: साधकके सामने कोई भी और कैसी भी परिस्थिति आये, उसका केवल सदुपयोग करना है। सदुपयोग करनेका अर्थ है—दु:खदायी परिस्थिति आनेपर सुखकी इच्छाका त्याग करना; और सुखदायी परिस्थिति आनेपर सुखभोगका तथा 'वह बनी रहे' ऐसी इच्छाका त्याग करना और उसको दूसरोंकी सेवामें लगाना। इस प्रकार सदुपयोग करनेसे मनुष्य दु:खदायी और सुखदायी—दोनों परिस्थितियोंसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् उसका कल्याण हो जाता है।

सृष्टिसे पूर्व परमात्मामें 'मैं एक ही अनेक रूपोंमें हो जाऊँ' ऐसा संकल्प हुआ। इस संकल्पसे एक ही परमात्मा प्रेमवृद्धिकी लीलाके लिये, प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये स्वयं ही श्रीकृष्ण और श्रीजी (श्रीराधा)—इन दो रूपोंमें प्रकट हो गये। उन दोनोंने परस्पर लीला करनेके लिये एक खेल रचा। उस खेलके लिये प्रभुके संकल्पसे अनन्त जीवोंकी (जो कि अनादिकालसे थे) और खेलके पदार्थों-(शरीरादि-) की सृष्टि हुई। खेल तभी होता है, जब दोनों तरफके खिलाड़ी स्वतन्त्र हों। इसलिये भगवान्ने जीवोंको स्वतन्त्रता प्रदान की। उस खेलमें श्रीजीका तो केवल भगवान्‌की तरफ ही आकर्षण रहा, खेलमें उनसे भूल नहीं हुई। अत: श्रीजी और भगवान्‌में प्रेमवृद्धिकी लीला हुई। परन्तु दूसरे जितने जीव थे, उन सबने भूलसे संयोगजन्य सुखके लिये खेलके पदार्थों-(उत्पत्ति-विनाशशील प्रकृतिजन्य पदार्थों-)के साथ अपना सम्बन्ध मान लिया, जिससे वे जन्म-मरणके चक्करमें पड़ गये।

खेलके पदार्थ केवल खेलके लिये ही होते हैं, किसीके व्यक्तिगत नहीं होते। परन्तु वे जीव खेल खेलना तो भूल गये और मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके खेलके पदार्थोंको अर्थात् शरीरादिको व्यक्तिगत मानने लग गये। इसलिये वे उन पदार्थोंमें फँस गये और भगवान्‌से सर्वथा विमुख हो गये। अब अगर वे जीव शरीरादि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ, तो वे जन्म-मरणरूप महान् दु:खसे सदाके लिये छूट जायँ। अत: जीव संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ और भगवान्‌के साथ अपने नित्ययोग-(नित्य सम्बन्ध-)को पहचान लें—इसीके लिये भगवद्गीताका अवतार हुआ है।

गीताका योग

गीतामें 'योग' शब्दके बड़े विचित्र-विचित्र अर्थ हैं। उनके हम तीन विभाग कर सकते हैं—

(१) 'युजिर् योगे' धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—समरूप परमात्माके साथ नित्यसम्बन्ध; जैसे—'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८) आदि। यही अर्थ गीतामें मुख्यतासे आया है।

(२) 'युज् समाधौ' धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—चित्तकी स्थिरता अर्थात् समाधिमें

स्थिति; जैसे—'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया' (६। २०) आदि।

(३) 'युज् संयमने' धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—संयमन, सामर्थ्य, प्रभाव; जैसे—'पश्य मे योगमैश्वरम्' (९। ५) आदि।

गीतामें जहाँ कहीं 'योग' शब्द आया है, उसमें उपर्युक्त तीनोंमेंसे एक अर्थकी मुख्यता और शेष दो अर्थोंकी गौणता है; जैसे—'युजिर् योगे' वाले 'योग' शब्दमें समता-(सम्बन्ध-) की मुख्यता है, पर समता आनेपर स्थिरता और सामर्थ्य[1] भी स्वतः आ जाती है। 'युज् समाधौ' वाले 'योग' शब्दमें स्थिरताकी मुख्यता है, पर स्थिरता आनेपर समता और सामर्थ्य भी स्वतः आ जाती है। 'युज् संयमने' वाले 'योग' शब्दमें सामर्थ्यकी मुख्यता है, पर सामर्थ्य आनेपर समता और स्थिरता भी स्वतः आ जाती है। अतः गीताका 'योग' शब्द बड़ा व्यापक और गम्भीरार्थक है।

पातंजलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' नामसे कहा गया है—*'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'* (१। २) और उस योगका परिणाम बताया है—द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाना—*'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'* (१। ३)। इस प्रकार पातंजलयोगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीतामें 'योग' नामसे कहा गया है (दूसरे अध्यायका अड़तालीसवाँ और छठे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको योग कहती है। उस समतामें स्थिति (नित्ययोग) होनेपर फिर कभी उससे वियोग नहीं होता, कभी वृत्तिरूपता नहीं होती, कभी व्युत्थान नहीं होता। वृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प अवस्था' होती है, पर समतामें स्थिति होनेपर 'निर्विकल्प बोध' होता है। 'निर्विकल्प बोध' अवस्थातीत और सम्पूर्ण अवस्थाओंका प्रकाशक है।

समता अर्थात् नित्ययोगका अनुभव करानेके लिये गीतामें तीन योग-मार्गोंका वर्णन किया गया है—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंका संसारके साथ अभिन्न सम्बन्ध है। अतः इन तीनोंको दूसरोंकी सेवामें लगा दे—यह कर्मयोग हुआ; स्वयं इनसे असंग होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय—यह ज्ञानयोग हुआ; और स्वयं भगवान्के समर्पित हो जाय—यह भक्तियोग हुआ। इन तीनों योगोंको सिद्ध करनेके लिये अर्थात् अपना उद्धार करनेके लिये मनुष्यको तीन शक्तियाँ प्राप्त हैं—(१) करनेकी शक्ति (बल), (२) जाननेकी शक्ति (ज्ञान) और (३) माननेकी शक्ति (विश्वास)। करनेकी शक्ति निःस्वार्थभावसे संसारकी सेवा करनेके लिये है, जो कर्मयोग है; जाननेकी शक्ति अपने स्वरूपको जाननेके लिये है, जो ज्ञानयोग है और माननेकी शक्ति भगवान्को अपना तथा अपनेको भगवान्का मानकर सर्वथा भगवान्के समर्पित होनेके लिये है, जो भक्तियोग है। जिसमें करनेकी रुचि अधिक है, वह कर्मयोगका अधिकारी है। जिसमें अपने-आपको जाननेकी जिज्ञासा अधिक है, वह ज्ञानयोगका अधिकारी है। जिसका भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास अधिक है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। ये तीनों ही योग-मार्ग परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं। अन्य सभी साधन इन तीनोंके ही अन्तर्गत आ जाते हैं[2]।

सभी साधनोंका खास काम है—जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करना। अतः जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी प्रणालियों-(साधनों-)में तो फरक रहता है, पर जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सभी साधन एक हो जाते हैं अर्थात् अन्तमें सभी साधनोंसे एक ही समरूप परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। इस समरूप परमात्मतत्त्वकी

१-भगवान्में संसारमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदिकी जो सामर्थ्य है, वह सामर्थ्य योगीमें नहीं आती—'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्रह्मसूत्र ४। ४। १७)। योगीमें जो सामर्थ्य आती है, उससे वह संसारमात्रपर विजय प्राप्त कर लेता है (गीता ५। १९) अर्थात् कैसी ही अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी उसपर कोई असर नहीं पड़ता।

२-श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग-मार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

यही बात अध्यात्मरामायण और देवीभागवतमें भी आयी है—

(क) मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः पुरा मोक्षाप्तिसाधकाः। कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च शाश्वतः॥ (अध्यात्म० ७। ७। ५९)

(ख) मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप। कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥ (देवी० ७। ३७। ३)

प्राप्तिको ही गीताने 'योग' नामसे कहा है, और इसीको 'नित्ययोग' कहते हैं।

गीतामें केवल कर्मयोगका, केवल ज्ञानयोगका अथवा केवल भक्तियोगका ही वर्णन हुआ हो—ऐसी बात भी नहीं है। इसमें उपर्युक्त तीनों योगोंके अलावा यज्ञ, दान, तप, ध्यानयोग, प्राणायाम, हठयोग, लययोग आदि साधनोंका भी वर्णन किया गया है। इसका खास कारण यही है कि गीतामें अर्जुनके प्रश्न युद्धके विषयमें नहीं हैं, प्रत्युत कल्याणके विषयमें हैं और भगवान्‌के द्वारा गीता कहनेका उद्देश्य भी युद्ध करानेका बिलकुल नहीं है। अर्जुन अपना निश्चित कल्याण चाहते थे (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक)। इसलिये शास्त्रोंमें जितने कल्याणकारक साधन कहे गये हैं, उन सम्पूर्ण साधनोंका गीतामें संक्षेपसे विशद वर्णन मिलता है। उन साधनोंको लेकर ही साधक-जगत्‌में गीताका विशेष आदर है। कारण कि साधक चाहे किसी मतका हो, किसी सम्प्रदायका हो, किसी सिद्धान्तको माननेवाला हो, पर अपना कल्याण तो सबको अभीष्ट है।

साधनकी दो शैलियाँ

जीवमें एक तो चेतन परमात्माका अंश है और एक जड प्रकृतिका अंश है। चेतन-अंशकी मुख्यतासे वह परमात्माकी इच्छा करता है और जड-अंशकी मुख्यतासे वह संसारकी इच्छा करता है। इन दोनों इच्छाओंमें परमात्माकी इच्छा तो पूरी होनेवाली है, पर संसारकी इच्छा कभी पूरी होनेवाली है ही नहीं। कुछ सांसारिक इच्छाओंकी पूर्ति होती हुई दीखनेपर भी वास्तवमें उनकी निवृत्ति नहीं होती, प्रत्युत संसारकी आसक्तिके कारण नयी-नयी कामनाएँ पैदा होती रहती हैं। वास्तवमें सांसारिक इच्छाओंकी पूर्ति अर्थात् सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति इच्छाके अधीन नहीं है, प्रत्युत कर्मके अधीन है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति कर्मके अधीन नहीं है। स्वयंकी उत्कट अभिलाषामात्रसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक कर्मका आदि और अन्त होता है; इसलिये उसका फल भी आदि-अन्तवाला ही होता है। अत: आदि-अन्तवाले कर्मोंसे अनादि-अनन्त परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? परन्तु साधकोंने प्राय: ऐसा समझ रखा है कि जैसे क्रियाकी प्रधानतासे सांसारिक वस्तुकी प्राप्ति होती है, ऐसे ही परमात्माकी प्राप्ति भी उसी प्रकार क्रियाकी प्रधानतासे ही होगी और जैसे सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिके लिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी सहायता लेनी पड़ती है, ऐसे ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भी उसी प्रकार शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी सहायता लेनी पड़ेगी। इसलिये ऐसे साधक जडता-(शरीरादि-)की सहायतासे अभ्यास करते हुए परमात्माकी तरफ चलते हैं।

जैसे ध्यानयोगमें दीर्घकालतक अभ्यास करते-करते अर्थात् परमात्मामें चित्तको लगाते-लगाते जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तब उसमें संसारकी कोई इच्छा न रहनेसे और स्वयं जड होनेके कारण परमात्माको ग्रहण न कर सकनेसे वह (चित्त) संसारसे उपराम हो जाता है। चित्तके उपराम होनेसे साधकका चित्तसे अर्थात् जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह स्वयंसे परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेता है (गीता—छठे अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। परन्तु जो साधक आरम्भसे ही परमात्माके साथ अपना स्वत:सिद्ध नित्य-सम्बन्ध मानकर और जडतासे अपना किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न मानकर साधन करता है, उसको बहुत जल्दी और सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

इस प्रकार परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहनेवाले साधकोंके लिये साधनकी दो शैलियाँ हैं। जिस शैलीमें अन्त:करणकी प्रधानता रहती है अर्थात् जिसमें साधक जडताकी सहायता लेकर साधन करता है, उसको 'करण-सापेक्ष-शैली' नामसे और जिस शैलीमें स्वयंकी प्रधानता रहती है अर्थात् जिसमें साधक आरम्भसे ही जडताकी सहायता न लेकर स्वयंसे साधन करता है, उसको 'करण-निरपेक्ष-शैली' नामसे कह सकते हैं। यद्यपि इन दोनों ही साधन-शैलियोंसे परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति करण-निरपेक्षतासे अर्थात् स्वयंसे (जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर) ही होती है, तथापि 'करण-सापेक्ष-शैली'से चलनेपर उसकी प्राप्ति देरीसे होती है और 'करण-निरपेक्ष-शैली'से चलनेपर उसकी प्राप्ति शीघ्रतासे होती है। साधनकी इन दोनों शैलियोंमें चार मुख्य भेद हैं—

(१) करण-सापेक्ष-शैलीमें जडता-(शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-)का आश्रय लेना पड़ता है, पर करण-निरपेक्ष-शैलीमें जडताका आश्रय नहीं लेना पड़ता, प्रत्युत जडतासे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करना पड़ता है।

(२) करण-सापेक्ष-शैलीमें एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है, पर करण-निरपेक्ष-शैलीमें अवस्थाओंसे सम्बन्धविच्छेद होकर अवस्थातीत तत्त्वका अनुभव होता है।

(३) करण-सापेक्ष-शैलीमें प्राकृत शक्तियों-(सिद्धियों-) की प्राप्ति होती है, पर करण-निरपेक्ष-शैलीमें प्राकृत शक्तियोंसे

'सम्बन्ध-विच्छेद होकर सीधे परमात्मतत्त्वका अनुभव होता है।[1]

(४) करण-सापेक्ष-शैलीमें कभी तत्काल सिद्धि नहीं मिलती, पर करण-निरपेक्ष-शैलीमें जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर, अपने स्वरूपमें स्थित होनेपर अथवा भगवान्‌के शरण होनेपर तत्काल सिद्धि मिलती है।

पातंजलयोगदर्शनमें तो योगकी सिद्धिके लिये करण-सापेक्ष-शैलीको महत्त्व दिया गया है, पर गीतामें योगकी सिद्धिके लिये करण-निरपेक्ष-शैलीको ही महत्त्व दिया गया है। परमात्मामें मन लग गया, तब तो ठीक है, पर मन नहीं लगा तो कुछ नहीं हुआ—यह करण-सापेक्ष-शैली है। परमात्मामें मन लगे या न लगे, कोई बात नहीं, पर स्वयं परमात्मामें लग जाय—यह करण-निरपेक्ष-शैली है। तात्पर्य यह है कि करण-सापेक्ष-शैलीमें परमात्माके साथ मन-बुद्धिका सम्बन्ध है और करण-निरपेक्ष-शैलीमें मन-बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्माके साथ स्वयंका सम्बन्ध है। इसलिये करण-सापेक्ष-शैलीमें अभ्यासके द्वारा क्रमसे सिद्धि होती है, पर करण-निरपेक्ष-शैलीमें अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि स्वयंका परमात्माके साथ स्वत:सिद्ध नित्य-सम्बन्ध (नित्ययोग) है। अत: भगवान्‌से सम्बन्ध मानने अथवा जाननेमें अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है; जैसे—विवाह होनेपर स्त्री पुरुषको अपना पति मान लेती है, तो ऐसा माननेके लिये उसको कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता। इसी तरह किसीके बतानेपर 'यह गंगाजी हैं'—ऐसा जाननेके लिये भी कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता[2]। करण-सापेक्ष-शैलीमें तो अपने लिये साधन करने-(क्रिया-) की मुख्यता रहती है, पर करण-निरपेक्ष-शैलीमें जानने (विवेक) और मानने-(भाव-) की मुख्यता रहती है।

'मेरा जडता-(शरीरादि-)से सम्बन्ध है ही नहीं'—ऐसा अनुभव न होनेपर भी जब साधक इसको आरम्भसे ही दृढ़तापूर्वक मान लेता है, तब उसे ऐसा ही स्पष्ट अनुभव हो जाता है। जैसे वह 'मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है'—इस प्रकार गलत मान्यता करके बँधा था, ऐसे ही 'मैं शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है'—इस प्रकार सही मान्यता करके मुक्त हो जाता है; क्योंकि मानी हुई बात न माननेसे मिट जाती है—यह सिद्धान्त है। इसी बातको भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि अज्ञानी मनुष्य शरीरसे सम्बन्ध जोड़कर उससे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है—'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (३। २७)। परन्तु ज्ञानी मनुष्य उन क्रियाओंका कर्ता अपनेको नहीं मानता—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (५। ८)। तात्पर्य यह हुआ कि अवास्तविक मान्यताको मिटानेके लिये वास्तविक मान्यता करनी जरूरी है।

'मैं हिन्दू हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं साधु हूँ' आदि मान्यताएँ इतनी दृढ़ होती हैं कि जबतक इन मान्यताओंको स्वयं नहीं छोड़ता, तबतक इनको कोई दूसरा नहीं छुड़ा सकता। ऐसे ही 'मैं शरीर हूँ', 'मैं कर्ता हूँ' आदि मान्यताएँ भी इतनी दृढ़ हो जाती हैं कि उनको छोड़ना साधकको कठिन मालूम देता है। परन्तु ये लौकिक मान्यताएँ अवास्तविक, असत्य होनेके कारण सदा रहनेवाली नहीं हैं, प्रत्युत मिटनेवाली हैं। इसके विपरीत 'मैं शरीर नहीं हूँ', 'मैं भगवान्‌का हूँ' आदि मान्यताएँ वास्तविक, सत्य होनेके कारण कभी मिटती ही नहीं, प्रत्युत उनकी विस्मृति होती है, उनसे विमुखता होती है। इसलिये वास्तविक मान्यता दृढ़ होनेपर मान्यतारूपसे नहीं रहती, प्रत्युत बोध-(अनुभव-)में परिणत हो जाती है।

यद्यपि गीतामें करण-सापेक्ष-शैलीका भी वर्णन किया गया है (जैसे चौथे अध्यायके चौबीसवेंसे तीसवेंतक तथा चौंतीसवाँ श्लोक, छठे अध्यायके दसवेंसे अट्ठाईसवेंतक, आठवें अध्यायके आठवेंसे सोलहवेंतक और पन्द्रहवें

१-अगर करण-सापेक्ष-शैली-(चित्तवृत्तिनिरोध-)से सीधे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती, तो पातंजलयोगदर्शनका 'विभूतिपाद' (जिसमें सिद्धियोंका वर्णन है) व्यर्थ हो जाता। करण-सापेक्ष-शैलीसे जिन सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, वे तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें विघ्न हैं। पातंजलयोगदर्शनमें भी उन सिद्धियोंको विघ्नरूपसे माना गया है—'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय:' (३। ३७) अर्थात् वे (सिद्धियाँ) समाधिकी सिद्धिमें विघ्न हैं और व्युत्थान-(व्यवहार-)में सिद्धियाँ हैं; 'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' (३। ५१) अर्थात् लोकपाल देवताओंके द्वारा (अपने लोकोंके भोगोंका लालच देकर) बुलानेपर न तो उन भोगोंमें राग करना चाहिये और न अभिमान करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे पुन: अनिष्ट (पतन) होनेकी सम्भावना है।

२-वास्तवमें परमात्माको मानने अथवा जाननेके विषयमें संसारका कोई भी दृष्टान्त पूरा नहीं घटता। कारण कि संसारको मानने अथवा जाननेमें तो मन-बुद्धि साथमें रहते हैं, पर परमात्माको मानने अथवा जाननेमें मन-बुद्धि साथमें नहीं रहते अर्थात् परमात्माका अनुभव स्वयंसे होता है, मन-बुद्धिसे नहीं। दूसरी बात, संसारको मानने अथवा जाननेका तो आरम्भ और अन्त होता है, पर परमात्माको मानने अथवा जाननेका आरम्भ और अन्त नहीं होता। कारण कि वास्तवमें संसारके साथ हमारा (स्वयंका) सम्बन्ध है ही नहीं, जबकि परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध सदासे ही है और सदा ही रहेगा।

अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक आदि) तथापि मुख्यरूपसे करण-निरपेक्ष-शैलीका ही वर्णन हुआ है। (जैसे दूसरे अध्यायका अड़तालीसवाँ तथा पचपनवाँ, तीसरे अध्यायका सत्रहवाँ, चौथे अध्यायका अड़तीसवाँ, पाँचवें अध्यायके बारहवेंका पूर्वार्ध, छठे अध्यायका पाँचवाँ, नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ, बारहवें अध्यायका बारहवाँ, अठारहवें अध्यायका बासठवाँ, छाछठवाँ तथा तिहत्तरवाँ श्लोक आदि-आदि)। इसका कारण यह है कि भगवान् साधकोंको शीघ्रतासे और सुगमतापूर्वक अपनी प्राप्ति कराना चाहते हैं। दूसरी बात, अर्जुनने युद्धकी परिस्थिति प्राप्त होनेके समय अपने कल्याणका उपाय पूछा है। अत: उनके कल्याणके लिये करण-निरपेक्ष-शैली ही काममें आ सकती है; क्योंकि करण-निरपेक्ष-शैलीमें मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें और सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्म करते हुए भी अपना कल्याण कर सकता है। इसी शैलीके अनुसार (अभ्यास किये बिना) अर्जुनका मोह नाश हुआ और उनको स्मृतिकी प्राप्ति हुई (अठारहवें अध्यायका तिहत्तरवाँ श्लोक)।

साधनकी करण-निरपेक्ष-शैली सबके लिये समानरूपसे उपयोगी है; क्योंकि इसमें किसी विशेष योग्यता, परिस्थिति आदिकी आवश्यकता नहीं है। इस शैलीमें केवल परमात्म-प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होनेसे ही तत्काल जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होकर नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। जैसे कितने ही वर्षोंका अँधेरा हो, एक दियासलाई जलाते ही वह नष्ट हो जाता है, ऐसे ही जडताके साथ कितना ही पुराना (अनन्त जन्मोंका) सम्बन्ध हो, परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होते ही वह मिट जाता है। इसलिये उत्कट अभिलाषा करण-सापेक्षतासे होनेवाली समाधिसे भी ऊँची चीज है। ऊँची-से-ऊँची निर्विकल्प समाधि हो, उससे भी व्युत्थान होता है और फिर व्यवहार होता है अर्थात् समाधिका भी आरम्भ और अन्त होता है। जबतक आरम्भ और अन्त होता है, तबतक जडताके साथ सम्बन्ध है। जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधनका आरम्भ और अन्त नहीं होता, प्रत्युत परमात्मासे नित्ययोगका अनुभव हो जाता है*।

वास्तवमें देखा जाय तो परमात्मासे वियोग कभी हुआ ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं। केवल संसारसे माने हुए संयोगके कारण परमात्मासे वियोग प्रतीत हो रहा है। संसारसे माने हुए संयोगका त्याग करते ही परमात्मतत्त्वके अभिलाषी मनुष्यको तत्काल नित्ययोगका अनुभव हो जाता है और उसमें स्थायी स्थिति हो जाती है।

अन्त:करणको शुद्ध करनेकी आवश्यकता भी करण-सापेक्ष-शैलीमें ही है, करण-निरपेक्ष-शैलीमें नहीं। जैसे कलम बढ़िया होनेसे लिखाई तो बढ़िया हो सकती है, पर लेखक बढ़िया नहीं हो जाता, ऐसे ही करण (अन्त:करण) शुद्ध होनेसे क्रियाएँ तो शुद्ध हो सकती हैं, पर कर्ता शुद्ध नहीं हो जाता। कर्ता शुद्ध होता है—अन्त:करणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे; क्योंकि अन्त:करणसे अपना सम्बन्ध मानना ही मूल अशुद्धि है।

नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वके साथ जीवका नित्ययोग स्वत:सिद्ध है; अत: उसकी प्राप्तिमें करणकी अपेक्षा नहीं है। केवल उधर दृष्टि डालनी है, जैसा कि श्रीरामचरितमानसमें आया है—**'संकर सहज सरूपु सम्हारा'** (१। ५८। ४) अर्थात् भगवान् शंकरने अपने सहज स्वरूपको सँभाला, उसकी तरफ दृष्टि डाली। सँभाली चीज वह होती है, जो पहलेसे ही हमारे पास हो और केवल दृष्टि डालनेसे पता लग जाय कि यह है। ऐसे ही दृष्टि डालनेमात्रसे नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। परन्तु सांसारिक सुखकी कामना, आशा और भोगके कारण उधर दृष्टि डालनेमें, उसका अनुभव करनेमें कठिनता मालूम देती है। जबतक सांसारिक भोग और संग्रहकी तरफ दृष्टि है, तबतक मनुष्यमें यह ताकत नहीं है कि वह अपने स्वरूपकी तरफ दृष्टि डाल सके। अगर किसी कारणसे, किसी खास विवेचनसे उधर दृष्टि चली भी जाय, तो उसका स्थायी रहना बड़ा कठिन है। कारण कि नाशवान् पदार्थोंकी जो प्रियता भीतरमें बैठी हुई है, वह प्रियता भगवान्‌के स्वत:सिद्ध सम्बन्धको समझने नहीं देती; और समझमें आ जाय तो स्थिर नहीं रहने देती। हाँ, अगर उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाय कि उस तत्त्वका अनुभव कैसे हो? तो इस अभिलाषामें यह ताकत है कि यह संसारकी आसक्तिका नाश कर देगी।

गीतोक्त कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही साधन करण-निरपेक्ष अर्थात् स्वयंसे होनेवाले हैं। कारण कि क्रिया और पदार्थ अपने और अपने लिये नहीं हैं, प्रत्युत दूसरोंके और दूसरोंकी सेवाके लिये हैं; मैं शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है, मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस प्रकार विवेकपूर्वक किया गया विचार अथवा मान्यता करण-सापेक्ष (अभ्यास) नहीं है; क्योंकि इसमें जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद है। अत: कर्मयोगमें स्वयं ही जडताका

*** जबतक जडताका सम्बन्ध रहता है, तबतक दो अवस्थाएँ रहती हैं; क्योंकि परिवर्तनशील होनेसे जड प्रकृति कभी एकरूप नहीं रहती। अत: समाधि और व्युत्थान—ये दोनों अवस्थाएँ जडताके सम्बन्धसे ही होती हैं। जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'सहजावस्था' होती है, जिसे सन्तोंने 'सहज समाधि' कहा है। इससे फिर कभी व्युत्थान नहीं होता।**

त्याग करता है, ज्ञानयोगमें स्वयं ही स्वयंको जानता है और भक्तियोगमें स्वयं ही भगवान्‌के शरण होता है।

गीताकी इस 'साधक-संजीवनी' टीकामें भी साधनकी करण-निरपेक्ष-शैलीको ही मुख्यता दी गयी है; क्योंकि साधकोंका शीघ्रतासे और सुगमतापूर्वक कल्याण कैसे हो—इस बातको सामने रखते हुए ही यह टीका लिखी गयी है।

टीकाके सम्बन्धमें

छोटी अवस्थासे ही मेरी गीतामें विशेष रुचि रही है। गीताका गम्भीरतापूर्वक मनन-विचार करनेसे तथा अनेक सन्त-महापुरुषोंके संग और वचनोंसे मुझे गीताके विषयको समझनेमें बड़ी सहायता मिली। गीतामें महान् संतोष देनेवाले अनन्त विचित्र-विचित्र भाव भरे पड़े हैं। उन भावोंको पूरी तरह समझनेकी और उनको व्यक्त करनेकी मेरेमें सामर्थ्य नहीं है। परन्तु जब कुछ गीताप्रेमी सज्जनोंने विशेष आग्रह किया, हठ किया, तब गीताके मार्मिक भावोंका अपनेको बोध हो जाय तथा और कोई मनन करे तो उसको भी इनका बोध हो जाय—इस दृष्टिसे गीताकी व्याख्या लिखवानेमें प्रवृत्ति हुई।

सबसे पहले एक बारहवें अध्यायकी व्याख्या लिखवायी। इसको संवत् २०३०में '**गीताका भक्तियोग**' नामसे प्रकाशित किया गया। इसके कुछ वर्षोंके बाद तेरहवें और चौदहवें अध्यायकी व्याख्या लिखवायी, जिसको संवत् २०३५ में '**गीताका ज्ञानयोग**' नामसे प्रकाशित किया गया। इसको लिखवानेके बाद ऐसा विचार हुआ कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन योग हैं, अत: इन तीनों ही योगोंपर तीन पुस्तकें तैयार हो जायँ तो ठीक रहेगा। इस दृष्टिसे पहले बारहवें अध्यायकी व्याख्याका संशोधन-परिवर्धन किया गया और उसके साथ पंद्रहवें अध्यायकी व्याख्याको भी सम्मिलित करके संवत् २०३९ में '**गीताका भक्तियोग**' (द्वितीय संस्करण) नामसे प्रकाशित किया गया। फिर तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायकी व्याख्या लिखवायी। इसको '**गीताका कर्मयोग**' नामसे दो खण्डोंमें प्रकाशित किया गया। इसका प्रकाशन विलम्बसे संवत् २०४० में हुआ।

उपर्युक्त '**गीताका भक्तियोग**', '**गीताका ज्ञानयोग**' और '**गीताका कर्मयोग**'—इन तीनों पुस्तकोंमें लिखनेकी शैली कुछ और रही अर्थात् पहले सम्बन्ध, फिर श्लोक, फिर भावार्थ, फिर अन्वय और फिर पद-व्याख्या—इस शैलीसे लिखा गया। परन्तु इन तीनों पुस्तकोंके बाद लिखनेकी शैली बदल दी गयी अर्थात् पहले सम्बन्ध, फिर श्लोक और फिर व्याख्या—इस शैलीसे लिखा गया। इसमें दूसरोंकी प्रेरणा भी रही। शैली बदलनेमें भाव यह रहा कि पाठ कुछ कम हो जाय और जल्दी लिखा जाय, जिससे पाठकोंको पढ़नेमें अधिक समय न लगे और पुस्तक भी जल्दी तैयार होकर साधकोंके हाथ पहुँच जाय। इसी शैलीसे पहले सोलहवें और सत्रहवें अध्यायकी व्याख्या लिखवायी। इसको संवत् २०३९ में '**गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा**' नामसे प्रकाशित किया गया। इसके बाद अठारहवें अध्यायकी व्याख्या लिखवायी। इसको संवत् २०३९ में '**गीताका सार**' नामसे प्रकाशित किया गया।

जब सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्यायकी व्याख्या छप गयी, तब किसीने कहा कि अगर श्लोकोंके अर्थ भी दे दिये जायँ तो ठीक रहेगा; क्योंकि पहले पाठक श्लोकका अर्थ समझ लेगा, तो फिर व्याख्या समझनेमें सुविधा रहेगी। अत: '**गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा**' के दूसरे संस्करण (संवत् २०४०)-में श्लोकोंके अर्थ भी दे दिये गये। श्लोकोंके अर्थ देनेके साथ-साथ पदोंकी व्याख्या करनेका क्रम भी कुछ बदल गया।

इसके बाद दसवें और ग्यारहवें अध्यायकी व्याख्या लिखवायी। इसको '**गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शन**' नामसे प्रकाशित किया गया। फिर सातवें, आठवें और नवें अध्यायकी व्याख्या लिखवायी, जिसको '**गीताकी राजविद्या**' नामसे प्रकाशित किया गया। इसके बाद छठे अध्यायकी व्याख्या लिखवायी, जो '**गीताका ध्यानयोग**' नामसे प्रकाशित की गयी। अन्तमें पहले और दूसरे अध्यायकी व्याख्या लिखवायी। इसको '**गीताका आरम्भ**' नामसे प्रकाशित किया गया। ये चारों पुस्तकें संवत् २०४१ में प्रकाशित हुईं।

इस प्रकार भगवत्कृपासे पूरी गीताकी टीका अलग-अलग कुल दस खण्डोंमें गीताप्रेससे प्रकाशित हुई। इनको प्रकाशित करनेके कार्यमें कागज आदिकी कई कठिनाइयाँ आती रहीं, फिर भी सत्संगी भाइयोंके उद्योगसे इनको प्रकाशित करनेका कार्य चलता रहा। लोगोंने भी इन पुस्तकोंको उत्साह एवं प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया, जिससे कई पुस्तकोंके दो-दो, तीन-तीन संस्करण भी निकल गये।

इस टीकाको एक जगह बैठकर नहीं लिखवाया गया है और इसको पहले अध्यायसे लेकर अठारहवें अध्यायतक क्रमसे भी नहीं लिखवाया गया है। इसलिये इसमें पूर्वापरकी दृष्टिसे कई विरोध आ सकते हैं। परन्तु इससे साधकोंको कहीं

भी बाधा नहीं लगेगी। कहीं-कहीं सिद्धान्तोंके विवेचनमें भी फरक पड़ा है; परन्तु कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीनों स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करानेवाले हैं—इसमें कोई फरक नहीं पड़ा है। टीका लिखवाते समय 'साधकोंको शीघ्र लाभ कैसे हो'—ऐसा भाव रहा है। इस कारण टीकाकी भाषा, शैली आदिमें परिवर्तन होता रहा है।

इस टीकामें बहुत-से श्लोकोंका विवेचन दूसरी टीकाओंके विपरीत पड़ता है। परन्तु इसका तात्पर्य दूसरी टीकाओंको गलत बतानेमें किंचिन्मात्र भी नहीं है, प्रत्युत मेरेको जैसा निर्विवादरूपसे उचित, प्रकरण-संगत, युक्ति-युक्त, संतोषजनक और प्रिय मालूम दिया, वैसा ही विवेचन मैंने किया है। मेरा किसीके खण्डनका और किसीके मण्डनका भाव बिलकुल नहीं रहा है।

श्रीमद्भगवद्गीताका अर्थ बहुत ही गम्भीर है। इसका पठन-पाठन, मनन-चिन्तन और विचार करनेसे बड़े ही विचित्र और नये-नये भाव स्फुरित होते रहते हैं, जिससे मन-बुद्धि चकित होकर तृप्त हो जाते हैं। टीका लिखवाते समय जब इन भावोंको लिखवानेका विचार होता, तब एक ऐसी विचित्र बाढ़ आ जाती कि कौन-कौन-से भाव लिखवाऊँ और कैसे लिखवाऊँ—इस विषयमें अपनेको बिलकुल ही अयोग्य पाता। फिर भी मेरे जो साथी हैं, आदरणीय मित्र हैं, उनके आग्रहसे कुछ लिखवा देता। वे उन भावोंको लिख लेते और संशोधित करके उनको पुस्तकरूपसे प्रकाशित करवा देते। फिर कभी उन पुस्तकोंको देखनेका काम पड़ता तो उनमें कई जगह कमियाँ मालूम देतीं और ऐसा मालूम देता कि पूरी बातें नहीं आयीं हैं, बहुत-सी बातें छूट गयी हैं! इसलिये उनमें बार-बार संशोधन-परिवर्धन किया जाता रहा। अत: पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे पहले लिखे गये विषयकी अपेक्षा बादमें लिखे गये विषयको ही महत्त्व दें और उसीको स्वीकार करें।

पूरी गीताकी टीकाके अलग-अलग कई खण्ड रहनेसे उनके पुनर्मुद्रणमें और उन सबके एक साथ प्राप्त होनेमें कठिनाई रहती है—ऐसा सोचकर अब पूरी गीताकी टीकाको एक जिल्दमें प्रस्तुत ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित किया गया है। ऐसा करनेसे पहले पूर्व-प्रकाशित सम्पूर्ण टीकाको एक बार पुन: देखा है और उसमें आवश्यक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन भी किया है। तेरहवें और चौदहवें अध्यायकी व्याख्या भी दुबारा लिखवायी गयी है। भाषा और शैलीको भी लगभग एक समान बनानेकी चेष्टा की गयी है। कई बातोंको अनावश्यक समझकर हटा दिया है, कई नयी बातें जोड़ दी हैं और कई बातोंको एक स्थानसे हटाकर दूसरे यथोचित स्थानपर दे दिया है। जिन बातोंकी ज्यादा पुनरुक्तियाँ हुई हैं, उनको यथासम्भव हटा दिया है, पर सर्वथा नहीं। विशेष ध्यान देनेयोग्य बातोंकी पुनरुक्तियोंको साधकोंके लिये उपयोगी समझकर नहीं हटाया है। इस कार्यमें बहुत-सी भूलें भी हो सकती हैं, जिसके लिये मेरी पाठकोंसे करबद्ध क्षमा-याचना है। साथ ही पाठकोंसे यह प्रार्थना है कि उनको जो भूलें दिखायी दें, उनको वे सूचित करनेकी कृपा करें। इससे आगेके संस्करणमें उनका सुधार करनेमें सुविधा रहेगी।

गीतासे सम्बन्धित कई नये-नये विषयोंका, खोजपूर्ण निबन्धोंका एक संग्रह अलगसे तैयार किया गया है, जिसको **'गीता-दर्पण'** नामसे प्रकाशित किया गया है।

गीताका मनन-विचार करनेसे और गीताकी टीका लिखवानेसे मुझे बहुत आध्यात्मिक लाभ हुआ है और गीताके विषयका बहुत स्पष्ट बोध भी हुआ है। दूसरे भाई-बहन भी यदि इसका मनन करेंगे, तो उनको भी आध्यात्मिक लाभ अवश्य होगा—ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है। गीताका मनन-विचार करनेसे लाभ होता है—इसमें मुझे कभी किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

कृष्णानुग्रहदायिका सकरुणा गीता समाराधिता
कर्मज्ञानविरागभक्तिरसिका मर्मार्थसंदर्शिका।
सोत्कण्ठं किल साधकैरनुदिनं पेपीयमाना सदा
कल्याणं परदेवतेव दिशती संजीवनी वर्धताम्॥*

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

---

* **कर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके रससे परिपूर्ण इस करुणामयी गीताकी भलीभाँति उपासना की जाय (मनन किया जाय, अर्थको गहराईसे समझा जाय) तो यह भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा प्रदान करनेवाली है। साधकोंके द्वारा उत्कण्ठापूर्वक सदा बार-बार पान की जानेवाली, गीताके पदोंका मार्मिक अर्थ दिखानेवाली और इष्टदेवके समान कल्याण प्रदान करनेवाली यह 'साधक-संजीवनी' निरन्तर वृद्धिको प्राप्त हो।**

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

श्रीमद्भगवद्गीता

(साधक-संजीवनी हिन्दी-टीकासहित)

गजाननं भूतगणादिसेवितं कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम्।
उमासुतं शोकविनाशकारकं नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम्॥[१]

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥[२]

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि निखिले जगति स्फुरन्तम्।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः॥[३]

१-जो गजके मुखवाले हैं, भूतगण आदिके द्वारा सेवित हैं, कैथ और जामुनके फलोंका बड़े सुन्दर ढंगसे भक्षण करनेवाले हैं, शोकका विनाश करनेवाले हैं और भगवती उमाके पुत्र हैं, उन विघ्नेश्वर गणेशजीके चरणकमलोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।

२-योगीलोग ध्यानद्वारा वशीभूत मनसे किसी निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिको देखते हैं तो देखते रहें, पर हमारे लिये तो यमुनाके तटपर जो कोई नील तेज दौड़ रहा है, वही नेत्रोंमें चिरकालतक चकाचौंध पैदा करता रहे।

३-अहो! जब मैं सम्पूर्ण जगत्‌में स्फुरित होनेवाले निरंजन, अजन्मा और पुरातन पुरुषका चिन्तन करता हूँ, तब मेरे हृदयमें अंजनसमूहके समान काले वर्णवाला कोई गोपशिशु बलात् स्फुरित होने लगता है।

न विद्या येषां श्रीर्न शरणमपीषन्न च गुणाः
परित्यक्ता लोकैरपि वृजिनयुक्ताः श्रुतिजडाः।
शरण्यं यं तेऽपि प्रसृतगुणमाश्रित्य सुजना
विमुक्तास्तं वन्दे यदुपतिमहं कृष्णममलम्॥[१]
यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः
स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम्।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभवत्
तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे॥[२]
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥[३]
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥[४]

१-जिनके पास न विद्या है, न धन है, न कोई सहारा है; जिनमें न कोई गुण है, न वेद-शास्त्रोंका ज्ञान है; जिनको संसारके लोगोंने पापी समझकर त्याग दिया है, ऐसे मनुष्य भी जिन शरणागतपालक प्रभुकी शरण लेकर सन्त बन जाते और मुक्त हो जाते हैं, उन विश्वविख्यात गुणोंवाले अमलात्मा यदुनाथ भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।

२-जिन करुणासिन्धु भगवान्की करुणाके लेशमात्रसे बालक ध्रुवने अपनी इष्ट वस्तुको प्राप्त करके श्रेष्ठ पुरुषोंके लोकको प्राप्त किया, दरिद्र सुदामाने लक्ष्मीको प्राप्त किया, अजामिल आदि पापियोंने मुक्तिको प्राप्त किया और गोवर्धन पर्वत भी पूज्य बन गया, उन शरणागत भक्तोंको अभीष्ट वस्तु देनेवाले शरण्य भगवान् माधवका मैं नित्य भजन करता हूँ।

३-जो वसुदेवजीके पुत्र, दिव्यरूपधारी, कंस एवं चाणूरका नाश करनेवाले और देवकीजीके लिये परम आनन्दस्वरूप हैं, उन जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।

४-भगवान् श्रीकृष्ण और मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुनको तथा सरस्वती और वेदव्यासजीको नमस्कार करके फिर महाभारतका कथन करना चाहिये।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

अवतरणिका—

पाण्डवोंने बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास समाप्त होनेपर जब प्रतिज्ञाके अनुसार अपना आधा राज्य माँगा, तब दुर्योधनने आधा राज्य तो क्या, तीखी सूईकी नोक-जितनी जमीन भी बिना युद्धके देनी स्वीकार नहीं की। अतः पाण्डवोंने माता कुन्तीकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पाण्डवों और कौरवोंका युद्ध होना निश्चित हो गया और तदनुसार दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी।

महर्षि वेदव्यासजीका धृतराष्ट्रपर बहुत स्नेह था। उस स्नेहके कारण उन्होंने धृतराष्ट्रके पास आकर कहा कि 'युद्ध होना और उसमें क्षत्रियोंका महान् संहार होना अवश्यम्भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता। यदि तुम युद्ध देखना चाहते हो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे सकता हूँ, जिससे तुम यहीं बैठे-बैठे युद्धको अच्छी तरहसे देख सकते हो।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं जन्मभर अन्धा रहा, अब अपने कुलके संहारको मैं देखना नहीं चाहता; परन्तु युद्ध कैसे हो रहा है—यह समाचार जरूर सुनना चाहता हूँ।' तब व्यासजीने कहा कि 'मैं संजयको दिव्य दृष्टि देता हूँ, जिससे यह सम्पूर्ण युद्धको, सम्पूर्ण घटनाओंको, सैनिकोंके मनमें आयी हुई बातोंको भी जान लेगा, सुन लेगा, देख लेगा और सब बातें तुम्हें सुना भी देगा।' ऐसा कहकर व्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान की।

निश्चित समयके अनुसार कुरुक्षेत्रमें युद्ध आरम्भ हुआ। दस दिनतक संजय युद्ध-स्थलमें ही रहे। जब पितामह भीष्म बाणोंके द्वारा रथसे गिरा दिये गये, तब संजयने हस्तिनापुरमें (जहाँ धृतराष्ट्र विराजमान थे) आकर धृतराष्ट्रको यह समाचार सुनाया। इस समाचारको सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा दुःख हुआ और वे विलाप करने लगे। फिर उन्होंने संजयसे युद्धका सारा वृत्तान्त सुनानेके लिये कहा। भीष्मपर्वके चौबीसवें अध्यायतक संजयने युद्ध-सम्बन्धी बातें धृतराष्ट्रको सुनायीं[१]। पचीसवें अध्यायके आरम्भमें धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—[२]

सञ्जय	= हे संजय![३]	**युयुत्सवः**	= युद्धकी इच्छावाले	**पाण्डवाः**	= पाण्डुके पुत्रोंने
धर्मक्षेत्रे	= धर्मभूमि			**एव**	= भी
कुरुक्षेत्रे	= कुरुक्षेत्रमें	**मामकाः**	= मेरे	**किम्**	= क्या
समवेताः	= इकट्ठे हुए	**च**	= और	**अकुर्वत**	= किया ?

१-महाभारतमें कुल अठारह पर्व हैं। उन पर्वोंके अन्तर्गत कई अवान्तर पर्व भी हैं। उनमेंसे (भीष्मपर्वके अन्तर्गत) यह 'श्रीमद्भगवद्गीतापर्व' है, जो भीष्मपर्वके तेरहवें अध्यायसे आरम्भ होकर बयालीसवें अध्यायमें समाप्त होता है।

२-वैशम्पायन और जनमेजयके संवादके अन्तर्गत 'धृतराष्ट्र-संजय-संवाद' है और धृतराष्ट्र तथा संजयके संवादके अन्तर्गत 'श्रीकृष्णार्जुन-संवाद' है।

३-संजयका जन्म गवल्गण नामक सूतसे हुआ था। ये मुनियोंके समान ज्ञानी और धर्मात्मा थे—'सञ्जयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात्' (महाभारत, आदि० ६३। ९७)। ये धृतराष्ट्रके मन्त्री थे।

व्याख्या—'**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**'—कुरुक्षेत्रमें देवताओंने यज्ञ किया था। राजा कुरुने भी यहाँ तपस्या की थी। यज्ञादि धर्ममय कार्य होनेसे तथा राजा कुरुकी तपस्याभूमि होनेसे इसको धर्मभूमि कुरुक्षेत्र कहा गया है।

यहाँ '**धर्मक्षेत्रे**' और '**कुरुक्षेत्रे**' पदोंमें '**क्षेत्र**' शब्द देनेमें धृतराष्ट्रका अभिप्राय है कि यह अपनी कुरुवंशियोंकी भूमि है। यह केवल लड़ाईकी भूमि ही नहीं है, प्रत्युत तीर्थभूमि भी है, जिसमें प्राणी जीते-जी पवित्र कर्म करके अपना कल्याण कर सकते हैं। इस तरह लौकिक और पारलौकिक सब तरहका लाभ हो जाय—ऐसा विचार करके एवं श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति लेकर ही युद्धके लिये यह भूमि चुनी गयी है।

संसारमें प्राय: तीन बातोंको लेकर लड़ाई होती है—भूमि, धन और स्त्री। इन तीनोंमें भी राजाओंका आपसमें लड़ना मुख्यत: जमीनको लेकर होता है। यहाँ '**कुरुक्षेत्रे**' पद देनेका तात्पर्य भी जमीनको लेकर लड़नेमें है। कुरुवंशमें धृतराष्ट्र और पाण्डुके पुत्र सब एक हो जाते हैं। कुरुवंशी होनेसे दोनोंका कुरुक्षेत्रमें अर्थात् राजा कुरुकी जमीनपर समान हक लगता है। इसलिये (कौरवोंद्वारा पाण्डवोंको उनकी जमीन न देनेके कारण) दोनों जमीनके लिये लड़ाई करने आये हुए हैं।

यद्यपि अपनी भूमि होनेके कारण दोनोंके लिये '**कुरुक्षेत्रे**' पद देना युक्तिसंगत, न्यायसंगत है, तथापि हमारी सनातन वैदिक संस्कृति ऐसी विलक्षण है कि कोई भी कार्य करना होता है तो वह धर्मको सामने रखकर ही होता है। युद्ध-जैसा कार्य भी धर्मभूमि—तीर्थभूमिमें ही करते हैं, जिससे युद्धमें मरनेवालोंका उद्धार हो जाय, कल्याण हो जाय। अत: यहाँ कुरुक्षेत्रके साथ '**धर्मक्षेत्रे**' पद आया है।

यहाँ आरम्भमें '**धर्म**' पदसे एक और बात भी मालूम होती है। अगर आरम्भके '**धर्म**' पदमेंसे '**धर्**' लिया जाय और अठारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकके '**मम**' पदमेंसे '**म**' लिया जाय, तो '**धर्म**' शब्द बन जाता है। अत: सम्पूर्ण गीता धर्मके अन्तर्गत है, अर्थात् धर्मका पालन करनेसे गीताके सिद्धान्तोंका पालन हो जाता है और गीताके सिद्धान्तोंके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे धर्मका अनुष्ठान हो जाता है।

इन '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**' पदोंसे सभी मनुष्योंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि कोई भी काम करना हो तो वह धर्मको सामने रखकर ही करना चाहिये। प्रत्येक कार्य सबके हितकी दृष्टिसे ही करना चाहिये, केवल अपने सुख-आरामकी दृष्टिसे नहीं; और कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें शास्त्रको सामने रखना चाहिये (गीता—सोलहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

'**समवेता युयुत्सवः**'—राजाओंके द्वारा बार-बार सन्धिका प्रस्ताव रखनेपर भी दुर्योधनने सन्धि करना स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णके कहनेपर भी मेरे पुत्र दुर्योधनने स्पष्ट कह दिया कि बिना युद्धके मैं तीखी सूईकी नोक-जितनी जमीन भी पाण्डवोंको नहीं दूँगा।[1] तब मजबूर होकर पाण्डवोंने भी युद्ध करना स्वीकार किया है। इस प्रकार मेरे पुत्र और पाण्डुपुत्र—दोनों ही सेनाओंके सहित युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए हैं।

दोनों सेनाओंमें युद्धकी इच्छा रहनेपर भी दुर्योधनमें युद्धकी इच्छा विशेषरूपसे थी। उसका मुख्य उद्देश्य राज्य-प्राप्तिका ही था। वह राज्य-प्राप्ति धर्मसे हो चाहे अधर्मसे, न्यायसे हो चाहे अन्यायसे, विहित रीतिसे हो चाहे निषिद्ध रीतिसे, किसी भी तरहसे हमें राज्य मिलना चाहिये—ऐसा उसका भाव था। इसलिये विशेषरूपसे दुर्योधनका पक्ष ही युयुत्सु अर्थात् युद्धकी इच्छावाला था।

पाण्डवोंमें धर्मकी मुख्यता थी। उनका ऐसा भाव था कि हम चाहे जैसा जीवन-निर्वाह कर लेंगे, पर अपने धर्ममें बाधा नहीं आने देंगे, धर्मके विरुद्ध नहीं चलेंगे। इस बातको लेकर महाराज युधिष्ठिर युद्ध नहीं करना चाहते थे। परन्तु जिस माँकी आज्ञासे युधिष्ठिरने चारों भाइयोंसहित द्रौपदीसे विवाह किया था, उस माँकी आज्ञा होनेके कारण ही महाराज युधिष्ठिरकी युद्धमें प्रवृत्ति हुई थी[2] अर्थात् केवल माँके

१-यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव। तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥ (महाभारत, उद्योग० १२७। २५)

२-माता कुन्ती बड़ी सहिष्णु थी। कष्टसे बचकर सुख, आराम, राज्य आदि चाहना—यह बात उसमें नहीं थी। वही एक ऐसी विलक्षण माता थी, जिसने भगवान्‌से विपत्तिका ही वरदान माँगा था। उसमें सुख-लोलुपता नहीं थी। परन्तु उसके मनमें दो बातोंको लेकर बड़ा दु:ख था। पहली बात, राज्यके लिये कौरव-पाण्डव आपसमें लड़ते, चाहे जो करते, पर मेरी प्यारी पुत्रवधू द्रौपदीको इन दुर्योधनादि दुष्टोंने सभामें नग्न करना चाहा, अपमानित करना चाहा—ऐसी घृणित चेष्टा करना मनुष्यता नहीं है। यह बात माता कुन्तीको बहुत बुरी लगी।

आज्ञा-पालनरूप धर्मसे ही युधिष्ठिर युद्धकी इच्छावाले हुए हैं। तात्पर्य है कि दुर्योधन आदि तो राज्यको लेकर ही युयुत्सु थे, पर पाण्डव धर्मको लेकर ही युयुत्सु बने थे।

'मामकाः पाण्डवाश्चैव'—पाण्डव धृतराष्ट्रको (अपने पिताके बड़े भाई होनेसे) पिताके समान समझते थे और उनकी आज्ञाका पालन करते थे। धृतराष्ट्रके द्वारा अनुचित आज्ञा देनेपर भी पाण्डव उचित-अनुचितका विचार न करके उनकी आज्ञाका पालन करते थे। अतः यहाँ **'मामकाः'** पदके अन्तर्गत कौरव[1] और पाण्डव दोनों आ जाते हैं। फिर भी **'पाण्डवाः'** पद अलग देनेका तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रका अपने पुत्रोंमें तथा पाण्डुपुत्रोंमें समान भाव नहीं था। उनमें पक्षपात था, अपने पुत्रोंके प्रति मोह था। वे दुर्योधन आदिको तो अपना मानते थे, पर पाण्डवोंको अपना नहीं मानते थे।[2] इस कारण उन्होंने अपने पुत्रोंके लिये **'मामकाः'** और पाण्डुपुत्रोंके लिये **'पाण्डवाः'** पदका प्रयोग किया है; क्योंकि जो भाव भीतर होते हैं, वे ही प्रायः वाणीसे बाहर निकलते हैं। इस द्वैधीभावके कारण ही धृतराष्ट्रको अपने कुलके संहारका दुःख भोगना पड़ा। इससे मनुष्यमात्रको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वह अपने घरोंमें, मुहल्लोंमें, गाँवोंमें, प्रान्तोंमें, देशोंमें, सम्प्रदायोंमें द्वैधीभाव अर्थात् ये अपने हैं, ये दूसरे हैं—ऐसा भाव न रखे। कारण कि द्वैधीभावसे आपसमें प्रेम, स्नेह नहीं होता, प्रत्युत कलह होती है।

यहाँ **'पाण्डवाः'** पदके साथ **'एव'** पद देनेका तात्पर्य है कि पाण्डव तो बड़े धर्मात्मा हैं; अतः उन्हें युद्ध नहीं करना चाहिये था। परन्तु वे भी युद्धके लिये रणभूमिमें आ गये तो वहाँ आकर उन्होंने क्या किया?

[**'मामकाः'** और **'पाण्डवाः'**[3]—इनमेंसे पहले **'मामकाः'** पदका उत्तर संजय आगेके (दूसरे) श्लोकसे तेरहवें श्लोकतक देंगे कि आपके पुत्र दुर्योधनने पाण्डवोंकी सेनाको देखकर द्रोणाचार्यके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करनेके लिये उनके पास जाकर पाण्डवोंके मुख्य-मुख्य सेनापतियोंके नाम लिये। उसके बाद दुर्योधनने अपनी सेनाके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके नाम लेकर उनके रण-कौशल आदिकी प्रशंसा की। दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये भीष्मजीने जोरसे शंख बजाया। उसको सुनकर कौरव-सेनामें शंख आदि बाजे बज उठे। फिर चौदहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक **'पाण्डवाः'** पदका उत्तर देंगे कि रथमें बैठे हुए पाण्डवपक्षीय भगवान् श्रीकृष्णने शंख बजाया। उसके बाद अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव आदिने अपने-अपने शंख बजाये, जिससे दुर्योधनकी सेनाका हृदय दहल गया। उसके बाद भी संजय पाण्डवोंकी बात कहते-कहते बीसवें श्लोकसे श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादका प्रसंग आरम्भ कर देंगे।]

'किमकुर्वत'—**'किम्'** शब्दके तीन अर्थ होते हैं—विकल्प, निन्दा (आक्षेप) और प्रश्न।

युद्ध हुआ कि नहीं ? इस तरहका विकल्प तो यहाँ लिया नहीं जा सकता; क्योंकि दस दिनतक युद्ध हो चुका है, और भीष्मजीको रथसे गिरा देनेके बाद संजय हस्तिनापुर आकर धृतराष्ट्रको वहाँकी घटना सुना रहे हैं।

'मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने यह क्या किया, जो कि युद्ध कर बैठे! उनको युद्ध नहीं करना चाहिये था'—ऐसी निन्दा या आक्षेप भी यहाँ नहीं लिया जा सकता; क्योंकि युद्ध तो

दूसरी बात, भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर आये तो दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, शकुनि आदिने भगवान्को पकड़कर कैद करना चाहा। इस बातको सुनकर कुन्तीके मनमें यह विचार हुआ कि अब इन दुष्टोंको जल्दी ही खत्म करना चाहिये। कारण कि इनके जीते रहनेसे इनके पाप बढ़ते ही चले जायँगे, जिससे इनका बहुत नुकसान होगा। इन्हीं दो कारणोंसे माता कुन्तीने पाण्डवोंको युद्धके लिये आज्ञा दी थी।

१-यद्यपि 'कौरव' शब्दके अन्तर्गत धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि और पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर आदि सभी आ जाते हैं, तथापि इस श्लोकमें धृतराष्ट्रने युधिष्ठिर आदिके लिये 'पाण्डव' शब्दका प्रयोग किया है। अतः व्याख्यामें 'कौरव' शब्द दुर्योधन आदिके लिये ही दिया गया है।

२-धृतराष्ट्रके मनमें द्वैधीभाव था कि दुर्योधन आदि मेरे पुत्र हैं और युधिष्ठिर आदि मेरे पुत्र नहीं हैं, प्रत्युत पाण्डुके पुत्र हैं। इस भावके कारण दुर्योधनका भीमको विष खिलाकर जलमें फेंक देना, लाक्षागृहमें पाण्डवोंको जलानेका प्रयत्न करना, युधिष्ठिरके साथ छलपूर्वक जुआ खेलना, पाण्डवोंका नाश करनेके लिये सेना लेकर वनमें जाना आदि कार्योंके करनेमें दुर्योधनको धृतराष्ट्रने कभी मना नहीं किया। कारण कि उनके भीतर यही भाव था कि अगर किसी तरह पाण्डवोंका नाश हो जाय, तो मेरे बेटोंका राज्य सुरक्षित रहेगा।

३-यहाँ आये 'मामकाः' और 'पाण्डवाः'का अलग-अलग वर्णन करनेकी दृष्टिसे ही आगे संजयके वचनोंमें 'दुर्योधनः' (१।२) और 'पाण्डवः' (१।१४) शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

चल ही रहा था और धृतराष्ट्रके भीतर भी आक्षेपपूर्वक पूछनेका भाव नहीं था।

यहाँ '**किम्**' शब्दका अर्थ प्रश्न लेना ही ठीक बैठता है। धृतराष्ट्र संजयसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी छोटी-बड़ी सब घटनाओंको अनुक्रमसे विस्तारपूर्वक ठीक-ठीक जाननेके लिये ही प्रश्न कर रहे हैं।

परिशिष्ट भाव—'मेरे पुत्र (**मामकाः**) और 'पाण्डुके पुत्र' (**पाण्डवाः**)—इस मतभेदसे ही राग-द्वेष पैदा हुए, जिससे लड़ाई हुई, हलचल हुई। धृतराष्ट्रके भीतर पैदा हुए राग-द्वेषका फल यह हुआ कि सौ-के-सौ कौरव मारे गये, पर पाण्डव एक भी नहीं मारा गया!

जैसे दही बिलोते हैं तो उसमें हलचल पैदा होती है, जिससे मक्खन निकलता है, ऐसे ही '**मामकाः**' और '**पाण्डवाः**' के भेदसे पैदा हुई हलचलसे अर्जुनके मनमें कल्याणकी अभिलाषा जाग्रत् हुई, जिससे भगवद्गीतारूपी मक्खन निकला!

तात्पर्य यह हुआ कि धृतराष्ट्रके मनमें होनेवाली हलचलसे लड़ाई पैदा हुई और अर्जुनके मनमें होनेवाली हलचलसे गीता प्रकट हुई!

सम्बन्ध—धृतराष्ट्रके प्रश्नका उत्तर संजय आगेके श्लोकसे देना आरम्भ करते हैं।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

संजय बोले—

तदा	= उस समय	**दृष्ट्वा**	= देखकर	**राजा**	= राजा
व्यूढम्	= वज्रव्यूहसे खड़ी हुई	**तु**	= और	**दुर्योधनः**	= दुर्योधन (यह)
		आचार्यम्	= द्रोणाचार्यके	**वचनम्**	= वचन
पाण्डवानीकम्	= पाण्डव-सेनाको	**उपसङ्गम्य**	= पास जाकर	**अब्रवीत्**	= बोला।

व्याख्या—'**तदा**'—जिस समय दोनों सेनाएँ युद्धके लिये खड़ी हुई थीं, उस समयकी बात संजय यहाँ '**तदा**' पदसे कहते हैं। कारण कि धृतराष्ट्रका प्रश्न 'युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया'—इस विषयको सुननेके लिये ही है।

'**दृष्ट्वा**[1] **पाण्डवानीकं व्यूढम्**'—पाण्डवोंकी वज्रव्यूह-से खड़ी सेनाको देखनेका तात्पर्य है कि पाण्डवोंकी सेना बड़ी ही सुचारुरूपसे और एक ही भावसे खड़ी थी अर्थात् उनके सैनिकोंमें दो भाव नहीं थे, मतभेद नहीं था[2]। उनके पक्षमें धर्म और भगवान् श्रीकृष्ण थे। जिसके पक्षमें धर्म और भगवान् होते हैं, उसका दूसरोंपर बड़ा असर पड़ता है। इसलिये संख्यामें कम होनेपर भी पाण्डवोंकी सेनाका तेज (प्रभाव) था और उसका दूसरोंपर बड़ा असर पड़ता था। अतः पाण्डव-सेनाका दुर्योधनपर भी बड़ा असर पड़ा, जिससे वह द्रोणाचार्यके पास जाकर नीतियुक्त गंभीर वचन बोलता है।

'**राजा दुर्योधनः**'—दुर्योधनको राजा कहनेका तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रका सबसे अधिक अपनापन (मोह) दुर्योधनमें ही था। परम्पराकी दृष्टिसे भी युवराज दुर्योधन ही था। राज्यके सब कार्योंकी देखभाल दुर्योधन ही करता था। धृतराष्ट्र तो नाममात्रके राजा थे। युद्ध होनेमें भी मुख्य हेतु दुर्योधन ही था। इन सभी कारणोंसे संजयने दुर्योधनके लिये

१-इस अध्यायमें तीन बार 'दृष्ट्वा' (देखकर) पदका प्रयोग हुआ है—पाण्डव-सेनाको देखकर दुर्योधनका द्रोणाचार्यके पास जाना (१। २); कौरव-सेनाको देखकर अर्जुनका धनुषको उठाना (१। २०); और अपने स्वजनों-(कुटुम्बियों-) को देखकर अर्जुनका मोहाविष्ट होना (१। २८)। इन तीनोंमेंसे दो 'दृष्ट्वा' तो आपसमें सेना देखनेके लिये आये हैं और एक 'दृष्ट्वा' स्वजनोंको देखनेके लिये आया है, जिससे अर्जुनका भाव बदल जाता है।

२-कौरव-सेनामें मतभेद था; क्योंकि दुर्योधन, दुःशासन आदि तो युद्ध करना चाहते थे, पर भीष्म, द्रोण, विकर्ण आदि युद्ध नहीं करना चाहते थे। यह नियम है कि जहाँ आपसमें मतभेद होता है, वहाँ तेज (प्रभाव) नहीं रहता—

काँच कटोरो कुम्भ पय मोती मिन्त अवास। ताल घाव तिरिया कटक फाटा करे बिनास॥

'राजा' शब्दका प्रयोग किया है।

'आचार्यमुपसङ्गम्य'—द्रोणाचार्यके पास जानेमें मुख्यतः तीन कारण मालूम देते हैं—

(१) अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये अर्थात् द्रोणाचार्यके भीतर पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करके उनको अपने पक्षमें विशेषतासे करनेके लिये दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया।

(२) व्यवहारमें गुरुके नाते आदर देनेके लिये भी द्रोणाचार्यके पास जाना उचित था।

(३) मुख्य व्यक्तिका सेनामें यथास्थान खड़े रहना बहुत आवश्यक होता है, अन्यथा व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसलिये दुर्योधनका द्रोणाचार्यके पास खुद जाना उचित ही था।

यहाँ शंका हो सकती है कि दुर्योधनको तो पितामह भीष्मके पास जाना चाहिये था, जो कि सेनापति थे। पर दुर्योधन गुरु द्रोणाचार्यके पास ही क्यों गया? इसका समाधान यह है कि द्रोण और भीष्म—दोनों उभय-पक्षपाती थे अर्थात् वे कौरव और पाण्डव—दोनोंका ही पक्ष रखते थे। उन दोनोंमें भी द्रोणाचार्यको ज्यादा राजी करना था; क्योंकि द्रोणाचार्यके साथ दुर्योधनका गुरुके नाते तो स्नेह था, पर कुटुम्बके नाते स्नेह नहीं था; और अर्जुनपर द्रोणाचार्यकी विशेष कृपा थी। अतः उनको राजी करनेके लिये दुर्योधनका उनके पास जाना ही उचित था। व्यवहारमें भी यह देखा जाता है कि जिसके साथ स्नेह नहीं है, उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये मनुष्य उसको ज्यादा आदर देकर राजी करता है।

दुर्योधनके मनमें यह विश्वास था कि भीष्मजी तो हमारे दादाजी ही हैं; अतः उनके पास न जाऊँ तो भी कोई बात नहीं है। न जानेसे अगर वे नाराज भी हो जायँगे तो मैं किसी तरहसे उनको राजी कर लूँगा। कारण कि पितामह भीष्मके साथ दुर्योधनका कौटुम्बिक सम्बन्ध और स्नेह था ही, भीष्मका भी उसके साथ कौटुम्बिक सम्बन्ध और स्नेह था। इसलिये भीष्मजीने दुर्योधनको राजी करनेके लिये जोरसे शंख बजाया है (पहले अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

'वचनमब्रवीत्'—यहाँ **'अब्रवीत्'** कहना ही पर्याप्त था; क्योंकि **'अब्रवीत्'** क्रियाके अन्तर्गत ही **'वचनम्'** आ जाता है अर्थात् दुर्योधन बोलेगा, तो वचन ही बोलेगा। इसलिये यहाँ **'वचनम्'** शब्दकी आवश्यकता नहीं थी। फिर भी **'वचनम्'** शब्द देनेका तात्पर्य है कि दुर्योधन नीतियुक्त गम्भीर वचन बोलता है, जिससे द्रोणाचार्यके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा हो जाय और वे हमारे ही पक्षमें रहते हुए ठीक तरहसे युद्ध करें। जिससे हमारी विजय हो जाय, हमारा स्वार्थ सिद्ध हो जाय।

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यके पास जाकर दुर्योधन क्या वचन बोला—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

आचार्य	= हे आचार्य!		धृष्टद्युम्नके	**पाण्डुपुत्राणाम्**	= पाण्डवोंकी
तव	= आपके		द्वारा	**एताम्**	= इस
धीमता	= बुद्धिमान्	**व्यूढाम्**	= व्यूहरचनासे	**महतीम्**	= बड़ी भारी
शिष्येण	= शिष्य		खड़ी	**चमूम्**	= सेनाको
द्रुपदपुत्रेण	= द्रुपदपुत्र		की हुई	**पश्य**	= देखिये!

व्याख्या—**'आचार्य'**—द्रोणके लिये 'आचार्य' सम्बोधन देनेमें दुर्योधनका यह भाव मालूम देता है कि आप हम सबके—कौरवों और पाण्डवोंके आचार्य हैं। शस्त्रविद्या सिखानेवाले होनेसे आप सबके गुरु हैं। इसलिये आपके मनमें किसीका पक्ष या आग्रह नहीं होना चाहिये।

'तव शिष्येण धीमता'—इन पदोंका प्रयोग करनेमें दुर्योधनका भाव यह है कि आप इतने सरल हैं कि अपने मारनेके लिये पैदा होनेवाले धृष्टद्युम्नको भी आपने अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सिखायी है; और वह आपका शिष्य धृष्टद्युम्न इतना बुद्धिमान् है कि उसने आपको मारनेके लिये आपसे ही अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सीखी है।

'द्रुपदपुत्रेण'—यह पद कहनेका आशय है कि आपको

मारनेके उद्देश्यको लेकर ही द्रुपदने याज और उपयाज नामक ब्राह्मणोंसे यज्ञ कराया, जिससे धृष्टद्युम्न पैदा हुआ। वही यह द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न आपके सामने (प्रतिपक्षमें) सेनापतिके रूपमें खड़ा है।

यद्यपि दुर्योधन यहाँ 'द्रुपदपुत्र'के स्थानपर 'धृष्टद्युम्न' भी कह सकता था, तथापि द्रोणाचार्यके साथ द्रुपद जो वैर रखता था, उस वैरभावको याद दिलानेके लिये दुर्योधन यहाँ **'द्रुपदपुत्रेण'** शब्दका प्रयोग करता है कि अब वैर निकालनेका अच्छा मौका है।

'पाण्डुपुत्राणाम् एतां व्यूढां महतीं चमूं पश्य'— द्रुपदपुत्रके द्वारा पाण्डवोंकी इस व्यूहाकार खड़ी हुई बड़ी भारी सेनाको देखिये। तात्पर्य है कि जिन पाण्डवोंपर आप स्नेह रखते हैं, उन्हीं पाण्डवोंने आपके प्रतिपक्षमें खास आपको मारनेवाले द्रुपदपुत्रको सेनापति बनाकर व्यूह-रचना करनेका अधिकार दिया है। अगर पाण्डव आपसे स्नेह रखते तो कम-से-कम आपको मारनेवालेको तो अपनी सेनाका मुख्य सेनापति नहीं बनाते, इतना अधिकार तो नहीं देते। परन्तु सब कुछ जानते हुए भी उन्होंने उसीको सेनापति बनाया है।

यद्यपि कौरवोंकी अपेक्षा पाण्डवोंकी सेना संख्यामें कम थी अर्थात् कौरवोंकी सेना ग्यारह अक्षौहिणी* और पाण्डवोंकी सेना सात अक्षौहिणी थी, तथापि दुर्योधन पाण्डवोंकी सेनाको बड़ी भारी बता रहा है। पाण्डवोंकी सेनाको बड़ी भारी कहनेमें दो भाव मालूम देते हैं—

(१) पाण्डवोंकी सेना ऐसे ढंगसे व्यूहाकार खड़ी हुई थी, जिससे दुर्योधनको थोड़ी सेना भी बहुत बड़ी दीख रही थी और (२) पाण्डव-सेनामें सब-के-सब योद्धा एक मतके थे। इस एकताके कारण पाण्डवोंकी थोड़ी सेना भी बलमें, उत्साहमें बड़ी मालूम दे रही थी। ऐसी सेनाको दिखाकर दुर्योधन द्रोणाचार्यसे यह कहना चाहता है कि युद्ध करते समय आप इस सेनाको सामान्य और छोटी न समझें। आप विशेष बल लगाकर सावधानीसे युद्ध करें। पाण्डवोंका सेनापति है तो आपका शिष्य द्रुपदपुत्र ही; अतः उसपर विजय करना आपके लिये कौन-सी बड़ी बात है!

'एतां पश्य' कहनेका तात्पर्य है कि यह पाण्डव-सेना युद्धके लिये तैयार होकर सामने खड़ी है। अतः हमलोग इस सेनापर किस तरहसे विजय कर सकते हैं— इस विषयमें आपको जल्दी-से-जल्दी निर्णय लेना चाहिये।

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यसे पाण्डवोंकी सेना देखनेके लिये प्रार्थना करके अब दुर्योधन उन्हें पाण्डव-सेनाके महारथियोंको दिखाता है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

अत्र = यहाँ (पाण्डवों-की सेनामें)
शूराः = बड़े-बड़े शूरवीर हैं,
महेष्वासाः = (जिनके) बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं
च = तथा (जो)
युधि = युद्धमें
भीमार्जुनसमाः = भीम और अर्जुनके समान हैं। (उनमें)
युयुधानः = युयुधान (सात्यकि),
विराटः = राजा विराट
च = और
महारथः = महारथी
द्रुपदः = द्रुपद (भी हैं।)
धृष्टकेतुः = धृष्टकेतु

* एक अक्षौहिणी सेनामें २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, ६५,६१० घोड़े और १,०९,३५० पैदल सैनिक होते हैं।
(महाभारत, आदि० २। २३—२६)

च	= और		दोनों भाई)	**उत्तमौजाः**	= उत्तमौजा (भी हैं।)
चेकितानः	= चेकितान	**च**	= तथा	**सौभद्रः**	= सुभद्रापुत्र अभिमन्यु
च	= तथा	**नरपुङ्गवः**	= मनुष्योंमें श्रेष्ठ	**च**	= और
वीर्यवान्	= पराक्रमी	**शैब्यः**	= शैब्य (भी हैं।)	**द्रौपदेयाः**	= द्रौपदीके पाँचों पुत्र (भी हैं।)
काशिराजः	= काशिराज (भी हैं।)	**विक्रान्तः**	= पराक्रमी	**सर्वे, एव**	= (ये) सब-के-सब
पुरुजित्	= पुरुजित्	**युधामन्युः**	= युधामन्यु	**महारथाः**	= महारथी हैं।
च	= और	**च**	= और		
कुन्तिभोजः	= कुन्तिभोज (—ये	**वीर्यवान्**	= पराक्रमी		

व्याख्या—**'अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि'**—जिनसे बाण चलाये जाते हैं, फेंके जाते हैं, उनका नाम 'इष्वास' अर्थात् धनुष है। ऐसे बड़े-बड़े इष्वास (धनुष) जिनके पास हैं, वे सभी 'महेष्वास' हैं। तात्पर्य है कि बड़े धनुषोंपर बाण चढ़ाने एवं प्रत्यंचा खींचनेमें बहुत बल लगता है। जोरसे खींचकर छोड़ा गया बाण विशेष मार करता है। ऐसे बड़े-बड़े धनुष पासमें होनेके कारण ये सभी बहुत बलवान् और शूरवीर हैं। ये मामूली योद्धा नहीं हैं। युद्धमें ये भीम और अर्जुनके समान हैं अर्थात् बलमें ये भीमके समान और अस्त्र-शस्त्रकी कलामें ये अर्जुनके समान हैं।

'युयुधानः'—युयुधान-(सात्यकि-) ने अर्जुनसे अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सीखी थी। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधनको नारायणी सेना देनेपर भी वह कृतज्ञ होकर अर्जुनके पक्षमें ही रहा, दुर्योधनके पक्षमें नहीं गया। द्रोणाचार्यके मनमें अर्जुनके प्रति द्वेषभाव पैदा करनेके लिये दुर्योधन महारथियोंमें सबसे पहले अर्जुनके शिष्य युयुधानका नाम लेता है। तात्पर्य है कि इस अर्जुनको तो देखिये! इसने आपसे ही अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखा है और आपने अर्जुनको यह वरदान भी दिया है कि संसारमें तुम्हारे समान और कोई धनुर्धर न हो, ऐसा प्रयत्न करूँगा*। इस तरह आपने तो अपने शिष्य अर्जुनपर इतना स्नेह रखा है, पर वह कृतघ्न होकर आपके विपक्षमें लड़नेके लिये खड़ा है, जबकि अर्जुनका शिष्य युयुधान उसीके पक्षमें खड़ा है।

[युयुधान महाभारतके युद्धमें न मरकर यादवोंके आपसी युद्धमें मारे गये।]

'विराटश्च'—जिसके कारण हमारे पक्षका वीर सुशर्मा अपमानित किया गया, आपको सम्मोहन-अस्त्रसे मोहित होना पड़ा और हमलोगोंको भी जिसकी गायें छोड़कर युद्धसे भागना पड़ा, वह राजा विराट आपके प्रतिपक्षमें खड़ा है।

राजा विराटके साथ द्रोणाचार्यका ऐसा कोई वैरभाव या द्वेषभाव नहीं था; परन्तु दुर्योधन यह समझता है कि अगर युयुधानके बाद मैं द्रुपदका नाम लूँ तो द्रोणाचार्यके मनमें यह भाव आ सकता है कि दुर्योधन पाण्डवोंके विरोधमें मेरेको उकसाकर युद्धके लिये विशेषतासे प्रेरणा कर रहा है तथा मेरे मनमें पाण्डवोंके प्रति वैरभाव पैदा कर रहा है। इसलिये दुर्योधन द्रुपदके नामसे पहले विराटका नाम लेता है, जिससे द्रोणाचार्य मेरी चालाकी न समझ सकें और विशेषतासे युद्ध करें।

[राजा विराट उत्तर, श्वेत और शंख नामक तीनों पुत्रोंसहित महाभारत-युद्धमें मारे गये।]

'द्रुपदश्च महारथः'—आपने तो द्रुपदको पहलेकी मित्रता याद दिलायी, पर उसने सभामें यह कहकर आपका अपमान किया कि मैं राजा हूँ और तुम भिक्षुक हो; अतः मेरी-तुम्हारी मित्रता कैसी? तथा वैरभावके कारण आपको मारनेके लिये पुत्र भी पैदा किया, वही महारथी द्रुपद आपसे लड़नेके लिये विपक्षमें खड़ा है।

[राजा द्रुपद युद्धमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये।]

'धृष्टकेतुः'—यह धृष्टकेतु कितना मूर्ख है कि जिसके पिता शिशुपालको कृष्णने भरी सभामें चक्रसे मार डाला था, उसी कृष्णके पक्षमें यह लड़नेके लिये खड़ा है!

[धृष्टकेतु द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये।]

'चेकितानः'—सब यादवसेना तो हमारी ओरसे लड़नेके लिये तैयार है और यह यादव चेकितान पाण्डवोंकी सेनामें खड़ा है!

---

* **प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः। त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥**

(महाभारत, आदि० १३१। २७)

[चेकितान दुर्योधनके हाथसे मारे गये।]

'काशिराजश्च वीर्यवान्'—यह काशिराज बड़ा ही शूरवीर और महारथी है। यह भी पाण्डवोंकी सेनामें खड़ा है। इसलिये आप सावधानीसे युद्ध करना; क्योंकि यह बड़ा पराक्रमी है।

[काशिराज महाभारत-युद्धमें मारे गये।]

'पुरुजित्कुन्तिभोजश्च'—यद्यपि पुरुजित् और कुन्तिभोज—ये दोनों कुन्तीके भाई होनेसे हमारे और पाण्डवोंके मामा हैं, तथापि इनके मनमें पक्षपात होनेके कारण ये हमारे विपक्षमें युद्ध करनेके लिये खड़े हैं।

[पुरुजित् और कुन्तिभोज—दोनों ही युद्धमें द्रोणाचार्यके हाथसे मारे गये।]

'शैब्यश्च नरपुङ्गवः'—यह शैब्य युधिष्ठिरका श्वशुर है। यह मनुष्योंमें श्रेष्ठ और बहुत बलवान् है। परिवारके नाते यह भी हमारा सम्बन्धी है। परन्तु यह पाण्डवोंके ही पक्षमें खड़ा है।

'युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्'—पांचालदेशके बड़े बलवान् और वीर योद्धा युधामन्यु तथा उत्तमौजा मेरे वैरी अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षामें नियुक्त किये गये हैं। आप इनकी ओर भी नजर रखना।

[रातमें सोते हुए इन दोनोंको अश्वत्थामाने मार डाला।]

'सौभद्रः'—यह कृष्णकी बहन सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु है। यह बहुत शूरवीर है। इसने गर्भमें ही चक्रव्यूह-भेदनकी विद्या सीखी है। अतः चक्रव्यूह-रचनाके समय आप इसका खयाल रखें।

[युद्धमें दुःशासनपुत्रके द्वारा अन्यायपूर्वक सिरपर गदाका प्रहार करनेसे अभिमन्यु मारे गये।]

'द्रौपदेयाश्च'—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—इन पाँचोंके द्वारा द्रौपदीके गर्भसे क्रमशः प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन पैदा हुए हैं। इन पाँचोंको आप देख लीजिये। द्रौपदीने भरी सभामें मेरी हँसी उड़ाकर मेरे हृदयको जलाया है, उसीके इन पाँचों पुत्रोंको युद्धमें मारकर आप उसका बदला चुकायें।

[रातमें सोते हुए इन पाँचोंको अश्वत्थामाने मार डाला।]

'सर्व एव महारथाः'—ये सब-के-सब महारथी हैं। जो शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनोंमें प्रवीण हैं और युद्धमें अकेले ही एक साथ दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंका संचालन कर सकता है, उस वीर पुरुषको 'महारथी' कहते हैं*। ऐसे बहुत-से महारथी पाण्डव-सेनामें खड़े हैं।

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष पैदा करने और युद्धके लिये जोश दिलानेके लिये दुर्योधनने पाण्डव-सेनाकी विशेषता बतायी। दुर्योधनके मनमें विचार आया कि द्रोणाचार्य पाण्डवोंके पक्षपाती हैं ही; अतः वे पाण्डव-सेनाकी महत्ता सुनकर मेरेको यह कह सकते हैं कि जब पाण्डवोंकी सेनामें इतनी विशेषता है, तो उनके साथ तू सन्धि क्यों नहीं कर लेता? ऐसा विचार आते ही दुर्योधन आगेके तीन श्लोकोंमें अपनी सेनाकी विशेषता बताता है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

द्विजोत्तम	= हे द्विजोत्तम!	**तान्**	= उनपर (भी आप)	**मम**	= मेरी
अस्माकम्	= हमारे पक्षमें	**निबोध**	= ध्यान दीजिये।	**सैन्यस्य**	= सेनाके (जो)
तु	= भी	**ते**	= आपको	**नायकाः**	= नायक हैं,
ये	= जो	**सञ्ज्ञार्थम्**	= याद दिलानेके लिये	**तान्**	= उनको (मैं)
विशिष्टाः	= मुख्य (हैं),			**ब्रवीमि**	= कहता हूँ।

व्याख्या—**'अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम'**—दुर्योधन द्रोणाचार्यसे कहता है कि हे द्विजश्रेष्ठ! जैसे पाण्डवोंकी सेनामें श्रेष्ठ महारथी हैं, ऐसे ही हमारी सेनामें भी उनसे कम विशेषतावाले महारथी नहीं हैं, प्रत्युत उनकी सेनाके महारथियोंकी अपेक्षा ज्यादा ही विशेषता रखनेवाले हैं। उनको भी आप समझ लीजिये।

तीसरे श्लोकमें **'पश्य'** और यहाँ **'निबोध'** क्रिया देनेका तात्पर्य है कि पाण्डवोंकी सेना तो सामने खड़ी है, इसलिये उसको देखनेके लिये दुर्योधन **'पश्य'** (देखिये) क्रियाका प्रयोग करता है। परन्तु अपनी सेना सामने नहीं है अर्थात्

* **एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥**

अपनी सेनाकी तरफ द्रोणाचार्यकी पीठ है, इसलिये उसको देखनेकी बात न कहकर उसपर ध्यान देनेके लिये दुर्योधन **'निबोध'** (ध्यान दीजिये) क्रियाका प्रयोग करता है।

'नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते'—मेरी सेनामें भी जो विशिष्ट-विशिष्ट सेनापति हैं, सेनानायक हैं, महारथी हैं, मैं उनके नाम केवल आपको याद दिलानेके लिये, आपकी दृष्टि उधर खींचनेके लिये ही कह रहा हूँ।

'सञ्ज्ञार्थम्' पदका तात्पर्य है कि हमारे बहुत-से सेनानायक हैं, उनके नाम मैं कहाँतक कहूँ; इसलिये मैं उनका केवल संकेतमात्र करता हूँ; क्योंकि आप तो सबको जानते ही हैं।

इस श्लोकमें दुर्योधनका ऐसा भाव प्रतीत होता है कि हमारा पक्ष किसी भी तरह कमजोर नहीं है। परन्तु राजनीतिके अनुसार शत्रुपक्ष चाहे कितना ही कमजोर हो और अपना पक्ष चाहे कितना ही सबल हो, ऐसी अवस्थामें भी शत्रुपक्षको कमजोर नहीं समझना चाहिये और अपनेमें उपेक्षा, उदासीनता आदिकी भावना किंचिन्मात्र भी नहीं आने देनी चाहिये। इसलिये सावधानीके लिये मैंने उनकी सेनाकी बात कही और अब अपनी सेनाकी बात कहता हूँ।

दूसरा भाव यह है कि पाण्डवोंकी सेनाको देखकर दुर्योधनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसके मनमें कुछ भय भी हुआ। कारण कि संख्यामें कम होते हुए भी पाण्डव-सेनाके पक्षमें बहुत-से धर्मात्मा पुरुष थे और स्वयं भगवान् थे। जिस पक्षमें धर्म और भगवान् रहते हैं, उसका सबपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पापी-से-पापी, दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्तिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। कारण कि धर्म और भगवान् नित्य हैं। कितनी ही ऊँची-से-ऊँची भौतिक शक्तियाँ क्यों न हों, हैं वे सभी अनित्य ही। इसलिये दुर्योधनपर पाण्डव-सेनाका बड़ा असर पड़ा। परन्तु उसके भीतर भौतिक बलका विश्वास मुख्य होनेसे वह द्रोणाचार्यको विश्वास दिलानेके लिये कहता है कि हमारे पक्षमें जितनी विशेषता है, उतनी पाण्डवोंकी सेनामें नहीं है। अतः हम उनपर सहज ही विजय कर सकते हैं।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

भवान्	= आप (द्रोणाचार्य)	**कर्णः**	= कर्ण	**एव**	= ही
च	= और	**च**	= और	**अश्वत्थामा**	= अश्वत्थामा,
भीष्मः	= पितामह भीष्म	**समितिञ्जयः**	= संग्रामविजयी	**विकर्णः**	= विकर्ण
च	= तथा	**कृपः**	= कृपाचार्य	**च**	= और
		च	= तथा	**सौमदत्तिः**	= सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा।
		तथा	= वैसे		

व्याख्या—**'भवान् भीष्मश्च'**—आप और पितामह भीष्म—दोनों ही बहुत विशेष पुरुष हैं। आप दोनोंके समकक्ष संसारमें तीसरा कोई भी नहीं है। अगर आप दोनोंमेंसे कोई एक भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करे, तो देवता, यक्ष, राक्षस, मनुष्य आदिमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो कि आपके सामने टिक सके। आप दोनोंके पराक्रमकी बात जगत्में प्रसिद्ध ही है। पितामह भीष्म तो आबाल ब्रह्मचारी हैं, और इच्छामृत्यु हैं अर्थात् उनकी इच्छाके बिना उन्हें कोई मार ही नहीं सकता।

[महाभारत-युद्धमें द्रोणाचार्य धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये और पितामह भीष्मने अपनी इच्छासे ही सूर्यके उत्तरायण होनेपर अपने प्राणोंका त्याग कर दिया।]

'कर्णश्च'—कर्ण तो बहुत ही शूरवीर है। मुझे तो ऐसा विश्वास है कि वह अकेला ही पाण्डव-सेनापर विजय प्राप्त कर सकता है। उसके सामने अर्जुन भी कुछ नहीं कर सकता। ऐसा वह कर्ण भी हमारे पक्षमें है।

[कर्ण महाभारत-युद्धमें अर्जुनके द्वारा मारे गये।]

'कृपश्च समितिञ्जयः'—कृपाचार्यकी तो बात ही क्या है! वे तो चिरंजीवी हैं,* हमारे परम हितैषी हैं और सम्पूर्ण पाण्डव-सेनापर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

*** अश्वत्थामा, बलि, वेदव्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम और मार्कण्डेय—ये आठ चिरंजीवी हैं। शास्त्रमें लिखा है—**

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥ (पद्मपुराण ४९। ७)

यद्यपि यहाँ द्रोणाचार्य और भीष्मके बाद ही दुर्योधनको कृपाचार्यका नाम लेना चाहिये था; परन्तु दुर्योधनको कर्णपर जितना विश्वास था, उतना कृपाचार्यपर नहीं था। इसलिये कर्णका नाम तो भीतरसे बीचमें ही निकल पड़ा। द्रोणाचार्य और भीष्म कहीं कृपाचार्यका अपमान न समझ लें, इसलिये दुर्योधन कृपाचार्यको 'संग्रामविजयी' विशेषण देकर उनको प्रसन्न करना चाहता है।

'अश्वत्थामा'—ये भी चिरंजीवी हैं और आपके ही पुत्र हैं। ये बड़े ही शूरवीर हैं। इन्होंने आपसे ही अस्त्र-शस्त्रकी विद्या सीखी है। अस्त्र-शस्त्रकी कलामें ये बड़े चतुर हैं।

'विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च'—आप यह न समझें कि केवल पाण्डव ही धर्मात्मा हैं, हमारे पक्षमें भी मेरा भाई विकर्ण बड़ा धर्मात्मा और शूरवीर है। ऐसे ही हमारे प्रपितामह शान्तनुके भाई बाह्लीकके पौत्र तथा सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा भी बड़े धर्मात्मा हैं। इन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेक यज्ञ किये हैं। ये बड़े शूरवीर और महारथी हैं।

[युद्धमें विकर्ण भीमके द्वारा और भूरिश्रवा सात्यकिके द्वारा मारे गये।]

यहाँ इन शूरवीरोंके नाम लेनेमें दुर्योधनका यह भाव मालूम देता है कि हे आचार्य! हमारी सेनामें आप, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य आदि जैसे महान् पराक्रमी शूरवीर हैं, ऐसे पाण्डवोंकी सेनामें देखनेमें नहीं आते। हमारी सेनामें कृपाचार्य और अश्वत्थामा—ये दो चिरंजीवी हैं, जबकि पाण्डवोंकी सेनामें ऐसा एक भी नहीं है। हमारी सेनामें धर्मात्माओंकी भी कमी नहीं है। इसलिये हमारे लिये डरनेकी कोई बात नहीं है।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥

अन्ये = इनके अतिरिक्त
बहवः = बहुत-से
शूराः = शूरवीर हैं, (जिन्होंने)
मदर्थे = मेरे लिये
त्यक्तजीविताः = अपने जीनेकी इच्छाका भी त्याग कर दिया है,
च = और
नानाशस्त्रप्रहरणाः = जो अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेवाले हैं (तथा जो)
सर्वे = सब-के-सब
युद्धविशारदाः = युद्धकलामें अत्यन्त चतुर हैं।

व्याख्या—**'अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्त-जीविताः'**—मैंने अभीतक अपनी सेनाके जितने शूरवीरोंके नाम लिये हैं, उनके अतिरिक्त भी हमारी सेनामें बाह्लीक, शल्य, भगदत्त, जयद्रथ आदि बहुत-से शूरवीर महारथी हैं, जो मेरी भलाईके लिये, मेरी ओरसे लड़नेके लिये अपने जीनेकी इच्छाका त्याग करके यहाँ आये हैं। वे मेरी विजयके लिये मर भले ही जायँ, पर युद्धसे हटेंगे नहीं। उनकी मैं आपके सामने क्या कृतज्ञता प्रकट करूँ?

'नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः'—ये सभी लोग हाथमें रखकर प्रहार करनेवाले तलवार, गदा, त्रिशूल आदि नाना प्रकारके शस्त्रोंकी कलामें निपुण हैं; और हाथसे फेंककर प्रहार करनेवाले बाण, तोमर, शक्ति आदि अस्त्रोंकी कलामें भी निपुण हैं। युद्ध कैसे करना चाहिये; किस तरहसे, किस पैंतरेसे और किस युक्तिसे युद्ध करना चाहिये; सेनाको किस तरह खड़ी करनी चाहिये आदि युद्धकी कलाओंमें भी ये बड़े निपुण हैं, कुशल हैं।

सम्बन्ध—दुर्योधनकी बातें सुनकर जब द्रोणाचार्य कुछ भी नहीं बोले, तब अपनी चालाकी न चल सकनेसे दुर्योधनके मनमें क्या विचार आता है—इसको संजय आगेके श्लोकमें कहते हैं।*

सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्। जीवेद्वर्षशतं सोऽपि सर्वव्याधिविवर्जितः॥

*** संजय व्यासप्रदत्त दिव्य दृष्टिसे सैनिकोंके मनमें आयी बातको भी जान लेनेमें समर्थ थे—**

प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि। मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति सञ्जयः॥

(महाभारत, भीष्म० २। ११)

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

द्रोणाचार्यको चुप देखकर दुर्योधनके मनमें विचार हुआ कि वास्तवमें—

अस्माकम्	= हमारी
तत्	= वह
बलम्	= सेना (पाण्डवोंपर विजय करनेमें)
अपर्याप्तम्	= अपर्याप्त है, असमर्थ है; (क्योंकि)
भीष्माभिरक्षितम्	= उसके संरक्षक (उभयपक्षपाती) भीष्म हैं।
तु	= परन्तु
एतेषाम्	= इन पाण्डवोंकी
इदम्	= यह
बलम्	= सेना (हमपर विजय करनेमें)
पर्याप्तम्	= पर्याप्त है, समर्थ है; (क्योंकि)
भीमाभिरक्षितम्	= इसके संरक्षक (निजसेनापक्षपाती) भीमसेन हैं।

व्याख्या—**'अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्'**—अधर्म—अन्यायके कारण दुर्योधनके मनमें भय होनेसे वह अपनी सेनाके विषयमें सोचता है कि हमारी सेना बड़ी होनेपर भी अर्थात् पाण्डवोंकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक होनेपर भी पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेमें है तो असमर्थ ही! कारण कि हमारी सेनामें मतभेद है। उसमें इतनी एकता (संगठन), निर्भयता, निःसंकोचता नहीं है, जितनी कि पाण्डवोंकी सेनामें है। हमारी सेनाके मुख्य संरक्षक पितामह भीष्म उभयपक्षपाती हैं अर्थात् उनके भीतर कौरव और पाण्डव—दोनों सेनाओंका पक्ष है। वे कृष्णके बड़े भक्त हैं। उनके हृदयमें युधिष्ठिरका बड़ा आदर है। अर्जुनपर भी उनका बड़ा स्नेह है। इसलिये वे हमारे पक्षमें रहते हुए भी भीतरसे पाण्डवोंका भला चाहते हैं। वे ही भीष्म हमारी सेनाके मुख्य सेनापति हैं। ऐसी दशामें हमारी सेना पाण्डवोंके मुकाबलेमें कैसे समर्थ हो सकती है? नहीं हो सकती।

'पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्'—परन्तु यह जो पाण्डवोंकी सेना है, यह हमारेपर विजय करनेमें समर्थ है। कारण कि इनकी सेनामें मतभेद नहीं है, प्रत्युत सभी एकमत होकर संगठित हैं। इनकी सेनाका संरक्षक बलवान् भीमसेन है, जो कि बचपनसे ही मेरेको हराता आया है। यह अकेला ही मेरेसहित सौ भाइयोंको मारनेकी प्रतिज्ञा कर चुका है अर्थात् यह हमारा नाश करनेपर तुला हुआ है! इसका शरीर वज्रके समान मजबूत है। इसको मैंने जहर पिलाया था, तो भी यह मरा नहीं। ऐसा यह भीमसेन पाण्डवोंकी सेनाका संरक्षक है, इसलिये यह सेना वास्तवमें समर्थ है, पूर्ण है।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि दुर्योधनने अपनी सेनाके संरक्षकके लिये भीष्मजीका नाम लिया, जो कि सेनापतिके पदपर नियुक्त हैं। परन्तु पाण्डव-सेनाके संरक्षकके लिये भीमसेनका नाम लिया, जो कि सेनापति नहीं हैं। इसका समाधान यह है कि दुर्योधन इस समय सेनापतियोंकी बात नहीं सोच रहा है; किन्तु दोनों सेनाओंकी शक्तिके विषयमें सोच रहा है कि किस सेनाकी शक्ति अधिक है? दुर्योधनपर आरम्भसे ही भीमसेनकी शक्तिका, बलवत्ताका अधिक प्रभाव पड़ा हुआ है। अतः वह पाण्डव-सेनाके संरक्षकके लिये भीमसेनका ही नाम लेता है।

विशेष बात

अर्जुन कौरव-सेनाको देखकर किसीके पास न जाकर हाथमें धनुष उठाते हैं (गीता—पहले अध्यायका बीसवाँ श्लोक), पर दुर्योधन पाण्डवसेनाको देखकर द्रोणाचार्यके पास जाता है और उनसे पाण्डवोंकी व्यूहरचनायुक्त सेनाको देखनेके लिये कहता है। इससे सिद्ध होता है कि दुर्योधनके हृदयमें भय बैठा हुआ है*। भीतरमें भय होनेपर भी वह चालाकीसे द्रोणाचार्यको प्रसन्न करना चाहता है, उनको पाण्डवोंके विरुद्ध उकसाना चाहता है। कारण कि दुर्योधनके हृदयमें अधर्म है, अन्याय है, पाप है। अन्यायी, पापी व्यक्ति कभी निर्भय और सुख-शान्तिसे नहीं रह सकता—

*** जब कौरवोंकी सेनाके शंख आदि बाजे बजे, तब उनके शब्दका पाण्डव-सेनापर कुछ भी असर नहीं पड़ा। परन्तु जब पाण्डवोंकी सेनाके शंख बजे, तब उनके शब्दसे दुर्योधन आदिके हृदय विदीर्ण हो गये (१। १३,१९)। इससे सिद्ध होता है कि अधर्म—अन्यायका पक्ष लेनेके कारण दुर्योधन आदिके हृदय कमजोर हो गये थे और उनमें भय बैठा हुआ था।**

यह नियम है। परन्तु अर्जुनके भीतर धर्म है, न्याय है। इसलिये अर्जुनके भीतर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये चालाकी नहीं है, भय नहीं है; किन्तु उत्साह है, वीरता है। तभी तो वे वीरतामें आकर सेना-निरीक्षण करनेके लिये भगवान्‌को आज्ञा देते हैं कि 'हे अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरे रथको खड़ा कर दीजिये' (पहले अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इसका तात्पर्य है कि जिसके भीतर नाशवान् धन-सम्पत्ति आदिका आश्रय है, आदर है और जिसके भीतर अधर्म है, अन्याय है, दुर्भाव है, उसके भीतर वास्तविक बल नहीं होता। वह भीतरसे खोखला होता है और वह कभी निर्भय नहीं होता। परन्तु जिसके भीतर अपने धर्मका पालन है और भगवान्‌का आश्रय है, वह कभी भयभीत नहीं होता। उसका बल सच्चा होता है। वह सदा निश्चिन्त और निर्भय रहता है। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंको अधर्म, अन्याय आदिका सर्वथा त्याग करके और एकमात्र भगवान्‌का आश्रय लेकर भगवत्प्रीत्यर्थ अपने धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। भौतिक सम्पत्तिको महत्त्व देकर और संयोगजन्य सुखके प्रलोभनमें फँसकर कभी अधर्मका आश्रय नहीं लेना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंसे मनुष्यका कभी हित नहीं होता, प्रत्युत अहित ही होता है।

परिशिष्ट भाव— अर्जुनने अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान् श्रीकृष्णको स्वीकार किया था* और दुर्योधनने भगवान्‌को छोड़कर उनकी नारायणी सेनाको स्वीकार किया था। तात्पर्य है कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्‌पर थी और दुर्योधनकी दृष्टि वैभवपर थी। जिसकी दृष्टि भगवान्‌पर होती है, उसका हृदय बलवान् होता है; क्योंकि भगवान्‌का बल सच्चा है। परन्तु जिसकी दृष्टि सांसारिक वैभवपर होती है, उसका हृदय कमजोर होता है; क्योंकि संसारका बल कच्चा है।

सम्बन्ध—अब दुर्योधन पितामह भीष्मको प्रसन्न करनेके लिये अपनी सेनाके सभी महारथियोंसे कहता है—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

च	= दुर्योधन बाह्यदृष्टिसे अपनी सेनाके महारथियोंसे बोला—		लोग		रहते हुए
भवन्तः	= आप	**सर्वेषु**	= सभी	**हि**	= निश्चितरूपसे
सर्वे, एव	= सब-के-सब	**अयनेषु**	= मोर्चोंपर	**भीष्मम्**	= पितामह भीष्मकी
		यथाभागम्	= अपनी-अपनी जगह	**एव**	= ही
		अवस्थिताः	= दृढ़तासे स्थित	**अभिरक्षन्तु**	= चारों ओरसे रक्षा करें।

व्याख्या— **'अयनेषु च सर्वेषु.....भवन्तः सर्व एव हि'**—जिन-जिन मोर्चोंपर आपकी नियुक्ति कर दी गयी है, आप सभी योद्धालोग उन्हीं मोर्चोंपर दृढ़तासे स्थित रहते हुए सब तरफसे, सब प्रकारसे भीष्मजीकी रक्षा करें।

भीष्मजीकी सब ओरसे रक्षा करें—यह कहकर दुर्योधन भीष्मजीको भीतरसे अपने पक्षमें लाना चाहता है। ऐसा कहनेका दूसरा भाव यह है कि जब भीष्मजी युद्ध करें, तब किसी भी व्यूहद्वारसे शिखण्डी उनके सामने न आ जाय—इसका आपलोग खयाल रखें। अगर शिखण्डी उनके सामने आ जायगा, तो भीष्मजी उसपर शस्त्रास्त्र नहीं चलायेंगे। कारण कि शिखण्डी पहले जन्ममें भी स्त्री था और इस जन्ममें भी पहले स्त्री था, पीछे पुरुष बना है। इसलिये भीष्मजी इसको स्त्री ही समझते हैं और उन्होंने शिखण्डीसे युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा कर रखी है। यह शिखण्डी शंकरके वरदानसे भीष्मजीको मारनेके लिये ही पैदा हुआ है। अतः जब शिखण्डीसे भीष्मजीकी रक्षा हो जायगी, तो फिर वे सबको मार देंगे, जिससे निश्चित ही हमारी विजय होगी। इस बातको लेकर दुर्योधन सभी महारथियोंसे भीष्मजीकी रक्षा करनेके लिये कह रहा है।

---

* **एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः। अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम्॥ (महा, उद्योग० ७। २१)**

'श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र धनंजयने संग्रामभूमिमें (अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको छोड़कर) युद्ध न करनेवाले निःशस्त्र उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना।'

सम्बन्ध—द्रोणाचार्यके द्वारा कुछ भी न बोलनेके कारण दुर्योधनका मानसिक उत्साह भंग हुआ देखकर उसके प्रति भीष्मजीके किये हुए स्नेह-सौहार्दकी बात संजय आगेके श्लोकमें प्रकट करते हैं।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

तस्य	= उस (दुर्योधन)-के	**कुरुवृद्धः**	= कौरवोंमें वृद्ध	**विनद्य**	= गरजकर
हर्षम्	= (हृदयमें) हर्ष	**प्रतापवान्**	= प्रभावशाली	**उच्चैः**	= जोरसे
सञ्जनयन्	= उत्पन्न करते हुए	**पितामहः**	= पितामह भीष्मने	**शङ्खम्**	= शंख
		सिंहनादम्	= सिंहके समान	**दध्मौ**	= बजाया।

व्याख्या—'**तस्य सञ्जनयन् हर्षम्**'—यद्यपि दुर्योधनके हृदयमें हर्ष होना शंखध्वनिका कार्य है और शंखध्वनि कारण है, इसलिये यहाँ शंखध्वनिका वर्णन पहले और हर्ष होनेका वर्णन पीछे होना चाहिये अर्थात् यहाँ 'शंख बजाते हुए दुर्योधनको हर्षित किया'—ऐसा कहा जाना चाहिये। परन्तु यहाँ ऐसा न कहकर यही कहा है कि 'दुर्योधनको हर्षित करते हुए भीष्मजीने शंख बजाया'। कारण कि ऐसा कहकर संजय यह भाव प्रकट कर रहे हैं कि पितामह भीष्मकी शंखवादन क्रियामात्रसे दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न हो ही जायगा। भीष्मजीके इस प्रभावको द्योतन करनेके लिये ही संजय आगे '**प्रतापवान्**' विशेषण देते हैं।

'**कुरुवृद्धः**'—यद्यपि कुरुवंशियोंमें आयुकी दृष्टिसे भीष्मजीसे भी अधिक वृद्ध बाह्लीक थे (जो कि भीष्मजीके पिता शान्तनुके छोटे भाई थे), तथापि कुरुवंशियोंमें जितने बड़े-बूढ़े थे, उन सबमें भीष्मजी धर्म और ईश्वरको विशेषतासे जाननेवाले थे। अतः ज्ञानवृद्ध होनेके कारण संजय भीष्मजीके लिये '**कुरुवृद्धः**' विशेषण देते हैं।

'**प्रतापवान्**'—भीष्मजीके त्यागका बड़ा प्रभाव था। वे कनक-कामिनीके त्यागी थे अर्थात् उन्होंने राज्य भी स्वीकार नहीं किया और विवाह भी नहीं किया। भीष्मजी अस्त्र-शस्त्रको चलानेमें बड़े निपुण थे और शास्त्रके भी बड़े जानकार थे। उनके इन दोनों गुणोंका भी लोगोंपर बड़ा प्रभाव था।

जब अकेले भीष्म अपने भाई विचित्रवीर्यके लिये काशिराजकी कन्याओंको स्वयंवरसे हरकर ला रहे थे, तब वहाँ स्वयंवरके लिये इकट्ठे हुए सब क्षत्रिय उनपर टूट पड़े। परन्तु अकेले भीष्मजीने उन सबको हरा दिया। जिनसे भीष्म अस्त्र-शस्त्रकी विद्या पढ़े थे, उन गुरु परशुरामजीके सामने भी उन्होंने अपनी हार स्वीकार नहीं की। इस प्रकार शस्त्रके विषयमें उनका क्षत्रियोंपर बड़ा प्रभाव था।

जब भीष्म शर-शय्यापर सोये थे, तब भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराजसे कहा कि 'आपको धर्मके विषयमें कोई शंका हो तो भीष्मजीसे पूछ लें; क्योंकि शास्त्रज्ञानका सूर्य अस्ताचलको जा रहा है अर्थात् भीष्मजी इस लोकसे जा रहे हैं।*' इस प्रकार शास्त्रके विषयमें उनका दूसरोंपर बड़ा प्रभाव था।

'**पितामहः**'—इस पदका आशय यह मालूम देता है कि दुर्योधनके द्वारा चालाकीसे कही गयी बातोंका द्रोणाचार्यने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने यही समझा कि दुर्योधन चालाकीसे मेरेको ठगना चाहता है, इसलिये वे चुप ही रहे। परन्तु पितामह (दादा) होनेके नाते भीष्मजीको दुर्योधनकी चालाकीमें उसका बचपना दीखता है। अतः पितामह भीष्म द्रोणाचार्यके समान चुप न रहकर वात्सल्यभावके कारण दुर्योधनको हर्षित करते हुए शंख बजाते हैं।

'**सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ**'—जैसे सिंहके गर्जना करनेपर हाथी आदि बड़े-बड़े पशु भी भयभीत हो जाते हैं, ऐसे ही गर्जना करनेमात्रसे सभी भयभीत हो जायँ और दुर्योधन प्रसन्न हो जाय—इसी भावसे भीष्मजीने सिंहके समान गरजकर जोरसे शंख बजाया।

परिशिष्ट भाव—दुर्योधनके साथ द्रोणाचार्यका विद्याका सम्बन्ध था और भीष्मजीका जन्मका अर्थात् कौटुम्बिक सम्बन्ध था। जहाँ विद्याका सम्बन्ध होता है, वहाँ पक्षपात नहीं होता, पर जहाँ कौटुम्बिक सम्बन्ध होता है, वहाँ स्नेहवश पक्षपात हो जाता है। अतः दुर्योधनके द्वारा चालाकीसे कहे गये वचन सुनकर द्रोणाचार्य चुप रहे, जिससे दुर्योधनका मानसिक उत्साह भंग हो गया। परन्तु दुर्योधनको उदास देखकर कौटुम्बिक स्नेहके कारण भीष्मजी शंख बजाते हैं।

---

* **तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे। ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥ (महाभारत, शान्ति० ४६। २३)**

सम्बन्ध—पितामह भीष्मके द्वारा शंख बजानेका परिणाम क्या हुआ, इसको संजय आगेके श्लोकमें कहते हैं।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३ ॥

ततः	=उसके बाद	**पणवानकगोमुखाः**	=ढोल, मृदंग और नरसिंघे बाजे	**अभ्यहन्यन्त**	=बज उठे। (उनका)
शङ्खाः	=शंख			**सः**	=वह
च	=और			**शब्दः**	=शब्द
भेर्यः	=भेरी (नगाड़े)	**सहसा**	=एक साथ	**तुमुलः**	=बड़ा भयंकर
च	=तथा	**एव**	=ही	**अभवत्**	=हुआ।

व्याख्या—**'ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानक-गोमुखाः'**—यद्यपि भीष्मजीने युद्धारम्भकी घोषणा करनेके लिये शंख नहीं बजाया था, प्रत्युत दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शंख बजाया था, तथापि कौरव-सेनाने भीष्मजीके शंखवादनको युद्धकी घोषणा ही समझा। अतः भीष्मजीके शंख बजानेपर कौरव-सेनाके शंख आदि सब बाजे एक साथ बज उठे।

'शंख' समुद्रसे उत्पन्न होते हैं। ये ठाकुरजीकी सेवा-पूजामें रखे जाते हैं और आरती उतारने आदिके काममें आते हैं। मांगलिक कार्योंमें तथा युद्धके आरम्भमें ये मुखसे फूँक देकर बजाये जाते हैं। **'भेरी'** नाम नगाड़ोंका है (जो बड़े नगाड़े होते हैं, उनको नौबत कहते हैं)। ये नगाड़े लोहेके बने हुए और भैंसेके चमड़ेसे मढ़े हुए होते हैं, तथा लकड़ीके डंडेसे बजाये जाते हैं। ये मन्दिरोंमें एवं राजाओंके किलोंमें रखे जाते हैं। उत्सव और मांगलिक कार्योंमें ये विशेषतासे बजाये जाते हैं। राजाओंके यहाँ ये रोज बजाये जाते हैं। **'पणव'** नाम ढोलका है। ये लोहेके अथवा लकड़ीके बने हुए और बकरेके चमड़ेसे मढ़े हुए होते हैं तथा हाथसे या लकड़ीके डंडेसे बजाये जाते हैं। ये आकारमें ढोलकीकी तरह होनेपर भी ढोलकीसे बड़े होते हैं। कार्यके आरम्भमें पणवोंको बजाना गणेशजीके पूजनके समान मांगलिक माना जाता है। **'आनक'** नाम मृदंगका है। इनको पखावज भी कहते हैं। आकारमें ये लकड़ीकी बनायी हुई ढोलकीके समान होते हैं। ये मिट्टीके बने हुए और चमड़ेसे मढ़े हुए होते हैं तथा हाथसे बजाये जाते हैं। **'गोमुख'** नाम नरसिंघेका है। ये आकारमें साँपकी तरह टेढ़े होते हैं और इनका मुख गायकी तरह होता है। ये मुखकी फूँकसे बजाये जाते हैं।

'सहसैवाभ्यहन्यन्त'*—कौरव-सेनामें उत्साह बहुत था। इसलिये पितामह भीष्मका शंख बजते ही कौरव-सेनाके सब बाजे अनायास ही एक साथ बज उठे। उनके बजनेमें देरी नहीं हुई तथा उनको बजानेमें परिश्रम भी नहीं हुआ।

'स शब्दस्तुमुलोऽभवत्'—अलग-अलग विभागों-में, टुकड़ियोंमें खड़ी हुई कौरव-सेनाके शंख आदि बाजोंका शब्द बड़ा भयंकर हुआ अर्थात् उनकी आवाज बड़ी जोरसे गूँजती रही।

सम्बन्ध—इस अध्यायके आरम्भमें ही धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि युद्धक्षेत्रमें मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? अतः संजयने दूसरे श्लोकसे तेरहवें श्लोकतक 'धृतराष्ट्रके पुत्रोंने क्या किया'—इसका उत्तर दिया। अब आगेके श्लोकसे संजय 'पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया'—इसका उत्तर देते हैं।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

*** कर्मको अत्यन्त सुगमतापूर्वक द्योतन करनेके लिये जहाँ कर्म आदिको ही कर्ता बना दिया जाता है, उसको 'कर्मकर्तृ' प्रयोग कहते हैं। जैसे कोई लकड़ीको चीर रहा है, तो इस कर्मको सुगम बतानेके लिये 'लकड़ी चीरी जा रही है' ऐसा प्रयोग किया जाता है। ऐसे ही यहाँ 'बाजे बजाये गये' ऐसा प्रयोग होना चाहिये; परन्तु बाजे बजानेमें सुगमता बतानेके लिये, सेनाका उत्साह दिखानेके लिये 'बाजे बज उठे' ऐसा प्रयोग किया गया है।**

ततः	= उसके बाद	**स्यन्दने**	= रथपर	**पाण्डवः**	= पाण्डुपुत्र अर्जुनने
श्वेतैः	= सफेद	**स्थितौ**	= बैठे हुए	**एव**	= भी
हयैः	= घोड़ोंसे	**माधवः**	= लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण	**दिव्यौ**	= दिव्य
युक्ते	= युक्त			**शङ्खौ**	= शंखोंको
महति	= महान्	**च**	= और	**प्रदध्मतुः**	= बड़े जोरसे बजाया।

व्याख्या—**'ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते'**—चित्ररथ गन्धर्वने अर्जुनको सौ दिव्य घोड़े दिये थे। इन घोड़ोंमें यह विशेषता थी कि इनमेंसे युद्धमें कितने ही घोड़े क्यों न मारे जायँ, पर ये संख्यामें सौ-के-सौ ही बने रहते थे, कम नहीं होते थे। ये पृथ्वी, स्वर्ग आदि सभी स्थानोंमें जा सकते थे। इन्हीं सौ घोड़ोंमेंसे सुन्दर और सुशिक्षित चार सफेद घोड़े अर्जुनके रथमें जुते हुए थे।

'महति स्यन्दने स्थितौ'—यज्ञोंमें आहुतिरूपसे दिये गये घीको खाते-खाते अग्निको अजीर्ण हो गया था। इसीलिये अग्निदेव खाण्डववनकी विलक्षण-विलक्षण जड़ी-बूटियाँ खाकर (जलाकर) अपना अजीर्ण दूर करना चाहते थे। परन्तु देवताओंके द्वारा खाण्डववनकी रक्षा की जानेके कारण अग्निदेव अपने कार्यमें सफल नहीं हो पाते थे। वे जब-जब खाण्डववनको जलाते, तब-तब इन्द्र वर्षा करके उसको (अग्निको) बुझा देते। अन्तमें अर्जुनकी सहायतासे अग्निने उस पूरे वनको जलाकर अपना अजीर्ण दूर किया और प्रसन्न होकर अर्जुनको यह बहुत बड़ा रथ दिया। नौ बैलगाड़ियोंमें जितने अस्त्र-शस्त्र आ सकते हैं, उतने अस्त्र-शस्त्र इस रथमें पड़े रहते थे। यह सोनेसे मढ़ा हुआ और तेजोमय था। इसके पहिये बड़े ही दृढ़ एवं विशाल थे। इसकी ध्वजा बिजलीके समान चमकती थी। यह ध्वजा एक योजन (चार कोस) तक फहराया करती थी। इतनी लम्बी होनेपर भी इसमें न तो बोझ था, न यह कहीं रुकती थी और न कहीं वृक्ष आदिमें अटकती ही थी। इस ध्वजापर हनुमान्‌जी विराजमान थे।

'स्थितौ' कहनेका तात्पर्य है कि उस सुन्दर और तेजोमय रथपर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण और उनके प्यारे भक्त अर्जुनके विराजमान होनेसे उस रथकी शोभा और तेज बहुत ज्यादा बढ़ गया था।

'माधवः पाण्डवश्चैव'—'मा' नाम लक्ष्मीका है और 'धव' नाम पतिका है। अतः 'माधव' नाम लक्ष्मीपतिका है। यहाँ 'पाण्डव' नाम अर्जुनका है; क्योंकि अर्जुन सभी पाण्डवोंमें मुख्य हैं—**'पाण्डवानां धनञ्जयः'** (गीता १०। ३७)।

अर्जुन 'नर'के और श्रीकृष्ण 'नारायण'के अवतार थे। महाभारतके प्रत्येक पर्वके आरम्भमें नर (अर्जुन) और नारायण (भगवान् श्रीकृष्ण)-को नमस्कार किया गया है—**'नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।'** इस दृष्टिसे पाण्डव-सेनामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन—ये दोनों मुख्य थे। संजयने भी गीताके अन्तमें कहा है कि 'जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन रहेंगे, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अटल नीति रहेगी' (१८। ७८)।

'दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः'—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके हाथोंमें जो शंख थे, वे तेजोमय और अलौकिक थे। उन शंखोंको उन्होंने बड़े जोरसे बजाया।

यहाँ शंका हो सकती है कि कौरवपक्षमें मुख्य सेनापति पितामह भीष्म हैं, इसलिये उनका सबसे पहले शंख बजाना ठीक ही है; परन्तु पाण्डव-सेनामें मुख्य सेनापति धृष्टद्युम्नके रहते हुए ही सारथि बने हुए भगवान् श्रीकृष्णने सबसे पहले शंख क्यों बजाया? इसका समाधान है कि भगवान् सारथि बनें चाहे महारथी बनें, उनकी मुख्यता कभी मिट ही नहीं सकती। वे जिस किसी भी पदपर रहें, सदा सबसे बड़े ही बने रहते हैं। कारण कि वे अच्युत हैं, कभी च्युत होते ही नहीं। पाण्डव-सेनामें भगवान् श्रीकृष्ण ही मुख्य थे और वे ही सबका संचालन करते थे। जब वे बाल्यावस्थामें थे, उस समय भी नन्द, उपनन्द आदि उनकी बात मानते थे। तभी तो उन्होंने बालक श्रीकृष्णके कहनेसे परम्परासे चली आयी इन्द्र-पूजाको छोड़कर गोवर्धनकी पूजा करनी शुरू कर दी। तात्पर्य है कि भगवान् जिस किसी अवस्थामें, जिस किसी स्थानपर और जहाँ कहीं भी रहते हैं, वहाँ वे मुख्य ही रहते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने पाण्डव-सेनामें सबसे पहले शंख बजाया।

जो स्वयं छोटा होता है, वही ऊँचे स्थानपर नियुक्त होनेसे बड़ा माना जाता है। अतः जो ऊँचे स्थानके कारण अपनेको बड़ा मानता है, वह स्वयं वास्तवमें छोटा ही होता है। परंतु

जो स्वयं बड़ा होता है, वह जहाँ भी रहता है, उसके कारण वह स्थान भी बड़ा माना जाता है। जैसे भगवान् यहाँ सारथि बने हैं, तो उनके कारण वह सारथिका स्थान (पद) भी ऊँचा हो गया।

सम्बन्ध—अब संजय आगेके चार श्लोकोंमें पूर्वश्लोकका खुलासा करते हुए दूसरोंके शंखवादनका वर्णन करते हैं।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

हृषीकेशः = अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने
पाञ्चजन्यम् = पांचजन्य नामक (तथा)
धनञ्जयः = धनंजय अर्जुनने
देवदत्तम् = देवदत्त नामक (शंख बजाया और)
भीमकर्मा = भयानक कर्म करनेवाले
वृकोदरः = वृकोदर भीमने
पौण्ड्रम् = पौण्ड्र नामक
महाशङ्खम् = महाशंख
दध्मौ = बजाया।

व्याख्या—‘**पाञ्चजन्यं हृषीकेशः**’—सबके अन्तर्यामी अर्थात् सबके भीतरकी बात जाननेवाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके पक्षमें खड़े होकर ‘पांचजन्य’ नामक शंख बजाया। भगवान्‌ने पंचजन नामक शंखरूपधारी दैत्यको मारकर उसको शंखरूपसे ग्रहण किया था, इसलिये इस शंखका नाम ‘पांचजन्य’ हो गया।

‘**देवदत्तं धनञ्जयः**’—राजसूय यज्ञके समय अर्जुनने बहुत-से राजाओंको जीतकर बहुत धन इकट्ठा किया था। इस कारण अर्जुनका नाम ‘धनंजय’ पड़ गया*। निवातकवचादि दैत्योंके साथ युद्ध करते समय इन्द्रने अर्जुनको ‘देवदत्त’ नामक शंख दिया था। इस शंखकी ध्वनि बड़े जोरसे होती थी, जिससे शत्रुओंकी सेना घबरा जाती थी। इस शंखको अर्जुनने बजाया।

‘**पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः**’—हिडिम्बासुर, बकासुर, जटासुर आदि असुरों तथा कीचक, जरासन्ध आदि बलवान् वीरोंको मारनेके कारण भीमसेनका नाम ‘भीमकर्मा’ पड़ गया। उनके पेटमें जठराग्निके सिवाय ‘वृक’ नामकी एक विशेष अग्नि थी, जिससे बहुत अधिक भोजन पचता था। इस कारण उनका नाम ‘वृकोदर’ पड़ गया। ऐसे भीमकर्मा वृकोदर भीमसेनने बहुत बड़े आकारवाला ‘पौण्ड्र’ नामक शंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

कुन्तीपुत्रः = कुन्तीपुत्र
राजा = राजा
युधिष्ठिरः = युधिष्ठिरने
अनन्तविजयम् = अनन्तविजय नामक (शंख बजाया तथा)
नकुलः = नकुल
च = और
सहदेवः = सहदेवने
सुघोषमणिपुष्पकौ = सुघोष और मणिपुष्पक नामक (शंख बजाये)।

व्याख्या—‘**अनन्तविजयं राजा............सुघोषमणि-पुष्पकौ**’—अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर—ये तीनों कुन्तीके पुत्र हैं तथा नकुल और सहदेव—ये दोनों माद्रीके पुत्र हैं, यह विभाग दिखानेके लिये ही यहाँ युधिष्ठिरके लिये ‘कुन्तीपुत्र’ विशेषण दिया गया है।

युधिष्ठिरको ‘राजा’ कहनेका तात्पर्य है कि युधिष्ठिरजी वनवासके पहले अपने आधे राज्य-(इन्द्रप्रस्थ-)के राजा थे, और नियमके अनुसार बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके बाद वे राजा होने चाहिये थे। ‘राजा’ विशेषण देकर संजय यह भी संकेत करना चाहते हैं कि आगे चलकर धर्मराज युधिष्ठिर ही सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलके राजा होंगे।

* **सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम्। मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनञ्जयम्॥** (महाभारत, विराट० ४४। १३)

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥ १८॥

पृथिवीपते	= हे राजन्!	**विराटः**	= राजा विराट		भुजाओंवाले
परमेष्वासः	= श्रेष्ठ धनुषवाले	**च**	= और	**सौभद्रः**	= सुभद्रापुत्र अभिमन्यु (—इन सभीने)
काश्यः	= काशिराज	**अपराजितः**	= अजेय	**सर्वशः**	= सब ओरसे
च	= और	**सात्यकिः**	= सात्यकि,	**पृथक्, पृथक्**	= अलग-अलग (अपने-अपने)
महारथः	= महारथी	**द्रुपदः**	= राजा द्रुपद	**शङ्खान्**	= शंख
शिखण्डी	= शिखण्डी	**च**	= और	**दध्मुः**	= बजाये।
च	= तथा	**द्रौपदेयाः**	= द्रौपदीके पाँचों पुत्र		
धृष्टद्युम्नः	= धृष्टद्युम्न	**च**	= तथा		
च	= एवं	**महाबाहुः**	= लम्बी-लम्बी		

व्याख्या—**'काश्यश्च परमेष्वासः.....शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्'**—महारथी शिखण्डी बहुत शूरवीर था। यह पहले जन्ममें स्त्री (काशिराजकी कन्या अम्बा) था और इस जन्ममें भी राजा द्रुपदको पुत्रीरूपसे प्राप्त हुआ था। आगे चलकर यही शिखण्डी स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे पुरुषत्व प्राप्त करके पुरुष बना। भीष्मजी इन सब बातोंको जानते थे और शिखण्डीको स्त्री ही समझते थे। इस कारण वे इसपर बाण नहीं चलाते थे। अर्जुनने युद्धके समय इसीको आगे करके भीष्मजीपर बाण चलाये और उनको रथसे नीचे गिरा दिया।

अर्जुनका पुत्र अभिमन्यु बहुत शूरवीर था। युद्धके समय इसने द्रोणनिर्मित चक्रव्यूहमें घुसकर अपने पराक्रमसे बहुत-से वीरोंका संहार किया। अन्तमें कौरव-सेनाके छः महारथियोंने इसको अन्यायपूर्वक घेरकर इसपर शस्त्र-अस्त्र चलाये। दुःशासनपुत्रके द्वारा सिरपर गदाका प्रहार होनेसे इसकी मृत्यु हो गयी।

संजयने शंखवादनके वर्णनमें कौरव-सेनाके शूरवीरोंमेंसे केवल भीष्मजीका ही नाम लिया और पाण्डव-सेनाके शूरवीरोंमेंसे भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीम आदि अठारह वीरोंके नाम लिये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संजयके मनमें अधर्मके पक्ष-(कौरवसेना-) का आदर नहीं है। इसलिये वे अधर्मके पक्षका अधिक वर्णन करना उचित नहीं समझते। परन्तु उनके मनमें धर्मके पक्ष-(पाण्डवसेना-) का आदर होनेसे और भगवान् श्रीकृष्ण तथा पाण्डवोंके प्रति आदरभाव होनेसे वे उनके पक्षका ही अधिक वर्णन करना उचित समझते हैं और उनके पक्षका वर्णन करनेमें ही उनको आनन्द आ रहा है।

सम्बन्ध—पाण्डव-सेनाके शंखवादनका कौरवसेनापर क्या असर हुआ—इसको आगेके श्लोकमें कहते हैं।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

च	= और	**नभः**	= आकाश	**धार्तराष्ट्राणाम्**	= अन्यायपूर्वक राज्य हड़पनेवाले दुर्योधन आदिके
सः	= (पाण्डव-सेनाके शंखोंके) उस	**च**	= और	**हृदयानि**	= हृदय
तुमुलः	= भयंकर	**पृथिवीम्**	= पृथ्वीको	**व्यदारयत्**	= विदीर्ण कर दिये।
घोषः	= शब्दने	**एव**	= भी		
		व्यनुनादयन्	= गुँजाते हुए		

व्याख्या— **'स घोषो धार्तराष्ट्राणां.........तुमुलो व्यनुनादयन्'**—पाण्डव-सेनाकी वह शंखध्वनि इतनी विशाल, गहरी, ऊँची और भयंकर हुई कि उस (ध्वनि-प्रतिध्वनि-) से पृथ्वी और आकाशके बीचका भाग गूँज

उठा। उस शब्दसे अन्यायपूर्वक राज्यको हड़पनेवालोंके और उनकी सहायताके लिये (उनके पक्षमें) खड़े हुए राजाओंके हृदय विदीर्ण हो गये। तात्पर्य है कि हृदयको किसी अस्त्र-शस्त्रसे विदीर्ण करनेसे जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा उनके हृदयमें शंखध्वनिसे हो गयी। उस शंखध्वनिने कौरव-सेनाके हृदयमें युद्धका जो उत्साह था, बल था, उसको कमजोर बना दिया, जिससे उनके हृदयमें पाण्डव-सेनाका भय उत्पन्न हो गया।

संजय ये बातें धृतराष्ट्रको सुना रहे हैं। धृतराष्ट्रके सामने ही संजयका 'धृतराष्ट्रके पुत्रों अथवा सम्बन्धियोंके हृदय विदीर्ण कर दिये' ऐसा कहना सभ्यतापूर्ण और युक्तिसंगत नहीं मालूम देता। इसलिये संजयको **'धार्तराष्ट्राणाम्'** न कहकर **'तावकीनानाम्'** (आपके पुत्रों अथवा सम्बन्धियोंके— ऐसा) कहना चाहिये था; क्योंकि ऐसा कहना ही सभ्यता है। इस दृष्टिसे यहाँ **'धार्तराष्ट्राणाम्'** पदका अर्थ 'जिन्होंने अन्यायपूर्वक राज्यको धारण किया'[१]— ऐसा लेना ही युक्तिसंगत तथा सभ्यतापूर्ण मालूम देता है। अन्यायका पक्ष लेनेसे ही उनके हृदय विदीर्ण हो गये— इस दृष्टिसे भी यह अर्थ लेना ही युक्तिसंगत मालूम देता है।

यहाँ शंका होती है कि कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी[२] सेनाके शंख आदि बाजे बजे तो उनके शब्दका पाण्डवसेना-पर कुछ भी असर नहीं हुआ, पर पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाके शंख बजे तो उनके शब्दसे कौरव-सेनाके हृदय विदीर्ण क्यों हो गये? इसका समाधान यह है कि जिनके हृदयमें अधर्म, पाप, अन्याय नहीं है अर्थात् जो धर्मपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं, उनका हृदय मजबूत होता है, उनके हृदयमें भय नहीं होता। न्यायका पक्ष होनेसे उनमें उत्साह होता है, शूरवीरता होती है। पाण्डवोंने वनवासके पहले भी न्याय और धर्मपूर्वक राज्य किया था और वनवासके बाद भी नियमके अनुसार कौरवोंसे न्यायपूर्वक राज्य माँगा था। अतः उनके हृदयमें भय नहीं था, प्रत्युत उत्साह था, शूरवीरता थी। तात्पर्य है कि पाण्डवोंका पक्ष धर्मका था। इस कारण कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके बाजोंके शब्दका पाण्डव-सेनापर कोई असर नहीं हुआ। परन्तु जो अधर्म, पाप, अन्याय आदि करते हैं, उनके हृदय स्वाभाविक ही कमजोर होते हैं। उनके हृदयमें निर्भयता, निःशंकता नहीं रहती। उनका खुदका किया पाप, अन्याय ही उनके हृदयको निर्बल बना देता है। अधर्म अधर्मीको खा जाता है। दुर्योधन आदिने पाण्डवोंको अन्यायपूर्वक मारनेका बहुत प्रयास किया था। उन्होंने छल-कपटसे अन्यायपूर्वक पाण्डवोंका राज्य छीना था और उनको बहुत कष्ट दिये थे। इस कारण उनके हृदय कमजोर, निर्बल हो चुके थे। तात्पर्य है कि कौरवोंका पक्ष अधर्मका था। इसलिये पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाकी शंख-ध्वनिसे उनके हृदय विदीर्ण हो गये, उनमें बड़े जोरकी पीड़ा हो गयी।

इस प्रसंगसे साधकको सावधान हो जाना चाहिये कि उसके द्वारा अपने शरीर, वाणी, मनसे कभी भी कोई अन्याय और अधर्मका आचरण न हो। अन्याय और अधर्मयुक्त आचरणसे मनुष्यका हृदय कमजोर, निर्बल हो जाता है। उसके हृदयमें भय पैदा हो जाता है। उदाहरणार्थ, लंकाधिपति रावणसे त्रिलोकी डरती थी। वही रावण जब सीताजीका हरण करने जाता है, तब भयभीत होकर इधर-उधर देखता है[३]। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अन्याय—अधर्मयुक्त आचरण कभी न करे।

१-'अन्यायेन धृतं राष्ट्रं यैस्ते धृतराष्ट्राः' ऐसा बहुब्रीहि समास करनेके बाद 'धृतराष्ट्रा एव' इस विग्रहमें स्वार्थमें तद्धितका 'अण्' प्रत्यय किया गया, जिससे 'धार्तराष्ट्राः' यह रूप बन गया। यहाँ षष्ठी विभक्तिके प्रयोगकी आवश्यकता होनेसे षष्ठीमें 'धार्तराष्ट्राणाम्' ऐसा प्रयोग किया गया है।

२-दुर्योधनके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेनाका होना सम्भव ही नहीं था; परन्तु जब पाण्डव वनवासमें चले गये, तब दुर्योधनने धर्मराज युधिष्ठिरकी राज्य करनेकी नीतिको अपनाया। जैसे युधिष्ठिरजी अपना कर्तव्य समझकर प्रजाको सुख देनेके लिये धर्म और न्यायपूर्वक राज्य करते थे, ऐसे ही दुर्योधनने भी अपना राज्य स्थापित करनेके लिये, अपना प्रभाव जमानेके लिये प्रजाके साथ युधिष्ठिरके समान बर्ताव किया। तेरह वर्षतक प्रजाके साथ अच्छा बर्ताव करनेसे युद्धके समय बहुत सेना जुट गयी, जो कि पहले पाण्डवोंके पक्षमें थी और पाण्डवोंको चाहती थी। इस प्रकार नौ अक्षौहिणी सेना तो प्रजाके साथ अच्छे बर्तावके प्रभावसे दुर्योधनके पक्षमें हो गयी और भगवान् श्रीकृष्णकी एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको तथा मद्रराज शल्यकी एक अक्षौहिणी सेनाको दुर्योधनने चालाकीसे अपने पक्षमें कर लिया, जो कि पाण्डवोंके पक्षमें थी। अतः दुर्योधनके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेना और पाण्डवोंके पक्षमें सात अक्षौहिणी सेना थी।

३-सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती कें बेषा॥
जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥

सम्बन्ध—धृतराष्ट्रने पहले श्लोकमें अपने और पाण्डुके पुत्रोंके विषयमें प्रश्न किया था। उसका उत्तर संजयने दूसरे श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक दे दिया। अब संजय भगवद्गीताके प्राकट्यका प्रसंग आगेके श्लोकसे आरम्भ करते हैं।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

महीपते = हे महीपते धृतराष्ट्र! **अथ** = अब **शस्त्रसम्पाते** = शस्त्र चलनेकी **प्रवृत्ते** = तैयारी हो ही रही थी कि **तदा** = उस समय **धार्तराष्ट्रान्** = अन्यायपूर्वक राज्यको धारण करनेवाले राजाओं और उनके साथियोंको **व्यवस्थितान्** = व्यवस्थितरूपसे सामने खड़े हुए **दृष्ट्वा** = देखकर **कपिध्वजः** = कपिध्वज **पाण्डवः** = पाण्डुपुत्र अर्जुनने **धनुः** = (अपना) गाण्डीव धनुष **उद्यम्य** = उठा लिया (और) **हृषीकेशम्** = अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे **इदम्** = यह **वाक्यम्** = वचन **आह** = बोले।

व्याख्या—‘**अथ**’—इस पदका तात्पर्य है कि अब संजय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप ‘भगवद्गीता’ का आरम्भ करते हैं। अठारहवें अध्यायके चौहत्तरवें श्लोकमें आये ‘**इति**’ पदसे यह संवाद समाप्त होता है। ऐसे ही भगवद्गीताके उपदेशका आरम्भ उसके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे होता है और अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें यह उपदेश समाप्त होता है।

‘**प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते**’—यद्यपि पितामह भीष्मने युद्धारम्भकी घोषणाके लिये शंख नहीं बजाया था, प्रत्युत केवल दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शंख बजाया था, तथापि कौरव और पाण्डव-सेनाने उसको युद्धारम्भकी घोषणा ही मान लिया और अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र हाथमें उठाकर तैयार हो गये। इस तरह सेनाको शस्त्र उठाये देखकर वीरतामें भरकर अर्जुनने भी अपना गाण्डीव धनुष हाथमें उठा लिया।

‘**व्यवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा**’—इन पदोंसे संजयका तात्पर्य है कि जब आपके पुत्र दुर्योधनने पाण्डवोंकी सेनाको देखा, तब वह भागा-भागा द्रोणाचार्यके पास गया। परन्तु जब अर्जुनने कौरवोंकी सेनाको देखा, तब उनका हाथ सीधे गाण्डीव धनुषपर ही गया—‘**धनुरुद्यम्य**।’ इससे मालूम होता है कि दुर्योधनके भीतर भय है और अर्जुनके भीतर निर्भयता है, उत्साह है, वीरता है।

‘**कपिध्वजः**’—अर्जुनके लिये ‘कपिध्वज’ विशेषण देकर संजय धृतराष्ट्रको अर्जुनके रथकी ध्वजापर विराजमान हनुमान्‌जीका स्मरण कराते हैं। जब पाण्डव वनमें रहते थे, तब एक दिन अकस्मात् वायुने एक दिव्य सहस्रदल कमल लाकर द्रौपदीके सामने डाल दिया। उसे देखकर द्रौपदी बहुत प्रसन्न हो गयी और उसने भीमसेनसे कहा कि ‘वीरवर! आप ऐसे बहुत-से कमल ला दीजिये।’ द्रौपदीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये भीमसेन वहाँसे चल पड़े। जब वे कदलीवनमें पहुँचे, तब वहाँ उनकी हनुमान्‌जीसे भेंट हो गयी। उन दोनोंकी आपसमें कई बातें हुईं। अन्तमें हनुमान्‌जीने भीमसेनसे वरदान माँगनेके लिये आग्रह किया तो भीमसेनने कहा कि ‘मेरेपर आपकी कृपा बनी रहे’। इसपर हनुमान्‌जीने कहा कि ‘हे वायुपुत्र! जिस समय तुम बाण और शक्तिके आघातसे व्याकुल शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सिंहनाद करोगे, उस समय मैं अपनी गर्जनासे उस सिंहनादको और बढ़ा दूँगा। इसके सिवाय अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठकर मैं ऐसी भयंकर गर्जना किया करूँगा, जो शत्रुओंके प्राणोंको हरनेवाली होगी,

---

सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥

(मानस ३। २८। ४-५)

जिससे तुमलोग अपने शत्रुओंको सुगमतासे मार सकोगे।*' इस प्रकार जिनके रथकी ध्वजापर हनुमान्‌जी विराजमान हैं, उनकी विजय निश्चित है।

'पाण्डवः'—धृतराष्ट्रने अपने प्रश्नमें **'पाण्डवाः'** पदका प्रयोग किया था। अतः धृतराष्ट्रको बार-बार पाण्डवोंकी याद दिलानेके लिये संजय (१। १४ में और यहाँ) **'पाण्डवः'** शब्दका प्रयोग करते हैं।

'हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते'—पाण्डव-सेनाको देखकर दुर्योधन तो गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर चालाकीसे भरे हुए वचन बोलता है; परन्तु अर्जुन कौरव-सेनाको देखकर जो जगद्गुरु हैं, अन्तर्यामी हैं, मन-बुद्धि आदिके प्रेरक हैं—ऐसे भगवान् श्रीकृष्णसे शूरवीरता, उत्साह और अपने कर्तव्यसे भरे हुए (आगे कहे जानेवाले) वचन बोलते हैं।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

अर्जुन बोले—

अच्युत	= हे अच्युत!	**स्थापय**	= खड़ा कीजिये,	**निरीक्षे**	= देख न लूँ कि
उभयोः	= दोनों	**यावत्**	= जबतक	**अस्मिन्**	= इस
सेनयोः	= सेनाओंके	**अहम्**	= मैं (युद्धक्षेत्रमें)	**रणसमुद्यमे**	= युद्धरूप उद्योगमें
मध्ये	= मध्यमें	**अवस्थितान्**	= खड़े हुए	**मया**	= मुझे
मे	= मेरे	**एतान्**	= इन	**कैः**	= किन-किनके
रथम्	= रथको (आप तबतक)	**योद्धुकामान्**	= युद्धकी इच्छावालोंको	**सह**	= साथ
				योद्धव्यम्	= युद्ध करना योग्य है।

व्याख्या—**'अच्युत सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय'**—दोनों सेनाएँ जहाँ युद्ध करनेके लिये एक-दूसरेके सामने खड़ी थीं, वहाँ उन दोनों सेनाओंमें इतनी दूरी थी कि एक सेना दूसरी सेनापर बाण आदि मार सके। उन दोनों सेनाओं-का मध्यभाग दो तरफसे मध्य था—(१) सेनाएँ जितनी चौड़ी खड़ी थीं, उस चौड़ाईका मध्यभाग और (२) दोनों सेनाओंका मध्यभाग, जहाँसे कौरव-सेना जितनी दूरीपर खड़ी थी, उतनी ही दूरीपर पाण्डव-सेना खड़ी थी। ऐसे मध्यभागमें रथ खड़ा करनेके लिये अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं, जिससे दोनों सेनाओंको आसानीसे देखा जा सके।

'सेनयोरुभयोर्मध्ये' पद गीतामें तीन बार आया है—यहाँ (१। २१ में), इसी अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और दूसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें। तीन बार आनेका तात्पर्य है कि पहले अर्जुन शूरवीरताके साथ अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी आज्ञा देते हैं (पहले अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), फिर भगवान् दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा करके कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहते हैं (पहले अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक) और अन्तमें दोनों सेनाओंके बीचमें ही विषादमग्न अर्जुनको गीताका उपदेश देते हैं (दूसरे अध्यायका दसवाँ श्लोक)। इस प्रकार पहले अर्जुनमें शूरवीरता थी, बीचमें कुटुम्बियोंको देखनेसे मोहके कारण उनकी युद्धसे उपरति हो गयी और अन्तमें उनको भगवान्‌से गीताका महान् उपदेश प्राप्त हुआ, जिससे उनका मोह दूर हो गया। इससे यह भाव निकलता है कि मनुष्य जहाँ-कहीं और जिस-किसी परिस्थितिमें स्थित है, वहीं रहकर वह प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके निष्काम हो सकता है और वहीं उसको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। कारण कि परमात्मा सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें सदा एकरूपसे रहते हैं।

'यावदेतान्निरीक्षेऽहं.........रणसमुद्यमे'—दोनों सेनाओंके बीचमें रथ कबतक खड़ा करें ? इसपर अर्जुन कहते हैं कि युद्धकी इच्छाको लेकर कौरव-सेनामें आये हुए सेनासहित जितने भी राजालोग खड़े हैं, उन सबको जबतक

* तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव। विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान् मोक्ष्यामि दारुणान्॥
शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ। (महाभारत, वन० १५१। १७-१८)

मैं देख न लूँ, तबतक आप रथको वहीं खड़ा रखिये। इस युद्धके उद्योगमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है? उनमें कौन मेरे समान बलवाले हैं? कौन मेरेसे कम बलवाले हैं? और कौन मेरेसे अधिक बलवाले हैं? उन सबको मैं जरा देख लूँ।

यहाँ **'योद्धुकामान्'** पदसे अर्जुन कह रहे हैं कि हमने तो सन्धिकी बात ही सोची थी, पर उन्होंने सन्धिकी बात स्वीकार नहीं की; क्योंकि उनके मनमें युद्ध करनेकी ज्यादा इच्छा है। अतः उनको मैं देखूँ कि कितने बलको लेकर वे युद्ध करनेकी इच्छा रखते हैं।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

दुर्बुद्धेः	= दुष्टबुद्धि	**ये**	= जो		उतावले
धार्तराष्ट्रस्य	= दुर्योधनका	**एते**	= ये राजालोग		हुए (इन
युद्धे	= युद्धमें	**अत्र**	= इस सेनामें		सबको)
प्रियचिकीर्षवः	= प्रिय करनेकी इच्छावाले	**समागताः**	= आये हुए हैं,	**अहम्**	= मैं
		योत्स्यमानान्	= युद्ध करनेको	**अवेक्षे**	= देख लूँ।

व्याख्या—**'धार्तराष्ट्रस्य* दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः'**— यहाँ दुर्योधनको दुष्टबुद्धि कहकर अर्जुन यह बताना चाहते हैं कि इस दुर्योधनने हमारा नाश करनेके लिये आजतक कई तरहके षड्यन्त्र रचे हैं। हमें अपमानित करनेके लिये कई तरहके उद्योग किये हैं। नियमके अनुसार और न्यायपूर्वक हम आधे राज्यके अधिकारी हैं, पर उसको भी यह हड़पना चाहता है, देना नहीं चाहता। ऐसी तो इसकी दुष्टबुद्धि है; और यहाँ आये हुए राजालोग युद्धमें इसका प्रिय करना चाहते हैं! वास्तवमें तो मित्रोंका यह कर्तव्य होता है कि वे ऐसा काम करें, ऐसी बात बतायें, जिससे अपने मित्रका लोक-परलोकमें हित हो। परन्तु ये राजालोग दुर्योधनकी दुष्टबुद्धिको शुद्ध न करके उलटे उसको बढ़ाना चाहते हैं और दुर्योधनसे युद्ध कराकर, युद्धमें उसकी सहायता करके उसका पतन ही करना चाहते हैं। तात्पर्य है कि दुर्योधनका हित किस बातमें है; उसको राज्य भी किस बातसे मिलेगा और उसका परलोक भी किस बातसे सुधरेगा—इन बातोंका वे विचार ही नहीं कर रहे हैं। अगर ये राजालोग उसको यह सलाह देते कि भाई, कम-से-कम आधा राज्य तुम रखो और पाण्डवोंका आधा राज्य पाण्डवोंको दे दो तो इससे दुर्योधनका आधा राज्य भी रहता और उसका परलोक भी सुधरता।

'योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः'—इन युद्धके लिये उतावले होनेवालोंको जरा देख तो लूँ! इन्होंने अधर्मका, अन्यायका पक्ष लिया है, इसलिये ये हमारे सामने टिक नहीं सकेंगे, नष्ट हो जायँगे।

'योत्स्यमानान्' कहनेका तात्पर्य है कि इनके मनमें युद्धकी ज्यादा आ रही है; अतः देखूँ तो सही कि ये हैं कौन ?

सम्बन्ध—अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान्‌ने क्या किया—इसको संजय आगेके दो श्लोकोंमें कहते हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥

* 'धार्तराष्ट्र' पदके दो अर्थ होते हैं—(१) धृतराष्ट्रके पुत्र अथवा सम्बन्धी (२) अन्यायपूर्वक राष्ट्र-(राज्य-) को धारण करनेवाले। यहाँ धृतराष्ट्रके पुत्र—दुर्योधनके लिये ही 'धार्तराष्ट्रस्य' पद आया है।

संजय बोले—

भारत	= हे भरतवंशी राजन्!	**सेनयोः**	= सेनाओंके	**रथोत्तमम्**	= श्रेष्ठ रथको
गुडाकेशेन	= निद्राविजयी अर्जुनके द्वारा	**मध्ये**	= मध्यभागमें	**स्थापयित्वा**	= खड़ा करके
एवम्	= इस तरह	**भीष्मद्रोणप्रमुखतः**	= पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने	**इति**	= इस प्रकार
उक्तः	= कहनेपर			**उवाच**	= कहा कि
हृषीकेशः	= अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने	**च**	= तथा	**पार्थ**	= 'हे पार्थ!
		सर्वेषाम्	= सम्पूर्ण	**एतान्**	= इन
उभयोः	= दोनों	**महीक्षिताम्**	= राजाओंके सामने	**समवेतान्**	= इकट्ठे हुए
				कुरून्	= कुरुवंशियोंको
				पश्य	= देख'।

व्याख्या—**'गुडाकेशेन'**—**'गुडाकेश'** शब्दके दो अर्थ होते हैं—(१) **'गुडा'** नाम मुड़े हुएका है और **'केश'** नाम बालोंका है। जिसके सिरके बाल मुड़े हुए अर्थात् घुँघराले हैं, उसका नाम **'गुडाकेश'** है। (२) **'गुडाका'** नाम निद्राका है और **'ईश'** नाम स्वामीका है। जो निद्राका स्वामी है अर्थात् निद्रा ले चाहे न ले—ऐसा जिसका निद्रापर अधिकार है, उसका नाम **'गुडाकेश'** है। अर्जुनके केश घुँघराले थे और उनका निद्रापर आधिपत्य था; अतः उनको **'गुडाकेश'** कहा गया है।

'एवमुक्तः'—जो निद्रा-आलस्यके सुखका गुलाम नहीं होता और जो विषय-भोगोंका दास नहीं होता, केवल भगवान्‌का ही दास (भक्त) होता है, उस भक्तकी बात भगवान् सुनते हैं; केवल सुनते ही नहीं, उसकी आज्ञाका पालन भी करते हैं। इसलिये अपने सखा भक्त अर्जुनके द्वारा आज्ञा देनेपर अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें अर्जुनका रथ खड़ा कर दिया।

'हृषीकेशः'—इन्द्रियोंका नाम **'हृषीक'** है। जो इन्द्रियोंके ईश अर्थात् स्वामी हैं, उनको हृषीकेश कहते हैं। पहले इक्कीसवें श्लोकमें और यहाँ **'हृषीकेश'** कहनेका तात्पर्य है कि जो मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सबके प्रेरक हैं, सबको आज्ञा देनेवाले हैं, वे ही अन्तर्यामी भगवान् यहाँ अर्जुनकी आज्ञाका पालन करनेवाले बन गये हैं! यह उनकी अर्जुनपर कितनी अधिक कृपा है!

'सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्'—दोनों सेनाओंके बीचमें जहाँ खाली जगह थी, वहाँ भगवान्‌ने अर्जुनके श्रेष्ठ रथको खड़ा कर दिया।

'भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्'—उस रथको भी भगवान्‌ने विलक्षण चतुराईसे ऐसी जगह खड़ा किया, जहाँसे अर्जुनको कौटुम्बिक सम्बन्धवाले पितामह भीष्म, विद्याके सम्बन्धवाले आचार्य द्रोण एवं कौरव-सेनाके मुख्य-मुख्य राजालोग सामने दिखायी दे सकें।

'उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति'—**'कुरु'** पदमें धृतराष्ट्रके पुत्र और पाण्डुके पुत्र—ये दोनों आ जाते हैं; क्योंकि ये दोनों ही कुरुवंशी हैं। युद्धके लिये एकत्र हुए इन कुरुवंशियोंको देख—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि इन कुरुवंशियोंको देखकर अर्जुनके भीतर यह भाव पैदा हो जाय कि हम सब एक ही तो हैं! इस पक्षके हों, चाहे उस पक्षके हों; भले हों, चाहे बुरे हों; सदाचारी हों, चाहे दुराचारी हों; पर हैं सब अपने ही कुटुम्बी। इस कारण अर्जुनमें छिपा हुआ कौटुम्बिक ममतायुक्त मोह जाग्रत् हो जाय और मोह जाग्रत् होनेसे अर्जुन जिज्ञासु बन जाय, जिससे अर्जुनको निमित्त बनाकर भावी कलियुगी जीवोंके कल्याणके लिये गीताका महान् उपदेश दिया जा सके—इसी भावसे भगवान्‌ने यहाँ **'पश्यैतान् समवेतान् कुरून्'** कहा है। नहीं तो भगवान् **'पश्यैतान् धार्तराष्ट्रान् समानिति'**—ऐसा भी कह सकते थे; परन्तु ऐसा कहनेसे अर्जुनके भीतर युद्ध करनेका जोश आता; जिससे गीताके प्राकट्यका अवसर ही नहीं आता! और अर्जुनके भीतरका प्रसुप्त कौटुम्बिक मोह भी दूर नहीं होता, जिसको दूर करना भगवान् अपनी जिम्मेवारी मानते हैं। जैसे कोई फोड़ा हो जाता है तो वैद्यलोग पहले उसको पकानेकी चेष्टा करते हैं और जब वह पक जाता है, तब उसको चीरा देकर साफ कर देते हैं; ऐसे ही भगवान् भक्तके भीतर छिपे हुए मोहको पहले जाग्रत् करके फिर उसको मिटाते हैं। यहाँ भी भगवान् अर्जुनके भीतर छिपे हुए मोहको **'कुरून् पश्य'** कहकर जाग्रत् कर रहे हैं, जिसको आगे उपदेश देकर नष्ट कर देंगे।

अर्जुनने कहा था कि 'इनको मैं देख लूँ'—**'निरीक्षे'** (१। २२) **'अवेक्षे'** (१। २३); अतः यहाँ भगवान्‌को **'पश्य'** (तू देख ले)—ऐसा कहनेकी जरूरत ही नहीं थी। भगवान्‌को तो केवल रथ खड़ा कर देना चाहिये था। परन्तु

भगवान्ने रथ खड़ा करके अर्जुनके मोहको जाग्रत् करनेके लिये ही '**कुरून् पश्य**' (इन कुरुवंशियोंको देख)—ऐसा कहा है।

कौटुम्बिक स्नेह और भगवत्प्रेम—इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। कुटुम्बमें ममतायुक्त स्नेह हो जाता है तो कुटुम्बके अवगुणोंकी तरफ खयाल जाता ही नहीं; किंतु 'ये मेरे हैं'—ऐसा भाव रहता है। ऐसे ही भगवान्का भक्तमें विशेष स्नेह हो जाता है तो भक्तके अवगुणोंकी तरफ भगवान्का खयाल जाता ही नहीं; किन्तु 'यह मेरा ही है'—ऐसा ही भाव रहता है। कौटुम्बिक स्नेहमें क्रिया तथा पदार्थ-(शरीरादि-) की ओर भगवत्प्रेममें भावकी मुख्यता रहती है। कौटुम्बिक स्नेहमें मूढ़ता-(मोह-) की ओर भगवत्प्रेममें आत्मीयताकी मुख्यता रहती है। कौटुम्बिक स्नेहमें अँधेरा और भगवत्प्रेममें प्रकाश रहता है। कौटुम्बिक स्नेहमें मनुष्य कर्तव्यच्युत हो जाता है और भगवत्प्रेममें तल्लीनताके कारण कर्तव्य-पालनमें विस्मृति तो हो सकती है, पर भक्त कभी कर्तव्यच्युत नहीं होता। कौटुम्बिक स्नेहमें कुटुम्बियोंकी और भगवत्प्रेममें भगवान्की प्रधानता होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहा। उसके बाद क्या हुआ—इसका वर्णन संजय आगेके श्लोकोंमें करते हैं।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

अथ	= उसके बाद	**पितॄन्**	= पिताओंको,	**तथा**	= तथा
पार्थः	= पृथानन्दन अर्जुनने	**पितामहान्**	= पितामहोंको,	**सखीन्**	= मित्रोंको,
तत्र	= उन	**आचार्यान्**	= आचार्योंको,	**श्वशुरान्**	= ससुरोंको
उभयोः	= दोनों	**मातुलान्**	= मामाओंको,	**च**	= और
एव	= ही	**भ्रातॄन्**	= भाइयोंको,	**सुहृदः**	= सुहृदोंको
सेनयोः	= सेनाओंमें	**पुत्रान्**	= पुत्रोंको,	**अपि**	= भी
स्थितान्	= स्थित	**पौत्रान्**	= पौत्रोंको	**अपश्यत्**	= देखा।

व्याख्या—'**तत्रापश्यत्......सेनयोरुभयोरपि**'—जब भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि इस रणभूमिमें इकट्ठे हुए कुरुवंशियोंको देख, तब अर्जुनकी दृष्टि दोनों सेनाओंमें स्थित अपने कुटुम्बियोंपर गयी। उन्होंने देखा कि उन सेनाओंमें युद्धके लिये अपने-अपने स्थानपर भूरिश्रवा आदि पिताके भाई खड़े हैं, जो कि मेरे लिये पिताके समान हैं। भीष्म, सोमदत्त आदि पितामह खड़े हैं। द्रोण, कृप आदि आचार्य (विद्या पढ़ानेवाले और कुलगुरु) खड़े हैं। पुरुजित् कुन्तिभोज, शल्य, शकुनि आदि मामा खड़े हैं। भीम, दुर्योधन आदि भाई खड़े हैं। अभिमन्यु, घटोत्कच, लक्ष्मण (दुर्योधनका पुत्र) आदि मेरे और मेरे भाइयोंके पुत्र खड़े हैं। लक्ष्मण आदिके पुत्र खड़े हैं, जो कि मेरे पौत्र हैं। दुर्योधनके अश्वत्थामा आदि मित्र खड़े हैं और ऐसे ही अपने पक्षके मित्र भी खड़े हैं। द्रुपद, शैब्य आदि ससुर खड़े हैं। बिना किसी हेतुके अपने-अपने पक्षका हित चाहनेवाले सात्यकि, कृतवर्मा आदि सुहृद् भी खड़े हैं।

सम्बन्ध—अपने सब कुटुम्बियोंको देखनेके बाद अर्जुनने क्या किया—इसको आगेके श्लोकमें कहते हैं।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अवस्थितान्	= अपनी-अपनी जगहपर स्थित	**समीक्ष्य**	= देखकर	**कृपया**	= कायरतासे
		सः	= वे	**आविष्टः**	= युक्त होकर
तान्	= उन	**कौन्तेयः**	= कुन्तीनन्दन अर्जुन	**विषीदन्**	= विषाद करते हुए
सर्वान्	= सम्पूर्ण			**इदम्**	= ऐसा
बन्धून्	= बान्धवोंको	**परया**	= अत्यन्त	**अब्रवीत्**	= बोले।

व्याख्या—**'तान् सर्वान्बन्धूनवस्थितान् समीक्ष्य'**—पूर्वश्लोकके अनुसार अर्जुन जिनको देख चुके हैं, उनके अतिरिक्त अर्जुनने बाह्लीक आदि प्रपितामह; धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सुरथ आदि साले; जयद्रथ आदि बहनोई तथा अन्य कई सम्बन्धियोंको दोनों सेनाओंमें स्थित देखा।

'स कौन्तेयः कृपया परयाविष्टः'—इन पदोंमें **'स कौन्तेयः'** कहनेका तात्पर्य है कि माता कुन्तीने जिनको युद्ध करनेके लिये सन्देश भेजा था और जिन्होंने शूरवीरतामें आकर 'मेरे साथ दो हाथ करनेवाले कौन हैं?'—ऐसे मुख्य-मुख्य योद्धाओंको देखनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णको दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेकी आज्ञा दी थी, वे ही कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त कायरतासे युक्त हो जाते हैं!

दोनों ही सेनाओंमें जन्मके और विद्याके सम्बन्धी-ही-सम्बन्धी देखनेसे अर्जुनके मनमें यह विचार आया कि युद्धमें चाहे इस पक्षके लोग मरें, चाहे उस पक्षके लोग मरें, नुकसान हमारा ही होगा, कुल तो हमारा ही नष्ट होगा, सम्बन्धी तो हमारे ही मारे जायँगे! ऐसा विचार आनेसे अर्जुनकी युद्धकी इच्छा तो मिट गयी और भीतरमें कायरता आ गयी। इस कायरताको भगवान्ने आगे (२। २-३ में) **'कश्मलम्'** तथा **'हृदयदौर्बल्यम्'** कहा है, और अर्जुनने (२। ७ में) **'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'** कहकर इसको स्वीकार भी किया है।

अर्जुन कायरतासे आविष्ट हुए हैं—**'कृपयाविष्टः'**। इससे सिद्ध होता है कि यह कायरता पहले नहीं थी, प्रत्युत अभी आयी है। अतः यह आगन्तुक दोष है। आगन्तुक होनेसे यह ठहरेगी नहीं। परन्तु शूरवीरता अर्जुनमें स्वाभाविक है; अतः वह तो रहेगी ही।

अत्यन्त कायरता क्या है? बिना किसी कारण निन्दा, तिरस्कार, अपमान करनेवाले, दुःख देनेवाले, वैरभाव रखनेवाले, नाश करनेकी चेष्टा करनेवाले दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि आदिको अपने सामने युद्ध करनेके लिये खड़े देखकर भी उनको मारनेका विचार न होना, उनका नाश करनेका उद्योग न करना—यह अत्यन्त कायरतारूप दोष है। यहाँ अर्जुनको कायरतारूप दोषने ऐसा घेर लिया है कि जो अर्जुन आदिका अनिष्ट चाहनेवाले और समय-समयपर अनिष्ट करनेका उद्योग करनेवाले हैं, उन अधर्मियों— पापियोंपर भी अर्जुनको करुणा आ रही है (गीता—पहले अध्यायका पैंतीसवाँ और छियालीसवाँ श्लोक) और वे क्षत्रियके कर्तव्यरूप अपने धर्मसे च्युत हो रहे हैं।

'विषीदन्निदमब्रवीत्'—युद्धके परिणाममें कुटुम्बकी, कुलकी, देशकी क्या दशा होगी—इसको लेकर अर्जुन बहुत दुःखी हो रहे हैं और उस अवस्थामें वे ये वचन बोलते हैं, जिसका वर्णन आगेके श्लोकोंमें किया गया है।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण = हे कृष्ण!
युयुत्सुम् = युद्धकी इच्छावाले
इमम् = इस
स्वजनम् = कुटुम्ब-समुदायको
समुपस्थितम् = अपने सामने उपस्थित
दृष्ट्वा = देखकर
मम = मेरे
गात्राणि = अंग
सीदन्ति = शिथिल हो रहे हैं
च = और
मुखम् = मुख
परिशुष्यति = सूख रहा है
च = तथा
मे = मेरे
शरीरे = शरीरमें
वेपथुः = कँपकँपी (आ रही है)
च = एवं
रोमहर्षः = रोंगटे खड़े
जायते = हो रहे हैं।

हस्तात्	= हाथसे	**एव**	= भी		रहा है
गाण्डीवम्	= गाण्डीव धनुष	**परिदह्यते**	= जल रही है।	**च**	= और (मैं)
स्त्रंसते	= गिर रहा है	**मे**	= मेरा	**अवस्थातुम्**	= खड़े रहनेमें
च	= और	**मनः**	= मन	**च**	= भी
त्वक्	= त्वचा	**भ्रमति, इव**	= भ्रमित-सा हो	**न, शक्नोमि**	= असमर्थ हो रहा हूँ।

व्याख्या—**'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्'**—अर्जुनको **'कृष्ण'** नाम बहुत प्रिय था। यह सम्बोधन गीतामें नौ बार आया है। भगवान् श्रीकृष्णके लिये दूसरा कोई सम्बोधन इतनी बार नहीं आया है। ऐसे ही भगवान्‌को अर्जुनका **'पार्थ'** नाम बहुत प्यारा था। इसलिये भगवान् और अर्जुन आपसकी बोलचालमें ये नाम लिया करते थे और यह बात लोगोंमें भी प्रसिद्ध थी। इसी दृष्टिसे संजयने गीताके अन्तमें **'कृष्ण'** और **'पार्थ'** नामका उल्लेख किया है—**'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः'** (१८। ७८)।

धृतराष्ट्रने पहले **'समवेता युयुत्सवः'** कहा था और यहाँ अर्जुनने भी **'युयुत्सुं समुपस्थितम्'** कहा है; परन्तु दोनोंकी दृष्टियोंमें बड़ा अन्तर है। धृतराष्ट्रकी दृष्टिमें तो दुर्योधन आदि मेरे पुत्र हैं और युधिष्ठिर आदि पाण्डुके पुत्र हैं—ऐसा भेद है; अतः धृतराष्ट्रने वहाँ **'मामकाः'** और **'पाण्डवाः'** कहा है। परन्तु अर्जुनकी दृष्टिमें यह भेद नहीं है; अतः अर्जुनने यहाँ **'स्वजनम्'** कहा है, जिसमें दोनों पक्षके लोग आ जाते हैं। तात्पर्य है कि धृतराष्ट्रको तो युद्धमें अपने पुत्रोंके मरनेकी आशंकासे भय है, शोक है; परन्तु अर्जुनको दोनों ओरके कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे शोक हो रहा है कि किसी भी तरफका कोई भी मरे, पर वह है तो हमारा ही कुटुम्बी।

अबतक **'दृष्ट्वा'** पद तीन बार आया है—**'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्'** (१। २), **'व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्'** (१। २०) और यहाँ **'दृष्ट्वेमं स्वजनम्'** (१। २८)। इन तीनोंका तात्पर्य है कि दुर्योधनका देखना तो एक तरहका ही रहा अर्थात् दुर्योधनका तो युद्धका ही एक भाव रहा; परन्तु अर्जुनका देखना दो तरहका हुआ। पहले तो अर्जुन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देखकर वीरतामें आकर युद्धके लिये धनुष उठाकर खड़े हो जाते हैं और अब स्वजनोंको देखकर कायरतासे आविष्ट हो रहे हैं, युद्धसे उपरत हो रहे हैं और उनके हाथसे धनुष गिर रहा है।

'सीदन्ति मम गात्राणि''''भ्रमतीव च मे मनः'—अर्जुनके मनमें युद्धके भावी परिणामको लेकर चिन्ता हो रही है, दुःख हो रहा है। उस चिन्ता, दुःखका असर अर्जुनके सारे शरीरपर पड़ रहा है। उसी असरको अर्जुन स्पष्ट शब्दोंमें कह रहे हैं कि मेरे शरीरका हाथ, पैर, मुख आदि एक-एक अंग (अवयव) शिथिल हो रहा है! मुख सूखता जा रहा है, जिससे बोलना भी कठिन हो रहा है! सारा शरीर थर-थर काँप रहा है! शरीरके सभी रोंगटे खड़े हो रहे हैं अर्थात् सारा शरीर रोमांचित हो रहा है! जिस गाण्डीव धनुषकी प्रत्यंचाकी टंकारसे शत्रु भयभीत हो जाते हैं, वही गाण्डीव धनुष आज मेरे हाथसे गिर रहा है! त्वचामें—सारे शरीरमें जलन हो रही है*। मेरा मन भ्रमित हो रहा है अर्थात् मेरेको क्या करना चाहिये—यह भी नहीं सूझ रहा है! यहाँ युद्धभूमिमें रथपर खड़े रहनेमें भी मैं असमर्थ हो रहा हूँ! ऐसा लगता है कि मैं मूर्च्छित होकर गिर पड़ूँगा! ऐसे अनर्थकारक युद्धमें खड़ा रहना भी एक पाप मालूम दे रहा है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपने शरीरके शोकजनित आठ चिह्नोंका वर्णन करके अब अर्जुन भावी परिणामके सूचक शकुनोंकी दृष्टिसे युद्ध करनेका अनौचित्य बताते हैं।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

---

* चिन्ता चितासमा ह्युक्ता बिन्दुमात्रं विशेषतः। सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता॥

'चिन्ताको चिताके समान कहा गया है, केवल एक बिन्दुकी ही अधिकता है। चिन्ता जीवित पुरुषको जलाती है और चिता मरे हुए पुरुषको जलाती है।'

केशव	= हे केशव! (मैं)	**विपरीतानि**	= विपरीत	**हत्वा**	= मारकर
निमित्तानि	= लक्षणों (शकुनों)-को	**पश्यामि**	= देख रहा हूँ (और)	**श्रेय:**	= श्रेय (लाभ)
च	= भी	**आहवे**	= युद्धमें	**च**	= भी
		स्वजनम्	= स्वजनोंको	**न**	= नहीं
				अनुपश्यामि	= देख रहा हूँ।

व्याख्या—**'निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव'**—हे केशव! मैं शकुनोंको[1] भी विपरीत ही देख रहा हूँ। तात्पर्य है कि किसी भी कार्यके आरम्भमें मनमें जितना अधिक उत्साह (हर्ष) होता है, वह उत्साह उस कार्यको उतना ही सिद्ध करनेवाला होता है। परन्तु अगर कार्यके आरम्भमें ही उत्साह भंग हो जाता है, मनमें संकल्प-विकल्प ठीक नहीं होते, तो उस कार्यका परिणाम अच्छा नहीं होता। इसी भावसे अर्जुन कह रहे हैं कि अभी मेरे शरीरमें अवयवोंका शिथिल होना, कम्प होना, मुखका सूखना आदि जो लक्षण हो रहे हैं, ये व्यक्तिगत शकुन भी ठीक नहीं हो रहे हैं[2]। इसके सिवाय आकाशसे उल्कापात होना, असमयमें ग्रहण लगना, भूकम्प होना, पशु-पक्षियोंका भयंकर बोली बोलना, चन्द्रमाके काले चिह्नका मिट-सा जाना, बादलोंसे रक्तकी वर्षा होना आदि जो पहले शकुन हुए हैं, वे भी ठीक नहीं हुए हैं। इस तरह अभीके और पहलेके—इन दोनों शकुनोंकी ओर देखता हूँ, तो मेरेको ये दोनों ही शकुन विपरीत अर्थात् भावी अनिष्टके सूचक दीखते हैं।

'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'—युद्धमें अपने कुटुम्बियोंको मारनेसे हमें कोई लाभ होगा—ऐसी बात भी नहीं है। इस युद्धके परिणाममें हमारे लिये लोक और परलोक—दोनों ही हितकारक नहीं दीखते। कारण कि जो अपने कुलका नाश करता है, वह अत्यन्त पापी होता है। अत: कुलका नाश करनेसे हमें पाप ही लगेगा, जिससे नरकोंकी प्राप्ति होगी।

इस श्लोकमें **'निमित्तानि पश्यामि'** और **'श्रेय: अनुपश्यामि'**[3]—इन दोनों वाक्योंसे अर्जुन यह कहना चाहते हैं कि मैं शकुनोंको देखूँ अथवा स्वयं विचार करूँ, दोनों ही रीतिसे युद्धका आरम्भ और उसका परिणाम हमारे लिये और संसारमात्रके लिये हितकारक नहीं दीखता।

सम्बन्ध—जिसमें न तो शुभ शकुन दीखते हैं और न श्रेय ही दीखता है, ऐसी अनिष्टकारक विजयको प्राप्त करनेकी अनिच्छा अर्जुन आगेके श्लोकमें प्रकट करते हैं।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

कृष्ण	= हे कृष्ण! (मैं)	**च**	= और,	**किम्**	= क्या लाभ?
न	= न (तो)	**सुखानि**	= (न) सुखोंको (ही चाहता हूँ)।	**भोगै:**	= भोगोंसे (क्या लाभ?)
विजयम्	= विजय				
काङ्क्षे	= चाहता हूँ,	**गोविन्द**	= हे गोविन्द!	**वा**	= अथवा
न	= न	**न:**	= हमलोगोंको	**जीवितेन**	= जीनेसे (भी)
राज्यम्	= राज्य (चाहता हूँ)	**राज्येन**	= राज्यसे	**किम्**	= क्या लाभ?

१-जितने भी शकुन होते हैं, वे किसी अच्छी या बुरी घटनाके होनेमें निमित्त नहीं होते अर्थात् वे किसी घटनाके निर्माता नहीं होते, प्रत्युत भावी घटनाकी सूचना देनेवाले होते हैं।

शकुन बतानेवाले प्राणी भी वास्तवमें शकुनोंको बताते नहीं हैं; किन्तु उनकी स्वाभाविक चेष्टासे शकुन सूचित होते हैं।

२-यद्यपि अर्जुन शरीरमें होनेवाले लक्षणोंको भी शकुन मान रहे हैं, तथापि वास्तवमें ये शकुन नहीं हैं। ये तो शोकके कारण इन्द्रियाँ, शरीर, मन, बुद्धिमें होनेवाले विकार हैं।

३-यहाँ 'पश्यामि' क्रिया भूत और वर्तमानके शकुनोंके विषयमें और 'अनुपश्यामि' क्रिया भविष्यके परिणामके विषयमें आयी है।

व्याख्या—**'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च'**—मान लें कि युद्धमें हमारी विजय हो जाय, तो विजय होनेसे पूरी पृथ्वीपर हमारा राज्य हो जायगा, अधिकार हो जायगा। पृथ्वीका राज्य मिलनेसे हमें अनेक प्रकारके सुख मिलेंगे। परन्तु इनमेंसे मैं कुछ भी नहीं चाहता अर्थात् मेरे मनमें विजय, राज्य एवं सुखोंकी कामना नहीं है।

'किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा'—जब हमारे मनमें किसी प्रकारकी (विजय, राज्य और सुखकी) कामना ही नहीं है, तो फिर कितना ही बड़ा राज्य क्यों न मिल जाय, पर उससे हमें क्या लाभ? कितने ही सुन्दर-सुन्दर भोग मिल जायँ, पर उनसे हमें क्या लाभ? अथवा कुटुम्बियोंको मारकर हम राज्यके सुख भोगते हुए कितने ही वर्ष जीते रहें, पर उससे भी हमें क्या लाभ? तात्पर्य है कि ये विजय, राज्य और भोग तभी सुख दे सकते हैं, जब भीतरमें इनकी कामना हो, प्रियता हो, महत्त्व हो। परन्तु हमारे भीतर तो इनकी कामना ही नहीं है। अतः ये हमें क्या सुख दे सकते हैं? इन कुटुम्बियोंको मारकर हमारी जीनेकी भी इच्छा नहीं है; क्योंकि जब हमारे कुटुम्बी मर जायँगे, तब ये राज्य और भोग किसके काम आयेंगे? राज्य, भोग आदि तो कुटुम्बके लिये होते हैं, पर जब ये ही मर जायँगे, तब इनको कौन भोगेगा? भोगनेकी बात तो दूर रही, उलटे हमें और अधिक चिन्ता, शोक होंगे!

सम्बन्ध—अर्जुन विजय आदि क्यों नहीं चाहते, इसका हेतु आगेके श्लोकमें बताते हैं।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

येषाम्	= जिनके	**सुखानि**	= सुखकी	**च**	= और
अर्थे	= लिये	**काङ्क्षितम्**	= इच्छा है,	**धनानि**	= धनकी आशाका
नः	= हमारी	**ते**	= वे (ही)	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके
राज्यम्	= राज्य,	**इमे**	= ये सब (अपने)	**युद्धे**	= युद्धमें
भोगाः	= भोग	**प्राणान्**	= प्राणोंकी	**अवस्थिताः**	= खड़े हैं।
च	= और				

व्याख्या—**'येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च'**—हम राज्य, सुख, भोग आदि जो कुछ चाहते हैं, उनको अपने व्यक्तिगत सुखके लिये नहीं चाहते, प्रत्युत इन कुटुम्बियों, प्रेमियों, मित्रों आदिके लिये ही चाहते हैं। आचार्यों, पिताओं, पितामहों, पुत्रों आदिको सुख-आराम पहुँचे, इनकी सेवा हो जाय, ये प्रसन्न रहें—इसके लिये ही हम युद्ध करके राज्य लेना चाहते हैं, भोग-सामग्री इकट्ठी करना चाहते हैं।

'त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च'—पर वे ही ये सब-के-सब अपने प्राणोंकी और धनकी आशाको छोड़कर युद्ध करनेके लिये हमारे सामने इस रणभूमिमें खड़े हैं। इन्होंने ऐसा विचार कर लिया है कि हमें न प्राणोंका मोह है और न धनकी तृष्णा है; हम मर बेशक जायँ, पर युद्धसे नहीं हटेंगे। अगर ये सब मर ही जायँगे, तो फिर हमें राज्य किसके लिये चाहिये? सुख किसके लिये चाहिये? धन किसके लिये चाहिये? अर्थात् इन सबकी इच्छा हम किसके लिये करें?

'प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च'का तात्पर्य है कि वे प्राणोंकी और धनकी आशाका त्याग करके खड़े हैं अर्थात् हम जीवित रहेंगे और हमें धन मिलेगा—इस इच्छाको छोड़कर वे खड़े हैं। अगर उनमें प्राणोंकी और धनकी इच्छा होती, तो वे मरनेके लिये युद्धमें क्यों खड़े होते? अतः यहाँ प्राण और धनका त्याग करनेका तात्पर्य उनकी आशाका त्याग करनेमें ही है।

सम्बन्ध—जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे लोग कौन हैं—इसका वर्णन अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

आचार्याः[1]	= आचार्य,	**तथा**	= तथा (अन्य जितने भी)	**मधुसूदन**	= हे मधुसूदन! (मुझे)
पितरः	= पिता,	**सम्बन्धिनः**	= सम्बन्धी हैं, (मुझपर)	**त्रैलोक्य-राज्यस्य**	= त्रिलोकीका राज्य
पुत्राः	= पुत्र	**घ्नतः**	= प्रहार करनेपर	**हेतोः**	= मिलता हो
च	= और	**अपि**	= भी (मैं)	**अपि**	= तो भी (मैं इनको मारना नहीं चाहता),
तथा, एव	= उसी प्रकार	**एतान्**	= इनको	**नु**	= फिर
पितामहाः	= पितामह,	**हन्तुम्**	= मारना	**महीकृते**	= पृथ्वीके लिये तो (मैं इनको मारूँ ही)
मातुलाः	= मामा,	**न**	= नहीं	**किम्**	= क्या?
श्वशुराः	= ससुर,	**इच्छामि**	= चाहता, (और)		
पौत्राः	= पौत्र,				
श्यालाः	= साले				

व्याख्या—[भगवान् आगे सोलहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें कहेंगे कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों ही नरकके द्वार हैं। वास्तवमें एक कामके ही ये तीन रूप हैं। ये तीनों सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों आदिको महत्त्व देनेसे पैदा होते हैं। काम अर्थात् कामनाकी दो तरहकी क्रियाएँ होती हैं—इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति। इनमेंसे इष्टकी प्राप्ति भी दो तरहकी होती है—संग्रह करना और सुख भोगना। संग्रहकी इच्छाका नाम 'लोभ' है और सुखभोगकी इच्छाका नाम 'काम' है। अनिष्टकी निवृत्तिमें बाधा पड़नेपर 'क्रोध' आता है अर्थात् भोगोंकी, संग्रहकी प्राप्तिमें बाधा देनेवालोंपर अथवा हमारा अनिष्ट करनेवालोंपर, हमारे शरीरका नाश करनेवालोंपर क्रोध आता है, जिससे अनिष्ट करनेवालोंका नाश करनेकी क्रिया होती है। इससे सिद्ध हुआ कि युद्धमें मनुष्यकी दो तरहसे ही प्रवृत्ति होती है—अनिष्टकी निवृत्तिके लिये अर्थात् अपने 'क्रोध'को सफल बनानेके लिये और इष्टकी प्राप्तिके लिये अर्थात् 'लोभ'की पूर्तिके लिये। परन्तु अर्जुन यहाँ इन दोनों ही बातोंका निषेध कर रहे हैं।]

'आचार्याः पितरः ...... किं नु महीकृते'—अगर हमारे ये कुटुम्बीजन अपनी अनिष्ट-निवृत्तिके लिये क्रोधमें आकर मेरेपर प्रहार करके मेरा वध भी करना चाहें, तो भी मैं अपनी अनिष्ट-निवृत्तिके लिये क्रोधमें आकर इनको मारना नहीं चाहता। अगर ये अपनी इष्टप्राप्तिके लिये राज्यके लोभमें आकर मेरेको मारना चाहें, तो भी मैं अपनी इष्ट-प्राप्तिके लिये लोभमें आकर इनको मारना नहीं चाहता। तात्पर्य यह हुआ कि क्रोध और लोभमें आकर मेरेको नरकोंका दरवाजा मोल नहीं लेना है।

यहाँ दो बार **'अपि'** पदका प्रयोग करनेमें अर्जुनका आशय यह है कि मैं इनके स्वार्थमें बाधा ही नहीं देता तो ये मुझे मारेंगे ही क्यों? पर मान लो कि 'पहले इसने हमारे स्वार्थमें बाधा दी है' ऐसे विचारसे ये मेरे शरीरका नाश करनेमें प्रवृत्त हो जायँ, तो भी **(घ्नतोऽपि)** मैं इनको मारना नहीं चाहता। दूसरी बात, इनको मारनेसे मुझे त्रिलोकीका राज्य मिल जाय, यह तो सम्भावना ही नहीं है, पर मान लो कि इनको मारनेसे मुझे त्रिलोकीका राज्य मिलता हो, तो भी **(अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः)** मैं इनको मारना नहीं चाहता।

'मधुसूदन'[2] सम्बोधनका तात्पर्य है कि आप तो दैत्योंको मारनेवाले हैं, पर ये द्रोण आदि आचार्य और भीष्म आदि पितामह दैत्य थोड़े ही हैं, जिससे मैं इनको मारनेकी इच्छा करूँ? ये तो हमारे अत्यन्त नजदीकके खास सम्बन्धी हैं।

'आचार्याः'—इन कुटुम्बियोंमें जिन द्रोणाचार्य आदिसे

१-छब्बीसवें श्लोकमें 'पितॄनथ पितामहान् .....' कहकर सबसे पहले पिताओं और पितामहोंका नाम लिया गया है, और यहाँ 'आचार्याः पितरः.....' कहकर सबसे पहले आचार्योंका नाम लिया गया है। इसका तात्पर्य है कि वहाँ तो कौटुम्बिक स्नेहकी मुख्यता है, इसलिये वहाँ पिताका नाम सबसे पहले लिया है; और यहाँ न मारनेका विषय चल रहा है, इसलिये यहाँ सबसे पहले आदरणीय पूज्य आचार्यों—गुरुजनोंका नाम लिया है, जो कि जीवके परम हितैषी होते हैं।

२-'मधु' नामक दैत्यको मारनेके कारण भगवान्का नाम 'मधुसूदन' पड़ा था।

हमारा विद्याका, हितका सम्बन्ध है, ऐसे पूज्य आचार्योंकी मेरेको सेवा करनी चाहिये कि उनके साथ लड़ाई करनी चाहिये? आचार्यके चरणोंमें तो अपने-आपको, अपने प्राणोंको भी समर्पित कर देना चाहिये। यही हमारे लिये उचित है।

'**पितरः**'—शरीरके सम्बन्धको लेकर जो पितालोग हैं, उनका ही तो रूप यह हमारा शरीर है। शरीरसे उनके स्वरूप होकर हम क्रोध या लोभमें आकर अपने उन पिताओंको कैसे मारें?

'**पुत्राः**'—हमारे और हमारे भाइयोंके जो पुत्र हैं, वे तो सर्वथा पालन करनेयोग्य हैं। वे हमारे विपरीत कोई क्रिया भी कर बैठें, तो भी उनका पालन करना ही हमारा धर्म है।

'**पितामहाः**'—ऐसे ही जो पितामह हैं, वे जब हमारे पिताजीके भी पूज्य हैं, तब हमारे लिये तो परमपूज्य हैं ही। वे हमारी ताड़ना कर सकते हैं, हमें मार भी सकते हैं। पर हमारी तो ऐसी ही चेष्टा होनी चाहिये, जिससे उनको किसी तरहका दुःख न हो, कष्ट न हो, प्रत्युत उनको सुख हो, आराम हो, उनकी सेवा हो।

'**मातुलाः**'—हमारे जो मामालोग हैं, वे हमारा पालन-पोषण करनेवाली माताओंके ही भाई हैं। अतः वे माताओंके समान ही पूज्य होने चाहिये।

'**श्वशुराः**'—ये जो हमारे ससुर हैं, ये मेरी और मेरे भाइयोंकी पत्नियोंके पूज्य पिताजी हैं। अतः ये हमारे लिये भी पिताके ही तुल्य हैं। इनको मैं कैसे मारना चाहूँ?

'**पौत्राः**'—हमारे पुत्रोंके जो पुत्र हैं, वे तो पुत्रोंसे भी अधिक पालन-पोषण करनेयोग्य हैं।

'**श्यालाः**'—हमारे जो साले हैं, वे भी हमलोगोंकी पत्नियोंके प्यारे भैया हैं। उनको भी कैसे मारा जाय!

'**सम्बन्धिनः**'—ये जितने सम्बन्धी दीख रहे हैं और इनके अतिरिक्त जितने भी सम्बन्धी हैं, उनका पालन-पोषण, सेवा करनी चाहिये कि उनको मारना चाहिये? इनको मारनेसे अगर हमें त्रिलोकीका राज्य भी मिल जाय, तो भी क्या इनको मारना उचित है? इनको मारना तो सर्वथा अनुचित है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने स्वजनोंको न मारनेमें दो हेतु बताये। अब परिणामकी दृष्टिसे भी स्वजनोंको न मारना सिद्ध करते हैं।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥

जनार्दन	= हे जनार्दन! (इन)	**का**	= क्या	**हत्वा**	= मारनेसे तो
धार्तराष्ट्रान्	= धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको	**प्रीतिः**	= प्रसन्नता	**अस्मान्**	= हमें
निहत्य	= मारकर	**स्यात्**	= होगी?	**पापम्**	= पाप
नः	= हमलोगोंको	**एतान्**	= इन	**एव**	= ही
		आततायिनः	= आततायियोंको	**आश्रयेत्**	= लगेगा।

व्याख्या—'**निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः .... हत्वैतानाततायिनः**'—धृतराष्ट्रके पुत्र और उनके सहयोगी दूसरे जितने भी सैनिक हैं, उनको मारकर विजय प्राप्त करनेसे हमें क्या प्रसन्नता होगी? अगर हम क्रोध अथवा लोभके वेगमें आकर इनको मार भी दें, तो उनका वेग शान्त होनेपर हमें रोना ही पड़ेगा अर्थात् क्रोध और लोभमें आकर हम क्या अनर्थ कर बैठे—ऐसा पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा। कुटुम्बियोंकी याद आनेपर उनका अभाव बार-बार खटकेगा। चित्तमें उनकी मृत्युका शोक सताता रहेगा। ऐसी स्थितिमें हमें कभी प्रसन्नता हो सकती है क्या? तात्पर्य है कि इनको मारनेसे हम इस लोकमें जबतक जीते रहेंगे, तबतक हमारे चित्तमें कभी प्रसन्नता नहीं होगी और इनको मारनेसे हमें जो पाप लगेगा, वह परलोकमें हमें भयंकर दुःख देनेवाला होगा।

आततायी छः प्रकारके होते हैं—आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार हुआ, धनको हरनेवाला, जमीन (राज्य) छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला*। दुर्योधन आदिमें ये छहों ही लक्षण घटते थे। उन्होंने पाण्डवोंको लाक्षागृहमें आग लगाकर मारना चाहा था। भीमसेनको जहर खिलाकर जलमें फेंक दिया था। हाथमें शस्त्र लेकर वे पाण्डवोंको मारनेके लिये तैयार थे

---

* **अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥ (वसिष्ठस्मृति ३। १९)**

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत हुआ, धनका हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं।'

ही। द्यूतक्रीड़ामें छल-कपट करके उन्होंने पाण्डवोंका धन और राज्य हर लिया था। द्रौपदीको भरी सभामें लाकर दुर्योधनने 'मैंने तेरेको जीत लिया है, तू मेरी दासी हो गयी है' आदि शब्दोंसे बड़ा अपमान किया था और दुर्योधनादिकी प्रेरणासे जयद्रथ द्रौपदीको हरकर ले गया था।

शास्त्रोंके वचनोंके अनुसार आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष (पाप) नहीं लगता—**'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन'** (मनुस्मृति ८। ३५१)। परन्तु आततायीको मारना उचित होते हुए भी मारनेकी क्रिया अच्छी नहीं है। शास्त्र भी कहता है कि मनुष्यको कभी किसीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये—**'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि'**; हिंसा न करना परमधर्म है—**'अहिंसा परमो धर्मः*।'** अतः क्रोध-लोभके वशीभूत होकर कुटुम्बियोंकी हिंसाका कार्य हम क्यों करें?

आततायी होनेसे ये दुर्योधन आदि मारनेके लायक हैं ही; परन्तु अपने कुटुम्बी होनेसे इनको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा; क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है कि जो अपने कुलका नाश करता है, वह अत्यन्त पापी होता है—**'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात्कुलनाशनम्।'** अतः जो आततायी अपने खास कुटुम्बी हैं, उन्हें कैसे मारा जाय? उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना, उनसे अलग हो जाना तो ठीक है, पर उन्हें मारना ठीक नहीं है। जैसे, अपना बेटा ही आततायी हो जाय तो उससे अपना सम्बन्ध हटाया जा सकता है, पर उसे मारा थोड़े ही जा सकता है!

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें युद्धका दुष्परिणाम बताकर अब अर्जुन युद्ध करनेका सर्वथा अनौचित्य बताते हैं।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

तस्मात्	= इसलिये	**वयम्**	= हम		कुटुम्बियोंको
स्वबान्धवान्	= अपने बान्धव (इन)	**न, अर्हाः**	= योग्य नहीं हैं;	**हत्वा**	= मारकर (हम)
धार्तराष्ट्रान्	= धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको	**हि**	= क्योंकि	**कथम्**	= कैसे
		माधव	= हे माधव!	**सुखिनः**	= सुखी
हन्तुम्	= मारनेके लिये	**स्वजनम्**	= अपने	**स्याम**	= होंगे?

व्याख्या—**'तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्'**—अभीतक (पहले अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकसे लेकर यहाँतक) मैंने कुटुम्बियोंको न मारनेमें जितनी युक्तियाँ, दलीलें दी हैं, जितने विचार प्रकट किये हैं, उनके रहते हुए हम ऐसे अनर्थकारी कार्यमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं? अपने बान्धव इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको मारनेका कार्य हमारे लिये सर्वथा ही अयोग्य है, अनुचित है। हम-जैसे अच्छे पुरुष ऐसा अनुचित कार्य कर ही कैसे सकते हैं ?

'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव'—हे माधव! इन कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे ही बड़ा दुःख हो रहा है, संताप हो रहा है, तो फिर क्रोध तथा लोभके वशीभूत होकर हम उनको मार दें तो कितना दुःख होगा! उनको मारकर हम कैसे सुखी होंगे?

यहाँ 'ये हमारे घनिष्ठ सम्बन्धी हैं'—इस ममताजनित मोहके कारण अपने क्षत्रियोचित कर्तव्यकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि ही नहीं जा रही है। कारण कि जहाँ मोह होता है, वहाँ मनुष्यका विवेक दब जाता है। विवेक दबनेसे मोहकी प्रबलता हो जाती है। मोहके प्रबल होनेसे अपने कर्तव्यका स्पष्ट भान नहीं होता।

---

* आततायीको मार दे—यह अर्थशास्त्र है और किसीकी भी हिंसा न करे—यह धर्मशास्त्र है। जिसमें अपना कोई स्वार्थ (मतलब) रहता है, वह 'अर्थशास्त्र' कहलाता है; और जिसमें अपना कोई स्वार्थ नहीं रहता, वह 'धर्मशास्त्र' कहलाता है। अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् होता है। अतः शास्त्रोंमें जहाँ अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र— दोनोंमें विरोध आये, वहाँ अर्थशास्त्रका त्याग करके धर्मशास्त्रको ही ग्रहण करना चाहिये—

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः। अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति २। २१)

सम्बन्ध—अब यहाँ यह शंका होती है कि जैसे तुम्हारे लिये दुर्योधन आदि स्वजन हैं, ऐसे ही दुर्योधन आदिके लिये भी तो तुम स्वजन हो। स्वजनकी दृष्टिसे तुम तो युद्धसे निवृत्त होनेकी बात सोच रहे हो, पर दुर्योधन आदि युद्धसे निवृत्त होनेकी बात ही नहीं सोच रहे हैं—इसका क्या कारण है? इसका उत्तर अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

यद्यपि = यद्यपि, **लोभोपहतचेतसः** = लोभके कारण जिनका विवेक-विचार लुप्त हो गया है, ऐसे, **एते** = ये (दुर्योधन आदि), **कुलक्षयकृतम्** = कुलका नाश करनेसे होनेवाले, **दोषम्** = दोषको, **च** = और, **मित्रद्रोहे** = मित्रोंके साथ द्वेष करनेसे होनेवाले, **पातकम्** = पापको, **न** = नहीं, **पश्यन्ति** = देखते, (तो भी), **जनार्दन** = हे जनार्दन!, **कुलक्षयकृतम्** = कुलका नाश करनेसे होनेवाले, **दोषम्** = दोषको, **प्रपश्यद्भिः** = ठीक-ठीक जाननेवाले, **अस्माभिः** = हम लोग, **अस्मात्** = इस, **पापात्** = पापसे, **निवर्तितुम्** = निवृत्त होनेका, **ज्ञेयम्** = विचार, **कथम्** = क्यों, **न** = न करें?

व्याख्या—**'यद्यप्येते न पश्यन्ति ''''' मित्रद्रोहे च पातकम्'**—इतना मिल गया, इतना और मिल जाय; फिर ऐसा मिलता ही रहे—ऐसे धन, जमीन, मकान, आदर, प्रशंसा, पद, अधिकार आदिकी तरफ बढ़ती हुई वृत्तिका नाम 'लोभ' है। इस लोभ-वृत्तिके कारण इन दुर्योधनादिकी विवेक-शक्ति लुप्त हो गयी है, जिससे वे यह विचार नहीं कर पा रहे हैं कि जिस राज्यके लिये हम इतना बड़ा पाप करने जा रहे हैं, कुटुम्बियोंका नाश करने जा रहे हैं, वह राज्य हमारे साथ कितने दिन रहेगा और हम उसके साथ कितने दिन रहेंगे ? हमारे रहते हुए यह राज्य चला जायगा तो हमारी क्या दशा होगी और राज्यके रहते हुए हमारे शरीर चले जायँगे तो क्या दशा होगी ? क्योंकि मनुष्य संयोगका जितना सुख लेता है, उसके वियोगका उतना दु:ख उसे भोगना ही पड़ता है। संयोगमें इतना सुख नहीं होता, जितना वियोगमें दु:ख होता है। तात्पर्य है कि अन्त:करणमें लोभ छा जानेके कारण इनको राज्य-ही-राज्य दीख रहा है। कुलका नाश करनेसे कितना भयंकर पाप होगा, वह इनको दीख ही नहीं रहा है।

जहाँ लड़ाई होती है, वहाँ समय, सम्पत्ति, शक्तिका नाश हो जाता है। तरह-तरहकी चिन्ताएँ और आपत्तियाँ आ जाती हैं। दो मित्रोंमें भी आपसमें खटपट मच जाती है, मनोमालिन्य हो जाता है। कई तरहका मतभेद हो जाता है। मतभेद होनेसे वैरभाव हो जाता है। जैसे द्रुपद और द्रोण—दोनों बचपनके मित्र थे। परन्तु राज्य मिलनेसे द्रुपदने एक दिन द्रोणका अपमान करके उस मित्रताको ठुकरा दिया। इससे राजा द्रुपद और द्रोणाचार्यके बीच वैरभाव हो गया। अपने अपमानका बदला लेनेके लिये द्रोणाचार्यने मेरे द्वारा राजा द्रुपदको परास्त कराकर उसका आधा राज्य ले लिया। इसपर द्रुपदने द्रोणाचार्यका नाश करनेके लिये एक यज्ञ कराया, जिससे धृष्टद्युम्न और द्रौपदी—दोनों पैदा हुए। इस तरह मित्रोंके साथ वैरभाव होनेसे कितना भयंकर पाप होगा, इस तरफ ये देख ही नहीं रहे हैं!

विशेष बात

अभी हमारे पास जिन वस्तुओंका अभाव है, उन वस्तुओंके बिना भी हमारा काम चल रहा है, हम अच्छी तरहसे जी रहे हैं। परन्तु जब वे वस्तुएँ हमें मिलनेके बाद फिर बिछुड़ जाती हैं, तब उनके अभावका बड़ा दु:ख होता है। तात्पर्य है कि पहले वस्तुओंका जो निरन्तर अभाव था, वह इतना दु:खदायी नहीं था, जितना वस्तुओंका संयोग

होकर फिर उनसे वियोग होना दुःखदायी है। ऐसा होनेपर भी मनुष्य अपने पास जिन वस्तुओंका अभाव मानता है, उन वस्तुओंको वह लोभके कारण पानेकी चेष्टा करता रहता है। विचार किया जाय तो जिन वस्तुओंका अभी अभाव है, बीचमें प्रारब्धानुसार उनकी प्राप्ति होनेपर भी अन्तमें उनका अभाव ही रहेगा। अतः हमारी तो वही अवस्था रही, जो कि वस्तुओंके मिलनेसे पहले थी। बीचमें लोभके कारण उन वस्तुओंको पानेके लिये केवल परिश्रम-ही-परिश्रम पल्ले पड़ा, दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ा। बीचमें वस्तुओंके संयोगसे जो थोड़ा-सा सुख हुआ है, वह तो केवल लोभके कारण ही हुआ है। अगर भीतरमें लोभ-रूपी दोष न हो, तो वस्तुओंके संयोगसे सुख हो ही नहीं सकता। ऐसे ही मोहरूपी दोष न हो, तो कुटुम्बियोंसे सुख हो ही नहीं सकता। लालचरूपी दोष न हो, तो संग्रहका सुख हो ही नहीं सकता। तात्पर्य है कि संसारका सुख किसी-न-किसी दोषसे ही होता है। कोई भी दोष न होनेपर संसारसे सुख हो ही नहीं सकता। परन्तु लोभके कारण मनुष्य ऐसा विचार कर ही नहीं सकता। यह लोभ उसके विवेक-विचारको लुप्त कर देता है।

'कथं न ज्ञेयमस्माभिः....प्रपश्यद्भिर्जनार्दन'—अब अर्जुन अपनी बात कहते हैं कि यद्यपि दुर्योधनादि अपने कुलक्षयसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको नहीं देखते, तो भी हमलोगोंको कुलक्षयसे होनेवाली अनर्थ-परम्पराको देखना ही चाहिये [जिसका वर्णन अर्जुन आगे चालीसवें श्लोकसे चौवालीसवें श्लोकतक करेंगे]; क्योंकि हम कुलक्षयसे होनेवाले दोषोंको भी अच्छी तरहसे जानते हैं और मित्रोंके साथ द्रोह-(वैर, द्वेष-) से होनेवाले पापको भी अच्छी तरहसे जानते हैं। अगर वे मित्र हमें दुःख दें, तो वह दुःख हमारे लिये अनिष्टकारक नहीं है। कारण कि दुःखसे तो हमारे पूर्वपापोंका ही नाश होगा, हमारी शुद्धि ही होगी। परन्तु हमारे मनमें अगर द्रोह—वैरभाव होगा, तो वह मरनेके बाद भी हमारे साथ रहेगा और जन्म-जन्मान्तरतक हमें पाप करनेमें प्रेरित करता रहेगा, जिससे हमारा पतन-ही-पतन होगा। ऐसे अनर्थ करनेवाले और मित्रोंके साथ द्रोह पैदा करनेवाले इस युद्धरूपी पापसे बचनेका विचार क्यों नहीं करना चाहिये? अर्थात् विचार करके हमें इस पापसे जरूर ही बचना चाहिये।

यहाँ अर्जुनकी दृष्टि दुर्योधन आदिके लोभकी तरफ तो जा रही है, पर वे खुद कौटुम्बिक स्नेह-(मोह-) में आबद्ध होकर बोल रहे हैं— इस तरफ उनकी दृष्टि नहीं जा रही है। इस कारण वे अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहे हैं। यह नियम है कि मनुष्यकी दृष्टि जबतक दूसरोंके दोषकी तरफ रहती है, तबतक उसको अपना दोष नहीं दीखता, उलटे एक अभिमान होता है कि इनमें तो यह दोष है, पर हमारेमें यह दोष नहीं है। ऐसी अवस्थामें वह यह सोच ही नहीं सकता कि अगर इनमें कोई दोष है तो हमारेमें भी कोई दूसरा दोष हो सकता है। दूसरा दोष यदि न भी हो, तो भी दूसरोंका दोष देखना—यह दोष तो है ही। दूसरोंका दोष देखना एवं अपनेमें अच्छाईका अभिमान करना—ये दोनों दोष साथमें ही रहते हैं। अर्जुनको भी दुर्योधन आदिमें दोष दीख रहे हैं और अपनेमें अच्छाईका अभिमान हो रहा है (अच्छाईके अभिमानकी छायामें मात्र दोष रहते हैं), इसलिये उनको अपनेमें मोहरूपी दोष नहीं दीख रहा है।

सम्बन्ध—कुलका क्षय करनेसे होनेवाले जिन दोषोंको हम जानते हैं, वे दोष कौन-से हैं? उन दोषोंकी परम्परा आगेके पाँच श्लोकोंमें बताते हैं।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥

कुलक्षये	= कुलका क्षय होनेपर	**उत**	= और	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
सनातनाः	= सदासे चलते आये	**धर्मे**	= धर्मका	**कुलम्**	= कुलको
कुलधर्माः	= कुलधर्म	**नष्टे**	= नाश होनेपर (बचे हुए)	**अधर्मः**	= अधर्म
प्रणश्यन्ति	= नष्ट हो जाते हैं			**अभिभवति**	= दबा लेता है।

व्याख्या—'**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः**'—जब युद्ध होता है, तब उसमें कुल-(वंश-) का क्षय (ह्रास) होता है। जबसे कुल आरम्भ हुआ है, तभीसे कुलके धर्म अर्थात् कुलकी पवित्र परम्पराएँ, पवित्र रीतियाँ, मर्यादाएँ भी परम्परासे चलती आयी हैं। परन्तु जब कुलका क्षय हो जाता है, तब सदासे कुलके साथ रहनेवाले धर्म भी नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जन्मके समय, द्विजाति-संस्कारके समय, विवाहके समय, मृत्युके समय और मृत्युके बाद किये जानेवाले जो-जो शास्त्रीय पवित्र रीति-रिवाज हैं, जो कि जीवित और मृतात्मा मनुष्योंके लिये इस लोकमें और परलोकमें कल्याण करनेवाले हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। कारण कि जब कुलका ही नाश हो जाता है, तब कुलके आश्रित रहनेवाले धर्म किसके आश्रित रहेंगे?

'**धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत**'—जब कुलकी पवित्र मर्यादाएँ, पवित्र आचरण नष्ट हो जाते हैं, तब धर्मका पालन न करना और धर्मसे विपरीत काम करना अर्थात् करनेलायक कामको न करना और न करनेलायक कामको करनारूप अधर्म सम्पूर्ण कुलको दबा लेता है अर्थात् सम्पूर्ण कुलमें अधर्म छा जाता है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि जब कुल नष्ट हो जायगा, कुल रहेगा ही नहीं, तब अधर्म किसको दबायेगा? इसका उत्तर यह है कि जो लड़ाईके योग्य पुरुष हैं, वे तो युद्धमें मारे जाते हैं; किन्तु जो लड़ाईके योग्य नहीं हैं, ऐसे जो बालक और स्त्रियाँ पीछे बच जाती हैं, उनको अधर्म दबा लेता है। कारण कि जब युद्धमें शस्त्र, शास्त्र, व्यवहार आदिके जानकार और अनुभवी पुरुष मर जाते हैं, तब पीछे बचे लोगोंको अच्छी शिक्षा देनेवाले, उनपर शासन करनेवाले नहीं रहते। इससे मर्यादाका, व्यवहारका ज्ञान न होनेसे वे मनमाना आचरण करने लग जाते हैं अर्थात् वे करनेलायक कामको तो करते नहीं और न करनेलायक कामको करने लग जाते हैं। इसलिये उनमें अधर्म फैल जाता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४१॥

कृष्ण = हे कृष्ण!
अधर्माभिभवात् = अधर्मके अधिक बढ़ जानेसे
कुलस्त्रियः = कुलकी स्त्रियाँ
प्रदुष्यन्ति = दूषित हो जाती हैं (और)
वार्ष्णेय = हे वार्ष्णेय!
स्त्रीषु = स्त्रियोंके
दुष्टासु = दूषित होनेपर
वर्णसङ्करः = वर्णसंकर
जायते = पैदा हो जाते हैं।

व्याख्या—'**अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः**'—धर्मका पालन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे बुद्धि सात्त्विकी बन जाती है। सात्त्विकी बुद्धिमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसका विवेक जाग्रत् रहता है। परन्तु जब कुलमें अधर्म बढ़ जाता है, तब आचरण अशुद्ध होने लगते हैं, जिससे अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे बुद्धि तामसी बन जाती है। बुद्धि तामसी होनेसे मनुष्य अकर्तव्यको कर्तव्य और कर्तव्यको अकर्तव्य मानने लग जाता है अर्थात् उसमें शास्त्र-मर्यादासे उलटी बातें पैदा होने लग जाती हैं। इस विपरीत बुद्धिसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित अर्थात् व्यभिचारिणी हो जाती हैं।

'**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः**'—स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर पैदा हो जाता है*। पुरुष और स्त्री—दोनों अलग-अलग वर्णके होनेपर उनसे जो संतान पैदा होती है, वह 'वर्णसंकर' कहलाती है।

अर्जुन यहाँ '**कृष्ण**' सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप सबको खींचनेवाले होनेसे '**कृष्ण**' कहलाते हैं, तो आप यह बतायें कि हमारे कुलको आप किस तरफ खींचेंगे अर्थात् किधर ले जायँगे?

'**वार्ष्णेय**' सम्बोधन देनेका भाव है कि आप वृष्णिवंशमें अवतार लेनेके कारण '**वार्ष्णेय**' कहलाते हैं। परन्तु जब हमारे कुल-(वंश-) का नाश हो जायगा, तब हमारे वंशज किस कुलके कहलायेंगे? अतः कुलका नाश करना उचित नहीं है।

*** परस्पर विरुद्ध धर्मोंका मिश्रण होकर जो बनता है, उसको 'संकर' कहते हैं। जब कर्तव्यका पालन नहीं होता, तब धर्मसंकर, वर्णसंकर, जातिसंकर, कुलसंकर, वेशसंकर, भाषासंकर, आहारसंकर आदि अनेक संकरदोष आ जाते हैं।**

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

सङ्करः = वर्णसंकर
कुलघ्नानाम् = कुलघातियोंको
च = और
कुलस्य = कुलको
नरकाय = नरकमें ले जानेवाला
एव = ही (होता है)।
लुप्तपिण्डोदकक्रियाः = श्राद्ध और तर्पण न मिलनेसे
एषाम् = इन (कुलघातियों)-के
पितरः = पितर
हि = भी (अपने स्थानसे)
पतन्ति = गिर जाते हैं।

व्याख्या—'**सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च**'— वर्ण-मिश्रणसे पैदा हुए वर्णसंकर-(सन्तान-) में धार्मिक बुद्धि नहीं होती। वह मर्यादाओंका पालन नहीं करता; क्योंकि वह खुद बिना मर्यादासे पैदा हुआ है। इसलिये उसके खुदके कुलधर्म न होनेसे वह उनका पालन नहीं करता, प्रत्युत कुलधर्म अर्थात् कुलमर्यादासे विरुद्ध आचरण करता है।

जिन्होंने युद्धमें अपने कुलका संहार कर दिया है, उनको 'कुलघाती' कहते हैं। वर्णसंकर ऐसे कुलघातियोंको नरकोंमें ले जाता है। केवल कुलघातियोंको ही नहीं, प्रत्युत कुल-परम्परा नष्ट होनेसे सम्पूर्ण कुलको भी वह नरकोंमें ले जाता है।

'**पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया**': —जिन्होंने अपने कुलका नाश कर दिया है, ऐसे इन कुलघातियोंके पितरोंको वर्णसंकरके द्वारा पिण्ड और पानी (श्राद्ध और तर्पण) न मिलनेसे उन पितरोंका पतन हो जाता है। कारण कि जब पितरोंको पिण्ड-पानी मिलता रहता है, तब वे उस पुण्यके प्रभावसे ऊँचे लोकोंमें रहते हैं। परन्तु जब उनको पिण्ड-पानी मिलना बन्द हो जाता है, तब उनका वहाँसे पतन हो जाता है अर्थात् उनकी स्थिति उन लोकोंमें नहीं रहती।

पितरोंको पिण्ड-पानी न मिलनेमें कारण यह है कि वर्णसंकरकी पूर्वजोंके प्रति आदर-बुद्धि नहीं होती। इस कारण उनमें पितरोंके लिये श्राद्ध-तर्पण करनेकी भावना ही नहीं होती। अगर लोक-लिहाजमें आकर वे श्राद्ध-तर्पण करते भी हैं, तो भी शास्त्रविधिके अनुसार उनका श्राद्ध-तर्पणमें अधिकार न होनेसे वह पिण्ड-पानी पितरोंको मिलता ही नहीं। इस तरह जब पितरोंको आदरबुद्धिसे और शास्त्रविधिके अनुसार पिण्ड-जल नहीं मिलता, तब उनका अपने स्थानसे पतन हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—पितरोंमें एक 'आजान' पितर होते हैं और एक 'मर्त्य' पितर। पितरलोकमें रहनेवाले पितर 'आजान' हैं और मनुष्यलोकसे मरकर गये पितर 'मर्त्य' हैं। श्राद्ध और तर्पण न मिलनेसे मर्त्य पितरोंका पतन होता है। पतन उन्हीं मर्त्य पितरोंका होता है, जो कुटुम्बसे, सन्तानसे सम्बन्ध रखते हैं और उनसे श्राद्ध-तर्पणकी आशा रखते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥

एतैः = इन
वर्णसङ्करकारकैः = वर्णसंकर पैदा करनेवाले
दोषैः = दोषोंसे
कुलघ्नानाम् = कुलघातियोंके
शाश्वताः = सदासे चलते आये
कुलधर्माः = कुलधर्म
च = और
जातिधर्माः = जातिधर्म
उत्साद्यन्ते = नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या—'**दोषैरेतैः कुलघ्नानाम्.....कुलधर्माश्च शाश्वताः**'—युद्धमें कुलका क्षय होनेसे कुलके साथ चलते आये कुलधर्मोंका भी नाश हो जाता है। कुलधर्मोंके नाशसे कुलमें अधर्मकी वृद्धि हो जाती है। अधर्मकी वृद्धिसे स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। स्त्रियोंके दूषित होनेसे वर्णसंकर पैदा हो जाते हैं। इस तरह इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलका नाश करनेवालोंके जातिधर्म (वर्णधर्म) नष्ट हो जाते हैं।

कुलधर्म और जातिधर्म क्या हैं? एक ही जातिमें एक कुलकी जो अपनी अलग-अलग परम्पराएँ हैं, अलग-

अलग मर्यादाएँ हैं, अलग-अलग आचरण हैं, वे सभी उस कुलके 'कुलधर्म' कहलाते हैं। एक ही जातिके सम्पूर्ण कुलोंके समुदायको लेकर जो धर्म कहे जाते हैं, वे सभी 'जातिधर्म' अर्थात् 'वर्णधर्म' कहलाते हैं, जो कि सामान्य धर्म हैं और शास्त्रविधिसे नियत हैं। इन कुलधर्मोंका और जातिधर्मोंका आचरण न होनेसे ये धर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥

जनार्दन	=हे जनार्दन!	**मनुष्याणाम्**	=(उन) मनुष्योंका	**वासः**	=वास
उत्सन्नकुलधर्माणाम्	= जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं,	**अनियतम्**	=बहुत कालतक	**भवति**	=होता है,
		नरके	=नरकोंमें	**इति**	=ऐसा (हम)
				अनुशुश्रुम	=सुनते आये हैं।

व्याख्या—'**उत्सन्नकुलधर्माणाम्....अनुशुश्रुम** *'—भगवान्ने मनुष्यको विवेक दिया है, नया कर्म करनेका अधिकार दिया है। अतः यह कर्म करनेमें अथवा न करनेमें, अच्छा करनेमें अथवा मन्दा करनेमें स्वतन्त्र है। इसलिये इसको सदा विवेक-विचारपूर्वक कर्तव्य-कर्म करने चाहिये। परन्तु मनुष्य सुखभोग आदिके लोभमें आकर अपने विवेकका निरादर कर देते हैं और राग-द्वेषके वशीभूत हो जाते हैं, जिससे उनके आचरण शास्त्र और कुलमर्यादाके विरुद्ध होने लगते हैं। परिणामस्वरूप इस लोकमें उनकी निन्दा, अपमान, तिरस्कार होता है और परलोकमें दुर्गति, नरकोंकी प्राप्ति होती है। अपने पापोंके कारण उनको बहुत समयतक नरकोंका कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसा हम परम्परासे बड़े-बूढ़े गुरुजनोंसे सुनते आये हैं।

'**मनुष्याणाम्**'—पदमें कुलघाती और उनके कुलके सभी मनुष्योंका समावेश किया गया है अर्थात् कुलघातियोंके पहले जो हो चुके हैं—उन (पितरों)-का, अपना और आगे होनेवाले-(वंश-) का समावेश किया गया है।

सम्बन्ध—युद्धसे होनेवाली अनर्थ-परम्पराके वर्णनका खुद अर्जुनपर क्या असर पड़ा ? इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

अहो	=यह बड़े आश्चर्य (और)	**महत्पापम्**	=बड़ा भारी पाप	**राज्यसुखलोभेन**	= राज्य और सुखके लोभसे
बत	=खेदकी बात है कि	**कर्तुम्**	=करनेका	**स्वजनम्**	=अपने स्वजनोंको
		व्यवसिताः	=निश्चय कर बैठे हैं,	**हन्तुम्**	=मारनेके लिये
वयम्	=हमलोग	**यत्**	=जो कि	**उद्यताः**	=तैयार हो गये हैं।

व्याख्या—'**अहो बत....स्वजनमुद्यताः**'—ये दुर्योधन आदि दुष्ट हैं। इनकी धर्मपर दृष्टि नहीं है। इनपर लोभ सवार हो गया है। इसलिये ये युद्धके लिये तैयार हो जायँ तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। परन्तु हमलोग तो धर्म-अधर्मको, कर्तव्य-अकर्तव्यको, पुण्य-पापको जाननेवाले हैं। ऐसे जानकार होते हुए भी अनजान मनुष्योंकी तरह हमलोगोंने बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय—विचार कर लिया है। इतना ही नहीं, युद्धमें अपने स्वजनोंको मारनेके लिये अस्त्र-शस्त्र लेकर तैयार हो गये हैं! यह हमलोगोंके लिये बड़े भारी आश्चर्यकी और खेद-(दुःख-)की बात है अर्थात् सर्वथा अनुचित बात है।

हमारी जो जानकारी है, हमने जो शास्त्रोंसे सुना है,

* **शोकाविष्ट होनेके कारण ही अर्जुनने यहाँ 'अनुशुश्रुम' परोक्ष लिट्की क्रियाका प्रयोग किया है।**

गुरुजनोंसे शिक्षा पायी है, अपने जीवनको सुधारनेका विचार किया है, उन सबका अनादर करके आज हमने युद्धरूपी पाप करनेके लिये विचार कर लिया है—यह बड़ा भारी पाप है—'**महत्पापम्**'।

इस श्लोकमें '**अहो**' और '**बत**'—ये दो पद आये हैं। इनमेंसे '**अहो**' पद आश्चर्यका वाचक है। आश्चर्य यही है कि युद्धसे होनेवाली अनर्थ-परम्पराको जानते हुए भी हमलोगोंने युद्धरूपी बड़ा भारी पाप करनेका पक्का निश्चय कर लिया है! दूसरा '**बत**' पद खेदका, दु:खका वाचक है। दु:ख यही है कि थोड़े दिन रहनेवाले राज्य और सुखके लोभमें आकर हम अपने कुटुम्बियोंको मारनेके लिये तैयार हो गये हैं!

पाप करनेका निश्चय करनेमें और स्वजनोंको मारनेके लिये तैयार होनेमें केवल राज्यका और सुखका लोभ ही कारण है। तात्पर्य है कि अगर युद्धमें हमारी विजय हो जायगी तो हमें राज्य, वैभव मिल जायगा, हमारा आदर-सत्कार होगा, हमारी महत्ता बढ़ जायगी, पूरे राज्यपर हमारा प्रभाव रहेगा, सब जगह हमारा हुक्म चलेगा, हमारे पास धन होनेसे हम मनचाही भोग-सामग्री जुटा लेंगे, फिर खूब आराम करेंगे, सुख भोगेंगे—इस तरह हमारेपर राज्य और सुखका लोभ छा गया है, जो हमारे-जैसे मनुष्योंके लिये सर्वथा अनुचित है।

इस श्लोकमें अर्जुन यह कहना चाहते हैं कि अपने सद्विचारोंका, अपनी जानकारीका आदर करनेसे ही शास्त्र, गुरुजन आदिकी आज्ञा मानी जा सकती है। परन्तु जो मनुष्य अपने सद्विचारोंका निरादर करता है, वह शास्त्रोंकी, गुरुजनोंकी और सिद्धान्तोंकी अच्छी-अच्छी बातोंको सुनकर भी उन्हें धारण नहीं कर सकता। अपने सद्विचारोंका बार-बार निरादर, तिरस्कार करनेसे सद्विचारोंकी सृष्टि बंद हो जाती है। फिर मनुष्यको दुर्गुण-दुराचारसे रोकनेवाला है ही कौन ? ऐसे ही हम भी अपनी जानकारीका आदर नहीं करेंगे, तो फिर हमें अनर्थ-परम्परासे कौन रोक सकता है ? अर्थात् कोई नहीं रोक सकता।

यहाँ अर्जुनकी दृष्टि युद्धरूपी क्रियाकी तरफ है। वे युद्धरूपी क्रियाको दोषी मानकर उससे हटना चाहते हैं; परन्तु वास्तवमें दोष क्या है—इस तरफ अर्जुनकी दृष्टि नहीं है। युद्धमें कौटुम्बिक मोह, स्वार्थभाव, कामना ही दोष है, पर इधर दृष्टि न जानेके कारण अर्जुन यहाँ आश्चर्य और खेद प्रकट कर रहे हैं, जो कि वास्तवमें किसी भी विचारशील, धर्मात्मा, शूरवीर क्षत्रियके लिये उचित नहीं है।

[अर्जुनने पहले अड़तीसवें श्लोकमें दुर्योधनादिके युद्धमें प्रवृत्त होनेमें, कुलक्षयके दोषमें और मित्रद्रोहके पापमें लोभको कारण बताया; और यहाँ भी अपनेको राज्य और सुखके लोभके कारण महान् पाप करनेको उद्यत बता रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन पापके होनेमें 'लोभ' को हेतु मानते हैं। फिर भी आगे तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनने 'मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों कर बैठता है'—ऐसा प्रश्न क्यों किया ? इसका समाधान है कि यहाँ तो कौटुम्बिक मोहके कारण अर्जुन युद्धसे निवृत्त होनेको धर्म और युद्धमें प्रवृत्त होनेको अधर्म मान रहे हैं अर्थात् उनकी शरीर आदिको लेकर केवल लौकिक दृष्टि है, इसलिये वे युद्धमें स्वजनोंको मारनेमें लोभको हेतु मान रहे हैं। परन्तु आगे गीताका उपदेश सुनते-सुनते उनमें अपने श्रेय—कल्याणकी इच्छा जाग्रत् हो गयी (गीता—तीसरे अध्यायका दूसरा श्लोक)। इसलिये वे कर्तव्यको छोड़कर न करनेयोग्य काममें प्रवृत्त होनेमें कौन कारण है—ऐसा पूछते हैं अर्थात् वहाँ (तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें) अर्जुन कर्तव्यकी दृष्टिसे, साधककी दृष्टिसे पूछते हैं।]

सम्बन्ध—आश्चर्य और खेदमें निमग्न हुए अर्जुन आगेके श्लोकमें अपनी दलीलोंका अन्तिम निर्णय बताते हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६ ॥

यदि	= अगर (ये)	**रणे**	= युद्धभूमिमें	**हन्युः**	= मार भी दें (तो)
शस्त्रपाणयः	= हाथोंमें शस्त्र-अस्त्र लिये हुए	**अप्रतीकारम्**	= सामना न करनेवाले	**तत्**	= वह
				मे	= मेरे लिये
धार्तराष्ट्राः	= धृतराष्ट्रके पक्षपाती लोग	**अशस्त्रम्**	= (तथा) शस्त्ररहित	**क्षेमतरम्**	= बड़ा ही हितकारक
		माम्	= मुझे	**भवेत्**	= होगा।

व्याख्या—**'यदि माम्''''''क्षेमतरं भवेत्'**—अर्जुन कहते हैं कि अगर मैं युद्धसे सर्वथा निवृत्त हो जाऊँगा, तो शायद ये दुर्योधन आदि भी युद्धसे निवृत्त हो जायँगे। कारण कि हम कुछ चाहेंगे ही नहीं, लड़ेंगे भी नहीं, तो फिर ये लोग युद्ध करेंगे ही क्यों? परन्तु कदाचित् जोशमें भरे हुए तथा हाथोंमें शस्त्र धारण किये हुए ये धृतराष्ट्रके पक्षपाती लोग 'सदाके लिये हमारे रास्तेका काँटा निकल जाय, वैरी समाप्त हो जाय'—ऐसा विचार करके सामना न करनेवाले तथा शस्त्ररहित मेरेको मार भी दें, तो उनका वह मारना मेरे लिये हितकारक ही होगा। कारण कि मैंने युद्धमें गुरुजनोंको मारकर बड़ा भारी पाप करनेका जो निश्चय किया था, उस निश्चयरूप पापका प्रायश्चित्त हो जायगा, उस पापसे मैं शुद्ध हो जाऊँगा। तात्पर्य है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो मैं भी पापसे बचूँगा और मेरे कुलका भी नाश नहीं होगा।

[जो मनुष्य अपने लिये जिस किसी विषयका वर्णन करता है, उस विषयका उसके स्वयंपर असर पड़ता है। अर्जुनने भी जब शोकाविष्ट होकर अट्ठाईसवें श्लोकसे बोलना आरम्भ किया, तब वे उतने शोकाविष्ट नहीं थे, जितने वे अब शोकाविष्ट हैं। पहले अर्जुन युद्धसे उपरत नहीं हुए, पर शोकाविष्ट होकर बोलते-बोलते अन्तमें वे युद्धसे उपरत हो जाते हैं और बाणसहित धनुषका त्याग करके बैठ जाते हैं। भगवान्ने यह सोचा कि अर्जुनके बोलनेका वेग निकल जाय तो मैं बोलूँ अर्थात् बोलनेसे अर्जुनका शोक बाहर आ जाय, भीतरमें कोई शोक बाकी न रहे, तभी मेरे वचनोंका उसपर असर होगा। अतः भगवान् बीचमें कुछ नहीं बोले।]

विशेष बात

अबतक अर्जुनने अपनेको धर्मात्मा मानकर युद्धसे निवृत्त होनेमें जितनी दलीलें, युक्तियाँ दी हैं, संसारमें रचे-पचे लोग अर्जुनकी उन दलीलोंको ही ठीक समझेंगे और आगे भगवान् अर्जुनको जो बातें समझायेंगे, उनको ठीक नहीं समझेंगे! इसका कारण यह है कि जो मनुष्य जिस स्थितिमें हैं, उस स्थितिकी, उस श्रेणीकी बातको ही वे ठीक समझते हैं; उससे ऊँची श्रेणीकी बात वे समझ ही नहीं सकते। अर्जुनके भीतर कौटुम्बिक मोह है और उस मोहसे आविष्ट होकर ही वे धर्मकी, साधुताकी बड़ी अच्छी-अच्छी बातें कह रहे हैं। अतः जिन लोगोंके भीतर कौटुम्बिक मोह है, उन लोगोंको ही अर्जुनकी बातें ठीक लगेंगी। परन्तु भगवान्की दृष्टि जीवके कल्याणकी तरफ है कि उसका कल्याण कैसे हो? भगवान्की इस ऊँची श्रेणीकी दृष्टिको वे (लौकिक दृष्टिवाले) लोग समझ ही नहीं सकते। अतः वे भगवान्की बातोंको ठीक नहीं मानेंगे, प्रत्युत ऐसा मानेंगे कि अर्जुनके लिये युद्धरूपी पापसे बचना बहुत ठीक था, पर भगवान्ने उनको युद्धमें लगाकर ठीक नहीं किया!

वास्तवमें भगवान्ने अर्जुनसे युद्ध नहीं कराया है, प्रत्युत उनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है। युद्ध तो अर्जुनको कर्तव्यरूपसे स्वतः प्राप्त हुआ था। अतः युद्धका विचार तो अर्जुनका खुदका ही था; वे स्वयं ही युद्धमें प्रवृत्त हुए थे, तभी वे भगवान्को निमन्त्रण देकर लाये थे। परन्तु उस विचारको अपनी बुद्धिसे अनिष्टकारक समझकर वे युद्धसे विमुख हो रहे थे अर्थात् अपने कर्तव्यके पालनसे हट रहे थे। इसपर भगवान्ने कहा कि यह जो तू युद्ध नहीं करना चाहता, यह तेरा मोह है। अतः समयपर जो कर्तव्य स्वतः प्राप्त हुआ है, उसका त्याग करना उचित नहीं है।

कोई बद्रीनारायण जा रहा था; परन्तु रास्तेमें उसे दिशाभ्रम हो गया अर्थात् उसने दक्षिणको उत्तर और उत्तरको दक्षिण समझ लिया। अतः वह बद्रीनारायणकी तरफ न चलकर उलटा चलने लग गया। सामनेसे उसको एक आदमी मिल गया। उस आदमीने पूछा कि 'भाई! कहाँ जा रहे हो?' वह बोला—'बद्रीनारायण'। वह आदमी बोला कि 'भाई! बद्रीनारायण इधर नहीं है, उधर है। आप तो उलटे जा रहे हैं!' अतः वह आदमी उसको बद्रीनारायण भेजनेवाला नहीं है; किन्तु उसको दिशाका ज्ञान कराकर ठीक रास्ता बतानेवाला है। ऐसे ही भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है, युद्ध नहीं कराया है।

स्वजनोंको देखनेसे अर्जुनके मनमें यह बात आयी थी कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—**'न योत्स्ये'** (२। ९), पर भगवान्का उपदेश सुननेपर अर्जुनने ऐसा नहीं कहा कि मैं युद्ध नहीं करूँगा; किन्तु ऐसा कहा कि मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा;—**'करिष्ये वचनं तव'** (१८। ७३) अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करूँगा। अर्जुनके इन वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराया है।

वास्तवमें युद्ध होना अवश्यम्भावी था; क्योंकि सबकी आयु समाप्त हो चुकी थी। इसको कोई भी टाल नहीं सकता था। स्वयं भगवान्ने विश्वरूपदर्शनके समय अर्जुनसे कहा है कि 'मैं बढ़ा हुआ काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये

यहाँ आया हूँ। अत: तेरे युद्ध किये बिना भी ये विपक्षमें खड़े योद्धालोग बचेंगे नहीं' (ग्यारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। इसलिये यह नरसंहार अवश्यम्भावी होनहार ही था। यह नरसंहार अर्जुन युद्ध न करते, तो भी होता। अगर अर्जुन युद्ध नहीं करते, तो जिन्होंने माँकी आज्ञासे द्रौपदीके साथ अपने सहित पाँचों भाइयोंका विवाह करना स्वीकार कर लिया था, वे युधिष्ठिर तो माँकी युद्ध करनेकी आज्ञासे युद्ध अवश्य करते ही। भीमसेन भी युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते; क्योंकि उन्होंने कौरवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा कर रखी थी। द्रौपदीने तो यहाँतक कह दिया था कि अगर मेरे पति (पाण्डव) कौरवोंसे युद्ध नहीं करेंगे तो, मेरे पिता (द्रुपद), भाई (धृष्टद्युम्न) और मेरे पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु कौरवोंसे युद्ध करेंगे*। इस तरह ऐसे कई कारण थे, जिससे युद्धको टालना सम्भव नहीं था।

होनहारको रोकना मनुष्यके हाथकी बात नहीं है; परन्तु अपने कर्तव्यका पालन करके मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है और कर्तव्यच्युत होकर अपना पतन कर सकता है। तात्पर्य है कि मनुष्य अपना इष्ट-अनिष्ट करनेमें स्वतन्त्र है। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको कर्तव्यका ज्ञान कराकर मनुष्यमात्रको उपदेश दिया है कि उसे शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहना चाहिये, उससे कभी च्युत नहीं होना चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने अपनी दलीलोंका निर्णय सुना दिया। उसके बाद अर्जुनने क्या किया— इसको संजय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

संजय बोले—

एवम्	= ऐसा	**अर्जुनः**	= अर्जुन	**सङ्ख्ये**	= युद्धभूमिमें
उक्त्वा	= कहकर	**सशरम्**	= बाणसहित	**रथोपस्थे**	= रथके मध्यभागमें
शोकसंविग्नमानसः	= शोकाकुल मनवाले	**चापम्**	= धनुषका		
		विसृज्य	= त्याग करके	**उपाविशत्**	= बैठ गये।

व्याख्या—'**एवमुक्त्वार्जुनः ...... शोकसंविग्नमानसः**'— युद्ध करना सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है, युद्ध करनेसे यहाँ कुटुम्बियोंका नाश होगा, परलोकमें नरकोंकी प्राप्ति होगी आदि बातोंको युक्ति और प्रमाणसे कहकर शोकसे अत्यन्त व्याकुल मनवाले अर्जुनने युद्ध न करनेका पक्का निर्णय कर लिया। जिस रणभूमिमें वे हाथमें धनुष लेकर उत्साहके साथ आये थे, उसी रणभूमिमें उन्होंने अपने बायें हाथसे गाण्डीव धनुषको और दायें हाथसे बाणको नीचे रख दिया और स्वयं रथके मध्यभागमें अर्थात् दोनों सेनाओंको देखनेके लिये जहाँपर खड़े थे, वहींपर शोकमुद्रामें बैठ गये।

अर्जुनकी ऐसी शोकाकुल अवस्था होनेमें मुख्य कारण है—भगवान्‌का भीष्म और द्रोणके सामने रथ खड़ा करके अर्जुनसे कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहना और उनको देखकर अर्जुनके भीतर छिपे हुए मोहका जाग्रत् होना। मोहके जाग्रत् होनेपर अर्जुन कहते हैं कि युद्धमें हमारे कुटुम्बी मारे जायँगे। कुटुम्बियोंका मरना ही बड़े नुकसानकी बात है। दुर्योधन आदि तो लोभके कारण इस नुकसानकी तरफ नहीं देख रहे हैं। परन्तु युद्धसे कितनी अनर्थ परम्परा चल पड़ेगी—इस तरफ ध्यान देकर हमलोगोंको ऐसे पापसे निवृत्त हो ही जाना चाहिये। हमलोग राज्य और सुखके लोभसे कुलका संहार करनेके लिये रणभूमिमें खड़े हो गये हैं—यह हमने बड़ी भारी गलती की! अत: युद्ध न करते हुए शस्त्ररहित मेरेको यदि सामने खड़े हुए योद्धालोग मार भी दें, तो उससे मेरा हित ही होगा। इस तरह अन्त:करणमें

* **यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ सन्धिकामुकौ। पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः॥**
पञ्च चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन। अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह॥
(**महाभारत, उद्योग० ८२। ३७-३८**)

मोह छा जानेके कारण अर्जुन युद्धसे उपरत होनेमें एवं अपने मर जानेमें भी हित देखते हैं और अन्तमें उसी मोहके कारण बाणसहित धनुषका त्याग करके विषादमग्न होकर बैठ जाते हैं। यह मोहकी ही महिमा है कि जो अर्जुन धनुष उठाकर युद्धके लिये तैयार हो रहे थे, वही अर्जुन धनुषको नीचे रखकर शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय पूर्ण हुआ॥ १॥

प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर महर्षि वेदव्यासजीने जो उपर्युक्त पुष्पिका लिखी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका विशेष माहात्म्य और प्रभाव ही प्रकट किया गया है।

'**ॐ, तत्, सत्***'—ये तीनों सच्चिदानन्दघन परमात्माके पवित्र नाम हैं। ये मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं। इनका उच्चारण परमात्माके सम्मुख करता है और शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंके अंग-वैगुण्यको मिटाता है। अतः गीताके अध्यायका पाठ करनेमें श्लोक, पद और अक्षरोंके उच्चारणमें जो-जो भूलें हुई हैं, उनका परिमार्जन करनेके लिये और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक भगवत्-सम्बन्धकी याद आनेके लिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें '**ॐ तत्सत्**'का उच्चारण किया गया है।

महर्षि वेदव्यासजीके द्वारा अध्यायके अन्तमें '**ॐ**'के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचनाका अंग-वैगुण्य मिट जाय, '**तत्**'के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचना भगवत्प्रीत्यर्थ हो जाय और '**सत्**'के उच्चारणका तात्पर्य है कि मेरी रचना सत् अर्थात् अविनाशी फल देनेवाली हो जाय। '**इति**'—बस, मेरा यही प्रयोजन है। इसके सिवाय मेरा व्यक्तिगत और कोई प्रयोजन नहीं है।

जो '**श्रीमत्**' अर्थात् सर्वशोभासम्पन्न हैं और जिनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये छः '**भग**' नित्य विद्यमान रहते हैं, उन भगवान्‌के मुखसे निकली हुई होनेके कारण इसको '**श्रीमत् भगवत्**' कहा गया है।

जब मनुष्य मस्तीमें, आनन्दमें होता है, तब उसके मुखसे स्वतः गीत निकलता है। भगवान्‌ने इसको मस्तीमें आकर गाया है, इसलिये इसका नाम '**गीता**' है। यद्यपि संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार इसका नाम '**गीतम्**' होना चाहिये था, तथापि उपनिषद्-स्वरूप होनेसे स्त्रीलिंग शब्द '**गीता**'का प्रयोग किया गया है।

इसमें सम्पूर्ण उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी भगवद्वाणी होनेसे उपनिषद्-स्वरूप है, इसलिये इसे '**उपनिषद्**' कहा गया है।

वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका आग्रह न रखकर प्राणिमात्रका कल्याण करनेवाली सर्वश्रेष्ठ विद्या होनेके कारण इसका नाम '**ब्रह्मविद्या**' है। इस ब्रह्मविद्यास्वरूप गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि योगसाधनोंकी शिक्षा दी गयी है, जिससे साधकको परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाय। इसलिये इसे '**योगशास्त्र**' कहा गया है।

यह साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तप्रवर अर्जुनका संवाद है। अर्जुनने निःसंकोच-भावसे बातें पूछी हैं और भगवान्‌ने उदारतापूर्वक उनका उत्तर दिया है। इन दोनोंके ही भाव इसमें हैं। अतः इन दोनोंके नामसे इस गीताशास्त्रकी विशेष महिमा होनेके कारण इसे '**श्रीकृष्णार्जुनसंवाद**' नामसे कहा गया है।

इस पहले अध्यायमें अर्जुनके विषादका वर्णन है। यह विषाद भी भगवान् अथवा सन्तोंका संग मिल जानेपर संसारसे वैराग्य उत्पन्न करके कल्याण करनेवाला हो जाता है। यद्यपि दुर्योधनादिको भी विषाद हुआ है, तथापि उनमें भगवान्‌से विमुखता होनेके कारण उनका विषाद '**योग**' नहीं हुआ। केवल अर्जुनका विषाद ही भगवान्‌की सम्मुखता होनेके कारण '**योग**' अर्थात् भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धका अनुभव करानेवाला हो गया। इसलिये इस अध्यायका नाम 'अर्जुनविषादयोग' रखा गया है।

प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पुष्पिका देनेका तात्पर्य है कि अगर साधक एक अध्यायका भी ठीक तरहसे मनन-विचार करे, तो उस एक ही अध्यायसे उसका कल्याण हो जायगा।

*** द्रष्टव्य—गीता—सत्रहवें अध्यायके तेईसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकतक।**

परिशिष्ट भाव—गीताकी पुष्पिकामें '**ब्रह्मविद्यायाम्**', '**योगशास्त्रे**' और '**श्रीकृष्णार्जुनसंवादे**'—ये तीन पद तो एकवचनमें आये हैं, पर '**श्रीमद्भगवद्गीतासु**' और '**उपनिषत्सु**'—ये दो पद बहुवचनमें आये हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवद्वाणी सम्पूर्ण उपनिषदोंमें श्रीमद्भगवद्गीता भी एक उपनिषद् है, जिसमें 'ब्रह्मविद्या' (ज्ञानयोग), 'योगशास्त्र' (कर्मयोग) और '**श्रीकृष्णार्जुनसंवाद**' (भक्तियोग)—तीनों आये हैं।

गीतामें '**श्रीकृष्णार्जुनसंवाद**'का आरम्भ और अन्त भक्तिमें ही हुआ है। आरम्भमें अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भगवान्के शरण होते हैं। '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (२।७) और अन्तमें भगवान्के द्वारा '**मामेकं शरणं व्रज**' पदोंसे पूर्ण शरणागतिकी प्रेरणा करनेपर अर्जुन पूर्णतया शरणागत हो जाते हैं।—'**करिष्ये वचनं तव**' (१८।७३)। अर्जुनने अपने श्रेय-(कल्याण-) का उपाय पूछा था (२।७, ३।२, ५।१), इसलिये भगवान्ने गीतामें 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' का भी वर्णन किया है।

पहले अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ प्रथमोऽध्यायः**'के तीन, '**धृतराष्ट्र उवाच**' '**सञ्जय उवाच**' आदि पदोंके बारह, श्लोकोंके पाँच सौ अट्ठावन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ छियासी है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ प्रथमोऽध्यायः**'के सात, '**धृतराष्ट्र उवाच**' '**सञ्जय उवाच**' आदि पदोंके सैंतीस, श्लोकोंके एक हजार पाँच सौ चार और पुष्पिकाके अड़तालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार पाँच सौ छियानबे है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें छः '**उवाच**' हैं—एक '**धृतराष्ट्र उवाच**', तीन '**सञ्जय उवाच**' और दो '**अर्जुन उवाच**'।

पहले अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सैंतालीस श्लोकोंमेंसे—पाँचवें और तैंतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा तैंतालीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा नवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष बयालीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अवतरणिका—

दुर्योधनने द्रोणाचार्यसे दोनों सेनाओंकी बात कही, पर द्रोणाचार्य कुछ भी बोले नहीं। इससे दुर्योधन दुःखी हो गया। तब दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये भीष्मजीने जोरसे शंख बजाया । भीष्मजीका शंख बजनेके बाद कौरव और पाण्डव-सेनाके बाजे बजे। इसके बाद (बीसवें श्लोकसे) श्रीकृष्णार्जुनसंवाद आरम्भ हुआ।

अर्जुनने भगवान्‌से अपने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेके लिये कहा। भगवान्‌ने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म, द्रोण आदिके सामने रथको खड़ा करके अर्जुनसे कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहा। दोनों सेनाओंमें अपने ही स्वजनों—सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुनमें कौटुम्बिक मोह जाग्रत् हुआ, जिसके परिणाममें अर्जुन युद्ध करना छोड़कर बाणसहित धनुषका त्याग करके रथके मध्यभागमें बैठ गये।

इसके बाद विषादमग्न अर्जुनके प्रति भगवान्‌ने क्या कहा—यह बात धृतराष्ट्रको सुनानेके लिये संजय दूसरे अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १ ॥

संजय बोले—

तथा = वैसी
कृपया = कायरतासे
आविष्टम् = व्याप्त हुए
तम् = उन अर्जुनके प्रति,
विषीदन्तम् = जो कि विषाद कर रहे हैं (और)
अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् = आँसुओंके कारण जिनके नेत्रोंकी देखनेकी शक्ति अवरुद्ध हो रही है,
मधुसूदनः = भगवान् मधुसूदन
इदम् = यह (आगे कहे जानेवाले)
वाक्यम् = वचन
उवाच = बोले।

व्याख्या—‘**तं तथा कृपयाविष्टम्**’—अर्जुन रथमें सारथिरूपसे बैठे हुए भगवान्‌को यह आज्ञा देते हैं कि हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये, जिससे मैं यह देख लूँ कि इस युद्धमें मेरे साथ दो हाथ करनेवाले कौन हैं? अर्थात् मेरे-जैसे शूरवीरके साथ कौन-कौन-से योद्धा साहस करके लड़ने आये हैं ? अपनी मौत सामने दीखते हुए भी मेरे साथ लड़नेकी उनकी हिम्मत कैसे हुई ? इस प्रकार जिस अर्जुनमें युद्धके लिये इतना उत्साह था, वीरता थी, वे ही अर्जुन दोनों सेनाओंमें अपने कुटुम्बियोंको देखकर उनके मरनेकी आशंकासे मोहग्रस्त होकर इतने शोकाकुल हो गये हैं कि उनका शरीर शिथिल हो रहा है, मुख सूख रहा है, शरीरमें कँपकँपी आ रही है, रोंगटे खड़े हो रहे हैं, हाथसे धनुष गिर रहा है, त्वचा जल रही है, खड़े रहनेकी भी शक्ति नहीं रही है और मन भी भ्रमित हो रहा है। कहाँ तो अर्जुनका यह स्वभाव कि ‘**न दैन्यं न पलायनम्**’ और कहाँ अर्जुनका कायरताके दोषसे शोकाविष्ट होकर रथके मध्यभागमें बैठ जाना! बड़े आश्चर्यके साथ संजय यही भाव उपर्युक्त पदोंसे प्रकट कर रहे हैं।

पहले अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें भी संजयने अर्जुनके लिये ‘**कृपया परयाविष्टः**’ पदोंका प्रयोग किया है।

‘**अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्**’—अर्जुन-जैसे महान् शूरवीरके भीतर भी कौटुम्बिक मोह छा गया और नेत्रोंमें आँसू भर आये! आँसू भी इतने ज्यादा भर आये कि नेत्रोंसे पूरी तरह देख भी नहीं सकते।

'विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः'—इस प्रकार कायरताके कारण विषाद करते हुए अर्जुनसे भगवान् मधुसूदनने ये (आगे दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें कहे जाने-वाले) वचन कहे।

यहाँ **'विषीदन्तमुवाच'** कहनेसे ही काम चल सकता था, **'इदं वाक्यम्'** कहनेकी जरूरत ही नहीं थी; क्योंकि **'उवाच'** क्रियाके अन्तर्गत ही **'वाक्यम्'** पद आ जाता है। फिर भी **'वाक्यम्'** पद कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्का यह वचन, यह वाणी बड़ी विलक्षण है। अर्जुनमें धर्मका बाना पहनकर जो कर्तव्य-त्यागरूप बुराई आ गयी थी, उसपर यह भगवद्वाणी सीधा आघात पहुँचानेवाली है। अर्जुनका युद्धसे उपराम होनेका जो निर्णय था, उसमें खलबली मचा देनेवाली है। अर्जुनको अपने दोषका ज्ञान कराकर अपने कल्याणकी जिज्ञासा जाग्रत् करा देनेवाली है। इस गम्भीर अर्थवाली वाणीके प्रभावसे ही अर्जुन भगवान्का शिष्यत्व ग्रहण करके उनके शरण हो जाते हैं (दूसरे अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

संजयके द्वारा **'मधुसूदनः'** पद कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण 'मधु नामक' दैत्यको मारनेवाले अर्थात् दुष्ट स्वभाववालोंका संहार करनेवाले हैं। इसलिये वे दुष्ट स्वभाववाले दुर्योधनादिका नाश करवाये बिना रहेंगे नहीं।

सम्बन्ध—भगवान्ने अर्जुनके प्रति कौन-से वचन कहे—इसे आगेके दो श्लोकोंमें कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले[1]—

अर्जुन = हे अर्जुन!
विषमे = इस विषम अवसरपर
त्वा = तुम्हें
इदम् = यह
कश्मलम् = कायरता
कुतः = कहाँसे
समुपस्थितम् = प्राप्त हुई, (जिसका कि)
अनार्यजुष्टम् = श्रेष्ठ पुरुष सेवन नहीं करते,
अस्वर्ग्यम् = (जो) स्वर्गको देनेवाली नहीं है (और)
अकीर्तिकरम् = कीर्ति करनेवाली भी नहीं है।

व्याख्या—**'अर्जुन'**—यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि तुम स्वच्छ, निर्मल अन्तःकरणवाले हो। अतः तुम्हारे स्वभावमें कालुष्य—कायरताका आना बिलकुल विरुद्ध बात है। फिर यह तुम्हारेमें कैसे आ गयी?

'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्'—भगवान् आश्चर्य प्रकट करते हुए अर्जुनसे कहते हैं कि ऐसे युद्धके मौकेपर तो तुम्हारेमें शूरवीरता, उत्साह आना चाहिये था, पर इस बेमौकेपर तुम्हारेमें यह कायरता कहाँसे आ गयी!

आश्चर्य दो तरहसे होता है—अपने न जाननेके कारण और दूसरेको चेतानेके लिये। भगवान्का यहाँ जो आश्चर्य-पूर्वक बोलना है, वह केवल अर्जुनको चेतानेके लिये ही है, जिससे अर्जुनका ध्यान अपने कर्तव्यपर चला जाय।

'कुतः' कहनेका तात्पर्य यह है कि मूलमें यह कायरतारूपी दोष तुम्हारेमें (स्वयंमें) नहीं है। यह तो आगन्तुक दोष है, जो सदा रहनेवाला नहीं है।

'समुपस्थितम्' कहनेका तात्पर्य है कि यह कायरता केवल तुम्हारे भावोंमें और वचनोंमें ही नहीं आयी है; किन्तु तुम्हारी क्रियाओंमें भी आ गयी है। यह तुम्हारेपर अच्छी तरहसे छा गयी है, जिसके कारण तुम धनुष-बाण छोड़कर रथके मध्यभागमें बैठ गये हो।

'अनार्यजुष्टम्'[2]—समझदार श्रेष्ठ मनुष्योंमें जो भाव पैदा होते हैं, वे अपने कल्याणके उद्देश्यको लेकर ही होते

१-यहाँ 'भगवान्' पदमें 'भग' शब्दमें जो 'मतुप्' प्रत्यय किया गया है, वह नित्ययोगमें किया गया है; क्योंकि समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये छहों 'भग' भगवान्में नित्य रहते हैं।

२-'अनार्यजुष्टम्' पदमें जो 'नञ्' समास है, वह 'आर्यैर्जुष्टमार्यजुष्टम्'—इस तृतीया समासके बाद ही करना चाहिये; जैसे—'न आर्यजुष्टम् अनार्यजुष्टम्।' अगर 'नञ्' समास तृतीया समासके पहले किया जाय कि 'न आर्या अनार्याः अनार्यैर्जुष्टमनार्यजुष्टम्' तो यहाँ यह कहना बनता ही नहीं; क्योंकि अनार्य पुरुषोंके द्वारा जिसका सेवन किया जाता है, वह दूसरोंके लिये आदर्श नहीं होता।

हैं। इसलिये श्लोकके उत्तरार्धमें भगवान् सबसे पहले उपर्युक्त पद देकर कहते हैं कि तुम्हारेमें जो कायरता आयी है, उस कायरताको श्रेष्ठ पुरुष स्वीकार नहीं करते। कारण कि तुम्हारी इस कायरतामें अपने कल्याणकी बात बिलकुल नहीं है। कल्याण चाहनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंमें अपने कल्याणका ही उद्देश्य रखते हैं। उनमें अपने कर्तव्यके प्रति कायरता उत्पन्न नहीं होती। परिस्थितिके अनुसार उनको जो कर्तव्य प्राप्त हो जाता है, उसको वे कल्याणप्राप्तिके उद्देश्यसे उत्साह और तत्परतापूर्वक सांगोपांग करते हैं। वे तुम्हारे-जैसे कायर होकर युद्धसे या अन्य किसी कर्तव्य-कर्मसे उपरत नहीं होते। अतः युद्ध-रूपसे प्राप्त कर्तव्य-कर्मसे उपरत होना तुम्हारे लिये कल्याणकारक नहीं है।

'**अस्वर्ग्यम्**'—कल्याणकी बात सामने न रखकर अगर सांसारिक दृष्टिसे भी देखा जाय, तो संसारमें स्वर्गलोक ऊँचा है। परन्तु तुम्हारी यह कायरता स्वर्गको देनेवाली भी नहीं है अर्थात् कायरतापूर्वक युद्धसे निवृत्त होनेका फल स्वर्गकी प्राप्ति भी नहीं हो सकता।

'**अकीर्तिकरम्**'—अगर स्वर्गप्राप्तिका भी लक्ष्य न हो, तो अच्छा माना जानेवाला पुरुष वही काम करता है, जिससे संसारमें कीर्ति हो। परन्तु तुम्हारी यह जो कायरता है, यह इस लोकमें भी कीर्ति (यश) देनेवाली नहीं है, प्रत्युत अपकीर्ति (अपयश) देनेवाली है। अतः तुम्हारेमें कायरताका आना सर्वथा ही अनुचित है।

भगवान्‌ने यहाँ '**अनार्यजुष्टम्**' '**अस्वर्ग्यम्**' और '**अकीर्तिकरम्**'—ऐसा क्रम देकर तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं—(१) जो विचारशील मनुष्य होते हैं, वे केवल अपना कल्याण ही चाहते हैं। उनका ध्येय, उद्देश्य केवल कल्याणका ही होता है। (२) जो पुण्यात्मा मनुष्य होते हैं, वे शुभ-कर्मोंके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं। वे स्वर्गको ही श्रेष्ठ मानकर उसकी प्राप्तिका ही उद्देश्य रखते हैं। (३) जो साधारण मनुष्य होते हैं, वे संसारको ही आदर देते हैं। इसलिये वे संसारमें अपनी कीर्ति चाहते हैं और उस कीर्तिको ही अपना ध्येय मानते हैं।

उपर्युक्त तीनों पद देकर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं कि तुम्हारा जो यह युद्ध न करनेका निश्चय है, यह विचारशील और पुण्यात्मा मनुष्योंके ध्येय—कल्याण और स्वर्गको प्राप्त करानेवाला भी नहीं है, तथा साधारण मनुष्योंके ध्येय—कीर्तिको प्राप्त करानेवाला भी नहीं है। अतः मोहके कारण तुम्हारा युद्ध न करनेका निश्चय बहुत ही तुच्छ है, जो कि तुम्हारा पतन करनेवाला, तुम्हें नरकोंमें ले जानेवाला और तुम्हारी अपकीर्ति करनेवाला होगा।

सम्बन्ध—कायरता आनेके बाद अब क्या करें? इस जिज्ञासाको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन अर्जुन!	**त्वयि**	= तुम्हारेमें	**हृदयदौर्बल्यम्**	= हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका
क्लैब्यम्	= इस नपुंसकताको	**एतत्**	= यह	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके (युद्धके लिये)
मा, स्म,	= मत प्राप्त हो;	**न, उपपद्यते**	= उचित नहीं है।	**उत्तिष्ठ**	= खड़े हो जाओ।
गमः	= (क्योंकि)	**परन्तप**	= हे परन्तप!		
		क्षुद्रम्,			

व्याख्या—'**पार्थ**'*—माता पृथा-(कुन्ती-) के सन्देशकी याद दिलाकर अर्जुनके अन्तःकरणमें क्षत्रियोचित

*** पृथा-(कुन्ती-) के पुत्र होनेसे अर्जुनका एक नाम 'पार्थ' भी है। 'पार्थ' सम्बोधन भगवान्‌की अर्जुनके साथ प्रियता और घनिष्ठताका द्योतक है। गीतामें भगवान्‌ने अड़तीस बार 'पार्थ' सम्बोधनका प्रयोग किया है। अर्जुनके अन्य सभी सम्बोधनोंकी अपेक्षा 'पार्थ' सम्बोधनका प्रयोग अधिक हुआ है। इसके बाद सबसे अधिक प्रयोग 'कौन्तेय' सम्बोधनका हुआ है, जिसकी आवृत्ति कुल चौबीस बार हुई है।**

भगवान्‌को अर्जुनसे जब कोई विशेष बात कहनी होती है या कोई आश्वासन देना होता है या उनके प्रति भगवान्‌का विशेषरूपसे प्रेम उमड़ता है, तब भगवान् उन्हें 'पार्थ' कहकर पुकारते हैं। इस सम्बोधनके प्रयोगसे मानो वे स्मरण कराते हैं कि तुम मेरी बुआ (पृथा—कुन्ती)-के लड़के तो हो ही, साथ-ही-साथ मेरे प्यारे भक्त और सखा भी हो (गीता ४। ३)। अतः मैं तुम्हें विशेष गोपनीय बातें बताता हूँ और जो कुछ भी कहता हूँ, सत्य तथा केवल तुम्हारे हितके लिये कहता हूँ।

वीरताका भाव जाग्रत् करनेके लिये भगवान् अर्जुनको '**पार्थ**' नामसे सम्बोधित करते हैं*। तात्पर्य है कि अपनेमें कायरता लाकर तुम्हें माताकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

'**क्लैब्यं मा स्म गमः**'—अर्जुन कायरताके कारण युद्ध करनेमें अधर्म और युद्ध न करनेमें धर्म मान रहे थे। अतः अर्जुनको चेतानेके लिये भगवान् कहते हैं कि युद्ध न करना धर्मकी बात नहीं है, यह तो नपुंसकता (हिजड़ापन) है। इसलिये तुम इस नपुंसकताको छोड़ दो।

'**नैतत्त्वय्युपपद्यते**'—तुम्हारेमें यह हिजड़ापन नहीं आना चाहिये था; क्योंकि तुम कुन्ती-जैसी वीर क्षत्राणी माताके पुत्र हो और स्वयं भी शूरवीर हो। तात्पर्य है कि जन्मसे और अपनी प्रकृतिसे भी यह नपुंसकता तुम्हारेमें सर्वथा अनुचित है।

'**परन्तप**'—तुम स्वयं '**परन्तप**' हो अर्थात् शत्रुओंको तपानेवाले, भगानेवाले हो, तो क्या तुम इस समय युद्धसे विमुख होकर अपने शत्रुओंको हर्षित करोगे?

'**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ**'—यहाँ '**क्षुद्रम्**' पदके दो अर्थ होते हैं—(१) यह हृदयकी दुर्बलता तुच्छताको प्राप्त करानेवाली है अर्थात् मुक्ति, स्वर्ग अथवा कीर्तिको देनेवाली नहीं है। अगर तुम इस तुच्छताका त्याग नहीं करोगे तो स्वयं तुच्छ हो जाओगे; और (२) यह हृदयकी दुर्बलता तुच्छ चीज है। तुम्हारे-जैसे शूरवीरके लिये ऐसी तुच्छ चीजका त्याग करना कोई कठिन काम नहीं है।

तुम जो ऐसा मानते हो कि मैं धर्मात्मा हूँ और युद्धरूपी पाप नहीं करना चाहता, तो यह तुम्हारे हृदयकी दुर्बलता है, कमजोरी है। इसका त्याग करके तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ अर्थात् अपने प्राप्त कर्तव्यका पालन करो।

यहाँ अर्जुनके सामने युद्धरूप कर्तव्य-कर्म है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि 'उठो, खड़े हो जाओ और युद्धरूप कर्तव्यका पालन करो'। भगवान्के मनमें अर्जुनके कर्तव्यके विषयमें जरा-सा भी सन्देह नहीं है। वे जानते हैं कि सभी दृष्टियोंसे अर्जुनके लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है। अतः अर्जुनकी थोथी युक्तियोंकी परवाह न करके उनको अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये चट आज्ञा देते हैं कि पूरी तैयारीके साथ युद्ध करनेके लिये खड़े हो जाओ।

परिशिष्ट भाव—इस बातका विस्तार भगवान्ने आगे इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक किया है।

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें अर्जुनने युद्ध न करनेके विषयमें बहुत-सी युक्तियाँ (दलीलें) दी थीं। उन युक्तियोंका कुछ भी आदर न करके भगवान्ने एकाएक अर्जुनको कायरतारूप दोषके लिये जोरसे फटकारा और युद्धके लिये खड़े हो जानेकी आज्ञा दे दी। इस बातको लेकर अर्जुन भी अपनी युक्तियोंका समाधान न पाकर एकाएक उत्तेजित होकर बोल उठे—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—

मधुसूदन	= हे मधुसूदन!	**द्रोणम्**	= द्रोणके		(क्योंकि)
अहम्	= मैं	**प्रति**	= साथ	**अरिसूदन**	= हे अरिसूदन!
सङ्ख्ये	= रणभूमिमें	**इषुभिः**	= बाणोंसे		(ये)
भीष्मम्	= भीष्म	**कथम्**	= कैसे	**पूजार्हौ**	= दोनों ही पूजाके
च	= और	**योत्स्यामि**	= युद्ध करूँ?		योग्य हैं।

व्याख्या—'**मधुसूदन**' और '**अरिसूदन**'—ये दो सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप दैत्योंको और शत्रुओंको मारनेवाले हैं अर्थात् जो दुष्ट स्वभाववाले, अधर्ममय आचरण करनेवाले और दुनियाको कष्ट देनेवाले मधु-कैटभ

---

* **कुन्तीका सन्देश था—**

एतद् धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः॥ यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः। (महा०, उद्यो० १३७। ९-१०)

'तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसे यह कहना कि जिस कार्यके लिये क्षत्रियमाता पुत्र उत्पन्न करती है, अब उसका समय आ गया है।'

आदि दैत्य हैं, उनको भी आपने मारा है और जो बिना कारण द्वेष रखते हैं, अनिष्ट करते हैं, ऐसे शत्रुओंको भी आपने मारा है। परन्तु मेरे सामने तो पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण खड़े हैं, जो आचरणोंमें सर्वथा श्रेष्ठ हैं, मेरेपर अत्यधिक स्नेह रखनेवाले हैं और प्यारपूर्वक मेरेको शिक्षा देनेवाले हैं। ऐसे मेरे परम हितैषी दादाजी और विद्यागुरुको मैं कैसे मारूँ ?

'कथं* भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च'—मैं कायरताके कारण युद्धसे विमुख नहीं हो रहा हूँ, प्रत्युत धर्मको देखकर युद्धसे विमुख हो रहा हूँ; परन्तु आप कह रहे हैं कि यह कायरता, यह नपुंसकता तुम्हारेमें कहाँसे आ गयी! आप जरा सोचें कि मैं पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके साथ बाणोंसे युद्ध कैसे करूँ? महाराज! यह मेरी कायरता नहीं है। कायरता तो तब कही जाय, जब मैं मरनेसे डरूँ। मैं मरनेसे नहीं डर रहा हूँ, प्रत्युत मारनेसे डर रहा हूँ।

संसारमें दो ही तरहके सम्बन्ध मुख्य हैं—जन्म-सम्बन्ध और विद्या-सम्बन्ध। जन्मके सम्बन्धसे तो पितामह भीष्म हमारे पूजनीय हैं। बचपनसे ही मैं उनकी गोदमें पला हूँ। बचपनमें जब मैं उनको 'पिताजी-पिताजी' कहता, तब वे प्यारसे कहते कि 'मैं तो तेरे पिताका भी पिता हूँ!' इस तरह वे मेरेपर बड़ा ही प्यार, स्नेह रखते आये हैं। विद्याके सम्बन्धसे आचार्य द्रोण हमारे पूजनीय हैं। वे मेरे विद्यागुरु हैं। उनका मेरेपर इतना स्नेह है कि उन्होंने खास अपने पुत्र अश्वत्थामाको भी मेरे समान नहीं पढ़ाया। उन्होंने ब्रह्मास्त्रको चलाना तो दोनोंको सिखाया, पर ब्रह्मास्त्रका उपसंहार करना मेरेको ही सिखाया, अपने पुत्रको नहीं। उन्होंने मेरेको यह वरदान भी दिया है कि 'मेरे शिष्योंमें अस्त्र-शस्त्र-कलामें तुम्हारेसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं होगा।' ऐसे पूजनीय पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने तो वाणीसे 'रे', 'तू'—ऐसा कहना भी उनकी हत्या करनेके समान पाप है, फिर मारनेकी इच्छासे उनके साथ बाणोंसे युद्ध करना कितने भारी पापकी बात है!

'इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हौ'—सम्बन्धमें बड़े होनेके नाते पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण—ये दोनों ही आदरणीय और पूजनीय हैं। इनका मेरेपर पूरा अधिकार है। अतः ये तो मेरेपर प्रहार कर सकते हैं, पर मैं उनपर बाणोंसे कैसे प्रहार करूँ? उनका प्रतिद्वन्द्वी होकर युद्ध करना तो मेरे लिये बड़े पापकी बात है! क्योंकि ये दोनों ही मेरे द्वारा सेवा करनेयोग्य हैं और सेवासे भी बढ़कर पूजा करनेयोग्य हैं। ऐसे पूज्यजनोंको मैं बाणोंसे कैसे मारूँ?

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने उत्तेजित होकर भगवान्‌से अपना निर्णय कह दिया। अब भगवद्वाणीका असर होनेपर अर्जुन अपने और भगवान्‌के निर्णयका सन्तुलन करके कहते हैं—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५ ॥

महानुभावान्	= महानुभाव	**अपि**	= भी		(तथा)
गुरून्	= गुरुजनोंको	**श्रेयः**	= श्रेष्ठ (समझता हूँ);	**अर्थकामान्**	= धनकी कामनाकी मुख्यतावाले
अहत्वा	= न मारकर	**हि**	= क्योंकि		
इह	= इस	**गुरून्**	= गुरुजनोंको	**भोगान्**	= भोगोंको
लोके	= लोकमें (मैं)	**हत्वा**	= मारकर	**एव**	= ही
भैक्ष्यम्	= भिक्षाका अन्न	**इह**	= यहाँ	**तु**	= तो
भोक्तुम्	= खाना	**रुधिरप्रदिग्धान्**	= रक्तसे सने हुए	**भुञ्जीय**	= भोगूँगा!

व्याख्या—[इस श्लोकसे ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें भगवान्‌के कहे हुए वचन अब अर्जुनके भीतर असर कर रहे हैं। इससे अर्जुनके मनमें यह विचार आ रहा है कि भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनोंको मारना धर्मयुक्त नहीं है—ऐसा जानते हुए भी भगवान् मुझे बिना किसी सन्देहके युद्धके लिये आज्ञा दे रहे हैं, तो कहीं-न-कहीं मेरी समझमें ही गलती है! इसलिये अर्जुन अब पूर्वश्लोककी तरह उत्तेजित होकर नहीं बोलते, प्रत्युत कुछ ढिलाईसे बोलते हैं।]

*** दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने 'कुतः' पदसे कहा था कि तुम्हारेमें यह कायरता कहाँसे आ गयी ? उस 'कुतः' पदके बदलेमें ही अर्जुन यहाँ 'कथम्' पदसे अपनी बात कहते हैं।**

'गुरूनहत्वा.....भैक्ष्यमपीह लोके'—अब अर्जुन पहले अपने पक्षको सामने रखते हुए कहते हैं कि अगर मैं भीष्म, द्रोण आदि पूज्यजनोंके साथ युद्ध नहीं करूँगा, तो दुर्योधन भी अकेला मेरे साथ युद्ध नहीं करेगा। इस तरह युद्ध न होनेसे मेरेको राज्य नहीं मिलेगा, जिससे मेरेको दु:ख पाना पड़ेगा। मेरा जीवन-निर्वाह भी कठिनतासे होगा। यहाँतक कि क्षत्रियके लिये निषिद्ध जो भिक्षावृत्ति है, उसको भी जीवन-निर्वाहके लिये ग्रहण करना पड़ सकता है। परन्तु गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा मैं उस कष्टदायक भिक्षा-वृत्तिको भी ग्रहण करना श्रेष्ठ मानता हूँ।

'इह लोके' कहनेका तात्पर्य है कि यद्यपि भिक्षा माँगकर खानेसे इस संसारमें मेरा अपमान-तिरस्कार होगा, लोग मेरी निन्दा करेंगे, तथापि गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भिक्षा माँगना श्रेष्ठ है।

'अपि' कहनेका तात्पर्य है कि मेरे लिये गुरुजनोंको मारना भी निषिद्ध है और भिक्षा माँगना भी निषिद्ध है; परन्तु इन दोनोंमें भी गुरुजनोंको मारना मुझे अधिक निषिद्ध दीखता है।

'हत्वार्थकामांस्तु .... रुधिरप्रदिग्धान्'—अब अर्जुन भगवान्‌के वचनोंकी तरफ दृष्टि करते हुए कहते हैं कि अगर मैं आपकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करूँ, तो युद्धमें गुरुजनोंकी हत्याके परिणाममें मैं उनके खूनसे सने हुए और जिनमें धन आदिकी कामना ही मुख्य है, ऐसे भोगोंको ही तो भोगूँगा। मेरेको भोग ही तो मिलेंगे। उन भोगोंके मिलनेसे मुक्ति थोड़े ही होगी! शान्ति थोड़े ही मिलेगी!

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन धनके द्वारा ही कौरवोंसे बँधे थे; अत: यहाँ **'अर्थकामान्'** पदको **'गुरून्'** पदका विशेषण मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ? इसका उत्तर यह है कि 'अर्थकी कामनावाले गुरुजन'—ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है। कारण कि पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण आदि गुरुजन धनकी कामनावाले नहीं थे। वे तो दुर्योधनके वृत्तिभोगी थे, उन्होंने दुर्योधनका अन्न खाया था। अत: युद्धके समय दुर्योधनका साथ छोड़ना कर्तव्य न समझकर ही वे कौरवोंके पक्षमें खड़े हुए थे।

दूसरी बात, अर्जुनने भीष्म, द्रोण आदिके लिये **'महानुभावान्'** पदका प्रयोग किया है। अत: ऐसे श्रेष्ठ भाववालोंको अर्थकी कामनावाले कैसे कहा जा सकता है! तात्पर्य है कि जो महानुभाव हैं, वे अर्थकी कामनावाले नहीं हो सकते और जो अर्थकी कामनावाले हैं, वे महानुभाव नहीं हो सकते। अत: यहाँ **'अर्थकामान्'** पद **'भोगान्'** पदका ही विशेषण हो सकता है।

विशेष बात

भगवान्‌ने दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें अर्जुनके कल्याणकी दृष्टिसे ही उन्हें कायरताको छोड़कर युद्धके लिये खड़ा होनेकी आज्ञा दी थी। परन्तु अर्जुन उलटा ही समझे अर्थात् वे समझे कि भगवान् राज्यका भोग करनेकी दृष्टिसे ही युद्धकी आज्ञा देते हैं*। पहले तो अर्जुनका युद्ध न करनेका एक ही पक्ष था, जिससे वे धनुष-बाण छोड़कर और शोकाविष्ट होकर रथके मध्यभागमें बैठ गये थे (पहले अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। परंतु युद्ध करनेका पक्ष तो भगवान्‌के कहनेसे ही हुआ है। तात्पर्य है कि अर्जुनका भाव था कि हमलोग तो धर्मको जानते हैं, पर दुर्योधन आदि धर्मको नहीं जानते, इसलिये वे धन, राज्य आदिके लोभसे युद्ध करनेके लिये तैयार खड़े हैं। अब वही बात अर्जुन यहाँ अपने लिये कहते हैं कि अगर मैं भी आपकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करूँ, तो परिणाममें गुरुजनोंके रक्तसे सने हुए धन, राज्य आदिको ही तो प्राप्त करूँगा! इस तरह अर्जुनको युद्ध करनेमें बुराई-ही-बुराई दिखायी दे रही है।

जो बुराई बुराईके रूपमें आती है, उसको मिटाना बड़ा सुगम होता है। परंतु जो बुराई अच्छाईके रूपमें आती है, उसको मिटाना बड़ा कठिन होता है; जैसे—सीताजीके सामने रावण और हनुमान्‌जीके सामने कालनेमि राक्षस आये तो उनको सीताजी और हनुमान्‌जी पहचान नहीं सके; क्योंकि उन दोनोंका वेश साधुओंका था। अर्जुनकी मान्यतामें युद्धरूप कर्तव्य-कर्म करना बुराई है और युद्ध न करना भलाई है अर्थात् अर्जुनके मनमें धर्म-(हिंसा-त्याग-) रूप भलाईके

*** केवल भौतिक दृष्टि रखनेवाले मनुष्य कल्याणकी बात सोच ही नहीं सकते। जबतक भौतिक पदार्थोंकी तरफ ही दृष्टि रहती है, तबतक आध्यात्मिक दृष्टि जाग्रत् नहीं होती। यहाँ अर्जुनकी दृष्टिमें शरीर आदि भौतिक पदार्थोंकी मुख्यता हो रही है। वे कौटुम्बिक मोह-ममतामें फँसकर धर्मको भी भौतिक दृष्टिसे ही देख रहे हैं। भौतिक (प्राकृत) दृष्टिसे अत्यन्त विलक्षण आध्यात्मिक दृष्टिकी तरफ अभी अर्जुनका खयाल नहीं है अर्थात् उनकी दृष्टि भौतिक राज्यसे ऊपर नहीं जा रही है और वे कौटुम्बिक मोह-ममताके प्रवाहमें बह रहे हैं। इसलिये वे ऐसा समझ रहे हैं कि युद्धमें प्रवृत्त कराकर भगवान् मुझे राज्य दिलाना चाहते हैं, जबकि वास्तवमें भगवान् उनका कल्याण करना चाहते हैं।**

वेशमें कर्तव्य-त्यागरूप बुराई आयी है। उनको कर्तव्य-त्यागरूप बुराई बुराईके रूपमें नहीं दीख रही है; क्योंकि उनके भीतर शरीरोंको लेकर मोह है। अतः इस बुराईको मिटानेमें भगवान्‌को भी बड़ा जोर पड़ रहा है और समय लग रहा है।

आजकल समाजमें एकताके बहाने वर्ण-आश्रमकी मर्यादाको मिटानेकी कोशिश की जा रही है, तो यह बुराई एकतारूप अच्छाईके वेशमें आनेसे बुराईरूपसे नहीं दीख रही है। अतः वर्ण-आश्रमकी मर्यादा मिटनेसे परिणाममें लोगोंका कितना पतन होगा, लोगोंमें कितना आसुरभाव आयेगा—इस तरफ दृष्टि ही नहीं जाती। ऐसे ही धनके बहाने लोग झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, विश्वासघात आदि-आदि दोषोंको भी दोषरूपसे नहीं जानते। यहाँ अर्जुनमें धर्मके रूपमें बुराई आयी है कि हम भीष्म, द्रोण आदि महानुभावोंको कैसे मार सकते हैं ? क्योंकि हम धर्मको जाननेवाले हैं। तात्पर्य है कि अर्जुनने जिसको अच्छाई माना है, वह वास्तवमें बुराई ही है; परन्तु उसमें मान्यता अच्छाईकी होनेसे वह बुराईरूपसे नहीं दीख रही है।

परिशिष्ट भाव—'महानुभावान्'—भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनोंका अनुभाव, भीतरका भाव श्रेष्ठ है, शुद्ध है; क्योंकि युद्ध करते हुए भी उनमें पक्षपात नहीं है।

सम्बन्ध—भगवान्‌के वचनोंमें ऐसी विलक्षणता है कि वे अर्जुनके भीतर अपना प्रभाव डालते जा रहे हैं, जिससे अर्जुनको अपने युद्ध न करनेके निर्णयमें अधिक सन्देह होता जा रहा है। ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुए अर्जुन कहते हैं—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

एतद्	=(हम) यह	**गरीयः**	=अत्यन्त श्रेष्ठ है	**न, जिजीविषामः**	=जीना भी नहीं चाहते,
च	=भी	**यत्, वा**	=अथवा (हम उन्हें)	**ते**	=वे
न	=नहीं	**जयेम**	=जीतेंगे	**एव**	=ही
विद्मः	=जानते (कि)	**यदि, वा**	=या (वे)	**धार्तराष्ट्राः**	=धृतराष्ट्रके सम्बन्धी
नः	=हमलोगोंके लिये (युद्ध करना और न करना—इन)	**नः**	=हमें	**प्रमुखे**	=(हमारे) सामने
		जयेयुः	=जीतेंगे।	**अवस्थिताः**	=खड़े हैं।
		यान्	=जिनको		
कतरत्	=दोनोंमेंसे कौन-सा	**हत्वा**	=मारकर (हम)		

व्याख्या—**'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः'**—मैं युद्ध करूँ अथवा न करूँ—इन दोनों बातोंका निर्णय मैं नहीं कर पा रहा हूँ। कारण कि आपकी दृष्टिमें तो युद्ध करना ही श्रेष्ठ है, पर मेरी दृष्टिमें गुरुजनोंको मारना पाप होनेके कारण युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। इन दोनों पक्षोंको सामने रखनेपर मेरे लिये कौन-सा पक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ है—यह मैं नहीं जान पा रहा हूँ। इस प्रकार उपर्युक्त पदोंमें अर्जुनके भीतर भगवान्‌का पक्ष और अपना पक्ष दोनों समकक्ष हो गये हैं।

'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'—अगर आपकी आज्ञाके अनुसार युद्ध भी किया जाय, तो हम उनको जीतेंगे अथवा वे (दुर्योधनादि) हमारेको जीतेंगे—इसका भी हमें पता नहीं है।

यहाँ अर्जुनको अपने बलपर अविश्वास नहीं है, प्रत्युत भविष्यपर अविश्वास है; क्योंकि भविष्यमें क्या होनहार है—इसका किसीको क्या पता?

'यानेव हत्वा न जिजीविषामः'—हम तो कुटुम्बियोंको मारकर जीनेकी भी इच्छा नहीं रखते; भोग भोगनेकी, राज्य प्राप्त करके हुक्म चलानेकी बात तो बहुत दूर रही! कारण कि अगर हमारे कुटुम्बी मारे जायँगे, तो हम जीकर क्या करेंगे? अपने हाथोंसे कुटुम्बको नष्ट करके बैठे-बैठे चिन्ता-शोक ही तो करेंगे! चिन्ता-शोक करने और वियोगका दुःख भोगनेके लिये हम जीना नहीं चाहते।

'तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः'—हम जिनको मारकर जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं। धृतराष्ट्रके सभी सम्बन्धी हमारे कुटुम्बी ही तो हैं। उन कुटुम्बियोंको मारकर हमारे जीनेको धिक्कार है!

सम्बन्ध—अपने कर्तव्यका निर्णय करनेमें अपनेको असमर्थ पाकर अब अर्जुन व्याकुलतापूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

कार्पण्य-दोषोपहतस्वभावः	=कायरतारूप दोषसे तिरस्कृत स्वभाववाला (और)	**पृच्छामि**	=पूछता हूँ (कि)	**ब्रूहि**	=कहिये।
धर्मसम्मूढचेताः	=धर्मके विषयमें मोहित अन्तः-करणवाला (मैं)	**यत्**	=जो	**अहम्**	=मैं
त्वाम्	=आपसे	**निश्चितम्**	=निश्चित	**ते**	=आपका
		श्रेयः	=कल्याण करनेवाली	**शिष्यः**	=शिष्य हूँ।
		स्यात्	=हो,	**त्वाम्**	=आपके
		तत्	=वह (बात)	**प्रपन्नम्**	=शरण हुए
		मे	=मेरे लिये	**माम्**	=मुझे
				शाधि	=शिक्षा दीजिये।

व्याख्या—‘**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः**’[१]—यद्यपि अर्जुन अपने मनमें युद्धसे सर्वथा निवृत्त होनेको सर्वश्रेष्ठ नहीं मानते थे, तथापि पापसे बचनेके लिये उनको युद्धसे उपराम होनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय भी नहीं दीखता था। इसलिये वे युद्धसे उपराम होना चाहते थे और उपराम होनेको गुण ही मानते थे, कायरतारूप दोष नहीं। परन्तु भगवान्‌ने अर्जुनकी इस उपरतिको कायरता और हृदयकी तुच्छ दुर्बलता कहा, तो भगवान्‌के उन निःसंदिग्ध वचनोंसे अर्जुनको ऐसा विचार हुआ कि युद्धसे निवृत्त होना मेरे लिये उचित नहीं है। यह तो एक तरहकी कायरता ही है, जो मेरे स्वभावके बिलकुल विरुद्ध है; क्योंकि मेरे क्षात्र-स्वभावमें दीनता और पलायन (पीठ दिखाना)—ये दोनों ही नहीं हैं।[२] इस तरह भगवान्‌के द्वारा कथित कायरतारूप दोषको अपनेमें स्वीकार करते हुए अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि एक तो कायरतारूप दोषके कारण मेरा क्षात्र-स्वभाव एक तरहसे दब गया है और दूसरी बात, मैं अपनी बुद्धिसे धर्मके विषयमें कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ। मेरी बुद्धिमें ऐसी मूढ़ता छा गयी है कि धर्मके विषयमें मेरी बुद्धि कुछ भी काम नहीं कर रही है!

तीसरे श्लोकमें तो भगवान्‌ने अर्जुनको स्पष्टरूपसे आज्ञा दे दी थी कि ‘हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको, कायरताको छोड़कर युद्धके लिये खड़े हो जाओ’। इससे अर्जुनको धर्म-(कर्तव्य-) के विषयमें कोई सन्देह नहीं रहना चाहिये था। फिर भी सन्देह रहनेका कारण यह है कि एक तरफ तो युद्धमें कुटुम्बका नाश करना, पूज्यजनोंको मारना अधर्म (पाप) दीखता है और दूसरी तरफ युद्ध करना क्षत्रियका धर्म दीखता है। इस प्रकार कुटुम्बियोंको देखते हुए युद्ध नहीं करना चाहिये और क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना चाहिये—इन दो बातोंको लेकर अर्जुन धर्म-संकटमें पड़ गये। उनकी बुद्धि धर्मका निर्णय करनेमें कुण्ठित हो गयी। ऐसा होनेपर ‘अभी इस समय मेरे लिये खास कर्तव्य क्या है? मेरा धर्म क्या है?’ इसका निर्णय करानेके लिये वे भगवान्‌से पूछते हैं।

‘**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**’—इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि तू जो कायरताके कारण युद्धसे निवृत्त हो रहा है, तेरा यह आचरण ‘अनार्यजुष्ट’ है अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष ऐसा आचरण नहीं करते, वे तो जिसमें अपना कल्याण हो, वही आचरण करते हैं। यह बात सुनकर अर्जुनके मनमें आया कि मुझे भी वही करना चाहिये, जो श्रेष्ठ पुरुष किया करते हैं। इस प्रकार अर्जुनके मनमें कल्याणकी इच्छा जाग्रत् हो गयी और उसीको लेकर वे भगवान्‌से अपने कल्याणकी बात पूछते हैं कि जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो जाय, ऐसी बात मेरेसे कहिये।

अर्जुनके हृदयमें हलचल (विषाद) होनेसे और अब यहाँ अपने कल्याणकी बात पूछनेसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य जिस स्थितिमें स्थित है, उसी स्थितिमें वह संतोष करता रहता है तो उसके भीतर अपने असली उद्‌देश्यकी जागृति नहीं होती। वास्तविक उद्‌देश्य—कल्याणकी

१-यहाँ ‘चेतस्’ शब्द बुद्धिका वाचक है।
२-अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।

जागृति तभी होती है, जब मनुष्य अपनी वर्तमान स्थितिसे असन्तुष्ट हो जाय, उस स्थितिमें रह न सके।

'शिष्यस्तेऽहम्'—अपने कल्याणकी बात पूछनेपर अर्जुनके मनमें यह भाव पैदा हुआ कि कल्याणकी बात तो गुरुसे पूछी जाती है, सारथिसे नहीं पूछी जाती। इस बातको लेकर अर्जुनके मनमें जो रथीपनका भाव था, जिसके कारण वे भगवान्‌को यह आज्ञा दे रहे थे कि 'हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये', वह भाव मिट जाता है और अपने कल्याणकी बात पूछनेके लिये अर्जुन भगवान्‌के शिष्य हो जाते हैं और कहते हैं कि 'महाराज! मैं आपका शिष्य हूँ, शिक्षा लेनेका पात्र हूँ, आप मेरे कल्याणकी बात कहिये'।

'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—गुरु तो उपदेश दे देंगे, जिस मार्गका ज्ञान नहीं है, उसका ज्ञान करा देंगे, पूरा प्रकाश दे देंगे, पूरी बात बता देंगे, पर मार्गपर तो स्वयं शिष्यको ही चलना पड़ेगा। अपना कल्याण तो शिष्यको ही करना पड़ेगा। मैं तो ऐसा नहीं चाहता कि भगवान् उपदेश दें और मैं उसका अनुष्ठान करूँ; क्योंकि उससे मेरा काम नहीं चलेगा। अतः अपने कल्याणकी जिम्मेवारी मैं अपनेपर क्यों रखूँ? गुरुपर ही क्यों न छोड़ दूँ! जैसे केवल माँके दूधपर ही निर्भर रहनेवाला बालक बीमार हो जाय, तो उसकी बीमारी दूर करनेके लिये ओषधि स्वयं माँको खानी पड़ती है, बालकको नहीं। इसी तरह मैं भी सर्वथा गुरुके ही शरण हो जाऊँ, गुरुपर ही निर्भर हो जाऊँ, तो मेरे कल्याणका पूरा दायित्व गुरुपर ही आ जायगा, स्वयं गुरुको ही मेरा कल्याण करना पड़ेगा—इस भावसे अर्जुन कहते हैं कि 'मैं आपके शरण हूँ, मेरेको शिक्षा दीजिये'।

यहाँ अर्जुन **'त्वां प्रपन्नम्'** पदोंसे भगवान्‌के शरण होनेकी बात तो कहते हैं, पर वास्तवमें सर्वथा शरण हुए नहीं हैं। अगर वे सर्वथा शरण हो जाते, तो फिर उनके द्वारा **'शाधि माम्'** 'मेरेको शिक्षा दीजिये' यह कहना नहीं बनता; क्योंकि सर्वथा शरण होनेपर शिष्यका अपना कोई कर्तव्य रहता ही नहीं। दूसरी बात, आगे नवें श्लोकमें अर्जुन कहेंगे कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—**'न योत्स्ये।'** अर्जुनकी वह बात भी शरणागतिके विरुद्ध पड़ती है। कारण कि शरणागत होनेके बाद 'मैं युद्ध करूँगा या नहीं करूँगा; क्या करूँगा और क्या नहीं करूँगा'—यह बात रहती ही नहीं। उसको यह पता ही नहीं रहता कि शरण्य क्या करायेंगे और क्या नहीं करायेंगे। उसका तो यही एक भाव रहता है कि अब शरण्य जो करायेंगे, वही करूँगा। अर्जुनकी इस कमीको दूर करनेके लिये ही आगे चलकर भगवान्‌को **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६) 'एक मेरी शरणमें आ जा'— ऐसा कहना पड़ा। फिर अर्जुनने भी **'करिष्ये वचनं तव'** (१८। ७३) 'आपकी आज्ञाका पालन करूँगा'—ऐसा कहकर पूर्ण शरणागतिको स्वीकार किया।

इस श्लोकमें अर्जुनने चार बातें कहीं हैं—**(१) 'कार्पण्यदोषो .... धर्मसम्मूढचेताः' (२) 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (३) 'शिष्यस्तेऽहम्' (४) 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'** इनमेंसे पहली बातमें अर्जुन धर्मके विषयमें पूछते हैं, दूसरी बातमें अपने कल्याणके लिये प्रार्थना करते हैं, तीसरी बातमें शिष्य बन जाते हैं और चौथी बातमें शरणागत हो जाते हैं। अब इन चारों बातोंपर विचार किया जाय, तो पहली बातमें मनुष्य जिससे पूछता है, वह कहनेमें अथवा न कहनेमें स्वतन्त्र होता है। दूसरीमें, जिससे प्रार्थना करता है, उसके लिये कहना कर्तव्य हो जाता है। तीसरीमें, जिनका शिष्य बन जाता है, उन गुरुपर शिष्यको कल्याणका मार्ग बतानेका विशेष दायित्व आ जाता है। चौथीमें, जिसके शरणागत हो जाता है, उस शरण्यको शरणागतका उद्धार करना ही पड़ता है अर्थात् उसके उद्धारका उद्योग स्वयं शरण्यको करना पड़ता है।

*सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुन भगवान्‌के शरणागत तो हो जाते हैं, पर उनके मनमें आता है कि भगवान्‌का तो युद्ध करानेका ही भाव है, पर मैं युद्ध करना अपने लिये धर्मयुक्त नहीं मानता हूँ। उन्होंने जैसे पहले **'उत्तिष्ठ'** कहकर युद्धके लिये आज्ञा दी, ऐसे ही वे अब भी युद्ध करनेकी आज्ञा दे देंगे। दूसरी बात, शायद मैं अपने हृदयके भावोंको भगवान्‌के सामने पूरी तरह नहीं रख पाया हूँ। इन बातोंको लेकर अर्जुन आगेके श्लोकमें युद्ध न करनेके पक्षमें अपने हृदयकी अवस्थाका स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं।*

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

हि	= कारण कि	**सुराणाम्**	= (स्वर्गमें) देवताओंका	**मम**	= मेरा
भूमौ	= पृथ्वीपर	**आधिपत्यम्**	= आधिपत्य	**यत्**	= जो
ऋद्धम्	= धन-धान्य-समृद्ध (और)	**अवाप्य**	= मिल जाय	**शोकम्**	= शोक है, (वह)
असपत्नम्	= शत्रुरहित	**अपि**	= तो भी	**अपनुद्यात्**	= दूर हो जाय (—ऐसा मैं)
राज्यम्	= राज्य	**इन्द्रियाणाम्**	= इन्द्रियोंको	**न**	= नहीं
च	= तथा	**उच्छोषणम्**	= सुखानेवाला	**प्रपश्यामि**	= देखता हूँ।

व्याख्या—[अर्जुन सोचते हैं कि भगवान् ऐसा समझते होंगे कि अर्जुन युद्ध करेगा तो उसकी विजय होगी और विजय होनेपर उसको राज्य मिल जायगा, जिससे उसके चिन्ता-शोक मिट जायँगे और संतोष हो जायगा। परन्तु शोकके कारण मेरी ऐसी दशा हो गयी है कि विजय होनेपर भी मेरा शोक दूर हो जाय—ऐसी बात मैं नहीं देखता।]

'अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यम्'—अगर मेरेको धन-धान्यसे सम्पन्न और निष्कण्टक राज्य मिल जाय अर्थात् जिस राज्यमें प्रजा खूब सुखी हो, प्रजाके पास खूब धन-धान्य हो, किसी चीजकी कमी न हो और राज्यमें कोई वैरी भी न हो—ऐसा राज्य मिल जाय, तो भी मेरा शोक दूर नहीं हो सकता।

'सुराणामपि चाधिपत्यम्'—इस पृथ्वीके तुच्छ भोगोंवाले राज्यकी तो बात ही क्या, इन्द्रका दिव्य भोगोंवाला राज्य भी मिल जाय, तो भी मेरा शोक, जलन, चिन्ता दूर नहीं हो सकती।

अर्जुनने पहले अध्यायमें यह बात कही थी कि मैं न विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुख ही चाहता हूँ; क्योंकि उस राज्यसे क्या होगा ? उन भोगोंसे क्या होगा? और उस जीनेसे क्या होगा? जिनके लिये हम राज्य, भोग एवं सुख चाहते हैं, वे ही मरनेके लिये सामने खड़े हैं (पहले अध्यायका बत्तीसवाँ-तैंतीसवाँ श्लोक)। यहाँ अर्जुन कहते हैं कि पृथ्वीका धन-धान्य-सम्पन्न और निष्कण्टक राज्य मिल जाय तथा देवताओंका आधिपत्य मिल जाय, तो भी मेरा शोक दूर नहीं हो सकता, मैं उनसे सुखी नहीं हो सकता। वहाँ (पहले अध्यायके बत्तीसवें-तैंतीसवें श्लोकमें) तो कौटुम्बिक ममताकी वृत्ति ज्यादा होनेसे अर्जुनकी युद्धसे उपरति हुई है, पर यहाँ उनकी जो उपरति हो रही है, वह अपने कल्याणकी वृत्ति पैदा होनेसे हो रही है। अतः वहाँकी उपरति और यहाँकी उपरतिमें बहुत अन्तर है।

'न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषण-मिन्द्रियाणाम्'—जब कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे ही मेरेको इतना शोक हो रहा है, तब उनके मरनेपर मेरेको कितना शोक होगा! अगर मेरेको राज्यके लिये ही शोक होता तो वह राज्यके मिलनेसे मिट जाता; परन्तु कुटुम्बके नाशकी आशंकासे होनेवाला शोक राज्यके मिलनेसे कैसे मिटेगा? शोकका मिटना तो दूर रहा, प्रत्युत शोक और बढ़ेगा; क्योंकि युद्धमें सब मारे जायँगे तो मिले हुए राज्यको कौन भोगेगा? वह किसके काम आयेगा? अतः पृथ्वीका राज्य और स्वर्गका आधिपत्य मिलनेपर भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—प्राकृत पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी मेरा शोक दूर हो जाय, यह मैं नहीं देखता हूँ—ऐसा कहनेके बाद अर्जुनने क्या किया ? इसका वर्णन संजय आगेके श्लोकमें करते हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

संजय बोले—

परन्तप	= हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र!		जीतनेवाले अर्जुन	**इति**	= ऐसा
एवम्	= ऐसा	**हृषीकेशम्**	= अन्तर्यामी	**ह**	= साफ-साफ
उक्त्वा	= कहकर	**गोविन्दम्**	= भगवान् गोविन्दसे	**उक्त्वा**	= कहकर
गुडाकेशः	= निद्राको	**न, योत्स्ये**	= 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'	**तूष्णीम्**	= चुप
				बभूव	= हो गये।

व्याख्या—**'एवमुक्त्वा हृषीकेशम्'.........'बभूव ह'**—अर्जुनने अपना और भगवान्‌का—दोनोंका पक्ष सामने रखकर उनपर विचार किया, तो अन्तमें वे इसी निर्णयपर पहुँचे कि युद्ध करनेसे तो अधिक-से-अधिक राज्य प्राप्त हो जायगा, मान हो जायगा, संसारमें यश हो जायगा, परन्तु मेरे हृदयमें जो शोक है, चिन्ता है, दु:ख है, वे दूर नहीं होंगे। अत: अर्जुनको युद्ध न करना ही ठीक मालूम दिया।

यद्यपि अर्जुन भगवान्‌की बातका आदर करते हैं और उसको मानना भी चाहते हैं; परंतु उनके भीतर युद्ध करनेकी बात ठीक-ठीक जँच नहीं रही है। इसलिये अर्जुन अपने भीतर जँची हुई बातको ही यहाँ स्पष्टरूपसे, साफ-साफ कह देते हैं कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'। इस प्रकार जब अपनी बात, अपना निर्णय भगवान्‌से साफ-साफ कह दिया, तब भगवान्‌से कहनेके लिये और कोई बात बाकी नहीं रही; अत: वे चुप हो जाते हैं।

सम्बन्ध—जब अर्जुनने युद्ध करनेके लिये साफ मना कर दिया, तब उसके बाद क्या हुआ—इसको संजय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव धृतराष्ट्र!	**विषीदन्तम्**	= विषाद करते हुए		हृषीकेश
उभयो:	= दोनों	**तम्**	= उस अर्जुनके प्रति	**इदम्**	= यह (आगे कहे जानेवाले)
सेनयो:	= सेनाओंके	**प्रहसन्, इव**	= हँसते हुए-से	**वच:**	= वचन
मध्ये	= मध्यभागमें	**हृषीकेश:**	= भगवान्	**उवाच**	= बोले।

व्याख्या—**'तमुवाच हृषीकेश:.......विषीदन्तमिदं वच:'**—अर्जुनने बड़ी शूरवीरता और उत्साहपूर्वक योद्धाओंको देखनेके लिये भगवान्‌से दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये कहा था। अब वहींपर अर्थात् दोनों सेनाओंके बीचमें अर्जुन विषादमग्न हो गये! वास्तवमें होना यह चाहिये था कि वे जिस उद्‌देश्यसे आये थे, उस उद्‌देश्यके अनुसार युद्धके लिये खड़े हो जाते। परन्तु उस उद्‌देश्यको छोड़कर अर्जुन चिन्ता-शोकमें फँस गये। अत: अब दोनों सेनाओंके बीचमें ही भगवान् शोकमग्न अर्जुनको उपदेश देना आरम्भ करते हैं।

'प्रहसन्निव'—(विशेषतासे हँसते हुएकी तरह-) का तात्पर्य है कि अर्जुनके भाव बदलनेको देखकर अर्थात् पहले जो युद्ध करनेका भाव था, वह अब विषादमें बदल गया—इसको देखकर भगवान्‌को हँसी आ गयी। दूसरी बात, अर्जुनने पहले (दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें) कहा था कि मैं आपके शरण हूँ, मेरेको शिक्षा दीजिये अर्थात् मैं युद्ध करूँ या न करूँ, मेरेको क्या करना चाहिये—इसकी शिक्षा दीजिये; परन्तु यहाँ मेरे कुछ बोले बिना अपनी तरफसे ही निश्चय कर लिया कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—यह देखकर भगवान्‌को हँसी आ गयी। कारण कि शरणागत होनेपर 'मैं क्या करूँ और क्या नहीं करूँ' आदि कुछ भी सोचनेका अधिकार नहीं रहता। उसको तो इतना ही अधिकार रहता है कि शरण्य जो काम कहता है, वही काम करे। अर्जुन भगवान्‌के शरण होनेके बाद 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर एक तरहसे शरणागत होनेसे हट गये। इस बातको लेकर भगवान्‌को हँसी आ गयी। **'इव'** का तात्पर्य है कि जोरसे हँसी आनेपर भी भगवान् मुसकराते हुए ही बोले।

जब अर्जुनने यह कह दिया कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तब भगवान्‌को यहीं कह देना चाहिये था कि जैसी तेरी मर्जी आये, वैसा कर—**'यथेच्छसि तथा कुरु'** (१८। ६३)। परन्तु भगवान्‌ने यही समझा कि मनुष्य जब चिन्ता-शोकसे विकल हो जाता है, तब वह अपने कर्तव्यका निर्णय न कर सकनेके कारण कभी कुछ, तो कभी कुछ बोल उठता है। यही दशा अर्जुनकी हो रही है। अत: भगवान्‌के हृदयमें अर्जुनके प्रति अत्यधिक स्नेह होनेके कारण कृपालुता उमड़ पड़ी। कारण कि भगवान् साधकके वचनोंकी तरफ ध्यान न देकर उसके भावकी तरफ ही देखते हैं। इसलिये भगवान् अर्जुनके 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस वचनकी तरफ ध्यान न देकर (आगेके श्लोकसे) उपदेश आरम्भ कर देते हैं।

जो वचनमात्रसे भी भगवान्‌के शरण हो जाता है, भगवान् उसको स्वीकार कर लेते हैं। भगवान्‌के हृदयमें

प्राणियोंके प्रति कितनी दयालुता है!

'**हृषीकेश**' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं अर्थात् प्राणियोंके भीतरी भावोंको जाननेवाले हैं। भगवान् अर्जुनके भीतरी भावोंको जानते हैं कि अभी तो कौटुम्बिक मोहके वेगके कारण और राज्य मिलनेसे अपना शोक मिटता न दीखनेके कारण यह कह रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'; परन्तु जब इसको स्वयं चेत होगा, तब यह बात ठहरेगी नहीं और मैं जैसा कहूँगा, वैसा ही यह करेगा।

'**इदं वचः उवाच**' पदोंमें केवल '**उवाच**' कहनेसे ही काम चल सकता था; क्योंकि '**उवाच**' के अन्तर्गत ही '**वचः**' पदका अर्थ आ जाता है। अतः '**वचः**' पद देना पुनरुक्तिदोष दीखता है। परन्तु वास्तवमें यह पुनरुक्तिदोष नहीं है, प्रत्युत इसमें एक विशेष भाव भरा हुआ है। अभी आगेके श्लोकसे भगवान् जिस रहस्यमय ज्ञानको प्रकट करके उसे सरलतासे, सुबोध भाषामें समझाते हुए बोलेंगे, उसकी तरफ लक्ष्य करनेके लिये यहाँ '**वचः**' पद दिया गया है।

परिशिष्ट भाव— धर्मभूमि कुरुक्षेत्रके एक भागमें कौरव-सेना खड़ी है और दूसरे भागमें पाण्डव-सेना। दोनों सेनाओंके मध्यभागमें श्वेत घोड़ोंसे युक्त एक महान् रथ खड़ा है। उस रथके एक भागमें भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं और एक भागमें अर्जुन! अर्जुनके निमित्त मनुष्यमात्रका कल्याण करनेके लिये भगवान् अपना अलौकिक उपदेश आरम्भ करते हैं और सर्वप्रथम शरीर तथा शरीरीके विभागका वर्णन करते हैं।

सम्बन्ध—शोकाविष्ट अर्जुनको शोक-निवृत्तिका उपदेश देनेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

श्रीभगवान् बोले—

त्वम् = तुमने
अशोच्यान् = शोक न करनेयोग्यका
अन्वशोचः = शोक किया है
च = और
प्रज्ञावादान् = विद्वत्ता (पण्डिताई) की बातें
भाषसे = कह रहे हो; (परन्तु)
गतासून् = जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये
च = और
अगतासून् = जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये
पण्डिताः = पण्डितलोग
न, अनुशोचन्ति = शोक नहीं करते।

व्याख्या—[मनुष्यको शोक तब होता है, जब वह संसारके प्राणी-पदार्थोंमें दो विभाग कर लेता है कि ये मेरे हैं और ये मेरे नहीं हैं; ये मेरे निजी कुटुम्बी हैं और ये मेरे निजी कुटुम्बी नहीं हैं; ये हमारे वर्णके हैं और ये हमारे वर्णके नहीं हैं; ये हमारे आश्रमके हैं और ये हमारे आश्रमके नहीं हैं; ये हमारे पक्षके हैं और ये हमारे पक्षके नहीं हैं। जो हमारे होते हैं, उनमें ममता, कामना, प्रियता, आसक्ति हो जाती है। इन ममता, कामना आदिसे ही शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, हलचल, संताप आदि दोष पैदा होते हैं। ऐसा कोई भी दोष, अनर्थ नहीं है, जो ममता, कामना आदिसे पैदा न होता हो—यह सिद्धान्त है।

गीतामें सबसे पहले धृतराष्ट्रने कहा कि मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने युद्धभूमिमें क्या किया? यद्यपि पाण्डव धृतराष्ट्रको अपने पितासे भी अधिक आदर-दृष्टिसे देखते थे, तथापि धृतराष्ट्रके मनमें अपने पुत्रोंके प्रति ममता थी। अतः उनका अपने पुत्रोंमें और पाण्डवोंमें भेदभावपूर्वक पक्षपात था कि ये मेरे हैं और ये मेरे नहीं हैं।

जो ममता धृतराष्ट्रमें थी, वही ममता अर्जुनमें भी पैदा हुई। परन्तु अर्जुनकी वह ममता धृतराष्ट्रकी ममताके समान नहीं थी। अर्जुनमें धृतराष्ट्रकी तरह पक्षपात नहीं था; अतः वे सभीको स्वजन कहते हैं—'**दृष्ट्वेमं स्वजनम्**' (१। २८), और दुर्योधन आदिको भी स्वजन कहते हैं—'**स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव**' (१। ३७)। तात्पर्य है कि अर्जुनकी सम्पूर्ण कुरुवंशियोंमें ममता थी और उस ममताके कारण ही उनके मरनेकी आशंकासे अर्जुनको शोक हो रहा था। इस शोकको मिटानेके लिये भगवान्ने अर्जुनको गीताका उपदेश दिया है, जो इस ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ होता है। इसके अन्तमें भगवान् इसी शोकको अनुचित बताते

हुए कहेंगे कि तू केवल मेरा ही आश्रय ले और शोक मत कर—'**मा शुचः**' (१८। ६६)। कारण कि संसारका आश्रय लेनेसे ही शोक होता है और अनन्यभावसे मेरा आश्रय लेनेसे तेरे शोक, चिन्ता आदि सब मिट जायँगे।]

'**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**'—संसारमात्रमें दो चीजें हैं—सत् और असत्, शरीरी और शरीर । इन दोनोंमें शरीरी तो अविनाशी है और शरीर विनाशी है। ये दोनों ही अशोच्य हैं। अविनाशीका कभी विनाश नहीं होता, इसलिये उसके लिये शोक करना बनता ही नहीं और विनाशीका विनाश होता ही है, वह एक क्षण भी स्थायीरूपसे नहीं रहता, इसलिये उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। तात्पर्य हुआ कि शोक करना न तो शरीरीको लेकर बन सकता है और न शरीरोंको लेकर ही बन सकता है। शोकके होनेमें तो केवल अविवेक (मूर्खता) ही कारण है।

मनुष्यके सामने जन्मना-मरना, लाभ-हानि आदिके रूपमें जो कुछ परिस्थिति आती है, वह प्रारब्धका अर्थात् अपने किये हुए कर्मोंका ही फल है। उस अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर शोक करना, सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता ही है। कारण कि परिस्थिति चाहे अनुकूल आये, चाहे प्रतिकूल आये, उसका आरम्भ और अन्त होता है अर्थात् वह परिस्थिति पहले भी नहीं थी और अन्तमें भी नहीं रहेगी। जो परिस्थिति आदिमें और अन्तमें नहीं होती, वह बीचमें एक क्षण भी स्थायी नहीं होती। अगर स्थायी होती तो मिटती कैसे? और मिटती है तो स्थायी कैसे? ऐसी प्रतिक्षण मिटनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर हर्ष-शोक करना, सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता है।

'**प्रज्ञावादांश्च भाषसे**'—एक तरफ तो तू पण्डिताईकी बातें बघार रहा है और दूसरी तरफ शोक भी कर रहा है। अतः तू केवल बातें ही बनाता है। वास्तवमें तू पण्डित नहीं है; क्योंकि जो पण्डित होते हैं, वे किसीके लिये भी कभी शोक नहीं करते।

कुलका नाश होनेसे कुल-धर्म नष्ट हो जायगा। धर्मके नष्ट होनेसे स्त्रियाँ दूषित हो जायँगी, जिससे वर्णसंकर पैदा होगा। वह वर्णसंकर कुलघातियोंको और उनके कुलको नरकोंमें ले जानेवाला होगा। पिण्ड और पानी न मिलनेसे उनके पितरोंका भी पतन हो जायगा—ऐसी तेरी पण्डिताईकी बातोंसे भी यही सिद्ध होता है कि शरीर नाशवान् है और शरीरी अविनाशी है। अगर शरीरी स्वयं अविनाशी न होता, तो कुलघाती और कुलके नरकोंमें जानेका भय नहीं होता, पितरोंका पतन होनेकी चिन्ता नहीं होती। अगर तुझे कुलकी और पितरोंकी चिन्ता होती है, उनका पतन होनेका भय होता है, तो इससे सिद्ध होता है कि शरीर नाशवान् है और उसमें रहनेवाला शरीरी नित्य है। अतः शरीरोंके नाशको लेकर तेरा शोक करना अनुचित है।

'**गतासूनगतासूंश्च**'—सबके पिण्ड-प्राणका वियोग अवश्यम्भावी है। उनमेंसे किसीके पिण्ड-प्राणका वियोग हो गया है और किसीका होनेवाला है। अतः उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। तुमने जो शोक किया है, यह तुम्हारी गलती है।

जो मर गये हैं, उनके लिये शोक करना तो महान् गलती है। कारण कि मरे हुए प्राणियोंके लिये शोक करनेसे उन प्राणियोंको दुःख भोगना पड़ता है। जैसे मृतात्माके लिये जो पिण्ड और जल दिया जाता है, वह उसको परलोकमें मिल जाता है, ऐसे ही मृतात्माके लिये जो कफ और आँसू बहाते हैं, वे मृतात्माको परवश होकर खाने-पीने पड़ते हैं*। जो अभी जी रहे हैं, उनके लिये भी शोक नहीं करना चाहिये। उनका तो पालन-पोषण करना चाहिये, प्रबन्ध करना चाहिये। उनकी क्या दशा होगी! उनका भरण-पोषण कैसे होगा! उनकी सहायता कौन करेगा! आदि चिन्ता-शोक कभी नहीं करने चाहिये; क्योंकि चिन्ता-शोक करनेसे कोई लाभ नहीं है।

मेरे शरीरके अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है आदि विकारोंके पैदा होनेमें मूल कारण है—शरीरके साथ एकता मानना। कारण कि शरीरके साथ एकता माननेसे ही शरीरका पालन-पोषण करनेवालोंके साथ अपनापन हो जाता है, और उस अपनेपनके कारण ही कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे अर्जुनके मनमें चिन्ता-शोक हो रहे हैं,

---

* (१) श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः।
तस्मान्न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याश्च शक्तितः॥ (पंचतन्त्र, मित्रभेद ३६५)

'मृतात्माको अपने बन्धु-बान्धवोंके द्वारा त्यक्त कफयुक्त आँसुओंको विवश होकर खाना-पीना पड़ता है। इसलिये रोना नहीं चाहिये, प्रत्युत अपनी शक्तिके अनुसार मृतात्माकी और्ध्वदैहिक क्रिया करनी चाहिये।'

(२) मृतानां बान्धवा ये तु मुञ्चन्त्यश्रूणि भूतले।
पिबन्त्यश्रूणि तान्यद्धा मृताः प्रेताः परत्र वै॥ (स्कन्दपुराण, ब्राह्म० सेतु० ४८। ४२)

'मृतात्माके बन्धु-बान्धव भूतलपर जिन आँसुओंका त्याग करते हैं, उन आँसुओंको मृतात्मा परलोकमें पीते हैं।'

तथा चिन्ता-शोकसे ही अर्जुनके शरीरमें उपर्युक्त विकार प्रकट हो रहे हैं। इसमें भगवान्‌ने '**गतासून्**' और '**अगतासून्**' के शोकको ही हेतु बताया है। जिनके प्राण चले गये हैं, वे '**गतासून्**' हैं और जिनके प्राण नहीं चले गये हैं, वे '**अगतासून्**' हैं। 'पिण्ड और जल न मिलनेसे पितरोंका पतन हो जाता है' (पहले अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)—यह अर्जुनकी '**गतासून्**' की चिन्ता है और 'जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही प्राणोंकी और धनकी आशा छोड़कर युद्धमें खड़े हैं' (पहले अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)—यह अर्जुनकी '**अगतासून्**' की चिन्ता है। ये दोनों चिन्ताएँ शरीरको लेकर ही हो रही हैं; अतः ये दोनों चिन्ताएँ धातुरूपसे एक ही हैं। कारण कि '**गतासून्**' और '**अगतासून्**' दोनों ही नाशवान् हैं।

'**गतासून्**' और '**अगतासून्**'—इन दोनोंके लिये कर्तव्य-कर्म करना चिन्ताकी बात नहीं है। '**गतासून्**' के लिये पिण्ड-पानी देना, श्राद्ध-तर्पण करना—यह कर्तव्य है और '**अगतासून्**'के लिये व्यवस्था कर देना, निर्वाहका प्रबन्ध कर देना—यह कर्तव्य है। कर्तव्य चिन्ताका विषय नहीं होता, प्रत्युत विचारका विषय होता है। विचारसे कर्तव्यका बोध होता है और चिन्तासे विचार नष्ट होता है।

'**नानुशोचन्ति पण्डिताः**'—सत्-असत्-विवेकवती बुद्धिका नाम 'पण्डा' है। वह 'पण्डा' जिनकी विकसित हो गयी है अर्थात् जिनको सत्-असत्‌का स्पष्टतया विवेक हो गया है, वे पण्डित हैं। ऐसे पण्डितोंमें सत्-असत्‌को लेकर शोक नहीं होता; क्योंकि सत्‌को सत् माननेसे भी शोक नहीं होता और असत्‌को असत् माननेसे भी शोक नहीं होता। स्वयं सत्-स्वरूप है और बदलनेवाला शरीर असत्-स्वरूप है। असत्‌को सत् मान लेनेसे ही शोक होता है अर्थात् ये शरीर आदि ऐसे ही बने रहें, मरें नहीं—इस बातको लेकर ही शोक होता है। सत्‌को लेकर कभी चिन्ता-शोक होते ही नहीं।

परिशिष्ट भाव—एक विभाग शरीरका है और एक विभाग शरीरी (शरीरवाले)-का है। दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा सम्बन्धरहित हैं। दोनोंका स्वभाव ही अलग-अलग है। एक जड़ है, एक चेतन। एक नाशवान् है, एक अविनाशी, एक विकारी है, एक निर्विकार। एकमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता है और एक अनन्तकालतक ज्यों-का-त्यों ही रहता है—'**भूतग्रामः स एवायम्**' (गीता ८। १९), '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' (गीता १४। २)।

शरीर और शरीरी—दोनों ही अशोच्य हैं। शरीरका निरन्तर विनाश होता है; अतः उसके लिये शोक करना नहीं बनता और शरीरीका विनाश कभी होता ही नहीं; अतः उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। शोक केवल मूर्खतासे होता है। शरीरकी निरन्तर सहजनिवृत्ति है और शरीरी निरन्तर सबको प्राप्त है। शरीर और शरीरीके इस विभागको जाननेवाले विवेकी मनुष्य मृत अथवा जीवित, किसी भी प्राणीके लिये कभी शोक नहीं करते। उनकी दृष्टिमें बदलनेवाले शरीरका विभाग ही अलग है और न बदलनेवाले शरीरी अर्थात् स्वरूपकी सत्ताका विभाग ही अलग है।

गीताका उपदेश शरीर और शरीरीके भेदसे आरम्भ होता है। दूसरे दार्शनिक ग्रन्थ तो आत्मा और अनात्माका इदंतासे वर्णन करते हैं, पर गीता इदंतासे आत्मा-अनात्माका वर्णन न करके सबके अनुभवके अनुसार देह-देही, शरीर-शरीरीका वर्णन करती है। यह गीताकी विलक्षणता है! साधक अपना कल्याण चाहता है तो उसके लिये सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि 'मैं कौन हूँ'। अर्जुनने भी अपने कल्याणका उपाय पूछा है—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**' (२। ७)। देह और देहीका भेद स्वीकार करनेसे ही कल्याण हो सकता है। जबतक 'मैं देह हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक कितना ही उपदेश सुनते रहें, सुनाते रहें और साधन भी करते रहें, कल्याण नहीं होगा।

जो वस्तु अपनी न हो, उसको अपना मान लेना और जो वस्तु वास्तवमें अपनी हो, उसको अपना न मानना बहुत बड़ी भूल है। अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। शरीर एक क्षण भी हमारे साथ नहीं रहता और परमात्मा निरन्तर हमारे साथ रहते हैं। कारण कि शरीरकी सजातीयता संसारके साथ है और हमारी अर्थात् शरीरीकी सजातीयता परमात्माके साथ है। इसलिये शरीरको अपना मानना और परमात्माको अपना न मानना सबसे बड़ी भूल है। इस भूलको मिटानेके लिये भगवान् गीतामें सबसे पहले शरीर-शरीरीके भेदका वर्णन करते हैं और साधकको उद्‌बोधन करते हैं कि जिसकी मृत्यु होती है, वह तुम नहीं हो अर्थात् तुम शरीर नहीं हो। तुम ज्ञाता (जाननेवाले) हो, शरीर ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है। (गीता—तेरहवें अध्यायका पहला श्लोक) तुम सर्वदेशीय हो—'**नित्यः सर्वगतः**' (गीता २। २४), '**येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता २। १७), शरीर एकदेशीय है। तुम चिन्मय लोकके निवासी हो, शरीर जड़ संसारका निवासी है। तुम मुझ परमात्माके अंश हो—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७), शरीर प्रकृतिका अंश है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५। ७)। तुम निरन्तर अमरतामें

रहते हो, शरीर निरन्तर मृत्युमें रहता है। शरीरकी क्षतिसे तुम्हारी किंचिन्मात्र भी क्षति नहीं होती। अतः शरीरको लेकर तुम्हें शोक, चिन्ता, भय आदि नहीं होने चाहिये।

शरीरी किसी शरीरसे लिप्त नहीं है, इसलिये उसको सर्वव्यापी कहा गया है—'**सर्वगतः**' (गीता २। २४), '**येन सर्वमिदं ततम्**' (२। १७)। तात्पर्य हुआ कि साधकका स्वरूप सत्तामात्र है; अतः वास्तवमें वह शरीरी (शरीरवाला) नहीं है, प्रत्युत अशरीरी है। इसलिये भगवान्‌ने उसको अव्यक्त भी कहा है—'**अव्यक्तः**' (२। २५), '**अव्यक्तादीनि भूतानि**' (२। २८)। शरीर प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला और असत् है। असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (२। १६)। जिसकी सत्ता विद्यमान नहीं है, ऐसे असत् शरीरको लेकर साधक शरीरी (शरीरवाला) कैसे हो सकता है? इसलिये साधक शरीर भी नहीं है और शरीरी भी नहीं है। परन्तु इस प्रकरणमें भगवान्‌ने साधकोंको समझानेकी दृष्टिसे उस सत्तामात्र स्वरूपको 'शरीरी' (देही) नामसे कहा है। 'शरीरी' कहनेका तात्पर्य यही बताना है कि तुम शरीर नहीं हो।

जिस समय हम शरीर और शरीरीका विचार करते हैं, उस समय भी शरीर और शरीरी वैसे ही हैं और जिस समय विचार नहीं करते, उस समय भी वे वैसे ही हैं। विचार करनेसे वस्तुस्थितिमें तो कोई फर्क नहीं पड़ता, पर साधकका मोह मिट जाता है, उसका मनुष्यजन्म सफल हो जाता है।

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह विवेक मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। शरीरको मैं-मेरा मानना मनुष्यबुद्धि नहीं है, प्रत्युत पशुबुद्धि है। इसलिये श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि। न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।'

सम्बन्ध—सत्-तत्त्वको लेकर शोक करना अनुचित क्यों है—इस शंकाके समाधानके लिये आगेके दो श्लोक कहते हैं।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

जातु	= किसी कालमें	**जनाधिपाः**	= राजालोग	**वयम्**	= (मैं, तू और राजालोग—) हम
अहम्	= मैं	**न**	= नहीं (थे),	**सर्वे**	= सभी
न	= नहीं	**न, तु, एव**	= यह बात भी नहीं है;	**न**	= नहीं
आसम्	= था (और)	**च**	= और	**भविष्यामः**	= रहेंगे,
त्वम्	= तू	**अतः**	= इसके	**एव**	= (यह बात) भी
न	= नहीं (था)	**परम्**	= बाद (भविष्यमें)	**न**	= नहीं है।
इमे	= (तथा) ये				

व्याख्या—[मात्र संसारमें दो ही वस्तुएँ हैं—शरीरी (सत्) और शरीर (असत्)। ये दोनों ही अशोच्य हैं अर्थात् शोक न शरीरी-(शरीरमें रहनेवाले-) को लेकर हो सकता है और न शरीरको लेकर ही हो सकता है। कारण कि शरीरीका कभी अभाव होता ही नहीं और शरीर कभी रह सकता ही नहीं। इन दोनोंके लिये पूर्वश्लोकमें जो '**अशोच्यान्**' पद आया है, उसकी व्याख्या अब शरीरीकी नित्यता और शरीरकी अनित्यताके रूपमें करते हैं।]

'**न त्वेवाहं जातु .... जनाधिपाः**'—लोगोंकी दृष्टिसे मैंने जबतक अवतार नहीं लिया था, तबतक मैं इस रूपसे (कृष्णरूपसे) सबके सामने प्रकट नहीं था और तेरा जबतक जन्म नहीं हुआ था, तबतक तू भी इस रूपसे (अर्जुनरूपसे) सबके सामने प्रकट नहीं था तथा इन राजाओंका भी जबतक जन्म नहीं हुआ था, तबतक ये भी इस रूपसे (राजारूपसे) सबके सामने प्रकट नहीं थे। परन्तु मैं, तू और ये राजालोग इस रूपसे प्रकट न होनेपर भी पहले

नहीं थे—ऐसी बात नहीं है।

यहाँ 'मैं, तू और ये राजालोग पहले थे—ऐसा कहनेसे ही काम चल सकता था, पर ऐसा न कहकर 'मैं, तू और ये राजालोग पहले नहीं थे, ऐसी बात नहीं'—ऐसा कहा गया है। इसका कारण यह है कि 'पहले नहीं थे, ऐसी बात नहीं' ऐसा कहनेसे 'पहले हम सब जरूर थे'—यह बात दृढ़ हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि नित्य-तत्त्व सदा ही नित्य है। इसका कभी अभाव था ही नहीं। **'जातु'** कहनेका तात्पर्य है कि भूत, भविष्य और वर्तमानकालमें तथा किसी भी देश, परिस्थिति, अवस्था, घटना, वस्तु आदिमें नित्यतत्त्वका किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं हो सकता।

यहाँ **'अहम्'** पद देकर भगवान्‌ने एक विलक्षण बात कही है। आगे चौथे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि 'मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हुए हैं, पर उनको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता'। इस प्रकार भगवान्‌ने अपना ईश्वरपना प्रकट करके जीवोंसे अपनेको अलग बताया है। परन्तु यहाँ भगवान् जीवोंके साथ अपनी एकता बता रहे हैं। इसका तात्पर्य है कि वहाँ (चौथे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें) भगवान्‌का आशय अपनी महत्ता, विशेषता प्रकट करनेमें है और यहाँ भगवान्‌का आशय तात्त्विक दृष्टिसे नित्य-तत्त्वको जनानेमें है।

'न चैव ..... वयमतः परम्'—भविष्यमें शरीरोंकी ये अवस्थाएँ नहीं रहेंगी और एक दिन ये शरीर भी नहीं रहेंगे; परन्तु ऐसी अवस्थामें भी हम सब नहीं रहेंगे—यह बात नहीं है अर्थात् हम सब जरूर रहेंगे। कारण कि नित्य-तत्त्वका कभी अभाव था नहीं और होगा भी नहीं।

मैं, तू और राजालोग—हम सभी पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं है और आगे नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है—इस प्रकार भूत और भविष्यकी बात तो भगवान्‌ने कह दी, पर वर्तमानकी बात भगवान्‌ने नहीं कही। इसका कारण यह है कि शरीरोंकी दृष्टिसे तो हम सब वर्तमानमें प्रत्यक्ष ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिये 'हम सब अभी नहीं हैं, यह बात नहीं है'—ऐसा कहनेकी जरूरत नहीं है। अगर तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय, तो हम सभी वर्तमानमें हैं और ये शरीर प्रतिक्षण बदल रहे हैं—इस तरह शरीरोंसे अलगावका अनुभव हमें वर्तमानमें ही कर लेना चाहिये। तात्पर्य है कि जैसे भूत और भविष्यमें अपनी सत्ताका अभाव नहीं है, ऐसे ही वर्तमानमें भी अपनी सत्ताका अभाव नहीं है—इसका अनुभव करना चाहिये।

जैसे प्रत्येक प्राणीको नींद आनेसे पहले भी यह अनुभव रहता है कि 'अभी हम हैं' और नींद खुलनेपर भी यह अनुभव रहता है कि 'अभी हम हैं' तो नींदकी अवस्थामें भी हम वैसे-के-वैसे ही थे। केवल बाह्य जाननेकी सामग्रीका अभाव था, हमारा अभाव नहीं था। ऐसे ही मैं, तू और राजालोग—हम सबके शरीर पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे तथा अभी भी शरीर प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहे हैं; परन्तु हमारी सत्ता पहले भी थी, पीछे भी रहेगी और अभी भी वैसी-की-वैसी ही है।

हमारी सत्ता कालातीत तत्त्व है; क्योंकि हम उस कालके भी ज्ञाता हैं अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीनों काल हमारे जाननेमें आते हैं। उस कालातीत तत्त्वको समझानेके लिये ही भगवान्‌ने यह श्लोक कहा है।

विशेष बात

मैं, तू और राजालोग पहले नहीं थे—यह बात नहीं और आगे नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं, ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि जब ये शरीर नहीं थे, तब भी हम सब थे और जब ये शरीर नहीं रहेंगे, तब भी हम रहेंगे अर्थात् ये सब शरीर तो हैं नाशवान् और हम सब हैं अविनाशी। ये शरीर पहले नहीं थे और आगे नहीं रहेंगे—इससे शरीरोंकी अनित्यता सिद्ध हुई और हम सब पहले थे और आगे रहेंगे—इससे सबके स्वरूपकी नित्यता सिद्ध हुई। इन दो बातोंसे यह एक सिद्धान्त सिद्ध होता है कि जो आदि और अन्तमें रहता है, वह मध्यमें भी रहता है तथा जो आदि और अन्तमें नहीं रहता, वह मध्यमें भी नहीं रहता।

जो आदि और अन्तमें नहीं रहता, वह मध्यमें कैसे नहीं रहता; क्योंकि वह तो हमें दीखता है? इसका उत्तर यह है कि जिस दृष्टिसे अर्थात् जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे दृश्यका अनुभव हो रहा है, उन मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वह दृश्य प्रतिक्षण बदल रहा है। वे एक क्षण भी स्थायी नहीं हैं। ऐसा होनेपर भी जब स्वयं दृश्यके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला बन जाता है। जब देखनेके साधन (मन-बुद्धि- इन्द्रियाँ) और दृश्य (मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके विषय)—ये सभी एक क्षण भी स्थायी नहीं हैं, तो देखनेवाला स्थायी कैसे सिद्ध होगा? तात्पर्य है कि देखनेवालेकी संज्ञा तो दृश्य और दर्शनके सम्बन्धसे ही है। दृश्य और दर्शनसे सम्बन्ध न हो तो देखनेवालेकी कोई संज्ञा नहीं होती, प्रत्युत उसका आधाररूप जो नित्य-तत्त्व है, वही रह जाता है।

उस नित्य-तत्त्वको हम सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका आधार और सम्पूर्ण प्रतीतियोंका प्रकाशक कह सकते हैं। परन्तु ये आधार और प्रकाशक नाम भी आधेय और प्रकाश्यके सम्बन्धसे ही हैं। आधेय और प्रकाश्यके न रहनेपर भी उसकी सत्ता ज्यों-की-त्यों ही है। उस सत्य-तत्त्वकी तरफ जिसकी दृष्टि है, उसको शोक कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। इसी दृष्टिसे मैं, तू और राजालोग स्वरूपसे अशोच्य हैं।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें परमात्मा और जीवात्माके साधर्म्यका वर्णन है। भगवान् कहते हैं कि मैं कृष्णरूपसे, तू अर्जुनरूपसे तथा सब लोग राजारूपसे पहले भी नहीं थे और आगे भी नहीं रहेंगे, पर सत्तारूपसे हम सब पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। तात्पर्य है कि मैं, तू तथा राजालोग—ये तीनों शरीरको लेकर तो अलग-अलग हैं, पर सत्ताको लेकर एक ही हैं। शरीर तो पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे, पर स्वरूप (स्वयं) की सत्ता पहले भी थी, बादमें भी रहेगी और वर्तमानमें है ही। जब ये शरीर नहीं थे, तब भी सत्ता थी और जब ये शरीर नहीं रहेंगे, तब भी सत्ता रहेगी। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है।

मैं, तू तथा ये राजालोग—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि परमात्माकी सत्ता और जीवकी सत्ता एक ही है अर्थात् 'है' और 'हूँ'—दोनोंमें एक ही चिन्मय सत्ता है। 'मैं' (अहम्) के सम्बन्धसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' (अहम्) का सम्बन्ध न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। वह 'है' अर्थात् चिन्मय सत्तामात्र ही हमारा स्वरूप है, शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिये शरीरको लेकर शोक नहीं करना चाहिये।

भूतकाल और भविष्यकालकी घटना जितनी दूर दीखती है, उतनी ही दूर वर्तमान भी है। जैसे भूत और भविष्यसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही वर्तमानसे भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। जब सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भूत, भविष्य और वर्तमानमें क्या फर्क हुआ? ये तीनों कालके अन्तर्गत हैं, जबकि हमारा स्वरूप कालसे अतीत है। कालका तो खण्ड होता है, पर स्वरूप (सत्ता) अखण्ड है। शरीरको अपना स्वरूप माननेसे ही भूत, भविष्य और वर्तमानमें फर्क दीखता है। वास्तवमें भूत, भविष्य और वर्तमान विद्यमान है ही नहीं!

अनेक युग बदल जायँ तो भी शरीरी बदलता नहीं, वह-का-वह ही रहता है; क्योंकि वह परमात्माका अंश है। परन्तु शरीर बदलता ही रहता है, क्षणमात्र भी वह नहीं रहता।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

देहिनः	= देहधारीके	**यौवनम्**	= जवानी (और)		प्राप्ति होती है।
अस्मिन्	= इस	**जरा**	= वृद्धावस्था (होती है),	**तत्र**	= उस विषयमें
देहे	= मनुष्यशरीरमें			**धीरः**	= धीर मनुष्य
यथा	= जैसे	**तथा**	= ऐसे ही	**न, मुह्यति**	= मोहित नहीं होता।
कौमारम्	= बालकपन,	**देहान्तरप्राप्तिः**	= दूसरे शरीरकी		

व्याख्या—'**देहिनोऽस्मिन्यथा देहे* कौमारं यौवनं जरा**'—शरीरधारीके शरीरमें पहले बाल्यावस्था आती है, फिर युवावस्था आती है और फिर वृद्धावस्था आती है। तात्पर्य है कि शरीरमें कभी एक अवस्था नहीं रहती, उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

यहाँ 'शरीरधारीके इस शरीरमें'—ऐसा कहनेसे सिद्ध होता है कि शरीरी अलग है और शरीर अलग है। शरीरी द्रष्टा है और शरीर दृश्य है। अतः शरीरमें बालकपन आदि अवस्थाओंका जो परिवर्तन है, वह परिवर्तन शरीरीमें नहीं है।

'**तथा देहान्तरप्राप्तिः**'—जैसे शरीरकी कुमार, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं, ऐसे ही देहान्तरकी अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है। जैसे स्थूलशरीर बालकसे जवान एवं जवानसे बूढ़ा हो जाता है, तो इन अवस्थाओंके परिवर्तनको लेकर कोई शोक नहीं होता, ऐसे ही शरीरी एक

*** कुमार, युवा और वृद्धावस्था तो मात्र शरीरधारियोंके शरीरोंकी होती है; परन्तु यहाँ 'अस्मिन् देहे' पदोंमें 'देह' शब्द मनुष्य-शरीरका वाचक मानना चाहिये।**

शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तो इस विषयमें भी शोक नहीं होना चाहिये। जैसे स्थूलशरीरके रहते-रहते कुमार, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं, ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरके रहते-रहते देहान्तरकी प्राप्ति होती है अर्थात् जैसे बालकपन, जवानी आदि स्थूल-शरीरकी अवस्थाएँ हैं, ऐसे देहान्तरकी प्राप्ति (मृत्युके बाद दूसरा शरीर धारण करना) सूक्ष्म और कारण-शरीरकी अवस्था है।

स्थूलशरीरके रहते-रहते कुमार आदि अवस्थाओंका परिवर्तन होता है—यह तो स्थूल दृष्टि है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो अवस्थाओंकी तरह स्थूलशरीरमें भी परिवर्तन होता रहता है। बाल्यावस्थामें जो शरीर था, वह युवावस्थामें नहीं है। वास्तवमें ऐसा कोई भी क्षण नहीं है, जिस क्षणमें स्थूलशरीरका परिवर्तन न होता हो। ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरमें भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, जो देहान्तररूपसे स्पष्ट देखनेमें आता है[१]।

अब विचार यह करना है कि स्थूलशरीरका तो हमें ज्ञान होता है, पर सूक्ष्म और कारण-शरीरका हमें ज्ञान नहीं होता। अतः जब सूक्ष्म और कारण-शरीरका ज्ञान भी नहीं होता, तो उनके परिवर्तनका ज्ञान हमें कैसे हो सकता है? इसका उत्तर है कि जैसे स्थूलशरीरका ज्ञान उसकी अवस्थाओंको लेकर होता है, ऐसे ही सूक्ष्म और कारण-शरीरका ज्ञान भी उसकी अवस्थाओंको लेकर होता है। स्थूलशरीरकी 'जाग्रत्', सूक्ष्म-शरीरकी 'स्वप्न' और कारण-शरीरकी 'सुषुप्ति' अवस्था मानी जाती है। मनुष्य अपनी बाल्यावस्थामें अपनेको स्वप्नमें बालक देखता है, युवावस्थामें स्वप्नमें युवा देखता है और वृद्धावस्थामें स्वप्नमें वृद्ध देखता है। इससे सिद्ध हो गया कि स्थूलशरीरके साथ-साथ सूक्ष्मशरीरका भी परिवर्तन होता है। ऐसे ही सुषुप्ति-अवस्था बाल्यावस्थामें ज्यादा होती है, युवावस्थामें कम होती है और वृद्धावस्थामें वह बहुत कम हो जाती है; अतः इससे कारणशरीरका परिवर्तन भी सिद्ध हो गया। दूसरी बात, बाल्यावस्था और युवावस्थामें नींद लेनेपर शरीर और इन्द्रियोंमें जैसी ताजगी आती है, वैसी ताजगी वृद्धावस्थामें नींद लेनेपर नहीं आती अर्थात् वृद्धावस्थामें बाल्य और युवा-अवस्था-जैसा विश्राम नहीं मिलता। इस रीतिसे भी कारणशरीरका परिवर्तन सिद्ध होता है।

जिसको दूसरा—देवता, पशु, पक्षी आदिका शरीर मिलता है, उसको उस शरीरमें (देहाध्यासके कारण) 'मैं यही हूँ'—ऐसा अनुभव होता है, तो यह सूक्ष्मशरीरका परिवर्तन हो गया। ऐसे ही कारणशरीरमें स्वभाव (प्रकृति) रहता है, जिसको स्थूल दृष्टिसे आदत कहते हैं। वह आदत देवताकी और होती है तथा पशु-पक्षी आदिकी और होती है, तो यह कारणशरीरका परिवर्तन हो गया।

अगर शरीरी-(देही-) का परिवर्तन होता, तो अवस्थाओंके बदलनेपर भी 'मैं वही हूँ'[२]—ऐसा ज्ञान नहीं होता। परन्तु अवस्थाओंके बदलनेपर भी 'जो पहले बालक था, जवान था, वही मैं अब हूँ'—ऐसा ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि शरीरीमें अर्थात् स्वयंमें परिवर्तन नहीं हुआ है।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि स्थूलशरीरकी अवस्थाओंके बदलनेपर तो उनका ज्ञान होता है, पर शरीरान्तरकी प्राप्ति होनेपर पहलेके शरीरका ज्ञान क्यों नहीं होता? पूर्वशरीरका ज्ञान न होनेमें कारण यह है कि मृत्यु और जन्मके समय बहुत ज्यादा कष्ट होता है। उस कष्टके कारण बुद्धिमें पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं रहती। जैसे लकवा मार जानेपर, अधिक वृद्धावस्था होनेपर बुद्धिमें पहले जैसा ज्ञान नहीं रहता, ऐसे ही मृत्युकालमें तथा जन्मकालमें बहुत बड़ा धक्का लगनेपर पूर्वजन्मका ज्ञान नहीं रहता।[३] परन्तु जिसकी मृत्युमें ऐसा कष्ट नहीं होता अर्थात् शरीरकी अवस्थान्तरकी प्राप्तिकी तरह अनायास ही देहान्तरकी प्राप्ति हो जाती है, उसकी बुद्धिमें पूर्वजन्मकी स्मृति रह सकती है[४]।

अब विचार करें कि जैसा ज्ञान अवस्थान्तरकी प्राप्तिमें

१-देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर मुक्तिसे पहले सूक्ष्म और कारणशरीर नहीं छूटते। जबतक मुक्ति न हो तबतक सूक्ष्म और कारणशरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है।

२-शास्त्रमें इस ज्ञानको 'प्रत्यभिज्ञा' कहा गया है—'तत्तेदन्तावगाहि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा'।

३-म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः। (श्रीमद्भा० ३। ३०। १८)

'मनुष्य रोते हुए स्वजनोंके बीच अत्यन्त वेदनासे अचेत होकर मृत्युको प्राप्त होता है।'

विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः॥ (श्रीमद्भा० ३। ३१। २३)

'जन्मके समय उसके श्वासकी गति रुक जाती है और पूर्वस्मृति नष्ट हो जाती है।'

४-ये मृताः सहसा मर्त्या जायन्ते सहसा पुनः। तेषां पौराणिकोऽभ्यासः कञ्चित् कालं हि तिष्ठति॥
तस्माज्जातिस्मरा लोके जायन्ते बोधसंयुताः। तेषां विवर्धतां संज्ञा स्वप्नवत् सा प्रणश्यति॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

होता है, वैसा ज्ञान देहान्तरकी प्राप्तिमें नहीं होता; परन्तु 'मैं हूँ' इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान तो सबको रहता है। जैसे, सुषुप्ति-(गाढ़-निद्रा-) में अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, पर जगनेपर मनुष्य कहता है कि ऐसी गाढ़ नींद आयी कि मेरेको कुछ पता नहीं रहा, तो 'कुछ पता नहीं रहा'—इसका ज्ञान तो है ही। सोनेसे पहले मैं जो था, वही मैं जगनेके बाद हूँ, तो सुषुप्तिके समय भी मैं वही था—इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान अखण्डरूपसे निरन्तर रहता है। अपनी सत्ताके अभावका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। शरीरधारीकी सत्ताका सद्भाव अखण्डरूपसे रहता है, तभी तो मुक्ति होती है और मुक्त-अवस्थामें वह रहता है। हाँ, जीवन्मुक्त अवस्थामें उसको शरीरान्तरोंका ज्ञान भले ही न हो, पर मैं तीनों शरीरोंसे अलग हूँ—ऐसा अनुभव तो होता ही है।

'**धीरस्तत्र न मुह्यति**'—धीर वही है, जिसको सत्-असत्का बोध हो गया है। ऐसा धीर मनुष्य उस विषयमें कभी मोहित नहीं होता, उसको कभी सन्देह नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस धीर मनुष्यको देहान्तरकी प्राप्ति होती है। ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका कारण गुणोंका संग है और गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर धीर मनुष्यको देहान्तरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

यहाँ '**तत्र**' पदका अर्थ 'देहान्तर-प्राप्तिके विषयमें' नहीं है, प्रत्युत 'देह-देहीके विषयमें' है। तात्पर्य है कि देह क्या है? देही क्या है? परिवर्तनशील क्या है? अपरिवर्तनशील क्या है? अनित्य क्या है? नित्य क्या है? असत् क्या है? सत् क्या है? विकारी क्या है? अविकारी क्या है?—इस विषयमें वह मोहित नहीं होता। देह और देही सर्वथा अलग हैं—इस विषयमें उसको कभी मोह नहीं होता। उसको अपनी असंगताका अखण्ड ज्ञान रहता है।

परिशिष्ट भाव—शरीर कभी एकरूप रहता ही नहीं और सत्ता कभी अनेकरूप होती ही नहीं। शरीर जन्मसे पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा तथा वर्तमानमें भी वह प्रतिक्षण मर रहा है। वास्तवमें गर्भमें आते ही शरीरके मरनेका क्रम (परिवर्तन) शुरू हो जाता है। बाल्यावस्था मर जाय तो युवावस्था आ जाती है, युवावस्था मर जाय तो वृद्धावस्था आ जाती है और वृद्धावस्था मर जाय तो देहान्तर-अवस्था अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति हो जाती है। ये सब अवस्थाएँ शरीरकी हैं। बाल, युवा और वृद्ध—ये तीन अवस्थाएँ स्थूलशरीरकी हैं और देहान्तरकी प्राप्ति सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीरकी है। परन्तु स्वरूपकी चिन्मय सत्ता इन सभी अवस्थाओंसे अतीत है। अवस्थाएँ बदलती हैं, स्वरूप वही रहता है। इस प्रकार शरीर-विभाग और सत्ता-विभागको अलग-अलग जाननेवाला तत्त्वज्ञ पुरुष कभी किसी अवस्थामें भी मोहित नहीं होता।

जीव अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये अनेक योनियोंमें जाता है, नरक और स्वर्गमें जाता है—ऐसा कहनेमात्रसे सिद्ध होता है कि चौरासी लाख योनियाँ छूट जाती हैं, स्वर्ग और नरक छूट जाते हैं, पर स्वयं (शरीरी) वही रहता है। योनियाँ (शरीर) बदलती हैं, जीव (शरीरी) नहीं बदलता। जीव एक रहता है, तभी तो वह अनेक योनियोंमें, अनेक लोकोंमें जाता है। जो अनेक योनियोंमें जाता है, वह स्वयं किसीके साथ लिप्त नहीं होता, कहीं नहीं फँसता। अगर वह लिप्त हो जाय, फँस जाय तो फिर चौरासी लाख योनियोंको कौन भोगेगा? स्वर्ग और नरकमें कौन जायगा? मुक्त कौन होगा?

जन्मना और मरना हमारा धर्म नहीं है, प्रत्युत शरीरका धर्म है। हमारी आयु अनादि और अनन्त है, जिसके अन्तर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। जैसे हम अनेक वस्त्र बदलते रहते हैं, पर वस्त्र बदलनेपर हम नहीं बदलते, प्रत्युत वे-के-वे ही रहते हैं (गीता—दूसरे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। ऐसे ही अनेक योनियोंमें जानेपर भी हमारी सत्ता नित्य-निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि हमारी स्वतन्त्रता और असंगता स्वत:सिद्ध है। हमारा जीवन किसी एक शरीरके अधीन नहीं है। असंग होनेके कारण ही हम अनेक शरीरोंमें जानेपर भी वही रहते हैं, पर शरीरके साथ संग मान लेनेके कारण हम अनेक शरीरोंको धारण करते रहते हैं। माना हुआ संग तो टिकता नहीं, पर हम नया-नया संग पकड़ते रहते हैं। अगर नया संग न पकड़ें तो मुक्ति (असंगता), स्वाधीनता स्वत:सिद्ध है।

सम्बन्ध—अनित्य वस्तु—शरीर आदिको लेकर जो शोक होता है, उसकी निवृत्तिके लिये कहते हैं—

'जो मनुष्य सहसा मृत्युको प्राप्त होकर फिर कहीं सहसा जन्म ले लेते हैं, उनका पुराना अभ्यास या संस्कार कुछ कालतक बना रहता है। इसलिये वे लोकमें पूर्वजन्मकी बातोंके ज्ञानसे युक्त होकर जन्म लेते हैं और जातिस्मर कहलाते हैं। फिर ज्यों-ज्यों वे बढ़ने लगते हैं, त्यों-त्यों उनकी स्वप्न-जैसी वह पुरानी स्मृति नष्ट होने लगती है।'

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!
मात्रास्पर्शाः	= इन्द्रियोंके विषय (जड़ पदार्थ)
तु	= तो
शीतोष्ण-सुखदुःखदाः	= शीत (अनुकूलता) और उष्ण (प्रतिकूलता)-के द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं (तथा)
आगमापायिनः	= आने-जानेवाले (और)
अनित्याः	= अनित्य हैं।
भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!
तान्	= उनको (तुम)
तितिक्षस्व	= सहन करो।

व्याख्या—[यहाँ एक शंका होती है कि इन चौदहवें-पंद्रहवें श्लोकोंसे पहले (ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक) और आगे (सोलहवेंसे तीसवें श्लोकतक) देही और देह—इन दोनोंका ही प्रकरण है। फिर बीचमें 'मात्रास्पर्श' के ये दो श्लोक (प्रकरणसे अलग) कैसे आये? इसका समाधान यह है कि जैसे बारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण जीवोंके नित्य-स्वरूपको बतानेके लिये 'किसी कालमें मैं नहीं था, ऐसी बात नहीं है'—ऐसा कहकर अपनेको उन्हींकी पंक्तिमें रख दिया, ऐसे ही शरीर आदि मात्र प्राकृत पदार्थोंको अनित्य, विनाशी, परिवर्तनशील बतानेके लिये भगवान्‌ने यहाँ 'मात्रास्पर्श' की बात कही है।]

'तु'—नित्य-तत्त्वसे देहादि अनित्य वस्तुओंको अलग बतानेके लिये यहाँ **'तु'** पद आया है।

'मात्रास्पर्शाः'—जिनसे माप-तौल होता है अर्थात् जिनसे ज्ञान होता है, उन (ज्ञानके साधन) इन्द्रियों और अन्तःकरणका नाम **'मात्रा'** है। मात्रासे अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरणसे जिनका संयोग होता है, उनका नाम **'स्पर्श'** है। अतः इन्द्रियों और अन्तःकरणसे जिनका ज्ञान होता है, ऐसे सृष्टिके मात्र पदार्थ **'मात्रास्पर्शाः'** हैं।

यहाँ **'मात्रास्पर्शाः'** पदसे केवल पदार्थ ही क्यों लिये जायँ, पदार्थोंका सम्बन्ध क्यों न लिया जाय? अगर हम यहाँ **'मात्रास्पर्शाः'** पदसे केवल पदार्थोंका सम्बन्ध ही लें, तो उस सम्बन्धको **'आगमापायिनः'** (आने-जानेवाला) नहीं कह सकते; क्योंकि सम्बन्धकी स्वीकृति केवल अन्तःकरणमें न होकर स्वयंमें (अहम्‌में) होती है। स्वयं नित्य है, इसलिये उसमें जो स्वीकृति हो जाती है, वह भी नित्य-जैसी ही हो जाती है। स्वयं जबतक उस स्वीकृतिको नहीं छोड़ता, तबतक वह स्वीकृति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है अर्थात् पदार्थोंका वियोग हो जानेपर भी, पदार्थोंके न रहनेपर भी, उन पदार्थोंका सम्बन्ध बना रहता है।* जैसे, कोई स्त्री विधवा हो गयी है अर्थात् उसका पतिसे सदाके लिये वियोग हो गया है, पर पचास वर्षके बाद भी उसको कोई कहता है कि यह अमुककी स्त्री है, तो उसके कान खड़े हो जाते हैं! इससे सिद्ध हुआ कि सम्बन्धी-(पति-) के न रहनेपर भी उसके साथ माना हुआ सम्बन्ध सदा बना रहता है। इस दृष्टिसे उस सम्बन्धको आने-जानेवाला कहना बनता नहीं; अतः यहाँ **'मात्रास्पर्शाः'** पदसे पदार्थोंका सम्बन्ध न लेकर मात्र पदार्थ लिये गये हैं।

'शीतोष्णसुखदुःखदाः'—यहाँ शीत और उष्ण शब्द अनुकूलता और प्रतिकूलताके वाचक हैं। अगर इनका अर्थ सरदी और गरमी लिया जाय तो ये केवल त्वगिन्द्रिय-(त्वचा-)के विषय हो जायँगे, जो कि एकदेशीय हैं। अतः शीतका अर्थ अनुकूलता और उष्णका अर्थ प्रतिकूलता लेना ही ठीक मालूम देता है।

मात्र पदार्थ अनुकूलता-प्रतिकूलताके द्वारा सुख-दुःख देनेवाले हैं अर्थात् जिसको हम चाहते हैं, ऐसी अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, देश, काल आदिके मिलनेसे सुख होता है और जिसको हम नहीं चाहते, ऐसी प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिके मिलनेसे दुःख होता है। यहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता कारण हैं और सुख-दुःख कार्य हैं। वास्तवमें देखा जाय तो इन पदार्थोंमें सुख-दुःख देनेकी सामर्थ्य नहीं है। मनुष्य इनके साथ

*** यह माना हुआ सम्बन्ध केवल अस्वीकृतिसे अर्थात् अपनेमें न माननेसे ही मिटता है। अपने सत्स्वरूपमें सम्बन्ध है नहीं, हुआ नहीं और हो सकता भी नहीं; परन्तु माने हुए सम्बन्धकी अस्वीकृतिके बिना कितना ही त्याग किया जाय, कितना ही कष्ट भोगा जाय, शरीरमें कितना ही परिवर्तन हो जाय, कितनी ही तपस्या की जाय, तो भी माना हुआ सम्बन्ध मिटता नहीं, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है।**

सम्बन्ध जोड़कर इनमें अनुकूलता-प्रतिकूलताकी भावना कर लेता है, जिससे ये पदार्थ सुख-दु:ख देनेवाले दीखते हैं। अत: भगवान्‌ने यहाँ '**सुखदु:खदा:**' कहा है।

'**आगमापायिन:**'—मात्र पदार्थ आदि-अन्तवाले, उत्पत्ति-विनाशशील और आने-जानेवाले हैं। वे ठहरनेवाले नहीं हैं; क्योंकि वे उत्पत्तिसे पहले नहीं थे और विनाशके बाद भी नहीं रहेंगे। इसलिये वे '**आगमापायी**' हैं।

'**अनित्या:**'—अगर कोई कहे कि वे उत्पत्तिसे पहले और विनाशके बाद भले ही न हों, पर मध्यमें तो रहते ही होंगे? तो भगवान् कहते हैं कि अनित्य होनेसे वे मध्यमें भी नहीं रहते। वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। इतनी तेजीसे बदलते हैं कि उनको उसी रूपमें दुबारा कोई देख ही नहीं सकता; क्योंकि पहले क्षण वे जैसे थे, दूसरे क्षण वे वैसे रहते ही नहीं। इसलिये भगवान्‌ने उनको '**अनित्या:**' कहा है।

केवल वे पदार्थ ही अनित्य, परिवर्तनशील नहीं हैं, प्रत्युत जिनसे उन पदार्थोंका ज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ और अन्त:करण भी परिवर्तनशील हैं। उनके परिवर्तनको कैसे समझें? जैसे दिनमें काम करते-करते शामतक इन्द्रियों आदिमें थकावट आ जाती है, और सबेरे तृप्तिपूर्वक नींद लेनेपर उनमें जो ताजगी आयी थी, वह शामतक नहीं रहती। इसलिये पुन: नींद लेनी पड़ती है, जिससे इन्द्रियोंकी थकावट मिटती है और ताजगीका अनुभव होता है। जैसे जाग्रत्-अवस्थामें प्रतिक्षण थकावट आती रहती है, ऐसे ही नींदमें प्रतिक्षण ताजगी आती रहती है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियों आदिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है।

[यहाँ मात्र पदार्थोंको स्थूलरूपसे '**आगमापायिन:**' और सूक्ष्मरूपसे '**अनित्या:**' कहा गया है। इनको अनित्यसे भी सूक्ष्म बतानेके लिये आगे सोलहवें श्लोकमें इनको '**असत्**' कहेंगे और पहले जिस नित्य-तत्त्वका वर्णन हुआ है, उसको '**सत्**' कहेंगे।]

'**तांस्तितिक्षस्व**'—ये जितने मात्रास्पर्श अर्थात् इन्द्रियोंके विषय हैं, उनके सामने आनेपर 'यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल है'— ऐसा ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उनको लेकर अन्त:करणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार पैदा होना ही दोषी है। अत: अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होनेपर भी राग-द्वेषादि विकारोंको पैदा न होने देना अर्थात् मात्रास्पर्शोंमें निर्विकार रहना ही उनको सहना है। इस सहनेको ही भगवान्‌ने '**तितिक्षस्व**' कहा है।

दूसरा भाव यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, अन्त:करण आदिकी क्रियाओंका, अवस्थाओंका आरम्भ और अन्त होता है तथा उनका भाव और अभाव होता है। वे क्रियाएँ, अवस्थाएँ तुम्हारेमें नहीं हैं; क्योंकि तुम उनको जाननेवाले हो, उनसे अलग हो। तुम स्वयं ज्यों-के-त्यों रहते हो। अत: उन क्रियाओंमें, अवस्थाओंमें तुम निर्विकार रहो। इनमें निर्विकार रहना ही तितिक्षा है।

परिशिष्ट भाव—जैसे शरीर कभी एकरूप नहीं रहता, प्रतिक्षण बदलता रहता है, ऐसे ही इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जिनका ज्ञान होता है, वे सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ (मात्र प्रकृति और प्रकृतिका कार्य) भी कभी एकरूप नहीं रहते, उनका संयोग और वियोग होता रहता है। जिन पदार्थोंको हम चाहते हैं, उनके संयोगसे सुख होता है और वियोगसे दु:ख होता है। जिन पदार्थोंको हम नहीं चाहते, उनके वियोगसे सुख होता है और संयोगसे दु:ख होता है। पदार्थ भी आने-जानेवाले तथा अनित्य हैं। ऐसे ही जिनसे पदार्थोंका ज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ और अन्त:करण भी आने-जानेवाले तथा अनित्य हैं और पदार्थोंसे होनेवाला सुख-दु:ख भी आने-जानेवाला तथा अनित्य है। परन्तु स्वयं सदा ज्यों-का-त्यों रहनेवाला, निर्विकार तथा नित्य है। अत: उनको सह लेना चाहिये। अर्थात् उनके संयोग-वियोगको लेकर सुखी-दु:खी नहीं होना चाहिये, प्रत्युत निर्विकार रहना चाहिये। सुख और दु:ख दोनों अलग-अलग होते हैं, पर उनको देखनेवाला एक ही होता है और उन दोनोंसे अलग (निर्विकार) होता है। परिवर्तनशीलको देखनेसे स्वयं (स्वरूप) की अपरिवर्तनशीलता (निर्विकारता)-का अनुभव स्वत: होता है।

यहाँ 'शीत' शब्द अनुकूलताका और 'उष्ण' शब्द प्रतिकूलताका वाचक है। तात्पर्य है कि ज्यादा सर्दी (ठण्ड) पड़नेसे भी वृक्ष सूख जाता है और ज्यादा गर्मी पड़नेसे भी वृक्ष सूख जाता है; अत: परिणाममें सर्दी और गर्मी—दोनों एक ही हैं। इसी तरह अनुकूलता और प्रतिकूलता भी एक ही हैं। इसलिये भगवान् इन दोनोंको ही सहनेकी अर्थात् इनसे ऊँचा उठनेकी आज्ञा देते हैं।

सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि आने-जानेवाले, बदलनेवाले हैं, पर स्वयं (स्वरूप) ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। साधकसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह बदलनेवाली दशाको देखता है, पर स्वयंको नहीं देखता।

दशाको स्वीकार करता है, पर स्वयंको स्वीकार नहीं करता। दशा पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; अतः बीचमें दीखनेपर भी वह है नहीं। परन्तु स्वयंमें आदि, अन्त और मध्य है ही नहीं। दशा कभी एकरूप रहती ही नहीं और स्वयं कभी अनेकरूप होता ही नहीं। जो दीखता है, वह भी दशा है और जो देखनेवाली (बुद्धि) है, वह भी दशा है। जाननेमें आनेवाली भी दशा है, और जाननेवाली भी दशा है। स्वयंमें न दीखनेवाला है, न देखनेवाला है; न जाननेमें आनेवाला है, न जाननेवाला है। ये दीखनेवाला-देखनेवाला आदि सब दशाके अन्तर्गत हैं। दीखनेवाला-देखनेवाला तो नहीं रहेंगे, पर स्वयं रहेगा; क्योंकि दशा तो मिट जायगी, पर स्वयं रह जायगा। तात्पर्य है कि 'दीखनेवाले' (दृश्य) के साथ सम्बन्ध होनेसे ही स्वयं 'देखनेवाला' (द्रष्टा) कहलाता है। अगर 'दीखनेवाले' के साथ सम्बन्ध न रहे तो स्वयं रहेगा, पर उसका नाम 'देखनेवाला' नहीं रहेगा। इसी तरह 'शरीर' के साथ सम्बन्ध होनेसे ही स्वयं (चिन्मय सत्ता) 'शरीरी' कहलाता है। अगर 'शरीर' के साथ सम्बन्ध न रहे तो स्वयं रहेगा, पर उसका नाम 'शरीरी' नहीं रहेगा (गीता—तेरहवें अध्यायका पहला श्लोक)। अतः भगवान्‌ने केवल मनुष्योंको समझानेके लिये ही 'शरीरी' नाम कहा है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें मात्रास्पर्शोंकी तितिक्षाकी बात कही। अब ऐसी तितिक्षासे क्या होगा—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

हि = कारण कि, **पुरुषर्षभ** = हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! **समदुःखसुखम्** = सुख-दुःखमें सम रहनेवाले **यम्** = जिस **धीरम्** = बुद्धिमान् **पुरुषम्** = मनुष्यको **एते** = ये मात्रास्पर्श (पदार्थ) **न, व्यथयन्ति** = विचलित (सुखी-दुःखी) नहीं करते, **सः** = वह **अमृतत्वाय** = अमर होनेमें **कल्पते** = समर्थ हो जाता है अर्थात् वह अमर हो जाता है।

व्याख्या—**'पुरुषर्षभ'**—मनुष्य प्रायः परिस्थितियोंको बदलनेका ही विचार करता है, जो कभी बदली नहीं जा सकतीं और जिनको बदलना सम्भव ही नहीं। युद्धरूपी परिस्थितिके प्राप्त होनेपर अर्जुनने उसको बदलनेका विचार न करके अपने कल्याणका विचार कर लिया है। यह कल्याणका विचार करना ही मनुष्योंमें उनकी श्रेष्ठता है।

'समदुःखसुखं धीरम्'—धीर मनुष्य सुख-दुःखमें सम होता है। अन्तःकरणकी वृत्तिसे ही सुख और दुःख—ये दोनों अलग-अलग दीखते हैं। सुख-दुःखके भोगनेमें पुरुष (चेतन) हेतु है, और वह हेतु बनता है प्रकृतिमें स्थित होनेसे (गीता—तेरहवें अध्यायका बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक)। जब वह अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब सुख-दुःखको भोगनेवाला कोई नहीं रहता। अतः अपने-आपमें स्थित होनेसे वह सुख-दुःखमें स्वाभाविक ही सम हो जाता है।

'यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषम्'—धीर मनुष्यको ये मात्रास्पर्श अर्थात् प्रकृतिके मात्र पदार्थ व्यथा नहीं पहुँचाते। प्राकृत पदार्थोंके संयोगसे जो सुख होता है, वह भी व्यथा है और उन पदार्थोंके वियोगसे जो दुःख होता है, वह भी व्यथा है। परन्तु जिसकी दृष्टि समताकी तरफ है, उसको ये प्राकृत पदार्थ सुखी-दुःखी नहीं कर सकते। समताकी तरफ दृष्टि रहनेसे अनुकूलताको लेकर उस सुखका ज्ञान तो होता है, पर उसका भोग न होनेसे अन्तःकरणमें उस सुखका स्थायी रूपसे संस्कार नहीं पड़ता। ऐसे ही प्रतिकूलता आनेपर उस दुःखका ज्ञान तो होता है, पर उसका भोग न होनेसे अन्तःकरणमें उस दुःखका स्थायीरूपसे संस्कार नहीं पड़ता। इस प्रकार सुख-दुःखके संस्कार न पड़नेसे वह व्यथित नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि अन्तःकरणमें सुख-दुःखका ज्ञान होनेसे वह स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता।

'सोऽमृतत्वाय कल्पते'—ऐसा धीर मनुष्य अमरताके योग्य हो जाता है अर्थात् उसमें अमरता प्राप्त करनेकी सामर्थ्य आ जाती है। सामर्थ्य, योग्यता आनेपर वह अमर हो ही जाता है, इसमें देरीका कोई काम नहीं। कारण कि उसकी अमरता तो स्वतःसिद्ध है। केवल पदार्थोंके संयोग-वियोगसे जो अपनेमें विकार मानता था, यही गलती थी।

विशेष बात

यह मनुष्य-योनि सुख-दु:ख भोगनेके लिये नहीं मिली है, प्रत्युत सुख-दु:खसे ऊँचा उठकर महान् आनन्द, परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये मिली है, जिस आनन्द, सुख-शान्तिके प्राप्त होनेके बाद और कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रहता (गीता ६। २२)। अगर अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिके होनेमें अथवा उनकी सम्भावनामें हम सुखी होंगे अर्थात् हमारे भीतर अनुकूल वस्तु, व्यक्ति आदिको प्राप्त करनेकी कामना, लोलुपता रहेगी तो हम अनुकूलताका सदुपयोग नहीं कर सकेंगे। अनुकूलताका सदुपयोग करनेकी सामर्थ्य, शक्ति हमें प्राप्त नहीं हो सकेगी। कारण कि अनुकूलताका सदुपयोग करनेकी शक्ति अनुकूलताके भोगमें खर्च हो जायगी, जिससे अनुकूलताका सदुपयोग नहीं होगा; किन्तु भोग ही होगा। इसी रीतिसे प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, क्रिया आदिके आनेपर अथवा उनकी आशंकासे हम दु:खी होंगे तो प्रतिकूलताका सदुपयोग नहीं होगा; किन्तु भोग ही होगा। दु:खको सहनेकी सामर्थ्य हमारेमें नहीं रहेगी। अत: हम प्रतिकूलताके भोगमें ही फँसे रहेंगे और दु:खी होते रहेंगे।

अगर अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिके प्राप्त होनेपर सुख-सामग्रीका अपने सुख, आराम, सुविधाके लिये उपयोग करेंगे और उससे राजी होंगे तो यह अनुकूलताका भोग हुआ। परन्तु निर्वाह-बुद्धिसे उपयोग करते हुए उस सुख-सामग्रीको अभावग्रस्तोंकी सेवामें लगा दें तो यह अनुकूलताका सदुपयोग हुआ। अत: सुख-सामग्रीको दु:खियोंकी ही समझें। उसमें दु:खियोंका ही हक है। मान लो कि हम लखपति हैं तो हमें लखपति होनेका सुख होता है, अभिमान होता है। परन्तु यह सब तब होता है, जब हमारे सामने कोई लखपति न हो। अगर हमारे सामने, हमारे देखने-सुननेमें जो आते हैं, वे सब-के-सब करोड़पति हों, तो क्या हमें लखपति होनेका सुख मिलेगा? बिलकुल नहीं मिलेगा। अत: हमें लखपति होनेका सुख तो अभावग्रस्तोंने, दरिद्रोंने ही दिया है। अगर हम मिली हुई सुख-सामग्रीसे अभावग्रस्तोंकी सेवा न करके स्वयं सुख भोगते हैं, तो हम कृतघ्न होते हैं। इसीसे सब अनर्थ पैदा होते हैं। कारण कि हमारे पास जो सुख-सामग्री है, वह दु:खी आदमियोंकी ही दी हुई है। अत: उस सुख-सामग्रीको दु:खियोंकी सेवामें लगा देना हमारा कर्तव्य होता है।

अब विचार यह करना है कि प्रतिकूलताका सदुपयोग कैसे किया जाय? दु:खका कारण सुखकी इच्छा, आशा ही है। प्रतिकूल परिस्थिति दु:खदायी तभी होती है, जब भीतर सुखकी इच्छा रहती है। अगर हम सावधानीके साथ अनुकूलताकी इच्छाका, सुखकी आशाका त्याग कर दें, तो फिर हमें प्रतिकूल परिस्थितिमें दु:ख नहीं हो सकता अर्थात् हमें प्रतिकूल परिस्थिति दु:खी नहीं कर सकती। जैसे, रोगीको कड़वी-से-कड़वी दवाई लेनी पड़े, तो भी उसे दु:ख नहीं होता, प्रत्युत इस बातको लेकर प्रसन्नता होती है कि इस दवाईसे मेरा रोग नष्ट हो रहा है। ऐसे ही पैरमें काँटा गहरा गड़ जाय और काँटा निकालनेवाला उसे निकालनेके लिये सुईसे गहरा घाव बनाये तो बड़ी पीड़ा होती है। उस पीड़ासे वह सिसकता है, घबराता है, पर वह काँटा निकालनेवालेको यह कभी नहीं कहता कि भाई, तुम छोड़ दो, काँटा मत निकालो। काँटा निकल जायगा, सदाके लिये पीड़ा दूर हो जायगी—इस बातको लेकर वह इस पीड़ाको प्रसन्नतापूर्वक सह लेता है। यह जो सुखकी इच्छाका त्याग करके दु:खको, पीड़ाको प्रसन्नतापूर्वक सहना है यह प्रतिकूलताका सदुपयोग है। अगर वह कड़वी दवाई लेनेसे, काँटा निकालनेकी पीड़ासे दु:खी हो जाता है, तो यह प्रतिकूलताका भोग है, जिससे उसको भयंकर दु:ख पाना पड़ेगा।

यदि हम सुख-दु:खका उपभोग करते रहेंगे, तो भविष्यमें हमें भोग-योनियोंमें अर्थात् स्वर्ग, नरक आदिमें जाना ही पड़ेगा। कारण कि सुख-दु:ख भोगनेके स्थान ये स्वर्ग, नरक आदि ही हैं। यदि हम सुख-दु:खका भोग करते हैं, सुख-दु:खमें सम नहीं रहते, सुख-दु:खसे ऊँचे नहीं उठते, तो हम मुक्तिके पात्र कैसे होंगे? नहीं हो सकते।

चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि ये सांसारिक पदार्थ आदि अनुकूलता-प्रतिकूलताके द्वारा सुख-दु:ख देनेवाले और आने-जानेवाले हैं, सदा रहनेवाले नहीं हैं; क्योंकि ये अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं। इनके प्राप्त होनेपर उसी क्षण इनका नष्ट होना शुरू हो जाता है। इनका संयोग होते ही इनसे वियोग होना शुरू हो जाता है। ये पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। इनको भोगकर हम केवल अपना स्वभाव बिगाड़ रहे हैं, सुख-दु:खके भोगी बनते जा रहे हैं। सुख-दु:खके भोगी बनकर हम भोगयोनिके ही पात्र बनते जा रहे हैं, फिर हमें मुक्ति कैसे मिलेगी? हमें भुक्ति-(भोग-) की ही रुचि है, तो फिर

भगवान् हमें मुक्ति कैसे देंगे ?

इस प्रकार यदि हम सुख-दुःखका उपभोग न करके उनका सदुपयोग करेंगे, तो हम सुख-दुःखसे ऊँचे उठ जायँगे और महान् आनन्दका अनुभव कर लेंगे।

परिशिष्ट भाव—स्वरूप सत्तारूप है। सत्तामें कोई व्यथा नहीं है। शरीरमें अपनी स्थिति माननेसे ही व्यथा होती है। अतः शरीरमें अपनी स्थिति मानते हुए कोई भी मनुष्य व्यथारहित नहीं हो सकता। व्यथारहित होनेका तात्पर्य है— प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न होना और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न होना (गीता—पाँचवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। व्यथारहित होनेसे मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो जाती है—**'स्थिरबुद्धिरसम्मूढः'** (गीता ५। २०)।

सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिसे सुखी-दुःखी होना ही व्यथित होना है। सुखी-दुःखी होना सुख-दुःखका भोग है। भोगी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता। साधकको सुख-दुःखका भोग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत सुख-दुःखका सदुपयोग करना चाहिये। सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिका प्राप्त होना प्रारब्ध है और उस परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करना वास्तविक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है। सुखका सदुपयोग है—दूसरोंको सुख पहुँचाना, उनकी सेवा करना और दुःखका सदुपयोग है—सुखकी इच्छाका त्याग करना। दुःखका सदुपयोग करनेपर साधक दुःखके कारणकी खोज करता है। दुःखका कारण है—सुखकी इच्छा—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५। २२)। जो सुख-दुःखका भोग करता है, उस भोगीका पतन हो जाता है और जो सुख-दुःखका सदुपयोग करता है, वह योगी सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचे उठकर अमरताका अनुभव कर लेता है।

सम्बन्ध—अबतक देह-देहीका जो विवेचन हुआ है, उसीको भगवान् दूसरे शब्दोंसे आगेके तीन श्लोकोंमें कहते हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

असतः = असत्का तो
भावः = भाव (सत्ता)
न, विद्यते = विद्यमान नहीं है
तु = और
सतः = सत्का
अभावः = अभाव
न, विद्यते = विद्यमान नहीं है।
तत्त्वदर्शिभिः = तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने
अनयोः = इन
उभयोः = दोनोंका
अपि = ही
अन्तः = तत्त्व
दृष्टः = देखा अर्थात् अनुभव किया है।

व्याख्या—[यहाँ (पूर्वार्धमें) भगवान्ने **'भू सत्तायाम्' (भावः, अभावः), 'अस् भुवि' (असतः, सतः)** और **'विद् सत्तायाम्' (विद्यते)**—इन तीन सत्तावाचक धातुओंका प्रयोग किया है। इन तीनोंके प्रयोगका तात्पर्य नित्य-तत्त्वकी ओर लक्ष्य करानेमें ही है।]

'नासतो विद्यते भावः'—शरीर उत्पत्तिके पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी इसका क्षण-प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। तात्पर्य है कि यह शरीर भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीनों कालोंमें कभी भावरूपसे नहीं रहता। अतः यह असत् है। इसी तरहसे इस संसारका भी भाव नहीं है, यह भी असत् है। यह शरीर तो संसारका एक छोटा-सा नमूना है; इसलिये शरीरके परिवर्तनसे संसारमात्रके परिवर्तनका अनुभव होता है कि इस संसारका पहले भी अभाव था और पीछे भी अभाव होगा तथा वर्तमानमें भी अभाव हो रहा है।

संसारमात्र कालरूपी अग्निमें लकड़ीकी तरह निरन्तर जल रहा है। लकड़ीके जलनेपर तो कोयला और राख बची रहती है, पर संसारको कालरूपी अग्नि ऐसी विलक्षण रीतिसे जलाती है कि कोयला अथवा राख कुछ भी बाकी नहीं रहता। वह संसारका अभाव-ही-अभाव कर देती है। इसलिये कहा गया है कि असत्की सत्ता नहीं है।

'नाभावो विद्यते सतः'—जो सत् वस्तु है, उसका अभाव नहीं होता अर्थात् जब देह उत्पन्न नहीं हुआ था, तब भी देही था, देह नष्ट होनेपर भी देही रहेगा और वर्तमानमें देहके परिवर्तनशील होनेपर भी देही उसमें ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इसी रीतिसे जब संसार उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय भी परमात्मतत्त्व था, संसारका अभाव होनेपर भी परमात्मतत्त्व रहेगा और वर्तमानमें संसारके परिवर्तनशील होनेपर भी परमात्मतत्त्व उसमें ज्यों-का-त्यों ही है।

मार्मिक बात

संसारको हम एक ही बार देख सकते हैं, दूसरी बार नहीं। कारण कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है; अतः एक क्षण पहले वस्तु जैसी थी, दूसरे क्षणमें वह वैसी नहीं रहती, जैसे—सिनेमा देखते समय परदेपर दृश्य स्थिर दीखता है; पर वास्तवमें उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। मशीनपर फिल्म तेजीसे घूमनेके कारण वह परिवर्तन इतनी तेजीसे होता है कि उसे हमारी आँखें नहीं पकड़ पातीं[1]। इससे भी अधिक मार्मिक बात यह है कि वास्तवमें संसार एक बार भी नहीं दीखता। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जिन करणोंसे हम संसारको देखते हैं—अनुभव करते हैं, वे करण भी संसारके ही हैं। अतः वास्तवमें संसारसे ही संसार दीखता है। जो शरीर-संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित है, उस स्वरूपसे संसार कभी दीखता ही नहीं! तात्पर्य यह है कि स्वरूपमें संसारकी प्रतीति नहीं है। संसारके सम्बन्धसे ही संसारकी प्रतीति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वरूपका संसारसे कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

दूसरी बात, संसार (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि)-की सहायताके बिना चेतन-स्वरूप कुछ कर ही नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि मात्र क्रिया संसारमें ही है, स्वरूपमें नहीं। स्वरूपका क्रियासे कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। जब स्वरूपका न तो क्रियासे और न पदार्थसे ही कोई सम्बन्ध है, तब यह सिद्ध हो गया कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण संसारका अभाव है। केवल परमात्मतत्त्वका ही भाव (सत्ता) है, जो निर्लिप्तरूपसे सबका प्रकाशक और आधार है।

'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः'—इन दोनोंके अर्थात् सत्-असत्, देही-देहके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंने इनका तत्त्व देखा है, इनका निचोड़ निकाला है कि केवल एक सत्-तत्त्व ही विद्यमान है।

असत् वस्तुका तत्त्व भी सत् है और सत् वस्तुका तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनोंका तत्त्व एक 'सत्' ही है, दोनोंका तत्त्व भावरूपसे एक ही है। अतः सत् और असत्—इन दोनोंके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा जाननेमें आनेवाला एक सत्-तत्त्व ही है। असत्की जो सत्ता प्रतीत होती है, वह सत्ता भी वास्तवमें सत्की ही है। सत्की सत्तासे ही असत् सत्तावान् प्रतीत होता है। इसी सत्को **'परा प्रकृति'** (गीता ७। ५), **'क्षेत्रज्ञ'** (गीता १३। १-२), **'पुरुष'** (गीता १३। १९) और **'अक्षर'** (गीता १५। १६) कहा गया है; तथा असत्को **'अपरा प्रकृति'**, **'क्षेत्र'**, **'प्रकृति'** और **'क्षर'** कहा गया है।

अर्जुन भी शरीरोंको लेकर शोक कर रहे हैं कि युद्ध करनेसे ये सब मर जायँगे। इसपर भगवान् कहते हैं कि क्या युद्ध न करनेसे ये नहीं मरेंगे? असत् तो मरेगा ही और निरन्तर मर ही रहा है। परन्तु इसमें जो सत्-रूपसे है, उसका कभी अभाव नहीं होगा। इसलिये शोक करना तुम्हारी बेसमझी ही है।

ग्यारहवें श्लोकमें आया है कि जो मर गये हैं और जो जी रहे हैं, उन दोनोंके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते। बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें देहीकी नित्यताका वर्णन है और उसमें **'धीर'** शब्द आया है। चौदहवें-पंद्रहवें श्लोकोंमें संसारकी अनित्यताका वर्णन आया है, तो उसमें भी **'धीर'** शब्द आया है। ऐसे ही यहाँ (सोलहवें श्लोकमें) सत्-असत्का विवेचन आया है, तो इसमें **'तत्त्वदर्शी'**[2] शब्द आया है। इन श्लोकोंमें **'पण्डित'**, **'धीर'** और **'तत्त्वदर्शी'** पद देनेका तात्पर्य है कि जो विवेकी होते हैं, समझदार होते हैं, उनको शोक नहीं होता । अगर शोक होता है, तो वे विवेकी नहीं हैं, समझदार नहीं हैं।

परिशिष्ट भाव—सत्तामात्र 'सत्' है और सत्ताके सिवाय जो कुछ भी प्रकृति और प्रकृतिका कार्य (क्रिया और पदार्थ) है, वह 'असत्' अर्थात् परिवर्तनशील है। जिन महापुरुषोंने सत् और असत्—दोनोंका तत्त्व देखा है अर्थात् जिनको सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो गया है, उनकी दृष्टि (अनुभव)-में असत्की सत्ता विद्यमान

१-नित्यदा ह्यंग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च। कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥ (श्रीमद्भा० ११। २२। ४२)

'यद्यपि प्रतिक्षण ही शरीरोंकी उत्पत्ति और नाश होता रहता है, तथापि कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण उनका प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होना दिखायी नहीं देता।'

२-'नानुशोचन्ति पण्डिताः' (२। ११), 'धीरस्तत्र न मुह्यति' (२। १३), 'समदुःखसुखं धीरम्' (२। १५)—इन तीन जगह जिनको 'पण्डित' और 'धीर' कहा है, उन्हींको यहाँ 'तत्त्वदर्शी' कहा गया है।

है ही नहीं और सत्का अभाव विद्यमान है ही नहीं अर्थात् सत्तामात्र (सत्-तत्त्व)-के सिवाय कुछ भी नहीं है।

भगवान्ने चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें शरीरकी अनित्यताका वर्णन किया था, उसको यहाँ **'नासतो विद्यते भावः'** पदोंसे कहा है और बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें शरीरीकी नित्यताका वर्णन किया था, उसको यहाँ **'नाभावो विद्यते सतः'** पदोंसे कहा है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेदों, पुराणों, शास्त्रोंका तात्पर्य भरा हुआ है! असत् और सत्—इन दोनोंको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। देखने, सुनने, समझने, चिन्तन करने, निश्चय करने आदिमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन आदि करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी 'असत्' है।

इस श्लोकार्ध (सोलह अक्षरों)-में तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

(१) **'भू सत्तायाम्'**—जैसे **'अभावः'** और **'भावः'**।

(२) **'अस् भुवि'**—जैसे, **'असतः'** और **'सतः'**।

(३) **'विद् सत्तायाम्'**—जैसे, **'विद्यते'** और **'न विद्यते'**।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक 'सत्ता' ही है, तथापि सूक्ष्मरूपसे ये तीनों अपना स्वतन्त्र अर्थ भी रखते हैं; जैसे—**'भू'** धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, **'अस्'** धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और **'विद्'** धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानकी सत्ता) है।

'नासतो विद्यते भावः' पदोंका अर्थ है—**'असतः भावः न विद्यते'** अर्थात् असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है, प्रत्युत असत्का अभाव ही विद्यमान है; क्योंकि इसका निरन्तर अभाव (परिवर्तन) होता ही रहता है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षण अभाव है, उसका सदा अभाव ही है। अतः संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितनी ही सत्ता दें, कितना ही महत्त्व दें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं, कभी प्राप्त हुआ ही नहीं, कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'नाभावो विद्यते सतः' पदोंका अर्थ है—**'सतः अभावः न विद्यते'** अर्थात् सत्का अभाव विद्यमान नहीं है, प्रत्युत सत्का भाव ही विद्यमान है; क्योंकि इसका कभी अभाव (परिवर्तन) होता ही नहीं। जिसका अभाव हो जाय, उसको सत् कहते ही नहीं। सत्की सत्ता निरन्तर विद्यमान है। सत् निरन्तर वर्तमान है। सत् निरन्तर उपस्थित है। सत् निरन्तर प्राप्त है। सत् निरन्तर मिला हुआ है। सत् निरन्तर मौजूद है। सत् निरन्तर कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें सत्का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल, वस्तु आदि तो असत् (अभावरूप अर्थात् निरन्तर परिवर्तनशील) है, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अतः सत्का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं (गीता—दूसरे अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

'उभयोरपि दृष्टः'—तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने सत्-तत्त्वको उत्पन्न नहीं किया है, प्रत्युत देखा है अर्थात् अनुभव किया है। तात्पर्य है कि असत्का अभाव और सत्का भाव—दोनोंके तत्त्व (निष्कर्ष)-को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक **'है'** का ही अनुभव करते हैं। असत्का तत्त्व भी सत् है और सत्का तत्त्व भी सत् है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व **'है'** के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्‌की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्‌का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है। उस सत्-तत्त्वमें देह और देहीका विभाग नहीं है।

जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**'—इसमें **उभयोरपि**' में विवेक है, '**अन्तः**' में तत्त्वज्ञान है और '**दृष्टः**'में अनुभव है अर्थात् विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो गया और सत्तामात्र ही शेष रह गयी। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है—यह ज्ञानमार्गकी सर्वोपरि बात है।

असत्‌की सत्ता नहीं है—यह भी सत्य है और सत्‌का अभाव नहीं है—यह भी सत्य है। सत्यको स्वीकार करना साधकका काम है। साधकको अनुभव हो अथवा न हो, उसको तो सत्यको स्वीकार करना है। 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

संसारमें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'अभाव' मुख्य रहता है। परमात्मामें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'भाव' मुख्य रहता है। संसारमें 'अभाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं और परमात्मामें 'भाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें 'नित्यवियोग' के अन्तर्गत संयोग-वियोग हैं और परमात्मामें 'नित्ययोग' के अन्तर्गत योग-वियोग (मिलन-विरह) हैं। अतः संसारमें अभाव ही रहा और परमात्मामें भाव ही रहा।

सम्बन्ध—सत् और असत् क्या है—इसको आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

अविनाशि	= अविनाशी	**इदम्**	= यह	**विनाशम्**	= विनाश
तु	= तो	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण (संसार)	**कश्चित्**	= कोई भी
तत्	= उसको	**ततम्**	= व्याप्त है।	**न**	= नहीं
विद्धि	= जान,	**अस्य**	= इस	**कर्तुम्**	= कर
येन	= जिससे	**अव्ययस्य**	= अविनाशीका	**अर्हति**	= सकता।

व्याख्या—'**अविनाशि तु तद्विद्धि**'—पूर्वश्लोकमें जो सत्-असत्‌की बात कही थी, उसमेंसे पहले '**सत्**'की व्याख्या करनेके लिये यहाँ '**तु**' पद आया है।

'उस अविनाशी तत्त्वको तू समझ'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने उस तत्त्वको परोक्ष बताया है। परोक्ष बतानेमें तात्पर्य है कि इदंतासे दीखनेवाले इस सम्पूर्ण संसारमें वह परोक्ष तत्त्व ही व्याप्त है, परिपूर्ण है। वास्तवमें जो परिपूर्ण है, वही 'है' और जो सामने संसार दीख रहा है, यह 'नहीं' है।

यहाँ '**तत्**' पदसे सत्-तत्त्वको परोक्ष रीतिसे कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह तत्त्व बहुत दूर है; किन्तु वह इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है, इसलिये उसको परोक्ष रीतिसे कहा गया है।

'**येन सर्वमिदं ततम्**'*—जिसको परोक्ष कहा है, उसीका वर्णन करते हैं कि यह सब-का-सब संसार उस नित्य-तत्त्वसे व्याप्त है। जैसे सोनेसे बने हुए गहनोंमें सोना,

---

* 'येन सर्वमिदं ततम्'—ये पद गीतामें तीन बार आये हैं। उनमेंसे यहाँ (२। १७ में) ये पद शरीरीके लिये आये हैं कि इस शरीरीसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। यह बात सांख्ययोगकी दृष्टिसे कही गयी है। दूसरी बार ये पद आठवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें आये हैं। वहाँ कहा गया है कि जिस ईश्वरसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह अनन्यभक्तिसे मिलता है। अतः भक्तिका वर्णन होनेसे उपर्युक्त पद ईश्वरके विषयमें आये हैं। तीसरी बार ये पद अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें आये हैं। वहाँ कहा गया है कि जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उसका चारों वर्ण अपने-अपने कर्मोंद्वारा पूजन करें। यह वर्णन भी भक्तिकी दृष्टिसे हुआ है।

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें राजविद्याका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने 'मया ततमिदं सर्वम्' पदोंसे कहा है कि यह सम्पूर्ण संसार मेरेसे व्याप्त है। इस प्रकार तीन जगह तो 'येन' पद देकर उस तत्त्वको परोक्षरूपसे कहा है, और एक जगह 'अस्मत्' शब्द—'मया' देकर स्वयं भगवान्‌ने अपरोक्षरूपसे अपनी बात कही है।

लोहेसे बने हुए अस्त्र-शस्त्रोंमें लोहा, मिट्टीसे बने हुए बर्तनोंमें मिट्टी और जलसे बनी हुई बर्फमें जल ही व्याप्त (परिपूर्ण) है, ऐसे ही संसारमें वह सत्-तत्त्व ही व्याप्त है। अत: वास्तवमें इस संसारमें वह सत्-तत्त्व ही जाननेयोग्य है।

'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**'—यह शरीरी अव्यय* अर्थात् अविनाशी है। इस अविनाशीका कोई विनाश कर ही नहीं सकता। परन्तु शरीर विनाशी है— क्योंकि वह नित्य-निरन्तर विनाशकी तरफ जा रहा है। अत: इस विनाशीके विनाशको कोई रोक ही नहीं सकता। तू सोचता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो ये नहीं मरेंगे, पर वास्तवमें तेरे युद्ध करनेसे अथवा न करनेसे इस अविनाशी और विनाशी तत्त्वमें कुछ फर्क नहीं पड़ेगा अर्थात् अविनाशी तो रहेगा ही और विनाशीका नाश होगा ही।

यहाँ '**अस्य**' पदसे सत्-तत्त्वको इदंतासे कहनेका तात्पर्य है कि प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरोंमें जो सत्ता दीखती है, वह इसी सत्-तत्त्वकी ही है। 'मेरा शरीर है और मैं शरीरधारी हूँ'—ऐसा जो अपनी सत्ताका ज्ञान है, उसीको लक्ष्य करके भगवान्‌ने यहाँ '**अस्य**' पद दिया है।

परिशिष्ट भाव—व्यवहारमें हम कहते हैं कि 'यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, यह मकान है' आदि, तो इसमें 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। परन्तु इनमें 'है' रूपसे जो सत्ता है, वह सदा ज्यों-की-त्यों है। तात्पर्य है कि 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो संसार (असत्) है और 'है' अविनाशी आत्मतत्त्व (सत्) है। इसलिये 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो अलग-अलग हुए, पर इन सबमें 'है' एक ही रहा। इसी तरह मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देवता हूँ आदिमें शरीर तो अलग-अलग हुए पर 'हूँ' अथवा 'है' एक ही रहा।

'**येन सर्वमिदं ततम्**'—ये पद यहाँ जीवात्माके लिये आये हैं और आठवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें यही पद परमात्माके लिये आये हैं। इसका तात्पर्य है कि जीवात्माका सर्वव्यापक परमात्माके साथ साधर्म्य है। अत: जैसे परमात्मा संसारसे असंग हैं, ऐसे ही जीवात्मा भी शरीर-संसारसे स्वत:-स्वाभाविक असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५), '**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' (गीता १३। २२)। जीवात्माकी स्थिति किसी एक शरीरमें नहीं है। वह किसी शरीरसे चिपका हुआ नहीं है। परन्तु इस असंगताका अनुभव न होनेसे ही जन्म-मरण हो रहा है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

अनाशिनः	= अविनाशी,	**शरीरिणः**	= इस शरीरीके	**उक्ताः**	= कहे गये हैं।
अप्रमेयस्य	= जाननेमें न आनेवाले (और)	**इमे**	= ये	**तस्मात्**	= इसलिये
		देहाः	= देह	**भारत**	= हे अर्जुन! (तुम)
नित्यस्य	= नित्य रहनेवाले	**अन्तवन्तः**	= अन्तवाले	**युध्यस्व**	= युद्ध करो।

व्याख्या—'**अनाशिनः**'—किसी कालमें, किसी कारणसे कभी किंचिन्मात्र भी जिसमें परिवर्तन नहीं होता, जिसकी क्षति नहीं होती, जिसका अभाव नहीं होता, उसका नाम '**अनाशी**' अर्थात् अविनाशी है।

'**अप्रमेयस्य**'—जो प्रमा-(प्रमाण-)का विषय नहीं है अर्थात् जो अन्त:करण और इन्द्रियोंका विषय नहीं है, उसको 'अप्रमेय' कहते हैं।

जिसमें अन्त:करण और इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं होतीं, उसमें शास्त्र और सन्त-महापुरुष ही प्रमाण होते हैं, शास्त्र और सन्त-महापुरुष उन्हींके लिये प्रमाण होते हैं, जो श्रद्धालु हैं। जिसकी जिस शास्त्र और सन्तमें श्रद्धा होती है, वह उसी शास्त्र और सन्तके वचनोंको मानता है। इसलिये यह तत्त्व

*** भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह शरीरीको भी अव्यय कहा है और अपनेको भी अव्यय कहा है। स्वरूपसे दोनों अव्यय होनेपर भी भगवान् तो प्रकृतिको अपने वशमें करके (स्वतन्त्रतापूर्वक) प्रकट और अन्तर्धान होते हैं और यह शरीरी प्रकृतिके परवश होकर जन्मता और मरता रहता है; क्योंकि इसने शरीरको अपना मान रखा है।**

केवल श्रद्धाका विषय है[1], प्रमाणका विषय नहीं।

शास्त्र और सन्त किसीको बाध्य नहीं करते कि तुम हमारेमें श्रद्धा करो। श्रद्धा करने अथवा न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। अगर वह शास्त्र और सन्तके वचनोंमें श्रद्धा करेगा, तो यह तत्त्व उसकी श्रद्धाका विषय है; और अगर वह श्रद्धा नहीं करेगा, तो यह तत्त्व उसकी श्रद्धाका विषय नहीं है।

'**नित्यस्य**'—यह नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। किसी कालमें यह न रहता हो—ऐसी बात नहीं है अर्थात् यह सब कालमें सदा ही रहता है।

'**अन्तवन्त इमे देहा उक्ताः शरीरिणः**'—इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य शरीरीके सम्पूर्ण संसारमें जितने भी शरीर हैं, वे सभी अन्तवाले कहे गये हैं। अन्तवाले कहनेका तात्पर्य है कि इनका प्रतिक्षण अन्त हो रहा है। इनमें अन्तके सिवाय और कुछ है ही नहीं, केवल अन्त-ही-अन्त है।

उपर्युक्त पदोंमें शरीरीके लिये तो एकवचन दिया है और शरीरोंके लिये बहुवचन दिया है। इसका एक कारण तो यह है कि प्रत्येक प्राणीके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर होते हैं। दूसरा कारण यह है कि संसारके सम्पूर्ण शरीरोंमें एक ही शरीरी व्याप्त है। आगे चौबीसवें श्लोकमें भी इसको '**सर्वगतः**' पदसे सबमें व्यापक बतायेंगे। यह शरीरी तो अविनाशी है और इसके कहे जानेवाले सम्पूर्ण शरीर नाशवान् हैं। जैसे अविनाशीका कोई विनाश नहीं कर सकता, ऐसे ही नाशवान्‌को कोई अविनाशी नहीं बना सकता। नाशवान्‌का तो विनाशीपना ही नित्य रहेगा अर्थात् उसका तो नाश ही होगा।

विशेष बात

यहाँ '**अन्तवन्त इमे देहाः**' कहनेका तात्पर्य है कि ये जो देह देखनेमें आते हैं, ये सब-के-सब नाशवान् हैं। पर ये देह किसके हैं? '**नित्यस्य**', '**अनाशिनः**'—ये देह नित्यके हैं, अविनाशीके हैं। तात्पर्य है कि नित्य-तत्त्वने, जिसका कभी नाश नहीं होता, इनको अपना मान रखा है। अपना माननेका अर्थ है कि अपनेको शरीरमें रख दिया और शरीरको अपनेमें रख लिया। अपनेको शरीरमें रखनेसे 'अहंता' अर्थात् 'मैं'-पन पैदा हो गया और शरीरको अपनेमें रखनेसे 'ममता' अर्थात् 'मेरा'-पन पैदा हो गया।

यह स्वयं जिन-जिन चीजोंमें अपनेको रखता चला जाता है, उन-उन चीजोंमें 'मैं'-पन होता ही चला जाता है; जैसे—अपनेको धनमें रख दिया तो 'मैं धनी हूँ'; अपनेको राज्यमें रख दिया तो 'मैं राजा हूँ'; अपनेको विद्यामें रख दिया तो 'मैं विद्वान् हूँ'; अपनेको बुद्धिमें रख दिया तो 'मैं बुद्धिमान् हूँ'; अपनेको सिद्धियोंमें रख दिया तो 'मैं सिद्ध हूँ'; अपनेको शरीरमें रख दिया तो 'मैं शरीर हूँ'; आदि-आदि।

यह स्वयं जिन-जिन चीजोंको अपनेमें रखता चला जाता है, उन-उन चीजोंमें 'मेरा'-पन होता ही चला जाता है; जैसे—कुटुम्बको अपनेमें रख लिया तो 'कुटुम्ब मेरा है'; धनको अपनेमें रख लिया तो 'धन मेरा है'; बुद्धिको अपनेमें रख लिया तो 'बुद्धि मेरी है'; शरीरको अपनेमें रख लिया तो 'शरीर मेरा है'; आदि-आदि।

जडताके साथ 'मैं' और 'मेरा'-पन होनेसे ही मात्र विकार पैदा होते हैं। तात्पर्य है कि शरीर और मैं (स्वयं)—दोनों अलग-अलग हैं, इस विवेकको महत्त्व न देनेसे ही मात्र विकार पैदा होते हैं। परन्तु जो इस विवेकको आदर देते हैं, महत्त्व देते हैं, वे पण्डित होते हैं। ऐसे पण्डितलोग कभी शोक नहीं करते; क्योंकि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है—इसका उनको ठीक अनुभव हो जाता है।

'**तस्मात्**[2] **युध्यस्व**'—भगवान् अर्जुनके लिये आज्ञा देते हैं कि सत्-असत्‌को ठीक समझकर तुम युद्ध करो अर्थात् प्राप्त कर्तव्यका पालन करो। तात्पर्य है कि शरीर तो अन्तवाला है और शरीरी अविनाशी है। इन दोनों—शरीर-शरीरीकी दृष्टिसे शोक बन ही नहीं सकता। अतः शोकका त्याग करके युद्ध करो।

विशेष बात

यहाँ सत्रहवें और अठारहवें—इन दोनों श्लोकोंमें विशेषतासे सत्-तत्त्वका ही विवेचन हुआ है। कारण कि इस पूरे प्रकरणमें भगवान्‌का लक्ष्य सत्‌का बोध करानेमें ही है। सत्‌का बोध हो जानेसे असत्‌की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

१-आरम्भमें तो यह तत्त्व श्रद्धाका विषय है, पर आगे चलकर जब इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है, तब यह श्रद्धाका विषय नहीं रहता।

२-यहाँ 'तस्मात्' पद युक्ति समझनेमें आया है अर्थात् युक्ति समझमें आ गयी तो अब युद्ध करो। इसी तरह गीतामें 'तस्मात्' पदका प्रयोग प्रायः प्रकरणकी समाप्तिपर अथवा युक्तिकी समाप्तिपर किया गया है; जैसे—दूसरे अध्यायके तीसवें, तीसरे अध्यायके उन्नीसवें, आठवें अध्यायके सातवें तथा सत्ताईसवें आदि श्लोकोंमें 'तस्मात्' पद प्रकरणकी समाप्तिके लिये आया है और दूसरे अध्यायके पचीसवें, सत्ताईसवें, सैंतीसवें, अड़सठवें तथा ग्यारहवें अध्यायके तैंतीसवें आदि श्लोकोंमें 'तस्मात्' पद युक्तिकी समाप्तिके लिये आया है।

फिर किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता। इस प्रकार सत्‌का अनुभव करके नि:संदिग्ध होकर कर्तव्यका पालन करना चाहिये। इस विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि सांख्ययोग एवं कर्मयोगमें किसी विशेष वर्ण और आश्रमकी आवश्यकता नहीं है। अपने कल्याणके लिये चाहे सांख्ययोगका अनुष्ठान करे, चाहे कर्मयोगका अनुष्ठान करे, इसमें मनुष्यकी पूर्ण स्वतन्त्रता है। परन्तु व्यावहारिक काम करनेमें वर्ण और आश्रमके अनुसार शास्त्रीय विधानकी परम आवश्यकता है, तभी तो यहाँ सांख्ययोगके अनुसार सत्-असत्‌का विवेचन करते हुए भगवान् युद्ध करनेकी अर्थात् कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

आगे तेरहवें अध्यायमें जहाँ ज्ञानके साधनोंका वर्णन किया गया है, वहाँ भी **'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदार-गृहादिषु'** (१३। ९) कहकर पुत्र, स्त्री, घर आदिकी आसक्तिका निषेध किया है। अगर संन्यासी ही सांख्य-योगके अधिकारी होते तो पुत्र, स्त्री, घर आदिमें आसक्ति-रहित होनेके लिये कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि संन्यासीके पुत्र-स्त्री आदि होते ही नहीं।

इस तरह गीतापर विचार करनेसे सांख्ययोग एवं कर्मयोग—दोनों परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन सिद्ध हो जाते हैं। ये किसी वर्ण और आश्रमपर किंचिन्मात्र भी अवलम्बित नहीं हैं।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने अपने उपदेशके आरम्भमें **'गतासून्'** (मृत) और **'अगतासून्'** (जीवित)—दोनों प्राणियोंको अशोच्य बताया। फिर बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें **'गतासून्'** को अशोच्य बतानेके लिये 'सत्' (नित्य) का वर्णन किया और चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें **'अगतासून्'** को अशोच्य बतानेके लिये 'असत्' (अनित्य) का वर्णन किया। फिर सत् और असत्—दोनोंका वर्णन सोलहवें श्लोकमें किया। इसके बाद सत्‌के भाव और असत्‌के अभावका विवेचन मुख्यरूपसे सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें करके एक प्रकरण पूरा करते हैं।

यद्यपि भाव (होनापन) आत्माका ही है, शरीरका नहीं, तथापि मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह पहले शरीरको देखकर फिर उसमें आत्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी ? साधकको विचार करना चाहिये कि आत्मा पहले थी या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि आत्मा पहले है, शरीर पीछे है; भाव पहले है, आकृति पीछे है। इसलिये साधककी दृष्टि पहले भावरूप आत्मा या स्वयंकी तरफ जानी चाहिये, शरीरकी तरफ नहीं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकतक शरीरीको अविनाशी जाननेवालोंकी बात कही। अब उसी बातको अन्वय और व्यतिरेकरीतिसे दृढ़ करनेके लिये, जो शरीरीको अविनाशी नहीं जानते, उनकी बात आगेके श्लोकमें कहते हैं।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

यः	= जो मनुष्य	**एनम्**	= इसको	**विजानीतः**	= जानते; (क्योंकि)
एनम्	= इस (अविनाशी शरीरी)-को	**हतम्**	= मरा	**अयम्**	= यह
हन्तारम्	= मारनेवाला	**मन्यते**	= मानता है,	**न**	= न
वेत्ति	= मानता है	**तौ**	= वे	**हन्ति**	= मारता है (और)
च	= और	**उभौ**	= दोनों ही (इसको)	**न**	= न
यः	= जो मनुष्य	**न**	= नहीं	**हन्यते**	= मारा जाता है।

व्याख्या—**'य एनं* वेत्ति हन्तारम्'**—जो इस शरीरीको मारनेवाला मानता है; वह ठीक नहीं जानता। कारण कि शरीरीमें कर्तापन नहीं है। जैसे कोई भी कारीगर कैसा ही चतुर क्यों न हो, पर किसी औजारके बिना वह

*** यहाँ 'एनम्' पद अन्वादेशमें आया है। जिसका पहले वर्णन हो चुका है, उसको दुबारा कहना 'अन्वादेश' कहलाता है। पहले सत्रहवें श्लोकमें एक विषयको लेकर जिसका 'अस्य' पदसे वर्णन हुआ है, अब यहाँ दूसरे विषयको लेकर उसी तत्त्वको दुबारा कह रहे हैं। इसलिये यहाँ 'एनम्' पदका प्रयोग किया गया है।**

कार्य नहीं कर सकता, ऐसे ही यह शरीरी शरीरके बिना स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता। अतः तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि सब प्रकारकी क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—ऐसा जो अनुभव करता है, वह शरीरीके अकर्तापनका अनुभव करता है (तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि शरीरीमें कर्तापन नहीं है, पर यह शरीरके साथ तादात्म्य करके, सम्बन्ध जोड़कर शरीरसे होनेवाली क्रियाओंमें अपनेको कर्ता मान लेता है। अगर यह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, तो यह किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं है।

'यश्चैनं मन्यते हतम्'—जो इसको मरा मानता है, वह भी ठीक नहीं जानता। जैसे यह शरीरी मारनेवाला नहीं है, ऐसे ही यह मरनेवाला भी नहीं है; क्योंकि इसमें कभी कोई विकृति नहीं आती। जिसमें विकृति आती है, परिवर्तन होता है अर्थात् जो उत्पत्ति-विनाशशील होता है, वही मर सकता है।

'उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते'—वे दोनों ही नहीं जानते अर्थात् जो इस शरीरीको मारनेवाला मानता है, वह भी ठीक नहीं जानता और जो इसको मरनेवाला मानता है, वह भी ठीक नहीं जानता।

यहाँ प्रश्न होता है कि जो इस शरीरीको मारनेवाला और मरनेवाला दोनों मानता है, क्या वह ठीक जानता है? इसका उत्तर है कि वह भी ठीक नहीं जानता। कारण कि यह शरीरी वास्तवमें ऐसा नहीं है। यह नाश करनेवाला भी नहीं है और नष्ट होनेवाला भी नहीं है। यह निर्विकाररूपसे नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। अतः इस शरीरीको लेकर शोक नहीं करना चाहिये।

अर्जुनके सामने युद्धका प्रसंग होनेसे ही यहाँ शरीरीको मरने-मारनेकी क्रियासे रहित बताया गया है। वास्तवमें यह सम्पूर्ण क्रियाओंसे रहित है।

परिशिष्ट भाव—यह शरीरी न तो किसीको मारता है और न किसीसे मारा ही जाता है—इसका तात्पर्य है कि शरीरी किसी क्रियाका कर्ता भी नहीं है तथा कर्म भी नहीं है और इसमें कोई विकार भी नहीं आता। जो मनुष्य शरीरकी तरह शरीरीको भी मारनेवाला तथा मरनेवाला मानते हैं, वे वास्तवमें शरीर और शरीरीके विवेकको महत्त्व नहीं देते, इसमें स्थित नहीं होते, प्रत्युत अविवेकको महत्त्व देते हैं।

सम्बन्ध—यह शरीरी मरनेवाला क्यों नहीं है? इसके उत्तरमें कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

अयम् = यह शरीरी
न = न
कदाचित् = कभी
जायते = जन्मता है
वा = और
न = न
म्रियते = मरता है
वा = तथा (यह)
भूत्वा = उत्पन्न होकर
भूयः = फिर
भविता = होनेवाला
न = नहीं है।
अयम् = यह
अजः = जन्मरहित,
नित्यः = नित्य-निरन्तर रहनेवाला,
शाश्वतः = शाश्वत (और)
पुराणः = अनादि है।
शरीरे = शरीरके
हन्यमाने = मारे जानेपर भी (यह)
न = नहीं
हन्यते = मारा जाता।

व्याख्या—[शरीरमें छः विकार होते हैं—उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना[1]। यह शरीरी इन छहों विकारोंसे रहित है—यही बात भगवान् इस श्लोकमें बता रहे हैं[2]।]

'न जायते म्रियते वा कदाचित्'—जैसे शरीर उत्पन्न होता है, ऐसे यह शरीरी कभी भी, किसी भी समयमें उत्पन्न

१-जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति। (निरुक्त १। १। २)

२-यह शरीरी उत्पन्न नहीं होता—'न जायते', 'अजः'; उत्पन्न होकर विकारी सत्तावाला नहीं होता—'अयं भूत्वा भविता वा न भूयः'; यह बदलता नहीं—'शाश्वतः', यह बढ़ता नहीं—'पुराणः', यह क्षीण नहीं होता—'नित्यः', और यह मरता नहीं—'न म्रियते' 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'।

नहीं होता। यह तो सदासे ही है। भगवान्ने इस शरीरीको अपना अंश बताते हुए इसको 'सनातन' कहा है— '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५। ७)।

यह शरीरी कभी मरता भी नहीं। मरता वही है, जो पैदा होता है; और '**म्रियते**'का प्रयोग भी वहीं होता है, जहाँ पिण्ड-प्राणका वियोग होता है। पिण्ड-प्राणका वियोग शरीरमें होता है। परन्तु शरीरीमें संयोग-वियोग दोनों ही नहीं होते। यह ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इसका मरना होता ही नहीं।

सभी विकारोंमें जन्मना और मरना—ये दो विकार ही मुख्य हैं; अतः भगवान्ने इनका दो बार निषेध किया है— जिसको पहले '**न जायते**' कहा, उसीको दुबारा '**अजः**' कहा है; और जिसको पहले '**न म्रियते**' कहा, उसीको दुबारा '**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**' कहा है।

'**अयं भूत्वा भविता वा न भूयः**'—यह अविनाशी नित्य-तत्त्व पैदा होकर फिर होनेवाला नहीं है अर्थात् यह स्वतःसिद्ध निर्विकार है। जैसे, बच्चा पैदा होता है, तो पैदा होनेके बाद उसकी सत्ता होती है। जबतक वह गर्भमें नहीं आता, तबतक 'बच्चा है' ऐसे उसकी सत्ता (होनापन) कोई भी नहीं कहता। तात्पर्य है कि बच्चेकी सत्ता पैदा होनेके बाद होती है; क्योंकि उस विकारी सत्ताका आदि और अन्त होता है। परन्तु इस नित्य-तत्त्वकी सत्ता स्वतःसिद्ध और निर्विकार है; क्योंकि इस अविकारी सत्ताका आरम्भ और अन्त नहीं होता।

'**अजः**'—इस शरीरीका कभी जन्म नहीं होता। इसलिये यह '**अजः**' अर्थात् जन्मरहित कहा गया है।

'**नित्यः**'—यह शरीरी नित्य-निरन्तर रहनेवाला है; अतः इसका कभी अपक्षय नहीं होता। अपक्षय तो अनित्य वस्तुमें होता है, जो कि निरन्तर रहनेवाली नहीं है। जैसे, आधी उम्र बीतनेपर शरीर घटने लगता है, बल क्षीण होने लगता है, इन्द्रियोंकी शक्ति कम होने लगती है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिका तो अपक्षय होता है, पर शरीरीका अपक्षय नहीं होता। इस नित्य-तत्त्वमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती।

'**शाश्वतः**'—यह नित्य-तत्त्व निरन्तर एकरूप, एकरस रहनेवाला है। इसमें अवस्थाका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् यह कभी बदलता नहीं। इसमें बदलनेकी योग्यता है ही नहीं।

'**पुराणः**'—यह अविनाशी तत्त्व पुराण (पुराना) अर्थात् अनादि है। यह इतना पुराना है कि यह कभी पैदा हुआ ही नहीं। उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंमें भी देखा जाता है कि जो वस्तु पुरानी हो जाती है, वह फिर बढ़ती नहीं, प्रत्युत नष्ट हो जाती है; फिर यह तो अनुत्पन्न तत्त्व है, इसमें बढ़नारूप विकार कैसे हो सकता है? तात्पर्य है कि बढ़नारूप विकार तो उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंमें ही होता है, इस नित्य-तत्त्वमें नहीं।

'**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**'—शरीरका नाश होनेपर भी इस अविनाशी शरीरीका नाश नहीं होता। यहाँ '**शरीरे**' पद देनेका तात्पर्य है कि यह शरीर नष्ट होनेवाला है। इस नष्ट होनेवाले शरीरमें ही छः विकार होते हैं, शरीरीमें नहीं।

इन पदोंमें भगवान्ने शरीर और शरीरीका जैसा स्पष्ट वर्णन किया है, ऐसा स्पष्ट वर्णन गीतामें दूसरी जगह नहीं आया है।

अर्जुन युद्धमें कुटुम्बियोंके मरनेकी आशंकासे विशेष शोक कर रहे थे। उस शोकको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि शरीरके मरनेपर भी इस शरीरीका मरना नहीं होता अर्थात् इसका अभाव नहीं होता। इसलिये शोक करना अनुचित है।

परिशिष्ट भाव—हमारा (स्वयंका) और शरीरका स्वभाव बिलकुल अलग-अलग है। हम शरीरके साथ चिपके हुए नहीं हैं, शरीरसे मिले हुए नहीं हैं। शरीर हमारे साथ चिपका हुआ नहीं है, हमारेसे मिला हुआ नहीं है। इसलिये शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी बिगड़ता नहीं। अबतक हम असंख्य शरीर धारण करके छोड़ चुके हैं, पर उससे हमारी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? हमारा क्या नुकसान हुआ? हम तो ज्यों-के-त्यों ही रहे—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)। ऐसे ही यह शरीर छूटनेपर भी हम स्वयं ज्यों-के-त्यों ही रहेंगे।

जैसे हाथ, पैर, नासिका आदि शरीरके अंग हैं, ऐसे शरीर शरीरी (स्वयं)-का अंग भी नहीं है। जो बहनेवाला और विकारी होता है, वह 'अंग' नहीं होता*; जैसे—कफ, मूत्र आदि बहनेवाले और फोड़ा आदि विकारी होनेसे शरीरके अंग नहीं हैं, ऐसे ही शरीर बहनेवाला (परिवर्तनशील) और विकारी होनेसे शरीरीका अंग नहीं है।

* **अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥**

सम्बन्ध—उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि यह शरीरी न तो मारता है और न मरता ही है। इसमें मरनेका निषेध तो बीसवें श्लोकमें कर दिया, अब मारनेका निषेध करनेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**नित्यम्**	= नित्य,	**कथम्**	= कैसे
यः	= जो	**अजम्**	= जन्मरहित (और)	**कम्**	= किसको
पुरुषः	= मनुष्य	**अव्ययम्**	= अव्यय	**हन्ति**	= मारे (और)
एनम्	= इस शरीरीको	**वेद**	= जानता है,	**कम्**	= (कैसे) किसको
अविनाशिनम्	= अविनाशी,	**सः**	= वह	**घातयति**	= मरवाये?

व्याख्या—**'वेदाविनाशिनम्'''''' घातयति हन्ति कम्'**—इस शरीरीका कभी नाश नहीं होता, इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, इसका कभी जन्म नहीं होता और इसमें कभी किसी तरहकी कोई कमी नहीं आती—ऐसा जो ठीक अनुभव कर लेता है, वह पुरुष कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये? अर्थात् दूसरोंको मारने और मरवानेमें उस पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वह किसी क्रियाका न तो कर्ता बन सकता है और न कारयिता बन सकता है।

यहाँ भगवान्‌ने शरीरीको अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय कहकर उसमें छहों विकारोंका निषेध किया है; जैसे—**'अविनाशी'** कहकर मृत्युरूप विकारका, **'नित्य'** कहकर अवस्थान्तर होना और बढ़नारूप विकारका, **'अज'** कहकर जन्म होना और जन्मके बाद होनेवाली सत्तारूप विकारका, तथा **'अव्यय'** कहकर क्षयरूप विकारका निषेध किया गया है। शरीरीमें किसी भी क्रियासे किंचिन्मात्र भी कोई विकार नहीं होता।

अगर भगवान्‌को **'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'** और **'कं घातयति हन्ति कम्'** इन पदोंमें शरीरीके कर्ता और कर्म बननेका ही निषेध करना था, तो फिर यहाँ करने-न-करनेकी बात न कहकर मरने-मारनेकी बात क्यों कही? इसका उत्तर है कि युद्धका प्रसंग होनेसे यहाँ यह कहना जरूरी है कि शरीरी युद्धमें मारनेवाला नहीं बनता; क्योंकि इसमें कर्तापन नहीं है। जब शरीरी मारनेवाला अर्थात् कर्ता नहीं बन सकता, तब यह मरनेवाला अर्थात् क्रियाका विषय (कर्म) भी कैसे बन सकता है? तात्पर्य यह है कि यह शरीरी किसी भी क्रियाका कर्ता और कर्म नहीं बनता। अतः मरने-मारनेमें शोक नहीं करना चाहिये, प्रत्युत शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मका पालन करना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—उत्पन्न होनेवाली वस्तु तो स्वतः मिटती है, उसको मिटाना नहीं पड़ता। पर जो वस्तु उत्पन्न नहीं होती, वह कभी मिटती ही नहीं। हमने चौरासी लाख शरीर धारण किये, पर कोई भी शरीर हमारे साथ नहीं रहा और हम किसी भी शरीरके साथ नहीं रहे; किन्तु हम ज्यों-के-त्यों अलग रहे। यह जाननेकी विवेकशक्ति उन शरीरोंमें नहीं थी, प्रत्युत इस मनुष्य-शरीरमें ही है। अगर हम इसको नहीं जानते तो भगवान्‌के दिये विवेकका निरादर करते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें देहीकी निर्विकारताका जो वर्णन हुआ है, आगेके श्लोकमें उसीका दृष्टान्तरूपसे वर्णन करते हैं।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

नरः	= मनुष्य	**नवानि**	= नये (कपड़े)	**शरीराणि**	= शरीरोंको
यथा	= जैसे	**गृह्णाति**	= धारण कर लेता है,	**विहाय**	= छोड़कर
जीर्णानि	= पुराने			**अन्यानि**	= दूसरे
वासांसि	= कपड़ोंको	**तथा**	= ऐसे ही	**नवानि**	= नये (शरीरोंमें)
विहाय	= छोड़कर	**देही**	= देही	**संयाति**	= चला जाता है।
अपराणि	= दूसरे	**जीर्णानि**	= पुराने		

व्याख्या—'**वासांसि जीर्णानि**''''**संयाति नवानि देही**'— इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें सूत्ररूपसे कहा गया था कि देहान्तरकी प्राप्तिके विषयमें धीर पुरुष शोक नहीं करते। अब उसी बातको उदाहरण देकर स्पष्टरूपसे कह रहे हैं कि जैसे पुराने कपड़ोंके परिवर्तनपर मनुष्यको शोक नहीं होता, ऐसे ही शरीरोंके परिवर्तनपर भी शोक नहीं होना चाहिये।

कपड़े मनुष्य ही बदलते हैं, पशु-पक्षी नहीं; अतः यहाँ कपड़े बदलनेके उदाहरणमें '**नरः**' पद दिया है। यह '**नरः**' पद मनुष्ययोनिका वाचक है और इसमें स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाएँ, जवान-बूढ़े आदि सभी आ जाते हैं।

जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़ोंको धारण करता है, ऐसे ही यह देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंको धारण करता है। पुराना शरीर छोड़नेको 'मरना' कह देते हैं, और नया शरीर धारण करनेको 'जन्मना' कह देते हैं। जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक यह देही पुराने शरीरोंको छोड़कर कर्मोंके अनुसार या अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार नये-नये शरीरोंको प्राप्त होता रहता है।

यहाँ '**शरीराणि**' पदमें बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि जबतक शरीरीको अपने वास्तविक स्वरूपका यथार्थ बोध नहीं होता, तबतक यह शरीरी अनन्तकालतक शरीर धारण करता ही रहता है। आजतक इसने कितने शरीर धारण किये हैं, इसकी गिनती भी सम्भव नहीं है। इस बातको लक्ष्यमें रखकर '**शरीराणि**' पदमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है तथा सम्पूर्ण जीवोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ '**देही**' पद आया है।

यहाँ श्लोकके पूर्वार्धमें तो जीर्ण कपड़ोंकी बात कही है और उत्तरार्धमें जीर्ण शरीरोंकी। जीर्ण कपड़ोंका दृष्टान्त शरीरोंमें कैसे लागू होगा? कारण कि शरीर तो बच्चों और जवानोंके भी मर जाते हैं। केवल बूढ़ोंके जीर्ण शरीर मर जाते हों, यह बात तो है नहीं! इसका उत्तर यह है कि शरीर तो आयु समाप्त होनेपर ही मरता है और आयु समाप्त होना ही शरीरका जीर्ण होना है*। शरीर चाहे बच्चोंका हो, चाहे जवानोंका हो, चाहे वृद्धोंका हो, आयु समाप्त होनेपर वे सभी जीर्ण ही कहलायेंगे।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने '**यथा**' और '**तथा**' पद देकर कहा है कि जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े धारण कर लेता है, वैसे ही यह देही पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंमें चला जाता है। यहाँ एक शंका होती है। जैसे कुमार, युवा और वृद्ध अवस्थाएँ अपने-आप होती हैं, वैसे ही देहान्तरकी प्राप्ति अपने-आप होती है (दूसरे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)— यहाँ तो '**यथा**' (जैसे) और '**तथा**' (वैसे) घट जाते हैं। परन्तु (इस श्लोकमें) पुराने कपड़ोंको छोड़नेमें और नये कपड़े धारण करनेमें तो मनुष्यकी स्वतन्त्रता है, पर पुराने शरीरोंको छोड़नेमें और नये शरीर धारण करनेमें देहीकी स्वतन्त्रता नहीं है। इसलिये यहाँ '**यथा**' और '**तथा**' कैसे घटेंगे? इसका समाधान है कि यहाँ भगवान्‌का तात्पर्य स्वतन्त्रता-परतन्त्रताकी बात कहनेमें नहीं है, प्रत्युत शरीरके वियोगसे होनेवाले शोकको मिटानेमें है। जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े धारण करनेपर भी धारण करनेवाला (मनुष्य) वही रहता है, वैसे ही पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंमें चले जानेपर भी देही ज्यों-का-त्यों निर्लिप्तरूपसे रहता है; अतः शोक करनेकी कोई बात है ही नहीं। इस दृष्टिसे यह दृष्टान्त ठीक ही है।

दूसरी शंका यह होती है कि पुराने कपड़े छोड़नेमें और नये कपड़े धारण करनेमें तो सुख होता है, पर पुराने शरीर छोड़नेमें और नये शरीर धारण करनेमें दुःख होता है। अतः यहाँ '**यथा**' और '**तथा**' कैसे घटेंगे? इसका समाधान यह है कि शरीरोंके मरनेका जो दुःख होता है, वह मरनेसे नहीं होता, प्रत्युत जीनेकी इच्छासे होता है। 'मैं जीता रहूँ'— ऐसी जीनेकी इच्छा भीतरमें रहती है और मरना पड़ता है, तब दुःख होता है। तात्पर्य यह हुआ कि जब मनुष्य शरीरके साथ एकात्मता कर लेता है, तब वह शरीरके मरनेसे अपना मरना मान लेता है और दुःखी होता है। परन्तु जो शरीरके साथ अपनी एकात्मता नहीं मानता, उसको मरनेमें दुःख नहीं होता, प्रत्युत आनन्द होता है! जैसे, मनुष्य कपड़ोंके साथ अपनी एकात्मता नहीं मानता, तो कपड़ोंको बदलनेमें उसको दुःख नहीं होता। कारण कि वहाँ उसका यह विवेक स्पष्टतया जाग्रत् रहता है कि कपड़े अलग हैं और मैं अलग हूँ। परन्तु वही कपड़ोंका बदलना अगर छोटे बच्चेका किया जाय, तो वह पुराने कपड़े उतारनेमें और नये कपड़े धारण

*** विवेक-विचारपूर्वक देखा जाय तो आयु प्रतिक्षण समाप्त हो रही है अर्थात् शरीर प्रतिक्षण जीर्ण हो रहा है, प्रतिक्षण मर रहा है। यह एक क्षण भी स्थिर नहीं है। जैसे, जवान होनेसे बालकपन मर जाता है, तो वास्तवमें वह बालकपन निरन्तर मरता ही रहा है। परन्तु उधर दृष्टि न होनेसे प्रतिक्षण होनेवाली मौतकी तरफ खयाल नहीं जाता। यही वास्तवमें बेहोशी है।**

करनेमें भी रोता है। उसका यह दु:ख केवल मूर्खतासे, नासमझीसे होता है। इस मूर्खताको मिटानेके लिये ही भगवान्‌ने यहाँ '**यथा**' और '**तथा**' पद देकर कपड़ोंका दृष्टान्त दिया है।

यहाँ भगवान्‌ने कपड़ोंके धारण करनेमें तो '**गृह्णाति**' (धारण करता है) क्रिया दी, पर शरीरोंके धारण करनेमें '**संयाति**' (जाता है) क्रिया दी, ऐसा क्रियाभेद भगवान्‌ने क्यों किया? लौकिक दृष्टिसे बेसमझीके कारण ऐसा दीखता है कि मनुष्य अपनी जगह रहता हुआ ही कपड़ोंको धारण करता है और देहान्तरकी प्राप्तिमें देहीको उन-उन देहोंमें जाना पड़ता है। इस लौकिक दृष्टिको लेकर ही भगवान्‌ने क्रियाभेद किया है।

विशेष बात

गीतामें '**येन सर्वमिदं ततम्**' (२। १७), '**नित्यः सर्वगतः स्थाणुः**' (२। २४) आदि पदोंसे देहीको सर्वत्र व्याप्त, नित्य, सर्वगत और स्थिर स्वभाववाला बताया तथा '**संयाति नवानि देही**' (२। २२), '**शरीरं यदवाप्नोति**' (१५। ८) आदि पदोंसे देहीको दूसरे शरीरोंमें जानेकी बात कही गयी है। अत: जो सर्वगत है, सर्वत्र व्याप्त है, उसका जाना-आना कैसे? क्योंकि जो जिस देशमें न हो, उस देशमें चला जाय, तो इसको 'जाना' कहते हैं और जो दूसरे देशमें है, वह इस देशमें आ जाय, तो इसको 'आना' कहते हैं। परन्तु देहीके विषयमें तो ये दोनों ही बातें नहीं घटतीं! इसका समाधान यह है कि जैसे किसीकी बाल्यावस्थासे युवावस्था हो जाती है तो वह कहता है कि 'मैं जवान हो गया हूँ'। परन्तु वास्तवमें वह स्वयं जवान नहीं हुआ है, प्रत्युत उसका शरीर जवान हुआ है। इसलिये बाल्यावस्थामें जो वह था, युवावस्थामें भी वह वही है। परन्तु शरीरसे तादात्म्य माननेके कारण वह शरीरके परिवर्तनको अपनेमें आरोपित कर लेता है। ऐसे ही आना-जाना वास्तवमें शरीरका धर्म है, पर शरीरके साथ तादात्म्य होनेसे वह अपनेमें आना-जाना मान लेता है। अत: वास्तवमें देहीका कहीं भी आना-जाना नहीं होता, केवल शरीरोंके तादात्म्यके कारण उसका आना-जाना प्रतीत होता है।

अब यह प्रश्न होता है कि अनादिकालसे जो जन्म-मरण चला आ रहा है, उसमें कारण क्या है? कर्मोंकी दृष्टिसे तो शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये जन्म-मरण होता है, ज्ञानकी दृष्टिसे अज्ञानके कारण जन्म-मरण होता है और भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्‌की विमुखताके कारण जन्म-मरण होता है। इन तीनोंमें भी मुख्य कारण है कि भगवान्‌ने जीवको जो स्वतन्त्रता दी है, उसका दुरुपयोग करनेसे ही जन्म-मरण हो रहा है। अब वह जन्म-मरण मिटे कैसे? मिली हुई स्वतन्त्रताका सदुपयोग करनेसे जन्म-मरण मिट जायगा। तात्पर्य है कि अपने स्वार्थके लिये कर्म करनेसे जन्म-मरण हुआ है; अत: अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे जन्म-मरण मिट जायगा। अपनी जानकारीका अनादर करनेसे* जन्म-मरण हुआ है; अत: अपनी जानकारीका आदर करनेसे जन्म-मरण मिट जायगा। भगवान्‌से विमुख होनेसे जन्म-मरण हुआ है; अत: भगवान्‌के सम्मुख होनेसे जन्म-मरण मिट जायगा।

परिशिष्ट भाव—मनुष्य नयी-नयी वस्तु चाहता है तो भगवान् भी उसको नयी-नयी वस्तु (शरीरादि सामग्री) देते रहते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है तो भगवान् उसको नया शरीर दे देते हैं। अत: नयी-नयी इच्छा करना ही जन्म-मरणका हेतु है। नयी-नयी इच्छा करनेवालेको अनन्तकालतक नयी-नयी वस्तु मिलती ही रहेगी। मनुष्यमें एक इच्छाशक्ति है, एक प्राणशक्ति है। इच्छाशक्तिके रहते हुए प्राणशक्ति नष्ट हो जाती है, तब नया जन्म होता है। अगर इच्छाशक्ति न रहे तो प्राणशक्ति नष्ट होनेपर भी पुन: जन्म नहीं होता।

कोई भी दृष्टान्त केवल एक अंशमें घटता है, सर्वथा नहीं घटता। यहाँ पुराने कपड़े छोड़कर नये कपड़े बदलनेका दृष्टान्त केवल इस अंशमें है कि जैसे आदमी अनेक कपड़े बदलनेपर भी एक ही रहता है, ऐसे ही स्वयं अनेक योनियोंमें अनेक शरीर धारण करनेपर भी एक (वही-का-वही) रहता है। जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नये कपड़े धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीरको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण

*** अपनी जानकारीका अनादर करनेका तात्पर्य है कि हम जितना जानते हैं, उसके अनुसार कार्य न करना। जैसे, सत्य बोलना ठीक है, झूठ बोलना ठीक नहीं—ऐसा जानते हुए भी स्वार्थके लिये झूठ बोल देते हैं। कोई हमें सुख देता है तो अच्छा लगता है और दु:ख देता है तो बुरा लगता है—ऐसा जानते हुए भी अपने सुखके लिये दूसरोंको दु:ख देते हैं। ऐसे ही हम जानते हैं कि शरीर आदि सब जानेवाले हैं, रहनेवाले नहीं हैं, फिर भी इनमें मोह-ममता करते हैं। यही अपनी जानकारीका अनादर है।**

करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते। तात्पर्य है कि शरीर मरता है, हम नहीं मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पुण्य-पापका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्त कौन होगा?

सम्बन्ध—पहले दृष्टान्तरूपसे शरीरीकी निर्विकारताका वर्णन करके अब आगेके तीन श्लोकोंमें उसीका प्रकारान्तरसे वर्णन करते हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

शस्त्राणि = शस्त्र, **एनम्** = इस (शरीरी)-को, **न, छिन्दन्ति** = काट नहीं सकते, **पावकः** = अग्नि, **एनम्** = इसको, **न, दहति** = जला नहीं सकती, **आपः** = जल, **एनम्** = इसको, **न, क्लेदयन्ति** = गीला नहीं कर सकता, **च** = और, **मारुतः** = वायु (इसको), **न, शोषयति** = सुखा नहीं सकती।

व्याख्या—**'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'**—इस शरीरीको शस्त्र नहीं काट सकते; क्योंकि ये प्राकृत शस्त्र वहाँतक पहुँच ही नहीं सकते।

जितने भी शस्त्र हैं, वे सभी पृथ्वी-तत्त्वसे उत्पन्न होते हैं। यह पृथ्वी-तत्त्व इस शरीरीमें किसी तरहका कोई विकार नहीं पैदा कर सकता। इतना ही नहीं, पृथ्वी-तत्त्व इस शरीरीतक पहुँच ही नहीं सकता, फिर विकृति करनेकी बात तो दूर ही रही!

'नैनं दहति पावकः'—अग्नि इस शरीरीको जला नहीं सकती; क्योंकि अग्नि वहाँतक पहुँच ही नहीं सकती। जब वहाँतक पहुँच ही नहीं सकती, तब उसके द्वारा जलाना कैसे सम्भव हो सकता है? तात्पर्य है कि अग्नि-तत्त्व इस शरीरीमें कभी किसी तरहका विकार उत्पन्न कर ही नहीं सकता।

'न चैनं क्लेदयन्त्यापः'—जल इसको गीला नहीं कर सकता; क्योंकि जल वहाँतक पहुँच ही नहीं सकता। तात्पर्य है कि जल-तत्त्व इस शरीरीमें किसी प्रकारका विकार पैदा नहीं कर सकता।

'न शोषयति मारुतः'—वायु इसको सुखा नहीं सकती अर्थात् वायुमें इस शरीरीको सुखानेकी सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि वायु वहाँतक पहुँचती ही नहीं। तात्पर्य है कि वायु-तत्त्व इस शरीरीमें किसी तरहकी विकृति पैदा नहीं कर सकता।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत कहलाते हैं। भगवान्‌ने इनमेंसे चार ही महाभूतोंकी बात कही है कि ये पृथ्वी, जल, तेज और वायु इस शरीरीमें किसी तरहकी विकृति नहीं कर सकते; परन्तु पाँचवें महाभूत आकाशकी कोई चर्चा ही नहीं की है। इसका कारण यह है कि आकाशमें कोई भी क्रिया करनेकी शक्ति नहीं है। क्रिया (विकृति) करनेकी शक्ति तो इन चार महाभूतोंमें ही है। आकाश तो इन सबको अवकाशमात्र देता है।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये चारों तत्त्व आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, पर वे अपने कारणभूत आकाशमें भी किसी तरहका विकार पैदा नहीं कर सकते अर्थात् पृथ्वी आकाशका छेदन नहीं कर सकती, जल गीला नहीं कर सकता, अग्नि जला नहीं सकती और वायु सुखा नहीं सकती। जब ये चारों तत्त्व अपने कारणभूत आकाशको, आकाशके कारणभूत महत्तत्त्वको और महत्तत्त्वके कारणभूत प्रकृतिको भी कोई क्षति नहीं पहुँचा सकते, तब प्रकृतिसे सर्वथा अतीत शरीरीतक ये पहुँच ही कैसे सकते हैं? इन गुणयुक्त पदार्थोंकी उस निर्गुण-तत्त्वमें पहुँच ही कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती (गीता—तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

शरीरी नित्य-तत्त्व है। पृथ्वी आदि चारों तत्त्वोंको इसीसे सत्ता-स्फूर्ति मिलती है। अतः जिससे इन तत्त्वोंको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है, उसको ये कैसे विकृत कर सकते हैं? यह शरीरी सर्वव्यापक है और पृथ्वी आदि चारों तत्त्व व्याप्य हैं अर्थात् शरीरीके अन्तर्गत हैं। अतः व्याप्य वस्तु व्यापकको कैसे नुकसान पहुँचा सकती है? उसको नुकसान पहुँचाना सम्भव ही नहीं है।

यहाँ युद्धका प्रसंग है। 'ये सब सम्बन्धी मर जायँगे'—इस बातको लेकर अर्जुन शोक कर रहे हैं। अतः भगवान् कहते हैं कि ये कैसे मर जायँगे? क्योंकि वहाँतक अस्त्र-शस्त्रोंकी क्रिया पहुँचती ही नहीं अर्थात् शस्त्रके द्वारा शरीर कट जानेपर भी शरीरी नहीं कटता, अग्न्यास्त्रके द्वारा

शरीर जल जानेपर भी शरीरी नहीं जलता, वरुणास्त्रके द्वारा शरीर गल जानेपर भी शरीरी नहीं गलता और वायव्यास्त्रके द्वारा शरीर सूख जानेपर भी शरीरी नहीं सूखता। तात्पर्य है कि अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा शरीर मर जानेपर भी शरीरी नहीं मरता, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है। अतः इसको लेकर शोक करना तेरी बिलकुल ही बेसमझी है।

परिशिष्ट भाव—हम कहते हैं कि 'शरीर है' तो परिवर्तन शरीरमें होता है, 'है' (शरीरी) में नहीं होता। जैसे, 'काठ है' तो विकृति काठमें आती है, 'है' में नहीं आती। काठ कटता है, 'है' नहीं कटता। काठ जलता है, 'है' नहीं जलता। काठ गीला होता है, 'है' गीला नहीं होता। काठ सूखता है, 'है' नहीं सूखता। काठ कभी एकरूप रहता ही नहीं और 'है' कभी अनेकरूप होता ही नहीं।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अयम् = यह शरीरी
अच्छेद्यः = काटा नहीं जा सकता,
अयम् = यह
अदाह्यः = जलाया नहीं जा सकता,
अक्लेद्यः = (यह) गीला नहीं किया जा सकता
च = और
अशोष्यः, एव = (यह) सुखाया भी नहीं जा सकता। (कारण कि)
अयम् = यह
नित्यः = नित्य रहनेवाला,
सर्वगतः = सबमें परिपूर्ण,
अचलः = अचल,
स्थाणुः = स्थिर स्वभाववाला (और)
सनातनः = अनादि है।

व्याख्या—[शस्त्र आदि इस शरीरीमें विकार क्यों नहीं करते—यह बात इस श्लोकमें कहते हैं।]

'**अच्छेद्योऽयम्**'—शस्त्र इस शरीरीका छेदन नहीं कर सकते। इसका मतलब यह नहीं है कि शस्त्रोंका अभाव है या शस्त्र चलानेवाला अयोग्य है, प्रत्युत छेदनरूपी क्रिया शरीरीमें प्रविष्ट ही नहीं हो सकती, यह छेदन होनेके योग्य ही नहीं है।

शस्त्रके सिवाय मन्त्र, शाप आदिसे भी इस शरीरीका छेदन नहीं हो सकता। जैसे, याज्ञवल्क्यके प्रश्नका उत्तर न दे सकनेके कारण उनके शापसे शाकल्यका मस्तक कटकर गिर गया (बृहदारण्यक०)। इस प्रकार देह तो मन्त्रोंसे, वाणीसे कट सकता है, पर देही सर्वथा अछेद्य है।

'**अदाह्योऽयम्**'—यह शरीरी अदाह्य है; क्योंकि इसमें जलनेकी योग्यता ही नहीं है। अग्निके सिवाय मन्त्र, शाप आदिसे भी यह देही जल नहीं सकता। जैसे, दमयन्तीके शाप देनेसे व्याध बिना अग्निके जलकर भस्म हो गया। इस प्रकार अग्नि, शाप आदिसे वही जल सकता है, जो जलनेयोग्य होता है। इस देहीमें तो दहन-क्रियाका प्रवेश ही नहीं हो सकता।

'**अक्लेद्यः**'—यह देही गीला होनेयोग्य नहीं है अर्थात् इसमें गीला होनेकी योग्यता ही नहीं है। जलसे एवं मन्त्र, शाप, ओषधि आदिसे यह गीला नहीं हो सकता। जैसे, सुननेमें आता है कि 'मालकोश' रागके गाये जानेसे पत्थर भी गीला हो जाता है; चन्द्रमाको देखनेसे चन्द्रकान्तमणि गीली हो जाती है। परन्तु यह देही राग-रागिनी आदिसे गीली होनेवाली वस्तु नहीं है।

'**अशोष्यः**'—यह देही अशोष्य है। वायुसे इसका शोषण हो जाय, यह ऐसी वस्तु नहीं है; क्योंकि इसमें शोषण-क्रियाका प्रवेश ही नहीं होता। वायुसे तथा मन्त्र, शाप, ओषधि आदिसे यह देही सूख नहीं सकता। जैसे अगस्त्य ऋषि समुद्रका शोषण कर गये, ऐसे इस देहीका कोई अपनी शक्तिसे शोषण नहीं कर सकता।

'**एव च**'—अर्जुन नाशकी सम्भावनाको लेकर शोक कर रहे थे। इसलिये शरीरीको अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य कहकर भगवान् '**एव च**' पदोंसे विशेष जोर देकर कहते हैं कि यह शरीरी तो ऐसा ही है। इसमें किसी भी क्रियाका प्रवेश नहीं होता। अतः यह शरीरी शोक करनेयोग्य है ही नहीं।

'**नित्यः**'—यह देही नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। यह किसी कालमें नहीं था और किसी कालमें नहीं रहेगा—ऐसी बात नहीं है; किन्तु यह सब कालमें नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है।

'सर्वगतः'—यह देही सब कालमें ज्यों-का-त्यों ही रहता है, तो यह किसी देशमें रहता होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह देही सम्पूर्ण व्यक्ति, वस्तु, शरीर आदिमें एकरूपसे विराजमान है।

'अचलः'—यह सर्वगत है, तो यह कहीं आता-जाता भी होगा? इसपर कहते हैं कि यह देही स्थिर स्वभाववाला है अर्थात् इसमें कभी यहाँ और कभी वहाँ—इस प्रकार आने-जानेकी क्रिया नहीं है।

'स्थाणुः'—यह स्थिर स्वभाववाला है, कहीं आता-जाता नहीं—यह बात ठीक है, पर इसमें कम्पन तो होता होगा? जैसे वृक्ष एक जगह ही रहता है, कहीं भी आता-जाता नहीं, पर वह एक जगह रहता हुआ ही हिलता है, ऐसे ही इस देहीमें भी हिलनेकी क्रिया होती होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह देही स्थाणु है अर्थात् इसमें हिलनेकी क्रिया नहीं है।

'सनातनः'—यह देही अचल है, स्थाणु है—यह बात तो ठीक है, पर यह कभी पैदा भी होता होगा? इसपर कहते हैं कि यह सनातन है, अनादि है, सदासे है। यह किसी समय नहीं था, ऐसा सम्भव ही नहीं है।

विशेष बात

यह संसार अनित्य है, एक क्षण भी स्थिर रहनेवाला नहीं है। परन्तु जो सदा रहनेवाला है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उस देहीकी तरफ लक्ष्य करानेमें **'नित्यः'** पदका तात्पर्य है।

देखने, सुनने, पढ़ने, समझनेमें जो कुछ प्राकृत संसार आता है, उसमें जो सब जगह परिपूर्ण तत्त्व है, उसकी तरफ लक्ष्य करानेमें **'सर्वगतः'** पदका तात्पर्य है।

संसारमात्रमें जो कुछ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि हैं, वे सब-के-सब चलायमान हैं। उन चलायमान वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिमें जो अपने स्वरूपसे कभी चलायमान (विचलित) नहीं होता, उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य करानेमें **'अचलः'** पदका तात्पर्य है।

प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारमें प्रतिक्षण क्रिया होती रहती है, परिवर्तन होता रहता है। ऐसे परिवर्तनशील संसारमें जो क्रियारहित, परिवर्तनरहित, स्थायी स्वभाववाला तत्त्व है, उसकी तरफ लक्ष्य करानेमें **'स्थाणुः'** पदका तात्पर्य है।

मात्र प्राकृत पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा ये पहले भी नहीं थे और पीछे भी नहीं रहेंगे। परन्तु जो न उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है तथा जो पहले भी था और पीछे भी हरदम रहेगा— उस तत्त्व-(देही-)की तरफ लक्ष्य करानेमें **'सनातनः'** पदका तात्पर्य है।

उपर्युक्त पाँचों विशेषणोंका तात्पर्य है कि शरीर-संसारके साथ तादात्म्य होनेपर भी और शरीर-शरीरी-भावका अलग-अलग अनुभव न होनेपर भी शरीरी नित्य-निरन्तर एकरस, एकरूप रहता है।

परिशिष्ट भाव—'सर्वगतः' स्वयं देहगत नहीं है, प्रत्युत सर्वगत है—ऐसा अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। जैसे शरीर संसारमें बैठा हुआ है, ऐसे हम शरीरमें बैठे हुए नहीं हैं। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। शरीर हमारेसे बहुत दूर है। परन्तु कामना-ममता-तादात्म्यके कारण हमें शरीरके साथ एकता प्रतीत होती है।

वास्तवमें शरीरीको शरीरकी जरूरत ही नहीं है। शरीरके बिना भी शरीरी मौजसे रहता है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अयम्	=यह देही	**अयम्**	=(और) यह	**एवम्**	=ऐसा
अव्यक्तः	=प्रत्यक्ष नहीं दीखता,	**अविकार्यः**	=निर्विकार	**विदित्वा**	=जानकर
अयम्	=यह	**उच्यते**	=कहा जाता है।	**अनुशोचितुम्**	=शोक
अचिन्त्यः	=चिन्तनका विषय नहीं है	**तस्मात्**	=अतः	**न**	=नहीं
		एनम्	=इस देहीको	**अर्हसि**	=करना चाहिये।

व्याख्या—**'अव्यक्तोऽयम्'**—जैसे शरीर-संसार स्थूलरूपसे देखनेमें आता है, वैसे यह शरीरी स्थूलरूपसे देखनेमें आनेवाला नहीं है; क्योंकि यह स्थूल सृष्टिसे रहित है।

'अचिन्त्योऽयम्'—मन, बुद्धि आदि देखनेमें तो नहीं

आते, पर चिन्तनमें आते ही हैं अर्थात् ये सभी चिन्तनके विषय हैं। परन्तु यह देही चिन्तनका भी विषय नहीं है; क्योंकि यह सूक्ष्म सृष्टिसे रहित है।

'अविकार्योऽयमुच्यते'—यह देही विकाररहित कहा जाता है अर्थात् इसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। सबका कारण प्रकृति है, उस कारणभूत प्रकृतिमें भी विकृति होती है। परन्तु इस देहीमें किसी प्रकारकी विकृति नहीं होती; क्योंकि यह कारण सृष्टिसे रहित है।

यहाँ चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य—इन आठ विशेषणोंके द्वारा इस देहीका निषेधमुखसे और नित्य, सर्वगत, स्थाणु और सनातन— इन चार विशेषणोंके द्वारा इस देहीका विधिमुखसे वर्णन किया गया है। परन्तु वास्तवमें इसका वर्णन हो नहीं सकता; क्योंकि यह वाणीका विषय नहीं है। जिससे वाणी आदि प्रकाशित होते हैं, उस देहीको वे सब प्रकाशित कैसे कर सकते हैं? अत: इस देहीका ऐसा अनुभव करना ही इसका वर्णन करना है।

'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि'—इसलिये इस देहीको अच्छेद्य, अशोष्य, नित्य, सनातन, अविकार्य आदि जान लें अर्थात् ऐसा अनुभव कर लें तो फिर शोक हो ही नहीं सकता।

सम्बन्ध—अगर शरीरीको निर्विकार न मानकर विकारी मान लिया जाय (जो कि सिद्धान्तसे विरुद्ध है), तो भी शोक नहीं हो सकता—यह बात आगेके दो श्लोकोंमें कहते हैं।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

महाबाहो	= हे महाबाहो!	**नित्यम्**	= नित्य	**त्वम्**	= तुम्हें
अथ	= अगर (तुम)	**मृतम्**	= मरनेवाला	**एवम्**	= इस प्रकार
एनम्	= इस देहीको	**च**	= भी	**शोचितुम्**	= शोक
नित्यजातम्	= नित्य पैदा होनेवाला	**मन्यसे**	= मानो,	**न**	= नहीं
वा	= अथवा	**तथापि**	= तो भी	**अर्हसि**	= करना चाहिये।

व्याख्या—**'अथ चैनं .... शोचितुमर्हसि'**— भगवान् यहाँ पक्षान्तरमें **'अथ च'** और **'मन्यसे'** पद देकर कहते हैं कि यद्यपि सिद्धान्तकी और सच्ची बात यही है कि देही किसी भी कालमें जन्मने-मरनेवाला नहीं है (गीता— दूसरे अध्यायका बीसवाँ श्लोक), तथापि अगर तुम सिद्धान्तसे बिलकुल विरुद्ध बात भी मान लो कि देही नित्य जन्मनेवाला और नित्य मरनेवाला है, तो भी तुम्हें शोक नहीं होना चाहिये। कारण कि जो जन्मेगा, वह मरेगा ही और जो मरेगा, वह जन्मेगा ही—इस नियमको कोई टाल नहीं सकता।

अगर बीजको पृथ्वीमें बो दिया जाय, तो वह फूलकर अंकुर दे देता है और वही अंकुर क्रमश: बढ़कर वृक्षरूप हो जाता है। इसमें सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय कि क्या वह बीज एक क्षण भी एकरूपसे रहा? पृथ्वीमें वह पहले अपने कठोररूपको छोड़कर कोमलरूपमें हो गया, फिर कोमलरूपको छोड़कर अंकुररूपमें हो गया, इसके बाद अंकुररूपको छोड़कर वृक्षरूपमें हो गया और अन्तमें आयु समाप्त होनेपर वह सूख गया। इस तरह बीज एक क्षण भी एकरूपसे नहीं रहा, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलता रहा। अगर बीज एक क्षण भी एकरूपसे रहता, तो वृक्षके सूखनेतककी क्रिया कैसे होती? उसने पहले रूपको छोड़ा—यह उसका मरना हुआ, और दूसरे रूपको धारण किया—यह उसका जन्मना हुआ। इस तरह वह प्रतिक्षण ही जन्मता-मरता रहा। बीजकी ही तरह यह शरीर है। बहुत सूक्ष्मरूपसे वीर्यका जन्तु रजके साथ मिला। वह बढ़ते-बढ़ते बच्चेके रूपमें हो गया और फिर जन्म गया। जन्मके बाद वह बढ़ा, फिर घटा और अन्तमें मर गया। इस तरह शरीर एक क्षण भी एकरूपसे न रहकर बदलता रहा अर्थात् प्रतिक्षण जन्मता-मरता रहा।

भगवान् कहते हैं कि अगर तुम शरीरकी तरह शरीरीको भी नित्य जन्मने-मरनेवाला मान लो, तो भी यह शोकका विषय नहीं हो सकता।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

हि	= कारण कि
जातस्य	= पैदा हुएकी
ध्रुवः	= जरूर
मृत्युः	= मृत्यु होगी
च	= और
मृतस्य	= मरे हुएका
ध्रुवम्	= जरूर
जन्म	= जन्म होगा।
तस्मात्	= अतः
अपरिहार्ये	= (इस जन्म-मरण-रूप परिवर्तनके प्रवाहका) निवारण नहीं हो सकता।
अर्थे	= (अतः) इस विषयमें
त्वम्	= तुम्हें
शोचितुम्	= शोक
न	= नहीं
अर्हसि	= करना चाहिये।

व्याख्या—**'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'**—पूर्वश्लोकके अनुसार अगर शरीरीको नित्य जन्मने और मरनेवाला भी मान लिया जाय, तो भी वह शोकका विषय नहीं हो सकता। कारण कि जिसका जन्म हो गया है, वह जरूर मरेगा और जो मर गया है, वह जरूर जन्मेगा।

'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि'—इसलिये कोई भी इस जन्म-मृत्युरूप प्रवाहका परिहार (निवारण) नहीं कर सकता; क्योंकि इसमें किसीका किंचिन्मात्र भी वश नहीं चलता। यह जन्म-मृत्युरूप प्रवाह तो अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकालतक चलता रहेगा। इस दृष्टिसे तुम्हारे लिये शोक करना उचित नहीं है।

ये धृतराष्ट्रके पुत्र जन्में हैं, तो जरूर मरेंगे। तुम्हारे पास ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे तुम उनको बचा सको। जो मर जायँगे, वे जरूर जन्मेंगे। उनको भी तुम रोक नहीं सकते। फिर शोक किस बातका?

शोक उसीका कीजिये, जो अनहोनी होय।
अनहोनी होती नहीं, होनी है सो होय॥

जैसे, इस बातको सब जानते हैं कि सूर्यका उदय हुआ है, तो उसका अस्त होगा ही और अस्त होगा तो उसका उदय होगा ही। इसलिये मनुष्य सूर्यका अस्त होनेपर शोक-चिन्ता नहीं करते। ऐसे ही हे अर्जुन! अगर तुम ऐसा मानते हो कि शरीरके साथ ये भीष्म, द्रोण आदि सभी मर जायँगे, तो फिर शरीरके साथ जन्म भी जायँगे। अतः इस दृष्टिसे भी शोक नहीं हो सकता।

भगवान्ने इन दो (छब्बीसवें-सत्ताईसवें) श्लोकोंमें जो बात कही है, वह भगवान्का कोई वास्तविक सिद्धान्त नहीं है। अतः **'अथ च'** पद देकर भगवान्ने दूसरे (शरीर-शरीरीको एक माननेवाले) पक्षकी बात कही है कि ऐसा सिद्धान्त तो है नहीं, पर अगर तू ऐसा भी मान ले, तो भी शोक करना उचित नहीं है।

इन दो श्लोकोंका तात्पर्य यह हुआ कि संसारकी मात्र चीजें प्रतिक्षण परिवर्तनशील होनेसे पहले रूपको छोड़कर दूसरे रूपको धारण करती रहती हैं। इसमें पहले रूपको छोड़ना—यह मरना हो गया और दूसरे रूपको धारण करना—यह जन्मना हो गया। इस प्रकार जो जन्मता है, उसकी मृत्यु होती है और जिसकी मृत्यु होती है, वह फिर जन्मता है—यह प्रवाह तो हरदम चलता ही रहता है। इस दृष्टिसे भी क्या शोक करें?

परिशिष्ट भाव—किसी प्रियजनकी मृत्यु हो जाय, धन नष्ट हो जाय तो मनुष्यको शोक होता है। ऐसे ही भविष्यको लेकर चिन्ता होती है कि अगर स्त्री मर गयी तो क्या होगा? पुत्र मर गया तो क्या होगा? आदि। ये शोक-चिन्ता अपने विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही होते हैं। संसारमें परिवर्तन होना, परिस्थिति बदलना आवश्यक है। अगर परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा? मनुष्य बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? परिवर्तनके बिना संसार स्थिर चित्रकी तरह बन जायगा! वास्तवमें मरनेवाला (परिवर्तनशील) ही मरता है, रहनेवाला कभी मरता ही नहीं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि मृत्यु होनेपर शरीर तो हमारे सामने पड़ा रहता है, पर शरीरका मालिक (जीवात्मा) निकल जाता है। अगर इस अनुभवको महत्त्व दें तो फिर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते। बालिके मरनेपर भगवान् राम इसी अनुभवकी ओर ताराका लक्ष्य कराते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

विचार करना चाहिये कि जब चौरासी लाख योनियोंमें कोई भी शरीर नहीं रहा, तो फिर यह शरीर कैसे रहेगा? जब चौरासी लाख शरीर मैं-मेरे नहीं रहे, तो फिर यह शरीर मैं-मेरा कैसे रहेगा? यह विवेक मनुष्य-शरीरमें हो सकता है, अन्य शरीरोंमें नहीं।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें पक्षान्तरकी बात कहकर अब भगवान् आगेके श्लोकमें बिलकुल साधारण दृष्टिकी बात कहते हैं।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

भारत =हे भारत! **भूतानि** =सभी प्राणी **अव्यक्तादीनि** =जन्मसे पहले अप्रकट थे (और) **अव्यक्तनिधनानि** =मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, **व्यक्तमध्यानि, एव** = केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं। (अत:) **तत्र** =इसमें **परिदेवना** =शोक करनेकी **का** =बात ही क्या है?

व्याख्या—'**अव्यक्तादीनि भूतानि**'—देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाले जितने भी प्राणी (शरीर आदि) हैं, वे सब-के-सब जन्मसे पहले अप्रकट थे अर्थात् दीखते नहीं थे।

'**अव्यक्तनिधनान्येव**'—ये सभी प्राणी मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे अर्थात् इनका नाश होनेपर ये सभी 'नहीं' में चले जायँगे, दीखेंगे नहीं।

'**व्यक्तमध्यानि**'—ये सभी प्राणी बीचमें अर्थात् जन्मके बाद और मृत्युके पहले प्रकट दिखायी देते हैं। जैसे सोनेसे पहले भी स्वप्न नहीं था और जगनेपर भी स्वप्न नहीं रहा, ऐसे ही इन प्राणियोंके शरीरोंका पहले भी अभाव था और पीछे भी अभाव रहेगा। परन्तु बीचमें भावरूपसे दीखते हुए भी वास्तवमें इनका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है।

'**तत्र का परिदेवना**'—जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह बीचमें भी नहीं होता—यह सिद्धान्त है[1]। सभी प्राणियोंके शरीर पहले नहीं थे और पीछे नहीं रहेंगे; अत: वास्तवमें वे बीचमें भी नहीं हैं। परन्तु यह शरीरी पहले भी था और पीछे भी रहेगा; अत: वह बीचमें भी रहेगा ही। निष्कर्ष यह निकला कि शरीरोंका सदा अभाव है और शरीरीका कभी भी अभाव नहीं है। इसलिये इन दोनोंके लिये शोक नहीं हो सकता।

परिशिष्ट भाव—जो आदि और अन्तमें नहीं है, उसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है तथा जो आदि और अन्तमें है, उसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है[2]। जिसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है, वह '**असत्**' (शरीर) है और जिसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है, वह '**सत्**' (शरीरी) है। असत्‌के साथ हमारा नित्यवियोग है और सत्‌के साथ हमारा नित्ययोग है।

सम्बन्ध—अब भगवान् शरीरीकी अलौकिकताका वर्णन करते हैं।

१-आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (माण्डूक्यकारिका ४। ३१)

२-(क) यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्। (श्रीमद्भा० ११। २४। १७)
'जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।'

(ख) आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥ (श्रीमद्भा० ११। २८। १८)
'इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही परमात्मा बीचमें भी है।'

(ग) न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्। (श्रीमद्भा० ११। २८। २१)
'जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं, केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है।'

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

कश्चित्	= कोई	**आश्चर्यवत्**	= (इसका) आश्चर्यकी तरह	**शृणोति**	= सुनता है
एनम्	= इस शरीरीको	**वदति**	= वर्णन करता है	**च**	= और
आश्चर्यवत्	= आश्चर्यकी तरह	**च**	= तथा	**एनम्**	= इसको
पश्यति	= देखता (अनुभव करता) है	**अन्यः**	= अन्य (कोई)	**श्रुत्वा**	= सुनकर
च	= और	**एनम्**	= इसको	**अपि**	= भी
तथा	= वैसे	**आश्चर्यवत्**	= आश्चर्यकी तरह	**कश्चित्, एव**	= कोई
एव	= ही			**न**	= नहीं
अन्यः	= दूसरा (कोई)			**वेद**	= जानता अर्थात् यह दुर्विज्ञेय है।

व्याख्या—‘**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्**’—इस देहीको कोई आश्चर्यकी तरह जानता है। तात्पर्य यह है कि जैसे दूसरी चीजें देखने, सुनने, पढ़ने और जाननेमें आती हैं, वैसे इस देहीका जानना नहीं होता। कारण कि दूसरी वस्तुएँ इदंतासे (‘यह’ करके) जानते हैं अर्थात् वे जाननेका विषय होती हैं, पर यह देही इन्द्रिय-मन-बुद्धिका विषय नहीं है। इसको तो स्वयंसे, अपने-आपसे ही जाना जाता है। अपने-आपसे जो जानना होता है, वह जानना लौकिक ज्ञानकी तरह नहीं होता, प्रत्युत बहुत विलक्षण होता है।

‘**पश्यति**’ पदके दो अर्थ होते हैं—नेत्रोंसे देखना और स्वयंके द्वारा स्वयंको जानना। यहाँ ‘**पश्यति**’ पद स्वयंके द्वारा स्वयंको जाननेके विषयमें आया है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ, छठे अध्यायका बीसवाँ आदि)।

जहाँ नेत्र आदि करणोंसे देखना (जानना) होता है, वहाँ द्रष्टा (देखनेवाला), दृश्य (दीखनेवाली वस्तु) और दर्शन (देखनेकी शक्ति)—यह त्रिपुटी होती है। इस त्रिपुटीसे ही सांसारिक देखना—जानना होता है। परन्तु स्वयंके ज्ञानमें यह त्रिपुटी नहीं होती अर्थात् स्वयंका ज्ञान करण-सापेक्ष नहीं है। स्वयंका ज्ञान तो स्वयंके द्वारा ही होता है अर्थात् वह ज्ञान करण-निरपेक्ष है। जैसे, ‘मैं हूँ’—ऐसा जो अपने होनेपनका ज्ञान है, इसमें किसी प्रमाणकी या किसी करणकी आवश्यकता नहीं है। इस अपने होनेपनको ‘इदंता’ से अर्थात् दृश्यरूपसे नहीं देख सकते। इसका ज्ञान अपने-आपको ही होता है। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य या बुद्धिजन्य नहीं है। इसलिये स्वयंको (अपने-आपको) जानना आश्चर्यकी तरह होता है।

जैसे अँधेरे कमरेमें हम किसी चीजको लाने जाते हैं, तो हमारे साथ प्रकाश भी चाहिये और नेत्र भी चाहिये अर्थात् उस अँधेरे कमरेमें प्रकाशकी सहायतासे हम उस चीजको नेत्रोंसे देखेंगे, तब उसको लायेंगे। परन्तु कहीं दीपक जल रहा है और हम उस दीपकको देखने जायँगे, तो उस दीपकको देखनेके लिये हमें दूसरे दीपककी आवश्यकता नहीं पड़ेगी; क्योंकि दीपक स्वयंप्रकाश है। वह अपने-आपको स्वयं ही प्रकाशित करता है। ऐसे ही अपने स्वरूपको देखनेके लिये किसी दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यह देही (स्वरूप) स्वयंप्रकाश है। अतः यह अपने-आपसे ही अपने-आपको जानता है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर हैं। अन्न-जलसे बना हुआ ‘स्थूलशरीर’ है। यह स्थूलशरीर इन्द्रियोंका विषय है। इस स्थूलशरीरके भीतर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे बना हुआ ‘सूक्ष्मशरीर’ है। यह सूक्ष्मशरीर इन्द्रियोंका विषय नहीं है, प्रत्युत बुद्धिका विषय है। जो बुद्धिका भी विषय नहीं है, जिसमें प्रकृति—स्वभाव रहता है, वह ‘कारणशरीर’ है। इन तीनों शरीरोंपर विचार किया जाय तो यह स्थूलशरीर मेरा स्वरूप नहीं है; क्योंकि यह प्रतिक्षण बदलता है और जाननेमें आता है। सूक्ष्मशरीर भी बदलता है और जाननेमें आता है; अतः यह भी मेरा स्वरूप नहीं है। कारणशरीर प्रकृतिस्वरूप है, पर देही (स्वरूप) प्रकृतिसे भी अतीत है, अतः कारणशरीर भी मेरा स्वरूप नहीं है। यह देही जब प्रकृतिको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब यह अपने-आपसे अपने-आपको जान लेता है। यह जानना सांसारिक वस्तुओंको जाननेकी अपेक्षा सर्वथा विलक्षण होता है, इसलिये इसको ‘**आश्चर्यवत् पश्यति**’ कहा गया है।

यहाँ भगवान्‌ने कहा है कि अपने-आपका अनुभव

करनेवाला कोई एक ही होता है—'**कश्चित्**' और आगे सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भी यही बात कही है कि कोई एक मनुष्य ही मेरेको तत्त्वसे जानता है—'**कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।**' इन पदोंसे ऐसा मालूम होता है कि इस अविनाशी तत्त्वको जानना बड़ा कठिन है, दुर्लभ है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। इस तत्त्वको जानना कठिन नहीं है, दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत इस तत्त्वको सच्चे हृदयसे जाननेवालेकी इस तरफ लगनेवालेकी कमी है। यह कमी जाननेकी जिज्ञासा कम होनेके कारण ही है।

'**आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः**'—ऐसे ही दूसरा पुरुष इस देहीका आश्चर्यकी तरह वर्णन करता है; क्योंकि यह तत्त्व वाणीका विषय नहीं है। जिससे वाणी भी प्रकाशित होती है, वह वाणी उसका वर्णन कैसे कर सकती है? जो महापुरुष इस तत्त्वका वर्णन करता है, वह तो शाखा-चन्द्रन्यायकी तरह वाणीसे इसका केवल संकेत ही करता है, जिससे सुननेवालेका इधर लक्ष्य हो जाय। अतः इसका वर्णन आश्चर्यकी तरह ही होता है।

यहाँ जो '**अन्यः**' पद आया है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो जाननेवाला है, उससे यह कहनेवाला अन्य है; क्योंकि जो स्वयं जानेगा ही नहीं, वह वर्णन क्या करेगा? अतः इस पदका तात्पर्य यह है कि जितने जाननेवाले हैं, उनमें वर्णन करनेवाला कोई एक ही होता है। कारण कि सब-के-सब अनुभवी तत्त्वज्ञ महापुरुष उस तत्त्वका विवेचन करके सुननेवालेको उस तत्त्वतक नहीं पहुँचा सकते। उसकी शंकाओंका, तर्कोंका पूरी तरह समाधान करनेकी क्षमता नहीं रखते। अतः वर्णन करनेवालेकी विलक्षण क्षमताका द्योतन करनेके लिये ही यह '**अन्यः**' पद दिया गया है।

'**आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति**'—दूसरा कोई इस देहीको आश्चर्यकी तरह सुनता है। तात्पर्य है कि सुननेवाला शास्त्रोंकी, लोक-लोकान्तरोंकी जितनी बातें सुनता आया है, उन सब बातोंसे इस देहीकी बात विलक्षण मालूम देती है। कारण कि दूसरा जो कुछ सुना है, वह सब-का-सब इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिका विषय है; परन्तु यह देही इन्द्रियों आदिका विषय नहीं है, प्रत्युत यह इन्द्रियों आदिके विषयको प्रकाशित करता है। अतः इस देहीकी विलक्षण बात वह आश्चर्यकी तरह सुनता है।

यहाँ '**अन्यः**' पद देनेका तात्पर्य है कि जाननेवाला और कहनेवाला—इन दोनोंसे सुननेवाला (तत्त्वका जिज्ञासु) अलग है।

'**श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्**'—इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसने सुन लिया, तो अब वह जानेगा ही नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि केवल सुन करके (सुननेमात्रसे) इसको कोई भी नहीं जान सकता। सुननेके बाद जब वह स्वयं उसमें स्थित होगा, तब वह अपने-आपसे ही अपने-आपको जानेगा*।

यहाँ कोई कहे कि शास्त्रों और गुरुजनोंसे सुनकर ज्ञान तो होता ही है, फिर यहाँ 'सुन करके भी कोई नहीं जानता'—ऐसा कैसे कहा गया है? इस विषयपर थोड़ी गम्भीरतासे विचार करके देखें कि शास्त्रोंपर श्रद्धा स्वयं शास्त्र नहीं कराते और गुरुजनोंपर श्रद्धा स्वयं गुरुजन नहीं कराते; किन्तु साधक स्वयं ही शास्त्र और गुरुपर श्रद्धा-विश्वास करता है, स्वयं ही उनके सम्मुख होता है। अगर स्वयंके सम्मुख हुए बिना ही ज्ञान हो जाता, तो आजतक भगवान्‌के बहुत अवतार हुए हैं, बड़े-बड़े जीवन्मुक्त महापुरुष हुए हैं, उनके सामने कोई अज्ञानी रहना ही नहीं चाहिये था। अर्थात् सबको तत्त्वज्ञान हो जाना चाहिये था! पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सुननेसे स्वरूपमें स्थित होनेमें सहायता तो जरूर मिलती है, पर स्वरूपमें स्थित स्वयं ही होता है। अतः उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य तत्त्वज्ञानको असम्भव बतानेमें नहीं, प्रत्युत उसे करण-निरपेक्ष बतानेमें है। मनुष्य किसी भी रीतिसे तत्त्वको जाननेका प्रयत्न क्यों न करे, पर अन्तमें अपने-आपसे ही अपने-आपको जानेगा। श्रवण, मनन आदि साधन तत्त्वके ज्ञानमें परम्परागत साधन माने जा सकते हैं, पर वास्तविक बोध करण-निरपेक्ष (अपने-आपसे) ही होता है।

अपने-आपसे अपने-आपको जानना क्या होता है? एक होता है करना, एक होता है देखना और एक होता है जानना। करनेमें कर्मेन्द्रियोंकी, देखनेमें ज्ञानेन्द्रियोंकी और जाननेमें स्वयंकी मुख्यता होती है।

---

* **अपने-आपसे ही अपनेको जाननेकी बात गीतामें कई जगह आयी है; जैसे—**

(१) आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। (२। ५५)

(२) यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (३। १७)

(३) यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ (६। २०)

(४) यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। (१५। ११)

ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जानना नहीं होता, प्रत्युत देखना होता है, जो कि व्यवहारमें उपयोगी है। स्वयंके द्वारा जो जानना होता है, वह दो तरहका होता है—एक तो शरीर-संसारके साथ मेरी सदा भिन्नता है और दूसरा, परमात्माके साथ मेरी सदा अभिन्नता है। दूसरे शब्दोंमें, परिवर्तनशील नाशवान् पदार्थोंके साथ मेरा किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है और अपरिवर्तनशील अविनाशी परमात्माके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध है। ऐसा जाननेके बाद फिर स्वतः अनुभव होता है। उस अनुभवका वाणीसे वर्णन नहीं हो सकता। वहाँ तो बुद्धि भी चुप हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—शरीरीको सुननेमात्रसे अर्थात् अभ्यासके द्वारा नहीं जान सकते, पर जिज्ञासापूर्वक तत्त्वज्ञ, अनुभवी महापुरुषोंसे सुनकर जान सकते हैं—'**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**' (गीता ७। ३)। '**आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः**' कहनेका तात्पर्य है कि तत्त्वका अनुभव करनेवालोंमें भी वर्णन करनेवाला कोई एक ही होता है। सब-के-सब अनुभव करनेवाले उसका वर्णन नहीं कर सकते।

जैसे संसारमें सुननेमात्रसे विवाह नहीं होता, प्रत्युत स्त्री और पुरुष एक-दूसरेको पति-पत्नीरूपसे स्वीकार करते हैं, तब विवाह होता है, ऐसे ही सुननेमात्रसे परमात्मतत्त्वको कोई भी नहीं जान सकता, प्रत्युत सुननेके बाद जब स्वयं उसको स्वीकार करेगा अथवा उसमें स्थित होगा, तब स्वयंसे उसको जानेगा। अतः सुननेमात्रसे मनुष्य ज्ञानकी बातें सीख सकता है, दूसरोंको सुना सकता है, लिख सकता है, व्याख्यान दे सकता है, विवेचन कर सकता है, पर अनुभव नहीं कर सकता।

परमात्मतत्त्वको केवल सुननेमात्रसे नहीं जान सकते, प्रत्युत सुनकर उपासना करनेसे जान सकते हैं—'**श्रुत्वान्येभ्य उपासते......**' (गीता १३। २५)। अगर परमात्मतत्त्वका वर्णन करनेवाला अनुभवी हो और सुननेवाला श्रद्धालु तथा जिज्ञासु हो तो तत्काल भी ज्ञान हो सकता है।

सम्बन्ध—अबतक देह और देहीका जो प्रकरण चल रहा था, उसका आगेके श्लोकमें उपसंहार करते हैं।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

भारत = हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! **सर्वस्य** = सबके **देहे** = देहमें **अयम्** = यह **देही** = देही **नित्यम्** = नित्य ही **अवध्यः** = अवध्य है। **तस्मात्** = इसलिये **सर्वाणि** = सम्पूर्ण **भूतानि** = प्राणियोंके लिये अर्थात् किसी भी प्राणीके लिये **त्वम्** = तुम्हें **शोचितुम्** = शोक **न** = नहीं **अर्हसि** = करना चाहिये।

व्याख्या—'**देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत**'—मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि स्थावर-जंगम सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें यह देही नित्य अवध्य अर्थात् अविनाशी है।

'**अवध्यः**' शब्दके दो अर्थ होते हैं—(१) इसका वध नहीं करना चाहिये और (२) इसका वध हो ही नहीं सकता। जैसे गाय अवध्य है अर्थात् कभी किसी भी अवस्थामें गायको नहीं मारना चाहिये; क्योंकि गायको मारनेमें बड़ा भारी दोष है, पाप है। परन्तु देहीके विषयमें 'देहीका वध नहीं करना चाहिये'—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत इस देहीका वध (नाश) कभी किसी भी तरहसे हो ही नहीं सकता और कोई कर भी नहीं सकता—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (२। १७)।

'**तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि**'—इसलिये तुम्हें किसी भी प्राणीके लिये शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस देहीका विनाश कभी हो ही नहीं सकता और विनाशी देह क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता।

यहाँ '**सर्वाणि भूतानि**' पदोंमें बहुवचन देनेका आशय है कि कोई भी प्राणी बाकी न रहे अर्थात् किसी भी प्राणीके लिये शोक नहीं करना चाहिये।

शरीर विनाशी ही है; क्योंकि उसका स्वभाव ही नाशवान् है। वह प्रतिक्षण ही नष्ट हो रहा है। परन्तु जो अपना

नित्य-स्वरूप है, उसका कभी नाश होता ही नहीं। अगर इस वास्तविकताको जान लिया जाय तो फिर शोक होना सम्भव ही नहीं है।

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

यहाँ ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतकका जो प्रकरण है, यह विशेषरूपसे देही-देह, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, अविनाशी-विनाशी—इन दोनोंके विवेकके लिये अर्थात् इन दोनोंको अलग-अलग बतानेके लिये ही है। कारण कि जबतक 'देही अलग है और देह अलग है'—यह विवेक नहीं होगा, तबतक कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कोई-सा भी योग अनुष्ठानमें नहीं आयेगा। इतना ही नहीं, स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके लिये भी देही-देहके भेदको समझना आवश्यक है। कारण कि देहसे अलग देही न हो, तो देहके मरनेपर स्वर्ग कौन जायगा? अत: जितने भी आस्तिक दार्शनिक हैं, वे चाहे अद्वैतवादी हों, चाहे द्वैतवादी हों; किसी भी मतके क्यों न हों, सभी शरीरी-शरीरके भेदको मानते ही हैं। यहाँ भगवान् इसी भेदको स्पष्ट करना चाहते हैं।

इस प्रकरणमें भगवान्ने जो बात कही है, वह प्राय: सम्पूर्ण मनुष्योंके अनुभवकी बात है। जैसे, देह बदलता है और देही नहीं बदलता। अगर यह देही बदलता तो देहके बदलनेको कौन जानता? पहले बाल्यावस्था थी, फिर जवानी आयी; कभी बीमारी आयी, कभी बीमारी चली गयी—इस तरह अवस्थाएँ तो बदलती रहती हैं, पर इन सभी अवस्थाओंको जाननेवाला देही वही रहता है। अत: बदलनेवाला और न बदलनेवाला—ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते। इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है। इसलिये भगवान्ने इस प्रकरणमें आत्मा-अनात्मा, ब्रह्म-जीव, प्रकृति-पुरुष, जड-चेतन, माया-अविद्या आदि दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है*। कारण कि लोगोंने दार्शनिक बातें केवल सीखनेके लिये मान रखी हैं, उन बातोंको केवल पढ़ाईका विषय मान रखा है। इसको दृष्टिमें रखकर भगवान्ने इस प्रकरणमें दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग न करके देह-देही, शरीर-शरीरी, असत्-सत्, विनाशी-अविनाशी शब्दोंका ही प्रयोग किया है। जो इन दोनोंके भेदको ठीक-ठीक जान लेता है, उसको कभी किंचिन्मात्र भी शोक नहीं हो सकता। जो केवल दार्शनिक बातें सीख लेते हैं, उनका शोक दूर नहीं होता।

एक छहों दर्शनोंकी पढ़ाई करना होता है और एक अनुभव करना होता है। ये दोनों बातें अलग-अलग हैं और इनमें बड़ा भारी अन्तर है। पढ़ाईमें ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति और संसार—ये सभी ज्ञानके विषय होते हैं अर्थात् पढ़ाई करनेवाला तो ज्ञाता होता है और ब्रह्म, ईश्वर आदि इन्द्रियों और अन्त:करणके विषय होते हैं। पढ़ाई करनेवाला तो जानकारी बढ़ाना चाहता है, विद्याका संग्रह करना चाहता है, पर जो साधक मुमुक्षु, जिज्ञासु और भक्त होता है, वह अनुभव करना चाहता है अर्थात् प्रकृति और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके और अपने-आपको जानकर ब्रह्मके साथ अभिन्नताका अनुभव करना चाहता है, ईश्वरके शरण होना चाहता है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्ने ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक देह-देहीके विवेकका वर्णन किया है। इस प्रकरणमें भगवान्ने ब्रह्म-जीव, प्रकृति-पुरुष, जड़-चेतन, माया-अविद्या, आत्मा-अनात्मा आदि किसी दार्शनिक शब्दका प्रयोग नहीं किया है। इसका कारण यह है कि भगवान् इसको पढ़ाईका अर्थात् सीखनेका विषय न बनाकर अनुभवका विषय बनाना चाहते हैं और यह सिद्ध करना चाहते हैं कि देह-देहीके अलगावका अनुभव मनुष्यमात्र कर सकता है। इसमें कोई पढ़ाई करनेकी, अधिकारी बननेकी जरूरत नहीं है।

सत्-असत्का विवेक मनुष्य अगर अपने शरीरपर करता है तो वह साधक होता है और संसारपर करता है तो विद्वान् होता है। अपनेको अलग रखते हुए संसारमें सत्-असत्का विवेक करनेवाला मनुष्य वाचक (सीखा हुआ) ज्ञानी तो बन जाता है, पर उसको अनुभव नहीं हो सकता। परन्तु अपनी देहमें सत्-असत्का विवेक करनेसे मनुष्य वास्तविक (अनुभवी) ज्ञानी हो सकता है। तात्पर्य है कि संसारमें सत्-असत्का विवेक केवल पण्डिताईके लिये है, जबकि गीता पण्डिताईके लिये नहीं है। इसलिये भगवान्ने दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग न करके देह-देही, शरीर-शरीरी जैसे सामान्य शब्दोंका प्रयोग किया है। जो संसारमें सत्-असत्का विचार करते हैं, वे अपनेको अलग रखते हुए अपनेको ज्ञानका अधिकारी बनाते हैं। परन्तु अपनेमें देह-देहीका विचार करनेमें मनुष्यमात्र ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी है। अनुभव करनेके लिये

*** यद्यपि इस प्रकरणमें (पंद्रहवें और इक्कीसवें श्लोकमें) दो बार 'पुरुष' शब्दका प्रयोग किया गया है, तथापि वह दार्शनिक 'प्रकृति-पुरुष' के अर्थमें प्रयुक्त न होकर 'मनुष्य' के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।**

देह-देहीका विवेचन उपयोगी है और सीखनेके लिये तत्त्वका विवेचन उपयोगी है। इसलिये साधक अनुभव करना चाहता है तो सबसे पहले उसको शरीरसे अपने अलगावका अनुभव करना चाहिये कि शरीर शरीरीके सम्बन्धसे रहित है और शरीरी शरीरके सम्बन्धसे रहित है अर्थात् 'मैं शरीर नहीं हूँ।' उसने जितनी सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और नि:सन्देहतासे शरीरकी सत्ता-महत्ता मानी है, उतनी ही सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और नि:सन्देहतासे स्वयं (स्वरूप)-की सत्ता-महत्ता मान ले और अनुभव कर ले।

शरीर केवल कर्म करनेका साधन है और कर्म केवल संसारके लिये ही होता है। जैसे कोई लेखक जब लिखने बैठता है, तब वह लेखनीको ग्रहण करता है और जब लिखना बन्द करता है, तब लेखनीको यथास्थान रख देता है, ऐसे ही साधकको कर्म करते समय शरीरको स्वीकार करना चाहिये और कर्म समाप्त होते ही शरीरको ज्यों-का-त्यों रख देना चाहिये—उससे असंग हो जाना चाहिये। कारण कि अगर हम कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत है?

साधकके लिये खास बात है—जाने हुए असत्‌का त्याग। साधक जिसको असत् जानता है, उसका वह त्याग कर दे तो उसका साधन सहज, सुगम हो जायगा और जल्दी सिद्ध हो जायगा। साधककी अपने साध्यमें जो प्रियता है, वही साधन कहलाती है। वह प्रियता किसी वस्तु, व्यक्ति, योग्यता, सामर्थ्य आदिके द्वारा अथवा किसी अभ्यासके द्वारा प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत साध्यमें अपनापन होनेसे प्राप्त होती है। साधक जिसको अपना मान लेता है, उसमें उसकी प्रियता स्वत: हो जाती है। परन्तु वास्तविक अपनापन उस वस्तुसे होता है, जिसमें ये चार बातें हों—

१—जिससे हमारी सधर्मता अर्थात् स्वरूपगत एकता हो।

२—जिसके साथ हमारा सम्बन्ध नित्य रहनेवाला हो।

३—जिससे हम कभी कुछ न चाहें।

४—हमारे पास जो कुछ है, वह सब जिसको समर्पित कर दें।

ये चारों बातें भगवान्‌में ही लग सकती हैं। कारण कि शरीर और संसारसे हमारा सम्बन्ध नित्य रहनेवाला नहीं है और उनसे हमारी स्वरूपगत एकता भी नहीं है। प्रतिक्षण बदलनेवालेके साथ कभी न बदलनेवालेकी एकता कैसे हो सकती है? शरीरके साथ हमारी जो एकता दीखती है, वह वास्तविक नहीं है, प्रत्युत मानी हुई है। मानी हुई एकता कर्तव्यका पालन करनेके लिये है। तात्पर्य है कि जिसके साथ हमारी मानी हुई एकता है, उसकी सेवा तो हो सकती है, पर उसके साथ अपनापन नहीं हो सकता।

जाने हुए असत्‌का त्याग करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करे। जिसके साथ हमारा न तो नित्य सम्बन्ध है और न स्वरूपगत एकता ही है, उसको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी सम्बन्ध है। इस दृष्टिसे शरीरको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी है। विवेकविरोधी सम्बन्धके रहते हुए कोई भी साधन सिद्ध नहीं हो सकता। शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई कितना ही तप कर ले, समाधि लगा ले, लोक-लोकान्तरमें घूम आये, तो भी उसके मोहका नाश तथा सत्य तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग होते ही मोहका नाश हो जाता है तथा सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग किये बिना साधकको चैनसे नहीं बैठना चाहिये। अगर हम शरीरसे माने हुए विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग न करें तो भी शरीर हमारा त्याग कर ही देगा! जो हमारा त्याग अवश्य करेगा, उसका त्याग करनेमें क्या कठिनाई है? इसलिये किसी भी मार्गका कोई भी साधक क्यों न हो, उसे इस सत्यको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है, क्योंकि मैं अशरीरी हूँ, मेरा स्वरूप अव्यक्त है।

जबतक साधकका शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध रहता है, तबतक साधन करते हुए भी सिद्धि नहीं होती और वह शुभ कर्मोंसे, सार्थक चिन्तनसे और स्थितिकी आसक्तिसे बँधा रहता है। वह यज्ञ, तप, दान आदि बड़े-बड़े शुभ कर्म करे, आत्माका अथवा परमात्माका चिन्तन करे अथवा समाधिमें भी स्थित हो जाय तो भी उसका बन्धन सर्वथा मिटता नहीं। कारण कि शरीरके साथ सम्बन्ध मानना ही मूल बन्धन है, मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। अगर साधकका शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध सर्वथा मिट जाय तो उसके द्वारा अशुभ कर्म तो होंगे ही नहीं, शुभ कर्मोंमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। उसके द्वारा निरर्थक चिन्तन तो होगा ही नहीं, सार्थक चिन्तनमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। उसमें

चंचलता तो रहेगी ही नहीं, समाधिमें, स्थिरतामें अथवा निर्विकल्प स्थितिमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। इस प्रकार स्थूलशरीरसे होनेवाले कर्ममें, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाले चिन्तनमें और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरतामें आसक्तिका नाश हो जानेपर उसका साधन सिद्ध हो जायगा अर्थात् मोह नष्ट हो जायगा और सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये भगवान्‌ने अपने उपदेशके आरम्भमें शरीरका सम्बन्ध सर्वथा मिटानेके लिये शरीर-शरीरीके विवेकका वर्णन किया है।

सम्बन्ध—अर्जुनके मनमें कुटुम्बियोंके मरनेका शोक था और गुरुजनोंको मारनेके पापका भय था अर्थात् यहाँ कुटुम्बियोंका वियोग हो जायेगा तो उनके अभावमें दुःख पाना पड़ेगा—यह शोक था और परलोकमें पापके कारण नरक आदिका दुःख भोगना पड़ेगा—यह भय था। अतः भगवान्‌ने अर्जुनका शोक दूर करनेके लिये ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतकका प्रकरण कहा, और अब अर्जुनका भय दूर करनेके लिये क्षात्रधर्म-विषयक आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

च	= और	**न**	= नहीं	**क्षत्रियस्य**	= क्षत्रियके लिये
स्वधर्मम्	= अपने क्षात्रधर्मको	**अर्हसि**	= होना चाहिये;	**अन्यत्**	= दूसरा कोई
अवेक्ष्य	= देखकर	**हि**	= क्योंकि	**श्रेयः**	= कल्याणकारक कर्म
अपि	= भी (तुम्हें)	**धर्म्यात्**	= धर्ममय	**न**	= नहीं
विकम्पितुम्	= विकम्पित अर्थात् कर्तव्य-कर्मसे विचलित	**युद्धात्**	= युद्धसे बढ़कर	**विद्यते**	= है।

व्याख्या—[पहले दो श्लोकोंमें युद्धसे होनेवाले लाभका वर्णन करते हैं।]

'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'—यह स्वयं परमात्माका अंश है। जब यह शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब यह 'स्व' को अर्थात् अपने-आपको जो कुछ मानता है, उसका कर्तव्य 'स्वधर्म' कहलाता है। जैसे, कोई अपने-आपको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र मानता है, तो अपने-अपने वर्णोचित कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है। कोई अपनेको शिक्षक या नौकर मानता है तो शिक्षक या नौकरके कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है। कोई अपनेको किसीका पिता या किसीका पुत्र मानता है, तो पुत्र या पिताके प्रति किये जानेवाले कर्तव्योंका पालन करना उसका स्वधर्म है।

यहाँ क्षत्रियके कर्तव्य-कर्मको 'धर्म' नामसे कहा गया है*। क्षत्रियका खास कर्तव्य-कर्म है—युद्धसे विमुख न होना। अर्जुन क्षत्रिय हैं; अतः युद्ध करना उनका स्वधर्म है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि अगर स्वधर्मको लेकर देखा जाय तो भी क्षात्रधर्मके अनुसार तुम्हारे लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है। अपने कर्तव्यसे तुम्हें कभी विमुख नहीं होना चाहिये।

'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते'—धर्ममय युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याण-कारक कर्म नहीं है अर्थात् क्षत्रियके लिये क्षत्रियके कर्तव्यका अनुष्ठान करना ही खास काम है (गीता—अठारहवें अध्यायका तैंतालीसवाँ श्लोक)। [ऐसे ही ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके लिये भी अपने-अपने कर्तव्यका अनुष्ठान करनेके सिवाय दूसरा कोई कल्याणकारी कर्म नहीं है।]

अर्जुनने सातवें श्लोकमें प्रार्थना की थी कि आप मेरे लिये निश्चित श्रेयकी बात कहिये। उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि श्रेय (कल्याण) तो अपने धर्मका पालन करनेसे ही होगा। किसी भी दृष्टिसे अपने धर्मका त्याग कल्याणकारक नहीं है। अतः तुम्हें अपने युद्धरूप धर्मसे विमुख नहीं होना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—देह-देहीके विवेकका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यहाँसे अड़तीसवें श्लोकतक देहीके स्वधर्मपालन (कर्तव्यपालन)-का वर्णन करते हैं। कारण कि देह-देहीके विवेकसे जो तत्त्व मिलता है, वही तत्त्व देहके

*** अठारहवें अध्यायमें जहाँ (१८। ४२—४८ में) चारों वर्णोंके कर्तव्य-कर्मोंका वर्णन आया है, वहाँ बीचमें 'धर्म' शब्द भी आया है—'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' (१८। ४७)। इससे 'कर्म' और 'धर्म' शब्द पर्यायवाची सिद्ध होते हैं।**

सदुपयोगसे, स्वधर्मके पालनसे भी मिल सकता है। विवेकमें 'जानना' मुख्य है और स्वधर्मपालनमें 'करना' मुख्य है। यद्यपि मनुष्यके लिये विवेक मुख्य है, जो व्यवहार और परमार्थमें, लोक और परलोकमें सब जगह काम आता है। परन्तु जो मनुष्य देह-देहीके विवेकको न समझ सके, उसके लिये भगवान् स्वधर्मपालनकी बात कहते हैं, जिससे वह कोरा वाचक ज्ञानी न बनकर वास्तविक तत्त्वका अनुभव कर सके।

तात्पर्य है कि जो मनुष्य परमात्मतत्त्वको जानना चाहता है, पर तीक्ष्ण बुद्धि और तेजीका वैराग्य न होनेके कारण ज्ञानयोगसे नहीं जान सका तो वह कर्मयोगसे परमात्मतत्त्वको जान सकता है; क्योंकि ज्ञानयोगसे जो अनुभव होता है, वही कर्मयोगसे भी हो सकता है (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)।

अर्जुन क्षत्रिय थे, इसलिये भगवान्ने इस प्रकरणमें क्षात्रधर्मकी बात कही है। वास्तवमें यहाँ क्षात्रधर्म चारों वर्णोंका उपलक्षण है। इसलिये ब्राह्मणादि अन्य वर्णोंको भी यहाँ अपना-अपना धर्म (कर्तव्य) समझ लेना चाहिये। (गीता—अठारहवें अध्यायका बयालीसवाँ, तैंतालीसवाँ और चौवालीसवाँ श्लोक)।

['स्वधर्म' को ही स्वभावज कर्म, सहज कर्म, स्वकर्म आदि नामोंसे कहा गया है (गीता—अठारहवें अध्यायके इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक)। स्वार्थ, अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके दूसरेके हितके लिये कर्म करना स्वधर्म है। स्वधर्मका पालन ही कर्मयोग है।]

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

यदृच्छया = अपने-आप
उपपन्नम् = प्राप्त हुआ (युद्ध)
अपावृतम् = खुला हुआ
स्वर्गद्वारम् = स्वर्गका दरवाजा
च = भी है।
पार्थ = हे पृथानन्दन!
क्षत्रियाः = (वे) क्षत्रिय
सुखिनः = बड़े सुखी (भाग्यशाली) हैं,
ईदृशम् = (जिनको) ऐसा
युद्धम् = युद्ध
लभन्ते = प्राप्त होता है।

व्याख्या—**'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्'**—पाण्डवोंसे जूआ खेलनेमें दुर्योधनने यह शर्त रखी थी कि अगर इसमें आप हार जायँगे, तो आपको बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास भोगना होगा। तेरहवें वर्षके बाद आपको अपना राज्य मिल जायगा। परन्तु अज्ञात-वासमें अगर हमलोग आपलोगोंको खोज लेंगे, तो आप-लोगोंको दुबारा बारह वर्षका वनवास भोगना पड़ेगा। जूएमें हार जानेपर शर्तके अनुसार पाण्डवोंने बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास भोग लिया। उसके बाद जब उन्होंने अपना राज्य माँगा, तब दुर्योधनने कहा कि मैं बिना युद्ध किये सूईकी तीखी नोक-जितनी जमीन भी नहीं दूँगा। दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भी पाण्डवोंकी ओरसे बार-बार सन्धिका प्रस्ताव रखा गया, पर दुर्योधनने पाण्डवोंसे सन्धि स्वीकार नहीं की। इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि यह युद्ध तुमलोगोंको अपने-आप प्राप्त हुआ है। अपने-आप प्राप्त हुए धर्ममय युद्धमें जो क्षत्रिय शूरवीरतासे लड़ते हुए मरता है, उसके लिये स्वर्गका दरवाजा खुला हुआ रहता है।

'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्'—ऐसा धर्ममय युद्ध जिनको प्राप्त हुआ है, वे क्षत्रिय बड़े सुखी हैं। यहाँ सुखी कहनेका तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका पालन करनेमें जो सुख है, वह सुख सांसारिक भोगोंको भोगनेमें नहीं है। सांसारिक भोगोंका सुख तो पशु-पक्षियोंको भी होता है। अतः जिनको कर्तव्य-पालनका अवसर प्राप्त हुआ है, उनको बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिये।

सम्बन्ध—युद्ध न करनेसे क्या हानि होती है—इसका आगेके चार श्लोकोंमें वर्णन करते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अथ	= अब	**सङ्ग्रामम्**	= युद्ध	**च**	= और
चेत्	= अगर	**न**	= नहीं	**कीर्तिम्**	= कीर्तिका
त्वम्	= तू	**करिष्यसि**	= करेगा	**हित्वा**	= त्याग करके
इमम्	= यह	**ततः**	= तो	**पापम्**	= पापको
धर्म्यम्	= धर्ममय	**स्वधर्मम्**	= अपने धर्म	**अवाप्स्यसि**	= प्राप्त होगा।

व्याख्या—'**अथ चेत्त्वमिमं.........पापमवाप्स्यसि**'—यहाँ '**अथ**' अव्यय पक्षान्तरमें आया है और '**चेत्**' अव्यय सम्भावनाके अर्थमें आया है। इनका तात्पर्य है कि यद्यपि तू युद्धके बिना रह नहीं सकेगा, अपने क्षात्र स्वभावके परवश हुआ तू युद्ध करेगा ही (गीता—अठारहवें अध्यायका साठवाँ श्लोक), तथापि अगर ऐसा मान लें कि तू युद्ध नहीं करेगा, तो तेरे द्वारा क्षात्रधर्मका त्याग हो जायगा। क्षात्रधर्मका त्याग होनेसे तुझे पाप लगेगा और तेरी कीर्तिका भी नाश होगा।

आप-से-आप प्राप्त हुए धर्मरूप कर्तव्यका त्याग करके तू क्या करेगा? अपने धर्मका त्याग करनेसे तुझे परधर्म स्वीकार करना पड़ेगा, जिससे तुझे पाप लगेगा। युद्धका त्याग करनेसे दूसरे लोग ऐसा मानेंगे कि अर्जुन-जैसा शूरवीर भी मरनेसे भयभीत हो गया! इससे तेरी कीर्तिका नाश होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

च	= और	**अकीर्तिम्**	= अपकीर्तिका		मनुष्यके लिये
भूतानि	= सब प्राणी	**कथयिष्यन्ति**	= कथन अर्थात् निन्दा करेंगे।	**मरणात्**	= मृत्युसे
अपि	= भी			**च**	= भी
ते	= तेरी	**अकीर्तिः**	= (वह) अपकीर्ति	**अतिरिच्यते**	= बढ़कर दुःखदायी होती है।
अव्ययाम्	= सदा रहनेवाली	**सम्भावितस्य**	= सम्मानित		

व्याख्या—'**अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्**'—मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस आदि जिन प्राणियोंका तेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिनकी तेरे साथ न मित्रता है और न शत्रुता, ऐसे साधारण प्राणी भी तेरी अपकीर्ति, अपयशका कथन करेंगे कि देखो! अर्जुन कैसा भीरु था, जो कि अपने क्षात्रधर्मसे विमुख हो गया। वह कितना शूरवीर था, पर युद्धके मौकेपर उसकी कायरता प्रकट हो गयी, जिसका कि दूसरोंको पता ही नहीं था; आदि-आदि।

'**ते**' कहनेका भाव है कि स्वर्ग, मृत्यु और पाताल-लोकमें भी जिसकी धाक जमी हुई है, ऐसे तेरी अपकीर्ति होगी। '**अव्ययाम्**' कहनेका तात्पर्य है कि जो आदमी श्रेष्ठताको लेकर जितना अधिक प्रसिद्ध होता है, उसकी कीर्ति और अपकीर्ति भी उतनी ही अधिक स्थायी रहनेवाली होती है।

'**सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते**'—इस श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने साधारण प्राणियोंद्वारा अर्जुनकी निन्दा किये जानेकी बात बतायी। अब श्लोकके उत्तरार्धमें सबके लिये लागू होनेवाली सामान्य बात बताते हैं।

संसारकी दृष्टिमें जो श्रेष्ठ माना जाता है, जिसको लोग बड़ी ऊँची दृष्टिसे देखते हैं, ऐसे मनुष्यकी जब अपकीर्ति होती है, तब वह अपकीर्ति उसके लिये मरणसे भी अधिक भयंकर दुःखदायी होती है। कारण कि मरनेमें तो आयु समाप्त हुई है, उसने कोई अपराध तो किया नहीं है, परन्तु अपकीर्ति होनेमें तो वह खुद धर्म-मर्यादासे, कर्तव्यसे च्युत हुआ है। तात्पर्य है कि लोगोंमें श्रेष्ठ माना जानेवाला मनुष्य अगर अपने कर्तव्यसे च्युत होता है, तो उसका बड़ा भयंकर अपयश होता है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

च	= तथा	**उपरतम्**	= हटा हुआ	**बहुमतः**	= बहुमान्य
महारथाः	= महारथीलोग	**मंस्यन्ते**	= मानेंगे।	**भूत्वा**	= हो चुका है, (उनकी दृष्टिमें)
त्वाम्	= तुझे	**येषाम्**	= जिनकी (धारणामें)	**लाघवम्**	= (तू) लघुताको
भयात्	= भयके कारण	**त्वम्**	= तू	**यास्यसि**	= प्राप्त हो जायगा।
रणात्	= युद्धसे				

व्याख्या—**'भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः'**—तू ऐसा समझता है कि मैं तो केवल अपना कल्याण करनेके लिये युद्धसे उपरत हुआ हूँ; परन्तु अगर ऐसी ही बात होती और युद्धको तू पाप समझता, तो पहले ही एकान्तमें रहकर भजन-स्मरण करता और तेरी युद्धके लिये प्रवृत्ति भी नहीं होती। परन्तु तू एकान्तमें न रहकर युद्धमें प्रवृत्त हुआ है। अब अगर तू युद्धसे निवृत्त होगा तो बड़े-बड़े महारथीलोग ऐसा ही मानेंगे कि युद्धमें मारे जानेके भयसे ही अर्जुन युद्धसे निवृत्त हुआ है। अगर वह धर्मका विचार करता तो युद्धसे निवृत्त नहीं होता; क्योंकि युद्ध करना क्षत्रियका धर्म है। अतः वह मरनेके भयसे ही युद्धसे निवृत्त हो रहा है।

'येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्'—भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य आदि जो बड़े-बड़े महारथी हैं, उनकी दृष्टिमें तू बहुमान्य हो चुका है अर्थात् उनके मनमें यह एक विश्वास है कि युद्ध करनेमें नामी शूरवीर तो अर्जुन ही है। वह युद्धमें अनेक दैत्यों, देवताओं, गन्धर्वों आदिको हरा चुका है। अगर अब तू युद्धसे निवृत्त हो जायगा, तो उन महारथियोंके सामने तू लघुता-(तुच्छता-) को प्राप्त हो जायगा अर्थात् उनकी दृष्टिमें तू गिर जायगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

तव	= तेरे		हुए	**वदिष्यन्ति**	= कहेंगे।
अहिताः	= शत्रुलोग	**बहून्**	= बहुत-से	**ततः**	= उससे
तव	= तेरी	**अवाच्यवादान्**	= न कहनेयोग्य वचन	**दुःखतरम्**	= बढ़कर और दुःखकी बात
सामर्थ्यम्	= सामर्थ्यकी	**च**	= भी	**नु, किम्**	= क्या होगी?
निन्दन्तः	= निन्दा करते				

व्याख्या—**'अवाच्यवादांश्च ..... निन्दन्तस्तव सामर्थ्यम्'**—'अहित' नाम शत्रुका है, अहित करनेवालेका है। तेरे जो दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण आदि शत्रु हैं, तेरे वैर न रखनेपर भी वे स्वयं तेरे साथ वैर रखकर तेरा अहित करनेवाले हैं। वे तेरी सामर्थ्यको जानते हैं कि यह बड़ा भारी शूरवीर है। ऐसा जानते हुए भी वे तेरी सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे कि यह तो हिजड़ा है। देखो! यह युद्धके मौकेपर हो गया न अलग! क्या यह हमारे सामने टिक सकता है? क्या यह हमारे साथ युद्ध कर सकता है? इस प्रकार तुझे दुःखी करनेके लिये, तेरे भीतर जलन पैदा करनेके लिये न जाने कितने न कहने-लायक वचन कहेंगे। उनके वचनोंको तू कैसे सहेगा?

'ततो दुःखतरं नु किम्'—इससे बढ़कर अत्यन्त भयंकर दुःख क्या होगा? क्योंकि यह देखा जाता है कि जैसे मनुष्य तुच्छ आदमियोंके द्वारा तिरस्कृत होनेपर अपना तिरस्कार सह नहीं सकता और अपनी योग्यतासे, अपनी शूरवीरतासे अधिक काम करके मर मिटता है। ऐसे ही जब शत्रुओंके द्वारा तेरा सर्वथा अनुचित तिरस्कार हो जायगा, तब उसको तू सह नहीं सकेगा और तेजीमें आकर युद्धके लिये कूद पड़ेगा। तेरेसे युद्ध किये बिना रहा नहीं जायगा। अभी तो तू युद्धसे उपरत हो रहा है, पर जब तू समयपर युद्धके लिये कूद पड़ेगा, तब तेरी कितनी निन्दा होगी। उस निन्दाको तू कैसे सह सकेगा ?

सम्बन्ध—पीछेके चार श्लोकोंमें युद्ध न करनेसे हानि बताकर अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें युद्ध करनेसे लाभ बताते हैं।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

वा	= अगर (युद्धमें तू)	**जित्वा**	= जीत जायगा (तो)	**कौन्तेय**	= हे कुन्तीनन्दन! (तू)
हतः	= मारा जायगा (तो)	**महीम्**	= पृथ्वीका राज्य	**युद्धाय**	= युद्धके लिये
स्वर्गम्	= (तुझे) स्वर्गकी	**भोक्ष्यसे**	= भोगेगा।	**कृतनिश्चयः**	= निश्चय करके
प्राप्स्यसि	= प्राप्ति होगी (और)	**तस्मात्**	= अतः	**उत्तिष्ठ**	= खड़ा हो जा।
वा	= अगर (युद्धमें तू)				

व्याख्या—**'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'**—इसी अध्यायके छठे श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि हमलोगोंको इसका भी पता नहीं है कि युद्धमें हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे। अर्जुनके इस सन्देहको लेकर भगवान् यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि अगर युद्धमें तुम कर्ण आदिके द्वारा मारे भी जाओगे तो स्वर्गको चले जाओगे और अगर युद्धमें तुम्हारी जीत हो जायगी तो यहाँ पृथ्वीका राज्य भोगोगे। इस तरह तुम्हारे तो दोनों ही हाथोंमें लड्डू हैं। तात्पर्य है कि युद्ध करनेसे तो तुम्हारा दोनों तरफसे लाभ-ही-लाभ है और युद्ध न करनेसे दोनों तरफसे हानि-ही-हानि है। अतः तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः'—यहाँ **'कौन्तेय'** सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि जब मैं सन्धिका प्रस्ताव लेकर कौरवोंके पास गया था, तब माता कुन्तीने तुम्हारे लिये यही संदेश भेजा था कि तुम युद्ध करो। अतः तुम्हें युद्धसे निवृत्त नहीं होना चाहिये, प्रत्युत युद्धका निश्चय करके खड़े हो जाना चाहिये।

अर्जुनका युद्ध न करनेका निश्चय था और भगवान्ने इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें युद्ध करनेकी आज्ञा दे दी। इससे अर्जुनके मनमें सन्देह हुआ कि युद्ध करना ठीक है या न करना ठीक है। अतः यहाँ भगवान् उस सन्देहको दूर करनेके लिये कहते हैं कि तुम युद्ध करनेका एक निश्चय कर लो, उसमें सन्देह मत रखो।

यहाँ भगवान्का तात्पर्य ऐसा मालूम देता है कि मनुष्यको किसी भी हालतमें प्राप्त कर्तव्यका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उत्साह और तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। कर्तव्यका पालन करनेमें ही मनुष्यकी मनुष्यता है।

परिशिष्ट भाव—धर्मका पालन करनेसे लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। तात्पर्य है कि कर्तव्यका पालन और अकर्तव्यका त्याग करनेसे लोककी भी सिद्धि हो जाती है और परलोककी भी।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

जयाजयौ	= जय-पराजय,	**कृत्वा**	= करके	**एवम्**	= इस प्रकार (युद्ध करनेसे)
लाभालाभौ	= लाभ-हानि (और)	**ततः**	= फिर	**पापम्**	= (तू) पापको
सुखदुःखे	= सुख-दुःखको	**युद्धाय**	= युद्धमें	**न, अवाप्स्यसि**	= प्राप्त नहीं होगा।
समे	= समान	**युज्यस्व**	= लग जा।		

व्याख्या—[अर्जुनको यह आशंका थी कि युद्धमें कुटुम्बियोंको मारनेसे हमारेको पाप लग जायगा, पर भगवान् यहाँ कहते हैं कि पापका हेतु युद्ध नहीं है, प्रत्युत अपनी कामना है। अतः कामनाका त्याग करके तू युद्धके लिये खड़ा हो जा।]

'सुखदुःखे समे .... ततो युद्धाय युज्यस्व'—युद्धमें सबसे पहले जय और पराजय होती है, जय-पराजयका परिणाम होता है—लाभ और हानि तथा लाभ-हानिका परिणाम होता है—सुख और दुःख। जय-पराजयमें और लाभ-हानिमें सुखी-दुःखी होना तेरा उद्‌देश्य नहीं है। तेरा उद्‌देश्य तो इन तीनोंमें सम होकर अपने कर्तव्यका पालन करना है।

युद्धमें जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख तो होंगे ही। अतः तू पहलेसे यह विचार कर ले कि मुझे तो केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है, जय-पराजय आदिसे कुछ भी मतलब नहीं रखना है। फिर युद्ध करनेसे पाप नहीं लगेगा अर्थात् संसारका बन्धन नहीं होगा।

सकाम और निष्काम—दोनों ही भावोंसे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करना आवश्यक है। जिसका सकाम भाव है, उसको तो कर्तव्यकर्मके करनेमें आलस्य, प्रमाद

बिलकुल नहीं करने चाहिये, प्रत्युत तत्परतासे अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। जिसका निष्काम भाव है, जो अपना कल्याण चाहता है, उसको भी तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

सुख आता हुआ अच्छा लगता है और जाता हुआ बुरा लगता है तथा दु:ख आता हुआ बुरा लगता है और जाता हुआ अच्छा लगता है। अत: इनमें कौन अच्छा है, कौन बुरा? अर्थात् दोनों ही समान हैं, बराबर हैं। इस प्रकार सुख-दु:खमें समबुद्धि रखते हुए तुझे अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

तेरी किसी भी कर्ममें सुखके लोभसे प्रवृत्ति न हो और दु:खके भयसे निवृत्ति न हो। कर्मोंमें तेरी प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्रके अनुसार ही हो (गीता—सोलहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

'नैवं पापमवाप्स्यसि'—यहाँ 'पाप' शब्द पाप और पुण्य—दोनोंका वाचक है, जिसका फल है—स्वर्ग और नरककी प्राप्तिरूप बन्धन, जिससे मनुष्य अपने कल्याणसे वंचित रह जाता है और बार-बार जन्मता-मरता रहता है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! समतामें स्थित होकर युद्धरूपी कर्तव्य-कर्म करनेसे तुझे पाप और पुण्य— दोनों ही नहीं बाँधेंगे।

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्ने इकतीसवें श्लोकसे अड़तीसवें श्लोकतकके आठ श्लोकोंमें कई विचित्र भाव प्रकट किये हैं; जैसे—

(१) किसीको व्याख्यान देना हो और किसी विषयको समझाना हो तो भगवान् इन आठ श्लोकोंमें उसकी कला बताते हैं। जैसे, कर्तव्य-कर्म करना और अकर्तव्य न करना—ऐसे विधि-निषेधका व्याख्यान देना हो तो उसमें पहले विधिका, बीचमें निषेधका और अन्तमें फिर विधिका वर्णन करके व्याख्यान समाप्त करना चाहिये। भगवान्ने भी यहाँ पहले इकतीसवें-बत्तीसवें दो श्लोकोंमें कर्तव्य-कर्म करनेसे लाभका वर्णन किया, फिर बीचमें तैंतीसवेंसे छत्तीसवेंतकके चार श्लोकोंमें कर्तव्य-कर्म न करनेसे हानिका वर्णन किया और अन्तमें सैंतीसवें-अड़तीसवें दो श्लोकोंमें कर्तव्य-कर्म करनेसे लाभका वर्णन करके कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा दी।

(२) पहले अध्यायमें अर्जुनने अपनी दृष्टिसे जो दलीलें दी थीं, उनका भगवान्ने इन आठ श्लोकोंमें समाधान किया है; जैसे अर्जुन कहते हैं—मैं युद्ध करनेमें कल्याण नहीं देखता हूँ (पहले अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक), तो भगवान् कहते हैं—क्षत्रियके लिये धर्ममय युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणका साधन नहीं है (दूसरे अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)। अर्जुन कहते हैं—युद्ध करके हम सुखी कैसे होंगे ? (पहले अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक), तो भगवान् कहते हैं—जिन क्षत्रियोंको ऐसा युद्ध मिल जाता है, वे ही क्षत्रिय सुखी हैं (दूसरे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। अर्जुन कहते हैं—युद्धके परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी (पहले अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक), तो भगवान् कहते हैं—युद्ध करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होगी (दूसरे अध्यायका बत्तीसवाँ और सैंतीसवाँ श्लोक)। अर्जुन कहते हैं—युद्ध करनेसे पाप लगेगा (पहले अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक), तो भगवान् कहते हैं—युद्ध न करनेसे पाप लगेगा (दूसरे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)। अर्जुन कहते हैं—युद्ध करनेसे परिणाममें धर्मका नाश होगा (पहले अध्यायका चालीसवाँ श्लोक), तो भगवान् कहते हैं—युद्ध न करनेसे धर्मका नाश होगा (दूसरे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)।

(३) अर्जुनका यह आग्रह था कि युद्धरूपी घोर कर्मको छोड़कर भिक्षासे निर्वाह करना मेरे लिये श्रेयस्कर है (दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक), तो उनको भगवान्ने युद्ध करनेकी आज्ञा दी (दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक); और उद्धवजीके मनमें भगवान्के साथ रहनेकी इच्छा थी तो उनको भगवान्ने उत्तराखण्डमें जाकर तप करनेकी आज्ञा दी (श्रीमद्भा० ग्यारहवाँ स्कन्ध, उनतीसवाँ अध्याय, इकतालीसवाँ श्लोक)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अपने मनका आग्रह छोड़े बिना कल्याण नहीं होता। वह आग्रह चाहे किसी रीतिका हो, पर वह उद्धार नहीं होने देता।

(४) भगवान्ने इस अध्यायके दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें जो बातें संक्षेपसे कही थीं, उन्हींको यहाँ विस्तारसे कहा है, जैसे—वहाँ **'अनार्यजुष्टम्'** कहा तो यहाँ **'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्'** कहा। वहाँ **'अस्वर्ग्यम्'** कहा तो यहाँ **'स्वर्गद्वारमपावृतम्'** कहा। वहाँ **'अकीर्तिकरम्'** कहा, तो यहाँ **'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्'** कहा। वहाँ युद्धके लिये आज्ञा दी—**'त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप'**, तो वही आज्ञा यहाँ देते हैं—**'ततो युद्धाय युज्यस्व'**।

परिशिष्ट भाव—गीता व्यवहारमें परमार्थकी विलक्षण कला बताती है, जिससे मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें रहते हुए तथा शास्त्रविहित सब तरहका व्यवहार करते हुए भी अपना कल्याण कर सके। अन्य ग्रन्थ तो प्रायः यह कहते हैं कि अगर अपना कल्याण चाहते हो तो सब कुछ त्यागकर साधु हो जाओ, एकान्तमें चले जाओ; क्योंकि व्यवहार और परमार्थ—दोनों एक साथ नहीं चल सकते। परन्तु गीता कहती है कि आप जहाँ हैं, जिस मतको मानते हैं, जिस सिद्धान्तको मानते हैं, जिस धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, आश्रम आदिको मानते हैं, उसीको मानते हुए गीताके अनुसार चलो तो कल्याण हो जायगा। एकान्तमें रहकर वर्षोंतक साधना करनेपर ऋषि-मुनियोंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए हो जायगी। सिद्धि-असिद्धिमें सम रहकर निष्कामभावपूर्वक कर्तव्यकर्म करना ही गीताके अनुसार व्यवहार करना है।

युद्धसे बढ़कर घोर परिस्थिति तथा प्रवृत्ति और क्या होगी? जब युद्ध-जैसी घोर परिस्थिति और प्रवृत्तिमें भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है, तो फिर ऐसी कौन-सी परिस्थिति तथा प्रवृत्ति होगी, जिसमें रहते हुए मनुष्य अपना कल्याण न कर सके? गीताके अनुसार एकान्तमें आसन लगाकर ध्यान करनेसे भी कल्याण हो सकता है (गीता—छठे अध्यायके दसवेंसे तेरहवें श्लोकतक) और युद्ध करनेसे भी कल्याण हो सकता है!

अर्जुन न तो स्वर्ग चाहते थे और न राज्य चाहते थे (गीता—पहले अध्यायका बत्तीसवाँ, पैंतीसवाँ और दूसरे अध्यायका आठवाँ श्लोक)। वे केवल युद्धसे होनेवाले पापसे बचना चाहते थे (गीता—पहले अध्यायका छत्तीसवाँ, उनतालीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान् मानो यह कहते हैं कि अगर तू स्वर्ग और राज्य नहीं चाहता, पर पापसे बचना चाहता है तो युद्धरूप कर्तव्यको समतापूर्वक कर, फिर तुझे पाप नहीं लगेगा—**'नैवं पापमवाप्स्यसि।'** कारण कि पाप लगनेमें हेतु युद्ध नहीं है, प्रत्युत विषमता (पक्षपात), कामना, स्वार्थ, अहंकार है। युद्ध तो तेरा कर्तव्य (धर्म) है। कर्तव्य न करनेसे और अकर्तव्य करनेसे ही पाप लगता है।

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे मानो यह कहा कि अगर तू राज्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति चाहे तो भी तेरे लिये कर्तव्यका पालन करना ही उचित है, और इस श्लोकमें मानो यह कहते हैं कि अगर तू राज्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति न चाहे तो भी तेरे लिये समतापूर्वक कर्तव्यका पालन करना ही उचित है। तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका त्याग किसी भी स्थितिमें उचित नहीं है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जिस समताकी बात कही है, आगेके दो श्लोकोंमें उसीको सुननेके लिये आज्ञा देते हुए उसकी महिमाका वर्णन करते हैं।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**अभिहिता**	=कही गयी	**यया**	=जिस
एषा	=यह	**तु**	=और (अब तू)	**बुद्ध्या**	=समबुद्धिसे
बुद्धिः	=समबुद्धि	**इमाम्**	=इसको	**युक्तः**	=युक्त हुआ (तू)
ते	=तेरे लिये (पहले)	**योगे**	=कर्मयोगके विषयमें	**कर्मबन्धम्**	=कर्म-बन्धनका
साङ्ख्ये	=सांख्ययोगमें	**शृणु**	=सुन;	**प्रहास्यसि**	=त्याग कर देगा।

व्याख्या—**'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'**—यहाँ **'तु'** पद प्रकरण-सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये आया है अर्थात् पहले सांख्यका प्रकरण कह दिया, अब योगका प्रकरण कहते हैं।

यहाँ **'एषा'** पद पूर्वश्लोकमें वर्णित समबुद्धिके लिये आया है। इस समबुद्धिका वर्णन पहले सांख्ययोगमें (ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक) अच्छी तरह किया गया है। देह-देहीका ठीक-ठीक विवेक होनेपर समतामें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। कारण कि देहमें राग रहनेसे ही विषमता आती है। इस प्रकार सांख्ययोगमें तो समबुद्धिका वर्णन हो चुका है। अब इसी समबुद्धिको तू कर्मयोगके विषयमें सुन।

'इमाम्' कहनेका तात्पर्य है कि अभी इस समबुद्धिको कर्मयोगके विषयमें कहना है कि यह समबुद्धि कर्मयोगमें कैसे प्राप्त होती है? इसका स्वरूप क्या है? इसकी महिमा क्या है? इन बातोंके लिये भगवान्‌ने इस बुद्धिको योगके विषयमें सुननेके लिये कहा है।

'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि'— अर्जुनके मनमें युद्ध करनेसे पाप लगनेकी सम्भावना थी (पहले अध्यायका छत्तीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक)। परन्तु भगवान्‌के मतमें कर्मोंमें विषमबुद्धि (राग-द्वेष) होनेसे ही पाप लगता है। समबुद्धि होनेसे पाप लगता ही नहीं। जैसे, संसारमें पाप और पुण्यकी अनेक क्रियाएँ होती रहती हैं, पर उनसे हमें पाप-पुण्य नहीं लगते; क्योंकि उनमें हमारी समबुद्धि रहती है अर्थात् उनमें हमारा कोई पक्षपात, आग्रह, राग-द्वेष नहीं रहते। ऐसे ही तू समबुद्धिसे युक्त रहेगा, तो तेरेको भी ये कर्म बन्धनकारक नहीं होंगे।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुनने अपने कल्याणकी बात पूछी थी। इसलिये भगवान् कल्याणके मुख्य-मुख्य साधनोंका वर्णन करते हैं। पहले भगवान्‌ने सांख्ययोगका साधन बताकर कर्तव्य-कर्म करनेपर बड़ा जोर दिया कि क्षत्रियके लिये धर्मरूप युद्धसे बढ़कर श्रेयका अन्य कोई साधन नहीं है (दूसरे अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)। फिर कहा कि समबुद्धिसे युद्ध किया जाय तो पाप नहीं लगता (दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। अब उसी समबुद्धिको कर्मयोगके विषयमें कहते हैं।

कर्मयोगी लोक-संग्रहके लिये सब कर्म करता है— **'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि'** (गीता—तीसरे अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। लोकसंग्रहके लिये कर्म करनेसे अर्थात् निःस्वार्थभावसे लोक-मर्यादा सुरक्षित रखनेके लिये, लोगोंको उन्मार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगानेके लिये कर्म करनेसे समताकी प्राप्ति सुगमतासे हो जाती है। समताकी प्राप्ति होनेसे कर्मयोगी कर्मबन्धनसे सुगमतापूर्वक छूट जाता है।

यह (उनतालीसवाँ) श्लोक तीसवें श्लोकके बाद ही ठीक बैठता है; और यह वहीं आना चाहिये था। कारण यह है कि इस श्लोकमें दो निष्ठाओंका वर्णन है। पहले ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक सांख्ययोगसे निष्ठा (समता) बतायी और अब कर्मयोगसे निष्ठा (समता) बताते हैं। अतः यहाँ इकतीससे अड़तीसतकके आठ श्लोकोंको देना असंगत मालूम देता है। फिर भी इन आठ श्लोकोंको यहाँ देनेका कारण यह है कि कर्मयोगमें समता कहनेसे पहले कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है ? अर्जुनके लिये युद्ध करना कर्तव्य है और युद्ध न करना अकर्तव्य है—इस विषयका वर्णन होना आवश्यक है। अतः भगवान्‌ने कर्तव्य-अकर्तव्यका वर्णन करनेके लिये ही उपर्युक्त आठ श्लोक (दूसरे अध्यायके इकतीसवेंसे अड़तीसवेंतक) कहे हैं, और फिर समताकी बात कही है। तात्पर्य है कि पहले ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक सत्-असत्‌के वर्णनसे समता बतायी कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है। इनमें कोई कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता। फिर इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक कर्तव्य-अकर्तव्यकी बात कहकर उनतालीसवें श्लोकसे अकर्तव्यका त्याग और कर्तव्यका पालन करते हुए कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धि और फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें समताका वर्णन करते हैं।

परिशिष्ट भाव—कर्मयोगके दो विभाग हैं—कर्तव्यविज्ञान और योगविज्ञान। भगवान्‌ने इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक कर्तव्यविज्ञानकी बात कही है, जिसमें कर्तव्य-कर्म करनेसे लाभ और न करनेसे हानिका वर्णन किया। अब यहाँसे तिरपनवें श्लोकतक योग-विज्ञानकी बात कहते हैं।

पूर्व श्लोकमें भगवान्‌ने जिस समताकी बात कही है, वह सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधनोंसे प्राप्त हो सकती है। शरीर और शरीरीके विभागको जानकर शरीर-विभागसे सम्बन्ध-विच्छेद करना 'सांख्ययोग' है तथा कर्तव्य और अकर्तव्यके विभागको जानकर अकर्तव्य-विभागका त्याग और कर्तव्यका पालन करना 'कर्मयोग' है। मनुष्यको दोनोंमेंसे किसी भी एक साधनका अनुष्ठान करके इस समताको प्राप्त कर लेना चाहिये। कारण कि समता आनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

एक धर्मशास्त्र (पूर्वमीमांसा) है और एक मोक्षशास्त्र (उत्तरमीमांसा) है। यहाँ इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक धर्मशास्त्रकी और उनतालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक मोक्षशास्त्रकी बात आयी है। धर्मसे लौकिक और पारमार्थिक—दोनों तरहकी उन्नति होती है*। धर्मशास्त्रमें कर्तव्य-पालन मुख्य है। धर्म कहो चाहे कर्तव्य कहो, एक ही बात है।

---

* **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेषिक० १ । ३)**

जो करना चाहिये उसको न करना भी अकर्तव्य है और जो नहीं करना चाहिये, उसको करना भी अकर्तव्य है। जिसमें अपने सुखकी इच्छाका त्याग करके दूसरेको सुख पहुँचाया जाय और जिसमें अपना भी हित हो तथा दूसरेका भी हित हो, वह 'कर्तव्य' कहलाता है। कर्तव्यका पालन करनेसे 'योग' की प्राप्ति अपने-आप हो जाती है। कर्तव्यका पालन किये बिना मनुष्य योगारूढ़ नहीं हो सकता (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। योगकी प्राप्ति होनेपर तत्त्वज्ञान स्वतः हो जाता है, जो कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम है (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

इह = मनुष्यलोकमें, **अस्य** = इस समबुद्धिरूप, **धर्मस्य** = धर्मके, **अभिक्रमनाशः** = आरम्भका नाश, **न** = नहीं, **अस्ति** = होता (तथा इसके अनुष्ठानका), **प्रत्यवायः** = उलटा फल (भी), **न** = नहीं, **विद्यते** = होता (और इसका), **स्वल्पम्** = थोड़ा-सा, **अपि** = भी (अनुष्ठान), **महतः** = (जन्म-मरणरूप) महान्, **भयात्** = भयसे, **त्रायते** = रक्षा कर लेता है।

व्याख्या—'**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**'—इस समबुद्धि (समता)-का केवल आरम्भ ही हो जाय, तो उस आरम्भका भी नाश नहीं होता। मनमें समता प्राप्त करनेकी जो लालसा, उत्कण्ठा लगी है, यही इस समताका आरम्भ होना है। इस आरम्भका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि सत्य वस्तुकी लालसा भी सत्य ही होती है।

यहाँ '**इह**' कहनेका तात्पर्य है कि इस मनुष्यलोकमें यह मनुष्य ही इस समबुद्धिको प्राप्त करनेका अधिकारी है। मनुष्यके सिवाय दूसरी सभी भोगयोनियाँ हैं। अतः उन योनियोंमें विषमता (राग-द्वेष)-का नाश करनेका अवसर नहीं है; क्योंकि भोग राग-द्वेषपूर्वक ही होते हैं। यदि राग-द्वेष न हों तो भोग होगा ही नहीं, प्रत्युत साधन ही होगा।

'**प्रत्यवायो न विद्यते**'—सकामभावपूर्वक किये गये कर्मोंमें अगर मन्त्र-उच्चारण, यज्ञ-विधि आदिमें कोई कमी रह जाय तो उसका उलटा फल हो जाता है। जैसे, कोई पुत्र-प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करता है तो उसमें विधिकी त्रुटि हो जानेसे पुत्रका होना तो दूर रहा, घरमें किसीकी मृत्यु हो जाती है अथवा विधिकी कमी रहनेसे इतना उलटा फल न भी हो, तो भी पुत्र पूर्ण अंगोंके साथ नहीं जन्मता! परन्तु जो मनुष्य इस समबुद्धिको अपने अनुष्ठानमें लानेका प्रयत्न करता है, उसके प्रयत्नका, अनुष्ठानका कभी भी उलटा फल नहीं होता। कारण कि उसके अनुष्ठानमें फलकी इच्छा नहीं होती। जबतक फलेच्छा रहती है, तबतक समता नहीं आती और समता आनेपर फलेच्छा नहीं रहती। अतः उसके अनुष्ठानका विपरीत फल होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं।

विपरीत फल क्या है? संसारमें विषमताका होना ही विपरीत फल है। सांसारिक किसी कार्यमें राग होना और किसी कार्यमें द्वेष होना ही विषमता है, और इसी विषमतासे जन्म-मरणरूप बन्धन होता है। परन्तु मनुष्यमें जब समता आती है, तब राग-द्वेष नहीं रहते और राग-द्वेषके न रहनेसे विषमता नहीं रहती, तो फिर उसका विपरीत फल होनेका कोई कारण ही नहीं है।

'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**'—इस समबुद्धिरूप धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ी-सी भी समता जीवनमें, आचरणमें आ जाय, तो यह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है। जैसे सकाम कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है, ऐसे यह समता धन-सम्पत्ति आदि कोई फल देकर नष्ट नहीं होती अर्थात् इसका फल नाशवान् धन-सम्पत्ति आदिकी प्राप्ति नहीं होता। साधकके अन्तःकरणमें अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें जितनी समता आ जाती है, उतनी समता अटल हो जाती है। इस समताका किसी भी कालमें नाश नहीं हो सकता। जैसे, योगभ्रष्टकी साधन-अवस्थामें जितनी समता आ जाती है, जितनी साधन-सामग्री हो जाती है, उसका स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें बहुत वर्षोंतक सुख भोगनेपर और मृत्युलोकमें श्रीमानोंके घरमें भोग भोगनेपर भी नाश नहीं होता (गीता—छठे अध्यायका इकतालीसवाँ और चौवालीसवाँ श्लोक)। यह समता, साधन-सामग्री कभी

किंचिन्मात्र भी खर्च नहीं होती, प्रत्युत सदा ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रहती है; क्योंकि यह सत् है, सदा रहनेवाली है।

'धर्म' नाम दो बातोंका है—(१) दान करना, प्याऊ लगाना, अन्नक्षेत्र खोलना आदि परोपकारके कार्य करना और (२) वर्ण-आश्रमके अनुसार शास्त्र-विहित अपने कर्तव्य-कर्मका तत्परतासे पालन करना। इन धर्मोंका निष्कामभावपूर्वक पालन करनेसे समतारूप धर्म स्वतः आ जाता है; क्योंकि यह समतारूप धर्म स्वयंका धर्म अर्थात् स्वरूप है। इसी बातको लेकर यहाँ समबुद्धिको धर्म कहा गया है।

समता-सम्बन्धी विशेष बात

लोगोंके भीतर प्रायः यह बात बैठी हुई है कि मन लगनेसे ही भजन-स्मरण होता है, मन नहीं लगा तो राम-राम करनेसे क्या लाभ? परन्तु गीताकी दृष्टिमें मन लगना कोई ऊँची चीज नहीं है। गीताकी दृष्टिमें ऊँची चीज है—समता। दूसरे लक्षण आयें या न आयें, जिसमें समता आ गयी, उसको गीता सिद्ध कह देती है। जिसमें दूसरे सब लक्षण आ जायँ और समता न आये, उसको गीता सिद्ध नहीं कहती।

समता दो तरहकी होती है—अन्तःकरणकी समता और स्वरूपकी समता। समरूप परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है। उस समरूप परमात्मामें जो स्थित हो गया, उसने संसारमात्रपर विजय प्राप्त कर ली, वह जीवन्मुक्त हो गया। परन्तु इसकी पहचान अन्तःकरणकी समतासे होती है (गीता— पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। अन्तःकरणकी समता है—सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक)। प्रशंसा हो जाय या निन्दा हो जाय, कार्य सफल हो जाय या असफल हो जाय, लाखों रुपये आ जायँ या लाखों रुपये चले जायँ पर उससे अन्तःकरणमें कोई हलचल न हो; सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि न हो (गीता—पाँचवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। इस समताका कभी नाश नहीं होता। कल्याणके सिवाय इस समताका दूसरा कोई फल होता ही नहीं।

मनुष्य तप, दान, तीर्थ, व्रत आदि कोई भी पुण्य-कर्म करे, वह फल देकर नष्ट हो जाता है; परन्तु साधन करते-करते अन्तःकरणमें थोड़ी भी समता (निर्विकारता) आ जाय तो वह नष्ट नहीं होती, प्रत्युत कल्याण कर देती है। इसलिये साधनमें समता जितनी ऊँची चीज है, मनकी एकाग्रता उतनी ऊँची चीज नहीं है। मन एकाग्र होनेसे सिद्धियाँ तो प्राप्त हो जाती हैं, पर कल्याण नहीं होता। परन्तु समता आनेसे मनुष्य संसार-बन्धनसे सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—समताकी महिमा भगवान्ने उनतालीसवें-चालीसवें श्लोकोंमें चार प्रकारसे कही है—

(१) **'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'**—समताके द्वारा मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(२) **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**—इसके आरम्भका भी नाश नहीं होता।

(३) **'प्रत्यवायो न विद्यते'**—इसके अनुष्ठानका उलटा फल भी नहीं होता।

(४) **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**—इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

यद्यपि पहली बातके अन्तर्गत ही शेष तीनों बातें आ जाती हैं, तथापि सबमें थोड़ा अन्तर है; जैसे—

(१) भगवान् पहले सामान्य रीतिसे कहते हैं कि समतासे युक्त मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। बन्धनका कारण गुणोंका संग अर्थात् प्रकृति और उसके कार्यसे माना हुआ सम्बन्ध है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। समता आनेसे प्रकृति और उसके कार्यसे सम्बन्ध नहीं रहता; अतः मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। जैसे संसारमें अनेक शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं, पर वे कर्म हमें बाँधते नहीं; क्योंकि उन कर्मोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त मनुष्यका इस शरीरसे होनेवाले कर्मोंसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(२) समताका केवल आरम्भ हो जाय अर्थात् समताको प्राप्त करनेका उद्देश्य, जिज्ञासा हो जाय तो इस आरम्भका कभी नाश नहीं होता। कारण कि अविनाशीका उद्देश्य भी अविनाशी ही होता है, जबकि नाशवान्का उद्देश्य भी नाशवान् ही होता है। नाशवान्का उद्देश्य तो नाश (पतन) करता है, पर समताका उद्देश्य कल्याण ही करता है—**'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (गीता ६। ४४)।

(३) समताके अनुष्ठानका उलटा फल नहीं होता। सकामभावसे किये जानेवाले कर्ममें अगर मन्त्रोच्चारण, अनुष्ठान-

विधि आदिकी कोई त्रुटि हो जाय तो उसका उलटा फल हो जाता है*। परन्तु जितनी समता अनुष्ठानमें, जीवनमें आ गयी है, उसमें अगर व्यवहार आदिकी कोई भूल हो जाय, सावधानीमें कोई कमी रह जाय तो उसका उलटा फल (बन्धन) नहीं होता। जैसे, कोई हमारे यहाँ नौकरी करता हो और अँधेरेमें लालटेन जलाते समय कभी उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज होते हैं। परन्तु उस समय जो हमारा मित्र हो, जो हमारेसे कभी कुछ चाहता नहीं, उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज नहीं होते, प्रत्युत कहते हैं कि हमारे हाथसे भी तो वस्तु टूट जाती है, तुम्हारे हाथसे टूट गयी तो क्या हुआ ? कोई बात नहीं। अतः जो सकामभावसे कर्म करता है, उसके कर्मका तो उलटा फल हो सकता है, पर जो किसी प्रकारका फल चाहता ही नहीं, उसके अनुष्ठानका उलटा फल कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

(४) समताका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ा-सा भी समताका भाव बन जाय तो वह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। जैसे सकाम कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है, ऐसे यह थोड़ी-सी भी समता फल देकर नष्ट नहीं होती, प्रत्युत इसका उपयोग केवल कल्याणमें ही होता है। यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म यदि सकामभावसे किये जायँ तो उनका नाशवान् फल (धन-सम्पत्ति एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति) होता है और यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनका अविनाशी फल (मोक्ष) होता है। इस प्रकार यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके तो दो-दो फल हो सकते हैं, पर समताका एक ही फल—कल्याण होता है। जैसे कोई मुसाफिर चलते-चलते रास्तेमें रुक जाय अथवा सो जाय तो वह जहाँसे चला था, वहाँ पुनः लौटकर नहीं चला जाता, प्रत्युत जहाँतक वह पहुँच गया, वहाँतकका रास्ता तो कट ही गया। ऐसे ही जितनी समता जीवनमें आ गयी, उसका नाश कभी नहीं होता।

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—निष्कामभाव थोड़ा होते हुए भी सत्य है और भय महान् होते हुए भी असत्य है। जैसे मनभर रुई हो तो उसको जलानेके लिये मनभर अग्निकी जरूरत नहीं है। रुई एक मन हो या सौ मन, उसको जलानेके लिये एक दियासलाई पर्याप्त है। एक दियासलाई लगाते ही वह रुई खुद दियासलाई अर्थात् अग्नि बन जायगी। रुई खुद दियासलाईकी मदद करेगी। अग्नि रुईके साथ नहीं होगी, प्रत्युत रुई खुद ज्वलनशील होनेके कारण अग्निके साथ हो जायगी। इसी तरह असंगता आग है और संसार रुई है। संसारसे असंग होते ही संसार अपने-आप नष्ट हो जायगा; क्योंकि मूलमें संसारकी सत्ता न होनेसे उससे कभी संग हुआ ही नहीं।

थोड़े-से-थोड़ा त्याग भी सत् है और बड़ी-से-बड़ी क्रिया भी असत् है। क्रियाका तो अन्त होता है, पर त्याग अनन्त होता है। इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ तो फल देकर नष्ट हो जाती हैं (गीता—आठवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक), पर त्याग कभी नष्ट नहीं होता—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२।१२)। एक अहम्‌के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्‌ने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रखा है (गीता—सातवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

जैसे, कितनी ही घास हो, क्या अग्निके सामने टिक सकती है? कितना ही अँधेरा हो, क्या प्रकाशके सामने टिक सकता है? अँधेरे और प्रकाशमें लड़ाई हो जाय तो क्या अँधेरा जीत जायगा? ऐसे ही अज्ञान और ज्ञानकी लड़ाई हो जाय तो क्या अज्ञान जीत जायगा? महान्-से-महान् भय क्या अभयके सामने टिक सकता है? समता

*** ऐसी कथा आती है कि त्वष्टाने इन्द्रका वध करनेवाले पुत्रकी इच्छासे एक यज्ञ किया। उस यज्ञमें ऋषियोंने 'इन्द्रशत्रुं विवर्धस्व' इस मन्त्रके साथ हवन किया। 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें यदि षष्ठीतत्पुरुष समास हो तो इसका अर्थ होगा—इन्द्रस्य शत्रुः (इन्द्रका शत्रु) और यदि बहुव्रीहि समास हो तो इसका अर्थ होगा—'इन्द्रः शत्रुर्यस्य' (जिसका शत्रु इन्द्र है)। समासमें भेद होनेसे स्वरमें भी भेद हो जाता है। अतः षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण अन्त्योदात्त होगा अर्थात् अन्तिम अक्षर 'त्रु' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा; और बहुव्रीहि समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण आद्योदात्त होगा अर्थात् प्रथम अक्षर 'इ' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा। ऋषियोंका उद्देश्य तो षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका अन्त्योदात्त उच्चारण करना था, पर उन्होंने उसका आद्योदात्त उच्चारण कर दिया। इस प्रकार स्वरभेद हो जानेसे मन्त्रोच्चारणका फल उलटा हो गया, जिससे इन्द्र ही त्वष्टाके पुत्र (वृत्रासुर)-का वध करनेवाला हो गया। इसलिये कहा गया है—**

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(पाणिनीयशिक्षा)

थोड़ी हो तो भी पूरी है और भय महान् हो तो भी अधूरा है। स्वल्प समता भी महान् है; क्योंकि वह सच्ची है और महान् भय भी स्वल्प (सत्ताहीन) है; क्योंकि वह कच्चा है।

समताको, निष्कामभावको 'स्वल्प' कहनेका क्या तात्पर्य है? निष्कामभाव तो महान् है, पर हमारी समझमें, हमारे अनुभवमें थोड़ा आनेसे उसको स्वल्प कह दिया है। वास्तवमें समझ थोड़ी हुई, समता थोड़ी नहीं हुई। उधर हमारी दृष्टि कम गयी है तो हमारी दृष्टिमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसी तरह हमने असत्‌को ज्यादा आदर दे दिया तो असत् महान् नहीं हुआ, प्रत्युत हमारा आदर महान् हुआ। इसलिये अगर हम सत्‌का अधिक आदर करें तो सत् महान् हो जायगा अर्थात् उसकी महत्ताका अनुभव हो जायगा, और असत्‌का आदर न करें तो असत् स्वल्प हो जायगा। वास्तवमें असत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** और सत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता नित्य-निरन्तर विद्यमान है—**'नाभावो विद्यते सतः'।** इसलिये उपनिषदोंमें परमात्मतत्त्वको अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् कहा गया है—**'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (कठ० १। २। २०; श्वेताश्वतर० ३। २०)।

सम्बन्ध—उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिस समबुद्धिको योगमें सुननेके लिये कहा था, उसी समबुद्धिको प्राप्त करनेका साधन आगेके श्लोकमें बताते हैं।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१ ॥

कुरुनन्दन = हे कुरुनन्दन! **इह** = इस (समबुद्धिकी प्राप्ति)-के विषयमें **व्यवसायात्मिका** = निश्चयवाली **बुद्धिः** = बुद्धि **एका** = एक ही (होती है)। **अव्यवसायिनाम्** = जिनका एक निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी **बुद्धयः** = बुद्धियाँ **अनन्ताः** = अनन्त **च** = और **बहुशाखा** = बहुत शाखाओंवाली **हि** = ही (होती हैं)।

व्याख्या—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'**—कर्मयोगी साधकका ध्येय (लक्ष्य) जिस समताको प्राप्त करना रहता है, वह समता परमात्माका स्वरूप है। उस परमात्मस्वरूप समताकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणकी समता साधन है, अन्तःकरणकी समतामें संसारका राग बाधक है। उस रागको हटानेका अथवा परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका जो एक निश्चय है, उसका नाम है—व्यवसायात्मिका बुद्धि। व्यवसायात्मिका बुद्धि एक क्यों होती है? कारण कि इसमें सांसारिक वस्तु, पदार्थ आदिकी कामनाका त्याग होता है। यह त्याग एक ही होता है, चाहे धनकी कामनाका त्याग करें, चाहे मान-बड़ाईकी कामनाका त्याग करें। परन्तु ग्रहण करनेमें अनेक चीजें होती हैं; क्योंकि एक-एक चीज अनेक तरहकी होती है; जैसे—एक ही मिठाई अनेक तरहकी होती है। अतः इन चीजोंकी कामनाएँ भी अनेक, अनन्त होती हैं।

गीतामें कर्मयोग (प्रस्तुत श्लोक) और भक्तियोग (नवें अध्यायका तीसवाँ श्लोक)-के प्रकरणमें तो व्यवसायात्मिका बुद्धिका वर्णन आया है, पर ज्ञानयोगके प्रकरणमें व्यवसायात्मिका बुद्धिका वर्णन नहीं आया। इसका कारण यह है कि ज्ञानयोगमें पहले स्वरूपका बोध होता है, फिर उसके परिणामस्वरूप बुद्धि स्वतः एक निश्चयवाली हो जाती है और कर्मयोग तथा भक्तियोगमें पहले बुद्धिका एक निश्चय होता है, फिर स्वरूपका बोध होता है। अतः ज्ञानयोगमें ज्ञानकी मुख्यता है और कर्मयोग तथा भक्तियोगमें एक निश्चयकी मुख्यता है।

'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'—अव्यवसायी वे होते हैं, जिनके भीतर सकामभाव होता है, जो भोग और संग्रहमें आसक्त होते हैं। कामनाके कारण ऐसे मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त होती हैं और वे बुद्धियाँ भी अनन्त शाखाओंवाली होती हैं अर्थात् एक-एक बुद्धिकी भी अनन्त शाखाएँ होती हैं। जैसे, पुत्र-प्राप्ति करनी है—यह एक बुद्धि हुई और पुत्र-प्राप्तिके लिये किसी औषधका सेवन करें, किसी मन्त्रका जप करें, कोई अनुष्ठान करें, किसी सन्तका आशीर्वाद लें आदि उपाय उस बुद्धिकी अनन्त शाखाएँ हुईं। ऐसे ही धन-प्राप्ति करनी है—यह एक बुद्धि हुई और धन-प्राप्तिके लिये व्यापार करें, नौकरी करें, चोरी करें, डाका डालें, धोखा दें, ठगाई करें आदि उस बुद्धिकी अनन्त शाखाएँ हुईं। ऐसे मनुष्योंकी बुद्धिमें परमात्मप्राप्तिका निश्चय नहीं होता।

परिशिष्ट भाव—वास्तविक उद्‌देश्य एक ही होता है। जबतक मनुष्यका एक उद्‌देश्य नहीं होता, तबतक उसके अनन्त उद्‌देश्य रहते हैं और एक-एक उद्‌देश्यकी अनेक शाखाएँ होती हैं। उसकी अनन्त कामनाएँ होती हैं और एक-एक कामनाकी पूर्तिके लिये उपाय भी अनेक होते हैं।

सम्बन्ध—अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त क्यों होती हैं—इसका हेतु आगेके तीन श्लोकोंमें बताते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

पार्थ = हे पृथानन्दन!
कामात्मानः = जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं,
स्वर्गपराः = स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं,
वेदवादरताः = वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं,
अन्यत् = (भोगोंके सिवाय) और कुछ
न, अस्ति = है ही नहीं—
इति = ऐसा
वादिनः = कहनेवाले हैं,
अविपश्चितः = (वे) अविवेकी मनुष्य
इमाम् = इस प्रकारकी
याम् = जिस
पुष्पिताम् = पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त)
वाचम् = वाणीको
प्रवदन्ति = कहा करते हैं, (जो कि)
जन्मकर्मफलप्रदाम् = जन्मरूपी कर्म-फलको देनेवाली है (तथा)
भोगैश्वर्यगतिम्, प्रति = भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये
क्रियाविशेषबहुलाम् = बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है।

व्याख्या—'**कामात्मानः**'—वे कामनाओंमें इतने रचे-पचे रहते हैं कि वे कामनारूप ही बन जाते हैं। उनको अपनेमें और कामनामें भिन्नता ही नहीं दीखती। उनका तो यही भाव होता है कि कामनाके बिना आदमी जी नहीं सकता, कामनाके बिना कोई भी काम नहीं हो सकता, कामनाके बिना आदमी पत्थरकी तरह जड हो जाता है, उसको चेतना भी नहीं रहती। ऐसे भाववाले पुरुष '**कामात्मानः**' हैं।

स्वयं तो नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें कभी घट-बढ़ नहीं होती, पर कामना आती-जाती रहती है और घटती-बढ़ती है। स्वयं परमात्माका अंश है और कामना संसारके अंशको लेकर है। अतः स्वयं और कामना—ये दोनों सर्वथा अलग-अलग हैं। परन्तु कामनामें रचे-पचे लोगोंको अपने स्वरूपका अलग भान ही नहीं होता।

'**स्वर्गपराः**'—स्वर्गमें बढ़िया-से-बढ़िया दिव्य भोग मिलते हैं, इसलिये उनके लक्ष्यमें स्वर्ग ही सर्वश्रेष्ठ होता है और वे उसकी प्राप्तिमें ही रात-दिन लगे रहते हैं।

यहाँ '**स्वर्गपराः**' पदसे उन मनुष्योंकी बात कही गयी है, जो वेदोंमें, शास्त्रोंमें वर्णित स्वर्गादि लोकोंमें आस्था रखनेवाले हैं।

'**वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः**'—वे वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं अर्थात् वेदोंका तात्पर्य वे केवल भोगोंमें और स्वर्गकी प्राप्तिमें मानते हैं, इसलिये वे '**वेदवादरताः**' हैं। उनकी मान्यतामें यहाँके और स्वर्गके भोगोंके सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् उनकी दृष्टिमें भोगोंके सिवाय परमात्मा, तत्त्वज्ञान, मुक्ति, भगवत्प्रेम आदि कोई चीज है ही नहीं। अतः वे भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं। भोग भोगना उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

'**यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः**'—जिनमें सत्-असत्, नित्य-अनित्य, अविनाशी-विनाशीका विवेक नहीं है, ऐसे अविवेकी मनुष्य वेदोंकी जिस वाणीमें संसार और भोगोंका वर्णन है, उस पुष्पित वाणीको कहा करते हैं।

यहाँ '**पुष्पिताम्**' कहनेका तात्पर्य है कि भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिका वर्णन करनेवाली वाणी केवल फूल-पत्ती ही है, फल नहीं है। तृप्ति फलसे ही होती है, फूल-पत्तीकी शोभासे नहीं। वह वाणी स्थायी फल देनेवाली नहीं है। उस

वाणीका जो फल—स्वर्गादिका भोग है, वह केवल देखनेमें ही सुन्दर दीखता है, उसमें स्थायीपना नहीं है।

'जन्मकर्मफलप्रदाम्'—वह पुष्पित वाणी जन्मरूपी कर्मफलको देनेवाली है; क्योंकि उसमें सांसारिक भोगोंको ही महत्त्व दिया गया है। उन भोगोंका राग ही आगे जन्म होनेमें कारण है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

'क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति'—वह पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणी भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये जिन सकाम अनुष्ठानोंका वर्णन करती है, उनमें क्रियाओंकी बहुलता रहती है अर्थात् उन अनुष्ठानोंमें अनेक तरहकी विधियाँ होती हैं, अनेक तरहकी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, अनेक तरहके पदार्थोंकी जरूरत पड़ती है एवं शरीर आदिमें परिश्रम भी अधिक होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

तया = उस पुष्पित वाणीसे
अपहृतचेतसाम् = जिसका अन्तः-करण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है (और जो)
भोगैश्वर्य-प्रसक्तानाम् = भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, (उन मनुष्योंकी)
समाधौ = परमात्मामें
व्यवसायात्मिका = एक निश्चयवाली
बुद्धिः = बुद्धि
न = नहीं
विधीयते = होती।

व्याख्या—**'तयापहृतचेतसाम्'**—पूर्वश्लोकोंमें जिस पुष्पित वाणीका वर्णन किया गया है, उस वाणीसे जिनका चित्त अपहृत हो गया है अर्थात् स्वर्गमें बड़ा भारी सुख है, दिव्य नन्दनवन है, अप्सराएँ हैं, अमृत है— ऐसी वाणीसे जिनका चित्त उन भोगोंकी तरफ खिंच गया है।

'भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्'—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय, शरीरका आराम, मान और नामकी बड़ाई—इनके द्वारा सुख लेनेका नाम 'भोग' है। भोगोंके लिये पदार्थ, रुपये-पैसे, मकान आदिका जो संग्रह किया जाता है, उसका नाम 'ऐश्वर्य' है। इन भोग और ऐश्वर्यमें जिनकी आसक्ति है, प्रियता है, खिंचाव है अर्थात् इनमें जिनकी महत्त्वबुद्धि है, उनको **'भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्'** कहा गया है।

जो भोग और ऐश्वर्यमें ही लगे रहते हैं, वे आसुरी सम्पत्तिवाले होते हैं। कारण कि 'असु' नाम प्राणोंका है और उन प्राणोंको जो बनाये रखना चाहते हैं, उन प्राणपोषण-परायण लोगोंका नाम 'असुर' है। वे शरीरकी प्रधानताको लेकर यहाँके अथवा स्वर्गके भोग भोगना चाहते हैं*।

'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते'—जो मनुष्यजन्मका असली ध्येय है, जिसके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उस परमात्माको ही प्राप्त करना है— ऐसी व्यवसायात्मिका बुद्धि उन लोगोंमें नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जो भोग भोगे जा चुके हैं, जो भोग भोगे जा सकते हैं, जिन भोगोंको सुन रखा है और जो भोग सुने जा सकते हैं, उनके संस्कारोंके कारण बुद्धिमें जो मलिनता रहती है, उस मलिनताके कारण संसारसे सर्वथा विरक्त होकर एक परमात्माकी तरफ चलना है—ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं होता। ऐसे ही संसारकी अनेक विद्याओं, कलाओं आदिका जो संग्रह है, उससे 'मैं विद्वान् हूँ', 'मैं जानकार हूँ'—ऐसा जो अभिमानजन्य सुखका भोग होता है, उसमें आसक्त मनुष्योंका भी परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय नहीं होता।

विशेष बात

परमदयालु प्रभुने कृपा करके इस मनुष्यशरीरमें एक ऐसी विलक्षण विवेकशक्ति दी है, जिससे वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जाय, अपना उद्धार कर ले, सबकी सेवा करके भगवान्‌तकको अपने वशमें कर ले! इसीमें मनुष्य-शरीरकी

*** यहाँ जिन राजसी मनुष्योंका वर्णन हो रहा है, उनको भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिवालोंके प्रकरणमें 'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः' (१६। ११), 'प्रसक्ताः कामभोगेषु' (१६। १६) आदि पदोंसे कहा है। अतः जो केवल भोग भोगना चाहते हैं, वे आसुरी सम्पत्तिवाले ही हैं।**

सार्थकता है। परन्तु प्रभुप्रदत्त इस विवेकशक्तिका अनादर करके नाशवान् भोग और संग्रहमें आसक्त हो जाना पशुबुद्धि है। कारण कि पशु-पक्षी भी भोगोंमें लगे रहते हैं, ऐसे ही अगर मनुष्य भी भोगोंमें लगा रहे तो पशु-पक्षियोंमें और मनुष्यमें अन्तर ही क्या रहा ?

पशु-पक्षी तो भोगयोनि है; अतः उनके सामने कर्तव्यका प्रश्न ही नहीं है। परन्तु मनुष्यजन्म तो केवल अपने कर्तव्यका पालन करके अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है, भोग भोगनेके लिये नहीं। इसलिये मनुष्यके सामने जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री है, भोग-सामग्री नहीं। जो उसको भोग-सामग्री मान लेते हैं, उनकी परमात्मामें व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती।

वास्तवमें सांसारिक पदार्थ परमात्माकी तरफ चलनेमें बाधा नहीं देते, प्रत्युत वर्तमानमें जो भोगोंका महत्त्व अन्तःकरणमें बैठा हुआ है, वही बाधा देता है। भोग उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोंका महत्त्व अटकाता है। अटकानेमें अपनी रुचि, नीयतकी प्रधानता है। भोग और संग्रहकी रुचिको रखते हुए कोई परमात्माको प्राप्त करना चाहे, तो परमात्माकी प्राप्ति तो दूर रही, उनकी प्राप्तिका एक निश्चय भी नहीं हो सकता। कारण कि जहाँ परमात्माकी तरफ चलनेकी रुचि है, वहीं भोगोंकी रुचि भी है। जबतक भोग और संग्रहमें, मान-बड़ाई-आराममें रुचि है, तबतक कोई भी एक निश्चय करके परमात्मामें नहीं लग सकता; क्योंकि उसका अन्तःकरण भोगोंकी रुचिद्वारा हर लिया गया; उसकी जो शक्ति थी, वह भोग और संग्रहमें लग गयी।

परिशिष्ट भाव—अपने कल्याणमें अगर कोई बाधा है तो वह है—भोग और ऐश्वर्य (संग्रह)-की इच्छा। जैसे जालमें फँसी हुई मछली आगे नहीं बढ़ सकती, ऐसे ही भोग और संग्रहमें फँसे हुए मनुष्यकी दृष्टि परमात्माकी तरफ बढ़ ही नहीं सकती। इतना ही नहीं, भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकता।

जो संसारको सच्चा मानता है, उसके लिये कर्मयोग शीघ्र सिद्धि देनेवाला है। कर्मयोगी अपने कर्तव्य कर्मोंके द्वारा संसारकी सेवा करता है अर्थात् प्रत्येक कर्म निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही करता है। वह दूसरोंके सुखसे प्रसन्न (सुखी) और दूसरोंके दुःखसे करुणित (दुःखी) होता है। दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्न होनेसे उसमें 'भोग' की इच्छा नहीं रहती और दूसरोंको दुःखी देखकर करुणित होनेसे उसमें 'संग्रह' की इच्छा नहीं रहती*।

सम्बन्ध—किसी बातको पुष्ट करना हो तो पहले उसके दोनों पक्ष सामने रखकर फिर उसको पुष्ट किया जाता है। यहाँ भगवान् निष्कामभावको पुष्ट करना चाहते हैं; अतः पीछेके तीन श्लोकोंमें सकामभाववालोंका वर्णन करके अब आगेके श्लोकमें निष्काम होनेकी प्रेरणा करते हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

वेदाः = वेद
त्रैगुण्यविषयाः = तीनों गुणोंके कार्यका ही वर्णन करनेवाले हैं;
अर्जुन = हे अर्जुन! (तू)
निस्त्रैगुण्यः = तीनों गुणोंसे रहित
भव = हो जा,
निर्द्वन्द्वः = राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित (हो जा),
नित्यसत्त्वस्थः = (निरन्तर) नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित (हो जा),
निर्योगक्षेमः = योगक्षेमकी चाहना भी मत रख (और)
आत्मवान् = परमात्मपरायण (हो जा)।

व्याख्या—**'त्रैगुण्यविषया वेदाः'**—यहाँ वेदोंसे तात्पर्य वेदोंके उस अंशसे है, जिसमें तीनों गुणोंका और तीनों गुणोंके कार्य स्वर्गादि भोग-भूमियोंका वर्णन है।

यहाँ उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य वेदोंकी निन्दामें नहीं है, प्रत्युत निष्कामभावकी महिमामें है। जैसे हीरेके वर्णनके साथ-साथ काँचका वर्णन किया जाय तो उसका तात्पर्य काँचकी निन्दा करनेमें नहीं है, प्रत्युत हीरेकी महिमा बतानेमें है। ऐसे ही यहाँ निष्कामभावकी महिमा बतानेके लिये ही

*** वास्तवमें असली सेवा त्यागीके द्वारा ही होती है अर्थात् भोग और संग्रहकी इच्छा सर्वथा मिटनेसे ही असली सेवा होती है, अन्यथा नकली सेवा होती है। परन्तु उद्देश्य असली (सबके हितका) होनेसे नकली सेवा भी असलीमें बदल जाती है।**

वेदोंके सकामभावका वर्णन आया है, निन्दाके लिये नहीं। वेद केवल तीनों गुणोंका कार्य संसारका ही वर्णन करनेवाले हैं, ऐसी बात भी नहीं है। वेदोंमें परमात्मा और उनकी प्राप्तिके साधनोंका भी वर्णन हुआ है।

'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'—हे अर्जुन! तू तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारकी इच्छाका त्याग करके असंसारी बन जा अर्थात् संसारसे ऊँचा उठ जा।

'निर्द्वन्द्वः'—संसारसे ऊँचा उठनेके लिये राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है; क्योंकि ये ही वास्तवमें मनुष्यके शत्रु हैं अर्थात् उसको संसारमें फँसानेवाले हैं (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)[1]। इसलिये तू सम्पूर्ण द्वन्द्वोंसे रहित हो जा।

यहाँ भगवान् अर्जुनको निर्द्वन्द्व होनेकी आज्ञा क्यों दे रहे हैं? कारण कि द्वन्द्वोंसे सम्मोह होता है, संसारमें फँसावट होती है (गीता—सातवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। जब साधक निर्द्वन्द्व होता है, तभी वह दृढ़ होकर भजन कर सकता है (गीता—सातवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)। निर्द्वन्द्व होनेसे साधक सुखपूर्वक संसार-बंधनसे मुक्त हो जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। निर्द्वन्द्व होनेसे मूढ़ता चली जाती है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। निर्द्वन्द्व होनेसे साधक कर्म करता हुआ भी बँधता नहीं (गीता— चौथे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि साधककी साधना निर्द्वन्द्व होनेसे ही दृढ़ होती है। इसलिये भगवान् अर्जुनको निर्द्वन्द्व होनेकी आज्ञा देते हैं।

दूसरी बात, अगर संसारमें किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिमें राग होगा, तो दूसरी वस्तु, व्यक्ति आदिमें द्वेष हो जायगा—यह नियम है। ऐसा होनेपर भगवान्‌की उपेक्षा हो जायगी—यह भी एक प्रकारका द्वेष है। परन्तु जब साधकका भगवान्‌में प्रेम हो जायगा, तब संसारसे द्वेष नहीं होगा, प्रत्युत संसारसे स्वाभाविक उपरति हो जायगी। उपरति होनेकी पहली अवस्था यह होगी कि साधकका प्रतिकूलतामें द्वेष नहीं होगा; किन्तु उसकी उपेक्षा होगी। उपेक्षाके बाद उदासीनता होगी और उदासीनताके बाद उपरति होगी। उपरतिमें राग-द्वेष सर्वथा मिट जाते हैं। इस क्रममें अगर सूक्ष्मतासे देखा जाय तो उपेक्षामें राग-द्वेषके संस्कार रहते हैं, उदासीनतामें राग-द्वेषकी सत्ता रहती है, और उपरतिमें राग-द्वेषके न संस्कार रहते हैं, न सत्ता रहती है; किन्तु राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है।

'नित्यसत्त्वस्थः'—द्वन्द्वोंसे रहित होनेका उपाय यह है कि जो नित्य-निरन्तर रहनेवाला सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा है, तू उसीमें निरन्तर स्थित रह।

'निर्योगक्षेमः'[2]—तू योग और क्षेमकी[3] इच्छा भी मत रख; क्योंकि जो केवल मेरे परायण होते हैं, उनके योगक्षेमका वहन मैं स्वयं करता हूँ (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

'आत्मवान्'—तू केवल परमात्माके परायण हो जा। एक परमात्मप्राप्तिका ही लक्ष्य रख।

परिशिष्ट भाव—'निर्द्वन्द्वः'—वास्तवमें जड़-चेतन, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, नाशवान्-अविनाशी आदिका भेद भी द्वन्द्व है। योग और क्षेमकी चाहना भी द्वन्द्व है। द्वन्द्व होनेसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस वास्तविकताका अनुभव नहीं होता। कारण कि जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर जड़-चेतन आदिका द्वन्द्व कैसे रह सकता है ? इसलिये भगवान्‌ने अमृत और मृत्यु, सत् और असत् दोनोंको अपना स्वरूप बताया है—**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)।

सम्बन्ध—तीनों गुणोंसे रहित, निर्द्वन्द्व आदि हो जानेसे क्या होगा—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

१-एक ही विषयमें, एक ही वस्तुमें दो भाव कर लेना 'द्वन्द्व' है। परन्तु जहाँ विषय, वस्तु अलग-अलग होते हैं, वहाँ द्वन्द्व नहीं होता; जैसे—'प्रकृति' और 'पुरुष', 'जड' और 'चेतन'—इन दोनोंको अलग-अलग समझना द्वन्द्व नहीं है। ऐसे ही संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाना द्वन्द्व नहीं है। परन्तु केवल संसारमें ही दो भाव (राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि) हो जायँ, तो यह द्वन्द्व हो जाता है और इसी द्वन्द्वमें मनुष्य फँसता है।

२-अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है।

३-यद्यपि यहाँ कर्मयोगका प्रकरण है, तथापि यहाँ 'निर्योगक्षेमः' पद भक्तियोगका वाचक मानना ठीक मालूम देता है। कारण कि भगवान्‌ने अर्जुनको जगह-जगह भक्त होनेके लिये आज्ञा दी है और अर्जुनको भक्तरूपसे स्वीकार भी किया है (४। ३)। भगवान्‌ने अपनेको भक्तोंका योग-क्षेम वहन करनेवाला भी बताया है (९। २२)।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

सर्वतः	= सब तरफसे	**अर्थः**	= प्रयोजन (रहता है) अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता,	**ब्राह्मणस्य**	= ब्रह्मज्ञानीका
सम्प्लुतोदके	= परिपूर्ण महान् जलाशयके (प्राप्त होनेपर)	**विजानतः**	= (वेदों और शास्त्रोंको) तत्त्वसे जाननेवाले	**सर्वेषु**	= सम्पूर्ण
उदपाने	= छोटे गड्ढोंमें भरे जलमें (मनुष्यका)			**वेदेषु**	= वेदोंमें
यावान्	= जितना			**तावान्**	= उतना (ही प्रयोजन रहता है) अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

व्याख्या—**'यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके'**—जलसे सर्वथा परिपूर्ण, स्वच्छ, निर्मल महान् सरोवरके प्राप्त होनेपर मनुष्यको छोटे-छोटे जलाशयोंकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। कारण कि छोटे-से जलाशयमें अगर हाथ-पैर धोये जायँ तो उसमें मिट्टी घुल जानेसे वह जल स्नानके लायक नहीं रहता; और अगर उसमें स्नान किया जाय तो वह जल कपड़े धोनेके लायक नहीं रहता और यदि उसमें कपड़े धोये जायँ तो वह जल पीनेके लायक नहीं रहता। परन्तु महान् सरोवरके मिलनेपर उसमें सब कुछ करनेपर भी उसमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता अर्थात् उसकी स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता वैसी-की-वैसी ही बनी रहती है।

'तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः'—ऐसे ही जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो गये हैं, उनके लिये वेदोंमें कहे हुए यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जितने भी पुण्यकारी कार्य हैं, उन सबसे उनका कोई मतलब नहीं रहता अर्थात् वे पुण्यकारी कार्य उनके लिये छोटे-छोटे जलाशयोंकी तरह हो जाते हैं। ऐसा ही दृष्टान्त आगे सत्तरवें श्लोकमें दिया है कि वह ज्ञानी महात्मा समुद्रकी तरह गम्भीर होता है। उसके सामने कितने ही भोग आ जायँ, पर वे उसमें कुछ भी विकृति पैदा नहीं कर सकते।

जो परमात्मतत्त्वको जाननेवाला है और वेदों तथा शास्त्रोंके तत्त्वको भी जाननेवाला है, उस महापुरुषको यहाँ **'ब्राह्मणस्य विजानतः'** पदोंसे कहा गया है।

'तावान्' कहनेका तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर वह तीनों गुणोंसे रहित हो जाता है। वह निर्द्वन्द्व हो जाता है अर्थात् उसमें राग-द्वेष आदि नहीं रहते। वह नित्य तत्त्वमें स्थित हो जाता है। वह निर्योगक्षेम हो जाता है अर्थात् कोई वस्तु मिल जाय और मिली हुई वस्तुकी रक्षा होती रहे—ऐसा उसमें भाव भी नहीं होता। वह सदा ही परमात्मपरायण रहता है।

परिशिष्ट भाव—सांसारिक भोगोंका अन्त नहीं है। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं और उनमें अनन्त तरहके भोग हैं। परन्तु उनका त्याग कर दें, उनसे असंग हो जायँ तो उनका अन्त आ जाता है। ऐसे ही कामनाएँ भी अनन्त होती हैं। परन्तु उनका त्याग कर दें, निष्काम हो जायँ तो उनका अन्त आ जाता है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने उनतालीसवें श्लोकमें जिस समबुद्धि-(समता-) को सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी थी, अब आगेके श्लोकमें उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्मणि	= कर्तव्य-कर्म करनेमें	**कदाचन**	= कभी	**ते**	= तेरी
एव	= ही	**मा**	= नहीं (अतः तू)	**अकर्मणि**	= कर्म न करनेमें (भी)
ते	= तेरा	**कर्मफलहेतुः**	= कर्मफलका हेतु (भी)	**सङ्गः**	= आसक्ति
अधिकारः	= अधिकार है,	**मा**	= मत	**मा**	= न
फलेषु	= फलोंमें	**भूः**	= बन (और)	**अस्तु**	= हो।

व्याख्या—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**'—प्राप्त कर्तव्य-कर्मका पालन करनेमें ही तेरा अधिकार है। इसमें तू स्वतन्त्र है। कारण कि मनुष्य कर्मयोनि है। मनुष्यके सिवाय दूसरी कोई भी योनि नया कर्म करनेके लिये नहीं है। पशु-पक्षी आदि जंगम और वृक्ष, लता आदि स्थावर प्राणी नया कर्म नहीं कर सकते। देवता आदिमें नया कर्म करनेकी सामर्थ्य तो है, पर वे केवल पहले किये गये यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही हैं। वे भगवान्‌के विधानके अनुसार मनुष्योंके लिये कर्म करनेकी सामग्री दे सकते हैं, पर केवल सुखभोगमें ही लिप्त रहनेके कारण स्वयं नया कर्म नहीं कर सकते। नारकीय जीव भी भोगयोनि होनेके कारण अपने दुष्कर्मोंका फल भोगते हैं, नया कर्म नहीं कर सकते। नया कर्म करनेमें तो केवल मनुष्यका ही अधिकार है। भगवान्‌ने सेवारूप नया कर्म करके केवल अपना उद्धार करनेके लिये ही यह अन्तिम मनुष्यजन्म दिया है। अगर यह कर्मोंको अपने लिये करेगा तो बन्धनमें पड़ जायगा और अगर कर्मोंको न करके आलस्य-प्रमादमें पड़ा रहेगा तो बार-बार जन्मता-मरता रहेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि तेरा केवल सेवारूप कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है।

'**कर्मणि**' पदमें एकवचन देनेका तात्पर्य है कि मनुष्यके सामने देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर शास्त्रविहित कर्म तो अलग-अलग होंगे, पर एक समयमें एक मनुष्य किसी एक कर्मको ही तत्परतापूर्वक कर सकता है। जैसे, क्षत्रिय होनेके कारण अर्जुनके लिये युद्ध करना, दान देना आदि कर्तव्य-कर्मोंका विधान है, पर वर्तमानमें युद्धके समय वह एक युद्धरूप कर्तव्य-कर्म ही कर सकता है, दान आदि कर्तव्य-कर्म नहीं कर सकता।

मार्मिक बात

मनुष्यशरीरमें दो बातें हैं—पुराने कर्मोंका फलभोग और नया पुरुषार्थ। दूसरी योनियोंमें केवल पुराने कर्मोंका फलभोग है अर्थात् कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देवता, ब्रह्म-लोकतकको योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। इसलिये उनके लिये 'ऐसा करो और ऐसा मत करो'—यह विधान नहीं है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि जो कुछ भी कर्म करते हैं, उनका वह कर्म भी फलभोगमें है। कारण कि उनके द्वारा किया जानेवाला कर्म उनके प्रारब्धके अनुसार पहलेसे ही रचा हुआ है। उनके जीवनमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका जो कुछ भोग होता है, वह भोग भी फलभोगमें ही है। परन्तु मनुष्यशरीर तो केवल नये पुरुषार्थके लिये ही मिला है, जिससे यह अपना उद्धार कर ले।

इस मनुष्यशरीरमें दो विभाग हैं—एक तो इसके सामने पुराने कर्मोंके फलरूपमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है और दूसरा यह नया पुरुषार्थ (नये कर्म) करता है। नये कर्मोंके अनुसार ही इसके भविष्यका निर्माण होता है। इसलिये शास्त्र, सन्त-महापुरुषोंका विधि-निषेध, राज्य आदिका शासन केवल मनुष्योंके लिये ही होता है; क्योंकि मनुष्यमें पुरुषार्थकी प्रधानता है, नये कर्मोंको करनेकी स्वतन्त्रता है। परन्तु पिछले कर्मोंके फलस्वरूप मिलनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको बदलनेमें यह परतन्त्र है। तात्पर्य है कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र और फल-प्राप्तिमें परतन्त्र है। परन्तु अनुकूल-प्रतिकूलरूपसे प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके मनुष्य उसको अपने उद्धारकी साधन-सामग्री बना सकता है; क्योंकि यह मनुष्यशरीर अपने उद्धारके लिये ही मिला है। इसलिये इसमें नया पुरुषार्थ भी उद्धारके लिये है और पुराने कर्मोंके फलरूपसे प्राप्त परिस्थिति भी उद्धारके लिये ही है।

इसमें एक विशेष समझनेकी बात है कि इस मनुष्य-जीवनमें प्रारब्धके अनुसार जो भी शुभ या अशुभ परिस्थिति आती है, उस परिस्थितिको मनुष्य सुखदायी या दुःखदायी तो मान सकता है, पर वास्तवमें देखा जाय तो उस परिस्थितिसे सुखी या दुःखी होना कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत मूर्खताका फल है। कारण कि परिस्थिति तो बाहरसे बनती है और सुखी-दुःखी होता है यह स्वयं। उस परिस्थितिके साथ तादात्म्य करके ही यह सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। अगर मनुष्य उस परिस्थितिके साथ तादात्म्य न करके उसका सदुपयोग करे, तो वही परिस्थिति उसका उद्धार करनेके लिये साधन-सामग्री बन जायगी। सुखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—दूसरोंकी सेवा करना और दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सुखभोगकी इच्छाका त्याग करना।

दुःखदायी परिस्थिति आनेपर मनुष्यको कभी भी घबराना नहीं चाहिये, प्रत्युत यह विचार करना चाहिये कि हमने पहले सुख-भोगकी इच्छासे ही पाप किये थे और वे ही पाप दुःखदायी परिस्थितिके रूपमें आकर नष्ट हो रहे हैं। इसमें एक लाभ यह है कि उन पापोंका प्रायश्चित्त हो रहा है और हम शुद्ध हो रहे हैं। दूसरा लाभ यह है कि हमें इस बातकी

चेतावनी मिलती है कि अब हम सुखभोगके लिये पाप करेंगे तो आगे भी इसी प्रकार दु:खदायी परिस्थिति आयेगी। इसलिये सुखभोगकी इच्छासे अब कोई काम करना ही नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितके लिये ही काम करना है।

तात्पर्य यह हुआ कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियोंके लिये पुराने कर्मोंका फल और नया कर्म—ये दोनों ही भोगरूपमें हैं और मनुष्यके लिये पुराने कर्मोंका फल और नया कर्म (पुरुषार्थ)—ये दोनों ही उद्धारके साधन हैं।

'मा फलेषु कदाचन'—फलमें तेरा किंचिन्मात्र भी अधिकार नहीं है अर्थात् फलकी प्राप्तिमें तेरी स्वतन्त्रता नहीं है; क्योंकि फलका विधान तो मेरे अधीन है। अत: फलकी इच्छा न रखकर कर्तव्य-कर्म कर। अगर तू फलकी इच्छा रखकर कर्म करेगा तो तू बँध जायगा—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)। कारण कि फलेच्छा अर्थात् भोक्तृत्वपर ही कर्तृत्व टिका हुआ है अर्थात् भोक्तृत्वसे ही कर्तृत्व आता है। फलेच्छा सर्वथा मिटनेसे कर्तृत्व मिट जाता है और कर्तृत्व मिटनेसे मनुष्य कर्म करता हुआ भी नहीं बँधता। भाव यह हुआ कि वास्तवमें मनुष्य कर्तृत्वमें उतना फँसा हुआ नहीं है, जितना फलेच्छा अर्थात् भोक्तृत्वमें फँसा हुआ है*।

दूसरी बात, जितने भी कर्म होते हैं, वे सभी प्राकृत पदार्थों और व्यक्तियोंके संगठनसे ही होते हैं। पदार्थों और व्यक्तियोंके संगठनके बिना स्वयं कर्म कर ही नहीं सकता; अत: इनके संगठनके द्वारा किये हुए कर्मका फल अपने लिये चाहना ईमानदारी नहीं है। अत: कर्मका फल चाहना मनुष्यके लिये हितकारक नहीं है।

फलमें तेरा अधिकार नहीं है— इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि फलके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें अथवा न जोड़नेमें मात्र मनुष्य स्वतन्त्र हैं, सबल हैं। इसमें वे पराधीन और निर्बल नहीं हैं।

'फलेषु' पदमें बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि मनुष्य कर्म तो एक करता है, पर उस कर्मके फल अनेक चाहता है। जैसे, मैं अमुक कर्म कर रहा हूँ तो इससे मेरेको पुण्य हो जाय, संसारमें मेरी कीर्ति हो जाय, लोग मेरेको अच्छा समझें, मेरा आदर-सत्कार करें, मेरेको इतना धन प्राप्त हो जाय आदि-आदि।

निष्काम होनेके उपाय—(१) कामना पैदा होनेसे अभाव होता है, कामनाकी पूर्ति होनेसे परतन्त्रता और पूर्ति न होनेसे दु:ख होता है तथा कामना-पूर्तिका सुख लेनेसे नयी कामनाकी उत्पत्ति होती है और सकामभावपूर्वक नये-नये कर्म करनेकी रुचि बढ़ती चली जाती है—ऐसा ठीक-ठीक समझ लेनेसे निष्कामता स्वत: आ जाती है।

(२) कर्म नित्य नहीं हैं; क्योंकि उनका आरम्भ और अन्त होता है तथा उन कर्मोंका फल भी नित्य नहीं है; क्योंकि उनका भी संयोग और वियोग होता है। परन्तु स्वयं नित्य है। अनित्य कर्म और कर्मफलसे नित्य स्वरूपको कोई लाभ नहीं होता। ऐसा ठीक समझ लेनेसे निष्कामता आ जाती है। निष्काम होनेसे संसारका सम्बन्ध छूट जाता है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

कर्मोंमें निष्काम होनेके लिये साधकमें तेजीका विवेक भी होना चाहिये और सेवाभाव भी होना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंके होनेसे ही कर्मयोग ठीक तरहसे आचरणमें आयेगा, नहीं तो 'कर्म' हो जायँगे, पर 'योग' नहीं होगा। तात्पर्य है कि अपने सुख-आरामका त्याग करनेमें तो 'विवेक' की प्रधानता होनी चाहिये और दूसरोंको सुख-आराम पहुँचानेमें 'सेवाभाव' की प्रधानता होनी चाहिये।

'मा कर्मफलहेतुर्भू:'—तू कर्मफलका हेतु भी मत बन। तात्पर्य है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कर्म-सामग्रीके साथ अपनी किंचिन्मात्र भी ममता नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि इनमें ममता होनेसे मनुष्य कर्म-फलका हेतु बन जाता है। आगे पाँचवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ **'केवलै:'** पद देकर बताया है कि शरीर आदिके साथ किंचिन्मात्र भी ममता नहीं होनी चाहिये।

शुभ क्रियाओंमें फलकी इच्छा न होनेपर भी 'मेरे द्वारा किसीका उपकार हो गया, किसीका हित हो गया, किसीको सुख पहुँचा'—ऐसा भाव हो जाता है तो यह कर्मफलका हेतु बनना है। कारण कि ऐसा भाव होनेसे शुभ कर्मके साथ और मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिके साथ सम्बन्ध हो जाता है, जो कि असत्‌का संग है। वास्तवमें अन्त:करण, बहि:करण और क्रियाओंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इनका सम्बन्ध समष्टि संसारके साथ है। जैसे दूसरे किसी व्यक्तिके

*** अन्त:करणमें भोक्तृत्व (फलेच्छा, फलासक्ति) अधिक रहनेके कारण ही मनुष्य भगवत्प्राप्ति, तत्त्वज्ञान, प्रेमप्राप्ति आदिमें कर्मोंको कारण मानता है। वास्तवमें भगवत्प्राप्ति आदि कर्मोंपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत भाव और बोधपर ही निर्भर है। कारण कि अप्राप्त पदार्थोंकी प्राप्ति तो कर्मोंपर निर्भर है, पर नित्यप्राप्त तत्त्वकी प्राप्ति कर्मोंपर निर्भर नहीं है।**

द्वारा दूसरे किसीका हित होता है, तो उसमें हम अपना सम्बन्ध नहीं मानते, उसमें अपनेको निमित्त नहीं मानते। ऐसे ही अपने कहलानेवाले शरीर आदिसे किसीका हित हो जाय, तो उसमें अपनेको निमित्त न माने। जब अपनेको किसी भी क्रियामें निमित्त, हेतु नहीं मानेंगे, तो कर्म-फलका हेतु भी नहीं बनेंगे।

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'—कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। कारण कि कर्म न करनेमें आसक्ति होनेसे आलस्य, प्रमाद आदि होंगे। कर्मफलमें आसक्ति रहनेसे जैसा बन्धन होता है, वैसा ही बन्धन कर्म न करनेमें आलस्य, प्रमाद आदि होनेसे होता है; क्योंकि आलस्य-प्रमादका भी एक भोग होता है अर्थात् उनका भी एक सुख होता है, जो तमोगुण है—**'निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्'** (गीता १८। ३९) और जिसका फल अधोगति होता है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (गीता १४। १८)। तात्पर्य यह हुआ कि राग, आसक्ति कहीं भी होगी तो वह बाँधनेवाली हो ही जायगी—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

कर्मरहित होनेसे हमें लौकिक लाभ होगा, संसारमें हमारी प्रसिद्धि होगी आदि कोई सांसारिक प्रयोजन भी नहीं होना चाहिये और समाधि लग जानेसे आध्यात्मिक तत्त्वमें हमारी स्थिति होगी आदि कोई पारमार्थिक प्रयोजन भी नहीं होना चाहिये। तात्पर्य है कि 'कर्म न करनेसे सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति होगी'—यह भी कर्म न करनेमें आसक्ति है; क्योंकि वास्तविक तत्त्व कर्म करने और न करनेसे अतीत है।

इस श्लोकमें भगवान्‌का यह तात्पर्य मालूम देता है कि परिवर्तनशील वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया, घटना, परिस्थिति, अवस्था, स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर आदिके साथ साधककी सर्वथा निर्लिप्तता होनी चाहिये। इनके साथ किंचिन्मात्र भी किसी तरहका सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

इस श्लोकके चार चरणोंमें चार बातें आयी हैं— (१) कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, (२) फलमें कभी तेरा अधिकार नहीं है, (३) तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और (४) कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति न हो। इनमेंसे पहले और चौथे चरणकी बात एक है तथा दूसरे और तीसरे चरणकी बात एक है। पहले चरणमें कर्म करनेमें अधिकार बताया है और चौथे चरणमें कर्म न करनेमें आसक्ति होनेका निषेध किया है। दूसरे चरणमें फलकी इच्छाका निषेध किया है और तीसरे चरणमें फलका हेतु बननेका निषेध किया है।

तात्पर्य यह हुआ कि अकर्मण्यतामें रुचि होनेसे प्रमाद, आलस्य आदि 'तामसी वृत्ति' के साथ तेरा सम्बन्ध हो जायगा। कर्म एवं कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे तेरा 'राजसी वृत्ति' के साथ सम्बन्ध हो जायगा। प्रमाद, आलस्य, कर्म, कर्मफल आदिका सम्बन्ध न रहनेपर जो विवेकजन्य सुख होता है, प्रकाश मिलता है, ज्ञान मिलता है, उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे 'सात्त्विकी वृत्ति' के साथ सम्बन्ध हो जायगा। इनके साथ सम्बन्ध होना ही जन्म-मरणका कारण है। अतः साधक कर्म, कर्मफल और इनके त्यागका सुख—इनमेंसे किसीके भी साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, इनमें राग या आसक्ति न करे। कर्म करते हुए इनके साथ सम्बन्ध न रखना ही कर्मयोग है।

परिशिष्ट भाव—एक कर्म-विभाग है और एक फल-विभाग है। मनुष्यका कर्म-विभागमें ही अधिकार है, फल-विभागमें नहीं। कारण कि नया पुरुषार्थ होनेसे कर्म-विभाग (करना) मनुष्यके अधीन है और पूर्वकृत कर्मोंका भोग होनेसे फल-विभाग (होना) प्रारब्धके अधीन है। कर्मयोगकी दृष्टिसे देखें तो मनुष्यको जो साधन-सामग्री (वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य) मिली है, वह 'प्रारब्ध' है और उसका सदुपयोग करना अर्थात् उसको अपना और अपने लिये न मानकर, प्रत्युत दूसरोंका और दूसरोंके लिये मानकर उनकी सेवामें लगाना 'पुरुषार्थ' है।

कर्मयोगमें मुख्य बात है—अपने कर्तव्यके द्वारा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करना और कर्मफलका अर्थात् अपने अधिकारका त्याग करना। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेसे पुराना राग मिट जाता है और अपने अधिकारका त्याग करनेसे नया राग पैदा नहीं होता। इस प्रकार पुराना राग मिटनेसे और नया राग पैदा न होनेसे कर्मयोगी वीतराग हो जाता है। वीतराग होनेपर उसको तत्त्वज्ञान हो जाता है। कारण कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें नाशवान् असत् वस्तुओंका राग ही बाधक है—

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु। कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियामें मनका जो राग, खिंचाव है, यह अज्ञानका खास चिह्न है। जैसे किसी वृक्षके कोटरमें आग लगी हो तो वह वृक्ष हरा-भरा नहीं रहता, सूख जाता है, ऐसे ही जिसके भीतर राग-रूपी आग लगी हो, उसकी शान्ति नहीं मिल सकती।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कर्म करनेकी आज्ञा देनेके बाद अब भगवान् कर्म करते हुए सम रहनेका प्रकार बताते हैं।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

धनञ्जय = हे धनंजय! (तू)
सङ्गम् = आसक्तिका
त्यक्त्वा = त्याग करके
सिद्ध्यसिद्ध्योः = सिद्धि-असिद्धिमें
समः = सम
भूत्वा = होकर
योगस्थः = योगमें स्थित हुआ
कर्माणि = कर्मोंको
कुरु = कर; (क्योंकि)
समत्वम् = समत्व (ही)
योगः = योग
उच्यते = कहा जाता है।

व्याख्या—'**सङ्गं त्यक्त्वा**'—किसी भी कर्ममें, किसी भी कर्मके फलमें, किसी भी देश, काल, घटना, परिस्थिति, अन्तःकरण, बहिःकरण आदि प्राकृत वस्तुमें तेरी आसक्ति न हो, तभी तू निर्लिप्ततापूर्वक कर्म कर सकता है। अगर तू कर्म, फल आदि किसीमें भी चिपक जायगा, तो निर्लिप्तता कैसे रहेगी ? और निर्लिप्तता रहे बिना वह कर्म मुक्तिदायक कैसे होगा ?

'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**'—आसक्तिके त्यागका परिणाम क्या होगा? सिद्धि और असिद्धिमें समता हो जायगी।

कर्मका पूरा होना अथवा न होना, सांसारिक दृष्टिसे उसका फल अनुकूल होना अथवा प्रतिकूल होना, उस कर्मको करनेसे आदर-निरादर, प्रशंसा-निन्दा होना, अन्तःकरणकी शुद्धि होना अथवा न होना आदि-आदि जो सिद्धि और असिद्धि है, उसमें सम रहना चाहिये*।

कर्मयोगीकी इतनी समता अर्थात् निष्कामभाव होना चाहिये कि कर्मोंकी पूर्ति हो चाहे न हो, फलकी प्राप्ति हो चाहे न हो, अपनी मुक्ति हो चाहे न हो, मुझे तो केवल कर्तव्य-कर्म करना है। साधकको असंगताका अनुभव न हुआ हो, उसमें समता न आयी हो, तो भी उसका उद्देश्य असंग होनेका, सम होनेका ही हो। जो बात उद्देश्यमें आ जाती है, वही अन्तमें सिद्ध हो जाती है। अतः साधनरूप समतासे अर्थात् अन्तःकरणकी समतासे साध्यरूप समता स्वतः आ जाती है—'**तदा योगमवाप्स्यसि**' (२। ५३)।

'**योगस्थः कुरु कर्माणि**'—सिद्धि-असिद्धिमें सम होनेके बाद उस समतामें निरन्तर अटल स्थित रहना ही 'योगस्थ' होना है। जैसे किसी कार्यके आरम्भमें गणेशजीका पूजन करते हैं, तो उस पूजनको कार्य करते समय हरदम साथमें नहीं रखते, ऐसे ही कोई यह न समझ ले कि आरम्भमें एक बार सिद्धि-असिद्धिमें सम हो गये तो अब उस समताको हरदम साथमें नहीं रखना है, राग-द्वेष करते रहना है, इसलिये भगवान् कहते हैं कि समतामें हरदम स्थित रहते हुए ही कर्तव्य-कर्मको करना चाहिये।

'**समत्वं योग उच्यते**'—समता ही योग है अर्थात् समता परमात्माका स्वरूप है। वह समता अन्तःकरणमें निरन्तर बनी रहनी चाहिये। आगे पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान् कहेंगे कि 'जिनका मन समतामें स्थित हो गया है, उन लोगोंने जीवित अवस्थामें ही संसारको जीत लिया है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है; अतः उनकी स्थिति ब्रह्ममें ही है।'

'समताका नाम योग है'—यह योगकी परिभाषा है। इसीको आगे छठे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें कहेंगे कि

*** इस विषयमें श्रीशंकराचार्यजी महाराज (गीता २। ४८ की व्याख्या करते हुए) कहते हैं—**

'योगस्थः सन् कुरु कर्माणि केवलमीश्वरार्थं तत्रापीश्वरो मे तुष्यत्विति सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय! फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणे कर्माणि सत्त्वशुद्धिजा ज्ञानप्राप्तिलक्षणा सिद्धिस्तद् विपर्ययजा असिद्धिस्तयोः सिद्ध्यसिद्ध्योरपि समस्तुल्यो भूत्वा कुरु कर्माणि। कोऽसौ योगो यत्रस्थः कुर्वित्युक्तमिदमेव तत् सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं योग उच्यते'।

'हे धनंजय! योगमें स्थित होकर केवल ईश्वरके लिये कर्म कर। उसमें भी 'ईश्वर मेरेपर प्रसन्न हो जाय'—इस संग (कामना) को छोड़कर कर्म कर। फलतृष्णारहित पुरुषके द्वारा कर्म किये जानेपर अन्तःकरणकी शुद्धिसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानप्राप्ति तो सिद्धि है और उससे विपरीत (ज्ञानप्राप्तिका न होना) असिद्धि है। ऐसी सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर अर्थात् दोनोंको तुल्य समझकर कर्म कर। वह कौन-सा योग है, जिसमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहा है ? यही जो सिद्धि और असिद्धिमें सम होना है, इसीको योग कहते हैं।'

'दु:खोंके संयोगका जिसमें वियोग है, उसका नाम योग है।' ये दोनों परिभाषाएँ वास्तवमें एक ही हैं। जैसे दादकी बीमारीमें खुजलीका सुख होता है और जलनका दु:ख होता है, पर ये दोनों ही बीमारी होनेसे दु:खरूप हैं, ऐसे ही संसारके सम्बन्धसे होनेवाला सुख और दु:ख—दोनों ही वास्तवमें दु:खरूप हैं। ऐसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदका नाम ही 'दु:ख-संयोग-वियोग' है। अतः चाहे दु:खोंके संयोगका वियोग अर्थात् सुख-दु:खसे रहित होना कहें; चाहे सिद्धि-असिद्धिमें अर्थात् सुख-दु:खमें सम होना कहें, एक ही बात है।

इस श्लोकका तात्पर्य यह हुआ कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे होनेवाली मात्र क्रियाओंको केवल संसारकी सेवारूपसे करना है, अपने लिये नहीं। ऐसा करनेसे ही समता आयेगी।

बुद्धि और समता-सम्बन्धी विशेष बात

बुद्धि दो तरहकी होती है—अव्यवसायात्मिका और व्यवसायात्मिका। जिसमें सांसारिक सुख, भोग, आराम, मान-बड़ाई आदि प्राप्त करनेका ध्येय होता है, वह बुद्धि 'अव्यवसायात्मिका' होती है (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। जिसमें समताकी प्राप्ति करनेका, अपना कल्याण करनेका ही उद्देश्य रहता है, वह बुद्धि 'व्यवसायात्मिका' होती है (गीता—दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)। अव्यवसायात्मिका बुद्धि अनन्त होती है और व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है। जिसकी बुद्धि अव्यवसायात्मिका होती है, वह स्वयं अव्यवसायी (अव्यवसित) होता है—**'बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** (२।४१) तथा वह संसारी होता है। जिसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है, वह स्वयं व्यवसायी (व्यवसित) होता है—**'व्यवसितो हि सः'** (९।३०) तथा वह साधक होता है।

समता भी दो तरहकी होती है—साधनरूप समता और साध्यरूप समता। साधनरूप समता अन्त:करणकी होती है और साध्यरूप समता परमात्मस्वरूपकी होती है। सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिमें सम रहना अर्थात् अन्त:करणमें राग-द्वेषका न होना साधनरूप समता है, जिसका वर्णन गीतामें अधिक हुआ है। इस साधनरूप समतासे जिस स्वत:सिद्ध समताकी प्राप्ति होती है, वह साध्यरूप समता है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें **'तदा योगमवाप्स्यसि'** पदोंसे हुआ है।

अब इन चारों भेदोंको यों समझें कि एक संसारी होता है और एक साधक होता है, एक साधन होता है और एक साध्य होता है। भोग भोगना और संग्रह करना—यही जिसका उद्देश्य होता है, वह संसारी होता है। उसकी एक व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत कामनारूपी शाखाओंवाली अनन्त बुद्धियाँ होती हैं।

मेरेको तो समताकी प्राप्ति ही करनी है, चाहे जो हो जाय—ऐसा निश्चय करनेवालेकी व्यवसायात्मिका बुद्धि होती है। ऐसा साधक जब व्यवहारक्षेत्रमें आता है, तब उसके सामने सिद्धि-असिद्धि, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आदि आनेपर वह उनमें सम रहता है, राग-द्वेष नहीं करता। इस साधनरूप समतासे वह संसारसे ऊँचा उठ जाता है—**'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'** (गीता ५।१९ का पूर्वार्ध)। साधनरूप समतासे स्वत:सिद्ध समरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः'** (गीता ५।१९ का उत्तरार्ध)।

परिशिष्ट भाव—पातंजलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तिनिरोध-रूप साधनको 'योग' कहा गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१।२)। इस योगके परिणामस्वरूप द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१।३)। इस प्रकार पातंजलयोगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीता 'योग' कहती है—**'समत्वं योग उच्यते'**, **'तं विद्याद्दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** (६।२३)। तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वत:सिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको 'योग' कहती है। इस योग अर्थात् समतामें स्थित होनेपर फिर कभी इससे वियोग अर्थात् व्युत्थान नहीं होता, इसलिये इसको 'नित्ययोग' भी कहते हैं। चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प अवस्था' होती है, पर समतामें स्वत:सिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'निर्विकल्प बोध' (सहजावस्था) होता है। निर्विकल्प बोध अवस्था नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत तथा उनका प्रकाशक एवं सम्पूर्ण योग-साधनोंका फल है। अवस्था तो निर्विकल्प और सविकल्प दोनों होती है, पर बोध निर्विकल्प ही होता है। इस प्रकार गीताका योग पातंजलयोगदर्शनके योगसे बहुत विलक्षण है।

पातंजलयोगदर्शनके योगका अधिकारी वह है, जो मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला नहीं है, प्रत्युत विक्षिप्त वृत्तिवाला है। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति चाहनेवाले सब-के-सब मनुष्य गीताके योगके अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, जो मनुष्य भोग और संग्रहको महत्त्व न देकर इस योगको ही महत्त्व देता है और इसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें वर्णित सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है—'**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते**' (गीता ६। ४४)।

सम्बन्ध—उनतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक जिस समबुद्धिका वर्णन हुआ है, सकामकर्मकी अपेक्षा उस समबुद्धिकी श्रेष्ठता आगेके श्लोकमें बताते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

बुद्धियोगात् = बुद्धियोग (समता) की अपेक्षा, **कर्म** = सकामकर्म, **दूरेण** = दूरसे (अत्यन्त) ही, **अवरम्** = निकृष्ट हैं। (अतः) **धनञ्जय** = हे धनंजय! (तू) **बुद्धौ** = बुद्धि (समता) का **शरणम्** = आश्रय **अन्विच्छ** = ले; **हि** = क्योंकि **फलहेतवः** = फलके हेतु बननेवाले **कृपणाः** = अत्यन्त दीन हैं।

व्याख्या—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्**'—बुद्धियोग अर्थात् समताकी अपेक्षा सकामभावसे कर्म करना अत्यन्त ही निकृष्ट है। कारण कि कर्म भी उत्पन्न और नष्ट होते हैं तथा उन कर्मोंके फलका भी संयोग और वियोग होता है। परन्तु योग (समता) नित्य है; उसका कभी वियोग नहीं होता, उसमें कोई विकृति नहीं आती। अतः समताकी अपेक्षा सकामकर्म अत्यन्त ही निकृष्ट हैं।

सम्पूर्ण कर्मोंमें समता ही श्रेष्ठ है। समताके बिना तो मात्र जीव कर्म करते ही रहते हैं तथा उन कर्मोंके परिणाममें जन्मते-मरते और दुःख भोगते रहते हैं। कारण कि समताके बिना कर्मोंमें उद्धार करनेकी ताकत नहीं है। कर्मोंमें समता ही कुशलता है। अगर कर्मोंमें समता नहीं होगी तो शरीरमें अहंता-ममता हो जायगी और शरीरमें अहंता-ममता होना ही पशुबुद्धि है। भागवतमें शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌से कहा है—'**त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।**' (१२। ५। २) अर्थात् हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा।

'**दूरेण**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे प्रकाश और अन्धकार कभी समकक्ष नहीं हो सकते, ऐसे ही बुद्धियोग और सकामकर्म भी कभी समकक्ष नहीं हो सकते। इन दोनोंमें दिन-रातकी तरह महान् अन्तर है। कारण कि बुद्धियोग तो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है और सकामकर्म जन्म-मरण देनेवाला है।

'**बुद्धौ शरणमन्विच्छ**'—तू बुद्धि (समता) की शरण ले। समतामें निरन्तर स्थित रहना ही उसकी शरण लेना है। समतामें स्थित रहनेसे ही तुझे स्वरूपमें अपनी स्थितिका अनुभव होगा।

'**कृपणाः फलहेतवः**'—कर्मोंके फलका हेतु बनना अत्यन्त निकृष्ट है। कर्म, कर्मफल, कर्मसामग्री और शरीरादि करणोंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेना ही कर्मफलका हेतु बनना है। अतः भगवान्‌ने सैंतालीसवें श्लोकमें '**मा कर्मफलहेतुर्भूः**' कहकर कर्मोंके फलका हेतु बननेमें निषेध किया है।

कर्म और कर्मफलका विभाग अलग है तथा इन दोनोंसे रहित जो नित्य तत्त्व है, उसका विभाग अलग है। वह नित्य तत्त्व अनित्य कर्मफलके आश्रित हो जाय—इसके समान निकृष्टता और क्या होगी ?

परिशिष्ट भाव—योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट हैं अर्थात् कल्याणकारक नहीं हैं। जैसे पर्वतसे अणु बहुत दूर है अर्थात् अणुको पर्वतके पास रखकर दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती, ऐसे ही योगसे कर्म बहुत दूर है अर्थात् योग और कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। कर्मोंमें योग ही कुशलता है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (गीता २। ५०),

इसलिये योगके बिना कर्म निकृष्ट हैं, निरर्थक हैं* और बाधक हैं—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः।'**

कर्मयोगमें 'कर्म' करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है। योगकी प्राप्ति कर्मसे नहीं होती, प्रत्युत सेवा, त्यागसे होती है। अतः कर्मयोग कर्म नहीं है। कर्मयोग करणनिरपेक्ष अर्थात् विवेकप्रधान साधन है। अगर सेवा, त्यागकी प्रधानता न हो तो कर्म होगा, कर्मयोग होगा ही नहीं।

समता तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करानेवाली है, पर सकामकर्म जन्म-मरण देनेवाला है। इसलिये साधकको समताका ही आश्रय लेना चाहिये, समतामें ही स्थित रहना चाहिये। समतामें स्थित होनेसे वह दीन नहीं रहेगा, प्रत्युत कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जायगा। परन्तु जो सकामभावपूर्वक (अपने लिये) कर्म करता है, वह सदा दीन, बद्ध ही रहता है।

गीतामें कर्मयोगके लिये तीन शब्द आये हैं—बुद्धि, योग और बुद्धियोग। कर्मयोगमें कर्मकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'योग' की प्रधानता है। योग, बुद्धि और बुद्धियोग—तीनोंका एक ही अर्थ है। कर्मयोगमें व्यवसायात्मिका बुद्धिकी प्रधानता होनेसे इसको 'बुद्धि' कहा गया है और विवेकपूर्वक त्यागकी प्रधानता होनेसे इसको 'योग' या 'बुद्धियोग' कहा गया है।

ध्यानयोगमें 'मन' की और कर्मयोगमें 'बुद्धि' की प्रधानता है। मनके निरोधमें स्थिरता और चंचलता दोनों बहुत दूरतक रहती है; क्योंकि इसमें साधक मनको संसारसे हटाना और परमात्मामें लगाना चाहता है। मनको संसारसे हटानेपर संसारकी सत्ता बनी रहती है। यह सिद्धान्त है कि जबतक दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं हो सकता। इसलिये समाधितक पहुँचनेपर भी समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ रहती हैं। परन्तु बुद्धिकी प्रधानता रहनेपर कर्मयोगमें विवेककी मुख्यता रहती है। विवेकमें सत् और असत्—दोनों रहते हैं। कर्मयोगी असत् वस्तुओंको सेवा-सामग्री मानकर उनको दूसरोंकी सेवामें लगा देता है, जिससे असत्का त्याग शीघ्र और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

मनका निरोध करना निरन्तर नहीं होता, प्रत्युत समय-समयपर और एकान्तमें होता है। परन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् बुद्धिका एक निश्चय निरन्तर रहता है।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें जिस बुद्धिके आश्रयकी बात बतायी, अब आगेके श्लोकमें उसी बुद्धिके आश्रयका फल बताते हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

बुद्धियुक्तः	=बुद्धि (समता) से युक्त (मनुष्य)	**उभे**	=दोनोंका	**युज्यस्व**	=लग जा; (क्योंकि)
इह	=यहाँ (जीवित-अवस्थामें ही)	**जहाति**	=त्याग कर देता है।	**कर्मसु**	=कर्मोंमें
		तस्मात्	=अतः (तू)	**योगः**	=योग (ही)
सुकृतदुष्कृते	=पुण्य और पाप	**योगाय**	=योग (समता) में	**कौशलम्**	=कुशलता है।

व्याख्या—**'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'**—समतायुक्त मनुष्य जीवित-अवस्थामें ही पुण्य-पापका त्याग कर देता है अर्थात् उसको पुण्य-पाप नहीं लगते, वह उनसे रहित हो जाता है। जैसे संसारमें पुण्य-पाप होते ही रहते हैं, पर सर्वव्यापी परमात्माको वे पुण्य-पाप नहीं लगते, ऐसे ही जो समतामें निरन्तर स्थित रहता है, उसको पुण्य-पाप नहीं लगते (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)।

समता एक ऐसी विद्या है, जिससे मनुष्य संसारमें रहता हुआ ही संसारसे सर्वथा निर्लिप्त रह सकता है। जैसे कमलका पत्ता जलसे ही उत्पन्न होता है और जलमें ही रहता है, पर वह जलसे लिप्त नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त पुरुष संसारमें रहते हुए भी संसारसे निर्लिप्त रहता है। पुण्य-पाप उसका स्पर्श नहीं करते अर्थात् वह पुण्य-पापसे असंग हो जाता है।

*** योगके बिना कर्म और ज्ञान—दोनों निरर्थक हैं, पर भक्ति निरर्थक नहीं है। कारण कि भक्तिमें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहता है; अतः भगवान् स्वयं भक्तको योग प्रदान करते हैं—'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गीता १०। १०)**

वास्तवमें यह स्वयं (चेतन-स्वरूप) पुण्य-पापसे रहित है ही। केवल असत् पदार्थों—शरीरादिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही पुण्य-पाप लगते हैं। अगर यह असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न जोड़े, तो यह आकाशकी तरह निर्लिप्त रहेगा, इसको पुण्य-पाप नहीं लगेंगे।

'तस्माद्योगाय युज्यस्व'—इसलिये तुम योगमें लग जाओ अर्थात् निरन्तर समतामें स्थित रहो। वास्तवमें समता तुम्हारा स्वरूप है। अतः तुम नित्य-निरन्तर समतामें ही स्थित रहते हो। केवल राग-द्वेषके कारण तुम्हारेको उस समताका अनुभव नहीं हो रहा है। अगर तुम हरदम समतामें स्थित न रहते, तो सुख और दुःखका ज्ञान तुम्हें कैसे होता; क्योंकि ये दोनों ही अलग-अलग हैं। जब इन दोनोंका तुम्हें ज्ञान होता है तो तुम इनके आने-जानेमें सदा समरूपसे रहते हो। इसी समताका तुम अनुभव करो।

'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्मोंमें योग ही कुशलता है अर्थात् कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें और उन कर्मोंके फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना ही कर्मोंमें कुशलता है। उत्पत्ति-विनाशशील कर्मोंमें योगके सिवाय दूसरी कोई महत्त्वकी चीज नहीं है।

इन पदोंमें भगवान्‌ने योगकी परिभाषा नहीं बतायी है, प्रत्युत योगकी महिमा बतायी है। अगर इन पदोंका अर्थ 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है'—ऐसा किया जाय तो क्या आपत्ति है? अगर ऐसा अर्थ किया जायगा तो जो बड़ी कुशलतासे, सावधानीपूर्वक चोरी करता है, उसका वह चोरीरूप कर्म भी योग हो जायगा। अतः ऐसा अर्थ करना अनुचित है। कोई कह सकता है कि हम तो विहित कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम योग मानते हैं। परन्तु ऐसा माननेसे मनुष्य कुशलतापूर्वक सांगोपांग किये गये कर्मोंके फलमें बँध जायगा, जिससे उसकी स्थिति समतामें नहीं रहेगी। अतः यहाँ 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा अर्थ लेना ही उचित है। कारण कि कर्मोंको करते हुए भी जिसके अन्तःकरणमें समता रहती है, वह कर्म और उनके फलमें बँधेगा नहीं। इसलिये उत्पत्ति-विनाशशील कर्मोंको करते हुए सम रहना ही कुशलता है, बुद्धिमानी है।

दूसरी बात, पीछेके दो श्लोकोंमें तथा इस श्लोकके पूर्वार्धमें भी योग (समता) का ही प्रसंग है, कुशलताका प्रसंग ही नहीं है। इसलिये भी 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—यह अर्थ लेना प्रसंगके अनुसार युक्तियुक्त है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें आये **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंपर विचार करें तो इनके दो अर्थ लिये जा सकते हैं—

(१) **'कर्मसु कौशलं योगः'** अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है।

(२) **'कर्मसु योगः कौशलम्'** अर्थात् कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

अगर पहला अर्थ लिया जाय कि 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है' तो जो बड़ी कुशलतासे, सावधानीसे चोरी, ठगी आदि कर्म करता है, उसका कर्म 'योग' हो जायगा! परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है और यहाँ निषिद्ध कर्मोंका प्रसंग भी नहीं है। अगर यहाँ शुभ कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम 'योग' मानें तो मनुष्य कुशलतापूर्वक सांगोपांग किये हुए शुभ कर्मोंके फलसे बँध जायगा—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)। अतः उसकी स्थिति समतामें नहीं रहेगी और उसके दुःखोंका नाश नहीं होगा।

शास्त्रमें आया है—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः'** अर्थात् कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है। अतः जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही वास्तवमें कर्मोंमें कुशलता है। मुक्ति योग (समता) से होती है, कर्मोंमें कुशलतासे नहीं। योग (समता) का आदि और अन्त नहीं होता। परन्तु कर्म कितने ही बढ़िया हों, उनका आरम्भ तथा अन्त होता है और उनके फलका भी संयोग तथा वियोग होता है। जिसका आरम्भ और अन्त, संयोग तथा वियोग होता है, उसके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी प्राप्ति कैसे होगी? समता तो परमात्माका स्वरूप है—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५। १९)। अतः महत्त्व योगका है, कर्मोंका नहीं।

अगर पहला अर्थ ही ठीक माना जाय तो भी 'कुशलता' के अन्तर्गत समता, निष्कामभावको ही लेना पड़ेगा। अगर कर्मोंमें कुशलता ही योग है तो कुशलता क्या है? इसके उत्तरमें यह कहना ही पड़ेगा कि योग (समता) ही कुशलता है। ऐसी स्थितिमें 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है' ऐसा सीधा अर्थ क्यों न ले लिया जाय? जब **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंमें 'योग' शब्द आया ही है, तो फिर 'कुशलता' का अर्थ योग लेनेकी जरूरत ही नहीं है।

अगर प्रकरणपर विचार करें तो योग (समता) का ही प्रकरण चल रहा है, कर्मोंकी कुशलताका नहीं। भगवान्

'समत्वं योग उच्यते' कहकर योगकी परिभाषा भी बता चुके हैं। अतः इस प्रकरणमें योग ही विधेय है, कर्मोंमें कुशलता विधेय नहीं है। योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मोंको करते हुए हृदयमें समता रहे, राग-द्वेष न रहे—यही कर्मोंमें कुशलता है। इसलिये **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—यह योगकी परिभाषा नहीं है, प्रत्युत योगकी महिमा है।

इसी (पचासवें) श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने कहा है कि समतासे युक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाता है। अगर मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाय तो फिर कौन-सा कर्म कुशलतासे किया जायगा? अतः पुण्य और पापसे रहित होनेका यह अर्थ नहीं है कि वह कोई भी क्रिया नहीं करता; क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। अतः यहाँ पुण्य और पाप दोनोंसे रहित होनेका अर्थ है—उनके फलसे रहित (मुक्त) होना। आगे इक्यावनवें श्लोकमें भी भगवान्ने **'फलं त्यक्त्वा'** पदोंसे फलके त्यागकी बात कही है।

गीतामें 'कुशल' शब्दका प्रयोग अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी हुआ है। वहाँ 'अकुशल कर्म' के अन्तर्गत सकामभावसे किये जानेवाले और शास्त्रनिषिद्ध कर्म आये हैं तथा 'कुशल कर्म' के अन्तर्गत निष्कामभावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्म आये हैं। अकुशल और कुशल कर्मोंका तो आदि-अन्त होता है, पर योगका आदि-अन्त नहीं होता। बाँधनेवाले राग-द्वेष हैं, कुशल-अकुशल कर्म नहीं। अतः रागपूर्वक किये गये कर्म कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, वे बाँधनेवाले हैं ही; क्योंकि उन कर्मोंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो भी वहाँसे लौटकर पीछे आना पड़ता है (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। इसलिये जो मनुष्य अकुशल कर्मका त्याग द्वेषपूर्वक नहीं करता और कुशल कर्मका आचरण रागपूर्वक नहीं करता, वही वास्तवमें त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है (गीता—अठारहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंका अर्थ 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा ही मानना चाहिये। भगवान् भी योगमें स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२। ४८)। तात्पर्य है कि कर्मोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत योग (समता) का ही महत्त्व है। अतः कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

सम्बन्ध—अब पीछेके श्लोकको पुष्ट करनेके लिये भगवान् आगेके श्लोकमें उदाहरण देते हैं।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

हि	= कारण कि	**फलम्**	= फलका अर्थात् संसारमात्रका		मुक्त होकर
बुद्धियुक्ताः	= समतायुक्त	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके	**अनामयम्**	= निर्विकार
मनीषिणः	= बुद्धिमान् साधक	**जन्मबन्ध-विनिर्मुक्ताः**	= जन्मरूप बन्धनसे	**पदम्**	= पदको
कर्मजम्	= कर्मजन्य			**गच्छन्ति**	= प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—**'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'**—जो समतासे युक्त हैं, वे ही वास्तवमें मनीषी अर्थात् बुद्धिमान् हैं। अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी कहा है कि जो मनुष्य अकुशल कर्मोंसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्मोंमें राग नहीं करता, वह मेधावी (बुद्धिमान्) है।

कर्म तो फलके रूपमें परिणत होता ही है। उसके फलका त्याग कोई कर ही नहीं सकता। जैसे, कोई खेतीमें निष्कामभावसे बीज बोये, तो क्या खेतीमें अनाज नहीं होगा? बोया है तो पैदा अवश्य होगा। ऐसे ही कोई निष्कामभावपूर्वक कर्म करता है, तो उसको कर्मका फल तो मिलेगा ही, पर वह बन्धनकारक नहीं होगा। अतः यहाँ कर्मजन्य फलका त्याग करनेका अर्थ है—कर्मजन्य फलकी इच्छा, कामना, ममता, वासनाका त्याग करना। इसका त्याग करनेमें सभी समर्थ हैं।

'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः'—समतायुक्त मनीषी साधक जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। कारण कि समतामें स्थित हो जानेसे उनमें राग-द्वेष, कामना, वासना, ममता

आदि दोष किंचिन्मात्र भी नहीं रहते; अतः उनके पुनर्जन्मका कारण ही नहीं रहता। वे जन्म-मरणरूप बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं।

'पदं गच्छन्त्यनामयम्'—'आमय' नाम रोगका है। रोग एक विकार है। जिसमें किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारका विकार न हो, उसको '**अनामय**' अर्थात् निर्विकार कहते हैं। समतायुक्त मनीषीलोग ऐसे निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं। इसी निर्विकार पदको पन्द्रहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें '**अव्यय पद**' और अठारहवें अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें '**शाश्वत अव्यय पद**' नामसे कहा गया है।

यद्यपि गीतामें सत्त्वगुणको भी अनामय कहा गया है (१४।६), पर वास्तवमें अनामय (निर्विकार) तो अपना स्वरूप अथवा परमात्मतत्त्व ही है; क्योंकि वह गुणातीत तत्त्व है, जिसको प्राप्त होकर फिर किसीको भी जन्म-मरणके चक्करमें नहीं आना पड़ता। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे भगवान्‌ने सत्त्वगुणको भी अनामय कह दिया है।

अनामय पदको प्राप्त होना क्या है? प्रकृति विकारशील है, तो उसका कार्य शरीर-संसार भी विकारशील हैं। स्वयं निर्विकार होते हुए भी जब यह विकारी शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब यह अपनेको भी विकारी मान लेता है। परन्तु जब यह शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग कर देता है, तब इसको अपने सहज निर्विकार स्वरूपका अनुभव हो जाता है। इस स्वाभाविक निर्विकारताका अनुभव होनेको ही यहाँ अनामय पदको प्राप्त होना कहा गया है।

इस श्लोकमें **'बुद्धियुक्ताः'** और **'मनीषिणः'** पदमें बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि जो भी समतामें स्थित हो जाते हैं, वे सब-के-सब अनामय पदको प्राप्त हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं। उनमेंसे कोई भी बाकी नहीं रहता। इस तरह समता अनामय पदकी प्राप्तिका अचूक उपाय है। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि जब उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहता, तब स्वतःसिद्ध निर्विकारताका अनुभव हो जाता है। इसके लिये कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता; क्योंकि उस निर्विकारताका निर्माण नहीं करना पड़ता, वह तो स्वतः-स्वाभाविक ही है।

परिशिष्ट भाव—कर्मोंमें योग (समता) ही कुशलता क्यों है—इसका कारण **'हि'** पदसे इस श्लोकमें बताते हैं।

सात्त्विक कर्मका फल निर्मल है, राजस कर्मका फल दुःख है और तामस कर्मका फल मूढ़ता है (गीता—चौदहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)—इन तीनों प्रकारके फलोंका समतायुक्त मनुष्य त्याग कर देता है। कर्मजन्य फलके त्यागके दो अर्थ हैं—फलकी इच्छाका त्याग करना और कर्मोंके फलस्वरूप अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर सुखी-दुःखी न होना।

वास्तवमें उत्पत्ति-विनाशशील सम्पूर्ण संसार कर्मफलके सिवाय और कुछ है ही नहीं। कर्मफलका त्याग कर दें तो फिर कोई भी बन्धन बाकी नहीं रहता।

'मनीषी' शब्दका अर्थ है—बुद्धिमान्। पूर्वश्लोकके अनुसार समतापूर्वक कर्म करना ही बुद्धिमत्ता है—**'स बुद्धिमान्मनुष्येषु'** (गीता ४। १८)।

'पदं गच्छन्त्यनामयम्'—**'गच्छन्ति'** पदके तीन अर्थ होते हैं—१-ज्ञान होना, २-गमन करना और ३-प्राप्त होना। यहाँ निर्विकार पदकी प्राप्तिका अर्थ है—जन्म-मरणसे रहितपनेका और निर्विकार पदकी स्वतःसिद्ध प्राप्तिका ज्ञान हो जाना। कारण कि नित्य-निवृत्तकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है।

इस श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोग मुक्तिका, कल्याणप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है। कर्मयोगसे संसारकी निवृत्ति और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति—दोनों हो जाते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें बताये अनामय पदकी प्राप्तिका क्रम क्या है—इसे आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

यदा	= जिस समय	**व्यतितरिष्यति**	= भलीभाँति तर जायगी,	**श्रोतव्यस्य**	= सुननेमें आनेवाले (भोगोंसे)
ते	= तेरी	**तदा**	= उसी समय (तू)	**निर्वेदम्**	= वैराग्यको
बुद्धिः	= बुद्धि	**श्रुतस्य**	= सुने हुए	**गन्तासि**	= प्राप्त हो जायगा।
मोहकलिलम्	= मोहरूपी दलदलको	**च**	= और		

व्याख्या—'**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति**'—शरीरमें अहंता और ममता करना तथा शरीर-सम्बन्धी माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्र, वस्तु, पदार्थ आदिमें ममता करना 'मोह' है। कारण कि इन शरीरादिमें अहंता-ममता है नहीं, केवल अपनी मानी हुई है। अनुकूल पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना और प्रतिकूल पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति आदिके प्राप्त होनेपर उद्विग्न होना, संसारमें—परिवारमें विषमता, पक्षपात, मात्सर्य आदि विकार होना—यह सब-का-सब 'कलिल' अर्थात् दलदल है। इस मोहरूपी दलदलमें जब बुद्धि फँस जाती है, तब मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। फिर उसे कुछ सूझता नहीं।

यह स्वयं चेतन होता हुआ भी शरीरादि जड पदार्थोंमें अहंता-ममता करके उनके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। पर वास्तवमें यह जिन-जिन चीजोंके साथ सम्बन्ध जोड़ता है, वे चीजें इसके साथ सदा नहीं रह सकतीं और यह भी उनके साथ सदा नहीं रह सकता। परन्तु मोहके कारण इसकी इस तरफ दृष्टि ही नहीं जाती, प्रत्युत यह अनेक प्रकारके नये-नये सम्बन्ध जोड़कर संसारमें अधिक-से-अधिक फँसता चला जाता है। जैसे कोई राहगीर अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेसे पहले ही रास्तेमें अपना डेरा लगाकर खेल-कूद, हँसी-दिल्लगी आदिमें अपना समय बिता दे, ऐसे ही मनुष्य यहाँके नाशवान् पदार्थोंका संग्रह करनेमें और उनसे सुख लेनेमें तथा व्यक्ति, परिवार आदिमें ममता करके उनसे सुख लेनेमें लग गया। यही इसकी बुद्धिका मोहरूपी कलिलमें फँसना है।

हमें शरीरमें अहंता-ममता करके तथा परिवारमें ममता करके यहाँ थोड़े ही बैठे रहना है ? इनमें ही फँसे रहकर अपनी वास्तविक उन्नति-(कल्याण-) से वंचित थोड़े ही रहना है ? हमें तो इनमें न फँसकर अपना कल्याण करना है—ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाना ही बुद्धिका मोहरूपी दलदलसे तरना है। कारण कि ऐसा दृढ़ विचार होनेपर बुद्धि संसारके सम्बन्धोंको लेकर अटकेगी नहीं, संसारमें चिपकेगी नहीं।

मोहरूपी कलिलसे तरनेके दो उपाय हैं—विवेक और सेवा। विवेक (जिसका वर्णन दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक हुआ है) तेज होता है, तो वह असत् विषयोंसे अरुचि करा देता है। मनमें दूसरोंकी सेवा करनेकी, दूसरोंको सुख पहुँचानेकी धुन लग जाय तो अपने सुख-आरामका त्याग करनेकी शक्ति आ जाती है। दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव जितना तेज होगा, उतना ही अपने सुखकी इच्छाका त्याग होगा। जैसे शिष्यकी गुरुके लिये, पुत्रकी माता-पिताके लिये, नौकरकी मालिकके लिये सुख पहुँचानेकी इच्छा हो जाती है, तो उनकी अपने सुख-आरामकी इच्छा स्वतः सुगमतासे मिट जाती है। ऐसे ही कर्मयोगीका संसारमात्रकी सेवा करनेका भाव हो जाता है, तो उसकी अपने सुख-भोगकी इच्छा स्वतः मिट जाती है।

विवेक-विचारके द्वारा अपनी भोगेच्छाको मिटानेमें थोड़ी कठिनता पड़ती है। कारण कि अगर विवेक-विचार अत्यन्त दृढ़ न हो, तो वह तभीतक काम देता है, जबतक भोग सामने नहीं आते। जब भोग सामने आते हैं, तब साधक प्रायः उनको देखकर विचलित हो जाता है। परन्तु जिसमें सेवाभाव होता है, उसके सामने बढ़िया-से-बढ़िया भोग आनेपर भी वह उस भोगको दूसरोंकी सेवामें लगा देता है। अतः उसकी अपने सुख-आरामकी इच्छा सुगमतासे मिट जाती है। इसलिये भगवान्‌ने सांख्य-योगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ (पाँचवें अध्यायका दूसरा श्लोक), सुगम (पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक) एवं जल्दी सिद्धि देनेवाला (पाँचवे अध्यायका छठा श्लोक) बताया है।

'**तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च**'—मनुष्यने जितने भोगोंको सुन लिया है, भोग लिया है, अच्छी तरहसे अनुभव कर लिया है, वे सब भोग यहाँ '**श्रुतस्य**' पदके अन्तर्गत हैं। स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदिके जितने भोग सुने जा सकते हैं, वे सब भोग यहाँ '**श्रोतव्यस्य**'* पदके अन्तर्गत हैं। जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको तर जायगी, तब इन '**श्रुत**'—ऐहलौकिक और '**श्रोतव्य**'—पारलौकिक भोगोंसे, विषयोंसे तुझे वैराग्य हो जायगा। तात्पर्य है कि जब बुद्धि मोहकलिलको तर जाती है, तब बुद्धिमें तेजीका विवेक जाग्रत् हो जाता है कि संसार प्रतिक्षण बदल रहा है और मैं वही रहता हूँ; अतः इस संसारसे मेरेको शान्ति कैसे मिल सकती है ? मेरा अभाव कैसे मिट सकता है? तब '**श्रुत**' और '**श्रोतव्य**' जितने विषय हैं, उन सबसे स्वतः वैराग्य हो जाता है।

यहाँ भगवान्‌को '**श्रुत**' के स्थानपर भुक्त और '**श्रोतव्य**' के स्थानपर भोक्तव्य कहना चाहिये था। परन्तु ऐसा न कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें जो परोक्ष-अपरोक्ष विषयोंका आकर्षण होता है, वह सुननेसे ही होता है। अतः

* **यहाँ 'श्रुतस्य' और 'श्रोतव्यस्य' पद शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंके उपलक्षण हैं।**

इनमें सुनना ही मुख्य है। संसारसे, विषयोंसे छूटनेके लिये जहाँ ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका वर्णन किया गया है, वहाँ भी 'श्रवण' को मुख्य बताया गया है। तात्पर्य है कि संसारमें और परमात्मामें लगनेमें सुनना ही मुख्य है।

यहाँ '**यदा**' और '**तदा**' कहनेका तात्पर्य है कि इन '**श्रुत**' और '**श्रोतव्य**' विषयोंसे इतने वर्षोंमें, इतने महीनोंमें और इतने दिनोंमें वैराग्य होगा—ऐसा कोई नियम नहीं है, प्रत्युत जिस क्षण बुद्धि मोहकलिलको तर जायगी, उसी क्षण '**श्रुत**' और '**श्रोतव्य**' विषयोंसे, भोगोंसे वैराग्य हो जायगा। इसमें कोई देरीका काम नहीं है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३ ॥

यदा	= जिस कालमें	**बुद्धिः**	= बुद्धि	**अचला**	= अचल (हो जायगी),
श्रुतिविप्रतिपन्ना	= शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई	**निश्चला**	= निश्चल	**तदा**	= उस कालमें (तू)
ते	= तेरी	**स्थास्यति**	= हो जायगी (और)	**योगम्**	= योगको
		समाधौ	= परमात्मामें	**अवाप्स्यसि**	= प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या—[लौकिक मोहरूपी दलदलको तरनेपर भी नाना प्रकारके शास्त्रीय मतभेदोंको लेकर जो मोह होता है, उसको तरनेके लिये भगवान् इस श्लोकमें प्रेरणा करते हैं।]

'**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते ..... तदा योगमवाप्स्यसि**'—अर्जुनके मनमें यह श्रुतिविप्रतिपत्ति है कि अपने गुरुजनोंका, अपने कुटुम्बका नाश करना भी उचित नहीं है और अपने क्षात्रधर्म-(युद्ध करने-) का त्याग करना भी उचित नहीं है। एक तरफ तो कुटुम्बकी रक्षा हो और एक तरफ क्षात्रधर्मका पालन हो—इसमें अगर कुटुम्बकी रक्षा करें तो युद्ध नहीं होगा और युद्ध करें तो कुटुम्बकी रक्षा नहीं होगी—इन दोनों बातोंमें अर्जुनकी श्रुतिविप्रतिपत्ति है, जिससे उनकी बुद्धि विचलित हो रही है।* अतः भगवान् शास्त्रीय मतभेदोंमें बुद्धिको निश्चल और परमात्मप्राप्तिके विषयमें बुद्धिको अचल करनेकी प्रेरणा करते हैं।

पहले तो साधकमें इस बातको लेकर सन्देह होता है कि सांसारिक व्यवहारको ठीक किया जाय या परमात्माकी प्राप्ति की जाय? फिर उसका ऐसा निर्णय होता है कि मुझे तो केवल संसारकी सेवा करनी है और संसारसे लेना कुछ नहीं है। ऐसा निर्णय होते ही साधककी भोगोंसे उपरति होने लगती है, वैराग्य होने लगता है। ऐसा होनेके बाद जब साधक परमात्माकी तरफ चलता है, तब उसके सामने साध्य और साधन-विषयक तरह-तरहके शास्त्रीय मतभेद आते हैं। इससे 'मेरेको किस साध्यको स्वीकार करना चाहिये और किस साधन-पद्धतिसे चलना चाहिये'—इसका निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। परन्तु जब साधक सत्संगके द्वारा अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताका निर्णय कर लेता है अथवा निर्णय न हो सकनेकी दशामें भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारता है, तब भगवत्कृपासे उसकी बुद्धि निश्चल हो जाती है। दूसरी बात, सम्पूर्ण शास्त्र, सम्प्रदाय आदिमें जीव, संसार और परमात्मा—इन तीनोंका ही अलग-अलग रूपोंसे वर्णन किया गया है। इसमें विचारपूर्वक देखा जाय तो जीवका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर जीव मैं हूँ—इसमें सब एकमत हैं और संसारका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर संसारको छोड़ना है—इसमें सब एकमत हैं और परमात्माका स्वरूप चाहे जैसा हो, पर उसको प्राप्त करना है—इसमें सब एकमत हैं। ऐसा निर्णय कर लेनेपर साधककी बुद्धि निश्चल हो जाती है। मेरेको केवल परमात्माको ही प्राप्त करना है—ऐसा दृढ़ निश्चय होनेसे बुद्धि अचल हो जाती है। तब साधक सुगमतापूर्वक योग—परमात्माके साथ नित्ययोगको प्राप्त हो जाता है।

शास्त्रीय निर्णय करनेमें अथवा अपने कल्याणके

*** जाल दो प्रकारका है—संसारी और शास्त्रीय। संसारके मोहरूपी दलदलमें फँस जाना संसारी जालमें फँसना है और शास्त्रोंके, सम्प्रदायोंके द्वैत-अद्वैत आदि अनेक मत-मतान्तरोंमें उलझ जाना शास्त्रीय जालमें फँसना है। संसारी जाल तो उलझे हुए छटाँक सूतके समान है और शास्त्रीय जाल उलझे हुए सौ मन सूतके समान है। अतः भगवान् यहाँ यह बताते हैं कि संसारी और शास्त्रीय—इन दोनों जालोंमें बुद्धि निश्चल (एक निश्चयवाली) होनी चाहिये और परमात्मामें बुद्धि अचल होनी चाहिये कि हमें तो परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, चाहे जो हो जाय।**

निश्चयमें जितनी कमी रहती है, उतनी ही देरी लगती है। परन्तु इन दोनोंमें जब बुद्धि निश्चल और अचल हो जाती है, तब परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव हो जाता है।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये बुद्धि 'निश्चल' होनी चाहिये, जिसको छठे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें '**दुःखसंयोगवियोगम्**' पदसे कहा गया है और परमात्मासे सम्बन्ध जोड़नेके लिये बुद्धि 'अचल' होनी चाहिये, जिसको दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें '**समत्वं योग उच्यते**' पदोंसे कहा गया है।

यहाँ '**तदा योगमवाप्स्यसि**' पदोंसे जो योगकी प्राप्ति बतायी है, वह योग ऐसा नहीं है कि पहले परमात्मासे वियोग था, उस वियोगको मिटा दिया तो योग हो गया, प्रत्युत असत् पदार्थोंके साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा वियोग हो जानेका नाम 'योग' है अर्थात् मनुष्यकी सदासे जो वास्तविक स्थिति (परमात्मासे नित्ययोग) है, उस स्थितिमें स्थित होना योग है। वह वास्तविक स्थिति ऐसी विलक्षण है कि उससे कभी वियोग होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं। उसमें संयोग, वियोग, योग आदि कोई भी शब्द लागू नहीं होता। केवल असत्से माने हुए सम्बन्धके त्यागको ही यहाँ योग संज्ञा दे दी है। वास्तवमें यह योग नित्ययोगका वाचक है। इस नित्ययोगकी अनुभूति कर्मोंके (सेवाके) द्वारा की जाय तो 'कर्मयोग', विवेक-विचारके द्वारा की जाय तो 'ज्ञानयोग', प्रेमके द्वारा की जाय तो 'भक्तियोग', संसारके लय-चिन्तनके द्वारा की जाय तो 'लययोग', प्राणायामके द्वारा की जाय तो 'हठयोग' और यम-नियमादि आठ अंगोंके द्वारा की जाय तो 'अष्टांगयोग' कहलाता है।

परिशिष्ट भाव—मोहके दो विभाग हैं—'मोहकलिल' अर्थात् सांसारिक मोह और 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' अर्थात् शास्त्रीय (दार्शनिक) मोह। शरीर, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदिमें राग होना 'सांसारिक मोह' है और द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि दार्शनिक मतभेदोंमें उलझ जाना 'शास्त्रीय मोह' है। इन दोनोंका त्याग करनेपर मनुष्यका भोगोंसे वैराग्य हो जाता है और उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। बुद्धि स्थिर होनेपर योगकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्मासे दूरी मिट जाती है और समीपता हो जाती है। कर्मयोगसे समीपता होती है, ज्ञानयोगसे अभेद होता है और भक्तियोगसे अभिन्नता होती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंमेंसे एकको सिद्धि होनेपर साधक दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)।

मनुष्यका केवल अपने कल्याणका उद्देश्य हो और धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार आदिसे कोई स्वार्थका सम्बन्ध न हो तो वह सांसारिक मोहसे तर जाता है। पुस्तकोंकी पढ़ाई करनेका, शास्त्रोंकी बातें सीखनेका उद्देश्य न हो, प्रत्युत केवल तत्त्वका अनुभव करनेका उद्देश्य हो तो वह शास्त्रीय मोहसे तर जाता है। तात्पर्य है कि साधकको न तो सांसारिक मोहकी मुख्यता रखनी है और न शास्त्रीय (दार्शनिक) मतभेदकी मुख्यता रखनी है अर्थात् किसी मत, सम्प्रदायका कोई आग्रह नहीं रखना है। ऐसा होनेपर वह योगका, मुक्तिका अथवा भक्तिका अधिकारी हो जाता है। इससे अधिक किसी अधिकार-विशेषकी जरूरत नहीं है।

सम्बन्ध—मोहकलिल और श्रुतिविप्रतिपत्ति दूर होनेपर योगको प्राप्त हुए स्थिर बुद्धिवाले पुरुषके विषयमें अर्जुन प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

अर्जुन बोले—

केशव = हे केशव!
समाधिस्थस्य = परमात्मामें स्थित
स्थितप्रज्ञस्य = स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यके
का = क्या
भाषा = लक्षण होते हैं?
स्थितधीः = (वह) स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य
किम् = कैसे
प्रभाषेत = बोलता है,
किम् = कैसे
आसीत = बैठता है (और)
किम् = कैसे
व्रजेत = चलता है अर्थात् व्यवहार करता है?

व्याख्या—[यहाँ अर्जुनने स्थितप्रज्ञके विषयमें जो प्रश्न किये हैं, इन प्रश्नोंके पहले अर्जुनके मनमें कर्म और बुद्धि (दूसरे अध्यायके सैंतालीसवेंसे पचासवें श्लोकतक) को लेकर शंका पैदा हुई थी। परन्तु भगवान्‌ने बावनवें-तिरपनवें श्लोकोंमें कहा कि जब तेरी बुद्धि मोहकलिल और श्रुतिविप्रतिपत्तिको तर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा—यह सुनकर अर्जुनके मनमें शंका हुई कि जब मैं योगको प्राप्त हो जाऊँगा, स्थितप्रज्ञ हो जाऊँगा तब मेरे क्या लक्षण होंगे? अतः अर्जुनने इस अपनी व्यक्तिगत शंकाको पहले पूछ लिया और कर्म तथा बुद्धिको लेकर अर्थात् सिद्धान्तको लेकर जो दूसरी शंका थी, उसको अर्जुनने स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका वर्णन होनेके बाद (तीसरे अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकमें) पूछ लिया। अगर अर्जुन सिद्धान्तका प्रश्न यहाँ चौवनवें श्लोकमें ही कर लेते तो स्थितप्रज्ञके विषयमें प्रश्न करनेका अवसर बहुत दूर पड़ जाता।]

'समाधिस्थस्य'[1]—जो मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो चुका है, उसके लिये यहाँ **'समाधिस्थ'** पद आया है।

'स्थितप्रज्ञस्य'—यह पद साधक और सिद्ध दोनोंका वाचक है। जिसका विचार दृढ़ है, जो साधनसे कभी विचलित नहीं होता, ऐसा साधक भी स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धिवाला) है और परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे जिसकी बुद्धि स्थिर हो चुकी है, ऐसा सिद्ध भी स्थितप्रज्ञ है। अतः यहाँ **'स्थितप्रज्ञ'** शब्दसे साधक और सिद्ध दोनों लिये गये हैं। पहले इकतालीसवेंसे पैंतालीसवें श्लोकतक और सैंतालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक साधकोंका वर्णन हुआ है; अतः आगेके श्लोकोंमें सिद्धके लक्षणोंमें साधकोंका भी वर्णन हुआ है।

यहाँ शंका होती है कि अर्जुनने तो **'समाधिस्थस्य'** पदसे सिद्ध स्थितप्रज्ञकी बात ही पूछी थी, पर भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें साधकोंकी बातें क्यों कहीं ? इसका समाधान है कि ज्ञानयोगी साधककी तो प्रायः साधन-अवस्थामें ही कर्मोंसे उपरति हो जाती है। सिद्ध-अवस्थामें वह कर्मोंसे विशेष उपराम हो जाता है। भक्तियोगी साधककी भी साधन-अवस्थामें जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि भगवत्सम्बन्धी कर्म करनेकी रुचि होती है और इनकी बहुलता भी होती है। सिद्ध-अवस्थामें तो भगवत्सम्बन्धी कर्म विशेषतासे होते हैं। इस तरह ज्ञानयोगी और भक्तियोगी—दोनोंकी साधन और सिद्ध-अवस्थामें अन्तर आ जाता है, पर कर्मयोगीकी साधन और सिद्ध-अवस्थामें अन्तर नहीं आता। उसका दोनों अवस्थाओंमें कर्म करनेका प्रवाह ज्यों-का-त्यों चलता रहता है। कारण कि साधन-अवस्थामें उसका कर्म करनेका प्रवाह रहा है और उसके योगपर आरूढ़ होनेमें भी कर्म ही खास कारण रहे हैं। अतः भगवान्‌ने सिद्धके लक्षणोंमें, साधक जिस तरह सिद्ध हो सके, उसके साधन भी बता दिये हैं और जो सिद्ध हो गये हैं, उनके लक्षण भी बता दिये हैं।

'का भाषा'[2]—परमात्मामें स्थित स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यको किस वाणीसे कहा जाता है अर्थात् उसके क्या लक्षण होते हैं? (इसका उत्तर भगवान्‌ने आगेके श्लोकमें दिया है।)

'स्थितधीः किं प्रभाषेत'—वह स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य कैसे बोलता है? (इसका उत्तर भगवान्‌ने छप्पनवें-सत्तावनवें श्लोकमें दिया है।)

'किमासीत'—वह कैसे बैठता है अर्थात् संसारसे किस तरह उपराम होता है? (इसका उत्तर भगवान्‌ने अट्ठावनवें श्लोकसे तिरसठवें श्लोकतक दिया है।)

'व्रजेत किम्'—वह कैसे चलता है अर्थात् व्यवहार कैसे करता है? (इसका उत्तर भगवान्‌ने चौंसठवेंसे इकहत्तरवें श्लोकतक दिया है।)

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

१-यहाँ 'समाधि' पद परमात्माका वाचक है। इसीको पहले चौवालीसवें श्लोकमें 'समाधौ न विधीयते' पदोंसे कहा है।
२-'कया भाषया (वाण्या) भाष्यत इति भाषा।'

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**प्रजहाति**	=भलीभाँति त्याग कर देता है (और)	**तुष्टः**	=सन्तुष्ट रहता है,
यदा	=जिस कालमें (साधक)	**आत्मना**	=अपने-आपसे	**तदा**	=उस कालमें (वह)
मनोगतान्	=मनमें आयी	**आत्मनि**	=अपने-आपमें	**स्थितप्रज्ञः**	=स्थिरबुद्धि
सर्वान्	=सम्पूर्ण	**एव**	=ही	**उच्यते**	=कहा जाता है।
कामान्	=कामनाओंका				

व्याख्या—[गीताकी यह एक शैली है कि जो साधक जिस साधन (कर्मयोग, भक्तियोग आदि) के द्वारा सिद्ध होता है, उसी साधनसे उसकी पूर्णताका वर्णन किया जाता है। जैसे, भक्तियोगमें साधक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं—ऐसे अनन्य-योगसे उपासना करता है (बारहवें अध्यायका छठा श्लोक); अतः सिद्धावस्थामें वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें द्वेष-भावसे रहित हो जाता है (बारहवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। ज्ञानयोगमें साधक स्वयंको गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध एवं निर्लिप्त देखता है (चौदहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); अतः सिद्धावस्थामें वह सम्पूर्ण गुणोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है (चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक)। ऐसे ही कर्मयोगमें कामनाके त्यागकी बात मुख्य कही गयी है; अतः सिद्धावस्थामें वह सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है—यह बात इस श्लोकमें बताते हैं।]

‘**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्**’—इन पदोंका तात्पर्य यह हुआ कि कामना न तो स्वयंमें है और न मनमें ही है। कामना तो आने-जानेवाली है और स्वयं निरन्तर रहनेवाला है; अतः स्वयंमें कामना कैसे हो सकती है? मन एक करण है और उसमें भी कामना निरन्तर नहीं रहती, प्रत्युत उसमें आती है—‘**मनोगतान्**’; अतः मनमें भी कामना कैसे हो सकती है? परन्तु शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे तादात्म्य होनेके कारण मनुष्य मनमें आनेवाली कामनाओंको अपनेमें मान लेता है।

‘**जहाति**’ क्रियाके साथ ‘**प्र**’ उपसर्ग देनेका तात्पर्य है कि साधक कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देता है, किसी भी कामनाका कोई भी अंश किंचिन्मात्र भी नहीं रहता।

अपने स्वरूपका कभी त्याग नहीं होता और जिससे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उसका भी त्याग नहीं होता। त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है, पर उसको अपना मान लिया है। ऐसे ही कामना अपनेमें नहीं है, पर उसको अपनेमें मान लिया है। इस मान्यताका त्याग करनेको ही यहाँ ‘**प्रजहाति**’ पदसे कहा गया है।

यहाँ ‘**कामान्**’ शब्दमें बहुवचन होनेसे ‘**सर्वान्**’ पद उसीके अन्तर्गत आ जाता है, फिर भी ‘**सर्वान्**’ पद देनेका तात्पर्य है कि कोई भी कामना न रहे और किसी भी कामनाका कोई भी अंश बाकी न रहे।

‘**आत्मन्येवात्मना तुष्टः**’—जिस कालमें सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है अर्थात् अपने-आपमें सहज स्वाभाविक सन्तोष होता है।

सन्तोष दो तरहका होता है—एक सन्तोष गुण है और एक सन्तोष स्वरूप है। अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी कोई भी इच्छा न हो—यह सन्तोष गुण है और स्वयंमें असन्तोषका अत्यन्ताभाव है—यह सन्तोष स्वरूप है। यह स्वरूपभूत सन्तोष स्वतः सर्वदा रहता है। इसके लिये कोई अभ्यास या विचार नहीं करना पड़ता। स्वरूपभूत सन्तोषमें प्रज्ञा (बुद्धि) स्वतः स्थिर रहती है।

‘**स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते**’—स्वयं जब बहुशाखाओंवाली अनन्त कामनाओंको अपनेमें मानता था, उस समय भी वास्तवमें कामनाएँ अपनेमें नहीं थीं और स्वयं स्थितप्रज्ञ ही था। परन्तु उस समय अपनेमें कामनाएँ माननेके कारण बुद्धि स्थिर न होनेसे वह स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जाता था अर्थात् उसको अपनी स्थितप्रज्ञताका अनुभव नहीं होता था। अब उसने अपनेमेंसे सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर दिया अर्थात् उनकी मान्यताको हटा दिया, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है अर्थात् उसको अपनी स्थितप्रज्ञताका अनुभव हो जाता है।

साधक तो बुद्धिको स्थिर बनाता है। परन्तु कामनाओंका सर्वथा त्याग होनेपर बुद्धिको स्थिर बनाना नहीं पड़ता, वह स्वतः-स्वाभाविक स्थिर हो जाती है।

कर्मयोगमें साधकका कर्मोंसे ज्यादा सम्बन्ध रहता है। उसके लिये योगमें आरूढ़ होनेमें भी कर्म कारण हैं—‘**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**’ (गीता ६। ३)। इसलिये कर्मयोगीका कर्मोंके साथ सम्बन्ध साधक-अवस्थामें भी रहता है और सिद्धावस्थामें भी। सिद्धावस्थामें

कर्मयोगीके द्वारा मर्यादाके अनुसार कर्म होते रहते हैं, जो दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इसी बातको भगवान्‌ने चौथे अध्यायमें कहा है कि कर्मयोगी कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है और निर्लिप्त रहते हुए ही कर्म करता है—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः**' (४। १८)।

भगवान्‌ने तिरपनवें श्लोकमें योगकी प्राप्तिमें बुद्धिकी दो बातें कही थीं—संसारसे हटनेमें तो बुद्धि निश्चल हो और परमात्मामें लगनेमें बुद्धि अचल हो अर्थात् निश्चल कहकर संसारका त्याग बताया और अचल कहकर परमात्मामें स्थिति बतायी। उन्हीं दो बातोंको लेकर यहाँ '**यदा**' और '**तदा**' पदसे कहा गया है कि जब साधक कामनाओंसे सर्वथा रहित हो जाता है और अपने स्वरूपमें ही सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। तात्पर्य है कि जबतक कामनाका अंश रहता है, तबतक वह साधक कहलाता है और जब कामनाओंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह सिद्ध कहलाता है। इन्हीं दो बातोंका वर्णन भगवान्‌ने इस अध्यायकी समाप्तितक किया है; जैसे—यहाँ '**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्**' पदोंसे संसारका त्याग बताया और फिर '**आत्मन्येवात्मना तुष्टः**' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी।

छप्पनवें श्लोकके पहले भागमें (तीन चरणोंमें) संसारका त्याग और '**स्थितधीर्मुनिः**' पदसे परमात्मामें स्थिति बतायी। सत्तावनवें और अट्ठावनवें श्लोकमें पहले संसारका त्याग बताया और फिर '**तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी। उनसठवें श्लोकके पहले भागमें संसारका त्याग बताया और '**परं दृष्ट्वा**' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी। साठवें श्लोकसे इकसठवें श्लोकतक पहले संसारका त्याग बताया और फिर '**युक्त आसीत मत्परः**' आदि पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी। बासठवेंसे पैंसठवें श्लोकतक पहले संसारका त्याग बताया और फिर '**बुद्धिः पर्यवतिष्ठते**' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी। छाछठवेंसे अड़सठवें श्लोकतक पहले संसारका त्याग बताया और फिर '**तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी। उनहत्तरवें श्लोकमें '**या निशा सर्वभूतानाम्**' तथा '**यस्यां जाग्रति भूतानि**' पदोंसे संसारका त्याग बताया और '**तस्यां जागर्ति संयमी**' तथा '**सा निशा पश्यतो मुनेः**' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी। सत्तरवें और इकहत्तरवें श्लोकमें पहले संसारका त्याग बताया और फिर '**स शान्तिमधिगच्छति**' पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी। बहत्तरवें श्लोकमें '**नैनां प्राप्य विमुह्यति**' पदोंसे संसारका त्याग बताया और '**ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति**' आदि पदोंसे परमात्मामें स्थिति बतायी।

परिशिष्ट भाव—एक विभाग अस्थिर बुद्धिवालोंका है और एक विभाग स्थिर बुद्धिवालोंका है। अस्थिर बुद्धिवालोंकी बात तो पहले इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक कह दी, अब स्थिर बुद्धिवालोंकी बात पचपनवेंसे इकहत्तरवें श्लोकतक कहते हैं। जिस समय साधक सांसारिक रुचिका त्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, उस समय वह स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है।

जिसका परमात्माका उद्देश्य होता है, उसकी बुद्धि एक निश्चयवाली होती है; क्योंकि परमात्मा भी एक ही हैं। परन्तु जिसका संसारका उद्देश्य होता है, उसकी बुद्धि असंख्य कामनाओंवाली होती है; क्योंकि सांसारिक वस्तुएँ असंख्य हैं (गीता—दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)।

समताकी प्राप्तिके लिये बुद्धिकी स्थिरता बहुत आवश्यक है। पातंजलयोगदर्शनमें तो मनकी स्थिरता (वृत्तिनिरोध) को महत्त्व दिया गया है, पर गीता बुद्धिकी स्थिरता (उद्देश्यकी दृढ़ता) को ही महत्त्व देती है। कारण कि कल्याणप्राप्तिमें मनकी स्थिरताका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बुद्धिकी स्थिरताका महत्त्व है। मनकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे पारमार्थिक सिद्धि (कल्याणप्राप्ति) होती है। कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरता ही मुख्य है। अगर मनकी स्थिरता होगी तो कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म कैसे करेगा? कारण कि मन स्थिर होनेपर बाहरी क्रियाएँ रुक जाती हैं। भगवान् भी योग (समता) में स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—'**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (२। ४८)।

'**प्रजहाति**' और '**कामान्सर्वान्**' पद देनेका तात्पर्य है कि किंचिन्मात्र भी कामना न रहे, पूरा-का-पूरा त्याग हो जाय। कारण कि यह कामना ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधक है।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है?' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

दुःखेषु = दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर
अनुद्विग्नमनाः = जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता (और)
सुखेषु = सुखोंकी प्राप्ति होनेपर
विगतस्पृहः = जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती (तथा)
वीतरागभयक्रोधः = जो राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, (वह)
मुनिः = मननशील मनुष्य
स्थितधीः = स्थिरबुद्धि
उच्यते = कहा जाता है।

व्याख्या—[अर्जुनने तो 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है?' ऐसा क्रियाकी प्रधानताको लेकर प्रश्न किया था, पर भगवान् भावकी प्रधानताको लेकर उत्तर देते हैं; क्योंकि क्रियाओंमें भाव ही मुख्य है। क्रियामात्र भावपूर्वक ही होती है। भाव बदलनेसे क्रिया बदल जाती है अर्थात् बाहरसे क्रिया वैसी ही दीखनेपर भी वास्तवमें क्रिया वैसी नहीं रहती। उसी भावकी बात भगवान् यहाँ कह रहे हैं*।]

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः'—दुःखोंकी सम्भावना और उनकी प्राप्ति होनेपर भी जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता अर्थात् कर्तव्य-कर्म करते समय कर्म करनेमें बाधा लग जाना, निन्दा-अपमान होना, कर्मका फल प्रतिकूल होना आदि-आदि प्रतिकूलताएँ आनेपर भी उसके मनमें उद्वेग नहीं होता।

कर्मयोगीके मनमें उद्वेग, हलचल न होनेका कारण यह है कि उसका मुख्य कर्तव्य होता है—दूसरोंके हितके लिये कर्म करना, कर्मोंको सांगोपांग करना, कर्मोंके फलमें कहीं आसक्ति, ममता, कामना न हो जाय—इस विषयमें सावधान रहना। ऐसा करनेसे उसके मनमें एक प्रसन्नता रहती है। उस प्रसन्नताके कारण कितनी ही प्रतिकूलता आनेपर भी उसके मनमें उद्वेग नहीं होता।

'सुखेषु विगतस्पृहः'—सुखोंकी सम्भावना और उनकी प्राप्ति होनेपर भी जिसके भीतर स्पृहा नहीं होती अर्थात् वर्तमानमें कर्मोंका सांगोपांग हो जाना, तात्कालिक आदर और प्रशंसा होना, अनुकूल फल मिल जाना आदि-आदि अनुकूलताएँ आनेपर भी उसके मनमें 'यह परिस्थिति ऐसी ही बनी रहे; यह परिस्थिति सदा मिलती रहे'—ऐसी स्पृहा नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें अनुकूलताका कुछ भी असर नहीं होता।

'वीतरागभयक्रोधः'—संसारके पदार्थोंका मनपर जो रंग चढ़ जाता है उसको **'राग'** कहते हैं। पदार्थोंमें राग होनेपर अगर कोई सबल व्यक्ति उन पदार्थोंका नाश करता है, उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कराता है, उनकी प्राप्तिमें विघ्न डालता है, तो मनमें **'भय'** होता है। अगर वह व्यक्ति निर्बल होता है, तो मनमें **'क्रोध'** होता है। परन्तु जिसके भीतर दूसरोंको सुख पहुँचानेका, उनका हित करनेका, उनकी सेवा करनेका भाव जाग्रत् हो जाता है, उसका राग स्वाभाविक ही मिट जाता है। रागके मिटनेसे भय और क्रोध भी नहीं रहते। अतः वह राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो जाता है।

जबतक आंशिकरूपसे उद्वेग, स्पृहा, राग, भय और क्रोध रहते हैं, तबतक वह साधक होता है। इनसे सर्वथा रहित होनेपर वह सिद्ध हो जाता है।

[वासना, कामना आदि सभी एक रागके ही स्वरूप हैं। केवल वासनाका तारतम्य होनेसे उसके अलग-अलग नाम होते हैं; जैसे अन्तःकरणमें जो छिपा हुआ राग रहता है, उसका नाम **'वासना'** है। उस वासनाका ही दूसरा नाम **'आसक्ति'** और प्रियता है। मेरेको वस्तु मिल जाय—ऐसी जो इच्छा होती है, उसका नाम **'कामना'** है। कामना पूरी होनेकी जो सम्भावना है, उसका नाम **'आशा'** है। कामना पूरी होनेपर भी पदार्थोंके बढ़नेकी तथा पदार्थोंके और मिलनेकी जो इच्छा होती है, उसका नाम **'लोभ'** है। लोभकी मात्रा अधिक बढ़ जानेका नाम **'तृष्णा'** है। तात्पर्य है कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंमें जो खिंचाव है,

*** गीतामें अर्जुनने जहाँ-कहीं भी क्रियाकी प्रधानताको लेकर प्रश्न किया है, उसका उत्तर भगवान्‌ने भाव और बोधकी प्रधानताको लेकर ही दिया है। कारण कि क्रियाओंमें भाव और बोध ही मुख्य हैं। भाव और बोधके अनुसार ही क्रियाएँ होती हैं। जैसे, अर्जुनने चौदहवें अध्यायमें पूछा कि गुणातीत पुरुषके आचरण कैसे होते हैं ? तो भगवान्‌ने भावकी मुख्यताको लेकर उत्तर दिया कि उसके आचरण समतापूर्वक होते हैं।**

श्रेष्ठ और महत्त्व-बुद्धि है, उसीको वासना, कामना आदि नामोंसे कहते हैं।]

'स्थितधीर्मुनिरुच्यते'—ऐसे मननशील कर्मयोगीकी बुद्धि स्थिर, अटल हो जाती है। **'मुनि'** शब्द वाणीपर लागू होता है, इसलिये भगवान्‌ने **'किं प्रभाषेत'** के उत्तरमें **'मुनि'** शब्द कह दिया है। परंतु वास्तवमें **'मुनि'** शब्द केवल वाणीपर ही अवलम्बित नहीं है। इसीलिये भगवान्‌ने सत्रहवें अध्यायमें **'मौन'** शब्दका प्रयोग मानसिक तपमें किया है, वाणीके तपमें नहीं (सत्रहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

कर्मयोगका प्रकरण होनेसे यहाँ मननशील कर्मयोगीको मुनि कहा गया है। मननशीलताका तात्पर्य है— सावधानीका मनन, जिससे कि मनमें कोई कामना-आसक्ति न आ जाय। निरन्तर अनासक्त रहना ही सिद्ध कर्मयोगीकी सावधानी है; क्योंकि पहले साधक-अवस्थामें उसकी ऐसी सावधानी रही है (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक) और इसीसे वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुआ है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

सर्वत्र	= सब जगह	**शुभाशुभम्**	= शुभ-अशुभको	**न**	= न
अनभिस्नेहः	= आसक्तिरहित हुआ	**प्राप्य**	= प्राप्त करके	**द्वेष्टि**	= द्वेष करता है,
		न	= न तो	**तस्य**	= उसकी
यः	= जो मनुष्य	**अभिनन्दति**	= प्रसन्न होता है (और)	**प्रज्ञा**	= बुद्धि
तत्, तत्	= उस-उस			**प्रतिष्ठिता**	= स्थिर है।

व्याख्या—[पूर्वश्लोकमें तो भगवान्‌ने कर्तव्यकर्म करते हुए निर्विकार रहनेकी बात बतायी। अब इस श्लोकमें कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सम, निर्विकार रहनेकी बात बताते हैं।]

'यः सर्वत्रानभिस्नेहः'—जो सब जगह स्नेहरहित है अर्थात् जिसकी अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं स्त्री, पुत्र, घर, धन आदि किसीमें भी आसक्ति, लगाव नहीं रहा है।

वस्तु आदिके बने रहनेसे मैं बना रहा और उनके बिगड़ जानेसे मैं बिगड़ गया, धनके आनेसे मैं बड़ा हो गया और धनके चले जानेसे मैं मारा गया—यह जो वस्तु आदिमें एकात्मताकी तरह स्नेह है, उसका नाम 'अभिस्नेह' है। स्थितप्रज्ञ कर्मयोगीका किसी भी वस्तु आदिमें यह अभिस्नेह बिलकुल नहीं रहता। बाहरसे वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिका संयोग रहते हुए भी वह भीतरसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

'तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं नाभिनन्दति न द्वेष्टि'—जब उस मनुष्यके सामने प्रारब्धवशात् शुभ-अशुभ, शोभनीय-अशोभनीय, अच्छी-मन्दी, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, तब वह अनुकूल परिस्थितिको लेकर अभिनन्दित नहीं होता और प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर द्वेष नहीं करता।

अनुकूल परिस्थितिको लेकर मनमें जो प्रसन्नता आती है और वाणीसे भी प्रसन्नता प्रकट की जाती है तथा बाहरसे भी उत्सव मनाया जाता है—यह उस परिस्थितिका अभिनन्दन करना है। ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर मनमें जो दुःख होता है, खिन्नता होती है कि यह कैसे और क्यों हो गया! यह नहीं होता तो अच्छा था, अब यह जल्दी मिट जाय तो ठीक है—यह उस परिस्थितिसे द्वेष करना है। सर्वत्र स्नेहरहित, निर्लिप्त हुआ मनुष्य अनुकूलताको लेकर अभिनन्दन नहीं करता और प्रतिकूलताको लेकर द्वेष नहीं करता। तात्पर्य है कि उसको अनुकूल-प्रतिकूल, अच्छे-मन्दे अवसर प्राप्त होते रहते हैं, पर उसके भीतर सदा निर्लिप्तता बनी रहती है।

'तत्, तत्' कहनेका तात्पर्य है कि जिन-जिन अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिसे विकार होनेकी सम्भावना रहती है और साधारण लोगोंमें विकार होते हैं, उन-उन अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु आदिके कहीं भी, कभी भी और कैसे भी प्राप्त होनेपर उसको अभिनन्दन और द्वेष नहीं होता।

'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'—उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है, एकरस और एकरूप है। साधनावस्थामें उसकी जो व्यवसायात्मिका बुद्धि थी, वह अब परमात्मामें अचल-अटल हो गयी है। उसकी बुद्धिमें यह विवेक पूर्णरूपसे जाग्रत् हो गया है कि संसारमें अच्छे-मन्देके साथ वास्तवमें मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। कारण कि ये अच्छे-मन्दे

अवसर तो बदलनेवाले हैं, पर मेरा स्वरूप न बदलनेवाला है; अतः बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

वास्तवमें देखा जाय तो फर्क न तो स्वरूपमें पड़ता है और न शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें। कारण कि अपना जो स्वरूप है, उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति तथा प्रकृतिके कार्य शरीरादि स्वाभाविक ही बदलते रहते हैं। तो फर्क कहाँ पड़ता है? शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण बुद्धिमें फर्क पड़ता है। जब यह तादात्म्य मिट जाता है, तब बुद्धिमें जो फर्क पड़ता था, वह मिट जाता है और बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है।

दूसरा भाव यह है कि किसीकी बुद्धि कितनी ही तेज क्यों न हो और वह अपनी बुद्धिसे परमात्माके विषयमें कितना ही विचार क्यों न करता हो, पर वह परमात्माको अपनी बुद्धिके अन्तर्गत नहीं ला सकता। कारण कि बुद्धि सीमित है और परमात्मा असीम-अनन्त हैं। परन्तु उस असीम परमात्मामें जब बुद्धि लीन हो जाती है, तब उस सीमित बुद्धिमें परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रहती—यही बुद्धिका परमात्मामें प्रतिष्ठित होना है।

कर्मयोगी क्रियाशील होता है। अतः भगवान्‌ने छप्पनवें श्लोकमें क्रियाकी सिद्धि-असिद्धिमें अस्पृहा और उद्वेग-रहित होनेकी बात कही तथा इस श्लोकमें प्रारब्धके अनुसार अपने-आप अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर अभिनन्दन और द्वेषसे रहित होनेकी बात कहते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकसे 'स्थितप्रज्ञ कैसे बैठता है?' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

इव, च = जिस तरह
कूर्मः = कछुआ
अङ्गानि = (अपने) अंगोंको
सर्वशः = सब ओरसे
संहरते = समेट लेता है, (ऐसे ही)
यदा = जिस कालमें
अयम् = यह (कर्मयोगी)
इन्द्रियार्थेभ्यः = इन्द्रियोंके विषयोंसे
इन्द्रियाणि = इन्द्रियोंको (सब प्रकारसे हटा लेता है, तब)
तस्य = उसकी
प्रज्ञा = बुद्धि
प्रतिष्ठिता = स्थिर हो जाती है।

व्याख्या—'**यदा संहरते.....प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**'—यहाँ कछुएका दृष्टान्त देनेका तात्पर्य है कि जैसे कछुआ चलता है तो उसके छः अंग दीखते हैं—चार पैर, एक पूँछ और एक मस्तक। परन्तु जब वह अपने अंगोंको छिपा लेता है, तब केवल उसकी पीठ ही दिखायी देती है। ऐसे ही स्थितप्रज्ञ पाँच इन्द्रियाँ और एक मन—इन छहोंको अपने-अपने विषयसे हटा लेता है। अगर उसका इन्द्रियों आदिके साथ किंचिन्मात्र भी मानसिक सम्बन्ध बना रहता है, तो वह स्थितप्रज्ञ नहीं होता।

यहाँ '**संहरते**' क्रिया देनेका मतलब यह हुआ कि वह स्थितप्रज्ञ विषयोंसे इन्द्रियोंका उपसंहार कर लेता है अर्थात् वह मनसे भी विषयोंका चिन्तन नहीं करता।

इस श्लोकमें '**यदा**' पद तो दिया है, पर '**तदा**' पद नहीं दिया है। यद्यपि '**यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः**' के अनुसार जहाँ '**यदा**' आता है, वहाँ '**तदा**' का अध्याहार लिया जाता है अर्थात् '**यदा**' पदके अन्तर्गत ही '**तदा**' पद आ जाता है, तथापि यहाँ '**तदा**' पदका प्रयोग न करनेका एक गहरा तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयोंसे सर्वथा हट जानेसे स्वतःसिद्ध तत्त्वका जो अनुभव होता है, वह कालके अधीन, कालकी सीमामें नहीं है। कारण कि वह अनुभव किसी क्रिया अथवा त्यागका फल नहीं है। वह अनुभव उत्पन्न होनेवाली वस्तु नहीं है। अतः यहाँ कालवाचक '**तदा**' पद देनेकी जरूरत नहीं है। इसकी जरूरत तो वहाँ होती है, जहाँ कोई वस्तु किसी वस्तुके अधीन होती है। जैसे आकाशमें सूर्य रहनेपर भी आँखें बंद कर लेनेसे सूर्य नहीं दीखता और आँखें खोलते ही सूर्य दीख जाता है, तो यहाँ सूर्य और आँखोंमें कार्य-कारणका सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आँखें खुलनेसे सूर्य पैदा नहीं हुआ है। सूर्य तो पहलेसे ज्यों-का-त्यों ही है। आँखें बंद करनेसे पहले भी सूर्य वैसा ही है और आँखें बंद करनेपर भी सूर्य वैसा ही है। केवल आँखें बंद करनेसे हमें उसका अनुभव नहीं हुआ था। ऐसे ही यहाँ इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेसे स्वतःसिद्ध परमात्मतत्त्वका जो अनुभव हुआ है, वह अनुभव मनसहित इन्द्रियोंका विषय नहीं है। तात्पर्य है कि वह स्वतःसिद्ध तत्त्व

भोगों-(विषयों-) के साथ सम्बन्ध रखते हुए और भोगोंको भोगते हुए भी वैसा ही है। परन्तु भोगोंके साथ सम्बन्धरूप परदा रहनेसे उसका अनुभव नहीं होता और यह परदा हटते ही उसका अनुभव हो जाता है।

सम्बन्ध—केवल इन्द्रियोंका विषयोंसे हट जाना ही स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं है—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

निराहारस्य	= निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले)
देहिनः	= मनुष्यके (भी)
विषयाः	= विषय तो
विनिवर्तन्ते	= निवृत्त हो जाते हैं, (पर)
रसवर्जम्	= रस निवृत्त नहीं होता। (परन्तु)
परम्	= परमात्मतत्त्वका
दृष्ट्वा	= अनुभव होनेसे
अस्य	= इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका
रसः	= रस
अपि	= भी
निवर्तते	= निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें रसबुद्धि नहीं रहती।

व्याख्या—**'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः रसवर्जम्'**—मनुष्य निराहार दो तरहसे होता है—(१) अपनी इच्छासे भोजनका त्याग कर देना अथवा बीमारी आनेसे भोजनका त्याग हो जाना और (२) सम्पूर्ण विषयोंका त्याग करके एकान्तमें बैठना अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेना।

यहाँ इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले साधकके लिये ही **'निराहारस्य'** पद आया है।

रोगीके मनमें यह रहता है कि क्या करूँ, शरीरमें पदार्थोंका सेवन करनेकी सामर्थ्य नहीं है, इसमें मेरी परवशता है; परन्तु जब मैं ठीक हो जाऊँगा, शरीरमें शक्ति आ जायगी, तब मैं पदार्थोंका सेवन करूँगा। इस तरह उसके भीतर रसबुद्धि रहती है। ऐसे ही इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेपर विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर साधकके भीतर विषयोंमें जो रसबुद्धि, सुखबुद्धि है, वह जल्दी निवृत्त नहीं होती।

जिनका स्वाभाविक ही विषयोंमें राग नहीं है और जो तीव्र वैराग्यवान् हैं, उन साधकोंकी रसबुद्धि साधनावस्थामें ही निवृत्त हो जाती है। परन्तु जो तीव्र वैराग्यके बिना ही विचारपूर्वक साधनमें लगे हुए हैं; उन्हीं साधकोंके लिये यह कहा गया है कि विषयोंका त्याग कर देनेपर भी उनकी रसबुद्धि निवृत्त नहीं होती।

'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'—इस स्थितप्रज्ञकी रसबुद्धि परमात्माका अनुभव हो जानेपर निवृत्त हो जाती है। रसबुद्धि निवृत्त होनेसे वह स्थितप्रज्ञ हो ही जाता है—यह नियम नहीं है। परन्तु स्थितप्रज्ञ होनेसे रसबुद्धि नहीं रहती—यह नियम है।

'रसोऽप्यस्य' पदसे यह तात्पर्य निकलता है कि रसबुद्धि साधककी अहंतामें अर्थात् 'मैं'-पनमें रहती है। यही रसबुद्धि स्थूलरूपसे रागका रूप धारण कर लेती है। अतः साधकको चाहिये कि वह अपनी अहंतासे ही रसको निकाल दे कि 'मैं तो निष्काम हूँ; राग करना, कामना करना मेरा काम नहीं है'। इस प्रकार निष्कामभाव आ जानेसे अथवा निष्काम होनेका उद्देश्य होनेसे रसबुद्धि नहीं रहती और परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे रसकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—भोगोंकी सत्ता और महत्ता माननेसे अन्तःकरणमें भोगोंके प्रति एक सूक्ष्म खिंचाव, प्रियता, मिठास पैदा होती है, उसका नाम 'रस' है। किसी लोभी व्यक्तिको रुपये मिल जायँ और कामी व्यक्तिको स्त्री मिल जाय तो भीतर-ही-भीतर एक खुशी आती है, यही 'रस' है। भोग भोगनेके बाद मनुष्य कहता है कि 'बड़ा मजा आया'—यह उस रसकी ही स्मृति है। यह रस अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) में रहता है। इसी रसका स्थूल रूप राग, सुखासक्ति है।

जबतक संयोगजन्य सुखमें रसबुद्धि रहती है, तबतक प्रकृति तथा उसके कार्य (क्रिया, पदार्थ और व्यक्ति) की पराधीनता रहती ही है। रसबुद्धि निवृत्त होनेपर पराधीनता सर्वथा मिट जाती है, भोगोंके सुखकी परवशता नहीं रहती, भीतरसे भोगोंकी गुलामी नहीं रहती।

जबतक अन्त:करणमें किंचिन्मात्र भी भोगोंकी सत्ता और महत्ता रहती है, भोगोंमें रसबुद्धि रहती है, तबतक परमात्माका अलौकिक रस प्रकट नहीं होता। परमात्माके अलौकिक रसकी तो बात ही क्या, परमात्माकी प्राप्ति करनी है—यह निश्चय भी नहीं होता (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। बाहरसे इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर अर्थात् भोगोंका त्याग करनेपर भी भीतरमें रसबुद्धि बनी रहती है। तत्त्वबोध होनेपर यह रसबुद्धि सूख जाती है, निवृत्त हो जाती है—**'परं दृष्ट्वा निवर्तते।'** तात्पर्य है कि जब संसारसे अपनी भिन्नता तथा परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है, तब नाशवान् (संयोगजन्य) रसकी निवृत्ति हो जाती है। नाशवान् रसकी निवृत्ति होनेपर अविनाशी (अखण्ड) रसकी जागृति हो जाती है।

तत्त्वबोध होनेपर तो रस सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है, पर तत्त्वबोध होनेसे पहले भी उसकी उपेक्षासे, विचारसे, सत्संगसे, संतकृपासे रस निवृत्त हो सकता है। जिनकी रसबुद्धि निवृत्त हो चुकी है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषके संगसे भी रस निवृत्त हो सकता है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—तीनों साधनोंसे नाशवान् रसकी निवृत्ति हो जाती है। ज्यों-ज्यों कर्मयोगमें सेवाका रस, ज्ञानयोगमें तत्त्वके अनुभवका रस और भक्तियोगमें प्रेमका रस मिलने लगता है, त्यों-त्यों नाशवान् रस स्वत: छूटता चला जाता है। जैसे बचपनमें खिलौनोंमें रस मिलता था, पर बड़े होनेपर जब रुपयोंमें रस मिलने लगता है, तब खिलौनोंका रस स्वत: छूट जाता है, ऐसे ही साधनका रस मिलनेपर भोगोंका रस स्वत: छूट जाता है।

रसबुद्धिके रहते हुए जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब मनुष्यका चित्त पिघल जाता है तथा वह भोगोंके वशीभूत हो जाता है। परन्तु रसबुद्धि निवृत्त होनेके बाद जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब तत्त्वज्ञ महापुरुषके चित्तमें किंचिन्मात्र भी कोई विकार पैदा नहीं होता (गीता २। ७०)। उसके भीतर ऐसी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, जिससे भोग उसको अपनी ओर खींच सकें। जैसे, पशुके आगे रुपयोंकी थैली रख दें तो उसमें लोभ-वृत्ति पैदा नहीं होती और सुन्दर स्त्रीको देखकर उसमें काम-वृत्ति पैदा नहीं होती। पशु तो रुपयोंको और स्त्रीको जानता नहीं, पर तत्त्वज्ञ महापुरुष रुपयोंको भी जानता है और स्त्रीको भी (गीता—दूसरे अध्यायका उनहत्तरवाँ श्लोक), फिर भी उसमें लोभ-वृत्ति और काम-वृत्ति पैदा नहीं होती। जैसे हम अंगुलीसे शरीरके किसी अंगको खुजलाते हैं तो खुजली मिटनेपर अंगुलीमें कोई फर्क नहीं पड़ता, कोई विकृति नहीं आती, ऐसे ही इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन होनेपर भी तत्त्वज्ञके चित्तमें कोई विकार नहीं आता, वह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है। कारण कि रसबुद्धि निवृत्त हो जानेसे वह अपने सुखके लिये किसी विषयमें प्रवृत्त होता ही नहीं। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरोंके हित और सुखके लिये ही होती है। अपने सुखके लिये किया गया विषयोंका चिन्तन भी पतन करनेवाला हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक) और अपने सुखके लिये न किया गया विषयोंका सेवन भी बन्धनकारक नहीं होता (गीता—दूसरे अध्यायका चौंसठवाँ-पैंसठवाँ श्लोक)।

नाशवान् रस तात्कालिक होता है, अधिक देर नहीं ठहरता। स्त्री, रुपये आदिकी प्राप्तिके समय जो रस आता है, वह बादमें नहीं रहता। भोजनके मिलनेपर जो रस आता है, वह प्रत्येक ग्रासमें कम होते-होते अन्तमें सर्वथा मिट जाता है और भोजनसे अरुचि पैदा हो जाती है। परन्तु अविनाशी रस कभी कम नहीं होता, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों (अखण्ड) रहता है। नाशवान् रसका भोग करनेसे परिणाममें जड़ता, अभाव, शोक, रोग, भय, उद्वेग आदि अनेक विकार पैदा होते हैं। इन विकारोंसे भोगी मनुष्य बच नहीं सकता; क्योंकि यह भोगोंका अवश्यम्भावी परिणाम है। इसलिये भगवान्ने दु:खोंका दर्शन करनेकी बात कही है—**'दु:खदोषानुदर्शनम्'** (गीता १३। ८)। कामादि दोषोंसे मुक्त होनेपर ही मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है (गीता—सोलहवें अध्यायका इक्कीसवाँ-बाईसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—रसकी निवृत्ति न हो तो क्या आपत्ति है? इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:॥ ६०॥

हि	= कारण कि	**विपश्चितः**	= विद्वान्	**इन्द्रियाणि**	= इन्द्रियाँ
कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन! (रसबुद्धि रहनेसे)	**पुरुषस्य**	= मनुष्यकी	**मनः**	= (उसके) मनको
		अपि	= भी	**प्रसभम्**	= बलपूर्वक
यततः	= यत्न करते हुए	**प्रमाथीनि**	= प्रमथनशील	**हरन्ति**	= हर लेती हैं।

व्याख्या—**'यततो ह्यपि .... प्रसभं मनः'**[१]—जो स्वयं यत्न करता है, साधन करता है, हरेक कामको विवेकपूर्वक करता है, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करता है, दूसरोंका हित हो, दूसरोंको सुख पहुँचे, दूसरोंका कल्याण हो—ऐसा भाव रखता है और वैसी क्रिया भी करता है, जो स्वयं कर्तव्य-अकर्तव्य, सार-असारको जानता है और कौन-कौन-से कर्म करनेसे उनका क्या-क्या परिणाम होता है—इसको भी जाननेवाला है, ऐसे विद्वान् पुरुषके लिये यहाँ **'यततो ह्यपि पुरुषस्य विपश्चितः'** पद आये हैं। प्रयत्न करनेवाले ऐसे विद्वान् पुरुषकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको बलपूर्वक हर लेती हैं, विषयोंकी तरफ खींच लेती हैं अर्थात् वह विषयोंकी तरफ खिंच जाता है, आकृष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि जबतक बुद्धि सर्वथा परमात्मतत्त्वमें प्रतिष्ठित (स्थित) नहीं होती, बुद्धिमें संसारकी यत्किंचित् सत्ता रहती है, विषयेन्द्रिय-सम्बन्धसे सुख होता है, भोगे हुए भोगोंके संस्कार रहते हैं, तबतक साधनपरायण बुद्धिमान् विवेकी पुरुषकी भी इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें नहीं होतीं। इन्द्रियोंके विषय सामने आनेपर भोगे हुए भोगोंके संस्कारोंके कारण इन्द्रियाँ मन-बुद्धिको जबर्दस्ती विषयोंकी तरफ खींच ले जाती हैं। ऐसे अनेक ऋषियोंके उदाहरण भी आते हैं, जो विषयोंके सामने आनेपर विचलित हो गये। अतः साधकको अपनी इन्द्रियोंपर कभी भी 'मेरी इन्द्रियाँ वशमें हैं', ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिये[२] और कभी भी यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि 'मैं जितेन्द्रिय हो गया हूँ।'

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बताया कि रसबुद्धि रहनेसे यत्न करते हुए विद्वान् मनुष्यकी भी इन्द्रियाँ उसके मनको हर लेती हैं, जिससे उसकी बुद्धि परमात्मामें प्रतिष्ठित नहीं होती। अतः रसबुद्धिको दूर कैसे किया जाय—इसका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

युक्तः	= कर्मयोगी साधक	**मत्परः**	= मेरे परायण होकर	**इन्द्रियाणि**	= इन्द्रियाँ
तानि	= उन			**वशे**	= वशमें हैं,
सर्वाणि	= सम्पूर्ण इन्द्रियोंको	**आसीत**	= बैठे;	**तस्य**	= उसकी
		हि	= क्योंकि	**प्रज्ञा**	= बुद्धि
संयम्य	= वशमें करके	**यस्य**	= जिसकी	**प्रतिष्ठिता**	= स्थिर है।

व्याख्या—**'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'**—जो बलपूर्वक मनका हरण करनेवाली इन्द्रियाँ हैं, उन सबको वशमें करके अर्थात् सजगतापूर्वक उनको कभी भी विषयोंमें विचलित न होने देकर स्वयं मेरे परायण हो जाय। तात्पर्य यह हुआ कि जब साधक इन्द्रियोंको वशमें करता है, तब उसमें अपने बलका अभिमान रहता है कि मैंने इन्द्रियोंको अपने वशमें किया है। यह अभिमान साधकको उन्नत नहीं होने देता और उसे भगवान्से विमुख

१-यहाँ भगवान्ने इन्द्रियोंको 'प्रमाथीनि' कहा है और छठे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें अर्जुनने मनको 'प्रमाथि' कहा है। अतः इन्द्रियाँ और मन दोनों ही प्रमथनशील हैं। ऐसे ही यहाँ बताया कि इन्द्रियाँ मनको हर लेती हैं और आगे इसी अध्यायके सड़सठवें श्लोकमें बताया है कि मन बुद्धिको हर लेता है अर्थात् यहाँ तो इन्द्रियोंकी प्रबलता बतायी और वहाँ मनकी प्रबलता बतायी। तात्पर्य यह निकला कि साधकको इन दोनोंका संयमन करना चाहिये, तभी वह संयमी बन सकता है।

२-मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ (मनु० २। २१५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह माता, बहन अथवा पुत्रीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि बलवान् इन्द्रियसमूह विद्वान्को भी अपने वशमें कर लेता है।'

करा देता है। अतः साधक इन्द्रियोंका संयमन करनेमें कभी अपने बलका अभिमान न करे उसमें अपने उद्योगको कारण न माने, प्रत्युत केवल भगवत्कृपाको ही कारण माने कि मेरेको इन्द्रियोंके संयमनमें जो सफलता मिली है, वह केवल भगवान्‌की कृपासे ही मिली है। इस प्रकार केवल भगवान्‌के परायण होनेसे उसका साधन सिद्ध हो जाता है।

यहाँ '**मत्परः**' कहनेका मतलब है कि मानवशरीरका मिलना, साधनमें रुचि होना, साधनमें लगना, साधनका सिद्ध होना—ये सभी भगवान्‌की कृपापर ही निर्भर हैं। परन्तु अभिमानके कारण मनुष्यका इस तरफ ध्यान कम जाता है। कर्मयोगीमें तो कर्म करनेकी ही प्रधानता रहती है और उसमें वह अपना ही पुरुषार्थ मानता रहता है। अतः भगवान् विशेष कृपा करके कर्मयोगी साधकके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कह रहे हैं।

भगवान्‌के परायण होनेका तात्पर्य है—केवल भगवान्‌में ही महत्त्वबुद्धि हो कि भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ; संसार मेरा नहीं है और मैं संसारका नहीं हूँ। कारण कि भगवान् ही हरदम मेरे साथ रहते हैं; संसार मेरे साथ रहता ही नहीं। इस प्रकार साधकका 'मैं-पन' केवल भगवान्‌में ही लगा रहे।

कर्मयोगका प्रकरण होनेसे यहाँ भगवान्‌को कर्मयोगके अनुसार उपाय बताना चाहिये था। परन्तु गीताका अध्ययन करनेसे ऐसा मालूम देता है कि साधनकी सफलतामें केवल भगवत्परायणता ही कारण है। अतः गीतामें भगवत्-परायणताकी बहुत महिमा गायी गयी है; जैसे—जितने भी योगी हैं, उन सब योगियोंमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मेरे परायण होकर मेरा भजन करनेवाला श्रेष्ठ है (छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक) आदि-आदि।

'**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**'—पहले उनसठवें श्लोकमें भगवान्‌ने यह कहा कि इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी स्थितप्रज्ञता नहीं होती और इस श्लोकमें कहते हैं कि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह स्थितप्रज्ञ है। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ (दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें) इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी भीतरमें रसबुद्धि पड़ी है; अतः इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं। परन्तु यहाँ स्थितप्रज्ञ पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें हैं और उसकी रसबुद्धि निवृत्त हो गयी है। इसलिये यह नियम नहीं है कि इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह स्थितप्रज्ञ हो ही जायगा; क्योंकि उसमें रसबुद्धि रह सकती है। परन्तु यह नियम है, स्थितप्रज्ञ होनेसे इन्द्रियाँ वशमें हो ही जायँगी।

परिशिष्ट भाव—कर्मयोगके साधकके लिये भी भगवान्‌ने '**मत्परः**' पदसे अपने परायण होनेकी बात कही है, यह भक्तिकी विशेषता है! कारण कि भगवान्‌के परायण हुए बिना इन्द्रियोंका सर्वथा वशमें होना कठिन है।

कर्मयोगमें त्याग है और त्यागसे शान्ति, सुख मिलता है। परन्तु यह प्राप्तिका सुख नहीं है, प्रत्युत दुःख (अशान्ति) मिटनेका सुख है, जबकि भक्तिमें प्राप्तिका सुख मिलता है। अतः भक्तिका (प्रेमका) सुख मिले बिना इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें नहीं होतीं। दूसरी बात, कर्मयोगमें तो अत्यन्त वैराग्य होनेपर इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, पर भक्तिमें (भगवान्‌के परायण होनेसे) थोड़े वैराग्यसे भी इन्द्रियाँ सुगमतासे वशमें हो जाती हैं। इसलिये भगवान्‌ने '**मत्परः**' पद दिया है।

सम्बन्ध—भगवान्‌के परायण होनेसे तो इन्द्रियाँ वशमें होकर रसबुद्धि निवृत्त हो ही जायगी, पर भगवान्‌के परायण न होनेसे क्या होता है—इसपर आगेके दो श्लोक कहते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

विषयान्	= विषयोंका	**तेषु**	= उन विषयोंमें	**सङ्गात्**	= आसक्तिसे
ध्यायतः	= चिन्तन करनेवाले	**सङ्गः**	= आसक्ति	**कामः**	= कामना
पुंसः	= मनुष्यकी	**उपजायते**	= पैदा हो जाती है	**सञ्जायते**	= पैदा होती है।

कामात्	= कामनासे (बाधा लगनेपर)		(मूढ़भाव)	**बुद्धिनाशः**	= बुद्धि (विवेक) का नाश हो जाता है।
क्रोधः	= क्रोध	**भवति**	= हो जाता है।	**बुद्धिनाशात्**	= बुद्धिका नाश होनेपर (मनुष्यका)
अभिजायते	= पैदा होता है।	**सम्मोहात्**	= सम्मोहसे	**प्रणश्यति**	= पतन हो जाता है।
क्रोधात्	= क्रोध होनेपर	**स्मृतिविभ्रमः**	= स्मृति भ्रष्ट हो जाती है।		
सम्मोहः	= सम्मोह	**स्मृतिभ्रंशात्**	= स्मृति भ्रष्ट होनेपर		

व्याख्या—'**ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते**'—भगवान्‌के परायण न होनेसे, भगवान्‌का चिन्तन न होनेसे विषयोंका ही चिन्तन होता है। कारण कि जीवके एक तरफ परमात्मा हैं और एक तरफ संसार है। जब वह परमात्माका आश्रय छोड़ देता है, तब वह संसारका आश्रय लेकर संसारका ही चिन्तन करता है; क्योंकि संसारके सिवाय चिन्तनका कोई दूसरा विषय रहता ही नहीं। इस तरह चिन्तन करते-करते मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति, राग, प्रियता पैदा हो जाती है। आसक्ति पैदा होनेसे मनुष्य उन विषयोंका सेवन करता है। विषयोंका सेवन चाहे मानसिक हो, चाहे शारीरिक हो, उससे जो सुख होता है, उससे विषयोंमें प्रियता पैदा होती है। प्रियतासे उस विषयका बार-बार चिन्तन होने लगता है। अब उस विषयका सेवन करे, चाहे न करे, पर विषयोंमें राग पैदा हो ही जाता है—यह नियम है।

'**संगात्संजायते कामः**'—विषयोंमें राग पैदा होनेपर उन विषयोंको (भोगोंको) प्राप्त करनेकी कामना पैदा हो जाती है कि वे भोग, वस्तुएँ मेरेको मिलें।

'**कामात्क्रोधोऽभिजायते**'—कामनाके अनुकूल पदार्थोंके मिलते रहनेसे 'लोभ' पैदा हो जाता है और कामनापूर्तिकी सम्भावना हो रही है, पर उसमें कोई बाधा देता है, तो उसपर 'क्रोध' आ जाता है।

कामना एक ऐसी चीज है, जिसमें बाधा पड़नेपर क्रोध पैदा हो ही जाता है। वर्ण, आश्रम, गुण, योग्यता आदिको लेकर अपनेमें जो अच्छाईका अभिमान रहता है, उस अभिमानमें भी अपने आदर, सम्मान आदिकी कामना रहती है; उस कामनामें किसी व्यक्तिके द्वारा बाधा पड़नेपर भी क्रोध पैदा हो जाता है।

'कामना' रजोगुणी वृत्ति है, 'सम्मोह' तमोगुणी वृत्ति है और 'क्रोध' रजोगुण तथा तमोगुणके बीचकी वृत्ति है।

कहीं भी किसी भी बातको लेकर क्रोध आता है, तो उसके मूलमें कहीं-न-कहीं राग अवश्य होता है। जैसे, नीति-न्यायसे विरुद्ध काम करनेवालेको देखकर क्रोध आता है, तो नीति-न्यायमें राग है। अपमान-तिरस्कार करनेवालेपर क्रोध आता है, तो मान-सत्कारमें राग है। निन्दा करनेवालेपर क्रोध आता है, तो प्रशंसामें राग है। दोषारोपण करनेवालेपर क्रोध आता है, तो निर्दोषताके अभिमानमें राग है; आदि-आदि।

'**क्रोधाद्भवति सम्मोहः**'—क्रोधसे सम्मोह होता है अर्थात् मूढ़ता छा जाती है। वास्तवमें देखा जाय तो काम, क्रोध, लोभ और ममता— इन चारोंसे ही सम्मोह होता है; जैसे—

(१) कामसे जो सम्मोह होता है, उसमें विवेकशक्ति ढक जानेसे मनुष्य कामके वशीभूत होकर न करनेलायक कार्य भी कर बैठता है।

(२) क्रोधसे जो सम्मोह होता है, उसमें मनुष्य अपने मित्रों तथा पूज्यजनोंको भी उलटी-सीधी बातें कह बैठता है और न करनेलायक बर्ताव भी कर बैठता है।

(३) लोभसे जो सम्मोह होता है, उसमें मनुष्यको सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म आदिका विचार नहीं रहता और वह कपट करके लोगोंको ठग लेता है।

(४) ममतासे जो सम्मोह होता है, उसमें समभाव नहीं रहता, प्रत्युत पक्षपात पैदा हो जाता है।

अगर काम, क्रोध, लोभ और ममता—इन चारोंसे ही सम्मोह होता है, तो फिर भगवान्‌ने यहाँ केवल क्रोधका ही नाम क्यों लिया ? इसमें गहराईसे देखा जाय तो काम, लोभ और ममता—इनमें तो अपने सुखभोग और स्वार्थकी वृत्ति जाग्रत् रहती है, पर क्रोधमें दूसरोंका अनिष्ट करनेकी वृत्ति जाग्रत् रहती है। अतः क्रोधसे जो सम्मोह होता है, वह काम, लोभ और ममतासे पैदा हुए सम्मोहसे भी भयंकर होता है। इस दृष्टिसे भगवान्‌ने यहाँ केवल क्रोधसे ही सम्मोह होना बताया है।

'**सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः**'—मूढ़ता छा जानेसे स्मृति नष्ट हो जाती है अर्थात् शास्त्रोंसे, सद्विचारोंसे जो निश्चय किया था कि 'अपनेको ऐसा काम करना है, ऐसा साधन करना है, अपना उद्धार करना है' उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, उसकी याद नहीं रहती।

'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः'—स्मृति नष्ट होनेपर बुद्धिमें प्रकट होनेवाला विवेक लुप्त हो जाता है अर्थात् मनुष्यमें नया विचार करनेकी शक्ति नहीं रहती।

'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'—विवेक लुप्त हो जानेसे मनुष्य अपनी स्थितिसे गिर जाता है। अतः इस पतनसे बचनेके लिये सभी साधकोंको भगवान्‌के परायण होनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

यहाँ विषयोंका ध्यान करनेमात्रसे राग, रागसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिनाश, स्मृतिनाशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे पतन—यह जो क्रम बताया है, इसका विवेचन करनेमें तो देरी लगती है, पर इन सभी वृत्तियोंके पैदा होनेमें और उससे मनुष्यका पतन होनेमें देरी नहीं लगती। बिजलीके करेंटकी तरह ये सभी वृत्तियाँ तत्काल पैदा होकर मनुष्यका पतन करा देती हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है?'—इस चौथे प्रश्नका उत्तर देते हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

तु = परन्तु
विधेयात्मा = वशीभूत अन्तः-करणवाला (कर्मयोगी साधक)
रागद्वेषवियुक्तैः = राग-द्वेषसे रहित
आत्मवश्यैः = अपने वशमें की हुई
इन्द्रियैः = इन्द्रियोंके द्वारा
विषयान् = विषयोंका
चरन् = सेवन करता हुआ
प्रसादम् = (अन्तःकरणकी) निर्मलताको
अधिगच्छति = प्राप्त हो जाता है।
प्रसादे = (अन्तःकरणकी) निर्मलता प्राप्त होनेपर
अस्य = साधकके
सर्वदुःखानाम् = सम्पूर्ण दुःखोंका
हानिः = नाश
उपजायते = हो जाता है (और ऐसे)
प्रसन्नचेतसः = शुद्ध चित्तवाले साधककी
बुद्धिः = बुद्धि
हि = निःसन्देह
आशु = बहुत जल्दी
पर्यवतिष्ठते = (परमात्मामें) स्थिर हो जाती है।

व्याख्या—**'तु'**—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि आसक्ति रहते हुए विषयोंका चिन्तन करनेमात्रसे पतन हो जाता है और यहाँ कहते हैं कि आसक्ति न रहनेपर विषयोंका सेवन करनेसे उत्थान हो जाता है। वहाँ तो बुद्धिका नाश बताया और यहाँ बुद्धिका परमात्मामें स्थित होना बताया। इस प्रकार पहले कहे गये विषयसे यहाँके विषयका अन्तर बतानेके लिये यहाँ **'तु'** पद आया है।

'विधेयात्मा'—साधकका अन्तःकरण अपने वशमें रहना चाहिये। अन्तःकरणको वशीभूत किये बिना कर्मयोगकी सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत कर्म करते हुए विषयोंमें राग होनेकी और पतन होनेकी सम्भावना रहती है। वास्तवमें देखा जाय तो अन्तःकरणको अपने वशमें रखना हरेक साधकके लिये आवश्यक है। कर्मयोगीके लिये तो इसकी विशेष आवश्यकता है।

'आत्मवश्यैः रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः'—जैसे **'विधेयात्मा'** पद अन्तःकरणको वशमें करनेके अर्थमें आया है, ऐसे ही **'आत्मवश्यैः'** पद इन्द्रियोंको वशमें करनेके अर्थमें आया है। तात्पर्य है कि व्यवहार करते समय इन्द्रियाँ अपने वशीभूत होनी चाहिये और इन्द्रियाँ वशीभूत होनेके लिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषरहित होना जरूरी है। अतः इन्द्रियोंसे किसी विषयका ग्रहण रागपूर्वक न हो और किसी विषयका त्याग द्वेषपूर्वक न हो। कारण कि विषयोंके ग्रहण और त्यागका इतना महत्त्व नहीं है, जितना महत्त्व इन्द्रियोंमें राग और द्वेष न होने देनेका है। इसीलिये तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने साधकके लिये सावधानी बतायी है कि 'प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष रहते हैं। साधक इनके वशीभूत न हो; क्योंकि ये दोनों ही साधकके शत्रु हैं।' पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि 'जो साधक राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, वह सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है।'

'विषयान् चरन्'—जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है और जिसकी इन्द्रियाँ राग-द्वेषसे रहित तथा अपने वशमें की हुई हैं, ऐसा साधक इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन अर्थात् सब प्रकारका व्यवहार तो करता है, पर विषयोंका भोग नहीं करता। भोगबुद्धिसे किया हुआ विषय-सेवन ही पतनका कारण होता है। इस भोगबुद्धिका निषेध करनेके लिये ही यहाँ **'विधेयात्मा', 'आत्मवश्यैः'** आदि पद आये हैं।

'प्रसादमधिगच्छति'—राग-द्वेषरहित होकर विषयों-का सेवन करनेसे साधक अन्तःकरणकी प्रसन्नता-(स्वच्छता-)को प्राप्त होता है। यह प्रसन्नता मानसिक तप है (गीता—सत्रहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक), जो शारीरिक और वाचिक तपसे ऊँचा है। अतः साधकको न तो रागपूर्वक विषयोंका सेवन करना चाहिये और न द्वेषपूर्वक विषयोंका त्याग करना चाहिये; क्योंकि राग और द्वेष—इन दोनोंसे ही संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है।

राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करनेसे जो प्रसन्नता होती है, उसका अगर संग न किया जाय, भोग न किया जाय, तो वह प्रसन्नता परमात्माकी प्राप्ति करा देती है।

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'—चित्तकी प्रसन्नता (स्वच्छता) प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है अर्थात् कोई भी दुःख नहीं रहता। कारण कि राग होनेसे ही चित्तमें खिन्नता होती है। खिन्नता होते ही कामना पैदा हो जाती है और कामनासे ही सब दुःख पैदा होते हैं। परन्तु जब राग मिट जाता है, तब चित्तमें प्रसन्नता होती है। उस प्रसन्नतासे सम्पूर्ण दुःख मिट जाते हैं।

जितने भी दुःख हैं, वे सब-के-सब प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारके सम्बन्धसे ही होते हैं और शरीर-संसारसे सम्बन्ध होता है सुखकी लिप्सासे। सुखकी लिप्सा होती है खिन्नतासे। परन्तु जब प्रसन्नता होती है, तब खिन्नता मिट जाती है। खिन्नता मिटनेपर सुखकी लिप्सा नहीं रहती। सुखकी लिप्सा न रहनेसे शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता और सम्बन्ध न रहनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है—**'सर्वदुःखानां हानिः।'** तात्पर्य है कि प्रसन्नतासे दो बातें होती हैं—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्मामें बुद्धिकी स्थिरता। यही बात भगवान्‌ने पहले तिरपनवें श्लोकमें **'निश्चला'** और **'अचला'** पदोंसे कही है कि उसकी बुद्धि संसारमें निश्चल और परमात्मामें अचल हो जाती है।

यहाँ **'सर्वदुःखानां हानिः'**का तात्पर्य यह नहीं है कि उसके सामने दुःखदायी परिस्थिति आयेगी ही नहीं, प्रत्युत इसका तात्पर्य यह है कि कर्मोंके अनुसार उसके सामने दुःखदायी घटना, परिस्थिति आ सकती है; परन्तु उसके अन्तःकरणमें दुःख, सन्ताप, हलचल आदि विकृति नहीं हो सकती।

'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'—प्रसन्न (स्वच्छ) चित्तवालेकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है अर्थात् साधक स्वयं परमात्मामें स्थिर हो जाता है, उसकी बुद्धिमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता।

मार्मिक बात

भगवद्विषयक प्रसन्नता हो अथवा व्याकुलता हो—इन दोनोंमेंसे कोई एक भी अगर अधिक बढ़ जाती है, तो वह शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करा देती है। जैसे, भगवान्‌के पास जाती हुई गोपियोंको माता-पिता, भाई, पति आदिने रोक दिया, मकानमें बंद कर दिया, तो उन गोपियोंमें भगवान्‌से मिलनेकी जो व्याकुलता हुई, उससे उनके रजोगुण-तमोगुण नष्ट हो गये और भगवान्‌का चिन्तन करनेसे जो प्रसन्नता हुई, उससे उनका सत्त्वगुण नष्ट हो गया। इस प्रकार गुणसंगसे रहित होकर वे शरीरको वहीं छोड़कर सबसे पहले भगवान्‌से जा मिलीं*। परन्तु सांसारिक विषयोंको लेकर जो प्रसन्नता और खिन्नता होती है, उन दोनोंमें ही भोगोंके संस्कार दृढ़ होते हैं अर्थात् संसारका बन्धन दृढ़ होता है। इसके उदाहरण संसारमात्रके सामान्य प्राणी हैं, जो प्रसन्नता और खिन्नताको लेकर संसारमें फँसे हुए हैं।

प्रसन्नता और व्याकुलता-(खिन्नता-) में अन्तःकरण द्रवित हो जाता है। जैसे द्रवित मोममें रंग डालनेसे मोममें वह रंग स्थायी हो जाता है, ऐसे ही अन्तःकरण द्रवित

---

* अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः। कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः। ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः। जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। ९—११)

(—इन श्लोकोंकी विस्तृत व्याख्याके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'मेरे तो गिरधर गोपाल' पुस्तकके अन्तर्गत 'अलौकिक प्रेम' लेख पढ़ना चाहिये।)

होनेपर उसमें भगवत्सम्बन्धी अथवा सांसारिक—जो भी भाव आते हैं, वे स्थायी हो जाते हैं। स्थायी होनेपर वे भाव उत्थान अथवा पतन करनेवाले हो जाते हैं। अतः साधकके लिये उचित है कि संसारकी प्रिय-से-प्रिय वस्तु मिलनेपर भी प्रसन्न न हो और अप्रिय-से-अप्रिय वस्तु मिलनेपर भी उद्विग्न न हो।

परिशिष्ट भाव—एक विभाग भोगका है और एक विभाग योगका है। राग-द्वेषसे युक्त 'भोगी' मनुष्य अगर विषयोंका चिन्तन भी करे तो उसका पतन हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। परन्तु राग-द्वेषसे रहित 'योगी' मनुष्य अगर विषयोंका सेवन भी करे तो उसका पतन नहीं होता, प्रत्युत वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है।

राग-द्वेषसे रहित मनुष्य भोगबुद्धिसे विषयोंका सेवन नहीं करता अर्थात् भोगजन्य सुख (रस) नहीं लेता; क्योंकि यह उसका ध्येय नहीं है। वह भोगोंको रागपूर्वक न भोगकर त्यागपूर्वक भोगता है (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)। इसलिये उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। त्यागपूर्वक भोग वास्तवमें भोग है ही नहीं। लोगोंकी दृष्टिमें उसके द्वारा भोगका आचरण दीखता है, इसीलिये यहाँ **'विषयान् चरन्'** पद आये हैं।

राग-द्वेषसे रहित होनेपर 'प्रसाद' की प्राप्ति होती है। हरदम प्रसन्नता रहे, कभी खिन्नता न आये, नीरसता न आये—यह 'प्रसाद' है। इस प्रसादकी प्राप्तिमें भी सन्तोष न करे, इसका उपभोग न करे तो बहुत जल्दी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें जो बात कही है, उसीको आगेके दो श्लोकोंमें व्यतिरेक रीतिसे पुष्ट करते हैं।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

अयुक्तस्य = जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी
बुद्धिः = (व्यवसायात्मिका) बुद्धि
न = नहीं
अस्ति = होती
च = और
अयुक्तस्य = (व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे) उस अयुक्त मनुष्यमें
भावना = निष्कामभाव अथवा कर्तव्य-परायणताका भाव
न = नहीं होता।
अभावयतः = निष्कामभाव न होनेसे (उसको)
शान्तिः = शान्ति
न = नहीं मिलती।
च = फिर
अशान्तस्य = शान्तिरहित मनुष्यको
सुखम् = सुख
कुतः = कैसे (मिल सकता है)?

व्याख्या—[यहाँ कर्मयोगका विषय है। कर्मयोगमें मन और इन्द्रियोंका संयम करना मुख्य होता है। विवेकपूर्वक संयम किये बिना कामना नष्ट नहीं होती। कामनाके नष्ट हुए बिना बुद्धिकी स्थिरता नहीं होती। अतः कर्मयोगी साधकको पहले मन और इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये। परन्तु जिसका मन और इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, उसकी बात इस श्लोकमें कहते हैं।]

'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य'—जिसका मन और इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे अयुक्त (असंयमी) पुरुषकी 'मेरेको केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है—ऐसी एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती*। कारण कि मन और इन्द्रियाँ संयमित न होनेसे वह उत्पत्ति-विनाशशील सांसारिक भोगों और संग्रहमें ही लगा रहता है। वह कभी मान चाहता है, कभी सुख-आराम चाहता है, कभी धन चाहता है, कभी भोग चाहता

*** अहंता ('मैं'-पन) का परिवर्तन हुए बिना इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं और इन्द्रियोंको वशमें किये बिना एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती। यदि अहंताका परिवर्तन हो जाय कि 'मैं साधक हूँ और साधन करना ही मेरा काम है' तो मन-इन्द्रियाँ अपने-आप वशमें हो जाती हैं, उनको वशमें करना नहीं पड़ता।**

है—इस प्रकार उसके भीतर अनेक तरहकी कामनाएँ होती रहती हैं। इसलिये उसकी बुद्धि एक निश्चयवाली नहीं होती।

'न चायुक्तस्य भावना'—जिसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती, उसकी 'मेरेको तो केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है और फलकी इच्छा, कामना, आसक्ति आदिका त्याग करना है'—ऐसी भावना नहीं होती। ऐसी भावना न होनेमें कारण है—अपना ध्येय स्थिर न होना।

'न चाभावयतः शान्तिः'—जो अपने कर्तव्यके परायण नहीं रहता, उसको शान्ति नहीं मिल सकती। जैसे साधु, शिक्षक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि यदि अपने-अपने कर्तव्यमें तत्पर नहीं रहते, तो उनको शान्ति नहीं मिलती। कारण कि अपने कर्तव्यके पालनमें दृढ़ता न रहनेसे ही अशान्ति पैदा होती है।

'अशान्तस्य कुतः सुखम्'—जो अशान्त है, वह सुखी कैसे हो सकता है ? कारण कि उसके हृदयमें हरदम हलचल होती रहती है। बाहरसे उसको कितने ही अनुकूल भोग आदि मिल जायँ तो भी उसके हृदयकी हलचल नहीं मिट सकती अर्थात् वह सुखी नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—अयुक्त पुरुषकी बुद्धि एक निश्चयवाली क्यों नहीं होती—इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

हि	= कारण कि	**यत्**	= जिस	**अम्भसि**	= जलमें
चरताम्	= (अपने-अपने विषयोंमें) विचरती हुई	**मनः**	= मनको	**नावम्**	= नौकाको
		अनुविधीयते	= अपना अनुगामी बना लेती है,	**वायुः**	= वायुकी
				इव	= तरह
इन्द्रियाणाम्	= इन्द्रियोंमेंसे (एक ही इन्द्रिय)			**अस्य**	= इसकी
		तत्	= वह (अकेला मन)	**प्रज्ञाम्**	= बुद्धिको
				हरति	= हर लेता है।

व्याख्या—[मनुष्यको यह जन्म केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः मुझे तो केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है, चाहे जो हो जाय— ऐसा अपना ध्येय दृढ़ होना चाहिये। ध्येय दृढ़ होनेसे साधककी अहंतामेंसे भोगोंका महत्त्व हट जाता है। महत्त्व हट जानेसे व्यवसायात्मिका बुद्धि दृढ़ हो जाती है। परन्तु जबतक व्यवसायात्मिका बुद्धि दृढ़ नहीं होती, तबतक उसकी क्या दशा होती है—इसका वर्णन यहाँ कर रहे हैं।]

'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते'*—जब साधक कार्यक्षेत्रमें सब तरहका व्यवहार करता है, तब इन्द्रियोंके सामने अपने-अपने विषय आ ही जाते हैं। उनमेंसे जिस इन्द्रियका अपने विषयमें राग हो जाता है, वह इन्द्रिय मनको अपना अनुगामी बना लेती है, मनको अपने साथ कर लेती है। अतः मन उस विषयका सुखभोग करने लग जाता है अर्थात् मनमें सुखबुद्धि, भोगबुद्धि पैदा हो जाती है; मनमें उस विषयका रंग चढ़ जाता है, उसका महत्त्व बैठ जाता है। जैसे, भोजन करते समय किसी पदार्थका स्वाद आता है तो रसनेन्द्रिय उसमें आसक्त हो जाती है। आसक्त होनेपर रसनेन्द्रिय मनको भी खींच लेती है, तो मन उस स्वादमें प्रसन्न हो जाता है, राजी हो जाता है।

'तदस्य हरति प्रज्ञाम्'—जब मनमें विषयका महत्त्व बैठ जाता है, तब वह अकेला मन ही साधककी बुद्धिको हर

* इस श्लोकके पूर्वार्धमें कर्मकर्तृ-प्रयोग करनेके पहले कर्तृवाच्य था अर्थात् 'चरताम् इन्द्रियाणाम् इन्द्रियम् यत् मनः अनुविदधाति' ऐसा वाक्य था। इस वाक्यमें इन्द्रिय कर्ता थी और मन कर्म था। परन्तु जब वाक्यको सरल बनानेके लिये 'कर्मकर्तृ' का प्रयोग किया जाता है अर्थात् कर्मको कर्ता बनाया जाता है, तब वहाँ उस कर्ताको कर्मवद्भाव किया जाता है। इससे कर्मको लेकर जो कार्य होते हैं, वे सभी कार्य कर्ताको लेकर हो जाते हैं। यहाँ मनकी मुख्यता दिखानेके लिये अर्थात् इन्द्रियोंके बिना मन ही सब कुछ करता है—यह दिखानेके लिये कर्मरूप मनको कर्ता बना दिया गया है। मन प्रथम पुरुष होनेसे प्रथम पुरुष 'अनुविधीयते' क्रियाका प्रयोग हुआ है। अब जो कर्तृवाच्यका कर्ता इन्द्रिय थी, उसकी आवश्यकता न होनेसे वह कर्ता हट गया, तो पूरा वाक्य बना—'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते' जो कि उपर्युक्त श्लोकमें है। इस कर्मकर्तृका प्रयोग करनेका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियाँ जिन विषयोंमें विचरती हैं, उन विषयोंमेंसे मन जिस किसी विषयमें खिंच जाता है, रस लेने लग जाता है, वह अकेला मन ही बुद्धिको हर लेता है अर्थात् मनमें विषयभोगकी प्रधानता हो जाती है।

लेता है अर्थात् साधकमें कर्तव्य-परायणता न रहकर भोगबुद्धि पैदा हो जाती है। वह भोगबुद्धि होनेसे साधकमें 'मुझे परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है'—यह व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं रहती। इस तरहका विवेचन करनेमें तो देरी लगती है, पर बुद्धि विचलित होनेमें देरी नहीं लगती अर्थात् जहाँ इन्द्रियने मनको अपना अनुगामी बनाया कि मनमें भोगबुद्धि पैदा हो जाती है और उसी समय बुद्धि मारी जाती है।

'वायुर्नावमिवाम्भसि'—वह बुद्धि किस तरह हर ली जाती है—इसको दृष्टान्तरूपसे समझाते हैं कि जलमें चलती हुई नौकाको वायु जैसे हर लेती है, ऐसे ही मन बुद्धिको हर लेता है। जैसे, कोई मनुष्य नौकाके द्वारा नदी या समुद्रको पार करते हुए अपने गन्तव्य स्थानको जा रहा है। यदि उस समय नौकाके विपरीत वायु चलती है तो वह वायु उस नौकाको गन्तव्य स्थानसे विपरीत ले जाती है। ऐसे ही साधक व्यवसायात्मिका बुद्धिरूप नौकापर आरूढ़ होकर संसार-सागरको पार करता हुआ परमात्माकी तरफ चलता है, तो एक इन्द्रिय जिस मनको अपना अनुगामी बनाती है, वह अकेला मन ही बुद्धिरूप नौकाको हर लेता है अर्थात् उसे संसारकी तरफ ले जाता है। इससे साधककी विषयोंमें सुखबुद्धि और उनके उपयोगी पदार्थोंमें महत्त्वबुद्धि हो जाती है।

वायु नौकाको दो तरहसे विचलित करती है—नौकाको पथभ्रष्ट कर देती है अथवा जलमें डुबा देती है। परन्तु कोई चतुर नाविक होता है तो वह वायुकी क्रियाको अपने अनुकूल बना लेता है, जिससे वायु नौकाको अपने मार्गसे अलग नहीं ले जा सकती, प्रत्युत उसको गन्तव्य स्थानतक पहुँचानेमें सहायता करती है—ऐसे ही इन्द्रियोंके अनुगामी हुआ मन बुद्धिको दो तरहसे विचलित करता है—परमात्मप्राप्तिके निश्चयको दबाकर भोगबुद्धि पैदा कर देता है अथवा निषिद्ध भोगोंमें लगाकर पतन करा देता है। परन्तु जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसकी बुद्धिको मन विचलित नहीं करता, प्रत्युत परमात्माके पास पहुँचानेमें सहायता करता है (दूसरे अध्यायका चौंसठवाँ-पैंसठवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—यहाँ शंका हो सकती है कि प्रस्तुत श्लोकमें आये **'यत्'** और **'तत्'** पदोंसे इन्द्रियोंको न लेकर मनको क्यों लिया गया है अर्थात् इन्द्रियको बुद्धिका हरण करनेवाली न बताकर मनको बुद्धिका हरण करनेवाला क्यों बताया गया है? इसका समाधान है कि इसी अध्यायके साठवें श्लोकमें इन्द्रियोंको मनका हरण करनेवाली बताया है और तीसरे अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें इन्द्रियोंसे मनको और मनसे बुद्धिको पर (सूक्ष्म, श्रेष्ठ, बलवान्) बताया है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ मनका हरण करती हैं और मन बुद्धिका हरण करता है। दूसरी बात, बुद्धिको हरनेके विषयमें मन ही मुख्य है, इन्द्रियाँ नहीं। कारण कि जबतक किसी इन्द्रियके साथ मन नहीं रहता, तबतक उस इन्द्रियको अपने विषयका भी ज्ञान नहीं होता—**'अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते'** (गीता १५।९)। श्रीमद्भागवतमें दत्तात्रेयजी महाराज कहते हैं—

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥

(श्रीमद्भा० ११। ९। १३)

'जिसका चित्त आत्मामें ही निरुद्ध हो जाता है, उसको बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसको पतातक न चला।'

बाण बनानेवालेकी कर्णेन्द्रिय भी थी और उसका विषय शब्द भी था, पर मन उस तरफ न रहनेसे वह सुनायी नहीं दिया। तात्पर्य है कि मन साथ रहनेसे ही इन्द्रियको अपने विषयका ज्ञान होता है। जब मन साथ न रहनेसे इन्द्रियको अपने विषयका भी ज्ञान नहीं होता, फिर वह इन्द्रिय बुद्धिको कैसे हर सकती है? नहीं हर सकती।

सम्बन्ध—अयुक्त पुरुषकी निश्चयात्मिका बुद्धि क्यों नहीं होती, इसका हेतु तो पूर्वश्लोकमें बता दिया। अब जो युक्त होता है, उसकी स्थितिका वर्णन करनेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

तस्मात्	= इसलिये	**इन्द्रियार्थेभ्यः**	= इन्द्रियोंके विषयोंसे		हुई हैं,
महाबाहो	= हे महाबाहो !	**सर्वशः**	= सर्वथा	**तस्य**	= उसकी
यस्य	= जिस मनुष्यकी	**निगृहीतानि**	= वशमें की	**प्रज्ञा**	= बुद्धि
इन्द्रियाणि	= इन्द्रियाँ			**प्रतिष्ठिता**	= स्थिर है।

व्याख्या—**'तस्माद्यस्य .... प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'**—साठवें श्लोकसे मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेका जो विषय चला आ रहा है, उसका उपसंहार करते हुए **'तस्मात्'** पदसे कहते हैं कि जिसके मन और इन्द्रियोंमें संसारका आकर्षण नहीं रहा है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है।

यहाँ **'सर्वशः'** पद देनेका तात्पर्य है कि संसारके साथ व्यवहार करते हुए अथवा एकान्तमें चिन्तन करते हुए—किसी भी अवस्थामें उसकी इन्द्रियाँ भोगोंमें, विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होतीं। व्यवहारकालमें कितने ही विषय उसके सम्पर्कमें क्यों न आ जायँ, पर वे विषय उसको विचलित नहीं कर सकते। उसका मन भी इन्द्रियके साथ मिलकर उसकी बुद्धिको विचलित नहीं कर सकता। जैसे पहाड़को कोई डिगा नहीं सकता, ऐसे ही उसकी बुद्धिमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि उसको मन किसी भी अवस्थामें डिगा नहीं सकता। कारण कि उसके मनमें विषयोंका महत्त्व नहीं रहा।

'निगृहीतानि' का तात्पर्य है कि इन्द्रियाँ विषयोंसे पूरी तरहसे वशमें की हुई हैं अर्थात् विषयोंमें उनका लेशमात्र भी राग, आसक्ति, खिंचाव नहीं रहा है। जैसे साँपके दाँत निकाल दिये जायँ, तो फिर उसमें जहर नहीं रहता। वह किसीको काट भी लेता है तो उसका कोई असर नहीं होता। ऐसे ही इन्द्रियोंको राग-द्वेषसे रहित कर देना ही मानो उनके जहरीले दाँत निकाल देना है। फिर उन इन्द्रियोंमें यह ताकत नहीं रहती कि वे साधकको पतनके मार्गमें ले जायँ।

इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि साधकको दृढ़तासे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मेरा लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति करना है, भोग भोगना और संग्रह करना मेरा लक्ष्य नहीं है। अगर ऐसी सावधानी साधकमें निरन्तर बनी रहे, तो उसकी बुद्धि स्थिर हो जायगी।

सम्बन्ध—जिसकी इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें हैं, उसमें और साधारण मनुष्योंमें क्या अन्तर है—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंकी	**जागर्ति**	= जागता है (और)		रहते हैं),
या	= जो	**यस्याम्**	= जिसमें	**सा**	= वह
निशा	= रात (परमात्मासे विमुखता) है,	**भूतानि**	= सब प्राणी	**मुनेः**	= (तत्त्वको जाननेवाले) मुनिकी
तस्याम्	= उसमें	**जाग्रति**	= जागते हैं (भोग और संग्रहमें लगे	**पश्यतः**	= दृष्टिमें
संयमी	= संयमी मनुष्य			**निशा**	= रात है।

व्याख्या—**'या निशा सर्वभूतानाम्'**—जिनकी इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं हैं, जो भोगोंमें आसक्त हैं, वे सब परमात्मतत्त्वकी तरफसे सोये हुए हैं। परमात्मा क्या है? तत्त्वज्ञान क्या है? हम दु:ख क्यों पा रहे हैं? सन्ताप-जलन क्यों हो रही है? हम जो कुछ कर रहे हैं, उसका परिणाम क्या होगा?—इस तरफ बिलकुल न देखना ही उनकी रात है, उनके लिये बिलकुल अँधेरा है।

यहाँ **'भूतानाम्'** कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पशु-पक्षी आदि दिनभर खाने-पीनेमें ही लगे रहते हैं, ऐसे ही जो मनुष्य रात-दिन खाने-पीनेमें, सुख-आराममें, भोगों और संग्रहमें, धन कमानेमें ही लगे हुए हैं, उन मनुष्योंकी गणना भी पशु-पक्षी आदिमें ही है। कारण कि परमात्मतत्त्वसे विमुख रहनेमें पशु-पक्षी आदिमें और मनुष्योंमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही परमात्मतत्त्वकी तरफसे सोये हुए हैं। हाँ, अगर कोई अन्तर है तो वह इतना ही है कि पशु-पक्षी आदिमें विवेक-शक्ति इतनी जाग्रत् नहीं है, इसलिये वे खाने-पीने आदिमें ही लगे रहते हैं और मनुष्योंमें भगवान्‌की कृपासे वह विवेक-शक्ति जाग्रत् है, जिससे वह अपना कल्याण कर सकता है, प्राणिमात्रकी सेवा कर सकता है, परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। परन्तु उस

विवेक-शक्तिका दुरुपयोग करके मनुष्य पदार्थोंका संग्रह करनेमें एवं उनका भोग करनेमें लग जाते हैं, जिससे वे संसारके लिये पशुओंसे भी अधिक दु:खदायी हो जाते हैं। कारण कि पशु-पक्षी तो बेचारे जितनेसे पेट भर जाय, उतना ही खाते हैं, संग्रह नहीं करते; परन्तु मनुष्यको कहीं भी जो कुछ पदार्थ आदि मिल जाता है, वह उसके काममें आये चाहे न आये, उसका तो वह संग्रह कर ही लेता है और दूसरोंके काममें आनेमें बाधा डाल देता है।

'तस्यां जागर्ति संयमी'—मनुष्योंकी जो रात है अर्थात् परमात्माकी तरफसे, अपने कल्याणकी तरफसे जो विमुखता है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है। जिसने इन्द्रियों और मनको वशमें किया है, जो भोग और संग्रहमें आसक्त नहीं है, जिसका ध्येय केवल परमात्मा है, वह संयमी मनुष्य है। परमात्मतत्त्वको, अपने स्वरूपको और संसारको यथार्थरूपसे जानना ही उसका रातमें जागना है।

'यस्यां जाग्रति भूतानि'—जो भोग और संग्रहमें बड़े सावधान रहते हैं, एक-एक पैसेका हिसाब रखते हैं, जमीनके एक-एक इंचका खयाल रखते हैं; जितने रुपये अधिकारमें आ जायँ वे चाहे न्यायपूर्वक हों अथवा अन्यायपूर्वक, उसमें वे बड़े खुश होते हैं कि इतनी पूँजी तो हमने ले ही ली है, इतना लाभ तो हमें हो ही गया है—इस तरह वे सांसारिक क्षणभंगुर भोगोंको बटोरनेमें और आदर-सत्कार, मान-बड़ाई आदि प्राप्त करनेमें ही लगे रहते हैं, उनमें बड़े सावधान रहते हैं, यही उन लोगोंका जागना है।

'सा निशा पश्यतो मुनेः'—जिन सांसारिक पदार्थोंका भोग और संग्रह करनेमें मनुष्य अपनेको बड़ा बुद्धिमान्, चतुर मानते हैं और उसीमें राजी होते हैं, संसार और परमात्मतत्त्वको जाननेवाले मननशील संयमी मनुष्यकी दृष्टिमें वह सब रातके समान है; बिलकुल अँधेरा है।

जैसे, बच्चे खेलते हैं तो वे कंकड़-पत्थर, काँचके लाल-पीले टुकड़ोंको लेकर आपसमें लड़ते हैं। अगर वह मिल जाता है तो राजी होते हैं कि मैंने बहुत बड़ा लाभ उठा लिया और अगर वह नहीं मिलता तो दु:खी हो जाते हैं कि मेरी बड़ी भारी हानि हो गयी। परन्तु जिसके मनमें कंकड़-पत्थर आदिका महत्त्व नहीं है, ऐसा समझदार व्यक्ति समझता है कि इन कंकड़-पत्थरोंके मिलनेसे क्या लाभ हुआ और न मिलनेसे क्या हानि हुई? इन बच्चोंको अगर कंकड़-पत्थर मिल भी जायँगे, तो ये कबतक उनके साथ रहेंगे? इसी तरह भोग और संग्रहमें लगे हुए मनुष्य भोगोंके लिये लड़ाई-झगड़ा, झूठ-कपट, बेईमानी आदि करते हैं और उनको प्राप्त करके राजी होते हैं, खुशी मनाते हैं कि हमने बहुत लाभ ले लिया। परन्तु संसारको और परमात्मतत्त्वको जाननेवाला मननशील संयमी मनुष्य साफ देखता है कि भोग मिल गये, आदर-सत्कार हो गया, सुख-आराम हो गया, खा-पी लिया, खूब शृंगार कर लिया तो क्या हो गया? इसमें मनुष्योंको क्या मिला? इनमेंसे इनके साथ क्या चलेगा? ये कबतक इन भोगोंको साथमें रखेंगे? इन भोगोंसे होनेवाली वृत्ति कितने दिनतक ठहरेगी? इस तरह उसकी दृष्टिमें प्राणियोंका जागना रातके समान है।

वह मननशील संयमी मनुष्य परमात्माको, अपने स्वरूपको और संसारके परिणामको तो जानता ही है, वह पदार्थोंको भी अच्छी तरहसे जानता है कि कौन-सा पदार्थ किसके हितमें लग सकता है, इससे दूसरोंको कितना लाभ होगा। वह पदार्थोंका अपनी-अपनी जगह ठीक तरहसे सदुपयोग करता है। उनको दूसरोंकी सेवामें लगाता है।

जैसे नेत्रोंमें दोष होनेपर जब हम आकाशको देखते हैं, तब उसमें जाले-से दीखते हैं और आँखें मीच लेनेपर भी मोर-पंखकी तरह वे जाले दीखते हैं; परन्तु उनके दीखनेपर भी हमारी बुद्धिमें यह अटल निश्चय रहता है कि आकाशमें जाले नहीं हैं। ऐसे ही इन्द्रियों और अन्त:करणके द्वारा संसार दीखनेपर भी मननशील संयमी मनुष्यकी बुद्धिमें यह अटल निश्चय रहता है कि वास्तवमें संसार नहीं है, केवल प्रतीतिमात्र है।

परिशिष्ट भाव—सांसारिक मनुष्य रात-दिन भोग और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, उनको ही महत्ता देते हैं, सांसारिक कार्योंमें बड़े सावधान और निपुण होते हैं, तरह-तरहके कला-कौशल सीखते हैं, तरह-तरहके आविष्कार करते हैं, लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानते हैं, सांसारिक वस्तुओंकी बड़ी महिमा गाते हैं, सदा जीवित रहकर सुख भोगनेके लिये बड़ी-बड़ी तपस्या करते हैं, देवताओंकी उपासना करते हैं, मन्त्र-जप करते हैं आदि-आदि। परन्तु जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष तथा सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें वह बिलकुल रात है, अन्धकार है, उसका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है। कारण कि उनकी दृष्टिमें ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार विद्यमान है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६), **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'** (गीता ८। १६)।

सांसारिक लोग तो संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं और ऐसा मानते हैं कि जो कुछ है, वह यही है—**'नान्यदस्तीति**

वादिनः' (गीता २। ४२)। '**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**' (गीता १६। ११)। पारमार्थिक विषयमें उनकी बुद्धि जाती ही नहीं। परन्तु पारमार्थिक साधक पारमार्थिक विषयके साथ-साथ संसारको भी जानते हैं, इसलिये उनके लिये '**पश्यतः**' पद दिया है। संसारी लोग तो केवल रातको ही देखते हैं, दिनको देखते ही नहीं, पर योगी दिनको भी देखता है और रातको भी—यह दोनोंमें फर्क है। उदाहरणार्थ बालकने केवल बालकपना ही देखा है, जवानी नहीं, पर वृद्ध पुरुषने वृद्धावस्थाके साथ-साथ बालकपना भी देखा है और जवानी भी! रुपये रखनेवाला व्यक्ति रुपयोंके त्यागको नहीं जानता, पर रुपयोंका त्याग करनेवाला रुपयोंके संग्रहको भी जानता है और त्यागको भी जानता है। यह सिद्धान्त है कि संसारमें लगा हुआ मनुष्य संसारको नहीं जान सकता। संसारसे अलग होकर ही वह संसारको जान सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह संसारसे अलग है। इसी तरह परमात्माके साथ एक होकर ही मनुष्य परमात्माको जान सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह परमात्माके साथ एक है।

जो 'है' में स्थित है, वह 'है' और 'नहीं'—दोनोंको जानता है, पर जो 'नहीं' में स्थित है, वह 'नहीं' को भी यथार्थरूपसे अर्थात् 'नहीं'-रूपसे नहीं जान सकता, फिर वह 'है' को कैसे जानेगा ? नहीं जान सकता। उसमें जाननेकी सामर्थ्य ही नहीं है। 'है' को जाननेवालेका तो 'नहीं' को माननेवालेके साथ विरोध नहीं होता, पर 'नहीं' को माननेवालेका 'है' को जाननेवालेके साथ विरोध होता है।

सम्बन्ध—मननशील संयमी मनुष्यको संसार रातकी तरह दीखता है। इसपर यह प्रश्न उठता है कि क्या वह सांसारिक पदार्थोंके सम्पर्कमें आता ही नहीं? अगर नहीं आता तो उसका जीवन-निर्वाह कैसे होता है? और अगर आता है तो उसकी स्थिति कैसे रहती है? इन बातोंका विवेचन करनेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

यद्वत् = जैसे, **आपः** = (सम्पूर्ण नदियोंका) जल, **आपूर्यमाणम्** = चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण, **समुद्रम्** = समुद्रमें, **प्रविशन्ति** = आकर मिलता है, (पर) **अचलप्रतिष्ठम्** = (समुद्र अपनी मर्यादामें) अचल स्थित रहता है, **तद्वत्** = ऐसे ही, **सर्वे** = सम्पूर्ण, **कामाः** = भोग-पदार्थ, **यम्** = जिस संयमी मनुष्यको (विकार उत्पन्न किये बिना ही), **प्रविशन्ति** = प्राप्त होते हैं, **सः** = वही मनुष्य, **शान्तिम्** = परमशान्तिको, **आप्नोति** = प्राप्त होता है, **कामकामी** = भोगोंकी कामनावाला, **न** = नहीं।

व्याख्या—'**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्**'—वर्षाकालमें नदियों और नदोंका जल बहुत बढ़ जाता है, कई नदियोंमें बाढ़ आ जाती है; परन्तु जब वह जल चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण समुद्रमें आकर मिलता है, तब समुद्र बढ़ता नहीं, अपनी मर्यादामें ही रहता है। परन्तु जब गरमीके दिनोंमें नदियों और नदोंका जल बहुत कम हो जाता है, तब समुद्र घटता नहीं। तात्पर्य है कि नदी-नदोंका जल ज्यादा आनेसे अथवा कम आनेसे या न आनेसे तथा बड़वानल (जलमें पैदा होनेवाली अग्नि) और सूर्यके द्वारा जलका शोषण होनेसे समुद्रमें कोई फर्क नहीं पड़ता, वह बढ़ता-घटता नहीं। उसको नदी-नदोंके जलकी अपेक्षा नहीं रहती। वह तो सदा-सर्वदा ज्यों-का-त्यों ही परिपूर्ण रहता है और अपनी मर्यादाका कभी त्याग नहीं करता।

'**तद्वत्कामा* यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति**'—ऐसे ही संसारके सम्पूर्ण भोग उस परमात्म-

---

*** यहाँ 'कामाः' पद कामनाओंका वाचक नहीं है, प्रत्युत जिन पदार्थोंकी कामना की जाती है, उन भोग-पदार्थोंका वाचक है।**

तत्त्वको जाननेवाले संयमी मनुष्यको प्राप्त होते हैं, उसके सामने आते हैं, पर वे उसके कहे जानेवाले शरीर और अन्तःकरणमें सुख-दुःखरूप विकार पैदा नहीं कर सकते। अतः वह परमशान्तिको प्राप्त होता है। उसकी जो शान्ति है, वह परमात्मतत्त्वके कारणसे है, भोग-पदार्थोंके कारणसे नहीं (गीता—दूसरे अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक)।

यहाँ जो समुद्र और नदियोंके जलका दृष्टान्त दिया गया है, वह स्थितप्रज्ञ संयमी मनुष्यके विषयमें पूरा नहीं घटता। कारण कि समुद्र और नदियोंके जलमें तो सजातीयता है अर्थात् जो जल समुद्रमें भरा हुआ है, उसी जातिका जल नद-नदियोंसे आता है और नद-नदियोंसे जो जल आता है, उसी जातिका जल समुद्रमें भरा हुआ है। परन्तु स्थितप्रज्ञ और सांसारिक भोग-पदार्थोंमें इतना फर्क है कि इसको समझानेके लिये रात-दिन, आकाश-पातालका दृष्टान्त भी नहीं बैठ सकता! कारण कि स्थितप्रज्ञ मनुष्य जिस तत्त्वमें स्थित है, वह तत्त्व चेतन है, नित्य है, सत्य है, असीम है, अनन्त है और सांसारिक भोग-पदार्थ जड हैं, अनित्य हैं, असत् हैं, सीमित हैं, अन्तवाले हैं।

दूसरा अन्तर यह है कि समुद्रमें तो नदियोंका जल पहुँचता है, पर स्थितप्रज्ञ जिस तत्त्वमें स्थित है, वहाँ ये सांसारिक भोग-पदार्थ पहुँचते ही नहीं, प्रत्युत केवल उसके कहे जानेवाले शरीर अन्तःकरणतक ही पहुँचते हैं। अतः समुद्रका दृष्टान्त केवल उसके कहे जानेवाले शरीर और अन्तःकरणकी स्थितिको बतानेके लिये ही दिया गया है। उसके वास्तविक स्वरूपको बतानेवाला कोई दृष्टान्त नहीं है।

'न कामकामी'—जिनके मनमें भोग-पदार्थोंकी कामना है, जो पदार्थोंको ही महत्त्व देते हैं, जिनकी दृष्टि पदार्थोंकी तरफ ही है, उनको कितने ही सांसारिक भोगपदार्थ मिल जायँ, तो भी उनकी तृप्ति नहीं हो सकती; उनकी कामना, जलन, सन्ताप नहीं मिट सकते; तो फिर उनको शान्ति कैसे मिल सकती है? कारण कि चेतन स्वरूपकी तृप्ति जड पदार्थोंसे हो ही नहीं सकती।

परिशिष्ट भाव—अपनी कामनाके कारण ही यह संसार जड़ दीखता है, वास्तवमें तो यह चिन्मय परमात्मा ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९), **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। अतः जब मनुष्य कामनारहित हो जाता है, तब उससे सभी वस्तुएँ प्रसन्न हो जाती हैं। वस्तुओंके प्रसन्न होनेकी पहचान यह है कि उस निष्काम महापुरुषके पास आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप आने लगती हैं। उसके पास आकर सफल होनेके लिये वस्तुएँ लालायित रहती हैं। परन्तु कामना न रहनेके कारण वस्तुओंके प्राप्त होनेपर अथवा न होनेपर भी उसके भीतर कोई विकार (हर्ष आदि) उत्पन्न नहीं होता। उसकी दृष्टिमें वस्तुओंका कोई मूल्य (महत्त्व) है ही नहीं। इसके विपरीत कामनावाले मनुष्यको वस्तुएँ प्राप्त हों अथवा न हों, उसके भीतर सदा अशान्ति बनी रहती है।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है?' इस प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

यः	= जो	**विहाय**	= त्याग करके	**चरति**	= आचरण करता है,
पुमान्	= मनुष्य	**निःस्पृहः**	= स्पृहारहित,	**सः**	= वह
सर्वान्	= सम्पूर्ण	**निर्ममः**	= ममतारहित (और)	**शान्तिम्**	= शान्तिको
कामान्	= कामनाओंका	**निरहङ्कारः**	= अहंतारहित होकर	**अधिगच्छति**	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—'**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः**'—अप्राप्त वस्तुकी इच्छाका नाम 'कामना' है। स्थितप्रज्ञ महापुरुष सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है। कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी शरीरके निर्वाहमात्रके लिये देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिकी जो आवश्यकता दीखती है अर्थात् जीवन-निर्वाहके लिये प्राप्त और अप्राप्त वस्तु आदिकी जो जरूरत दीखती है, उसका नाम '**स्पृहा**' है। स्थितप्रज्ञ पुरुष इस स्पृहाका भी त्याग कर देता है। कारण कि जिसके लिये शरीर मिला था और जिसकी आवश्यकता थी, उस तत्त्वकी प्राप्ति हो गयी, वह आवश्यकता पूरी हो गयी। अब शरीर रहे चाहे न रहे, शरीर-निर्वाह हो चाहे न हो—इस तरफ वह बेपरवाह रहता है। यही उसका निःस्पृह होना है।

निःस्पृह होनेका अर्थ यह नहीं है कि वह निर्वाहकी

वस्तुओंका सेवन करता ही नहीं। वह निर्वाहकी वस्तुओंका सेवन भी करता है, पथ्य-कुपथ्यका भी ध्यान रखता है अर्थात् पहले साधनावस्थामें शरीर आदिके साथ जैसा व्यवहार करता था, वैसा ही व्यवहार अब भी करता है; परन्तु शरीर बना रहे तो अच्छा है, जीवन-निर्वाहकी वस्तुएँ मिलती रहें तो अच्छा है—ऐसी उसके भीतर कोई परवाह नहीं होती।

इसी अध्यायके पचपनवें श्लोकमें '**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्**' पदोंसे कामना-त्यागकी जो बात कही थी, वही बात यहाँ '**विहाय कामान्यः सर्वान्**' पदोंसे कही है। इसका तात्पर्य है कि कर्मयोगमें सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग किये बिना कोई स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि कामनाओंके कारण ही संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। कामनाओंका सर्वथा त्याग करनेपर संसारके साथ सम्बन्ध रह ही नहीं सकता।

'**निर्ममः**'—स्थितप्रज्ञ महापुरुष ममताका सर्वथा त्याग कर देता है। मनुष्य जिन वस्तुओंको अपनी मानता है, वे वास्तवमें अपनी नहीं हैं, प्रत्युत संसारसे मिली हुई हैं। मिली हुई वस्तुको अपनी मानना भूल है। यह भूल मिट जानेपर स्थितप्रज्ञ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ आदिमें ममतारहित हो जाता है।

'**निरहङ्कारः**'—यह शरीर मैं ही हूँ—इस तरह शरीरसे तादात्म्य मानना अहंकार है। स्थितप्रज्ञमें यह अहंकार नहीं रहता। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी किसी प्रकाशमें दीखते हैं और जो 'मैं'-पन है, उसका भी किसी प्रकाशमें भान होता है। अतः प्रकाशकी दृष्टिसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंता ('मैं'-पन)—ये सभी दृश्य हैं। द्रष्टा दृश्यसे अलग होता है—यह नियम है। ऐसा अनुभव हो जानेसे स्थितप्रज्ञ निरहंकार हो जाता है।

'**स शान्तिमधिगच्छति**'—स्थितप्रज्ञ शान्तिको प्राप्त होता है। कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे रहित होनेपर शान्ति आकर प्राप्त होती है—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत शान्ति तो मनुष्यमात्रमें स्वतःसिद्ध है। केवल उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे सुख भोगनेकी कामना करनेसे, उनसे ममताका सम्बन्ध रखनेसे ही अशान्ति होती है। जब संसारकी कामना, स्पृहा, ममता और अहंता सर्वथा छूट जाती है, तब स्वतःसिद्ध शान्तिका अनुभव हो जाता है।

इस श्लोकमें कामना, स्पृहा, ममता और अहंता—इन चारोंमें अहंता ही मुख्य है। कारण कि एक अहंताके निषेधसे सबका निषेध हो जाता है अर्थात् यदि 'मैं'-पन ही नहीं रहेगा, तो फिर 'मेरा'-पन कैसे रहेगा और कामना भी कौन करेगा और किसलिये करेगा?

जब '**निरहङ्कारः**' कहनेमात्रसे कामना आदिका त्याग उसके अन्तर्गत आ जाता था, तो फिर कामना आदिके त्यागका वर्णन क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि कामना, स्पृहा, ममता और अहंता—इन चारोंमें कामना स्थूल है। कामनासे सूक्ष्म स्पृहा, स्पृहासे सूक्ष्म ममता और ममतासे सूक्ष्म अहंता है। अतः साधक पहले कामना, स्पृहा और ममताका त्याग कर दे तो अहंताका त्याग करना उसके लिये सुगम हो जायगा।

शास्त्रीय दृष्टिसे पहले कामनाका त्याग, फिर स्पृहा, ममता और अहंकारका त्याग बताया जाता है। परन्तु साधककी दृष्टिसे पहले ममताका त्याग, फिर कामना, स्पृहा और अहंकारका त्याग करना ही ठीक है। ममता प्राप्त वस्तुकी और कामना अप्राप्त वस्तुकी होती है। सबसे पहले ममताका त्याग करना सुगम पड़ता है। मनुष्य पहले ममतासे अर्थात् प्राप्त वस्तुके सम्बन्धसे ही फँसता है। पहले ममताका त्याग करनेसे निष्काम होनेकी सामर्थ्य आ जाती है, कामनाका त्याग करनेसे निःस्पृह होनेकी सामर्थ्य आ जाती है और स्पृहाका त्याग करनेसे निरहंकार होनेकी सामर्थ्य आ जाती है। शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार चलनेसे मनुष्य पण्डित हो जाता है और साधककी दृष्टिके अनुसार चलनेसे मनुष्यको अनुभव हो जाता है।

अहंता-ममतासे रहित होनेका उपाय

कर्मयोगकी दृष्टिसे—'मेरा कुछ नहीं है'; क्योंकि मेरा किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, अवस्था आदिपर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। जब मेरा कुछ नहीं है तो 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'; क्योंकि अगर शरीर मेरा है तो मेरेको अन्न, जल, वस्त्र आदिकी आवश्यकता है, पर जब शरीर मेरा है ही नहीं, तो मेरेको किसीकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जब मेरा कुछ नहीं और मेरेको कुछ नहीं चाहिये, तो फिर 'मैं' क्या रहा? क्योंकि 'मैं' तो किसी वस्तु, शरीर, स्थिति आदिको पकड़नेसे ही होता है।

मेरे कहलानेवाले शरीर आदिका मात्र संसारके साथ सर्वथा अभिन्न सम्बन्ध है। इसलिये अपने कहलानेवाले शरीर आदिसे जो कुछ करना है, वह सब केवल संसारके हितके लिये ही करना है; क्योंकि मेरेको कुछ चाहिये ही नहीं। ऐसा भाव होनेपर 'मैं'-का एकदेशीयपना आप-से-आप मिट

जाता है और कर्मयोगी अहंता-ममतासे रहित हो जाता है।

सांख्ययोगकी दृष्टिसे—प्राणिमात्रको 'मैं हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूपकी स्वतःसिद्ध सत्ता-(होनापन-) का ज्ञान रहता है। इसमें 'मैं' तो प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' सत्ता है। यह 'हूँ' वास्तवमें 'मैं' को लेकर है। अगर 'मैं' न रहे, तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा।

'मैं हूँ', 'तू है', 'यह है' और 'वह है'—ये चारों व्यक्ति और देश-कालको लेकर हैं। अगर इन चारोंको अर्थात् व्यक्ति और देश-कालको न पकड़ें तो केवल 'है' ही रहेगा—'है' में ही स्थिति रहेगी। 'है' में स्थिति होनेसे सांख्ययोगी अहंता-ममतासे रहित हो जाता है।

भक्तियोगकी दृष्टिसे—जिसको 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं, वह सब प्रभुका ही है। कारण कि मेरी कहलानेवाली वस्तुपर मेरा किंचिन्मात्र भी अधिकार नहीं है; परन्तु प्रभुका उसपर पूरा अधिकार है। वे जिस तरह वस्तुको रखते हैं, जैसा रखना चाहते हैं वैसा ही होता है। अतः यह सब कुछ प्रभुका ही है। इसको प्रभुकी ही सेवामें लगाना है। मेरे पास जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि है, यह भी उन्हींकी है और मैं भी उन्हींका हूँ। ऐसा भाव होनेपर भक्तियोगी अहंता-ममतासे रहित हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—पहले '**सोऽमृतत्वाय कल्पते**' (२। १५) कहकर ज्ञानयोगकी सिद्धि (पूर्णता) बतायी थी, अब '**स शान्तिमधिगच्छति**' कहकर कर्मयोगकी सिद्धि बताते हैं। तात्पर्य है कि चिन्मयता (स्वरूप) में स्थिति होनेसे अमृतकी प्राप्ति होती है और जड़ता (अहंता) के त्यागसे शान्तिकी प्राप्ति होती है।

अहंता अपने स्वरूपमें मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। अगर यह वास्तवमें होती तो हम कभी निरहंकार नहीं हो सकते थे और भगवान् भी निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु भगवान् '**निरहङ्कारः**' कहते हैं, अतः हम अहंकाररहित हो सकते हैं। हमारा अनुभव भी है कि वास्तवमें स्वरूप अहंकाररहित है। सुषुप्तिके समय अहम्के अभावका और स्वयं (अपनी सत्ता) के भावका अनुभव सबको होता है, जिसका स्पष्ट बोध जगनेपर होता है। सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें लीन हो जाता है, पर स्वयं रहता है। इसलिये सुषुप्तिसे जगनेपर (उसकी स्मृतिसे) हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ पता नहीं था।' इस स्मृतिसे सिद्ध होता है कि सुखका अनुभव करनेवाला और 'कुछ पता नहीं था' यह कहनेवाला तो था ही! नहीं तो सुखका अनुभव किसको हुआ और 'कुछ पता नहीं था'—यह बात किसने जानी? अतः 'कुछ पता नहीं था'—यह अहम्का अभाव है और इसका ज्ञान जिसको है, वह अहंरहित स्वरूप है।

एक स्त्रीकी नथ कुएँमें गिर गयी। उसको निकालनेके लिये एक आदमी कुएँमें उतरा और जलके भीतर जाकर उस नथको ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह नथ उसके हाथ लग गयी तो उसको बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु उस समय वह कुछ बोल नहीं सका; क्योंकि वाणी (अग्नि) और जलका आपसमें विरोध है। अतः जलसे बाहर आनेपर ही वह बोल सका कि 'नथ मिल गयी!' ऐसे ही सुषुप्तिमें अहम्के लीन होनेपर मनुष्य सुखका अनुभव तो करता है, पर उसको व्यक्त नहीं कर सकता; क्योंकि बोलनेका साधन नहीं रहा। सुषुप्तिसे जगनेपर ही उसको सुषुप्तिके सुखकी स्मृति होती है। स्मृति अनुभवजन्य होती है—'**अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।**'

इस प्रकार सुषुप्तिमें अहम्के अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। अहंकार हमारे बिना नहीं रह सकता, पर हम (स्वयं) अहंकारके बिना रह सकते हैं और रहते ही हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। इस नित्य सत्ताको किसीकी अपेक्षा नहीं है, पर सत्ताकी अपेक्षा सबको है। अगर हम अहम्से अलग न होते, अहंकाररूप ही होते तो सुषुप्तिमें अहंकारके लीन होनेपर हम भी नहीं रहते। अतः अहंकारके बिना भी हमारा होनापन सिद्ध होता है। जाग्रत् और स्वप्नमें अहम् प्रकट रहता है और सुषुप्तिमें अहम् लीन हो जाता है, पर हम स्वयं निरन्तर रहते हैं। जो प्रकट और लीन नहीं होता, वही हमारा स्वरूप है।

कामनाका त्याग होनेपर भी शरीरनिर्वाहमात्रके लिये कुछ-न-कुछ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिकी आवश्यकता रह जाती है, जिसको 'स्पृहा' कहते हैं। स्थितप्रज्ञ महापुरुषमें शरीरनिर्वाहमात्रकी आवश्यकताका तो कहना ही क्या, शरीरकी भी आवश्यकता नहीं रहती। कारण कि शरीरकी आवश्यकता ही मनुष्यको पराधीन बनाती है। आवश्यकता तभी पैदा होती है, जब मनुष्य उस वस्तुको स्वीकार कर लेता है, जो अपनी नहीं है। कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये नहीं मानता, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही मानता है। इसलिये उसको किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रहती।

'कामना' और 'स्पृहा'—दोनोंका त्याग करनेका तात्पर्य है कि वस्तुओंकी कामना भी न हो और निर्वाहमात्रकी कामना (शरीरकी आवश्यकता) भी न हो। कारण कि निर्वाहमात्रकी कामना भी सुखभोग ही है। इतना ही नहीं, शान्ति, मुक्ति, तत्त्वज्ञान आदिको प्राप्त करनेकी इच्छा भी कामना है। अतः निष्कामभावमें मुक्तितककी भी कामना नहीं होनी चाहिये।

इस श्लोकमें अपरा प्रकृतिका निषेध है। जीवने अहंकारके कारण अपरा प्रकृति (जगत्) को धारण किया है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। अतः निरहंकार होनेपर अपरा प्रकृतिका निषेध (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है और जीव जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है। सबका त्याग होनेपर भी अहंकार शेष रह जाता है, पर अहंकारका त्याग होनेपर सबका त्याग हो जाता है।

सम्बन्ध—कामना, स्पृहा, ममता और अहंतासे रहित होनेपर उसकी क्या स्थिति होती है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हुए इस विषयका उपसंहार करते हैं।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!		कोई)	**अपि**	=भी
एषा	=यह	**न, विमुह्यति**	=मोहित नहीं होता।	**स्थित्वा**	=स्थित हो जाय (तो)
ब्राह्मी	=ब्राह्मी				
स्थितिः	=स्थिति है।	**अस्याम्**	=इस स्थितिमें (यदि)	**ब्रह्मनिर्वाणम्**	=निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी
एनाम्	=इसको				
प्राप्य	=प्राप्त होकर (कभी	**अन्तकाले**	=अन्तकालमें	**ऋच्छति**	=प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या—'**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ**'—यह ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हुए मनुष्यकी स्थिति है। अहंकाररहित होनेसे जब व्यक्तित्व मिट जाता है, तब उसकी स्थिति स्वतः ही ब्रह्ममें होती है। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही व्यक्तित्व था। उस सम्बन्धको सर्वथा छोड़ देनेसे योगीकी अपनी कोई व्यक्तिगत स्थिति नहीं रहती।

अत्यन्त नजदीकका वाचक होनेसे यहाँ '**एषा**' पद पूर्वश्लोकमें आये '**विहाय कामान्**', '**निःस्पृहः**', '**निर्ममः**' और '**निरहङ्कारः**' पदोंका लक्ष्य करता है।

भगवान्‌के मुखसे 'तेरी बुद्धि जब मोहकलिल और श्रुतिविप्रतिपत्तिसे तर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा'—ऐसा सुनकर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि वह स्थिति क्या होगी? इसपर अर्जुनने स्थितप्रज्ञके विषयमें चार प्रश्न किये। उन चारों प्रश्नोंका उत्तर देकर भगवान्‌ने यहाँ वह स्थिति बतायी कि वह ब्राह्मी स्थिति है। तात्पर्य है कि वह व्यक्तिगत स्थिति नहीं है अर्थात् उसमें व्यक्तित्व नहीं रहता। वह नित्ययोगकी प्राप्ति है। उसमें एक ही तत्त्व रहता है। इस विषयकी तरफ लक्ष्य करानेके लिये ही यहाँ '**पार्थ**' सम्बोधन दिया गया है।

'**नैनां प्राप्य विमुह्यति**'—जबतक शरीरमें अहंकार रहता है, तभीतक मोहित होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु जब अहंकारका सर्वथा अभाव होकर ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव हो जाता है, तब व्यक्तित्व टूटनेके कारण फिर कभी मोहित होनेकी सम्भावना नहीं रहती।

सत् और असत्‌को ठीक तरहसे न जानना ही मोह है। तात्पर्य है कि स्वयं सत् होते हुए भी असत्‌के साथ अपनी एकता मानते रहना ही मोह है। जब साधक असत्‌को ठीक तरहसे जान लेता है, तब असत्‌से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है* और सत्‌में अपनी वास्तविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। इस स्थितिका अनुभव होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता (गीता—चौथे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक)।

'**स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति**'—यह मनुष्य-शरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है।

* **असत्‌को जाननेसे असत्‌की निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। सत्‌से ही असत्‌को सत्ता मिलती है। अगर असत्‌को जाननेसे असत्‌की निवृत्ति न हो तो वास्तवमें असत्‌को जाना ही नहीं है; प्रत्युत सीखा है। सीखे हुए ज्ञानसे असत्‌की निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि मनमें असत्‌की सत्ता रहती है।**

इसलिये भगवान् यह मौका देते हैं कि साधारण-से-साधारण और पापी-से-पापी व्यक्ति ही क्यों न हो, अगर वह अन्तकालमें भी अपनी स्थिति परमात्मामें कर ले अर्थात् जडतासे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर ले, तो उसे भी निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी, वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जायगा। ऐसी ही बात भगवान्ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कही है कि 'अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ एक भगवान् ही हैं—ऐसा प्रयाणकालमें भी मेरेको जो जान लेते हैं, वे मेरेको यथार्थरूपसे जान लेते हैं अर्थात् मेरेको प्राप्त हो जाते हैं।' आठवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा कि 'अन्तकालमें मेरा स्मरण करता हुआ कोई प्राण छोड़ता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

दूसरी बात, उपर्युक्त पदोंसे भगवान् उस ब्राह्मी स्थितिकी महिमाका वर्णन करते हैं कि इसमें यदि अन्तकालमें भी कोई स्थित हो जाय, तो वह शान्त ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। जैसे समबुद्धिके विषयमें भगवान्ने कहा था कि इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे रक्षा कर लेता है (दूसरे अध्यायका चालीसवाँ श्लोक), ऐसे ही यहाँ कहते हैं कि अन्तकालमें भी ब्राह्मी स्थिति हो जाय, जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय, तो निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इस स्थितिका अनुभव होनेमें जडताका राग ही बाधक है। यह राग अन्तकालमें भी कोई छोड़ देता है तो उसको अपनी स्वत:सिद्ध वास्तविक स्थितिका अनुभव हो जाता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो अनुभव उम्रभरमें नहीं हुआ, वह अन्तकालमें कैसे होगा? अर्थात् स्वस्थ अवस्थामें तो साधककी बुद्धि स्वस्थ होगी, विचार-शक्ति होगी, सावधानी होगी तो वह ब्राह्मी स्थितिका अनुभव कर लेगा; परन्तु अन्तकालमें प्राण छूटते समय बुद्धि विकल हो जाती है, सावधानी नहीं रहती—ऐसी अवस्थामें ब्राह्मी स्थितिका अनुभव कैसे होगा? इसका समाधान यह है कि मृत्युके समयमें जब प्राण छूटते हैं, तब शरीर आदिसे स्वत: ही सम्बन्ध-विच्छेद होता है। यदि उस समय उस स्वत:सिद्ध तत्त्वकी तरफ लक्ष्य हो जाय, तो उसका अनुभव सुगमतासे हो जाता है। कारण कि निर्विकल्प अवस्थाकी प्राप्तिमें तो बुद्धि, विवेक आदिकी आवश्यकता है, पर अवस्थातीत तत्त्वकी प्राप्तिमें केवल लक्ष्यकी आवश्यकता है।* वह लक्ष्य चाहे पहलेके अभ्याससे हो जाय, चाहे किसी शुभ संस्कारसे हो जाय, चाहे भगवान् या सन्तकी अहैतुकी कृपासे हो जाय, लक्ष्य होनेपर उसकी प्राप्ति स्वत:सिद्ध है।

यहाँ '**अपि**' पदका तात्पर्य है कि अन्तकालसे पहले अर्थात् जीवित-अवस्थामें यह स्थिति प्राप्त कर ले तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है; परन्तु अगर अन्तकालमें भी यह स्थिति हो जाय अर्थात् निर्मम-निरहंकार हो जाय तो वह भी मुक्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह स्थिति तत्काल हो जाती है। स्थितिके लिये अभ्यास करने, ध्यान करने, समाधि लगानेकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है।

भगवान्ने यहाँ कर्मयोगके प्रकरणमें '**ब्रह्मनिर्वाणम्**' पद दिया है। इसका तात्पर्य है कि जैसे सांख्ययोगीको निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है (गीता—पाँचवें अध्यायके चौबीसवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक), ऐसे ही कर्मयोगीको भी निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इसी बातको पाँचवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा है कि सांख्ययोगीद्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, वही स्थान कर्मयोगीद्वारा भी प्राप्त किया जाता है।

विशेष बात

जड और चेतन—ये दो पदार्थ हैं। प्राणिमात्रका स्वरूप चेतन है, पर उसने जडका संग किया हुआ है। जडकी तरफ आकर्षण होना पतनकी तरफ जाना है और चिन्मय-तत्त्वकी तरफ आकर्षण होना उत्थानकी तरफ जाना है, अपना कल्याण करना है। जडकी तरफ जानेमें 'मोह' की मुख्यता होती है और परमात्मतत्त्वकी तरफ जानेमें 'विवेक' की मुख्यता होती है।

समझनेकी दृष्टिसे मोह और विवेकके दो-दो विभाग कर सकते हैं—(१) अहंता-ममतायुक्त मोह एवं कामनायुक्त मोह, (२) सत्-असत्का विवेक एवं कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक।

प्राप्त वस्तु, शरीरादिमें अहंता-ममता करना—यह अहंता-ममतायुक्त मोह है और अप्राप्त वस्तु, घटना, परिस्थिति आदिकी कामना करना—यह कामनायुक्त मोह है। शरीरी (शरीरमें रहनेवाला) अलग है और शरीर अलग है, शरीरी सत् है और शरीर असत् है, शरीरी चेतन

* **निर्विकल्प-अवस्थाकी प्राप्तिमें ही अभ्यास, विचार, निदिध्यासन आदि काम करते हैं, पर निर्विकल्प बोध (अवस्थातीत ब्राह्मी स्थिति) की प्राप्तिमें बुद्धि काम नहीं करती। उसमें बुद्धि छूट जाती है। कारण कि निर्विकल्प बोध करण-निरपेक्ष है अर्थात् उसमें करणकी किंचिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं है। उसकी प्राप्तिमें करणसे सम्बन्ध-विच्छेद ही कारण है।**

है और शरीर जड है—इसको ठीक तरहसे अलग-अलग जानना सत्-असत्का विवेक है और कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है, धर्म क्या है, अधर्म क्या है—इसको ठीक तरहसे समझकर उसके अनुसार कर्तव्य करना और अकर्तव्यका त्याग करना कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक है।

पहले अध्यायमें अर्जुनको भी दो प्रकारका मोह हो गया था, जिसमें प्राणिमात्र फँसे हुए हैं। अहंताको लेकर 'हम दोषोंको जाननेवाले धर्मात्मा हैं' और ममताको लेकर 'ये कुटुम्बी मर जायँगे'—यह अहंता-ममतायुक्त मोह हुआ। हमें पाप न लगे, कुलके नाशका दोष न लगे, मित्रद्रोहका पाप न लगे, नरकोंमें न जाना पड़े, हमारे पितरोंका पतन न हो—यह कामनायुक्त मोह हुआ।

उपर्युक्त दोनों प्रकारके मोहको दूर करनेके लिये भगवान्ने दूसरे अध्यायमें दो प्रकारका विवेक बताया है—शरीरी-शरीरका, सत्-असत्का विवेक (दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक) और कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक (दूसरे अध्यायके इकतीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक)।

शरीरी-शरीरका विवेक बताते हुए भगवान्ने कहा कि मैं, तू और ये राजा लोग पहले नहीं थे—यह बात भी नहीं और आगे नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं अर्थात् हम सभी पहले भी थे और आगे भी रहेंगे तथा ये शरीर पहले भी नहीं थे और आगे भी नहीं रहेंगे तथा बीचमें भी प्रतिक्षण बदल रहे हैं। जैसे शरीरमें कुमार, युवा और वृद्धावस्था— ये अवस्थाएँ बदलती हैं और जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है, ऐसे ही जीव पहले शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है, यह तो अकाट्य नियम है। इसमें चिन्ताकी, शोककी बात ही क्या है ?

कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक बताते हुए भगवान्ने कहा कि क्षत्रियके लिये युद्धसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। अनायास प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्गप्राप्तिका खुला दरवाजा है। तू युद्धरूप स्वधर्मका पालन नहीं करेगा तो तुझे पाप लगेगा। यदि तू जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके युद्ध करेगा तो तुझे पाप नहीं लगेगा। तेरा तो कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं। तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति न हो। इसलिये तू कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर और समतामें स्थित होकर कर्मोंको कर; क्योंकि समता ही योग है। जो मनुष्य समबुद्धिसे युक्त होकर कर्म करता है, वह जीवित-अवस्थामें ही पुण्य-पापसे रहित हो जाता है।

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको और श्रुतिविप्रतिपत्तिको पार कर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—निर्मम और निरहंकार होनेसे साधकका असत्-विभागसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और सत्-विभागमें अर्थात् ब्रह्ममें अपनी स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है, जिसको 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं। इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होनेपर शरीरका कोई मालिक नहीं रहता अर्थात् शरीरको मैं-मेरा कहनेवाला कोई नहीं रहता, व्यक्तित्व मिट जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि हमारी स्थिति अहंकारके आश्रित नहीं है। अहंकारके मिटनेपर भी हमारी स्थिति रहती है, जो 'ब्राह्मी स्थिति' कहलाती है। एक बार इस ब्राह्मी स्थिति (नित्ययोग) का अनुभव होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता (गीता—चौथे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक)। अगर अन्तकालमें भी मनुष्य निर्मम-निरहंकार होकर ब्राह्मी स्थितिका अनुभव कर ले तो उसको तत्काल निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्मम-निरहंकार होनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञान हो जाता है। फिर मनुष्य ममतारहित, कामनारहित और कर्तृत्वरहित हो जाता है। कारण कि जीवने अहम्के कारण ही जगत्को धारण किया है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७), **'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। यदि वह अहम्का त्याग कर दे तो फिर जगत् नहीं रहेगा। ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर (अगर भक्तिके संस्कार हों तो) समग्र परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है, क्योंकि समग्र परमात्मा ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं।

मेरा कुछ नहीं है—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निर्मम' हो जाता है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निष्काम' हो जाता है। मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निरहंकार' हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'सांख्ययोग' नामक दूसरा अध्याय पूर्ण हुआ।

कर्मयोग, सांख्ययोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोंमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। सांख्ययोगमें इस विवेककी मुख्यता है और सांख्ययोगसे ही भगवान्ने अपना उपदेश आरम्भ किया है; अत: इस अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' रखा गया है।

दूसरे अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ द्वितीयोऽध्याय:**' के तीन, '**संजय उवाच**', '**श्रीभगवानुवाच**' आदि पदोंके चौदह, श्लोकोंके नौ सौ सत्तावन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग नौ सौ सत्तासी है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ द्वितीयोऽध्याय:**' के सात, '**संजय उवाच**', '**श्रीभगवानुवाच**' आदि पदोंके पैंतालीस, श्लोकोंके दो हजार चार सौ तीन और पुष्पिकाके पैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग दो हजार पाँच सौ है। इस अध्यायके बहत्तर श्लोकोंमेंसे पाँचवाँ, सातवाँ, आठवाँ, बीसवाँ, बाईसवाँ और सत्तरवाँ—ये छ: श्लोक चौवालीस अक्षरोंके, छठा श्लोक छियालीस अक्षरोंका और उनतीसवाँ श्लोक पैंतालीस अक्षरोंका है। शेष चौंसठ श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें सात उवाच हैं—दो '**संजय उवाच**', तीन '**श्रीभगवानुवाच**' और दो '**अर्जुन उवाच**'।

दूसरे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बहत्तर श्लोकोंमेंसे पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ, बीसवाँ, बाईसवाँ, उनतीसवाँ और सत्तरवाँ—ये आठ श्लोक '**उपजाति**' छन्दवाले हैं। दूसरे अध्यायमें बावनवें और सड़सठवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; बारहवें, छब्बीसवें और बत्तीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा इकसठवें और तिरसठवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; छत्तीसवें और छप्पनवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; इकहत्तरवें श्लोकके प्रथम चरणमें और इकतीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; छियालीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'सगण' प्रयुक्त होनेसे '**स-विपुला**'; पैंतीसवें श्लोकके प्रथम और तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**जातिपक्ष-विपुला**' और सैंतालीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' तथा तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**संकीर्ण-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उनचास श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश मनुष्यमात्रके अनुभवपर आधारित है। इसका दिव्य उपदेश (दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे) आरम्भ करनेपर सबसे पहले भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि शरीर और शरीरी एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं। शरीर अनित्य, असत्, एकदेशीय और नाशवान् है तथा शरीरी नित्य, सत्, सर्वव्यापी और अविनाशी है। अतः नाशवान् वस्तुका विनाश देखकर दुःखी नहीं होना और अविनाशी वस्तुकी अविनाशिता देखकर उसे बनाये रखनेकी इच्छा नहीं करना 'विवेक' कहा जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। 'मैं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूँ'—ऐसा विवेक होनेपर ही मुक्तिकी अभिलाषा जाग्रत् होती है। मुक्तिकी बात तो दूर रही, स्वर्गादिकी प्राप्तिकी कामना भी अपनेको शरीरसे अलग माननेपर ही उत्पन्न होती है। इसीलिये भगवान्‌ने अपने उपदेशका आरम्भ करते ही सबसे पहले विवेकका ही वर्णन किया है।

गीताका उपर्युक्त विवेक-प्रकरण दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे प्रारम्भ होकर तीसवें श्लोकपर समाप्त होता है। विवेकके इस प्रकरणमें भगवान्‌ने आत्मा, अनात्मा, प्रकृति, पुरुष, ब्रह्म, अविद्या, ईश्वर, जीव, जगत्, माया आदि किसी भी दार्शनिक शब्दका प्रयोग नहीं किया है, प्रत्युत सभी मनुष्य सरलतासे समझ सकें, ऐसे ढंगसे भगवान्‌ने उसका विवेचन किया है। इसका तात्पर्य यह है कि मात्र मनुष्य परमात्मप्राप्तिके अधिकारी हैं; क्योंकि मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः उपर्युक्त विवेकको महत्त्व देकर मात्र मनुष्य परमात्मप्राप्ति कर सकते हैं।

इस प्रकरणमें भगवान्‌ने 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग भी नहीं किया है। वास्तवमें नित्य और अनित्य, सत् और असत्, अविनाशी और विनाशी, शरीरी और शरीरको अलग-अलग समझनेके लिये 'विवेक' की ही आवश्यकता है 'बुद्धि' की नहीं। विवेक बुद्धिसे परे है। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक), ऐसे ही उनकी भिन्नताको प्रकट करनेवाला विवेक भी अनादि है। यही विवेक बुद्धिमें प्रकट होता है। यह भगवत्प्रदत्त विवेक मात्र प्राणियोंको नित्यप्राप्त है। पशु-पक्षी भी खाद्य-अखाद्य पदार्थोंकी भिन्नताको जानते हैं। लता-वृक्षमें भी सरदी-गरमी, अनुकूलता-प्रतिकूलताकी भिन्नताका ज्ञान रहता है। बुद्धिप्रधान होनेके कारण मनुष्यको यह विवेक विशेषरूपसे प्राप्त है। पशु-पक्षी आदिमें तो जीवन-निर्वाहमात्रके लिये जड-पदार्थोंका विवेक रहता है, पर मनुष्य अपने विवेकसे सदाके लिये जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकता है। यही मनुष्यके विवेककी विशेषता है।

विवेक जाग्रत् होनेपर अर्थात् शरीर और शरीरीकी भिन्नताका अनुभव होनेपर अपने कहलानेवाले शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित संसारका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जो कि वास्तवमें है और बुद्धि शुद्ध तथा सम हो जाती है अर्थात् बुद्धिका विषमभाव मिट जाता है।

*कर्मयोगमें बुद्धिके एक निश्चयकी प्रधानता है—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह'** (गीता २। ४१)* । मनुष्यका जब अपने कल्याण अथवा परमात्मप्राप्तिका ही एक निश्चय हो जाता है, तब उसे अनुकूलता और प्रतिकूलता बाधा नहीं पहुँचाती और इस प्रकार बिना कुछ किये ही उसकी बुद्धि स्वतः सम होने लगती है। बुद्धिको सम करनेके लिये तभीतक कहा जाता है, जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व, आकर्षण, खिंचाव रहता है। एक निश्चयात्मिका बुद्धि हो*

*** सांख्ययोगमें विवेककी, भक्तियोगमें श्रद्धा-विश्वासकी एवं कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी प्रधानता रहती है। कर्मयोगमें विवेक तथा श्रद्धा-विश्वास न होते हों—ऐसा नहीं है, पर मुख्यता एक निश्चयात्मिका बुद्धिकी रहती है। ऐसे ही सांख्ययोग एवं भक्तियोगमें भी एक निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है।**

जानेपर संसारका महत्त्व, आकर्षण, खिंचाव स्वतः मिटने लग जाता है। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि होनेमें भोग और संग्रहकी आसक्तिको महान् बाधक बताया गया है (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)।

इस तरह कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता बतानेके बाद भगवान् अर्जुनको समभावपूर्वक कर्तव्यकर्म करनेके लिये विशेषरूपसे कहते हैं; जैसे—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' (२। ४७), '**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (२। ४८) 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है', 'समतामें स्थित हुआ तू कर्मोंको कर'। इसके साथ यह भी कहते हैं कि '**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्**' (२। ४९) 'बुद्धियोग-(समता-) से सकामकर्म अत्यन्त तुच्छ हैं', आगे कहते हैं—'**बुद्धौ शरणमन्विच्छ**' (२। ४९), '**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥**' (२। ५०) 'तू समबुद्धिका आश्रय ग्रहण कर' 'समतापूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष पाप और पुण्य—दोनोंका यहाँ जीवित-अवस्थामें ही त्याग कर देता है, इसलिये तू समताकी प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न कर; क्योंकि समता ही कर्मोंमें चतुरता है।'

अर्जुनके मनमें युद्ध न करनेका आग्रह पहलेसे ही था। पहले अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—'युद्धमें अपने कुलको मारकर मैं अपना हित नहीं देखता'—'**न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।**' फिर पैंतालीसवें श्लोकमें वे कहते हैं— 'अहो! शोक है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर भी युद्धरूप महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं'— '**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।**' आगे दूसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—'मैं भिक्षाका अन्न खाना श्रेष्ठ समझता हूँ, पर युद्ध करना नहीं'—'**श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके**' और नवें श्लोकमें तो भगवान्‌की आज्ञा '**उत्तिष्ठ परन्तप**' (२। ३) के विरुद्ध अपना निर्णय ही सुना देते हैं कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—'**न योत्स्ये**' (गीता २। ९)।

यह नियम है कि अपना आग्रह रखनेसे श्रोता वक्ताकी बातोंका आशय अच्छी तरहसे नहीं समझ सकता। यही कारण है कि अपना (युद्ध न करनेका) आग्रह रखनेसे अर्जुन भी उपर्युक्त प्रकरणमें भगवान्‌के वचनोंका आशय अच्छी तरहसे नहीं समझ सके। अतः अर्जुनको भगवान्‌के वचन मिले हुए-से जान पड़ने लगे। इसलिये भगवान्‌का अभिप्राय क्या है ? वे मेरे कल्याणके लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ समझते हैं— इसका खुलासा करानेके लिये अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें भगवान्‌से प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

अर्जुन बोले—

जनार्दन =हे जनार्दन!
चेत् =अगर
ते =आप
कर्मणः =कर्मसे
बुद्धिः =बुद्धि (ज्ञान) को
ज्यायसी =श्रेष्ठ
मता =मानते हैं,
तत् =तो फिर
केशव =हे केशव!
माम् =मुझे
घोरे =घोर
कर्मणि =कर्ममें
किम् =क्यों
नियोजयसि =लगाते हैं ?
व्यामिश्रेण,इव =(आप अपने) मिले हुए-से
वाक्येन =वचनोंसे
मे =मेरी
बुद्धिम् =बुद्धिको
मोहयसि, इव =मोहित-सी कर रहे हैं।

	(अत: आप)		**एकम्**	=एक बातको		**अहम्**	=मैं
निश्चित्य	=निश्चय करके		**वद**	=कहिये,		**श्रेय:**	=कल्याणको
तत्	=उस		**येन**	=जिससे		**आप्नुयाम्**	=प्राप्त हो जाऊँ।

व्याख्या—'**जनार्दन**'—इस पदसे अर्जुन मानो यह भाव प्रकट करते हैं कि हे श्रीकृष्ण! आप सभीकी याचना पूरी करनेवाले हैं; अत: मेरी याचना तो अवश्य ही पूरी करेंगे।

'**ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते .... नियोजयसि केशव**'—मनुष्यके अन्त:करणमें एक कमजोरी रहती है कि वह प्रश्न करके उत्तरके रूपमें भी वक्तासे अपनी बात अथवा सिद्धान्तका ही समर्थन चाहता है। इसे कमजोरी इसलिये कहा गया है कि वक्ताके निर्देशका चाहे वह मनोऽनुकूल हो या सर्वथा प्रतिकूल, पालन करनेका निश्चय ही शूरवीरता है, शेष सब कमजोरी या कायरता ही कही जायगी। इस कमजोरीके कारण ही मनुष्यको प्रतिकूलता सहनेमें कठिनाईका अनुभव होता है। जब वह प्रतिकूलताको सह नहीं सकता, तब वह अच्छाईका चोला पहन लेता है अर्थात् तब भलाईके वेशमें बुराई आती है। जो बुराई भलाईके वेशमें आती है, उसका त्याग करना बड़ा कठिन होता है। यहाँ अर्जुनमें भी हिंसा-त्यागरूप भलाईके वेशमें कर्तव्य-त्यागरूप बुराई आयी है। अत: वे कर्तव्य-कर्मसे ज्ञानको श्रेष्ठ मान रहे हैं। इसी कारण वे यहाँ प्रश्न करते हैं कि यदि आप कर्मसे ज्ञानको श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर मुझे युद्धरूप घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं?

भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें '**बुद्धियोगे**' पदसे समबुद्धि-(समता-) की ही बात कही थी; परन्तु अर्जुनने उसको ज्ञान समझ लिया। अत: वे भगवान्‌से कहते हैं कि हे जनार्दन! आपने पहले कहा कि 'मैंने सांख्यमें यह बुद्धि कह दी, इसीको तुम योगके विषयमें सुनो। इस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मबन्धनको छोड़ देगा।' परन्तु कर्मबन्धन तभी छूटेगा, जब ज्ञान होगा। आपने यह भी कह दिया कि 'बुद्धियोग अर्थात् ज्ञानसे कर्म अत्यन्त निकृष्ट हैं' (दूसरे अध्यायका उनचासवाँ श्लोक)। अगर आपकी मान्यतामें कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है, उत्तम है, तो फिर मेरेको शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंमें भी नहीं लगाना चाहिये, केवल ज्ञानमें ही लगाना चाहिये। परन्तु इसके विपरीत आप मेरेको युद्ध-जैसे अत्यन्त क्रूर कर्ममें, जिसमें दिनभर मनुष्योंकी हत्या करनी पड़े, क्यों लगा रहे हैं?

पहले अर्जुनके मनमें युद्ध करनेका जोश आया हुआ था और उन्होंने उसी जोशमें भरकर भगवान्‌से कहा कि 'हे अच्युत! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको खड़ा कर दीजिये, जिससे मैं यह देख लूँ कि यहाँ मेरे साथ दो हाथ करनेवाला कौन है।' परन्तु भगवान्‌ने जब दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणके सामने तथा राजाओंके सामने रथ खड़ा करके कहा कि 'तू इन कुरुवंशियोंको देख', तब अर्जुनका कौटुम्बिक मोह जाग्रत् हो गया। मोह जाग्रत् होनेसे उनकी वृत्ति युद्धसे, कर्मसे उपरत होकर ज्ञानकी तरफ हो गयी; क्योंकि ज्ञानमें युद्ध-जैसे घोर कर्म नहीं करने पड़ते। अत: अर्जुन कहते हैं कि आप मेरेको घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं?

यहाँ '**बुद्धि:**' पदका अर्थ 'ज्ञान' लिया गया है। अगर यहाँ '**बुद्धि:**' पदका अर्थ 'समबुद्धि' (समता) लिया जाय तो व्यामिश्र वचन सिद्ध नहीं होगा। कारण कि दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको योग-(समता-) में स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है। व्यामिश्र वचन तभी सिद्ध होगा, जब अर्जुनकी मान्यतामें दो बातें हों और तभी यह प्रश्न बनेगा कि अगर आपकी मान्यतामें कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है, तो फिर मेरेको घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? दूसरी बात, भगवान्‌ने आगे अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें दो निष्ठाएँ कही हैं—ज्ञानियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे। इससे भी अर्जुनके प्रश्नोंमें '**बुद्धि:**' पदका अर्थ 'ज्ञान' लेना युक्तिसंगत बैठता है।

कोई भी साधक श्रद्धापूर्वक पूछनेपर ही अपने प्रश्नका सही उत्तर प्राप्त कर सकता है। आक्षेपपूर्वक शंका करनेसे सही उत्तर प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं। अर्जुनकी भगवान्‌पर पूर्ण श्रद्धा है; अत: भगवान्‌के कहनेपर अर्जुन अपने कल्याणके लिये युद्ध-जैसे घोर कर्ममें भी प्रवृत्त हो सकते हैं—ऐसा भाव उपर्युक्त प्रश्नसे प्रकट होता है।

'**व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे**'—इन पदोंमें अर्जुनका भाव है कि कभी तो आप कहते हैं कि कर्म करो '**कुरु कर्माणि**' (२। ४८) और कभी आप कहते हैं कि ज्ञानका आश्रय लो—'**बुद्धौ शरणमन्विच्छ**' (२। ४९)। आपके इन मिले हुए वचनोंसे मेरी बुद्धि मोहित-सी हो रही है अर्थात् मैं यह स्पष्ट नहीं समझ पा रहा हूँ कि मेरेको कर्म करने चाहिये या ज्ञानकी शरण लेनी चाहिये।

यहाँ दो बार '**इव**' पदके प्रयोगसे भगवान्‌पर अर्जुनकी

श्रद्धाका द्योतन हो रहा है। श्रद्धाके कारण अर्जुन भगवान्‌के वचनोंको ठीक मान रहे हैं और यह भी समझ रहे हैं कि भगवान् मेरी बुद्धिको मोहित नहीं कर रहे हैं। परन्तु भगवान्‌के वचनोंको ठीक-ठीक न समझनेके कारण अर्जुनको भगवान्‌के वचन मिले हुए-से लग रहे हैं और उनको ऐसा दीख रहा है कि भगवान् अपने वचनोंसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं। अगर भगवान् अर्जुनकी बुद्धिको मोहित करते तो फिर अर्जुनके मोहको दूर करता ही कौन ?

'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'—मेरा कल्याण कर्म करनेसे होगा या ज्ञानसे होगा—इनमेंसे आप निश्चित करके मेरे लिये एक बात कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो जाय। मैंने पहले भी कहा था कि जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो वह बात मेरे लिये कहिये—**'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (२।७) और अब भी मैं वही बात कह रहा हूँ।

परिशिष्ट भाव—जबतक संसारकी सत्ता मानते हैं, तभीतक कर्म घोर या सौम्य दीखता है। कारण कि संसारकी सत्ता माननेसे कर्मकी तरफ दृष्टि रहती है, अपने कर्तव्यकी तरफ नहीं। अपने कर्तव्यकी तरफ दृष्टि रहनेसे कर्म घोर या सौम्य नहीं दीखता।

~~~~

*सम्बन्ध—अब आगेके तीन (तीसरे, चौथे और पाँचवें) श्लोकोंमें भगवान् अर्जुनके **'व्यामिश्रेणेव वाक्येन'** (मिले हुए-से वचनों) पदोंका उत्तर देते हैं।*

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—

अनघ	= हे निष्पाप अर्जुन!	**निष्ठा**	= निष्ठा	**साङ्ख्यानाम्**	= ज्ञानियोंकी (निष्ठा)
अस्मिन्	= इस	**मया**	= मेरे द्वारा	**ज्ञानयोगेन**	= ज्ञानयोगसे (और)
लोके	= मनुष्यलोकमें	**पुरा**	= पहले	**योगिनाम्**	= योगियोंकी (निष्ठा)
द्विविधा	= दो प्रकारसे होनेवाली	**प्रोक्ता**	= कही गयी है। (उनमें)	**कर्मयोगेन**	= कर्मयोगसे (होती है)।

व्याख्या—[अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहते थे, अतः उन्होंने समतावाचक 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' समझ लिया। परन्तु भगवान्‌ने पहले 'बुद्धि' और 'बुद्धियोग' शब्दसे समताका वर्णन किया था (दूसरे अध्यायका उनतालीसवाँ, उनचासवाँ आदि); अतः यहाँ भी भगवान् ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंके द्वारा प्रापणीय समताका वर्णन कर रहे हैं।]

'अनघ'—अर्जुनके द्वारा अपने श्रेय-(कल्याण-) की बात पूछी जानी ही उनकी निष्पापता है; क्योंकि अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा होनेपर साधकके पाप नष्ट हो जाते हैं।

'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया'—यहाँ **'लोके'** पदका अर्थ मनुष्य-शरीर समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों प्रकारके साधनोंको करनेका अधिकार अथवा साधक बननेका अधिकार मनुष्य-शरीरमें ही है।

'निष्ठा'—अर्थात् समभावमें स्थिति एक ही है, जिसे दो प्रकारसे प्राप्त किया जा सकता है—ज्ञानयोगसे और कर्मयोगसे। इन दोनों योगोंका अलग-अलग विभाग करनेके लिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें कहा है कि इस समबुद्धिको मैंने सांख्ययोगके विषयमें (ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक) कह दिया है, अब इसे कर्मयोगके विषयमें (उनतालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक) सुनो—

'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।'

'पुरा' पदका अर्थ 'अनादिकाल' भी होता है और 'अभीसे कुछ पहले' भी होता है। यहाँ इस पदका अर्थ है—अभीसे कुछ पहले अर्थात् पिछला अध्याय, जिसपर अर्जुनकी शंका है। यद्यपि दोनों निष्ठाएँ पिछले अध्यायमें अलग-अलग कही जा चुकी हैं, तथापि किसी भी निष्ठामें कर्मत्यागकी बात नहीं कही गयी है।
~~~~

मार्मिक बात

यहाँ भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ बतायी हैं—सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) और योगनिष्ठा (कर्मयोग)। जैसे लोकमें दो तरहकी निष्ठाएँ हैं—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा**', ऐसे ही लोकमें दो तरहके पुरुष हैं '**द्वाविमौ पुरुषौ लोके**' (गीता १५। १६) वे हैं—क्षर (नाशवान् संसार) और अक्षर (अविनाशी स्वरूप)। क्षरकी सिद्धि-असिद्धि, प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना 'कर्मयोग' है और क्षरसे विमुख होकर अक्षरमें स्थित होना 'ज्ञानयोग' है। परन्तु क्षर और अक्षर—दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नामसे कहा जाता है—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (१५। १७)। वह परमात्मा क्षरसे तो अतीत है और अक्षरसे उत्तम है; अतः शास्त्र और वेदमें वह 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध है (पन्द्रहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। ऐसे परमात्माके सर्वथा सर्वभावसे शरण हो जाना 'भगवन्निष्ठा' (भक्तियोग) है। इसलिये क्षरकी प्रधानतासे कर्मयोग, अक्षरकी प्रधानतासे ज्ञानयोग और परमात्माकी प्रधानतासे भक्तियोग चलता है*।

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा—ये दोनों साधकोंकी अपनी निष्ठाएँ हैं; परन्तु भगवन्निष्ठा साधकोंकी अपनी निष्ठा नहीं है। कारण कि सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठामें साधकको 'मैं हूँ' और 'संसार है'— इसका अनुभव होता है; अतः ज्ञानयोगी संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपमें स्थित होता है और कर्मयोगी संसारकी वस्तु-(शरीरादि-) को संसारकी ही सेवामें लगाकर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है। परन्तु भगवन्निष्ठामें साधकको पहले 'भगवान् हैं'—इसका अनुभव नहीं होता; पर उसका विश्वास होता है कि स्वरूप और संसार—इन दोनोंसे भी विलक्षण कोई तत्त्व (भगवान्) है। अतः वह श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌को मानकर अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देता है। इसलिये सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठामें तो 'जानना' (विवेक) मुख्य है और भगवन्निष्ठामें 'मानना' (श्रद्धा-विश्वास) मुख्य है।

जानना और मानना—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। जैसे 'जानना' सन्देहरहित (दृढ़) होता है, ऐसे ही 'मानना' भी सन्देहरहित होता है। मानी हुई बातमें विचारकी सम्भावना नहीं रहती। जैसे, 'अमुक मेरी माँ है'—यह केवल माना हुआ है, पर इस माने हुएमें कभी सन्देह नहीं होता, कभी जिज्ञासा नहीं होती, कभी विचार नहीं करना पड़ता। इसलिये गीतामें भक्तियोगके प्रकरणमें जहाँ जाननेकी बात आयी है, उसको माननेके अर्थमें ही लेना चाहिये। इसी तरह ज्ञानयोग और कर्मयोगके प्रकरणमें जहाँ माननेकी बात आयी है, उसको जाननेके अर्थमें ही लेना चाहिये।

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा तो साधन-साध्य हैं और साधकपर निर्भर हैं, पर भगवन्निष्ठा साधन-साध्य नहीं है। भगवन्निष्ठामें साधक भगवान् और उनकी कृपापर निर्भर रहता है।

भगवन्निष्ठाका वर्णन गीतामें जगह-जगह आया है; जैसे—इसी अध्यायमें पहले दो निष्ठाओंका वर्णन करके फिर तीसवें श्लोकमें '**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य**' पदोंसे भक्तिका वर्णन किया गया है; पाँचवें अध्यायमें भी दो निष्ठाओंका वर्णन करके दसवें श्लोकमें '**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि**' और अन्तमें '**भोक्तारं यज्ञतपसाम् .....**' आदि पदोंसे भक्तिका वर्णन किया गया है, इत्यादि।

'**ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्**'—प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंमें, इन्द्रियोंमें ही हो रही हैं (गीता—तीसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक) और मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना 'ज्ञानयोग' है।

गीतोपदेशके आरम्भमें ही भगवान्‌ने सांख्ययोग-(ज्ञानयोग-) का वर्णन करते हुए नाशवान् शरीर और अविनाशी शरीरीका विवेचन किया है, जिसे (गीता—दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें) असत् और सत्‌के नामसे भी कहा गया है।

'**कर्मयोगेन योगिनाम्**'—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसको (उस कर्म तथा उसके फलमें) कामना, ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके करना तथा कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना

* **वास्तवमें भगवान्‌का सम्बन्ध कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों योगोंमें रहता है; क्योंकि इन दोनोंके विधायक भगवान् ही हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोगसे कल्याण होनेका विधान तो भगवान्‌के द्वारा ही बना है। इसलिये कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—दोनों भगवान्‌के मत-(सिद्धान्त-) का ही पालन करते हैं। केवल इनमें भगवान्‌की परायणता नहीं होती।**

'कर्मयोग' है।

भगवान्‌ने कर्मयोगका वर्णन दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकमें मुख्यरूपसे किया है। इनमें भी सैंतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगका सिद्धान्त कहा गया है और अड़तालीसवें श्लोकमें कर्मयोगको अनुष्ठानमें लानेकी विधि कही गयी है।

परिशिष्ट भाव—कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों ही निष्ठाएँ लोकमें होनेके कारण 'लौकिक' हैं—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा।**' कर्मयोगमें 'क्षर' (संसार) की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें 'अक्षर' (जीवात्मा) की प्रधानता है। क्षर और अक्षर भी लोकमें ही हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)। अत: कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों ही लौकिक निष्ठाएँ हैं।

जीव और जगत्‌को मुख्यता देनेसे ही ये दो निष्ठाएँ हुई हैं। अगर जीव और जगत्‌को मुख्यता न देकर केवल परमात्माको ही मुख्यता दें तो दो निष्ठाएँ नहीं होंगी, प्रत्युत केवल अलौकिक भगवन्निष्ठा (भक्ति) होगी।

लौकिक निष्ठा (कर्मयोग-ज्ञानयोग) में साधकका अपना उद्योग मुख्य होता है। वह साधनमें अपना पुरुषार्थ मानता है। परन्तु जब साधक भगवान्‌का आश्रय रखकर साधन करता है, अपना उद्योग मुख्य नहीं मानता, तब उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। कारण कि भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है। जबतक भगवान्‌का सम्बन्ध नहीं होता, तबतक सब लौकिक ही होता है।

किसीको बुरा न समझे, किसीका बुरा न चाहे और किसीका बुरा न करे तो 'कर्मयोग' आरम्भ हो जाता है। मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये और मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—इस सत्यको स्वीकार कर ले तो 'ज्ञानयोग' आरम्भ हो जाता है।

~~~~

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

पुरुषः	= मनुष्य	**नैष्कर्म्यम्**	= निष्कर्मताका	**सन्न्यसनात्**	= (कर्मोंके) त्यागमात्रसे
न	= न तो	**अश्नुते**	= अनुभव करता है	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
कर्मणाम्	= कर्मोंका	**च**	= और	**एव**	= ही
अनारम्भात्	= आरम्भ किये बिना	**न**	= न	**समधिगच्छति**	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—'**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**'—कर्मयोगमें कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। कारण कि निष्कामभावसे कर्म करनेपर ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है*। यह सिद्धि मनुष्यको कर्म किये बिना नहीं मिल सकती।

मनुष्यके अन्त:करणमें कर्म करनेका जो वेग विद्यमान रहता है, उसे शान्त करनेके लिये कामनाका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करना आवश्यक है। कामना रखकर कर्म करनेपर यह वेग मिटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता है।

'**नैष्कर्म्यम् अश्नुते**' पदोंका आशय है कि कर्मयोगका आचरण करनेवाला मनुष्य कर्मोंको करते हुए ही निष्कर्मताको प्राप्त होता है। जिस स्थितिमें मनुष्यके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते, उस स्थितिको 'निष्कर्मता' कहते हैं।

कामनासे रहित होकर किये गये कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिका उसी प्रकार सर्वथा अभाव हो जाता है, जिस प्रकार बीजको भूनने या उबालनेपर उसमें पुन: अंकुर देनेकी शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। अत: निष्काम मनुष्यके कर्मोंमें पुन: जन्म-मरणके चक्रमें घुमानेकी शक्ति नहीं रहती।

कामनाका त्याग तभी हो सकता है, जब सभी कर्म दूसरोंकी सेवाके लिये किये जायँ, अपने लिये नहीं। कारण कि कर्ममात्रका सम्बन्ध संसारसे है और अपना (स्वरूपका) सम्बन्ध परमात्मासे है। अपने साथ कर्मका सम्बन्ध है ही

* जो योगपर आरूढ़ होना चाहता है, अपनेमें समता लाना चाहता है, उसके लिये (कर्मयोगकी दृष्टिसे) निष्कामभावसे कर्म करना आवश्यक है—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' (गीता ६। ३)। अगर वह कर्म करेगा ही नहीं तो उसको यह कैसे पता लगेगा कि मैं सिद्धि-असिद्धिमें सम रहा या विचलित हो गया?
~~~~

नहीं। इसलिये जबतक अपने लिये कर्म करेंगे, तबतक कामनाका त्याग नहीं होगा और जबतक कामनाका त्याग नहीं होगा, तबतक निष्कर्मताकी प्राप्ति नहीं होगी।

'न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति'—इस श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कर्मयोगकी दृष्टिसे कहा कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना कर्मयोगीको निष्कर्मताकी प्राप्ति नहीं होती। अब श्लोकके उत्तरार्धमें सांख्ययोगकी दृष्टिसे कहते हैं कि केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेसे सांख्ययोगीको सिद्धि अर्थात् निष्कर्मताकी प्राप्ति नहीं होती। सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापन-(अहंता-) का त्याग करना आवश्यक है। अतः सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना मुख्य नहीं है, प्रत्युत अहंताका त्याग ही मुख्य है।

सांख्ययोगमें कर्म किये भी जा सकते हैं और किसी सीमातक कर्मोंका त्याग भी किया जा सकता है; परन्तु कर्मयोगमें सिद्धि-प्राप्तिके लिये कर्म करना आवश्यक होता है (गीता ६। ३)।

मार्मिक बात

श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्यको व्यवहारमें परमार्थ-सिद्धिकी कला सिखाती है। उसका आशय कर्तव्य-कर्म करानेमें है, छुड़ानेमें नहीं। इसलिये भगवान् कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों ही साधनोंमें कर्म करनेकी बात कहते हैं।

यह एक स्वाभाविक बात है कि जब साधक अपना कल्याण चाहता है, तब वह सांसारिक कर्मोंसे उकताने लगता है और उन्हें छोड़ना चाहता है। इसी कारण अर्जुन भी कर्मोंसे उकताकर भगवान्‌से पूछते हैं कि जब कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों प्रकारके साधनोंका तात्पर्य समतासे है, तो फिर कर्म करनेकी बात आप क्यों कहते हैं? मुझे युद्ध-जैसे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? परन्तु भगवान्‌ने दोनों ही प्रकारके साधनोंमें अर्जुनको कर्म करनेकी आज्ञा दी है; जैसे—कर्मयोगमें **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (गीता २। ४८) और सांख्ययोगमें **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** (गीता २। १८)। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌का अभिप्राय कर्मोंको स्वरूपसे छुड़ानेमें नहीं, प्रत्युत कर्म करानेमें है। हाँ, भगवान् कर्मोंमें जो जहरीला अंश—कामना, ममता और आसक्ति है, उसका त्याग करके ही कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी अपेक्षा साधकको उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिये। कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे कर्म करते हुए शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिको संसारकी वस्तु मानकर संसारकी सेवामें लगाता है और कर्मों तथा पदार्थोंके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता (गीता—पाँचवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। ज्ञानयोगमें सत्-असत्‌के विवेककी प्रधानता रहती है। अतएव ज्ञानयोगी ऐसा मानता है कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे ही कर्म हो रहे हैं। मेरा कर्मोंके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है (गीता—तीसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ और पाँचवें अध्यायका आठवाँ-नवाँ श्लोक)।

प्रायः सभी साधकोंके अनुभवकी बात है कि कल्याणकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् होते ही कर्म, पदार्थ और व्यक्ति-(परिवार-) से उनकी अरुचि होने लगती है। परन्तु वास्तवमें देहके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे यह आराम-विश्रामकी इच्छा ही है, जो साधककी उन्नतिमें बाधक है। साधकोंके मनमें ऐसा भाव रहता है कि कर्म, पदार्थ और व्यक्तिका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही हम परमार्थमार्गमें आगे बढ़ सकते हैं। परन्तु वास्तवमें इनका स्वरूपसे त्याग न करके इनमें आसक्तिका त्याग करना ही आवश्यक है। सांख्ययोगमें उत्कट वैराग्यके बिना आसक्तिका त्याग करना कठिन होता है। परन्तु कर्मयोगमें वैराग्यकी कमी होनेपर भी केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे आसक्तिका त्याग सुगमतापूर्वक हो जाता है।

गीताने एकान्तमें रहकर साधन करनेका भी आदर किया है; परन्तु एकान्तमें सात्त्विक पुरुष तो साधन-भजनमें अपना समय बिताता है, पर राजस पुरुष संकल्प-विकल्पमें, तामस पुरुष निद्रा-आलस्य-प्रमादमें अपना समय बिताता है, जो पतन करनेवाला है। इसलिये साधककी रुचि तो एकान्तकी ही रहनी चाहिये अर्थात् सांसारिक कर्मोंका त्याग करके पारमार्थिक कार्य करनेमें ही उसकी प्रवृत्ति रहनी चाहिये, परन्तु कर्तव्यरूपसे जो कर्म सामने आ जाय, उसको वह तत्परतापूर्वक करे। उस कर्ममें उसका राग नहीं होना चाहिये। राग न तो जन-समुदायमें होना चाहिये और न अकर्मण्यतामें ही। कहीं भी राग न रहनेसे साधकका बहुत जल्दी कल्याण हो जाता है। वास्तवमें शरीरको एकान्तमें ले जानेको ही एकान्त मान लेना भूल है; क्योंकि शरीर संसारका ही एक अंश है। अतः शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होना अर्थात् उसमें अहंता-ममता न रहना ही वास्तविक एकान्त है।

परिशिष्ट भाव—जो अपना है, अपनेमें है और अभी है, उस तत्त्वकी प्राप्ति कुछ करनेसे नहीं होती; क्योंकि उसकी अप्राप्ति कभी होती ही नहीं। हम कुछ करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है; अतः क्रिया करनेसे उसकी प्राप्ति होगी, जो विद्यमान नहीं है। परन्तु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रत्येक प्राणीमें क्रियाका वेग रहता है, जो उसको क्रियारहित नहीं होने देता। क्रियाका वेग शान्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जो नहीं करना चाहिये, उसको न करें और जो करना चाहिये, उसको निर्मम तथा निष्काम होकर करें अर्थात् अपने लिये कुछ न करें, प्रत्युत केवल दूसरेके हितके लिये ही करें। अपने लिये करनेसे क्रियाका वेग कभी समाप्त नहीं होगा; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य है और कर्म अनित्य हैं। अतः निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त होकर प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और सब देश, काल आदिमें विद्यमान परमात्मतत्त्व प्रकट हो जायगा, उसका अनुभव हो जायगा।

~~~~

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

कश्चित्	= कोई	**अकर्मकृत्**	= कर्म किये बिना	**सर्वः**	= सब प्राणियोंसे
हि	= भी (मनुष्य)	**न**	= नहीं	**प्रकृतिजैः**	= प्रकृतिजन्य
जातु	= किसी भी अवस्थामें	**तिष्ठति**	= रह सकता;	**गुणैः**	= गुण
		हि	= क्योंकि	**कर्म**	= कर्म
क्षणम्	= क्षणमात्र	**अवशः**	= (प्रकृतिके) परवश हुए	**कार्यते**	= करवा लेते हैं।
अपि	= भी				

व्याख्या—**'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'**—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—किसी भी मार्गमें साधक कर्म किये बिना नहीं रह सकता। यहाँ **'कश्चित्'**, **'क्षणम्'** और **'जातु'**—ये तीनों विलक्षण पद हैं। इनमें **'कश्चित्'** पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रहता, चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी। यद्यपि ज्ञानीका अपने कहलानेवाले शरीरके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता, तथापि उसके कहलानेवाले शरीरसे भी हरदम क्रिया होती रहती है। **'क्षणम्'** पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि यद्यपि मनुष्य 'मैं हरदम कर्म करता हूँ' ऐसा नहीं मानता, तथापि जबतक वह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह एक क्षणके लिये भी कर्म किये बिना नहीं रहता। **'जातु'** पदका प्रयोग करके भगवान् यह कहते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि किसी भी अवस्थामें मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इसका कारण भगवान् इसी श्लोकके उत्तरार्धमें **'अवशः'** पदसे बताते हैं कि प्रकृतिके परवश होनेके कारण उसे कर्म करने ही पड़ते हैं। प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है। साधकको अपने लिये कुछ नहीं करना है। जो विहित कर्म सामने आ जाय, उसे केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे कर देना है। परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे साधक निषिद्ध-कर्म तो कर ही नहीं सकता।

बहुत-से मनुष्य केवल स्थूलशरीरकी क्रियाओंको कर्म मानते हैं, पर गीता मनकी क्रियाओंको भी कर्म मानती है। गीताने शारीरिक, वाचिक और मानसिक रूपसे की गयी मात्र क्रियाओंको कर्म माना है—

'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः' (गीता १८। १५)। जिन शारीरिक अथवा मानसिक क्रियाओंके साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध मान लेता है, वे ही सब क्रियाएँ 'कर्म' बनकर उसे बाँधनेवाली होती हैं, अन्य क्रियाएँ नहीं।

मनुष्योंकी एक ऐसी धारणा बनी हुई है, जिसके अनुसार वे बच्चोंका पालन-पोषण तथा आजीविका—व्यापार, नौकरी, अध्यापन आदिको ही कर्म मानते हैं और इनके अतिरिक्त खाना-पीना, सोना, बैठना, चिन्तन करना आदिको कर्म नहीं मानते। इसी कारण कई मनुष्य व्यापार आदि कर्मोंको छोड़कर ऐसा मान लेते हैं कि मैं कर्म नहीं कर रहा हूँ। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी स्थूलशरीरकी क्रियाएँ; नींद, चिन्तन आदि सूक्ष्म-शरीरकी क्रियाएँ और समाधि आदि कारण-शरीरकी क्रियाएँ—ये सब कर्म ही हैं। जबतक शरीरमें अहंता-ममता है, तबतक शरीरसे होनेवाली मात्र क्रियाएँ 'कर्म' हैं। कारण कि शरीर प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति कभी अक्रिय नहीं होती।
~~~~

अत: शरीरमें अहंता-ममता रहते हुए कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, चाहे वह अवस्था प्रवृत्तिकी हो या निवृत्तिकी।

'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः'—प्रकृतिजन्य गुण (प्रकृतिके) परवश हुए प्राणियोंसे कर्म कराते हैं। परवश होनेपर प्रकृतिके गुणोंद्वारा कर्म कराये जाते हैं; क्योंकि प्रकृति एवं उसके गुण निरन्तर क्रियाशील हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ और तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। यद्यपि आत्मा स्वयं अक्रिय, असंग, अविनाशी, निर्विकार तथा निर्लिप्त है, तथापि जबतक वह प्रकृति एवं उसके कार्य—स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें किसी भी शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानकर उससे सुख चाहता है, तबतक वह प्रकृतिके परवश रहता है (गीता—चौदहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। इसी परवशताको यहाँ **'अवशः'** पदसे कहा गया है। नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें और आठवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे परवश हुए जीवके द्वारा कर्म करनेकी बात कही गयी है।

स्वभाव बनता है वृत्तियोंसे, वृत्तियाँ बनती हैं गुणोंसे और गुण पैदा होते हैं प्रकृतिसे। अत: चाहे स्वभावके परवश कहो, चाहे गुणोंके परवश कहो और चाहे प्रकृतिके परवश कहो, एक ही बात है। वास्तवमें सबके मूलमें प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशता ही है। इसी परवशतासे सभी परवशताएँ पैदा होती हैं। अत: प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशताको ही कहीं कालकी, कहीं स्वभावकी, कहीं कर्मकी और कहीं गुणोंकी परवशता कह दिया है। तात्पर्य यह है कि यह जीव जबतक प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत नहीं होता, परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक यह गुण, काल, स्वभाव आदिके अवश (परवश) ही रहता है अर्थात् यह जीव जबतक प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, प्रकृतिमें स्थित रहता है, तबतक यह कभी गुणोंके, कभी कालके, कभी भोगोंके और कभी स्वभावके परवश होता रहता है, कभी स्ववश (स्वतन्त्र) नहीं रहता। इनके सिवाय यह परिस्थिति, व्यक्ति, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिके भी परवश होता रहता है। परन्तु जब यह गुणोंसे अतीत अपने स्वरूपका अथवा परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेता है, तो फिर इसकी यह परवशता नहीं रहती और यह स्वत:सिद्ध स्वतन्त्रताको प्राप्त हो जाता है।

विशेष बात

प्रकृतिकी सक्रिय (स्थूल) और अक्रिय (सूक्ष्म) दो अवस्थाएँ होती हैं; जैसे कार्य करना सक्रिय अवस्था है और कार्य न करना (निद्रा आदि) अक्रिय अवस्था। वास्तवमें अक्रिय अवस्थामें भी प्रकृति अक्रिय नहीं रहती, प्रत्युत उसमें सूक्ष्मरूपसे सक्रियता रहती है। जैसे किसी सोये हुए मनुष्यको जागनेके समयसे पूर्व ही जगा देनेपर वह कहता है कि मुझे कच्ची नींदमें जगा दिया। इससे यह सिद्ध हुआ कि नींदकी अक्रिय अवस्थामें भी नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। जब पूरी नींद लेनेके बाद मनुष्य जागता है, तब उपर्युक्त बात नहीं कहता; क्योंकि नींदका पकना पूर्ण हो गया। इसी प्रकार समाधि, प्रलय, महाप्रलय आदिकी अवस्थाओंमें भी सूक्ष्मरूपसे क्रिया होती रहती है।

वास्तवमें देखा जाय तो प्रकृतिकी कभी अक्रिय अवस्था होती ही नहीं; क्योंकि वह प्रतिक्षण बदलनेवाली है। स्वयं आत्मामें कर्तापन नहीं है; परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे वह प्रकृतिके परवश हो जाता है। इसी परवशताके कारण स्वयं अकर्ता होते हुए भी वह अपनेको कर्ता मानता रहता है। वस्तुत: आत्मामें कोई भी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। जैसे प्रकृतिद्वारा समस्त सृष्टिकी क्रियाएँ स्वाभाविकरूपसे हो रही हैं, ऐसे ही उसके द्वारा बालकपन, जवानी आदि अवस्थाएँ और भोजनका पाचन, श्वासोंका आवागमन आदि क्रियाएँ एवं इसी प्रकार देखना, सुनना आदि क्रियाएँ भी स्वाभाविकरूपसे हो रही हैं। परन्तु जीवात्मा कुछ क्रियाओंमें अपनेको कर्ता मानकर बँध जाता है।

प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है, पर शुद्ध स्वरूपमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तवमें प्राकृतिक पदार्थोंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। प्रतिक्षण बदलते हुए पुंजका नाम ही पदार्थ है। पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। अगर साधक ऐसा वास्तविक अनुभव कर ले कि सम्पूर्ण क्रियाएँ पदार्थोंमें ही हो रही हैं और पदार्थोंके साथ मेरा किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है तो वह परवशतासे मुक्त हो सकता है। कर्मयोगी प्रतिक्षण परिवर्तनशील पदार्थोंकी कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके इस परवशताको मिटा देता है।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें जो बात कही है, वही बात

उन्होंने अठारहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी कही है कि प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध मानते हुए कोई भी मनुष्य कर्मोंका सम्पूर्णतासे त्याग नहीं कर सकता—**'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'**

परिशिष्ट भाव— क्रियामात्र केवल प्रकृतिमें ही होती है। परन्तु प्रकृतिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करनेसे मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणोंके अधीन हो जाता है—**'अवशः'** तथा उसका क्रियाके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेवाला कोई भी मनुष्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि तथा सर्ग-महासर्ग, प्रलय-महाप्रलय आदि किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधि-अवस्थामें क्रिया कैसे होती है? मनुष्य सोता हो और कोई उसको बीचमें ही जगा दे तो वह कहता है कि मेरेको कच्ची नींदमें जगा दिया! इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिके समय भी नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। ऐसे ही मूर्च्छा और समाधिके समय भी क्रिया होती है। पातंजलयोगदर्शनमें इस क्रियाको 'परिणाम' नामसे कहा है[1]। 'परिणाम' का अर्थ है—परिवर्तनकी धारा अर्थात् बदलनेका प्रवाह[2]। तात्पर्य है कि समाधिके आरम्भसे लेकर व्युत्थान होनेतक क्रिया होती रहती है। अगर क्रिया न हो तो व्युत्थान हो ही नहीं सकता। समाधिके समय परिणाम होता है और समाधिके अन्तमें व्युत्थान होता है।

प्रकृतिकी सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत है—सहजावस्था अथवा सहज समाधि। सहजावस्था स्वरूपकी होती है, जिसमें किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं है, क्रिया होनी सम्भव ही नहीं है। अतः सहजावस्थामें परिणाम तथा व्युत्थान कभी होता ही नहीं। कारण कि क्रियाएँ प्रकृति-विभागमें ही हैं, स्वरूप-विभागमें नहीं।

'कार्यते ह्यवशः कर्म'—कर्म करनेमें तो हम परतन्त्र हैं, पर उनमें राग-द्वेष करनेमें अथवा न करनेमें हम स्वतन्त्र हैं।

सम्बन्ध—पीछेके श्लोकमें यह कहा गया है कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता। इसपर यह शंका हो सकती है कि मनुष्य इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठपूर्वक रोककर भी तो अपनेको अक्रिय मान सकता है। इसका समाधान करनेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

यः = जो
कर्मेन्द्रियाणि = कर्मेन्द्रियों (सम्पूर्ण इन्द्रियों) को
संयम्य = (हठपूर्वक) रोककर
मनसा = मनसे
इन्द्रियार्थान् = इन्द्रियोंके विषयोंका
स्मरन् = चिन्तन करते हुए
आस्ते = बैठता है,
सः = वह
विमूढात्मा = मूढ़ बुद्धिवाला मनुष्य
मिथ्याचारः = मिथ्याचारी (मिथ्या आचरण करनेवाला)
उच्यते = कहा जाता है।

व्याख्या— **'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य......मिथ्याचारः स उच्यते'**—यहाँ **'कर्मेन्द्रियाणि'** पदका अभिप्राय पाँच कर्मेन्द्रियों (वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) से ही नहीं है, प्रत्युत इनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण) से भी है; क्योंकि ज्ञानेन्द्रियोंके बिना केवल कर्मेन्द्रियोंसे कर्म नहीं हो सकते। इसके सिवाय केवल हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंको रोकनेसे तथा आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंको न रोकनेसे पूरा मिथ्याचार भी सिद्ध नहीं होता।

गीतामें कर्मेन्द्रियोंके अन्तर्गत ही ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं। इसलिये गीतामें 'कर्मेन्द्रिय' शब्द तो आता है, पर 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द कहीं नहीं आता। पाँचवें अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि

१-व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥ सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥ ११॥ ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥ १२॥ (विभूतिपाद)

२-अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' (योगदर्शन, विभूति० १३ का व्यास-भाष्य) 'यह परिणाम क्या है? अवस्थित द्रव्यके पूर्व धर्मकी निवृत्ति होकर अन्य धर्मकी उत्पत्ति (अवस्थान्तर) ही परिणाम है।'

ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रियाओंको भी कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाओंके साथ सम्मिलित किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि गीता ज्ञानेन्द्रियोंको भी कर्मेन्द्रियाँ ही मानती है। गीता मनकी क्रियाओंको भी कर्म मानती है—'**शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः**' (१८। १५)। तात्पर्य यह है कि मात्र प्रकृति क्रियाशील होनेसे प्रकृतिका कार्यमात्र क्रियाशील है।

यद्यपि '**संयम्य**' पदका अर्थ होता है—इन्द्रियोंका अच्छी तरहसे नियमन अर्थात् उन्हें वशमें करना, तथापि यहाँ इस पदका अर्थ इन्द्रियोंको वशमें करना न होकर उन्हें हठपूर्वक बाहरसे रोकना ही है। कारण कि इन्द्रियोंके वशमें होनेपर उसे मिथ्याचार कहना नहीं बनता।

मूढ़ बुद्धिवाला (सत्-असत्‌के विवेकसे रहित) मनुष्य बाहरसे तो इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठपूर्वक रोक देता है, पर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है और ऐसी स्थितिको क्रियारहित मान लेता है। इसलिये वह मिथ्याचारी अर्थात् मिथ्या आचरण करनेवाला कहा जाता है।

यद्यपि उसने इन्द्रियोंके विषयोंको बाहरसे त्याग दिया है और ऐसा समझता है कि मैं कर्म नहीं करता हूँ, तथापि ऐसी अवस्थामें भी वह वस्तुतः कर्मरहित नहीं हुआ है। कारण कि बाहरसे क्रियारहित दीखनेपर भी अहंता, ममता और कामनाके कारण रागपूर्वक विषयचिन्तनके रूपमें विषय-भोगरूप कर्म तो हो ही रहा है।

सांसारिक भोगोंको बाहरसे भी भोगा जा सकता है और मनसे भी। बाहरसे रागपूर्वक भोगोंको भोगनेसे अन्तःकरणमें भोगोंके जैसे संस्कार पड़ते हैं, वैसे ही संस्कार मनसे भोगोंको भोगनेसे अर्थात् रागपूर्वक भोगोंका चिन्तन करनेसे भी पड़ते हैं। बाहरसे भोगोंका त्याग तो मनुष्य विचारसे, लोक-लिहाजसे और व्यवहारमें गड़बड़ी आनेके भयसे भी कर सकता है, पर मनसे भोग भोगनेमें बाहरसे कोई बाधा नहीं आती। अतः वह मनसे भोगोंको भोगता रहता है और मिथ्या अभिमान करता है कि मैं भोगोंका त्यागी हूँ। मनसे भोग भोगनेसे विशेष हानि होती है; क्योंकि इसके सेवनका विशेष अवसर मिलता है। अतः साधकको चाहिये कि जैसे वह बाहरके भोगोंसे अपनेको बचाता है, उनका त्याग करता है, ऐसे ही मनसे भोगोंके चिन्तनका भी विशेष सावधानीसे त्याग करे।

अर्जुन भी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना चाहते हैं और भगवान्‌से पूछते हैं कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? इसके उत्तरमें यहाँ भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य अहंता, ममता, आसक्ति, कामना आदि रखते हुए केवल बाहरसे कर्मोंका त्याग करके अपनेको क्रियारहित मानता है, उसका आचरण मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि साधकको कर्मोंका स्वरूपसे त्याग न करके उन्हें कामना-आसक्तिसे रहित होकर तत्परतापूर्वक करते रहना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—सांसारिक भोगोंको बाहरसे भी भोगा जा सकता है और मनसे भी। बाहरसे भोग भोगना और मनसे उनके चिन्तनका रस (सुख) लेना—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। बाहरसे रागपूर्वक भोग भोगनेसे जैसा संस्कार पड़ता है, वैसा ही संस्कार मनसे भोग भोगनेसे अर्थात् मनसे भोगोंके चिन्तनमें रस लेनेसे पड़ता है। भोगकी याद आनेपर उसकी यादसे रस लेते हैं तो कई वर्ष बीतनेपर भी वह भोग ज्यों-का-त्यों (ताजा) बना रहता है। अतः भोगके चिन्तनसे भी एक नया भोग बनता है! इतना ही नहीं, मनसे भोगोंके चिन्तनका सुख लेनेसे विशेष हानि होती है। कारण कि लोक-लिहाजसे, व्यवहारमें गड़बड़ी आनेके भयसे मनुष्य बाहरसे तो भोगोंका त्याग कर सकता है, पर मनसे भोग भोगनेमें बाहरसे कोई बाधा नहीं आती। अतः मनसे भोग भोगनेका विशेष अवसर मिलता है। इसलिये मनसे भोग भोगना साधकके लिये बहुत नुकसान करनेवाली बात है। वास्तवमें मनसे भोगोंका त्याग ही वास्तविक त्याग है (गीता—दूसरे अध्यायका चौंसठवाँ श्लोक)।

~~~~

सम्बन्ध—चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनोंकी दृष्टिसे कर्मोंका त्याग अनावश्यक बताया। फिर पाँचवें श्लोकमें कहा कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। छठे श्लोकमें हठपूर्वक इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर अपनेको क्रियारहित मान लेनेवालेका आचरण मिथ्या बताया। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेमात्रसे उनका वास्तविक त्याग नहीं होता। अतः आगेके श्लोकमें भगवान् वास्तविक त्यागकी पहचान बताते हैं।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥
~~~~

तु	= परन्तु	**नियम्य**	= नियन्त्रण करके		इन्द्रियों) के द्वारा
अर्जुन	= हे अर्जुन!	**असक्तः**	= आसक्तिरहित होकर (निष्कामभावसे)	**कर्मयोगम्**	= कर्मयोगका
यः	= जो (मनुष्य)			**आरभते**	= आचरण करता है,
मनसा	= मनसे			**सः**	= वही
इन्द्रियाणि	= इन्द्रियोंपर	**कर्मेन्द्रियैः**	= कर्मेन्द्रियों (समस्त	**विशिष्यते**	= श्रेष्ठ है।

व्याख्या—'**तु**'—यहाँ अनासक्त होकर कर्म करनेवालेको मिथ्याचारीकी अपेक्षा ही नहीं, प्रत्युत सांख्ययोगीकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ बतानेकी दृष्टिसे '**तु**' पद दिया गया है।

'**अर्जुन**'—'अर्जुन' शब्दका अर्थ होता है—स्वच्छ। यहाँ भगवान्‌ने '**अर्जुन**' सम्बोधनका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि तुम निर्मल अन्तःकरणसे युक्त हो; अतः तुम्हारे अन्तःकरणमें कर्तव्यकर्मविषयक यह सन्देह कैसे? अर्थात् यह सन्देह तुम्हारेमें स्थिर नहीं रह सकता।

'**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्य**'—यहाँ '**मनसा**' पद सम्पूर्ण अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) का वाचक है और '**इन्द्रियाणि**' पद छठे श्लोकमें आये '**कर्मेन्द्रियाणि**' पदकी तरह ही दसों इन्द्रियोंका वाचक है।

मनसे इन्द्रियोंको वशमें करनेका तात्पर्य है कि विवेकवती बुद्धिके द्वारा 'मन और इन्द्रियोंसे स्वयंका कोई सम्बन्ध नहीं है'—ऐसा अनुभव करना। मनसे इन्द्रियोंका नियमन करनेपर इन्द्रियोंका अपना स्वतन्त्र आग्रह नहीं रहता अर्थात् उनको जहाँ लगाना चाहें, वहीं वे लग जाती हैं और जहाँसे उनको हटाना चाहें, वहाँसे वे हट जाती हैं।

इन्द्रियाँ वशमें तभी होती हैं, जब इनके साथ ममता (मेरा-पन)-का सर्वथा अभाव हो जाता है। बारहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी कर्मयोगीके लिये इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात आयी है—'**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।**' तात्पर्य यह है कि वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा ही कर्मयोगका आचरण होता है।

पीछेके (छठें) श्लोकमें भगवान्‌ने '**संयम्य**' पदसे मिथ्याचारके विषयमें इन्द्रियोंको हठपूर्वक रोकनेकी बात कही थी; किन्तु यहाँ '**नियम्य**' पदसे शास्त्र-मर्यादाके अनुसार इन्द्रियोंका नियमन करने (निषिद्धसे हटाकर उन्हें शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्ममें लगाने) की बात कही है। नियमन करनेपर इन्द्रियोंका संयम स्वतः हो जाता है।

'**असक्तः**'—आसक्ति दो जगह होती है—(१) कर्मोंमें और (२) उनके फलोंमें। समस्त दोष आसक्तिमें ही रहते हैं, कर्मों तथा उनके फलोंमें नहीं। आसक्ति रहते हुए योग सिद्ध नहीं हो सकता। आसक्तिका त्याग करनेपर ही योग सिद्ध होता है। अतः साधकको कर्मोंका त्याग न करके उनमें आसक्तिका ही त्याग करना चाहिये। आसक्तिरहित होकर सावधानी एवं तत्परतापूर्वक कर्तव्य-कर्मका आचरण किये बिना कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। साधक आसक्तिरहित तभी हो सकता है जब वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको 'मेरी' अथवा 'मेरे लिये' न मानकर केवल संसारका और संसारके लिये ही मानकर संसारके हितके लिये तत्परतापूर्वक कर्तव्य-कर्मका आचरण करनेमें लग जाय। जब वह अपने लिये कोई कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसकी अपनी फलासक्ति स्वतः मिट जाती है।

कर्मेन्द्रियोंसे होनेवाली साधारण क्रियाओंसे लेकर चिन्तन तथा समाधितककी समस्त क्रियाओंका हमारे स्वरूपके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (गीता—पाँचवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। परन्तु स्वरूपसे अनासक्त होते हुए भी यह जीवात्मा स्वयं आसक्ति करके संसारसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है।

कर्मयोगीकी वास्तविक महिमा आसक्तिरहित होनेमें ही है। कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले किसी भी फलको न चाहना अर्थात् उससे सर्वथा असंग हो जाना ही आसक्तिरहित होना है।

साधारण मनुष्य तो अपनी कामनाकी सिद्धिके लिये ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होता है; परन्तु साधक आसक्तिके त्यागका उद्देश्य लेकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होता है। ऐसे साधकको ही यहाँ '**असक्तः**' कहा गया है।

जब ज्ञानयोगी और कर्मयोगी—दोनों ही फलेच्छा और आसक्तिका त्याग करते हैं, तब ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग अधिक सुगम सिद्ध होता है। कारण कि कर्मयोगीको फिर किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं रहती, जबकि ज्ञानयोगीको देहाभिमान और क्रिया-पदार्थकी आसक्ति मिटानेके लिये कर्मयोग (निष्कामभावसे कर्म करने) की आवश्यकता रहती है (पाँचवें अध्यायका छठा और पन्द्रहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। कर्मयोगमें आसक्तिका त्याग मुख्य है, जिससे कर्मयोगीको समबुद्धिकी

प्राप्ति हो जाती है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि कर्मोंका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत आसक्तिरहित होकर कर्म करनेकी ही आवश्यकता है।

कर्मोंका त्याग करना चाहिये या नहीं—यह देखना वस्तुतः गीताका सिद्धान्त ही नहीं है। गीताके अनुसार कर्मोंमें आसक्ति ही (दोष होनेके कारण) त्याज्य है। कर्मयोगमें 'कर्म' सदा दूसरोंके हितके लिये होता है और 'योग' अपने लिये होता है। अर्जुन कर्मको 'अपने लिये' मानते हैं, इसीलिये उन्हें युद्धरूप कर्तव्य-कर्म घोर दीख रहा है। इसपर भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि आसक्ति ही घोर होती है, कर्म नहीं।

'कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते'—जैसे इसी श्लोकके प्रथम चरणमें **'इन्द्रियाणि'** पदका तात्पर्य दसों इन्द्रियोंसे है, ऐसे ही यहाँ **'कर्मेन्द्रियैः'** पदको दसों इन्द्रियोंका वाचक समझना चाहिये। अगर **'कर्मेन्द्रियैः'** पदसे हाथ, पैर, वाणी आदिको ही लिया जाय, तो देखे-सुने तथा मनसे विचार किये बिना कर्म कैसे होंगे? अतः यहाँ सभी करणों अर्थात् अन्तःकरण और बहिःकरणको भी कर्मेन्द्रियाँ माना गया है; क्योंकि इन सबसे कर्म होते हैं।

जब कर्म अपने लिये न करके दूसरोंके हितके लिये किया जाता है, तब वह कर्मयोग कहलाता है। अपने लिये कर्म करनेसे अपना सम्बन्ध कर्म तथा कर्मफलके साथ हो जाता है और अपने लिये कर्म न करके दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्म तथा कर्मफलका सम्बन्ध दूसरोंके साथ तथा परमात्माका सम्बन्ध अपने साथ हो जाता है, जो कि सदासे है। इस प्रकार देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मको निःस्वार्थभावसे करना कर्मयोगका आरम्भ है। कर्मयोगी साधक दो तरहके होते हैं—

(१) जिसके भीतर कर्म करनेका वेग, आसक्ति, रुचि तो है, पर अपना कल्याण करनेकी इच्छा मुख्य है, ऐसे साधकके लिये नये-नये कर्म आरम्भ करनेकी जरूरत नहीं है। उसके लिये केवल प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करनेकी ही जरूरत है।

(२) जिसके भीतर अपना कल्याण करनेकी इच्छा मुख्य नहीं है और संसारकी सेवा करनेमें, उसे सुख पहुँचानेमें तथा समाजका सुधार करनेमें अधिक रुचि है, जिससे उसके मनमें आता है कि अमुक-अमुक काम किये जायँ तो बहुतोंकी सेवा हो सकती है, समाजका सुधार हो सकता है, आदि। ऐसा साधक अगर नये-नये कर्मोंका आरम्भ कर भी दे, तो कोई हर्ज नहीं है। हाँ, नये कर्मोंका आरम्भ केवल कर्म करनेकी आसक्ति मिटानेके लिये ही किया जाना चाहिये।

गीतामें भगवान्ने अर्जुनके लिये प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करनेके लिये ही कहा है; क्योंकि अर्जुनमें अपने कल्याणकी इच्छा मुख्य थी (गीता—दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक)।

'स विशिष्यते'—जो अपने स्वार्थका, फलकी आसक्तिका त्याग करके मात्र प्राणियोंके हितके लिये कर्म करता है, वह श्रेष्ठ है। कारण कि उसकी मात्र क्रियाओंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जानेसे उसमें स्वतः असंगता आ जाती है।

साधकका जब अपना कल्याण करनेका विचार होता है, तब वह कर्मोंको साधनमें विघ्न समझकर उनसे उपराम होना चाहता है। परन्तु वास्तवमें कर्म करना दोषी नहीं है, प्रत्युत कर्मोंमें सकामभाव ही दोषी है। अतः भगवान् कहते हैं कि बाहरसे इन्द्रियोंका संयम करके भीतरसे विषयोंका चिन्तन करनेवाले मिथ्याचारी पुरुषकी अपेक्षा आसक्तिरहित होकर दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। वास्तवमें मिथ्याचारी पुरुषकी अपेक्षा स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये सकामभावपूर्वक कर्म करनेवाला भी श्रेष्ठ है, फिर दूसरोंके कल्याणके लिये निष्कामभावपूर्वक कर्म करनेवाला कर्मयोगी श्रेष्ठ है—इसमें तो कहना ही क्या है! पाँचवें अध्यायमें जब अर्जुनने प्रश्न किया कि संन्यास और योग—दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है, तब भगवान्ने उत्तरमें दोनोंको ही कल्याण करनेवाला बताकर कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ कहा। यहाँ भी इसी आशयसे स्वार्थभावका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवाले कर्मयोगीको श्रेष्ठ बताया गया है।

परिशिष्ट भाव—अपनेमें कल्याणकी इच्छा हो, स्वभावमें उदारता हो और हृदयमें करुणा हो अर्थात् दूसरेके सुखसे सुखी (प्रसन्न) और दुःखसे दुःखी (करुणित) हो जाय—ये तीन बातें होनेपर मनुष्य कर्मयोगका अधिकारी हो जाता है। कर्मयोगका अधिकारी होनेपर कर्मयोग सुगमतासे होने लगता है।

कर्मयोगमें एक विभाग 'कर्म' (कर्तव्य) का है और एक विभाग 'योग' का है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यताका सदुपयोग करना और व्यक्तियोंकी सेवा करना—यह कर्तव्य है। कर्तव्यका पालन करनेसे संसारसे माने हुए संयोगका वियोग हो जाता है—यह योग है। कर्तव्यका सम्बन्ध संसारके साथ है और योगका सम्बन्ध परमात्माके साथ है।

~~~~
~~~~

सम्बन्ध—गीता अपनी शैलीके अनुसार पहले प्रस्तुत विषयका विवेचन करती है। फिर करनेसे लाभ और न करनेसे हानि बताती है। इसके बाद उसका अनुष्ठान करनेकी आज्ञा देती है। यहाँ भी भगवान् अर्जुनके प्रश्न (मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं?) का उत्तर देते हुए पहले कर्मोंके सर्वथा त्यागको असम्भव बताते हैं। फिर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके मनसे विषय-चिन्तन करनेको मिथ्याचार बताते हुए निष्काम-भावसे कर्म करनेवाले मनुष्यको श्रेष्ठ बताते हैं। अब आगेके श्लोकमें भगवान् अर्जुनको उसीके अनुसार कर्तव्यकर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

त्वम् = तू
नियतम् = शास्त्रविधिसे नियत किये हुए
कर्म = कर्तव्यकर्म
कुरु = कर;
हि = क्योंकि
अकर्मणः = कर्म न करनेकी अपेक्षा
कर्म = कर्म करना
ज्यायः = श्रेष्ठ है
च = तथा
अकर्मणः = कर्म न करनेसे
ते = तेरा
शरीरयात्रा = शरीर-निर्वाह
अपि = भी
न, प्रसिद्ध्येत् = सिद्ध नहीं होगा।

व्याख्या—'**नियतं कुरु कर्म त्वम्**'—शास्त्रोंमें विहित तथा नियत—दो प्रकारके कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी गयी है। विहित कर्मका तात्पर्य है—सामान्यरूपसे शास्त्रोंमें बताया हुआ आज्ञारूप कर्म; जैसे—व्रत, उपवास, उपासना आदि। इन विहित कर्मोंको सम्पूर्णरूपसे करना एक व्यक्तिके लिये कठिन है। परन्तु निषिद्ध कर्मोंका त्याग करना सुगम है। विहित कर्मको न कर सकनेमें उतना दोष नहीं है, जितना निषिद्ध कर्मका त्याग करनेमें लाभ है; जैसे झूठ न बोलना, चोरी न करना, हिंसा न करना इत्यादि। निषिद्ध कर्मोंका त्याग होनेसे विहित कर्म स्वतः होने लगते हैं। नियतकर्मका तात्पर्य है—वर्ण, आश्रम, स्वभाव एवं परिस्थितिके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्म; जैसे—भोजन करना, व्यापार करना, मकान बनवाना, मार्ग भूले हुए व्यक्तिको मार्ग दिखाना आदि।

कर्मयोगकी दृष्टिसे जो वर्णधर्मानुकूल शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म प्राप्त हो जाय, वह चाहे घोर हो या सौम्य, नियतकर्म ही है। यहाँ '**नियतं कुरु कर्म**' पदोंसे भगवान् अर्जुनसे यह कहते हैं कि क्षत्रिय होनेके नाते अपने वर्णधर्मके अनुसार परिस्थितिसे प्राप्त युद्ध करना तेरा स्वाभाविक कर्म है (गीता—अठारहवें अध्यायका तैंतालीसवाँ श्लोक)। क्षत्रियके लिये युद्धरूप हिंसात्मक कर्म घोर दीखते हुए भी वस्तुतः घोर नहीं है, प्रत्युत उसके लिये वह नियतकर्म ही है। दूसरे अध्यायमें भगवान्ने कहा है कि स्वधर्मकी दृष्टिसे भी युद्ध करना तेरे लिये नियतकर्म है—'**स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि**' (२। ३१)। वास्तवमें तो स्वधर्म और नियतकर्म दोनों एक ही हैं। यद्यपि दुर्योधन आदिके लिये भी युद्ध वर्णधर्मके अनुसार प्राप्त कर्म है; तथापि वह अन्याययुक्त होनेके कारण नियतकर्मसे अलग है; क्योंकि वे युद्ध करके अन्यायपूर्वक राज्य छीनना चाहते हैं। अतः उनके लिये यह युद्ध नियत तथा धर्मयुक्त कर्म नहीं है।

'**कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः**'—इसी अध्यायके पहले श्लोकमें (अर्जुनके प्रश्नमें) आये हुए '**ज्यायसी**' पदका उत्तर भगवान् यहाँ '**ज्यायः**' पदसे ही दे रहे हैं। वहाँ अर्जुनका प्रश्न है कि यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? इसके उत्तरमें यहाँ भगवान् कहते हैं कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही मुझे श्रेष्ठ मान्य है। इस प्रकार अर्जुनका विचार युद्धरूप घोर कर्मसे निवृत्त होनेका है और भगवान्का विचार अर्जुनको युद्धरूप नियतकर्ममें प्रवृत्त करानेका है। इसीलिये आगे अठारहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि दोषयुक्त होनेपर भी सहज (नियत) कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये—'**सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्**' (१८। ४८)। कारण कि इसके त्यागसे दोष लगता है एवं कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध भी बना रहता है। अतः कर्मका त्याग करनेकी अपेक्षा नियतकर्म करना ही श्रेष्ठ है। फिर आसक्तिरहित होकर कर्म करना तो और भी श्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि इससे कर्मोंके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः भगवान् इस श्लोकके पूर्वार्धमें अर्जुनको अनासक्तभावसे नियतकर्म करनेकी आज्ञा देते हैं और उत्तरार्धमें कहते हैं कि कर्म किये बिना तेरा जीवन-निर्वाह भी नहीं होगा।

कर्मयोगमें '**कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः**'—यह भगवान्‌का प्रधान सिद्धान्त है। इसीको भगवान्‌ने '**मा ते सङ्गोऽस्त्व-कर्मणि**' (गीता २। ४७) पदोंसे स्पष्ट किया है कि अर्जुन! तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो। कारण यह है कि कर्तव्य-कर्मोंसे जी चुरानेवाला मनुष्य प्रमाद, आलस्य और निद्रामें अपना अमूल्य समय नष्ट कर देगा अथवा शास्त्रनिषिद्ध कर्म करेगा, जिससे उसका पतन होगा।

स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेकी अपेक्षा कर्म करते हुए ही कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना श्रेष्ठ है। कारण कि कामना, वासना, फलासक्ति, पक्षपात आदि ही कर्मोंसे सम्बन्ध जोड़ देते हैं, चाहे मनुष्य कर्म करे अथवा न करे। कामना आदिके त्यागका उद्देश्य रखकर कर्मयोगका आचरण करनेसे कामना आदिका त्याग बड़ी सुगमतासे हो जाता है।

'**शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः**'—अर्जुनके मनमें ऐसा भाव उत्पन्न हो गया था कि अगर कर्म ही न करें तो कर्मोंसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। इसलिये भगवान् नाना प्रकारकी युक्तियोंद्वारा उनको कर्म करनेके लिये प्रेरित करते हैं। उन्हीं युक्तियोंमेंसे एक इस युक्तिका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तुम्हें कर्म तो करने ही पड़ेंगे। अन्यकी तो बात ही क्या है, कर्म किये बिना तेरा शरीर-निर्वाह (खाना-पीना आदि) भी असम्भव हो जायगा।

जैसे ज्ञानयोगमें विवेकके द्वारा संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, ऐसे ही कर्मयोगमें कर्तव्य-कर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको किसी भी प्रकारसे कम नहीं मानना चाहिये। कर्मयोगी शरीरको संसारका ही मानकर उसको संसारकी ही सेवामें लगा देता है अर्थात् शरीरमें उसका कोई अपनापन नहीं रहता। वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरकी एकता क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण-संसारसे करता है, जबकि ज्ञानयोगी अपनी एकता ब्रह्मसे करता है। इस प्रकार कर्मयोगी जड-तत्त्वकी एकता करता है और ज्ञानयोगी चेतन-तत्त्वकी एकता करता है।

साधन-सम्बन्धी मार्मिक बात

अर्जुनकी कर्मोंसे अरुचि है अर्थात् उनके मनमें कर्म न करनेका आग्रह है। केवल अर्जुनकी ही बात नहीं है, प्रत्युत पारमार्थिक मार्गके अन्य साधक भी प्रायः इस विषयमें ऐसी ही बड़ी भूल करते हैं। यद्यपि उनकी इच्छा साधन करनेकी रहती है और साधन करते भी हैं, तथापि वे अपनी मनचाही परिस्थिति, अनुकूलता और सुखबुद्धि भी साथमें रखते हैं, जो उनके साधनमें महान् बाधक होती है।

जो साधक तत्त्वप्राप्तिमें सुगमता ढूँढ़ता है और उसे शीघ्र प्राप्त करना चाहता है, वह वास्तवमें सुखका रागी है, न कि साधनका प्रेमी। जो सुगमतासे तत्त्वप्राप्ति चाहता है, उसे कठिनता सहनी पड़ती है और जो शीघ्रतासे तत्त्वप्राप्ति चाहता है, उसे विलम्ब सहना पड़ता है। कारण कि सुगमता और शीघ्रताकी इच्छा करनेसे साधककी दृष्टि 'साधन'पर न रहकर 'फल'पर चली जाती है, जिससे साधनमें उकताहट प्रतीत होती है और साध्यकी प्राप्तिमें विलम्ब भी होता है। जिसका यह दृढ़ निश्चय या उद्देश्य है कि चाहे जैसे भी हो, मुझे तत्त्वकी प्राप्ति होनी ही चाहिये, उसकी दृष्टि सुगमता और शीघ्रतापर नहीं जाती। तत्परताके साथ कार्यमें लगा हुआ मनस्वी व्यक्ति जब अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कमर कसकर लग जाता है, तब वह सुख और दुःखकी ओर नहीं देखता—'**मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्**' (भर्तृहरिनीतिशतक)। साधककी तो बात ही क्या है, एक साधारण लोभी मनुष्य भी दुःखकी ओर नहीं देखता। प्रायः देखा जाता है कि पसीना आ रहा है, भूख-प्यास लगी है अथवा शौच जानेकी आवश्यकता जान पड़ती है, फिर भी यदि मालकी विशेष बिक्री हो रही है तथा पैसे आ रहे हैं तो वह लोभी व्यापारी सब कष्ट सह लेता है। ठीक लोभी व्यक्तिकी तरह साधककी साध्यमें निष्ठा होनी चाहिये। उससे साध्यकी प्राप्तिके बिना चैनसे न रहा जाय, जीवन भारस्वरूप प्रतीत होने लगे, खाना-पीना, आराम आदि कुछ भी अच्छा न लगे और उसके हृदयमें साधनका आदर और तत्परता रहे! साध्यको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा होनेपर देरी तो असह्य होती है, पर वह जल्दी प्राप्त हो जाय—यह इच्छा नहीं होती।

उत्कण्ठा दूसरी बात है एवं शीघ्र मिलनेकी इच्छा दूसरी बात। आसक्तिपूर्वक साधन करनेवाला साधक साधनमें सुखभोग करता है और उसमें विलम्ब या बाधा लगनेसे उसे क्रोध आता है एवं वह साधनमें दोषदृष्टि करता है। परन्तु आदर और प्रेमपूर्वक साधन करनेवाला साधक साधनमें विलम्ब या बाधा लगनेपर आर्तभावसे रोने लगता है और उसकी उत्कण्ठा और तेजीसे बढ़ती है। यही शीघ्रता और

उत्कण्ठामें अन्तर है। शीघ्रतामें साधकका सुख-सुविधाका भाव रहता है कि तत्त्वप्राप्ति शीघ्र हो जाय तो पीछे आराम करेंगे! इस प्रकार फलकी ओर दृष्टि रहनेसे साधनका आदर कम हो जाता है। परन्तु उत्कण्ठामें साधक अपने साधनमें ही आराम मानता है कि साधनके सिवाय और करना ही क्या है? इससे बढ़िया और काम ही क्या है, जिसे करें? अतः यही काम (साधन) करना है, चाहे सुगमतासे हो या कठिनतासे, शीघ्रतासे हो या देरीसे। इसलिये उसकी पूरी शक्ति साधनमें लग जाती है, जिससे उसको शीघ्रतासे तत्त्वप्राप्ति हो जाती है। परन्तु शीघ्रतासे सिद्धि चाहनेवाला साधक साध्यकी प्राप्तिमें देरी होनेपर निराश भी हो सकता है। अतः साधकको साध्यसे भी अधिक आदर साधनको देना चाहिये, जैसा कि माता पार्वतीने कहा है—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस १। ८१। ३)

माता पार्वतीके भावोंमें शीघ्रता नहीं है। इनमें तो साधनको साध्यसे भी अधिक आदर दिया गया है।

प्रस्तुत श्लोकमें भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर साधकोंको सावधान करते हैं कि उन्हें अपनी अनुकूलता तथा सुखबुद्धि (जो कि साधनमें मूल बाधा है) का त्याग करके कर्तव्य-कर्मोंको करनेमें बड़ी तत्परतासे लग जाना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—निष्कामभावसे कर्म करनेवाला कर्मयोगी केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेवालोंसे अथवा सकामभावसे कर्म करनेवालोंसे ही श्रेष्ठ नहीं है, प्रत्युत ज्ञानयोगीसे भी श्रेष्ठ है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५। २)। इसलिये भगवान् प्रस्तुत प्रकरणमें निष्कामभावसे कर्म करनेपर विशेष जोर दे रहे हैं।

---

*सम्बन्ध—पीछेके श्लोकमें भगवान्ने कर्म किये बिना शरीर-निर्वाह भी नहीं होनेकी बात कही। इससे सिद्ध होता है कि कर्म करना बहुत आवश्यक है। परन्तु कर्म करनेसे तो मनुष्य बँधता है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**', तो फिर मनुष्यको बन्धनसे छूटनेके लिये क्या करना चाहिये—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।*

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

यज्ञार्थात् = यज्ञ (कर्तव्य-पालन) के लिये किये जानेवाले
कर्मणः = कर्मोंसे
अन्यत्र = अन्यत्र (अपने लिये किये जाने-वाले) कर्मोंमें (लगा हुआ)
अयम् = यह
लोकः = मनुष्य-समुदाय
कर्मबन्धनः = कर्मोंसे बँधता है (इसलिये)
कौन्तेय = हे कुन्तीनन्दन! (तू)
मुक्तसङ्गः = आसक्तिरहित होकर
तदर्थम् = उस यज्ञके लिये (ही)
कर्म = कर्तव्यकर्म
समाचर = कर।

व्याख्या—'**यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र**'—गीताके अनुसार कर्तव्यमात्रका नाम 'यज्ञ' है। 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, होम, तीर्थ-सेवन, व्रत, वेदाध्ययन आदि समस्त शारीरिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक क्रियाएँ आ जाती हैं। कर्तव्य मानकर किये जानेवाले व्यापार, नौकरी, अध्ययन, अध्यापन आदि सब शास्त्रविहित कर्मोंका नाम भी यज्ञ है। दूसरोंको सुख पहुँचाने तथा उनका हित करनेके लिये जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी यज्ञार्थ कर्म हैं। यज्ञार्थ कर्म करनेसे आसक्ति बहुत जल्दी मिट जाती है तथा कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं (गीता ४। २३) अर्थात् वे कर्म स्वयं तो बन्धनकारक होते नहीं, प्रत्युत पूर्वसंचित कर्मसमूहको भी समाप्त कर देते हैं।

वास्तवमें मनुष्यकी स्थिति उसके उद्देश्यके अनुसार होती है, क्रियाके अनुसार नहीं। जैसे व्यापारीका प्रधान उद्देश्य धन कमाना रहता है; अतः वास्तवमें उसकी स्थिति धनमें ही रहती है और दुकान बंद करते ही उसकी वृत्ति धनकी तरफ चली जाती है। ऐसे ही यज्ञार्थ कर्म करते समय कर्मयोगीकी स्थिति अपने उद्देश्य—परमात्मामें ही रहती है और कर्म समाप्त करते ही उसकी वृत्ति परमात्माकी तरफ चली जाती है।

सभी वर्णोंके लिये अलग-अलग कर्म हैं। एक वर्णके लिये कोई कर्म स्वधर्म है तो वही दूसरे वर्णोंके लिये

(विहित न होनेसे) परधर्म अर्थात् अन्यत्र कर्म हो जाता है; जैसे—भिक्षासे जीवन-निर्वाह करना ब्राह्मणके लिये तो स्वधर्म है, पर क्षत्रियके लिये परधर्म है। इसी प्रकार निष्कामभावसे कर्तव्यकर्म करना मनुष्यका स्वधर्म है और सकामभावसे कर्म करना परधर्म है। जितने भी सकाम और निषिद्ध कर्म हैं वे सब-के-सब 'अन्यत्र-कर्म' की श्रेणीमें ही हैं। अपने सुख, मान, बड़ाई, आराम आदिके लिये जितने कर्म किये जायँ, वे सब-के-सब भी 'अन्यत्र-कर्म' हैं*। अत: छोटा-से-छोटा तथा बड़ा-से-बड़ा जो भी कर्म किया जाय, उसमें साधकको सावधान रहना चाहिये कि कहीं किसी स्वार्थकी भावनासे तो कर्म नहीं हो रहा है! साधक उसीको कहते हैं, जो निरन्तर सावधान रहता है। इसलिये साधकको अपनी साधनाके प्रति सतर्क, जागरूक रहना ही चाहिये।

'अन्यत्र-कर्म'के विषयमें दो गुप्त भाव—(१) किसीके आनेपर यदि कोई मनुष्य उसके प्रति 'आइये! बैठिये!' आदि आदरसूचक शब्दोंका प्रयोग करता है, पर भीतरसे अपनेमें सज्जनताका आरोप करता है अथवा 'ऐसा कहनेसे आनेवाले व्यक्तिपर मेरा अच्छा असर पड़ेगा'—इस भावसे कहता है तो इसमें स्वार्थकी भावना छिपी रहनेसे यह 'अन्यत्र-कर्म' ही है, यज्ञार्थ कर्म नहीं।

(२) सत्संग, सभा आदिमें कोई व्यक्ति मनमें इस भावको रखते हुए प्रश्न करता है कि वक्ता और श्रोतागण मुझे अच्छा जानकार समझेंगे तथा उनपर मेरा अच्छा असर पड़ेगा तो यह 'अन्यत्र-कर्म' ही है, यज्ञार्थ कर्म नहीं।

तात्पर्य यह है कि साधक कर्म तो करे, पर उसमें स्वार्थ, कामना आदिका भाव नहीं रहना चाहिये। कर्मका निषेध नहीं है, प्रत्युत सकामभावका निषेध है।

साधकको भोग और ऐश्वर्य-बुद्धिसे कोई भी कर्म नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी बुद्धिमें भोगासक्ति और कामना रहती है, जिससे कर्मयोगका आचरण नहीं हो पाता। निर्वाह-बुद्धिसे कर्म करनेपर भी जीनेकी कामना बनी रहती है। अत: निर्वाह-बुद्धि भी त्याज्य है। साधकको केवल साधन-बुद्धिसे ही प्रत्येक कर्म करना चाहिये। सबसे उत्तम साधक तो वह है, जो अपनी मुक्तिके लिये भी कोई कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है। कारण कि अपना हित दूसरोंके लिये कर्म करनेसे होता है, अपने लिये कर्म करनेसे नहीं। दूसरोंके हितमें ही अपना हित है। दूसरोंके हितसे अपना हित अलग मानना ही गलती है। इसलिये लौकिक तथा शास्त्रीय जो कर्म किये जायँ, वे सब-के-सब केवल लोक-हितार्थ होने चाहिये।

अपने सुखके लिये किया गया कर्म तो बन्धनकारक है ही, अपने व्यक्तिगत हितके लिये किया गया कर्म भी बन्धनकारक है। केवल अपने हितकी तरफ दृष्टि रखनेसे व्यक्तित्व बना रहता है। इसलिये और तो क्या, जप, चिन्तन, ध्यान, समाधि भी केवल लोकहितके लिये ही करे। तात्पर्य यह कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे होनेवाली मात्र क्रिया संसारके लिये ही हो, अपने लिये नहीं। 'कर्म' संसारके लिये है और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्माके साथ 'योग' अपने लिये है। इसीका नाम है—कर्मयोग।

'लोकोऽयं कर्मबन्धन:'—कर्तव्य-कर्म (यज्ञ) करनेका अधिकार मुख्यरूपसे मनुष्यको ही है। इसका वर्णन भगवान्ने आगे सृष्टिचक्रके प्रसंग (तीसरे अध्यायके चौदहवेंसे सोलहवें श्लोकतक) में भी किया है। जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रका हित करना, उनको सुख पहुँचाना होता है, उसीके द्वारा कर्तव्य-कर्म हुआ करते हैं। जब मनुष्य दूसरोंके हितके लिये कर्म न करके केवल अपने सुखके लिये कर्म करता है, तब वह बँध जाता है।

आसक्ति और स्वार्थभावसे कर्म करना ही बन्धनका कारण है। आसक्ति और स्वार्थके न रहनेपर स्वत: सबके हितके लिये कर्म होते हैं। बन्धन भावसे होता है, क्रियासे नहीं। मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, प्रत्युत कर्मोंमें वह जो आसक्ति और स्वार्थभाव रखता है, उनसे ही वह बँधता है।

'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग: समाचर'—यहाँ **'मुक्तसंग:'** पदसे भगवान्का यह तात्पर्य है कि कर्मोंमें, पदार्थोंमें तथा जिनसे कर्म किये जाते हैं, उन शरीर, मन, बुद्धि आदि सामग्रीमें ममता-आसक्ति होनेसे ही बन्धन होता है। ममता, आसक्ति रहनेसे कर्तव्य-कर्म भी स्वाभाविक एवं भलीभाँति नहीं होते। ममता-आसक्ति न रहनेसे परहितके लिये कर्तव्य-कर्मका स्वत: आचरण होता है और यदि कर्तव्य-कर्म प्राप्त न हो तो स्वत: निर्विकल्पतामें, स्वरूपमें स्थिति होती है। परिणामस्वरूप साधन निरन्तर होता है और असाधन कभी होता ही नहीं।

आलस्य और प्रमादके कारण नियत कर्मका त्याग करना 'तामस त्याग' कहलाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका

* **अपने लिये कर्म करनेसे सकामभाव रहता है और सकामभाव रहनेसे निषिद्ध कर्म होनेकी पूर्ण सम्भावना रहती है।**

सातवाँ श्लोक), जिसका फल मूढ़ता अर्थात् मूढ़योनियोंकी प्राप्ति है—**'अज्ञानं तमसः फलम्'** (गीता १४। १६)। कर्मोंको दुःखरूप समझकर उनका त्याग करना 'राजस त्याग' कहलाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक), जिसका फल दुःखोंकी प्राप्ति है—**'रजसस्तु फलं दुःखम्'** (गीता १४। १६)। इसलिये यहाँ भगवान् अर्जुनको कर्मोंका त्याग करनेके लिये नहीं कहते, प्रत्युत स्वार्थ, ममता, फलासक्ति, कामना, वासना, पक्षपात आदिसे रहित होकर शास्त्रविधिके अनुसार सुचारुरूपसे उत्साहपूर्वक कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी आज्ञा देते हैं, जो 'सात्त्विक त्याग' कहलाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। स्वयं भगवान् भी आगे चलकर कहते हैं कि मेरे लिये कुछ भी करना शेष नहीं है, फिर भी मैं सावधानीपूर्वक कर्म करता हूँ (तीसरे अध्यायका बाईसवाँ-तेईसवाँ श्लोक)।

कर्तव्य-कर्मोंका अच्छी तरह आचरण करनेमें दो कारणोंसे शिथिलता आती है—(१) मनुष्यका स्वभाव है कि वह पहले फलकी कामना करके ही कर्ममें प्रवृत्त होता है। जब वह देखता है कि कर्मयोगके अनुसार फलकी कामना नहीं रखनी है, तब वह विचार करता है कि कर्म ही क्यों करूँ? (२) कर्म आरम्भ करनेके बाद जब अन्तमें उसे पता लग जाय कि इसका फल विपरीत होगा, तब वह विचार करता है कि मैं कर्म तो अच्छा-से-अच्छा करूँ, पर फल विपरीत मिले तो फिर कर्म करूँ ही क्यों?

कर्मयोगी न तो कोई कामना करता है और न कोई नाशवान् फल ही चाहता है, वह तो मात्र संसारका हित सामने रखकर ही कर्तव्य-कर्म करता है। अतः उपर्युक्त दोनों कारणोंसे उसके कर्तव्य-कर्ममें शिथिलता नहीं आ सकती।

मार्मिक बात

मनुष्यका प्रायः ऐसा स्वभाव हो गया है कि जिसमें उसको अपना स्वार्थ दिखायी देता है, उसी कर्मको वह बड़ी तत्परतासे करता है। परन्तु वही कर्म उसके लिये बन्धनकारक हो जाता है। अतः इस बन्धनसे छूटनेके लिये उसे कर्मयोगके अनुसार आचरण करनेकी बड़ी आवश्यकता है।

कर्मयोगमें सभी कर्म केवल दूसरोंके लिये किये जाते हैं, अपने लिये कदापि नहीं। दूसरे कौन-कौन हैं ? इसे समझना भी बहुत जरूरी है। अपने शरीरके सिवाय दूसरे प्राणी-पदार्थ तो दूसरे हैं ही, पर ये अपने कहलानेवाले स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर (इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण) और कारण-शरीर (जिसमें माना हुआ 'अहम्' है) भी स्वयंसे दूसरे ही हैं*। कारण कि स्वयं (जीवात्मा) चेतन परमात्माका अंश है और ये शरीर आदि पदार्थ जड प्रकृतिके अंश हैं। समस्त क्रियाएँ जडमें और जडके लिये ही होती हैं। चेतनमें और चेतनके लिये कभी कोई क्रिया नहीं होती। अतः 'करना' अपने लिये है ही नहीं, कभी हुआ नहीं और हो सकता भी नहीं। हाँ, संसारसे मिले हुए इन शरीर आदि जड पदार्थोंको चेतन जितने अंशमें 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मान लेता है, उतने अंशमें उसका स्वभाव 'अपने लिये' करनेका हो जाता है। अतः दूसरोंके लिये कर्म करनेसे ममता-आसक्ति सुगमतासे मिट जाती है।

शरीरकी अवस्थाएँ (बचपन, जवानी आदि) बदलनेपर भी 'मैं वही हूँ'—इस रूपमें अपनी एक निरन्तर रहनेवाली सत्ताका प्राणिमात्रको अनुभव होता है। इस अपरिवर्तनशील सत्ता (अपने होनेपन) की परमात्मतत्त्वके साथ स्वतः एकता है और परिवर्तनशील शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी संसारके साथ स्वतः एकता है। हमारे द्वारा जो भी क्रिया की जाती है, वह शरीर, इन्द्रियों आदिके द्वारा ही की जाती है; क्योंकि क्रियामात्रका सम्बन्ध प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ है, स्वयं (अपने स्वरूप) के साथ नहीं। इसलिये शरीरके सम्बन्धके बिना हम कोई भी क्रिया नहीं कर सकते। इससे यह बात निश्चितरूपसे सिद्ध होती है कि हमें अपने लिये कुछ भी नहीं करना है; जो कुछ करना है, संसारके लिये ही करना है। कारण कि 'करना' उसीपर लागू होता है, जो स्वयं कर सकता है। जो स्वयं कुछ कर ही नहीं सकता, उसके लिये 'करने' का विधान है ही नहीं। जो कुछ किया जाता है, संसारकी सहायतासे ही किया जाता है।

*** जैसे संसार 'पर' है, ऐसे ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि भी 'पर' अर्थात् दूसरे ही हैं, अतः कर्मयोगी इनको अपना न मानकर इनकी भी सेवा करता है। शरीरको निद्रालु, आलसी, प्रमादी, निकम्मा और भोगी न बनने देना 'शरीर' की सेवा है। इन्द्रियोंको सांसारिक भोगोंमें न लगने देना 'इन्द्रियों' की सेवा है। मनको किसीका अहित सोचनेमें, विषयोंके चिन्तनमें तथा व्यर्थ चिन्तनमें न लगने देना 'मन' की सेवा है। बुद्धिको दूसरोंके कर्तव्यपर विचार न करने देना, दूसरा क्या करता है, क्या नहीं—यह न सोचने देना 'बुद्धि' की सेवा है। वास्तवमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें ममता-आसक्ति न रखना ही इनकी सबसे बड़ी सेवा है।**

अतः 'करना' संसारके लिये ही है। अपने लिये करनेसे ही मनुष्य कर्मोंसे बँधता है—'**यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**'

विनाशी और परिवर्तनशील शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके साथ अपने अविनाशी और अपरिवर्तनशील स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये अपना और अपने लिये कुछ भी नहीं है। शरीरादिकी सहायताके बिना हम कुछ नहीं कर सकते, इसलिये अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। अपने सत्-स्वरूपमें कभी कोई कमी नहीं आती और कमी आये बिना कोई इच्छा नहीं होती, इसलिये अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये। इस प्रकार जब क्रिया और पदार्थसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है (जो वास्तवमें है) तब यदि ज्ञानके संस्कार हैं तो स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है और यदि भक्तिके संस्कार हैं तो भगवान्‌में प्रेम हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—मनुष्य कर्म करनेसे नहीं बँधता, प्रत्युत 'अन्यत्र कर्म' करनेसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे बँधता है (गीता—इसी अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। अतः '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' पदोंका तात्पर्य है—अपने लिये कुछ नहीं करना है।

मनुष्य कर्म-बन्धनसे तभी मुक्त हो सकता है, जब वह संसारसे मिले हुए शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य (बल) संसारकी ही सेवामें लगा दे और बदलेमें कुछ न चाहे। कारण कि संसार हमें वह वस्तु दे ही नहीं सकता, जो हम वास्तवमें चाहते हैं। हम सुख चाहते हैं, अमरता चाहते हैं, निश्चिन्तता चाहते हैं, निर्भयता चाहते हैं, स्वाधीनता चाहते हैं। परन्तु यह सब हमें संसारसे नहीं मिलेगा, प्रत्युत संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे मिलेगा। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदके लिये यह आवश्यक है कि हमें संसारसे जो मिला है, उसको केवल संसारकी ही सेवामें समर्पित कर दें।

~~~~

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि यज्ञ-(कर्तव्य-कर्म-) के अतिरिक्त कर्म बन्धनकारक होते हैं। अतः इस बन्धनसे मुक्त होनेके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग न करके कर्तव्यबुद्धिसे कर्म करना आवश्यक है। अब कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताको पुष्ट करनेके लिये और भी हेतु बताते हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥

प्रजापतिः = प्रजापति ब्रह्माजीने
पुरा = सृष्टिके आदिकालमें
सहयज्ञाः = कर्तव्यकर्मोंके विधानसहित
प्रजाः = प्रजा (मनुष्य आदि) की
सृष्ट्वा = रचना करके (उनसे, प्रधानतया मनुष्योंसे)
उवाच = कहा कि (तुमलोग)
अनेन = इस कर्तव्यके द्वारा
प्रसविष्यध्वम् = सबकी वृद्धि करो (और)
एषः = यह (कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ)
वः = तुमलोगोंको
इष्टकामधुक् = कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला
अस्तु = हो।
अनेन = इस (अपने कर्तव्यकर्म) के द्वारा (तुमलोग)
देवान् = देवताओंको
भावयत = उन्नत करो (और)
ते = वे
देवाः = देवतालोग (अपने कर्तव्यके द्वारा)
वः = तुमलोगोंको
भावयन्तु = उन्नत करें। (इस प्रकार)
परस्परम् = एक-दूसरेको
भावयन्तः = उन्नत करते हुए (तुमलोग)
परम् = परम
श्रेयः = कल्याणको
अवाप्स्यथ = प्राप्त हो जाओगे।

व्याख्या—'**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः**'—ब्रह्माजी प्रजा (सृष्टि) के रचयिता एवं उसके स्वामी हैं; अतः अपने कर्तव्यका पालन करनेके साथ वे प्रजाकी रक्षा तथा उसके कल्याणका विचार करते रहते हैं।
~~~~

कारण कि जो जिसे उत्पन्न करता है, उसकी रक्षा करना उसका कर्तव्य हो जाता है। ब्रह्माजी प्रजाकी रचना करते, उसकी रक्षामें तत्पर रहते तथा सदा उसके हितकी बात सोचते हैं। इसीलिये वे 'प्रजापति' कहलाते हैं।

सृष्टि अर्थात् सर्गके आरम्भमें ब्रह्माजीने कर्तव्यकर्मोंकी योग्यता और विवेकसहित मनुष्योंकी रचना की है[1]। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग कल्याण करनेवाला है। इसलिये ब्रह्माजीने अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग करनेका विवेक साथ देकर ही मनुष्योंकी रचना की है।

सत्-असत्का विचार करनेमें असमर्थ पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके द्वारा स्वाभाविक परोपकार (कर्तव्यपालन) होता है; किन्तु मनुष्यको तो भगवत्कृपासे विशेष विवेक-शक्ति मिली हुई है। अतः यदि वह अपने विवेकको महत्त्व देकर अकर्तव्य न करे तो उसके द्वारा भी स्वाभाविक लोक-हितार्थ कर्म हो सकते हैं।

देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा अन्य पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभी प्राणी 'प्रजा' हैं। इनमें भी योग्यता, अधिकार और साधनकी विशेषताके कारण मनुष्यपर अन्य सब प्राणियोंके पालनकी जिम्मेवारी है। अतः यहाँ '**प्रजाः**' पद विशेषरूपसे मनुष्योंके लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

कर्मयोग अनादिकालसे चला आ रहा है। चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें '**पुरातनः**' पदसे भी भगवान् कहते हैं कि यह कर्मयोग बहुत कालसे प्रायः लुप्त हो गया था, जिसको मैंने तुम्हें फिरसे कहा है। उसी बातको यहाँ भी '**पुरा**' पदसे वे दूसरी रीतिसे कहते हैं कि 'मैंने ही नहीं प्रत्युत ब्रह्माजीने भी सर्गके आदिकालमें कर्तव्यसहित प्रजाको रचकर उनको उसी कर्मयोगका आचरण करनेकी आज्ञा दी थी। तात्पर्य यह है कि कर्मयोग-(निःस्वार्थभावसे कर्तव्य-कर्म करने) की परम्परा अनादिकालसे ही चली आ रही है। यह कोई नयी बात नहीं है।'

चौथे अध्यायमें (चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक) परमात्मप्राप्तिके जितने साधन बताये गये हैं, वे सभी 'यज्ञ' के नामसे कहे गये हैं; जैसे—द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, प्राणायाम आदि। प्रायः 'यज्ञ' शब्दका अर्थ हवनसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाके लिये ही प्रसिद्ध है; परन्तु गीतामें 'यज्ञ' शब्द शास्त्रविधिसे की जानेवाली सम्पूर्ण विहित क्रियाओंका वाचक भी है। अपने वर्ण, आश्रम, धर्म, जाति, स्वभाव, देश, काल आदिके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत आते हैं। दूसरेके हितकी भावनासे किये जानेवाले सब कर्म भी 'यज्ञ' ही हैं। ऐसे यज्ञ-(कर्तव्य-) का दायित्व मनुष्यपर ही है।

'**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्**'[2] — ब्रह्माजी मनुष्योंसे कहते हैं कि तुमलोग अपने-अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा सबकी वृद्धि करो, उन्नति करो। ऐसा करनेसे तुमलोगोंको कर्तव्य-कर्म करनेमें उपयोगी सामग्री प्राप्त होती रहे, उसकी कभी कमी न रहे।

अर्जुनकी कर्म न करनेमें जो रुचि थी, उसे दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि प्रजापति ब्रह्माजीके वचनोंसे भी तुम्हें कर्तव्य-कर्म करनेकी शिक्षा लेनी चाहिये। दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करनेसे ही तुम्हारी लौकिक और पारलौकिक उन्नति हो सकती है।

निष्कामभावसे केवल कर्तव्य-पालनके विचारसे कर्म करनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है और सकामभावसे कर्म करनेपर मनुष्य बन्धनमें पड़ जाता है। प्रस्तुत प्रकरणमें निष्कामभावसे किये जानेवाले कर्तव्य-कर्मका विवेचन चल रहा है। अतः यहाँ '**इष्टकाम**' पदका अर्थ 'इच्छित भोग-सामग्री' (जो सकामभावका सूचक है) लेना उचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ इस पदका अर्थ है—यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) करनेकी आवश्यक सामग्री।[3]

१-यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि भगवान्की आज्ञासे और उन्हींकी शक्तिसे ब्रह्माजी प्रजाकी रचना करते हैं। अतः वास्तवमें सृष्टिके मूल रचयिता भगवान् ही हैं (गीता ४। १३; १७। २३)।

२-'इष्ट' शब्द 'यज्' धातुसे कृदन्तका 'क्त' प्रत्यय करनेसे बनता है, जो यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) का वाचक है और 'काम' शब्द 'कमु' धातुसे 'अण्' प्रत्यय करनेसे बनता है, जो पदार्थ (सामग्री) का वाचक है।

३-पूर्वश्लोकमें भगवान्ने कहा कि यज्ञके सिवाय अन्य कर्मोंमें अर्थात् सकामभावसे किये जानेवाले कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य बँध जाता है; और आगे तेरहवें श्लोकमें भी कहा है कि जो अपने लिये अर्थात् सकामभावसे कर्म करते हैं, वे पापीलोग पापका ही भक्षण करते हैं। इस प्रकार पीछेके और आगेके श्लोकोंको देखें तो दोनों ही जगह सकामभावके त्यागकी बात आयी है। अतः बीचके इन (दसवें, ग्यारहवें और बारहवें) श्लोकोंमें भी सकामभावके त्यागकी बात ही आनी उचित है। अगर यहाँ 'इष्टकाम' पदका अर्थ 'इच्छित पदार्थ' लिया जाय तो (प्रकरण-विरुद्ध होनेके कारण) दोष आता है; क्योंकि इच्छित पदार्थ पानेके लिये किये गये कर्म भगवान्के मतमें बन्धनकारक हैं। अतः 'इष्टकाम' पदका अर्थ 'कर्तव्यके लिये आवश्यक सामग्री' ही है।

कर्मयोगी दूसरोंकी सेवा अथवा हित करनेके लिये सदा ही तत्पर रहता है। इसलिये प्रजापति ब्रह्माजीके विधानके अनुसार दूसरोंकी सेवा करनेकी सामग्री, सामर्थ्य और शरीर-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुओंकी उसे कभी कमी नहीं रहती। उसको ये उपयोगी वस्तुएँ सुगमतापूर्वक मिलती रहती हैं। ब्रह्माजीके विधानके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी सामग्री जिस-जिसको, जो-जो भी मिली हुई है, वह कर्तव्य-पालन करनेके लिये उस-उसको पूरी-की-पूरी प्राप्त है। कर्तव्य-पालनकी सामग्री कभी किसीके पास अधूरी नहीं होती। ब्रह्माजीके विधानमें कभी फर्क नहीं पड़ सकता; क्योंकि जब उन्होंने कर्तव्य-कर्म करनेका विधान निश्चित किया है, तब जितनेसे कर्तव्यका पालन हो सके, उतनी सामग्री देना भी उन्हींपर निर्भर है।

वास्तवमें मनुष्यशरीर भोग भोगनेके लिये है ही नहीं—**'एहि तन कर फल बिषय न भाई'** (मानस ७। ४४। १)। इसीलिये 'सांसारिक सुखोंको भोगो'— ऐसी आज्ञा या विधान किसी भी सत्-शास्त्रमें नहीं है। समाज भी स्वच्छन्द भोग भोगनेकी आज्ञा नहीं देता। इसके विपरीत दूसरोंको सुख पहुँचानेकी आज्ञा या विधान शास्त्र और समाज दोनों ही देते हैं। जैसे, पिताके लिये यह विधान तो मिलता है कि वह पुत्रका पालन-पोषण करे, पर यह विधान कहीं भी नहीं मिलता कि पुत्रसे पिता सेवा ले ही। इसी प्रकार पुत्र, पत्नी आदि अन्य सम्बन्धोंके लिये भी समझना चाहिये।

कर्मयोगी सदा देनेका ही भाव रखता है, लेनेका नहीं; क्योंकि लेनेका भाव ही बाँधनेवाला है। लेनेका भाव रखनेसे कल्याणप्राप्तिमें बाधा लगनेके साथ ही सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें भी बाधा उपस्थित हो जाती है। प्रायः सभीका अनुभव है कि संसारमें लेनेका भाव रखनेवालेको कोई देना नहीं चाहता। इसलिये ब्रह्माजी कहते हैं कि बिना कुछ चाहे, निःस्वार्थभावसे कर्तव्य-कर्म करनेसे ही मनुष्य अपनी उन्नति (कल्याण) कर सकता है।

'देवान् भावयतानेन'—यहाँ **'देव'** शब्द उपलक्षक है; अतः इस पदके अन्तर्गत मनुष्य, देवता, ऋषि, पितर आदि समस्त प्राणियोंको समझना चाहिये। कारण कि कर्मयोगीका उद्देश्य अपने कर्तव्य-कर्मोंसे प्राणिमात्रको सुख पहुँचाना रहता है। इसलिये यहाँ ब्रह्माजी सम्पूर्ण प्राणियोंकी उन्नतिके लिये मनुष्योंको अपने कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके पालनका आदेश देते हैं। अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे मनुष्यका स्वतः कल्याण हो जाता है (गीता अठारहवें अध्यायका पैंतालीसवाँ श्लोक)। कर्तव्य-कर्मका पालन करनेके उपदेशके पूर्ण अधिकारी मनुष्य ही हैं। मनुष्योंको ही कर्म करनेकी स्वतन्त्रता मिली हुई है; अतः उन्हें इस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करना चाहिये।

'ते देवा भावयन्तु वः'—जैसे वृक्ष, लता आदिमें स्वाभाविक ही फूल-फल लगते हैं; परन्तु यदि उन्हें खाद और पानी दिया जाय तो उनमें फूल-फल विशेषतासे लगते हैं। ऐसे ही यजन-पूजनसे देवताओंकी पुष्टि होती है, जिससे देवताओंके काम विशेष न्यायप्रद होते हैं। परन्तु जब मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा देवताओंका यजन-पूजन नहीं करते, तब देवताओंको पुष्टि नहीं मिलती, जिससे उनमें अपने कर्तव्यका पालन करनेमें कमी आ जाती है। उनके कर्तव्य-पालनमें कमी आनेसे ही संसारमें विप्लव अर्थात् अनावृष्टि-अतिवृष्टि आदि होते हैं।

'परस्परं भावयन्तः'—इन पदोंका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि दूसरा हमारी सेवा करे तो हम उसकी सेवा करें, प्रत्युत यह समझना चाहिये कि दूसरा हमारी सेवा करे या न करे, हमें तो अपने कर्तव्यके द्वारा उसकी सेवा करनी ही है। दूसरा क्या करता है, क्या नहीं करता; हमें सुख देता या दुःख, इन बातोंसे हमें कोई मतलब नहीं रखना चाहिये; क्योंकि दूसरोंके कर्तव्यको देखनेवाला अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। परिणामस्वरूप उसका पतन हो जाता है। दूसरोंसे कर्तव्यका पालन करवाना अपने अधिकारकी बात भी नहीं है। हमें सबका हित करनेके लिये केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है और उसके द्वारा सबको सुख पहुँचाना है। सेवा करनेमें अपनी समझ, सामर्थ्य, समय और सामग्रीको अपने लिये थोड़ी-सी भी बचाकर नहीं रखनी है। तभी जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होगा।

हमारे जितने भी सांसारिक सम्बन्धी—माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदि हैं, उन सबकी हमें सेवा करनी है। अपना सुख लेनेके लिये ये सम्बन्ध नहीं हैं। हमारा जिनसे जैसा सम्बन्ध है, उसीके अनुसार उनकी सेवा करना, मर्यादाके अनुसार उन्हें सुख पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। उनसे कोई आशा रखना और उनपर अपना अधिकार मानना बहुत बड़ी भूल है। हम उनके ऋणी हैं और ऋण उतारनेके लिये उनके यहाँ हमारा जन्म हुआ है। अतः निःस्वार्थभावसे उन सम्बन्धियोंकी सेवा करके हम अपना ऋण चुका दें—

यह हमारा सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है। सेवा तो हमें सभीकी करनी है; परन्तु जिनकी हमारेपर जिम्मेवारी है, उन सम्बन्धियोंकी सेवा सबसे पहले करनी चाहिये।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि अपने नहीं हैं और अपने लिये भी नहीं हैं— यह सिद्धान्त है। अतः अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे स्वतः एक-दूसरेकी उन्नति होती है।

कर्तव्य और अधिकार-सम्बन्धी मार्मिक बात

कर्मयोग तभी होता है, जब मनुष्य अपने कर्तव्यके पालनपूर्वक दूसरेके अधिकारकी रक्षा करता है। जैसे, माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। जो दूसरेका अधिकार होता है, वही हमारा कर्तव्य होता है। अतः प्रत्येक मनुष्यको अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनी है तथा दूसरेका कर्तव्य नहीं देखना है। दूसरेका कर्तव्य देखनेसे मनुष्य स्वयं कर्तव्यच्युत हो जाता है; क्योंकि दूसरेका कर्तव्य देखना हमारा कर्तव्य नहीं है। तात्पर्य है कि दूसरेका हित करना है—यह हमारा कर्तव्य है और दूसरेका अधिकार है। यद्यपि अधिकार कर्तव्यके ही अधीन है, तथापि मनुष्यको अपना अधिकार देखना ही नहीं है, प्रत्युत अपने अधिकारका त्याग करना है। केवल दूसरेके अधिकारकी रक्षाके लिये अपने कर्तव्यका पालन करना है। दूसरेका कर्तव्य देखना तथा अपना अधिकार जमाना लोक और परलोकमें महान् पतन करनेवाला है। वर्तमान समयमें घरोंमें, समाजमें जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखनेमें आ रहा है, उसमें मूल कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते! इसलिये ब्रह्माजी देवताओं और मनुष्योंको उपदेश देते हैं कि एक-दूसरेका हित करना तुमलोगोंका कर्तव्य है।

'श्रेयः परमवाप्स्यथ'—प्रायः ऐसी धारणा बनी हुई है कि यहाँ परम कल्याणकी प्राप्तिका कथन अतिशयोक्ति है, पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। अगर इसमें किसीको सन्देह हो तो वह ऐसा करके खुद देख सकता है। जैसे धरोहर रखनेवालेकी धरोहर उसे वापस कर देनेसे धरोहर रखने-वालेसे तथा उस धरोहरसे हमारा किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे ही संसारकी वस्तु संसारकी सेवामें लगा देनेसे संसार और संसारकी वस्तुसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद होते ही चिन्मयताका अनुभव हो जाता है। अतः प्रजापति ब्रह्माजीके वचनोंमें अतिशयोक्तिकी कल्पना करना अनुचित है।

यह सिद्धान्त है कि जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसके कर्मकी समाप्ति नहीं होती और वह कर्मोंसे बँधता ही जाता है। कृतकृत्य वही होता है, जो अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। अपने लिये कुछ भी नहीं करनेसे पापका आचरण भी नहीं होता; क्योंकि पापका आचरण कामनाके कारण ही होता है (तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले साधकको चाहिये कि वह शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार फलकी इच्छा और आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेमें तत्पर हो जाय, फिर कल्याण तो स्वतःसिद्ध है।

अपनी कामनाका त्याग करनेसे संसारमात्रका हित होता है। जो अपनी कामना-पूर्तिके लिये आसक्तिपूर्वक भोग भोगता है, वह स्वयं तो अपनी हिंसा (पतन) करता ही है, साथ ही जिनके पास भोग-सामग्रीका अभाव है, उनकी भी हिंसा करता है अर्थात् दुःख देता है। कारण कि भोग-सामग्रीवाले मनुष्यको देखकर अभावग्रस्त मनुष्यको उस भोग-सामग्रीके अभावका दुःख होना स्वाभाविक है। इस प्रकार स्वयं सुख भोगनेवाला व्यक्ति हिंसासे कभी बच नहीं सकता। ठीक इसके विपरीत पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले व्यक्तिको देखकर दूसरोंको स्वतः शान्ति मिलती है; क्योंकि पारमार्थिक सम्पत्तिपर सबका समान अधिकार है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य कामना-आसक्तिका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करता रहे तो ब्रह्माजीके कथनानुसार वह परम कल्याणको अवश्य ही प्राप्त हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यहाँ परम कल्याणकी प्राप्ति मुख्यतासे मनुष्योंके लिये ही बतायी गयी है, देवताओंके लिये नहीं। कारण कि देवयोनि अपना कल्याण करनेके लिये नहीं बनायी गयी है। मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मोंके अनुसार फल देने, कर्म करनेकी सामग्री देने तथा अपने-अपने शुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये देवता बनाये गये हैं। वे निष्कामभावसे कर्म करनेकी सामग्री देते हों, ऐसी बात नहीं है। परन्तु उन देवताओंमें भी अगर किसीमें अपने कल्याणकी इच्छा हो जाय, तो उसका कल्याण होनेमें मना नहीं है अर्थात् अगर कोई अपना कल्याण करना चाहे, तो कर सकता है। जब पापी-से-पापी मनुष्यके लिये भी अपना उद्धार करनेकी

मनाही नहीं है, तो फिर देवताओंके लिये (जो कि पुण्ययोनि है) अपना उद्धार करनेकी मनाही कैसे हो सकती है? ऐसा होनेपर भी देवताओंका उद्देश्य भोग भोगनेका ही रहता है, इसलिये उनमें प्रायः अपने कल्याणकी इच्छा नहीं होती।

परिशिष्ट भाव—मनुष्य कर्मयोनि है और चौरासी लाख योनियाँ, देवता, नारकीय जीव आदि भोगयोनियाँ हैं। सकामभाववाले मनुष्य भोगोंको भोगनेके लिये ही स्वर्गमें जाते हैं। अतः देवतालोग निष्कामभाव न रखकर अपनी जिम्मेवारीका पालन करते हैं, ड्यूटी बजाते हैं। इसलिये यहाँ कल्याणकी बात मनुष्योंके लिये ही समझनी चाहिये।

मुक्ति स्वाभाविक है और बन्धन अस्वाभाविक है। मनुष्ययोनि अपना कल्याण करनेके लिये ही है। इसलिये जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसका कल्याण स्वाभाविक होता है—'**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**'। कल्याणके लिये नया काम करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत जो काम करते हैं, उसीको स्वार्थ, अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये करें तो कल्याण हो जायगा। निष्कामभावके बिना भी केवल अपने कर्तव्यका पालन करनेसे स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति हो जाती है। जिस स्वर्गकी प्राप्ति बड़े-बड़े यज्ञ करनेसे होती है, उसीकी प्राप्ति क्षत्रिय केवल अपना कर्तव्यकर्म—युद्ध करके प्राप्त कर सकता है।

जैसे ब्रह्माजीने देवताओं और मनुष्योंके लिये परस्पर एक-दूसरेका हित करनेकी बात कही है, ऐसे ही चारों वर्णोंके लिये भी परस्पर एक-दूसरेका हित करनेकी बात समझनी चाहिये। चारों वर्ण परस्पर एक-दूसरेके हितके लिये अपना-अपना कर्तव्यकर्म करें तो वे परम कल्याणको प्राप्त हो जायँगे।

सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि अपने लिये कुछ (वस्तु और क्रिया) नहीं है, दूसरेके लिये ही है—'**इदं ब्रह्मणे न मम**'। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके लिये ही होती है, अपने लिये नहीं। स्त्रीके अंग पुरुषको सुख देते हैं, पर स्त्रीको सुख नहीं देते। पुरुषके अंग स्त्रीको सुख देते हैं, पर पुरुषको सुख नहीं देते। माँका दूध बच्चेके लिये ही होता है, अपने लिये नहीं और बच्चेकी चेष्टाएँ माँको सुख देती हैं, बच्चेको नहीं। माता-पिता सन्तानके लिये होते हैं और सन्तान माता-पिताके लिये होती है। श्रोता वक्ताके लिये होता है और वक्ता श्रोताके लिये होता है। तात्पर्य है कि खुद सुख न ले, प्रत्युत दूसरेको सुख दे। सृष्टिकी रचना भोगके लिये नहीं है, प्रत्युत उद्धारके लिये है।

देवता भी स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित कर सकते हैं। इसलिये देवताओंमें भी नारद-जैसे ऋषि हुए हैं। यद्यपि भगवान्‌की ओरसे किसीको मना नहीं है, तथापि कल्याणका मुख्य एवं स्वतः अधिकारी मनुष्य ही है।

एक शंका हो सकती है कि हम तो दूसरेका भला करें, पर दूसरा हमारा भला न करके बुरा करे तो '**परस्परं भावयन्तः**' कैसे होगा? इसका समाधान है कि हम दूसरेका भला करेंगे तो दूसरा हमारा बुरा कर सकेगा ही नहीं। उसमें हमारा बुरा करनेकी सामर्थ्य ही नहीं रहेगी। अगर वह बुरा करेगा भी तो पीछे पछतायेगा, रोयेगा। अगर वह हमारा बुरा करेगा तो हमारा भला करनेवाले, हमारे साथ सहानुभूति रखनेवाले कई पैदा हो जायँगे। वास्तवमें किसीका बुरा करनेका विधान कहीं नहीं आता। मनुष्य ही द्वेषके कारण दूसरेका बुरा करता है। '**परस्परं भावयन्तः**'—यह मनुष्यताकी बात है। इसके न होनेसे ही मनुष्य दुःख पा रहे हैं।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञभाविताः = यज्ञसे पुष्ट हुए
देवाः = देवता
हि = भी
वः = तुमलोगोंको (बिना माँगे ही)
इष्टान्, भोगान् = कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री
दास्यन्ते = देते रहेंगे। (इस प्रकार)
तैः = उन देवताओंकी
दत्तान् = दी हुई सामग्रीको
एभ्यः = दूसरोंकी
अप्रदाय = सेवामें लगाये बिना
यः = जो मनुष्य (स्वयं ही उसका)
भुङ्क्ते = उपभोग करता है,
सः = वह
स्तेनः = चोर
एव = ही है।

व्याख्या—‘**इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः**’—यहाँ भी ‘**इष्टभोग**’ शब्दका अर्थ इच्छित पदार्थ नहीं हो सकता। कारण कि पीछेके (ग्यारहवें) श्लोकमें परम कल्याणको प्राप्त होनेकी बात आयी है और उसके हेतुके लिये यह (बारहवाँ) श्लोक है। भोगोंकी इच्छा रहते परम कल्याण कभी हो ही नहीं सकता। अतः यहाँ ‘**इष्ट**’ शब्द ‘यज्’ धातुसे निष्पन्न होनेसे तथा ‘**भोग**’[1] शब्दका अर्थ आवश्यक सामग्री होनेसे उपर्युक्त पदोंका अर्थ होगा—वे देवता तुमलोगोंको यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) करनेकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे।

यहाँ ‘**यज्ञभाविताः देवाः**’ पदोंका तात्पर्य है कि देवता तो अपना अधिकार समझकर मनुष्योंको आवश्यक सामग्री प्रदान करते ही हैं, केवल मनुष्योंको ही अपना कर्तव्य निभाना है।

‘**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते**’—ब्रह्माजीने देवताओंके लिये ‘**ते देवाः**’ पदोंका प्रयोग किया है; क्योंकि उनके सामने मनुष्य थे, देवता नहीं। परन्तु यहाँ ‘**एभ्यः**’ पद (जो ‘**इदम्**’ शब्दसे बनता है) का प्रयोग हुआ है, जो समीपताका द्योतक है। भगवान्‌के लिये सभी समीप ही हैं (गीता—सातवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)। इससे सिद्ध होता है कि अब यहाँसे भगवान्‌के वचन आरम्भ होते हैं।

यहाँ ‘**भुङ्क्ते**’[2] पदका तात्पर्य केवल भोजन करनेसे ही नहीं है, प्रत्युत शरीर-निर्वाहकी समस्त आवश्यक सामग्री (भोजन, वस्त्र, धन, मकान आदि) को अपने सुखके लिये काममें लानेसे है।

यह शरीर माता-पितासे मिला है और इसका पालन-पोषण भी उन्हींके द्वारा हुआ है। विद्या गुरुजनोंसे मिली है। देवता सबको कर्तव्य-कर्मकी सामग्री देते हैं। ऋषि सबको ज्ञान देते हैं। पितर मनुष्यकी सुख-सुविधाके उपाय बताते हैं। पशु-पक्षी, वृक्ष, लता आदि दूसरोंके सुखमें स्वयंको समर्पित कर देते हैं (यद्यपि पशु-पक्षी आदिको यह ज्ञान नहीं रहता कि हम परोपकार कर रहे हैं, तथापि उनसे दूसरोंका उपकार स्वतः होता रहता है) इस प्रकार हमारे पास जो कुछ भी सामग्री—बल, योग्यता, पद, अधिकार, धन, सम्पत्ति आदि है, वह सब-की-सब हमें दूसरोंसे ही मिली है। इसलिये इनको दूसरोंकी ही सेवामें लगाना है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी पदार्थ हमें संसारसे मिले हैं। ये कभी अपने नहीं हैं और अपने होंगे भी नहीं। अतः इनको अपना और अपने लिये मानकर इनसे सुख भोगना ही बन्धन है। इस बन्धनसे छूटनेका यही सरल उपाय है कि जिनसे ये पदार्थ हमें मिले हैं, इन्हें उन्हींका मानते हुए उन्हींकी सेवामें निष्कामभावपूर्वक लगा दें। यही हमारा परम कर्तव्य है।

साधकोंके मनमें प्रायः ऐसी भावना पैदा हो जाती है कि अगर हम संसारकी सेवा करेंगे तो उसमें हमारी आसक्ति हो जायगी और हम संसारमें फँस जायँगे! परन्तु भगवान्‌के वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि फँसनेका कारण सेवा नहीं है, प्रत्युत अपने लिये कुछ भी लेनेका भाव ही है। इसलिये लेनेका भाव छोड़कर देवताओंकी तरह दूसरोंको सुख पहुँचाना ही मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है।

कर्मयोगके सिद्धान्तमें प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, समय तथा समझदारीका सदुपयोग करनेका ही विधान है। प्राप्त सामग्री आदिसे अधिककी (नयी-नयी सामग्री आदिकी) कामना करना कर्मयोगके सिद्धान्तसे विरुद्ध है। अतः प्राप्त सामग्री आदिको ही दूसरोंके हितमें लगाना है। अधिककी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। युक्तिसंगत बात है कि जिसमें जितनी शक्ति होती है, उससे उतनी ही आशा की जाती है, फिर भगवान् अथवा देवता उससे अधिककी आशा कैसे कर सकते हैं?

‘**स्तेन एव सः**’—यहाँ ‘**सः स्तेनः**’ पदोंमें एकवचन देनेका तात्पर्य यह है कि अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाला मनुष्य सबको प्राप्त होनेवाली सामग्री (अन्न, जल, वस्त्र आदि) का भाग दूसरोंको दिये बिना ही अकेला स्वयं ले लेता है। अतः वह चोर ही है।

जो मनुष्य दूसरोंको उनका भाग न देकर स्वयं अकेले ही भोग करता है, वह तो चोर है ही, पर जो मनुष्य किसी भी अंशमें अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है अर्थात् सामग्रीको सेवामें लगाकर बदलेमें मान-बड़ाई आदि चाहता है, वह भी उतने अंशमें चोर ही है। ऐसे मनुष्यका अन्तःकरण कभी शुद्ध और शान्त नहीं रह सकता।

यह व्यष्टि शरीर किसी भी प्रकारसे समष्टि संसारसे

१-‘भुज् पालनाभ्यवहारयोः’ (सिद्धान्तकौमुदी १५४८)—‘भुज्’ धातुके दो अर्थ होते हैं—पालन और भक्षण। यहाँ ‘पालन’ अर्थ लेना ही उचित प्रतीत होता है।

२-यहाँ अनवनार्थक ‘भुज्’ धातुसे ‘भुङ्क्ते’ पद निष्पन्न है। अनवनका अर्थ है—भक्षण अर्थात् वस्तुको अपने काममें लेना।

अलग नहीं है और अलग हो सकता भी नहीं; क्योंकि समष्टिका अंश ही व्यष्टि कहलाता है। इसलिये व्यष्टि-(शरीर-) को अपना मानना और समष्टि-(संसार-) को अपना न मानना ही राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंका कारण है एवं यही अहंकार, व्यक्तित्व अथवा विषमता है*। कर्मयोगके अनुष्ठानसे ये सब (राग-द्वेष आदि) सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं। कारण कि कर्मयोगीका यह भाव रहता है कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, वह सब अपने लिये नहीं, प्रत्युत संसारमात्रके लिये कर रहा हूँ। इसमें भी एक बड़ी मार्मिक बात यह है कि कर्मयोगी अपने कल्याणके लिये भी कोई कर्म न करके संसारमात्रके कल्याणके उद्देश्यसे ही सब कर्म करता है। कारण कि सबके कल्याणसे अपना कल्याण अलग मानना भी व्यक्तित्व और विषमताको जन्म देना है, जो साधककी उन्नतिमें बाधक है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब-का-सब हमें संसारसे मिला है। संसारसे मिली वस्तुको केवल अपनी स्वार्थसिद्धिमें लगाना ईमानदारी नहीं है।

कर्तव्य-सम्बन्धी विशेष बात

हिन्दू-संस्कृतिका एकमात्र उद्देश्य मनुष्यका कल्याण करना है। इसी उद्देश्यसे ब्रह्माजी (सृष्टिके आदिमें) मनुष्यको नि:स्वार्थभावसे अपने-अपने कर्तव्यके द्वारा एक-दूसरेको सुख पहुँचानेकी आज्ञा देते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका दसवाँ श्लोक)।

परिवारमें भाई, बहनें, माताएँ आदि सब-के-सब कर्म करते ही हैं; परन्तु उनसे बड़ी भारी भूल यह होती है कि वे कामना, ममता, आसक्ति, स्वार्थ आदिके वशीभूत होकर कर्म करते हैं। अत: लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही लाभ उन्हें नहीं होते, प्रत्युत हानि ही होती है। स्वार्थके वशीभूत होकर अपने लिये कर्म करनेसे ही लोकमें लड़ाई, खटपट, ईर्ष्या आदि होते हैं और परलोकमें दुर्गति होती है। दूसरोंकी सेवा करके बदलेमें कुछ भी चाहनेसे वस्तुओं और व्यक्तियोंके साथ मनुष्यका सम्बन्ध जुड़ जाता है। किसी भी कर्मके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाता है। स्वार्थी मनुष्यको संसारमें कोई अच्छा नहीं कहता। चाहनेवालेको कोई अधिक देना नहीं चाहता। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि घरमें भी रागी तथा भोगी व्यक्तिसे वस्तुएँ छिपायी जाती हैं। इसके विपरीत हमारे पास जितनी समझ, समय, सामर्थ्य और सामग्री है, उतनेसे ही हम दूसरोंकी सेवा करें तो उससे कल्याण तो होता ही है, इसके सिवाय वस्तु, आराम, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि न चाहनेपर भी प्राप्त होने लगते हैं। परन्तु कर्मयोगीमें मान-बड़ाई आदिकी इच्छा नहीं होती; क्योंकि इनकी इच्छा और सुखभोग ही बन्धनकारक होता है।

'मुझे सुख कैसे मिले?'—केवल इसी चाहनाके कारण मनुष्य कर्तव्यच्युत और पतित हो जाता है। अत: 'दूसरोंको सुख कैसे मिले?'—ऐसा भाव कर्मयोगीको सदा ही रखना चाहिये। घरमें माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदि जितने व्यक्ति हैं, उन सभीको एक-दूसरेके हितकी बात सोचनी चाहिये। प्राय: सेवा करनेवालेसे एक भूल हो जाती है कि वह 'मैं सेवा करता हूँ', 'मैं वस्तुएँ देता हूँ'—ऐसा मानकर झूठा अभिमान कर बैठता है। वस्तुत: सेवा करनेवाला व्यक्ति सेव्यकी वस्तु ही सेव्यको देता है। जैसे माँका दूध उसके अपने लिये न होकर बच्चेके लिये ही है, ऐसे ही मनुष्यके पास जितनी भी सामग्री है वह उसके अपने लिये न होकर दूसरोंके लिये ही है। अत: मनुष्यको प्राप्त सामग्रीमें ममता करने अर्थात् उसे अपनी और अपने लिये माननेका अधिकार नहीं है। ममता करनेपर भी प्राप्त सामग्री तो सदा रहेगी नहीं, केवल ममतारूप बन्धन रह जायगा। इसी कारण भगवान् कहते हैं कि वस्तुओंको अपनी मानकर स्वयं उनका भोग करनेवाला मनुष्य चोर ही है।

देवता, ऋषि, पितर, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि सभीका स्वभाव ही परोपकार करनेका है। मनुष्य सदा इनसे सहयोग पानेके कारण इनका ऋणी है। इस ऋणसे मुक्त होनेके लिये ही पंचमहायज्ञ-(ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ-) का विधान है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो बुद्धिपूर्वक सभीको अपने कर्तव्य-कर्मोंसे तृप्त कर सकता है। अत: सबसे ज्यादा जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। इसीको ऐसी स्वतन्त्रता मिली है, जिसका सदुपयोग करके यह परम श्रेयकी प्राप्ति कर सकता है।

देवता आदि तो अपने कर्तव्यका पालन करते ही हैं। यदि मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता तो

---

* **आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम॥ (महा० आश्वमेधिक० ३२। ११)**
'यह शरीर भी मेरा नहीं है अथवा यह सारी पृथ्वी ही मेरी है।'

देवताओंमें ही नहीं प्रत्युत त्रिलोकीभरमें हलचल उत्पन्न हो जाती है और परिणामस्वरूप अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक प्रकोप होने लगते हैं। भगवान् भी (गीता—तीसरे अध्यायके तेईसवें-चौबीसवें श्लोकोंमें) कहते हैं कि 'यदि मैं सावधानीपूर्वक कर्तव्यका पालन न करूँ तो समस्त लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ।' जिस तरह गतिशील बैलगाड़ीका कोई एक पहिया भी खण्डित हो जाय तो उससे पूरी बैलगाड़ीको झटका लगता है, इसी तरह गतिशील सृष्टि-चक्रमें यदि एक व्यक्ति भी कर्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टिपर पड़ता है। इसके विपरीत जैसे शरीरका एक भी पीड़ित (रोगी) अंग ठीक होनेपर सम्पूर्ण शरीरका स्वतः हित होता है, ऐसे ही अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेवाले मनुष्यके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिका स्वतः हित होता है।

प्रजापति ब्रह्माजीने देवता और मनुष्य—दोनोंको अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेकी आज्ञा दी है। देवता आदि सब मर्यादासे चलते हैं। केवल मनुष्य ही अपनी बेसमझीसे मर्यादाको भंग करता है। कारण कि उसे दूसरोंकी सेवा करनेके लिये जो सामग्री मिली है, उसपर वह अपना अधिकार समझ बैठता है। अनन्त जन्मोंके कर्म-बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये मनुष्यको स्वतन्त्रता मिली है; किन्तु वह उसका दुरुपयोग करके कर्म और कर्मफलमें ममता-आसक्ति कर बैठता है। फलस्वरूप नया बन्धन उत्पन्न करके वह स्वयं फँस जाता है और आगे अनेक जन्मोंतक दुःख पानेकी तैयारी कर लेता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि उसे जो कुछ सामग्री मिली है, उससे वह त्रिलोकीकी सेवा करे अर्थात् उस सामग्रीको वह भगवान्, देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंकी सेवामें लगा दे।

शंका—जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है, वह सब-की-सब दूसरोंकी सेवामें लगा देनेपर कर्मयोगीका जीवन-निर्वाह कैसे हो सकेगा?

समाधान—वास्तवमें यह शंका शरीरके साथ अपनी एकता माननेसे अर्थात् शरीरको ही अपना स्वरूप माननेसे पैदा होती है; परन्तु कर्मयोगी शरीरसे अपना कोई सम्बन्ध मानता ही नहीं, प्रत्युत उसे संसारका और संसारके लिये ही मानकर उसीकी सेवामें लगा देता है। उसकी दृष्टि अविनाशी स्वरूपपर रहती है, नाशवान् शरीरपर नहीं। जिसकी दृष्टि शरीरपर रहती है, वही ऐसी शंका कर सकता है कि कर्मयोगीका जीवन-निर्वाह कैसे होगा?

जबतक भोगेच्छा रहती है, तभीतक जीनेकी इच्छा तथा मरनेका भय रहता है। भोगेच्छा कर्मयोगीमें रहती ही नहीं; क्योंकि उसके सम्पूर्ण कर्म अपने लिये न होकर दूसरोंकी सेवाके लिये ही होते हैं। अतः कर्मयोगी अपने जीनेकी परवाह नहीं करता। उसके मनमें यह प्रश्न ही नहीं उठता कि मेरा जीवन-निर्वाह कैसे होगा? वास्तवमें जिसके हृदयमें जगत्‌की आवश्यकता नहीं रहती, उसकी आवश्यकता जगत्‌को रहती है । इसलिये जगत् उसके निर्वाहका स्वतः प्रबन्ध करता है।

जिनका जीवन परोपकारके लिये ही समर्पित है, ऐसे पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता आदि सभी साधारण प्राणियोंके भी जीवन-निर्वाहका जब प्रबन्ध है, तब शरीरसहित मिली हुई सब सामग्रीको प्राणियोंके हितमें व्यय करनेवाले मनुष्यके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध न हो, यह कैसे सम्भव है?

सबका पालन करनेवाले भगवान्‌की असीम कृपासे जीवन-निर्वाहकी सामग्री समस्त प्राणियोंको समानरूपसे मिली हुई है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सबके सामने है। माताके शरीरमें जहाँ रक्त-ही-रक्त रहता है, वहाँ भी बच्चेके जीवन-निर्वाहके लिये मीठा और पुष्टिकर दूध स्वतः पैदा हो जाता है। अतः चाहे प्रारब्धसे मानो, चाहे भगवत्कृपासे, मनुष्यके जीवन-निर्वाहकी सामग्री उसको मिलती ही है। इसमें संदेह, चिन्ता, शोक एवं विचार होना ही नहीं चाहिये। भगवान्‌के राज्यमें जब पापी-से-पापी एवं नास्तिक-से-नास्तिक पुरुषका भी जीवन-निर्वाह होता है, तब कर्मयोगीके जीवन-निर्वाहमें क्या बाधा आ सकती है? अतः यह प्रश्न उठाना ही भूल है।

परिशिष्ट भाव—'यज्ञभाविताः' पदका अर्थ है—यज्ञसे पुष्ट हुए, पूजित हुए, संवर्धित हुए। मध्यलोकमें होनेके कारण मनुष्य ऊपरके और नीचेके सभी लोकोंमें रहनेवाले प्राणियोंको पुष्ट कर सकता है। सबका हित करनेके लिये ही मनुष्यको मध्यलोकमें बसाया गया है। इसीलिये मनुष्य कल्याणका अधिकारी है।

सम्बन्ध—नवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बाँधनेवाले नहीं होते'—ऐसा बताकर यज्ञके लिये कर्म करनेकी आज्ञा दी। उस आज्ञाको ब्रह्माजीके वचनोंद्वारा पुष्ट करके नवें श्लोकमें कहे हुए अपने वचनोंसे एकवाक्यता करते हुए आगेके श्लोकमें यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) करने और न करनेके फलका स्पष्ट विवेचन करते हैं।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः = यज्ञशेष (योग) का अनुभव करनेवाले **सन्तः** = श्रेष्ठ मनुष्य **सर्वकिल्बिषैः** = सम्पूर्ण पापोंसे **मुच्यन्ते** = मुक्त हो जाते हैं। **तु** = परन्तु **ये** = जो **आत्मकारणात्** = केवल अपने लिये ही **पचन्ति** = पकाते अर्थात् सब कर्म करते हैं, **ते** = वे **पापाः** = पापीलोग (तो) **अघम्** = पापका (ही) **भुञ्जते** = भक्षण करते हैं।

व्याख्या—‘**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः**’—कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे विधिपूर्वक पालन करनेपर (यज्ञशेषके रूपमें) योग अथवा समता ही शेष रहती है। कर्मयोगमें यह खास बात है कि संसारसे प्राप्त सामग्रीके द्वारा ही कर्म होता है। अतः संसारकी सेवामें लगा देनेपर ही वह कर्म ‘**यज्ञ**’ सिद्ध होता है। यज्ञकी सिद्धिके बाद स्वतः अवशिष्ट रहनेवाला ‘**योग**’ अपने लिये होता है। यह योग (समता) ही यज्ञशेष है, जिसको भगवान्‌ने चौथे अध्यायमें ‘**अमृत**’ कहा है—‘**यज्ञशिष्टामृतभुजः**’ (४। ३१)।

‘**मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः**’—यहाँ ‘**किल्बिषैः**’ पद बहुवचनान्त है, जिसका अर्थ है—सम्पूर्ण पापोंसे अर्थात् बन्धनोंसे। परन्तु भगवान्‌ने इस पदके साथ ‘**सर्व**’ पद भी दिया है, जिसका विशेष तात्पर्य यह हो जाता है कि यज्ञशेषका अनुभव करनेपर मनुष्यमें किसी भी प्रकारका बन्धन नहीं रहता। उसके सम्पूर्ण (संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण) कर्म विलीन हो जाते हैं* (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। सम्पूर्ण कर्मोंके विलीन हो जानेपर उसे सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है (गीता—चौथे अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

इसी अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्‌ने यज्ञार्थ कर्मसे अन्यत्र कर्मको बन्धनकारक बताया और चौथे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें यज्ञार्थ कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन होनेकी बात कही। इन दोनों श्लोकों (तीसरे अध्यायके नवें तथा चौथे अध्यायके तेईसवें श्लोक) में जो बात आयी है, वही बात यहाँ ‘**सर्वकिल्बिषैः**’ पदसे कही गयी है। तात्पर्य है कि यज्ञशेषका अनुभव करनेवाले मनुष्य सम्पूर्ण बन्धनरूप कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं। पाप-कर्म तो बन्धनकारक होते ही हैं, सकामभावसे किये गये पुण्यकर्म भी (फलजनक होनेसे) बन्धनकारक होते हैं। यज्ञशेष-(समता-) का अनुभव करनेपर पाप और पुण्य—दोनों ही नहीं रहते—‘**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते**’ (गीता २। ५०)।

अब विचार करें कि बन्धनका वास्तविक कारण क्या है? ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—इस कामनासे ही बन्धन होता है। यह कामना सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। अतः कामनाका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तवमें कामनाकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कामना अभावसे उत्पन्न होती है और ‘स्वयं’ (सत्-स्वरूप) में किसी प्रकारका अभाव है ही नहीं और हो सकता भी नहीं। इसलिये ‘स्वयं’ में कामना है ही नहीं। केवल भूलसे शरीरादि असत् पदार्थोंके साथ अपनी एकता मानकर मनुष्य असत् पदार्थोंके अभावसे अपनेमें अभाव मानने लगता है और उस अभावकी पूर्तिके लिये असत् पदार्थोंकी कामना करने लगता है। साधकको इस बातकी तरफ खयाल करना चाहिये कि आरम्भ और समाप्त होनेवाली क्रियाओंसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ ही तो मिलेंगे। ऐसे उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंसे मनुष्यके अभावकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। जब इन पदार्थोंसे अभावकी पूर्ति होनेका प्रश्न ही नहीं है, तो फिर इन पदार्थोंकी कामना करना भी भूल ही है। ऐसा ठीक-ठीक विचार करनेसे कामनाकी निवृत्ति सहज हो सकती है।

*** कामना न रहनेसे संचित कर्म विलीन हो जाते हैं। जबतक शरीर रहता है, तबतक प्रारब्धके अनुसार अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, पर उससे वह सुखी-दुःखी नहीं होता अर्थात् उस परिस्थितिका उसपर कोई असर नहीं पड़ता—यह प्रारब्ध कर्मका विलीन होना है। फलेच्छा न रहनेसे क्रियमाण कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल देनेवाले नहीं होते—यह क्रियमाण कर्मका विलीन होना है।**

हाँ, अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थोंको कभी भी अपना तथा अपने लिये न मानकर दूसरोंकी सेवामें लगानेसे इन पदार्थोंसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिससे तत्काल अपने सत्स्वरूपका बोध हो जाता है। फिर कोई अभाव शेष नहीं रहता। जिसके मनमें किसी प्रकारके अभावकी मान्यता (कामना) नहीं रहती, वह मनुष्य जीते-जी ही संसारसे मुक्त है।

'ये पचन्त्यात्मकारणात्'—अपने लिये कुछ भी चाहनेका भाव अर्थात् स्वार्थ, कामना, ममता, आसक्ति एवं अपनेको अच्छा कहलानेका किंचित् भी भाव **'आत्मकारणात्'** पदके अन्तर्गत आ जाता है। मनुष्यमें स्वार्थबुद्धि जितनी ज्यादा होती है, वह उतना ही ज्यादा पापी होता है।

यहाँ **'पचन्ति'** पद उपलक्षक है, जिसका अर्थ केवल 'पकाने' से ही न होकर खाना, पीना, चलना, बैठना आदि समस्त सांसारिक क्रियाओंकी सिद्धिसे है।

अपना स्वार्थ चाहनेवाला व्यक्ति अपने लिये पकाये (कार्य करे) अथवा दूसरेके लिये, वास्तवमें वह अपने लिये ही पकाता है। इसके विपरीत अपने स्वार्थभावका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेवाला साधक अपने कहलानेवाले शरीरके लिये पकाये अथवा दूसरेके लिये, वास्तवमें वह दूसरेके लिये ही पकाता है। संसारसे हमें जो भी सामग्री मिली है, उसे संसारकी सेवामें न लगाकर अपने सुखभोगमें लगाना ही अपने लिये पकाना है। संसारके छोटे-से-छोटे अंश शरीरको अपना और अपने लिये मानना महान् पाप है। परन्तु शरीरको अपना न मानकर इसको आवश्यकतानुसार अन्न, जल, वस्तु आदि देना और इसको आलसी, प्रमादी, भोगी नहीं होने देना इस शरीरकी सेवा है, जिससे शरीरमें ममता-आसक्ति नहीं रहती।

मनुष्यको अपने कर्मोंका फल स्वयं भोगना पड़ता है; परन्तु उसके द्वारा किये गये कर्मोंका प्रभाव सम्पूर्ण संसारपर पड़ता है। 'अपने लिये' कर्म करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है और अपने कर्तव्यसे च्युत होनेपर ही राष्ट्रमें अकाल, महामारी, मृत्यु आदि महान् कष्ट होते हैं। अतः मनुष्यके लिये उचित है कि वह अपने लिये कुछ भी न करे, अपना कुछ भी न माने तथा अपने लिये कुछ भी न चाहे।

कर्मफल-(उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुमात्र-) का आश्रय लेना 'अपने लिये पकाने' के अन्तर्गत है। इसीलिये भगवान्ने छठे अध्यायके पहले श्लोकमें **'अनाश्रितः कर्मफलम्'** पदोंसे कर्मयोगीको कर्मफलका आश्रय न लेनेके लिये कहा है। सर्वथा अनाश्रित हो जानेपर ही मनुष्य अपने लिये कुछ नहीं करता, जिससे वह योगमें स्थित हो जाता है।

'भुञ्जते ते त्वघं पापाः'—इन पदोंमें भगवान्ने 'अपने लिये' कर्म करनेवालोंकी सभ्य भाषामें निन्दा की है। अपने लिये किये गये कर्मोंसे वह इतना पाप-संग्रह कर लेता है कि चौरासी लाख योनियों एवं नरकोंका दुःख भोगनेपर भी वह खत्म नहीं होता, प्रत्युत संचितके रूपमें बाकी रह जाता है। मनुष्ययोनि एक ऐसा अद्भुत खेत है, जिसमें जो भी पाप या पुण्यका बीज बोया जाता है, वह अनेक जन्मोंतक फल देता है*। अतः मनुष्यको तुरंत यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'अब मैं पाप (अपने लिये कर्म) नहीं करूँगा'। इस निश्चयमें बड़ी भारी शक्ति है। सच तो यह है कि परमात्माकी तरफ चलनेका दृढ़ निश्चय होनेपर पाप होना स्वतः रुक जाता है।

परिशिष्ट भाव—मनुष्यके पास शरीर, योग्यता, पद, अधिकार, विद्या, बल आदि जो कुछ है, वह सब मिला हुआ है और बिछुड़नेवाला है। इसलिये वह अपना और अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी सेवाके लिये है। इस बातमें हमारी भारतीय संस्कृतिका पूरा सिद्धान्त आ जाता है। जैसे हमारे शरीरके सब अवयव शरीरके हितके लिये हैं, ऐसे ही संसारके सभी मनुष्य संसारके हितके लिये हैं। कोई मनुष्य किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम आदिका क्यों न हो, अपने कर्मोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करके सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है।

हमारेमें जो कुछ भी विशेषता है, वह दूसरोंके लिये है, अपने लिये नहीं। अगर सभी मनुष्य ऐसा करने लगें तो कोई भी बद्ध नहीं रहेगा, सब जीवन्मुक्त हो जायँगे। मिली हुई वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगा दिया तो अपने घरका क्या खर्च हुआ? मुफ्तमें कल्याण होगा। इसके सिवाय मुक्तिके लिये और कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं है। जितना हमारे पास है, उसीको सेवामें लगानेकी जिम्मेवारी है, उससे अधिककी जिम्मेवारी है ही नहीं। उससे अधिक मनुष्य कर सकता भी नहीं। अपने पास जितनी वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य है, उतनी पूरी सेवामें खर्च करेंगे तो कल्याण भी पूरा ही होगा।

*** वास्तवमें मनुष्यजन्म ही सब जन्मोंका आदि तथा अन्तिम जन्म है। यदि मनुष्य परमात्म-प्राप्ति कर ले तो अन्तिम जन्म भी यही है और परमात्म-प्राप्ति न करे तो अनन्त जन्मोंका आदि जन्म भी यही है।**

वास्तवमें शरीरसे संसारका ही काम होता है, अपना काम होता ही नहीं, क्योंकि शरीर हमारे लिये है ही नहीं। कुछ-न-कुछ काम करनेके लिये ही शरीरकी जरूरत होती है। अगर कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत? इसलिये शरीरके द्वारा अपने लिये कुछ करना ही दोष है। मिली हुई वस्तुके द्वारा हम अपने लिये कुछ नहीं कर सकते, प्रत्युत उसके द्वारा संसारकी सेवा कर सकते हैं। शरीर संसारका अंश है; अतः इससे जो कुछ होगा, संसारके लिये ही होगा। संसारसे आगे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि जा सकते ही नहीं, इनको संसारसे अलग कर सकते ही नहीं। इसलिये अपने सुखके लिये कर्म करना मनुष्यपना नहीं है, प्रत्युत राक्षसपना है, असुरपना है! वास्तवमें मनुष्य वही है, जो दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है। अपने सुखके लिये कर्म करनेवाले पापका ही भक्षण करते हैं अर्थात् सदा दुःखी ही रहते हैं और दूसरेके हितके लिये कर्म करनेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् सदाके लिये सुखी हो जाते हैं—'**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्**' (गीता ४। ३१)।

सम्बन्ध—'मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं?'—अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् अनेक हेतु देते हुए आगेके दो श्लोकोंमें सृष्टि-चक्रकी सुरक्षाके लिये भी यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

भूतानि = सम्पूर्ण प्राणी
अन्नात् = अन्नसे
भवन्ति = उत्पन्न होते हैं।
अन्नसम्भवः = अन्नकी उत्पत्ति
पर्जन्यात् = वर्षासे होती है।
पर्जन्यः = वर्षा
यज्ञात् = यज्ञसे
भवति = होती है।
यज्ञः = यज्ञ
कर्मसमुद्भवः = कर्मोंसे सम्पन्न होता है।
कर्म = कर्मोंको (तू)
ब्रह्मोद्भवम् = वेदसे उत्पन्न
विद्धि = जान (और)
ब्रह्म = वेदको
अक्षरसमुद्भवम् = अक्षर ब्रह्मसे प्रकट हुआ (जान)।
तस्मात् = इसलिये (वह)
सर्वगतम् = सर्वव्यापी
ब्रह्म = परमात्मा
यज्ञे = यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)-में
नित्यम् = नित्य
प्रतिष्ठितम् = स्थित है।

व्याख्या—'**अन्नाद्भवन्ति भूतानि**'—प्राणोंको धारण करनेके लिये जो खाया जाता है, वह 'अन्न'[१] कहलाता है।

जिस प्राणीका जो खाद्य है, जिसे ग्रहण करनेसे उसके शरीरकी उत्पत्ति, भरण और पुष्टि होती है, उसे ही यहाँ 'अन्न' नामसे कहा गया है; जैसे—मिट्टीका कीड़ा मिट्टी खाकर जीता है तो मिट्टी ही उसके लिये अन्न है।

जरायुज (मनुष्य, पशु आदि), उद्भिज्ज (वृक्षादि), अण्डज (पक्षी, सर्प, चींटी आदि) और स्वेदज (जूँ आदि)—ये चारों प्रकारके प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्नसे ही जीवित रहते हैं[२]।

'**पर्जन्यादन्नसम्भवः**'—समस्त खाद्य पदार्थोंकी उत्पत्ति जलसे होती है। घास-फूस, अनाज आदि तो जलसे होते ही हैं, मिट्टीके उत्पन्न होनेमें भी जल ही कारण है। अन्न, जल, वस्त्र, मकान आदि शरीर-निर्वाहकी सभी सामग्री स्थूल या सूक्ष्मरूपसे जलसे सम्बन्ध रखती है और जलका आधार वर्षा है।

'**यज्ञाद्भवति पर्जन्यः**'—'यज्ञ' शब्द मुख्यरूपसे आहुति देनेकी क्रियाका वाचक है। परन्तु गीताके सिद्धान्त और कर्मयोगके प्रस्तुत प्रकरणके अनुसार यहाँ 'यज्ञ' शब्द सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंका उपलक्षक है। यज्ञमें त्यागकी ही

१-'अद भक्षणे' धातुसे 'क्त' करनेपर 'अदोऽनन्ने' (अष्टा० ३। २। ६८) सूत्रके निपातनसे 'अन्न' शब्द बनता है, अन्यथा 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति०' (अष्टा० २। ४। ३६) से 'जग्ध' शब्द बनेगा।

२-अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। (तैत्तिरीयोपनिषद् ३। २)

मुख्यता होती है। आहुति देनेमें अन्न, घी आदि चीजोंका त्याग है, दान करनेमें वस्तुका त्याग है, तप करनेमें अपने सुख-भोगका त्याग है, कर्तव्य-कर्म करनेमें अपने स्वार्थ, आराम आदिका त्याग है। अत: 'यज्ञ' शब्द यज्ञ (हवन), दान, तप आदि सम्पूर्ण शास्त्रविहित क्रियाओंका उपलक्षक है।

बृहदारण्यक-उपनिषद्में एक कथा आती है। प्रजापति ब्रह्माजीने देवता, मनुष्य और असुर—इन तीनोंको रचकर उन्हें 'द' इस अक्षरका उपदेश दिया। देवताओंके पास भोग-सामग्रीकी अधिकता होनेके कारण उन्होंने 'द' का अर्थ 'दमन करो' समझा। मनुष्योंमें संग्रहकी प्रवृत्ति अधिक होनेके कारण उन्होंने 'द' का अर्थ 'दान करो' समझा। असुरोंमें हिंसा-(दूसरोंको कष्ट देने-) का भाव अधिक होनेके कारण उन्होंने 'द' का अर्थ 'दया करो' समझा। इस प्रकार देवता, मनुष्य और असुर—तीनोंको दिये गये उपदेशका तात्पर्य दूसरोंका हित करनेमें ही है। वर्षाके समय मेघ जो 'द द द·····' की गर्जना करता है, वह आज भी ब्रह्माजीके उपदेश (दमन करो, दान करो, दया करो)-के रूपसे कर्तव्य-कर्मोंकी याद दिलाता है (बृहदारण्यक० पाँचवाँ अध्याय, द्वितीय ब्राह्मण, पहलेसे तीसरे मन्त्रतक)।

अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करनेसे वर्षा कैसे होगी? वचनकी अपेक्षा अपने आचरणका असर दूसरोंपर स्वाभाविक अधिक पड़ता है—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः**' (गीता ३। २१)। मनुष्य अपने-अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करेंगे तो उसका असर देवताओंपर भी पड़ेगा, जिससे वे भी अपने कर्तव्यका पालन करेंगे, वर्षा करेंगे। (गीता—तीसरे अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। इस विषयमें एक कहानी है। चार किसान-बालक थे। आषाढ़का महीना आनेपर भी वर्षा नहीं हुई तो उन्होंने विचार किया कि हल चलानेका समय आ गया है; वर्षा नहीं हुई तो न सही, हम तो समयपर अपने कर्तव्यका पालन कर दें। ऐसा सोचकर उन्होंने खेतमें जाकर हल चलाना शुरू कर दिया। मोरोंने उनको हल चलाते देखा तो सोचा कि बात क्या है? वर्षा तो अभी हुई नहीं, फिर ये हल क्यों चला रहे हैं? जब उनको पता लगा कि ये अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं, तब उन्होंने विचार किया कि हम अपने कर्तव्यका पालन करनेमें पीछे क्यों रहें? ऐसा सोचकर मोर भी बोलने लग गये। मोरोंकी आवाज सुनकर मेघोंने विचार किया कि आज हमारी गर्जना सुने बिना मोर कैसे बोल रहे हैं? सारी बात पता लगनेपर उन्होंने सोचा कि हम अपने कर्तव्यसे क्यों हटें? और उन्होंने भी गर्जना करनी शुरू कर दी। मेघोंकी गर्जना सुनकर इन्द्रने सोचा कि बात क्या है? जब उसको मालूम हुआ कि वे अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं, तब उसने सोचा कि अपने कर्तव्यका पालन करनेमें मैं पीछे क्यों रहूँ? ऐसा सोचकर इन्द्रने भी मेघोंको वर्षा करनेकी आज्ञा दे दी।

'**यज्ञः कर्मसमुद्भवः**'—निष्कामभावपूर्वक किये जानेवाले लौकिक और शास्त्रीय सभी विहित कर्मोंका नाम 'यज्ञ' है। ब्रह्मचारीके लिये अग्निहोत्र करना 'यज्ञ' है। ऐसे ही स्त्रियोंके लिये रसोई बनाना 'यज्ञ' है*। आयुर्वेदका ज्ञाता केवल लोगोंके हितके लिये वैद्यक-कर्म करे तो उसके लिये वही 'यज्ञ' है। इसी तरह विद्यार्थी अपने अध्ययनको और व्यापारी अपने व्यापारको (यदि वह केवल दूसरोंके हितके लिये निष्कामभावसे किया जाय) 'यज्ञ' मान सकते हैं। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, देश, कालकी मर्यादा रखकर निष्कामभावसे किये गये सभी शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म 'यज्ञ'-रूप होते हैं। यज्ञ किसी भी प्रकारका हो, क्रियाजन्य ही होता है।

संखिया, भिलावा आदि विषोंको भी वैद्यलोग जब शुद्ध करके औषधरूपमें देते हैं, तब वे विष भी अमृतकी तरह होकर बड़े-बड़े रोगोंको दूर करनेवाले बन जाते हैं। इसी प्रकार कामना, ममता, आसक्ति, पक्षपात, विषमता, स्वार्थ, अभिमान आदि—ये सब कर्मोंमें विषके समान हैं। कर्मोंके इस विषैले भागको निकाल देनेपर वे कर्म अमृतमय होकर जन्म-मरणरूप महान् रोगको दूर करनेवाले बन जाते हैं। ऐसे अमृतमय कर्म ही 'यज्ञ' कहलाते हैं।

'**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि**'—वेद कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी विधि बताते हैं (गीता—चौथे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। मनुष्यको कर्तव्य-कर्म करनेकी विधिका ज्ञान वेदसे होनेके कारण ही कर्मोंको वेदसे उत्पन्न कहा गया है।

'वेद' शब्दके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके साथ-साथ स्मृति, पुराण, इतिहास (रामायण,

---

* **वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ (मनुस्मृति २। ६७)**

'स्त्रियोंके लिये वैवाहिक विधिका पालन ही वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीत), पतिकी सेवा ही गुरुकुल-निवास (वेदाध्ययन) और गृहकार्य ही अग्निहोत्र (यज्ञ) कहा गया है।

महाभारत) एवं भिन्न-भिन्न सम्प्रदायके आचार्योंके अनुभव-वचन आदि समस्त वेदानुकूल सत्-शास्त्रोंको ग्रहण कर लेना चाहिये।

'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'—यहाँ 'ब्रह्म' पद वेदका वाचक है। वेद सच्चिदानन्दघन परमात्मासे ही प्रकट हुए हैं (गीता १७। २३)। इस प्रकार परमात्मा सबके मूल हुए।

परमात्मासे वेद प्रकट होते हैं। वेद कर्तव्य-पालनकी विधि बताते हैं। मनुष्य उस कर्तव्यका विधिपूर्वक पालन करते हैं। कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ होता है और यज्ञसे वर्षा होती है। वर्षासे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी होते हैं और उन्हीं प्राणियोंमेंसे मनुष्य कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ करते हैं*। इस तरह यह सृष्टि-चक्र चल रहा है।

'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'—यहाँ 'ब्रह्म' पद अक्षर-(सगुण-निराकार परमात्मा-) का वाचक है। अतः सर्वगत (सर्वव्यापी) परमात्मा हैं, वेद नहीं।

सर्वव्यापी होनेपर भी परमात्मा विशेषरूपसे 'यज्ञ' (कर्तव्य-कर्म) में सदा विद्यमान रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मका पालन किया जाता है, वहाँ परमात्मा रहते हैं। अतः परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा उन्हें सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८। ४६)।

***शंका*—**परमात्मा जब सर्वव्यापी हैं, तब उन्हें केवल यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित क्यों कहा गया है? क्या वे दूसरी जगह नित्य प्रतिष्ठित नहीं हैं?

***समाधान*—**परमात्मा तो सभी जगह समानरूपसे नित्य विद्यमान हैं। वे अनित्य और एकदेशीय नहीं हैं। इसीलिये उन्हें यहाँ 'सर्वगत' कहा गया है। यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)-में नित्य प्रतिष्ठित कहनेका तात्पर्य यह है कि यज्ञ उनका उपलब्धि-स्थान है। जमीनमें सर्वत्र जल रहनेपर भी वह कुएँ आदिसे ही उपलब्ध होता है, सब जगहसे नहीं। पाइपमें सर्वत्र जल रहनेपर भी जल वहींसे प्राप्त होता है, जहाँ टोंटी या छिद्र होता है। ऐसे ही सर्वगत होनेपर भी परमात्मा यज्ञसे ही प्राप्त होते हैं।

अपने लिये कर्म करनेसे तथा जडता (शरीरादि)-के साथ अपना सम्बन्ध माननेसे सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा (आड़) आ जाती है। निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हित‍के लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे यह बाधा हट जाती है और नित्यप्राप्त परमात्माका स्वतः अनुभव हो जाता है। यही कारण है कि भगवान् अर्जुनको, जो कि अपने कर्तव्यसे हटना चाहते थे, अनेक युक्तियोंसे कर्तव्यका पालन करनेपर विशेष जोर दे रहे हैं।

सम्बन्ध—सृष्टिचक्रके अनुसार चलने अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। अतः जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसकी ताड़ना भगवान् आगेके श्लोकमें करते हैं।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

पार्थ = हे पार्थ!
यः = जो मनुष्य
इह = इस लोकमें
एवम् = इस प्रकार
प्रवर्तितम् = (परम्परासे) प्रचलित
चक्रम् = सृष्टि-चक्रके
न, अनुवर्तयति = अनुसार नहीं चलता,
सः = वह
इन्द्रियारामः = इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला
अघायुः = अघायु (पापमय जीवन बितानेवाला) मनुष्य
मोघम् = (संसारमें) व्यर्थ ही
जीवति = जीता है।

व्याख्या—**'पार्थ'**—नवें श्लोकमें प्रारम्भ किये हुए प्रकरणका उपसंहार करते हुए भगवान् यहाँ अर्जुनके लिये 'पार्थ' सम्बोधन देकर मानो यह कह रहे हैं कि तुम उसी पृथा-(कुन्ती-) के पुत्र हो, जिसने आजीवन कष्ट सहकर भी अपने कर्तव्यका पालन किया था। अतः तुम्हारेसे भी अपने कर्तव्यकी अवहेलना नहीं होनी चाहिये। जिस युद्धको तू घोर कर्म कह रहा है, वह तेरे लिये घोर कर्म नहीं, प्रत्युत यज्ञ (कर्तव्य) है। इसका पालन करना ही सृष्टि-चक्रके

*** मनुष्यसे इतर सभी स्थावर-जंगम प्राणियोंद्वारा स्वतः यज्ञ (परोपकार) होता रहता है, पर वे यज्ञका अनुष्ठान बुद्धिपूर्वक नहीं कर सकते। बुद्धिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान मनुष्य ही कर सकता है; क्योंकि इसकी योग्यता और अधिकार मनुष्यको ही है।**

अनुसार बरतना है और इसका पालन न करना सृष्टि-चक्रके अनुसार न बरतना है।

'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः'—जैसे रथके पहियेका छोटा-सा अंश भी टूट जानेपर रथके समस्त अंगोंको एवं उसपर बैठे रथी और सारथिको धक्का लगता है, ऐसे ही जो मनुष्य चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें वर्णित सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता वह समष्टि सृष्टिके संचालनमें बाधा डालता है।

संसार और व्यक्ति दो (विजातीय) वस्तु नहीं हैं। जैसे शरीरका अंगोंके साथ और अंगोंका शरीरके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऐसे ही संसारका व्यक्तिके साथ और व्यक्तिका संसारके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब व्यक्ति कामना, ममता, आसक्ति और अहंताका त्याग करके अपने कर्तव्यका पालन करता है, तब उससे सम्पूर्ण सृष्टिमें स्वतः सुख पहुँचता है।

'इन्द्रियारामः'—जो मनुष्य कामना, ममता, आसक्ति आदिसे युक्त होकर इन्द्रियोंके द्वारा भोग भोगता है, उसे यहाँ भोगोंमें रमण करनेवाला कहा गया है। ऐसा मनुष्य पशुसे भी नीचा है; क्योंकि पशु नये पाप नहीं करता; प्रत्युत पहले किये गये पापोंका ही फल भोगकर निर्मलताकी ओर जाता है; परन्तु 'इन्द्रियाराम' मनुष्य नये-नये पाप करके पतनकी ओर जाता है और साथ ही सृष्टि-चक्रमें बाधा उत्पन्न करके सम्पूर्ण सृष्टिको दुःख पहुँचाता है।

'अघायुः'—सृष्टि-चक्रके अनुसार न चलनेवाले मनुष्यकी आयु, उसका जीवन केवल पापमय है। कारण कि इन्द्रियोंके द्वारा भोगबुद्धिसे भोग भोगनेवाला मनुष्य हिंसारूप पापसे बच ही नहीं सकता। स्वार्थी, अभिमानी और भोग तथा संग्रहको चाहनेवाले मनुष्यके द्वारा दूसरोंका अहित होता है; अतः ऐसे मनुष्यका जीवन पापमय होता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं।

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

(मानस ७। ३९)

'मोघं पार्थ स जीवति'—अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले मनुष्यकी सभ्य भाषामें निन्दा या ताड़ना करते हुए भगवान् कहते हैं कि ऐसा मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है अर्थात् वह मर जाय तो अच्छा है! तात्पर्य यह है कि यदि वह अपने कर्तव्यका पालन करके सृष्टिको सुख नहीं पहुँचाता तो कम-से-कम दुःख तो न पहुँचाये। जैसे भगवान् श्रीरामके वनवासके समय अयोध्यावासियोंके चित्रकूट आनेपर कोल, किरात, भील आदि जंगली लोगोंने उनसे कहा था कि हम आपके वस्त्र और बर्तन नहीं चुरा लेते, यही हमारी बहुत बड़ी सेवा है—**यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥** (मानस २। २५१। २), ऐसे ही अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले मनुष्य कम-से-कम सृष्टि-चक्रमें बाधा न डालें तो यह उनकी सेवा ही है।

सृष्टि-चक्रके अनुसार न चलनेवाले मनुष्यके लिये भगवान्ने पहले **'स्तेन एव सः'** (३। १२) 'वह चोर ही है' और **'भुञ्जते ते त्वघम्'** (३। १३) 'वे तो पापको ही खाते हैं'—इस प्रकार कहा और अब इस श्लोकमें **'अघायुरिन्द्रियारामः'** 'वह पापायु और इन्द्रियाराम है'—ऐसा कहकर उसके जीनेको भी व्यर्थ बताते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥
उदय केत सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके॥

(मानस १। ४। ३)

परिशिष्ट भाव—नवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जो वर्णन आया है, उसका तात्पर्य निःस्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवा करनेमें ही है।

सम्बन्ध—संसारसे 'सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये जो अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उस मनुष्यकी पूर्वश्लोकमें ताड़ना की गयी है। परन्तु जिसने अपने कर्तव्यका पालन करके संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, उस महापुरुषकी स्थितिका वर्णन भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

तु	= परन्तु	**च**	= और	**सन्तुष्टः**	= सन्तुष्ट
यः	= जो	**आत्मतृप्तः**	= अपने-आपमें ही तृप्त	**स्यात्**	= है,
मानवः	= मनुष्य	**च**	= तथा	**तस्य**	= उसके लिये
आत्मरतिः, एव	= अपने-आपमें ही रमण करनेवाला	**आत्मनि**	= अपने-आपमें	**कार्यम्**	= कोई कर्तव्य
		एव	= ही	**न**	= नहीं
				विद्यते	= है।

व्याख्या—‘**यस्त्वात्मरतिरेव....च सन्तुष्टस्तस्य**’—यहाँ ‘**तु**’ पद पूर्वश्लोकमें वर्णित अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले मनुष्यसे कर्तव्यकर्मके द्वारा सिद्धिको प्राप्त महापुरुषकी विलक्षणता बतानेके लिये प्रयुक्त हुआ है।

जबतक मनुष्य अपना सम्बन्ध संसारसे मानता है, तबतक वह अपनी ‘रति’ (प्रीति) इन्द्रियोंके भोगोंसे एवं स्त्री, पुत्र, परिवार आदिसे, ‘तृप्ति’ भोजन (अन्न-जल)-से तथा ‘सन्तुष्टि’ धनसे मानता है। परन्तु इसमें उसकी प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि न तो कभी पूर्ण ही होती है और न निरन्तर ही रहती है। कारण कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील, जड और नाशवान् है तथा ‘स्वयं’ सदा एकरस रहनेवाला, चेतन और अविनाशी है। तात्पर्य है कि ‘स्वयं’ का संसारके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। अतः ‘स्वयं’ की प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि संसारसे कैसे हो सकती है?

किसी भी मनुष्यकी प्रीति संसारमें सदा नहीं रहती—यह सभीका अनुभव है। विवाहके समय स्त्री और पुरुषमें परस्पर जो प्रीति या आकर्षण प्रतीत होता है, वह एक-दो सन्तान होनेके बाद नहीं रहता। कहीं-कहीं तो स्त्रियाँ अपने वृद्ध पतिके लिये यहाँतक कह देती हैं कि ‘बुड्ढा मर जाय तो अच्छा है!’ भोजन करनेसे प्राप्त ‘तृप्ति’ भी कुछ ही समयके लिये प्रतीत होती है, मनुष्यको धन-प्राप्तिमें जो ‘सन्तुष्टि’ प्रतीत होती है, वह भी क्षणिक होती है; क्योंकि धनकी लालसा सदा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इसलिये कमी निरन्तर बनी रहती है। तात्पर्य यही है कि संसारमें प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि कभी स्थायी नहीं रह सकती।

मनुष्यको सांसारिक वस्तुओंमें प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिकी केवल प्रतीति होती है, वास्तवमें होती नहीं, अगर होती तो पुनः अरति, अतृप्ति एवं असंतुष्टि नहीं होती। स्वरूपसे प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि स्वतःसिद्ध है। स्वरूप सत् है। सत्‌में कभी कोई अभाव नहीं होता—‘**नाभावो विद्यते सतः**’ (गीता २। १६) और अभावके बिना कोई कामना पैदा नहीं होती। इसलिये स्वरूपमें निष्कामता स्वतःसिद्ध है। परन्तु जब जीव भूलसे संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिको संसारमें ढूँढ़ने लगता है और इसके लिये सांसारिक वस्तुओंकी कामना करने लगता है। कामना करनेके बाद जब वह वस्तु (धनादि) मिलती है, तब मनमें स्थित कामनाके निकलनेके बाद (दूसरी कामनाके पैदा होनेसे पहले) उसकी अवस्था निष्काम हो जाती है और उसी निष्कामताका उसे सुख होता है; परन्तु उस सुखको मनुष्य भूलसे सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिसे उत्पन्न हुआ मान लेता है तथा उस सुखको ही प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिके नामसे कहता है। अगर वस्तुकी प्राप्तिसे वह सुख होता, तो उसके मिलनेके बाद उस वस्तुके रहते हुए सदा सुख रहता, दुःख कभी न होता और पुनः वस्तुकी कामना उत्पन्न न होती। परन्तु सांसारिक वस्तुओंसे कभी भी पूर्ण (सदाके लिये) प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि प्राप्त न हो सकनेके कारण तथा संसारसे ममताका सम्बन्ध बना रहनेके कारण वह पुनः नयी-नयी कामनाएँ करने लगता है। कामना उत्पन्न होनेपर अपनेमें अभावका तथा काम्य वस्तुके मिलनेपर अपनेमें पराधीनताका अनुभव होता है। अतः कामनावाला मनुष्य सदा दुःखी रहता है।

यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि साधक तो उस सुखका मूल कारण निष्कामताको मानते हैं और दुःखोंका कारण कामनाको मानते हैं; परन्तु संसारमें आसक्त मनुष्य वस्तुओंकी प्राप्तिसे सुख मानते हैं और वस्तुओंकी अप्राप्तिसे दुःख मानते हैं। यदि आसक्त मनुष्य भी साधकके समान ही यथार्थ दृष्टिसे देखे तो उसको शीघ्र ही स्वतःसिद्ध निष्कामताका अनुभव हो सकता है।

सकाम मनुष्योंको कर्मयोगका अधिकारी कहा गया है—‘**कर्मयोगस्तु कामिनाम्**’ (श्रीमद्भा० ११। २०। ७)। सकाम मनुष्योंकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि संसारमें होती है। अतः कर्मयोगद्वारा सिद्ध निष्काम महापुरुषोंकी स्थितिका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि उनकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि सकाम मनुष्योंकी तरह संसारमें न होकर अपने-आप-(स्वरूप-) में ही हो जाती है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक), जो स्वरूपतः पहलेसे ही है।

वास्तवमें प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि—तीनों अलग-अलग न होते हुए भी संसारके सम्बन्धसे अलग-अलग प्रतीत होती हैं। इसीलिये संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उस महापुरुषकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि—तीनों एक ही तत्त्व-(स्वरूप-) में हो जाती है।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें दो बार तथा आगेके (अठारहवें) श्लोकमें एक बार '**एव**' और '**च**' पदोंका प्रयोग किया है। इससे यह भाव प्रकट होता है कि कर्मयोगीकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रहती एवं तत्त्वके अतिरिक्त अन्यकी आवश्यकता भी नहीं रहती (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

'**तस्य कार्यं न विद्यते**'—मनुष्यके लिये जो भी कर्तव्य-कर्मका विधान किया गया है, उसका उद्देश्य परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना ही है। किसी भी साधन-(कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग-) के द्वारा उद्देश्यकी सिद्धि हो जानेपर मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना अथवा पाना शेष नहीं रहता, जो मनुष्य-जीवनकी परम सफलता है।

मनुष्यके वास्तविक स्वरूपमें किंचिन्मात्र अभाव न रहनेपर भी जबतक वह संसारके सम्बन्धके कारण अपनेमें अभाव समझकर और शरीरको 'मैं' तथा 'मेरा' मानकर 'अपने लिये' कर्म करता है, तबतक उसके लिये कर्तव्य शेष रहता ही है। परन्तु जब वह 'अपने लिये' कुछ भी न करके 'दूसरोंके लिये' अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणोंके लिये; माता, पिता, स्त्री, पुत्र, परिवारके लिये; समाजके लिये; देशके लिये और जगत्‌के लिये सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसका अपने लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। कारण कि स्वरूपमें कोई भी क्रिया नहीं होती। जो भी क्रिया होती है, संसारके सम्बन्धसे ही होती है और सांसारिक वस्तुके द्वारा ही होती है। अतः जिनका संसारसे सम्बन्ध है, उन्हींके लिये कर्तव्य है।

कर्म तब होता है, जब कुछ-न-कुछ पानेकी कामना होती है, और कामना पैदा होती है—अभावसे। सिद्ध महापुरुषमें कोई अभाव होता ही नहीं, फिर उनके लिये करना कैसा?

कर्मयोगके द्वारा सिद्ध महापुरुषकी रति, तृप्ति और संतुष्टि जब अपने-आपमें ही हो जाती है, तब कृत-कृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जानेसे वह विधि-निषेधसे ऊँचा उठ जाता है। यद्यपि उसपर शास्त्रका शासन नहीं रहता, तथापि उसकी समस्त क्रियाएँ स्वाभाविक ही शास्त्रानुकूल तथा दूसरोंके लिये आदर्श होती हैं।

यहाँ '**तस्य कार्यं न विद्यते**' पदोंका अभिप्राय यह नहीं है कि उस महापुरुषसे कोई क्रिया होती ही नहीं। कुछ भी करना शेष न रहनेपर भी उस महापुरुषके द्वारा लोकसंग्रहके लिये क्रियाएँ स्वतः होती हैं। जैसे पलकोंका गिरना-उठना, श्वासोंका आना-जाना, भोजनका पचना आदि क्रियाएँ स्वतः (प्रकृतिमें) होती हैं, ऐसे ही उस महापुरुषके द्वारा सभी शास्त्रानुकूल आदर्शरूप क्रियाएँ भी (कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण) स्वतः होती हैं।

परिशिष्ट भाव—कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे संसारकी सेवाके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है। जैसे गंगाजलसे गंगाका ही पूजन किया जाय, ऐसे ही संसारसे मिले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्‌को संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे चिन्मय स्वरूप शेष रह जाता है। इसलिये उसकी प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि स्वरूपमें ही होती है।

सांसारिक विधि और निषेध—दोनों वास्तवमें निषेध ही हैं; क्योंकि ये दोनों ही नहीं रहनेवाले हैं। इसलिये संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कर्मयोगीके लिये कोई विधि-निषेध रहता ही नहीं—'**तस्य कार्यं न विद्यते**'।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

तस्य	= उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुष) का	**कृतेन**	= कर्म करनेसे	**अकृतेन**	= कर्म न करनेसे
इह	= इस संसारमें	**कश्चन**	= कोई	**एव**	= ही (कोई प्रयोजन रहता है)
न	= न तो	**अर्थः**	= प्रयोजन (रहता है और)	**च**	= तथा
		न	= न	**सर्वभूतेषु**	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें

(किसी भी प्राणीके साथ)	**अस्य** =इसका **कश्चित्** =किंचिन्मात्र भी	**अर्थव्यपाश्रयः** =स्वार्थका सम्बन्ध **न** =नहीं रहता।

व्याख्या—**'नैव तस्य कृतेनार्थः'**—प्रत्येक मनुष्यकी कुछ-न-कुछ करनेकी प्रवृत्ति होती है। जबतक यह करनेकी प्रवृत्ति किसी सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिके लिये होती है, तबतक उसका अपने लिये 'करना' शेष रहता ही है। अपने लिये कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही मनुष्य बँधता है। उस इच्छाकी निवृत्तिके लिये कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकता है।

कर्म दो प्रकारसे किये जाते हैं। कामना-पूर्तिके लिये और कामना-निवृत्तिके लिये। साधारण मनुष्य तो कामनापूर्तिके लिये कर्म करते हैं, पर कर्मयोगी कामना-निवृत्तिके लिये कर्म करता है। इसलिये कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषमें कोई भी कामना न रहनेके कारण उसका किसी भी कर्तव्यसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। उसके द्वारा निःस्वार्थ-भावसे समस्त सृष्टिके हितके लिये स्वतः कर्तव्य-कर्म होते हैं।

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका कर्मोंसे अपने लिये (व्यक्तिगत सुख-आरामके लिये) कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस महापुरुषका यह अनुभव होता है कि पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि केवल संसारके हैं और संसारसे मिले हैं, व्यक्तिगत नहीं हैं। अतः इनके द्वारा केवल संसारके लिये ही कर्म करना है, अपने लिये नहीं। कारण यह है कि संसारकी सहायताके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता। इसके अलावा मिली हुई कर्म-सामग्रीका सम्बन्ध भी समष्टि संसारके साथ ही है, अपने साथ नहीं। इसलिये अपना कुछ नहीं है। व्यष्टिके लिये समष्टि हो ही नहीं सकती। मनुष्यकी यही गलती होती है कि वह अपने लिये समष्टिका उपयोग करना चाहता है इसीसे उसे अशान्ति होती है। अगर वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिका समष्टिके लिये उपयोग करे तो उसे महान् शान्ति प्राप्त हो सकती है। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषमें यही विशेषता रहती है कि उसके कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिका उपयोग मात्र संसारके लिये ही होता है। अतः उसका शरीरादिकी क्रियाओंसे अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता। प्रयोजन न रहनेपर भी उस महापुरुषसे स्वाभाविक ही लोगोंके लिये आदर्शरूप उत्तम कर्म होते हैं। जिसका कर्म करनेसे प्रयोजन रहता है, उससे आदर्श कर्म नहीं होते—यह सिद्धान्त है।

'नाकृतेनेह कश्चन'—जो मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपना सम्बन्ध मानता है और आलस्य, प्रमाद आदिमें रुचि रखता है, वह कर्मोंको नहीं करना चाहता; क्योंकि उसका प्रयोजन प्रमाद, आलस्य, आराम आदिसे उत्पन्न तामस-सुख रहता है (गीता—अठारहवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक)। परन्तु यह महापुरुष, जो सात्त्विक सुखसे भी ऊँचा उठ चुका है, तामस सुखमें प्रवृत्त हो ही कैसे सकता है? क्योंकि इसका शरीरादिसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, फिर आलस्य-आराम आदिमें रुचि रहनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता।

मार्मिक बात

प्रायः साधक कर्मोंके न करनेको ही महत्त्व देते हैं। वे कर्मोंसे उपरत होकर समाधिमें स्थित होना चाहते हैं, जिससे कोई भी चिन्तन बाकी न रहे। यह बात श्रेष्ठ और लाभप्रद तो है, पर सिद्धान्त नहीं है। यद्यपि प्रवृत्ति-(करना-) की अपेक्षा निवृत्ति (न करना) श्रेष्ठ है, तथापि यह तत्त्व नहीं है।

प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)—दोनों ही प्रकृतिके राज्यमें हैं। निर्विकल्प समाधितक सब प्रकृतिका राज्य है; क्योंकि निर्विकल्प समाधिसे भी व्युत्थान होता है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है—**'प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः'**, और क्रिया हुए बिना व्युत्थानका होना सम्भव ही नहीं। इसलिये चलने, बोलने, देखने, सुनने आदिकी तरह सोना, बैठना, खड़ा होना, मौन होना, मूर्च्छित होना और समाधिस्थ होना भी क्रिया है*। वास्तविक तत्त्व-(चेतन स्वरूप-)में प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही

*** प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है, इसलिये उससे सम्बन्ध रखते हुए कोई भी प्राणी किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३। ५; १८। ११)। अतः जबतक प्रकृतिका सम्बन्ध है, तबतक समाधि भी कर्म ही है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। परन्तु प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर दो अवस्थाएँ नहीं होतीं, प्रत्युत 'सहज समाधि' अथवा 'सहजावस्था' होती है, जिससे कभी व्युत्थान नहीं होता। कारण कि अवस्थाभेद प्रकृतिमें है, स्वरूपमें नहीं। इसलिये सहजावस्थाको सबसे उत्तम कहा गया है—**

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा। कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

नहीं हैं। वह प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंका निर्लिप्त प्रकाशक है।

शरीरसे तादात्म्य होनेपर ही (शरीरको लेकर) 'करना' और 'न करना'—ये दो विभाग (द्वन्द्व) होते हैं। वास्तवमें 'करना' और 'न करना' दोनोंकी एक ही जाति है। शरीरसे सम्बन्ध रखकर 'न करना' भी वास्तवमें 'करना' ही है। जैसे '**गच्छति**' (जाता है) क्रिया है, ऐसे ही '**तिष्ठति**' (खड़ा है) भी क्रिया ही है। यद्यपि स्थूल दृष्टिसे '**गच्छति**' में क्रिया स्पष्ट दिखायी देती है और '**तिष्ठति**' में क्रिया नहीं दिखायी देती है, तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो जिस शरीरमें 'जाने' की क्रिया थी, उसीमें अब 'खड़े रहने' की क्रिया है। इसी प्रकार किसी कामको 'करना' और 'न करना'—इन दोनोंमें ही क्रिया है। अतः जिस प्रकार क्रियाओंका स्थूलरूपसे दिखायी देना (प्रवृत्ति) प्रकृतिमें ही है, उसी प्रकार स्थूल दृष्टिसे क्रियाओंका दिखायी न देना (निवृत्ति) भी प्रकृतिमें ही है। जिसका प्रकृति एवं उसके कार्यसे भौतिक तथा आध्यात्मिक और लौकिक तथा पारलौकिक कोई प्रयोजन नहीं रहता, उस महापुरुषका करने एवं न करनेसे कोई स्वार्थ नहीं रहता।

जडताके साथ सम्बन्ध रहनेपर ही करने और न करनेका प्रश्न होता है; क्योंकि जडताके सम्बन्धके बिना कोई क्रिया होती ही नहीं। इस महापुरुषका जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और प्रवृत्ति एवं निवृत्ति—दोनोंसे अतीत सहज-निवृत्त-तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। अतः साधकको जडता-(शरीरमें अहंता और ममता-) से सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी ही आवश्यकता है। तत्त्व तो सदा ज्यों-का-त्यों विद्यमान है ही।

'**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः**'—शरीर तथा संसारसे किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध न रहनेके कारण उस महापुरुषकी समस्त क्रियाएँ स्वतः दूसरोंके हितके लिये होती हैं। जैसे शरीरके सभी अंग स्वतः शरीरके हितमें लगे रहते हैं, ऐसे ही उस महापुरुषका अपना कहलानेवाला शरीर (जो संसारका एक छोटा-सा अंग है) स्वतः संसारके हितमें लगा रहता है। उसका भाव और उसकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ संसारके हितके लिये ही होती हैं। जैसे अपने हाथोंसे अपना ही मुख धोनेपर अपनेमें स्वार्थ, प्रत्युपकार अथवा अभिमानका भाव नहीं आता, ऐसे ही अपने कहलानेवाले शरीरके द्वारा संसारका हित होनेपर उस महापुरुषमें किंचित् भी स्वार्थ, प्रत्युपकार अथवा अभिमानका भाव नहीं आता।

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने सिद्ध महापुरुषके लिये कहा कि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है—'**तस्य कार्यं न विद्यते।**' उसका हेतु बताते हुए भगवान्ने इस श्लोकमें उस महापुरुषके लिये तीन बातें कही हैं—(१) कर्म करनेसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता, (२) कर्म न करनेसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता और (३) किसी भी प्राणी और पदार्थसे उसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् कुछ पानेसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता।

वस्तुतः स्वरूपमें करने अथवा न करनेका कोई प्रयोजन नहीं है और किसी व्यक्ति तथा वस्तुके साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है। कारण कि शुद्ध स्वरूपके द्वारा कोई क्रिया होती ही नहीं। जो भी क्रिया होती है, वह प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंके सम्बन्धसे ही होती है। इसलिये अपने लिये कुछ करनेका विधान ही नहीं है।

जबतक मनुष्यमें करनेका राग, पानेकी इच्छा, जीनेकी आशा और मरनेका भय रहता है, तबतक उसपर कर्तव्यका दायित्व रहता है। परन्तु जिसमें किसी भी क्रियाको करने अथवा न करनेका कोई राग नहीं है, संसारकी किसी भी वस्तु आदिको प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है, जीवित रहनेकी कोई आशा नहीं है और मृत्युसे कोई भय नहीं है, उसे कर्तव्य करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उससे स्वतः कर्तव्य-कर्म होते रहते हैं। जहाँ अकर्तव्य होनेकी सम्भावना हो, वहीं कर्तव्य पालनकी प्रेरणा रहती है।

विशेष बात

गीतामें भगवान्की ऐसी शैली रही है कि वे भिन्न-भिन्न साधनोंसे परमात्माकी ओर चलनेवाले साधकोंके भिन्न-भिन्न लक्षणोंके अनुसार ही परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं। यहाँ सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें भी इसी शैलीका प्रयोग किया गया है।

जो साधन जहाँसे प्रारम्भ होता है, अन्तमें वहीं उसकी समाप्ति होती है। गीतामें कर्मयोगका प्रकरण यद्यपि दूसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकसे प्रारम्भ होता है, तथापि कर्मयोगके मूल साधनका विवेचन दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें किया गया है। उस श्लोक (दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें)-के चार चरणोंमें बताया गया है—

(१) **कर्मण्येवाधिकारस्ते** (तेरा कर्म करनेमें ही

अधिकार है)।

(२) **मा फलेषु कदाचन** (कर्मफलोंमें तेरा कभी भी अधिकार नहीं है)।

(३) **मा कर्मफलहेतुर्भूः** (तू कर्मफलका हेतु मत बन)।

(४) **मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो)।

प्रस्तुत (अठारहवें) श्लोकमें ठीक उपर्युक्त साधनाकी सिद्धिकी बात है। वहाँ (दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोक) में दूसरे और तीसरे चरणमें साधकके लिये जो बात कही गयी है, वह प्रस्तुत श्लोकके उत्तरार्धमें सिद्ध महापुरुषके लिये कही गयी है कि उसका किसी प्राणी और पदार्थसे कोई स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। वहाँ पहले और चौथे चरणमें साधकके लिये जो बात कही गयी है, वह प्रस्तुत श्लोकके पूर्वार्धमें सिद्ध महापुरुषके लिये कही गयी है कि उसका कर्म करने अथवा न करने—दोनोंसे ही कोई प्रयोजन नहीं रहता। इस प्रकार सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें 'कर्मयोग' से सिद्ध हुए महापुरुषके लक्षणोंका ही वर्णन किया गया है।

कर्मयोगके साधनकी दृष्टिसे वास्तवमें अठारहवाँ श्लोक पहले तथा सत्रहवाँ श्लोक बादमें आना चाहिये। कारण कि जब कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषका कर्म करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा उसका किसी भी प्राणी-पदार्थसे किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। तब उसकी रति, तृप्ति और संतुष्टि अपने-आपमें ही हो जाती है। परन्तु सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने **'मोघं पार्थ स जीवति'** पदोंसे कर्तव्य-पालन न करनेवाले मनुष्यके जीनेको निरर्थक बतलाया था; अतः सत्रहवें श्लोकमें **'यः तु'** पद देकर यह बतलाते हैं कि यदि सिद्ध महापुरुष कर्तव्य-कर्म नहीं करता तो उसका जीना निरर्थक नहीं है, प्रत्युत महान् सार्थक है। कारण कि उसने मनुष्यजन्मके उद्देश्यको पूरा कर लिया है। अतः उसके लिये अब कुछ भी करना शेष नहीं रहा।

जिस स्थितिमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, उस स्थितिको साधारण-से-साधारण मनुष्य भी प्रत्येक अवस्थामें तत्परता एवं लगनपूर्वक निष्कामभावसे कर्तव्यकर्म करनेपर प्राप्त कर सकता है; क्योंकि उसकी प्राप्तिमें सभी स्वतन्त्र और अधिकारी हैं। कर्तव्यका सम्बन्ध प्रत्येक परिस्थितिसे जुड़ा हुआ है। इसलिये प्रत्येक परिस्थितिमें कर्तव्य निहित रहता है। केवल सुखलोलुपतासे ही मनुष्य कर्तव्यको भूलता है। यदि वह निःस्वार्थ-भावसे दूसरोंकी सेवा करके अपनी सुखलोलुपता मिटा डाले, तो जीवनके सभी दुःखोंसे छुटकारा पाकर परम शान्तिको प्राप्त हो सकता है। इस परम शान्तिकी प्राप्तिमें सबका समान अधिकार है। संसारके सर्वोपरि पदार्थ, पद आदि सबको समानरूपसे मिलने सम्भव नहीं हैं; किन्तु परम शान्ति सबको समानरूपसे ही मिलती है।

परिशिष्ट भाव—संसारमें 'करना' और 'न करना'—दोनों सापेक्ष हैं। इसलिये 'मेरेको कुछ नहीं करना है'—यह भी 'करना' ही है। परन्तु परमात्मतत्त्वमें 'न करना' निरपेक्ष है, स्वाभाविक है। कारण कि चिन्मय सत्ताका न तो क्रिया करनेके साथ सम्बन्ध है और न क्रिया न करनेके साथ सम्बन्ध है। इसलिये परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए कर्मयोगी महापुरुषका न तो किसी वस्तु से कोई सम्बन्ध रहता है, न व्यक्तिसे कोई सम्बन्ध रहता है और न क्रियासे ही कोई सम्बन्ध रहता है—**'योऽवतिष्ठति नेङ्गते'** (गीता १४। २३)। उसकी दृष्टिमें एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कुछ नहीं रहता।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें वर्णित महापुरुषकी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये साधकको क्या करना चाहिये—इसपर भगवान् आगेके श्लोकमें साधन बताते हैं।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

तस्मात्	= इसलिये (तू)	**कर्म**	= कर्मका	**कर्म**	= कर्म
सततम्	= निरन्तर	**समाचर**	= भलीभाँति आचरण कर;	**आचरन्**	= करता हुआ
असक्तः	= आसक्तिरहित (होकर)			**पूरुषः**	= मनुष्य
		हि	= क्योंकि	**परम्**	= परमात्माको
कार्यम्	= कर्तव्य	**असक्तः**	= आसक्तिरहित (होकर)	**आप्नोति**	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—‘**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर**’— पूर्वश्लोकोंसे इस श्लोकका सम्बन्ध बतानेके लिये यहाँ ‘**तस्मात्**’ पद आया है। पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा कि अपने लिये कर्म करनेकी कोई आवश्यकता न रहनेपर भी सिद्ध महापुरुषके द्वारा लोक-संग्रहार्थ क्रियाएँ हुआ करती हैं। इसलिये अर्जुनको भी उसी तरह (निष्काम-भावसे) कर्तव्य-कर्म करते हुए परमात्माको प्राप्त करनेकी आज्ञा देनेके लिये भगवान्‌ने ‘**तस्मात्**’ पदका प्रयोग किया है। कारण कि अपने स्वरूप—‘**स्व**’ के लिये कर्म करने और न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। कर्म सदैव ‘**पर**’-(दूसरों-) के लिये होता है, ‘**स्व**’ के लिये नहीं। अतः दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्म करनेका राग मिट जाता है और स्वरूपमें स्थिति हो जाती है।

अपने स्वरूपसे विजातीय (जड) पदार्थोंके प्रति आकर्षणको ‘आसक्ति’ कहते हैं। आसक्तिरहित होनेके लिये आसक्तिके कारणको जानना आवश्यक है। ‘मैं शरीर हूँ’ और ‘शरीर मेरा है’—ऐसा माननेसे शरीरादि नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व अन्तःकरणमें अंकित हो जाता है। इसी कारण उन पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है।

आसक्ति ही पतन करनेवाली है, कर्म नहीं। आसक्तिके कारण ही मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मानकर अपने आराम, सुख-भोगके लिये तरह-तरहके कर्म करता है। इस प्रकार जडतासे आसक्तिपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही मनुष्यके बारम्बार जन्म-मरणका कारण होता है—‘**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**’ (गीता १३। २१)। आसक्तिरहित होकर कर्म करनेसे जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

आसक्तिवाला मनुष्य दूसरोंका हित नहीं कर सकता, जबकि आसक्तिरहित मनुष्यसे स्वतः-स्वाभाविक प्राणि-मात्रका हित होता है। उसके सभी कर्म केवल दूसरोंके हितार्थ होते हैं।

संसारसे प्राप्त सामग्री-(शरीरादि-) से हमने अभीतक अपने लिये ही कर्म किये हैं। उसको अपने ही सुखभोग और संग्रहमें लगाया है। इसलिये संसारका हमारेपर ऋण है, जिसे उतारनेके लिये केवल संसारके हितके लिये कर्म करना आवश्यक है। अपने लिये (फलकी कामना रखकर) कर्म करनेसे पुराना ऋण तो समाप्त होता नहीं, नया ऋण और उत्पन्न हो जाता है। ऋणसे मुक्त होनेके लिये बार-बार संसारमें आना पड़ता है। केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और अपने लिये कुछ न करने तथा कुछ न चाहनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता। इस तरह जब पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और नया ऋण उत्पन्न नहीं होता, तब बन्धनका कोई कारण न रहनेसे मनुष्य स्वतः मुक्त हो जाता है।

कोई भी कर्म निरन्तर नहीं रहता, पर आसक्ति (अन्तःकरणमें) निरन्तर रहा करती है, इसलिये भगवान् ‘**सततम् असक्तः**’ पदोंसे निरन्तर आसक्तिरहित होनेके लिये कहते हैं। ‘मेरेको कहीं भी आसक्त नहीं होना है’—ऐसी जागृति साधकको निरन्तर रखनी चाहिये। निरन्तर आसक्तिरहित रहते हुए जो विहित-कर्म सामने आ जाय, उसे कर्तव्यमात्र समझकर कर देना चाहिये—ऐसा उपर्युक्त पदोंका भाव है।

वास्तवमें देखा जाय तो किसीके भी अन्तःकरणमें आसक्ति निरन्तर नहीं रहती। जब संसार निरन्तर नहीं रहता, प्रतिक्षण बदलता रहता है, तब उसकी आसक्ति निरन्तर कैसे रह सकती है? ऐसा होते हुए भी माने हुए ‘**अहम्**’ के साथ आसक्ति निरन्तर रहती हुई प्रतीत होती है।

‘**कार्यम्**’ अर्थात् कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसको कर सकते हैं और जिसको अवश्य करना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें कर्तव्यका अर्थ होता है—अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका हित करना अर्थात् दूसरोंकी उस शास्त्रविहित न्याययुक्त माँगको पूरा करना, जिसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हमारेमें है। इस प्रकार कर्तव्यका सम्बन्ध परहितसे है।

कर्तव्यका पालन करनेमें सब स्वतन्त्र और समर्थ हैं, कोई पराधीन और असमर्थ नहीं है। हाँ, प्रमाद और आलस्यके कारण अकर्तव्य करनेका बुरा अभ्यास (आदत) हो जानेसे तथा फलकी इच्छा रहनेसे ही वर्तमानमें कर्तव्य-पालन कठिन मालूम देता है, अन्यथा कर्तव्य-पालनके समान सुगम कुछ नहीं है। कर्तव्यका सम्बन्ध परिस्थितिके अनुसार होता है। मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें स्वतन्त्रतापूर्वक कर्तव्यका पालन कर सकता है। कर्तव्यका पालन करनेसे ही आसक्ति मिटती है। अकर्तव्य करने तथा कर्तव्य न करनेसे आसक्ति और बढ़ती है। कर्तव्य अर्थात् दूसरोंके हितार्थ कर्म करनेसे वर्तमानकी आसक्ति और कुछ न चाहनेसे भविष्यकी आसक्ति मिट जाती है।

‘**समाचर**’ पदका तात्पर्य है कि कर्तव्य-कर्म बहुत सावधानी, उत्साह तथा तत्परतासे विधिपूर्वक करने चाहिये।

कर्तव्य-कर्म करनेमें थोड़ी भी असावधानी होनेपर कर्मयोगकी सिद्धिमें बाधा लग सकती है।

वर्ण, आश्रम, प्रकृति (स्वभाव) और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म बताया गया है, अवसर प्राप्त होनेपर उसके लिये वही 'सहज कर्म' है। सहज कर्ममें यदि कोई दोष दिखायी दे, तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक); क्योंकि सहज कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता (गीता—अठारहवें अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक) इसीलिये यहाँ भगवान् अर्जुनको मानो यह कह रहे हैं कि तू क्षत्रिय है; अतः युद्ध करना (घोर दीखनेपर भी) तेरा सहज कर्म है; घोर कर्म नहीं। अतः सामने आये हुए सहज कर्मको अनासक्त होकर कर देना चाहिये। अनासक्त होनेपर ही समता प्राप्त होती है।

विशेष बात

जब जीव मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है, तब उसको शरीर, धन, जमीन, मकान आदि सब सामग्री मिलती है; और जब वह यहाँसे जाता है, तब सब सामग्री यहीं छूट जाती है। इस सीधी-सादी बातसे यह सहज ही सिद्ध होता है कि शरीरादि सब सामग्री मिली हुई है, अपनी नहीं है। जैसे मनुष्य काम करनेके लिये किसी कार्यालय (आफिस)-में जाता है तो उसे कुर्सी, मेज, कागज आदि सब सामग्री कार्यालयका काम करनेके लिये ही मिलती है, अपनी मानकर घर ले जानेके लिये नहीं। ऐसे ही मनुष्यको संसारमें शरीरादि सब सामग्री संसारका काम (सेवा) करनेके लिये ही मिली है, अपनी माननेके लिये नहीं। मनुष्य तत्परता और उत्साहपूर्वक कार्यालयका काम करता है तो उस कामके बदलेमें उसे वेतन मिलता है। काम कार्यालयके लिये होता है और वेतन अपने लिये। इसी प्रकार संसारके लिये ही सब काम करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और योग (परमात्माके साथ अपने नित्य सम्बन्ध)-का अनुभव हो जाता है। 'कर्म' और 'योग' दोनों मिलकर कर्मयोग कहलाता है। कर्म संसारके लिये होता है और योग अपने लिये। यह योग ही मानो वेतन है।

संसार साधनका क्षेत्र है। यहाँ प्रत्येक सामग्री साधनके लिये मिलती है, भोग और संग्रहके लिये कदापि नहीं। सांसारिक सामग्री अपनी और अपने लिये है ही नहीं। अपनी वस्तु—परमात्म-तत्त्व मिलनेपर फिर अन्य किसी वस्तुको पानेकी इच्छा नहीं रहती (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। परन्तु सांसारिक वस्तुएँ चाहे जितनी प्राप्त हो जायँ, पर उन्हें पानेकी इच्छा कभी मिटती नहीं, प्रत्युत और बढ़ती है।

जब मनुष्य मिली हुई वस्तुको अपनी और अपने लिये मान लेता है, तब वह अपनी इस भूलके कारण बँध जाता है। इस भूलको मिटानेके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान ही सुगम और श्रेष्ठ उपाय है। कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानते हुए उसे दूसरोंकी सेवामें (उन्हींकी मानकर) लगाता है। अतः वह सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

कर्म तो सभी प्राणी किया करते हैं, पर साधारण प्राणी और कर्मयोगीद्वारा किये गये कर्मोंमें बड़ा भारी अन्तर होता है। साधारण मनुष्य (कर्मी) आसक्ति, ममता, कामना आदिको साथ रखते हुए कर्म करता है, और कर्मयोगी आसक्ति, ममता, कामना आदिको छोड़कर कर्म करता है। कर्मीके कर्मोंका प्रवाह अपनी तरफ होता है और कर्मयोगीके कर्मोंका प्रवाह संसारकी तरफ। इसलिये कर्मी बँधता है और कर्मयोगी मुक्त होता है।

'असक्तो ह्याचरन्कर्म'—मनुष्य ही आसक्तिपूर्वक संसारसे अपना सम्बन्ध जोड़ता है, संसार नहीं। अतः मनुष्यका कर्तव्य है कि वह संसारके हितके लिये ही सब कर्म करे और बदलेमें उनका कोई फल न चाहे। इस प्रकार आसक्तिरहित होकर अर्थात् मुझे किसीसे कुछ नहीं चाहिये, इस भावसे संसारके लिये कर्म करनेसे संसारसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

कर्मयोगी संसारकी सेवा करनेसे वर्तमानकी वस्तुओंसे और कुछ न चाहनेसे भविष्यकी वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

मेलेमें स्वयंसेवक अपना कर्तव्य समझकर दिनभर यात्रियोंकी सेवा करते हैं और बदलेमें किसीसे कुछ नहीं चाहते; अतः रात्रिमें सोते समय उन्हें किसीकी याद नहीं आती। कारण कि सेवा करते समय उन्होंने किसीसे कुछ चाहा नहीं। इसी प्रकार जो सेवाभावसे दूसरोंके लिये ही सब कर्म करता है और किसीसे मान, बड़ाई आदि कुछ नहीं चाहता, उसे संसारकी याद नहीं आती। वह सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

कर्म तो सभी किया करते हैं, पर कर्मयोग तभी होता है, जब आसक्तिरहित होकर दूसरोंके लिये कर्म किये जाते हैं। आसक्ति शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करनेसे ही मिट सकती है—'**धर्म तें बिरति**' (मानस ३। १६। १)। शास्त्र-निषिद्ध कर्म करनेसे आसक्ति कभी नहीं मिट सकती।

'**परमाप्नोति पूरुषः**'—जैसे तेरहवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने '**परम्**' पदसे सांख्ययोगीके परमात्माको प्राप्त होनेकी बात कही, ऐसे ही यहाँ '**परम्**' पदसे कर्मयोगीके परमात्माको प्राप्त होनेकी बात कहते हैं। तात्पर्य यह है कि साधक (रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार) किसी भी मार्ग—कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोगपर क्यों न चले, उसके द्वारा प्राप्तव्य वस्तु एक परमात्मा ही हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। प्राप्तव्य तत्त्व वही हो सकता है, जिसकी प्राप्तिमें विकल्प, सन्देह और निराशा न हो तथा जो सदा हो, सब देशमें हो, सब कालमें हो, सभीके लिये हो, सबका अपना हो और जिस तत्त्वसे कोई कभी किसी अवस्थामें किंचिन्मात्र भी अलग न हो सके अर्थात् जो सबको सदा अभिन्नरूपसे स्वतः प्राप्त हो।

शंका—कर्म करते हुए कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान कैसे मिट सकता है? क्योंकि कर्तृत्वाभिमान मिटे बिना परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता।

समाधान—साधारण मनुष्य सभी कर्म अपने लिये करता है। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्यमें कर्तृत्वाभिमान रहता है। कर्मयोगी कोई भी क्रिया अपने लिये नहीं करता। वह ऐसा मानता है कि संसारसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, रुपये आदि जो कुछ सामग्री मिली है, वह सब संसारकी ही है, अपनी नहीं। जब कभी अवसर मिलता है, तभी वह सामग्री, समय, सामर्थ्य आदिको संसारकी सेवामें लगा देता है, उनको संसारकी सेवामें लगाते हुए कर्मयोगी ऐसा मानता है कि संसारकी वस्तु ही संसारकी सेवामें लगा रहा हूँ अर्थात् सामग्री, समय, सामर्थ्य आदि उन्हींके हैं, जिनकी सेवा हो रही है। ऐसा माननेसे कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता।

कर्तृत्वमें कारण है—भोक्तृत्व। कर्मयोगी भोगकी आशा रखकर कर्म करता ही नहीं। भोगकी आशावाला मनुष्य कर्मयोगी नहीं होता। जैसे अपने हाथोंसे अपना ही मुख धोनेपर यह भाव नहीं आता कि मैंने बड़ा उपकार किया है; क्योंकि मनुष्य हाथ और मुख दोनोंको अपने ही अंग मानता है, ऐसे ही कर्मयोगी भी शरीरको संसारका ही अंग मानता है। अतः यदि अंगने अंगीकी ही सेवा की है तो उसमें कर्तृत्वाभिमान कैसा?

यह नियम है कि मनुष्य जिस उद्देश्यको लेकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, कर्मके समाप्त होते ही वह उसी लक्ष्यमें तल्लीन हो जाता है। जैसे व्यापारी धनके उद्देश्यसे ही व्यापार करता है, तो दूकान बंद करते ही उसका ध्यान स्वतः रुपयोंकी ओर जाता है और वह रुपये गिनने लगता है। उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि आज कौन-कौन ग्राहक आये? किस-किस जातिके आये? आदि-आदि। कारण कि ग्राहकोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। संसारका उद्देश्य रखकर कर्म करनेवाला मनुष्य संसारमें कितना ही तल्लीन क्यों न हो जाय, पर उसकी संसारसे एकता नहीं हो सकती; क्योंकि वास्तवमें संसारसे एकता है ही नहीं। संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील और जड है, जबकि 'स्वयं' (अपना स्वरूप) अचल और चेतन है। परन्तु परमात्माका उद्देश्य रखकर कर्म करनेवालेकी परमात्मासे एकता हो ही जाती है (चाहे साधकको इसका अनुभव हो या न हो); क्योंकि 'स्वयं' की परमात्माके साथ स्वतःसिद्ध (तात्त्विक) एकता है। इस प्रकार जब कर्ता 'कर्तव्य' बनकर अपने उद्देश्य- (परमात्मतत्त्व-) के साथ एक हो जाता है, तब कर्तृत्वाभिमानका प्रश्न ही नहीं रहता।

कर्मयोगी जिस उद्देश्य—परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये सब कर्म करता है, उस-(परमात्मतत्त्व-) में कर्तृत्वाभिमान अथवा कर्तृत्व (कर्तापन) नहीं है। अतः प्रत्येक क्रियाके आदि और अन्तमें उस उद्देश्यके साथ एकताका अनुभव होनेके कारण कर्मयोगीमें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता।

प्राणिमात्रके द्वारा किये हुए प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है। कोई भी कर्म निरन्तर नहीं रहता। अतः किसीका भी कर्तृत्व निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत कर्मका अन्त होनेके साथ ही कर्तृत्वका भी अन्त हो जाता है। परन्तु मनुष्यसे भूल यह होती है कि जब वह कोई क्रिया करता है, तब तो अपनेको उस क्रियाका कर्ता मानता ही है, पर जब उस क्रियाको नहीं करता, तब भी अपनेको वैसा ही कर्ता मानता रहता है। इस प्रकार अपनेको निरन्तर कर्ता मानते रहनेसे उसका कर्तृत्वाभिमान मिटता नहीं, प्रत्युत दृढ़ होता है। जैसे, कोई पुरुष व्याख्यान देते समय तो वक्ता (व्याख्यानदाता) होता है, पर जब दूसरे समयमें भी वह अपनेको वक्ता मानता रहता है, तब उसका कर्तृत्वाभिमान

नहीं मिटता। अपनेको निरन्तर व्याख्यानदाता माननेसे ही उसके मनमें यह भाव आता है कि 'श्रोता मेरी सेवा करें, मेरा आदर करें, मेरी आवश्यकताओंकी पूर्ति करें' और 'मैं इन साधारण आदमियोंके पास कैसे बैठ सकता हूँ, मैं यह साधारण काम कैसे कर सकता हूँ' आदि। इस प्रकार उसका व्याख्यानरूप कर्मके साथ निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है। इसका कारण है—व्याख्यानरूप कर्मसे धन, मान, बड़ाई, आराम आदि कुछ-न-कुछ पानेका भाव होना। यदि अपने लिये कुछ भी पानेका भाव न रहे तो कर्तापन केवल कर्म करनेतक ही सीमित रहता है और कर्म समाप्त होते ही कर्तापन अपने उद्देश्यमें लीन हो जाता है।

जैसे मनुष्य भोजन करते समय ही अपनेको उसका भोक्ता अर्थात् भोजन करनेवाला मानता है, भोजन करनेके बाद नहीं, ऐसे ही कर्मयोगी किसी क्रियाको करते समय ही अपनेको उस क्रियाका कर्ता मानता है, अन्य समय नहीं। जैसे, कर्मयोगी व्याख्यानदाता है और लोगोंमें उसकी बहुत प्रतिष्ठा है। परन्तु कभी व्याख्यान सुननेका काम पड़ जाय तो वह कहीं भी बैठकर सुगमतापूर्वक व्याख्यान सुन सकता है। उस समय उसे न आदरकी आवश्यकता है, न ऊँचे आसनकी; क्योंकि तब वह अपनेको श्रोता मानता है, व्याख्यानदाता नहीं। कभी व्याख्यान देनेके बाद उसे कोई कमरा साफ करनेका काम प्राप्त हो जाय तो वह उस कामको वैसी ही तत्परतासे करता है, जैसी तत्परतासे वह व्याख्यान देनेका कार्य करता है। उसके मनमें थोड़ा भी यह भाव नहीं आता कि 'इतना बड़ा व्याख्यानदाता होकर मैं यह कमरा-सफाईका तुच्छ काम कैसे कर सकता हूँ! लोग क्या कहेंगे! मेरी इज्जत धूलमें मिल जायगी' इत्यादि। वह अपनेको व्याख्यान देते समय व्याख्यानदाता, कथा-श्रवणके समय श्रोता और कमरा साफ करते समय कमरा साफ करनेवाला मानता है। अतः उसका कर्तृत्वाभिमान निरन्तर नहीं रहता। जो वस्तु निरन्तर नहीं रहती, अपितु बदलती रहती है, वह वास्तवमें नहीं होती और उसका सम्बन्ध भी निरन्तर नहीं रहता—यह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तपर दृष्टि जाते ही साधकको वास्तविकता-(कर्तृत्वाभिमानसे रहित स्वरूप-) का अनुभव हो जाता है।

कर्मयोगी सब क्रियाएँ उसी भावसे करता है, जिस भावसे नाटकमें एक स्वाँगधारी पात्र करता है। जैसे नाटकमें हरिश्चन्द्रका स्वाँग नाटक-(खेल-) के लिये ही होता है, और नाटक समाप्त होते ही हरिश्चन्द्ररूप स्वाँगका स्वाँगके साथ ही त्याग हो जाता है, ऐसे ही कर्मयोगीका कर्तापन भी स्वाँगके समान केवल क्रिया करनेतक ही सीमित रहता है। जैसे नाटकमें हरिश्चन्द्र बना हुआ व्यक्ति हरिश्चन्द्रकी सब क्रियाएँ करते हुए भी वास्तवमें अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता (वास्तविक हरिश्चन्द्र) नहीं मानता, ऐसे ही कर्मयोगी शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी वास्तवमें अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता नहीं मानता। कर्मयोगी शरीरादि सब पदार्थोंको स्वाँगकी तरह अपना और अपने लिये न मानकर उन्हें (संसारका मानते हुए) संसारकी ही सेवामें लगाता है। अतः किसी भी अवस्थामें कर्मयोगीमें किंचिन्मात्र भी कर्तृत्वाभिमान नहीं रह सकता।

कर्मयोगी जैसे कर्तृत्वको अपनेमें निरन्तर नहीं मानता, ऐसे ही माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदिके साथ अपना सम्बन्ध भी निरन्तर नहीं मानता। केवल सेवा करते समय ही उनके साथ अपना सम्बन्ध (सेवा करनेके लिये ही) मानता है। जैसे, यदि कोई पति है तो पत्नीके लिये पति है अर्थात् पत्नी कर्कशा हो, कुरूपा हो, कलह करनेवाली हो, पर उसे पत्नीरूपमें स्वीकार कर लिया तो अपनी योग्यता, सामर्थ्यके अनुसार उसका भरण-पोषण करना पतिका कर्तव्य है। पतिके नाते उसके सुधारकी बात कह देनी है, चाहे वह माने या न माने। हर समय अपनेको पति नहीं मानना है; क्योंकि इस जन्मसे पहले वह पत्नी थी, इसका क्या पता? और मरनेके बाद भी वह पत्नी रहेगी, इसका भी क्या निश्चय? तथा वर्तमानमें भी वह किसीकी माँ है, किसीकी पुत्री है, किसीकी बहन है, किसीकी भाभी है, किसीकी ननद है, आदि-आदि। वह सदा पत्नी ही तो है नहीं। ऐसा माननेसे उससे सुख लेनेकी इच्छा स्वतः मिटती है और 'केवल भरण-पोषण (सेवा) करनेके लिये ही पत्नी है', यह मान्यता दृढ़ होती है। इस प्रकार कर्मयोगीको संसारमें पिता, पुत्र, पति, भाई आदिके रूपमें जो स्वाँग मिला है, उसे वह ठीक-ठीक निभाता है। दूसरा अपने कर्तव्यका पालन करता है या नहीं, उसकी ओर वह नहीं देखता। अपनेमें कर्तृत्वाभिमान होनेसे ही दूसरोंके कर्तव्यपर दृष्टि जाती है और दूसरोंके कर्तव्यपर दृष्टि जाते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे गिर जाता है; क्योंकि दूसरेका कर्तव्य देखना अपना कर्तव्य नहीं है।

जिस प्रकार कर्मयोगी संसारके प्राणियोंके साथ अपना सम्बन्ध निरन्तर नहीं मानता, उसी प्रकार वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय, घटना, परिस्थिति आदिके साथ भी अपना

सम्बन्ध निरन्तर नहीं मानता। जो वस्तु निरन्तर नहीं है, उसका अभाव स्वतः है। अतः कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान स्वतः मिट जाता है।

मार्मिक बात

जिसमें कर्तृत्व नहीं है, उस परमात्माके साथ प्राणिमात्रकी स्वतःसिद्ध एकता है। साधकसे भूल यह होती है कि वह इस वास्तविकताकी तरफ ध्यान नहीं देता।

जिस प्रकार झूला कितनी ही तेजीसे आगे-पीछे क्यों न जाय, हर बार वह समता (सम स्थिति)-में आता ही है अर्थात् जहाँसे झूलेकी रस्सी बँधी है, उसकी सीधमें (आगे-पीछे जाते समय) एक बार आता ही है, उसी प्रकार प्रत्येक क्रियाके बाद अक्रिय अवस्था (समता) आती ही है। दूसरे शब्दोंमें, पहली क्रियाके अन्त तथा दूसरी क्रियाके आरम्भके बीच और प्रत्येक संकल्प तथा विकल्पके बीच समता रहती ही है।

दूसरी बात, यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो झूला चलते हुए (विषम दीखनेपर) भी निरन्तर समतामें ही रहता है अर्थात् झूला आगे-पीछे जाते समय भी निरन्तर (जहाँसे झूलेकी रस्सी बँधी है, उसकी) सीधमें ही रहता है। इसी प्रकार जीव भी प्रत्येक क्रियामें समतामें ही स्थित रहता है। परमात्मासे उसकी एकता निरन्तर रहती है। क्रिया करते समय समतामें स्थिति न दीखनेपर भी वास्तवमें समता रहती ही है, जिसका कोई अनुभव करना चाहे तो क्रिया समाप्त होते ही (उस समताका) अनुभव हो जाता है। यदि साधक इस विषयमें निरन्तर सावधान रहे तो उसे निरन्तर रहनेवाली समता या परमात्मासे अपनी एकताका अनुभव हो जाता है, जहाँ कर्तृत्व नहीं है।

माने हुए कर्तृत्वाभिमानको मिटानेके लिये प्रतीति और प्राप्तका भेद समझ लेना आवश्यक है। जो दीखता है, पर मिलता नहीं, उसे प्रतीति कहते हैं और जो मिलता है, पर दीखता नहीं, उसे 'प्राप्त' कहते हैं। देखने-सुनने आदिमें आनेवाला प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसार 'प्रतीति' है, और सर्वत्र नित्य परिपूर्ण परमात्मतत्त्व 'प्राप्त' है। परमात्मतत्त्व ब्रह्मासे चींटी-पर्यन्त सबको समानरूपसे स्वतः प्राप्त है।

इदंतासे दीखनेवाली प्रतीतिका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदृश्यमें जा रहा है। जिनसे प्रतीति होती है, वे इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी प्रतीति ही हैं। नित्य अचल रहनेवाले 'स्वयं' को प्रतीतिकी प्राप्ति नहीं होती। सदा सबमें रहनेवाला परमात्मतत्त्व 'स्वयं' को नित्यप्राप्त है। इसलिये 'प्रतीति' अभावरूप और 'प्राप्त' भावरूप है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)।

यावन्मात्र पदार्थ और क्रिया 'प्रतीति' है। क्रियामात्र अक्रियतामें लीन होती है। प्रत्येक क्रियाके आदि और अन्तमें सहज (स्वतःसिद्ध) अक्रिय तत्त्व विद्यमान रहता है। जो आदि और अन्तमें होता है, वही मध्यमें भी होता है— यह सिद्धान्त है। अतः क्रियाके समय भी अखण्ड और सहज अक्रिय तत्त्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। वह सहज अक्रिय तत्त्व (चेतन स्वरूप अथवा परमात्म-तत्त्व) अक्रिय और सक्रिय—दोनों अवस्थाओंको प्रकाशित करनेवाला है अर्थात् वह प्रवृत्ति और निवृत्ति (करने और न करने) दोनोंसे परे है।

प्रतीति-(देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदि-) से माने हुए सम्बन्ध अर्थात् आसक्तिके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं होता। आसक्तिका नाश होते ही नित्यप्राप्त परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है। अतः आसक्तिरहित होकर प्रतीति (अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थों)-को प्रतीति-(संसारमात्र-)की सेवामें लगा देनेसे प्रतीति-(शरीरादि पदार्थों-) का प्रवाह प्रतीति-(संसार-) की तरफ ही हो जाता है और स्वतः प्राप्त परमात्मतत्त्व शेष रह जाता है।

सम्बन्ध—आसक्तिरहित होकर कर्म करने अर्थात् अपने लिये कोई कर्म न करनेसे क्या कोई परमात्माको प्राप्त हो चुका है? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

जनकादयः	= राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष	**संसिद्धिम्**	= परमसिद्धिको	**कर्तुम्**	= (निष्कामभावसे) कर्म करनेके
हि	= भी	**आस्थिताः**	= प्राप्त हुए थे। (इसलिये)	**एव**	= ही
कर्मणा	= कर्म (कर्मयोग)-के द्वारा	**लोकसङ्ग्रहम्**	= लोकसंग्रहको	**अर्हसि**	= योग्य है अर्थात् अवश्य करना चाहिये।
एव	= ही	**सम्पश्यन्**	= देखते हुए		
		अपि	= भी (तू)		

व्याख्या—'**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः**'—'आदि' पद 'प्रभृति' (आरम्भ) तथा 'प्रकार' दोनोंका वाचक माना जाता है। यदि यहाँ आये 'आदि' पदको 'प्रभृति' का वाचक माना जाय तो '**जनकादयः**' पदका अर्थ होगा—जिनके आदि- (आरम्भ-) में राजा जनक हैं अर्थात् राजा जनक तथा उनके बादमें होनेवाले महापुरुष। परन्तु यहाँ ऐसा अर्थ मानना ठीक नहीं प्रतीत होता; क्योंकि राजा जनकसे पहले भी अनेक महापुरुष कर्मोंके द्वारा परमसिद्धिको प्राप्त हो चुके थे; जैसे सूर्य, वैवस्वत मनु, राजा इक्ष्वाकु आदि (गीता—चौथे अध्यायका पहला-दूसरा श्लोक)। इसलिये यहाँ 'आदि' पदको 'प्रकार' का वाचक मानना ही उचित है, जिसके अनुसार '**जनकादयः**' पदका अर्थ है—राजा जनक-जैसे गृहस्थाश्रममें रहकर निष्कामभावसे सब कर्म करते हुए परमसिद्धिको प्राप्त हुए महापुरुष, जो राजा जनकसे पहले तथा बादमें (आजतक) हो चुके हैं।

कर्मयोग बहुत पुरातन योग है, जिसके द्वारा राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं। अतः वर्तमानमें तथा भविष्यमें भी यदि कोई कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहे तो उसे चाहिये कि वह मिली हुई प्राकृत वस्तुओं-(शरीरादि-) को कभी अपनी और अपने लिये न माने। कारण कि वास्तवमें वे अपनी और अपने लिये हैं ही नहीं, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही हैं। इस वास्तविकताको मानकर संसारसे मिली वस्तुओंको संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे सुगमतापूर्वक संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर परमात्मप्राप्ति हो जाती है। इसलिये कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका सुगम, श्रेष्ठ और स्वतन्त्र साधन है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

यहाँ '**कर्मणा एव**' पदोंका सम्बन्ध पूर्वश्लोकके '**असक्तो ह्याचरन्कर्म**' पदोंसे अर्थात् आसक्तिरहित होकर कर्म करनेसे है; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करनेसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होता है, केवल कर्म करनेसे नहीं। केवल कर्म करनेसे तो प्राणी बँधता है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**' (महा० शान्ति० २४१। ७)।

गीताकी यह शैली है कि भगवान् पीछेके श्लोकमें वर्णित विषयकी मुख्य बातको (जो साधकोंके लिये विशेष उपयोगी होती है) संक्षेपसे आगेके श्लोकमें पुनः कह देते हैं; जैसे पीछेके (उन्नीसवें) श्लोकमें आसक्तिरहित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देकर इस बीसवें श्लोकमें उसी बातको संक्षेपसे '**कर्मणा एव**' पदोंसे कहते हैं। इसी प्रकार आगे बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें वर्णित विषयकी मुख्य बातको सातवें श्लोकमें संक्षेपसे '**मय्यावेशितचेतसाम्**' (मुझमें चित्त लगानेवाले भक्त) पदसे पुनः कहेंगे।

यहाँ भगवान् '**कर्मणा एव**' के स्थानपर '**योगेन एव**' भी कह सकते थे। परन्तु अर्जुनका आग्रह कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेका होने तथा (आसक्तिरहित होकर किये जानेवाले) कर्मका ही प्रसंग चलनेके कारण '**कर्मणा एव**' पदोंका प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ इन पदोंका अभिप्राय (पूर्वश्लोकके अनुसार) आसक्तिरहित होकर किये गये कर्मयोगसे ही है।

वास्तवमें चिन्मय परमात्माकी प्राप्ति जड कर्मोंसे नहीं होती। नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव होनेमें जो बाधाएँ हैं, वे आसक्तिरहित होकर कर्म करनेसे दूर हो जाती हैं। फिर सर्वत्र परिपूर्ण स्वतःसिद्ध परमात्माका अनुभव हो जाता है। इस प्रकार परमात्मतत्त्वके अनुभवमें आनेवाली बाधाओंको दूर करनेके कारण यहाँ कर्मके द्वारा परमसिद्धि-(परमात्मतत्त्व-) की प्राप्तिकी बात कही गयी है।

परमात्मप्राप्ति-सम्बन्धी मार्मिक बात

मनुष्य सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिकी तरह परमात्माकी प्राप्तिको भी कर्मजन्य मान लेते हैं। वे ऐसा विचार करते हैं कि जब किसी बड़े (उच्चपदाधिकारी) मनुष्यसे मिलनेमें भी इतना परिश्रम करना पड़ता है, तब अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परमात्मासे मिलनेमें तो बहुत ही परिश्रम (तप, व्रत आदि) करना पड़ेगा। वस्तुतः यही साधककी सबसे बड़ी भूल है।

मनुष्ययोनिका कर्मोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये मनुष्ययोनिको 'कर्मसंगी' अर्थात् 'कर्मोंमें आसक्तिवाली' कहा गया है—**'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते'** (गीता १४। १५)। यही कारण है कि कर्मोंमें मनुष्यकी विशेष प्रवृत्ति रहती है और वह कर्मोंके द्वारा ही अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त करना चाहता है। प्रारब्धका साथ रहनेपर वह कर्मोंके द्वारा ही अभीष्ट सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त भी कर लेता है, जिससे उसकी यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि प्रत्येक वस्तु कर्म करनेसे ही मिलती है और मिल सकती है। परमात्माके विषयमें भी उसका यही भाव रहता है और वह चेतन परमात्माको भी जड कर्मोंके ही द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। परन्तु वास्तविकता यही है कि परमात्माकी प्राप्ति कर्मोंके द्वारा नहीं होती। इस विषयको बहुत गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिये।

कर्मोंसे नाशवान् वस्तु-(संसार-) की प्राप्ति होती है, अविनाशी वस्तु-(परमात्मा-) की नहीं; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म नाशवान् (शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि) के सम्बन्धसे ही होते हैं, जबकि परमात्माकी प्राप्ति नाशवान्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है।

प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है, इसलिये कर्मके फलरूप प्राप्त होनेवाली वस्तु भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाली होती है। कर्मोंके द्वारा उसी वस्तुकी प्राप्ति होती है, जो देश-काल आदिकी दृष्टिसे दूर (अप्राप्त) हो। सांसारिक वस्तु एक देश, काल आदिमें रहनेवाली, उत्पन्न और नष्ट होनेवाली एवं प्रतिक्षण बदलनेवाली है। अत: उसकी प्राप्ति कर्म-साध्य है। परन्तु परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें परिपूर्ण (नित्यप्राप्त)* एवं उत्पत्ति-विनाश और परिवर्तनसे सर्वथा रहित हैं। अत: उनकी प्राप्ति स्वत:सिद्ध है, कर्म-साध्य नहीं। यही कारण है कि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति चिन्तनसे नहीं होती, जबकि परमात्माकी प्राप्तिमें चिन्तन मुख्य है। चिन्तनसे वही वस्तु प्राप्त हो सकती है, जो समीप-से-समीप हो। वास्तवमें देखा जाय तो परमात्माकी प्राप्ति चिन्तनरूप क्रियासे भी नहीं होती। परमात्माका चिन्तन करनेकी सार्थकता दूसरे (संसारके) चिन्तनका त्याग करानेमें ही है। संसारका चिन्तन सर्वथा छूटते ही नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है।

सर्वव्यापी परमात्माकी हमसे दूरी है ही नहीं और हो सकती भी नहीं। जिससे हम अपनी दूरी नहीं मानते, उस 'मैं'-पनसे भी परमात्मा अत्यन्त समीप हैं। 'मैं'-पन तो परिच्छिन्न (एकदेशीय) है, पर परमात्मा परिच्छिन्न नहीं हैं। ऐसे अत्यन्त समीपस्थ, नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव करनेके लिये सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके समान तर्क तथा युक्तियाँ लगाना अपने-आपको धोखा देना ही है।

सांसारिक वस्तुकी प्राप्ति इच्छामात्रसे नहीं होती; परन्तु परमात्माकी प्राप्ति उत्कट अभिलाषामात्रसे हो जाती है। इस उत्कट अभिलाषाके जाग्रत् होनेमें सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छा ही बाधक है, दूसरा कोई बाधक है ही नहीं। यदि परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा अभी जाग्रत् हो जाय, तो अभी ही परमात्माका अनुभव हो जाय।

मनुष्यजीवनका उद्देश्य कर्म करना और उसका फल भोगना नहीं है। सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छाके त्यागपूर्वक परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा तभी जाग्रत् हो सकती है, जब साधकके जीवनभरका एक ही उद्देश्य—परमात्मप्राप्ति करना हो जाय। परमात्माको प्राप्त करनेके अतिरिक्त अन्य किसी भी कार्यका कोई महत्त्व न रहे। वास्तवमें परमात्मप्राप्तिके अतिरिक्त मनुष्यजीवनका अन्य कोई प्रयोजन है ही नहीं। जरूरत केवल इस प्रयोजन या उद्देश्यको पहचान कर इसे पूरा करनेकी ही है।

यहाँ उद्देश्य और फलेच्छा—दोनोंमें भेद समझ लेना आवश्यक है। नित्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका 'उद्देश्य' होता है, और अनित्य (उत्पत्ति-विनाशशील) पदार्थोंको प्राप्त करनेकी 'फलेच्छा' होती है। उद्देश्य तो पूरा होता है, पर फलेच्छा मिटनेवाली होती है। स्वरूपबोध और भगवत्प्राप्ति—ये दोनों उद्देश्य हैं, फल नहीं। उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये किया गया कर्म सकाम नहीं कहलाता। इसलिये निष्काम पुरुष-(कर्मयोगी-) के सभी कर्म उद्देश्यको लेकर होते हैं, फलेच्छाको लेकर नहीं।

कर्मयोगमें कर्मों-(जडता-) से सम्बन्ध-विच्छेदका उद्देश्य रखकर शास्त्रविहित शुभ-कर्म किये जाते हैं। सकाम पुरुष फलकी इच्छा रखकर अपने लिये कर्म करता है और कर्मयोगी फलकी इच्छाका त्याग करके दूसरोंके लिये कर्म (सेवा) करता है। कर्म ही फलरूपसे परिणत होता है। अत: फलका सम्बन्ध कर्मसे होता है। उद्देश्यका सम्बन्ध कर्मसे नहीं होता। निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे 'परमात्मा दूर हैं' यह धारणा दूर हो जाती है।

* **देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥ (मानस १। १८५। ३)**

'लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि'—'लोक' शब्दके तीन अर्थ होते हैं—(१) मनुष्यलोक आदि लोक, (२) उन लोकोंमें रहनेवाले प्राणी और (३) शास्त्र (वेदोंके अतिरिक्त सब शास्त्र)। मनुष्यलोककी, उसमें रहनेवाले प्राणियोंकी और शास्त्रोंकी मर्यादाके अनुसार समस्त आचरणों (जीवनचर्यामात्र) का होना 'लोकसंग्रह' है।

लोकसंग्रहका तात्पर्य है—लोकमर्यादा सुरक्षित रखनेके लिये, लोगोंको असत्‌से विमुख करके सत्‌के सम्मुख करनेके लिये निःस्वार्थभावपूर्वक कर्म करना। इसको गीतामें 'यज्ञार्थ कर्म' के नामसे भी कहा गया है। अपने आचरणों एवं वचनोंसे लोगोंको असत्‌से विमुख करके सत्‌के सम्मुख कर देना बहुत बड़ी सेवा है; क्योंकि सत्‌के सम्मुख होनेसे लोगोंका सुधार एवं उद्धार हो जाता है।

लोगोंको दिखानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करना लोक-संग्रह नहीं है। कोई देखे या न देखे, लोक-मर्यादाके अनुसार अपने-अपने (वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके अनुसार) कर्तव्यका पालन करनेसे लोकसंग्रह स्वतः होता है।

कोई भी कर्तव्य-कर्म छोटा या बड़ा नहीं होता। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कर्म कर्तव्यमात्र समझकर (सेवाभावसे) करनेपर समान ही है। देश, काल, परिस्थिति, अवसर, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके अनुसार जो कर्तव्यकर्म सामने आ जाय, वही कर्म बड़ा होता है। कर्मके स्वरूप और फलकी दृष्टिसे ही कर्म छोटा या बड़ा, घोर या सौम्य प्रतीत होता है।* फलेच्छाका त्याग करनेपर सभी कर्म उद्‌देश्यकी सिद्धि करनेवाले हो जाते हैं। अतः जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें छोटे-बड़े सभी कर्म समान हैं।

किसी भी मनुष्यका जीवन दूसरोंकी सहायताके बिना नहीं चल सकता। शरीर माता-पितासे मिलता है और विद्या, योग्यता, शिक्षा आदि गुरुजनोंसे मिलती है। जो अन्न ग्रहण करते हैं, वह दूसरोंके द्वारा उत्पन्न किया गया होता है; जो वस्त्र पहनते हैं, वे दूसरोंके द्वारा बनाये गये होते हैं; जिस मकानमें रहते हैं, उसका निर्माण दूसरोंके द्वारा किया गया होता है; जिस सड़कपर चलते हैं, वह दूसरोंके द्वारा बनायी गयी होती है, आदि-आदि। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्यका जीवन-निर्वाह दूसरोंके आश्रित है। अतः हरेक मनुष्यपर दूसरोंका ऋण है, जिसे उतारनेके लिये यथाशक्ति दूसरोंकी निःस्वार्थभावसे सेवा (हित) करना आवश्यक है। अपने कहलानेवाले शरीरादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंको किंचिन्मात्र भी अपना और अपने लिये न माननेसे मनुष्य ऋणसे मुक्त हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ आये **'कर्मणैव ही संसिद्धिमास्थिताः'** पदोंसे सिद्ध होता है कि कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन है। जनकादि राजाओंने भी कर्मयोगके द्वारा ही परमसिद्धि प्राप्त की; क्योंकि उन्होंने केवल दूसरोंकी सेवाके लिये, उनको सुख पहुँचानेके लिये ही राज्य किया, अपने लिये राज्य नहीं किया।

'लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि' पदोंका तात्पर्य है कि तेरेको लोगोंमें कर्मयोगका यह आदर्श स्थापित करना चाहिये कि कर्मयोगका पालन करनेसे परमसिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है।

सम्बन्ध—कर्म करनेसे लोकसंग्रह कैसे होता है—इसका विवेचन भगवान् आगेके श्लोकमें करते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

श्रेष्ठः = श्रेष्ठ मनुष्य
यत्, यत् = जो-जो
आचरति = आचरण करता है,
इतरः = दूसरे
जनः = मनुष्य
तत्, तत् = वैसा-वैसा
एव = ही (आचरण करते हैं)।
सः = वह
यत् = जो कुछ
प्रमाणम् = प्रमाण
कुरुते = कर देता है,
लोकः = दूसरे मनुष्य
तत् = उसीके
अनुवर्तते = अनुसार आचरण करते हैं।

---

* **उदाहरणार्थ—कर्मके स्वरूपकी दृष्टिसे झाड़ू लगाना छोटा कर्म और व्याख्यान देना बड़ा कर्म प्रतीत होता है, एवं कर्म-फलकी दृष्टिसे कम दान करनेका कम पुण्य और अधिक दान करनेका अधिक पुण्य प्रतीत होता है।**

व्याख्या—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः**'—श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो संसार-(शरीरादि पदार्थों-) को और 'स्वयं'-(अपने स्वरूप-) को तत्त्वसे जानता है। उसका यह स्वाभाविक अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, कुटुम्ब, जमीन आदि पदार्थ संसारके हैं, अपने नहीं। इतना ही नहीं, वह श्रेष्ठ पुरुष त्याग, वैराग्य, प्रेम, ज्ञान, सद्गुण आदिको भी अपना नहीं मानता; क्योंकि उन्हें भी अपना माननेसे व्यक्तित्व पुष्ट होता है, जो तत्त्वप्राप्तिमें बाधक है। 'मैं त्यागी हूँ', 'मैं वैरागी हूँ', 'मैं सेवक हूँ', 'मैं भक्त हूँ' आदि भाव भी व्यक्तित्वको पुष्ट करनेवाले होनेके कारण तत्त्वप्राप्तिमें बाधक होते हैं। श्रेष्ठ पुरुषमें (जडताके सम्बन्धसे होनेवाला) 'व्यष्टि अहंकार' तो होता ही नहीं, और 'समष्टि अहंकार' व्यवहारमात्रके लिये होता है, जो संसारकी सेवामें लगा रहता है; क्योंकि अहंकार भी संसारका ही है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा और तेरहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

संसारसे मिले हुए शरीर, धन, परिवार, पद, योग्यता, अधिकार आदि सब पदार्थ सदुपयोग करने अर्थात् दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही मिले हैं; उपभोग करने अथवा अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। जो इन्हें अपना और अपने लिये मानकर इनका उपभोग करता है, उसको भगवान् चोर कहते हैं—'**यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः**' (गीता ३। १२)। ये सब पदार्थ समष्टिके ही हैं, व्यष्टिके कभी किसी प्रकार नहीं। वास्तवमें इन पदार्थोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रेष्ठ पुरुषके अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थ (संसारके होनेसे) स्वतः-स्वाभाविक संसारकी सेवामें लगते हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

'देने' के भावसे समाजमें एकता, प्रेम उत्पन्न होता है और 'लेने' के भावसे संघर्ष उत्पन्न होता है। 'देने' का भाव उद्धार करनेवाला और 'लेने' का भाव पतन करनेवाला होता है। शरीरको 'मैं', 'मेरा' अथवा 'मेरे लिये' माननेसे ही 'लेने' का भाव उत्पन्न होता है। शरीरसे अपना कोई सम्बन्ध न माननेके कारण श्रेष्ठ पुरुषमें 'लेने' का भाव किंचिन्मात्र भी नहीं होता। अतः उसकी प्रत्येक क्रिया दूसरोंका हित करनेवाली ही होती है। ऐसे श्रेष्ठ पुरुषके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन आदिसे स्वतः लोगोंका हित होता है। इतना ही नहीं, उसके शरीरको स्पर्श करके बहनेवाली वायुतकसे लोगोंका हित होता है।

ऐसे श्रेष्ठ पुरुष दो प्रकारके होते हैं— (१) अवधूत कोटिके और (२) आचार्य कोटिके। अवधूत कोटिके श्रेष्ठ पुरुष अवधूतोंके लिये ही आदर्श होते हैं, साधारण जनताके लिये नहीं। परन्तु आचार्य कोटिके श्रेष्ठ पुरुष मनुष्यमात्रके लिये आदर्श होते हैं। यहाँ आचार्य कोटिके श्रेष्ठ पुरुषोंका वर्णन किया गया है, जिनके आचरण सदा शास्त्रमर्यादाके अनुकूल ही होते हैं। कोई देखे या न देखे, अहंता-ममता न रहनेके कारण उनके द्वारा स्वाभाविक ही कर्तव्यका पालन होता है। जैसे, जंगलमें कोई पुष्प खिला और कुछ समयके बाद मुरझा गया और सूखकर गिर गया। उसे किसीने देखा नहीं, फिर भी उसने (चारों ओर) अपनी सुगन्ध फैलाकर दुर्गन्धका नाश किया ही है। इसी तरह श्रेष्ठ पुरुषसे (परहितका असीम भाव होनेके कारण) संसारमात्रका स्वाभाविक ही बहुत उपकार हुआ करता है, चाहे कोई समझे या न समझे। कारण यह है कि व्यक्तित्व (अहंता-ममता) मिट जानेके कारण भगवान्‌की उस पालन-शक्तिके साथ उसकी एकता हो जाती है, जिसके द्वारा संसारमात्रका हित हो रहा है।

जैसे एक ही शरीरके सब अंग भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही हैं (जैसे—किसी भी अंगमें पीड़ा होनेपर मनुष्य उसे अपनी पीड़ा मानता है), ऐसे ही संसारके सब प्राणी भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही हैं। जैसे शरीरका कोई भी पीड़ित (रोगी) अंग ठीक हो जानेपर सम्पूर्ण शरीरका हित होता है, ऐसे ही मर्यादामें रहकर प्राप्त वस्तु, समय, परिस्थिति आदिके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करनेवाले मनुष्यके द्वारा सम्पूर्ण संसारका स्वतः हित होता है।

श्रेष्ठ पुरुषके आचरणों और वचनोंका प्रभाव (स्थूल-शरीरसे होनेके कारण) स्थूलरीतिसे पड़ता है, जो सीमित होता है। परन्तु उसके भावोंका प्रभाव सूक्ष्मरीतिसे पड़ता है, जो असीम होता है। कारण यह है कि 'क्रिया' तो सीमित होती है, पर 'भाव' असीम होता है।

श्रेष्ठ पुरुष जिन भावोंको अपने आचरणोंमें लाता है, उन भावोंका दूसरे मनुष्योंपर बहुत प्रभाव पड़ता है। अपने वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके आचरणोंका अच्छी तरहसे पालन करनेके कारण उसके द्वारा कहे हुए वचनोंका दूसरे वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके लोगोंपर भी बहुत प्रभाव पड़ता है।

यद्यपि श्रेष्ठ मनुष्य अपने लिये कोई आचरण नहीं करता और उसमें कर्तृत्वाभिमान भी नहीं होता, तथापि लोगोंकी

दृष्टिमें वह आचरण करता हुआ दीखनेके कारण यहाँ '**आचरति**' क्रियाका प्रयोग हुआ है। उसके द्वारा सबके उपकारके लिये स्वतः-स्वाभाविक क्रियाएँ होती हैं। अपना कोई स्वार्थ न रहनेके कारण उसकी छोटी-बड़ी प्रत्येक क्रिया लोगोंका स्वतः हित करनेवाली होती है। यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है—'**तस्य कार्यं न विद्यते**' (गीता ३। १७) और उसमें करनेका अभिमान भी नहीं है—'**निर्ममो निरहङ्कारः**' (गीता २। ७१), तथापि उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक सुचारुरूपसे कर्तव्यका पालन होता है। इस प्रकार उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक लोकसंग्रह होता है।

विशेष बात

प्रायः देखा जाता है कि जिस समाज, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, आश्रम आदिमें जो श्रेष्ठ मनुष्य कहलाते हैं और जिनको लोग श्रेष्ठ मानकर आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, वे जैसा आचरण करते हैं, उस समाज, सम्प्रदाय, जाति आदिके लोग भी वैसा ही आचरण करने लग जाते हैं।

अन्तःकरणमें धन और पदका महत्त्व एवं लोभ रहनेके कारण लोग अधिक धनवाले (लखपति, करोड़पति) तथा ऊँचे पदवाले (नेता, मन्त्री आदि) पुरुषोंको श्रेष्ठ मान लेते हैं और उन्हें बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। जिनके अन्तःकरणमें जड वस्तुओं-(धन, पद आदि-) का महत्त्व है, वे मनुष्य वास्तवमें न तो स्वयं श्रेष्ठ होते हैं और न श्रेष्ठ व्यक्तिको समझ ही सकते हैं। जिसको वे श्रेष्ठ समझते हैं, वह भी वास्तवमें श्रेष्ठ नहीं होता। यदि उनके हृदयमें धनका अधिक आदर है तो उनपर अधिक धनवालोंका ही प्रभाव पड़ता है; जैसे—चोरपर चोरोंके सरदारका ही प्रभाव पड़ता है। वास्तवमें श्रेष्ठ न होनेपर भी लोगोंके द्वारा श्रेष्ठ मान लिये जानेके कारण उन धनी तथा उच्च पदाधिकारी पुरुषोंके आचरणोंका समाजमें स्वतः प्रचार हो जाता है। जैसे, धनके कारण जो श्रेष्ठ माने जाते हैं, वे पुरुष जिन-जिन उपायोंसे धन कमाते और जमा करते हैं, उन-उन उपायोंका लोगोंमें स्वतः प्रचार हो जाता है, चाहे वे उपाय कितने ही गुप्त क्यों न हों! यही कारण है कि वर्तमानमें झूठ, कपट, बेईमानी, धोखा, चोरी आदि बुराइयोंका समाजमें, किसी पाठशालामें पढ़ाये बिना ही स्वतः प्रचार होता चला जा रहा है।

यह दुःख और आश्चर्यकी बात है कि वर्तमानमें लोग लखपतिको तो श्रेष्ठ मान लेते हैं, पर प्रतिदिन भगवन्नामका लाख जप करनेवालेको श्रेष्ठ नहीं मानते। वे यह विचार ही नहीं करते कि लखपतिके मरनेपर एक कौड़ी भी साथ नहीं जायगी, जबकि भगवन्नामका जप करनेवालेके मरनेपर पूरा-का-पूरा भगवन्नामरूप धन उसके साथ जायगा, एक भी भगवन्नाम पीछे नहीं रहेगा!

अपने-अपने स्थान या क्षेत्रमें जो पुरुष मुख्य कहलाते हैं, उन अध्यापक, व्याख्यानदाता, आचार्य, गुरु, नेता, शासक, महन्त, कथावाचक, पुजारी आदि सभीको अपने आचरणोंमें विशेष सावधानी रखनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है, जिससे दूसरोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े। इसी प्रकार परिवारके मुख्य व्यक्ति-(मुखिया-) को भी अपने आचरणोंमें पूरी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। कारण कि मुख्य व्यक्तिकी ओर सबकी दृष्टि रहती है। रेलगाड़ीके चालकके समान मुख्य व्यक्तिपर विशेष जिम्मेवारी रहती है। रेलगाड़ीमें बैठे अन्य व्यक्ति सोये भी रह सकते हैं, पर चालकको सदा जाग्रत् रहना पड़ता है। उसकी थोड़ी भी असावधानीसे दुर्घटना हो जानेकी सम्भावना रहती है। इसलिये संसारमें अपने-अपने क्षेत्रमें श्रेष्ठ माने जानेवाले सभी पुरुषोंको अपने आचरणोंपर विशेष ध्यान रखनेकी बहुत आवश्यकता है।

'**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते**'—जिसके अन्तःकरणमें कामना, ममता, आसक्ति, स्वार्थ, पक्षपात आदि दोष नहीं हैं और नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व या कुछ भी लेनेका भाव नहीं है, ऐसे मनुष्यके द्वारा कहे हुए वचनोंका प्रभाव दूसरोंपर स्वतः पड़ता है और वे उसके वचनानुसार स्वयं आचरण करने भी लग जाते हैं।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब आचरणकी बात कह दी, तब प्रमाणके कहनेकी क्या आवश्यकता है और प्रमाणकी बात कहनेपर आचरणके कहनेकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि आचरण मुख्य होता है, तथापि एक ही मनुष्यके द्वारा सभी वर्णों, आश्रमों, सम्प्रदायों आदिके भावोंका आचरण करना सम्भव नहीं है। अतः श्रेष्ठ मनुष्य स्वयं जिस वर्ण, आश्रम आदिमें है, उसके अनुसार तो वह सांगोपांग आचरण करता ही है और अन्य वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके लोगोंके लिये भी वह अपने वचनोंसे शास्त्र, इतिहास आदिके प्रमाणसे यह शिक्षा देता है कि अपने लिये कुछ न करके,

सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके भावसे अपने-अपने (वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके अनुसार) कर्तव्यका पालन करना कल्याणका सुगम और श्रेष्ठ साधन है (गीता—अठारहवें अध्यायका पैंतालीसवाँ श्लोक)। उसके वचनोंसे प्रभावित होकर दूसरे वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके लोग उसके कहे अनुसार अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करने लग जाते हैं। यद्यपि आचरणका क्षेत्र सीमित और प्रमाण-(वचनों-) का क्षेत्र विस्तृत होता है, तथापि भगवान्के द्वारा श्रेष्ठ पुरुषके आचरणमें पाँच पद—**'यत्'**, **'यत्'**, **'तत्'**, **'तत्'** और (विशेषरूपसे) **'एव'** देनेका अभिप्राय है कि उसके आचरणका प्रभाव समाजपर पाँच गुना (अधिक) पड़ता है और प्रमाणमें दो पद—**'यत्'** और **'तत्'** देनेका अभिप्राय है कि प्रमाणका प्रभाव समाजपर केवल दो गुना (अपेक्षाकृत कम) पड़ता है। इसीलिये भगवान्ने बीसवें श्लोकमें लोकसंग्रहके लिये अपने कर्तव्यकर्मोंका पालन करनेपर ही विशेषरूपसे जोर दिया है।

यदि श्रेष्ठ मनुष्य स्वयं अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार आचरण न करके केवल प्रमाण दे, तो उसका लोगोंपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। उसमें लोगोंका ऐसा भाव हो सकता है कि ये बातें तो केवल कहने-सुननेकी हैं; क्योंकि कहनेवाला स्वयं भी तो अपने कर्तव्य-कर्मका पालन नहीं कर रहा है। ऐसा भाव होनेपर लोगोंमें अपने कर्तव्यके प्रति अश्रद्धा और अरुचि होनेकी सम्भावना रहती है।

इसलिये श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और प्रमाण देकर—दोनों ही प्रकारसे लोगोंको अपने-अपने कर्तव्य-पालनमें लगाकर उनका हित करता है।

श्रेष्ठ पुरुषके आचरणोंका अनुवर्तन (अनुसरण) वे ही लोग करते हैं, जो उसे श्रेष्ठ मानते हैं। अतः वास्तवमें श्रेष्ठ होनेपर भी अगर कोई मनुष्य उसे श्रेष्ठ नहीं मानता, तो वह उस श्रेष्ठ पुरुषके आचरणों और वचनोंके अनुसार आचरण नहीं कर सकेगा।

वर्तमानमें पारमार्थिक (भगवत्सम्बन्धी) भावोंका प्रचार करनेवाले बहुत-से पुरुषोंके होनेपर भी लोगोंपर उन भावोंका प्रभाव बहुत कम दिखायी देता है। इसका कारण यही है कि प्रायः वक्ता जैसा कहता है, वैसा स्वयं पूरा आचरण नहीं करता। स्वयं आचरण करके कही गयी बात गोलीसे भरी बन्दूकके समान है, जो गोलीके छूटनेपर आवाजके साथ-साथ मार भी करती है। इसके विपरीत आचरणमें लाये बिना कही गयी बात केवल बारूदसे भरी बन्दूकके समान है, जो केवल आवाज करके ही शान्त हो जाती है। हाँ, पारमार्थिक बातें ऐसे ही खत्म नहीं हो जातीं, प्रत्युत कुछ-न-कुछ प्रभाव डालती ही हैं। भगवच्चर्चा, कथा-कीर्तन आदिका कुछ-न-कुछ प्रभाव सबपर पड़ता ही है। अगर सुननेवालोंमें श्रद्धा है और वे साधन करते हैं अथवा करना चाहते हैं, तो उनपर (अपनी श्रद्धा और साधनकी रुचिके कारण) वचनोंका प्रभाव अधिक पड़ता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देकर लोकसंग्रहकी पुष्टि करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**कर्तव्यम्**	=कर्तव्य	**अनवाप्तम्**	=अप्राप्त है,
मे	=मुझे	**अस्ति**	=है	**कर्मणि**	=(फिर भी मैं) कर्तव्यकर्ममें
त्रिषु	=तीनों	**च**	=और		
लोकेषु	=लोकोंमें	**न**	=न (कोई)	**एव**	=ही
न	=न तो	**अवाप्तव्यम्**	=प्राप्त करनेयोग्य (वस्तु)	**वर्ते**	=लगा रहता हूँ।
किञ्चन	=कुछ				

व्याख्या—**'न मे पार्थास्ति .... नानवाप्तमवाप्तव्यम्'**—भगवान् किसी एक लोकमें सीमित नहीं हैं। इसलिये वे तीनों लोकोंमें अपना कोई कर्तव्य न होनेकी बात कह रहे हैं।

भगवान्के लिये त्रिलोकीमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है; क्योंकि उनके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं है। कुछ-न-कुछ पानेके लिये ही सब (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) कर्म करते हैं। भगवान् उपर्युक्त पदोंमें बहुत विलक्षण बात कह रहे हैं

कि कुछ भी करना और पाना शेष न होनेपर भी मैं कर्म करता हूँ!

अपने लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी भगवान् केवल दूसरोंके हितके लिए अवतार लेते हैं और साधु पुरुषोंका उद्धार, पापी पुरुषोंका विनाश तथा धर्मकी संस्थापना करनेके लिये कर्म करते हैं (गीता ४। ८)। अवतारके सिवाय भगवान्‌की सृष्टि-रचना भी जीवमात्रके उद्धारके लिये ही होती है । स्वर्गलोक पुण्यकर्मोंका फल भुगतानेके लिये है और चौरासी लाख योनियाँ एवं नरक पाप-कर्मोंका फल भुगतानेके लिये हैं। मनुष्य-योनि पुण्य और पाप—दोनोंसे ऊँचे उठकर अपना कल्याण करनेके लिये है। ऐसा तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपने लिये कुछ न करे। वह सम्पूर्ण कर्म— स्थूल शरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्म शरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारण शरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' केवल दूसरोंके हितके लिये ही करे, अपने लिये नहीं। कारण कि जिनसे सब कर्म किये जाते हैं, वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण— तीनों ही शरीर संसारके हैं, अपने नहीं। इसलिये कर्मयोगी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि सम्पूर्ण सामग्रीको (जो वास्तवमें संसारकी ही है) संसारकी ही मानता है और उसे संसारकी सेवामें लगाता है। अगर मनुष्य संसारकी वस्तुको संसारकी सेवामें न लगाकर अपने सुख-भोगमें लगाता है तो बड़ी भारी भूल करता है। संसारकी वस्तुको अपनी मान लेनेसे ही फलकी इच्छा होती है और फलप्राप्तिके लिये कर्म होता है। इस तरह जबतक मनुष्य कुछ पानेकी इच्छासे कर्म करता है, तबतक उसके लिये कर्तव्य अर्थात् 'करना' शेष रहता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो मालूम होता है कि मनुष्यमात्रका अपने लिये कोई कर्तव्य है ही नहीं। कारण कि प्रापणीय वस्तु (परमात्मतत्त्व) नित्यप्राप्त है और स्वयं (स्वरूप) भी नित्य है, जबकि कर्म और कर्म-फल अनित्य अर्थात् उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाला है। अनित्य-(कर्म और फल-) का सम्बन्ध नित्य-(स्वयं-) के साथ हो ही कैसे सकता है! कर्मका सम्बन्ध 'पर'-(शरीर और संसार-) से है 'स्व' से नहीं। कर्म सदैव 'पर' के द्वारा और 'पर' के लिये ही होता है। इसलिये अपने लिये कुछ करना है ही नहीं। जब मनुष्यमात्रके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तब भगवान्‌के लिये कोई कर्तव्य हो ही कैसे सकता है!

कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषके लिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें कहा है कि उस महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उसकी रति, तृप्ति और संतुष्टि अपने-आपमें ही होती है। इसलिये उसे संसारमें करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा उसका किसी भी प्राणीसे किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसा होनेपर भी वह महापुरुष लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् अपने लिये कहते हैं कि कोई भी कर्तव्य न होने तथा कुछ भी पाना बाकी न होनेपर भी मैं लोकसंग्रहार्थ कर्म करता हूँ। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञ महापुरुषकी भगवान्‌के साथ एकता होती है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। जैसे भगवान् त्रिलोकीमें आदर्श पुरुष हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तेईसवाँ और चौथे अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक), ऐसे ही संसारमें तत्त्वज्ञ पुरुष भी आदर्श हैं (गीता—तीसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)।

'**वर्त एव च कर्मणि**'—यहाँ '**एव**' पदसे भगवान्‌का तात्पर्य है कि मैं उत्साह एवं तत्परतासे, आलस्यरहित होकर, सावधानीपूर्वक, सांगोपांग कर्तव्यकर्मोंको करता हूँ। कर्मोंका न त्याग करता हूँ, न उपेक्षा।

जैसे इंजनके पहियोंके चलनेसे इंजनसे जुड़े हुए डिब्बे भी चलते रहते हैं, ऐसे ही भगवान् और सन्त-महापुरुष (जिनमें करने और पानेकी इच्छा नहीं है) इंजनके समान कर्तव्य-कर्म करते हैं, जिससे अन्य मनुष्य भी उन्हींका अनुसरण करते हैं। अन्य मनुष्योंमें करने और पानेकी इच्छा रहती है। ये इच्छाएँ निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे ही दूर होती हैं। यदि भगवान् और सन्त-महापुरुष कर्तव्य-कर्म न करें तो दूसरे मनुष्य भी कर्तव्य-कर्म नहीं करेंगे, जिससे उनमें प्रमाद-आलस्य आ जायगा और वे अकर्तव्य करने लग जायँगे! फिर उन मनुष्योंकी इच्छाएँ कैसे मिटेंगी! इसलिये सम्पूर्ण मनुष्योंके हितके लिये भगवान् और सन्त-महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक ही कर्तव्य-कर्म होते हैं।

भगवान् सदैव कर्तव्यपरायण रहते हैं, कभी कर्तव्यच्युत नहीं होते। अतः भगवत्परायण साधकको भी कभी कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये। कर्तव्यच्युत होनेसे ही वह भगवत्तत्त्वके अनुभवसे वंचित रहता है। नित्य कर्तव्य-परायण रहनेसे साधकको भगवत्तत्त्वका अनुभव सुगमता-पूर्वक हो सकता है।

परिशिष्ट भाव—महाभारतमें भगवान्‌ने उत्तंक ऋषिको भी तीनों लोकोंमें अपना कर्तव्य बताया है—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च।
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव॥ (महा० आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

हि	= क्योंकि	**मनुष्याः**	= मनुष्य	**इमे**	= ये
पार्थ	= हे पार्थ!	**सर्वशः**	= सब प्रकारसे	**लोकाः**	= सब मनुष्य
यदि	= अगर	**मम**	= मेरे (ही)	**उत्सीदेयुः**	= नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ
अहम्	= मैं	**वर्त्म**	= मार्गका	**च**	= और (मैं)
जातु	= किसी समय	**अनुवर्तन्ते**	= अनुसरण करते हैं।	**सङ्करस्य**	= वर्णसंकरताको
अतन्द्रितः	= सावधान होकर			**कर्ता**	= करनेवाला
कर्मणि	= कर्तव्यकर्म	**चेत्**	= यदि	**स्याम्**	= होऊँ (तथा)
न	= न	**अहम्**	= मैं	**इमाः**	= इस
वर्तेयम्	= करूँ (तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि)	**कर्म**	= कर्म	**प्रजाः**	= समस्त प्रजाको
		न	= न	**उपहन्याम्**	= नष्ट करनेवाला बनूँ।
		कुर्याम्	= करूँ (तो)		

व्याख्या—[बाईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अन्वय-रीतिसे कर्तव्य-पालनकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया और इन श्लोकोंमें भगवान् व्यतिरेक-रीतिसे कर्तव्य-पालन न करनेसे होनेवाली हानिका प्रतिपादन करते हैं।]

'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः'—पूर्वश्लोकमें आये **'वर्त एव च कर्मणि'** पदोंकी पुष्टिके लिये यहाँ **'हि'** पद आया है।

भगवान् कहते हैं कि मैं सावधानीपूर्वक कर्म न करूँ—ऐसा हो ही नहीं सकता; परन्तु 'यदि ऐसा मान लें' कि मैं कर्म न करूँ—इस अर्थमें भगवान्‌ने यहाँ **'यदि जातु'** पदोंका प्रयोग किया है।

'अतन्द्रितः' पदका तात्पर्य यह है कि कर्तव्य-कर्म करनेमें आलस्य और प्रमाद नहीं करना चाहिये, अपितु उन्हें बहुत सावधानी और तत्परतासे करना चाहिये। सावधानी-पूर्वक कर्तव्य-कर्म न करनेसे मनुष्य आलस्य और प्रमादके वशमें होकर अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर देता है।

कर्मोंमें शिथिलता (आलस्य-प्रमाद) न लाकर उन्हें सावधानी एवं तत्परतापूर्वक करनेसे ही कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। जैसे वृक्षकी कड़ी टहनी जल्दी टूट जाती है, पर जो अधूरी टूटनेके कारण लटक रही है, ऐसी शिथिल (ढीली) टहनी जल्दी नहीं टूटती, ऐसे ही सावधानी एवं तत्परतापूर्वक कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, पर आलस्य-प्रमादपूर्वक (शिथिलतापूर्वक) कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। इसीलिये भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकमें **'समाचर'** पदका तथा इस श्लोकमें **'अतन्द्रितः'** पदका प्रयोग किया है।

अगर किसी कर्मकी बार-बार याद आती है, तो यही समझना चाहिये कि कर्म करनेमें कोई त्रुटि (कामना, आसक्ति, अपूर्णता, आलस्य, प्रमाद, उपेक्षा आदि) हुई है, जिसके कारण उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ है। कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद न होनेके कारण ही किये गये कर्मकी याद आती है।

'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः'—इन पदोंसे भगवान् मानो यह कहते हैं कि मेरे मार्गका अनुसरण करनेवाले ही वास्तवमें मनुष्य कहलानेयोग्य हैं। जो मुझे आदर्श न मानकर आलस्य-प्रमादवश कर्तव्य-कर्म नहीं करते और अधिकार चाहते हैं, वे आकृतिसे मनुष्य होनेपर भी वास्तवमें मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं हैं।

इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि श्रेष्ठ पुरुषके आचरण और प्रमाणके अनुसार सब मनुष्य उनका अनुसरण करते हैं और इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ पुरुष तो एक ही लोक- (मनुष्यलोक-)में आदर्श पुरुष हैं, पर मैं तीनों ही लोकोंमें आदर्श पुरुष हूँ।

मनुष्यको संसारमें कैसे रहना चाहिये—यह बतानेके लिये भगवान् मनुष्यलोकमें अवतरित होते हैं। संसारमें अपने लिये रहना ही नहीं है—यही संसारमें रहनेकी विद्या है। संसार वस्तुतः एक विद्यालय है, जहाँ हमें कामना, ममता, स्वार्थ आदिके त्यागपूर्वक दूसरोंके हितके लिये कर्म करना सीखना है और उसके अनुसार कर्म करके अपना उद्धार करना है। संसारके सभी सम्बन्धी एक-दूसरेकी सेवा (हित) करनेके लिये ही हैं। इसीलिये पिता, पुत्र, पति, पत्नी, भाई, बहन आदि सबको चाहिये कि वे एक-दूसरेके अधिकारकी रक्षा करते हुए अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें और एक-दूसरेके कल्याणकी चेष्टा करें।

'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्'—भगवान्‌ने तेईसवें श्लोकमें **'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः'** पदोंसे कर्मोंमें सावधानी न रखनेसे होनेवाली हानिकी बात कही और अब इस (चौबीसवें) श्लोकमें उपर्युक्त पदोंसे कर्म न करनेसे होनेवाली हानिकी बात कहते हैं।

यद्यपि ऐसा हो ही नहीं सकता कि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ, तथापि यदि ऐसा मान लिया जाय—इस अर्थमें भगवान्‌ने यहाँ **'चेत्'** पदका प्रयोग किया है।

इन पदोंका तात्पर्य है कि मनुष्यकी कर्म न करनेमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये—**'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'** (गीता २। ४७)। इसीलिये भगवान् अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मेरे लिये कुछ भी प्राप्तव्य न होनेपर भी मैं कर्म करता हूँ। यदि मैं (जिस वर्ण, आश्रम, आदिमें मैंने अवतार लिया है, उसके अनुसार) अपने कर्तव्यका पालन न करूँ तो सम्पूर्ण मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ अर्थात् उनका पतन हो जाय। कारण कि अपने कर्तव्यका त्याग करनेसे मनुष्योंमें तामसभाव आ जाता है, जिससे उनकी अधोगति होती है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (गीता १४। १८)।

भगवान् त्रिलोकीमें आदर्श पुरुष हैं और सम्पूर्ण प्राणी उन्हींके मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि भगवान् कर्तव्यका पालन नहीं करेंगे तो त्रिलोकीमें भी कोई अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा। अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे उनका अपने-आप पतन हो जायगा।

'सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः'—यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ तो सब लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे और उनके नष्ट होनेका कारण मैं ही बनूँगा, जबकि ऐसा सम्भव नहीं है।

परस्परविरुद्ध दो धर्म (भाव) एकमें मिल जायँ तो वह **'संकर'** कहलाता है।

पहले अध्यायके चालीसवें और इकतालीसवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि 'यदि मैं युद्ध करूँगा तो कुलका नाश हो जायगा। कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाता है; धर्मके नष्ट होनेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप फैल जाता है; पापके अधिक बढ़नेपर कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं; और स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। इस प्रकार अर्जुनका भाव यह था कि युद्ध करनेसे वर्णसंकरता उत्पन्न होगी*। परन्तु यहाँ भगवान् उससे विपरीत बात कहते हैं कि युद्धरूप कर्तव्य-कर्म न करनेसे वर्णसंकरता उत्पन्न होगी। इस विषयमें भगवान् अपना उदाहरण देते हैं कि यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ तो कर्म, धर्म, उपासना, वर्ण आश्रम, जाति आदि सबमें स्वतः संकरता आ जायगी। तात्पर्य यह है कि कर्तव्य-कर्म न करनेसे ही संकरता उत्पन्न होती है। इसलिये यहाँ भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि तू

*** अर्जुनकी दलीलके अनुसार भी यदि विचार किया जाय तो वास्तवमें कर्तव्यका पालन न करना ही वर्णसंकरताका कारण है। युद्धमें कुलका नाश होनेपर स्त्रियोंका दूषित होना उनका कर्तव्यच्युत होना ही है और कर्तव्यच्युत होनेसे ही वर्णसंकरता आती है। यदि स्त्रियोंमें यह भाव रहे कि हमारे पतियोंने युद्धरूप कर्तव्यका पालन करते हुए अपने प्राणोंका त्याग कर दिया, पर अपने कर्तव्यका त्याग नहीं किया, फिर हम अपने कर्तव्यका त्याग क्यों करें? तो वे कर्तव्यच्युत नहीं होंगी। कर्तव्यच्युत न होनेसे उनका सतीत्व सुरक्षित रहेगा, जिससे वर्णसंकरता आयेगी ही नहीं।**

युद्धरूप कर्तव्य-कर्म न करनेसे ही वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाला बनेगा, न कि युद्ध करनेसे (जैसा कि तू मानता है)।

विशेष बात

अर्जुनके मूल प्रश्न (मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं) का उत्तर भगवान् बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें—तीन श्लोकोंमें अपने उदाहरणसे देते हैं कि मैं तुम्हें ही कर्ममें लगाता हूँ, ऐसी बात नहीं है प्रत्युत मैं स्वयं भी कर्ममें लगा रहता हूँ, जबकि वास्तवमें मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य एवं प्राप्तव्य नहीं है।

भगवान् अर्जुनको इस बातका संकेत करते हैं कि अभी इस अवतारमें तुमने भी स्वीकार किया और मैंने भी स्वीकार किया कि तू रथी बने और मैं सारथि बनूँ; तो देख, क्षत्रिय होते हुए भी आज मैं तेरा सारथि बना हुआ हूँ और इस प्रकार स्वीकार किये हुए अपने कर्तव्यका सावधानी और तत्परतापूर्वक पालन कर रहा हूँ। मेरे इस कर्तव्य-पालनका भी त्रिलोकीपर प्रभाव पड़ेगा; क्योंकि मैं त्रिलोकीमें आदर्श पुरुष हूँ। समस्त प्राणी मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार तुम्हें भी अपने कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा न करके मेरी तरह उसका सावधानी एवं तत्परतापूर्वक पालन करना चाहिये।

सम्बन्ध—पीछेके तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने जैसे अपने लिये कर्म करनेमें सावधानी रखनेका वर्णन किया, ऐसे ही आगेके दो श्लोकोंमें ज्ञानी महापुरुषके लिये कर्म करनेमें सावधानी रखनेकी प्रेरणा करते हैं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६ ॥

भारत = हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!
कर्मणि = कर्ममें
सक्ताः = आसक्त हुए
अविद्वांसः = अज्ञानीजन
यथा = जिस प्रकार
कुर्वन्ति = (कर्म) करते हैं,
असक्तः = आसक्तिरहित
विद्वान् = तत्त्वज्ञ महापुरुष (भी)
लोकसङ्ग्रहम् = लोकसंग्रह
चिकीर्षुः = करना चाहता हुआ
तथा = उसी प्रकार
कुर्यात् = (कर्म) करे।
युक्तः = सावधान
विद्वान् = तत्त्वज्ञ महापुरुष
कर्मसङ्गिनाम् = कर्मोंमें आसक्तिवाले
अज्ञानाम् = अज्ञानी मनुष्योंकी
बुद्धिभेदम् = बुद्धिमें भ्रम
न, जनयेत् = उत्पन्न न करे, (प्रत्युत स्वयं)
सर्वकर्माणि = समस्त कर्मोंको
समाचरन् = अच्छी तरहसे करता हुआ
जोषयेत् = (उनसे भी वैसे ही) करवाये।

व्याख्या—‘**सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत**’—जिन मनुष्योंकी शास्त्र, शास्त्र-पद्धति और शास्त्र-विहित शुभकर्मोंपर पूरी श्रद्धा है एवं शास्त्रविहित कर्मोंका फल अवश्य मिलता है—इस बातपर पूरा विश्वास है; जो न तो तत्त्वज्ञ हैं और न दुराचारी हैं; किन्तु कर्मों, भोगों एवं पदार्थोंमें आसक्त हैं, ऐसे मनुष्योंके लिये यहाँ ‘**सक्ताः**’, ‘**अविद्वांसः**’ पद आये हैं। शास्त्रोंके ज्ञाता होनेपर भी केवल कामनाके कारण ऐसे मनुष्य अविद्वान् (अज्ञानी) कहे गये हैं। ऐसे पुरुष शास्त्रज्ञ तो हैं, पर तत्त्वज्ञ नहीं। ये केवल अपने लिये कर्म करते हैं, इसीलिये अज्ञानी कहलाते हैं।

ऐसे अविद्वान् मनुष्य कर्मोंमें कभी प्रमाद, आलस्य आदि न रखकर सावधानी और तत्परतापूर्वक सांगोपांग विधिसे कर्म करते हैं; क्योंकि उनकी ऐसी मान्यता रहती है कि कर्मोंको करनेमें कोई कमी आ जानेसे उनके फलमें भी कमी आ जायगी। भगवान् उनके इस प्रकार कर्म करनेकी रीतिको आदर्श मानकर सर्वथा आसक्तिरहित विद्वान्‌के लिये भी इसी विधिसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं।

‘**कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्**’—जिसमें कामना, ममता, आसक्ति, वासना, पक्षपात, स्वार्थ

आदिका सर्वथा अभाव हो गया है और शरीरादि पदार्थोंके साथ किंचिन्मात्र भी लगाव नहीं रहा, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषके लिये यहाँ '**असक्तः, विद्वान्**' पद आये हैं*।

बीसवें श्लोकमें '**लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्**' कहकर फिर इक्कीसवें श्लोकमें जिसकी व्याख्या की गयी, उसीको यहाँ '**लोकसङ्ग्रहं चिकीर्षुः**' पदोंसे कहा गया है।

श्रेष्ठ मनुष्य (आसक्तिरहित विद्वान्)-के सभी आचरण स्वाभाविक ही यज्ञके लिये, मर्यादा सुरक्षित रखनेके लिये होते हैं। जैसे भोगी मनुष्यकी भोगोंमें, मोही मनुष्यकी कुटुम्बमें और लोभी मनुष्यकी धनमें रति होती है, ऐसे ही श्रेष्ठ मनुष्यकी प्राणिमात्रके हितमें रति होती है। उसके अन्तःकरणमें 'मैं लोकहित करता हूँ'— ऐसा भाव भी नहीं होता, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक लोकहित होता है। प्राकृत पदार्थमात्रसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण उस ज्ञानी महापुरुषके कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी 'लोकसंग्रह' पदमें आये '**लोक**' शब्दके अन्तर्गत आते हैं।

दूसरे लोगोंको ऐसे ज्ञानी महापुरुष लोकसंग्रहकी इच्छावाले दीखते हैं, पर वास्तवमें उनमें लोकसंग्रहकी भी इच्छा नहीं होती। कारण कि वे संसारसे प्राप्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, पद, अधिकार, धन, योग्यता, सामर्थ्य आदिको साधनावस्थासे ही कभी किंचिन्मात्र भी अपने और अपने लिये नहीं मानते, प्रत्युत संसारके और संसारकी सेवाके लिये ही मानते हैं, जो कि वास्तवमें है। वही प्रवाह रहनेके कारण सिद्धावस्थामें भी उनके कहलानेवाले शरीरादि पदार्थ स्वतः-स्वाभाविक, किसी प्रकारकी इच्छाके बिना संसारकी सेवामें लगे रहते हैं।

इस श्लोकमें '**यथा**' और '**तथा**' पद कर्म करनेके प्रकारके अर्थमें आये हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अज्ञानी (सकाम) पुरुष अपने स्वार्थके लिये सावधानी और तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोकसंग्रह अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म करे। ज्ञानी पुरुषको प्राणिमात्रके हितका भाव रखकर सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते रहना चाहिये। सबका कल्याण कैसे हो?—इस भावसे कर्तव्य-कर्म करनेपर लोकमें अच्छे भावोंका प्रचार स्वतः होता है।

अज्ञानी पुरुष तो फलकी प्राप्तिके लिये सावधानी और तत्परतासे विधिपूर्वक कर्तव्य-कर्म करता है, पर ज्ञानी पुरुषकी फलमें आसक्ति नहीं होती और उसके लिये कोई कर्तव्य भी नहीं होता। अतः उसके द्वारा कर्मकी उपेक्षा होना सम्भव है। इसीलिये भगवान् कर्म करनेके विषयमें ज्ञानी पुरुषको भी अज्ञानी (सकाम) पुरुषकी ही तरह कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

इक्कीसवें श्लोकमें तो विद्वान्‌को '**आदर्श**' बताया गया था, पर यहाँ उसे '**अनुयायी**' बताया है। तात्पर्य यह है कि विद्वान् चाहे आदर्श हो अथवा अनुयायी, उसके द्वारा स्वतः लोकसंग्रह होता है। जैसे भगवान् श्रीराम प्रजाको उपदेश भी देते हैं और पिताजीकी आज्ञाका पालन करके वनवास भी जाते हैं। दोनों ही परिस्थितियोंमें उनके द्वारा लोकसंग्रह होता है; क्योंकि उनका कर्मोंके करने अथवा न करनेसे अपना कोई प्रयोजन नहीं था।

जब विद्वान् आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करता है, तब आसक्तियुक्त चित्तवाले पुरुषोंके अन्तःकरणपर भी विद्वान्‌के कर्मोंका स्वतः प्रभाव पड़ता है, चाहे उन पुरुषोंको 'यह महापुरुष निष्कामभावसे कर्म कर रहा है'—ऐसा प्रत्यक्ष दीखे या न दीखे। मनुष्यके निष्कामभावका दूसरोंपर स्वाभाविक प्रभाव पड़ता है—यह सिद्धान्त है। इसलिये आसक्तिरहित विद्वान्‌के भावों, आचरणोंका प्रभाव मनुष्योंपर ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी आदिपर भी पड़ता है।

विशेष बात

मनुष्य जबतक निष्कामभावपूर्वक विहित-कर्म नहीं करता, तबतक उसका जन्म-मरण नहीं मिट सकता। वह जबतक अपने लिये कर्म करता है, तबतक वह कृतकृत्य नहीं होता अर्थात् उसका 'करना' समाप्त नहीं होता। कारण कि 'स्वयं' नित्य रहनेवाला है और कर्म एवं उसका फल नष्ट होनेवाला है। अतः प्रत्येक मनुष्यके लिये स्वार्थ-त्यागपूर्वक (अपने लिये न करके केवल दूसरोंके हितके लिये) कर्तव्य-कर्म करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

*** यद्यपि परमात्मतत्त्वको प्राप्त होनेपर सांख्ययोगी और कर्मयोगी—दोनों एक हो जाते हैं (गीता ५। ४-५), तथापि साधनावस्थामें दोनोंकी साधनप्रणालीमें अन्तर रहनेसे सिद्धावस्थामें भी उनके लक्षणोंमें, स्वभावमें थोड़ा अन्तर रहता है। सांख्ययोगीकी तो कर्मोंसे विशेष उपरति रहती है, पर कर्मयोगीकी कर्मोंमें विशेष तत्परता रहती है; क्योंकि पहले कर्म करनेका स्वभाव पड़ा हुआ रहता है। यह अन्तर भी कहीं-कहीं होता है।**

सांसारिक पदार्थोंको मूल्यवान् समझनेके कारण ही कर्मयोग-(निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म-) के पालनमें कठिनाई प्रतीत होती है। हमें दूसरोंसे कुछ न चाहकर केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करने हैं—इस बातको यदि स्वीकार कर लें तो आज ही कर्मयोगका पालन सुगम हो जाय।

वास्तवमें महत्ता पदार्थकी नहीं, प्रत्युत आचरण-(उसके उपयोग-) की ही होती है। आचरणकी महत्ता भी तब है, जब अन्तःकरणमें पदार्थकी महत्ता न हो। कोई भी पदार्थ व्यक्तिगत नहीं है; केवल उपयोगके लिये ही व्यक्तिगत है। पदार्थको व्यक्तिगत माननेसे ही परहितके लिये उसका त्याग कठिन प्रतीत होता है। कोई भी पदार्थ या क्रिया बन्धन-कारक नहीं, उनका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है।

विद्वान् पुरुषोंसे भी लोकसंग्रहके लिये सब कर्म होते हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी उनमें 'मैं लोकसंग्रह कर रहा हूँ'— यह अभिमान नहीं रहता। कारण यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, विद्या, योग्यता, पद आदि सब संसारके हैं और संसारसे मिले हैं। संसारसे मिली सामग्रीको संसारकी ही सेवामें लगा देना ईमानदारी है। उस सामग्रीको बहुत सच्चाईसे, ईमानदारीसे संसारके अर्पण कर देना है। यह अर्पण करना कोई बड़ा काम नहीं है। जैसे किसीने हमारे पास धरोहररूपसे रुपये रखे और कुछ समय बाद उसके माँगनेपर हमने उसके रुपये उसे वापस कर दिये, तो कौन-सा बड़ा काम किया? हाँ, हमारा दायित्व समाप्त हो गया, हम ऋणमुक्त हो गये। इसी प्रकार संसारकी वस्तु संसारके अर्पण कर देनेसे हमारा दायित्व समाप्त हो जाता है, हम ऋणमुक्त हो जाते हैं— जन्म-मरणके बन्धनसे सदाके लिये छूट जाते हैं। इसलिये सांसारिक पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगाकर कोई दान-पुण्य नहीं करना है, प्रत्युत उन पदार्थोंसे अपना पिण्ड छुड़ाना है।

'न बुद्धिभेदं ..... विद्वान्युक्तः समाचरन्'—पचीसवें श्लोकमें **'असक्तः, विद्वान्'** पदोंसे जिसका वर्णन हुआ है, उसी आसक्तिरहित विद्वान्को यहाँ **'युक्तः, विद्वान्'** पदोंसे कहा गया है।

जिसके अन्तःकरणमें स्वतः-स्वाभाविक समता है, जिसकी स्थिति निर्विकार है, जिसकी समस्त इन्द्रियाँ अच्छी तरह जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण समान हैं, ऐसा तत्त्वज्ञ महापुरुष ही **'युक्तः, विद्वान्'** कहलाता है (गीता—छठे अध्यायका आठवाँ श्लोक)।

पीछेके (पचीसवें) श्लोकमें **'सक्ताः, अविद्वांसः'** पदोंसे जिनका वर्णन हुआ है, उन्हीं शास्त्रविहित शुभकर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानी पुरुषोंको यहाँ **'कर्मसङ्गिनाम्, अज्ञानाम्'** पदोंसे कहा गया है।

शास्त्रविहित कर्मोंको अपने लिये (सुख-भोग, मान, बड़ाई आदिकी प्राप्तिके लिये) करनेके कारण इन पुरुषोंको 'कर्मसंगी' और 'अज्ञानी' कहा गया है।

श्रेष्ठ पुरुषपर विशेष जिम्मेवारी होती है; क्योंकि दूसरे लोग स्वाभाविक ही उसका अनुसरण करते हैं। इसलिये भगवान् उपर्युक्त पदोंसे विद्वान्को आज्ञा देते हैं कि उसे ऐसा कोई आचरण नहीं करना चाहिये और ऐसी कोई बात नहीं कहनी चाहिये, जिसे अज्ञानी (कामनायुक्त) पुरुषोंका वर्तमान स्थितिसे पतन हो जाय। अज्ञानी पुरुष अभी जिस स्थितिमें हैं, उस स्थितिसे उन्हें विचलित करना (नीचे गिराना) ही उनमें 'बुद्धिभेद' उत्पन्न करना है। अतः विद्वान्को सबके हितका भाव रखते हुए अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंका आचरण करते रहना चाहिये, जिससे दूसरे पुरुषोंको भी निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती रहे। समाज एवं परिवारके मुख्य व्यक्तियोंपर भी यही बात लागू होती है। उनको भी सावधानीपूर्वक अपने कर्तव्य-कर्मोंका अच्छी तरह आचरण करते रहना चाहिये, जिससे समाज और परिवारपर अच्छा प्रभाव पड़े।

बुद्धिभेद पैदा करनेके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१-'कर्मोंमें क्या रखा है? कर्मोंसे तो जीव बँधता है; कर्म निकृष्ट हैं; कर्म छोड़कर ज्ञानमें लगना चाहिये' आदि उपदेश देना अथवा इस प्रकारके अपने आचरणों और वचनोंसे दूसरोंमें कर्तव्य-कर्मोंके प्रति अश्रद्धा-अविश्वास उत्पन्न करना।

२-'जहाँ देखो, वहीं स्वार्थ है; स्वार्थके बिना कोई रह नहीं सकता; सभी स्वार्थके लिये कर्म करते हैं; मनुष्य कोई कर्म करे तो फलकी इच्छा रहती ही है; फलकी इच्छा न रहे तो वह कर्म करेगा ही क्यों' आदि उपदेश देना।

३-'फलकी इच्छा रखकर (अपने लिये) कर्म करनेसे (फल भोगनेके लिये) बार-बार जन्म लेना पड़ता है' आदि उपदेश देना। इस प्रकारके उपदेशोंसे कामनावाले पुरुषोंका कर्मफलपर विश्वास नहीं रहता। फलस्वरूप उनकी (फलमें) आसक्ति तो छूटती नहीं; शुभ-कर्म जरूर छूट जाते हैं। बन्धनका कारण आसक्ति ही है, कर्म नहीं। इस प्रकार

लोगोंमें बुद्धिभेद उत्पन्न न करके तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार स्वयं कर्तव्य-कर्म करे और दूसरोंसे भी वैसे ही करवाये। उसे चाहिये कि वह अपने आचरणों और वचनोंके द्वारा अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम पैदा न करते हुए उन्हें वर्तमान स्थितिसे क्रमशः ऊँचे उठाये। जिन शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंको अज्ञानी पुरुष अभी कर रहे हैं, उनकी वह विशेषरूपसे प्रशंसा करे और उनके कर्मोंमें होनेवाली त्रुटियोंसे उन्हें अवगत कराये, जिससे वे उन त्रुटियोंको दूर करके सांगोपांग विधिसे कर्म कर सकें। इसके साथ ही ज्ञानी पुरुष उन्हें यह उपदेश दें कि यज्ञ, दान, पूजा, पाठ आदि शुभकर्म करना तो बहुत अच्छा है, पर उन कर्मोंमें फलकी इच्छा रखना उचित नहीं; क्योंकि हीरेको कंकड़-पत्थरोंके बदले बेचना बुद्धिमत्ता नहीं है। अतः सकामभावका त्याग करके शुभ-कर्म करनेसे बहुत जल्दी लाभ होता है। इस प्रकार सकामभावसे निष्कामभावकी ओर जाना बुद्धिभेद नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है।

इसी तरह उपासनाके विषयमें भी तत्त्वज्ञ पुरुषको बुद्धिभेद पैदा नहीं करना चाहिये। जैसे, प्रायः लोग कह दिया करते हैं कि नाम-जप करते समय भगवान्‌में मन नहीं लगा तो नामजप करना व्यर्थ है। परन्तु तत्त्वज्ञ पुरुषको ऐसा न कहकर यह उपदेश देना चाहिये कि नामजप कभी व्यर्थ हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌के प्रति कुछ-न-कुछ भाव रहनेसे ही नामजप होता है। भावके बिना नामजपमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। अतः नामजपका किसी भी अवस्थामें त्याग नहीं करना चाहिये। जो यह कहा गया है कि ***'मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं'*** इसका भी यही अर्थ है कि मन न लगनेसे यह 'सुमिरन' (स्मरण) नहीं है, 'जप' तो है ही। हाँ, मन लगाकर ध्यानपूर्वक नाम-जप करनेसे बहुत जल्दी लाभ होता है।

कोई भी मनुष्य सर्वथा गुणरहित नहीं होता। उसमें कुछ-न-कुछ गुण रहते ही हैं। इसलिये तत्त्वज्ञ महापुरुषको चाहिये कि अगर किसी व्यक्तिको (उसकी उन्नतिके लिये) कोई शिक्षा देनी हो, कोई बात समझानी हो, तो उस व्यक्तिकी निन्दा या अपमान न करके उसके गुणोंकी प्रशंसा करे। गुणोंकी प्रशंसा करते हुए आदरपूर्वक उसे जो शिक्षा दी जायगी, उस शिक्षाका उसपर विशेष असर पड़ेगा। समाज और परिवारके मुख्य व्यक्तियोंको भी इसी रीतिसे दूसरोंको शिक्षा देनी चाहिये।

'समाचरन्' और **'जोषयेत्'** पदोंसे भगवान् विद्वान्‌को दो आज्ञाएँ देते हैं—(१) स्वयं सावधानीपूर्वक शास्त्र-विहित कर्तव्य-कर्मोंको अच्छी तरह करे और (२) कर्मोंमें आसक्त अज्ञानी पुरुषोंसे भी वैसे ही कर्म करवाये। लोगोंको दिखानेके लिये कर्म करना 'दम्भ' है, जो पतन करनेवाली आसुरी-सम्पत्तिका लक्षण है (गीता—सोलहवें अध्यायका चौथा श्लोक)। अतः भगवान् लोगोंको दिखानेके लिये नहीं, प्रत्युत लोकसंग्रहके लिये ही कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि कर्म करनेसे अपना कोई प्रयोजन न रहनेपर भी वह समस्त कर्तव्य-कर्मोंको सुचारुरूपसे करता रहे, जिससे कर्मोंमें आसक्त पुरुषोंकी निष्काम कर्मोंके प्रति महत्त्वबुद्धि जाग्रत् हो और वे भी निष्कामभावसे कर्म करने लगें। तात्पर्य यह है कि उस महापुरुषके आसक्तिरहित आचरणोंको देखकर अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करनेकी चेष्टा करने लगेंगे।

इस प्रकार ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह कर्मोंमें आसक्त पुरुषोंको आदरपूर्वक समझाकर उनसे निषिद्धकर्मोंका स्वरूपसे (सर्वथा) त्याग करवाये, और विहित-कर्मोंमेंसे सकामभावका त्याग करनेकी प्रेरणा करे।

परिशिष्ट भाव—तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान्—दोनोंमें ही कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अतः वे केवल लोकसंग्रहके लिये ही कर्तव्य-कर्म किया करते हैं, अपने लिये नहीं। साधकको भी अपने लिये कुछ नहीं करना चाहिये; क्योंकि स्वरूपमें कर्तृत्व नहीं है। लोगोंको उन्मार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगाना लोकसंग्रह है। लोकसंग्रहका उपाय है—शास्त्रके अनुसार ठीक आचरण करना, पर भीतरमें साधक यह भाव रखे कि मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। वह लोगोंमें यह न कहे कि मैं अपने लिये कुछ नहीं करता हूँ।

सम्बन्ध—ज्ञानी और अज्ञानीमें क्या अन्तर है—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

कर्माणि	= सम्पूर्ण कर्म		(परन्तु)	**अहम्**	= मैं
सर्वशः	= सब प्रकारसे	**अहङ्कारविमूढात्मा**	= अहंकारसे मोहित अन्तः-करणवाला अज्ञानी मनुष्य	**कर्ता**	= कर्ता हूँ—
प्रकृतेः	= प्रकृतिके			**इति**	= ऐसा
गुणैः	= गुणोंद्वारा			**मन्यते**	= मान लेता है।
क्रियमाणानि	= किये जाते हैं;				

व्याख्या—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'**—जिस समष्टि शक्तिसे शरीर, वृक्ष आदि पैदा होते और बढ़ते-घटते हैं, गंगा आदि नदियाँ प्रवाहित होती हैं, मकान आदि पदार्थोंमें परिवर्तन होता है, उसी समष्टि शक्तिसे मनुष्यकी देखना, सुनना, खाना-पीना आदि सब क्रियाएँ होती हैं। परन्तु मनुष्य अहंकारसे मोहित होकर, अज्ञानवश एक ही समष्टि शक्तिसे होनेवाली क्रियाओंके दो विभाग कर लेता है—एक तो स्वतः होनेवाली क्रियाएँ; जैसे—शरीरका बनना, भोजनका पचना इत्यादि; और दूसरी, ज्ञानपूर्वक होनेवाली क्रियाएँ; जैसे—देखना, बोलना, भोजन करना इत्यादि। ज्ञानपूर्वक होनेवाली क्रियाओंको मनुष्य अज्ञानवश अपने द्वारा की जानेवाली मान लेता है।

प्रकृतिसे उत्पन्न गुणों-(सत्त्व, रज और तम-) का कार्य होनेसे बुद्धि, अहंकार, मन, पंचमहाभूत, दस इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके शब्दादि पाँच विषय— ये भी प्रकृतिके गुण कहे जाते हैं। उपर्युक्त पदोंमें भगवान् स्पष्ट करते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाएँ (चाहे समष्टिकी हों या व्यष्टिकी) प्रकृतिके गुणों द्वारा ही की जाती हैं, स्वरूपके द्वारा नहीं।

'अहङ्कारविमूढात्मा'—'अहंकार' अन्तःकरणकी एक वृत्ति है। 'स्वयं' (स्वरूप) उस वृत्तिका ज्ञाता है। परन्तु भूलसे 'स्वयं' को उस वृत्तिसे मिलाने अर्थात् उस वृत्तिको ही अपना स्वरूप मान लेनेसे यह मनुष्य विमूढात्मा कहा जाता है।

जैसे शरीर **'इदम्'** (यह) है, ऐसे ही अहंकार भी **'इदम्'** (यह) है। **'इदम्'** (यह) कभी **'अहम्'** (मैं) नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त है। जब मनुष्य भूलसे **'इदम्'** को **'अहम्'** अर्थात् **'यह'** को **'मैं'** मान लेता है, तब वह **'अहङ्कारविमूढात्मा'** कहलाता है। यह माना हुआ अहंकार उद्योग करनेसे नहीं मिटता; क्योंकि उद्योग करनेमें भी अहंकार रहता है। माना हुआ अहंकार मिटता है—अस्वीकृतिसे अर्थात् 'न मानने' से।

विशेष बात

'अहम्' दो प्रकारका होता है—

(१) वास्तविक (आधाररूप) **'अहम्'***; जैसे—'मैं हूँ' (अपनी सत्तामात्र)।

(२) अवास्तविक (माना हुआ) **'अहम्'**; जैसे—'मैं शरीर हूँ'।

'वास्तविक अहम्' स्वाभाविक एवं नित्य और 'अवास्तविक अहम्' अस्वाभाविक एवं अनित्य होता है। अतः 'वास्तविक अहम्' विस्मृत तो हो सकता है, पर मिट नहीं सकता; और 'अवास्तविक अहम्' प्रतीत तो हो सकता है, पर टिक नहीं सकता। मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह 'वास्तविक अहम्'-(अपने स्वरूप-) को विस्मृत करके 'अवास्तविक अहम्'-(मैं शरीर हूँ-) को ही सत्य मान लेता है।

'कर्ताहमिति मन्यते'—यद्यपि सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिजन्य गुणोंके द्वारा ही किये जाते हैं, तथापि अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य कुछ कर्मोंका कर्ता अपनेको मान लेता है। कारण कि वह अहंकारको ही अपना स्वरूप मान बैठता है। अहंकारके कारण ही मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिमें 'मैं'-पन कर लेता है और उन-(शरीरादि) की क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है। यह विपरीत मान्यता मनुष्यने स्वयं की है, इसलिये इसको मिटा भी वही सकता है। इसको मिटानेका उपाय है—इसे विवेक-विचारपूर्वक न मानना;

*** जिसको यहाँ 'वास्तविक अहम्' कहा है, वह वास्तवमें 'अहम्' नहीं है, प्रत्युत सत्-रूप, चित्-रूप तत्त्व है। उसको 'वास्तविक अहम्' इसलिये कहा है कि वह कभी बदलता नहीं, जबकि 'अवास्तविक अहम्' बदलता है। जैसे, कोई व्यक्ति पढ़ा-लिखा नहीं है, तो वह कहता है कि 'मैं मूर्ख हूँ, अपढ़ हूँ' और पढ़-लिखकर वही व्यक्ति कहता है कि 'मैं विद्वान् हूँ, पढ़ा-लिखा हूँ'। इस प्रकार 'अहम्' के बदलनेपर भी अपनी सत्ता ('मैं हूँ') नहीं बदली । माने हुए 'अहम्' के साथ सदा रहनेसे ही उस सत्ताको 'वास्तविक अहम्' कहते हैं। माने हुए 'अहम्' का साथ मिटते ही अर्थात् वहाँसे दृष्टि हटते ही वह 'वास्तविक अहम्' सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है।**

क्योंकि मान्यतासे ही मान्यता कटती है।

एक 'करना' होता है, और एक 'न करना'। जैसे 'करना' क्रिया है, ऐसे ही 'न करना' भी क्रिया है। सोना, जागना, बैठना, चलना, समाधिस्थ होना आदि सब क्रियाएँ हैं। क्रिया मात्र प्रकृतिमें होती है। 'स्वयं'-(चेतन स्वरूप-) में करना और न करना—दोनों ही नहीं हैं; क्योंकि वह इन दोनोंसे परे है। वह अक्रिय और सबका प्रकाशक है। यदि 'स्वयं' में भी क्रिया होती, तो वह क्रिया (शरीरादिमें परिवर्तनरूप क्रियाओं) का ज्ञाता कैसे होता? करना और न करना वहाँ होता है, जहाँ 'अहम्' (मैं) रहता है। 'अहम्' न रहनेपर क्रियाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। करना और न करना—दोनों जिससे प्रकाशित होते हैं, उस अक्रिय तत्त्व (अपने स्वरूप)-में मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक स्थिति है। परन्तु 'अहम्' के कारण मनुष्य प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है। प्रकृति-(जड-) से माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है।

विशेष बात

जिस प्रकार समुद्रका ही अंश होनेके कारण लहर और समुद्रमें जातीय एकता है अर्थात् जिस जातिकी लहर है, उसी जातिका समुद्र है, उसी प्रकार संसारका ही अंश होनेके कारण शरीरकी संसारसे जातीय एकता है। मनुष्य संसारको तो 'मैं' नहीं मानता, पर भूलसे शरीरको 'मैं' मान लेता है।

जिस प्रकार समुद्रके बिना लहरका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार संसारके बिना शरीरका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला मनुष्य जब शरीरको 'मैं' (अपना स्वरूप) मान लेता है, तब उसमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं; जैसे—मुझे स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ मिल जायँ, लोग मुझे अच्छा समझें, मेरा आदर-सम्मान करें, मेरे अनुकूल चलें इत्यादि। उसका इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि शरीरको अपना स्वरूप मानकर मैं पहलेसे ही बँधा बैठा हूँ, अब कामनाएँ करके और बन्धन बढ़ा रहा हूँ—अपनेको और विपत्तिमें डाल रहा हूँ।

साधनकालमें 'मैं (स्वयं) प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ'—ऐसा अनुभव न होनेपर भी जब साधक ऐसा मान लेता है, तब उसे वैसा ही अनुभव हो जाता है। इस प्रकार जैसे वह गलत मान्यता करके बँधा था, ऐसे ही सही मान्यता करके मुक्त हो जाता है; क्योंकि मानी हुई बात न माननेसे मिट जाती है—यह सिद्धान्त है। इसी बातको भगवान्‌ने पाँचवें अध्यायके आठवें श्लोकमें—'**नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' पदोंमें '**मन्येत**' पदसे प्रकट किया है कि 'मैं कर्ता हूँ'—इस अवास्तविक मान्यताको मिटानेके लिये 'मैं कुछ भी नहीं करता'—ऐसी वास्तविक मान्यता करनी होगी।

'मैं शरीर हूँ; मैं कर्ता हूँ' आदि असत्य मान्यताएँ भी इतनी दृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें छोड़ना कठिन मालूम देता है; फिर 'मैं शरीर नहीं हूँ; मैं अकर्ता हूँ' आदि सत्य मान्यताएँ दृढ़ कैसे नहीं होंगी? और एक बार दृढ़ हो जानेपर फिर कैसे छूटेंगी?

परिशिष्ट भाव—सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। अहंकारसे अन्तःकरण मोहित होनेके कारण अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मान लेता है। अहंकारसे अन्तःकरण मोहित होनेका तात्पर्य है—अपरा प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध मान लेना अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेना कि यही मैं हूँ। इसीको तादात्म्य कहते हैं।

अपनेको कर्ता माननेवाला तो चेतन है, पर वह जड़ अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है। तात्पर्य है कि अहम्‌को अपना स्वरूप माननेवाला, अपनेको एकदेशीय माननेवाला स्वयं परमात्माका अंश है। उस स्वयंमें कर्तापन सम्भव ही नहीं है (गीता—तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। वास्तवमें स्वयं शरीरसे मिल सकता ही नहीं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१), पर मनुष्य मिला हुआ मान लेता है—'**कर्ताहमिति मन्यते।**' वास्तवमें तादात्म्य होता नहीं, प्रत्युत तादात्म्य माना जाता है। तात्पर्य है कि स्वयं कर्ता बनता नहीं, केवल अविवेकपूर्वक अपनेमें कर्तापनकी मान्यता कर लेता है—'**मन्यते।**' अपनेको कर्ता मानते ही उसपर शास्त्रीय विधि-निषेध लागू हो जाते हैं और उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है।

स्वरूप (स्वयं)-में कोई क्रिया नहीं है। क्रिया वहीं होती है, जहाँ कुछ खाली जगह हो। सर्वथा ठोस स्वरूपमें क्रिया कैसे हो सकती है? परन्तु अपनेको कर्ता मान लेनेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़ता है, वह क्रिया

उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है, जिसका फल उसको भोगना ही पड़ता है। कारण कि जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है।

स्वरूपका कारकमात्रसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है। इसलिये स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्वका विभाग ही अलग है। आजतक देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, यक्ष, राक्षस आदि अनेक शरीरों (योनियों)-में जो भी कर्म किये गये हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म स्वरूपतक नहीं पहुँचा तथा कोई भी शरीर स्वरूपतक नहीं पहुँचा; क्योंकि कर्म और पदार्थ (शरीर)-का विभाग ही अलग है और स्वरूपका विभाग ही अलग है। परन्तु इस विवेकको महत्त्व न देनेके कारण मनुष्य कर्म और फलमें बँध जाता है।

जबतक 'करना' है, तबतक अहंकारके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि अहंकार (कर्तापन)-के बिना 'करना' सिद्ध नहीं होता। करनेका भाव होनेपर कर्तृत्वाभिमान हो ही जाता है। कर्तृत्वाभिमान होनेसे 'करना' होता है और करनेसे कर्तृत्वाभिमान पुष्ट होता है। इसलिये किये हुए साधनसे साधक कभी अहंकाररहित हो ही नहीं सकता। अहंकारपूर्वक किया गया कर्म कभी कल्याण नहीं कर सकता; क्योंकि सब अनर्थोंका, जन्म-मरणका मूल अहंकार ही है। अपने लिये कुछ न करनेसे अहंकारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् प्रकृतिमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर अपने विवेकको महत्त्व दे। विवेकको महत्त्व देनेसे विवेक स्वतः स्पष्ट होता रहता है और साधकका मार्गदर्शन करता रहता है। आगे चलकर यह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

तु	= परन्तु	**तत्त्ववित्**	= तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष	**वर्तन्ते**	= बरत रहे हैं'—
महाबाहो	= हे महाबाहो!			**इति**	= ऐसा
गुणकर्म-	= गुण-विभाग और	**गुणाः**	= 'सम्पूर्ण गुण (ही)	**मत्वा**	= मानकर (उनमें)
विभागयोः	= कर्म-विभागको	**गुणेषु**	= गुणोंमें	**न, सज्जते**	= आसक्त नहीं होता।

व्याख्या—'**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः**'—पूर्वश्लोकमें वर्णित '**अहङ्कारविमूढात्मा**' (अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाले पुरुष) से तत्त्वज्ञ महापुरुषको सर्वथा भिन्न और विलक्षण बतानेके लिये यहाँ '**तु**' पदका प्रयोग हुआ है।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिजन्य हैं। इन तीनों गुणोंका कार्य होनेसे सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। अतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ आदि सब गुणमय ही हैं। यही 'गुण-विभाग' कहलाता है। इन (शरीरादि)-से होनेवाली क्रिया 'कर्म-विभाग' कहलाती है।

गुण और कर्म अर्थात् पदार्थ और क्रियाएँ निरन्तर परिवर्तनशील हैं। पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा क्रियाएँ आरम्भ और समाप्त होनेवाली हैं। ऐसा ठीक-ठीक अनुभव करना ही गुण और कर्म-विभागको तत्त्वसे जानना है। चेतन (स्वरूप)-में कभी कोई क्रिया नहीं होती। वह सदा निर्लिप्त, निर्विकार रहता है अर्थात् उसका किसी भी प्राकृत पदार्थ और क्रियासे सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा ठीक-ठीक अनुभव करना ही चेतनको तत्त्वसे जानना है।

अज्ञानी पुरुष जब इन गुण-विभाग और कर्म-विभागसे अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है। शास्त्रीय दृष्टिसे तो इस बन्धनका मुख्य कारण 'अज्ञान' है, पर साधककी दृष्टिसे 'राग' ही मुख्य कारण है। राग 'अविवेक' से होता है। विवेक जाग्रत् होनेपर राग नष्ट हो जाता है। यह विवेक मनुष्यमें विशेषरूपसे है। आवश्यकता केवल इस विवेकको महत्त्व देकर जाग्रत् करनेकी है। अतः साधकको (विवेक जाग्रत् करके) विशेषरूपसे रागको ही मिटाना चाहिये।

तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखनेवाला साधक भी अगर गुण (पदार्थ) और कर्म -(क्रिया-) से अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता, तो वह भी गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जान लेता है। चाहे गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाने, चाहे 'स्वयं'-(चेतन स्वरूप-) को तत्त्वसे जाने, दोनोंका परिणाम एक ही होगा।

गुण-कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेका उपाय

१—शरीरमें रहते हुए भी चेतन-तत्त्व (स्वरूप) सर्वथा अक्रिय और निर्लिप्त रहता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)। प्रकृतिका कार्य (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) **'इदम्'** (यह) कहा जाता है। **'इदम्'** (यह) कभी **'अहम्'** (मैं) नहीं होता। जब 'यह' (शरीरादि) 'मैं' नहीं है, तब 'यह' में होनेवाली क्रिया 'मेरी' कैसे हुई? तात्पर्य है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं और 'स्वयं' इनसे सर्वथा असम्बद्ध, निर्लिप्त है। अतः इनमें होनेवाली क्रियाओंका कर्ता 'स्वयं' कैसे हो सकता है? इस प्रकार अपनेको पदार्थ एवं क्रियाओंसे अलग अनुभव करनेवाला बन्धनमें नहीं पड़ता। सब अवस्थाओंमें **'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५। ८) 'मैं' कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करना ही अपनेको क्रियाओंसे अलग जानना अर्थात् अनुभव करना है।

२—देखना-सुनना, खाना-पीना आदि सब 'क्रियाएँ' हैं और देखने-सुनने आदिके विषय, खाने-पीनेकी सामग्री आदि सब 'पदार्थ' हैं। इन क्रियाओं और पदार्थोंको हम इन्द्रियों- (आँख, कान, मुँह आदिसे) जानते हैं। इन्द्रियोंको 'मन' से, मनको 'बुद्धि' से और बुद्धिको माने हुए 'अहम्'- (मैं-पन-) से जानते हैं। यह 'अहम्' भी एक सामान्य प्रकाश- (चेतन-) से प्रकाशित होता है। वह सामान्य प्रकाश ही सबका ज्ञाता, सबका प्रकाशक और सबका आधार है।

'अहम्' से परे अपने स्वरूप-(चेतन-) को कैसे जानें? गाढ़ निद्रामें यद्यपि बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है, फिर भी मनुष्य जागनेपर कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया।' इस प्रकार जागनेके बाद 'मैं हूँ' का अनुभव सबको होता है। इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिकालमें भी अपनी सत्ता थी। यदि ऐसा न होता तो 'मैं बहुत सुखसे सोया; मुझे कुछ भी पता नहीं था'—ऐसी स्मृति या ज्ञान नहीं होता। स्मृति अनुभवजन्य होती है[1]। अतएव सबको प्रत्येक अवस्थामें अपनी सत्ताका अखण्ड अनुभव होता है। किसी भी अवस्थामें अपने अभावका ('मैं' नहीं हूँ—इसका) अनुभव नहीं होता। जिन्होंने माने हुए 'अहम्'- (मैं-पन-) से भी सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूप-('है'-) का बोध कर लिया है, वे 'तत्त्ववित्' कहलाते हैं।

अपरिवर्तनशील परमात्मतत्त्वके साथ हमारा स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है। परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ हमारा सम्बन्ध वस्तुतः है नहीं, केवल माना हुआ है। प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धको यदि विचारके द्वारा मिटाते हैं तो उसे 'ज्ञानयोग' कहते हैं; और यदि वही सम्बन्ध परहितार्थ कर्म करते हुए मिटाते हैं तो उसे 'कर्मयोग' कहते हैं। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही 'योग' (परमात्मासे नित्य-सम्बन्धका अनुभव) होता है, अन्यथा केवल 'ज्ञान' और 'कर्म' ही होता है। अतः प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्मासे अपने नित्य-सम्बन्धको पहचाननेवाला ही 'तत्त्ववित्' है।

'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'—प्रकृतिजन्य गुणोंसे उत्पन्न होनेके कारण शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी 'गुण' ही कहलाते हैं और इन्हींसे सम्पूर्ण कर्म होते हैं। अविवेकके कारण अज्ञानी पुरुष इन गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मानकर इनसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है[2]। परन्तु 'स्वयं' (सामान्य प्रकाश—चेतन) में अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव आ ही नहीं सकता।

रेलगाड़ीका इंजन चलता है अर्थात् उसमें क्रिया होती है; परन्तु खींचनेकी शक्ति इंजन और चालकके मिलनेसे आती है। वास्तवमें खींचनेकी शक्ति तो इंजनकी ही है, पर चालकके द्वारा संचालन करनेपर ही वह गन्तव्य स्थानपर पहुँच पाता है। कारण कि इंजनमें इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि नहीं हैं, इसलिये उसे इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिवाले चालक-(मनुष्य-) की जरूरत पड़ती है। परन्तु मनुष्यके पास शरीररूप इंजन भी है और संचालनके लिये इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि भी। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—ये चारों एक सामान्य प्रकाश-(चेतन-) से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। सामान्य प्रकाश-(ज्ञान-) का प्रतिबिम्ब बुद्धिमें आता है, बुद्धिके ज्ञानको मन ग्रहण करता है, मनके ज्ञानको इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं, और फिर शरीररूप इंजनका संचालन होता है। बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर—ये सब-के-सब गुण हैं और इन्हें प्रकाशित करनेवाला अर्थात् इन्हें सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला 'स्वयं' इन गुणोंसे असम्बद्ध, निर्लिप्त रहता है। अतः वास्तवमें सम्पूर्ण गुण ही

१-अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। (योगदर्शन १। ११)

२-उदाहरणार्थ—वाणी 'पदार्थ' है, बोलनेकी प्रवृत्ति 'क्रिया' है और बोलना समष्टि शक्तिसे हो रहा है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं; परन्तु मनुष्य अज्ञानवश पदार्थ और क्रियाको अपना मानकर स्वयं 'कर्ता' बन जाता है।

गुणोंमें बरत रहे हैं।

श्रेष्ठ पुरुषके आचरणोंका सब लोग अनुसरण करते हैं। इसीलिये भगवान् ज्ञानी महापुरुषके द्वारा लोकसंग्रह कैसे होता है—इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार वह महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा अनुभव करके उनमें आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार साधकको भी वैसा ही मानकर उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये।

प्रकृति-पुरुष-सम्बन्धी मार्मिक बात

आकर्षण सदा सजातीयतामें ही होता है; जैसे—कानोंका शब्दमें, त्वचाका स्पर्शमें, नेत्रोंका रूपमें, जिह्वाका रसमें और नासिकाका गन्धमें आकर्षण होता है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें ही आकर्षण होता है। एक इन्द्रियका दूसरी इन्द्रियके विषयमें कभी आकर्षण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि एक वस्तुका दूसरी वस्तुके प्रति आकर्षण होनेमें मूल कारण उन दोनोंकी सजातीयता ही है।

आकर्षण, प्रवृत्ति एवं प्रवृत्तिकी सिद्धि सजातीयतामें ही होती है। विजातीय वस्तुओंमें न तो आकर्षण होता है, न प्रवृत्ति होती है और न प्रवृत्तिकी सिद्धि ही होती है, इसलिये आकर्षण, प्रवृत्ति और प्रवृत्तिकी सिद्धि सजातीयताके कारण 'प्रकृति' में ही होती है; परन्तु पुरुष-(चेतन-) में विजातीय प्रकृति-(जड-) का जो आकर्षण प्रतीत होता है, उसमें भी वास्तवमें प्रकृतिका अंश ही प्रकृतिकी ओर आकर्षित होता है। करने और भोगनेकी क्रिया प्रकृतिमें ही है, पुरुषमें नहीं। पुरुष तो सदा निर्विकार, नित्य, अचल तथा एकरस रहता है।

तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्ने बताया है कि शरीरमें स्थित होनेपर भी पुरुष वस्तुतः न तो कुछ करता है और न लिप्त होता है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।**' पुरुष तो केवल 'प्रकृतिस्थ' होने अर्थात् प्रकृतिसे तादात्म्य माननेके कारण सुख-दुःखोंके भोक्तृत्वमें हेतु कहा जाता है—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**' (गीता १३। २०) और '**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सम्पूर्ण क्रियाएँ, क्रियाओंकी सिद्धि और आकर्षण प्रकृतिमें ही होता है, तथापि प्रकृतिसे तादात्म्यके कारण पुरुष 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'—ऐसा मानकर भोक्तृत्वमें हेतु बन जाता है। कारण कि सुखी-दुःखी होनेका अनुभव प्रकृति-(जड-) में हो ही नहीं सकता, प्रकृति-(जड-)के बिना केवल पुरुष (चेतन) सुख-दुःखका भोक्ता बन ही नहीं सकता।

पुरुषमें प्रकृतिकी परिवर्तनरूप क्रिया या विकार नहीं है; परन्तु उसमें सम्बन्ध मानने अथवा न माननेकी योग्यता तो है ही। वह पत्थरकी तरह जड नहीं, प्रत्युत ज्ञानस्वरूप है। यदि पुरुषमें सम्बन्ध मानने अथवा न माननेकी योग्यता नहीं होती, तो वह प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध कैसे मानता? प्रकृतिसे सम्बन्ध मानकर उसकी क्रियाको अपनेमें कैसे मानता? और अपनेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व कैसे स्वीकार करता? सम्बन्धको मानना अथवा न मानना 'भाव' है, 'क्रिया' नहीं।

पुरुषमें सम्बन्ध जोड़ने अथवा न जोड़नेकी योग्यता तो है, पर क्रिया करनेकी योग्यता उसमें नहीं है। क्रिया करनेकी योग्यता उसीमें होती है, जिसमें परिवर्तन (विकार) होता है। पुरुषमें परिवर्तनका स्वभाव नहीं है, जबकि प्रकृतिमें परिवर्तनका स्वभाव है अर्थात् प्रकृतिमें क्रियाशीलता स्वाभाविक है। इसलिये प्रकृतिसे सम्बन्ध जोड़नेपर ही पुरुष अपनेमें क्रिया मान लेता है—'**कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)।

पुरुषमें कोई परिवर्तन नहीं होता, यह (परिवर्तनका न होना) उसकी कोई अशक्तता या कमी नहीं है, प्रत्युत उसकी महत्ता है। वह निरन्तर एकरस, एकरूप रहनेवाला है। परिवर्तन होना उसका स्वभाव ही नहीं है; जैसे—बर्फमें गरम होनेका स्वभाव या योग्यता नहीं है। परिवर्तनरूप क्रिया होना प्रकृतिका स्वभाव है, पुरुषका नहीं। परन्तु प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध न माननेकी इसमें पूरी योग्यता, सामर्थ्य, स्वतन्त्रता है; क्योंकि वास्तवमें प्रकृतिसे सम्बन्ध मूलमें नहीं है।

प्रकृतिके अंश शरीरको पुरुष जब अपना स्वरूप मान लेता है, तब प्रकृतिके उस अंशमें (सजातीय प्रकृतिका) आकर्षण, क्रियाएँ और उनके फलकी प्राप्ति होती रहती है। इसीका संकेत यहाँ '**गुणाः गुणेषु वर्तन्ते**' पदोंसे किया गया है। गुणोंमें अपनी स्थिति मानकर पुरुष (चेतन) सुखी-दुःखी होता रहता है। वास्तवमें सुख-दुःखकी पृथक् सत्ता नहीं है। इसलिये भगवान् गुणोंसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये विशेष जोर देते हैं।

तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो सम्बन्ध-विच्छेद पहलेसे (सदासे) ही है। केवल भूलसे सम्बन्ध माना हुआ है। अतः माने हुए सम्बन्धको अस्वीकार करके केवल 'गुण ही

गुणोंमें बरत रहे हैं' इस वास्तविकताको पहचानना है।

'इति मत्वा न सज्जते'—यहाँ **'मत्वा'** पद 'जानने' के अर्थमें आया है। तत्त्वज्ञ महापुरुष प्रकृति (जड) और पुरुष-(चेतन-)को स्वाभाविक ही अलग-अलग जानता है। इसलिये वह प्रकृतिजन्य गुणोंमें आसक्त नहीं होता।

भगवान् **'मत्वा'** पदका प्रयोग करके मानो साधकोंको यह आज्ञा देते हैं कि वे भी प्रकृतिजन्य गुणोंको अलग मानकर उनमें आसक्त न हों।

विशेष बात

कर्मयोगी और सांख्ययोगी—दोनोंकी साधना-प्रणालीमें एकता नहीं होती। कर्मयोगी गुणों-(शरीरादि-) से मानी हुई एकताको मिटानेकी चेष्टा करता है, इसलिये श्रीमद्भागवतमें **'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'** (११। २०। ७) कहा गया है। भगवान्ने भी इसीलिये कर्मयोगीके लिये कर्म करनेकी आवश्यकतापर विशेष जोर दिया है; जैसे—'कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्मताको प्राप्त नहीं होता' (गीता—तीसरे अध्यायका चौथा श्लोक) 'योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये कर्म करना ही हेतु कहा जाता है' (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। कर्मयोगी कर्मोंको तो करता है, पर उनको अपने लिये नहीं, प्रत्युत दूसरोंके हितके लिये ही करता है; इसलिये वह उन कर्मोंका भोक्ता नहीं बनता। भोक्ता न बननेसे अर्थात् भोक्तृत्वका नाश होनेसे कर्तृत्वका नाश स्वतः हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्तृत्वमें जो कर्तापन है, वह फलके लिये ही है। फलका उद्‌देश्य न रहनेपर कर्तृत्व नहीं रहता। इसलिये वास्तवमें कर्मयोगी भी कर्ता नहीं बनता।

सांख्ययोगीमें विवेक-विचारकी प्रधानता रहती है। वह 'प्रकृतिजन्य गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' ऐसा जानकर अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता नहीं मानता। इसी बातको भगवान् आगे तेरहवें अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें कहेंगे कि जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और 'स्वयं'-(आत्मा-) को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है। इस प्रकार सांख्ययोगी कर्तृत्वका नाश करता है। कर्तृत्वका नाश होनेपर भोक्तृत्वका नाश स्वतः हो जाता है।

तीसरे अध्यायके आरम्भसे ही भगवान्ने कई उदाहरणों एवं दृष्टिकोणोंसे कर्म करनेपर ही जोर दिया है; जैसे—जनकादि महापुरुष भी निष्कामभावसे कर्म करके परम-सिद्धिको प्राप्त हुए हैं (तीसरे अध्यायका बीसवाँ श्लोक); 'मैं भी कर्म करता हूँ' (तीसरे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक); 'ज्ञानी महापुरुष भी अज्ञानी पुरुषोंके समान लोक-संग्रहार्थ कर्म करता है' (तीसरे अध्यायका पचीसवाँ-छब्बीसवाँ श्लोक)। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक दृष्टिसे कर्म करना ही श्रेयस्कर है।

परिशिष्ट भाव—जो अहंकारसे मोहित नहीं होता, वह 'तत्त्ववित्' होता है। इस तत्त्ववित्‌को ही दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'तत्त्वदर्शी' कहा है। तत्त्ववित् गुण-विभाग और कर्म-विभागसे अर्थात् पदार्थ और क्रियासे सर्वथा अतीत हो जाता है।

जबतक साधकका संसारके साथ सम्बन्ध रहेगा, तबतक वह 'तत्त्ववित्' नहीं हो सकता। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई संसारको जान ही नहीं सकता। संसारसे सर्वथा अलग होनेपर ही संसारको जान सकते हैं—यह नियम है। इसी तरह परमात्मासे अलग होकर कोई परमात्माको जान ही नहीं सकता। परमात्मासे एक होकर ही परमात्माको जान सकते हैं—यह नियम है। कारण यह है कि वास्तवमें हम संसारसे अलग हैं और परमात्मासे एक हैं। शरीरकी संसारके साथ एकता है, हमारी (स्वयंकी) परमात्माके साथ एकता है।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

प्रकृतेः = प्रकृतिजन्य
गुणसम्मूढाः = गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी मनुष्य
गुणकर्मसु = गुणों और कर्मोंमें
सज्जन्ते = आसक्त रहते हैं।
तान् = उन
अकृत्स्नविदः = पूर्णतया न समझनेवाले
मन्दान् = मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको
कृत्स्नवित् = पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य
न, विचालयेत् = विचलित न करे।

व्याख्या—'**प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु**'—सत्त्व, रज और तम—ये तीनों प्रकृतिजन्य गुण मनुष्यको बाँधनेवाले हैं। सत्त्वगुण सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे, रजोगुण कर्मकी आसक्तिसे और तमोगुण प्रमाद, आलस्य तथा निद्रासे मनुष्यको बाँधता है (गीता—चौदहवें अध्यायके छठेसे आठवें श्लोकतक)। उपर्युक्त पदोंमें उन अज्ञानियोंका वर्णन है, जो प्रकृतिजन्य गुणोंसे अत्यन्त मोहित अर्थात् बँधे हुए हैं; परन्तु जिनका शास्त्रोंमें, शास्त्रविहित शुभकर्मोंमें तथा उन कर्मोंके फलोंमें श्रद्धा-विश्वास है। इसी अध्यायके पचीसवें-छब्बीसवें श्लोकोंमें ऐसे अज्ञानी पुरुषोंका '**सक्ताः, अविद्वांसः**' और '**कर्मसंगिनाम्, अज्ञानाम्**' नामसे वर्णन हुआ है। लौकिक और पारलौकिक भोगोंकी कामनाके कारण ये पुरुष पदार्थों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं। इस कारण इनसे ऊँचे उठनेकी बात समझ नहीं सकते। इसीलिये भगवान्‌ने इन्हें अज्ञानी कहा है।

'**तानकृत्स्नविदो मन्दान्**'—अज्ञानी मनुष्य शुभकर्म तो करते हैं, पर करते हैं नित्य-निरन्तर न रहनेवाले नाशवान् पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये। धनादि प्राप्त पदार्थोंमें वे ममता रखते हैं और अप्राप्त पदार्थोंकी कामना करते हैं। इस प्रकार ममता और कामनासे बँधे रहनेके कारण वे गुणों (पदार्थों) और कर्मोंके तत्त्वको पूर्णरूपसे नहीं जान सकते।

अज्ञानी मनुष्य शास्त्रविहित कर्म और उनकी विधिको तो ठीक तरहसे जानते हैं, पर गुणों और कर्मोंके तत्त्वको ठीक तरहसे न जाननेके कारण उन्हें '**अकृत्स्नविदः**' (पूर्णतया न जाननेवाले) कहा गया है और सांसारिक भोग तथा संग्रहमें रुचि होनेके कारण उन्हें '**मन्दान्**' (मन्दबुद्धि) कहा गया है।

'**कृत्स्नविन्न विचालयेत्**'—गुण और कर्म-विभागको पूर्णतया जाननेवाले तथा कामना-ममतासे रहित ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह पूर्ववर्णित (सकाम भावपूर्वक शुभ-कर्मोंमें लगे हुए) अज्ञानी पुरुषोंको शुभ-कर्मोंसे विचलित न करें, जिससे वे मन्दबुद्धि पुरुष अपनी वर्तमान स्थितिसे नीचे न गिर जायँ। इसी अध्यायके पचीसवें-छब्बीसवें श्लोकोंमें ऐसे ज्ञानी पुरुषोंका '**असक्तः, विद्वान्**' और '**युक्तः, विद्वान्**' नामसे वर्णन हुआ है।

भगवान्‌ने तत्त्वज्ञ महापुरुषको पचीसवें श्लोकमें '**कुर्यात्**' पदसे स्वयं कर्म करनेकी तथा छब्बीसवें श्लोकमें '**जोषयेत्**' पदसे अज्ञानी पुरुषोंसे भी वैसे ही कर्म करवानेकी आज्ञा दी थी। परन्तु यहाँ भगवान्‌ने '**न विचालयेत्**' पदोंसे वैसी आज्ञा न देकर मानो उसमें कुछ ढील दी है कि ज्ञानी पुरुष अधिक नहीं तो कम-से-कम अपने संकेत, वचन और क्रियासे अज्ञानी पुरुषोंको विचलित न करे। कारण कि जीवन्मुक्त महापुरुषपर भगवान् और शास्त्र अपना शासन नहीं रखते। उनके कहलानेवाले शरीरसे स्वतः-स्वाभाविक लोकसंग्रहार्थ क्रियाएँ हुआ करती हैं*।

तत्त्वज्ञ महापुरुष कर्मयोगी हो अथवा ज्ञानयोगी—सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी उसका कर्मों और पदार्थोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध स्वतः नहीं रहता, जो वस्तुतः था नहीं।

अज्ञानी मनुष्य स्वर्ग-प्राप्तिके लिये शुभ-कर्म किया करते हैं। इसलिये भगवान्‌ने ऐसे मनुष्योंको विचलित न करनेकी आज्ञा दी है अर्थात् वे महापुरुष अपने संकेत, वचन और क्रियासे ऐसी कोई बात प्रकट न करें, जिससे उन सकाम पुरुषोंकी शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंमें अश्रद्धा, अविश्वास या अरुचि पैदा हो जाय और वे उन कर्मोंका त्याग कर दें; क्योंकि ऐसा करनेसे उनका पतन हो सकता है। इसलिये ऐसे पुरुषोंको सकामभावसे विचलित करना है, शास्त्रीय कर्मोंसे नहीं। जन्म-मरणरूप बन्धनसे छुटकारा दिलानेके लिये उन्हें सकामभावसे विचलित करना उचित भी है और आवश्यक भी।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनका प्रश्न था कि मेरेको घोर कर्ममें क्यों लगाते हो ? उस प्रश्नका उत्तर भगवान् कई तरहसे देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि मेरा उद्देश्य घोर कर्ममें लगाना नहीं है, प्रत्युत कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही कर्मयोग है।

*** क्रिया और कर्म—इन दोनोंमें भी भेद है। क्रियाके साथ जब 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अहंभाव रहता है, तब वह क्रिया 'कर्म' हो जाती है और उसका इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित—तीन प्रकारका फल मिलता है (गीता १८। १२)। परन्तु जहाँ 'मैं कर्ता नहीं हूँ' ऐसा भाव रहता है, वहाँ वह क्रिया 'कर्म' नहीं बनती अर्थात् फलदायक नहीं होती। तत्त्वज्ञ महापुरुषके द्वारा फलदायक कर्म नहीं होते, प्रत्युत केवल क्रियाएँ (चेष्टामात्र) होती हैं (गीता ३। ३३)।**

सम्बन्ध—जिससे मनुष्य कर्मोंमें फँस जाता है, उस कर्म और कर्मफलकी आसक्तिसे छूटनेके लिये क्या करना चाहिये—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

अध्यात्मचेतसा	= (तू) विवेकवती बुद्धिके द्वारा	**मयि**	= मेरे	**विगतज्वरः**	= सन्तापरहित
सर्वाणि	= सम्पूर्ण	**सन्न्यस्य**	= अर्पण करके	**भूत्वा**	= होकर
कर्माणि	= कर्तव्य-कर्मोंको	**निराशीः**	= कामनारहित,	**युध्यस्व**	= युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर।
		निर्ममः	= ममतारहित (और)		

व्याख्या—‘**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा**’—प्रायः साधकका यह विचार रहता है कि कर्मोंसे बन्धन होता है और कर्म किये बिना कोई रह सकता नहीं; इसलिये कर्म करनेसे तो मैं बँध जाऊँगा! अतः कर्म किस प्रकार करने चाहिये, जिससे कर्म बन्धनकारक न हों, प्रत्युत मुक्तिदायक हो जायँ—इसके लिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू अध्यात्मचित्त-(विवेक-विचारयुक्त अन्तःकरण-) से सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण कर दे अर्थात् इनसे अपना कोई सम्बन्ध मत मान। कारण कि वास्तवमें संसारमात्रकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें केवल मेरी शक्ति ही काम कर रही है। शरीर, इन्द्रियाँ, पदार्थ आदि भी मेरे हैं और शक्ति भी मेरी है। इसलिये ‘सब कुछ भगवान्‌का है और भगवान् अपने हैं’—गम्भीरतापूर्वक ऐसा विचार करके जब तू कर्तव्य-कर्म करेगा, तब वे कर्म तेरेको बाँधनेवाले नहीं होंगे, प्रत्युत उद्धार करनेवाले हो जायँगे।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिपर अपना कोई अधिकार नहीं चलता—यह मनुष्यमात्रका अनुभव है। ये सब प्रकृतिके हैं—‘**प्रकृतिस्थानि**’ और ‘स्वयं’ परमात्माका है—‘**ममैवांशो जीवलोके**’ (गीता १५। ७)। अतः शरीरादि पदार्थोंमें भूलसे माने हुए अपनेपनको हटाकर इनको भगवान्‌का ही मानना (जो कि वास्तवमें है) ‘अर्पण’ कहलाता है। अतः अपने विवेकको महत्त्व देकर पदार्थों और कर्मोंसे मूर्खतावश माने हुए सम्बन्धका त्याग करना ही अर्पण करनेका तात्पर्य है।

‘**अध्यात्मचेतसा**’ पदसे भगवान्‌का यह तात्पर्य है कि किसी भी मार्गका साधक हो, उसका उद्‌देश्य आध्यात्मिक होना चाहिये, लौकिक नहीं। वास्तवमें उद्‌देश्य या आवश्यकता सदैव नित्यतत्त्वकी (आध्यात्मिक) होती है और कामना सदैव अनित्यतत्त्व (उत्पत्ति विनाशशील वस्तु)-की होती है। साधकमें उद्‌देश्य होना चाहिये कामना नहीं। उद्‌देश्यवाला अन्तःकरण विवेक-विचारयुक्त ही रहता है।

दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक, किसी भी दृष्टिसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि शरीरादि भौतिक पदार्थ अपने हैं। वास्तवमें ये पदार्थ अपने और अपने लिये हैं ही नहीं, प्रत्युत केवल सदुपयोग करनेके लिये मिले हुए हैं। अपने न होनेके कारण ही इनपर किसीका आधिपत्य नहीं चलता।

संसारमात्र परमात्माका है; परन्तु जीव भूलसे परमात्माकी वस्तुको अपनी मान लेता है और इसीलिये बन्धनमें पड़ जाता है। अतः विवेक-विचारके द्वारा इस भूलको मिटाकर सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंको अध्यात्मतत्त्व (परमात्मा)-का स्वीकार कर लेना ही अध्यात्मचित्तके द्वारा उनका अर्पण करना है।

इस श्लोकमें ‘**अध्यात्मचेतसा**’ पद मुख्यरूपसे आया है। तात्पर्य यह है कि अविवेकसे ही उत्पत्ति-विनाशशील शरीर (संसार) अपना दीखता है। यदि विवेक-विचार-पूर्वक देखा जाय तो शरीर या संसार अपना नहीं दीखेगा, प्रत्युत एक अविनाशी परमात्मतत्त्व ही अपना दीखेगा। संसारको अपना देखना ही पतन है और अपना न देखना ही उत्थान है—

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥

(महा०, शान्ति० १३। ४; आश्वमेधिक० ५१। २९)

‘दो अक्षरोंका ‘**मम**’ (यह मेरा है—ऐसा भाव) मृत्यु है और तीन अक्षरोंका ‘**न मम**’ (यह मेरा नहीं है—ऐसा भाव) अमृत—सनातन ब्रह्म है।’

अर्पण-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने ‘**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य**’ पदोंसे सम्पूर्ण कर्मोंको अर्पण करनेकी बात इसलिये कही है कि मनुष्यने करण (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण),

उपकरण (कर्म करनेमें उपयोगी सामग्री) तथा क्रियाओंको भूलसे अपनी और अपने लिये मान लिया, जो कभी इसके थे नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं और हो सकते भी नहीं। उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुओंसे अविनाशीका क्या सम्बन्ध? अतः कर्मोंको चाहे संसारके अर्पण कर दे, चाहे प्रकृतिके अर्पण कर दे और चाहे भगवान्‌के अर्पण कर दे—तीनोंका एक ही नतीजा होगा; क्योंकि संसार प्रकृतिका कार्य है और भगवान् प्रकृतिके स्वामी हैं। इस दृष्टिसे संसार और प्रकृति दोनों भगवान्‌के हैं। अतः 'मैं भगवान्‌का हूँ और मेरी कहलानेवाली मात्र वस्तुएँ भगवान्‌की हैं', इस प्रकार सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये अर्थात् अपनी ममता उठा देनी चाहिये। ऐसा करनेके बाद फिर साधकको संसार या भगवान्‌से कुछ भी चाहना नहीं पड़ता; क्योंकि जो उसे चाहिये, उसकी व्यवस्था भगवान् स्वतः करते हैं। अर्पण करनेके बाद फिर शरीरादि पदार्थ अपने प्रतीत नहीं होने चाहिये। यदि अपने प्रतीत होते हैं तो वास्तवमें अर्पण हुआ ही नहीं। इसीलिये भगवान्‌ने विवेक-विचारयुक्त चित्तसे अर्पण करनेके लिये कहा है, जिससे यह वास्तविकता ठीक तरहसे समझमें आ जाय कि ये पदार्थ भगवान्‌के ही हैं, अपने हैं ही नहीं।

भगवान्‌के अर्पणकी बात ऐसी विलक्षण है कि किसी तरहसे (उकताकर भी) अर्पण किया जाय तो भी लाभ-ही-लाभ है। कारण कि कर्म और वस्तुएँ अपनी हैं ही नहीं। कर्मोंको करनेके बाद भी उनका अर्पण किया जा सकता है, पर वास्तविक अर्पण पदार्थों और कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होता है। पदार्थों और कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होता है, जब यह बात ठीक-ठीक अनुभवमें आ जाय कि करण (शरीरादि), उपकरण (सांसारिक पदार्थ), कर्म और 'स्वयं'—ये सब भगवान्‌के ही हैं। साधकसे प्रायः यह भूल होती है कि वह उपकरणोंको तो भगवान्‌का माननेकी चेष्टा करता है, पर 'करण तथा स्वयं भी भगवान्‌के हैं'— इसपर ध्यान नहीं देता। इसीलिये उसका अर्पण अधूरा रह जाता है। अतः साधकको करण, उपकरण, क्रिया और 'स्वयं'—सभीको एकमात्र भगवान्‌का ही मान लेना चाहिये, जो वास्तवमें उन्हींके हैं।

कर्मों और पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करना अर्पण नहीं है। भगवान्‌की वस्तुको भगवान्‌की ही मानना वास्तविक अर्पण है। जो मनुष्य वस्तुओंको अपनी मानते हुए भगवान्‌के अर्पण करता है, उसके बदलेमें भगवान् बहुत वस्तुएँ देते हैं; जैसे—पृथ्वीमें जितने बीज बोये जायँ, उससे कई गुणा अधिक अन्न पृथ्वी देती है; पर कई गुणा मिलनेपर भी वह सीमित ही मिलता है। परन्तु जो वस्तुको अपनी न मानकर (भगवान्‌की ही मानते हुए) भगवान्‌के अर्पण करता है, भगवान् उसे अपने-आपको देते हैं और ऋणी भी हो जाते हैं। तात्पर्य है कि वस्तुको अपनी मानकर देनेसे (अन्तःकरणमें वस्तुका महत्त्व होनेसे) उस वस्तुका मूल्य वस्तुमें ही मिलता है और अपनी न मानकर देनेसे स्वयं भगवान् मिलते हैं।

वास्तविक अर्पणसे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि अर्पण करनेसे भगवान्‌को कोई सहायता मिलती है; परन्तु अर्पण करनेवाला कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और इसीमें भगवान्‌की प्रसन्नता है। जैसे छोटा बालक आँगनमें पड़ी हुई चाबी पिताजीको सौंप देता है तो पिताजी प्रसन्न हो जाते हैं, जबकि छोटा बालक भी पिताजीका है, आँगन भी पिताजीका है और चाबी भी पिताजीकी है, पर वास्तवमें पिताजी चाबीके मिलनेसे नहीं, प्रत्युत बालकका (देनेका) भाव देखकर प्रसन्न होते हैं और हाथ ऊँचा करके बालकसे कहते हैं कि तू इतना बड़ा हो जा! अर्थात् उसे अपनेसे भी ऊँचा (बड़ा) बना लेते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ, शरीर तथा शरीरी (स्वयं) भगवान्‌के ही हैं; अतः उनपरसे अपनापन हटाने और उन्हें भगवान्‌के अर्पण करनेका भाव देखकर ही वे (भगवान्) प्रसन्न हो जाते हैं और उसके ऋणी हो जाते हैं।

कामना-सम्बन्धी विशेष बात

परमात्माने मनुष्य-शरीरकी रचना बड़े विचित्र ढंगसे की है। मनुष्यके जीवन-निर्वाह और साधनके लिये जो-जो आवश्यक सामग्री है, वह उसे प्रचुर मात्रामें प्राप्त है। उसमें भगवत्प्रदत्त विवेक भी विद्यमान है। उस विवेकको महत्त्व न देकर जब मनुष्य प्राप्त वस्तुओंका ठीक-ठीक सदुपयोग नहीं करता, प्रत्युत उन्हें अपना मानकर अपने लिये उनका उपयोग करता है एवं प्राप्त वस्तुओंमें ममता तथा अप्राप्त वस्तुओंकी कामना करने लगता है, तब वह जन्म-मरणके बन्धनमें बँध जाता है। वर्तमानमें जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, योग्यता, शक्ति, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण, बुद्धि आदि मिले हुए दीखते हैं, वे पहले भी हमारे पास नहीं थे और बादमें भी सदा हमारे पास नहीं रहेंगे;

क्योंकि वे कभी एकरूप नहीं रहते, प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, इस वास्तविकताको मनुष्य जानता है। यदि मनुष्य जैसा जानता है, वैसा ही मान ले और वैसा ही आचरणमें ले आये तो उसका उद्धार होनेमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है। जैसा जानता है, वैसा मान लेनेका तात्पर्य यह है कि शरीरादि पदार्थोंको अपना और अपने लिये न माने, उनके आश्रित न रहे और उन्हें महत्त्व देकर उनकी पराधीनता स्वीकार न करे। पदार्थोंको महत्त्व देना महान् भूल है। उनकी प्राप्तिसे अपनेको कृतार्थ मानना महान् बन्धन है। नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देनेसे ही उनकी नयी-नयी कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। कामना सम्पूर्ण पापों, तापों, दु:खों, अनर्थों, नरकों आदिकी जड़ है। कामनासे पदार्थ मिलते नहीं और प्रारब्धवशात् मिल भी जायँ तो टिकते नहीं। कारण कि पदार्थ आने-जानेवाले हैं और 'स्वयं' सदा रहनेवाला है। अत: कामनाका त्याग करके मनुष्यको कर्तव्य-कर्मका पालन करना चाहिये।

यहाँ शंका हो सकती है कि कामनाके बिना कर्मोंमें प्रवृत्ति कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि कामनाकी पूर्ति और निवृत्ति—दोनोंके लिये कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। साधारण मनुष्य कामनाकी पूर्तिके लिये कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं और साधक आत्मशुद्धिहेतु कामनाकी निवृत्तिके लिये (गीता—पाँचवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। वास्तवमें कर्मोंमें प्रवृत्ति कामनाकी निवृत्तिके लिये ही है, कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं।

मनुष्य-शरीर उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही मिला है। उद्देश्यकी पूर्ति होनेपर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। कामना-पूर्तिके लिये कर्मोंमें प्रवृत्ति उन्हीं मनुष्योंकी होती है, जो अपने वास्तविक उद्देश्य (नित्यतत्त्व परमात्माकी प्राप्ति)-को भूले हुए हैं। ऐसे मनुष्योंको भगवान्ने 'कृपण' (दीन या दयाका पात्र) कहा है—'**कृपणाः फलहेतवः**' (गीता २। ४९)। इसके विपरीत जो मनुष्य उद्देश्यको सामने रखकर (कामनाकी निवृत्तिके लिये) कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हें भगवान्ने 'मनीषी' (बुद्धिमान् या ज्ञानी) कहा है—'**फलं त्यक्त्वा मनीषिणः**' (गीता २। ५१)। सेवा, स्वरूप-बोध और भगवत्प्राप्तिका भाव उद्देश्य है, कामना नहीं। नाशवान् पदार्थोंकी प्राप्तिका भाव ही कामना है। अत: कामनाके बिना कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती—ऐसा मानना भूल है। उद्देश्यकी पूर्तिके लिये भी कर्म सुचारुरूपसे होते हैं।

अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर संसार-(जडता-) से अपना सम्बन्ध मान लेनेसे ही आवश्यकता और कामना—दोनोंकी उत्पत्ति होती है। संसारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है।

'**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः**'—सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थों-(कर्मसामग्री-) को भगवदर्पण करनेके बाद भी कामना, ममता और सन्तापका कुछ अंश शेष रह सकता है। उदाहरणार्थ—हमने किसीको पुस्तक दी। उसे वह पुस्तक पढ़ते हुए देखकर हमारे मनमें ऐसा भाव आ जाता है कि वह मेरी पुस्तक पढ़ रहा है। यही आंशिक ममता है, जो पुस्तक अर्पण करनेके बाद भी शेष है। इस अंशका त्याग करनेके लिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू नयी वस्तुकी 'कामना' मत कर, प्राप्त वस्तुमें 'ममता' मत कर और नष्ट वस्तुका 'संताप' मत कर। सब कुछ मेरे अर्पण करनेकी कसौटी यह है कि कामना, ममता और संतापका अंश भी न रहे।

जिन साधकोंको सब कुछ भगवदर्पण करनेके बाद भी पूर्वसंस्कारवश शरीरादि पदार्थोंकी कामना, ममता तथा संताप दीखते हैं, उन्हें कभी निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि जिसमें कामना दीखती है, वही कामनारहित होता है; जिसमें ममता दीखती है, वही ममतारहित होता है और जिसमें संताप दीखता है, वही संतापरहित होता है। इसी प्रकार जो देहको 'अहम्' (मैं) मानता है, वही विदेह (अहंतारहित) होता है। अत: मनुष्यमात्र कामना, ममता और संतापरहित होनेका पूरा अधिकारी है।

गीतामें '**ज्वर**' शब्द केवल यहीं आया है। युद्धमें कौटुम्बिक स्नेह आदिसे संताप होनेकी सम्भावना रहती है। अत: युद्धरूप कर्तव्य-कर्म करते समय विशेष सावधान रहनेके लिये भगवान् '**विगतज्वरः**' पद देकर अर्जुनसे कहते हैं कि तू सन्तापरहित होकर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर।

अर्जुनके सामने युद्धके रूपमें कर्तव्य-कर्म था, इसलिये भगवान् '**युध्यस्व**' पदसे उन्हें युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं। इसमें भगवान्का तात्पर्य युद्ध करनेसे नहीं, प्रत्युत कर्तव्य-कर्म करनेसे है। इसलिये समय-समयपर जो कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसे साधकको निष्काम, निर्मम तथा नि:संताप होकर भगवदर्पण-बुद्धिसे करना चाहिये। उसके परिणाम (सिद्धि या असिद्धि)-की तरफ नहीं देखना चाहिये। सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिमें सम रहना 'विगतज्वर' होना है; क्योंकि अनुकूलतासे होनेवाली प्रसन्नता

और प्रतिकूलतासे होनेवाली उद्विग्नता—दोनों ही ज्वर (संताप) हैं। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि विकार भी ज्वर हैं। संक्षेपमें राग-द्वेष, चिन्ता, उद्वेग, हलचल आदि जितनी भी मानसिक विकृतियाँ (विकार) हैं, वे सब ज्वर हैं और उनसे रहित होना ही '**विगतज्वरः**' पदका तात्पर्य है।

विशेष बात

जब साधकका एकमात्र उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, तब उसके पास जो भी सामग्री (वस्तु, परिस्थिति आदि) होती है, वह सब साधनरूप (साधन-सामग्री) हो जाती है। फिर उस सामग्रीमें बढ़िया और घटिया—ये दो विभाग नहीं होते। इसीलिये सामग्री जो है और जैसी है, वही और वैसी ही भगवान्‌के अर्पण करनी है। भगवान्‌ने जैसा दिया है, वैसा ही उन्हें वापस करना है।

सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेके बाद भी अपनेमें जो कामना, ममता और संताप प्रतीत होते हैं, उन्हें भी भगवान्‌के अर्पण कर देना है। भगवान्‌के अर्पण करनेसे वह भगवन्निष्ठ हो जाता है।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना ही हेतु कहा जाता है—'**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**' (गीता ६। ३)। कारण कि कर्तव्य-कर्म करनेसे ही साधकको पता लगता है कि मुझमें क्या और कहाँ कमी (कामना, ममता आदि) है?* इसीलिये बारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें ध्यानकी अपेक्षा कर्मफल-त्याग-(कर्मयोग-) को श्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि ध्यानमें साधककी दृष्टि विशेषरूपसे मनकी चंचलतापर ही रहती है और वह ध्येयमें मन लगनेमात्रसे ध्यानकी सफलता मान लेता है। परन्तु मनकी चंचलताके अतिरिक्त दूसरी कमियों-(कामना, ममता आदि-) की ओर उसकी दृष्टि तभी जाती है, जब वह कर्म करता है। इसलिये भगवान् प्रस्तुत श्लोकमें '**युध्यस्व**' पदसे कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

जैसे दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा दी थी, ऐसे ही यहाँ (तीसवें श्लोकमें) निष्काम, निर्मम और निःसंताप होकर युद्ध अर्थात् कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं। जब युद्ध-जैसा घोर (क्रूर) कर्म भी समभावसे किया जा सकता है, तब ऐसा कौन-सा दूसरा कर्म है, जो समभावसे न किया जा सकता हो? समभाव तभी होता है, जब 'शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं'—ऐसा भाव हो जाय, जो कि वास्तवमें है।

कर्तव्य-कर्मका पालन तभी सम्भव है, जब साधकका उद्देश्य संसारका न होकर एकमात्र परमात्माका हो जाय। परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे साधक ज्यों-ज्यों कर्तव्य-परायण होता है, त्यों-ही-त्यों कामना, ममता, आसक्ति आदि दोष स्वतः मिटते चले जाते हैं और समतामें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव होता जाता है। समतामें अपनी स्थितिका पूर्ण अनुभव होते ही कर्तापन सर्वथा मिट जाता है और उद्देश्यके साथ एकता हो जाती है। यह नियम है कि अपने लिये कुछ भी पाने या करनेकी इच्छा न रहनेपर 'अहम्' (व्यक्तित्व) स्वतः नष्ट हो जाता है।

अर्जुन श्रेय (कल्याण) तो चाहते हैं, पर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मसे हटकर। इसलिये अर्जुनके द्वारा अपना श्रेय पूछनेपर भगवान् उन्हें युद्धरूप कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं; क्योंकि भगवान्‌के मतानुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे अर्थात् कर्मयोगसे भी श्रेयकी प्राप्ति होती है और ज्ञानयोग एवं भक्तियोगसे भी होती है।

परिशिष्ट भाव—अबतक तो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्न (मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हो?)-का ही कई तरहसे उत्तर दिया। अब इस श्लोकमें भगवन्निष्ठाके अनुसार कर्म करनेकी विधि बताते हैं।

सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण कर—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि क्रिया और पदार्थको अपने और अपने लिये न मानकर मेरे और मेरे लिये ही मान। कारण कि भगवान् समग्र हैं और सम्पूर्ण कर्म तथा पदार्थ (अधिभूत) समग्र भगवान्‌के ही अन्तर्गत हैं (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। उस समग्र भगवान्‌के लिये ही यहाँ '**मयि**' पद आया है।

इस श्लोकमें '**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य**' पदोंमें भक्तियोगकी, '**अध्यात्मचेतसा**' पदमें ज्ञानयोगकी और '**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्य विगतज्वरः**' पदोंमें कर्मयोगकी बात आयी है।

---

* **उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति किसी सेवा-समितिमें मन लगाकर सेवाकार्य करता है, पर जब कोई उसका आदर करता है या उसे पुरस्कार देता है तो उसे उसमें रस आ सकता है—यह उसमें कमी हुई । ऐसी कमियोंका पता कर्म करनेपर ही लगता है।**

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपना मत (सिद्धान्त) बताकर अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें अपने मतकी पुष्टि करते हैं।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

ये	= जो	**इदम्**	= इस (पूर्वश्लोकमें वर्णित)	**ते**	= वे
मानवाः	= मनुष्य			**अपि**	= भी
अनसूयन्तः	= दोष-दृष्टिसे रहित होकर	**मतम्**	= मतका	**कर्मभिः**	= कर्मोंके बन्धनसे
		नित्यम्	= सदा		
श्रद्धावन्तः	= श्रद्धापूर्वक	**अनुतिष्ठन्ति**	= अनुसरण करते हैं,	**मुच्यन्ते**	= मुक्त हो जाते हैं।
मे	= मेरे				

व्याख्या—**'ये मे मतमिदं..........श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो'**—किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिका कोई भी मनुष्य यदि कर्म-बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, तो उसे इस सिद्धान्तको मानकर इसका अनुसरण करना चाहिये। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, कर्म आदि कुछ भी अपना नहीं है—इस वास्तविकताको जान लेनेवाले सभी मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाते हैं।

भगवान् और उनके मतमें प्रत्यक्षकी तरह निःसन्देह दृढ़ विश्वास और पूज्यभावसे युक्त मनुष्यको '**श्रद्धावन्तः**' पदसे कहा गया है।

शरीरादि जड पदार्थोंको अपने और अपने लिये न माननेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है—इस वास्तविकतापर श्रद्धा होनेसे जडताके माने हुए सम्बन्धका त्याग करना सुगम हो जाता है।

श्रद्धावान् साधक ही सत्-शास्त्र, सत्-चर्चा और सत्संगकी बातें सुनता है और उनको आचरणमें लाता है।

मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः परमात्माको ही प्राप्त करनेकी एकमात्र उत्कट अभिलाषा होनेपर साधकमें श्रद्धा, तत्परता, संयतेन्द्रियता आदि स्वतः आ जाते हैं। अतः साधकको मुख्यरूपसे परमात्मप्राप्तिकी अभिलाषाको ही तीव्र बनाना चाहिये।

पीछेके (तीसवें) श्लोकमें भगवान्ने अपना जो मत बताया है, उसमें दोष-दृष्टि न करनेके लिये यहाँ '**अनसूयन्तः**' पद दिया गया है। गुणोंमें दोष देखनेको 'असूया' कहते हैं। असूया-(दोषदृष्टि-)से रहित मनुष्योंको यहाँ '**अनसूयन्तः**' कहा गया है।

जहाँ श्रद्धा रहती है, वहाँ भी किसी अंशमें दोषदृष्टि रह सकती है। इसलिये भगवान्ने '**श्रद्धावन्तः**' पदके साथ '**अनसूयन्तः**' पद भी देकर मनुष्यको दोषदृष्टिसे सर्वथा रहित (पूर्ण श्रद्धावान्) होनेके लिये कहा है। इसी प्रकार गीता-श्रवणका माहात्म्य बताते हुए भी भगवान्ने '**श्रद्धावाननसूयश्च**' (गीता १८। ७१) पद देकर श्रोताके लिये श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होनेकी बात कही है।

'भगवान्का मत तो उत्तम है, पर भगवान् कितनी आत्मश्लाघा, अभिमानकी बात कहते हैं कि सब कुछ मेरे ही अर्पण कर दो' अथवा 'यह मत तो अच्छा है, पर कर्मोंके द्वारा भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है? कर्म तो जड और बाँधनेवाले होते हैं' आदि-आदि भाव आना ही भगवान्के मतमें दोष-दृष्टि करना है। साधकको भगवान् और उनके मत दोनोंमें ही दोष-दृष्टि नहीं करनी चाहिये।

वास्तवमें सब कुछ भगवान्का ही है; परन्तु मनुष्य भूलसे भगवान्की वस्तुओंको अपनी मानकर बँध जाता है और ममता-कामनाके वशमें होकर दुःख पाता रहता है। अतः इस अपनेपनका त्याग करवाकर मनुष्यका उद्धार करनेके लिये (कि वह सदाके लिये सुखी हो जाय) भगवान् अपनी सहज करुणासे सब कुछ अपने अर्पण करनेकी बात कहते हैं। अतः इस विषयमें दोष-दृष्टि करना अनुचित है। यह तो भगवान्का परम सौहार्द, कारुण्य, वात्सल्य ही है कि अपनेमें कोई अपूर्णता (कमी) और आवश्यकता न होनेपर भी केवल मनुष्यके कल्याणार्थ वे समस्त कर्मोंको अपने अर्पण करनेके लिये कहते हैं।

भगवान्का मत ही लोकमें 'सिद्धान्त' कहलाता है। सर्वोपरि सिद्धान्तको ही यहाँ '**मतम्**' पदसे कहा गया है। भगवान्ने अपनी सहज सरलता एवं निरभिमानताके कारण सर्वोपरि सिद्धान्तको 'मत' नामसे कहा है। यह मत या सिद्धान्त त्रिकालमें एक-जैसा रहता है अर्थात् इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, चाहे कोई श्रद्धा करे या न करे।

यहाँ '**नित्यम्**' पद '**मतम्**' का विशेषण नहीं, प्रत्युत '**अनुतिष्ठन्ति**' पदका ही विशेषण है। कारण कि भगवान् नित्य हैं; अतः उनसे सम्बन्धित समस्त वस्तुएँ भी नित्य ही

हैं। भगवान्‌का मत भी नित्य है। भगवान्‌का मत सर्वोपरि सिद्धान्त है और सिद्धान्त वही होता है, जो कभी मिटता नहीं। अतः भगवान्‌का मत तो नित्य है ही, उसका अनुष्ठान नित्य होना चाहिये। इसलिये यहाँ क्रियाविशेषण '**नित्यम्**' पद देनेका तात्पर्य है—भगवान्‌के मतपर नित्य-निरन्तर (सदा) स्थित रहना तथा इसके अनुसार अनुष्ठान करना।

प्रश्न—भगवान्‌का मत क्या है? और उसका सदा अनुष्ठान कैसे किया जाय?

उत्तर—मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी नहीं है—यह भगवान्‌का मत है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, धन, सम्पत्ति, पदार्थ आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं और संसार भी प्रकृतिका कार्य है। इसलिये इन वस्तुओंकी संसारसे एकता है तथा परमात्माका अंश होनेसे 'स्वयं' की परमात्मासे एकता है। अतः ये वस्तुएँ व्यक्तिगत (अपनी) नहीं हैं, प्रत्युत इनके उपयोगका अधिकार व्यक्तिगत है। इसके सिवाय सद्‌गुण, सदाचार, त्याग, वैराग्य, दया, क्षमा आदि भी व्यक्तिगत नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्‌के हैं। ये दैवी सम्पत्ति अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी सम्पत्ति (पूँजी) होनेसे भगवान्‌के ही हैं। यदि ये सद्‌गुण, सदाचार आदि अपने होते तो इनपर हमारा पूरा अधिकार होता और हमारी सम्मतिके बिना किसी दूसरेको इनकी प्राप्ति न होती। इनको अपना माननेसे तो अभिमान ही होता है, जो आसुरी सम्पत्तिका मूल है।

जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी माननेसे और उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेसे ही बन्धन होता है। शरीरादि वस्तुएँ 'अपनी' तो हैं ही नहीं, 'अपने लिये' भी नहीं हैं। यदि ये अपने लिये होतीं, तो इनकी प्राप्तिसे हमें पूर्ण तृप्ति या सन्तोष हो जाता, पूर्णताका अनुभव हो जाता। परन्तु सांसारिक वस्तुएँ कितनी ही क्यों न मिल जायँ, कभी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति या पूर्णताका अनुभव उस वस्तु-(भगवान्-) के मिलनेपर होता है, जो वास्तवमें अपनी है। अपनी वास्तविक वस्तुके मिलनेपर फिर स्वप्नमें भी कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती। जैसे, संसारमें सभी पुत्रवती स्त्रियाँ माताएँ ही हैं, पर बालकको उन सभी माताओंके मिलनेसे संतोष नहीं होता, प्रत्युत अपनी माताके मिलनेसे ही संतोष होता है। इसी तरह जबतक और पानेकी इच्छा रहती है, तबतक यही समझना चाहिये कि अपनी वस्तु मिली ही नहीं। मिली हुई वस्तुओंको भूलसे भले ही अपनी मान लें, पर वास्तवमें वे अपनी हैं नहीं और इसलिये उनसे अपनी तृप्ति भी नहीं होती। अतः मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है।

शरीरादि प्राप्त वस्तुओंको न तो हम अपने साथ लाये थे और न अपने साथ ले ही जा सकते हैं तथा वर्तमानमें भी ये हमारेसे प्रतिक्षण वियुक्त हो रही हैं। वर्तमानमें जो ये अपनी प्रतीत होती हैं, वह भी सदुपयोग करने अर्थात् दूसरोंके हितमें लगानेके लिये, न कि अपना अधिकार जमानेके लिये। अतः हमें प्राप्त वस्तुओंका सदुपयोग करनेका ही अधिकार है, अपनी माननेका नहीं। भगवान्‌ने मनुष्यको ये वस्तुएँ इतनी उदारतापूर्वक और इस ढंगसे दी हैं कि मनुष्यको ये वस्तुएँ अपनी ही दीखने लगती हैं। इन वस्तुओंको अपनी मान लेना भगवान्‌की उदारताका दुरुपयोग करना है। जो वस्तुएँ अपनी नहीं हैं, पर जिन्हें भूलसे अपनी मान लिया है, उस भूलको मिटानेके लिये साधक अध्यात्मचित्तसे गहरा विचार करके उन्हें भगवान्‌के अर्पण कर दे अर्थात् भूलसे माना हुआ अपनापन हटा ले।

जिसका एकमात्र उद्‌देश्य अध्यात्मतत्त्व-(परमात्मा-) की प्राप्तिका है, ऐसा साधक यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसे स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगा कि मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी नहीं होती, प्रत्युत बिछुड़नेवाली होती है। शरीर, पद, अधिकार, शिक्षा, योग्यता, धन, सम्पत्ति, जमीन आदि जो कुछ मिला है, संसारसे ही मिला है और संसारके लिये ही है। मिली हुई वस्तुओंको चाहे संसार-(कार्य-) का माने, चाहे प्रकृति-(कारण-) का माने और चाहे भगवान्- (स्वामी-) का माने, पर सार (मुख्य) बात यही है कि वे अपनी नहीं हैं। जो वस्तुएँ अपनी नहीं हैं, वे अपने लिये कैसे हो सकती हैं?

साधकको न तो कोई 'वस्तु' अपनी माननी है और न कोई 'कर्म' ही अपने लिये करना है। अपने लिये किये गये कर्म बाँधनेवाले होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ श्लोक) अर्थात् यज्ञ-(निष्कामभावपूर्वक परहितके लिये किये जानेवाले कर्तव्य-कर्म) के अतिरिक्त अन्य (अपने लिये किये गये) कर्म मनुष्यको बाँधनेवाले होते हैं। यज्ञके लिये कर्म करनेवाले साधकके सम्पूर्ण कर्म, संचित-कर्म भी विलीन हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। भगवान् समस्त लोकोंके महान् ईश्वर (स्वामी) हैं—'**सर्वलोकमहेश्वरम्**' (गीता ५। २९)। जब मनुष्य अपनेको वस्तुओंका स्वामी मान लेता है, तब वह अपने वास्तविक स्वामीको भूल जाता है; क्योंकि वह अपनेको जिन वस्तुओंका स्वामी मानता है, उसे उन्हीं वस्तुओंका चिन्तन होता है। अतः भगवान्‌को ही विश्वका एकमात्र

स्वामी मानते हुए साधकको संसारमें सेवककी तरह रहना चाहिये। सेवक अपने स्वामीके समस्त कार्य करते हुए भी अपनेको कभी स्वामी नहीं मानता। अतः साधकको शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिको अपना न मानकर केवल भगवान्‌का मानते हुए अपने कर्तव्यका पालन कर देना चाहिये; कर्म करनेमें निमित्तमात्र बन जाना चाहिये। अपनेमें स्वामीपनेका अभिमान नहीं करना चाहिये।

सर्वस्व भगवदर्पण करनेके बाद लाभ-हानि, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि जो कुछ आये, उनको भी साधक भगवान्‌का ही माने और उनसे अपना कोई प्रयोजन न रखे। कर्तव्यमात्र प्राप्त परिस्थितिके अनुरूप होता है। परिस्थितिके अनुरूप प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता रहे। यही भगवान्‌के मतका सदा अनुसरण करना है।

'मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः'—भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि मैं तुम्हें तो सर्वस्व मेरे अर्पण करके कर्तव्य-कर्म करनेकी स्पष्ट आज्ञा दे रहा हूँ, अतः मेरी आज्ञाका पालन करनेसे तुम्हारे मुक्त होनेमें कोई सन्देह नहीं है; परन्तु जिनको मैं इस प्रकार स्पष्ट आज्ञा नहीं देता हूँ, वे भी अगर इस मत-(मिले हुएको अपना न मानकर कर्तव्य-कर्मका पालन करना) के अनुसार चलेंगे, तो वे भी मुक्त हो जायँगे। कारण कि यह मत ही ऐसा है कि चाहे मुझे माने या न माने, केवल इस मतका पालन करनेसे ही मनुष्य मुक्त हो जाता है।

परिशिष्ट भाव— भगवान्‌का मत ही वास्तविक और सर्वोपरि 'सिद्धान्त' है, जिसके अन्तर्गत सभी मत-मतान्तर आ जाते हैं। परन्तु भगवान् अभिमान न करके बड़ी सरलतासे, नम्रतासे अपने सिद्धान्तको 'मत' नामसे कहते हैं। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने अपने अथवा दूसरे किसीके भी मतका आग्रह नहीं रखा है, प्रत्युत निष्पक्ष होकर अपनी बात सामने रखी है।

मत सर्वोपरि नहीं होता, प्रत्युत व्यक्तिगत होता है। हरेक व्यक्ति अपना-अपना मत प्रकट कर सकता है; परन्तु सिद्धान्त सर्वोपरि होता है, जो सबको मानना पड़ता है। इसलिये गुरु-शिष्यमें भी मतभेद तो हो सकता है, पर सिद्धान्तभेद नहीं हो सकता। ऋषि-मुनि, दार्शनिक अपने-अपने मतको भी 'सिद्धान्त' नामसे कहते हैं; परन्तु गीतामें भगवान् अपने सिद्धान्तको भी 'मत' नामसे कहते हैं। ऋषि-मुनि, दार्शनिक, आचार्य आदिके मतोंमें तो भेद (मतभेद) रहता है, पर भगवान्‌के मत अर्थात् सिद्धान्तमें कोई मतभेद नहीं है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

तु	= परन्तु		हुए	**अचेतसः**	= (और) अविवेकी मनुष्योंको
ये	= जो मनुष्य	**न, अनुतिष्ठन्ति**	= (इसका) अनुष्ठान नहीं करते,	**नष्टान्**	= नष्ट हुए (ही)
मे	= मेरे	**तान्**	= उन	**विद्धि**	= समझो अर्थात् उनका पतन ही होता है।
एतद्	= इस	**सर्वज्ञानविमूढान्**	= सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित		
मतम्	= मतमें				
अभ्यसूयन्तः	= दोष-दृष्टि करते				

व्याख्या—**'ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्'**—तीसवें श्लोकमें वर्णित सिद्धान्तके अनुसार चलनेवालोंके लाभका वर्णन इकतीसवें श्लोकमें करनेके बाद इस सिद्धान्तके अनुसार न चलनेवालोंकी पृथक्‌ता करनेहेतु यहाँ **'तु'** पदका प्रयोग हुआ है।

जैसे संसारमें सभी स्वार्थी मनुष्य चाहते हैं कि हमें ही सब पदार्थ मिलें, हमें ही लाभ हो, ऐसे ही भगवान् भी चाहते हैं कि समस्त कर्मोंको मेरे ही अर्पण किया जाय, मेरेको ही स्वामी माना जाय—इस प्रकार मानना 'भगवान्' पर दोषारोपण करना है।

कामनाके बिना संसारका कार्य कैसे चलेगा? ममताका सर्वथा त्याग तो हो ही नहीं सकता; राग-द्वेषादि विकारोंसे रहित होना असम्भव है—इस प्रकार मानना भगवान्‌के 'मत' पर दोषारोपण करना है।

भोग और संग्रहकी इच्छावाले जो मनुष्य शरीरादि पदार्थोंको अपने और अपने लिये मानते हैं और समस्त कर्म अपने लिये ही करते हैं, वे भगवान्‌के मतके अनुसार नहीं चलते।

'सर्वज्ञानविमूढान् तान्'—जो मनुष्य भगवान्‌के मतका अनुसरण नहीं करते, वे सब प्रकारके सांसारिक

ज्ञानों-(विद्याओं, कलाओं आदि-) में मोहित रहते हैं। वे मोटर, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीविजन आदि आविष्कारोंमें, उनके कला-कौशलको जाननेमें तथा नये-नये आविष्कार करनेमें ही रचे-पचे रहते हैं। जलपर तैरने, मकान आदि बनाने, चित्रकारी करने आदि शिल्प-कलाओंमें; मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदिकी जानकारी प्राप्त करनेमें तथा उनके द्वारा विलक्षण-विलक्षण चमत्कार दिखानेमें, देश-विदेशकी भाषाओं, लिपियों, रीति-रिवाजों, खान-पान आदिकी जानकारी प्राप्त करनेमें ही वे लगे रहते हैं। जो कुछ है, वह यही है—ऐसा उनका निश्चय होता है (गीता—सोलहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। ऐसे लोगोंको यहाँ सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित कहा गया है।

'अचेतसः'—भगवान्‌के मतका अनुसरण न करनेवाले मनुष्योंमें सत्-असत्, सार-असार, धर्म-अधर्म, बन्धन-मोक्ष आदि पारमार्थिक बातोंका भी ज्ञान (विवेक) नहीं होता। उनमें चेतनता नहीं होती, वे पशुकी तरह बेहोश रहते हैं। वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त मूढ़ पुरुष होते हैं—**'मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः'** (गीता ९। १२)।

'विद्धि नष्टान्'—मनुष्य-शरीरको पाकर भी जो भगवान्‌के मतके अनुसार नहीं चलते, उन मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझना चाहिये। तात्पर्य है कि वे मनुष्य जन्म-मरणके चक्रमें ही पड़े रहेंगे।

मनुष्यजीवनमें अन्तकालतक मुक्तिकी सम्भावना रहती है (गीता—आठवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। अतः जो मनुष्य वर्तमानमें भगवान्‌के मतका अनुसरण नहीं करते, वे भी भविष्यमें सत्संग आदिके प्रभावसे भगवान्‌के मतका अनुसरण कर सकते हैं, जिससे उनकी मुक्ति हो सकती है। परन्तु यदि उन मनुष्योंका भाव जैसा वर्तमानमें है, वैसा ही भविष्यमें भी बना रहा तो उन्हें (भगवत्प्राप्तिसे वंचित रह जानेके कारण) नष्ट हुए ही समझना चाहिये। इसी कारण भगवान्‌ने ऐसे मनुष्योंके लिये **'नष्टान् विद्धि'** पदोंका प्रयोग किया है।

भगवान्‌के मतका अनुसरण न करनेवाला मनुष्य समस्त कर्म राग अथवा द्वेषपूर्वक करता है। राग और द्वेष—दोनों ही मनुष्यके महान् शत्रु हैं—**'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'** (गीता ३। ३४)। नाशवान् होनेके कारण पदार्थ और कर्म तो सदा साथ नहीं रहते, पर राग-द्वेषपूर्वक कर्म करनेसे मनुष्य तादात्म्य, ममता और कामनासे आबद्ध होकर बार-बार नीच योनियों और नरकोंको प्राप्त होता रहता है। इसीलिये भगवान्‌ने ऐसे मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझनेकी बात कही है।

इकतीसवें और बत्तीसवें—दोनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा है कि मेरे सिद्धान्तके अनुसार चलनेवाले मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और न चलनेवाले मनुष्योंका पतन हो जाता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनुष्य भगवान्‌को माने या न माने, इसमें भगवान्‌का कोई आग्रह नहीं है; परन्तु उसे भगवान्‌के मत-(सिद्धान्त-) का पालन अवश्य करना चाहिये—इसमें भगवान्‌की आज्ञा है। अगर वह ऐसा नहीं करेगा तो उसका पतन अवश्य हो जायगा। हाँ, यदि साधक भगवान्‌को मानकर उनके मतका अनुष्ठान करे तो भगवान् उसे अपने-आपको दे देंगे। परन्तु यदि भगवान्‌को न मानकर केवल उनके मतका अनुष्ठान करे तो भगवान् उसका उद्धार कर देंगे। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को माननेवालेको 'प्रेम'की प्राप्ति और भगवान्‌का मत माननेवालेको 'मुक्ति'की प्राप्ति होती है।

सम्बन्ध—भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म न करनेसे मनुष्यका पतन हो जाता है—ऐसा क्यों है? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

भूतानि = सम्पूर्ण प्राणी
प्रकृतिम् = प्रकृतिको
यान्ति = प्राप्त होते हैं।
ज्ञानवान् = ज्ञानी महापुरुष
अपि = भी
स्वस्याः = अपनी
प्रकृतेः = प्रकृतिके
सदृशम् = अनुसार
चेष्टते = चेष्टा करता है।
निग्रहः = (फिर इसमें किसीका) हठ
किम् = क्या
करिष्यति = करेगा?

व्याख्या—'**प्रकृतिं यान्ति भूतानि**'—जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे स्वभाव अथवा सिद्धान्तको[1] सामने रखकर किये जाते हैं। स्वभाव दो प्रकारका होता है—राग-द्वेषरहित और राग-द्वेषयुक्त। जैसे, रास्तेमें चलते हुए कोई बोर्ड दिखायी दिया और उसपर लिखा हुआ पढ़ लिया तो यह पढ़ना न तो राग-द्वेषसे हुआ और न किसी सिद्धान्तसे, अपितु राग-द्वेषरहित स्वभावसे स्वतः हुआ। किसी मित्रका पत्र आनेपर उसे रागपूर्वक पढ़ते हैं और शत्रुका पत्र आनेपर उसे द्वेषपूर्वक पढ़ते हैं, तो यह पढ़ना राग-द्वेषयुक्त स्वभावसे हुआ। गीता, रामायण आदि सत्-शास्त्रोंको पढ़ना 'सिद्धान्त'से पढ़ना हुआ। मनुष्य-जन्म परमात्मप्राप्तिके लिये ही है; अतः परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे कर्म करना भी सिद्धान्तके अनुसार कर्म करना है।

इस प्रकार देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना आदि मात्र क्रियाएँ स्वभाव और सिद्धान्त—दोनोंसे होती हैं। राग-द्वेषरहित स्वभाव दोषी नहीं होता, प्रत्युत राग-द्वेषयुक्त स्वभाव दोषी होता है। राग-द्वेषपूर्वक होनेवाली क्रियाएँ मनुष्यको बाँधती हैं; क्योंकि इनसे स्वभाव अशुद्ध होता है और सिद्धान्तसे होनेवाली क्रियाएँ उद्धार करनेवाली होती हैं; क्योंकि इनसे स्वभाव शुद्ध होता है। स्वभाव अशुद्ध होनेके कारण ही संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद नहीं होता। स्वभाव शुद्ध होनेसे संसारसे माने हुए सम्बन्धका सुगमतापूर्वक विच्छेद हो जाता है।

ज्ञानी महापुरुषके अपने कहलानेवाले शरीरद्वारा स्वतः क्रियाएँ हुआ करती हैं; क्योंकि उसमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले साधककी क्रियाएँ सिद्धान्तके अनुसार होती हैं। जैसे लोभी पुरुष सदा सावधान रहता है कि कहीं कोई घाटा न लग जाय, ऐसे ही साधक निरन्तर सावधान रहता है कि कहीं कोई क्रिया राग-द्वेषपूर्वक न हो जाय। ऐसी सावधानी होनेपर साधकका स्वभाव शीघ्र शुद्ध हो जाता है और परिणाम-स्वरूप वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

यद्यपि क्रियामात्र स्वाभाविक ही प्रकृतिके द्वारा होती है, तथापि अज्ञानी पुरुष क्रियाओंके साथ अपना सम्बन्ध मानकर अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। पदार्थों और क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, जिनसे जन्म-मरणरूप बन्धन होता है। परन्तु प्रकृतिसे सम्बन्ध न माननेवाला साधक अपनेको सदा अकर्ता ही देखता है (गीता—तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

स्वभावमें मुख्य दोष प्राकृत पदार्थोंका राग ही है। जबतक स्वभावमें राग रहता है, तभीतक अशुद्ध कर्म होते हैं। अतः साधकके लिये राग ही बन्धनका मुख्य कारण है।

राग माने हुए 'अहम्' में रहता है और मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं इन्द्रियोंके विषयोंमें दिखायी देता है।

'अहम्' दो प्रकारका है—

१-चेतनद्वारा जडके साथ माने हुए सम्बन्धसे होनेवाला तादात्म्यरूप 'अहम्'।

२-जड प्रकृतिका धातुरूप 'अहम्'—'**महाभूतान्यहङ्कारः**' (गीता १३। ५)।

जड प्रकृतिके धातुरूप 'अहम्' में कोई दोष नहीं है; क्योंकि यह 'अहम्' मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिकी तरह एक करण ही है। इसलिये सम्पूर्ण दोष माने हुए 'अहम्' में ही हैं। ज्ञानी महापुरुषमें तादात्म्यरूप 'अहम्' का सर्वथा अभाव होता है; अतः उसके कहलानेवाले शरीरके द्वारा होनेवाली समस्त क्रियाएँ प्रकृतिके धातुरूप 'अहम्' से ही होती हैं। वास्तवमें समस्त प्राणियोंकी सब क्रियाएँ इस धातुरूप 'अहम्' से ही होती हैं, परन्तु जड शरीरको 'मैं' और 'मेरा' माननेवाला अज्ञानी पुरुष उन क्रियाओंको अपनी तथा अपने लिये मान लेता है और बँध जाता है। कारण कि क्रियाओंको अपनी और अपने लिये माननेसे ही राग उत्पन्न होता है[2]।

'**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि**'—यद्यपि अन्तःकरणमें राग-द्वेष न रहनेसे ज्ञानी महापुरुषकी प्रकृति निर्दोष होती है और वह प्रकृतिके वशीभूत नहीं होता, तथापि वह चेष्टा तो अपनी प्रकृति-(स्वभाव-) के अनुसार ही करता है। जैसे, कोई ज्ञानी महापुरुष अंग्रेजी भाषा नहीं जानता और

१-सिद्धान्त वह है, जो शास्त्र और भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार हो। शास्त्र और भगवान्‌की आज्ञाके विपरीत सिद्धान्त मान्य नहीं है।

२-शरीरके बढ़ने, बदलने आदि क्रियाओंके समान शरीर-निर्वाहकी व्यावहारिक क्रियाएँ भी स्वाभाविकरूपसे होती हैं; परन्तु राग-द्वेष रहनेसे साधारण पुरुषोंकी तो इन (व्यावहारिक) क्रियाओंमें लिप्तता रहती है, पर राग-द्वेष न रहनेसे ज्ञानी महापुरुषकी लिप्तता नहीं होती।

उससे अंग्रेजी बोलनेके लिये कहा जाय, तो वह बोल नहीं सकेगा। वह जिस भाषाको जानता है, उसी भाषामें बोलेगा। भगवान् भी अपनी प्रकृति-(स्वभाव-) को वशमें करके जिस योनिमें अवतार लेते हैं, उसी योनिके स्वभावके अनुसार चेष्टा करते हैं; जैसे—भगवान् राम या कृष्णरूपसे मनुष्य-योनिमें अवतार लेते हैं तथा मत्स्य, कच्छप, वराह आदि योनियोंमें अवतार लेते हैं तो वहाँ उस-उस योनिके अनुसार ही चेष्टा करते हैं। तात्पर्य है कि भगवान्‌के अवतारी शरीरोंमें भी वर्ण, योनिके अनुसार स्वभावकी भिन्नता रहती है, पर परवशता नहीं रहती। इसी तरह जिन महापुरुषोंका प्रकृति- (जडता-) से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है, उनमें स्वभावकी भिन्नता तो रहती है, पर परवशता नहीं रहती। परन्तु जिन मनुष्योंका प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ है, उनमें स्वभावकी भिन्नता और परवशता—दोनों रहती हैं।

यहाँ '**स्वस्याः**' पदका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुषकी प्रकृति निर्दोष होती है। वह प्रकृतिके वशमें नहीं होता, प्रत्युत प्रकृति उसके वशमें होती है। कर्मोंकी फल-जनकताका मूल बीज कर्तृत्वाभिमान और स्वार्थ-बुद्धि है। ज्ञानी महापुरुषमें कर्तृत्वाभिमान और स्वार्थ-बुद्धि नहीं होती। उसके द्वारा चेष्टामात्र होती है। बन्धनकारक कर्म होता है, चेष्टा या क्रिया नहीं। इसीलिये यहाँ '**चेष्टते**' पद आया है। उसका स्वभाव इतना शुद्ध होता है कि उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ भी महान् शुद्ध एवं साधकोंके लिये आदर्श होती हैं।

पीछेके और वर्तमान जन्मके संस्कार, माता-पिताके संस्कार, वर्तमानका संग, शिक्षा, वातावरण, अध्ययन, उपासना, चिन्तन, क्रिया, भाव आदिके अनुसार स्वभाव बनता है। यह स्वभाव सभी मनुष्योंमें भिन्न-भिन्न होता है और इसे निर्दोष बनानेमें सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं। व्यक्तिगत स्वभावकी भिन्नता ज्ञानी महापुरुषोंमें भी रहती है। चेतनमें भिन्नता होती ही नहीं और प्रकृति-(स्वभाव-) में स्वाभाविक भिन्नता रहती है। प्रकृति है ही विषम। जैसे एक जाति होनेपर भी आम आदिके वृक्षोंमें अवान्तर भेद रहता है, ऐसे ही प्रकृति (स्वभाव) शुद्ध होनेपर भी ज्ञानी महापुरुषोंमें प्रकृतिका भेद रहता है।

ज्ञानी महापुरुषका स्वभाव शुद्ध (राग-द्वेषरहित) होता है; अतः वह प्रकृतिके वशमें नहीं होता। इसके विपरीत अशुद्ध (राग-द्वेषयुक्त) स्वभाववाले मनुष्य अपनी बनायी हुई परवशतासे बाध्य होकर कर्म करते हैं।

'**निग्रहः किं करिष्यति**'—जिनका स्वभाव महान् शुद्ध एवं श्रेष्ठ है, उनकी क्रियाएँ भी अपनी प्रकृतिके अनुसार हुआ करती हैं, फिर जिनका स्वभाव अशुद्ध (राग-द्वेषयुक्त) है, उन पुरुषोंकी क्रियाएँ तो प्रकृतिके अनुसार होंगी ही। इस विषयमें हठ उनके काम नहीं आयेगा। जिसका जैसा स्वभाव है, उसे उसीके अनुसार कर्म करने पड़ेंगे। यदि स्वभाव अशुद्ध हो तो वह अशुद्ध कर्मोंमें और शुद्ध हो तो वह शुद्ध कर्मोंमें मनुष्यको लगा देगा।

अर्जुन भी जब हठपूर्वक युद्धरूप कर्तव्य-कर्मका त्याग करना चाहते हैं, तब भगवान् उन्हें यही कहते हैं कि तेरा स्वभाव तुझे बलपूर्वक युद्धमें लगा देगा—'**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**' (१८।५९); क्योंकि तेरे स्वभावमें क्षात्रकर्म (युद्ध आदि) करनेका प्रवाह है। इसलिये स्वाभाविक कर्मोंसे बँधा हुआ तू परवश होकर युद्ध करेगा अर्थात् इसमें तेरा हठ काम नहीं आयेगा—'**करिष्यस्यवशोऽपि तत्**' (१८।६०)।

जैसे सौ मील प्रति घंटेकी गतिसे चलनेवाली मोटर अपनी नियत क्षमतासे अधिक नहीं चलेगी, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषके द्वारा भी अपनी शुद्ध प्रकृतिके विपरीत चेष्टा नहीं होगी। जिनकी प्रकृति अशुद्ध है, उनकी प्रकृति बिगड़ी हुई मोटरके समान है। बिगड़ी हुई मोटरको सुधारनेके दो मुख्य उपाय हैं—(१) मोटरको खुद ठीक करना और (२) मोटरको कारखानेमें पहुँचा देना। इसी प्रकार अशुद्ध प्रकृतिको सुधारनेके भी दो मुख्य उपाय हैं—(१) राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करना (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक) और (२) भगवान्‌के शरणमें चले जाना (गीता—अठारहवें अध्यायका बासठवाँ श्लोक)। यदि मोटर ठीक चलती है तो हम मोटरके वशमें नहीं हैं और यदि मोटर बिगड़ी हुई है तो हम मोटरके वशमें हैं। ऐसे ही ज्ञानी महापुरुष प्रकृतिके शुद्ध होनेके कारण प्रकृतिके वशमें नहीं होता और अज्ञानी पुरुष प्रकृतिके अशुद्ध होनेके कारण प्रकृतिके वशमें होता है।

जिसकी बुद्धिमें जडता-(सांसारिक भोग और संग्रह-) का ही महत्त्व है, ऐसा मनुष्य कितना ही विद्वान् क्यों न हो, उसका पतन अवश्यम्भावी है। परन्तु जिसकी बुद्धिमें जडताका महत्त्व नहीं है और भगवत्प्राप्ति ही जिसका उद्देश्य है, ऐसा मनुष्य विद्वान् न भी हो, तो भी उसका उत्थान अवश्यम्भावी है। कारण कि जिसका उद्देश्य भोग और

संग्रह न होकर केवल परमात्माको प्राप्त करना ही है, उसके समस्त भाव, विचार, कर्म आदि उसकी उन्नतिमें सहायक हो जाते हैं। अतः साधकको सर्वप्रथम परमात्मप्राप्तिका उद्‌देश्य बना लेना चाहिये, फिर उस उद्‌देश्यकी सिद्धिके लिये राग-द्वेषसे रहित होकर कर्तव्य-कर्म करने चाहिये। राग-द्वेषसे रहित होनेका सुगम उपाय है—मिले हुए शरीरादि पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानते हुए दूसरोंकी सेवामें लगाना और बदलेमें दूसरोंसे कुछ भी न चाहना।

प्रकृतिके वशमें न होनेके लिये साधकको चाहिये कि वह किसी आदर्शको सामने रखकर कर्तव्य-कर्म करे। आदर्श दो हो सकते हैं—(१) भगवान्‌का मत (सिद्धान्त) और (२) श्रेष्ठ महापुरुषोंका आचरण। आदर्शको सामने रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यकी प्रकृति शुद्ध हो जाती है और नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। इसके विपरीत आदर्शको सामने न रखकर कर्म करनेवाला मनुष्य राग-द्वेषपूर्वक ही सब कर्म करता है, जिससे राग-द्वेष पुष्ट हो जाते हैं और उसका पतन हो जाता है—**'नष्टान् विद्धि'** (गीता ३। ३२)।

जैसे नदीके प्रवाहको हम रोक तो नहीं सकते, पर नहर बनाकर मोड़ सकते हैं, ऐसे ही कर्मोंके प्रवाहको रोक तो नहीं सकते, पर उसका प्रवाह मोड़ सकते हैं। निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना ही कर्मोंके प्रवाहको मोड़ना है। अपने लिये किंचिन्मात्र भी कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह मुड़ेगा नहीं। तात्पर्य यह कि केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी ओर हो जाता है और साधक कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—ज्ञानी महापुरुष भी जब व्यवहार करता है तो स्वभावके अनुसार ही करता है। कारण कि करणोंके बिना कोई व्यवहार नहीं कर सकता। जैसे आचार्य बालककी स्थितिमें आकर ही उसको वर्णमाला (क-ख-ग) सिखाता है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुष भी साधारण मनुष्यकी स्थितिमें आकर ही उसको समझाता है, व्यवहार करता है।

'चेष्टते' पदका तात्पर्य है कि वह कर्म करता नहीं, प्रत्युत उससे प्रकृतिके अनुसार स्वतः क्रिया होती है। जैसे वृक्षके पत्ते हिलते हैं तो उनसे कोई फलजनक कर्म (पाप या पुण्य) नहीं होता, ऐसे ही कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण उसके द्वारा कोई शुभ-अशुभ कर्म नहीं बनता।

ज्ञानी महापुरुष भी दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं; क्योंकि साधनावस्थामें ही उनका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है—**'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५; १२। ४)। इसलिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहनेपर भी उनमें सबका हित करनेका स्वभाव रहता है। तात्पर्य है कि दूसरोंका हित करते-करते जब उनका संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उनको हित करना नहीं पड़ता, प्रत्युत पहलेके प्रवाहके कारण उनके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है।

सम्बन्ध—प्रत्येक मनुष्यका अपनी प्रकृतिको साथ लेकर ही जन्म होता है; अतः उसे अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करने ही पड़ते हैं। इसलिये अब भगवान् आगेके श्लोकमें प्रकृतिको शुद्ध करनेका उपाय बताते हैं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य	= इन्द्रिय-इन्द्रियके	**व्यवस्थितौ**	= व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं।	**न**	= नहीं
अर्थे	= अर्थमें (प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें)	**तयोः**	= (मनुष्यको) उन दोनोंके	**आगच्छेत्**	= होना चाहिये;
रागद्वेषौ	= (मनुष्यके) राग और द्वेष	**वशम्**	= वशमें	**हि**	= क्योंकि
				तौ	= वे दोनों ही
				अस्य	= इसके (पारमार्थिक मार्गमें)
				परिपन्थिनौ	= विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं।

व्याख्या—**'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ'—**प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग-द्वेषको अलग-अलग स्थित बतानेके लिये यहाँ **'इन्द्रियस्य'** पद दो बार प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि

प्रत्येक इन्द्रिय-(श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण-) के प्रत्येक विषय-(शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-) में अनुकूलता-प्रतिकूलताकी मान्यतासे मनुष्यके राग-द्वेष स्थित रहते हैं। इन्द्रियके विषयमें अनुकूलताका भाव होनेपर मनुष्यका उस विषयमें 'राग' हो जाता है और प्रतिकूलताका भाव होनेपर उस विषयमें 'द्वेष' हो जाता है।

वास्तवमें देखा जाय तो राग-द्वेष इन्द्रियोंके विषयोंमें नहीं रहते। यदि विषयोंमें राग-द्वेष स्थित होते तो एक ही विषय सभीको समानरूपसे प्रिय अथवा अप्रिय लगता। परन्तु ऐसा होता नहीं; जैसे—वर्षा किसानको तो प्रिय लगती है, पर कुम्हारको अप्रिय। एक मनुष्यको भी कोई विषय सदा प्रिय या अप्रिय नहीं लगता; जैसे—ठंडी हवा गरमीमें अच्छी लगती है, पर सरदीमें बुरी। इस प्रकार सब विषय अपने अनुकूलता या प्रतिकूलताके भावसे ही प्रिय अथवा अप्रिय लगते हैं अर्थात् मनुष्य विषयोंमें अपना अनुकूल या प्रतिकूल भाव करके उनको अच्छा या बुरा मानकर राग-द्वेष कर लेता है। इसलिये भगवान्ने राग-द्वेषको प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें स्थित बताया है।

वास्तवमें राग-द्वेष माने हुए 'अहम्'-(मैं-पन-) में रहते हैं।* शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है। अतः जबतक शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध रहता है, तबतक उसमें राग-द्वेष रहते हैं और वे ही राग-द्वेष बुद्धि, मन, इन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रतीत होते हैं। इसी अध्यायके सैंतीसवेंसे तैंतालीसवें श्लोकतक भगवान्ने इन्हीं राग-द्वेषको 'काम' और 'क्रोध' के नामसे कहा है। राग और द्वेषके ही स्थूलरूप काम और क्रोध हैं। चालीसवें श्लोकमें बताया है कि यह 'काम' इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें रहता है। विषयोंकी तरह इनमें (इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें) 'काम' की प्रतीति होनेके कारण ही भगवान्ने इनको 'काम' का निवास-स्थान बताया है। जैसे विषयोंमें राग-द्वेषकी प्रतीतिमात्र है, ऐसे ही इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें भी राग-द्वेषकी प्रतीतिमात्र है। ये इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तो केवल कर्म करनेके करण (औजार) हैं। इनमें काम-क्रोध अथवा राग-द्वेष हैं ही कहाँ? इसके सिवाय दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर उनमें रहनेवाला उसका राग निवृत्त नहीं होता। यह राग परमात्माका साक्षात्कार होनेपर निवृत्त हो जाता है।

'तयोर्न वशमागच्छेत्'—इन पदोंसे भगवान् साधकको आश्वासन देते हैं कि राग-द्वेषकी वृत्ति उत्पन्न होनेपर उसे साधन और साध्यसे कभी निराश नहीं होना चाहिये, अपितु राग-द्वेषकी वृत्तिके वशीभूत होकर उसे किसी कार्यमें प्रवृत्त अथवा निवृत्त नहीं होना चाहिये। कर्मोंमें प्रवृत्ति या निवृत्ति शास्त्रके अनुसार ही होनी चाहिये (गीता—सोलहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। यदि राग-द्वेषको लेकर ही साधककी कर्मोंमें प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि साधक राग-द्वेषके वशमें हो गया है। रागपूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति होनेसे 'राग' पुष्ट होता है और द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति होनेसे 'द्वेष' पुष्ट होता है। इस प्रकार राग-द्वेष पुष्ट होनेके फलस्वरूप पतन ही होता है।

जब साधक संसारका कार्य छोड़कर भजनमें लगता है, तब संसारकी अनेक अच्छी और बुरी स्फुरणाएँ उत्पन्न होने लगती हैं, जिनसे वह घबरा जाता है। यहाँ भगवान् साधकको मानो आश्वासन देते हैं कि उसे इन स्फुरणाओंसे घबराना नहीं चाहिये। इन स्फुरणाओंकी वास्तवमें सत्ता ही नहीं है; क्योंकि ये उत्पन्न होती हैं; और यह सिद्धान्त है कि उत्पन्न होनेवाली वस्तु नष्ट होनेवाली होती है। अतः विचारपूर्वक देखा जाय तो स्फुरणाएँ आ नहीं रही हैं, प्रत्युत जा रही हैं। कारण यह है कि संसारका कार्य करते समय अवकाश न मिलनेसे स्फुरणाएँ दबी रहती हैं और संसारका कार्य छोड़ते ही अवकाश मिलनेसे पुराने संस्कार स्फुरणाओंके रूपमें बाहर निकलने लगते हैं। अतः साधकको इन अच्छी या बुरी स्फुरणाओंसे भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिये, प्रत्युत सावधानीपूर्वक इनकी उपेक्षा करते हुए स्वयं तटस्थ रहना चाहिये। इसी प्रकार उसे पदार्थ, व्यक्ति, विषय आदिमें भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।

राग-द्वेषपर विजय पानेके उपाय

राग-द्वेषके वशीभूत होकर कर्म करनेसे राग-द्वेष पुष्ट (प्रबल) होते हैं और अशुद्ध प्रकृति-(स्वभाव-) का रूप धारण कर लेते हैं। प्रकृतिके अशुद्ध होनेपर प्रकृतिकी

*** भगवान्ने 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य' (गीता २। ५९) पदोंमें 'अस्य' पदसे यह लक्ष्य कराया है कि राग-द्वेष माने हुए 'अहम्' में (साधकमें) रहते हैं।**

अधीनता रहती है। ऐसी अशुद्ध प्रकृतिकी अधीनतासे होनेवाले कर्म मनुष्यको बाँधते हैं। अतः राग-द्वेषके वशमें होकर कोई प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होनी चाहिये—यह उपाय यहाँ बताया गया। इससे पहले भगवान् कह चुके हैं कि जो मेरे मतका अनुसरण करता है, वह कर्म-बन्धनसे छूट जाता है (गीता—तीसरे अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)। इसलिये राग-द्वेषकी वृत्तिके वशमें न होकर भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म करनेसे राग-द्वेष सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं। तात्पर्य यह कि साधक सम्पूर्ण कर्मोंको और अपनेको भी भलीभाँति भगवदर्पण कर दे और ऐसा मान ले कि कर्म मेरे लिये नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्‌के लिये ही हैं; जिनसे कर्म होते हैं, वे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी भगवान्‌के ही हैं और मैं भी भगवान्‌का ही हूँ। फिर निष्काम, निर्मम और निःसन्ताप होकर कर्तव्य-कर्म करनेसे राग-द्वेष मिट जाते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के मत अर्थात् सिद्धान्तको सामने रखकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये।

सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृतिका कार्य है और शरीर सृष्टिका एक अंश है। जबतक शरीरके प्रति ममता रहती है, तभीतक राग-द्वेष होते हैं अर्थात् मनुष्य रुचि या अरुचिपूर्वक वस्तुओंका ग्रहण और त्याग करता है। यह रुचि-अरुचि ही राग-द्वेषका सूक्ष्म रूप है। राग-द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति होनेसे राग-द्वेष पुष्ट होते हैं; परन्तु शास्त्रको सामने रखकर किसी कर्ममें प्रवृत्त या निवृत्त होनेसे राग-द्वेष मिट जाते हैं। कारण कि शास्त्रके अनुसार चलनेसे अपनी रुचि और अरुचिकी मुख्यता नहीं रहती। यदि कोई मनुष्य शास्त्रको नहीं जानता, तो उसके लिये महर्षि वेदव्यासजीके वचन हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(पद्मपुराण, सृष्टि० १९। ३५५-५६)

'हे मनुष्यो! तुमलोग धर्मका सार सुनो और सुनकर धारण करो कि जो हम अपने लिये नहीं चाहते, उसको दूसरोंके प्रति न करें।'

जीवन्मुक्त महापुरुष भी शास्त्र-मर्यादाको ही आदर देते हैं। इसीलिये श्राद्धमें पिण्डदान करते समय पिताजीका हाथ प्रत्यक्ष दिखायी देनेपर भी भीष्मपितामहने शास्त्रके आज्ञानुसार कुशोंपर ही पिण्डदान किया (महाभारत, अनुशासन० चौरासीवाँ अध्याय, पन्द्रहवेंसे बीसवें श्लोकतक)। अतः साधकको सम्पूर्ण कर्म शास्त्रके आज्ञानुसार ही करने चाहिये।

राग-द्वेष मिटानेके इच्छुक साधकोंके लिये तो कर्म करनेमें शास्त्रप्रमाणकी आवश्यकता रहती है, पर राग-द्वेषसे सर्वथा रहित महापुरुषका अन्तःकरण इतना शुद्ध, निर्मल होता है कि उसमें स्वतः वेदोंका तात्पर्य प्रकट हो जाता है, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो या न हो। उसके अन्तःकरणमें जो बात आती है, वह शास्त्रानुकूल ही होती है।* राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेके कारण उस महापुरुषके द्वारा शास्त्र-निषिद्ध क्रियाएँ कभी होती ही नहीं। उसका स्वभाव स्वतः शास्त्रके अनुसार बन जाता है। यही कारण है कि ऐसे महापुरुषके आचरण और वचन दूसरे मनुष्योंके लिये आदर्श होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। अतः उस महापुरुषके आचरणों और वचनोंका अनुसरण करनेसे साधकके राग-द्वेष भी मिट जाते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि राग-द्वेष अन्तःकरणके धर्म हैं; अतः इनको मिटाया नहीं जा सकता। पर यह बात युक्तिसंगत नहीं दीखती। वास्तवमें राग-द्वेष अन्तःकरणके आगन्तुक विकार हैं, धर्म नहीं। यदि ये अन्तःकरणके धर्म होते तो जिस समय अन्तःकरण जाग्रत् रहता है, उस समय राग-द्वेष भी रहते अर्थात् इनकी सदा ही प्रतीति होती। परन्तु इनकी प्रतीति सदा न होकर कभी-कभी ही होती है। साधन करनेपर राग-द्वेष उत्तरोत्तर कम होते हैं—यह साधकोंका अनुभव है। कम होनेवाली वस्तु मिटनेवाली होती है। इससे भी सिद्ध होता है कि राग-द्वेष अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं। भगवान्‌ने राग-द्वेषको 'मनोगत' कहा है—'**कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्**' (गीता २। ५५) अर्थात् ये मनमें आनेवाले हैं, सदा रहनेवाले नहीं। इसके अतिरिक्त भगवान्‌ने राग-द्वेषको विकार कहा है (गीता—तेरहवें अध्यायका छठा श्लोक) और प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें चित्तके सदा सम रहनेको साधन

*** जो पुरुष धर्मका कभी परित्याग नहीं करता, उसका अन्तःकरण भी शुद्ध हो जाता है। राजा दुष्यन्तका वर्णन करते समय महाकवि कालिदासने लिखा है—**

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम् १। २१)

'जहाँ संदेह हो, वहाँ सत्पुरुषके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है।'

कहा है (गीता—तेरहवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। यदि राग-द्वेष अन्तःकरणके धर्म होते, तो यह समचित्ततारूप साधन बन ही नहीं सकता। धर्म स्थायी रहता है और विकार अस्थायी अर्थात् आने-जानेवाले होते हैं। राग-द्वेष अन्तःकरणमें आने-जानेवाले हैं; अतः इनको मिटाया जा सकता है।

प्रकृति (जड) और पुरुष (चेतन)—दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इन दोनोंका विवेक स्वतःसिद्ध है। पुरुष इस विवेकको महत्त्व न देकर प्रकृतिजन्य शरीरसे एकता कर लेता है और अपनेको एकदेशीय मान लेता है। यह जड-चेतनका तादात्म्य ही 'अहम्' (मैं) कहलाता है और इसीमें राग-द्वेष रहते हैं। तात्पर्य यह है कि अहंता-(मैं-पन-) में राग-द्वेष रहते हैं और राग-द्वेषसे अहंता पुष्ट होती है। यही राग-द्वेष बुद्धिमें प्रतीत होते हैं, जिससे बुद्धिमें सिद्धान्त आदिको लेकर अपनी मान्यता प्रिय और दूसरोंकी मान्यता अप्रिय लगती है। फिर ये राग-द्वेष मनमें प्रतीत होते हैं, जिससे मनके अनुकूल बातें प्रिय और प्रतिकूल बातें अप्रिय लगती हैं। फिर यही राग-द्वेष इन्द्रियोंमें प्रतीत होते हैं, जिससे इन्द्रियोंके अनुकूल विषय प्रिय और प्रतिकूल विषय अप्रिय लगते हैं। यही राग-द्वेष इन्द्रियोंके विषयों-(शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-) में अपनी अनुकूल और प्रतिकूल भावनाको लेकर प्रतीत होते हैं। अतः जड-चेतनकी ग्रन्थिरूप अहंता-(मैं-पन-) के मिटनेपर राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है; क्योंकि अहंतापर ही राग-द्वेष टिके हुए हैं।

मैं सेवक हूँ; मैं जिज्ञासु हूँ; मैं भक्त हूँ—ये सेवक, जिज्ञासु और भक्त जिस 'मैं' में रहते हैं, उसी 'मैं' में राग-द्वेष भी रहते हैं। राग-द्वेष न तो केवल जडमें रहते हैं और न केवल चेतनमें ही रहते हैं, प्रत्युत जड-चेतनके माने हुए सम्बन्धमें रहते हैं। जड-चेतनके माने हुए सम्बन्धमें रहते हुए भी ये राग-द्वेष प्रधानतः जडमें रहते हैं। जड-चेतनके तादात्म्यमें जडका आकर्षण जड-अंशमें ही होता है, पर तादात्म्यके कारण वह चेतनमें दीखता है। जडका आकर्षण ही राग है। अतः जब साधक शरीर-(जड-) को ही अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसे राग-द्वेषको मिटानेमें कठिनाई प्रतीत होती है। परन्तु अपने चेतन-स्वरूपकी ओर दृष्टि रहनेसे उसे राग-द्वेषको मिटानेमें कठिनाई प्रतीत नहीं होती। कारण कि राग-द्वेष स्वतःसिद्ध नहीं हैं, प्रत्युत जड-(असत्-) के सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हैं।

यदि सत्संग, भजन, ध्यान आदिमें 'राग' होगा तो संसारसे द्वेष होगा; परन्तु 'प्रेम' होनेपर संसारसे द्वेष नहीं होगा, प्रत्युत संसारकी उपेक्षा (विमुखता) होगी*। संसारके किसी एक विषयमें 'राग' होनेसे दूसरे विषयमें द्वेष होता है, पर भगवान्‌में प्रेम होनेसे संसारसे वैराग्य होता है। वैराग्य होनेपर संसारसे सुख लेनेकी भावना समाप्त हो जाती है और संसारकी स्वतः सेवा होती है। इससे शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके साथ 'अहम्' भी स्वतः संसारकी सेवामें लग जाता है। परिणामस्वरूप शरीरादिके साथ-साथ 'अहम्' से भी सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसमें रहनेवाले राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

मनुष्यकी क्रियाएँ स्वभाव अथवा सिद्धान्तको लेकर होती हैं। केवल आध्यात्मिक उन्नतिके लिये कर्म करना सिद्धान्तको लेकर कर्म करना है। स्वभाव दो प्रकारका होता है—राग-द्वेषरहित (शुद्ध) और राग-द्वेषयुक्त (अशुद्ध)। स्वभावको मिटा तो नहीं सकते, पर उसे शुद्ध अर्थात् राग-द्वेषरहित अवश्य बना सकते हैं। जैसे गंगा गंगोत्रीसे निकलती है; गंगोत्री जितनी ऊँचाईपर है, अगर उतना अथवा उससे अधिक ऊँचा बाँध बनाया जाय, तो गंगाके प्रवाहको रोका जा सकता है। परन्तु ऐसा करना सरल कार्य नहीं है। हाँ, गंगामेंसे नहरें निकालकर उसके प्रवाहको बदला जा सकता है। इसी प्रकार स्वाभाविक कर्मोंके प्रवाहको मिटा तो नहीं सकते, पर उसको बदल सकते हैं अर्थात् उसको राग-द्वेषरहित बना सकते हैं—यह गीताका मार्मिक सिद्धान्त है। राग-द्वेषको लेकर जो क्रियाएँ होती हैं, उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति उतनी बाधक नहीं है, जितने कि

*** साधकका सत्संग आदिमें राग है या प्रेम, इसे इस उदाहरणसे जान सकते हैं—सत्संग, भजन-ध्यान आदिमें कोई व्यक्ति बाधा पहुँचाये, तो उसपर क्रोध आनेसे समझना चाहिये कि सत्संग आदिमें 'राग' है; और (उसपर क्रोध न आकर) रोना आ जाय तो समझना चाहिये कि सत्संग आदिमें 'प्रेम' है। कारण कि अपनेमें लगन-(दृढ़ता-) की कमी होनेसे ही साधनमें बाधा लगती है। इसलिये बाधा लगनेपर अपनेमें लगनकी कमी देखकर साधकको रोना आ जाता है। ऐसे ही दूसरे धर्म, सम्प्रदाय आदिके व्यक्ति हमें बुरे लगें तो समझना चाहिये कि अपने धर्म, सम्प्रदाय आदिमें हमारा 'राग' है।**

वास्तवमें सत्संग, भजन-ध्यान आदिमें राग होना भी उतना बुरा नहीं है; क्योंकि चाहे जैसे हो, भगवान्‌में लगना अच्छा ही है—'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' (श्रीमद्भा० ७। १। ३१)।

राग-द्वेष बाधक हैं। इसीलिये भगवान्ने राग-द्वेषका त्याग करनेवालेको ही सच्चा त्यागी कहा है (गीता—अठारहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)। राग-द्वेषकी ओर प्राय: साधकका ध्यान नहीं जाता, इसलिये उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक होती है। अत: राग-द्वेषसे रहित होनेके लिये साधकको सिद्धान्त सामने रखकर ही समस्त क्रियाएँ करनी चाहिये। फिर उसका स्वभाव स्वत: सिद्धान्तके अनुरूप और शुद्ध बन जायगा।

राग-द्वेषयुक्त स्फुरणाके उत्पन्न होनेपर, उसके अनुसार कर्म करनेसे राग-द्वेष पुष्ट होते हैं और उसके अनुसार कर्म न करके सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेसे राग-द्वेष मिट जाते हैं।

मनकी शुभ और अशुभ स्फुरणाओंमें राग-द्वेष नहीं होने चाहिये। साधकको चाहिये कि वह मनमें होनेवाली स्फुरणाओंको स्वयंमें न मानकर उनसे किसी भी प्रकार सम्बन्ध न जोड़े; उनका न समर्थन करे, न विरोध करे।

यदि साधक राग-द्वेषको दूर करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है, तो उसे सर्वसमर्थ परम सुहृद् प्रभुकी शरणमें चले जाना चाहिये। फिर प्रभुकी कृपासे उसके राग-द्वेष दूर हो जाते हैं (गीता—सातवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक) और परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है (गीता—अठारहवें अध्यायका बासठवाँ श्लोक)। माने हुए 'अहम्'-सहित शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और सांसारिक पदार्थ सब-के-सब भगवान्के ही हैं—ऐसा मानना ही भगवान्के शरण होना है। फिर भगवान्की प्रसन्नताके लिये, भगवान्की दी हुई सामग्रीसे भगवान्के ही जनोंकी केवल सेवा कर देनी है और बदलेमें अपने लिये कुछ नहीं चाहना है। बदलेमें कुछ भी चाहनेसे जडके साथ सम्बन्ध बना रहता है।

निष्कामभावपूर्वक संसारकी सेवा करना राग-द्वेषको मिटानेका अचूक उपाय है। अपने पास स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे लेकर माने हुए 'अहम्' तक जो कुछ है, उसे संसारकी ही सेवामें लगा देना है। कारण कि ये सब पदार्थ तत्त्वत: संसारसे अभिन्न हैं। इनको संसारसे भिन्न (अपना) मानना ही बन्धन है। स्थूल-शरीरसे क्रियाओं और पदार्थोंका सुख, सूक्ष्मशरीरसे चिन्तनका सुख और कारणशरीरसे स्थिरताका सुख नहीं लेना है। वास्तवमें मनुष्य-शरीर अपने सुखके लिये है ही नहीं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। (मानस ७। ४४। १)

दूसरी बात, जिन शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिसे सेवा होती है, वे सब संसारके ही अंश हैं। जब संसार ही अपना नहीं, तो फिर उसका अंश अपना कैसे हो सकता है? इन शरीरादि पदार्थोंको अपना माननेसे सच्ची सेवा हो ही नहीं सकती; क्योंकि इससे ममता और स्वार्थ-भाव उत्पन्न हो जाता है। इसलिये इन पदार्थोंको उसीके मानने चाहिये, जिसकी सेवा की जाय। जैसे भक्त पदार्थोंको भगवान्का ही मानकर भगवान्के अर्पण करता है—'**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**' ऐसे ही कर्मयोगी पदार्थोंको संसारका ही मानकर संसारके अर्पण करता है।

सेवा-सम्बन्धी मार्मिक बात

सेवा वही कर सकता है, जो अपने लिये कभी कुछ नहीं चाहता। सेवा करनेके लिये धनादि पदार्थोंकी चाह तो कामना है ही, सेवा करनेकी चाह भी कामना ही है; क्योंकि सेवाकी चाह होनेसे ही धनादि पदार्थोंकी कामना होती है। इसलिये अवसर प्राप्त हो और योग्यता हो तो सेवा कर देनी चाहिये, पर सेवाकी कामना नहीं करनी चाहिये।

दूसरेको सुख पहुँचाकर सुखी होना, 'मेरे द्वारा लोगोंको सुख मिलता है'—ऐसा भाव रखना, सेवाके बदलेमें किंचित् भी मान-बड़ाई चाहना और मान-बड़ाई मिलनेपर राजी होना वास्तवमें भोग है, सेवा नहीं। कारण कि ऐसा करनेसे सेवा सुख-भोगमें परिणत हो जाती है अर्थात् सेवा अपने सुखके लिये हो जाती है। अगर सेवा करनेमें थोड़ा भी सुख लिया जाय, तो वह सुख धनादि पदार्थोंमें महत्त्व-बुद्धि पैदा कर देता है, जिससे क्रमश: ममता और कामनाकी उत्पत्ति होती है।

'मैं किसीको कुछ देता हूँ'—ऐसा जिसका भाव है, उसे यह बात समझमें नहीं आती तथा कोई उसे आसानीसे समझा भी नहीं सकता कि सेवामें लगनेवाले पदार्थ उसीके हैं, जिसकी सेवा की जाती है। उसीकी वस्तु उसे ही दे दी, तो फिर बदलेंमें कुछ चाहनेका हमें अधिकार ही क्या है? उसीकी धरोहर उसीको देनेमें एहसान कैसा? अपने हाथोंसे अपना मुख धोनेपर बदलेमें क्या हम कुछ चाहते हैं?

शंका—सेवा तो धनादि वस्तुओंके द्वारा ही होती है। वस्तुओंके बिना सेवा कैसे हो सकती है? अत: सेवा करनेके लिये भी वस्तुओंकी चाह न करनेसे क्या तात्पर्य है?

समाधान—स्थूल वस्तुओंसे सेवा करना तो बहुत

स्थूल बात है। वास्तवमें सेवा भाव है, कर्म नहीं। कर्मसे बन्धन और सेवासे मुक्ति होती है। सेवाका भाव होनेसे अपने पास जो वस्तुएँ हैं, वे स्वतः सेवामें लगती हैं। भाव होनेसे अपने पास जितनी वस्तुएँ हैं, उन्हींसे पूर्ण सेवा हो जाती है; इसलिये और वस्तुओंको चाहनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

वास्तविक सेवा वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि न रहनेसे ही हो सकती है। स्थूल वस्तुओंसे भी वही सेवा कर सकता है, जिसकी वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि नहीं है। वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि रखते हुए सेवा करनेसे सेवाका अभिमान आ जाता है। जबतक अन्तःकरणमें वस्तुओंका महत्त्व रहता है, तबतक सेवकमें भोगबुद्धि रहती ही है, चाहे कोई जाने या न जाने।

वास्तवमें सेवा भावसे होती है, वस्तुओंसे नहीं। वस्तुओंसे कर्म होते हैं, सेवा नहीं। अतः वस्तुओंको दे देना ही सेवा नहीं है। वस्तुएँ तो दूकानदार भी देता है, पर साथमें लेनेका भाव रहनेसे उससे पुण्य नहीं होता। ऐसे ही प्रजा राजाको कर-रूपसे धन देती है, पर वह दान नहीं होता। किसीको जल पिलानेपर 'मैंने उसे जल पिलाया, तभी वह सुखी हुआ'—ऐसे भावका रहना दूकानदारी ही है। हम मान-बड़ाई नहीं चाहते, पर 'जल पिलानेसे पुण्य होगा' अथवा 'दान करनेसे पुण्य होगा'—ऐसा भाव रहनेपर भी फलके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अन्तःकरणमें जल, धन आदि वस्तुओंका महत्त्व अंकित हो जाता है। वस्तुओंका महत्त्व अंकित होनेपर फिर वास्तविक सेवा नहीं होती, प्रत्युत लेनेका भाव रहनेसे असत्‌के साथ सम्बन्ध बना रहता है, चाहे जानें या न जानें। इसलिये वस्तुओंको दूसरोंकी सेवामें लगाकर दान-पुण्य नहीं करना है, प्रत्युत उन वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध तोड़ना है।

हमारे द्वारा वस्तु उसीको मिल सकती है, जिसका उस वस्तुपर अधिकार है अर्थात् वास्तवमें जिसकी वह वस्तु है। उसे वस्तु देनेसे हमारा ऋण उतरता है। यदि दूसरेको किसी वस्तुकी हमसे अधिक आवश्यकता (भूख) है, तो उस वस्तुका वही अधिकारी है। दूसरा अपने अधिकार-(हक-) की ही वस्तु लेता है। हमारे अधिकारकी वस्तु दूसरा ले ही नहीं सकता।

एक बात खास ध्यान देनेकी है कि सच्चे हृदयसे दूसरोंकी सेवा करनेसे, जिसकी वह सेवा करता है, उस-(सेव्य-) के हृदयमें भी सेवाभाव जाग्रत् होता है—यह नियम है। सच्चे हृदयसे सेवा करनेवाला पुरुष स्थूलदृष्टिसे तो पदार्थोंको सेव्यकी सेवामें लगाता है, पर सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो वह सेव्यके हृदयमें सेवाभाव जाग्रत् करता है। यदि सेव्यके हृदयमें सेवाभाव जाग्रत् न हो, तो साधकको समझ लेना चाहिये कि सेवा करनेमें कोई त्रुटि (अपने लिये कुछ पाने या लेनेकी इच्छा) है। अतः साधकको इस विषयमें विशेष सावधानी रखते हुए ही दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये और अपनी त्रुटियोंको खोजकर निकाल देना चाहिये। दूसरे मुझे अच्छा कहें—ऐसा भाव सेवामें बिलकुल नहीं रखना चाहिये। ऐसा भाव आते ही उसे तुरंत मिटा देना चाहिये, क्योंकि यह भाव अभिमान बढ़ानेवाला है।

प्रत्येक साधकके लिये संसार केवल कर्तव्य-पालनका क्षेत्र है, सुखी-दुःखी होनेका क्षेत्र नहीं। संसार सेवाके लिये है। संसारमें साधकको सेवा-ही-सेवा करनी है। सेवा करनेमें सबसे पहले साधकका यह भाव होना चाहिये कि मेरे द्वारा किसीका किंचिन्मात्र भी अहित न हो। संसारमें कुछ प्राणी दुःखी रहते हैं और कुछ प्राणी सुखी रहते हैं। दुःखी प्राणीको देखकर दुःखी हो जाना और सुखी प्राणीको देखकर सुखी हो जाना भी सेवा है; क्योंकि इससे दुःखी और सुखी—दोनों व्यक्तियोंको सुखका अनुभव होता है और उन्हें बल मिलता है कि हमारा भी कोई साथी है! दूसरा दुःखी है तो उसके साथ हम भी हृदयसे दुःखी हो जायँ कि उसका दुःख कैसे मिटे? उससे प्रेमपूर्वक बात करें और सुनें। उससे कहें कि प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर घबराना नहीं चाहिये; ऐसी परिस्थिति तो भगवान् राम एवं राजा नल, हरिश्चन्द्र आदि अनेक बड़े-बड़े पुरुषोंपर भी आयी है; आजकल तो अनेक लोग तुम्हारेसे भी ज्यादा दुःखी हैं; हमारे लायक कोई काम हो तो कहना; आदि। ऐसी बातोंसे वह राजी हो जायगा। ऐसे ही सुखी व्यक्तिसे मिलकर हम भी हृदयसे सुखी हो जायँ कि बहुत अच्छा हुआ, तो वह राजी हो जायगा। इस प्रकार हम दुःखी और सुखी—दोनों व्यक्तियोंकी सेवा कर सकते हैं। दूसरेके दुःख और सुख—दोनोंमें सहमत होकर हम दूसरोंको सुख पहुँचा सकते हैं। केवल दूसरोंके हितका भाव निरन्तर रहनेकी आवश्यकता है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी और दूसरोंके सुखसे सुखी होते हैं, वे सन्त होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने संतोंके लक्षणोंमें कहा है—'**पर दुख दुख सुख सुख देखे पर**' (मानस ७। ३८। १)

यहाँ शंका होती है कि यदि हम दूसरोंके दुःखसे दुःखी होने लगें तो फिर हमारा दुःख कभी मिटेगा ही नहीं; क्योंकि संसारमें दुःखी तो मिलते ही रहेंगे! इसका समाधान यह है कि जैसे हमारे ऊपर कोई दुःख आनेसे हम उसे दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, ऐसे ही दूसरेको दुःखी देखकर अपनी शक्तिके अनुसार उसका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होनी चाहिये। उसका दुःख दूर करनेकी सच्ची भावना होनी चाहिये। अतः दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका तात्पर्य उसके दुःखको दूर करनेका भाव तथा चेष्टा करनेमें है, जिससे हमें प्रसन्नता ही होगी, दुःख नहीं। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर हमारे पास शक्ति, योग्यता, पदार्थ आदि जो कुछ भी है, वह सब स्वतः दूसरेका दुःख दूर करनेमें लग जायगा। दुःखी व्यक्तिको सुखी बना देना तो हमारे हाथकी बात नहीं है, पर उसका दुःख दूर करनेके लिये अपनी सुख-सामग्रीको उसकी सेवामें लगा देना हमारे हाथकी बात है। सुख-सामग्रीके त्यागसे तत्काल शान्तिकी प्राप्ति होती है।

सेवा करनेका अर्थ है—सुख पहुँचाना। साधकका भाव **'मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'** (किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न हो) होनेसे वह सभीको सुख पहुँचाता है अर्थात् सभीकी सेवा करता है। साधक भले ही सबको सुखी न कर सके, पर वह ऐसा भाव तो बना ही सकता है। भाव बनानेमें सब स्वतन्त्र हैं, कोई पराधीन नहीं। इसलिये सेवा-करनेमें धनादि पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत सेवा-भावकी ही आवश्यकता है। क्रियाएँ और पदार्थ चाहे जितने हों, सीमित ही होते हैं। सीमित क्रियाओं और पदार्थोंसे सेवा भी सीमित ही होती है; फिर सीमित सेवासे असीम तत्त्व-(परमात्मा-) की प्राप्ति कैसे हो सकती है? परन्तु भाव असीम होता है। असीमभावसे सेवा भी असीम होती है और असीम सेवासे असीम तत्त्वकी प्राप्ति होती है। इसलिये सेवा-भाववाले व्यक्तिकी क्रियाएँ और पदार्थ कम होनेपर भी उसकी सेवा कम नहीं समझनी चाहिये; क्योंकि उसका भाव असीम होता है।

यद्यपि साधकके कर्तव्य-पालनका क्षेत्र सीमित ही होता है, तथापि उसमें जिन-जिनसे उसका व्यवहार होता है, उनमें वह सुखीको देखकर सुखी एवं दुःखीको देखकर दुःखी होता है। पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको जो अपना नहीं मानता, वही दूसरोंके सुखमें सुखी एवं दुःखमें दुःखी हो सकता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि अपने और अपने लिये हैं ही नहीं—यह वास्तविकता है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, योग्यता, सामर्थ्य आदि कुछ भी व्यक्तिगत नहीं है। इन पदार्थोंमें भूलसे माने हुए अपनेपनका त्याग प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, चाहे वह दरिद्र-से-दरिद्र हो अथवा धनी-से-धनी, पढ़ा-लिखा हो अथवा अनपढ़। इस त्यागमें सब-के-सब स्वाधीन तथा समर्थ हैं।

सच्चे सेवककी वृत्ति नाशवान् वस्तुओंपर जाती ही नहीं; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें वस्तुओंका महत्त्व नहीं होता। अन्तःकरणमें वस्तुओंका महत्त्व होनेपर ही वस्तुएँ व्यक्तिगत (अपनी) प्रतीत होती हैं। साधकको चाहिये कि वह पहलेसे ही ऐसा मान ले कि वस्तुएँ मेरी नहीं हैं और मेरे लिये भी नहीं हैं। वस्तुओंको अपनी और अपने लिये माननेसे भोग ही होता है, सेवा नहीं। इस प्रकार वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर सेव्यकी ही मानते हुए सेवामें लगा देनेसे राग-द्वेष सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं।

'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'—पारमार्थिक मार्गमें राग-द्वेष ही साधककी साधन-सम्पत्तिको लूटनेवाले मुख्य शत्रु हैं। परन्तु इस ओर प्रायः साधक ध्यान नहीं देता। यही कारण है कि साधन करनेपर भी साधककी जितनी आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिये, उतनी होती नहीं। प्रायः साधकोंकी यह शिकायत रहती है कि मन नहीं लगता; पर वास्तवमें मनका न लगना उतना बाधक नहीं है, जितने बाधक राग-द्वेष हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मनकी एकाग्रताको महत्त्व न दे और जहाँ-जहाँ राग-द्वेष दिखायी दें वहाँ-वहाँसे उनको तत्काल हटा दे। राग-द्वेष हटानेपर मन लगना भी सुगम हो जायगा।

स्वाभाविक कर्मोंका त्याग करना तो हाथकी बात नहीं है, पर उन कर्मोंको राग-द्वेषपूर्वक करना या न करना बिलकुल हाथकी बात है। साधक जो कर सकता है, वही करनेके लिये भगवान् आज्ञा देते हैं कि राग-द्वेष-युक्त स्फुरणा उत्पन्न होनेपर भी उसके अनुसार कर्म मत करो; क्योंकि वे दोनों ही पारमार्थिक मार्गके लुटेरे हैं। ऐसा करनेमें साधक स्वतन्त्र है। वास्तवमें राग-द्वेष स्वतः नष्ट हो रहे हैं, पर साधक उन राग-द्वेषको अपनेमें मानकर उन्हें सत्ता दे देता है और उसके अनुसार कर्म करने लगता है। इसी कारण वे दूर नहीं होते। यदि साधक राग-द्वेषको अपनेमें न मानकर उसके अनुसार कर्म न करे, तो वे स्वतः नष्ट हो जायँगे।

परिशिष्ट भाव—सुख-दु:खका कारण दूसरेको माननेसे ही राग-द्वेष होते हैं अर्थात् जिसको सुख देनेवाला मानते हैं, उसमें राग हो जाता है और जिसको दु:ख देनेवाला मानते हैं, उसमें द्वेष हो जाता है। अत: राग-द्वेष अपनी भूलसे पैदा होते हैं, इसमें दूसरा कोई कारण नहीं है। राग-द्वेष होनेके कारण ही संसार भगवत्स्वरूप नहीं दीखता, प्रत्युत जड़ और नाशवान् दीखता है। अगर राग-द्वेष न हों तो जड़ता है ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ चिन्मय परमात्मा ही हैं—**'वासुदेव: सर्वम्'** (गीता ७। १९)।

अगर मन-बुद्धिमें राग-द्वेषादि कोई दोष पैदा हो जाय तो उसके वशमें नहीं होना चाहिये अर्थात् उसके अनुसार कोई निषिद्ध क्रिया नहीं करनी चाहिये। उसके वशीभूत होकर क्रिया करनेसे वह दोष दृढ़ हो जायगा। परन्तु उसके वशीभूत होकर क्रिया न करनेसे एक उत्साह पैदा होगा। जैसे, किसीने हमारेसे कड़वी बात कह दी, पर हमें क्रोध नहीं आया तो हमारे भीतर एक उत्साह, प्रसन्नता होगी कि आज तो हम बच गये। परन्तु इसमें अपना बल न मानकर भगवान्‌की कृपा माननी चाहिये कि उनकी कृपासे ही हम बच गये, नहीं तो इसके वशीभूत हो जाते! इस तरह साधकको कभी भी कोई दोष दीखे तो वह उसके वशीभूत न हो और उसको अपनेमें भी न माने। अगर राग-द्वेष अपनेमें होते तो जबतक अपनी सत्ता रहती तबतक राग-द्वेष भी रहते। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर राग-द्वेष निरन्तर नहीं रहते, प्रत्युत आते-जाते हैं। सत्तारूप स्वयंमें राग-द्वेष आ ही नहीं सकते। कारण कि हमारा (स्वयंका) विभाग अलग है और राग-द्वेषका विभाग अलग है। जिसको राग-द्वेषके आने-जानेका ज्ञान होता है, वह राग-द्वेषसे अलग होता है। अत: राग-द्वेष हमारेसे भी अलग हैं और जिनमें ये प्रतीत होते हैं, उन मन-बुद्धि आदिसे भी अलग हैं—**'मनोगतान्'** (गीता २।५५)।

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' पदोंका तात्पर्य है कि अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें राग न करे, प्रत्युत उनका सदुपयोग करे अर्थात् अनुकूलतामें दूसरोंकी सेवा करे और प्रतिकूलतामें अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करे। **'तयोर्न वशमागच्छेत्'** पदोंका तात्पर्य है कि अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सुखी-दु:खी न हो। सुखी-दु:खी होना फलासक्त होना है और फलासक्त मनुष्य बँध जाता है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)।

सम्बन्ध—राग-द्वेषके वशमें न होकर क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:॥ ३५॥

स्वनुष्ठितात्	=अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए	**स्वधर्म:**	=अपना धर्म	**श्रेय:**	=कल्याणकारक है (और)
परधर्मात्	=दूसरेके धर्मसे	**श्रेयान्**	=श्रेष्ठ है।	**परधर्म:**	=दूसरेका धर्म
विगुण:	=गुणोंकी कमीवाला	**स्वधर्मे**	=अपने धर्ममें (तो)	**भयावह:**	=भयको देनेवाला है।
		निधनम्	=मरना (भी)		

*व्याख्या—***'श्रेयान्* स्वधर्मो विगुण: परधर्मात् स्वनुष्ठितात्'—**अन्य वर्ण, आश्रम आदिका धर्म (कर्तव्य) बाहरसे देखनेमें गुणसम्पन्न हो, उसके पालनमें भी सुगमता हो, पालन करनेमें मन भी लगता हो, धन-वैभव, सुख-सुविधा, मान-बड़ाई आदि भी मिलती हो और जीवनभर सुख-आरामसे भी रह सकते हों, तो भी उस परधर्मका पालन अपने लिये विहित न होनेसे परिणाममें भय-(दु:ख-) को देनेवाला है। इसके विपरीत अपने वर्ण, आश्रम आदिका धर्म बाहरसे देखनेमें गुणोंकी कमीवाला हो, उसके पालनमें भी कठिनाई हो, पालन करनेमें मन भी न लगता हो, धन-वैभव, सुख-सुविधा, मान-बड़ाई आदि भी न मिलती हो और उसका पालन करनेमें जीवनभर कष्ट भी सहना पड़ता हो, तो भी उस स्वधर्मका निष्कामभावसे पालन करना परिणाममें कल्याण करनेवाला है। इसलिये मनुष्यको किसी भी स्थितिमें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत निष्काम, निर्मम और अनासक्त होकर स्वधर्मका ही पालन करना चाहिये।

मनुष्यके लिये स्वधर्मका पालन स्वाभाविक है, सहज

---

* अर्जुनके मूल प्रश्नमें आया 'ज्यायसी' (३। १) और यहाँ आया 'श्रेयान्'—दोनों शब्द एक ही हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि भगवान्ने अर्जुनके प्रश्नका उत्तर मुख्यरूपसे इसी श्लोकमें दिया है।

है। मनुष्यका 'जन्म' कर्मोंके अनुसार होता है और जन्मके अनुसार भगवान्‌ने 'कर्म' नियत किये हैं, (गीता—अठारहवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)। अत: अपने-अपने नियत कर्मोंका पालन करनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है अर्थात् उसका कल्याण हो जाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका पैंतालीसवाँ श्लोक)। अत: दोषयुक्त दीखनेपर भी नियत कर्म अर्थात् स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक)।

अर्जुन युद्ध करनेकी अपेक्षा भिक्षाका अन्न खाकर जीवननिर्वाह करनेको श्रेष्ठ समझते हैं (गीता—दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। परंतु यहाँ भगवान् अर्जुनको मानो यह समझाते हैं कि भिक्षाके अन्नसे जीवननिर्वाह करना भिक्षुकके लिये स्वधर्म होते हुए भी तेरे लिये परधर्म है; क्योंकि तू गृहस्थ क्षत्रिय है, भिक्षुक नहीं। पहले अध्यायमें भी जब अर्जुनने कहा कि युद्ध करनेसे पाप ही लगेगा—'**पापमेवाश्रयेत्**' (१। ३६), तब भी भगवान्‌ने कहा कि धर्ममय युद्ध न करनेसे तू स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा (दूसरे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)। फिर भगवान्‌ने बताया कि जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दु:खको समान समझकर युद्ध करनेसे अर्थात् राग-द्वेषसे रहित होकर अपने कर्तव्य-(स्वधर्म-) का पालन करनेसे पाप नहीं लगता। (दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। आगे अठारहवें अध्यायमें भी भगवान्‌ने यही बात कही है कि स्वभावनियत स्वधर्मरूप कर्तव्यको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता (अठारहवें अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि स्वधर्मके पालनमें राग-द्वेष रहनेसे ही पाप लगता है, अन्यथा नहीं। राग-द्वेषसे रहित होकर स्वधर्मका भलीभाँति आचरण करनेसे 'समता'-(योग-) का अनुभव होता है और समताका अनुभव होनेपर दु:खोंका नाश हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान् बार-बार अर्जुनको राग-द्वेषसे रहित होकर युद्धरूप स्वधर्मका पालन करनेपर जोर देते हैं।

भगवान् अर्जुनको मानो यह समझाते हैं कि क्षत्रिय-कुलमें जन्म होनेके कारण क्षात्रधर्मके नाते युद्ध करना तुम्हारा स्वधर्म (कर्तव्य) है; अत: युद्धमें जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दु:खको समान देखना है; और युद्धरूप क्रियाका सम्बन्ध अपने साथ नहीं है—ऐसा समझकर केवल कर्मोंकी आसक्ति मिटानेके लिये कर्म करना है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका नि:स्वार्थभावसे पालन करना ही 'स्वधर्म' है। आस्तिकजन जिसे 'धर्म' कहते हैं, उसीका नाम कर्तव्य' है। स्वधर्मका पालन करना अथवा अपने कर्तव्यका पालन करना एक ही बात है।

कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसको सुगमतापूर्वक कर सकते हैं, जो अवश्य करनेयोग्य है और जिसको करनेपर प्राप्तव्यकी प्राप्ति अवश्य होती है। धर्मका पालन करना सुगम होता है; क्योंकि वह कर्तव्य होता है। यह नियम है कि केवल अपने धर्मका ठीक-ठीक पालन करनेसे मनुष्यको वैराग्य हो जाता है—'**धर्म तें बिरति**......' (मानस ३। १६। १)। केवल कर्तव्यमात्र समझकर धर्मका पालन करनेसे कर्मोंका प्रवाह प्रकृतिमें चला जाता है और इस तरह अपने साथ कर्मोंका सम्बन्ध नहीं रहता।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार सभी मनुष्योंका अपना-अपना कर्तव्य (स्वधर्म) कल्याणप्रद है। परन्तु दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका कर्तव्य देखनेसे अपना कर्तव्य अपेक्षाकृत कम गुणोंवाला दीखता है; जैसे—ब्राह्मणके कर्तव्य-(शम, दम, तप, क्षमा आदि-) की अपेक्षा क्षत्रियके कर्तव्य-(युद्ध करना आदि-) में अहिंसादि गुणोंकी कमी दीखती है। इसीलिये यहाँ '**विगुण:**' पद देनेका भाव यह है कि दूसरोंके कर्तव्यसे अपने कर्तव्यमें गुणोंकी कमी दीखनेपर भी अपना कर्तव्य ही कल्याण करनेवाला है। अत: किसी भी अवस्थामें अपने कर्तव्यका त्याग नहीं करना चाहिये।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार बाहरसे तो कर्म अलग-अलग (घोर या सौम्य) प्रतीत होते हैं, पर परमात्मप्राप्तिरूप उद्‌देश्य एक ही होता है। परमात्मप्राप्तिका उद्‌देश्य न रहनेसे तथा अन्त:करणमें प्राकृत पदार्थोंका महत्त्व रहनेसे ही कर्म घोर या सौम्य प्रतीत होते हैं।

'**स्वधर्मे निधनं श्रेय:**'—स्वधर्म-पालनमें यदि सदा सुख-आराम, धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि ही मिलते तो वर्तमानमें धर्मात्माओंकी टोलियाँ देखनेमें आतीं। परन्तु स्वधर्मका पालन सुख अथवा दु:खको देखकर नहीं किया जाता, प्रत्युत भगवान् अथवा शास्त्रकी आज्ञाको देखकर निष्कामभावसे किया जाता है।

इसलिये स्वधर्म अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि कोई कष्ट आ जाय तो वह कष्ट भी उन्नति करनेवाला होता है। वास्तवमें वह कष्ट नहीं, अपितु तप होता है। उस कष्टसे तपकी अपेक्षा भी बहुत जल्दी उन्नति होती है। कारण कि तप अपने लिये किया जाता है और कर्तव्य दूसरोंके लिये। जानकर किये गये तपसे उतना लाभ नहीं होता, जितना लाभ स्वतः आये हुए कष्टरूप तपसे होता है। जिन्होंने स्वधर्म-पालनमें कष्ट सहन किया और जो स्वधर्मका पालन करते हुए मर गये वे धर्मात्मा पुरुष अमर हो गये। लौकिक दृष्टिसे भी जो कष्ट आनेपर भी अपने धर्म-(कर्तव्य-) पर डटा रहता है, उसकी बहुत प्रशंसा और महिमा होती है। जैसे, देशको स्वतन्त्र बनानेके लिये जिन पुरुषोंने कष्ट सहे, बार-बार जेल गये और फाँसीपर लटकाये गये, उनकी आज भी बहुत प्रशंसा और महिमा होती है। इसके विपरीत बुरे कर्म करके जेल जानेवालोंकी सब जगह निन्दा होती है। तात्पर्य यह निकला कि निष्काम-भावपूर्वक अपने धर्मका पालन करते हुए कष्ट आ जाय अथवा मृत्युतक भी हो जाय, तो भी उससे लोकमें प्रशंसा और परलोकमें कल्याण ही होता है।

स्वधर्मका पालन करनेवाले मनुष्यकी दृष्टि धर्मपर रहती है। धर्मपर दृष्टि रहनेसे उसका धर्मके साथ सम्बन्ध रहता है। अतः धर्म-पालन करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाय, तो उसका उद्धार हो जाता है।

शंका—स्वधर्मका पालन करते हुए मरनेसे कल्याण ही होता है, इसे कैसे मानें?

समाधान—गीता साक्षात् भगवान्‌की वाणी है; अतः इसमें शंकाकी सम्भावना ही नहीं है। दूसरे, यह चर्म-चक्षुओंका प्रत्यक्ष विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका विषय है। फिर भी इस विषयमें कुछ बातें बतायी जाती हैं।

१—जिस विषयका हमें पता नहीं है, उसका पता शास्त्रसे ही लगता है[1]। शास्त्रमें आया है कि जो धर्मकी रक्षा करता है उसकी रक्षा (कल्याण) धर्म करता है—'**धर्मो रक्षति रक्षितः**' (मनुस्मृति ८। १५)। अतः जो धर्मका पालन करता है, उसके कल्याणका भार धर्मपर और धर्मके उपदेष्टा भगवान्, वेदों, शास्त्रों, ऋषियों, मुनियों आदिपर होता है तथा उन्हींकी शक्तिसे उसका कल्याण होता है। जैसे हमारे शास्त्रोंमें आया है कि पातिव्रत-धर्मका पालन करनेसे स्त्रीका कल्याण हो जाता है, तो वहाँ पातिव्रत- धर्मकी आज्ञा देनेवाले भगवान्, वेद, शास्त्र आदिकी शक्तिसे ही कल्याण होता है, पतिकी शक्तिसे नहीं। ऐसे ही धर्मका पालन करनेके लिये भगवान्, वेदों, शास्त्रों, ऋषि-मुनियों और संत-महात्माओंकी आज्ञा है, इसलिये धर्म-पालन करते हुए मरनेपर उनकी शक्तिसे कल्याण हो जाता है, इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है।

२—पुराणों और इतिहासोंसे भी सिद्ध होता है कि अपने धर्मका पालन करनेवालेका कल्याण होता है। जैसे, राजा हरिश्चन्द्र अनेक कष्ट, निन्दा, अपमान आदिके आनेपर भी अपने 'सत्य'-धर्मसे विचलित नहीं हुए; अतः इसके प्रभावसे वे समस्त प्रजाको साथ लेकर परमधाम गये[2] और आज भी उनकी बहुत प्रशंसा और महिमा है।

३—वर्तमान समयमें पुनर्जन्म-सम्बन्धी अनेक सत्य घटनाएँ देखने, सुनने और पढ़नेमें आती हैं, जिनसे मृत्युके बाद होनेवाली सद्गति-दुर्गतिका पता लगता है[3]।

४—निःस्वार्थभावसे अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेपर आस्तिककी तो बात ही क्या, परलोकको न माननेवाले नास्तिकके भी चित्तमें सात्त्विक प्रसन्नता आ जाती है। यह प्रसन्नता कल्याणका द्योतक है; क्योंकि कल्याणका वास्तविक स्वरूप 'परमशान्ति' है। अतः अपने अनुभवसे भी सिद्ध होता है कि अकर्तव्यका सर्वथा त्याग करके कर्तव्यका पालन करनेसे कल्याण होता है।

मार्मिक बात

स्वयं परमात्माका अंश होनेसे वास्तवमें स्वधर्म है—अपना कल्याण करना, अपनेको भगवान्‌का मानना और भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न मानना, अपनेको जिज्ञासु मानना, अपनेको सेवक मानना। कारण कि ये सभी सही धर्म हैं, खास स्वयंके धर्म हैं, मन-बुद्धिके धर्म नहीं

१-अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

'जो अनेक संदेहोंको दूर करनेवाला और परोक्ष (अप्रत्यक्ष) विषयको दिखानेवाला है, वह शास्त्र सभीका नेत्र है। अतः जिसे शास्त्रका ज्ञान नहीं, वह अंधा ही है।'

२-द्रष्टव्य—मार्कण्डेयपुराण, देवीभागवत आदि।

३-द्रष्टव्य—'कल्याण' मासिक पत्रके तैंतालीसवें वर्ष (१९६८)-का विशेषांक 'परलोक और पुनर्जन्मांक'।

हैं। बाकी वर्ण, आश्रम, शरीर आदिको लेकर जितने भी धर्म हैं, वे अपने कर्तव्य-पालनके लिये स्वधर्म होते हुए भी परधर्म ही हैं। कारण कि वे सभी धर्म माने हुए हैं और स्वयंके नहीं हैं। उन सभी धर्मोंमें दूसरोंके सहारेकी आवश्यकता होती है अर्थात् उनमें परतन्त्रता रहती है; परन्तु जो अपना असली धर्म है, उसमें किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती अर्थात् उसमें स्वतन्त्रता रहती है। इसलिये प्रेमी होता है तो स्वयं होता है, जिज्ञासु होता है तो स्वयं होता है और सेवक होता है तो स्वयं होता है। अतः प्रेमी प्रेम होकर प्रेमास्पदके साथ एक हो जाता है, जिज्ञासु जिज्ञासा होकर ज्ञातव्य-तत्त्वके साथ एक हो जाता है और सेवक सेवा होकर सेव्यके साथ एक हो जाता है। ऐसे ही साधक-मात्र साधनासे एक होकर साध्यस्वरूप हो जाता है।

परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले साधकको धन, मान, बड़ाई, आदर, आराम आदि पानेकी इच्छा नहीं होती। इसलिये धन-मानादिके न मिलनेपर उसे कोई चिन्ता नहीं होती और यदि प्रारब्धवश ये मिल जायँ तो उसे कोई प्रसन्नता नहीं होती। कारण कि उसका ध्येय केवल परमात्माको प्राप्त करना ही होता है, धन-मानादिको प्राप्त करना नहीं। इसलिये कर्तव्यरूपसे प्राप्त लौकिक कार्य भी उसके द्वारा सुचारु-रूपसे और पवित्रतापूर्वक होते हैं। परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे उसके सभी कर्म परमात्माके लिये ही होते हैं। जैसे, धन-प्राप्तिका ध्येय होनेपर व्यापारी आरामका त्याग करता है और कष्ट सहता है और जैसे डॉक्टरद्वारा फोड़ेपर चीरा लगाते समय 'इसका परिणाम अच्छा होगा' इस तरफ दृष्टि रहनेसे रोगीका अन्तःकरण प्रसन्न रहता है, ऐसे ही परमात्म-प्राप्तिका लक्ष्य रहनेसे संसारमें पराजय, हानि, कष्ट आदि प्राप्त होनेपर भी साधकके अन्तःकरणमें स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है। अनुकूल-प्रतिकूल आदि मात्र परिस्थितियाँ उसके लिये साधन-सामग्री होती हैं।

जब साधक अपना कल्याण करनेका ही दृढ़ निश्चय करके स्वधर्म-(अपने स्वाभाविक कर्म-)के पालनमें तत्परतापूर्वक लग जाता है, तब कोई कष्ट, दुःख, कठिनाई आदि आनेपर भी वह स्वधर्मसे विचलित नहीं होता। इतना ही नहीं, वह कष्ट, दुःख आदि उसके लिये तपस्याके रूपमें तथा प्रसन्नताको देनेवाला होता है।

शरीरको 'मैं' और 'मेरा' माननेसे ही संसारमें राग-द्वेष होते हैं। राग-द्वेषके रहनेपर मनुष्यको स्वधर्म-परधर्मका ज्ञान नहीं होता। अगर शरीर 'मैं' (स्वरूप) होता तो 'मैं' के रहते हुए शरीर भी रहता और शरीरके न रहनेपर 'मैं' भी न रहता। अगर शरीर 'मेरा' होता तो इसे पानेके बाद और कुछ पानेकी इच्छा न रहती। अगर इच्छा रहती है तो सिद्ध हुआ कि वास्तवमें 'मेरी' (अपनी) वस्तु अभी नहीं मिली और मिली हुई वस्तु (शरीरादि) 'मेरी' नहीं है। शरीरको साथ लाये नहीं, साथ ले जा सकते नहीं, उसमें इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते नहीं, फिर वह 'मेरा' कैसे? इस प्रकार 'शरीर मैं नहीं और मेरा नहीं' इसका ज्ञान (विवेक) सभी साधकोंमें रहता है। परन्तु इस ज्ञानको महत्त्व न देनेसे उनके राग-द्वेष नहीं मिटते। अगर शरीरमें कभी मैं-पन और मेरा-पन दीख भी जाय, तो भी साधकको उसे महत्त्व न देकर अपने विवेकको ही महत्त्व देना चाहिये अर्थात् 'शरीर मैं नहीं और मेरा नहीं' इसी बातपर दृढ़ रहना चाहिये। अपने विवेकको महत्त्व देनेसे वास्तविक तत्त्वका बोध हो जाता है। बोध होनेपर राग-द्वेष नहीं रहते । राग-द्वेषके न रहनेपर अन्तःकरणमें स्वधर्म-परधर्मका ज्ञान स्वतः प्रकट होता है और उसके अनुसार स्वतः चेष्टा होती है।

'**परधर्मो भयावहः**'—यद्यपि परधर्मका पालन वर्तमानमें सुगम दीखता है, तथापि परिणाममें वह सिद्धान्तसे भयावह है। यदि मनुष्य 'स्वार्थभाव' का त्याग करके परहितके लिये स्वधर्मका पालन करे, तो उसके लिये कहीं कोई भय नहीं है।

शंका—अठारहवें अध्यायके बयालीसवें, तैंतालीसवें और चौवालीसवें श्लोकमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके भगवान्‌ने सैंतालीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें भी यही बात (**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्**) कही है। अतः जब यहाँ (प्रस्तुत श्लोकमें) दूसरेके स्वाभाविक कर्मको भयावह कहा गया है, तब अठारहवें अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें कहे ब्राह्मणके 'स्वाभाविक कर्म' भी दूसरों-(क्षत्रियादि-) के लिये भयावह होने चाहिये, जब कि शास्त्रोंमें सभी मनुष्योंको उनका पालन करनेकी आज्ञा दी गयी है।

समाधान—मनका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन आदि तो 'सामान्य' धर्म है (गीता—तेरहवें अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवेंतक और सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक), जिनका पालन सभीको करना चाहिये; क्योंकि ये सभीके स्वधर्म हैं। ये सामान्य धर्म ब्राह्मणके लिये 'स्वाभाविक कर्म' इसलिये हैं कि इनका पालन करनेमें उन्हें परिश्रम नहीं होता; परन्तु दूसरे वर्णोंको इनका पालन करनेमें

थोड़ा परिश्रम हो सकता है। स्वाभाविक कर्म और सामान्य धर्म—दोनों ही 'स्वधर्म' के अन्तर्गत आते हैं। सामान्य धर्मके सिवाय अपने स्वाभाविक कर्ममें पाप दीखते हुए भी वास्तवमें पाप नहीं होता; जैसे—केवल अपना कर्तव्य समझकर (स्वार्थ, द्वेष आदिके बिना) शूरवीरतापूर्वक युद्ध करना क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म होनेसे इसमें पाप दीखते हुए भी वास्तवमें पाप नहीं होता—'**स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**' (गीता १८। ४७)।

सामान्य धर्मके सिवाय दूसरेका स्वाभाविक कर्म (परधर्म) भयावह है; क्योंकि उसका आचरण शास्त्र-निषिद्ध और दूसरेकी जीविकाको छीननेवाला है। दूसरेका धर्म भयावह इसलिये है कि उसका पालन करनेसे पाप लगता है और वह स्थान-विशेष तथा योनि-विशेष नरकरूप भयको देनेवाला होता है। इसलिये भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि भिक्षाके अन्नसे जीवन-निर्वाह करना दूसरोंकी जीविकाका हरण करनेवाला तथा क्षत्रियके लिये निषिद्ध होनेके कारण तेरे लिये श्रेयस्कर नहीं है, प्रत्युत तेरे लिये युद्धरूपसे स्वतः प्राप्त स्वाभाविक कर्मका पालन ही श्रेयस्कर है।

स्वधर्म और परधर्म-सम्बन्धी मार्मिक बात

परमात्मा और उनका अंश (जीवात्मा) 'स्वयं' है तथा प्रकृति और उसका कार्य (शरीर और संसार) 'अन्य' है। स्वयंका धर्म 'स्वधर्म' और अन्यका धर्म 'परधर्म' कहलाता है। अतः सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो निर्विकारता, निर्दोषता, अविनाशिता, नित्यता, निष्कामता, निर्ममता आदि जितने स्वयंके धर्म हैं वे सब 'स्वधर्म' हैं। उत्पन्न होना, उत्पन्न होकर रहना, बदलना, बढ़ना, क्षीण होना तथा नष्ट होना* एवं भोग और संग्रहकी इच्छा, मान-बड़ाईकी इच्छा आदि जितने शरीरके, संसारके धर्म हैं, वे सब 'परधर्म' हैं—'**संसारधर्मैरविमुह्यमानः**' (श्रीमद्भा० ११। २। ४९) स्वयंमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिये उसका नाश नहीं होता; परन्तु शरीरमें निरन्तर परिवर्तन होता है, इसलिये उसका नाश होता है। इस दृष्टिसे स्वधर्म अविनाशी और परधर्म नाशवान् है।

त्याग (कर्मयोग), बोध (ज्ञानयोग) और प्रेम (भक्ति-योग)—ये तीनों ही स्वतःसिद्ध होनेसे स्वधर्म हैं। स्वधर्ममें अभ्यासकी जरूरत नहीं है; क्योंकि अभ्यास शरीरके सम्बन्धसे होता है और शरीरके सम्बन्धसे होनेवाला सब परधर्म है।

योगी होना स्वधर्म है और भोगी होना परधर्म है। निर्लिप्त रहना स्वधर्म है और लिप्त होना परधर्म है। सेवा करना स्वधर्म है और कुछ भी चाहना परधर्म है। प्रेमी होना स्वधर्म है और रागी होना परधर्म है। निष्काम, निर्मम और अनासक्त होना स्वधर्म है एवं कामना, ममता और आसक्ति करना परधर्म है। तात्पर्य है कि प्रकृतिके सम्बन्धके बिना (स्वयंमें) होनेवाला सब कुछ 'स्वधर्म' है और प्रकृतिके सम्बन्धसे होनेवाला सब कुछ 'परधर्म' है। स्वधर्म चिन्मय-धर्म और परधर्म जडधर्म है।

परमात्माका अंश (शरीरी) 'स्व' है और प्रकृतिका अंश (शरीर) 'पर' है। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—एक तो 'स्वयं' और दूसरा 'स्वकीय' अर्थात् परमात्मा। इस दृष्टिसे अपने स्वरूपबोधकी इच्छा तथा स्वकीय परमात्माकी इच्छा—दोनों ही 'स्वधर्म' हैं।

पुरुष-(चेतन-)का धर्म है—स्वतःसिद्ध स्वाभाविक स्थिति और प्रकृति-(जड-) का धर्म है—स्वतःसिद्ध स्वाभाविक परिवर्तनशीलता। पुरुषका धर्म 'स्वधर्म' और प्रकृतिका धर्म 'परधर्म' है।

मनुष्यमें दो प्रकारकी इच्छाएँ रहती हैं—'सांसारिक' अर्थात् भोग एवं संग्रहकी इच्छा और 'पारमार्थिक' अर्थात् अपने कल्याणकी इच्छा। इसमें भोग और संग्रहकी इच्छा 'परधर्म' अर्थात् शरीरका धर्म है; क्योंकि असत् शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही भोग और संग्रहकी इच्छा होती है। अपने कल्याणकी इच्छा 'स्वधर्म' है; क्योंकि परमात्माका ही अंश होनेसे स्वयंकी इच्छा परमात्माकी ही है, संसारकी नहीं।

स्वधर्मका पालन करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि अपना कल्याण करनेमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत इनसे विमुख होनेकी आवश्यकता है। परंतु परधर्मका पालन करनेमें मनुष्य परतन्त्र है; क्योंकि इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिकी आवश्यकता है। शरीरादिकी सहायताके बिना परधर्मका पालन हो ही नहीं सकता।

स्वयं परमात्माका अंश है और शरीर संसारका अंश है। जब मनुष्य परमात्माको अपना मान लेता है, तब यह उसके

* '**जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति ……**' (**निरुक्त १। १। २**)।

लिये 'स्वधर्म' हो जाता है, और जब शरीर-संसारको अपना मान लेता है, तब यह उसके लिये 'परधर्म' हो जाता है, जो कि शरीर-धर्म है। जब मनुष्य शरीरसे अपना सम्बन्ध न मानकर परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करता है, तब वह साधन उसका 'स्वधर्म' होता है। नित्यप्राप्त परमात्माका अथवा अपने स्वरूपका अनुभव करानेवाले सब साधन 'स्वधर्म' हैं और संसारकी ओर ले जानेवाले सब कर्म 'परधर्म' हैं। इस दृष्टिसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्ग मनुष्यमात्रके 'स्वधर्म' हैं। इसके विपरीत शरीरसे अपना सम्बन्ध मानकर भोग और संग्रहमें लगना मनुष्यमात्रका 'परधर्म' है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे किये जानेवाले तीर्थ, व्रत, दान, तप, चिन्तन, ध्यान, समाधि आदि समस्त शुभ-कर्म सकामभावसे अर्थात् अपने लिये करनेपर 'परधर्म' हो जाते हैं और निष्कामभावसे अर्थात् दूसरोंके लिये करनेपर 'स्वधर्म' हो जाते हैं। कारण कि स्वरूप निष्काम है और सकामभाव प्रकृतिके सम्बन्धसे आता है। इसलिये कामना होनेसे परधर्म होता है। स्वधर्म मुक्त करनेवाला और परधर्म बाँधनेवाला होता है।

मनुष्यका खास काम है—परधर्मसे विमुख होना और स्वधर्मके सम्मुख होना। ऐसा केवल मनुष्य ही कर सकता है। स्वधर्मकी सिद्धिके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। परधर्म तो अन्य योनियोंमें तथा भोगप्रधान स्वर्गादि लोकोंमें भी है। स्वधर्ममें मनुष्यमात्र सबल, पात्र और स्वाधीन है तथा परधर्ममें मनुष्यमात्र निर्बल, अपात्र और पराधीन है। प्रकृतिजन्य वस्तुकी कामनासे अभावका दुःख होता है और वस्तुके मिलनेपर उस वस्तुकी पराधीनता होती है, जो कि 'परधर्म' है। परन्तु प्रकृतिजन्य वस्तुओंकी कामनाओंका नाश होनेपर अभाव और पराधीनता सदाके लिये मिट जाती है, जो कि 'स्वधर्म' है। इस स्वधर्ममें स्थित रहते हुए कितना ही कष्ट आ जाय, यहाँतक कि शरीर भी छूट जाय, तो भी वह कल्याण करनेवाला है। परन्तु परधर्मके सम्बन्धमें सुख-सुविधा होनेपर भी वह भयावह अर्थात् बारम्बार जन्म-मरणमें डालनेवाला है।

संसारमें जितने भी दुःख, शोक, चिन्ता आदि हैं, वे सब परधर्मका आश्रय लेनेसे ही हैं। परधर्मका आश्रय छोड़कर स्वधर्मका आश्रय लेनेसे सदैव, सर्वथा, सर्वदा रहनेवाले आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जो कि स्वतःसिद्ध है।

परिशिष्ट भाव—साधक जन्म और कर्मके अनुसार 'स्व' को अर्थात् अपनेको जो मानता है, उसका धर्म (कर्तव्य) उसके लिये 'स्वधर्म' है और जो उसके लिये निषिद्ध है, वह 'परधर्म' है, जैसे, साधक अपनेको किसी वर्ण और आश्रमका मानता है तो उस वर्ण और आश्रमका धर्म उसके लिये स्वधर्म है। वह अपनेको विद्यार्थी या अध्यापक मानता है तो पढ़ना या पढ़ाना उसके लिये स्वधर्म है। वह अपनेको सेवक, जिज्ञासु या भक्त मानता है तो सेवा, जिज्ञासा या भक्ति उसके लिये स्वधर्म है। जिसमें दूसरेके अहितका, अनिष्टका भाव होता है, वह चोरी, हिंसा आदि कर्म किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं, प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं*।

निष्कामभावसे दूसरेके हितके लिये कर्म करना (कर्मयोग) स्वधर्म है। स्वधर्मको ही गीतामें सहज कर्म, स्वकर्म और स्वभावज कर्म नामसे कहा गया है।

कर्तव्यके विरुद्ध कर्म करना ही अकर्तव्य है और कर्तव्यका पालन न करना भी अकर्तव्य है (गीता—दूसरे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—'स्वधर्म कल्याणकारक और परधर्म भयावह है'—ऐसा जानते हुए भी मनुष्य स्वधर्ममें प्रवृत्त क्यों नहीं होता? इसपर अर्जुन प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

---

* **प्रत्येक धर्ममें कुधर्म, अधर्म और परधर्म—ये तीनों होते हैं। दूसरेके अनिष्टका भाव, कूटनीति आदि 'धर्ममें कुधर्म' है। यज्ञमें पशुबलि देना आदि 'धर्ममें अधर्म' है। जो अपने लिये निषिद्ध है, ऐसा दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म 'धर्ममें परधर्म' है। कुधर्म, अधर्म और परधर्म—इन तीनोंसे कल्याण नहीं होता। कल्याण उस धर्मसे होता है, जिसमें अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग एवं दूसरेका वर्तमानमें और भविष्यमें हित होता हो।**

अर्जुन बोले—

वार्ष्णेय	= हे वार्ष्णेय!	**अपि**	= भी	**केन**	= किससे
अथ	= फिर	**बलात्**	= जबर्दस्ती	**प्रयुक्तः**	= प्रेरित होकर
अयम्	= यह	**नियोजितः**	= लगाये हुएकी	**पापम्**	= पापका
पूरुषः	= मनुष्य			**चरति**	= आचरण करता है?
अनिच्छन्	= न चाहता हुआ	**इव**	= तरह		

व्याख्या— **'अथ केन प्रयुक्तोऽयं .... बलादिव नियोजितः'**—यदुकुलमें 'वृष्णि' नामका एक वंश था। उसी वृष्णिवंशमें अवतार लेनेसे भगवान् श्रीकृष्णका एक नाम '**वार्ष्णेय**' है। पूर्वश्लोकमें भगवान्ने स्वधर्म-पालनकी प्रशंसा की है। धर्म '**वर्ण**' और '**कुल**'का होता है; अतः अर्जुन भी कुल-(वंश-) के नामसे भगवान्को सम्बोधित करके प्रश्न करते हैं।

विचारवान् पुरुष पाप नहीं करना चाहता; क्योंकि पापका परिणाम दुःख होता है और दुःखको कोई भी प्राणी नहीं चाहता।

यहाँ '**अनिच्छन्**' पदका तात्पर्य भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग नहीं, प्रत्युत पाप करनेकी इच्छाका त्याग है। कारण कि भोग और संग्रहकी इच्छा ही समस्त पापोंका मूल है, जिसके न रहनेपर पाप होते ही नहीं।

विचारशील मनुष्य पाप करना तो नहीं चाहता, पर भीतर सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छा रहनेसे वह करनेयोग्य कर्तव्य कर्म नहीं कर पाता और न करनेयोग्य पाप-कर्म कर बैठता है।

'**अनिच्छन्**' पदकी प्रबलताको बतानेके लिये अर्जुन '**बलादिव नियोजितः**' पदोंको कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पापवृत्तिके उत्पन्न होनेपर विचारशील पुरुष उस पापको जानता हुआ उससे सर्वथा दूर रहना चाहता है; फिर भी वह उस पापमें ऐसे लग जाता है, जैसे कोई उसको जबर्दस्ती पापमें लगा रहा हो। इससे ऐसा मालूम होता है कि पापमें लगानेवाला कोई बलवान् कारण है।

पापोंमें प्रवृत्तिका मूल कारण है—'काम' अर्थात् सांसारिक सुख-भोग और संग्रहकी कामना। परन्तु इस कारणकी ओर दृष्टि न रहनेसे मनुष्यको यह पता नहीं चलता कि पाप करानेवाला कौन है? वह यह समझता है कि मैं तो पापको जानता हुआ उससे निवृत्त होना चाहता हूँ, पर मेरेको कोई बलपूर्वक पापमें प्रवृत्त करता है; जैसे दुर्योधनने कहा है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(गर्गसंहिता, अश्वमेध० ५०। ३६)

'मैं धर्मको जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्मको भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। मेरे हृदयमें स्थित कोई देव है, जो मेरेसे जैसा करवाता है, वैसा ही मैं करता हूँ।'

दुर्योधन द्वारा कहा गया यह 'देव' वस्तुतः 'काम' (भोग और संग्रहकी इच्छा) ही है, जिससे मनुष्य विचारपूर्वक जानता हुआ भी धर्मका पालन और अधर्मका त्याग नहीं कर पाता।

'**केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति**' पदोंसे भी '**अनिच्छन्**' पदकी प्रबलता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि विचारवान् मनुष्य स्वयं पाप करना नहीं चाहता; कोई दूसरा ही उसे जबर्दस्ती पापमें प्रवृत्त करा देता है। वह दूसरा कौन है?—यह अर्जुनका प्रश्न है।

भगवान्ने अभी-अभी चौंतीसवें श्लोकमें बताया है कि राग और द्वेष (जो काम और क्रोधके ही सूक्ष्म रूप हैं) साधकके महान् शत्रु हैं अर्थात् ये दोनों पापके कारण हैं। परन्तु वह बात सामान्य रीतिसे कहनेके कारण अर्जुन उसे पकड़ नहीं सके। अतः वे प्रश्न करते हैं कि मनुष्य विचारपूर्वक पाप करना न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?

अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय यह है कि (इकतीसवेंसे लेकर पैंतीसवें श्लोकतक देखते हुए) अश्रद्धा, असूया, दुष्टचित्तता, मूढ़ता, प्रकृति-(स्वभाव-) की परवशता, राग-द्वेष, स्वधर्ममें अरुचि और परधर्ममें रुचि—इनमेंसे कौन-सा कारण है, जिससे मनुष्य विचारपूर्वक न चाहता हुआ भी पापमें प्रवृत्त होता है? इसके अलावा ईश्वर, प्रारब्ध, युग, परिस्थिति, कर्म, कुसंग, समाज, रीतिरिवाज, सरकारी कानून आदिमेंसे भी किस कारणसे मनुष्य पापमें प्रवृत्त होता है?

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

श्रीभगवान् बोले—

रजोगुणसमुद्भवः =रजोगुणसे उत्पन्न, **एषः** =यह, **कामः** =काम अर्थात् कामना (ही पापका कारण है)। **एषः** =यह (काम ही) **क्रोधः** =क्रोध (में परिणत होता) है। **महाशनः** =(यह) बहुत खानेवाला (और) **महापाप्मा** =महापापी है। **इह** =इस विषयमें (तू) **एनम्** =इसको (ही) **वैरिणम्** =वैरी **विद्धि** =जान।

व्याख्या—**'रजोगुणसमुद्भवः'**—आगे चौदहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान् कहेंगे कि तृष्णा (कामना) और आसक्तिसे रजोगुण उत्पन्न होता है और यहाँ यह कहते हैं कि रजोगुणसे काम उत्पन्न होता है। इससे यह समझना चाहिये कि रागसे काम उत्पन्न होता है और कामसे राग बढ़ता है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक पदार्थोंको सुखदायी माननेसे राग उत्पन्न होता है, जिससे अन्तःकरणमें उनका महत्त्व दृढ़ हो जाता है। फिर उन्हीं पदार्थोंका संग्रह करने और उनसे सुख लेनेकी कामना उत्पन्न होती है। पुनः कामनासे पदार्थोंमें राग बढ़ता है। यह क्रम जबतक चलता है, तबतक पाप-कर्मसे सर्वथा निवृत्ति नहीं होती।

'काम एष क्रोध एषः'—मेरी मनचाही हो—यही काम है[1]। उत्पत्ति-विनाशशील जड-पदार्थोंके संग्रहकी इच्छा, संयोगजन्य सुखकी इच्छा, सुखकी आसक्ति—ये सब कामके ही रूप हैं।

पाप-कर्म कहीं तो 'काम'के वशीभूत होकर और कहीं 'क्रोध' के वशीभूत होकर किया गया दीखता है। दोनोंसे अलग-अलग पाप होते हैं। इसलिये दोनों पद दिये। वास्तवमें काम अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना, प्रियता, आकर्षण ही समस्त पापोंका मूल है[2]। कामनामें बाधा लगनेपर काम ही क्रोधमें परिणत हो जाता है। इसलिये भगवान्ने एक कामनाको ही पापोंका मूल बतानेके लिये उपर्युक्त पदोंमें एकवचनका प्रयोग किया है।

कामनाकी पूर्ति होनेपर 'लोभ' उत्पन्न होता है[3] और कामनामें बाधा पहुँचनेपर (बाधा पहुँचानेवालेपर) 'क्रोध' उत्पन्न होता है। यदि बाधा पहुँचानेवाला अपनेसे अधिक बलवान् हो तो क्रोध उत्पन्न न होकर 'भय' उत्पन्न होता है। इसलिये गीतामें कहीं-कहीं कामना और क्रोधके साथ-साथ भयकी भी बात आयी है; जैसे—**'वीतरागभयक्रोधाः'** (४। १०) और **'विगतेच्छाभयक्रोधः'** (५। २८)।

कामना-सम्बन्धी विशेष बात

कामना सम्पूर्ण पापों, सन्तापों, दुःखों आदिकी जड़ है। कामनावाले व्यक्तिको जाग्रत्में सुख मिलना तो दूर रहा, स्वप्नमें भी कभी सुख नहीं मिलता—**'काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं'** (मानस ७। ९०। १)। जो चाहते हैं, वह न हो और जो नहीं चाहते, वह हो जाय—इसीको दुःख कहते हैं। यदि 'चाहते' और 'नहीं चाहते' को छोड़ दें, तो फिर दुःख है ही कहाँ!

नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा ही कामना कहलाती है। अविनाशी परमात्माकी इच्छा कामनाके समान प्रतीत होती हुई भी वास्तवमें 'कामना' नहीं है; क्योंकि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना कभी पूरी नहीं होती, प्रत्युत

१-'इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छा कामशब्दिता' ('यह मुझे मिल जाय, यह मुझे मिल जाय'—इस प्रकारकी इच्छा 'काम' कहलाती है)।

२-यद्यपि भगवत्प्रदत्त विवेकको महत्त्व न देना और भगवान्से विमुख होना भी पापमें हेतु है, तथापि यहाँ 'काम' को ही पापका हेतु इसलिये बताया गया है कि यह (तीसरा) अध्याय 'कर्मयोग' का है और कर्मयोगका प्रधान लक्ष्य कामनाको मिटाना ही है।

३-'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' (मानस १। १८०। १; ६। १०२। १)।

बढ़ती ही रहती है, पर परमात्माकी इच्छा (परमात्मप्राप्ति होनेपर) पूरी हो जाती है। दूसरी बात, कामना अपनेसे भिन्न वस्तुकी होती है और परमात्मा अपनेसे अभिन्न हैं। इसी प्रकार सेवा (कर्मयोग), तत्त्वज्ञान (ज्ञानयोग) और भगवत्प्रेम-(भक्तियोग-) की इच्छा भी 'कामना' नहीं है। परमात्मप्राप्तिकी इच्छा वास्तवमें जीवनकी वास्तविक आवश्यकता (भूख) है। जीवको आवश्यकता तो परमात्माकी है, पर विवेकके दब जानेपर वह नाशवान् पदार्थोंकी कामना करने लगता है।

एक शंका हो सकती है कि कामनाके बिना संसारका कार्य कैसे चलेगा? इसका समाधान यह है कि संसारका कार्य वस्तुओंसे, क्रियाओंसे चलता है, मनकी कामनासे नहीं। वस्तुओंका सम्बन्ध कर्मोंसे होता है, चाहे वे कर्म पूर्वके (प्रारब्ध) हों अथवा वर्तमानके (उद्योग)। कर्म बाहरके होते हैं और कामनाएँ भीतरकी। बाहरी कर्मोंका फल भी (वस्तु, परिस्थिति आदिके रूपमें) बाहरी होता है।

कामनाका सम्बन्ध फल-(पदार्थ, परिस्थिति आदि-) की प्राप्तिके साथ है ही नहीं। जो वस्तु कर्मके अधीन है, वह कामना करनेसे कैसे प्राप्त हो सकती है? संसारमें देखते ही हैं कि धनकी कामना होनेपर भी लोगोंकी दरिद्रता नहीं मिटती। जीवन्मुक्त महापुरुषोंको छोड़कर शेष सभी व्यक्ति जीनेकी कामना रखते हुए ही मरते हैं। कामना करें या न करें, जो फल मिलनेवाला है, वह तो मिलेगा ही। तात्पर्य यह है कि जो होनेवाला है, वह तो होकर ही रहेगा और जो नहीं होनेवाला है वह कभी नहीं होगा, चाहे उसकी कामना करें या न करें। जैसे कामना न करनेपर भी प्रतिकूल परिस्थिति आ जाती है, ऐसे ही कामना न करनेपर अनुकूल परिस्थिति भी आयेगी ही। रोगकी कामना किये बिना भी रोग आता है और कामना किये बिना भी नीरोगता रहती है। निन्दा-अपमानकी कामना न करनेपर भी निन्दा-अपमान होते हैं और कामना किये बिना भी प्रशंसा-सम्मान होते हैं। जैसे प्रतिकूल परिस्थिति कर्मोंका फल है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति भी कर्मोंका ही फल है, इसलिये वस्तु, परिस्थिति आदिका प्राप्त होना अथवा न होना कर्मोंसे सम्बन्ध रखता है, कामनासे नहीं।

कामना तात्कालिक सुखकी भी होती है और भावी सुखकी भी। भोग और संग्रहकी इच्छा तात्कालिक सुखकी कामना है और कर्मफलप्राप्तिकी इच्छा भावी सुखकी कामना है। इन दोनों ही कामनाओंमें दुःख-ही-दुःख है। कारण कि कामना केवल वर्तमानमें ही दुःख नहीं देती, प्रत्युत भावी जन्ममें कारण होनेसे भविष्यमें भी दुःख देती है। इसलिये इन दोनों ही कामनाओंका त्याग करना चाहिये।

कर्म और विकर्म (निषिद्धकर्म)—दोनों ही कामनाके कारण होते हैं। कामनाके कारण 'कर्म' होते हैं और कामनाके अधिक बढ़नेपर 'विकर्म' होते हैं। कामनाके कारण ही असत्में आसक्ति दृढ़ होती है। कामना न रहनेसे असत्से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

कामना पूरी हो जानेपर हम उसी अवस्थामें आ जाते हैं जिस अवस्थामें हम कामना उत्पन्न होनेसे पहले थे। जैसे, किसीके मनमें कामना उत्पन्न हुई कि मेरेको सौ रुपये मिल जायँ। इसके पहले उसके मनमें सौ रुपये पानेकी कामना नहीं थी; अतः अनुभवसे सिद्ध हुआ कि कामना उत्पन्न होनेवाली है। जबतक सौ रुपयोंकी कामना उत्पन्न नहीं हुई थी, तबतक 'निष्कामता' की स्थिति थी। उद्योग करनेपर यदि प्रारब्धवशात् सौ रुपये मिल जायँ तो वही 'निष्कामता'की स्थिति पुनः आ जाती है। परन्तु सांसारिक सुखासक्तिके कारण वह स्थिति ठहरती नहीं और नयी कामना उत्पन्न हो जाती है कि मेरेको हजार रुपये मिल जायँ। इस प्रकार न तो कामना पूरी होती है और न पूरी तृप्ति ही होती है। कोरे परिश्रमके सिवा कुछ हाथ नहीं लगता!

'काम' अर्थात् सांसारिक पदार्थोंकी कामनाका त्याग करना कठिन नहीं है। थोड़ा गहरा विचार करें कि वास्तवमें कामना छूटती ही नहीं अथवा टिकती ही नहीं? पता लगेगा कि वास्तवमें कामना टिकती ही नहीं! वह तो निरन्तर मिटती ही जाती है; किन्तु मनुष्य नयी-नयी कामनाएँ करके उसे बनाये रखता है। कामना उत्पन्न होती है और उत्पन्न होनेवाली वस्तुका मिटना अवश्यम्भावी है। इसलिये कामना स्वतः मिटती है। अगर मनुष्य नयी कामना न करे तो पुरानी कामना कभी पूरी होकर और कभी न पूरी होकर स्वतः मिट जाती है।

कामनाकी पूर्ति सभीके लिये और सदाके लिये नहीं है; परन्तु कामनाका त्याग सभीके लिये और सदाके लिये है। कारण कि कामना अनित्य और त्याग नित्य है। निष्काम होनेमें कठिनाई क्या है? हम निर्मम नहीं होते, यही कठिनाई है। यदि हम निर्मम हो जायँ तो निष्काम होनेकी शक्ति आ जायगी और निष्काम होनेसे असंग होनेकी शक्ति आ जायगी। जब निर्ममता, निष्कामता और असंगता आ जाती है, तब निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता

स्वतः आ जाती है।

एक मार्मिक बातपर ध्यान दें। हम कामनाओंका त्याग करना बड़ा कठिन मानते हैं। परन्तु विचार करें कि यदि कामनाओंका त्याग करना कठिन है तो क्या कामनाओंकी पूर्ति करना सुगम है? सब कामनाओंकी पूर्ति संसारमें आजतक किसीकी नहीं हुई। हमारी तो बात ही क्या, भगवान्‌के बाप-(दशरथजी-) की भी कामना पूरी नहीं हुई! अतः कामनाओंकी पूर्ति होना असम्भव है। पर कामनाओंका त्याग करना असम्भव नहीं है। यदि हम ऐसा मानते हैं कि कामनाओंका त्याग करना कठिन है, तो कठिन बात भी असम्भव बात-(कामनाओंकी पूर्ति-) की अपेक्षा सुगम ही पड़ती है; क्योंकि कामनाओंका त्याग तो हो सकता है, पर कामनाओंकी पूर्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये कामनाओंकी पूर्तिकी अपेक्षा कामनाओंका त्याग करना सुगम ही है। गलती यही होती है कि जो कार्य कर नहीं सकते उसके लिये उद्योग करते हैं और जो कार्य कर सकते हैं, उसे करते ही नहीं। इसलिये साधकको कामनाओंका त्याग करना चाहिये, जो कि वह कर सकता है।

कामनाओंके चार भेद हैं—

(१) शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यक कामनाको पूरा कर दे।[1]

(२) जो कामना व्यक्तिगत एवं न्याययुक्त हो और जिसको पूरा करना हमारी सामर्थ्यसे बाहर हो, उसको भगवान्‌के अर्पण करके मिटा दे।[2]

(३) दूसरोंकी वह कामना पूरी कर दे, जो न्याययुक्त और हितकारी हो तथा जिसको पूरी करनेकी सामर्थ्य हमारेमें हो। इस प्रकार दूसरोंकी कामना पूरी करनेपर हमारेमें कामना-त्यागकी सामर्थ्य आती है।

(४) उपर्युक्त तीनों प्रकारकी कामनाओंके अतिरिक्त दूसरी सब कामनाओंको विचारके द्वारा मिटा दे।

'महाशनो महापाप्मा'—कोई वैरी ऐसा होता है, जो भेंट-पूजा अथवा अनुनय-विनयसे शान्त हो जाता है, पर यह 'काम' ऐसा वैरी है, जो किसीसे भी शान्त नहीं होता। इस कामकी कभी तृप्ति नहीं होती—

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते॥

(विनयपत्रिका १९८)

जैसे धन मिलनेपर धनकी कामना बढ़ती ही चली जाती है; ऐसे ही ज्यों-ज्यों भोग मिलते हैं, त्यों-ही-त्यों कामना बढ़ती ही चली जाती है। इसलिये कामनाको **'महाशनः'** कहा गया है।

कामना ही सम्पूर्ण पापोंका कारण है। चोरी, डकैती, हिंसा आदि समस्त पाप कामनासे ही होते हैं। इसलिये कामनाको **'महापाप्मा'** कहा गया है।

कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे, अपने स्वरूपसे और अपने इष्ट-(भगवान्-) से विमुख हो जाता है और नाशवान् संसारके सम्मुख हो जाता है। नाशवान्‌के सम्मुख होनेसे पाप होते हैं और पापोंके फलस्वरूप नरकों तथा नीच योनियोंकी प्राप्ति होती है।

संयोगजन्य सुखकी कामनासे ही संसार सत्य प्रतीत होता है और प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरादि पदार्थ स्थिर दिखायी देते हैं। सांसारिक पदार्थोंको स्थिर माननेसे ही मनुष्य उनसे सुख भोगता है और उनकी इच्छा करता है। सुख-भोगके समय संसारकी क्षणभंगुरताकी ओर दृष्टि नहीं जाती और मनुष्य भोगको तथा अपनेको भी स्थिर देखता है। जो प्रतिक्षण मर रहा है—नष्ट हो रहा है, उस संसारसे सुख लेनेकी इच्छा कैसे हो सकती है? पर 'संसार प्रतिक्षण मर रहा है' इस जानकारीका तिरस्कार करनेसे ही सांसारिक सुखभोगकी इच्छा होती है। चलचित्र-(सिनेमा-) में पके

१-ऐसी कामनामें चार बातोंका होना आवश्यक है—

(१) जो कामना वर्तमानमें उत्पन्न हुई हो (जैसे, भूख लगनेपर भोजनकी कामना)।

(२) जिसकी पूर्तिकी साधन-सामग्री वर्तमानमें उपलब्ध हो।

(३) जिसकी पूर्ति किये बिना जीवित रहना सम्भव न हो।

(४) जिसकी पूर्तिसे अपना तथा दूसरोंका—किसीका भी अहित न होता हो।

—इस प्रकार शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यक कामनाओंकी पूर्ति कर लेनी चाहिये। आवश्यक कामनाओंको पूरा करनेसे अनावश्यक कामनाओंके त्यागका बल आ जाता है। परन्तु आवश्यक कामनाओंकी पूर्तिका सुख नहीं लेना है; क्योंकि पूर्तिका सुख लेनेसे नयी-नयी कामनाएँ उत्पन्न होती रहेंगी, जिसका कभी अन्त नहीं आयेगा।

२-उदाहरणार्थ—'संसारमें अन्याय-अत्याचार न हो'—ऐसी तीव्र व्यक्तिगत कामना न्याययुक्त और अपनी सामर्थ्यसे बाहर है। अतः ऐसी कामनाको भगवान्‌के अर्पण करके निश्चिन्त हो जाय। ऐसी भगवदर्पित कामना भविष्यमें (भगवान् चाहें तो) पूरी हो जाती है।

हुए अंगूर देखनेपर भी उन्हें खानेकी इच्छा नहीं होती, यदि होती है तो सिद्ध हुआ कि हमने उसे स्थिर माना है। परिवर्तनशील संसारको स्थिर माननेसे वास्तवमें जो स्थिर तत्त्व है, उस परमात्मतत्त्वकी तरफ अथवा अपने स्वरूपकी तरफ दृष्टि जाती ही नहीं। उधर दृष्टि न जानेसे मनुष्य उससे विमुख होकर नाशवान् सुख-भोगमें फँस जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वास्तविक तत्त्वसे विमुख हुए बिना कोई सांसारिक भोग भोगा ही नहीं जा सकता और रागपूर्वक सांसारिक भोग भोगनेसे मनुष्य परमात्मासे विमुख हो ही जाता है।

भोगबुद्धिसे सांसारिक भोग भोगनेवाला मनुष्य हिंसारूप पापसे बच ही नहीं सकता। वह अपनी भी हिंसा (पतन) करता है और दूसरोंकी भी । जैसे, कोई मनुष्य धनका संग्रह करके उससे भोगोंको भोगता है, तो उसे देखकर निर्धनोंके हृदयमें धन और भोगोंके अभावका विशेष दु:ख होता है, यह उनकी हिंसा हुई। भोगोंको भोगकर वह स्वयं अपनी भी हिंसा (पतन) करता है; क्योंकि स्वयं परमात्माका चेतन अंश होते हुए भी जड-(धन-) को महत्त्व देनेसे वह वस्तुत: जडका दास हो जाता है, जिससे उसका पतन हो जाता है। संसारके सब भोगपदार्थ सीमित होते हैं; अत: मनुष्य जितना भोग भोगता है, उतना भोग दूसरोंके हिस्सेसे ही आता है। हाँ, शरीर-निर्वाहमात्रके लिये पदार्थोंको स्वीकार करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता। शरीर-निर्वाहमें भी शास्त्रोंमें केवल अपने लिये भोग भोगनेका निषेध है। अपने माता, पिता, गुरु, बालक, स्त्री, वृद्ध आदिको शरीर-निर्वाहके पदार्थ पहले देकर फिर स्वयं लेने चाहिये।

भोगबुद्धिसे भोग भोगनेवाला पुरुष अपना तो पतन करता है, भोग्य वस्तुओंका दुरुपयोग करके उनका नाश करता है, और अभावग्रस्त पुरुषोंकी हिंसा करता है; परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुषके विषयमें यह बात लागू नहीं होती। उसके द्वारा हिंसारूप पाप नहीं होता; क्योंकि उसमें भोगबुद्धि नहीं होती और उसके द्वारा निष्कामभावसे निर्वाहमात्रके लिये शास्त्रविहित क्रियाएँ होती हैं (गीता—चौथे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक और अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। उस महापुरुषके उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंका विकास होता है, नाश नहीं अर्थात् उसके पास आनेपर वस्तुओंका सदुपयोग होता है, जिससे वे सार्थक हो जाती हैं। जबतक संसारमें उस महापुरुषका कहलानेवाला शरीर रहता है, तबतक उसके द्वारा स्वत:स्वाभाविक प्राणियोंका उपकार होता रहता है।

शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यकता '**महाशन:**' और '**महापाप्मा**' नहीं है। कारण कि शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यकता 'कामना' नहीं है। आवश्यकताकी पूर्ति होती है; जैसे—भूख लगी और भोजन करनेसे तृप्ति हो गयी। परन्तु कामनाकी वृद्धि होती है।

'**विद्ध्येनमिह वैरिणम्**'—यद्यपि वास्तवमें सांसारिक पदार्थोंकी कामनाका त्याग होनेपर ही सुख-शान्तिका अनुभव होता है, तथापि मनुष्य अज्ञानवश पदार्थोंसे सुखका होना मान लेता है। इस प्रकार मनुष्यने पदार्थोंकी कामनाको सुखका कारण मानकर उसे अपना मित्र और हितैषी मान रखा है। इस मान्यताके कारण कामना कभी मिटती नहीं। इसलिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि इस कामनाको अपना मित्र नहीं, प्रत्युत वैरी जानो। कामना मनुष्यकी वैरी इसलिये है कि यह मनुष्यके विवेकको ढककर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देती है।

संसारके सम्पूर्ण पापों, दु:खों, नरकों आदिके मूलमें एक कामना ही है। इस लोक और परलोकमें जहाँ कहीं कोई दु:ख पा रहा है, उसमें असत्‌की कामना ही कारण है। कामनासे सब प्रकारके दु:ख होते हैं और सुख कोई-सा भी नहीं होता।

विशेष बात

कामको नष्ट करनेका मुख्य और सरल उपाय है—दूसरोंकी सेवा करना, उन्हें सुख पहुँचाना। अन्य शरीरधारी तो दूसरे हैं ही, अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण भी दूसरे ही हैं। अत: इनका निर्वाह भी सेवाबुद्धिसे करना है, भोगबुद्धिसे नहीं। इनसे सुख नहीं लेना है।

कर्मयोगमें स्थूलशरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्म-शरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारण-शरीरसे होनेवाली 'स्थिरता'—तीनों ही अपने लिये नहीं हैं, प्रत्युत संसारके लिये ही हैं। कारण कि स्थूल-शरीरकी स्थूल-संसारके साथ, सूक्ष्म-शरीरकी सूक्ष्म-संसारके साथ और कारण-शरीरकी कारण-संसारके साथ एकता है। अत: शरीर, पदार्थ और क्रियासे दूसरोंकी सेवा करना तो उचित है, पर अपनेमें सेवकपनका अभिमान करना अनुचित है। सूक्ष्म-शरीरसे परहित-चिन्तन करना तो उचित है, पर उससे सुख लेना

अनुचित है। कारणशरीरसे स्थिर होना तो उचित है, पर स्थिरताका सुख लेना अनुचित है*। इस प्रकार सुख न लेनेसे फलकी आसक्ति मिट जाती है, फलकी आसक्ति मिटनेपर कर्मकी आसक्ति सुगमतापूर्वक मिट जाती है।

मेरा आदेश चले; अमुक व्यक्ति मेरी आज्ञामें चले; अमुक वस्तु मेरे काम आ जाय; मेरी बात रह जाय—ये सब कामनाके ही स्वरूप हैं। उत्पत्ति-विनाशशील (असत्) संसारसे कुछ लेनेकी कामना महान् अनर्थ करनेवाली है। दूसरोंकी न्याययुक्त कामना-(जिसमें दूसरेका हित हो और जिसे पूर्ण करनेकी सामर्थ्य हमारेमें हो-) को पूरी करनेसे अपनेमें कामनाके त्यागका बल आ जाता है। दूसरोंकी कामना पूरी न भी कर सकें तो भी हृदयमें पूरी करनेका भाव रहना ही चाहिये।

तादात्म्य—अहंता (अपनेको शरीर मानना), ममता (शरीरादि पदार्थोंको अपना मानना) और कामना (अमुक वस्तु मिल जाय—ऐसा भाव)—इन तीनोंसे ही जीव संसारमें बँधता है। तादात्म्यसे परिच्छिन्नता, ममतासे विकार और कामनासे अशान्ति पैदा होती है। कामनाके त्यागसे ममता और ममताके त्यागसे तादात्म्य मिटता है। कर्मयोगी सिद्धान्तसे इनमें किसीके भी साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता; क्योंकि वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम्, पदार्थ आदि किसीको भी अपना और अपने लिये नहीं मानता, वह इन शरीरादिको केवल संसारका और संसारकी सेवाके लिये ही मानता है, जो कि वास्तवमें है।

किसीको भी दुःख न देनेका भाव होनेपर सेवाका आरम्भ हो जाता है। अतः साधकके अन्तःकरणमें 'किसीको भी दुःख न हो'—यह भाव निरन्तर रहना चाहिये। भूलसे अपने कारण किसीको दुःख हो भी जाय तो उससे क्षमा माँग लेनी चाहिये। वह क्षमा न करे तो भी कोई डर नहीं। कारण कि सच्चे हृदयसे क्षमा माँगनेवालेकी क्षमा भगवान्‌की ओरसे स्वतः होती है। सेवा करनेमें साधक सदा सावधान रहे कि कहीं सेवाके बदलेमें कुछ लेनेका भाव उसमें न आ जाय । इस प्रकार सेवा करनेसे 'कामरूप' वैरी सुगमतापूर्वक नष्ट हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख चाहनेका नाम 'काम' है। इस काम-रूप एक दोषमें अनन्त दोष, अनन्त विकार, अनन्त पाप भरे हुए हैं। अतः जबतक मनुष्यके भीतर काम है, तबतक वह सर्वथा निर्दोष, निर्विकार, निष्पाप नहीं हो सकता। अपने सुखके लिये कुछ चाहनेसे ही बुराई होती है। जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, वह बुराईरहित हो जाता है।

कर्मफल तीन प्रकारके होते हैं—इष्ट, अनिष्ट और मिश्र (गीता—अठारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। तीनोंमें 'काम' का केवल 'अनिष्ट' फल ही मिलता है।

शास्त्रनिषिद्ध कर्म प्रारब्धसे नहीं होता, प्रत्युत 'काम' से होता है। प्रारब्धसे (फलभोगके लिये) कर्म करनेकी वृत्ति तो हो जायगी, पर निषिद्ध कर्म नहीं होगा; क्योंकि प्रारब्धका फल भोगनेके लिये निषिद्ध आचरणकी जरूरत ही नहीं है।

'काम' रजोगुणसे पैदा होता है। अतः पापोंका कारण तो रजोगुण है और कार्य तमोगुण है। सभी पाप रजोगुणसे पैदा होते हैं।

सम्बन्ध—'यह पाप है'—ऐसी जानकारी होनेपर भी मनुष्य पापमें प्रवृत्त हो जाता है; अतः इस जानकारीका प्रभाव आचरणमें न आनेका क्या कारण है? इसका विवेचन भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

*** सेवा, परहित-चिन्तन, स्थिरता आदिका सुख लेना और इनके बने रहनेकी इच्छा करना भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है (गीता १४। ६)। इसलिये साधकको सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों ही गुणोंसे असंग होना है; क्योंकि स्वरूप असंग है।**

यथा	= जैसे	**आव्रियते**	= ढका जाता है (तथा)	**तथा**	= ऐसे ही
धूमेन	= धुएँसे	**यथा**	= जैसे	**तेन**	= उस कामनाके द्वारा
वह्निः	= अग्नि	**उल्बेन**	= जेरसे	**इदम्**	= यह (ज्ञान अर्थात् विवेक)
च	= और	**गर्भः**	= गर्भ	**आवृतम्**	= ढका हुआ है।
मलेन	= मैलसे	**आवृतः**	= ढका रहता है,		
आदर्शः	= दर्पण				

व्याख्या—'**धूमेनाव्रियते वह्निः**'—जैसे धुएँसे अग्नि ढकी रहती है, ऐसे ही कामनासे मनुष्यका विवेक ढका रहता है अर्थात् स्पष्ट प्रतीत नहीं होता।

विवेक बुद्धिमें प्रकट होता है। बुद्धि तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी बुद्धिमें कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक ज्ञान होता है, राजसी बुद्धिमें कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता और तामसी बुद्धिमें सब वस्तुओंका विपरीत ज्ञान होता है (गीता—अठारहवें अध्यायके तीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक)। कामना उत्पन्न होनेपर सात्त्विकी बुद्धि भी धुएँसे अग्निके समान ढकी जाती है, फिर राजसी और तामसी बुद्धिका तो कहना ही क्या है!

सांसारिक इच्छा उत्पन्न होते ही पारमार्थिक मार्गमें धुआँ हो जाता है। अगर इस अवस्थामें सावधानी नहीं हुई तो कामना और अधिक बढ़ जाती है। कामना बढ़नेपर तो पारमार्थिक मार्गमें अँधेरा ही हो जाता है।

उत्पत्ति विनाशशील जड वस्तुओंमें प्रियता, महत्ता, सुखरूपता, सुन्दरता, विशेषता आदि दीखनेके कारण ही उनकी कामना पैदा होती है। यह कामना ही मूलमें विवेकको ढकनेवाली है। अन्य शरीरोंकी अपेक्षा मनुष्य-शरीरमें विवेक विशेषरूपसे प्रकट है; किन्तु जड पदार्थोंकी कामनाके कारण वह विवेक काम नहीं करता। कामना उत्पन्न होते ही विवेक धुँधला हो जाता है। जैसे धुँएसे ढकी रहनेपर भी अग्नि काम कर सकती है, ऐसे ही यदि साधक कामनाके पैदा होते ही सावधान हो जाय तो उसका विवेक काम कर सकता है।

प्रथमावस्थामें ही कामनाको नष्ट करनेका सरल उपाय यह है कि कामना उत्पन्न होते ही साधक विचार करे कि हम जिस वस्तुकी कामना करते हैं, वह वस्तु हमारे साथ सदा रहनेवाली नहीं है। वह वस्तु पहले भी हमारे साथ नहीं थी और बादमें भी हमारे साथ नहीं रहेगी तथा बीचमें भी उस वस्तुका हमारेसे निरन्तर वियोग हो रहा है। ऐसा विचार करनेसे कामना नहीं रहती।

'**यथादर्शो मलेन च**'—जैसे मैलसे ढक जानेपर दर्पणमें प्रतिबिम्ब दीखना बंद हो जाता है, ऐसे ही कामनाका वेग बढ़नेपर 'मैं साधक हूँ; मेरा यह कर्तव्य और यह अकर्तव्य है'—इसका ज्ञान नहीं रहता। अन्तःकरणमें नाशवान् वस्तुओंका महत्त्व ज्यादा हो जानेसे मनुष्य उन्हीं वस्तुओंके भोग और संग्रहकी कामना करने लगता है। यह कामना ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों मनुष्यका पतन होता है।

वास्तवमें महत्त्व वस्तुका नहीं, प्रत्युत उसके उपयोगका होता है। रुपये, विद्या, बल आदि स्वयं कोई महत्त्वकी वस्तुएँ नहीं हैं, उनका सदुपयोग ही महत्त्वका है—यह बात समझमें आ जानेपर फिर उनकी कामना नहीं रहती; क्योंकि जितनी वस्तुएँ हमारे पासमें हैं, उन्हींके सदुपयोगकी हमारेपर जिम्मेवारी है। उन वस्तुओंको भी सदुपयोगमें लगाना है, फिर अधिककी कामनासे क्या होगा? कारण कि कामना-मात्रसे वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं।

सांसारिक वस्तुओंका महत्त्व ज्यों-ज्यों कम होगा, त्यों-ही-त्यों परमात्माका महत्त्व साधकके अन्तःकरणमें बढ़ेगा। सांसारिक वस्तुओंका महत्त्व सर्वथा नष्ट होनेपर परमात्माका अनुभव हो जायगा और कामना सर्वथा नष्ट हो जायगी।

'**यथोल्बेनावृतो गर्भः**'—दर्पणपर मैल आनेसे उसमें अपना मुख तो नहीं दीखता, पर 'यह दर्पण है' ऐसा ज्ञान तो रहता ही है। परन्तु जैसे जेरसे ढके गर्भका यह पता नहीं लगता कि लड़का है या लड़की, ऐसे ही कामनाकी तृतीयावस्थामें कर्तव्य-अकर्तव्यका पता नहीं लगता अर्थात् विवेक पूरी तरह ढक जाता है। विवेक ढक जानेसे कामनाका वेग बढ़ जाता है।

कामनामें बाधा लगनेसे क्रोध उत्पन्न होता है। फिर उससे सम्मोह उत्पन्न होता है। सम्मोहसे बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि नष्ट हो जानेपर मनुष्य करनेयोग्य कार्य नहीं करता और झूठ, कपट, बेईमानी, अन्याय, पाप, अत्याचार आदि न करनेयोग्य कार्य करने लग जाता है। ऐसे लोगोंको भगवान् 'मनुष्य' भी नहीं कहना चाहते। इसीलिये सोलहवें

अध्यायमें जहाँ ऐसे लोगोंका वर्णन हुआ है, वहाँ भगवान्‌ने (आठवेंसे अठारहवें श्लोकतक) मनुष्यवाचक कोई शब्द नहीं दिया। स्वर्गलोककी कामनावाले लोगोंको भी भगवान्‌ने **'कामात्मानः'** (गीता २। ४३) कहा है; क्योंकि ऐसे लोग कामनाके ही स्वरूप होते हैं। कामनामें ही तदाकार होनेसे उनका निश्चय होता है कि सांसारिक सुखसे बढ़कर और कुछ है ही नहीं (गीता—सोलहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

[यद्यपि कामनाकी इस तृतीयावस्थामें मनुष्यकी दृष्टि अपने वास्तविक उद्देश्य (परमात्मप्राप्ति)-की तरफ नहीं जाती, तथापि किन्हीं पूर्वसंस्कारोंसे, वर्तमानके किसी अच्छे संगसे अथवा अन्य किसी कारणसे उसे अपने उद्देश्यकी जागृति हो जाय तो उसका कल्याण भी हो सकता है।]

'तथा तेनेदमावृतम्'—इस श्लोकमें भगवान्‌ने एक कामके द्वारा विवेकको ढकनेके विषयमें तीन दृष्टान्त दिये हैं। अतः उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य यह है कि एक कामके द्वारा विवेक ढका जानेसे ही कामकी तीनों अवस्थाएँ प्रबुद्ध होती हैं।

कामना उत्पन्न होनेपर उसकी ये तीन अवस्थाएँ सबके हृदयमें आती हैं। परन्तु जो मनुष्य कामनाको ही सुखका कारण मानकर उसका आश्रय लेते हैं और कामनाको त्याज्य नहीं मानते, वे कामनाको पहचान ही नहीं पाते। परन्तु परमार्थमें रुचि रखनेवाले तथा साधन करनेवाले पुरुष इस कामनाको पहचान लेते हैं। जो कामनाको पहचान लेता है, वही कामनाको नष्ट भी कर सकता है।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें कामनाकी तीन अवस्थाओंका वर्णन उसका नाश करनेके उद्देश्यसे ही किया है, जिसकी आज्ञा उन्होंनें आगे इकतालीसवें और तैंतालीसवें श्लोकमें दी है। वास्तवमें कामना उत्पन्न होनेके बाद उसके बढ़नेका क्रम इतनी तेजीसे होता है कि उसकी उपर्युक्त तीन अवस्थाओंको कहनेमें तो देर लगती है, पर कामनाके बढ़नेमें कोई देर नहीं लगती। कामना बढ़नेपर तो अनर्थ-परम्परा ही चल पड़ती है। सम्पूर्ण पाप, सन्ताप, दुःख आदि कामनाके कारण ही होते हैं। अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह अपने विवेकको जाग्रत् रखकर कामनाको उत्पन्न ही न होने दे। यदि कामना उत्पन्न हो जाय, तो भी उसे प्रथम या द्वितीय-अवस्थामें ही नष्ट कर दे। उसे तृतीयावस्थामें तो कभी आने ही न दे।

विशेष बात

धुआँ दिखायी देनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ अग्नि है; क्योंकि अगर वहाँ अग्नि न होती तो धुआँ कहाँसे आता? अतः जिस प्रकार धुएँसे ढकी होनेपर भी अग्निके होनेका ज्ञान, मैलसे ढका होनेपर भी दर्पणके होनेका ज्ञान और जेरसे ढका होनेपर भी गर्भके होनेका ज्ञान सभीमें रहता है, उसी प्रकार कामसे ढका होनेपर भी विवेक (कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान) सभीमें रहता है, पर कामनाके कारण वह उपयोगमें नहीं आता।

शास्त्रोंके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिमें तीन दोष बाधक हैं—मल, विक्षेप और आवरण । ये दोष असत् (संसार)-के सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। असत्‌का सम्बन्ध कामनासे होता है। अतः मूल दोष कामना ही है। कामनाका सर्वथा नाश होते ही असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही सम्पूर्ण दोष मिट जाते हैं और विवेक प्रकट हो जाता है।

परमात्मप्राप्तिमें मुख्य बाधा है—सांसारिक पदार्थोंको नाशवान् मानते हुए उन्हें महत्त्व देना। जबतक अन्तःकरणमें नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व है और वे सत्य, सुन्दर और सुखद प्रतीत होते हैं, तभीतक मल, विक्षेप और आवरण—ये तीनों दोष रहते हैं। इन तीनोंमें भी मलदोषको अधिक बाधक माना जाता है। मलदोष-(पाप-) का मुख्य कारण कामना ही है; क्योंकि कामनासे ही सब पाप होते हैं। जिस समय साधक यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि 'मैं अब पाप नहीं करूँगा', उसी समय सब दोषोंकी जड़ कट जाती है और मलदोष मिटने लग जाता है। सर्वथा निष्काम होनेपर मलदोष सर्वथा नष्ट हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कामनावाले पुरुषोंके कल्याणका उपाय कर्मयोग (निष्काम-कर्म) बताया है—**'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'** (११। २०। ७)। अतः कामनावाले पुरुषोंको अपने कल्याणके विषयमें निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि जिसमें कामना आयी है, वही निष्काम होगा। कर्मयोगके द्वारा कामनाओंका नाश सुगमतापूर्वक हो जाता है। छोटी-से-छोटी अथवा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक लौकिक या पारमार्थिक क्रिया करनेमें 'मैं क्यों करता हूँ और कैसे करता हूँ?'—ऐसी सावधानी हो जाय, तो उद्देश्यकी जागृति हो जाती है। निरन्तर उद्देश्यपर दृष्टि रहनेसे अशुभ-कर्म तो होते नहीं और शुभ-कर्मोंको भी आसक्ति तथा फलेच्छाका त्याग करके करनेपर निष्कामताका अनुभव हो जाता है और मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

परिशिष्ट भाव— परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कामना ही खास बाधक है। जैसे, पानीसे भरा हुआ घड़ा है और उसमें हमें दो काम करने हैं—उसको खाली करना है और उसमें आकाश भरना है। परन्तु वास्तवमें हमें दो काम नहीं करने हैं, प्रत्युत एक ही काम करना है—घड़ेको खाली करना। घड़ेमेंसे पानी निकाल दें तो आकाश अपने-आप भर जायगा। ऐसे ही कामनाका त्याग करना और परमात्माको प्राप्त करना—ये दो काम नहीं हैं। कामनाका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप हो जायगी। केवल कामनाके कारण ही परमात्मा अप्राप्त दीख रहे हैं।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!		होनेवाले	**नित्यवैरिणा**	= नित्य वैरीके द्वारा
एतेन	= इस	**च**	= और	**ज्ञानम्**	= (मनुष्यका)
अनलेन	= अग्निके (समान)	**ज्ञानिनः**	= विवेकियोंके		विवेक
दुष्पूरेण	= (कभी) तृप्त न	**कामरूपेण**	= कामना-रूप	**आवृतम्**	= ढका हुआ है।

व्याख्या—**'एतेन'**—सैंतीसवें श्लोकमें भगवान्ने पाप करवानेमें मुख्य कारण 'काम' अर्थात् कामनाको बताया था। उसी कामनाके लिये यहाँ **'एतेन'** पद आया है।

'दुष्पूरेणानलेन च'—जैसे अग्निमें घीकी सुहाती-सुहाती (अनुकूल) आहुति देते रहनेसे अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती ही रहती है, ऐसे ही कामनाके अनुकूल भोग भोगते रहनेसे कामना कभी तृप्त नहीं होती, प्रत्युत अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है*। जो भी वस्तु सामने आती रहती है, कामना अग्निकी तरह उसे खाती रहती है।

भोग और संग्रहकी कामना कभी पूरी होती ही नहीं। जितने ही भोग-पदार्थ मिलते हैं, उतनी ही उनकी भूख बढ़ती है। कारण कि कामना जडकी ही होती है, इसलिये जडके सम्बन्धसे वह कभी मिटती नहीं, प्रत्युत अधिकाधिक बढ़ती है। सुन्दरदासजी लिखते हैं—

जो दस बीस पचास भये सत, होइ हजार तो लाख मँगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होन की चाह जगैगी॥
स्वर्ग पतालको राज करौ, तृष्ना अघकी अति आग लगैगी।
'सुन्दर' एक संतोष बिना सठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी॥

जैसे, सौ रुपये मिलनेपर हजार रुपयोंकी भूख पैदा होती है, तो इससे सिद्ध हुआ कि नौ सौ रुपयोंका घाटा हुआ है। हजार रुपये मिलनेपर फिर सीधे दस हजार रुपयोंकी भूख पैदा हो जाती है, तो यह नौ हजार रुपयोंका घाटा हुआ है। दस हजार रुपये मिलनेपर फिर सीधे एक लाख रुपयोंकी भूख पैदा हो जाती है, तो यह नब्बे हजार रुपयोंका घाटा हुआ है। लाख रुपये मिलनेपर फिर दस लाख रुपयोंसे सन्तोष नहीं होता, प्रत्युत सीधे करोड़ रुपयोंकी भूख पैदा हो जाती है, तो सिद्ध हुआ कि निन्यानबे लाख रुपयोंका घाटा हुआ है। इस प्रकार वहम तो यह होता है कि लाभ बढ़ गया, पर वास्तवमें घाटा ही बढ़ा है। जितना धन मिलता है, उतनी ही दरिद्रता (धनकी भूख) बढ़ती है। वास्तवमें दरिद्रता उसकी मिटती है, जिसे धनकी भूख नहीं है।

चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो साहनपति साह॥

वास्तवमें धन उतना बाधक नहीं है, जितनी बाधक उसकी कामना है। धनकी कामना चाहे धनीमें हो या निर्धनमें, दोनोंको वह परमात्मप्राप्तिसे वंचित रखती है। कामना किसीकी भी कभी पूरी नहीं होती; क्योंकि यह पूरी होनेवाली चीज ही नहीं है। कामनासे रहित तो कामनाके मिटनेपर ही हो सकते हैं।

'कामरूपेण'—जडके सम्बन्धसे होनेवाले सुखकी चाहको 'काम' कहते हैं। नाशवान् संसारमें थोड़ी भी महत्त्व-बुद्धिका होना 'काम' है।

अप्राप्तको प्राप्त करनेकी चाह 'कामना' है। अन्तःकरणमें जो अनेक सूक्ष्म कामनाएँ दबी रहती हैं, उनको 'वासना' कहते हैं। वस्तुओंकी आवश्यकता प्रतीत होना 'स्पृहा' है। वस्तुमें उत्तमता और प्रियता दीखना 'आसक्ति' है। वस्तु मिलनेकी सम्भावना रखना 'आशा' है। और अधिक वस्तु

* **न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥**
(श्रीमद्भा० ९। १९। १४; मनुस्मृति २। ९४)

मिल जाय—यह 'लोभ' या 'तृष्णा' है। वस्तुकी इच्छा अधिक बढ़नेपर 'याचना' होती है। ये सभी 'काम'के ही रूप हैं।

'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'—यहाँ **'ज्ञानिनः'** पद साधनमें लगे हुए विवेकशील साधकोंके लिये आया है। कारण कि विवेकशील साधक ही इस कामरूप वैरीको पहचानता है और उसका नाश करता है। साधन न करने-वाले दूसरे लोग तो इसे पहचानते ही नहीं प्रत्युत इसे सुखदायी समझते हैं।

भगवान् कहते हैं कि यह काम विवेकशील साधकोंका नित्य वैरी है। कामना उत्पन्न होते ही विवेकशील साधकको विचार आता है कि अब कोई-न-कोई आफत आयेगी! कामनामें संसारका महत्त्व और आश्रय रहता है, जो पारमार्थिक मार्गमें महान् बाधक है। विवेकी साधकको कामना आरम्भसे ही चुभती रहती है। परिणाममें तो कामना सबको दु:ख देती ही है। इसलिये यह साधककी नित्य (निरन्तर) वैरी है।

भोगोंमें लगे हुए अज्ञानियोंको यह कामना मित्रके समान मालूम देती है; क्योंकि कामनाके कारण ही भोगोंमें सुख प्रतीत होता है। कामना न हो तो भोगपदार्थ सुख नहीं दे सकते। परन्तु परिणाममें उन्हें दु:ख, सन्ताप, कैद, नरक आदि प्राप्त होते ही हैं। इसलिये वास्तवमें यह कामना अज्ञानियोंकी भी नित्य वैरी है। परन्तु अज्ञानियोंको जागृति नहीं रहती, जब कि विवेकशील साधकोंको जागृति रहती है।

'आवृतं ज्ञानम्'—विवेक प्राणिमात्रमें है। पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर योनियोंमें यह विवेक विकसित नहीं होता और केवल जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। परन्तु मनुष्यमें यदि कामना न हो तो यह विवेक विकसित हो सकता है; क्योंकि कामनाके कारण ही मनुष्यका विवेक ढका रहता है। विवेक ढका रहनेसे मनुष्य अपने लक्ष्य परमात्मप्राप्तिकी ओर बढ़ नहीं सकता, क्योंकि कामना उसे चिन्मय-तत्त्वकी ओर नहीं जाने देती, प्रत्युत जड-तत्त्वमें ही लगाये रखती है।

अपने प्रति कोई अप्रिय एवं असत्य बोले तो वह बुरा लगता है और प्रिय एवं सत्य बोले तो अच्छा लगता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अच्छे-बुरे, सद्गुण-दुर्गुण, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका ज्ञान अर्थात् विवेक सभी मनुष्योंमें रहता है। परन्तु ऐसा होनेपर भी वह अप्रिय और असत्य बोलता है, अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि कामनाने उसका विवेक ढक दिया है।

कामनाके कारण ही 'त्यागमें सुख है'—यह ज्ञान काम नहीं करता। मनुष्यको प्रतीत तो ऐसा होता है कि अनुकूल भोग-पदार्थके मिलनेसे सुख होता है, पर वास्तवमें सुख उसके त्यागसे होता है। यह सभीका अनुभव है कि जाग्रत् और स्वप्नमें भोग-पदार्थोंसे सम्बन्ध रहनेपर सुख और दु:ख दोनों होते हैं, पर सुषुप्ति-(गाढ़ निद्रा-) में भोग-पदार्थोंकी किंचित् भी स्मृति न रहनेपर सुख ही होता है, दु:ख नहीं। इसलिये गाढ़ निद्रासे जागनेपर वह कहता है कि 'मैं बड़े सुखसे सोया'। इसके सिवाय जाग्रत् और स्वप्नसे थकावट आती है, जब कि सुषुप्तिसे थकावट दूर होती है और ताजगी आती है। इससे सिद्ध होता है कि भोग-पदार्थोंके त्यागमें ही सुख है।

धनकी कामना होते ही धन मनके द्वारा पकड़ा जाता है। जब बाहरसे धन प्राप्त हो जाता है, तब मनसे पकड़े हुए धनका त्याग हो जाता है और सुखकी प्रतीति होती है। अत: वास्तवमें सुखकी प्रतीति बाहरसे धन मिलनेपर नहीं हुई, प्रत्युत मनसे पकड़े हुए धनके त्यागसे ही हुई है। यदि धनके मिलनेसे ही सुख होता तो उस धनके रहते हुए कभी दु:ख नहीं आता; परन्तु उस धनके रहते हुए भी दु:ख आ जाता है।

जब मनुष्य किसी वस्तुकी कामना करता है, तब वह पराधीन हो जाता है। जैसे, उसके मनमें घड़ीकी कामना पैदा हुई। कामना पैदा होते ही उसको घड़ीके अभावका दु:ख होने लगता है तो यह घड़ीकी पराधीनता है। वह सोचता है कि यदि रुपये मिल जायँ तो अभी घड़ी खरीद लूँ अर्थात् रुपयोंके होनेसे अपनेको स्वाधीन और न होनेसे अपनेको पराधीन मानता है। यह मान्यता बिलकुल गलत है। वास्तवमें रुपये मिलनेपर घड़ीकी पराधीनता तो नहीं रही, पर रुपयोंकी पराधीनता तो हो ही गयी; क्योंकि रुपये भी 'पर' हैं, 'स्व' नहीं। जैसे वस्तुकी कामना होनेसे वह वस्तुके पराधीन हुआ, ऐसे ही रुपयोंकी कामना होनेसे रुपयोंके पराधीन हुआ। पराधीनता तो वैसी-की-वैसी ही रही! परन्तु कामनासे विवेक ढका जानेके कारण मनुष्यको वस्तुकी पराधीनताका तो अनुभव होता है, पर रुपयोंकी पराधीनताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत रुपयोंके कारण वह स्वाधीनताका अनुभव करता है। जो पराधीनता स्वाधीनताके रूपमें दिखायी देती है, उस पराधीनतासे छूटना बड़ा कठिन होता है।

संसारमात्र क्षणभंगुर है। शरीर, धन, जमीन, मकान

आदि जितनी भी सांसारिक वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब प्रतिक्षण विनाशकी ओर जा रही हैं और हमारेसे वियुक्त भी हो रही हैं। परन्तु भोग भोगते समय उनकी क्षणभंगुरताका ज्ञान नहीं रहता। पदार्थको नित्य और स्थिर माने बिना सुखभोग हो ही नहीं सकता। साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, साधक भी भोगोंको नित्य और स्थिर माननेपर ही उनमें फँसता है। इसका कारण कामनाद्वारा विवेक ढका जाना ही है।

विशेष बात

मनुष्यको सदाके लिये महान् बनानेके उद्देश्यसे भगवान् कामनाको 'नित्यवैरी' बताकर उससे बचनेके लिये सावधान करते हैं; क्योंकि कामना ही सम्पूर्ण पापों और दुःखोंका कारण है। एक मनुष्य अपनी स्त्रीको ढूँढ रहा था। लोगोंने पूछा—तुम्हारी स्त्रीका नाम क्या है? उसने कहा—फजीती। फिर पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है? उसने कहा—बदमाश। लोगोंने कहा—घबराओ मत, बड़ी पतिव्रता स्त्री है, अपने-आप आ जायगी! कारण कि बदमाशको फजीती (बदनामी) अवश्य मिलती है। इसी प्रकार संसारके नाशवान् भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्यके पास दुःख अपने-आप आते हैं।

मनुष्य दुःखोंसे तो बचना चाहता है, पर दुःखोंके कारण 'काम'-(कामना-) को नहीं छोड़ता। कामनाके रहते हुए स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—**'काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं'** (मानस ७। ९०। १)। भगवान् **'अनलेन, दुष्पूरेण'** पदोंसे यह बताते हैं कि भोग-पदार्थोंसे कामना कभी पूरी नहीं होती। ज्यों-ज्यों भोग-पदार्थ मिलते हैं, त्यों-ही-त्यों उनकी कामना बढ़ती है और ज्यों-ज्यों कामना बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों अभावका अधिक अनुभव होता है एवं अभावको मिटानेके लिये मनुष्य पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। जैसे, धनकी कामना उत्पन्न होनेपर मनुष्य धनकी प्राप्तिमें न्याय-अन्यायका विचार नहीं करता। फिर कामना बढ़नेपर (द्वितीयावस्थामें) वह चोरी, डाके आदिमें भी लग जाता है। फिर और अधिक कामना बढ़नेपर (तृतीयावस्थामें) वह धनके लिये दूसरोंको जानसे भी मार डालता है। इस प्रकार नाशवान् सुखकी कामना करनेवाला मनुष्य अपने लोक और परलोक—दोनोंको महान् दुःखरूप बना लेता है।

परिशिष्ट भाव—साधनकी मुख्य बाधा है—संयोगजन्य सुखकी कामना। यह बाधा साधनमें बहुत दूरतक रहती है। साधक जहाँ सुख लेता है, वहीं अटक जाता है। यहाँतक कि वह समाधिका भी सुख लेता है तो वहाँ अटक जाता है[1]। सात्त्विक सुखकी कामना, आसक्ति भी बन्धनकारक हो जाती है—**'सुखसंगेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)।[2] इसलिये यहाँ भगवान्‌ने संयोगजन्य सुखकी कामनाको विवेकी साधकोंका नित्य वैरी बताया है—**'न तेषु रमते बुधः'** (गीता ५। २२), **'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'** (योगदर्शन २। १५)।

सम्बन्ध—किसी शत्रुको नष्ट करनेके लिये उसके रहनेके स्थानोंकी जानकारी होनी आवश्यक है, इसलिये भगवान् आगेके श्लोकमें ज्ञानियोंके नित्यवैरी 'काम' के रहनेके स्थान बताते हैं ?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ, **मनः** = मन (और) **बुद्धिः** = बुद्धि **अस्य** = इस कामनाके **अधिष्ठानम्** = वास-स्थान **उच्यते** = कहे गये हैं। **एषः** = यह कामना **एतैः** = इन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि)-के द्वारा **ज्ञानम्** = ज्ञानको **आवृत्य** = ढककर **देहिनम्** = देहाभिमानी मनुष्यको **विमोहयति** = मोहित करती है।

१-भोगोंका सुख संयोगजन्य और समाधिका सुख वियोगजन्य है। संयोगजन्य सुख लेनेसे पतन हो जाता है और वियोगजन्य सुख लेनेसे साधक अटक जाता है।

२-परमात्मप्राप्तिके मार्गमें सात्त्विक सुखकी आसक्ति अटकाती है और राजस-तामस सुखकी आसक्ति पतन करती है।

व्याख्या—'**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते**'—काम पाँच स्थानोंमें दीखता है—(१) पदार्थोंमें (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक), (२) इन्द्रियोंमें, (३) मनमें, (४) बुद्धिमें और (५) माने हुए अहम् (मैं) अर्थात् कर्तामें (गीता—दूसरे अध्यायका उनसठवाँ श्लोक)। इन पाँच स्थानोंमें दीखनेपर भी काम वास्तवमें माने हुए 'अहम्'-(चिज्जडग्रन्थि-) में ही रहता है। परन्तु उपर्युक्त पाँच स्थानोंमें दिखायी देनेके कारण ही वे इस कामके वास-स्थान कहे जाते हैं।

समस्त क्रियाएँ शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे ही होती हैं। ये चारों कर्म करनेके साधन हैं। यदि इनमें काम रहता है तो वह पारमार्थिक कर्म नहीं होने देता। इसलिये कर्मयोगी निष्काम, निर्मम और अनासक्त होकर शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करता है (गीता—पाँचवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

वास्तवमें काम अहम्-(जड-चेतनके तादात्म्य-) में ही रहता है। अहम् अर्थात् 'मैं'-पन केवल माना हुआ है। मैं अमुक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदायवाला हूँ—यह केवल मान्यता है। मान्यताके सिवाय इसका दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। इस माने हुए सम्बन्धमें ही कामना रहती है। कामनासे ही सब पाप होते हैं। पाप तो फल भुगताकर नष्ट हो जाते हैं, पर 'अहम्' से कामना दूर हुए बिना नये-नये पाप होते रहते हैं। इसलिये कामना ही जीवको बाँधनेवाली है। महाभारतमें कहा है—

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(शान्तिपर्व २५१।७)

'जगत्‌में कामना ही एकमात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।'

'**एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्**'—कामनाके कारण मनुष्यको जो करना चाहिये, वह नहीं करता और जो नहीं करना चाहिये, वह कर बैठता है। इस प्रकार कामना देहाभिमानी पुरुषको मोहित कर देती है।

दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि कामनासे क्रोध उत्पन्न होता है—'**कामात् क्रोधोऽभिजायते**' (२।६२) और क्रोधसे सम्मोह (अत्यन्त मूढ़भाव) उत्पन्न होता है—'**क्रोधाद्भवति सम्मोहः**' (२।६३)। इससे यह समझना चाहिये कि कामनामें बाधा पहुँचनेपर तो क्रोध उत्पन्न होता है, पर यदि कामनामें बाधा न पहुँचे, तो कामनासे लोभ और लोभसे सम्मोह उत्पन्न होता है[1]। तात्पर्य यह है कि कामनासे पदार्थ न मिले तो 'क्रोध' उत्पन्न होता है और पदार्थ मिले तो 'लोभ' उत्पन्न होता है। उनसे फिर 'मोह' उत्पन्न होता है। कामना रजोगुणका कार्य है और मोह तमोगुणका कार्य। रजोगुण और तमोगुण पास-पास रहते हैं[2]। अतः काम, क्रोध, लोभ और मोह पास-पास ही रहते हैं। काम इन्द्रियों, मन और बुद्धिके द्वारा देहाभिमानी पुरुषको मोहित (बेहोश) कर देता है। इस प्रकार 'काम' रजोगुणका कार्य होते हुए भी तमोगुणका कार्य 'मोह' हो जाता है।

कामना उत्पन्न होनेपर मनुष्य पहले इन्द्रियोंसे भोग भोगनेकी कामना करता है। पहले तो भोग-पदार्थ मिलते नहीं और मिल भी जायँ तो टिकते नहीं। इसलिये उन्हें किसी तरह प्राप्त करनेके लिये वह मनमें तरह-तरहकी कामनाएँ करता है। बुद्धिमें उन्हें प्राप्त करनेके लिये तरह-तरहके उपाय सोचता है। इस प्रकार कामना पहले इन्द्रियोंको संयोगजन्य सुखके प्रलोभनमें लगाती है। फिर इन्द्रियाँ मनको अपनी ओर खींचती हैं और उसके बाद इन्द्रियाँ और मन मिलकर बुद्धिको भी अपनी ओर खींच लेते हैं। इस तरह काम देहाभिमानीके ज्ञानको ढककर इन्द्रियों, मन और बुद्धिके द्वारा उसे मोहित कर देता है तथा उसे पतनके गड्ढेमें डाल देता है।

यह सिद्धान्त है कि नौकर अच्छा हो, पर मालिक तिरस्कारपूर्वक उसे निकाल दे तो फिर उसे अच्छा नौकर नहीं मिलेगा। ऐसे ही मालिक अच्छा हो, पर नौकर उसका तिरस्कार कर दे तो फिर उसे अच्छा मालिक नहीं मिलेगा। इसी प्रकार मनुष्य परमात्मप्राप्ति किये बिना शरीरको सांसारिक भोग और संग्रहमें ही खो देता है तो फिर उसे मनुष्यशरीर नहीं मिलेगा। अच्छी वस्तुका तिरस्कार होता है अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे और अन्तःकरण अशुद्ध होता है कामनासे। इसलिये सबसे पहले कामनाका नाश करना चाहिये।

१-रागात् कामः प्रभवति कामाल्लोभोऽभिजायते। लोभाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः॥
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ (मार्कण्डेयपुराण ३। ७१-७२)

२-तमोगुण, रजोगुण, और सत्त्वगुण—तीनोंमें परस्पर (क्रमशः १,१० और १०० अंकोंकी तरह) दसगुनेका अन्तर है। फिर भी तमोगुण (१) से रजोगुण (१०) नजदीक है और सत्त्वगुण (१००) इन दोनोंसे दूर पड़ता है।

'देहिनम् विमोहयति'—पदोंका तात्पर्य यह है कि यह काम देहाभिमानी पुरुषको ही मोहित करता है। शरीरको 'मैं' और 'मेरा' माननेवाला ही देहाभिमानी होता है। भगवान्ने अपने उपदेशके आरम्भमें ही देह (शरीर) और देही (शरीरी—आत्मा)-का विवेचन किया है (गीता—दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक)। देह और देही दोनों अलग-अलग हैं—यह सबका अनुभव है। यह काम ज्ञानको ढककर देहाभिमानी-(देहसे अपना सम्बन्ध माननेवाले-) को बाँधता है, देही-(शुद्ध स्वरूप-) को नहीं। जो देहके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, उसे यह बाँध नहीं सकता। देहको 'मैं' 'मेरा' और 'मेरे लिये' माननेसे ही मनुष्य उत्पत्ति-विनाशशील जड वस्तुओंको महत्त्व देता है; जिससे उसमें जडताका राग उत्पन्न हो जाता है। राग उत्पन्न होनेपर जडतासे सम्बन्ध हो जाता है। जडतासे सम्बन्ध होनेपर ही कामनाकी उत्पत्ति होती है। कामना उत्पन्न होनेपर जीव मोहित होकर संसार-बन्धनमें बँध जाता है।

सम्बन्ध—अब आगेके तीन श्लोकोंमें भगवान् कामको मारनेका प्रकार बताते हुए उसे मारनेकी आज्ञा देते हैं।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

तस्मात्	= इसलिये
भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!
त्वम्	= तू
आदौ	= सबसे पहले
इन्द्रियाणि	= इन्द्रियोंको
नियम्य	= वशमें करके
एनम्	= इस
ज्ञानविज्ञाननाशनम्	= ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले
पाप्मानम्	= महान् पापी कामको
हि	= अवश्य ही
प्रजहि	= बलपूर्वक मार डाल।

व्याख्या—**'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ'**—इन्द्रियोंको विषयोंमें भोग-बुद्धिसे प्रवृत्त न होने देना, अपितु केवल निर्वाह-बुद्धिसे अथवा साधन-बुद्धिसे प्रवृत्त होने देना ही उनको वशमें करना है। तात्पर्य है कि इन्द्रियोंकी विषयोंमें रागपूर्वक प्रवृत्ति न हो और द्वेषपूर्वक निवृत्ति न हो। (गीता—अठारहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक) रागपूर्वक प्रवृत्ति और द्वेषपूर्वक निवृत्ति होनेसे राग-द्वेष पुष्ट हो जाते हैं और न चाहते हुए भी मनुष्यको पतनकी ओर ले जाते हैं। इसलिये प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यको जाननेके लिये शास्त्र ही प्रमाण है। (गीता—सोलहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक) शास्त्रके अनुसार कर्तव्यका पालन और अकर्तव्यका त्याग करनेसे इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं।

'काम' को मारनेके लिये सबसे पहले इन्द्रियोंका नियमन करनेके लिये कहनेका कारण यह है कि जबतक मनुष्य इन्द्रियोंके वशमें रहता है, तबतक उसकी दृष्टि तत्त्वकी ओर नहीं जाती; और तत्त्वकी ओर दृष्टि गये बिना अर्थात् तत्त्वका अनुभव हुए बिना 'काम' का सर्वथा नाश नहीं होता।

मनुष्यकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंसे ही होती है। इसलिये वह सबसे पहले इन्द्रियोंके विषयोंमें ही फँसता है, जिससे उसमें उन विषयोंकी कामना पैदा हो जाती है। कामना-सहित कर्म करनेसे मनुष्य पूरी तरह इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है और इससे उसका पतन हो जाता है। परन्तु जो मनुष्य इन्द्रियोंको वशमें करके निष्काम-भावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करता है, उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है।

'एनम् ज्ञानविज्ञाननाशनम्'—**'ज्ञान'** पदका अर्थ शास्त्रीय ज्ञान भी लिया जाता है; जैसे—ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंके अन्तर्गत **'ज्ञानम्'** पद शास्त्रीय ज्ञानके लिये ही आया है। (गीता—अठारहवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)। परन्तु यहाँ प्रसंगके अनुसार 'ज्ञान' का अर्थ विवेक (कर्तव्य-अकर्तव्यको अलग-अलग जानना) लेना ही उचित प्रतीत होता है। **'विज्ञान'** पदका अर्थ विशेष ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान (अनुभव-ज्ञान, असली ज्ञान या बोध) है।

विवेक और तत्त्वज्ञान—दोनों ही स्वतःसिद्ध हैं। तत्त्व-ज्ञानका अनुभव तो सबको नहीं है, पर विवेकका अनुभव सभीको है। मनुष्यमें यह विवेक विशेषरूपसे है। अर्जुनके प्रश्न-(मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है?) में आये **'अनिच्छन्नपि'** पदसे भी यही सिद्ध होता है कि

मनुष्यमें विवेक है और इस विवेकसे ही वह पाप और पुण्य-दोनोंको जानता है और पाप नहीं करना चाहता। पाप न करनेकी इच्छा विवेकके बिना नहीं होती। परन्तु यह 'काम' उस विवेकको ढक देता है और उसको जाग्रत् नहीं होने देता।

विवेक जाग्रत् होनेसे मनुष्य भविष्यपर अर्थात् परिणामपर दृष्टि रखकर ही सब कार्य करता है। परन्तु कामनासे विवेक ढक जानेके कारण परिणामकी ओर दृष्टि ही नहीं जाती। परिणामकी तरफ दृष्टि न जानेसे ही वह पाप करता है।

इस प्रकार जिसका अनुभव सबको है, उस विवेकको भी जब यह 'काम' जाग्रत् नहीं होने देता, तब जिसका अनुभव सबको नहीं है, उस तत्त्वज्ञानको तो जाग्रत् होने ही कैसे देगा? इसलिये यहाँ 'काम' को ज्ञान (विवेक) और विज्ञान (बोध)—दोनोंका नाश करनेवाला बताया गया है।

वास्तवमें यह 'काम' ज्ञान और विज्ञानका नाश (अभाव) नहीं करता, प्रत्युत उन दोनोंको ढक देता है अर्थात् प्रकट नहीं होने देता। उन्हें ढक देनेको ही यहाँ उनका नाश करना कहा गया है। कारण कि ज्ञान-विज्ञानका कभी नाश होता ही नहीं। नाश तो वास्तवमें 'काम' का ही होता है। जिस प्रकार नेत्रोंके सामने बादल आनेपर 'बादलोंने सूर्यको ढक दिया' ऐसा कहा जाता है, पर वास्तवमें सूर्य नहीं ढका जाता, प्रत्युत नेत्र ढके जाते हैं, उसी प्रकार 'कामनाने ज्ञान-विज्ञानको ढक दिया' ऐसा कहा तो जाता है, पर वास्तवमें ज्ञान-विज्ञान ढके नहीं जाते, प्रत्युत बुद्धि ढकी जाती है।

'पाप्मानं हि प्रजहि'—कामना सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है। इसलिये कामना उत्पन्न होनेसे पाप होनेकी सम्भावना रहती है। आगे चलकर कामना मनुष्यके विवेकको ढककर उसे अन्धा बना देती है, जिससे उसे पाप-पुण्यका ज्ञान ही नहीं रहता और वह पापोंमें ही लग जाता है। इससे उसका महान् पतन हो जाता है। इसलिये भगवान् कामनाको महापापी बताकर उसे अवश्य ही मार डालनेकी आज्ञा देते हैं।

गृहस्थ-जीवन ठीक नहीं, साधु हो जायँ, एकान्तमें चले जायँ—ऐसा विचार करके मनुष्य कार्यको तो बदलना चाहता है, पर कारण 'कामना' को नहीं छोड़ता; उसे छोड़नेका विचार ही नहीं करता। यदि वह कामनाको छोड़ दे तो उसके सब काम अपने-आप ठीक हो जायँ। जब मनुष्य जीनेकी कामना तथा अन्य कामनाओंको रखते हुए मरता है, तब वे कामनाएँ उसके अगले जन्मका कारण बन जाती हैं। तात्पर्य यह है कि जबतक मनुष्यमें कामना रहती है, तबतक वह जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा रहता है। इस प्रकार बाँधनेके सिवाय कामना और कुछ काम नहीं आती।

जब मनुष्यका जड-पदार्थोंकी तरफ आकर्षण होता है, तभी उनकी कामना उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होते ही विवेक-दृष्टि दब जाती है और इन्द्रिय-दृष्टिकी प्रधानता हो जाती है। इन्द्रियाँ मनुष्यको केवल शब्दादि विषयोंके सुख-भोगमें ही लगाती हैं। पशु-पक्षियोंकी भी प्रवृत्ति इन्द्रियोंसे मिलनेवाले सुखतक ही रहती है। परन्तु कामनासे विवेक ढक जानेके कारण मनुष्य इन्द्रियजन्य सुखके लिये पदार्थोंकी कामना करने लगता है और फिर पदार्थोंके लिये रुपयोंकी कामना करने लग जाता है। इतना ही नहीं, उसकी दृष्टि रुपयोंसे भी हटकर रुपयोंकी गिनती-(संग्रह-) में हो जाती है। फिर वह रुपयोंकी गिनती बढ़ानेमें ही लग जाता है। निर्वाहमात्रके रुपयोंकी अपेक्षा उनका संग्रह अधिक पतन करनेवाला है और संग्रहकी अपेक्षा भी रुपयोंकी गिनती महान् पतन करनेवाली है। गिनती बढ़ानेके लिये वह झूठ, कपट, धोखा, चोरी आदि पाप-कर्मोंको भी करने लग जाता है और गिनती बढ़नेपर उसमें अभिमान भी आ जाता है, जो आसुरी-सम्पत्तिका मूल है। इस प्रकार कामनाके कारण मनुष्य महान् पतनकी ओर चला जाता है। इसलिये भगवान् इस महान् पापी कामका अच्छी तरह नाश करनेकी आज्ञा देते हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

इन्द्रियाणि	= इन्द्रियोंको (स्थूलशरीरसे)
पराणि	= पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म)
आहुः	= कहते हैं।
इन्द्रियेभ्यः	= इन्द्रियोंसे
परम्	= पर
मनः	= मन है,
मनसः	= मनसे
तु	= भी
परा	= पर
बुद्धिः	= बुद्धि है (और)
यः	= जो
बुद्धेः	= बुद्धिसे
तु	= भी
परतः	= पर है,
सः	= वह (काम) है।
एवम्	= इस तरह
बुद्धेः	= बुद्धिसे
परम्	= पर (काम)-को
बुद्ध्वा	= जानकर
आत्मना	= अपने द्वारा
आत्मानम्	= अपने-आपको
संस्तभ्य	= वशमें करके
महाबाहो	= हे महाबाहो! (तू इस)
कामरूपम्	= कामरूप
दुरासदम्	= दुर्जय
शत्रुम्	= शत्रुको
जहि	= मार डाल।

व्याख्या—'**इन्द्रियाणि पराण्याहुः**'—शरीर अथवा विषयोंसे इन्द्रियाँ पर हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ज्ञान होता है, पर विषयोंके द्वारा इन्द्रियोंका ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियाँ विषयोंके बिना भी रहती हैं, पर इन्द्रियोंके बिना विषयोंकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। विषयोंमें यह सामर्थ्य नहीं कि वे इन्द्रियोंको प्रकाशित करें, प्रत्युत इन्द्रियाँ विषयोंको प्रकाशित करती हैं। इन्द्रियाँ वही रहती हैं, पर विषय बदलते रहते हैं। इन्द्रियाँ व्यापक हैं और विषय व्याप्य हैं अर्थात् विषय इन्द्रियोंके अन्तर्गत आते हैं, पर इन्द्रियाँ विषयोंके अन्तर्गत नहीं आतीं। विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। इसलिये विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म हैं।

'**इन्द्रियेभ्यः परं मनः**'—इन्द्रियाँ मनको नहीं जानतीं, पर मन सभी इन्द्रियोंको जानता है। इन्द्रियोंमें भी प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयको ही जानती है, अन्य इन्द्रियोंके विषयोंको नहीं; जैसे—कान केवल शब्दको जानते हैं, पर स्पर्श, रूप, रस और गंधको नहीं जानते; त्वचा केवल स्पर्शको जानती है, पर शब्द, रूप, रस और गन्धको नहीं जानती; नेत्र केवल रूपको जानते हैं, पर शब्द, स्पर्श, रस और गन्धको नहीं जानते; रसना केवल रसको जानती है, पर शब्द, स्पर्श, रूप और गन्धको नहीं जानती; और नासिका केवल गन्धको जानती है, पर शब्द, स्पर्श, रूप और रसको नहीं जानती; परन्तु मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको जानता है। इसलिये मन इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म है।

'**मनसस्तु परा बुद्धिः**'—मन बुद्धिको नहीं जानता, पर बुद्धि मनको जानती है। मन कैसा है? शान्त है या व्याकुल? ठीक है या बेठीक? इत्यादि बातोंको बुद्धि जानती है। इन्द्रियाँ ठीक काम करती हैं या नहीं?—इसको भी बुद्धि जानती है, तात्पर्य है कि बुद्धि मनको तथा उसके संकल्पोंको भी जानती है और इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको भी जानती है। इसलिये इन्द्रियोंसे पर जो मन है, उस मनसे भी बुद्धि पर (श्रेष्ठ, बलवान्, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म) है।

'**यः बुद्धेः परतस्तु सः**'—बुद्धिका स्वामी 'अहम्' है, इसलिये कहता है—'मेरी बुद्धि।' बुद्धि करण है और 'अहम्' कर्ता है। करण परतन्त्र होता है, पर कर्ता स्वतन्त्र होता है। उस 'अहम्'में जो जड-अंश है, उसमें 'काम' रहता है। जड-अंशसे तादात्म्य होनेके कारण वह काम स्वरूप-(चेतन-)में रहता प्रतीत होता है।

वास्तवमें 'अहम्' में ही 'काम' रहता है; क्योंकि वही भोगोंकी इच्छा करता है और सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। भोक्ता, भोग और भोग्य—इन तीनोंमें सजातीयता (जातीय एकता) है। इनमें सजातीयता न हो तो भोक्तामें भोग्यकी कामना या आकर्षण हो ही नहीं सकता। भोक्तापनका जो प्रकाशक है, जिसके प्रकाशमें भोक्ता, भोग और भोग्य—तीनोंकी सिद्धि होती है, उस परम प्रकाशक- (शुद्ध चेतन-) में 'काम' नहीं है। 'अहम्' तक सब प्रकृतिका अंश है। उस 'अहम्' से भी आगे साक्षात् परमात्माका अंश 'स्वयं' है, जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्—इन सबका आश्रय, आधार, कारण और प्रेरक है तथा श्रेष्ठ, बलवान्, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म है।

जड-(प्रकृति-)का अंश ही सुख-दुःखरूपमें परिणत होता है अर्थात् सुख-दुःखरूप विकृति जडमें ही होती है। चेतनमें विकृति नहीं है, प्रत्युत चेतन विकृतिका ज्ञाता है; परन्तु जडसे तादात्म्य होनेसे सुख-दुःखका भोक्ता चेतन ही बनता है अर्थात् चेतन ही सुखी-दुःखी होता है। केवल

जडमें सुखी-दु:खी होना नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि 'अहम्'में जो जड-अंश है, उसके साथ तादात्म्य कर लेनेसे चेतन भी अपनेको 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसा मान लेता है। परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार होते ही रसबुद्धि निवृत्त हो जाती है—'**रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २। ५९)। इसमें '**अस्य**' पद भोक्ता बने हुए '**अहम्**' का वाचक है और जो भोक्तापनसे निर्लिप्त तत्त्व है, उस परमात्माका वाचक '**परम**' पद है। उसके ज्ञानसे रस अर्थात् 'काम' निवृत्त हो जाता है। कारण कि सुखके लिये ही कामना होती है और स्वरूप सहजसुखराशि है। इसलिये परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेसे 'काम' (संयोगजन्य सुखकी इच्छा) सर्वदा और सर्वथा मिट जाता है।

मार्मिक बात

स्थूलशरीर 'विषय' है, इन्द्रियाँ 'बहि:करण' हैं और मन-बुद्धि 'अन्त:करण' हैं। स्थूलशरीरसे इन्द्रियाँ पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म) हैं तथा इन्द्रियोंसे बुद्धि पर है। बुद्धिसे भी पर 'अहम्' है, जो कर्ता है। उस 'अहम्'-(कर्ता-) में 'काम' अर्थात् लौकिक इच्छा रहती है।

अपनी सत्ता (होनापन) अर्थात् अपना स्वरूप चेतन, निर्विकार और सत्-चित्-आनन्दरूप है। जब वह जड-(प्रकृतिजन्य शरीर-) के साथ तादात्म्य कर लेता है, तब 'अहम्' उत्पन्न होता है और स्वरूप 'कर्ता' बन जाता है। इस प्रकार कर्तामें एक जड-अंश होता है और एक चेतन-अंश। जड-अंशकी मुख्यतासे संसारकी तरफ और चेतन-अंशकी मुख्यतासे परमात्माकी तरफ आकर्षण होता है*। तात्पर्य यह है कि उसमें जड-अंशकी प्रधानतासे लौकिक (संसारकी) इच्छाएँ रहती हैं और चेतन-अंशकी प्रधानतासे पारमार्थिक (परमात्माकी) इच्छा रहती है। जड-अंश मिटनेवाला है, इसलिये लौकिक इच्छाएँ मिटनेवाली हैं और चेतन-अंश सदा रहनेवाला है, इसलिये पारमार्थिक इच्छा पूरी होनेवाली है। इसलिये लौकिक इच्छाओं-(कामनाओं-) की निवृत्ति और पारमार्थिक इच्छा-(संसारसे छूटनेकी इच्छा, स्वरूपबोधकी जिज्ञासा और भगवत्प्रेमकी अभिलाषा-) की पूर्ति होती है। लौकिक इच्छाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, पर टिक नहीं सकतीं। परन्तु पारमार्थिक इच्छा दब सकती है, पर मिट नहीं सकती। कारण कि लौकिक इच्छाएँ अवास्तविक और पारमार्थिक इच्छा वास्तविक है। इसलिये साधकको न तो लौकिक इच्छाओंकी पूर्तिकी आशा रखनी चाहिये और न पारमार्थिक इच्छाकी पूर्तिसे निराश ही होना चाहिये।

वस्तुत: मूलमें इच्छा एक ही है, जो अपने अंशी परमात्माकी है। परन्तु जडके सम्बन्धसे इस इच्छाके दो भेद हो जाते हैं और मनुष्य अपनी वास्तविक इच्छाकी पूर्ति परिवर्तनशील जड-(संसार-) के द्वारा करनेके लिये जड-पदार्थोंकी इच्छाएँ करने लगता है, जो उसकी भूल है। कारण कि लौकिक इच्छाएँ 'परधर्म' और पारमार्थिक इच्छा 'स्वधर्म' है। परन्तु साधकमें लौकिक और पारमार्थिक—दोनों इच्छाएँ रहनेसे द्वन्द्व पैदा हो जाता है। द्वन्द्व होनेसे साधकमें भजन, ध्यान, सत्संग आदिके समय तो पारमार्थिक इच्छा जाग्रत् रहती है, पर अन्य समयमें उसकी पारमार्थिक इच्छा दब जाती है और लौकिक (भोग एवं संग्रहकी) इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। लौकिक इच्छाओंके रहते हुए साधकमें साधन करनेका एक निश्चय स्थिर नहीं रह सकता। पारमार्थिक इच्छा जाग्रत् हुए बिना साधककी उन्नति नहीं होती। जब साधकका एकमात्र परमात्मप्राप्ति करनेका दृढ़ उद्देश्य हो जाता है, तब यह द्वन्द्व मिट जाता है और साधकमें एक पारमार्थिक इच्छा ही प्रबल रह जाती है। एक ही पारमार्थिक इच्छा प्रबल रहनेसे साधक सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति कर लेता है (गीता—पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। इसलिये लौकिक और पारमार्थिक इच्छाका द्वन्द्व मिटाना साधकके लिये बहुत आवश्यक है।

शुद्ध स्वरूपमें अपने अंशी परमात्माकी ओर स्वत: एक आकर्षण या रुचि विद्यमान रहती है, जिसको 'प्रेम' कहते

*** जड-चेतनके तादात्म्य और आकर्षणको समझनेके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। चार कोनोंवाले किसी लोहेका अग्निसे तादात्म्य अर्थात् सम्बन्ध होनेपर लोहेमें जलानेकी शक्ति न होनेपर भी वह जलानेवाला हो जाता है; और अग्नि चार कोनोंवाली न होनेपर भी चार कोनोंवाली हो जाती है। अग्निसे तादात्म्य होनेपर भी चुम्बककी ओर लोहा ही आकर्षित होता है, अग्नि नहीं; क्योंकि चुम्बकके साथ लोहेकी सजातीयता है। अग्नि अपने सजातीय निराकार अग्नि-तत्त्वकी ओर ही आकर्षित होती है, इसलिये वह स्वत: शान्त हो जाती है। इसी प्रकार जड और चेतनके तादात्म्यमें जड-अंश संसारकी ओर एवं चेतन-अंश परमात्माकी ओर आकर्षित होता है। चेतन-अंशके परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर जड-अंश छूट जाता है; क्योंकि जड अनित्य है। परन्तु जड-अंशके संसारकी ओर आकृष्ट होनेपर भी चेतन-अंश नहीं छूटता; क्योंकि चेतन नित्य है।**

हैं। जब वह संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह 'प्रेम' दब जाता है और 'काम' उत्पन्न हो जाता है। जबतक 'काम' रहता है, तबतक 'प्रेम' जाग्रत् नहीं होता। जबतक 'प्रेम' जाग्रत् नहीं होता, तबतक 'काम' का सर्वथा नाश नहीं होता। जड-अंशकी मुख्यतासे जिसमें सांसारिक भोगोंकी इच्छा (काम) रहती है, उसीमें चेतन-अंशकी मुख्यतासे परमात्माकी इच्छा भी रहती है। अतः वास्तवमें 'काम' का निवास जड-अंशमें ही है, पर वह भी चेतनके सम्बन्धसे ही है। चेतनका सम्बन्ध छूटते ही 'काम' का नाश हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि चेतनद्वारा जडसे सम्बन्ध-विच्छेद करते ही जड-चेतनके तादात्म्यरूप 'अहम्' का नाश हो जाता है और 'अहम्' का नाश होते ही 'काम' भी नष्ट हो जाता है।

'अहम्'में जो जड-अंश है, उसमें 'काम' रहता है—इसकी प्रबल युक्ति यह है कि दृश्यरूपसे दीखनेवाला संसार, उसे देखनेवाली इन्द्रियाँ तथा बुद्धि और उसे देखनेवाला स्वयं भोक्ता—इन तीनोंमें जातीय (धातुगत) एकताके बिना भोक्ताका भोग्यकी ओर आकर्षण हो ही नहीं सकता। कारण कि आकर्षण सजातीयतामें ही होता है, विजातीयतामें नहीं; जैसे—नेत्रोंका रूपके प्रति ही आकर्षण होता है, शब्दके प्रति नहीं। यही बात सब इन्द्रियोंमें लागू होती है। बुद्धिका भी समझनेके विषय-(विवेक-विचार-) में आकर्षण होता है, शब्दादि विषयोंमें नहीं (यदि होता है तो इन्द्रियोंको साथमें लेनेसे ही होता है)। ऐसे ही स्वयं-(चेतन-) की परमात्मासे तात्त्विक एकता है, इसलिये 'स्वयं'का परमात्माकी ओर आकर्षण होता है। यह तात्त्विक एकता जड-अंशका सर्वथा त्याग करनेसे अर्थात् जडसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद करनेसे ही अनुभवमें आती है। अनुभवमें आते ही 'प्रेम' जाग्रत् हो जाता है। प्रेममें जडता-(असत्-) का अंश भी शेष नहीं रहता अर्थात् जडताका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

प्रकृतिके कार्य महत्तत्त्व-(समष्टि बुद्धि-) का अत्यन्त सूक्ष्म अंश 'कारणशरीर' ही 'अहम्' का जड-अंश है। इस कारणशरीरमें ही 'काम' रहता है। कारणशरीरके तादात्म्यसे 'काम' स्वयंमें दीखता है। तादात्म्य मिटनेपर जिसमें 'काम' का लेश भी नहीं है, ऐसे अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है। स्वरूपका अनुभव हो जानेपर 'काम' सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

'**एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा**'—पहले शरीरसे पर इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे पर मन, मनसे पर बुद्धि और बुद्धिसे पर 'काम' को बताया गया। अब उपर्युक्त पदोंमें बुद्धिसे पर 'काम' को जाननेके लिये कहनेका अभिप्राय यह है कि यह 'काम' 'अहम्'में रहता है। अपने वास्तविक स्वरूपमें 'काम' नहीं है। यदि स्वरूपमें 'काम' होता तो कभी मिटता नहीं। नाशवान् जडके साथ तादात्म्य कर लेनेसे ही 'काम' उत्पन्न होता है। तादात्म्यमें भी 'काम' रहता तो जडमें ही है, पर दीखता है स्वरूपमें। इसलिये बुद्धिसे परे रहनेवाले इस 'काम'को जानकर उसका नाश कर देना चाहिये।

'**संस्तभ्यात्मानमात्मना**'—बुद्धिसे परे 'अहम्' में रहनेवाले 'काम'को मारनेका उपाय है—अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करना अर्थात् अपना सम्बन्ध केवल अपने शुद्ध स्वरूपके साथ अथवा अपने अंशी भगवान्‌के साथ रखना, जो वास्तवमें है। छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें '**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' पदसे और छठे श्लोकमें '**येनात्मैवात्मना जितः**' पदोंसे भी यही बात कही गयी है।

स्वरूप (स्वयं) साक्षात् परमात्माका अंश है और शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि संसारके अंश हैं। जब स्वरूप अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर प्रकृति-(संसार-) के सम्मुख हो जाता है, तब उसमें कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कामनाएँ अभावसे उत्पन्न होती हैं और अभाव संसारके सम्बन्धसे होता है; क्योंकि संसार अभावरूप ही है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही कामनाओंका नाश हो जाता है; क्योंकि स्वरूपमें अभाव नहीं है—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)।

परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध माननेपर भी जीवकी वास्तविक इच्छा (आवश्यकता या भूख) अपने अंशी परमात्माको प्राप्त करनेकी ही होती है। 'मैं सदा जीता रहूँ; मैं सब कुछ जान जाऊँ; मैं सदाके लिये सुखी हो जाऊँ'—इस रूपमें वह वास्तवमें सत्-चित्- आनन्द-स्वरूप परमात्माकी ही इच्छा करता है, पर संसारसे सम्बन्ध माननेके कारण वह भूलसे इन इच्छाओंको संसारसे ही पूरी करना चाहता है—यही 'काम' है। इस 'काम'की पूर्ति तो कभी हो ही नहीं सकती। इसलिये इस 'काम'का नाश तो करना ही पड़ेगा।

जिसने संसारसे अपना सम्बन्ध जोड़ा है, वही उसे तोड़ भी सकता है। इसलिये भगवान्‌ने अपने द्वारा ही संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करके 'काम' को मारनेकी आज्ञा दी है।

अपने द्वारा ही अपने-आपको वशमें करनेमें कोई अभ्यास नहीं है; क्योंकि अभ्यास संसार-(शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि-) की सहायतासे ही होता है। इसलिये अभ्यासमें संसारके सम्बन्धकी सहायता लेनी पड़ती है। वास्तवमें अपने स्वरूपमें स्थिति अथवा परमात्माकी प्राप्ति संसारकी सहायतासे नहीं होती, प्रत्युत संसारके त्याग-(सम्बन्ध-विच्छेद-) से, अपने-आपसे होती है।

मार्मिक बात

जब चेतन अपना सम्बन्ध जडके साथ मान लेता है, तब उसमें संसार-(भोग-) की भी इच्छा होती है और परमात्माकी भी। जडसे सम्बन्ध माननेपर जीवसे यही भूल होती है कि वह सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माकी इच्छा—अभिलाषाको संसारसे ही पूरी करनेके लिये सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा करने लगता है। परिणामस्वरूप उसकी ये दोनों ही इच्छाएँ (स्वरूपबोधके बिना) कभी मिटती नहीं।

संसारको जाननेके लिये संसारसे अलग होना और परमात्माको जाननेके लिये परमात्मासे अभिन्न होना आवश्यक है; क्योंकि वास्तवमें 'स्वयं' की संसारसे भिन्नता और परमात्मासे अभिन्नता है। परन्तु संसारकी इच्छा करनेसे 'स्वयं' संसारसे अपनी अभिन्नता या समीपता मान लेता है, जो कभी सम्भव नहीं; और परमात्माकी इच्छा करनेसे 'स्वयं' परमात्मासे अपनी भिन्नता या दूरी (विमुखता) मान लेता है, पर इसकी सम्भावना ही नहीं। हाँ, सांसारिक इच्छाओंको मिटानेके लिये पारमार्थिक इच्छा करना बहुत उपयोगी है। यदि पारमार्थिक इच्छा तीव्र हो जाय तो लौकिक इच्छाएँ स्वतः मिट जाती हैं। लौकिक इच्छाएँ सर्वथा मिटनेपर पारमार्थिक इच्छा पूरी हो जाती है अर्थात् नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है[1]। कारण कि वास्तवमें परमात्मा सदा-सर्वत्र विद्यमान है, पर लौकिक इच्छाएँ रहनेसे उनका अनुभव नहीं होता।

'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'—**'महाबाहो'** का अर्थ है—बड़ी और बलवान् भुजाओंवाला अर्थात् शूरवीर। अर्जुनको **'महाबाहो'** अर्थात् शूरवीर कहकर भगवान् यह लक्ष्य कराते हैं कि तुम इस 'काम'-रूप शत्रुका दमन करनेमें समर्थ हो।

संसारसे सम्बन्ध रखते हुए 'काम' का नाश करना बहुत कठिन है। यह 'काम' बड़ों-बड़ोंके भी विवेकको ढककर उन्हें कर्तव्यसे च्युत कर देता है, जिससे उनका पतन हो जाता है। इसलिये भगवान्ने इसे दुर्जय शत्रु कहा है। 'काम' को दुर्जय शत्रु कहनेका तात्पर्य इससे अधिक सावधान रहनेमें है, इसे दुर्जय समझकर निराश होनेमें नहीं।

प्रत्येक कामनाकी उत्पत्ति, पूर्ति, अपूर्ति और निवृत्ति होती है, इसलिये मात्र कामनाएँ उत्पन्न और नष्ट होनेवाली हैं। परन्तु 'स्वयं' निरन्तर रहता है और कामनाओंके उत्पन्न तथा नष्ट होनेको जानता है। अतः कामनाओंसे वह सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है; क्योंकि वास्तवमें सम्बन्ध है ही नहीं। इसलिये साधकको कामनाओंसे कभी घबराना नहीं चाहिये। यदि साधकका अपने कल्याणका पक्का उद्देश्य है[2] तो वह 'काम'को सुगमतापूर्वक मार सकता है।

कामनाओंके त्यागमें अथवा परमात्माके प्राप्तिमें सब स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ हैं। परन्तु कामनाओंकी पूर्तिमें कोई भी स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ नहीं है। कारण कि कामना पूरी होनेवाली है ही नहीं। परमात्माने मानव-शरीर अपनी प्राप्तिके लिये ही दिया है।

१-यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २। ३। १४; बृहदा० ४। ४। ७)

'साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं (मनुष्यशरीरमें ही) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।'

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्। तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥ (श्रीमद्भा० ७। १०। ९)

'कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली समस्त कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है।'

२-उद्देश्य या लक्ष्य सदैव अविनाशी-(चेतन-तत्त्व—परमात्मा-) का ही होता है, नाशवान्-(संसार-) का नहीं। नाशवान्की कामनाएँ ही होती हैं, उद्देश्य नहीं होता। उद्देश्य वह होता है, जिसे मनुष्य निरन्तर चाहता है। चाहे शरीरके टुकड़े-टुकड़े ही क्यों न कर दिये जायँ, तो भी वह उद्देश्यको ही चाहता है। उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है, पर कामनाओंकी सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत नाश होता है। उद्देश्य सदा एक ही रहता है, पर कामनाएँ बदलती रहती हैं।

अत: कामनाका त्याग करना कठिन नहीं है। सांसारिक भोग-पदार्थोंको महत्त्व देनेके कारण ही कामनाका त्याग कठिन मालूम देता है।

सुख-(अनुकूलता-)की कामनाको मिटानेके लिये ही भगवान् समय-समयपर दु:ख (प्रतिकूलता) भेजते हैं कि सुखकी कामना मत करो; कामना करोगे तो दु:ख पाना ही पड़ेगा। सांसारिक पदार्थोंकी कामनावाला मनुष्य दु:खसे कभी बच ही नहीं सकता—यह नियम है; क्योंकि संयोग-जन्य भोग ही दु:खके हेतु हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

'स्वयं'-(स्वरूप-) में अनन्त बल है। उसकी सत्ता और बलको पाकर ही बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ सत्तावान् एवं बलवान् होते हैं। परन्तु जडसे सम्बन्ध जोड़नेके कारण वह अपने बलको भूल रहा है और अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मान रहा है। अतएव 'काम'-रूप शत्रुको मारनेके लिये अपने-आपको जानना और अपने बलको पहचानना बड़ा आवश्यक है।

'काम' जडके सम्बन्धसे और जडमें ही होता है। तादात्म्य होनेसे वह स्वयंमें प्रतीत होता है। जडका सम्बन्ध न रहे तो 'काम' है ही नहीं। इसलिये यहाँ 'काम' को मारनेका तात्पर्य वस्तुत: 'काम' का सर्वथा अभाव बतानेमें ही है। इसके विपरीत यदि 'काम' अर्थात् कामनाकी सत्ताको मानकर उसे मिटानेकी चेष्टा करें तो कामनाका मिटना कठिन है। कारण कि वास्तवमें कामनाकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। कामना उत्पन्न होती है और उत्पन्न होनेवाली वस्तु नष्ट होगी ही—यह नियम है। नयी कामना न करें तो पहलेकी कामनाएँ अपने-आप नष्ट हो जायँगी। इसलिये कामनाको मिटानेका तात्पर्य है—नयी कामना न करना।

शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' माननेसे ही अपने-आपमें कमीका अनुभव होता है, पर मनुष्य भूलसे उस कमीकी पूर्ति भी सांसारिक पदार्थोंसे ही करना चाहता है। इसलिये वह उन पदार्थोंकी कामना करता है। परन्तु वास्तवमें आजतक सांसारिक पदार्थोंसे किसीकी भी कमीकी पूर्ति हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। कारण कि स्वयं अविनाशी है और पदार्थ नाशवान् हैं। स्वयं अविनाशी होकर भी नाशवान्की कामना करनेसे लाभ तो कोई होता नहीं और हानि कोई-सी भी बाकी रहती नहीं। इसलिये भगवान् कामनाको शत्रु बताते हुए उसे मार डालनेकी आज्ञा देते हैं।

कर्मयोगके द्वारा इस कामनाका नाश सुगमतासे हो जाता है। कारण कि कर्मयोगका साधक संसारकी छोटी-से-छोटी अथवा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर दूसरोंके लिये ही करता है, कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं। वह प्रत्येक क्रिया निष्कामभावसे एवं दूसरोंके हित और सुखके लिये ही करता है, अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। उसके पास जो समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य है, वह सब अपनी नहीं है, प्रत्युत मिली हुई है और बिछुड़ जायगी। इसलिये वह उसे अपनी कभी न मानकर नि:स्वार्थभावसे (संसारकी ही मानकर) संसारकी ही सेवामें लगा देता है। उसे पूरी-की-पूरी संसारकी सेवामें लगा देता है, अपने पास बचाकर नहीं रखता। अपना न माननेसे ही वह पूरी-की-पूरी सेवामें लगती है, अन्यथा नहीं।

कर्मयोगी अपने लिये कुछ करता ही नहीं, अपने लिये कुछ चाहता ही नहीं और अपना कुछ मानता ही नहीं। इसलिये उसमें कामनाओंका नाश सुगमतापूर्वक हो जाता है। कामनाओंका सर्वथा नाश होनेपर उसके उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है और वह अपने-आपमें ही अपने-आपको पाकर कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

परिशिष्ट भाव—भगवान्ने इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिका नाम तो लिया है, पर 'अहम्' का नाम नहीं लिया। अहम् बुद्धिसे परे है। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भी भगवान्ने बुद्धिके बाद अहम्को लिया है—'**भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे ....**'। अत: यहाँ भी '**स:**' पदसे अहम्में रहनेवाले 'काम' को लेना चाहिये।

जबतक स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता, तबतक अहम्में काम रहता है। स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर अहम्में काम नहीं रहता—'**परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २। ५९)। सुख तो है स्वरूपमें, पर कामके कारण मनुष्य जड़ताको सत्ता और महत्ता देकर उससे सुख चाहता है। जबतक जड़ताका सम्बन्ध है, तबतक 'काम' है, जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'प्रेम' होता है।

'काम' अपनेमें है—'**रसोऽप्यस्य**' (गीता २। ५९)। अपनेमें होनेसे ही काम हमारे लिये बाधक होता है। अगर यह अपनेमें न हो, दूसरे (इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)-में हो तो हमारेको क्या बाधा लगी? अपनेमें काम होनेसे ही स्वयं

सुखी-दुःखी होता है, कर्ता-भोक्ता होता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो काम अपनेमें माना हुआ है, अपनेमें है नहीं, तभी यह मिटता है। अतः काम अपनेमें नहीं है, पर माना हुआ है।

अहम्‌में रहनेवाली चीजको मनुष्य अपनेमें मान लेता है। अपनेमें अहम् माना हुआ है और उस अहम्‌में काम रहता है। अतः जबतक अहम् है, तबतक अहम्‌की जातिका आकर्षण अर्थात् 'काम' होता है और जब अहम् नहीं रहता, तब स्वयंकी जातिका आकर्षण अर्थात् 'प्रेम' होता है। काममें संसारकी तरफ और प्रेममें परमात्माकी तरफ आकर्षण होता है।

सम्पूर्ण त्रिलोकी, अनन्त ब्रह्माण्ड 'विषय' है। विषय इन्द्रियोंके एक देशमें हैं, इन्द्रियाँ मनके एक देशमें हैं, मन बुद्धिके एक देशमें है, बुद्धि अहम्‌के एक देशमें है और अहम् चेतन (स्वरूप)-के एक देशमें है। अतः चेतन अत्यन्त महान् है, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण त्रिलोकी, अनन्त ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। परन्तु अपरा प्रकृतिके एक अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेके कारण मनुष्य अपनेको अत्यन्त छोटा (एकदेशीय) देखता है!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ॥ ३ ॥

इस तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' है; क्योंकि कर्मयोगका जितना विशद वर्णन तीसरे अध्यायमें है, उतना गीताके अन्य अध्यायोंमें नहीं है।

तीसरे अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ तृतीयोऽध्यायः**'के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके आठ श्लोकोंके पाँच सौ बयालीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ छाछठ है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ तृतीयोऽध्यायः**' के सात, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके छब्बीस, श्लोकोंके एक हजार तीन सौ छिहत्तर और पुष्पिकाके पैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार चार सौ चौवन है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें चार उवाच हैं—दो '**अर्जुन उवाच**' और दो '**श्रीभगवानुवाच**'।

तीसरे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके तैंतालीस श्लोकोंमेंसे—पहले और सैंतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; पाँचवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; उन्नीसवें, छब्बीसवें, और पैंतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा आठवें और इक्कीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; और सातवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' और तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**संकीर्ण-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष तैंतीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अवतरणिका—

*श्रीभगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें अर्जुनसे कहा कि ज्ञानयोगमें अपने विवेकके अनुसार विचारपूर्वक चलनेसे जिस समबुद्धिकी प्राप्ति होती है, उसीको तू कर्मयोगके विषयमें सुन अर्थात् कर्मयोगमें निष्कामभावपूर्वक परहितार्थ कर्तव्य-कर्म करनेसे यह समबुद्धि कैसे प्राप्त होती है, इसे सुन—'***एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।***' फिर कर्मयोगका वर्णन करते हुए प्रसंगानुसार अर्जुनके प्रश्न करनेपर स्थितप्रज्ञके लक्षण बताकर अध्यायका विषय समाप्त किया।*

*तीसरे अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया कि आपके मतमें जब बुद्धि श्रेष्ठ मान्य है, तो फिर आप मुझे घोर कर्म-(युद्ध-) में क्यों लगाते हैं? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने चौथे श्लोकसे उनतीसवें श्लोकतक विविध प्रकारसे कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए सिद्ध किया कि कर्तव्य-कर्म करनेसे ही समबुद्धि प्राप्त होती है। फिर तीसवें श्लोकमें भगवन्निष्ठाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी विशेष विधि बतायी कि विवेकपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण करके तथा निष्काम, निर्मम और निःसन्ताप होकर शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंको करना चाहिये। कर्तव्य-कर्म करनेकी इस विधिको 'अपना मत' कहते हुए भगवान्‌ने इकतीसवें-बत्तीसवें श्लोकोंमें अन्वय और व्यतिरेक विधिसे अपने इस मतकी पुष्टि की तथा पैंतीसवें श्लोकमें इस विधिके पालनपर विशेष जोर देते हुए कहा कि अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मरना भी श्रेयस्कर है—'***स्वधर्मे निधनं श्रेयः।***' इसपर अर्जुनने छत्तीसवें श्लोकमें प्रश्न किया कि मनुष्य न चाहते हुए भी किससे प्रेरित होकर पाप (अकर्तव्य) कर बैठता है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने 'काम' अर्थात् कामनाको ही सारे पापों, अनर्थोंका हेतु बताकर अन्तमें कामरूप शत्रुको मार डालनेकी आज्ञा दी।*

*यद्यपि तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकसे भगवान् लगातार उपदेश दे रहे हैं, तथापि तैंतालीसवें श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर समाप्त होनेपर महर्षि वेदव्यासजी तीसरे अध्यायकी समाप्ति कर देते हैं और नया (चौथा) अध्याय आरम्भ कर देते हैं। इससे ऐसा मालूम देता है कि अर्जुनके प्रश्नका उत्तर समाप्त होनेपर भगवान् कुछ समयके लिये रुक जाते हैं; फिर दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें-अड़तालीसवें श्लोकोंसे जिस कर्मयोगका विषय चल रहा था, उसीको चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें '***इमम्***' पदसे पुनः आरम्भ करते हैं। अतः चौथा अध्याय तीसरे अध्यायका ही परिशिष्ट माना जाता है।*

*कर्मयोगमें दो बातें मुख्य हैं—१—कर्तव्य-कर्मोंका आचरण और २—कर्तव्य-कर्मोंके विषयमें विशेष जानकारी। अर्जुन कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना चाहते हैं, इसीलिये तीसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌से कहते हैं कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? अतः तीसरे अध्यायमें तो भगवान् अनेक प्रकारसे कर्तव्य-कर्मोंके आचरणकी आवश्यकतापर विशेष जोर देते हैं और साथ ही कर्मयोगको समझनेकी तात्त्विक बातें भी कहते हैं; परन्तु इस चौथे अध्यायमें कर्मयोगकी तात्त्विक बातोंको समझनेपर विशेष जोर देते हुए कर्तव्य-कर्मोंका पालन करना आवश्यक बताते हैं। तात्पर्य यह है कि तीसरे और चौथे—दोनों ही अध्यायोंमें उपर्युक्त दोनों बातें कही गयी हैं; किन्तु तीसरे अध्यायमें कर्तव्य-कर्मोंके आचरणकी बात मुख्य है और चौथे अध्यायमें कर्तव्य-कर्मोंके विषयमें समझ-(जानकारी-) की बात मुख्य है—'***तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्***' (४। १६)।*

जो कर्मयोग अनादि होते हुए भी इस भूमण्डलपर जाननेवाले विशेष पुरुषके न रहनेसे बहुत कालसे लुप्तप्राय हो गया था, उसी कर्मयोगका वर्णन पुनः आरम्भ करते हुए भगवान् पहले तीन श्लोकोंमें कर्मयोगकी परम्परा बताकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

अहम्	= मैंने	**विवस्वते**	= सूर्यसे	**प्राह**	= कहा (और)
इमम्	= इस	**प्रोक्तवान्**	= कहा था। (फिर)	**मनुः**	= मनुने (अपने पुत्र)
अव्ययम्	= अविनाशी	**विवस्वान्**	= सूर्यने (अपने पुत्र)	**इक्ष्वाकवे**	= राजा इक्ष्वाकुसे
योगम्	= योग (कर्मयोग)-को	**मनवे**	= (वैवस्वत) मनुसे	**अब्रवीत्**	= कहा।

व्याख्या—'**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**'—भगवान्ने जिन सूर्य, मनु और इक्ष्वाकु राजाओंका उल्लेख किया है, वे सभी गृहस्थ थे और उन्होंने गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही कर्मयोगके द्वारा परमसिद्धि प्राप्त की थी; अतः यहाँके '**इमम्, अव्ययम्, योगम्**' पदोंका तात्पर्य पूर्वप्रकरणके अनुसार तथा राजपरम्पराके अनुसार 'कर्मयोग' लेना ही उचित प्रतीत होता है।

यद्यपि पुराणोंमें और उपनिषदोंमें भी कर्मयोगका वर्णन आता है, तथापि वह गीतामें वर्णित कर्मयोगके समान सांगोपांग और विस्तृत नहीं है। गीतामें भगवान्ने विविध युक्तियोंसे कर्मयोगका सरल और सांगोपांग विवेचन किया है। कर्मयोगका इतना विशद वर्णन पुराणों और उपनिषदोंमें देखनेमें नहीं आता।

भगवान् नित्य हैं और उनका अंश जीवात्मा भी नित्य है तथा भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध भी नित्य है। अतः भगवत्प्राप्तिके सब मार्ग (योगमार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग आदि) भी नित्य हैं।* यहाँ '**अव्ययम्**' पदसे भगवान् कर्मयोगकी नित्यताका प्रतिपादन करते हैं।

परमात्माके साथ जीवका स्वतःसिद्ध सम्बन्ध (नित्य-योग) है। जैसे पतिव्रता स्त्रीको पतिकी होनेके लिये करना कुछ नहीं पड़ता; क्योंकि वह पतिकी तो है ही, ऐसे ही साधकको परमात्माका होनेके लिये करना कुछ नहीं है, वह तो परमात्माका है ही; परन्तु अनित्य क्रिया, पदार्थ, घटना आदिके साथ जब वह अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसे 'नित्ययोग' अर्थात् परमात्माके साथ अपने नित्यसम्बन्धका अनुभव नहीं होता। अतः उस अनित्यके साथ माने हुए सम्बन्धको मिटानेके लिये कर्मयोगी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि मिली हुई समस्त वस्तुओंको संसारकी ही मानकर संसारकी सेवामें लगा देता है। वह मानता है कि जैसे धूलका छोटा-से-छोटा कण भी विशाल पृथ्वीका ही एक अंश है, ऐसे ही यह शरीर भी विशाल ब्रह्माण्डका ही एक अंश है। ऐसा माननेसे 'कर्म' तो संसारके लिये होंगे, पर 'योग' (नित्ययोग) अपने लिये होगा अर्थात् नित्य-योगका अनुभव हो जायगा।

भगवान् '**विवस्वते प्रोक्तवान्**' पदोंसे साधकोंको मानो यह लक्ष्य कराते हैं कि जैसे सूर्य सदा चलते ही रहते हैं अर्थात् कर्म करते ही रहते हैं और सबको प्रकाशित करनेपर भी स्वयं निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे ही साधकोंको भी प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन स्वयं करते रहना चाहिये (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक) और दूसरोंको भी कर्मयोगकी शिक्षा देकर लोकसंग्रह करते रहना चाहिये; पर स्वयं उनसे निर्लिप्त (निष्काम, निर्मम और अनासक्त) रहना चाहिये।

सृष्टिमें सूर्य सबके आदि हैं। सृष्टिकी रचनाके समय भी सूर्य जैसे पूर्वकल्पमें थे, वैसे ही प्रकट हुए—'**सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**'। उन (सबके आदि) सूर्यको भगवान्ने अविनाशी कर्मयोगका उपदेश दिया। इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् सबके आदिगुरु हैं और साथ ही कर्मयोग भी अनादि है। भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि मैं तुम्हें जो कर्मयोगकी बात बता रहा हूँ, वह कोई आजकी नयी बात नहीं है। जो योग सृष्टिके आदिसे अर्थात् सदासे है, उसी योगकी बात मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

प्रश्न—भगवान्ने सृष्टिके आदिकालमें सूर्यको कर्म-योगका उपदेश क्यों दिया?

उत्तर—(१) सृष्टिके आरम्भमें भगवान्ने सूर्यको ही कर्मयोगका वास्तविक अधिकारी जानकर उन्हें सर्वप्रथम इस

*** गीताके आठवें अध्यायमें भगवान्ने शुक्ल और कृष्ण—दोनों गतियोंको भी नित्य बताया है—शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते (गीता ८। २६)।**

योगका उपदेश दिया।

(२) सृष्टिमें जो सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, उसे ही उपदेश दिया जाता है; जैसे—ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिमें प्रजाओंको उपदेश दिया (गीता—तीसरे अध्यायका दसवाँ श्लोक)। उपदेश देनेका तात्पर्य है—कर्तव्यका ज्ञान कराना। सृष्टिमें सर्वप्रथम सूर्यकी उत्पत्ति हुई, फिर सूर्यसे समस्त लोक उत्पन्न हुए। सबको उत्पन्न करनेवाले[1] सूर्यको सर्वप्रथम कर्मयोगका उपदेश देनेका अभिप्राय उनसे उत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टिको परम्परासे कर्मयोग सुलभ करा देना था।

(३) सूर्य सम्पूर्ण जगत्के नेत्र हैं। उनसे ही सबको ज्ञान प्राप्त होता है एवं उनके उदित होनेपर प्रायः समस्त प्राणी जाग्रत् हो जाते हैं और अपने-अपने कर्मोंमें लग जाते हैं। सूर्यसे ही मनुष्योंमें कर्तव्य-परायणता आती है। सूर्यको सम्पूर्ण जगत्की आत्मा भी कहा गया है—**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।'**[2] अतः सूर्यको जो उपदेश प्राप्त होगा, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको भी स्वतः प्राप्त हो जायगा। इसलिये भगवान्ने सर्वप्रथम सूर्यको ही उपदेश दिया।

वास्तवमें नारायणके रूपमें उपदेश देना और सूर्यके रूपमें उपदेश ग्रहण करना जगन्नाट्यसूत्रधार भगवान्की एक लीला ही समझनी चाहिये, जो संसारके हितके लिये बहुत आवश्यक थी। जिस प्रकार अर्जुन महान् ज्ञानी नर-ऋषिके अवतार थे; परन्तु लोकसंग्रहके लिये उन्हें भी उपदेश लेनेकी आवश्यकता हुई, ठीक उसी प्रकार भगवान्ने स्वयं ज्ञानस्वरूप सूर्यको उपदेश दिया, जिसके फलस्वरूप संसारका महान् उपकार हुआ है, हो रहा है और होता रहेगा।

'विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्'—कर्मयोग गृहस्थोंकी खास विद्या है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमोंमें गृहस्थ-आश्रम ही मुख्य है; क्योंकि गृहस्थ-आश्रमसे ही अन्य आश्रम बनते और पलते हैं। मनुष्य गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए ही अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करके सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति कर सकता है। उसे परमात्मप्राप्तिके लिये आश्रम बदलनेकी जरूरत नहीं है। भगवान्ने सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओंका नाम लेकर यह बताया है कि कल्पके आदिमें गृहस्थोंने ही कर्मयोगकी विद्याको जाना और गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही उन्होंने कामनाओंका नाश करके परमात्म-तत्त्वको प्राप्त किया। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन भी गृहस्थ थे। इसलिये भगवान् अर्जुनके माध्यमसे मानो सम्पूर्ण गृहस्थोंको सावधान (उपदेश) करते हैं कि तुमलोग अपने घरकी विद्या 'कर्मयोग' का पालन करके घरमें रहते हुए ही परमात्माको प्राप्त कर सकते हो, तुम्हें दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं है।

गृहस्थ होनेपर भी अर्जुन प्राप्त कर्तव्य-कर्म-(युद्ध-) को छोड़कर भिक्षाके अन्नसे जीविका चलानेको श्रेष्ठ मानते हैं (गीता—दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) अर्थात् अपने कल्याणके लिये गृहस्थ-आश्रमकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमको श्रेष्ठ समझते हैं। इसलिये उपर्युक्त पदोंसे भगवान् मानो यह बताते हैं कि तुम भी राजघरानेके श्रेष्ठ गृहस्थ हो, कर्मयोग तुम्हारे घरकी खास विद्या है, इसलिये इसीका पालन करना तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है। संन्यासीके द्वारा जो परमात्मतत्त्व प्राप्त किया जाता है, वही तत्त्व कर्मयोगी गृहस्थाश्रममें रहकर भी स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। अतः कर्मयोग गृहस्थोंकी तो मुख्य विद्या है, पर संन्यास

१-शास्त्रोंमें सूर्यको 'सविता' कहा गया है, जिसका अर्थ है—उत्पन्न करनेवाला। पाश्चात्त्य विज्ञान भी सूर्यको सम्पूर्ण सृष्टिका कारण मानता है।

२-महाभारतमें सूर्यके प्रति कहा गया है—

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्। त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम्॥
त्वं गतिः सर्वसाङ्ख्यानां योगिनां त्वं परायणम्। अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम्॥
त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते। त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया॥

(वनपर्व ३। ३६—३८)

'सूर्यदेव! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं। आप ही सब जीवोंके उत्पत्ति-स्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे हुए पुरुषोंके सदाचार (के प्रेरक) हैं।'

'सम्पूर्ण सांख्ययोगियोंके प्राप्तव्य स्थान भी आप ही हैं। आप ही सब कर्मयोगियोंके आश्रय हैं। आप ही मोक्षके उन्मुक्त द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओंकी गति हैं।'

'आप ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। आपसे ही यह लोक प्रकाशित होता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आपके ही द्वारा निःस्वार्थ भावसे इसका पालन किया जाता है।'

आदि अन्य आश्रमवाले भी इसका पालन करके परमात्म-तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही कर्मयोग है। अतः कर्मयोगका पालन किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, देश, काल आदिमें किया जा सकता है।

किसी विद्यामें श्रेष्ठ और प्रभावशाली पुरुषोंका नाम लेनेसे उस विद्याकी महिमा प्रकट होती है, जिससे दूसरे लोग भी वैसा करनेके लिये उत्साहित होते हैं। जिन लोगोंके हृदयमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व है, उनपर ऐश्वर्यशाली राजाओंका अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिये भगवान् सृष्टिके आदिमें होनेवाले सूर्यका तथा मनु आदि प्रभावशाली राजाओंके नाम लेकर कर्मयोगका पालन करनेकी प्रेरणा करते हैं।

विशेष बात

क्रियाओं और पदार्थोंमें राग होनेसे अर्थात् उनके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे कर्मयोग नहीं हो पाता। गृहस्थमें रहते हुए भी सांसारिक भोगोंसे अरुचि (उपरति अथवा कामनाका अभाव) होती है। किसी भी भोगको भोगें, अन्तमें उस भोगसे अरुचि अवश्य उत्पन्न होती है—यह नियम है। आरम्भमें भोगकी जितनी रुचि (कामना) रहती है, भोग भोगते समय वह उतनी नहीं रह जाती, प्रत्युत क्रमशः घटते-घटते समाप्त हो जाती है; जैसे—मिठाई खानेके आरम्भमें उसकी जो रुचि होती है, वह उसे खानेके साथ-साथ घटती चली जाती है और अन्तमें उससे अरुचि हो जाती है। परन्तु मनुष्य भूल यह करता है कि वह उस अरुचिको महत्त्व देकर उसे स्थायी नहीं बनाता। वह अरुचिको ही तृप्ति (फल) मान लेता है। परन्तु वास्तवमें अरुचिमें थकावट अर्थात् भोगनेकी शक्तिका अभाव ही होता है।

जिस रुचि या कामनाका किसी भी समय अभाव होता है, वह रुचि या कामना वास्तवमें स्वयंकी नहीं होती। जिससे कभी भी अरुचि होती है, उससे हमारा वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। जिससे हमारा वास्तविक सम्बन्ध है, उस सत्-स्वरूप परमात्मतत्त्वकी ओर चलनेमें कभी अरुचि नहीं होती, प्रत्युत रुचि बढ़ती ही जाती है—यहाँतक कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भी 'प्रेम'के रूपमें वह रुचि बढ़ती ही रहती है। 'स्वयं' भी सत्-स्वरूप है, इसलिये अपने अभावकी रुचि भी किसीकी नहीं होती।

कर्म, करण (शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि) और उपकरण (पदार्थ अर्थात् कर्म करनेमें उपयोगी सामग्री)—ये तीनों ही उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं, फिर इनसे मिलनेवाला फल कैसे नित्य होगा? वह तो नाशवान् ही होगा। अविनाशीकी प्राप्तिसे जो तृप्ति होती है, वह नाशवान् फलकी प्राप्तिसे कैसे हो सकती है? इसलिये साधकको कर्म, करण और उपकरण—तीनोंसे ही सम्बन्ध-विच्छेद करना है। इनसे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होगा, जब साधक अपने लिये कुछ नहीं करेगा, अपने लिये कुछ नहीं चाहेगा और अपना कुछ नहीं मानेगा; प्रत्युत अपने कहलानेवाले कर्म, करण और उपकरण—इन तीनोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये इन्हें संसारका ही मानकर संसारकी ही सेवामें लगा देगा।

कर्म करते हुए भी कर्मयोगीकी कर्मोंमें कामना, ममता और आसक्ति नहीं होती, प्रत्युत उनमें प्रीति और तत्परता होती है। कामना, ममता तथा आसक्ति अपवित्रता करनेवाली हैं और प्रीति तथा तत्परता पवित्रता करनेवाली हैं। कामना, ममता तथा आसक्तिपूर्वक किसी भी कर्मको करनेसे अपना पतन और पदार्थोंका नाश होता है तथा उस कर्मकी बार-बार याद आती है अर्थात् उस कर्मसे सम्बन्ध बना रहता है। परन्तु प्रीति तथा तत्परतापूर्वक कर्म करनेसे अपनी उन्नति और पदार्थोंका सदुपयोग होता है, नाश नहीं; तथा उस कर्मकी पुनः याद भी नहीं आती अर्थात् उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त स्वरूप अथवा परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

कोई भी मनुष्य क्यों न हो, वह सुगमतापूर्वक मान सकता है कि जो कुछ मेरे पास है, वह मेरा नहीं है, प्रत्युत किसीसे मिला हुआ है; जैसे—शरीर माता-पितासे मिला है, विद्या-योग्यता गुरुजनोंसे मिली है, इत्यादि। तात्पर्य यह कि एक-दूसरेकी सहायतासे ही सबका जीवन चलता है। धनी-से-धनी व्यक्तिका जीवन भी दूसरेकी सहायताके बिना नहीं चल सकता। हमने किसीसे लिया है तो किसीको देना, किसीकी सहायता करना, सेवा करना हमारा भी परम कर्तव्य है। इसीका नाम कर्मयोग है। इसका पालन मनुष्यमात्र कर सकता है और इसके पालनमें कभी लेशमात्र भी असमर्थता तथा पराधीनता नहीं है।

कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसे सुखपूर्वक कर सकते हैं, जिसे अवश्य करना चाहिये अर्थात् जो करनेयोग्य है और

जिसे करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है। जो नहीं कर सकते, उसे करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं है और जिसे नहीं करना चाहिये, उसे करना ही नहीं है। जिसे नहीं करना चाहिये, उसे न करनेसे दो अवस्थाएँ स्वतः आती हैं—निर्विकल्प अवस्था अर्थात् कुछ न करना अथवा जिसे करना चाहिये, उसे करना।

कर्तव्य सदा निष्कामभावसे एवं परहितकी दृष्टिसे किया जाता है। सकामभावसे किया गया कर्म बन्धनकारक होता है, इसलिये उसे करना ही नहीं है। निष्कामभावसे किया जानेवाला कर्म फलकी कामनासे रहित होता है, उद्देश्यसे रहित नहीं। उद्देश्यरहित चेष्टा तो पागलकी होती है। फल और उद्देश्य—दोनोंमें अन्तर होता है। फल उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होता है, पर उद्देश्य नित्य होता है। उद्देश्य नित्यप्राप्त परमात्माके अनुभवका होता है, जिसके लिये मनुष्यजन्म हुआ है। अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे उस परमात्माका अनुभव नहीं होता। सकामभाव, प्रमाद, आलस्य आदि रहनेसे अपने कर्तव्यका पालन कठिन प्रतीत होता है।

वास्तवमें कर्तव्य-कर्मका पालन करनेमें परिश्रम नहीं है। कर्तव्य-कर्म सहज, स्वाभाविक होता है; क्योंकि यह स्वधर्म है। परिश्रम तब होता है, जब अहंता, आसक्ति, ममता, कामनासे युक्त होकर अर्थात् 'अपने लिये' कर्म करते हैं। इसलिये भगवान्‌ने राजस कर्मको परिश्रमयुक्त बताया है (गीता—अठारहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

जैसे भगवान्‌के द्वारा प्राणिमात्रका हित होता है, ऐसे ही भगवान्‌की शक्ति भी प्राणिमात्रके हितमें निरन्तर लगी हुई है। जिस प्रकार आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा प्रसारित विशेष शक्तियुक्त ध्वनि सब जगह फैल जाती है, पर रेडियोके द्वारा जिस नंबरपर उस ध्वनिसे एकता (सजातीयता) होती है, उस नंबरपर वह ध्वनि पकड़में आ जाती है। इसी प्रकार जब कर्मयोगी स्वार्थभावका त्याग करके केवल संसारमात्रके हितके भावसे ही समस्त कर्म करता है, तब भगवान्‌की सर्वव्यापी हितैषिणी शक्तिसे उसकी एकता हो जाती है और उसके कर्मोंमें विलक्षणता आ जाती है। भगवान्‌की शक्तिसे एकता होनेसे उसमें भगवान्‌की शक्ति ही काम करती है और उस शक्तिके द्वारा ही लोगोंका हित होता है। इसलिये कर्तव्य-कर्म करनेमें न तो कोई बाधा लगती है और न परिश्रमका अनुभव ही होता है।

कर्मयोगमें पराश्रयकी भी आवश्यकता नहीं है। जो परिस्थिति प्राप्त हो जाय, उसीमें कर्मयोगका पालन करना है। कर्मयोगके अनुसार किसीके कार्यमें आवश्यकता पड़नेपर सहायता कर देना 'सेवा' है; जैसे—किसीकी गाड़ी खराब हो गयी और वह उसे धक्का देनेकी कोशिश कर रहा है; अतः हम भी इस काममें उसकी सहायता करें, तो यह 'सेवा' है। जो जानबूझकर कार्यको खोज-खोजकर सेवा करता है, वह कर्म करता है, सेवा नहीं; क्योंकि ऐसा करनेसे उसका उद्देश्य पारमार्थिक न रहकर लौकिक हो जाता है। सेवा वह है, जो परिस्थितिके अनुरूप की जाय। कर्मयोगी न तो परिस्थिति बदलता है और न परिस्थिति ढूँढ़ता है। वह तो प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करता है। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही कर्मयोग है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥

परन्तप	= हे परन्तप!	**राजर्षयः**	= राजर्षियोंने	**सः**	= वह
एवम्	= इस तरह	**विदुः**	= जाना (परन्तु)	**योगः**	= योग
परम्पराप्राप्तम्	= परम्परासे प्राप्त	**महता**	= बहुत	**इह**	= इस मनुष्यलोकमें
इमम्	= इस कर्मयोगको	**कालेन**	= समय बीत जानेके कारण	**नष्टः**	= लुप्तप्राय हो गया।

व्याख्या—**'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः'**—सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओंने कर्मयोगको भलीभाँति जानकर उसका स्वयं भी आचरण किया और प्रजासे भी वैसा आचरण कराया। इस प्रकार राजर्षियोंमें इस कर्मयोगकी परम्परा चली। यह राजाओं-(क्षत्रियों-) की खास (निजी) विद्या है, इसलिये प्रत्येक राजाको यह विद्या जाननी चाहिये। इसी प्रकार परिवार, समाज, गाँव आदिके जो मुख्य व्यक्ति हैं, उन्हें भी यह विद्या अवश्य जाननी चाहिये।

प्राचीनकालमें कर्मयोगको जाननेवाले राजालोग राज्यके

भोगोंमें आसक्त हुए बिना सुचारुरूपसे राज्यका संचालन करते थे। प्रजाके हितमें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती थी। सूर्यवंशी राजाओंके विषयमें महाकवि कालिदास लिखते हैं—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

(रघुवंश १। १८)

'वे राजालोग अपनी प्रजाके हितके लिये प्रजासे उसी प्रकार कर लिया करते थे, जिस प्रकार सहस्रगुना बनाकर बरसानेके लिये ही सूर्य पृथ्वीसे जल लिया करते हैं।'

तात्पर्य यह कि वे राजालोग प्रजासे कर आदिके रूपमें लिये गये धनको प्रजाके ही हितमें लगा देते थे, अपने स्वार्थमें थोड़ा भी खर्च नहीं करते थे। अपने जीवन-निर्वाहके लिये वे अलग खेती आदि काम करवाते थे। कर्मयोगका पालन करनेके कारण उन राजाओंको विलक्षण ज्ञान और भक्ति स्वतः प्राप्त थी। यही कारण था कि प्राचीनकालमें बड़े-बड़े ऋषि भी ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उन राजाओंके पास जाया करते थे। श्रीवेदव्यासजीके पुत्र शुकदेवजी भी ज्ञान-प्राप्तिके लिये राजर्षि जनकके पास गये थे। छान्दोग्योपनिषद्‌के पाँचवें अध्यायमें भी आता है कि ब्रह्मविद्या सीखनेके लिये छः ऋषि एक साथ महाराज अश्वपतिके पास गये थे*।

तीसरे अध्यायके बीसवें श्लोकमें जनक आदि राजाओंको और यहाँ सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओंको कर्मयोगी बताकर भगवान् अर्जुनको मानो यह लक्ष्य कराते हैं कि गृहस्थ और क्षत्रिय होनेके नाते तुम्हें भी अपने पूर्वजोंके (वंश-परम्पराके) अनुसार कर्मयोगका पालन अवश्य करना चाहिये (गीता—चौथे अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। इसके अलावा अपने वंशकी बात (कर्मयोगकी विद्या) अपनेमें आनी सुगम भी है, इसलिये आनी ही चाहिये।

'स कालेनेह महता योगो नष्टः'—परमात्मा नित्य हैं और उनकी प्राप्तिके साधन—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि भी परमात्माके द्वारा निश्चित किये होनेसे नित्य हैं। अतः इनका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। ये आचरणमें आते हुए न दीखनेपर भी नित्य रहते हैं। इसीलिये यहाँ आये '**नष्टः**' पदका अर्थ लुप्त, अप्रकट होना ही है, अभाव होना नहीं।

पहले श्लोकमें कर्मयोगको '**अव्ययम्**' अर्थात् अविनाशी कहा गया है। अतः यहाँ '**नष्टः**' पदका अर्थ यदि कर्मयोगका अभाव माना जाय तो दोनों ओरसे विरोध उत्पन्न होगा कि यदि कर्मयोग अविनाशी है तो उसका अभाव कैसे हो गया? और यदि उसका अभाव हो गया तो वह अविनाशी कैसे? इसके सिवाय आगेके (तीसरे) श्लोकमें भगवान् कर्मयोगको पुनः प्रकट करनेकी बात कहते हैं। यदि उसका अभाव हो गया होता तो पुनः प्रकट नहीं होता। भगवान्‌के वचनोंमें विरोध भी नहीं आ सकता। इसलिये यहाँ '**इह नष्टः**' पदोंका तात्पर्य यह है कि इस अविनाशी कर्मयोगके तत्त्वका वर्णन करनेवाले ग्रन्थोंका और इसके तत्त्वको जाननेवाले तथा उसे आचरणमें लानेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका इस लोकमें अभाव-सा हो गया है।

जहाँसे जो बात कही जाती है, वहाँसे वह परम्परासे जितनी दूर चली जाती है, उतना ही उसमें स्वतः अन्तर पड़ता चला जाता है—यह नियम है। भगवान् कहते हैं कि कल्पके आदिमें मैंने यह कर्मयोग सूर्यसे कहा था, फिर परम्परासे इसे राजर्षियोंने जाना। अतः इसमें अन्तर पड़ता ही गया और बहुत समय बीत जानेसे अब यह योग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है। यही कारण है कि वर्तमानमें इस कर्मयोगकी बात सुनने तथा देखनेमें बहुत कम आती है।

कर्मयोगका आचरण लुप्तप्राय होनेपर भी उसका सिद्धान्त (अपने लिये कुछ न करना) सदैव रहता है; क्योंकि इस सिद्धान्तको अपनाये बिना किसी भी योग-(ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि-) का निरन्तर साधन नहीं हो सकता। कर्म तो मनुष्यमात्रको करने ही पड़ते हैं। हाँ, ज्ञानयोगी विवेकके द्वारा कर्मोंको नाशवान् मानकर कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है; और भक्तियोगी कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

---

* **उस प्रसंगमें महाराज अश्वपतिके ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—**

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दोग्य० ५। ११। ५)

'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मद्यप (मदिरा पीनेवाला) है, 'न कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र न करनेवाला) है, न कोई अविद्वान् है और न कोई परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री (वेश्या) तो होगी ही कैसे ?'

अतः ज्ञानयोगी और भक्तियोगीको कर्मयोगका सिद्धान्त तो अपनाना ही पड़ेगा; भले ही वे कर्मयोगका अनुष्ठान न करें। तात्पर्य यह कि वर्तमानमें कर्मयोग लुप्तप्राय होनेपर भी सिद्धान्तके रूपमें विद्यमान ही है।

वास्तवमें देखा जाय तो कर्मयोगमें 'कर्म' लुप्त नहीं हुए हैं, प्रत्युत (कर्मोंका प्रवाह अपनी ओर होनेसे) 'योग' ही लुप्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि जैसे संसारके पदार्थ कर्म करनेसे मिलते हैं, ऐसे ही परमात्मा भी कर्म करनेसे मिलेंगे—यह बात साधकोंके अन्तःकरणमें इतनी दृढ़तासे बैठ गयी है कि 'परमात्मा नित्यप्राप्त हैं'—इस वास्तविकताकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जा रहा है। 'कर्म' सदैव संसारके लिये होते हैं और 'योग' सदैव अपने लिये होता है। 'योग'के लिये कर्म करना नहीं होता, वह तो स्वतःसिद्ध है।[१] अतः 'योग' के लिये यह मान लेना कि वह कर्म करनेसे होगा—यही 'योग'का लुप्त होना है।

मनुष्य-शरीर कर्मयोगका पालन करनेके लिये अर्थात् दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा करनेके लिये ही मिला है। परन्तु आज मनुष्य रात-दिन अपनी सुख-सुविधा, सम्मान आदिकी प्राप्तिमें ही लगा हुआ है। स्वार्थके अधिक बढ़ जानेके कारण दूसरोंकी सेवाकी तरफ उसका ध्यान ही नहीं है। इस प्रकार जिसके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे भूल जाना ही कर्मयोगका लुप्त होना है।

मनुष्य सेवाके द्वारा पशु-पक्षीसे लेकर मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि, सन्त-महात्मा और भगवान्‌तकको अपने वशमें कर सकता है। परन्तु सेवाभावको भूलकर मनुष्य स्वयं भोगोंके वशमें हो गया, जिसका परिणाम नरकोंमें तथा चौरासी लाख योनियोंमें पड़ जाना है। यही कर्मयोगका छिपना है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

मे	= (तू) मेरा	**सः, एव**	= वही	**ते**	= तुझसे
भक्तः	= भक्त	**अयम्**	= यह	**प्रोक्तः**	= कहा है;
च	= और	**पुरातनः**	= पुरातन	**हि**	= क्योंकि
सखा	= (प्रिय) सखा	**योगः**	= योग	**एतत्**	= यह
असि	= है,	**अद्य**	= आज	**उत्तमम्**	= बड़ा उत्तम
इति	= इसलिये	**मया**	= मैंने	**रहस्यम्**	= रहस्य है।

व्याख्या—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**'—अर्जुन भगवान्‌को अपना प्रिय सखा पहलेसे ही मानते थे (गीता—ग्यारहवें अध्यायका इकतालीसवाँ-बयालीसवाँ श्लोक), पर भक्त अभी (गीता—दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें) हुए हैं अर्थात् अर्जुन सखा भक्त तो पुराने हैं, पर दास्य भक्त नये हैं। आदेश या उपदेश दास अथवा शिष्यको ही दिया जाता है, सखाको नहीं। अर्जुन जब भगवान्‌के शरण हुए, तभी भगवान्‌का उपदेश आरम्भ हुआ।

जो बात सखासे भी नहीं कही जाती, वह बात भी शरणागत शिष्यके सामने प्रकट कर दी जाती है। अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि 'मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।' इसलिये भगवान् अर्जुनके सामने अपने-आपको प्रकट कर देते हैं, रहस्यको खोल देते हैं।

अर्जुनका भगवान्‌के प्रति बहुत विशेष भाव था, तभी तो उन्होंने वैभव और अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित 'नारायणी सेना' का त्याग करके निःशस्त्र भगवान्‌को अपने 'सारथि' के रूपमें स्वीकार किया।[२]

१-लोकहितार्थ अपने कर्तव्य-(स्वधर्म-)का पालन करनेसे 'योग' सिद्ध होता है; अतः यह 'करना' भी वास्तवमें न करनेके लिये अर्थात् 'करना' समाप्त करनेके लिये ही है—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' (गीता ६। ३)। 'करनेका वेग' निकालनेके लिये ही केवल सेवा-भावसे कर्तव्य-कर्म करने चाहिये। सकामभावसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे 'करनेका वेग' बढ़ता है, और दूसरोंके लिये कर्म करनेसे 'करनेका वेग' समाप्त होता है। तात्पर्य यह कि दूसरोंके लिये करनेसे ही 'करना' समाप्त होता है, और अपने लिये करनेसे 'करना' शेष रहता है। 'करना' समाप्त होनेपर स्वतःसिद्ध 'योग'का अनुभव हो जाता है।

२-एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः। अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम्॥

(महाभारत, उद्योग० ७। २१)

साधारण लोग भगवान्‌की दी हुई वस्तुओंको तो अपनी मानते हैं (जो अपनी हैं ही नहीं), पर भगवान्‌को अपना नहीं मानते (जो वास्तवमें अपने हैं)। वे लोग वैभवशाली भगवान्‌को न देखकर उनके वैभवको ही देखते हैं। वैभवको ही सच्चा माननेसे उनकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो जाती है कि वे भगवान्‌का अभाव ही मान लेते हैं अर्थात् भगवान्‌की तरफ उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। कुछ लोग वैभवकी प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌का भजन करते हैं। भगवान्‌को चाहनेसे तो वैभव भी पीछे आ जाता है, पर वैभवको चाहनेसे भगवान् नहीं आ सकते। वैभव तो भक्तके चरणोंमें लोटता है; परन्तु सच्चे भक्त वैभवकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌का भजन नहीं करते। वे वैभवको नहीं चाहते, अपितु भगवान्‌को ही चाहते हैं। वैभवको चाहनेवाले मनुष्य वैभवके भक्त (दास) होते हैं और भगवान्‌को चाहनेवाले मनुष्य भगवान्‌के भक्त होते हैं। अर्जुनने वैभव-(नारायणी सेना-) का त्याग करके केवल भगवान्‌को अपनाया, तो युद्धक्षेत्रमें भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर आदि महापुरुषोंके रहते हुए भी गीताका महान् दिव्य उपदेश केवल अर्जुनको ही प्राप्त हुआ, और बादमें राज्य भी अर्जुनको मिल गया!

'स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः'— इन पदोंका यह तात्पर्य नहीं है कि मैंने कर्मयोगको पूर्णतया कह दिया है, प्रत्युत यह तात्पर्य है कि जो कुछ कहा है, वह पूर्ण है। आगे भगवान्‌के जन्मके विषयमें अर्जुनद्वारा किये गये प्रश्नका उत्तर देकर भगवान्‌ने पुनः उसी कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है।

भगवान् कहते हैं कि सृष्टिके आदिमें मैंने सूर्यके प्रति जो कर्मयोग कहा था, वही आज मैंने तुमसे कहा है। बहुत समय बीत जानेपर वह योग अप्रकट हो गया था, और मैं भी अप्रकट ही था। अब मैं भी अवतार लेकर प्रकट हुआ हूँ और योगको भी पुनः प्रकट किया है। अतः अनादिकालसे जो कर्मयोग मनुष्योंको कर्मबन्धनसे मुक्त करता आ रहा है, वह आज भी उन्हें कर्मबन्धनसे मुक्त कर देगा।

'रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'—जिस प्रकार अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनके सामने 'सर्वगुह्यतम' बात प्रकट की कि 'तू मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा', उसी प्रकार यहाँ 'उत्तम रहस्य' प्रकट करते हैं कि 'मैंने ही सृष्टिके आदिमें सूर्यको उपदेश दिया था और वही मैं आज तुझे उपदेश दे रहा हूँ'।

भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि तेरा सारथि बनकर तेरी आज्ञाका पालन करनेवाला होकर भी मैं आज तुझे वही उपदेश दे रहा हूँ, जो उपदेश मैंने सृष्टिके आदिमें सूर्यको दिया था। मैं साक्षात् वही हूँ और अभी अवतार लेकर गुप्तरीतिसे प्रकट हुआ हूँ—यह बहुत रहस्यकी बात है। इस रहस्यको आज मैं तेरे सामने प्रकट कर रहा हूँ; क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है।

साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है, साधककी दृष्टि भी उपदेशकी ओर अधिक एवं उपदेष्टाकी ओर कम जाती है। इस प्रसंगको पढ़ने-सुननेपर उपदिष्ट 'योग' पर तो दृष्टि जाती है, पर उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण ही आदि नारायण हैं—इसपर प्रायः दृष्टि नहीं जाती। जो बात साधारणतः पकड़में नहीं आती, वह रहस्यकी होती है। भगवान् यहाँ **'रहस्यम्'** पदसे अपना परिचय देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि साधककी दृष्टि सर्वथा भगवान्‌की ओर ही रहनी चाहिये।

अपने-आपको 'आदि उपदेष्टा' कहकर भगवान् मानो अपनेको मानवमात्रका 'गुरु' प्रकट करते हैं। नाटक खेलते समय मनुष्य जनताके सामने अपने असली स्वरूपको प्रकट नहीं करता, पर किसी आत्मीय जनके सामने अपनेको प्रकट भी कर देता है। ऐसे ही मनुष्य-अवतारके समय भी भगवान् अर्जुनके सामने अपना ईश्वरभाव प्रकट कर देते हैं अर्थात् जो बात छिपाकर रखनी चाहिये, वह बात प्रकट कर देते हैं। यही उत्तम रहस्य है।

कर्मयोगको भी उत्तम रहस्य माना जा सकता है। जिन कर्मोंसे जीव बँधता है **(कर्मणा बध्यते जन्तुः)** उन्हीं कर्मोंसे उसकी मुक्ति हो जाय—यह उत्तम रहस्य है। पदार्थोंको अपना मानकर अपने लिये कर्म करनेसे बन्धन होता है, और पदार्थोंको अपना न मानकर (दूसरोंका मानकर) केवल दूसरोंके हितके लिये निःस्वार्थभावपूर्वक सेवा करनेसे मुक्ति होती है। अनुकूलता-प्रतिकूलता, धनवत्ता-निर्धनता, स्वस्थता-रुग्णता आदि कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, प्रत्येक परिस्थितिमें इस कर्मयोगका पालन स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है। कर्मयोगमें रहस्यकी तीन बातें मुख्य हैं—

'श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें (अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको छोड़कर) युद्ध न करनेवाले निःशस्त्र उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना।'

(१) मेरा कुछ नहीं है। कारण कि मेरा स्वरूप सत् (अविनाशी) है और जो कुछ मिला है, वह सब असत् (नाशवान्) है, फिर असत् मेरा कैसे हो सकता है? अनित्यका नित्यके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

(२) मेरे लिये कुछ नहीं चाहिये। कारण कि स्वरूप- (सत्-) में कभी अपूर्ति या कमी होती ही नहीं, फिर किस वस्तुकी कामना की जाय? अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्वके लिये उत्पन्न होनेवाली नाशवान् वस्तु कैसे काममें आ सकती है?

(३) अपने लिये कुछ नहीं करना है। इसमें पहला कारण यह है कि स्वयं चेतन परमात्माका अंश है और कर्म जड है। स्वयं नित्य-निरन्तर रहता है, पर कर्मका तथा उसके फलका आदि और अन्त होता है। इसलिये अपने लिये कर्म करनेसे आदि-अन्तवाले कर्म और फलसे अपना सम्बन्ध जुड़ता है। कर्म और फलका तो अन्त हो जाता है, पर उनका संग भीतर रह जाता है, जो जन्म-मरणका कारण होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

दूसरा कारण यह है कि 'करने' का दायित्व उसीपर आता है, जो कर सकता है अर्थात् जिसमें करनेकी योग्यता है और जो कुछ पाना चाहता है। निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिवर्तनशील और पूर्ण होनेके कारण चेतन स्वरूप शरीरके सम्बन्धके बिना कुछ कर ही नहीं सकता, इसलिये यह विधान मानना पड़ेगा कि स्वरूपको अपने लिये कुछ नहीं करना है।

तीसरा कारण यह है कि स्वरूप सत् है और पूर्ण है; अतः उसमें कभी कमी आती ही नहीं, आनेकी सम्भावना भी नहीं—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। कमी न आनेके कारण उसमें कुछ पानेकी इच्छा भी नहीं होती। इससे स्वतः सिद्ध होता है कि स्वरूपपर 'करने' का दायित्व नहीं है अर्थात् उसे अपने लिये कुछ नहीं करना है।

कर्मयोगमें 'कर्म' तो संसारके लिये होते हैं और 'योग' अपने लिये होता है। परन्तु अपने लिये कर्म करनेसे 'योग'का अनुभव नहीं होता। 'योग'का अनुभव तभी होगा, जब कर्मोंका प्रवाह पूरा-का-पूरा संसारकी ओर ही हो जाय। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, धन, सम्पत्ति आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब-का-सब संसारसे अभिन्न है, संसारका ही है और उन्हें संसारकी सेवामें ही लगाना है। अतः पदार्थ और क्रियारूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही दूसरोंके लिये कर्म करना है। यही कर्मयोग है। कर्मयोग सिद्ध होनेपर करनेका राग, पानेकी लालसा, जीनेकी इच्छा और मरनेका भय—ये सब मिट जाते हैं।

जैसे सूर्यके प्रकाशमें लोग अनेक कर्म करते हैं, पर सूर्यका उन कर्मोंसे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही 'स्वयं'-(चेतन-)के प्रकाशमें सम्पूर्ण कर्म होते हैं, पर 'स्वयं'का उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता; क्योंकि 'स्वयं' चेतन तथा अपरिवर्तनशील है और कर्म जड तथा परिवर्तनशील हैं। परन्तु जब 'स्वयं' भूलसे उन पदार्थों और कर्मोंके साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध मान लेता है, अर्थात् उन्हें अपने और अपने लिये मान लेता है, तो फिर वे कर्म अवश्य ही उसे बाँध देते हैं।

नियत-कर्मका किसी भी अवस्थामें त्याग न करना तथा नियत समयपर कार्यके लिये तत्पर रहना भी सूर्यकी अपनी विलक्षणता है। कर्मयोगी भी सूर्यकी तरह अपने नियत-कर्मोंको नियत समयपर करनेके लिये सदा तत्पर रहता है।

कर्मयोगका ठीक-ठीक पालन किया जाय तो यदि कर्मयोगीमें ज्ञानके संस्कार हैं तो उसे ज्ञानकी प्राप्ति, और यदि भक्तिके संस्कार हैं तो उसे भक्तिकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कर्मयोगका पालन करनेसे अपना ही नहीं, प्रत्युत संसारमात्रका भी परम हित होता है। दूसरे लोग देखें या न देखें, समझें या न समझें, मानें या न मानें, अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे दूसरे लोगोंको कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा स्वतः मिलती है और इस प्रकार सबकी सेवा भी हो जाती है।

मार्मिक बात

गीतामें भगवान्‌ने उपदेशके आरम्भमें दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक मनुष्यमात्रके अनुभव-(विवेक-) का वर्णन किया है। यह मनुष्यमात्रका ही अनुभव नहीं है, प्रत्युत जीवमात्रका भी अनुभव है; कारण कि 'मैं हूँ'—ऐसे अपनी सत्ता-(होनेपन-) का अनुभव स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंको है। वृक्ष, पर्वत आदिको भी इसका अनुभव है, पर वे इसे व्यक्त नहीं कर सकते। पशु-पक्षियोंमें तो प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है; जैसे— पशु-पक्षी आपसमें लड़ते हैं तो अपनी सत्ताको लेकर ही लड़ते हैं। यदि अपनी अलग सत्ताका अनुभव न हो तो वे

लड़ें ही क्यों? मनुष्यको तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव है ही; परन्तु वह न तो अपने अनुभवकी ओर दृष्टि डालता है और न उसका आदर ही करता है। इस अनुभवको ही विवेक या निज-ज्ञान कहते हैं। यह विवेक सबमें स्वत: है और भगवत्प्रदत्त है।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं, इसलिये इनसे होनेवाला ज्ञान प्रकृतिजन्य है। शास्त्रोंको पढ़-सुनकर इन इन्द्रियों-मन-बुद्धिके द्वारा जो पारमार्थिक ज्ञान होता है, वह ज्ञान भी एक प्रकारसे प्रकृतिजन्य ही है। परमात्मतत्त्व इस प्रकृतिजन्य ज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है। अत: परमात्मतत्त्वको निज-ज्ञान (स्वयंसे होनेवाले ज्ञान-) से ही जाना जा सकता है। निज-ज्ञान अर्थात् विवेकको महत्त्व देने से 'मैं कौन हूँ? मेरा क्या है? जड और चेतन क्या हैं? प्रकृति और परमात्मा क्या हैं?'—यह सब जाननेकी शक्ति आ जाती है। यही विवेक कर्मयोगमें भी काम आता है— यह मार्मिक बात है।

कर्मयोगमें विवेककी दो बातें मुख्य हैं—(१) अपने होनेपन-('मैं हूँ'-) में कोई संदेह नहीं है और (२) अभी जो वस्तुएँ मिली हुई हैं, उनपर अपना कोई आधिपत्य नहीं है; क्योंकि वे पहले अपनी नहीं थीं और बादमें भी अपनी नहीं रहेंगी। मैं (स्वयं) निरन्तर रहता हूँ और ये मिली हुई वस्तुएँ—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि निरन्तर बदलती रहती हैं और इनका निरन्तर वियोग होता रहता है। जैसे कर्मोंका आरम्भ और समाप्ति होती है, ऐसे ही उनके फलका भी संयोग और वियोग होता है। इसलिये कर्मों और पदार्थोंका सम्बन्ध संसारसे है, स्वयंसे नहीं। इस प्रकार विवेक जाग्रत् होते ही कामनाका नाश हो जाता है। कामनाका नाश होनेपर स्वत:सिद्ध निष्कामता प्रकट हो जाती है अर्थात् कर्मयोग पूर्णत: सिद्ध हो जाता है।

कामनासे विवेक ढक जाता है (गीता—तीसरे अध्यायका अड़तीसवाँ-उनतालीसवाँ श्लोक)। स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, संग्रह-बुद्धि रखनेसे मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाता। वह उलझनोंको उलझनसे ही अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे ही सुलझाना चाहता है और इसीलिये वह वर्तमान परिस्थितिको बदलनेका ही उद्योग करता है। परन्तु परिस्थितिको बदलना अपने वशकी बात नहीं है, इसलिये उलझन सुलझनेकी अपेक्षा अधिकाधिक उलझती चली जाती है। विवेक जाग्रत् होनेपर जब स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, संग्रह-बुद्धि नहीं रहती, तब अपना कर्तव्य स्पष्ट दीखने लग जाता है और सभी प्रकारकी उलझनें स्वत: सुलझ जाती हैं।

बाहरी परिस्थिति कर्मोंके अनुसार ही बनती है अर्थात् वह कर्मोंका ही फल है। धनवत्ता-निर्धनता, निन्दा-स्तुति, आदर-निरादर, यश-अपयश, लाभ-हानि, जन्म-मरण, स्वस्थता-रुग्णता आदि सभी परिस्थितियाँ कर्मोंके अधीन हैं*। शुभ और अशुभ कर्मोंके फलस्वरूपमें अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति सामने आती रहती है; परन्तु उस परिस्थितिसे सम्बन्ध जोड़कर—उसे अपनी मानकर सुखी-दु:खी होना मूर्खता है। तात्पर्य यह है कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका आना तो कर्मोंका फल है, और उससे सुखी-दु:खी होना अपनी अज्ञता—मूर्खताका फल है। कर्मोंका फल मिटाना तो हाथकी बात नहीं है, पर मूर्खता मिटाना बिलकुल हाथकी बात है। जिसे मिटा सकते हैं, उस मूर्खताको तो मिटाते नहीं और जिसे बदल सकते नहीं, उस परिस्थितिको बदलनेका उद्योग करते हैं—यह महान् भूल है! इसलिये अपने विवेकको महत्त्व देकर मूर्खताको मिटा देना चाहिये और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका सदुपयोग करते हुए उनसे ऊँचे उठ जाना अर्थात् असंग हो जाना चाहिये। जो किसी भी परिस्थितिसे सम्बन्ध न जोड़कर उसका सदुपयोग करता है अर्थात् अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करता है तथा प्रतिकूल परिस्थितिमें दु:खी नहीं होता अर्थात् सुखकी इच्छा नहीं करता, वह संसार-बन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है।

जिसे मनुष्य नहीं चाहता, वह प्रतिकूल परिस्थिति पहले किये अशुभ-(पाप-) कर्मोंका फल होती है। अत: पाप-कर्म तो करने ही नहीं चाहिये। किसीको कष्ट पहुँचे, ऐसा काम तो स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिये। परन्तु वर्तमानमें (नये) पाप-कर्म न करनेपर भी पुराने पाप-कर्मोंके फलस्वरूप जब प्रतिकूल परिस्थिति आ जाती है, तब अन्त:करणमें चिन्ता, शोक, भय आदि भी आ जाते हैं। इसका कारण यह है कि हमने चिन्ता-शोकको अधिक परिचित बना लिया है। जैसे बिक्री की हुई गाय पुराने स्थानसे परिचित होनेके कारण बार-बार वहीं आ जाती है।

* **सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ। हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥**

(मानस २। १७१)

परन्तु उसे बार-बार नये स्थानपर पहुँचा दिया जाय, तो फिर वह पुराने स्थानपर आना छोड़ देती है। ऐसे ही आज और अभी यह दृढ़ विचार कर लें कि आने-जानेवाली परिस्थितिसे सम्बन्ध जोड़कर चिन्ता-शोक करना गलती है, यह गलती अब हम नहीं करेंगे, तो फिर ये चिन्ता-शोक आना छोड़ देंगे।

विवेककी पूर्ण जागृति न होनेपर भी कर्मयोगीमें एक निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है कि जो अपना नहीं है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है और सांसारिक सुखोंको न भोगकर केवल सेवा करनी है। इस निश्चयात्मिका बुद्धिके कारण उसके अन्तःकरणमें सांसारिक सुखोंका महत्त्व नहीं रहता। फिर 'भोगोंमें सुख है'—ऐसे भ्रममें उसे कोई डाल नहीं सकता। अतः इस एक निश्चयको अटल रखनेसे ही उसका कल्याण हो जाता है। सत्संग-स्वाध्यायसे ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धिको बल मिलता है। अतः हरेक साधकको कम-से-कम ऐसा कल्याणकारी निश्चय अवश्य ही बना लेना चाहिये। ऐसा निश्चय बनानेमें सब स्वाधीन हैं, कोई पराधीन नहीं है। इसमें किसीकी किंचित् भी सहायताकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इसमें स्वयं बलवान् है।

सम्बन्ध—मैंने ही सृष्टिके आदिमें सूर्यको उपदेश दिया था और वही मैं आज तुझे उपदेश दे रहा हूँ—इसे सुनकर अर्जुनमें स्वाभाविक यह जिज्ञासा जाग्रत् होती है कि जो अभी मेरे सामने बैठे हैं, इन भगवान् श्रीकृष्णने सृष्टिके आरम्भमें सूर्यको उपदेश कैसे दिया था? अतः इसे अच्छी तरह समझनेके लिये अर्जुन आगेके श्लोकमें भगवान्‌से प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—

भवतः	= आपका	**परम्**	= बहुत पुराना है; (अतः)	**एतत्**	= यह योग
जन्म	= जन्म (तो)			**प्रोक्तवान्**	= कहा था—
अपरम्	= अभीका है (और)	**त्वम्**	= आपने (ही)	**इति**	= यह बात (मैं)
विवस्वतः	= सूर्यका	**आदौ**	= सृष्टिके आरम्भमें (सूर्यसे)	**कथम्**	= कैसे
जन्म	= जन्म			**विजानीयाम्**	= समझूँ?

व्याख्या—'**अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः**'— आपका जन्म तो अभी कुछ वर्ष पूर्व श्रीवसुदेवजीके घर हुआ है, पर सूर्यका जन्म सृष्टिके आरम्भमें हुआ था। अतः आपने सूर्यको कर्मयोग कैसे कहा था?

अर्जुनके इस प्रश्नमें तर्क या आक्षेप नहीं है, प्रत्युत जिज्ञासा है। वे भगवान्‌के जन्म-सम्बन्धी रहस्यको सुगमतापूर्वक समझनेकी दृष्टिसे ही प्रश्न करते हैं; क्योंकि अपने जन्म-सम्बन्धी रहस्यको प्रकट करनेमें भगवान् ही सर्वथा समर्थ हैं।

'**कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति**'—मैं आपको सृष्टिके आदिमें उपदेश देनेवाला कैसे जानूँ? अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य यह है कि सूर्यको उपदेश देनेके बादसे सूर्यवंशकी (मनु, इक्ष्वाकु आदि) कई पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं और आपका अवतार अभीका है; अतः आपने सृष्टिके आदिमें सूर्यको उपदेश कैसे दिया था—यह बात मैं अच्छी तरह समझना चाहता हूँ। सूर्य तो अभी भी है, इसलिये उसे अभी भी उपदेश दिया जा सकता है। परन्तु आपने सूर्यको उपदेश देनेके बाद सूर्यवंशकी परम्पराका भी वर्णन किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि आपने सूर्यको उपदेश अभी नहीं दिया है। अतः आपने सूर्यको कल्पके आदिमें कैसे उपदेश दिया था?

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें अपना अवतार-रहस्य प्रकट करनेके लिये भगवान् पहले अपनी सर्वज्ञताका दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—

परन्तप	= हे परन्तप	**बहूनि**	= बहुत-से	**अहम्**	= मैं
अर्जुन	= अर्जुन!	**जन्मानि**	= जन्म	**वेद**	= जानता हूँ, (पर)
मे	= मेरे	**व्यतीतानि**	= हो चुके हैं।	**त्वम्**	= तू
च	= और	**तानि**	= उन	**न**	= नहीं
तव	= तेरे	**सर्वाणि**	= सबको	**वेत्थ**	= जानता।

व्याख्या—[तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको अपना भक्त और प्रिय सखा कहा था, इसलिये पीछेके श्लोकमें अर्जुन अपने हृदयकी बात निःसंकोच होकर पूछते हैं। अर्जुनमें भगवान्‌के जन्म-रहस्यको जाननेकी प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, इसलिये भगवान् उनके सामने मित्रताके नाते अपने जन्मका रहस्य प्रकट कर देते हैं। यह नियम है कि श्रोताकी प्रबल जिज्ञासा होनेपर वक्ता अपनेको छिपाकर नहीं रख सकता। इसलिये सन्त-महात्मा भी अपनेमें विशेष श्रद्धा रखनेवालोंके सामने अपने-आपको प्रकट कर सकते हैं*—]

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं।
आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

(मानस १। ११०। १)

'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन'—समय-समयपर मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। परन्तु मेरा जन्म और तरहका है (जिसका वर्णन आगे छठे श्लोकमें करेंगे) और तेरा (जीवका) जन्म और तरहका है (जिसका वर्णन आठवें अध्यायके उन्नीसवें और तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें एवं छब्बीसवें श्लोकमें करेंगे)। तात्पर्य यह कि मेरे और तेरे बहुत-से जन्म होनेपर भी वे अलग-अलग प्रकारके हैं।

दूसरे अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था कि मैं (भगवान्) और तू तथा ये राजालोग (जीव) पहले नहीं थे और आगे नहीं रहेंगे—ऐसा नहीं है। तात्पर्य यह कि भगवान् और उनका अंश जीवात्मा—दोनों ही अनादि और नित्य हैं।

'तान्यहं वेद सर्वाणि'—संसारमें ऐसे 'जातिस्मर' जीव भी होते हैं, जिनको अपने पूर्वजन्मोंका ज्ञान होता है। ऐसे महापुरुष 'युंजान योगी' कहलाते हैं, जो साधना करके सिद्ध होते हैं। साधनामें अभ्यास करते-करते इनकी वृत्ति इतनी तेज हो जाती है कि ये जहाँ वृत्ति लगाते हैं, वहींका ज्ञान इनको हो जाता है। ऐसे योगी कुछ सीमातक ही अपने पुराने जन्मोंको जान सकते हैं, सम्पूर्ण जन्मोंको नहीं। इसके विपरीत भगवान् 'युक्तयोगी' कहलाते हैं, जो साधना किये बिना स्वतःसिद्ध, नित्य योगी हैं। जन्मोंको जाननेके लिये उन्हें वृत्ति नहीं लगानी पड़ती, प्रत्युत उनमें अपने और जीवोंके भी सम्पूर्ण जन्मोंका स्वतः-स्वाभाविक ज्ञान सदा बना रहता है। उनके ज्ञानमें भूत, भविष्य और वर्तमानका भेद नहीं है, प्रत्युत उनके अखण्ड ज्ञानमें सभी कुछ सदा वर्तमान ही रहता है (गीता ७। २६)। कारण कि भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें पूर्णरूपसे विद्यमान रहते हुए भी इनसे सर्वथा अतीत रहते हैं।

['मैं उन सबको जानता हूँ'—भगवान्‌के इस वचनसे साधकोंको एक विशेष आनन्द आना चाहिये कि हम भगवान्‌की जानकारीमें हैं, भगवान् हमें निरन्तर देख रहे हैं! हम कैसे ही क्यों न हों, पर हैं भगवान्‌के ज्ञानमें।]

'न त्वं वेत्थ परन्तप'—जन्मोंको न जाननेमें मूल हेतु है—अन्तःकरणमें नाशवान् पदार्थोंका आकर्षण, महत्त्व होना। इसीके कारण मनुष्यका ज्ञान विकसित नहीं होता। अर्जुनके अन्तःकरणमें नाशवान् पदार्थोंका, व्यक्तियोंका महत्त्व था, इसीलिये वे कुटुम्बियोंके मरनेके भयसे युद्ध नहीं

*** सन्त-महात्मा भी स्वयं छिपे रहते हैं और सबके सामने प्रकट नहीं होते। परन्तु निम्नलिखित तीन अवसरोंपर वे अपने-आपको प्रकट कर देते हैं—**

१—जब कोई अत्यधिक श्रद्धालु सामने आ जाय और उसमें उन्हें (सन्त-महात्माको) जाननेकी उत्कट अभिलाषा हो।

२—जब अपने किसी प्रेमीका शरीर छूटनेवाला हो।

३—जब सन्त-महात्माका अपना कहलानेवाला शरीर छूट रहा हो।

दूसरे और तीसरे अवसरपर सन्त-महात्मा उस व्यक्तिके सामने भी अपने-आपको प्रकट कर देते हैं, जिसमें उतनी अधिक श्रद्धा तो नहीं है, पर वह उन सन्त-महात्माका हृदयसे आदर करता है और उन्हें जानना चाहता है।

करना चाहते थे। पहले अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि जिनके लिये हमारी राज्य, भोग और सुखकी इच्छा है, वे ही ये कुटुम्बी प्राणोंकी और धनकी आशा छोड़कर युद्धमें खड़े हैं—इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन राज्य, भोग और सुख चाहते थे। अतः नाशवान् पदार्थोंकी कामना होनेके कारण वे अपने पूर्वजन्मोंको नहीं जानते थे।

ममता-आसक्तिपूर्वक अपने सुखभोग और आरामके लिये धनादि पदार्थोंका संग्रह करना 'परिग्रह' कहलाता है। परिग्रहका सर्वथा त्याग करना अर्थात् अपने सुख, आराम आदिके लिये किसी भी वस्तुका संग्रह न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है। अपरिग्रहकी दृढ़ता होनेपर पूर्वजन्मोंका ज्ञान हो जाता है—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः।

(पातंजलयोगदर्शन २। ३९)

संसार (क्रिया और पदार्थ) सदैव परिवर्तनशील और असत् है; अतः उसमें अभाव (कमी) होना निश्चित है। अभावरूप संसारसे सम्बन्ध जोड़नेके कारण मनुष्यको अपनेमें भी अभाव दीखने लग जाता है। अभाव दीखनेके कारण उसमें यह कामना पैदा हो जाती है कि अभावकी तो पूर्ति हो जाय, फिर नया और मिले। इस कामनाकी पूर्तिमें ही वह दिन-रात लगा रहता है। परन्तु कामनाकी पूर्ति होनेवाली है नहीं। कामनाओंके कारण मनुष्य बेहोश-सा हो जाता है। अतः ऐसे मनुष्यको अनेक जन्मोंका ज्ञान तो दूर रहा, वर्तमान कर्तव्यका भी ज्ञान (क्या कर रहा हूँ और क्या करना चाहिये) नहीं होता।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। अब आगेके श्लोकमें भगवान् अपने जन्म-(अवतार-) की विलक्षणता बताते हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

अजः	= (मैं) अजन्मा (और)	**भूतानाम्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	**प्रकृतिम्**	= प्रकृतिको
		ईश्वरः	= ईश्वर	**अधिष्ठाय**	= अधीन करके
अव्ययात्मा	= अविनाशी-स्वरूप	**सन्**	= होते हुए	**आत्ममायया**	= अपनी योगमायासे
सन्	= होते हुए	**अपि**	= भी		
अपि	= भी (तथा)	**स्वाम्**	= अपनी	**सम्भवामि**	= प्रकट होता हूँ।

व्याख्या—[यह छठा श्लोक है और इसमें छः बातोंका ही वर्णन हुआ है। अज, अव्यय और ईश्वर—ये तीन बातें भगवान्‌की हैं*; प्रकृति और योगमाया—ये दो बातें भगवान्‌की शक्तिकी हैं और एक बात भगवान्‌के प्रकट

* गीतामें भगवान्‌ने अपने अज, अव्यय और ईश्वर—इन तीनों रूपोंको जानने और न जाननेकी बात कही है; जैसे—
१-'अज'-स्वरूपको जाननेकी बात—
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (१०। ३)
न जाननेकी बात—
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (७। २५)
२-'अव्यय'-स्वरूपको जाननेकी बात—
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ (९। १३)
न जाननेकी बात—
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ (७। २४)
३-'ईश्वर'-स्वरूपको जाननेकी बात—
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ (५। २९)
न जाननेकी बात—
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ (९। ११)

होनेकी है।]

'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा'—इन पदोंसे भगवान् यह बताते हैं कि साधारण मनुष्योंकी तरह न तो मेरा जन्म है और न मेरा मरण ही है। मनुष्य जन्म लेते हैं और मर जाते हैं; परन्तु मैं **'अजन्मा'** होते हुए भी प्रकट हो जाता हूँ और **'अविनाशी'** होते हुए भी अन्तर्धान हो जाता हूँ। प्रकट होना और अन्तर्धान होना—दोनों ही मेरी अलौकिक लीलाएँ हैं।

सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट (अव्यक्त) थे और मरनेके बाद भी अप्रकट (अव्यक्त) हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट (व्यक्त) हैं (गीता—दूसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)। परन्तु भगवान् सूर्यकी तरह सदा ही प्रकट रहते हैं। तात्पर्य है कि जैसे सूर्य उदय होनेसे पहले भी ज्यों-का-त्यों रहता है और अस्त होनेके बाद भी ज्यों-का-त्यों रहता है अर्थात् सूर्य तो सदा ही रहता है; किन्तु स्थानविशेषके लोगोंकी दृष्टिमें उसका उदय और अस्त होना दीखता है। ऐसे ही भगवान्‌का प्रकट होना और अन्तर्धान होना लोगोंकी दृष्टिमें है, वास्तवमें भगवान् सदा ही प्रकट रहते हैं।

दूसरे प्राणी जैसे कर्मोंके परतन्त्र होकर जन्म लेते हैं, भगवान्‌का जन्म वैसे नहीं होता। कर्मोंकी परतन्त्रतासे जन्म होनेपर दो बातें होती हैं—आयु और सुख-दुःखका भोग। भगवान्‌में ये दोनों ही नहीं होते।

दूसरे लोग जन्मते हैं तो शरीर पहले बालक होता है, फिर बड़ा होकर युवा हो जाता है, फिर वृद्ध हो जाता है और फिर मर जाता है। परन्तु भगवान्‌में ये परिवर्तन नहीं होते। वे अवतार लेकर बाललीला करते हैं और किशोर-अवस्था (पंद्रह वर्षकी अवस्था) तक बढ़नेकी लीला करते हैं। किशोर-अवस्थातक पहुँचनेके बाद फिर वे नित्य किशोर ही रहते हैं। सैकड़ों वर्ष बीतनेपर भी भगवान् वैसे ही सुन्दर-स्वरूप रहते हैं। इसीलिये भगवान्‌के जितने चित्र बनाये जाते हैं, उसमें उनकी दाढ़ी-मूछें नहीं होतीं (अब कोई बना दे तो अलग बात है!)। इस प्रकार दूसरे प्राणियोंकी तरह न तो भगवान्‌का जन्म होता है, न परिवर्तन होता है और न मृत्यु ही होती है।

'भूतानामीश्वरोऽपि सन्'—प्राणिमात्रके एकमात्र ईश्वर (महान् शासक) रहते हुए ही भगवान् अवतारके समय छोटे-से बालक बन जाते हैं; परन्तु बालक बन जानेपर भी उनके ईश्वरभाव (शासकत्व)-में कोई कमी नहीं आती; जैसे—भगवान् श्रीकृष्णने छठीके दिन ही पूतना राक्षसीको मार दिया। पूतनाका शरीर ढाई योजनका और महान् भयंकर था। यदि उनमें ईश्वरभाव न होता तो छठीके दिन पूतनाको कैसे मार देते? भगवान्‌ने तीन महीनेकी अवस्थामें शकटासुरको, एक वर्षकी अवस्थामें तृणावर्तको और पाँच वर्षकी अवस्थामें अघासुरको मार दिया। इस तरह भगवान्‌ने बाल्यावस्थामें ही अनेक राक्षसोंको मार दिया। सात वर्षकी अवस्थामें ही उन्होंने गोवर्धन पर्वतको एक अँगुलीपर उठा लिया!

सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी भगवान् अवतारके समय छोटे-से-छोटे बन जाते हैं और छोटा-सा-छोटा काम भी कर देते हैं। वास्तवमें यही भगवान्‌की भगवत्ता है। भगवान् अर्जुनके घोड़े हाँकते हैं और उनकी आज्ञाका पालन करते हैं, फिर भी भगवान्‌का अर्जुनपर और दूसरे प्राणियोंपर ईश्वरभाव वैसा-का-वैसा ही है। सारथि होनेपर भी वे अर्जुनको गीताका महान् उपदेश देते हैं। भगवान् श्रीराम पिता दशरथकी आज्ञाको टालते नहीं और चौदह वर्षके लिये वनमें चले जाते हैं, फिर भी भगवान्‌का दशरथपर और दूसरे प्राणियोंपर ईश्वरभाव वैसा-का-वैसा ही है।

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय'—जो सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे अलग है, वह भगवान्‌की शुद्ध प्रकृति है। यह शुद्ध प्रकृति भगवान्‌का स्वकीय सच्चिदानन्दघनस्वरूप है। इसीको संधिनी-शक्ति, संवित्-शक्ति और आह्लादिनी-शक्ति कहते हैं[१]। इसीको चिन्मयशक्ति, कृपाशक्ति आदि नामोंसे कहते हैं। श्रीराधाजी[२], श्रीसीताजी आदि भी यही हैं। भगवान्‌को प्राप्त करानेवाली 'भक्ति' और 'ब्रह्मविद्या' भी यही है।

प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है। जैसे, अग्निमें दो शक्तियाँ रहती हैं—प्रकाशिका और दाहिका। प्रकाशिका-शक्ति अन्धकारको दूर करके प्रकाश कर देती है तथा भय भी मिटाती है। दाहिका-शक्ति जला देती है तथा वस्तुको पकाती एवं ठण्डक भी दूर करती है। ये दोनों शक्तियाँ

१-संधिनी-शक्ति 'सत्'-स्वरूपा, संवित्-शक्ति 'चित्'-स्वरूपा और आह्लादिनी-शक्ति 'आनन्द'-स्वरूपा है।

२-अवतारके समय भगवान् अपनी शुद्ध प्रकृतिरूप शक्तियोंसहित अवतरित होते हैं और अवतार-कालमें इन शक्तियोंसे काम लेते हैं। श्रीराधाजी भगवान्‌की शक्ति हैं और उनकी अनुगामिनी अनेक सखियाँ हैं, जो सब भक्तिरूपा हैं और भक्ति प्रदान करनेवाली हैं। भक्तिरहित मनुष्य इनको नहीं जान सकते। इनको भगवान् और राधाजीकी कृपासे ही जान सकते हैं।

अग्निसे भिन्न भी नहीं हैं और अभिन्न भी नहीं हैं। भिन्न इसलिये नहीं हैं कि वे अग्निरूप ही हैं अर्थात् उन्हें अग्निसे अलग नहीं किया जा सकता, और अभिन्न इसलिये नहीं हैं कि अग्निके रहते हुए भी मन्त्र, औषध आदिसे अग्निकी दाहिका-शक्ति कुण्ठित की जा सकती है। ऐसे ही भगवान्‌में जो शक्ति रहती है, उसे भगवान्‌से भिन्न और अभिन्न—दोनों ही नहीं कह सकते।

जैसे दियासलाईमें अग्निकी सत्ता तो सदा रहती है, पर उसकी प्रकाशिका और दाहिका-शक्ति छिपी हुई रहती है; ऐसे ही भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें सदा रहते हैं, पर उनकी शक्ति छिपी हुई रहती है। उस शक्तिको अधिष्ठित करके अर्थात् अपने वशमें करके, उसके द्वारा भगवान् प्रकट होते हैं। जैसे, जबतक अग्नि अपनी प्रकाशिका और दाहिका-शक्तिको लेकर प्रकट नहीं होती, तबतक सदा रहते हुए भी अग्नि नहीं दीखती, ऐसे ही जबतक भगवान् अपनी शक्तिको लेकर प्रकट नहीं होते, तबतक भगवान् हरदम रहते हुए भी नहीं दीखते।

राधाजी, सीताजी, रुक्मिणीजी आदि सब भगवान्‌की निजी दिव्य शक्तियाँ हैं। भगवान् सामान्यरूपसे सब जगह रहते हुए भी कोई काम नहीं करते। जब करते हैं, तब अपनी दिव्य शक्तिको लेकर ही करते हैं। उस दिव्य शक्तिके द्वारा भगवान् विचित्र-विचित्र लीलाएँ करते हैं। उनकी लीलाएँ इतनी विचित्र और अलौकिक होती हैं कि उनको सुनकर, गाकर और याद करके भी जीव पवित्र होकर अपना उद्धार कर लेते हैं।

निर्गुण-उपासनामें वही शक्ति 'ब्रह्मविद्या' हो जाती है, और सगुण-उपासनामें वही शक्ति 'भक्ति' हो जाती है। जीव भगवान्‌का ही अंश है। जब वह दूसरोंमें मानी हुई ममता हटाकर एकमात्र भगवान्‌की स्वत:सिद्ध वास्तविक आत्मीयताको जाग्रत् कर लेता है, तब भगवान्‌की शक्ति उसमें भक्तिरूपसे प्रकट हो जाती है। वह भक्ति इतनी विलक्षण है कि निराकार भगवान्‌को भी साकाररूपसे प्रकट कर देती है, भगवान्‌को भी खींच लेती है। वह भक्ति भी भगवान् ही देते हैं।

भगवान्‌की भक्तिरूप शक्तिके दो रूप हैं—विरह और मिलन। भगवान् विरह भी भेजते हैं*, और मिलन भी। जब भगवान् विरह भेजते हैं, तब भक्त भगवान्‌के बिना व्याकुल हो जाता है। व्याकुलताकी अग्निमें संसारकी आसक्ति जल जाती है और भगवान् प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें भगवान्‌की शक्ति पहले उत्कट जिज्ञासाके रूपमें आती है (जिससे तत्त्वको जाने बिना साधकसे रहा नहीं जाता) और फिर ब्रह्मविद्या-रूपसे जीवके अज्ञानका नाश करके उसके वास्तविक स्वरूपको प्रकाशित कर देती है। परन्तु भगवान्‌की वह दिव्य शक्ति, जिसे भगवान् विरहरूपसे भेजते हैं, उससे भी बहुत विलक्षण है। भगवान् कहाँ हैं? क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?—इस प्रकार भक्त व्याकुल हो जाता है, तो यह व्याकुलता सब पापोंका नाश करके भगवान्‌को साकाररूपसे प्रकट कर देती है। व्याकुलतासे जितना जल्दी काम बनता है, उतना विवेक- विचारपूर्वक किये गये साधनसे नहीं।

विशेष बात

भगवान् अपनी प्रकृतिके द्वारा अवतार लेते हैं और तरह-तरहकी अलौकिक लीलाएँ करते हैं। जैसे अग्नि स्वयं कुछ नहीं करती, उसकी प्रकाशिका-शक्ति प्रकाश कर देती है, दाहिका-शक्ति जला देती है; ऐसे ही भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, उनकी दिव्य शक्ति ही सब काम कर देती है। शास्त्रोंमें आता है कि सीताजी कहती हैं—'रावणको मारना आदि सब काम मैंने किया है, रामजीने कुछ नहीं किया।'

जैसे मनुष्य और उसकी शक्ति (ताकत) है, ऐसे ही भगवान् और उनकी शक्ति है। उस शक्तिको भगवान्‌से अलग भी नहीं कह सकते और एक भी नहीं कह सकते। मनुष्यमें जो शक्ति है, उसे वह अपनेसे अलग करके नहीं दिखा सकता, इसलिये वह उससे अलग नहीं है। मनुष्य रहता है, पर उसकी शक्ति घटती-बढ़ती रहती है, इसलिये वह मनुष्यसे एक भी नहीं है। यदि उसकी मनुष्यसे एकता होती तो वह उसके स्वरूपके साथ बराबर रहती, घटती-बढ़ती नहीं। अत: भगवान् और उनकी शक्तिको भिन्न अथवा अभिन्न कुछ भी नहीं कह सकते। दार्शनिकोंने भिन्न भी नहीं कहा और अभिन्न भी नहीं कहा। वह शक्ति अनिर्वचनीय है। भगवान् श्रीकृष्णके उपासक उस शक्तिको श्रीजी-(राधाजी-) के नामसे कहते हैं।

जैसे पुरुष और स्त्री दो होते हैं, ऐसे श्रीकृष्ण और श्रीजी

*** संतोंकी वाणीमें आया है—'दरिया हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।' अर्थात् भगवान्‌ने कृपा करके मेरे लिये विरह भेज दिया!**

दो नहीं हैं। ज्ञानमें तो द्वैतका अद्वैत होता है अर्थात् दो होकर भी एक हो जाता है, और भक्तिमें अद्वैतका द्वैत होता है अर्थात् एक होकर भी दो हो जाता है। जीव और ब्रह्म एक हो जायँ तो 'ज्ञान' होता है और एक ही ब्रह्म दो रूप हो जाय तो 'भक्ति' होती है। एक ही अद्वैत-तत्त्व प्रेमकी लीला करनेके लिये, प्रेमका आस्वादन करनेके लिये, सम्पूर्ण जीवोंको प्रेमका आनन्द देनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीजी—इन दो रूपोंसे प्रकट होता है*। दो रूप होनेपर भी दोनोंमें कौन बड़ा है और कौन छोटा, कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद? इसका पता ही नहीं चलता। दोनों ही एक-दूसरेसे बढ़कर विलक्षण दीखते हैं। दोनों एक-दूसरेके प्रति आकृष्ट होते हैं। श्रीजीको देखकर भगवान् प्रसन्न होते हैं और भगवान्को देखकर श्रीजी। दोनोंकी परस्पर प्रेम-लीलासे रसकी वृद्धि होती है। इसीको रास कहते हैं।

भगवान्की शक्तियाँ अनन्त हैं, अपार हैं। उनकी दिव्य शक्तियोंमें ऐश्वर्य-शक्ति भी है और माधुर्य-शक्ति भी। ऐश्वर्य-शक्तिसे भगवान् ऐसे विचित्र और महान् कार्य करते हैं, जिनको दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। ऐश्वर्य-शक्तिके कारण उनमें जो महत्ता, विलक्षणता, अलौकिकता दीखती है, वह उनके सिवाय और किसीमें देखने-सुननेमें नहीं आती। माधुर्य-शक्तिमें भगवान् अपने ऐश्वर्यको भूल जाते हैं। भगवान्को भी मोहित करनेवाली माधुर्य-शक्तिमें एक मधुरता, मिठास होती है, जिसके कारण भगवान् बड़े मधुर और प्रिय लगते हैं। जब भगवान् ग्वालबालोंके साथ खेलते हैं, तब माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है। अगर उस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट हो जाय तो सारा खेल बिगड़ जाय; ग्वालबाल डर जायँ और भगवान्के साथ खेल भी न सकें। ऐसे ही भगवान् कहीं मित्ररूपसे, कहीं पुत्ररूपसे और कहीं पतिरूपसे प्रकट हो जाते हैं, तो उस समय उनकी ऐश्वर्य-शक्ति छिपी रहती है और माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है। तात्पर्य है कि भगवान् भक्तोंके भावोंके अनुसार उनको आनन्द देनेके लिये ही अपनी ऐश्वर्य-शक्तिको छिपाकर माधुर्य-शक्ति प्रकट कर देते हैं।

जिस समय माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट नहीं होती और जिस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय माधुर्य-शक्ति प्रकट नहीं होती। ऐश्वर्य-शक्ति केवल तभी प्रकट होती है, जब माधुर्यभावमें कोई शंका पैदा हो जाय। जैसे, माधुर्य-शक्तिके प्रकट रहनेपर भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ोंको ढूँढ़ते हैं। परन्तु 'बछड़े कहाँ गये?' यह शंका पैदा होते ही ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट हो जाती है और भगवान् तत्काल जान जाते हैं कि बछड़ोंको ब्रह्माजी ले गये हैं।

भगवान्में एक सौन्दर्य-शक्ति भी होती है, जिससे हरेक प्राणी उनमें आकृष्ट हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य-को देखकर मथुरापुरवासिनी स्त्रियाँ आपसमें कहती हैं—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥

(श्रीमद्भा० १०। ४४। १४)

'इन भगवान् श्रीकृष्णका रूप सम्पूर्ण सौन्दर्यका सार है, सृष्टिमात्रमें किसीका भी रूप इनके रूपके समान नहीं है। इनका रूप किसीके सँवारने-सजाने अथवा गहने-कपड़ोंसे नहीं, प्रत्युत स्वयंसिद्ध है। इस रूपको देखते-देखते तृप्ति भी नहीं होती; क्योंकि यह नित्य नवीन ही रहता है। समग्र यश, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इस रूपके आश्रित है। इस रूपके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं। गोपियोंने पता नहीं कौन-सा तप किया था, जो अपने नेत्रोंके दोनोंसे सदा इनकी रूप-माधुरीका पान किया करती हैं!'

शुकदेवजी कहते हैं—

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम्॥
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः॥

(श्रीमद्भा १०। ४३। २०-२१)

'परीक्षित्! मंचोंपर जितने लोग बैठे थे, वे मथुराके नागरिक और राष्ट्रके जन-समुदाय पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको देखकर इतने प्रसन्न हुए कि उनके नेत्र और मुखकमल खिल उठे, उत्कण्ठासे भर गये। वे नेत्रोंद्वारा उनकी मुख-माधुरीका पान करते-करते तृप्त ही नहीं होते थे; मानो वे उन्हें नेत्रोंसे पी रहे हों, जिह्वासे चाट रहे हों, नासिकासे सूँघ रहे हों और भुजाओंसे पकड़कर

---

* **येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्। (श्रीराधातापनीयोपनिषद्)**
'जो ये राधा और जो ये कृष्ण रसके सागर हैं, वे एक ही हैं, पर लीलाके लिये दो रूप बने हुए हैं।'

हृदयसे सटा रहे हों!'

भगवान् श्रीरामके सौन्दर्यको देखकर विदेह राजा जनक भी विदेह अर्थात् देहकी सुध-बुधसे रहित हो जाते हैं—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

(मानस १। २१५। ४)

और कहते हैं—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

(मानस १। २१६। २)

वनमें रहनेवाले कोल-भील भी भगवान्के विग्रहको देखकर मुग्ध हो जाते हैं—

करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े॥

(मानस २। १३५। ३)

प्रेमियोंकी तो बात ही क्या, वैरभाव रखनेवाले राक्षस खर-दूषण भी भगवान्के विग्रहकी सुन्दरताको देखकर चकित हो जाते हैं और कहते हैं—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥

(मानस ३। १९। २)

तात्पर्य है कि भगवान्के दिव्य सौन्दर्यकी ओर प्रेमी, विरक्त, ज्ञानी, मूर्ख, वैरी, असुर और राक्षसतक सबका मन आकृष्ट हो जाता है।

'सम्भवाम्यात्ममायया'—जो मनुष्य भगवान्से विमुख रहते हैं, उनके सामने भगवान् अपनी योगमायामें छिपे रहते हैं और साधारण मनुष्य-जैसे ही दीखते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों भगवान्के सम्मुख होता जाता है, त्यों-त्यों भगवान् उसके सामने प्रकट होते जाते हैं। इसी योगमायाका आश्रय लेकर भगवान् विचित्र-विचित्र लीलाएँ करते हैं[1]।

भगवद्विमुख मूढ़ पुरुषके आगे दो परदे रहते हैं—एक तो अपनी मूढ़ताका और दूसरा भगवान्की योग-मायाका (गीता—सातवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)। अपनी मूढ़ता रहनेके कारण भगवान्का प्रभाव साक्षात् सामने प्रकट होनेपर भी वह उसे समझ नहीं सकता; जैसे—द्रौपदीका चीर-हरण करनेके लिये दुःशासन अपना पूरा बल लगाता है, उसकी भुजाएँ थक जाती हैं, पर साड़ीका अन्त नहीं आता—

द्रुपद सुता निरबल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम।
दुस्सासन की भुजा थकित भई, बसन-रूप भए स्याम॥

—इस प्रकार भगवान्ने सभाके भीतर अपना ऐश्वर्य साक्षात् प्रकट कर दिया। परन्तु अपनी मूढ़ताके कारण दुःशासन, दुर्योधन, कर्ण आदिपर इस बातका कोई असर ही नहीं पड़ा कि द्रौपदीके द्वारा भगवान्को पुकारनेमात्रसे कितनी विलक्षणता प्रकट हो गयी! एक स्त्रीका चीरहरण भी नहीं कर सके तो और क्या कर सकते हैं! इस तरफ उनकी दृष्टि ही नहीं गयी। भगवान्का प्रभाव सामने देखते हुए भी वे उसे जान नहीं सके।

यदि जीव अपनी मूढ़ता (अज्ञान) दूर कर दे तो उसे अपने स्वरूपका अथवा परमात्मतत्त्वका बोध तो हो जाता है, पर भगवान्के दर्शन नहीं होते[2]। भगवान्के दर्शन तभी होते हैं, जब भगवान् अपनी योगमायाका परदा हटा देते हैं। अपना अज्ञान मिटाना तो जीवके हाथकी बात है, पर योग-मायाको दूर करना उसके हाथकी बात नहीं है। वह सर्वथा भगवान्के शरण हो जाय तो भगवान् अपनी शक्तिसे उसका अज्ञान भी मिटा सकते हैं और दर्शन भी दे सकते हैं।

भगवान् जितनी लीलाएँ करते हैं, सब योगमायाका आश्रय लेकर ही करते हैं। इसी कारण उनकी लीलाको देख सकते हैं, उसका अनुभव कर सकते हैं। यदि वे योग-मायाका आश्रय न लें तो उनकी लीलाको कोई देख ही नहीं सकता, उसका आस्वादन कोई कर ही नहीं सकता।

अवतार-सम्बन्धी विशेष बात

अवतारका अर्थ है—नीचे उतरना। सब जगह परिपूर्ण रहनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा अपने अनन्य भक्तोंकी इच्छा पूरी करनेके लिये अत्यधिक कृपासे एक स्थान-विशेषमें अवतार लेते हैं और छोटे बन जाते हैं। दूसरे लोगोंका प्रभाव या महत्त्व तो बड़े हो जानेसे होता है, पर भगवान्का प्रभाव या महत्त्व छोटे हो जानेसे होता है। कारण

१-योगमायाका आश्रय लेकर ही भगवान् रासलीला करते हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ (श्रीमद्भा० १०। २९। १)

२-अपने स्वरूपका बोध होनेपर भगवान्के दर्शन हो जायँ—ऐसा नियम नहीं है। परन्तु भगवान्के दर्शन होनेपर अपने स्वरूपका बोध भी हो जाता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ (मानस ३। ३६। ५)

कि अपार, असीम, अनन्त होकर भी भगवान् छोटे-से बन जाते हैं—यह उनकी विलक्षणता ही है। जैसे, भगवान् अनन्त ब्रह्माण्डोंको धारण करते हैं; परन्तु एक पर्वतको धारण करनेसे भगवान् 'गिरिधारी' नामसे प्रसिद्ध हो गये! अनन्त ब्रह्माण्ड जिनके रोम-रोममें स्थित है*, ऐसे परमेश्वर एक पर्वतको उठा लें—यह कोई बड़ी बात नहीं, प्रत्युत छोटी बात है। परन्तु छोटी बातमें ही भगवान्‌की बड़ी बात होती है। इसी प्रकार अवतार लेनेमें ही भगवान्‌की विशेषता है।

साधारण आदमी जिस स्थितिपर है, उसी स्थितिपर आकर भगवान् वैसी लीला करते हैं। बिलकुल भोले-भाले साधारण बालककी तरह बनकर लीला करते हैं। ग्वालबालोंसे खेलते समय वे दूसरे ग्वालबालसे हार भी जाते हैं। जो ग्वालबाल जीत जाता है, वह सवार बन जाता है और भगवान् घोड़ा बन जाते हैं। यह उनकी विशेष महत्ता है।

भगवान्‌के प्रभावको जाननेवाले ज्ञानी महात्मालोग तो उनके स्वरूपमें मस्त रहते हैं; पर भक्तोंको उनकी साधारण अज्ञ बालककी तरह भोली-भाली लीला बड़ी विचित्र और मीठी लगती है। वहाँ ज्ञानियोंका ज्ञान नहीं चलता। ज्ञानियोंके शिरोमणि ब्रह्माजी भी भगवान्‌की लीलाको देखकर चकरा गये! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, योगी-तपस्वी, संत-महात्मा भी उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते और इस विषयमें मूक हो जाते हैं। भगवान् ही कृपा करके जिन प्यारे अन्तरंग भक्तोंको जनाना चाहते हैं, वे ही उनकी लीलाके तत्त्वको जान पाते हैं—'**सोइ जानइ जेहि देहु जनाई**' (मानस २। १२७। २)। गायें चराते समय, ग्वालबालोंसे खेलते समय भी भगवान् बड़े-बड़े प्रभावशाली कार्य कर देते हैं। बड़े-बड़े बलवान् राक्षसोंको भी चुटकियोंमें ही खत्म कर देते हैं। छोटे-से बालक बननेपर भी उनका प्रभाव वैसा-का-वैसा ही रहता है।

जैसे कोई बहुत बड़ा विद्वान् किसी बालकको वर्णमाला सिखाता है, तो वह बालकका हाथ पकड़कर उससे 'क ख ग .....' लिखवाता है और मुँहसे भी वैसा बोलता है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह विद्वान् स्वयं वर्णमाला सीखता है। वह तो बालककी स्थितिमें आकर उसे सिखाता है, जिससे वह सुगमतापूर्वक सीख जाय। ऐसे ही अनन्तब्रह्माण्डनायक भगवान् हमलोगोंके बीच हमारे सामने आते हैं और हमारी तरह ही बनकर हमें शिक्षा देते हैं। उनकी बड़ी अलौकिक विचित्र-विचित्र लीलाएँ होती हैं, जिनका श्रवण, पठन और गायन करनेसे भी लोगोंका उद्धार हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—भगवान् प्रकृतिकी सहायतासे ही क्रिया (लीला) करते हैं। इसीलिये सीताजी कहती हैं कि सब कार्य मैंने किये हैं, भगवान् रामने कुछ नहीं किया (अध्यात्मरामायण, बाल० पहले अध्यायके बत्तीसवेंसे तैंतालीसवें श्लोकतक)। परन्तु भगवान् मनुष्यकी तरह प्रकृतिके अधीन नहीं होते—'**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय।**' कारण कि भगवान्‌के लिये प्रकृति 'पर' नहीं है, प्रत्युत उनसे अभिन्न है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। भगवान्‌को प्रकृतिमें स्थित मनुष्योंके सामने आना है, इसलिये वे प्रकृतिको स्वीकार करके प्रकट होते हैं। तभी मनुष्य उनको देख सकते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें अपने अवतारका अवसर बताते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

भारत	= हे भरतवंशी अर्जुन!	**अधर्मस्य**	= अधर्मकी	**अहम्**	= मैं
यदा, यदा	= जब-जब	**अभ्युत्थानम्**	= वृद्धि	**आत्मानम्**	= अपने-आपको
धर्मस्य	= धर्मकी	**भवति**	= होती है,	**सृजामि**	= (साकाररूपसे) प्रकट करता हूँ।
ग्लानिः	= हानि (और)	**तदा**	= तब-तब		
		हि	= ही		

* रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड। (मानस १। २०१)

व्याख्या—**'यदा यदा हि धर्मस्य ..... अभ्युत्थानमधर्मस्य'**—धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है—भगवत्प्रेमी, धर्मात्मा, सदाचारी, निरपराध और निर्बल मनुष्योंपर नास्तिक, पापी, दुराचारी और बलवान् मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा लोगोंमें सद्‌गुण-सदाचारोंकी अत्यधिक कमी और दुर्गुण-दुराचारोंकी अत्यधिक वृद्धि हो जाना।

'यदा यदा' पदोंका तात्पर्य है कि जब-जब आवश्यकता पड़ती है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं। एक युगमें भी जितनी बार आवश्यकता और अवसर प्राप्त हो जाय, उतनी बार अवतार ले सकते हैं। उदाहरणार्थ, समुद्र-मन्थनके समय भगवान्‌ने अजितरूपसे समुद्र-मन्थन किया, कच्छपरूपसे मन्दराचलको धारण किया तथा सहस्रबाहुरूपसे मन्दराचलको ऊपरसे दबाकर रखा। फिर देवताओंको अमृत बाँटनेके लिये मोहिनी-रूप धारण किया। इस प्रकार भगवान्‌ने एक साथ अनेक रूप धारण किये।

अधर्मकी वृद्धि और धर्मका ह्रास होनेका मुख्य कारण है—नाशवान् पदार्थोंकी ओर आकर्षण। जैसे माता और पितासे शरीर बनता है, ऐसे ही प्रकृति और परमात्मासे सृष्टि बनती है। इसमें प्रकृति और उसका कार्य संसार तो प्रतिक्षण बदलता रहता है, कभी क्षणमात्र भी एकरूप नहीं रहता और परमात्मा तथा उनका अंश जीवात्मा—दोनों सम्पूर्ण देश, काल आदिमें नित्य-निरन्तर रहते हैं, इनमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। जब जीव अनित्य, उत्पत्ति-विनाशशील प्राकृत पदार्थोंसे सुख पानेकी इच्छा करने लगता है और उनकी प्राप्तिमें सुख मानने लगता है, तब उसका पतन होने लगता है। लोगोंकी सांसारिक भोग और संग्रहमें ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों समाजमें अधर्म बढ़ता है और ज्यों-ज्यों अधर्म बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों समाजमें पापाचरण, कलह, विद्रोह आदि दोष बढ़ते हैं।

सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग—इन चारों युगोंकी ओर देखा जाय तो इनमें भी क्रमशः धर्मका ह्रास होता है। सत्ययुगमें धर्मके चारों चरण रहते हैं, त्रेतायुगमें धर्मके तीन चरण रहते हैं, द्वापरयुगमें धर्मके दो चरण रहते हैं और कलियुगमें धर्मका केवल एक चरण शेष रहता है। जब युगकी मर्यादासे भी अधिक धर्मका ह्रास हो जाता है, तब भगवान् धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिये अवतार लेते हैं।

'तदात्मानं सृजाम्यहम्'—जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। अतः भगवान्‌के अवतार लेनेका मुख्य प्रयोजन है—धर्मकी स्थापना करना और अधर्मका नाश करना।

धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होनेपर लोगोंकी प्रवृत्ति अधर्ममें हो जाती है। अधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे स्वाभाविक पतन होता है। भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं। इसलिये लोगोंको पतनमें जानेसे रोकनेके लिये वे स्वयं अवतार लेते हैं।

कर्मोंमें सकामभाव उत्पन्न होना ही धर्मकी हानि है और अपने-अपने कर्तव्यसे च्युत होकर निषिद्ध आचरण करना ही अधर्मका अभ्युत्थान है! 'काम' अर्थात् कामनासे ही सब-के-सब अधर्म, पाप, अन्याय आदि होते हैं (गीता— तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। अतः इस 'काम'का नाश करनेके लिये तथा निष्कामभावका प्रसार करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि वर्तमान समयमें धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि बहुत हो रही है, फिर भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते? इसका समाधान यह है कि युगको देखते हुए अभी वैसा समय नहीं आया है, जिससे भगवान् अवतार लें। त्रेतायुगमें राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको मारकर उनकी हड्डियोंके ढेर लगा दिये थे। यह तो त्रेतायुगसे भी गया-बीता कलियुग है, पर अभी धर्मात्मा पुरुष जी रहे हैं, उनका कोई नाश नहीं करता। दूसरी एक बात और है। जब धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब भगवान्‌की आज्ञासे संत इस पृथ्वीपर आते हैं अथवा यहींसे विशेष साधक पुरुष प्रकट हो जाते हैं और धर्मकी स्थापना करते हैं। कभी-कभी परमात्माको प्राप्त हुए कारक महापुरुष भी संसारका उद्धार करनेके लिये आते हैं। साधक और सन्त पुरुष जिस देशमें रहते हैं, उस देशमें अधर्मकी वैसी वृद्धि नहीं होती और धर्मकी स्थापना होती है।

जब साधकों और सन्त-महात्माओंसे भी लोग नहीं मानते, प्रत्युत उनका विनाश करना आरम्भ कर देते हैं और जब धर्मका प्रचार करनेवाले बहुत कम रहते हैं तथा जिस युगमें जैसा धर्म होना चाहिये, उसकी अपेक्षा भी बहुत अधिक धर्मका ह्रास हो जाता है, तब भगवान् स्वयं आते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपने अवतारके अवसरका वर्णन करके अब भगवान् अपने अवतारका प्रयोजन बताते हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

साधूनाम्	= साधुओं (भक्तों)-की	**विनाशाय**	= विनाश करनेके लिये		स्थापना करनेके लिये (मैं)
परित्राणाय	= रक्षा करनेके लिये,	**च**	= और	**युगे, युगे**	= युग-युगमें
दुष्कृताम्	= पापकर्म करनेवालोंका	**धर्मसंस्थापनार्थाय**	= धर्मकी भलीभाँति	**सम्भवामि**	= प्रकट हुआ करता हूँ।

व्याख्या—**'परित्राणाय साधूनाम्'**—साधु मनुष्योंके द्वारा ही अधर्मका नाश और धर्मका प्रचार होता है, इसलिये उनकी रक्षा करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं।

दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है और जो भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक स्मरण, कीर्तन आदि करते हैं और लोगोंमें भी इसका प्रचार करते हैं, ऐसे भगवान्के आश्रित भक्तोंके लिये यहाँ **'साधूनाम्'** पद आया है।

जिसका एकमात्र परमात्म-प्राप्तिका उद्देश्य है, वह साधु है* और जिसका नाशवान् संसारका उद्देश्य है, वह असाधु है।

असत् और परिवर्तनशील वस्तुमें सद्भाव करने और उसे महत्त्व देनेसे कामनाएँ पैदा होती हैं। ज्यों-ज्यों कामनाएँ नष्ट होती हैं, त्यों-त्यों साधुता आती है और ज्यों-ज्यों कामनाएँ बढ़ती हैं, त्यों-त्यों साधुता लुप्त होती है। कारण कि असाधुताका मूल हेतु कामना ही है। साधुतासे अपना उद्धार और लोगोंका स्वतः उपकार होता है।

साधु पुरुषके भावों और क्रियाओंमें पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि, मुनि आदि सबका हित भरा रहता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।
(मानस ७। ४७। ३)

यदि लोग उसके मनके भावोंको जान जायँ तो वे उसके चरणोंके दास बन जायँ। इसके विपरीत यदि लोग दुष्ट पुरुषके मनके भावोंको जान जायँ तो दिनमें कई बार लोगोंसे उसकी पिटाई हो।

यहाँ शंका हो सकती है कि यदि भगवान् साधु पुरुषोंकी रक्षा किया करते हैं तो फिर संसारमें साधु पुरुष दु:ख पाते हुए क्यों देखे जाते हैं? इसका समाधान यह है कि साधु पुरुषोंकी रक्षाका तात्पर्य उनके भावोंकी रक्षा है; शरीर, धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई आदिकी रक्षा नहीं; कारण कि वे इन सांसारिक पदार्थोंको महत्त्व नहीं देते। भगवान् भी इन वस्तुओंको महत्त्व नहीं देते; क्योंकि सांसारिक पदार्थोंको महत्त्व देनेसे ही असाधुता पैदा होती है।

भक्तोंमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व, उद्देश्य होता ही नहीं; तभी तो वे भक्त हैं। भक्तलोग प्रतिकूलता-(दु:खदायी परिस्थिति-) में विशेष प्रसन्न होते हैं; क्योंकि प्रतिकूलतासे जितना आध्यात्मिक लाभ होता है, उतना किसी दूसरे साधनसे नहीं होता। वास्तवमें भक्ति भी प्रतिकूलतामें ही बढ़ती है। सांसारिक राग, आसक्तिसे ही पतन होता है और प्रतिकूलतासे वह राग टूटता है। इसलिये भगवान्का भक्तोंके लिये प्रतिकूलता भेजना भी वास्तवमें भक्तोंकी रक्षा करना है।

'विनाशाय च दुष्कृताम्'—दुष्ट मनुष्य अधर्मका प्रचार और धर्मका नाश करते हैं, इसलिये उनका विनाश करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं।

जो मनुष्य कामनाके अत्यधिक बढ़नेके कारण झूठ, कपट, छल, बेईमानी आदि दुर्गुण-दुराचारोंमें लगे हुए हैं, जो निरपराध सद्गुण, सदाचारी, साधुओंपर अत्याचार किया करते हैं, जो दूसरोंका अहित करनेमें ही लगे रहते हैं, जो प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते, भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है, ऐसे आसुरी सम्पत्तिमें अधिक रचे-पचे रहकर वैसा ही बुरा आचरण करनेवाले मनुष्योंके लिये यहाँ **'दुष्कृताम्'** पद आया है। भगवान् अवतार लेकर ऐसे ही दुष्ट मनुष्योंका विनाश करते हैं।

*** साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः। (गीता ९। ३०)**

शंका—भगवान् तो सब प्राणियोंमें सम हैं और उनका कोई वैरी नहीं है (‘**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यः**’ गीता ९। २९), फिर वे दुष्टोंका विनाश क्यों करते हैं?

समाधान—सम्पूर्ण प्राणियोंके परम सुहृद् होनेसे भगवान्‌का कोई वैरी नहीं है; परन्तु जो मनुष्य भक्तोंका अपराध करता है, वह भगवान्‌का वैरी होता है—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

(मानस २। २१८। २-३)

भगवान्‌का एक नाम ‘**भक्तभक्तिमान्**’ (श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९) है। अतः भक्तोंको कष्ट देनेवाले दुष्टोंका विनाश भगवान् स्वयं करते हैं। पापका विनाश भक्त करते हैं और पापीका विनाश भगवान् करते हैं।

साधुओंका परित्राण करनेमें भगवान्‌की जितनी कृपा है, उतनी ही कृपा दुष्टोंका विनाश करनेमें भी है*! विनाश करके भगवान् उन्हें शुद्ध, पवित्र बनाते हैं।

सन्त-महात्मा धर्मकी स्थापना तो करते हैं, पर दुष्टोंके विनाशका कार्य वे नहीं करते। दुष्टोंका विनाश करनेका कार्य भगवान् अपने हाथमें रखते हैं; जैसे—साधारण मलहम-पट्टी करनेका काम तो कंपाउंडर करता है, पर बड़ा ऑपरेशन करनेका काम सिविल सर्जन खुद करता है, दूसरा नहीं।

माता और पिता—दोनों समानरूपसे बालकका हित चाहते हैं। बालक पढ़ाई नहीं करता, उद्दण्डता करता है तो उसको माता भी समझाती है और पिता भी समझाते हैं। बालक अपनी उद्दण्डता न छोड़े तो पिता उसे मारते-पीटते हैं। परन्तु बालक जब घबरा जाता है, तब माता पिताको मारने-पीटनेसे रोकती है। यद्यपि माता पतिव्रता है, पतिका अनुसरण करना उसका धर्म है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि पति बालकको मारे तो वह भी साथमें मारने लग जाय। यदि वह ऐसा करे तो बालक बेचारा कहाँ जायगा? बालककी रक्षा करनेमें उसका पातिव्रत-धर्म नष्ट नहीं होता। कारण कि वास्तवमें पिता भी बालकको मारना-पीटना नहीं चाहते, प्रत्युत उसके दुर्गुण-दुराचारोंको दूर करना चाहते हैं। इसी तरह भगवान् पिताके समान हैं और उनके भक्त माताके समान। भगवान् और सन्त-महात्मा मनुष्योंको समझाते हैं। फिर भी मनुष्य अपनी दुष्टता न छोड़े तो उनका विनाश करनेके लिये भगवान्‌को अवतार लेकर खुद आना पड़ता है। अगर वे अपनी दुष्टता छोड़ दें तो उन्हें मारनेकी आवश्यकता ही न रहे।

निर्गुण ब्रह्म प्रकृति, माया, अज्ञान आदिका विरोधी नहीं है, प्रत्युत उनको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला तथा उनका पोषक है। तात्पर्य यह कि प्रकृति, माया आदिमें जो कुछ सामर्थ्य है, वह सब उस निर्गुण ब्रह्मकी ही है। इसी तरह सगुण भगवान् भी किसी जीवके साथ द्वेष, वैर या विरोध नहीं रखते, प्रत्युत समान रीतिसे सबको सामर्थ्य देते हैं, उनका पोषण करते हैं। इतना ही नहीं, भगवान्‌की रची हुई पृथ्वी भी रहनेके लिये सबको बराबर स्थान देती है। उसका यह पक्षपात नहीं है कि महात्माको तो विशेष स्थान दे, पर दुष्टको स्थान न दे। ऐसे ही अन्न सबकी भूख बराबर मिटाता है, जल सबकी प्यास समानरूपसे मिटाता है, वायु सबको प्राणवायु एक-सी देती है, सूर्य सबको प्रकाश एक-सा देता है, आदि। यदि पृथ्वी, अन्न, जल आदि दुष्टोंको स्थान, अन्न, जल आदि देना बंद कर दें तो दुष्ट जी ही नहीं सकते। इस प्रकार जब भगवान्‌के विधानके अनुसार चलनेवाले पृथ्वी, अन्न, जल, वायु, सूर्य आदिमें भी इतनी उदारता, समता है, तब इस विधानके विधायक-(भगवान्-) में कितनी विलक्षण उदारता, समता होगी! वे तो उदारताके भण्डार ही हैं। यदि विधायक(भगवान्) और उनके विधानकी ओर थोड़ा-सा भी दृष्टिपात किया जाय तो मनुष्य गद्‌गद हो जाय और भगवान्‌के चरणोंमें उसका प्रेम हो जाय!

भगवान्‌का दुष्ट पुरुषोंसे विरोध नहीं है, प्रत्युत उनके दुष्कर्मोंसे विरोध है। कारण कि वे दुष्कर्म संसारका तथा उन दुष्टोंका भी अहित करनेवाले हैं। भगवान् सर्वसुहृद् हैं; अतः वे संसारका तथा उन दुष्टोंका भी हित करनेके लिये ही दुष्टोंका विनाश करते हैं। उनके द्वारा जो दुष्ट मारे जाते हैं, उनको भगवान् अपने ही धाममें भेज देते हैं—यह उनकी कितनी विलक्षण उदारता है!

---

* १—‘अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा’ (मानस २। १८३। ३)

२—ये ये हताश्चक्रधरेण राजंस्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन। ते ते गता विष्णुपुरीं प्रयाताः क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥

(पाण्डवगीता)

‘हे राजन्! त्रैलोक्याधिपति चक्रधारी भगवान् जनार्दनके द्वारा जो लोग मारे गये, वे सभी विष्णुलोकको चले गये। इस देवका क्रोध भी वरकी तरह ही कल्याणप्रद है।’

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अगर हम पाप-कर्म ही करते रहें तो क्या हमें भी मारनेके लिये भगवान्‌को आना पड़ेगा? अगर ऐसी बात है तो भगवान्‌के द्वारा मरनेसे हमारा कल्याण हो ही जायगा; फिर जिनमें संयम करना पड़ता है, ऐसे श्रमसाध्य सद्‌गुण-सदाचारका पालन क्यों करें? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें भगवान् उन्हीं पापियोंको मारनेके लिये आते हैं, जो भगवान्‌के सिवाय दूसरे किसीसे मर ही नहीं सकते। दूसरी बात, शुभ-कर्मोंमें जितना लगेंगे, उतना तो पुण्य हो ही जायगा, पर अशुभ-कर्मोंमें लगे रहनेसे यदि बीचमें ही मर जायँगे अथवा कोई दूसरा मार देगा तो मुश्किल हो जायगी! भगवान्‌के हाथों मरकर मुक्ति पानेकी लालसा कैसे पूरी होगी! इसलिये अशुभ-कर्म करने ही नहीं चाहिये।

'धर्मसंस्थापनार्थाय'—निष्कामभावका उपदेश, आदेश और प्रचार ही धर्मकी स्थापना है। कारण कि निष्कामभावकी कमीसे और असत् वस्तुको सत्ता देकर उसे महत्त्व देनेसे ही अधर्म बढ़ता है, जिससे मनुष्य दुष्ट स्वभाववाले हो जाते हैं। इसलिये भगवान् अवतार लेकर आचरणके द्वारा निष्कामभावका प्रचार करते हैं। निष्कामभावके प्रचारसे धर्मकी स्थापना स्वतः हो जाती है।

धर्मका आश्रय भगवान् हैं[1] (गीता—चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक), इसलिये शाश्वत धर्मकी संस्थापना करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं। संस्थापना करनेका अर्थ है—सम्यक् स्थापना करना। तात्पर्य है कि धर्मका कभी नाश नहीं होता, केवल ह्रास होता है। धर्मका ह्रास होनेपर भगवान् पुनः उसकी अच्छी तरह स्थापना करते हैं (गीता—चौथे अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक)।

'सम्भवामि युगे युगे'—आवश्यकता पड़नेपर भगवान् प्रत्येक युगमें अवतार लेते हैं। एक युगमें भी जितनी बार जरूरत पड़ती है, उतनी बार भगवान् अवतार लेते हैं। 'कारक पुरुष'[2] और सन्त-महात्माओंके रूपमें भी भगवान्‌का अवतार हुआ करता है। भगवान् और कारक पुरुषका अवतार तो 'नैमित्तिक' है, पर सन्त-महात्माओंका अवतार 'नित्य' माना गया है।

यहाँ शंका होती है कि भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं, फिर संतोंकी रक्षा करना, दुष्टोंका विनाश करना और धर्मकी स्थापना करना—ये काम क्या वे अवतार लिये बिना नहीं कर सकते? इसका समाधान यह है कि भगवान् अवतार लिये बिना ये काम नहीं कर सकते, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि भगवान् अवतार लिये बिना अनायास ही यह सब कुछ कर सकते हैं और करते भी रहते हैं, तथापि जीवोंपर विशेष कृपा करके उनका कुछ और हित करनेके लिये भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं[3]। अवतारकालमें भगवान्‌के दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप आदिसे, भविष्यमें उनकी दिव्य लीलाओंके श्रवण, चिन्तन और ध्यानसे तथा उनके उपदेशोंके अनुसार आचरण करनेसे लोगोंका सहज ही उद्धार हो जाता है। इस प्रकार लोगोंका सदा उद्धार होता ही रहे, ऐसी एक रीति भगवान् अवतार लेकर ही चलाते हैं।

भगवान्‌के कई ऐसे प्रेमी भक्त होते हैं, जो भगवान्‌के साथ खेलना चाहते हैं, उनके साथ रहना चाहते हैं। उनकी इच्छा पूरी करनेके लिये भी भगवान् अवतार लेते हैं और उनके सामने आकर, उनके समान बनकर खेलते हैं।

जिस युगमें जितना कार्य आवश्यक होता है, भगवान् उसीके अनुसार अवतार लेकर उस कार्यको पूरा करते हैं। इसलिये भगवान्‌के अवतारोंमें तो भेद होता है, पर स्वयं भगवान्‌में कोई भेद नहीं होता। भगवान् सभी अवतारोंमें पूर्ण हैं और पूर्ण ही रहते हैं।

भगवान्‌के लिये न तो कोई कर्तव्य है और न उन्हें कुछ पाना ही शेष है (गीता—तीसरे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), फिर भी वे समय-समयपर अवतार लेकर केवल संसारका हित करनेके लिये सब कर्म करते हैं। इसलिये मनुष्यको भी केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।

चौथे श्लोकमें आये अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने मनुष्योंके जन्म और अपने जन्म-(अवतार-) में तीन बड़े अन्तर बताये हैं—

१-(१) **'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह' (मानस २। १२६)**

(२) 'धर्मस्य प्रभुरच्युतः' (महाभारत, अनु० १४९। १३७)

२-जो महापुरुष भगवान्‌को प्राप्त हो चुके हैं और भगवद्धाममें विराजते हैं, वे 'कारक पुरुष' कहलाते हैं।

३-अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३७)

'भगवान् जीवोंपर विशेष कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ।'

(१) जाननेमें अन्तर—मनुष्योंके और भगवान्‌के बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सब जन्मोंको मनुष्य तो नहीं जानते, पर भगवान् जानते हैं (४। ५)।

(२) जन्ममें अन्तर—मनुष्य प्रकृतिके परवश होकर, अपने किये हुए पाप-पुण्योंका फल भोगनेके लिये और फलभोगपूर्वक परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये जन्म लेता है, पर भगवान् अपनी प्रकृतिको अधीन करके स्वाधीनतापूर्वक अपनी योगमायासे स्वयं प्रकट होते हैं (चौथे अध्यायका छठा श्लोक)।

(३) कार्यमें अन्तर—साधारणतः मनुष्य अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये कार्य करते हैं, जो कि मनुष्यजन्मका ध्येय नहीं है, पर भगवान् केवल मात्र जीवोंके कल्याणके लिये कार्य करते हैं (चौथे अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—चौथे श्लोकमें आये अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने अपने जन्मकी दिव्यताका वर्णन आरम्भ किया था। अब अपनी ओरसे निष्काम-कर्म-(कर्मयोग-) का तत्त्व बतानेके उद्देश्यसे अपने जन्मकी दिव्यताके साथ-साथ अपने कर्मकी दिव्यताको जाननेका भी माहात्म्य बताते हैं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!		जन्म और कर्मको)	**देहम्**	= शरीरका
मे	= मेरे	**यः**	= जो मनुष्य	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके
जन्म	= जन्म	**तत्त्वतः**	= तत्त्वसे	**पुनः, जन्म**	= पुनर्जन्मको
च	= और	**वेत्ति**	= जान लेता है अर्थात्	**न, एति**	= प्राप्त नहीं होता,
कर्म	= कर्म		दृढ़तापूर्वक मान		(प्रत्युत)
दिव्यम्	= दिव्य हैं।		लेता है,	**माम्**	= मुझे
एवम्	= इस प्रकार (मेरे	**सः**	= वह	**एति**	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—**'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'**—भगवान् जन्म-मृत्युसे सर्वथा अतीत—अजन्मा और अविनाशी हैं। उनका मनुष्यरूपमें अवतार साधारण मनुष्योंकी तरह नहीं होता। वे कृपापूर्वक मात्र जीवोंका हित करनेके लिये स्वतन्त्रतापूर्वक मनुष्य आदिके रूपमें जन्म-धारणकी लीला करते हैं। उनका जन्म कर्मोंके परवश नहीं होता। वे अपनी इच्छासे ही शरीर धारण करते हैं*।

भगवान्‌का साकार विग्रह जीवोंके शरीरोंकी तरह हाड़-मांसका नहीं होता। जीवोंके शरीर तो पाप-पुण्यमय, अनित्य, रोगग्रस्त, लौकिक, विकारी, पांचभौतिक और रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले होते हैं, पर भगवान्‌के विग्रह पाप-पुण्यसे रहित, नित्य, अनामय, अलौकिक, विकाररहित, परम दिव्य और प्रकट होनेवाले होते हैं। अन्य जीवोंकी अपेक्षा तो देवताओंके शरीर भी दिव्य होते हैं, पर भगवान्‌का शरीर उनसे भी अत्यन्त विलक्षण होता है, जिसका देवतालोग भी सदा ही दर्शन चाहते रहते हैं (गीता—ग्यारहवें अध्यायका बावनवाँ श्लोक)।

भगवान् जब श्रीराम तथा श्रीकृष्णके रूपमें इस पृथ्वीपर आये, तब वे माता कौसल्या और देवकीके गर्भसे उत्पन्न नहीं हुए। पहले उन्हें अपने शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी स्वरूपका दर्शन देकर फिर वे माताकी प्रार्थनापर बालरूपमें लीला करने लगे। भगवान् श्रीरामके लिये गोस्वामी

*** (१) 'निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ' (मानस ४। २६)**

(२) बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥ (मानस १। १९२)

(३) उद्धवजी भगवान्‌से कहते हैं—

(३) त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः। अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। २८)

'आप प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म हैं। फिर भी आपने स्वेच्छासे ही यह अलग शरीर धारण करके अवतार लिया है।'

तुलसीदासजी कहते हैं—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥
.. ॥
माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।

भगवान् श्रीकृष्णके लिये आया है—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ३०)

माता देवकीने कहा—'विश्वात्मन्! शंख, चक्र, गदा और पद्मकी शोभासे युक्त इस चार भुजाओंवाले अपने अलौकिक दिव्य रूपको अब छिपा लीजिये!' तब भगवान्ने माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण शिशुका रूप धारण कर लिया—

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः।

(श्रीमद्भा० १०। ३। ४६)

जब भगवान् श्रीराम अपने धाम पधारने लगे, तब वे अन्तर्धान हुए। जीवोंके शरीरोंकी तरह उनका शरीर यहाँ नहीं रहा, प्रत्युत वे इसी शरीरसे अपने धाम चले गये—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

(वाल्मीकिरामायण, उत्तर० ११०। १२)

'महामति भगवान् श्रीरामने पितामह ब्रह्माजीके वचन सुनकर और तदनुसार निश्चय करके तीनों भाइयोंसहित अपने उसी शरीरसे वैष्णव तेजमें प्रवेश किया।'

भगवान् श्रीकृष्णके लिये भी ऐसी ही बात आयी है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ३१। ६)

'धारणा और ध्यानके लिये अति मंगलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको योगधारणाजनित अग्निके द्वारा भस्म किये बिना ही भगवान्ने अपने धाममें सशरीर प्रवेश किया।'

भगवान्के विग्रह-(दिव्य शरीर-) के विषयमें महामुनि वाल्मीकिजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥

(मानस २। १२७। ३)

एक बार सनकादि ऋषि वैकुण्ठधाममें जा रहे थे। वहाँ भगवान्के द्वारपालोंने उन्हें भीतर जानेसे रोका, तब सनकादिने उन्हें शाप दे दिया। अपने अनुचरोंके द्वारा सनकादिका अपमान हुआ जानकर भगवान् स्वयं वहाँ पधारे। उस समय भगवान्का दर्शन करनेसे उनकी बड़ी विलक्षण दशा हुई। उन्होंने भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्के चरण-कमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मंजरीकी वायुने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश करके उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।'

शब्दादि विषयोंमें गंध कोई इतनी विलक्षण चीज नहीं है, जिसमें मन आकृष्ट हो जाय। पर भगवान्के चरण-कमलोंकी गंधसे नित्य-निरन्तर परमात्म-स्वरूपमें मग्न रहनेवाले सनकादिकोंके चित्तमें भी खलबली पैदा हो गयी। कारण कि वह पृथ्वीकी विकाररूप गंध नहीं थी, प्रत्युत दिव्य गंध थी। ऐसे ही भगवान्के विग्रहकी प्रत्येक वस्तु (वस्त्र, आभूषण, आयुध आदि) दिव्य, चिन्मय और अत्यन्त विलक्षण है।

भगवान्की लीलाओंको सुनने, पढ़ने, याद करने आदिसे लोगोंका अन्तःकरण निर्मल, पवित्र हो जाता है और उनका अज्ञान दूर हो जाता है—यह भगवान्के कर्मोंकी दिव्यता है। ज्ञानस्वरूप भगवान् शंकर, ब्रह्माजी, सनकादिक ऋषि, देवर्षि नारद आदि भी उनकी लीलाओंको गाकर और सुनकर मग्न हो जाते हैं। भगवान्के अवतारके जो लीला-स्थल हैं, उन स्थानोंमें आस्तिकभावसे, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निवास करनेसे एवं उनका दर्शन करनेसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है। तात्पर्य है कि भगवान् मात्र जीवोंका कल्याण करनेके उद्देश्यसे ही अवतार लेते हैं और लीलाएँ करते हैं; अतः उनकी लीलाओंको पढ़ने-

सुननेसे, उनका मनन-चिन्तन करनेसे स्वाभाविक ही उस उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है।

चौथे श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से केवल उनके 'जन्म' के विषयमें पूछा था; परन्तु यहाँ भगवान्ने अर्जुनके पूछे बिना अपनी तरफसे 'कर्म' के विषयमें कहना आरम्भ कर दिया! इसमें भगवान्का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे मेरे कर्म दिव्य हैं, वैसे तुम्हारे कर्म भी दिव्य होने चाहिये। कारण कि मनुष्यका जन्म तो दिव्य नहीं हो सकता, पर उसके कर्म अवश्य दिव्य हो सकते हैं; क्योंकि उसीके लिये उसका जन्म हुआ है। कर्मोंमें दिव्यता (शुद्धि) योगसे आती है। जो कर्म बाँधनेवाले होते हैं, उनमें दिव्यता आनेसे वे ही कर्म मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं। कर्म दिव्य (फलेच्छा, ममता-आसक्तिसे रहित) होनेपर कर्ता एक तो उन कर्मोंसे बँधता नहीं; दूसरे, वह पुराने कर्मोंसे भी नहीं बँधता—मुक्त हो जाता है; और तीसरे, उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंसे दूसरोंका भी हित स्वतः होता रहता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करके देखें तो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही कर्मोंमें मलिनता आती है और वे बाँधनेवाले होते हैं। विनाशीसे अपना सम्बन्ध माननेसे अन्तःकरण, कर्म और पदार्थ—तीनों ही मलिन हो जाते हैं और विनाशीसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जानेसे ये तीनों स्वतः पवित्र हो जाते हैं। अतः विनाशीसे माना हुआ सम्बन्ध ही मूल बाधा है।

'एवं यो वेत्ति तत्त्वतः'—अजन्मा और अविनाशी होते हुए तथा प्राणिमात्रका ईश्वर होते हुए भी भगवान् मात्र जीवोंके हितके लिये अपनी प्रकृतिको अधीन करके स्वतन्त्रतापूर्वक युग-युगमें मनुष्य आदिके रूपमें अवतार लेते हैं—इस तत्त्वको जानना अर्थात् दृढ़तापूर्वक मानना भगवान्के जन्मोंकी दिव्यताको जानना है।

सम्पूर्ण क्रियाओंको करते हुए भी भगवान् अकर्ता ही हैं अर्थात् उनमें करनेका अभिमान नहीं है (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक) और किसी भी कर्मफलमें उनकी स्पृहा (फलेच्छा) नहीं है (गीता—चौथे अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)—इस तत्त्वको जानना भगवान्के कर्मोंकी दिव्यताको जानना है।

जैसे भगवान्के जन्ममें स्वाभाविक ही मात्र जीवोंकी हितैषिता और कर्ममें निर्लिप्तता है, ऐसे ही मनुष्यमें भी मात्र जीवोंकी हितैषिता और कर्ममें निर्लिप्तता आ जाना ही वास्तवमें भगवान्के जन्म और कर्मके तत्त्वको जानना है।

'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति'—भगवान्को त्रिलोकीमें न तो कुछ करना शेष है और न कुछ पाना ही शेष है (गीता—तीसरे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। फिर भी वे केवल जीवमात्रका उद्धार करनेके लिये कृपापूर्वक इस भूमण्डलपर अवतार लेते हैं और तरह-तरहकी अलौकिक लीलाएँ करते हैं। उन लीलाओंको गानेसे, सुननेसे, पढ़नेसे और उनका चिन्तन करनेसे भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। भगवान्से सम्बन्ध जुड़नेपर संसारका सम्बन्ध छूट जाता है। संसारका सम्बन्ध छूटनेपर पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् मनुष्य जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

वास्तवमें कर्म बन्धनकारक नहीं होते। कर्मोंमें जो बाँधनेकी शक्ति है, वह केवल मनुष्यकी अपनी बनायी हुई (कामना) है। कामनाकी पूर्तिके लिये रागपूर्वक अपने लिये कर्म करनेसे ही मनुष्य कर्मोंसे बँध जाता है। फिर ज्यों-ज्यों कामना बढ़ती है, त्यों-त्यों वह पापोंमें प्रवृत्त होने लगता है। इस प्रकार उसके कर्म अत्यन्त मलिन हो जाते हैं, जिससे वह बारंबार नीच योनियों और नरकोंमें गिरता रहता है। परन्तु जब वह केवल दूसरोंकी सेवाके लिये निष्कामभावपूर्वक कर्म करता है, तब उसके कर्मोंमें दिव्यता, विलक्षणता आती चली जाती है। इस प्रकार कामनाका सर्वथा नाश होनेपर उसके कर्म दिव्य हो जाते हैं, अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते; फिर उसके पुनर्जन्मका प्रश्न ही नहीं रहता।

'मामेति सोऽर्जुन'—नाशवान् कर्मोंसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण नित्यप्राप्त परमात्मा भी अप्राप्त प्रतीत होते हैं। निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्म करनेसे मात्र कर्मोंका प्रवाह केवल संसारकी तरफ हो जाता है और नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है।

जीवोंपर महान् कृपा ही भगवान्के जन्ममें कारण है—इस प्रकार भगवान्के जन्मकी दिव्यताको जाननेसे मनुष्यकी भगवान्में भक्ति हो जाती है*। भक्तिसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्के कर्मोंकी दिव्यताको जाननेसे मनुष्यके कर्म भी दिव्य हो जाते हैं अर्थात् वे बन्धनकारक न होकर खुदका और दूसरोंका कल्याण करनेवाले हो जाते हैं, जिससे संसारसे सम्बन्ध-

---

* **उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥ (मानस ५। ३४। २)**

विच्छेदपूर्वक भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

मार्मिक बात

सम्पूर्ण कर्म आरम्भ और समाप्त होनेवाले हैं (और कर्मके फलस्वरूप जो कुछ प्राप्त होता है, वह भी अनित्य और नाशवान् होता है); परन्तु स्वयं (जीवात्मा) नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। अतः वास्तवमें स्वयंका कर्मोंके साथ कोई सम्बन्ध है नहीं, प्रत्युत माना हुआ है। अतः सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी उनके साथ अपना सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा अनुभव करे तो उसके कर्म दिव्य हो जाते हैं—यह कर्मोंका तत्त्व है। यही कर्मयोग है!

क्रियाशील प्रकृतिके साथ तादात्म्य होनेके कारण मनुष्यमात्रमें कर्म करनेका वेग रहता है। वह क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। संसारमें वह देखता है कि कर्म करनेसे ही सिद्धि (वस्तुकी प्राप्ति) होती है। इसी कारण वह परमात्माकी प्राप्ति भी कर्मोंके द्वारा ही करना चाहता है; परन्तु यह उसकी महान् भूल है। कारण कि नाशवान् कर्मोंके द्वारा नाशवान् वस्तुकी ही प्राप्ति होती है, अविनाशीकी प्राप्ति नहीं होती। अविनाशीकी प्राप्ति तो कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होती है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर्मयोगमें (ज्ञानयोगकी अपेक्षा भी) सरलतासे हो जाता है। कारण कि कर्मयोगमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे होनेवाले सम्पूर्ण कर्म निष्कामभावपूर्वक केवल संसारके हितके लिये होनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जाता है और अपना कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

यहाँ भगवान्‌ने '**माम् एति**' पदोंसे यह भाव प्रकट किया है कि मनुष्य कर्मोंके द्वारा जिसकी सिद्धि चाहता है, वह परमात्मतत्त्व स्वतःसिद्ध (नित्यप्राप्त) है। स्वतःसिद्ध वस्तुके लिये करना कैसा? जो वस्तु प्राप्त है, उसे प्राप्त करना कैसा? करनेसे तो उस वस्तुकी प्राप्ति होती है, जो पहले अप्राप्त थी।

एक उत्पत्ति होती है और एक खोज होती है। उत्पत्ति उसकी होती है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; जिसका पहले अभाव है और बादमें जिसका विनाश हो जाता है। खोज उसकी होती है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है; जो पहलेसे विद्यमान है और नित्य-निरन्तर रहता है; किन्तु जो क्रिया और पदार्थरूप संसारका महत्त्व मान लेनेसे छिप गया है। जब मनुष्य क्रियाओं और पदार्थोंको केवल दूसरोंकी सेवामें लगा देता है, तब क्रिया-पदार्थरूप संसारसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद और नित्यप्राप्त परमात्माका साक्षात् अनुभव हो जाता है। यही नित्यप्राप्तकी खोज है।

कर्तव्य-कर्मोंको न करके प्रमाद-आलस्य करना और कर्तव्य-कर्मोंको करके उनके फलकी इच्छा रखना—इन दोनों कारणोंसे मनुष्यको नित्यप्राप्त परमात्माके अनुभवमें बाधा लगती है। इस बाधाको दूर करनेका उपाय है—फलकी इच्छा न रखकर दूसरोंकी सेवाके रूपसे कर्तव्य-कर्म करना। फलकी इच्छा न रखकर कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही परमात्मासे हमारा जो स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्ध है, उसका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म (सेवा) करनेपर अथवा भगवान्‌के लिये कर्म (पूजा) करनेपर वे कर्म दिव्य मुक्तिदायक हो जाते हैं। परन्तु कामनापूर्वक अपने लिये किये गये कर्म मलिन, बन्धनकारक हो जाते हैं।

कर्मोंमें कर्तृत्वका न होना ही दिव्यता है। अपने लिये कुछ न करनेसे कर्तृत्व नहीं रहता।

भगवान्‌की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया 'लीला' होती है। लीलामें भगवान् सामान्य मनुष्यों-जैसी क्रिया करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। भगवान्‌की लीला दिव्य होती है। यह दिव्यता देवताओंकी दिव्यतासे भी विलक्षण होती है। देवताओंकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे होनेके कारण सापेक्ष और सीमित होती है, पर भगवान्‌की दिव्यता निरपेक्ष और असीम होती है। यद्यपि जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी क्रियाएँ भी दिव्य होती हैं, तथापि वे भी भगवल्लीलाके समान नहीं होतीं। भगवान्‌की साधारण लीला भी अत्यन्त अलौकिक होती है। जैसे, भगवान्‌की रासलीला लौकिक दीखती है, पर उसको पढ़ने-सुननेसे साधककी काम-वृत्तिका नाश हो जाता है (श्रीमद्भा० दशम स्कन्ध, तैंतीसवाँ अध्याय, चालीसवाँ श्लोक)।

यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं। परन्तु जीवने भोगासक्तिके कारण जगत्‌को भगवद्रूपसे स्वीकार न करके नाशवान्

जगत्-रूपसे ही धारण कर रखा है—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। इस धारणाको मिटानेके लिये साधकको दृढ़तासे ऐसा मानना चाहिये कि जो दीख रहा है, वह भगवान्‌का स्वरूप है और जो हो रहा है, वह भगवान्‌की लीला है। ऐसा मानने (स्वीकार करने)-पर जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहेगा और 'भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—इसका अनुभव हो जायगा। दूसरे शब्दोंमें, संसार लुप्त हो जायगा और केवल भगवान् रह जायँगे। कारण कि प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्तिको भगवान्‌का स्वरूप और प्रत्येक क्रियाको भगवल्लीला माननेसे भोगासक्ति, राग-द्वेष नहीं रहेंगे। भोगासक्तिका नाश होनेपर जो क्रियाएँ पहले लौकिक दीखती थीं, वही क्रियाएँ अलौकिक भगवल्लीलारूपसे दीखने लगेंगी और जहाँ पहले भोगासक्ति थी, वहाँ भगवत्प्रेम हो जायगा।

भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं, उसीके अनुरूप लीला करते हैं*। जब वे अर्चावतार अर्थात् मूर्तिका रूप धारण करते हैं, तब वे मूर्तिकी तरह ही अचल रहनेकी लीला करते हैं। अगर वे अचल नहीं रहेंगे तो वह अर्चावतार कैसे रहेगा? भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप आदि रूप भी धारण किये। उन्होंने जैसा रूप धारण किया, वैसी ही लीला की। जैसे, वराहावतारमें भगवान्‌ने सूअर बनकर लीला की और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण बनकर लीला की। इससे साधकको यह समझना चाहिये कि अभी भी जो हो रहा है, वह सब भगवान्‌की लीला ही हो रही है!

सम्बन्ध—भगवान्‌के जन्म-कर्मकी दिव्यताको जाननेवाले कैसे होते हैं—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

वीतरागभयक्रोधाः	= राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित,	**माम्**	= मेरे (ही)	**बहवः**	= बहुत-से (भक्त)
मन्मयाः	= मुझमें तल्लीन,	**उपाश्रिताः**	= आश्रित (तथा)	**मद्भावम्**	= मेरे स्वरूपको
		ज्ञानतपसा	= ज्ञानरूप तपसे	**आगताः**	= प्राप्त हो चुके हैं।
		पूताः	= पवित्र हुए		

व्याख्या—**'वीतरागभयक्रोधाः'**—परमात्मासे विमुख होनेपर नाशवान् पदार्थोंमें 'राग' हो जाता है। रागसे फिर प्राप्तमें 'ममता' और अप्राप्तकी 'कामना' उत्पन्न होती है। रागवाले (प्रिय) पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर तो 'लोभ' होता है, पर उनकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचनेपर (बाधा पहुँचानेवालेपर) 'क्रोध' होता है। यदि बाधा पहुँचानेवाला व्यक्ति अपनेसे अधिक बलवान् हो और उसपर अपना वश न चल सकता हो तथा समयपर वह हमारा अनिष्ट कर देगा—ऐसी

*** भगवान् श्रीकृष्ण उत्तंक ऋषिसे कहते हैं—**

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महाभारत, आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन। तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन। तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्। यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम्॥

(महाभारत, आश्व० ५४। १७—१९)

'भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनियोंमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है।'

'जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

'जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर मैं उन्हींके आचार-विचारका यथावत्-रूपसे पालन करता हूँ।'

सम्भावना हो तो 'भय' होता है। इस प्रकार नाशवान् पदार्थोंके रागसे ही भय, क्रोध, लोभ, ममता, कामना आदि सभी दोषोंकी उत्पत्ति होती है। रागके मिटनेपर ये सभी दोष मिट जाते हैं। पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर, दूसरोंका और दूसरोंके लिये मानकर उनकी सेवा करनेसे राग मिटता है। कारण कि वास्तवमें पदार्थ और क्रियासे हमारा सम्बन्ध है ही नहीं।

अपना कोई प्रयोजन न रहनेपर भी भगवान् केवल हमारे कल्याणके लिये ही अवतार लेते हैं। कारण कि वे प्राणीमात्रके परम सुहृद् हैं और उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ मात्र जीवोंके कल्याणके लिये ही होती हैं। इस प्रकार भगवान्की परम सुहृत्तापर दृढ़ विश्वास होनेसे भगवान्में आकर्षण हो जाता है। भगवान्में आकर्षण होनेसे संसारका आकर्षण (राग) स्वतः मिट जाता है। जैसे, बचपनमें बालकोंका कंकड़-पत्थरोंमें आकर्षण होता है और उनसे वे खेलते हैं। खेलमें वे कंकड़-पत्थरोंके लिये लड़ पड़ते हैं। एक कहता है कि यह मेरा है और दूसरा कहता है कि यह मेरा है। इस प्रकार गलीमें पड़े कंकड़-पत्थरोंमें ही उन्हें महत्ता दीखती है। परन्तु जब वे बड़े हो जाते हैं, तब कंकड़-पत्थरोंमें उनका आकर्षण मिट जाता है और रुपयोंमें आकर्षण हो जाता है। रुपयोंमें आकर्षण होनेपर उन्हें कंकड़-पत्थरोंमें अथवा खिलौनोंमें कोई महत्ता नहीं दीखती। ऐसे ही जब मनुष्यकी परमात्मामें लगन लग जाती है, तब उसके लिये संसारके रुपये और सब पदार्थ आकर्षक न रहकर फीके पड़ जाते हैं। उसका संसारमें आकर्षण या राग मिट जाता है। राग मिटते ही भय और क्रोध—दोनों मिट जाते हैं, क्योंकि ये दोनों रागके ही आश्रित रहते हैं।

'मन्मयाः'—भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेसे मनुष्योंकी भगवान्में प्रियता हो जाती है, प्रियता होनेसे वे भगवान्के ही शरण हो जाते हैं और शरण होनेसे वे स्वयं **'मन्मयाः'** अर्थात् भगवन्मय हो जाते हैं।

सांसारिक भोगोंमें आकर्षणवाले मनुष्य भोगोंकी कामनाओंमें तन्मय हो जाते हैं—**'कामात्मानः'** (गीता २। ४३) और भगवान्में आकर्षणवाले मनुष्य भगवान्में तन्मय हो जाते हैं—**'तन्मयाः'** (नारदभक्तिसूत्र ७०)। वे हर समय भगवान्में ही तल्लीन रहते हैं। उनके विचारों, आचरणों आदिमें भगवान्की ही मुख्यता रहती है। प्रेमकी अधिकताके कारण वे भगवत्स्वरूप बन जाते हैं, मानो उनकी अपनी कोई अलग सत्ता ही न हो।*

'मामुपाश्रिताः'—**'वीतरागभयक्रोधाः'** में संसारसे स्वयंका सम्बन्ध-विच्छेद है और **'मन्मयाः माम् उपाश्रिताः'** में भगवान्की तल्लीनता है।

किसी-न-किसीका आश्रय लिये बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता। भगवान्का अंश जीव भगवान्से विमुख होकर दूसरेका आश्रय लेता है तो वह आश्रय टिकता नहीं, प्रत्युत मिटता जाता है। धनादि नाशवान् पदार्थोंका आश्रय पतन करनेवाला होता है। इतना ही नहीं, शुभ-कर्मोंको करनेमें बुद्धिका, भगवत्प्राप्तिके साधनोंका तथा भोग और संग्रहके त्यागका आश्रय लेनेपर भी भगवत्प्राप्तिमें देरी लगती है। जबतक मनुष्य स्वयं (स्वरूपसे) भगवान्के आश्रित नहीं हो जाता, तबतक उसकी पराधीनता मिटती नहीं और वह दुःख पाता ही रहता है।

संसारके पदार्थोंमें मनुष्यका आकर्षण और आश्रय अलग-अलग होता है, जैसे—मनुष्यका आकर्षण तो स्त्री, पुत्र आदिमें होता है और आश्रय बड़ोंका होता है। परन्तु भगवान्में लगे हुए मनुष्यका भगवान्में ही आकर्षण होता है और भगवान्का ही आश्रय होता है; क्योंकि प्रिय-से-प्रिय भी भगवान् हैं और बड़े-से-बड़े भी भगवान् हैं।

'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'—यद्यपि ज्ञानयोग-(सांख्यनिष्ठा-) से भी मनुष्य पवित्र हो सकता है, तथापि यहाँ भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेको 'ज्ञान' कहा गया है। इस ज्ञानसे मनुष्य पवित्र हो जाता है; क्योंकि भगवान् पवित्रोंसे भी पवित्र हैं—**'पवित्राणां पवित्रं यः।'** भगवान्का ही अंश होनेसे जीवमें भी स्वतः-स्वाभाविक पवित्रता है—**'चेतन अमल सहज सुख रासी'** (मानस ७। ११७। १)। नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देनेसे, उनको अपना माननेसे ही यह अपवित्र होता है; क्योंकि नाशवान् पदार्थोंकी ममता ही मल (अपवित्रता)

---

* **गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।**
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। ३)

'अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, हास-विलास और चितवन-बोलन आदिमें श्रीकृष्णकी प्यारी गोपियाँ उनके समान ही बन गयीं; उनके शरीरमें भी वही गति-मति, वही भाव-भंगी उतर आयी। वे अपनेको सर्वथा भूलकर श्रीकृष्णस्वरूप हो गयीं और उन्हींके लीला-विलासका अनुकरण करती हुई 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं।'

है*। भगवान्‌के जन्म-कर्मके तत्त्वको जाननेसे जब नाशवान् पदार्थोंका आकर्षण, उनकी ममता सर्वथा मिट जाती है, तब सब मलिनता नष्ट हो जाती है और मनुष्य परम पवित्र हो जाता है।

कर्मयोगका प्रसंग होनेसे उपर्युक्त पदोंमें आये '**ज्ञान**' शब्दका अर्थ कर्मयोगका ज्ञान भी माना जा सकता है। कर्मयोगका ज्ञान है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पद, योग्यता, अधिकार, धन, जमीन आदि मिली हुई मात्र वस्तुएँ संसारकी और संसारके लिये ही हैं, अपनी और अपने लिये नहीं हैं। कारण कि स्वयं (स्वरूप) नित्य है; अतः उसके साथ अनित्य वस्तु कैसे रह सकती है तथा उसके काम भी कैसे आ सकती है? शरीरादि वस्तुएँ जन्मसे पहले भी हमारे साथ नहीं थीं और मरनेके बाद भी नहीं रहेंगी तथा इस समय भी उनका प्रतिक्षण हमसे सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। इन मिली हुई वस्तुओंका सदुपयोग करनेका ही अधिकार है, अपनी माननेका अधिकार नहीं। ये वस्तुएँ संसारकी ही हैं; अतः इन्हें संसारकी ही सेवामें लगाना है। यही इनका सदुपयोग है। इनको अपनी और अपने लिये मानना ही वास्तवमें बन्धन या अपवित्रता है।

इस प्रकार नाशवान् वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानना 'ज्ञानतप' है; जिससे मनुष्य परम पवित्र हो जाता है। जितने भी तप हैं, उन सबसे बढ़कर 'ज्ञानतप' है। इस ज्ञानतपसे जडके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है। जबतक मनुष्य जडके साथ अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक दूसरी तपस्यासे उसकी उतनी पवित्रता नहीं होती, जितनी पवित्रता ज्ञानतपसे जडका सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे होती है। इस ज्ञानतपसे पवित्र होकर मनुष्य भगवान्‌के भाव-(सत्ता-) को अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि जैसे भगवान् नित्य-निरन्तर रहते हैं, ऐसे वह भी उनमें नित्य-निरन्तर रहता है; जैसे भगवान् निर्लिप्त-निर्विकार रहते हैं, ऐसे वह भी निर्लिप्त-निर्विकार रहता है; जैसे भगवान्‌के लिये कुछ भी करना शेष नहीं है, ऐसे ही उसके लिये भी कुछ करना शेष नहीं रहता। ज्ञानमार्गसे भी मनुष्य इसी प्रकार भगवान्‌के भावको प्राप्त हो जाता है (गीता—चौदहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

पहले भी बहुत-से भक्त ज्ञानतपसे पवित्र होकर भगवान्‌को प्राप्त हो चुके हैं। अतः साधकोंको वर्तमानमें ही ज्ञानतपसे पवित्र होकर भगवान्‌को प्राप्त कर लेना चाहिये। भगवान्‌को प्राप्त करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं, कोई भी परतन्त्र नहीं है। कारण कि मानव-शरीर भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है।

सम्बन्ध—जन्मकी दिव्यताका वर्णन तो हो गया, अब कर्मोंकी दिव्यता क्या होती है—इस विषयका आरम्भ करते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

पार्थ = हे पृथानन्दन!
ये = जो भक्त
यथा = जिस प्रकार
माम् = मेरी
प्रपद्यन्ते = शरण लेते हैं,
अहम् = मैं
तान् = उन्हें
तथा, एव = उसी प्रकार
भजामि = आश्रय देता हूँ; (क्योंकि)
मनुष्याः = सभी मनुष्य
सर्वशः = सब प्रकारसे
मम = मेरे
वर्त्म = मार्गका
अनुवर्तन्ते = अनुसरण करते हैं।

व्याख्या—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'—भक्त भगवान्‌की जिस भावसे, जिस सम्बन्धसे, जिस प्रकारसे शरण लेता है, भगवान् भी उसे उसी भावसे, उसी सम्बन्धसे, उसी प्रकारसे आश्रय देते हैं। जैसे, भक्त भगवान्‌को अपना गुरु मानता है तो वे श्रेष्ठ गुरु बन जाते हैं, शिष्य मानता है तो वे श्रेष्ठ शिष्य बन जाते हैं, माता-पिता मानता है तो वे श्रेष्ठ माता-पिता बन जाते हैं, पुत्र मानता है तो वे श्रेष्ठ पुत्र बन जाते हैं, भाई मानता है तो वे श्रेष्ठ भाई बन जाते हैं, सखा मानता है तो वे श्रेष्ठ सखा बन जाते हैं, नौकर मानता है तो वे श्रेष्ठ नौकर बन जाते हैं। भक्त भगवान्‌के बिना व्याकुल हो जाता है तो भगवान् भी भक्तके बिना व्याकुल हो जाते हैं।

* '**ममता मल जरि जाइ**' (**मानस ७। ११७ क**); '**ममतामेध्यदूषितः**' (**योगवासिष्ठ ६। २। ५३। ११**)

अर्जुनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाभाव था तथा वे उन्हें अपना सारथि बनाना चाहते थे; अतः भगवान् सखाभावसे उनके सारथि बन गये। विश्वामित्र ऋषिने भगवान् श्रीरामको अपना शिष्य मान लिया तो भगवान् उनके शिष्य बन गये। इस प्रकार भक्तोंके श्रद्धाभावके अनुसार भगवान्का वैसा ही बननेका स्वभाव है।

अनन्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी भगवान् भी अपने ही बनाये हुए साधारण मनुष्योंके भावोंके अनुसार बर्ताव करते हैं, यह उनकी कितनी विलक्षण उदारता, दयालुता और अपनापन है?

भगवान् विशेषरूपसे भक्तोंके लिये ही अवतार लेते हैं—ऐसा प्रस्तुत प्रकरणसे सिद्ध होता है। भक्तलोग जिस भावसे, जिस रूपमें भगवान्की सेवा करना चाहते हैं, भगवान्को उनके लिये उसी रूपमें आना पड़ता है। जैसे, उपनिषद्में आया है—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)—अकेले भगवान्का मन नहीं लगा, तो वे ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट होकर खेल खेलने लगे। ऐसे ही जब भक्तोंके मनमें भगवान्के साथ खेल खेलनेकी इच्छा हो जाती है, तब भगवान् उनके साथ खेल खेलने-(लीला करने-) के लिये प्रकट हो जाते हैं। भक्त भगवान्के बिना नहीं रह सकता तो भगवान् भी भक्तके बिना नहीं रह सकते।

यहाँ आये '**यथा**' और '**तथा**'—इन प्रकारवाचक पदोंका अभिप्राय 'सम्बन्ध', 'भाव' और 'लगन' से है। भक्त और भगवान्का प्रकार एक-सा होनेपर भी इनमें एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि भगवान् भक्तकी चालसे नहीं चलते, प्रत्युत अपनी चाल-(शक्ति-) से चलते हैं*। भगवान् सर्वत्र विद्यमान, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, परम सुहृद् और सत्यसंकल्प हैं। भक्तको केवल अपनी पूरी शक्ति लगा देनी है, फिर भगवान् भी अपनी पूरी शक्तिसे उसे प्राप्त हो जाते हैं।

भगवत्प्राप्तिमें बाधा साधक स्वयं लगाता है; क्योंकि भगवत्प्राप्तिके लिये वह समझ, सामग्री, समय और सामर्थ्यको अपनी मानकर उन्हें पूरा नहीं लगाता, प्रत्युत अपने पास बचाकर रख लेता है। यदि वह उन्हें अपना न मानकर उन्हें पूरा लगा दे तो उसे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। कारण कि यह समझ, सामग्री आदि उसकी अपनी नहीं हैं; प्रत्युत भगवान्से मिली हैं; भगवान्की हैं। अतः इन्हें अपनी मानना ही बाधा है। साधक स्वयं भी भगवान्का ही अंश है। उसने खुद अपनेको भगवान्से अलग माना है, भगवान्ने नहीं।

भक्ति (प्रेम) कर्मजन्य अर्थात् किसी साधन-विशेषका फल नहीं है। भगवान्के सर्वथा शरण होनेवालेको भक्ति स्वतः प्राप्त होती है। दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि भावोंमें सबसे श्रेष्ठ शरणागतिका भाव है। यहाँ भगवान् मानो इस बातको कह रहे हैं कि तुम अपना सब कुछ मुझे दे दोगे तो मैं भी अपना सब कुछ तुम्हें दे दूँगा और तुम अपने-आपको मुझे दे दोगे तो मैं भी अपने-आपको तुम्हें दे दूँगा। भगवत्प्राप्तिका कितना सरल और सस्ता सौदा है!

अपने-आपको भगवच्चरणोंमें समर्पित करनेके बाद भगवान् भक्तकी पुरानी त्रुटियोंको यादतक नहीं करते। वे तो वर्तमानमें साधकके हृदयका दृढ़ भाव देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस १। २९। ३)

इस (ग्यारहवें) श्लोकमें द्वैत-अद्वैत, सगुण-निर्गुण, सायुज्य-सामीप्य आदि शास्त्रीय विषयका वर्णन नहीं है, प्रत्युत भगवान्से अपनेपनका ही वर्णन है। जैसे, नवें श्लोकमें भगवान्के जन्म-कर्मकी दिव्यताको जाननेसे भगवत्प्राप्ति होनेका वर्णन है। 'केवल भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्का ही हूँ; दूसरा कोई भी मेरा नहीं है और मैं किसीका भी नहीं हूँ'—इस प्रकार भगवान्में अपनापन करनेसे उनकी प्राप्ति शीघ्र एवं सुगमतासे हो जाती है। अतः साधकको केवल भगवान्में ही अपनापन मान लेना चाहिये (जो वास्तवमें है), चाहे समझमें आये अथवा न आये। मान लेनेपर जब संसारके झूठे सम्बन्ध भी सच्चे प्रतीत होने लगते हैं, फिर जो भगवान्का सदासे ही सच्चा सम्बन्ध है, वह अनुभवमें क्यों नहीं आयेगा? अर्थात् अवश्य आयेगा।

शंका—जो भगवान्को जिस भावसे स्वीकार करते हैं, भगवान् भी उनसे उसी भावसे बर्ताव करते हैं, तो फिर यदि कोई भगवान्को द्वेष, वैर आदिके भावसे स्वीकार करेगा तो क्या भगवान् भी उससे उसी (द्वेष आदिके) भावसे बर्ताव करेंगे?

समाधान—यहाँ '**प्रपद्यन्ते**' पदसे भगवान्की प्रपत्ति

* **दरिया दूषण दास में, नहीं राम में दोष। जन चाले इक पाँवड़ो, हरि चाले सौ कोस॥**

अर्थात् शरणागतिका ही विषय है; उनसे द्वेष, वैर आदिका विषय नहीं। अतः यहाँ इस विषयमें शंका ही नहीं उठ सकती। फिर भी इसपर थोड़ा विचार करें तो भगवान्‌के स्वीकार करनेका तात्पर्य है—कल्याण करना। जो भगवान्‌को जिस भावसे स्वीकार करता है, भगवान् भी उससे वैसा ही आचरण करके अन्तमें उसका कल्याण ही करते हैं[1]। भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। इसलिये जिसका जिसमें हित होता है, भगवान् उसके लिये वैसा ही प्रबन्ध कर देते हैं। वैर-द्वेष रखनेवालोंका भी जिससे कल्याण हो जाय, वैसा ही भगवान् करते हैं। [वैर-द्वेष रखनेवाले भगवान्‌का बिगाड़ भी क्या कर लेंगे?] अंगदजीको रावणकी सभामें भेजते समय भगवान् श्रीराम कहते हैं कि वही बात कहना, जिससे हमारा काम भी हो और रावणका हित भी हो—**'काजु हमार तासु हित होई'** (मानस ६। १७। ४)।

भगवान्‌की सुहृत्ताकी तो बात ही क्या, भक्त भी समस्त प्राणियोंके सुहृद् होते हैं—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा० ३। २५। २१)। जब भक्तोंसे भी किसीका किंचिन्मात्र भी अहित नहीं होता, तब भगवान्‌से किसीका अहित हो ही कैसे सकता है? भगवान्‌से किसी प्रकारका भी सम्बन्ध जोड़ा जाय, वह कल्याण करनेवाला ही होता है; क्योंकि भगवान् परम दयालु, परम सुहृद् और चिन्मय हैं। जैसे गंगामें स्नान वैशाख मासमें किया जाय अथवा माघ मासमें, दोनोंका ही माहात्म्य एक समान है। परन्तु वैशाखके स्नानमें जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी प्रसन्नता माघके स्नानमें नहीं होती। इसी प्रकार भक्ति-प्रेमपूर्वक भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेवालोंको जैसा आनन्द होता है, वैसा आनन्द वैर-द्वेषपूर्वक भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेवालोंको नहीं होता।

'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः'—श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी उसीके अनुसार आचरण करने लग जाते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। भगवान् सबसे श्रेष्ठ (सर्वोपरि) हैं, इसलिये सभी लोग उनके मार्गका अनुसरण करते हैं। तीसरे अध्यायमें तेईसवें श्लोकके उत्तरार्धमें भी यही बात (उपर्युक्त पदोंसे ही) कही गयी है।

साधक भगवान्‌के साथ जिस प्रकारका सम्बन्ध मानता है, भगवान् उसके साथ वैसा ही सम्बन्ध माननेके लिये तैयार रहते हैं। महाराज दशरथजी भगवान् श्रीरामको पुत्रभावसे स्वीकार करते हैं, तो भगवान् उनके सच्चे पुत्र बन जाते हैं और सामर्थ्यवान् होकर भी 'पिता' दशरथजीके वचनोंको टालनेमें अपनेको असमर्थ मानते हैं[2]। इस प्रकारके आचरणोंसे भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि यदि तुम्हारी संसारमें किसीके साथ सम्बन्धके नाते प्रियता हो तो वही सम्बन्ध तुम मेरे साथ कर लो, जैसे—मातामें प्रियता हो तो मेरेको अपनी माता मान लो, पितामें प्रियता हो तो मेरेको अपना पिता मान लो; पुत्रमें प्रियता हो तो मेरेको अपना पुत्र मान लो, आदि। ऐसा माननेसे मेरेमें वास्तविक प्रियता हो जायगी और मेरी प्राप्ति सुगमतापूर्वक हो जायगी।

दूसरी बात, भगवान् अपने आचरणोंसे यह शिक्षा देते हैं कि जिस प्रकार मेरे साथ जो जैसा सम्बन्ध मानता है, उसके लिये मैं भी वैसा ही बन जाता हूँ, उसी प्रकार तुम्हारे साथ जो जैसा सम्बन्ध मानता है, तुम भी उसके लिये वैसे ही बन जाओ; जैसे—माता-पिताके लिये तुम सुपुत्र बन जाओ, पत्नीके लिये तुम सुयोग्य पति बन जाओ, बहनके लिये तुम श्रेष्ठ भाई बन जाओ, आदि। परन्तु बदलेमें उनसे कुछ चाहो मत; जैसे—कुछ लेनेकी इच्छासे माता-पिताको अपने न मानकर केवल सेवा करनेके लिये ही उन्हें अपने मानो। ऐसा मानना ही भगवान्‌के मार्गका अनुसरण करना है। अभिमानरहित होकर निःस्वार्थभावसे दूसरेकी सेवा

१-कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥

(श्रीमद्भा० ७। १। २९)

'अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर एवं अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे।'

२-अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥

(वाल्मीकि०, अयोध्या० १८। २८-२९)

भगवान् श्रीराम कहते हैं—'मैं महाराज पिताजीके कहनेपर आगमें भी प्रवेश कर सकता हूँ, तीक्ष्ण विषका भी भक्षण कर सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

करनेसे शीघ्र ही दूसरेकी ममता छूटकर भगवान्‌में प्रेम हो जायगा, जिससे भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

विशेष बात

अहंकाररहित होकर निःस्वार्थभावसे कहीं भी प्रेम किया जाय, तो वह प्रेम स्वतः प्रेममय भगवान्‌की तरफ चला जाता है। कारण कि अपना अहंकार और स्वार्थ ही भगवत्प्रेममें बाधा लगाता है। इन दोनोंके कारण मनुष्यका प्रेमभाव सीमित हो जाता है और इनका त्याग करनेपर उसका प्रेमभाव व्यापक हो जाता है। प्रेमभाव व्यापक होनेपर उसके माने हुए सभी बनावटी सम्बन्ध मिट जाते हैं और भगवान्‌का स्वाभाविक नित्य-सम्बन्ध जाग्रत् हो जाता है।

जीवमात्रका परमात्माके साथ स्वतः नित्य-सम्बन्ध है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। परन्तु जबतक जीव इस सम्बन्धको पहचानता नहीं और दूसरा सम्बन्ध जोड़ लेता है, तबतक वह जन्म-मरणके बन्धनमें पड़ा रहता है। उसका यह बन्धन दो ओरसे होता है—एक तो वह भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचानता नहीं और दूसरे, जिसके साथ वास्तवमें अपना सम्बन्ध है नहीं, उसके सम्बन्धको नित्य मान लेता है। जब जीव **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'** के अनुसार अपना सम्बन्ध केवल भगवान्‌से मान लेता है अर्थात् पहचान लेता है, तब उसे भगवान्‌से अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धको पहचानना ही भगवान्‌के शरण होना है। शरण होनेपर भक्त निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशंक हो जाता है। फिर उसके द्वारा भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध कोई क्रिया कैसे हो सकती है? उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌के आज्ञानुसार ही होती हैं—**'मम वर्त्मानुवर्तन्ते।'**

परिशिष्ट भाव—यद्यपि यह संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, तथापि जो इसको जिस रूपसे देखता है, भगवान् भी उसके लिये उसी रूपसे प्रकट हो जाते हैं। हम अपनेको शरीर मानकर अपने लिये वस्तुओंकी आवश्यकता मानते हैं और उनकी इच्छा करते हैं तो भगवान् भी उन वस्तुओंके रूपमें हमारे सामने आते हैं, हम असत्‌में स्थित होकर देखते हैं तो भगवान् भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। जैसे बालक खिलौना चाहता है तो पिता रुपये खर्च करके भी उसको खिलौना लाकर देता है, ऐसा ही हम जो चाहते हैं, परम दयालु भगवान् (स्वयं सदा सत्स्वरूप रहते हुए भी) उसी रूपसे हमारे सामने आते हैं। अगर हम भोगोंको न चाहें तो भगवान्‌को भोगरूपसे क्यों आना पड़े? बनावटी रूप क्यों धारण करना पड़े?

भगवान्‌के स्वभावमें 'यथा-तथा' होते हुए भी जीवपर उनकी बड़ी भारी कृपा है; क्योंकि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्! अभिमानके सिवाय जीवमें और क्या सामर्थ्य है? फिर भी जीवका भगवान्‌में आकर्षण होता है तो भगवान्‌का भी जीवमें आकर्षण होता है। जैसे, विदुरानीजी अपने-आपको भूल गयीं तो भगवान् भी अपने-आपको भूल गये और केलेके छिलके खाने लगे तथा उसीमें आनन्द लेने लगे!

भगवान्‌के स्वभावमें 'यथा-तथा' केवल क्रियामें है, भावमें नहीं। भगवान्‌का आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिके प्रति जो स्नेह है, कृपा है, वैसा ही स्नेह, कृपा नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिके प्रति भी है। इसलिये भगवान्‌के 'यथा-तथा' में स्वार्थभाव नहीं है, प्रत्युत यह तो भगवान्‌की महत्ता है कि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्! फिर भी वे जीवको अपना मित्र बनाते हैं, उसको अपने समान दर्जा देते हैं! भगवान् अपनेमें बड़प्पनका भाव नहीं रखते—यह उनकी महत्ता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि जो मुझे जिस भावसे स्वीकार करता है, मैं भी उसे उसी भावसे स्वीकार करता हूँ अर्थात् मेरी प्राप्ति बहुत सरल और सुगम है। ऐसा होनेपर भी लोग भगवान्‌का आश्रय क्यों नहीं लेते—इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

काङ्‌क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

कर्मणाम्	= कर्मोंकी	**यजन्ते**	= उपासना किया करते हैं;	**कर्मजा**	= कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली
सिद्धिम्	= सिद्धि (फल)	**हि**	= क्योंकि	**सिद्धिः**	= सिद्धि
काङ्क्षन्तः	= चाहनेवाले (मनुष्य)	**इह**	= इस	**क्षिप्रम्**	= जल्दी
देवताः	= देवताओंकी	**मानुषे, लोके**	= मनुष्यलोकमें	**भवति**	= मिल जाती है।

व्याख्या—'**काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः**'—मनुष्यको नवीन कर्म करनेका अधिकार मिला हुआ है। कर्म करनेसे ही सिद्धि होती है—ऐसा प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इस कारण मनुष्यके अन्तःकरणमें यह बात दृढ़तासे बैठी हुई है कि कर्म किये बिना कोई भी वस्तु नहीं मिलती। वे ऐसा समझते हैं कि सांसारिक वस्तुओंकी तरह भगवान्‌की प्राप्ति भी कर्म (तप, ध्यान, समाधि आदि) करनेसे ही होती है। नाशवान् पदार्थोंकी कामनाओंके कारण उनकी दृष्टि इस वास्तविकताकी ओर जाती ही नहीं कि सांसारिक वस्तुएँ कर्मजन्य हैं, एकदेशीय हैं, हमें नित्य प्राप्त नहीं हैं, हमारेसे अलग हैं और परिवर्तनशील हैं, इसलिये उनकी प्राप्तिके लिये कर्म करने आवश्यक हैं। परन्तु भगवान् कर्मजन्य नहीं हैं, सर्वत्र परिपूर्ण हैं, हमें नित्यप्राप्त हैं, हमारेसे अलग नहीं हैं और अपरिवर्तनशील हैं, इसलिये भगवत्प्राप्तिमें सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिका नियम नहीं चल सकता। भगवत्प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे होती है। उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न होनेमें खास कारण सांसारिक भोगोंकी कामना ही है।

भगवान् तो पिताके समान हैं और देवता दूकानदारके समान। अगर दूकानदार वस्तु न दे, तो उसको पैसे लेनेका अधिकार नहीं है; परन्तु पिताको पैसे लेनेका भी अधिकार है और वस्तु देनेका भी। बालकको पितासे कोई वस्तु लेनेके लिये कोई मूल्य नहीं देना पड़ता, पर दूकानदारसे वस्तु लेनेके लिये मूल्य देना पड़ता है। ऐसे ही भगवान्‌से कुछ लेनेके लिये कोई मूल्य देनेकी जरूरत नहीं है; परन्तु देवताओंसे कुछ प्राप्त करनेके लिये विधिपूर्वक कर्म करने पड़ते हैं। दूकानदारसे बालक दियासलाई, चाकू आदि हानिकारक वस्तुएँ भी पैसे देकर खरीद सकता है; परन्तु यदि वह पितासे ऐसी हानिकारक वस्तुएँ माँगे तो वे उसे नहीं देंगे और पैसे भी ले लेंगे। पिता वही वस्तु देते हैं, जिसमें बालकका हित हो। इसी प्रकार देवतालोग अपने उपासकोंको (उनकी उपासना सांगोपांग होनेपर) उनके हित-अहितका विचार किये बिना उनकी इच्छित वस्तुएँ दे देते हैं; परन्तु परमपिता भगवान् अपने भक्तोंको अपनी इच्छासे वे ही वस्तुएँ देते हैं, जिसमें उनका परमहित हो। ऐसा होनेपर भी नाशवान् पदार्थोंकी आसक्ति, ममता और कामनाके कारण अल्प-बुद्धिवाले मनुष्य भगवान्‌की महत्ता और सुहृत्ताको नहीं जानते, इसलिये वे अज्ञानवश देवताओंकी उपासना करते हैं (गीता—सातवें अध्यायके बाईसवेंसे तेईसवें श्लोकतक तथा नवें अध्यायका तेईसवाँ-चौबीसवाँ श्लोक)।

'**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा**'—यह मनुष्यलोक कर्मभूमि है—'**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**' (गीता १५। २)। इसके सिवाय दूसरे लोक (स्वर्ग-नरकादि) भोगभूमियाँ हैं। मनुष्यलोकमें भी नया कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको ही है, पशु-पक्षी आदिको नहीं। मनुष्य-शरीरमें किये हुए कर्मोंका फल ही लोक तथा परलोकमें भोगा जाता है।

मनुष्यलोकमें कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्य रहते हैं—'**कर्मसङ्गिषु जायते**' (गीता १४। १५)। कर्मोंकी आसक्तिके कारण वे कर्मजन्य सिद्धिपर ही लुब्ध होते हैं। कर्मोंसे जो सिद्धि होती है, वह यद्यपि शीघ्र मिल जाती है, तथापि वह सदा रहनेवाली नहीं होती। जब कर्मोंका आदि और अन्त होता है, तब उनसे होनेवाली सिद्धि (फल) सदा कैसे रह सकती है? इसलिये नाशवान् कर्मोंका फल भी नाशवान् ही होता है। परन्तु कामनावाले मनुष्यकी दृष्टि शीघ्र मिलनेवाले फलपर तो जाती है, पर उसके नाशकी ओर नहीं जाती। विधिपूर्वक सांगोपांग किये गये कर्मोंका फल देवताओंसे शीघ्र मिल जाया करता है; इसलिये वे देवताओंकी ही शरण लेते हैं और उन्हींकी आराधना करते हैं। कर्मजन्य फल चाहनेके कारण वे कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं होते और परिणामस्वरूप बारंबार जन्मते-मरते रहते हैं।

जो वास्तविक सिद्धि है, वह कर्मजन्य नहीं है। वास्तविक सिद्धि 'भगवत्प्राप्ति' है। भगवत्प्राप्तिके साधन—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी कर्मजन्य नहीं हैं। योगकी सिद्धि कर्मोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है।

शंका—'कर्मयोग' की सिद्धि तो कर्म करनेसे ही बतायी गयी है—'**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**'

(गीता ६। ३), तो फिर कर्मयोग कर्मजन्य कैसे नहीं है?

समाधान—कर्मयोगमें कर्मोंसे और कर्म-सामग्रीसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही कर्म किये जाते हैं। योग (परमात्माका नित्य-सम्बन्ध) तो स्वत:सिद्ध और स्वाभाविक है। अत: योग अथवा परमात्मप्राप्ति कर्मजन्य नहीं है। वास्तवमें कर्म सत्य नहीं है, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिके साधनरूप कर्मोंका विधान सत्य है। कोई भी कर्म जब सत्‌के लिये किया जाता है, तब उसका परिणाम सत् होनेसे उस कर्मका नाम भी सत् हो जाता है—'**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते**' (गीता १७। २७)।

अपने लिये कर्म करनेसे ही 'योग'-(परमात्माके साथ नित्ययोग-) का अनुभव नहीं होता। कर्मयोगमें दूसरोंके लिये ही सब कर्म किये जाते हैं, अपने लिये अर्थात् फल-प्राप्तिके लिये नहीं—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २। ४७)। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँधता है (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ श्लोक) और दूसरोंके लिये कर्म करनेसे वह मुक्त होता है (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। कर्मयोगमें दूसरोंके लिये ही सब कर्म करनेसे कर्म और फलसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जो 'योग'का अनुभव करानेमें हेतु है।

कर्म करनेमें 'पर' अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, व्यक्ति, देश, काल आदि परिवर्तनशील वस्तुओंकी सहायता लेनी पड़ती है। 'पर'की सहायता लेना परतन्त्रता है। स्वरूप ज्यों-का-त्यों है। उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये उसकी अनुभूतिमें 'पर' कहे जानेवाले शरीरादि पदार्थोंके सहयोगकी लेशमात्र भी अपेक्षा, आवश्यकता नहीं है। 'पर'से माने हुए सम्बन्धका त्याग होनेसे स्वरूपमें स्वत:सिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है।

सम्बन्ध—आठवें श्लोकमें अपने अवतारके उद्देश्यका वर्णन करके नवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने कर्मोंकी दिव्यताको जाननेका माहात्म्य बताया। कर्मजन्य सिद्धि चाहनेसे ही कर्मोंमें अदिव्यता (मलिनता) आती है। अत: कर्मोंमें दिव्यता (पवित्रता) कैसे आती है—इसे बतानेके लिये अब भगवान् अपने कर्मोंकी दिव्यताका विशेष वर्णन करते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

मया = मेरे द्वारा
गुणकर्मविभागशः = गुणों और कर्मोंके विभाग-पूर्वक
चातुर्वर्ण्यम् = चारों वर्णोंकी
सृष्टम् = रचना की गयी है।
तस्य = उस (सृष्टि-रचना आदि)-का
कर्तारम् = कर्ता होनेपर
अपि = भी
माम् = मुझ
अव्ययम् = अविनाशी परमेश्वरको (तू)
अकर्तारम् = अकर्ता
विद्धि = जान! (कारण कि)
कर्मफले = कर्मोंके फलमें
मे = मेरी
स्पृहा = स्पृहा
न = नहीं है, (इसलिये)
माम् = मुझे
कर्माणि = कर्म
न, लिम्पन्ति = लिप्त नहीं करते।
इति = इस प्रकार
यः = जो
माम् = मुझे
अभिजानाति = तत्त्वसे जान लेता है,
सः = वह (भी)
कर्मभिः = कर्मोंसे
न = नहीं
बध्यते = बँधता।

व्याख्या—'**चातुर्वर्ण्यं** * **मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**'—पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके अनुसार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंमें न्यूनाधिकता रहती है। सृष्टि-रचनाके समय उन गुणों और कर्मोंके अनुसार

*** 'चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्' यहाँपर 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' इस वार्तिकसे स्वार्थमें 'ष्यञ् प्रत्यय' किया गया है।**

भगवान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी रचना करते हैं*। मनुष्यके सिवाय देव, पितर, तिर्यक् आदि दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् गुणों और कर्मोंके अनुसार ही करते हैं। इसमें भगवान्‌की किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं है।

'चातुर्वर्ण्यम्' पद प्राणिमात्रका उपलक्षण है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य ही चार प्रकारके नहीं होते, अपितु पशु, पक्षी, वृक्ष आदि भी चार प्रकारके होते हैं; जैसे—पक्षियोंमें कबूतर आदि ब्राह्मण, बाज आदि क्षत्रिय, चील आदि वैश्य और कौआ आदि शूद्र पक्षी हैं। इसी प्रकार वृक्षोंमें पीपल आदि ब्राह्मण, नीम आदि क्षत्रिय, इमली आदि वैश्य और बबूल (कीकर) आदि शूद्र वृक्ष हैं। परन्तु यहाँ **'चातुर्वर्ण्यम्'** पदसे मनुष्योंको ही लेना चाहिये; क्योंकि वर्ण-विभागको मनुष्य ही समझ सकते हैं और उसके अनुसार कर्म कर सकते हैं। कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको ही है।

चारों वर्णोंकी रचना मैंने ही की है—इससे भगवान्‌का यह भाव भी है कि एक तो ये मेरे ही अंश हैं; और दूसरे, मैं प्राणिमात्रका सुहृद् हूँ, इसलिये मैं सदा उनके हितको ही देखता हूँ। इसके विपरीत ये न तो देवताके अंश हैं और न देवता सबके सुहृद् ही हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने वर्णके अनुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंसे मेरा ही पूजन करे (गीता—अठारहवें अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक)।

'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'—यहाँ **'अकर्तारम्'** पद कर्म करते हुए भी कर्तृत्वाभिमानका अभाव बतानेके लिये आया है। सृष्टिकी रचना, पालन, संहार आदि सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत, निर्लिप्त ही रहते हैं।

सृष्टि-रचनामें भगवान् ही उपादान कारण हैं और वे ही निमित्त कारण हैं। मिट्टीसे बने पात्रमें मिट्टी उपादान कारण है और कुम्हार निमित्त कारण है। मिट्टीसे पात्र बननेमें मिट्टी व्यय (खर्च) हो जाती है और उसे बनानेमें कुम्हारकी शक्ति भी खर्च होती है; परन्तु सृष्टि-रचनामें भगवान्‌का कुछ भी व्यय नहीं होता। वे ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। इसलिये उन्हें **'अव्ययम्'** कहा गया है।

जीव भी भगवान्‌का अंश होनेसे अव्यय ही है। विचार करें कि शरीरादि सब वस्तुएँ संसारकी हैं और संसारसे ही मिली हैं। अत: उन्हें संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे अपना क्या व्यय हुआ? हम तो (स्वरूपत:) अव्यय ही रहे। इसलिये यदि साधक शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, सम्पत्ति आदि मिले हुए सांसारिक पदार्थोंको अपना और अपने लिये न माने, तो फिर उसे अपनी अव्ययताका अनुभव हो जायगा।

यहाँ **'विद्धि'** पदसे भगवान्‌ने अपने कर्मोंकी दिव्यताको समझनेकी आज्ञा दी है। कर्म करते हुए भी कर्म, कर्म-सामग्री और कर्मफलसे अपना कोई सम्बन्ध न रहना ही कर्मोंकी दिव्यता है।

'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा'—विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान्‌का उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उनके कर्मोंमें विषमता, पक्षपात आदि दोष लेशमात्र भी नहीं हैं। उनकी कर्म-फलमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है। इसलिये वे कर्म भगवान्‌को लिप्त नहीं करते।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुमात्र कर्मफल है। भगवान् कहते हैं कि जैसे मेरी कर्मफलमें स्पृहा नहीं है, ऐसे ही तुम्हारी भी कर्मफलमें स्पृहा नहीं होनी चाहिये। कर्मफलमें स्पृहा न रहनेसे सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी तुम कर्मोंसे बँधोगे नहीं।

पीछेके (तेरहवें) श्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंका कर्ता होते हुए भी मैं अकर्ता हूँ अर्थात् मुझमें कर्तृत्वाभिमान नहीं है और इस श्लोकमें बताते हैं कि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है अर्थात् मुझमें भोक्तृत्वाभिमान भी नहीं है। अत: साधकको भी इन दोनोंसे रहित होना चाहिये। फलेच्छाका त्याग करके केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनों ही नहीं रहते। कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। अत: इनके न रहनेसे मुक्ति स्वत:सिद्ध ही है।

'इति मां योऽभिजानाति'—मनुष्यमें जब कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, तब उसकी दृष्टि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंपर रहती है। उत्पत्ति-विनाशशील (अनित्य) पदार्थोंपर दृष्टि रहनेसे वह नित्य भगवान्‌को तत्त्वसे नहीं जान सकता। पर कामनाओंके मिटनेसे जब अन्त:करण शुद्ध हो जाता है, तब भगवान्‌की ओर स्वत: दृष्टि जाती है।

*** सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मणकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रियकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा तमोगुणकी गौणतासे वैश्यकी और तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी रचना की गयी है।**

भगवान्की ओर दृष्टि जानेपर मनुष्य जान जाता है कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं, इसलिये उनके द्वारा होनेवाली मात्र क्रियाएँ प्राणिमात्रके हितके लिये ही होती हैं। भगवान् तो जीवोंको कर्म-बन्धनसे रहित करनेके लिये ही उन्हें मनुष्य-शरीर देते हैं, पर इस बातको न समझनेके कारण जीव कर्मोंसे नये-नये सम्बन्ध मानकर और बन्धन उत्पन्न कर लेता है। इसलिये कर्तापन और फलेच्छा न होनेपर भी वे केवल कृपा करके जीवोंको कर्म-बन्धनसे रहित करके उनका उद्धार करनेके लिये ही सृष्टि-रचनाका कार्य करते हैं। भगवान्को इस तरह जान लेनेसे मनुष्य भगवान्की ओर खिंच जाता है—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।
ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(मानस ५। ३४। २)

'**कर्मभिर्न स बध्यते**'—भगवान्के कर्म तो दिव्य हैं ही, सन्त-महात्माओंके कर्म भी दिव्य हो जाते हैं। वास्तवमें सन्त-महात्मा ही नहीं, मनुष्यमात्र अपने कर्मोंको दिव्य बना सकता है। जब कर्मोंमें मलिनता (कामना, ममता, आसक्ति आदि) होती है, तब वे कर्म बाँधनेवाले हो जाते हैं। जब मलिनताके दूर हो जानेपर कर्म दिव्य हो जाते हैं, तब वे उसे नहीं बाँधते। इतना ही नहीं, वे कर्म उस कर्ताको और दूसरोंको भी (उसके अनुसार आचरण करनेसे) मुक्त करनेवाले हो जाते हैं।

अपने कर्मोंको दिव्य बनानेका सरल उपाय है—संसारसे मिली हुई वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर (संसारकी और संसारके लिये मानते हुए) संसारकी सेवामें लगा देना।

विचार करना चाहिये कि हमारे पास शरीर आदि जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं, उन सबको हम साथ लाये नहीं और जायँगे तब साथ ले जा सकते नहीं, उनके रहते हुए उनमें इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते नहीं, उन्हें इच्छानुसार रख सकते नहीं अर्थात् उनपर हमारा कोई आधिपत्य नहीं है। इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तरोंसे साथ आये सूक्ष्म और कारण-शरीर भी परिवर्तनशील और प्रकृतिके कार्य हैं, इसलिये उनके साथ भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। वे वस्तुएँ अपने लिये भी नहीं हैं; क्योंकि उनके मिलनेपर भी 'और मिले' यह इच्छा रहती है। यदि वे वस्तुएँ अपने लिये होतीं तो और मिलनेकी इच्छा नहीं रहती। ऐसा होनेपर भी उन वस्तुओंको अपनी और अपने लिये मानना कितनी बड़ी भूल है? उन वस्तुओंमें जो अपनापन दीखता है, वह वास्तवमें केवल उनका सदुपयोग करनेके लिये है, उनपर अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं।

सेवा करनेके लिये तो सब अपने हैं, पर लेनेके लिये कोई अपना नहीं है। संसारकी तो बात ही क्या है, भगवान् भी लेनेके लिये अपने नहीं हैं अर्थात् भगवान्से भी कुछ नहीं लेना है, प्रत्युत अपने-आपको ही भगवान्के समर्पित करना है। कारण कि जो वस्तु हमें चाहिये और हमारे हितकी है, वह भगवान्ने हमें पहलेसे ही बिना माँगे दे रखी है; और ज्यादा दे रखी है, कम नहीं। हमारी जरूरतको जितना भगवान् समझते हैं, उतना हम समझ भी नहीं सकते; क्योंकि भगवान्की उदारता अपार है। उनके सामने हमारी समझ तो बहुत ही अल्प है। इसलिये उनसे माँगना किस बातका? जो कुछ हमें मिला है, उसीका हमें सदुपयोग करना है। वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हितमें लगा देना ही वस्तुओंका सदुपयोग है। इससे कर्मों और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और महान् आनन्दस्वरूप परमात्माका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—जैसे सृष्टि-रचना आदि करनेपर भी भगवान्का अकर्तापन सुरक्षित (ज्यों-का-त्यों) रहता है, ऐसी ही जीवका भी स्वरूपसे अकर्तापन स्वतः सुरक्षित रहता है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। परन्तु वह मूढ़तापूर्वक अपनेमें कर्तापन स्वीकार कर लेता है—'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)।

कर्म, क्रिया और लीला—तीनों एक दीखते हुए भी वास्तवमें सर्वथा भिन्न हैं। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमानपूर्वक की जाय तथा अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेवाली हो, वह क्रिया 'कर्म' कहलाती है। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक न की जाय तथा जो फल देनेवाली भी न हो, वह 'क्रिया' होती है; जैसे—श्वासोंका आना-जाना, आँखका खुलना और बन्द होना, नाड़ियोंका चलना, हृदयका धड़कना आदि। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छासे रहित तो होती ही है, साथ-साथ दिव्य तथा दुनियामात्रका हित करनेवाली भी होती है, वह 'लीला' होती है। सांसारिक लोगोंके द्वारा 'कर्म' होता है, मुक्त पुरुषोंके

द्वारा 'क्रिया' होती है[1] और भगवान्‌के द्वारा 'लीला' होती है—**'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** (ब्रह्मसूत्र २। १। ३३) अर्थात् जैसे संसार न होते हुए भी दीखता है, ऐसे ही भगवान्‌का सृष्टि-रचना आदि कार्य केवल लीलामात्र है। तात्पर्य है कि भगवान् कर्ता न होते हुए भी लीलासे कर्ता दीखते हैं।

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' पदोंसे सिद्ध होता है कि गीता जन्म (उत्पत्ति)-से ही जाति मानती है। जो मनुष्य जिस वर्णमें जिस जातिके माता-पितासे पैदा हुआ है, उसीसे उसकी जाति मानी जाती है। 'जाति' शब्द ही **'जनी प्रादुर्भावे'** धातुसे बनता है जो जन्मसे जातिको सिद्ध करता है। कर्मसे तो 'कृति' शब्द होता है, जो **'डुकृञ् करणे'** धातुसे बनता है। हाँ, जातिकी पूर्ण रक्षा उसके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे ही होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपना उदाहरण देकर अब आगेके श्लोकमें भगवान् मुमुक्षु पुरुषोंका उदाहरण देते हुए अर्जुनको निष्कामभावपूर्वक अपना कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥

पूर्वैः	= पूर्वकालके	**कर्म**	= कर्म	**पूर्वतरम्**	= सदासे
मुमुक्षुभिः	= मुमुक्षुओंने	**कृतम्**	= किये हैं,	**कृतम्**	= किये जानेवाले
अपि	= भी	**तस्मात्**	= इसलिये	**कर्म**	= कर्मोंको
एवम्	= इस प्रकार	**त्वम्**	= तू (भी)	**एव**	= ही (उन्हींकी तरह)
ज्ञात्वा	= जानकर	**पूर्वैः**	= पूर्वजोंके द्वारा	**कुरु**	= कर।

व्याख्या—[नवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने कर्मोंकी दिव्यताका जो प्रसंग आरम्भ किया था, उसका यहाँ उपसंहार करते हैं।]

'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः'—अर्जुन मुमुक्षु थे अर्थात् अपना कल्याण चाहते थे। परन्तु युद्धरूपसे प्राप्त अपने कर्तव्य-कर्मको करनेमें उन्हें अपना कल्याण नहीं दीखता, प्रत्युत वे उसको घोर-कर्म समझकर उसका त्याग करना चाहते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका पहला श्लोक)। इसलिये भगवान् अर्जुनको पूर्वकालके मुमुक्षु पुरुषोंका उदाहरण देते हैं कि उन्होंने भी अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करके कल्याणकी प्राप्ति की है, इसलिये तुम्हें भी उनकी तरह अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

तीसरे अध्यायके बीसवें श्लोकमें जनकादिका उदाहरण देकर तथा इसी (चौथे) अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकोंमें विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदिका उदाहरण देकर भगवान्‌ने जो बात कही थी, वही बात इस श्लोकमें भी कह रहे हैं।

शास्त्रोंमें ऐसी प्रसिद्धि है कि मुमुक्षा जाग्रत् होनेपर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि मुमुक्षाके बाद मनुष्य कर्मका अधिकारी नहीं होता; प्रत्युत ज्ञानका अधिकारी हो जाता है[2]। परन्तु यहाँ भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षुओंने भी कर्मयोगका तत्त्व जानकर कर्म किये हैं। इसलिये मुमुक्षा जाग्रत् होनेपर भी अपने कर्तव्य-कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिये।

कर्मयोगका तत्त्व है—कर्म करते हुए योगमें स्थित रहना और योगमें स्थित रहते हुए कर्म करना। कर्म संसारके लिये और योग अपने लिये होता है। कर्मोंको करना और न करना—दोनों अवस्थाएँ हैं। अतः प्रवृत्ति (कर्म करना) और निवृत्ति (कर्म न करना)—दोनों ही प्रवृत्ति (कर्म करना) है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे ऊँचा उठ जाना योग है, जो पूर्ण निवृत्ति है। पूर्ण निवृत्ति कोई अवस्था नहीं है।

१-इसको गीताने 'चेष्टा' भी कहा है—'सदृशं चेष्टते' (३। ३३)।

२-तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

'तभीतक कर्म करने चाहिये, जबतक वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी (भगवान्‌की) कथाके श्रवण आदिमें श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय।'

चौदहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म नहीं बाँधते। जो मनुष्य कर्म करनेकी इस विद्या-(कर्मयोग-) को जानकर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता; कारण कि फलेच्छासे ही मनुष्य बँधता है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)। अगर मनुष्य अपने सुखभोगके लिये अथवा धन, मान, बड़ाई, स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये कर्म करता है तो वे कर्म उसे बाँध देते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ श्लोक)। परन्तु यदि उसका लक्ष्य उत्पत्ति-विनाशशील संसार नहीं है, प्रत्युत वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये नि:स्वार्थ सेवा-भावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है, तो वे कर्म उसे बाँधते नहीं (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। कारण कि दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जाता है, जिससे कर्मोंका सम्बन्ध (राग) मिट जाता है और फलेच्छा न रहनेसे नया सम्बन्ध पैदा नहीं होता।

'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्'—इन पदोंसे भगवान् अर्जुनको आज्ञा दे रहे हैं कि तू मुमुक्षु है, इसलिये जैसे पहले अन्य मुमुक्षुओंने लोकहितार्थ कर्म किये हैं, ऐसे ही तू भी संसारके हितके लिये कर्म कर।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि कर्मकी सब सामग्री अपनेसे भिन्न तथा संसारसे अभिन्न है। वह संसारकी है और संसारकी सेवाके लिये ही मिली है। उसे अपनी मानकर अपने लिये कर्म करनेसे कर्मोंका सम्बन्ध अपने साथ हो जाता है। जब सम्पूर्ण कर्म केवल दूसरोंके हितके लिये किये जाते हैं, तब कर्मोंका सम्बन्ध हमारे साथ नहीं रहता। कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'योग' अर्थात् परमात्माके साथ हमारे नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव हो जाता है, जो कि पहलेसे ही है।

परिशिष्ट भाव—तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें भगवान्ने बताया कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छासे रहित होकर सृष्टि-रचना आदि कर्म करनेके कारण वे कर्म मुझे नहीं बाँधते। यहाँ भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षुओंने भी इसी तरह कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छाका त्याग करके कर्म किये हैं। कारण कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा होनेपर ही कर्म बन्धनकारक होते हैं। इसलिये तू भी उसी प्रकारसे कर्म कर।

ज्ञानयोगमें पहले कर्तृत्वाभिमानका त्याग किया जाता है, फिर फलेच्छाका त्याग स्वत: होता है। कर्मयोगमें पहले फलेच्छाका त्याग किया जाता है, फिर कर्तृत्वाभिमानका त्याग सुगमतासे हो जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें ***'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म'*** *पदोंसे कर्मोंको जाननेकी बात कही गयी थी। अब भगवान् आगेके श्लोकसे कर्मोंको 'तत्त्व' से जाननेके लिये प्रकरण आरम्भ करते हैं।*

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

कर्म = कर्म, **किम्** = क्या है (और), **अकर्म** = अकर्म, **किम्** = क्या है—, **इति** = इस प्रकार, **अत्र** = इस विषयमें, **कवयः** = विद्वान्, **अपि** = भी, **मोहिताः** = मोहित हो जाते हैं। (अत:), **तत्** = वह, **कर्म** = कर्म-तत्त्व (मैं), **ते** = तुझे, **प्रवक्ष्यामि** = भलीभाँति कहूँगा, **यत्** = जिसको, **ज्ञात्वा** = जानकर (तू), **अशुभात्** = अशुभ (संसार-बन्धन)-से, **मोक्ष्यसे** = मुक्त हो जायगा।

व्याख्या—**'किं कर्म'**—साधारणत: मनुष्य-शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको ही कर्म मान लेते हैं तथा शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ बंद होनेको अकर्म मान लेते हैं। परन्तु भगवान्ने शरीर, वाणी और मनके द्वारा होनेवाली मात्र क्रियाओंको कर्म माना है—**'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'** (गीता १८। १५)।

भावके अनुसार ही कर्मकी संज्ञा होती है। भाव बदलनेपर कर्मकी संज्ञा भी बदल जाती है। जैसे, कर्म स्वरूपसे सात्त्विक दीखता हुआ भी यदि कर्ताका भाव राजस या तामस होता है, तो वह कर्म भी राजस या तामस हो जाता है। जैसे, कोई देवीकी उपासनारूप कर्म कर रहा है, जो स्वरूपसे सात्त्विक है। परन्तु यदि कर्ता उसे किसी

कामनाकी सिद्धिके लिये करता है, तो वह कर्म राजस हो जाता है और किसीका नाश करनेके लिये करता है, तो वही कर्म तामस हो जाता है। इसी प्रकार यदि कर्तामें फलेच्छा, ममता और आसक्ति नहीं है, तो उसके द्वारा किये गये कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं अर्थात् फलमें बाँधनेवाले नहीं होते। तात्पर्य यह है कि केवल बाहरी क्रिया करने अथवा न करनेसे कर्मके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। इस विषयमें शास्त्रोंको जाननेवाले बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं अर्थात् कर्मके तत्त्वका यथार्थ निर्णय नहीं कर पाते। जिस क्रियाको वे कर्म मानते हैं वह कर्म भी हो सकता है, अकर्म भी हो सकता है और विकर्म भी हो सकता है। कारण कि कर्ताके भावके अनुसार कर्मका स्वरूप बदल जाता है। इसलिये भगवान् मानो यह कहते हैं कि वास्तविक कर्म क्या है? वह क्यों बाँधता है? कैसे बाँधता है? इससे किस तरह मुक्त हो सकते हैं?—इन सबका मैं विवेचन करूँगा, जिसको जानकर उस रीतिसे कर्म करनेपर वे बाँधनेवाले न हो सकेंगे।

यदि मनुष्यमें ममता, आसक्ति और फलेच्छा है, तो कर्म न करते हुए भी वास्तवमें कर्म ही हो रहा है अर्थात् कर्मोंसे लिप्तता है। परन्तु यदि ममता, आसक्ति और फलेच्छा नहीं है, तो कर्म करते हुए भी कर्म नहीं हो रहा है अर्थात् कर्मोंसे निर्लिप्तता है। तात्पर्य यह है कि यदि कर्ता निर्लिप्त है तो कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही अकर्म हैं और यदि कर्ता लिप्त है तो कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही कर्म हैं और बाँधनेवाले हैं।

'**किमकर्मेति**'—भगवान्ने कर्मके दो भेद बताये हैं—कर्म और अकर्म। कर्मसे जीव बँधता है और अकर्मसे (दूसरोंके लिये कर्म करनेसे) मुक्त हो जाता है।

कर्मोंका त्याग करना अकर्म नहीं है। भगवान्ने मोहपूर्वक किये गये कर्मोंके त्यागको 'तामस' बताया है (गीता—अठारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। शारीरिक कष्टके भयसे किये गये कर्मोंके त्यागको 'राजस' बताया गया है (गीता—अठारहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)। तामस और राजस त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग होनेपर भी कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। कर्मोंमें फलेच्छा और आसक्तिका त्याग 'सात्त्विक' है (गीता—अठारहवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। सात्त्विक त्यागमें स्वरूपसे कर्म करना भी वास्तवमें अकर्म है; क्योंकि सात्त्विक त्यागमें कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः कर्म करते हुए भी उससे निर्लिप्त रहना वास्तवमें अकर्म है।

शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् भी अकर्म क्या है—इस विषयमें मोहित हो जाते हैं। अतः कर्म करने अथवा न करने—दोनों ही अवस्थाओंमें जिससे जीव बँधे नहीं, उस तत्त्वको समझनेसे ही कर्म क्या है और अकर्म क्या है—यह बात समझमें आयेगी। अर्जुन युद्धरूप कर्म न करनेको कल्याणकारक समझते हैं। इसलिये भगवान् मानो यह कहते हैं कि युद्धरूप कर्मका त्याग करनेमात्रसे तेरी अकर्म-अवस्था (बन्धनसे मुक्ति) नहीं होगी (गीता—तीसरे अध्यायका चौथा श्लोक), प्रत्युत युद्ध करते हुए भी तू अकर्म-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक); अतः अकर्म क्या है—इस तत्त्वको तू समझ।

निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना अथवा कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना—यही वास्तवमें अकर्म-अवस्था है।

'**कवयोऽप्यत्र मोहिताः**'—साधारण मनुष्योंमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि वे कर्म और अकर्मका तात्त्विक निर्णय कर सकें। शास्त्रोंके ज्ञाता बड़े-बड़े विद्वान् भी इस विषयमें भूल कर जाते हैं। कर्म और अकर्मका तत्त्व जाननेमें उनकी बुद्धि भी चकरा जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि इनका तत्त्व या तो कर्मयोगसे सिद्ध हुए अनुभवी तत्त्वज्ञ महापुरुष जानते हैं अथवा भगवान् जानते हैं।

'**तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि**'—जीव कर्मोंसे बँधा है तो कर्मोंसे ही मुक्त होगा। यहाँ भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं वह कर्म-तत्त्व भलीभाँति कहूँगा, जिससे कर्म करते हुए भी वे बन्धनकारक न हों। तात्पर्य यह है कि कर्म करनेकी वह विद्या बताऊँगा, जिससे तू कर्म करते हुए भी जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जायगा।

कर्म करनेके दो मार्ग हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्गको 'कर्म करना' कहते हैं और निवृत्तिमार्गको 'कर्म न करना' कहते हैं। ये दोनों ही मार्ग बाँधनेवाले नहीं हैं। बाँधनेवाली तो कामना, ममता, आसक्ति है, चाहे यह प्रवृत्तिमार्गमें हो, चाहे निवृत्तिमार्गमें हो। यदि कामना, ममता, आसक्ति न हो तो मनुष्य प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग—दोनोंमें स्वतः मुक्त है। इस बातको समझना ही कर्म-तत्त्वको समझना है।

दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकमें भगवान्ने '**योगः कर्मसु कौशलम्**' 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा कहकर कर्म-तत्त्व बताया है। तात्पर्य है कि कर्म-बन्धनसे

छूटनेका वास्तविक उपाय 'योग' अर्थात् समता ही है। परन्तु अर्जुन इस तत्त्वको पकड़ नहीं सके, इसलिये भगवान् इस तत्त्वको पुनः समझानेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

विशेष बात

कर्मयोग कर्म नहीं है, प्रत्युत सेवा है। सेवामें त्यागकी मुख्यता होती है। सेवा और त्याग—ये दोनों ही कर्म नहीं हैं। इन दोनोंमें विवेककी ही प्रधानता है।

हमारे पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। मिली हुई वस्तुको अपनी माननेका हमें अधिकार नहीं है। संसारसे मिली वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगानेका हमें अधिकार है। जो वस्तु वास्तवमें अपनी है, उस-(स्वरूप या परमात्मा-) का त्याग कभी हो ही नहीं सकता और जो वस्तु अपनी नहीं है, उस-(शरीर या संसार-) का त्याग स्वतःसिद्ध है। अतः त्याग उसीका होता है जो अपना नहीं है, पर जिसे भूलसे अपना मान लिया है अर्थात् अपनेपनकी मान्यताका ही त्याग होता है। इस प्रकार जो वस्तु अपनी है ही नहीं, उसे अपना न मानना त्याग कैसे? यह तो विवेक है।

कर्म-सामग्री (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) अपनी और अपने लिये नहीं हैं, प्रत्युत दूसरोंकी और दूसरोंके लिये ही हैं। इसका सम्बन्ध संसारके साथ है। स्वयंके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि स्वयं नित्य-निरन्तर निर्विकाररूपसे एकरस रहता है, पर कर्म-सामग्री पहले अपने पास नहीं थी, बादमें भी अपने पास नहीं रहेगी और अब भी निरन्तर बिछुड़ रही है। इसलिये इसके द्वारा जो भी कर्म किया जाय, वह दूसरोंके लिये ही होता है, अपने लिये नहीं। इसमें एक मार्मिक बात है कि कर्म-सामग्रीके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता; जैसे—कितना ही बड़ा लेखक क्यों न हो, स्याही, कलम और कागजके बिना वह कुछ भी नहीं लिख सकता। अतः जब कर्म-सामग्रीके बिना कुछ किया नहीं जा सकता, तब यह विधान मानना ही पड़ेगा कि अपने लिये कुछ करना नहीं है। कारण कि कर्म-सामग्रीका सम्बन्ध संसारके साथ है, अपने साथ नहीं। इसलिये कर्म-सामग्री और कर्म सदा दूसरोंके हितके लिये ही होते हैं, जिसे सेवा कहते हैं। दूसरोंकी ही वस्तु दूसरोंको मिल गयी तो यह सेवा कैसे? यह तो विवेक है।

इस प्रकार त्याग और सेवा—ये दोनों ही कर्मसाध्य नहीं हैं, प्रत्युत विवेकसाध्य हैं। मिली हुई वस्तु अपनी नहीं है, दूसरोंकी और दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही है—यह विवेक है। इसलिये मूलतः कर्मयोग कर्म नहीं है, प्रत्युत विवेक है।

विवेक किसी कर्मका फल नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रको अनादिकालसे स्वतः प्राप्त है। यदि विवेक किसी शुभ कर्मका फल होता तो विवेकके बिना उस शुभ कर्मको कौन करता? क्योंकि विवेकके द्वारा ही मनुष्य शुभ और अशुभ कर्मके भेदको जानता है तथा अशुभ कर्मका त्याग करके शुभ कर्मका आचरण करता है। अतः विवेक शुभ कर्मोंका कारण है, कार्य नहीं। यह विवेक स्वतःसिद्ध है, इसलिये कर्मयोग भी स्वतःसिद्ध है अर्थात् कर्मयोगमें परिश्रम नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानयोगमें अपना असंग स्वरूप स्वतःसिद्ध है और भक्ति-योगमें भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है।

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'—जीव स्वयं शुभ है और परिवर्तनशील संसार अशुभ है। जीव स्वयं परमात्माका नित्य अंश होते हुए भी परमात्मासे विमुख होकर अनित्य संसारमें फँस गया है। भगवान् कहते हैं कि मैं उस कर्म-तत्त्वका वर्णन करूँगा, जिसे जानकर कर्म करनेसे तू अशुभसे अर्थात् जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे मुक्त हो जायगा।

[इस श्लोकमें कर्मोंको जाननेका जो प्रकरण आरम्भ हुआ है, उसका उपसंहार बत्तीसवें श्लोकमें **'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे'** पदोंसे किया गया है।]

मार्मिक बात

कर्मयोगका तात्पर्य है—'कर्म' संसारके लिये और 'योग' अपने लिये। कर्मके दो अर्थ होते हैं—करना और न करना। कर्म करना और न करना—ये दोनों प्राकृत अवस्थाएँ हैं। इन दोनों ही अवस्थाओंमें अहंता रहती है। कर्म करनेमें 'कार्य'-रूपसे अहंता रहती है, और कर्म न करनेमें 'कारण' रूपसे। जबतक अहंता है तबतक संसारसे सम्बन्ध है और जबतक संसारसे सम्बन्ध है, तबतक अहंता है। परन्तु 'योग' दोनों अवस्थाओंसे अतीत है। उस योगका अनुभव करनेके लिये अहंतासे रहित होना आवश्यक है। अहंतासे रहित होनेका उपाय है—कर्म करते हुए अथवा न करते हुए योगमें स्थित रहना और योगमें स्थित रहते हुए

कर्म करना अथवा न करना। तात्पर्य है कि कर्म करने अथवा न करने—दोनों अवस्थाओंमें निर्लिप्तता रहे—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (गीता २। ४८)।

कर्म करनेसे संसारमें और कर्म न करनेसे परमात्मामें प्रवृत्ति होती है—ऐसा मानते हुए संसारसे निवृत्त होकर एकान्तमें ध्यान और समाधि लगाना भी कर्म करना ही है। एकान्तमें ध्यान और समाधि लगानेसे तत्त्वका साक्षात्कार होगा—इस प्रकार भविष्यमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनेका भाव भी कर्मका सूक्ष्म रूप है। कारण कि करनेके आधारपर ही भविष्यमें तत्त्वप्राप्तिकी आशा होती है। परन्तु परमात्मतत्त्व करने और न करने—दोनोंसे अतीत है।

भगवान् कहते हैं कि मैं वह कर्म-तत्त्व कहूँगा जिसे जाननेसे तत्काल परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। इसके लिये भविष्यकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि परमात्मतत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिमें समानरूपसे परिपूर्ण है। मनुष्य अपनेको जहाँ मानता है, परमात्मा वहीं हैं। कर्म करते समय अथवा न करते समय—दोनों अवस्थाओंमें परमात्मतत्त्वका हमारे साथ सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों रहता है। केवल प्रकृतिजन्य क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध माननेके कारण ही उसकी अनुभूति नहीं हो रही है।

अहंतापूर्वक किया हुआ साधन और साधनका अभिमान जबतक रहता है, तबतक अहंता मिटती नहीं, प्रत्युत दृढ़ होती है, चाहे वह अहंता स्थूलरूपसे (कर्म करनेके साथ) रहे अथवा सूक्ष्मरूपसे (कर्म न करनेके साथ) रहे।

'मैं करता हूँ'—इसमें जैसी अहंता है, ऐसी ही अहंता 'मैं नहीं करता हूँ'—इसमें भी है। अपने लिये कुछ न करनेसे अर्थात् कर्ममात्र संसारके हितके लिये करनेसे अहंता संसारमें विलीन हो जाती है।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मोंके तत्त्वको जाननेकी प्रेरणा करते हैं।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

कर्मणः = कर्मोंका (तत्त्व)
अपि = भी
बोद्धव्यम् = जानना चाहिये
च = और
अकर्मणः = अकर्मका (तत्त्व भी)
बोद्धव्यम् = जानना चाहिये
च = तथा
विकर्मणः = विकर्मका (तत्त्व भी)
बोद्धव्यम् = जानना चाहिये;
हि = क्योंकि
कर्मणः = कर्मोंकी
गतिः = गति
गहना = गहन है अर्थात् समझनेमें बड़ी कठिन है।

व्याख्या—**'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्'**—कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना ही कर्मके तत्त्वको जानना है, जिसका वर्णन आगे अठारहवें श्लोकमें **'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'** पदोंसे किया गया है।

कर्म स्वरूपसे एक दीखनेपर भी अन्तःकरणके भावके अनुसार उसके तीन भेद हो जाते हैं—कर्म, अकर्म और विकर्म। सकामभावसे की गयी शास्त्रविहित क्रिया 'कर्म' बन जाती है। फलेच्छा, ममता और आसक्तिसे रहित होकर केवल दूसरोंके हितके लिये किया गया कर्म 'अकर्म' बन जाता है। विहित कर्म भी यदि दूसरेका अहित करने अथवा उसे दुःख पहुँचानेके भावसे किया गया हो तो वह भी 'विकर्म' बन जाता है। निषिद्ध कर्म तो 'विकर्म' है ही।

'अकर्मणश्च बोद्धव्यम्'—निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना ही अकर्मके तत्त्वको जानना है, जिसका वर्णन आगे अठारहवें श्लोकमें **'अकर्मणि च कर्म यः'** पदोंसे किया गया है।

'बोद्धव्यं च विकर्मणः'—कामनासे कर्म होते हैं। जब कामना अधिक बढ़ जाती है, तब विकर्म (पापकर्म) होते हैं ।

दूसरे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें भगवान्ने बताया है कि अगर युद्ध-जैसा हिंसायुक्त घोर कर्म भी शास्त्रकी आज्ञासे और समतापूर्वक (जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर) किया जाय, तो उससे पाप नहीं लगता। तात्पर्य यह है कि समतापूर्वक कर्म करनेसे दीखनेमें विकर्म होता हुआ भी वह 'अकर्म' हो जाता है।

शास्त्रनिषिद्ध कर्मका नाम 'विकर्म' है। विकर्मके होनेमें

कामना ही हेतु है (गीता—तीसरे अध्यायका छत्तीसवाँ-सैंतीसवाँ श्लोक)*। अतः विकर्मका तत्त्व है—कामना; और विकर्मके तत्त्वको जानना है—विकर्मका स्वरूपसे त्याग करना तथा उसके कारण कामनाका त्याग करना।

'गहना कर्मणो गतिः'—कौन-सा कर्म मुक्त करनेवाला और कौन-सा कर्म बाँधनेवाला है—इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कर्म क्या है, अकर्म क्या है और विकर्म क्या है—इसका यथार्थ तत्त्व जाननेमें बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ विद्वान् भी अपने-आपको असमर्थ पाते हैं। अर्जुन भी इस तत्त्वको न जाननेके कारण अपने युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको घोर कर्म मान रहे हैं। अतः कर्मकी गति (ज्ञान या तत्त्व) बहुत गहन है।

शंका—इस (सत्रहवें) श्लोकमें भगवान्ने **'बोद्धव्यं च विकर्मणः'** पदोंसे यह कहा कि विकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये। परन्तु उन्नीसवें-से-तेईसवें श्लोकतकके प्रकरणमें भगवान्ने 'विकर्म' के विषयमें कुछ कहा ही नहीं! फिर केवल इस श्लोकमें ही विकर्मकी बात क्यों कही?

समाधान—उन्नीसवें श्लोकसे लेकर तेईसवें श्लोकतकके प्रकरणमें भगवान्ने मुख्यरूपसे 'कर्ममें अकर्म' की बात कही है, जिससे सब कर्म अकर्म हो जायँ अर्थात् कर्म करते हुए भी बन्धन न हो। विकर्म कर्मके बहुत पास पड़ता है; क्योंकि कर्मोंमें कामना ही विकर्मका मुख्य हेतु है। अतः कामनाका त्याग करनेके लिये तथा विकर्मको निकृष्ट बतानेके लिये भगवान्ने विकर्मका नाम लिया है।

जिस कामनासे 'कर्म' होते हैं, उसी कामनाके अधिक बढ़नेपर 'विकर्म' होने लगते हैं। परन्तु कामना नष्ट होनेपर सब कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं। इस प्रकरणका खास तात्पर्य 'अकर्म'को जाननेमें ही है, और 'अकर्म' होता है कामनाका नाश होनेपर। कामनाका नाश होनेपर विकर्म होता ही नहीं; अतः विकर्मके विवेचनकी जरूरत ही नहीं। इसलिये इस प्रकरणमें विकर्मकी बात नहीं आयी है। दूसरी बात पापजनक और नरकोंकी प्राप्ति करानेवाला होनेके कारण विकर्म सर्वथा त्याज्य है। इसलिये भी इसका विस्तार नहीं किया गया है। हाँ, विकर्मके मूल कारण 'कामना'का त्याग करनेका भाव इस प्रकरणमें मुख्यरूपसे आया है; जैसे—**'कामसंकल्पवर्जिताः'** (४।१९), **'त्यक्त्वा कर्मफलासंगम्'** (४।२०), **'निराशीः'** (४।२१), **'समः सिद्धावसिद्धौ च'** (४।२२), **'गतसंगस्य'**, **'यज्ञायाचरतः'** (४।२३)।

इस प्रकार विकर्मके मूल 'कामना'के त्यागका वर्णन करनेके लिये ही इस श्लोकमें विकर्मको जाननेकी बात कही गयी है।

परिशिष्ट भाव—हमारे लिये और दूसरोंके लिये, अभी और परिणामोंमें किस कर्मका क्या फल होता है, यह समझना बड़ा कठिन है। किसी कर्मको करनेमें मनुष्य अपना हित समझता है, पर हो जाता है अहित! वह लाभके लिये करता है पर हो जाता है नुकसान! वह सुखके लिये करता है, पर मिलता है दुःख! कारण कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा (सुखासक्ति) रहनेके कारण मनुष्य कर्मोंकी गतिको नहीं समझ सकता।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मोंके तत्त्वको जाननेवाले मनुष्यकी प्रशंसा करते हैं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

यः = जो मनुष्य
कर्मणि = कर्ममें
अकर्म = अकर्म
पश्येत् = देखता है
च = और
यः = जो
अकर्मणि = अकर्ममें
कर्म = कर्म (देखता है),
सः = वह
मनुष्येषु = मनुष्योंमें
बुद्धिमान् = बुद्धिमान् है,
सः = वह
युक्तः = योगी है (और)
कृत्स्नकर्मकृत् = सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला (कृतकृत्य) है।

---

* सोलहवें अध्यायमें जहाँ आसुरी-सम्पत्तिका वर्णन हुआ है, वहाँ आठवें श्लोकसे तेईसवें श्लोकतक 'काम' शब्द कुल नौ बार आया है। इससे सिद्ध होता है कि 'काम' अर्थात् कामना ही सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति-(विकर्म-) का कारण है।

व्याख्या—**'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'**—कर्ममें अकर्म देखनेका तात्पर्य है—कर्म करते हुए अथवा न करते हुए उससे निर्लिप्त रहना अर्थात् अपने लिये कोई भी प्रवृत्ति या निवृत्ति न करना। अमुक कर्म मैं करता हूँ, इस कर्मका अमुक फल मुझे मिले—ऐसा भाव रखकर कर्म करनेसे ही मनुष्य कर्मोंसे बँधता है। प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है, इसलिये उसका फल भी आरम्भ और अन्त होनेवाला होता है। परन्तु जीव स्वयं नित्य-निरन्तर रहता है। इस प्रकार यद्यपि जीव स्वयं परिवर्तनशील कर्म और उसके फलसे सर्वथा सम्बन्धरहित है, फिर भी वह फलकी इच्छाके कारण उनसे बँध जाता है। इसीलिये चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि मेरेको कर्म नहीं बाँधते; क्योंकि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है। फलकी स्पृहा या इच्छा ही बाँधनेवाली है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)।

फलकी इच्छा न रखनेसे नया राग उत्पन्न नहीं होता और दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना राग नष्ट हो जाता है। इस प्रकार रागरूप बन्धन न रहनेसे साधक सर्वथा वीतराग हो जाता है। वीतराग होनेसे सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

जीवका जन्म कर्मोंके अनुबन्धसे होता है। जैसे, जिस परिवारमें जन्म लिया है, उस परिवारके लोगोंसे ऋणानुबन्ध है अर्थात् किसीका ऋण चुकाना है और किसीसे ऋण वसूल करना है। कारण कि अनेक जन्मोंमें अनेक लोगोंसे लिया है और अनेक लोगोंको दिया है। यह लेन-देनका व्यवहार अनेक जन्मोंसे चला आ रहा है। इसको बंद किये बिना जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं मिल सकता। इसको बंद करनेका उपाय है—आगेसे लेना बंद कर दें अर्थात् अपने अधिकारका त्याग कर दें और हमारेपर जिनका अधिकार है, उनकी सेवा करनी आरम्भ कर दें। इस प्रकार नया ऋण लें नहीं और पुराना ऋण (दूसरोंके लिये कर्म करके) चुका दें, तो ऋणानुबन्ध (लेन-देनका व्यवहार) समाप्त हो जायगा अर्थात् जन्म-मरण बंद हो जायगा (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। जैसे, कोई दूकानदार अपनी दूकान उठाना चाहता है, तो वह दो काम करेगा—पहला, जिसको देना है, उसको दे देगा और दूसरा, जिससे लेना है, वह ले लेगा अथवा छोड़ देगा। ऐसा करनेसे उसकी दूकान उठ जायगी। अगर वह यह विचार रखेगा कि जो लेना है, वह सब-का-सब ले लूँ, तो दूकान उठेगी नहीं। कारण कि जबतक वह लेनेकी इच्छासे वस्तुएँ देता रहेगा, तबतक दूकान चलती ही रहेगी, उठेगी नहीं।

अपने लिये कुछ भी न करने और न चाहनेसे असंगता स्वतः प्राप्त हो जाती है। कारण कि करण (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण) और उपकरण (कर्म करनेमें उपयोगी सामग्री) संसारके हैं और संसारकी सेवामें लगानेके लिये ही मिले हैं, अपने लिये नहीं। इसलिये सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म (सेवा, भजन, जप, ध्यान, समाधि भी) केवल संसारके हितके लिये ही करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी ओर चला जाता है और साधक स्वयं असंग, निर्लिप्त रह जाता है। यही कर्ममें अकर्म देखना है।

जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही 'कर्म' हैं। इसलिये कर्म करने अथवा न करने—दोनों ही अवस्थाओंमें कर्मयोगीको निर्लिप्त रहना चाहिये। कर्म करनेमें निर्लिप्त रहनेका तात्पर्य है—कर्म करनेसे हमें अच्छा फल मिलेगा, हमें लाभ होगा, हमारी सिद्धि होगी, लोग हमें अच्छा मानेंगे, इस लोकमें और परलोकमें भोग मिलेंगे—इस प्रकारकी किसी भी इच्छाका न होना। ऐसे ही कर्म न करनेमें निर्लिप्त रहनेका तात्पर्य है—कर्मोंका त्याग करनेसे हमें मान, आदर, भोग, शरीरका आराम आदि मिलेंगे—इस प्रकारकी किंचिन्मात्र भी इच्छाका न होना।

दुःख समझकर एवं शारीरिक क्लेशके भयसे कर्म न करना राजस त्याग है और मोह, आलस्य, प्रमादके कारण कर्म न करना तामस त्याग है। ये दोनों ही त्याग सर्वथा त्याज्य हैं। इसके सिवाय कर्म न करना यदि अपनी विलक्षण स्थितिके लिये है, समाधिका सुख भोगनेके लिये है, जीवन्मुक्तिका आनन्द लेनेके लिये है तो इस त्यागसे भी प्रकृतिका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। कारण कि जबतक कर्म न करनेसे सम्बन्ध है, तबतक प्रकृतिसे सम्बन्ध बना रहता है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कर्मयोगी कर्म करने और न करने—इन दोनों अवस्थाओंमें ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त रहता है।

'अकर्मणि च कर्म यः'—अकर्ममें कर्म देखनेका तात्पर्य है—निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना अथवा न करना। भाव है कि कर्म करते समय अथवा न करते समय भी नित्य-निरन्तर निर्लिप्त रहे।

संसारमें कोई कार्य करनेके लिये प्रवृत्त होता है तो उसके सामने प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)—

दोनों आती हैं। किसी कार्यमें प्रवृत्ति होती है और किसी कार्यसे निवृत्ति होती है। परन्तु कर्मयोगीकी प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों निर्लिप्ततापूर्वक और केवल संसारके हितके लिये होती हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति— दोनोंसे ही उसका कोई प्रयोजन नहीं होता—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३। १८)। यदि प्रयोजन होता है तो वह कर्मयोगी नहीं है, प्रत्युत कर्मी है।

साधक जबतक प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह कर्म करनेसे अपनी सांसारिक उन्नति मानता है और कर्म न करनेसे अपनी पारमार्थिक उन्नति मानता है। परन्तु वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही प्रवृत्ति हैं; क्योंकि दोनोंमें ही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है। जैसे चलना-फिरना, खाना-पीना आदि स्थूल-शरीरकी क्रियाएँ हैं, ऐसे ही एकान्तमें बैठे रहना, चिन्तन करना, ध्यान लगाना सूक्ष्म-शरीरकी क्रियाएँ और समाधि लगाना कारण-शरीरकी क्रियाएँ हैं। इसलिये निर्लिप्त रहते हुए ही लोकसंग्रहार्थ कर्तव्य-कर्म करना है। यही अकर्ममें कर्म है। इसीको दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें '**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (योग अर्थात् समतामें स्थित होकर कर्म कर) पदोंसे कहा गया है।

सांसारिक प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों 'कर्म' हैं। प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए ही प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति करना—इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंमें सर्वथा निर्लिप्त रहना 'योग' है। इसीको कर्मयोग कहते हैं।

शंका—कर्म करते हुए अथवा न करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना अथवा न करना— इन दोनोंमें 'अकर्म' अर्थात् एक निर्लिप्तता ही मुख्य हुई; फिर भगवान्ने कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म—ये दो बातें क्यों कही हैं?

समाधान—कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म—इन दोनोंमें एक निर्लिप्तता सार होते हुए भी पहले-(कर्ममें अकर्म-)में कर्म करते हुए अथवा न करते हुए—दोनों अवस्थाओंमें रहनेवाली निर्लिप्तताकी मुख्यता है और दूसरे-(अकर्ममें कर्म-)में निर्लिप्त रहते हुए कर्म करने अथवा न करनेकी मुख्यता है। तात्पर्य है कि निर्लिप्तता अपने लिये और कर्म संसारके लिये है; क्योंकि निर्लिप्तताका सम्बन्ध 'स्व'-(स्वरूप-)के साथ और कर्म करने अथवा न करनेका सम्बन्ध 'पर'-(शरीर, संसार-)के साथ है। इसलिये निर्लिप्तता स्वधर्म और कर्म करना अथवा न करना परधर्म है। इन दोनोंका विभाग सर्वथा अलग-अलग बतानेके लिये ही भगवान्ने उपर्युक्त दो बातें कही हैं।

कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म—ये दोनों बातें कर्मयोगकी हैं, जिनका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिसे तो सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय अर्थात् करने अथवा न करनेसे अपना कोई प्रयोजन न रहे और लोकसंग्रहके लिये कर्मोंको करना अथवा न करना हो। कारण कि कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए भी दूसरोंके हितके लिये कर्म करना—ये दोनों ही गीताके सिद्धान्त हैं।

प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)—दोनों प्रकृतिके राज्यमें ही हैं। प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है, इसलिये प्रवृत्तिका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा निवृत्तिका भी आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु इनसे सर्वथा अतीत परमनिवृत्ततत्त्व—अपने स्वरूपका आदि और अन्त नहीं होता। वह प्रवृत्ति और निवृत्तिके आरम्भमें भी रहता है और उनके अन्तमें भी रहता है तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति-कालमें भी ज्यों-का-त्यों रहता है। वह प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंका प्रकाशक और आधार है। इसलिये उसमें न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति है—इस तत्त्वको समझनेके लिये और उसमें स्थित होकर लोक-संग्रहार्थ-(यज्ञार्थ-) कर्म करनेके लिये यहाँ कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म—ये दो बातें कही गयी हैं।

'**स बुद्धिमान्मनुष्येषु**'—जो पुरुष कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् नित्य-निरन्तर निर्लिप्त रहता है, वही वास्तवमें कर्म-तत्त्वको जाननेवाला है। जबतक वह निर्लिप्त नहीं हुआ है अर्थात् कर्म और पदार्थको अपना और अपने लिये मानता है, तबतक उसने कर्म-तत्त्वको समझा ही नहीं है।

परमात्माको जाननेके लिये स्वयंको परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव करना होता है और संसारको जाननेके लिये स्वयंको संसार-(क्रिया और पदार्थ-) से सर्वथा भिन्नताका अनुभव करना होता है। कारण कि वास्तवमें हम (स्वरूपसे) परमात्मासे अभिन्न और संसारसे भिन्न हैं। इसलिये कर्मोंसे अलग होकर अर्थात् निर्लिप्त होकर ही कर्म-तत्त्वको जान सकते हैं। कर्म आदि-अन्तवाले हैं और मैं (स्वयं जीव) नित्य रहनेवाला हूँ; अतः मैं स्वरूपसे कर्मोंसे अलग (निर्लिप्त) हूँ—इस वास्तविकताका अनुभव करना ही 'जानना' है। वास्तविकताकी तहमें बैठे बिना

जानना हो ही कैसे सकता है?

जैसे काजलकी कोठरीमें प्रवेश करके भी काजलसे सर्वथा निर्लिप्त रहना साधारण बुद्धिमान्‌का काम नहीं है, ऐसे ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहना साधारण बुद्धिमान्‌के वशका काम नहीं है। इसलिये भगवान् ऐसे कर्मयोगीको मनुष्योंमें बुद्धिमान् कहते हैं। अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने उसे '**मेधावी**' (बुद्धिमान्) कहा है।

अभी सत्रहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्म, अकर्म और विकर्म—तीनोंका तत्त्व समझनेके लिये कहा था। यहाँ '**मनुष्येषु बुद्धिमान्**' पद देकर भगवान् मानो यह बताते हैं कि जिसने कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मके तत्त्वको जान लिया है, उसने सब कुछ जान लिया है अर्थात् वह ज्ञात-ज्ञातव्य हो गया है।

'**स युक्तः**'—कर्मयोगी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है। कर्मका फल मिले या न मिले, उसमें कभी विषमता नहीं आती; क्योंकि उसने फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर दिया है। समताका नाम योग है। वह नित्य-निरन्तर समतामें स्थित है, इसलिये वह योगी है।

प्राणिमात्रका परमात्मासे स्वतःसिद्ध नित्ययोग है। परन्तु मनुष्यने संसारसे अपना सम्बन्ध मान लिया, इसीसे वह उस नित्ययोगको भूल गया। तात्पर्य यह कि जडके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही परमात्माके साथ अपने नित्य सम्बन्धको भूलना है। कर्मयोगी फलेच्छा, ममता और आसक्तिका त्याग करके केवल दूसरोंके लिये ही कर्तव्य-कर्म करता है, जिससे उसका जडसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जाता है और उसे परमात्मासे स्वतःसिद्ध नित्ययोगकी अनुभूति हो जाती है। इसलिये उसे योगी कहा गया है।

'**युक्तः**' पदमें यह भाव है कि उसने प्राप्त करनेयोग्य तत्त्वको प्राप्त कर लिया है अर्थात् वह प्राप्त-प्राप्तव्य हो गया है।

'**कृत्स्नकर्मकृत्**'—जबतक कुछ 'पाना' शेष रहता है, तबतक 'करना' शेष रहता ही है अर्थात् जबतक कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा रहती है, तबतक करनेका राग नहीं मिटता।

नाशवान् कर्मोंसे मिलनेवाला फल भी नाशवान् ही होता है। जबतक नाशवान् फलकी इच्छा है, तबतक (कर्म) करना समाप्त नहीं होता। परन्तु जब नाशवान्‌से सर्वथा सम्बन्ध छूटकर परमात्मप्राप्तिरूप अविनाशी फलकी प्राप्ति हो जाती है, तब (कर्म) करना सदाके लिये समाप्त हो जाता है और कर्मयोगीका कर्म करने तथा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। ऐसा कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है अर्थात् उसके लिये अब कुछ करना शेष नहीं है, वह कृतकृत्य हो गया है।

करना, जानना और पाना शेष नहीं रहनेसे वह कर्मयोगी अशुभ संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है (गीता—चौथे अध्यायका सोलहवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—एक विभाग कर्मका है और एक विभाग अकर्मका है। इन दोनोंमें अकर्म ही सार तत्त्व है। इसलिये जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है अर्थात् कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् निर्लिप्त रहते हुए कर्म करता है, उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। जैसे किसी कर्मके आरम्भमें तो गणेशजीका पूजन करते हैं, पर कर्म करते समय हरदम उनका पूजन नहीं करते, ऐसे ही कोई यह न समझ ले कि कर्मके आरम्भमें एक बार निर्लिप्त हो गये तो अब उस निर्लिप्तताको हरदम नहीं रखना है, इसलिये भगवान्‌ने यहाँ उपर्युक्त दो बातें कही हैं। तात्पर्य है कि अपनेमें कभी भी लिप्तता (फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान) नहीं आनी चाहिये अर्थात् हरदम निर्लिप्त रहना चाहिये।

तीसरे अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है—'**कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः**' और यहाँ बताते हैं कि कर्म करनेकी अपेक्षा भी अकर्म (अकर्तृत्व)-को देखना श्रेष्ठ है और ऐसा देखनेवाले मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यमें फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान नहीं रहने चाहिये; क्योंकि इन दोनोंसे ही मनुष्य बँधता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाले अर्थात् कर्मोंका तत्त्व जाननेवाले सिद्ध कर्मयोगी महापुरुषका वर्णन करते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

यस्य	= जिसके		हैं (तथा)		गये हैं,
सर्वे	= सम्पूर्ण	**ज्ञानाग्निदग्ध-**	= जिसके	**तम्**	= उसको
समारम्भाः	= कर्मोंके आरम्भ	**कर्माणम्**	सम्पूर्ण कर्म	**बुधाः**	= ज्ञानिजन (भी)
कामसङ्कल्प-	= संकल्प और		ज्ञानरूपी	**पण्डितम्**	= पण्डित (बुद्धिमान्)
वर्जिताः	कामनासे रहित		अग्निसे जल	**आहुः**	= कहते हैं।

व्याख्या—'**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः**'[1]—विषयोंका बार-बार चिन्तन होनेसे, उनकी बार-बार याद आनेसे उन विषयोंमें 'ये विषय अच्छे हैं, काममें आनेवाले हैं, जीवनमें उपयोगी हैं और सुख देनेवाले हैं'—ऐसी सम्यग्बुद्धिका होना 'संकल्प' है और 'ये विषय-पदार्थ हमारे लिये अच्छे नहीं हैं, हानिकारक हैं'—ऐसी बुद्धिका होना 'विकल्प' है। ऐसे संकल्प और विकल्प बुद्धिमें होते रहते हैं। जब विकल्प मिटकर केवल एक संकल्प रह जाता है, तब 'ये विषय-पदार्थ हमें मिलने चाहिये, ये हमारे होने चाहिये'—इस तरह अन्तःकरणमें उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा पैदा हो जाती है, उसका नाम 'काम' (कामना) है। कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषमें संकल्प और कामना—दोनों ही नहीं रहते अर्थात् उसमें न तो कामनाओंका कारण संकल्प रहता है और न संकल्पोंका कार्य कामना ही रहती है। अतः उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे सब संकल्प और कामनासे रहित होते हैं।

संकल्प और कामना—ये दोनों कर्मके बीज हैं। संकल्प और कामना न रहनेपर कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् कर्म बाँधनेवाले नहीं होते। सिद्ध महापुरुषमें भी संकल्प और कामना न रहनेसे उसके द्वारा होनेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते। उसके द्वारा लोकसंग्रहार्थ, कर्तव्यपरम्परासुरक्षार्थ सम्पूर्ण कर्म होते हुए भी वह उन कर्मोंसे स्वतः सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

भगवान्ने कहींपर संकल्पोंका (छठे अध्यायका चौथा श्लोक), कहींपर कामनाओंका (दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक) और कहींपर संकल्प तथा कामना—दोनोंका (छठे अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ श्लोक) त्याग बताया है। अतः जहाँ केवल संकल्पोंका त्याग बताया गया है, वहाँ कामनाओंका और जहाँ केवल कामनाओंका त्याग बताया गया है, वहाँ संकल्पोंका त्याग भी समझ लेना चाहिये; क्योंकि संकल्प कामनाओंका कारण है और कामना संकल्पोंका कार्य है। तात्पर्य है कि साधकको सम्पूर्ण संकल्पों और कामनाओंका त्याग कर देना चाहिये।

मोटरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—

१—मोटर गैरेजमें खड़ी रहनेपर न इंजन चलता है और न पहिये चलते हैं। २—मोटर चालू करनेपर इंजन तो चलने लगता है, पर पहिये नहीं चलते। ३—मोटरको वहाँसे रवाना करनेपर इंजन भी चलता है और पहिये भी चलते हैं । ४—निरापद ढलवाँ मार्ग आनेपर इंजनको बंद कर देते हैं और पहिये चलते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्यकी भी चार अवस्थाएँ होती हैं—

१—न कामना होती है और न कर्म होता है। २—कामना होती है, पर कर्म नहीं होता। ३—कामना भी होती है और कर्म भी होता है। ४—कामना नहीं होती और कर्म होता है।

मोटरकी सबसे उत्तम (चौथी) अवस्था यह है कि इंजन न चले और पहिये चलते रहें अर्थात् तेल भी खर्च न हो और रास्ता भी तय हो जाय। इसी तरह मनुष्यकी सबसे उत्तम अवस्था यह है कि कामना न हो और कर्म होते रहें। ऐसी अवस्थावाले मनुष्यको ज्ञानिजन भी पण्डित कहते हैं।

'**समारम्भाः**'[2] पदका यह भाव है कि कर्मयोगसे सिद्ध

१-जहाँ दोनों पदोंका अर्थ प्रधान होता है, वहाँ 'द्वन्द्वसमास' होता है। यहाँ 'संकल्प' और 'काम' दोनों शब्द अपने-अपने अर्थमें प्रधान हैं। अतः यहाँ 'संकल्पाश्च कामाश्च'—ऐसा द्वन्द्वसमास होनेसे 'संकल्पकामाः'—ऐसा रूप बना। परन्तु द्वन्द्वसमासके जिस पदमें कम स्वर होते हैं, उसका पूर्वप्रयोग होता है। यहाँ भी 'काम' शब्दमें कम स्वर होनेसे उसका पूर्वप्रयोग हुआ है; अतः 'कामसंकल्पाः'—ऐसा रूप बना। अब 'कामसंकल्पैर्वर्जिताः'—ऐसा तृतीया समास करनेपर पूरा पद 'कामसंकल्पवर्जिताः' बना।

२-यहाँ 'समारम्भाः' पद सिद्ध कर्मयोगीकी राग-द्वेषरहित सांगोपांग प्रवृत्तिका वाचक है, चौदहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें आये हुए 'आरम्भ' पदका वाचक नहीं है। कारण कि वहाँ 'प्रवृत्ति' और 'आरम्भ'—ये दो शब्द आये हैं; अतः वहाँ कर्तव्य-कर्मको करना 'प्रवृत्ति' है तथा भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंको शुरू करना 'आरम्भ' है।

महापुरुषके द्वारा हरेक कर्म सुचारुरूपसे, सांगोपांग और तत्परतापूर्वक होता है। दूसरा एक भाव यह भी है कि उसके कर्म शास्त्रसम्मत होते हैं। उसके द्वारा करनेयोग्य कर्म ही होते हैं। जिससे किसीका अहित होता हो, वह कर्म उससे कभी नहीं होता।

'**सर्वे**' पदका यह भाव है कि उसके द्वारा होनेवाले सब-के-सब कर्म संकल्प और कामनासे रहित होते हैं। कोई-सा भी कर्म संकल्पसहित नहीं होता। प्रातः उठनेसे लेकर रातमें सोनेतक शौच-स्नान, खाना-पीना, पाठ-पूजा, जप-चिन्तन, ध्यान-समाधि आदि शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म संकल्प और कामनासे रहित ही होते हैं।

'**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**'—कर्मोंका सम्बन्ध 'पर'-(शरीर-संसार-) के साथ है, 'स्व'-(स्वरूप-) के साथ नहीं; क्योंकि कर्मोंका आरम्भ और अन्त होता है, पर स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है—इस तत्त्वको ठीक-ठीक जानना ही 'ज्ञान' है। इस ज्ञानरूप अग्निसे सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं अर्थात् कर्मोंमें फल देनेकी (बाँधनेकी) शक्ति नहीं रहती (गीता—चौथे अध्यायका सोलहवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक)।

वास्तवमें शरीर और क्रिया—दोनों संसारसे अभिन्न हैं; पर स्वयं सर्वथा भिन्न होता हुआ भी भूलसे इनके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। जब महापुरुषका अपने कहलानेवाले शरीरके साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता, तब जैसे संसार-मात्रसे सब कर्म होते हैं, ऐसे ही उसके कहलानेवाले शरीरसे सब कर्म होते हैं। इस प्रकार कर्मोंसे निर्लिप्तताका अनुभव होनेपर उस महापुरुषके वर्तमान कर्म ही नष्ट नहीं होते, प्रत्युत संचित कर्म भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध-कर्म भी केवल अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें उसके सामने आकर नष्ट हो जाते हैं; परन्तु फलसे असंग होनेके कारण वह उनका भोक्ता नहीं बनता अर्थात् किंचिन्मात्र भी सुखी या दुःखी नहीं होता। इसलिये प्रारब्ध-कर्म भी अस्थायी परिस्थितिमात्र उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं।

'**तमाहुः पण्डितं बुधाः**'—जो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके परमात्मामें लगा हुआ है, उस मनुष्यको समझना तो सुगम है, पर जो कर्मोंसे किंचिन्मात्र भी लिप्त हुए बिना तत्परतापूर्वक कर्म कर रहा है, उसे समझना कठिन है। सन्तोंकी वाणीमें आया है—

त्यागी शोभा जगतमें करता है सब कोय।
हरिया गृहस्थी संतका भेदी बिरला होय॥

तात्पर्य यह है कि संसारमें (बाहरसे त्याग करनेवाले) त्यागी पुरुषकी महिमा तो सब गाते हैं, पर गृहस्थमें रहकर सब कर्तव्य-कर्म करते हुए भी जो निर्लिप्त रहता है, उस (भीतरका त्याग करनेवाले) पुरुषको समझनेवाला कोई बिरला ही होता है।

जैसे कमलका पत्ता जलमें ही उत्पन्न होकर और जलमें रहते हुए भी जलसे लिप्त नहीं होता, ऐसे ही कर्मयोगी कर्मयोनि- (मनुष्यशरीर-) में ही उत्पन्न होकर और कर्ममय जगत्‌में रहकर कर्म करते हुए भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता[1]। कर्मोंसे लिप्त न होना कोई साधारण बुद्धिमानीका काम नहीं है। पीछेके अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने ऐसे कर्मयोगीको 'मनुष्योंमें बुद्धिमान्' कहा है और यहाँ कहा है कि उसे ज्ञानिजन भी पण्डित अर्थात् बुद्धिमान् कहते हैं। भाव यह है कि ऐसा कर्मयोगी पण्डितोंका भी पण्डित, ज्ञानियोंका भी ज्ञानी है[2]।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

कर्मफलासङ्गम् =(जो) कर्म और फलकी आसक्तिका, **त्यक्त्वा** =त्याग करके, **निराश्रयः** = आश्रयसे रहित (और), **नित्यतृप्तः** =सदा तृप्त है, **सः** =वह, **कर्मणि** =कर्मोंमें, **अभिप्रवृत्तः** =अच्छी तरह लगा हुआ, **अपि** =भी (वास्तवमें), **किञ्चित्** =कुछ, **एव** =भी, **न** =नहीं, **करोति** =करता।

१-निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी॥ (अष्टावक्रगीता १८। ६१)
'मूढ़ पुरुषकी निवृत्ति भी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेवाली होती है और ज्ञानी पुरुषकी प्रवृत्ति भी निवृत्ति-रूप फलको देनेवाली होती है।'

२-गृहेषु पण्डिताः केचित्केचिन्मूर्खेषु पण्डिताः। सभायां पण्डिताः केचित्केचित्पण्डितपण्डिताः॥

व्याख्या—**'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्'**—जब कर्म करते समय कर्ताका यह भाव रहता है कि शरीरादि कर्म-सामग्री मेरी है, मैं कर्म करता हूँ, कर्म मेरा और मेरे लिये है तथा इसका मेरेको अमुक फल मिलेगा, तब वह कर्मफलका हेतु बन जाता है। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषको प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदका अनुभव हो जाता है, इसलिये कर्म करनेकी सामग्रीमें, कर्ममें तथा कर्मफलमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेके कारण वह कर्मफलका हेतु नहीं बनता।

सेना विजयकी इच्छासे युद्ध करती है। विजय होनेपर विजय सेनाकी नहीं, प्रत्युत राजाकी मानी जाती है; क्योंकि राजाने ही सेनाके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध किया है; उसे युद्ध करनेकी सामग्री दी है और उसे युद्ध करनेकी प्रेरणा की है और सेना भी राजाके लिये ही युद्ध करती है। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कर्म-सामग्रीके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही जीव उनके द्वारा किये गये कर्मोंके फलका भागी होता है।

कर्म-सामग्रीके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न होनेके कारण महापुरुषका कर्मफलके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

वास्तवमें कर्मफलके साथ स्वरूपका सम्बन्ध है ही नहीं। कारण कि स्वरूप चेतन, अविनाशी और निर्विकार है; परन्तु कर्म और कर्मफल—दोनों जड तथा विकारी हैं और उनका आरम्भ तथा अन्त होता है। सदा स्वरूपके साथ न तो कोई कर्म रहता है तथा न कोई फल ही रहता है। इस तरह यद्यपि कर्म और फलसे स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि जीवने भूलसे उनके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनका कारण है। अगर यह माना हुआ सम्बन्ध मिट जाय, तो कर्म और फलसे उसकी स्वत:सिद्ध निर्लिप्तताका बोध हो जाता है।

'निराश्रयः'—देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न लेना ही 'निराश्रय' अर्थात् आश्रयसे रहित होना है। कितना ही बड़ा धनी, राजा-महाराजा क्यों न हो, उसको देश, काल आदिका आश्रय लेना ही पड़ता है। परन्तु कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष देश, काल आदिका कोई आश्रय नहीं मानता। आश्रय मिले या न मिले—इसकी उसे किंचिन्मात्र भी परवाह नहीं होती। इसलिये वह निराश्रय होता है।

'नित्यतृप्तः'—जीव (आत्मा) परमात्माका सनातन अंश होनेसे सत्-स्वरूप है। सत्का कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। परन्तु जब वह असत्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसे अपनेमें अभाव अर्थात् कमीका अनुभव होने लगता है। उस कमीकी पूर्ति करनेके लिये वह सांसारिक वस्तुओंकी कामना करने लगता है। इच्छित वस्तुओंके मिलनेसे एक तृप्ति होती है; परन्तु वह तृप्ति ठहरती नहीं, वह क्षणिक होती है। कारण कि संसारकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि प्रतिक्षण अभावकी ओर जा रही है; अतः उनके आश्रित रहनेवाली तृप्ति स्थायी कैसे रह सकती है? सत्-वस्तुकी तृप्ति असत् वस्तुसे हो ही कैसे सकती है? अतः जीव जबतक उत्पत्ति-विनाशशील क्रियाओं और पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मानता है तथा उनके आश्रित रहता है, तबतक उसे स्वत:सिद्ध नित्यतृप्तिका अनुभव नहीं होता।

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष निराश्रय अर्थात् संसारके आश्रयसे सर्वथा रहित होता है, इसलिये उसे स्वत:सिद्ध नित्यतृप्तिका अनुभव हो जाता है। तीसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें **'आत्मतृप्तः'** पदसे भी इसी नित्यतृप्तिकी बात आयी है।

'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः'—**'अभिप्रवृत्तः'** पदका तात्पर्य है कि कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषके द्वारा होनेवाले सब कर्म सांगोपांग रीतिसे होते हैं; क्योंकि कर्मफलमें उसकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं होती। उसके सम्पूर्ण कर्म केवल संसारके हितके लिये होते हैं।

जिसकी कर्मफलमें आसक्ति होती है, वह सांगोपांग रीतिसे कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि फलके साथ सम्बन्ध होनेसे कर्म करते हुए बीच-बीचमें फलका चिन्तन होनेसे उसकी शक्ति व्यर्थ खर्च हो जाती है, जिससे उसकी शक्ति पूरी तरह कर्म करनेमें नहीं लगती।

'अपि' पदका तात्पर्य है कि सांगोपांग रीतिसे सब कर्म करते हुए भी वह वास्तवमें किंचिन्मात्र भी कोई कर्म नहीं करता; क्योंकि सर्वथा निर्लिप्त होनेके कारण कर्मका स्पर्श ही नहीं होता। उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

जब वह कुछ भी नहीं करता, तब वह कर्मफलसे बँध ही कैसे सकता है? इसीलिये अठारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीको कर्मोंका फल कहीं भी नहीं मिलता—**'न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।'**

प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। अतः जबतक प्रकृतिके

गुणों-(क्रिया और पदार्थ-) से सम्बन्ध है, तबतक कर्म न करते हुए भी मनुष्यका कर्मोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृतिके गुणोंसे सम्बन्ध न रहनेपर मनुष्य कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका प्रकृतिजन्य गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये वह लोकहितार्थ सब कर्म करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता।

परिशिष्ट भाव—जबतक मनुष्यमें कर्तृत्व है, तबतक वह करता है तो करता है, नहीं करता है तो करता है। परन्तु कर्तृत्व मिटनेपर वह कभी कुछ नहीं करता।

सम्बन्ध—उन्नीसवें-बीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषकी कर्मोंसे निर्लिप्तताका वर्णन करके अब भगवान् इक्कीसवें श्लोकमें निवृत्तिपरायण और बाईसवें श्लोकमें प्रवृत्तिपरायण कर्मयोगके साधककी कर्मोंसे निर्लिप्तताका वर्णन करते हैं।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

यतचित्तात्मा = जिसका शरीर और अन्तःकरण अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ है,
त्यक्तसर्वपरिग्रहः = जिसने सब प्रकारके संग्रहका परित्याग कर दिया है, (ऐसा)
निराशीः = इच्छारहित (कर्मयोगी)
केवलम् = केवल
शारीरम् = शरीर-सम्बन्धी
कर्म = कर्म
कुर्वन् = करता हुआ (भी)
किल्बिषम् = पापको
न, आप्नोति = प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—'**यतचित्तात्मा**'—संसारमें आशा या इच्छा रहनेके कारण ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि वशमें नहीं होते। इसी श्लोकमें '**निराशीः**' पदसे बताया है कि कर्मयोगीमें आशा या इच्छा नहीं रहती। अतः उसके शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण स्वतः वशमें रहते हैं। इनके वशमें रहनेसे उसके द्वारा व्यर्थकी कोई क्रिया नहीं होती।

'**त्यक्तसर्वपरिग्रहः**'—कर्मयोगी अगर संन्यासी है, तो वह सब प्रकारकी भोग-सामग्रीके संग्रहका स्वरूपसे त्याग कर देता है। अगर वह गृहस्थ है, तो वह भोग-बुद्धिसे (अपने सुखके लिये) किसी भी सामग्रीका संग्रह नहीं करता। उसके पास जो भी सामग्री है उसको वह अपनी और अपने लिये न मानकर संसारकी और संसारके लिये ही मानता है तथा संसारके सुखमें ही उस सामग्रीको लगाता है। भोगबुद्धिसे संग्रहका त्याग करना तो साधकमात्रके लिये आवश्यक है।

[ऐसा निवृत्तिपरक श्लोक गीतामें और कहीं नहीं आया है। छठे अध्यायके दसवें श्लोकमें ध्यानयोगीके लिये और अठारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें ज्ञानयोगीके लिये परिग्रहका त्याग करनेकी बात आयी है। परन्तु उनसे भी ऊँची श्रेणीके परिग्रह-त्यागकी बात '**त्यक्तसर्वपरिग्रहः**' पदसे यहीं आयी है; क्योंकि 'परिग्रह' के साथ 'सर्व' शब्द केवल यहाँ आया है। बारहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भक्तियोगीके लिये '**अनिकेतः**' पद आया है, पर वहाँ इसका अर्थ निवास-स्थानमें ममता-आसक्तिसे रहित होना है।]

'**निराशीः**'—कर्मयोगीमें आशा, कामना, स्पृहा, वासना आदि नहीं रहते। वह बाहरसे ही भोग-सामग्रीके संग्रहका त्याग करता हो—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत वह भीतरसे भी भोग-सामग्रीकी आशा या इच्छाका त्याग कर देता है। आशा या इच्छाका सर्वथा त्याग न होनेपर भी उसका उद्देश्य इनके त्यागका ही रहता है।

'**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्**'—'**शारीरम् कर्म**' (शरीर-सम्बन्धी कर्म)-के दो अर्थ होते हैं— एक तो शरीरसे होनेवाला कर्म और दूसरा शरीर-निर्वाहके लिये किया जानेवाला कर्म। शरीरसे होनेवाले कर्मकी बात पाँचवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी आयी है, जिसका तात्पर्य है कि सभी कर्म केवल शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके द्वारा ही हो रहे हैं, मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा मानकर कर्मयोगी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। परन्तु यहाँ आया श्लोक निवृत्तिपरक है, इसलिये यहाँ उपर्युक्त पदोंका अर्थ शरीरनिर्वाहमात्रके लिये किये जानेवाले आवश्यक कर्म (खान-पान, शौच-स्नान आदि) मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। निवृत्ति-परायण कर्मयोगी केवल उतने ही कर्म करता है, जितनेसे केवल शरीर-निर्वाह हो जाय।

'**नाप्नोति किल्बिषम्**'—जो कर्म करने अथवा न करनेसे अपना किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रखता है, वह पापको अर्थात् जन्म-मरणरूप बन्धनको प्राप्त होता है। परन्तु आशारहित कर्मयोगी कर्म करने अथवा न करनेसे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता, इसलिये वह पापको प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

निवृत्तिपरायण होनेपर भी कर्मयोगी कभी आलस्य-प्रमाद नहीं करता। आलस्य-प्रमादका भी भोग होता है। एकान्तमें यों ही पड़े रहनेसे आलस्यका भोग होता है और शास्त्रविरुद्ध तथा निरर्थक कर्म करनेसे प्रमादका भोग होता है। इस प्रकार निवृत्तिमें आलस्यके सुखका और प्रवृत्तिमें प्रमादके सुखका भोग हो सकता है। अतः आलस्य-प्रमादसे मनुष्य पापको प्राप्त होता है। परन्तु बहुत कम कर्म करनेपर भी निवृत्ति-परायण कर्मयोगीमें किंचिन्मात्र भी आलस्य-प्रमाद नहीं आते। यदि उसमें किंचिन्मात्र भी आलस्य-प्रमाद आते, तो '**किल्बिषम् न आप्नोति**' कहना बनता ही नहीं। वह '**यतचित्तात्मा**' है अर्थात् उसके शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण संयत हैं, इसलिये उसमें आलस्य-प्रमाद आ ही नहीं सकते। शरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरणके वशमें होनेसे, भोग-सामग्रीका त्याग करनेसे तथा आशा, कामना, ममता आदिसे रहित होनेसे उसके द्वारा निषिद्ध क्रिया हो सकती ही नहीं।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब उसके द्वारा पाप-क्रिया हो सकती ही नहीं, तब यह क्यों कहा गया कि वह पापको प्राप्त नहीं होता? इसका समाधान यह है कि क्रियामात्रके आरम्भमें अनिवार्य दोष (पाप) पाये जाते हैं—'**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**' (गीता १८। ४८)। परन्तु मूलमें असत्‌के संग—कामना, ममता और आसक्तिसे ही पाप लगते हैं। कर्मयोगीमें कामना, ममता और आसक्ति होती ही नहीं अथवा उसका कामना, ममता और आसक्तिका उद्देश्य ही नहीं होता; इसलिये उसका कर्म करनेसे अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं होता। इसी कारण न तो उसे कर्मोंमें रहनेवाला आनुषंगिक पाप लगता है और न उसे शास्त्रविहित कर्मोंके त्यागका ही पाप लगता है।

दूसरी एक शंका यह हो सकती है कि तीसरे अध्यायमें भगवान्‌ने सिद्ध महापुरुषको भी (अपने लिये कोई कर्तव्य शेष न रहनेपर भी) लोकसंग्रहके लिये कर्म करनेकी प्रेरणा की है (तीसरे अध्यायका पचीसवाँ-छब्बीसवाँ श्लोक)। अपने लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य और प्राप्तव्य न होनेपर भी मैं सावधानीपूर्वक कर्म करता हूँ (तीसरे अध्यायके बाईसवेंसे चौबीसवें श्लोकतक)। अतः शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कर्म करनेवाले कर्मयोगीको क्या लोकसंग्रहके त्यागका दोष नहीं लगेगा? इसका समाधान यह है कि कामना, ममता आदि न रहनेके कारण उसे कोई दोष नहीं लगता। यद्यपि सिद्ध महापुरुषमें और भगवान्‌में कामना, ममता आदिका सर्वथा अभाव होता है, तथापि वे जो लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं, यह उनकी दया, कृपा ही है। वास्तवमें वे लोकसंग्रह करें अथवा न करें, इसमें वे स्वतन्त्र हैं, इसकी उनपर कोई जिम्मेवारी नहीं है (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। वास्तवमें यह भी निवृत्तिपरायण साधकोंके लिये एक लोकसंग्रह ही है। लोकसंग्रह किया नहीं जाता, प्रत्युत होता है।

तीसरी एक शंका यह भी हो सकती है कि तीसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने केवल अपने शरीरका पोषण करनेवाले मनुष्यको पापी कहा है और यहाँ कहते हैं कि शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कर्म करनेवाला पापको नहीं प्राप्त होता। दोनोंका सामंजस्य कैसे हो? इसका समाधान यह है कि जबतक भोगबुद्धि है और कर्मों तथा पदार्थोंमें आसक्ति बनी हुई है, तबतक कर्म करने अथवा न करनेसे पाप लगता ही है, इसीलिये वहाँ '**पचन्ति आत्मकारणात्**' पद आये हैं। परन्तु उस कर्मयोगीमें भोगबुद्धि नहीं है और कर्मों तथा पदार्थोंमें आसक्ति भी नहीं है; अतः सर्वथा निर्लिप्त होनेसे उसे कर्म करने अथवा न करनेसे किंचिन्मात्र भी पाप नहीं लगता।

प्रश्न—इस श्लोकको अगर सांख्ययोगीका मान लें तो क्या आपत्ति है; क्योंकि इसमें आये सब लक्षण सांख्य-योगीमें घटते हैं?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि यहाँ कर्मयोगका प्रसंग है, इसलिये यह श्लोक मुख्यरूपसे कर्मयोगीका ही है। दूसरी बात, सांख्ययोगी अपनेको कर्ता मानता ही नहीं। उसमें 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' (गीता—पाँचवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)—ऐसा स्पष्ट विवेक रहता है; फिर उसके लिये 'कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता'—ऐसा कहना कैसे बन सकता है?

कर्मयोगके साधकमें वैसा स्पष्ट विवेक जाग्रत् न होनेपर भी उसका यह निश्चय रहता है कि 'मेरा कुछ नहीं है; मेरे लिये कुछ नहीं चाहिये और मेरे लिये कुछ नहीं करना है।'

इन तीन बातोंका दृढ़ निश्चय रहनेके कारण वह कर्म करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहता है।

लोगोंमें प्राय: ऐसी मान्यता है कि कर्मयोगी गृहस्थ-आश्रममें और ज्ञानयोगी (सांख्ययोगी) संन्यास-आश्रममें रहता है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। जिसे शरीरसे अपनी अलग सत्ताका स्पष्ट विवेक है, वह ज्ञानयोगी ही है; चाहे वह गृहस्थ-आश्रममें हो अथवा संन्यास-आश्रममें। जिसमें इतना विवेक नहीं है, पर उपर्युक्त तीन बातोंका निश्चय पक्का है, वह कर्मयोगी ही है; चाहे वह गृहस्थ-आश्रममें हो अथवा संन्यास-आश्रममें।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

जो कर्मयोगी फलकी इच्छाके बिना—

यदृच्छालाभसन्तुष्टः = अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहता है (और)
विमत्सरः = (जो) ईर्ष्यासे रहित,
द्वन्द्वातीतः = द्वन्द्वोंसे रहित (तथा)
सिद्धौ = सिद्धि
च = और
असिद्धौ = असिद्धिमें
समः = सम है, (वह)
कृत्वा = (कर्म) करते हुए
अपि = भी (उससे)
न = नहीं
निबध्यते = बँधता।

व्याख्या—'**यदृच्छालाभसन्तुष्टः**'—कर्मयोगी निष्काम-भावपूर्वक सांगोपांग रीतिसे सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करता है। फल-प्राप्तिका उद्‌देश्य न रखकर कर्म करनेपर फलके रूपमें उसे अनुकूलता या प्रतिकूलता, लाभ या हानि, मान या अपमान, स्तुति या निन्दा आदि जो कुछ मिलता है, उससे उसके अन्त:करणमें कोई असन्तोष पैदा नहीं होता। जैसे, वह व्यापार करता है तो उसे व्यापारमें लाभ हो अथवा हानि, उसके अन्त:करणपर उसका कोई असर नहीं पड़ता। वह हरेक परिस्थितिमें समानरूपसे सन्तुष्ट रहता है; क्योंकि उसके मनमें फलकी इच्छा नहीं होती। तात्पर्य यह है कि व्यापारमें उसे लाभ-हानिका ज्ञान तो होता है तथा वह उसके अनुसार यथोचित चेष्टा भी करता है, पर परिणाममें वह सुखी-दु:खी नहीं होता। यदि साधकके अन्त:करणपर अनुकूलता-प्रतिकूलताका थोड़ा असर पड़ भी जाय, तो भी उसे घबराना नहीं चाहिये; क्योंकि साधकके अन्त:करणमें वह प्रभाव स्थायी नहीं रहता, शीघ्र मिट जाता है।

उपर्युक्त पदोंमें आया 'लाभ' शब्द प्राप्तिके अर्थमें है, जिसके अनुसार केवल लाभ या अनुकूलताका मिलना ही 'लाभ' नहीं है, प्रत्युत लाभ-हानि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि जो कुछ प्राप्त हो जाय, वह सब 'लाभ' ही है।

'**विमत्सरः**'—कर्मयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकता मानता है—'**सर्वभूतात्मभूतात्मा**' (गीता ५।७)। इसलिये उसका किसी भी प्राणीसे किंचिन्मात्र भी ईर्ष्याका भाव नहीं रहता।

'**विमत्सरः**' पद अलगसे देनेका भाव यह है कि अपनेमें किसी प्राणीके प्रति किंचिन्मात्र भी ईर्ष्याका भाव न आ जाय, इस विषयमें कर्मयोगी बहुत सावधान रहता है। कारण कि कर्मयोगीकी सम्पूर्ण क्रियाएँ प्राणिमात्रके हितके लिये ही होती हैं; अत: यदि उसमें किंचिन्मात्र भी ईर्ष्याका भाव होगा, तो उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ दूसरोंके हितके लिये नहीं हो सकेंगी।

ईर्ष्या-दोष बहुत सूक्ष्म है। दो दूकानदार हैं और आपसमें मित्रता रखते हैं। उनमें एककी दूकान दूसरेकी अपेक्षा ज्यादा चल जाय, तो दूसरेमें थोड़ी ईर्ष्या पैदा हो जायगी कि उसकी दूकान ज्यादा चल गयी, मेरी कम चली। इस प्रकार ईर्ष्या-दोषके कारण मित्रसे भी मित्रकी उन्नति नहीं सही जाती। जहाँ आपसमें प्रेम है, एकता है, मित्रता है, वहाँ भी ईर्ष्या-दोष आ जाता है; फिर जहाँ वैर, भिन्नता आदि हो, वहाँका तो कहना ही क्या है? इसलिये साधकको इस दोषसे बचनेके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये।

'**द्वन्द्वातीतः**'—कर्मयोगी लाभ-हानि, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होता है, इसलिये उसके अन्त:करणमें उन द्वन्द्वोंसे होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते।

द्वन्द्व अनेक प्रकारके होते हैं; जैसे—भगवान्‌का सगुण-

साकाररूप ठीक है या निर्गुण-निराकाररूप ठीक है, अद्वैत सिद्धान्त ठीक है या द्वैत सिद्धान्त ठीक है, भगवान्‌में मन लगा या नहीं लगा, एकान्त मिला या नहीं मिला, शान्ति मिली या नहीं मिली, सिद्धि मिली या नहीं मिली, इत्यादि। इन सब द्वन्द्वोंके साथ सम्बन्ध न होनेसे ही साधक निर्द्वन्द्व होता है। जैसे तराजू किसी भी तरफ झुक जाय तो वह बराबर नहीं कहलाता, ऐसे ही साधकके अन्तःकरणमें किसी भी तरफ झुकाव हो जाय तो वह द्वन्द्वातीत नहीं कहलाता।

कर्मयोगी सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे अतीत होता है, इसलिये वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

'समः सिद्धावसिद्धौ च'—किसी भी कर्तव्य-कर्मका निर्विघ्नरूपसे पूरा हो जाना सिद्धि है और किसी प्रकारके विघ्न, बाधाके कारण उसका पूरा न होना असिद्धि है। कर्मका फल मिल जाना सिद्धि है और न मिलना असिद्धि है। सिद्धि और असिद्धिमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका न होना ही सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना है। दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें **'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'** पदोंमें भी यही भाव आया है।

अपना कुछ भी नहीं है, अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ भी नहीं करना है—ये तीनों बातें ठीक-ठीक अनुभवमें आ जायँ, तभी सिद्धि और असिद्धिमें पूर्णतः समता आयेगी।

'कृत्वापि न निबध्यते'—यहाँ **'कृत्वा अपि'** पदोंका तात्पर्य है कि कर्मयोगी कर्म करते हुए भी नहीं बँधता, फिर कर्म न करते हुए बँधनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वह दोनों अवस्थाओंमें निर्लिप्त रहता है।

जैसे शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कर्म करनेवाला कर्मयोगी कर्मोंसे नहीं बँधता, वैसे ही शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला कर्मयोगी भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

वास्तवमें देखा जाय तो कर्मयोगमें कर्म करना, अधिक करना, कम करना अथवा न करना बन्धन या मुक्तिका कारण नहीं है। इनके साथ जो लिप्तता (लगाव) है, वही बन्धनका कारण है और जो निर्लिप्तता है, वही मुक्तिका कारण है। जैसे नाटकमें एक व्यक्ति लक्ष्मणका और दूसरा व्यक्ति मेघनादका स्वाँग धारण करता है और दोनों व्यक्ति अपने-अपने स्वाँगको ठीक-ठीक निभाते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं अर्थात् अपनेको वास्तवमें लक्ष्मण या मेघनाद नहीं मानते। ऐसे ही कर्मयोगी अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार कर्तव्यका पालन करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहता है अर्थात् उनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता। उसका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर रहनेवाले स्वरूपके साथ रहता है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ नहीं। इसलिये उसकी स्थिति स्वाभाविक ही समतामें रहती है। समतामें स्थिति रहनेसे वह कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बँधता।

यदि विशेष विचारपूर्वक देखा जाय तो समता स्वतः-सिद्ध है। यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि अनुकूल परिस्थितिमें हम जो रहते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी हम वही रहते हैं। यदि हम वही (एक ही) न रहते, तो दो अलग-अलग (अनुकूल और प्रतिकूल) परिस्थितियोंका ज्ञान किसे होता? इससे सिद्ध हुआ कि परिवर्तन परिस्थितियोंमें होता है अपने स्वरूपमें नहीं। इसलिये परिस्थितियोंके बदलनेपर भी स्वरूपसे हम सम (ज्यों-के-त्यों) ही रहते हैं। भूल यह होती है कि हम परिस्थितियोंकी ओर तो देखते हैं, पर स्वरूपकी ओर नहीं देखते। अपने सम स्वरूपकी ओर न देखनेके कारण ही हम आने-जाने-वाली परिस्थितियोंसे मिलकर सुखी-दुःखी होते हैं।

सम्बन्ध—तीसरे अध्यायके नवें श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने 'व्यतिरेक रीति' से कहा था कि यज्ञसे अतिरिक्त कर्म मनुष्यको बाँधते हैं। अब तेईसवें श्लोकके उत्तरार्धमें उसी बातको 'अन्वय रीति' से कहते हैं।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

गतसङ्गस्य	= जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गयी है,	**ज्ञानावस्थित-चेतसः**	= जिसकी बुद्धि स्वरूपके ज्ञानमें स्थित है, (ऐसे केवल)	**आचरतः**	= कर्म करनेवाले मनुष्यके
मुक्तस्य	= जो मुक्त हो गया है,	**यज्ञाय**	= यज्ञके लिये	**समग्रम्**	= सम्पूर्ण
				कर्म	= कर्म
				प्रविलीयते	= नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या—[कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्मोंके विलीन होनेकी बात गीताभरमें केवल इसी श्लोकमें आयी है, इसलिये यह कर्मयोगका मुख्य श्लोक है। इसी प्रकार चौथे अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक ज्ञानयोगका और अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक भक्तियोगका मुख्य श्लोक है।]

'गतसङ्गस्य'—क्रियाओंका, पदार्थोंका, घटनाओंका, परिस्थितियोंका, व्यक्तियोंका जो संग है, इनके साथ जो हृदयसे लगाव है, वही वास्तवमें बाँधनेवाला अर्थात् जन्म-मरण देनेवाला है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। स्वार्थभावको छोड़कर केवल लोगोंके हितके लिये, लोकसंग्रहार्थ कर्म करते रहनेसे कर्मयोगी क्रियाओं, पदार्थों आदिसे असंग हो जाता है अर्थात् उसकी आसक्ति सर्वथा मिट जाती है।

वास्तवमें मनुष्य स्वरूपसे असंग ही है—**'असंगो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५)। किंतु असंग होते हुए भी यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, परिस्थिति, व्यक्ति आदिसे सम्बन्ध मानकर सुखकी इच्छासे उनमें आबद्ध हो जाता है। मेरी मनचाही हो अर्थात् जो मैं चाहता हूँ, वही हो और जो मैं नहीं चाहता, वह नहीं हो—ऐसा भाव जबतक रहता है, तबतक यह संग बढ़ता ही रहता है। वास्तवमें होता वही है, जो होनेवाला है। जो होनेवाला है उसे चाहें या न चाहें, वह होगा ही; और जो नहीं होनेवाला है, उसे चाहें या न चाहें, वह नहीं होगा। अतः अपनी मनचाही करके मनुष्य व्यर्थमें (बिना कारण) फँसता है और दुःख पाता है।

कर्मयोगी संसारसे मिली हुई शरीरादि वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर उन्हें संसारकी ही मानकर संसारकी सेवामें अर्पण कर देता है। इससे वस्तुओं और क्रियाओंका प्रवाह संसारकी ओर ही हो जाता है और अपना असंग स्वरूप ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

कर्मयोगीका 'अहम्' भी सेवामें लग जाता है। तात्पर्य यह है कि उसके भीतर 'मैं सेवक हूँ' यह भाव भी नहीं रहता। यह भाव तो मनुष्यको सेवकपनेके अभिमानसे बाँध देता है। सेवकपनेका अभिमान तभी होता है, जब सेवा-सामग्रीके साथ अपनापन होता है। सेवाकी वस्तु उसीकी थी, उसीको दे दी तो सेवा क्या हुई? हम तो उससे उऋण हुए। इसलिये सेवक न रहे, केवल सेवा रह जाय। यह भाव रहे कि सेवाके बदलेमें धन, मान, बड़ाई, पद, अधिकार आदि कुछ भी लेना नहीं है; क्योंकि उसपर हमारा हक ही नहीं लगता। उसे स्वीकार करना तो अनधिकार चेष्टा है। लोग मेरेको सेवक कहें—ऐसा भाव भी न रहे और यदि वे कहें तो उसमें राजी भी न हो। इस प्रकार संसारकी वस्तुओंको संसारकी सेवामें सर्वथा लगा देनेसे अन्तःकरणमें एक प्रसन्नता होती है। उस प्रसन्नताका भी भोग न किया जाय तो स्वतःसिद्ध असंगताका अनुभव हो जाता है।

'मुक्तस्य'—जो अपने स्वरूपसे सर्वथा अलग हैं, उन क्रियाओं और शरीरादि पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध न होते हुए भी कामना, ममता और आसक्तिपूर्वक उनसे अपना सम्बन्ध मान लेनेसे मनुष्य बँध जाता है अर्थात् पराधीन हो जाता है। कर्मयोगका अनुष्ठान करनेसे जब माना हुआ (अवास्तविक) सम्बन्ध मिट जाता है, तब कर्मयोगी सर्वथा असंग हो जाता है। असंग होते ही वह सर्वथा मुक्त हो जाता है अर्थात् स्वाधीन हो जाता है।

'ज्ञानावस्थितचेतसः'—जिसकी बुद्धिमें स्वरूपका ज्ञान नित्य-निरन्तर जाग्रत् रहता है, वह **'ज्ञानावस्थित-चेतसः'** है। स्वरूप-ज्ञान होते ही उसकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, जो वास्तवमें पहलेसे ही थी।

वास्तवमें ज्ञान संसारका ही होता है। स्वरूपका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि स्वरूप स्वतःज्ञानस्वरूप है। क्रिया और पदार्थ ही संसार है। क्रिया और पदार्थका विभाग अलग है तथा स्वरूपका विभाग अलग है अर्थात् क्रिया और पदार्थका स्वरूपके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। क्रिया और पदार्थ जड हैं तथा स्वरूप चेतन है। क्रिया और पदार्थ प्रकाश्य हैं तथा स्वरूप प्रकाशक है। इस प्रकार क्रिया और पदार्थकी स्वरूपसे भिन्नताका ठीक-ठीक ज्ञान होते ही क्रिया और पदार्थरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वतःसिद्ध असंग स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो जाता है।

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'—'कर्ममें अकर्म' देखनेका ही एक प्रकार है—'यज्ञार्थ कर्म' अर्थात् यज्ञके लिये कर्म करना। निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञ' है। जो यज्ञके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और जो यज्ञके लिये कर्म नहीं करता अर्थात् अपने लिये कर्म करता है, वह कर्मोंसे बँध जाता है—**'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'** (गीता ३। ९)।

प्रकृतिका कार्य है—क्रिया और पदार्थ। इन दोनोंमें क्रियाका भी आदि और अन्त होता है तथा पदार्थका भी

आदि और अन्त होता है। क्रिया आरम्भ होनेसे पहले भी नहीं थी और समाप्त होनेके बाद भी नहीं रहेगी, इसलिये बीचमें भी वह नहीं है—ऐसा सिद्ध हुआ। इसी प्रकार पदार्थ उत्पन्न होनेसे पहले भी नहीं था और नष्ट होनेके बाद भी नहीं रहेगा, इसलिये बीचमें भी वह नहीं है—यह सिद्ध हुआ; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु आदि और अन्तमें नहीं होती, वह मध्य (वर्तमान)-में भी नहीं होती[1]। परन्तु चेतन स्वरूपका आदि और अन्त नहीं होता, वह सदा अक्रियरूपसे ज्यों-का-त्यों रहता है। वह चेतन-तत्त्व क्रिया और पदार्थ—दोनोंका प्रकाशक है। इस प्रकार क्रिया और पदार्थके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न होते हुए भी जब वह इनके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है। इस बन्धनसे छूटनेका उपाय है—फलेच्छाका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना।

संसारमें अनेक प्रकारकी क्रियाएँ हो रही हैं और अनेक प्रकारके पदार्थ विद्यमान हैं। परन्तु मनुष्य जिन क्रियाओं और पदार्थोंसे आसक्ति, ममता और कामनापूर्वक अपना सम्बन्ध मानता है, उन्हीं क्रियाओं और पदार्थोंसे वह बँधता है। जब मनुष्य कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्म करता है और मिले हुए पदार्थोंको दूसरोंका ही मानकर उनकी सेवामें लगाता है, तब कर्मयोगीके सम्पूर्ण (क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध) कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् उसे कर्मोंके साथ अपनी स्वतःसिद्ध असंगताका अनुभव हो जाता है।

विशेष बात

(१) कर्ता, करण और कर्म—इन तीनोंके मिलनेसे कर्मोंका संचय होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। यदि कर्तापन न रहे तो कर्मोंका संग्रह नहीं होता; क्योंकि करण और कर्म—दोनों कर्ताके ही अधीन हैं। अतः कर्मसंचयका मुख्य हेतु कर्तापन ही है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है, जिससे कर्तापन उत्पन्न होता है। कर्तापनसे बन्धन होता है। जब मनुष्य पानेकी इच्छासे अपने लिये कर्म करता है, तब उसका कर्तापन दृढ़ हो जाता है। जब कर्मयोगी पानेकी इच्छाका त्याग करके केवल यज्ञके लिये अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है, तब उसका कर्तापन दूसरोंके लिये होता है; इससे उसे अपनी असंगताका अनुभव हो जाता है। इसलिये उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंका संचय नहीं होता। कारण कि जब आधार (कर्तापन) ही नहीं रहा, तब कर्म टिकेंगे ही कहाँ?

कर्मयोगमें 'ममता'-(मेरा-पन-) का त्याग और ज्ञानयोगमें 'अहंता' (मैं-पन-) का त्याग मुख्य है। ममताका त्याग होनेसे अहंताका और अहंताका त्याग होनेसे ममताका त्याग स्वतः हो जाता है। इसलिये कर्मयोगमें पहले 'ममता' मिटती है, फिर 'अहंता' स्वतः मिट जाती है[2], और ज्ञानयोगमें पहले 'अहंता' मिटती है, फिर 'ममता' स्वतः मिट जाती है। अहंता और ममताके मिटनेपर कर्तापन और भोक्तापन भी मिट जाते हैं।

कर्मयोगी अपने लिये कोई कर्म करता ही नहीं और कुछ चाहता ही नहीं; अतः वह कर्मोंके फलका भोक्ता नहीं बनता। जैसे, एक व्यक्तिको यहाँ कई दण्ड भोगने हैं। परन्तु वह मर जाय तो यहाँ उसके सभी दण्ड समाप्त हो जाते हैं; क्योंकि जब भोगनेवाला व्यक्ति ही नहीं रहा, तब दण्ड भोगेगा ही कौन? ऐसे ही जब कर्मयोगीका भोक्तापन मिट जाता है, तब उसके सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं; क्योंकि जब भोक्ता ही नहीं रहा, तब कर्मोंका फल भोगेगा ही कौन?

(२) इसी अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह मेरेको प्राप्त होता है। जन्म तो केवल भगवान्‌के ही दिव्य होते हैं, पर कर्म मनुष्यमात्रके भी (यदि वे करना चाहें तो) दिव्य हो सकते हैं। अतः इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान् अपने कर्मोंकी दिव्यताका कारण बताते हैं कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते अर्थात् मेरे कर्म अकर्म हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मोंका तत्त्व जानकर जो कर्म करता है, उसके भी कर्म अकर्म हो जाते हैं। फिर पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मुमुक्षुओंने भी इसी प्रकार जानकर कर्म किये हैं। इसके बाद सोलहवें श्लोकमें भगवान् कर्मोंका तत्त्व कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, और

१-आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (माण्डूक्यकारिका ४। ३१)

२-अहंताके साथ भी ममता रहती है; जैसे—मेरा अहंकार। इसलिये कर्मयोगमें ममताका सर्वथा त्याग होनेपर अहंताके साथ भी ममता नहीं रहती। फिर अहंता (कथनमात्रके लिये) केवल संसारकी सेवाके लिये रह जाती है।

सत्रहवें श्लोकमें कहते हैं कि कर्म, विकर्म और अकर्म—तीनोंका तत्त्व जानना चाहिये। फिर अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने मुख्यरूपसे कर्मोंका तत्त्व (अकर्म अथवा निर्लिप्तता) बतलाया।

कामनासे 'कर्म' होते हैं, कामनाके बढ़नेपर 'विकर्म' होते हैं और कामनाका अत्यन्त अभाव होनेसे 'अकर्म' होता है। मूलमें इस (सोलहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतकके) प्रकरणका तात्पर्य 'अकर्म' का वर्णन करना ही है। इसीलिये भगवान्‌ने कर्म और विकर्म—दोनोंके मूल कारण 'कामना' के त्यागका तथा 'अकर्मका' वर्णन उन्नीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक प्रत्येक श्लोकमें किया है* और अन्तमें बत्तीसवें श्लोकमें इस प्रकरणका उपसंहार किया है।

परिशिष्ट भाव—एक 'क्रिया' होती है, एक 'कर्म' होता है और एक 'कर्मयोग' होता है। शरीर बालकसे जवान तथा जवानसे बूढ़ा होता है—यह 'क्रिया' है। क्रियासे न पाप होता है, न पुण्य; न बन्धन होता है, न मुक्ति। जैसे, गंगाजीका बहना क्रिया है; अतः कोई डूबकर मर जाय अथवा खेती आदि कोई परोपकार हो जाय तो गंगाजीको पाप-पुण्य नहीं लगता। जब मनुष्य क्रियासे सम्बन्ध जोड़कर कर्ता बन जाता है अर्थात् अपने लिये क्रिया करता है, तब वह क्रिया फलजनक 'कर्म' बन जाती है। कर्मसे बन्धन होता है—'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता ३।९)। कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये जब मनुष्य अपने लिये कुछ नहीं करता, प्रत्युत निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है, तब वह 'कर्मयोग' हो जाता है। कर्मयोगसे बन्धन मिटता है—'**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।**' बन्धन मिटनेसे योग हो जाता है अर्थात् परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

यह तेईसवाँ श्लोक कर्मयोगका मुख्य श्लोक है। जैसे भगवान्‌ने '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते**' (४।३७) पदोंसे ज्ञानाग्निके द्वारा ज्ञानयोगीके सम्पूर्ण पाप भस्म होनेकी बात कही है और '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' (१८।६६) पदोंसे भक्तके सम्पूर्ण पाप नष्ट होनेकी बात कही है, ऐसे ही इस श्लोकमें '**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' पदोंसे कर्मयोगीके समग्र कर्म (पाप) नष्ट होनेकी बात कही है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि यज्ञके लिये कर्म करनेसे सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं। साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण साधन भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। इसलिये अब आगेके सात श्लोकोंमें (चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक) भगवान् भिन्न-भिन्न प्रकारके साधनोंका 'यज्ञ' रूपसे वर्णन करते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

जिस यज्ञमें—

अर्पणम् = अर्पण अर्थात् जिससे अर्पण किया जाय, वे स्रुक्, स्रुवा आदि पात्र (भी)
ब्रह्म = ब्रह्म है,
हविः = हव्य पदार्थ (तिल, जौ, घी आदि) (भी)
ब्रह्म = ब्रह्म है (और)
ब्रह्मणा = ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा
ब्रह्माग्नौ = ब्रह्मरूप अग्निमें
हुतम् = आहुति देनारूप क्रिया (भी ब्रह्म है),
ब्रह्मकर्मसमाधिना = (ऐसे यज्ञको करनेवाले) जिस मनुष्यकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि हो गयी है,
तेन = उसके द्वारा
गन्तव्यम् = प्राप्त करनेयोग्य (फल भी)
ब्रह्म = ब्रह्म
एव = ही है।

---

* **उदाहरणार्थ—कामनाके त्यागकी बात इन पदोंमें आयी है—'कामसङ्कल्पवर्जिताः' (४।१९); 'त्यक्त्वा कर्मफलासंगम्' (४।२०); 'निराशीः' (४।२१); 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' (४।२२) और 'गतसंगस्य' (४।२३)।**

अकर्मकी बात इन पदोंमें आयी है—'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' (४।१९); 'नैव किंचित्करोति सः' (४।२०); 'कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (४।२१); 'कृत्वापि न निबध्यते' (४।२२) और 'कर्म समग्रं प्रविलीयते (४।२३)।

व्याख्या—[यज्ञमें आहुति मुख्य होती है। वह आहुति तब पूर्ण होती है, जब वह अग्निरूप ही हो जाय अर्थात् हव्य पदार्थकी अग्निसे अलग सत्ता ही न रहे। इसी प्रकार जितने भी साधन हैं, सब साध्यरूप हो जायँ, तभी वे यज्ञ होते हैं।

जितने भी यज्ञ हैं, उनमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करना भावना नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। भावना तो पदार्थोंकी है।

इस चौबीसवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक जिन यज्ञोंका वर्णन किया गया है, वे सब 'कर्मयोग' के अन्तर्गत हैं। कारण कि भगवान्ने इस प्रकरणके उपक्रममें भी **'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** (४। १६)—ऐसा कहा है; और उपसंहारमें भी **'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे'** (४। ३२)—ऐसा कहा है तथा बीचमें भी कहा है—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (४। २३)। मुख्य बात यह है कि यज्ञकर्ताके सभी कर्म 'अकर्म' हो जायँ। यज्ञ केवल यज्ञ-परम्पराकी रक्षाके लिये किये जायँ तो सब-के-सब कर्म अकर्म हो जाते हैं। अतः इन सब यज्ञोंमें 'कर्ममें अकर्म' का ही वर्णन है।]

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः'—जिस पात्रसे अग्निमें आहुति दी जाती है, उस स्रुक्, स्रुवा आदिको यहाँ **'अर्पणम्'** पदसे कहा गया है—**'अर्प्यते अनेन इति अर्पणम्।'** उस अर्पणको ब्रह्म ही माने।

तिल, जौ, घी आदि जिन पदार्थोंका हवन किया जाता है, उन हव्य पदार्थोंको भी ब्रह्म ही माने।

'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्'—आहुति देनेवाला भी ब्रह्म ही है (गीता १३। २), जिसमें आहुति दी जा रही है, वह अग्नि भी ब्रह्म ही है और आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म ही है—ऐसा माने।

'ब्रह्मकर्मसमाधिना'—जैसे हवन करनेवाला पुरुष स्रुवा, हवि, अग्नि आदि सबको ब्रह्मका ही स्वरूप मानता है, ऐसे ही जो प्रत्येक कर्ममें कर्ता, करण, कर्म और पदार्थ सबको ब्रह्मरूप ही अनुभव करता है, उस पुरुषकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि होती है अर्थात् उसकी सम्पूर्ण कर्मोंमें ब्रह्मबुद्धि होती है। उसके लिये सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं। ब्रह्मके सिवाय कर्मोंका अपना कोई अलग स्वरूप रहता ही नहीं।

'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्'—ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि होनेसे जिसके सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मरूप ही बन गये हैं, उसे फलके रूपमें निःसन्देह ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है। कारण कि उसकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

इस (चौबीसवें) श्लोकको शिष्टजन भोजनके समय बोलते हैं, जिससे भोजनरूप कर्म भी यज्ञ बन जाय। भोजनरूप कर्ममें ब्रह्मबुद्धि इस प्रकार की जाती है—

(१) जिससे अर्पण किया जाता है, वह हाथ भी ब्रह्मरूप है—**'सर्वतः पाणिपादं तत्'** (गीता १३। १३)।

(२) भोजनके पदार्थ भी ब्रह्मरूप हैं—**'अहमेवाज्यम्'** (गीता ९। १६)।

(३) भोजन करनेवाला भी ब्रह्मरूप है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)।

(४) जठराग्नि भी ब्रह्मरूप है—**'अहं वैश्वानरः'** (गीता १५। १४)।

(५) भोजन करनारूप क्रिया अर्थात् जठराग्निमें अन्नकी आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—**'अहं हुतम्'** (गीता ९। १६)।

(६) इस प्रकार भोजन करनेवाले मनुष्योंके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है—**'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** (गीता ४। ३१)।

मार्मिक बात

प्रकृतिके कार्य संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृति या संसार क्रियारूप ही है*। कारण कि पदार्थ एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता; उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अतः वास्तवमें पदार्थ परिवर्तनरूप क्रियाका पुंज ही है। केवल 'राग' के कारण पदार्थकी मुख्यता दीखती है। सम्पूर्ण क्रियाएँ अभावमें जा रही हैं। अतः संसार अभावरूप ही है। भावरूपसे केवल एक अक्रिय-तत्त्व ब्रह्म ही है, जिसकी सत्तासे अभावरूप संसार भी सत्तावान् प्रतीत हो रहा है। संसारकी अभावरूपताको इस प्रकारसे समझ सकते हैं—

संसारकी तीन अवस्थाएँ दीखती हैं—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय; जैसे—वस्तु उत्पन्न होती है, फिर रहती है और अन्तमें नष्ट हो जाती है अथवा मनुष्य जन्म लेता है, फिर

* **प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः। सम्यग्रीत्या सरतीति संसारः॥**

रहता है और अन्तमें मर जाता है। इससे आगे विचार करें तो केवल उत्पत्ति और प्रलयका ही क्रम है, स्थिति वस्तुतः है ही नहीं; जैसे—यदि मनुष्यकी पूरी आयु पचास वर्षकी है, तो बीस वर्ष बीतनेपर उसकी आयु तीस वर्ष ही रह जाती है। इससे आगे विचार करें तो केवल प्रलय-ही-प्रलय (नाश-ही-नाश) है, उत्पत्ति है ही नहीं; जैसे—आयुके जितने वर्ष बीत गये, उतने वर्ष मनुष्य मर ही गया। इस प्रकार मनुष्य प्रतिक्षण ही मर रहा है, उसका जीवन प्रतिक्षण ही मृत्युमें जा रहा है। दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदृश्यमें जा रहा है। प्रलय अभावका ही नाम है, इसलिये अभाव ही शेष रहा। अभावकी सत्ता भावरूप ब्रह्मपर ही टिकी हुई है। अतः भावरूपसे एक ब्रह्म ही शेष रहा—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३। १४। १); '**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अपरे = अन्य
योगिनः = योगीलोग
दैवम् = दैव (भगवदर्पणरूप)
यज्ञम् = यज्ञका
एव = ही
पर्युपासते = अनुष्ठान करते हैं (और)
अपरे = दूसरे (योगीलोग)
ब्रह्माग्नौ = ब्रह्मरूप अग्निमें
यज्ञेन = (विचाररूप) यज्ञके द्वारा
एव = ही
यज्ञम् = (जीवात्मारूप) यज्ञका
उपजुह्वति = हवन करते हैं।

व्याख्या—'**दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते**'—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप यज्ञ करनेवाले साधकका वर्णन किया। यहाँ भगवान् '**अपरे**' पदसे उससे भिन्न प्रकारके यज्ञ करनेवाले साधकोंका वर्णन करते हैं।

यहाँ '**योगिनः**' पद यज्ञार्थ कर्म करनेवाले निष्काम साधकोंके लिये आया है।

सम्पूर्ण क्रियाओं तथा पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर उन्हें केवल भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही मानना 'दैवयज्ञ' अर्थात् भगवदर्पणरूप यज्ञ है। भगवान् देवोंके भी देव हैं, इसलिये सब कुछ उनके अर्पण कर देनेको ही यहाँ 'दैवयज्ञ' कहा गया है।

किसी भी क्रिया और पदार्थमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता और कामना न रखकर उन्हें सर्वथा भगवान्‌का मानना ही दैवयज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है।

'**ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति**'—इस श्लोकके पूर्वार्धमें बताये गये दैवयज्ञसे भिन्न दूसरे यज्ञका वर्णन करनेके लिये यहाँ '**अपरे**' पद आया है।

चेतनका जडसे तादात्म्य होनेके कारण ही उसे जीवात्मा कहते हैं। विवेक-विचारपूर्वक जडसे सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें लीन हो जानेको यहाँ यज्ञ कहा गया है। लीन होनेका तात्पर्य है—परमात्मतत्त्वसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता किंचिन्मात्र न रखना।

परिशिष्ट भाव—'**ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति**' का यह अर्थ भी ले सकते हैं—दूसरे योगीलोग संसाररूप ब्रह्मकी सेवाके लिये केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञके लिये कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ करते हैं अर्थात् यज्ञार्थ कर्म करते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ और चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्ये = अन्य (योगीलोग)
श्रोत्रादीनि = श्रोत्रादि
इन्द्रियाणि = समस्त इन्द्रियोंका
संयमाग्निषु = संयमरूप अग्नियोंमें
जुह्वति = हवन किया करते हैं (और)
अन्ये = दूसरे (योगीलोग)
शब्दादीन् = शब्दादि
विषयान् = विषयोंका
इन्द्रियाग्निषु = इन्द्रियरूप अग्नियोंमें
जुह्वति = हवन किया करते हैं।

व्याख्या—'**श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति**'—यहाँ संयमरूप अग्नियोंमें इन्द्रियोंकी आहुति देनेको यज्ञ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि एकान्तकालमें श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों (क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)-की ओर बिलकुल प्रवृत्त न हों। इन्द्रियाँ संयमरूप ही बन जायँ।

पूरा संयम तभी समझना चाहिये, जब इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहम्—इन सबमेंसे राग-आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाय (गीता—दूसरे अध्यायका अट्ठावनवाँ, उन्सठवाँ तथा अड़सठवाँ श्लोक)।

'**शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति**'— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं। विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करनेसे वह यज्ञ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारकालमें विषयोंका इन्द्रियोंसे संयोग होते रहनेपर भी इन्द्रियोंमें कोई विकार उत्पन्न न हो (गीता—दूसरे अध्यायका चौंसठवाँ-पैंसठवाँ श्लोक)। इन्द्रियाँ राग-द्वेषसे रहित हो जायँ। इन्द्रियोंमें राग-द्वेष उत्पन्न करनेकी शक्ति विषयोंमें रहे ही नहीं।

इस श्लोकमें कहे गये दोनों प्रकारके यज्ञोंमें राग-आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर ही सिद्धि (परमात्म-प्राप्ति) होती है। राग-आसक्तिको मिटानेके लिये ही दो प्रकारकी प्रक्रियाका यज्ञरूपसे वर्णन किया गया है—

पहली प्रक्रियामें साधक एकान्तकालमें इन्द्रियोंका संयम करता है। विवेक-विचार, जप-ध्यान आदिसे इन्द्रियोंका संयम होने लगता है। पूरा संयम होनेपर जब रागका अभाव हो जाता है, तब एकान्तकाल और व्यवहारकाल—दोनोंमें उसकी समान स्थिति रहती है।

दूसरी प्रक्रियामें साधक व्यवहारकालमें राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंसे व्यवहार करते हुए मन, बुद्धि और अहम्से भी राग-द्वेषका अभाव कर देता है। रागका अभाव होनेपर व्यवहारकाल और एकान्तकाल—दोनोंमें उसकी समान स्थिति रहती है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

अपरे = अन्य (योगीलोग)
सर्वाणि = सम्पूर्ण
इन्द्रियकर्माणि = इन्द्रियोंकी क्रियाओंको
च = और
प्राणकर्माणि = प्राणोंकी क्रियाओंको
ज्ञानदीपिते = ज्ञानसे प्रकाशित
आत्मसंयमयोगाग्नौ = आत्मसंयमयोग (समाधियोग)-रूप अग्निमें
जुह्वति = हवन किया करते हैं।

व्याख्या—'**सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे**'—इस श्लोकमें समाधिको यज्ञका रूप दिया गया है। कुछ योगीलोग दसों इन्द्रियोंकी क्रियाओंका समाधिमें हवन किया करते हैं। तात्पर्य यह है कि समाधि-अवस्थामें मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों-(ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों-) की क्रियाएँ रुक जाती हैं। इन्द्रियाँ सर्वथा निश्चल और शान्त हो जाती हैं।

समाधिरूप यज्ञमें प्राणोंकी क्रियाओंका भी हवन हो जाता है अर्थात् समाधिकालमें प्राणोंकी क्रियाएँ भी रुक जाती हैं। समाधिमें प्राणोंकी गति रोकनेके दो प्रकार हैं—

एक तो हठयोगकी समाधि होती है, जिसमें प्राणोंको रोकनेके लिये कुम्भक किया जाता है। कुम्भकका अभ्यास बढ़ते-बढ़ते प्राण रुक जाते हैं, जो घंटोंतक, दिनोंतक रुके रह सकते हैं। इस प्राणायामसे आयु बढ़ती है; जैसे—वर्षा होनेपर जल बहने लगता है तो जलके साथ-साथ बालू भी आ जाती है, उस बालूमें मेढक दब जाता है। वर्षा बीतनेपर जब बालू सूख जाती है, तब मेढक उस बालूमें ही चुपचाप सूखे हुएकी तरह पड़ा रहता है, उसके प्राण रुक जाते हैं। पुनः जब वर्षा आती है, तब वर्षाका जल ऊपर गिरनेपर मेढकमें पुनः प्राणोंका संचार होता जाता है और वह टर्राने लग जाता है।

दूसरे प्रकारमें मनको एकाग्र किया जाता है। मन सर्वथा एकाग्र होनेपर प्राणोंकी गति अपने-आप रुक जाती है।

'**ज्ञानदीपिते**'—समाधि और निद्रा—दोनोंमें कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है, इसलिये बाहरसे दोनोंकी समान अवस्था दिखायी देती है। यहाँ '**ज्ञानदीपिते**' पदसे समाधि

और निद्रामें परस्पर भिन्नता सिद्ध की गयी है। तात्पर्य यह कि बाहरसे समान दिखायी देनेपर भी समाधिकालमें 'एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही सर्वत्र परिपूर्ण है' ऐसा ज्ञान प्रकाशित (जाग्रत्) रहता है और निद्राकालमें वृत्तियाँ अविद्यामें लीन हो जाती हैं। समाधिकालमें प्राणोंकी गति रुक जाती है और निद्राकालमें प्राणोंकी गति चलती रहती है। इसलिये निद्रा आनेसे समाधि नहीं लगती।

'आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति'—चित्तवृत्तिनिरोधरूप अर्थात् समाधिरूप यज्ञ करनेवाले योगीलोग इन्द्रियों तथा प्राणोंकी क्रियाओंका समाधियोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं अर्थात् मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर समाधिमें स्थित हो जाते हैं। समाधि-कालमें सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और प्राण अपनी चंचलता खो देते हैं। एक सच्चिदानन्दघन परमात्माका ज्ञान ही जाग्रत् रहता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

अपरे = दूसरे (कितने ही)
संशितव्रताः = तीक्ष्ण व्रत करनेवाले
यतयः = प्रयत्नशील साधक
द्रव्ययज्ञाः = द्रव्यमय यज्ञ करनेवाले हैं
तपोयज्ञाः = (और कितने ही) तपोयज्ञ करनेवाले हैं
तथा = और (दूसरे कितने ही)
योगयज्ञाः = योगयज्ञ करनेवाले हैं
च = तथा (कितने ही)
स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाः = स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं।

व्याख्या—**'यतयः संशितव्रताः'**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (भोग-बुद्धिसे संग्रहका अभाव)—ये पाँच 'यम' हैं*, जिन्हें 'महाव्रत' के नामसे कहा गया है। शास्त्रोंमें इन महाव्रतोंकी बहुत प्रशंसा, महिमा है। इन व्रतोंका सार यही है कि मनुष्य संसारसे विमुख हो जाय। इन व्रतोंका पालन करनेवाले साधकोंके लिये यहाँ **'संशितव्रताः'** पद आया है। इसके सिवाय इस श्लोकमें आये चारों यज्ञोंमें जो-जो पालनीय व्रत अर्थात् नियम हैं, उनपर दृढ़ रहकर उनका पालन करनेवाले भी सब **'संशितव्रताः'** हैं। अपने-अपने यज्ञके अनुष्ठानमें प्रयत्नशील होनेके कारण उन्हें **'यतयः'** कहा गया है।

'संशितव्रताः' पदके साथ (**'द्रव्ययज्ञाः,' 'तपोयज्ञाः,' 'योगयज्ञाः'** और **'ज्ञानयज्ञाः'** की तरह) **'यज्ञाः'** पद नहीं दिया जानेके कारण इसे अलग यज्ञ नहीं माना गया है।

'द्रव्ययज्ञाः'—मात्र संसारके हितके उद्देश्यसे कुआँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना, अभावग्रस्त लोगोंको अन्न, जल, वस्त्र, औषध, पुस्तक आदि देना, दान करना इत्यादि सब 'द्रव्ययज्ञ' है। द्रव्य-(तीनों शरीरोंसहित सम्पूर्ण पदार्थों-) को अपना और अपने लिये न मानकर निःस्वार्थभावसे उन्हींका मानकर उनकी सेवामें लगानेसे द्रव्ययज्ञ सिद्ध हो जाता है।

शरीरादि जितनी वस्तुएँ हमारे पास हैं, उन्हींसे यज्ञ हो सकता है, अधिककी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य बालकसे उतनी ही आशा रखता है, जितना वह कर सकता है, फिर सर्वज्ञ भगवान् तथा संसार हमसे हमारी क्षमतासे अधिककी आशा कैसे रखेंगे?

'तपोयज्ञाः'—अपने कर्तव्य-(स्वधर्म-) के पालनमें जो-जो प्रतिकूलताएँ, कठिनाइयाँ आयें, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सह लेना 'तपोयज्ञ' है। लोकहितार्थ एकादशी आदिका व्रत रखना, मौन धारण करना आदि भी 'तपोयज्ञ' अर्थात् तपस्यारूप यज्ञ हैं। परन्तु प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, घटना आनेपर भी साधक प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता रहे—अपने कर्तव्यसे थोड़ा भी विचलित न हो तो यह सबसे बड़ी तपस्या है, जो शीघ्र सिद्धि देनेवाली होती है।

गाँवभरकी गन्दगी, कूड़ा-करकट बाहर एक जगह इकट्ठा हो जाय, तो वह बुरा लगता है; परन्तु वही कूड़ा-करकट खेतमें पड़ जाय, तो खेतीके लिये खादरूपसे बढ़िया सामग्री बन जाता है। इसी प्रकार प्रतिकूलता बुरी लगती है और उसे हम कूड़े-करकटकी तरह फेंक देते हैं अर्थात् उसे महत्त्व नहीं देते; परन्तु वही प्रतिकूलता अपना

* **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ (योगदर्शन २। ३०)**

कर्तव्य-पालन करनेके लिये बढ़िया सामग्री है। इसलिये प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिको सहर्ष सहनेके समान दूसरा कोई तप नहीं है। भोगोंमें आसक्ति रहनेसे अनुकूलता अच्छी और प्रतिकूलता बुरी लगती है। इसी कारण प्रतिकूलताका महत्त्व समझमें नहीं आता।

'योगयज्ञास्तथापरे'—यहाँ योग नाम अन्तःकरणकी समताका है। समताका अर्थ है—कार्यकी पूर्ति और अपूर्तिमें, फलकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिमें, निन्दा और स्तुतिमें, आदर और निरादरमें सम रहना अर्थात् अन्तःकरणमें हलचल, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःखका न होना। इस तरह सम रहना ही 'योगयज्ञ' है।

'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः'—केवल लोकहितके लिये गीता, रामायण, भागवत आदिका तथा वेद, उपनिषद् आदिका यथाधिकार मनन-विचारपूर्वक पठन-पाठन करना, अपनी वृत्तियोंका तथा जीवनका अध्ययन करना आदि सब स्वाध्यायरूप 'ज्ञानयज्ञ' है।

गीताके अन्तमें भगवान्ने कहा है कि जो इस गीता-शास्त्रका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है (अठारहवें अध्यायका सत्तरवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि गीताका स्वाध्याय 'ज्ञानयज्ञ' है। गीताके भावोंमें गहरे उतरकर विचार करना, उसके भावोंको समझनेकी चेष्टा करना आदि सब स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

अपरे = दूसरे (कितने ही)
प्राणायाम-परायणाः = प्राणायामके परायण हुए (योगीलोग)
अपाने = अपानमें
प्राणम् = प्राणका (पूरक करके)
प्राणापानगती = प्राण और अपानकी गति
रुद्ध्वा = रोककर (कुम्भक करके)
प्राणे = (फिर) प्राणमें
अपानम् = अपानका
जुह्वति = हवन (रेचक) करते हैं;
तथा = तथा
अपरे = अन्य (कितने ही)
नियताहाराः = नियमित आहार करनेवाले
प्राणान् = प्राणोंका
प्राणेषु = प्राणोंमें
जुह्वति = हवन किया करते हैं।
एते = ये
सर्वे, अपि = सभी (साधक)
यज्ञक्षपित-कल्मषाः = यज्ञों द्वारा पापोंका नाश करनेवाले (और)
यज्ञविदः = यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

व्याख्या—**'अपाने जुह्वति .... प्राणायाम-परायणाः'**[१]—प्राणका स्थान हृदय (ऊपर) तथा अपानका स्थान गुदा (नीचे) है[२]। श्वासको बाहर निकालते समय वायुकी गति ऊपरकी ओर तथा श्वासको भीतर ले जाते समय वायुकी गति नीचेकी ओर होती है। इसलिये श्वासको बाहर निकालना 'प्राण' का कार्य और श्वासको भीतर ले जाना 'अपान' का कार्य है। योगीलोग पहले बाहरकी वायुको बायीं नासिका-(चन्द्रनाड़ी-) के द्वारा भीतर ले जाते हैं। वह वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिसे होती हुई स्वाभाविक ही अपानमें लीन हो जाती है। इसको 'पूरक' कहते हैं। फिर वे प्राणवायु और अपानवायु—दोनोंकी गति रोक देते हैं। न तो श्वास बाहर जाता है और न श्वास भीतर ही आता है। इसको 'कुम्भक' कहते हैं। इसके बाद वे भीतरकी वायुको दायीं नासिका-

१-इस (उनतीसवें) श्लोकमें 'अपरे' कर्ता और 'जुह्वति' क्रिया एक ही आयी है; अतः यहाँ पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक किया जानेवाला एक ही प्राणायामरूप यज्ञ लिया गया है।

२-हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले। (योगचूड़ामण्युपनिषद् २३)

(सूर्यनाड़ी-) के द्वारा बाहर निकालते हैं। वह वायु स्वाभाविक ही प्राणवायुको तथा उसके पीछे-पीछे अपानवायुको साथ लेकर बाहर निकलती है। यही प्राण-वायुमें अपानवायुका हवन करना है। इसको 'रेचक' कहते हैं। चार भगवन्नामसे पूरक, सोलह भगवन्नामसे कुम्भक और आठ भगवन्नामसे रेचक किया जाता है।

इस प्रकार योगीलोग पहले चन्द्रनाड़ीसे पूरक, फिर कुम्भक और फिर सूर्यनाड़ीसे रेचक करते हैं। इसके बाद सूर्यनाड़ीसे पूरक, फिर कुम्भक और फिर चन्द्रनाड़ीसे रेचक करते हैं। इस तरह बार-बार पूरक-कुम्भक-रेचक करना प्राणायामरूप यज्ञ है। परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक प्राणायामके परायण होनेसे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं*।

'अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति'— नियमित आहार-विहार करनेवाले साधक ही प्राणोंका प्राणोंमें हवन कर सकते हैं। अधिक या बहुत कम भोजन करनेवाला अथवा बिलकुल भोजन न करनेवाला यह प्राणायाम नहीं कर सकता (गीता—छठे अध्यायका सोलहवाँ-सत्रहवाँ श्लोक)।

प्राणोंका प्राणोंमें हवन करनेका तात्पर्य है—प्राणका प्राणमें और अपानका अपानमें हवन करना अर्थात् प्राण और अपानको अपने-अपने स्थानोंपर रोक देना। न श्वास बाहर निकालना और न श्वास भीतर लेना। इसे 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' भी कहते हैं। इस प्राणायामसे स्वाभाविक ही वृत्तियाँ शान्त होती हैं और पापोंका नाश हो जाता है। केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर प्राणायाम करनेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और परमात्मप्राप्ति हो जाती है।

'सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः'— चौबीसवें श्लोकसे तीसवें श्लोकके पूर्वार्धतक जिन यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उनका अनुष्ठान करनेवाले साधकोंके लिये यहाँ **'सर्वेऽप्येते'** पद आया है। उन यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहनेसे उनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

वास्तवमें सम्पूर्ण यज्ञ केवल कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही हैं—ऐसा जाननेवाले ही **'यज्ञवित्'** अर्थात् यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं। कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्माका अनुभव हो जाता है। जो लोग अविनाशी परमात्माका अनुभव करनेके लिये यज्ञ नहीं करते, प्रत्युत इस लोक और परलोक (स्वर्गादि)-के विनाशी भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही यज्ञ करते हैं, वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले नहीं हैं। कारण कि विनाशी पदार्थोंकी कामना ही बन्धनका कारण है—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (गीता ९। २१)। अतः मनमें कामना-वासना रखकर परिश्रमपूर्वक बड़े-बड़े यज्ञ करनेपर भी जन्म-मरणका बन्धन बना रहता है—

मिटी न मनकी वासना, नौ तत भये न नास।
तुलसी केते पच मुये, दे दे तन को त्रास॥

विशेष बात

यज्ञ करते समय अग्निमें आहुति दी जाती है। आहुति दी जानेवाली वस्तुओंके रूप पहले अलग-अलग होते हैं; परन्तु अग्निमें आहुति देनेके बाद उनके रूप अलग-अलग नहीं रहते, अपितु सभी वस्तुएँ अग्निरूप हो जाती हैं। इसी प्रकार परमात्मप्राप्तिके लिये जिन साधनोंका यज्ञरूपसे वर्णन किया गया है, उनमें आहुति देनेका तात्पर्य यही है कि आहुति दी जानेवाली वस्तुओंकी अलग सत्ता रहे ही नहीं, सब स्वाहा हो जायँ। जबतक उनकी अलग सत्ता बनी हुई है, तबतक वास्तवमें उनकी आहुति दी ही नहीं गयी अर्थात् यज्ञका अनुष्ठान हुआ ही नहीं।

इसी अध्यायके सोलहवें श्लोकसे भगवान् कर्मोंके तत्त्व (कर्ममें अकर्म) का वर्णन कर रहे हैं। कर्मोंका तत्त्व है— कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बँधना। कर्मोंसे न बँधनेका ही एक साधन है—यज्ञ। जैसे अग्निमें डालनेपर सब वस्तुएँ स्वाहा हो जाती हैं, ऐसे ही केवल लोकहितके लिये किये जानेवाले सब कर्म स्वाहा हो जाते हैं— **'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (गीता ४। २३)।

निष्कामभावपूर्वक केवल लोकहितार्थ किये गये साधारण-से-साधारण कर्म भी परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हो जाते हैं। परन्तु सकामभावपूर्वक किये गये बड़े-से-बड़े कर्मोंसे भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। कारण कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना ही बाँधनेवाली है। पदार्थ और क्रियारूप संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यमात्रमें पदार्थ पाने और कर्म करनेका राग रहता है कि मुझे कुछ-न-कुछ मिलता रहे और मैं कुछ-न-कुछ करता रहूँ। इसीको 'पानेकी कामना' तथा 'करनेका वेग' कहते हैं।

मनुष्यमें जो पानेकी कामना रहती है, वह वास्तवमें

* **गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च। नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥**

अपने अंशी परमात्माको ही पानेकी भूख है; परन्तु परमात्मासे विमुख और संसारके सम्मुख होनेके कारण मनुष्य इस भूखको सांसारिक पदार्थोंसे ही मिटाना चाहता है। सांसारिक पदार्थ विनाशी हैं और जीव अविनाशी है। अविनाशीकी भूख विनाशी पदार्थोंसे मिट ही कैसे सकती है? परन्तु जबतक संसारकी सम्मुखता रहती है, तबतक पानेकी कामना बनी रहती है। जबतक मनुष्यमें पानेकी कामना रहती है, तबतक उसमें करनेका वेग बना रहता है। इस प्रकार जबतक पानेकी कामना और करनेका वेग बना हुआ है अर्थात् पदार्थ और क्रियासे सम्बन्ध बना हुआ है, तबतक जन्म-मरण नहीं छूटता। इससे छूटनेका उपाय है—कुछ भी पानेकी कामना न रखकर केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना। इसीको लोकसंग्रह, यज्ञार्थ कर्म, लोकहितार्थ कर्म आदि नामोंसे कहा गया है।

केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे संसारसे सम्बन्ध छूट जाता है और असंगता आ जाती है। अगर केवल भगवान्‌के लिये कर्म किये जायँ, तो संसारसे सम्बन्ध छूटकर असंगता तो आ ही जाती है, इसके साथ एक और विलक्षण बात यह होती है कि भगवान्‌का 'प्रेम' प्राप्त हो जाता है!

परिशिष्ट भाव—निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्यकर्म करनेका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञसे सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बाँधनेवाले नहीं होते। चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक कुल बारह प्रकारके यज्ञ बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्मयज्ञ—प्रत्येक कर्ममें कर्ता, करण क्रिया, पदार्थ आदि सबको ब्रह्मरूपसे अनुभव करना।

(२) भगवदर्पणरूप यज्ञ—सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको केवल भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही मानना।

(३) अभिन्नतारूप यज्ञ—असत्‌से सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें लीन हो जाना अर्थात् परमात्मासे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखना।

[**कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ**—केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म करना।]

(४) संयमरूप यज्ञ—एकान्तकालमें अपनी इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न होने देना।

(५) विषय-हवनरूप यज्ञ—व्यवहारकालमें इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग होनेपर भी उनमें राग-द्वेष पैदा न होने देना (गीता—दूसरे अध्यायका चौंसठवाँ-पैंसठवाँ श्लोक)।

(६) समाधिरूप यज्ञ—मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर ज्ञानसे प्रकाशित समाधिमें स्थित हो जाना।

(७) द्रव्ययज्ञ—सम्पूर्ण पदार्थोंको निःस्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवामें लगा देना।

(८) तपोयज्ञ—अपने कर्तव्यके पालनमें आनेवाली कठिनाइयोंको प्रसन्नतापूर्वक सह लेना।

(९) योगयज्ञ—कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें तथा फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना।

(१०) स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ—दूसरोंके हितके लिये सत्-शास्त्रोंका पठन-पाठन, नाम-जप आदि करना।

(११) प्राणायामरूप यज्ञ—पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक प्राणायाम करना।

(१२) स्तम्भवृत्ति (चतुर्थ) प्राणायामरूप यज्ञ—नियमित आहार करते हुए प्राण और अपानको अपने-अपने स्थानोंपर रोक देना।

—इन सबका तात्पर्य है कि हमारी मात्र क्रियाएँ यज्ञरूप ही होनी चाहिये, तभी जीवन सफल होगा। तात्पर्य है कि हमें अपने लिये कुछ नहीं करना है। क्रिया और पदार्थके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो क्रिया और पदार्थसे रहित हैं।

सम्बन्ध—चौबीसवें श्लोकसे तीसवें श्लोकके पूर्वार्धतक भगवान्‌ने कुल बारह प्रकारके यज्ञोंका वर्णन किया और तीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा की। अब भगवान् आगेके श्लोकमें यज्ञ करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि बताते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

कुरुसत्तम	= हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**ब्रह्म**	= परब्रह्म परमात्माको	**लोकः**	= मनुष्यलोक (भी)
यज्ञशिष्टा-	= यज्ञसे बचे हुए	**यान्ति**	= प्राप्त होते हैं।	**न**	= (सुखदायक) नहीं
मृतभुजः	अमृतका अनुभव करनेवाले	**अयज्ञस्य**	= यज्ञ न करनेवाले मनुष्यके लिये	**अस्ति**	= है,
सनातनम्	= सनातन	**अयम्**	= यह	**अन्यः**	= (फिर) परलोक
				कुतः	= कैसे (सुखदायक होगा)?

व्याख्या—**'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्'**—यज्ञ करनेसे अर्थात् निष्कामभावपूर्वक दूसरोंको सुख पहुँचानेसे समताका अनुभव हो जाना ही 'यज्ञशिष्ट अमृत'का अनुभव करना है। अमृत अर्थात् अमरताका अनुभव करनेवाले सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

स्वरूपसे मनुष्य अमर है। मरनेवाली वस्तुओंके संगसे ही मनुष्यको मृत्युका अनुभव होता है। इन वस्तुओंको संसारके हितमें लगानेसे जब मनुष्य असंग हो जाता है, तब उसे स्वत:सिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है।

कर्तव्यमात्र केवल कर्तव्य समझकर किया जाय, तो वह यज्ञ हो जाता है। केवल दूसरोंके हितके लिये किया जानेवाला कर्म ही कर्तव्य होता है। जो कर्म अपने लिये किया जाता है, वह कर्तव्य नहीं होता, प्रत्युत कर्ममात्र होता है, जिससे मनुष्य बँधता है। इसलिये यज्ञमें देना-ही-देना होता है, लेना केवल निर्वाहमात्रके लिये होता है (गीता—चौथे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। शरीर यज्ञ करनेके लिये समर्थ रहे—इस दृष्टिसे शरीर-निर्वाहमात्रके लिये वस्तुओंका उपयोग करना भी यज्ञके अन्तर्गत है। मनुष्य-शरीर यज्ञके लिये ही है। उसे मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिमें लगाना बन्धनकारक है। केवल यज्ञके लिये कर्म करनेसे मनुष्य बन्धनरहित (मुक्त) हो जाता है और उसे सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'—जैसे तीसरे अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा, ऐसे ही यहाँ कहते हैं कि यज्ञ न करनेसे तेरा यह लोक भी लाभदायक नहीं रहेगा, फिर परलोकका तो कहना ही क्या है! केवल स्वार्थभावसे (अपने लिये) कर्म करनेसे इस लोकमें संघर्ष उत्पन्न हो जायगा और सुख-शान्ति भंग हो जायगी तथा परलोकमें कल्याण भी नहीं होगा।

अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे घरमें भी भेद और संघर्ष पैदा हो जाता है, खटपट मच जाती है। घरमें कोई स्वार्थी, पेटू व्यक्ति हो, तो घरवालोंको उसका रहना सुहाता नहीं। स्वार्थत्यागपूर्वक अपने कर्तव्यसे सबको सुख पहुँचाना घरमें अथवा संसारमें रहनेकी विद्या है। अपने कर्तव्यका पालन करनेसे दूसरोंको भी कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा मिलती है। इससे घरमें एकता और शान्ति स्वाभाविक आ जाती है। परन्तु अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे इस लोकमें सुखपूर्वक जीना भी कठिन हो जाता है और अन्य लोकोंकी तो बात ही क्या है! इसके विपरीत अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे यह लोक भी सुखदायक हो जाता है और परलोक भी।

सम्बन्ध—इसी अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मोंका तत्त्व बतानेकी प्रतिज्ञा की थी। उसका विस्तारसे वर्णन करके अब भगवान् उसका उपसंहार करते हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

एवम्	= इस प्रकार (और भी)	**वितताः**	= विस्तारसे कहे गये हैं।	**विद्धि**	= जान।
बहुविधाः	= बहुत तरहके			**एवम्**	= इस प्रकार
यज्ञाः	= यज्ञ	**तान्**	= उन	**ज्ञात्वा**	= जानकर (यज्ञ करनेसे)
ब्रह्मणः	= वेदकी	**सर्वान्**	= सब यज्ञोंको (तू)	**विमोक्ष्यसे**	= (तू कर्मबन्धनसे) मुक्त हो जायगा।
मुखे	= वाणीमें	**कर्मजान्**	= कर्मजन्य		

व्याख्या—**'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे'**—चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक जिन बारह यज्ञोंका वर्णन किया गया है, उनके सिवाय और भी अनेक प्रकारके यज्ञोंका वेदकी वाणीमें विस्तारसे वर्णन किया गया है। कारण कि साधकोंकी प्रकृतिके अनुसार उनकी निष्ठाएँ भी अलग-अलग होती हैं और तदनुसार उनके साधन भी अलग-अलग होते हैं।

वेदोंमें सकाम अनुष्ठानोंका भी विस्तारसे वर्णन किया गया है। परन्तु उन सबसे नाशवान् फलकी ही प्राप्ति होती है, अविनाशीकी नहीं। इसलिये वेदोंमें वर्णित सकाम अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य स्वर्गलोकको जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस प्रकार वे जन्म-मरणके बन्धनमें पड़े रहते हैं (गीता—नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। परन्तु यहाँ उन सकाम अनुष्ठानोंकी बात नहीं कही गयी है। यहाँ निष्कामकर्मरूप उन यज्ञोंकी बात कही गयी है, जिनके अनुष्ठानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है—**'यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** (गीता ४। ३१)।

वेदोंमें केवल स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप सकाम अनुष्ठानोंका ही वर्णन हो, ऐसी बात नहीं है। उनमें परमात्मप्राप्तिके साधनरूप श्रवण, मनन, निदिध्यासन, प्राणायाम, समाधि आदि अनुष्ठानोंका भी वर्णन हुआ है। उपर्युक्त पदोंमें उन्हींका लक्ष्य है।

तीसरे अध्यायके चौदहवें-पंद्रहवें श्लोकोंमें कहा गया है कि यज्ञ वेदसे उत्पन्न हुए हैं और सर्वव्यापी परमात्मा उन यज्ञोंमें नित्य प्रतिष्ठित (विराजमान) हैं। यज्ञोंमें परमात्मा नित्य प्रतिष्ठित रहनेसे उन यज्ञोंका अनुष्ठान केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये।

'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्'—चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक जिन बारह यज्ञोंका वर्णन हुआ है तथा उसी प्रकार वेदोंमें जिन यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उन सब यज्ञोंके लिये यहाँ **'तान् सर्वान्'** पद आये हैं।

'कर्मजान् विद्धि' पदोंका तात्पर्य है कि वे सब-के-सब यज्ञ कर्मजन्य हैं अर्थात् कर्मोंसे होनेवाले हैं। शरीरसे जो क्रियाएँ होती हैं, वाणीसे जो कथन होता है और मनसे जो संकल्प होते हैं, वे सभी कर्म कहलाते हैं—**'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'** (गीता १८। १५)।

अर्जुन अपना कल्याण तो चाहते हैं, पर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको पाप मानकर उसका त्याग करना चाहते हैं। इसलिये **'कर्मजान् विद्धि'** पदोंसे भगवान् अर्जुनके प्रति ऐसा भाव प्रकट कर रहे हैं कि युद्धरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करके अपने कल्याणके लिये तू जो साधन करेगा, वह भी तो कर्म ही होगा। वास्तवमें कल्याण कर्मसे नहीं होता, प्रत्युत कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे होता है। इसलिये यदि तू युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको भी निर्लिप्त रहकर करेगा, तो उससे भी तेरा कल्याण हो जायगा; क्योंकि मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते, प्रत्युत (कर्मकी और उसके फलकी) आसक्ति ही बाँधती है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)। युद्ध तो तेरा सहज कर्म (स्वधर्म) है, इसलिये उसे करना तेरे लिये सुगम भी है।

'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे'—भगवान्ने इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें बताया कि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म नहीं बाँधते—इस प्रकार जो मुझे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता। तात्पर्य यह है कि जिसने कर्म करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहनेकी विद्या (—कर्मफलमें स्पृहा न रखना)-को सीखकर उसका अनुभव कर लिया है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। फिर पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने इसी बातको **'एवं ज्ञात्वा'** पदोंसे कहा। वहाँ भी यही भाव है कि मुमुक्षु पुरुष भी इसी प्रकार जानकर कर्म करते आये हैं। सोलहवें श्लोकमें कर्मोंसे निर्लिप्त रहनेके इसी तत्त्वको विस्तारसे कहनेके लिये भगवान्ने प्रतिज्ञा की और **'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** पदोंसे उसे जाननेका फल मुक्त होना बताया। अब इस श्लोकमें **'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे'** पदोंसे ही उस विषयका उपसंहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि फलकी इच्छाका त्याग करके केवल लोकहितार्थ कर्म करनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

संसारमें असंख्य क्रियाएँ होती रहती हैं; परन्तु जिन क्रियाओंसे मनुष्य अपना सम्बन्ध जोड़ता है, उन्हींसे वह बँधता है। संसारमें कहीं भी कोई क्रिया (घटना) हो, जब मनुष्य उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है—उसमें राजी या नाराज होता है, तब वह उस क्रियासे बँध जाता है। जब शरीर या संसारमें होनेवाली किसी भी क्रियासे मनुष्यका सम्बन्ध नहीं रहता, तब वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

सम्बन्ध—यज्ञोंका वर्णन सुनकर ऐसी जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है? इसका समाधान भगवान् आगेके श्लोकमें करते हैं।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

परन्तप, पार्थ	=हे परन्तप अर्जुन!	**श्रेयान्**	=श्रेष्ठ है।	**ज्ञाने**	=ज्ञान (तत्त्वज्ञान)-में
द्रव्यमयात्	=द्रव्यमय	**सर्वम्**	=सम्पूर्ण	**परिसमाप्यते**	=समाप्त (लीन) हो जाते हैं।
यज्ञात्	=यज्ञसे	**कर्म**	=कर्म (और)		
ज्ञानयज्ञः	=ज्ञानयज्ञ	**अखिलम्**	=पदार्थ		

व्याख्या—'**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप**'—जिन यज्ञोंमें द्रव्यों (पदार्थों) तथा कर्मोंकी आवश्यकता होती है, वे सब यज्ञ 'द्रव्यमय' होते हैं। 'द्रव्य' शब्दके साथ 'मय' प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें है। जैसे मिट्टीकी प्रधानतावाला पात्र 'मृन्मय' कहलाता है, ऐसे ही द्रव्यकी प्रधानतावाला यज्ञ 'द्रव्यमय' कहलाता है। ऐसे द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानयज्ञमें द्रव्य और कर्मकी आवश्यकता नहीं होती।

सभी यज्ञोंको भगवान्‌ने कर्मजन्य कहा है (चौथे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। यहाँ भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म ज्ञानयज्ञमें परिसमाप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानयज्ञ कर्मजन्य नहीं है, प्रत्युत विवेक-विचारजन्य है। अतः यहाँ जिस ज्ञानयज्ञकी बात आयी है, वह पूर्ववर्णित बारह यज्ञोंके अन्तर्गत आये ज्ञानयज्ञ (चौथे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)-का वाचक नहीं है, प्रत्युत आगेके (चौंतीसवें) श्लोकमें वर्णित ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रक्रियाका वाचक है। पूर्ववर्णित बारह यज्ञोंका वाचक यहाँ 'द्रव्यमय यज्ञ' है। द्रव्यमय यज्ञ समाप्त करके ही ज्ञानयज्ञ किया जाता है।

अगर सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञानयज्ञ भी क्रियाजन्य ही है, परन्तु इसमें विवेक-विचारकी प्रधानता रहती है।

'**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते**'— '**सर्वम्**' और '**अखिलम्**'—दोनों शब्द पर्यायवाची हैं और उनका अर्थ 'सम्पूर्ण' होता है। इसलिये यहाँ '**सर्वम् कर्म**' का अर्थ सम्पूर्ण कर्म (मात्र कर्म) और '**अखिलम्**' का अर्थ सम्पूर्ण द्रव्य (मात्र पदार्थ) लेना ही ठीक मालूम देता है।

जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसका सम्बन्ध क्रियाओं और पदार्थोंसे बना रहता है। जबतक क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्ध रहता है, तभीतक अन्तःकरणमें अशुद्धि रहती है, इसलिये अपने लिये कर्म न करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध होता है।

अन्तःकरणमें तीन दोष रहते हैं—मल (संचित पाप), विक्षेप (चित्तकी चंचलता) और आवरण (अज्ञान)। अपने लिये कोई भी कर्म न करनेसे अर्थात् संसारमात्रकी सेवाके लिये ही कर्म करनेसे जब साधकके अन्तःकरणमें स्थित मल और विक्षेप—दोनों दोष मिट जाते हैं, तब वह ज्ञानप्राप्तिके द्वारा आवरण-दोषको मिटानेके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके गुरुके पास जाता है। उस समय वह कर्मों और पदार्थोंसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् कर्म और पदार्थ उसके लक्ष्य नहीं रहते, प्रत्युत एक चिन्मय तत्त्व ही उसका लक्ष्य रहता है। यही सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंका तत्त्वज्ञानमें समाप्त होना है।

ज्ञानप्राप्तिकी प्रचलित प्रक्रिया

शास्त्रोंमें ज्ञानप्राप्तिके आठ अन्तरंग साधन कहे गये हैं—(१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) शमादि षट्सम्पत्ति (शम, दम, श्रद्धा, उपरति, तितिक्षा और समाधान), (४) मुमुक्षुता, (५) श्रवण, (६) मनन, (७) निदिध्यासन और (८) तत्त्वपदार्थसंशोधन। इनमें पहला साधन विवेक है। सत् और असत्‌को अलग-अलग जानना 'विवेक' कहलाता है। सत्-असत्‌को अलग-अलग जानकर असत्‌का त्याग करना अथवा संसारसे विमुख होना 'वैराग्य' है। इसके बाद शमादि षट्सम्पत्ति आती है। मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाना 'शम' है। इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना 'दम' है। ईश्वर, शास्त्र आदिपर पूज्यभावपूर्वक प्रत्यक्षसे भी अधिक विश्वास करना 'श्रद्धा' है। वृत्तियोंका संसारकी ओरसे हट जाना 'उपरति' है। सरदी-गरमी आदि द्वन्द्वोंको सहना, उनकी उपेक्षा करना 'तितिक्षा' है। अन्तःकरणमें शंकाओंका न रहना 'समाधान' है। इसके बाद चौथा साधन है—मुमुक्षुता। संसारसे छूटनेकी इच्छा 'मुमुक्षुता' है।

मुमुक्षुता जाग्रत् होनेके बाद साधक पदार्थों और कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाता है। गुरुके पास निवास करते हुए शास्त्रोंको सुनकर तात्पर्यका निर्णय करना तथा उसे धारण करना 'श्रवण' है। श्रवणसे

प्रमाणगत संशय दूर होता है। परमात्मतत्त्वका युक्ति-प्रयुक्तियोंसे चिन्तन करना 'मनन' है। मननसे प्रमेयगत संशय दूर होता है। संसारकी सत्ताको मानना और परमात्म-तत्त्वकी सत्ताको न मानना 'विपरीत भावना' कहलाती है। विपरीत भावनाको हटाना 'निदिध्यासन' है। प्राकृत पदार्थमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और केवल एक चिन्मयतत्त्व शेष रह जाय—यह 'तत्त्वपदार्थसंशोधन' है। इसे ही तत्त्व-साक्षात्कार कहते हैं*।

विचारपूर्वक देखा जाय तो इन सब साधनोंका तात्पर्य है—असाधन अर्थात् असत्‌के सम्बन्धका त्याग। त्याज्य वस्तु अपने लिये नहीं होती, पर त्यागका परिणाम (तत्त्वसाक्षात्कार) अपने लिये होता है।

परिशिष्ट भाव—द्रव्यमय यज्ञमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है; अतः वह करणसापेक्ष है। ज्ञानयज्ञमें विवेक-विचारकी मुख्यता है; अतः वह करणनिरपेक्ष है। इसलिये द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञानयज्ञमें सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता; क्योंकि एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य सत्ता ही नहीं रहती।

सम्बन्ध—अर्जुन अपना कल्याण चाहते हैं; अतः कल्याणप्राप्तिके विभिन्न साधनोंका यज्ञरूपसे वर्णन करके अब भगवान् ज्ञानयज्ञके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीका वर्णन करते हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

तत् = उस (तत्त्वज्ञान) को
विद्धि = (तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर) समझ
प्रणिपातेन = (उनको) साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करनेसे,
सेवया = (उनकी) सेवा करनेसे (और)
परिप्रश्नेन = सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे
ते = वे
तत्त्वदर्शिनः = तत्त्वदर्शी (अनुभवी)
ज्ञानिनः = ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुष
ज्ञानम् = (तुझे उस) तत्त्वज्ञानका
उपदेक्ष्यन्ति = उपदेश देंगे।

व्याख्या—'**तद्विद्धि**'—अर्जुनने पहले कहा था कि युद्धमें स्वजनोंको मारकर मैं हित नहीं देखता (गीता—पहले अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक); इन आततायियोंको मारनेसे तो पाप ही लगेगा (गीता—पहले अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक)। युद्ध करनेकी अपेक्षा मैं भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करना श्रेष्ठ समझता हूँ (गीता—दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। इस तरह अर्जुन युद्धरूप कर्तव्य-कर्मका त्याग करना श्रेष्ठ मानते हैं; परन्तु भगवान्‌के मतानुसार ज्ञानप्राप्तिके लिये कर्मोंका त्याग करना आवश्यक नहीं है (गीता—तीसरे अध्यायका बीसवाँ और चौथे अध्यायका पंद्रहवाँ श्लोक)। इसीलिये यहाँ भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि अगर तू कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके ज्ञान प्राप्त करनेको ही श्रेष्ठ मानता है, तो तू किसी तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषके पास ही जाकर विधिपूर्वक ज्ञानको प्राप्त कर; मैं तुझे ऐसा उपदेश नहीं दूँगा।

वास्तवमें यहाँ भगवान्‌का अभिप्राय अर्जुनको ज्ञानी महापुरुषके पास भेजनेका नहीं, प्रत्युत उन्हें चेतानेका प्रतीत होता है। जैसे कोई महापुरुष किसीको उसके कल्याणकी बात कह रहा है, पर श्रद्धाकी कमीके कारण सुननेवालेको वह बात नहीं जँचती, तो वह महापुरुष उसे कह देता है कि तू किसी दूसरे महापुरुषके पास जाकर अपने कल्याणका उपाय पूछ; ऐसे ही भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि अगर तुझे मेरी बात नहीं जँचती, तो तू किसी ज्ञानी महापुरुषके पास जाकर प्रचलित प्रणालीसे ज्ञान प्राप्त कर। ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणाली है—कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके, जिज्ञासापूर्वक श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास

*** जो सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, ऐसे मनुष्योंके द्वारा 'श्रवण' होता है शास्त्रोंका, 'मनन' होता है विषयोंका, 'निदिध्यासन' होता है रुपयोंका और 'साक्षात्कार' होता है दुःखोंका!**

जाकर विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना[1]।

आगे चलकर भगवान्‌ने अड़तीसवें श्लोकमें कहा है कि यही तत्त्वज्ञान तुझे अपना कर्तव्य-कर्म करते-करते (कर्मयोग सिद्ध होते ही) दूसरे किसी साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें प्राप्त हो जायगा। उसके लिये किसी दूसरेके पास जानेकी जरूरत नहीं है।

'प्रणिपातेन'—ज्ञान-प्राप्तिके लिये गुरुके पास जाकर उन्हें साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम करे। तात्पर्य यह कि गुरुके पास नीच पुरुषकी तरह रहे—**'नीचवत् सेवेत सद्‌गुरुम्'**, जिससे अपने शरीरसे गुरुका कभी निरादर, तिरस्कार न हो जाय। नम्रता, सरलता और जिज्ञासुभावसे उनके पास रहे और उनकी सेवा करे। अपने-आपको उनके समर्पित कर दे; उनके अधीन हो जाय। शरीर और वस्तुएँ—दोनों उनके अर्पण कर दे। साष्टांग दण्डवत्-प्रणामसे अपना शरीर और सेवासे अपनी वस्तुएँ उनके अर्पण कर दे।

'सेवया'—शरीर और वस्तुओंसे गुरुकी सेवा करे। जिससे वे प्रसन्न हों, वैसा काम करे। उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनी हो तो अपने-आपको सर्वथा उनके अधीन कर दे। उनके मनके, संकेतके, आज्ञाके अनुकूल काम करे। यही वास्तविक सेवा है।

सन्त-महापुरुषकी सबसे बड़ी सेवा है—उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना। कारण कि उन्हें सिद्धान्त जितने प्रिय होते हैं, उतना अपना शरीर प्रिय नहीं होता। सिद्धान्तकी रक्षाके लिये वे अपने शरीरतकका सहर्ष त्याग कर देते हैं। इसलिये सच्चा सेवक उनके सिद्धान्तोंका दृढ़तापूर्वक पालन करता है।

'परिप्रश्नेन'—केवल परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये, जिज्ञासुभावसे सरलता और विनम्रतापूर्वक गुरुसे प्रश्न करे। अपनी विद्वत्ता दिखानेके लिये अथवा उनकी परीक्षा करनेके लिये प्रश्न न करे।

मैं कौन हूँ? संसार क्या है? बन्धन क्या है? मोक्ष क्या है? परमात्मतत्त्वका अनुभव कैसे हो सकता है? मेरे साधनमें क्या-क्या बाधाएँ हैं? उन बाधाओंको कैसे दूर किया जाय? तत्त्व समझमें क्यों नहीं आ रहा है? आदि-आदि प्रश्न केवल अपने बोधके लिये (जैसे-जैसे जिज्ञासा हो, वैसे-वैसे) करे।

'ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'—**'तत्त्वदर्शिनः'** पदका तात्पर्य यह है कि उस महापुरुषको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया हो; और **'ज्ञानिनः'** पदका तात्पर्य यह है कि उन्हें वेदों तथा शास्त्रोंका अच्छी तरह ज्ञान हो। ऐसे तत्त्वदर्शी और ज्ञानी महापुरुषके पास जाकर ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अन्तःकरणकी शुद्धिके अनुसार ज्ञानके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम अधिकारीको श्रवणमात्रसे तत्त्वज्ञान हो जाता है[2]। मध्यम अधिकारीको श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे तत्त्वज्ञान होता है। कनिष्ठ अधिकारी तत्त्वको समझनेके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारकी शंकाएँ किया करता है। उन शंकाओंका समाधान करनेके लिये वेदों और शास्त्रोंका ठीक-ठीक ज्ञान होना आवश्यक है; क्योंकि वहाँ केवल युक्तियोंसे तत्त्वको समझाया नहीं जा सकता। अतः यदि गुरु तत्त्वदर्शी हो, पर ज्ञानी न हो, तो वह शिष्यकी तरह-तरहकी शंकाओंका समाधान नहीं कर सकेगा। यदि गुरु शास्त्रोंका ज्ञाता हो, पर तत्त्वदर्शी न हो तो उसकी बातें वैसी ठोस नहीं होंगी, जिससे श्रोताको ज्ञान हो जाय। वह बातें सुना सकता है, पुस्तकें पढ़ा सकता है, पर शिष्यको बोध नहीं करा सकता। इसलिये गुरुका तत्त्वदर्शी और ज्ञानी—दोनों ही होना बहुत जरूरी है।

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्'—महापुरुषको दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और उनसे सरलता-पूर्वक प्रश्न करनेसे वे तुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे—

१-आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत् सद्‌गुरुमात्मलब्धये॥ (अध्यात्मरामायण, उत्तर० ५। ७)

'सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये शास्त्रोंमें वर्णित क्रियाओंका यथावत् पालन करके चित्त शुद्ध हो जानेपर उन क्रियाओंका त्याग कर दे, फिर शम-दम आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्‌गुरुकी शरणमें जाय।'

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डक० १। २। १२)

'उस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये वह जिज्ञासु साधक हाथमें समिधा लिये हुए विनयपूर्वक वेदशास्त्रोंके ज्ञाता और तत्त्वज्ञानी गुरुके पास जाय।'

२-उत्तम अधिकारी वही है, जिसमें तत्त्वप्राप्तिकी लगन हो, जिसको तत्त्वप्राप्तिमें भविष्य अच्छा न लगे अर्थात् जो वर्तमानमें ही तत्काल तत्त्वप्राप्ति करना चाहता हो।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि महापुरुषको इन सबकी अपेक्षा रहती है। वास्तवमें उन्हें प्रणाम, सेवा आदिकी किंचिन्मात्र भी भूख नहीं होती। यह सब कहनेका भाव है कि जब साधक इस प्रकार जिज्ञासा करता है और सरलतापूर्वक महापुरुषके पास जाकर रहता है, तब उस महापुरुषके अन्तःकरणमें उसके प्रति विशेष भाव पैदा होते हैं, जिससे साधकको बहुत लाभ होता है। यदि साधक इस प्रकार उनके पास न रहे, तो ज्ञान मिलनेपर भी वह उसे ग्रहण नहीं कर सकेगा।

'ज्ञानम्' पद यहाँ तत्त्वज्ञान अथवा स्वरूप-बोधका वाचक है। वास्तवमें ज्ञान स्वरूपका नहीं होता, प्रत्युत संसारका होता है। संसारका ज्ञान होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है।

'उपदेक्ष्यन्ति' पदका यह तात्पर्य है कि महापुरुष ज्ञानका उपदेश तो देते हैं, पर उससे साधकको बोध हो ही जाय, ऐसा निश्चित नहीं है। आगे उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त करता है—**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।'** कारण कि श्रद्धा अन्तःकरणकी वस्तु है; परन्तु प्रणाम, सेवा, प्रश्न आदि कपटपूर्वक भी किये जा सकते हैं। इसलिये यहाँ महापुरुषके द्वारा केवल ज्ञानका उपदेश देनेकी ही बात कही गयी है और उनतालीसवें श्लोकमें श्रद्धावान् साधकके द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेकी बात कही गयी है।

सम्बन्ध—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीका वर्णन करके अब भगवान् आगेके तीन (पैंतीसवें, छत्तीसवें और सैंतीसवें) श्लोकोंमें तत्त्वज्ञानका वास्तविक माहात्म्य बताते हैं।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

यत्	= जिस (तत्त्वज्ञान)-का	**न**	= नहीं	**अशेषेण**	= निःशेषभावसे (पहले)
ज्ञात्वा	= अनुभव करनेके बाद (तू)	**यास्यसि**	= प्राप्त होगा (और)	**आत्मनि**	= अपनेमें (और)
पुनः	= फिर	**पाण्डव**	= हे अर्जुन!	**अथो**	= उसके बाद
एवम्	= इस प्रकार	**येन**	= जिस (तत्त्व-ज्ञान)-से	**मयि**	= मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें
मोहम्	= मोहको	**भूतानि**	= (तू) सम्पूर्ण प्राणियोंको	**द्रक्ष्यसि**	= देखेगा।

व्याख्या—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव'**—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि वे महापुरुष तेरेको तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे; परन्तु उपदेश सुननेमात्रसे वास्तविक बोध अर्थात् स्वरूपका यथार्थ अनुभव नहीं होता—**'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'** (गीता २। २९); और वास्तविक बोधका वर्णन भी कोई कर नहीं सकता। कारण कि वास्तविक बोध करण-निरपेक्ष है अर्थात् मन, वाणी आदिसे परे है। अतः वास्तविक बोध स्वयंके द्वारा ही स्वयंको होता है और यह तब होता है, जब मनुष्य अपने विवेक (जड-चेतनके भेदका ज्ञान)-को महत्त्व देता है। विवेकको महत्त्व देनेसे जब अविवेक सर्वथा मिट जाता है, तब वह विवेक ही वास्तविक बोधमें परिणत हो जाता है और जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है। वास्तविक बोध होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता।

गीताके पहले अध्यायमें अर्जुनका मोह प्रकट होता है कि युद्धमें सभी कुटुम्बी, सगे-सम्बन्धी लोग मर जायँगे तो उन्हें पिण्ड और जल देनेवाला कौन होगा? पिण्ड और जल न देनेसे वे नरकोंमें गिर जायँगे। जो जीवित रह जायँगे, उन स्त्रियोंका और बच्चोंका निर्वाह और पालन कैसे होगा? आदि-आदि। तत्त्वज्ञान होनेके बाद ऐसा मोह नहीं रहता। बोध होनेपर जब संसारसे मैं-मेरेपनका सम्बन्ध नहीं रहता, तब पुनः मोह होनेका प्रश्न ही नहीं रहता।

'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मनि'—तत्त्वज्ञान होते ही ऐसा अनुभव होता है कि मेरी सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण है और उस सत्ताके अन्तर्गत ही अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकी सृष्टिको अपनेमें ही देखता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों (जगत्)-को अपनेमें ही देखता है। छठे अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें

आये **'सर्वभूतानि चात्मनि'** पदोंसे भी इसी स्थितिका वर्णन किया गया है।

'अथो मयि'—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी जो प्रचलित प्रक्रिया है, उसीके अनुसार भगवान् कह रहे हैं कि गुरुसे विधिपूर्वक (श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक) तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करनेपर साधक पहले अपने स्वरूपमें सम्पूर्ण प्राणियोंको देखता है—यह **'त्वम्'** पदका अनुभव हुआ, फिर वह स्वरूपको तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखता है—यह **'तत्'** पदका अनुभव हुआ। इस तरह उसको पहले **'त्वम्'** (स्वरूप) का और फिर **'तत्'** (परमात्मतत्त्व) के साथ **'त्वम्'**की एकताका अनुभव हो जाता है। एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म शेष रह जाता है। ऐसी अवस्थामें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये तीनों ही नहीं रहते। परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें उसके अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें जो भाव दीखता है, उसको लेकर ही भगवान् कहते हैं कि वह सबको मेरेमें देखता है।

स्थूल दृष्टिसे समुद्र और लहरोंमें भिन्नता दीखती है। लहरें समुद्रमें ही उठती और लीन होती रहती हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे समुद्र और लहरोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत्ता केवल एक जल-तत्त्वकी ही है। जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न लहरें। पृथ्वीसे सम्बन्ध होनेके कारण समुद्र भी सीमित है और लहरें भी; परन्तु जल-तत्त्व सीमित नहीं है। अतः समुद्र और लहरोंको न देखकर एक जल-तत्त्वको देखना ही यथार्थ दृष्टि है। इसी तरह संसाररूप समुद्र और शरीररूप लहरोंमें भिन्नता दीखती है। शरीर संसारमें ही उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। परन्तु वास्तवमें संसार और शरीर-समुदायकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत्ता केवल परमात्मतत्त्वकी ही है। परमात्मतत्त्वमें न संसार है, न शरीर। प्रकृतिसे सम्बन्ध होनेके कारण संसार भी सीमित है और शरीर भी। परन्तु परमात्मतत्त्व सीमित नहीं है। अतः संसार और शरीरोंको न देखकर एक परमात्मतत्त्वको देखना ही यथार्थ दृष्टि है (गीता—तेरहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—तत्त्वज्ञान अथवा अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञानकी आवृत्ति नहीं होती। वह एक बार अनुभवमें आ गया तो सदाके लिये आ ही गया! कारण कि जब अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है, तो फिर पुनः अज्ञान कैसे होगा? अतः नित्यनिवृत्त अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्त तत्त्वकी ही प्राप्ति होती है।

स्वयं सत्तामात्र तथा बोधस्वरूप है। बोधका अनादर करनेसे हमने असत्‌को स्वीकार किया और असत्‌को स्वीकार करनेसे अविवेक हुआ। तात्पर्य है कि बोधसे विमुख होकर हमने असत्‌को सत्ता दी और असत्‌को सत्ता देनेसे विवेकका अनादर हुआ। वास्तवमें बोधका अनादर किया नहीं है, प्रत्युत अनादिकालसे अनादर है। अगर ऐसा मानें कि हमने बोधका अनादर किया तो इससे सिद्ध होगा कि पहले बोधका आदर था। अतः अब आदर करेंगे तो पुनः अनादर हो जायगा। परन्तु बोध एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें मोह है ही नहीं। मिटता वही है, जो नहीं होता और मिलता वही है, जो होता है।

जगत् जीवके अन्तर्गत है और जीव परमात्माके अन्तर्गत है, इसलिये साधक पहले जगत्‌को अपनेमें देखता है—**'द्रक्ष्यस्यात्मनि'**, फिर अपनेको परमात्मामें देखता है—**'अथो मयि।'** **'द्रक्ष्यस्यात्मनि'** में आत्मज्ञान (ज्ञान) है और **'अथो मयि'** में परमात्मज्ञान (विज्ञान) है। आत्मज्ञानमें निजानन्द है और परमात्मज्ञानमें परमानन्द है। लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग)-से आत्मज्ञानका अनुभव होता है और अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग)-से परमात्मज्ञानका अनुभव होता है।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इस प्रकार समग्रका ज्ञान 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानसे मुक्ति तो हो जाती है, पर सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध रह जाती है, जिससे दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अगर सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध न हो तो फिर मतभेद कहाँसे आया? परन्तु परमात्मज्ञानसे सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध भी नहीं रहती और उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद समाप्त हो जाते हैं। तात्पर्य हुआ कि जबतक **'आत्मनि'** है, तबतक दार्शनिक मतभेद हैं। जब **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होनेपर सब मतभेद मिट जाते हैं, तब **'अथो मयि'** हो जाता है।' **'अथो मयि'** में एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता नहीं रहती।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥

चेत्	= अगर (तू)	**पापकृत्तमः**	= अधिक पापी	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण
सर्वेभ्यः	= सब	**असि**	= है, (तो भी तू)	**वृजिनम्**	= पाप-समुद्रसे
पापेभ्यः	= पापियोंसे	**ज्ञानप्लवेन**	= ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा	**सन्तरिष्यसि**	= अच्छी तरह तर जायगा।
अपि	= भी	**एव**	= निःसन्देह		

व्याख्या—‘**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः**’—पाप करनेवालोंकी तीन श्रेणियाँ होती हैं—(१) ‘पापकृत्’ अर्थात् पाप करनेवाला, (२) ‘पापकृत्तर’ अर्थात् दो पापियोंमें एकसे अधिक पाप करनेवाला और (३) ‘पापकृत्तम’ अर्थात् सम्पूर्ण पापियोंमें सबसे अधिक पाप करनेवाला। यहाँ ‘**पापकृत्तमः**’ पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि अगर तू सम्पूर्ण पापियोंमें भी अत्यन्त पाप करनेवाला है, तो भी तत्त्वज्ञानसे तू सम्पूर्ण पापोंसे तर सकता है।

भगवान्का यह कथन बहुत आश्वासन देनेवाला है। तात्पर्य यह है कि जो पापोंका त्याग करके साधनमें लगा हुआ है, उसका तो कहना ही क्या है! पर जिसने पहले बहुत पाप किये हों, उसको भी जिज्ञासा जाग्रत् होनेके बाद अपने उद्धारके विषयमें कभी निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि पापी-से-पापी मनुष्य भी यदि चाहे तो इसी जन्ममें अभी अपना कल्याण कर सकता है। पुराने पाप उतने बाधक नहीं होते, जितने वर्तमानके पाप बाधक होते हैं। अगर मनुष्य वर्तमानमें पाप करना छोड़ दे और निश्चय कर ले कि अब मैं कभी पाप नहीं करूँगा और केवल तत्त्वज्ञानको प्राप्त करूँगा, तो उसके पापोंका नाश होते देरी नहीं लगती।

यदि कहीं सौ वर्षोंसे घना अँधेरा छाया हो और वहाँ दीपक जला दिया जाय, तो उस अँधेरेको दूर करके प्रकाश करनेमें दीपकको सौ वर्ष नहीं लगते, प्रत्युत दीपक जलाते ही तत्काल अँधेरा मिट जाता है। इसी तरह तत्त्वज्ञान होते ही पहले किये गये सम्पूर्ण पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

‘**चेत्**’—(यदि) पद देनेका तात्पर्य यह है कि प्रायः ऐसे पापी मनुष्य परमात्मामें नहीं लगते; परन्तु वे परमात्मामें लग नहीं सकते—ऐसी बात नहीं है। किसी महापुरुषके संगसे अथवा किसी घटना, परिस्थिति, वातावरण आदिके प्रभावसे यदि उनका ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय कि अब परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना ही है, तो वे भी सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जाते हैं।

नवें अध्यायके तीसवें-इकतीसवें श्लोकोंमें भी भगवान्ने ऐसी ही बात अनन्यभावसे अपना भजन करनेवालेके लिये कही है कि महान् दुराचारी मनुष्य भी अगर यह निश्चय कर ले कि अब मैं भगवान्का भजन ही करूँगा, तो उसका भी बहुत जल्दी कल्याण हो जाता है।

‘**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि**’—प्रकृतिके कार्य शरीर और संसारके सम्बन्धसे ही सम्पूर्ण पाप होते हैं। तत्त्वज्ञान होनेपर जब इनसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब पाप कैसे रह सकते हैं—‘**मूलाभावे कुतः शाखा**’?

परमात्माके स्वतःसिद्ध ज्ञानके साथ एक होना ही ‘**ज्ञानप्लव**’ अर्थात् ज्ञानरूप नौकाका प्राप्त होना है। मनुष्य कितना ही पापी क्यों न रहा हो, ज्ञानरूप नौकासे वह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जाता है। यह ज्ञानरूप नौका कभी टूटती-फूटती नहीं, इसमें कभी छिद्र नहीं होता और यह कभी डूबती भी नहीं। यह मनुष्यको पाप-समुद्रसे पार करा देती है।

‘ज्ञानयज्ञ’ (चौथे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक) से ही यह ज्ञानरूप नौका प्राप्त होती है। यह ज्ञानयज्ञ आरम्भसे ही ‘विवेक’ को लेकर चलता है और ‘तत्त्वज्ञान’ में इसकी पूर्णता हो जाती है। पूर्णता होनेपर लेशमात्र भी पाप नहीं रहता।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान्ने ‘**पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः**’ पदोंसे पापीकी आखिरी हद बता दी है! यद्यपि ‘**पापेभ्यः**’ पद बहुवचन होनेसे सम्पूर्ण पापियोंका वाचक है, फिर भी भगवान्ने इसके साथ ‘**सर्वेभ्यः**’ पद दिया। ‘**सर्वेभ्यः**’ पद भी सम्पूर्णका वाचक है। ये दो पद देनेके बाद भी भगवान्ने ‘**पापकृत्तमः**’ पद और दिया है, जो अतिशयताका बोधक है। पहले ‘पापकृत्’ होता है, फिर ‘पापकृत्तर’ होता है और फिर ‘पापकृत्तम’ होता है। तात्पर्य निकला कि सम्पूर्ण संसारमें जितने भी पापी हो सकते हैं, उन सम्पूर्ण पापियोंसे भी जो अत्यधिक पापी है, उसको भी ज्ञान प्राप्त

हो सकता है! कारण कि पाप कितने ही क्यों न हों, हैं वे असत् ही, जबकि ज्ञान सत् है। सत्‌के आगे असत् कैसे टिक सकता है! पाप अपवित्र है, जबकि ज्ञान परमपवित्र है (इसी अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। अपवित्र वस्तु पवित्र वस्तुको कैसे अटका सकती है! अतः पापोंमें ज्ञानको अटकानेकी ताकत नहीं है। ज्ञानप्राप्तिमें खास बाधा है—नाशवान् सुखकी आसक्ति (गीता—तीसरे अध्यायके सैंतीसवेंसे इकतालीसवें श्लोकतक)। भोगासक्तिके कारण ही मनुष्यकी पारमार्थिक विषयमें रुचि नहीं होती और रुचि न होनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति बड़ी कठिन प्रतीत होती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**एधांसि**	= ईंधनोंको	**ज्ञानाग्निः**	= ज्ञानरूपी अग्नि
यथा	= जैसे	**भस्मसात्**	= सर्वथा भस्म	**सर्वकर्माणि**	= सम्पूर्ण कर्मोंको
समिद्धः	= प्रज्वलित	**कुरुते**	= कर देती है,	**भस्मसात्**	= सर्वथा भस्म
अग्निः	= अग्नि	**तथा**	= ऐसे ही	**कुरुते**	= कर देती है।

व्याख्या—**'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'**—पीछेके श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रको तरनेकी बात कही। उससे यह प्रश्न पैदा होता है कि पापसमुद्र तो शेष रहता ही है, फिर उसका क्या होगा? अतः भगवान् पुनः दूसरा दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि सम्पूर्ण ईंधनोंको इस प्रकार भस्म कर देती है कि उनका किंचिन्मात्र भी अंश शेष नहीं रहता, ऐसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण पापोंको इस प्रकार भस्म कर देती है कि उनका किंचिन्मात्र भी अंश शेष नहीं रहता।

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'—जैसे अग्नि काष्ठको भस्म कर देती है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान-रूपी अग्नि संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—तीनों कर्मोंको भस्म कर देती है। जैसे अग्निमें काष्ठका अत्यन्त अभाव हो जाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञानमें सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान होनेपर कर्मोंसे अथवा संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत एक परमात्मतत्त्व ही शेष रहता है।

वास्तवमें मात्र क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। उन क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध मान लेनेसे कर्म होते हैं। नाड़ियोंमें रक्त-प्रवाह होना, शरीरका बालकसे जवान होना, श्वासोंका आना-जाना, भोजनका पचना आदि क्रियाएँ जिस समष्टि प्रकृतिसे होती हैं, उसी प्रकृतिसे खाना-पीना, चलना, बैठना, देखना, बोलना आदि क्रियाएँ भी होती हैं। परन्तु मनुष्य अज्ञानवश उन क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है अर्थात् अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है। इससे वे क्रियाएँ 'कर्म' बनकर मनुष्यको बाँध देती हैं। इस प्रकार माने हुए सम्बन्धसे ही कर्म होते हैं, अन्यथा क्रियाएँ ही होती हैं।

तत्त्वज्ञान होनेपर अनेक जन्मोंके संचित कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। कारण कि सभी संचित कर्म अज्ञानके आश्रित रहते हैं; अतः ज्ञान होते ही (आश्रय, आधाररूप अज्ञान न रहनेसे) वे नष्ट हो जाते हैं। तत्त्वज्ञान होनेपर कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता; अतः सभी क्रियमाण कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फलजनक नहीं होते। प्रारब्ध कर्मका घटना-अंश (अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति) तो जबतक शरीर रहता है, तबतक रहता है; परन्तु ज्ञानीपर उसका कोई असर नहीं पड़ता। कारण कि तत्त्वज्ञान होनेपर भोक्तृत्व नहीं रहता; अतः अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति सामने आनेपर वह सुखी-दुःखी नहीं होता। इस प्रकार तत्त्वज्ञान होनेपर संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—तीनों कर्मोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। कर्मोंसे अपना सम्बन्ध न रहनेसे कर्म नहीं रहते, भस्म रह जाती है अर्थात् सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगे कहे श्लोकके पूर्वार्धमें तत्त्वज्ञानकी महिमा बताते हुए उत्तरार्धमें कर्मयोगकी विशेष महत्ता प्रकट करते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

इह = इस मनुष्यलोकमें
ज्ञानेन = ज्ञानके
सदृशम् = समान
पवित्रम् = पवित्र करनेवाला
हि = निःसन्देह (दूसरा कोई साधन)
न = नहीं
विद्यते = है।
योगसंसिद्धः = जिसका योग भलीभाँति सिद्ध हो गया है, (वह कर्मयोगी)
तत् = उस तत्त्वज्ञानको
कालेन = अवश्य ही
स्वयम् = स्वयं
आत्मनि = अपने-आपमें
विन्दति = पा लेता है।

व्याख्या—'**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**'—यहाँ '**इह**' पद मनुष्यलोकका वाचक है; क्योंकि सब-की-सब पवित्रता इस मनुष्यलोकमें ही प्राप्त की जाती है। पवित्रता प्राप्त करनेका अधिकार और अवसर मनुष्य-शरीरमें ही है। ऐसा अधिकार किसी अन्य शरीरमें नहीं है। अलग-अलग लोकोंके अधिकार भी मनुष्यलोकसे ही मिलते हैं।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ताको माननेसे तथा उससे सुख लेनेकी इच्छासे ही सम्पूर्ण दोष, पाप उत्पन्न होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। तत्त्वज्ञान होनेपर जब संसारकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती, तब सम्पूर्ण पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है और महान् पवित्रता आ जाती है। इसलिये संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन है ही नहीं।

संसारमें यज्ञ, दान, तप, पूजा, व्रत, उपवास, जप, ध्यान, प्राणायाम आदि जितने साधन हैं तथा गंगा, यमुना, गोदावरी आदि जितने तीर्थ हैं, वे सभी मनुष्यके पापोंका नाश करके उसे पवित्र करनेवाले हैं। परन्तु उन सबमें भी तत्त्वज्ञानके समान पवित्र करनेवाला कोई भी साधन, तीर्थ आदि नहीं है; क्योंकि वे सब तत्त्वज्ञानके साधन हैं और तत्त्वज्ञान उन सबका साध्य है।

परमात्मा पवित्रोंके भी पवित्र हैं—'**पवित्राणां पवित्रम्**' (विष्णुसहस्र० १०)। उन्हीं परमपवित्र परमात्माका अनुभव करानेवाला होनेसे तत्त्वज्ञान भी अत्यन्त पवित्र है।

'**योगसंसिद्धः**'—जिसका कर्मयोग सिद्ध हो गया है अर्थात् कर्मयोगका अनुष्ठान सांगोपांग पूर्ण हो गया है, उस महापुरुषको यहाँ '**योगसंसिद्धः**' कहा गया है, छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें उसीको '**योगारूढः**' कहा गया है। योगारूढ़ होना कर्मयोगकी अन्तिम अवस्था है। योगारूढ़ होते ही तत्त्वबोध हो जाता है। तत्त्वबोध हो जानेपर संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

कर्मयोगकी मुख्य बात है—अपना कुछ भी न मानकर सम्पूर्ण कर्म संसारके हितके लिये करना, अपने लिये कुछ भी न करना। ऐसा करनेपर सामग्री और क्रिया-शक्ति—दोनोंका प्रवाह संसारकी सेवामें हो जाता है। संसारकी सेवामें प्रवाह होनेपर '**मैं सेवक हूँ**' ऐसा (अहम्का) भाव भी नहीं रहता अर्थात् सेवक नहीं रहता, केवल सेवा रह जाती है। इस प्रकार जब सेवक सेवा बनकर सेव्यमें लीन हो जाता है, तब प्रकृतिके कार्य शरीर तथा संसारसे सर्वथा वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है। वियोग होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती, केवल क्रिया रह जाती है। इसीको योगकी संसिद्धि अर्थात् सम्यक् सिद्धि कहते हैं।

कर्म और फलकी आसक्तिसे ही 'योग'का अनुभव नहीं होता। वास्तवमें कर्मों और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद स्वतःसिद्ध है। कारण कि कर्म और पदार्थ तो अनित्य (आदि-अन्तवाले) हैं, और अपना स्वरूप नित्य है। अनित्य कर्मोंसे नित्य स्वरूपको क्या मिल सकता है? इसलिये स्वरूपको कर्मोंके द्वारा कुछ नहीं पाना है—यह 'कर्मविज्ञान' है। कर्मविज्ञानका अनुभव होनेपर कर्मफलसे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् कर्मजन्य सुख लेनेकी आसक्ति सर्वथा मिट जाती है, जिसके मिटते ही परमात्माके साथ अपने स्वाभाविक नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है, जो 'योगविज्ञान' है। योगविज्ञानका अनुभव होना ही योगकी संसिद्धि है।

'**तत्स्वयं कालेनात्मनि विन्दति**'—जिस तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं और जिसके समान पवित्र करनेवाला संसारमें दूसरा कोई साधन नहीं है, उसी तत्त्व-ज्ञानको कर्मयोगी योगसंसिद्ध होनेपर दूसरे किसी साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें ही तत्काल प्राप्त कर लेता है।

चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया था कि प्रचलित प्रणालीके अनुसार कर्मोंका त्याग करके गुरुके पास जानेपर वे तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे—**'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्।'** किंतु गुरु तो उपदेश दे देंगे, पर उससे तत्त्वज्ञान हो ही जायगा—ऐसा निश्चित नहीं है। फिर भी भगवान् यहाँ बताते हैं कि कर्मयोगकी प्रणालीसे कर्म करनेवाले मनुष्यको योगसंसिद्धि मिल जानेपर तत्त्वज्ञान हो ही जाता है।

उपर्युक्त पदोंमें आया **'कालेन'** पद विशेष ध्यान देनेयोग्य है। भगवान्‌ने व्याकरणकी दृष्टिसे **'कालेन'** पद तृतीयामें प्रयुक्त करके यह बताया है कि कर्मयोगसे अवश्य ही तत्त्वज्ञान अथवा परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है*।

'स्वयम्' पद देनेका तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगीको किसी गुरुकी, ग्रन्थकी या दूसरे किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। कर्मयोगकी विधिसे कर्तव्य-कर्म करते हुए ही उसे अपने-आप तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायगा।

'आत्मनि विन्दति' पदोंका तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगीको किसी दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं है। कर्मयोग सिद्ध होनेपर उसे अपने-आपमें ही स्वत:सिद्ध तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाता है।

परमात्मा सब जगह परिपूर्ण होनेसे अपनेमें भी हैं। जहाँ साधक 'मैं हूँ'-रूपसे अपने-आपको मानता है, वहीं परमात्मा विराजमान हैं, परन्तु परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण अपने-आपमें स्थित परमात्माका अनुभव नहीं होता। कर्मयोगका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेसे जब संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् संसारसे तादात्म्य, ममता और कामना मिट जाती है, तब उसे अपने-आपमें ही तत्त्वका सुखपूर्वक अनुभव हो जाता है—**'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** (गीता ५। ३)।

परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण-निरपेक्ष है। इसलिये उसका अनुभव अपने-आपसे ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि करणोंसे नहीं। साधक किसी भी उपायसे तत्त्वको जाननेका प्रयत्न क्यों न करे, पर अन्तमें वह अपने-आपसे ही तत्त्वको जानेगा। श्रवण-मनन आदि साधन तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेमें असम्भावना, विपरीत भावना आदि ज्ञानकी बाधाओंको दूर करनेवाले परम्परागत साधन माने जा सकते हैं, पर वास्तविक बोध अपने-आपसे ही होता है; कारण कि मन, बुद्धि आदि सब जड हैं। जडके द्वारा उस चिन्मय तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है, जो जडसे सर्वथा अतीत है? वास्तवमें तत्त्वका अनुभव जडके सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है, जडके द्वारा नहीं। जैसे, आँखोंसे संसारको तो देखा जा सकता है, पर आँखोंसे आँखोंको नहीं देखा जा सकता; परन्तु यह कहा जा सकता है कि जिससे देखते हैं, वही आँख है। इसी प्रकार जो सबको जाननेवाला है, उसे किसके द्वारा जाना जा सकता है—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदारण्यक० २। ४। १४)? परन्तु जिससे सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान होता है, वही परमात्मतत्त्व है।

विशेष बात

इस अध्यायके तैंतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने ज्ञानकी जो प्रशंसा की है, उससे ज्ञानयोगकी विशेष महिमा झलकती है; परन्तु वास्तवमें उसे ज्ञानयोगकी ही महिमा मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। गहरा विचार करें तो इसमें अर्जुनके प्रति भगवान्‌का एक गूढ़ अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो तत्त्वज्ञान इतना महान् और पवित्र है तथा जिस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये मैं तुझे तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जानेकी आज्ञा दे रहा हूँ, उस ज्ञानको तू स्वयं कर्मयोगके द्वारा अवश्यमेव प्राप्त कर सकता है—**'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (गीता ४। ३८)। इस प्रकार ज्ञानयोगकी प्रशंसाके ये श्लोक वास्तवमें प्रकारान्तरसे कर्मयोगकी ही विशेषता, महिमा बतानेके लिये हैं। भगवान्‌का अभिप्राय यह नहीं था कि अर्जुन ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करे। भगवान्‌का अभिप्राय यह था

---

* 'कालेन'—इस शब्दमें 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पाणिनिसूत्र २। ३। ५)—इससे प्राप्त द्वितीया विभक्तिका निषेध करके 'अपवर्गे तृतीया' (वही २। ३। ६)—इससे तृतीया विभक्ति हुई है। तृतीया विभक्ति वहीं होती है, जहाँ अवश्य फलप्राप्तिका अर्थात् कार्य अवश्य सिद्ध होनेका द्योतन होता है। परन्तु जहाँ द्वितीया विभक्ति होती है, वहाँ अवश्य फलप्राप्तिका द्योतन नहीं होता; जैसे—'मासम् अधीते' पद द्वितीयामें प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है कि एक मासमें भी पूरा न पढ़ सका। परन्तु यही पद यदि 'मासेन अधीते' इस प्रकार तृतीयामें प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है कि एक मासमें पूरा पढ़ लिया। इसी प्रकार भगवान्‌ने यहाँ द्वितीयामें 'कालम्' पद न देकर तृतीयामें 'कालेन' पद दिया है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि कर्मयोगसे अवश्य फलप्राप्ति (सिद्धि) होती है।

कि जो ज्ञान इतनी दुर्लभतासे, ज्ञानियोंके पास रहकर उनकी सेवा करके और विनयपूर्वक प्रश्नोत्तर करके तथा उसके अनुसार श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके प्राप्त करेगा, वही ज्ञान तुझे कर्मयोगकी विधिसे प्राप्त कर्तव्य-(युद्ध-) का पालन करनेसे ही प्राप्त हो जायगा। जिस तत्त्वज्ञानके लिये मैंने तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके पास जानेकी प्रेरणा की है, वह तत्त्वज्ञान प्राप्त हो ही जायगा, यह निश्चित नहीं है; क्योंकि जिस पुरुषके पास जाओगे, वह तत्त्वदर्शी ही है—इसका क्या पता? और उस महापुरुषके प्रति श्रद्धाकी कमी भी रह सकती है। दूसरी बात, इस प्रक्रियामें पहले सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनेमें देखेगा और उसके बाद सम्पूर्ण प्राणियोंको एक परमात्मतत्त्वमें देखेगा (गीता—चौथे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेकी इस प्रक्रियामें संशय तथा विलम्बकी सम्भावना है। परन्तु कर्मयोगके द्वारा अन्य पुरुषकी अपेक्षाके बिना, अवश्यमेव और तत्काल उस तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाता है। इसलिये मैं तेरे लिये कर्मयोगको ही ठीक समझता हूँ; अतः तुझे प्रचलित प्रणालीके ज्ञानका उपदेश मैं नहीं दूँगा।

भगवान् तो महापुरुषोंके भी महापुरुष हैं। अतः वे अर्जुनको किसी दूसरे महापुरुषके पास जाकर ज्ञान सीखनेके लिये कैसे कह सकते हैं? आगे इसी अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें भगवान्ने कर्मयोगकी प्रशंसा करके बयालीसवें श्लोकमें अर्जुनको समतामें स्थित होकर युद्ध करनेकी स्पष्टरूपसे आज्ञा दी है।

परिशिष्ट भाव—'पवित्रमिह'—अपवित्रता संसारके सम्बन्धसे आती है। तत्त्वज्ञान होनेपर जब संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब अपवित्रता रहनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसलिये ज्ञानमें किंचिन्मात्र भी अपवित्रता, जड़ता, विकार नहीं है।

'**इह**' पद 'लोक' का वाचक है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान लौकिक है, जबकि परमात्मज्ञान अलौकिक है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें ज्ञान-प्राप्तिके पात्रका निरूपण करते हैं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

संयतेन्द्रियः	= (जो) जितेन्द्रिय (तथा)	**ज्ञानम्**	= ज्ञानको	**अचिरेण**	= तत्काल
तत्परः	= साधन-परायण है, (ऐसा)	**लभते**	= प्राप्त होता है (और)	**पराम्**	= परम
श्रद्धावान्	= श्रद्धावान् मनुष्य	**ज्ञानम्**	= ज्ञानको	**शान्तिम्**	= शान्तिको
		लब्ध्वा	= प्राप्त होकर (वह)	**अधिगच्छति**	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**'तत्परः संयतेन्द्रियः'**—इस श्लोकमें श्रद्धावान् पुरुषको ज्ञान प्राप्त होनेकी बात आयी है। अपनेमें श्रद्धा कम होनेपर भी मनुष्य भूलसे अपनेको अधिक श्रद्धावाला मान सकता है, इसलिये भगवान्ने श्रद्धाकी पहचानके लिये दो विशेषण दिये हैं—'**संयतेन्द्रियः**' और '**तत्परः**।'

जिसकी इन्द्रियाँ पूर्णतया वशमें हैं, वह '**संयतेन्द्रियः**' है और जो अपने साधनमें तत्परतापूर्वक लगा हुआ है, वह '**तत्परः**' है। साधनमें तत्परताकी कसौटी है—इन्द्रियोंका संयत होना। अगर इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं और विषयभोगोंकी तरफ जाती हैं, तो साधन-परायणतामें कमी समझनी चाहिये।

'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**'—परमात्मामें, महापुरुषोंमें, धर्ममें और शास्त्रोंमें प्रत्यक्षकी तरह आदरपूर्वक विश्वास होना 'श्रद्धा' कहलाती है।

जबतक परमात्मतत्त्वका अनुभव न हो, तबतक परमात्मामें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास होना चाहिये। वास्तवमें परमात्मासे देश, काल आदिकी दूरी नहीं है, केवल मानी हुई दूरी है। दूरी माननेके कारण ही परमात्मा सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी अनुभवमें नहीं आ रहे हैं। इसलिये 'परमात्मा अपनेमें हैं' ऐसा मान लेनेका नाम ही श्रद्धा है। कैसा ही व्यक्ति क्यों न हो, अगर वह एकमात्र परमात्माको प्राप्त करना चाहता है और 'परमात्मा अपनेमें हैं' ऐसी श्रद्धावाला है, तो उसे अवश्य परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो जाता है।

संसार प्रतिक्षण ही जा रहा है, एक क्षण भी टिकता

नहीं। उसकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। केवल परमात्माकी सत्तासे ही वह सत्तावान् दीख रहा है। इस तरह संसारकी स्वतन्त्र सत्ताको न मानकर एक परमात्माकी सत्ताको ही मानना श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा होनेपर तत्काल ज्ञान हो जाता है।

जबतक इन्द्रियाँ संयत न हों और साधनमें तत्परता न हो, तबतक श्रद्धामें कमी समझनी चाहिये। यदि इन्द्रियाँ विषयोंकी तरफ जाती हैं, तो साधनमें तत्परता नहीं आती। साधनमें तत्परता न होनेसे दूसरेकी परायणता, दूसरेका आदर होता है। जबतक साधन-परायणता नहीं होती, तबतक श्रद्धा भी पूरी नहीं होती। श्रद्धा पूरी न होनेके कारण ही तत्त्वके अनुभवमें देरी लगती है, नहीं तो नित्यप्राप्त तत्त्वके अनुभवमें देरीका कारण है ही नहीं।

इसी अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्ने गुरुके पास जाकर विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रणालीका वर्णन करते हुए तीन साधन बताये—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा। यहाँ भगवान्ने ज्ञान प्राप्त करनेका एक साधन बताया है—श्रद्धा। चौंतीसवें श्लोकमें '**उपदेक्ष्यन्ति**'पदसे गुरुके द्वारा केवल ज्ञानका उपदेश देनेकी बात आयी है; उपदेशसे ज्ञान प्राप्त हो जायगा, ऐसी बात वहाँ नहीं आयी। परन्तु इस श्लोकमें '**लभते**'पदसे ज्ञान प्राप्त होनेकी बात आयी है। तात्पर्य यह है कि चौंतीसवें श्लोकमें कहे साधनोंसे ज्ञान प्राप्त हो जायगा—ऐसा निश्चित नहीं है; परन्तु इस श्लोकमें कहे साधनसे निश्चितरूपसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है। कारण यह है कि चौंतीसवें श्लोकमें कहे साधन बहिरंग होनेसे कपटभावसे तथा साधारणभावसे भी किये जा सकते हैं; परन्तु इस श्लोकमें कहा साधन अन्तरंग होनेसे कपटभावसे तथा साधारणभावसे नहीं किया जा सकता (गीता—सत्रहवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धा मुख्य है।

ऐसा एक तत्त्व या बोध है, जिसका अनुभव मेरेको हो सकता है और अभी हो सकता है—यही वास्तवमें श्रद्धा है। तत्त्व भी विद्यमान है, मैं भी विद्यमान हूँ और तत्त्वका अनुभव करना भी चाहता हूँ, फिर देरी किस बातकी?

विशेष बात

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो नित्य-निरन्तर विद्यमान रहता है, वह तो प्रिय नहीं लगता और जो निरन्तर ही बदल रहा है, जा रहा है, वह संसार प्रिय लगता है! इसमें कारण यही है कि जिस संसारकी एक क्षण भी स्थिति नहीं है, जो निरन्तर ही अभावमें जा रहा है, उसे हम स्थायी मान लेते हैं। स्थायी माननेके कारण ही उससे स्थायी सुख लेना चाहते हैं, जो सर्वथा असम्भव है।

सुख लेनेके लिये हम संसारमें अपनापन कर लेते हैं, जो किसी भी कालमें अपना नहीं है। अपनी वस्तु वही है, जो हमसे कभी अलग नहीं होती और जिससे हम कभी अलग नहीं होते। यदि संसार अपना होता, तो प्रत्येक परिस्थिति हमारे साथ रहती। परन्तु न तो परिस्थिति हमारे साथ रहती है और न हम ही परिस्थितिके साथ रहते हैं। इसलिये वह अपनी है ही नहीं। जिन अन्तःकरण और इन्द्रियोंसे हम संसारको देखते हैं, उन्हें भी हम भूलसे अपनी मान लेते हैं। परन्तु इनपर भी हमारा कोई अधिकार नहीं चलता। अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित सम्पूर्ण संसार प्रलयकी ओर जा रहा है। उसकी स्थिति है ही नहीं।

संसारकी प्रतीतिमात्र होती है, इसलिये इसकी प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती। संसार अपने स्वरूपतक पहुँच ही नहीं सकता, पर स्वरूप सब जगह सत्तारूपसे विद्यमान रहता है। संसारका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, पर अपना अस्तित्व नित्य-निरन्तर रहता है। स्वरूपका अर्थात् अपने होनेपनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। स्वरूप अपरिवर्तनशील है। यदि वह परिवर्तनशील होता, तो संसारके परिवर्तनको कौन देखता? हमें जैसे संसारके निरन्तर परिवर्तन और अभावका अनुभव होता है, ऐसे अपने परिवर्तन और अभावका अनुभव कभी नहीं होता। ऐसा होनेपर भी परिवर्तनशील शरीरके साथ अपनेको मिलाकर उसके परिवर्तनको भूलसे अपना परिवर्तन मान लेते हैं। शरीरके साथ सम्बन्ध मानकर शरीरकी अवस्थाको अपनी अवस्था मान लेते हैं। विचार करें कि यदि शरीरकी अवस्थाके साथ हम एक होते, तो अवस्थाके चले जानेपर हम भी चले गये होते। इससे सिद्ध होता है कि जानेवाली अवस्था दूसरी है और हम दूसरे हैं। इस प्रकारके अपने नित्यसिद्ध स्वरूपका अनुभव होना 'ज्ञान' है।

दूसरी बात, इस उनतालीसवें श्लोकमें '**लभते**'पद आया है, जिसका तात्पर्य है—जिस वस्तुका निर्माण नहीं होता, ऐसी नित्यसिद्ध वस्तुकी प्राप्ति। जिस वस्तुका निर्माण होता है अर्थात् जो वस्तु पहले नहीं होती, प्रत्युत बनायी जाती है, उस वस्तुकी प्राप्तिको '**लभते**' नहीं कह सकते। कारण कि जो वस्तु पहले नहीं थी तथा बादमें भी नहीं

रहेगी, ऐसी वस्तुकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती। प्रतीत होनेवाली वस्तुको प्राप्त मान लेना अपने विवेकका सर्वथा अनादर है।

जो संसारकी उत्पत्तिके पहले भी रहता है, संसारकी (उत्पन्न होकर होनेवाली) स्थितिमें भी रहता है और संसारके नष्ट होनेके बाद भी रहता है, वह तत्त्व 'है' नामसे कहा जाता है, और 'है' की प्राप्तिको ही '**लभते**' कहते हैं। परन्तु जो वस्तु उत्पन्न होनेसे पहले भी नहीं थी और नष्ट होनेके बाद भी नहीं रहेगी तथा बीचमें भी निरन्तर नाशकी ओर जा रही है, वह वस्तु 'नहीं' नामसे कही जाती है। 'नहीं' की प्रतीति होती है, प्राप्ति नहीं। जो 'है', वह तो है ही और जो 'नहीं' है, वह है ही नहीं। 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे मानते हुए 'है' को 'है'-रूपसे मान लेना श्रद्धा है, जिससे नित्यसिद्ध ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है—'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**।'

'**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति**'—नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने निषेध-मुखसे कहा है कि श्रद्धारहित पुरुष मेरेको प्राप्त न होकर जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें घूमते रहते हैं। उसी बातको यहाँ विधि-मुखसे कहते हैं कि श्रद्धावान् पुरुष परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् मेरेको प्राप्त होकर जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे छूट जाता है।

परमशान्तिका तत्काल अनुभव न होनेका कारण है—जो वस्तु अपने-आपमें है, उसको अपने-आपमें न ढूँढ़कर बाहर दूसरी जगह ढूँढ़ना। परमशान्ति प्राणिमात्रमें स्वतःसिद्ध है। परन्तु मनुष्य परमशान्ति-स्वरूप परमात्मासे तो विमुख हो जाता है और सांसारिक वस्तुओंमें शान्ति ढूँढ़ता है। इसलिये अनेक जन्मोंतक शान्तिकी खोजमें भटकते रहनेपर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंमें शान्ति मिल ही कैसे सकती है? तत्त्वज्ञानका अनुभव होनेपर जब दुःखरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब स्वतःसिद्ध परमशान्तिका तत्काल अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'—श्रद्धा-विश्वास और विवेककी आवश्यकता सभी साधकोंके लिये हैं। हाँ, कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें विवेककी मुख्यता है और भक्तियोगमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है। आरम्भमें 'तत्त्वज्ञान है'—ऐसी श्रद्धा होगी, तभी साधक उसकी प्राप्तिके लिये साधन करेगा।

सम्बन्ध—जो ज्ञानप्राप्तिका अपात्र है, ऐसे विवेकहीन संशयात्मा मनुष्यकी भगवान् आगेके श्लोकमें निन्दा करते हैं।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

अज्ञः	= विवेकहीन	**संशयात्मनः**	= संशयात्मा मनुष्यके लिये	**न**	= न
च	= और	**न**	= न तो	**परः**	= परलोक (हितकारक) है
अश्रद्दधानः	= श्रद्धारहित	**अयम्**	= यह	**च**	= और
संशयात्मा	= संशयात्मा मनुष्यका	**लोकः**	= लोक (हितकारक)	**न**	= न
विनश्यति	= पतन हो जाता है। (ऐसे)	**अस्ति**	= है	**सुखम्**	= सुख (ही) है।

व्याख्या—'**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति**'-जिस पुरुषका विवेक अभी जाग्रत् नहीं हुआ है तथा जितना विवेक जाग्रत् हुआ है, उसको महत्त्व नहीं देता और साथ ही जो अश्रद्धालु है, ऐसे संशययुक्त पुरुषका पारमार्थिक मार्गसे पतन हो जाता है। कारण कि संशययुक्त पुरुषकी अपनी बुद्धि तो प्राकृत—शिक्षारहित है और दूसरेकी बातका आदर नहीं करता, फिर ऐसे पुरुषके संशय कैसे नष्ट हो सकते हैं? और संशय नष्ट हुए बिना उसकी उन्नति भी कैसे हो सकती है?

अलग-अलग बातोंको सुननेसे 'यह ठीक है अथवा वह ठीक है?'—इस प्रकार सन्देहयुक्त पुरुषका नाम संशयात्मा है। पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले साधकमें संशय पैदा होना स्वाभाविक है; क्योंकि वह किसी भी विषयको पढ़ेगा तो कुछ समझेगा और कुछ नहीं समझेगा। जिस विषयको कुछ नहीं समझते, उस विषयमें संशय पैदा

नहीं होता और जिस विषयको पूरा समझते हैं, उस विषयमें संशय नहीं रहता। अतः संशय सदा अधूरे ज्ञानमें ही पैदा होता है, इसीको अज्ञान कहते हैं[1]। इसलिये संशयका उत्पन्न होना हानिकारक नहीं है, प्रत्युत संशयको बनाये रखना और उसे दूर करनेकी चेष्टा न करना ही हानिकारक है। संशयको दूर करनेकी चेष्टा न करनेपर वह संशय ही 'सिद्धान्त' बन जाता है। कारण कि संशय दूर न होनेपर मनुष्य सोचता है कि पारमार्थिक मार्गमें सब कुछ ढकोसला है और ऐसा सोचकर उसे छोड़ देता है तथा नास्तिक बन जाता है। परिणामस्वरूप उसका पतन हो जाता है। इसलिये अपने भीतर संशयका रहना साधकको बुरा लगना चाहिये। संशय बुरा लगनेपर जिज्ञासा जाग्रत् होती है, जिसकी पूर्ति होनेपर संशय-विनाशक ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

साधकका लक्षण है—खोज करना। यदि वह मन और इन्द्रियोंसे देखी बातको ही सत्य मान लेता है, तो वहीं रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता। साधकको निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिये। जैसे रास्तेपर चलते समय मनुष्य यह न देखे कि कितने मील आगे आ गये, प्रत्युत यह देखे कि कितने मील अभी बाकी पड़े हैं, तब वह ठीक अपने लक्ष्यतक पहुँच जायगा। ऐसे ही साधक यह न देखे कि कितना जान लिया अर्थात् अपने जाने हुएपर सन्तोष न करे, प्रत्युत जिस विषयको अच्छी तरह नहीं जानता, उसे जाननेकी चेष्टा करता रहे। इसलिये संशयके रहते हुए कभी सन्तोष नहीं होना चाहिये, प्रत्युत जिज्ञासा अग्निकी तरह दहकती रहनी चाहिये। ऐसा होनेपर साधकका संशय सन्त-महात्माओंसे अथवा ग्रन्थोंसे किसी-न-किसी प्रकारसे दूर हो ही जाता है। संशय दूर करनेवाला कोई न मिले तो भगवत्कृपासे उसका संशय दूर हो जाता है।

विशेष बात

जीवात्मा परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये जब उसमें अपने अंशी परमात्माको प्राप्त करनेकी भूख जाग्रत् होती है और उसकी पूर्ति न होनेका दुःख होता है, तब उस दुःखको भगवान् सह नहीं सकते। अतः उसकी पूर्ति भगवान् स्वतः करते हैं। ऐसे ही जब साधकको अपने भीतर स्थित संशयसे व्याकुलता या दुःख होता है, तब वह दुःख भगवान्‌को असह्य होता है। संशय दूर करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत जिस संशयको लेकर साधकको दुःख हो रहा है, उस संशयको दूर करके भगवान् स्वतः उसका वह दुःख मिटा देते हैं। संशयात्मा पुरुषकी एक पुकार होती है, जो स्वतः भगवान्‌तक पहुँच जाती है।

संशयके कारण साधककी वास्तविक उन्नति रुक जाती है, इसलिये संशय दूर करनेमें ही उसका हित है। भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९), इसलिये जिस संशयको लेकर मनुष्य व्याकुल होता है और वह व्याकुलता उसे असह्य हो जाती है, तो भगवान् उस संशयको किसी भी रीति—उपायसे दूर कर देते हैं। गलती यही होती है कि मनुष्य जितना जान लेता है, उसीको पूरा समझकर अभिमान कर लेता है कि मैं ठीक जानता हूँ। यह अभिमान महान् पतन करनेवाला हो जाता है।

'**नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः**'—इस श्लोकमें ऐसे संशयात्मा मनुष्यका वर्णन है, जो 'अज्ञ' और 'अश्रद्धालु' है। तात्पर्य यह है कि भीतर संशय रहनेपर भी उस मनुष्यकी न तो अपनी विवेकवती बुद्धि है और न वह दूसरेकी बात ही मानता है। इसलिये उस संशयात्मा मनुष्यका पतन हो जाता है। उसके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।[2]

संशयात्मा मनुष्यका इस लोकमें व्यवहार बिगड़ जाता है। कारण कि वह प्रत्येक विषयमें संशय करता है, जैसे—यह आदमी ठीक है या बेठीक है? यह भोजन ठीक है या बेठीक है? इसमें मेरा हित है या अहित है? आदि। उस संशयात्मा मनुष्यको परलोकमें भी कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि कल्याणमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी

१-अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है। अधूरे ज्ञानको पूरा ज्ञान मान लेना ही अज्ञान है। कारण कि परमात्माका ही अंश होनेसे जीवमें ज्ञानका सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता, केवल नाशवान् असत्‌की सत्ता मानकर उसे महत्त्व दे देता है, असत्‌को असत् मानकर भी असत्‌से विमुख नहीं होता—यही अज्ञान है। इसलिये मनुष्यमें जितना ज्ञान है, यदि उस ज्ञानके अनुसार वह अपना जीवन बना ले, तो अज्ञान सर्वथा मिट जायगा और ज्ञान प्रकट हो जायगा। कारण कि अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं।

२-कुछ श्रद्धा, कुछ दुष्टता, कुछ संशय, कुछ ज्ञान। घरका रहा न घाटका, ज्यों धोबीका श्वान॥

आवश्यकता होती है और संशयात्मा मनुष्य दुविधामें रहनेके कारण कोई एक निश्चय नहीं कर सकता; जैसे— जप करूँ या स्वाध्याय करूँ? संसारका काम करूँ या परमात्मप्राप्ति करूँ? आदि। भीतर संशय भरे रहनेके कारण उसके मनमें भी सुख-शान्ति नहीं रहती। इसलिये विवेकवती बुद्धि और श्रद्धाके द्वारा संशयको अवश्य ही मिटा देना चाहिये।

दो अलग-अलग बातोंको पढ़ने-सुननेसे संशय पैदा होता है। वह संशय या तो विवेक-विचारके द्वारा दूर हो सकता है या शास्त्र तथा सन्त-महापुरुषोंकी बातोंको श्रद्धापूर्वक माननेसे। इसलिये संशययुक्त पुरुषमें यदि अज्ञता है तो वह विवेक-विचारको बढ़ाये और यदि अश्रद्धा है तो श्रद्धाको बढ़ाये; क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसी एकको विशेषतासे अपनाये बिना संशय दूर नहीं होता।

परिशिष्ट भाव—ज्ञान हो तो संशय मिट जाता है—**'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्'** (गीता ४। ४१) और श्रद्धा हो तो भी संशय मिट जाता है—**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** (गीता ४। ३९)। परन्तु ज्ञान और श्रद्धा—ये दोनों ही न हों तो संशय नहीं मिट सकता। इसलिये जिस संशयात्मा मनुष्यमें न तो ज्ञान (विवेक) है और न श्रद्धा ही है अर्थात् जो न तो खुद जानता है और न दूसरेकी बात मानता है, उसका पतन हो जाता है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने तैंतीसवें श्लोकसे ज्ञानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए ज्ञान-प्राप्तिका उपाय तथा ज्ञानकी महिमा बतायी। जो ज्ञान गुरुके पास रहकर उनकी सेवा आदि करनेसे होता है, वही ज्ञान कर्मयोगसे सिद्ध हुए मनुष्यको अपने-आप प्राप्त हो जाता है—ऐसा बताकर भगवान्‌ने ज्ञानप्राप्तिके पात्र-अपात्रका वर्णन करते हुए प्रकरणका उपसंहार किया।

अब प्रश्न होता है कि सिद्ध होनेके लिये कर्मयोगीको क्या करना चाहिये? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ ४१॥

धनञ्जय = हे धनंजय! **योगसन्न्यस्त-कर्माणम्** = योग (समता) के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है (और) **ज्ञानसञ्छिन्न-संशयम्** = विवेकज्ञानके द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयोंका नाश हो गया है, (ऐसे) **आत्मवन्तम्** = स्वरूप-परायण मनुष्यको **कर्माणि** = कर्म **न** = नहीं **निबध्नन्ति** = बाँधते।

व्याख्या—**'योगसन्न्यस्तकर्माणम्'**—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो वस्तुएँ हमें मिली हैं और हमारी दीखती हैं, वे सब दूसरोंकी सेवाके लिये ही हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। इस दृष्टिसे जब उन वस्तुओंको दूसरोंकी सेवामें (उनका ही मानकर) लगा दिया जाता है, तब कर्मों और वस्तुओंका प्रवाह संसारकी ओर ही हो जाता है और अपनेमें स्वतःसिद्ध समताका अनुभव हो जाता है। इस प्रकार योग-(समता-)के द्वारा जिसने कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, वह पुरुष **'योगसन्न्यस्तकर्मा'** है।

जब कर्मयोगी कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् कर्म करते हुए अथवा न करते हुए—दोनों अवस्थाओंमें नित्य-निरन्तर असंग रहता है, तब वही वास्तवमें **'योगसन्न्यस्तकर्मा'** होता है।

'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्'—मनुष्यके भीतर प्रायः ये संशय रहते हैं कि कर्म करते हुए ही कर्मोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कैसे होगा? अपने लिये कुछ न करें तो अपना कल्याण कैसे होगा? आदि। परन्तु जब वह कर्मोंके तत्त्वको अच्छी तरह जान लेता है*, तब उसके समस्त संशय मिट जाते हैं। उसे इस बातका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि कर्मों और उनके फलोंका आदि और अन्त होता है, पर स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिये कर्ममात्रका सम्बन्ध 'पर'-(संसार-) के साथ है, 'स्व'-(स्वरूप) के साथ बिलकुल नहीं। इस दृष्टिसे अपने लिये कर्म करनेसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और निष्कामभावपूर्वक

*** कर्मोंके तत्त्वका वर्णन इसी अध्यायके सोलहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतकके प्रकरणमें विशेषतासे हुआ है। इसमें भी अठारहवाँ श्लोक मुख्य है।**

केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि अपना कल्याण दूसरोंके लिये कर्म करनेसे ही होता है, अपने लिये कर्म करनेसे नहीं।

'आत्मवन्तम्'—कर्मयोगीका उद्‌देश्य स्वरूपबोधको प्राप्त करनेका होता है, इसलिये वह सदा स्वरूपके परायण रहता है। उसके सम्पूर्ण कर्म संसारके लिये ही होते हैं। सेवा तो स्वरूपसे ही दूसरोंके लिये होती है, खाना-पीना, सोना-बैठना आदि जीवन-निर्वाहकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भी दूसरोंके लिये ही होती हैं; क्योंकि क्रियामात्रका सम्बन्ध संसारके साथ है, स्वरूपके साथ नहीं।

'न कर्माणि निबध्नन्ति'—अपने लिये कोई भी कर्म न करनेसे कर्मयोगीका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् वह सदाके लिये संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

कर्म स्वरूपसे बन्धनकारक हैं ही नहीं। कर्मोंमें फलेच्छा, ममता, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान ही बाँधनेवाला है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि ज्ञानके द्वारा संशयका नाश होता है और समताके द्वारा कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। अब आगेके श्लोकमें भगवान् ज्ञानके द्वारा अपने संशयका नाश करके समतामें स्थित होनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

तस्मात्	= इसलिये	**अज्ञानसम्भूतम्**	= अज्ञानसे उत्पन्न	**छित्त्वा**	= छेदन करके
भारत	= हे भरतवंशी अर्जुन!	**आत्मनः**	= अपने	**योगम्**	= योग (समता)-में
हृत्स्थम्	= हृदयमें स्थित	**संशयम्**	= संशयका	**आतिष्ठ**	= स्थित हो जा (और)
एनम्	= इस	**ज्ञानासिना**	= ज्ञानरूप तलवारसे	**उत्तिष्ठ**	= (युद्धके लिये) खड़ा हो जा।

व्याख्या—**'तस्मादज्ञानसम्भूतं....छित्त्वैनं संशयम्'**—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह सिद्धान्त बताया कि जिसने समताके द्वारा समस्त कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और ज्ञानके द्वारा समस्त संशयोंको नष्ट कर दिया है, उस आत्मपरायण कर्मयोगीको कर्म नहीं बाँधते अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। अब भगवान् **'तस्मात्'** पदसे अर्जुनको भी वैसा ही जानकर कर्तव्य-कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं।

अर्जुनके हृदयमें संशय था—युद्धरूप घोर कर्मसे मेरा कल्याण कैसे होगा? और कल्याणके लिये मैं कर्मयोगका अनुष्ठान करूँ अथवा ज्ञानयोगका? इस श्लोकमें भगवान् इस संशयको दूर करनेकी प्रेरणा करते हैं; क्योंकि संशयके रहते हुए कर्तव्यका पालन ठीक तरहसे नहीं हो सकता।

'अज्ञानसम्भूतम्' पदका भाव है कि सब संशय अज्ञानसे अर्थात् कर्मोंके और योगके तत्त्वको ठीक-ठीक न समझनेसे ही उत्पन्न होते हैं। क्रियाओं और पदार्थोंको अपना और अपने लिये मानना ही अज्ञान है। यह अज्ञान जबतक रहता है, तबतक अन्त:करणमें संशय रहते हैं; क्योंकि क्रियाएँ और पदार्थ विनाशी हैं और स्वरूप अविनाशी है।

तीसरे अध्यायमें कर्मयोगका आचरण करनेकी और इस चौथे अध्यायमें कर्मयोगको तत्त्वसे जाननेकी बात विशेषरूपसे आयी है। कारण कि कर्म करनेके साथ-साथ कर्मको जाननेकी भी बहुत आवश्यकता है। ठीक-ठीक जाने बिना कोई भी कर्म बढ़िया रीतिसे नहीं होता। इसके सिवाय अच्छी तरह जानकर कर्म करनेसे जो कर्म बाँधनेवाले होते हैं, वे ही कर्म मुक्त करनेवाले हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका सोलहवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक)। इसलिये इस अध्यायमें भगवान्‌ने कर्मोंको तत्त्वसे जाननेपर विशेष जोर दिया है।

पूर्वश्लोकमें भी **'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्'** पद इसी अर्थमें आया है। जो मनुष्य कर्म करनेकी विद्याको जान लेता है, उसके समस्त संशयोंका नाश हो जाता है। कर्म करनेकी विद्या है—अपने लिये कुछ करना ही नहीं है।

'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत'—अर्जुन अपने धनुष-बाणका त्याग करके रथके मध्यभागमें बैठ गये थे (पहले अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। उन्होंने भगवान्‌से साफ कह दिया था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—**'न योत्स्ये'** (गीता २। ९)। यहाँ भगवान् अर्जुनको योगमें स्थित

होकर युद्धके लिये खड़े हो जानेकी आज्ञा देते हैं। यही बात भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें '**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (योगमें स्थित होकर कर्तव्य-कर्म कर) पदोंसे भी कही थी। योगका अर्थ 'समता' है— '**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)।

अर्जुन युद्धको पाप समझते थे (गीता—पहले अध्यायका छत्तीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान् अर्जुनको समतामें स्थित होकर युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं; क्योंकि समतामें स्थित होकर युद्ध करनेसे पाप नहीं लगता (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। इसलिये समतामें स्थित होकर कर्तव्य-कर्म करना ही कर्म-बन्धनसे छूटनेका उपाय है।

संसारमें रात-दिन अनेक कर्म होते रहते हैं, पर उन कर्मोंमें राग-द्वेष न होनेसे हम संसारके उन कर्मोंसे बँधते नहीं, प्रत्युत निर्लिप्त रहते हैं। जिन कर्मोंमें हमारा राग या द्वेष हो जाता है, उन्हीं कर्मोंसे हम बँधते हैं। कारण कि राग या द्वेषसे कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध जुड़ जाता है। जब राग-द्वेष नहीं रहते अर्थात् समता आ जाती है, तब कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जुड़ता; अतः मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

अपने स्वरूपको देखें तो उसमें समता स्वत:सिद्ध है। विचार करें कि प्रत्येक कर्मका आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। उन कर्मोंका फल भी आदि और अन्तवाला होता है। परन्तु स्वरूप निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। कर्म और फल अनेक होते हैं, पर स्वरूप एक ही रहता है। अतः कोई भी कर्म अपने लिये न करनेसे और किसी भी पदार्थको अपना और अपने लिये न माननेसे जब क्रिया-पदार्थरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब स्वत:सिद्ध समताका अपने-आप अनुभव हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञानकर्मसन्न्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूर्ण हुआ॥ ४॥

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये कर्मयोग और सांख्ययोगका वर्णन होनेसे इस चौथे अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्म-संन्यासयोग' है।

चौथे अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ चतुर्थोऽध्यायः**' के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके छः, श्लोकोंके पाँच सौ ग्यारह और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ तैंतीस है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ चतुर्थोऽध्यायः**' के सात, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके बीस, श्लोकोंके एक हजार तीन सौ चौवालीस और पुष्पिकाके पचास अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार चार सौ इक्कीस है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें तीन उवाच हैं—दो '**श्रीभगवानुवाच**' और एक '**अर्जुन उवाच**'।

चौथे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बयालीस श्लोकोंमेंसे—इकतीसवें और अड़तीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा दूसरे, दसवें, तेरहवें और चालीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला;**' छठे श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; और चौबीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा तीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष तैंतीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्‌ने चौथे अध्यायके तैंतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक कर्म तथा पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करके तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीकी प्रशंसा की और इसके लिये (चौथे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें) अर्जुनको आज्ञा दी। तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इस प्रणालीमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके एकान्तमें परमात्मतत्त्वका मनन करना आवश्यक है। अर्जुनके मनमें पहले ही युद्धरूप कर्म न करनेका भाव था; क्योंकि वे अपना कल्याण चाहते थे और युद्धको पाप समझते थे। अतः अर्जुनने समझा कि भगवान् मेरे लिये इस प्रकार कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके ज्ञान-प्राप्तिके लिये साधन करनेको कहते हैं।

फिर चौथे अध्यायके ही अड़तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि उसी तत्त्वज्ञानको साधक कर्मयोगके द्वारा अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि कर्मयोगके साधकको ज्ञान-प्राप्तिके लिये दूसरे साधनोंकी तथा तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जाकर निवास करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इससे स्पष्ट ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें कर्मयोगकी विशेषरूपसे प्रशंसा हुई है।

इस प्रकार अर्जुनने चौथे अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीकी प्रशंसा सुनी और चौंतीसवें श्लोकमें ***'विद्धि'*** *पदसे उस प्रणालीसे ज्ञान प्राप्त करनेकी अपने लिये विशेष आज्ञा मानी। फिर अड़तीसवें और इकतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी। बयालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको* ***'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ'*** *पदसे कर्मयोगकी विधिसे युद्ध करनेकी आज्ञा दी। इस तरह ज्ञानयोग और कर्मयोग— दोनोंकी प्रशंसा सुनकर तथा दोनोंके लिये आज्ञा प्राप्त होनेपर अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमें कौन-सा साधन मेरे लिये श्रेष्ठ है। अतः इसका निर्णय भगवान्‌से करानेके उद्देश्यसे अर्जुन प्रश्न करते हैं।*

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	= हे कृष्ण! (आप)	**योगम्**	= कर्मयोगकी	**सुनिश्चितम्**	= निश्चितरूपसे
कर्मणाम्	= कर्मोंका	**शंससि**	= प्रशंसा करते हैं। (अतः)	**श्रेयः**	= कल्याणकारक हो,
सन्न्यासम्	= स्वरूपसे त्याग करनेकी	**एतयोः**	= इन दोनों साधनोंमें	**तत्**	= उसको
च	= और	**यत्**	= जो	**मे**	= मेरे लिये
पुनः	= फिर	**एकम्**	= एक	**ब्रूहि**	= कहिये।

व्याख्या—**'सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण'**—कौटुम्बिक स्नेहके कारण अर्जुनके मनमें युद्ध न करनेका भाव पैदा हो गया था। इसके समर्थनमें अर्जुनने पहले अध्यायमें कई तर्क और युक्तियाँ भी सामने रखीं। उन्होंने युद्ध करनेको पाप बताया (गीता—पहले अध्यायका पैंतालीसवाँ श्लोक)। वे युद्ध न करके भिक्षाके अन्नसे जीवन-निर्वाह करनेको श्रेष्ठ समझने लगे (दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) और उन्होंने निश्चय करके भगवान्‌से स्पष्ट कह भी दिया कि मैं किसी भी स्थितिमें युद्ध नहीं करूँगा (दूसरे अध्यायका नवाँ श्लोक)।

प्राय: वक्ताके शब्दोंका अर्थ श्रोता अपने विचारके अनुसार लगाया करते हैं। स्वजनोंको देखकर अर्जुनके हृदयमें जो मोह पैदा हुआ, उसके अनुसार उन्हें युद्धरूप कर्मके त्यागकी बात उचित प्रतीत होने लगी। अत: भगवान्‌के शब्दोंको वे अपने विचारके अनुसार समझ रहे हैं कि भगवान् कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके प्रचलित प्रणालीके अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी ही प्रशंसा कर रहे हैं।

'पुनर्योगं च शंससि'—चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मयोगीको दूसरे किसी साधनके बिना अवश्यमेव तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेकी बात कही है। उसीको लक्ष्य करके अर्जुन भगवान्‌से कह रहे हैं कि कभी तो आप ज्ञानयोगकी प्रशंसा (चौथे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक) करते हैं और कभी कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं (चौथे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)।

'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्'—इसी तरहका प्रश्न अर्जुनने दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें भी **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** पदोंसे किया था। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें-अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगकी व्याख्या करके उसका आचरण करनेके लिये कहा। फिर तीसरे अध्यायके दूसरे श्लोकमें अर्जुनने **'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'** पदोंसे पुन: अपने कल्याणकी बात पूछी, जिसके उत्तरमें भगवान्‌ने तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें निष्काम, निर्मम और नि:संताप होकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी तथा पैंतीसवें श्लोकमें अपने धर्मका पालन करनेको श्रेयस्कर बताया।

यहाँ उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनने जो बात पूछी है, उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है (पाँचवें अध्यायका दूसरा श्लोक), कर्मयोगी सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है (पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक), कर्मयोगके बिना सांख्ययोगका साधन सिद्ध होना कठिन है; परन्तु कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है (पाँचवें अध्यायका छठा श्लोक)। इस प्रकार कहकर भगवान् अर्जुनको मानो यह बता रहे हैं कि कर्मयोग ही तेरे लिये शीघ्रता और सुगमतापूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है; अत: तू कर्मयोगका ही अनुष्ठान कर।

अर्जुनके मनमें मुख्यरूपसे अपने कल्याणकी ही इच्छा थी। इसलिये वे बार-बार भगवान्‌के सामने श्रेयविषयक जिज्ञासा रखते हैं (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक)। कल्याणकी प्राप्तिमें इच्छाकी प्रधानता है। साधनकी सफलतामें देरीका कारण भी यही है कि कल्याणकी इच्छा पूरी तरह जाग्रत् नहीं हुई। जिन साधकोंमें तीव्र वैराग्य नहीं है, वे भी कल्याणकी इच्छा जाग्रत् होनेपर कर्मयोगका साधन सुगमतापूर्वक कर सकते हैं*। अर्जुनके हृदयमें भोगोंसे पूरा वैराग्य नहीं है, पर उनमें अपने कल्याणकी इच्छा है, इसलिये वे कर्मयोगके अधिकारी हैं।

पहले अध्यायके बत्तीसवें तथा दूसरे अध्यायके आठवें श्लोकको देखनेसे पता लगता है कि अर्जुन मृत्युलोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, त्रिलोकीका राज्य भी नहीं चाहते। परन्तु वास्तवमें अर्जुन राज्य तथा भोगोंको सर्वथा नहीं चाहते हों, ऐसी बात भी नहीं है। वे कहते हैं कि युद्धमें कुटुम्बीजनोंको मारकर राज्य तथा विजय नहीं चाहता। इसका तात्पर्य है कि यदि कुटुम्बीजनोंको मारे बिना राज्य मिल जाय तो मैं उसे लेनेको तैयार हूँ। दूसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अर्जुन यही कहते हैं कि गुरुजनोंको मारकर भोग भोगना ठीक नहीं है। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि गुरुजनोंको मारे बिना राज्य मिल जाय तो वह स्वीकार है। दूसरे अध्यायके छठे श्लोकमें अर्जुन कहते हैं कि कौन जीतेगा—इसका हमें पता नहीं और उन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते। इसका तात्पर्य है कि यदि हमारी विजय निश्चित हो तथा उनको मारे बिना राज्य मिलता हो तो मैं

---

* **योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ....॥**
...। तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। ६-७)

लेनेको तैयार हूँ। आगे दूसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तेरे तो दोनों हाथोंमें लड्डू हैं; यदि युद्धमें तू मारा गया तो तुझे स्वर्ग मिलेगा और जीत गया तो राज्य मिलेगा। यदि अर्जुनके मनमें स्वर्ग और संसारके राज्यकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं होती तो भगवान् शायद ही ऐसा कहते। अतः अर्जुनके हृदयमें प्रतीत होनेवाला वैराग्य वास्तविक नहीं है। परन्तु उनमें अपने कल्याणकी इच्छा है, जो इस श्लोकमें भी दिखायी दे रही है।

सम्बन्ध—अब भगवान् अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—

सन्न्यासः = संन्यास (सांख्ययोग)
च = और
कर्मयोगः = कर्मयोग
उभौ = दोनों ही
निःश्रेयसकरौ = कल्याण करनेवाले हैं।
तु = परन्तु
तयोः = उन दोनोंमें (भी)
कर्मसन्न्यासात् = कर्मसंन्यास (सांख्य-योग)-से
कर्मयोगः = कर्मयोग
विशिष्यते = श्रेष्ठ है।

व्याख्या—[भगवान्‌के सिद्धान्तके अनुसार सांख्ययोग और कर्मयोगका पालन प्रत्येक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके मनुष्य कर सकते हैं। कारण कि उनका सिद्धान्त किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिको लेकर नहीं है। इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने कर्मोंका त्याग करके विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीको 'कर्मसंन्यास' नामसे कहा है। परन्तु भगवान्‌के सिद्धान्तके अनुसार ज्ञान-प्राप्तिके लिये सांख्ययोगका पालन प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रतासे कर सकता है और उसका पालन करनेमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आवश्यकता भी नहीं है। इसलिये भगवान् प्रचलित मतका भी आदर करते हुए अपने सिद्धान्तके अनुसार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं।]

'सन्न्यासः'—यहाँ **'सन्न्यासः'** पदका अर्थ 'सांख्य-योग' है, कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं। अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कर्मोंके त्यागपूर्वक संन्यासका विवेचन न करके कर्म करते हुए ज्ञानको प्राप्त करनेका जो सांख्ययोगका मार्ग है, उसका विवेचन करते हैं। उस सांख्ययोगके द्वारा मनुष्य प्रत्येक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिमें रहते हुए प्रत्येक परिस्थितिमें स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है अर्थात् अपना कल्याण कर सकता है।

सांख्ययोगकी साधनामें विवेक-विचारकी मुख्यता रहती है। विवेकपूर्वक तीव्र वैराग्यके बिना यह साधना सफल नहीं होती। इस साधनामें संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होकर एकमात्र परमात्मतत्त्वपर दृष्टि रहती है। राग मिटे बिना संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होना बहुत कठिन है। इसलिये भगवान्‌ने देहाभिमानियोंके लिये यह साधन क्लेशयुक्त बताया है (गीता—बारहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। इसी अध्यायके छठे श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है कि कर्मयोगका साधन किये बिना संन्यासका साधन होना कठिन है; क्योंकि संसारसे राग हटानेके लिये कर्मयोग ही सुगम उपाय है।

'कर्मयोगश्च'—मानवमात्रमें कर्म करनेका राग अनादिकालसे चला आ रहा है, जिसे मिटानेके लिये कर्म करना आवश्यक है (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। परन्तु वे कर्म किस भाव और उद्‌देश्यसे कैसे किये जायँ कि करनेका राग सर्वथा मिट जाय, उस कर्तव्य-कर्मको करनेकी कलाको 'कर्मयोग' कहते हैं। कर्मयोगमें कार्य छोटा है या बड़ा, इसपर दृष्टि नहीं रहती। जो भी कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसीको निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये करना है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये यह आवश्यक है कि कर्म अपने लिये न किये जायँ। अपने लिये कर्म न करनेका अर्थ है—कर्मोंके बदलेमें अपने लिये कुछ भी पानेकी इच्छा न होना। जबतक अपने लिये कुछ भी पानेकी इच्छा रहती है, तबतक कर्मोंके साथ सम्बन्ध बना रहता है।

'निःश्रेयसकरावुभौ'—अर्जुनका प्रश्न था कि सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंमें कौन-सा साधन निश्चयपूर्वक कल्याण करनेवाला है? उत्तरमें

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! ये दोनों ही साधन निश्चयपूर्वक कल्याण करनेवाले हैं। कारण कि दोनोंके द्वारा एक ही समताकी प्राप्ति होती है। इसी अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भी भगवान्ने इसी बातकी पुष्टि की है। तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंसे परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेकी बात कही है। इसलिये ये दोनों ही परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तीसरा श्लोक)।

'तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्'—एक ही सांख्ययोगके दो भेद हैं—एक तो चौथे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें कहा हुआ सांख्ययोग, जिसमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग है और दूसरा, दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक कहा हुआ सांख्ययोग, जिसमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है। यहाँ **'कर्मसन्न्यासात्'** पद दोनों ही प्रकारके सांख्ययोगका वाचक है।

'कर्मयोगो विशिष्यते'—आगेके (तीसरे) श्लोकमें भगवान्ने इन पदोंकी व्याख्या करते हुए कहा है कि कर्मयोगी नित्यसंन्यासी समझनेयोग्य है; क्योंकि वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। फिर छठे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि कर्मयोगके बिना सांख्य-योगका साधन होना कठिन है तथा कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य है कि सांख्ययोगमें तो कर्मयोगकी आवश्यकता है, पर कर्मयोगमें सांख्ययोगकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये दोनों साधनोंके कल्याण-कारक होनेपर भी भगवान् कर्मयोगको ही श्रेष्ठ बताते हैं।

कर्मयोगी लोकसंग्रहके लिये कर्म करता है—**'लोक-सङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि'** (गीता—तीसरे अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। लोकसंग्रहका तात्पर्य है—निःस्वार्थभावसे लोक-मर्यादा सुरक्षित रखनेके लिये, लोगोंको उन्मार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगानेके लिये कर्म करना अर्थात् केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना। इसीको गीतामें 'यज्ञार्थ कर्म' के नामसे भी कहा गया है। जो केवल अपने लिये कर्म करता है, वह बँध जाता है (तीसरे अध्यायका नवाँ और तेरहवाँ श्लोक)। परन्तु कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है; अतः वह कर्मबन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है (चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। इसलिये कर्मयोग श्रेष्ठ है।

कर्मयोगका साधन प्रत्येक परिस्थितिमें और प्रत्येक व्यक्तिके द्वारा किया जा सकता है, चाहे वह किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो। परन्तु अर्जुन जिस कर्मसंन्यासकी बात कहते हैं, वह एक विशेष परिस्थितिमें किया जा सकता है (गीता—चौथे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक); क्योंकि तत्त्वज्ञ महापुरुषका मिलना, उनमें अपनी श्रद्धा होना और उनके पास जाकर निवास करना—ऐसी परिस्थिति हरेक मनुष्यको प्राप्त होनी सम्भव नहीं है। अतः प्रचलित प्रणालीके सांख्ययोगका साधन एक विशेष परिस्थितिमें ही साध्य है, जबकि कर्मयोगका साधन प्रत्येक परिस्थितिमें और प्रत्येक व्यक्तिके लिये साध्य है। इसलिये कर्मयोग श्रेष्ठ है।

प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना कर्मयोग है। युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी कर्मयोगका पालन किया जा सकता है। कर्मयोगका पालन करनेमें कोई भी मनुष्य किसी भी परिस्थितिमें असमर्थ और पराधीन नहीं है; क्योंकि कर्मयोगमें कुछ भी पानेकी इच्छाका त्याग होता है। कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा रहनेसे ही कर्तव्य-कर्म करनेमें असमर्थता और पराधीनताका अनुभव होता है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। सांख्ययोगी और कर्मयोगी—इन दोनोंको ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, इसलिये दोनों ही साधकोंको कर्तृत्व और भोक्तृत्व—इन दोनोंको मिटानेकी आवश्यकता है। तीव्र वैराग्य और तीक्ष्ण बुद्धि होनेसे सांख्ययोगी कर्तृत्वको मिटाता है। उतना तीव्र वैराग्य और तीक्ष्ण बुद्धि न होनेसे कर्मयोगी दूसरोंके हितके लिये ही सब कर्म करके भोक्तृत्वको मिटाता है। इस प्रकार सांख्ययोगी कर्तृत्वका त्याग करके संसारसे मुक्त होता है और कर्मयोगी भोक्तृत्वका अर्थात् कुछ पानेकी इच्छाका त्याग करके मुक्त होता है। यह नियम है कि कर्तृत्वका त्याग करनेसे भोक्तृत्वका त्याग और भोक्तृत्वका त्याग करनेसे कर्तृत्वका त्याग स्वतः हो जाता है। कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही कर्तृत्व होता है। जिस कर्मसे अपने लिये किसी प्रकारके भी सुखभोगकी इच्छा नहीं है, वह क्रियामात्र है, कर्म नहीं। जैसे यन्त्रमें कर्तृत्व नहीं रहता, ऐसे ही कर्मयोगीमें कर्तृत्व नहीं रहता।

साधकको संसारके प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिमें स्पष्ट ही अपना राग दीखता है। उस रागको वह अपने बन्धनका खास कारण मानता है तथा उसे मिटानेकी चेष्टा भी करता है। उस रागको मिटानेके लिये कर्मयोगी किसी भी प्राणी, पदार्थ आदिको अपना नहीं मानता*, अपने लिये

* **कर्मयोगी सेवा करनेके लिये तो सबको अपना मानता है, पर अपने लिये किसीको भी अपना नहीं मानता।**

कुछ नहीं करता तथा अपने लिये कुछ नहीं चाहता। क्रियाओंसे सुख लेनेका भाव न रहनेसे कर्मयोगीकी क्रियाएँ परिणाममें सबका हित तथा वर्तमानमें सबकी प्रसन्नता और सुखके लिये ही हो जाती हैं। क्रियाओंसे सुख लेनेका भाव होनेसे क्रियाओंमें अभिमान (कर्तृत्व) और ममता हो जाती है। परन्तु उनसे सुख लेनेका भाव सर्वथा न रहनेसे कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। कारण कि क्रियाएँ दोषी नहीं हैं, क्रियाजन्य आसक्ति और क्रियाओंके फलको चाहना ही दोषी है। जब साधक क्रियाजन्य सुख नहीं लेता तथा क्रियाओंका फल नहीं चाहता तब कर्तृत्व रह ही कैसे सकता है? क्योंकि कर्तृत्व टिकता है भोक्तृत्वपर। भोक्तृत्व न रहनेसे कर्तृत्व अपने उद्‌देश्यमें (जिसके लिये कर्म करता है, उसमें) लीन हो जाता है और एक परमात्मतत्त्व शेष रह जाता है।

कर्मयोगीका 'अहम्' (व्यक्तित्व) शीघ्र तथा सुगमता-पूर्वक नष्ट हो जाता है, जबकि ज्ञानयोगीका 'अहम्' दूरतक साथ रहता है। कारण यह है कि 'मैं सेवक हूँ' (केवल सेव्यके लिये सेवक हूँ, अपने लिये नहीं)—ऐसा माननेसे कर्मयोगीका 'अहम्' भी सेव्यकी सेवामें लग जाता है; परन्तु 'मैं मुमुक्षु हूँ' ऐसा माननेसे ज्ञानयोगीका 'अहम्' साथ रहता है। कर्मयोगी अपने लिये कुछ न करके केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करता है, पर ज्ञानयोगी अपने हितके लिये साधन करता है। अपने हितके लिये साधन करनेसे 'अहम्' ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

ज्ञानयोगकी मुख्य बात है—संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव करना और कर्मयोगकी मुख्य बात है—रागका अभाव करना। ज्ञानयोगी विचारके द्वारा संसारकी सत्ताका अभाव तो करना चाहता है, पर पदार्थोंमें राग रहते हुए उसकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होना बहुत कठिन है। यद्यपि विचारकालमें ज्ञानयोगके साधकको पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव दीखता है, तथापि व्यवहारकालमें उन पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। परन्तु कर्मयोगके साधकका लक्ष्य दूसरोंको सुख पहुँचानेका रहनेसे उसका राग स्वत: मिट जाता है। इसके अतिरिक्त मिली हुई सामग्रीका त्याग करना कर्मयोगीके लिये जितना सुगम पड़ता है, उतना ज्ञानयोगीके लिये नहीं। ज्ञानयोगकी दृष्टिसे किसी वस्तुको मायामात्र समझकर ऐसे ही उसका त्याग कर देना कठिन पड़ता है; परन्तु वही वस्तु किसीके काम आती हुई दिखायी दे तो उसका त्याग करना सुगम पड़ता है। जैसे, हमारे पास कम्बल पड़े हैं तो उन कम्बलोंको दूसरोंके काममें आते जानकर उनका त्याग करना अर्थात् उनसे अपना राग हटाना साधारण बात है; परन्तु (यदि तीव्र वैराग्य न हो तो) उन्हीं कम्बलोंको विचारद्वारा अनित्य, क्षणभंगुर, स्वप्नके मायामय पदार्थ समझकर ऐसे ही छोड़कर चल देना कठिन है। दूसरी बात, मायामात्र समझकर त्याग करनेमें (यदि तेजीका वैराग्य न हो तो) जिन वस्तुओंमें हमारी सुखबुद्धि नहीं है, उन खराब वस्तुओंका त्याग तो सुगमतासे हो जाता है, पर जिनमें हमारी सुखबुद्धि है, उन अच्छी वस्तुओंका त्याग कठिनतासे होता है। परन्तु दूसरेके काम आती देखकर जिन वस्तुओंमें हमारी सुखबुद्धि है, उन वस्तुओंका त्याग सुगमतासे हो जाता है; जैसे—भोजनके समय थालीमेंसे रोटी निकालनी पड़े तो ठंडी, बासी और रूखी रोटी ही निकालेंगे। परन्तु यदि वही रोटी किसी दूसरेको देनी हो तो अच्छी रोटी ही निकालेंगे, खराब नहीं। इसलिये कर्मयोगकी प्रणालीसे रागको मिटाये बिना सांख्ययोगका साधन होना बहुत कठिन है। विचारद्वारा पदार्थोंकी सत्ता न मानते हुए भी पदार्थोंमें स्वाभाविक राग रहनेके कारण भोगोंमें फँसकर पतनतक होनेकी सम्भावना रहती है।

केवल असत्‌के ज्ञानसे अर्थात् असत्‌को असत् जान लेनेसे रागकी निवृत्ति नहीं होती*। जैसे, सिनेमामें दीखनेवाले पदार्थों आदिकी सत्ता नहीं है—ऐसा जानते हुए भी उसमें राग हो जाता है। सिनेमा देखनेसे चरित्र, समय, नेत्र-शक्ति और धन—इन चारोंका नाश होता है—ऐसा जानते हुए भी रागके कारण सिनेमा देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुकी सत्ता न होनेपर भी उसमें राग अथवा सम्बन्ध रह सकता है। यदि राग न हो तो वस्तुकी सत्ता माननेपर भी उसमें राग उत्पन्न नहीं होता। इसलिये साधकका मुख्य काम होना चाहिये—रागका अभाव करना, सत्ताका अभाव करना नहीं; क्योंकि बाँधनेवाली वस्तु राग या सम्बन्ध ही है, सत्तामात्र नहीं। पदार्थ चाहे सत् हो,

---

*** असत्‌को असत् जाननेसे उसकी निवृत्ति तभी होती है, जब अपने स्वरूपमें स्थित होकर असत्‌को असत्‌रूपसे जानते हैं। स्वरूपमें स्थिति करण-निरपेक्ष है। परन्तु बुद्धि आदि करणोंसे असत्‌को असत् जाननेसे उसकी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि बुद्धि आदि करण भी असत् हैं। अतः असत्‌के ही द्वारा असत्‌को जाननेसे उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है?**

चाहे असत् हो, चाहे सत्-असत्से विलक्षण हो, यदि उसमें राग है तो वह बाँधनेवाला हो ही जायगा। वास्तवमें हमें कोई भी पदार्थ नहीं बाँधता। बाँधता है हमारा सम्बन्ध, जो रागसे होता है। अतः हमारेपर राग मिटानेकी ही जिम्मेवारी है।

परिशिष्ट भाव—यद्यपि 'योग' के बिना कर्म और ज्ञान—दोनों ही बन्धनकारक हैं, तथापि कर्म करनेसे उतना पतन नहीं होता, जितना पतन वाचिक (सीखे हुए) ज्ञानसे होता है। वाचिक ज्ञान नरकोंमें ले जा सकता है—

अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥

(योगवासिष्ठ, स्थिति० ३९)

'जो बेसमझ मनुष्यको 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा उपदेश देता है, वह उस मनुष्यको महान् नरकोंके जालमें डाल देता है।'

अतः वाचक ज्ञानीकी अपेक्षा कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। फिर जो कर्मयोगका आचरण करता है, उसकी श्रेष्ठताका तो कहना ही क्या! ज्ञानयोगी तो केवल अपने लिये उपयोगी होता है, पर कर्मयोगी संसारमात्रके लिये उपयोगी होता है। जो संसारके लिये उपयोगी होता है, वह अपने लिये भी उपयोगी हो जाता है—यह नियम है। इसलिये कर्मयोग विशेष है।

सांख्ययोगके बिना तो कर्मयोग हो सकता है, पर कर्मयोगके बिना सांख्ययोग होना कठिन है (गीता—पाँचवें अध्यायका छठा श्लोक)। इसलिये सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष है। सांख्ययोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है (गीता—छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये गीतामें पहले सांख्ययोग, फिर कर्मयोग और फिर भक्तियोग—इस क्रमसे विवेचन किया गया है*।

फलमें कर्मयोग और ज्ञानयोग एक हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। साधनमें कर्मयोग और भक्तियोग एक हैं—'**मैत्रः करुण एव च**' (गीता १२। १३); क्योंकि कर्मयोग और भक्तियोग—दोनोंमें ही दूसरेको सुख देनेका भाव रहता है। कर्म करनेमें कर्मी और कर्मयोगी एक हैं (गीता—तीसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) तथा तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान् भी कर्म करनेमें साथ हैं (गीता—तीसरे अध्यायके बाईसवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक)। इस प्रकार कर्मी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी और भगवान्—चारोंके साथ कर्मयोगी एक हो जाता है—यह कर्मयोगकी विशेषता है।

सांख्ययोगमें तो अहम्का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर कर्मयोगमें क्रिया और पदार्थसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे अहम्का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता। कर्मयोगमें अकर्म (अभाव) शेष रहता है (गीता—चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक) और सांख्ययोगमें आत्मा शेष रहता है (गीता—छठे अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मयोगको श्रेष्ठ कहनेका कारण बताते हैं।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

महाबाहो	= हे महाबाहो!	**काङ्क्षति**	= आकांक्षा करता है;	**निर्द्वन्द्वः**	= द्वन्द्वोंसे रहित (मनुष्य)
यः	= जो मनुष्य	**सः**	= वह (कर्मयोगी)	**सुखम्**	= सुखपूर्वक
न	= न	**नित्यसन्न्यासी**	= सदा संन्यासी	**बन्धात्**	= संसार-बन्धनसे
द्वेष्टि	= (किसीसे) द्वेष करता है (और)	**ज्ञेयः**	= समझनेयोग्य है;	**प्रमुच्यते**	= मुक्त हो जाता है।
न	= न (किसीकी)	**हि**	= क्योंकि		

---

* **भागवतमें भी यही क्रम है—**

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग-मार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

व्याख्या—**'महाबाहो'**—**'महाबाहो'** सम्बोधनके दो अर्थ होते हैं—एक तो जिसकी भुजाएँ बड़ी और बलवान् हों अर्थात् जो शूरवीर हो; और दूसरा, जिसके मित्र तथा भाई बड़े पुरुष हों। अर्जुनके मित्र थे प्राणिमात्रके सुहृद् भगवान् श्रीकृष्ण और भाई थे अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर। इसलिये यह सम्बोधन देकर भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि कर्मयोगके अनुसार सबकी सेवा करनेका बल तुम्हारेमें है। अतः तुम सुगमतासे कर्मयोगका पालन कर सकते हो।

'यो न द्वेष्टि'—कर्मयोगी वह होता है, जो किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, सिद्धान्त आदिसे द्वेष नहीं करता। कर्मयोगीका काम है सबकी सेवा करना, सबको सुख पहुँचाना। यदि उसका किसीके भी साथ किंचिन्मात्र भी द्वेष होगा तो उसके द्वारा कर्मयोगका आचरण सांगोपांग नहीं हो सकेगा। अतः जिससे कुछ भी द्वेष हो, उसकी सेवा कर्मयोगीको सर्वप्रथम करनी चाहिये।

सबसे पहले **'न द्वेष्टि'** पद देनेका तात्पर्य यह है कि जो किसीको भी बुरा समझता है और किसीका भी बुरा चाहता है, वह कर्मयोगके तत्त्वको समझ ही नहीं सकता।

मार्मिक बात

प्राणिमात्रके हितके उद्देश्यसे कर्मयोगीके लिये बुराईका त्याग करना जितना आवश्यक है, उतना भलाई करना आवश्यक नहीं है। भलाई करनेसे केवल समाजका हित होता है; परन्तु बुराईरहित होनेसे विश्वमात्रका हित होता है। कारण यह है कि भलाई करनेमें सीमित क्रियाओं और पदार्थोंकी प्रधानता रहती है; परन्तु बुराईरहित होनेमें भीतरका असीम भाव प्रधान रहता है। यदि भीतरसे बुरा भाव दूर न हुआ हो और बाहरसे भलाई करें तो इससे अभिमान पैदा होगा, जो आसुरी सम्पत्तिका मूल है। भलाई करनेका अभिमान तभी पैदा होता है, जब भीतर कुछ-न-कुछ बुराई हो। जहाँ अपूर्णता (कमी) होती है, वहीं अभिमान पैदा होता है। परन्तु जहाँ पूर्णता है, वहाँ अभिमानका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

गहराईसे देखा जाय तो नाशवान् वस्तुओंकी सहायताके बिना भलाई नहीं की जा सकती। जिन वस्तुओंसे हम भलाई करते हैं, वे वस्तुएँ हमारी हैं ही नहीं; प्रत्युत उन्हींकी हैं, जिनकी हम भलाई करते हैं। फिर भी यदि भलाईका अभिमान होता है, तो यह नाशवान्का संग है। जबतक नाशवान्का संग है, तबतक 'योग'की सिद्धि नहीं होती। मैंने भलाई की—यह अभिमान बुराईसे भी अधिक भयंकर है; क्योंकि यह भाव मैं-पनमें बैठ जाता है। कर्म और फल तो मिट जाते हैं, पर जबतक मैं-पन रहता है, तबतक मैं-पनमें बैठा हुआ भलाईका अभिमान नहीं मिटता। दूसरी बात, बुराईको तो हम बुराईरूपसे जानते ही हैं, पर भलाईको बुराईरूपसे नहीं जानते। इसलिये भलाईके अभिमानका त्याग करना बहुत कठिन है; जैसे—लोहेकी हथकड़ीका तो त्याग कर सकते हैं; पर सोनेकी हथकड़ीका त्याग नहीं कर सकते; क्योंकि वह गहनारूपसे दीखती है। इसलिये बुराईरहित होकर ही भलाई करनी चाहिये। वास्तवमें बुराईका त्याग होनेपर विश्वमात्रकी भलाई अपने-आप होती है, करनी नहीं पड़ती। इसलिये बुराईरहित महापुरुष अगर हिमालयकी एकान्त गुफामें भी बैठा हो, तो भी उसके द्वारा विश्वका बहुत हित होता है।

'न काङ्क्षति'— कर्मयोगमें कामनाका त्याग मुख्य है। कर्मयोगी किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिकी कामना नहीं करता। कामना-त्याग और परहितमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। निष्काम होनेके लिये दूसरेका हित करना आवश्यक है। दूसरेका हित करनेसे कामनाके त्यागका बल आता है।

कर्मयोगमें कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं; क्योंकि जड होनेके कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते। कर्म कर्ताके अधीन होते हैं, इसलिये कर्मोंकी अभिव्यक्ति कर्तासे ही होती है। निष्काम कर्ताके द्वारा ही निष्काम-कर्म होते हैं, जिसे कर्मयोग कहते हैं। अतः चाहे 'कर्मयोग' कहें या 'निष्काम-कर्म'—दोनोंका अर्थ एक ही होता है। सकाम कर्मयोग होता ही नहीं। निष्काम होनेसे कर्ता कर्मफलसे असंग रहता है; परन्तु जब कर्तामें सकामभाव आ जाता है, तब वह कर्मफलसे बँध जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। सकामभाव तभी नष्ट होता है, जब कर्ता कोई भी कर्म अपने लिये नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण कर्म दूसरोंके हितके लिये ही करता है। इसलिये कर्ताका भाव नित्य-निरन्तर निष्काम रहना चाहिये। कर्तामें जितना निष्कामभाव होगा, उतना ही कर्मयोगका सही आचरण होगा। कर्ताके सर्वथा निष्काम होनेपर कर्मयोग सिद्ध हो जाता है।

'ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी'—अर्जुनने युद्ध न करके भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करनेकी इच्छा प्रकट की

थी—'**गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके**' (गीता २। ५) अर्थात् गुरुजनोंको न मारकर संन्यास लेना ही श्रेष्ठ है। भगवान् उसी बातका उत्तर देते हुए मानो कह रहे हैं कि हे अर्जुन! वह संन्यास तो गुरुजनोंके मर जानेके भयसे किया जानेवाला बाहरी संन्यास है, पर कर्मयोगीका संन्यास राग-द्वेषके त्यागसे होनेवाला नित्य संन्यास अर्थात् भीतरी एवं सच्चा संन्यास है।

आगे छठे अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्ने केवल अग्निका त्याग करनेवाले अर्थात् संन्यास-आश्रममात्र ग्रहण करनेवाले पुरुषको संन्यासी न कहकर भीतरसे संसारके आश्रयका त्याग करनेवाले कर्मयोगीको ही संन्यासी कहा है। इस प्रकार भगवान्के मतमें कर्मयोगी ही वास्तविक संन्यासी है।

कर्म करते हुए भी कर्मोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखना ही संन्यास है। कर्मोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखनेवालेको कर्मोंका फल कभी किसी अवस्थामें किंचिन्मात्र भी नहीं मिलता—'**न तु सन्न्यासिनां क्वचित्**' (गीता १८। १२)। इसलिये शास्त्र-विहित समस्त कर्म करते हुए भी कर्मयोगी सदा संन्यासी ही है।

कर्मयोगका अनुष्ठान किये बिना सांख्ययोगका पालन करना कठिन है। इसलिये सांख्ययोगका साधक पहले कर्मयोगी होता है, फिर संन्यासी (सांख्ययोगी) होता है। परन्तु कर्मयोगके साधकके लिये सांख्ययोगका अनुष्ठान करना आवश्यक नहीं है। इसलिये कर्मयोगी आरम्भसे ही संन्यासी है।

जिसके राग-द्वेषका अभाव हो गया है, उसे संन्यास-आश्रममें जानेकी आवश्यकता नहीं है। कोई भी व्यक्ति, वस्तु, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपनी नहीं है और अपने लिये भी नहीं है—ऐसा निश्चय होनेके बाद राग-द्वेष मिटकर ऐसा ही यथार्थ अनुभव हो जाता है, फिर व्यवहारमें संसारसे सम्बन्ध दीखनेपर भी भीतरसे (राग-द्वेष न रहनेसे) सम्बन्ध होता ही नहीं। यही 'नित्यसंन्यास' है। लौकिक अथवा पारलौकिक प्रत्येक कार्य करते समय कर्मयोगीका संसारसे सर्वथा संन्यास रहता है, इसलिये वह नित्यसंन्यासी ही समझनेयोग्य है।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद अर्थात् लिप्तताका अभाव ही संन्यास है और कर्मयोगीमें राग-द्वेष न रहनेसे संसारसे लिप्तता रहती ही नहीं। अत: कर्मयोगी नित्यसंन्यासी है।

'**निर्द्वन्द्वो हि ....सुखं बन्धात्प्रमुच्यते**'*— साधनाके आरम्भमें साधकके अन्त:करणमें द्वन्द्व रहता है। सत्संग, स्वाध्याय, विचार आदि करनेसे वह परमात्मप्राप्तिको अपना ध्येय तो मान लेता है, पर उसके अपने कहलानेवाले मन, इन्द्रियों आदिकी रुचि स्वाभाविक ही भोग भोगने तथा संग्रह करनेमें रहती है। इसलिये साधक कभी परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करना चाहता है और कभी भोग एवं संग्रहको। उसे जैसा संग मिलता है, उसीके अनुसार उसके भावोंमें परिवर्तन होता रहता है। ऐसा होनेपर भी वह भोगोंको शान्तिसे नहीं भोग सकता; क्योंकि सत्संग आदिके संस्कार उसके अन्त:करणमें वैराग्य (भोगोंसे अरुचि) पैदा करते रहते हैं। इस प्रकार साधकके अन्त:करणमें द्वन्द्व (भोग भोगूँ या साधन करूँ) चलता रहता है। इस द्वन्द्वपर ही अहंभाव टिका हुआ है। हमें सांसारिक भोग और संग्रहमें लगना ही नहीं है, प्रत्युत एकमात्र परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है—ऐसा दृढ़ निश्चय होनेपर द्वन्द्व नहीं रहता और अहंभाव परमात्मतत्त्वमें लीन हो जाता है।

वास्तवमें संसारका महत्त्व अन्त:करणमें अंकित हो जानेसे ही द्वन्द्व रहता है। भोग भोगते रहनेसे, दूसरोंसे सुख चाहते रहनेसे संसारके प्राणी-पदार्थोंका महत्त्व अन्त:करणमें अंकित हो जाता है। उनसे सुख लेनेसे वह महत्त्व बढ़ता जाता है, जिससे उनको प्राप्त करनेकी रुचि प्रबल हो जाती है। वह रुचि एक परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको स्थायी और दृढ़ नहीं होने देती। इससे साधकमें द्वन्द्व बना रहता है। उद्देश्यकी दृढ़ताके लिये साधकको यह पक्का विचार करना चाहिये कि कितना ही सुख, आराम, भोग क्यों न मिल जाय, मुझे उसे लेना ही नहीं है, प्रत्युत परहितके लिये उसका त्याग करना है। यह विचार जितना दृढ़ होगा, उतना ही साधक निर्द्वन्द्व होगा।

निर्द्वन्द्व होनेकी मुख्य बात इसी श्लोकमें '**न द्वेष्टि न काङ्क्षति**' पदोंसे कही गयी है; जिसका तात्पर्य है—राग-द्वेषसे रहित होना। राग-द्वेषको मिटानेके लिये यह विचार

*** गीतामें आये 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (२। ३९); 'त्रायते महतो भयात्' (२। ४०); 'जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' (२।५०); 'मोक्ष्यसेऽशुभात्' (४।१६, ९।१); 'वृजिनं संतरिष्यसि' (४।३६); नाप्नुवन्ति दु:खालयमशाश्वतम्' (८।१५); 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै:' (९।२८); 'मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि' (१२।७) आदि पद यहाँ आये 'बन्धात् प्रमुच्यते' पदोंके ही पर्यायवाची हैं।**

करना चाहिये कि अपने न चाहनेपर भी अनुकूलता और प्रतिकूलता आती ही है अर्थात् अपने चाहनेपर अनुकूलता आती हो—ऐसी बात नहीं है और न चाहनेपर प्रतिकूलता न आती हो—ऐसी बात भी नहीं है। अनुकूलता-प्रतिकूलता तो प्रारब्धके फलस्वरूप आती-जाती रहती है, फिर इसके आने अथवा जानेकी चाहना क्यों करें? अनुकूलताके प्रति राग और प्रतिकूलताके प्रति द्वेष अपनी भूलसे होता है। इस प्रकार विचार करनेसे भूल मिटकर राग-द्वेष सर्वथा समाप्त हो जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि अपनी (स्वयंकी) सत्ता स्वतन्त्र है, किसी पदार्थ, व्यक्ति, क्रियाके अधीन नहीं है; क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें जब हम संसारको भूल जाते हैं, तब भी अपनी सत्ता बनी रहती है; जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें भी हम प्राणी, पदार्थके बिना रह सकते हैं। फिर (अपनी स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी) उनमें राग-द्वेष करके हम उनके अधीन क्यों बनें? इस प्रकार विचार करनेसे भी राग-द्वेष मिट जाते हैं।

संसारका राग उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है। यह राग कभी स्थायी नहीं रहता; किन्तु हम नये-नये प्राणी, पदार्थोंमें राग करके इसे बनाये रखनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु परमात्माकी अभिलाषा उत्पन्न और नष्ट होनेवाली नहीं है; क्योंकि परमात्माका ही अंश होनेके नाते जीवका परमात्मासे अखण्ड सम्बन्ध है। परमात्माकी अभिलाषा कभी घटती-बढ़ती भी नहीं। केवल संसारमें राग अधिक होनेपर वह घटती हुई और राग कम होनेपर वह बढ़ती हुई दीखती है। इसलिये 'मैं सदा जीता रहूँ; मैं सब कुछ जान लूँ; मैं सदा सुखी रहूँ'—इस रूपमें सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माकी अभिलाषा जीवमात्रमें निरन्तर रहती है। जब संसारका राग मिट जाता है और एकमात्र परमात्माकी अभिलाषा रह जाती है, तब द्वन्द्व नहीं रहता।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योग-मार्गोंमें निर्द्वन्द्व होना बहुत आवश्यक है। जबतक द्वन्द्व है, तबतक मुक्ति नहीं होती (गीता—सातवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें राग और द्वेष—ये दो शत्रु हैं (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)। निर्द्वन्द्व होनेसे ये दोनों मिट जाते हैं और इनके मिटनेसे सुखपूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारमें उलझनेके दो ही कारण हैं—राग और द्वेष। जितने भी साधन हैं, सब राग-द्वेषको मिटानेके लिये ही हैं*। राग-द्वेषके मिटनेपर नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति स्वतःसिद्ध है। इसमें परिश्रम है ही नहीं। कारण कि परमात्म-तत्त्वकी अनुभूति असत्‌के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत असत्‌के त्यागसे होती है। असत्‌की सत्ता राग-द्वेषपर ही टिकी हुई है। असत् संसार तो स्वतः ही मिट रहा है, पर अपनेमें राग-द्वेषको पकड़नेसे संसार स्थिर दीखता है। अतः जो संसार निरन्तर मिट रहा है, उसमें राग-द्वेष न रहनेसे मुक्ति नहीं होगी तो क्या होगा? इसलिये निर्द्वन्द्व अर्थात् राग-द्वेषसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—बाहरके सुख-दुःख (सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति)-में सम और भीतरके सुख-दुःखसे रहित होना 'निर्द्वन्द्व' अर्थात् द्वन्द्वरहित होना है।

तादात्म्यमें चेतन-अंशकी मुख्यतासे 'जिज्ञासा' रहती है और जड़-अंशकी मुख्यतासे 'कामना' रहती है। मनुष्यमें भूख तो अविनाशी-तत्त्वकी रहती है, पर रुचि नाशवान्‌की रहती है; क्योंकि अविनाशीकी भूखको वह नाशवान्‌के द्वारा मिटाना चाहता है। भूख और रुचिका यह द्वन्द्व मनुष्यके संसार-बन्धनको दृढ़ करता है। जब मनुष्यका संसारमें राग-द्वेष नहीं रहता, तब उसकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और कामना मिट जाती है अर्थात् वह निर्द्वन्द्व हो जाता है।

सम्बन्ध—इस अध्यायके दूसरे श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंको परम कल्याण करनेवाले बताया। उसकी व्याख्या अब आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

---

* एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः। युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसंगस्तु कृत्स्नशः॥

(श्रीमद्भा० ३। ३२। २७)

'योगियोंके समस्त योग-साधनोंका एकमात्र अभीष्ट फल है—सम्पूर्ण संसारमें आसक्तिका अभाव हो जाना।'

बालाः = बेसमझ लोग
साङ्ख्ययोगौ = सांख्ययोग और कर्मयोगको
पृथक् = अलग-अलग (फलवाले)
प्रवदन्ति = कहते हैं,
न = न कि
पण्डिताः = पण्डितजन; (क्योंकि)
एकम् = (इन दोनोंमेंसे) एक साधनमें
अपि = भी
सम्यक् = अच्छी तरहसे
आस्थितः = स्थित (मनुष्य)
उभयोः = दोनोंके
फलम् = फलरूप (परमात्माको)
विन्दते = प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—**'साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'**—इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करनेके साधनको '**कर्मसंन्यास**' नामसे कहा है। भगवान्‌ने भी दूसरे श्लोकमें अपने सिद्धान्तकी मुख्यता रखते हुए उसे '**संन्यास**' और '**कर्मसंन्यास**' नामसे कहा है। अब उस साधनको भगवान् यहाँ '**सांख्य**' नामसे कहते हैं। भगवान् शरीर-शरीरीके भेदका विचार करके स्वरूपमें स्थित होनेको '**सांख्य**' कहते हैं। भगवान्‌के मतमें '**संन्यास**' और '**सांख्य**' पर्यायवाची हैं, जिसमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन जिसे '**कर्मसंन्यास**' नामसे कह रहे हैं, वह भी निःसन्देह भगवान्‌के द्वारा कहे '**सांख्य**' का ही एक अवान्तर भेद है। कारण कि गुरुसे सुनकर भी साधक शरीर-शरीरीके भेदका ही विचार करता है।

'**बालाः**' पदसे भगवान् यह कहते हैं कि आयु और बुद्धिमें बड़े होकर भी जो सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले मानते हैं, वे बालक अर्थात् बेसमझ ही हैं।

जिन महापुरुषोंने सांख्ययोग और कर्मयोगके तत्त्वको ठीक-ठीक समझा है, वे ही पण्डित अर्थात् बुद्धिमान् हैं। वे लोग दोनोंको अलग-अलग फलवाले नहीं कहते; क्योंकि वे दोनों साधनोंकी प्रणालियोंको न देखकर उन दोनोंके वास्तविक परिणामको देखते हैं।

साधन-प्रणालीको देखते हुए स्वयं भगवान्‌ने तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें सांख्ययोग और कर्मयोगको दो प्रकारका साधन स्वीकार किया है। दोनोंकी साधन-प्रणाली तो अलग-अलग है, पर साध्य अलग-अलग नहीं है।

'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्'— गीतामें जगह-जगह सांख्ययोग और कर्मयोगका परमात्मप्राप्तिरूप फल एक ही बताया गया है। तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें दोनों साधनोंसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव होना बताया गया है। तीसरे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें कर्मयोगीके लिये परमात्माकी प्राप्ति बतायी गयी है और बारहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें तथा तेरहवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें ज्ञानयोगीके लिये परमात्माकी प्राप्ति बतायी गयी है। इस प्रकार भगवान्‌के मतमें दोनों साधन एक ही फलवाले हैं।

परिशिष्ट भाव—जो अन्य शास्त्रीय बातोंको तो जानता है, पर सांख्ययोग और कर्मयोगके तत्त्वको गहराईसे नहीं जानता, वह वास्तवमें बालक अर्थात् बेसमझ है।

गीताभरमें अविनाशी तत्त्वके लिये 'फल' शब्द इसी श्लोकमें आया है। 'फल' शब्दका अर्थ है—परिणाम। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों साधनोंसे प्राप्त होनेवाले तत्त्वको 'फल' कहनेका तात्पर्य है कि इन दोनों साधनोंमें मनुष्यका अपना उद्योग मुख्य है। ज्ञानयोगमें विवेकरूप उद्योग मुख्य है और कर्मयोगमें परहितकी क्रियारूप उद्योग मुख्य है। साधकका अपना उद्योग, परिश्रम सफल हो गया, इसलिये इसको 'फल' कहा गया है। यह फल नष्ट होनेवाला नहीं है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनोंका फल आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान है।

कर्तव्य-कर्म करना कर्मयोग है और कुछ न करना ज्ञानयोग है। कुछ न करनेसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्तव्य-कर्म करनेसे हो जाती है। 'करना' और 'न करना' तो साधन हैं और इनसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, वह साध्य है।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

साङ्ख्यैः	= सांख्ययोगियोंके द्वारा
यत्	= जो
स्थानम्	= तत्त्व
प्राप्यते	= प्राप्त किया जाता है,
योगैः	= कर्मयोगियोंके द्वारा
अपि	= भी
तत्	= वही
गम्यते	= प्राप्त किया जाता है। (अतः)
यः	= जो मनुष्य
साङ्ख्यम्	= सांख्ययोग
च	= और
योगम्	= कर्मयोगको (फलरूपमें)
एकम्	= एक
पश्यति	= देखता है,
सः, च	= वही (ठीक)
पश्यति	= देखता है।

व्याख्या—**'यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते'**—पूर्वश्लोकके उत्तरार्धमें भगवान्‌ने कहा था कि एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित होकर मनुष्य दोनों साधनोंके फलरूप परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। उसी बातकी पुष्टि भगवान् उपर्युक्त पदोंमें दूसरे ढंगसे कर रहे हैं कि जो तत्त्व सांख्ययोगी प्राप्त करते हैं, वही तत्त्व कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं।

संसारमें जो यह मान्यता है कि कर्मयोगसे कल्याण नहीं होता, कल्याण तो ज्ञानयोगसे ही होता है—इस मान्यताको दूर करनेके लिये यहाँ **'अपि'** अव्ययका प्रयोग किया गया है।

सांख्ययोगी और कर्मयोगी—दोनोंका ही अन्तमें कर्मोंसे अर्थात् क्रियाशील प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर दोनों ही योग एक हो जाते हैं। साधनकालमें भी सांख्ययोगका विवेक (जड़-चेतनका सम्बन्ध-विच्छेद) कर्मयोगीको अपनाना पड़ता है और कर्मयोगकी प्रणाली (अपने लिये कर्म न करनेकी पद्धति) सांख्ययोगीको अपनानी पड़ती है। सांख्ययोगका विवेक प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये होता है और कर्मयोगका कर्म संसारकी सेवाके लिये होता है। सिद्ध होनेपर सांख्ययोगी और कर्मयोगी—दोनोंकी एक स्थिति होती है; क्योंकि दोनों ही साधकोंकी अपनी निष्ठाएँ हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तीसरा श्लोक)।

संसार विषम है। घनिष्ठ-से-घनिष्ठ सांसारिक सम्बन्धमें भी विषमता रहती है। परन्तु परमात्मा सम हैं। अतः समरूप परमात्माकी प्राप्ति संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होती है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये दो योगमार्ग हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग। मेरे सत्-स्वरूपमें कभी अभाव नहीं होता, जबकि कामना-आसक्ति अभावमें ही पैदा होती है—ऐसा समझकर असंग हो जाय—यह ज्ञानयोग है। जिन वस्तुओंमें साधकका राग है, उन वस्तुओंको दूसरोंकी सेवामें खर्च कर दे और जिन व्यक्तियोंमें राग है, उनकी निःस्वार्थभावसे सेवा कर दे—यह कर्मयोग है। इस प्रकार ज्ञानयोगमें विवेक-विचारके द्वारा और कर्मयोगमें सेवाके द्वारा संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

'एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'—पूर्वश्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने व्यतिरेक रीतिसे कहा था कि सांख्ययोग और कर्मयोगको बेसमझ लोग ही अलग-अलग फल देनेवाले कहते हैं। उसी बातको अब अन्वय रीतिसे कहते हैं कि जो मनुष्य इन दोनों साधनोंको फलदृष्टिसे एक देखता है, वही यथार्थरूपमें देखता है।

इस प्रकार चौथे और पाँचवें श्लोकका सार यह है कि भगवान् सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंको स्वतन्त्र साधन मानते हैं और दोनोंका फल एक ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति मानते हैं। इस वास्तविकताको न जाननेवाले मनुष्यको भगवान् बेसमझ कहते हैं और इसे जाननेवालेको भगवान् यथार्थ जाननेवाला (बुद्धिमान्) कहते हैं।

विशेष बात

किसी भी साधनकी पूर्णता होनेपर जीनेकी इच्छा, मरनेका भय, पानेका लालच और करनेका राग—ये चारों सर्वथा मिट जाते हैं।

जो निरन्तर मर रहा है अर्थात् जिसका निरन्तर अभाव हो रहा है; उस शरीरमें मरनेका भय नहीं हो सकता; और जो नित्य-निरन्तर रहता है, उस स्वरूपमें जीनेकी इच्छा नहीं हो सकती तो फिर जीनेकी इच्छा और मरनेका भय किसे होता है? जब स्वरूप शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब उसमें जीनेकी इच्छा और मरनेका भय उत्पन्न हो जाता है। जीनेकी इच्छा और मरनेका भय—ये दोनों 'ज्ञानयोग' से (विवेकद्वारा) मिट जाते हैं।

पानेकी इच्छा उसमें होती है, जिसमें कोई अभाव होता है। अपना स्वरूप भावरूप है, उसमें कभी अभाव नहीं हो

सकता, इसलिये स्वरूपमें कभी पानेकी इच्छा नहीं होती। पानेकी इच्छा न होनेसे उसमें कभी करनेका राग उत्पन्न नहीं होता। स्वयं भावरूप होते हुए भी जब स्वरूप अभावरूप शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब उसे अपनेमें अभाव प्रतीत होने लग जाता है, जिससे उसमें पानेकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और पानेकी इच्छासे करनेका राग उत्पन्न हो जाता है। पानेकी इच्छा और करनेका राग—ये दोनों 'कर्मयोग'से मिट जाते हैं।

ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंमेंसे किसी एक साधनकी पूर्णता होनेपर जीनेकी इच्छा, मरनेका भय, पानेका लालच और करनेका राग—ये चारों सर्वथा मिट जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधन लौकिक होनेसे एक ही हैं। सांख्ययोगमें साधक चिन्मयतामें स्थित होता है और चिन्मयतामें स्थित होनेपर जड़ताका त्याग हो जाता है। कर्मयोगमें साधक जड़ताका त्याग करता है और जड़ताका त्याग होनेपर चिन्मयतामें स्थिति हो जाती है। इस प्रकार सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों ही साधनोंके परिणाममें चिन्मयताकी प्राप्ति अर्थात् चिन्मय स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो जाता है।

शरीरको संसारकी सेवामें लगा देना कर्मयोग है और शरीरसे स्वयं अलग हो जाना ज्ञानयोग है। चाहे शरीरको संसारकी सेवामें लगा दें, चाहे शरीरसे स्वयं अलग हो जायँ—दोनोंका परिणाम एक ही होगा अर्थात् दोनों ही साधनोंसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वरूपमें स्थिति हो जायगी।

यहाँ चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें चौथे श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके उत्तरार्धके साथ है और पाँचवें श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध चौथे श्लोकके उत्तरार्धके साथ है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीन साधनोंमें ज्ञानयोग और भक्तियोगका प्रचार तो अधिक है, पर कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है कि 'बहुत समय बीत जानेके कारण यह कर्मयोग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है (चौथे अध्यायका दूसरा श्लोक)। इसलिये कर्मयोगके सम्बन्धमें यह धारणा बनी हुई है कि यह परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है। अतः कर्मयोगका साधक या तो ज्ञानयोगमें चला जाता है अथवा भक्तियोगमें चला जाता है; जैसे—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय, (ज्ञानयोगका अधिकारी न बन जाय) अथवा मेरी लीला-कथाके श्रवणादिमें श्रद्धा न हो जाय (भक्तियोगका अधिकारी न बन जाय)।'

परन्तु यहाँ भगवान् ज्ञानयोगकी तरह कर्मयोगको भी परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बता रहे हैं। उपर्युक्त चौथे-पाँचवें श्लोकोंके सिवाय गीतामें अनेक जगह कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक तत्त्वज्ञान, परमशान्ति, मुक्ति अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेकी बात आयी है; जैसे—'**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति**' (४। ३८), '**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति**' (५। ६), '**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (४। २३), '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः**' (४। १९), '**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्**' (५। १२)।

श्रीमद्भागवतमें भी कर्मयोगको परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया गया है—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव। न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥

(११। २०। १०)

'जो स्वधर्ममें स्थित रहकर तथा भोगोंकी कामनाका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करता है तथा सकामभावपूर्वक कोई कर्म नहीं करता, उसको स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता अर्थात् वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः। ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(११। २०। ११)

'स्वधर्ममें स्थित वह कर्मयोगी इस लोकमें सब कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते हुए भी पाप-पुण्यसे मुक्त होकर बिना परिश्रमके तत्त्वज्ञानको अथवा परमप्रेम (पराभक्ति)-को प्राप्त कर लेता है।'

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग साधकको ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी भी बना देता है और स्वतन्त्रतासे कल्याण भी कर देता है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मयोगसे साधन-ज्ञान अथवा साधन-भक्तिकी प्राप्ति भी हो सकती है और साध्य-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अथवा साध्य-भक्ति (परमप्रेम या पराभक्ति)-की प्राप्ति भी हो सकती है।

सम्बन्ध—इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने संन्यास-(सांख्ययोग-) की अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया। अब उसी बातको दूसरे प्रकारसे कहते हैं।

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

तु	= परन्तु	**आप्तुम्**	= सिद्ध होना	**नचिरेण**	= शीघ्र ही
महाबाहो	= हे महाबाहो!	**दुःखम्**	= कठिन है।	**ब्रह्म**	= ब्रह्मको
अयोगतः	= कर्मयोगके बिना	**मुनिः**	= मननशील	**अधिगच्छति**	= प्राप्त हो
सन्न्यासः*	= सांख्ययोग	**योगयुक्तः**	= कर्मयोगी		जाता है।

व्याख्या—**'सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः'**—सांख्ययोगकी सफलताके लिये कर्मयोगका साधन करना आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना सांख्ययोगकी सिद्धि कठिनतासे होती है। परन्तु कर्मयोगकी सिद्धिके लिये सांख्ययोगका साधन करनेकी आवश्यकता नहीं है। यही भाव यहाँ **'तु'** पदसे प्रकट किया गया है।

सांख्ययोगीका लक्ष्य परमात्मतत्त्वका अनुभव करना होता है। परन्तु राग रहते हुए इस साधनके द्वारा परमात्मतत्त्वके अनुभवकी तो बात ही क्या है, इस साधनका समझमें आना भी कठिन है!

राग मिटानेका सुगम उपाय है—कर्मयोगका अनुष्ठान करना। कर्मयोगमें प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये ही की जाती है। दूसरोंके हितका भाव होनेसे अपना राग स्वतः मिटता है। इसलिये कर्मयोगके आचरणद्वारा राग मिटाकर सांख्ययोगका साधन करना सुगम पड़ता है। कर्मयोगका साधन किये बिना सांख्ययोगका सिद्ध होना कठिन है।

'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति'—अपने निष्कामभावका और दूसरोंके हितका मनन करनेवाले कर्मयोगीको यहाँ **'मुनिः'** कहा गया है।

कर्मयोगी छोटी या बड़ी प्रत्येक क्रियाको करते समय यह देखता रहता है कि मेरा भाव निष्काम है या सकाम? सकामभाव आते ही वह उसे मिटा देता है; क्योंकि सकामभाव आते ही वह क्रिया अपनी और अपने लिये हो जाती है।

दूसरोंका हित कैसे हो? इस प्रकार मनन करनेसे रागका त्याग सुगमतासे होता है।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् कर्मयोगकी विशेषता बता रहे हैं कि कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें विलम्बका कारण है—संसारका राग। निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करते रहनेसे कर्मयोगीके रागका सर्वथा अभाव हो जाता है और रागका सर्वथा अभाव होनेपर स्वतःसिद्ध परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है। इसी आशयको भगवान्‌ने चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें **'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** पदोंसे बताया है कि योगसंसिद्ध होते ही अपने-आप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति अवश्यमेव हो जाती है। इस साधनमें अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं है। इसकी सिद्धिमें कठिनाई और विलम्ब भी नहीं है।

दूसरा कारण यह है कि देहधारी—देहाभिमानी मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता, पर जो कर्मफलका त्यागी है, वह त्यागी कहलाता है (अठारहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। इससे यह ध्वनि निकलती है कि देहधारी कर्मोंका त्याग तो नहीं कर सकता, पर कर्मफलका—फलेच्छाका त्याग तो कर ही सकता है। इसलिये कर्मयोगमें सुगमता है।

कर्मयोगकी महिमामें भगवान् कहते हैं कि कर्मयोगीको तत्काल ही शान्ति प्राप्त हो जाती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। वह संसारबन्धनसे

*** यद्यपि यहाँ 'संन्यास' पद 'आप्तुम्' क्रियाका कर्म होनेसे उसमें द्वितीया होनी चाहिये, तथापि 'तु' पदको निपात संज्ञा मानकर उससे कर्म उक्त होनेसे 'संन्यास' पदमें प्रथमा हुई है।**

सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है—**'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** (गीता ५। ३)। अतः कर्मयोगका साधन सुगम, शीघ्र सिद्धिदायक और किसी अन्य साधनके बिना परमात्मप्राप्ति करानेवाला स्वतन्त्र साधन है।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मयोगीके लक्षणोंका वर्णन करते हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

जितेन्द्रियः = जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, **विशुद्धात्मा** = जिसका अन्तः-करण निर्मल है, **विजितात्मा** = जिसका शरीर अपने वशमें है (और) **सर्वभूतात्म-भूतात्मा** = सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है, (ऐसा) **योगयुक्तः** = कर्मयोगी **कुर्वन्** = (कर्म) करते हुए **अपि** = भी **न, लिप्यते** = लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—**'जितेन्द्रियः'**—इन्द्रियाँ वशमें होनेका तात्पर्य है—इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना। राग-द्वेषसे रहित होनेपर इन्द्रियोंमें मनको विचलित करनेकी शक्ति नहीं रहती[1]। साधक उनको अपने मनके अनुकूल चाहे जहाँ लगा सकता है।

कर्मयोगके साधकके लिये इन्द्रियोंका वशमें होना आवश्यक है। इसीलिये भगवान् कर्मयोगके प्रकरणमें इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात विशेषरूपसे कहते हैं; जैसे—**'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्य'** (३। ७); **'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य'** (३। ४१)। कर्मयोगी-का कर्मोंके साथ अधिक सम्बन्ध रहता है; इसलिये इन्द्रियाँ वशमें न होनेसे उसके विचलित होनेकी सम्भावना रहती है। कर्मयोगके साधनमें दूसरोंके हितके लिये सेवारूपसे कर्तव्य-कर्म करना आवश्यक है, जिसके लिये इन्द्रियोंका वशमें होना बहुत जरूरी है। इन्द्रियाँ वशमें हुए बिना कर्मयोगका साधन होना कठिन है।

'विशुद्धात्मा'—अन्तःकरणकी मलिनतामें हेतु है—सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व। जहाँ पदार्थोंका महत्त्व रहता है, वहीं उनकी कामनाएँ रहती हैं। साधक निष्काम तभी होता है, जब उसके अन्तःकरणमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व नहीं रहता। जबतक पदार्थोंका महत्त्व है, तबतक वह निष्काम नहीं हो सकता।

एक परमात्मप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य होनेसे अन्तःकरणकी जितनी जल्दी और जैसी शुद्धि होती है, उतनी जल्दी और वैसी शुद्धि दूसरे किसी अनुष्ठानसे नहीं होती। इसलिये कर्मयोगमें एक उद्देश्य होनेकी जितनी महिमा है, उतनी किसीकी नहीं।

'विजितात्मा'—कर्मयोगमें शरीरके सुख-आरामका त्याग करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अगर शरीरसे आलस्य-प्रमाद होगा, तो कर्मयोगका अनुष्ठान नहीं हो पायेगा। अतः यहाँ भगवान्ने शरीरको वशमें करनेकी बात कही है।

'सर्वभूतात्मभूतात्मा'—कर्मयोगीको सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकताका अनुभव हो जाता है[2]। जैसे शरीरके किसी एक अंगमें चोट लगनेसे दूसरा अंग उसकी सेवा करनेके लिये सहजभावसे, किसी अभिमानके बिना, कृतज्ञता चाहे बिना स्वतः लग जाता है, ऐसे ही कर्मयोगीके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा सहजभावसे, किसी अभिमान या कामनाके बिना, कृतज्ञता चाहे बिना स्वतः होती है। वह सेवा करनेके लिये किसी भी

१-श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥
(मनुस्मृति २। ९८)

'जो पुरुष सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है, उसे ही जितेन्द्रिय जानना चाहिये।'

२-चाहे अपने शरीरसे असंग हो जायँ, चाहे अपने शरीर-जैसे सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंसे एकता मान लें—दोनोंका परिणाम एक ही होगा। ज्ञानयोगी अपने शरीरसे असंग होता है और कर्मयोगी सब शरीरोंके साथ अपने शरीरकी एकता मानता है। एकता माननेसे वह उदार हो जाता है।

प्राणीको अपनेसे अलग नहीं समझता, सबको अपने ही अंग मानता है।

जैसे अपने शरीरमें भिन्न-भिन्न अवयवोंसे भिन्न-भिन्न व्यवहार होनेपर भी सब अवयवोंके साथ अपनापन समान (एक ही) रहता है, ऐसे ही कर्मयोगीके द्वारा मर्यादाके अनुसार संसारमें यथायोग्य भिन्न-भिन्न व्यवहार होनेपर भी सबके साथ अपनापन समान रहता है।

अपना राग मिटानेके लिये '**सर्वभूतात्मभूतात्मा**' होना अर्थात् सब प्राणियोंके साथ अपनी एकता मानना बहुत आवश्यक है। कर्मयोगीका स्वभाव है—उदारता। सर्वभूतात्मभूतात्मा हुए बिना उदारता नहीं आती।

विशेष बात

क्रिया और पदार्थके साथ हम निरन्तर नहीं रह सकते और वे हमारे साथ निरन्तर नहीं रह सकते। कारण यह है कि क्रिया और पदार्थमें निरन्तर परिवर्तन होता है, पर हमारेमें (स्वरूपसे) कभी परिवर्तन नहीं होता। इसलिये क्रिया और पदार्थ निरन्तर हमारा त्याग कर रहे हैं। हम भी इनका त्याग करके ही मुक्ति पा सकते हैं, परमशान्ति पा सकते हैं। इनके साथ रहकर हम मुक्ति, परमशान्ति नहीं पा सकते; क्योंकि इनके साथ रहनेका हमारा स्वभाव नहीं है और हमारे साथ रहनेका इनका स्वभाव नहीं है। इसलिये क्रिया और पदार्थको दूसरोंकी सेवामें लगाना है। दूसरोंकी सेवामें लगाना हमारी महत्ता नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। जो वास्तविकता होती है, वह सहज होती है अर्थात् उसमें परिश्रम और अभिमान नहीं होता। अवास्तविकतामें ही परिश्रम और अभिमान होता है।

क्रिया और पदार्थ दूसरोंकी सेवामें तभी लग सकते हैं, जब हमारेमें 'उदारता' आ जाय। यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि उदारता हमारा स्वरूप है*। इसलिये उदारतामें न तो धन खर्च करनेकी आवश्यकता है और न परिश्रम करनेकी आवश्यकता है। आवश्यकता केवल इसी बातकी है कि हम सुखीको देखकर प्रसन्न हो जायँ और दु:खीको देखकर करुणित, दयालु हो जायँ। हृदयमें यह करुणा पैदा हो जाय कि यह सुखी कैसे हो? सुखीको देखकर ऐसा भाव हो जाय कि सभी सुखी हो जायँ और दु:खीको देखकर ऐसा भाव हो जाय कि कोई दु:खी न रहे।

भगवान्‌ने भोग और संग्रहको साधनमें बाधक बताया है (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। सुखीको देखकर प्रसन्न होनेसे भोग भोगनेकी इच्छा मिट जाती है; क्योंकि भोग भोगनेमें जो सुख मिलता है, वह सुख हमें दूसरोंको सुखी देखकर विशेषतासे मिल जायगा तो हमें भोग भोगनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। दु:खीको देखकर दु:खी होनेसे संग्रह करनेकी इच्छा मिट जाती है; क्योंकि अपना दु:ख मिटानेके लिये जिन वस्तुओंका हम संग्रह करते हैं और व्यय करते हैं, वे स्वत: दूसरोंका दु:ख दूर करनेमें लग जायँगी। जैसे अपनेपर कोई दु:ख आनेसे हम उसे दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, ऐसे ही दूसरोंको दु:खी देखकर अपनी शक्तिके अनुसार उनका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा होने लगेगी।

प्रसन्नता और करुणामें एक विलक्षण रस है। वह रस क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद करके जीवको परमात्मस्वरूप नित्य रसके साथ अभिन्न करा देता है।

'**योगयुक्तः**'—जितेन्द्रिय, विशुद्धात्मा, विजितात्मा और सर्वभूतात्मभूतात्मा—इन चार पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त जो कर्मयोगी है, उसे ही यहाँ '**योगयुक्तः**' कहा गया है।

साधनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति न होनेमें कारण है—उद्‌देश्य और रुचिमें भिन्नता। जबतक अन्त:करणमें संसारका महत्त्व है, तबतक उद्‌देश्य और रुचिका संघर्ष प्राय: मिटता नहीं। उद्‌देश्य अविनाशी परमात्माका होता है और रुचि प्राय: नाशवान् संसारके प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिकी होती है। उद्‌देश्य और रुचि अभिन्न हो जानेपर साधन स्वत: तेजीसे होने लगता है। यहाँ '**योगयुक्तः**' पद ऐसे कर्मयोगीके लिये आया है, जिसका उद्‌देश्य और रुचि अभिन्न हो गयी है अर्थात् उद्‌देश्य और रुचि—दोनों एक परमात्मामें ही हो गये हैं।

उत्पन्न और नष्ट होनेवाला फल किंचिन्मात्र भी न चाहें, तभी कर्मयोग होता है। फल और उद्‌देश्य दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं। कर्मयोगीमें फलकी इच्छा तो नहीं होती, पर उद्‌देश्य

*** उदारता गुण भी है और अपना स्वरूप भी। हमारे पास जो पदार्थ हैं, वे दूसरोंकी सेवामें लग जायँ—इस भावसे उन्हें दूसरोंकी सेवामें लगाया जाय, यह उदारता 'गुण' है। हमारे पास जो पदार्थ हैं, वे हमारे हैं ही नहीं—ऐसा समझकर उन्हें दूसरोंकी सेवामें लगाया जाय, यह उदारता हमारा 'स्वरूप' है; क्योंकि इसमें पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और स्वरूप ज्यों-का-त्यों रह जाता है।**

अवश्य होता है। कर्मयोगीका उद्देश्य वही होता है, जो सबको मिल सकता है और सदा साथ रहता है। जो किसीको मिलता है, किसीको नहीं मिलता और कभी रहता है, कभी नहीं रहता, वह उसका उद्देश्य नहीं होता है। इस दृष्टिसे उद्देश्य सदा परमात्मतत्त्वका ही होता है। परमात्मतत्त्व किसी कर्म, अभ्यास आदिका फल नहीं है। फल उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होता है, पर परमात्मा नित्य रहते हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको कर्मयोगी चाहता ही नहीं; क्योंकि उसकी चाहना ही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है। एकमात्र परमात्माका ही उद्देश्य होनेसे कर्मयोगीको 'योगयुक्त' कहा गया है।

यहाँ जिसे **'योगयुक्तः'** कहा गया है, उसे ही छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें **'योगारूढः'** कहा गया है।

'कुर्वन्नपि न लिप्यते'—कर्मयोगी कर्म करते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता। कर्मोंके बन्धनमें हेतु हैं—कर्मोंके प्रति ममता, कर्मोंके फलकी इच्छा, कर्मजन्य सुखकी इच्छा तथा उसका भोग और कर्तृत्वाभिमान*। सारांशमें कर्मोंसे कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा ही बन्धनमें कारण है। किंचिन्मात्र भी पानेकी इच्छा न होनेके कारण कर्मयोगी कर्म करते हुए भी उनसे बँधता नहीं अर्थात् उसके कर्म अकर्म हो जाते हैं।

सांख्ययोगी तो **'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८) 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर कर्मोंसे नहीं बँधता, पर कर्मयोगी परहितके लिये कर्म करते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता। केवल दूसरोंके लिये कर्म किये जानेसे उसके कर्म भी **'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** की तरह ही हो जाते हैं।

यहाँ **'अपि'** पदमें एक भाव यह भी है कि कर्मयोगी कर्म करते समय तो निर्लिप्त है ही, कर्म न करते समय भी वह निर्लिप्त है (गीता—चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। उसका कर्म करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। वह सदा ही निर्लिप्त रहता है।

तात्पर्य है कि सांख्ययोगी जडताका त्याग करके चिन्मयताके साथ अपनी एकता मानता है और कर्मयोगी अपने कहलानेवाले शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदिकी संसारके साथ एकता मानता है अर्थात् पदार्थ, शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदिको और उनकी क्रियाओंको अपनी नहीं मानता; किन्तु उनको संसारकी और संसारके लिये ही मानता है। कर्मयोगी जब पदार्थ, मन, बुद्धि आदिको और उनकी क्रियाओंको केवल संसारकी ही मानता है, तो फिर उनके द्वारा किसीका हित हो गया, किसीको सुख पहुँचा, किसीका उपकार हो गया तो वह 'मैंने किया' 'मेरे द्वारा ऐसा हुआ'—ऐसा कैसे मान सकता है? नहीं मान सकता। इसलिये वह कर्म करता हुआ भी कर्ता नहीं होता अर्थात् कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

परिशिष्ट भाव—शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण जब कर्मयोगीको सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकताका अनुभव हो जाता है, तब कर्म करते हुए भी उसमें कर्तापन नहीं रहता। कर्तापन न रहनेसे उसके द्वारा होनेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते (गीता—अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—कर्मोंके होनेके विषयमें कर्मयोगीकी बात कहकर अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें सांख्ययोगके साधनकी बात कहते हैं।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

तत्त्ववित् = तत्त्वको जाननेवाला
युक्तः = सांख्ययोगी
पश्यन् = देखता हुआ,
शृण्वन् = सुनता हुआ,
स्पृशन् = छूता हुआ,

* दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगके स्वरूपका विवेचन करते हुए भगवान्ने 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' पदोंसे कर्मोंके प्रति ममता, कर्मजन्य सुखकी इच्छा तथा उसका भोग और कर्तृत्वाभिमान मिटानेके लिये कहा है तथा 'मा फलेषु कदाचन' पदोंसे कर्मोंके फलकी इच्छा मिटानेके लिये कहा है।

जिघ्रन्	= सूँघता हुआ,	**श्वसन्**	= श्वास लेता हुआ (तथा)	**वर्तन्ते**	= बरत रही हैं'—
अश्नन्	= खाता हुआ,			**इति**	= ऐसा
गच्छन्	= चलता हुआ	**उन्मिषन्**	= आँख खोलता हुआ (और)	**धारयन्**	= समझकर
गृह्णन्	= ग्रहण करता हुआ,			**किञ्चित्**	= '(मैं स्वयं) कुछ
		निमिषन्	= मूँदता हुआ	**एव**	= भी
प्रलपन्	= बोलता हुआ,	**अपि**	= भी	**न**	= नहीं
विसृजन्	= (मल-मूत्रका) त्याग करता हुआ,	**इन्द्रियाणि**	= 'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ	**करोमि**	= करता हूँ'—
		इन्द्रियार्थेषु	= इन्द्रियोंके विषयोंमें	**इति**	= ऐसा
स्वपन्	= सोता हुआ,			**मन्येत**	= माने।

व्याख्या—'**तत्त्ववित् युक्तः**'—यहाँ ये पद सांख्य-योगके विवेकशील साधकके वाचक हैं, जो तत्त्ववित् महापुरुषकी तरह निर्भ्रान्त अनुभव करनेके लिये तत्पर रहता है। उसमें ऐसा विवेक जाग्रत् हो गया है कि सब क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं, उन क्रियाओंका मेरे साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

जो अपनेमें अर्थात् स्वरूपमें कभी किंचिन्मात्र भी किसी क्रियाके कर्तापनको नहीं देखता, वह '**तत्त्ववित्**' है। उसमें नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही यह सावधानी रहती है कि स्वरूपमें कर्तापन है ही नहीं। प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिके साथ वह कभी भी अपनी एकता स्वीकार नहीं करता, इसलिये इनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको वह अपनी क्रियाएँ मान ही कैसे सकता है?

वास्तवमें उपर्युक्त स्थिति स्वरूपसे सभी मनुष्योंकी है; परन्तु वे भूलसे स्वरूपको क्रियाओंका कर्ता मान लेते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। परमात्माकी जिस शक्तिसे समष्टि संसारकी क्रियाएँ हो रही हैं, उसी शक्तिसे व्यष्टि शरीरकी क्रियाएँ भी हो रही हैं। परन्तु समष्टिके ही क्षुद्र अंश व्यष्टिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण मनुष्य व्यष्टिकी कुछ क्रियाओंको अपनी क्रियाएँ मानने लग जाता है। इस मान्यताको हटानेके लिये ही भगवान् कहते हैं कि साधक अपनेको कभी कर्ता न माने। जबतक किसी भी अंशमें कर्तापनकी मान्यता है, तबतक वह साधक कहा जाता है। जब अपनेमें कर्तापनकी मान्यताका सर्वथा अभाव होकर अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है, तब वह तत्त्ववित् महापुरुष कहा जाता है। जैसे स्वप्नसे जगनेपर मनुष्यका स्वप्नसे बिलकुल सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे ही तत्त्ववित् महापुरुषका शरीरादिसे होनेवाली क्रियाओंसे बिलकुल सम्बन्ध (कर्तापन) नहीं रहता।

यहाँ '**तत्त्ववित्**' वही है, जो प्रकृति और पुरुषके विभागको अर्थात् गुण और क्रिया सब प्रकृतिमें है, प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें गुण और क्रिया नहीं है—इसको ठीक-ठीक जानता है। प्रकृतिसे अतीत निर्विकार तत्त्व तो सबका प्रकाशक और आधार है। सबका प्रकाशक होता हुआ भी वह प्रकाश्यके अन्तर्गत ओत-प्रोत है। प्रकाश्य (शरीर आदि) में घुला-मिला रहनेपर भी प्रकाशक प्रकाशक ही है और प्रकाश्य प्रकाश्य ही है। ऐसे ही वह सबका आधार होता हुआ भी सबके (आधेयके) कण-कणमें व्याप्त है; पर वह कभी आधेय नहीं होता। कारण कि जो प्रकाशक और आधार है, उसमें करना और होना नहीं है। करना और होनारूप परिवर्तन तो प्रकाश्य अथवा आधेयमें ही है। इस तरह प्रकाशक और प्रकाश्य, आधार और आधेयके भेद-(विभाग-) को जो ठीक तरहसे जानता है, वही 'तत्त्ववित्' है। इसी प्रकृति (क्षेत्र) और पुरुष-(क्षेत्रज्ञ-) के विभागको जाननेकी बात भगवान्ने पहले दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें और आगे सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें तथा तेरहवें अध्यायके दूसरे, उन्नीसवें, तेईसवें और चौंतीसवें श्लोकमें कही है।

'**पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशन्‌ ...... उन्मिषन्निमिषन्नपि**'— यहाँ देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना और खाना—ये पाँचों क्रियाएँ (क्रमशः नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण और रसना—इन पाँच) ज्ञानेन्द्रियोंकी हैं। चलना, ग्रहण करना, बोलना और मल-मूत्रका त्याग करना—ये चारों क्रियाएँ (क्रमशः पाद, हस्त, वाक्, उपस्थ और गुदा—इन पाँच) कर्मेन्द्रियोंकी हैं*। सोना—यह एक क्रिया अन्तःकरणकी है। श्वास लेना—यह एक क्रिया प्राणकी और आँखें खोलना

* **यहाँ पाँचों कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाओंका वर्णन चार क्रियाओंके अन्तर्गत किया गया है अर्थात् 'विसृजन्' क्रियाके अन्तर्गत ही उपस्थ और गुदाकी क्रियाओंका वर्णन किया गया है।**

तथा मूँदना—ये दो क्रियाएँ '**कूर्म**' नामक उपप्राणकी हैं।

उपर्युक्त तेरह क्रियाएँ देकर भगवान्‌ने ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण और उपप्राणसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंका उल्लेख कर दिया है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिके द्वारा ही होती हैं, स्वयंके द्वारा नहीं। दूसरा एक भाव यह भी प्रतीत होता है कि सांख्ययोगीके द्वारा वर्ण, आश्रम, स्वभाव, परिस्थिति आदिके अनुसार शास्त्रविहित शरीर-निर्वाहकी क्रियाएँ, खान-पान, व्यापार करना, उपदेश देना, लिखना, पढ़ना, सुनना, सोचना आदि क्रियाएँ न होती हों—ऐसी बात नहीं है। उसके द्वारा ये सब क्रियाएँ हो सकती हैं।

मनुष्य अपनेको उन्हीं क्रियाओंका कर्ता मानता है, जिनको वह जानकर अर्थात् मन-बुद्धिपूर्वक करता है; जैसे पढ़ना, लिखना, सोचना, देखना, भोजन करना आदि। परन्तु अनेक क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें मनुष्य जानकर नहीं करता; जैसे—श्वासका आना-जाना, आँखोंका खुलना और बंद होना आदि। फिर इन क्रियाओंका कर्ता अपनेको न माननेकी बात इस श्लोकमें कैसे कही गयी? इसका उत्तर यह है कि सामान्यरूपसे श्वासोंका आना-जाना आदि क्रियाएँ स्वाभाविक होनेवाली हैं; किन्तु प्राणायाम आदिमें मनुष्य श्वास लेना आदि क्रियाएँ जानकर करता है। ऐसे ही आँखोंको खोलना और बंद करना भी जानकर किया जा सकता है। इसलिये इन क्रियाओंका कर्ता भी अपनेको न माननेके लिये कहा गया है। दूसरी बात, जैसे मनुष्य '**श्वसन् उन्मिषन् निमिषन्**' (श्वास लेना, आँखोंको खोलना और मूँदना)—इन क्रियाओंको स्वाभाविक मानकर इनमें अपना कर्तापन नहीं मानता, ऐसे ही अन्य क्रियाओंको भी स्वाभाविक मानकर उनमें अपना कर्तापन नहीं मानना चाहिये।

यहाँ '**पश्यन्**' आदि जो तेरह क्रियाएँ बतायी हैं, इनका बिना किसी आधारके होना सम्भव नहीं है। ये क्रियाएँ जिसके आश्रित होती हैं अर्थात् इन क्रियाओंका जो आधार है, उसमें कभी कोई क्रिया नहीं होती। ऐसे ही प्रकाशित होनेवाली ये सम्पूर्ण क्रियाएँ बिना किसी प्रकाशके सिद्ध नहीं हो सकतीं। जिस प्रकाशसे ये क्रियाएँ प्रकाशित होती हैं, जिस प्रकाशके अन्तर्गत होती हैं, उस प्रकाशमें कभी कोई क्रिया हुई नहीं, होती नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं और होनी सम्भव भी नहीं। ऐसा वह तत्त्व सबका आधार, प्रकाशक और स्वयं प्रकाशस्वरूप है। वह सबमें रहता हुआ भी कुछ नहीं करता। उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य करानेमें ही उपर्युक्त इन तेरह क्रियाओंका तात्पर्य है।

'**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्**'—जब स्वरूपमें कर्तापन है ही नहीं, तब क्रियाएँ कैसे और किसके द्वारा हो रही हैं?—इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् उपर्युक्त पदोंमें कहते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाएँ इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें ही हो रही हैं। यहाँ भगवान्‌का तात्पर्य इन्द्रियोंमें कर्तृत्व बतानेमें नहीं है, प्रत्युत स्वरूपको कर्तृत्वरहित (निर्लिप्त) बतानेमें है।

ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण, उपप्राण आदि सबको यहाँ '**इन्द्रियाणि**' पदके अन्तर्गत लिया गया है। इन्द्रियोंके पाँच विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन विषयोंमें ही इन्द्रियोंका बर्ताव होता है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषय प्रकृतिका कार्य हैं। इसलिये इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं—

(१) प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
(गीता ३। २७)

(२) प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
(गीता १३। २९)

गुणोंका कार्य होनेसे इन्द्रियों और उनके विषयोंको '**गुण**' ही कहा जाता है। अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८)। गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है—'**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति**' (गीता १४। १९)। तात्पर्य यह है कि क्रियामात्रको चाहे प्रकृतिसे होनेवाली कहें, चाहे प्रकृतिके कार्य गुणोंके द्वारा होनेवाली कहें, चाहे इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली कहें, बात वास्तवमें एक ही है।

क्रियाका तात्पर्य है—परिवर्तन। परिवर्तनरूप क्रिया प्रकृतिमें ही होती है। स्वरूपमें परिवर्तनरूप क्रिया लेशमात्र भी नहीं है। कारण कि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है और स्वरूप कर्तापनसे रहित है। प्रकृति कभी अक्रिय नहीं हो सकती और स्वरूपमें कभी क्रिया नहीं हो सकती। क्रियामात्र प्रकाश्य है और स्वरूप प्रकाशक है।

'**नैव किञ्चित्करोमीति मन्येत**'—यहाँ 'मैं (स्वरूपसे) कर्ता नहीं हूँ'—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं (स्वरूप) पहले कर्ता था। स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतमें था और न भविष्यमें ही होगा।

क्रियामात्र प्रकृतिमें ही हो रही है; क्योंकि प्रकृति सदा क्रियाशील है और पुरुष अर्थात् चेतन-तत्त्व सदा क्रियारहित है। जब चेतन अनादि भूलसे प्रकृतिके कार्यके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह प्रकृतिकी क्रियाओंको अपनी क्रियाएँ मानने लग जाता है और उन क्रियाओंका कर्ता स्वयं बन जाता है (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

जैसे, एक मनुष्य चलती हुई रेलगाड़ीके डिब्बेमें बैठा हुआ है, चल नहीं रहा है; परन्तु रेलगाड़ीके चलनेके कारण उसका चले बिना ही चलना हो जाता है। रेलगाड़ीमें चढ़नेके कारण अब वह चलनेसे रहित नहीं हो सकता। ऐसे ही क्रियाशील प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—किसी भी शरीरके साथ जब स्वयं अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब स्वयं कर्म न करते हुए भी वह उन शरीरोंसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता हुए बिना रह नहीं सकता।

सांख्ययोगी शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिके साथ कभी अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इसलिये वह कर्मोंका कर्तापन अपनेमें कभी अनुभव नहीं करता (गीता—पाँचवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। जैसे शरीरका बालकसे युवा होना, बालोंका कालेसे सफेद होना, खाये हुए अन्नका पचना, शरीरका सबल अथवा निर्बल होना आदि क्रियाएँ स्वाभाविक (अपने-आप) होती हैं, ऐसे ही दूसरी सम्पूर्ण क्रियाओंको भी सांख्ययोगी स्वाभाविक होनेवाली अनुभव करता है। तात्पर्य है कि वह अपनेको किसी भी क्रियाका कर्ता अनुभव नहीं करता।

गीतामें स्वयंको कर्ता माननेवालेकी निन्दा की गयी है (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। इसी प्रकार शुद्ध स्वरूपको कर्ता माननेवालेको मलिन अन्तःकरणवाला और दुर्मति कहा गया है (अठारहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। परन्तु स्वरूपको अकर्ता माननेवालेकी प्रशंसा की गयी है (तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

'**एव**' पद देनेका तात्पर्य है कि साधक कभी किंचिन्मात्र भी अपनेमें कर्तापनकी मान्यता न करे अर्थात् कभी किसी भी अंशमें अपनेको किसी कर्मका कर्ता न माने। इस प्रकार जब अपनेमें कर्तापनका भाव नहीं रहता, तब उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंकी संज्ञा 'कर्म' नहीं रहती, प्रत्युत 'क्रिया' रहती है। उन्हें 'चेष्टामात्र' कहा जाता है। इसी लक्ष्यसे तीसरे अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें ज्ञानी महापुरुषसे होनेवाली क्रियाको '**चेष्टते**' पदसे कहा गया है।

यहाँ '**एव**' पद देनेका दूसरा तात्पर्य यह है कि स्वयंका शरीरके साथ तादात्म्य होनेपर भी, शरीरके साथ कितना ही घुल-मिल जानेपर भी और अपनेको 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे मान लेनेपर भी स्वयंमें कभी कर्तृत्व आता ही नहीं और न कभी आ ही सकता है। किंतु प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके यह स्वयं अपनेमें कर्तृत्व मान लेता है; क्योंकि इसमें मानने और न माननेकी सामर्थ्य है, स्वतन्त्रता है, इसलिये यह अपनेको कर्ता भी मान लेता है और जब यह अपनी तरफ देखता है तो अकर्तापन भी इसके अनुभवमें आता है। ये दोनों बातें (अपनेमें कर्तृत्व मानना और न मानना) होनेपर भी स्वयंमें कभी कर्तृत्व आता ही नहीं। तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—शरीरमें रहता हुआ भी वह न करता है और न लिप्त ही होता है। भोक्ता तो प्रकृतिस्थ पुरुष ही बनता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। गुणोंका—क्रियाफलका भोक्ता बननेपर भी वह वास्तवमें अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होता; किन्तु अपने स्वरूपकी तरफ दृष्टि न रहनेसे अपनेमें लिप्तताका भाव पैदा होता है।

यद्यपि पुरुष स्वयं स्वरूपसे निर्लिप्त है, उसमें भोक्तापन है नहीं, हो सकता नहीं, तथापि सुख-दुःखका भोक्ता तो स्वयं पुरुष (चेतन) ही बनता है अर्थात् सुखी-दुःखी तो स्वयं पुरुष (चेतन) ही होता है, जड नहीं; क्योंकि जडमें सुखी-दुःखी होनेकी शक्ति और योग्यता नहीं है। तो फिर पुरुषमें भोक्तापन है नहीं और सुख-दुःखका भोक्ता पुरुष ही बनता है—ये दोनों बातें कैसे? भोगके समय जो भोगाकार—सुख-दुःखाकार वृत्ति बनती है, वह तो प्रकृतिकी होती है और प्रकृतिमें ही होती है। परन्तु उस वृत्तिके साथ तादात्म्य होनेसे सुखी-दुःखी होना अर्थात् 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ'—ऐसी मान्यता अपनेमें स्वयं पुरुष ही करता है। कारण कि यह मानना पुरुषके बिना नहीं होता अर्थात् यह मानना पुरुषमें ही हो सकता है, जडमें नहीं; इस दृष्टिसे पुरुष भोक्ता कहा गया है। सुखी-दुःखी होना अपनेमें माननेपर भी अर्थात् सुखके समय सुखी और दुःखके समय दुःखी—ऐसी मान्यता अपनेमें करनेपर भी पुरुष स्वयं अपने स्वरूपसे निर्लिप्त और सुख-दुःखका प्रकाशकमात्र ही रहता है; इस दृष्टिसे पुरुषमें भोक्तापन है नहीं और हो सकता ही नहीं। कारण कि एकदेशीयपनसे ही भोक्तापन होता है और एकदेशीयपन अहंकारसे होता है। अहंकार प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति जड है; अतः उसका कार्य भी जड ही होता

है अर्थात् भोक्तापन भी जड ही होता है। इसलिये भोक्तापन पुरुष-(चेतन-) में नहीं है। अगर यह पुरुष सुखके समय सुखी और दु:खके समय दु:खी होता तो इसका स्वरूप परिवर्तनशील ही होता; क्योंकि सुखका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा दु:खका भी आरम्भ और अन्त होता है। ऐसे ही यह पुरुष भी आरम्भ और अन्तवाला हो जाता, जो कि सर्वथा अनुचित है। कारण कि गीताने इसको अक्षर, अव्यय और निर्लिप्त कहा है और तत्त्वज्ञ पुरुषोंने इसका स्वरूप एकरस, एकरूप माना है। अगर इस पुरुषको सुखके समय सुखी और दु:खके समय दु:खी होनेवाला ही मानें, तो फिर पुरुष सदा एकरस, एकरूप रहता है—ऐसा कैसे कह सकते हैं?

विशेष बात

तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें '**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**'—इसमें आये '**मन्यते**' पदसे जो बात आयी थी, उसीका निषेध यहाँ '**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**'—इसमें आये '**मन्येत**' पदसे किया गया है। '**मन्येत**' पदका अर्थ मानना नहीं है, प्रत्युत अनुभव करना है; क्योंकि स्वरूपमें क्रिया नहीं है—यह अनुभव है, मान्यता नहीं। कर्म करते समय अथवा न करते समय—दोनों अवस्थाओंमें स्वरूपमें अकर्तापन ज्यों-का-त्यों है। इसलिये तत्त्ववित् पुरुष यह अनुभव करता है कि कर्म करते समय भी मैं वही था और कर्म न करते समय भी मैं वही रहा; अत: कर्म करने अथवा न करनेसे अपने स्वरूप-(अपनी सत्ता-) में क्या फर्क पड़ा? अर्थात् स्वरूप तो अकर्ता ही रहा। इस प्रकार प्रकृतिके परिवर्तनका ज्ञान (अनुभव) तो सबको होता है, पर अपने स्वरूपके परिवर्तनका ज्ञान किसीको नहीं होता। स्वरूप सम्पूर्ण क्रियाओंका निर्लिप्तरूपसे आश्रय, आधार और प्रकाशक है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है।

स्वरूपमें कभी अभाव नहीं होता। जब वह प्रकृतिके साथ रागसे तादात्म्य मान लेता है, तब उसे अपनेमें अभाव प्रतीत होने लग जाता है। उस अभावकी पूर्तिके लिये वह पदार्थोंकी कामना करने लग जाता है। कामनाकी पूर्तिके लिये उसमें कर्तापन आ जाता है; क्योंकि कामना हुए बिना स्वरूपमें कर्तापन नहीं आता।

प्रकृतिसे सम्बन्धके बिना स्वयं कोई क्रिया नहीं कर सकता। कारण कि जिन करणोंसे कर्म होते हैं, वे करण प्रकृतिके ही हैं। कर्ता करणके अधीन होता है। जैसे कितना ही योग्य सुनार क्यों न हो, पर वह अहरन, हथौड़ा आदि औजारोंके बिना कार्य नहीं कर सकता, ऐसे ही कर्ता करणोंके बिना कोई क्रिया नहीं कर सकता। इस प्रकार योग्यता, सामर्थ्य और करण—ये तीनों प्रकृतिमें ही हैं और प्रकृतिके सम्बन्धसे ही अपनेमें प्रतीत होते हैं। ये तीनों घटते-बढ़ते हैं और स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। अत: इनका स्वरूपसे सम्बन्ध है ही नहीं।

कर्तापन प्रकृतिके सम्बन्धसे है, इसलिये अपनेको कर्ता मानना परधर्म है। स्वरूपमें कर्तापन नहीं है, इसलिये अपनेको अकर्ता मानना स्वधर्म है। जैसे ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपन-(मैं ब्राह्मण हूँ, इस-) में निरन्तर स्थित रहता है, ऐसे ही तत्त्ववित् अपने अकर्तापन-(स्वधर्म-) में निरन्तर स्थित रहता है—यही '**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' पदोंका भाव है।

परिशिष्ट भाव—विवेकशील ज्ञानयोगी पहले ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्त:करण तथा प्राणोंसे होनेवाली क्रियाओंको करते हुए भी 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा मानता है, फिर उसको ऐसा अनुभव हो जाता है। वास्तवमें चिन्मय सत्तामात्रमें न करना है, न होना है! स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, स्वयंमें नहीं। अत: स्वयंका किसी भी क्रियासे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

अविवेकपूर्वक अहम्‌को अपना स्वरूप माननेसे जो '**अहङ्कारविमूढात्मा**' हो गया था (गीता ३। २७), वही विवेकपूर्वक अपनेको अहम्‌से अलग अनुभव करनेपर '**तत्त्ववित्**' हो जाता है अर्थात् उसमें कर्तृत्व नहीं रहता। वह निरन्तर चिन्मय तत्त्वमें ही स्थित रहता है।

अहंकारसे मोहित होकर स्वयंने भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया तो वह कर्मोंसे तथा उनके फलोंसे बँध गया और चौरासी लाख योनियोंमें चला गया। अब अगर वह अपनेको अहम्‌से अलग माने और अपनेको कर्ता न माने अर्थात् स्वयं वास्तवमें जैसा है, वैसा ही अनुभव कर ले तो उसके तत्त्ववित् (मुक्त) होनेमें आश्चर्य ही क्या है? तात्पर्य है कि जो असत्य है, वह भी जब सत्य मान लेनेसे सत्य दीखने लग गया, तो फिर जो वास्तवमें सत्य है, उसको मान लेनेपर

वह वैसा ही दीखने लग जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है?

वास्तवमें स्वयं जिस समय अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है, उस समय भी वह कर्ता-भोक्ता नहीं है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। कारण कि अपना स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामें अहम् नहीं है और अहम्‌की सत्ता नहीं है। अत: 'मैं कर्ता हूँ'—यह मान्यता कितनी ही दृढ़ हो, है तो भूल ही! भूलको भूल मानते ही भूल मिट जाती है—यह नियम है। किसी गुफामें सैकड़ों वर्षोंसे अन्धकार हो तो प्रकाश करते ही वह तत्काल मिट जाता है, उसके मिटनेमें अनेक वर्ष-महीने नहीं लगते। इसलिये साधक दृढ़तासे यह मान ले कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ।' फिर यह मान्यता मान्यतारूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत अनुभवमें परिणत हो जायगी।

जड़-चेतनका तादात्म्य होनेसे 'मैं' का प्रयोग जड़ (तादात्म्यरूप अहम्) के लिये भी होता है और चेतन (स्वरूप) के लिये भी होता है। जैसे, 'मैं कर्ता हूँ'—इसमें जड़की तरफ दृष्टि है और 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इसमें (जड़का निषेध होनेसे) चेतनकी तरफ दृष्टि है। जिसकी दृष्टि जड़की तरफ है अर्थात् जो अहम्‌को अपना स्वरूप मानता है, वह '**अहंकारविमूढात्मा**' है और जिसकी दृष्टि चेतन (अहंरहित स्वरूप) की तरफ है, वह '**तत्त्ववित्**' है।

जब साधक वर्तमानमें 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—इस प्रकार स्वयंको अकर्ता अनुभव करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके सामने एक बड़ी समस्या आती है। जब उसको भूतकालमें किये हुए अच्छे कर्मोंकी याद आती है, तब वह प्रसन्न हो जाता है कि मैंने बहुत अच्छा काम किया, बहुत ठीक किया! और जब उसको निषिद्ध कर्मोंकी याद आती है, तब वह दु:खी हो जाता है कि मैंने बहुत बुरा काम किया, बहुत गलती की। इस प्रकार भूतकालमें किये गये कर्मोंके संस्कार उसको सुखी-दु:खी करते हैं। इस विषयमें एक मार्मिक बात है। स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतकालमें था और न भविष्यमें ही होगा। अत: साधकको यह देखना चाहिये कि जैसे वर्तमानमें स्वयं अकर्ता है, ऐसे ही भूतकालमें भी स्वयं अकर्ता ही था। कारण कि वर्तमान ही भूतकालमें गया है। स्वरूप सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई कर्म करना बनता ही नहीं। कर्म केवल अहंकारसे मोहित अन्त:करणवाले अज्ञानी मनुष्यके द्वारा ही होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। साधकको भूतकालमें किये हुए कर्मोंकी याद आनेसे जो सुख-दु:ख होता है, चिन्ता होती है, यह भी वास्तवमें अहंकारके कारण ही है। वर्तमानमें अहंकारविमूढात्मा होकर अर्थात् अहंकारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर ही साधक सुखी-दु:खी होता है। स्थूलदृष्टिसे देखें तो जैसे अभी भूतकालका अभाव है, ऐसे ही भूतकालमें किये गये कर्मोंका भी अभी प्रत्यक्ष अभाव है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो जैसे भूतकालमें वर्तमानका अभाव था, ऐसे ही भूतकालका भी अभाव था। इसी तरह वर्तमानमें जैसे भूतकालका अभाव है, ऐसे ही वर्तमानका भी अभाव है। परन्तु सत्ताका नित्य-निरन्तर भाव है। तात्पर्य है कि सत्तामात्रमें भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंका ही सर्वथा अभाव है। सत्ता कालसे अतीत है। अत: वह किसी भी कालमें कर्ता नहीं है। उस कालातीत और अवस्थातीत सत्तामें किसी कालविशेष और अवस्थाविशेषको लेकर कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वका आरोप करना अज्ञान है। अत: भूतकालमें किये गये कर्मोंकी स्मृति अहंकारविमूढात्माकी स्मृति है, तत्त्ववित्‌की नहीं।

'**नैव किञ्चित्करोमि**' का तात्पर्य है कि क्रिया नहीं है, पर सत्ता है। अत: साधककी दृष्टि सत्तामात्रकी तरफ रहनी चाहिये। वह सत्ता चिन्मय होनेसे ज्ञानस्वरूप है और निर्विकार होनेसे आनन्दस्वरूप है। यह आनन्द अखण्ड, शान्त, एकरस है।

शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण प्रत्येक क्रियामें स्वयंकी मुख्यता रहती है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ आदि। क्रिया तो होती है शरीरमें, पर मान लेते हैं अपनी। स्वयंमें कोई क्रिया नहीं है, वह करने और न करने—दोनोंसे रहित है (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), इसलिये शरीरके द्वारा क्रिया होनेपर भी सत्तामात्र अपने स्वरूपपर दृष्टि रहनी चाहिये कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

सम्बन्ध—सातवें श्लोकमें कर्मयोगीकी और आठवें-नवें श्लोकोंमें सांख्ययोगीकी कर्मोंसे निर्लिप्तता बताकर अब भगवान् भक्तियोगीकी कर्मोंसे निर्लिप्तता बताते हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

यः	=जो (भक्तियोगी)	**सङ्गम्**	=आसक्तिका	**पद्मपत्रम्**	=कमलके पत्तेकी
कर्माणि	=सम्पूर्ण कर्मोंको	**त्यक्त्वा**	=त्याग करके	**इव**	=तरह
ब्रह्मणि	=परमात्मामें	**करोति**	=(कर्म) करता है,	**पापेन**	=पापसे
आधाय	=अर्पण करके (और)	**सः**	=वह	**न, लिप्यते**	=लिप्त नहीं होता।
		अम्भसा	=जलसे		

व्याख्या—**'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'**—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि सब भगवान्‌के ही हैं, अपने हैं ही नहीं; अतः इनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको भक्तियोगी अपनी कैसे मान सकता है? इसलिये उसका यह भाव रहता है कि मात्र क्रियाएँ भगवान्‌के द्वारा ही हो रही हैं और भगवान्‌के लिये ही हो रही हैं; मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

भगवान् ही अपनी (मेरी) इन्द्रियोंके द्वारा आप ही सम्पूर्ण क्रियाएँ करते हैं—इस बातको ठीक-ठीक धारण करके सम्पूर्ण क्रियाओंके कर्तापनको भगवान्‌में ही मानना, यही उपर्युक्त पदोंका अर्थ है।

शरीरादि वस्तुएँ अपनी हैं ही नहीं, प्रत्युत मिली हुई हैं और बिछुड़ रही हैं। ये केवल भगवान्‌के नाते, भगवत्प्रीत्यर्थ दूसरोंकी सेवा करनेके लिये मिली हैं। इन वस्तुओंपर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है अर्थात् इनको अपने इच्छानुसार न तो रख सकते हैं, न बदल सकते हैं और न मरनेपर साथ ही ले जा सकते हैं। इसलिये इन शरीरादिको तथा इनसे होनेवाली क्रियाओंको अपनी मानना ईमानदारी नहीं है। अतः मनुष्यको ईमानदारीके साथ जिसकी ये वस्तुएँ हैं, उसीकी अर्थात् भगवान्‌की मान लेनी चाहिये।

सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको कर्मयोगी 'संसार' के, ज्ञानयोगी 'प्रकृति' के और भक्तियोगी 'भगवान्' के अर्पण करता है। प्रकृति और संसार—दोनोंके ही स्वामी भगवान् हैं। अतः क्रियाओं और पदार्थोंको भगवान्‌के अर्पण करना ही श्रेष्ठ है।

'सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः'—किसी भी प्राणी, पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, क्रिया आदिमें किंचिन्मात्र भी राग, खिंचाव, आकर्षण, लगाव, महत्त्व, ममता, कामना आदिका न रहना ही आसक्तिका सर्वथा त्याग करना है।

शास्त्रीय दृष्टिसे 'अज्ञान' जन्म-मरणका हेतु होते हुए भी साधनकी दृष्टिसे 'राग' ही जन्म-मरणका मुख्य हेतु है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। रागपर ही अज्ञान टिका हुआ है, इसलिये राग मिटनेपर अज्ञान भी मिट जाता है। इस राग या आसक्तिसे ही कामना पैदा होती है—**'सङ्गात्सञ्जायते कामः'** (गीता २। ६२)। कामना ही सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। इसलिये यहाँ पापोंके मूल कारण आसक्तिका त्याग करनेकी बात आयी है; क्योंकि इसके रहते मनुष्य पापोंसे बच नहीं सकता और इसके न रहनेसे मनुष्य पापोंसे लिप्त नहीं होता।

किसी भी क्रियाको करते समय क्रियाजन्य सुख लेनेसे तथा उसके फलमें आसक्त रहनेसे उस क्रियाका सम्बन्ध छूटता नहीं, प्रत्युत छूटनेकी अपेक्षा और बढ़ता है। किसी भी छोटी या बड़ी क्रियाके फलरूपमें कोई वस्तु चाहना ही आसक्ति नहीं है, प्रत्युत क्रिया करते समय भी अपनेमें महत्त्वका, अच्छेपनका आरोप करना और दूसरोंसे अच्छा कहलवानेका भाव रखना भी आसक्ति ही है। इसलिये अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। जिस कर्मसे अपने लिये किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी सुख पानेकी इच्छा है, वह कर्म अपने लिये हो जाता है। अपनी सुख-सुविधा और सम्मानकी इच्छाका सर्वथा त्याग करके कर्म करना ही उपर्युक्त पदोंका अभिप्राय है।

'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा'—यह कितनी विशेष बात है कि भगवान्‌के सम्मुख होकर भक्तियोगी संसारमें रहकर सम्पूर्ण भगवदर्थ कर्म करते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता! जैसे कमलका पत्ता जलमें उत्पन्न होकर और जलमें रहकर भी जलसे निर्लिप्त रहता है, ऐसे ही भक्तियोगी संसारमें रहकर सम्पूर्ण क्रियाएँ करनेपर भी भगवान्‌के सम्मुख होनेके कारण संसारमें सर्वदा-सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

भगवान्‌से विमुख होकर संसारकी कामना करना ही सब पापोंका मुख्य हेतु है। कामना आसक्तिसे उत्पन्न होती है।

आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेसे कामना नहीं रह सकती, इसलिये पाप होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

धुएँसे अग्निकी तरह सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त होते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक)। परन्तु जिसने आशा, कामना, आसक्तिका त्याग कर दिया है, उसे ये दोष नहीं लगते। आसक्तिरहित होकर भगवदर्थ कर्म करनेके प्रभावसे सम्पूर्ण संचित पाप विलीन हो जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ-अट्ठाईसवाँ श्लोक)। अतः भक्तियोगीका किसी प्रकारसे भी पापसे सम्बन्ध नहीं रहता।

यहाँ '**पापेन**' पद कर्मोंसे होनेवाले उस पाप-पुण्यरूप फलका वाचक है, जो आगामी जन्मारम्भमें कारण होता है। भक्तियोगी उस पाप-पुण्यरूप फलसे कभी लिप्त नहीं होता अर्थात् बँधता नहीं। इसी बातको नवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें '**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**' पदोंसे कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ सगुण ईश्वरको 'ब्रह्म' कहनेका तात्पर्य है कि ईश्वर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार सब कुछ है; क्योंकि वह समग्र है। समग्रमें सब आ जाते हैं (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है*। तात्पर्य यह हुआ कि 'सगुण' के अन्तर्गत ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों आ जाते हैं, पर 'निर्गुण' के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही आता है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण सीमित है और सगुण समग्र है।

वैष्णवलोग सगुण-साकार भगवान्‌के उत्सवको 'ब्रह्मोत्सव' नामसे कहते हैं। अर्जुनने भी भगवान् श्रीकृष्णको 'ब्रह्म' नामसे कहा है—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्**' (गीता १०। १२)। गीतामें ब्रह्मके तीन नाम बताये हैं—'**ॐ**', '**तत्**' और '**सत्**' (१७। २३)। नाम-नामीका सम्बन्ध होनेसे यह भी सगुण ही हुआ।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मयोगीके कर्म करनेकी शैली बताते हैं।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

योगिनः	= कर्मयोगी	**इन्द्रियैः**	= इन्द्रियाँ,	**आत्मशुद्धये**	= अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये,
सङ्गम्	= आसक्तिका	**कायेन**	= शरीर,	**अपि**	= ही
त्यक्त्वा	= त्याग करके	**मनसा**	= मन (और)	**कर्म**	= कर्म
केवलैः	= केवल (ममतारहित)	**बुद्ध्या**	= बुद्धिके द्वारा	**कुर्वन्ति**	= करते हैं।

व्याख्या—'**योगिनः**'—यहाँ '**योगिनः**' पद कर्मयोगीके लिये आया है। जो योगी भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करते हैं, वे भक्तियोगी कहलाते हैं। परन्तु जो योगी केवल संसारकी सेवाके लिये निष्कामभावपूर्वक कर्म करते हैं, वे कर्मयोगी कहलाते हैं। कर्मयोगी अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिसे कर्म करते हुए भी उन्हें अपना नहीं मानता, प्रत्युत संसारका ही मानता है। कारण कि शरीरादिकी संसारके साथ एकता है।

'**कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि**'— जिनको साधारण मनुष्य अपनी मानते हैं, वे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि वास्तवमें किसी भी दृष्टिसे अपनी नहीं हैं, प्रत्युत अपनेको मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। इनको अपनी मानना सर्वथा भूल है। इन सबकी संसारके साथ स्वतःसिद्ध एकता है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो शरीरादि पदार्थ किसी भी दृष्टिसे अपने नहीं हैं। मालिककी दृष्टिसे देखें तो ये भगवान्‌के हैं, कारणकी दृष्टिसे देखें तो ये प्रकृति हैं और कार्यकी दृष्टिसे देखें तो ये संसारके (संसारसे अभिन्न) हैं।

इस प्रकार किसी भी दृष्टिसे इनको अपना मानना, इनमें ममता रखना भूल है। ममताको सर्वथा मिटानेके लिये ही यहाँ '**केवलैः**' पद प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ '**केवलैः**' पद बहुवचन होनेसे इन्द्रियोंका ही

* वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ (१। २। ११)

विशेषण है; परन्तु इन्द्रियोंसे ही ममता हटानेके लिये कहा जाय, शरीर-मन-बुद्धिसे नहीं—ऐसा सम्भव नहीं है। शरीरादिका सम्बन्ध समष्टि संसारके साथ है। व्यष्टि कभी समष्टिसे अलग नहीं हो सकती। इसलिये व्यष्टि-(शरीरादि-) से सम्बन्ध जोड़नेपर समष्टि-(संसार-) से स्वतः सम्बन्ध जुड़ जाता है। जैसे लड़कीसे विवाह होनेपर अर्थात् सम्बन्ध जुड़नेपर सास, ससुर आदि ससुरालके सभी सम्बन्धियोंसे अपने-आप सम्बन्ध जुड़ जाता है, ऐसे ही संसारकी किसी भी वस्तु-(शरीरादि-)से सम्बन्ध जुड़नेपर अर्थात् उसे अपनी माननेपर पूरे संसारसे अपने-आप सम्बन्ध जुड़ जाता है। अतः यहाँ **'केवलैः'** पद शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि सबमें ही साधकको ममता हटानेकी प्रेरणा करता है।[1]

वास्तवमें कर्ताका स्वयं निर्मम होना ही आवश्यक है। यदि कर्ता स्वयं निर्मम हो तो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब जगहसे ममता सर्वथा मिट जाती है। कारण कि वास्तवमें शरीर, इन्द्रियाँ आदि स्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं; अतः इनमें ममता केवल मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं।

कर्मयोगकी साधनामें फलकी इच्छाका त्याग मुख्य है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। साधारण लोग फलप्राप्तिके लिये कर्म करते हैं, पर कर्मयोगी फलकी आसक्तिको मिटानेके लिये कर्म करता है। परन्तु जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिको अपना मानता रहता है, वह फलकी इच्छाका त्याग कर ही नहीं सकता[2]। कारण कि उसका ऐसा भाव रहता है कि शरीरादि अपने हैं तो उनके द्वारा किये गये कर्मोंका फल भी अपनेको मिलना चाहिये। इस प्रकार शरीरादिको अपना माननेसे स्वतः फलकी इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिये फलकी इच्छाको मिटानेके लिये शरीरादिको कभी भी अपना न मानना अत्यन्त आवश्यक है।

'केवलैः'—पदका तात्पर्य है कि जैसे वर्षा बरसती है और उससे लोगोंका हित होता है; परन्तु उसमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं बरसती हूँ, मेरी वर्षा है जिससे दूसरोंका हित होगा, दूसरोंको सुख होगा। ऐसे ही इन्द्रियों आदिके द्वारा होनेवाले हितमें भी अपनापन मालूम न दे। परन्तु शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके द्वारा किसीका अभीष्ट हो गया, किसीकी मनचाही बात हो गयी—इन क्रियाओंको लेकर अपने मनमें खुशी आती है तो मन, बुद्धि आदिमें केवलपना नहीं रहा, प्रत्युत उनके साथ सम्बन्ध जुड़ गया, ममता हो गयी।

'सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'—[पीछे दसवें श्लोकमें भी **'सङ्गं त्यक्त्वा'** पद आये हैं; अतः इनकी व्याख्या वहीं देखनी चाहिये।]

साधारणतः मल, विक्षेप और आवरण-दोषके दूर होनेको अन्तःकरणकी शुद्धि माना जाता है। परन्तु वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धि है—शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे ममताका सर्वथा मिट जाना। शरीरादि कभी नहीं कहते कि हम तुम्हारे हैं और तुम हमारे हो। हम ही उनको अपना मान लेते हैं। उनको अपना मानना ही अशुद्धि है—**'ममता मल जरि जाइ'** (मानस ७। ११७ क)। अतः शरीरादिके प्रति अहंता-ममतापूर्वक माने गये सम्बन्धका सर्वथा अभाव ही आत्मशुद्धि है।

इस श्लोकमें आये **'केवलैः'** पदसे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना न माननेकी बात आयी है। **'केवलैः'** पदमें अपनापन हटानेका उद्देश्य है और **'आत्मशुद्धये'** पदमें अपनापन सर्वथा हटनेकी बात आयी है। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये (अपनापन सर्वथा हटानेके उद्देश्यसे) शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना न माननेपर भी इनमें सूक्ष्म अपनापन रह जाता है। उस सूक्ष्म अपनेपनका सर्वथा मिटना ही आत्मशुद्धि अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि है।

अहंतामें भी ममता रहती है। ममता सर्वथा मिटनेपर जब अहंतामें भी ममता नहीं रहती, तब सर्वथा शुद्धि हो जाती है।

'कर्म कुर्वन्ति'—शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें जो सूक्ष्म अपनापन रह जाता है, उसे सर्वथा दूर करनेके लिये कर्मयोगी कर्म करते हैं।

जबतक मनुष्य कर्म करते हुए अपने लिये किसी प्रकारका सुख चाहता है अर्थात् किसी फलकी इच्छा रखता है और शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि कर्म-सामग्रीको अपनी

१-यहाँ 'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः' के अनुसार 'केवलैः' पदकी विभक्तिका परिणाम कर लेना चाहिये अर्थात् 'केवलेन कायेन', 'केवलेन मनसा', 'केवलया बुद्ध्या'—इस तरह विभक्तिको बदल लेना चाहिये।

२-यदि मनुष्य फलकी इच्छा न करे, तो भी शरीरादिको अपना माननेसे वह कर्मफलका हेतु बन ही जाता है, जिसका भगवान्‌ने निषेध किया है—'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (गीता २। ४७)।

मानता है, तबतक वह कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये कर्मयोगी फलकी इच्छाका त्याग करके और कर्म-सामग्रीको अपनी न मानकर केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है। कारण कि योगारूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील योगीके लिये (दूसरोंके हितके लिये) कर्म करना ही हेतु कहा जाता है—'**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**' (गीता ६। ३)। इस प्रकार दूसरोंके हितके लिये वह ज्यों-ज्यों कर्म करता है, त्यों-ही-त्यों ममता-आसक्ति मिटती चली जाती है और अन्तःकरणकी शुद्धि होती चली जाती है।

परिशिष्ट भाव—शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता; क्योंकि शुद्ध करनेसे अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक 'मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय'—यह भाव रहेगा, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि ममता ही खास अशुद्धि है। इसीलिये रामायणमें आया है—'**ममता मल जरि जाइ**' (मानस, उत्तर० ११७ क)। भगवान्‌ने भी यहाँ '**केवलैः**' पदसे अन्तःकरणके साथ ममता न रखनेकी बात कही है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें ममताका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। अतः अन्तःकरणमें ममता (अपनापन) सर्वथा मिटानेके उद्देश्यसे कर्मयोगी अनासक्त भावसे कर्म करते हैं। वे अपने लिये कोई कर्म नहीं करते। कारण कि ममता रखनेसे कर्म होते हैं, कर्मयोग नहीं होता। अपने लिये कोई कर्म न करनेसे कर्मयोगीकी गति स्वरूपकी तरफ होती है।

कर्मयोगी पहले ममतारहित होनेका उद्देश्य बनाकर कर्म करता है, फिर उसके उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें अन्वय और व्यतिरेक-रीतिसे कर्मयोगकी महिमाका वर्णन करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

युक्तः = कर्मयोगी, **कर्मफलम्** = कर्मफलका, **त्यक्त्वा** = त्याग करके, **नैष्ठिकीम्** = नैष्ठिकी, **शान्तिम्** = शान्तिको, **आप्नोति** = प्राप्त होता है। (परन्तु) **अयुक्तः** = सकाम मनुष्य, **कामकारेण** = कामनाके कारण, **फले** = फलमें, **सक्तः** = आसक्त होकर, **निबध्यते** = बँध जाता है।

व्याख्या—'**युक्तः**'—इस पदका अर्थ प्रसंगके अनुसार लिया जाता है; जैसे—इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें अपनेको अकर्ता माननेवाले सांख्ययोगीके लिये '**युक्तः**' पद आया है, ऐसे ही यहाँ कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीके लिये '**युक्तः**' पद आया है।

जिनका उद्देश्य 'समता' है, वे सभी पुरुष युक्त अर्थात् योगी हैं। यहाँ कर्मयोगीका प्रकरण चल रहा है, इसलिये यहाँ '**युक्तः**' पद ऐसे कर्मयोगीके लिये आया है, जिसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका होनेसे जिसमें सांसारिक कामनाओंका अभाव हो गया है।

'**कर्मफलं त्यक्त्वा**'—यहाँ कर्मफलका त्याग करनेका तात्पर्य फलकी इच्छा, आसक्तिका त्याग करना है; क्योंकि वास्तवमें त्याग कर्मफलका नहीं, प्रत्युत कर्मफलकी इच्छाका होता है। कर्मफलकी इच्छाका त्याग करनेका अर्थ है—किसी भी कर्म और कर्मफलसे अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारका सुख लेनेकी इच्छा न रखना। कर्म करनेसे एक तो तात्कालिक फल (सुख) मिलता है और दूसरा परिणाममें फल मिलता है—इन दोनों ही फलोंकी इच्छाका त्याग करना है। अपना कुछ नहीं है, अपने लिये कुछ नहीं करना है और अपनेको कुछ नहीं चाहिये—इस प्रकार कर्ताके सर्वथा निष्काम होनेपर कर्मफलकी इच्छाका त्याग हो जाता है।

संचित-कर्मोंके अनुसार प्रारब्ध बनता है, प्रारब्धके अनुसार मनुष्यका जन्म होता है और मनुष्य-जन्ममें नये कर्म होनेसे नये कर्म-संस्कार संचित होते हैं। परन्तु कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करके कर्म करनेसे कर्म भुने हुए बीजकी तरह संस्कार उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं और उनकी संज्ञा 'अकर्म' हो जाती है (गीता—चौथे अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। वर्तमानमें निष्कामभावपूर्वक किये कर्मोंके प्रभावसे उसके पुराने कर्म-संस्कार (संचित कर्म) भी समाप्त हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। इस प्रकार उसके पुनर्जन्मका कारण ही समाप्त हो जाता है।

कर्मफल चार प्रकारके होते हैं—

(१) **दृष्ट कर्मफल—**वर्तमानमें किये जानेवाले नये कर्मोंका फल, जो तत्काल प्रत्यक्ष मिलता हुआ दीखता है; जैसे—भोजन करनेसे तृप्ति होना आदि।

(२) **अदृष्ट कर्मफल—**वर्तमानमें किये जानेवाले नये कर्मोंका फल, जो अभी तो संचितरूपसे संगृहीत होता है, पर भविष्यमें इस लोक और परलोकमें अनुकूलता या प्रतिकूलताके रूपमें मिलेगा।

(३) **प्राप्त कर्मफल—**प्रारब्धके अनुसार वर्तमानमें मिले हुए शरीर, जाति, वर्ण, धन, सम्पत्ति, अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आदि।

(४) **अप्राप्त कर्मफल—**प्रारब्ध-कर्मके फल-रूपमें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें मिलनेवाली है।

उपर्युक्त चार प्रकारके कर्मफलोंमें दृष्ट और अदृष्ट कर्मफल 'क्रियमाण-कर्म' के अधीन हैं तथा प्राप्त और अप्राप्त कर्मफल 'प्रारब्ध-कर्म' के अधीन हैं। कर्मफलका त्याग करनेका अर्थ है—दृष्ट कर्मफलका आग्रह नहीं रखना तथा मिलनेपर प्रसन्न या अप्रसन्न न होना; अदृष्ट कर्मफलकी आशा न रखना; प्राप्त कर्मफलमें ममता न करना तथा मिलनेपर सुखी या दु:खी न होना और अप्राप्त कर्मफलकी कामना न करना कि मेरा दु:ख मिट जाय और सुख हो जाय।

साधारण मनुष्य किसी-न-किसी कामनाको लेकर ही कर्मोंका आरम्भ करता है और कर्मोंकी समाप्तितक उस कामनाका चिन्तन करता रहता है। जैसे व्यापारी धनकी इच्छासे व्यापार आरम्भ करता है तो उसकी वृत्तियाँ धनके लाभ और हानिकी ओर ही रहती हैं कि लाभ हो जाय, हानि न हो। धनका लाभ होनेपर वह प्रसन्न होता है और हानि होनेपर दु:खी होता है। इसी तरह सभी मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदि कोई-न-कोई अनुकूल फलकी इच्छा रखकर ही कर्म करते हैं। परन्तु कर्मयोगी फलकी इच्छाका त्याग करके कर्म करता है।

यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि अगर कोई इच्छा ही न हो तो कर्म करें ही क्यों? इसके उत्तरमें सबसे पहली बात तो यह है कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें कर्मोंका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि मनुष्य बहुत अंशोंमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर सकता है, तो भी मनुष्यके भीतर जबतक संसारके प्रति राग है, तबतक वह शान्तिसे (कर्म किये बिना) नहीं बैठ सकता। उससे विषयोंका चिन्तन अवश्य होगा, जो कि कर्म है। विषयोंका चिन्तन होनेसे वह क्रमश: पतनकी ओर चला जायगा (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। इसलिये जबतक रागका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता, तबतक मनुष्य कर्मोंसे छूट नहीं सकता। कर्म करनेसे पुराना राग मिटता है और नि:स्वार्थभावसे केवल परहितके लिये कर्म करनेसे नया राग पैदा नहीं होता।

विचारपूर्वक देखा जाय तो कर्मफलकी इच्छा रखकर कर्म करना बड़ी बेसमझी है। पहली बात तो यह है कि जब प्रत्येक कर्म आरम्भ और समाप्त होनेवाला है, तब उसका फल नित्य कैसे होगा? फल भी प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म और कर्मफल—दोनों ही नाशवान् हैं या तो फल नहीं रहेगा या हमारा कहलाने-वाला शरीर नहीं रहेगा। दूसरी बात, इच्छा रखें या न रखें, जो फल मिलनेवाला है, वह तो मिलेगा ही । इच्छा करनेसे अधिक फल मिलता हो और इच्छा न करनेसे कम फल मिलता हो, ऐसी बात नहीं है। अत: फलकी कामना करना बेसमझी ही है।

निष्कामभावसे अर्थात् फलकी कामना न रखकर लोकहितार्थ कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कर्मयोगीके कर्म उद्देश्यहीन अर्थात् पागलके कर्मकी तरह नहीं होते, प्रत्युत परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका महान् उद्देश्य रखकर ही वह लोकहितार्थ सब कर्म करता है। उसके कर्मोंका लक्ष्य परमात्मतत्त्व रहता है, सांसारिक पदार्थ नहीं। शरीरमें ममता न रहनेसे उसमें आलस्य, अकर्मण्यता आदि दोष नहीं आते, प्रत्युत वह कर्मोंको सुचारुरूपसे और तत्परताके साथ करता है।

मार्मिक बात

जिन कर्मोंको करनेसे नाशवान् पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, वे ही कर्म निष्कामभावपूर्वक एकमात्र परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर लोकहितार्थ करनेसे नित्यसिद्ध परमात्मतत्त्वकी अनुभूतिमें हेतु बन सकते हैं। तीसरे अध्यायके बीसवें श्लोकमें कहा गया है कि कर्मोंके द्वारा ही जनकादि कर्मयोगियोंको परमात्मप्राप्तिरूप सिद्धि मिली; और छठे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा गया है कि योगमें आरूढ़ होनेके लिये कर्म करना आवश्यक है। इन सब

बातोंसे यह अर्थ निकलता है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर्मोंसे होती है। पार्वती, मनु-शतरूपा आदिको भी तपरूप कर्मसे भगवत्प्राप्ति हुई। यह बात भी आती है कि जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय, श्रवण, मनन आदि साधनोंसे तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। इसके विपरीत ऐसी बात भी आती है कि तप आदि कर्मोंसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती (गीता—ग्यारहवें अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक), परमात्मा किसी कर्मका फल नहीं हैं आदि। इन दोनों बातोंमें सामंजस्य कैसे हो?

इसका समाधान है कि वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति किसी कर्मसे नहीं होती। वे किसी कर्मका फल नहीं हैं। परमात्मा प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें सदा-सर्वदा विद्यमान हैं। वे सदा-सर्वदा सबको प्राप्त हैं और सभी प्राणियोंकी सदा-सर्वदा उन्हींमें स्थिति है। परमात्मासे कोई भी मनुष्य कभी अलग था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। परन्तु जड प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिसे अहंता-ममतापूर्वक अपना सम्बन्ध मानते रहनेसे मनुष्य परमात्मासे विमुख हो जाता है और जो वास्तवमें अपने हैं, उन परमात्माको अपना न मानकर जो अपने हैं ही नहीं, उन नाशवान् पदार्थोंको अपना मानने लग जाता है। अतः जड पदार्थोंके साथ जीवका जो रागयुक्त सम्बन्ध है, उसे मिटानेमें ही सम्पूर्ण साधनोंकी सार्थकता है।

जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है। अतः तप आदि साधन करते-करते जब जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है तभी परमात्मप्राप्ति होती है। वही सम्बन्ध-विच्छेद तब बहुत सुगमतासे हो जाता है, जब निष्कामभावसे केवल लोकहितके लिये कर्तव्य-कर्म किये जायँ।

परमात्मा किसी साधनसे खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि प्रकृतिके सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ मिलकर भी चिन्मय और अविनाशी परमात्माकी किंचिन्मात्र भी समानता नहीं कर सकते। दूसरी बात, मूल्य देकर जो वस्तु मिलती है, वह उस मूल्यसे कमजोर (कम मूल्यवाली) ही होती है। यदि कर्मोंसे परमात्मा मिल जायँ तो वे कर्मोंसे कमजोर ही सिद्ध होंगे।

यहाँ एक मार्मिक बात समझनेकी है कि प्रायः साधक जिन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे साधन करते हैं, उनका सम्बन्ध, महत्त्व और आश्रय रखते हुए ही साधन करते हैं। जबतक इन शरीरादिसे यत्किंचित् भी सम्बन्ध है; तबतक जडतासे सम्बन्ध बना हुआ है। जडतासे सम्बन्ध रखते हुए परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं होता। परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति जडताके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जडताके त्यागसे होती है।

जिस जातिका संसार है, उसी जातिके ये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि हैं। अतः इन्हें संसारका ही मानकर, संसारकी ही सेवामें लगा दे (जो कर्मयोग है)। परन्तु इन शरीरादिसे किंचिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न माने, इन्हें महत्त्व न दे, इनका आश्रय न रखे; क्योंकि असत्से सम्बन्ध रखते हुए असत्की सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती। असत्से सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये निष्कामभावसे किये हुए सब कर्म (साधन) सहायक होते हैं। असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही परमात्मासे जो विमुखता हो रही थी, वह मिट जाती है और नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है।

'शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्'—यह बात अनुभव-सिद्ध है कि सांसारिक पदार्थोंकी कामना और ममताके त्यागसे शान्ति मिलती है। सुषुप्तिमें जब संसारकी विस्मृति हो जाती है, तब उसमें भी शान्तिका अनुभव होता है। यदि जाग्रत्में ही संसारका सम्बन्ध-विच्छेद (कामना-ममताका त्याग) हो जाय, तो फिर कहना ही क्या है! ऐसे ही नींद आने, किसी कार्यके पूरा होने, लड़कीका विवाह होने आदिसे भी एक शान्ति मिलती है। तात्पर्य है कि सांसारिक कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करते ही शान्ति प्राप्त होती है। परन्तु इस शान्तिका उपभोग करनेसे अर्थात् इसमें सुख लेनेसे और इसे ही लक्ष्य मान लेनेसे साधक इस शान्तिके फलस्वरूप मिलनेवाली 'नैष्ठिकी शान्ति'* अर्थात् परमशान्तिसे वंचित रह जाता है। कारण कि यह शान्ति ध्येय नहीं है, प्रत्युत परमशान्तिका कारण है—**'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'** (गीता ६। ३)।

संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति सत्त्व-गुणसे सम्बन्ध रखनेवाली सात्त्विकी शान्ति है। जबतक साधक इस शान्तिका भोग करता है और इस शान्तिसे 'मुझमें शान्ति है' इस प्रकार अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक

*** यह 'नैष्ठिकी शान्ति' परमात्मप्राप्तिरूप ही है। इसे ही गीतामें कहीं 'शश्वच्छान्तिम्' (९। ३१) पदसे, कहीं 'परां शान्तिम्' (४। ३९;१८। ६२) पदोंसे और कहीं 'शान्तिम्' (५। २९;२। ७०-७१) पदोंसे भी कहा गया है।**

परिच्छिन्नता रहती है (गीता—चौदहवें अध्यायका छठा श्लोक) और जबतक परिच्छिन्नता रहती है, तबतक अखण्ड एकरस रहनेवाली वास्तविक शान्तिका अनुभव नहीं होता।

'अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते'—जो कर्मयोगी नहीं है, प्रत्युत कर्मी है, ऐसे सकाम पुरुषके लिये यहाँ **'अयुक्तः'** पद आया है।

सकाम पुरुष नयी-नयी कामनाओंके कारण फलमें आसक्त होकर जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ जाता है। कामनामात्रसे कोई भी पदार्थ नहीं मिलता, अगर मिलता भी है तो सदा साथ नहीं रहता— ऐसी बात प्रत्यक्ष होनेपर भी पदार्थोंकी कामना रखना प्रमाद ही है। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही ते॥

(विनय-पत्रिका १९८)

इसका अर्थ यह नहीं कि पदार्थोंको स्वरूपसे छोड़ दें। अगर स्वरूपसे छोड़नेपर ही मुक्ति होती तो मरनेवाले (शरीर छोड़नेवाले) सभी मुक्त हो जाते। पदार्थ तो अपने-आप ही स्वरूपसे छूटते चले जा रहे हैं। अतः वास्तवमें उन पदार्थोंमें जो कामना, ममता और आसक्ति है, उसीको छोड़ना है; क्योंकि पदार्थोंसे कामना-ममता-आसक्तिपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही जन्म-मरणरूप बन्धनका कारण है। कर्मयोगके आचरणसे (कर्मोंका प्रवाह केवल परहितके लिये होनेसे) यह माना हुआ सम्बन्ध सुगमतासे छूट जाता है।

परिशिष्ट भाव—वास्तवमें मुक्तिके लिये अथवा परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना भी फलासक्ति है। मनुष्यकी आदत पड़ी हुई है कि वह प्रत्येक कार्य फलकी कामनासे करता है, इसीलिये कहा जाता है कि मुक्तिके लिये, परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करे। वास्तवमें साधन केवल असाधनको मिटानेके लिये है। मुक्ति स्वतःसिद्ध है। परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। परमात्मप्राप्ति किसी क्रियाका फल नहीं है। अतः कुछ करनेसे परमात्मप्राप्ति होगी—ऐसी इच्छा रखना भी फलेच्छा है।

साधकको यह नहीं देखना चाहिये कि मैं यह साधन करूँगा तो इसका यह फल होगा। फलको देखना ही फलासक्ति है, जिससे वर्तमानमें साधन ठीक नहीं होता। अतः फलको न देखकर अपने साधनको देखना चाहिये, साधन तत्पर होकर करना चाहिये, फिर सिद्धि अपने-आप आयेगी। अगर साधक फलकी ओर देखता रहेगा तो सिद्धि नहीं होगी।

हम निर्विकल्प, निष्काम हो जायँगे तो बड़ा सुख मिलेगा—इस प्रकार मूलमें सुख लेनेकी जो इच्छा रहती है, यह भी फलेच्छा है, जो साधकको निर्विकल्प, निष्काम नहीं होने देती।

सम्बन्ध—कर्मयोगका वर्णन करके अब भगवान् पुनः सांख्ययोगका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥

वशी	=जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें हैं, (ऐसा)	**सर्वकर्माणि**	=सम्पूर्ण कर्मोंका	**कुर्वन्**	=करता हुआ (और)
		मनसा	=(विवेकपूर्वक) मनसे	**न**	=न
				कारयन्	=करवाता हुआ
देही	=देहधारी पुरुष	**सन्न्यस्य**	=त्याग करके	**सुखम्**	=सुखपूर्वक (अपने स्वरूपमें)
नवद्वारे	=नौ द्वारोंवाले	**एव**	=निःसन्देह		
पुरे	=(शरीररूपी) पुरमें	**न**	=न	**आस्ते**	=स्थित रहता है।

व्याख्या—**'वशी देही'**—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिमें ममता-आसक्ति होनेसे ही ये मनुष्यपर अपना अधिकार जमाते हैं। ममता-आसक्ति न रहनेपर ये स्वतः अपने वशमें रहते हैं। सांख्ययोगीकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिमें ममता-आसक्ति न रहनेसे ये सर्वथा उसके वशमें रहते हैं। इसलिये यहाँ उसे **'वशी'** कहा गया है।

जबतक किसी भी मनुष्यका प्रकृतिके कार्य (शरीर, इन्द्रियों आदि) के साथ किंचिन्मात्र भी कोई प्रयोजन रहता है, तबतक वह प्रकृतिके 'अवश' अर्थात् वशीभूत रहता है—**'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः'** (गीता ३।५)। प्रकृति सदैव क्रियाशील रहती है। अतः प्रकृतिसे सम्बन्ध बना रहनेके कारण मनुष्य कर्मरहित हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रकृतिके कार्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे ममता-आसक्तिपूर्वक कोई सम्बन्ध

न होनेसे सांख्ययोगी उनकी क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता। यद्यपि सांख्ययोगीका शरीरके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं होता, तथापि लोगोंकी दृष्टिमें वह शरीरधारी ही दीखता है। इसलिये उसे '**देही**' कहा गया है।

'**नवद्वारे पुरे**'—शब्दादि विषयोंका सेवन करनेके लिये दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाछिद्र तथा एक मुख—ये सात द्वार शरीरके ऊपरी भागमें हैं, और मल-मूत्रका त्याग करनेके लिये गुदा और उपस्थ—ये दो द्वार शरीरके निचले भागमें हैं। इन नौ द्वारोंवाले शरीरको '**पुर**' अर्थात् नगर कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे नगर और उसमें रहनेवाला मनुष्य—दोनों अलग-अलग होते हैं, ऐसे ही यह शरीर और इसमें रहनेका भाव रखनेवाला जीवात्मा—दोनों अलग-अलग हैं। जैसे नगरमें रहनेवाला मनुष्य नगरमें होनेवाली क्रियाओंको अपनी क्रियाएँ नहीं मानता, ऐसे ही सांख्ययोगी शरीरमें होनेवाली क्रियाओंको अपनी क्रियाएँ नहीं मानता।

'**सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य**'—इसी अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राणोंके द्वारा होनेवाली जिन तेरह क्रियाओंका वर्णन हुआ है, उन सब क्रियाओंका बोधक यहाँ '**सर्वकर्माणि**' पद है।

यहाँ '**मनसा सन्न्यस्य**' पदोंका अभिप्राय है—विवेकपूर्वक मनसे त्याग करना। यदि इन पदोंका अर्थ केवल मनसे त्याग करना माना जाय तो दोष आता है; क्योंकि मनसे त्याग करना भी मनकी एक क्रिया है और गीता मनसे होनेवाली क्रियाको 'कर्म' मानती है—'**शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः**' (१८। १५)। शरीरसे होनेवाली क्रियाओंके कर्तापनका मनसे त्याग करनेपर भी मनकी (त्यागरूप) क्रियाका कर्तापन तो रह ही गया! अतः '**मनसा सन्न्यस्य**' पदोंका तात्पर्य है—विवेकपूर्वक मनसे क्रियाओंके कर्तापनका त्याग करना अर्थात् कर्तापनसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करना। जहाँसे कर्तापनका सम्बन्ध माना है, वहींसे उस सम्बन्धका त्याग करना है। सांख्ययोगी अपनेमें कर्तापन न मानकर उसे शरीरमें ही छोड़ देता है अर्थात् कर्तापन शरीरमें ही है, अपनेमें कभी नहीं।

'**नैव कुर्वन्न कारयन्**'—सांख्ययोगीमें कर्तृत्व और कारयितृत्व— दोनों ही नहीं होते अर्थात् वह करनेवाला भी नहीं होता और करवानेवाला भी नहीं होता।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे किंचिन्मात्र भी अहंता-ममताका सम्बन्ध न होनेके कारण सांख्ययोगी उनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको कैसे मान सकता है? अर्थात् कभी नहीं मान सकता। इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें भी '**नैव किञ्चित् करोमि**' पदोंसे यही बात कही गयी है। तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने '**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति**' पदोंसे कहा है कि शरीरमें रहते हुए भी यह अविनाशी आत्मा कुछ नहीं करता।

यहाँ शंका होती है कि जीवात्मा स्वयं कोई कर्म नहीं करता; किन्तु वह प्रेरक बनकर कर्म तो करवा सकता है? इसका समाधान यह है कि जैसे सूर्यभगवान्का उदय होनेपर सम्पूर्ण जगत्में प्रकाश छा जाता है, लोग अपने-अपने कामोंमें लग जाते हैं, कोई खेती करता है, कोई वेदपाठ करता है, कोई व्यापार करता है आदि। परन्तु सूर्यभगवान् विहित या निषिद्ध किसी भी क्रियाके प्रेरक नहीं होते। उनसे सबको प्रकाश मिलता है, पर उस प्रकाशका कोई सदुपयोग करे या दुरुपयोग, इसमें सूर्यभगवान्की कोई प्रेरणा नहीं है। यदि उनकी प्रेरणा होती तो पाप या पुण्य-कर्मोंका भागी भी उन्हींको होना पड़ता। ऐसे ही चेतनतत्त्वसे प्रकृतिको सत्ता और शक्ति तो प्राप्त होती है, पर वह किसी क्रियाका प्रेरक नहीं होता। यही बात भगवान्ने यहाँ '**न कारयन्**' पदोंसे कही है।

'**आस्ते सुखम्**'—मनुष्यमात्रकी स्वरूपमें स्वाभाविक स्थिति है; परन्तु वे अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिमें मान लेते हैं, जिससे उन्हें इस स्वाभाविक स्थितिका अनुभव नहीं होता। परन्तु सांख्ययोगीको निरन्तर स्वरूपमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव होता रहता है। स्वरूप सदा-सर्वदा सुख-स्वरूप है। वह सुख अखण्ड, एकरस और परिच्छिन्नतासे रहित है।

एक वस्तुकी दूसरी वस्तुमें जैसी स्थिति होती है, स्वरूपमें वैसी स्थिति नहीं होती। कारण कि स्वरूप ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। उस स्वरूपमें मनुष्यकी स्थिति स्वतः-स्वाभाविक है; अतः उसमें स्थित होनेमें कोई श्रम, उद्योग नहीं है। स्वरूपको पहचाननेपर एक स्वरूप-ही-स्वरूप रह जाता है। पहचानमात्रको समझानेके लिये ही यहाँ '**आस्ते**' पदका प्रयोग हुआ है। इसे ही चौदहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें '**स्वस्थः**' पदसे कहा गया है।

यहाँ '**आस्ते**' क्रिया जिस तत्त्वकी सत्ताको प्रकट कर रही है, वह सब आधारोंका आधार है। समस्त उत्पन्न तत्त्व उस अनुत्पन्न तत्त्वके आश्रित हैं। उस सर्वाधिष्ठानरूप

तत्त्वको किसी आधारकी आवश्यकता ही क्या है? उस स्वत:सिद्ध तत्त्वमें स्वाभाविक स्थितिको ही यहाँ '**आस्ते**' पदसे कहा गया है। इसे ही आगे बीसवें श्लोकमें '**ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः**' पदोंसे कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—'नैव कुर्वन्न कारयन्'—तत्त्वप्राप्तिमें करनेका भाव ही बाधक है। करनेके भावसे ही कर्तृत्व आता है और कर्तृत्वसे व्यक्तित्व आता है। क्रिया प्रकृतिमें है, स्वरूपमें स्वत: अक्रियता है। अत: करनेसे प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और कुछ नहीं करनेसे स्वरूपमें स्वत: स्थिति होती है। मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भाव भी 'करने' के ही अन्तर्गत है। अत: करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये और न करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३। १८)। स्वरूप करने और न करने—दोनोंसे रहित अर्थात् निरपेक्ष तत्त्व है।

वशी—गुणोंके संगसे ही जीव '**अवश**' अर्थात् पराधीन होता है (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। ज्ञानयोगसे अवशता मिट जाती है और जीव '**वशी**' अर्थात् स्वाधीन, निरपेक्ष जीवन हो जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि सांख्ययोगी न तो कर्म करता है और न करवाता ही है; किन्तु भगवान् तो कर्म करवाते होंगे? इसके उत्तरमें आगेका श्लोक कहते हैं।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥

प्रभुः = परमेश्वर
लोकस्य = मनुष्योंके
न = न
कर्तृत्वम् = कर्तापनकी,
न = न
कर्माणि = कर्मोंकी (और)
न = न
कर्मफल-संयोगम् = कर्मफलके साथ संयोगकी
सृजति = रचना करते हैं;
तु = किन्तु
स्वभावः = स्वभाव (ही)
प्रवर्तते = बरत रहा है।

व्याख्या—'**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः**'—सृष्टिकी रचनाका कार्य सगुण भगवान्‌का है, इसलिये '**प्रभुः**' पद दिया है। भगवान् सर्वसमर्थ हैं और सबके शासक, नियामक हैं। सृष्टिरचनाका कार्य करनेपर भी वे अकर्ता ही हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

किसी भी कर्मके कर्तापनका सम्बन्ध भगवान्‌का बनाया हुआ नहीं है। मनुष्य स्वयं ही कर्मोंके कर्तापनकी रचना करता है। सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके द्वारा किये जाते हैं; परन्तु मनुष्य अज्ञानवश प्रकृतिसे तादात्म्य कर लेता है और उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंका कर्ता बन जाता है (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। यदि कर्तापनका सम्बन्ध भगवान्‌का बनाया हुआ होता, तो भगवान् इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें '**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**'—ऐसा कैसे कहते? तात्पर्य यह है कि कर्तापन भगवान्‌का बनाया हुआ नहीं है, अपितु जीवका अपना माना हुआ है। अत: जीव इसका त्याग कर सकता है।

भगवान् ऐसा विधान भी नहीं करते कि अमुक जीवको अमुक शुभ अथवा अशुभ कर्म करना पड़ेगा। यदि ऐसा विधान भगवान् कर देते तो विधि-निषेध बतानेवाले शास्त्र, गुरु, शिक्षा आदि सब व्यर्थ हो जाते, उनकी कोई सार्थकता ही नहीं रहती और कर्मोंका फल भी जीवको नहीं भोगना पड़ता। '**न कर्माणि**' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है।

'**न कर्मफलसंयोगम्**'— जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल उसे भोगना पड़ता है। जड होनेके कारण कर्म स्वयं अपना फल भुगतानेमें असमर्थ हैं। अत: कर्मोंके फलका विधान भगवान् करते हैं—'**लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्**' (गीता ७। २२)। भगवान् कर्मोंका फल तो देते हैं, पर उस फलके साथ सम्बन्ध भगवान् नहीं जोड़ते, प्रत्युत जीव स्वयं जोड़ता है। जीव अज्ञानवश कर्मोंका कर्ता बनकर और कर्मफलमें आसक्त होकर कर्मफलके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और इसीसे सुखी-दु:खी होता है। यदि वह कर्मफलके साथ स्वयं अपना सम्बन्ध न जोड़े, तो वह कर्मफलके सम्बन्धसे मुक्त रह सकता है। ऐसे कर्मफलसे सम्बन्ध न जोड़नेवाले पुरुषोंके लिये अठारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें '**सन्न्यासिनाम्**' पद आया है। उन्हें कर्मोंका फल

इस लोक या परलोकमें कहीं नहीं मिलता। यदि कर्मफलका सम्बन्ध भगवान्‌ने जोड़ा होता तो जीव कभी कर्मफलसे मुक्त नहीं होता।

दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—**'मा कर्मफलहेतुर्भूः'** अर्थात् कर्मफलका हेतु भी मत बन। तात्पर्य हुआ कि सुखी-दुःखी होना अथवा न होना और कर्मफलका हेतु बनना अथवा न बनना मनुष्यके हाथमें है। यदि कर्मफलका सम्बन्ध भगवान्‌का बनाया हुआ होता, तो मनुष्य कभी सुख-दुःखमें सम नहीं हो पाता और निष्कामभावसे कर्म भी नहीं कर पाता, जिसे करनेकी बात भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह कही है (जैसे चौथे अध्यायका बीसवाँ, पाँचवें अध्यायका बारहवाँ और चौदहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक आदि)।

शंका—श्रुतिमें आता है कि भगवान् जिसकी ऊर्ध्वगति करना चाहते हैं, उससे तो शुभ-कर्म करवाते हैं और जिसकी अधोगति करना चाहते हैं, उससे अशुभ-कर्म करवाते हैं[1]। जब भगवान् ही शुभाशुभ कर्म करवाते हैं, तो फिर 'भगवान् किसीके कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल-संयोगकी रचना नहीं करते'—ऐसा कहना तो श्रुतिके साथ विरोध हुआ!

समाधान—वास्तवमें श्रुतिके उपर्युक्त कथनका तात्पर्य शुभाशुभ कर्म करवाकर मनुष्यकी ऊर्ध्वगति और अधोगति करनेमें नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके अनुसार कर्मफल भुगताकर उसे शुद्ध करनेमें है[2] अर्थात् मनुष्य शुभाशुभ कर्मोंका फल जैसे भोग सके, भगवान् कृपापूर्वक उसे कर्मबन्धनसे मुक्त करके अपना वास्तविक प्रेम प्रदान करनेके लिये (उसके प्रारब्धके अनुसार) वैसी ही परिस्थिति और बुद्धि बना देते हैं। जैसे, जिस मनुष्यको प्रारब्धके अनुसार धनकी प्राप्ति होनेवाली है, उसे व्यापार आदिमें वैसी ही (खरीदने आदिकी) प्रेरणा कर देते हैं अर्थात् उस समय उसकी वैसी ही बुद्धि बन जाती है और जिसे प्रारब्धके अनुसार हानि होनेवाली है, उसे व्यापार आदिमें वैसी ही प्रेरणा कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस प्रकारसे अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोग सके, भगवत्प्रेरणासे वैसी ही परिस्थिति और बुद्धि बन जाती है।

यदि श्रुतिका यही अर्थ लिया जाय कि भगवान् जिसकी ऊर्ध्वगति और अधोगति करना चाहते हैं, उससे शुभ और अशुभ-कर्म करवाते हैं, तो मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा पराधीन हो जायगा और शास्त्रों, सन्त-महात्माओं आदिका विधि-निषेध, गुरुकी शिक्षा आदि सभी व्यर्थ हो जायँगे। अतः यहाँ श्रुतिका तात्पर्य कर्मोंका फल भुगताकर मनुष्यको शुद्ध करना ही है।

'स्वभावस्तु प्रवर्तते'—कर्तापन, कर्म और कर्म-फलका सम्बन्ध—इन तीनोंको मनुष्य अपने स्वभावके वशमें होकर करता है। यहाँ **'स्वभावः'** पद व्यष्टि प्रकृति-(आदत) का वाचक है, जिसे स्वयं जीवने बनाया है। जबतक स्वभावमें राग-द्वेष रहते हैं, तबतक स्वभाव शुद्ध नहीं होता। जबतक स्वभाव शुद्ध नहीं होता, तबतक जीव स्वभावके वशीभूत रहता है।

तीसरे अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें **'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'** पदोंसे भगवान्‌ने कहा है कि मनुष्योंको अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभावके वशीभूत होकर कर्म करने पड़ते हैं। यही बात भगवान् यहाँ **'तु स्वभावः प्रवर्तते'** पदोंसे कह रहे हैं।

जबतक प्रकृति अर्थात् स्वभावसे जीवका सम्बन्ध माना हुआ है, तबतक कर्तापन, कर्म और कर्मफलके साथ संयोग—इन तीनोंमें जीवकी परतन्त्रता बनी रहेगी, जो जीवकी ही बनायी हुई है।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् यह कह रहे हैं कि कर्तृत्व, कर्म और कर्मफलसंयोग (भोक्तृत्व)—तीनों जीवके अपने बनाये हुए हैं, इसलिये वह स्वयं इनका त्याग करके निर्लिप्तताका अनुभव कर सकता है।

परिशिष्ट भाव—कर्तापन, कर्म और कर्मफलका संयोग परमात्माकी सृष्टि नहीं है, प्रत्युत जीवकी सृष्टि है। इसलिये जीवपर ही इनके त्यागकी जिम्मेवारी है।

'स्वभावस्तु प्रवर्तते'—वास्तवमें संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद स्वाभाविक है; परन्तु अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकता देखनेके कारण संसारका सम्बन्ध स्वाभाविक दीखने लग गया। यह स्वभाव स्वतः नहीं है, प्रत्युत बनाया हुआ (कृत्रिम) है।

१-'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते।'
(कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ३। ८)

२-मूलमें शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) कर्म मनुष्य कामनाके वशीभूत होकर ही करता है (गीता ३। ३७), जिनका फल क्रमशः ऊर्ध्वगति (स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति) और अधोगति (नरकोंकी प्राप्ति) होता है। मनुष्य मुक्तिके लिये भगवान्‌की दी हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके ही कामना करता है।

सम्बन्ध—जब भगवान् किसीके कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल-संयोगकी रचना नहीं करते, तो फिर वे किसीके कर्मोंके फलभागी कैसे हो सकते हैं?—इस बातको आगेके श्लोकमें स्पष्ट करते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

विभुः	= सर्वव्यापी परमात्मा	**न**	= न	**ज्ञानम्**	= ज्ञान
न	= न	**सुकृतम्**	= शुभ-कर्मको	**आवृतम्**	= ढका हुआ है,
कस्यचित्	= किसीके	**एव**	= ही	**तेन**	= उसीसे
पापम्	= पापकर्मको	**आदत्ते**	= ग्रहण करता है; (किन्तु)	**जन्तवः**	= सब जीव
च	= और	**अज्ञानेन**	= अज्ञानसे	**मुह्यन्ति**	= मोहित हो रहे हैं।

व्याख्या—**'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः'**—पूर्वश्लोकमें जिसको **'प्रभुः'** पदसे कहा गया है, उसी परमात्माको यहाँ **'विभुः'** पदसे कहा गया है।

कर्मफलका भागी होना दो प्रकारसे होता है—जो कर्म करता है, वह भी कर्मफलका भागी होता है और जो दूसरेसे कर्म करवाता है, वह भी कर्मफलका भागी होता है। परन्तु परमात्मा न तो किसीके कर्मको करनेवाला है और न कर्म करवानेवाला ही है; अतः वह किसीके भी कर्मका फलभागी नहीं हो सकता।

सूर्य सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश देता है और उस प्रकाशके अन्तर्गत मनुष्य पाप और पुण्य-कर्म करते हैं; परन्तु उन कर्मोंसे सूर्यका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार परमात्मतत्त्वसे प्रकृति सत्ता पाती है अर्थात् सम्पूर्ण संसार सत्ता पाता है। उसीकी सत्ता पाकर प्रकृति और उसका कार्य संसार-शरीरादि क्रियाएँ करते हैं। उन शरीरादिसे होनेवाले पाप-पुण्योंका परमात्मतत्त्वसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। कारण कि भगवान्ने मनुष्यमात्रको स्वतन्त्रता दे रखी है; अतः मनुष्य उन कर्मोंका फलभागी अपनेको भी मान सकता है और भगवान्को भी मान सकता है अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों और कर्मफलोंको भगवान्के अर्पण भी कर सकता है। जो भगवान्की दी हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके कर्मोंका कर्ता और भोक्ता अपनेको मान लेता है, वह बन्धनमें पड़ जाता है। उसके कर्म और कर्मफलको भगवान् ग्रहण नहीं करते। परन्तु जो मनुष्य उस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करके कर्म और कर्मफल भगवान्के अर्पण करता है, वह मुक्त हो जाता है। उसके कर्म और कर्मफलको भगवान् ग्रहण करते हैं।

जैसे सातवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें **'सर्वस्य'** पदसे और छब्बीसवें श्लोकमें **'कश्चन'** पदसे सामान्य मनुष्योंकी बात कही गयी है, ऐसे ही यहाँ **'कस्यचित्'** पदसे अपनेको कर्ता और भोक्ता मानकर कर्म करनेवाले सामान्य मनुष्योंकी बात कही गयी है, न कि भक्तोंकी। कारण कि भावग्राही होनेसे भगवान् भक्तोंके द्वारा अर्पण किये हुए पत्र, पुष्प आदि पदार्थोंको और सम्पूर्ण कर्मोंको ग्रहण करते हैं (गीता—नवें अध्यायका छब्बीसवाँ-सत्ताईसवाँ श्लोक)।

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्'—स्वरूपका ज्ञान सभी मनुष्योंमें स्वतःसिद्ध है; किन्तु अज्ञानके द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है। उस अज्ञानके कारण जीव मूढ़ताको प्राप्त हो रहे हैं। अपनेको कर्मोंका कर्ता मानना मूढ़ता है (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। भगवान्के द्वारा मनुष्य-मात्रको विवेक दिया हुआ है, जिसके द्वारा इस मूढ़ताका नाश किया जा सकता है। इसलिये इस अध्यायके आठवें श्लोकमें कहा गया है कि सांख्ययोगी कभी भी अपनेको किसी कर्मका कर्ता न माने और तेरहवें श्लोकमें कहा गया है कि सम्पूर्ण कर्मोंके कर्तापनको विवेकपूर्वक मनसे छोड़ दे।

शरीरादि सम्पूर्ण पदार्थोंमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। स्वरूपमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। स्वरूपसे अपरिवर्तनशील होनेपर भी अपनेको परिवर्तनशील पदार्थोंसे एक मान लेना अज्ञान है। शरीरादि सब पदार्थ बदल रहे हैं—ऐसा जिसे अनुभव है वह स्वयं कभी नहीं बदलता। इसलिये स्वयंके बदलनेका अनुभव किसीको नहीं होता। अतः मैं बदलनेवाला नहीं हूँ—इस प्रकार परिवर्तनशील पदार्थोंसे अपनी असंगताका अनुभव कर लेनेसे अज्ञान मिट जाता है और तत्त्वज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जाता है। कारण

कि प्रकृतिके कार्यसे अपना सम्बन्ध मानते रहनेसे ही तत्त्वज्ञान ढका रहता है।

'अज्ञान' शब्दमें जो **'नञ्'** समास है, वह ज्ञानके अभावका वाचक नहीं है, प्रत्युत अल्पज्ञान अर्थात् अधूरे ज्ञानका वाचक है। कारण कि ज्ञानका अभाव कभी होता ही नहीं, चाहे उसका अनुभव हो या न हो। इसलिये अधूरे ज्ञानको ही अज्ञान कहा जाता है। इन्द्रियोंका और बुद्धिका ज्ञान ही अधूरा ज्ञान है। इस अधूरे ज्ञानको महत्त्व देनेसे, इसके प्रभावसे प्रभावित होनेसे वास्तविक ज्ञानकी ओर दृष्टि जाती ही नहीं—यही अज्ञानके द्वारा ज्ञानका आवृत होना है।

इन्द्रियोंका ज्ञान सीमित है। इन्द्रियोंके ज्ञानकी अपेक्षा बुद्धिका ज्ञान असीम है। परन्तु बुद्धिका ज्ञान मन और इन्द्रियोंके ज्ञान-(जानने और न जानने-)को ही प्रकाशित करता है अर्थात् बुद्धि अपने विषय-पदार्थोंको ही प्रकाशित करती है। बुद्धि जिस प्रकृतिका कार्य है और जिस बुद्धिका कारण प्रकृति है, उस प्रकृतिको बुद्धि प्रकाशित नहीं करती। बुद्धि जब प्रकृतिको भी प्रकाशित नहीं कर सकती, तब प्रकृतिसे अतीत जो चेतन-तत्त्व है, उसे कैसे प्रकाशित कर सकती है! इसलिये बुद्धिका ज्ञान अधूरा ज्ञान है।

'तेन मुह्यन्ति जन्तवः'—भगवान्ने **'जन्तवः'** पद देकर मानो मनुष्योंकी ताड़ना की है कि जो मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व नहीं देते, वे वास्तवमें जन्तु अर्थात् पशु ही हैं[1]; क्योंकि उनके और पशुओंके ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं है। आकृतिमात्रसे कोई मनुष्य नहीं होता। मनुष्य वही है, जो अपने विवेकको महत्त्व देता है। इन्द्रियोंके द्वारा भोग तो पशु भी भोगते हैं; पर उन भोगोंको भोगना मनुष्य-जीवनका लक्ष्य नहीं है। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य सुख-दुःखसे रहित तत्त्वको प्राप्त करना है। जिनको अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका ठीक-ठीक ज्ञान है, वे मनुष्य साधक कहलानेयोग्य हैं।

अपनेको कर्मोंका कर्ता मान लेना तथा कर्मफलमें हेतु बनकर सुखी-दुःखी होना ही अज्ञानसे मोहित होना है। पाप-पुण्य हमें करने पड़ते हैं, इनसे हम कैसे छूट सकते हैं? सुखी-दुःखी होना हमारे कर्मोंका फल है, इनसे हम अतीत कैसे हो सकते हैं?—इस प्रकारकी धारणा बना लेना ही अज्ञानसे मोहित होना है।

जीव स्वरूपसे अकर्ता तथा सुख-दुःखसे रहित है। केवल अपनी मूर्खताके कारण वह कर्ता बन जाता है और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दुःखी होता है। इस मूढ़ता-(अज्ञान-) को ही यहाँ **'तेन'** पदसे कहा गया है। इस मूढ़तासे अज्ञानी मनुष्य सुखी-दुःखी हो रहे हैं, इस बातको यहाँ **'तेन मुह्यन्ति जन्तवः'** पदोंसे कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—जैसे अन्धकारमें सूर्यको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसे ही अज्ञानमें ज्ञानको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है। अस्वाभाविकको स्वाभाविक मान लिया—यही अज्ञान है, जिससे मनुष्य मोहित हो जाता है। अतः अज्ञानके द्वारा ज्ञानको ढकनेकी बात केवल मूढ़तावश की गयी मान्यता है, वास्तविकता नहीं है। मनुष्य चाहे तो अपने विवेकको महत्त्व देकर इस मूढ़ताको मिटा सकता है (गीता—पाँचवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

वास्तवमें ज्ञान नहीं ढकता, प्रत्युत बुद्धि ही ढकती है। परन्तु मनुष्यको ज्ञान ढका हुआ दीखता है, इसलिये यहाँ **'आवृत'** शब्द दिया है। यही बात तीसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें भी **'आवृतं ज्ञानमेतेन'** पदोंसे कही गयी है। अज्ञान अभावरूप है, उसकी सत्ता नहीं है। जिसका अभाव है, उससे आवरण नहीं हो सकता। अतः उलटा ज्ञान अर्थात् अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताका आरोप ही अज्ञान है[2]। अगर अस्वाभाविकता मिटकर स्वाभाविकता हो जाय तो सर्वव्यापी परमात्माके साथ एकताका अनुभव हो जायगा। व्यक्तित्व ही पाप-पुण्यको, सुकृत-दुष्कृतको ग्रहण करता है; अतः सर्वव्यापी परमात्माके साथ एकताका अनुभव होनेपर अर्थात् व्यक्तित्व मिटनेपर फिर पाप-पुण्यका ग्रहण नहीं होता।

अज्ञान अर्थात् उलटे ज्ञान (अस्वाभाविकमें स्वाभाविक बुद्धि) के कारण मनुष्य 'जन्तु' हो जाता है—**'तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'** इसी तरह जड़से सम्बन्ध माननेके कारण जीव 'जगत्' (जड़) हो जाता है (गीता—सातवें अध्यायका

१-आहारनिद्राभयमैथुनानि समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥ (चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें समान ही हैं। मनुष्योंमें विशेषता यही है कि उनमें विवेक रहता है। विवेकसे शून्य मनुष्य तो पशुके समान हैं।'

२-अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योगदर्शन २। ५)

'अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्मभावकी अनुभूति अविद्या है।'

तेरहवाँ श्लोक)।

जो हमसे घुला-मिला हुआ है, उस परमात्माको तो अपनेसे अलग मान लिया और जो हमसे अलग है, उस शरीरको अपनेसे घुला-मिला मान लिया—यह अज्ञान है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका जानेके कारण सब जीव मोहित हो रहे हैं। अपने विवेकके द्वारा उस अज्ञानका नाश कर देनेपर जिस ज्ञानका उदय होता है, उसकी महिमा आगेके श्लोकमें कहते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

तु	= परन्तु	**अज्ञानम्**	= अज्ञानका	**आदित्यवत्**	= सूर्यकी तरह
येषाम्	= जिन्होंने	**नाशितम्**	= नाश कर दिया है,	**परम्**	= परमतत्त्व परमात्माको
आत्मनः	= अपने जिस	**तेषाम्**	= उनका		
ज्ञानेन	= ज्ञानके द्वारा	**तत्**	= वह	**प्रकाशयति**	= प्रकाशित कर देता है।
तत्	= उस	**ज्ञानम्**	= ज्ञान		

व्याख्या—**'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः'**—पीछेके श्लोकमें कही बातसे विलक्षण बात बतानेके लिये यहाँ **'तु'** पदका प्रयोग किया गया है।

पीछेके श्लोकमें जिसको **'अज्ञानेन'** पदसे कहा था, उसको ही यहाँ **'तत् अज्ञानम्'** पदसे कहा गया है।

अपनी सत्ताको और शरीरको अलग-अलग मानना 'ज्ञान' है और एक मानना 'अज्ञान' है।

उत्पत्ति-विनाशशील संसारके किसी अंशमें तो हमने अपनेको रख लिया अर्थात् मैं-पन (अहंता) कर लिया और किसी अंशको अपनेमें रख लिया अर्थात् मेरापन (ममता) कर लिया। अपनी सत्ताका तो निरन्तर अनुभव होता है और मैं-मेरापन बदलता हुआ प्रत्यक्ष दीखता है; जैसे—पहले मैं बालक था और खिलौने आदि मेरे थे, अब मैं युवा या वृद्ध हूँ और स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि मेरे हैं। इस प्रकार मैं-मेरेपनके परिवर्तनका ज्ञान हमें है, पर अपनी सत्ताके परिवर्तनका ज्ञान हमें नहीं है—यह ज्ञान अर्थात् विवेक है।

मैं-मेरेपनको जडके साथ न मिलाकर साधक अपने विवेकको महत्त्व दे कि मैं-मेरापन जिससे मिलाता हूँ, वह सब बदलता है; परन्तु मैं-मेरा कहलानेवाला मैं (मेरी सत्ता) वही रहता हूँ। जडका बदलना और अभाव तो समझमें आता है, पर स्वयंका बदलना और अभाव किसीकी समझमें नहीं आता; क्योंकि स्वयंमें किंचित् भी परिवर्तन और अभाव कभी होता ही नहीं—इस विवेकके द्वारा मैं-मेरेपनका त्याग कर दे कि शरीर 'मैं' नहीं और बदलनेवाली वस्तु 'मेरी' नहीं। यही विवेकके द्वारा अज्ञानका नाश करना है। परिवर्तनशीलके साथ अपरिवर्तनशीलका सम्बन्ध अज्ञानसे अर्थात् विवेकको महत्त्व न देनेसे है। जिसने विवेकको जाग्रत् करके परिवर्तनशील मैं-मेरेपनके सम्बन्धका विच्छेद कर दिया है, उसका वह विवेक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है अर्थात् अनुभव करा देता है।

'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्'—विवेकके सर्वथा जाग्रत् होनेपर परिवर्तनशीलकी निवृत्ति हो जाती है। परिवर्तनशीलकी निवृत्ति होनेपर अपने स्वरूपका स्वच्छ बोध हो जाता है, जिसके होते ही सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्व प्रकाशित हो जाता है अर्थात् उसके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

यहाँ **'परम्'** पद परमात्मतत्त्वके लिये प्रयुक्त हुआ है। दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें तथा तेरहवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भी परमात्मतत्त्वके लिये **'परम्'** पद आया है।

'प्रकाशयति' पदका तात्पर्य है कि सूर्यका उदय होनेपर नयी वस्तुका निर्माण नहीं होता, प्रत्युत अन्धकारसे ढके जानेके कारण जो वस्तु दिखायी नहीं दे रही थी, वह दीखने लग जाती है। इसी प्रकार परमात्मतत्त्व स्वतःसिद्ध है, पर अज्ञानके कारण उसका अनुभव नहीं हो रहा था। विवेकके द्वारा अज्ञान मिटते ही उस स्वतःसिद्ध परमात्मतत्त्वका अनुभव होने लग जाता है।

परिशिष्ट भाव—अज्ञानका नाश विवेकसे ही होता है, उद्योगसे नहीं—'**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः**' (गीता १५। ११)। कारण कि अज्ञानका नाश क्रियासाध्य, परिश्रमसाध्य नहीं है। परिश्रम करनेसे शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है; क्योंकि शरीरसे सम्बन्ध जोड़े बिना परिश्रम नहीं होता। दूसरी बात, अज्ञानको हटानेका उद्योग करनेसे अज्ञान दृढ़ होता है; क्योंकि उसकी सत्ता मानकर ही उसको हटानेका उद्योग करते हैं।

अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताकी विपरीत भावना (अज्ञान) अपनेमें ही है। अतः विवेकका आदर करनेसे उसका निराकरण हो जाता है।

सम्बन्ध—जिस स्थितिमें सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है, उस स्थितिकी प्राप्तिके लिये आगेके श्लोकमें साधन बताते हैं।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

तदात्मानः = जिनका मन तदाकार हो रहा है,
तद्बुद्धयः = जिनकी बुद्धि तदाकार हो रही है,
तन्निष्ठाः = जिनकी स्थिति परमात्मतत्त्वमें है, (ऐसे)
तत्परायणाः = परमात्मपरायण साधक
ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः = ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर
अपुनरावृत्तिम् = अपुनरावृत्ति (परमगति)को
गच्छन्ति = प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—[परमात्मतत्त्वका अनुभव करनेके लिये दो प्रकारके साधन हैं—एक तो विवेकके द्वारा असत्‌का त्याग करनेपर सत्‌में स्वरूप-स्थिति स्वतः हो जाती है और दूसरा, सत्‌का चिन्तन करते-करते सत्‌की प्राप्ति हो जाती है। चिन्तनसे सत्‌की ही प्राप्ति होती है। असत्‌की प्राप्ति कर्मोंसे होती है, चिन्तनसे नहीं। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु कर्मसे मिलती है और नित्य परिपूर्ण तत्त्व चिन्तनसे मिलता है। चिन्तनसे परमात्मा कैसे प्राप्त होते हैं—इसकी विधि इस श्लोकमें बताते हैं।]

'**तद्बुद्धयः**'—निश्चय करनेवाली वृत्तिका नाम 'बुद्धि' है। साधक पहले बुद्धिसे यह निश्चय करे कि सर्वत्र एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है। संसारके उत्पन्न होनेसे पहले भी परमात्मा थे और संसारके नष्ट होनेके बाद भी परमात्मा रहेंगे। बीचमें भी संसारका जो प्रवाह चल रहा है, उसमें भी परमात्मा वैसे-के-वैसे ही हैं। इस प्रकार परमात्माकी सत्ता-(होनेपन-) में अटल निश्चय होना ही '**तद्बुद्धयः**' पदका तात्पर्य है।

'**तदात्मानः**'—यहाँ 'आत्मा' शब्द मनका वाचक है। जब बुद्धिमें एक परमात्मतत्त्वका निश्चय हो जाता है, तब मनसे स्वतः-स्वाभाविक परमात्माका ही चिन्तन होने लगता है। सब क्रियाएँ करते समय यह चिन्तन अखण्ड रहता है कि सत्तारूपसे सब जगह एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है। चिन्तनमें संसारकी सत्ता आती ही नहीं।

'**तन्निष्ठाः**'—जब साधकके मन और बुद्धि परमात्मामें लग जाते हैं, तब वह हर समय परमात्मामें अपनी (स्वयंकी) स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करता है। जबतक मन-बुद्धि परमात्मामें नहीं लगते अर्थात् मनसे परमात्माका चिन्तन और बुद्धिसे परमात्माका निश्चय नहीं होता, तबतक परमात्मामें अपनी स्वाभाविक स्थिति होते हुए भी उसका अनुभव नहीं होता।

'**तत्परायणाः**'—परमात्मासे अलग अपनी सत्ता न रहना ही परमात्माके परायण होना है। परमात्मामें अपनी स्थितिका अनुभव करनेसे अपनी सत्ता परमात्माकी सत्तामें लीन हो जाती है और स्वयं परमात्मस्वरूप हो जाता है।

जबतक साधक और साधनकी एकता नहीं होती, तबतक साधन छूटता रहता है, अखण्ड नहीं रहता। जब साधकपन अर्थात् अहंभाव मिट जाता है, तब साधन साध्यरूप ही हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें साधन और साध्य—दोनोंमें नित्य एकता है।

'**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**'—ज्ञान अर्थात् सत्-असत्‌के विवेककी वास्तविक जागृति होनेपर असत्‌की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। असत्‌के सम्बन्धसे ही पाप-पुण्यरूप कल्मष होता है, जिनसे मनुष्य बँधता है। असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर पाप-पुण्य मिट जाते हैं।

'**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्**'—असत्‌का संग ही पुनरावृत्ति(पुनर्जन्म-) का कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य**

सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३। २१)। असत्‌का संग सर्वथा मिटनेपर पुनरावृत्तिका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

जो वस्तु एकदेशीय होती है, उसीका आना-जाना होता है। जो वस्तु सर्वत्र परिपूर्ण है, वह कहाँसे आये और कहाँ जाय? परमात्मा सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, परिस्थिति आदिमें एकरस परिपूर्ण रहते हैं। उनका कहीं आना-जाना नहीं होता। इसलिये जो महापुरुष परमात्मस्वरूप ही हो जाते हैं, उनका भी कहीं आना-जाना नहीं होता। श्रुति कहती है—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'

(बृहदारण्यक० ४। ४। ६)

'उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

उसके कहलानेवाले शरीरको लेकर ही यह कहा जाता है कि उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वास्तवमें यहाँ **'गच्छन्ति'** पदका तात्पर्य है—वास्तविक बोध होना, जिसके होते ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताकी भावना मिटनेपर एक परमात्माके सिवाय अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और साधक परमात्मस्वरूप ही हो जाता है, जो कि वास्तवमें स्वत:सिद्ध है। अत: उसके पुन: संसार-बन्धनमें आनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित साधनद्वारा सिद्ध हुए महापुरुषका ज्ञान व्यवहारकालमें कैसा रहता है—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

पण्डिताः	= ज्ञानी महापुरुष	**च**	= और	**शुनि**	= कुत्तेमें
विद्याविनय-सम्पन्ने	= विद्या-विनययुक्त	**श्वपाके**	= चाण्डालमें	**एव**	= भी
		च	= तथा	**समदर्शिनः**	= समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।
		गवि	= गाय,		
ब्राह्मणे	= ब्राह्मणमें	**हस्तिनि**	= हाथी (एवं)		

*व्याख्या—***'विद्याविनयसम्पन्ने .... पण्डिताः समदर्शिनः'**—यहाँ ब्राह्मणके लिये दो विशेषण दिये गये हैं—विद्यायुक्त और विनययुक्त अर्थात् ऐसा ब्राह्मण जो विद्वान् भी है और विनम्र स्वभाववाला (ब्राह्मणपनेके अभिमानसे रहित) भी है। ब्राह्मण होनेसे वह जातिसे तो ऊँचा है ही, साथ-ही-साथ विद्या और विनयसे भी सम्पन्न है—यह ब्राह्मणत्वकी पूर्णता है। जहाँ पूर्णता होती है, वहाँ अभिमान नहीं रहता। अभिमान वहीं रहता है, जहाँ पूर्णता नहीं होती।

ब्राह्मण और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें व्यवहारकी विषमता अनिवार्य है। इनमें समान बर्ताव शास्त्र भी नहीं कहता, उचित भी नहीं और कर सकते भी नहीं। जैसे, पूजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणका ही हो सकता है, न कि चाण्डालका; दूध गायका ही पीया जाता है, न कि कुतियाका; सवारी हाथीकी ही हो सकती है, न कि कुत्तेकी। इन पाँचों प्राणियोंका उदाहरण देकर भगवान् यह कह रहे हैं कि इनमें व्यवहारकी समता सम्भव न होनेपर भी तत्त्वतः सबमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। महापुरुषोंकी दृष्टि उस परमात्मतत्त्वपर ही सदा-सर्वदा रहती है। इसलिये उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि दृष्टि विषम हुए बिना व्यवहारमें भिन्नता कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि अपने शरीरके सब अंगों (मस्तक, पैर, हाथ, गुदा आदि) में हमारी दृष्टि अर्थात् अपनेपन और हितकी भावना समान रहती है, फिर भी हम उनके व्यवहारमें भेद रखते हैं; जैसे—किसीको पैर लग जाय तो क्षमा-याचना करते हैं, पर किसीको हाथ लग जाय तो क्षमा-याचना नहीं करते। प्रणाम मस्तक और हाथोंसे करते हैं, पैरोंसे नहीं। गुदासे हाथ लगनेपर हाथ धोते हैं, हाथसे हाथ लगनेपर नहीं। इतना ही नहीं, एक हाथकी अँगुलियोंमें भी व्यवहारमें भेद रहता है। किसीको तर्जनी अँगुली दिखाने और अँगूठा दिखानेका भेद तो सब जानते ही हैं। इस प्रकार शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंके व्यवहारमें तो भेद होता है, पर आत्मीयतामें भेद नहीं होता। इसलिये शरीरके किसी भी

पीड़ित अंगकी उपेक्षा नहीं होती। व्यवहारमें भेद होनेपर भी पीड़ा मिटानेमें हम समानताका व्यवहार करते हैं। शरीरके सभी अंगोंके सुख-दुःखमें हमारा एक ही भाव रहता है (गीता—छठे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। इसी प्रकार प्राणियोंमें खान-पान, गुण, आचरण, जाति आदिका भेद होनेसे उनके साथ ज्ञानी महापुरुषोंके व्यवहारमें भी भेद होता है और होना भी चाहिये। परन्तु उन सब प्राणियोंमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण होनेके कारण महापुरुषकी दृष्टिमें भेद नहीं होता। उन प्राणियोंके प्रति महापुरुषकी आत्मीयता, प्रेम, हित, दया आदिके भावमें कभी फर्क नहीं पड़ता। उनके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, ममता, आसक्ति, अभिमान, पक्षपात, विषमता आदिका सर्वथा अभाव होता है। जैसे अपने शरीरके किसी अंगका दुःख दूर करनेकी चेष्टा स्वाभाविक होती है, ऐसे ही पता लगनेपर दूसरे प्राणीका दुःख दूर करनेकी और उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी उनके द्वारा स्वाभाविक होती है। यही कारण है कि भगवान्‌ने यहाँ महापुरुषोंको समदर्शी कहा है, न कि समवर्ती। गीतामें दूसरी जगह भी सम देखनेकी या समबुद्धिकी ही बात आयी है, जैसे—'**समबुद्धिर्विशिष्यते**' (६। ९); '**सर्वत्र समदर्शनः**' (६। २९); '**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति**' (६। ३२); '**सर्वत्र समबुद्धयः**' (१२। ४); '**समं सर्वेषु भूतेषु ''''' यः पश्यति स पश्यति**' (१३। २७); और '**समं पश्यन् हि सर्वत्र**' (१३। २८)।

श्रीशंकराचार्यजी महाराज कहते हैं—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।

(तत्त्वोपदेश)

भावमें ही सदा अद्वैत होना चाहिये, क्रिया (व्यवहार) में कहीं नहीं।

समता-सम्बन्धी विशेष बात

आजकल समतापर विशेष चर्चा चल रही है। सबके साथ समताका बर्ताव करो—ऐसा प्रचार किया जा रहा है। परन्तु वास्तवमें समता किसे कहते हैं और वह कब आती है—इसे समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

समता कोई खेल-तमाशा नहीं है, प्रत्युत परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। जिनका मन समतामें स्थित हो जाता है, वे यहाँ जीते-जी ही संसारपर विजय प्राप्त कर लेते हैं और परब्रह्म परमात्माका अनुभव कर लेते हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। यह समता तब आती है, जब दूसरोंका दुःख अपना दुःख और दूसरोंका सुख अपना सुख हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! जो पुरुष अपने शरीरकी तरह मेरेको सब जगह सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सब जगह सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है (छठे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)।'

जैसे शरीरके किसी भी अंगमें पीड़ा होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाती है, ऐसे ही किसी प्राणीको दुःख, सन्ताप आदि होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाय, तब समता आती है। सन्तोंके लक्षणोंमें भी आया है—

'**पर दुख दुख सुख सुख देखे पर**' (मानस ७। ३८। १)

जबतक अपने सुखकी लालसा है, तबतक चाहे जितना उद्योग कर लें, समता नहीं आयेगी। परन्तु जब हृदयसे यह लगन लग जायगी कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे? उनको आराम कैसे हो? उनको लाभ कैसे हो? उनका कल्याण कैसे हो? तब समता स्वतः आ जायगी। इसका आरम्भ सर्वप्रथम अपने घरसे करना चाहिये। हृदयमें ऐसा भाव हो कि किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख या कष्ट न पहुँचे, किसीका कभी अनिष्ट न हो। चाहे मैं कितना ही कष्ट पाऊँ, पर मेरे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदिको सुख होना चाहिये। घरवालोंको सुख पहुँचानेसे अपने हृदयमें शान्ति आयेगी ही। जहाँ अपने घरका भी सम्बन्ध नहीं है, वहाँ सुख पहुँचायेंगे तो विशेष आनन्दकी लहरें आने लग जायँगी। परन्तु ममतापूर्वक सुख पहुँचानेसे हमारी उन्नति नहीं होगी। जहाँ हमारी ममता न हो, वहाँ सुख पहुँचायें अथवा जहाँ हम ममतापूर्वक सुख पहुँचाते हैं, वहाँसे अपनी ममता हटा लें— दोनोंका परिणाम एक ही होगा।

चित्रकूटमें लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताकी सेवा कैसे करते हैं, यह बताते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

(मानस २। १४२। १)

अर्थात् लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताजीकी वैसे ही सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरकी सेवा करता है। अपने शरीरकी सेवा करना, उसे सुख पहुँचाना समझदारी नहीं है। अपने शरीरकी सेवा तो पशु भी करते हैं। जैसे, बँदरीकी अपने बच्चेपर इतनी ममता रहती है कि उसके मरनेके बाद भी वह उसके शरीरको पकड़े हुए चलती है, छोड़ती नहीं। परन्तु जब कोई वस्तु खानेके लिये मिल

जाती है, तब वह स्वयं तो खा लेती है, पर बच्चेको नहीं खाने देती। बच्चा खानेकी चेष्टा करता है तो उसे ऐसी घुड़की मारती है कि वह चीं-चीं करते भाग जाता है। अतः ममताके रहते हुए समताका आना असम्भव है।

जिससे हमें कुछ लेना नहीं है, जिससे हमारा कोई स्वार्थ नहीं है, ऐसे व्यक्तिके साथ भी हम प्रेमपूर्वक अच्छा-से-अच्छा बर्ताव करें, जिससे उसका हित हो। कोई व्यक्ति मार्गमें भटक गया है, उसे मार्गका पता नहीं है और वह हमसे पूछता है। हम उसे बड़ी प्रसन्नतासे मार्ग बतायें अथवा कुछ दूरतक उसके साथ चलें तो हमें हृदयमें प्रत्यक्ष सुखका, शान्तिका अनुभव होगा। परन्तु यदि हम जानते हुए भी उसे मार्ग नहीं बतायेंगे, तो हमारे हृदयमें सुख नहीं होगा। यह अनुभवकी बात है, कोई करके देख ले। किसीको प्यास लगी है तो उसे बता दे कि भाई, इधर आओ, इधर ठण्डा जल है। फिर हम अपना हृदय देखें। हमारे हृदयमें प्रसन्नता आयेगी, सुख आयेगा। यह सुख हमारा कल्याण करनेवाला है। दूसरा दुःख पाये, पर मैं सुख ले लूँ—यह सुख पतन करनेवाला है। इससे न तो व्यवहारमें हमारी उन्नति होगी और न परमार्थमें। हम सत्संगका आयोजन करते हैं। उसमें आनेवाले व्यक्तियोंके बैठनेकी व्यवस्था करते हैं तो उनसे प्रेमपूर्वक कहें कि आइये, यहाँ बैठिये। उन्हें वहाँ बैठायें, जहाँसे वे ठीक तरहसे सुन सकें। वे आरामसे कैसे बैठ सकें? ठीक तरहसे कैसे सुन सकें—ऐसा भाव रखकर उनसे बर्ताव करें। ऐसा करनेसे हमारे हृदयमें प्रत्यक्ष शान्ति आयेगी। पर वहीं हुक्म चलायें कि क्या करते हो? इधर बैठो, इधर नहीं, तो बात वही होनेपर भी हृदयमें शान्ति नहीं आयेगी। भीतरमें जो अभिमान है, वह दूसरोंको चुभेगा, बुरा लगेगा। ऐसा बर्ताव करें और चाहें कि समता आ जाय, तो वह कभी आयेगी नहीं।

सबके हितमें जिसकी प्रीति हो गयी है, उन्हें भगवान् प्राप्त हो जाते हैं—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२। ४)। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। वे प्राणिमात्रका पालन-पोषण करनेवाले हैं। आस्तिक-से-आस्तिक हो अथवा नास्तिक-से-नास्तिक, दोनोंके लिये भगवान्का विधान बराबर है। एक व्यक्ति बड़ा आस्तिक है, भगवान्को बहुत मानता है और उन्हें पानेके लिये साधन-भजन करता है और एक व्यक्ति ऐसा नास्तिक है कि संसारसे भगवान्का खाता उठा देना चाहता है। भगवान्को माननेसे और भगवान्के कारण ही दुनिया दुःख पा रही है, भगवान् नामकी कोई चीज है ही नहीं—ऐसा उसके हृदयमें भाव है और ऐसा ही प्रचार करता है। ऐसे नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिकी भी प्यास जल मिटाता है और यही जल आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिकी भी प्यास मिटाता है। जलमें यह भेद नहीं है कि वह आस्तिककी प्यास ठीक तरहसे शान्त करे और नास्तिककी प्यास शान्त न करे। वह समान रीतिसे सबकी प्यास मिटाता है। ऐसे ही सूर्य समान रीतिसे सबको प्रकाश देता है, हवा समान रीतिसे सबको श्वास लेने देती है, पृथ्वी समान रीतिसे सबको रहनेका स्थान देती है। इस प्रकार भगवान्की रची हुई प्रत्येक वस्तु सबको समान रीतिसे मिलती है।

समताका अर्थ यह नहीं है कि समान रीतिसे सबके साथ रोटी-बेटी (भोजन और विवाह) का बर्ताव करें। व्यवहारमें समता तो महान् पतन करनेवाली चीज है। समान बर्ताव यमराजका, मौतका नाम है; क्योंकि उसके बर्तावमें विषमता नहीं होती। चाहे महात्मा हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, चाहे पशु हो, चाहे देवता हो, मौत सबकी बराबर होती है। इसलिये यमराजको 'समवर्ती' (समान बर्ताव करनेवाला) कहा गया है*। अतः जो समान बर्ताव करते हैं, वे भी यमराज हैं।

पशुओंमें भी समान बर्ताव पाया जाता है। कुत्ता ब्राह्मणकी रसोईमें जाता है तो पैर धोकर नहीं जाता। ब्राह्मणकी रसोई हो अथवा हरिजनकी, वह तो जैसा है, वैसा ही चला जाता है; क्योंकि यह उसकी समता है। पर मनुष्यके लिये यह समता नहीं है, प्रत्युत महान् पशुता है। समता तो यह है कि दूसरेका दुःख कैसे मिटे, दूसरेको सुख कैसे हो, आराम कैसे हो? ऐसी समता रखते हुए बर्तावमें पवित्रता, निर्मलता रखनी चाहिये। बर्तावमें पवित्रता रखनेसे अन्तःकरण पवित्र, निर्मल होता है। परन्तु बर्तावमें अपवित्रता रखनेसे, खान-पान आदि एक करनेसे अन्तःकरणमें अपवित्रता आती है, जिससे अशान्ति बढ़ती है। केवल बाहरका बर्ताव समान रखना शास्त्र और समाजकी मर्यादाके विरुद्ध है। इससे समाजमें संघर्ष पैदा होता है।

* **'समवर्ती परेतराट्' (अमरकोष १। १। ५८)**

वर्णोंमें ब्राह्मण ऊँचे हैं और शूद्र नीचे हैं—ऐसा शास्त्रोंका सिद्धान्त नहीं है। ब्राह्मण उपदेशके द्वारा, क्षत्रिय रक्षाके द्वारा, वैश्य धन-सम्पत्ति, आवश्यक वस्तुओंके द्वारा और शूद्र शरीरसे परिश्रम करके सभी वर्णोंकी सेवा करे। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे अपने कर्तव्यपालनमें परिश्रम न करें, प्रत्युत अपने कर्तव्यपालनमें समान रीतिसे सभी परिश्रम करें। जिसके पास जिस प्रकारकी शक्ति, विद्या, वस्तु, कला आदि है, उसके द्वारा चारों ही वर्ण चारों वर्णोंकी सेवा करें, उनके कार्योंमें सहायक बनें। परन्तु चारों वर्णोंकी सेवा करनेमें भेदभाव न रखें।

आजकल वर्णाश्रमको मिटाकर पार्टीबाजी हो रही है। आज वर्णाश्रममें इतनी लड़ाई नहीं है, जितनी लड़ाई पार्टीबाजीमें हो रही है—यह प्रत्यक्ष बात है। पहले लोग चारों वर्णों और आश्रमोंकी मर्यादामें चलते थे और सुख-शान्तिपूर्वक रहते थे। आज वर्णाश्रमकी मर्यादाको मिटाकर अनेक पार्टियाँ बनायी जा रही हैं, जिससे संघर्षको बढ़ावा मिल रहा है। गाँवोंमें सब लोगोंको पानी मिलना कठिन हो रहा है। जिनके अधिकारमें कुआँ है, वे कहते हैं कि तुमने उस पार्टीको वोट दिया है, इसलिये तुम यहाँसे पानी नहीं भर सकते। माँ, बाप और बेटा—तीनों अलग-अलग पार्टियोंको वोट देते हैं और घरमें लड़ते हैं। भीतरमें वैर बाँध लिया कि तुम उस पार्टीके और हम इस पार्टीके। कितना महान् अनर्थ हो रहा है!

यदि समता लानी हो तो दूसरा व्यक्ति किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, मत आदिका क्यों न हो, उसे सुख देना है, उसका दुःख दूर करना है और उसका वास्तविक हित करना है। उनमें यह भेद हो सकता है कि आप राम-राम कहते हैं, हम कृष्ण-कृष्ण कहेंगे; आप वैष्णव हैं, हम शैव हैं; आप मुसलमान हैं, हम हिन्दू हैं, इत्यादि। परन्तु इससे कोई बाधा नहीं आती है। बाधा तब आती है, जब यह भाव रहता है कि वे हमारी पार्टीके नहीं हैं, इसलिये उनको चाहे दुःख होता रहे, पर हमें और हमारी पार्टीवालोंको सुख हो जाय। यह भाव महान् पतन करनेवाला है। इसलिये कभी किसी वर्ण आदिके मनुष्योंको कष्ट हो तो उनके हितकी चिन्ता समान रीतिसे होनी चाहिये और उन्हें सुख हो तो उससे प्रसन्नता समान रीतिसे होनी चाहिये। जैसे, ब्राह्मणों और हरिजनोंमें संघर्ष हुआ। उसमें हरिजनोंकी हार और ब्राह्मणोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें प्रसन्नता हो अथवा ब्राह्मणोंकी हार और हरिजनोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें दुःख हो, तो यह विषमता है, जो बहुत हानिकारक है। ब्राह्मणों और हरिजनों—दोनोंके प्रति ही हमारे मनमें हितकी समान भावना होनी चाहिये। किसीका भी अहित हमें सहन न हो। किसीका भी दुःख हमें समान रीतिसे खटकना चाहिये। यदि ब्राह्मण दुःखी है तो उसे सुख पहुँचायें और यदि हरिजन दुःखी है तो उसे सुख न पहुँचायें—ऐसा पक्षपात नहीं होना चाहिये, प्रत्युत हरिजनको सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा होनी चाहिये। हरिजनोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करते हुए भी ब्राह्मणोंके दुःखकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिको लेकर पक्षपात नहीं होना चाहिये। सभीके प्रति समान रीतिसे हितका बर्ताव होना चाहिये। यदि कोई निम्नवर्ग है और उसे हम ऊँचा उठाना चाहते हों, तो उस वर्गके लोगोंके भावों और आचरणोंको शुद्ध और श्रेष्ठ बनाना चाहिये; उनके पास वस्तुओंकी कमी हो तो उसकी पूर्ति करनी चाहिये; उनकी सहायता करनी चाहिये; परन्तु उन्हें उकसाकर उनके हृदयोंमें दूसरे वर्गके प्रति ईर्ष्या और द्वेषके भाव भर देना अत्यन्त ही अहितकर, घातक है तथा लोक-परलोकमें पतन करनेवाला है। कारण कि ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि मनुष्यका महान् पतन करनेवाले हैं। यदि ऐसे भाव ब्राह्मणोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा और हरिजनोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा। उत्थान तो सद्भावों, सद्गुणों, सदाचारोंसे ही होता है।

भोजन, वस्त्र, मकान आदि निर्वाहकी वस्तुओंकी जिनके पास कमी है, उन्हें ये वस्तुएँ विशेषतासे देनी चाहिये, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिके क्यों न हों। सबका जीवनयापन सुखपूर्वक होना चाहिये। सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभीका हित हो, कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न हो*—ऐसा भाव रखते हुए यथायोग्य बर्ताव करना ही समता है, जो सम्पूर्ण मनुष्योंके लिये हितकर है।

परिशिष्ट भाव—ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्ता—ये सभी तो हरदम बदल रहे हैं और अभावमें जा रहे हैं, पर उनमें रहनेवाला जो भावरूप सत्-तत्त्व है, वह कभी बदलता नहीं, प्रत्युत नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता

* **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥**

है। ज्ञानीलोग उस सत्-तत्त्वको ही देखते हैं। जैसे चींटी रेतमें मिली हुई चीनीके दानेको पकड़कर निकाल लेती है, ऐसे ही ज्ञानियोंकी विवेकवती सूक्ष्म दृष्टि असत् संसारमें व्याप्त सत्-तत्त्वको पकड़ लेती है। तात्पर्य है कि ब्राह्मण हो या चाण्डाल, गाय हो या कुत्ता, हाथी हो या चींटी, विषम-से-विषम प्राणियोंमें भी उनकी दृष्टि सदा सम ही रहती है। व्यवहार विषम (यथायोग्य) होते हुए भी उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

सम्बन्ध—अब भगवान् पूर्वश्लोकमें वर्णित समताकी विशेष महिमा कहते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

येषाम्	=जिनका	**एव**	=ही	**ब्रह्म**	=ब्रह्म
मनः	=अन्तःकरण	**सर्गः**	=सम्पूर्ण संसारको	**निर्दोषम्**	=निर्दोष (और)
साम्ये	=समतामें	**जितः**	=जीत लिया है अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये हैं;	**समम्**	=सम है,
स्थितम्	=स्थित है,			**तस्मात्**	=इसलिये
तैः	=उन्होंने			**ते**	=वे
इह	=इस जीवित-अवस्थामें			**ब्रह्मणि**	=ब्रह्ममें (ही)
		हि	=क्योंकि	**स्थिताः**	=स्थित हैं।

व्याख्या—'**येषां साम्ये स्थितं मनः**'—परमात्मतत्त्व अथवा स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव होनेपर जब मन-बुद्धिमें राग-द्वेष, कामना, विषमता आदिका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब मन-बुद्धिमें स्वतः-स्वाभाविक समता आ जाती है, लानी नहीं पड़ती। बाहरसे देखनेपर महापुरुष और साधारण पुरुषमें खाना-पीना, चलना-फिरना आदि व्यवहार एक-सा ही दीखता है, पर महापुरुषोंके अन्तःकरणमें निरन्तर समता, निर्दोषता, शान्ति आदि रहती है और साधारण पुरुषोंके अन्तःकरणमें विषमता, दोष, अशान्ति आदि रहती है।

जैसे, पूर्वमें और पश्चिममें—दोनों ओर पर्वत हों, तो पूर्वमें सूर्यका उदय होना नहीं दीखता; परन्तु पश्चिममें स्थित पर्वतकी चोटीपर प्रकाश दीखनेसे सूर्यके उदय होनेमें कोई सन्देह नहीं रहता। कारण कि सूर्यका उदय हुए बिना पश्चिमके पर्वतपर प्रकाश दीखना सम्भव ही नहीं। ऐसे ही जिनके मन-बुद्धिपर मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख आदिका कोई असर नहीं पड़ता तथा जिनके मन-बुद्धि राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे सर्वथा रहित हैं, उनकी स्वरूपमें स्वाभाविक स्थिति अवश्य होती है। कारण कि स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिके बिना मन-बुद्धिमें अटल और एकरस समताका रहना सम्भव ही नहीं है।

'**इहैव तैर्जितः सर्गः**'—यहाँ '**तैः**' पदमें बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि सभी मनुष्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर सकते हैं और सम्पूर्ण संसारपर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

'**इह एव**' पदोंका तात्पर्य है कि मनुष्य जीते-जी वर्तमानमें ही, यहीं संसारको जीत सकता है अर्थात् संसारसे मुक्त हो सकता है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सब 'पर' हैं और जो इनके अधीन रहता है, उसे 'पराधीन' कहते हैं। इन शरीरादि वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि होना तथा इनकी आवश्यकताका अनुभव करना अर्थात् इनकी कामना करना ही इनके अधीन होना है। पराधीन पुरुष ही वास्तवमें पराजित (हारा हुआ) है। जबतक पराधीनता नहीं छूटती, तबतक वह पराजित ही रहता है।

जिसके मनमें सांसारिक वस्तुओंकी कामना है, वह मनुष्य अगर दूसरे प्राणी, राज्य आदिपर विजय प्राप्त कर ले तो भी वह वास्तवमें पराजित ही है। कारण कि वह उन पदार्थोंमें महत्त्वबुद्धि रखता है और अपने जीवनको उनके अधीन मानता है। शरीरसे विजय तो पशु भी प्राप्त कर लेता है, पर वास्तविक विजय हृदयसे वस्तुकी अधीनता दूर होनेपर ही प्राप्त होती है।

पराजित व्यक्ति ही दूसरेको पराजित करना चाहता है, दूसरेको अपने अधीन बनाना चाहता है। वास्तवमें अपनेको पराजित किये बिना कोई दूसरेको पराजित कर ही नहीं

सकता; जैसे—कोई राजा या विद्वान् किसी दूसरेपर विजय प्राप्त करना चाहता है तो उसे सबसे पहले अपनी सेना, सामर्थ्य, बुद्धि, विद्या आदिका सहारा लेना ही पड़ता है।

कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य पराधीन हो जाता है। यह पराधीनता कामनाकी पूर्ति न होनेपर अथवा पूर्ति होनेपर—दोनों ही अवस्थाओंमें ज्यों-की-त्यों रहती है। कामनाकी पूर्ति न होनेपर मनुष्य वस्तुके अभावके कारण पराधीनताका अनुभव करता है और कामनाकी पूर्ति होनेपर अर्थात् वस्तुके मिलनेपर वह उस वस्तुके पराधीन हो जाता है; क्योंकि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुमात्र 'पर' है। कामनाकी पूर्ति न होनेपर तो मनुष्यको पराधीनताका अनुभव होता है, पर कामनाकी पूर्ति होनेपर बुद्धिमें ऐसा अँधेरा छा जाता है कि पराधीन रहते हुए भी मनुष्यको पराधीनताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत स्वाधीनताका अनुभव होता है!

ज्ञानी महापुरुषमें कामनाका सर्वथा अभाव होनेसे वह पूर्णतः स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन पुरुष ही विजयी होता है। परन्तु स्वाधीन पुरुषके मनमें कभी किसीको पराजित करनेका भाव नहीं आता। वह संसारकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकताका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत संसार ही उसकी आवश्यकताका अनुभव करता है।

जिसने संसारको जीत लिया है, ऐसे समदर्शी महापुरुषको संसारका बड़ा-से-बड़ा सुख (प्रलोभन) भी आकृष्ट नहीं कर सकता और बड़ा-से-बड़ा दुःख भी विचलित नहीं कर सकता (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

उसके मनमें संसारके किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिकी किंचिन्मात्र भी कामना, वासना, स्पृहा, तृष्णा आदि नहीं रहती। यद्यपि उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है तथा उसके अनुसार यथोचित चेष्टा भी होती है, तथापि अनुकूलता-प्रतिकूलताका उसके अन्तःकरणपर कोई असर नहीं पड़ता।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'—परमात्मतत्त्वमें दोष, विकार या विषमता है ही नहीं। जितने भी दोष या विषमताएँ आती हैं, वे सब प्रकृतिसे रागपूर्वक सम्बन्ध माननेसे ही आती हैं। परमात्मतत्त्व प्रकृतिके सम्बन्धसे सर्वथा निर्लिप्त है, इसलिये उसमें किंचिन्मात्र भी दोष या विषमता नहीं है।

'तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः'—परमात्मतत्त्व निर्दोष और सम है, इसलिये जिन महापुरुषोंका अन्तःकरण निर्दोष और सम हो गया है, वे परमात्मतत्त्वमें ही स्थित हैं।

असत्‌के संगसे ही सम्पूर्ण दोषों और विषमताओंकी उत्पत्ति होती है। संसार असत् है। असत् उसे कहते हैं, जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और मूलमें जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। असत्‌से सम्बन्ध (तादात्म्य) रहते हुए दोषों और विषमताओंसे बचना असम्भव है। महापुरुषोंके अन्तःकरणमें असत्‌का महत्त्व न रहनेसे उनपर असत्‌का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। असत्‌का कोई प्रभाव न पड़नेसे उनका अन्तःकरण निर्दोष और सम हो जाता है। निर्दोष और सम होनेसे उनकी परमात्मतत्त्वमें स्वतः-स्वाभाविक स्थिति हो जाती है, जो कि पहलेसे ही है। जैसे जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि अवश्य है; क्योंकि अग्निके बिना धुआँ सम्भव ही नहीं, ऐसे ही जिनके अन्तःकरणमें समता है, वे अवश्य ही परमात्मतत्त्वमें स्थित हैं; क्योंकि परमात्मतत्त्वमें स्थिति हुए बिना पूर्ण समता आनी सम्भव ही नहीं।

अपनी (स्वयंकी) स्थिति परमात्मतत्त्वमें अथवा समतामें होनेके कारण ही अन्तःकरणमें समता आती है। इसलिये अन्तःकरणमें समता आनेपर ही उन महापुरुषोंकी यह पहचान होती है कि वे परमात्मतत्त्वमें अथवा समतामें स्थित हैं। इसी समताको गीताने 'योग' कहा है—**'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८), और इसकी प्राप्तिको ही गीता मनुष्य-जन्मकी पूर्णता मानती है।

ज्ञानयोगका यह प्रकरण तेरहवें श्लोकसे चला है। पंद्रहवें श्लोकके अन्तमें आये **'जन्तवः'** पदसे बहुवचनका प्रयोग आरम्भ हुआ है, जो इस उन्नीसवें श्लोकतक चला है। सबमें बहुवचन आनेका तात्पर्य है कि जो मनुष्य मोहित हो रहे थे, वे सब-के-सब परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत श्लोकमें **'ब्रह्मणि'** पदमें एकवचन आया है, जिसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण मनुष्योंको एक ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। मुक्ति चाहे ब्राह्मणकी हो अथवा चाण्डालकी, दोनोंको एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है। भेद केवल शरीरोंको लेकर है, जो उपादेय है। तत्त्वको लेकर कोई भेद नहीं है। पहले जितने सनकादिक महात्मा हुए हैं, उनको जो तत्त्व प्राप्त हुआ है, वही तत्त्व आज भी प्राप्त होता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ आये **'मन'** शब्दको बुद्धिका वाचक समझना चाहिये; क्योंकि समतामें मन स्थित नहीं होता, प्रत्युत बुद्धि ही स्थित होती है। मन ध्यानमें स्थित होता है। यह प्रकरण भी स्थिरबुद्धिका है। मनकी स्थिरता केवल

ध्यानावस्थामें रहती है, व्यवहारमें नहीं; परन्तु बुद्धिकी स्थिरता निरन्तर रहती है। कल्याण मनकी स्थिरतामें नहीं होता, प्रत्युत बुद्धिकी स्थिरतासे होता है। मनकी स्थिरतासे सिद्धियाँ पैदा होती हैं। अत: मनकी स्थिरता इतनी ऊँची नहीं है, जितनी बुद्धिकी स्थिरता। भगवान्‌ने भी दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि) होनेकी महिमा कही है। अगले श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है—**'स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः'**।

साधक भूलसे अपनेको तत्त्वज्ञ न मान ले, इसलिये यह पहचान बतायी है कि अगर बुद्धिमें समता नहीं आयी है तो समझ लेना चाहिये कि अभी तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, केवल वहम हुआ है! बुद्धिकी समताका स्वरूप है—राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि न होना। तत्त्वप्राप्ति होनेपर बुद्धिमें निरन्तर समता रहती है। इस समतासे बुद्धिका कभी व्युत्थान अथवा वियोग नहीं होता।

जिनकी बुद्धि समतामें स्थित है, उनमें राग-द्वेष नहीं रहते। उनकी यह समबुद्धि स्वतः अटल बनी रहती है कि सब कुछ एक परमात्मा ही हैं। जब एक परमात्मतत्त्वके सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो फिर कौन द्वेष करे और किससे करे? जब एक ही सत्ता अटल अनुभवमें आ जाती है, तब कोई कामना नहीं रहती और अशान्ति भी नहीं रहती।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिस स्थितिका वर्णन हुआ है, उसकी प्राप्तिका साधन तथा सिद्धके लक्षणोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

प्रियम्	=(जो) प्रियको	**प्राप्य**	=प्राप्त होकर	**असम्मूढः**	=मूढ़तारहित (ज्ञानी)
प्राप्य	=प्राप्त होकर	**न, उद्विजेत्**	=उद्विग्न न हो,	**ब्रह्मवित्**	=(तथा) ब्रह्मको जाननेवाला मनुष्य
न, प्रहृष्येत्	=हर्षित न हो				
च	=और	**स्थिरबुद्धिः**	=(वह) स्थिरबुद्धिवाला,	**ब्रह्मणि**	=ब्रह्ममें
अप्रियम्	=अप्रियको			**स्थितः**	=स्थित है।

व्याख्या—**'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्'**—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सिद्धान्त, सम्प्रदाय, शास्त्र आदिके अनुकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होना ही 'प्रिय' को प्राप्त होना है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सिद्धान्त, सम्प्रदाय, शास्त्र आदिके प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होना ही 'अप्रिय' को प्राप्त होना है।

प्रिय और अप्रियको प्राप्त होनेपर भी साधकके अन्तःकरणमें हर्ष और शोक नहीं होने चाहिये। यहाँ प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिका यह अर्थ नहीं है कि साधकके हृदयमें अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी-पदार्थोंके प्रति राग या द्वेष है, प्रत्युत यहाँ उन प्राणी-पदार्थोंकी प्राप्तिके ज्ञानको ही प्रिय और अप्रियकी प्राप्ति कहा गया है। प्रिय या अप्रियकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिका ज्ञान होनेमें कोई दोष नहीं है। अन्तःकरणमें उनकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिका असर पड़ना अर्थात् हर्ष-शोकादि विकार होना ही दोष है।

प्रियता और अप्रियताका ज्ञान तो अन्तःकरणमें होता है, पर हर्षित और उद्विग्न कर्ता होता है। अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला पुरुष प्रकृतिके करणोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको लेकर 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मान लेता है तथा हर्षित और उद्विग्न होता रहता है। परन्तु जिसका मोह दूर हो गया है, जो तत्त्ववेत्ता है, वह 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा जानकर अपनेमें (स्वरूपमें) वास्तविक अकर्तृत्वका अनुभव करता है (गीता—तीसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)। स्वरूपका हर्षित और उद्विग्न होना सम्भव ही नहीं है।

'स्थिरबुद्धिः'—स्वरूपका ज्ञान स्वयंके द्वारा ही स्वयंको होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भाव नहीं रहता। यह ज्ञान करण-निरपेक्ष होता है अर्थात् इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि किसी करणकी अपेक्षा नहीं होती। करणोंसे होनेवाला ज्ञान स्थिर तथा सन्देहरहित नहीं होता, इसलिये वह अल्पज्ञान है। परन्तु स्वयं-(अपने होनेपन-) का ज्ञान स्वयंको ही होनेसे उसमें कभी परिवर्तन या सन्देह नहीं होता। जिस महापुरुषको ऐसे करण-निरपेक्ष ज्ञानका अनुभव हो गया है, उसकी कही जानेवाली बुद्धिमें यह ज्ञान इतनी दृढ़तासे उतर आता है कि उसमें कभी

विकल्प, सन्देह, विपरीत भावना, असम्भावना आदि होती ही नहीं। इसलिये उसे '**स्थिरबुद्धिः**' कहा गया है।

'**असम्मूढः**'—जो परमात्मतत्त्व सदा-सर्वत्र विद्यमान है, उसका अनुभव न होना और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उस उत्पत्ति-विनाशशील संसारको सत्य मानना— ऐसी मूढ़ता साधारण मनुष्यमें रहती है। इस मूढ़ताका जिसमें सर्वथा अभाव हो गया है, उसे ही यहाँ '**असम्मूढः**' कहा गया है।

'**ब्रह्मवित्**'—परमात्मासे अलग होकर परमात्माका अनुभव नहीं होता। परमात्माका अनुभव होनेमें अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्य—यह त्रिपुटी नहीं रहती, प्रत्युत त्रिपुटीरहित अनुभवमात्र (ज्ञानमात्र) रहता है। वास्तवमें ब्रह्मको जाननेवाला कौन है—यह बताया नहीं जा सकता। कारण कि ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है*, इसलिये वह अपनेको ब्रह्मवित् मानता ही नहीं अर्थात् उसमें 'मैं ब्रह्मको जानता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं रहता।

'**ब्रह्मणि स्थितः**'—वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणी तत्त्वसे नित्य-निरन्तर ब्रह्ममें ही स्थित हैं; परन्तु भूलसे अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिमें ही मानते रहनेके कारण मनुष्यको ब्रह्ममें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव नहीं होता। जिसे ब्रह्ममें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो गया है, ऐसे महापुरुषके लिये यहाँ '**ब्रह्मणि स्थितः**' पदोंका प्रयोग हुआ है। ऐसे महापुरुषको प्रत्येक परिस्थितिमें नित्य-निरन्तर ब्रह्ममें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव होता रहता है।

यद्यपि एक वस्तुकी दूसरी वस्तुमें स्थिति होती है, तथापि ब्रह्ममें स्थिति इस प्रकारकी नहीं है। कारण कि ब्रह्मका अनुभव होनेपर सर्वत्र एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म रह जाता है। उसमें स्थिति माननेवाला दूसरा कोई रहता ही नहीं। जबतक कोई ब्रह्ममें अपनी स्थिति मानता है, तबतक ब्रह्मकी वास्तविक अनुभूतिमें कमी है, परिच्छिन्नता है।

परिशिष्ट भाव—सुषुप्ति और मूर्च्छामें मनुष्यका शरीरसे अज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है अर्थात् मन अविद्यामें लीन होता है; अतः इन अवस्थाओंमें मनुष्यको प्रिय और अप्रियका, शारीरिक पीड़ा आदिका ज्ञान ही नहीं होता। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुषका शरीरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है। इसलिये उसको प्रिय और अप्रियका, शरीरकी पीड़ा आदिका ज्ञान तो होता है, पर उनसे वह हर्षित-उद्विग्न, सुखी-दुःखी नहीं होता। उसकी शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी परवशता मिट जाती है।

ब्रह्मको जानना और उसमें स्थित होना—दोनों एक ही हैं।

सम्बन्ध—ब्रह्ममें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव किस प्रकार होता है, इसका विवेचन आगेके श्लोकमें करते हैं।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

बाह्यस्पर्शेषु = बाह्यस्पर्श (प्राकृत वस्तुमात्रके सम्बन्ध) में
असक्तात्मा = आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक
आत्मनि = अन्तःकरणमें
यत् = जो
सुखम् = (सात्त्विक) सुख है, (उसको)
विन्दति = प्राप्त होता है। (फिर)
सः = वह
ब्रह्मयोगयुक्तात्मा = ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित मनुष्य
अक्षयम् = अक्षय
सुखम् = सुखका
अश्नुते = अनुभव करता है।

व्याख्या—'**बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा**'—परमात्माके अतिरिक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिमें तथा शब्द, स्पर्श आदि विषयोंके संयोगजन्य सुखमें जिसकी आसक्ति मिट गयी है, ऐसे साधकके लिये यहाँ ये पद प्रयुक्त हुए हैं। जिन साधकोंकी आसक्ति अभी मिटी नहीं है, पर जिनका उद्देश्य आसक्तिको मिटानेका हो गया है, उन साधकोंको भी आसक्तिरहित मान लेना चाहिये। कारण कि उद्देश्यकी दृढ़ताके कारण वे भी शीघ्र ही आसक्तिसे

* '**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**' (मुण्डक० ३। २। ९); '**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**' (बृहदारण्यक० ४। ४। ६)

छूट जाते हैं।

पूर्वश्लोकमें वर्णित 'प्रियको प्राप्त होकर हर्षित और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न नहीं होना चाहिये'—ऐसी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये बाह्यस्पर्शमें आसक्तिरहित होना आवश्यक है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुमात्रका नाम 'बाह्यस्पर्श' है, चाहे उसका सम्बन्ध बाहरसे हो या अन्तःकरणसे। जबतक बाह्यस्पर्शमें आसक्ति रहती है, तबतक अपने स्वरूपका अनुभव नहीं होता। बाह्यस्पर्श निरन्तर बदलता रहता है, पर आसक्तिके कारण उसके बदलनेपर दृष्टि नहीं जाती और उसमें सुखका अनुभव होता है। पदार्थोंको अपरिवर्तनशील, स्थिर माननेसे ही मनुष्य उनसे सुख लेता है। परन्तु वास्तवमें उन पदार्थोंमें सुख नहीं है। सुख पदार्थोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही होता है। इसीलिये सुषुप्तिमें जब पदार्थोंके सम्बन्धकी विस्मृति हो जाती है, तब सुखका अनुभव होता है।

वहम तो यह है कि पदार्थोंके बिना मनुष्य जी नहीं सकता, पर वास्तवमें देखा जाय तो बाह्य पदार्थोंके वियोगके बिना मनुष्य जी ही नहीं सकता। इसीलिये वह नींद लेता है; क्योंकि नींदमें पदार्थोंको भूल जाते हैं। पदार्थोंको भूलनेपर भी नींदसे जो सुख, ताजगी, बल, नीरोगता, निश्चिन्तता आदि मिलती है, वह जाग्रत्में पदार्थोंके संयोगसे नहीं मिल सकती। इसलिये जाग्रत्में मनुष्यको विश्राम पानेकी, प्राणी-पदार्थोंसे अलग होनेकी इच्छा होती है। वह नींदको अत्यन्त आवश्यक समझता है; क्योंकि वास्तवमें पदार्थोंके वियोगसे ही मनुष्यको जीवन मिलता है।

नींद लेते समय दो बातें होती हैं—एक तो मनुष्य बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता है और दूसरी, उसमें यह भाव रहता है कि नींद लेनेके बाद अमुक कार्य करना है। इन दोनों बातोंमें पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद चाहना तो स्वयंकी इच्छा है, जो सदा एक ही रहती है; परन्तु कार्य करनेका भाव बदलता रहता है। कार्य करनेका भाव प्रबल रहनेके कारण मनुष्यकी दृष्टि पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेदकी तरफ नहीं जाती। वह पदार्थोंका सम्बन्ध रखते हुए ही नींद लेता है और जागता है।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सम्बन्धी तो नहीं रहता, पर सम्बन्ध रह जाता है! इसका कारण यह है कि स्वयं (अविनाशी चेतन) जिस सम्बन्धको अपनेमें मान लेता है, वह मिटता नहीं। इस माने हुए सम्बन्धको मिटानेका उपाय है—अपनेमें सम्बन्धको न माने। कारण कि प्राणी-पदार्थोंसे सम्बन्ध वास्तवमें है नहीं, केवल माना हुआ है। मानी हुई बात न माननेपर टिक नहीं सकती और मान्यताको पकड़े रहनेपर किसी अन्य साधनसे मिट नहीं सकती। इसलिये माने हुए सम्बन्धकी मान्यताको वर्तमानमें ही मिटा देना चाहिये। फिर मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

बाह्य पदार्थोंका सम्बन्ध अवास्तविक है, पर परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक है। मनुष्य सुखकी इच्छासे बाह्य पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, पर परिणाममें उसे दुःख-ही-दुःख प्राप्त होता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। इस प्रकार अनुभव करनेसे बाह्य पदार्थोंकी आसक्ति मिट जाती है।

'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्'—बाह्य पदार्थोंकी आसक्ति मिटनेपर अन्तःकरणमें सात्त्विक सुखका अनुभव हो जाता है। बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे होनेवाला सुख राजस होता है। जबतक मनुष्य राजस सुख लेता रहता है, तबतक सात्त्विक सुखका अनुभव नहीं होता। राजस सुखमें आसक्तिरहित होनेसे ही सात्त्विक सुखका अनुभव होता है।

'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा'—संसारसे राग मिटते ही ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्वतः स्थिति हो जाती है। जैसे अन्धकारका नाश होना और प्रकाश होना—दोनों एक साथ ही होते हैं, फिर भी पहले अन्धकारका नाश होना और फिर प्रकाश होना माना जाता है। ऐसे ही रागका मिटना और ब्रह्ममें स्थित होना—दोनों एक साथ होनेपर भी पहले रागका नाश **'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा'** और फिर ब्रह्ममें स्थिति **'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा'** मानी जाती है । जैसे तेरहवें अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्रज्ञ-(जीवात्मा-) के द्वारा अपनेको क्षेत्र-(शरीर-)से सर्वथा अलग अनुभव करनेकी बात आयी है और फिर दूसरे श्लोकमें क्षेत्रज्ञके द्वारा अपनेको परमात्मतत्त्वसे सर्वथा अभिन्न अनुभव करनेकी बात आयी है। ऐसे ही यहाँ पहले **'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा'** पदसे शरीर-संसारसे अपनेको सर्वथा अलग अनुभव करनेकी बात बताकर फिर **'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा'** पदसे अपनेको परमात्मतत्त्वसे सर्वथा अभिन्न अनुभव करनेकी बात बतायी गयी है।

भोगोंसे विरक्ति होकर सात्त्विक सुख मिलनेके बाद 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ', 'मैं निर्विकार हूँ', 'मेरे लिये कोई कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार **'अहम्'** का सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। उसकी निवृत्तिके लिये एकमात्र परमात्मतत्त्वसे अभिन्नताका अनुभव करना आवश्यक है। कारण कि

परमात्मतत्त्वसे सर्वथा एक हुए बिना अपनी सत्ता, अपने व्यक्तित्व (परिच्छिन्नता या एकदेशीयता) का सर्वथा अभाव नहीं होता।

'सुखमक्षयमश्नुते'—जबतक साधक सात्त्विक सुखका उपभोग करता रहता है, तबतक उसमें सूक्ष्म **'अहम्'**, सूक्ष्म परिच्छिन्नता रहती है। सात्त्विक सुखका भी उपभोग न करनेसे **'अहम्'** का सर्वथा अभाव हो जाता है और साधकको परमात्मस्वरूप, चिन्मय और नित्य एकरस रहनेवाले अविनाशी सुखका अनुभव हो जाता है। इसी अक्षय सुखको 'आत्यन्तिक सुख' (छठे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), 'अत्यन्त-सुख' (छठे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक), 'ऐकान्तिक सुख' (चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक) आदि नामोंसे कहा गया है। इसका अनुभव होनेपर उस परमात्मतत्त्वमें स्वाभाविक ही एक आकर्षण होता है, जिसे प्रेम कहते हैं (गीता— अठारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)। इस प्रेममें कभी कमी नहीं आती, प्रत्युत यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। उस तत्त्वका प्रसंग चलनेपर, उसपर विचार करनेपर पहलेसे कुछ नयापन दीखता है—यही प्रेमका प्रतिक्षण बढ़ना है। इसमें एक समझनेकी बात यह है कि प्रेमके प्रतिक्षण बढ़नेपर भी यदि 'पहले कमी थी और अब पूर्ति हो गयी' ऐसा प्रतीत होता है, तो यह साधन-अवस्था है, यदि नयापन दीखनेपर भी 'पहले कमी थी और अब पूर्ति हो गयी' ऐसा प्रतीत नहीं होता, तो यह सिद्ध-अवस्था है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने विषयोंसे विरक्त पुरुषको अक्षय सुखकी प्राप्ति बतायी। अब विषयोंसे विरक्ति कैसे हो—इसका आगेके श्लोकमें विवेचन करते हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

हि	= क्योंकि		पैदा होनेवाले	**दुःखयोनयः, एव**	= दुःखके ही कारण हैं। (अतः)
कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**भोगाः**	= भोग (सुख) हैं,		
ये	= जो	**ते**	= वे	**बुधः**	= विवेकशील मनुष्य
संस्पर्शजाः	= इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे	**आद्यन्तवन्तः**	= आदि-अन्तवाले (और)	**तेषु**	= उनमें
				न, रमते	= रमण नहीं करता।

व्याख्या—**'ये हि संस्पर्शजा भोगाः'**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंसे इन्द्रियोंका रागपूर्वक सम्बन्ध होनेपर जो सुख प्रतीत होता है, उसे 'भोग' कहते हैं। सम्बन्ध-जन्य अर्थात् इन्द्रिय-जन्य भोगमें मनुष्य कभी स्वतन्त्र नहीं है। सुख-सुविधा और मान-बड़ाई मिलनेपर प्रसन्न होना भोग है। अपनी बुद्धिमें जिस सिद्धान्तका आदर है, दूसरे व्यक्तिसे उसी सिद्धान्तकी प्रशंसा सुनकर जो प्रसन्नता होती है, सुख होता है, वह भी एक प्रकारका भोग ही है। तात्पर्य यह है कि परमात्माके सिवाय जितने भी प्रकृतिजन्य प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियाँ, अवस्थाएँ आदि हैं, उनसे किसी भी प्रकृतिजन्य करणके द्वारा सुखकी अनुभूति करना भोग ही है।

शास्त्रनिषिद्ध भोग तो सर्वथा त्याज्य हैं ही, शास्त्र-विहित भोग भी परमात्मप्राप्तिमें बाधक होनेसे त्याज्य ही हैं। कारण कि जडताके सम्बन्धके बिना भोग नहीं होता, जब कि परमात्मप्राप्तिके लिये जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है।

'आद्यन्तवन्तः'—सम्पूर्ण भोग आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं (गीता—दूसरे अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। ये कभी एकरूप रह सकते ही नहीं। तात्पर्य है कि इन भोगोंकी स्वयंके साथ किसी भी अंशमें एकता नहीं है। भोग आने-जानेवाले हैं और स्वयं सदा रहनेवाला है। भोग जड हैं और स्वयं चेतन है। भोग विकारी हैं और स्वयं निर्विकार है। भोग आदि-अन्तवाले हैं और स्वयं आदि-अन्तसे रहित है। इसलिये स्वयंको भोगोंसे कभी सुख नहीं मिल सकता। जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), इसलिये उसे परमात्मासे ही अक्षय सुख मिल सकता है—**'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते'** (गीता ५। २१)।

भोग आने-जानेवाले हैं—इस तरफ ध्यान जाते ही सुख-

दु:खका प्रभाव कम हो जाता है। इसलिये '**आद्यन्तवन्तः**' पद भोगोंके प्रभावको मिटानेके लिये औषधरूप है।

'**दु:खयोनय एव ते**'—जितने भी सम्बन्ध-जन्य सुख हैं, वे सब दु:खके उत्पत्तिस्थान हैं। सम्बन्ध-जन्य सुख दु:खसे ही उत्पन्न होता है और दु:खमें ही परिणत होता है। पहले वस्तुके अभावका दु:ख होता है, तभी उस वस्तुके मिलनेपर सुख होता है। वस्तुके अभावका दु:ख जितनी मात्रामें होता है, वस्तुके मिलनेका सुख भी उतनी ही मात्रामें होता है।

भोगी व्यक्ति दु:खोंसे नहीं बच सकता। कारण कि भोग जडताके सम्बन्धसे होता है और जडताका सम्बन्ध ही जन्म-मरणरूप महान् दु:खका कारण है।

पातंजलयोगदर्शनमें कहा गया है—

'**परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिनः।**' (२। १५)

'परिणामदु:ख, तापदु:ख और संस्कारदु:ख—ऐसे तीन प्रकारके दु:ख सबमें विद्यमान रहनेके कारण तथा तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकी पुरुषके लिये सब-के-सब भोग दु:खरूप ही हैं।'

सम्पूर्ण विषयभोग आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें दु:ख ही देनेवाले हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक); क्योंकि भोगोंके परिणाममें अपनी शक्तिका ह्रास और भोग्य-पदार्थका नाश होता है—यह 'परिणामदु:ख' है।

दूसरे व्यक्तियोंके पास अपनेसे अधिक भोग देखनेसे, अपने इच्छानुसार पूरे भोग न मिलनेसे, भीतर भोगोंकी आसक्ति होनेपर भी भोग भोगनेकी सामर्थ्य न होनेसे तथा प्राप्त भोगोंके बिछुड़ जानेकी आशंकासे भोगोंके पास रहते हुए भी हृदयमें सन्ताप रहता है—यह 'तापदु:ख' है।

किसी कारणवश भोगोंका वियोग हो जानेसे मनुष्य उन भोगोंको याद कर-करके दु:खी होता है—यह 'संस्कारदु:ख' है।

भोगोंमें रुचि होनेके कारण मन उन भोगोंको भोगना चाहता है; परन्तु विवेकके कारण बुद्धि उन्हें भोगनेसे रोकती है। ऐसे ही सत्संग करते समय तामसी वृत्तिके कारण नींद आने लगती है और नींदका सुख मनुष्यको अपनी ओर खींचता है; परन्तु सात्त्विक वृत्तिके कारण उसे विचार आता है कि अभी सत्संग कर लें; क्योंकि यह मौका बार-बार मिलेगा नहीं—यह 'गुणवृत्ति-विरोध' है, जिससे साधकोंको बहुत दु:ख होता है।

भोगोंको प्राप्त करना अपने वशकी बात नहीं है; क्योंकि इसमें प्रारब्धकी प्रधानता और अपनी परतन्त्रता है। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य कर सकता है; क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। भोग दो मनुष्योंको भी समानरूपसे प्राप्त नहीं हो सकते, पर भगवान् मनुष्यमात्रको समानरूपसे प्राप्त हो सकते हैं। सत्ययुग आदिमें बड़े-बड़े ऋषियोंको जो भगवान् प्राप्त हुए थे, वही आज कलियुगमें भी सबको प्राप्त हो सकते हैं। भोगोंकी प्राप्ति सदाके लिये नहीं होती और सबके लिये नहीं होती। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति सदाके लिये होती है और सबके लिये होती है। तात्पर्य यह हुआ कि भोगों-(जडता-) की प्राप्तिमें तो विभिन्नता रहती ही है, पर उनके त्यागमें सब एक हो जाते हैं।

'**एव**' पदका तात्पर्य है कि भोग नि:सन्देह और निश्चितरूपसे दु:खके कारण हैं। उनमें सुख प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें सुखका लेश भी नहीं है।

'**न तेषु रमते बुधः**'—साधारण मनुष्यको जिन भोगोंमें सुख प्रतीत होता है, उन भोगोंको विवेकशील मनुष्य दु:खरूप ही समझता है। इसलिये वह उन भोगोंमें रमण नहीं करता, उनके अधीन नहीं होता।

विवेकी मनुष्यको इस बातका ज्ञान रहता है कि संसारके समस्त दु:ख, सन्ताप, पाप, नरक आदि संयोग-जन्य सुखकी इच्छापर ही आधारित हैं। अपने इस ज्ञानको महत्त्व देनेसे ही वह बुद्धिमान् है। परन्तु जिसने यह जान लिया है कि भोग दु:खप्रद हैं, फिर भी भोगोंकी कामना करता है और उनमें ही रमण करता है, वह वास्तवमें अपने ज्ञानको पूर्णरूपसे महत्त्व न देनेके कारण बुद्धिमान् कहलानेका अधिकारी नहीं है। अपने ज्ञानको महत्त्व देनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य भोगोंकी कामना और उनमें रमण कर ही नहीं सकता।

परिशिष्ट भाव—वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धसे होनेवाला सुख दु:खोंका कारण है। सुखके भोगीको नियमसे दु:ख भोगना ही पड़ता है। सुखकी आशा, कामना और भोगसे वास्तवमें सुख नहीं मिलता, प्रत्युत दु:ख ही मिलता है। भोगोंका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। मनुष्य अनित्यको महत्त्व देकर ही दु:ख पाता है। उसको विचार करना चाहिये कि क्या सुख चाहनेसे सुख मिल जायगा और दु:खोंका नाश हो जायगा? सुखकी इच्छा करनेसे न तो सुख मिलता

है और न दु:ख मिटता है। दु:खको मिटानेके लिये सुखकी इच्छा करना दु:खकी जड़ है।

एक दु:खका भोग होता है और एक दु:खका प्रभाव होता है। जब मनुष्य दु:खका भोग करता है, तब उसमें सुखकी इच्छा उत्पन्न होती है और जब उसपर दु:खका प्रभाव होता है, तब सुखकी इच्छा मिट जाती है, उससे अरुचि हो जाती है। दु:खके भोगसे मनुष्य दु:खी होता है और दु:खके प्रभावसे वह दु:खसे ऊँचा उठता है। दु:खके प्रभावसे वह दु:खमें तल्लीन न होकर उसके कारणपर विचार करता है कि मेरेको दु:ख क्यों हुआ? विचार करनेपर उसको पता लगता है कि सुखासक्तिके सिवाय दु:खका और कोई कारण है नहीं, था नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। परिस्थिति भी दु:खका कारण नहीं है; क्योंकि वह बेचारी एक क्षण भी टिकती नहीं। कोई प्राणी भी दु:खका कारण नहीं है; क्योंकि वह हमारे पुराने पापोंका नाश करता है और आगे विकास करता है। संसार भी दु:खका कारण नहीं है; क्योंकि जो भी परिवर्तन होता है, वह हमें दु:ख देनेके लिये नहीं होता, प्रत्युत हमारे विकासके लिये होता है। अगर परिवर्तन न हो तो विकास कैसे होगा? परिवर्तनके बिना बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? रज-वीर्यका शरीर कैसे बनेगा? बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? तात्पर्य है कि स्वाभाविक परिवर्तन विकास करनेवाला है। संसारमें परिवर्तन ही सार है। परिवर्तनके बिना संसार एक अचल, स्थिर चित्रकी तरह ही होता। अत: परिवर्तन दोषी नहीं है, प्रत्युत उसमें सुखबुद्धि करना दोषी है। भगवान् भी दु:खके कारण नहीं हैं, क्योंकि वे आनन्दघन हैं, उनके यहाँ दु:ख है ही नहीं।

'न तेषु रमते बुधः'—विवेकी मनुष्य भोगोंमें रमण नहीं करता; क्योंकि भोगोंकी कामना विवेकियोंकी नित्य वैरी है—**'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'** (गीता ३। ३९)। अविवेकीको भोग अच्छे लगते हैं; क्योंकि दोषोंमें गुणबुद्धि अविवेकसे ही होती है। सभी भोग दोषजनित होते हैं। अन्त:करणमें कोई दोष न हो तो कोई भोग नहीं होता। दोष विवेकीको ही दीखता है। इसलिये वह भोगोंमें रमण नहीं करता अर्थात् उनसे सुख नहीं लेता।

विवेकी मनुष्य उस वस्तुको नहीं चाहता, जो सदा उसके साथ न रहे। अपने विवेकसे वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मिली हुई कोई भी वस्तु, व्यक्ति, योग्यता और सामर्थ्य मेरी नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। इतना ही नहीं, अनन्त सृष्टिमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो मेरी हो और मेरे लिये हो। प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी सदाके लिये मेरी नहीं है, सदा मेरे साथ रहनेवाली नहीं है। इसलिये विवेकी मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि जो वस्तु और व्यक्ति सदा मेरे साथ रहनेवाले नहीं हैं, उनके बिना मैं सदाके लिये प्रसन्नतासे रह सकता हूँ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि संयोगजन्य सुख भोगनेवाला दु:खोंसे नहीं बच सकता, तो फिर सुखी कौन होता है—इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

इह	=इस मनुष्य-शरीरमें	**कामक्रोधोद्भवम्**	=काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले	**सः**	=वह
यः	=जो कोई (मनुष्य)			**नरः**	=नर
शरीरविमोक्षणात्	=शरीर छूटनेसे	**वेगम्**	=वेगको	**युक्तः**	=योगी है (और)
प्राक्	=पहले	**सोढुम्**	=सहन करनेमें	**सः**	=वही
एव	=ही	**शक्नोति**	=समर्थ होता है,	**सुखी**	=सुखी है।

व्याख्या—**'शक्नोतीहैव यः.........कामक्रोधोद्भवं वेगम्'**—प्राणिमात्रको एक अलौकिक विवेक प्राप्त है। यह विवेक पशु-पक्षी आदि योनियोंमें प्रसुप्त रहता है। उनमें केवल अपनी-अपनी योनिके अनुसार शरीर-निर्वाहमात्रका विवेक रहता है। देव आदि योनियोंमें यह विवेक ढका रहता है; क्योंकि वे योनियाँ भोगोंके लिये मिलती हैं; अत: उनमें भोगोंकी बहुलता तथा भोगोंका उद्देश्य रहता है। मनुष्ययोनिमें भी भोगी और संग्रही मनुष्यका विवेक ढका

रहता है। ढके रहनेपर भी यह विवेक मनुष्यको समय-समयपर भोग और संग्रहमें दु:ख एवं दोषका दर्शन कराता रहता है। परन्तु इसे महत्त्व न देनेके कारण मनुष्य भोग और संग्रहमें फँसा रहता है। अत: मनुष्यको चाहिये कि वह इस विवेकको महत्त्व देकर इसे स्थायी बना ले। इसकी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है। विवेकको स्थायी बनाकर वह राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारोंको सर्वथा समाप्त कर सकता है। इसलिये भगवान् **'इह'** पदसे मनुष्यको सावधान करते हैं कि अभी उसे ऐसा दुर्लभ अवसर प्राप्त है, जिसमें वह काम-क्रोधपर विजय प्राप्त करके सदाके लिये सुखी हो सकता है।

मनुष्य-शरीर मुक्त होनेके लिये ही मिला है। इसलिये मनुष्यमात्र काम-क्रोधका वेग सहन करनेमें योग्य, अधिकारी और समर्थ है। इसमें किसी वर्ण, आश्रम आदिकी अपेक्षा भी नहीं है।

मृत्युका कुछ पता नहीं कि कब आ जाय; अत: सबसे पहले काम-क्रोधके वेगको सहन कर लेना चाहिये। काम-क्रोधके वशीभूत नहीं होना है—यह सावधानी जीवनभर रखनी है। यह कार्य मनुष्य स्वयं ही कर सकता है, कोई दूसरा नहीं। इस कार्यको करनेका अवसर मनुष्य-शरीरमें ही है, दूसरे शरीरोंमें नहीं। इसलिये शरीर छूटनेसे पहले-पहले ही यह कार्य जरूर कर लेना चाहिये—यही भाव इन पदोंमें है।

उपर्युक्त पदोंसे एक भाव यह भी लिया जा सकता है कि काम-क्रोधके वशीभूत होकर शरीर क्रिया करने लगे—ऐसी स्थितिसे पहले ही उनके वेगको सह लेना चाहिये। कारण कि काम-क्रोधके अनुसार क्रिया आरम्भ होनेके बाद शरीर और वृत्तियाँ अपने वशमें नहीं रहतीं।

भोगोंको पानेकी इच्छासे पहले उनका संकल्प होता है। वह संकल्प होते ही सावधान हो जाना चाहिये कि मैं तो साधक हूँ, मुझे भोगोंमें नहीं फँसना है; क्योंकि यह साधकका काम नहीं है। इस तरह संकल्प उत्पन्न होते ही उसका त्याग कर देना चाहिये।

पदार्थोंके प्रति राग (काम) रहनेके कारण 'अमुक पदार्थ सुन्दर और सुखप्रद हैं' आदि संकल्प उत्पन्न होते हैं। संकल्प उत्पन्न होनेके बाद उन पदार्थोंको प्राप्त करनेकी कामना उत्पन्न हो जाती है और उनकी प्राप्तिमें बाधा देनेवालोंके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है।

काम-क्रोधके वेगको सहन करनेका तात्पर्य है—काम-क्रोधके वेगको उत्पन्न ही न होने देना। काम-क्रोधका संकल्प उत्पन्न होनेके बाद वेग आता है और वेग आनेके बाद काम-क्रोधको रोकना कठिन हो जाता है, इसलिये काम-क्रोधके संकल्पको उत्पन्न न होने देनेमें ही उपर्युक्त पदोंका भाव प्रतीत होता है। कारण यह है कि काम-क्रोधका संकल्प उत्पन्न होनेपर अन्त:करणमें अशान्ति, उत्तेजना, संघर्ष आदि होने लग जाते हैं, जिनके रहते हुए मनुष्य सुखी नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसी श्लोकमें **'स सुखी'** पदोंसे काम-क्रोधका वेग सहनेवाले मनुष्यको 'सुखी' बताया गया है। दूसरी बात यह है कि काम-क्रोधके वेगको मनुष्य अपनेसे शक्तिशाली पुरुषके सामने भयसे भी रोक सकता है अथवा व्यापारमें आमदनी होती देखकर लोभसे भी रोक सकता है। परन्तु इस प्रकार भय और लोभके कारण काम-क्रोधका वेग सहनेसे वह सुखी नहीं हो जाता; क्योंकि वह जैसे क्रोधमें फँसा था, ऐसे ही भय और लोभमें फँस गया। तीसरी बात यह है कि इस श्लोकमें **'युक्त:'** पदसे काम-क्रोधका वेग सहनेवाले व्यक्तिको योगी कहा गया है; परन्तु संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं होता (गीता—छठे अध्यायका दूसरा श्लोक)। इसलिये काम-क्रोधके वेगको रोकना अच्छा होते हुए भी साधकके लिये इनके संकल्पको उत्पन्न न होने देना ही उचित है।

काम-क्रोधके संकल्पको रोकनेका उपाय है—अपनेमें काम-क्रोधको न मानना। कारण कि हम (स्वयं) रहनेवाले हैं और काम-क्रोध आने-जानेवाले हैं। इसलिये वे हमारे साथ रहनेवाले नहीं हैं। दूसरी बात, हम काम-क्रोधको अपनेसे अलगरूपसे भी जानते हैं। जिस वस्तुको हम अलगरूपसे जानते हैं, वह वस्तु अपनेमें नहीं होती। तीसरी बात, काम-क्रोधसे रहित हुआ जा सकता है—**'कामक्रोधवियुक्तानाम्'** (गीता ५। २६), **'एतैर्विमुक्त:'** (गीता १६। २२)। इनसे रहित वही हो सकता है, जो वास्तवमें पहलेसे ही इनसे रहित होता है। चौथी बात, भगवान्‌ने काम-क्रोधको (जो राग-द्वेषके ही स्थूलरूप हैं) क्षेत्र अर्थात् प्रकृतिके विकार बताया है (गीता—तेरहवें अध्यायका छठा श्लोक)। अत: ये प्रकृतिमें ही होते हैं, अपनेमें नहीं; क्योंकि स्वरूप निर्विकार है। इससे सिद्ध होता है कि काम-क्रोध अपनेमें नहीं हैं। इनको अपनेमें

माननामानो इनको निमन्त्रण देना है।

'स युक्तः नरः'—अज्ञानके द्वारा जिनका ज्ञान ढका हुआ है, ऐसे मनुष्योंको भगवान्‌ने इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें जन्तु **(जन्तवः)** कहा है। यहाँ काम-क्रोधका वेग सहनेमें समर्थ मनुष्यको **'नरः'** कहा है। भाव यह है कि जो काम-क्रोधके वशमें हैं, वे मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं हैं। जिसने काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर ली है, वही वास्तवमें नर है, शूरवीर है।

समतामें स्थित मनुष्यको योगी कहते हैं। जो अपने विवेकको महत्त्व देकर काम-क्रोधके वेगको उत्पन्न ही नहीं होने देता, वही समतामें स्थित हो सकता है।

'स सुखी'—मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी काम-क्रोध उत्पन्न होनेपर सुख-शान्तिसे नहीं रह सकते। इसलिये जिस मनुष्यने काम-क्रोधके संकल्पको मिटा दिया है, वही वास्तवमें सुखी है। कारण कि काम-क्रोधका संकल्प उत्पन्न होते ही मनुष्यके अन्तःकरणमें अशान्ति, चंचलता, संघर्ष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषोंके रहते हुए वह सुखी कैसे कहा जा सकता है? जब वह काम-क्रोधके वेगके वशीभूत हो जाता है, तब वह दुःखी हो ही जाता है। कारण कि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय लेकर, उनसे सम्बन्ध जोड़कर सुख चाहनेवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता—यह नियम है।

परिशिष्ट भाव—पहले स्फुरणा होती है। उस स्फुरणामें सत्ता, आसक्ति और आग्रह होनेसे वह स्फुरणा पकड़ी जाती है और संकल्प बन जाती है। संकल्पसे मनोरथ (मनोराज्य) होने लगता है, जिससे काम-क्रोधादिका वेग उत्पन्न होता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ, तिरसठवाँ श्लोक)। साधकके लिये एक नम्बरकी बात तो यह है कि वेग उत्पन्न ही न होने दे अर्थात् संकल्प न करे। दो नम्बरकी बात है कि वेग उत्पन्न होनेपर भी वैसी क्रिया न करे।

सम्बन्ध—बाह्य सम्बन्धसे होनेवाले सुखके अनर्थका वर्णन करके अब भगवान् आभ्यन्तर तत्त्वके सम्बन्धसे होनेवाले सुखकी महिमाका वर्णन करते हैं।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

यः =जो मनुष्य (केवल)
अन्तःसुखः =परमात्मामें सुखवाला (और)
अन्तरारामः =(केवल) परमात्मामें रमण करनेवाला है
तथा =तथा
यः =जो
अन्तर्ज्योतिः,
एव =केवल परमात्मामें ज्ञानवाला है,
सः =वह
ब्रह्मभूतः =ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करनेवाला (ब्रह्मरूप बना हुआ)
योगी =सांख्ययोगी
ब्रह्मनिर्वाणम् =निर्वाण ब्रह्मको
अधिगच्छति =प्राप्त होता है।

व्याख्या—**'योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः'**—जिसको प्रकृतिजन्य बाह्य पदार्थोंमें सुख प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत एकमात्र परमात्मामें ही सुख मिलता है, ऐसे साधकको यहाँ **'अन्तःसुखः'** कहा गया है। परमात्मतत्त्वके सिवाय कहीं भी उसकी सुख-बुद्धि नहीं रहती। परमात्म-तत्त्वमें सुखका अनुभव उसे हर समय होता है; क्योंकि उसके सुखका आधार बाह्य पदार्थोंका संयोग नहीं होता।

स्वयं अपनी सत्तामें निरन्तर स्थित रहनेके लिये बाह्यकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। स्वयंको स्वयंसे दुःख नहीं होता, स्वयंको स्वयंसे अरुचि नहीं होती—यह अन्तःसुख है।

जो सदाके लिये न मिले और सभीको न मिले, वह 'बाह्य' है। परन्तु जो सदाके लिये मिले और सभीको मिले, वह 'आभ्यन्तर' है।

जो भोगोंमें रमण नहीं करता, प्रत्युत केवल परमात्म-तत्त्वमें ही रमण करता है, और व्यवहारकालमें भी जिसका एकमात्र परमात्मतत्त्वमें ही व्यवहार हो रहा है, ऐसे साधकको यहाँ **'अन्तरारामः'** कहा गया है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान, बुद्धिजन्य ज्ञान आदि जितने भी सांसारिक ज्ञान कहे जाते हैं, उन सबका प्रकाशक और

आधार परमात्मतत्त्वका ज्ञान है। जिस साधकका यह ज्ञान हर समय जाग्रत् रहता है, उसे यहाँ '**अन्तर्ज्योतिः**' कहा गया है।

सांसारिक ज्ञानका तो आरम्भ और अन्त होता है, पर उस परमात्मतत्त्वके ज्ञानका न आरम्भ होता है, न अन्त। वह नित्य-निरन्तर रहता है। इसलिये 'सबमें एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है'—ऐसा ज्ञान सांख्ययोगीमें नित्य-निरन्तर और स्वतः-स्वाभाविक रहता है।

'**स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति**'—सांख्ययोगका ऊँचा साधक ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करता है, जो परिच्छिन्नताका द्योतक है। कारण कि साधकमें 'मैं स्वाधीन हूँ', 'मैं मुक्त हूँ', 'मैं ब्रह्ममें स्थित हूँ'—इस प्रकार परिच्छिन्नताके संस्कार रहते हैं। ब्रह्मभूत साधकको अपनेमें परिच्छिन्नताका अनुभव नहीं होता। जबतक किंचिन्मात्र भी परिच्छिन्नता या व्यक्तित्व शेष है, तबतक वह तत्त्वनिष्ठ नहीं हुआ है। इसलिये इस अवस्थामें सन्तोष नहीं करना चाहिये।

'**ब्रह्मनिर्वाणम्**'—पदका अर्थ है—जिसमें कभी कोई हलचल हुई नहीं, है नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं—ऐसा निर्वाण अर्थात् शान्त ब्रह्म।

जब ब्रह्मभूत सांख्ययोगीका व्यक्तित्व निर्वाण ब्रह्ममें लीन हो जाता है, तब एकमात्र निर्वाण ब्रह्म ही शेष रह जाता है अर्थात् साधक परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्न हो जाता है—तत्त्वनिष्ठ हो जाता है, जो कि स्वतःसिद्ध है। ब्रह्मभूत अवस्थामें तो साधक ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करता है, पर व्यक्तित्वका नाश होनेपर अनुभव करनेवाला कोई नहीं रहता। साधक ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है—'**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**' (बृहदारण्यक० ४। ४। ६)।

परिशिष्ट भाव—यहाँ '**अन्तः**' पदका अर्थ 'परमात्मा' मानना चाहिये, न कि 'अन्तःकरण'। कारण कि अन्तःकरणमें सुखवाले अथवा अन्तःकरणमें रमण करनेवाले या अन्तःकरणमें ज्ञानवाले मनुष्यको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मकी प्राप्ति तो अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने निवृत्तिपूर्वक सांख्ययोगकी साधना बतायी। अब आगेके श्लोकमें प्रवृत्तिपूर्वक सांख्ययोगकी साधना बताते हैं।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

यतात्मानः = जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वशमें है,
सर्वभूतहिते = जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें
रताः = रत हैं,
छिन्नद्वैधाः = जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं,
क्षीणकल्मषाः = जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं,
ऋषयः = (वे) विवेकी साधक
ब्रह्मनिर्वाणम् = निर्वाण ब्रह्मको
लभन्ते = प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—'**यतात्मानः**'—नित्य सत्यतत्त्वकी प्राप्तिका दृढ़ लक्ष्य होनेके कारण साधकोंको शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि वशमें करने नहीं पड़ते, प्रत्युत ये स्वाभाविक ही सुगमतापूर्वक उनके वशमें हो जाते हैं। वशमें होनेके कारण इनमें राग-द्वेषादि दोषोंका अभाव हो जाता है और इनके द्वारा होनेवाली प्रत्येक क्रिया दूसरोंका हित करनेवाली हो जाती है।

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपने और अपने लिये मानते रहनेसे ही ये अपने वशमें नहीं होते और इनमें राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि दोष विद्यमान रहते हैं। ये दोष जबतक विद्यमान रहते हैं, तबतक साधक स्वयं इनके वशमें रहता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शरीरादिको कभी अपना और अपने लिये न माने। ऐसा माननेसे इनकी आग्रहकारिता समाप्त हो जाती है और ये वशमें हो जाते हैं। अतः जिनका शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें अपनेपनका भाव नहीं है तथा जो इन शरीरादिको कभी अपना स्वरूप नहीं मानते, ऐसे सावधान साधकोंके लिये यहाँ '**यतात्मानः**' पद आया है।

'**सर्वभूतहिते रताः**'—सांख्ययोगकी सिद्धिमें व्यक्तित्वका अभिमान मुख्य बाधक है। इस व्यक्तित्वके

अभिमानको मिटाकर तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करनेके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव होना आवश्यक है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें प्रीति ही उसके व्यक्तित्वको मिटानेका सुगम साधन है।

जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताका अनुभव करना चाहते हैं, उनके लिये प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनी आवश्यक है। जैसे अपने कहलानेवाले शरीरमें आकृति, अवयव, कार्य, नाम आदि भिन्न-भिन्न होते हुए भी ऐसा भाव रहता है कि सभी अंगोंको आराम पहुँचे, किसी भी अंगको कष्ट न हो, ऐसे ही वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, साधन-पद्धति आदि भिन्न-भिन्न होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें स्वाभाविक ही रति होनी चाहिये कि सबको सुख पहुँचे, सबका हित हो, कभी किसीको किंचिन्मात्र भी कष्ट न हो। कारण कि बाहरसे भिन्नता रहनेपर भी भीतरसे एक परमात्मतत्त्व ही समानरूपसे सबमें परिपूर्ण है। अतः प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनेसे व्यक्तिगत स्वार्थभाव सुगमतासे नष्ट हो जाता है और परमात्मतत्त्वके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

'छिन्नद्वैधाः'—जबतक तत्त्वप्राप्तिका एक निश्चय दृढ़ नहीं होता, तबतक अच्छे-अच्छे साधकोंके अन्तःकरणमें भी कुछ-न-कुछ दुविधा विद्यमान रहती है। दृढ़ निश्चय होनेपर साधकोंको अपनी साधनामें कोई संशय, विकल्प, भ्रम आदि नहीं रहता और वे असंदिग्धरूपसे तत्परतापूर्वक अपने साधनमें लग जाते हैं।

'क्षीणकल्मषाः'—प्रकृतिसे माना हुआ जो भी सम्बन्ध है, वह सब कल्मष ही है; क्योंकि प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध ही सम्पूर्ण कल्मषों अर्थात् पापों, दोषों, विकारोंका हेतु है। प्रकृति तथा उसके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे स्पष्टतया अपना अलग अनुभव करनेसे साधकमें निर्विकारता स्वतः आ जाती है।

'ऋषयः'—**'ऋष्'** धातुका अर्थ है—ज्ञान। उस ज्ञान-(विवेक-) को महत्त्व देनेवाले ऋषि कहलाते हैं। प्राचीनकालमें ऋषियोंने गृहस्थमें रहते हुए भी परमात्म-तत्त्वको प्राप्त किया था। इस श्लोकमें भी सांसारिक व्यवहार करते हुए विवेकपूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले साधकोंका वर्णन है। अतः अपने विवेकको महत्त्व देनेवाले ये साधक भी ऋषि ही हैं।

'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्'—ब्रह्म तो सभीको सदा-सर्वदा प्राप्त है ही, पर परिवर्तनशील शरीर आदिसे अपनी एकता मान लेनेके कारण मनुष्य ब्रह्मसे विमुख रहता है। जब शरीरादि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब सम्पूर्ण विकारों और संशयोंका नाश होकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्मका अनुभव हो जाता है।

'लभन्ते'—पदका तात्पर्य है कि जैसे लहरें समुद्रमें लीन हो जाती हैं, ऐसे ही सांख्ययोगी निर्वाण ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र और लहरें—ये दो भेद नहीं हैं, ऐसे ही निर्वाण ब्रह्ममें आत्मा और परमात्मा—ये दो भेद नहीं हैं।

परिशिष्ट भाव—लोगोंकी दृष्टिमें ज्ञानयोगी दूसरोंका हित करता हुआ (**सर्वभूतहिते रताः**) दीखता है, पर वास्तवमें वह दूसरोंका हित करता नहीं, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक दूसरोंका हित होता है।

सम्बन्ध—चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने सांख्ययोगके साधकोंद्वारा निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त करनेकी बात कही। अब आगेके श्लोकमें यह बताते हैं कि निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर उसका कैसा अनुभव होता है?

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

कामक्रोध-वियुक्तानाम्	= काम-क्रोधसे सर्वथा रहित,
यतचेतसाम्	= जीते हुए मनवाले (और)
विदितात्मनाम्	= स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए
यतीनाम्	= सांख्ययोगियोंके लिये
अभितः	= सब ओरसे (शरीरके रहते हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद)
ब्रह्मनिर्वाणम्	= निर्वाण ब्रह्म
वर्तते	= परिपूर्ण है।

व्याख्या—'**कामक्रोधवियुक्तानां यतीनाम्**'— भगवान् उपर्युक्त पदोंसे यह स्पष्ट कह रहे हैं कि सिद्ध महापुरुषमें काम-क्रोधादि दोषोंकी गन्ध भी नहीं रहती। काम-क्रोधादि दोष उत्पत्ति-विनाशशील असत् पदार्थों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) के सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। सिद्ध महापुरुषको उत्पत्ति-विनाशरहित सत्-तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है, अतः उत्पत्ति-विनाशशील असत् पदार्थोंसे उसका सम्बन्ध सर्वथा नहीं रहता। उसके अनुभवमें अपने कहलानेवाले शरीर—अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसारके साथ अपने सम्बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है; अतः उसमें काम-क्रोध आदि विकार कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? यदि काम-क्रोध सूक्ष्मरूपसे भी हों, तो अपनेको जीवन्मुक्त मान लेना भ्रम ही है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी इच्छाको 'काम' कहते हैं। काम अर्थात् कामना अभावमें पैदा होती है। अभाव सदैव असत्‌में रहता है। सत्-स्वरूपमें अभाव है ही नहीं। परन्तु जब स्वरूप असत्‌से तादात्म्य कर लेता है, तब असत्-अंशके अभावको वह अपनेमें मान लेता है। अपनेमें अभाव माननेसे ही कामना पैदा होती है और कामना-पूर्तिमें बाधा लगनेपर क्रोध आ जाता है। इस प्रकार स्वरूपमें कामना न होनेपर भी तादात्म्यके कारण अपनेमें कामनाकी प्रतीति होती है। परन्तु जिनका तादात्म्य नष्ट हो गया है और स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो गया है, उन्हें स्वयंमें असत्‌के अभावका अनुभव हो ही कैसे सकता है?

साधन करनेसे काम-क्रोध कम होते हैं—ऐसा साधकोंका अनुभव है। जो चीज कम होनेवाली होती है, वह मिटनेवाली होती है, अतः जिस साधनसे ये काम-क्रोध कम होते हैं, उसी साधनसे ये मिट भी जाते हैं।

साधन करनेवालोंको यह अनुभव होता है कि (१) काम-क्रोध आदि दोष पहले जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते। (२) पहले जितने वेगसे आते थे, उतने वेगसे अब नहीं आते और (३) पहले जितनी देरतक ठहरते थे, उतनी देरतक अब नहीं ठहरते। कभी-कभी साधकको ऐसा भी प्रतीत होता है कि काम-क्रोधका वेग पहलेसे भी अधिक आ गया। इसका कारण यह है कि (१) साधन करनेसे भोगासक्ति तो मिटती चली गयी और पूर्णावस्था प्राप्त हुई नहीं। (२) अन्तःकरण शुद्ध होनेसे थोड़े काम-क्रोध भी साधकको अधिक प्रतीत होते हैं। (३) कोई मनके विरुद्ध कार्य करता है तो वह साधकको बुरा लगता है, पर साधक उसकी परवाह नहीं करता। बुरा लगनेके भावका भीतर संग्रह होता रहता है। फिर अन्तमें थोड़ी-सी बातपर भी जोरसे क्रोध आ जाता है; क्योंकि भीतर जो संग्रह हुआ था, वह एक साथ बाहर निकलता है। इससे दूसरे व्यक्तिको भी आश्चर्य होता है कि इतनी थोड़ी-सी बातपर इसे इतना क्रोध कैसे आ गया!

कभी-कभी वृत्तियाँ ठीक होनेसे साधकको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी पूर्णावस्था हो गयी। परन्तु वास्तवमें जबतक पूर्णावस्थाका अनुभव करनेवाला है, तबतक (व्यक्तित्व बना रहनेसे) पूर्णावस्था हुई नहीं।

'**यतचेतसाम्**'—जबतक असत्‌का सम्बन्ध रहता है, तबतक मन वशमें नहीं होता। असत्‌का सम्बन्ध सर्वथा न रहनेसे महापुरुषोंका कहलानेवाला मन स्वतः वशमें रहता है।

'**अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्**'— अपने स्वरूपका वास्तविक बोध हो जानेसे उन महापुरुषोंको यहाँ '**विदितात्मनाम्**' कहा गया है। तात्पर्य है कि जिस उद्देश्यको लेकर मनुष्यजन्म हुआ है और मनुष्यजन्मकी इतनी महिमा गायी गयी है, उसको उन्होंने प्राप्त कर लिया है।

शरीरके रहते हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद—नित्य-निरन्तर वे महापुरुष शान्त ब्रह्ममें ही स्थित रहते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न क्रियाओंको करते समय साधारण मनुष्योंकी शरीरमें स्थितिकी मान्यता निरन्तर रहती है, ऐसे ही भिन्न-भिन्न क्रियाओंको करते समय उन महापुरुषोंकी स्थिति निरन्तर एक ब्रह्ममें ही रहती है। उनकी इस स्वाभाविक स्थितिमें कभी थोड़ा भी अन्तर नहीं आता; क्योंकि जिस विभागमें क्रियाएँ होती हैं, उस विभाग-(असत्-) से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें भगवान् यह बताते हैं कि जिस तत्त्वको ज्ञानयोगी और कर्मयोगी प्राप्त करता है, उसी तत्त्वको ध्यानयोगी भी प्राप्त कर सकता है।*

*** ध्यानयोग साधकको स्वतन्त्रतासे परमात्माकी प्राप्ति कराता है एवं कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके साधकोंद्वारा भी इसका उपयोग किया जा सकता है। जप, ध्यान, सत्संग और स्वाध्याय—ये प्रत्येक साधकके लिये उपयोगी हैं और आवश्यक भी।**

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

बाह्यान् = बाहरके, **स्पर्शान्** = पदार्थोंको, **बहिः** = बाहर, **एव** = ही, **कृत्वा** = छोड़कर, **च** = और, **चक्षुः** = नेत्रोंकी दृष्टिको, **भ्रुवोः** = भौंहोंके, **अन्तरे** = बीचमें (स्थित करके), **नासाभ्यन्तर-चारिणौ** = (तथा) नासिकामें विचरनेवाले, **प्राणापानौ** = प्राण और अपान वायुको, **समौ** = सम, **कृत्वा** = करके, **यतेन्द्रियमनोबुद्धिः** = जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं, **यः** = जो, **मोक्षपरायणः** = (केवल) मोक्षपरायण है (तथा), **विगतेच्छा-भयक्रोधः** = (जो) इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित है, **सः** = वह, **मुनिः** = मुनि, **सदा** = सदा, **मुक्तः** = मुक्त, **एव** = ही है।

व्याख्या—**'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्'**—परमात्माके सिवाय सब पदार्थ बाह्य हैं। बाह्य पदार्थोंको बाहर ही छोड़ देनेका तात्पर्य है कि मनसे बाह्य विषयोंका चिन्तन न करे।

बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धका त्याग कर्मयोगमें सेवाके द्वारा और ज्ञानयोगमें विवेकके द्वारा किया जाता है। यहाँ भगवान् ध्यानयोगके द्वारा बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेदकी बात कह रहे हैं। ध्यानयोगमें एकमात्र परमात्माका ही चिन्तन होनेसे बाह्य पदार्थोंसे विमुखता हो जाती है।

वास्तवमें बाह्य पदार्थ बाधक नहीं हैं। बाधक है—इनसे रागपूर्वक माना हुआ अपना सम्बन्ध। इस माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेमें ही उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य है।

'चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः'—यहाँ **'भ्रुवोः अन्तरे'** पदोंसे दृष्टिको दोनों भौंहोंके बीचमें रखना अथवा दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखना (गीता—छठे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)—ये दोनों ही अर्थ लिये जा सकते हैं।

ध्यानकालमें नेत्रोंको सर्वथा बंद रखनेसे लयदोष अर्थात् निद्रा आनेकी सम्भावना रहती है, और नेत्रोंको सर्वथा खुला रखनेसे (सामने दृश्य रहनेसे) विक्षेपदोष आनेकी सम्भावना रहती है। इन दोनों प्रकारके दोषोंको दूर करनेके लिये आधे मुँदे हुए नेत्रोंकी दृष्टिको दोनों भौंहोंके बीच स्थापित करनेके लिये कहा गया है।

'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ'—नासिकासे बाहर निकलनेवाली वायुको 'प्राण' और नासिकाके भीतर जानेवाली वायुको 'अपान' कहते हैं।

प्राणवायुकी गति दीर्घ और अपानवायुकी गति लघु होती है। इन दोनोंको सम करनेके लिये पहले बायीं नासिकासे अपानवायुको भीतर ले जाकर दायीं नासिकासे प्राणवायुको बाहर निकाले। फिर दायीं नासिकासे अपानवायुको भीतर ले जाकर बायीं नासिकासे प्राणवायुको बाहर निकाले। इन सब क्रियाओंमें बराबर समय लगना चाहिये। इस प्रकार लगातार अभ्यास करते रहनेसे प्राण और अपानवायुकी गति सम, शान्त और सूक्ष्म हो जाती है। जब नासिकाके बाहर और भीतर तथा कण्ठादि देशमें वायुके स्पर्शका ज्ञान न हो, तब समझना चाहिये कि प्राण-अपानकी गति सम हो गयी है। इन दोनोंकी गति सम होनेपर (लक्ष्य परमात्मा रहनेसे) मनसे स्वाभाविक ही परमात्माका चिन्तन होने लगता है। ध्यानयोगमें इस प्राणायामकी आवश्यकता होनेसे ही इसका उपर्युक्त पदोंमें उल्लेख किया गया है।

'यतेन्द्रियमनोबुद्धिः'—प्रत्येक मनुष्यमें एक तो इन्द्रियोंका ज्ञान रहता है और एक बुद्धिका ज्ञान। इन्द्रियाँ और बुद्धि—दोनोंके बीचमें मनका निवास है। मनुष्यको देखना यह है कि उसके मनपर इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव है

या बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव है अथवा आंशिकरूपसे दोनोंके ज्ञानका प्रभाव है। इन्द्रियोंके ज्ञानमें 'संयोग' का प्रभाव पड़ता है और बुद्धिके ज्ञानमें 'परिणाम' का। जिन मनुष्योंके मनपर केवल इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव है, वे संयोगजन्य सुखभोगमें ही लगे रहते हैं; और जिनके मनपर बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव है, वे (परिणामकी ओर दृष्टि रहनेसे) सुखभोगका त्याग करनेमें समर्थ हो जाते हैं—**'न तेषु रमते बुधः'** (गीता ५। २२)।

प्रायः साधकोंके मनपर आंशिकरूपसे इन्द्रियों और बुद्धि—दोनोंके ज्ञानका प्रभाव रहता है। उनके मनमें इन्द्रियों तथा बुद्धिके ज्ञानका द्वन्द्व चलता रहता है। इसलिये वे अपने विवेकको महत्त्व नहीं दे पाते और जो करना चाहते हैं, उसे कर भी नहीं पाते। यह द्वन्द्व ही ध्यानमें बाधक है। अतः यहाँ मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको वशमें करनेका तात्पर्य है कि मनपर केवल बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव रह जाय, इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव सर्वथा मिट जाय।

'मुनिर्मोक्षपरायणः'—परमात्मप्राप्ति करना ही जिसका लक्ष्य है, ऐसे परमात्मस्वरूपका मनन करनेवाले साधकको यहाँ **'मोक्षपरायणः'** कहा गया है। परमात्मतत्त्व सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण होनेके कारण सदा-सर्वदा सबको प्राप्त ही है। परन्तु दृढ़ उद्देश्य न होनेके कारण ऐसे नित्यप्राप्त तत्त्वकी अनुभूतिमें देरी हो रही है। यदि एक दृढ़ उद्देश्य बन जाय तो तत्त्वकी अनुभूतिमें देरीका काम नहीं है। वास्तवमें उद्देश्य पहलेसे ही बना-बनाया है; क्योंकि परमात्मप्राप्तिके लिये ही यह मनुष्य-शरीर मिला है। केवल इस उद्देश्यको पहचानना है। जब साधक इस उद्देश्यको पहचान लेता है, तब उसमें परमात्मप्राप्तिकी लालसा उत्पन्न हो जाती है। यह लालसा संसारकी सब कामनाओंको मिटाकर साधकको परमात्मतत्त्वका अनुभव करा देती है। अतः परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको पहचाननेके लिये ही यहाँ **'मोक्षपरायणः'** पदका प्रयोग हुआ है।

कर्मयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोंमें एक दृढ़ निश्चय या उद्देश्यकी बड़ी आवश्यकता है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य ही दृढ़ नहीं होगा, तो साधनसे सिद्धि कैसे मिलेगी? इसलिये यहाँ **'मोक्षपरायणः'** पदसे ध्यानयोगमें दृढ़ निश्चयकी आवश्यकता बतायी गयी है।

'विगतेच्छाभयक्रोधो यः'—अपनी इच्छाकी पूर्तिमें बाधा देनेवाले प्राणीको अपनेसे सबल माननेपर उससे भय होता है और निर्बल माननेसे उसपर क्रोध आता है। ऐसे ही जीनेकी इच्छा रहनेपर मृत्युसे भय होता है और दूसरोंसे अपनी इच्छापूर्ति करवाने तथा दूसरोंपर अपना अधिकार जमानेकी इच्छासे क्रोध होता है। अतः भय और क्रोध होनेमें इच्छा ही मुख्य है। यदि मनुष्यमें इच्छापूर्तिका उद्देश्य न रहे प्रत्युत एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रह जाय, तो भय-क्रोधसहित इच्छाका सर्वथा अभाव हो जाता है। इच्छाका सर्वथा अभाव होनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। कारण कि वस्तुओंकी और जीनेकी इच्छासे ही मनुष्य जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ता है। साधकको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि क्या वस्तुओंकी इच्छासे वस्तुएँ मिल जाती हैं? और क्या जीनेकी इच्छासे मृत्युसे बच जाते हैं? वास्तविकता तो यह है कि न तो वस्तुओंकी इच्छा पूरी कर सकते हैं और न मृत्युसे बच सकते हैं। इसलिये यदि साधकका यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि मुझे एक परमात्मप्राप्तिके सिवाय कुछ नहीं चाहिये, तो वह वर्तमानमें ही मुक्त हो सकता है। परन्तु यदि वस्तुओंकी और जीनेकी इच्छा रहेगी, तो इच्छा कभी पूरी नहीं होगी और मृत्युके भयसे भी बचाव नहीं होगा तथा क्रोधसे भी छुटकारा नहीं होगा। इसलिये मुक्त होनेके लिये इच्छारहित होना आवश्यक है।

यदि वस्तु मिलनेवाली है तो इच्छा किये बिना भी मिलेगी और यदि वस्तु नहीं मिलनेवाली है तो इच्छा करनेपर भी नहीं मिलेगी। अतः वस्तुका मिलना या न मिलना इच्छाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधानके अधीन है। जो वस्तु इच्छाके अधीन नहीं है, उसकी इच्छाको छोड़नेमें क्या कठिनाई है? यदि वस्तुकी इच्छा पूरी होती हो तो उसे पूरी करनेका प्रयत्न करते और यदि जीनेकी इच्छा पूरी होती हो तो मृत्युसे बचनेका प्रयत्न करते। परन्तु इच्छाके अनुसार न तो सब वस्तुएँ मिलती हैं और न मृत्युसे बचाव ही होता है। यदि वस्तुओंकी इच्छा न रहे तो जीवन आनन्दमय हो जाता है और यदि जीनेकी इच्छा न रहे तो मृत्यु भी आनन्दमयी हो जाती है। जीवन तभी कष्टमय होता है, जब वस्तुओंकी इच्छा करते हैं और मृत्यु तभी कष्टमयी होती है, जब जीनेकी इच्छा करते हैं। इसलिये जिसने वस्तुओंकी और जीनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दिया है, वह जीते-जी मुक्त हो जाता है, अमर हो जाता है।

'सदा मुक्त एव सः'—उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही बन्धन है। इस माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग करना ही मुक्ति है। जो मुक्त हो

गया है, उसपर किसी भी घटना, परिस्थिति, निन्दा-स्तुति, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जीवन-मरण आदिका किंचिन्मात्र भी असर नहीं पड़ता।

'**सदा मुक्त एव**' पदोंका तात्पर्य है कि वास्तवमें साधक स्वरूपसे सदा मुक्त ही है। केवल उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण उसे अपने मुक्त स्वरूपका अनुभव नहीं हो रहा है। संसारसे माना हुआ सम्बन्ध मिटते ही स्वतःसिद्ध मुक्तिका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—बाहरके पदार्थोंको बाहर ही छोड़नेका तात्पर्य है—स्वयंको शरीरसे अलग कर लेना कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये नहीं है। ये तीन बातें प्रत्येक साधकको माननी ही पड़ेंगी, चाहे वह किसी भी योगमार्गसे क्यों न चले। शरीरके साथ अपना कोई सम्बन्ध न मानें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

पहले चौबीसवें श्लोकमें '**अन्तः**' शब्द आया था, इसलिये यहाँ '**बाह्य**' शब्द दिया है। वास्तवमें बाह्य कोई वस्तु नहीं है, प्रत्युत केवल वृत्ति है। '**बाह्य**' शब्दका प्रयोग दूसरी सत्ता मानकर ही होता है, जबकि वास्तवमें सत्ता एक ही है। अतः '**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्**' पदोंका तात्पर्य है कि एक तत्त्वके सिवाय दूसरी किसी सत्ताकी मान्यता न रहे।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने योगनिष्ठा और सांख्यनिष्ठाका वर्णन करके दोनोंके लिये उपयोगी ध्यानयोगका वर्णन किया। अब सुगमतापूर्वक कल्याण करनेवाली भगवन्निष्ठाका वर्णन करते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

माम् = मुझे
यज्ञतपसाम् = सब यज्ञों और तपोंका
भोक्तारम् = भोक्ता,
सर्वलोकमहेश्वरम् = सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर (तथा)
सर्वभूतानाम् = सम्पूर्ण प्राणियोंका
सुहृदम् = सुहृद् (स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी)
ज्ञात्वा = जानकर (भक्त)
शान्तिम् = शान्तिको
ऋच्छति = प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—'**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**'—जब मनुष्य कोई शुभ कर्म करता है, तब वह जिनसे शुभ कर्म करता है, उन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिको अपना मानता है और जिसके लिये शुभ कर्म करता है, उसे उस कर्मका भोक्ता मानता है; जैसे—किसी देवताकी पूजा की तो उस देवताको पूजारूप कर्मका भोक्ता मानता है; किसीकी सेवा की तो उसे सेवारूप कर्मका भोक्ता मानता है; किसी भूखे व्यक्तिको अन्न दिया तो उसे अन्नका भोक्ता मानता है, आदि। इस मान्यताको दूर करनेके लिये भगवान् उपर्युक्त पदोंमें कहते हैं कि वास्तवमें सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका भोक्ता मैं ही हूँ। कारण कि प्राणिमात्रके हृदयमें भगवान् ही विद्यमान हैं*। इसलिये किसीका पूजन करना, किसीको अन्न-जल देना, किसीको मार्ग बताना आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, उन सबका भोक्ता भगवान्‌को ही मानना चाहिये। लक्ष्य भगवान्‌पर ही रहना चाहिये, प्राणीपर नहीं।

नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता बताया है—'**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता।**'

दूसरी बात यह है कि जिनसे शुभ कर्म किये जाते हैं, वे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि अपने नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्‌के हैं। उनको अपना मानना भूल ही है। उनको अपना मानकर अपने लिये शुभ कर्म करनेसे मनुष्य स्वयं उन कर्मोंका भोक्ता बन जाता है। अतः भगवान् कहते हैं कि तुम सम्पूर्ण शुभ कर्मोंको अपने लिये कभी मत करो, केवल मेरे लिये ही करो। ऐसा करनेसे तुम उन कर्मोंके फलभागी नहीं बनोगे और तुम्हारा कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

कामनासे ही सम्पूर्ण अशुभ कर्म होते हैं। कामनाका त्याग करके केवल भगवान्‌के लिये ही सब कर्म करनेसे अशुभ कर्म तो स्वरूपसे ही नहीं होते तथा शुभ कर्मोंसे अपना सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मोंसे सर्वथा

* '**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' (गीता १३। १७), '**सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः**' (गीता १५। १५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८। ६१)।

सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

'सर्वलोकमहेश्वरम्'—भिन्न-भिन्न लोकोंके भिन्न-भिन्न ईश्वर हो सकते हैं; किन्तु वे भी भगवान्‌के अधीन ही हैं। भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, इसलिये यहाँ **'सर्वलोकमहेश्वरम्'** पद दिया गया है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टिके एकमात्र स्वामी भगवान् ही हैं, फिर कोई ईमानदार व्यक्ति सृष्टिकी किसी भी वस्तुको अपनी कैसे मान सकता है?

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, स्त्री, पुत्र, धन, जमीन, मकान आदिको अपने मानते हुए प्रायः लोग कहा करते हैं कि भगवान् ही सारे संसारके मालिक हैं। परन्तु ऐसा कहना समझदारी नहीं है; क्योंकि मनुष्य जबतक शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिको अपने मानता है, तबतक भगवान्‌को सारे संसारका स्वामी कहना अपने-आपको धोखा देना ही है। कारण कि यदि सभी लोग शरीरादि पदार्थोंको अपने-अपने ही मानते रहें तो बाकी क्या रहा, जिसके स्वामी भगवान् कहलायें? अर्थात् भगवान्‌के हिस्सेमें कुछ नहीं बचा। इसलिये 'सब कुछ भगवान्‌का है'—ऐसा वही कह सकता है, जो शरीरादि किसी भी पदार्थको अपना नहीं मानता। जो किसी भी वस्तुको अपनी मानता है, वह वास्तवमें भगवान्‌को यथार्थरूपसे सर्वलोकमहेश्वर मानता ही नहीं। वह जितनी वस्तुओंको अपनी मानता है, उतने अंशमें भगवान्‌को सर्वलोकमहेश्वर माननेमें कमी रहती है।

मनुष्यको शरीरादि पदार्थोंका सदुपयोग करनेका ही अधिकार है, अपने माननेका बिलकुल नहीं। इन पदार्थोंको अपने न मानकर केवल भगवान्‌के ही मानते हुए उन्हींकी सेवामें लगा देनेसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'—जो सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, वे बिना कारण स्वाभाविक ही प्राणिमात्रका हित करनेवाले, प्राणिमात्रकी रक्षा करनेवाले तथा प्राणिमात्रसे प्रेम करनेवाले हैं और ऐसा हितैषी, रक्षक तथा प्रेमी दूसरा कोई नहीं है—इस प्रकार जान[1] लेनेसे परमशान्ति प्राप्त हो जाती है; क्योंकि वे वास्तवमें ऐसे ही हैं। महान् शक्तिशाली भगवान् बिना किसी प्रयोजनके हमारे परम सुहृद् हैं, फिर भय, चिन्ता, उद्वेग, अशान्ति आदि कैसे हो सकते हैं?

जीवमात्रका बिना कारण हित करनेवाले दो ही हैं—भगवान् और उनके भक्त[2]। भगवान्‌को किसीसे कुछ भी पाना है ही नहीं—**'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'** (गीता ३। २२), इसलिये वे स्वाभाविक ही सबके सुहृद् हैं। भक्त भी अपने लिये किसीसे कुछ भी नहीं चाहता और सबका हित चाहता तथा हित करता है, इसलिये वह भी सबका सुहृद् होता है—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा० ३। २५। २१)। भक्तोंमें जो सुहृत्ता आती है, वह भी मूलतः भगवान्‌से ही आती है।

भगवान् सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंके भोक्ता हैं, सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वर हैं तथा हमारे परम सुहृद् हैं—इन तीनों बातोंमेंसे अगर एक बात भी दृढ़तासे मान लें, तो भगवत्प्राप्तिरूप परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है, फिर तीनों ही बातें मान लें तो कहना ही क्या है!

अपने लिये कुछ भी चाहना, किसी भी वस्तुको अपनी मानना और भगवान्‌को अपना न मानना—ये तीनों बातें भगवत्प्राप्तिमें मुख्य बाधक हैं। भगवान् **'भोक्तारं यज्ञतपसाम्'** पदोंसे कहते हैं कि अपने लिये कुछ भी न चाहे और कुछ भी न करे; **'सर्वलोकमहेश्वरम्'** पदसे कहते हैं कि अपना कुछ भी न माने अर्थात् सुखकी इच्छाका और वस्तु-व्यक्तियोंके आधिपत्यका त्याग कर दे तथा **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** पदोंसे कहते हैं कि केवल मेरेको ही अपना माने, अन्य किसी वस्तु-व्यक्ति आदिको अपना न माने। इन तीनोंमेंसे एक बात भी मान लेनेसे शेष बातें स्वतः आ जाती हैं और भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

अपने लिये सुखकी इच्छाका त्याग तभी होता है, जब मनुष्य किसी भी प्राणी-पदार्थको अपना न माने। जबतक किसी भी पदार्थको अपना मानता है, तबतक वह बदलेमें सुख चाहेगा ही। सुखकी इच्छाके त्यागसे ममताका त्याग और ममताके त्यागसे सुखकी इच्छाका त्याग होता है। जब सब वस्तु-व्यक्तियोंमें ममताका त्याग हो जाता है, तब एकमात्र भगवान् ही अपने रह जाते हैं। जो किसीको भी अपना मानता है, वह वास्तवमें भगवान्‌को सर्वथा अपना नहीं मानता, कहनेको चाहे कहता रहे कि भगवान् मेरे हैं।

१-यहाँ जाननेका अर्थ है—दृढ़तापूर्वक मानना। मानना जाननेसे कमजोर नहीं होता। इसलिये दृढ़तासे मान लेना भी जानना ही है।

२-हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥ (मानस ७। ४७। ३)

माने हुए सम्बन्धका अभाव होनेसे भगवान्‌से अपनी सच्ची आत्मीयता जाग्रत् हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि चाहे सुखकी इच्छाका त्याग हो जाय, चाहे ममताका अभाव हो जाय और चाहे भगवान्‌में सच्ची आत्मीयता हो जाय; इसके होते ही परमशान्तिका अनुभव हो जायगा। कारण कि एक भी भाव दृढ़ होनेपर अन्य भाव भी साथमें आ ही जाते हैं।

एक तो कर्म करना चाहिये और दूसरा, कर्म करनेकी विद्या आनी चाहिये। जब मनुष्य कर्म तो करता है, पर कर्म करनेकी विद्या नहीं जानता अथवा कर्म करनेकी विद्या तो जानता है, पर कर्म नहीं करता, तब उसके द्वारा सुचारुरूपसे कर्म नहीं होते। इसलिये भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें कर्म करनेपर विशेष जोर दिया है, पर साथमें कर्मोंको जाननेकी बात भी कही है; और चौथे अध्यायमें कर्मोंका तत्त्व जाननेपर विशेष जोर दिया है, और साथमें कर्म करनेकी बात भी कही है। पाँचवें अध्यायमें यद्यपि कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनोंके द्वारा कल्याण होनेकी बात आयी है, तथापि भगवान्‌ने सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया है। इस अध्यायमें भगवान्‌ने क्रमपूर्वक कर्मयोग और सांख्ययोगका वर्णन करके फिर संक्षेपसे ध्यानयोगका वर्णन किया और अन्तमें संक्षेपसे भक्तियोगका वर्णन किया, जो भगवान्‌का मुख्य ध्येय है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'कर्मसन्न्यासयोग' नामक पाँचवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ५॥

कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनोंका वर्णन होनेसे इस पाँचवें अध्यायका नाम 'कर्मसंन्यासयोग' है।

पाँचवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ पञ्चमोऽध्यायः**' के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके चार, श्लोकोंके तीन सौ बावन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ बहत्तर है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ पञ्चमोऽध्यायः**' के सात, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके तेरह, श्लोकोंके नौ सौ अट्ठाईस और पुष्पिकाके अड़तालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग नौ सौ छियानबे है । इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो '**उवाच**' हैं—एक '**अर्जुन उवाच**' और एक '**श्रीभगवानुवाच**।'

पाँचवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके उनतीस श्लोकोंमेंसे—तेरहवें और उनतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; और बाईसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष छब्बीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अवतरणिका—

*पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने यह बात पूछी थी कि सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि ये दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं; परन्तु कर्मसंन्यास और कर्मयोग—इन दोनोंमें कर्मयोग श्रेष्ठ है—**'तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते'** (५। २)।*

अब दोनों कल्याण करनेवाले कैसे हैं—इसका वर्णन भगवान्‌ने पाँचवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकतक किया। फिर सांख्ययोग तथा कर्मयोगके लिये उपयोगी और स्वतन्त्रतासे कल्याण करनेवाले ध्यानयोगका संक्षेपसे दो श्लोकोंमें वर्णन किया तथा अन्तमें अपनी ही तरफसे भक्तिकी निष्ठा बताकर पाँचवें अध्यायके विषयका उपसंहार किया।

अब पुनः कर्मयोगकी श्रेष्ठता बतानेके लिये भगवान् छठे अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

कर्मफलम् = कर्मफलका
अनाश्रितः = आश्रय न लेकर
यः = जो
कार्यम् = कर्तव्य
कर्म = कर्म
करोति = करता है,
सः = वही
सन्न्यासी = संन्यासी
च = तथा
योगी = योगी है
च = और
निरग्निः = (केवल) अग्निका त्याग करनेवाला
न = (संन्यासी) नहीं होता
च = तथा
अक्रियः = (केवल) क्रियाओंका त्याग करनेवाला
न = (योगी) नहीं होता।

व्याख्या—**'अनाश्रितः कर्मफलम्'**—इन पदोंका आशय यह प्रतीत होता है कि मनुष्यको किसी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया आदिका आश्रय नहीं रखना चाहिये। कारण कि यह जीव स्वयं परमात्माका अंश होनेसे नित्य-निरन्तर रहनेवाला है और यह जिन वस्तु, व्यक्ति आदिका आश्रय लेता है, वे उत्पत्ति-विनाशशील तथा प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाले हैं। वे तो परिवर्तनशील होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं और यह (जीव) रीता-का-रीता रह जाता है। केवल रीता ही नहीं रहता, प्रत्युत उनके रागको पकड़े रहता है। जबतक यह उनके रागको पकड़े रहता है, तबतक इसका कल्याण नहीं होता अर्थात् वह राग उसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बन जाता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। अगर यह उस रागका त्याग कर दे तो यह स्वतः मुक्त हो जायगा। वास्तवमें यह स्वतः मुक्त है ही, केवल रागके कारण उस मुक्तिका अनुभव नहीं होता। अतः भगवान् कहते हैं कि मनुष्य कर्मफलका आश्रय न रखकर कर्तव्य-कर्म करे। कर्मफलके आश्रयका त्याग करनेवाला तो नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है, पर कर्मफलका आश्रय रखनेवाला बँध जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों शरीर 'कर्मफल'

हैं। इन तीनोंमेंसे किसीका भी आश्रय न लेकर इनको सबके हितमें लगाना चाहिये। जैसे, स्थूलशरीरसे क्रियाओं और पदार्थोंको संसारका ही मानकर उनका उपयोग संसारकी सेवा-(हित-) में करे, सूक्ष्मशरीरसे दूसरोंका हित कैसे हो, सब सुखी कैसे हों, सबका उद्धार कैसे हो—ऐसा चिन्तन करे; और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता-(समाधि-) का भी फल संसारके हितके लिये अर्पण करे। कारण कि ये तीनों शरीर अपने (व्यक्तिगत) नहीं हैं और अपने लिये भी नहीं हैं, प्रत्युत संसारके और संसारकी सेवाके लिये ही हैं। इन तीनोंकी संसारके साथ अभिन्नता और अपने स्वरूपके साथ भिन्नता है। इस तरह इन तीनोंका आश्रय न लेना ही 'कर्मफलका आश्रय न लेना' है और इन तीनोंसे केवल संसारके हितके लिये कर्म करना ही 'कर्तव्य-कर्म करना' है।

आश्रय न लेनेका तात्पर्य हुआ कि साधनरूपसे तो शरीरादिको दूसरोंके हितके लिये काममें लेना है, पर स्वयं उनका आश्रय नहीं लेना है अर्थात् उनको अपना और अपने लिये नहीं मानना है। कारण कि मनुष्य-जन्ममें शरीर आदिका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत शरीर आदिके द्वारा किये जानेवाले साधनका महत्त्व है। अत: संसारसे मिली हुई चीज संसारको दे दें, संसारकी सेवामें लगा दें तो हम 'संन्यासी' हो गये और मिली हुई चीजमें अपनापन छोड़ दें तो हम 'त्यागी' हो गये।

कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करनेसे क्या होगा? अपने लिये कर्म न करनेसे नयी आसक्ति तो बनेगी नहीं और केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुरानी आसक्ति मिट जायगी तथा कर्म करनेका वेग भी मिट जायगा। इस प्रकार आसक्तिके सर्वथा मिटनेसे मुक्ति स्वत:सिद्ध है। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको पकड़नेका नाम बन्धन है और उनसे छूटनेका नाम मुक्ति है। उन उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे छूटनेका उपाय है—उनका आश्रय न लेना अर्थात् उनके साथ ममता न करना और अपने जीवनको उनके आश्रित न मानना।

'कार्यं कर्म करोति यः'—कर्तव्यमात्रका नाम कार्य है। कार्य और कर्तव्य—ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। कर्तव्य-कर्म उसे कहते हैं, जिसको हम सुखपूर्वक कर सकते हैं, जिसको जरूर करना चाहिये और जिसका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

'कार्यं कर्म'—अर्थात् कर्तव्य-कर्म असम्भव तो होता ही नहीं, कठिन भी नहीं होता। जिसको करना नहीं चाहिये, वह कर्तव्य-कर्म होता ही नहीं। वह तो अकर्तव्य (अकार्य) होता है। वह अकर्तव्य भी दो तरहका होता है—(१) जिसको हम कर नहीं सकते अर्थात् जो हमारी सामर्थ्यके बाहरका है और (२) जिसको करना नहीं चाहिये अर्थात् जो शास्त्र और लोकमर्यादाके विरुद्ध है। ऐसे अकर्तव्यको कभी भी करना नहीं चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मफलका आश्रय न लेकर शास्त्रविहित और लोकमर्यादाके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मको निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये ही करना चाहिये।

कर्म दो प्रकारसे किये जाते हैं—कर्मफलकी प्राप्तिके लिये और कर्म तथा उसके फलकी आसक्ति मिटानेके लिये। यहाँ कर्म और उसके फलकी आसक्ति मिटानेके लिये ही प्रेरणा की गयी है।

'स सन्न्यासी च योगी च'—इस प्रकार कर्म करनेवाला ही संन्यासी और योगी है। वह कर्तव्य-कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है, इसलिये वह 'संन्यासी' है और उन कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए वह सुखी-दु:खी नहीं होता अर्थात् कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है, इसलिये वह 'योगी' है।

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेसे उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका नाश हो जाता है अर्थात् उसका न तो कर्मके साथ सम्बन्ध रहता है और न फलके साथ ही सम्बन्ध रहता है, इसलिये वह 'संन्यासी' है। वह कर्म करनेमें और कर्मफलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहता है, इसलिये वह 'योगी' है।

यहाँ पहले 'संन्यासी' पद कहनेमें यह भाव मालूम देता है कि अर्जुन स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानते थे। इसीसे अर्जुनने (दूसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें) कहा था कि युद्ध करनेकी अपेक्षा भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करना श्रेष्ठ है। इसलिये यहाँ भगवान् पहले **'सन्न्यासी'** पद देकर अर्जुनसे कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तू जिसको संन्यास मानता है, वह वास्तवमें संन्यास नहीं है, प्रत्युत जो कर्मफलका आश्रय छोड़कर अपने कर्तव्यरूप कर्मको केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-बुद्धिसे करता है, वही वास्तवमें सच्चा संन्यासी है।

'न निरग्निः'—केवल अग्निरहित होनेसे संन्यासी नहीं होता अर्थात् जिसने ऊपरसे तो यज्ञ, हवन आदिका त्याग कर दिया है, पदार्थोंका त्याग कर दिया है, पर भीतरमें क्रियाओं और पदार्थोंका राग है, महत्त्व है, प्रियता है, वह

कभी सच्चा संन्यासी नहीं हो सकता।

'न अक्रियः'—लोगोंकी प्रायः यह धारणा रहती है कि जो मनुष्य कोई भी क्रिया नहीं करता, स्वरूपसे क्रियाओं और पदार्थोंका त्याग करके वनमें चला जाता है अथवा निष्क्रिय होकर समाधिमें बैठा रहता है, वही योगी होता है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि जबतक मनुष्य उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके आश्रयका त्याग नहीं करता और मनसे उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, तबतक वह कितना ही अक्रिय हो जाय, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध कर ले, पर वह योगी नहीं हो सकता। हाँ, चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध होनेसे उसको तरह-तरहकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं; पर कल्याण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह हुआ कि केवल बाहरसे अक्रिय होनेमात्रसे कोई योगी नहीं होता। योगी वह होता है, जो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं-(कर्मफल-) का आश्रय न रखकर कर्तव्य-कर्म करता है।

मनुष्योंमें कर्म करनेका एक वेग रहता है, जिसको कर्मयोगकी विधिसे कर्म करके ही मिटाया जा सकता है, अन्यथा वह शान्त नहीं होता। प्रायः यह देखा गया है कि जो साधक सम्पूर्ण क्रियाओंसे उपरत होकर एकान्तमें रहकर जप-ध्यान आदि साधन करते हैं, ऐसे एकान्तप्रिय अच्छे-अच्छे साधकोंमें भी लोगोंका उद्धार करनेकी प्रवृत्ति बड़े जोरसे पैदा हो जाती है और वे एकान्तमें रहकर साधन करना छोड़कर लोगोंके उद्धारकी क्रियाओंमें लग जाते हैं।

सकामभावसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे कर्म करनेका वेग बढ़ता है। यह वेग तभी शान्त होता है, जब साधक अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी कोई कर्म नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण कर्म केवल लोकहितार्थ ही करता है। इस तरह केवल निष्कामभावसे दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्म करनेका वेग शान्त हो जाता है और समताकी प्राप्ति हो जाती है। समताकी प्राप्ति होनेपर समरूप परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

विशेष बात

शरीर-संसारमें अहंता-ममता करना कर्मका फल नहीं है। यह अहंता-ममता तो मनुष्यकी मानी हुई है; अतः यह बदलती रहती है। जैसे, मनुष्य कभी गृहस्थ होता है तो वह अपनेको मानता है कि 'मैं गृहस्थ हूँ' और वही जब साधु हो जाता है, तब अपनेको मानता है कि 'मैं साधु हूँ' अर्थात् उसकी 'मैं गृहस्थ हूँ' यह अहंता मिट जाती है। ऐसे ही 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार मनुष्यकी उस वस्तुमें ममता रहती है और वही वस्तु जब दूसरेको दे देता है, तब उस वस्तुमें ममता नहीं रहती। इससे यह सिद्ध हुआ कि अहंता-ममता मानी हुई है, वास्तविक नहीं है। अगर वह वास्तविक होती, तो कभी मिटती नहीं—**'नाभावो विद्यते सतः'** और अगर मिटती है तो वह वास्तविक नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)।

अहंता-ममताका जो आधार है, आश्रय है, वह तो साक्षात् परमात्माका अंश है। उसका कभी अभाव नहीं होता। उसकी सब जगह व्यापक परमात्माके साथ एकता है। उसमें अहंता-ममताकी गन्ध भी नहीं है। अहंता-ममता तो प्राकृत पदार्थोंके साथ तादात्म्य करनेसे प्रतीत होती है। तादात्म्य करने और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। जैसे—'मैं गृहस्थ हूँ', 'मैं साधु हूँ'—ऐसा माननेमें और 'वस्तु मेरी है', 'वस्तु मेरी नहीं है'—ऐसा माननेमें अर्थात् अहंता-ममताका सम्बन्ध जोड़नेमें और छोड़नेमें यह मनुष्य स्वतन्त्र और समर्थ है। इसमें यह पराधीन और असमर्थ नहीं है; क्योंकि शरीर आदिके साथ सम्बन्ध स्वयं चेतनने जोड़ा है, शरीर तथा संसारने नहीं। अतः जिसको जोड़ना आता है, उसको तोड़ना भी आता है।

सम्बन्ध जोड़नेकी अपेक्षा तोड़ना सुगम है। जैसे, मनुष्य बाल्यावस्थामें 'मैं बालक हूँ' और युवावस्थामें 'मैं जवान हूँ'—ऐसा मानता है । इसी तरह वह बाल्यावस्थामें 'खिलौने मेरे हैं'—ऐसा मानता है और युवावस्थामें 'रुपये-पैसे मेरे हैं'—ऐसा मानता है। इस प्रकार मनुष्यको बाल्यावस्था आदिके साथ और खिलौने आदिके साथ खुद सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। परन्तु इनके साथ सम्बन्धको तोड़ना नहीं पड़ता, प्रत्युत सम्बन्ध स्वतः टूटता चला जाता है। तात्पर्य है कि बाल्यावस्था आदिकी अहंता शरीरके रहने अथवा न रहनेपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी मान्यतापर निर्भर है। ऐसे ही खिलौने आदिकी ममता वस्तुके रहने अथवा न रहनेपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत मान्यतापर निर्भर है। इसलिये कर्मफल (शरीर, वस्तु आदि) के रहते हुए भी उसका आश्रय सुगमतापूर्वक छूट सकता है।

स्वयं नित्य है और शरीर-संसार अनित्य है। नित्यके साथ अनित्यका सम्बन्ध कभी टिक नहीं सकता, रह नहीं

सकता। परन्तु जब स्वयं अहंता-ममताको पकड़ लेता है, तब अहंता-ममता भी नित्य दीखने लग जाती है। फिर उसको छोड़ना कठिन मालूम देता है; क्योंकि उसने नित्य-स्वरूपमें अनित्य अहंता-ममता ('मैं' और 'मेरा'-पन)-का आरोप कर लिया। वास्तवमें देखा जाय तो शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माना हुआ है, है नहीं। कारण कि शरीर प्रकाश्य है और स्वयं (स्वरूप) प्रकाशक है। शरीर एकदेशीय है और स्वरूप सर्वदेशीय अथवा देशातीत है। शरीर जड है और स्वरूप चेतन है। शरीर ज्ञेय है और स्वरूप ज्ञाता है। स्वरूपका वह ज्ञातापन भी शरीरकी दृष्टिसे ही है। अगर शरीरकी दृष्टि हटा दी जाय, तो स्वरूप ज्ञातृत्वरहित चिन्मात्र है अर्थात् केवल चितिरूपसे रहता है। उस चितिमात्र स्वरूपमें 'मैं' और 'मेरा'-पन नहीं है। उसमें अहंता-ममताका अत्यन्त अभाव है। वह चितिमात्र ब्रह्म-स्वरूप है, और ब्रह्ममें 'मैं' और 'मेरा'-पन कभी हुआ नहीं, है नहीं और हो सकता भी नहीं।

परिशिष्ट भाव—चींटीसे लेकर ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार कर्मफल है। संसारका स्वरूप है—वस्तु, व्यक्ति और क्रिया। वस्तुमात्रकी प्राप्ति और अप्राप्ति होती है, व्यक्तिमात्रका संयोग और वियोग होता है तथा क्रियामात्रका आरम्भ और अन्त होता है। जो वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—तीनोंके आश्रयका त्याग करके प्राप्त कर्तव्यका पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी तथा योगी है। जो कर्मफलका त्याग न करके केवल अग्निका त्याग करता है, वह सच्चा संन्यासी नहीं है और जो केवल क्रियाओंका त्याग करता है, वह सच्चा योगी नहीं है। कारण कि मनुष्य कर्मफलसे बँधता है, अग्निसे अथवा क्रियाओंसे नहीं।

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने दो निष्ठाएँ बतायी थीं—सांख्यनिष्ठा (सांख्ययोग) और योगनिष्ठा (कर्मयोग)। फिर पाँचवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्ने सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंको एक फलवाला बताया। अब यहाँ भगवान् उसी भावको लेकर कहते हैं कि जिसने कर्मफलका त्याग कर दिया है, वही सच्चा सांख्ययोगी और कर्मयोगी है। तात्पर्य है कि चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेमात्रसे कोई योगी नहीं होता। योगी तभी होता है, जब वह कर्मफलका त्याग कर देता है। कारण कि जबतक कर्मफलकी चाहना है, तबतक वृत्तिनिरोध करनेसे सिद्धियोंकी प्राप्ति तो हो सकती है, पर कल्याण नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह कहा गया कि जो संन्यासी है, वही योगी है। पर इनका एकत्व किसमें है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

पाण्डव = हे अर्जुन! यम् = (लोग) जिसको सन्न्यासम् = संन्यास— इति = ऐसा प्राहुः = कहते हैं, तम् = उसीको (तुम) योगम् = योग विद्धि = समझो; हि = क्योंकि असन्न्यस्तसङ्कल्पः = संकल्पोंका त्याग किये बिना (मनुष्य) कश्चन = कोई-सा (भी) योगी = योगी न = नहीं भवति = हो सकता।

*व्याख्या—***'यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव'—**पाँचवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने बताया था कि संन्यास (सांख्ययोग) और योग (कर्मयोग)—ये दोनों ही स्वतन्त्रतासे कल्याण करनेवाले हैं (पाँचवें अध्यायका दूसरा श्लोक), तथा दोनोंका फल भी एक ही है (पाँचवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) अर्थात् संन्यास और योग दो नहीं हैं, एक ही हैं। वही बात भगवान् यहाँ कहते हैं कि जैसे संन्यासी सर्वथा त्यागी होता है, ऐसे ही कर्मयोगी भी सर्वथा त्यागी होता है।

अठारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके जो नियत कर्तव्य-कर्म केवल कर्तव्यमात्र समझकर किया जाता है,

वह 'सात्त्विक त्याग' है, जिससे पदार्थों और क्रियाओंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और मनुष्य त्यागी अर्थात् योगी हो जाता है। इसी तरह संन्यासी भी कर्तृत्वाभिमानका त्यागी होता है। अतः दोनों ही त्यागी हैं। तात्पर्य है कि योगी और संन्यासीमें कोई भेद नहीं है। भेद न रहनेसे ही भगवान्ने पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है कि राग-द्वेषका त्याग करनेवाला योगी 'संन्यासी' ही है।

'न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन'— मनमें जो स्फुरणाएँ होती हैं अर्थात् तरह-तरहकी बातें याद आती हैं, उनमेंसे जिस स्फुरणा-(बात-) के साथ मन चिपक जाता है, जिस स्फुरणाके प्रति प्रियता-अप्रियता पैदा हो जाती है, वह 'संकल्प' हो जाता है। उस संकल्पका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। कारण कि परमात्माके साथ सम्बन्धका नाम 'योग' है और जिसकी भीतरसे ही पदार्थोंमें महत्त्व, सुन्दर तथा सुख-बुद्धि है, वह (भीतरसे पदार्थोंके साथ सम्बन्ध माननेसे) भोगी ही होगा, योगी हो ही नहीं सकता। वह योगी तो तब होता है, जब उसकी असत् पदार्थोंमें महत्त्व, सुन्दर तथा सुख-बुद्धि नहीं रहती और तभी वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी होता है तथा उसको भगवान्के साथ अपने नित्य सम्बन्धका अनुभव होता है।

यहाँ **'कश्चन'** पदसे यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि संकल्पका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी अर्थात् कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, हठयोगी, लययोगी आदि नहीं होता। कारण कि उसका सम्बन्ध उत्पन्न और नष्ट होनेवाले जड पदार्थोंके साथ है; अतः वह योगी कैसे होगा? वह तो भोगी ही होगा। ऐसे भोगी केवल मनुष्य ही नहीं हैं, प्रत्युत पशु-पक्षी आदि भी भोगी हैं; क्योंकि उन्होंने भी संकल्पोंका त्याग नहीं किया है।

तात्पर्य यह निकला कि जबतक असत् पदार्थोंके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रहेगा अर्थात् अपने-आपको कुछ-न-कुछ मानेगा, तबतक मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता अर्थात् असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रखते हुए वह कितना ही अभ्यास कर ले, समाधि लगा ले, गिरि-कन्दराओंमें चला जाय, तो भी गीताके सिद्धान्तके अनुसार वह योगी नहीं कहा जा सकता।

ऐसे तो संन्यास और योगकी साधना अलग-अलग है, पर संकल्पोंके त्यागमें दोनों साधन एक हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिस योगकी प्रशंसा की गयी है, उस योगकी प्राप्तिका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

योगम् = जो योग (समता) में, **आरुरुक्षोः** = आरूढ़ होना चाहता है, (ऐसे) **मुनेः** = मननशील योगीके लिये **कर्म** = कर्तव्यकर्म करना **कारणम्** = कारण **उच्यते** = कहा गया है (और) **तस्य, एव** = उसी **योगारूढस्य** = योगारूढ़ मनुष्यका **शमः** = शम (शान्ति) **कारणम्** = (परमात्मप्राप्तिमें) कारण **उच्यते** = कहा गया है।

व्याख्या—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'**— जो योग-(समता-) में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये (योगारूढ़ होनेमें) निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करना कारण है। तात्पर्य है कि करनेका वेग मिटानेमें प्राप्त कर्तव्य-कर्म करना कारण है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति जन्मा है, पला है और जीवित है तो उसका जीवन दूसरोंकी सहायताके बिना चल ही नहीं सकता। उसके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्तक कोई ऐसी चीज नहीं है, जो प्रकृतिकी न हो। इसलिये जबतक वह इन प्राकृत चीजोंको संसारकी सेवामें नहीं लगाता, तबतक वह योगारूढ़ नहीं हो सकता अर्थात् समतामें स्थित नहीं हो सकता; क्योंकि प्राकृत वस्तुमात्रकी संसारके साथ एकता है, अपने साथ एकता है ही नहीं।

प्राकृत पदार्थोंमें जो अपनापन दीखता है, उसका तात्पर्य है कि उनको दूसरोंकी सेवामें लगानेका दायित्व हमारेपर है। अतः उन सबको दूसरोंकी सेवामें लगानेका भाव होनेसे सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जायगा और वह स्वयं योगारूढ़ हो जायगा। यही बात भगवान्ने दूसरी

जगह अन्वय-व्यतिरेक रीतिसे कही है कि यज्ञके लिये अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवालोंके सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं अर्थात् किंचिन्मात्र भी बन्धनकारक नहीं होते (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक) और यज्ञसे अन्यत्र अर्थात् अपने लिये किये गये कर्म बन्धनकारक होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ श्लोक)।

योगारूढ़ होनेमें कर्म कारण क्यों हैं? क्योंकि फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हमारी समता है या नहीं, उसका हमारेपर क्या असर पड़ता है—इसका पता तभी लगेगा, जब हम कर्म करेंगे। समताकी पहचान कर्म करनेसे ही होगी। तात्पर्य है कि कर्म करते हुए यदि हमारेमें समता रही, राग-द्वेष नहीं हुए, तब तो ठीक है; क्योंकि वह कर्म 'योग'में कारण हो गया। परन्तु यदि हमारेमें समता नहीं रही, राग-द्वेष हो गये; तो हमारा जडताके साथ सम्बन्ध होनेसे वह कर्म 'योग'में कारण नहीं बना।

'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'— असत्के साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अशान्ति पैदा होती है। इसका कारण यह है कि असत् पदार्थों-(शरीरादि-) के साथ स्वयंका सम्बन्ध एक क्षण भी रह नहीं सकता और रहता भी नहीं; क्योंकि स्वयं सदा रहनेवाला है और शरीरादि मात्र पदार्थ प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। उन प्रतिक्षण अभावमें जानेवालोंके साथ यह स्वयं अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और उनके साथ अपना सम्बन्ध रखना चाहता है। परन्तु उनके साथ सम्बन्ध रहता नहीं तो उनके चले जानेके भयसे और उनके चले जानेसे अशान्ति पैदा हो जाती है। जब यह शरीरादि असत् पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगाकर उनसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब असत्के त्यागसे उसको स्वतः एक शान्ति मिलती है। अगर साधक उस शान्तिमें भी सुख लेने लग जायगा तो वह बँध जायगा। अगर उस शान्तिमें राग नहीं करेगा, उससे सुख नहीं लेगा, तो वह शान्ति परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—योगारूढ़ होनेकी इच्छावाले साधकके लिये योगारूढ़ होनेमें निष्कामभावसे कर्म करना कारण है और उससे प्राप्त होनेवाली शान्ति परमात्मप्राप्तिमें कारण है। तात्पर्य है कि परमात्मप्राप्तिमें कर्म कारण नहीं हैं, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति कारण है। यह शान्ति साधन है, सिद्धि नहीं।

विवेकपूर्वक कर्म करनेसे ही कर्मोंका राग (वेग) मिटता है, क्योंकि राग मिटानेकी शक्ति कर्ममें नहीं है, प्रत्युत विवेकमें है। जिसकी योगारूढ़ होनेकी लालसा है, वह सब कर्म विवेकपूर्वक ही करता है। विवेक तब विकसित होता है, जब साधक कामनाकी पूर्तिमें परतन्त्रताका और अपूर्तिमें अभावका अनुभव करता है। परतन्त्रता और अभावको कोई नहीं चाहता, जबकि कामना करनेसे ये दोनों ही नहीं छूटते।

योगारूढ़ अवस्थामें राजी नहीं होना है, क्योंकि राजी होनेसे साधक वहीं अटक जायगा, जिससे परमात्मप्राप्ति होनेमें बहुत समय लग जायगा (गीता—चौदहवें अध्यायका छठा श्लोक)। जैसे, पहले बालककी खेलमें रुचि रहती है। परन्तु बड़े होनेपर जब उसकी रुचि रुपयोंमें हो जाती है, तब खेलकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। ऐसे ही जबतक परमात्मप्राप्तिका अनुभव नहीं हुआ है, तबतक उस शान्तिमें रुचि रहती है अर्थात् शान्ति बहुत बढ़िया मालूम देती है। परन्तु उस शान्तिका उपभोग न किया जाय, उससे उपराम हो जायँ तो उसकी रुचि अपने-आप मिट जाती है और बहुत जल्दी परमात्मप्राप्तिका अनुभव हो जाता है।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना कारण है अर्थात् निःस्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करते-करते जब सबका वियोग हो जाता है, तब साधक योगारूढ़ हो जाता है। कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है और योग नित्य रहता है।

कर्मी (भोगी) भी कर्म करता है और कर्मयोगी भी कर्म करता है, पर उन दोनोंके उद्देश्यमें बड़ा भारी अन्तर रहता है। एक आसक्ति रखनेके लिये अथवा कामनापूर्तिके लिये कर्म करता है और एक आसक्तिका त्याग करनेके लिये कर्म करता है। भोगी अपने लिये कर्म करता है और कर्मयोगी दूसरोंके लिये कर्म करता है। अतः आसक्तिपूर्वक कर्म करनेमें समान होनेपर भी जो आसक्ति-त्यागके उद्देश्यसे दूसरोंके लिये कर्म करता है, वह योगी (योगारूढ़) हो जाता है। कर्म करनेसे ही योगीकी पहचान होती है, अन्यथा **'वृद्धा नारी पतिव्रता'!**

यहाँ जिसको 'शम' (शान्ति) कहा गया है, उसीको दूसरे अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें 'प्रसाद' (अन्तःकरणकी प्रसन्नता) कहा गया है। इस शान्तिमें रमण न करनेसे 'निर्वाणपरमा शान्ति' की प्राप्ति होती है (गीता—छठे अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। त्यागसे शान्ति मिलती है (गीता—बारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। शान्तिमें रमण न करनेसे अखण्डरस (तत्त्वज्ञान) मिलता है और अखण्डरसमें भी सन्तोष न करनेसे अनन्तरस (परमप्रेम) मिलता है।

सम्बन्ध—योगारूढ़ कौन होता है—इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

हि	= कारण कि	**न**	= न	**सर्वसङ्कल्प-**	
यदा	= जिस समय	**कर्मसु**	= कर्मोंमें (ही)	**सन्न्यासी**	= सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य
न	= न	**अनुषज्जते**	= आसक्त होता है,		
इन्द्रियार्थेषु	= इन्द्रियोंके भोगोंमें (तथा)	**तदा**	= उस समय (वह)	**योगारूढः**	= योगारूढ़
				उच्यते	= कहा जाता है।

व्याख्या—‘**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु (अनुषज्जते)**’—साधक इन्द्रियोंके अर्थोंमें अर्थात् प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंमें; अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति, घटना, व्यक्ति आदिमें और शरीरके आराम, मान, बड़ाई आदिमें आसक्ति न करे, इनका भोगबुद्धिसे भोग न करे, इनमें राजी न हो, प्रत्युत यह अनुभव करे कि ये सब विषय, पदार्थ आदि आये हैं और प्रतिक्षण चले जा रहे हैं। ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, फिर इनमें क्या राजी हों—ऐसा अनुभव करके इनसे निर्लेप रहे।

इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त न होनेका साधन है—इच्छापूर्तिका सुख न लेना। जैसे, कोई मनचाही बात हो जाय; मनचाही वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि मिल जाय और जिसको नहीं चाहता, वह न हो तो मनुष्य उसमें राजी (प्रसन्न) हो जाता है तथा उससे सुख लेता है। सुख लेनेपर इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति बढ़ती है। अतः साधकको चाहिये कि अनुकूल वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मिलनेकी इच्छा न करे और बिना इच्छाके अनुकूल वस्तु आदि मिल भी जाय तो उसमें राजी न हो। ऐसा होनेसे इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्ति नहीं होगी।

दूसरी बात, मनुष्यके पास अनुकूल चीजें न होनेसे यह उन चीजोंके अभावका अनुभव करता है और उनके मिलनेपर यह उनके अधीन हो जाता है। जिस समय इसको अभावका अनुभव होता था, उस समय भी परतन्त्रता थी और अब उन चीजोंके मिलनेपर भी ‘कहीं इनका वियोग न हो जाय’—इस तरहकी परतन्त्रता होती है। अतः वस्तुके न मिलने और मिलनेमें फर्क इतना ही रहा कि वस्तुके न मिलनेसे तो वस्तुकी परतन्त्रताका अनुभव होता था, पर वस्तुके मिलनेपर परतन्त्रताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत उसमें मनुष्यको स्वतन्त्रता दीखती है—यह उसको धोखा होता है। जैसे कोई किसीके साथ विश्वासघात करता है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थितिमें राजी होनेसे मनुष्य अपने साथ विश्वासघात करता है। कारण कि यह मनुष्य अनुकूल परिस्थितिके अधीन हो जाता है, उसको भोगते-भोगते इसका स्वभाव बिगड़ जाता है और बार-बार सुख भोगनेकी कामना होने लगती है। यह सुखभोगकी कामना ही इसके जन्म-मरणका कारण बन जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि अनुकूलताकी इच्छा करना, आशा करना और अनुकूल विषय आदिमें राजी होना—यह सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है। इससे कोई-सा भी अनर्थ, पाप बाकी नहीं रहता। अगर इसका त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है।

तीसरी बात, हमारे पास निर्वाहमात्रके सिवाय जितनी अनुकूल भोग्य वस्तुएँ हैं, वे अपनी नहीं हैं। वे किसकी हैं, इसका हमें पता नहीं है; परन्तु जब कोई अभावग्रस्त प्राणी मिल जाय, तो उस सामग्रीको उसीकी समझकर उसके अर्पण कर देनी चाहिये [यह आपकी ही है—ऐसा उससे कहना नहीं है], और उसे देकर ऐसा मानना चाहिये कि निर्वाहसे अतिरिक्त जो वस्तुएँ मेरे पास पड़ी थीं, उस ऋणसे मैं मुक्त हो गया हूँ। तात्पर्य है कि निर्वाहसे अतिरिक्त वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न माननेसे मनुष्यकी भोगोंमें आसक्ति नहीं होती।

‘**न कर्मस्वनुषज्जते**’*—जैसे इन्द्रियोंके अर्थोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, ऐसे ही कर्मोंमें भी आसक्ति नहीं

*** यहाँ ‘कर्मसु’ पद बहुवचन है, जिसका तात्पर्य है कि आसक्त पुरुषमें अनेक कर्मोंकी और उनके फलोंकी इच्छा रहती है। परन्तु अठारहवें अध्यायके पैंतालीसवें श्लोकमें ‘कर्मणि’ पद एकवचन है, जिसका तात्पर्य है कि आसक्तिरहित पुरुषके द्वारा कर्म तो अनेक होते हैं, पर उसमें कर्तव्यबुद्धि एक ही रहती है।**

होनी चाहिये अर्थात् क्रियमाण कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और उन कर्मोंकी तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। कारण कि कर्म करनेमें भी एक राग होता है। कर्म ठीक तरहसे हो जाता है तो उससे एक सुख मिलता है और कर्म ठीक तरहसे नहीं होता तो मनमें एक दु:ख होता है। यह सुख-दु:खका होना कर्मकी आसक्ति है। अत: साधक कर्म तो विधिपूर्वक और तत्परतासे करे, पर उसमें आसक्त न होकर सावधानीपूर्वक निर्लिप्त रहे कि ये तो आने-जानेवाले हैं और हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं; अत: इनके होने-न-होनेमें, आने-जानेमें हमारेमें क्या फर्क पड़ता है?

कर्मोंमें आसक्ति होनेकी पहचान क्या है? अगर क्रियमाण (वर्तमानमें किये जानेवाले) कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और उनसे मिलनेवाले तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें अर्थात् सिद्धि-असिद्धिमें मनुष्य निर्विकार नहीं रहता, प्रत्युत उसके अन्त:करणमें हर्ष-शोकादि विकार होते हैं, तो समझना चाहिये कि उसकी कर्मोंमें और उनके तात्कालिक फलमें आसक्ति रह गयी है।

इन्द्रियोंके अर्थोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होनेका तात्पर्य यह हुआ कि स्वयं (स्वरूप) चिन्मय परमात्माका अंश होनेसे नित्य अपरिवर्तनशील है और पदार्थ तथा क्रियाएँ प्रकृतिका कार्य होनेसे नित्य-निरन्तर बदलते रहते हैं। परन्तु जब स्वयं उन परिवर्तनशील पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्त हो जाता है, तब यह उनके अधीन हो जाता है और बार-बार जन्म-मरणरूप महान् दु:खोंका अनुभव करता रहता है। उन पदार्थों और क्रियाओंसे अर्थात् प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये भगवान्ने दो विभाग बताये हैं कि न तो इन्द्रियोंके अर्थोंमें अर्थात् पदार्थोंमें आसक्ति करे और न कर्मोंमें (क्रियाओंमें) आसक्ति करे। ऐसा करनेपर मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है।

यहाँ एक बात समझनेकी है कि क्रियाओंमें प्रियता प्राय: फलको लेकर ही होती है और फल होता है—इन्द्रियोंके भोग। अत: इन्द्रियोंके भोगोंकी आसक्ति सर्वथा मिट जाय तो क्रियाओंकी आसक्ति भी मिट जाती है। फिर भी भगवान्ने क्रियाओंकी आसक्ति मिटानेकी बात अलग क्यों कही? इसका कारण यह है कि क्रियाओंमें भी एक स्वतन्त्र आसक्ति होती है। फलेच्छा न होनेपर भी मनुष्यमें एक करनेका वेग होता है। यह वेग ही क्रियाओंकी आसक्ति है, जिसके कारण मनुष्यसे बिना कुछ किये रहा नहीं जाता, वह कुछ-न-कुछ काम करता ही रहता है। यह आसक्ति मिटती है केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे अथवा भगवान्के लिये कर्म करनेसे। इसलिये भगवान्ने बारहवें अध्यायमें पहले अभ्यासयोग बताया। परन्तु भीतरमें करनेका वेग होनेसे अभ्यासमें मन नहीं लगता; अत: करनेका वेग मिटानेके लिये दसवें श्लोकमें बताया कि साधक मेरे लिये ही कर्म करे (बारहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि पारमार्थिक अभ्यास आदि करनेमें जिसका मन नहीं लगता और भीतरमें कर्म करनेका वेग (आसक्ति) पड़ा है, तो वह भक्तियोगका साधक केवल भगवान्के लिये ही कर्म करे। इससे उसकी आसक्ति मिट जायगी। ऐसे ही कर्मयोगका साधक केवल संसारके हितके लिये ही कर्म करे, तो उसका करनेका वेग (आसक्ति) मिट जायगा।

जैसे कर्म करनेकी आसक्ति होती है, ऐसे ही कर्म न करनेकी भी आसक्ति होती है। कर्म न करनेकी आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये; क्योंकि कर्म न करनेकी आसक्ति आलस्य और प्रमाद पैदा करती है, जो कि तामसी वृत्ति है और कर्म करनेकी आसक्ति व्यर्थ चेष्टाओंमें लगाती है, जो कि राजसी वृत्ति है।

वह योगारूढ़ कितने दिनोंमें, कितने महीनोंमें अथवा कितने वर्षोंमें होगा? इसके लिये भगवान् **'यदा'** और **'तदा'** पद देकर बताते हैं कि जिस कालमें मनुष्य इन्द्रियोंके अर्थोंमें और क्रियाओंमें सर्वथा आसक्तिरहित हो जाता है, तभी वह योगारूढ़ हो जाता है। जैसे, किसीने यह निश्चय कर लिया कि 'मैं आजसे कभी इच्छापूर्तिका सुख नहीं लूँगा।' अगर वह अपने इस निश्चय (प्रतिज्ञा) पर दृढ़ रहे, तो वह आज ही योगारूढ़ हो जायगा। इस बातको बतानेके लिये ही भगवान्ने **'यदा'** और **'तदा'** पदोंके साथ **'हि'** पद दिया है।

पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्ति करने और न करनेमें भगवान्ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दी है कि तुम साक्षात् मेरे अंश हो और ये पदार्थ और क्रियाएँ प्रकृतिजन्य हैं। इनमें पदार्थ भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा क्रियाओंका भी आरम्भ और अन्त हो जाता है। अत: ये नित्य रहनेवाले नहीं हैं और तुम नित्य रहनेवाले हो। तुम नित्य होकर भी अनित्यमें फँस जाते हो, अनित्यमें आसक्ति, प्रियता कर लेते हो। इससे तुम्हारे हाथ कुछ नहीं लगता, केवल दु:ख-ही-दु:ख पाते रहते हो। अत: तुम आजसे ही यह विचार कर लो कि 'हमलोग पदार्थों और क्रियाओंमें

सुख नहीं लेंगे' तो तुमलोग आज ही योगारूढ़ हो जाओगे; क्योंकि योग अर्थात् समता तुम्हारे घरकी चीज है। समता तुम्हारा स्वरूप है और स्वरूप सत् है। सत्‌का कभी अभाव नहीं होता और असत्‌का कभी भाव नहीं होता। ऐसे सत्-स्वरूप तुम असत् पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्ति मत करो तो तुम्हें स्वतःसिद्ध योगारूढ़ अवस्थाका अनुभव हो जायगा।

'सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी'—हमारे मनमें जितनी स्फुरणाएँ होती हैं, उन स्फुरणाओंमेंसे जिस स्फुरणामें सुख होता है और उसको लेकर यह विचार होता है कि 'हमें ऐसा मिल जाय; हम इतने सुखी हो जायँगे', तो इस तरह स्फुरणामें लिप्तता होनेसे उस स्फुरणाका नाम 'संकल्प' हो जाता है। वह संकल्प ही अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारण सुखदायी और दुःखदायी होता है। जैसे सुखदायी संकल्प लिप्तता (राग-द्वेष) करता है, ऐसे ही दुःखदायी संकल्प भी लिप्तता करता है। अतः दोनों ही संकल्प बन्धनमें डालनेवाले हैं। उनसे हानिके सिवाय कुछ लाभ नहीं है; क्योंकि संकल्प न तो अपने स्वरूपका बोध होने देता है, न दूसरोंकी सेवा करने देता है, न भगवान्‌में प्रेम होने देता है, न भगवान्‌में मन लगने देता है, न अपने नजदीकके कुटुम्बियोंके अनुकूल ही बनने देता है। तात्पर्य है कि अपना संकल्प रखनेसे न अपना हित होता है, न संसारका हित होता है, न कुटुम्बियोंकी कोई सेवा होती है, न भगवान्‌की प्राप्ति होती है और न अपने स्वरूपका बोध ही होता है। इससे केवल हानि-ही-हानि होती है। ऐसा समझकर साधकको सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित हो जाना चाहिये, जो कि वास्तवमें है ही।

मनमें होनेवाली स्फुरणा यदि संकल्पका रूप धारण न करे, तो वह स्फुरणा स्वतः नष्ट हो जाती है। स्फुरणा होनेमात्रसे मनुष्यकी उतनी हानि नहीं होती और पतन भी नहीं होता; परन्तु समय तो नष्ट होता ही है; अतः वह स्फुरणा भी त्याज्य है। पर संकल्पोंका त्याग तो साधकको जरूर ही करना चाहिये। कारण कि संकल्पोंका त्याग किये बिना अर्थात् अपने मनकी छोड़े बिना साधक योगारूढ़ नहीं होता और योगारूढ़ हुए बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, कृतकृत्यता नहीं होती, मनुष्यजन्म सार्थक नहीं होता, भगवान्‌में प्रेम नहीं होता, दुःखोंका सर्वथा अन्त नहीं होता।

दूसरे श्लोकमें तो भगवान्‌ने व्यतिरेक-रीतिसे कहा है कि संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं होता और यहाँ अन्वय-रीतिसे कहते हैं कि संकल्पोंका त्याग करनेसे मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह निकला कि साधकको किसी प्रकारका संकल्प नहीं रखना चाहिये।

संकल्पोंके त्यागके उपाय—(१) भगवान्‌ने हमारे लिये अपनी तरफसे अन्तिम जन्म (मनुष्यजन्म) दिया है कि तुम इससे अपना उद्धार कर लो। अतः हमें मनुष्य-जन्मके अमूल्य, मुक्तिदायक समयको निरर्थक संकल्पोंमें बरबाद नहीं करना है—ऐसा विचार करके संकल्पोंको हटा दे।

(२) कर्मयोगके साधकको अपने कर्तव्यका पालन करना है। कर्तव्यका सम्बन्ध वर्तमानसे है, भूत-भविष्यत् कालसे नहीं। परन्तु संकल्प-विकल्प भूत और भविष्यत् कालके होते हैं; वर्तमानके नहीं। अतः साधकको अपने कर्तव्यका त्याग करके भूत-भविष्यत् कालके संकल्प-विकल्पोंमें नहीं फँसना चाहिये, प्रत्युत आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेमें लगे रहना चाहिये (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

(३) ज्ञानयोगके साधकको इस बातपर दृढ़ रहना चाहिये कि वास्तवमें सत्ता एक परमात्मतत्त्वकी ही है। संकल्पोंकी, संसारकी सत्ता ही नहीं है। इसलिये कोई संकल्प आये तो वह उससे उदासीन रहे; उसमें न राग करे, न द्वेष।

(४) भक्तियोगके साधकको विचार करना चाहिये कि मनमें जितने भी संकल्प आते हैं, वे प्रायः भूतकालके आते हैं, जो कि अभी नहीं है अथवा भविष्यत् कालके आते हैं, जो कि आगे होनेवाला है अर्थात् जो अभी नहीं है। अतः जो अभी नहीं है, उसके चिन्तनमें समय बरबाद करना और जो भगवान् अभी हैं, अपनेमें हैं और अपने हैं, उनका चिन्तन न करना—यह कितनी बड़ी गलती है! ऐसा विचार करके संकल्पोंको हटा दे।

'योगारूढस्तदोच्यते'—सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम 'योग' है (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक)। इस योग अर्थात् समतापर आरूढ़ होना, स्थित होना ही योगारूढ़ होना है। योगारूढ़ होनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने यह कहा था कि संकल्पोंका त्याग किये बिना कोई-सा भी योग सिद्ध नहीं होता और यहाँ कहा है कि संकल्पोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे वह योगारूढ़ हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सभी

तरहके योगोंसे योगारूढ़ अवस्था प्राप्त होती है। यद्यपि यहाँ कर्मयोगका ही प्रकरण है, पर संकल्पोंका सर्वथा त्याग करनेसे योगारूढ़ अवस्थामें सब एक हो जाते हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—योगारूढ़की पहचान क्या है? इसके लिये यहाँ तीन बातें बतायी हैं—पदार्थों (वस्तुओं तथा व्यक्तियों) में आसक्ति न होना, क्रियाओंमें आसक्ति न होना और सम्पूर्ण संकल्पोंका अर्थात् मनचाहीका त्याग होना। तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके भोगोंमें और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तथा भीतरसे यह आग्रह भी न हो कि ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये। जिसकी न तो पदार्थोंमें आसक्ति है और न पदार्थोंके अभावमें आसक्ति है; न क्रियाओंमें आसक्ति है और न क्रियाओंके अभावमें आसक्ति है तथा न कोई संकल्प है, वह 'योगारूढ़' है। तात्पर्य है कि पदार्थ मिले या न मिले, व्यक्ति मिले या न मिले, क्रिया हो या न हो—इसका कोई आग्रह नहीं होना चाहिये (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

साधकको विचार करना चाहिये कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सदा हमारे पास रहेगी और हम सदा उसके पास रहेंगे? ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो सदा हमारे साथ रहेगा और हम सदा उसके साथ रहेंगे? ऐसी कौन-सी क्रिया है, जिसको हम सदा करते रहेंगे और जो सदा हमसे होती रहेगी? सदाके लिये हमारे साथ न कोई वस्तु रहेगी, न कोई व्यक्ति रहेगा और न कोई क्रिया रहेगी। एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वतः सिद्ध है। तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका संयोग तो अनित्य है, पर वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करनेसे नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और कोई अभाव शेष नहीं रहता।

इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न होनेका अर्थ है—कामनारहित और कर्तृत्वरहित होना। इन्द्रियोंके भोगोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति न हो तो साधक कामनारहित हो जाता है और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तो कर्तृत्वरहित हो जाता है। कामनारहित और कर्तृत्वरहित होनेपर स्वरूपमें स्वतः स्थिति हो जाती है। वास्तवमें स्थिति होती नहीं, प्रत्युत स्थिति है; परन्तु कामनारहित और कर्तृत्वरहित न होनेसे इसका अनुभव नहीं होता। कामना और कर्तृत्वका अभाव होनेपर स्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है।

जैसे लिखनेके समय लेखनीको काममें लेते हैं और लिखना पूरा होते ही लेखनीको ज्यों-का-त्यों रख देते हैं, ऐसे ही साधक कार्य करते समय शरीरको काममें ले और कार्य पूरा होते ही उसको ज्यों-का-त्यों रख दे अर्थात् उससे असंग हो जाय तो प्रत्येक क्रियाके बाद उसकी योग (समता) में स्थिति होगी। अगर क्रियासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो वह योगारूढ़ हो जायगा।

क्रिया (भोग) और पदार्थ (ऐश्वर्य) की आसक्तिसे पतन होता है (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। इसलिये न तो क्रियामें आसक्ति हो और न फलमें ही आसक्ति हो (गीता—दूसरे अध्यायका सैंतालीसवाँ और पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। संकल्पजन्य सुखका भोग भी न हो अर्थात् संकल्पपूर्तिका सुख भी न ले। अपनी मुक्तिका भी संकल्प न हो; क्योंकि मुक्तिके संकल्पसे बन्धनकी सत्ता दृढ़ होती है। अतः कोई भी संकल्प न रखकर उदासीन रहे।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने योगारूढ़ मनुष्यके लक्षण बताते हुए 'यदा' और 'तदा' पदसे योगारूढ़ होनेमें अर्थात् अपना उद्धार करनेमें मनुष्यको स्वतन्त्र बताया। अब आगेके श्लोकमें भगवान् मनुष्यमात्रको अपना उद्धार करनेकी प्रेरणा करते हैं।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

आत्मना =अपने द्वारा
आत्मानम् =अपना
उद्धरेत् =उद्धार करे,
आत्मानम् =अपना
न, अवसादयेत् =पतन न करे;
हि =क्योंकि
आत्मा =आप
एव =ही
आत्मनः =अपना
बन्धुः =मित्र है
(और)
आत्मा =आप
एव = ही
आत्मनः =अपना
रिपुः =शत्रु है।

व्याख्या—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'**— अपने-आपसे अपना उद्धार करे—इसका तात्पर्य है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिसे अपने-आपको ऊँचा उठाये। अपने स्वरूपसे जो एकदेशीय 'मैं'-पन दीखता है, उससे भी अपनेको ऊँचा उठाये। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ आदि और 'मैं'-पन—ये सभी प्रकृतिके कार्य हैं; अपना स्वरूप नहीं है। जो अपना स्वरूप नहीं है, उससे अपनेको ऊँचा उठाये।

अपना स्वरूप परमात्माके साथ एक है और शरीर, इन्द्रियाँ आदि तथा 'मैं'-पन प्रकृतिके साथ एक है। अगर यह अपना उद्धार करनेमें, अपनेको ऊँचा उठानेमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी सहायता मानेगा, इनका सहारा लेगा तो फिर जडताका त्याग कैसे होगा? क्योंकि जड वस्तुओंसे सम्बन्ध मानना, उनकी आवश्यकता समझना, उनका सहारा लेना ही खास बन्धन है। जो अपने हैं, अपनेमें हैं, अभी हैं और यहाँ हैं, ऐसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि असत्के द्वारा सत्की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्के त्यागसे सत्की प्राप्ति होती है।

दूसरा भाव, अभी पूर्वश्लोकमें आया है कि प्राकृत पदार्थ, क्रिया और संकल्पमें आसक्त न हो, उनमें फँसे नहीं, प्रत्युत उनसे अपने-आपको ऊपर उठाये। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पदार्थ, क्रिया और संकल्पका आरम्भ तथा अन्त होता है, उनका संयोग तथा वियोग होता है, पर अपने (स्वयंके) अभावका और परिवर्तनका अनुभव किसीको नहीं होता। स्वयं सदा एकरूप रहता है। अत: उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ आदिमें न फँसना, उनके अधीन न होना, उनसे निर्लिप्त रहना ही अपना उद्धार करना है।

मनुष्यमात्रमें एक ऐसी विचारशक्ति है, जिसको काममें लानेसे वह अपना उद्धार कर सकता है। 'ज्ञानयोग'का साधक उस विचारशक्तिसे जड-चेतनका अलगाव करके चेतन (अपने स्वरूप) में स्थित हो जाता है और जड (शरीर-संसार) से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है।'भक्तियोग' का साधक उसी विचारशक्तिसे 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस प्रकार भगवान्से आत्मीयता करके अपना उद्धार कर लेता है। 'कर्मयोग' का साधक उसी विचारशक्तिसे मिले हुए शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि पदार्थोंको संसारका ही मानते हुए संसारकी सेवामें लगाकर उन पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। इस दृष्टिसे मनुष्य अपनी विचारशक्तिको काममें लेकर किसी भी योग-मार्गसे अपना कल्याण कर सकता है।

उद्धार-सम्बन्धी विशेष बात

विचार करना चाहिये कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ; क्योंकि शरीर बदलता रहता है और मैं वही रहता हूँ। यह शरीर 'मेरा' भी नहीं है; क्योंकि शरीरपर मेरा वश नहीं चलता अर्थात् शरीरको मैं जैसा रखना चाहूँ, वह वैसा नहीं रह सकता; जितने दिन रखना चाहूँ, उतने दिन नहीं रह सकता और जैसा सबल बनाना चाहूँ, वैसा बन नहीं सकता। यह शरीर 'मेरे लिये' भी नहीं है; क्योंकि यदि यह मेरे लिये होता तो इसके मिलनेपर मेरी कोई इच्छा बाकी नहीं रहती। दूसरी बात, यह परिवर्तनशील है और मैं अपरिवर्तनशील हूँ। परिवर्तनशील अपरिवर्तनशीलके काम कैसे आ सकता है? नहीं आ सकता। तीसरी बात, यदि यह मेरे लिये होता तो सदा मेरे पास रहता। परन्तु यह मेरे पास नहीं रहता। इस प्रकार शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं—इस वास्तविकतापर मनुष्य दृढ़ रहे, तो अपने-आपसे अपना उद्धार हो जायगा।

अब शंका होती है कि ईश्वर, सन्त-महात्मा, गुरु, शास्त्र—इनसे भी तो मनुष्योंका उद्धार होता है; फिर अपने-आपसे अपना उद्धार करे—ऐसा क्यों कहा? इसका समाधान है कि ईश्वर, सन्त-महात्मा आदि हमारा उद्धार तभी करेंगे, जब उनमें हमारी श्रद्धा होगी। वह श्रद्धा हमें खुद ही करनी पड़ेगी। खुद श्रद्धा किये बिना क्या वे अपनेमें श्रद्धा करा लेंगे? नहीं करा सकते। अगर ईश्वर, सन्त आदि हमारे श्रद्धा किये बिना ही अपनेमें हमारी श्रद्धा कराकर हमारा उद्धार करते तो हमारा उद्धार कभीका हो गया होता। कारण कि आज दिनतक भगवान्के अनेक अवतार हो चुके हैं, कई तरहके सन्त-महात्मा, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी हो चुके हैं; परन्तु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है। इससे भी सिद्ध होता है कि हमने स्वयं उनमें श्रद्धा नहीं की, हम स्वयं उनके सम्मुख नहीं हुए, हमने स्वयं उनकी बात नहीं मानी, इसलिये हमारा उद्धार नहीं हुआ। परन्तु जिन्होंने उनपर श्रद्धा की, जो उनके सम्मुख हो गये, जिन्होंने उनकी बात मानी, उनका उद्धार हो गया। अत: साधकको शास्त्र, भगवान्, गुरु आदिमें श्रद्धा-विश्वास करके तथा उनकी

आज्ञाके अनुसार चलकर अपना उद्धार कर लेना चाहिये।

भगवान्, सन्त-महात्मा आदिके रहते हुए हमारा उद्धार नहीं हुआ है तो इसमें उद्धारकी सामग्रीकी कमी नहीं रही है अथवा हम अपना उद्धार करनेमें असमर्थ नहीं हुए हैं। हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार नहीं हुए, इसीसे वे सब मिलकर भी हमारा उद्धार करनेमें समर्थ नहीं हुए। अगर हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार हो जायँ, सम्मुख हो जायँ तो मनुष्यजन्म-जैसी सामग्री और कलियुग-जैसा मौका प्राप्त करके हम कई बार अपना उद्धार कर सकते हैं! पर यह तब होगा, जब हम स्वयं अपना उद्धार करना चाहेंगे।

दूसरी बात, स्वयंने ही अपना पतन किया है अर्थात् इसने ही संसारके सम्बन्धको पकड़ा है, संसारने इसको नहीं पकड़ा है। जैसे, बाल्यावस्थाको इसने छोड़ा नहीं, प्रत्युत वह स्वाभाविक ही छूट गयी। फिर इसने जवानीके सम्बन्धको पकड़ लिया कि 'मैं जवान हूँ', पर इसका जवानीके साथ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। तात्पर्य यह हुआ कि अगर यह नया सम्बन्ध नहीं जोड़े तो पुराना सम्बन्ध स्वाभाविक ही छूट जायगा, जो कि स्वतः छूट ही रहा है। पुराना सम्बन्ध तो रहता नहीं और नया सम्बन्ध यह जोड़ लेता है—इससे सिद्ध होता है कि सम्बन्ध जोड़ने और छोड़नेमें यह स्वतन्त्र और समर्थ है। अगर यह नया सम्बन्ध न जोड़े, तो अपना उद्धार आप ही कर सकता है।

शरीर-संसारके साथ जो संयोग (सम्बन्ध) है, उसका प्रतिक्षण स्वतः वियोग हो रहा है। उस स्वतः होते हुए वियोगको संयोग-अवस्थामें ही स्वीकार कर ले तो यह अपने-आपसे अपना उद्धार कर सकता है।

'नात्मानमवसादयेत्'—यह अपने-आपको पतनकी तरफ न ले जाय—इसका तात्पर्य है कि परिवर्तनशील प्राकृत पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े अर्थात् उनको महत्त्व देकर उनका दास न बने, अपनेको उनके अधीन न माने, अपने लिये उनकी आवश्यकता न समझे। जैसे किसीको धन मिला, पद मिला, अधिकार मिला, तो उनके मिलनेसे यह अपनेको बड़ा, श्रेष्ठ और स्वतन्त्र मानता है, पर विचार करके देखें कि यह स्वयं बड़ा हुआ कि धन, पद, अधिकार बड़े हुए? स्वयं चेतन और एकरूप रहते हुए भी इन प्राकृत चीजोंके पराधीन हो जाता है और अपना पतन कर लेता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस पतनमें भी यह अपना उत्थान मानता है और उनके अधीन होकर भी अपनेको स्वाधीन मानता है!

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः'—यह आप ही अपना बन्धु है। अपने सिवाय और कोई बन्धु है ही नहीं। अतः स्वयंको किसीकी जरूरत नहीं है, इसको अपने उद्धारके लिये किसी योग्यताकी जरूरत नहीं है, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिकी जरूरत नहीं है और किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी भी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि प्राकृत पदार्थ इसके साधक (सहायक) अथवा बाधक नहीं है। यह स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है, इसलिये यह स्वयं ही अपना बन्धु (मित्र) है।

हमारे जो सहायक हैं, रक्षक हैं, उद्धारक हैं, उनमें भी जब हम श्रद्धा-भक्ति करेंगे, उनकी बात मानेंगे, तभी वे हमारे बन्धु होंगे, सहायक आदि होंगे। अतः मूलमें हम ही हमारे बन्धु हैं; क्योंकि हमारे माने बिना, हमारे श्रद्धा-विश्वास किये बिना वे हमारा उद्धार नहीं कर सकते—यह नियम है।

'आत्मैव रिपुरात्मनः'—यह आप ही अपना शत्रु है अर्थात् जो अपने द्वारा अपने-आपका उद्धार नहीं करता, वह अपने-आपका शत्रु है। अपने सिवाय इसका कोई दूसरा शत्रु नहीं है। प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी इसका अपकार करनेमें समर्थ नहीं हैं। ये शरीर, इन्द्रियाँ आदि जैसे इसका अपकार नहीं कर सकते, ऐसे ही इसका उपकार भी नहीं कर सकते। जब स्वयं उन शरीरादिको अपना मान लेता है, तो यह स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है। तात्पर्य है कि उन प्राकृत पदार्थोंसे अपनेपनकी स्वीकृति ही अपने साथ अपनी शत्रुता है।

श्लोकके उत्तरार्धमें दो बार **'एव'** पद देनेका तात्पर्य है कि अपना मित्र और शत्रु आप ही है, दूसरा कोई मित्र और शत्रु हो ही नहीं सकता और होना सम्भव भी नहीं है। प्रकृतिके कार्यके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न माननेसे यह आप ही अपना मित्र है और प्रकृतिके कार्यके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध माननेसे यह आप ही अपना शत्रु है।

परिशिष्ट भाव—अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य स्वयं ही कारण होता है, दूसरा कोई नहीं। भगवान्ने मनुष्य-शरीर दिया है तो अपने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। इसलिये अपने कल्याणके लिये दूसरेकी जरूरत नहीं है। पतन भी दूसरा नहीं करता। जीव खुद ही गुणोंका संग करके जन्म-मरणमें पड़ता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

गुरु, सन्त और भगवान् भी तभी उद्धार करते हैं, जब मनुष्य स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनको स्वीकार करता है, उनके सम्मुख होता है, उनके शरण होता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। अगर मनुष्य उनको स्वीकार न करे तो वे कैसे उद्धार करेंगे? नहीं कर सकते। खुद शिष्य न बने तो गुरु क्या करेगा? जैसे, दूसरा व्यक्ति भोजन तो दे देगा, पर भूख खुदकी चाहिये। खुदकी भूख न हो तो दूसरेके द्वारा दिया गया भोजन किस कामका? ऐसे ही खुदकी लगन न हो तो गुरुका, सन्त-महात्माओंका उपदेश किस कामका?

गुरु, सन्त और भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। अनेक बड़े-बड़े सन्त होते आये हैं, गुरु होते आये हैं, भगवान्‌के अवतार होते आये हैं, पर अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है तो इससे सिद्ध होता है कि हमने ही उनको स्वीकार नहीं किया। अतः अपने उद्धार और पतनमें हम ही हेतु हैं। जो अपने उद्धार और पतनमें दूसरेको हेतु मानता है, उसका उद्धार कभी हो ही नहीं सकता।

वास्तविक दृष्टिसे देखें तो भगवान् भी विद्यमान हैं, गुरु भी विद्यमान है, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और अपनेमें योग्यता, सामर्थ्य भी विद्यमान है। केवल नाशवान् सुखकी आसक्तिसे ही उनके प्रकट होनेमें बाधा लग रही है। नाशवान् सुखकी आसक्ति मिटानेकी जिम्मेवारी साधकपर है; क्योंकि उसीने आसक्ति की है।

गुरु बनना या बनाना गीताका सिद्धान्त नहीं है। मनुष्य आप ही अपना गुरु है। इसलिये उपदेश अपनेको ही देना है। जब सब कुछ परमात्मा ही हैं **(वासुदेवः सर्वम्),** तो फिर दूसरा गुरु कैसे बने और कौन किसको उपदेश दे? अतः **'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** का तात्पर्य है कि दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसको दूर करनेकी चेष्टा करे, अपनेको ही उपदेश दे। आप ही अपना गुरु बने, आप ही अपना नेता बने और आप ही अपना शासक बने।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि यह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है। अतः स्वयं अपना मित्र और शत्रु कैसे है—इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं अर्थात् पूर्वश्लोकके उत्तरार्धकी व्याख्या आगेके श्लोकमें करते हैं।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

येन	= जिसने	**एव**	= ही		है, ऐसे अनात्माका
आत्मना	= अपने-आपसे	**आत्मनः**	= अपना	**आत्मा**	= आत्मा
आत्मा	= अपने-आपको	**बन्धुः**	= बन्धु है	**एव**	= ही
जितः	= जीत लिया है,	**तु**	= और	**शत्रुत्वे**	= शत्रुतामें
तस्य	= उसके लिये	**अनातमनः**	= जिसने अपने-	**शत्रुवत्**	= शत्रुकी तरह
आत्मा	= आप		आपको नहीं जीता	**वर्तेत**	= बर्ताव करता है।

व्याख्या—**'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः'**— अपनेमें अपने सिवाय दूसरेकी सत्ता है ही नहीं। अतः जिसने अपनेमें अपने सिवाय दूसरे-(शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि-) की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रखी है अर्थात् असत् पदार्थोंके आश्रयका सर्वथा त्याग करके जो अपने सम स्वरूपमें स्थित हो गया है, उसने अपने-आपको जीत लिया है।

वह अपने-आपमें स्थित हो गया—इसकी क्या पहचान है? उसका अन्तःकरण समतामें स्थित हो जायगा; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। उस ब्रह्मकी निर्दोषता और समता उसके अन्तःकरणपर आ जाती है। इससे पता लग जाता है कि वह ब्रह्ममें स्थित है (गीता—पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह निकला कि ब्रह्ममें स्थित होनेसे ही उसने अपने द्वारा अपने-आपपर विजय प्राप्त कर ली है। वास्तवमें ब्रह्ममें स्थिति तो नित्य-निरन्तर थी ही, केवल मन, बुद्धि आदिको अपना माननेसे ही उस स्थितिका अनुभव नहीं हो रहा था।

संसारमें दूसरोंकी सहायताके बिना कोई भी किसीपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता और दूसरोंकी सहायता लेना ही स्वयंको पराजित करना है। इस दृष्टिसे स्वयं पहले पराजित होकर ही दूसरोंपर विजय प्राप्त करता है। जैसे, कोई अस्त्र-शस्त्रोंसे दूसरेको पराजित करता है, तो वह दूसरोंको पराजित

करनेमें अपने लिये अस्त्र-शस्त्रोंकी आवश्यकता मानता है; अत: स्वयं अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित ही हुआ। कोई शास्त्रके द्वारा, बुद्धिके द्वारा शास्त्रार्थ करके दूसरोंपर विजय प्राप्त करता है, तो वह स्वयं पहले शास्त्र और बुद्धिसे पराजित होता ही है और होना ही पड़ेगा। तात्पर्य यह निकला कि जो किसी भी साधनसे जिस किसीपर भी विजय करता है, वह अपने-आपको ही पराजित करता है। स्वयं पराजित हुए बिना दूसरोंपर कभी कोई विजय कर ही नहीं सकता—यह नियम है। अत: जो अपने लिये दूसरोंकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं समझता, वही अपने-आपसे अपने-आपपर विजय प्राप्त करता है और वही स्वयं अपना बन्धु है।

'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्'—जो अपने सिवाय दूसरोंकी अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, वैभव, राज्य, जमीन, घर, पद, अधिकार आदिकी अपने लिये आवश्यकता मानता है, वही 'अनात्मा' है। तात्पर्य है कि जो अपना स्वरूप नहीं है, आत्मा नहीं है, उसको अपने लिये आवश्यक और सहायक समझता है तथा उसको अपना स्वरूप मान लेता है। ऐसा अनात्मा होकर जो किसी भी प्राकृत पदार्थको अपना समझता है, वह आप ही अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करता है। यद्यपि वह यही समझता है कि मन, बुद्धि आदिको अपना मानकर मैंने उनपर अपना आधिपत्य कर लिया है, उनपर विजय प्राप्त कर ली है, तथापि वास्तवमें (उनको अपना माननेसे) वह खुद ही पराजित हुआ है। तात्पर्य यह निकला कि दूसरोंसे पराजित होकर अपनी विजय समझना ही अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करना है।

'शत्रुत्वे' कहनेमें भाव यह है कि जो अपना नहीं है, उससे 'मैं' और 'मेरा'-पनका सम्बन्ध मानना अपने साथ शत्रुपनेमें मुख्य हेतु है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वयं प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है—यहींसे शत्रुता शुरू हो जाती है। मनुष्य प्राकृत वस्तुओंपर जितना-जितना अधिकार जमाता चला जाता है, उतना-उतना वह अपने-आपको पराधीन बनाता चला जाता है। उसमें भी वह मान, बड़ाई, कीर्ति आदि चाहता है और अधिक-से-अधिक पतनकी तरफ जाता है। उसको दीखता तो यही है कि मैं अच्छा कर रहा हूँ, मेरी उन्नति हो रही है, पर बात बिलकुल उलटी है। वास्तवमें वह अपने साथ अपनी शत्रुताको ही बढ़ा रहा है।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो मानवशरीर जडताका सर्वथा त्याग करके केवल चिन्मयताकी प्राप्तिके लिये मिला है, उसको भूलकर वह वर्तमानमें तथा मरनेके बाद भी मूर्ति, चित्र आदिके रूपमें अपना नाम-रूप कायम रहे—इस तरह जडताको महत्त्व देकर उसको स्थिर रखना चाहता है। इस तरह चिन्मय होकर भी जडताकी दासतामें फँसकर वह अपने साथ महान् शत्रुताका ही बर्ताव करता है।

'शत्रुवत्' कहनेमें भाव यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको अपनी समझकर वह अपनेको उनका अधिपति मानता है; परन्तु वास्तवमें हो जाता है उनका दास! यद्यपि उसका बर्ताव अपनी दृष्टिसे अपना अहित करनेका नहीं होता, तथापि परिणाममें तो उसका अपना अहित ही होता है। इसलिये भगवान्ने कहा कि उसका बर्ताव अपने साथ शत्रुवत् अर्थात् शत्रुताकी तरह होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि कोई भी मनुष्य अपनी दृष्टिसे अपने साथ शत्रुताका बर्ताव नहीं करता। परन्तु असत् वस्तुका आश्रय लेकर मनुष्य अपने हितकी दृष्टिसे भी जो कुछ बर्ताव करता है, वह बर्ताव वास्तवमें अपने साथ शत्रुकी तरह ही होता है; क्योंकि असत् वस्तुका आश्रय परिणाममें जन्म-मृत्युरूप महान् दु:ख देनेवाला है।

परिशिष्ट भाव—शरीरमें मैं-मेरापन न रहे तो आप ही अपना मित्र है और शरीरको मैं-मेरा माने तो आप ही अपने शत्रुकी तरह है अर्थात् अनात्माको सत्ता देनेसे उसका परिणाम शत्रुकी तरह ही होगा।

'शत्रुवत्'—जो नुकसान शत्रु करता है, वही नुकसान वह खुद अपना करता है। वास्तवमें भोगी मनुष्य अपना जितना नुकसान करता है, उतना शत्रु भी नहीं कर सकता। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शत्रुके द्वारा हमारा भला ही होता है। वह हमारा बुरा कर ही नहीं सकता। कारण कि वह वस्तुओंतक ही पहुँचता है, स्वयंतक पहुँचता ही नहीं। अत: नाशवान्के नाशके सिवाय और वह कर ही क्या सकता है? नाशवान्के नाशसे हमारा भला ही होगा। वास्तवमें हमारा नुकसान हमारा भाव बिगड़नेसे ही होता है।

सम्बन्ध—अपने द्वारा अपनी विजय करनेका परिणाम क्या होता है? इसका उत्तर आगेके तीन श्लोकोंमें देते हैं।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जितात्मनः	=जिसने अपने-आपपर विजय कर ली है, उस	**दुःखेषु**	=शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता), सुख-दुःख	**मानापमानयोः**	= मान-अपमानमें
शीतोष्णसुख-		**तथा**	=तथा	**प्रशान्तस्य**	=निर्विकार मनुष्यको
				परमात्मा	=परमात्मा
				समाहितः	=नित्यप्राप्त हैं।

व्याख्या—[छठे श्लोकमें '**अनात्मनः**' पद और यहाँ '**जितात्मनः**' पद आया है। इसका तात्पर्य है कि जो 'अनात्मा' होता है, वह शरीरादि प्राकृत पदार्थोंके साथ 'मैं' और 'मेरा'-पन करके अपने साथ शत्रुताका बर्ताव करता है और जो 'जितात्मा' होता है, वह शरीरादि प्राकृत पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध न मानकर अपने साथ मित्रताका बर्ताव करता है। इस तरह अनात्मा मनुष्य अपना पतन करता है और जितात्मा मनुष्य अपना उद्धार करता है।]

'**जितात्मनः**'—जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि किसी भी प्राकृत पदार्थकी अपने लिये सहायता नहीं मानता और उन प्राकृत पदार्थोंके साथ किंचिन्मात्र भी अपनेपनका सम्बन्ध नहीं जोड़ता, उसका नाम 'जितात्मा' है। जितात्मा मनुष्य अपना तो हित करता ही है, उसके द्वारा दुनियाका भी बड़ा भारी हित होता है।

'**शीतोष्णसुखदुःखेषु प्रशान्तस्य**'—यहाँ 'शीत' और 'उष्ण'—इन दोनों पदोंपर गहरा विचार करें तो ये सरदी और गरमीके वाचक सिद्ध नहीं होते; क्योंकि सरदी और गरमी—ये दोनों केवल त्वगिन्द्रियके विषय हैं। अगर जितात्मा पुरुष केवल एक त्वगिन्द्रियके विषयमें ही शान्त रहेगा तो श्रवण, नेत्र, रसना और घ्राण—इन इन्द्रियोंके विषय बाकी रह जायँगे, अर्थात् इनमें उसका प्रशान्त रहना बाकी रह जायगा तो उसमें पूर्णता नहीं आयेगी। अतः यहाँ 'शीत' और 'उष्ण' पद अनुकूलता और प्रतिकूलताके वाचक हैं।

शीत अर्थात् अनुकूलताकी प्राप्ति होनेपर भीतरमें एक तरहकी शीतलता मालूम देती है और उष्ण अर्थात् प्रतिकूलताकी प्राप्ति होनेपर भीतरमें एक तरहका सन्ताप मालूम देता है। तात्पर्य है कि भीतरमें न शीतलता हो और न सन्ताप हो, प्रत्युत एक समान शान्ति बनी रहे अर्थात् इन्द्रियोंके अनुकूल-प्रतिकूल विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होनेपर भीतरकी शान्ति भंग न हो। कारण कि भीतरमें जो स्वतःसिद्ध शान्ति है, वह अनुकूलतामें राजी होनेसे और प्रतिकूलतामें नाराज होनेसे भंग हो जाती है। अतः शीत-उष्णमें प्रशान्त रहनेका अर्थ हुआ कि बाहरसे होनेवाले संयोग-वियोगका भीतर असर न पड़े।

अब यह विचार करना चाहिये कि 'सुख' और 'दुःख' पदसे क्या अर्थ लें। सुख और दुःख दो-दो तरहके होते हैं—

(१) साधारण लौकिक दृष्टिसे जिसके पास धन-सम्पत्ति-वैभव, स्त्री-पुत्र आदि अनुकूल सामग्रीकी बहुलता हो, उसको लोग 'सुखी' कहते हैं। जिसके पास धनसम्पत्ति-वैभव, स्त्री-पुत्र आदि अनुकूल सामग्रीका अभाव हो, उसको लोग 'दुःखी' कहते हैं।

(२) जिसके पास बाहरकी सुखदायी सामग्री नहीं है, वह भोजन कहाँ करेगा—इसका पता नहीं है, पासमें पहननेके लिये पूरे कपड़े नहीं हैं, रहनेके लिये स्थान नहीं है, साथमें कोई सेवा करनेवाला नहीं है—ऐसी अवस्था होनेपर भी जिसके मनमें दुःख-सन्ताप नहीं होता और जो किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी आवश्यकताका अनुभव भी नहीं करता, प्रत्युत हर हालतमें बड़ा प्रसन्न रहता है, वह 'सुखी' कहलाता है। परन्तु जिसके पास बाहरकी सुखदायी सामग्री पूरी है, भोजनके लिये बढ़िया-से-बढ़िया पदार्थ हैं, पहननेके लिये बढ़िया-से-बढ़िया कपड़े हैं, रहनेके लिये बहुत बढ़िया मकान है, सेवाके लिये कई नौकर हैं—ऐसी अवस्था होनेपर भी भीतरमें रात-दिन चिन्ता रहती है कि मेरी यह सामग्री कहीं नष्ट न हो जाय! यह सामग्री कायम कैसे रहे, बढ़े कैसे? आदि। इस तरह बाहरकी सामग्री रहनेपर भी जो भीतरसे दुःखी रहता है, वह 'दुःखी' कहलाता है।

उपर्युक्त दो प्रकारसे सुख-दुःख कहनेका तात्पर्य है—बाहरकी सामग्रीको लेकर सुखी-दुःखी होना और भीतरकी प्रसन्नता-खिन्नताको लेकर सुखी-दुःखी होना। गीतामें जहाँ सुख-दुःखमें 'सम' होनेकी बात आयी है, वहाँ बाहरकी

सामग्रीमें सम रहनेके लिये कहा गया है; जैसे—'**समदुःखसुखः**' (१२। १३; १४। २४), '**शीतोष्ण-सुखदुःखेषु समः**' (१२। १८) आदि। जहाँ सुख-दुःखसे 'रहित' होनेकी बात आयी है, वहाँ भीतरकी प्रसन्नता और खिन्नतासे रहित होनेके लिये कहा गया है; जैसे—'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः**' (१५। ५) आदि। जहाँ सुख-दुःखमें सम होनेकी बात है, वहाँ सुख-दुःखकी सत्ता तो है, पर उसका असर नहीं पड़ता और जहाँ सुख-दुःखसे रहित होनेकी बात है, वहाँ सुख-दुःखकी सत्ता ही नहीं है। इस तरह चाहे बाहरकी सुखदायी-दुःखदायी सामग्री प्राप्त होनेपर भीतरसे सम होना कहें, चाहे भीतरसे सुख-दुःखसे रहित होना कहें—दोनोंका तात्पर्य एक ही है; क्योंकि सम भी भीतरसे है और रहित भी भीतरसे है।

यहाँ शीत-उष्ण और सुख-दुःखमें प्रशान्त (सम) रहनेकी बात कही गयी है। अनुकूलतासे सुख होता है—'**अनुकूलवेदनीयं सुखम्**' और प्रतिकूलतासे दुःख होता है—'**प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।**' इसलिये अगर शीत-उष्णका अर्थ अनुकूलता-प्रतिकूलता लिया जाय तो सुख-दुःख कहना व्यर्थ हो जायगा और सुख-दुःख कहनेसे शीत-उष्ण कहना व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि सुख-दुःख पद शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता) के ही वाचक हैं। फिर यहाँ शीत-उष्ण और सुख-दुःख पदोंकी सार्थकता कैसे सिद्ध होगी? इसके लिये 'शीत-उष्ण' पदसे प्रारब्धके अनुसार आनेवाली अनुकूलता-प्रतिकूलताको लिया जाय और 'सुख-दुःख' पदसे वर्तमानमें किये जानेवाले क्रियमाण कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्ति तथा उनके तात्कालिक फलकी सिद्धि-असिद्धिको लिया जाय तो इन पदोंकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि चाहे प्रारब्धकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति हो, चाहे क्रियमाणकी तात्कालिक सिद्धि-असिद्धि हो—इन दोनोंमें ही प्रशान्त (निर्विकार) रहे।

इस प्रकरणके अनुसार भी उपर्युक्त अर्थ ठीक दीखता है। कारण कि इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें आये '**नेन्द्रियार्थेषु (अनुषज्जते)**' पदको यहाँ 'शीत-उष्ण' पदसे कहा गया है और '**न कर्मसु अनुषज्जते**' पदोंको यहाँ सुख-दुःख पदसे कहा गया है अर्थात् वहाँ प्रारब्धके अनुसार आयी हुई अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें और क्रियमाण कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्ति तथा तात्कालिक फलकी सिद्धि-असिद्धिमें आसक्तिरहित होनेकी बात आयी है और यहाँ उन दोनोंमें प्रशान्त होनेकी बात आयी है।

'**तथा मानापमानयोः**'—ऐसे ही जो मान-अपमानमें भी प्रशान्त है। अब यहाँ कोई शंका करे कि मान-अपमान भी तो प्रारब्धका फल है; अतः यह शीत-उष्ण (अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति) के ही अन्तर्गत आ गया। फिर इसको अलगसे क्यों लिया गया? मान-अपमानको अलगसे इसलिये लिया गया है कि शीत-उष्ण तो दैवेच्छा-(अनिच्छा-) कृत प्रारब्धका फल है, पर मान-अपमान परेच्छाकृत प्रारब्धका फल है। यह परेच्छाकृत प्रारब्ध मान-बड़ाईमें भी होता है और निन्दा-स्तुति आदिमें भी होता है। इसलिये 'मान-अपमान' पदमें निन्दा-स्तुति लेना चाहें, तो ले सकते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोगी दूसरोंके द्वारा किये गये मान-अपमानमें भी प्रशान्त रहता है अर्थात् उसकी शान्तिमें किंचिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता।

मान-अपमानमें प्रशान्त रहनेका उपाय—साधकका कोई मान-आदर करे, तो साधक यह न माने कि यह मेरे कर्मोंका, मेरे गुणोंका, मेरी अच्छाईका फल है, प्रत्युत यही माने कि यह तो मान-आदर करनेवालेकी सज्जनता है, उदारता है। उसकी सज्जनताको अपना गुण मानना ईमानदारी नहीं है। अगर कोई अपमान कर दे, तो ऐसा माने कि यह मेरे कर्मोंका ही फल है। इसमें अपमान करनेवालेका कोई दोष नहीं है, प्रत्युत वह तो दयाका पात्र है; क्योंकि उस बेचारेने मेरे पापोंका फल भुगतानेमें निमित्त बनकर मेरेको शुद्ध कर दिया है। इस तरह माननेसे साधक मान-अपमानमें प्रशान्त, निर्विकार हो जायगा। अगर वह मानको अपना गुण और अपमानको दूसरोंका दोष मानेगा, तो वह मान-अपमानमें प्रशान्त नहीं हो सकेगा।

'**परमात्मा समाहितः**'—शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान—इन छहोंमें प्रशान्त, निर्विकार रहनेसे सिद्ध होता है कि उसको परमात्मा प्राप्त हैं। कारण कि भीतरसे विलक्षण आनन्द मिले बिना बाहरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, सिद्धि-असिद्धि और मान-अपमानमें वह प्रशान्त नहीं रह सकता। वह प्रशान्त रहता है, तो उसको एकरस रहनेवाला विलक्षण आनन्द मिल गया है। इसलिये गीताने जगह-जगह कहा है कि 'जिन पुरुषोंका मन साम्यावस्थामें स्थित है, उन पुरुषोंने इस जीवित-अवस्थामें ही संसारको जीत लिया है' (पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक लाभका होना मान ही नहीं सकता और जिसमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं हो सकता (छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), आदि-आदि।

परिशिष्ट भाव—जिसकी आत्मा मित्रकी तरह है अर्थात् जिसका शरीरमें मैं-पन और मेरा-पन नहीं है, वह अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दु:ख और मान-अपमान प्राप्त होनेपर भी सम, निर्विकार रहता है। ऐसा मनुष्य सिद्ध कर्मयोगी है अर्थात् उसको परमात्माका अनुभव हो चुका है—ऐसा मानना चाहिये। कारण कि अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दु:ख और मान-अपमान तो आते-जाते हैं, पर परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा = जिसका अन्त:करण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, **कूटस्थः** = जो कूटकी तरह निर्विकार है, **विजितेन्द्रियः** = जितेन्द्रिय है (और) **समलोष्टाश्मकाञ्चनः** = मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें समबुद्धि-वाला है— **इति** = ऐसा **योगी** = योगी **युक्तः** = युक्त (योगारूढ़) **उच्यते** = कहा जाता है।

व्याख्या—‘**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा**’—यहाँ कर्मयोगका प्रकरण है; अत: यहाँ कर्म करनेकी जानकारीका नाम ‘ज्ञान’ है और कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम ‘विज्ञान’ है।

स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि—इन तीनोंको अपने लिये करना ‘ज्ञान’ नहीं है। कारण कि क्रिया, चिन्तन, समाधि आदि मात्र कर्मोंका आरम्भ और समाप्ति होती है तथा उन कर्मोंसे मिलनेवाले फलका भी आदि और अन्त होता है। परन्तु स्वयं परमात्माका अंश होनेसे नित्य रहता है। अत: अनित्य कर्म और फलसे इस नित्य रहनेवालेको क्या तृप्ति मिलेगी? जडके द्वारा चेतनको क्या तृप्ति मिलेगी? ऐसा ठीक अनुभव हो जाय कि कर्मोंके द्वारा मेरेको कुछ भी नहीं मिल सकता, तो यह कर्मोंको करनेका ‘ज्ञान’ है। ऐसा ज्ञान होनेपर वह कर्मोंकी पूर्ति-अपूर्तिमें और पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहेगा—यह ‘विज्ञान’ है। इस ज्ञान और विज्ञानसे वह स्वयं तृप्त हो जाता है। फिर उसके लिये करना, जानना और पाना कुछ भी बाकी नहीं रहता।

‘**कूटस्थः**’*—कूट (अहरन) एक लौह-पिण्ड होता है, जिसपर लोहा, सोना, चाँदी आदि अनेक रूपोंमें गढ़े जाते हैं, पर वह एकरूप ही रहता है। ऐसे ही सिद्ध महापुरुषके सामने तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आती हैं, पर वह कूटकी तरह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है।

‘**विजितेन्द्रियः**’—कर्मयोगके साधकको इन्द्रियोंपर विशेष ध्यान देना पड़ता है; क्योंकि कर्म करनेमें प्रवृत्ति होनेके कारण उसके कहीं-न-कहीं राग-द्वेष होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। इसलिये गीताने कहा है—‘**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्**’ (१२। ११) अर्थात् कर्मफलके त्यागमें जितेन्द्रियता मुख्य है। इस तरह साधन-अवस्थामें इन्द्रियोंपर विशेष खयाल रखनेवाला साधक सिद्ध-अवस्थामें स्वत: ‘विजितेन्द्रिय’ होता है।

‘**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**’—‘लोष्ट’ नाम मिट्टीके ढेलेका, ‘अश्म’ नाम पत्थरका और ‘कांचन’ नाम स्वर्णका है—इन सबमें सिद्ध कर्मयोगी सम रहता है। सम रहनेका अर्थ यह नहीं है कि उसको मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णका ज्ञान नहीं होता। उसको यह ढेला है, यह पत्थर है, यह स्वर्ण है—ऐसा ज्ञान अच्छी तरहसे होता है और उसका व्यवहार भी उनके अनुरूप जैसा होना चाहिये, वैसा ही होता है अर्थात् वह स्वर्णको तिजोरीमें सुरक्षित रखता है और ढेले तथा पत्थरको बाहर ही पड़े रहने देता है। ऐसा होनेपर भी स्वर्ण चला जाय, धन चला जाय तो उसके मनपर कोई असर नहीं पड़ता और स्वर्ण मिल जाय, तो भी उसके मनपर कोई असर नहीं पड़ता अर्थात् उनके आने-जानेसे, बनने-बिगड़नेसे उसको हर्ष-शोक नहीं होते—यही उसका सम रहना है। उसके लिये जैसे पत्थर है, वैसे ही सोना है; जैसे सोना है, वैसे ही ढेला है और जैसे ढेला है वैसे ही सोना है।

*** जो कूट-(अहरन-) की तरह स्थित रहता है, उसको ‘कूटस्थ’ कहते हैं—‘कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थः।’**

अतः इनमेंसे कोई चला गया तो क्या? कोई बिगड़ गया तो क्या? इन बातोंको लेकर उसके अन्तःकरणमें कोई विकार पैदा नहीं होता। इन स्वर्ण आदि प्राकृत पदार्थोंका मूल्य तो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखते हुए ही प्रतीत होता है और तभीतक उनके बढ़िया-घटियापनेका अन्तःकरणमें असर होता है। पर वास्तविक बोध हो जानेपर जब प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उसके अन्तःकरणमें इन प्राकृत (भौतिक) पदार्थोंका कुछ भी मूल्य नहीं रहता अर्थात् बढ़िया-घटिया सब पदार्थोंमें उसका समभाव हो जाता है।

सार यह निकला कि उसकी दृष्टि पदार्थोंके उत्पन्न और नष्ट होनेवाले स्वभावपर रहती है अर्थात् उसकी दृष्टिमें इन प्राकृत पदार्थोंके उत्पन्न और नष्ट होनेमें कोई फर्क नहीं है। सोना उत्पन्न और नष्ट होता है, पत्थर उत्पन्न और नष्ट होता है तथा ढेला भी उत्पन्न और नष्ट होता है। उनकी इस अनित्यतापर दृष्टि रहनेसे उसको सोना, पत्थर और ढेलेमें तत्त्वसे कोई फर्क नहीं दीखता। इन तीनोंके नाम इसलिये लिये हैं कि इनके साथ व्यवहार तो यथायोग्य ही होना चाहिये और यथायोग्य करना ही उचित है तथा वह यथायोग्य व्यवहार करता भी है, पर उसकी दृष्टि उनके विनाशीपनेपर ही रहती है। उनमें जो परमात्मतत्त्व एक समान परिपूर्ण है, उस परमात्मतत्त्वकी स्वतःसिद्ध समता उसमें रहती है।

'युक्त इत्युच्यते योगी'—ऐसा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त, निर्विकार, जितेन्द्रिय और समबुद्धिवाला सिद्ध कर्मयोगी युक्त अर्थात् योगारूढ़, समतामें स्थित कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ-द्वेष्यबन्धुषु	= सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें	**च**	= तथा	**पापेषु** (cont.)	करनेवालोंमें
		साधुषु	= साधु-आचरण करनेवालोंमें (और)	**अपि**	= भी
		पापेषु	= पाप-आचरण	**समबुद्धिः**	= समबुद्धिवाला मनुष्य
				विशिष्यते	= श्रेष्ठ है।

व्याख्या—[आठवें श्लोकमें पदार्थोंमें समता बतायी, अब इस श्लोकमें व्यक्तियोंमें समता बताते हैं। व्यक्तियोंमें समता बतानेका तात्पर्य है कि वस्तु तो अपनी तरफसे कोई क्रिया नहीं करती; अतः उसमें समबुद्धि होना सुगम है, परन्तु व्यक्ति तो अपने लिये और दूसरोंके लिये भी क्रिया करता है; अतः उसमें समबुद्धि होना कठिन है। इसलिये व्यक्तियोंके आचरणोंको देखकर भी जिसकी बुद्धिमें, विचारमें कोई विषमता या पक्षपात नहीं होता, ऐसा समबुद्धिवाला पुरुष श्रेष्ठ है।]

'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु'—जो माता-की तरह ही, पर ममतारहित होकर बिना किसी कारणके सबका हित चाहनेके और हित करनेके स्वभाववाला होता है, उसको 'सुहृद्' कहते हैं और जो उपकारके बदले उपकार करनेवाला होता है, उसको 'मित्र' कहते हैं।

जैसे सुहृद्का बिना कारण दूसरोंका हित करनेका स्वभाव होता है, ऐसे ही जिसका बिना कारण दूसरोंका अहित करनेका स्वभाव होता है, उसको 'अरि' कहते हैं। जो अपने स्वार्थसे अथवा अन्य किसी कारणविशेषको लेकर दूसरोंका अहित, अपकार करता है, वह 'द्वेष्य' होता है।

दो आपसमें वाद-विवाद कर रहे हैं, उनको देखकर भी जो तटस्थ रहता है, किसीका किंचिन्मात्र भी पक्षपात नहीं करता और अपनी तरफसे कुछ कहता भी नहीं, वह 'उदासीन' कहलाता है। परन्तु उन दोनोंकी लड़ाई मिट जाय और दोनोंका हित हो जाय—ऐसी चेष्टा करनेवाला 'मध्यस्थ' कहलाता है।

एक तो बन्धु अर्थात् सम्बन्धी है और दूसरा बन्धु नहीं है, पर दोनोंके साथ बर्ताव करनेमें उसके मनमें कोई विषमभाव नहीं होता। जैसे, उसके पुत्रने अथवा अन्य किसीके पुत्रने कोई बुरा काम किया है, तो वह उनके अपराधके अनुरूप दोनोंको ही समान दण्ड देता है, ऐसे ही उसके पुत्रने अथवा दूसरेके पुत्रने कोई अच्छा काम किया है, तो उनको पुरस्कार देनेमें भी उसका कोई पक्षपात नहीं होता।

'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते'—श्रेष्ठ आचरण करनेवालों और पाप-आचरण करनेवालोंके साथ

व्यवहार करनेमें तो अन्तर होता है और अन्तर होना ही चाहिये, पर उन दोनोंकी हितैषितामें अर्थात् उनका हित करनेमें, दु:खके समय उनकी सहायता करनेमें उसके अन्त:करणमें कोई विषमभाव, पक्षपात नहीं होता। 'सबमें एक परमात्मा हैं, ऐसा स्वयंमें होता है, बुद्धिमें सबकी हितैषिता होती है, मनमें सबका हितचिन्तन होता है, और व्यवहारमें परता-ममता छोड़कर सबके सुखका सम्पादन होता है।

जहाँ विषमबुद्धि अधिक रहनेकी सम्भावना है, वहाँ भी समबुद्धि होना विशेष है। वहाँ समबुद्धि हो जाय, तो फिर सब जगह समबुद्धि हो जाती है।

इस श्लोकमें भाव, गुण, आचरण आदिकी भिन्नताको लेकर नौ प्रकारके प्राणियोंका नाम आया है। इन प्राणियोंके भाव, गुण, आचरण आदिकी भिन्नताको लेकर उनके साथ बर्ताव करनेमें विषमता आ जाय, तो वह दोषी नहीं है। कारण कि वह बर्ताव तो उनके भाव, आचरण, परिस्थिति आदिके अनुसार ही है और उनके लिये ही है, अपने लिये नहीं। परन्तु उन सबमें परमात्मा ही परिपूर्ण हैं—इस भावमें कोई फर्क नहीं आना चाहिये और अपनी तरफसे सबकी सेवा बन जाय—इस भावमें भी कोई अन्तर नहीं आना चाहिये।

तात्पर्य यह हुआ कि जिस किसी मार्गसे जिसको तत्त्वबोध हो जाता है, उसकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है अर्थात् किसी भी जगह पक्षपात न होकर समान रीतिसे सेवा और हितका भाव हो जाता है। जैसे भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९), ऐसे ही वह सिद्ध कर्मयोगी भी सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—'**सुहृदः सर्वदेहिनाम्**' (श्रीमद्भा० ३। २५। २१)।

यहाँ सुहृद्, मित्र आदि नाम लेनेके बाद अन्तमें '**साधुष्वपि च पापेषु**' कहनेका तात्पर्य है कि जिसकी श्रेष्ठ आचरणवालों और निकृष्ट आचरणवालोंमें समबुद्धि हो जायगी, उसकी सब जगह समबुद्धि हो जायगी। कारण कि संसारमें आचरणोंकी ही मुख्यता है, आचरणोंका ही असर पड़ता है, आचरणोंसे ही मनुष्यकी परीक्षा होती है, आचरणोंसे ही श्रद्धा-अश्रद्धा होती है, स्वाभाविक दृष्टि आचरणोंपर ही पड़ती है और आचरणोंसे ही सद्भाव-दुर्भाव पैदा होते हैं। भगवान्ने भी '**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः**' (३। २१) कहकर आचरणकी बात मुख्य बतायी है। इसलिये श्रेष्ठ आचरणवाले और निकृष्ट आचरणवाले—इन दोनोंमें समता हो जायगी, तो फिर सब जगह समता हो जायगी, इन दोनोंमें भी श्रेष्ठ आचरणवाले पुरुषोंमें तो सद्भाव होना सुगम है, पर पाप-आचरणवाले पुरुषोंमें सद्भाव होना कठिन है। अत: भगवान्ने यहाँ '**अपि च**' दो अव्ययोंका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है 'और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी' जिसकी समबुद्धि है,वह श्रेष्ठ है।

यहाँ दीखनेवालोंको लेकर देखनेवालेकी स्थितिका वर्णन किया गया है; अत: '**समबुद्धिर्विशिष्यते**' कहा है। देखनेवालेमें जो समबुद्धि होती है, वह हरेकको दीखती नहीं, पर साधकके लिये तो वही मुख्य है; क्योंकि साधक 'मैं अपनी दृष्टिसे कैसा हूँ', ऐसे अपने-आपको देखता है। इसलिये अपने-आपसे अपना उद्धार करनेके लिये कहा गया है (छठे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

संसारमें प्राय: दूसरोंके आचरणोंपर ही दृष्टि रहती है। साधकको विचार करना चाहिये कि मेरी दृष्टि अपने भावोंपर रहती है या दूसरेके आचरणोंपर? दूसरोंके आचरणोंपर दृष्टि रहनेसे जिस दृष्टिसे अपना कल्याण होता है, वह दृष्टि बंद हो जाती है और अँधेरा हो जाता है। इसलिये दूसरोंके श्रेष्ठ और निकृष्ट आचरणोंपर दृष्टि न रहकर उनका जो वास्तविक स्वरूप है, उसपर दृष्टि रहनी चाहिये। स्वरूपपर दृष्टि रहनेसे उनके आचरणोंपर दृष्टि नहीं रहेगी; क्योंकि स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, जब कि आचरण बदलते रहते हैं। सत्य-तत्त्वपर रहनेवाली दृष्टि भी सत्य होती है। परन्तु जिसकी दृष्टि केवल आचरणोंपर ही रहती है, उसकी दृष्टि असत्पर रहनेसे असत् ही होती है। इसमें भी अशुद्ध आचरणोंपर जिसकी ज्यादा दृष्टि है, उसका तो पतन ही समझना चाहिये। तात्पर्य है कि जो आचरण आदरणीय नहीं है, ऐसे अशुद्ध आचरणोंको जो मुख्यता देता है, वह तो अपना पतन ही करता है। अत: भगवान्ने यहाँ अशुद्ध आचरण करनेवाले पापीमें भी समबुद्धिवालेको श्रेष्ठ बताया है। कारण कि उसकी दृष्टि सत्य-तत्त्वपर रहनेसे उसकी दृष्टिमें सब कुछ परमात्मतत्त्व ही रहता है। फिर आगे चलकर 'सब कुछ' नहीं रहता, केवल परमात्मतत्त्व ही रहता है। उसीकी यहाँ '**समबुद्धिर्विशिष्यते**' पदसे महिमा गायी गयी है।

विशेष बात

गीताका योग 'समता' ही है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२। ४८)। गीताकी दृष्टिसे अगर समता आ गयी तो दूसरे

किसी लक्षणकी जरूरत नहीं है अर्थात् जिसको वास्तविक समताकी प्राप्ति हो गयी है, उसमें सभी सद्गुण-सदाचार स्वतः आ जायँगे और उसकी संसारपर विजय हो जायगी (पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। विष्णुपुराणमें प्रह्लादजीने भी कहा है कि समता भगवान्‌की आराधना (भजन) है— '**समत्वमाराधनमच्युतस्य**' (१।१७।९०)। इस तरह जिस समताकी असीम, अपार, अनन्त महिमा है, जिसका वर्णन कभी कोई कर ही नहीं सकता, उस समताकी प्राप्तिका उपाय है— बुराईरहित होना। बुराईरहित होनेका उपाय है—(१) किसीको बुरा न मानें (२) किसीका बुरा न करें, (३) किसीका बुरा न सोचें, (४) किसीमें बुराई न देखें, (५) किसीकी बुराई न सुनें, (६) किसीकी बुराई न कहें। इन छः बातोंका दृढ़तासे पालन करें, तो हम बुराईरहित हो जायँगे। बुराईरहित होते ही हमारेमें स्वतः-स्वाभाविक अच्छाई आ जायगी; क्योंकि अच्छाई हमारा स्वरूप है।

अच्छाईको लानेके लिये हम प्रयत्न करते हैं, साधन करते हैं; परन्तु वर्षोंतक साधन करनेपर भी वास्तविक अच्छाई हमारेमें नहीं आती और साधन करनेपर खुदको भी सन्तोष नहीं होता, प्रत्युत यही विचार होता है कि इतना साधन करनेपर भी सद्गुण-सदाचार नहीं आये। अतः ये सद्गुण-सदाचार आनेके हैं नहीं—ऐसा समझकर हम साधनसे हताश हो जाते हैं। हताश होनेमें मुख्य कारण यही है कि हमने अच्छाईको उद्योगसाध्य माना है और बुराईको सर्वथा नहीं छोड़ा है। बुराईका सर्वथा त्याग किये बिना आंशिक अच्छाई बुराईको बल देती रहती है। कारण कि आंशिक अच्छाईसे अच्छाईका अभिमान होता है और जितनी बुराई है, वह सब-की-सब अच्छाईके अभिमानपर ही अवलम्बित है। पूर्ण अच्छाई होनेपर अच्छाईका अभिमान नहीं होता और बुराई भी उत्पन्न नहीं होती। अतः बुराईका त्याग करनेपर अच्छाई बिना उद्योग किये और बिना चाहे स्वतः आ जाती है। जब अच्छाई हमारेमें आ जाती है, तब हम अच्छे हो जाते हैं। जब हम अच्छे हो जाते हैं, तब हमारे द्वारा स्वाभाविक ही अच्छाई होने लगती है। जब अच्छाई होने लग जाती है, तब सृष्टिके द्वारा स्वाभाविक ही हमारा जीवन-निर्वाह होने लगता है अर्थात् जीवन-निर्वाहके लिये हमें परिश्रम नहीं करना पड़ता और दूसरोंका आश्रय भी नहीं लेना पड़ता। ऐसी अवस्थामें हम संसारके आश्रयसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। संसारके आश्रयसे सर्वथा मुक्त होते ही हमें स्वतःसिद्ध समता प्राप्त हो जाती है और हम कृतकृत्य हो जाते हैं, जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—समताका विभाग अलग है और विषमताका विभाग अलग है। परमात्मतत्त्व सम है और संसार विषम है। सिद्ध कर्मयोगीकी विषम व्यवहारमें भी समबुद्धि रहती है। बर्ताव करनेमें जिनसे कभी एकता नहीं हो सकती, एकता करनी भी नहीं चाहिये और एकता कर भी नहीं सकते, उन मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें और सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, साधु तथा पापी व्यक्तियोंमें भी उसकी समबुद्धि रहती है। कारण कि उसको 'एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है'—ऐसा अनुभव हो गया है।

एक सोनेसे बनी हुई विष्णुभगवान्‌की मूर्ति हो और एक सोनेसे बनी हुई कुत्तेकी मूर्ति हो तो तौलमें बराबर होनेके कारण दोनोंका मूल्य समान होगा। विष्णुभगवान् सर्वश्रेष्ठ एवं परमपूज्य हैं और कुत्ता नीच (अस्पृश्य) एवं अपूज्य है—इस तरह बाहरी रूपको देखें तो दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है, पर सोनेको देखें तो दोनोंमें कोई फर्क नहीं! इसी तरह संसारमें कोई मित्र है, कोई शत्रु है; कोई महात्मा है, कोई दुरात्मा है; कोई अच्छा है, कोई मन्दा है; कोई सज्जन है, कोई दुष्ट है; कोई सदाचारी है, कोई दुराचारी है; कोई धर्मात्मा है, कोई पापी है; कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है—यह सब तो बाहरी दृष्टिसे है, पर तत्त्वसे देखें तो सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। एक भगवान् ही अनन्त रूपोंमें प्रकट हुए हैं। जानकार मनुष्य उनको पहचान लेता है, दूसरा नहीं पहचान सकता।

स्नान करते समय शरीरमें साबुन लगाकर दर्पणमें देखे तो शरीर बहुत बुरा, भद्दा दीखेगा। कहीं फफोले दीखेंगे, कहीं लकीरें दीखेंगी। परन्तु ऐसा दीखनेपर भी मनमें दुःख नहीं होगा कि कैसी बीमारी हो गयी! कारण कि भीतर यह भाव रहता है कि यह तो ऊपरसे ऐसा दीखता है, जल डालते ही साफ हो जायगा। ऐसे ही सब परमात्माके स्वरूप हैं, पर ऊपरसे शरीरोंमें उनका अलग-अलग स्वभाव दीखता है। वास्तवमें ऊपरसे दीखनेवाले भी परमात्माके ही स्वरूप हैं, पर अपने राग-द्वेषके कारण वे अलग-अलग दीखते हैं।

जो बात पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें '**कर्मयोगो विशिष्यते**' पदोंसे कही थी, वही बात यहाँ '**समबुद्धि-**

विशिष्यते' पदोंसे कही है। समबुद्धिवाला मनुष्य निर्लिप्त रहता है। निर्लिप्त रहनेसे 'योग' होता है, लिप्तता होते ही 'भोग' हो जाता है। समबुद्धि तीनों योगोंमें है, पर कर्मयोगमें विशेष है; क्योंकि भौतिक साधना होनेसे कर्मयोगीके सामने विषमता ज्यादा आती है।

सम्बन्ध—जो समता (समबुद्धि) कर्मयोगसे प्राप्त होती है, वही समता ध्यानयोगसे भी प्राप्त होती है। इसलिये भगवान् ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले ध्यानयोगके लिये प्रेरणा करते हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

अपरिग्रहः = भोगबुद्धिसे संग्रह न करनेवाला, **निराशीः** = इच्छारहित (और) **यतचित्तात्मा** = अन्तःकरण तथा शरीरको वशमें रखनेवाला **योगी** = योगी **एकाकी** = अकेला **रहसि** = एकान्तमें **स्थितः** = स्थित होकर **आत्मानम्** = मनको **सततम्** = निरन्तर **युञ्जीत** = (परमात्मामें) लगाये।

व्याख्या—[पाँचवें अध्यायके सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें जिस ध्यानयोगका संक्षेपसे वर्णन किया था, अब यहाँ उसीका विस्तारसे वर्णन कर रहे हैं।

'**युज् समाधौ**' धातुसे जो 'योग' शब्द बनता है, जिसका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध करना है[1], उस योगका वर्णन यहाँ दसवें श्लोकसे आरम्भ करते हैं।]

'**अपरिग्रहः**'—चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगका साधन संसारमात्रसे विमुख होकर और केवल परमात्माके सम्मुख होकर किया जाता है। अतः उसके लिये पहला साधन बताते हैं—'**अपरिग्रहः**' अर्थात् अपने लिये सुखबुद्धिसे कुछ भी संग्रह न करे। कारण कि अपने सुखके लिये भोग और संग्रह करनेसे उसमें मनका खिंचाव रहेगा, जिससे साधकका मन ध्यानमें नहीं लगेगा। अतः ध्यानयोगके साधकके लिये अपरिग्रह होना जरूरी है।

'**निराशीः**'[2]—पहले '**अपरिग्रहः**' पदसे बाहरके भोग-पदार्थोंका त्याग बताया, अब '**निराशीः**' पदसे भीतरकी भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग करनेके लिये कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भीतरमें किसी भी भोगको भोगबुद्धिसे भोगनेकी इच्छा, कामना, आशा न रखे। कारण कि मनमें उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका महत्त्व, आशा, कामना परमात्मप्राप्तिमें महान् बाधक है। अतः इसमें साधकको सावधान रहना चाहिये।

'**यतचित्तात्मा**'—बाहरसे अपने सुखके लिये पदार्थ और संग्रहका त्याग तथा भीतरसे उनकी कामना-आशाका त्याग होनेपर भी अन्तःकरण आदिमें नया राग होनेकी सम्भावना रहती है, अतः यहाँ तीसरा साधन बताते हैं—'**यतचित्तात्मा**' अर्थात् साधक अन्तःकरणसहित शरीरको वशमें रखनेवाला हो। इनके वशमें होनेपर फिर नया राग पैदा नहीं होगा। इनको वशमें करनेका उपाय है—कोई भी नया काम रागपूर्वक न करे। कारण कि रागपूर्वक प्रवृत्ति होनेसे शरीरकी आराम-आलस्यमें, इन्द्रियोंकी भोगोंमें और मनकी भोगोंके चिन्तनमें अथवा व्यर्थ चिन्तनमें प्रवृत्ति होती है, इसलिये अन्तःकरण और शरीरको वशमें करनेकी बात कही गयी है।

'**योगी**'—जिसका ध्येय, लक्ष्य केवल परमात्मामें लगनेका ही है अर्थात् जो परमात्मप्राप्तिके लिये ही ध्यानयोग करनेवाला है, सिद्धियों और भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, उसको यहाँ 'योगी' कहा गया है।

'**एकाकी**'—ध्यानयोगका साधक अकेला हो, साथमें कोई सहायक न हो; क्योंकि दो होंगे तो बातचीत होने लग जायगी और साथमें कोई सहायक होगा तो रागके कारण उसकी याद आती रहेगी, जिससे मन भगवान्‌में नहीं लगेगा।

'**रहसि स्थितः**'—साधकको कहाँ स्थित होना

१-'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (पातंजलयोगदर्शन १। २)

२-'आशिष्' नाम इच्छाका है और 'निस्' नाम रहित होनेका है; अतः 'निराशीः' का अर्थ हुआ—इच्छासे रहित होना।

चाहिये—इसके लिये बताते हैं कि वह एकान्तमें स्थित रहे अर्थात् ऐसे स्थानमें स्थित रहे, जहाँ ध्यानके विरुद्ध कोई वातावरण न हो। जैसे, नदीका किनारा हो, वनमें एकान्त स्थान हो, एकान्त मन्दिर आदि हो अथवा घरमें ही एक कमरा ऐसा हो, जिसमें केवल भजन-ध्यान किया जाय। उसमें न तो स्वयं भोजन-शयन करे और न कोई दूसरा ही करे।

'आत्मानं सततं युञ्जीत'—उपर्युक्त प्रकारसे एकान्तमें बैठकर मनको निरन्तर भगवान्‌में लगाये। मनको निरन्तर भगवान्‌में लगानेके लिये खास बात है कि जब ध्यान करनेके लिये एकान्त स्थानपर जाय, तब जानेसे पहले ही यह विचार कर ले 'अब मेरेको संसारका कोई काम नहीं करना है, केवल भगवान्‌का ध्यान ही करना है। अब भगवान्‌के सिवाय दूसरेका चिन्तन करना ही नहीं है'—इस बातको लेकर निरन्तर सावधान रहे; क्योंकि सावधानी ही साधना है।

साधकके लिये इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि वह ध्यानके समय तो भगवान्‌के चिन्तनमें तत्परतापूर्वक लगा रहे, व्यवहारके समय भी निर्लिप्त रहते हुए भगवान्‌का चिन्तन करता रहे; क्योंकि व्यवहारके समय भगवान्‌का चिन्तन न होनेसे संसारमें लिप्तता अधिक होती है। व्यवहारके समय भगवान्‌का चिन्तन करनेसे ध्यानके समय चिन्तन करना सुगम होता है और ध्यानके समय ठीक तरहसे चिन्तन होनेसे व्यवहारके समय भी चिन्तन होता रहता है अर्थात् दोनों समयमें किया गया चिन्तन एक-दूसरेका सहायक होता है। तात्पर्य है कि साधकका साधकपना हर समय जाग्रत् रहे। वह संसारमें तो भगवान्‌को मिलाये, पर भगवान्‌में संसारको न मिलाये अर्थात् सांसारिक कार्य करते समय भी भगवत्स्मरण करता रहे।

यदि ध्यानके लिये बैठते समय साधक 'अमुक काम करना है, इतना लेना है, इतना देना है, अमुक जगह जाना है, अमुकसे मिलना है' आदि कार्योंको मनमें जमा रखेगा अर्थात् मनमें इनका संकल्प करेगा, तो उसका मन भगवान्‌के ध्यानमें नहीं लगेगा। अतः ध्यानके लिये बैठते समय यह दृढ़ निश्चय कर ले कि चाहे जो हो जाय, गरदन भले ही कट जाय, मेरेको केवल भगवान्‌का ध्यान ही करना है। ऐसा दृढ़ विचार होनेसे भगवान्‌में मन लगानेमें बड़ी सुविधा हो जायगी।

साधककी यह शिकायत रहती है कि भगवान्‌में मन नहीं लगता, तो इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि साधक संसारसे सम्बन्ध तोड़कर ध्यान नहीं करता, प्रत्युत संसारसे सम्बन्ध जोड़कर करता है। अतः अपने सुख, सेवाके लिये भीतरसे किसीको भी अपना न माने अर्थात् किसीमें ममता न रखे; क्योंकि मन वहीं जायगा, जहाँ ममता होगी। इसलिये उद्देश्य केवल परमात्माका रहे और सबसे निर्लिप्त रहे, तो भगवान्‌में मन लग सकता है।

विशेष बात

अर्जुन पहले भी युद्धके लिये तैयार थे और अन्तमें भी उन्होंने युद्ध किया। केवल बीचमें वे युद्धको पाप समझने लगे थे तो भगवान्‌के समझा देनेसे उन्होंने युद्ध करना स्वीकार किया। इस तरह प्रसंग कर्मोंका होनेसे गीतामें कर्मयोगका विषय आना तो ठीक ही था, पर इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कई पारमार्थिक साधनोंका वर्णन कैसे आया है? उनमें भी यहाँ ध्यानयोगका वर्णन आया, जिसमें केवल एकान्तमें बैठकर ध्यान लगाना पड़ता है। यह प्रसंग ही यहाँ क्यों आया?

अर्जुन पापके भयसे युद्धसे उपरत होते हैं, तो उनके भीतर कल्याणकी इच्छा जाग्रत् होती है। अतः वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि जिससे मेरा निश्चित श्रेय (कल्याण) हो, वह बात आप कहिये (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक)। इसपर भगवान्‌को श्रेय करनेवाले जितने मार्ग हैं, वे सब बताने पड़े। उनमें दान, यज्ञ, तप, वेदाध्ययन, प्राणायाम, ध्यानयोग, हठयोग, लययोग आदिको कहना भी कर्तव्य हो जाता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें कल्याणकारक साधन बताये हैं। उन सब साधनोंमें भगवान्‌ने यह बात बतायी कि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका जो लक्ष्य है, वही खास बन्धनकारक है। अगर साधकका लक्ष्य केवल परमात्माका है, तो फिर उसके सामने कोई भी कर्तव्य-कर्म आ जाय, उसको समभावसे करना चाहिये। समभावसे किये गये सब-के-सब कर्तव्य-कर्म कल्याण करनेवाले होते हैं।

परिशिष्ट भाव—कर्मयोग*, ज्ञानयोग और भक्तियोग तो करणनिरपेक्ष साधन हैं, पर ध्यानयोग करणसापेक्ष साधन है। अब भगवान् ध्यानयोगका वर्णन आरम्भ करते हैं।

---

* **कर्मयोगमें 'कर्म' तो करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है।**

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने ध्यानयोगके लिये प्रेरणा की। ध्यानयोगका साधन कैसे करे—इसके लिये अब आगेके तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगकी उपयोगी बातें बताते हैं।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

शुचौ = शुद्ध
देशे = भूमिपर,
चैलाजिन-कुशोत्तरम् = (जिसपर क्रमशः) कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं,
न = (जो) न
अत्युच्छ्रितम् = अत्यन्त ऊँचा है (और)
न = न
अतिनीचम् = अत्यन्त नीचा, (ऐसे)
आत्मनः = अपने
आसनम् = आसनको
स्थिरम् = स्थिर
प्रतिष्ठाप्य = स्थापन करके।

व्याख्या—**'शुचौ देशे'**—भूमिकी शुद्धि दो तरहकी होती है—(१) स्वाभाविक शुद्ध स्थान; जैसे—गंगा आदिका किनारा; जंगल; तुलसी, आँवला, पीपल आदि पवित्र वृक्षोंके पासका स्थान आदि और (२) शुद्ध किया हुआ स्थान; जैसे—भूमिको गायके गोबरसे लीपकर अथवा जल छिड़ककर शुद्ध किया जाय; जहाँ मिट्टी हो, वहाँ ऊपरकी चार-पाँच अंगुल मिट्टी दूर करके भूमिको शुद्ध किया जाय। ऐसी स्वाभाविक अथवा शुद्ध की हुई समतल भूमिमें काठ या पत्थरकी चौकी आदिको लगा दे।

'चैलाजिनकुशोत्तरम्'—यद्यपि पाठके अनुसार क्रमशः वस्त्र, मृगछाला और कुश बिछानी चाहिये*, तथापि बिछानेमें पहले कुश बिछा दे, उसके ऊपर बिना मारे हुए मृगका अर्थात् अपने-आप मरे हुए मृगका चर्म बिछा दे; क्योंकि मारे हुए मृगका चर्म अशुद्ध होता है। अगर ऐसी मृगछाला न मिले, तो कुशपर टाटका बोरा अथवा ऊनका कम्बल बिछा दे। फिर उसके ऊपर कोमल सूती कपड़ा बिछा दे।

वाराहभगवान्‌के रोमसे उत्पन्न होनेके कारण कुश बहुत पवित्र माना गया है; अतः उससे बना आसन काममें लाते हैं। ग्रहण आदिके समय सूतकसे बचनेके लिये अर्थात् शुद्धिके लिये कुशको पदार्थोंमें, कपड़ोंमें रखते हैं। पवित्री, प्रोक्षण आदिमें भी इसको काममें लेते हैं। अतः भगवान्‌ने कुश बिछानेके लिये कहा है।

कुश शरीरमें गड़े नहीं और हमारे शरीरमें जो विद्युत्-शक्ति है वह आसनमेंसे होकर जमीनमें न चली जाय, इसलिये (विद्युत्-शक्तिको रोकनेके लिये) मृगछाला बिछानेका विधान आया है।

मृगछालाके रोम (रोएँ) शरीरमें न लगें और आसन कोमल रहे, इसलिये मृगछालाके ऊपर सूती शुद्ध कपड़ा बिछानेके लिये कहा गया है। अगर मृगछालाकी जगह कम्बल या टाट हो, तो वह गरम न हो जाय, इसलिये उसपर सूती कपड़ा बिछाना चाहिये।

'नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्'—समतल शुद्ध भूमिमें जो तख्त या चौकी रखी जाय, वह न अत्यन्त ऊँची हो और न अत्यन्त नीची हो। कारण कि अत्यन्त ऊँची होनेसे ध्यान करते समय अचानक नींद आ जाय तो गिरनेकी और चोट लगनेकी सम्भावना रहेगी और अत्यन्त नीची होनेसे भूमिपर घूमनेवाले चींटी आदि जन्तुओंके शरीरपर चढ़ जानेसे और काटनेसे ध्यानमें विक्षेप होगा। इसलिये अति ऊँचे और अति नीचे आसनका निषेध किया गया है।

'प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः'—ध्यानके लिये भूमिपर जो आसन—चौकी या तख्त रखा जाय, वह हिलनेवाला न हो। भूमिपर उसके चारों पाये ठीक तरहसे स्थिर रहें।

जिस आसनपर बैठकर ध्यान आदि किया जाय, वह आसन अपना होना चाहिये, दूसरेका नहीं; क्योंकि दूसरेका आसन काममें लिया जाय तो उसमें वैसे ही परमाणु रहते हैं। अतः यहाँ **'आत्मनः'** पदसे अपना आसन अलग

*** श्लोकमें जैसा पाठ है, अगर वैसा ही लिया जाय तो नीचे कपड़ा, उसके ऊपर मृगछाला और उसके ऊपर कुश बिछानी पड़ेगी। परन्तु यह क्रम लेना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि कुश शरीरमें गड़ती है। अतः नीचे कुश, उसके ऊपर मृगछाला और उसके ऊपर कपड़ा—ऐसा क्रम लिया गया है; क्योंकि पाठ-क्रमसे अर्थ-क्रम बलवान् होता है—'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्'।**

रखनेका विधान आया है। इसी तरहसे गोमुखी, माला, सन्ध्याके पंचपात्र, आचमनी आदि भी अपने अलग रखने चाहिये। शास्त्रोंमें तो यहाँतक विधान आया है कि दूसरोंके बैठनेका आसन, पहननेकी जूती, खड़ाऊँ, कुर्ता आदिको अपने काममें लेनेसे अपनेको दूसरोंके पाप-पुण्यका भागी होना पड़ता है! पुण्यात्मा सन्त-महात्माओंके आसनपर भी नहीं बैठना चाहिये; क्योंकि उनके आसन, कपड़े आदिको पैरसे छूना भी उनका निरादर करना है, अपराध करना है।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

तत्र = उस
आसने = आसनपर
उपविश्य = बैठकर
यतचित्तेन्द्रियक्रियः = चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए।
मनः = मनको
एकाग्रम् = एकाग्र
कृत्वा = करके
आत्मविशुद्धये = अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये
योगम् = योगका
युञ्ज्यात् = अभ्यास करे।

व्याख्या—[पूर्वश्लोकमें बिछाये जानेवाले आसनकी विधि बतानेके बाद अब भगवान् बारहवें और तेरहवें श्लोकमें बैठनेवाले आसनकी विधि बताते हैं।]

'तत्र आसने'—जिस आसनपर क्रमशः कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछाया हुआ है, ऐसे पूर्वश्लोकमें वर्णित आसनके लिये यहाँ **'तत्र आसने'** पद आये हैं।

'उपविश्य'—उस बिछाये हुए आसनपर सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन आदि जिस किसी आसनसे सुखपूर्वक बैठ सके, उस आसनसे बैठ जाना चाहिये। आसनके विषयमें ऐसा आया है कि जिस किसी आसनसे बैठे, उसीमें लगातार तीन घंटेतक बैठा रहे। उतने समयतक इधर-उधर हिले-डुले नहीं। ऐसा बैठनेका अभ्यास सिद्ध होनेसे मन और प्राण स्वतः-स्वाभाविक शान्त (चंचलता-रहित) हो जाते हैं। कारण कि मनकी चंचलता शरीरको स्थिर नहीं होने देती और शरीरकी चंचलता, क्रिया-प्रवणता मनको स्थिर नहीं होने देती। इसलिये ध्यानके समय शरीरका स्थिर रहना बहुत आवश्यक है।

'यतचित्तेन्द्रियक्रियः'—आसनपर बैठनेके समय चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ वशमें रहनी चाहिये। व्यवहारके समय भी शरीर, मन, इन्द्रियों आदिकी क्रियाओंपर अपना अधिकार रहना चाहिये। कारण कि व्यवहारकालमें चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ वशमें नहीं होंगी तो ध्यानके समय भी वे क्रियाएँ जल्दी वशमें नहीं हो सकेंगी। अतः व्यवहारकालमें भी चित्त आदिकी क्रियाओंको वशमें रखना आवश्यक है। तात्पर्य है कि अपना जीवन ठीक तरहसे संयत होना चाहिये। आगे सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंमें भी संयत जीवन रखनेके लिये कहा गया है।

'एकाग्रं मनः कृत्वा'—मनको एकाग्र करे अर्थात् मनमें संसारके चिन्तनको बिलकुल मिटा दे। इसके लिये ऐसा विचार करे कि अब मैं ध्यान करनेके लिये आसनपर बैठा हूँ। यदि इस समय मैं संसारका चिन्तन करूँगा तो अभी संसारका काम तो होगा नहीं और संसारका चिन्तन होनेसे परमात्माका चिन्तन, ध्यान भी नहीं होगा। इस तरह दोनों ओरसे मैं रीता रह जाऊँगा और ध्यानका समय बीत जायगा। इसलिये इस समय मेरेको संसारका चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत मनको केवल परमात्मामें ही लगाना है। ऐसा दृढ़ निश्चय करके बैठ जाय। ऐसा दृढ़ निश्चय करनेपर भी संसारकी कोई बात याद आ जाय तो यही समझे कि यह चिन्तन मेरा किया हुआ नहीं है; किंतु अपने-आप आया हुआ है। जो चिन्तन अपने-आप आता है, उसको हम पकड़ें नहीं अर्थात् न तो उसका अनुमोदन करें और न उसका विरोध ही करें। ऐसा करनेपर वह चिन्तन अपने-आप निर्जीव होकर नष्ट हो जायगा अर्थात् जैसे आया, वैसे चला जायगा; क्योंकि जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट होता ही है—यह नियम है। जैसे संसारमें बहुत-से अच्छे-मन्दे कार्य होते रहते हैं, पर उनके साथ हम अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते तो उनका हमारेपर कोई असर नहीं होता अर्थात् हमें उनका पाप-पुण्य नहीं लगता। ऐसे ही अपने-आप आनेवाले चिन्तनके साथ हम सम्बन्ध नहीं जोड़ेंगे, तो उस चिन्तनका हमारेपर कोई असर नहीं होगा, उसके साथ हमारा मन नहीं चिपकेगा। जब मन नहीं चिपकेगा तो वह स्वतः एकाग्र, शान्त हो जायगा।

'युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये'— अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही ध्यानयोगका अभ्यास करे। सांसारिक पदार्थ, भोग, मान, बड़ाई, आराम, यश-प्रतिष्ठा, सुख-सुविधा आदिका उद्देश्य रखना अर्थात् इनकी कामना रखना ही अन्तःकरणकी अशुद्धि है और सांसारिक पदार्थ आदिकी प्राप्तिका उद्देश्य, कामना न रखकर केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

ऋद्धि, सिद्धि आदिकी प्राप्तिके लिये और दूसरोंको दिखानेके लिये भी योगका अभ्यास किया जा सकता है, पर उनसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाय—ऐसी बात नहीं है। 'योग' एक शक्ति है, जिसको सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिमें लगा दें तो भोग—ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी और परमात्माकी प्राप्तिमें लगा दें तो परमात्मप्राप्तिमें सहायक बन जायगी।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

कायशिरोग्रीवम् = काया, सिर और गलेको
समम् = सीधे
अचलम् = अचल
धारयन् = धारण करके
च = तथा
दिशः = दिशाओंको
अनवलोकयन् = न देखकर (केवल)
स्वम् = अपनी
नासिकाग्रम् = नासिकाके अग्रभागको
सम्प्रेक्ष्य = देखते हुए
स्थिरः = स्थिर होकर (बैठे)।

व्याख्या—**'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलम्'**— यद्यपि 'काय' नाम शरीरमात्रका है, तथापि यहाँ (आसनपर बैठनेके बाद) कमरसे लेकर गलेतकके भागको 'काय' नामसे कहा गया है। 'शिर' नाम ऊपरके भागका अर्थात् मस्तिष्कका है और 'ग्रीवा' नाम मस्तिष्क और कायाके बीचके भागका है। ध्यानके समय ये काया, शिर और ग्रीवा सम, सीधे रहें अर्थात् रीढ़की जो हड्डी है, उसकी सब गाँठें सीधे भागमें रहें और उसी सीधे भागमें मस्तक तथा ग्रीवा रहे। तात्पर्य है कि काया, शिर और ग्रीवा—ये तीनों एक सूतमें अचल रहें। कारण कि इन तीनोंके आगे झुकनेसे नींद आती है, पीछे झुकनेसे जडता आती है और दायें-बायें झुकनेसे चंचलता आती है। इसलिये न आगे झुके, न पीछे झुके और न दायें-बायें ही झुके। दण्डकी तरह सीधा-सरल बैठा रहे।

सिद्धासन, पद्मासन आदि जितने भी आसन हैं, आरोग्यकी दृष्टिसे वे सभी ध्यानयोगमें सहायक हैं। परन्तु यहाँ भगवान्‌ने सम्पूर्ण आसनोंकी सार चीज बतायी है—काया, शिर और ग्रीवाको सीधे समतामें रखना। इसलिये भगवान्‌ने बैठनेके सिद्धासन, पद्मासन आदि किसी भी आसनका नाम नहीं लिया है, किसी भी आसनका आग्रह नहीं रखा है। तात्पर्य है कि चाहे किसी भी आसनसे बैठे, पर काया, शिर और ग्रीवा एक सूतमें ही रहने चाहिये; क्योंकि इनके एक सूतमें रहनेसे मन बहुत जल्दी शान्त और स्थिर हो जाता है।

आसनपर बैठे हुए कभी नींद सताने लगे, तो उठकर थोड़ी देर इधर-उधर घूम ले। फिर स्थिरतासे बैठ जाय और यह भावना बना ले कि अब मेरेको उठना नहीं है, इधर-उधर झुकना नहीं है। केवल स्थिर और सीधे बैठकर ध्यान करना है।

'दिशश्चानवलोकयन्'—दस दिशाओंमें कहीं भी देखे नहीं; क्योंकि इधर-उधर देखनेके लिये जब ग्रीवा हिलेगी, तब ध्यान नहीं होगा, विक्षेप होगा। अतः ग्रीवाको स्थिर रखे।

'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वम्'—अपनी नासिकाके अग्रभागको देखता रहे अर्थात् अपने नेत्रोंको अर्धनिमीलित (अधमुँदे) रखे। कारण कि नेत्र मूँद लेनेसे नींद आनेकी सम्भावना रहती है और नेत्र खुले रखनेसे सामने दृश्य दीखेगा, उसके संस्कार पड़ेंगे तो ध्यानमें विक्षेप होनेकी सम्भावना रहती है। अतः नासिकाके अग्रभागको देखनेका तात्पर्य अर्धनिमीलित नेत्र रखनेमें ही है।

'स्थिरः'—आसनपर बैठनेके बाद शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिकी कोई भी और किसी भी प्रकारकी क्रिया न हो, केवल पत्थरकी मूर्तिकी तरह बैठा रहे। इस प्रकार एक आसनसे कम-से-कम तीन घण्टे स्थिर बैठे रहनेका अभ्यास हो जायगा, तो उस आसनपर उसकी विजय हो जायगी अर्थात् वह 'जितासन' हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—यहाँ नासिकाके अग्रभागको देखना मुख्य नहीं है, प्रत्युत मनको एकाग्र करना मुख्य है।

सम्बन्ध—बिछाने और बैठनेके आसनकी विधि बताकर अब आगेके दो श्लोकोंमें फलसहित सगुण-साकारके ध्यानका प्रकार बताते हैं।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

प्रशान्तात्मा	= जिसका अन्तः-करण शान्त है,	**स्थितः**	= स्थित है, (ऐसा)	**मच्चित्तः**	= मेरेमें चित्त लगाता हुआ
विगतभीः	= जो भयरहित है (और)	**युक्तः**	= सावधान ध्यानयोगी	**मत्परः**	= मेरे परायण होकर
ब्रह्मचारिव्रते	= जो ब्रह्मचारिव्रतमें	**मनः**	= मनका	**आसीत**	= बैठे।
		संयम्य	= संयम करके		

व्याख्या—‘**प्रशान्तात्मा**’—जिसका अन्तःकरण राग-द्वेषसे रहित है, वह ‘**प्रशान्तात्मा**’ है। जिसका सांसारिक विशेषता प्राप्त करनेका, ऋद्धि-सिद्धि आदि प्राप्त करनेका उद्देश्य न होकर केवल परमात्मप्राप्तिका ही दृढ़ उद्देश्य होता है, उसके राग-द्वेष शिथिल होकर मिट जाते हैं। राग-द्वेष मिटनेपर स्वतः शान्ति आ जाती है, जो कि स्वतःसिद्ध है। तात्पर्य है कि संसारके सम्बन्धके कारण ही हर्ष, शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व होते हैं और इन्हीं द्वन्द्वोंके कारण शान्ति भंग होती है। जब ये द्वन्द्व मिट जाते हैं, तब स्वतःसिद्ध शान्ति प्रकट हो जाती है। उस स्वतःसिद्ध शान्तिको प्राप्त करनेवालेका नाम ही ‘**प्रशान्तात्मा**’ है।

‘**विगतभीः**’—शरीरको ‘मैं’ और ‘मेरा’ माननेसे ही रोगका, निन्दाका, अपमानका, मरने आदिका भय पैदा होता है। परन्तु जब मनुष्य शरीरके साथ ‘मैं’ और ‘मेरे’-पनकी मान्यताको छोड़ देता है, तब उसमें किसी भी प्रकारका भय नहीं रहता। कारण कि उसके अन्तःकरणमें यह भाव दृढ़ हो जाता है कि इस शरीरको जीना हो तो जीयेगा ही, इसको कोई मार नहीं सकता और इस शरीरको मरना हो तो मरेगा ही, फिर इसको कोई बचा नहीं सकता। यदि यह मर भी जायगा तो बड़े आनन्दकी बात है; क्योंकि मेरी चित्तवृत्ति परमात्माकी तरफ होनेसे मेरा कल्याण तो हो ही जायगा! जब कल्याणमें कोई सन्देह ही नहीं, तो फिर भय किस बातका? इस भावसे वह सर्वथा भयरहित हो जाता है।

‘**ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**’—यहाँ ‘ब्रह्मचारिव्रत’ का तात्पर्य केवल वीर्यरक्षासे ही नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मचारीके व्रतसे है। तात्पर्य है कि जैसे ब्रह्मचारीका जीवन गुरुकी आज्ञाके अनुसार संयत और नियत होता है, ऐसे ही ध्यानयोगीको अपना जीवन संयत और नियत रखना चाहिये। जैसे ब्रह्मचारी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच विषयोंसे तथा मान, बड़ाई और शरीरके आरामसे दूर रहता है, ऐसे ही ध्यानयोगीको भी उपर्युक्त आठ विषयोंमेंसे किसी भी विषयका भोगबुद्धिसे, रसबुद्धिसे सेवन नहीं करना चाहिये, प्रत्युत निर्वाहबुद्धिसे ही सेवन करना चाहिये। यदि भोगबुद्धिसे उन विषयोंका सेवन किया जायगा, तो ध्यानयोगकी सिद्धि नहीं होगी। इसलिये ध्यान-योगीको ब्रह्मचारिव्रतमें स्थित रहना बहुत आवश्यक है।

व्रतमें स्थित रहनेका तात्पर्य है कि किसी भी अवस्था, परिस्थिति, आदिमें किसी भी कारणसे कभी किंचिन्मात्र भी सुखबुद्धिसे पदार्थोंका सेवन न हो, चाहे वह ध्यानकाल हो, चाहे व्यवहारकाल हो। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंका ब्रह्मचर्य आ जाता है।

‘**मनः संयम्य मच्चित्तः**’—मनको संयत करके मेरेमें ही लगा दे अर्थात् चित्तको संसारकी तरफसे सर्वथा हटाकर केवल मेरे स्वरूपके चिन्तनमें, मेरी लीला, गुण, प्रभाव, महिमा आदिके चिन्तनमें ही लगा दे। तात्पर्य है कि सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिको लेकर मनमें जो कुछ संकल्प-विकल्परूपसे चिन्तन होता है, उससे मनको हटाकर एक मेरेमें ही लगाता रहे।

मनमें जो कुछ चिन्तन होता है, वह प्रायः भूतकालका होता है और कुछ भविष्यकालका भी होता है तथा वर्तमानमें साधक मन परमात्मामें लगाना चाहता है। जब भूतकालकी बात याद आ जाय, तब यह समझे कि वह घटना अभी नहीं है और भविष्यकी बात याद आ जाय, तो वह भी अभी नहीं है। वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर जितने संकल्प-विकल्प हो रहे हैं, वे उन्हीं वस्तु, व्यक्ति आदिके हो रहे हैं, जो अभी नहीं हैं।

हमारा लक्ष्य परमात्माके चिन्तनका है, संसारके चिन्तनका नहीं। अतः जिस संसारका चिन्तन हो रहा है, वह संसार पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और अभी भी नहीं है। परन्तु जिन परमात्माका चिन्तन करना है, वे परमात्मा पहले भी थे, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। इस तरह सांसारिक वस्तु आदिके चिन्तनसे मनको हटाकर परमात्मामें लगा देना चाहिये। कारण कि भूतकालका कितना ही चिन्तन किया जाय, उससे लाभ तो कुछ होगा नहीं और भविष्यका चिन्तन किया जाय तो वह काम अभी कर सकेंगे नहीं तथा भूत-भविष्यका चिन्तन होता रहनेसे जो अभी ध्यान करते हैं, वह भी होगा नहीं तो सब ओरसे रीते ही रह जायँगे।

'युक्तः'—ध्यान करते समय सावधान रहे अर्थात् मनको संसारसे हटाकर भगवान्में लगानेके लिये सदा सावधान, जाग्रत् रहे। इसमें कभी प्रमाद, आलस्य आदि न करे। तात्पर्य है कि एकान्तमें अथवा व्यवहारमें भगवान्में मन लगानेकी सावधानी सदा बनी रहनी चाहिये; क्योंकि चलते-फिरते, काम-धन्धा करते समय भी सावधानी रहनेसे एकान्तमें मन अच्छा लगेगा और एकान्तमें मन अच्छा लगनेसे व्यवहार करते समय भी मन लगानेमें सुविधा होगी। अतः ये दोनों एक-दूसरेके सहायक हैं अर्थात् व्यवहारकी सावधानी एकान्तमें और एकान्तकी सावधानी व्यवहारमें सहायक है।

'आसीत मत्परः'—केवल भगवत्परायण होकर बैठे अर्थात् उद्देश्य, लक्ष्य, ध्येय केवल भगवान्का ही रहे। भगवान्के सिवाय कोई भी सांसारिक वासना, आसक्ति, कामना, स्पृहा, ममता आदि न रहे।

इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें **'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः'** पदोंसे ध्यानयोगका जो उपक्रम किया था, उसीको यहाँ **'युक्त आसीत मत्परः'** पदोंसे कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—अपनी विशेषता माननेसे आसुरी सम्पत्ति आ जाती है। इसलिये भगवान्ने **'मत्परः'** पदसे ध्यानयोगीके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कही है। भगवत्परायणतामें भगवान्का बल रहनेसे विकार शीघ्र दूर हो जाते हैं और अभिमान भी नहीं होता। यह भक्तिकी विशेषता है।

इस श्लोकमें **'मन'** और **'चित्त'**—ये दो समानार्थक पद आये हैं। 'मन' से किसी वस्तुका बार-बार मनन किया जाता है और 'चित्त' से किसी एक ही वस्तुका चिन्तन किया जाता है। अतः यहाँ आये **'मनः संयम्य मच्चित्तः'** पदोंका तात्पर्य है कि संसारका मनन नहीं करे अर्थात् मनको संसारसे हटा ले और चित्तसे केवल भगवान्का चिन्तन करे अर्थात् चित्तको केवल भगवान्में लगा दे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

नियतमानसः = वशमें किये हुए मनवाला
योगी = योगी
आत्मानम् = मनको
एवम् = इस तरहसे
सदा = सदा
युञ्जन् = (परमात्मामें) लगाता हुआ
मत्संस्थाम् = मुझमें सम्यक् स्थितिवाली
निर्वाणपरमाम् = (जो) निर्वाणपरमा
शान्तिम् = शान्ति है, (उसको)
अधिगच्छति = प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**'योगी नियतमानसः'**—जिसका मनपर अधिकार है, वह **'नियतमानसः'** है। साधक 'नियत-मानस' तभी हो सकता है, जब उसके उद्देश्यमें केवल परमात्मा ही रहते हैं। परमात्माके सिवाय उसका और किसीसे सम्बन्ध नहीं रहता। कारण कि जबतक उसका सम्बन्ध संसारके साथ बना रहता है, तबतक उसका मन नियत नहीं हो सकता।

साधकसे यह एक बड़ी गलती होती है कि वह अपने-आपको गृहस्थ आदि मानता है और साधन ध्यानयोगका करता है। जिससे ध्यानयोगकी सिद्धि जल्दी नहीं होती। अतः साधकको चाहिये कि वह अपने-आपको गृहस्थ, साधु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि किसी वर्ण-आश्रमका न मानकर ऐसा माने कि 'मैं तो केवल ध्यान करनेवाला हूँ। ध्यानसे परमात्माकी प्राप्ति करना ही मेरा काम

है। सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि आदिको प्राप्त करना मेरा उद्देश्य ही नहीं है।' इस प्रकार अहंताका परिवर्तन होनेपर मन स्वाभाविक ही नियत हो जायगा; क्योंकि जहाँ अहंता होती है, वहाँ ही अन्तःकरण और बहिःकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

'युञ्जन्नेवं सदात्मानम्'—दसवें श्लोकके **'योगी युञ्जीत सततम्'** पदोंसे लेकर चौदहवें श्लोकके **'युक्त आसीत मत्परः'** पदोंतक जितना ध्यानका, मन लगानेका वर्णन हुआ है, उस सबको यहाँ **'एवम्'** पदसे लेना चाहिये।

'युञ्जन् आत्मानम्' का तात्पर्य है कि मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगाते रहना चाहिये।

'सदा' का तात्पर्य है कि प्रतिदिन नियमितरूपसे ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये। कभी योगका अभ्यास किया और कभी नहीं किया—ऐसा करनेसे ध्यानयोगकी सिद्धि जल्दी नहीं होती। दूसरा तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्राप्तिका लक्ष्य एकान्तमें अथवा व्यवहारमें निरन्तर बना रहना चाहिये।

'शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति'—भगवान्‌में जो वास्तविक स्थिति है, जिसको प्राप्त होनेपर कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता, उसको यहाँ 'निर्वाणपरमा शान्ति' कहा गया है। ध्यानयोगी ऐसी निर्वाणपरमा शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

एक 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और एक 'निर्विकल्प बोध' होता है। ध्यानयोगमें पहले निर्विकल्प स्थिति होती है, फिर उसके बाद निर्विकल्प बोध होता है। इसी निर्विकल्प बोधको यहाँ 'निर्वाणपरमा शान्ति' नामसे कहा गया है।

शान्ति दो तरहकी होती है—शान्ति और परमशान्ति। संसारके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) से 'शान्ति' होती है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर 'परमशान्ति' होती है। इसी परमशान्तिको गीतामें 'नैष्ठिकी शान्ति' (पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक), 'शश्वच्छान्ति' (नवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक) आदि नामोंसे और यहाँ निर्वाणपरमा शान्ति नामसे कहा गया है।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें ध्यानयोगके लिये उपयोगी नियमोंका क्रमशः व्यतिरेक और अन्वय-रीतिसे वर्णन करते हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

अर्जुन = हे अर्जुन!
योगः = (यह) योग
न = न
तु = तो
अति = अधिक
अश्नतः = खानेवालेका
च = और
न = न
एकान्तम् = बिलकुल
अनश्नतः = न खानेवालेका
च = तथा
न = न
अति = अधिक
स्वप्नशीलस्य = सोनेवालेका
च = और
न = न
जाग्रतः = (बिलकुल) न सोनेवालेका
एव = ही
अस्ति = सिद्ध होता है।

व्याख्या—**'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति'**—अधिक खानेवालेका योग सिद्ध नहीं होता*। कारण कि अन्न अधिक खानेसे अर्थात् भूखके बिना खानेसे अथवा भूखसे अधिक खानेसे प्यास ज्यादा लगती है, जिससे पानी ज्यादा पीना पड़ता है। ज्यादा अन्न खाने और पानी पीनेसे पेट भारी हो जाता है। पेट भारी होनेसे शरीर भी बोझिल मालूम देता है। शरीरमें आलस्य छा जाता है। बार-बार पेट याद आता है। कुछ भी काम करनेका अथवा साधन, भजन, जप, ध्यान आदि करनेका मन नहीं करता। न तो सुखपूर्वक बैठा जाता है और न सुखपूर्वक लेटा ही जाता है तथा न चलने-फिरनेका ही मन करता है। अजीर्ण आदि होनेसे शरीरमें रोग पैदा हो जाते हैं। इसलिये अधिक खानेवाले पुरुषका योग कैसे सिद्ध हो सकता है? नहीं हो सकता।

'न चैकान्तमनश्नतः'—ऐसे ही बिलकुल न खानेसे

*** दूसरोंके भोजनकी अपेक्षा अपना भोजन मात्रामें भले ही कम हो, पर अपनी भूखकी अपेक्षा अधिक होनेसे वह भोजन अधिक ही माना जाता है।**

भी योग सिद्ध नहीं होता। कारण कि भोजन न करनेसे मनमें बार-बार भोजनका चिन्तन होता है। शरीरमें शक्ति कम हो जाती है। मांस-मज्जा आदि भी सूखते जाते हैं। शरीर शिथिल हो जाता है। चलना-फिरना कठिन हो जाता है। लेटे रहनेका मन करता है। जीना भारी हो जाता है। बैठ करके अभ्यास करना कठिन हो जाता है। चित्त परमात्मामें लगता ही नहीं। अतः ऐसे पुरुषका योग कैसे सिद्ध होगा?

'न चाति स्वप्नशीलस्य'—जिसका ज्यादा सोनेका स्वभाव होता है, उसका भी योग सिद्ध नहीं होता। कारण कि ज्यादा सोनेसे स्वभाव बिगड़ जाता है अर्थात् बार-बार नींद सताती है। पड़े रहनेमें सुख और बैठे रहनेमें परिश्रम मालूम देता है। ज्यादा लेटे रहनेसे गाढ़ नींद भी नहीं आती। गाढ़ नींद न आनेसे स्वप्न आते रहते हैं, संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। शरीरमें आलस्य भरा रहता है। आलस्यके कारण बैठनेमें कठिनाई होती है। अतः वह योगका अभ्यास भी नहीं कर सकता, फिर योगकी सिद्धि कैसे होगी?

'जाग्रतो नैव चार्जुन'—हे अर्जुन! जब अधिक सोनेसे भी योगकी सिद्धि नहीं होती, तो फिर बिलकुल न सोनेसे योगकी सिद्धि हो ही कैसे सकती है? क्योंकि आवश्यक नींद न लेकर अधिक जगनेसे बैठनेपर नींद सतायेगी, जिससे वह योगका अभ्यास नहीं कर सकेगा।

सात्त्विक मनुष्योंमें भी कभी सत्संगका, सात्त्विक गहरी बातोंका, भगवान्‌की कथाका अथवा भक्तोंके चरित्रोंका प्रसंग छिड़ जाता है, तो कथा आदि कहते हुए, सुनते हुए जब रस, आनन्द आता है, तब उनको भी नींद नहीं आती। परन्तु उनका जगना और तरहका होता है अर्थात् राजसी-तामसी वृत्तिवालोंका जैसा जगना होता है, वैसा जगना सात्त्विक वृत्तिवालोंका नहीं होता। उस जगनेमें सात्त्विक मनुष्योंको जो आनन्द मिलता है, उसमें उनको निद्राके विश्रामकी खुराक मिलती है। अतः रातों जगनेपर भी उनको और समयमें निद्रा नहीं सताती। इतना ही नहीं, उनका वह जगना भी गुणातीत होनेमें सहायता करता है। परन्तु राजसी और तामसी वृत्तिवाले जगते हैं तो उनको और समयमें निद्रा तंग करती है और रोग पैदा करती है।

ऐसे ही भक्तलोग भगवान्‌के नाम-जपमें, कीर्तनमें, भगवान्‌के विरहमें भोजन करना भूल जाते हैं, उनको भूख नहीं लगती, तो वे **'अनश्नतः'** नहीं हैं। कारण कि भगवान्‌की तरफ लग जानेसे उनके द्वारा जो कुछ होता है, वह 'सत्' हो जाता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

दुःखहा = दुःखोंका नाश करनेवाला
योगः = योग (तो)
युक्ताहार-विहारस्य = यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका,
कर्मसु = कर्मोंमें
युक्तचेष्टस्य = यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका (तथा)
युक्तस्वप्नाव-बोधस्य = यथायोग्य सोने और जागनेवालेका (ही)
भवति = (सिद्ध) होता है।

व्याख्या—**'युक्ताहारविहारस्य'**—भोजन सत्य और न्यायपूर्वक कमाये हुए धनका हो, सात्त्विक हो, अपवित्र न हो। भोजन स्वादबुद्धि और पुष्टिबुद्धिसे न किया जाय, प्रत्युत साधनबुद्धिसे किया जाय। भोजन धर्मशास्त्र और आयुर्वेदकी दृष्टिसे किया जाय तथा उतना ही किया जाय, जितना सुगमतासे पच सके। भोजन शरीरके अनुकूल हो तथा वह हलका और थोड़ी मात्रामें (खुराकसे थोड़ा कम) हो—ऐसा भोजन करनेवाला ही युक्त (यथोचित) आहार करनेवाला है।

विहार भी यथायोग्य हो अर्थात् ज्यादा घूमना-फिरना न हो, प्रत्युत स्वास्थ्यके लिये जैसा हितकर हो, वैसा ही घूमना-फिरना हो। व्यायाम, योगासन आदि भी न तो अधिक मात्रामें किये जायँ और न उनका अभाव ही हो। ये सभी यथायोग्य हों। ऐसा करनेवालेको यहाँ युक्त-विहार करनेवाला बताया गया है।

'युक्तचेष्टस्य कर्मसु'—अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल जैसा देश, काल, परिस्थिति आदि प्राप्त हो जाय, उसके अनुसार शरीर-निर्वाहके लिये कर्म किये जायँ और अपनी

शक्तिके अनुसार कुटुम्बियोंकी एवं समाजकी हितबुद्धिसे सेवा की जाय तथा परिस्थितिके अनुसार जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय; उसको बड़ी प्रसन्नतापूर्वक किया जाय—इस प्रकार जिसकी कर्मोंमें यथोचित चेष्टा है, उसका नाम यहाँ 'युक्तचेष्ट' है।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य'—सोना इतनी मात्रामें हो, जिससे जगनेके समय निद्रा-आलस्य न सताये। दिनमें जागता रहे और रात्रिके समय भी आरम्भमें तथा रातके अन्तिम भागमें जागता रहे। रातके मध्यभागमें सोये। इसमें भी रातमें ज्यादा देरतक जागनेसे सबेरे जल्दी नींद नहीं खुलेगी। अतः जल्दी सोये और जल्दी जागे। तात्पर्य है कि जिस सोने और जागनेसे स्वास्थ्यमें बाधा न पड़े, योगमें विघ्न न आये, ऐसे यथोचित सोना और जागना चाहिये।

यहाँ **'युक्तस्वप्नस्य'** कहकर निद्रावस्थाको ही यथोचित कह देते, तो योगकी सिद्धिमें बाधा नहीं लगती थी और पूर्वश्लोकमें कहे हुए 'अधिक सोना और बिलकुल न सोना'—इनका निषेध यहाँ 'यथोचित सोना' कहनेसे ही हो जाता, तो फिर यहाँ 'अवबोध' शब्द देनेमें क्या तात्पर्य है? यहाँ 'अवबोध' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिसके लिये मानवजन्म मिला है, उस काममें लग जाना, भगवान्‌में लग जाना अर्थात् सांसारिक सम्बन्धसे ऊँचा उठकर साधनामें यथायोग्य समय लगाना। इसीका नाम जागना है।

यहाँ ध्यानयोगीके आहार, विहार, चेष्टा, सोना और जगना—इन पाँचोंको 'युक्त' (यथायोग्य) कहनेका तात्पर्य है कि वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति, जीविका आदिको लेकर सबके नियम एक समान नहीं चल सकते; अतः जिसके लिये जैसा उचित हो, वैसा करनेसे दुःखोंका नाश करनेवाला योग सिद्ध हो जाता है।

'योगो भवति दुःखहा'—इस प्रकार यथोचित आहार, विहार आदि करनेवाले ध्यानयोगीका दुःखोंका अत्यन्त अभाव करनेवाला योग सिद्ध हो जाता है।

योग और भोगमें विलक्षण अन्तर है। योगमें तो भोगका अत्यन्त अभाव है, पर भोगमें योगका अत्यन्त अभाव नहीं है। कारण कि भोगमें जो सुख होता है, वह सुखानुभूति भी असत्‌के संयोगका वियोग होनेसे होती है। परन्तु मनुष्यकी उस वियोगपर दृष्टि न रहकर असत्‌के संयोगपर ही दृष्टि रहती है। अतः मनुष्य भोगके सुखको संयोगजन्य ही मान लेता है और ऐसा माननेसे ही भोगासक्ति पैदा होती है। इसलिये उसको दुःखोंका नाश करनेवाले योगका अनुभव नहीं होता। दुःखोंका नाश करनेवाला योग वही होता है, जिसमें भोगका अत्यन्त अभाव होता है।

विशेष बात

यद्यपि यह श्लोक ध्यानयोगीके लिये कहा गया है, तथापि इस श्लोकको सभी साधक अपने काममें ले सकते हैं और इसके अनुसार अपना जीवन बनाकर अपना उद्धार कर सकते हैं। इस श्लोकमें मुख्यरूपसे चार बातें बतायी गयी हैं—युक्त आहार-विहार, युक्त कर्म, युक्त सोना और युक्त जागना। इन चार बातोंको साधक काममें कैसे लाये? इसपर विचार करना है।

हमारे पास चौबीस घंटे हैं और हमारे सामने चार काम हैं। चौबीस घंटोंको चारका भाग देनेसे प्रत्येक कामके लिये छः-छः घंटे मिल जाते हैं; जैसे—(१) आहार-विहार अर्थात् भोजन करना और घूमना-फिरना इन शारीरिक आवश्यक कार्योंके लिये छः घंटे। (२) कर्म अर्थात् खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका-सम्बन्धी कार्योंके लिये छः घंटे। (३) सोनेके लिये छः घंटे और (४) जागने अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये जप, ध्यान, साधन-भजन, कथा-कीर्तन आदिके लिये छः घंटे।

इन चार बातोंके भी दो-दो बातोंके दो विभाग हैं—एक विभाग 'उपार्जन' अर्थात् कमानेका है और दूसरा विभाग 'व्यय' अर्थात् खर्चेका है। युक्त कर्म और युक्त जगना—ये दो बातें उपार्जनकी हैं। युक्त आहार-विहार और युक्त सोना—ये दो बातें व्ययकी हैं। उपार्जन और व्यय—इन दो विभागोंके लिये हमारे पास दो प्रकारकी

मनुष्यके पास पूँजी

- धन-धान्य
  - व्यय — आहार-विहार
  - उपार्जन — जीविका-सम्बन्धी-कर्म
- आयु
  - व्यय — सोना
  - उपार्जन — जागना (साधन-भजन)

पूँजी है—(१) सांसारिक धन-धान्य और (२) आयु।

पहली पूँजी—धन-धान्यपर विचार किया जाय तो उपार्जन अधिक करना तो चल जायगा, पर उपार्जनकी अपेक्षा अधिक खर्चा करनेसे काम नहीं चलेगा। इसलिये आहार-विहारमें छः घंटे न लगाकर चार घंटेसे ही काम चला ले और खेती, व्यापार आदिमें आठ घंटे लगा दे। तात्पर्य है कि आहार-विहारका समय कम करके जीविका-सम्बन्धी कार्योंमें अधिक समय लगा दे।

दूसरी पूँजी—आयुपर विचार किया जाय तो सोनेमें आयु व्यर्थ खर्च होती है। अतः सोनेमें छः घंटे न लगाकर चार घंटेसे ही काम चला ले और भजन-ध्यान आदिमें आठ घंटे लगा दे। तात्पर्य है कि जितना कम सोनेसे काम चल जाय, उतना चला ले और नींदका बचा हुआ समय भगवान्‌के भजन-ध्यान आदिमें लगा दे। इस उपार्जन-(साधन-भजन-) की मात्रा तो दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही रहनी चाहिये; क्योंकि हम यहाँ सांसारिक धन-वैभव आदि कमानेके लिये नहीं आये हैं, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये ही आये हैं। इसलिये दूसरे समयमेंसे जितना समय निकाल सकें, उतना समय निकालकर अधिक-से-अधिक भजन-ध्यान करना चाहिये।

दूसरी बात, जीविका-सम्बन्धी कर्म करते समय भी भगवान्‌को याद रखे और सोते समय भी भगवान्‌को याद रखे। सोते समय यह समझे कि अबतक चलते-फिरते, बैठकर भजन किया है, अब लेटकर भजन करना है। लेटकर भजन करते-करते नींद आ जाय तो आ जाय, पर नींदके लिये नींद नहीं लेनी है। इस प्रकार लेटकर भगवत्स्मरण करनेका समय पूरा हो गया, तो फिर उठकर भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय करे और भगवत्स्मरण करते हुए ही काम-धंधेमें लग जाय, तो सब-का-सब काम-धंधा भजन हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—सोलहवाँ और सत्रहवाँ श्लोक ध्यानयोगीके लिये तो उपयोगी हैं ही, अन्य योगियों (साधकों) के लिये भी बड़े उपयोगी हैं।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें ध्यानयोगके लिये अन्वय-व्यतिरेक-रीतिसे खास नियम बता दिये। अब ऐसे नियमोंका पालन करते हुए स्वरूपका ध्यान करनेवाले साधककी क्या स्थिति होती है, यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

विनियतम्	= वशमें किया हुआ	**अवतिष्ठते**	= स्थित हो जाता है (और)		(हो जाता है),
चित्तम्	= चित्त			**तदा**	= उस कालमें
यदा	= जिस कालमें	**सर्वकामेभ्यः**	= (स्वयं) सम्पूर्ण पदार्थोंसे	**युक्तः**	= (वह) योगी है—
आत्मनि	= अपने स्वरूपमें			**इति**	= ऐसा
एव	= ही	**निःस्पृहः**	= निःस्पृह	**उच्यते**	= कहा जाता है।

व्याख्या—[इस अध्यायके दसवेंसे तेरहवें श्लोकतक सभी ध्यानयोगी साधकोंके लिये बिछाने और बैठनेवाले आसनोंकी विधि बतायी। चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकमें सगुण-साकारके ध्यानका फलसहित वर्णन किया। फिर सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंमें सभी साधकोंके लिये उपयोगी नियम बताये। अब इस (अठारहवें) श्लोकसे लेकर तेईसवें श्लोकतक स्वरूपके ध्यानका फलसहित वर्णन करते हैं।]

'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते'—अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ चित्त* अर्थात् संसारके चिन्तनसे

*** (क) चित्तकी पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें 'मूढ़' और 'क्षिप्त' वृत्तिवाला पुरुष योगका अधिकारी होता ही नहीं। चित्त कभी स्वरूपमें लगता है और कभी नहीं लगता—ऐसा 'विक्षिप्त' वृत्तिवाला पुरुष योगका अधिकारी होता है। जब चित्तवृत्ति 'एकाग्र' हो जाती है, तब सविकल्प समाधि होती है। एकाग्रवृत्तिके बाद जब चित्तकी 'निरुद्ध' अवस्था होती है, तब निर्विकल्प समाधि होती है। इस निर्विकल्प समाधिको ही 'योग' कहा गया है।**

यहाँ भगवान्‌ने 'विनियतं चित्तम्' पदोंसे एकाग्रवृत्ति अर्थात् सविकल्प समाधिका संकेत किया है।

(ख) इसी अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें जिसको 'नियतमानसः' कहा गया है, उसकी अवस्थाका वर्णन यहाँ किया गया है।

रहित चित्त जब अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है। तात्पर्य है कि जब यह सब कुछ नहीं था, तब भी जो था और सब कुछ नहीं रहेगा, तब भी जो रहेगा तथा सबके उत्पन्न होनेके पहले भी जो था, सबका लय होनेके बाद भी जो रहेगा और अभी भी जो ज्यों-का-त्यों है, उस अपने स्वरूपमें चित्त स्थित हो जाता है। अपने स्वरूपमें जो रस है, आनन्द है, वह इस मनको कहीं भी और कभी भी नहीं मिला है। अतः वह रस, आनन्द मिलते ही मन उसमें तल्लीन हो जाता है।

'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा'—और जब वह प्राप्त-अप्राप्त, दृष्ट-अदृष्ट, ऐहलौकिक-पारलौकिक, श्रुत-अश्रुत सम्पूर्ण पदार्थोंसे, भोगोंसे निःस्पृह हो जाता है अर्थात् उसको किसी भी पदार्थकी, भोगकी किंचिन्मात्र भी परवाह नहीं रहती, उस समय वह 'योगी' कहा जाता है।

यहाँ '**यदा**' और '**तदा**' पद देनेका तात्पर्य है कि वह इतने दिनोंमें, इतने महीनोंमें, इतने वर्षोंमें योगी होगा—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत जिस क्षण वशमें किया हुआ चित्त स्वरूपमें स्थित हो जायगा और सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जायगा, उसी क्षण वह योगी हो जायगा।

विशेष बात

इस श्लोकमें दो खास बातें बतायी हैं—एक तो चित्त स्वरूपमें स्थित हो जाय और दूसरी, सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाय। तात्पर्य है कि स्वरूपमें लगते-लगते जब मन स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है, तो फिर मनमें किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिका चिन्तन नहीं होता, प्रत्युत मन स्वरूपमें ही तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार स्वरूपमें ही मन लगा रहनेसे ध्यानयोगी वासना, कामना, आशा, तृष्णा आदिसे सर्वथा रहित हो जाता है। इतना ही नहीं, वह जीवन-निर्वाहके लिये उपयोगी पदार्थोंकी आवश्यकतासे भी निःस्पृह हो जाता है। उसके मनमें किसी भी वस्तु आदिकी किंचिन्मात्र भी स्पृहा नहीं रहती, तब वह असली योगी होता है।

इसी अवस्थाका संकेत पहले चौथे श्लोकमें कर्मयोगीके लिये किया गया है कि 'जिस कालमें इन्द्रियोंके अर्थों-(भोगों-) में और क्रियाओंमें आसक्ति नहीं रहती तथा सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग कर देता है, तब वह योगारूढ़ कहा जाता है (छठे अध्यायका चौथा श्लोक)। वहाँके और यहाँके प्रसंगमें अन्तर इतना ही है कि वहाँ कर्मयोगी दूसरोंकी सेवाके लिये ही कर्म करता है तो उसका क्रियाओं और पदार्थोंसे सर्वथा राग हट जाता है, तब वह योगारूढ़ हो जाता है और यहाँ ध्यानयोगी चित्तको स्वरूपमें लगाता है तो उसका चित्त केवल स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है, तब वह क्रियाओं और पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगीकी कामनाएँ पहले मिटती हैं, तब वह योगारूढ़ होता है और ध्यानयोगीका चित्त पहले अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसकी कामनाएँ मिटती हैं। कर्मयोगीका मन संसारकी सेवामें लग जाता है और स्वयं स्वरूपमें स्थित हो जाता है; और ध्यानयोगी स्वयं मनके साथ स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

सम्बन्ध—स्वरूपमें स्थिर हुए चित्तकी क्या स्थिति होती है—इसको आगेके श्लोकमें दीपकके दृष्टान्तसे स्पष्ट बताते हैं।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

यथा	= जैसे		जाती है,	**योगिनः**	= योगीके
निवातस्थः	= स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित	**योगम्**	= योगका	**आत्मनः**	= चित्तकी
		युञ्जतः	= अभ्यास करते हुए	**सा**	= वैसी ही
दीपः	= दीपककी लौ	**यतचित्तस्य**	= वशमें किये हुए चित्तवाले	**उपमा**	= उपमा
न, इङ्गते	= चेष्टारहित हो			**स्मृता**	= कही गयी है।

व्याख्या—**'यथा दीपो निवातस्थो……युञ्जतो योगमात्मनः'**—जैसे सर्वथा स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें रखे हुए दीपककी लौ थोड़ी भी हिलती-डुलती नहीं है, ऐसे ही जो योगका अभ्यास करता है, जिसका मन स्वरूपके चिन्तनमें लगता है और जिसने चित्तको अपने वशमें कर रखा है, उस ध्यानयोगीके चित्तके लिये भी दीपककी लौकी उपमा दी गयी है। तात्पर्य है कि उस योगीका चित्त स्वरूपमें ऐसा लगा हुआ है कि उसमें एक स्वरूपके सिवाय दूसरा

कुछ भी चिन्तन नहीं होता।

पूर्वश्लोकमें जिस योगीके चित्तको विनियत कहा गया है, उस वशीभूत किये हुए चित्तवाले योगीके लिये यहाँ '**यतचित्तस्य**' पद आया है।

कोई भी स्थान वायुसे सर्वथा रहित नहीं होता। वायु सर्वत्र रहती है। कहींपर वायु स्पन्दनरूपसे रहती है और कहींपर नि:स्पन्दनरूपसे रहती है। इसलिये यहाँ '**निवातस्थः**' पद वायुके अभावका वाचक नहीं है, प्रत्युत स्पन्दित वायुके अभावका वाचक है।

यहाँ उपमेय चित्तको पर्वत आदि स्थिर, अचल पदार्थोंकी उपमा न देकर दीपककी लौकी ही उपमा क्यों दी गयी? दीपककी लौ तो स्पन्दित वायुसे हिल भी सकती है, पर पर्वत कभी हिलता ही नहीं। अत: पर्वतकी ही उपमा देनी चाहिये थी? इसका उत्तर यह है कि पर्वत स्वभावसे ही स्थिर, अचल और प्रकाशहीन है, जब कि दीपककी लौ स्वभावसे चंचल और प्रकाशमान है। चंचल वस्तुको स्थिर रखनेमें विशेष कठिनता पड़ती है। चित्त भी दीपककी लौके समान स्वभावसे ही चंचल है, इसलिये चित्तको दीपककी लौकी उपमा दी गयी है।

दूसरी बात, जैसे दीपककी लौ प्रकाशमान होती है, ऐसे ही योगीके चित्तकी परमात्मतत्त्वमें जागृति रहती है। यह जागृति सुषुप्तिसे विलक्षण है। यद्यपि सुषुप्ति और समाधि—इन दोनोंमें संसारकी निवृत्ति समान रहती है, तथापि सुषुप्तिमें चित्तवृत्ति अविद्यामें लीन हो जाती है। अत: उस अवस्थामें स्वरूपका भान नहीं होता। परन्तु समाधिमें चित्तवृत्ति जाग्रत् रहती है अर्थात् चित्तमें स्वरूपकी जागृति रहती है। इसीलिये यहाँ दीपककी लौका दृष्टान्त दिया गया है। इसी बातको चौथे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें '**ज्ञानदीपिते**' पदसे कहा है।

सम्बन्ध—जिस अवस्थामें पूर्णता प्राप्त होती है, उस अवस्थाका आगेके श्लोकमें स्पष्ट वर्णन करते हैं।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

योगसेवया	= योगका सेवन करनेसे	**उपरमते**	= उपराम हो जाता है	**आत्मानम्**	= अपने-आपको
यत्र	= जिस अवस्थामें	**च**	= तथा	**पश्यन्**	= देखता हुआ
निरुद्धम्	= निरुद्ध	**यत्र**	= जिस अवस्थामें (स्वयं)	**आत्मनि**	= अपने-आपमें
चित्तम्	= चित्त	**आत्मना**	= अपने-आपसे	**एव**	= ही
				तुष्यति	= सन्तुष्ट हो जाता है।

व्याख्या—'**यत्रोपरमते चित्तं ······· पश्यन्नात्मनि तुष्यति**'—ध्यानयोगमें पहले 'मनको केवल स्वरूपमें ही लगाना है' यह धारणा होती है। ऐसी धारणा होनेके बाद स्वरूपके सिवाय दूसरी कोई वृत्ति पैदा हो भी जाय, तो उसकी उपेक्षा करके उसे हटा देने और चित्तको केवल स्वरूपमें ही लगानेसे जब मनका प्रवाह केवल स्वरूपमें ही लग जाता है, तब उसको ध्यान कहते हैं। ध्यानके समय ध्याता, ध्यान और ध्येय—यह त्रिपुटी रहती है अर्थात् साधक ध्यानके समय अपनेको ध्याता (ध्यान करनेवाला) मानता है, स्वरूपमें तद्रूप होनेवाली वृत्तिको ध्यान मानता है और साध्यरूप स्वरूपको ध्येय मानता है। तात्पर्य है कि जबतक इन तीनोंका अलग-अलग ज्ञान रहता है, तबतक वह 'ध्यान' कहलाता है। ध्यानमें ध्येयकी मुख्यता होनेके कारण साधक पहले अपनेमें ध्यातापना भूल जाता है। फिर ध्यानकी वृत्ति भी भूल जाता है। अन्तमें केवल ध्येय ही जाग्रत् रहता है। इसको 'समाधि' कहते हैं। यह 'संप्रज्ञात-समाधि' है, जो चित्तकी एकाग्र अवस्थामें होती है। इस समाधिके दीर्घकालके अभ्याससे फिर 'असंप्रज्ञात-समाधि' होती है। इन दोनों समाधियोंमें भेद यह है कि जबतक ध्येय, ध्येयका नाम और नाम-नामीका सम्बन्ध— ये तीनों चीजें रहती हैं, तबतक वह 'संप्रज्ञात-समाधि' होती है। इसीको चित्तकी 'एकाग्र' अवस्था कहते हैं। परन्तु जब नामकी स्मृति न रहकर केवल नामी (ध्येय) रह जाता है, तब वह 'असंप्रज्ञात-समाधि' होती है। इसीको चित्तकी 'निरुद्ध' अवस्था कहते हैं।

निरुद्ध अवस्थाकी समाधि दो तरहकी होती है— सबीज और निर्बीज। जिसमें संसारकी सूक्ष्म वासना रहती है, वह 'सबीज समाधि' कहलाती है। सूक्ष्म वासनाके कारण सबीज समाधिमें सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। ये सिद्धियाँ सांसारिक दृष्टिसे तो ऐश्वर्य हैं, पर पारमार्थिक

दृष्टिसे (चेतन-तत्त्वकी प्राप्तिमें) विघ्न हैं। ध्यानयोगी जब इन सिद्धियोंको निस्तत्त्व समझकर इनसे उपराम हो जाता है, तब उसकी 'निर्बीज समाधि' होती है, जिसका यहाँ (इस श्लोकमें) **'निरुद्धम्'** पदसे संकेत किया गया है।

ध्यानमें संसारके सम्बन्धसे विमुख होनेपर एक शान्ति, एक सुख मिलता है, जो कि संसारका सम्बन्ध रहनेपर कभी नहीं मिलता। संप्रज्ञात-समाधिमें उससे भी विलक्षण सुखका अनुभव होता है। इस संप्रज्ञात-समाधिसे भी असंप्रज्ञात-समाधिमें विलक्षण सुख होता है। जब साधक निर्बीज समाधिमें पहुँचता है, तब उसमें बहुत ही विलक्षण सुख, आनन्द होता है। योगका अभ्यास करते-करते चित्त निरुद्ध-अवस्था—निर्बीज समाधिसे भी उपराम हो जाता है अर्थात् योगी उस निर्बीज समाधिका भी सुख नहीं लेता, उसके सुखका भोक्ता नहीं बनता। उस समय वह अपने स्वरूपमें अपने-आपका अनुभव करता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है।

'उपरमते' पदका तात्पर्य है कि चित्तका संसारसे तो प्रयोजन रहा नहीं और स्वरूपको पकड़ सकता नहीं। कारण कि चित्त प्रकृतिका कार्य होनेसे जड है और स्वरूप चेतन है। जड चित्त चेतन स्वरूपको कैसे पकड़ सकता है? नहीं पकड़ सकता। इसलिये वह उपराम हो जाता है। चित्तके उपराम होनेपर योगीका चित्तसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

'तुष्यति' कहनेका तात्पर्य है कि उसके सन्तोषका दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण नहीं रहता। केवल अपना स्वरूप ही उसके सन्तोषका कारण रहता है।

इस श्लोकका सार यह है कि अपने द्वारा अपनेमें ही अपने स्वरूपकी अनुभूति होती है। वह तत्त्व अपने भीतर ज्यों-का-त्यों है। केवल संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण चित्तकी वृत्तियाँ संसारमें लगती हैं, जिससे उस तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती। जब ध्यानयोगके द्वारा चित्त संसारसे उपराम हो जाता है, तब योगीका चित्तसे तथा संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही उसको अपने-आपमें ही अपने स्वरूपकी अनुभूति हो जाती है।

विशेष बात

जिस तत्त्वकी प्राप्ति ध्यानयोगसे होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्मयोगसे होती है। परन्तु इन दोनों साधनोंमें थोड़ा अन्तर है। ध्यानयोगमें जब साधकका चित्त समाधिके सुखसे भी उपराम हो जाता है, तब वह अपने-आपसे अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है। कर्मयोगमें जब साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देता है, तब वह अपने-आपसे अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक)।

ध्यानयोगमें अपने स्वरूपमें मन लगनेसे जब मन स्वरूपमें तदाकार हो जाता है, तब समाधि लगती है। उस समाधिसे भी जब मन उपराम हो जाता है, तब योगीका चित्तसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।

कर्मयोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि पदार्थोंका और सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह केवल दूसरोंके हितकी तरफ हो जाता है, तब मनोगत सम्पूर्ण कामनाएँ छूट जाती हैं। कामनाओंका त्याग होते ही मनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—मन आत्मामें नहीं लगता, प्रत्युत उपराम हो जाता है। कारण कि मनकी जाति अलग है और आत्माकी जाति अलग है। मन अपरा प्रकृति (जड़) है और आत्मा परा प्रकृति (चेतन) है। इसलिये आत्मा ही आत्मामें लगती है—**'आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।'**

अपने-आपमें अपने-आपको देखनेका तात्पर्य है कि आत्मतत्त्व परसंवेद्य नहीं है, प्रत्युत स्वसंवेद्य है। मनसे जो चिन्तन किया जाता है, वह मनके विषय (अनात्मा) का ही चिन्तन होता है, परमात्माका नहीं। बुद्धिसे जो निश्चय किया जाता है, वह बुद्धिके विषयका ही निश्चय होता है, परमात्माका नहीं। वाणीसे जो वर्णन किया जाता है, वह वाणीके विषयका ही वर्णन होता है, परमात्माका नहीं। तात्पर्य है कि मन-बुद्धि-वाणीसे प्रकृतिके कार्य-(अनात्मा) का ही चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन किया जाता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति मन-बुद्धि-वाणीसे सर्वथा विमुख (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर ही होती है।*

*** यदि एक परमात्मप्राप्तिका ही ध्येय हो तो मन-बुद्धि-वाणीसे चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन करना भी अनुचित नहीं है, प्रत्युत वह भी साधनरूप हो जाता है। परन्तु साधक उसमें ही सन्तोष कर ले, पूर्णता मान ले तो वह बाधक हो जाता है।**

यहाँ जिस तत्त्वकी प्राप्ति ध्यानयोगसे बतायी गयी है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें कर्मयोगसे भी बतायी गयी है। अन्तर इतना है कि ध्यानयोग तो करणसापेक्ष है, पर कर्मयोग करणनिरपेक्ष साधन है। करणसापेक्ष साधनमें जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद देरीसे होता है और इसमें योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि ध्यानयोगी अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तोषका अनुभव करता है। अब उसके बाद क्या होता है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

यत्	= जो	**तत्**	= उस सुखका	**अयम्**	= यह ध्यानयोगी
सुखम्	= सुख	**यत्र**	= जिस अवस्थामें	**तत्त्वतः**	= तत्त्वसे
आत्यन्तिकम्	= आत्यन्तिक,	**वेत्ति**	= अनुभव करता है	**एव**	= फिर (कभी)
अतीन्द्रियम्	= अतीन्द्रिय (और)	**च**	= और (जिस सुखमें)	**न, चलति**	= विचलित नहीं होता।
बुद्धिग्राह्यम्	= बुद्धिग्राह्य है,	**स्थितः**	= स्थित हुआ		

व्याख्या—**'सुखमात्यन्तिकं यत्'**—ध्यानयोगी अपने द्वारा अपने-आपमें जिस सुखका अनुभव करता है, प्राकृत संसारमें उस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई सुख हो ही नहीं सकता और होना सम्भव ही नहीं है। कारण कि यह सुख तीनों गुणोंसे अतीत और स्वतःसिद्ध है। यह सम्पूर्ण सुखोंकी आखिरी हद है—**'सा काष्ठा सा परा गतिः'**। इसी सुखको अक्षय सुख (पाँचवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), अत्यन्त सुख (छठे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक) और ऐकान्तिक सुख (चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक) कहा गया है।

इस सुखको यहाँ 'आत्यन्तिक' कहनेका तात्पर्य है कि यह सुख सात्त्विक सुखसे विलक्षण है। कारण कि सात्त्विक सुख तो परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक); परन्तु यह आत्यन्तिक सुख उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत यह स्वतःसिद्ध अनुत्पन्न सुख है।

'अतीन्द्रियम्'—इस सुखको इन्द्रियोंसे अतीत बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख राजस सुखसे विलक्षण है। राजस सुख सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदिके सम्बन्धसे पैदा होता है और इन्द्रियोंद्वारा भोगा जाता है। वस्तु, व्यक्ति आदिका प्राप्त होना हमारे हाथकी बात नहीं है और प्राप्त होनेपर उस सुखका भोग उस विषय (वस्तु, व्यक्ति आदि) के ही अधीन होता है। अतः राजस सुखमें पराधीनता है। परन्तु आत्यन्तिक सुखमें पराधीनता नहीं है। कारण कि आत्यन्तिक सुख इन्द्रियोंका विषय नहीं है। इन्द्रियोंकी तो बात ही क्या है, वहाँ मनकी भी पहुँच नहीं है। यह सुख तो स्वयंके द्वारा ही अनुभवमें आता है। अतः इस सुखको अतीन्द्रिय कहा है।

'बुद्धिग्राह्यम्'—इस सुखको बुद्धिग्राह्य बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख तामस सुखसे विलक्षण है। तामस सुख निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है। गाढ़ निद्रा-(सुषुप्ति) में सुख तो मिलता है, पर उसमें बुद्धि लीन हो जाती है। आलस्य और प्रमादमें भी सुख होता है, पर उसमें बुद्धि ठीक-ठीक जाग्रत् नहीं रहती तथा विवेकशक्ति भी लुप्त हो जाती है। परन्तु इस आत्यन्तिक सुखमें बुद्धि लीन नहीं होती और विवेकशक्ति भी ठीक जाग्रत् रहती है। पर इस आत्यन्तिक सुखको बुद्धि पकड़ नहीं सकती; क्योंकि प्रकृतिका कार्य बुद्धि प्रकृतिसे अतीत स्वरूपभूत सुखको पकड़ ही कैसे सकती है?

यहाँ सुखको आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य बतानेका तात्पर्य है कि यह सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे विलक्षण अर्थात् गुणातीत स्वरूपभूत है।

'वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः'—ध्यानयोगी अपने द्वारा ही अपने-आपके सुखका अनुभव करता है और इस सुखमें स्थित हुआ वह कभी किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं होता अर्थात् इस सुखकी अखण्डता निरन्तर स्वतः बनी रहती है। जैसे, मुसलमानोंने धोखेसे शिवाजीके पुत्र संभाजीको कैद कर लिया और उनसे मुस्लिम-धर्म स्वीकार करनेके लिये कहा। परन्तु जब संभाजीने उसको स्वीकार नहीं किया, तब मुसलमानोंने

उनकी आँखें निकाल लीं, उनकी चमड़ी खींच ली, तो भी वे अपने हिन्दूधर्मसे किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए। तात्पर्य यह निकला कि मनुष्य जबतक अपनी मान्यताको स्वयं नहीं छोड़ता, तबतक उसको दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता। जब अपनी मान्यताको भी कोई छुड़ा नहीं सकता, तो फिर जिसको वास्तविक सुख प्राप्त हो गया है, उस सुखको कोई कैसे छुड़ा सकता है और वह स्वयं भी उस सुखसे कैसे विचलित हो सकता है? नहीं हो सकता।

मनुष्य उस वास्तविक सुखसे, ज्ञानसे, आनन्दसे कभी चलायमान नहीं होता—इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य सात्त्विक सुखसे भी चलायमान होता है; उसका समाधिसे भी व्युत्थान होता है। परन्तु आत्यन्तिक सुखसे अर्थात् तत्त्वसे वह कभी विचलित और व्युत्थित नहीं होता; क्योंकि उसमें उसकी दूरी, भेद, भिन्नता मिट गयी और अब केवल वह-ही-वह रह गया। अब वह विचलित और व्युत्थित कैसे हो? विचलित और व्युत्थित तभी होता है, जब जडताका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है। जबतक जडताका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह एकरस नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृति सदा ही क्रियाशील रहती है।

परिशिष्ट भाव—स्वरूपका अनुभव होनेपर ध्यानयोगीको उस अविनाशी, अखण्ड सुखकी अनुभूति हो जाती है, जो 'आत्यन्तिक' अर्थात् सात्त्विक सुखसे विलक्षण, 'अतीन्द्रिय' अर्थात् राजस सुखसे विलक्षण और 'बुद्धिग्राह्य' अर्थात् तामस सुखसे विलक्षण है।

अविनाशी सुखको 'बुद्धिग्राह्य' कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह बुद्धिकी पकड़में आनेवाला है। कारण कि बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य है, फिर वह प्रकृतिसे अतीत सुखको कैसे पकड़ सकती है? इसलिये अविनाशी सुखको बुद्धिग्राह्य कहनेका तात्पर्य उस सुखको तामस सुखसे विलक्षण बतानेमें ही है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक)। गाढ़ निद्रा-(सुषुप्ति) में बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है और आलस्य तथा प्रमादमें बुद्धि पूरी तरह जाग्रत् नहीं रहती। परन्तु स्वतःसिद्ध अविनाशी सुखमें बुद्धि अविद्यामें लीन नहीं होती, प्रत्युत पूरी तरह जाग्रत् रहती है—'**ज्ञानदीपिते**' (गीता ४। २७)। अतः बुद्धिकी जागृतिकी दृष्टिसे ही उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है। वास्तवमें बुद्धि वहाँतक पहुँचती ही नहीं।

जैसे दर्पणमें सूर्य नहीं आता, प्रत्युत सूर्यका बिम्ब आता है, ऐसे ही बुद्धिमें वह अविनाशी सुख नहीं आता, प्रत्युत उस सुखका बिम्ब आभास आता है, इसलिये भी उसको '**बुद्धिग्राह्य**' कहा गया है।

तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंका अखण्ड सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे भी अत्यन्त विलक्षण अर्थात् गुणातीत है। उसको बुद्धिग्राह्य कहनेपर भी वास्तवमें वह बुद्धिसे सर्वथा अतीत है।

बुद्धियुक्त (प्रकृतिसे मिला हुआ) चेतन ही बुद्धिग्राह्य है, शुद्ध चेतन नहीं। वास्तवमें स्वयं प्रकृतिसे मिल सकता ही नहीं, पर वह अपनेको मिला हुआ मान लेता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)।

सम्बन्ध—ध्यानयोगी तत्त्वसे चलायमान क्यों नहीं होता—इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

यम् = जिस
लाभम् = लाभकी
लब्ध्वा = प्राप्ति होनेपर
ततः = उससे
अधिकम् = अधिक
अपरम् = कोई दूसरा
(लाभ)
न, मन्यते = (उसके) माननेमें भी नहीं आता
च = और
यस्मिन् = जिसमें
स्थितः = स्थित होनेपर
(वह)
गुरुणा = बड़े भारी
दुःखेन = दुःखसे
अपि = भी
न, विचाल्यते = विचलित नहीं किया जा सकता।

व्याख्या—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'**—मनुष्यको जो सुख प्राप्त है, उससे अधिक सुख दीखता है तो वह उसके लोभमें आकर विचलित हो जाता है। जैसे, किसीको एक घंटेके सौ रुपये मिलते हैं। अगर उतने ही समयमें दूसरी जगह हजार रुपये मिलते हों, तो वह सौ रुपयोंकी स्थितिसे विचलित हो जायगा और हजार रुपयोंकी स्थितिमें चला जायगा। निद्रा, आलस्य और प्रमादका तामस सुख प्राप्त होनेपर भी जब विषयजन्य सुख ज्यादा अच्छा लगता है, उसमें अधिक सुख मालूम देता है, तब मनुष्य तामस सुखको छोड़कर विषयजन्य सुखकी तरफ लपककर चला जाता है। ऐसे ही जब वह विषयजन्य सुखसे ऊँचा उठता है, तब वह सात्त्विक सुखके लिये विचलित हो जाता है और जब सात्त्विक सुखसे भी ऊँचा उठता है, तब वह आत्यन्तिक सुखके लिये विचलित हो जाता है। परन्तु जब आत्यन्तिक सुख प्राप्त हो जाता है, तो फिर वह उससे विचलित नहीं होता; क्योंकि आत्यन्तिक सुखसे बढ़कर दूसरा कोई सुख, कोई लाभ है ही नहीं। आत्यन्तिक सुखमें सुखकी हद हो जाती है। ध्यानयोगीको जब ऐसा सुख मिल जाता है, तो फिर वह इस सुखसे विचलित हो ही कैसे सकता है?

'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'—विचलित होनेका दूसरा कारण है कि लाभ तो अधिक होता हो, पर साथमें महान् दुःख हो, तो मनुष्य उस लाभसे विचलित हो जाता है। जैसे, हजार रुपये मिलते हों, पर साथमें प्राणोंका भी खतरा हो, तो मनुष्य हजार रुपयोंसे विचलित हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य जिस किसी स्थितिमें स्थित होता है, वहाँ कोई भयंकर आफत आ जाती है, तो मनुष्य उस स्थितिको छोड़ देता है। परन्तु यहाँ भगवान् कहते हैं कि आत्यन्तिक सुखमें स्थित होनेपर योगी बड़े-से-बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता। जैसे, किसी कारणसे उसके शरीरको फाँसी दे दी जाय, शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, आपसमें भिड़ते दो पहाड़ोंके बीचमें शरीर दबकर पिस जाय, जीते-जी शरीरकी चमड़ी उतारी जाय, शरीरमें तरह-तरहके छेद किये जायँ, उबलते हुए तेलमें शरीरको डाला जाय—इस तरहके गुरुतर, महान् भयंकर दुःखोंके एक साथ आनेपर भी वह विचलित नहीं होता।

वह विचलित क्यों नहीं किया जा सकता? कारण कि जितने भी दुःख आते हैं, वे सभी प्रकृतिके राज्यमें अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिमें ही आते हैं, जब कि आत्यन्तिक सुख, स्वरूप-बोध प्रकृतिसे अतीत तत्त्व है। परन्तु जब पुरुष प्रकृतिस्थ हो जाता है अर्थात् शरीरके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह प्रकृतिजन्य अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें अपनेको सुखी-दुःखी मानने लग जाता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। जब वह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपभूत सुखका अनुभव कर लेता है, उसमें स्थित हो जाता है, तो फिर यह प्राकृतिक दुःख वहाँतक पहुँच ही नहीं सकता, उसका स्पर्श ही नहीं कर सकता। इसलिये शरीरमें कितनी ही आफत आनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं किया जा सकता।

परिशिष्ट भाव—यह श्लोक सभी साधनोंकी कसौटी है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी साधनसे यह कसौटी प्राप्त होनी चाहिये। अपनी स्थिति समझनेके लिये यह श्लोक साधकके लिये बहुत उपयोगी है। जीवमात्रका ध्येय यही रहता है कि मेरा दुःख मिट जाय और सुख मिल जाय। अतः इस श्लोकमें वर्णित स्थिति साधकमात्रको प्राप्त करनी चाहिये, अन्यथा उसकी साधना पूर्ण नहीं हुई। साधक बीचमें अटक न जाय, अपनी अधूरी स्थितिको ही पूर्ण न मान ले, इसके लिये उसको यह श्लोक सामने रखना चाहिये।

जिसमें लाभका तो अन्त नहीं और दुःखका लेश भी नहीं—ऐसा दुर्लभ पद मनुष्यमात्रको मिल सकता है! परन्तु वह भोग और संग्रहमें लगकर कितना अनर्थ कर लेता है, जिसका कोई पारावार नहीं!

सम्बन्ध—जिस सुखकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक लाभकी सम्भावना नहीं रहती और जिसमें स्थित होनेपर बड़ा भारी दुःख भी विचलित नहीं करता, ऐसे सुखकी प्राप्तिके लिये आगेके श्लोकमें प्रेरणा करते हैं।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

दुःखसंयोग-		**विद्यात्**	= जानना चाहिये।		अभ्यास
वियोगम्	= जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है,	**सः**	= (वह योग जिस ध्यानयोगका लक्ष्य है,) उस	**अनिर्विण्णचेतसा**	= न उकताये हुए चित्तसे
तम्	= उसीको			**निश्चयेन**	= निश्चयपूर्वक
योगसञ्ज्ञितम्	= 'योग' नामसे	**योगः**	= ध्यानयोगका	**योक्तव्यः**	= करना चाहिये।

व्याख्या—**'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'**—जिसके साथ हमारा सम्बन्ध है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव ही नहीं, ऐसे दुःखरूप संसार-शरीरके साथ सम्बन्ध मान लिया, यही 'दुःखसंयोग' है। यह दुःखसंयोग 'योग' नहीं है। अगर यह योग होता अर्थात् संसारके साथ हमारा नित्य-सम्बन्ध होता, तो इस दुःखसंयोगका कभी वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) नहीं होता। परन्तु बोध होनेपर इसका वियोग हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि दुःखसंयोग केवल हमारा माना हुआ है, हमारा बनाया हुआ है, स्वाभाविक नहीं है। इससे कितनी ही दृढ़तासे संयोग मान लें और कितने ही लम्बे कालतक संयोग मान लें, तो भी इसका कभी संयोग नहीं हो सकता। अतः हम इस माने हुए आगन्तुक दुःखसंयोगका वियोग कर सकते हैं। इस दुःखसंयोग-(शरीर-संसार-) का वियोग करते ही स्वाभाविक 'योग' की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् स्वरूपके साथ हमारा जो नित्ययोग है, उसकी हमें अनुभूति हो जाती है। स्वरूपके साथ नित्ययोगको ही यहाँ 'योग' समझना चाहिये।

यहाँ दुःखरूप संसारके सर्वथा वियोगको 'योग' कहा गया है। इससे यह असर पड़ता है कि अपने स्वरूपके साथ पहले हमारा वियोग था, अब योग हो गया। परन्तु ऐसी बात नहीं है। स्वरूपके साथ हमारा नित्ययोग है। दुःखरूप संसारके संयोगका तो आरम्भ और अन्त होता है तथा संयोगकालमें भी संयोगका आरम्भ और अन्त होता रहता है। परन्तु इस नित्ययोगका कभी आरम्भ और अन्त नहीं होता। कारण कि यह योग मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थोंसे नहीं होता, प्रत्युत इनके सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है। यह नित्ययोग स्वतःसिद्ध है। इसमें सबकी स्वाभाविक स्थिति है। परन्तु अनित्य संसारसे सम्बन्ध मानते रहनेके कारण इस नित्ययोगकी विस्मृति हो गयी है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्ययोगकी स्मृति हो जाती है। इसीको अर्जुनने अठारहवें अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** कहा है। अतः यह योग नया नहीं हुआ है, प्रत्युत जो नित्ययोग है, उसीकी अनुभूति हुई है।

भगवान्ने यहाँ **'योगसञ्ज्ञितम्'** पद देकर दुःखके संयोगके वियोगका नाम 'योग' बताया है और दूसरे अध्यायमें **'समत्वं योग उच्यते'** कहकर समताको ही 'योग' बताया है। यहाँ साध्यरूप समताका वर्णन है और वहाँ (दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें) साधनरूप समताका वर्णन है। ये दोनों बातें तत्त्वतः एक ही हैं; क्योंकि साधनरूप समता ही अन्तमें साध्यरूप समतामें परिणत हो जाती है।

पतंजलि महाराजने चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (योगदर्शन १। २) और चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति बतायी है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१। ३)। परन्तु यहाँ भगवान्ने **'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** पदोंसे द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थितिको ही 'योग' कहा है, जो स्वतःसिद्ध है।

यहाँ **'तम्'** कहनेका क्या तात्पर्य है? अठारहवें श्लोकमें योगीके लक्षण बताकर उन्नीसवें श्लोकमें दीपकके दृष्टान्तसे उसके अन्तःकरणकी स्थितिका वर्णन किया गया। उस ध्यानयोगीका चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है, उसका संकेत बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें **'यत्र'** पदसे किया और जब उस योगीकी स्थिति परमात्मामें हो जाती है, उसका संकेत श्लोकके उत्तरार्धमें **'यत्र'** पदसे किया। इक्कीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें **'यत्'** पदसे उस योगीके आत्यन्तिक सुखकी महिमा कही और उत्तरार्धमें **'यत्र'** पदसे उसकी अवस्थाका संकेत किया। बाईसवें श्लोकके पूर्वार्धमें **'यम्'** पदसे उस योगीके लाभका वर्णन किया और उत्तरार्धमें उसी लाभको **'यस्मिन्'** पदसे कहा। इस तरह बीसवें श्लोकसे बाईसवें श्लोकतक छः बार **'यत्'*** शब्दका प्रयोग करके योगीकी जो विलक्षण स्थिति बतायी गयी है, उसीका यहाँ **'तम्'** पदसे संकेत करके उसकी महिमा कही गयी है।

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा'—जिसमें दुःखोंके संयोगका ही अभाव है, ऐसे योग-

---

* **यत्र, यम्, यस्मिन्—ये तीनों 'यत्' शब्दसे ही बने हुए हैं।**

(साध्यरूप समता-) का उद्देश्य रखकर साधकको न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये, जिसका इसी अध्यायके अठारहवेंसे बीसवें श्लोकतक वर्णन हुआ है।

योगका अनुभव करनेके लिये सबसे पहले साधकको अपनी बुद्धि एक निश्चयवाली बनानी चाहिये अर्थात् 'मेरेको तो योगकी ही प्राप्ति करनी है' ऐसा एक निश्चय करना चाहिये। ऐसा निश्चय करनेपर संसारका कितना ही प्रलोभन आ जाय, कितना ही भयंकर कष्ट आ जाय, तो भी उस निश्चयको नहीं छोड़ना चाहिये।

'**अनिर्विण्णचेतसा**' का तात्पर्य है कि समय बहुत लग गया, पुरुषार्थ बहुत किया, पर सिद्धि नहीं हुई! इसकी सिद्धि कब होगी? कैसे होगी?—इस तरह कभी उकताये नहीं। साधकका भाव ऐसा रहे कि चाहे कितने ही वर्ष लग जायँ, कितने ही जन्म लग जायँ, कितने ही भयंकर-से-भयंकर दुःख आ जायँ, तो भी मेरेको तत्त्वको प्राप्त करना ही है। साधकके मनमें स्वतः-स्वाभाविक ऐसा विचार आना चाहिये कि मेरे अनेक जन्म हुए, पर वे सब-के-सब निरर्थक चले गये; उनसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। अनेक बार नरकोंके कष्ट भोगे, पर उनको भोगनेसे भी कुछ नहीं मिला अर्थात् केवल पूर्वके पाप नष्ट हुए, पर परमात्मा नहीं मिले। अब यदि इस जन्मका सारा-का-सारा समय, आयु और पुरुषार्थ परमात्माकी प्राप्तिमें लग जाय, तो कितनी बढ़िया बात है!

परिशिष्ट भाव—सांसारिक संयोगका विभाग अलग है और योगका विभाग अलग है। 'संयोग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा नहीं रह सकते और जो हमारे साथ सदा नहीं रह सकता। 'योग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा रह सकते हैं और जो हमारे साथ सदा रह सकता है। इसलिये संसारमें एक-दूसरेके साथ संयोग होता है और परमात्माके साथ योग होता है। संसारका योग नहीं है और परमात्माका वियोग नहीं है अर्थात् संसार हमें मिला हुआ नहीं है और परमात्मा हमारेसे अलग नहीं है। संसारको मिला हुआ मानना और परमात्माको अलग मानना—यही अज्ञान है, यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। संसारके संयोगका तो वियोग होता ही है, पर परमात्माके योगका कभी वियोग होता ही नहीं।

मनुष्य चाहता है संयोग, पर हो जाता है वियोग, इसलिये संसार दुःखरूप है—'**दुःखालयमशाश्वतम्**' (गीता ८। १५)। कुछ चाहना रहनेसे ही दुःखोंका संयोग होता है। कुछ भी चाहना न रहे तो दुःखोंका संयोग नहीं होता, प्रत्युत परमात्माके साथ योग होता है।

परमात्माके साथ जीवका योग अर्थात् सम्बन्ध नित्य है। इस स्वतःसिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है। वह नित्ययोग सब देशमें है, सब कालमें है, सब क्रियाओंमें है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओंमें है। तात्पर्य है कि इस नित्ययोगका कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। परन्तु असत् (शरीर) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। दुःखरूप असत्‌के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। परन्तु इन साधनोंको 'योग' तभी कहा जायगा, जब असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव होगा।

योगकी परिभाषा भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—

(१) समताका नाम योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२। ४८)।

(२) दुःखरूप संसारके संयोगके वियोगका नाम योग है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (६। २३)।

चाहे समता कह दें, चाहे संसारके संयोगका वियोग कह दें, दोनों एक ही हैं। तात्पर्य है कि समतामें स्थिति होनेपर संसारके संयोगका वियोग हो जायगा और संसारके संयोगका वियोग होनेपर समतामें स्थिति हो जायगी। दोनोंमेंसे कोई एक होनेपर नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो '**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' पहली स्थिति है और '**समत्वं योग उच्यते**' बादकी स्थिति है, जिसमें नैष्ठिकी शान्ति, परमशान्ति अथवा आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति है।

समताकी प्राप्ति भी स्वतः हो रही है और दुःखोंकी निवृत्ति भी स्वतः हो रही है। प्राप्ति उसीकी होती है, जो नित्यप्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जो नित्यनिवृत्त है। नित्यप्राप्तकी प्राप्तिका नाम भी योग है और नित्यनिवृत्तकी निवृत्तिका

नाम भी योग है। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके संयोगसे होनेवाले जितने भी सुख हैं, वे सब दुःखोंके कारण अर्थात् दुःख पैदा करनेवाले हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। अतः संयोगमें ही दुःख होता है, वियोगमें नहीं। वियोग-(संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद) में जो सुख है, उस सुखका वियोग नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है। जब संयोगमें भी वियोग है और वियोगमें भी वियोग है तो वियोग ही नित्य हुआ। इस नित्य वियोगको ही गीता 'योग' कहती है।

परमात्मतत्त्व 'है'-रूप और संसार 'नहीं'-रूप है। एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर शुद्ध 'है' दीखता है! कारण कि 'है' को देखनेमें मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ वृत्तिरूप 'नहीं' भी मिला रहेगा। परन्तु 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा; जैसे—कूड़ा-करकट दूर करनेपर उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य है कि 'परमात्मा सबमें परिपूर्ण हैं'—इसका मनसे चिन्तन करनेपर, बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है'—इस प्रकार संसारको अभावरूपसे देखनेपर संसार और वृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और भावरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व स्वतः शेष रह जायगा।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने जिस योग-(साध्यरूप समता-) का वर्णन किया था, उसी योगकी प्राप्तिके लिये अब आगेके श्लोकसे निर्गुण-निराकारके ध्यानका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

सङ्कल्पप्रभवान् = संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली
सर्वान् = सम्पूर्ण
कामान् = कामनाओंका
अशेषतः = सर्वथा
त्यक्त्वा = त्याग करके (और)
मनसा = मनसे
एव = ही
इन्द्रियग्रामम् = इन्द्रिय-समूहको
समन्ततः = सभी ओरसे
विनियम्य = हटाकर।

व्याख्या—[जो स्थिति कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीकी होती है (छठे अध्यायके पहलेसे नवें श्लोकतक), वही स्थिति सगुण-साकार भगवान्‌का ध्यान करनेवालेकी (छठे अध्यायका चौदहवाँ-पन्द्रहवाँ श्लोक) तथा अपने स्वरूपका ध्यान करनेवाले ध्यानयोगीकी भी होती है (छठे अध्यायके अठारहवेंसे तेईसवें श्लोकतक)। अब निर्गुण-निराकारका ध्यान करनेवालेकी भी वही स्थिति होती है—यह बतानेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण कहते हैं।]

'**सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः**'—सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर मनमें जो तरह-तरहकी स्फुरणाएँ होती हैं, उन स्फुरणाओंमेंसे जिस स्फुरणामें प्रियता, सुन्दरता और आवश्यकता दीखती है, वह स्फुरणा 'संकल्प' का रूप धारण कर लेती है। ऐसे ही जिस स्फुरणामें 'ये वस्तु, व्यक्ति आदि बड़े खराब हैं, ये हमारे उपयोगी नहीं हैं'—ऐसा विपरीत भाव पैदा हो जाता है, वह स्फुरणा भी 'संकल्प' बन जाती है। संकल्पसे 'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं चाहिये'—यह 'कामना' उत्पन्न होती है। इस प्रकार संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

यहाँ '**कामान्**' पद बहुवचनमें आया है, फिर भी इसके साथ '**सर्वान्**' पद देनेका तात्पर्य है कि कोई भी और किसी भी तरहकी कामना नहीं रहनी चाहिये।

'**अशेषतः**' पदका तात्पर्य है कि कामनाका बीज (सूक्ष्म संस्कार) भी नहीं रहना चाहिये। कारण कि वृक्षके एक बीजसे ही मीलोंतकका जंगल पैदा हो सकता है। अतः बीजरूप कामनाका भी त्याग होना चाहिये।

'**मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः**'—जिन इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंका अनुभव होता है, भोग होता है, उन इन्द्रियोंके समूहका मनके द्वारा अच्छी तरहसे नियमन कर ले अर्थात् मनसे इन्द्रियोंको उनके अपने-अपने विषयोंसे हटा ले।

'समन्ततः' कहनेका तात्पर्य है कि मनसे शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका चिन्तन न हो और सांसारिक मान, बड़ाई, आराम आदिकी तरफ किंचिन्मात्र भी खिंचाव न हो।

तात्पर्य है कि ध्यानयोगीको इन्द्रियों और अन्तःकरणके द्वारा प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदका निश्चय कर लेना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—पहले स्फुरणा होती है, फिर संकल्प होता है। स्फुरणामें सत्ता, आसक्ति और आग्रह होनेसे वह संकल्प हो जाता है, जो बन्धनकारक होता है। संकल्पसे फिर कामना उत्पन्न होती है। 'स्फुरणा' दर्पणके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा नहीं जाता। परन्तु 'संकल्प' कैमरेके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा जाता है। साधकको सावधानी रखनी चाहिये कि स्फुरणा तो हो, पर संकल्प न हो।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग एवं इन्द्रियोंका निग्रह करनेके निश्चयकी बात कही। अब कामनाओंका त्याग और इन्द्रियोंका निग्रह कैसे करें—इसका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

धृतिगृहीतया = धैर्ययुक्त
बुद्ध्या = बुद्धिके द्वारा (संसारसे)
शनैः, शनैः = धीरे-धीरे
उपरमेत् = उपराम हो जाय (और)
मनः = मन (बुद्धि)को
आत्मसंस्थम् = परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन
कृत्वा = करके (फिर)
किञ्चित् = कुछ
अपि = भी
न, चिन्तयेत् = चिन्तन न करे।

व्याख्या—**'बुद्ध्या धृतिगृहीतया'**— साधन करते-करते प्रायः साधकोंको उकताहट होती है, निराशा होती है कि ध्यान लगाते, विचार करते इतने दिन हो गये, पर तत्त्व-प्राप्ति नहीं हुई, तो अब क्या होगी? कैसे होगी? इस बातको लेकर भगवान् ध्यानयोगके साधकको सावधान करते हैं कि उसको ध्यानयोगका अभ्यास करते हुए सिद्धि प्राप्त न हो, तो भी उकताना नहीं चाहिये, प्रत्युत धैर्य रखना चाहिये। जैसे सिद्धि प्राप्त होनेपर, सफलता होनेपर धैर्य रहता है, विफलता होनेपर भी वैसा ही धैर्य रहना चाहिये कि वर्ष-के-वर्ष बीत जायँ, शरीर चला जाय, तो भी परवाह नहीं, पर तत्त्वको तो प्राप्त करना ही है*। कारण कि इससे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा काम है नहीं। इसलिये इसको समाप्त करके आगे क्या काम करना है ? यदि इससे भी बढ़कर कोई काम है तो इसको छोड़ो और उस कामको अभी करो!—इस प्रकार बुद्धिको वशमें कर ले अर्थात् बुद्धिमें मान, बड़ाई, आराम आदिको लेकर जो संसारका महत्त्व पड़ा है, उस महत्त्वको हटा दे। तात्पर्य है कि पूर्वश्लोकमें जिन विषयोंका त्याग करनेके लिये कहा गया है, धैर्ययुक्त बुद्धिसे उन विषयोंसे उपराम हो जाय।

'शनैः शनैरुपरमेत्'—उपराम होनेमें जल्दबाजी न करे; किन्तु धीरे-धीरे उपेक्षा करते-करते विषयोंसे उदासीन हो जाय और उदासीन होनेपर उनसे बिलकुल ही उपराम हो जाय।

कामनाओंका त्याग और मनसे इन्द्रिय-समूहका संयमन करनेके बाद भी यहाँ जो उपराम होनेकी बात बतायी है, उसका तात्पर्य है कि किसी त्याज्य वस्तुका त्याग करनेपर भी उस त्याज्य वस्तुके साथ आंशिक द्वेषका भाव रह सकता है। उस द्वेष-भावको हटानेके लिये यहाँ उपराम होनेकी बात कही गयी है। तात्पर्य है कि संकल्पोंके साथ न राग करे, न द्वेष करे; किन्तु उनसे सर्वथा उपराम हो जाय।

यहाँ उपराम होनेकी बात इसलिये कही गयी है कि परमात्मतत्त्व मनके कब्जेमें नहीं आता; क्योंकि मन प्रकृतिका कार्य होनेसे जब प्रकृतिको भी नहीं पकड़ सकता, तो फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्वको पकड़ ही कैसे

---

* **इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयंच यातु । अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति॥**

'भले ही इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाय, चमड़ी, मांस और हड्डियाँतक नष्ट हो जायँ; किन्तु बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना इस आसनसे यह शरीर हिलेगा नहीं।'

सकता है? अर्थात् परमात्माका चिन्तन करते-करते मन परमात्माको पकड़ ले—यह उसके हाथकी बात नहीं है। जिस परमात्माकी शक्तिसे मन अपना कार्य करता है, उसको मन कैसे पकड़ सकता है?—‘**यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्**’ (केन० १। ५)। जैसे, जिस सूर्यके प्रकाशसे दीपक, बिजली आदि प्रकाशित होते हैं, वे दीपक आदि सूर्यको कैसे प्रकाशित कर सकते हैं? कारण कि उनमें प्रकाश तो सूर्यसे ही आता है। ऐसे ही मन, बुद्धि आदिमें जो कुछ शक्ति है, वह उस परमात्मासे ही आती है। अतः वे मन, बुद्धि आदि उस परमात्माको कैसे पकड़ सकते हैं? नहीं पकड़ सकते।

दूसरी बात, संसारकी तरफ चलनेसे सुख नहीं पाया है, केवल दुःख-ही-दुःख पाया है। अतः संसारके चिन्तनसे प्रयोजन नहीं रहा। तो अब क्या करें? उससे उपराम हो जायँ।

‘**आत्मसंस्थं मनः* कृत्वा**’—सब जगह एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही परिपूर्ण है। संकल्पोंमें पहले और पीछे (अन्तमें) वही परमात्मा है। संकल्पोंमें भी आधार और प्रकाशकरूपसे एक परमात्मा ही परिपूर्ण है। उन संकल्पोंमें और कोई सत्ता पैदा नहीं हुई है; किन्तु उनमें सत्तारूपसे वह परमात्मा ही है। ऐसा बुद्धिका दृढ़ निश्चय, निर्णय रहे। मनमें कोई तरंग पैदा हो भी जाय तो उस तरंगको परमात्माका ही स्वरूप माने।

दूसरा भाव यह है कि परमात्मा देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सबमें परिपूर्ण है। ये देश, काल आदि तो उत्पन्न होते हैं और मिटते हैं; परन्तु परमात्मतत्त्व बनता-बिगड़ता नहीं है। वह तो सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उस परमात्मामें मनको स्थिर करके अर्थात् सब जगह एक परमात्मा ही है, उस परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं— ऐसा पक्का निश्चय करके कुछ भी चिन्तन न करे।

‘**न किंचिदपि चिन्तयेत्**’—संसारका चिन्तन न करे—यह बात तो पहले ही आ गयी। अब ‘परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है’ ऐसा चिन्तन भी न करे। कारण कि जब मनको परमात्मामें स्थापन कर दिया, तो अब चिन्तन करनेसे सविकल्प वृत्ति हो जायगी अर्थात् मनके साथ सम्बन्ध बना रहेगा, जिससे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा। अगर ‘हमारी ऐसी स्थिति बनी रहे’—ऐसा चिन्तन करेंगे, तो परिच्छिन्नता बनी रहेगी अर्थात् चित्तकी और चिन्तन करनेवालेकी सत्ता बनी रहेगी। अतः ‘सब जगह एक परमात्मा ही परिपूर्ण है’—ऐसा दृढ़ निश्चय करनेके बाद किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी चिन्तन न करे। इस प्रकार उपराम होनेसे स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जायगा, जिसका वर्णन पहले बाईसवें श्लोकमें हुआ है।

ध्यान-सम्बन्धी मार्मिक बात

सबसे मुख्य बात यह है कि परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है। सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें और सम्पूर्ण क्रियाओंमें परमात्मा साकार, निराकार आदि सब रूपोंसे सदा ज्यों-का-त्यों विराजमान है। उस परमात्माके सिवाय जितना भी प्रकृतिका कार्य है, वह सब-का-सब परिवर्तनशील है। परन्तु परमात्मतत्त्वमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ, न होगा और न हो ही सकता है। उस परमात्माका ध्यान ऐसे किया जाय कि जैसे कोई मनुष्य समुद्रमें गहरा उतर जाय, तो जहाँतक दृष्टि जाती है, वहाँतक जल-ही-जल दीखता है। नीचे देखो तो भी जल है, ऊपर देखो तो भी जल है, चारों तरफ जल-ही-जल परिपूर्ण है। इस तरह जहाँ स्वयं अपने-आपको एक जगह मानता है, उसके भीतर भी परमात्मा है, बाहर भी परमात्मा है, ऊपर भी परमात्मा है, नीचे भी परमात्मा है, चारों तरफ परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण है। शरीरके भी कण-कणमें वह परमात्मा है। उस परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना ही मनुष्यमात्रका ध्येय है और वह नित्य-निरन्तर प्राप्त है। उस परमात्मतत्त्वसे कोई कभी दूर हो सकता ही नहीं। किसी भी अवस्थामें उससे कोई अलग नहीं हो सकता । केवल अपनी दृष्टि विनाशी पदार्थोंकी तरफ रहनेसे वह सदा परिपूर्ण, निर्विकार, सम, शान्त रहनेवाला परमात्मतत्त्व दीखता नहीं।

अगर उस परमात्माकी तरफ दृष्टि, लक्ष्य हो जाय कि वह सब जगह ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है, तो स्वतः ध्यान हो जायगा, ध्यान करना नहीं पड़ेगा। जैसे, हम सब पृथ्वीपर रहते हैं, तो हमारे भीतर-बाहर, ऊपर और चारों तरफ आकाश-ही-आकाश है, पोलाहट-ही-पोलाहट है; परन्तु

* **यहाँ ‘मनः’ शब्द अन्तःकरणका वाचक है।**

उसकी तरफ हमारा लक्ष्य नहीं रहता। अगर लक्ष्य हो जाय, तो हम निरन्तर आकाशमें ही रहते हैं। आकाशमें ही चलते हैं, फिरते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं, जगते हैं। आकाशमें ही हम सब काम कर रहे हैं। परन्तु आकाशकी तरफ ध्यान न होनेसे इसका पता नहीं लगता। अगर उस तरफ ध्यान जाय कि आकाश है, उसमें बादल होते हैं, वर्षा होती है, उसमें सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि हैं, तो आकाशका खयाल होता है, अन्यथा नहीं होता। आकाशका खयाल न होनेपर भी हमारी सब क्रियाएँ आकाशमें ही होती हैं। ऐसे ही उस परमात्मतत्त्वकी तरफ खयाल न होनेपर भी हमारी सम्पूर्ण क्रियाएँ उस परमात्मतत्त्वमें ही हो रही हैं। इसलिये गीताने कहा कि—**'शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया'** अर्थात् जिस बुद्धिमें धीरज है, ऐसी बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे उपराम हो जाय। संसारकी कोई भी बात मनमें आये, तो उससे उपराम हो जाय। साधककी भूल यह होती है कि जिस समय वह परमात्माका ध्यान करने बैठता है, उस समय सांसारिक वस्तुकी याद आनेपर वह उसका विरोध करने लगता है। विरोध करनेसे भी वस्तुका अपने साथ सम्बन्ध हो जाता है और उसमें राग करनेसे भी सम्बन्ध हो जाता है। अतः न तो उसका विरोध करें और न उसमें राग करें। उसकी उपेक्षा करें, उससे उदासीन हो जायँ। बेपरवाह हो जायँ। संसारकी याद आ गयी तो आ गयी, नहीं आयी तो नहीं आयी—इस बेपरवाहीसे संसारके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि उससे उदासीन ही नहीं, उपराम हो जाय—**'शनैः शनैः उपरमेत्।'**

उत्पन्न होनेवाली चीज नष्ट होनेवाली होती है—यह नियम है। अतः संसारका कितना ही संकल्प-विकल्प हो जाय, वह सब नष्ट हो रहा है। इसलिये उसको रखनेकी चेष्टा करना भी गलती है और नाश करनेका उद्योग करना भी गलती है। संसारमें बहुत-सी चीजें उत्पन्न और नष्ट होती हैं, पर उनका पाप और पुण्य हमें नहीं लगता; क्योंकि उनसे हमारा सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ही मनमें संकल्प-विकल्प आ जाय, संसारका चिन्तन हो जाय, तो उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। न तो याद आनेवाली वस्तुके साथ सम्बन्ध है और न जिसमें वस्तुकी याद आयी, उस मनके साथ ही सम्बन्ध है। हमारा सम्बन्ध तो सब जगह परिपूर्ण परमात्मासे है। अतः उत्पन्न और नष्ट होनेवाले संकल्प-विकल्पसे क्या तो राग करें और क्या द्वेष करें? यह तो उत्पत्ति और विनाशका एक प्रवाह है। इससे उपराम हो जाय, विमुख हो जाय, इसकी कुछ भी परवाह न करे।

एक परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण है। जब हम अपना एक व्यक्तित्व पकड़ लेते हैं, तब 'मैं हूँ' ऐसा दीखने लगता है। यह व्यक्तित्व, 'मैं'-पन भी जिसके अन्तर्गत है, ऐसा वह अपार, असीम, सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मा है। जैसे, सम्पूर्ण पदार्थ, क्रियाएँ आदि एक प्रकाशके अन्तर्गत हैं। उस प्रकाशका सम्बन्ध है तो मात्र वस्तुओं, क्रियाओं, व्यक्तियों आदिके साथ है और नहीं है तो किसीके भी साथ सम्बन्ध नहीं है। प्रकाश अपनी जगह ज्यों-का-त्यों स्थित है। उसमें कई वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं, कई क्रियाएँ होती रहती हैं; किन्तु प्रकाशमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ही प्रकाशस्वरूप परमात्माके साथ किसी भी वस्तु, क्रिया आदिका कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है तो सम्पूर्णके साथ सम्बन्ध है, नहीं तो किसीके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। ये वस्तु, क्रिया आदि सब उत्पत्ति-विनाशवाली हैं और वह परमात्मा अनुत्पन्न तत्त्व है। उस परमात्मामें स्थित होकर कुछ भी चिन्तन न करे।

एक चिन्तन 'करते' हैं और एक चिन्तन 'होता' है। चिन्तन करे नहीं और अपने-आप कोई चिन्तन हो जाय तो उसके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, तटस्थ रहे। वास्तवमें हम तटस्थ ही हैं; क्योंकि संकल्प-विकल्प तो उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर हम रहते हैं। इसलिये रहनेवाले स्वरूपमें ही रहें और संकल्प-विकल्पकी उपेक्षा कर दें, तो हमारेपर वह (संकल्प-विकल्प) लागू नहीं होगा। साधक एक गलती करता है कि जब उसको संसार याद आता है, तब वह उससे द्वेष करता है कि इसको हटाओ, इसको मिटाओ। ऐसा करनेसे संसारके साथ विशेष सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिये उसको हटानेका कोई उद्योग न करे, प्रत्युत ऐसा विचार करे कि जो संकल्प-विकल्प होते हैं, उनमें भी वह परमात्मतत्त्व ओतप्रोत है। जैसे जलमें बर्फका ढेला डाल दें, तो बर्फ स्वयं भी जल है और उसके बाहर भी जल है। ऐसे ही संकल्प-विकल्प कुछ भी आये, वह परमात्माके ही अन्तर्गत है और संकल्प-विकल्पके भी अन्तर्गत परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण है। जैसे समुद्रमें बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं। एक लहरके बाद दूसरी लहर आती है। उन लहरोंमें भी जल-ही-जल है। देखनेमें लहर अलग दीखती है, पर जलके सिवाय लहर कुछ नहीं है। ऐसे ही संकल्प-विकल्पमें परमात्मतत्त्वके सिवाय कोई तत्त्व

नहीं है, कोई वस्तु नहीं है।

अभी कोई पुरानी घटना याद आ गयी, तो वह घटना पहले हुई थी, अब वह घटना नहीं है। मनुष्य जबर्दस्ती उस घटनाको याद करके घबरा जाता है कि क्या करूँ, मन नहीं लगता! वास्तवमें जब परमात्माका ध्यान करते हैं, उस समय अनेक तरहकी पुरानी बातोंकी याद, पुराने संस्कार नष्ट होनेके लिये प्रकट होते हैं। परन्तु साधक इस बातको समझे बिना उनको सत्ता देकर और मजबूत बना लेता है। इसलिये उनकी उपेक्षा कर दे। उनको न अच्छा समझे और न बुरा समझे, तो वे जैसे उत्पन्न हुए, वैसे ही नष्ट हो जायँगे। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है। हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारा है। सब जगह परिपूर्ण उस परमात्मामें हमारी स्थिति सब समयमें है—ऐसा मानकर चुप बैठ जाय। अपनी तरफसे कुछ भी चिन्तन न करे। अपने-आप चिन्तन हो जाय तो उससे सम्बन्ध न जोड़े। फिर वृत्तियाँ अपने-आप शान्त हो जायँगी और परमात्माका ध्यान स्वत: होगा। कारण कि वृत्तियाँ आने-जानेवाली हैं और परमात्मा सदा रहनेवाला है। जो स्वत:सिद्ध है, उसमें करना क्या पड़ेगा? करना कुछ है ही नहीं। साधक ऐसा मान लेता है कि मैं ध्यान करता हूँ, चिन्तन करता हूँ—यह गलती है। जब सब जगह एक परमात्मा ही है, तो क्या चिन्तन करे, क्या ध्यान करे! समुद्रमें लहरें होती हैं, पर जल-तत्त्वमें न लहरें हैं, न समुद्र है। ऐसे ही परमात्मतत्त्वमें न संसार है, न आकृति है, न आना-जाना है। वह परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है, सम है, शान्त है, निर्विकार है, स्वत:सिद्ध है। उसका चिन्तन करना नहीं पड़ता। उसका चिन्तन क्या करें? उसमें तो हमारी स्थिति स्वत: है, हर समय है। व्यवहार करते समय भी उस परमात्मासे हम अलग नहीं होते, प्रत्युत निरन्तर उसमें रहते हैं। जब व्यवहारवाली वस्तुओंको आदर देते हैं, महत्त्व देते हैं, तब विक्षेप होता है। एकान्तमें बैठे हैं और कोई बात याद आ जाती है तो विक्षेप हो जाता है। वास्तवमें विक्षेप उस बातसे नहीं होता। उसको सत्ता दे देते हैं, महत्ता दे देते हैं, उससे विक्षेप होता है।

जैसे आकाशमें बादल आते हैं और शान्त हो जाते हैं, ऐसे ही मनमें कई स्फुरणाएँ आती हैं और शान्त हो जाती हैं। आकाशमें कितने ही बादल आयें और चले जायँ, पर आकाशमें कुछ परिवर्तन नहीं होता; वह ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसे ही ध्यानके समय कुछ याद आये अथवा न आये, परमात्मा ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण रहता है। कुछ याद आये तो उसमें भी परमात्मा है और कुछ याद न आये तो उसमें भी परमात्मा है। देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो कुछ आ जाय, उन सबके बाहर भी परमात्मा है और सबके भीतर भी परमात्मा है। चर और अचर जो कुछ है, वह भी परमात्मा ही है। दूर-से-दूर भी परमात्मा है, नजदीक-से-नजदीक भी परमात्मा है। परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वह बुद्धिके अन्तर्गत नहीं आता (गीता—तेरहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। ऐसा वह परमात्मा सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन है। सब जगह पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, सम आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, अटल आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द है!

एकान्तमें ध्यान करनेके सिवाय दूसरे समय कार्य करते हुए भी ऐसा समझे कि परमात्मा सबमें परिपूर्ण है। कार्य करते हुए सावधान होकर परमात्माकी सत्ता मानेंगे, तो ध्यानके समय बड़ी सहायता मिलेगी और ध्यानके समय संकल्प-विकल्पकी उपेक्षा करके परमात्मामें अटल स्थित रहेंगे, तो व्यवहार करते समय परमात्माके चिन्तनमें बड़ी सहायता मिलेगी। जो साधक होता है, वह घंटे-दो-घंटे नहीं, आठों पहर साधक होता है। जैसे ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपनेमें निरन्तर स्थित रहता है, ऐसे ही मात्र जीव परमात्मामें निरन्तर स्थित रहते हैं। ब्राह्मण तो पैदा होता है, पर परमात्मा पैदा नहीं होता। परन्तु काम-धंधा करते हुए पदार्थोंकी, क्रियाओंकी, व्यक्तियोंकी तरफ वृत्ति रहनेसे उन सबमें परिपूर्ण परमात्मा दीखता नहीं। इसलिये एकान्तमें बैठकर ध्यान करते समय और व्यवहारकालमें कार्य करते समय साधककी दृष्टि इस तरफ रहनी चाहिये कि सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, क्रिया आदिमें एक परमात्मतत्त्व ही ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। उसीमें स्थित रहे और कुछ भी चिन्तन न करे।

परिशिष्ट भाव—ध्यानयोगके दो प्रकार हैं—(१) मनको एकाग्र करना और (२) विवेकपूर्वक मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना। विवेकपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेदसे तत्काल मुक्ति होती है। संसारमें कितना पाप-पुण्य होता है, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। इसीको 'उपरति' कहते हैं। चिन्तन करनेकी वृत्तिसे भी सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन (मन-वाणी-शरीरकी सभी क्रियाओंसे परमात्माकी उपासना) करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्याके द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व सत्तारूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। देश, काल आदिका तो अभाव है, पर परमात्मतत्त्वका नित्य भाव है। इस प्रकार साधक पहले मन-बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि 'परमात्मतत्त्व है'। फिर इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। आत्माका, अनात्माका, परमात्माका, संसारका, संयोगका, वियोगका कुछ भी चिन्तन न करे। कुछ भी चिन्तन करेगा तो संसार आ ही जायगा। कारण कि कुछ भी चिन्तन करनेसे चित्त (करण) साथमें रहेगा। करण साथमें रहेगा तो संसारका त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है। इसलिये '**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' में करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है; क्योंकि जब करण साथमें नहीं रहेगा, तभी असली ध्यान होगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती ही है, वृत्तिका अभाव नहीं होता। परन्तु कुछ भी चिन्तन करनेका भाव न रहनेसे वृत्ति स्वतः शान्त हो जाती है। अतः साधकको चिन्तनकी सर्वथा उपेक्षा करनी है। जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी शनैः-शनैः अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार शनैः-शनैः अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता) का अनुभव हो जाता है।

यहाँ वृत्तिका अभाव करनेमें ही '**शनैः शनैः**' पदोंका प्रयोग हुआ है '**शनैः शनैः**' कहनेका तात्पर्य है कि जबर्दस्ती न करे, जल्दबाजी न करे; क्योंकि जन्म-जन्मान्तरके संस्कार जल्दबाजीसे नहीं मिटते। जल्दबाजी चंचलताको स्थिर, स्थायी करनेवाली है, पर '**शनैः शनैः**' चंचलताका नाश करनेवाली है।

प्रकृतिके सम्बन्धके बिना तत्त्वका चिन्तन, मनन आदि नहीं हो सकता। अतः साधक तत्त्वका चिन्तन करेगा तो चित्त साथमें रहेगा, मनन करेगा तो मन साथमें रहेगा, निश्चय करेगा तो बुद्धि साथमें रहेगी, दर्शन करेगा तो दृष्टि साथमें रहेगी, श्रवण करेगा तो श्रवणेन्द्रिय साथमें रहेगी, कथन करेगा तो वाणी साथमें रहेगी। ऐसे ही 'है' को मानेगा तो मान्यता तथा माननेवाला रह जायगा और 'नहीं' का निषेध करेगा तो निषेध करनेवाला रह जायगा। कर्तृत्वाभिमानका त्याग करेगा तो 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—यह सूक्ष्म अहंकार रह जायगा अर्थात् त्याग करनेसे त्याज्य वस्तु और त्यागी (त्याग करनेवाला) रह जायगा। इसलिये साधक उपराम हो जाय अर्थात् न मान्यता करे, न निषेध करे; न ग्रहण करे, न त्याग करे, प्रत्युत स्वतःसिद्ध स्वाभाविक तत्त्वको स्वीकार करे और बाहर-भीतरसे चुप हो जाय। मेरेको चुप होना है—यह आग्रह (संकल्प) भी न रखे, नहीं तो कर्तृत्व आ जायगा; क्योंकि चुप स्वतःसिद्ध है।

साधक मैं, तू, यह और वह—इन चारोंको छोड़ दे तो एक 'है' (सत्तामात्र) रह जाता है। उस स्वतःसिद्ध 'है' को स्वीकार कर ले तथा अपनी ओरसे कुछ भी चिन्तन न करे। यदि अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो उससे न राग करे, न द्वेष करे; न राजी हो, न नाराज हो; न उसको अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने, चिन्तन करना नहीं है, पर चिन्तन हो जाय तो उसका कोई दोष नहीं है। अपने-आप हवा बहती है, सरदी-गरमी आती है, वर्षा होती है तो उसका हमें कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दोष तो जड़तासे सम्बन्ध जोड़नेसे लगता है। अतः चिन्तन हो जाय तो उसकी उपेक्षा रखे, उसके साथ अपनेको मिलाये नहीं अर्थात् ऐसा न माने कि मैं चिन्तन करता हूँ और चिन्तन मेरेमें होता है। चिन्तन मनमें होता है और मनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा**' में 'मन' शब्द बुद्धिका वाचक है; क्योंकि चंचलता मनमें और स्थिरता बुद्धिमें होती है। अतः '**आत्मसंस्थम्**' कहनेका तात्पर्य है कि चंचलता न रहे, प्रत्युत स्थिरता रहे। जैसे 'यह अमुक गाँव है'—ऐसी मान्यता दृढ़ होनेसे इसका चिन्तन नहीं करना पड़ता, ऐसे ही 'परमात्मा हैं'—ऐसी मान्यता दृढ़ रहे तो फिर इसका चिन्तन नहीं करना पड़ेगा। जो स्वतःसिद्ध है, उसका चिन्तन क्या करें? इसलिये आत्मचिन्तन करनेसे आत्मबोध नहीं होता; क्योंकि आत्मचिन्तन करनेसे चिन्तक रहता है और अनात्माकी सत्ता रहती है। अनात्माकी सत्ता मानेंगे, तभी तो अनात्माका त्याग और आत्माका चिन्तन करेंगे!

'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'—इसको 'चुप साधन', 'मूक सत्संग' और अचिन्त्यका ध्यान' भी कहते हैं। इसमें न तो स्थूलशरीरकी क्रिया है, न सूक्ष्मशरीरका चिन्तन है और न कारण शरीरकी स्थिरता है। इसमें इन्द्रियाँ भी चुप हैं, मन भी चुप है, बुद्धि भी चुप है अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी कोई क्रिया नहीं है। सभी चुप हैं, कोई बोलता नहीं! जो देखना था वह देख लिया, सुनना था वह सुन लिया, बोलना था वह बोल लिया, करना था वह कर लिया, अब कुछ भी देखने, सुनने, बोलने, करने आदिकी रुचि नहीं रही—ऐसा होनेपर ही 'चुप साधन' होता है। यह 'चुप साधन' समाधिसे भी ऊँचा है; क्योंकि इसमें बुद्धि और अहम्‌से सम्बन्ध-विच्छेद है। समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर चुप साधनमें ये दोष नहीं रहते। चुप साधन वृत्तिरहित है।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त प्रकारसे निर्विकल्प स्थिति न हो तो क्या करे—इसके लिये आगेके श्लोकमें अभ्यास बताते हैं।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

अस्थिरम् =(यह) अस्थिर (और)
चञ्चलम् =चंचल
मनः =मन
यतः, यतः =जहाँ-जहाँ
निश्चरति =विचरण करता है,
ततः, ततः =वहाँ-वहाँसे
नियम्य =हटाकर
एतत् =इसको
आत्मनि =(एक) परमात्मामें
एव =ही
वशम्, नयेत् =भलीभाँति लगाये*।

व्याख्या—**'यतो यतो निश्चरति .....आत्मन्येव वशं नयेत्'**—साधकने जो ध्येय बनाया है, उसमें यह मन टिकता नहीं, ठहरता नहीं। अतः इसको अस्थिर कहा गया है। यह मन तरह-तरहके सांसारिक भोगोंका, पदार्थोंका चिन्तन करता है। अतः इसको 'चंचल' कहा गया है। तात्पर्य है कि यह मन न तो परमात्मामें स्थिर होता है और न संसारको ही छोड़ता है। इसलिये साधकको चाहिये कि यह मन जहाँ-जहाँ जाय, जिस-जिस कारणसे जाय, जैसे-जैसे जाय और जब-जब जाय, इसको वहाँ-वहाँसे, उस-उस कारणसे वैसे-वैसे और तब-तब हटाकर परमात्मामें लगाये। इस अस्थिर और चंचल मनका नियमन करनेमें सावधानी रखे, ढिलाई न करे।

मनको परमात्मामें लगानेका तात्पर्य है कि जब यह पता लगे कि मन पदार्थोंका चिन्तन कर रहा है, तभी ऐसा विचार करे कि चिन्तनकी वृत्ति और उसके विषयका आधार और प्रकाशक परमात्मा ही हैं। यही परमात्मामें मन लगाना है।

परमात्मामें मन लगानेकी युक्तियाँ

(१) मन जिस किसी इन्द्रियके विषयमें, जिस किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति आदिमें चला जाय अर्थात् उसका चिन्तन करने लग जाय, उसी समय उस विषय आदिसे मनको हटाकर अपने ध्येय—परमात्मामें लगाये। फिर चला जाय तो फिर लाकर परमात्मामें लगाये। इस प्रकार मनको बार-बार अपने ध्येयमें लगाता रहे।

(२) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ही परमात्माको देखे। जैसे गंगाजी याद आ जायँ, तो गंगाजीके रूपमें परमात्मा ही हैं, गाय याद आ जाय, तो गायरूपसे परमात्मा ही हैं—इस तरह मनको परमात्मामें लगाये। दूसरी दृष्टिसे, गंगाजी आदिमें सत्तारूपसे परमात्मा-ही-परमात्मा हैं; क्योंकि इनसे पहले भी परमात्मा ही थे, इनके मिटनेपर भी परमात्मा ही रहेंगे और इनके रहते हुए भी परमात्मा ही हैं—इस तरह मनको परमात्मामें लगाये।

(३) साधक जब परमात्मामें मन लगानेका अभ्यास करता है, तब संसारकी बातें याद आती हैं। इससे साधक घबरा जाता है कि जब मैं संसारका काम करता हूँ, तब इतनी बातें याद नहीं आतीं, इतना चिन्तन नहीं होता; परन्तु जब परमात्मामें मन लगानेका अभ्यास करता हूँ, तब मनमें तरह-तरहकी बातें याद आने लगती हैं! पर ऐसा समझकर साधकको घबराना नहीं चाहिये; क्योंकि जब साधकका उद्देश्य परमात्माका बन गया, तो अब संसारके चिन्तनके रूपमें भीतरसे कूड़ा-कचरा निकल रहा है, भीतरसे सफाई हो रही है। तात्पर्य है कि सांसारिक कार्य करते समय भीतर जमा हुए पुराने संस्कारोंको बाहर

* **गीताभरमें अभ्यासका स्वरूप स्पष्टरूपसे इसी श्लोकमें देखनेको मिलता है।**

निकलनेका मौका नहीं मिलता। इसलिये सांसारिक कार्य छोड़कर एकान्तमें बैठनेसे उनको बाहर निकलनेका मौका मिलता है और वे बाहर निकलने लगते हैं।

(४) साधकको भगवान्‌का चिन्तन करनेमें कठिनता इसलिये पड़ती है कि वह अपनेको संसारका मानकर भगवान्‌का चिन्तन करता है। अतः संसारका चिन्तन स्वतः होता है और भगवान्‌का चिन्तन करना पड़ता है, फिर भी चिन्तन होता नहीं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌का होकर भगवान्‌का चिन्तन करे। तात्पर्य है कि 'मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं; मैं शरीर-संसारका नहीं हूँ और शरीर-संसार मेरे नहीं हैं'—इस तरह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे भगवान्‌का चिन्तन स्वाभाविक ही होने लगेगा, चिन्तन करना नहीं पड़ेगा।

(५) ध्यान करते समय साधकको यह खयाल रखना चाहिये कि मनमें कोई कार्य जमा न रहे अर्थात् 'अमुक कार्य करना है, अमुक स्थानपर जाना है, अमुक व्यक्तिसे मिलना है, अमुक व्यक्ति मिलनेके लिये आनेवाला है, तो उसके साथ बातचीत भी करनी है' आदि कार्य जमा न रखे। इन कार्योंके संकल्प ध्यानको लगने नहीं देते। अतः ध्यानमें शान्तचित्त होकर बैठना चाहिये।

(६) ध्यान करते समय कभी संकल्प-विकल्प आ जायँ, तो **'अड़ंग बड़ंग स्वाहा'**—ऐसा कहकर उनको दूर कर दे अर्थात् 'स्वाहा' कहकर संकल्प-विकल्प (अड़ंग-बड़ंग) की आहुति दे दे।

(७) सामने देखते हुए पलकोंको कुछ देर बार-बार शीघ्रतासे झपकाये और फिर नेत्र बंद कर ले। पलकें झपकानेसे जैसे बाहरका दृश्य कटता है, ऐसे ही भीतरके संकल्प-विकल्प भी कट जाते हैं।

(८) पहले नासिकासे श्वासको दो-तीन बार जोरसे बाहर निकाले और फिर अन्तमें जोरसे (फुंकारके साथ) पूरे श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक दे। जितनी देर श्वास रोक सके, उतनी देर रोककर फिर धीरे-धीरे श्वास लेते हुए स्वाभाविक श्वास लेनेकी स्थितिमें आ जाय। इससे सभी संकल्प-विकल्प मिट जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—यदि पूर्वश्लोकके अनुसार चुप-साधन न कर सके तो मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसको एक परमात्मामें लगाये। मनको परमात्मामें लगानेका एक बहुत श्रेष्ठ साधन है कि मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माको ही देखे अथवा मनमें जो-जो चिन्तन आये, उसको परमात्माका ही स्वरूप समझे।

एक मार्मिक बात है कि जबतक साधक एक परमात्माकी सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता मानेगा, तबतक उसका मन सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकता। कारण कि जबतक अपनेमें दूसरी सत्ताकी मान्यता है, तबतक रागका सर्वथा नाश नहीं हो सकता और रागका सर्वथा नाश हुए बिना मन सर्वथा निर्विषय नहीं हो सकता। रागके रहते हुए मनका सीमित निरोध होता है, जिससे लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए जो मन निरुद्ध होता है, उसमें व्युत्थान होता है अर्थात् उसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कारण कि दूसरी सत्ता माने बिना दो अवस्थाएँ सम्भव ही नहीं हैं। अतः मनका सर्वथा निरोध दूसरी सत्ता न माननेसे ही होगा।

सम्बन्ध—चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें जिस ध्यानयोगीकी उपरतिका वर्णन किया गया, आगेके दो श्लोकोंमें उसकी अवस्थाका वर्णन करते हुए उसके साधनका फल बताते हैं।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

अकल्मषम् = जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं,
शान्तरजसम् = जिसका रजोगुण शान्त हो गया है (तथा)
प्रशान्तमनसम् = जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, (ऐसे)
एनम् = इस
ब्रह्मभूतम् = ब्रह्मरूप बने हुए
योगिनम् = योगीको
हि = निश्चित ही
उत्तमम् = उत्तम (सात्त्विक)
सुखम् = सुख
उपैति = प्राप्त होता है।

व्याख्या—'**प्रशान्तमनसं ह्येनं ...... ब्रह्मभूत-मकल्मषम्**'—जिसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात् तमोगुण और तमोगुणकी अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह (गीता—चौदहवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)—ये वृत्तियाँ नष्ट हो गयी हैं, ऐसे योगीको यहाँ '**अकल्मषम्**' कहा गया है।

जिसका रजोगुण और रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कर्मोंमें लगना, अशान्ति और स्पृहा (गीता—चौदहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)—ये वृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं, ऐसे योगीको यहाँ '**शान्तरजसम्**' बताया गया है।

तमोगुण, रजोगुण तथा उनकी वृत्तियाँ शान्त होनेसे जिसका मन स्वाभाविक शान्त हो गया है अर्थात् जिसकी मात्र प्राकृत पदार्थोंसे तथा संकल्प-विकल्पोंसे भी उपरति हो गयी है, ऐसे स्वाभाविक शान्त मनवाले योगीको यहाँ '**प्रशान्तमनसम्**' कहा गया है।

'**प्रशान्त**' कहनेका तात्पर्य है कि ध्यानयोगी जबतक मनको अपना मानता है, तबतक मन अभ्याससे शान्त तो हो सकता है, पर प्रशान्त अर्थात् सर्वथा शान्त नहीं हो सकता। परन्तु जब ध्यानयोगी मनसे भी उपराम हो जाता है अर्थात् मनको भी अपना नहीं मानता, मनसे भी सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब मनमें राग-द्वेष न होनेसे उसका मन स्वाभाविक ही शान्त हो जाता है।

पचीसवें श्लोकमें जिसकी उपरामताका वर्णन किया गया है, वही (उपराम होनेसे) पापरहित, शान्त रजोगुणवाला और प्रशान्त मनवाला हुआ है। अतः उस योगीके लिये यहाँ '**एनम्**' पद आया है। ऐसे ब्रह्मस्वरूप ध्यानयोगीको स्वाभाविक ही उत्तम सुख अर्थात् सात्त्विक सुख प्राप्त होता है।

पहले तेईसवें श्लोकके उत्तरार्धमें जिस योगका निश्चय-पूर्वक अभ्यास करनेकी आज्ञा दी गयी थी—'**स निश्चयेन योक्तव्यः**' उस योगका अभ्यास करनेवाले योगीको निश्चित ही उत्तम सुखकी प्राप्ति हो जायगी, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। इस निःसन्दिग्धताको बतानेके लिये यहाँ '**हि**' पदका प्रयोग हुआ है।

'**सुखमुपैति**' कहनेका तात्पर्य है कि जो योगी सबसे उपराम हो गया है, उसको उत्तम सुखकी खोज नहीं करनी पड़ती, उस सुखकी प्राप्तिके लिये उद्योग, परिश्रम आदि नहीं करने पड़ते, प्रत्युत वह उत्तम सुख उसको स्वतः-स्वाभाविक ही प्राप्त हो जाता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

एवम् = इस प्रकार
आत्मानम् = अपने-आपको
सदा = सदा
युञ्जन् = (परमात्मामें) लगाता हुआ
विगतकल्मषः = पापरहित
योगी = योगी
सुखेन = सुखपूर्वक
ब्रह्मसंस्पर्शम् = ब्रह्मप्राप्तिरूप
अत्यन्तम् = अत्यन्त
सुखम् = सुखका
अश्नुते = अनुभव कर लेता है।

व्याख्या—'**युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगत-कल्मषः**'—अपनी स्थितिके लिये जो (मनको बार-बार लगाना आदि) अभ्यास किया जाता है, वह अभ्यास यहाँ नहीं है। यहाँ तो अनभ्यास ही अभ्यास है अर्थात् अपने स्वरूपमें अपने-आपको दृढ़ रखना ही अभ्यास है। इस अभ्यासमें अभ्यासवृत्ति नहीं है। ऐसे अभ्याससे वह योगी अहंता-ममतारहित हो जाता है। अहंता और ममतासे रहित होना ही पापोंसे रहित होना है; क्योंकि संसारके साथ अहंता-ममतापूर्वक सम्बन्ध रखना ही पाप है।

पंद्रहवें श्लोकमें '**युञ्जन्नेवम्**' पद सगुणके ध्यानके लिये आया है और यहाँ '**युञ्जन्नेवम्**' पद निर्गुणके ध्यानके लिये आया है। ऐसे ही पंद्रहवें श्लोकमें '**नियतमानसः**' आया है और यहाँ '**विगतकल्मषः**' आया है; क्योंकि वहाँ परमात्मामें मन लगानेकी मुख्यता है और यहाँ जडताका त्याग करनेकी मुख्यता है। वहाँ तो परमात्माका चिन्तन करते-करते मन सगुण परमात्मामें तल्लीन हो गया तो संसार स्वतः ही छूट गया और यहाँ अहंता-ममतारूप कल्मषसे अर्थात् संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने ध्येय परमात्मामें स्थित हो गया। इस प्रकार दोनोंका तात्पर्य एक ही हुआ अर्थात् वहाँ परमात्मामें लगनेसे संसार छूट गया और यहाँ संसारको छोड़कर परमात्मामें स्थित हो गया।

'**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते**'—उसकी

ब्रह्मके साथ जो अभिन्नता होती है, उसमें 'मैं'-पनका संस्कार भी नहीं रहता, सत्ता भी नहीं रहती। यही सुखपूर्वक ब्रह्मका संस्पर्श करना है। जिस सुखमें अनुभव करनेवाला और अनुभवमें आनेवाला—ये दोनों ही नहीं रहते, वह 'अत्यन्त सुख' है। इस सुखको योगी प्राप्त कर लेता है। यह 'अत्यन्त सुख', 'अक्षय सुख' (पाँचवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक) और 'आत्यन्तिक सुख' (छठे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)—ये एक ही परमात्मतत्त्वरूप आनन्दके वाचक हैं।

सम्बन्ध—अठारहवेंसे तेईसवें श्लोकतक स्वरूपका ध्यान करनेवाले जिस सांख्ययोगीका वर्णन हुआ है, उसके अनुभवका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

सर्वत्र = सब जगह
समदर्शनः = अपने स्वरूपको देखनेवाला
च = और
योगयुक्तात्मा = ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला (सांख्ययोगी)
आत्मानम् = अपने स्वरूपको
सर्वभूतस्थम् = सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित
ईक्षते = देखता है (और)
सर्वभूतानि = सम्पूर्ण प्राणियोंको
आत्मनि = अपने स्वरूपमें (देखता है)।

व्याख्या—'**ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः**'—सब जगह एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। जैसे मनुष्य खाँड़से बने हुए अनेक तरहके खिलौनोंके नाम, रूप, आकृति आदि भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनमें समानरूपसे एक खाँड़को, लोहेसे बने हुए अनेक तरहके अस्त्र-शस्त्रोंमें एक लोहेको, मिट्टीसे बने हुए अनेक तरहके बर्तनोंमें एक मिट्टीको और सोनेसे बने हुए आभूषणोंमें एक सोनेको ही देखता है, ऐसे ही ध्यानयोगी तरह-तरहकी वस्तु, व्यक्ति आदिमें समरूपसे एक अपने स्वरूपको ही देखता है।

'**योगयुक्तात्मा**'—इसका तात्पर्य है कि ध्यानयोगका अभ्यास करते-करते उस योगीका अन्तःकरण अपने स्वरूपमें तल्लीन हो गया है। [तल्लीन होनेके बाद उसका अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसका संकेत '**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि**' पदोंसे किया गया है।]

'**सर्वभूतस्थमात्मानम्**'—वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी आत्माको—अपने सत्स्वरूपको स्थित देखता है। जैसे साधारण प्राणी सारे शरीरमें अपने-आपको देखता है अर्थात् शरीरके सभी अवयवोंमें, अंशोंमें 'मैं' को ही पूर्णरूपसे देखता है, ऐसे ही समदर्शी पुरुष सब प्राणियोंमें अपने स्वरूपको ही स्थित देखता है।

किसीको नींदमें स्वप्न आये, तो वह स्वप्नमें स्थावर-जंगम प्राणी-पदार्थ देखता है। पर नींद खुलनेपर वह स्वप्नकी सृष्टि नहीं दीखती; अतः स्वप्नमें स्थावर-जंगम आदि सब कुछ स्वयं ही बना है। जाग्रत्-अवस्थामें किसी जड या चेतन प्राणी-पदार्थकी याद आती है, तो वह मनसे दीखने लग जाता है और याद हटते ही वह सब दृश्य अदृश्य हो जाता है; अतः यादमें सब कुछ अपना मन ही बना है। ऐसे ही ध्यानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने स्वरूपको स्थित देखता है। स्थित देखनेका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें सत्तारूपसे अपना ही स्वरूप है। स्वरूपके सिवाय दूसरी कोई सत्ता ही नहीं है; क्योंकि संसार एक क्षण भी एकरूप नहीं रहता, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। संसारके किसी रूपको एक बार देखनेपर अगर दुबारा उसको कोई देखना चाहे, तो देख ही नहीं सकता; क्योंकि वह पहला रूप बदल गया। ऐसे परिवर्तनशील वस्तु, व्यक्ति आदिमें योगी सत्तारूपसे अपरिवर्तनशील अपने स्वरूपको ही देखता है।

'**सर्वभूतानि चात्मनि**'—वह सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने अन्तर्गत देखता है अर्थात् अपने सर्वगत, असीम, सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें ही सभी प्राणियोंको तथा सारे संसारको देखता है। जैसे एक प्रकाशके अन्तर्गत लाल, पीला, काला, नीला आदि जितने रंग दीखते हैं, वे सभी प्रकाशसे ही बने हुए हैं और प्रकाशमें ही दीखते हैं और जैसे जितनी वस्तुएँ दीखती हैं, वे सभी सूर्यसे ही उत्पन्न हुई हैं और सूर्यके प्रकाशमें ही दीखती हैं, ऐसे ही वह योगी सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपसे ही पैदा हुए, स्वरूपमें ही लीन होते हुए और स्वरूपमें ही स्थित देखता है। तात्पर्य है कि उसको जो कुछ दीखता है, वह सब अपना स्वरूप ही

दीखता है।

इस श्लोकमें प्राणियोंमें तो अपनेको स्थित बताया है, पर अपनेमें प्राणियोंको स्थित नहीं बताया। ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि प्राणियोंमें तो अपनी सत्ता है, पर अपनेमें प्राणियोंकी सत्ता नहीं है। कारण कि स्वरूप तो सदा एकरूप रहनेवाला है, पर प्राणी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं।

इस श्लोकका तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहारमें तो प्राणियोंके साथ अलग-अलग बर्ताव होता है, परन्तु अलग-अलग बर्ताव होनेपर भी उस समदर्शी योगीकी स्थितिमें कोई फर्क नहीं पड़ता ।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले जिस भक्तियोगीका वर्णन किया था, उसके अनुभवकी बात आगेके श्लोकमें कहते हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

यः	= जो (भक्त)	**मयि**	= मुझमें	**न, प्रणश्यामि**	= अदृश्य नहीं होता
सर्वत्र	= सबमें	**सर्वम्**	= सबको	**च**	= और
माम्	= मुझे	**पश्यति**	= देखता है,	**सः**	= वह
पश्यति	= देखता है	**तस्य**	= उसके लिये	**मे**	= मेरे लिये
च	= और	**अहम्**	= मैं	**न, प्रणश्यति**	= अदृश्य नहीं होता।

व्याख्या—**'यो मां पश्यति सर्वत्र'**—जो भक्त सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिमें मेरेको देखता है। जैसे, ब्रह्माजी जब बछड़ों और ग्वालबालोंको चुराकर ले गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल बन गये। बछड़े और ग्वालबाल ही नहीं, प्रत्युत उनके बेंत, सींग, बाँसुरी, वस्त्र, आभूषण आदि भी भगवान् स्वयं ही बन गये*। यह लीला एक वर्षतक चलती रही, पर किसीको इसका पता नहीं चला। बछड़ोंमेंसे कई बछड़े तो केवल दूध ही पीनेवाले थे, इसलिये वे घरपर ही रहते थे और बड़े बछड़ोंको भगवान् श्रीकृष्ण अपने साथ वनमें ले जाते थे। एक दिन दाऊ दादा (बलरामजी) ने देखा कि छोटे बछड़ोंवाली गायें भी अपने पहलेके (बड़े) बछड़ोंको देखकर उनको दूध पिलानेके लिये हुंकार मारती हुई दौड़ पड़ीं। बड़े गोपोंने उन गायोंको बहुत रोका, पर वे रुकी नहीं। इससे गोपोंको उन गायोंपर बहुत गुस्सा आ गया। परन्तु जब उन्होंने अपने-अपने बालकोंको देखा, तब उनका गुस्सा शान्त हो गया और स्नेह उमड़ पड़ा। वे बालकोंको हृदयसे लगाने लगे, उनका माथा सूँघने लगे। इस लीलाको देखकर दाऊ दादाने सोचा कि यह क्या बात है; उन्होंने ध्यान लगाकर देखा तो उनको बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण ही दिखायी दिये। ऐसे ही भगवान्‌का सिद्ध भक्त सब जगह भगवान्‌को ही देखता है अर्थात् उसकी दृष्टिमें भगवत्सत्ताके सिवाय दूसरी किंचिन्मात्र भी सत्ता नहीं रहती।

'सर्वं च मयि पश्यति'—और जो भक्त देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिको मेरे ही अन्तर्गत देखता है। जैसे, गीताका उपदेश देते समय अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान् अपना विश्वरूप दिखाते हुए कहते हैं कि चराचर सारे संसारको मेरे एक अंशमें स्थित देख—**'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे**.......' (११।७), तो अर्जुन भी कहते हैं कि मैं

* **यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम्।**
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १९)

'वे बालक और बछड़े संख्यामें जितने थे, जितने छोटे-छोटे उनके शरीर थे, उनके हाथ-पैर आदि जैसे-जैसे थे, उनके पास जितनी और जैसी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे, जैसे और जितने वस्त्राभूषण थे, उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्थाएँ जैसी थीं, जिस प्रकार वे खाते-पीते, चलते आदि थे, ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उस समय 'यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुरूप है'—यह वेदवाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी।'

आपके शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंको देख रहा हूँ—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्'** (११। १५)। संजयने भी कहा कि अर्जुनने भगवान्‌के शरीरमें सारे संसारको देखा—**'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा'** (११। १३)। तात्पर्य है कि अर्जुनने भगवान्‌के शरीरमें सब कुछ भगवत्स्वरूप ही देखा। ऐसे ही भक्तको देखने, सुनने, समझनेमें जो कुछ आता है, उसको भगवान्‌में ही देखता है और भगवत्स्वरूप ही देखता है।

'तस्याहं न प्रणश्यामि'—भक्त जब सब जगह मुझे ही देखता है, तो मैं उससे कैसे छिपूँ, कहाँ छिपूँ और किसके पीछे छिपूँ? इसलिये मैं उस भक्तके लिये अदृश्य नहीं रहता अर्थात् निरन्तर उसके सामने ही रहता हूँ।

'स च मे न प्रणश्यति'—जब भक्त भगवान्‌को सब जगह देखता है, तो भगवान् भी भक्तको सब जगह देखते हैं; क्योंकि भगवान्‌का यह नियम है कि 'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको आश्रय देता हूँ'—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। तात्पर्य है कि भक्त भगवान्‌के साथ घुल-मिल जाते हैं, भगवान्‌के साथ उनकी आत्मीयता, एकता हो जाती है; अतः भगवान् अपने स्वरूपमें उनको सब जगह देखते हैं। इस दृष्टिसे भक्त भी भगवान्‌के लिये कभी अदृश्य नहीं होता।

यहाँ शंका होती है कि भगवान्‌के लिये तो कोई भी अदृश्य नहीं है—**'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि ......'** (गीता ७। २६), फिर यहाँ केवल भक्तके लिये ही 'वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता'—ऐसा क्यों कहा है? इसका समाधान है कि यद्यपि भगवान्‌के लिये कोई भी अदृश्य नहीं है, तथापि जो भगवान्‌को सब जगह देखता है, उसके भावके कारण भगवान् भी उसको सब जगह देखते हैं। परन्तु जो भगवान्‌से विमुख होकर संसारमें आसक्त है, उसके लिये भगवान् अदृश्य रहते हैं—**'नाहं प्रकाशः सर्वस्य'** (गीता ७। २५)। अतः (उसके भावके कारण) वह भी भगवान्‌के लिये अदृश्य रहता है। जितने अंशमें उसका भगवान्‌के प्रति भाव नहीं है, उतने अंशमें वह भगवान्‌के लिये अदृश्य रहता है। ऐसी ही बात भगवान्‌ने नवें अध्यायमें भी कही है कि 'मैं सब प्राणियोंमें समान हूँ। न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ।'

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें आत्मज्ञानकी बात कहकर अब भगवान् परमात्मज्ञानकी बात कहते हैं। ध्यानयोगके किसी साधकमें ज्ञानके संस्कार रहनेसे विवेककी मुख्यता रहती है और किसी साधकमें भक्तिके संस्कार रहनेसे श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता रहती है। अतः ज्ञानके संस्कारवाला ध्यानयोगी विवेकपूर्वक आत्माका अनुभव करता है—**'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'** (गीता ६। २९) और भक्तिके संस्कारवाला ध्यानयोगी श्रद्धाविश्वासपूर्वक परमात्माका अनुभव करता है—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'**।

'यो मां पश्यति सर्वत्र' पदोंका भाव है कि जो मेरेको दूसरोंमें भी देखता है और अपनेमें भी देखता है। **'सर्वं च मयि पश्यति'** पदोंका भाव है कि जो दूसरोंको भी मेरेमें देखता है और अपनेको भी मेरेमें देखता है।

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही दीखेगी। ऐसे ही जब सब रूपोंमें एक भगवान् ही हैं तो फिर वे कैसे छिपें, कहाँ छिपें और किसके पीछे छिपें? क्योंकि एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं। परमात्मामें शरीर और शरीरी, सत् और असत्, जड़ और चेतन, ईश्वर और जगत्, सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार आदि कोई विभाग है ही नहीं। उस एकमें ही अनेक विभाग हैं और अनेक विभागोंमें वह एक ही है। वह विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका विषय है। अतः 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसको साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मान ले, स्वीकार कर ले। दृढ़तासे माननेपर फिर वैसा ही अनुभव हो जायगा।

साधक पहले परमात्माको दूर देखता है, फिर नजदीक देखता है, फिर अपनेमें देखता है, और फिर केवल परमात्माको ही देखता है। कर्मयोगी परमात्माको नजदीक देखता है, ज्ञानयोगी परमात्माको अपनेमें देखता है और भक्तियोगी सब जगह परमात्माको ही देखता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् ध्यान करनेवाले सिद्ध भक्तियोगीके लक्षण बताते हैं।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

एकत्वम्	= (मुझमें) एकीभावसे		प्राणियोंमें स्थित	**अपि**	= भी
आस्थितः	= स्थित हुआ	**माम्**	= मेरा	**मयि**	= मुझमें (ही)
यः	= जो	**भजति**	= भजन करता है,	**वर्तते**	= बर्ताव कर रहा है अर्थात् वह नित्य-निरन्तर मुझमें ही स्थित है।
योगी	= भक्तियोगी	**सः**	= वह		
सर्वभूतस्थितम्	= सम्पूर्ण	**सर्वथा**	= सब कुछ		
		वर्तमानः	= बर्ताव करता हुआ		

व्याख्या—**'एकत्वमास्थितः'**—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया था कि जो मेरेको सबमें और सबको मेरेमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। अदृश्य क्यों नहीं होता? कारण कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरे साथ उसकी अभिन्नता हो गयी है अर्थात् मेरे साथ उसका अत्यधिक प्रेम हो गया है।

अद्वैत-सिद्धान्तमें तो स्वरूपसे एकता होती है, पर यहाँ वैसी एकता नहीं है। यहाँ द्वैत होते हुए भी अभिन्नता है अर्थात् भगवान् और भक्त दीखनेमें तो दो हैं, पर वास्तवमें एक ही हैं*। जैसे पति और पत्नी दो शरीर होते हुए भी अपनेको अभिन्न मानते हैं, दो मित्र अपनेको एक ही मानते हैं; क्योंकि अत्यन्त स्नेह होनेके कारण वहाँ द्वैतपना नहीं रहता। ऐसे ही जो भक्तियोगका साधक भगवान्को प्राप्त हो जाता है, भगवान्में अत्यन्त स्नेह होनेके कारण उसकी भगवान्से अभिन्नता हो जाती है। इसी अभिन्नताको यहाँ **'एकत्वमास्थितः'** पदसे बताया गया है।

'सर्वभूतस्थितं यो मां भजति'—सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें भगवान् ही परिपूर्ण हैं अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् भगवत्स्वरूप ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)—यही उसका भजन है।

'सर्वभूतस्थितम्' पदसे ऐसा असर पड़ता है कि भगवान् केवल प्राणियोंमें ही स्थित हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। भगवान् केवल प्राणियोंमें ही स्थित नहीं हैं, प्रत्युत संसारके कण-कणमें परिपूर्णरूपसे स्थित हैं। जैसे, सोनेके आभूषण सोनेसे ही बनते हैं, सोनेमें ही स्थित रहते हैं और सोनेमें ही उनका पर्यवसान होता है अर्थात् सब समय एक सोना-ही-सोना है। परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें आभूषणोंकी सत्ता अलग प्रतीत होनेके कारण उनको समझानेके लिये कहा जाता है कि आभूषणोंमें सोना ही है। ऐसे ही सृष्टिके पहले, सृष्टिके समय और सृष्टिके बाद एक परमात्मा-ही-परमात्मा है। परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें प्राणियों और पदार्थोंकी सत्ता अलग प्रतीत होनेके कारण उनको समझानेके लिये कहा जाता है कि सब प्राणियोंमें एक परमात्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है। इसी वास्तविकताको यहाँ **'सर्वभूतस्थितं माम्'** पदोंसे कहा गया है।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'—वह शास्त्र और वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते आदि सभी क्रियाएँ करते हुए मेरेमें ही बरतता है, मेरेमें ही रहता है। कारण कि जब उसकी दृष्टिमें मेरे सिवाय दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रही, तो फिर वह जो कुछ बर्ताव करेगा, उसको कहाँ करेगा? वह तो मेरेमें ही सब कुछ करेगा।

तेरहवें अध्यायमें ज्ञानयोगके प्रकरणमें भगवान्ने यह बताया कि सब कुछ बर्ताव करते हुए भी उसका फिर जन्म नहीं होता—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'** (१३। २३); और यहाँ भगवान्ने बताया है कि सब कुछ बर्ताव करते हुए भी वह मेरेमें ही रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेकी बात है और यहाँ भगवान्के साथ अभिन्न होनेकी बात है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ज्ञानयोगी मुक्त हो जाता है और भगवान्के साथ अभिन्नता होनेपर भक्त प्रेमके एक विलक्षण रसका आस्वादन करता है, जो अनन्त और प्रतिक्षण वर्धमान है।

यहाँ भगवान्ने कहा है कि वह योगी मेरेमें बर्ताव करता है अर्थात् मेरेमें ही रहता है। इसपर शंका होती है कि क्या अन्य प्राणी भगवान्में नहीं रहते? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणी भगवान्में ही बरतते हैं,

* **ज्ञानमें तो दो होकर एक होते हैं, पर भक्तिमें प्रेमके विलक्षण आनन्दका आदान-प्रदान करनेके लिये, प्रेमका विस्तार करनेके लिये एक होकर दो हो जाते हैं; जैसे—भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीजी एक होकर भी दो हैं।**

भगवान्‌में ही रहते हैं; परन्तु उनके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता और महत्ता रहनेसे वे भगवान्‌में अपनी स्थिति जानते नहीं, मानते नहीं। अतः भगवान्‌में बरतते हुए भी, भगवान्‌में रहते हुए भी उनका बर्ताव संसारमें ही हो रहा है अर्थात् उन्होंने जगत्‌में अहंता-ममता करके जगत्‌को धारण कर रखा है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। वे जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप न समझकर अर्थात् जगत् समझकर बर्ताव करते हैं। वे कहते भी हैं कि हम तो संसारी आदमी हैं, हम तो संसारमें रहनेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌का भक्त इस बातको जानता है कि यह सब संसार वासुदेवरूप है। अतः वह भक्त हरदम भगवान्‌में ही रहता है और भगवान्‌में ही बर्ताव करता है।

परिशिष्ट भाव—भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को परमात्माका ही स्वरूप देखता है। उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय और किसीकी सत्ता नहीं रहती। उसके लिये द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—तीनों ही परमात्मस्वरूप हो जाते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। इसलिये जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन किया जाय, ऐसे ही उस भक्तका सब बर्ताव परमात्मामें ही होता है। जैसे शरीरमें तादात्म्यवाला व्यक्ति सब क्रिया करते हुए शरीरमें ही रहता है, ऐसे ही भक्त सब क्रिया करते हुए भी परमात्मामें ही रहता है।

आगे तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगीके लिये कहा है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'** (१३। २३) और यहाँ भक्तके लिये कहा है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।'** तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानमार्गमें तो जन्म-मरण मिट जाता है, मुक्ति हो जाती है, पर भक्तिमार्गमें जन्म-मरण मिटकर भगवान्‌से अभिन्नता होती है, आत्मीयता होती है। इसी भावको गीतामें इस प्रकार भी कहा गया है—**'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'** (६। ३०), **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (७। १७), **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (७। १८), **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (९। २९)। ज्ञानमार्गमें तो सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध रहनेसे दार्शनिक मतभेद रह सकता है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌से आत्मीयता होनेपर सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध तथा उससे होनेवाला दार्शनिक मतभेद नहीं रहता। **'न स भूयोऽभिजायते'** में स्वरूपमें स्थितिका अनुभव होनेपर केवल स्वयं (स्वरूप) रहता है और **'स योगी मयि वर्तते'** में केवल भगवान् रहते हैं, स्वयं (योगी) नहीं रहता अर्थात् स्वयं योगीरूप नहीं रहता, प्रत्युत भगवत्स्वरूप रहता है।

सम्बन्ध—भक्त सब बर्ताव करते हुए भी मेरेमें कैसे बर्ताव करता है—यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**समम्**	= समान		(भी समान देखता है),
यः	= जो (भक्त)	**पश्यति**	= देखता है	**सः**	= वह
आत्मौपम्येन	= अपने शरीरकी उपमासे	**वा**	= और	**परमः**	= परम
सर्वत्र	= सब जगह (मुझे)	**सुखम्**	= सुख	**योगी**	= योगी
		यदि, वा	= अथवा	**मतः**	= माना गया है।
		दुःखम्	= दुःखको		

*व्याख्या—***'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'—**साधारण मनुष्य जैसे अपने शरीरमें अपनी स्थिति देखता है, तो उसके शरीरके किसी अंगमें किसी तरहकी पीड़ा हो—ऐसा वह नहीं चाहता, प्रत्युत सभी अंगोंका समानरूपसे आराम चाहता है। ऐसे ही सब प्राणियोंमें भगवान्‌को समान देखनेवाला भक्त सभी प्राणियोंका समानरूपसे आराम चाहता है। उसके सामने कोई दुःखी प्राणी आ जाय, तो अपने शरीरके किसी अंगका दुःख दूर करनेकी तरह ही उसका दुःख दूर करनेकी स्वाभाविक चेष्टा होती है। तात्पर्य है कि जैसे साधारण प्राणीकी अपने शरीरके आरामके लिये चेष्टा होती है, ऐसे ही भक्तकी दूसरोंके शरीरोंके आरामके लिये स्वाभाविक चेष्टा होती है।

'सर्वत्र' कहनेका तात्पर्य है कि उसके द्वारा वर्ण,

आश्रम, देश, वेश, सम्प्रदाय आदिका भेद न रखकर सबको समान रीतिसे सुख पहुँचानेकी स्वाभाविक चेष्टा होती है। ऐसे ही पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंको भी समानरीतिसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा होती है और साथ-ही-साथ उनका दु:ख दूर करनेका भी स्वाभाविक उद्योग होता है।

अपने शरीरके अंगोंका दु:ख दूर करनेकी समान चेष्टा होनेपर भी अंगोंमें भेद-दृष्टि तो रहती ही है और रहना आवश्यक भी है। जैसे, हाथका काम पैरसे नहीं किया जाता। अगर हाथको हाथ छू जाय तो हाथ धोनेकी जरूरत नहीं पड़ती; परन्तु पैरको हाथ छू जाय तो हाथ धोना पड़ता है। अगर मल-मूत्रके अंगोंको हाथसे साफ किया जाय, तो हाथको मिट्टी लगाकर विशेषतासे धोना, निर्मल करना पड़ता है। ऐसे ही शास्त्र और वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार सबके सुख-दु:खमें समान भाव रखते हुए भी स्पर्श-अस्पर्शका खयाल रखकर व्यवहार होना चाहिये। किसीके प्रति किंचिन्मात्र भी घृणाकी सम्भावना ही नहीं होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरके पवित्र-अपवित्र अंगोंकी रक्षा करनेमें और उनको सुख पहुँचानेमें कोई कमी न रखते हुए भी शुद्धिकी दृष्टिसे उनमें स्पर्श-अस्पर्शका भेद रखते हैं। ऐसे ही शास्त्र-मर्यादाके अनुसार संसारके सभी प्राणियोंमें स्पर्श-अस्पर्शका भेद मानते हुए भी भक्तके द्वारा उनका दु:ख दूर करनेकी और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती। तात्पर्य है कि जैसे अपने शरीरका कोई अंग अस्पृश्य होनेपर भी वह अप्रिय नहीं होता, ऐसे ही शास्त्रमर्यादाके अनुसार कोई प्राणी अस्पृश्य होनेपर भी उसमें प्रियता, हितैषिताकी कभी कमी नहीं होती।

'सुखं वा यदि वा दु:खम्'—अपने शरीरकी उपमासे दूसरोंके सुख-दु:खमें समान रहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरोंके शरीरके किसी अंगमें पीड़ा हो जाय, तो वह पीड़ा अपने शरीरमें भी हो जाय, अपनेको भी उस पीड़ाका अनुभव हो जाय। अगर ऐसी समता ली जाय तो अपनेको दु:ख ही ज्यादा होगा और दु:ख मिटेगा भी नहीं; क्योंकि संसारमें दु:खी प्राणी ही ज्यादा हैं।

दूसरी बात, जैसे विरक्त त्यागी महात्मालोग अपने शरीरकी और अपने शरीरके अंगोंमें होनेवाली पीड़ाकी उपेक्षा कर देते हैं, ऐसे ही दूसरोंके शरीरोंकी और उनके शरीरोंके अंगोंमें होनेवाली पीड़ाकी उपेक्षा हो जाय अर्थात् जैसे उनपर अपने शरीरके सुख-दु:खका असर नहीं होता, ऐसे ही दूसरोंके सुख-दु:खका भी अपनेपर असर न हो—यह भी उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य नहीं है।

उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य है कि जैसे शरीरमें आसक्त अज्ञानी पुरुषके शरीरमें पीड़ा होनेपर उस पीड़ाको दूर करनेमें और सुख पहुँचानेमें उसकी जैसी चेष्टा होती है, तत्परता होती है, ऐसे ही दूसरोंका दु:ख दूर करनेमें और सुख पहुँचानेमें भक्तकी स्वाभाविक चेष्टा होती है, तत्परता होती है।

जैसे, किसीके हाथमें चोट लग गयी और वह लोक-समुदायमें जाता है तो उस पीड़ित हाथको धक्का न लग जाय, इसलिये दूसरे हाथको सामने रखकर उस पीड़ित हाथकी रक्षा करता है और उसको धक्का न लगे, ऐसा उद्योग करता है। परन्तु उसके मनमें कभी यह अभिमान नहीं आता कि मैं इस हाथकी पीड़ा दूर करनेवाला हूँ, इसको सुख पहुँचानेवाला हूँ। वह उस हाथपर ऐसा एहसान भी नहीं करता कि देख हाथ! मैंने तेरी पीड़ा दूर करनेके लिये कितनी चेष्टा की! पीड़ाको शान्त करनेपर वह अपनेमें विशेषताका भी अनुभव नहीं करता। ऐसे ही भक्तके द्वारा दु:खी प्राणियोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा स्वाभाविक होती है। उनके मनमें यह अभिमान नहीं आता कि मैं प्राणियोंका दु:ख दूर कर रहा हूँ; दूसरोंको सुख पहुँचा रहा हूँ। उनका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा करनेपर वे अपनेमें कोई विशेषता भी नहीं देखते। उनका स्वभाव ही दूसरोंका दु:ख दूर करनेका, उनको सुख पहुँचानेका होता है।

भक्तके शरीरमें पीड़ा होती है, तो वह उसको सह सकता है और उसके द्वारा उस पीड़ाकी उपेक्षा भी हो सकती है; परन्तु दूसरेके शरीरमें पीड़ा हो तो उसको वह सह नहीं सकता। कारण कि जिसकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि है, उस भक्तके अन्त:करणमें तो पीड़ा सहनेकी शक्ति है पर दूसरोंके अन्त:करणमें पीड़ा सहनेकी वैसी सामर्थ्य नहीं है। अत: उनके द्वारा दूसरोंके शरीरोंकी पीड़ा दूर करनेमें विशेष तत्परता होती है। जैसे, इन्द्रने बिना किसी अपराधके दधीचि ऋषिका सिर काट दिया। पीछे अश्विनीकुमारोंने उनको पुन: जिला दिया। परन्तु जब इन्द्रका काम पड़ा, तब दधीचिने अपना शरीर छोड़कर उनको (वज्र बनानेके लिये) अपनी हड्डियाँ दे दीं!

यहाँ शंका हो सकती है कि अपने शरीरके दु:खकी तो उपेक्षा होती है और दूसरोंके दु:खकी उपेक्षा नहीं होती—यह तो विषमता हो गयी! यह समता कहाँ रही? इसका

समाधान है कि वास्तवमें यह विषमता समताकी जनक है, समताको प्राप्त करानेवाली है। यह विषमता समतासे भी ऊँचे दर्जेकी चीज है। साधक साधन-अवस्थामें ऐसी विषमता करता है, तो सिद्ध-अवस्थामें भी उसकी ऐसी ही स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परन्तु उसके अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं आती।

'स योगी परमो मतः'—उसकी दृष्टिमें सिवाय परमात्माके कुछ नहीं रहा। वह नित्ययोग (परमात्माके नित्यसम्बन्ध) और नित्यसमतामें स्थित रहता है। कारण कि सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेसे उसका परमात्मासे कभी वियोग होता ही नहीं और वह सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियोंमें एकरूप ही रहता है। अतः वह मुझे परमयोगी मान्य है।

परिशिष्ट भाव—जैसे साधारण मनुष्य शरीरमें अपनेको देखता है, शरीरके किसी भी अंगकी पीड़ा न चाहकर, किसी भी अंगसे द्वेष न करके सब अंगोंको समानरूपसे अपना मानता है, ऐसे ही भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने अंशी भगवान्‌को देखता है और सबका दुःख दूर करने तथा सुख पहुँचानेकी समानरूपसे स्वाभाविक चेष्टा करता है। वह वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यको अपनी न मानकर भगवान्‌की मानता है। जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन किया जाय, दीपकसे सूर्यका पूजन किया जाय, ऐसे ही भक्त भगवान्‌की वस्तुको भगवान्‌की सेवामें अर्पित करता है—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'**।

जैसे शरीरके सब अंगोंसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी उनमें आत्मबुद्धि एक ही रहती है तथा उन अंगोंकी पीड़ा दूर करने तथा उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी समान ही रहती है, ऐसे ही 'जैसा देव, वैसी पूजा' के अनुसार ब्राह्मण और चाण्डाल, साधु और कसाई, गाय और कुत्ता आदि सबसे शास्त्रमर्यादाके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी भक्तकी भगवद्बुद्धिमें तथा उनका दुःख दूर करने और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कोई अन्तर नहीं आता।

जैसे भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्माके साथ भगवान्‌की एकता मानता है (इसी अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक), ऐसे ही वह सब शरीरोंकी भी अपने शरीरके साथ एकता मानता है। इसलिये वह दूसरेके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होता है—**'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'** (मानस, उत्तर० ३८। १)। वह अपने शरीरके सुख-दुःखकी तरह सबके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख समझता है। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका तात्पर्य खुद दुःखी होना नहीं है, प्रत्युत दूसरेका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करना है। इसी तरह खुद सुखी होनेके लिये दूसरेका दुःख दूर नहीं करना है, प्रत्युत करुणा करके दूसरेको सुखी करनेकी चेष्टा करना है। तात्पर्य है कि खुद सुखका भोग नहीं करना है, प्रत्युत 'दूसरेका दुःख दूर हो गया, वह सुखी हो गया'—इसको लेकर प्रसन्न होना है।

आँख और पैरका भेद इतना है कि आँखोंसे देखते हैं और पैरोंसे चलते हैं; आँख ज्ञानेन्द्रिय है और पैर कर्मेन्द्रिय है। इतना भेद होते हुए भी अभिन्नता इतनी है कि काँटा पैरमें लगता है, आँसू आँखोंमें आ जाते हैं और मिट्टी आँखमें पड़ती है, लड़खड़ाते पैर हैं! तात्पर्य है कि हम शरीरको संसारसे और संसारको शरीरसे अलग नहीं कर सकते। इसलिये अगर हम शरीरकी परवाह करते हैं तो वैसे ही संसारकी भी परवाह करें और अगर संसारकी बेपरवाह करते हैं तो वैसे ही शरीरकी भी बेपरवाह करें। दोनों बातोंमें चाहे कोई मान लें, इसीमें ईमानदारी है!

सम्बन्ध—जिस समताकी प्राप्ति सांख्ययोग और कर्मयोगके द्वारा होती है, उसी समताकी प्राप्ति ध्यानयोगके द्वारा भी होती है—इसको भगवान्‌ने दसवें श्लोकसे उनतीसवें श्लोकतक बताया। अब अर्जुन ध्यानयोगसे प्राप्त समताको लेकर आगेके दो श्लोकोंमें अपनी मान्यता प्रकट करते हैं।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्जुन बोले—

मधुसूदन	= हे मधुसूदन!	**यः**	= जो	**प्रोक्तः**	= कहा है,
त्वया	= आपने	**अयम्**	= यह	**चञ्चलत्वात्**	= (मनकी) चंचलताके कारण
साम्येन	= समतापूर्वक	**योगः**	= योग		

अहम्	= मैं	**स्थिराम्**	= स्थिर	**न**	= नहीं
एतस्य	= इस योगकी	**स्थितिम्**	= स्थिति	**पश्यामि**	= देखता हूँ।

व्याख्या—[मनुष्यके कल्याणके लिये भगवान्‌ने गीतामें खास बात बतायी कि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिको लेकर चित्तमें समता रहनी चाहिये। इस समतासे मनुष्यका कल्याण होता है। अर्जुन पापोंसे डरते थे तो उनके लिये भगवान्‌ने कहा कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दु:खको समान समझकर तुम युद्ध करो, फिर तुम्हारेको पाप नहीं लगेगा' (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। जैसे दुनियामें बहुत-से पाप होते रहते हैं, पर वे पाप हमें नहीं लगते; क्योंकि उन पापोंमें हमारी विषम-बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत समबुद्धि रहती है। ऐसे ही समबुद्धिपूर्वक सांसारिक काम करनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता। इसी भावसे भगवान्‌ने इस अध्यायके आरम्भमें कहा है कि जो कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है। इसी कर्मफल-त्यागकी सिद्धि भगवान्‌ने 'समता' बतायी (छठे अध्यायका नवाँ श्लोक)। इस समताकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌ने दसवें श्लोकसे बत्तीसवें श्लोकतक ध्यानयोगका वर्णन किया। इसी ध्यानयोगके वर्णनका लक्ष्य करके अर्जुन यहाँ अपनी मान्यता प्रकट करते हैं।]

'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन'—यहाँ अर्जुनने जो अपनी मान्यता बतायी है, वह पूर्वश्लोकको लेकर नहीं है, प्रत्युत ध्यानके साधनको लेकर है। कारण कि बत्तीसवाँ श्लोक ध्यानयोगद्वारा सिद्ध पुरुषका है और सिद्ध पुरुषकी समता स्वतः होती है। इसलिये यहाँ **'यः'** पदसे इस प्रकरणसे पहले कहे हुए योग-(समता-) का संकेत है और **'अयम्'** पदसे दसवें श्लोकसे अट्ठाईसवें श्लोकतक कहे हुए ध्यानयोगके साधनका संकेत है।

'एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्'—इन पदोंसे अर्जुनका यह आशय मालूम देता है कि कर्मयोगसे तो समताकी प्राप्ति सुगम है, पर यहाँ जिस ध्यानयोगसे समताकी प्राप्ति बतायी है, मनकी चंचलताके कारण उस ध्यानमें स्थिर स्थिति रहना मुझे बड़ा कठिन दिखायी देता है। तात्पर्य है कि जबतक मनकी चंचलताका नाश नहीं होगा, तबतक ध्यानयोग सिद्ध नहीं होगा और ध्यानयोग सिद्ध हुए बिना समताकी प्राप्ति नहीं होगी।

सम्बन्ध—जिस चंचलताके कारण अर्जुन अपने मनकी दृढ़ स्थिति नहीं देखते, उस चंचलताका आगेके श्लोकमें उदाहरणसहित स्पष्ट वर्णन करते हैं।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

हि	= कारण कि	**दृढम्**	= दृढ़ (जिद्दी)		स्थित)
कृष्ण	= हे कृष्ण!	**बलवत्**	= (और) बलवान् है।	**वायोः**	= वायुकी
मनः	= मन			**इव**	= तरह
चञ्चलम्	= (बड़ा ही) चंचल,	**तस्य**	= उसको	**सुदुष्करम्**	= अत्यन्त कठिन
		निग्रहम्	= रोकना		
प्रमाथि	= प्रमथनशील,	**अहम्**	= मैं (आकाशमें	**मन्ये**	= मानता हूँ।

व्याख्या—**'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्'**—यहाँ भगवान्‌को 'कृष्ण' सम्बोधन देकर अर्जुन मानो यह कह रहे हैं कि हे नाथ! आप ही कृपा करके इस मनको खींचकर अपनेमें लगा लें, तो यह मन लग सकता है। मेरेसे तो इसका वशमें होना बड़ा कठिन है! क्योंकि यह मन बड़ा ही चंचल है। चंचलताके साथ-साथ यह 'प्रमाथि' भी है अर्थात् यह साधकको अपनी स्थितिसे विचलित कर देता है। यह बड़ा जिद्दी और बलवान् भी है।

भगवान्‌ने 'काम'-(कामना-) के रहनेके पाँच स्थान बताये हैं—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, विषय और स्वयं (गीता—तीसरे अध्यायका चालीसवाँ तथा चौंतीसवाँ और दूसरे अध्यायका उनसठवाँ श्लोक)। वास्तवमें काम स्वयंमें अर्थात् चिज्जड़-ग्रन्थिमें रहता है और इन्द्रियाँ, मन , बुद्धि तथा विषयोंमें इसकी प्रतीति होती है। काम जबतक स्वयंसे निवृत्त नहीं होता, तबतक यह काम समय-समयपर इन्द्रियों आदिमें प्रतीत होता रहता है। पर जब यह स्वयंसे निवृत्त हो

जाता है, तब इन्द्रियों आदिमें भी यह नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक स्वयंमें काम रहता है, तबतक मन साधकको व्यथित करता रहता है। अतः यहाँ मनको 'प्रमाथि' बताया गया है। ऐसे ही स्वयंमें काम रहनेके कारण इन्द्रियाँ साधकके मनको व्यथित करती रहती हैं। इसलिये दूसरे अध्यायके साठवें श्लोकमें इन्द्रियोंको भी प्रमाथि बताया गया है—**'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'**। तात्पर्य यह हुआ कि जब कामना मन और इन्द्रियोंमें आती है, तब वह साधकको महान् व्यथित कर देती है, जिससे साधक अपनी स्थितिपर नहीं रह पाता।

उस कामके स्वयंमें रहनेके कारण मनका पदार्थोंके प्रति गाढ़ खिंचाव रहता है। इससे मन किसी तरह भी उनकी ओर जानेको छोड़ता नहीं, हठ कर लेता है; अतः मनको दृढ़ कहा है। मनकी यह दृढ़ता बहुत बलवती होती है; अतः मनको 'बलवत्' कहा है। तात्पर्य है कि मन बड़ा बलवान् है, जो कि साधकको जबर्दस्ती विषयोंमें ले जाता है। शास्त्रोंने तो यहाँतक कह दिया है कि मन ही मनुष्योंके मोक्ष और बन्धनमें कारण है—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'** परन्तु मनमें यह प्रमथनशीलता, दृढ़ता और बलवत्ता तभीतक रहती है, जबतक साधक अपनेमेंसे कामको सर्वथा निकाल नहीं देता। जब साधक स्वयं कामरहित हो जाता है, तब पदार्थोंका, विषयोंका कितना ही संसर्ग होनेपर भी साधकपर उनका कुछ भी असर नहीं पड़ता। फिर मनकी प्रमथनशीलता आदि नष्ट हो जाती है।

मनकी चंचलता भी तभीतक बाधक होती है, जबतक स्वयंमें कुछ भी कामका अंश रहता है। कामका अंश सर्वथा निवृत्त होनेपर मनकी चंचलता किंचिन्मात्र भी बाधक नहीं होती। शास्त्रकारोंने कहा है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम्॥

(सरस्वतीरहस्योपनिषद् ३१)

अर्थात् देहाभिमान (जडके साथ मैं-पन) सर्वथा मिट जानेपर जब परमात्मतत्त्वका बोध हो जाता है, तब जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ परमात्मतत्त्वका अनुभव होता है अर्थात् उसकी अखण्ड समाधि (सहज समाधि) रहती है।

'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्'—इस चंचल, प्रमाथि, दृढ़ और बलवान् मनका निग्रह करना बड़ा कठिन है। जैसे आकाशमें विचरण करते हुए वायुको कोई मुट्ठीमें नहीं पकड़ सकता, ऐसे ही इस मनको कोई पकड़ नहीं सकता। अतः इसका निग्रह करनेको मैं महान् दुष्कर मानता हूँ।

परिशिष्ट भाव—भगवान्ने उनतीसवें श्लोकमें स्वरूपका ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव बताया और तीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकोंमें सगुण-साकार भगवान्का ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव बताया। इन श्लोकोंमें भगवान्का आशय यह था कि सबमें आत्मदर्शन अथवा सबमें भगवद्दर्शन करना ही ध्यानयोगका अन्तिम फल है। ज्ञानके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें आत्माको और भक्तिके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें भगवान्को देखते हैं। सबमें आत्माको देखना 'आत्मज्ञान' है और सबमें भगवान्को देखना 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानमें विवेककी और परमात्मज्ञानमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है, मनकी स्थिरताकी मुख्यता नहीं है। परन्तु अर्जुनके भीतर दसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक कहे ध्यानयोगका संस्कार बैठा था; अतः उन्होंने आत्मज्ञान अथवा परमात्मज्ञान न होनेमें मनकी चंचलताको हेतु मान लिया। उनकी दृष्टि ध्यानयोगीके भीतरके ज्ञान या भक्तिके संस्कारकी तरफ नहीं गयी, प्रत्युत मनकी चंचलताकी तरफ गयी। अतः उन्होंने मनकी चंचलताको बाधक मान लिया।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें भगवान् अर्जुनकी मान्यताका अनुमोदन करते हुए मनके निग्रहके उपाय बताते हैं।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहो	= हे महाबाहो!	**चलम्**	= बड़ा चंचल है (और)	**दुर्निग्रहम्**	= इसका निग्रह करना भी बड़ा
मनः	= यह मन				

	कठिन है—	**तु**	= परन्तु	**वैराग्येण**	= वैराग्यके द्वारा
असंशयम्	= यह तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है।	**कौन्तेय**	= हे कुन्तीनन्दन!	**गृह्यते**	= (इसका) निग्रह किया जाता है।
		अभ्यासेन	= अभ्यास		
		च	= और		

व्याख्या—'**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्**'—यहाँ '**महाबाहो**' सम्बोधनका तात्पर्य शूरवीरता बतानेमें है अर्थात् अभ्यास करते हुए कभी उकताना नहीं चाहिये। अपनेमें धैर्यपूर्वक वैसी ही शूरवीरता रखनी चाहिये।

अर्जुनने पहले चंचलताके कारण मनका निग्रह करना बड़ा कठिन बताया। उसी बातपर भगवान् कहते हैं कि तुम जो कहते हो, वह एकदम ठीक बात है, निःसन्दिग्ध बात है; क्योंकि मन बड़ा चंचल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है।

'**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**'—अर्जुनकी माता कुन्ती बहुत विवेकवती तथा भोगोंसे विरक्त रहनेवाली थीं। कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे विपत्तिका वरदान माँगा था*। ऐसा वरदान माँगनेवाला इतिहासमें बहुत कम मिलता है। अतः यहाँ '**कौन्तेय**' सम्बोधन देकर भगवान् अर्जुनको कुन्ती माताकी याद दिलाते हैं कि जैसे तुम्हारी माता कुन्ती बड़ी विरक्त है, ऐसे ही तुम भी संसारसे विरक्त होकर परमात्मामें लगो अर्थात् मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगाओ।

मनको बार-बार ध्येयमें लगानेका नाम 'अभ्यास' है। इस अभ्यासकी सिद्धि समय लगानेसे होती है। समय भी निरन्तर लगाया जाय, रोजाना लगाया जाय। कभी अभ्यास किया, कभी नहीं किया—ऐसा नहीं हो। तात्पर्य है कि अभ्यास निरन्तर होना चाहिये और अपने ध्येयमें महत्त्व तथा आदर-बुद्धि होनी चाहिये। इस तरह अभ्यास करनेसे अभ्यास दृढ़ हो जाता है।

अभ्यासके दो भेद हैं—(१) अपना जो लक्ष्य, ध्येय है, उसमें मनोवृत्तिको लगाये और दूसरी वृत्ति आ जाय अर्थात् दूसरा कुछ भी चिन्तन आ जाय, उसकी उपेक्षा कर दे, उससे उदासीन हो जाय।

(२) जहाँ-जहाँ मन चला जाय, वहाँ-वहाँ ही अपने लक्ष्यको, इष्टको देखे।

उपर्युक्त दो साधनोंके सिवाय मन लगानेके कई उपाय हैं; जैसे—

(१) जब साधक ध्यान करनेके लिये बैठे, तब सबसे पहले दो-चार श्वास बाहर फेंककर ऐसी भावना करे कि मैंने मनसे संसारको सर्वथा निकाल दिया, अब मेरा मन संसारका चिन्तन नहीं करेगा, भगवान्‌का ही चिन्तन करेगा और चिन्तनमें जो कुछ भी आयेगा, वह भगवान्‌का ही स्वरूप होगा। भगवान्‌के सिवाय मेरे मनमें दूसरी बात आ ही नहीं सकती। अतः भगवान्‌का स्वरूप वही है, जो मनमें आ जाय और मनमें जो आ जाय, वही भगवान्‌का स्वरूप है—यह '**वासुदेवः सर्वम्**' का सिद्धान्त है। ऐसा होनेपर मन भगवान्‌में ही लगेगा; और लगेगा ही कहाँ?

(२) भगवान्‌के नामका जप करे, पर जपमें दो बातोंका खयाल रखे—एक तो नामके उच्चारणमें समय खाली न जाने दे अर्थात् 'रा....म....रा....म' इस तरह नामका भले ही धीरे-धीरे उच्चारण करे, पर बीचमें समय खाली न जाने दे और दूसरे, नामको सुने बिना न जाने दे अर्थात् जपके साथ-साथ उसको सुने भी।

(३) जिस नामका उच्चारण किया जाय, मनसे उस नामकी निगरानी रखे अर्थात् उस नामको अंगुली अथवा मालासे न गिनकर मनसे ही नामका उच्चारण करे और मनसे ही नामकी गिनती करे।

(४) एक नामका तो वाणीसे उच्चारण करे और दूसरे नामका मनसे जप करे; जैसे—वाणीसे तो 'राम-राम-राम' का उच्चारण करे और मनसे 'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण' का जप करे।

(५) जैसे राग-रागिनीके साथ बोलकर नामका कीर्तन करते हैं, ऐसे ही राग-रागिनीके साथ मनसे नामका कीर्तन करे।

(६) चरणोंसे लेकर मुकुटतक और मुकुटसे लेकर चरणोंतक भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करे।

(७) भगवान् मेरे सामने खड़े हैं—ऐसा समझकर

*** विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ (श्रीमद्भा० १। ८। २५)**

'हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे हमें पुनः संसारकी प्राप्ति न करानेवाले आपके दुर्लभ दर्शन मिलते रहें।'

भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करे। भगवान्‌के दाहिने चरणकी पाँच अंगुलियोंपर मनसे ही पाँच नाम लिख दे। अंगुलियोंके ऊपरका जो भाग है, उसपर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे। चरणोंकी पिण्डीका जो आरम्भ है, उस पिण्डीकी सन्धिपर दो नामोंके कड़े बना दे। फिर पिण्डीपर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे। घुटनेके नीचे और ऊपर एक-एक नामका गोल कड़ा बना दे अर्थात् गोलाकार नाम लिख दे। ऊरु (जंघा) पर लम्बाईमें तीन नाम लिख दे। आधी (दाहिने तरफकी) कमरमें दो नामोंकी करधनी बना दे। तीन नाम पसलीपर लिख दे। दो नाम कन्धेपर और तीन नाम बाजूपर (भुजाके ऊपरके भागपर) लिख दे। कोहनीके ऊपर और नीचे दो-दो नामोंका कड़ा बना दे। फिर तीन नाम (कोहनीके नीचे) पहुँचासे ऊपरके भागपर लिख दे। पहुँचामें दो नामोंका कड़ा बना दे तथा पाँच अंगुलियोंपर पाँच नाम लिख दे। गलेमें चार नामोंका आधा हार और कानमें दो नामोंका कुण्डल बना दे। मुकुटके दाहिने आधे भागपर छः नाम लिख दे अर्थात् नीचेके भागपर दो नामोंका कड़ा, मध्यभागपर दो नामोंका कड़ा और ऊपरके भागपर दो नामोंका कड़ा बना दे।

तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के दाहिने अंगमें चरणसे लेकर मुकुटतक चौवन नाम अथवा मन्त्र आने चाहिये और बायें अंगमें मुकुटसे लेकर चरणतक चौवन नाम अथवा मन्त्र आने चाहिये। इससे भगवान्‌की एक परिक्रमा हो जाती है, भगवान्‌के सम्पूर्ण अंगोंका चिन्तन हो जाता है और एक सौ आठ नामोंकी एक माला भी हो जाती है। प्रतिदिन ऐसी कम-से-कम एक माला करनी चाहिये। इससे अधिक करना चाहें, तो अधिक भी कर सकते हैं।

इस तरह अभ्यास करनेके अनेक रूप, अनेक तरीके हैं। ऐसे तरीके साधक स्वयं भी सोच सकता है।

अभ्यासकी सहायताके लिये 'वैराग्य' की जरूरत है। कारण कि संसारके भोगोंसे राग जितना हटेगा, मन उतना परमात्मामें लगेगा। संसारका राग सर्वथा हटनेपर मनमें संसारका रागपूर्वक चिन्तन नहीं होगा। अतः पुराने संस्कारोंके कारण कभी कोई स्फुरणा हो भी जाय, तो उसकी उपेक्षा कर दे अर्थात् उसमें न राग करे और न द्वेष करे। फिर वह स्फुरणा अपने-आप मिट जायगी। इस तरह अभ्यास और वैराग्यसे मनका निग्रह हो जाता है, मन पकड़ा जाता है।

वैराग्य होनेके कई उपाय हैं; जैसे—

१—संसार प्रतिक्षण बदलता है और स्वरूप कभी भी तथा किसी भी क्षण बदलता नहीं। अतः संसार हमारे साथ नहीं है और हम संसारके साथ नहीं हैं। जैसे, बाल्यावस्था, युवावस्था हमारे साथ नहीं रही, परिस्थिति हमारे साथ नहीं रही, आदि। ऐसा विचार करनेपर संसारसे वैराग्य होता है।

२—अपने कहलानेवाले जितने कुटुम्बी, सम्बन्धी हैं, वे हमारेसे अनुकूलताकी इच्छा रखते हैं तो अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, समझके अनुसार उनकी न्याययुक्त इच्छा पूरी कर दे और परिश्रम करके उनकी सेवा कर दे; परन्तु उनसे अपनी अनुकूलताकी तथा कुछ लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दे। इस तरह अपनी सामर्थ्यके अनुसार वस्तु देनेसे और परिश्रम करके सेवा करनेसे पुराना राग मिट जाता है और उनसे कुछ भी न चाहनेसे नया राग पैदा नहीं होता। इससे स्वाभाविक संसारसे वैराग्य हो जाता है।

३—जितने भी दोष, पाप, दुःख पैदा होते हैं, वे सभी संसारके रागसे ही पैदा होते हैं और जितना सुख, शान्ति मिलती है, वह सब राग-रहित होनेसे ही मिलती है। ऐसा विचार करनेसे वैराग्य हो ही जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अभ्यास और वैराग्यद्वारा मनके निग्रहकी बात कहकर अब आगेके श्लोकमें भगवान् ध्यानयोगकी प्राप्तिमें अन्वय-व्यतिरेकसे अपना मत बताते हैं।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

असंयतात्मना	= जिसका मन पूरा वशमें नहीं है, उसके द्वारा	**तु**	= परन्तु		साधकको
योगः	= योग	**उपायतः**	= उपायपूर्वक	**अवाप्तुम्**	= (योग) प्राप्त हो
दुष्प्रापः	= प्राप्त होना कठिन है।	**यतता**	= यत्न करनेवाले (तथा)	**शक्यः**	= सकता है,
		वश्यात्मना	= वशमें किये हुए मनवाले	**इति**	= ऐसा
				मे	= मेरा
				मतिः	= मत है।

व्याख्या—'**असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः**'—मेरे मतमें तो जिसका मन वशमें नहीं है; उसके द्वारा योग सिद्ध होना कठिन है। कारण कि योगकी सिद्धिमें मनका वशमें न होना जितना बाधक है, उतनी मनकी चंचलता बाधक नहीं है। जैसे, पतिव्रता स्त्री मनको वशमें तो रखती है, पर उसे एकाग्र नहीं करती। अतः ध्यानयोगीको अपना मन वशमें करना चाहिये। मन वशमें होनेपर वह मनको जहाँ लगाना चाहे, वहाँ लगा सकता है, जितनी देर लगाना चाहे, उतनी देर लगा सकता है और जहाँसे हटाना चाहे, वहाँसे हटा सकता है।

प्रायः साधकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि वे साधन तो श्रद्धा-पूर्वक करते हैं, पर उनके प्रयत्नमें शिथिलता रहती है, जिससे साधकमें संयम नहीं रहता अर्थात् मन, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणका पूर्णतया संयम नहीं होता। इसलिये योगकी प्राप्तिमें कठिनता होती है अर्थात् परमात्मा सदा-सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी जल्दी प्राप्त नहीं होते।

भगवान्‌की तरफ चलनेवाले, वैष्णव संस्कारवाले साधकोंकी मांस आदिमें जैसी अरुचि होती है, वैसी अरुचि साधककी विषय-भोगोंमें नहीं होती अर्थात् विषय-भोग उतने निषिद्ध और पतन करनेवाले नहीं दीखते। कारण कि विषयभोगोंका ज्यादा अभ्यास होनेसे उनमें मांस आदिकी तरह ग्लानि नहीं होती। मांस आदि सर्वथा निषिद्ध वस्तु खानेसे पतन तो होता ही है, पर उससे भी ज्यादा पतन होता है—रागपूर्वक विषयभोगोंको भोगनेसे। कारण कि मांस आदिमें तो 'यह निषिद्ध वस्तु है' ऐसी भावना रहती है, पर भोगोंको भोगनेसे 'यह निषिद्ध है' ऐसी भावना नहीं रहती। इसलिये भोगोंके जो संस्कार भीतर बैठ जाते हैं, वे बड़े भयंकर होते हैं। तात्पर्य है कि मांस आदि खानेसे जो पाप लगता है, वह दण्ड भोगकर नष्ट हो जायगा। वह पाप आगे नये पापोंमें नहीं लगायेगा। परन्तु रागपूर्वक विषयभोगोंका सेवन करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरतक विषयभोगोंमें और उनकी रुचिके परिणामस्वरूप पापोंमें लगाते रहेंगे।

तात्पर्य है कि साधकके अन्तःकरणमें विषयभोगोंकी रुचि रहनेके कारण ही वह संयतात्मा नहीं हो पाता, मन-इन्द्रियोंको अपने वशमें नहीं कर पाता। इसलिये उसको योगकी प्राप्तिमें अर्थात् ध्यानयोगकी सिद्धिमें कठिनता होती है।

'**वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः**'—परन्तु जो तत्परतापूर्वक साधनमें लगा हुआ है अर्थात् जो ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये ध्यानयोगके उपयोगी आहार-विहार, सोना-जागना आदि उपायोंका अर्थात् नियमोंका नियतरूपसे और दृढ़तापूर्वक पालन करता है और जिसका मन सर्वथा वशमें है, ऐसे वश्यात्मा साधकके द्वारा योग प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् उसको ध्यानयोगकी सिद्धि मिल सकती है, ऐसा मेरा मत है—'**इति मे मतिः।**'

वश्यात्मा होनेका उपाय है—सबसे पहले अपने-आपको यह समझे कि 'मैं भोगी नहीं हूँ। मैं जिज्ञासु हूँ तो केवल तत्त्वको जानना ही मेरा काम है; मैं भगवान्‌का हूँ तो केवल भगवान्‌के अर्पित होना ही मेरा काम है; मैं सेवक हूँ तो केवल सेवा करना ही मेरा काम है। किसीसे कुछ भी चाहना मेरा काम नहीं है'—इस तरह अपनी अहंताका परिवर्तन कर दिया जाय तो मन बहुत जल्दी वशमें हो जाता है।

जब मन शुद्ध हो जाता है, तब वह स्वतः वशमें हो जाता है। मनमें उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका राग रहना ही मनकी अशुद्धि है। जब साधकका एक परमात्मप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य हो जाता है, तब उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका राग हट जाता है और मन शुद्ध हो जाता है।

व्यवहारमें साधक यह सावधानी रखे कि कभी किसी अंशमें पराया हक न आ जाय; क्योंकि पराया हक लेनेसे मन अशुद्ध हो जाता है। कहीं नौकरी, मजदूरी करे, तो जितने पैसे मिलते हैं, उससे अधिक काम करे। व्यापार करे तो वस्तुका तौल, नाप या गिनती औरोंकी अपेक्षा ज्यादा भले ही हो जाय, पर कम न हो। मजदूर आदिको पैसे दे तो उसके कामके जितने पैसे बनते हों, उससे कुछ अधिक पैसे उसे दे। इस प्रकार व्यवहार करनेसे मन शुद्ध हो जाता है।

मार्मिक बात

ध्यानयोगमें अर्जुनने मनकी चंचलताको बाधक माना और उसको रोकना वायुको रोकनेकी तरह असम्भव बताया। इसपर भगवान्‌ने मनके निग्रहके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बताये। इन दोनोंमें भी ध्यान-योगके लिये 'अभ्यास' मुख्य है (गीता—छठे अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)। 'वैराग्य' ज्ञानयोगके लिये विशेष उपयोगी होता है। यद्यपि वैराग्य ध्यानयोगमें भी सहायक है, तथापि ध्यानयोगमें रागके रहते हुए भी मनको रोका जा सकता है। अगर यह कहा जाय कि रागके रहते हुए मन

नहीं रुकता, तो एक आपत्ति आती है। पातंजलयोगदर्शनके अनुसार चित्त-वृत्तियोंका निरोध अभ्याससे ही हो सकता है। अगर उसमें वैराग्य ही कारण हो, तो सिद्धियोंकी प्राप्ति कैसे होगी? (जिसका वर्णन पातंजलयोगदर्शनके विभूतिपादमें किया गया है।) तात्पर्य है कि अगर भीतर राग रहते हुए चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तो उसमें रागके कारणसे सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। कारण कि संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) किसी-न-किसी सिद्धिके लिये किया जाता है और जहाँ सिद्धिका उद्देश्य है, वहाँ रागका अभाव कैसे हो सकता है? परन्तु जहाँ केवल परमात्मतत्त्वका उद्देश्य होता है, वहाँ ये धारणा, ध्यान और समाधि भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक हो जाते हैं।

एकाग्रताके बाद जब चित्तकी निरुद्ध-अवस्था आती है, तब समाधि होती है। समाधि कारणशरीरमें होती है और समाधिसे भी व्युत्थान होता है। जबतक समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ हैं, तबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर तो सहजावस्था होती है, जिससे व्युत्थान होता ही नहीं। अतः चित्तकी चंचलताको रोकनेके विषयमें भगवान् ज्यादा नहीं बोले; क्योंकि चित्तको निरुद्ध करना भगवान्का ध्येय नहीं है अर्थात् भगवान्ने जिस ध्यानका वर्णन किया है, वह ध्यान साधन है, ध्येय नहीं। भगवान्के मतमें संसारमें जो राग है, यही खास बाधा है और इसको दूर करना ही भगवान्का उद्देश्य है। ध्यान तो एक शक्ति है, एक पूँजी है, जिसका लौकिक-पारलौकिक सिद्धियों आदिमें सम्यक् उपयोग किया जा सकता है।

स्वयं केवल परमात्मतत्त्वको चाहता है, तो उसको मनको एकाग्र करनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता प्रकृतिके कार्य मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी, मनसे अपनापन हटानेकी है। अतः जब समाधिसे भी उपरति हो जाती है, तब सर्वातीत तत्त्वकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य है कि जबतक समाधि-अवस्थाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक उसमें एक आकर्षण रहता है। जब वह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब उसमें आकर्षण न रहकर सच्चे जिज्ञासुको उससे उपरति हो जाती है। उपरति होनेसे अर्थात् अवस्थामात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे अवस्थातीत चिन्मय-तत्त्वकी अनुभूति स्वतः हो जाती है। यही योगकी सिद्धि है। चिन्मय-तत्त्वके साथ स्वयंका नित्ययोग अर्थात् नित्य-सम्बन्ध है।

परिशिष्ट भाव—वास्तवमें ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये मनका निग्रह करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना उसको वशमें करना अर्थात् शुद्ध करना आवश्यक है। शुद्ध करनेका तात्पर्य है—मनमें विषयोंका राग न रहना। जिसने अपने मनको शुद्ध कर लिया है, उसका ध्यानयोग प्रयत्न करनेपर सिद्ध हो जाता है।

भगवान्ने इकतीसवें श्लोकमें **'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'** पदोंसे जो बात कही थी, उसमें मुख्य बाधा है—भगवद्बुद्धि न होना और बत्तीसवें श्लोकमें **'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'** पदोंसे जो बात कही थी, उसमें मुख्य बाधा है—राग-द्वेष होना। परन्तु अर्जुनने भूलसे मनकी चंचलताको बाधक समझ लिया! वास्तवमें मनकी चंचलता बाधक नहीं है, प्रत्युत सबमें भगवद्बुद्धि न होना और राग-द्वेष होना बाधक है। जबतक राग-द्वेष रहते हैं, तबतक सबमें भगवद्बुद्धि नहीं होती और जबतक सबमें भगवद्बुद्धि नहीं होती अर्थात् भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं होता।

वृत्तिका निरोध करनेसे वृत्तिकी सत्ता आती है; क्योंकि वृत्तिकी सत्ता स्वीकार की है, तभी तो निरोध करते हैं। स्वरूपमें कोई वृत्ति नहीं है। अतः वृत्तिका निरोध करनेसे कुछ कालके लिये मनका निरोध होगा, फिर व्युत्थान हो जायगा। अगर दूसरी सत्ताकी मान्यता ही न रहे, तो फिर व्युत्थानका प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। कारण कि दूसरी सत्ता न हो तो मन है ही नहीं!

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने कहा कि जिसका अन्तःकरण पूरा वशमें नहीं है अर्थात् जो शिथिल प्रयत्नवाला है, उसको योगकी प्राप्तिमें कठिनता होती है। इसपर अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	= हे कृष्ण!		अन्त समयमें अगर)		योगसिद्धिको
श्रद्धया, उपेतः	= जिसकी साधनमें श्रद्धा है,	**योगात्**	= योगसे	**अप्राप्य**	= प्राप्त न करके
अयतिः	= पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, (वह	**चलितमानसः**	= विचलितमना हो जाय (तो)	**काम्**	= किस
		योगसंसिद्धिम्	= (वह)	**गतिम्**	= गतिको
				गच्छति	= चला जाता है?

व्याख्या—'**अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः**'—जिसकी साधनमें अर्थात् जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदिमें रुचि है, श्रद्धा है और उनको करता भी है, पर अन्त:करण और बहि:करण वशमें न होनेसे साधनमें शिथिलता है, तत्परता नहीं है। ऐसा साधक अन्तसमयमें संसारमें राग रहनेसे, विषयोंका चिन्तन होनेसे अपने साधनसे विचलित हो जाय, अपने ध्येयपर स्थिर न रहे तो फिर उसकी क्या गति होती है?

'**अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति**'—विषयासक्ति, असावधानीके कारण अन्तकालमें जिसका मन विचलित हो गया अर्थात् साधनासे हट गया और इस कारण उसको योगकी संसिद्धि—परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई तो फिर वह किस गतिको प्राप्त होता है?

तात्पर्य है कि उसने पाप करना तो सर्वथा छोड़ दिया था; अतः वह नरकोंमें तो जा सकता नहीं और स्वर्गकी कामना न होनेसे स्वर्गमें भी जा सकता नहीं तथा श्रद्धापूर्वक साधनमें लगा हुआ होनेसे उसका पुनर्जन्म भी हो सकता नहीं। परन्तु अन्तसमयमें परमात्माकी स्मृति न रहनेसे, दूसरा चिन्तन होनेसे उसको परमात्माकी प्राप्ति भी नहीं हुई, तो फिर उसकी क्या गति होगी? वह कहाँ जायगा?

'**कृष्ण**' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप सम्पूर्ण प्राणियोंको खींचनेवाले हैं और उन प्राणियोंकी गति-आगतिको जाननेवाले हैं तथा इन गतियोंके विधायक हैं। अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि योगसे विचलित हुए साधकको आप किधर खींचेंगे? उसको आप कौन-सी गति देंगे?

परिशिष्ट भाव—करणसापेक्ष साधनमें मनको साथ लेकर स्वरूपमें स्थिति होती है—'**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते**' (गीता ६। १८)। अत: मनके साथ सम्बन्ध रहनेसे विचलितमना होकर योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। करणको अपना माननेसे ही करणसापेक्ष साधन होता है। ध्यानयोगी मन (करण)-को अपना मानकर उसको परमात्मामें लगाता है। मन लगानेसे ही वह योगभ्रष्ट होता है। अत: योगभ्रष्ट होनेमें करणसापेक्षता कारण है। यह करणसापेक्षता कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही साधनोंमें नहीं है।

ध्यानयोगीका पुनर्जन्म होता है—मनके विचलित होनेसे अर्थात् अपने साधनसे भ्रष्ट होनेसे, पर कर्मयोगी अथवा ज्ञानयोगीका पुनर्जन्म होता है—सांसारिक आसक्ति रहनेसे। भक्तियोगमें भगवान्‌का आश्रय रहनेसे भगवान् अपने भक्तकी विशेष रक्षा करते हैं—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' (गीता ९। २२), '**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (गीता १८। ५८)।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

महाबाहो	= हे महाबाहो!	**विमूढः**	= मोहित अर्थात् विचलित	**कच्चित्**	= क्या
अप्रतिष्ठः	= संसारके आश्रयसे रहित (और)	**उभयविभ्रष्टः**	= (—इस तरह) दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ साधक	**छिन्नाभ्रम्**	= छिन्न-भिन्न बादलकी
ब्रह्मणः	= परमात्मप्राप्तिके			**इव**	= तरह
पथि	= मार्गमें			**न, नश्यति**	= नष्ट तो नहीं हो जाता?

व्याख्या—[अर्जुनने पूर्वोक्त श्लोकमें '**कां गतिं कृष्ण गच्छति**' कहकर जो बात पूछी थी, उसीका इस श्लोकमें खुलासा पूछते हैं।]

'**अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि**'—वह

सांसारिक प्रतिष्ठा-(स्थिति-) से तो जानकर रहित हुआ है अर्थात् उसने संसारके सुख-आराम, आदर-सत्कार, यश-प्रतिष्ठा आदिकी कामना छोड़ दी है, इनको प्राप्त करनेका उसका उद्देश्य ही नहीं रहा है। इस तरह संसारका आश्रय छोड़कर वह परमात्मप्राप्तिके मार्गपर चला; पर जीवित-अवस्थामें परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई और अन्तसमयमें साधनसे विचलित हो गया अर्थात् परमात्माकी स्मृति नहीं रही।

'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति'—ऐसा वह दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ अर्थात् सांसारिक और पारमार्थिक—दोनों उन्नतियोंसे रहित हुआ साधक छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? तात्पर्य है कि जैसे किसी बादलके टुकड़ेने अपने बादलको तो छोड़ दिया और दूसरे बादलतक वह पहुँचा नहीं, वायुके कारण बीचमें ही छिन्न-भिन्न हो गया। ऐसे ही साधकने संसारके आश्रयको तो छोड़ दिया और अन्तसमयमें परमात्माकी स्मृति नहीं रही, फिर वह नष्ट तो नहीं हो जाता? उसका पतन तो नहीं हो जाता?

बादलका दृष्टान्त यहाँ पूरा नहीं बैठता। कारण कि वह बादलका टुकड़ा जिस बादलसे चला, वह बादल और जिसके पास जा रहा था, वह बादल तथा वह स्वयं (बादलका टुकड़ा)—ये तीनों एक ही जातिके हैं अर्थात् तीनों ही जड़ हैं। परन्तु जिस साधकने संसारको छोड़ा, वह संसार और जिसकी प्राप्तिके लिये चला वह परमात्मा तथा वह स्वयं (साधक)—ये तीनों एक जातिके नहीं हैं। इन तीनोंमें संसार जड़ है और परमात्मा तथा स्वयं चेतन हैं। इसलिये 'पहला आश्रय छोड़ दिया और दूसरा प्राप्त नहीं हुआ'—इस विषयमें ही उपर्युक्त दृष्टान्त ठीक बैठता है।

इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका आशय यह है कि साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे जीवका अभाव तो कभी हो ही नहीं सकता। अगर इसके भीतर संसारका उद्देश्य होता, संसारका आश्रय होता, तो यह स्वर्ग आदि लोकोंमें अथवा नरकोंमें तथा पशु-पक्षी आदि आसुरी योनियोंमें चला जाता, पर रहता तो संसारमें ही है। उसने संसारका आश्रय छोड़ दिया और उसका उद्देश्य केवल परमात्मप्राप्ति हो गया, पर प्राणोंके रहते-रहते परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई और अन्तकालमें किसी कारणसे उस उद्देश्यके अनुसार साधनमें स्थिति भी नहीं रही, परमात्मचिन्तन भी नहीं रहा, तो वह वहाँसे भी भ्रष्ट हो गया। ऐसा साधक किस गतिको जायगा?

विशेष बात

अगर इस श्लोकमें 'परमात्माकी प्राप्तिसे और साधनसे भ्रष्ट (च्युत) हुआ'—ऐसा अर्थ लिया जाय, तो ऐसा कहना यहाँ बन ही नहीं सकता। कारण कि आगे जो बादलका दृष्टान्त दिया है, वह उपर्युक्त अर्थके साथ ठीक नहीं बैठता। बादलका टुकड़ा एक बादलको छोड़कर दूसरे बादलकी तरफ चला, पर दूसरे बादलतक पहुँचनेसे पहले बीचमें ही वायुसे छिन्न-भिन्न हो गया। इस दृष्टान्तमें स्वयं बादलके टुकड़ेने ही पहले बादलको छोड़ा है अर्थात् अपनी पहली स्थितिको छोड़ा है और आगे दूसरे बादलतक पहुँचा नहीं, तभी वह उभयभ्रष्ट हुआ है। परन्तु साधकको तो अभी परमात्माकी प्राप्ति हुई ही नहीं, फिर उसको परमात्माकी प्राप्तिसे भ्रष्ट (च्युत) होना कैसे कहा जाय?

दूसरी बात, साध्यकी प्राप्ति होनेपर साधक साध्यसे कभी च्युत हो ही नहीं सकता अर्थात् किसी भी परिस्थितिमें वह साध्यसे अलग नहीं हो सकता, उसको छोड़ नहीं सकता। अत: उसको साध्यसे च्युत कहना बनता ही नहीं। हाँ, अन्तसमयमें स्थिति न रहनेसे, परमात्माकी स्मृति न रहनेसे उसको 'साधनभ्रष्ट' तो कह सकते हैं, पर 'उभयभ्रष्ट' नहीं कह सकते। अत: यहाँ बादलके दृष्टान्तके अनुसार वही उभयभ्रष्ट लेना युक्तिसंगत बैठता है, जिसने संसारके आश्रयको जानकर ही अपनी ओरसे छोड़ दिया और परमात्माकी प्राप्तिके लिये चला, पर अन्तसमयमें किसी कारणसे परमात्माकी याद नहीं रही, साधनसे विचलितमना हो गया। इस तरह संसार और साधन—दोनोंमें उसकी स्थिति न रहनेसे ही वह उभयभ्रष्ट हुआ है। अर्जुनने भी सैंतीसवें श्लोकमें **'योगाच्चलितमानस:'** कहा है और इस (अड़तीसवें) श्लोकमें **'अप्रतिष्ठ:'**, **'विमूढो ब्रह्मण: पथि'** और **'छिन्नाभ्रमिव'** कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि उसने संसारको छोड़ दिया और परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे विचलित हो गया, मोहित हो गया।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त सन्देहको दूर करनेके लिये अर्जुन आगेके श्लोकमें भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

कृष्ण	= हे कृष्ण!	**छेत्तुम्**	= छेदन करनेके लिये	**छेत्ता**	= छेदन करनेवाला
मे	= मेरे	**अर्हसि**	= (आप ही) योग्य हैं;	**त्वदन्यः**	= आपके सिवाय दूसरा
एतत्	= इस	**हि**	= क्योंकि	**न, उपपद्यते**	= कोई हो नहीं सकता।
संशयम्	= सन्देहका	**अस्य**	= इस		
अशेषतः	= सर्वथा	**संशयस्य**	= संशयका		

व्याख्या—**'एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः'**—परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे साधक पापकर्मोंसे तो सर्वथा रहित हो गया, इसलिये वह नरकोंमें तो जा ही नहीं सकता और स्वर्गका ध्येय न रहनेसे स्वर्गमें भी जा नहीं सकता। मनुष्ययोनिमें आनेका उसका उद्देश्य नहीं है, इसलिये वह उसमें भी नहीं आ सकता और परमात्मप्राप्तिके साधनसे भी विचलित हो गया। ऐसा साधक क्या छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? यह मेरा संशय है।

'त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते'—इस संशयका सर्वथा छेदन करनेवाला अन्य कोई हो नहीं सकता। इसका तात्पर्य है कि शास्त्रकी कोई गुत्थी हो, शास्त्रका कोई गहन विषय हो, कोई ऐसी कठिन पंक्ति हो, जिसका अर्थ न लगता हो, तो उसको शास्त्रोंका ज्ञाता कोई विद्वान् भी समझा सकता है। परन्तु योगभ्रष्टकी क्या गति होती है? इसका उत्तर वह नहीं दे सकता। हाँ, योगी कुछ हदतक इसको जान सकता है, पर वह सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति-आगतिको अर्थात् जाने और आनेको नहीं जान सकता; क्योंकि वह 'युंजान योगी' है अर्थात् अभ्यास करके योगी बना है। अतः वह वहींतक जान सकता है, जहाँतक उसकी जाननेकी हद है। परन्तु आप तो 'युक्त योगी' हैं अर्थात् आप बिना अभ्यास, परिश्रमके सर्वत्र सब कुछ जाननेवाले हैं। आपके समान जानकार कोई हो सकता ही नहीं। आप साक्षात् भगवान् हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति-आगतिको जाननेवाले हैं*। अतः इस योगभ्रष्टके गतिविषयक प्रश्नका उत्तर आप ही दे सकते हैं। आप ही मेरे इस संशयको दूर कर सकते हैं।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर विश्वास था, तभी यहाँ वे योगभ्रष्टकी गतिके विषयमें प्रश्न करते हैं और कहते हैं कि इस बातको आपके सिवाय दूसरा कोई बता नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर विश्वास होनेके कारण ही उन्होंने एक अक्षौहिणी सशस्त्र नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान्को ही स्वीकार किया था!

सम्बन्ध—अड़तीसवें श्लोकमें अर्जुनने शंका की थी कि संसारसे और साधनसे च्युत हुए साधकका कहीं पतन तो नहीं हो जाता? उसका समाधान करनेके लिये भगवान् आगेका श्लोक कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**न**	= न तो		(और)
तस्य	= उसका	**इह**	= इस लोकमें	**न**	= न

---

* **उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥**

(विष्णुपुराण ६। ५। ७८; नारदपुराण, पूर्व० ४६। २१)

'जो सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयको, गति और अगतिको एवं विद्या और अविद्याको जानता है, वही भगवान् कहलानेयोग्य है।'

अमुत्र	= परलोकमें	**हि**	= क्योंकि	**कश्चित्**	= कोई भी मनुष्य
एव	= ही	**तात**	= हे प्यारे!	**दुर्गतिम्**	= दुर्गतिको
विनाशः	= विनाश	**कल्याणकृत्**	= कल्याणकारी काम करनेवाला	**न**	= नहीं
विद्यते	= होता है;			**गच्छति**	= जाता।

व्याख्या—[जिसको अन्तकालमें परमात्माका स्मरण नहीं होता, उसका कहीं पतन तो नहीं हो जाता—इस बातको लेकर अर्जुनके हृदयमें बहुत व्याकुलता है। यह व्याकुलता भगवान्‌से छिपी नहीं है। अतः भगवान् अर्जुनके '**कां गतिं कृष्ण गच्छति**'—इस प्रश्नका उत्तर देनेसे पहले ही अर्जुनके हृदयकी व्याकुलता दूर करते हैं।]

'**पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते**'—हे पृथानन्दन! सच्चे हृदयसे साधन करनेवाले मनुष्यका न तो इस जन्ममें पतन होता है और न मरनेके बाद ही पतन होता है (गीता—छठे अध्यायके इकतालीसवेंसे पैंतालीसवें श्लोकतक)। तात्पर्य है कि उसकी योगमें जितनी स्थिति बन चुकी है, उससे नीचे वह नहीं गिरता। उसकी साधन-सामग्री नष्ट नहीं होती। उसका पारमार्थिक उद्देश्य नहीं बदलता। जैसे अनादिकालसे वह जन्मता-मरता रहा है, ऐसे ही आगे भी जन्मता-मरता रहे—उसका यह पतन नहीं होता।

जैसे भरत मुनि भारतवर्षका राज्य छोड़कर एकान्तमें तप करते थे। वहाँ दयापरवश होकर वे हरिणके बच्चेमें आसक्त हो गये, जिससे दूसरे जन्ममें उनको हरिण बनना पड़ा। परन्तु उन्होंने जितना त्याग, तप किया था, उनकी जितनी साधनकी पूँजी इकट्ठी हुई थी, वह उस हरिणके जन्ममें भी नष्ट नहीं हुई। उनको हरिणके जन्ममें भी पूर्वजन्मकी बात याद थी, जो कि मनुष्यजन्ममें भी नहीं रहती। अतः वे (हरिण-जन्ममें) बचपनसे ही अपनी माँके साथ नहीं रहे। वे हरे पत्ते न खाकर सूखे पत्ते खाते थे। तात्पर्य यह है कि अपनी स्थितिसे न गिरनेके कारण हरिणके जन्ममें भी उनका पतन नहीं हुआ (श्रीमद्भागवत, पाँचवाँ स्कन्ध, सातवाँ-आठवाँ अध्याय)। इसी तरहसे पहले मनुष्यजन्ममें जिनका स्वभाव सेवा करनेका, जप-ध्यान करनेका रहा है और विचार अपना उद्धार करनेका रहा है, वे किसी कारणवश अन्तसमयमें योगभ्रष्ट हो जायँ तथा इस लोकमें पशु-पक्षी भी बन जायँ, तो भी उनका वह अच्छा स्वभाव और सत्संस्कार नष्ट नहीं होते। ऐसे बहुत-से उदाहरण आते हैं कि कोई दूसरे जन्ममें हाथी, ऊँट आदि बन गये, पर उन योनियोंमें भी वे भगवान्‌की कथा सुनते थे। एक जगह कथा होती थी, तो एक काला कुत्ता आकर वहाँ बैठता और कथा सुनता। जब कीर्तन करते हुए कीर्तन-मण्डली घूमती, तो उस मण्डलीके साथ वह कुत्ता भी घूमता था। यह हमारी देखी हुई बात है।

'**न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति**'—भगवान्‌ने इस श्लोकके पूर्वार्धमें अर्जुनके लिये '**पार्थ**' सम्बोधन दिया, जो आत्मीय-सम्बन्धका द्योतक है। अर्जुनके सब नामोंमें भगवान्‌को यह 'पार्थ' नाम बहुत प्यारा था। अब उत्तरार्धमें उससे भी अधिक प्यारभरे शब्दोंमें भगवान् कहते हैं कि 'हे तात! कल्याणकारी कार्य करनेवालेकी दुर्गति नहीं होती।' यह '**तात**' सम्बोधन गीताभरमें एक ही बार आया है, जो अत्यधिक प्यारका द्योतक है।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने मात्र साधकके लिये बहुत आश्वासनकी बात कही है कि जो कल्याणकारी काम करनेवाला है अर्थात् किसी भी साधनसे सच्चे हृदयसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करना चाहता है, ऐसे किसी भी साधककी दुर्गति नहीं होती।

उसकी दुर्गति नहीं होती—यह कहनेका तात्पर्य है कि जो मनुष्य कल्याणकारी कार्यमें लगा हुआ है अर्थात् जिसके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उस अपने असली काममें लगा हुआ है तथा सांसारिक भोग और संग्रहमें आसक्त नहीं है, वह चाहे किसी मार्गसे चले, उसकी दुर्गति नहीं होती। कारण कि उसका ध्येय चिन्मय-तत्त्व मैं (परमात्मा) हूँ; अतः उसका पतन नहीं होता। उसकी रक्षा मैं करता ही रहता हूँ, फिर उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है?

मेरी दृष्टि स्वतः प्राणिमात्रके हितमें रहती है। जो मनुष्य मेरी तरफ चलता है, अपना परमहित करनेके लिये उद्योग करता है, वह मुझे बहुत प्यारा लगता है; क्योंकि वास्तवमें वह मेरा ही अंश है, संसारका नहीं। उसका वास्तविक सम्बन्ध मेरे साथ ही है। संसारके साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। उसने मेरे साथ इस वास्तविक सम्बन्धको, असली लक्ष्यको पहचान लिया, तो फिर उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है? उसका किया हुआ साधन भी नष्ट कैसे हो सकता है? हाँ, कभी-कभी देखनेमें वह मोहित हुआ-सा दीखता है, उसका साधन छूटा हुआ-सा दीखता है; परन्तु ऐसी परिस्थिति उसके अभिमानके कारण ही उसके सामने आती है। मैं भी उसको चेतानेके लिये, उसका अभिमान दूर

करनेके लिये ऐसी घटना घटा देता हूँ, जिससे वह व्याकुल हो जाता है और मेरी तरफ तेजीसे चल पड़ता है। जैसे, गोपियोंका अभिमान (मद) देखकर मैं रासमें ही अन्तर्धान हो गया, तो सब गोपियाँ घबरा गयीं! जब वे विशेष व्याकुल हो गयीं, तब मैं उन गोपियोंके समुदायके बीचमें ही प्रकट हो गया और उनके पूछनेपर मैंने कहा—'**मया परोक्षं भजता तिरोहितम्**' (श्रीमद्भा० १०। ३२। २१) अर्थात् तुमलोगोंका भजन करता हुआ ही मैं अन्तर्धान हुआ था। तुमलोगोंकी याद और तुमलोगोंका हित मेरेसे छूटा नहीं है। इस प्रकार मेरे हृदयमें साधन करनेवालोंका बहुत बड़ा स्थान है। इसका कारण यह है कि अनन्त जन्मोंसे भूला हुआ यह प्राणी जब केवल मेरी तरफ लगता है, तब वह मेरेको बहुत प्यारा लगता है; क्योंकि उसने अनेक योनियोंमें बहुत दु:ख पाया है और अब वह सन्मार्गपर आ गया है। जैसे माता अपने छोटे बच्चेकी रक्षा, पालन और हित करती रहती है, ऐसे ही मैं उस साधकके साधन और उसके हितकी रक्षा करते हुए उसके साधनकी वृद्धि करता रहता हूँ।

तात्पर्य यह हुआ कि जिसके भीतर एक बार साधनके संस्कार पड़ गये हैं, वे संस्कार फिर कभी नष्ट नहीं होते। कारण कि उस परमात्माके लिये जो काम किया जाता है, वह 'सत्' हो जाता है—'**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते**' (गीता १७। २७) अर्थात् उसका अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। इसी बातको भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि कल्याणकारी काम करनेवाले किसी भी मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती। उसके जितने सद्भाव बने हैं, जैसा स्वभाव बना है, वह प्राणी किसी कारणवशात् किसी भी योनिमें चला जाय अथवा किसी भी परिस्थितिमें पड़ जाय, तो भी वे सद्भाव उसका कल्याण करके ही छोड़ेंगे। अगर वह किसी कारणसे किसी नीच योनिमें भी चला जाय, तो वहाँ भी अपने सजातीय योनिवालोंकी अपेक्षा उसके स्वभावमें फर्क रहेगा।[1]

यहाँ शंका हो सकती है कि अजामिल-जैसा शुद्ध ब्राह्मण भी वेश्यागामी हो गया, बिल्वमंगल भी चिन्तामणि नामकी वेश्याके वशमें हो गये, तो इनका इस जीवित-अवस्थामें ही पतन कैसे हो गया? इसका समाधान यह है कि लोगोंको तो उनका पतन हो गया—ऐसा दीखता है, पर वास्तवमें उनका पतन नहीं हुआ है; क्योंकि अन्तमें उनका उद्धार ही हुआ है। अजामिलको लेनेके लिये भगवान्के पार्षद आये और बिल्वमंगल भगवान्के भक्त बन गये। इस प्रकार वे पहले भी सदाचारी थे और अन्तमें भी उनका उद्धार हो गया, केवल बीचमें ही उनकी दशा अच्छी नहीं रही। तात्पर्य यह हुआ कि किसी कुसंगसे, किसी विघ्न-बाधासे, किसी असावधानीसे उसके भाव और आचरण गिर सकते हैं और 'मैं कौन हूँ, मैं क्या कर रहा हूँ, मुझे क्या करना चाहिये'—ऐसी विस्मृति होकर वह संसारके प्रवाहमें बह सकता है। परन्तु पहलेकी साधनावस्थामें वह जितना साधन कर चुका है, उसका संसारके साथ जितना सम्बन्ध टूट चुका है, उतनी पूँजी तो उसकी वैसी-की-वैसी ही रहती है अर्थात् वह कभी किसी अवस्थामें छूटती नहीं, प्रत्युत उसके भीतर सुरक्षित रहती है। उसको जब कभी अच्छा संग मिलता है अथवा कोई बड़ी आफत आती है तो वह भीतरका भाव प्रकट हो जाता है और वह भगवान्की ओर तेजीसे लग जाता है[2]। हाँ, साधनमें बाधा पड़ जाना, भाव और आचरणोंका गिरना तथा परमात्मप्राप्तिमें देरी लगना—इस दृष्टिसे तो उसका पतन हुआ ही है। अत: उपर्युक्त उदाहरणोंसे साधकको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमें हर समय सावधान रहना है, जिससे हम कहीं कुसंगमें न पड़ जायँ, कहीं विषयोंके वशीभूत होकर अपना साधन न छोड़ दें और कहीं विपरीत कामोंमें न चले जायँ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको आश्वासन दिया कि किसी भी साधकका पतन नहीं होता और वह दुर्गतिमें नहीं जाता। अब भगवान् अर्जुनद्वारा सैंतीसवें श्लोकमें किये गये प्रश्नके अनुसार योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन करते हैं।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

१-जिसका स्वभाव अच्छा बन गया है, जिसके भीतर सद्भाव हैं, वह किसी नीच योनिमें साँप, बिच्छू आदि नहीं बन सकता। कारण कि उसका स्वभाव साँप, बिच्छू आदि योनियोंके अनुरूप नहीं है और वह उन योनियोंके अनुरूप काम भी नहीं कर सकता।

२-बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं। (मानस १। ३। ५)

योगभ्रष्टः	=(वह) योगभ्रष्ट	**प्राप्य**	=प्राप्त होकर (और)	**शुचीनाम्**	=शुद्ध (ममतारहित)
पुण्यकृताम्	=पुण्यकर्म करनेवालोंके	**शाश्वतीः**	=(वहाँ) बहुत	**श्रीमताम्**	=श्रीमानोंके
		समाः	=वर्षोंतक	**गेहे**	=घरमें
लोकान्	=लोकोंको	**उषित्वा**	=रहकर (फिर यहाँ)	**अभिजायते**	=जन्म लेता है।

व्याख्या—'**प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्**'—जो लोग शास्त्रीय विधि-विधानसे यज्ञ आदि कर्मोंको सांगोपांग करते हैं, उन लोगोंका स्वर्गादि लोकोंपर अधिकार है, इसलिये उन लोकोंको यहाँ 'पुण्यकर्म करनेवालोंके लोक' कहा गया है। तात्पर्य है कि उन लोकोंमें पुण्यकर्म करनेवाले ही जाते हैं, पापकर्म करनेवाले नहीं। परन्तु जिन साधकोंको पुण्य-कर्मोंके फलरूप सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है, उनको वे स्वर्गादि लोक विघ्नरूपमें और मुफ्तमें मिलते हैं! तात्पर्य है कि यज्ञादि शुभ कर्म करनेवालोंको परिश्रम करना पड़ता है, उन लोकोंकी याचना—प्रार्थना करनी पड़ती है, यज्ञादि कर्मोंको विधि-विधानसे और सांगोपांग करना पड़ता है, तब कहीं उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है। वहाँ भी उनकी भोगोंकी वासना बनी रहती है; क्योंकि उनका उद्‌देश्य ही भोग भोगनेका था। परन्तु जो किसी कारणवश अन्तसमयमें साधनसे विचलितमना हो जाते हैं, उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके लिये न तो परिश्रम करना पड़ता है, न उनकी याचना करनी पड़ती है और न उनकी प्राप्तिके लिये यज्ञादि शुभ कर्म ही करने पड़ते हैं। फिर भी उनको स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है। वहाँ रहनेपर भी उनकी वहाँके भोगोंसे अरुचि हो जाती है; क्योंकि उनका उद्‌देश्य भोग भोगनेका था ही नहीं। वे तो केवल सांसारिक सूक्ष्म वासनाके कारण उन लोकोंमें जाते हैं। परन्तु उनकी वह वासना भोगी पुरुषोंकी वासनाके समान नहीं होती।

जो केवल भोग भोगनेके लिये स्वर्गमें जाते हैं, वे जैसे भोगोंमें तल्लीन होते हैं, वैसे योगभ्रष्ट तल्लीन नहीं हो सकता। कारण कि भोगोंकी इच्छावाले पुरुष भोगबुद्धिसे भोगोंको स्वीकार करते हैं और योगभ्रष्टको विघ्नरूपसे भोगोंमें जाना पड़ता है।

'**उषित्वा शाश्वतीः समाः**'—स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें यज्ञादि शुभकर्म करनेवाले भी (भोग भोगनेके उद्‌देश्यसे) जाते हैं और योगभ्रष्ट भी जाते हैं। भोग भोगनेके उद्‌देश्यसे स्वर्गमें जानेवालोंके पुण्य क्षीण होते हैं और पुण्योंके क्षीण होनेपर उन्हें लौटकर मृत्युलोकमें आना पड़ता है। इसलिये वे वहाँ सीमित वर्षोंतक ही रह सकते हैं। परन्तु जिसका उद्‌देश्य भोग भोगनेका नहीं है, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिका है, वह योगभ्रष्ट किसी सूक्ष्म वासनाके कारण स्वर्गमें चला जाय, तो वहाँ उसकी साधन-सम्पत्ति क्षीण नहीं होती। इसलिये वह वहाँ असीम वर्षोंतक रहता है अर्थात् उसके लिये वहाँ रहनेकी कोई सीमा नहीं होती।

जो भोग भोगनेके उद्‌देश्यसे ऊँचे लोकोंमें जाते हैं, उनका उन लोकोंमें जाना कर्मजन्य है। परन्तु योगभ्रष्टका ऊँचे लोकोंमें जाना कर्मजन्य नहीं है; किन्तु यह तो योगका प्रभाव है, उनकी साधन-सम्पत्तिका प्रभाव है, उनके सत्-उद्‌देश्यका प्रभाव है।

स्वर्ग आदिका सुख भोगनेके उद्‌देश्यसे जो उन लोकोंमें जाते हैं, उनको न तो वहाँ रहनेमें स्वतन्त्रता है और न वहाँसे आनेमें ही स्वतन्त्रता है। उन्होंने भोग भोगनेके उद्‌देश्यसे ही यज्ञादि कर्म किये हैं, इसलिये उन शुभ कर्मोंका फल जबतक समाप्त नहीं होता, तबतक वे वहाँसे नीचे नहीं आ सकते और शुभ कर्मोंका फल समाप्त होनेपर वे वहाँ रह भी नहीं सकते। परन्तु जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही साधन करनेवाले हैं और केवल अन्तसमयमें योगसे विचलित होनेके कारण स्वर्ग आदिमें गये हैं, उनका वासनाके तारतम्यके कारण वहाँ ज्यादा-कम रहना हो सकता है, पर वे वहाँके भोगोंमें फँस नहीं सकते। कारण कि जब योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है (छठे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक), तब वह योगभ्रष्ट वहाँ फँस ही कैसे सकता है?

'**शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते**'— स्वर्गादि लोकोंके भोग भोगनेपर जब भोगोंसे अरुचि हो जाती है, तब वह योगभ्रष्ट लौटकर मृत्युलोकमें आता है और शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। उसके फिर लौटकर आनेमें क्या कारण है? वास्तवमें इसका कारण तो भगवान् ही जानें; किन्तु गीतापर विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि वह मनुष्य-जन्ममें साधन करता रहा। वह साधनको छोड़ना नहीं चाहता था, पर अन्तसमयमें साधन छूट गया। अतः उस साधनका जो महत्त्व उसके अन्तःकरणमें अंकित है, वह स्वर्गादि लोकोंमें भी उस योगभ्रष्टको अज्ञातरूपसे

पुनः साधन करनेके लिये प्रेरित करता रहता है, उकसाता रहता है। इससे उस योगभ्रष्टके मनमें आती है कि मैं साधन करूँ। ऐसी मनमें क्यों आती है—इसका उसको पता नहीं लगता। जब श्रीमानोंके घरमें भोगोंके परवश होनेपर भी पूर्वजन्मका अभ्यास उसको जबर्दस्ती खींच लेता है (छठे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक) तब वह साधन उसको स्वर्ग आदिमें साधनके बिना चैनसे कैसे रहने देगा? अतः भगवान् उसको साधन करनेका मौका देनेके लिये शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म देते हैं।

जिनका धन शुद्ध कमाईका है, जो कभी पराया हक नहीं लेते, जिनके आचरण तथा भाव शुद्ध हैं, जिनके अन्तःकरणमें भोगोंका और पदार्थोंका महत्त्व, उनकी ममता नहीं है, जो सम्पूर्ण पदार्थ, घर, परिवार आदिको साधन-सामग्री समझते हैं, जो भोगबुद्धिसे किसीपर अपना व्यक्तिगत आधिपत्य नहीं जमाते, वे 'शुद्ध श्रीमान्' कहे जाते हैं। जो धन और भोगोंपर अपना आधिपत्य जमाते हैं, वे अपनेको तो उन धन और पदार्थोंका मालिक मानते हैं, पर हो जाते हैं उनके गुलाम! इसलिये वे शुद्ध श्रीमान् नहीं हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें तो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नके अनुसार योगभ्रष्टकी गति बतायी। अब आगेके श्लोकमें 'अथवा' कहकर अपनी ही तरफसे दूसरे योगभ्रष्टकी बात कहते हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा	= अथवा (वैराग्यवान् योगभ्रष्ट)	**एव**	= ही	**जन्म**	= जन्म है, (यह)
धीमताम्	= ज्ञानवान्	**भवति**	= जन्म लेता है।	**लोके**	= संसारमें
योगिनाम्	= योगियोंके	**ईदृशम्**	= इस प्रकारका	**हि**	= निःसन्देह
कुले	= कुलमें	**यत्**	= जो	**दुर्लभतरम्**	= बहुत ही दुर्लभ है।
		एतत्	= यह		

व्याख्या—[साधन करनेवाले दो तरहके होते हैं—वासनासहित और वासनारहित। जिसको साधन अच्छा लगता है, जिसकी साधनमें रुचि हो जाती है और जो परमात्माकी प्राप्तिका उद्देश्य बनाकर साधनमें लग भी जाता है, पर अभी उसकी भोगोंमें वासना सर्वथा नहीं मिटी है, वह अन्तसमयमें साधनसे विचलित होनेपर योगभ्रष्ट हो जाता है, तो वह स्वर्गादि लोकोंमें बहुत वर्षोंतक रहकर शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। (इस योगभ्रष्टकी बात पूर्वश्लोकमें बता दी)। दूसरा साधक, जिसके भीतर वासना नहीं है, तीव्र वैराग्य है और जो परमात्माका उद्देश्य रखकर तेजीसे साधनमें लगा है, पर अभी पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है, वह किसी विशेष कारणसे योगभ्रष्ट हो जाता है तो उसको स्वर्ग आदिमें नहीं जाना पड़ता, प्रत्युत वह सीधे ही योगियोंके कुलमें जन्म लेता है (इस योगभ्रष्टकी बात इस श्लोकमें बता रहे हैं)।]

'अथवा'—तुमने जिस योगभ्रष्टकी बात पूछी थी, वह तो मैंने कह दी। परन्तु जो संसारसे विरक्त होकर, संसारसे सर्वथा विमुख होकर साधनमें लगा हुआ है, वह भी किसी कारणसे, किसी परिस्थितिसे तत्काल मर जाय और उसकी वृत्ति अन्तसमयमें साधनमें न रहे, तो वह भी योगभ्रष्ट हो जाता है। ऐसे योगभ्रष्टकी गतिको मैं यहाँ कह रहा हूँ।

'योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'—जो परमात्म-तत्त्वको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी बुद्धि परमात्मतत्त्वमें स्थिर हो गयी है, ऐसे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें वह वैराग्यवान् योगभ्रष्ट जन्म लेता है।

'कुले' कहनेका तात्पर्य है कि उसका जन्म साक्षात् जीवन्मुक्त योगी महापुरुषके कुलमें ही होता है; क्योंकि श्रुति कहती है कि उस ब्रह्मज्ञानीके कुलमें कोई भी ब्रह्मज्ञानसे रहित नहीं होता अर्थात् सब ब्रह्मज्ञानी ही होते हैं—**'नास्याब्रह्मवित् कुले भवति'** (मुण्डक० ३। २। ९)।

'एतद्धि दुर्लभतरं* लोके जन्म यदीदृशम्'—उसका यह इस प्रकारका योगियोंके कुलमें जन्म होना इस लोकमें

*** यहाँ 'दुर्लभतर' शब्दमें 'तरप्' प्रत्यय देनेका तात्पर्य है कि श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले और योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले—इन दोनों योगभ्रष्टोंमेंसे योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवालेका जन्म अत्यन्त दुर्लभ है।**

बहुत ही दुर्लभ है। तात्पर्य है कि शुद्ध सात्त्विक राजाओंके, धनवानोंके और प्रसिद्ध गुणवानोंके घरमें जन्म होना भी दुर्लभ माना जाता है, पुण्यका फल माना जाता है; फिर तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त योगी महापुरुषोंके यहाँ जन्म होना तो दुर्लभतर—बहुत ही दुर्लभ है! कारण कि उन योगियोंके कुलमें, घरमें स्वाभाविक ही पारमार्थिक वायुमण्डल रहता है। वहाँ सांसारिक भोगोंकी चर्चा ही नहीं होती। अतः वहाँके वायुमण्डलसे, दृश्यसे, तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके संगसे, अच्छी शिक्षा आदिसे उसके लिये साधनमें लगना बहुत सुगम हो जाता है और वह बचपनसे ही साधनमें लग जाता है। इसलिये ऐसे योगियोंके कुलमें जन्म लेनेको दुर्लभतर बताया गया है।

विशेष बात

यहाँ '**एतत्**' और '**ईदृशम्**'—ये दो पद आये हैं। '**एतत्**' पदसे तो तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट समझना चाहिये (जिसका इस श्लोकमें वर्णन हुआ है) और '**ईदृशम्**' पदसे उन तत्त्वज्ञ योगी महापुरुषोंके संगका अवसर जिसको प्राप्त हुआ है—इस प्रकारका साधक समझना चाहिये। संसारमें दो प्रकारकी प्रजा मानी जाती है—बिन्दुज और नादज। जो माता-पिताके रज-वीर्यसे पैदा होती है, वह 'बिन्दुज प्रजा' कहलाती है; और जो महापुरुषोंके नादसे अर्थात् शब्दसे, उपदेशसे पारमार्थिक मार्गमें लग जाती है, वह 'नादज प्रजा' कहलाती है। यहाँ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट 'बिन्दुज' है और तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंका संगप्राप्त साधक 'नादज' है। इन दोनों ही साधकोंको ऐसा जन्म और संग मिलना बड़ा दुर्लभ है।

शास्त्रोंमें मनुष्यजन्मको दुर्लभ बताया है, पर मनुष्यजन्ममें महापुरुषोंका संग मिलना और भी दुर्लभ है।[1] नारदजी अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—'**महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च**' अर्थात् महापुरुषोंका संग दुर्लभ है, अगम्य है और अमोघ है। कारण कि एक तो उनका संग मिलना कठिन है और भगवान्‌की कृपासे ऐसा संग मिल भी जाय[2] तो उन महापुरुषोंको पहचानना कठिन है। परन्तु उनका संग किसी भी तरहसे मिल जाय, वह कभी निष्फल नहीं जाता। तात्पर्य है कि महापुरुषोंका संग मिलनेकी दृष्टिसे ही उपर्युक्त दोनों साधकोंको 'दुर्लभतर' बताया गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने वैराग्यवान् योगभ्रष्टका तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म होना बताया। अब वहाँ जन्म होनेके बाद क्या होता है—यह बात आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

कुरुनन्दन	= हे कुरुनन्दन!	**बुद्धिसंयोगम्**	= साधन-सम्पत्ति (अनायास ही)	**ततः**	= उससे (वह)
तत्र	= वहाँपर	**लभते**	= प्राप्त हो जाती है।	**संसिद्धौ**	= साधनकी सिद्धिके विषयमें
तम्	= उसको	**च**	= फिर	**भूयः**	= पुनः (विशेषतासे)
पौर्वदेहिकम्	= पहले मनुष्यजन्मकी			**यतते**	= यत्न करता है।

व्याख्या—'**तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्**'—तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके कुलमें जन्म होनेके बाद उस वैराग्यवान् साधककी क्या दशा होती है? इस बातको बतानेके लिये यहाँ '**तत्र**' पद आया है।

'**पौर्वदेहिकम्**' तथा '**बुद्धिसंयोगम्**' पदोंका तात्पर्य है कि संसारसे विरक्त उस साधकको स्वर्ग आदि लोकोंमें नहीं जाना पड़ता, उसका तो सीधे योगियोंके कुलमें जन्म होता है। वहाँ उसको अनायास ही पूर्वजन्मकी साधन-सामग्री मिल जाती है। जैसे, किसीको रास्तेपर चलते-चलते नींद आने लगी और वह वहीं किनारेपर सो गया। अब जब वह सोकर उठेगा, तो उतना रास्ता उसका तय किया हुआ ही रहेगा; अथवा किसीने व्याकरणका प्रकरण पढ़ा और बीचमें कई वर्ष पढ़ना

१-दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥ (श्रीमद्भा० ११। २। २९)
२-जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये। (विनयपत्रिका १३६। १०)

छूट गया। जब वह फिरसे पढ़ने लगता है, तो उसका पहले पढ़ा हुआ प्रकरण बहुत जल्दी तैयार हो जाता है, याद हो जाता है। ऐसे ही पूर्वजन्ममें उसका जितना साधन हो चुका है, जितने अच्छे संस्कार पड़ चुके हैं, वे सभी इस जन्ममें प्राप्त हो जाते हैं, जाग्रत् हो जाते हैं।

'यतते च ततो भूयः संसिद्धौ'—एक तो वहाँ उसको पूर्वजन्मकृत बुद्धिसंयोग मिल जाता है और वहाँका संग अच्छा होनेसे साधनकी अच्छी बातें मिल जाती हैं, साधनकी युक्तियाँ मिल जाती हैं। ज्यों-ज्यों नयी युक्तियाँ मिलती हैं, त्यों-त्यों उसका साधनमें उत्साह बढ़ता है। इस तरह वह सिद्धिके लिये विशेष तत्परतासे यत्न करता है।

अगर इस प्रकरणका अर्थ ऐसा लिया जाय कि ये दोनों ही प्रकारके योगभ्रष्ट पहले स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं। उनमेंसे जिसमें भोगोंकी वासना रही है, वह तो शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है, और जिसमें भोगोंकी वासना नहीं है, वह योगियोंके कुलमें जन्म लेता है, तो प्रकरणके पदोंपर विचार करनेसे यह बात ठीक नहीं बैठती। कारण कि ऐसा अर्थ लेनेसे 'योगियोंके' कुलमें जन्म लेनेवालेको 'पौर्वदेहिक' बुद्धिसंयोग अर्थात् पूर्वजन्मकृत साधन-सामग्री मिल जाती है—यह कहना नहीं बनेगा। यहाँ 'पौर्वदेहिक' कहना तभी बनेगा, जब बीचमें दूसरे शरीरका व्यवधान न हो। अगर ऐसा मानें कि स्वर्गादि लोकोंमें जाकर फिर वह योगियोंके कुलमें जन्म लेता है, तो उसको 'पूर्वाभ्यास' कह सकते हैं (जैसा कि श्रीमानोंके घर जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टके लिये आगेके श्लोकमें कहा है), पर 'पौर्वदेहिक' नहीं कह सकते। कारण कि उसमें स्वर्गादिका व्यवधान पड़ जायगा और स्वर्गादि लोकोंके देहको पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोग नहीं कह सकते; क्योंकि उन लोकोंमें भोग-सामग्रीकी बहुलता होनेसे वहाँ साधन बननेका प्रश्न ही नहीं है। अतः वे दोनों योगभ्रष्ट स्वर्गादिमें जाकर आते हैं—यह कहना प्रकरणके अनुसार ठीक नहीं बैठता।

दूसरी बात, जिसमें भोगोंकी वासना है, उसका तो स्वर्ग आदिमें जाना ठीक है; परन्तु जिसमें भोगोंकी वासना नहीं है और जो अन्तसमयमें किसी कारणवश साधनसे विचलित हो गया है, ऐसे साधकको स्वर्ग आदिमें भेजना तो उसको दण्ड देना है, जो कि सर्वथा अनुचित है।

परिशिष्ट भाव—पारमार्थिक उन्नति 'स्व' की है और सांसारिक उन्नति 'पर' की है। इसलिये सांसारिक पूँजी तो नष्ट हो जाती है, पर पारमार्थिक पूँजी (साधन) योगभ्रष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती। पारमार्थिक उन्नति ढक सकती है, पर मिटती नहीं और समय पाकर प्रकट हो जाती है।

पूर्वजन्ममें किये साधनके जो संस्कार बुद्धिमें बैठे हुए हैं, उनको यहाँ 'बुद्धिसंयोग' कहा गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बताया कि तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवालेको पूर्वजन्मकृत बुद्धिसंयोग प्राप्त हो जाता है और वह साधनमें तत्परतासे लग जाता है। अब शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टकी क्या दशा होती है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

सः = वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट मनुष्य)
अवशः = (भोगोंके) परवश होता हुआ
अपि = भी
तेन = उस
पूर्वाभ्यासेन = पहले मनुष्यजन्ममें किये हुए अभ्यास (साधन)-के कारण
एव = ही
ह्रियते = (परमात्माकी तरफ) खिंच जाता है;
हि = क्योंकि
योगस्य = योग (समता)-का
जिज्ञासुः = जिज्ञासु
अपि = भी
शब्दब्रह्म = वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका
अतिवर्तते = अतिक्रमण कर जाता है।

व्याख्या—**'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः'**—योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्टको जैसी साधनकी सुविधा मिलती है, जैसा वायुमण्डल मिलता है, जैसा संग मिलता है, जैसी शिक्षा मिलती है, वैसी साधनकी

सुविधा, वायुमण्डल, संग, शिक्षा आदि श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवालोंको नहीं मिलती। परन्तु स्वर्गादि लोकोंमें जानेसे पहले मनुष्य-जन्ममें जितना योगका साधन किया है, सांसारिक भोगोंका त्याग किया है, उसके अन्त:करणमें जितने अच्छे संस्कार पड़े हैं, उस मनुष्य-जन्ममें किये हुए अभ्यासके कारण ही भोगोंमें आसक्त होता हुआ भी वह परमात्माकी तरफ जबर्दस्ती खिंच जाता है।

'अवशोऽपि' कहनेका तात्पर्य है कि वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेसे पहले बहुत वर्षोंतक स्वर्गादि लोकोंमें रहा है। वहाँ उसके लिये भोगोंकी बहुलता रही है और यहाँ (साधारण घरोंकी अपेक्षा) श्रीमानोंके घरमें भी भोगोंकी बहुलता है। उसके मनमें जो भोगोंकी आसक्ति है, वह भी अभी सर्वथा मिटी नहीं है, इसलिये वह भोगोंके परवश हो जाता है। परवश होनेपर भी अर्थात् इन्द्रियाँ, मन आदिका भोगोंकी तरफ आकर्षण होते रहनेपर भी पूर्वके अभ्यास आदिके कारण वह जबर्दस्ती परमात्माकी तरफ खिंच जाता है। कारण यह है कि भोग-वासना कितनी ही प्रबल क्यों न हो, पर वह है 'असत्' ही। उसका जीवके सत्-स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जितना ध्यानयोग आदि साधन किया है, साधनके जितने संस्कार हैं वे कितने ही साधारण क्यों न हों, पर वे हैं 'सत्' ही। वे सभी जीवके सत्-स्वरूपके अनुकूल हैं। इसलिये वे संस्कार भोगोंके परवश हुए योगभ्रष्टको भीतरसे खींचकर परमात्माकी तरफ लगा ही देते हैं।

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'—इस प्रकरणमें अर्जुनका प्रश्न था कि साधनमें लगा हुआ शिथिल प्रयत्नवाला साधक अन्तसमयमें योगसे विचलित हो जाता है तो वह योगकी संसिद्धिको प्राप्त न होकर किस गतिको जाता है अर्थात् उसका कहीं पतन तो नहीं हो जाता? इसके उत्तरमें भगवान्ने इस लोकमें और परलोकमें योगभ्रष्टका पतन न होनेकी बात इस श्लोकके पूर्वार्धतक कही। अब इस श्लोकके उत्तरार्धमें योगमें लगे हुए योगीकी वास्तविक महिमा कहनेके लिये योगके जिज्ञासुकी महिमा कहते हैं।

जब योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्म और उनके फलोंका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् उनसे ऊपर उठ जाता है, फिर योगभ्रष्टके लिये तो कहना ही क्या है! अर्थात् उसके पतनकी कोई शंका ही नहीं है। वह योगमें प्रवृत्त हो चुका है; अत: उसका तो अवश्य उद्धार होगा ही।

यहाँ **'जिज्ञासुरपि योगस्य'** पदोंका अर्थ होता है कि जो अभी योगभ्रष्ट भी नहीं हुआ है और योगमें प्रवृत्त भी नहीं हुआ है; परन्तु जो योग-(समता-) को महत्त्व देता है और उसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका* अर्थात् वेदोंके सकाम कर्मके भागका अतिक्रमण कर जाता है।

योगका जिज्ञासु वह है, जो भोग और संग्रहको साधारण लोगोंकी तरह महत्त्व नहीं देता, प्रत्युत उनकी उपेक्षा करके योगको अधिक महत्त्व देता है। उसकी भोग और संग्रहकी रुचि मिटी नहीं है, पर सिद्धान्तसे योगको ही महत्त्व देता है। इसलिये वह योगारूढ़ तो नहीं हुआ है, पर योगका जिज्ञासु है, योगको प्राप्त करना चाहता है। इस जिज्ञासामात्रका यह माहात्म्य है कि वह वेदोंमें कहे सकाम कर्मोंसे और उनके फलसे ऊँचा उठ जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जो यहाँके भोगोंकी और संग्रहकी रुचि सर्वथा मिटा न सके और तत्परतासे योगमें भी न लग सके, उसकी भी इतनी महत्ता है, तो फिर योगभ्रष्टके विषयमें तो कहना ही क्या है! ऐसी ही बात भगवान्ने दूसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें कही है कि योग-(समता-) का आरम्भ भी नष्ट नहीं होता और उसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। फिर जो योगमें प्रवृत्त हो चुका है, उसका पतन कैसे हो सकता है? उसका तो कल्याण होगा ही, इसमें सन्देह नहीं है।

विशेष बात

(१) 'योगभ्रष्ट' बहुत विशेषतावाले मनुष्यका नाम है। कैसी विशेषता? कि मनुष्योंमें हजारों और हजारोंमें कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है (गीता—सातवें अध्यायका तीसरा श्लोक) तथा सिद्धिके लिये यत्न करनेवाला ही योगभ्रष्ट होता है।

योगमें लगनेवालेकी बड़ी महिमा है। इस योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोक आदि लोकोंसे भी उसकी अरुचि हो जाती है। कारण कि ब्रह्मलोक आदि सभी लोक पुनरावर्ती हैं और वह अपुनरावर्ती चाहता है। जब योगकी जिज्ञासामात्र होनेकी इतनी महिमा है, तो फिर योगभ्रष्टकी

* वेदोंमें जो साधन-सामग्री है, उसको इस 'शब्दब्रह्म'के अन्तर्गत नहीं लेना चाहिये।

कितनी महिमा होनी चाहिये! कारण कि उसके उद्देश्यमें योग (समता) आ गयी है, तभी तो वह योगभ्रष्ट हुआ है।

इस योगभ्रष्टमें महिमा योगकी है, न कि भ्रष्ट होनेकी। जैसे कोई 'आचार्य' की परीक्षामें फेल हो गया हो, वह क्या 'शास्त्री' और 'मध्यमा' की परीक्षामें पास होनेवालेसे नीचा होगा? नहीं होगा। ऐसे ही जो योगभ्रष्ट हो गया है, वह सकामभावसे बड़े-बड़े यज्ञ, दान, तप आदि करनेवालोंसे नीचा नहीं होता, प्रत्युत बहुत श्रेष्ठ होता है। कारण कि उसका उद्देश्य समता हो गया है। बड़े-बड़े यज्ञ, दान, तपस्या आदि करनेवालोंको लोग बड़ा मानते हैं, पर वास्तवमें बड़ा वही है, जिसका उद्देश्य समताका है। समताका उद्देश्यवाला शब्दब्रह्मका भी अतिक्रमण कर जाता है।

इस योगभ्रष्टके प्रसंगसे साधकोंको उत्साह दिलानेवाली एक बड़ी विचित्र बात मिलती है कि अगर साधक 'हमें तो परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है'—ऐसा दृढ़तासे विचार कर लें, तो वे शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जायँगे!

(२) यदि साधक आरम्भमें 'समता'को प्राप्त न भी कर सके, तो भी उसको अपनी रुचि या उद्देश्य समता-प्राप्तिका ही रखना चाहिये; जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी।
चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी॥

(मानस १। ८। ४)

तात्पर्य यह है कि साधक चाहे जैसा हो, पर उसकी रुचि या उद्देश्य सदैव ऊँचा रहना चाहिये। साधककी रुचि या उद्देश्यपूर्तिकी लगन जितनी तेज, तीव्र होगी, उतनी ही जल्दी उसके उद्देश्यकी सिद्धि होगी। भगवान्‌का स्वभाव है कि वे यह नहीं देखते कि साधक करता क्या है, प्रत्युत यह देखते हैं कि साधक चाहता क्या है—

..।
रीझत राम जानि जन जी की॥
रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस १। २९। २-३)

एक प्रज्ञाचक्षु सन्त रोज मन्दिरमें (भगवद्विग्रहका दर्शन करने) जाया करते थे। एक दिन जब वे मन्दिर गये, तब किसीने पूछ लिया कि आप यहाँ किसलिये आते हैं? सन्तने उत्तर दिया कि दर्शन करनेके लिये आता हूँ। उसने कहा कि आपको तो दिखायी ही नहीं देता! सन्त बोले—मुझे दिखायी नहीं देता तो क्या भगवान्‌को भी दिखायी नहीं देता? मैं उन्हें नहीं देखता, पर वे तो मुझे देखते हैं; बस, इसीसे मेरा काम बन जायगा!

इसी तरह हम समताको प्राप्त भले ही न कर सकें, फिर भी हमारी रुचि या उद्देश्य समताका ही रहना चाहिये, जिसको भगवान् देखते ही हैं! अतः हमारा काम जरूर बन जायगा।

परिशिष्ट भाव—सांसारिक पुण्य तो पापकी अपेक्षासे (द्वन्द्ववाला) है, पर भगवान्‌के सम्बन्ध (सत्संग, भजन आदि)-से होनेवाला पुण्य (योग्यता, सामर्थ्य) विलक्षण है। इसलिये सांसारिक पुण्य मनुष्यको भगवान्‌में नहीं लगाता, पर भगवत्सम्बन्धी पुण्य मनुष्यको भगवान्‌में ही लगाता है। यह पुण्य फल देकर नष्ट नहीं होता (गीता २। ४०)। सांसारिक कामनाओंका त्याग करना और भगवान्‌की तरफ लगना—दोनों ही भगवत्सम्बन्धी पुण्य हैं।

'**पूर्वाभ्यासेन तेनैव**' पदोंका तात्पर्य है कि वर्तमान जन्ममें सत्संग, सच्चर्चा आदि न होनेपर भी केवल पूर्वाभ्यासके कारण वह परमात्मामें लग जाता है। इस पूर्वाभ्यासमें क्रिया (प्रवृत्ति) नहीं है, प्रत्युत गति है*। '**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते**' में भी क्रियावाला अभ्यास न होकर गतिवाला अभ्यास है। तात्पर्य है कि इस अभ्यासमें प्रयत्न भी नहीं है और कर्तृत्व भी नहीं है, पर गति है। गतिमें स्वतः परमात्माकी ओर खींचनेकी शक्ति है। क्रियावाला अभ्यास किया जाता है और गतिवाला अभ्यास स्वतः होता है।

सम्बन्ध—श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेके बाद जब वह योगभ्रष्ट परमात्माकी तरफ खिंचता है, तब उसकी क्या दशा होती है? यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

---

* गति और प्रवृत्तिका भेद जाननेके लिये पन्द्रहवें अध्यायके छठे श्लोकका परिशिष्ट भाव देखना चाहिये।

तु	= परन्तु	**किल्बिषः**	= जिसके पाप नष्ट हो गये हैं (तथा)		वह योगी
योगी	= जो योगी	**अनेक-**		**ततः**	= फिर
प्रयत्नात्	= प्रयत्नपूर्वक	**जन्मसंसिद्धः**	= जो अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ है,	**पराम्**	= परम
यतमानः	= यत्न करता है (और)			**गतिम्**	= गतिको
संशुद्ध-				**याति**	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—[वैराग्यवान् योगभ्रष्ट तो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त योगियोंके कुलमें जन्म लेने और वहाँ विशेषतासे यत्न करनेके कारण सुगमतासे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परन्तु श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट परमात्माको कैसे प्राप्त होता है? इसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं।]

'तु'—इस पदका तात्पर्य है कि योगका जिज्ञासु भी जब वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है, उनसे ऊँचा उठ जाता है, तब जो योगमें लगा हुआ है और तत्परतासे यत्न करता है, वह वेदोंसे ऊँचा उठ जाय और परमगतिको प्राप्त हो जाय, इसमें तो सन्देह ही क्या है!

'योगी'—जो परमात्मतत्त्वको, समताको चाहता है और राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंमें नहीं फँसता, वह योगी है।

'प्रयत्नाद्यतमानः'—प्रयत्नपूर्वक यत्न करनेका तात्पर्य है कि उसके भीतर परमात्माकी तरफ चलनेकी जो उत्कण्ठा है, लगन है, उत्साह है, तत्परता है, वह दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही रहती है। साधनमें उसकी निरन्तर सजगता रहती है।

श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पूर्वाभ्यासके कारण परमात्माकी तरफ खिंचता है और वर्तमानमें भोगोंके संगसे संसारकी तरफ खिंचता है। अगर वह प्रयत्नपूर्वक शूरवीरतासे भोगोंका त्याग कर दे, तो फिर वह परमात्माको प्राप्त कर लेगा। कारण कि जब योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है, तो फिर जो तत्परतासे साधनमें लग जाता है, उसका तो कहना ही क्या है! जैसे निषिद्ध आचरणमें लगा हुआ पुरुष एक बार चोट खानेपर फिर विशेष जोरसे परमात्मामें लग जाता है, ऐसे ही योगभ्रष्ट भी श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेपर विशेष जोरसे परमात्मामें लग जाता है।

'संशुद्धकिल्बिषः'—उसके अन्तःकरणके सब दोष, सब पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात् परमात्माकी तरफ लगन होनेसे उसके भीतर भोग, संग्रह, मान, बड़ाई आदिकी इच्छा सर्वथा मिट गयी है।

जो प्रयत्नपूर्वक यत्न करता है, उसके प्रयत्नसे ही यह मालूम होता है कि उसके सब पाप नष्ट हो चुके हैं।

'अनेकजन्मसंसिद्धः'[1]—पहले मनुष्यजन्ममें योगके लिये यत्न करनेसे शुद्धि हुई, फिर अन्तसमयमें योगसे विचलित होकर स्वर्गादि लोकोंमें गया तथा वहाँ भोगोंसे अरुचि होनेसे शुद्धि हुई और फिर यहाँ शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेकर परमात्मप्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करनेसे शुद्धि हुई। इस प्रकार तीन जन्मोंमें शुद्ध होना ही अनेकजन्मसंसिद्ध होना है[2]।

'ततो याति परां गतिम्'—इसलिये वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि जिसको प्राप्त होनेपर उससे बढ़कर कोई भी लाभ माननेमें नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर भयंकर-से-भयंकर दुःख भी विचलित नहीं कर सकता (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)—ऐसे आत्यन्तिक सुखको वह प्राप्त हो जाता है।

मार्मिक बात

वास्तवमें देखा जाय तो मनुष्यमात्र अनेक-जन्म-संसिद्ध है। कारण कि इस मनुष्यशरीरके पहले अगर वह स्वर्गादि लोकोंमें गया है, तो वहाँ शुभ कर्मोंका फल भोगनेसे उसके स्वर्गप्रापक पुण्य समाप्त हो गये और वह

१-'अनेकजन्म' का अर्थ है—'न एकजन्म इति अनेकजन्म' अर्थात् एकसे अधिक जन्म। उपर्युक्त योगीके अनेक जन्म हो ही गये हैं। 'संसिद्धः' पदमें भूतकालका 'क्त' प्रत्यय होनेसे इसका अर्थ है—वह योगी अनेक जन्मोंमें संसिद्ध (शुद्ध) हो चुका है।

२-ऐसे ही वैराग्यवान् योगभ्रष्टके पहले मनुष्यजन्ममें संसारसे विरक्त होनेसे शुद्धि हुई और फिर यहाँ योगियोंके कुलमें जन्म लेकर परमात्मप्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करनेसे शुद्धि हुई। इस प्रकार दो जन्मोंमें शुद्ध होना उसका अनेकजन्मसंसिद्ध होना है।

पुण्योंसे शुद्ध हो गया। अगर वह नरकोंमें गया है, तो वहाँ नारकीय यातना भोगनेसे उसके नरकप्रापक पाप समाप्त हो गये और वह पापोंसे शुद्ध हो गया। अगर वह चौरासी लाख योनियोंमें गया है, तो वहाँ उस-उस योनिके रूपमें अशुभ कर्मोंका, पापोंका फल भोगनेसे उसके मनुष्येतर योनिप्रापक पाप कट गये और वह शुद्ध हो गया*। इस प्रकार यह जीव अनेक जन्मोंमें पुण्यों और पापोंसे शुद्ध हुआ है। यह शुद्ध होना ही इसका 'संसिद्ध' होना है।

दूसरी बात, मनुष्यमात्र प्रयत्नपूर्वक यत्न करके परम-गतिको प्राप्त कर सकता है, अपना कल्याण कर सकता है। कारण कि भगवान्‌ने यह अन्तिम जन्म इस मनुष्यको केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही दिया है। अगर यह मनुष्य अपना कल्याण करनेका अधिकारी नहीं होता, तो भगवान् इसको मनुष्यजन्म ही क्यों देते ? अब जब मनुष्यशरीर दिया है, तो यह मुक्तिका पात्र है ही। अतः मनुष्यमात्रको अपने उद्धारके लिये तत्परतापूर्वक यत्न करना चाहिये।

सम्बन्ध—योगभ्रष्टका इस लोक और परलोकमें पतन नहीं होता; योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है—यह जो भगवान्‌ने महिमा कही है, यह महिमा भ्रष्ट होनेकी नहीं है, प्रत्युत योगकी है। अतः अब आगेके श्लोकमें उसी योगकी महिमा कहते हैं।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

तपस्विभ्यः	= (सकामभाववाले) तपस्वियोंसे (भी)	**अपि**	= भी	**मतः**	= (ऐसा मेरा) मत है।
योगी	= योगी	**अधिकः**	= (योगी) श्रेष्ठ है	**तस्मात्**	= अतः
अधिकः	= श्रेष्ठ है,	**च**	= और	**अर्जुन**	= हे अर्जुन! (तू)
ज्ञानिभ्यः	= ज्ञानियोंसे	**कर्मिभ्यः**	= कर्मियोंसे भी	**योगी**	= योगी
		योगी	= योगी	**भव**	= हो जा।
		अधिकः	= श्रेष्ठ है—		

व्याख्या—'**तपस्विभ्योऽधिको योगी**'—ऋद्धि-सिद्धि आदिको पानेके लिये जो भूख-प्यास, सरदी-गरमी आदिका कष्ट सहते हैं, वे तपस्वी हैं। इन सकाम तपस्वियोंसे पारमार्थिक रुचिवाला, ध्येयवाला योगी श्रेष्ठ है।

'**ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः**'—शास्त्रोंको जाननेवाले पढ़े-लिखे विद्वानोंको यहाँ 'ज्ञानी' समझना चाहिये। जो शास्त्रोंका विवेचन करते हैं, ज्ञानयोग क्या है? कर्मयोग क्या है? भक्तियोग क्या है? लययोग क्या है? आदि-आदि बहुत-सी बातें जानते हैं और कहते भी हैं; परन्तु जिनका उद्देश्य सांसारिक भोग और ऐश्वर्य है, ऐसे सकाम शब्दज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ माना गया है।

'**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी**'—इस लोकमें राज्य मिल जाय, धन-सम्पत्ति, सुख-आराम, भोग आदि मिल जाय और मरनेके बाद परलोकमें ऊँचे-ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति हो जाय और उन लोकोंका सुख मिल जाय—ऐसा उद्देश्य रखकर जो कर्म करते हैं अर्थात् सकामभावसे यज्ञ, दान, तीर्थ आदि शास्त्रीय कर्मोंको करते हैं, उन कर्मियोंसे योगी श्रेष्ठ है।

जो संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो गया है; वही वास्तवमें योगी है। ऐसा योगी बड़े-बड़े तपस्वियों, शास्त्रज्ञ पण्डितों और कर्मकाण्डियोंसे भी ऊँचा है, श्रेष्ठ है। कारण कि तपस्वियों आदिका उद्देश्य संसार है तथा सकामभाव है और योगीका उद्देश्य परमात्मा है तथा निष्कामभाव है।

तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोंकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं अर्थात् तपस्वियोंमें सहिष्णुताकी, ज्ञानियोंमें शास्त्रीय ज्ञानकी अर्थात् बुद्धिके ज्ञानकी और कर्मियोंमें शास्त्रीय क्रियाकी प्रधानता है। इन तीनोंमें सकामभाव होनेसे ये तीनों योगी नहीं हैं, प्रत्युत भोगी हैं। अगर ये तीनों निष्कामभाववाले योगी होते, तो भगवान् इनके साथ योगी-की तुलना नहीं करते; इन तीनोंसे योगीको श्रेष्ठ नहीं बताते।

'**तस्माद्योगी भवार्जुन**'—अभीतक भगवान्‌ने जिसकी

*** जीव इस मनुष्यजन्ममें ही अपने उद्धारके लिये मिले हुए अवसरका दुरुपयोग करके अर्थात् पाप, अन्याय करके अशुद्ध होता है। स्वर्ग, नरक तथा अन्य योनियोंमें इस प्राणीकी शुद्धि-ही-शुद्धि होती है, अशुद्धि होती ही नहीं।**

महिमा गायी है; उसके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं कि 'हे अर्जुन! तू योगी हो जा, राग-द्वेषसे रहित हो जा अर्थात् सब काम करते हुए भी जलमें कमलके पत्तेके तरह निर्लिप्त रह।' यही बात भगवान्‌ने आगे आठवें अध्यायमें भी कही है—**'योगयुक्तो भवार्जुन'** (८। २७)।

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रार्थना की थी कि आप मेरे लिये एक निश्चित श्रेयकी बात कहिये। इसपर भगवान्‌ने सांख्ययोग, कर्मयोग, ध्यानयोगकी बातें बतायीं, पर इस श्लोकसे पहले कहीं भी अर्जुनको यह आज्ञा नहीं दी कि तुम ऐसे बन जाओ, इस मार्गमें लग जाओ। अब यहाँ भगवान् अर्जुनकी प्रार्थनाके उत्तरमें आज्ञा देते हैं कि 'तुम योगी हो जाओ'; क्योंकि यही तुम्हारे लिये एक निश्चित श्रेय है।

परिशिष्ट भाव—भोगीका विभाग अलग है और योगीका विभाग अलग है। भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। जिनमें सकामभाव होता है, वे भोगी होते हैं और जिनमें निष्कामभाव होता है, वे योगी होते हैं। इसलिये सकामभाववाले तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी निष्कामभाववाला योगी श्रेष्ठ है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने योगीकी प्रशंसा करके अर्जुनको योगी होनेकी आज्ञा दी। परन्तु कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, भक्तियोगी आदिमेंसे कौन-सा योगी होना चाहिये—इसके लिये अर्जुनको स्पष्टरूपसे आज्ञा नहीं दी। इसलिये अब भगवान् आगेके श्लोकमें 'अर्जुन भक्तियोगी बने'—इस उद्देश्यसे भक्तियोगीकी विशेष महिमा कहते हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

सर्वेषाम्	= सम्पूर्ण	**मद्‌गतेन**	= मुझमें तल्लीन हुए	**सः**	= वह
योगिनाम्	= योगियोंमें	**अन्तरात्मना**	= मनसे	**मे**	= मेरे
अपि	= भी	**माम्**	= मेरा	**मतः**	= मतमें
यः	= जो	**भजते**	= भजन करता है,	**युक्ततमः**	= सर्वश्रेष्ठ योगी है।
श्रद्धावान्	= श्रद्धावान् भक्त				

व्याख्या—**'योगिनामपि सर्वेषाम्'**—जिनमें जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी मुख्यता है, जो कर्मयोग, सांख्ययोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग आदि साधनोंके द्वारा अपने स्वरूपकी प्राप्ति-(अनुभव-) में ही लगे हुए हैं, वे योगी सकाम तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे श्रेष्ठ हैं। परन्तु उन सम्पूर्ण योगियोंमें भी केवल मेरे साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ है।

'यः श्रद्धावान्'—जो मेरेपर श्रद्धा और विश्वास करता है अर्थात् जिसके भीतर मेरी ही सत्ता और महत्ता है, ऐसा वह श्रद्धावान् भक्त मेरेमें लगे हुए मनसे मेरा भजन करता है।

'मद्‌गतेनान्तरात्मना मां भजते'—मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस प्रकार जब स्वयंका भगवान्‌में अपनापन हो जाता है, तब मन स्वतः ही भगवान्‌में लग जाता है, तल्लीन हो जाता है। जैसे विवाह होनेपर लड़कीका मन स्वाभाविक ही ससुरालमें लग जाता है, ऐसे ही भगवान्‌में अपनापन होनेपर भक्तका मन स्वाभाविक ही भगवान्‌में लग जाता है, मनको लगाना नहीं पड़ता। फिर खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते आदि सभी क्रियाओंमें मन भगवान्‌का ही चिन्तन करता है, भगवान्‌में ही लगा रहता है।

जो केवल भगवान्‌का ही हो जाता है, जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नहीं रहता, उसकी साधन-भजन, जप-कीर्तन, श्रवण-मनन आदि सभी पारमार्थिक क्रियाएँ; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि सभी शारीरिक क्रियाएँ और खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका-सम्बन्धी क्रियाएँ भजन हो जाती हैं।

अनन्यभक्तके भजनका स्वरूप भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें बताया है कि वह भक्त मेरी प्रसन्नताके लिये ही सभी कर्म करता है, सदा मेरे ही परायण रहता है, केवल मेरा ही भक्त है, संसारका भक्त नहीं है, संसारकी आसक्तिको सर्वथा छोड़ देता है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित हो जाता है।

'स मे युक्ततमो मतः'—संसारसे विमुख होकर अपना उद्धार करनेमें लगनेवाले जितने योगी (साधक) हो सकते हैं, वे सभी 'युक्त' हैं। जो सगुण-निराकारकी अर्थात् व्यापकरूपसे सबमें परिपूर्ण परमात्माकी शरण लेते हैं, वे सभी 'युक्ततर' हैं। परन्तु जो केवल मुझ सगुण भगवान्‌के

ही शरण होते हैं, वे मेरी मान्यतामें 'युक्ततम' हैं।

वह भक्त युक्ततम तभी होगा, जब कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सभी योग उसमें आ जायँगे। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्में तल्लीन हुए मनसे भजन करनेपर उसमें सभी योग आ जाते हैं। कारण कि भगवान् महायोगेश्वर हैं, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर हैं, तो महायोगेश्वरके शरण होनेपर शरणागतका कौन-सा योग बाकी रहेगा? वह तो सम्पूर्ण योगोंसे युक्त हो जाता है। इसलिये भगवान् उसको युक्ततम कहते हैं।

युक्ततम भक्त कभी योगभ्रष्ट हो ही नहीं सकता। कारण कि उसका मन भगवान्को नहीं छोड़ता, तो भगवान् भी उसको नहीं छोड़ सकते। अन्तसमयमें वह पीड़ा, बेहोशी आदिके कारण भगवान्को याद न कर सके, तो भगवान् उसको याद करते हैं*; अतः वह योगभ्रष्ट हो ही कैसे सकता है?

तात्पर्य है कि जो संसारसे सर्वथा विमुख होकर भगवान्के ही परायण हो गया है, जिसको अपने बलका, उद्योगका, साधनका सहारा, विश्वास और अभिमान नहीं है, ऐसे भक्तको भगवान् योगभ्रष्ट नहीं होने देते; क्योंकि वह भगवान्पर ही निर्भर होता है। जिसके अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व है तथा जिसको अपने पुरुषार्थका सहारा, विश्वास और अभिमान है, उसीके योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। कारण कि अन्तःकरणमें भोगोंका महत्त्व होनेपर परमात्माका ध्यान करते हुए भी मन संसारमें चला जाता है। इस प्रकार अगर प्राण छूटते समय मन संसारमें चला जाय, तो वह योगभ्रष्ट हो जाता है। अगर अपने बलका सहारा, विश्वास और अभिमान न हो, तो मन संसारमें जानेपर भी वह योगभ्रष्ट नहीं होता। कारण कि ऐसी अवस्था आनेपर (मन संसारमें जानेपर) वह भगवान्को पुकारता है। अतः ऐसे भगवान्पर निर्भर भक्तका चिन्तन भगवान् स्वयं करते हैं, जिससे वह योगभ्रष्ट नहीं होता; प्रत्युत भगवान्को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ भक्तियोगीको सर्वश्रेष्ठ बतानेसे यह सिद्ध होता है कि दूसरे जितने योगी हैं, उनकी पूर्णतामें कुछ-न-कुछ कमी रहती होगी? संसारका सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे सभी योगी बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, निर्विकार हो जाते हैं और परम सुख, परम शान्ति, परम आनन्दका अनुभव करते हैं—इस दृष्टिसे तो किसीकी भी पूर्णतामें कोई कमी नहीं रहती। परन्तु जो अन्तरात्मासे भगवान्में लग जाता है, भगवान्के साथ ही अपनापन कर लेता है, उसमें भगवत्प्रेम प्रकट हो जाता है। वह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है तथा सापेक्ष वृद्धि, क्षति और पूर्तिसे रहित है। ऐसा प्रेम प्रकट होनेसे ही भगवान्ने उसको सर्वश्रेष्ठ माना है।

पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि सांख्ययोग और योग—इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है? तो भगवान्ने अर्जुनके प्रश्नके अनुसार वहाँपर कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया। परन्तु अर्जुनके लिये कौन-सा योग श्रेष्ठ है, यह बात नहीं बतायी। उसके बाद सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधना कैसी चलती है—इसका विवेचन करके छठे अध्यायके आरम्भमें कर्मयोगकी विशेष महिमा कही। जो तत्त्व (समता) कर्मयोगसे प्राप्त होता है, वही तत्त्व ध्यानयोगसे भी प्राप्त होता है—इस बातको लेकर ध्यानयोगका वर्णन किया। ध्यानयोगमें मनकी चंचलता बाधक होती है—इस बातको लेकर अर्जुनने मनके विषयमें प्रश्न किया। इसका उत्तर भगवान्ने संक्षेपसे दे दिया। फिर अर्जुनने पूछा कि योगका साधन करनेवाला अगर अन्तसमयमें योगसे विचलितमना हो जाय तो उसकी क्या दशा होती है? इसके उत्तरमें भगवान्ने योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन किया और छियालीसवें श्लोकमें योगीकी विशेष महिमा कहकर अर्जुनको योगी बननेके लिये स्पष्टरूपसे आज्ञा दी। परन्तु मेरी मान्यतामें कौन-सा योग श्रेष्ठ है—यह बात भगवान्ने यहाँतक स्पष्टरूपसे नहीं कही। अब यहाँ अन्तिम श्लोकमें भगवान् अपनी मान्यताकी बात अपनी ही तरफसे (अर्जुनके पूछे बिना ही) कहते हैं कि मैं तो भक्तियोगीको श्रेष्ठ मानता हूँ—'**स मे युक्ततमो मतः।**' परन्तु ऐसा स्पष्टरूपसे कहनेपर भी अर्जुन भगवान्की बातको पकड़ नहीं पाये। इसलिये अर्जुन आगे बारहवें अध्यायके आरम्भमें पुनः प्रश्न

*** भगवान् कहते हैं—**

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

'काष्ठ और पाषाणके सदृश म्रियमाण उस भक्तका मैं स्वयं स्मरण करता हूँ और उसको परमगति प्रदान करता हूँ।'

कफवातादिदोषेण मद्भक्तो न च मां स्मरेत्। तस्य स्मराम्यहं नो चेत् कृतघ्नो नास्ति मत्परः॥

'कफ-वातादि दोषोंके कारण मेरा भक्त यदि मृत्युके समय मेरा स्मरण नहीं कर पाता, तो मैं स्वयं उसका स्मरण करता हूँ। यदि मैं ऐसा न करूँ, तो मेरेसे बढ़कर कृतघ्न कोई नहीं हो सकता।'

करेंगे कि आपकी भक्ति करनेवाले और अविनाशी निराकारकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है? तो उत्तरमें भगवान् अपने भक्तको ही श्रेष्ठ बतायेंगे, जैसा कि यहाँ बताया है[1]।

विशेष बात

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी आदि सभी युक्त हैं अर्थात् सभी संसारसे विमुख हैं और समता-(चेतन-तत्त्व-) के सम्मुख हैं। उनमें भी भक्तियोगी-(भक्त-) को सर्वश्रेष्ठ बतानेका तात्पर्य है कि यह जीव परमात्माका अंश है, पर संसारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर यह बँध गया है। जब यह संसार-शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धको छोड़ देता है, तब यह स्वाधीन और सुखी हो जाता है। इस स्वाधीनताका भी एक भोग होता है। यद्यपि इस स्वाधीनतामें पदार्थों, व्यक्तियों, क्रियाओं, परिस्थितियों आदिकी कोई पराधीनता नहीं रहती, तथापि इस स्वाधीनताको लेकर जो सुख होता है अर्थात् मेरेमें दुःख नहीं है, संताप नहीं है लेशमात्र भी कोई इच्छा नहीं है—यह जो सुखका भोग होता है, यह स्वाधीनतामें भी परिच्छिन्नता (पराधीनता) है। इसमें संसारके साथ सूक्ष्म सम्बन्ध बना हुआ है। इसलिये इसको 'ब्रह्मभूत अवस्था' कहा गया है (गीता—अठारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)।

जबतक सुखके अनुभवमें स्वतन्त्रता मालूम देती है, तबतक सूक्ष्म अहंकार रहता है। परन्तु इसी स्थितिमें (ब्रह्मभूत अवस्थामें) स्थित रहनेसे वह अहंकार भी मिट जाता है। कारण कि प्रकृति और उसके कार्यके साथ सम्बन्ध न रखनेसे प्रकृतिका अंश 'अहम्' अपने-आप शान्त हो जाता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगी, ज्ञानयोगी भी अन्तमें समय पाकर अहंकारसे रहित हो जाते हैं। परन्तु भक्तियोगी तो आरम्भसे ही भगवान्‌का हो जाता है। अतः उसका अहंकार आरम्भमें ही समाप्त हो जाता है! ऐसी बात गीतामें भी देखनेमें आती है कि जहाँ सिद्ध कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगीके लक्षणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ कर्मयोगी और ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें तो करुणा और कोमलता देखनेमें नहीं आती, पर भक्तोंके लक्षणोंमें देखनेमें आती है। इसलिये सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें तो **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (१२। १३)—ये पद आये हैं, पर सिद्ध कर्मयोगी और ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें ऐसे पद नहीं आये हैं। तात्पर्य है कि भक्त पहलेसे ही छोटा होकर चलता है[2], अतः उसमें नम्रता, कोमलता, भगवान्‌के विधानमें प्रसन्नता आदि विलक्षण बातें साधनावस्थामें ही आ जाती हैं और सिद्धावस्थामें वे बातें विशेषतासे आ जाती हैं। इसलिये भक्तमें सूक्ष्म अहंकार भी नहीं रहता। इन्हीं कारणोंसे भगवान्‌ने भक्तको सर्वश्रेष्ठ कहा है।

शान्ति, स्वाधीनता आदिका रस चिन्मय होते हुए भी 'अखण्ड' है। परन्तु भक्तिरस चिन्मय होते हुए भी 'प्रतिक्षण वर्धमान' है अर्थात् वह नित्य नवीनरूपसे बढ़ता ही रहता है, कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और पूरा होता नहीं। ऐसे रसकी, प्रेमानन्दकी भूख भगवान्‌को भी है। भगवान्‌की इस भूखकी पूर्ति भक्त ही करता है। इसलिये भगवान् भक्तको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

इसमें एक बात और समझनेकी है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन दोनोंमें तो साधककी अपनी निष्ठा (स्थिति) होती है, पर भक्तकी अपनी कोई स्वतन्त्र निष्ठा नहीं होती। भक्त तो सर्वथा भगवान्‌के ही आश्रित रहता है, भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है, भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहता है—**'तत्सुखे सुखित्वम्।'** उसको अपने उद्धारकी भी चिन्ता नहीं होती। हमारा क्या होगा? इधर उसका ध्यान ही नहीं जाता। ऐसे भगवन्निष्ठ भक्तका सारा भार, सारी देखभाल भगवान्‌पर ही आती है—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'**

परिशिष्ट भाव—मनुष्यकी स्थिति वहीं होती है, जहाँ उसके मन-बुद्धि होते हैं (गीता—बारहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)। यहाँ **'मद्गतेनान्तरात्मना'** में भक्तका मन भगवान्‌में लगा है और **'श्रद्धावान्'** में उसकी बुद्धि भगवान्‌में लगी है। अतः भगवान्‌में गाढ़ आत्मीयता होनेसे ऐसा भक्त भगवान्‌में ही स्थित है।

१-यहाँ भगवान्‌ने 'स मे युक्ततमो मतः' कहा है और बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'ते मे युक्ततमा मताः' कहा है। दोनों जगह भगवान्‌ने एक ही शब्द कहे हैं, केवल वचनोंमें अन्तर है अर्थात् यहाँ एकवचनसे कहा है और वहाँ बहुवचनसे।

२-तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥ (शिक्षाष्टक)

'अपनेको तृणसे भी नीचा समझकर, वृक्षसे भी सहनशील बनकर, दूसरोंका मान करते हुए और स्वयं मानरहित होकर सदा हरिका नाम-संकीर्तन करे।'

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें भगवान्‌का भक्त सर्वश्रेष्ठ है। अपने भक्तके विषयमें ऐसी बात भगवान्‌ने और जगह भी कही है; जैसे—**'ते मे युक्ततमा मताः'** (१२। २), **'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः'** (१२। २०), **'स योगी परमो मतः'** (६। ३२)।

परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंमें भक्ति मुख्य है। इतना ही नहीं, सभी साधनोंका अन्त भक्तिमें ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि तो साधन हैं, पर भक्ति साध्य है। भक्ति इतनी व्यापक है कि वह प्रत्येक साधनके आदिमें भी है और अन्तमें भी है। भक्ति प्रत्येक साधनके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपमें रहती है; क्योंकि परमात्मामें आकर्षण हुए बिना कोई मनुष्य साधनमें लग ही नहीं सकता। साधनके अन्तमें भक्ति प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके रूपमें रहती है—**'मद्भक्तिं लभते पराम्'** (गीता १८। ५४)। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवद्भक्ति-विषयक धर्मको श्रेष्ठ बताया गया है—**'अतस्त्विरज्यायो लिंगाच्च'** (३। ४। ३९)।

प्रस्तुत श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनकी भक्ति अलौकिक है! उस भक्तिकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'आत्मसंयमयोग' नामक छठा अध्याय पूर्ण हुआ॥ ६ ॥

आत्मसंयम अर्थात् मनका संयमन करनेसे ध्यानयोगीको योग-(समता-) का अनुभव हो जाता है; अतः इस अध्यायका नाम 'आत्मसंयमयोग' रखा गया है।

छठे अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें **'अथ षष्ठोऽध्यायः'** के तीन, **'अर्जुन उवाच'** आदि पदोंके दस, श्लोकोंके पाँच सौ तिहत्तर और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ निन्यानबे है।

(२) **'अथ षष्ठोऽध्यायः'** के छः, **'अर्जुन उवाच'** आदि पदोंके तैंतीस, श्लोकोंके एक हजार पाँच सौ चार और पुष्पिकाके सैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार पाँच सौ नब्बे है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें पाँच **'उवाच'** हैं—तीन **'श्रीभगवानुवाच'** और दो **'अर्जुन उवाच'**।

छठे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सैंतालीस श्लोकोंमेंसे पहले और छब्बीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे **'भ-विपुला'**; दसवें, चौदहवें और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पंद्रहवें, सत्ताईसवें, छत्तीसवें और बयालीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे **'न-विपुला'**; और ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे **'र-विपुला'** संज्ञावाले छन्द हैं। शेष सैंतीस श्लोक ठीक **'पथ्यावक्त्र'** अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्‌ने छठे अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें योगीकी महिमा कही और सैंतालीसवें श्लोकमें कहा कि योगियोंमें भी जो मुझमें श्रद्धा-प्रेम करके मेरा भजन करते हैं, वे भक्त सर्वश्रेष्ठ हैं। भक्तोंको जैसे भगवान्‌की याद आती है तो वे उसमें तल्लीन हो जाते हैं—मस्त हो जाते हैं, ऐसे ही भगवान्‌के सामने भक्तोंका विशेष प्रसंग आता है तो भगवान् उसमें मस्त हो जाते हैं। इसी मस्तीमें सराबोर होते हुए भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही सातवें अध्यायका विषय अपनी तरफसे प्रारम्भ कर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**युञ्जन्**	= अभ्यास करता हुआ	**यथा**	= जिस प्रकारसे
मयि	= मुझमें	**माम्**	= (तू) मेरे	**ज्ञास्यसि**	= जानेगा,
आसक्तमनाः	= आसक्त मनवाला,	**समग्रम्**	= (जिस) समग्ररूपको	**तत्**	= उसको (उसी प्रकारसे)
मदाश्रयः	= मेरे आश्रित होकर	**असंशयम्**	= निःसन्देह	**शृणु**	= सुन।
योगम्	= योगका				

व्याख्या—'**मय्यासक्तमनाः**'—मेरेमें ही जिसका मन आसक्त हो गया है अर्थात् अधिक स्नेहके कारण जिसका मन स्वाभाविक ही मेरेमें लग गया है, चिपक गया है, उसको मेरी याद करनी नहीं पड़ती, प्रत्युत स्वाभाविक मेरी याद आती है और विस्मृति कभी होती ही नहीं—ऐसा तू मेरेमें मनवाला हो।

जिसका उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धका आकर्षण मिट गया है, जिसका इस लोकमें शरीरके आराम, आदर-सत्कार और नामकी बड़ाईमें तथा स्वर्गादि परलोकके भोगोंमें किंचिन्मात्र भी खिंचाव, आसक्ति या प्रियता नहीं है, प्रत्युत केवल मेरी तरफ ही खिंचाव है, ऐसे पुरुषका नाम '**मय्यासक्तमनाः**' है।

साधक भगवान्‌में मन कैसे लगाये, जिससे वह '**मय्यासक्तमनाः**' हो जाय—इसके लिये दो उपाय बताये जाते हैं—

(१) साधक जब सच्ची नीयतसे भगवान्‌के लिये ही जप-ध्यान करने बैठता है, तब भगवान् उसको अपना भजन मान लेते हैं। जैसे, कोई धनी आदमी किसी नौकरसे कह दे कि 'तुम यहाँ बैठो, कोई काम होगा तो तुम्हारेको बता देंगे।' किसी दिन उस नौकरको मालिकने कोई काम नहीं बताया। वह नौकर दिनभर खाली बैठा रहा और शामको मालिकसे कहता है—'बाबू! मेरेको पैसे दीजिये।' मालिक कहता है—'तुम सारे दिन बैठे रहे, पैसे किस बातके?' वह नौकर कहता है—'बाबूजी! सारे दिन बैठा रहा, इस बातके!' इस तरह जब एक मनुष्यके लिये बैठनेवालेको भी पैसे मिलते हैं, तब जो केवल भगवान्‌में मन लगानेके लिये सच्ची लगनसे बैठता है, उसका बैठना क्या भगवान् निरर्थक मानेंगे? तात्पर्य यह हुआ कि जो भगवान्‌में मन लगानेके लिये भगवान्‌का आश्रय लेकर, भगवान्‌के ही भरोसे बैठता है, वह भगवान्‌की कृपासे

भगवान्‌में मनवाला हो जाता है।

(२) भगवान् सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं; क्योंकि अगर यहाँ नहीं हैं तो भगवान् सब जगह हैं—यह कहना नहीं बनता। भगवान् सब समयमें हैं तो इस समय भी हैं; क्योंकि अगर इस समय नहीं हैं तो भगवान् सब समयमें हैं—यह कहना नहीं बनता। भगवान् सबमें हैं तो मेरेमें भी हैं; क्योंकि अगर मेरेमें नहीं हैं तो भगवान् सबमें हैं—यह कहना नहीं बनता। भगवान् सबके हैं तो मेरे भी हैं; क्योंकि अगर मेरे नहीं हैं तो भगवान् सबके हैं—यह कहना नहीं बनता। इसलिये भगवान् यहाँ हैं, अभी हैं, अपनेमें हैं और अपने हैं। कोई देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना और क्रिया उनसे रहित नहीं है, उनसे रहित होना सम्भव ही नहीं है। इस बातको दृढ़तासे मानते हुए, भगवन्नाममें, प्राणमें, मनमें, बुद्धिमें, शरीरमें, शरीरके कण-कणमें परमात्मा हैं—इस भावकी जागृति रखते हुए नाम-जप करे तो साधक बहुत जल्दी भगवान्‌में मनवाला हो सकता है।

'मदाश्रयः'—जिसको केवल मेरी ही आशा है, मेरा ही भरोसा है, मेरा ही सहारा है, मेरा ही विश्वास है और जो सर्वथा मेरे ही आश्रित रहता है, वह **'मदाश्रयः'** है।

किसी-न-किसीका आश्रय लेना इस जीवका स्वभाव है। परमात्माका अंश होनेसे यह जीव अपने अंशीको ढूँढ़ता है। परन्तु जबतक इसके लक्ष्यमें, उद्देश्यमें परमात्मा नहीं होते, तबतक यह शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़े रहता है और शरीर जिसका अंश है, उस संसारकी तरफ खिंचता है। वह यह मानने लगता है कि इससे ही मेरेको कुछ मिलेगा, इसीसे मैं निहाल हो जाऊँगा, जो कुछ होगा, वह संसारसे ही होगा। परन्तु जब यह भगवान्‌को ही सर्वोपरि मान लेता है, तब यह भगवान्‌में आसक्त हो जाता है और भगवान्‌का ही आश्रय ले लेता है।

संसारका अर्थात् धन, सम्पत्ति, वैभव, विद्या, बुद्धि, योग्यता, कुटुम्ब आदिका जो आश्रय है, वह नाशवान् है, मिटनेवाला है, स्थिर रहनेवाला नहीं है। वह सदा रहनेवाला नहीं है और सदाके लिये पूर्ति और तृप्ति करानेवाला भी नहीं है। परन्तु भगवान्‌का आश्रय कभी किंचिन्मात्र भी कम होनेवाला नहीं है; क्योंकि भगवान्‌का आश्रय पहले भी था, अभी भी है और आगे भी रहेगा। अतः आश्रय केवल भगवान्‌का ही लेना चाहिये। केवल भगवान्‌का ही आश्रय, अवलम्बन, आधार, सहारा हो। इसीका वाचक यहाँ **'मदाश्रयः'** पद है।

भगवान् कहते हैं कि मन भी मेरेमें आसक्त हो जाय और आश्रय भी मेरा हो। मन आसक्त होता है—प्रेमसे और प्रेम होता है—अपनेपनसे। आश्रय लिया जाता है—बड़ेका, सर्वसमर्थका। सर्वसमर्थ तो हमारे प्रभु ही हैं। इसलिये उनका ही आश्रय लेना है और उनके प्रत्येक विधानमें प्रसन्न होना है कि मेरे मनके विरुद्ध विधान भेजकर प्रभु मेरी कितनी निगरानी रखते हैं! मेरा कितना खयाल रखते हैं कि मेरी सम्मति लिये बिना ही विधान करते हैं! ऐसे मेरे दयालु प्रभुका मेरेपर कितना अपनापन है! अतः मेरेको कभी किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌के आश्रित रहना ही **'मदाश्रयः'** होना है।

'योगं युञ्जन्'—भगवान्‌के साथ जो स्वतःसिद्ध अखण्ड सम्बन्ध है, उस सम्बन्धको मानता हुआ तथा सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता हुआ साधक जप, ध्यान, कीर्तन करनेमें, भगवान्‌की लीला और स्वरूपका चिन्तन करनेमें स्वाभाविक ही अटल भावसे लगा रहता है। उसकी चेष्टा स्वाभाविक ही भगवान्‌के अनुकूल होती है। यही **'योगं युञ्जन्'** कहनेका तात्पर्य है।

जब साधक भगवान्‌में ही आसक्त मनवाला और भगवान्‌के ही आश्रयवाला होगा, तब वह अभ्यास क्या करेगा? कौन-सा योग करेगा? वह भगवत्सम्बन्धी अथवा संसार-सम्बन्धी जो भी कार्य करता है, वह सब योगका ही अभ्यास है। तात्पर्य है कि जिससे परमात्माका सम्बन्ध हो जाय, वह (लौकिक या पारमार्थिक) काम करता है और जिससे परमात्माका वियोग हो जाय, वह काम नहीं करता है।

'असंशयं समग्रं माम्'—जिसका मन भगवान्‌में आसक्त हो गया है, जो सर्वथा भगवान्‌के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्‌के सम्बन्धको स्वीकार कर लिया है—ऐसा पुरुष भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, अवतार-अवतारी और शिव, गणेश, सूर्य, विष्णु आदि जितने रूप हैं, उन सबको वह जान लेता है।

भगवान् अपने भक्तकी बात कहते-कहते अघाते नहीं हैं और कहते हैं कि ज्ञानमार्गसे चलनेवाला तो मेरेको जान सकता है और प्राप्त कर सकता है; परंतु भक्तिसे तो मेरा भक्त समग्ररूपको जान सकता है और इष्टका अर्थात् जिस रूपसे मेरी उपासना करता है, उस रूपका दर्शन भी कर सकता है।

'यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु'—यहाँ **'यथा'**[1] पदसे प्रकार बताया गया है कि तू जिस प्रकार जान सके, वह प्रकार भी कहूँगा, और **'तत्'**[2] पदसे बताया गया है कि जिस तत्त्वको तू जान सकता है, उसका मैं वर्णन करता हूँ, तू सुन।

छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें **'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः'** पदोंमें प्रथम पुरुष-(वह-) का प्रयोग करके सामान्य बात कही थी और यहाँ सातवाँ अध्याय आरम्भ करते हुए **'यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु'** पदोंमें मध्यम पुरुष-(तू-) का प्रयोग करके अर्जुनके लिये विशेषतासे कहते हैं कि तू जिस प्रकार मेरे समग्ररूपको जानेगा,वह मेरेसे सुन।

इससे पहलेके छः अध्यायोंमें भगवान्के लिये 'समग्र' शब्द नहीं आया है। चौथे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें **'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** पदोंमें कर्मके विशेषणके रूपमें 'समग्र' शब्द आया है और यहाँ 'समग्र' शब्द भगवान्के विशेषणके रूपमें आया है। 'समग्र' शब्दमें भगवान्का तात्त्विक स्वरूप सब-का-सब आ जाता है, बाकी कुछ नहीं बचता।

विशेष बात

(१) इस श्लोकमें 'आसक्ति केवल मेरेमें ही हो, आश्रय भी केवल मेरा ही हो, फिर योगका अभ्यास किया जाय तो मेरे समग्ररूपको जान लेगा'—ऐसा कहनेमें भगवान्का तात्पर्य है कि अगर मनुष्यकी आसक्ति भोगोंमें है और आश्रय रुपये-पैसे, कुटुम्ब आदिका है तो कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि किसी योगका अभ्यास करता हुआ भी मेरेको नहीं जान सकता। मेरे समग्ररूपको जाननेके लिये तो मेरेमें ही प्रेम हो, मेरा ही आश्रय हो। मेरेसे किसी भी कार्यपूर्तिकी इच्छा न हो। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—इस कामनाको छोड़कर, भगवान् जो करते हैं, वही होना चाहिये और भगवान् जो नहीं करना चाहते वह नहीं होना चाहिये—इस भावसे केवल मेरा आश्रय लेता है, वह मेरे समग्र रूपको जान लेता है। इसलिये भगवान् अर्जुनको कहते हैं कि तू **'मय्यासक्तमनाः'** और **'मदाश्रयः'** हो जा।

(२) परमात्माके साथ वास्तविक सम्बन्धका नाम **'योगम्'** है और उस सम्बन्धको अखण्डभावसे माननेका नाम **'युञ्जन्'** है। तात्पर्य यह है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिके साथ सम्बन्ध मानकर अपनेमें 'मैं'-रूपसे जो एक व्यक्तित्व मान रखा है, उसको न मानते हुए परमात्माके साथ जो अपनी वास्तविक अभिन्नता है, उसका अनुभव करता रहे।

वास्तवमें **'योगं युञ्जन्'** की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता संसारकी आसक्ति और आश्रय छोड़नेकी है। संसारकी आसक्ति और आश्रय छोड़नेसे परमात्माका चिन्तन स्वतः-स्वाभाविक होगा और सम्पूर्ण क्रियाएँ निष्कामभावपूर्वक होने लगेंगी। फिर भगवान्को जाननेके लिये उसको कोई अभ्यास नहीं करना पड़ेगा। इसका तात्पर्य यह है कि जिसका संसारकी तरफ खिंचाव है और जिसके अन्तःकरणमें उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व बैठा हुआ है, वह परमात्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। कारण कि उसकी आसक्ति, कामना, महत्ता संसारमें है, जिससे संसारमें परमात्माके परिपूर्ण रहते हुए भी वह उनको नहीं जान सकता।

मनुष्यका जब समाजके किसी बड़े व्यक्तिसे अपनापन हो जाता है, तब उसको एक प्रसन्नता होती है। ऐसे ही जब हमारे सदाके हितैषी और हमारे खास अंशी भगवान्में आत्मीयता जाग्रत् हो जाती है, तब हरदम प्रसन्नता रहते हुए एक अलौकिक, विलक्षण प्रेम प्रकट हो जाता है। फिर साधक स्वाभाविक ही भगवान्में मनवाला और भगवान्के आश्रित हो जाता है।

शरणागतिके पर्याय

आश्रय, अवलम्बन, अधीनता, प्रपत्ति और सहारा—ये सभी शब्द 'शरणागति' के पर्यायवाचक होते हुए भी अपना अलग अर्थ रखते हैं; जैसे—

(१) **आश्रय**—जैसे हम पृथ्वीके आधारके बिना जी ही नहीं सकते और उठना-बैठना आदि कुछ कर ही नहीं सकते, ऐसे ही प्रभुके आधारके बिना हम जी नहीं सकते और कुछ भी कर नहीं सकते। जीना और कुछ भी करना प्रभुके आधारसे ही होता है। इसीको **'आश्रय'** कहते हैं।

१-स्थूलसे लेकर सूक्ष्मतक वर्णन करना (जैसे—भूमिसे जल सूक्ष्म है, जलसे अग्नि सूक्ष्म है, अग्निसे वायु सूक्ष्म है आदि)—यह 'यथा' कहनेका तात्पर्य है। इस 'यथा' अर्थात् प्रकारका वर्णन इसी अध्यायके चौथेसे सातवें श्लोकतक हुआ है।

२-जो कुछ कार्य (संसार) दीखता है, उसमें कारणरूपसे भगवान् ही हैं—यह 'तत्' कहनेका तात्पर्य है। इसका वर्णन इसी अध्यायके आठवेंसे बारहवें श्लोकतक हुआ है।

(२) **अवलम्बन**—जैसे किसीके हाथकी हड्डी टूटनेपर डॉक्टरलोग उसपर पट्टी बाँधकर उसको गलेके सहारे लटका देते हैं तो वह हाथ गलेके अवलम्बित हो जाता है, ऐसे ही संसारसे निराश और अनाश्रित होकर भगवान्‌के गले पड़ने अर्थात् भगवान्‌को पकड़ लेनेका नाम '**अवलम्बन**' है।

(३) **अधीनता**—अधीनता दो तरहसे होती है—१-कोई हमें जबर्दस्तीसे अधीन कर ले या पकड़ ले और २-हम अपनी तरफसे किसीके अधीन हो जायँ या उसके दास बन जायँ। ऐसे ही अपना कुछ भी प्रयोजन न रखकर अर्थात् केवल भगवान्‌को लेकर ही अनन्यभावसे सर्वथा भगवान्‌का दास बन जाना और केवल भगवान्‌को ही अपना स्वामी मान लेना '**अधीनता**' है।

(४) **प्रपत्ति**—जैसे कोई किसी समर्थके चरणोंमें लम्बा पड़ जाता है, ऐसे ही संसारकी तरफसे सर्वथा निराश होकर भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाना '**प्रपत्ति**' (प्रपन्नता) है।

(५) **सहारा**—जैसे जलमें डूबनेवालेको किसी वृक्ष, लता, रस्से आदिका आधार मिल जाय, ऐसे ही संसारमें बार-बार जन्म-मरणमें डूबनेके भयसे भगवान्‌का आधार ले लेना '**सहारा**' है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी शब्दोंमें केवल शरणागतिका भाव प्रकट होता है। शरणागति तब होती है, जब भगवान्‌में ही आसक्ति हो और भगवान्‌का ही आश्रय हो अर्थात् भगवान्‌में ही मन लगे और भगवान्‌में ही बुद्धि लगे। अगर मनुष्य मन-बुद्धिसहित स्वयं भगवान्‌के आश्रित (समर्पित) हो जाय, तो शरणागतिके उपर्युक्त सब-के-सब भाव उसमें आ जाते हैं।

मन और बुद्धिको अपने न मानकर 'ये भगवान्‌के ही हैं' ऐसा दृढ़तासे मान लेनेसे साधक '**मय्यासक्तमनाः**' और '**मदाश्रयः**' हो जाता है। सांसारिक वस्तुमात्र प्रतिक्षण प्रलयकी तरफ जा रही है और किसी भी वस्तुसे अपना नित्य सम्बन्ध है ही नहीं—यह सबका अनुभव है। अगर इस अनुभवको महत्त्व दिया जाय अर्थात् मिटनेवाले सम्बन्धको अपना न माना जाय तो अपने कल्याणका उद्देश्य होनेसे भगवान्‌की शरणागति स्वतः आ जायगी। कारण कि यह स्वतः ही भगवान्‌का है। संसारके साथ सम्बन्ध केवल माना हुआ है (वास्तवमें सम्बन्ध है नहीं) और भगवान्‌से केवल विमुखता हुई है (वास्तवमें विमुखता है नहीं)। इसलिये माना हुआ सम्बन्ध छोड़नेपर भगवान्‌के साथ जो स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है, वह प्रकट हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—जिसका मन स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंच गया है, जो सर्वथा भगवान्‌के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्‌के साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्ययोग-(आत्मीय सम्बन्ध-) को स्वीकार कर लिया है, वह भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह भगवान्‌का समग्ररूप है।

'**मय्यासक्तमनाः**' में प्रेमकी और '**मदाश्रयः**'में श्रद्धाकी मुख्यता है।

'**समग्रं माम्**'—इसमें '**समग्रम्**' (समग्ररूप) विशेषण है और '**माम्**' (भगवान्) विशेष्य हैं। भक्तका सम्बन्ध विशेषणके साथ न होकर विशेष्यके साथ होता है।

छठे अध्यायके अन्तमें '**श्रद्धावान्भजते यो माम्**' पदोंमें आये '**माम्**' का क्या स्वरूप है—इसको भगवान् यहाँ बताते हैं कि वह '**माम्**' मेरा समग्ररूप है।

'**यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**'—उस समग्ररूपका वर्णन मैं इस प्रकार, ढंग, युक्ति, शैलीसे करूँगा, जिससे तू मेरेको सुगमतापूर्वक यथार्थरूपसे जान लेगा।

अर्जुनने पिछले अध्यायमें अपना संशय प्रकट किया था—'**एतन्मे संशयं कृष्ण०**' (६। ३९), इसलिये भगवान् कहते हैं कि अब मैं वही बात कहूँगा, जिससे कोई संशय बाकी न रहे।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था कि तू मेरे समग्र रूपको जैसा जानेगा, वह सुन। अब भगवान् आगेके श्लोकमें उसे सुनानेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

ते	= तेरे लिये	**अशेषतः**	= सम्पूर्णतासे	**इह**	= इस विषयमें
अहम्	= मैं	**वक्ष्यामि**	= कहूँगा,	**ज्ञातव्यम्**	= जाननेयोग्य
इदम्	= यह	**यत्**	= जिसको	**अन्यत्**	= अन्य (कुछ भी)
सविज्ञानम्	= विज्ञानसहित	**ज्ञात्वा**	= जाननेके बाद	**न, अवशिष्यते**	= शेष नहीं रहेगा।
ज्ञानम्	= ज्ञान	**भूयः**	= फिर		

व्याख्या—**'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः'**—भगवान् कहते हैं कि भैया अर्जुन! अब मैं विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा[1], तुम्हें कहूँगा और मैं खुद कहूँगा तथा सम्पूर्णतासे कहूँगा। ऐसे तो हरेक आदमी हरेक गुरुसे मेरे स्वरूपके बारेमें सुनता है और उससे लाभ भी होता है; परन्तु तुम्हें मैं स्वयं कह रहा हूँ। स्वयं कौन? जो समग्र परमात्मा है, वह मैं स्वयं! मैं स्वयं मेरे स्वरूपका जैसा वर्णन कर सकता हूँ, वैसा दूसरे नहीं कर सकते; क्योंकि वे तो सुनकर और अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करके ही कहते हैं[2]। उनकी बुद्धि समष्टि बुद्धिका एक छोटा-सा अंश है, वह कितना जान सकती है! वे तो पहले अनजान होकर फिर जानकार बनते हैं, पर मैं सदा अलुप्तज्ञान हूँ। मेरेमें अनजानपना न है, न कभी था, न होगा और न होना सम्भव ही है। इसलिये मैं तेरे लिये उस तत्त्वका वर्णन करूँगा, जिसको जाननेके बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रहेगा।

दसवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं कि आप अपनी सब-की-सब विभूतियोंको कहनेमें समर्थ हैं—**'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** तो उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है, इसलिये प्रधानतासे कहूँगा—**'प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे'** (१०। १९)। फिर अन्तमें कहते हैं कि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है—**'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप'** (१०। ४०)। यहाँ (७। २ में) भगवान् कहते हैं कि मैं विज्ञानसहित ज्ञानको सम्पूर्णतासे कहूँगा, शेष नहीं रखूँगा—**'अशेषतः।'** इसका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि मैं तत्त्वसे कहूँगा। तत्त्वसे कहनेके बाद कहना, जानना कुछ भी बाकी नहीं रहेगा।

दसवें अध्यायमें विभूति और योगकी बात आयी कि भगवान्की विभूतियोंका और योगका अन्त नहीं है। अभिप्राय है कि विभूतियोंका अर्थात् भगवान्की जो अलग-अलग शक्तियाँ हैं, उनका और भगवान्के योगका अर्थात् सामर्थ्य, ऐश्वर्यका अन्त नहीं आता। रामचरितमानसमें कहा है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

(उत्तर० ७३ ख)

तात्पर्य है कि सगुण भगवान्का जो प्रभाव है, ऐश्वर्य है, उसका अन्त नहीं आता। जब अन्त ही नहीं आता, तब उसको जानना मनुष्यकी बुद्धिके बाहरकी बात है। परन्तु जो वास्तविक तत्त्व है, उसको मनुष्य सुगमतासे समझ सकता है। जैसे, सोनेके गहने कितने होते हैं? इसको मनुष्य नहीं जान सकता; क्योंकि गहनोंका अन्त नहीं है, परन्तु उन सब गहनोंमें तत्त्वसे एक सोना ही है, इसको तो मनुष्य जान ही सकता है। ऐसे ही परमात्माकी सम्पूर्ण विभूतियों और सामर्थ्यको कोई जान नहीं सकता; परन्तु उन सबमें तत्त्वसे एक परमात्मा ही हैं, इसको तो मनुष्य तत्त्वसे जान ही सकता है। परमात्माको तत्त्वसे जाननेपर उसकी समझ तत्त्वसे

१-मैं 'विज्ञानसहित ज्ञान' सम्पूर्णतासे कहूँगा—इसमें विज्ञान ज्ञानका विशेषण है। विशेषण विशेष्यकी विशेषता बतानेवाला होता है। इस दृष्टिसे विशेष्य व्यापक हुआ और विशेषण व्याप्य हुआ अर्थात् ज्ञान (विशेष्य) बड़ा हुआ और विज्ञान (विशेषण) छोटा हुआ। परन्तु विज्ञानने ज्ञानकी विशेषता बता दी—इस दृष्टिसे विज्ञान बड़ा अर्थात् श्रेष्ठ हुआ। यहाँ यह संसार भगवान्से ही उत्पन्न होता है और भगवान्में ही लीन होता है—ऐसा मानना ज्ञान है; और सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान् ही सब कुछ बने हुए हैं, भगवान्के सिवाय कुछ है ही नहीं—ऐसा अनुभव हो जाना विज्ञान है। इसमें ज्ञान सामान्य हुआ और विज्ञान विशेष हुआ।

२-जैसे, कोई वर्णन करता है तो वर्णन करनेवालेका जो स्वयंका अनुभव है, वह पूरा बुद्धिमें नहीं आता; बुद्धिमें जितना आता है, उतना मनमें नहीं आता और जितना मनमें आता है, उतना कहनेमें नहीं आता। इस प्रकार जब उसका अपना अनुभव भी पूरा कहनेमें नहीं आता अर्थात् वह अपने अनुभवको भी पूरा प्रकट नहीं कर सकता, तो फिर वह भगवान्की तरह कैसे कह सकता है ?

परिपूर्ण हो जाती है, बाकी नहीं रहती। जैसे, कोई कहे कि 'मैंने जल पी लिया' तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि अब संसारमें जल बाकी नहीं रहा। अतः जल पीनेसे जलका अन्त नहीं हुआ है, प्रत्युत हमारी प्यासका अन्त हुआ है। इसी तरहसे परमात्मतत्त्वको तत्त्वसे समझ लेनेपर परमात्मतत्त्वके ज्ञानका अन्त नहीं हुआ है, प्रत्युत हमारी अपनी जो समझ है, जिज्ञासा है, वह पूर्ण हुई है, उसका अन्त हुआ है, उसमें केवल परमात्मतत्त्व ही रह गया है।

दसवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि मेरे प्रकट होनेको देवता और महर्षि नहीं जानते और तीसरे श्लोकमें कहा है कि जो मुझे अज और अनादि जानता है, वह मनुष्योंमें असम्मूढ़ है और वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। तो जिसे देवता और महर्षि नहीं जानते, उसे मनुष्य जान ले—यह कैसे हो सकता है? भगवान् अज और अनादि हैं, ऐसा दृढ़तासे मानना ही जानना है। मनुष्य भगवान्को अज और अनादि मान ही सकता है। परन्तु जैसे बालक अपनी माँके विवाहकी बरात नहीं देख सकता, ऐसे ही सब प्राणियोंके आदि तथा स्वयं अनादि भगवान्को देवता, ऋषि, महर्षि, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त आदि नहीं जान सकते। इसी प्रकार भगवान्के अवतार लेनेको, लीलाको, ऐश्वर्यको कोई जान नहीं सकता; क्योंकि वे अपार हैं, अगाध हैं, अनन्त हैं। परन्तु उनको तत्त्वसे तो जान ही सकते हैं।

परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये 'ज्ञानयोग' में जानकारी-(जानने-) की प्रधानता रहती है और 'भक्तियोग' में मान्यता-(मानने-) की प्रधानता रहती है। जो वास्तविक मान्यता होती है, वह बड़ी दृढ़ होती है। उसको कोई इधर-उधर नहीं कर सकता अर्थात् माननेवाला जबतक अपनी मान्यताको न छोड़े, तबतक उसकी मान्यताको कोई छुड़ा नहीं सकता। जैसे, मनुष्यने संसार और संसारके पदार्थोंको अपने लिये उपयोगी मान रखा है तो इस मान्यताको स्वयं छोड़े बिना दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता। परन्तु स्वयं इस बातको जान ले कि ये सब पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तो इस मान्यताको मनुष्य छोड़ सकता है; क्योंकि यह मान्यता असत्य है, झूठी है। जब असत्य मान्यताको भी दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता, तब जो वास्तविक परमात्मा सबके मूलमें है, उसको कोई मान ले तो यह मान्यता कैसे छूट सकती है? क्योंकि यह मान्यता सत्य है। यह यथार्थ मान्यता ज्ञानसे कम नहीं होती, प्रत्युत ज्ञानके समान ही दृढ़ होती है।

भक्तिमार्गमें मानना मुख्य होता है। जैसे, दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि 'हे महाबाहो अर्जुन! मैं तेरे हितके लिये परम (सर्वश्रेष्ठ) वचन कहता हूँ, तुम सुनो अर्थात् तुम इस वचनको मान लो।' वहाँ भक्तिका प्रकरण है; अतः वहाँ माननेकी बात कहते हैं। ज्ञानमार्गमें जानना मुख्य होता है। जैसे, चौदहवें अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'मैं फिर ज्ञानोंमें उत्तम और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान कहता हूँ, जिसको जाननेसे सब-के-सब मुनि परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं।' वहाँ ज्ञानका प्रकरण है; अतः वहाँ जाननेकी बात कहते हैं। भक्तिमार्गमें मनुष्य मान करके जान लेता है और ज्ञानमार्गमें जान करके मान लेता है। अतः पूर्ण होनेपर दोनोंकी एकता हो जाती है।

ज्ञान और विज्ञानसम्बन्धी विशेष बात

संसार भगवान्से ही पैदा होता है और उनमें ही लीन होता है, इसलिये भगवान् इस संसारके महाकारण हैं—ऐसा मानना 'ज्ञान' है। भगवान्के सिवाय और कोई चीज है ही नहीं, सब कुछ भगवान् ही हैं, स्वयं भगवान् ही सब कुछ बने हुए हैं—ऐसा अनुभव हो जाना 'विज्ञान' है।

अपरा और परा प्रकृति मेरी है; इनके संयोगसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और मैं इस सम्पूर्ण जगत्का महाकारण हूँ (चौथेसे छठे श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्ने 'ज्ञान' बताया। मेरे सिवाय अन्य कोई है ही नहीं, सूतके धागेमें उसी सूतकी बनी हुई मणियोंकी तरह सब कुछ मेरेमें ही ओतप्रोत है (सातवाँ श्लोक)—ऐसा कहकर भगवान्ने 'विज्ञान' बताया।

जलमें रस, चन्द्र-सूर्यमें प्रभा मैं हूँ इत्यादि; सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मैं हूँ; सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं (आठवेंसे बारहवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर 'ज्ञान' बताया। ये मेरेमें और मैं इनमें नहीं हूँ, अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ; क्योंकि इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (बारहवाँ श्लोक)—ऐसा कहकर 'विज्ञान' बताया।

जो मेरे सिवाय गुणोंकी अलग सत्ता मान लेता है, वह मोहित हो जाता है। परन्तु जो गुणोंसे मोहित न होकर अर्थात् ये गुण भगवान्से ही होते हैं और भगवान्में ही लीन होते हैं—ऐसा मानकर मेरे शरण होता है, वह गुणमयी मायाको तर जाता है। ऐसे मेरे शरण होनेवाले चार प्रकारके

भक्त होते हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)। ये सभी उदार हैं; पर ज्ञानी अर्थात् प्रेमी मेरेको अत्यन्त प्रिय है और मेरी आत्मा ही है (तेरहवेंसे अठारहवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर 'ज्ञान' बताया। जिसको 'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसा अनुभव हो जाता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है (उन्नीसवाँ श्लोक)—ऐसा कहकर 'विज्ञान' बताया।

मेरेको न मानकर जो कामनाओंके कारण देवताओंके शरण हो जाते हैं, उनको अन्तवाला फल (जन्म-मरण) मिलता है और जो मेरे शरण हो जाते हैं, उनको मैं मिल जाता हूँ। जो मुझे अज-अविनाशी नहीं जानते, उनके सामने मैं प्रकट नहीं होता। मैं भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंको और उनमें रहनेवाले सम्पूर्ण प्राणियोंको जानता हूँ, पर मेरेको कोई नहीं जानता। जो द्वन्द्वमोहसे मोहित हो जाते हैं, वे बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं। जो एक निश्चय करके मेरे भजनमें लग जाते हैं, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं तथा वे निर्द्वन्द्व हो जाते हैं (बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर 'ज्ञान' बताया। जो मेरा आश्रय लेते हैं, वे ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञको जान जाते हैं अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ, ऐसा उनको अनुभव हो जाता है (७। २९-३०)—ऐसा कहकर 'विज्ञान' बताया।

'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते'—विज्ञानसहित ज्ञानको जाननेके बाद जानना बाकी नहीं रहता। तात्पर्य है कि मेरे सिवाय संसारका मूल दूसरा कोई नहीं है, केवल मैं ही हूँ—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय**' (गीता ७। ७) और तत्त्वसे सब कुछ वासुदेव ही है— '**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९) और कोई है ही नहीं—ऐसा जान लेगा तो जानना बाकी कैसे रहेगा? क्योंकि इसके सिवाय दूसरा कुछ जाननेयोग्य है ही नहीं। यदि एक परमात्माको न जानकर संसारकी बहुत-सी विद्याओंको जान भी लिया तो वास्तवमें कुछ नहीं जाना है, कोरा परिश्रम ही किया है।

'जानना कुछ बाकी नहीं रहता'—इसका तात्पर्य है कि इन्द्रियोंसे, मनसे, बुद्धिसे जो परमात्माको जानता है, वह वास्तवमें पूर्ण जानना नहीं है। कारण कि ये इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्राकृत हैं, इसलिये ये प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको नहीं जान सकते। स्वयं जब परमात्माके शरण हो जाता है, तब स्वयं ही परमात्माको जानता है। इसलिये परमात्माको स्वयंसे ही जाना जा सकता है, मन-बुद्धि आदिसे नहीं।

परिशिष्ट भाव—परा तथा अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह 'ज्ञान' है और परा-अपरा सब कुछ भगवान् ही हैं—यह 'विज्ञान' है। अतः अहम्सहित सब कुछ भगवान् ही हैं—यही विज्ञानसहित ज्ञान है।

'ज्ञातव्यम्'—जिसको अवश्य जानना चाहिये और जो जाना जा सकता है, उसको 'ज्ञातव्य' कहते हैं।

विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् भगवान्के समग्ररूपको जाननेके बाद फिर जाननेयोग्य कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् जो यथार्थ तत्त्व जानना चाहता है, उसके लिये जानना कुछ भी बाकी नहीं रहता। कारण कि जब एक भगवान्के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ है ही नहीं (इसी अध्यायका सातवाँ श्लोक), तो फिर जाननेयोग्य क्या बाकी रहेगा?

यहाँ कोई कह सकता है कि 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहनेसे ज्ञानकी मुख्यता और विज्ञानकी गौणता हुई? परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। केवल 'ज्ञान' से मुक्ति तो हो जाती है, पर प्रेमका अनन्त आनन्द तभी मिलता है, जब उसके साथ विज्ञान भी हो। 'ज्ञान' धनकी तरह है और 'विज्ञान' आकर्षण है। जैसे धनके आकर्षणमें जो सुख है, वह धनमें नहीं है, ऐसे ही 'विज्ञान' (भक्ति) में जो आनन्द है, वह 'ज्ञान' में नहीं है। 'ज्ञान' में तो अखण्डरस है, पर 'विज्ञान' में प्रतिक्षण वर्धमान रस है। इसलिये 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहनेमें भगवान्का लक्ष्य मुख्यरूपसे 'विज्ञान' की तरफ ही है और उसीको भगवान् श्रेष्ठ बताना चाहते हैं; क्योंकि 'विज्ञान' समग्रताका वाचक है।

सम्बन्ध—भगवान्ने दूसरे श्लोकमें यह बताया कि मैं विज्ञानसहित ज्ञानको सम्पूर्णतासे कहूँगा, जिससे कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। जब जानना बाकी रहता ही नहीं, तो फिर सब मनुष्य उस तत्त्वको क्यों नहीं जान लेते? इसके उत्तरमें आगेका श्लोक कहते हैं।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

सहस्रेषु	= हजारों	**यतति**	= यत्न करता है (और)	**कश्चित्**	= कोई (एक)
मनुष्याणाम्	= मनुष्योंमें	**यतताम्**	= (उन) यत्न करनेवाले	**अपि**	= ही
कश्चित्	= कोई (एक)			**माम्**	= मुझे
सिद्धये	= सिद्धि-(कल्याण)-के लिये	**सिद्धानाम्**	= सिद्धों-(मुक्त-पुरुषों-) में	**तत्त्वतः**	= यथार्थरूपसे
				वेत्ति	= जानता है।

व्याख्या—‘**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये**’[1]—हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है। तात्पर्य है कि जिनमें मनुष्यपना है अर्थात् जिनमें पशुओंकी तरह खाना-पीना और ऐश-आराम करना नहीं है, वे ही वास्तवमें मनुष्य हैं। उन मनुष्योंमें भी जो नीति और धर्मपर चलनेवाले हैं, ऐसे मनुष्य हजारों हैं। उन हजारों मनुष्योंमें भी कोई एक ही सिद्धिके लिये[2] यत्न करता है अर्थात् जिससे बढ़कर कोई लाभ नहीं, जिसमें दु:खका लेश भी नहीं और आनन्दकी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं, कमीकी सम्भावना ही नहीं—ऐसे स्वत:सिद्ध नित्यतत्त्वकी प्राप्तिके लिये यत्न करता है।

जो परलोकमें स्वर्ग आदिकी प्राप्ति नहीं चाहता और इस लोकमें धन, मान, भोग, कीर्ति आदि नहीं चाहता अर्थात् जो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंमें नहीं अटकता और भोगे हुए भोगोंके तथा मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिके संस्कार रहनेसे उन विषयोंका संग होनेपर, उन विषयोंमें रुचि होते रहनेपर भी जो अपनी मान्यता, उद्देश्य, विचार, सिद्धान्त आदिसे विचलित नहीं होता—ऐसा कोई एक पुरुष ही सिद्धिके लिये यत्न करता है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मप्राप्तिरूप सिद्धिके लिये यत्न करनेवाले अर्थात् दृढ़तासे उधर लगनेवाले बहुत कम मनुष्य होते हैं।

परमात्मप्राप्तिकी तरफ न लगनेमें कारण है—भोग और संग्रहमें लगना। सांसारिक भोग-पदार्थोंमें केवल आरम्भमें ही सुख दीखता है। मनुष्य प्राय: तत्काल सुख देनेवाले साधनोंमें ही लगते हैं। उनका परिणाम क्या होगा—इसपर वे विचार करते ही नहीं। अगर वे भोग और ऐश्वर्यके परिणामपर विचार करने लग जायँ कि ‘भोग और संग्रहके अन्तमें कुछ नहीं मिलेगा, रीते रह जायँगे और उनकी प्राप्तिके लिये किये हुए पाप-कर्मोंके फलस्वरूप चौरासी लाख योनियों तथा नरकोंके रूपमें दु:ख-ही-दु:ख मिलेगा’, तो वे परमात्माके साधनमें लग जायँगे। दूसरा कारण यह है कि प्राय: लोग सांसारिक भोगोंमें ही लगे रहते हैं। उनमेंसे कुछ लोग संसारके भोगोंसे ऊँचे उठते भी हैं तो वे परलोकके स्वर्ग आदि भोग-भूमियोंकी प्राप्तिमें लग जाते हैं। परन्तु अपना कल्याण हो जाय, परमात्माकी प्राप्ति हो जाय—ऐसा दृढ़तासे विचार करके परमात्माकी तरफ लगनेवाले लोग बहुत कम होते हैं। इतिहासमें भी देखते हैं तो सकामभावसे तपस्या आदि साधन करनेवालोंके ही चरित्र विशेष आते हैं। कल्याणके लिये तत्परतासे साधन करनेवालोंके चरित्र बहुत ही कम आते हैं।

वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन या दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत इधर सच्ची लगनसे तत्परतापूर्वक लगनेवाले बहुत कम हैं। इधर दृढ़तासे न लगनेमें संयोगजन्य सुखकी तरफ आकृष्ट होना और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा[3] रखना ही खास कारण है।

प्राय: लोग इस (तीसरे) श्लोकको तत्त्वकी कठिनता

१-संख्यावाचक शब्दको यदि किसीका विशेषण बताया जाय, तो उस शब्दमें एकवचन ही होता है। यदि उसके योगमें षष्ठी की जाय तो संख्यावाचक शब्दमें तीनों वचन होते हैं। यहाँ ‘मनुष्याणाम्’ पदमें सहस्र संख्याके योगमें षष्ठी हुई है और ‘सहस्राणि’ पदमें निर्धारण अर्थमें सप्तमीका बहुवचन हुआ है। अत: ‘मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये’ पदोंका अर्थ हुआ—‘मनुष्याणां सहस्राणि भगवति रुचिं कुर्वन्ति सहस्रेषु कश्चित् सिद्धये यतति च’ ‘हजारों मनुष्य भगवान्‌में रुचि रखते हैं, पर उन हजारोंमेंसे कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है।’

२-स्वर्ग आदि लोकोंकी और अणिमा, महिमा, गरिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति वास्तवमें सिद्धि है ही नहीं, प्रत्युत वह तो असिद्धि ही है; क्योंकि वह पतन करनेवाली अर्थात् बार-बार जन्म-मरण देनेवाली है (नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इसलिये यहाँ परमात्माकी प्राप्तिको ही सिद्धि कहा गया है।

३-परमात्मा सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सब वस्तुओंमें, सब घटनाओंमें, सब परिस्थितियोंमें और सम्पूर्ण क्रियाओंमें स्वत: परिपूर्णरूपसे मौजूद हैं; अत: उनकी प्राप्तिमें भविष्यका कोई कारण ही नहीं है। परमात्मतत्त्व कर्मजन्य नहीं है। जो वस्तु कर्मजन्य होती है, वह भविष्यमें मिलती है। कारण कि जो वस्तु कर्मजन्य होती है, वह उत्पत्ति-विनाशवाली होती

बतानेवाला मानते हैं। परन्तु वास्तवमें यह श्लोक तत्त्वकी कठिनताके विषयमें नहीं है; क्योंकि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत तत्त्वप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होना और अभिलाषाकी पूर्तिके लिये तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंका मिलना दुर्लभ है, कठिन है। यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि 'मैं कहूँगा और तू जानेगा', तो अर्जुन-जैसा अपने श्रेयका प्रश्न करनेवाला और भगवान्- जैसा सर्वज्ञ कहनेवाला मिलना दुर्लभ है। वास्तवमें देखा जाय तो केवल उत्कट अभिलाषा होना ही दुर्लभ है। कारण कि अभिलाषा होनेपर उसको जनानेकी जिम्मेवारी भगवान्पर आ जाती है।

यहाँ '**तत्त्वतः**' कहनेका तात्पर्य है कि वह मेरे सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, विष्णु आदि रूपोंमें प्रकट होनेवाले और समय-समयपर तरह-तरहके अवतार लेनेवाले मुझको तत्त्वसे जान लेता है अर्थात् उसके जाननेमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता और उसके अनुभवमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय संसारकी किंचिन्मात्र भी सत्ता नहीं रहती।

परिशिष्ट भाव—कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जितने साधन हैं, उन साधनोंसे (यत्न करते हुए) जो सिद्ध हो चुके हैं,ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंमें भी 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्के समग्ररूपको यथार्थरूपसे अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्त दुर्लभ हैं* (इसी अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

'**यततामपि सिद्धानाम्**'—वे सिद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष अपनी स्थिति-(मुक्तावस्था-) से असन्तुष्ट हैं और उनके भीतर परमप्रेम-(अनन्तरस-) को प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा है, भूख है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—'**मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्**' (१।३।२) 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है'। कारण यह है कि मुक्त होनेपर नाशवान् रसकी कामना तो मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। वह भूख भगवान्की कृपासे ही जाग्रत् होती है। तात्पर्य है कि जो भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास रखते हुए साधन करते हैं, जिनके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उनको भगवान् ज्ञानमें सन्तुष्ट नहीं होने देते, उसमें टिकने नहीं देते और उनकी मुक्तिके रसको फीका कर देते हैं।

सिद्ध (मुक्त) तो कर्मयोगी, ज्ञानयोगी,ध्यानयोगी आदि सभी हो सकते हैं, पर भगवान्के समग्ररूपको जाननेवाले सब नहीं होते। अतः '**यततामपि सिद्धानाम्**' पदोंका तात्पर्य है कि वे यत्न करते हुए अपनी पद्धतिसे सिद्ध तो हो गये, पर मेरे समग्ररूपको नहीं जान सके! कारण कि मेरे समग्ररूपको पराभक्तिसे ही जाना जा सकता है—'**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः**' (गीता १८।५५)।

'**कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**'—यहाँ '**माम्**' पद समग्र परमात्माका वाचक है। भगवान्के समग्ररूपको भगवान्की कृपासे ही जाना जा सकता है, विचारसे नहीं (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। अर्जुनने भी गीता सुननेके बाद भगवान्से कहा है कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति प्राप्त हो गयी—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत**' (१८।७३)। जैसे दूध पिलाते समय गाय अपने बछड़ेको स्नेहपूर्वक चाटती है तो उससे बछड़ेकी जो पुष्टि होती है, वह केवल दूध पीनेसे नहीं होती। ऐसे ही भगवान्की कृपासे जो ज्ञान होता है, वह अपने विचारसे नहीं होता; क्योंकि विचार करनेमें स्वयंकी सत्ता रहती है।

केवल निर्गुणको जाननेवाला परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता, प्रत्युत सगुण-निर्गुण दोनोंको (समग्रको) जाननेवाला ही परमात्माको तत्त्वसे जानता है।

है और उसमें देश, कालकी दूरी होती है; अतः उसीके लिये भविष्य होता है। मनुष्य यह विचार करे कि परमात्मा सब देशमें हैं तो यहाँ भी हैं, जब यहाँ हैं तो कहीं जानेकी जरूरत नहीं। परमात्मा सब समयमें हैं तो अभी भी हैं, जब अभी हैं, तो भविष्य क्यों? परमात्मा सबमें हैं तो मेरेमें भी हैं, जब मेरेमें हैं तो दूसरे किसीमें खोजनेकी पराधीनता नहीं। परमात्मा सबके हैं, तो मेरे भी हैं; जब मेरे हैं तो मेरेको अत्यन्त प्यारे होने ही चाहिये; क्योंकि अपनी चीज सबको प्यारी होती ही है। साथ-ही-साथ परमात्मा सर्वोत्कृष्ट हैं अर्थात् उनसे बढ़कर कोई है ही नहीं—ऐसा विश्वास होनेपर स्वतः ही मन खिंचेगा।

उपर्युक्त बातोंपर दृढ़ विश्वास हो जाय तो परमात्माकी आशा भविष्यका अवलम्बन करनेवाली नहीं होती; किन्तु परमात्माको तत्काल प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा हो जाती है।

*** धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥**
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥ (मानस, उत्तर० ५४। ३-४)

कर्मयोगसे 'शान्त आनन्द' (शान्ति) की प्राप्ति होती है, क्योंकि संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे ही अशान्ति होती है। कर्मयोगसे संसारका सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे शान्ति प्राप्त हो जाती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। ज्ञानयोगसे 'अखण्ड आनन्द' की प्राप्ति होती है। अखण्ड आनन्दको 'निजानन्द' भी कहते हैं; क्योंकि यह अपने स्वरूपका आनन्द है। निजानन्दमें जीवका ब्रह्मके साथ साधर्म्य हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, ऐसे ही जीव भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। यद्यपि निजानन्दकी प्राप्ति होनेपर साधकमें कोई कमी नहीं रहती, फिर भी जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं और भगवान्‌की कृपाका आश्रय है, उसको निजानन्दमें सन्तोष नहीं होता[१]। उसके भीतर 'अनन्त आनन्द' की भूख रहती है। अतः भक्तियोगसे 'अनन्त आनन्द' की प्राप्ति होती है। निजानन्द तो अंश-(स्वरूप-) का आनन्द है, पर अनन्त आनन्द अंशी-(भगवान्-) का आनन्द है। यह सिद्धान्त है कि वस्तुके आकर्षणमें जो सुख होता है, वह सुख वस्तुके ज्ञानमें नहीं होता। जैसे, रुपयोंके लोभमें जो सुख मिलता है, वह रुपयोंका ज्ञान होनेसे नहीं मिलता। रुपयोंका ज्ञान होनेसे उनका उपयोग करना तो आ जायगा, पर विशेष आकर्षण नहीं होगा। 'और मिले, और मिले'—यह आकर्षण तो लोभ होनेसे ही होगा। रुपयोंका सुख तो लोभरूप दोषके कारण दीखता है, वास्तवमें है नहीं, पर भगवान्‌का आनन्द निर्दोष प्रेमके कारण है, जो वास्तवमें है। कारण कि भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें अंशी-(भगवान्-) का आकर्षण स्वतः है। यह सिद्धान्त है कि अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है; जैसे—पृथ्वीका अंश होनेसे ऊपर फेंका गया पत्थर स्वतः पृथ्वीकी तरफ खिंचता है, अग्नि स्वतः सूर्यकी तरफ (ऊपर) खिंचती है[२] नदियाँ स्वतः समुद्रकी तरफ खिंचती हैं, आदि।

हमें भगवान्‌की आवश्यकता क्यों है?—इसपर विचार करें तो मालूम होता है कि हमारी कोई ऐसी आवश्यकता है, जिसको हम न तो अपने द्वारा पूरी कर सकते हैं और न संसारके द्वारा ही पूरी कर सकते हैं। दुःखोंका नाश करनेके लिये और परमशान्तिको प्राप्त करनेके लिये हमें भगवान्‌की आवश्यकता नहीं है। कारण कि अगर हम कामनाओंका सर्वथा त्याग कर दें तो स्वतः हमारे दुःखोंका नाश होकर परमशान्तिकी प्राप्ति हो जायगी—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' अर्थात् हम मुक्त हो जायँगे। हमें परमप्रेमकी प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌की आवश्यकता है; क्योंकि हम भगवान्‌के ही अंश हैं।

जो मनुष्य सांसारिक दुःखोंसे छूटना चाहता है, पराधीनतासे छूटकर स्वाधीन होना चाहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। परन्तु जो मनुष्य संसारसे दुःखी होकर ऐसा सोचता है कि कोई तो अपना होता, जो मेरेको अपनी शरण लेकर, अपने गले लगाकर मेरे दुःख, सन्ताप, पाप, अभाव, भय, नीरसता आदिको हर लेता, उसको भक्ति प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि मुक्ति पानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत भक्ति पानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। जब मनुष्य इस बातको जान लेता है कि इतने बड़े संसारमें, अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत जिसके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, वही अपना है, तब उसके भीतर भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव होता है। कारण कि अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। जो कभी हमारेसे अलग न हो और हम कभी उससे अलग न हों। ऐसी वस्तु भगवान् ही हो सकते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब मनुष्यको भगवान्‌की आवश्यकता है, तो फिर भगवान् मिलते क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके बिना सुख-आरामसे रहता है, वह अपनी आवश्यकताको भूले रहता है। वह मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यमें ही सन्तोष कर लेता है। अगर वह भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव

१-जो मुक्त हो जाता है, उसको तो स्वाभाविक ही सन्तोष हो जाता है, पर जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उसको सन्तोष नहीं होता। कारण कि भक्तिके संस्कारवालेपर भगवान् विशेष कृपा करते हैं और उसको कहीं अटकने नहीं देते।

२-यहाँ शंका हो सकती है कि रातको सूर्य नहीं रहता, फिर भी अग्नि रातको ऊपरकी तरफ क्यों जाती है? इसका समाधान है कि रात हो या दिन, सूर्य कहीं भी रहे, वह सदा पृथ्वीसे ऊपर ही रहता है। इसलिये जैसे भारतके लोग सूर्यको पृथ्वीसे ऊपर देखते हैं, ऐसे ही (पृथ्वीमण्डलपर भारतसे लगभग विपरीत दिशामें स्थित) अमेरिकाके लोग भी सूर्यको ऊपर ही देखते हैं।

करे, उनके बिना चैनसे न रह सके तो भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी नहीं है। कारण कि जो नित्यप्राप्त है, उसकी प्राप्तिमें क्या देरी? भगवान् कोई वृक्ष तो हैं नहीं कि आज बोयेंगे और वर्षोंके बाद फल मिलेगा! वे तो सब देशमें, सब समयमें, सब वस्तुओंमें, सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। हम ही उनसे विमुख हुए हैं, वे हमसे कभी विमुख नहीं हुए।

सम्बन्ध—दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञान-विज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञाके अनुसार अब भगवान् ज्ञान-विज्ञान कहनेका उपक्रम करते हैं।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

भूमिः	= पृथ्वी,	**इति**	= इस प्रकार	**अन्याम्**	= भिन्न
आपः	= जल,	**इयम्**	= यह	**जीवभूताम्**	= जीवरूप बनी हुई
अनलः	= तेज,	**अष्टधा**	= आठ प्रकारके	**मे**	= मेरी
वायुः	= वायु,	**भिन्ना**	= भेदोंवाली	**पराम्**	= परा
खम्	= आकाश (—ये पंचमहाभूत)	**मे**	= मेरी	**प्रकृतिम्**	= प्रकृतिको
		इयम्	= यह	**विद्धि**	= जान
च	= और	**अपरा**	= अपरा	**यया**	= जिसके द्वारा
मनः	= मन,	**प्रकृतिः**	= प्रकृति है;	**इदम्**	= यह
बुद्धिः	= बुद्धि	**तु**	= और	**जगत्**	= जगत्
एव	= तथा	**महाबाहो**	= हे महाबाहो!	**धार्यते**	= धारण किया जाता है।
अहङ्कारः	= अहंकार—	**इतः**	= इस अपरा प्रकृतिसे		

व्याख्या—[जो परिवर्तनशील है, कभी एकरूप नहीं रहता, उस जडका ही भगवान्‌ने अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे 'क्षर' नामसे वर्णन किया है—'**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' (१५। १६), फिर '**भूमिरापोऽनलो वायुः .... प्रकृतिरष्टधा**' (७। ४)—इस श्लोकमें उसीको आठ भेदोंवाली 'अपरा प्रकृति' के नामसे कहा है और फिर '**महाभूता-न्यहङ्कारः....... पञ्च चेन्द्रियगोचराः**' (१३। ५)—इस श्लोकमें उसीके विस्तारसे चौबीस भेद बताये हैं।]

'**भूमिरापोऽनलो वायुः .... विद्धि मे पराम्**'—परमात्मा सबके कारण हैं। वे प्रकृतिको लेकर सृष्टिकी रचना करते हैं*। जिस प्रकृतिको लेकर रचना करते हैं, उसका नाम 'अपरा प्रकृति' है और अपना अंश जो जीव है, उसको भगवान् 'परा प्रकृति' कहते हैं। अपरा प्रकृति निकृष्ट, जड और परिवर्तनशील है तथा परा प्रकृति श्रेष्ठ, चेतन और परिवर्तनरहित है।

प्रत्येक मनुष्यका भिन्न-भिन्न स्वभाव होता है। जैसे स्वभावको मनुष्यसे अलग सिद्ध नहीं कर सकते, ऐसे ही परमात्माकी प्रकृतिको परमात्मासे अलग (स्वतन्त्र) सिद्ध नहीं कर सकते। यह प्रकृति प्रभुका ही एक स्वभाव है; इसलिये इसका नाम 'प्रकृति' है। इसी प्रकार परमात्माका अंश होनेसे जीवको परमात्मासे भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते; क्योंकि यह परमात्माका स्वरूप है। परमात्माका स्वरूप होनेपर भी केवल अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण इस जीवात्माको प्रकृति कहा गया है। अपरा प्रकृतिके सम्बन्धसे अपनेमें कृति (करना) माननेके कारण ही यह जीवरूप है। अगर यह अपनेमें कृति न माने तो यह

*** कहीं तो प्रकृतिको लेकर भगवान् रचना करते हैं (गीता—नवें अध्यायका आठवाँ श्लोक) और कहीं भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति रचना करती है (गीता—नवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)—इन दोनों ही रीतियोंसे गीतामें संसारकी रचनाका वर्णन आता है।**

परमात्मस्वरूप ही है; फिर इसकी जीव या प्रकृति संज्ञा नहीं रहती अर्थात् इसमें बन्धनकारक कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं रहता (गीता—अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

यहाँ अपरा प्रकृतिमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये आठ शब्द लिये गये हैं। इनमेंसे अगर पाँच स्थूल भूतोंसे स्थूल सृष्टि मानी जाय तथा मन, बुद्धि और अहंकार—इन तीनोंसे सूक्ष्म सृष्टि मानी जाय तो इस वर्णनमें स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि तो आ जाती है, पर कारणरूप प्रकृति इसमें नहीं आती। कारणरूप प्रकृतिके बिना प्रकृतिका वर्णन अधूरा रह जाता है। अतः आदरणीय टीकाकारोंने पाँच स्थूल भूतोंसे सूक्ष्म पंचतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)-को लिया है, जो कि पाँच स्थूल भूतोंकी कारण हैं। 'मन' शब्दसे अहंकार लिया है, जो कि मनका कारण है। 'बुद्धि' शब्दसे महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) और 'अहंकार' शब्दसे प्रकृति ली गयी है। इस प्रकार इन आठ शब्दोंका ऐसा अर्थ लेनेसे ही समष्टि अपरा प्रकृतिका पूरा वर्णन होता है; क्योंकि इसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों समष्टि शरीर आ जाते हैं। शास्त्रोंमें इसी समष्टि प्रकृतिका 'प्रकृति-विकृति'के नामसे वर्णन किया गया है*। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि भगवान्‌ने यहाँ अपरा और परा प्रकृतिका वर्णन 'प्रकृति-विकृति' की दृष्टिसे नहीं किया है। यदि भगवान् 'प्रकृति-विकृति' की दृष्टिसे वर्णन करते तो चेतनको प्रकृतिके नामसे कहते ही नहीं; क्योंकि चेतन न तो प्रकृति है और न विकृति है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने यहाँ जड और चेतनका विभाग बतानेके लिये ही अपरा प्रकृतिके नामसे जडका और परा प्रकृतिके नामसे चेतनका वर्णन किया है।

यहाँ यह आशय मालूम देता है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वोंके स्थूलरूपसे स्थूल सृष्टि ली गयी है और इनका सूक्ष्मरूप जो पंचतन्मात्राएँ कही जाती हैं, उनसे सूक्ष्मसृष्टि ली गयी है। सूक्ष्मसृष्टिके अंग मन, बुद्धि और अहंकार हैं।

अहंकार दो प्रकारका होता है—(१) 'अहं-अहं' करके अन्तःकरणकी वृत्तिका नाम भी अहंकार है, जो कि करणरूप है। यह हुई 'अपरा प्रकृति', जिसका वर्णन यहाँ चौथे श्लोकमें हुआ है और (२) 'अहम्'-रूपसे व्यक्तित्व, एकदेशीयताका नाम भी अहंकार है, जो कि कर्तारूप है अर्थात् अपनेको क्रियाओंका करनेवाला मानता है। यह हुई 'परा प्रकृति', जिसका वर्णन यहाँ पाँचवें श्लोकमें हुआ है। यह अहंकार कारणशरीरमें तादात्म्यरूपसे रहता है। इस तादात्म्यमें एक जड-अंश है और एक चेतन-अंश है। इसमें जो जड-अंश है, वह कारण-शरीर है और उसमें जो अभिमान करता है, वह चेतन-अंश है। जबतक बोध नहीं होता, तबतक यह जड-चेतनके तादात्म्यवाला कारण-शरीरका 'अहम्' कर्तारूपसे निरन्तर बना रहता है। सुषुप्तिके समय यह सुप्तरूपसे रहता है अर्थात् प्रकट नहीं होता। नींदसे जगनेपर 'मैं सोया था, अब जाग्रत् हुआ हूँ' इस प्रकार 'अहम्' की जागृति होती है। इसके बाद मन और बुद्धि जाग्रत् होते हैं; जैसे—मैं कहाँ हूँ, कैसे हूँ—यह मनकी जागृति हुई और मैं इस देशमें, इस समयमें हूँ—ऐसा निश्चय होना बुद्धिकी जागृति हुई। इस प्रकार नींदसे जगनेपर जिसका अनुभव होता है, वह 'अहम्' परा प्रकृति है और वृत्तिरूप जो अहंकार है, वह अपरा प्रकृति है। इस अपरा प्रकृतिको प्रकाशित करनेवाला और आश्रय देनेवाला चेतन जब अपरा प्रकृतिको अपनी मान लेता है, तब वह जीवरूप परा प्रकृति होती है—**'ययेदं धार्यते जगत्।'**

अगर यह परा प्रकृति अपरा प्रकृतिसे विमुख होकर परमात्माके ही सम्मुख हो जाय, परमात्माको ही अपना माने और अपरा प्रकृतिको कभी भी अपना न माने अर्थात् अपरा प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्धरहित होकर निर्लिप्तताका अनुभव कर ले तो इसको अपने स्वरूपका बोध हो जाता है। स्वरूपका बोध हो जानेपर परमात्माका प्रेम प्रकट हो जाता

---

* **मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥**

(सांख्यकारिका ३)

तात्पर्य है कि मूल प्रकृति तो किसीसे पैदा नहीं होती; अतः यह किसीकी भी विकृति (कार्य) नहीं है। मूल प्रकृतिसे पैदा होनेके कारण महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ—ये सात पदार्थ 'विकृति' भी हैं और शब्दादि पाँच विषयों तथा दस इन्द्रियोंके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं अर्थात् ये सातों पदार्थ 'प्रकृति-विकृति' हैं। शब्दादि पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ और मन—ये सोलह पदार्थ केवल 'विकृति' हैं; क्योंकि ये किसीकी भी प्रकृति (कारण) नहीं हैं अर्थात् इनसे कोई भी पदार्थ पैदा नहीं होता।

चेतन न प्रकृति है और न विकृति ही है अर्थात् यह न तो किसीका कारण है और न कार्य।

है*, जो कि पहले अपरा प्रकृतिसे सम्बन्ध रखनेसे आसक्ति और कामनाके रूपमें था। वह प्रेम अनन्त, अगाध, असीम, आनन्दरूप और प्रतिक्षण वर्धमान है। उसकी प्राप्ति होनेसे यह परा प्रकृति प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाती है, अपने असंगरूपका अनुभव होनेसे ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाती है और अपरा प्रकृतिको संसारमात्रकी सेवामें लगाकर संसारसे सर्वथा विमुख होनेसे कृतकृत्य हो जाती है। यही मानव-जीवनकी पूर्णता है, सफलता है।

'प्रकृतिरष्टधा अपरेयम्' पदोंसे ऐसा मालूम देता है कि यहाँ जो आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति कही गयी है, वह 'व्यष्टि अपरा प्रकृति' है। इसका कारण यह है कि मनुष्यको व्यष्टि प्रकृति—शरीरसे ही बन्धन होता है, समष्टि प्रकृतिसे नहीं। कारण कि मनुष्य व्यष्टि शरीरके साथ अपनापन कर लेता है, जिससे बन्धन होता है।

व्यष्टि कोई अलग तत्त्व नहीं है, प्रत्युत समष्टिका ही एक क्षुद्र अंश है। समष्टिसे माना हुआ सम्बन्ध ही व्यष्टि कहलाता है अर्थात् समष्टिके अंश शरीरके साथ जीव अपना सम्बन्ध मान लेता है, तो वह समष्टिका अंश शरीर ही 'व्यष्टि' कहलाता है। व्यष्टिसे सम्बन्ध जोड़ना ही बन्धन है। इस बन्धनसे छुड़ानेके लिये भगवान्‌ने आठ प्रकारकी अपरा प्रकृतिका वर्णन करके कहा है कि जीवरूप परा प्रकृतिने ही इस अपरा प्रकृतिको धारण कर रखा है। यदि धारण न करे तो बन्धनका प्रश्न ही नहीं है।

पंद्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने जीवात्माको अपना अंश कहा है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'** परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित रहनेवाले मन और पाँचों इन्द्रियोंको खींचता है अर्थात् उनको अपनी मानता है—**'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।'** इसी तरह तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्ररूपसे समष्टिका वर्णन करके छठे श्लोकमें व्यष्टिके विकारोंका वर्णन किया; क्योंकि ये विकार व्यष्टिके ही होते हैं, समष्टिके नहीं। इन सबसे यही सिद्ध हुआ कि व्यष्टिसे सम्बन्ध जोड़ना ही बाधक है। इस व्यष्टिसे सम्बन्ध तोड़नेके लिये ही यहाँ व्यष्टि अपरा प्रकृतिका वर्णन किया गया है, जो कि समष्टिका ही अंग है। व्यष्टि प्रकृति अर्थात् शरीर समष्टि सृष्टिमात्रके साथ सर्वथा अभिन्न है, भिन्न कभी हो ही नहीं सकता।

वास्तवमें मूल प्रकृति कभी किसीकी बाधक या साधक (सहायक) नहीं होती। जब साधक उससे अपना सम्बन्ध नहीं मानता, तब तो वह सहायक हो जाती है, पर जब वह उससे अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बाधक हो जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे व्यष्टि अहंता (मैं-पन) पैदा होती है। यह अहंता ही बन्धनका कारण होती है।

यहाँ **'इतीयं मे'** पदोंसे भगवान् यह चेता रहे हैं कि यह अपरा प्रकृति मेरी है। इसके साथ भूलसे अपनापन कर लेना ही बार-बार जन्म-मरणका कारण है; और जो भूल करता है, उसीपर भूलको मिटानेकी जिम्मेवारी होती है। अतः जीव इस अपराके साथ अपनापन न करे।

अहंतामें भोगेच्छा और जिज्ञासा—ये दोनों रहती हैं। इनमेंसे भोगेच्छाको कर्मयोगके द्वारा मिटाया जाता है और जिज्ञासाको ज्ञानयोगके द्वारा पूरा किया जाता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन दोनोंमेंसे एकके भी सम्यक्तया पूर्ण होनेपर एक-दूसरेमें दोनों आ जाते हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक) अर्थात् भोगेच्छाकी निवृत्ति होनेपर जिज्ञासाकी भी पूर्ति हो जाती है और जिज्ञासाकी पूर्ति होनेपर भोगेच्छाकी भी निवृत्ति हो जाती है। कर्मयोगमें भोगेच्छा मिटनेपर तथा ज्ञानयोगमें जिज्ञासाकी पूर्ति होनेपर असंगता स्वतः आ जाती है। उस असंगताका भी उपभोग न करनेपर वास्तविक बोध हो जाता है और मनुष्यका जन्म सर्वथा सार्थक हो जाता है।

'जीवभूताम्'—वास्तवमें यह जीवरूप नहीं है, प्रत्युत जीव बना हुआ है। यह तो स्वतः साक्षात् परमात्माका अंश है। केवल स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीररूप प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही यह जीव बना है। यह सम्बन्ध जोड़ता है—अपने सुखके लिये। यही सुख इसके जन्म-मरणरूप महान् दुःखका खास कारण है।

'महाबाहो'—हे अर्जुन! तुम बड़े शक्तिशाली हो, इसलिये तुम अपरा और परा प्रकृतिके भेदको समझनेमें समर्थ हो। अतः तुम इसको समझो—**'विद्धि।'**

*** जिस साधकमें ज्ञानमार्गका विशेष महत्त्व होता है, उसमें परमात्माका प्रेम अपने स्वरूपके आकर्षणके रूपमें प्रकट हो जायगा और जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, उसमें वह प्रभु-प्रेमके रूपमें प्रकट हो जायगा। यदि ज्ञानमार्गवाले साधकका आग्रह नहीं होगा तो उसमें भी प्रभु-प्रेम प्रकट हो जायगा। वास्तवमें स्वरूप-बोध होनेपर ज्ञानमार्गीका आग्रह नहीं रहता; अतः उसमें प्रभु-प्रेम प्रकट हो जाता है। इस दृष्टिसे अन्तमें दोनों (भक्तियोगी और ज्ञानयोगी) एक हो जाते हैं।**

'ययेदं धार्यते जगत्'*—वास्तवमें यह जगत् जगद्रूप नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का ही स्वरूप है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९), **'सदसच्चाहम्'** (९। १९)। केवल इस परा प्रकृति—जीवने इसको जगत्-रूपसे धारण कर रखा है अर्थात् जीव इस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता मानकर अपने सुखके लिये इसका उपयोग करने लग गया। इसीसे जीवका बन्धन हुआ है। अगर जीव संसारकी स्वतन्त्र सत्ता न मानकर इसको केवल भगवत्स्वरूप ही माने तो उसका जन्म-मरणरूप बन्धन मिट जायगा।

भगवान्‌की परा प्रकृति होकर भी जीवात्माने इस दृश्यमान जगत्‌को, जो कि अपरा प्रकृति है, धारण कर रखा है अर्थात् इस परिवर्तनशील, विकारी जगत्‌को स्थायी, सुन्दर और सुखप्रद मानकर 'मैं' और 'मेरे'-रूपसे धारण कर रखा है। जिसकी भोगों और पदार्थोंमें जितनी आसक्ति है, आकर्षण है, उसको उतना ही संसार और शरीर स्थायी, सुन्दर और सुखप्रद मालूम देता है। पदार्थोंका संग्रह तथा उनका उपभोग करनेकी लालसा ही खास बाधक है। संग्रहसे अभिमानजन्य सुख होता है और भोगोंसे संयोगजन्य सुख होता है। इस सुखासक्तिसे ही जीवने जगत्‌को जगत्-रूपसे धारण कर रखा है। सुखासक्तिके कारण ही वह इस जगत्‌को भगवत्स्वरूपसे नहीं देख सकता। जैसे स्त्री वास्तवमें जनन-शक्ति है; परन्तु स्त्रीमें आसक्त पुरुष स्त्रीको मातृरूपसे नहीं देख सकता, ऐसे ही संसार वास्तवमें भगवत्स्वरूप है; परंतु संसारको अपना भोग्य माननेवाला भोगासक्त पुरुष संसारको भगवत्स्वरूप नहीं देख सकता। यह भोगासक्ति ही जगत्‌को धारण कराती है अर्थात् जगत्‌को धारण करानेमें हेतु है।

दूसरी बात, मात्र मनुष्योंके शरीरोंकी उत्पत्ति रज-वीर्यसे ही होती है, जो कि स्वरूपसे स्वतः ही मलिन है। परंतु भोगोंमें आसक्त पुरुषोंकी उन शरीरोंमें मलिन बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत रमणीय बुद्धि होती है। यह रमणीय बुद्धि ही जगत्‌को धारण कराती है।

नदीके किनारे खड़े एक सन्तसे किसीने कहा कि 'देखिये महाराज! यह नदीका जल बह रहा है और उस पुलपर मनुष्य बह रहे हैं।' सन्तने उससे कहा कि 'देखो भाई! नदीका जल ही नहीं, खुद नदी भी बह रही है; और पुलपर मनुष्य ही नहीं, खुद पुल भी बह रहा है।' तात्पर्य यह हुआ कि ये नदी, पुल तथा मनुष्य बड़ी तेजीसे नाशकी तरफ जा रहे हैं। एक दिन न यह नदी रहेगी, न यह पुल रहेगा और न ये मनुष्य रहेंगे। ऐसे ही यह पृथ्वी भी बह रही है अर्थात् प्रलयकी तरफ जा रही है। इस प्रकार भावरूपसे दीखनेवाला यह सारा जगत् प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है; परन्तु जीवने इसको भावरूपसे अर्थात् 'है' रूपसे धारण (स्वीकार) कर रखा है। परा प्रकृतिकी (स्वरूपसे) उत्पत्ति नहीं होती; पर अपरा प्रकृतिके साथ तादात्म्य करनेके कारण यह शरीरकी उत्पत्तिको अपनी उत्पत्ति मान लेता है और शरीरके नाशको अपना नाश मान लेता है, जिससे यह जन्मता-मरता रहता है। अगर यह अपराके साथ सम्बन्ध न जोड़े, इससे विमुख हो जाय अर्थात् भावरूपसे इसको सत्ता न दे तो जगत् सत्-रूपसे दीख ही नहीं सकता।

'इदम्' पदसे शरीर और संसार—दोनों लेने चाहिये; क्योंकि शरीर और संसार अलग-अलग नहीं हैं। तत्त्वतः (धातु चीज) एक ही है। शरीर और संसारका भेद केवल माना हुआ है, वास्तवमें अभेद ही है। इसलिये तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने **'इदं शरीरम्'** पदोंसे शरीरको क्षेत्र बताया (तेरहवें अध्यायका पहला श्लोक); परन्तु जहाँ क्षेत्रका वर्णन किया है, वहाँ समष्टिका ही वर्णन हुआ है (तेरहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) और इच्छा-द्वेषादि विकार व्यष्टिके माने गये हैं (तेरहवें अध्यायका छठा श्लोक); क्योंकि इच्छा आदि विकार व्यष्टि प्राणीके ही होते हैं। तात्पर्य है कि समष्टि और व्यष्टि तत्त्वतः एक ही हैं। एक होते हुए भी अपनेको शरीर माननेसे 'अहंता' और शरीरको अपना माननेसे 'ममता' पैदा होती है, जिससे बन्धन होता है। अगर शरीर और संसारकी अभिन्नताका अथवा अपनी और भगवान्‌की अभिन्नताका साक्षात् अनुभव हो जाय तो अहंता और ममता स्वतः मिट जाती हैं। ये अहंता और ममता कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंसे ही मिटती हैं। कर्मयोगसे—**'निर्ममो निरहङ्कारः'** (गीता २। ७१), ज्ञानयोगसे—**'अहङ्कारं ..... विमुच्य निर्ममः'** (गीता १८। ५३) और भक्तियोगसे **'निर्ममो निरहङ्कारः'** (गीता १२। १३)। तात्पर्य है कि जडताके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होना चाहिये, जो कि केवल माना हुआ है। अतः विवेकपूर्वक न माननेसे अर्थात्

* **गीतामें 'जगत्' शब्द कहीं 'परा' प्रकृतिका (७। १३), कहीं 'अपरा' प्रकृतिका (७। ५) और कहीं 'परा-अपरा' दोनों प्रकृतियोंका वाचक है (७। ६)।**

वास्तविकताका अनुभव करनेसे वह माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है।

विशेष बात

जैसे गुरु-शिष्यका सम्बन्ध होता है, तो इसमें गुरु शिष्यको अपना शिष्य मानता है। शिष्य गुरुको अपना गुरु मानता है। इस प्रकार गुरु अलग है और शिष्य अलग है अर्थात् उन दोनोंकी अलग-अलग सत्ता दीखती है। परन्तु उन दोनोंके सम्बन्धसे एक तीसरी सत्ता प्रतीत होने लग जाती है, जिसको 'सम्बन्धकी सत्ता' कहते हैं*। ऐसे ही साक्षात् परमात्माके अंश जीवने शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है। इस सम्बन्धके कारण एक तीसरी सत्ता प्रतीत होने लग जाती है, जिसको 'मैं'-पन कहते हैं। सम्बन्धकी यह सत्ता ('मैं'-पन) केवल मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। जीव भूलसे इस माने हुए सम्बन्धको सत्य मान लेता है अर्थात् इसमें सद्भाव कर लेता है और बँध जाता है। इस प्रकार जीव संसारसे नहीं, प्रत्युत संसारसे माने हुए सम्बन्धसे ही बँधता है।

गुरु और शिष्यमें तो दोनोंकी अलग-अलग सत्ता है और दोनों एक-दूसरेसे सम्बन्ध मानते हैं; परन्तु जीव (चेतन) और संसार (जड)—इन दोनोंमें केवल एक जीवकी ही वास्तविक सत्ता है और यही भूलसे संसारके साथ अपना सम्बन्ध मानता है। संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है; अतः उससे माना हुआ सम्बन्ध भी प्रतिक्षण स्वतः नष्ट हो रहा है। ऐसा होते हुए भी जबतक संसारमें सुख प्रतीत होता है, तबतक उससे माना हुआ सम्बन्ध स्थायी प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि संसारसे माना हुआ सम्बन्ध सुखासक्तिपर ही टिका हुआ है। संसारसे सुखासक्तिपूर्वक माने हुए सम्बन्धके कारण ही संसार अप्राप्त होनेपर भी प्राप्त और परमात्मा प्राप्त होनेपर भी अप्राप्त प्रतीत हो रहे हैं। संसारसे माना हुआ सम्बन्ध टूटते ही परमात्माके वास्तविक सम्बन्धका अथवा संसारकी अप्राप्ति और परमात्माकी प्राप्तिका अनुभव हो जाता है।

'मैं'-पनको मिटानेके लिये साधक प्रकृति और प्रकृतिके कार्यको न तो अपना स्वरूप समझे, न उससे कुछ मिलनेकी इच्छा रखे और न ही अपने लिये कुछ करे। जो कुछ करे, वह सब केवल संसारकी सेवाके लिये ही करता रहे। तात्पर्य है कि जो कुछ प्रकृतिजन्य पदार्थ हैं, उन सबकी संसारके साथ एकता है; अतः उनको केवल संसारका मानकर संसारकी ही सेवामें लगाता रहे। इससे क्रिया और पदार्थोंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जाता है और अपना स्वरूप अवशिष्ट रह जाता है अर्थात् अपने स्वरूपका बोध हो जाता है। यह कर्मयोग हुआ। ज्ञानयोगमें विवेक-विचारपूर्वक प्रकृतिके कार्य पदार्थों और क्रियाओंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर स्वरूपका बोध हो जाता है। इस प्रकार जडके सम्बन्धसे जो अहंता ('मैं'-पन) पैदा हुई थी, उसकी निवृत्ति हो जाती है।

भक्तियोगमें 'मैं केवल भगवान्का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं तथा मैं शरीर-संसारका नहीं हूँ और शरीर-संसार मेरे नहीं हैं'—ऐसी दृढ़ मान्यता करके भक्त संसारसे विमुख होकर केवल भगवत्परायण हो जाता है, जिससे संसारका सम्बन्ध स्वतः टूट जाता है और अहंताकी निवृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंमेंसे किसी एकका भी ठीक अनुष्ठान करनेपर जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होकर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—जब चेतन अपरा प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेता है अर्थात् 'अहम्' के साथ एक होकर अपनेको 'मैं हूँ' ऐसा मान लेता है, तब वह जीवरूप बनी हुई 'परा प्रकृति' कहलाता है। 'अहम्' (मैं) से इधर जगत् (अपरा प्रकृति) है और उधर परमात्मा हैं। परन्तु जीव उन परमात्माको स्वीकार न करके, प्रत्युत उनकी अपरा प्रकृतिको स्वीकार करके उसको जगत्-रूपसे धारण कर लेता है और जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ जाता है।

'अपरेयमितस्त्वन्याम्'—अपरासे अन्य परा है और परासे अन्य अपरा है। अपरा 'अन्य' अर्थात् विजातीय है। अन्यको पकड़नेसे ही परा 'जीव' बनी है—**'जीवभूताम्'**।

अपरा (परिवर्तनशील) और परा (अपरिवर्तनशील)—दोनों ही भगवान्की प्रकृतियाँ अर्थात् शक्तियाँ हैं, स्वभाव हैं। भगवान्की शक्ति होनेसे दोनों भगवान्से अभिन्न हैं; क्योंकि शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे

*** गुरु-शिष्यके सम्बन्धमें गुरुका काम केवल शिष्यका हित करना है और शिष्यका काम केवल गुरुकी सेवा करना है। इस प्रकार संसारमें माने हुए जितने भी सम्बन्ध हैं, सब केवल एक-दूसरेका हित या सेवा करनेके लिये ही हैं, अपने लिये नहीं।**

नख और केश निष्प्राण होनेपर भी हमारे प्राणयुक्त शरीरसे अलग नहीं हैं, ऐसे ही अपरा प्रकृति जड़ होनेपर भी चेतन भगवान्‌से अलग नहीं है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। इस प्रकार जब अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वरूप हुईं तो फिर भगवान्‌के सिवाय क्या शेष रहा? कुछ भी शेष नहीं रहा—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। तात्पर्य है कि अपरा और परा—दोनों प्रकृतियोंके सहित भगवान्‌का स्वरूप 'समग्र' है अर्थात् परा-अपरा, सत्-असत्, जड़-चेतन सब कुछ भगवान् ही हैं।

'ययेदं धार्यते जगत्' का तात्पर्य है कि संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है और न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टि-(मान्यता-) में है। भगवान्‌की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९) और महात्माकी दृष्टिमें भी सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**(गीता ७। १९)। जीवने ही राग-द्वेषके कारण जगत्‌को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है। इसी बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें **'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** पदोंसे कहा गया है। जगत्‌को सत्ता देनेसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं।

जीवने संसारकी सत्ता मान ली और सत्ता मानकर उसको महत्ता दे दी। महत्ता देनेसे कामना अर्थात् सुखभोगकी इच्छा पैदा हुई, जिससे जीव जन्म-मरणमें पड़ गया। तात्पर्य यह हुआ कि एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही जीव संसार-बन्धनमें पड़ा है। अतः दूसरी सत्ता न माननेकी जिम्मेवारी जीवकी ही है। अगर वह संसारकी सत्ता न माने तो संसार है ही कहाँ?

भगवान्‌ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंको अपरा (जड़) प्रकृति कहा है[1]। अतः जैसे पृथ्वी जड़ और जाननेमें आनेवाली है, ऐसे ही अहम् भी जड़ और जाननेमें आनेवाला है। तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल आदि आठों एक ही जातिके हैं[2]। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहम् भी है अर्थात् अहम् भी मिट्टीके ढेलेकी तरह जड़ और दृश्य है। अतः भगवान्‌ने अहम्‌को एतत्तासे कहा है; जैसे—**'एतद् यो वेत्ति'** (गीता १३। १)। **'एतत्'** (यह) कभी 'अहम्' (मैं) नहीं होता; अतः अहम्‌को एतत्तासे कहनेका तात्पर्य है कि यह अपना स्वरूप नहीं है। परन्तु जब चेतन (जीव) इस अहम्‌के साथ अपना तादात्म्य मान लेता है, तब वह बँध जाता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। इसीको चिज्जड़ग्रन्थि कहते हैं।

'अहङ्कार इतीयं मे'—यह धातुरूप अहंकार तो अपरा प्रकृतिका (जड़) है, पर 'मैं हूँ'—यह ग्रन्थिरूप अहंकार केवल अपरा प्रकृति नहीं है, प्रत्युत इसमें परा प्रकृति (चेतन) भी मिली हुई है। तत्त्वज्ञान होनेपर यह जन्म-मरण देनेवाला ग्रन्थिरूप अहंकार तो नहीं रहता, पर अपरा प्रकृतिका धातुरूप अहंकार रहता है।

क्रिया और पदार्थ न तो परा प्रकृतिमें हैं और न परमात्मामें हैं, प्रत्युत अपरा प्रकृतिमें हैं। अपरा प्रकृति क्रियारूप और पदार्थरूप है। परमात्मा प्रकृतिकी सहायतासे ही सृष्टि-रचना करते हैं। परा प्रकृति अर्थात् जीव क्रिया और पदार्थरूप अपरा प्रकृतिमें आसक्ति करके और उसका आश्रय लेकर बँध जाता है। अपराकी आसक्ति और उसका आश्रय लेना ही जगत्‌को धारण करना है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें ही **'मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः'** पदोंसे अपनेमें आसक्ति (प्रेम) करने और अपना आश्रय लेनेकी बात कही है। अगर जीव अपरा प्रकृतिमें आसक्ति न रखे और उसका आश्रय न ले तो वह 'मुक्त' हो जायगा। अगर वह भगवान्‌में आसक्ति (प्रेम) करे और उनका आश्रय ले तो वह 'भक्त' हो जायगा।

जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। बाँधनेवाला जगत् तो जीवने ही बना रखा है। जीव जगत्‌को धारण करता है, इसीसे सुख-दुःख होते हैं, बन्धन होता है, चौरासी लाख योनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाच, देवता आदि योनियाँ तथा नरकोंकी प्राप्ति

१-पृथ्वी स्थूल है। पृथ्वीसे सूक्ष्म जल है। जलसे सूक्ष्म तेज है। तेजसे सूक्ष्म वायु है। वायुसे सूक्ष्म आकाश है। आकाशसे सूक्ष्म मन है। मनसे सूक्ष्म बुद्धि है। बुद्धिसे सूक्ष्म अहम् है। अपरा प्रकृतिमें अहम् सबसे सूक्ष्म है। इस प्रकार भगवान्‌ने स्थूलसे सूक्ष्मतक क्रमसे अपरा प्रकृतिका वर्णन किया है।

२-एक अनेकमें अनुगत हो तो उसे 'जाति' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंमें जातीय एकता तो है, पर स्वरूपकी एकता नहीं है अर्थात् जाति एक होनेपर भी इनका स्वरूप अलग-अलग है। इसीलिये इसको 'अष्टधा' कहा गया है। अपरा प्रकृतिका कार्य होनेसे यहाँ पृथ्वी, जल आदिको भी अपरा प्रकृति कहा गया है।

होती है। सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण कोई बाधा नहीं देते; परन्तु इनका संग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणोंका संग जीव स्वयं करता है। अपरा प्रकृति किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं करती। सम्बन्ध न प्रकृति करती है, न गुण करते हैं, न इन्द्रियाँ करती हैं, न मन करता है, न बुद्धि करती है। जीव स्वयं ही सम्बन्ध करता है, इसीलिये सुखी-दुःखी हो रहा है, जन्म-मरणमें जा रहा है। जीव स्वतन्त्र है; क्योंकि यह 'परा' अर्थात् उत्कृष्ट प्रकृति है। अपरा प्रकृति तो बेचारी कुछ नहीं करती; क्योंकि उसमें चेतना और कामना नहीं है। उससे सम्बन्ध जोड़कर, उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करके जीव ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है, भटकता है। तात्पर्य है कि अपरिवर्तनशील होते हुए भी जीव विजातीय जगत्के साथ सम्बन्ध जोड़कर परिवर्तनशील जगत्-रूप हो जाता है[1] (इसी अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। उसकी दृष्टि शरीरकी तरफ ही रहती है, अपने स्वरूपकी स्फुरणा होती ही नहीं!

जो हमसे सर्वथा अलग है, उस जगत् अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्के साथ अपनी एकता मान ली—यही जगत्को धारण करना है। वास्तवमें जगत् हमारा है ही नहीं; क्योंकि अगर हमारी चीज हमारेको मिल गयी होती तो हमारी कामनाएँ सदाके लिये मिट जातीं, हम निर्मम, निर्भय, निश्चिन्त, निष्काम हो जाते। परन्तु जगत् हमें ऐसी चीज नहीं दे सकता, जो हमारी हो अर्थात् जो हमसे कभी बिछुड़े नहीं। जो चीज वास्तवमें हमारी है, वह जगत्के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती, प्रत्युत जगत्के सम्बन्ध-विच्छेदसे प्राप्त हो सकती है। हमारी वस्तु है—परमात्मा। हम उस परमात्माके ही अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। उसकी प्राप्तिका उपाय (कर्मयोगकी दृष्टिसे) यह है कि जगत्से मिली हुई वस्तुओं-(शरीरादि-) को जगत्की ही सेवामें लगा दें और बदलेमें उससे कुछ भी आशा (फलेच्छा) न रखें। उससे कोई सम्बन्ध न जोड़ें, न क्रियाके साथ, न पदार्थके साथ। सेवा करनेकी अपेक्षा भी किसीको दुःख न देना श्रेष्ठ है। किसीको भी दुःख न देनेसे, किसीका भी अहित न करनेसे सेवा अपने-आप होने लगती है, करनी नहीं पड़ती[2]। अपने-आप होनेवाली क्रियाका अभिमान नहीं होता और उसके फलकी इच्छा भी नहीं होती। अभिमान और फलेच्छाका त्याग होनेपर हमें वह वस्तु मिल जाती है, जो वास्तवमें हमारी है।

वास्तवमें अपरा प्रकृतिकी परमात्माके सिवाय अलग सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'। उसको विशेष सत्ता जीवने ही दी है। जैसे, रुपयोंकी अपनी कोई महत्ता नहीं है, हम ही लोभके कारण उसको महत्ता देते हैं। हम जिसको महत्ता देते हैं, उसीमें हमारा आकर्षण होता है। महत्ता तब देते हैं, जब दोषोंको स्वीकार करते हैं[3]। कामरूप दोषके कारण ही स्त्रीमें आकर्षण होता है, लोभ-रूप दोषके कारण ही धनमें आकर्षण होता है, मोह-रूप दोषके कारण ही कुटुम्ब-परिवारमें आकर्षण होता है, आदि। परन्तु दोषोंके साथ तादात्म्य होनेके कारण दोष दोषरूपसे नहीं दीखते और हमें इस बातका पता नहीं लगता कि हम ही उनको (अपरा प्रकृतिको) सत्ता और महत्ता दे रहे हैं। तादात्म्य मिटनेपर दोष तो रहते नहीं और गुण दीखते नहीं!

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तीन लोक, चौदह भुवन, जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, सात्त्विक-राजस-तामस, मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, भूत-प्रेत-पिशाच, ब्रह्म-राक्षस आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है, उसमें 'परा' और 'अपरा'—इन दो प्रकृतियोंके सिवाय कुछ भी नहीं है। जो देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है और जिन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्के

१-यहाँ 'जगत्' शब्द परिवर्तनशीलका वाचक है—'गच्छतीति जगत्'।

२-किसीका भी अहित न करनेसे दो बातें होंगी—हम कुछ नहीं करेंगे, अगर कुछ करेंगे तो हमारेसे सेवा ही होगी। कुछ न करना अथवा सेवा करना—इन दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। कारण कि कुछ न करनेमें कोई दोष होता ही नहीं और अपने-आप सेवा होनेसे सब दोष मिट जाते हैं। जैसे भोजन करनेमें 'मैं खाता हूँ'—इस प्रकार जो अभिमान होता है, वह भोजन पचनेमें नहीं होता; क्योंकि वह अपने-आप पचता है। ऐसे ही सेवा अपने-आप होनेसे कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिका त्याग स्वतः होता है।

३-संसारके सब सुख दोषजनित हैं। दोषोंको स्वीकार करनेसे ही सुख दीखता है। कामके कारण ही मनुष्य स्त्रीके बिना नहीं रह सकता। लोभके कारण ही मनुष्य धनके बिना नहीं रह सकता। मोहके कारण ही मनुष्य परिवारके बिना नहीं रह सकता। दोषके कारण ही उसको त्यागका महत्त्व नहीं दीखता।

द्वारा देखा, सुना, पढ़ा, सोचा जाता है, वह सब-का-सब '**अपरा**' है। परन्तु जो देखता, सुनता, पढ़ता, सोचता, जानता, मानता है, वह '**परा**' है। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌की शक्तियाँ होनेसे भगवान्‌से अभिन्न अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं। अतः अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तथा बाहर और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रूपमें एक भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), '**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९)। संसारके सभी दर्शन, मत-मतान्तर आचार्योंको लेकर हैं, पर '**वासुदेवः सर्वम्**' किसी आचार्यका दर्शन, मत नहीं है, प्रत्युत साक्षात् भगवान्‌का अटल सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत सभी दर्शन, मत-मतान्तर आ जाते हैं।

'अपरा' (जगत्) को स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**'। 'अपरा' भगवान्‌की है, पर उसको अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌को अपना और अपने लिये मान लेनेसे ही जीव बन्धनमें पड़ा है। अतः साधकको अगर जगत् दीखता है तो यह उसकी व्यक्तिगत दृष्टि है। व्यक्तिगत दृष्टि सिद्धान्त नहीं होता। दीखना सीमित होता है, जबकि तत्त्व असीम है। जैसे, सूर्य थालीकी तरह दीखता है, पर वास्तवमें वह थालीके आकारका नहीं है, प्रत्युत पृथ्वीसे भी कई गुना अधिक बड़ा है!

अगर साधकको जगत् दीखता है तो उसको निष्कामभावपूर्वक जगत्‌की सेवा करनी चाहिये। जगत्‌को अपना और अपने लिये मानना तथा उससे सुख लेना ही असाधन है, बन्धन है। कारण कि हमारे पास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जो कुछ भी है, वह सब जगत्‌का है और जगत्‌के लिये है। अतः जगत्‌की वस्तुको जगत्‌की सेवामें लगानेसे जगत् जगत्-रूपसे नहीं दीखेगा, प्रत्युत भगवत्स्वरूप दीखने लगेगा, जो कि वास्तवमें है। तात्पर्य है कि साधक चाहे जगत्‌को माने, चाहे आत्माको माने, चाहे परमात्माको माने, किसीको भी मानकर वह साधन कर सकता है और अन्तिम तत्त्व '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव कर सकता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि परा प्रकृतिने अपरा प्रकृतिको धारण कर रखा है। उसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये अब आगेका श्लोक कहते हैं।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

सर्वाणि	= सम्पूर्ण
भूतानि	= प्राणियोंके (उत्पन्न होनेमें)
एतद्योनीनि	= अपरा और परा—इन दोनों प्रकृतियोंका संयोग ही कारण है—
इति	= ऐसा
उपधारय	= तुम समझो।
अहम्	= मैं
कृत्स्नस्य	= सम्पूर्ण
जगतः	= जगत्‌का
प्रभवः	= प्रभव
तथा	= तथा
प्रलयः	= प्रलय हूँ।

व्याख्या—'**एतद्योनीनि भूतानि**'*—जितने भी देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जंगम और वृक्ष, लता, घास आदि स्थावर प्राणी हैं, वे सब-के-सब मेरी अपरा और परा प्रकृतिके सम्बन्धसे ही उत्पन्न होते हैं।

तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धसे सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंकी उत्पत्ति बतायी है। यही बात सामान्य रीतिसे चौदहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भी बतायी है कि स्थावर, जंगम योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले जितने शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके हैं और उन शरीरोंमें जो बीज अर्थात् जीवात्मा है, वह मेरा अंश है। उसी बीज अर्थात् जीवात्माको भगवान्‌ने 'परा प्रकृति' (सातवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) और 'अपना अंश' (पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) कहा है।

'**सर्वाणीत्युपधारय**'—'स्वर्गलोक, मृत्युलोक, पाताललोक आदि सम्पूर्ण लोकोंके जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे सब-के-सब अपरा और परा प्रकृतिके

*** 'एतद्योनीनि भूतानि' पदोंका अर्थ है—'एते अपरा-परे योनी कारणे येषां तानि' अर्थात् 'अपरा और परा—ये दो प्रकृतियाँ जिनकी कारण हैं, ऐसे सम्पूर्ण प्राणी'।**

संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य है कि परा प्रकृतिने अपराको अपना मान लिया है[1], उसका संग कर लिया है, इसीसे सब प्राणी पैदा होते हैं—इसको तुम धारण करो अर्थात् ठीक तरहसे समझ लो अथवा मान लो।

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'—मात्र वस्तुओंको सत्ता-स्फूर्ति परमात्मासे ही मिलती है, इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव (उत्पन्न करनेवाला) और प्रलय (लीन करनेवाला) हूँ।

'प्रभवः' का तात्पर्य है कि मैं ही इस जगत्का निमित्तकारण हूँ; क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि मेरे संकल्पसे[2] पैदा हुई है—**'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति'** (छान्दोग्य० ६। २। ३)।

जैसे घड़ा बनानेमें कुम्हार और सोनेके आभूषण बनानेमें सुनार ही निमित्तकारण है, ऐसे ही संसारमात्रकी उत्पत्तिमें भगवान् ही निमित्तकारण हैं।

'प्रलयः' कहनेका तात्पर्य है कि इस जगत्का उपादान-कारण भी मैं ही हूँ; क्योंकि कार्यमात्र उपादान-कारणसे उत्पन्न होता है; उपादान-कारण-रूपसे ही रहता है और अन्तमें उपादान-कारणमें ही लीन हो जाता है।

जैसे घड़ा बनानेमें मिट्टी उपादान-कारण है, ऐसे ही सृष्टिकी रचना करनेमें भगवान् ही उपादान-कारण हैं। जैसे घड़ा मिट्टीसे ही पैदा होता है, मिट्टीरूप ही रहता है और अन्तमें टूट करके घिसते-घिसते मिट्टी ही बन जाता है; और जैसे सोनेके यावन्मात्र आभूषण सोनेसे ही उत्पन्न होते हैं, सोनारूप ही रहते हैं और अन्तमें सोना ही रह जाते हैं, ऐसे ही यह संसार भगवान्से ही उत्पन्न होता है, भगवान्में ही रहता है और अन्तमें भगवान्में ही लीन हो जाता है। ऐसा जानना ही 'ज्ञान' है। सब कुछ भगवत्स्वरूप है, भगवान्के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं—ऐसा अनुभव हो जाना 'विज्ञान' है।

'कृत्स्नस्य जगतः' पदोंमें भगवान्ने अपनेको जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्का प्रभव और प्रलय बताया है। इसमें जड-(अपरा प्रकृति-)का प्रभव और प्रलय बताना तो ठीक है, पर चेतन-(परा प्रकृति अर्थात् जीवात्मा-)का उत्पत्ति और विनाश कैसे हुआ? क्योंकि वह तो नित्य तत्त्व है—**'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'** (गीता २। २४)। जो परिवर्तनशील है, उसको जगत् कहते हैं—**'गच्छतीति जगत्।'** पर यहाँ जगत् शब्द जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण संसारका वाचक है। इसमें जड-अंश तो परिवर्तनशील है और चेतन-अंश सदा-सर्वथा परिवर्तनरहित तथा निर्विकार है। वह निर्विकार तत्त्व जब जडके साथ अपना सम्बन्ध मानकर तादात्म्य कर लेता है, तब वह जड-(शरीर-) के उत्पत्ति-विनाशको अपना उत्पत्ति-विनाश मान लेता है। इसीसे उसके जन्म-मरण कहे जाते हैं। इसीलिये भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण जगत् अर्थात् अपरा और परा प्रकृतिका प्रभव तथा प्रलय बताया है।

अगर यहाँ 'जगत्' शब्दसे केवल नाशवान् परिवर्तन-शील और विकारी संसारको ही लिया जाय, चेतनको नहीं लिया जाय तो बड़ी बाधा लगेगी। भगवान्ने **'कृत्स्नस्य जगतः'** पदोंसे अपनेको सम्पूर्ण जगत्का कारण बताया है[3]। अतः सम्पूर्ण जगत्के अन्तर्गत स्थावर-जंगम, जड-चेतन सभी लिये जायँगे। अगर केवल जडको लिया जायगा तो चेतन-भाग छूट जायगा, जिससे 'मैं सम्पूर्ण जगत्का कारण हूँ' यह कहना नहीं बन सकेगा और आगे भी बड़ी बाधा लगेगी। कारण कि आगे इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि तीनों गुणोंसे मोहित जगत् मेरेको नहीं जानता, तो यहाँ जानना अथवा न जानना चेतनका ही हो सकता है, जडका जानना अथवा न जानना होता ही नहीं। इसलिये 'जगत्' शब्दसे केवल जडको ही नहीं, चेतनको भी लेना पड़ेगा।

१-इसमें एक विचित्र बात है कि सम्बन्ध केवल क्षेत्रज्ञने माना है, क्षेत्रने नहीं। यदि यह अपना सम्बन्ध न माने तो इसका पुनर्जन्म हो ही नहीं सकता; क्योंकि पुनर्जन्मका कारण गुणोंका संग ही है—'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।' (गीता १३। २१)

२-जीवोंके द्वारा किये हुए अनादिकालके कर्म जीवोंके प्रलयकालमें लीन होनेपर जब परिपक्व होते हैं अर्थात् फल देनेके लिये उन्मुख होते हैं, तब उससे (प्रलयका समय समाप्त होनेपर, सर्गके आदिमें) भगवान्का संकल्प होता है और उसी संकल्पसे शरीरोंकी उत्पत्ति होती है।

३-अपरा प्रकृति और भगवान्में तो कार्य-कारणका सम्बन्ध है; क्योंकि अपरा प्रकृति भगवान्का कार्य है। परन्तु परा प्रकृति और भगवान्में कार्य-कारणका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि परा प्रकृति (जीव) भगवान्का अंश है, कार्य नहीं। इसलिये अंश-अंशीकी दृष्टिसे ही भगवान् जीवके कारण कहे गये हैं, कार्य-कारणकी दृष्टिसे नहीं।

ऐसे ही सोलहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें भी आसुरी सम्पदावालोंकी मान्यताके अनुसार 'जगत्' शब्दसे जड और चेतन—दोनों ही लेने पड़ेंगे; क्योंकि आसुरी सम्पदावाले व्यक्ति सम्पूर्ण शरीरधारी जीवोंको असत्य मानते हैं, केवल जडको नहीं। इसलिये अगर वहाँ 'जगत्' शब्दसे केवल जड संसार ही लिया जाय तो जगत्‌को (जड संसारको) असत्य, मिथ्या और अप्रतिष्ठित कहनेवाले अद्वैत-सिद्धान्ती भी आसुरी सम्पदावालोंमें आ जायँगे, जो कि सर्वथा अनुचित है। ऐसे ही आठवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें आये **'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः'** पदोंमें 'जगत्' शब्द केवल जडका ही वाचक मानें तो जडकी शुक्ल और कृष्ण गतिका क्या तात्पर्य होगा? गति तो चेतनकी ही होती है। जडसे तादात्म्य करनेके कारण ही चेतनको 'जगत्' नामसे कहा गया है।

इन सब बातोंपर विचार करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जडके साथ एकात्मता करनेसे जीव 'जगत्' कहा जाता है। परन्तु जब यह जडसे विमुख होकर चिन्मय-तत्त्वके साथ अपनी एकताका अनुभव कर लेता है, तब यह 'योगी' कहा जाता है, जिसका वर्णन गीतामें जगह-जगह आया है।

परिशिष्ट भाव—जो न खुदको जान सके और न दूसरेको जान सके, वह 'अपरा प्रकृति' है। जो खुदको भी जान सके और दूसरेको भी जान सके, वह 'परा प्रकृति' है। इन अपरा और परा—दोनोंके माने हुए संयोगसे ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी पैदा होते हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

मूल दोष एक ही है, जो स्थानभेदसे अनेक रूपसे दीखता है, वह है—अपराके साथ सम्बन्ध। इस एक दोषसे ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं। यह एक दोष आ जाय तो सम्पूर्ण दोष आ जायँगे और यह एक दोष दूर हो जाय तो सम्पूर्ण दोष दूर हो जायँगे। इसी तरह मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण गुण प्रकट होते हैं, वह है—भगवान्‌के साथ सम्बन्ध।

अपराको चाहे नित्य मानें, चाहे अनित्य मानें, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध अनित्य है— यह सर्वसम्मत बात है। यह सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। यही संसारका बीज है।

मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ—इसका तात्पर्य है कि इस स्थावर-जंगमरूप जगत्‌को मैं ही उत्पन्न करनेवाला हूँ और मैं ही उत्पन्न होनेवाला हूँ; मैं ही नाश करनेवाला हूँ और मैं ही नष्ट होनेवाला हूँ; क्योंकि मेरे सिवाय संसारका दूसरा कोई भी कारण तथा कार्य नहीं है (इसी अध्यायका सातवाँ श्लोक) अर्थात् मैं ही इसका निमित्त तथा उपादान कारण हूँ। अतः जगत्-रूपसे मैं ही हूँ। नवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है—**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** अर्थात् 'अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः। त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

(११। २८। ६)

'जो कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हैं। जो कुछ सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसके निमित्त कारण भी वे ही हैं और उपादान कारण भी वे ही हैं अर्थात् वे ही विश्व बनाते हैं और वे ही विश्व बनते हैं। वे ही रक्षक हैं और वे ही रक्षित हैं। वे ही सर्वात्मा भगवान् इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में आया है कि अन्न भी मैं ही हूँ और अन्नको खानेवाला भी मैं ही हूँ—**'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।'** (३। १०। ६)

तात्पर्य यह हुआ कि अपरा और परा प्रकृति तथा उनके संयोगसे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण प्राणी—ये सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। कारण भी भगवान् हैं और कार्य भी!

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अपनेको परा और अपरा प्रकृतिरूप सम्पूर्ण जगत्‌का मूल कारण बताया। अब भगवान्‌के सिवाय भी जगत्‌का और कोई कारण होगा—इसका आगेके श्लोकमें निषेध करते हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

इसलिये—

धनञ्जय	= हे धनंजय!		(कारण तथा कार्य)		(पिरोयी हुई होती हैं,)
मत्तः	= मेरे	**न**	= नहीं	**इव**	= ऐसे ही
परतरम्	= सिवाय (इस जगत्‌का)	**अस्ति**	= है।	**इदम्**	= यह
अन्यत्	= दूसरा कोई	**मणिगणाः**	= (जैसे सूतकी) मणियाँ	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण जगत्
किञ्चित्	= किंचिन्मात्र भी	**सूत्रे**	= सूतके धागेमें	**मयि**	= मेरेमें (ही)
				प्रोतम्	= ओतप्रोत है।

व्याख्या—**'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय'**—हे अर्जुन! मेरे सिवाय दूसरा कोई कारण नहीं है, मैं ही सब संसारका महाकारण हूँ। जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही रहती है और आकाशमें ही लीन होती है अर्थात् आकाशके सिवाय वायुकी कोई पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ऐसे ही संसार भगवान्‌से उत्पन्न होता है, भगवान्‌में स्थित रहता है और भगवान्‌में ही लीन हो जाता है अर्थात् भगवान्‌के सिवाय संसारकी कोई पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

यहाँ **'परतरम्'** कहकर सबका मूल कारण बताया गया है। मूल कारणके आगे कोई कारण नहीं है अर्थात् मूल कारणका कोई उत्पादक नहीं है। भगवान् ही सबके मूल कारण हैं। यह संसार अर्थात् देश, काल, व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति आदि सभी परिवर्तनशील हैं। परन्तु जिसके होनेपनसे इन सबका होनापन दीखता है अर्थात् जिसकी सत्तासे ये सभी 'है' दीखते हैं, वह परमात्मा ही इन सबमें परिपूर्ण हैं।

भगवान्‌ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें कहा कि मैं विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिसको जाननेके बाद कुछ जानना बाकी नहीं रहेगा—**'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते'** और यहाँ कहते हैं कि मेरे सिवाय दूसरा कोई कारण नहीं है—**'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति'**। दोनों ही जगह **'न अन्यत्'** कहनेका तात्पर्य है कि जब मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं, तब मेरेको जाननेके बाद जानना कैसे बाकी रहेगा? अतः भगवान्‌ने यहाँ **'मयि सर्वमिदं प्रोतम्'** और आगे **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९) तथा **'सदसच्चाहम्'** (९। १९) कहा है।

जो कार्य होता है, वह कारणके सिवाय अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। वास्तवमें कारण ही कार्यरूपसे दीखता है। इस प्रकार जब कारणका ज्ञान हो जायगा, तब कार्य कारणमें लीन हो जायगा अर्थात् कार्यकी अलग सत्ता प्रतीत नहीं होगी और 'एक परमात्माके सिवाय अन्य कोई कारण नहीं है'—ऐसा अनुभव स्वतः हो जायगा।

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'—यह सारा संसार सूतमें सूतकी ही मणियोंकी तरह मेरेमें पिरोया हुआ है अर्थात् मैं ही सारे संसारमें अनुस्यूत (व्याप्त) हूँ। जैसे सूतसे बनी मणियोंमें और सूतमें सूतके सिवाय अन्य कुछ नहीं है; ऐसे ही संसारमें मेरे सिवाय अन्य कोई तत्त्व नहीं है। तात्पर्य है कि जैसे सूतमें सूतकी मणियाँ पिरोयी गयी हों तो दीखनेमें मणियाँ और सूत अलग-अलग दीखते हैं, पर वास्तवमें उनमें सूत एक ही होता है। ऐसे ही संसारमें जितने प्राणी हैं, वे सभी नाम, रूप, आकृति आदिसे अलग-अलग दीखते हैं, पर वास्तवमें उनमें व्याप्त रहनेवाला चेतन-तत्त्व एक ही है। वह चेतन-तत्त्व मैं ही हूँ—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'** (गीता १३। २) अर्थात् मणिरूप अपरा प्रकृति भी मेरा स्वरूप है और धागारूप परा प्रकृति भी मैं ही हूँ। दोनोंमें मैं ही परिपूर्ण हूँ, व्याप्त हूँ। साधक जब संसारको संसारबुद्धिसे देखता है, तब उसको संसारमें परिपूर्णरूपसे व्याप्त परमात्मा नहीं दीखते। जब उसको परमात्मतत्त्वका वास्तविक बोध हो जाता है, तब व्याप्य-व्यापक भाव मिटकर एक परमात्मतत्त्व ही दीखता है। इस तत्त्वको बतानेके लिये ही भगवान्‌ने यहाँ कारणरूपसे अपनी व्यापकताका वर्णन किया है।

परिशिष्ट भाव—जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई हों तो उनमें सूतके सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसे ही संसारमें भगवान्‌के सिवाय और कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि मणिरूप अपरा प्रकृति और धागारूप परा प्रकृति—दोनोंमें भगवान् ही परिपूर्ण हैं। मणियाँ बननेमें अपरा प्रकृतिकी मुख्यता है और धागा बननेमें परा प्रकृतिकी मुख्यता है। **'मणिगणाः'** पद बहुवचनमें देनेका तात्पर्य है कि अपरा प्रकृति स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, चौदह भुवन, चौरासी लाख योनियाँ आदि अनन्त रूपोंमें और अनन्त समुदायोंमें विभक्त है।

अपरा और पराका भेद 'अपरा' प्रकृतिके कारण ही है; क्योंकि अपराको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही जीव है (इसी अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। अतः अपरा प्रकृति जगत्‌में भी है और जीवमें भी। परन्तु परमात्मामें न अपरा है, न परा है; न जगत् है, न जीव है। तात्पर्य है कि वास्तवमें न धागा है, न मणियाँ हैं, प्रत्युत एक सूत (रुई) ही है। इसी तरह न अपरा है, न परा है, प्रत्युत एक परमात्मा ही हैं। इसी बातका भगवान्‌ने आगे बारहवें श्लोकतक वर्णन किया है। इस श्लोकमें आये '**मत्तः**' पदसे आरम्भ करके बारहवें श्लोकके '**मत्त एव**' पदोंतक भगवान्‌ने यही बात बतायी है कि मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है। यहाँ '**मत्तः**' पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंका मालिक है।

कारण ही कार्यमें परिणत होता है; जैसे, रुई ही धागा बनती है, बीज ही वृक्ष बनता है। अतः सबके परम कारण भगवान् होनेसे सब रूपोंमें भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्।**' इसलिये भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताको देखना भूल है।

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'—जो दोमें श्रेष्ठ हो, उसको 'परतर' कहते हैं। भगवान् अद्वितीय हैं, उनके सिवाय दूसरी कोई वस्तु ('पर') है ही नहीं, फिर वे 'परतर' कैसे हो सकते हैं? उनमें 'परतर' शब्द लागू ही नहीं होता। यहाँ भगवान्‌को अद्वितीय बतानेके लिये ही 'परतर' शब्द आया है। तात्पर्य है कि भगवान्‌से अन्य भी कुछ नहीं है और श्रेष्ठ भी कुछ नहीं है। उपनिषद्‌में आया है—

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठ० १। ३। ११)

'पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है। वही सबकी परम अवधि और वही परम गति है।'

अर्जुनने भी कहा है—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।

(गीता ११। ४३)

सम्बन्ध—जो कुछ कार्य दीखता है, उसके मूलमें परमात्मा ही हैं—यह ज्ञान करानेके लिये अब भगवान् आठवेंसे बारहवें श्लोकतकका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**प्रभा**	= प्रभा (प्रकाश)	**शब्दः**	= शब्द (और)
अप्सु	= जलोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ,	**नृषु**	= मनुष्योंमें
रसः	= रस	**सर्ववेदेषु**	= सम्पूर्ण वेदोंमें	**पौरुषम्**	= पुरुषार्थ (मैं हूँ)।
अहम्	= मैं हूँ,	**प्रणवः**	= प्रणव (ओंकार),		
शशिसूर्ययोः	= चन्द्रमा और सूर्यमें	**खे**	= आकाशमें		

व्याख्या—[जैसे साधारण दृष्टिसे लोगोंने रुपयोंको ही सर्वश्रेष्ठ मान रखा है तो रुपये पैदा करने और उनका संग्रह करनेमें लोभी आदमीकी स्वाभाविक रुचि हो जाती है। ऐसे ही देखने, सुनने, मानने और समझनेमें जो कुछ जगत् आता है, उसका कारण भगवान् हैं (सातवें अध्यायका छठा श्लोक); भगवान्‌के सिवाय उसकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—ऐसा माननेसे भगवान्‌में स्वाभाविक रुचि हो जाती है। फिर स्वाभाविक ही उनका भजन होता है। यही बात दसवें अध्यायके आठवें श्लोकमें कही है कि 'मैं सम्पूर्ण संसारका कारण हूँ, मेरेसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है'—ऐसा समझकर बुद्धिमान् मनुष्य मेरा भजन करते हैं। ऐसे ही अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें कहा है कि 'जिस परमात्मासे सम्पूर्ण जगत्‌की प्रवृत्ति होती है और जिससे सारा संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।' इसी सिद्धान्तको बतानेके लिये यह प्रकरण आया है।]

'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'—हे कुन्तीनन्दन! जलोंमें मैं 'रस' हूँ। जल रस-तन्मात्रासे[1] पैदा होता है; रस-तन्मात्रामें रहता है और रस-तन्मात्रामें ही लीन होता है। जलमेंसे अगर 'रस' निकाल दिया जाय तो जलतत्त्व कुछ नहीं रहेगा। अतः रस ही जलरूपसे है। वह रस मैं हूँ।

'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'—चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश करनेकी जो एक विलक्षण शक्ति 'प्रभा' है[2], वह मेरा स्वरूप है। प्रभा रूप-तन्मात्रासे उत्पन्न होती है, रूप-तन्मात्रामें रहती है और अन्तमें रूप-तन्मात्रामें ही लीन हो जाती है। अगर चन्द्रमा और सूर्यमेंसे प्रभा निकाल दी जाय तो चन्द्रमा और सूर्य निस्तत्त्व हो जायँगे। तात्पर्य है कि केवल प्रभा ही चन्द्र और सूर्यरूपसे प्रकट हो रही है। भगवान् कहते हैं कि वह प्रभा भी मैं ही हूँ।

'प्रणवः सर्ववेदेषु'—सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव (ओंकार) मेरा स्वरूप है। कारण कि सबसे पहले प्रणव प्रकट हुआ। प्रणवसे त्रिपदा गायत्री और त्रिपदा गायत्रीसे वेदत्रयी प्रकट हुई है। इसलिये वेदोंमें सार 'प्रणव' ही रहा। अगर वेदोंमेंसे प्रणव निकाल दिया जाय तो वेद वेदरूपसे नहीं रहेंगे। प्रणव ही वेद और गायत्रीरूपसे प्रकट हो रहा है। वह प्रणव मैं ही हूँ।

'शब्दः खे'—सब जगह यह जो पोलाहट दीखती है, यह आकाश है। आकाश शब्द-तन्मात्रासे पैदा होता है, शब्द-तन्मात्रामें ही रहता है और अन्तमें शब्द-तन्मात्रामें ही लीन हो जाता है। अतः शब्द-तन्मात्रा ही आकाश-रूपसे प्रकट हो रही है। शब्द-तन्मात्राके बिना आकाश कुछ नहीं है। वह शब्द मैं ही हूँ।

'पौरुषं नृषु'—मनुष्योंमें सार चीज जो पुरुषार्थ है, वह मेरा स्वरूप है। वास्तवमें नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव करना ही मनुष्योंमें असली पुरुषार्थ है। परन्तु मनुष्योंने अप्राप्तको प्राप्त करनेमें ही अपना पुरुषार्थ मान रखा है; जैसे—निर्धन आदमी धनकी प्राप्तिमें पुरुषार्थ मानता है, अपढ़ आदमी पढ़ लेनेमें पुरुषार्थ मानता है, अप्रसिद्ध आदमी अपना नाम विख्यात कर लेनेमें अपना पुरुषार्थ मानता है, इत्यादि। निष्कर्ष यह निकला कि जो अभी नहीं है, उसकी प्राप्तिमें ही मनुष्य अपना पुरुषार्थ मानता है। पर यह पुरुषार्थ वास्तवमें पुरुषार्थ नहीं है। कारण कि जो पहले नहीं थे, प्राप्तिके समय भी जिनका निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है और अन्तमें जो 'नहीं' में भरती हो जायँगे, ऐसे पदार्थोंको प्राप्त करना पुरुषार्थ नहीं है। परमात्मा पहले भी मौजूद थे, अब भी मौजूद हैं और आगे भी सदा मौजूद रहेंगे; क्योंकि उनका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये परमात्माको उत्साहपूर्वक प्राप्त करनेका जो प्रयत्न है, वही वास्तवमें पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति करनेमें ही मनुष्योंकी मनुष्यता है। उसके बिना मनुष्य कुछ नहीं है अर्थात् निरर्थक है।

परिशिष्ट भाव—छठे-सातवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण जगत्‌का कारण बताया है। इसलिये अब भगवान् आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक 'कारण'-रूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं। यद्यपि कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है, पर स्वतन्त्र सत्ता कारणकी ही होती है अर्थात् कारणके बिना कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। घड़ेमें जल भरा जा सकता है, पर यह विशेषता मिट्टीमें नहीं है। परन्तु मिट्टीके बिना घड़ेकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है। घड़ेकी रचनामें कर्ता, कारण और कार्य—तीनों एक नहीं होते अर्थात् कारण (मिट्टी) और कार्य-(घड़ा-) की तो एक सत्ता होती है, पर

१-पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन स्थूल पंचमहाभूतोंके कारणोंका नाम भी क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द है, जो 'पंचतन्मात्राएँ' कहलाती हैं। पंचतन्मात्राएँ इन्द्रियों और अन्तःकरणकी विषय नहीं हैं तथा केवल शास्त्रोंसे सुनकर मानी जाती हैं। पंचमहाभूतोंके कार्योंका नाम भी गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द है, जो इन्द्रियों और अन्तःकरणके विषय हैं।

२-रूप-तन्मात्रामें दो शक्तियाँ होती हैं—एक 'प्रकाशिका' अर्थात् प्रकाश करनेवाली और एक 'दाहिका' अर्थात् जलानेवाली। प्रकाशिका शक्तिको 'प्रभा' कहते हैं और दाहिका शक्तिको 'तेज' कहते हैं। 'प्रकाशिका शक्ति' दाहिका शक्तिके बिना भी रह सकती है (जैसे—मणि, चन्द्र आदिमें), पर 'दाहिका शक्ति' प्रकाशिका शक्तिके बिना नहीं रह सकती। यहाँ 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः' पदोंमें चन्द्रमा और सूर्यकी 'प्रकाशिका शक्ति' की प्रधानताको लेकर 'प्रभा' शब्दका प्रयोग हुआ है और आगे इसी अध्यायके नवें श्लोकमें 'तेजश्चास्मि विभावसौ' पदोंमें अग्निकी 'दाहिका शक्ति' की प्रधानताको लेकर 'तेज' शब्दका प्रयोग हुआ है।

सूर्य और अग्निमें प्रकाशिका और दाहिका—दोनों शक्तियाँ हैं। चन्द्रमामें प्रकाशिका शक्ति तो है, पर उसमें दाहिका शक्ति तिरस्कृत होकर 'सौम्य शक्ति' प्रकट हो गयी है, जो कि शीतलता देनेवाली है।

कर्ता-(कुम्हार-) की अलग (स्वतन्त्र) सत्ता होती है। परन्तु सृष्टिकी रचनामें कर्ता, कारण और कार्य—तीनों एक भगवान् ही होते हैं। अत: रस भी भगवान् हैं और जल भी भगवान् हैं। प्रभा भी भगवान् हैं और चन्द्र-सूर्य भी भगवान् हैं। ओंकार भी भगवान् हैं और वेद भी भगवान् हैं। शब्द भी भगवान् हैं और आकाश भी भगवान् हैं। पुरुषार्थ भी भगवान् हैं और मनुष्य भी भगवान् हैं।

[मिट्टी तो घड़ेके रूपमें परिणत होती है, पर परमात्मा संसारके रूपमें परिणत नहीं होते। कारण कि परिणत होनेवाली वस्तु विकारी होती है, जबकि परमात्मा निर्विकार हैं। अत: जैसे अँधेरेमें रस्सी ही साँपके रूपमें दीखती है अथवा साँप ही कुण्डलीरूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा संसाररूपमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मामें कार्य-कारणका भेद नहीं है; क्योंकि उनके सिवाय अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। कार्य-कारणका भेद मनुष्योंकी दृष्टिमें ही है। इसलिये मनुष्योंको समझानेके लिये अन्य वस्तुकी कुछ-न-कुछ सत्ता मानकर ही परमात्माका वर्णन, विवेचन, विचार, चिन्तन, प्रश्नोत्तर आदि किया जाता है—'**नोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।**']

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

पृथिव्याम्	= पृथ्वीमें	**तेजः**	= तेज	**जीवनम्**	= जीवनीशक्ति (मैं हूँ)
पुण्यः	= पवित्र	**अस्मि**	= मैं हूँ	**च**	= और
गन्धः	= गन्ध (मैं हूँ)	**च**	= तथा	**तपस्विषु**	= तपस्वियोंमें
च	= और	**सर्वभूतेषु**	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें	**तपः**	= तपस्या
विभावसौ	= अग्निमें			**अस्मि**	= मैं हूँ।

व्याख्या—'**पुण्यो गन्धः पृथिव्याम्**'—पृथ्वी गन्ध-तन्मात्रासे उत्पन्न होती है, गन्ध-तन्मात्रारूपसे रहती है और गन्ध-तन्मात्रामें ही लीन होती है। तात्पर्य है कि गन्धके बिना पृथ्वी कुछ नहीं है। भगवान् कहते हैं पृथ्वीमें वह पवित्र गन्ध मैं हूँ।

यहाँ गन्धके साथ '**पुण्यः**' विशेषण देनेका तात्पर्य है कि गन्धमात्र पृथ्वीमें रहती है। उसमें पुण्य अर्थात् पवित्र गन्ध तो पृथ्वीमें स्वाभाविक रहती है, पर दुर्गन्ध किसी विकृतिसे प्रकट होती है।

'**तेजश्चास्मि विभावसौ**'—तेज रूप-तन्मात्रासे प्रकट होता है, उसीमें रहता है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाता है। अग्निमें तेज ही तत्त्व है। तेजके बिना अग्नि निस्तत्त्व है, कुछ नहीं है। वह तेज मैं ही हूँ।

'**जीवनं सर्वभूतेषु**'—सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक जीवनीशक्ति है, प्राणशक्ति है, जिससे सब जी रहे हैं। उस प्राणशक्तिसे वे प्राणी कहलाते हैं। प्राणशक्तिके बिना उनमें प्राणिपना कुछ नहीं है। प्राणशक्तिके कारण गाढ़ नींदमें सोता हुआ आदमी भी मुर्दे-से विलक्षण दीखता है। वह प्राणशक्ति मैं ही हूँ।

'**तपश्चास्मि तपस्विषु**'—द्वन्द्वसहिष्णुताको तप कहते हैं। परन्तु वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये कितने ही कष्ट आयें, उनमें निर्विकार रहना ही असली तप है। यही तपस्वियोंमें तप है, इसीसे वे तपस्वी कहलाते हैं और इसी तपको भगवान् अपना स्वरूप बताते हैं। अगर तपस्वियोंमेंसे ऐसा तप निकाल दिया जाय तो वे तपस्वी नहीं रहेंगे।

परिशिष्ट भाव—सृष्टिकी रचनामें भगवान् ही कर्ता हैं, भगवान् ही कारण हैं और भगवान् ही कार्य हैं। अत: गन्ध और पृथ्वी, तेज और अग्नि, जीवनीशक्ति और प्राणी, तपस्या और तपस्वी—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं। कारण कि परा और अपरा—दोनों ही भगवान्की शक्ति होनेसे भगवान्से अभिन्न हैं। अत: परा-अपराके संयोगसे पैदा होनेवाली सम्पूर्ण सृष्टि भगवत्स्वरूप ही है।

'**पुण्यो गन्धः**'—गन्ध-तन्मात्रा कारण है और पृथ्वी उसका कार्य है। गन्धको पवित्र कहनेका तात्पर्य है कि कारण (तन्मात्रा) सदा पवित्र ही होता है। अपवित्रता कार्यमें विकृति होनेसे ही आती है। अत: जैसे गन्ध-तन्मात्रा पवित्र है, ऐसे ही शब्द, स्पर्श, रूप और रस-तन्मात्रा भी पवित्र समझनी चाहिये।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**माम्**	= मुझे	**तेजस्विनाम्**	= तेजस्वियोंमें
सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	**विद्धि**	= जान।	**तेजः**	= तेज
सनातनम्	= अनादि	**बुद्धिमताम्**	= बुद्धिमानोंमें	**अहम्**	= मैं
बीजम्	= बीज	**बुद्धिः**	= बुद्धि (और)	**अस्मि**	= हूँ।

व्याख्या—**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि* पार्थ सनातनम्'**—हे पार्थ! सम्पूर्ण प्राणियोंका सनातन (अविनाशी) बीज मैं हूँ अर्थात् सबका कारण मैं ही हूँ। सम्पूर्ण प्राणी बीजरूप मेरेसे उत्पन्न होते हैं, मेरेमें ही रहते हैं और अन्तमें मेरेमें ही लीन होते हैं। मेरे बिना प्राणीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

जितने बीज होते हैं, वे सब वृक्षसे उत्पन्न होते हैं और वृक्ष पैदा करके नष्ट हो जाते हैं। परन्तु यहाँ जिस बीजका वर्णन है, वह बीज 'सनातन' है अर्थात् आदि-अन्तसे रहित (अनादि एवं अनन्त) है। इसीको नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अव्यय बीज' कहा गया है। यह चेतन-तत्त्व अव्यय अर्थात् अविनाशी है। यह स्वयं विकाररहित रहते हुए ही सम्पूर्ण जगत्का उत्पादक, आश्रय और प्रकाशक है तथा जगत्का कारण है।

गीतामें 'बीज' शब्द कहीं भगवान् और कहीं जीवात्मा—दोनोंके लिये आया है। यहाँ जो 'बीज' शब्द आया है, वह भगवान्का वाचक है; क्योंकि यहाँ कारणरूपसे विभूतियोंका वर्णन है। दसवें अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें विभूतिरूपसे आया 'बीज' शब्द भी भगवान्का ही वाचक है; क्योंकि वहाँ उनको सम्पूर्ण प्राणियोंका कारण कहा गया है। नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'बीज' शब्द भगवान्के लिये आया है; क्योंकि उसी अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें **'सदसच्चाहमर्जुन'** पदमें कहा गया है कि कार्य और कारण सब मैं ही हूँ। सब कुछ भगवान् ही होनेसे 'बीज' शब्द भगवान्का वाचक है। चौदहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें **'अहं बीजप्रदः पिता'** 'मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ'—ऐसा होनेसे वहाँ 'बीज' शब्द जीवात्माका वाचक है। 'बीज' शब्द जीवात्माका वाचक तभी होता है, जब यह जडके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, नहीं तो यह भगवान्का स्वरूप ही है।

'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'—बुद्धिमानोंमें बुद्धि मैं हूँ। बुद्धिके कारण ही वे बुद्धिमान् कहलाते हैं। अगर उनमें बुद्धि न रहे तो उनकी बुद्धिमान् संज्ञा ही नहीं रहेगी।

'तेजस्तेजस्विनामहम्'—तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ। यह तेज दैवी-सम्पत्तिका एक गुण है। तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंमें एक विशेष तेज—शक्ति रहती है, जिसके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारी मनुष्य भी सद्गुण-सदाचारी बन जाते हैं। यह तेज भगवान्का ही स्वरूप है।

विशेष बात

भगवान् ही सम्पूर्ण संसारके कारण हैं, संसारके रहते हुए भी वे सबमें परिपूर्ण हैं और सब संसारके मिटनेपर भी वे रहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सब कुछ भगवान् ही हैं। इसके लिये उपनिषदोंमें सोना, मिट्टी और लोहेका दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे सोनेसे बने हुए सब गहने सोना ही हैं, मिट्टीसे बने हुए सब बर्तन मिट्टी ही हैं और लोहेसे बने हुए सब अस्त्र-शस्त्र लोहा ही हैं, ऐसे ही भगवान्से उत्पन्न हुआ सब संसार भगवान् ही है। परन्तु गीतामें भगवान्ने बीजका दृष्टान्त दिया है कि सम्पूर्ण संसारका बीज मैं हूँ। बीज वृक्षसे पैदा होता है और वृक्षको पैदा करके स्वयं नष्ट हो जाता है अर्थात् बीजसे अंकुर निकल आता है, अंकुरसे वृक्ष हो जाता है और बीज स्वयं मिट जाता है। परन्तु भगवान्ने अपनेको संसारमात्रका बीज कहते हुए भी यह एक विलक्षण बात बतायी कि मैं अनादि बीज हूँ, पैदा हुआ बीज नहीं हूँ—**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'** (७। १०), और मैं अविनाशी बीज हूँ—**'बीजमव्ययम्'** (९। १८)। अविनाशी बीज कहनेका

*** इसी अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने 'उपधारय' कहा और यहाँ 'विद्धि' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मात्र संसारमें साररूपसे मैं ही हूँ—इस बातको समझो और समझकर धारण करो। समझकर धारण करनेसे असली प्रेम जाग्रत् हो जाता है।**

मतलब यह है कि संसार मेरेसे पैदा हो जाता है, पर मैं मिटता नहीं हूँ, जैसा-का-तैसा ही रहता हूँ।

सोना, मिट्टी और लोहेके दृष्टान्तमें गहनोंमें सोना दीखता है, बर्तनोंमें मिट्टी दीखती है और अस्त्र-शस्त्रोंमें लोहा दीखता है, पर संसारमें परमात्मा दीखते नहीं। अगर बीजका दृष्टान्त लें तो वृक्षमें बीज नहीं दीखता। जब वृक्षमें बीज आता है, तब पता लगता है कि इस वृक्षमें ऐसा बीज है, जिससे यह वृक्ष पैदा हुआ है। सम्पूर्ण वृक्ष बीजसे ही निकलता है और बीजमें ही समाप्त हो जाता है। वृक्षका आरम्भ बीजसे होता है और अन्त भी बाजमें ही होता है अर्थात् वह वृक्ष चाहे सौ वर्षोंतक रहे, पर उसकी अन्तिम परिणति बीजमें ही होगी, बीजके सिवाय और क्या होगा? ऐसे ही भगवान् संसारके बीज हैं अर्थात् भगवान्से ही संसार उत्पन्न होता है और भगवान्में ही लीन हो जाता है। अन्तमें एक भगवान् ही बाकी रहते हैं—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)।

वृक्ष दीखते हुए भी 'यह बीज ही है'—ऐसा जो जानते हैं, वे वृक्षको ठीक-ठीक जानते हैं और जो बीजको न देखकर केवल वृक्षको देखते हैं, वे वृक्षके तत्त्वको नहीं जानते। भगवान् यहाँ '**बीजं मां सर्वभूतानाम्**' कहकर सबको यह ज्ञान कराते हैं कि तुम्हारेको जितना यह संसार दीखता है, इसके पहले मैं ही था, मैं एक ही प्रजारूपसे बहुत रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ—'**बहु स्यां प्रजायेय**' (छान्दोग्य० ६। २। ३) और इनके समाप्त होनेपर मैं ही रह जाता हूँ। तात्पर्य है कि पहले मैं ही था और पीछे मैं ही रहता हूँ तो बीचमें भी मैं ही हूँ।

यह संसार पांचभौतिक भी उन्हींको दीखता है, जो विचार करते हैं, नहीं तो यह पांचभौतिक भी नहीं दीखता। जैसे कोई कह दे कि ये अपने सब-के-सब शरीर पार्थिव (पृथ्वीसे पैदा होनेवाले) हैं, इसलिये इनमें मिट्टीकी प्रधानता है तो दूसरा कहेगा कि ये मिट्टी कैसे हैं? मिट्टीसे तो हाथ धोते हैं, मिट्टी तो रेता होती है; अतः ये शरीर मिट्टी नहीं हैं। इस तरह शरीर मिट्टी होता हुआ भी उसको मिट्टी नहीं दीखता। परन्तु यह जितना संसार दीखता है, इसको जलाकर राख कर दिया जाय तो अन्तमें एक मिट्टी ही हो जाता है।

विचार करें कि इन शरीरोंके मूलमें क्या है? माँ-बापमें जो रज-वीर्यरूप अंश होता है, जिससे शरीर बनता है, वह अंश अन्नसे पैदा होता है। अन्न मिट्टीसे पैदा होता है। अतः ये शरीर मिट्टीसे ही पैदा होते हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही लीन हो जाते हैं। अन्तमें शरीरकी तीन गतियाँ होती हैं—चाहे जमीनमें गाड़ दिया जाय, चाहे जला दिया जाय और चाहे पशु-पक्षी खा जायँ। तीनों ही उपायोंसे वह अन्तमें मिट्टी हो जाता है। इस तरह पहले और आखिरमें मिट्टी होनेसे बीचमें भी शरीर या संसार मिट्टी ही है। परन्तु बीचमें यह शरीर या संसार देखनेमें मिट्टी नहीं दीखता। विचार करनेसे ही मिट्टी दीखता है, आँखोंसे नहीं। इसी तरह यह संसार विचार करनेसे परमात्मस्वरूप दीखता है। विचार करें तो जब भगवान्ने यह संसार रचा तो कहींसे कोई सामान नहीं मँगवाया, जिससे संसारको बनाया हो और बनानेवाला भी दूसरा नहीं हुआ है। भगवान् आप ही संसारको बनानेवाले हैं और आप ही संसार बन गये। शरीरोंकी रचना करके आप ही उनमें प्रविष्ट हो गये—'**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ६)। इन शरीरोंमें जीवरूपसे भी वे ही परमात्मा हैं। अतः यह संसार भी परमात्माका स्वरूप ही है।

परिशिष्ट भाव—अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज कहनेका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियोंके रूपमें मैं ही हूँ। सृष्टि अनन्त है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं। परन्तु उन अनन्त जीवोंका बीज (परमात्मा) एक ही है। अनन्त सृष्टि पैदा होनेपर भी उस बीजमें कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि वह अव्यय है—'**बीजमव्ययम्**' (गीता ९। १८)। उस एक ही बीजसे अनेक प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न होती है (गीता—दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक)। बीजको कितनी ही सूक्ष्म दृष्टिसे देखें, उसमें फल-फूल-पत्ते आदि नहीं दीखेंगे; क्योंकि वे उस बीजमें कारणरूपसे विद्यमान हैं। उस बीजसे पैदा होनेवाले वृक्षके दो पत्ते भी आपसमें नहीं मिलते—यह अनेकता भी उस एक बीजमें ही रहती है।

सृष्टिकी एक-एक वस्तुमें अनेक भेद हैं। विभिन्न देशोंमें मनुष्योंकी अनेक जातियाँ हैं। उनमें भी इतना भेद है कि दो मनुष्योंके अँगूठेकी रेखाएँ भी परस्पर नहीं मिलतीं। उनके रूप, स्वभाव, रुचि, प्रकृति, मान्यता, भाव आदि भी परस्पर नहीं मिलते। गाय, भैंस, भेंड़, बकरी, घोड़ा, ऊँट, कुत्ता आदिकी अनेक जातियाँ हैं और उनकी एक-एक जातिमें भी अनेक भेद हैं। वृक्षोंमें भी एक-एक वृक्षकी अनेक जातियाँ होती हैं। एक-एक विद्याको देखें तो उसमें इतने भेद हैं कि उनका अन्त नहीं आता। मूल रंग तीन हैं, पर उनके मिश्रणसे अनेक रंग बन जाते हैं। उनमें भी एक-एक रंगमें इतने

भेद हैं कि दो व्यक्तियोंको भी एक रंग समानरूपसे नहीं दीखता। इस प्रकार सृष्टिमें एक समान दीखनेवाली दो चीजें भी वास्तवमें समान नहीं होतीं। इतनी अनेकता होनेपर भी सृष्टिका बीज एक ही है। तात्पर्य है कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं और अनेक रूपोंमें प्रकट होनेपर भी एक ही रहते हैं।[1]

भगवान् देश, काल आदि सभी दृष्टियोंसे अनन्त हैं। जब भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टिका भी अन्त नहीं आ सकता तो फिर भगवान्‌का अन्त आ ही कैसे सकता है? आजतक भगवान्‌के विषयमें जो कुछ सोचा गया है, जो कुछ कहा गया है, जो कुछ लिखा गया है, जो कुछ माना गया है, वह पूरा-का-पूरा मिलकर भी अधूरा है। इतना ही नहीं, भगवान् भी अपने विषयमें पूरी बात नहीं कह सकते, अगर कह दें तो अनन्त कैसे रहेंगे?

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!		रागसे रहित	**धर्माविरुद्धः**	= धर्मसे अविरुद्ध (धर्मयुक्त)
बलवताम्	= बलवानोंमें	**बलम्**	= बल		
कामराग-विवर्जितम्	= काम और	**अहम्**	= मैं हूँ	**कामः**	= काम
		च	= और	**अस्मि**	= मैं हूँ।
		भूतेषु	= प्राणियोंमें		

व्याख्या—**'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्'**—कठिन-से-कठिन काम करते हुए भी अपने भीतर एक कामना-आसक्तिरहित शुद्ध, निर्मल उत्साह रहता है। काम पूरा होनेपर भी 'मेरा कार्य शास्त्र और धर्मके अनुकूल है तथा लोकमर्यादाके अनुसार सन्तजनानुमोदित है'—ऐसे विचारसे मनमें एक उत्साह रहता है। इसका नाम 'बल' है। यह बल भगवान्‌का ही स्वरूप है। अतः यह बल ग्राह्य है।

गीतामें भगवान्‌ने खुद ही बलकी व्याख्या कर दी है। सत्रहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें **'कामरागबलान्विताः'** पदमें आया बल कामना और आसक्तिसे युक्त होनेसे दुराग्रह और हठका वाचक है। अतः यह बल भगवान्‌का स्वरूप नहीं है, प्रत्युत आसुरी सम्पत्ति होनेसे त्याज्य है। ऐसे ही **'सिद्धोऽहं बलवान्सुखी'** (गीता १६। १४) और **'अहङ्कारं बलं दर्पम्'** (गीता १६। १८; १८। ५३) पदोंमें आया बल भी त्याज्य है। छठे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें **'बलवद्दृढम्'** पदमें आया बल शब्द मनका विशेषण है। वह बल भी आसुरी सम्पत्तिका ही है; क्योंकि उसमें कामना और आसक्ति है। परन्तु यहाँ (७। ११में) जो बल आया है, वह कामना और आसक्तिसे रहित है, इसलिये यह सात्त्विक उत्साहका वाचक है और ग्राह्य है। सत्रहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें **'आयुःसत्त्वबलारोग्य....'** पदमें आया बल शब्द भी इसी सात्त्विक बलका वाचक है।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'—हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! मनुष्योंमें[2] धर्मसे अविरुद्ध अर्थात् धर्मयुक्त 'काम'[3] मेरा स्वरूप है। कारण कि शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुसार शुभ-भावसे केवल सन्तान-उत्पत्तिके लिये जो काम होता है, वह काम मनुष्यके अधीन होता है। परंतु आसक्ति, कामना, सुखभोग आदिके लिये जो काम होता है, उस काममें मनुष्य पराधीन हो जाता है और उसके वशमें होकर वह न करनेलायक शास्त्रविरुद्ध काममें

१-प्राणियोंमें अनेकता होनेपर भी उनमें परस्पर प्रेमकी एकता होनी चाहिये। जैसे काँटा पैरमें गड़ता है, पर आँसू नेत्रोंमें आते हैं, ऐसा ही भाव सम्पूर्ण प्राणियोंमें रहना चाहिये—'सर्वभूतहिते रताः' (गीता ५। २५, १२। ४)। एकमात्र प्रेम ही ऐसी चीज है, जिसमें कोई भेद नहीं रहता। प्रेमका भेद नहीं कर सकते। प्रेममें सब एक हो जाते हैं। ज्ञानमें तत्त्वभेद तो नहीं रहता, पर मतभेद रहता है। प्रेममें मतभेद भी नहीं रहता। अतः प्रेमसे आगे कुछ भी नहीं है। प्रेमसे त्रिलोकीनाथ भगवान् भी वशमें हो जाते हैं।

२-धर्मका विधान मनुष्योंके लिये ही है; क्योंकि मनुष्येतर प्राणियोंमें धर्मकी मर्यादा लागू ही नहीं होती।

३-तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिस कामको सम्पूर्ण पापोंका हेतु बताया है, उस कामका वाचक यहाँ 'काम' शब्द नहीं है। यहाँ 'काम' शब्द गृहस्थधर्मके पालनका वाचक है।

प्रवृत्त हो जाता है। शास्त्रविरुद्ध काम पतनका तथा सम्पूर्ण पापों और दुःखोंका हेतु होता है।

कृत्रिम उपायोंसे सन्तति-निरोध कराकर केवल भोग-बुद्धिसे काममें प्रवृत्त होना महान् नरकोंका दरवाजा है। जो सन्तानकी उत्पत्ति कर सके, वह 'पुरुष' कहलाता है और जो गर्भ धारण कर सके, वह 'स्त्री' कहलाती है[1]। अगर पुरुष और स्त्री आपरेशनके द्वारा अपनी सन्तानोत्पत्ति करनेकी योग्यता-(पुरुषत्व और स्त्रीत्व-) को नष्ट कर देते हैं, वे दोनों ही हिंजड़े कहलानेयोग्य हैं। नपुंसक होनेके कारण देवकार्य (हवन-पूजन आदि) और पितृकार्य (श्राद्ध-तर्पण)-में उनका अधिकार नहीं रहता[2]। स्त्रीमें मातृशक्ति नष्ट हो जानेके कारण उसके लिये परम आदरणीय एवं प्रिय 'माँ' सम्बोधनका प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह या तो शास्त्र और लोकमर्यादाके अनुसार केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये कामका सेवन करे अथवा ब्रह्मचर्यका पालन करे।

परिशिष्ट भाव—जंगम सृष्टिमात्र कामसे पैदा होती है। अतः मनुष्यमें जो काम धर्मसे विरुद्ध नहीं है, मर्यादाके अनुसार है, वह काम भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान् पहले कह चुके हैं—**'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति'** (७। ७) और आगे भी कहेंगे—**'ये चैव सात्त्विका भावा०'** (७। १२), **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। अतः जैसे धर्मयुक्त काम भगवान्‌का स्वरूप है, ऐसे ही धर्मविरुद्ध काम भी भगवान्‌से अलग नहीं है। जो धर्मविरुद्ध कामका आचरण करते हैं, उनको नरकरूपसे भगवान् मिलते हैं; क्योंकि नरक भी भगवान् ही हैं! परन्तु गीताका उद्देश्य मनुष्यको नरकोंमें अथवा जन्म-मरणमें भेजना नहीं है, प्रत्युत उसका कल्याण करना है। उद्देश्य सदा कल्याणका, आनन्दका ही होता है, दुःखका नहीं। दुःख कोई भी नहीं चाहता। अर्जुनने भी कल्याणकी बात पूछी है[3]। उदाहरणार्थ, शब्द अच्छे भी होते हैं और बुरे भी, पर व्याकरणमें अच्छे शब्दोंपर ही विचार किया जाता है; क्योंकि व्याकरण आदि भी मनुष्यके उद्धारके लिये हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

और तो क्या कहूँ—

ये	= जितने	**च**	= तथा	**विद्धि**	= समझो।
एव	= भी	**तामसाः**	= तामस (भाव हैं, वे सब)	**तु**	= परन्तु
सात्त्विकाः	= सात्त्विक			**अहम्**	= मैं
भावाः	= भाव हैं (और)	**मत्तः**	= मुझसे	**तेषु**	= उनमें (और)
ये	= जितने	**एव**	= ही होते हैं—	**ते**	= वे
च	= भी	**इति**	= ऐसा	**मयि**	= मुझमें
राजसाः	= राजस	**तान्**	= उनको	**न**	= नहीं हैं।

व्याख्या—**'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये'**—ये जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव (गुण, पदार्थ और क्रिया) हैं, वे भी मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सृष्टिमात्रमें जो कुछ हो रहा है, मूलमें सबका आश्रय, आधार और प्रकाशक भगवान् ही हैं अर्थात् सब भगवान्‌से ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं।

सात्त्विक, राजस और तामस भाव भगवान्‌से ही होते हैं, इसलिये इनमें जो कुछ विलक्षणता दीखती है, वह सब भगवान्‌की ही है; अतः मनुष्यकी दृष्टि भगवान्‌की तरफ ही जानी चाहिये, सात्त्विक आदि भावोंकी तरफ नहीं। यदि

१-**'स्त्यै शब्दसंघातयोः।' स्त्यायतः—संगते भवतः अस्यां शुक्रशोणिते इति स्त्री। (सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा)।**
२-**अंगहीनाश्रोत्रियषण्ढशूद्रवर्जम्। (कात्यायनश्रौतसूत्र १। १। ५)**
३-**'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता २। ७)**
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ (गीता ३। २)
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ (गीता ५। १)

उसकी दृष्टि भगवान्‌की तरफ जायगी तो वह मुक्त हो जायगा और यदि उसकी दृष्टि सात्त्विक आदि भावोंकी तरफ जायगी तो वह बँध जायगा।

सात्त्विक, राजस और तामस—इन भावोंके (गुण, पदार्थ और क्रियामात्रके) अतिरिक्त कोई भाव है ही नहीं। ये सभी भगवत्स्वरूप ही हैं। यहाँ शंका होती है कि अगर ये सभी भगवत्स्वरूप ही हैं तो हमलोग जो कुछ करें, वह सब भगवत्स्वरूप ही होगा, फिर ऐसा करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये—यह विधि-निषेध कहाँ रहा? इसका समाधान यह है कि मनुष्यमात्र सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता। अनुकूल परिस्थिति विहित-कर्मोंका फल है और प्रतिकूल परिस्थिति निषिद्ध-कर्मोंका फल है। इसलिये कहा जाता है कि विहितकर्म करो और निषिद्धकर्म मत करो। अगर निषिद्धको भगवत्स्वरूप मानकर करोगे तो भगवान् दुःखों और नरकोंके रूपमें प्रकट होंगे। जो अशुभ कर्मोंकी उपासना करता है, उसके सामने भगवान् अशुभरूपसे ही प्रकट होते हैं; क्योंकि दुःख और नरक भी तो भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

जहाँ करने और न करनेकी बात होती है, वहीं विधि और निषेध लागू होता है। अतः वहाँ विहित ही करना चाहिये, निषिद्ध नहीं करना चाहिये। परंतु जहाँ मानने और जाननेकी बात होती है, वहाँ परमात्माको ही 'मानना' चाहिये और अपनेको अथवा संसारको 'जानना' चाहिये।

जहाँ माननेकी बात है, वहाँ परमात्माको ही मानकर उनके मिलनेकी उत्कण्ठा बढ़ानी चाहिये। उनको प्राप्त और प्रसन्न करनेके लिये उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये तथा उनकी आज्ञा और सिद्धान्तोंके विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये। भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध कार्य करेंगे तो उनको प्रसन्नता कैसे होगी? और विरुद्ध कार्य करनेवालेको उनकी प्राप्ति कैसे होगी? जैसे, किसी मनुष्यके मनके विरुद्ध काम करनेसे वह राजी कैसे होगा और प्रेमसे कैसे मिलेगा?

जहाँ जाननेकी बात है, वहाँ संसारको जानना चाहिये। जो उत्पत्ति-विनाशशील है, सदा साथ रहनेवाला नहीं है, वह अपना नहीं है और अपने लिये भी नहीं है—ऐसा जानकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिये। उसमें कामना, ममता, आसक्ति नहीं करनी चाहिये। उसका महत्त्व हृदयसे उठा देना चाहिये। इससे सत्-तत्त्व प्रत्यक्ष हो जायगा और जानना पूर्ण हो जायगा। असत् (नाशवान्) वस्तु हमारे साथ रहनेवाली नहीं है—ऐसा समझनेपर भी अगर समय-समयपर उसको महत्त्व देते रहेंगे तो वास्तविकता (सत्-वस्तु)-की प्राप्ति नहीं होगी।

'मत्त एवेति तान्विद्धि'—उन सबको तू मेरेसे ही उत्पन्न होनेवाला समझ अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ। कार्य और कारण—ये दोनों भिन्न दीखते हुए भी कार्य कारणसे अपनी भिन्न एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। अतः कार्य कारणरूप ही होता है। जैसे, सोनेसे गहने पैदा होते हैं तो वे सोनेसे अलग नहीं होते अर्थात् सोना ही होते हैं। ऐसे ही परमात्मासे पैदा होनेवाली अनन्त सृष्टि परमात्मासे भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं रख सकती।

'मत्त एव' कहनेका तात्पर्य है कि अपरा और परा प्रकृति मेरा स्वभाव है; अतः कोई उनको मेरेसे भिन्न सिद्ध नहीं कर सकता। सातवें अध्यायके परिशिष्टरूप नवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि 'कल्पके आदिमें प्रकृतिको वशमें करके मैं बार-बार सृष्टिकी रचना करता हूँ' (नवें अध्यायका आठवाँ श्लोक) और आगे कहते हैं कि मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर संसारको रचती है' (नवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)—ये दोनों बातें एक ही हुईं। चाहे प्रकृतिको लेकर भगवान् रचना करें, चाहे भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति रचना करे—इन दोनोंका तात्पर्य एक ही है। भगवान् रचना करते हैं तो प्रकृतिको लेकर ही करते हैं, तो मुख्यता भगवान्‌की ही हुई और प्रकृति भगवान्‌की अध्यक्षतामें रचना करती है, तो भी मुख्यता भगवान्‌की ही हुई। इसी बातको यहाँ कहा है कि 'मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव और प्रलय हूँ (सातवें अध्यायका छठा श्लोक), और इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि 'सात्त्विक, राजस और तामस—ये भाव मेरेसे ही होते हैं।'

भगवान्‌ने विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके जाननेवालेकी दुर्लभता बताते हुए जो प्रकरण आरम्भ किया, उसमें अपरा और परा प्रकृतिका कथन किया। अपरा और परा प्रकृतियोंको सम्पूर्ण प्राणियोंका कारण बताया; क्योंकि इनके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं। फिर अपनेको इन अपरा और पराका कारण बताया—**'मत्तः परतरं नान्यत्'** (७। ७)। यही बात विभूतियोंके वर्णनका उपसंहार करते हुए यहाँ कही है कि सात्त्विक, राजस और तामस भावोंको मेरेसे ही होनेवाला जान।

'न त्वहं तेषु ते मयि'—मैं उनमें नहीं हूँ और वे मेरेमें नहीं हैं। तात्पर्य है कि उन गुणोंकी मेरे सिवाय कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अर्थात् मैं-ही-मैं हूँ; मेरे सिवाय और कुछ है

ही नहीं। वे सात्त्विक, राजस और तामस जितने भी प्राकृत पदार्थ और क्रियाएँ हैं, वे सब-के-सब उत्पन्न और नष्ट होते हैं। परन्तु मैं उत्पन्न भी नहीं होता और नष्ट भी नहीं होता। अगर मैं उनमें होता तो उनका नाश होनेपर मेरा भी नाश हो जाता; परन्तु मेरा कभी नाश नहीं होता, इसलिये मैं उनमें नहीं हूँ। अगर वे मेरेमें होते तो मैं जैसा अविनाशी हूँ, वैसे वे भी अविनाशी होते; परंतु वे तो नष्ट होते हैं और मैं रहता हूँ, इसलिये वे मेरेमें नहीं हैं।

जैसे बीज ही वृक्ष, शाखाएँ, पत्ते, फूल आदिके रूपमें होता है; परंतु वृक्ष, शाखाएँ, पत्ते आदिमें बीजको खोजेंगे तो उनमें बीज नहीं मिलेगा। कारण कि बीज उनमें तत्त्व-रूपसे विद्यमान रहता है। ऐसे ही सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं; परन्तु उन भावोंमें मेरेको खोजोगे तो उनमें मैं नहीं मिलूँगा (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। कारण कि मैं उनमें मूलरूपसे और तत्त्वरूपसे विद्यमान हूँ। अत: मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ।

जैसे, बादल आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, आकाशमें ही रहते हैं और आकाशमें ही लीन होते हैं; परंतु आकाश ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है। न आकाशमें बादल रहते हैं और न बादलोंमें आकाश रहता है। ऐसे ही आठवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जितनी (सत्रह) विभूतियाँ बतायी गयी हैं, वे सब मेरेसे ही उत्पन्न होती हैं, मेरेमें ही रहती हैं और मेरेमें ही लीन हो जाती हैं। परंतु वे मेरेमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ। मेरे सिवाय उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस दृष्टिसे सब कुछ मैं ही हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के सिवाय जितने सात्त्विक, राजस और तामस भाव अर्थात् प्राकृत पदार्थ और क्रियाएँ दिखायी देती हैं, उनकी सत्ता मानकर और उनको महत्ता देकर ये मनुष्य उनमें फँस रहे हैं। अत: भगवान् उन मनुष्योंका लक्ष्य इधर कराते हैं कि इन सब पदार्थों और क्रियाओंमें सत्ता और महत्ता मेरी ही है।

विशेष बात

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले तरह-तरहके जितने भाव (प्राकृत पदार्थ और क्रियाएँ) हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌की शक्ति प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं। परंतु प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न होनेके कारण इन गुणोंको भगवान्‌ने **'मत्त एव'** 'मेरेसे ही होते हैं'—ऐसा कहा है। तात्पर्य यह कि प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न होनेसे ये सभी भाव भगवान्‌से उत्पन्न होते हैं और भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं, पर परा प्रकृति (जीवात्मा-) ने इनके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया अर्थात् इनको अपना और अपने लिये मान लिया—यही परा प्रकृतिद्वारा जगत्‌को धारण करना है। इसीसे वह जन्मता-मरता रहता है। अब उस बन्धनका निवारण करनेके लिये यहाँ कहते हैं कि सात्त्विक, राजस और तामस—ये सब भाव मेरेसे ही होते हैं। इसी रीतिसे दसवें अध्यायमें कहा है—**'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'** (१०। ५) अर्थात् प्राणियोंके ये अलग-अलग प्रकारवाले (बीस) भाव मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं; और **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** (१०। ८) अर्थात् सबका प्रभव मैं हूँ और सब मेरेसे प्रवृत्त होते हैं। पंद्रहवें अध्यायमें भी कहा है कि स्मृति, ज्ञान आदि सब मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं—**'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'** (१५। १५)। जब सब कुछ परमात्मासे ही उत्पन्न होता है, तब मनुष्यके साथ उन गुणोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने साथ गुणोंका सम्बन्ध न माननेसे यह मनुष्य बँधता नहीं अर्थात् वे गुण उसके लिये जन्म-मरणके कारण नहीं बनते।

गीतामें जहाँ भक्तिका वर्णन है, वहाँ भगवान् कहते हैं कि सब कुछ मैं ही हूँ—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (९। १९) और अर्जुन भी भगवान्‌के लिये कहते हैं कि आप सत् और असत् भी हैं तथा उनसे पर भी हैं—**'सदसत्तत्परं यत्'** (११। ३७)। ज्ञानी (प्रेमी) भक्तके लिये भी भगवान् कहते हैं कि उसकी दृष्टिमें सब कुछ वासुदेव ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। कारण यह है कि भक्तिमें श्रद्धा और मान्यताकी मुख्यता होती है तथा भगवान्‌में दृढ़ अनन्यता होती है। भक्तिमें अन्यका अभाव होता है। जैसे उत्तम पतिव्रताको एक पतिके सिवाय संसारमें दूसरा कोई पुरुष दीखता ही नहीं, ऐसे ही भक्तको एक भगवान्‌के सिवाय और कोई दीखता ही नहीं, केवल भगवान् ही दीखते हैं।

गीतामें जहाँ ज्ञानका वर्णन है, वहाँ भगवान् बताते हैं कि सत् और असत्—दोनों अलग-अलग हैं—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (२। १६)। ऐसे ही ज्ञानमार्गमें शरीर-शरीरी, देह-देही, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष—दोनोंको अलग-अलग जाननेकी बात बहुत बार आयी है; जैसे—**'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी**

उभावपि' (१३। १९); '**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्**' (१३। २); '**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्**' (१३। २६); '**क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नम्**' (१३। ३३); '**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा**' (१३। ३४)। कारण यह है कि ज्ञानमार्गमें विवेककी प्रधानता होती है। अत: वहाँ नित्य-अनित्य, अविनाशी-विनाशी आदिका विचार होता है और फिर अपना स्वरूप बिलकुल निर्लिप्त है—ऐसा बोध होता है।

साधकमें श्रद्धा और विवेक—दोनों ही रहने चाहिये। भक्तिमार्गमें श्रद्धाकी मुख्यता होती है और ज्ञानमार्गमें विवेककी मुख्यता होती है। ऐसा होनेपर भी भक्तिमार्गमें विवेकका और ज्ञानमार्गमें श्रद्धाका अभाव नहीं है। भक्ति-मार्गमें मानते हैं कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव भगवान्‌से ही होते हैं (सातवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक) और ज्ञानमार्गमें मानते हैं कि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसे ही होते हैं—'**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः**' (१४। ५)। दोनों ही साधक अपनेमें निर्विकारता मानते हैं कि ये गुण अपने नहीं हैं; और दोनों ही जहाँ एक तत्त्वको प्राप्त होते हैं, वहाँ न द्वैत कह सकते हैं, न अद्वैत; न सत् कह सकते हैं, न असत्।

भक्तिमार्गवाले भगवान्‌के साथ अनन्य प्रेमसे अभिन्न होकर प्रकृतिसे सर्वथा रहित हो जाते हैं और ज्ञानमार्गवाले प्रकृति एवं पुरुषका विवेक करके प्रकृतिसे बिलकुल असम्बद्ध अपने स्वरूपका साक्षात् अनुभव करके प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' (७। ७) का विस्तार करते हुए भगवान्‌ने पिछले चार श्लोकोंमें जो बात कही है और जो बात नहीं कही है, वह सब-की-सब बात उपसंहाररूपसे भगवान्‌ने इस श्लोकमें कह दी है। भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं, मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं, तथापि मैं इनमें नहीं हूँ और ये मेरेमें नहीं हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ। अत: मेरी प्राप्ति चाहनेवाले साधककी दृष्टि इन भावोंकी तरफ न जाकर मेरी तरफ ही जानी चाहिये। अगर वह उन भावोंमें ही उलझ जायगा तो कभी मुक्त अथवा भक्त नहीं हो सकेगा।

देखने, सुनने, समझने आदिमें जो भी भाव आते हैं और जो नहीं आते, वे सब-के-सब '**ये**' पदके अन्तर्गत समझने चाहिये।

भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण यहाँ सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंको 'भाव' नामसे कहा गया है। तात्पर्य है कि भगवान् भाव (सत्ता)-रूप हैं[1]; अत: उनसे भाव ही उत्पन्न होगा, अभाव कैसे उत्पन्न होगा? भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सब भाव भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—'**भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः**' (गीता १०। ५)। तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं[2]। मनकी स्फुरणामात्र चाहे अच्छी हो या बुरी, भगवान् ही हैं। संसारमें अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध, शत्रु-मित्र, दुष्ट-सज्जन, पापात्मा-पुण्यात्मा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, कहने, सोचने, समझने आदिमें आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है।

अपना कुछ स्वार्थ रखें, लेनेकी इच्छा रखें, तभी सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद होते हैं। यदि अपना कुछ स्वार्थ न रखें और दूसरेके हितकी दृष्टि रखें तो ये भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इनको अपने लिये मानना, इनसे सुख लेना ही पतनका कारण है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)।

'तीनों गुण मेरेसे ही प्रकट होते हैं'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि साधककी दृष्टि इन गुणोंकी तरफ न जाकर मुझ गुणातीतकी तरफ ही जानी चाहिये, अर्थात् मेरी सत्ता और महत्ता मानकर मेरे ही साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये, जिससे मेरी प्राप्ति हो जाय और सदाके लिये दु:ख मिटकर महान् आनन्दका अनुभव हो जाय। 'मैं उनमें नहीं

१-'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' (गीता २। १६); 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' (गीता १४। १९); 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।' (गीता १८। २०)

२-मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

हूँ और वे मेरेमें नहीं हैं'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि अगर कोई मनुष्य मेरेको सत्ता और महत्ता न देकर सात्त्विक, राजस और तामस गुण, पदार्थ तथा क्रियाको सत्ता और महत्ता देकर उनके साथ सम्बन्ध जोड़ेगा तो वह मेरेको प्राप्त न होकर जन्म-मरणमें चला जायगा—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

'**मत्त एव**' पदोंका प्रयोग करके भगवान् मानो यह कहते हैं कि तीनों गुण मेरेसे ही होते हैं, फिर तुम मेरी तरफ न आकर गुणोंमें क्यों फँसते हो? जो गुणोंमें फँस जाते हैं, वे मेरा भजन नहीं कर सकते (गीता—इसी अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। परन्तु जो गुणोंमें नहीं फँसते, वे भक्त मेरा भजन करते हैं (गीता—सातवें अध्यायका सोलहवाँ और दसवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)। ये गुण टिकनेवाले नहीं हैं; क्योंकि कारण टिकता है, कार्य नहीं टिकता। जैसे सोना टिकता है, गहने नहीं टिकते; मिट्टी टिकती है, घड़ा नहीं टिकता, ऐसे ही भगवान् टिकते हैं, गुण नहीं टिकते। गुण तो परिवर्तनशील और मिटनेवाले हैं, पर भगवान् नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं। उनका न परिवर्तन होता है, न नाश। इसलिये भगवान्‌की प्राप्ति गुणोंसे नहीं होती, प्रत्युत गुणोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। अतः तमोगुणको रजोगुणसे और रजोगुणको सत्त्वगुणसे जीतकर गुणोंसे अतीत होना है।

यहाँ एक विशेष बात समझनेयोग्य है कि सगुण-साकार भगवान् भी वास्तवमें निर्गुण ही हैं; क्योंकि वे सत्त्व, रज और तमोगुणसे युक्त नहीं हैं, प्रत्युत ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि गुणोंसे युक्त हैं। इसलिये सगुण-साकार भगवान्‌की भक्तिको भी निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे रहित) बताया गया है; जैसे—'**मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्**', '**मन्निकेतं तु निर्गुणम्**', '**निर्गुणो मदपाश्रयः**', '**मत्सेवायां तु निर्गुणा**' (श्रीमद्भा० ११। २५। २४—२७)।

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर सात्त्विक-राजस-तामस भाव त्याज्य क्यों हैं?

उत्तर—जैसे जमीनमें जल सब जगह रहता है, पर उसका प्राप्ति-स्थान कुआँ है, ऐसे ही भगवान् सब जगह हैं, पर उनका प्राप्ति-स्थान यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) है—'**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**' (गीता ३। १५)। परन्तु सात्त्विक-राजस-तामस भाव भगवान्‌के प्राप्ति-स्थान नहीं हैं अर्थात् इनके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती (गीता—इसी अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। अतः ये साधकके लिये कामके नहीं हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है कि ये भाव मेरेसे होनेपर भी मैं इनमें और ये मेरेमें नहीं हैं।

जैसे, बाजरीकी खेतीमें बाजरी ही मुख्य होती है, पत्ती-डंठल नहीं। किसानका लक्ष्य केवल बाजरीको प्राप्त करनेका ही होता है। बाजरीको प्राप्त करनेके लिये वह खेतीको जल, खाद आदिसे पुष्ट करता है, जिससे बढ़िया बाजरी प्राप्त हो सके। ऐसे ही साधकका लक्ष्य भी केवल भगवान्‌का होना चाहिये, संसारका नहीं। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधकको संसारकी सेवा करनी चाहिये। सेवाके सिवाय संसारसे अपना कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। महत्त्व बाजरी (दाने-) का है, पत्ती-डंठलका नहीं; क्योंकि आरम्भमें भी बाजरी रहती है और अन्तमें भी बाजरी ही रहती है। बाजरी प्राप्त करनेके बाद जो शेष बचता है, वह (पत्ती-डंठल) बाजरीसे अलग न होनेपर भी अपने लिये किसी कामकी चीज नहीं है, प्रत्युत पशुओंके खानेकी चीज है। ऐसे ही सात्त्विक-राजस-तामस भाव मूढ़ (अविवेकी) मनुष्योंके लिये हैं। ये तीनों ही भाव मनुष्यको बाँधनेवाले हैं (गीता—चौदहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। इसलिये ये भाव भगवान्‌के रूप होते हुए भी स्वयंके लिये नहीं हैं, प्रत्युत विवेकपूर्वक सांसारिक व्यवहारके लिये हैं। जैसे, जहर भी भगवान्‌का रूप है, पर वह खानेके लिये नहीं है!

जैसे बाजरी (बीज)-से पत्ती-डंठल पैदा होनेपर भी पत्ती-डंठलमें बाजरी नहीं है और बाजरीमें पत्ती-डंठल नहीं है, ऐसे ही भगवान्‌से पैदा होनेपर भी सात्त्विक-राजस-तामस भावोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्‌में सात्त्विक-राजस-तामस भाव नहीं हैं।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने पहले बारहवें श्लोकमें कहा कि ये सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं, पर मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं। इस विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा निर्लिप्त हैं। ऐसे ही भगवान्‌का शुद्ध अंश यह जीव भी निर्लिप्त है। इसपर यह प्रश्न होता है कि यह जीव निर्लिप्त होता हुआ भी बँधता कैसे है? इसका विवेचन आगेके श्लोकमें करते हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

किन्तु—

एभिः	= इन	**इदम्**	= यह	**परम्**	= अतीत
त्रिभिः	= तीनों	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण	**अव्ययम्**	= अविनाशी
गुणमयैः	= गुणरूप	**जगत्**	= जगत् (प्राणिमात्र)	**माम्**	= मुझे
भावैः	= भावोंसे			**न**	= नहीं
मोहितम्	= मोहित	**एभ्यः**	= इन गुणोंसे	**अभिजानाति**	= जानता।

व्याख्या—'**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः**''' **परमव्ययम्**'—सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न और लीन होती रहती हैं। उनके साथ तादात्म्य करके मनुष्य अपनेको सात्त्विक, राजस और तामस मान लेता है अर्थात् उनका अपनेमें आरोप कर लेता है कि 'मैं सात्त्विक, राजस और तामस हो गया हूँ।' इस प्रकार तीनों गुणोंसे मोहित मनुष्य ऐसा मान ही नहीं सकता कि मैं परमात्माका अंश हूँ। वह अपने अंशी परमात्माकी तरफ न देखकर उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वृत्तियोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है—यही उसका मोहित होना है। इस प्रकार मोहित होनेके कारण वह 'मेरा परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्ध है'—इसको समझ ही नहीं सकता।

यहाँ 'जगत्' शब्द जीवात्माका वाचक है। निरन्तर परिवर्तनशील शरीरके साथ तादात्म्य होनेके कारण ही यह जीव 'जगत्' नामसे कहा जाता है। तात्पर्य है कि शरीरके जन्मनेमें अपना जन्मना, शरीरके मरनेमें अपना मरना, शरीरके बीमार होनेमें अपना बीमार होना और शरीरके स्वस्थ होनेमें अपना स्वस्थ होना मान लेता है, इसीसे यह 'जगत्' नामसे कहा जाता है। जबतक यह शरीरके साथ अपना तादात्म्य मानेगा, तबतक यह जगत् ही रहेगा अर्थात् जन्मता-मरता ही रहेगा, कहीं भी स्थायी नहीं रहेगा।

गुणोंकी भगवान्‌के सिवाय अलग सत्ता माननेसे ही प्राणी मोहित होते हैं। अगर वे गुणोंको भगवत्स्वरूप मानें तो कभी मोहित हो ही नहीं सकते।

तीनों गुणोंका कार्य जो शरीर है, उस शरीरको चाहे अपना मान लें, चाहे अपनेको शरीर मान लें—दोनों ही मान्यताओंसे मोह पैदा होता है। शरीरको अपना मानना 'ममता' हुई और अपनेको शरीर मानना 'अहंता' हुई। शरीरके साथ अहंता-ममता करना ही मोहित होना है। मोहित हो जानेसे गुणोंसे सर्वथा अतीत जो भगवत्तत्त्व है, उसको नहीं जान सकता। यह उस भगवत्तत्त्वको तभी जान सकता है, जब त्रिगुणात्मक शरीरके साथ इसकी अहंता-ममता मिट जाती है। यह सिद्धान्त है कि मनुष्य संसारसे सर्वथा अलग होनेपर ही संसारको जान सकता है और परमात्मासे सर्वथा अभिन्न होनेपर ही परमात्माको जान सकता है। कारण इसका यह है कि त्रिगुणात्मक शरीरसे यह स्वयं सर्वथा भिन्न है और परमात्माके साथ यह स्वयं सर्वथा अभिन्न है।

अस्वाभाविकमें स्वाभाविक भाव होना ही मोहित होना है। जो प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले तीनों गुणोंसे परे हैं, अत्यन्त निर्लिप्त हैं और नित्य-निरन्तर एकरूप रहनेवाले हैं, ऐसे परमात्मा 'स्वाभाविक' हैं। परमात्माकी यह स्वाभाविकता बनायी हुई नहीं है, कृत्रिम नहीं है, अभ्याससाध्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। परंतु शरीर तथा संसारमें अहंता-ममता अर्थात् 'मैं' और 'मेरा'-भाव उत्पन्न हुआ है एवं नष्ट होनेवाला है, यह केवल माना हुआ है, इसलिये यह 'अस्वाभाविक' है। इस अस्वाभाविकको स्वाभाविक मान लेना ही मोहित होना है, जिसके कारण मनुष्य स्वाभाविकताको समझ नहीं सकता।

जीव पहले परमात्मासे विमुख हुआ या पहले संसारके सम्मुख (गुणोंसे मोहित) हुआ?—इसमें दार्शनिकोंका मत यह है कि परमात्मासे विमुख होना और संसारसे सम्बन्ध जोड़ना—ये दोनों अनादि हैं, इनका आदि नहीं है। अतः इनमें पहले या पीछेकी बात नहीं कही जा सकती। परन्तु मनुष्य यदि मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग न करे, उसे केवल भगवान्‌में ही लगाना शुरू कर दे तो यह संसारसे ऊपर उठ जाता है अर्थात् इसका जन्म-मरण मिट जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मनुष्य प्रभुकी दी हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके ही बन्धनमें पड़ा है। अपनी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके नष्ट होनेवाले पदार्थोंमें उलझ

जानेसे यह परमात्मतत्त्वको जान नहीं सकता।

'**परमव्ययम्**' पदसे भगवान् कहते हैं कि मैं इन गुणोंसे पर हूँ अर्थात् इन गुणोंसे सर्वथा रहित, असम्बद्ध, निर्लिप्त हूँ। मैं न कभी किसी गुणसे बँधा हुआ हूँ और न गुणोंके परिवर्तनसे मेरेमें कोई परिवर्तन ही होता है। ऐसे मेरे वास्तविक स्वरूपको गुणोंसे मोहित प्राणी नहीं जान सकते।

परिशिष्ट भाव—जो मनुष्य भगवान्को न देखकर सात्त्विक, राजस और तामस भावोंको ही देखता है, उनका भोग करता है, उनसे सुख लेता है, वह उन भावोंसे मोहित हो जाता है अर्थात् भगवान्की दुरत्यय गुणमयी मायासे बँध जाता है और फलस्वरूप बार-बार जन्मता-मरता है। तात्पर्य है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव (कर्म, पदार्थ, काल, स्वभाव, गुण आदि) अनित्य हैं और भगवान् नित्य हैं। जो अनित्यका भोग करते हैं, वे बँध जाते हैं; परन्तु जो अनित्यका त्याग करके नित्यस्वरूप भगवान्का आश्रय लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं (गीता—इसी अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)।

इस श्लोकमें जीवात्माके लिये 'जगत्' शब्द आया है। इसका तात्पर्य है कि जिसकी सत्ता विद्यमान है ही नहीं, उसको सत्ता और महत्ता देकर उससे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव भी जगत् हो जाता है! चेतन भी (चेतनताका दुरुपयोग करके) जड़ हो जाता है! उत्कृष्ट परा प्रकृति भी निकृष्ट अपरा प्रकृति बन जाती है! जीव जगत्के उत्पत्ति-विनाशको अपना उत्पत्ति-विनाश, जगत्के लाभ-हानिको अपना लाभ-हानि मान लेता है। जैसे मनुष्य कामनाके साथ अभिन्न होकर '**कामात्मानः**' अर्थात् कामना-रूप हो जाता है (गीता २। ४३) और भगवान्के साथ अभिन्न होकर '**मन्मयाः**' अर्थात् भगवद्रूप हो जाता है (गीता ४। १०), ऐसे ही जीव जगत्के साथ अभिन्न होकर जगत्-रूप हो जाता है। फर्क यही है कि भगवद्रूपसे वह नित्य है, पर कामनारूप या जगत्-रूपसे वह अनित्य है।

जीवने भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ताको माना, सत्ता मानकर उसको महत्त्व दिया, महत्त्व देकर उससे सम्बन्ध जोड़ा और सम्बन्ध जोड़कर अपनी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव कर लिया, इसलिये वह 'जगत्' बन गया! जो केवल जगत्की सत्ताको मानता है, वह अपनी सत्तासे विमुख होकर जगत् हो जाता है, जो अवास्तविक है और जो केवल भगवान्की सत्ताको मानता है, वह अपनी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यताको मिटाकर भगवान् हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २), जो वास्तविक है।

जीवको 'जगत्' कहनेका तात्पर्य है कि उसका चेतनताकी तरफ खयाल ही नहीं रहा, प्रत्युत जड़ शरीरको ही 'मैं' (अपना स्वरूप) और 'मेरा' मानने लग गया। जीव स्वरूपसे निर्गुण तथा अव्यय होनेपर भी 'जगत्' हो जानेके कारण सात्त्विक-राजस-तामस गुणोंसे बँध जाता है—'**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्**' (गीता १४। ५)। वास्तवमें अलौकिक परमात्माका अंश होनेसे जीव भी अलौकिक ही है (गीता—तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक), पर लौकिक जगत्को पकड़नेसे वह भी लौकिक हो जाता है! अहम्से लेकर पृथ्वीतक सब अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४)। अतः जैसे पृथ्वी जड़ है, ऐसे ही अहम् भी जड़ है। जब जीव अहम्को दृढ़तासे पकड़कर '**अहंकारविमूढात्मा**' हो जाता है अर्थात् अहम्को अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसका पतन होते-होते वह भी जड़ जगत् ही बन जाता है अर्थात् उसका चेतनपना लुप्त (विस्मृत) हो जाता है, उसको चेतनपनेका अनुभव नहीं होता।

जो गुणोंमें आसक्त नहीं होते, उनके सामने जड़ता रहती ही नहीं, इसलिये उनको सब जगह भगवान्-ही-भगवान् दीखते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। परन्तु जो गुणोंमें आसक्त होते हैं, उनको भगवान् दीखते ही नहीं, प्रत्युत संसार-ही-संसार दीखता है, इसलिये वे भगवान्को भी संसारी ही देखते हैं! वे गुणोंसे अतीत भगवान्को भी गुणोंसे बँधे हुए देखते हैं, अविनाशी भगवान्को भी जन्मने-मरनेवाला देखते हैं (गीता—इसी अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। भक्तकी दृष्टि तो भगवान्को छोड़कर दूसरी तरफ नहीं जाती, पर गुणोंमें आसक्त संसारी लोगोंकी दृष्टि संसारको छोड़कर दूसरी तरफ नहीं जाती। इसलिये भक्तको आनन्द-ही-आनन्द प्राप्त होता है और संसारी मनुष्यको दुःख-ही-दुख—'**दुःखालयम्**' (गीता ८। १५)।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें भगवान् अपनेको न जान सकनेमें हेतु बताते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

हि	= क्योंकि	**दुरत्यया**	= दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है।	**प्रपद्यन्ते**	= शरण होते हैं,
मम	= मेरी			**ते**	= वे
एषा	= यह	**ये**	= जो	**एताम्**	= इस
गुणमयी	= गुणमयी	**माम्**	= केवल मेरे	**मायाम्**	= मायाको
दैवी	= दैवी	**एव**	= ही	**तरन्ति**	= तर जाते हैं।
माया	= माया				

व्याख्या—**'दैवी ह्येषा गुणमयी* मम माया दुरत्यया'**—सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंवाली दैवी (देव अर्थात् परमात्माकी) माया बड़ी ही दुरत्यय है। भोग और संग्रहकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य इस मायासे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकते।

'दुरत्यय' कहनेका तात्पर्य है कि ये मनुष्य अपनेको कभी सुखी और कभी दु:खी, कभी समझदार और कभी बेसमझ, कभी निर्बल और कभी बलवान् आदि मानकर इन भावोंमें तल्लीन रहते हैं। इस तरह आने-जानेवाले प्राकृत भावों और पदार्थोंमें ही तादात्म्य, ममता, कामना करके उनसे बँधे रहते हैं और अपनेको इनसे रहित अनुभव नहीं कर सकते। यही इस मायामें दुरत्ययपना है।

यह गुणमयी माया तभी दुरत्यय होती है; जब भगवान्के सिवाय गुणोंकी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता मानी जाय। अगर मनुष्य भगवान्के सिवाय गुणोंकी अलग सत्ता और महत्ता नहीं मानेगा, तो वह इस गुणमयी मायासे तर जायगा।

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'—मनुष्योंमेंसे जो केवल मेरे ही शरण होते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि केवल मेरी ही तरफ रहती है, तीनों गुणोंकी तरफ नहीं। जैसा कि पहले वर्णन किया है, सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण न मेरेमें हैं और न मैं उनमें हूँ। मैं तो निर्लिप्त रहकर सभी कार्य करता हूँ। इस प्रकार जो मेरे स्वरूपको जानते हैं, वे गुणोंमें नहीं फँसते, इस मायासे तर जाते हैं। वे गुणोंका कार्य मन-बुद्धिका किंचिन्मात्र भी सहारा नहीं लेते। क्यों नहीं लेते? क्योंकि वे इस बातको जानते हैं कि प्रकृतिका कार्य होनेसे मन-बुद्धि भी तो प्रकृति हैं। प्रकृतिकी क्रियाशीलता प्रकृतिमें ही है। जैसे प्रकृति हरदम प्रलयकी तरफ जा रही है, ऐसे ही ये मन-बुद्धि भी तो प्रलयकी तरफ जा रहे हैं। अत: उनका सहारा लेना परतन्त्रता ही है। ऐसी परतन्त्रता बिलकुल न रहे और परा प्रकृति (जो कि परमात्माका अंश है) केवल परमात्माकी तरफ आकृष्ट हो जाय तथा अपरासे सर्वथा विमुख हो जाय—यही भगवान्के सर्वथा शरण होनेका तात्पर्य है।

यहाँ **'मामेव'** कहनेका तात्पर्य है कि वे अनन्यभावसे केवल मेरे ही शरण होते हैं; क्योंकि मेरे सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं।

कई साधक मेरे शरण तो हो जाते हैं; परन्तु केवल मेरे ही शरण नहीं होते। इसलिये कहा कि जो **'मामेव'**—केवल मेरी ही शरण लेते हैं, वे तर जाते हैं। मायाकी शरण न ले अर्थात् हमारे पास रुपये-पैसे, चीज-वस्तु आदि सब रहें, पर हम इनको अपना आधार न मानें, इनका आश्रय न लें, इनका भरोसा न करें, इनको महत्त्व न दें। इनका उपयोग करनेका हमें अधिकार है। इनपर कब्जा करनेका हमें अधिकार नहीं है। इनपर कब्जा कर लेना ही इनके आश्रित होना है। आश्रित होनेपर इनसे अलग होना कठिन मालूम देता है— यही वास्तवमें दुरत्ययपना है। इस दुरत्ययपनासे छूटनेके लिये ही उपाय बताते हैं—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते।'**

शरीर, इन्द्रियाँ आदि सामग्रीको अपनी और अपने लिये न मानकर, भगवान्की और भगवान्के लिये ही मानकर भगवान्के भजनमें, उनके आज्ञापालनमें लगा देना है। अपनेको इनसे कुछ नहीं लेना है। इनको भगवान्में लगा देनेका फल भी अपनेको नहीं लेना है; क्योंकि जब भगवान्की वस्तु सर्वथा भगवान्के अर्पण कर दी अर्थात् उसमें भूलसे जो अपनापन कर लिया था, वह हटा लिया, तब उस समर्पणका फल हमारा कैसे हो सकता है? यह सब सामग्री तो भगवान्की सेवाके लिये ही भगवान्से मिली है। अत: इसको उनकी सेवामें लगा देना हमारा कर्तव्य है,

*** भगवान् पहले बारहवें श्लोकमें यह कहकर आये हैं कि ये सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं। उसी बातको लेकर भगवान्ने यहाँ गुणमयी मायाको अपनी दैवी (अलौकिक) माया बताया है। पीछेके तेरहवें श्लोकमें जिन तीन गुणमय भावोंसे सम्पूर्ण जगत्को मोहित बताया था, उनको ही यहाँ 'एषा' पदसे कहा है। मायाको 'गुणमयी' कहनेका तात्पर्य है कि यह माया कार्यरूप है; क्योंकि गुण प्रकृतिके कार्य हैं और वे गुण ही जीवको बाँधते हैं, स्वयं प्रकृति नहीं।**

हमारी ईमानदारी है। इस ईमानदारीसे भगवान् बड़े प्रसन्न हो जाते हैं और उनकी कृपासे मनुष्य मायाको तर जाते हैं।

अपने पास अपनी करके कोई वस्तु है नहीं। भगवान्की दी हुई वस्तुओंको अपनी मानकर अपनेमें अभिमान किया था—यह गलती थी। भगवान्का तो बड़ा ही उदार एवं प्रेमभरा स्वभाव है कि वे जिस किसीको कुछ देते हैं, उसको इस बातका पता ही नहीं लगने देते कि यह भगवान्की दी हुई है, प्रत्युत जिसको जो कुछ मिला है, उसको वह अपनी और अपने लिये ही मान लेता है। यह भगवान्का देनेका एक विलक्षण ढंग है। उनकी इस कृपाको केवल भक्तलोग ही जान सकते हैं। परन्तु जो लोग भगवान्से विमुख होते हैं, वे सोच ही नहीं सकते कि इन वस्तुओंको हम सदा पासमें रख सकते हैं क्या? अथवा वस्तुओंके पास हम सदा रह सकते हैं क्या? इन वस्तुओंपर हमारा आधिपत्य चल सकता है क्या? इसलिये वे अनन्यभावसे भगवान्के शरण नहीं हो सकते।

इस श्लोकका भाव यह हुआ कि जो केवल भगवान्के ही शरण होते हैं अर्थात् जो केवल दैवी सम्पत्तिवाले होते हैं, वे भगवान्की गुणमयी मायाको तर जाते हैं। परन्तु जो भगवान्के शरण न होकर देवता आदिके शरण होते हैं अर्थात् जो केवल आसुरी सम्पत्तिवाले (प्राण-पिण्ड-पोषण-परायण, सुखभोग-परायण) होते हैं, वे भगवान्की गुणमयी मायाको नहीं तर सकते। ऐसे आसुर स्वभाववाले मनुष्य भले ही ब्रह्मलोकतक चले जायँ, तो भी उनको (ब्रह्म-लोकतक गुणमयी माया होनेसे) वहाँसे लौटना ही पड़ता है, जन्मना-मरना ही पड़ता है।

परिशिष्ट भाव—जब मनुष्य संसारसे विमुख होकर भगवान्की शरणागति स्वीकार कर लेता है, तब वह माया-(अपरा प्रकृतिके कार्य-)को तर जाता है अर्थात् उसके अहम्का सर्वथा नाश हो जाता है। भगवान्की शरणागति स्वीकार करनेका तात्पर्य है—भगवान्की सत्तामें ही अपनी सत्ता मिला दे अर्थात् केवल भगवान्की ही सत्ताको स्वीकार कर ले। न अपनी स्वतन्त्र सत्ता माने, न मायाकी स्वतन्त्र सत्ता माने। न अहम्का आश्रय ले, न माया-(गुणों-) का आश्रय ले। इसमें कोई परिश्रम, उद्योग नहीं है।

मायाको सत्ता मनुष्यने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५), '**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। अगर वह मायाको सत्ता न देकर केवल भगवान्की ही शरणमें रहता तो वह मायाको तर जाता अर्थात् उसके लिये मायाकी सत्ता रहती ही नहीं।

जीव जड़ताका आश्रय लेनेसे अर्थात् उसको अपना एवं अपने लिये माननेसे जड़तामें चला जाता है और जगत् बन जाता है (गीता—इसी अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। परन्तु भगवान्का आश्रय लेनेसे वह स्वतःसिद्ध चिन्मयतामें चला जाता है और भक्त हो जाता है। भक्त होनेपर जगत् लुप्त हो जाता है अर्थात् जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहता, प्रत्युत भगवत्स्वरूप हो जाता है, जो वास्तवमें है।

'**मामेव**' पदसे भगवान्का तात्पर्य है कि जीव मेरा ही **(मम एव)** अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७); अतः मेरे ही **(माम् एव)** शरण होनेसे वह मायाको तर जाता है। इसलिये मेरी शरण लेनेवाले भक्तोंका मेरे सिवाय अन्य किसीसे सम्बन्ध होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें मेरे (भगवान्के) सिवाय अन्य कोई होता ही नहीं। न तो उनकी दृष्टि दूसरेमें जाती है और न दूसरा उनकी दृष्टिमें आता है। उनकी दृष्टिमें अपरा प्रकृतिकी न तो सत्ता रहती है, न महत्ता रहती है और न अपनापन ही रहता है। उनकी केवल भगवद्बुद्धि हो जाती है, जो वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही है।

जिनमें विवेककी प्रधानता है, ऐसे भक्त अहम्का आश्रय छोड़कर अर्थात् संसारका त्याग करके भगवान्के आश्रित होते हैं। परन्तु जिनमें विवेककी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भगवान्में श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, ऐसे सीधे-सरल भक्त अहम्के साथ (जैसे हैं, वैसे ही) भगवान्के आश्रित हो जाते हैं। ऐसे भक्तोंके अहम्का नाश भगवान् स्वयं करते हैं (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह बताया कि मेरे शरण होनेवाले सभी मायासे तर जाते हैं। अतः सब-के-सब प्राणी मेरे शरण क्यों नहीं होते—इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

परन्तु—

मायया	= मायाके द्वारा	**भावम्**	= भावका	**दुष्कृतिनः**	= पाप-कर्म करनेवाले
अपहृतज्ञानाः	= जिनका ज्ञान हरा गया है, (वे)	**आश्रिताः**	= आश्रय लेनेवाले (और)	**मूढाः**	= मूढ़ मनुष्य
		नराधमाः	= मनुष्योंमें महान् नीच (तथा)	**माम्**	= मेरे
आसुरम्	= आसुर			**न, प्रपद्यन्ते**	= शरण नहीं होते।

व्याख्या—'**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः**'—जो दुष्कृती और मूढ़ होते हैं, वे भगवान्‌के शरण नहीं होते। दुष्कृती वे ही होते हैं, जो नाशवान्, परिवर्तनशील प्राप्त पदार्थोंमें 'ममता' रखते हैं और अप्राप्त पदार्थोंकी 'कामना' रखते हैं। कामना पूरी होनेपर 'लोभ' और कामनाकी पूर्तिमें बाधा लगनेपर 'क्रोध' पैदा होता है। इस तरह जो 'कामना' में फँसकर व्यभिचार आदि शास्त्र-निषिद्ध विषयोंका सेवन करते हैं, 'लोभ'में फँसकर झूठ, कपट, विश्वासघात, बेईमानी आदि पाप करते हैं और 'क्रोध' के वशीभूत होकर द्वेष, वैर आदि दुर्भावपूर्वक हिंसा आदि पाप करते हैं, वे 'दुष्कृती' हैं।

जब मनुष्य भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता मानकर उसको महत्त्व देते हैं, तभी कामना पैदा होती है। कामना पैदा होनेसे मनुष्य मायासे मोहित हो जाते हैं और 'हम जीते रहें तथा भोग भोगते रहें'—यह बात उनको जँच जाती है। इसलिये वे भगवान्‌के शरण नहीं होते, प्रत्युत विनाशी वस्तु, पदार्थ आदिके शरण हो जाते हैं।

तमोगुणकी अधिकता होनेसे सार-असार, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिकी तरफ ध्यान न देनेवाले भगवद्विमुख मनुष्य 'मूढ़' हैं। दुष्कृती और मूढ़ पुरुष परमात्माकी तरफ चलनेका निश्चय ही नहीं कर सकते, फिर वे परमात्माकी शरण तो हो ही कैसे सकते हैं?

'**नराधमाः**' कहनेका मतलब है कि वे दुष्कृती और मूढ़ मनुष्य पशुओंसे भी नीचे हैं। पशु तो फिर भी अपनी मर्यादामें रहते हैं, पर ये मनुष्य होकर भी अपनी मर्यादामें नहीं रहते हैं। पशु तो अपनी योनि भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आ रहे हैं और ये मनुष्य होकर (जिनको कि परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये मनुष्यशरीर दिया), पाप, अन्याय आदि करके नरकों और पशुयोनियोंकी तरफ जा रहे हैं। ऐसे मूढ़तापूर्वक पाप करनेवाले प्राणी नरकोंके अधिकारी होते हैं। ऐसे प्राणियोंके लिये भगवान्‌ने (गीता—सोलहवें अध्यायके उन्नीसवें-बीसवें श्लोकोंमें) कहा है कि 'द्वेष रखनेवाले, मूढ़, क्रूर और संसारमें नराधम पुरुषोंको मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ। वे आसुरी योनियोंको प्राप्त होकर फिर घोर नरकोंमें जाते हैं।'

'**माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः**'— भगवान्‌की जो तीनों गुणोंवाली माया है (गीता—सातवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक), उस मायासे विवेक ढक जानेके कारण जो आसुर भावको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राणोंका पोषण करनेमें लगे हुए हैं, वे मेरेसे सर्वथा विमुख ही रहते हैं। इसलिये वे मेरे शरण नहीं होते।

दूसरा भाव यह है कि जिनका ज्ञान मायासे अपहृत है, उनकी वृत्ति पदार्थोंके आदि और अन्तकी तरफ जाती ही नहीं। उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंको प्रत्यक्ष नश्वर देखते हुए भी वे रुपये-पैसे, सम्पत्ति आदिके संग्रहमें और मान, योग्यता, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदिमें ही आसक्त रहते हैं और उनकी प्राप्ति करनेमें ही अपनी बहादुरी और उद्योगकी सफलता, इतिश्री मानते हैं। इस कारण वे यह समझ ही नहीं सकते कि जो अभी नहीं है, उसकी प्राप्ति होनेपर भी अन्तमें वह 'नहीं' ही रहेगा और उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं रहेगा।

'असु' नाम प्राणोंका है। प्राणोंको प्रत्यक्ष ही आने-जानेवाले अर्थात् क्रियाशील और नाशवान् देखते हुए भी वे उन प्राणोंका पोषण करनेमें ही लगे रहते हैं। जीवन-निर्वाहमें काम आनेवाली सांसारिक वस्तुओंको ही वे महत्त्व देते हैं। उन वस्तुओंसे भी बढ़कर वे रुपये-पैसोंको महत्त्व देते हैं, जो कि स्वयं काममें नहीं आते, प्रत्युत वस्तुओंके द्वारा काममें आते हैं। वे केवल रुपयोंको ही आदर नहीं देते, प्रत्युत उनकी संख्याको बहुत आदर देते हैं। रुपयोंकी संख्या अभिमान बढ़ानेमें काम आती है। अभिमान सम्पूर्ण

आसुरी सम्पत्तिका आधार और सम्पूर्ण दु:खों एवं पापोंका कारण है*। ऐसे अभिमानको लेकर ही जो अपनेको मुख्य मानते हैं, वे आसुर भावको प्राप्त हैं।

विशेष बात

यहाँ भगवान्ने कहा है कि दुष्कृती मनुष्य मेरे शरण नहीं हो सकते और नवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कहा है कि सुदुराचारी मनुष्य भी अगर अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है तथा निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है—यह कैसे? इसका समाधान यह है कि वहाँ (९। ३०) में **'अपि चेत्'** पद आये हैं, जिनका अर्थ होता है—दुराचारीकी प्रवृत्ति परमात्माकी तरफ स्वाभाविक नहीं होती; परन्तु अगर वह भगवान्के शरण हो जाय, तो उसके लिये भगवान्की तरफसे मना नहीं है। भगवान्की तरफसे किसी भी जीवके लिये किंचिन्मात्र भी बाधा नहीं है; क्योंकि भगवान् प्राणिमात्रके लिये सम हैं। उनका किसी भी प्राणीमें राग-द्वेष नहीं होता (गीता—नवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी भगवान्के द्वेषका विषय नहीं है। सब प्राणियोंपर भगवान्का प्यार और कृपा समान ही है।

वास्तवमें दुराचारी अधिक दयाका पात्र है। कारण कि वह अपना ही महान् अहित कर रहा है, भगवान्का कुछ भी नहीं बिगाड़ रहा है। इसलिये किसी कारणवशात् कोई आफत आ जाय, बड़ा भारी संकट आ जाय और उसका कोई सहारा न रहे तो वह भगवान्को पुकार उठेगा। ऐसे ही किसी सन्तको उसने दु:ख दिया और संतके हृदयमें कृपा आ जाय तो उस सन्तकी कृपासे वह भगवान्में लग जाय अथवा किसी ऐसे स्थानमें चला जाय, जहाँ अच्छे-अच्छे बड़े विलक्षण दयालु महात्मा रह चुके हैं और उनके प्रभावसे उसका भाव बदल जाय अथवा किसी कारणवशात् उसका कोई पुराना विलक्षण पुण्य उदय हो जाय, तो वह अचानक चेत सकता है और भगवान्के शरण हो सकता है। ऐसा पापी पुरुष अगर भगवान्में लगता है तो बड़ी दृढ़तासे लगता है। कारण कि उसके भीतर कोई अच्छाई नहीं होती, इसलिये उसमें अच्छेपनका अभिमान नहीं होता।

तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवान्की व्यापकता और कृपा समान है। सदाचार और दुराचार तो उन प्राणियोंके किये हुए कार्य हैं। मूलमें तो वे प्राणी सदा भगवान्के शुद्ध अंश हैं। केवल दुराचारके कारण उनकी भगवान्में रुचि नहीं होती। अगर किसी कारणवशात् रुचि हो जाय, तो भगवान् उनके किये हुएको न देखकर उनको स्वीकार कर लेते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस १। २९। ३)

जैसे, माँका हृदय अपने सम्बन्धसे बालकोंपर समान ही रहता है। उनके सदाचार-दुराचारसे उनके प्रति माँका व्यवहार तो विषम होता है, पर हृदय विषम नहीं होता—**'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।'** माँ तो एक जन्मको और एक शरीरको देनेवाली होती है; परन्तु प्रभु तो सदा रहनेवाली माँ हैं। प्रभुका हृदय तो प्राणिमात्रपर सदैव द्रवित रहता ही है। प्राणी निमित्तमात्र भी शरण हो जाय तो प्रभु विशेष द्रवित हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

(मानस ५। ४८। १-२)

इसका तात्पर्य है कि जो चराचर प्राणियोंके साथ द्वेष करनेवाला है, वह अगर कहीं भी आश्रय न मिलनेसे भयभीत होकर सर्वथा मेरा ही आश्रय लेकर मेरे शरण हो जाता है, तो उसमें होनेवाले मद, मोह , कपट, नाना छल आदि दोषोंकी तरफ न देखकर, केवल उसके भावकी तरफ देखकर मैं उसको बहुत जल्दी साधु बना लेता हूँ।

धर्मका आश्रय रहनेसे धर्मात्मा पुरुषके भीतर अनन्यभाव होनेमें कठिनता रहती है। परन्तु दुरात्मा पुरुष जब किसी कारणसे भगवान्के सम्मुख होता है, तब उसमें किसी प्रकारके शुभकर्मका आश्रय न होनेसे केवल भगवत्-परायणताका ही बल रहता है। यह बल बहुत शीघ्र पवित्र करता है। कारण कि यह बल खुदका होता है अर्थात् किसी तरहका आश्रय न रहनेसे उसकी खुदकी पुकार होती है। इस पुकारसे भगवान् बहुत शीघ्र पिघल जाते हैं। ऐसी पुकार होनेमें पुण्यात्मा-पापात्मा, विद्वान्-मूर्ख, सुजाति-कुजाति आदिका होना कारण नहीं है, प्रत्युत संसारकी तरफसे सर्वथा निराश होना ही खास कारण है। यह निराशा हरेक मनुष्यको हो सकती है।

दूसरी बात, भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि दुष्कृती

* **संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥ (मानस ७। ७४। ३)**

पुरुष मेरे शरण नहीं होते; क्योंकि उनका स्वभाव मेरे विपरीत होता है। उनमेंसे अगर कोई मेरे शरण हो जाय, तो मैं उससे प्यार करनेके लिये हरदम तैयार हूँ। भगवान्‌की कृपालुता इतनी विलक्षण है कि भगवान् भी अपनी कृपाके परवश होकर जीवका शीघ्र कल्याण कर देते हैं। अतः यहाँके और वहाँके प्रसंगमें विरोध नहीं है, प्रत्युत इसमें भगवान्‌की कृपालुता ही प्रकट होती है।

सुकृती और दुष्कृती* का होना उनकी क्रियाओंपर निर्भर नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के सम्मुख और विमुख होनेपर निर्भर है। जो भगवान्‌के सम्मुख है, वह सुकृती है और जो भगवान्‌से विमुख है, वह दुष्कृती है। भगवान्‌के सम्मुख होनेका जैसा माहात्म्य है, वैसा माहात्म्य सकामभावपूर्वक किये गये यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि शुभ कर्मोंका भी नहीं है। यद्यपि यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ भी पवित्र हैं, पर जो अपनेको सर्वथा अयोग्य समझकर और अपनेमें किसी तरहकी पवित्रता न देखकर आर्तभावसे भगवान्‌के सम्मुख रो पड़ता है, उसकी पवित्रता भगवत्कृपासे बहुत जल्दी होती है। भगवत्कृपासे होनेवाली पवित्रता अनेक जन्मोंमें किये हुए शुभ कर्मोंकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण होती है। इसी तरहसे शुभ कर्म करनेवाले सुकृती भी शुभ कर्मोंका आश्रय छोड़कर भगवान्‌को पुकार उठते हैं, तो उनका भी शुभ कर्मोंका आश्रय न रहकर एक भगवान्‌का आश्रय हो जाता है। केवल भगवान्‌का ही आश्रय होनेके कारण वे भी भगवान्‌के प्यारे भक्त हो जाते हैं।

एक कृति होती है और एक भाव होता है। कृतिमें बाहरकी क्रिया होती है और भाव भीतरमें होता है। भावके पीछे उद्देश्य होता है और उद्देश्यके पीछे भगवान्‌की तरफ अनन्यता होती है। वह अनन्यता कृतियों और भावोंसे बहुत विलक्षण होती है; क्योंकि वह स्वयंकी होती है। उस अनन्यताके सामने कोई दुराचार टिक ही नहीं सकता। वह अनन्यता दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषको भी बहुत जल्दी पवित्र कर देती है। वास्तवमें यह जीव परमात्माका अंश होनेसे पवित्र तो है ही। केवल दुर्भावों और दुराचारोंके कारण ही इसमें अपवित्रता आती है।

परिशिष्ट भाव—जो मनुष्य भगवान्‌का आश्रय नहीं लेते, वे आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले होते हैं (गीता—नवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। उनकी दृष्टि संसार-(पदार्थ और क्रिया-) को छोड़कर दूसरी तरफ जाती ही नहीं। उनकी दृष्टिमें भगवान्‌की सत्ता ही नहीं होती, फिर भगवान्‌की शरण लेनेका प्रश्न ही नहीं उठता! भोग भोगना और संग्रह करना ही उनका अन्तिम लक्ष्य होता है—**'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः'** (गीता १६। ११)। उनका ज्ञान मायाके द्वारा अपहृत होनेसे वे मायाके वशमें होते हैं। मायाके वशमें होनेसे वे मायाको तर ही नहीं सकते।

'माययापहृतज्ञानाः' पदका तात्पर्य है कि मायाके कारण उन मनुष्योंकी विवेकशक्ति तिरस्कृत हो गयी है। वे मनुष्य मायामें ही रचे-पचे रहते हैं अर्थात् भोग भोगने और संग्रह करने, शरीरको सजाने, मकानकी सजावट करने आदिमें ही लगे रहते हैं। वे शरीरको सुख-आराम देनेवाली वस्तुओंका ही नया-नया अविष्कार करते रहते हैं और उसीको विशेष महत्त्व देते हैं। ऐसे अनित्य, परिवर्तनशील वस्तुओंको ही जाननेवाले लोग नित्य, अपरिवर्तनशील तत्त्वको कैसे जानें? क्योंकि उधर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं, जा सकती ही नहीं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि दुष्कृती पुरुष मेरे शरण नहीं होते। तो फिर शरण कौन होते हैं? इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

---

* यहाँ (७। १५ में) 'दुष्कृतिनः' कहकर बहुवचन दिया गया है और वहाँ (९। ३० में) 'सुदुराचारः' कहकर एकवचन दिया है। इसका तात्पर्य है कि बहुवचन देना सामान्य शास्त्र (सामान्य बात) है और एकवचन देना विशेष शास्त्र (विशेष बात) है। जहाँ सामान्य और विशेष शास्त्रकी तुलना होती है, वहाँ सामान्य शास्त्रसे विशेष शास्त्र बलवान् हो जाता है—'सामान्यशास्त्रो न्यूनं विशेषो बलवान् भवेत्।' इसलिये एकवचन बलवान् है।

दूसरी बात, जिसको अवकाश नहीं मिलता, वह विधि बलवान् होती है—'निरवकाशो विधिरपवादः।' इसका मतलब यह हुआ कि दुष्कृती भगवान्‌के शरण नहीं होते—यह उनका सामान्य स्वभाव बताया; परन्तु उनमेंसे कोई एक किसी कारण-विशेषसे भगवान्‌के शरण हो जाय तो भगवान्‌की तरफसे कृपाका दरवाजा खुला है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ (मानस ५। ४४। १)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

भरतर्षभ, अर्जुन	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**आर्तः**	=आर्त,	**चतुर्विधाः**	=चार प्रकारके
सुकृतिनः	=पवित्र कर्म करनेवाले	**जिज्ञासुः**	=जिज्ञासु	**जनाः**	=मनुष्य
अर्थार्थी	=अर्थार्थी,	**च**	=और	**माम्**	=मेरा
		ज्ञानी	=ज्ञानी अर्थात् प्रेमी—(ये)	**भजन्ते**	=भजन करते हैं अर्थात् मेरे शरण होते हैं।

व्याख्या—‘**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन**’—सुकृती पवित्रात्मा मनुष्य अर्थात् भगवत्-सम्बन्धी काम करनेवाले मनुष्य चार प्रकारके होते हैं। ये चारों मनुष्य मेरा भजन करते हैं अर्थात् स्वयं मेरे शरण होते हैं।

पूर्वश्लोकमें ‘**दुष्कृतिनः**’ पदसे भगवान्‌में न लगने-वाले मनुष्योंकी बात आयी थी। अब यहाँ ‘**सुकृतिनः**’ पदसे भगवान्‌में लगनेवाले मनुष्योंकी बात कहते हैं। ये सुकृती मनुष्य शास्त्रीय सकाम पुण्य-कर्म करनेवाले नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्‌से अपना सम्बन्ध जोड़कर भगवत्सम्बन्धी कर्म करनेवाले हैं। सुकृती मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—एक तो यज्ञ, दान, तप आदि और वर्ण-आश्रमके शास्त्रीय कर्म भगवान्‌के लिये करते हैं अथवा उनको भगवान्‌के अर्पण करते हैं और दूसरे भगवन्नामका जप तथा कीर्तन करना, भगवान्‌की लीला सुनना तथा कहना आदि केवल भगवत्सम्बन्धी कर्म करते हैं।

जिनकी भगवान्‌में रुचि हो गयी है, वे ही भाग्यशाली हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं और वे ही मनुष्य कहलानेयोग्य हैं। वह रुचि चाहे किसी पूर्व पुण्यसे हो गयी हो, चाहे आफतके समय दूसरोंका सहारा छूट जानेसे हो गयी हो, चाहे किसी विश्वसनीय मनुष्यके द्वारा समयपर धोखा देनेसे हो गयी हो, चाहे सत्संग, स्वाध्याय अथवा विचार आदिसे हो गयी हो, किसी भी कारणसे भगवान्‌में रुचि होनेसे वे सभी सुकृती मनुष्य हैं।

जब भगवान्‌की तरफ रुचि हो जाय, वही पवित्र दिन है, वही निर्मल समय है और वही सम्पत्ति है। जब भगवान्‌की तरफ रुचि नहीं होती, वही काला दिन है, वही विपत्ति है—

‘**कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥**’

(मानस ५। ३२। २)

भगवान्‌ने कृपा करके भगवत्प्राप्तिरूप जिस उद्देश्यको लेकर जिन्हें मानव-शरीर दिया है, वे ‘**जनाः**’ (जन) कहलाते हैं। भगवान्‌का संकल्प मनुष्यमात्रके उद्धारके लिये बना है; अतः मनुष्यमात्र भगवान्‌की प्राप्तिका अधिकारी है। तात्पर्य है कि उस संकल्पमें भगवान्‌ने मनुष्यको अपने उद्धारकी स्वतन्त्रता दी है, जो कि अन्य प्राणियोंको नहीं मिलती; क्योंकि वे भोगयोनियाँ हैं और यह मानवशरीर कर्मयोनि है। वास्तवमें केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही होनेके कारण मानव-शरीरको साधनयोनि ही मानना चाहिये। इसलिये इस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करके मनुष्य शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंको छोड़कर अगर भगवत्प्राप्तिके लिये ही लग जाय तो उसको भगवत्कृपासे अनायास ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है। परन्तु जो मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके विपरीत मार्गपर चलते हैं, वे नरकों और चौरासी लाख योनियोंमें जाते हैं। इस तरह सबके उद्धारके भावको लेकर भगवान्‌ने कृपा करके जो मानव-शरीर दिया है, उस शरीरको पाकर भगवान्‌का भजन करनेवाले सुकृती मनुष्य ही ‘**जनाः**’ अर्थात् मनुष्य कहलानेयोग्य हैं।

‘**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ**’—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् प्रेमी—ये चार प्रकारके भक्त भगवान्‌का भजन करते हैं अर्थात् भगवान्‌के शरण होते हैं।

(१) **अर्थार्थी भक्त**—जिनको अपनी न्याययुक्त सुख-सुविधाकी इच्छा हो जाती है अर्थात् धन-सम्पत्ति, वैभव आदिकी इच्छा हो जाती है, परन्तु उसको वे केवल भगवान्‌से ही चाहते हैं, दूसरोंसे नहीं, ऐसे भक्त अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं।

चार प्रकारके भक्तोंमें अर्थार्थी आरम्भिक भक्त होता है। पूर्व-संस्कारोंसे उसकी धनकी इच्छा रहती है और वह धनके लिये चेष्टा भी करता है, पर वह समझता है कि भगवान्‌के समान धनकी इच्छा पूरी करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। ऐसा समझकर वह धनप्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक भगवन्नामका जप-कीर्तन, भगवत्स्वरूपका ध्यान आदि

करता है। धन प्राप्त करनेके लिये उसका भगवान्पर ही विश्वास, निष्ठा होती है।

जिसको धनकी इच्छा तो है, पर उसकी प्राप्तिके लिये वह सांसारिक उपायोंका सहारा लेता है और कभी धनके लिये भगवान्को भी याद कर लेता है, वह केवल अर्थार्थी अर्थात् अर्थका भक्त है, भगवान्का भक्त नहीं है। कारण कि उसमें धनकी इच्छा ही मुख्य है। परन्तु जिसमें भगवान्के सम्बन्धकी मुख्यता है, वह क्रमशः भगवान्की तरफ ही बढ़ता चला जाता है। भगवान्में लगे रहनेसे उसकी धनकी इच्छा बहुत कम हो जाती है और समय पाकर मिट भी जाती है। यही भगवान्का अर्थार्थी भक्त है। इसमें मुख्यतया ध्रुवजीका नाम लिया जाता है।

एक दिन बालक ध्रुवके मनमें राजाकी गोदमें बैठनेकी इच्छा हुई, पर छोटी माँने बैठने नहीं दिया। उसने ध्रुवसे कहा कि 'तूने भजन नहीं किया है, तू अभागा है और अभागिनके यहाँ ही तूने जन्म लिया है; अतः तू राजाकी गोदमें बैठनेका अधिकारी नहीं है।' ध्रुवने छोटी माँकी कही हुई सब बात अपनी माँसे कह दी। माँने कहा कि 'बेटा! तेरी छोटी माँने ठीक ही कहा है; क्योंकि भजन न तूने किया और न मैंने ही किया।' इसपर ध्रुवने माँसे कहा कि 'माँ! अब तो मैं भजन करूँगा।' ऐसा कहकर वे भगवद्भजन करनेके लिये घरसे निकल पड़े और माँने भी बड़ी हिम्मत करके ध्रुवको जंगलमें जानेके लिये आज्ञा दे दी। रास्तेमें जाते हुए नारदजी महाराज मिल गये। नारदजीने ध्रुवसे कहा कि 'अरे भोले बालक! तू अकेला कहाँ जा रहा है? यों भगवान् जल्दी थोड़े ही मिलते हैं? तू जंगलमें कहाँ रहेगा? वहाँ बड़े-बड़े जंगली जानवर हैं। वे तेरेको खा जायँगे। वहाँ तेरी माँ थोड़े ही बैठी है! तू मेरे साथ चल। राजा मेरी बात मानते हैं। मैं तेरा और तेरी माँका प्रबन्ध करवा दूँगा।' नारदजीकी बातोंको सुनकर ध्रुवकी भगवद्भजनमें और दृढ़ता हो गयी कि देखो, भगवान्की तरफ चलनेसे नारदजी भी इतनी बात कहते हैं। अब ये मेरेको घर चलनेके लिये कहते हैं, पर पहले ये कहाँ गये थे! ध्रुवने नारदजीसे कहा कि 'महाराज! मैं तो अब भगवान्का भजन ही करूँगा।' ध्रुवजीका ऐसा दृढ़ निश्चय देखकर नारदजीने उनको द्वादशाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) दिया और चतुर्भुज भगवान् विष्णुका ध्यान बताकर मधुवनमें जाकर भजन करनेकी आज्ञा दी।

ध्रुवजीने मधुवनमें जाकर ऐसी निष्ठासे भजन किया कि उनकी निष्ठाको देखकर छः महीनेकी अवधिके भीतर-ही-भीतर भगवान् ध्रुवके सामने प्रकट हो गये। भगवान्ने ध्रुवजीको राजगद्दीका वरदान दिया, पर इस वरदानसे ध्रुवजी विशेष राजी नहीं हुए। भजनसे अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण उनको धन-(राज्य-) के लिये भगवान्की तरफ चलनेमें बड़ी लज्जा हुई कि मैंने बड़ी गलती की!

तात्पर्य यह हुआ कि ध्रुवजीको तो पहले राजाकी गोदमें बैठनेकी इच्छा हुई, पर उन्होंने उस इच्छाकी पूर्तिका मुख्य उपाय भगवान्का भजन ही माना। भजन करनेसे उनको राज्य मिल गया और इच्छा मिट गयी। इस तरह अर्थार्थी भक्त केवल भगवान्की तरफ ही लगता है।

आजकल जो धन-प्राप्तिके लिये झूठ, कपट, बेईमानी आदि करते हैं, वे भी धनके लिये समय-समयपर भगवान्को पुकारते हैं। वे अर्थार्थी तो हैं, पर भगवान्के भक्त नहीं हैं। वे तो झूठ, कपट, बेईमानी आदिके भक्त हैं; क्योंकि उनका 'पापके बिना, झूठ-कपटके बिना काम नहीं चलता'—इस तरह झूठ-कपट आदिपर जितना विश्वास है, उतना विश्वास भगवान्पर नहीं है।

जो केवल भगवान्के ही परायण हैं और जो भगवान्के साथ अपनापन करके भगवान्का ही भजन करते हैं; परन्तु कभी-कभी पूर्व-संस्कारोंसे अथवा किसी कारणसे जिनमें अपने शरीर आदिके लिये अनुकूल परिस्थितिकी इच्छा हो जाती है, वे भी अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं। उनकी अनुकूलताकी इच्छा ही अर्थार्थीपन है।

(२) **'आर्त भक्त'**—प्राण-संकट आनेपर, आफत आनेपर, मनके प्रतिकूल घटना घटनेपर जो दुःखी होकर अपना दुःख दूर करनेके लिये भगवान्को पुकारते हैं और दुःखको दूर करना केवल भगवान्से ही चाहते हैं, दूसरे किसी उपायको काममें नहीं लेते, वे आर्त भक्त कहलाते हैं। आर्त भक्तोंमें उत्तराका दृष्टान्त लेना ठीक बैठता है*। कारण कि जब उसपर आफत आयी, तब उसने भगवान्के

*** आर्त भक्तोंमें द्रौपदी और गजेन्द्रका दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता; क्योंकि उन्होंने अपनी रक्षाके लिये अन्य उपायोंका भी सहारा लिया था, केवल भगवान्का ही नहीं। जबतक अपना दुःख दूर करनेके लिये अन्य उपायोंका सहारा रहता है, अन्य उपायोंकी तरफ वृत्ति रहती है, तबतक वे अनन्यभक्त नहीं हैं और तभीतक उनपर कष्ट आता है। जब यह अन्यकी तरफसे वृत्ति मिट जाती है, तब वे भक्त कहलाते हैं और उनपर कष्ट नहीं आता। जैसे, चीर-हरणके समय जबतक द्रौपदीकी दूसरोंकी तरफ**

सिवाय अन्य किसी उपायका सहारा नहीं लिया। अन्य उपायोंकी तरफ उसकी दृष्टि ही नहीं गयी। उसने केवल भगवान्‌का ही सहारा लिया*। तात्पर्य यह हुआ कि सकामभाव रहनेपर भी आर्त भक्त उसकी पूर्ति केवल भगवान्‌से ही चाहते हैं।

जो भगवान्‌के साथ अपनापन करके भगवान्‌के परायण हैं और अनुकूलताकी वैसी इच्छा नहीं करते; पर प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर इच्छा हो जाती है कि भगवान्‌ने ऐसा क्यों किया? 'यह प्रतिकूलता मिट जाय तो बहुत अच्छा है।' इस प्रकार प्रतिकूलता मिटानेका भाव पैदा होनेसे वे भी आर्त भक्त कहलाते हैं।

(३) **जिज्ञासु भक्त**—जिसमें अपने स्वरूपको, भगवत्तत्त्वको जाननेकी जोरदार इच्छा जाग्रत् हो जाती है कि वास्तवमें मेरा स्वरूप क्या है? भगवत्तत्त्व क्या है? इस प्रकार तत्त्वको जाननेके लिये शास्त्र, गुरु अथवा पुरुषार्थ (श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि उपायों) का भी आश्रय न रखते हुए केवल भगवान्‌के आश्रित होकर उस तत्त्वको केवल भगवान्‌से ही जो जानना चाहते हैं; वे जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं।

जिज्ञासु भक्त वही होता है, जिसका जिज्ञास्य केवल भगवत्तत्त्व और उपाय केवल भगवद्भक्ति ही होती है अर्थात् उपेय और उपायमें अनन्यता होती है।

जिज्ञासु भक्तोंमें उद्धवजीका नाम लिया जाता है। भगवान्‌ने उद्धवजीको दिव्यज्ञानका उपदेश दिया था, जो 'उद्धवगीता' (श्रीमद्भागवत ११। ७—३०) के नामसे प्रसिद्ध है।

जो भगवान्‌में अपनापन करके भगवान्‌के भजनमें ही तल्लीन रहते हैं; परन्तु कभी-कभी संगसे, संस्कारोंसे मनमें यह भाव पैदा हो जाता है कि वास्तवमें मेरा स्वरूप क्या है? भगवत्तत्त्व क्या है? वे भी जिज्ञासु कहलाते हैं।

(४) **ज्ञानी (प्रेमी) भक्त**—अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—तीनों भक्तोंसे ज्ञानी भक्तकी विलक्षणता बतानेके लिये यहाँ '**च**' अव्यय आया है।

ज्ञानी भक्तको अनुकूल-से-अनुकूल और प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति, घटना, व्यक्ति, वस्तु आदि सब भगवत्स्वरूप ही दीखते हैं अर्थात् उसको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति केवल भगवल्लीला ही दीखती है। जैसे भगवान्‌में अपने लिये अनुकूलता प्राप्त करने, प्रतिकूलता हटाने, बोध प्राप्त करने आदि किसी तरहकी कभी किंचिन्मात्र भी इच्छा होती ही नहीं, वे तो केवल भक्तोंके प्रेममें ही मस्त रहते हैं; ऐसे ही ज्ञानी (प्रेमी) भक्तोंमें किंचिन्मात्र भी कोई इच्छा नहीं होती, वे केवल भगवान्‌के प्रेममें ही मस्त रहते हैं।

ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तोंमें गोपिकाओंका नाम प्रसिद्ध है। देवर्षि नारदजीने भी '**यथा व्रजगोपिकानाम्**' (भक्तिसूत्र २१) कहकर गोपियोंको प्रेमी भक्तोंका आदर्श माना है। कारण कि गोपियोंमें अपने सुखका सर्वथा त्याग था। प्रियतम भगवान्‌का सुख ही उनका सुख था।

यहाँ एक बात समझनेकी है कि धनकी इच्छा, दुःख दूर करनेकी इच्छा और जिज्ञासा-पूर्तिकी इच्छाको लेकर जो भगवान्‌की तरफ लगते हैं, उनमें तो भगवान्‌का प्रेम जाग्रत् हो जाता है और वे भक्त कहलाते हैं। परन्तु जिनकी यह भावना रहती है कि अन्य उपायोंसे धन मिल सकता है, दुःख दूर हो सकता है, जिज्ञासा-पूर्ति हो सकती है, उनका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध न होनेसे उनमें प्रेम जाग्रत् नहीं होता और उनकी भक्त संज्ञा नहीं होती।

संतोंकी वाणीमें आता है कि प्रेम तो केवल भगवान् ही करते हैं, भक्त केवल भगवान्‌में अपनापन करता है। कारण कि प्रेम वही करता है, जिसे कभी किसीसे कुछ भी लेना नहीं है। भगवान्‌ने जीवमात्रके प्रति अपने-आपको सर्वथा

दृष्टि थी, दूसरोंका भरोसा था, अपने बलका सहारा था, तबतक वह कष्ट पाती रही। परन्तु जब दूसरोंकी तरफसे तो क्या, अपने हाथसे भी साड़ीको नहीं पकड़ा अर्थात् अपने बलका भी सहारा नहीं लिया, तब उसका अनन्यभाव हो गया और उसको दुःख नहीं पाना पड़ा।

ऐसे ही गजेन्द्रने जबतक हाथियों और हथिनियोंका सहारा लिया, अपने बलका सहारा लिया, तबतक वह वर्षोंतक दुःख पाता रहा। जब सब सहारा छूट गया, केवल भगवान्‌का ही सहारा रहा, तब उसको दुःख नहीं पाना पड़ा।

*** पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते। नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥**
अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो। कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्॥ (श्रीमद्भा० १। ८। ९-१०)

'देवाधिदेव! जगदीश्वर! महायोगिन्! आप मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। आपके सिवाय इस लोकमें मुझे अभय देनेवाला दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी आपसमें एक-दूसरेकी मृत्युका कारण बन रहे हैं। प्रभो! सर्वशक्तिमान्! यह दहकता हुआ लोहेका बाण मेरी तरफ दौड़ा आ रहा है। स्वामिन्! यह मुझे भले ही जला डाले, पर मेरे गर्भको नष्ट न करे।'

अर्पित कर रखा है और जीवसे कभी कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छाकी कोई सम्भावना ही नहीं रखी है। इसलिये भगवान् ही वास्तवमें प्रेम करते हैं। जीवको भगवान्की आवश्यकता है, इसलिये जीव भगवान्से अपनापन ही करता है। जब अपने-आपको सर्वथा भगवान्के अर्पित करनेपर भक्तमें कभी कुछ भी पानेकी कोई अभिलाषा नहीं रहती, तब वह ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त कहा जाता है। अपने-आपको सर्वथा भगवान्के अर्पित कर देनेसे उस भक्तकी सत्ता भगवान्से किंचिन्मात्र भी अलग नहीं रहती, प्रत्युत उसकी जगह केवल भगवान्की सत्ता ही रह जाती है।

विशेष बात

(१)

चार लड़के खेल रहे थे। इतनेमें उनके पिताजी चार आम लेकर आये। उनको देखते ही एक लड़का आम माँगने लग गया और एक लड़का आम लेनेके लिये रो पड़ा। पिताजीने उन दोनोंको एक-एक आम दे दिया। तीसरा लड़का न तो रोता है और न माँगता है, केवल आमकी तरफ देखता है और चौथा लड़का आमकी तरफ न देखकर जैसे पहले खेल रहा था, वैसे ही मस्तीसे खेल रहा है। उन दोनोंको भी पिताजीने एक-एक आम दे दिया। इस प्रकार चारों ही लड़कोंको आम मिलता है। यहाँ आम माँगनेवाला लड़का अर्थार्थी है, रोनेवाला लड़का आर्त है, केवल आमकी तरफ देखनेवाला जिज्ञासु है और आमकी परवाह न करके खेलमें लगे रहनेवाला लड़का ज्ञानी है। ऐसे ही अर्थार्थी भक्त भगवान्से अनुकूलता माँगता है, आर्त भक्त भगवान्से प्रतिकूलता दूर कराना चाहता है, जिज्ञासु भक्त भगवान्को जानना चाहता है और ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त भगवान्से कुछ भी नहीं चाहता।

अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चारों ही भक्त भगवन्निष्ठ हैं। अतः इनको योगभ्रष्ट पुरुषों (गीता—छठे अध्यायका इकतालीसवाँ-बयालीसवाँ श्लोक)-में नहीं लिया जा सकता। ऐसे ही अर्थार्थी और आर्त—ये दोनों सकाम पुरुषोंसे अलग हैं; क्योंकि इन दोनों भक्तोंमें भगवान्का आश्रय मुख्य है। सकाम पुरुष कामनापूर्तिमें ही लगे रहनेके कारण '**हृतज्ञानाः**' हैं (गीता ७। २०), इसलिये उनको आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुषोंमें लिया गया है। यद्यपि अर्थार्थी आदि भक्तोंमें जो कुछ न्यूनाधिकता है, वह कामनाके कारण ही है, परन्तु कामना होते हुए भी वे '**हृतज्ञानाः**' नहीं हैं। उनको तो भगवान्ने '**सुकृतिनः**' और '**उदाराः**' (७। १८) कहा है।

जो भगवान्के शरण होते हैं, उनमें सकामभाव भी हो सकता है; परन्तु उनमें मुख्यता भगवन्निष्ठ होनेकी ही होती है। इसलिये उनकी भगवान्के साथ जितनी-जितनी घनिष्ठता होती जाती है, उतना-उतना ही उनमें सकामभाव मिटता जाता है और विलक्षणता आती जाती है। इसलिये उनको भगवान्ने '**उदाराः**' कहा है और ज्ञानी भक्तको अपना स्वरूप बताया है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (७। १८)।

(२)

भगवान्के साथ अपनापन माननेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है, कोई योग्यता नहीं है, कोई बल नहीं है, कोई अधिकारिता नहीं है। भगवान्का प्राणिमात्रपर अपनापन सदासे है और सदा ही रहेगा। उस अपनेपनको केवल प्राणी ही भूला है और उसने भूलसे संसारके साथ अपनापन मान लिया है। अतः इस भूलसे किये हुए अपनेपनको हटाना है और प्रभुके साथ जो स्वतःसिद्ध अपनापन है, उसको मानना है। प्रभुको अपना माननेमें मन, बुद्धि आदि किसीकी सहायता नहीं लेनी पड़ती, जबकि दूसरे साधनोंमें मन, बुद्धि आदिकी सहायता लेनी पड़ती है।

भगवान्के साथ अपनापन होनेपर अर्थात् 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं'—ऐसा दृढ़तासे मान लेनेपर साधक भक्तको अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें भावोंकी, गुणोंकी कमी भी दीख सकती है, पर भगवान्के साथ अपनापन होनेसे वह टिकेगी नहीं। दूसरी बात, साधक भक्तमें कुछ गुणोंकी कमी रहनेपर भी भगवान्की दृष्टि केवल अपनेपनपर ही जाती है, गुणोंकी कमीपर नहीं। कारण कि भगवान्के साथ हमारा जो अपनापन है, वह वास्तविक है।

भगवान्का अपनापन तो दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यपर भी वैसा ही है। इसलिये सोलहवें अध्यायमें आसुरी प्रकृतिवालोंका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'क्रूर, द्वेष करनेवाले, नराधम दुष्टोंको मैं आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ।' इस प्रकार भगवान् उनको आसुरी योनियोंमें गिराकर शुद्ध करते हैं। जैसे माता अपने बच्चेको स्नान कराती है तो उसकी सम्मति नहीं लेती, ऐसे ही उनको शुद्ध करनेके लिये भगवान् उनकी सम्मति नहीं लेते; क्योंकि भगवान्का उनपर अपनापन है।

भगवान्‌के साथ अपनापनका सम्बन्ध पहलेसे ही है। फिर भी कोई कामना उत्पन्न हो जाती है तो भक्तका भगवान्‌के साथ अपनेपनका सम्बन्ध मुख्य होता है और कामना गौण होती है। इस दृष्टिसे ये भक्त पहली श्रेणीके हैं।

भगवान्‌का सम्बन्ध तो पहलेसे ही है, पर समय-समयपर कामना उत्पन्न हो जाती है, जिसकी पूर्ति दूसरोंसे चाहते हैं। जब दूसरोंसे कामनाकी पूर्ति नहीं होती, तब अन्तमें भगवान्‌से चाहते हैं। इस तरह अनन्यताकी कमी होनेके कारण ये भक्त दूसरी श्रेणीके हैं।

जहाँ केवल कामना-पूर्तिके लिये ही भगवान्‌के साथ अपनेपनका सम्बन्ध किया जाय, वहाँ कामना मुख्य होती है और भगवान्‌का सम्बन्ध गौण होता है। इस दृष्टिसे ये भक्त तीसरी श्रेणीके हैं।

मार्मिक बात

कामना दो तरहकी होती है—पारमार्थिक और लौकिक।

(१) **पारमार्थिक कामना—**पारमार्थिक कामना दो तरहकी होती है—मुक्ति-(कल्याण-)की और भक्ति-(भगवत्प्रेम-) की।

जो मुक्तिकी कामना है, उसमें तत्त्वको जाननेकी इच्छा होती है, जिसे जिज्ञासा कहते हैं। यह जिज्ञासा जिसमें होती है, वह जिज्ञासु होता है। गहरा विचार किया जाय तो जिज्ञासा कामना नहीं है; क्योंकि वह अपने स्वरूपको अर्थात् तत्त्वको जानना चाहता है, जो वास्तवमें उसकी आवश्यकता है। आवश्यकता उसको कहते हैं, जो जरूर पूरी होती है और पूरी होनेपर फिर दूसरी आवश्यकता पैदा नहीं होती[१]। यह आवश्यकता सत्-विषयकी होती है।

दूसरी कामना प्रभु-प्रेम-प्राप्तिकी होती है। उसको प्राप्ति तो कहते हैं, पर वास्तवमें वह प्राप्ति अपने लिये नहीं होती, प्रत्युत प्रभुके लिये ही होती है। उसमें अपना किंचिन्मात्र प्रयोजन नहीं रहता; प्रभुके समर्पित होनेका ही प्रयोजन रहता है। प्रेमी तो अपने-आपको प्रभुके समर्पित कर देता है, जो कि उसीका अंश है[२]।

उपर्युक्त दोनों ही पारमार्थिक कामनाएँ वास्तवमें 'कामना' नहीं हैं।

(२) **लौकिक कामना—**लौकिक कामना भी दो तरहकी होती है—सुख प्राप्त करनेकी और दुःख दूर करनेकी।

शरीरको आराम मिले; जीते-जी मेरा आदर-सत्कार होता रहे और मरनेके बाद मेरा नाम अमर हो जाय, मेरा स्मारक बन जाय; कोई ग्रन्थ बना दे, जिसको लोग देखते रहें, पढ़ते रहें और यह जान जायँ कि ऐसा कोई विलक्षण पुरुष हुआ है; मरनेके बाद स्वर्ग आदिमें भोग भोगते रहें आदि-आदि लौकिक सुख-प्राप्तिकी कामनाएँ होती हैं। ऐसी कामनाओंसे तो वासना ही बढ़ती है, जिससे बन्धन और पतन ही होता है, उद्धार नहीं होता। यह कामना आसुरी सम्पत्ति है इसलिये यह त्याज्य है।

दूसरी कामना दुःख दूर करनेकी है। दुःख तीन प्रकारके हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सरदी-गरमी, वायु आदिसे जो दुःख होता है, उसको 'आधिदैविक' कहते हैं। यह दुःख देवताओंके अधिकारसे होता है।

सिंह, साँप, चोर आदि प्राणियोंसे जो दुःख होता है, उसको 'आधिभौतिक' कहते हैं।

शरीर और अन्तःकरणको लेकर जो दुःख होता है, वह

१-कामना वह होती है, जो कभी पूरी नहीं होती। एक कामना पूरी होनेपर फिर दूसरी कामना पैदा हो जाती है। जैसे, धनकी कामना हुई। जितना धन चाहता है, उतना धन मिल जाय तो फिर और अधिक धनकी कामना होती है। धनकी तरह ही मान-बड़ाईकी, जीनेकी, भोगकी, नीरोगताकी, यश-कीर्तिकी, स्त्री-पुत्रकी आदि-आदि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी कामना होती है। ये धनादि वस्तुएँ अपनी नहीं हैं, क्योंकि इनमेंसे कोई भी वस्तु स्वयंतक पहुँचती ही नहीं। इनकी कामनापूर्ति केवल शरीर और नामतक ही पहुँचती है। कामना असत्-विषयकी होती है। कामनापूर्तिके बाद फिर और कामना पैदा हो जाती है; इस प्रकार अपूर्ति ही बाकी रहती है। अतः कामना त्याज्य है; क्योंकि ये चीजें तो रहेंगी नहीं और उनकी पूर्तिके लिये की हुई कामना और प्रयत्न—ये दोनों ही निष्फल होंगे।

२-मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी कामना श्रेष्ठ है; क्योंकि मुक्तिमें स्वयं मुक्त होना चाहता है और भक्तिमें भगवान्‌के समर्पित होना चाहता है। तात्पर्य है कि मुक्तिमें लेनेकी इच्छा और भक्तिमें देनेकी इच्छा रहती है। इसलिये मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहं रहता है, पर भक्तिमें अहं बिलकुल नहीं रहता।

'आध्यात्मिक' होता है।*

इन दु:खोंको दूर करनेकी और सुख प्राप्त करनेकी जो कामना होती है, वह सर्वथा निरर्थक है; क्योंकि उस कामनाकी पूर्ति नहीं होती। पूर्ति हो भी जाती है तो दूसरी नयी कामना पैदा हो जाती है और अन्तमें अपूर्ति ही बाकी रहती है। इसलिये इन दोनों कामनाओंकी पूर्ति किसी भी मनुष्यकी कभी भी नहीं हुई, न होती है और न भविष्यमें ही पूरी होनेवाली है।

परिशिष्ट भाव—चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि मेरी शरण लेनेवाले भक्त गुणमयी मायाको तर जाते हैं। वे शरण लेनेवाले भक्त कौन हैं—इसको अब इस श्लोकमें बताते हैं।

पूर्व श्लोकमें 'दुष्कृती' मनुष्योंकी और इस श्लोकमें 'सुकृती' मनुष्योंकी बात आयी है। जो हमारेसे अलग है, उस संसारको अपना मानना सबसे बड़ा दुष्कृत अर्थात् पाप है और जो हमारेसे अभिन्न हैं, उन भगवान्‌को अपना मानना सबसे बड़ा सुकृत अर्थात् पुण्य है। अत: जो संसारको अपना मानते हैं, वे दुष्कृती हैं और जो भगवान्‌को अपना मानते हैं, वे सुकृती हैं।

भोगी मनुष्य भगवान्‌में नहीं लगता, इसलिये 'अर्थार्थी' तो भगवान्‌का भक्त हो सकता है, पर 'भोगार्थी' भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता। कारण कि भोगार्थीमें संसारकी लिप्तता अधिक होती है और अर्थार्थीमें लिप्तता कम होती है तथा भगवान्‌की मुख्यता होती है।

कुछ अंशमें भगवान्‌के सिवाय अन्य सत्ताकी मान्यता होनेके कारण ही भक्त अर्थार्थी, आर्त अथवा जिज्ञासु होता है। अगर अन्य सत्ताकी मान्यता सर्वथा न हो तो वह ज्ञानी (प्रेमी) हो जाता है। तात्पर्य है कि भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही ये चार भेद होते हैं। वास्तवमें एक भगवान्‌की सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता सम्भव ही नहीं है।

जो विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् परमात्माके समग्ररूपको जानना चाहता है, वह 'जिज्ञासु' है। जिज्ञासु भगवान्‌के ऐश्वर्य, प्रभाव, सामर्थ्यको जानना चाहता है, इसलिये भगवान्‌की लीला-कथामें उसको विशेष रस आता है। भगवान्‌ने 'मुमुक्षु' पद न देकर 'जिज्ञासु' पद दिया है; क्योंकि मुमुक्षु तो केवल तत्त्वज्ञान चाहनेवाला ही हो सकता है, पर 'जिज्ञासु' ज्ञान चाहनेवाला भी हो सकता है और भक्ति चाहनेवाला भी। मुमुक्षुमें अपने कल्याणकी बात मुख्य होती है और जिज्ञासु भक्तमें अपनेको भगवान्‌के अर्पित करनेकी बात मुख्य होती है। मुमुक्षुको ब्रह्मका ज्ञान होता है और जिज्ञासु भक्तको '**वासुदेवः सर्वम्**' का ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञानीको तो ब्रह्मका ज्ञान होता है, पर भक्तको समग्रका ज्ञान होता है (गीता इसी अध्यायका उनतीसवाँ, तीसवाँ श्लोक)।

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुमें क्रमश: संसारका सम्बन्ध घटता जाता है और परमात्माका सम्बन्ध बढ़ता जाता है। जबतक जीव जगत्‌को धारण किये रहता है, तभीतक अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु रहते हैं। जब वह जगत्‌को धारण नहीं करता, तब केवल 'ज्ञानी' रहता है।

जिस भक्तको 'सब कुछ वासुदेव ही है'— इस प्रकार परमात्माके समग्ररूपका ज्ञान हो गया है, उसको यहाँ '**ज्ञानी**' कहा गया है। इसी ज्ञानी भक्तको आगे उन्नीसवें श्लोकमें '**ज्ञानवान्**' कहा गया है।

'अर्थार्थी' प्राप्त परिस्थितिमें सन्तोष न करके धन चाहता है। 'आर्त' प्राप्त परिस्थितिमें सन्तोष तो करता है, पर दु:ख आनेपर उससे दु:ख सहा नहीं जाता। 'अर्थार्थी' में अर्थकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की मुख्यता है। उसमें धनकी इच्छा तो रहती है, पर उस इच्छाको वह केवल भगवान्‌से ही पूरी कराना चाहता है। कारण कि भगवान्‌में कोई कमी नहीं है। अपरा प्रकृति है तो भगवान्‌की ही! 'आर्त' भी अपना दु:ख केवल भगवान्‌से ही दूर करना चाहता है। 'जिज्ञासु' भी केवल भगवान्‌से ही अपनी जिज्ञासाकी पूर्ति करना चाहता है। परन्तु जब भक्तमें ऐसी उत्कट अभिलाषा रहती है कि 'मेरेको केवल भगवान् ही प्यारे लगें', तब उसमें अर्थार्थीपना, आर्तपना और जिज्ञासुपना नहीं रहता और वह ज्ञानी अर्थात् प्रेमी हो जाता है।

*** आध्यात्मिक दु:खके दो प्रकार हैं—आधि और व्याधि। मनकी चिन्ता 'आधि' है और शरीरका रोग 'व्याधि' है। आधि भी दो तरहकी होती है—(१) पागलपन और (२) चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि। पागलपन तो प्रारब्धसे होता है और चिन्ता, शोक आदि अज्ञानसे होते हैं। ज्ञान होनेपर चिन्ता, शोक आदि तो मिट जाते हैं, पर पागलपन प्रारब्धवशात् हो सकता है।**

'अर्थार्थी' का तो अर्थसे निरन्तर सम्बन्ध रहता है; क्योंकि अर्थकी वासना हरदम रहती है। परन्तु 'आर्त' का दु:खसे निरन्तर सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि दु:ख हरदम नहीं रहता। 'जिज्ञासु' को सुख-दु:खकी परवाह नहीं होती; अत: वह न तो सुखके आनेकी इच्छा करता है और न दु:खके जानेकी इच्छा करता है। अर्थार्थी और आर्त—दोनों जिज्ञासु होकर ज्ञानी हो जाते हैं।

'अर्थार्थी' भक्तको जब अर्थ मिलता है, तब उसको अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है; जैसे—ध्रुवजीको राज्य मिलनेपर पश्चात्ताप हुआ। परन्तु 'आर्त' भक्तको उतना पश्चात्ताप नहीं होता, प्रत्युत उसमें यह भाव रहता है कि भगवान् दु:ख दूर करनेवाले हैं; जैसे—द्रौपदी और गजेन्द्रकी रक्षा होनेपर उनको पश्चात्ताप नहीं हुआ, प्रत्युत भगवान्‌की तरफ ही उनकी वृत्ति रही। 'आर्त' भक्त आये हुए दु:खको सह नहीं सकता—यह उसकी कमजोरी है।

'जिज्ञासु' भक्तमें भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेकी कमी रहती है। उसको मुक्ति, तत्त्वज्ञान होनेपर भी सन्तोष नहीं होता, प्रत्युत उसमें प्रेम प्राप्त करनेकी भूख रहती है। परन्तु 'ज्ञानी' भक्तकी दृष्टिमें एक वासुदेवके सिवाय अन्य सत्ता लेशमात्र भी नहीं होती, फिर उसमें कोई कमी कैसे रह सकती है। इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको अपना स्वरूप बताया है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित चारों भक्तोंमेंसे ज्ञानी भक्तकी विशेषताका विशद वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

तेषाम्	= उन चार भक्तोंमें		प्रेमी भक्त	**प्रियः**	= प्रिय हूँ
नित्ययुक्तः	= मुझमें निरन्तर लगा हुआ	**विशिष्यते**	= श्रेष्ठ है;	**च**	= और
एकभक्तिः	= अनन्य भक्तिवाला	**हि**	= क्योंकि	**सः**	= वह
ज्ञानी	= ज्ञानी अर्थात्	**ज्ञानिनः**	= ज्ञानी भक्तको	**मम**	= मुझे
		अहम्	= मैं	**प्रियः**	= (अत्यन्त) प्रिय है।
		अत्यर्थम्	= अत्यन्त		

व्याख्या—'**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः**'—उन (अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी) भक्तोंमें ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वह नित्ययुक्त है अर्थात् वह सदा-सर्वदा केवल भगवान्‌में ही लगा रहता है। भगवान्‌के सिवाय दूसरे किसीमें वह किंचिन्मात्र भी नहीं लगता। जैसे गोपियाँ गाय दुहते, दही बिलोते, धान कूटते आदि सभी लौकिक कार्य करते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णमें चित्तवाली रहती हैं*, ऐसे ही वह ज्ञानी भक्त लौकिक और पारमार्थिक सब क्रियाएँ करते समय सदा-सर्वदा भगवान्‌से जुड़ा रहता है। भगवान्‌का सम्बन्ध रखते हुए ही उसकी सब क्रियाएँ होती हैं।

'**एकभक्तिर्विशिष्यते**'—उस ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तका आकर्षण केवल भगवान्‌में होता है। उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत इच्छा नहीं रहती। इसलिये वह श्रेष्ठ है।

अर्थार्थी आदि भक्तोंमें पूर्वसंस्कारोंके कारण जबतक व्यक्तिगत इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, तबतक उनकी एकभक्ति नहीं होती अर्थात् केवल भगवान्‌में प्रेम नहीं होता। परन्तु उन भक्तोंमें इन इच्छाओंको नष्ट करनेका भाव भी होता रहता है और इच्छाओंके सर्वथा नष्ट होनेपर सभी भक्त भगवान्‌के प्रेमी और भगवान्‌के प्रेमास्पद हो जाते हैं।

*** या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।**
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥ (श्रीमद्भा० १०। ४४। १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही मथते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, तुलसी आदिको जलसे सींचते समय तथा झाड़ू देने आदि सब कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद कण्ठसे श्रीकृष्णकी दिव्य लीलाओंका गान करती रहती हैं, वे श्रीकृष्णमें निरन्तर चित्त लगाये रहनेवाली व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

वहाँ भक्त और भगवान्‌में द्वैतका भाव न रहकर प्रेमाद्वैत (प्रेममें अद्वैत) हो जाता है।

ऐसे तो चारों भक्त भगवान्‌में नित्य-निरन्तर लगे रहते हैं; परन्तु तीन भक्तोंके भीतरमें कुछ-न-कुछ व्यक्तिगत इच्छा रहती है; जैसे—अर्थार्थी भक्त अनुकूलताकी इच्छा करते हैं, आर्त भक्त प्रतिकूलताको मिटानेकी इच्छा करते हैं और जिज्ञासु भक्त अपने स्वरूपको या भगवत्तत्त्वको जाननेकी इच्छा करते हैं। ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तमें अपनी कोई इच्छा नहीं रहती; अतः वह एकभक्ति है।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'—उस ज्ञानी प्रेमी भक्तको मैं अत्यन्त प्यारा हूँ। उसमें अपनी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं है, केवल मेरेमें प्रेम है। इसलिये वह मेरेको अत्यन्त प्यारा है।

वास्तवमें तो भगवान्‌का अंश होनेसे सभी जीव स्वाभाविक ही भगवान्‌को प्यारे हैं। भगवान्‌के प्यारमें कोई निजी स्वार्थ नहीं है। जैसे माता अपने बच्चोंका पालन करती है, ऐसे ही भगवान् बिना किसी कारणके सबका पालन-पोषण और प्रबन्ध करते हैं। परन्तु जो मनुष्य किसी कारणसे भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं, उनकी उस सम्मुखताके कारण भगवान्‌में उनके प्रति एक विशेष प्रियता हो जाती है।

जब भक्त सर्वथा निष्काम हो जाता है अर्थात् उसमें लौकिक-पारलौकिक किसी तरहकी भी इच्छा नहीं रहती, तब उसमें स्वतःसिद्ध प्रेम पूर्णरूपसे जाग्रत् हो जाता है। पूर्णरूपसे जाग्रत् होनेका अर्थ है कि प्रेममें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं रहती। प्रेम कभी समाप्त भी नहीं होता; क्योंकि वह अनन्त और प्रतिक्षण वर्धमान है। प्रतिक्षण वर्धमानका तात्पर्य है कि प्रेममें प्रतिक्षण अलौकिक विलक्षणताका अनुभव होता रहता है अर्थात् इधर पहले दृष्टि गयी ही नहीं, इधर हमारा खयाल गया ही नहीं, अभी दृष्टि गयी—इस तरह प्रतिक्षण भाव और अनुभव होता ही रहता है। इसलिये प्रेमको अनन्त बताया गया है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने अपने प्रेमी भक्तको 'ज्ञानी' नामसे इसलिये कहा है कि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यही वास्तविक और अन्तिम ज्ञान है, इससे आगे कुछ नहीं है। इसलिये ऐसा अनुभव करनेवाला प्रेमी भक्त ही वास्तविक ज्ञानी है (इसी अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। कारण कि ऐसे भक्तकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, जबकि विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें सत् और असत्—दो सत्ता रहती है। तात्पर्य है कि यहाँ 'ज्ञानी' शब्द जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानीके लिये नहीं आया है, प्रत्युत **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तके लिये आया है। गीतामें भगवान्‌ने मुख्य रूपसे भक्तको ही 'ज्ञानी' कहा है (इसी अध्यायका सोलहवाँ, सत्रहवाँ और अठारहवाँ श्लोक); क्योंकि वही अन्तिम और असली ज्ञानी है। उसका केवल भगवान्‌में ही प्रेम होता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है— **'एकभक्तिर्विशिष्यते'**।

भगवान्‌का अर्थार्थी भक्त अनित्ययुक्त (निरन्तर भगवान्‌में न लगा हुआ) होता है। अर्थार्थीकी अपेक्षा आर्त कम अनित्ययुक्त होता है। आर्तकी अपेक्षा भी जिज्ञासु कम अनित्ययुक्त होता है। परन्तु ज्ञानी सर्वथा नित्ययुक्त होता है।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' पदोंका तात्पर्य है कि **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होनेपर फिर भक्त और भगवान्—दोनोंमें परस्पर प्रेम-ही-प्रेम शेष रहता है। इसीको शास्त्रोंमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम, अनन्तरस आदि नामोंसे कहा गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको अपना अत्यन्त प्यारा बताया, तो इससे यह असर पड़ता है कि भगवान्‌ने दूसरे भक्तोंका आदर नहीं किया। इसलिये भगवान् आगेके श्लोकमें कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

एते = पहले कहे हुए; **सर्वे, एव** = सब-के-सब (चारों) ही भक्त; **उदाराः** = बड़े उदार (श्रेष्ठ भाववाले) हैं। **तु** = परन्तु; **ज्ञानी** = ज्ञानी (प्रेमी) तो; **मे** = मेरा; **आत्मा** = स्वरूप; **एव** = ही है—; **मतम्** = (ऐसा मेरा) मत है।

हि = कारण कि
सः = वह
युक्तात्मा = मुझसे अभिन्न है (और)
अनुत्तमाम्,
गतिम् = जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, (ऐसे)
माम् = मुझमें
एव = ही
आस्थितः = दृढ़ स्थित है।

व्याख्या—**'उदाराः सर्व एवैते'**—ये सब-के-सब भक्त उदार हैं, श्रेष्ठ भाववाले हैं। भगवान्‌ने यहाँ जो **'उदाराः'** शब्दका प्रयोग किया है, उसमें कई विचित्र भाव हैं; जैसे—

(१) चौथे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि 'भक्त जिस प्रकार मेरे शरण होते हैं, उसी प्रकार मैं उनका भजन करता हूँ।' भक्त भगवान्‌को चाहते हैं और भगवान् भक्तको चाहते हैं। परन्तु इन दोनोंमें पहले भक्तने ही सम्बन्ध जोड़ा है और जो पहले सम्बन्ध जोड़ता है, वह उदार होता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् सम्बन्ध जोड़ें या न जोड़ें, इसकी भक्त परवाह नहीं करता। वह तो अपनी तरफसे पहले सम्बन्ध जोड़ता है और अपनेको समर्पित करता है। इसलिये वह उदार है।

(२) देवताओंके भक्त सकामभावसे विधिपूर्वक यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करते हैं तो देवताओंको उनकी कामनाके अनुसार वह चीज देनी ही पड़ती है; क्योंकि देवतालोग उनका हित-अहित नहीं देखते। परन्तु भगवान्‌का भक्त अगर भगवान्‌से कोई चीज माँगता है तो भगवान् अगर उचित समझें तो वह चीज दे देते हैं अर्थात् देनेसे उसकी भक्ति बढ़ती हो तो दे देते हैं और भक्ति न बढ़ती हो, संसारमें फँसावट होती हो तो नहीं देते। कारण कि भगवान् परम पिता हैं और परम हितैषी हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अपनी कामनाकी पूर्ति हो अथवा न हो, तो भी वे भगवान्‌का ही भजन करते हैं, भगवान्‌के भजनको नहीं छोड़ते—यह उनकी उदारता ही है।

(३) संसारके भोग और रुपये-पैसे प्रत्यक्ष सुखदायी दीखते हैं और भगवान्‌के भजनमें प्रत्यक्ष जल्दी सुख नहीं दीखता, फिर भी संसारके प्रत्यक्ष सुखको छोड़कर अर्थात् भोग भोगने और संग्रह करनेकी लालसाको छोड़कर भगवान्‌का भजन करते हैं, यह उनकी उदारता ही है।

(४) भगवान्‌के दरबारमें माँगनेवालोंको भी उदार कहा जाता है—**'यहि दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई।'** (विनयपत्रिका १६५।५) अर्थात् कोई कुछ माँगता है, कोई धन चाहता है, कोई दुःख दूर करना चाहता है—ऐसे माँगनेवाले भक्तोंको भी भगवान् उदार कहते हैं, यह भगवान्‌की विशेष उदारता ही है।

(५) भक्तोंका लौकिक-पारलौकिक कामनापूर्तिके लिये अन्यकी तरफ किंचिन्मात्र भी भाव नहीं जाता। वे केवल भगवान्‌से ही कामनापूर्ति चाहते हैं। भक्तोंका यह अनन्यभाव ही उनकी उदारता है।

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'—यहाँ **'तु'** पदसे ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तकी विलक्षणता बतायी है कि दूसरे भक्त तो उदार हैं ही, पर ज्ञानीको उदार क्या कहें, वह तो मेरा स्वरूप ही है। स्वरूपमें किसी निमित्तसे, किसी कारण-विशेषसे प्रियता नहीं होती, प्रत्युत अपना स्वरूप होनेसे स्वतःस्वाभाविक प्रियता होती है।

प्रेममें प्रेमी अपने-आपको प्रेमास्पदपर न्योछावर कर देता है अर्थात् प्रेमी अपनी सत्ता अलग नहीं मानता। ऐसे ही प्रेमास्पद भी स्वयं प्रेमीपर न्योछावर हो जाते हैं। उनको इस प्रेमाद्वैतकी विलक्षण अनुभूति होती है। ज्ञानमार्गका जो अद्वैतभाव है, वह नित्य-निरन्तर अखण्डरूपसे शान्त, सम रहता है। परन्तु प्रेमका जो अद्वैतभाव है, वह एक-दूसरेकी अभिन्नताका अनुभव कराता हुआ प्रतिक्षण वर्धमान रहता है। प्रेमका अद्वैतभाव एक होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक है। इसलिये प्रेम-तत्त्व अनिर्वचनीय है। शरीरके साथ सर्वथा अभिन्नता (एकता) मानते हुए भी निरन्तर भिन्नता बनी रहती है और भिन्नताका अनुभव होनेपर भी भिन्नता बनी रहती है। इसी तरह प्रेमतत्त्वमें भिन्नता रहते हुए भी अभिन्नता बनी रहती है और अभिन्नताका अनुभव होनेपर भी अभिन्नता बनी रहती है।

जैसे, नदी समुद्रमें प्रविष्ट होती है तो प्रविष्ट होते ही नदी और समुद्रके जलकी एकता हो जाती है। एकता होनेपर भी दोनों तरफसे जलका एक प्रवाह चलता रहता है अर्थात् कभी नदीका समुद्रकी तरफ और कभी समुद्रका नदीकी तरफ एक विलक्षण प्रवाह चलता रहता है। ऐसे ही प्रेमीका प्रेमास्पदकी तरफ और प्रेमास्पदका प्रेमीकी तरफ प्रेमका एक विलक्षण प्रवाह चलता रहता है। उनका नित्ययोगमें वियोग और वियोगमें नित्ययोग—इस प्रकार प्रेमकी एक विलक्षण लीला अनन्तरूपसे अनन्तकालतक चलती रहती है। उसमें कौन प्रेमास्पद है और कौन प्रेमी

है—इसका खयाल नहीं रहता। वहाँ दोनों ही प्रेमास्पद हैं और दोनों ही प्रेमी हैं। यही **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** पदोंका तात्पर्य है।

'आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्'—क्योंकि जिससे उत्तम गति कोई हो ही नहीं सकती, ऐसे सर्वोपरि मेरेमें ही उसकी दृढ़ स्थिति है।

'केवल भगवान् ही मेरे हैं'—इस प्रकार मेरेमें उसका जो अपनापन है, उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर किंचिन्मात्र भी फरक नहीं पड़ता, प्रत्युत वह अपनापन दृढ़ होता और बढ़ता ही चला जाता है।

वह युक्तात्मा है अर्थात् वह किसी भी अवस्थामें मेरेसे अलग नहीं होता, प्रत्युत सदा मेरेसे अभिन्न रहता है।

परिशिष्ट भाव—सांसारिक अर्थार्थी भगवान्‌को छोड़कर केवल अर्थको ही चाहता है; अतः वह झूठ, कपट, बेईमानी आदिका भक्त होता है। उसके भीतर धनका महत्त्व ज्यादा होनेसे वह उदार नहीं होता, प्रत्युत महान् कृपण होता है। अतः उसके लिये 'उदार' शब्द लागू ही नहीं होता। परन्तु जो अर्थार्थी भगवान्‌का भक्त होता है, उसके भीतर अर्थका महत्त्व न होकर भगवान्‌का महत्त्व होता है। इसलिये उसमें कृपणता नहीं होती, प्रत्युत उदारता होती है। अतः उसको भगवान्‌ने यहाँ उदार कहा है। यहाँ उदारभावका अर्थ है—त्याग। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्त संसार-(भोग और संग्रह-) को छोड़कर भगवान्‌में लग गये—यह उनका त्याग है। इसलिये वे सभी उदार हैं—**'उदाराः सर्व एवैते।'** एकमात्र भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य होनेसे अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भी आगे चलकर स्वतः 'ज्ञानी' हो जाते हैं।

एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌को न मानना कामनासे भी अधिक दोषी है। जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उनमें यदि कामना रह जाय तो वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (गीता ९। २१)। परन्तु जो केवल भगवान्‌का ही भजन करते हैं, उनमें यदि कामना रह भी जाय तो भगवान्‌की कृपा और भजनके प्रभावसे वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। कारण कि मनुष्यका किसी भी तरहसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ जाय तो वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है*; क्योंकि वह मूलमें भगवान्‌का ही अंश है।

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—इन तीनोंको ही भगवान्‌ने यहाँ 'उदार' कहा है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय अन्यका भजन करनेवाले हैं, उनको भगवान्‌ने उदार न कहकर 'अल्पमेधा' कहा है (गीता—इसी अध्यायका तेईसवाँ श्लोक) और उनके भजनको अविधिपूर्वक किया गया बताया है (गीता—नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। देवताओंको भगवान्‌से अलग समझनेके कारण अर्थात् देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि न होनेके कारण तथा कामना भी होनेके कारण उनकी उपासना अविधिपूर्वक है। तात्पर्य है कि सबमें भगवद्‌बुद्धि न होना सकामभावसे भी अधिक घातक है; क्योंकि चेतनके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ!

तत्त्वज्ञानीकी ब्रह्मसे 'तात्त्विक एकता' अर्थात् सधर्मता होती है; परन्तु भक्तकी भगवान्‌के साथ 'आत्मीय एकता' होती है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'।** तत्त्वज्ञानीकी तात्त्विक एकता-(सधर्मता-) में जीव और ब्रह्ममें अभेद हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, ऐसे वह भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाता है और एक तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता। परन्तु भक्तकी आत्मीय एकतामें जीव और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् एक होते हुए भी प्रेमके लिये दो हो जाते हैं। उनमें दोनों ही प्रेमी और दोनों ही प्रेमास्पद होते हैं। इसलिये वे दो होते हुए भी एक ही रहते हैं।

जीव परमात्माका अंश है। अतः वह परमात्मासे जितना-जितना दूर जाता है, उतना-उतना अहंकार दृढ़ होता जाता है और वह ज्यों-ज्यों परमात्माकी तरफ आता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध रह सकती है। परन्तु प्रेममें परमात्माके साथ अभिन्नता (आत्मीयता) होनेपर जीवका अपरा प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अहंकार सर्वथा मिट जाता है, क्योंकि अहंकार अपरा प्रकृतिका ही कार्य है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'।**

---

* **कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥**

(श्रीमद्भा० ७। १। २९)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे।'

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुमें क्रमशः अपनी स्वतन्त्र सत्ता (अहंता) कम होती जाती है और ज्ञानीमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता बिलकुल नहीं रहती। इसलिये **'त्वात्मैव'** पदका तात्पर्य है कि प्रेमी भक्तकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहे अर्थात् प्रेमीके रूपमें साक्षात् भगवान् ही हैं—**'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'** (नारद० ४१)। यह आत्मीयता भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत है, जो ज्ञानयोगके अद्वैतसे भी सुन्दर है—**'भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्'**[1] (बोधसार, भक्ति० ४२)।

'मामेवानुत्तमां गतिम्'—भगवान्से बढ़कर उत्तम गति और कोई नहीं है। 'गति' शब्दके तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। यहाँ 'गति' शब्द प्राप्तिके अर्थमें आया है। अन्तिम प्रापणीय तत्त्व होनेसे भगवान् सर्वोत्तम गति हैं।

'आस्थितः'—एक दृढ़ता अभ्याससे होती है और एक दृढ़ता स्वतः होती है। जैसे मात्र प्राणियोंकी 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने-आपमें स्वतः दृढ़ स्थिति होती है, ऐसे ही ज्ञानी भक्तकी भगवान्में स्वतः दृढ़ स्थिति होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहे हुए ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तकी वास्तविकता और उसके भजनका प्रकार आगेके श्लोकमें बताते हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

बहूनाम् = बहुत
जन्मनाम् = जन्मोंके
अन्ते = अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें
सर्वम् = सब कुछ
वासुदेवः = परमात्मा ही हैं—
इति = इस प्रकार
ज्ञानवान् = (जो) ज्ञानवान्
माम् = मेरे
प्रपद्यते = शरण होता है,
सः = वह
महात्मा = महात्मा
सुदुर्लभः = अत्यन्त दुर्लभ है।

व्याख्या—**'बहूनां जन्मनामन्ते'**—मनुष्यजन्म सम्पूर्ण जन्मोंका अन्तिम जन्म है। भगवान्ने जीवको मनुष्यशरीर देकर उसे जन्म-मरणके प्रवाहसे अलग होकर अपनी प्राप्तिका पूरा अधिकार दिया है। परन्तु यह मनुष्य भगवान्को प्राप्त न करके रागके कारण फिर पुराने प्रवाहमें अर्थात् जन्म-मरणके चक्करमें चला जाता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—**'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसार-वर्त्मनि'** (गीता ९। ३)। जहाँ भगवान् आसुरी योनियों और नरकोंके अधिकारियोंका वर्णन करते हैं, वहाँ दुर्गुण-दुराचारोंके कारण भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना न दीखनेपर भी भगवान् कहते हैं—**'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'** (गीता १६। २०) अर्थात् मेरेको प्राप्त किये बिना ही ये प्राणी अधम गतिको चले गये अर्थात् वे मरनेके बाद मनुष्ययोनिमें भी चले जाते तो कम-से-कम मनुष्य तो रह जाते; पर वे मेरी प्राप्तिका पूरा अधिकार प्राप्त करके भी अधम गतिको चले गये!

संतोंकी वाणीमें और शास्त्रोंमें आता है कि मनुष्यजन्म केवल अपना कल्याण करनेके लिये मिला है, विषयोंका सुख भोगनेके लिये तथा स्वर्गकी प्राप्तिके लिये नहीं[2]। इसलिये गीताने स्वर्गकी प्राप्ति चाहनेवालोंको मूढ़ और तुच्छ बुद्धिवाले कहा है—**'अविपश्चितः'** (२। ४२) और **'अल्पमेधसाम्'** (७। २३)।

यह मनुष्यजन्म सम्पूर्ण जन्मोंका आदि जन्म भी है और अन्तिम जन्म भी है। सम्पूर्ण जन्मोंका आरम्भ मनुष्यजन्मसे ही होता है अर्थात् मनुष्यजन्ममें किये हुए पाप चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें भोगनेपर भी समाप्त नहीं होते, बाकी ही रहते हैं, इसलिये यह सम्पूर्ण जन्मोंका आदि जन्म है। मनुष्यजन्ममें सम्पूर्ण पापोंका नाश करके, सम्पूर्ण वासनाओंका नाश करके अपना कल्याण कर सकते हैं, भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये यह सम्पूर्ण जन्मोंका अन्तिम जन्म है।

भगवान्ने आठवें अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है कि 'जो मनुष्य अन्त-समयमें जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, उस-उस भावको ही वह प्राप्त

१-भक्तिका यह अद्वैत कल्पना नहीं है, प्रत्युत स्वीकृति है। कल्पित अद्वैत तो असत्य होता है, उसमें प्रेम नहीं होता।
२-एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥ (मानस ७। ४४। १)

होता है।' इस तरह मनुष्यको जिस किसी भावका स्मरण करनेमें जो स्वतन्त्रता दी गयी है, इससे मालूम होता है कि भगवान्‌ने मनुष्यको पूरा अधिकार दिया है अर्थात् मनुष्यके उद्धारके लिये भगवान्‌ने अपनी तरफसे यह अन्तिम जन्म दिया है। अब इसके आगे यह नये जन्मकी तैयारी कर ले अथवा अपना उद्धार कर ले—इसमें यह सर्वथा स्वतन्त्र है*। इस बातको लेकर गीता मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका अधिकारी मानती है और डंकेकी चोटके साथ, खुले शब्दोंमें कहती है कि वर्तमानका दुराचारी-से-दुराचारी, पूर्वजन्मके पापोंके कारण नीच योनिमें जन्मा हुआ पापयोनि और चारों वर्णवाले स्त्री-पुरुष—ये सभी भगवान्‌का आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो सकते हैं (गीता—नवें अध्यायके तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक)। गीताने (नवें अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें) ऐसा विचित्र 'पापयोनि' शब्द कहा है, जिसमें शूद्रसे भी नीचे कहे और माने जानेवाले चाण्डाल, यवन आदि तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता आदि सभी लिये जा सकते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर प्राणियोंमें परमात्माकी तरफ चलनेकी योग्यता नहीं है; परन्तु परमात्माके अंश होनेसे उनके लिये परमात्माकी तरफसे मना नहीं है। उनमेंसे बहुत-से प्राणी भगवान् और संत-महापुरुषोंकी कृपासे तथा तीर्थ और भगवद्धामके प्रभावसे परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। देवता भोगयोनि हैं; वे भोगोंमें ही लगे रहते हैं, इसलिये उनको 'अपना उद्धार करना है' ऐसा विचार नहीं होता। परन्तु वे अगर किसी कारणसे भगवान्‌की तरफ लग जायँ तो उनका भी उद्धार हो जाता है। इन्द्रको भी ज्ञान प्राप्त हुआ था—ऐसा शास्त्रोंमें आता है।

भगवान्‌की तरफसे मनुष्यमात्रका जन्म अन्तिम जन्म है। कारण कि भगवान्‌का यह संकल्प है कि मेरे दिये हुए इस शरीरसे यह अपना कल्याण कर ले। अतः यह अपना कोई संकल्प न रखकर केवल निमित्तमात्र बन जाय, तो भगवान्‌के संकल्पसे इसका कल्याण हो जाय। जैसे ग्यारहवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—मेरे द्वारा मारे हुएको ही तू मार दे—'**मया हतांस्त्वं जहि**'। तू चिन्ता मत कर—'**मा व्यथिष्ठाः**।' तू युद्ध कर, तेरी विजय होगी—'**युध्यस्व जेतासि**।' इसी तरहसे भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्यशरीर दिया है। अगर मनुष्य भगवान्‌से विमुख होकर संसारके रागमें न फँसे, तो भगवान्‌के उस संकल्पसे अनायास ही मुक्त हो जाय।

भगवान्‌का संकल्प ऐसा नहीं है कि साधककी इच्छाके बिना उसका कल्याण हो जाय अर्थात् जैसे शाप या वरदान दिया जाता है, वैसा यह संकल्प नहीं है। तो फिर कैसा है यह संकल्प? भगवान्‌ने मनुष्यको अपना कल्याण करनेकी स्वतन्त्रता इस मनुष्यजन्ममें दी है। अगर यह प्राणी उस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग न करे अर्थात् भगवान् और शास्त्रोंसे विपरीत न चले, कम-से-कम अपने विवेकके विरुद्ध न चले तो उससे भगवान् और शास्त्रोंके अनुकूल चलना स्वाभाविक होगा। कारण कि भगवान् और शास्त्रोंसे विपरीत न चलनेपर दो अवस्थाओंमेंसे एक अवस्था स्वाभाविक होगी—या तो वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे कुछ नहीं करेगा या केवल भगवान् और शास्त्रके अनुकूल ही करेगा।

कुछ नहीं करनेकी अवस्थामें अर्थात् कुछ करनेकी रुचि न रहनेकी अवस्थामें मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कारण कि कुछ-न-कुछ करनेकी इच्छासे ही कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न होकर अन्तःकरण और इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और अपने लिये करनेसे फलके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कुछ भी न करनेसे न कर्तृत्व-अभिमान होगा और न फलेच्छा होगी, प्रत्युत स्वरूपमें स्वतः स्थिति होगी।

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावपूर्वक कर्म करनेकी अवस्थामें करनेका प्रवाह मिट जाता है और क्रिया तथा पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे नयी कामना होगी नहीं और पुराना राग मिट जायगा तो स्वतः बोध हो जायगा— '**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति**' (गीता ४। ३२)।

गीतामें आया है—निष्कामभावसे विधिपूर्वक अपने कर्तव्यकर्मका पालन किया जाय तो अनादिकालसे बने हुए सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं (चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। ज्ञानयोगसे मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे तर जाता है (चौथे अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक)। भगवान् भक्तको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देते हैं (अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक)। जो भगवान्‌को अज-अनादि जानता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है (दसवें अध्यायका

* **नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥**
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥ (मानस ७। १२१। ५)

तीसरा श्लोक)। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंसे पाप नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह निकला कि अन्तिम मनुष्यजन्म केवल कल्याणके लिये ही मिला है।

मनुष्यजन्ममें सत्संग मिल जाय, गीता-जैसे ग्रन्थसे परिचय हो जाय, भगवन्नामसे परिचय हो जाय तो साधकको यह समझना चाहिये कि भगवान्ने बहुत विशेषतासे कृपा कर दी है; अत: अब तो हमारा उद्धार होगा ही, अब आगे हमारा जन्म-मरण नहीं होगा। कारण कि अगर हमारा उद्धार नहीं होना होता, तो ऐसा मौका नहीं मिलता। परन्तु 'भगवान्की कृपासे उद्धार होगा ही'—इसके भरोसे साधन नहीं छोड़ना चाहिये, प्रत्युत तत्परता और उत्साहपूर्वक साधनमें लगे रहना चाहिये। समय सार्थक बने, कोई समय खाली न जाय—ऐसी सावधानी हरदम रखनी चाहिये। परन्तु अपने कल्याणकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि अबतक जिसने इतना प्रबन्ध किया है, वही आगे भी करेगा। जैसे, किसीने भोजनके लिये निमन्त्रण दे दिया, आसन बिछा दिया, आसनपर बैठा दिया, पत्तल दे दी, लोटेमें जल भरकर पासमें रख दिया। अब कोई चिन्ता करे कि यह व्यक्ति भोजन देगा कि नहीं देगा, तो यह बिलकुल गलतीकी बात है। कारण कि अगर भोजन नहीं देना होता तो वह निमन्त्रण क्यों देता? भोजनकी तैयारी क्यों करता? परन्तु जब उसने निमन्त्रण दिया है, बुलाया है, तैयारी की है, तब उसको भोजन देना ही पड़ेगा। हम भोजनकी चिन्ता क्यों करें? अब तो बस, ज्यों-ज्यों भोजनके पदार्थ आयें, त्यों-त्यों उनको पाते जायँ। ऐसे ही भगवान्ने हमको मनुष्यशरीर दिया है और उद्धारकी सब सामग्री (सत्संग, भगवन्नाम आदि) जुटा दी है, तो हमारा उद्धार होगा ही, अब तो हम संसार-समुद्रके किनारे आ गये हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास करके निमित्तमात्र बनकर साधन करना चाहिये।

जिसके पूर्वजन्मोंके पुण्य होते हैं, वही भगवान्की तरफ चल सकता है—अगर ऐसा माना जाय तो पूर्वजन्मोंके पाप-पुण्योंका फल तो पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि योनि-वाले प्राणी भोगते ही हैं, फिर मनुष्यमें और उन प्राणियोंमें क्या फरक रहेगा? भगवान्का कृपा करके मनुष्यशरीर देना कहाँ सार्थक होगा? तथा मनुष्यजन्मकी विलक्षणता, महिमा क्या होगी? मनुष्यजन्मकी महिमा तो इसीमें है कि मनुष्य भगवान्का आश्रय लेकर अपने कल्याणके मार्गमें लग जाय।[१]

'वासुदेवः सर्वम्'[२]—महासर्गके आदिमें एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें हो जाते हैं—**'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति'** (छान्दोग्य० ६। २। ३) और अन्तमें अर्थात् महाप्रलयमें एक भगवान् ही शेष रह जाते हैं—**'शिष्यते शेषसंज्ञः'** (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। इस प्रकार जब आदि और अन्तमें एक भगवान् ही रहते हैं, तब बीचमें दूसरा कहाँसे आया? क्योंकि संसारकी रचना करनेमें भगवान्के पास अपने सिवाय कोई सामग्री नहीं थी, वे तो स्वयं संसारके रूपसे प्रकट हुए हैं। इसलिये यह सब वासुदेव ही है।

जो चीज आदि और अन्तमें होती है, वही चीज मध्यमें

१-(१) लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्युयावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ (श्रीमद्भा० ११। ९। २९)

'अनेक जन्मोंके बाद इस परमपुरुषार्थके साधनरूप मनुष्यशरीरको, जो अनित्य होनेपर भी अत्यन्त दुर्लभ है, पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्यु आनेसे पहले ही अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर ले। विषयभोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें इस अमूल्य जीवनको नहीं खोना चाहिये।'

(२) नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥ (श्रीमद्भा० ११। २०। १७)

'यह मनुष्यशरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसारसागरसे पार होनेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है, जिसे गुरुरूप नाविक चलाता है और मैं (भगवान्) वायुरूप होकर इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ानेमें सहायता देता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो मनुष्य इस संसारसागरसे पार नहीं होता, वह अपनी आत्माका हनन करनेवाला अर्थात् पतन करनेवाला है।'

२-यहाँ 'वासुदेवः' शब्द पुँल्लिंगमें और 'सर्वम्' शब्द नपुंसकलिंगमें आया है। यहाँ 'वासुदेवः सर्वः' भी कह सकते थे; परन्तु ऐसा न कहकर 'वासुदेवः सर्वम्' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि 'सर्वम्' शब्दमें स्त्री, पुरुष, नपुंसक, स्थावर-जंगम आदि सबका समाहार हो जाता है।

भी होती है। जैसे, सोनेके गहने आदिमें सोना थे और अन्तमें सोना रहेंगे, तो गहनोंमें दूसरी चीज कहाँसे आयेगी? केवल सोना-ही-सोना है। मिट्टीसे बननेवाले बर्तन पहले मिट्टी थे और अन्तमें मिट्टी हो जायँगे, तो बीचमें मिट्टीके सिवाय क्या है? केवल मिट्टी-ही-मिट्टी है। खाँड़से बने हुए खिलौने पहले खाँड़ थे और अन्तमें खाँड़ ही हो जायँगे, तो बीचमें खाँड़के सिवाय क्या है? केवल खाँड़-ही-खाँड़ है। इसी तरह सृष्टिके पहले भगवान् थे और अन्तमें भगवान् ही रहेंगे; तो बीचमें भगवान्‌के सिवाय क्या है? केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं। जैसे सोनेको चाहे गहनोंके रूपमें देखें, चाहे पासेके रूपमें देखें, चाहे वरकके रूपमें देखें, है वह सोना ही। ऐसे ही संसारमें अनेक रूपोंमें, अनेक आकृतियोंमें एक भगवान् ही हैं।

जबतक मनुष्यकी दृष्टि गहनोंकी तरफ, उसकी आकृतियोंकी तरफ रहती है, उसीको महत्त्व देती है, तबतक 'यह सोना ही है' इस तरफ उसकी दृष्टि नहीं जाती। ऐसे ही जबतक मनुष्यकी दृष्टि संसारकी तरफ रहती है, उसीको महत्त्व देती है, तबतक 'सब कुछ भगवान् ही हैं' इस तरफ उसकी दृष्टि नहीं जाती। परन्तु जब गहनोंकी तरफ दृष्टि नहीं रहती, तब गहनोंमें सोनेकी भावना नहीं होती, प्रत्युत 'यह सोना ही है' ऐसी भावना होती है। ऐसे ही जब संसारकी तरफ दृष्टि नहीं रहती, तब संसारमें भगवान्‌की भावना नहीं होती, प्रत्युत 'सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं' ऐसी भावना होती है। कारण कि संसारमें भगवान्‌की भावना करनेसे संसारकी सत्ता साथमें रहती है अर्थात् संसारकी भावना रखते हुए उसकी सत्ता मानते हुए, उसमें भगवान्‌की भावना करते हैं। अतः जबतक संसारकी सत्ता मानते हैं, संसारको महत्त्व देते हैं, तबतक संसारमें भगवान्‌की भावना करते रहनेपर भी **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव नहीं होता।

ब्रह्मभूत मनुष्य निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है (पाँचवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक); ब्रह्मभूत योगीको उत्तम सुख मिलता है (छठे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक); ब्रह्मभूत भगवान्‌की पराभक्तिको प्राप्त होता है और उस भक्तिसे तत्त्वको जानकर उसमें प्रवेश करता है (अठारहवें अध्यायका चौवनवाँ-पचपनवाँ श्लोक)— गीताकी दृष्टिसे ये तीनों ही अवस्थाएँ हैं। अवस्थाओंमें परिवर्तन होता है। परन्तु **'वासुदेवः सर्वम्'**—यह अवस्था नहीं है, प्रत्युत वास्तविक तत्त्व है। इसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

यह जो कुछ संसार दीखता है, सब भगवान्‌का ही स्वरूप है। भगवान्‌के सिवाय इस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता थी नहीं, है नहीं और कभी होगी भी नहीं। अतः देखने, सुनने और समझनेमें जो कुछ संसार आता है, वह सब-का-सब भगवत्स्वरूप ही है। भगवान्‌की आज्ञा है—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आपलोग विचारपूर्वक समझ लीजिये।'

इस आज्ञाके अनुसार ही उस ज्ञानी अर्थात् प्रेमीका जीवन हो जाता है। वह सब जगह भगवान्‌को ही देखता है—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'** (गीता ६। ३०)। वह सब कुछ करता हुआ भी भगवान्‌में ही रहता है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'** (गीता ६। ३१)।

किसीको एक जगह भी अपनी प्रिय वस्तु मिल जाती है, तो उसको बड़ी प्रसन्नता होती है, फिर जिसको सब जगह ही अपने प्यारे इष्टदेवका अनुभव होता है,* उसकी प्रसन्नताका, आनन्दका क्या ठिकाना? उस आनन्दमें विभोर होकर भगवान्‌का प्रेमी भक्त कभी हँसता है, कभी रोता है,

---

* **जित देखौं तित स्याममई है।**
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घन घटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
हौं बौरी, कै लोगन ही की, स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद सार काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनहुँ स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीप सिखापर स्यामतई है।
नर देबनकी कौन कथा है, अलख ब्रह्मछबि स्याममई है॥

कभी नाचता है और कभी चुप होकर शान्त हो जाता है।* इस तरह उसका जीवन अलौकिक आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता। वह सर्वथा पूर्ण हो जाता है अर्थात् उसके लिये किसी भी अवस्थामें, किसी भी परिस्थितिमें कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता।

जो भक्तिमार्गपर चलता है, वह 'यह सत् है और यह असत् है' इस विवेकको लेकर नहीं चलता। उसमें विवेक-ज्ञानकी प्रधानता नहीं रहती। उसमें केवल भगवद्भावकी ही प्रधानता रहती है। केवल भगवद्भावकी प्रधानता रहनेके कारण उसके लिये यह सब संसार चिन्मय हो जाता है। उसकी दृष्टिमें जडता रहती ही नहीं। भगवान्‌में तल्लीनता होनेसे भक्तका शरीर भी जड नहीं रहता, प्रत्युत चिन्मय हो जाता है, जैसे—मीराबाईका शरीर (चिन्मय होनेसे) भगवान्‌के विग्रहमें लीन हो गया था।

ज्ञानमार्गमें जहाँ सत्-असत्‌का विवेक होता है, वहाँ परिणाममें सत्-असत् दोकी सत्ता नहीं रहती, केवल सत्-स्वरूप ही रह जाता है। परन्तु भक्तिमार्गमें सत्-असत् सब कुछ भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। फिर भक्त भगवत्स्वरूप संसारकी सेवा करता है। सेवामें पहले तो सेवक, सेवा और सेव्य—ये तीन होते हैं। परन्तु जब भगवद्भावकी अत्यधिक गाढ़ता हो जाती है, तब सेवक-भावकी विस्मृति हो जाती है। फिर भक्त स्वयं सेवारूप होकर सेव्यमें लीन हो जाता है। केवल एक भगवत्तत्त्व ही शेष रह जाता है। इस तरह भगवद्भावमें तल्लीन हुए भगवान्‌के प्रेमी भक्त जहाँ-कहीं भी विचरते हैं, वहाँ उनके दर्शन, स्पर्श, भाषण आदिका प्राणियोंपर बड़ा असर पड़ता है।

जबतक मनुष्योंकी पदार्थोंमें भोगबुद्धि रहती है, तबतक उनको उन पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप समझमें नहीं आता। परन्तु जब भोगबुद्धि सर्वथा हट जाती है, तब केवल भगवत्स्वरूप ही देखनेमें आ जाता है।

मार्मिक बात

'वासुदेवः सर्वम्'—इस तत्त्वको समझनेके दो प्रकार हैं—(१) संसारका अभाव करके परमात्माको रखना अर्थात् संसार नहीं है और परमात्मा है, (२) सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं। इसमें जो परिवर्तन दीखता है, वह भी भगवान्‌का ही स्वरूप है; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार साधकोंके लिये हैं। जिस साधकका पदार्थोंको लेकर संसारमें आकर्षण (राग) है, उसको 'यह सब कुछ नहीं है, केवल परमात्मा ही है'—इस प्रणालीको अपनाना चाहिये। जिस साधकका पदार्थोंको लेकर संसारमें किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं है और जो केवल भगवान्‌के स्मरण, चिन्तन, जप, कीर्तन आदिमें लगा रहता है, उसको 'संसाररूपसे सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रणालीको अपनाना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय तो ये दोनों प्रणालियाँ तत्त्वसे एक ही हैं। इन दोनोंमें फरक इतना ही है कि जैसे सोनेमें गहने और गहनोंके नाम, रूप, आकृति आदि अलग-अलग होते हुए भी सब कुछ सोना-ही-सोना जानना। जहाँपर संसारका अभाव करके परमात्माको तत्त्वसे जानना है, वहाँ 'विवेक' की प्रधानता है; और जहाँ संसारको भगवत्स्वरूप मानना है, वहाँ 'भाव' की प्रधानता है। निर्गुणके उपासकोंमें विवेककी प्रधानता होती है और सगुणके उपासकोंमें भावकी प्रधानता होती है।

संसारका अभाव करके परमात्मतत्त्वको जानना भी तत्त्वसे जानना है और संसारको भगवत्स्वरूप मानना भी तत्त्वसे जानना है। कारण कि वास्तवमें तत्त्व एक ही है। फरक इतना ही है कि ज्ञानमार्गमें जाननेकी प्रधानता रहती है और भक्तिमार्गमें माननेकी प्रधानता रहती है। इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानमार्गमें माननेको भी जाननेके अर्थमें लिया है—**'इति मत्वा न सज्जते'** (गीता ३।२८), और भक्तिमार्गमें जाननेको भी माननेके अर्थमें लिया है (पाँचवें अध्यायका उनतीसवाँ, नवें अध्यायका तेरहवाँ, दसवें अध्यायका तीसरा, सातवाँ, चौबीसवाँ, सत्ताईसवाँ और इकतालीसवाँ श्लोक)। इसमें एक खास बात समझनेकी है कि परमात्माको जानना और मानना—दोनों ही ज्ञान हैं तथा संसारको सत्ता देकर संसारको जानना और मानना—दोनों ही अज्ञान हैं।

---

* **वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।**
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ (श्रीमद्भा० ११।१४।२४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है, कभी-कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

संसारको तत्त्वसे जाननेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है, और परमात्माको तत्त्वसे जाननेपर परमात्माका अनुभव हो जाता है। ऐसे ही संसार भगवत्स्वरूप है—ऐसा दृढ़तासे माननेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है और फिर संसार संसार-रूपसे न दीखकर भगवत्स्वरूप दीखने लग जाता है। तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेपर जानना और मानना—दोनों एक हो जाते हैं।

'इति ज्ञानवान्मां प्रपद्यते'—जो प्रतिक्षण बदलने-वाले संसारकी सत्ताको मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, मूढ़ हैं; परन्तु जिनकी दृष्टि कभी न बदलनेवाले भगवत्तत्त्वकी तरफ रहती है, वे ज्ञानवान् हैं, असम्मूढ़ हैं।

'ज्ञानवान्' कहनेका तात्पर्य है कि वह तत्त्वसे समझता है कि सब जगह, सबमें और सबके रूपमें वस्तुतः एक भगवान् ही हैं। ऐसे ज्ञानवान्‌को ही आगे पन्द्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें **'सर्ववित्'** कहा गया है।

ज्ञानवान्‌की शरणागति अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्तोंकी तरह नहीं है। भगवान्‌ने ज्ञानीको अपनी आत्मा बताया है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)। जब ज्ञानी भगवान्‌की आत्मा हुआ तो ज्ञानीकी आत्मा भगवान् हुए। अतः एक भगवत्तत्त्वके सिवाय दूसरी सत्ता ही नहीं रही। इसलिये ज्ञानीकी शरणागति उन तीनों भक्तोंसे विलक्षण होती है। उसके अनुभवमें एक भगवत्तत्त्वके सिवाय कोई दूसरी सत्ता होती ही नहीं—यही उसकी शरणागति है।

भगवान्‌की दृष्टिमें अपने सिवाय कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं—**'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'** (गीता ७। ७)। जैसे सूतकी मालामें मणियोंकी जगह सूतकी गाँठ लगा दी, तो मालामें सूतके सिवाय अन्य क्या रहा? केवल सूत ही रहा। हाँ, दीखनेमें गाँठें अलग दीखती हैं और धागा अलग दीखता है; परन्तु तत्त्वसे एक ही चीज (सूत) है। ऐसे ही परमात्मा संसारमें व्यापक दीखते हैं; परन्तु तत्त्वसे परमात्मा और संसार एक ही है। उनमें व्याप्य-व्यापकका भाव नहीं है। अतः सब कुछ एक वासुदेव ही है—ऐसा जिसको अनुभव होता है, वह भी भगवत्स्वरूप ही हुआ। भगवत्स्वरूप हो जाना ही उसकी शरणागति है।

'स महात्मा सुदुर्लभः'—बहुत-से मनुष्य तो 'हमें परमात्माकी प्राप्ति करनी है' इस तरफ दृष्टि ही नहीं डालते और ऐसा चाहते ही नहीं। जो इस तरफ दृष्टि डालते हैं, वे भी उत्कण्ठापूर्वक अनन्यभावसे अपने जीवनको सफल करनेमें नहीं लगते। जो अपना कल्याण करनेमें लगते हैं, वे भी मूर्खताके कारण परमात्मप्राप्तिसे निराश होकर अपने असली अवसरको खो देते हैं, जिससे वे परम लाभसे वंचित रह जाते हैं।

इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि मनुष्योंमें हजारों और हजारोंमें कोई एक मनुष्य वास्तविक सिद्धिके लिये यत्न करता है। यत्न करनेवाले उन सिद्धोंमें भी कोई एक मनुष्य 'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसा तत्त्वसे जानता है। ऐसा तत्त्वसे जाननेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि परमात्मा दुर्लभ हैं, प्रत्युत सच्चे हृदयसे परमात्मप्राप्तिके लिये लगनेवाले दुर्लभ हैं। सच्चे हृदयसे परमात्मप्राप्तिके लिये लगनेपर मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्ति हो सकती है; क्योंकि उसकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है।

संसारमें सब-के-सब मनुष्य धनी नहीं हो सकते। सांसारिक भोग-सामग्री सबको समान रीतिसे नहीं मिल सकती। परन्तु जो परमात्मतत्त्व भगवान् शंकरको प्राप्त है, सनकादिकोंको प्राप्त है, नारद, वसिष्ठ आदि देवर्षि-महर्षियोंको प्राप्त है, वही तत्त्व सब मनुष्योंको समानरूपसे अवश्य प्राप्त हो सकता है। इसलिये मनुष्यको ऐसा दुर्लभ अवसर कभी नहीं खोना चाहिये।

भगवान्‌की यह एक अलौकिक विलक्षणता है कि वे भूखेके लिये अन्नरूपसे, प्यासेके लिये जलरूपसे और विषयीके लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-रूपसे बनकर आते हैं। वे ही मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ बनकर आते हैं। वे ही संकल्प-विकल्प बनकर आते हैं। वे ही व्यक्ति बनकर आते हैं। परन्तु साथ-ही-साथ दुःख-रूपसे आकर मनुष्यको चेताते हैं कि अगर तुम इन वस्तुओंको भोग्य मानकर इनके भोक्ता बनोगे, तो इसके फलस्वरूप तुमको दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिये मनुष्यको शर्म आनी चाहिये कि मैं भगवान्‌को भोग-सामग्री बनाता हूँ, मेरे सुखके लिये भगवान्‌को सुखकी सामग्री बनना पड़ता है! भगवान् कितने विचित्र दयालु हैं कि यह प्राणी जो चाहता है, भगवान् वैसे ही बन जाते हैं!

देखने, सुनने और समझनेमें जो कुछ आ रहा है, और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय नहीं है, वह सब भगवान् ही हैं और भगवान्‌का ही है—ऐसा मान ले, वास्तविकतासे अनुभव कर ले तो मनुष्य विलक्षण हो जाता है, **'स**

महात्मा सुदुर्लभः' हो जाता है।

एक वैरागी बाबाजी थे। वे गणेशजीका पूजन किया करते थे। उनके पास सोनेकी बनी हुई एक गणेशजीकी और एक चूहेकी मूर्ति थी। वे दोनों मूर्तियाँ तौलमें बराबर थीं। एक बार बाबाजीने तीर्थोंमें जानेका विचार किया और वे उन मूर्तियोंकी बिक्री करनेके लिये सुनारके पास गये। सुनारने उन दोनों मूर्तियोंको तौलकर दोनोंके बराबर दाम बता दिये तो बाबाजी सुनारपर बिगड़ गये कि तू क्या कह रहा है? गणेशजी तो देवता हैं और चूहा उनका वाहन है, पर तू दोनोंका बराबर मूल्य बता रहा है! यह कैसे हो सकता है? सुनार बोला कि बाबाजी! मैं गणेश और चूहेको नहीं खरीदता हूँ, मैं तो सोना खरीदता हूँ, सोनेका जितना वजन होगा, उसके अनुसार ही उसका मूल्य होगा। अगर सुनार गणेश और चूहेको देखेगा तो उसको सोना नहीं दीखेगा और अगर सोनेको देखेगा तो उसको गणेश और चूहा नहीं दीखेगा। इसलिये सुनार न गणेशको देखता है, न चूहेको, वह तो केवल सोनेको ही देखता है। ऐसे ही भगवान्‌के साथ अभिन्न हुआ महात्मा संसारको नहीं देखता, वह तो केवल भगवान्‌को ही देखता है।

कोई एक सन्त रास्तेमें चलते-चलते किसी खेतमें लघुशंका करनेको बैठे। उस खेतके मालिकने उनको देखा तो 'मतीरा (तरबूजा) चुरानेवाला यही आदमी है'—ऐसा समझकर पीछेसे आकर उनके सिरपर लाठी मार दी। फिर देखा कि ये तो कोई बाबाजी हैं; अतः हाथ जोड़कर बोला—'महाराज! मैंने आपको जाना नहीं और चोर समझकर लाठी मार दी; इसलिये महाराज! मुझे माफ करो।' सन्तने कहा—'माफ क्या करना? तूने मेरेको तो मारा नहीं, तूने तो चोरको मारा है।' उसने कहा—'अब क्या करूँ महाराज?' सन्तने कहा—'तेरी जैसी मरजी हो, वैसे कर।' उसने सन्तको बैलगाड़ीमें ले जाकर अस्पतालमें भरती कर दिया। वहाँ मलहम-पट्टी करनेके बाद कोई आदमी दूध लेकर आया और बोला—'महाराज! दूध पी लो।' सन्तने कहा—'तू बड़ा चालाक-होशियार है। तेरे विचित्र-विचित्र रूप हैं। तू विचित्र-विचित्र लीलाएँ करता है। पहले तो तूने लाठीसे मारा और अब कहता है दूध पी लो!' वह आदमी डर गया और कहने लगा—'बाबाजी! मैंने नहीं मारा है।' सन्त बोले—'बिलकुल झूठी बात है। मैं पहचानता हूँ, तू ही था। तूने ही मारा है। तेरे सिवाय और कौन आये, कहाँसे आये? और कैसे आये? पहले तो मारा लाठीसे और अब आया दूध पिलाने! मैं दूध पी लूँगा, पर था तू ही।' इस तरह बाबाजी तो अपनी '**वासुदेवः सर्वम्**'-वाली भाषामें बोल रहे थे और वह सोच रहा था कि बाबाजी कहीं फँसा न दें! तात्पर्य यह है कि सन्त केवल भगवान्‌को ही देखते हैं कि लाठी मारनेवाला, मरहम-पट्टी करनेवाला, दूध पिलानेवाला—सब वह ही है।

महात्माओंकी महिमा

जहाँ सन्त-महात्माओंका वर्णन आता है, वहाँ कहा गया है—

(१) जो ऊँचे दर्जेके तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, वे अभिन्नभाव और अखण्डरूपसे केवल अपने स्वरूपमें अथवा भगवत्तत्त्वमें स्थित रहते हैं। उनके जीवनसे, उनके दर्शनसे, उनके चिन्तनसे, उनके शरीरका स्पर्श की हुई वायुके स्पर्शसे जीवोंका कल्याण होता रहता है।

(२) जो मनुष्य उन महापुरुषोंकी महिमाको नहीं जानते, उनके सामने वे महापुरुष अपने भावोंसे नीचे उतरते हैं तो कुछ कह देते हैं; जैसे—सन्त-महात्माओंने ऐसा किया है, उनके किये हुए आचरणों और कहे हुए वचनोंके अनुसार ही शास्त्र बनते हैं, आदि।

(३) जब वे इससे भी नीचे उतरते हैं तो कह देते हैं कि सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

(४) जिनसे उपर्युक्त बातका पालन नहीं होता, उन साधकोंके सामने वे स्वयं ऐसा विधान कर देते हैं कि ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये।

(५) जब वे इससे भी नीचे उतरते हैं तो 'ऐसा करो और ऐसा मत करो'—ऐसी आज्ञा दे देते हैं।

[सन्तोंकी आज्ञामें जो सिद्धान्त भरा हुआ है, वह आज्ञापालकमें उतर आता है। उनकी आज्ञापालनके बिना भी उनके सिद्धान्तका पालन करनेवालोंका कल्याण हो जाता है; परन्तु वे महात्मा आज्ञाके रूपमें जिसको जो कुछ कह देते हैं, उसमें एक विलक्षण शक्ति आ जाती है। आज्ञापालन करनेवालेको कोई परिश्रम नहीं पड़ता और उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक वैसे आचरण होने लगते हैं।]

(६) जो उनकी आज्ञाका पालन नहीं करते, ऐसे नीचे दर्जेके साधकोंको वे कहीं-कहीं, कभी-कभी शाप या वरदान दे देते हैं।

इस परम्परामें देखा जाय तो (१) जो कुछ नहीं करते, निरन्तर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं—यह उन सन्त-महापुरुषोंका ऊँचा दर्जा हो गया, (२) शास्त्रोंने ऐसा कहा,

सन्त-महात्माओंने ऐसा किया—इस तरह संकेत करनेसे उन सन्तोंका दूसरा दर्जा हो गया, (३) सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये—ऐसा कहनेसे सन्तोंका तीसरा दर्जा हो गया, (४) ऐसा करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये—इस तरहका विधान करनेसे उन सन्तोंका चौथा दर्जा हो गया, (५) तुम ऐसा करो और ऐसा मत करो—ऐसा कहना उन सन्तोंके पाँचवें दर्जेकी बात हो गयी, (६) शाप और वरदान देना उन सन्तोंके छठे दर्जेकी बात हो गयी। इन सब दर्जोंमें सन्त-महापुरुषोंका जो नीचे उतरना है, उसमें उनकी क्रमशः अधिकाधिक दयालुता है। वे शाप और वरदान दे दें, ताड़ना कर दें, इसमें उन सन्तोंका दर्जा तो नीचे हुआ, पर इसमें उनका अत्यधिक त्याग है। कारण कि उन्होंने जीवोंके उद्धारके लिये ही नीचा दर्जा स्वीकार कर लिया है। इसमें उनका लेशमात्र भी अपना स्वार्थ नहीं है।

ऐसे ही भगवान् भी अपने स्वरूपमें नित्य-निरन्तर स्थित रहते हैं, यह उनके ऊँचे दर्जेकी बात है; परन्तु वे ही भगवान् अत्यधिक कृपालुताके कारण, कृपाके परवश होकर जीवोंका उद्धार करनेके लिये अवतार लेकर आदर्श लीला करते हैं। उनकी लीलाओंको देखने-सुननेसे लोगोंका उद्धार होता है। भगवान् और भी नीचे उतरते हैं तो उपदेश देते हैं। उससे भी नीचे उतरते हैं तो आज्ञा दे देते हैं। और भी नीचे उतरते हैं तो शासन करके लोगोंको सही रास्तेपर लाते हैं। उससे भी नीचे उतरते हैं तो शाप और वरदान दे देते हैं अथवा उसके और संसारके हितके लिये उसका शरीरसे वियोग भी करा देते हैं।

परिशिष्ट भाव—सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंद्वारा अपना भजन करनेकी बात कही थी—**'चतुर्विधा भजन्ते माम्'**। उनमें ज्ञानीके भजनका क्या स्वरूप है—इसको इस श्लोकमें बताते हैं कि 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा अनुभव करना ही ज्ञानीका भजन है, शरणागति है। असली शरणागति वही है, जिसमें शरणागतकी सत्ता ही न रहे, प्रत्युत शरण्य ही रह जाय।

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह वास्तविक ज्ञान है। ऐसे वास्तविक ज्ञानवाला महात्मा भक्त भगवान्के शरण हो जाता है अर्थात् अपना अस्तित्व (मैंपन) मिटाकर भगवान्में लीन हो जाता है। फिर मैंपन नहीं रहता अर्थात् प्रेमवाला नहीं रहता, प्रत्युत केवल प्रेमस्वरूप भगवान् रह जाते हैं, जिनमें मैं-तू-यह-वह चारों ही नहीं हैं। यही शरणागतिका वास्तविक स्वरूप है।

'महात्मा' शब्दका अर्थ है—महान् आत्मा अर्थात् अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयतासे सर्वथा रहित आत्मा[१]। जिसमें अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयता है, वह 'अल्पात्मा' है।

यहाँ **'वासुदेवः'** पद पुँल्लिंगमें आया है; अतः यहाँ **'वासुदेवः सर्वः'** पद आने चाहिये थे। परन्तु यहाँ **'सर्वः'** पद न देकर **'सर्वम्'** पद दिया गया है, जो नपुंसकलिंगमें है। अगर तीनों लिंगों-(**सर्वः, सर्वा** और **सर्वम्**)-का एकशेष किया जाय तो नपुंसकलिंग (**सर्वम्**) ही एकशेष रहता है। नपुंसकलिंगके अन्तर्गत तीनों लिंग आ जाते हैं। अतः **'सर्वम्'** पदमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक—सबका समाहार हो जाता है। गीतामें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके लिये पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग—इन तीनों ही लिंगोंका प्रयोग हुआ है[२]। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों ही **'सर्वम्'** शब्दके अन्तर्गत हैं। अतः तीनों लिंगोंसे कही जानेवाली सब-की-सब वस्तुएँ, व्यक्ति, परिस्थितियाँ आदि परमात्मा ही हैं।

'वासुदेवः सर्वम्'—इसमें **'सर्वम्'** तो असत् है और **'वासुदेवः'** सत् है। असत्का भाव विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि

१-गीतामें भगवान्ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग केवल भक्तके लिये ही किया है। जो भक्तिमार्गपर चलते हैं, उन साधकोंको भी महात्मा कहा है—'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः' (९। १३), जो भगवान्से अभिन्न हो गये हैं, उनको भी महात्मा कहा है—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' (७। १९), और जो परमसिद्धि (परमप्रेम)-को प्राप्त हो चुके हैं, उनको भी महात्मा कहा है—'नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः' (८। १५)। इसी तरह गीतामें भगवान्ने 'सुकृतिनः' (७। १६), 'उदाराः' (७। १८), 'सुदुर्लभः' (७। १९), 'युक्ततमः' (६। ४७; १२। २), 'अद्वेष्टा', 'मैत्रः', 'करुणः' (१२। १३), 'अतीव मे प्रियाः' (१२। २०) आदि पदोंका प्रयोग भी केवल भक्तके लिये ही किया है।

२-द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' ग्रन्थमें लेख-संख्या ९९—'गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिंगता'।

सत्-ही-सत् है, असत् है ही नहीं। वासुदेव-ही-वासुदेव है, '**सर्वम्**' है ही नहीं। परन्तु कहने, सुनने, पढ़नेवाले साधकोंकी दृष्टिमें '**सर्वम्**' (संसार) रहता है, इसलिये भगवान् '**सर्वम्**' की धारणा मिटानेके लिये '**वासुदेवः सर्वम्**' कहते हैं।

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, लययोगी, हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी, अनासक्तयोगी आदि अनेक तरहके योगी हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है, पर उनको भगवान् अत्यन्त दुर्लभ नहीं बताते हैं, प्रत्युत 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको ही अत्यन्त दुर्लभ बताते हैं।

भगवान् सम्पूर्ण संसारके बीज हैं—'**यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन**' (गीता १०। ३९), '**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**' (गीता ७। १०)। बीजसे जितनी चीजें पैदा होती हैं, वे सब बीजरूप ही होती हैं। जैसे, गेहूँसे पैदा होनेवाली खेतीको भी गेहूँ ही कहते हैं। किसानलोग कहते हैं कि गेहूँकी खेती बहुत अच्छी हुई है! देखो, खेतमें गेहूँ खड़े हैं, गेहूँसे खेत भरा है! परन्तु कोई शहरमें रहनेवाला व्यापारी हो, वह उसको गेहूँ कैसे मान लेगा? वह कहेगा कि मैंने बोरे-के-बोरे गेहूँ खरीदा और बेचा है, क्या मैं नहीं जानता कि गेहूँ कैसा होता है? यह तो घास है, डंठल और पत्ती है, यह गेहूँ नहीं है। परन्तु खेती करनेवाला जानकार आदमी तो यही कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जो पशु खाया करते हैं; यह तो गेहूँ है। खेतीको गाय खा जाती है तो कहते हैं कि तुम्हारी गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि उसने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया। खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी न दीखे, पर यह गेहूँ है—इसमें सन्देह नहीं होता। कारण कि यह पहले भी गेहूँ ही था, अन्तमें भी गेहूँ रहेगा; अतः बीचमें खेतीरूपसे अलग दीखते हुए भी गेहूँ ही है। अभी तो यह हरी-हरी घास दीखती है, पर बादमें पकनेपर इससे गेहूँ ही निकलेगा। इसी तरह संसारके पहले भी परमात्मा थे—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १), अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। अतः बीचमें भी सब कुछ परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**।

जबतक साधकमें अहम् है, तबतक वह भोगी है। मैं योगी हूँ—यह योगका भोग है, मैं ज्ञानी हूँ—यह ज्ञानका भोग है, मैं प्रेमी हूँ—यह प्रेमका भोग है। जबतक साधकमें भोग रहता है, तबतक उसके पतनकी सम्भावना रहती है। जो योगका भोगी है, वह कभी विषयोंका भोगी भी हो सकता है; जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भोगी भी हो सकता है और जो प्रेमका भोगी है, वह कभी रागका भोगी भी हो सकता है। कारण कि उसमें पहलेसे भोगकी प्रवृत्ति, आदत रही है। जब भोगी नहीं रहता, तब केवल योग रहता है। योग रहनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परन्तु मुक्त होनेपर भी महापुरुषने जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है, उस साधनका एक संस्कार (अहम्की सूक्ष्म गन्ध) रह जाता है, जो दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होने देता। इस संस्कारके कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अपने मतका संस्कार दूसरे दार्शनिकोंके मतोंका समान आदर नहीं करने देता। परन्तु प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अपने मतका संस्कार भी नहीं रहता और सबके साथ एकता हो जाती है अर्थात् सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जाता है। वास्तवमें '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाला, इसको जाननेवाला, कहनेवाला भी नहीं रहता, प्रत्युत एक वासुदेव ही रहता है, जो अनादिकालसे ज्यों-का-त्यों है। सबमें परमात्माको देखनेसे सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव हो जाता है; क्योंकि अपने इष्ट परमात्मासे विरोध सम्भव ही नहीं है—'**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध**' (मानस, उत्तर० ११२ ख)।

ईश्वर और जीवके विषयमें दो तरहका वर्णन है—(१) ईश्वर समुद्र है और जीव उसकी तरंग है अर्थात् तरंग समुद्रकी है और (२) जीव (स्वरूप) समुद्र है और ईश्वर उसकी तरंग है अर्थात् समुद्र तरंगका है। इन दोनोंमें तरंग समुद्रकी है—ऐसा मानना ही ठीक दीखता है। समुद्र तरंगका है—ऐसा मानना ठीक नहीं दीखता; क्योंकि समुद्र अपेक्षाकृत नित्य है और तरंग अनित्य (क्षणभंगुर) है। अतः तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं होता। अगर अपनेको समुद्र और ईश्वरको तरंग मानें तो इस मान्यतासे अनर्थ होगा; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान पैदा हो जायगा तथा अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) तो नित्य रहेगा और ईश्वर अनित्य हो जायगा! कारण कि जीवमें अनादिकालसे अहम्-(व्यक्तित्व-) का अभ्यास पड़ा हुआ है। अतः जहाँ स्वरूपको अहम् कहेंगे, वहाँ वही अहम् आयेगा, जो अनादिकालसे है। उस अहम्के मिटनेसे ही मुक्ति होती है। उपर्युक्त दोनों बातोंके सिवाय तीसरी एक विलक्षण बात है कि जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है अर्थात् वहाँ समुद्र और तरंगका भेद नहीं है। यही वास्तविक बात है। समुद्र

और तरंग तो सापेक्ष हैं, पर जल-तत्त्व निरपेक्ष है।

जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र, नदी, वर्षा, ओस, कोहरा, भाप, बादल आदि सब मिटकर एक हो जाते हैं, ऐसे ही **'वासुदेवः सर्वम्'** में सभी साधन, योगमार्ग मिटकर एक (वासुदेवरूप) हो जाते हैं। जैसे जल-तत्त्वमें कोई भेद नहीं है, ऐसे ही **'वासुदेवः सर्वम्'** में कोई भेद नहीं है। मतभेदसे असन्तोष होता है, पर **'वासुदेवः सर्वम्'** में कोई मतभेद न होनेसे सबको सर्वथा सन्तोष हो जाता है। **'वासुदेवः सर्वम्'** में न योगी है, न ज्ञानी है, न प्रेमी है, इसलिये इसका अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

एक ही जल बर्फ, कोहरा, बादल, ओला, वर्षा, नदी, तालाब, समुद्र आदि अनेक रूपोंमें हो जाता है। कड़ाहीमें बर्फ डालकर उसको अग्निपर रखा जाय तो बर्फ पिघलकर पानी हो जायगी। फिर पानी भी भाप हो जायगा और भाप परमाणु होकर निराकार हो जायगा। जल ही कोहरारूपसे होता है, वही बादलरूपसे होता है, वही निराकाररूपसे होता है, वही बर्फरूपसे होता है, वही ओलारूपसे होता है, वही वर्षारूप होकर पृथ्वीपर बरसता है, वही नदीरूपसे होता है, वही समुद्ररूपसे होता है। अनेक रूपसे होनेपर भी तत्त्वसे जल एक ही रहता है। इसी तरह एक ही भगवान् अनेक रूपसे बन जाते हैं। जैसे जल ठण्डकसे जमकर बर्फ हो जाता है और गरमीसे पिघलकर तथा भाप बनकर परमाणुरूप हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानरूपी ठण्डकसे भगवान् स्थूल तथा जड़ संसाररूपसे दीखते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे सूक्ष्म तथा चेतन वासुदेवरूपसे दीखते हैं। जल चाहे बर्फरूपसे दीखे, चाहे भाप, बादल आदि रूपोंसे दीखे, है वह जल ही। जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसे ही भगवान् चाहे संसाररूपसे दीखें, चाहे अन्य रूपोंसे दीखें, हैं वे भगवान् ही। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है।

साधकसे एक गलती होती है कि वह अपनेको अलग रखकर संसारको भगवत्स्वरूप देखनेकी चेष्टा करता है अर्थात् **'वासुदेवः सर्वम्'** को अपनी बुद्धिका विषय बनाता है। वास्तवमें दीखनेवाला संसार ही भगवत्स्वरूप नहीं है, प्रत्युत देखनेवाला भी भगवत्स्वरूप है—**'सकलमिदमहं च वासुदेवः'** (विष्णुपुराण ३। ७। ३२)। अतः साधकको ऐसा मानना चाहिये कि अपनी देहसहित सब कुछ भगवान् ही हैं अर्थात् शरीर भी भगवत्स्वरूप है, इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूप हैं, मन भी भगवत्स्वरूप है, बुद्धि भी भगवत्स्वरूप है, प्राण भी भगवत्स्वरूप हैं और अहम् (मैंपन) भी भगवत्स्वरूप है। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको माननेके लिये साधकको बुद्धिसे जोर नहीं लगाना चाहिये, प्रत्युत सहजरूपसे जैसा है, वैसा स्वीकार कर लेना चाहिये। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

जब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा निश्चय हो जाय, तब साधक इस अध्यात्मविद्या-(ब्रह्मविद्या-) के द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह भगवान्‌को भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् भगवान् ही दीखने लगें।

तात्पर्य है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस भावसे भी उपराम हो जाय अर्थात् न द्रष्टा (देखनेवाला) रहे, न दृश्य (दीखनेवाला) रहे और न दर्शन (देखनेकी वृत्ति) ही रहे, केवल भगवान् ही रहें।

'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव अनेक दृष्टियोंसे हो सकता है; जैसे—

(१) क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिका तो आदि और अन्त होता है, पर सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है। इसलिये मनुष्यमात्रको क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिके अभावका तो अनुभव होता है, पर अपनी सत्ताके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। इस नित्य-निरन्तर रहनेवाली सत्ताका अनुभव होना विवेककी दृष्टिसे **'वासुदेवः सर्वम्'** है।

(२) सृष्टिसे पहले भी केवल भगवान् थे और पीछे भी केवल भगवान् रहेंगे, फिर बीचमें भगवान्‌के सिवाय दूसरा कैसे आ सकता है?—यह युक्तिकी दृष्टिसे **'वासुदेवः सर्वम्'** है।

(३) मेरे तो एक भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय मेरा कोई है ही नहीं और कोई है तो होगा, हमें उससे क्या मतलब?—यह सीधे-सरल, विश्वासी भक्तोंकी दृष्टिसे **'वासुदेवः सर्वम्'** है। जैसे, व्रजमें एक साधु कुएँपर किसीसे बातें कर रहा था कि ब्रह्म ऐसा होता है, जीव ऐसा होता है आदि-आदि। वहाँ जल भरनेके लिये आयी एक गोपीने ये बातें

सुनीं तो उसने दूसरी गोपीसे पूछा—अरी वीर! ये ब्रह्म, जीव आदि क्या होते हैं? वह गोपी बोली कि ये हमारे लालाके ही कोई सगे-सम्बन्धी होंगे, तभी साधुलोग उनकी बात करते हैं, नहीं तो साधुओंको लालाके सिवाय औरसे क्या मतलब?

(४) जिसके भीतर भगवत्तत्त्वको जाननेकी व्याकुलता है, दिनमें भूख नहीं लगती, रातमें नींद नहीं आती, वह किसी सन्तसे सुनकर अथवा पुस्तकमें पढ़कर दृढ़तापूर्वक मान लेता है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान् कैसे हैं—इसका तो पता नहीं, पर भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—यह सन्तके वचनोंपर विश्वासकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' है। सन्त-वचनपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास होनेपर फिर वैसा ही दीखने लग जाता है अर्थात् अनुभव हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टिसे विचार करें तो सत्ता एक ही हो सकती है, दो नहीं। श्रद्धा-विश्वास (भक्ति) की दृष्टिसे देखें तो सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। भक्तकी दृष्टि भगवान्‌को छोड़कर दूसरी तरफ जाती ही नहीं और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसकी दृष्टिमें आता ही नहीं।

सम्बन्ध—जो भगवान्‌की महत्ताको समझकर भगवान्‌की शरण होते हैं, ऐसे भक्तोंका वर्णन सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक करनेके बाद अब भगवान् आगेके तीन श्लोकोंमें देवताओंके शरण होनेवाले मनुष्योंका वर्णन करते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

परन्तु—

तैः, तैः	= उन-उन	**प्रकृत्या**	= प्रकृति अर्थात् स्वभावसे		उन-उन
कामैः	= कामनाओंसे			**नियमम्**	= नियमोंको
हृतज्ञानाः	= जिनका ज्ञान हरा गया है, (ऐसे मनुष्य)	**नियताः**	= नियन्त्रित होकर	**आस्थाय**	= धारण करते हुए
		तम्, तम्	= उस-उस अर्थात् देवताओंके	**अन्यदेवताः**	= अन्य देवताओंके
स्वया	= अपनी-अपनी			**प्रपद्यन्ते**	= शरण हो जाते हैं।[1]

व्याख्या—'**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**'—उन-उन अर्थात् इस लोकके और परलोकके भोगोंकी कामनाओंसे जिनका ज्ञान ढक गया है, आच्छादित हो गया है। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये जो विवेकयुक्त मनुष्यशरीर मिला है, उस शरीरमें आकर परमात्माकी प्राप्ति न करके वे अपनी कामनाओंकी पूर्ति करनेमें ही लगे रहते हैं।

संयोगजन्य सुखकी इच्छाको कामना कहते हैं। कामना दो तरहकी होती है—यहाँके भोग भोगनेके लिये धन-संग्रहकी कामना और स्वर्गादि परलोकके भोग भोगनेके लिये पुण्य-संग्रहकी कामना।

धन-संग्रहकी कामना दो तरहकी होती है—पहली, यहाँ चाहे जैसे भोग भोगें; चाहे जब, चाहे जहाँ और चाहे जितना धन खर्च करें, सुख-आरामसे दिन बीतें आदिके लिये अर्थात् संयोगजन्य सुखके लिये धन-संग्रहकी कामना होती है और दूसरी, मैं धनी हो जाऊँ, धनसे मैं बड़ा बन जाऊँ आदिके लिये अर्थात् अभिमानजन्य सुखके लिये धन-संग्रहकी कामना होती है। ऐसे ही पुण्य-संग्रहकी कामना भी दो तरहकी होती है—पहली, यहाँ मैं पुण्यात्मा कहलाऊँ और दूसरी, परलोकमें मेरेको भोग मिलें। इन सभी कामनाओंसे सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सार-असार, बन्ध-मोक्ष आदिका विवेक आच्छादित हो जाता है। विवेक आच्छादित होनेसे वे यह समझ ही नहीं पाते कि जिन पदार्थोंकी हम कामना कर रहे हैं, वे पदार्थ हमारे साथ कबतक रहेंगे और हम उन पदार्थोंके साथ कबतक रहेंगे?

'**प्रकृत्या नियताः स्वया**'[2]—कामनाओंके कारण विवेक ढका जानेसे वे अपनी प्रकृतिसे नियन्त्रित रहते हैं

१-इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें वर्णित पुरुषोंका ज्ञान तो मायासे ढका हुआ है और यहाँ वर्णित पुरुषोंका ज्ञान कामनासे ढका हुआ है। वहाँके पुरुष तो कामनापूर्तिके लिये जड-पदार्थोंका आश्रय लेते हैं और यहाँके पुरुष कामनापूर्तिके लिये देवताओंका आश्रय लेते हैं। वहाँके पुरुष दुष्टताके कारण नरकोंमें जाते हैं और यहाँके पुरुष कामनाके कारण बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं।

२-यहाँ जो 'प्रकृत्या नियताः स्वया' कहा है, इसीको सत्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' कहा है।

अर्थात् अपने स्वभावके परवश रहते हैं। यहाँ 'प्रकृति' शब्द व्यक्तिगत स्वभावका वाचक है, समष्टि प्रकृतिका वाचक नहीं। यह व्यक्तिगत स्वभाव सबमें मुख्य होता है—'**स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।**' अतः व्यक्तिगत स्वभावको कोई छोड़ नहीं सकता—'**या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते।**' परन्तु इस स्वभावमें जो दोष हैं, उनको तो मनुष्य छोड़ ही सकता है, अगर उन दोषोंको मनुष्य छोड़ नहीं सकता, तो फिर मनुष्यजन्मकी महिमा ही क्या हुई? मनुष्य अपने स्वभावको निर्दोष, शुद्ध बनानेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। परन्तु जबतक मनुष्यके भीतर कामनापूर्तिका उद्देश्य रहता है, तबतक वह अपने स्वभावको सुधार नहीं सकता और तभीतक स्वभावकी प्रबलता और अपनेमें निर्बलता दीखती है। परन्तु जिसका उद्देश्य कामना मिटानेका हो जाता है, वह अपनी प्रकृति-(स्वभाव-) का सुधार कर सकता है अर्थात् उसमें प्रकृतिकी परवशता नहीं रहती।

'**तं तं नियममास्थाय**'—कामनाओंके कारण अपनी प्रकृतिके परवश होनेपर मनुष्य कामनापूर्तिके अनेक उपायोंको और विधियों (नियमों-) को ढूँढ़ता रहता है। अमुक यज्ञ करनेसे कामना पूरी होगी कि अमुक तप करनेसे? अमुक दान देनेसे कामना पूरी होगी कि अमुक मन्त्रका जप करनेसे? आदि-आदि उपाय खोजता रहता है। उन उपायोंकी विधियाँ अर्थात् नियम अलग-अलग होते हैं। जैसे—अमुक कामनापूर्तिके लिये अमुक विधिसे यज्ञ आदि करना चाहिये और अमुक स्थानपर करना चाहिये आदि-आदि। इस तरह मनुष्य अपनी कामनापूर्तिके लिये अनेक उपायों और नियमोंको धारण करता है।

'**प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः**'—कामनापूर्तिके लिये अनेक उपायों और नियमोंको धारण करके मनुष्य अन्य देवताओंकी शरण लेते हैं, भगवान्‌की शरण नहीं लेते। यहाँ '**अन्यदेवताः**' कहनेका तात्पर्य है कि वे देवताओंको भगवत्स्वरूप नहीं मानते हैं, प्रत्युत उनकी अलग सत्ता मानते हैं, इसीसे उनको अन्तवाला (नाशवान्) फल मिलता है—'**अन्तवत्तु फलं तेषाम्**' (गीता ७। २३)। अगर वे देवताओंकी अलग सत्ता न मानकर उनको भगवत्स्वरूप ही मानें तो फिर उनको अन्तवाला फल नहीं मिलेगा, प्रत्युत अविनाशी फल मिलेगा।

यहाँ देवताओंकी शरण लेनेमें दो कारण मुख्य हुए—एक कामना और एक अपने स्वभावकी परवशता।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌के अर्थार्थी और आर्त भक्तोंमें जो कामनाएँ हैं, वही कामनाएँ इस श्लोकमें वर्णित मनुष्योंमें भी हैं। परन्तु दोनोंमें फर्क यह है कि अर्थार्थी और आर्त भक्तोंमें कामनाकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की मुख्यता है, इसलिये वे '**हृतज्ञानाः**' नहीं हैं। परन्तु यहाँ वर्णित मनुष्योंमें कामनाकी मुख्यता है; इसलिये ये '**हृतज्ञानाः**' हैं।

अर्थार्थी और आर्त भक्त तो केवल भगवान्‌के ही शरण होते हैं, पर ये मनुष्य भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंके शरण होते हैं। कामनाएँ, देवता, मनुष्य और नियम—ये सभी अनेक हुआ करते हैं। अगर अनेक कामनाएँ होनेपर भी उपास्यदेव एक परमात्मा हों तो वे उपासकका उद्धार कर देंगे। परन्तु कामनाएँ भी अनेक हों और उपास्यदेव भी अनेक हों तो उद्धार कौन करेगा?

एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—यह ज्ञान सुखकी कामनाके कारण ढक जाता है। यह कामना न तो प्रकृतिकी बनायी हुई है और न परमात्माकी बनायी हुई है, प्रत्युत मनुष्यकी अपनी बनायी हुई है। इसलिये इसको मिटानेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। '**हृतज्ञानाः**' कहनेका तात्पर्य है कि यह ज्ञान नष्ट नहीं हुआ है, प्रत्युत कामनाके कारण हरा गया है। इस बातको गीतामें '**माययापहृतज्ञानाः**' (७। १५), '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**' (५। १५) आदि पदोंसे भी कहा गया है।

इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें आये '**माययापहृतज्ञानाः**' पदमें तमोगुणकी प्रधानता और रजोगुणकी गौणता है, पर यहाँ आये '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' पदमें रजोगुणकी प्रधानता और तमोगुणकी गौणता है। '**माययापहृतज्ञानाः**' पदमें अर्थकी इच्छा मुख्य है और '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' पदमें भोगोंकी इच्छा मुख्य है। दोनोंमें फर्क यह है कि मायासे अपहृत ज्ञानवाले मनुष्य देवताओंका पूजन नहीं करते, पर कामनाओंसे अपहृत ज्ञानवाले मनुष्य देवताओंका पूजन कर सकते हैं। कारण कि अर्थसे अरुचि नहीं होती—'**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई**', पर भोगोंसे अरुचि होती ही है। '**माययापहृतज्ञानाः**' में तो आसुरभावका, झूठ, कपट, बेईमानी आदिका आश्रय है, पर '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' में

'स्वया' कहनेका तात्पर्य है कि अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार सबकी कामनाएँ भी अलग-अलग होती हैं।

देवताओंका आश्रय है। अतः **'माययापहृतज्ञानाः'** में तो विशेष जड़ता है, पर **'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः'** में उनकी अपेक्षा चेतनता है[१]।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

यः, यः	= जो-जो	**अर्चितुम्**	= पूजन करना	**अहम्**	= मैं
भक्तः	= भक्त	**इच्छति**	= चाहता है,	**ताम्**	= उसी
याम्, याम्[२]	= जिस-जिस	**तस्य, तस्य**	= उस-उस देवतामें	**श्रद्धाम्**	= श्रद्धाको
तनुम्	= देवताका			**अचलाम्**	= दृढ़
श्रद्धया	= श्रद्धापूर्वक	**एव**	= ही	**विदधामि**	= कर देता हूँ।

व्याख्या—**'यो यो यां यां तनुं भक्तः ...... तामेव विदधाम्यहम्'**—जो-जो मनुष्य जिस-जिस देवताका भक्त होकर श्रद्धापूर्वक यजन-पूजन करना चाहता है, उस-उस मनुष्यकी श्रद्धा उस-उस देवताके प्रति मैं अचल (दृढ़) कर देता हूँ। वे दूसरोंमें न लगकर मेरेमें ही लग जायँ—ऐसा मैं नहीं करता। यद्यपि उन-उन देवताओंमें लगनेसे कामनाके कारण उनका कल्याण नहीं होता, फिर भी मैं उनको उनमें लगा देता हूँ, तो जो मेरेमें श्रद्धा-प्रेम रखते हैं, अपना कल्याण करना चाहते हैं, उनकी श्रद्धाको मैं अपने प्रति दृढ़ कैसे नहीं करूँगा अर्थात् अवश्य करूँगा। कारण कि मैं प्राणिमात्रका सुहृद् हूँ—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९)।

इसपर यह शंका होती है कि आप सबकी श्रद्धा अपनेमें ही दृढ़ क्यों नहीं करते? इसपर भगवान् मानो यह कहते हैं कि अगर मैं सबकी श्रद्धाको अपने प्रति दृढ़ करूँ तो मनुष्यजन्मकी स्वतन्त्रता, सार्थकता ही कहाँ रही? तथा मेरी स्वार्थपरताका त्याग कहाँ हुआ? अगर लोगोंको अपनेमें ही लगानेका मेरा आग्रह रहे, तो यह कोई बड़ी बात नहीं है; क्योंकि ऐसा बर्ताव तो दुनियाके सभी स्वार्थी जीवोंका स्वाभाविक होता है। अतः मैं इस स्वार्थपरताको मिटाकर ऐसा स्वभाव सिखाना चाहता हूँ कि कोई भी मनुष्य पक्षपात करके दूसरोंसे केवल अपनी पूजा-प्रतिष्ठा करवानेमें ही न लगा रहे और किसीको पराधीन न बनाये।

अब दूसरी शंका यह होती है कि आप उनकी श्रद्धाको उन देवताओंके प्रति दृढ़ कर देते हैं, इससे आपकी साधुता तो सिद्ध हो गयी, पर उन जीवोंका तो आपसे विमुख होनेसे अहित ही हुआ? इसका समाधान यह है कि अगर मैं उनकी श्रद्धाको दूसरोंसे हटाकर अपनेमें लगानेका भाव रखूँगा तो उनकी मेरेमें अश्रद्धा हो जायगी। परन्तु अगर मैं अपनेमें लगानेका भाव नहीं रखूँगा और उनको स्वतन्त्रता दूँगा, तो उस स्वतन्त्रताको पानेवालोंमें जो बुद्धिमान् होंगे, वे मेरे इस बर्तावको देखकर मेरी तरफ ही आकृष्ट होंगे। अतः उनके उद्धारका यही तरीका बढ़िया है।

अब तीसरी शंका यह होती है कि जब आप स्वयं उनकी श्रद्धाको दूसरोंमें दृढ़ कर देते हैं, तो फिर उस श्रद्धाको कोई मिटा ही नहीं सकता। फिर तो उसका पतन ही होता चला जायगा? इसका समाधान यह है कि मैं उनकी श्रद्धाको देवताओंके प्रति ही दृढ़ करता हूँ, दूसरोंके प्रति नहीं—ऐसी बात नहीं है। मैं तो उनकी इच्छाके अनुसार ही उनकी श्रद्धाको दृढ़ करता हूँ और अपनी इच्छाको बदलनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, योग्य है। इच्छाको बदलनेमें वे परवश, निर्बल और अयोग्य नहीं हैं। अगर इच्छाको बदलनेमें वे परवश होते तो फिर मनुष्यजन्मकी महिमा ही कहाँ रही? और इच्छा (कामना-) का त्याग करनेकी आज्ञा भी मैं कैसे दे सकता था—**'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'** (गीता ३। ४३)?

१-जो अपनेको तथा दूसरेको भी जाने, वह 'चेतन' है और जो अपनेको तथा दूसरेको भी नहीं जाने, वह 'जड़' है।

२-जैसे यहाँ 'यो यः, यां याम्' आया है, ऐसे ही आठवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'यं यं वापि स्मरन्भावम्' आया है। दो बार 'यत्' शब्दका अर्थात् 'यो यः' 'यां याम्' और 'यं यम्' शब्दोंका प्रयोग करनेका तात्पर्य है कि जैसे मनुष्य उपासना करनेमें स्वतन्त्र है अर्थात् देवताओंकी उपासना करे, चाहे मेरी उपासना करे—इसमें वह स्वतन्त्र है, ऐसे ही अन्तकालमें स्मरण करनेमें भी मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है अर्थात् मेरा स्मरण करे चाहे किसी औरका स्मरण करे—इसमें वह स्वतन्त्र है।

परिशिष्ट भाव—प्राय: मनुष्य दूसरे मनुष्योंको अपनी तरफ लगाना चाहते हैं, अपना शिष्य या दास बनाना चाहते हैं, अपने सम्प्रदायमें लाना चाहते हैं, अपनेमें श्रद्धा करवाना चाहते हैं, अपना पूजन, आदर, मान-सम्मान करवाना चाहते हैं, अपनी बात मनवाना चाहते हैं। परन्तु भगवान् सर्वोपरि होते हुए भी किसीको अपने अधीन नहीं बनाते, प्रत्युत जो जहाँ श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको वहीं दृढ़ कर देते हैं—यह भगवान्‌की कितनी उदारता है, निष्पक्षता है!

भगवान्‌की दृष्टिमें सब कुछ उनका ही स्वरूप है—**'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति'**। इसलिये भगवान्‌में किसीके प्रति किंचिन्मात्र भी पक्षपात नहीं है। परन्तु भगवान्‌का यह पक्षपातरहित स्वभाव सहज ही समझमें नहीं आता, प्रत्युत गहरा विचार करनेसे ही समझमें आता है। अगर यह स्वभाव किसीकी समझमें आ जाय तो वह भगवान्‌का भक्त हो जायगा—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(मानस, सुन्दर० ३४। २)

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता १५। १९)

दूसरेको अपना दास वही बनाता है, जिसमें कोई कमी है। भगवान्‌में कोई कमी है ही नहीं, इसलिये वे अपनी तरफसे किसीको अपना दास (अधीन) कैसे बना सकते हैं? परन्तु कोई उनका दास बनना चाहे तो वे मना नहीं करते और दयापूर्वक उसको दास स्वीकार कर लेते हैं। यह उनकी विशेष उदारता है! जैसे छोटे-से बालकको देखकर कोई व्यक्ति रीझ जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उस बालकसे उसका कोई स्वार्थभाव है। ऐसे ही जो भगवान्‌का दास बनता है, उसके सरलभावसे भगवान् रीझ जाते हैं—**'मोरें अधिक दास पर प्रीती'** (मानस, उत्तर० १६। ४)। गीताके अठारहवें अध्यायमें जब भगवान्‌के द्वारा **'यथेच्छसि तथा कुरु'** सुनकर अर्जुन घबरा गये, तब भगवान् दयापरवश होकर अर्जुनसे बोले कि तू मेरी शरणमें आ जा—**'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६) परन्तु ऐसा कहनेसे पहले भगवान्‌ने कहा कि यह सबसे अत्यन्त गोपनीय बात है (अठारहवें अध्यायका चौंसठवाँ श्लोक) और बादमें भी कहा कि इसे हर किसीको मत कहना (अठारहवें अध्यायका सड़सठवाँ श्लोक)। इससे सिद्ध होता है कि दूसरेको अपना दास बनानेकी नीयत न होनेपर भी अगर कोई दूसरा सहारा न मिलनेपर मनुष्य घबरा जाय और उनका दास बनना चाहे तो भगवान् दयापरवश होकर उसको स्वीकार कर लेते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो किसी देवतापर श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको भगवान् उस देवतामें दृढ़ कर देते हैं और जो भगवान्‌पर श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको भगवान् अपनेमें दृढ़ कर दें—इसमें सन्देह ही क्या है! कारण कि भगवान्‌की दृष्टि भक्तके हितके लिये होती है, अपने स्वार्थके लिये नहीं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

तया	= उस (मेरे द्वारा दृढ़ की हुई)
श्रद्धया	= श्रद्धासे
युक्तः	= युक्त होकर
सः	= वह मनुष्य
तस्य	= उस देवताकी
आराधनम्	= (सकाम-भावपूर्वक) उपासना
ईहते	= करता है
च	= और
ततः	= उसकी
कामान्	= वह कामना
लभते	= पूरी भी होती है;
हि	= परन्तु
तान्	= वह कामना-पूर्ति
मया	= मेरे द्वारा
एव	= ही
विहितान्	= विहित की हुई होती है।

व्याख्या—**'स तया श्रद्धया युक्तः .... मयैव विहितान्हि तान्'**—मेरे द्वारा दृढ़ की हुई श्रद्धासे सम्पन्न हुआ वह मनुष्य उस देवताकी आराधनाकी चेष्टा करता है और उस देवतासे जिस कामनापूर्तिकी आशा रखता है, उस कामनाकी पूर्ति होती है। यद्यपि वास्तवमें उस कामनाकी पूर्ति मेरे द्वारा ही की हुई होती है; परन्तु वह उसको देवतासे ही पूरी की हुई मानता है। वास्तवमें देवताओंमें मेरी ही शक्ति है और मेरे ही विधानसे वे उनकी कामनापूर्ति करते हैं।

जैसे सरकारी अफसरोंको एक सीमित अधिकार दिया जाता है कि तुमलोग अमुक विभागमें अमुक अवसरपर

इतना खर्च कर सकते हो, इतना इनाम दे सकते हो। ऐसे ही देवताओंमें एक सीमातक ही देनेकी शक्ति होती है; अतः वे उतना ही दे सकते हैं, अधिक नहीं। देवताओंमें अधिक-से-अधिक इतनी शक्ति होती है कि वे अपने-अपने उपासकोंको अपने-अपने लोकोंमें ले जा सकते हैं। परन्तु अपनी उपासनाका फल भोगनेपर उनको वहाँसे लौटकर पुनः संसारमें आना पड़ता है (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

यहाँ '**मयैव**' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें स्वतः जो कुछ संचालन हो रहा है, वह सब मेरा ही किया हुआ है। अतः जिस किसीको जो कुछ मिलता है, वह सब मेरे द्वारा विधान किया हुआ ही मिलता है। कारण कि मेरे सिवाय विधान करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। अगर कोई मनुष्य इस रहस्यको समझ ले, तो फिर वह केवल मेरी तरफ ही खिंचेगा।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने सब देवताओंको अलग-अलग और सीमित अधिकार दिये हुए हैं। परन्तु भगवान्‌का अधिकार असीम है। भगवान्‌में यह विशेषता है कि वे किसीपर शासन नहीं करते, किसीको अपना गुलाम नहीं बनाते, किसीको अपना चेला नहीं बनाते, प्रत्युत हर एकको अपना मित्र बनाते हैं, अपने समान बनाते हैं। जैसे, निषादराज सिद्ध भक्त था, विभीषण साधक था और सुग्रीव विषयी था, पर भगवान् श्रीरामने तीनोंको ही अपना सखा बनाया। यह विशेषता देवताओं आदि किसीमें भी नहीं है। इसलिये वेदोंमें भी भगवान्‌को जीवका सखा बताया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३। १। १, श्वेता० ४। ६)

गीतामें भी भगवान्‌ने अर्जुनको कहा है—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' (४। ३)। यहाँ भगवान्‌ने 'भक्त' तो अर्जुनकी दृष्टिसे कहा है*, पर अपनी दृष्टिसे 'सखा' कहा है। '**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)—इन पदोंमें भी भगवान्‌ने '**एव**' पदसे जीवको साक्षात् अपना स्वरूप बताया है। यह मेरा ही अंश है—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि इसमें प्रकृतिका अंश बिलकुल नहीं है।

सम्बन्ध—अब भगवान् उपासनाके अनुसार फलका वर्णन करते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

तु	= परन्तु	**अन्तवत्**	= अन्तवाला (नाशवान्) ही	**यान्ति**	= प्राप्त होते हैं (और)
तेषाम्	= उन	**भवति**	= मिलता है।	**मद्भक्ताः**	= मेरे भक्त
अल्पमेधसाम्	= तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्योंको	**देवयजः**	= देवताओंका पूजन करनेवाले	**माम्**	= मुझे
तत्	= उन देवताओंकी आराधनाका			**अपि**	= ही
फलम्	= फल	**देवान्**	= देवताओंको	**यान्ति**	= प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—'**अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्**'—देवताओंकी उपासना करनेवाले अल्पबुद्धियुक्त मनुष्योंको अन्तवाला अर्थात् सीमित और नाशवान् फल मिलता है। यहाँ शंका होती है कि भगवान्‌के द्वारा विधान किया हुआ फल तो नित्य ही होना चाहिये, फिर उनको अनित्य फल क्यों मिलता है? इसका समाधान यह है कि एक तो उनमें नाशवान् पदार्थोंकी कामना है और दूसरी बात, वे देवताओंको भगवान्‌से अलग मानते हैं। इसलिये उनको नाशवान् फल मिलता है। परन्तु उनको दो उपायोंसे अविनाशी फल मिल सकता है—एक तो वे कामना न रखकर (निष्कामभावसे) देवताओंकी उपासना करें तो उनको अविनाशी फल मिल जायगा और दूसरा, वे देवताओंको भगवान्‌से भिन्न न समझकर, अर्थात् भगवत्स्वरूप ही समझकर उनकी उपासना करें तो यदि कामना रह भी जायगी, तो भी समय पाकर उनको अविनाशी फल मिल सकता है अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

*** अर्जुनकी दृष्टिसे इसलिये 'भक्त' कहा कि अर्जुनने भगवान्‌की शरणागति स्वीकार की थी—'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (गीता २। ७)**

यहाँ '**तत्**' कहनेका तात्पर्य है कि फल तो मेरा विधान किया हुआ ही मिलता है, पर कामना होनेसे वह नाशवान् हो जाता है।

यहाँ '**अल्पमेधसाम्**' कहनेका तात्पर्य है कि उनको नियम तो अधिक धारण करने पड़ते हैं तथा विधियाँ भी अधिक करनी पड़ती हैं, पर फल मिलता है सीमित और अन्तवाला। परन्तु मेरी आराधना करनेमें इतने नियमोंकी जरूरत नहीं है तथा उतनी विधियोंकी भी आवश्यकता नहीं है, पर फल मिलता है असीम और अनन्त। इस तरह देवताओंकी उपासनामें नियम हों अधिक, फल हो थोड़ा और हो जाय जन्म-मरणरूप बन्धन और मेरी आराधनामें नियम हों कम, फल हो अधिक और हो जाय कल्याण—ऐसा होनेपर भी वे उन देवताओंकी उपासनामें लगते हैं और मेरी उपासनामें नहीं लगते। इसलिये उनकी बुद्धि अल्प है, तुच्छ है।

'**देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि**'—देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले मेरेको ही प्राप्त होते हैं। यहाँ '**अपि**' पदसे यह सिद्ध होता है कि मेरी उपासना करनेवालोंकी कामनापूर्ति भी हो सकती है और मेरी प्राप्ति तो हो ही जाती है अर्थात् मेरे भक्त सकाम हों या निष्काम, वे सब-के-सब मेरेको ही प्राप्त होते हैं। परन्तु भगवान्की उपासना करनेवालोंकी सभी कामनाएँ पूरी हो जायँ, यह नियम नहीं है। भगवान् उचित समझें तो पूरी कर भी दें और न भी करें अर्थात् उनका हित होता हो तो पूरी कर देते हैं और अहित होता हो तो कितना ही पुकारनेपर तथा रोनेपर भी पूरी नहीं करते।

यह नियम है कि भगवान्का भजन करनेसे भगवान्के नित्य-सम्बन्धकी स्मृति हो जाती है; क्योंकि भगवान्का सम्बन्ध सदा रहनेवाला है। अत: भगवान्की प्राप्ति होनेपर फिर संसारमें लौटकर नहीं आना पड़ता—'**यद्गत्वा न निवर्तन्ते**' (१५। ६)। परन्तु देवताओंका सम्बन्ध सदा रहनेवाला नहीं है; क्योंकि वह कर्मजनित है। अत: देवता-लोककी प्राप्ति होनेपर संसारमें लौटकर आना ही पड़ता है—'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**' (९। २१)।

मेरा भजन करनेवाले मेरेको ही प्राप्त होते हैं—इसी भावको लेकर भगवान्ने अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चारों प्रकारके भक्तोंको सुकृती और उदार कहा है (सातवें अध्यायका सोलहवाँ और अठारहवाँ श्लोक)।

यहाँ '**मद्भक्ता यान्ति मामपि**' का तात्पर्य है कि जीव कैसे ही आचरणोंवाला क्यों न हो अर्थात् वह दुराचारी-से-दुराचारी क्यों न हो, आखिर है तो मेरा ही अंश। उसने केवल आसक्ति और आग्रहपूर्वक संसारके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया है। अगर संसारकी आसक्ति और आग्रह न हो तो उसे मेरी प्राप्ति हो ही जायगी।

विशेष बात

सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है और भगवान्का विधान भी भगवत्स्वरूप है—ऐसा होते हुए भी भगवान्से भिन्न संसारकी सत्ता मानना और अपनी कामना रखना—ये दोनों ही पतनके कारण हैं। इनमेंसे यदि कामनाका सर्वथा नाश हो जाय तो संसार भगवत्स्वरूप दीखने लग जायगा और यदि संसार भगवत्स्वरूप दीखने लग जाय तो कामना मिट जायगी। फिर मात्र क्रियाओंके द्वारा भगवान्की सेवा होने लग जायगी। अगर संसारका भगवत्स्वरूप दीखना और कामनाका नाश होना—दोनों एक साथ हो जायँ, तो फिर कहना ही क्या है!

परिशिष्ट भाव—देवताओंकी उपासना करनेवाले तो अधिक-से-अधिक देवताओंके पुनरावर्ती लोकोंमें ही जा सकते हैं, पर भगवान्की उपासना करनेवाले भगवान्को ही प्राप्त होते हैं। हाँ, अगर साधककी देवताओंमें भगवद्बुद्धि हो अथवा अपनेमें निष्कामभाव हो तो उसका उद्धार हो जायगा अर्थात् वह भी भगवान्को प्राप्त हो जायगा। परन्तु देवताओंमें भगवद्बुद्धि न हो और अपनेमें निष्कामभाव भी न हो तो उद्धार नहीं होगा।

देवताओंकी उपासनाका दोष यह है कि उसका फल अन्तवाला अर्थात् नाशवान् होता है; क्योंकि देवता खुद भी सीमित अधिकारवाले हैं। अत: जो भगवान्को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अल्प बुद्धिवाले हैं। यदि वे अल्प बुद्धिवाले न होते तो नाशवान् फल देनेवाले देवताओंकी उपासना क्यों करते? भगवान्की ही उपासना करते अथवा देवताओंमें भगवद्बुद्धि करते। भगवान्की उपासना तो बड़ी सुगम है, उसमें विधिकी, नियमकी, परिश्रमकी जरूरत नहीं है। उसमें तो केवल भावकी ही प्रधानता है। परन्तु देवताओंकी उपासनामें क्रिया, विधि और पदार्थकी प्रधानता है।

मनुष्यको संसारकी कितनी ही विद्याओंका, कला-कौशल आदिका ज्ञान हो जाय तो भी वह '**अल्पमेधा**' (तुच्छ

बुद्धिवाला) ही है। वह ज्ञान वास्तवमें अज्ञानको दृढ़ करनेवाला है। परन्तु जिसने भगवान्‌को जान लिया है, उसको किसी सांसारिक विद्या, कला-कौशल आदिका ज्ञान न होनेपर भी वह **'सर्ववित्'** (सब कुछ जाननेवाला) है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)!

सम्बन्ध—यद्यपि देवताओंकी उपासनाका फल सीमित और अन्तवाला होता है, फिर भी मनुष्य उसमें क्यों उलझ जाते हैं, भगवान्‌में क्यों नहीं लगते—इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

अबुद्धयः	= बुद्धिहीन मनुष्य	**भावम्**	= भावको		परमात्मा-) को
मम	= मेरे	**अजानन्तः**	= न जानते हुए	**व्यक्तिम्**	= मनुष्यकी तरह शरीर
परम्	= परम,	**अव्यक्तम्**	= अव्यक्त (मन-इन्द्रियोंसे पर)	**आपन्नम्**	= धारण करनेवाला
अव्ययम्	= अविनाशी (और)				
अनुत्तमम्	= सर्वश्रेष्ठ	**माम्**	= मुझ-(सच्चिदानन्दघन	**मन्यन्ते**	= मानते हैं।

व्याख्या—**'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं .... ममाव्ययमनुत्तमम्'**—जो मनुष्य निर्बुद्धि हैं और जिनकी मेरेमें श्रद्धा-भक्ति नहीं है, वे अल्पमेधाके कारण अर्थात् समझकी कमीके कारण मेरेको साधारण मनुष्यकी तरह अव्यक्तसे व्यक्त होनेवाला अर्थात् जन्मने-मरनेवाला मानते हैं। मेरा जो अविनाशी अव्ययभाव है अर्थात् जिससे बढ़कर दूसरा कोई हो ही नहीं सकता और जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें परिपूर्ण रहता हुआ इन सबसे अतीत, सदा एकरूप रहनेवाला, निर्मल और असम्बद्ध है—ऐसे मेरे अविनाशी भावको वे नहीं जानते और मेरा अवतार लेनेका जो तत्त्व है, उसको नहीं जानते। इसलिये वे मेरेको साधारण मनुष्य मानकर मेरी उपासना नहीं करते, प्रत्युत देवताओंकी उपासना करते हैं।

'अबुद्धयः' पदका यह अर्थ नहीं है कि उनमें बुद्धिका अभाव है, प्रत्युत बुद्धिमें विवेक रहते हुए भी अर्थात् संसारको उत्पत्ति-विनाशशील जानते हुए भी इसे मानते नहीं—यही उनमें बुद्धिरहितपना है, मूढ़ता है।

दूसरा भाव यह है कि कामनाको कोई रख नहीं सकता, कामना रह नहीं सकती; क्योंकि कामना पहले नहीं थी और कामनापूर्तिके बाद भी कामना नहीं रहेगी। वास्तवमें कामनाकी सत्ता ही नहीं है, फिर भी उसका त्याग नहीं कर सकते—यही अबुद्धिपना है।

मेरे स्वरूपको न जाननेसे वे अन्य देवताओंकी उपासनामें लग गये और उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामनामें लग जानेसे वे बुद्धिहीन मनुष्य मेरेसे विमुख हो गये। यद्यपि वे मेरेसे अलग नहीं हो सकते तथा मैं भी उनसे अलग नहीं हो सकता, तथापि कामनाके कारण ज्ञान ढक जानेसे वे देवताओंकी तरफ खिंच जाते हैं। अगर वे मेरेको जान जाते, तो फिर केवल मेरा ही भजन करते।

(१) बुद्धिमान् मनुष्य वे होते हैं, जो भगवान्‌के शरण होते हैं। वे भगवान्‌को ही सर्वोपरि मानते हैं।

(२) अल्पमेधावाले मनुष्य वे होते हैं, जो देवताओंके शरण होते हैं। वे देवताओंको अपनेसे बड़ा मानते हैं, जिससे उनमें थोड़ी नम्रता, सरलता रहती है।

(३) अबुद्धिवाले मनुष्य वे होते हैं, जो भगवान्‌को देवता-जैसा भी नहीं मानते; किन्तु साधारण मनुष्य-जैसा ही मानते हैं। वे अपनेको ही सर्वोपरि, सबसे बड़ा मानते हैं (गीता—सोलहवें अध्यायका चौदहवाँ-पन्द्रहवाँ श्लोक)। यही तीनोंमें अन्तर है।

'परं भावमजानन्तः' का तात्पर्य है कि मैं अज रहता हुआ, अविनाशी होता हुआ और लोकोंका ईश्वर होता हुआ ही अपनी प्रकृतिको वशमें करके योगमायासे प्रकट होता हूँ—इस मेरे परमभावको बुद्धिहीन मनुष्य नहीं जानते।

'अनुत्तमम्' कहनेका तात्पर्य है कि पन्द्रहवें अध्यायमें जिसको क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम बताया है अर्थात् जिससे उत्तम दूसरा कोई है ही नहीं, ऐसे मेरे अनुत्तम भावको वे नहीं जानते।

विशेष बात

इस (चौबीसवें) श्लोकका अर्थ कोई ऐसा करते हैं कि **'(ये) अव्यक्तं मां व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते (ते) अबुद्धयः'** अर्थात् जो सदा निराकार रहनेवाले मेरेको केवल साकार मानते हैं, वे निर्बुद्धि हैं; क्योंकि वे मेरे अव्यक्त, निर्विकार और निराकार स्वरूपको नहीं जानते। दूसरे कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि **'(ये) व्यक्तिमापन्नं माम् अव्यक्तं मन्यन्ते (ते) अबुद्धयः'** अर्थात् मैं अवतार लेकर तेरा सारथि बना हुआ हूँ—ऐसे मेरेको केवल निराकार मानते हैं, वे निर्बुद्धि हैं; क्योंकि वे मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी भावको नहीं जानते।

उपर्युक्त दोनों अर्थोंमेंसे कोई भी अर्थ ठीक नहीं है। कारण कि ऐसा अर्थ माननेपर केवल निराकारको माननेवाले साकाररूपकी और साकाररूपके उपासकोंकी निन्दा करेंगे और केवल साकार माननेवाले निराकाररूपकी और निराकाररूपके उपासकोंकी निन्दा करेंगे। यह सब एकदेशीयपना ही है।

पृथ्वी, जल, तेज आदि जो महाभूत हैं, जो कि विनाशी और विकारी हैं, वे भी दो-दो तरहके होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। जैसे, स्थूलरूपसे पृथ्वी साकार है और परमाणुरूपसे निराकार है; जल बर्फ, बूँदें, बादल और भापरूपसे साकार है और परमाणुरूपसे निराकार है; तेज (अग्नितत्त्व) काठ और दियासलाईमें रहता हुआ निराकार है और प्रज्वलित होनेसे साकार है, इत्यादि। इस तरहसे भौतिक सृष्टिके भी दोनों रूप होते हैं और दोनों होते हुए भी वास्तवमें वह दो नहीं होती। साकार होनेपर निराकारमें कोई बाधा नहीं लगती और निराकार होनेपर साकारमें कोई बाधा नहीं लगती। फिर परमात्माके साकार और निराकार दोनों होनेमें क्या बाधा है? अर्थात् कोई बाधा नहीं। वे साकार भी हैं और निराकार भी हैं, सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं।

गीता साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण—दोनोंको मानती है। नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान्ने अपनेको 'अव्यक्तमूर्ति' कहा है। चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि मैं अज होता हुआ भी प्रकट होता हूँ, अविनाशी होता हुआ भी अन्तर्धान हो जाता हूँ और सबका ईश्वर होता हुआ भी आज्ञापालक (पुत्र और शिष्य) बन जाता हूँ। अतः निराकार होते हुए साकार होनेमें और साकार होते हुए निराकार होनेमें भगवान्में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं आता। ऐसे भगवान्के स्वरूपको न जाननेके कारण लोग उनके विषयमें तरह-तरहकी कल्पनाएँ किया करते हैं।

परिशिष्ट भाव—भगवान् व्यक्त भी हैं और अव्यक्त भी हैं, लौकिक भी हैं और अलौकिक भी हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९), **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। परन्तु बुद्धिहीन मनुष्य भगवान्को उन प्राणियोंकी तरह अव्यक्तसे व्यक्त होनेवाला अर्थात् लौकिक (जन्मने-मरनेवाला) मानते हैं, जिनके लिये भगवान्ने कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

'हे भारत! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं; अतः इसमें शोक करनेकी बात ही क्या है?'

भगवान् मनुष्योंकी तरह अव्यक्तसे व्यक्त नहीं होते, प्रत्युत अव्यक्त रहते हुए ही व्यक्त होते हैं और व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त रहते हैं।

'परम्'—भगवान् देवताओंकी उपासना करनेवालोंको श्रद्धा भी देते हैं और उनकी उपासनाका फल भी देते हैं—यह भगवान्का परम अर्थात् पक्षपातरहित भाव है।

'अव्ययम्'—देवता सापेक्ष अविनाशी (अमर) हैं, सर्वथा अविनाशी नहीं। परन्तु भगवान् निरपेक्ष अविनाशी हैं। उनके समान अविनाशी दूसरा कोई नहीं है और हो भी नहीं सकता।

'अनुत्तमम्'—भगवान् प्राणिमात्रका हित चाहते हैं—यह भगवान्का सर्वश्रेष्ठ भाव है। इससे श्रेष्ठ दूसरा कोई भाव हो ही नहीं सकता।

सम्बन्ध—भगवान्को साधारण मनुष्य माननेमें क्या कारण है? इसपर आगेका श्लोक कहते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

अयम्	= यह जो	**न, अभि-**	= ठीक तरहसे	**समावृतः**	= योगमायासे अच्छी तरह ढका हुआ
मूढः	= मूढ़	**जानाति**	नहीं जानता (मानता),	**अहम्**	= मैं
लोकः	= मनुष्यसमुदाय	**सर्वस्य**	= उन सबके (सामने)	**प्रकाशः**	= प्रकट
माम्	= मुझे	**योगमाया-**		**न**	= नहीं होता।
अजम्	= अज (और)				
अव्ययम्	= अविनाशी				

व्याख्या—**'मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्'**—मैं अज और अविनाशी हूँ अर्थात् जन्म-मरणसे रहित हूँ। ऐसा होनेपर भी मैं प्रकट और अन्तर्धान होनेकी लीला करता हूँ अर्थात् जब मैं अवतार लेता हूँ, तब अज (अजन्मा) रहता हुआ ही अवतार लेता हूँ और अव्ययात्मा रहता हुआ ही अन्तर्धान हो जाता हूँ। जैसे सूर्य भगवान् उदय होते हैं तो हमारे सामने आ जाते हैं और अस्त होते हैं तो हमारे नेत्रोंसे ओझल हो जाते हैं, छिप जाते हैं, ऐसे ही मैं केवल प्रकट और अन्तर्धान होनेकी लीला करता हूँ। जो मेरेको इस प्रकार जन्म-मरणसे रहित मानते हैं, वे तो असम्मूढ हैं (गीता—दसवें अध्यायका तीसरा और पन्द्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। परन्तु जो मेरेको साधारण प्राणियोंकी तरह जन्मने-मरनेवाला मानते हैं, वे मूढ़ हैं (गीता—नवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

भगवान्‌को अज, अविनाशी न माननेमें कारण है कि इस मनुष्यका भगवान्‌के साथ जो स्वतः अपनापन है, उसको भूलकर इसने शरीरको अपना मान लिया कि 'यह शरीर ही मैं हूँ और यह शरीर मेरा है।' इसलिये उसके सामने परदा आ गया, जिससे वह भगवान्‌को भी अपने समान ही जन्मने-मरनेवाला मानने लगा।

मूढ़ मनुष्य मेरेको अज और अविनाशी नहीं जानते। उनके न जाननेमें दो कारण हैं—एक तो मेरा योगमायासे छिपा रहना और एक उनकी मूढ़ता। जैसे, किसी शहरमें किसीका एक घर है और वह अपने घरमें बंद है तथा शहरके सब-के-सब घर शहरकी चहारदीवारी (परकोटे) में बंद हैं। अगर वह मनुष्य बाहर निकलना चाहे तो अपने घरसे निकल सकता है, पर शहरकी चहारदीवारीसे निकलना उसके हाथकी बात नहीं है। हाँ, यदि उस शहरका राजा चाहे तो वह चहारदीवारीका दरवाजा भी खोल सकता है और उसके घरका दरवाजा भी खोल सकता है। अगर वह मनुष्य अपने घरका दरवाजा नहीं खोल सकता तो राजा उस दरवाजेको तोड़ भी सकता है। ऐसे ही यह प्राणी अपनी मूढ़ताको दूर करके अपने नित्य स्वरूपको जान सकता है। परन्तु सर्वथा भगवत्तत्त्वका बोध तो भगवान्‌की कृपासे ही हो सकता है। भगवान् जिसको जनाना चाहें, वही उनको जान सकता है—**'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'** (मानस २। १२७। २)। अगर मनुष्य सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाय तो भगवान् उसके अज्ञानको भी दूर कर देते हैं और अपनी मायाको भी दूर कर देते हैं।

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'—उन सबके सामने अर्थात् उस मूढ़ समुदायके सामने मैं भगवद्रूपसे प्रकट नहीं होता। कारण कि वे मेरेको अज-अविनाशी भगवद्रूपसे जानना अथवा मानना ही नहीं चाहते, प्रत्युत वे मेरेको साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवहेलना करते हैं। अतः उनके सामने मैं अपने भगवत्-स्वरूपसे कैसे प्रकट होऊँ? तात्पर्य है कि जो मेरेको अज-अविनाशी नहीं मानते, प्रत्युत मेरेको जन्मने-मरनेवाला मानते हैं, उनके सामने मैं अपनी योगमायामें छिपा रहता हूँ और सामान्य मनुष्य-जैसा ही रहता हूँ। परन्तु जो मेरेको अज, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर मानते हैं, मेरेमें श्रद्धा-विश्वास रखते हैं, उनके भावोंके अनुसार मैं उनके सामने प्रकट रहता हूँ।

भगवान्‌की योगमाया विचित्र, विलक्षण, अलौकिक है। मनुष्योंका भगवान्‌के प्रति जैसा भाव होता है, उसके अनुसार ही वे योगमाया-समावृत भगवान्‌को देखते हैं।*

* (१) मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः॥ (श्रीमद्भा० १०। ४३। १७)

यहाँ भगवान्‌ने कहा है कि जो मेरेको अज-अविनाशी नहीं जानते, वे मूढ़ हैं और दसवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें कहा है कि देवता और महर्षि मेरे प्रभावको नहीं जानते। इसपर शंका होती है कि भगवान्‌को अज-अविनाशी नहीं जानना और उनके प्रभवको नहीं जानना—ये दोनों बातें तो एक ही हो गयीं; परन्तु यहाँ न जाननेवालोंको मूढ़ बताया है और वहाँ उनको मूढ़ नहीं बताया है, ऐसा क्यों? इसका समाधान है कि भगवान्‌के प्रभवको अर्थात् प्रकट होनेको न जानना दोषी नहीं है; क्योंकि वहाँ भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि मैं सब तरहसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ। जैसे बालक अपने पिताके जन्मको कैसे देख सकता है? क्योंकि वह उस समय पैदा ही नहीं हुआ था। वह तो पितासे पैदा हुआ है। अतः उसका पिताके जन्मको न जानना दोषी नहीं है। ऐसे ही भगवान्‌के प्रकट होनेके हेतुओंको पूरा न जानना देवताओं और महर्षियोंके लिये कोई दोषी नहीं है। भगवान्‌के प्रकट होनेको कोई सर्वथा जान ही नहीं सकता। इसलिये वहाँ देवताओं और महर्षियोंको मूढ़ नहीं बताया है। मनुष्य भगवान्‌को अज-अविनाशी जान सकते हैं अर्थात् मान सकते हैं। अगर वे भगवान्‌को अज-अविनाशी नहीं मानते तो यह उनका दोष है। इसलिये उनको यहाँ मूढ़ कहा है।

परिशिष्ट भाव—जो बुद्धिहीन मनुष्य भगवान्‌को नहीं मानते, भगवान् अवतारकालमें सबके सामने प्रकट होते हुए भी उनके सामने प्रकट नहीं होते—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। वास्तवमें भगवान् अप्रकट रहना चाहते नहीं, पर जो उनको नहीं मानते, उनके सामने वे कैसे प्रकट हों?

अवतारकालमें भगवान् लौकिक रूपमें दीखनेपर भी वास्तवमें सदा अलौकिक ही रहते हैं। परन्तु राग-द्वेषके कारण अज्ञानी मनुष्योंको भगवान् लौकिक दीखते हैं अर्थात् भगवान्‌रूपसे न दीखकर मनुष्यरूपसे ही दीखते हैं।

सम्बन्ध—जो भगवान्‌को अज-अविनाशी नहीं मानते, उनके ही सामने मायाका परदा रहता है, पर भगवान्‌के सामने वह परदा नहीं रहता—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**च**	= और	**तु**	= परन्तु
भूतानि	= जो प्राणी	**भविष्याणि**	= जो भविष्यमें होंगे, (उन सब प्राणियोंको तो)	**माम्**	= मुझे
समतीतानि	= भूतकालमें हो चुके हैं,			**कश्चन**	= (भक्तके सिवाय) कोई भी
च	= तथा	**अहम्**	= मैं	**न**	= नहीं
वर्तमानानि	= जो वर्तमानमें हैं	**वेद**	= जानता हूँ;	**वेद**	= जानता।

व्याख्या—**'वेदाहं समतीतानि ...... मां तु वेद न कश्चन'**—यहाँ भगवान्‌ने प्राणियोंके लिये तो भूत, वर्तमान और भविष्यकालके तीन विशेषण दिये हैं; परन्तु अपने लिये **'अहं वेद'** पदोंसे केवल वर्तमानकालका ही प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की दृष्टिमें भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीनों काल वर्तमान ही हैं। अतः भूतके प्राणी हों, भविष्यके प्राणी हों अथवा वर्तमानके प्राणी हों—सभी भगवान्‌की दृष्टिमें वर्तमान होनेसे भगवान् सभीको जानते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीनों काल तो प्राणियोंकी दृष्टिमें हैं, भगवान्‌की दृष्टिमें नहीं। जैसे सिनेमा देखनेवालोंके लिये भूत, वर्तमान और भविष्य-कालका भेद रहता है, पर सिनेमाकी फिल्ममें सब कुछ

'जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रंगभूमिमें पधारे, उस समय वे पहलवानोंको वज्रकठोर-शरीर, साधारण मनुष्योंको नर-रत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिताके समान बड़े-बूढ़ोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परमतत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णिवंशियोंको अपने इष्टदेव जान पड़े।'

(२) जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी। (मानस १। २४१। २)

वर्तमान है, ऐसे ही प्राणियोंकी दृष्टिमें भूत, वर्तमान और भविष्यकालका भेद रहता है, पर भगवान्‌की दृष्टिमें सब कुछ वर्तमान ही रहता है। कारण कि सम्पूर्ण प्राणी कालके अन्तर्गत हैं और भगवान् कालसे अतीत हैं। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि बदलते रहते हैं और भगवान् हरदम वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। कालके अन्तर्गत आये हुए प्राणियोंका ज्ञान सीमित होता है और भगवान्‌का ज्ञान असीम है। उन प्राणियोंमें भी कोई योगका अभ्यास करके ज्ञान बढ़ा लेंगे तो वे 'युञ्जान योगी' होंगे और जिस समय जिस वस्तुको जानना चाहेंगे, उस समय उसी वस्तुको वे जानेंगे। परन्तु भगवान् तो 'युक्त योगी हैं' अर्थात् बिना योगका अभ्यास किये ही वे मात्र जीवोंको और मात्र संसारको सब समय स्वतः जानते हैं।

भूत, भविष्य और वर्तमानके सभी जीव नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही रहते हैं, भगवान्‌से कभी अलग हो ही नहीं सकते। भगवान्‌में भी यह ताकत नहीं है कि वे जीवोंसे अलग हो जायँ! अतः प्राणी कहीं भी रहें, वे कभी भी भगवान्‌की दृष्टिसे ओझल नहीं हो सकते।

'**मां तु वेद न कश्चन**' का तात्पर्य है कि पूर्वश्लोकमें कहे हुए मूढ़ समुदायमेंसे मेरेको कोई नहीं जानता अर्थात् जो मेरेको अज और अविनाशी नहीं मानते, प्रत्युत मेरेको साधारण मनुष्य-जैसा जन्मने-मरनेवाला मानते हैं, उन मूढ़ोंमेंसे मेरेको कोई भी नहीं जानता, पर मैं सबको जानता हूँ।

जैसे बाँसकी चिक दरवाजेपर लटका देनेसे भीतरवाले तो बाहरवालोंको पूर्णतया देखते हैं, पर बाहरवाले केवल दरवाजेपर टँगी हुई चिकको ही देखते हैं, भीतरवालोंको नहीं। ऐसे ही योगमायारूपी चिकसे अच्छी तरहसे आवृत होनेके कारण भगवान्‌को मूढ़ लोग नहीं देख पाते, पर भगवान् सबको देखते हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि भगवान् जब भविष्यमें होनेवाले सब प्राणियोंको जानते हैं, तो किसकी मुक्ति होगी और कौन बन्धनमें रहेगा—यह भी जानते ही हैं; क्योंकि भगवान्‌का ज्ञान नित्य है। अतः वे जिनकी मुक्ति जानते हैं, उनकी तो मुक्ति होगी और जिनको बन्धनमें जानते हैं, वे बन्धनमें ही रहेंगे। भगवान्‌की इस सर्वज्ञतासे तो मनुष्यकी मुक्ति परतन्त्र हो गयी, मनुष्यके प्रयत्नसे साध्य नहीं रही।

इसका समाधान यह है कि भगवान्‌ने अपनी तरफसे मनुष्यको अन्तिम जन्म दिया है। अब इस जन्ममें मनुष्य अपना उद्धार कर ले अथवा पतन कर ले—यह उसके ऊपर निर्भर करता है (गीता—सातवें अध्यायका सत्ताईसवाँ और आठवें अध्यायका छठा श्लोक)। उसके उद्धार अथवा पतनका निर्णय भगवान् नहीं करते।

इसी अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान् यह कह आये हैं कि बहुत जन्मोंके इस अन्तिम मनुष्यजन्ममें जो 'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसे मेरे शरण होता है, वह महात्मा दुर्लभ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यशरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंको यह स्वतन्त्रता है कि वे अपने अनन्त जन्मोंके संचित कर्म-समुदायका नाश करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं, अपनी मुक्ति कर सकते हैं। अगर यही माना जाय कि कौन-सा प्राणी आगे किस गतिमें जायगा—ऐसा भगवान्‌का संकल्प है, तो फिर अपना उद्धार करनेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता ही नहीं रहेगी और 'ऐसा करो, ऐसा मत करो'—यह भगवान्, सन्त, शास्त्र, गुरु आदिका उपदेश भी व्यर्थ हो जायगा। इसके सिवाय 'जो-जो मनुष्य जिस-जिस देवताकी उपासना करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धा दृढ़ कर देता हूँ' (सातवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक) और 'अन्त-समयमें मनुष्य जिस-जिस भावका स्मरण करके शरीर छोड़ता है, वह उस-उसको ही प्राप्त होता है' (आठवें अध्यायका छठा श्लोक)—इस तरह उपासना और अन्तकालीन स्मरणमें स्वतन्त्रता भी नहीं रहेगी, जो भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको दे रखी है।

बिना कारण कृपा करनेवाले प्रभु जीवको मनुष्यशरीर देते हैं*, जिससे यह जीव मनुष्यशरीर पाकर स्वतन्त्रतासे अपना कल्याण कर ले। गीतामें ग्यारहवें अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें जैसे भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'**मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' अर्थात् मेरे द्वारा ये पहले ही मारे जा चुके हैं, तू केवल निमित्तमात्र बन जा। ऐसे ही मनुष्यमात्रको विवेक और उद्धारकी पूरी सामग्री देकर भगवान्‌ने कहा है कि तू अपना उद्धार कर ले अर्थात् अपने उद्धारमें तू केवल निमित्तमात्र बन जा, मेरी कृपा तेरे साथ है। इस मनुष्यशरीररूपी नौकाको पाकर मेरी कृपारूपी अनुकूल हवासे जो भवसागरको नहीं तरता अर्थात् अपना

* **कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस ७। ४४। ३)**

उद्धार नहीं करता, वह आत्महत्यारा है—'**मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा**' (श्रीमद्भा० ११। २०। १७)। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि जो परमात्माको सब जगह समान रीतिसे परिपूर्ण देखता है, वह अपनी हत्या नहीं करता, इसलिये वह परमगतिको प्राप्त होता है (तेरहवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)। इससे भी यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यशरीर प्राप्त होनेपर अपना उद्धार करनेका अधिकार, सामर्थ्य, समझ आदि पूरी सामग्री मिलती है। ऐसा अमूल्य अवसर पाकर भी जो अपना उद्धार नहीं करता, वह अपनी हत्या करता है और इसीसे वह जन्म-मरणमें जाता है। अगर यह जीव मनुष्यशरीर पाकर शास्त्र और भगवान्‌से विरुद्ध न चले तथा मिली हुई सामग्रीका ठीक-ठीक उपयोग करे, तो इसकी मुक्ति स्वत:सिद्ध है। इसमें कोई बाधा लग ही नहीं सकती।

मनुष्यके लिये यह खास बात है कि भगवान्‌ने कृपा करके जो सामर्थ्य, समझ आदि सामग्री दी है, उसका मैं दुरुपयोग नहीं करूँगा, भगवान्‌के सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं चलूँगा—ऐसा वह अटल निश्चय कर ले और उस निश्चयपर डटा रहे। अगर अपनी असामर्थ्यसे कभी दुरुपयोग भी हो जाय तो मनमें उसकी जलन पैदा हो जाय और भगवान्‌से कह दे कि 'हे नाथ! मेरेसे गलती हो गयी, अब ऐसी गलती कभी नहीं करूँगा। हे नाथ! ऐसा बल दो, जिससे कभी आपके सिद्धान्तसे विपरीत न चलूँ' तो उसका प्रायश्चित्त हो जाता है और भगवान्‌से मदद मिलती है।

मनुष्यकी असामर्थ्य दो तरहसे होती है—एक असामर्थ्य यह होती है कि वह कर ही नहीं सकता; जैसे—किसी नौकरसे कोई मालिक यह कह दे कि तुम इस मकानको उठाकर एक मीलतक ले जाकर रख दो, तो वह यह काम कर ही नहीं सकता। दूसरी असामर्थ्य यह होती है कि वह कर तो सकता है और करना चाहता भी है, फिर भी समयपर प्रमादवश नहीं करता। यह असामर्थ्य साधकमें आती रहती है। इसको दूर करनेके लिये साधक भगवान्‌से कहे कि 'हे नाथ! मैं ऐसा प्रमाद फिर कभी न करूँ, ऐसी मेरेको शक्ति दो।'

भगवान्‌की ही दी हुई स्वतन्त्रताके कारण भगवान् ऐसा संकल्प कभी कर ही नहीं सकते कि इस जीवके इतने जन्म होंगे। इतना ही नहीं, चर-अचर अनन्त जीवोंके लिये भी भगवान् ऐसा संकल्प नहीं करते कि उनके अनेक जन्म होंगे। हाँ, यह बात जरूर है कि मनुष्यके सिवाय दूसरे प्राणियोंके पीछे परम्परासे कर्म-फलोंका ताँता लगा हुआ है, जिससे वे बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। ऐसी परम्परामें पड़े हुए जीवोंमेंसे कोई जीव किसी कारणसे मनुष्यशरीरमें अथवा किसी अन्य योनिमें भी प्रभुके चरणोंकी शरण हो जाता है, तो भगवान् उसके अनन्त जन्मोंके पापोंको नष्ट कर देते हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५। ४४। १)

परिशिष्ट भाव—यहाँ शंका हो सकती है कि जब भगवान् सब जीवोंको जानते ही हैं तो फिर जिसको बद्ध जानते हैं, वह बद्ध ही रहेगा और जिसको मुक्त जानते हैं, वही मुक्त होगा; क्योंकि भगवान्‌का ज्ञान नित्य है! यह शंका वस्तुत: संसारकी सत्ता और महत्ताको लेकर (हमारी दृष्टिमें) है। वास्तवमें भगवान् और महात्मा—दोनोंकी ही दृष्टिमें संसार नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। हमने ही अहम्‌के कारण संसारको सत्ता और महत्ता दे रखी है। इसलिये भगवान् हमारी भाषामें भूत-भविष्य-वर्तमानकी बात कहते हैं। अगर वे हमारी भाषामें नहीं बोलेंगे तो हम समझेंगे कैसे? जैसे, हमें अँग्रेजी भाषा सिखानेवाला अगर अँग्रेजी भाषामें ही बोले तो हम अँग्रेजी सीख ही नहीं सकेंगे।

भगवान्‌का ज्ञान नित्य है। सब कुछ भगवान्‌के ज्ञानके अन्तर्गत है। उनके ज्ञानसे बाहर कुछ भी नहीं है। भगवान्‌के ज्ञानमें उनके सिवाय कुछ नहीं है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति**' (गीता ७। ७)। जीवने ही अहम्‌के कारण (अज्ञानसे) जगत्‌को धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। अत: बन्धन और मोक्ष जीवके ही बनाये हुए हैं। तत्त्वसे न बन्धन है, न मोक्ष; किन्तु केवल परमात्मा ही हैं*।

दो बार '**च**' पद देनेका तात्पर्य है कि कोई भी काल स्थायी नहीं है। न भूतकाल सदा रहता है, न वर्तमान सदा

---

* **न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ (आत्मोपनिषद् ३१)**
'न प्रलय है और न उत्पत्ति है, न बद्ध है और न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है—यही परमार्थता अर्थात् वास्तविक तत्त्व है।'

रहता है और न भविष्य सदा रहता है, पर भगवान् सदा रहते हैं। जैसे भूतकाल और भविष्यकाल अभी नहीं हैं, ऐसे ही वर्तमानकाल भी नहीं है। भूतकाल और भविष्यकालकी सन्धिको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। पाणिनि-व्याकरणका एक सूत्र है—**'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'** (३। ३। १३१) अर्थात् वर्तमानसामीप्य भी वर्तमानकी तरह होता है। जैसे, भूतकालको लेकर कहते हैं कि 'मैं अभी आया हूँ' और भविष्यकालको लेकर कहते हैं कि 'मैं अभी जा रहा हूँ'—यह वर्तमानसामीप्य है। वास्तवमें वर्तमानसामीप्यको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। अगर वर्तमानकाल वास्तवमें होता तो वह कभी भूतकालमें परिणत नहीं होता। वास्तवमें काल वर्तमान नहीं है, प्रत्युत भगवान् ही वर्तमान हैं। तात्पर्य है कि जो प्रतिक्षण बदलता है, वह वर्तमान नहीं है, प्रत्युत जो कभी नहीं बदलता, वही वर्तमान है। इसलिये भगवान्ने श्लोकके आरम्भमें वर्तमान-क्रिया दी है—**'वेदाहम्'** (मैं जानता हूँ)। भगवान् भूत, भविष्य और वर्तमान—सबमें सदा वर्तमान हैं, पर भगवान्में न भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान है। भगवान्का वर्तमानपना कालके अधीन नहीं है; क्योंकि भगवान् कालातीत हैं। काल न भगवान्की दृष्टिमें है, न महात्माकी दृष्टिमें।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह कहा कि मुझे कोई भी नहीं जानता, तो भगवान्को न जाननेमें मुख्य कारण क्या है? इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

कारण कि—

भारत = हे भरतवंशमें उत्पन्न
परन्तप = शत्रुतापन अर्जुन!
इच्छा-द्वेषसमुत्थेन = इच्छा (राग) और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले
द्वन्द्वमोहेन = द्वन्द्व-मोहसे (मोहित)
सर्वभूतानि = सम्पूर्ण प्राणी
सर्गे = संसारमें (अनादिकालसे)
सम्मोहम् = मूढ़ताको अर्थात् जन्म-मरणको
यान्ति = प्राप्त हो रहे हैं।

व्याख्या—**'इच्छाद्वेषसमुत्थेन .... सर्गे यान्ति परन्तप'**—इच्छा और द्वेषसे द्वन्द्वमोह पैदा होता है, जिससे मोहित होकर प्राणी भगवान्से बिलकुल विमुख हो जाते हैं और विमुख होनेसे बार-बार संसारमें जन्म लेते हैं।

मनुष्यको संसारसे विमुख होकर केवल भगवान्में लगनेकी आवश्यकता है। भगवान्में न लगनेमें बड़ी बाधा क्या है? यह मनुष्यशरीर विवेक-प्रधान है; अतः मनुष्यकी प्रवृत्ति और निवृत्ति पशु-पक्षियोंकी तरह न होकर अपने विवेकके अनुसार होनी चाहिये। परन्तु मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व न देकर राग और द्वेषको लेकर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति करता है, जिससे उसका पतन होता है।

मनुष्यकी दो मनोवृत्तियाँ हैं—एक तरफ लगाना और एक तरफसे हटाना। मनुष्यको परमात्मामें तो अपनी वृत्ति लगानी है और संसारसे अपनी वृत्ति हटानी है अर्थात् परमात्मासे तो प्रेम करना है और संसारसे वैराग्य करना है। परन्तु इन दोनों वृत्तियोंको जब मनुष्य केवल संसारमें ही लगा देता है, तब वही प्रेम और वैराग्य क्रमशः राग और द्वेषका रूप धारण कर लेते हैं, जिससे मनुष्य संसारमें उलझ जाता है और भगवान्से सर्वथा विमुख हो जाता है। फिर भगवान्की तरफ चलनेका अवसर ही नहीं मिलता। कभी-कभी वह सत्संगकी बातें भी सुनता है, शास्त्र भी पढ़ता है, अच्छी बातोंपर विचार भी करता है, मनमें अच्छी बातें पैदा हो जाती हैं तो उनको ठीक भी समझता है। फिर भी उसके मनमें रागके कारण यह बात गहरी बैठी रहती है कि मुझे तो सांसारिक अनुकूलताको प्राप्त करना है और प्रतिकूलताको हटाना है, यह मेरा खास काम है; क्योंकि इसके बिना मेरा जीवन-निर्वाह नहीं होगा। इस प्रकार वह हृदयमें दृढ़तासे राग-द्वेषको पकड़े रखता है; जिससे सुनने, पढ़ने और विचार करनेपर भी उसकी वृत्ति राग-द्वेषरूप द्वन्द्वको नहीं छोड़ती। इसीसे वह परमात्माकी तरफ चल नहीं सकता।

द्वन्द्वोंमें भी अगर उसका राग मुख्यरूपसे एक ही विषयमें हो जाय, तो भी ठीक है। जैसे, भक्त बिल्वमंगलकी वृत्ति चिन्तामणि नामक वेश्यामें लग गयी,

तो उनकी वृत्ति संसारसे तो हट ही गयी। जब वेश्याने यह ताड़ना की—'ऐसे हाड़-मांसके शरीरमें तू आकृष्ट हो गया, अगर भगवान्‌में इतना आकृष्ट हो जाता तो तू निहाल हो जाता' तब उनकी वृत्ति वेश्यासे हटकर भगवान्‌में लग गयी और उनका उद्धार हो गया। इसी तरहसे गोपियोंका भगवान्‌में राग हो गया, तो वह राग भी कल्याण करनेवाला हो गया। शिशुपालका भगवान्‌के साथ वैर (द्वेष) रहा तो वैरपूर्वक भगवान्‌का चिन्तन करनेसे भी उसका कल्याण हो गया। कंसको भगवान्‌से भय हुआ, तो भयवृत्तिसे भगवान्‌का चिन्तन करनेसे उसका भी कल्याण हो गया। हाँ, यह बात जरूर है कि वैर और भयसे भगवान्‌का चिन्तन करनेसे शिशुपाल और कंस भक्तिके आनन्दको नहीं ले सके। तात्पर्य यह है कि किसी भी तरहसे भगवान्‌की तरफ आकर्षण हो जाय तो मनुष्यका उद्धार हो जाता है। परन्तु संसारमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, ठीक-बेठीक, अनुकूल-प्रतिकूल आदि द्वन्द्व रहनेसे मूढ़ता दृढ़ होती है और मनुष्यका पतन हो जाता है।

दूसरी रीतिसे यों समझें कि संसारका सम्बन्ध द्वन्द्वसे दृढ़ होता है। जब कामनाको लेकर मनोवृत्तिका प्रवाह संसारकी तरफ हो जाता है, तब सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर राग-द्वेष हो जाते हैं अर्थात् एक ही पदार्थ कभी ठीक लगता है, कभी बेठीक लगता है; कभी उसमें राग होता है, कभी द्वेष होता है, जिनसे संसारका सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है। इसलिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें '**निर्द्वन्द्वः**' (२। ४५) पदसे द्वन्द्वरहित होनेकी आज्ञा दी है। निर्द्वन्द्व पुरुष सुखपूर्वक मुक्त होता है—'**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते**' (५। ३)। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होकर भक्तजन अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं—'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख-सञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्**' (१५। ५)। भगवान्‌ने द्वन्द्वको मनुष्यका खास शत्रु बताया है (तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)। जो द्वन्द्वमोहसे रहित होते हैं, वे दृढ़व्रती होकर भगवान्‌का भजन करते हैं (सातवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक) इत्यादि रूपसे गीतामें द्वन्द्वरहित होनेकी बात बहुत बार आयी है।

जन्म-मरणमें जानेका कारण क्या है? शास्त्रोंकी दृष्टिसे तो जन्म-मरणका कारण अज्ञान है; परन्तु सन्तवाणीको देखा जाय तो जन्म-मरणका खास कारण रागके कारण प्राप्त परिस्थितिका दुरुपयोग है। फलेच्छापूर्वक शास्त्रविहित कर्म करनेसे और प्राप्त परिस्थितिका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् भगवदाज्ञा-विरुद्ध कर्म करनेसे सत्-असत् योनियोंकी प्राप्ति होती है अर्थात् देवताओंकी योनि, चौरासी लाख योनि और नरक प्राप्त होते हैं।

प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करनेसे सम्मोह अर्थात् जन्म-मरण मिट जाता है। उसका सदुपयोग कैसे करें? हमारेको जो अवस्था, परिस्थिति मिली है, उसका दुरुपयोग न करनेका निर्णय किया जाय कि 'हम दुरुपयोग नहीं करेंगे अर्थात् शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम नहीं करेंगे।' इस प्रकार रागरहित होकर दुरुपयोग न करनेका निर्णय होनेपर सदुपयोग अपने-आप होने लगेगा अर्थात् शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुकूल काम होने लगेगा। जब सदुपयोग होने लगेगा तो उसका हमें अभिमान नहीं होगा। कारण कि हमने तो दुरुपयोग न करनेका विचार किया है, सदुपयोग करनेका विचार तो हमने किया ही नहीं, फिर करनेका अभिमान कैसे? इससे तो कर्तृत्व-अभिमानका त्याग हो जायगा। जब हमने सदुपयोग किया ही नहीं तो उसका फल भी हम कैसे चाहेंगे? क्योंकि सदुपयोग तो हुआ है, किया नहीं। अतः इससे फलेच्छाका त्याग हो जायगा। कर्तृत्व-अभिमान और फलेच्छाका त्याग होनेसे अर्थात् बन्धनका अभाव होनेसे मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

प्रायः साधकोंमें यह बात गहराईसे बैठी हुई है कि साधन-भजन, जप-ध्यान आदि करनेका विभाग अलग है और सांसारिक काम-धंधा करनेका विभाग अलग है। इन दो विभागोंके कारण साधक भजन-ध्यान आदिको तो बढ़ावा देते हैं, पर सांसारिक काम-धंधा करते हुए राग-द्वेष, काम-क्रोध आदिकी तरफ ध्यान नहीं देते, प्रत्युत ऐसी दृढ़ भावना बना लेते हैं कि काम-धंधा करते हुए तो राग-द्वेष होते ही हैं, ये मिटनेवाले थोड़े ही हैं। इस भावनासे बड़ा भारी अनर्थ यह होता है कि साधकके राग-द्वेष बने रहते हैं, जिससे उसके साधनमें जल्दी उन्नति नहीं होती। वास्तवमें साधक चाहे पारमार्थिक कार्य करे, चाहे सांसारिक कार्य करे उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष नहीं रहने चाहिये।

पारमार्थिक और सांसारिक क्रियाओंमें भेद होनेपर भी साधकके भावमें भेद नहीं होना चाहिये अर्थात् पारमार्थिक और सांसारिक दोनों क्रियाएँ करते समय साधकका भाव एक ही रहना चाहिये कि 'मैं साधक हूँ और मुझे भगवत्प्राप्ति करनी है।' इस प्रकार क्रियाभेद तो रहेगा ही और रहना भी चाहिये, पर भावभेद नहीं रहेगा। भावभेद न रहनेसे अर्थात् एक भगवत्प्राप्तिका ही भाव (उद्देश्य) रहनेसे पारमार्थिक और सांसारिक दोनों ही क्रियाएँ साधन बन जायँगी।

परिशिष्ट भाव— यद्यपि संसार-बन्धनका मूल कारण अज्ञान है, तथापि अज्ञानकी अपेक्षा भी मनुष्य राग-द्वेषरूप द्वन्द्वसे संसारमें ज्यादा फँसता है। किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिको अपने सुख-दुःखका कारण माननेसे राग-द्वेष पैदा होते हैं। जिसको अपने सुखका कारण मानते हैं, उसमें 'राग' हो जाता है और जिसको अपने दुःखका कारण मानते हैं, उसमें 'द्वेष' हो जाता है। राग-द्वेष मिटनेपर मनुष्य सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—'**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते**' (गीता ५। ३)।

पहले तेरहवें श्लोकमें भी भगवान् कह चुके हैं कि तीनों गुणोंसे मोहित प्राणी मेरेको नहीं जानता। ऐसे मोहित प्राणी न संसारको जानते हैं, न भगवान्‌को। संसारमें रचे-पचे रहकर मनुष्य संसारको नहीं जान सकता और भगवान्‌से अलग (दूर) रहकर मनुष्य भगवान्‌को नहीं जान सकता। वास्तवमें संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर और भगवान्‌का ज्ञान भगवान्‌से अभिन्न होनेपर ही होता है। संसार नहीं है—यही संसारका ज्ञान है। वास्तवमें जो है ही नहीं, रहता ही नहीं, उसका ज्ञान कैसा? संसार है—ऐसा मानना ही अज्ञान है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने द्वन्द्वमोहसे मोहित होनेवालोंकी बात बतायी, अब आगेके श्लोकमें द्वन्द्वमोहसे रहित होनेवालोंकी बात कहते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

तु	= परन्तु	**पापम्**	= पाप		रहित हुए मनुष्य
येषाम्	= जिन	**अन्तगतम्**	= नष्ट हो गये हैं,	**दृढव्रताः**	= दृढ़व्रती होकर
पुण्यकर्मणाम्	= पुण्यकर्मा	**ते**	= वे	**माम्**	= मेरा
जनानाम्	= मनुष्योंके	**द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः**	= द्वन्द्वमोहसे	**भजन्ते**	= भजन करते हैं।

व्याख्या—'**येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्**'—द्वन्द्वमोहसे मोहित मनुष्य तो भजन नहीं करते और जो द्वन्द्वमोहसे मोहित नहीं हैं, वे भजन करते हैं, तो भजन न करनेवालोंकी अपेक्षा भजन करनेवालोंकी विलक्षणता बतानेके लिये यहाँ '**तु**' पद आया है।

जिन मनुष्योंने 'अपनेको तो भगवत्प्राप्ति ही करनी है'— इस उद्‌देश्यको पहचान लिया है अर्थात् जिनको उद्‌देश्यकी यह स्मृति आ गयी है कि यह मनुष्यशरीर भोग भोगनेके लिये नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे केवल उनकी प्राप्तिके लिये ही मिला है—ऐसा जिनका दृढ़ निश्चय हो गया है, वे मनुष्य ही 'पुण्यकर्मा' हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अपने एक निश्चयसे जो शुद्धि होती है, पवित्रता आती है, वह यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओंसे नहीं आती। कारण कि 'हमें तो एक भगवान्‌की तरफ ही चलना है', यह निश्चय स्वयंमें होता है और यज्ञ, दान आदि क्रियाएँ बाहरसे होती हैं।

'**अन्तगतं पापम्**' कहनेका भाव यह है कि जब यह निश्चय हो गया कि 'मेरेको तो केवल भगवान्‌की तरफ ही चलना है' तो इस निश्चयसे भगवान्‌की सम्मुखता होनेसे विमुखता चली गयी, जिससे पापोंकी जड़ ही कट गयी; क्योंकि भगवान्‌से विमुखता ही पापोंका खास कारण है। सन्तोंने कहा है कि डेढ़ ही पाप है और डेढ़ ही पुण्य है। भगवान्‌से विमुख होना पूरा पाप है और दुर्गुण-दुराचारोंमें लगना आधा पाप है। ऐसे ही भगवान्‌के सम्मुख होना पूरा पुण्य है और सद्‌गुण-सदाचारोंमें लगना आधा पुण्य है। तात्पर्य यह हुआ कि जब मनुष्य भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, तब उसके पापोंका अन्त हो जाता है।

दूसरा भाव यह है कि जिनका लक्ष्य केवल भगवान् हैं, वे पुण्यकर्मा हैं; क्योंकि भगवान्‌का लक्ष्य होनेपर सब पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान्‌का लक्ष्य होनेपर पुराने किसी संस्कारसे पाप हो भी जायगा, तो भी वह रहेगा नहीं; क्योंकि हृदयमें विराजमान भगवान् उस पापको नष्ट कर देते हैं— '**विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः**' (श्रीमद्भा० ११। ५। ४२)।

तीसरा भाव यह है कि मनुष्य सच्चे हृदयसे यह दृढ़ निश्चय कर ले कि 'अब आगे मैं कभी पाप नहीं करूँगा' तो उसके पाप नहीं रहते।

'**ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः**'—

पुण्यकर्मा लोग द्वन्द्वरूप मोहसे रहित होकर और दृढ़व्रती होकर भगवान्‌का भजन करते हैं। द्वन्द्व कई तरहका होता; जैसे—

१—भगवान्‌में लगें या संसारमें लगें? क्योंकि परलोकके लिये भगवान्‌का भजन आवश्यक है और इहलोकके लिये संसारका काम आवश्यक है।

२—वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत और सौर—इन सम्प्रदायोंमेंसे किस सम्प्रदायमें चलें और किस सम्प्रदायमें न चलें?

३—परमात्माके स्वरूपके विषयमें द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि कई तरहके सिद्धान्त हैं। इनमेंसे किस सिद्धान्तको स्वीकार करें और किस सिद्धान्तको स्वीकार न करें?

४—परमात्माकी प्राप्तिके भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि कई मार्ग हैं। उनमेंसे किस मार्गपर चलें और किस मार्गपर न चलें?

५—संसारमें होनेवाले अनुकूल-प्रतिकूल, हर्ष-शोक, ठीक-बेठीक, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि सभी द्वन्द्व हैं।

उपर्युक्त सभी पारमार्थिक और सांसारिक द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर भगवान्‌का भजन करते हैं।

मनुष्यका एक ही पारमार्थिक उद्‌देश्य हो जाय, तो पारमार्थिक और सांसारिक सभी द्वन्द्व मिट जाते हैं। पारमार्थिक उद्‌देश्यवाले साधक अपनी-अपनी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वासके अनुसार अपने-अपने इष्टको सगुण मानें, साकार मानें, निर्गुण मानें, निराकार मानें, द्विभुज मानें, चतुर्भुज मानें अथवा सहस्रभुज आदि कैसे ही मानें, पर संसारकी विमुखतामें और परमात्माकी सम्मुखतामें वे सभी एक हैं। उपासनाकी पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होनेपर भी लक्ष्य सबका एक होनेसे कोई भी पद्धति छोटी-बड़ी नहीं है। जिस साधकका जिस पद्धतिमें श्रद्धा-विश्वास होता है, उसके लिये वही पद्धति श्रेष्ठ है और उसको उसी पद्धतिका ही अनुसरण करना चाहिये। परन्तु दूसरोंकी पद्धति या निष्ठाकी निन्दा करना, उसको दो नम्बरका मानना दोष है। जबतक यह साधनविषयक द्वन्द्व रहता है और साधकमें अपने पक्षका आग्रह और दूसरोंका निरादर रहता है, तबतक साधकको भगवान्‌के समग्ररूपका अनुभव नहीं होता। इसलिये आदर तो सब पद्धतियों और निष्ठाओंका करे, पर अनुसरण अपनी पद्धति और निष्ठाका ही करे; तो इससे साधनविषयक द्वन्द्व मिट जाता है।

मनुष्यमात्रकी यह प्रकृति होती है, ऐसा एक स्वभाव होता है कि जब वह पारमार्थिक बातें सुनता है, तब वह यह समझता है कि साधन करके अपना कल्याण करना है; क्योंकि मनुष्यजन्मकी सफलता इसीमें है। परन्तु जब वह व्यवहारमें आता है, तब वह ऐसा सोचता है कि 'साधन-भजन' से क्या होगा? सांसारिक काम तो करना पड़ेगा; क्योंकि संसारमें बैठे हैं; चीज-वस्तुकी आवश्यकता पड़ती है, उसके बिना काम कैसे चलेगा? अतः संसारका काम मुख्य रहेगा ही और भजन-स्मरणका नित्य-नियम तो समयपर कर लेना है; क्योंकि सांसारिक कामकी जितनी आवश्यकता है, उतनी भजन-स्मरण, नित्य-नियमकी नहीं। ऐसी धारणा रखकर भगवान्‌में लगे हुए मनुष्य बहुत हैं।

भगवान्‌की तरफ चलनेवालोंमें भी जिन्होंने एक निश्चय कर लिया है कि मेरेको तो अपना कल्याण करना है, सांसारिक लाभ-हानि कुछ भी हो जाय, इसकी कोई परवाह नहीं। कारण कि सांसारिक जितनी भी सिद्धि है, वह आँख मीचते ही कुछ नहीं है—'**सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति**' और इन सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त करनेसे कितने दिनतक हमारा काम चलेगा? ऐसा विचार करके जो एक भगवान्‌की तरफ ही लग जाते हैं और सांसारिक आदर-निरादर आदिकी तरफ ध्यान नहीं देते, ऐसे मनुष्य ही द्वन्द्वमोहसे छूटे हुए हैं।

'**दृढव्रताः**' कहनेका तात्पर्य है कि हमें तो केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है, हमारा और कोई लक्ष्य है ही नहीं। वह परमात्मा द्वैत है कि अद्वैत है, शुद्धाद्वैत है कि विशिष्टाद्वैत है, सगुण है कि निर्गुण है, द्विभुज है कि चतुर्भुज है—इससे हमें कोई मतलब नहीं है*। वह हमारे लिये कैसी भी परिस्थिति भेजे; हमें कहीं भी रखे और कैसे भी

---

* **जैसा कि गजेन्द्रने कहा था—**

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥ (श्रीमद्भा० ८। २। ३३)

'जो कोई ईश्वर प्रचण्ड वेगसे (सबको निगल जानेके लिये) दौड़ते हुए अत्यन्त बलवान् कालरूपी साँपसे भयभीत होकर शरणमें आये हुएकी रक्षा करता है और जिससे भयभीत होकर मृत्यु भी दौड़ रही है, उसीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।'

रखे—इससे भी हमें कोई मतलब नहीं है। बस, हमें तो केवल परमात्माकी तरफ चलना है—ऐसे निश्चयसे वे दृढ़व्रती हो जाते हैं।

परमात्माकी तरफ चलनेवालोंके सामने तीन बातें आती हैं—परमात्मा कैसे हैं? जीव कैसा है? और जगत् कैसा है? तो उनके हृदयमें इनका सीधा उत्तर यह होता है कि 'परमात्मा हैं।' वे कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं आदिसे हमें कोई मतलब नहीं, हमें तो परमात्मासे मतलब है। जीव क्या है, उसका कैसा स्वरूप है, वह कहाँ रहता है, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हमें तो इतना ही पर्याप्त है कि 'मैं हूँ।' जगत् कैसा है, ठीक है कि बेठीक है, हमें इससे कोई मतलब नहीं। हमें तो इतना ही समझना पर्याप्त है कि 'जगत् त्याज्य है' और हमें इसका त्याग करना है। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्माकी तरफ चलना है, संसारको छोड़ना है और हमें चलना है अर्थात् 'हमें संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख होना है'—यही सम्पूर्ण दर्शनोंका सार है और यही दृढ़व्रती होना है। दृढ़व्रती होनेसे उनके द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि एक निश्चय न होनेसे ही द्वन्द्व रहते हैं।

दूसरा भाव है कि उनको न तो निर्गुणका ज्ञान है और न उनको सगुणके दर्शन हुए हैं; किन्तु उनकी मान्यतामें संसार निरन्तर नष्ट हो रहा है, निरन्तर अभावमें जा रहा है और सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें भावरूपसे एक परमात्मा ही हैं—ऐसा मानकर वे दृढ़व्रती होकर भजन करते हैं। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके परायण रहती है, ऐसे ही भगवान्‌के परायण रहना ही उनका भजन है।

विशेष बात

शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें और गीतामें भी यह बात आती है कि पापी मनुष्य भगवान्‌में प्राय: नहीं लग पाते; पर यह एक स्वाभाविक सामान्य नियम है। वास्तवमें कितने ही पाप क्यों न हों, वे भगवान्‌से विमुख कर ही नहीं सकते; क्योंकि जीव साक्षात् भगवान्‌का अंश है; अत: उसकी शुद्धि पापोंसे आच्छादित भले ही हो जाय, पर मिट नहीं सकती। इसलिये दुराचारी भी दुराचार छोड़कर भगवान्‌के भजनमें लग जाय, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा (भक्त) हो जाता है—'**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**'* (गीता ९। ३१)। अत: मनुष्यको कभी भी ऐसा नहीं मानना चाहिये कि पुराने पापोंके कारण मेरेसे भजन नहीं हो रहा है; क्योंकि पुराने पाप केवल प्रतिकूल परिस्थितिरूप फल देनेके लिये होते हैं, भजनमें बाधा देनेके लिये नहीं। प्रतिकूल परिस्थिति देकर वे पाप नष्ट हो जाते हैं। अगर ऐसा मान लिया जाय कि पापोंके कारण ही भजन नहीं होता, तो '**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्**' (गीता ९। ३०) 'दुराचारी-से-दुराचारी पुरुष अनन्यभावसे मेरा भजन करता है'—यह कहना बन नहीं सकता। पापोंके कारण अगर भजन-ध्यानमें बाधा लग जाय, तो बड़ी मुश्किल हो जायगी; क्योंकि बिना पापके कोई प्राणी है ही नहीं। पाप-पुण्यसे ही मनुष्यशरीर मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि पुराने पाप भजनमें बाधक नहीं हो सकते। इसलिये जो दृढ़व्रती पुरुष भगवान्‌के शरण होकर वर्तमानमें भगवान्‌के भजनमें लग जाते हैं, उनके पुराने पापोंका अन्त हो जाता है। मनुष्यशरीर भजन करनेके लिये ही मिला है, अत: जो परिस्थितियाँ शरीरतक रहनेवाली हैं, वे भजनमें बाधा पहुँचायें—ऐसा कभी सम्भव ही नहीं है।

सकाम पुण्यकर्मोंकी मुख्यता होनेसे जीव स्वर्गमें जाते हैं और पापकर्मोंकी मुख्यता होनेसे नरकोंमें जाते हैं। परन्तु भगवान् विशेष कृपा करके पापों और पुण्योंका पूरा फल-भोग न होनेपर भी अर्थात् चौरासी लाख योनियोंके बीचमें ही जीवको मनुष्यशरीर दे देते हैं। मनुष्यशरीरमें भगवद्भजनका अवसर विशेषतासे प्राप्त होता है। अत: मनुष्यशरीर प्राप्त होनेपर भगवत्प्राप्तिकी तरफसे कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि भगवत्प्राप्तिके लिये ही मनुष्यशरीर मिलता है।

यह मनुष्यशरीर भोगयोनि नहीं है। इसको सामान्यत: कर्मयोनि कहते हैं। परन्तु संतोंकी वाणी और सिद्धान्तोंके अनुसार मनुष्यशरीर केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही है। इसमें पुराने पुण्योंके अनुसार जो अनुकूल परिस्थिति आती है और पुराने पापोंके अनुसार जो प्रतिकूल परिस्थिति आती है—ये दोनों ही केवल साधन-सामग्री हैं। इन दोनोंमेंसे अनुकूल

*** अन्य योनियोंमें पाप नष्ट होनेपर भी स्वभाव सुधर जाय—यह नियम नहीं है; जैसे—चौरासी लाख योनियाँ और नरक भोगते हुए पाप तो नष्ट हो जाते हैं, पर स्वभाव नहीं सुधरता। परन्तु मनुष्ययोनिमें पाप रहनेपर भी साधकका स्वभाव सुधर सकता है, जैसे—पापोंके रहनेसे उनके फलरूपमें प्रतिकूल परिस्थिति (बीमारी आदि) आती है, पर सत्संगसे, साधनपरायणतासे, अहंता-परिवर्तनसे पारमार्थिक साधकका स्वभाव सुधर जाता है।**

परिस्थिति आनेपर दुनियाकी सेवा करना और प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करना—यह साधकका काम है। ऐसा करनेसे ये दोनों ही परिस्थितियाँ साधन-सामग्री हो जायँगी। इनमें भी देखा जाय तो अनुकूल परिस्थितिमें पुराने पुण्योंका नाश होता है और वर्तमानमें भोगोंमें फँसनेकी सम्भावना भी रहती है। परन्तु प्रतिकूल परिस्थितिमें पुराने पापोंका नाश होता है और वर्तमानमें अधिक सजगता, सावधानी रहती है, जिससे साधन सुगमतासे बनता है। इस दृष्टिसे संतजन सांसारिक प्रतिकूल परिस्थितिका आदर करते आये हैं।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌के सम्मुख होना सबसे बड़ा पुण्य है; क्योंकि यह सब पुण्योंका मूल है*। परन्तु भगवान्‌से विमुख होना सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि यह सब पापोंका मूल है। जिन मनुष्योंके पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात् जो संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो गये हैं, वे राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होकर भगवान्‌का भजन करते हैं। भजन करनेवालोंके प्रकारका वर्णन भगवान् सोलहवें श्लोकमें **'चतुर्विधा भजन्ते माम्'** पदोंसे कर चुके हैं।

राग-द्वेष मनुष्यको संसारकी तरफ खींचते रहते हैं। जबतक एक वस्तुमें राग रहता है, तबतक दूसरी वस्तुमें द्वेष रहता ही है; क्योंकि मनुष्य किसी वस्तुके सम्मुख होगा तो किसी वस्तुसे विमुख होगा ही। जबतक मनुष्यके भीतर राग-द्वेष रहते हैं; तबतक वह भगवान्‌के सर्वथा सम्मुख नहीं हो सकता; क्योंकि उसका सम्बन्ध संसारसे जुड़ा रहता है। उसका जितने अंशमें संसारसे राग रहता है, उतने अंशमें भगवान्‌से द्वेष अर्थात् विमुखता रहती है।

'दृढव्रताः'—ढीली प्रकृतिवाला अर्थात् शिथिल स्वभाववाला मनुष्य असत्‌का जल्दी त्याग नहीं कर सकता। एक विचार किया और उसको छोड़ दिया, फिर दूसरा विचार किया और उसको छोड़ दिया—इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसको छोड़ते रहनेसे आदत बिगड़ जाती है। इस बिगड़ी हुई आदतके कारण ही वह असत्‌के त्यागकी बातें तो सीख जाता है, पर असत्‌का त्याग नहीं कर पाता। अगर वह असत्‌का त्याग कर भी देता है तो स्वभावकी ढिलाईके कारण फिर उसको सत्ता दे देता है। स्वभावकी यह शिथिलता स्वयं साधककी बनायी हुई है। अतः साधकके लिये यह बहुत आवश्यक है कि वह अपना स्वभाव दृढ़ रहनेका बना ले। एक बार वह जो विचार कर ले, उसपर वह दृढ़ रहे। छोटी-से-छोटी बातमें भी वह दृढ़ (पक्का) रहे तो ऐसा स्वभाव बननेसे उसमें असत्‌का त्याग करनेकी, संसारसे विमुख होनेकी शक्ति आ जायगी।

---

*सम्बन्ध—सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने साधकके लिये तीन बातें कही थीं—**'मय्यासक्तमनाः'**—मेरेमें प्रेम करके और **'मदाश्रयः'**—मेरा आश्रय लेकर **'योगं युञ्जन्'**—योगका अनुष्ठान करता है, वह मेरे समग्ररूपको जान जाता है। उन्हीं तीन बातोंका उपसंहार अब आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।*

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

जरामरण-मोक्षाय	= वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये	**माम्**	= मेरा	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
		आश्रित्य	= आश्रय लेकर	**अध्यात्मम्**	= अध्यात्मको
		यतन्ति	= प्रयत्न करते हैं,	**च**	= और
		ते	= वे	**अखिलम्**	= सम्पूर्ण
		तत्	= उस	**कर्म**	= कर्मको
ये	= जो मनुष्य	**ब्रह्म**	= ब्रह्मको,	**विदुः**	= जान जाते हैं।

व्याख्या—[इन उनतीसवें-तीसवें श्लोकोंमें आये **'मामाश्रित्य'** पदमें **'मदाश्रयः'** का, **'यतन्ति'** पदमें **'योगं युञ्जन्'** का और **'युक्तचेतसः'** पदमें **'मय्यासक्तमनाः'** का उपसंहार किया गया है। इसी अध्यायके आरम्भमें जो **'समग्रम्'** पद आया था, उसको यहाँ ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ कहा गया है।]

* सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ (मानस, सुन्दर० ४४। १)

'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये'—यहाँ जरा (वृद्धावस्था) और मरणसे मुक्ति पानेका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मका ज्ञान होनेपर वृद्धावस्था नहीं होगी, शरीरकी मृत्यु नहीं होगी। इसका तात्पर्य यह है कि बोध होनेके बाद शरीरमें आनेवाली वृद्धावस्था और मृत्यु तो आयेगी ही, पर ये दोनों अवस्थाएँ उसको दु:खी नहीं कर सकेंगी। जैसे तेरहवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें **'भूतप्रकृतिमोक्षम्'** कहनेका तात्पर्य भूत और प्रकृति अर्थात् कार्य और कारणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेमें है, ऐसे ही यहाँ **'जरामरणमोक्षाय'** कहनेका तात्पर्य जरा, मृत्यु आदि शरीरके विकारोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेमें है।

जैसे कोई युवा पुरुष है, तो उसकी अभी न वृद्धावस्था है और न मृत्यु है; अत: वह जरा-मरणसे अभी मुक्त है। परन्तु वास्तवमें वह जरा-मरणसे मुक्त नहीं है; क्योंकि जरा-मरणके कारण शरीरके साथ जबतक सम्बन्ध है, तबतक जरा-मरणसे रहित होते हुए भी वह इनसे मुक्त नहीं है। परन्तु जो जीवन्मुक्त महापुरुष हैं, उनके शरीरमें जरा और मरण होनेपर भी वे इनसे मुक्त हैं। अत: जरा-मरणसे मुक्त होनेका तात्पर्य है—जिसमें जरा और मरण होते हैं, ऐसे प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होना। जब मनुष्य शरीरके साथ तादात्म्य ('मैं यही हूँ') मान लेता है, तब शरीरके वृद्ध होनेपर 'मैं वृद्ध हो गया' और शरीरके मरनेको लेकर 'मैं मर जाऊँगा'—ऐसा मानता है। यह मान्यता 'शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है' इसीपर टिकी हुई है। इसलिये तेरहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें आया है—**'जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम्'** अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दु:ख-रूप दोषोंको देखना—इसका तात्पर्य है कि शरीरके साथ 'मैं' और 'मेरा-पन' का सम्बन्ध न रहे। जब मनुष्य 'मैं' और 'मेरा-पन' से मुक्त हो जायगा, तब वह जरा, मरण आदिसे भी मुक्त हो जायगा; क्योंकि शरीरके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही वास्तवमें जन्मका कारण है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। वास्तवमें इसका शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं है, तभी सम्बन्ध मिटता है। मिटता वही है, जो वास्तवमें नहीं होता।

यहाँ **'मामाश्रित्य यतन्ति ये'** पदोंमें आश्रय लेना और यत्न करना—इन दो बातोंको कहनेका तात्पर्य है कि मनुष्य अगर स्वयं यत्न करता है, तो अभिमान आता है कि 'मैंने ऐसा कर लिया, जिससे ऐसा हो गया' और अगर स्वयं यत्न न करके 'भगवान्के आश्रयसे सब कुछ हो जायगा' ऐसा मानता है, तो वह आलस्य और प्रमादमें तथा संग्रह और भोगमें लग जाता है। इसलिये यहाँ दो बातें बतायीं कि शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार स्वयं तत्परतासे उद्योग करे और उस उद्योगके होनेमें तथा उद्योगकी सफलतामें कारण भगवान्को माने।

जो नित्य-निरन्तर वियुक्त हो रहा है, ऐसे शरीर-संसारको मनुष्य प्राप्त और स्थायी मान लेता है। जबतक वह शरीर और संसारको स्थायी मानकर उसे महत्ता देता रहता है, तबतक साधन करनेपर भी उसको भगवत्प्राप्ति नहीं होती। अगर वह शरीर-संसारको स्थायी न माने और उसको महत्त्व न दे, तो भगवत्प्राप्तिमें देरी नहीं लगेगी। अत: इन दोनों बाधाओंको अर्थात् शरीर-संसारकी स्वतन्त्र सत्ताको और महत्ताको विचारपूर्वक हटाना ही यत्न करना है। परन्तु जो भगवान्का आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। उनका तो यही भाव रहता है कि उस प्रभुकी कृपासे ही साधन-भजन हो रहा है। भगवान्की कृपाका आश्रय लेनेसे और अपने बलका अभिमान न करनेसे वे भगवान्के समग्ररूपको जान लेते हैं।

जो भगवान्का आश्रय न लेकर अपना कल्याण चाहते हुए उद्योग करते हैं, उनको अपने-अपने साधनके अनुसार भगवत्स्वरूपका बोध तो हो जाता है, पर भगवान्के समग्ररूपका बोध उनको नहीं होता। जैसे, कोई प्राणायाम आदिके द्वारा योगका अभ्यास करता है, तो उसको अणिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ मिलती हैं और उनसे ऊँचा उठनेपर परमात्माके निराकार-स्वरूपका बोध होता है अथवा अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। ऐसे ही बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायोंमें चलनेवाले जितने मनुष्य हैं, जो कि ईश्वरको नहीं मानते, वे भी अपने-अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके अनुसार साधन करके असत्-जडरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो संसारसे विमुख होकर भगवान्का आश्रय लेकर यत्न करते हैं, उनको भगवान्के समग्ररूपका बोध होकर भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है—यह विलक्षणता बतानेके लिये ही भगवान्ने यहाँ

'मामाश्रित्य यतन्ति ये' कहा है।

'ते ब्रह्म तत् (विदुः)'—इस तरहसे यत्न (साधन) करनेपर वे मेरे स्वरूपको* अर्थात् जो निर्गुण-निराकार है, जो मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिका विषय नहीं है, जो सामने नहीं है, शास्त्र जिसका परोक्षरूपसे वर्णन करते हैं, उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको जान जाते हैं।

'ब्रह्म' के साथ **'तत्'** शब्द देनेका तात्पर्य यह है कि प्राय: सभी **'तत्'** शब्दसे कहे जानेवाले जिस परमात्माको परोक्षरूपसे ही देखते हैं, ऐसे परमात्माका भी वे साक्षात् अपरोक्षरूपसे अनुभव कर लेते हैं।

उस परमात्माकी सत्ता प्राणिमात्रमें स्वत:सिद्ध है। कारण कि वह परमात्मा किसी देशमें न हो, किसी समयमें न हो, किसी वस्तुमें न हो और किसी व्यक्तिमें न हो—ऐसा नहीं है, प्रत्युत वह सब देशमें है, सब समयमें है, सब वस्तुओंमें है और सब व्यक्तियोंमें है। ऐसा होनेपर भी वह अप्राप्त क्यों दीखता है? जो पहले नहीं था, बादमें नहीं रहेगा, अभी मौजूद रहते हुए भी प्रतिक्षण वियुक्त हो रहा है, अभावमें जा रहा है—ऐसे शरीर-संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार कर ली, इसीसे नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्व अप्राप्त दीख रहा है।

'कृत्स्नमध्यात्मम् (विदुः)'—वे सम्पूर्ण अध्यात्मको जान जाते हैं अर्थात् सम्पूर्ण जीव तत्त्वसे क्या हैं, इस बातको वे जान जाते हैं। पंद्रहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें कहा है कि 'जीवके द्वारा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको प्राप्त करनेको विमूढ़ पुरुष नहीं जानते और ज्ञानचक्षुवाले जानते हैं।' इसको जाननेका तात्पर्य यह नहीं है कि 'जीव कितने हैं, वे क्या-क्या करते हैं और उनकी क्या-क्या गति हो रही है'—इसको जान जाते हैं, प्रत्युत आत्मा शरीरसे अलग है—इसको तत्त्वसे जान जाते हैं अर्थात् अनुभव कर लेते हैं।

भगवान्‌के आश्रयसे साधकका जब क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब वह अध्यात्म-तत्त्वको—अपने स्वरूपको जान जाता है। केवल अपने स्वरूपको ही नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों और चौदह भुवनोंमें जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उन सबके स्वरूपको भी जान जाता है कि सबका स्वरूप शुद्ध है, निर्मल है, प्रकृतिसे असम्बद्ध है। अनन्त जन्मोंतक अनन्त क्रियाओं और शरीरोंके साथ एकता करनेपर भी उनकी कभी एकता हो ही नहीं सकती और अनन्त जन्मोंतक अपने स्वरूपका बोध न होनेपर भी वे अपने स्वरूपसे कभी अलग हो ही नहीं सकते—ऐसा जानना सम्पूर्ण अध्यात्म-तत्त्वको जानना है।

'कर्म चाखिलं विदुः'—वे सम्पूर्ण कर्मोंके वास्तविक तत्त्वको जान जाते हैं अर्थात् सृष्टिकी रचना क्यों होती है, कैसे होती है और भगवान् कैसे करते हैं—इसको भी वे जान जाते हैं।

जैसे भगवान्‌ने चारों वर्णोंकी रचना की। उस रचनामें जीवोंके जो गुण और कर्म हैं अर्थात् उनके जैसे भाव हैं और उन्होंने जैसे कर्म किये हैं, उनके अनुसार ही शरीरोंकी रचना की गयी है। उन वर्णोंमें जन्म होनेमें स्वयं भगवान्‌की तरफसे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये भगवान्‌में कर्तृत्व नहीं है और फलेच्छा भी नहीं है (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ-चौदहवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि सृष्टिकी रचना करते हुए भी भगवान् कर्तृत्व और फलासक्तिसे सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं। ऐसे ही मनुष्यमात्रको देश, काल, परिस्थितिके अनुरूप जो भी कर्तव्य-कर्म प्राप्त हो जाय, उसे कर्तृत्व और फलासक्तिसे रहित होकर करनेसे वह कर्म मनुष्यको बाँधनेवाला नहीं होता अर्थात् वह कर्म फलजनक नहीं बनता। तात्पर्य है कि कर्मोंके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, इस तरह उनके साथ निर्लिप्तताका अनुभव करना ही अखिल कर्मको जानना है।

जो अनन्यभावसे केवल भगवान्‌का आश्रय लेता है, उसका प्राकृत क्रियाओं और पदार्थोंका आश्रय छूट जाता है। इससे उसको यह बात ठीक तरहसे समझमें आ जाती है कि ये सब क्रियाएँ और पदार्थ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं अर्थात् क्रियाओंका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा पदार्थोंकी भी उत्पत्ति और विनाश, संयोग और वियोग होता है। ब्रह्मलोकतककी कोई भी क्रिया और पदार्थ नित्य रहनेवाला नहीं है। अत: कर्मोंके साथ मेरा किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है—यह भी अखिल कर्मको जानना है।

तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌का आश्रय लेकर चलने-वाले ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मके वास्तविक तत्त्वको जान जाते हैं अर्थात् भगवान्‌ने जैसे कहा है कि 'यह सम्पूर्ण

*** यहाँ अट्ठाईसवें, उनतीसवें और तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अस्मत् शब्द 'माम्' का प्रयोग किया है, इसलिये यहाँ व्याख्यामें 'मेरा स्वरूप' ऐसा अर्थ लिया है।**

संसार मेरेमें ही ओतप्रोत है' (सातवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) और 'सब कुछ वासुदेव ही है' (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक), ऐसे ही वे भगवान्‌के समग्ररूपको जान जाते हैं कि ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म—ये सभी भगवत्स्वरूप ही हैं, भगवान्‌के सिवाय इनमें दूसरी कोई सत्ता नहीं है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

ये	= जो मनुष्य	**माम्**	= मुझे	**प्रयाणकाले**	= अन्तकालमें
साधि-भूताधिदैवम्	= अधिभूत तथा अधिदैवके सहित	**विदुः**	= जानते हैं,	**अपि**	= भी
च	= और	**ते**	= वे	**माम्**	= मुझे
साधियज्ञम्	= अधियज्ञके सहित	**युक्तचेतसः**	= मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य	**च**	= ही
				विदुः	= जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—'**साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः**'—[पूर्वश्लोकमें निर्गुण-निराकारको जाननेका वर्णन करके अब सगुण-साकारको जाननेकी बात कहते हैं।]

यहाँ 'अधिभूत' नाम भौतिक स्थूल सृष्टिका है, जिसमें तमोगुणकी प्रधानता है। जितनी भी भौतिक सृष्टि है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उसका क्षणमात्र भी स्थायित्व नहीं है। फिर भी यह भौतिक सृष्टि सत्य दीखती है अर्थात् इसमें सत्यता, स्थिरता, सुखरूपता, श्रेष्ठता और आकर्षण दीखता है। यह सत्यता आदि सब-के-सब वास्तवमें भगवान्‌के ही हैं, क्षणभंगुर संसारके नहीं। तात्पर्य है कि जैसे बर्फकी सत्ता जलके बिना नहीं हो सकती, ऐसे ही भौतिक स्थूल सृष्टि अर्थात् अधिभूतकी सत्ता भगवान्‌के बिना नहीं हो सकती। इस प्रकार तत्त्वसे यह संसार भगवत्स्वरूप ही है—ऐसा जानना ही अधिभूतके सहित भगवान्‌को जानना है।

'अधिदैव' नाम सृष्टिकी रचना करनेवाले हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीका है, जिनमें रजोगुणकी प्रधानता है। भगवान् ही ब्रह्माजीके रूपमें प्रकट होते हैं अर्थात् तत्त्वसे ब्रह्माजी भगवत्स्वरूप ही हैं—ऐसा जानना ही अधिदैवके सहित भगवान्‌को जानना है।

'अधियज्ञ' नाम भगवान् विष्णुका है, जो अन्तर्यामी-रूपसे सबमें व्याप्त हैं और जिनमें सत्त्वगुणकी प्रधानता है। तत्त्वसे भगवान् ही अन्तर्यामीरूपसे सबमें परिपूर्ण हैं—ऐसा जानना ही अधियज्ञके सहित भगवान्‌को जानना है।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌को जाननेका तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्णके शरीरके किसी एक अंशमें विराट्‌रूप है (गीता—दसवें अध्यायका बयालीसवाँ और ग्यारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) और उस विराट्‌रूपमें अधिभूत (अनन्त ब्रह्माण्ड), अधिदैव (ब्रह्माजी) और अधियज्ञ (विष्णु) आदि सभी हैं, जैसा कि अर्जुनने कहा है—हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंको; जिनकी नाभिसे कमल निकला है, उन विष्णुको, कमलपर विराजमान ब्रह्माको और शंकर आदिको देख रहा हूँ (गीता—ग्यारहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। अतः तत्त्वसे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण ही समग्र भगवान् हैं।

'**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**'—जो संसारके भोगों और संग्रहकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें समान रहनेवाले हैं तथा संसारसे सर्वथा उपरत होकर भगवान्‌में लगे हुए हैं, वे पुरुष युक्तचेता हैं। ऐसे युक्तचेता मनुष्य अन्तकालमें भी मेरेको ही जानते हैं अर्थात् अन्तकालकी पीड़ा आदिमें भी वे मेरेमें ही अटलरूपसे स्थित रहते हैं। उनकी ऐसी दृढ़ स्थिति होती है कि वे स्थूल और सूक्ष्म-शरीरमें कितनी ही हलचल होनेपर भी कभी किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं होते।

भगवान्‌के समग्ररूप-सम्बन्धी विशेष बात

(१)

प्रकृति और प्रकृतिके कार्य—क्रिया, पदार्थ आदिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही सभी विकार पैदा होते हैं और उन क्रिया, पदार्थ आदिकी प्रकटरूपसे सत्ता दीखने लग जाती है। परन्तु प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा

सम्बन्ध-विच्छेद करके भगवत्स्वरूपमें स्थित होनेसे उनकी स्वतन्त्र सत्ता उस भगवत्तत्त्वमें ही लीन हो जाती है। फिर उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं दीखती।

जैसे, किसी व्यक्तिके विषयमें हमारी जो अच्छे और बुरेकी मान्यता है, वह मान्यता हमारी ही की हुई है। तत्त्वसे तो वह व्यक्ति भगवान्‌का स्वरूप है अर्थात् उस व्यक्तिमें तत्त्वके सिवाय दूसरा कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही नहीं है। ऐसे ही संसारमें 'यह ठीक है, यह बेठीक है' इस प्रकार ठीक-बेठीककी मान्यता हमारी ही की हुई है। तत्त्वसे तो संसार भगवान्‌का स्वरूप ही है। हाँ, संसारमें जो वर्ण-आश्रमकी मर्यादा है, 'ऐसा काम करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये'—यह जो विधि-निषेधकी मर्यादा है, इसको महापुरुषोंने जीवोंके कल्याणार्थ व्यवहारके लिये मान्यता दी है।

जब यह भौतिक सृष्टि नहीं थी, तब भी भगवान् थे और इसके लीन होनेपर भी भगवान् रहेंगे—इस तरहसे जब वास्तविक भगवत्तत्त्वका बोध हो जाता है, तब भौतिक सृष्टिकी सत्ता भगवान्‌में ही लीन हो जाती है अर्थात् इस सृष्टिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसारकी स्वतन्त्र सत्ता न रहनेपर संसार मिट जाता है, उसका अभाव हो जाता है, प्रत्युत अन्तःकरणमें सत्यत्वेन जो संसारकी सत्ता और महत्ता बैठी हुई थी, जो कि जीवके कल्याणमें बाधक थी, वह नहीं रहती। जैसे सोनेके गहनोंकी अनेक तरहकी आकृति और अलग-अलग उपयोग होनेपर भी उन सबमें एक ही सोना है, ऐसे ही भगवद्भक्तके द्वारा अनेक तरहका यथायोग्य सांसारिक व्यवहार होनेपर भी उन सबमें एक ही भगवत्तत्त्व है—ऐसी अटलबुद्धि रहती है। इस तत्त्वको समझनेके लिये ही उनतीसवें और तीसवें श्लोकमें समग्ररूपका वर्णन हुआ है।

(२)

उपासनाकी दृष्टिसे भगवान्‌के प्रायः दो रूपोंका विशेष वर्णन आता है—एक सगुण और एक निर्गुण। इनमें सगुणके दो भेद होते हैं—एक सगुण-साकार और एक सगुण-निराकार। परन्तु निर्गुणके दो भेद नहीं होते, निर्गुण निराकार ही होता है। हाँ, निराकारके दो भेद होते हैं—एक सगुण-निराकार और एक निर्गुण-निराकार।

उपासना करनेवाले दो रुचिके होते हैं—एक सगुण-विषयक रुचिवाला होता है और एक निर्गुणविषयक रुचिवाला होता है। परन्तु इन दोनोंकी उपासना भगवान्‌के 'सगुण-निराकार' रूपसे ही शुरू होती है; जैसे—परमात्म-प्राप्तिके लिये कोई भी साधक चलता है तो वह पहले 'परमात्मा है'—इस प्रकार परमात्माकी सत्ताको मानता है और 'वे परमात्मा सबसे श्रेष्ठ हैं, सबसे दयालु हैं, उनसे बढ़कर कोई है नहीं'—ऐसे भाव उसके भीतर रहते हैं, तो उपासना सगुण-निराकारसे ही शुरू हुई। इसका कारण यह है कि बुद्धि प्रकृति कार्य (सगुण) होनेसे निर्गुणको पकड़ नहीं सकती। इसलिये निर्गुणके उपासकका लक्ष्य तो निर्गुण-निराकार होता है, पर बुद्धिसे वह सगुण-निराकार-का ही चिन्तन करता है*।

सगुणकी ही उपासना करनेवाले पहले सगुण-साकार मानकर उपासना करते हैं। परन्तु मनमें जबतक साकार-रूप दृढ़ नहीं होता, तबतक 'प्रभु हैं और वे मेरे सामने हैं' ऐसी मान्यता मुख्य होती है। इस मान्यतामें सगुण भगवान्‌की अभिव्यक्ति जितनी अधिक होती है, उतनी ही उपासना ऊँची मानी जाती है। अन्तमें जब वह सगुण-साकाररूपसे भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श और प्रसाद प्राप्त कर लेता है, तब उसकी उपासनाकी पूर्णता हो जाती है।

निर्गुणकी उपासना करनेवाले परमात्माको सम्पूर्ण संसारमें व्यापक समझते हुए चिन्तन करते हैं। उनकी वृत्ति जितनी ही सूक्ष्म होती चली जाती है, उतनी ही उनकी उपासना ऊँची मानी जाती है। अन्तमें सांसारिक आसक्ति और गुणोंका सर्वथा त्याग होनेपर जब 'मैं', 'तू' आदि कुछ भी नहीं रहता, केवल चिन्मय-तत्त्व शेष रह जाता है, तब उसकी उपासनाकी पूर्णता हो जाती है।

इस प्रकार दोनोंकी अपनी-अपनी उपासनाकी पूर्णता

*** उपासना सगुण-निराकारसे शुरू होती है—इसीलिये भगवान्‌ने इस (सातवें) अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें 'सगुण-निराकार' का वर्णन किया है। फिर उनतीसवें श्लोकमें 'निर्गुण-निराकार' का और तीसवें श्लोकमें 'सगुण-साकार' का वर्णन किया है। इस प्रकार यहाँ तो तीनों स्वरूपोंका एक-एक श्लोकमें वर्णन किया गया है, पर आगे आठवें अध्यायमें इन तीनोंका तीन-तीन श्लोकोंमें वर्णन किया गया है, जैसे—आठवें अध्यायके आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें 'सगुण-निराकार'की उपासनाका; ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें 'निर्गुण-निराकार' की उपासनाका तथा चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें 'सगुण-साकार' की उपासनाका विशद वर्णन किया गया है।**

होनेपर दोनोंकी एकता हो जाती है अर्थात् दोनों एक ही तत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं[1]। सगुण-साकारके उपासकोंको तो भगवत्कृपासे निर्गुण-निराकारका भी बोध हो जाता है—**मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥** (मानस ३।३६।५) निर्गुण-निराकारके उपासकमें यदि भक्तिके संस्कार हैं और भगवान्‌के दर्शनकी अभिलाषा है, तो उसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं अथवा भगवान्‌को उससे कुछ काम लेना होता है, तो भगवान् अपनी तरफसे भी दर्शन दे सकते हैं। जैसे, निर्गुण-निराकारके उपासक मधुसूदनाचार्यजीको भगवान्‌ने अपनी तरफसे दर्शन दिये थे[2]।

(३)

वास्तवमें परमात्मा सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब कुछ हैं। सगुण-निर्गुण तो उनके विशेषण हैं, नाम हैं। साधक परमात्माको गुणोंके सहित मानता है तो उसके लिये वे सगुण हैं और साधक उनको गुणोंसे रहित मानता है तो उसके लिये वे निर्गुण हैं। वास्तवमें परमात्मा सगुण तथा निर्गुण—दोनों हैं और दोनोंसे परे भी हैं। परन्तु इस वास्तविकताका पता तभी लगता है, जब बोध होता है।

भगवान्‌के सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदि जो दिव्य गुण हैं, उन गुणोंके सहित सर्वत्र व्यापक परमात्माको 'सगुण' कहते हैं। इस सगुणके दो भेद होते हैं—

(१) **सगुण-निराकार**—जैसे, आकाशका गुण 'शब्द' है, पर आकाशका कोई आकार (आकृति) नहीं है, इसलिये आकाश सगुण-निराकार हुआ। ऐसे ही प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्माका नाम सगुण-निराकार है।

(२) **सगुण-साकार**—वे ही सगुण-निराकार परमात्मा जब अपनी दिव्य प्रकृतिको अधिष्ठित करके अपनी योगमायासे लोगोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, उनकी इन्द्रियोंके विषय हो जाते हैं, तब उन परमात्माको सगुण-साकार कहते हैं। सगुण तो वे थे ही, आकृतियुक्त प्रकट हो जानेसे वे साकार कहलाते हैं।

जब साधक परमात्माको दिव्य अलौकिक गुणोंसे भी रहित मानता है अर्थात् साधककी दृष्टि केवल निर्गुण परमात्माकी तरफ रहती है, तब परमात्माका वह स्वरूप 'निर्गुण-निराकार' कहा जाता है।

गुणोंके भी दो भेद होते हैं—(१) परमात्माके स्वरूपभूत सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिव्य, अलौकिक, अप्राकृत गुण और (२) प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम गुण। परमात्मा चाहे सगुण-निराकार हों, चाहे सगुण-साकार हों, वे प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे सर्वथा रहित हैं, अतीत हैं। वे यद्यपि प्रकृतिके गुणोंको स्वीकार करके सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी लीला करते हैं, फिर भी वे प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा रहित ही रहते हैं (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

जो परमात्मा गुणोंसे कभी नहीं बँधते, जिनका गुणोंपर पूरा आधिपत्य होता है, वे ही परमात्मा निर्गुण होते हैं। अगर परमात्मा गुणोंसे बँधे हुए और गुणोंके अधीन होंगे, तो वे कभी निर्गुण नहीं हो सकते। निर्गुण तो वे ही हो सकते हैं, जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं और जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं, ऐसे परमात्मामें ही सम्पूर्ण गुण रह सकते हैं। इसलिये परमात्माको सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब कुछ कह सकते हैं। ऐसे परमात्माका ही उनतीसवें-तीसवें श्लोकोंमें समग्ररूपसे वर्णन किया गया है।

अध्याय-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने इस अध्यायमें पहले परिवर्तनशीलको 'अपरा' और अपरिवर्तनशीलको 'परा' नामसे कहा (चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। फिर इन दोनोंके संयोगसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति बतायी और अपनेको सम्पूर्ण संसारका प्रभव और प्रलय बताया अर्थात् संसारके आदिमें और अन्तमें 'केवल मैं ही रहता हूँ'—यह बताया (छठा-सातवाँ श्लोक)। उसी

१-सगुण-निर्गुणका भेद तो उपासनाकी दृष्टिसे है। वास्तवमें इन दोनों उपासनाओंमें उपास्यतत्त्व एक ही है। उपासना साधककी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार होती है। अतः साधकोंकी भिन्न-भिन्न रुचि, विश्वास और योग्यता होनेके कारण उपासनाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। परन्तु सम्पूर्ण उपासनाओंसे अन्तमें एक ही उपास्यतत्त्वकी प्राप्ति होती है। उस उपास्यतत्त्वको ही 'समग्र ब्रह्म' कहते हैं।

२-अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः। शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'अद्वैतमार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमें गोपियोंके पीछे-पीछे फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक अपने चरणोंका गुलाम बना लिया!'

प्रसंगमें भगवान्‌ने सत्रह विभूतियोंके रूपमें कारणरूपसे अपनी व्यापकता बतायी (आठवेंसे बारहवें श्लोकतक)। फिर भगवान्‌ने कहा कि जो तीनों गुणोंसे मोहित है अर्थात् जिसने निरन्तर परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है, वह गुणोंसे पर मेरेको नहीं जान सकता (तेरहवाँ श्लोक)। यह गुणमयी माया तरनेमें बड़ी दुष्कर है। जो मेरे शरण हो जाते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं (चौदहवाँ श्लोक); परन्तु जो मेरेसे विमुख होकर निषिद्ध आचरणोंमें लग जाते हैं, वे दुष्कृती मनुष्य मेरे शरण नहीं होते (पन्द्रहवाँ श्लोक)। अब यहाँ चौदहवें श्लोकके बाद ही सोलहवाँ श्लोक कह देते तो बहुत ठीक बैठता अर्थात् चौदहवें श्लोकमें शरण होनेकी बात कही, तो अब शरण होनेवाले चार तरहके होते हैं—ऐसा बतानेसे शृंखला बहुत ठीक बैठती। परन्तु पंद्रहवाँ श्लोक बीचमें आ जानेसे प्रकरण ठीक नहीं बैठता। अतः यह श्लोक प्रकरणके विरुद्ध अर्थात् बाधा डालनेवाला मालूम देता है। परन्तु वास्तवमें यह श्लोक प्रकरणके विरुद्ध नहीं है; क्योंकि यह श्लोक न आनेसे 'पापी मेरे शरण नहीं होते'—यह कहना बाकी रह जाता। इसलिये पंद्रहवें श्लोकमें 'दुष्कृती (पापी) मेरे शरण होते ही नहीं'—यह बात बता दी और सोलहवें श्लोकमें शरण होनेवालोंके चार प्रकार बता दिये।

अब जो शरण होते हैं, उनके भी दो प्रकार हैं—एक तो भगवान्‌को भगवान् समझकर अर्थात् भगवान्‌की महत्ता समझकर भगवान्‌के शरण होते हैं (सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक) और दूसरे भगवान्‌को साधारण मनुष्य मानकर देवताओंको सबसे बड़ा मानते हैं, इसलिये भगवान्‌का आश्रय न लेकर कामनापूर्तिके लिये देवताओंके शरण हो जाते हैं (बीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक)।

देवताओंके शरणमें होनेमें भी दो हेतु होते हैं—कामनाओंका बढ़ जाना और भगवान्‌की महत्ताको न जानना। इनमेंसे पहले हेतुका वर्णन तो बीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक कर दिया और दूसरे हेतुका वर्णन चौबीसवें श्लोकमें कर दिया। जो भगवान्‌को साधारण मनुष्य मानते हैं, उनके सामने भगवान् प्रकट नहीं होते—यह बात पचीसवें श्लोकमें बता दी।

अब ऐसा असर पड़ता है कि भगवान् भी मायासे ढके होंगे। अतः भगवान् कहते हैं कि मेरा ज्ञान ढका हुआ नहीं है (छब्बीसवाँ श्लोक)। मेरेको न जाननेमें राग-द्वेष ही मुख्य कारण हैं (सत्ताईसवाँ श्लोक)। जो इस द्वन्द्वरूप मोहसे रहित होते हैं, वे दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं (अट्ठाईसवाँ श्लोक)। जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे मेरे समग्ररूपको जान जाते हैं और अन्तमें मेरेको ही प्राप्त होते हैं (उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)।

इस अध्यायपर आदिसे अन्ततक विचार करके देखें तो भगवान्‌के विमुख और सम्मुख होनेका ही इसमें वर्णन है। तात्पर्य है कि जडताकी तरफ वृत्ति रखनेसे मनुष्य बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। अगर वे जडतासे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं, तो वे सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार—ऐसे भगवान्‌के समग्ररूपको जानकर अन्तमें भगवान्‌को ही प्राप्त हो जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—इस अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था कि मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिससे तू मेरे समग्ररूपको जान जायगा और जिसको जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा। फिर उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने '**वासुदेवः सर्वम्**' कहकर अपने समग्ररूपका संक्षेपसे वर्णन किया। अब अध्यायके अन्तमें भगवान् उसका खुलासा करते हैं।

साधकका जन्म तो हो चुका है और व्याधि अवश्यम्भावी नहीं है; परन्तु वृद्धावस्था और मृत्यु—ये दोनों अवश्यम्भावी हैं और इनसे मनुष्यको अधिक दुःख होता है। इसलिये यहाँ '**जरामरणमोक्षाय**' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का आश्रय लेनेवाले भक्त जरा और मरण—दोनोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् उनको शरीरके रहते हुए वृद्धावस्थाका भी दुःख नहीं होता और गतिके विषयमें भी दुःख नहीं होता कि मरनेके बाद हमारी क्या गति होगी? वे भगवान्‌का आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, इसलिये वे परा-अपराके सहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेते हैं अर्थात् विज्ञानसहित ज्ञानको जान लेते हैं।

यद्यपि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी भी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं, पर भक्त जरा-मरणसे मुक्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के समग्ररूपको भी जान लेते हैं। कारण कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी तो आरम्भसे ही अपने साधनकी निष्ठा होती है (गीता—तीसरे अध्यायका तीसरा श्लोक), पर भक्त आरम्भसे ही भगवन्निष्ठ अर्थात् भगवत्परायण होता है। भगवन्निष्ठ होनेसे भगवान् कृपा करके उसको अपने समग्ररूपका ज्ञान करा देते हैं।

इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि कोई एक ही (विरला) मनुष्य मेरे समग्ररूपको जानता है— '**कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**'। यहाँ बताते हैं कि जो मेरे शरण हो जाता है, वह मेरे समग्ररूपको जान लेता है। अतः भगवान्‌के समग्ररूप-(विज्ञानसहित ज्ञान-) को जाननेकी मुख्य साधना है—शरणागति **(मामाश्रित्य)**। कारण कि समग्रका ज्ञान विचारसे नहीं होता, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत होनेपर भगवत्कृपासे ही होता है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें '**मदाश्रयः**' कहकर अन्तमें '**मामाश्रित्य**' पदसे उसका उपसंहार किया है।

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), **कृत्स्न अध्यात्म** (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव) तथा **अखिल कर्म** (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—यह '**ज्ञान**' का विभाग है। इस विभागमें निर्गुणकी मुख्यता है।

अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत्), **अधिदैव** (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) तथा **अधियज्ञ** (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह '**विज्ञान**' का विभाग है। इस विभागमें सगुणकी मुख्यता है।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके 'सहित' कहनेका तात्पर्य है कि सत्-असत्, परा-अपरा सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है। सत्-असत्‌को अलग-अलग करनेसे ज्ञानमार्ग होता है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि**......' (गीता २। १६) और एक करनेसे भक्तिमार्ग होता है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)।

'ब्रह्म' की बात पहले पाँचवें अध्यायमें तेरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक कही गयी है। 'कृत्स्न अध्यात्म' की बात पहले छठे अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें '**सर्वभूतस्थमात्मानम्**' पदसे कही गयी है। 'अखिल कर्म' की बात पहले चौथे अध्यायके अठारहवें, तेईसवें और तैंतीसवें श्लोकमें क्रमशः '**कृत्स्नकर्मकृत्**', '**कर्म समग्रम्**' और '**सर्वं कर्माखिलम्**' पदसे कही गयी है।

अभाव कर्मका होता है, आत्मा या ब्रह्मका नहीं। न्यायमें आता है कि किसी वस्तुके भावका ज्ञान जिस इन्द्रियसे होता है, उसी इन्द्रियसे उसके अभावका और जातिका ज्ञान भी होता है। अतः मनुष्य जिस ज्ञानसे कर्मोंको जानता है **(कर्म चाखिलम्),** उसी ज्ञानसे कर्मोंके अभावको अर्थात् अकर्मको भी जानता है— '**कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**' (गीता ४। १८)। ब्रह्म, आत्मा और अकर्म—तीनों एक ही हैं; ऐसा जानना ही '**ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्**' पदोंका तात्पर्य है।

'कर्म' सीमित है, कर्मसे व्यापक 'अध्यात्म' है और अध्यात्मसे व्यापक 'ब्रह्म' है। परन्तु '**माम्**' (समग्र) उस ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि ब्रह्मके अन्तर्गत तो समग्र नहीं आता, पर समग्रके अन्तर्गत ब्रह्म आ जाता है।

'अध्यात्म' के साथ 'कृत्स्न' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिनको भगवान्‌ने अपनी परा प्रकृति बताया है, वे अनेक रूपसे दीखनेवाले सम्पूर्ण जीव। 'कर्म' के साथ 'अखिल' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिनके फलस्वरूप जीव अनेक योनियोंमें और अनेक लोकोंमें जाता है, वे शुभ-अशुभ सम्पूर्ण कर्म, परन्तु 'ब्रह्म' के साथ 'कृत्स्न' या 'अखिल' शब्द न देनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म अनेक नहीं है, प्रत्युत एक ही है।

गीतामें भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ बतायी हैं—कर्मयोग और ज्ञानयोग। ये दोनों ही निष्ठाएँ लौकिक हैं—'**लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा**' (गीता ३। ३); परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। कारण कि कर्मयोगमें 'क्षर' (संसार) की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें 'अक्षर' (जीवात्मा) की प्रधानता है। क्षर और अक्षर—दोनों ही लोकमें हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६) इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। परन्तु भक्तियोगमें 'परमात्मा' की प्रधानता है, जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सत्रहवाँ, अठारहवाँ श्लोक)। इसलिये भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। भगवान्‌के समग्ररूपमें ब्रह्म, अध्यात्म तथा कर्म—इनमें लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग) की बात आयी है* और अधिभूत, अधिदैव तथा

*** 'अध्यात्म' से ज्ञानयोग और 'कर्म' से कर्मयोग लेना चाहिये। ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति होती है (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)।**

भक्तिका प्रसंग होनेसे यहाँ भगवान्‌ने ज्ञानयोग और कर्मयोगका विस्तारसे वर्णन नहीं किया। इनका विस्तारसे वर्णन पिछले (दूसरेसे छठे) अध्यायोंमें कर चुके हैं।

अधियज्ञ—इनमें अलौकिक निष्ठा-(भक्तियोग-) की बात आयी है। 'ज्ञान' लौकिक है—**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**[1] (गीता ४। ३८) और 'विज्ञान' अलौकिक है। लौकिक तथा अलौकिक—दोनों ही समग्र भगवान्‌के रूप हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

'लोक' शब्दमें जड़ भी है और चेतन भी। केवल जड़ अथवा केवल चेतनका वाचक 'लोक' शब्द नहीं हो सकता। अतः 'लौकिक' में जड़ और चेतन दोनों आते हैं, पर 'अलौकिक' में केवल चेतन ही आता है; क्योंकि अलौकिक सदा चिन्मय ही होता है। परन्तु 'समग्र' में लौकिक और अलौकिक—दोनों आ जाते हैं।

यहाँ एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि निर्गुण-निराकार 'ब्रह्म' का नाम भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत आया है। लोगोंमें प्रायः इस बातकी प्रसिद्धि है कि 'निर्गुण-निराकार ब्रह्मके अन्तर्गत ही सगुण ईश्वर है। ब्रह्म मायारहित है और ईश्वर मायासहित है। अतः ब्रह्मके एक अंशमें ईश्वर है।' वास्तवमें ऐसा मानना शास्त्रसम्मत एवं युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब ब्रह्ममें माया है ही नहीं तो फिर मायासहित ईश्वर ब्रह्मके अन्तर्गत कैसे हुआ? ब्रह्ममें माया कहाँसे आयी? परन्तु गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि मेरे समग्ररूपके एक अंशमें ब्रह्म है! इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्मका आधार बताया है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (गीता १४। २७) 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' तथा **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' भगवान्‌के इस कथनका तात्पर्य है कि ब्रह्मका अंश मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मेरा अंश ब्रह्म है। अतः निष्पक्ष विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि गीतामें ब्रह्मकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत ईश्वरकी मुख्यता है। पूर्ण तत्त्व समग्र ही है। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब आ जाते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो समग्ररूप सगुणका ही हो सकता है; क्योंकि सगुण शब्दके अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुण शब्दके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुणमें समग्र शब्द लग ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ 'अध्यात्म' और 'कर्म' के साथ तो क्रमशः 'कृत्स्न' और 'अखिल' शब्द आये हैं, जो समग्रताके वाचक हैं, पर 'ब्रह्म' के साथ समग्रताका वाचक कोई शब्द कहीं भी नहीं आया है। अतः समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं।

प्रश्न—ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म—ये तीनों लौकिक कैसे हैं?

उत्तर—भगवान्‌ने ब्रह्मको 'अक्षर' कहा है—**'अक्षरं ब्रह्म परमम्'** (गीता ८। ३) और जीवको भी 'अक्षर' कहा है—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** (गीता १५। १६)। जीव और ब्रह्म—दोनों एक हैं—**'अयमात्मा ब्रह्म'** (माण्डूक्य० १)। प्रकृति-(शरीर-) के साथ सम्बन्ध होनेसे जो 'जीव' (अध्यात्म) है[2], वही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध न होनेसे सामान्य 'ब्रह्म' है। अतः गीताके अनुसार जैसे जीव लोकमें है, ऐसे ही ब्रह्म भी लोकमें है अर्थात् ब्रह्म लौकिक निष्ठा-(कर्मयोग तथा ज्ञानयोग-) से प्रापणीय तत्त्व है।

'अध्यात्म' अर्थात् जीवने जगत्‌को धारण किया हुआ है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। जीवकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये जगत्‌के संगसे जीव भी जगत् अर्थात् लौकिक हो जाता है। (गीता—इसी अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। लोकमें होनेके कारण भी जीव लौकिक है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), **'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** (गीता १५। १६)।

'कर्म' दो प्रकारसे होते हैं—सकामभावसे और निष्कामभावसे। ये दोनों ही प्रकारके कर्म लोकमें होनेसे लौकिक है[3]।

प्रश्न—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—ये तीनों अलौकिक कैसे हैं?

१-यहाँ 'पवित्रमिह' के अन्तर्गत आया 'इह' शब्द लोकका वाचक है।

२-बँध्यो बिषय सनेह ते, ताते कहियै जीव। अलख अजोणी आप है, हरिया न्यारौ थीव॥

३-लोकमें होनेवाले सकाम-कर्म—'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।' (गीता ३। ९), 'क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥' (गीता ४। १२); 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' (गीता १५। २)।

लोकमें होनेवाले निष्काम-कर्म—'लोकेऽस्मिन्द्विविधा ········ योगिनाम्॥' (गीता ३। ३)।

वास्तवमें कर्म सकाम या निष्काम नहीं होते, प्रत्युत कर्ता सकाम या निष्काम होता है। अतः सकाम-निष्कामभाव कर्तामें रहते हैं।

उत्तर—'अधिभूत' अर्थात् सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत् तत्त्वसे भगवान्‌का ही स्वरूप होनेसे अलौकिक है—**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९) 'अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ'[१]। भगवान्‌ने अर्जुनको जो विराट्‌रूप दिखाया था, वह भी दिव्य अर्थात् अलौकिक था[२]। वह दिव्य विराट्‌रूप भगवान्‌ने अपने ही दिव्य शरीरके एक अंगमें दिखाया था[३]। अतः भगवान्‌का ही विराट्‌रूप होनेसे यह पांचभौतिक जगत् भी अलौकिक ही है[४]। भगवान्‌ने संसारमें अपनी विभूतियोंको भी दिव्य अर्थात् अलौकिक कहा है—**'दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** (गीता १०। १९), **'मम दिव्यानां विभूतीनाम्'** (१०। ४०)[५]। परन्तु जीवको अज्ञानवश अपनी बुद्धिसे (राग-द्वेषके कारण) यह जगत् लौकिक दीखता है। इसलिये अज्ञान मिटनेपर जड़ता रहती ही नहीं, केवल चिन्मयता रहती है।

'अधिदैव' अर्थात् ब्रह्माजी आदि सभी देवता अलौकिक हैं।

'अधियज्ञ' अर्थात् अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयमें रहते हुए भी निर्लिप्त होनेके कारण अलौकिक हैं[६]।

भगवान्‌ने **'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञम्'** पदोंमें अपनेको अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञके सहित जाननेकी बात कही है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्माके सहित होनेसे ही ये तीनों अलौकिक हैं, अन्यथा लौकिक ही हैं। जबतक भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक सब लौकिक ही होता है; परन्तु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है। इसलिये अपना उद्योग मुख्य होनेसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग 'लौकिक निष्ठा' है और भगवान्‌का आश्रय मुख्य

१-मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें, स्वीकार कर लें।

२-'नानाविधानि दिव्यानि' (गीता ११। ५), 'अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्' (११। १०), 'दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्' (११। ११), 'पश्यामि देवांस्तव देव देहे''''''सर्वानुरगांश्च दिव्यान्' (११। १५)।

३-भगवान्‌के वचन हैं—'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं'''''' मम देहे' (११। ७)।

संजयके वचन हैं—'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं'''''' अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे' (११। १३)।

अर्जुनके वचन हैं—'पश्यामि देवांस्तव देव देहे' (११। १५)।

४-खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्रपातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम॥

(श्रीमद्भा० ५। २६। ४०)

'परीक्षित्! मैंने तुमसे पृथ्वी, उसके अन्तर्गत द्वीप, वर्ष, नदी, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशा, नरक, ज्योतिर्गण और लोकोंकी स्थितिका वर्णन किया। यही भगवान्‌का अति अद्भुत स्थूल रूप है, जो समस्त जीवसमुदायका आश्रय है।'

५-अर्जुनने भी विभूतियोंको दिव्य कहा है—'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः' (१०। १६)।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

६-'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, पर दूसरा (परमात्मा) उपभोग न करता हुआ केवल प्रकाशित करता है।'

होनेसे भक्तियोग 'अलौकिक निष्ठा' है।

वास्तवमें लौकिक कोई तत्त्व नहीं है। वास्तविक तत्त्व तो अलौकिक ही है। परन्तु साधककी दृष्टिसे लौकिक और अलौकिक—ये दो भेद कहे गये हैं। तात्पर्य है कि लौकिक-अलौकिकका विभाग अज्ञानवश होनेवाले राग-द्वेषके कारण ही है। राग-द्वेष न हों तो सब कुछ अलौकिक, चिन्मय, दिव्य ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**'। कारण कि लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। राग-द्वेषके कारण ही लौकिककी सत्ता और महत्ता दीखती है। राग-द्वेषके कारण ही जीवने भगवत्स्वरूप संसारको भी लौकिक बना दिया और खुद भी लौकिक बन गया!

विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपका वर्णन करनेका तात्पर्य यही है कि जड़-चेतन, सत्-असत्, परा-अपरा, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का ही स्वरूप है। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ समग्ररूपवर्णनके आदि और अन्तमें '**माम्**' पद दिया है, जो समग्रका वाचक है— '**मामाश्रित्य**' (७। २९) और '**मां ते विदुः**' (७। ३०)।

भगवान्‌ने कर्मोंकी गति (तत्त्व)-को गहन बताया है—'**गहना कर्मणो गतिः**' (गीता ४। १७), पर भक्त उसको भी जान लेता है। कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म (चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)—दोनोंको भक्त जान लेता है। तात्पर्य है कि वह कर्मको भी जान लेता है और कर्मयोगको भी जान लेता है। कर्मयोगी तो कर्मयोगको ही जानता है और ज्ञानयोगी ज्ञानयोगको ही जानता है, पर भक्त भगवत्कृपासे कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको ही जान लेता है।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें आये '**योगं युञ्जन्मदाश्रयः**' को यहाँ '**मामाश्रित्य यतन्ति ये**' पदोंसे और '**मय्यासक्तमनाः**' को यहाँ '**युक्तचेतसः**' पदसे कहा गया है। तात्पर्य है कि मेरा आश्रय लेनेसे भक्तको कर्मयोग तथा ज्ञानयोगकी भी सिद्धि हो जाती है अर्थात् वे दोनोंके फल (लक्ष्य) रूप ब्रह्मको भी जान लेते हैं—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**' और मेरे समग्ररूपको भी जान लेते हैं—'**मां ते विदुः।**'

'**प्रयाणकालेऽपि**' में '**अपि**' पद देनेका तात्पर्य है कि वे भक्त मेरेको पहले भी जानते हैं और अन्तकालमें भी जानते हैं अर्थात् उनका ज्ञान कभी लुप्त नहीं होता। ऐसे भक्त 'युक्तचेता' हो जाते हैं अर्थात् उनके मनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं। भगवान्‌के साथ उनकी अभिन्नता (नित्ययोग) होनेसे न वे भगवान्‌से वियुक्त होते हैं, न भगवान् उनसे वियुक्त होते हैं। ऐसे युक्तचेता भक्त अन्तकालमें कुछ भी चिन्तन होनेपर भी योगभ्रष्ट नहीं होते, प्रत्युत भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं—'**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।**' कारण कि उन भक्तोंकी दृष्टिमें जब भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है, तो फिर उनका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जायगा ? क्यों जायगा? कैसे जायगा? उनके मनमें कुछ भी चिन्तन होगा तो भगवान्‌का ही चिन्तन होगा, फिर उनका मन विचलित कैसे होगा और मनके विचलित हुए बिना वह योगभ्रष्ट कैसे होगा? कारण कि करणसापेक्ष साधनमें योगसे मनके विचलित होनेपर ही मनुष्य योगभ्रष्ट होता है—'**योगाच्चलितमानसः**' (गीता ६। ३७); परन्तु सब जगह भगवान्‌को देखनेवालेका भगवान्‌से नित्ययोग रहता है।

भगवान्‌के कुछ भक्त तो मुक्ति चाहते हैं—'**जरामरणमोक्षाय**' और कुछ भक्त प्रेम चाहते हैं—'**मां ते विदुर्युक्तचेतसः**'। मुक्ति चाहनेवाले भक्त कर्मयोग और ज्ञानयोग (ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म)-को जान लेते हैं, पर प्रेम चाहनेवाले भक्त स्वयं समग्र भगवान्‌को जान लेते हैं—'**मां विदुः।**' भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंको कर्मयोग (बुद्धियोग) और ज्ञानयोग—दोनों प्रदान कर देते हैं (गीता—दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक)। जरा-मरणरूप बन्धन और मुक्ति—दोनों ही लौकिक हैं, पर प्रेम अलौकिक है। यद्यपि साधन-भक्ति भी लौकिक है, तथापि उद्देश्य अलौकिक होनेसे वह अलौकिक साध्य-भक्तिमें चली जाती है—'**भक्त्या संजातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'ज्ञानविज्ञानयोग' नामक सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ७॥

इस सातवें अध्यायमें ज्ञान और विज्ञानका वर्णन किया गया है। भगवान् इस सम्पूर्ण जगत्‌के महाकारण हैं—ऐसा दृढ़तापूर्वक मानना 'ज्ञान' है। ऐसे ही भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है—ऐसा अनुभव हो जाना 'विज्ञान' है। ज्ञान और विज्ञानसे परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव हो जाता है अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस परम प्रेमरूप नित्य-सम्बन्धकी जागृति हो जाती है। इसलिये इस सातवें अध्यायका नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' रखा गया है।

सातवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१)इस अध्यायमें '**अथ सप्तमोऽध्यायः**' के तीन, '**श्रीभगवानुवाच**' के दो, श्लोकोंके चार सौ छः और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग चार सौ चौबीस है।

(२) '**अथ सप्तमोऽध्यायः**' के सात '**श्रीभगवानुवाच**' के सात, श्लोकोंके नौ सौ साठ और पुष्पिकाके अड़तालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार बाईस है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है—'**श्रीभगवानुवाच**'।

सातवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके तीस श्लोकोंमेंसे—छठे श्लोकके तृतीय चरणमें और चौदहवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; सत्रहवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; तथा उन्नीसवें और बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष तेईस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

सातवें अध्यायका सार

भगवान्‌की दो प्रकृतियाँ हैं—अपरा और परा। संसार 'अपरा' प्रकृति है और जीव 'परा' प्रकृति है। अपरा प्रकृति जड़ तथा निरन्तर परिवर्तनशील है और परा प्रकृति चेतन तथा नित्य अपरिवर्तनशील है। भगवान्‌ने अपरा और परा— दोनोंको अपनी ही प्रकृति अर्थात् स्वभाव बताया है—'**इतीयं मे**' (७।४), '**मे पराम्**' (७।५)। भगवान्‌का स्वभाव होनेसे अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र (भगवान्‌से अलग) सत्ता नहीं है; परन्तु जीव (परा प्रकृति) अपराको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। यह सम्बन्ध जीव दो प्रकारसे मानता है—(१) अहंतापूर्वक; जैसे—मैं शरीर हूँ और (२) ममतापूर्वक; जैसे—शरीर मेरा है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पन्न होनेमें कारण है—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

वास्तवमें सम्पूर्ण जगत्‌के कर्ता, कारण तथा कार्य एक भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—'**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति**' (७।७)। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं होती। अतः एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत तथा इनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय—इन सबके मूल कारण भगवान् ही हैं। भगवान् ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अनादि तथा अविनाशी बीज हैं। तात्पर्य है कि सृष्टिमें जो कुछ भी क्रिया, पदार्थ, भाव आदि देखने-सुनने-समझनेमें आते हैं, उन सबके बीज (मूल कारण) एकमात्र भगवान् ही हैं। कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है।* अतः कारणकी तो स्वतन्त्र सत्ता होती है, पर कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। इसलिये अगर कोई साधक कार्यमें भगवान्‌को प्राप्त करना चाहे तो उसको भगवान् नहीं मिलेंगे—'**न त्वहं तेषु ते मयि**' (७।१२)। जो सबके कारणरूप भगवान्‌के शरण होते हैं, उन्हींको भगवान् मिलते हैं। परन्तु जो कारणरूप भगवान्‌के शरण न होकर कार्यरूप सत्त्वादि गुणोंमें उलझ जाते हैं, वे जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहते हैं। ऐसे मनुष्य कार्यरूप शरीर-संसारके सम्बन्धसे होनेवाली कामनाओंकी पूर्तिके लिये देवताओंकी शरण लेते हैं, क्योंकि वे अलौकिक भगवान्‌को साधारण मनुष्यकी तरह लौकिक मानते हैं। परन्तु जो मनुष्य तीनों गुणोंसे मोहित नहीं होते, वे भगवान्‌की शरण लेते हैं। ऐसे भक्तोंके चार भेद होते हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन शरणागत भक्तोंमें भी जो 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जाता है, वह महात्मा भक्त मुक्त पुरुषोंसे भी श्रेष्ठ होनेके कारण अत्यन्त दुर्लभ है। वह महात्मा भक्त भगवान्‌की कृपासे परा-अपरासहित भगवान्‌के समग्ररूपको

* **भगवान् कार्यरूपमें परिणत नहीं होते, प्रत्युत कार्यरूपसे प्रकट होते हैं।**

जान लेता है, जिसको जाननेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसके सिवाय अन्य चीज कोई है ही नहीं। उसका भगवान्‌के साथ आत्मीय सम्बन्ध हो जाता है, जिससे प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति (जागृति) हो जाती है। इस प्रेमकी जागृतिमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्णता है।

× × × ×

एक अपरा प्रकृति है, एक परा प्रकृति है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। सम्पूर्ण शरीर-संसार (अधिभूत) अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत और सम्पूर्ण शरीरी (कृत्स्न अध्यात्म) परा प्रकृतिके अन्तर्गत आते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मात्र शरीर (संसार) भी एक हैं और मात्र शरीरी (जीव) भी एक हैं तथा अपरा और परा—ये दोनों जिसकी शक्तियाँ हैं, वे परमात्मा भी एक हैं। अतः शरीरोंकी दृष्टिसे, आत्माकी दृष्टिसे और परमात्माकी दृष्टिसे—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं, अनेक नहीं हैं—**'नेह नानास्ति किञ्चन'** (कठ० २। १। ११, बृहदा० ४। ४। १९)।

सम्पूर्ण शरीरोंमें एकता स्वीकार करनेपर किसी भी प्राणीसे राग अथवा द्वेष नहीं होगा और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव होगा। ऐसा होनेसे 'कर्मयोग' सुगमतापूर्वक स्वतः सिद्ध हो जायगा। कारण कि जब अपनेसे भिन्न दूसरा कोई है ही नहीं और व्यक्तिगत अपना कुछ है ही नहीं तो फिर अपने पास जो भी वस्तु है, उसमें ममता नहीं होगी और जो वस्तु नहीं है, उसकी कामना नहीं होगी। ममता और कामना न होनेपर अपने पास जो भी वस्तु है, वह स्वतः दूसरोंकी सेवामें लगेगी।

सम्पूर्ण जीवोंमें एकता स्वीकार करनेपर सर्वत्र आत्मभाव अथवा ब्रह्मभाव हो जायगा—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३। १४। १), **'आत्मैवेदं सर्वम्'** (छान्दोग्य० ७। २५। २)। ऐसा होनेसे 'ज्ञानयोग' सुगमतापूर्वक स्वतः सिद्ध हो जायगा। कारण कि अनेक रूपसे जो जीव है, वही एक रूपसे ब्रह्म है अर्थात् जीव और ब्रह्म एक ही हैं—**'अयमात्मा ब्रह्म'** (माण्डूक्य० १)।

अपरा और परा—इन दोनों प्रकृतियोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि ये दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ, स्वभाव होनेसे भगवत्स्वरूप ही हैं। ऐसा स्वीकार करनेसे सर्वत्र भगवद्भाव हो जायगा। **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। ऐसा होनेसे 'भक्तियोग' सुगमतापूर्वक स्वतः सिद्ध हो जायगा। कारण कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यही वास्तविक शरणागति है।

तात्पर्य यह निकला कि जगत्, जीव और परमात्मा—तीनोंकी दृष्टिसे हम सब एक समान हैं। इस समताको गीताने 'योग' कहा है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २। ४८)। भेद (विषमता) केवल व्यवहारके लिये है, जो अनिवार्य है; क्योंकि व्यवहारमें समता सम्भव ही नहीं है। अतः साधककी दृष्टि (भावना) सम होनी चाहिये—**'सर्वत्र समदर्शनः'** (गीता ६। २९), **'पण्डिताः समदर्शिनः'** (गीता ५। १८), **'समबुद्धिर्विशिष्यते'** (गीता ६। ९), **'सर्वत्र समबुद्धयः'** (गीता १२। ४)। व्यवहारकी भिन्नता तो स्वाभाविक है, पर भावकी भिन्नता मनुष्यने अपने राग-द्वेषसे पैदा की है। राग-द्वेषके कारण ही मनुष्यने जगत्, जीव और परमात्मा—तीनोंमें अनेक भेद पैदा कर लिये हैं, जो इसके जन्म-मरणका कारण है—**'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति'** (कठ० २। १। ११)। जो किसीको भी पराया मानता है, किसीका भी बुरा चाहता, देखता तथा करता है और संसारसे कुछ भी चाहता है, वह न तो कर्मयोगी हो सकता है, न ज्ञानयोगी हो सकता है और न भक्तियोगी ही हो सकता है।

जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंपर विचार करें तो स्वतन्त्र सत्ता एक परमात्माकी ही है। जगत् और जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जगत्‌को जीवने ही धारण किया है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (७। ५) अर्थात् जगत्‌को सत्ता जीवने ही दी है, इसलिये जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जीव परमात्माका ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), इसलिये खुद जीवकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि जगत्‌की सत्ता जीवके अधीन है और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है, इसलिये एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। जगत् और जीव—दोनों परमात्मामें ही भासित हो रहे हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्‌ने सातवें अध्यायके अन्तमें अपने समग्ररूपका वर्णन करते हुए ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छः शब्दोंका प्रयोग किया और इस समग्ररूपको जाननेवाले योगियोंको अन्तकालमें अपनी प्राप्ति बतायी। इसको सुनकर इन छः शब्दोंको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये अर्जुन आठवें अध्यायके आरम्भके ही श्लोकोंमें कुल सात प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अर्जुन बोले—

पुरुषोत्तम	= हे पुरुषोत्तम!	**प्रोक्तम्**	= कहा गया है?	**देहे**	= देहमें
तत्	= वह	**च**	= और	**कथम्**	= कैसे है?
ब्रह्म	= ब्रह्म	**अधिदैवम्**	= अधिदैव	**मधुसूदन**	= हे मधुसूदन!
किम्	= क्या है?	**किम्**	= किसको	**नियतात्मभिः**	= वशीभूत अन्तः-करणवाले मनुष्यके द्वारा
अध्यात्मम्	= अध्यात्म	**उच्यते**	= कहा जाता है?		
किम्	= क्या है?	**अत्र**	= यहाँ		
कर्म	= कर्म	**अधियज्ञः**	= अधियज्ञ	**प्रयाणकाले**	= अन्तकालमें (आप)
किम्	= क्या है?	**कः**	= कौन है?	**कथम्**	= कैसे
अधिभूतम्	= अधिभूत	**च**	= और (वह)	**ज्ञेयः**	= जाननेमें आते
किम्	= किसको	**अस्मिन्**	= इस	**असि**	= हैं?

व्याख्या—‘**पुरुषोत्तम किं तद्ब्रह्म**’—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है अर्थात् ‘ब्रह्म’ शब्दसे क्या समझना चाहिये?

‘**किमध्यात्मम्**’—‘अध्यात्म’ शब्दसे आपका क्या अभिप्राय है?

‘**किं कर्म**’—कर्म क्या है अर्थात् ‘कर्म’ शब्दसे आपका क्या भाव है?

‘**अधिभूतं च किं प्रोक्तम्**’—आपने जो ‘अधिभूत’ शब्द कहा है, उसका क्या तात्पर्य है?

‘**अधिदैवं किमुच्यते**’—‘अधिदैव’ किसको कहा जाता है?

‘**अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्**’—इस प्रकरणमें ‘अधियज्ञ’ शब्दसे किसको लेना चाहिये। वह ‘अधियज्ञ’ इस देहमें कैसे है?

‘**मधुसूदन प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**’—हे मधुसूदन! जो पुरुष वशीभूत

अन्त:करणवाले हैं अर्थात् जो संसारसे सर्वथा हटकर अनन्यभावसे केवल आपमें ही लगे हुए हैं, उनके द्वारा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं? अर्थात् वे आपके किस रूपको जानते हैं और किस प्रकारसे जानते हैं?

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुनके छ: प्रश्नोंका क्रमसे उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—

परमम् = परम
अक्षरम् = अक्षर
ब्रह्म = ब्रह्म है (और)
स्वभावः = परा प्रकृति- (जीव-) को
अध्यात्मम् = अध्यात्म
उच्यते = कहते हैं।
भूतभावोद्भव-
करः = प्राणियोंकी सत्ता-को प्रकट करनेवाला
विसर्गः = त्याग
कर्मसञ्ज्ञितः = कर्म कहा जाता है।

व्याख्या—'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**'—परम अक्षरका नाम ब्रह्म है। यद्यपि गीतामें 'ब्रह्म' शब्द प्रणव, वेद, प्रकृति आदिका वाचक भी आया है, तथापि यहाँ 'ब्रह्म' शब्दके साथ 'परम' और 'अक्षर' विशेषण देनेसे यह शब्द सर्वोपरि, सच्चिदानन्दघन, अविनाशी, निर्गुण-निराकार परमात्माका वाचक है।

'**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**'—ऐसे तो आत्माको लेकर जो वर्णन किया जाता है, वह भी अध्यात्म है; अध्यात्म-मार्गका जिसमें वर्णन हो, वह मार्ग भी अध्यात्म है और इस आत्माकी जो विद्या है, उसका नाम भी अध्यात्म है (गीता—दसवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। परन्तु यहाँ 'स्वभाव' विशेषणके साथ 'अध्यात्म' शब्द आत्माका अर्थात् जीवके होनेपनका (स्वरूपका) वाचक है।

'**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः**'— स्थावर-जंगम जितने भी प्राणी देखनेमें आते हैं, उनका जो भाव अर्थात् होनापन है, उस होनेपनको प्रकट करनेके लिये जो विसर्ग अर्थात् त्याग है, उसको 'कर्म' कहते हैं।

महाप्रलयके समय प्रकृतिकी अक्रिय-अवस्था मानी जाती है तथा महासर्गके समय प्रकृतिकी सक्रिय-अवस्था मानी जाती है। इस सक्रिय-अवस्थाका कारण भगवान्‌का संकल्प है कि 'मैं एक ही बहुत रूपोंसे हो जाऊँ।' इसी संकल्पसे सृष्टिकी रचना होती है। तात्पर्य है कि महाप्रलयके समय अहंकार और संचित कर्मोंके सहित प्राणी प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और उन प्राणियोंके सहित प्रकृति एक तरहसे परमात्मामें लीन हो जाती है। उस लीन हुई प्रकृतिको विशेष क्रियाशील करनेके लिये भगवान्‌का पूर्वोक्त संकल्प ही विसर्ग अर्थात् त्याग है। भगवान्‌का यह संकल्प ही कर्मोंका आरम्भ है, जिससे प्राणियोंकी कर्म-परम्परा चल पड़ती है। कारण कि महाप्रलयमें प्राणियोंके कर्म नहीं बनते, प्रत्युत उसमें प्राणियोंकी सुषुप्त-अवस्था रहती है। महासर्गके आदिसे कर्म शुरू हो जाते हैं।

चौदहवें अध्यायमें आया है—परमात्माकी मूल प्रकृतिका नाम 'महद्ब्रह्म' है। उस प्रकृतिमें लीन हुए जीवोंका प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध करा देना अर्थात् जीवोंका अपने-अपने कर्मोंके फलस्वरूप शरीरोंके साथ सम्बन्ध करा देना ही परमात्माके द्वारा प्रकृतिमें गर्भ-स्थापन करना है (गीता—चौदहवें अध्यायका तीसरा-चौथा श्लोक)। उसमें भी अलग-अलग योनियोंमें तरह-तरहके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन शरीरोंकी उत्पत्तिमें प्रकृति हेतु है और उनमें जीवरूपसे भगवान्‌का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। इस प्रकार प्रकृति और पुरुषके अंशसे सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं।

तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि स्थावर-जंगम जितने भी प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सब क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ-(पुरुष-) के संयोगसे ही होते हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विशेष संयोग अर्थात् स्थूलशरीर धारण करानेके लिये भगवान्‌का संकल्प-रूप विशेष सम्बन्ध ही स्थावर-जंगम प्राणियोंके स्थूलशरीर पैदा करनेका कारण है। उस संकल्पके होनेमें भगवान्‌का कोई अभिमान नहीं है, प्रत्युत जीवोंके जन्म-जन्मान्तरोंके जो कर्म-संस्कार हैं, वे

महाप्रलयके समय परिपक्व होकर जब फल देनेके लिये उन्मुख होते हैं, तब भगवान्‌का संकल्प होता है[1]। इस प्रकार जीवोंके कर्मोंकी प्रेरणासे भगवान्‌में 'मैं एक ही बहुत रूपोंसे हो जाऊँ'—यह संकल्प होता है।

मनुष्यमात्रके द्वारा विहित और निषिद्ध जितनी क्रियाएँ होती हैं, उन सब क्रियाओंका नाम 'कर्म' है। तात्पर्य है कि मुख्य कर्म तो भगवान्‌का संकल्प हुआ और उसके बाद कर्म-परम्परा चलती है।

परिशिष्ट भाव—'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'—'परा प्रकृति' भगवान्‌का स्वभाव है—'**प्रकृतिं विद्धि मे पराम्**' (गीता ७। ५)। प्रकृति कहो, चाहे स्वभाव कहो, एक ही बात है। यह परा प्रकृति अर्थात् जीव ही 'अध्यात्म' नामसे कहा गया है। इसको भगवान्‌ने अपना अंश भी बताया है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)।

'**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**' का दूसरा तात्पर्य है कि बालक, जवानी और वृद्धावस्थामें; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें; चौरासी लाख योनियोंमें, सर्ग और प्रलयमें, महासर्ग और महाप्रलयमें भी जीवका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६) अर्थात् इसका अपना भाव (सत्ता या होनापन) सदा विद्यमान रहता है।

सृष्टि-रचनारूप कर्मको 'त्याग' कहनेका तात्पर्य है कि इसमें अपनी स्थिरताका त्याग है। कारण कि तत्त्व स्थिर, अचल है और उस स्थिरताका त्याग ही कर्म है।

भगवान्‌का सृष्टि-रचनारूप कर्म ही आदि कर्म है[2], जिससे कर्मोंकी परम्परा चली है। अतः 'कर्म' के अन्तर्गत तीन प्रकारके कर्म आते हैं—(१) सृष्टिकी रचना (२) क्रियामात्र, जो फलजनक नहीं होती और (३) पाप-पुण्य (शुभाशुभ कर्म), जो फलजनक होते हैं।

भगवान्‌का सृष्टि-रचनारूप कर्म वास्तवमें 'अकर्म' ही है। भगवान्‌ने कहा भी है—'**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्**' (गीता ४। १३) 'उस सृष्टि-रचनाका कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।'

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

देहभृताम्, वर = हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!
क्षरः = क्षर
भावः = भाव अर्थात् नाशवान् पदार्थ
अधिभूतम् = अधिभूत हैं,
पुरुषः = पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा
अधिदैवतम् = अधिदैव हैं
च = और
अत्र = इस
देहे = देहमें (अन्तर्यामीरूपसे)
अहम् = मैं
एव = ही
अधियज्ञः = अधियज्ञ हूँ।

व्याख्या—'**अधिभूतं क्षरो भावः**'—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पंचमहाभूतोंसे बनी प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नाशवान् सृष्टिको अधिभूत कहते हैं।

'**पुरुषश्चाधिदैवतम्**'—यहाँ '**अधिदैवत**' (अधिदैव) पद आदिपुरुष हिरण्यगर्भ ब्रह्माका वाचक है। महासर्गके आदिमें भगवान्‌के संकल्पसे सबसे पहले ब्रह्माजी ही प्रकट होते हैं और फिर वे ही सर्गके आदिमें सब सृष्टिकी रचना करते हैं।

१-जैसे कर्म करते-करते थकावट होती है तो कर्तृत्वाभिमान, कर्मफलासक्ति और संचित कर्मोंके ज्यों-के-त्यों रहते हुए ही प्राणियोंको नींद आ जाती है। नींदमें विश्राम पानेसे थकावट दूर होती है और कर्म करनेके लिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें ताजगी आती है, सामर्थ्य आती है। इसी रीतिसे प्राणी कर्तृत्वाभिमान, कर्मफलासक्ति और संचित कर्मोंके सहित प्रलयमें सूक्ष्म प्रकृतिमें और महाप्रलयमें कारण प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। उन लीन हुए प्राणियोंके संचित कर्म विश्राम पाकर—परिपक्व होकर अर्थात् प्रारब्धरूप होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं। तब भगवान्‌का संकल्प होता है और उस संकल्पसे प्राणियोंका जन्मारम्भक कर्मोंके साथ विशेषतासे सम्बन्ध जुड़ जानेका नाम ही 'कर्म' है।

२-'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' (गीता ४। १३), 'कल्पादौ विसृजाम्यहम्' (९। ७), विसृजामि पुनः पुनः' (९। ८), 'अहं बीजप्रदः पिता' (१४। ४)।

'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर'—हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस देहमें अधियज्ञ मैं ही हूँ अर्थात् इस मनुष्यशरीरमें अन्तर्यामीरूपसे मैं ही हूँ[१]। भगवान्ने गीतामें **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** (१३। १७), **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** (१५। १५), **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८। ६१) आदिमें अपनेको अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान बताया है।

'अहमेव अत्र[२] देहे' कहनेका तात्पर्य है कि दूसरी योनियोंमें तो पूर्वकृत कर्मोंका भोग होता है, नये कर्म नहीं बनते, पर इस मनुष्यशरीरमें नये कर्म भी बनते हैं। उन कर्मोंके प्रेरक अन्तर्यामी भगवान् होते हैं[३]। जहाँ मनुष्य राग-द्वेष नहीं करता उसके सब कर्म भगवान्की प्रेरणाके अनुसार शुद्ध होते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते और जहाँ वह राग-द्वेषके कारण भगवान्की प्रेरणाके अनुसार कर्म नहीं करता, उसके कर्म बन्धनकारक होते हैं। कारण कि राग और द्वेष मनुष्यके महान् शत्रु हैं (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्की प्रेरणासे कभी निषिद्ध-कर्म होते ही नहीं। श्रुति और स्मृति भगवान्की आज्ञा है—**'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।'** अतः भगवान् श्रुति और स्मृतिके विरुद्ध प्रेरणा कैसे कर सकते हैं? नहीं कर सकते। निषिद्ध-कर्म तो मनुष्य कामनाके वशीभूत होकर ही करता है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। अगर मनुष्य कामनाके वशीभूत न हो, तो उसके द्वारा स्वाभाविक ही विहित कर्म होंगे, जिनको अठारहवें अध्यायमें सहज, स्वभावनियत कर्म नामसे कहा गया है।

यहाँ अर्जुनके लिये **'देहभृतां वर'** कहनेका तात्पर्य है कि देहधारियोंमें वही मनुष्य श्रेष्ठ है, जो 'इस देहमें परमात्मा हैं'—ऐसा जान लेता है। ऐसा ज्ञान न हो, तो भी ऐसा मान ले कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके कण-कणमें परमात्मा हैं और उनका अनुभव करना ही मनुष्य-जन्मका खास ध्येय है। इस ध्येयकी सिद्धिके लिये परमात्माकी आज्ञाके अनुसार ही काम करना है।

तीसरे और चौथे श्लोकमें जो ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका वर्णन हुआ है, उसे समझनेमात्रके लिये जलका एक दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे, जब आकाश स्वच्छ होता है, तब हमारे और सूर्यके मध्यमें कोई पदार्थ न दीखनेपर भी वास्तवमें वहाँ परमाणुरूपसे जल-तत्त्व रहता है। वही जल-तत्त्व भाप बनता है और भापके घनीभूत होनेपर बादल बनता है। बादलमें जो जलकण रहते हैं, उनके मिलनेसे बूँदें बन जाती हैं। उन बूँदोंमें जब ठण्डकके संयोगसे घनता आ जाती है, तब वे ही बूँदें ओले (बर्फ) बन जाती हैं—यह जल-तत्त्वका बहुत स्थूल रूप हुआ। ऐसे ही निर्गुण-निराकार 'ब्रह्म' परमाणुरूपसे जल-तत्त्व है, 'अधियज्ञ' (व्यापक विष्णु) भापरूपसे जल है; 'अधिदैव' (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा) बादलरूपसे जल है, 'अध्यात्म' (अनन्त जीव) बूँदें-रूपसे जल है, 'कर्म' (सृष्टि-रचनारूप कर्म) वर्षाकी क्रिया है और 'अधिभूत' (भौतिक सृष्टिमात्र) बर्फरूपसे जल है।

इस वर्णनका तात्पर्य यह हुआ कि जैसे एक ही जल परमाणु, भाप, बादल, वर्षाकी क्रिया, बूँदें और ओले-(बर्फ-) के रूपसे भिन्न-भिन्न दीखता है, पर वास्तवमें है एक ही। इसी प्रकार एक ही परमात्मतत्त्व ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके रूपसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी तत्त्वतः एक ही है। इसीको सातवें अध्यायमें **'समग्रम्'** (७। १) और **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९) कहा गया है।

तात्त्विक दृष्टिसे तो सब कुछ वासुदेव ही है (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। इसमें भी जब विवेक-दृष्टिसे देखते हैं, तब शरीर-शरीरी, प्रकृति-पुरुष—ऐसे दो भेद हो जाते हैं। उपासनाकी दृष्टिसे देखते हैं तो उपास्य (परमात्मा), उपासक (जीव) और त्याज्य

१-यहाँ इस मनुष्य-शरीरमें कहनेका तात्पर्य है कि इसमें भगवान्की प्रेरणाको समझनेकी, स्वीकार करनेकी और उसके अनुसार आचरण करके तत्त्वको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य है। अन्य शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे परमात्माके रहते हुए भी उन प्राणियोंमें उस तत्त्वकी तरफ दृष्टि डालनेकी सामर्थ्य नहीं है और मनुष्यशरीरमें जो विवेक प्राप्त है, वह विवेक उन शरीरोंमें जाग्रत् नहीं है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इस शरीरके रहते-रहते उस तत्त्वको प्राप्त कर ले। इस दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न जाने दे।

२-दूसरे श्लोकमें तो 'अत्र' पद प्रकरणके लिये आया है, तथा 'अस्मिन्' पद देहके लिये आया है, पर यहाँ 'अत्र' पद देहके लिये ही आया है। कारण कि अर्जुनने प्रश्नमें 'अत्र' पद देकर प्रकरणका संकेत कर दिया है, इसलिये अब उसका उत्तर देते हुए प्रकरणके लिये 'अत्र' पद देनेकी जरूरत नहीं है।

३-कर्मोंकी प्रेरणा भगवान् मनुष्यके स्वभावके अनुसार करते हैं। यदि स्वभावमें राग-द्वेष है तो उस राग-द्वेषके वशीभूत होना अथवा न होना मनुष्यके हाथमें है। वह शास्त्र, सन्त तथा भगवान्का आश्रय लेकर अपने स्वभावको बदल सकता है।

(प्रकृतिका कार्य—संसार)—ये तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनोंको समझनेके लिये यहाँ इनके छः भेद किये गये हैं—

परमात्माके दो भेद—ब्रह्म (निर्गुण) और अधियज्ञ (सगुण)।

जीवके दो भेद—अध्यात्म (सामान्य जीव, जो कि बद्ध हैं) और अधिदैव (कारक पुरुष, जो कि मुक्त हैं)।

संसारके दो भेद—कर्म (जो कि परिवर्तनका पुंज है) और अधिभूत (जो कि पदार्थ हैं)।

१. ब्रह्म → ← **४. अधियज्ञ**

२. अध्यात्म → ← **५. अधिदैव**

३. कर्म → ← **६. अधिभूत**

विशेष बात

(१)

सब संसारमें परमात्मा व्याप्त हैं—**'मया ततमिदं सर्वम्'** (९। ४), **'येन सर्वमिदं ततम्'** (१८। ४६); सब संसार परमात्मामें है—**'मयि सर्वमिदं प्रोतम्'** (७। ७); सब कुछ परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९); सब संसार परमात्माका है—**'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'** (९। २४), **'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्'** (५। २९)—इस प्रकार गीतामें भगवान्‌के तरह-तरहके वचन आते हैं। इन सबका सामंजस्य कैसे हो? सबकी संगति कैसे बैठे? इसपर विचार किया जाता है।

संसारमें परमात्मप्राप्तिके लिये, अपने कल्याणके लिये साधना करनेवाले जितने भी साधक* हैं, वे सभी संसारसे छूटना चाहते हैं और परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे सदा रहनेवाली शान्ति और सुख नहीं मिल सकता, प्रत्युत सदा अशान्ति और दुःख ही मिलता रहता है—ऐसा मनुष्योंका प्रत्यक्ष अनुभव है। परमात्मा अनन्त आनन्दके स्वरूप हैं, वहाँ दुःखका लेश भी नहीं है—ऐसा शास्त्रोंका कथन है और सन्तोंका अनुभव है।

अब विचार यह करना है कि साधकको संसार तो प्रत्यक्षरूपसे दीखता है और परमात्माको वह केवल मानता है; क्योंकि परमात्मा प्रत्यक्ष दीखते नहीं। शास्त्र और सन्त कहते हैं कि 'संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है' इसको मानकर साधक साधन करता है। उस साधनामें जबतक संसारकी मुख्यता रहती है, तबतक परमात्माकी मान्यता गौण रहती है। साधन करते-करते ज्यों-ज्यों परमात्माकी धारणा (मान्यता) मुख्य होती चली जाती है, त्यों-ही-त्यों संसारकी मान्यता गौण होती चली जाती है। परमात्माकी धारणा सर्वथा मुख्य होनेपर साधकको यह स्पष्ट दीखने लग जाता है कि संसार पहले नहीं था और फिर बादमें नहीं रहेगा तथा वर्तमानमें जो 'है' रूपसे दीखता है, वह भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। जब संसार नहीं था, तब भी परमात्मा थे; जब संसार नहीं रहेगा, तब भी परमात्मा रहेंगे और वर्तमानमें संसारके प्रतिक्षण अभावमें जाते हुए भी परमात्मा ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। तात्पर्य है कि संसारका सदा अभाव है और परमात्माका सदा भाव है। इस तरह जब संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब सत्यस्वरूपसे 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा वास्तविक अनुभव हो जाता है, जिसके होनेसे साधक 'सिद्ध' कहा जाता है। कारण कि 'संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है'—ऐसी मान्यता संसारकी सत्ता

*** सदा रहनेवाली शान्ति और अनन्त सुख मिले, जिसमें अशान्ति और दुःखका लेश भी न हो—ऐसा विचार करनेवाले 'साधक' होते हैं। परन्तु जो संसारमें ही रहना चाहते हैं, संसारसे ही सुख लेना चाहते हैं, सांसारिक संग्रह और भोगोंमें ही लगे रहना चाहते हैं और संसारके सुख-दुःखको भोगते रहते हैं, वे साधक नहीं होते, प्रत्युत 'संसारी' होते हैं। वे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं।**

माननेसे ही होती थी और संसारकी सत्ता साधकके रागके कारण ही दीखती थी। तत्त्वतः सब कुछ परमात्मा ही हैं।

(२)

सत् और असत् सब परमात्मा ही हैं—'**सदसच्चाहम्**' (९। १९), परमात्मा न सत् कहे जा सकते हैं और न असत् कहे जा सकते हैं—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३। १२); परमात्मा सत् भी हैं; असत् भी हैं और सत्-असत् दोनोंसे परे भी हैं—'**सदसत्तत्परं यत्**' (११। ३७)। इस प्रकार गीतामें भिन्न-भिन्न वचन आते हैं। अब उनकी संगतिके विषयमें विचार किया जाता है।

परमात्मतत्त्व अत्यन्त अलौकिक और विलक्षण है। उस तत्त्वका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। उस तत्त्वको इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि नहीं पकड़ सकते अर्थात् वह तत्त्व इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिकी परिधिमें नहीं आता। हाँ, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उसमें विलीन हो सकते हैं। साधक उस तत्त्वमें स्वयं लीन हो सकता है, उसको प्राप्त कर सकता है, पर उस तत्त्वको अपने कब्जेमें, अपने अधिकारमें, अपनी सीमामें नहीं ले सकता।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहनेवाले साधक दो तरहके होते हैं—एक विवेकप्रधान और एक श्रद्धाप्रधान अर्थात् एक मस्तिष्कप्रधान होता है और एक हृदयप्रधान होता है। विवेकप्रधान साधकके भीतर विवेककी अर्थात् जाननेकी मुख्यता रहती है और श्रद्धाप्रधान साधकके भीतर माननेकी मुख्यता रहती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विवेक-प्रधान साधकमें श्रद्धा नहीं रहती और श्रद्धाप्रधान साधकमें विवेक नहीं रहता, प्रत्युत यह तात्पर्य है कि विवेकप्रधान साधकमें विवेककी मुख्यता और साथमें श्रद्धा रहती है, तथा श्रद्धाप्रधान साधकमें श्रद्धाकी मुख्यता और साथमें विवेक रहता है। दूसरे शब्दोंमें, जाननेवालोंमें मानना भी रहता है और माननेवालोंमें जानना भी रहता है। जाननेवाले जानकर मान लेते हैं और माननेवाले मानकर जान लेते हैं। अतः किसी भी तरहके साधकमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं रहती।

साधक चाहे विवेकप्रधान हो, चाहे श्रद्धाप्रधान हो, पर साधनमें उसकी अपनी रुचि, श्रद्धा, विश्वास और योग्यताकी प्रधानता रहती है। रुचि, श्रद्धा, विश्वास और योग्यता एक साधनमें होनेसे साधक उस तत्त्वको जल्दी समझता है। परन्तु रुचि और श्रद्धा-विश्वास होनेपर भी वैसी योग्यता न हो अथवा योग्यता होनेपर भी वैसी रुचि और श्रद्धा-विश्वास न हो, तो साधकको उस साधनमें कठिनता पड़ती है। रुचि होनेसे मन स्वाभाविक लग जाता है, श्रद्धा-विश्वास होनेसे बुद्धि स्वाभाविक लग जाती है और योग्यता होनेसे बात ठीक समझमें आ जाती है।

विवेकप्रधान साधक निर्गुण-निराकारको पसंद करता है अर्थात् उसकी रुचि निर्गुण-निराकारमें होती है। श्रद्धाप्रधान साधक सगुण-साकारको पसंद करता है अर्थात् उसकी रुचि सगुण-साकारमें होती है। जो निर्गुण-निराकारको पसंद करता है, वह यह कहता है कि परमात्मतत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है। जो सगुण-साकारको पसंद करता है वह कहता है कि परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से परे भी हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि चिन्मय-तत्त्व तो हरदम ज्यों-का-त्यों ही रहता है और जड, असत् कहलानेवाला संसार निरन्तर बदलता रहता है। जब यह चेतन जीव बदलते हुए संसारको महत्त्व देता है, उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब यह जन्म-मरणके चक्करमें घूमता रहता है। परन्तु जब यह जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब इसको स्वतःसिद्ध चिन्मय-तत्त्वका अनुभव हो जाता है। विवेकप्रधान साधक विवेक-विचारके द्वारा जडताका त्याग करता है। जडताका त्याग होनेपर चिन्मय-तत्त्व अवशेष रहता है अर्थात् नित्यप्राप्त तत्त्वका अनुभव हो जाता है। श्रद्धाप्रधान साधक केवल भगवान्के ही सम्मुख हो जाता है, जिससे वह जडतासे विमुख होकर भगवान्को प्रेमपूर्वक प्राप्त कर लेता है। विवेकप्रधान साधक तो सम, शान्त, सत्-घन, चित्-घन, आनन्द-घन तत्त्वमें अटल स्थित होकर अखण्ड आनन्दको प्राप्त होता है; पर श्रद्धाप्रधान साधक भगवान्के साथ अभिन्न होकर प्रेमके अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान आनन्दको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार दोनों ही साधकोंको जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक चिन्मय-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और 'सत्-असत् अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—परिवर्तनशील एवं नाशवान् क्रिया और पदार्थमात्र 'क्षरभाव' हैं, जो भगवान्की अपरा प्रकृति है।

ज्ञानमें ब्रह्मके साथ एकता होती है और प्रेममें अन्तर्यामी भगवान्के साथ अभिन्नता होती है। भगवान्ने यहाँ अन्तर्यामी-(अधियज्ञ-) को अपना स्वरूप बताया है। अतः ब्रह्म तो विशेषण है और अन्तर्यामी विशेष्य है—'**ब्रह्मणो**

हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १४। २७)। तात्पर्य है कि जिसको गीताने **'समग्र'** कहा है, वह सबका रचयिता और नियन्ता अन्तर्यामी मैं ही हूँ। इसी अन्तर्यामीको चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें **'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्'** और **'अहं बीजप्रदः पिता'** पदोंमें **'अहम्'** शब्दसे कहा गया है। गीतामें ब्रह्मके लिये कहा है—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३। १२) और समग्र भगवान्‌के लिये कहा है—**'सदसच्चाहम्'** (९। १९), **'सदसत्तत्परं यत्'** (११। ३७)।

सम्बन्ध—दूसरे श्लोकमें अर्जुनका सातवाँ प्रश्न था कि अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

यः	= जो मनुष्य	**मुक्त्वा**	= छोड़कर	**याति**	= प्राप्त होता है,
अन्तकाले	= अन्तकालमें	**प्रयाति**	= जाता है,	**अत्र**	= इसमें
च	= भी	**सः**	= वह	**संशयः**	= सन्देह
माम्	= मेरा	**मद्भावम्**	= मेरे स्वरूपको	**न**	= नहीं
स्मरन्	= स्मरण करते हुए	**एव**	= ही	**अस्ति**	= है।
कलेवरम्	= शरीर				

व्याख्या—**'अन्तकाले च* मामेव .... याति नास्त्यत्र संशयः'**—'अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए जो शरीर छोड़कर जाता है'—इसका तात्पर्य हुआ कि इस मनुष्यको जीवनमें साधन-भजन करके अपना उद्धार करनेका अवसर दिया था, पर इसने कुछ किया ही नहीं। अब बेचारा यह मनुष्य अन्तकालमें दूसरा साधन करनेमें असमर्थ है, इसलिये बस, मेरेको याद कर ले तो इसको मेरी प्राप्ति हो जायगी।

'मामेव स्मरन्' का तात्पर्य है कि सुनने, समझने और माननेमें जो कुछ आता है, वह सब मेरा समग्ररूप है। अतः जो उसको मेरा ही स्वरूप मानेगा उसको अन्तकालमें भी मेरा ही चिन्तन होगा अर्थात् उसने जब सब कुछ मेरा ही स्वरूप मान लिया तो अन्तकालमें उसको जो कुछ याद आयेगा, वह मेरा ही स्वरूप होगा, इसलिये वह स्मरण मेरा ही होगा। मेरा स्मरण होनेसे उसको मेरी ही प्राप्ति होगी।

'मद्भावम्' कहनेका तात्पर्य है कि साधकने मेरेको जिस-किसी भिन्न अथवा अभिन्न भावसे अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज-चतुर्भुज तथा नाम, लीला, धाम, रूप आदिसे स्वीकार किया है, मेरी उपासना की है, अन्तसमयके स्मरणके अनुसार वह मेरे उसी भावको प्राप्त होता है।

जो भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे तो अन्तसमयमें उपास्यका स्मरण होनेसे उसी उपास्यको अर्थात् भगवद्भावको प्राप्त होते हैं। परन्तु जो उपासना नहीं करते, उनको भी अन्तसमयमें किसी कारणवशात् भगवान्‌के किसी नाम, रूप, लीला, धाम आदिका स्मरण हो जाय, तो वे भी उन उपासकोंकी तरह उसी भगवद्भावको प्राप्त हो जाते हैं। तात्पर्य है कि जैसे गुणोंमें स्थित रहनेवालेकी (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक) और अन्तकालमें जिस-किसी गुणके बढ़नेवालेकी वैसी ही गति होती है (गीता—चौदहवें अध्यायका चौदहवाँ-पन्द्रहवाँ श्लोक), ऐसे ही जिसको अन्तमें भगवान् याद आ जाते हैं, उसकी भी उपासकोंकी तरह गति होती है अर्थात् भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि अनेक रूपोंका और नाम, लीला, धाम आदिका भेद तो साधकोंकी दृष्टिसे है, अन्तमें सब एक हो जाते हैं अर्थात् अन्तमें सब एक 'मद्भाव'—भगवद्भावको प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌का समग्र स्वरूप एक ही है। परन्तु गुणोंके अनुसार गतिको प्राप्त होनेवाले अन्तमें एक नहीं हो सकते; क्योंकि

* यहाँ 'च' अव्ययका अर्थ 'अपि' अर्थात् 'भी' है।

तीनों गुण (सत्त्व, रज, तम) अलग-अलग हैं। अतः गुणोंके अनुसार उनकी गतियाँ भी अलग-अलग होती हैं।

भगवान्‌का स्मरण करके शरीर छोड़नेवालोंका तो भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहता है और गुणोंके अनुसार शरीर छोड़नेवालोंका गुणोंके साथ सम्बन्ध रहता है। इसलिये अन्तमें भगवान्‌का स्मरण करनेवाले भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं और गुणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले गुणोंके सम्मुख हो जाते हैं अर्थात् गुणोंके कार्य जन्म-मरणको प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान्‌ने एक यह विशेष छूट दी हुई है कि मरणासन्न व्यक्तिके कैसे ही आचरण रहे हों, कैसे ही भाव रहे हों, किसी भी तरहका जीवन बीता हो, पर अन्तकालमें वह भगवान्‌को याद कर ले तो उसका कल्याण हो जायगा। कारण कि भगवान्‌ने जीवका कल्याण करनेके लिये ही उसको मनुष्यशरीर दिया है और जीवने उस मनुष्यशरीरको स्वीकार किया है। अतः जीवका कल्याण हो जाय, तभी भगवान्‌का इस जीवको मनुष्यशरीर देना और जीवका मनुष्यशरीर लेना सफल होगा। परन्तु वह अपना उद्धार किये बिना ही आज दुनियासे विदा हो रहा है, इसके लिये भगवान् कहते हैं कि 'भैया! तेरी और मेरी दोनोंकी इज्जत रह जाय, इसलिये अब जाते-जाते (अन्तकालमें) भी तू मेरेको याद कर ले तो तेरा कल्याण हो जाय!' अतः हरेक मनुष्यके लिये सावधान होनेकी जरूरत है कि वह सब समयमें भगवान्‌का स्मरण करे, कोई समय खाली न जाने दे; क्योंकि अन्तकालका पता नहीं है कि कब आ जाय। वास्तवमें सब समय अन्तकाल ही है। यह बात तो है नहीं कि इतने वर्ष, इतने महीने और इतने दिनोंके बाद मृत्यु होगी। देखनेमें तो यही आता है कि गर्भमें ही कई बालक मर जाते हैं, कई जन्मते ही मर जाते हैं, कई कुछ दिनोंमें, महीनोंमें, वर्षोंमें मर जाते हैं। इस प्रकार मरनेकी चाल हरदम चल ही रही है। अतः सब समयमें भगवान्‌को याद रखना चाहिये और यही समझना चाहिये कि बस, यही अन्तकाल है! नीतिमें यह बात आती है कि अगर धर्मका आचरण करना हो, कल्याण करना हो तो मृत्युने मेरे केश पकड़े हुए हैं; झटका दिया कि खत्म! ऐसा विचार हरदम रहना चाहिये—**'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।'**

भगवान्‌की उपर्युक्त छूटसे मनुष्यमात्रको विशेष लाभ लेना चाहिये। कहीं कोई भी व्याधिग्रस्त, मरणासन्न व्यक्ति हो तो उसके इष्टके चित्र या मूर्तिको उसे दिखाना चाहिये; जैसी उसकी उपासना है और जिस भगवन्नाममें उसकी रुचि हो, जिसका वह जप करता हो, वही भगवन्नाम उसको सुनाना चाहिये; जिस स्वरूपमें उसकी श्रद्धा और विश्वास हो, उसकी याद दिलानी चाहिये; भगवान्‌की महिमाका वर्णन करना चाहिये; गीताके श्लोक सुनाने चाहिये। अगर वह बेहोश हो जाय तो उसके पास भगवन्नामका जप-कीर्तन करना चाहिये, जिससे उस मरणासन्न व्यक्तिके सामने भगवत्सम्बन्धी वायुमण्डल बना रहे। भगवत्सम्बन्धी वायुमण्डल रहनेसे वहाँ यमराजके दूत नहीं आ सकते। अजामिलके द्वारा मृत्युके समय 'नारायण' नामका उच्चारण करनेसे वहाँ भगवान्‌के पार्षद आ गये और यमदूत भागकर यमराजके पासमें गये, तो यमराजने अपने दूतोंसे कहा कि 'जहाँ भगवन्नामका जप, कीर्तन, कथा आदि होते हों, वहाँ तुमलोग कभी मत जाना; क्योंकि वहाँ हमारा राज्य नहीं है[१]।' ऐसा कहकर यमराजने भगवान्‌का स्मरण करके भगवान्‌से क्षमा माँगी कि 'मेरे दूतोंके द्वारा जो अपराध हुआ है, उसको आप क्षमा करें[२]।'

अन्तकालमें स्मरणका तात्पर्य है कि उसने भगवान्‌का जो स्वरूप मान रखा है, उसकी याद आ जाय अर्थात् उसने पहले राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, सर्वव्यापक विश्वरूप परमात्मा आदिमेंसे जिस स्वरूपको मान रखा है, उस स्वरूपके नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव आदिकी याद आ जाय। उसकी याद करते हुए शरीरको छोड़कर जानेसे वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है। कारण कि भगवान्‌की याद आनेसे 'मैं' शरीर हूँ और शरीर 'मेरा' है—इसकी याद नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान्‌को ही याद करते हुए शरीर छूट जाता है। इसलिये उसके लिये भगवान्‌को प्राप्त होनेके अतिरिक्त और कोई गुंजाइश ही नहीं है।

यहाँ शंका होती है कि जिस व्यक्तिने उम्रभरमें भजन-स्मरण नहीं किया, कोई साधन नहीं किया, सर्वथा

१-एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः॥ (श्रीमद्भा० ६। ३। २६)

२-तत्क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः।
स्वानामहो न विदुषां रचितांजलीनां क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने॥ (श्रीमद्भा० ६। ३। ३०)

भगवान्‌से विमुख रहा, उसको अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण कैसे होगा और उसका कल्याण कैसे होगा? इसका समाधान है कि अन्तसमयमें उसपर भगवान्‌की कोई विशेष कृपा हो जाय अथवा उसको किसी सन्तके दर्शन हो जायँ तो भगवान्‌का स्मरण होकर उसका कल्याण हो जाता है। उसके कल्याणके लिये कोई साधक उसको भगवान्‌का नाम, लीला, चरित्र सुनाये, पद गाये तो भगवान्‌का स्मरण होनेसे उसका कल्याण हो जाता है। अगर मरणासन्न व्यक्तिको गीतामें रुचि हो तो उसको गीताका आठवाँ अध्याय सुनाना चाहिये; क्योंकि इस अध्यायमें जीवकी सद्‌गतिका विशेषतासे वर्णन आया है। इसको सुननेसे उसको भगवान्‌की स्मृति हो जाती है। कारण कि वास्तवमें परमात्माका ही अंश होनेसे उसका परमात्माके साथ स्वतः सम्बन्ध है ही। अगर अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी आदि किसी तीर्थस्थलमें उसके प्राण छूट जायँ तो उस तीर्थके प्रभावसे उसको भगवान्‌की स्मृति हो जायगी[१]। ऐसे ही जिस जगह भगवान्‌के नामका जप, कीर्तन, कथा, सत्संग आदि होता है, उस जगह उसकी मृत्यु हो जाय तो वहाँके पवित्र वायुमण्डलके प्रभावसे उसको भगवान्‌की स्मृति हो सकती है। अन्तकालमें कोई भयंकर स्थिति आनेसे भयभीत होनेपर भी भगवान्‌की याद आ सकती है। शरीर छूटते समय शरीर, कुटुम्ब, रुपये आदिकी आशा-ममता छूट जाय और यह भाव हो जाय कि 'हे नाथ! आपके बिना मेरा कोई नहीं है, केवल आप ही मेरे हैं' तो भगवान्‌की स्मृति होनेसे कल्याण हो जाता है। ऐसे ही किसी कारणसे अचानक अपने कल्याणका भाव बन जाय, तो भी कल्याण हो सकता है[२]। ऐसे ही कोई साधक किसी प्राणी, जीव-जन्तुके मृत्युसमयमें 'उसका कल्याण हो जाय' इस भावसे उसको भगवन्नाम सुनाता है, तो उस भगवन्नामके प्रभावसे उस प्राणीका कल्याण हो जाता है। शास्त्रोंमें तो सन्त-महापुरुषोंके प्रभावकी विचित्र बातें आती हैं कि यदि सन्त-महापुरुष किसी मरणासन्न व्यक्तिको देख लें अथवा उसके मृत शरीर-(मुर्दे-) को देख लें अथवा उसकी चिताके धुएँको देख लें अथवा चिताकी भस्मको देख लें, तो भी उस जीवका कल्याण हो जाता है[३]!

मार्मिक बात

इस अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें ब्रह्म, अध्यात्म आदि जिन छः बातोंका वर्णन किया गया है, उसका तात्पर्य समग्ररूपसे है; और समग्ररूपका तात्पर्य है—**'वासुदेवः सर्वम्'** अर्थात् सब कुछ वासुदेव ही है। जिसको समग्ररूपका ज्ञान हो गया है, उसके लिये अन्तकालके स्मरणकी बात ही नहीं की जा सकती। कारण कि जिसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता न होकर सब कुछ वासुदेव ही है, उसके लिये 'अन्तकालमें भगवान्‌का चिन्तन करें' यह कहना ही नहीं बनता। जैसे सामान्य मनुष्यको 'मैं हूँ' इस अपने होनेपनका किंचिन्मात्र भी स्मरण नहीं करना पड़ता, ऐसे ही उस महापुरुषको भगवान्‌का स्मरण नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उसको जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें भगवान्‌के होनेपनका स्वाभाविक अटल ज्ञान रहता है।

पवित्र-से-पवित्र अथवा अपवित्र-से-अपवित्र किसी भी देशमें; उत्तरायण-दक्षिणायन, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष, दिन-रात्रि, प्रातः-सायं आदि किसी भी कालमें; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, रुग्णता, नीरोगता आदि किसी भी अवस्थामें; और पवित्र अथवा अपवित्र कोई भी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि सामने होनेपर भी उस महापुरुषके कल्याणमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता!

उपर्युक्त महापुरुषोंके सिवाय परमात्माकी उपासना

१-अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

(नारदपुराण, पूर्व० २७। ३५)

२-एक बार एक सज्जन गंगाजीसे होकर आये थे और सबको गंगाजलका आचमन दे रहे थे। वहाँ एक व्यक्ति खड़ा था; उसको जब वे आचमन देने लगे तो उसने कहा—मेरे पाप बहुत हैं, मेरी जानकारीमें मैंने बहुत पाप किये हैं, इसलिये इतने थोड़े गंगाजलसे मेरे पाप कैसे कट जायँगे? मेरा कल्याण कैसे हो जायगा? तो उससे पूछा—कितना चाहिये? उसने कहा—लोटाभर दो। उस सज्जनने उसे लोटाभर गंगाजल दे दिया। उसने उस लोटाभर गंगाजलको पी लिया और कहा—अब मेरे पाप नहीं रहेंगे! यह सब घटना वहाँके एक भाईने सुनी थी। बादमें उस भाईने बताया कि वह व्यक्ति जब मरा, तब उसके प्राण दसवें द्वारको फोड़कर निकले, अर्थात् उसका कल्याण हो गया।

३-महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः। परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम। यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥

(नारदपुराण, पूर्व० १। ७। ७४-७५)

करनेवाले जितने भी साधक हैं, वे चाहे साकारके उपासक हों अथवा निराकारके उपासक हों; चाहे सगुणके उपासक हों अथवा निर्गुणके उपासक हों; चाहे राम, कृष्ण आदि अवतारोंके उपासक हों; भगवान्‌के किसी भी नाम, रूप, लीला, धाम आदिकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना करनेवाले क्यों न हों, उन सबको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार अन्तसमयमें भगवान्‌के किसी भी स्वरूप, नाम आदिका स्मरण हो जाय, तो वह भगवान्‌का ही स्मरण है।

साधकोंके सिवाय जिन मनुष्योंमें 'भगवान् हैं' ऐसा सामान्य आस्तिक-भाव है और वे किसी उपासना-विशेषमें नहीं लगे हैं, उनको भी अन्तसमयमें कई कारणोंसे भगवान्‌का स्मरण हो सकता है। जैसे, जीवनमें उसने सुना हुआ है कि दु:खीके दु:खको भगवान् मिटाते हैं, इस संस्कारसे अन्तसमयकी पीड़ा-(दु:ख-)के समय भगवान्‌की याद आ सकती है। अन्तसमयमें अगर यमदूत दिखायी दे जायँ, तो भयके कारण भगवान्‌का स्मरण हो सकता है। कोई सज्जन उसके सामने भगवान्‌का चित्र रख दे—उसको दिखा दे, उसको भगवन्नाम सुना दे, भगवान्‌की लीला-कथा सुना दे, भक्तोंके चरित्र सुना दे, उसके सामने कीर्तन करने लग जाय, तो उसको भगवान्‌की याद आ जायगी। इस प्रकार किसी भी कारणसे भगवान्‌की तरफ वृत्ति होनेसे वह स्मरण भगवान्‌का ही स्मरण है।

ऐसे साधक और सामान्य मनुष्योंके लिये ही अन्तकालमें भगवत्स्मरणकी बात कही जाती है, तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये नहीं।

परिशिष्ट भाव—जो मनुष्य शरीरके रहते-रहते अपना उद्धार नहीं कर सका, वह यदि अन्तकालमें भी भगवान्‌का स्मरण करते हुए शरीर छोड़े तो वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर जो सब समय भगवान्‌का स्मरण करता है, वह अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करके भगवान्‌को प्राप्त हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है! भगवान्‌ने मनुष्यको (अपना उद्धार करनेकी) बहुत स्वतन्त्रता दी है, छूट दी है कि किसी तरहसे उसका कल्याण हो जाय। यह भगवान्‌की मनुष्यपर बहुत विशेष कृपा है!

सम्बन्ध—अन्तकालमें जो मेरा स्मरण करते हैं, वे तो मेरेको ही प्राप्त होते हैं, पर जो मेरा स्मरण न करके अन्य किसीका स्मरण करते हैं, वे किसको प्राप्त होते हैं—इसे भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

कौन्तेय = हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!
अन्ते = (मनुष्य) अन्तकालमें
यम्, यम्, = जिस-जिस
वा, अपि = भी
भावम् = भावका
स्मरन् = स्मरण करते हुए
कलेवरम् = शरीर
त्यजति = छोड़ता है
सदा,
तद्भावभावितः = वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ
तम्, तम् = उस-उसको
एव = ही
एति = प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।

व्याख्या—**'यं यं वापि स्मरन्भावं ········ सदा तद्भावभावितः'**—भगवान्‌ने इस नियममें दयासे भरी हुई एक विलक्षण बात बतायी है कि अन्तिम चिन्तनके अनुसार मनुष्यको उस-उस योनिकी प्राप्ति होती है जब यह नियम है, तो मेरी स्मृतिसे मेरी प्राप्ति होगी ही! परम दयालु भगवान्‌ने अपने लिये अलग कोई विशेष नियम नहीं बताया है, प्रत्युत सामान्य नियममें ही अपनेको शामिल कर दिया है। भगवान्‌की दयाकी यह कितनी विलक्षणता है कि जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिले, उतने ही मूल्यमें भगवान् मिल जायँ!

'सदा तद्भावभावितः' का तात्पर्य है कि अन्तकालमें जिस भावका—जिस किसीका चिन्तन होता है, शरीर छोड़नेके बाद वह जीव जबतक दूसरा शरीर धारण नहीं कर लेता, तबतक वह उसी भावसे भावित रहता है अर्थात्

अन्तकालका चिन्तन (स्मरण) वैसा ही स्थायी बना रहता है। अन्तकालके उस चिन्तनके अनुसार ही उसका मानसिक शरीर बनता है और मानसिक शरीरके अनुसार ही वह दूसरा शरीर धारण करता है। कारण कि अन्तकालके चिन्तनको बदलनेके लिये वहाँ कोई मौका नहीं है, शक्ति नहीं है और बदलनेकी स्वतन्त्रता भी नहीं है तथा नया चिन्तन करनेका कोई अधिकार भी नहीं है। अत: वह उसी चिन्तनको लिये हुए उसीमें तल्लीन रहता है। फिर उसका जिस किसीके साथ कर्मोंका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है, वायु, जल, खाद्य-पदार्थ आदिके द्वारा वह वहीं पुरुष-जातिमें प्रविष्ट होता है। फिर पुरुष-जातिसे स्त्री-जातिमें जाकर समयपर जन्म लेता है। जैसे, कुत्तेका पालन करनेवाला कोई मनुष्य अन्तसमयमें कुत्तेको याद करते हुए शरीर छोड़ता है, तो उसका मानसिक शरीर कुत्तेका बन जाता है, जिससे वह क्रमश: कुत्ता ही बन जाता है अर्थात् कुत्तेकी योनिमें जन्म लेता है। इस तरह अन्तकालमें जिस किसीका स्मरण होता है, उसीके अनुसार जन्म लेना पड़ता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मकानको याद करते हुए शरीर छोड़नेसे मकान बन जायगा, धनको याद करते हुए शरीर छोड़नेसे धन बन जायगा आदि। प्रत्युत मकानका चिन्तन होनेसे वह उस मकानमें चूहा, छिपकली आदि बन जायगा और धनका चिन्तन होनेसे वह साँप बन जायगा आदि। तात्पर्य यह हुआ कि अन्तकालके चिन्तनका नियम सजीव प्राणियोंके लिये ही है, निर्जीव (जड) पदार्थोंके लिये नहीं। अत: जड पदार्थका चिन्तन होनेसे वह उससे सम्बन्धित कोई सजीव प्राणी बन जायगा।

मनुष्येतर (पशु, पक्षी आदि) प्राणियोंको अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही अन्तकालमें स्मरण होता है और उसीके अनुसार उनका अगला जन्म होता है। इस तरह अन्तकालके स्मरणका कानून सब जगह लागू पड़ता है। परन्तु मनुष्यशरीरमें यह विशेषता है कि उसका अन्तकालका स्मरण कर्मोंके अधीन नहीं है, प्रत्युत पुरुषार्थके अधीन है। पुरुषार्थमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। तभी तो अन्य योनियोंकी अपेक्षा इसकी अधिक महिमा है।

मनुष्य इस शरीरमें स्वतन्त्रतापूर्वक जिससे सम्बन्ध जोड़ लेता है, उस सम्बन्धके अनुसार ही उसका अन्य योनियोंमें जन्म हो सकता है। परन्तु अन्तकालमें अगर वह भगवान्का स्मरण कर ले तो उसके सारे सम्बन्ध टूट जाते हैं। कारण कि वे सब सम्बन्ध वास्तविक नहीं हैं, प्रत्युत वर्तमानके बनाये हुए कृत्रिम हैं, जब कि भगवान्के साथ सम्बन्ध स्वत:सिद्ध है, बनाया हुआ नहीं है। अत: भगवान्की याद आनेसे उसके सारे कृत्रिम सम्बन्ध टूट जाते हैं।

विशेष बात

(१)

दूसरे जन्मकी प्राप्ति अन्तकालमें हुए चिन्तनके अनुसार होती है। जिसका जैसा स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे प्राय: वैसा ही चिन्तन होता है। जैसे, जिसका कुत्ते पालनेका स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे कुत्तेका चिन्तन होता है। वह चिन्तन आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा प्रसारित (विशेष शक्तियुक्त) ध्वनिकी तरह सब जगह फैल जाता है। जैसे आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा प्रसारित ध्वनि रेडियोके द्वारा (किसी विशेष नंबरपर) पकड़में आ जाती है। ऐसे ही अन्तकालीन कुत्तेका चिन्तन सम्बन्धित कुत्तेके द्वारा (जिसके साथ कोई ऋणानुबन्ध अथवा कर्मों आदिका कोई-न-कोई सम्बन्ध है) पकड़में आ जाता है। फिर जीव सूक्ष्म और कारणशरीरको साथ लिये अन्न, जल, वायु (श्वास) आदिके द्वारा उस कुत्तेमें प्रविष्ट हो जाता है। फिर कुतियामें प्रविष्ट होकर गर्भ बन जाता है और निश्चित समयपर कुत्तेके शरीरसे जन्म लेता है।

अन्तकालीन चिन्तन और उसके अनुसार गतिको एक दृष्टान्तके द्वारा समझा जा सकता है। एक आदमी फोटो खिंचवाने गया। जब वह फोटो खिंचवाने बैठा, तब फोटोग्राफरने उससे कहा कि फोटो खिंचते समय हिलना मत और मुसकराते रहना। जैसे ही फोटो खिंचनेका समय आया, उस आदमीकी नाकपर एक मक्खी बैठ गयी। हाथसे मक्खीको भगाना ठीक न समझकर (कि कहीं फोटोमें वैसा न आ जाय) उसने अपनी नाकको सिकोड़ा। ठीक इसी समय उसकी फोटो खिंच गयी। उस आदमीने फोटोग्राफरसे फोटो माँगी, तो उसने कहा कि अभी फोटोको प्रत्यक्षरूपमें आनेमें कुछ समय लगेगा; आप अमुक दिन फोटो ले जाना। वह दिन आनेपर फोटोग्राफरने उसे फोटो दिखायी, तो उसमें (अपनी नाक सिकोड़े हुए) भद्दे रूपको देखकर वह आदमी बहुत नाराज हुआ कि तुमने फोटो बिगाड़ दी! फोटोग्राफरने कहा कि इसमें मेरी क्या गलती है? फोटो खिंचते समय आपने जैसी आकृति बनायी थी, वैसी ही फोटोमें आ गयी; अब तो फोटोमें परिवर्तन नहीं हो सकता।

इसी तरह अन्तकालमें मनुष्यका जैसा चिन्तन होगा, वैसी ही योनि उसको प्राप्त होगी।

फोटो खिंचनेका समय तो पहलेसे ही मालूम रहता है, पर मृत्यु कब आ जाय—इसका हमें कुछ पता नहीं रहता। इसलिये अपने स्वभाव, चिन्तनको निर्मल बनाये रखते हुए हर समय सावधान रहना चाहिये और भगवान्‌का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये (गीता—आठवें अध्यायका पाँचवाँ और सातवाँ श्लोक)।

(२)

अन्तकालीन गतिके नियममें भगवान्‌की न्यायकारिता और दयालुता—ये दोनों ही भरी हुई हैं। साधारण दृष्टिसे न्याय और दया—दोनों परस्पर-विरुद्ध मालूम देते हैं। अगर न्याय करेंगे तो दया सिद्ध नहीं होगी और दया करेंगे तो न्याय सिद्ध नहीं होगा। कारण कि न्यायमें ठीक-ठीक निर्णय होता है, छूट नहीं होती और दयामें छूट होती है। परन्तु वास्तवमें यह विरोध सामान्य और क्रूर पुरुषके बनाये हुए न्यायमें ही आ सकता है, भगवान्‌के बनाये हुए न्यायमें नहीं; क्योंकि भगवान् परम दयालु और प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९)। भगवान्‌के सभी न्याय, कानून दयासे परिपूर्ण होते हैं।

मनुष्य अन्तकालमें जैसा स्मरण करता है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है। अगर कोई कुत्तेका चिन्तन करते हुए मरता है, तो क्रमशः कुत्ता ही बन जाता है। यह भगवान्‌का मनुष्यमात्रके प्रति लागू होनेवाला न्याय हुआ; क्योंकि भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दी है कि वह चाहे मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करे, चाहे अन्यका स्मरण करे। इसलिये यह भगवान्‌का 'न्याय' है। जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिले, उतने ही मूल्यमें भगवान् मिल जायँ—यह मनुष्यमात्रके प्रति भगवान्‌की 'दया' है। अगर मनुष्य भगवान्‌की इस न्यायकारिता और दयालुताकी तरफ खयाल करे, तो उसका भगवान्‌में आकर्षण हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—सातवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'यो यो यां यां तनुं भक्तः'** पदोंसे उपासनाके विषयमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता बतायी थी, अब इस श्लोकमें गतिके विषयमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता बताते हैं। तात्पर्य है कि अपनी उपासना और गतिके विषयमें मनुष्य स्वतन्त्र है* और उसमें भगवान् अपने दयालु स्वभावके कारण बाधक नहीं बनते, प्रत्युत उसकी सहायता करते हैं। मनुष्य ही मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके दुर्गतिमें चला जाता है।

यह मनुष्यशरीरकी महत्ता है कि वह जो चाहे, वही पा सकता है। ऐसा कोई दुर्लभ पद नहीं है, जो मनुष्यको न मिल सके। जिसमें लाभ-(सुख-)का तो कोई अन्त न हो और दुःखका लेश भी न हो, ऐसा पद मनुष्य प्राप्त कर सकता है (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। परन्तु भोग और संग्रहमें लगकर मनुष्य चौरासी लाख योनियोंमें और नरकोंमें चला जाता है! इसलिये भगवान् दुःखके साथ कहते हैं—**'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'** (९। ३), **'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'** (१६। २०)।

मनुष्य अन्तकालमें जैसा चिन्तन करता है, वैसी ही उसकी गति होती है। इस विषयमें एक श्लोक आता है—

वासना यस्य यत्र स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति। स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासना तु वपुर्नृणाम्॥

'जिस मनुष्यकी जहाँ वासना होती है, उसी वासनाके अनुरूप वह स्वप्न देखता है। स्वप्नके समान ही मरण होता है अर्थात् वासनाके अनुरूप ही अन्तसमयमें चिन्तन होता है और उस चिन्तनके अनुसार ही मनुष्यकी गति होती है।'

तात्पर्य है कि मृत्युकालमें हम जैसा चाहें, वैसा चिन्तन नहीं कर सकते, प्रत्युत हमारे भीतर जैसी वासना होगी, वैसा ही चिन्तन स्वतः होगा और उसके अनुसार ही गति होगी। जिस वस्तुको हम सत्ता और महत्ता देते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, उससे सुख लेते हैं, उसीकी वासना बनती है। अगर संसारमें सुखबुद्धि न हो तो संसारकी वासना नहीं बनेगी। वासना न बननेपर मृत्युकालमें जो भी चिन्तन होगा, भगवान्‌का ही चिन्तन होगा; क्योंकि सिद्धान्तसे सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

'तं तमेवैति'—जिस तरह सुईके पीछे-पीछे (उसी मार्गसे) धागा जाता है, उसी तरह मनुष्य भी अन्तकालके भावके अनुसार उसी गतिमें जाता है।

---

* **नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥ (मानस, उत्तर० १२१। ५)**

सम्बन्ध—जब अन्तकालके स्मरणके अनुसार ही गति होती है, तो फिर अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण होनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये—इसका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ७॥

तस्मात्	= इसलिये (तू)	**युध्य, च**	= युद्ध भी कर।	**असंशयम्**	= निःसन्देह
सर्वेषु	= सब	**मयि**	= मुझमें		
कालेषु	= समयमें	**अर्पितमनो-**		**माम्**	= मुझे
माम्	= मेरा	**बुद्धिः**	= मन और बुद्धि	**एव**	= ही
अनुस्मर	= स्मरण कर (और)		अर्पित करनेवाला (तू)	**एष्यसि**	= प्राप्त होगा।

व्याख्या—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'**—यहाँ **'सर्वेषु कालेषु'** पदोंका सम्बन्ध केवल स्मरणसे ही है, युद्धसे नहीं; क्योंकि युद्ध सब समयमें, निरन्तर हो ही नहीं सकता। कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं हो सकती, प्रत्युत समय-समयपर ही हो सकती है। कारण कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है—यह बात सबके अनुभवकी है। परन्तु भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे भगवान्‌का स्मरण सब समयमें होता है; क्योंकि उद्देश्यकी जागृति हरदम रहती है।

सब समयमें स्मरण करनेके लिये कहनेका तात्पर्य है कि प्रत्येक कार्यमें समयका विभाग होता है, जैसे—यह समय सोनेका और यह समय जगनेका है, यह समय नित्यकर्मका है, यह समय जीविकाके लिये काम-धंधा करनेका है, यह समय भोजनका है, आदि-आदि। परन्तु भगवान्‌के स्मरणमें समयका विभाग नहीं होना चाहिये। भगवान्‌को तो सब समयमें ही याद रखना चाहिये।

'युध्य च' कहनेका तात्पर्य है कि यहाँ अर्जुनके सामने युद्धरूप कर्तव्य-कर्म है, जो उनको स्वतः प्राप्त हुआ है—**'यदृच्छया चोपपन्नम्'** (गीता २। ३२)। ऐसे ही मनुष्यको कर्तव्यरूपसे जो प्राप्त हो जाय, उसको भगवान्‌का स्मरण करते हुए करना चाहिये। परन्तु उसमें भगवान्‌का स्मरण मुख्य है और कर्तव्य-कर्म गौण है।

'अनुस्मर' का अर्थ है कि स्मरणके पीछे स्मरण होता रहे अर्थात् निरन्तर स्मरण होता रहे। दूसरा अर्थ यह है कि भगवान् किसी भी जीवको भूलते नहीं। भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें **'वेदाहम्'** (७। २६) कहकर वर्तमानमें सभी जीवोंको स्वतः जाननेकी बात कही है। जब भगवान् वर्तमानमें सबको जानते हैं, तब भगवान्‌का सम्पूर्ण जीवोंका स्मरण करना स्वाभाविक हुआ, अब यह जीव भगवान्‌का स्मरण करे तो इसका बेड़ा पार है!

भगवान्‌के स्मरणकी जागृतिके लिये भगवान्‌के साथ अपनापन होना चाहिये। यह अपनापन जितना ही दृढ़ होगा, उतनी ही भगवान्‌की स्मृति बार-बार आयेगी।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'—मेरेमें मन-बुद्धि अर्पित कर देनेका साधारण अर्थ होता है कि मनसे भगवान्‌का चिन्तन हो और बुद्धिसे परमात्माका निश्चय किया जाय। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिको भगवान्‌के ही मानना, कभी भूलसे भी इनको अपने न मानना। कारण कि जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के ही हैं। उन प्राकृत पदार्थोंको अपना मानना ही गलती है। साधक जबतक उनको अपना मानेगा, तबतक वे शुद्ध नहीं हो सकते; क्योंकि उनको अपना मानना ही खास अशुद्धि है और इस अशुद्धिसे ही अनेक अशुद्धियाँ पैदा होती हैं।

वास्तवमें मनुष्यका सम्बन्ध केवल प्रभुके साथ ही है। प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ मनुष्यका सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं और रहेगा भी नहीं। कारण कि मनुष्य साक्षात् परमात्माके सनातन अंश हैं; अतः उनका प्रकृतिसे सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसलिये साधकको चाहिये कि वह मन और बुद्धिको भगवान्‌के ही समझकर भगवान्‌के अर्पण कर दे। फिर उसको स्वाभाविक ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि प्रकृतिके कार्य शरीर, मन, बुद्धि आदिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह भगवान्‌से विमुख हुआ था।

वे प्राकृत पदार्थ कैसे हैं—इस विषयमें दार्शनिक मतभेद तो है, पर 'वे हमारे नहीं हैं और हम उनके नहीं हैं'—इस वास्तविकतामें कोई मतभेद नहीं है अर्थात् इसको सभी दर्शनकार मानते हैं। इन दर्शनकारोंमें जो ईश्वरवादी हैं, वे सभी उन प्राकृत पदार्थोंको ईश्वरके ही मानते हैं और दूसरे

जितने दर्शनकार हैं, वे उन पदार्थोंको चाहे प्रकृतिके मानें, चाहे परमात्माके मानें, पर दार्शनिक दृष्टिसे वे उनको अपने नहीं मान सकते। अतः साधक उन सब पदार्थोंको ईश्वरके ही मानकर ईश्वरके अर्पण कर दें, तो उनका 'हम भगवान्‌के ही थे और भगवान्‌के ही रहेंगे' ऐसा भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध जाग्रत् हो जायगा।

'मामेवैष्यस्यसंशयम्'—मेरेमें मन-बुद्धि अर्पण करनेवाला होनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। कारण कि मैं तुझे नित्य प्राप्त हूँ। अप्राप्तिका अनुभव तो कभी प्राप्त न होनेवाले शरीर और संसारको अपना माननेसे, उनके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही होता है। नित्यप्राप्त तत्त्वका कभी अभाव नहीं हुआ और न हो सकता है। अगर तू मन, बुद्धि और स्वयंको मेरे अर्पण कर देगा, तो तेरा मेरे साथ जो नित्य-सम्बन्ध है, वह प्रकट हो जायगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

स्मरण-सम्बन्धी विशेष बात

स्मरण तीन तरहका होता है—बोधजन्य, सम्बन्धजन्य और क्रियाजन्य। बोधजन्य स्मरणका कभी अभाव नहीं होता। जबतक सम्बन्धको न छोड़ें, तबतक सम्बन्धजन्य स्मरण बना रहता है। क्रियाजन्य स्मरण निरन्तर नहीं रहता। इन तीनों प्रकारके स्मरणका विस्तार इस तरह है—

(१) **बोधजन्य स्मरण**—अपना जो होनापन है, उसको याद नहीं करना पड़ता। परन्तु शरीरके साथ जो एकता मान ली है, वह भूल है। बोध होनेपर वह भूल मिट जाती है, फिर अपना होनापन स्वतःसिद्ध रहता है। गीतामें भगवान्‌के वचन हैं—'तू, मैं और ये राजालोग पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं है और भविष्यमें नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है (गीता—दूसरे अध्यायका बारहवाँ श्लोक) अर्थात् निश्चित ही पहले थे और निश्चित ही पीछे रहेंगे। 'जो पहले सर्ग-महासर्ग और प्रलय-महाप्रलयमें था, वही यह प्राणिसमुदाय उत्पन्न हो-होकर नष्ट होता है' (आठवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। इसमें 'वही यह प्राणिसमुदाय' तो परमात्माका अंश है और 'उत्पन्न हो-होकर नष्ट होनेवाला' शरीर है। अगर नष्ट होनेवाले भागका विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दें तो अपने होनेपनका स्पष्ट बोध हो जाता है। यह बोधजन्य स्मरण नित्य-निरन्तर बना रहता है, कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि यह स्मरण अपने नित्य स्वरूपका है।

(२) **सम्बन्धजन्य स्मरण**—जिसको हम स्वयं मान लेते हैं, वह सम्बन्धजन्य स्मरण है, जैसे 'शरीर हमारा है, संसार हमारा है' आदि। यह माना हुआ सम्बन्ध तबतक नहीं मिटता, जबतक हम 'यह हमारा नहीं है' ऐसा नहीं मान लेते। परन्तु भगवान् वास्तवमें हमारे हैं; हम मानें तो हमारे हैं; नहीं मानें तो हमारे हैं, जानें तो हमारे हैं, नहीं जानें तो हमारे हैं, हमारे दीखें तो हमारे हैं, हमारे नहीं दीखें तो हमारे हैं। हम सब उनके अंश हैं और वे अंशी हैं। हम उनसे अलग नहीं हो सकते और वे हमसे अलग नहीं हो सकते। जबतक हम शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध मानते हैं, तबतक भगवान्‌का यह वास्तविक सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। जब हम शरीर और संसारके सम्बन्धका अत्यन्त अभाव स्वीकार कर लेते हैं, तब भगवान्‌का नित्य-सम्बन्ध स्वतः जाग्रत् हो जाता है। फिर भगवान्‌का स्मरण नित्य-निरन्तर बना रहता है।

(३) **क्रियाजन्य स्मरण**—क्रियाजन्य स्मरण अभ्यासजन्य होता है। जैसे स्त्रियाँ सिरपर जलका घड़ा रखकर चलती हैं तो अपने दोनों हाथोंको खुला रखती हैं और दूसरी स्त्रियोंके साथ बातें भी करती रहती हैं; परन्तु सिरपर रखे घड़ेकी सावधानी निरन्तर रहती है। नट रस्सेपर चलते हुए गाता भी है, बोलता भी है, पर रस्सेका ध्यान निरन्तर रहता है। ड्राइवर मोटर चलाता है, हाथसे गियर बदलता है, हैण्डल घुमाता है और मालिकसे बातचीत भी करता है, पर रास्तेका ध्यान निरन्तर रहता है। ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंमें भगवान्‌को निरन्तर याद रखना अभ्यासजन्य स्मरण है।

इस अभ्यासजन्य स्मरणके भी तीन प्रकार हैं—

(क) संसारका कार्य करते हुए भगवान्‌को याद रखना—इसमें सांसारिक कार्यकी मुख्यता और भगवान्‌के स्मरणकी गौणता रहती है। अतः इसमें यह भाव रहता है कि संसारका काम बिगड़े नहीं, ठीक तरहसे होता रहे और साथ-साथ भगवान्‌का स्मरण भी होता रहे।

(ख) भगवान्‌को याद रखते हुए संसारका कार्य करना—इसमें भगवान्‌के स्मरणकी मुख्यता और सांसारिक कार्यकी गौणता रहती है। इसमें भगवान्‌के स्मरणमें भूल न हो—यह सावधानी रहती है और संसारके काममें भूल भी हो जाय तो उसकी परवाह नहीं होती। कारण कि साधकमें यह जागृति रहेगी कि संसारका काम सुधर जाय तो भी अन्तमें रहेगा नहीं और बिगड़ जाय तो भी अन्तमें रहेगा

नहीं। इसलिये इसमें भगवान्‌के स्मरणकी भूल नहीं होती।

(ग) कार्यको भगवान्‌का ही समझना—इसमें काम-धंधा करते हुए भी एक विलक्षण आनन्द रहता है कि 'मेरा अहोभाग्य है कि मैं भगवान्‌का ही काम करता हूँ, भगवान्‌की ही सेवा करता हूँ!' अतः इसमें भगवान्‌की स्मृति विशेषतासे रहती है। जैसे, कोई सज्जन अपनी कन्याके विवाह-कार्यके समय कन्याके लिये तरह-तरहकी वस्तुएँ खरीदता है, तरह-तरहके कार्य करता है, अनेक व्यक्तियोंको निमन्त्रण देता है; परन्तु अनेक प्रकारके कार्य करते हुए भी 'कन्याका विवाह करना है'—यह बात उसको निरन्तर याद रहती है। कन्यामें भगवान्‌के समान पूज्यभावपूर्वक सम्बन्ध नहीं होता तो भी उसके विवाहके लिये कार्य करते हुए उसकी याद निरन्तर रहती है, फिर भगवान्‌के लिये कार्य करते हुए भगवान्‌की पूज्यभावसहित अपनेपनकी मीठी स्मृति निरन्तर बनी रहे—इसमें कहना ही क्या है!

भगवत्सम्बन्धी कार्य दो तरहका होता है—

(१) **स्वरूपसे—**भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन करना; भगवान्‌की लीलाका श्रवण, चिन्तन, पठन-पाठन आदि करना—यह स्वरूपसे भगवत्सम्बन्धी काम है।

(२) **भावसे—**संसारका काम करते हुए भी 'जब सब संसार भगवान्‌का है, तब संसारका काम भी भगवान्‌का ही काम हुआ। इसको भगवान्‌के नाते ही करना है, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करना है। इस कामसे हमें कुछ लेना नहीं है। भगवान्‌ने हमें जिस वर्णमें पैदा किया है, जिस आश्रममें रखा है, उसमें भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उचित काम करना है'—ऐसा भाव रहनेसे वह काम सांसारिक होनेपर भी भगवान्‌का हो जाता है।

[सातवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने सात बातें कही थीं; उन्हीं सात बातोंपर अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न किये और यह प्रकरण भी सात ही श्लोकोंमें समाप्त हुआ।]

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कहा—'**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**' तो इसपर अर्जुनने आठवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें प्रश्न किया—'**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**'। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि जो मनुष्य अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है (आठवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। परन्तु यह नियम केवल मेरी प्राप्तिके विषयमें नहीं है। मनुष्य जिस-जिसका भी स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है—यह सबके लिये सामान्य नियम है (आठवें अध्यायका पाँचवाँ-छठा श्लोक)। अन्तकाल किसी भी समय आ सकता है। ऐसा कोई वर्ष, महीना, दिन, घण्टा, मिनट, क्षण नहीं है, जिसमें अन्तकाल न आ सके। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर, सब समय मेरा स्मरण करना चाहिये—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**'। जो नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मेरी प्राप्ति सुलभ है (आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); क्योंकि वह किसी भी समय शरीर छोड़ेगा तो मेरा स्मरण करते हुए ही छोड़ेगा और मेरेको ही प्राप्त होगा।

'**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**'—सब समयमें भगवान्‌का स्मरण करनेसे साधकके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं। मन-बुद्धि अपने नहीं हैं, इनके साथ अपना सम्बन्ध ही नहीं है—इस प्रकार मन-बुद्धिमें अपनापन छोड़नेसे मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌के अर्पित होंगे; क्योंकि ये भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति हैं। यद्यपि परा और अपरा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की हैं, तथापि परा प्रकृतिका सम्बन्ध अपराके साथ नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌के साथ है; क्योंकि वह भगवान्‌का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)। इसलिये साधक '**मय्यर्पितमनोबुद्धि**' तभी हो सकता है, जब वह अपराके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, अपराको उसके मालिक भगवान्‌के अर्पित कर दे अर्थात् अपराको अपना और अपने लिये कभी न माने।

यहाँ 'मन' के अन्तर्गत चित्तको और 'बुद्धि' के अन्तर्गत अहंकारको भी समझ लेना चाहिये। मन-बुद्धि अर्पित होनेसे भक्त निर्मम और निरहंकार हो जाता है।

वास्तवमें भक्त स्वयं भगवान्‌के अर्पित होता है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि आदि सर्वस्व अपने-आप अर्पित हो जाता है। सर्वस्व भगवान्‌के अर्पित होनेसे सर्वस्व नहीं रहता, प्रत्युत केवल भगवान् रह जाते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कही हुई अभ्यासजन्य स्मृतिका अब आगेके श्लोकमें वर्णन करते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

पार्थ = हे पृथानन्दन! **अभ्यास-योगयुक्तेन** = अभ्यासयोगसे युक्त **नान्यगामिना** = (और) अन्यका चिन्तन न करनेवाले **चेतसा** = चित्तसे **परमम्** = परम **दिव्यम्** = दिव्य **पुरुषम्** = पुरुषका **अनुचिन्तयन्** = चिन्तन करता हुआ (शरीर छोड़नेवाला मनुष्य) **याति** = (उसीको) प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—[सातवें अध्यायके उन्तीसवें-तीसवें श्लोकोंमें जो सगुण-निराकार परमात्माका वर्णन हुआ था, उसीको यहाँ आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें विस्तारसे कहा गया है।]

'अभ्यासयोगयुक्तेन'—इस पदमें 'अभ्यास' और 'योग'—ये दो शब्द आये हैं। संसारसे मन हटाकर परमात्मामें बार-बार मन लगानेका नाम अभ्यास है और समताका नाम 'योग' है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २। ४८)। अभ्यासमें मन लगनेसे प्रसन्नता होती है और मन न लगनेसे खिन्नता होती है। यह अभ्यास तो है, पर अभ्यासयोग नहीं है। अभ्यासयोग तभी होगा, जब प्रसन्नता और खिन्नता—दोनों ही न हों। अगर चित्तमें प्रसन्नता और खिन्नता हो भी जायँ, तो भी उनको महत्त्व न दे, केवल अपने लक्ष्यको ही महत्त्व दे। अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहना भी योग है। ऐसे योगसे युक्त चित्त हो।

'चेतसा नान्यगामिना'—चित्त अन्यगामी न हो अर्थात् एक परमात्माके सिवाय दूसरा कोई लक्ष्य न हो।

'परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्'—ऐसे चित्तसे परम दिव्य पुरुषका अर्थात् सगुण-निराकार परमात्माका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने प्रश्न किया था —**'प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः'** (८। २)। उस प्रश्नका उत्तर देकर अब आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें अन्तकालमें स्मरण करनेवालोंके प्रकारका वर्णन करते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् ध्यान करनेके लिये अत्यन्त उपयोगी सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

यः = जो **कविम्** = सर्वज्ञ, **पुराणम्** = अनादि, **अनुशासितारम्** = सबपर शासन करनेवाला, **अणोः** = सूक्ष्मसे **अणीयांसम्** = अत्यन्त सूक्ष्म, **सर्वस्य** = सबका **धातारम्** = धारण-पोषण करनेवाला, **तमसः** = अज्ञानसे **परस्तात्** = अत्यन्त परे, **आदित्यवर्णम्** = सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप **अचिन्त्यरूपम्** = —ऐसे अचिन्त्य स्वरूपका **अनुस्मरेत्** = चिन्तन करता है।

व्याख्या—**'कविम्'**—सम्पूर्ण प्राणियोंको और उनके सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोंको जाननेवाले होनेसे उन परमात्माका नाम 'कवि' अर्थात् सर्वज्ञ है।

'पुराणम्'—वे परमात्मा सबके आदि होनेसे 'पुराण' कहे जाते हैं।

'अनुशासितारम्'—हम देखते हैं तो नेत्रोंसे देखते हैं। नेत्रोंके ऊपर मन शासन करता है, मनके ऊपर बुद्धि और बुद्धिके ऊपर 'अहम्' शासन करता है तथा 'अहम्' के ऊपर भी जो शासन करता है, जो सबका आश्रय, प्रकाशक और प्रेरक है, वह (परमात्मा) 'अनुशासिता' है।

दूसरा भाव यह है कि जीवोंका कर्म करनेका जैसा-जैसा स्वभाव बना है, उसके अनुसार ही परमात्मा (वेद,

शास्त्र, गुरु, सन्त आदिके द्वारा) कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं और मनुष्योंके पुराने पाप-पुण्यरूप कर्मोंके अनुसार अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भेजकर उन मनुष्योंको शुद्ध, निर्मल बनाते हैं। इस प्रकार मनुष्योंके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले और मनुष्योंके पाप-पुण्यरूप पुराने कर्मोंका (फल देकर) नाश करनेवाले होनेसे परमात्मा 'अनुशासिता' हैं।

'**अणोरणीयांसम्**'—परमात्मा परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा मन-बुद्धिके विषय नहीं हैं; मन-बुद्धि आदि उनको पकड़ नहीं पाते। मन-बुद्धि तो प्रकृति-का कार्य होनेसे प्रकृतिको भी पकड़ नहीं पाते, फिर परमात्मा तो उस प्रकृतिसे भी अत्यन्त परे हैं! अतः वे परमात्मा सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं अर्थात् सूक्ष्मताकी अन्तिम सीमा हैं।

'**सर्वस्य धातारम्**'—परमात्मा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको धारण करनेवाले हैं, उनका पोषण करनेवाले हैं। उन सभीको परमात्मासे ही सत्ता-स्फूर्ति मिलती है। अतः वे परमात्मा सबका धारण-पोषण करनेवाले कहे जाते हैं।

'**तमसः परस्तात्**'—परमात्मा अज्ञानसे अत्यन्त परे हैं, अज्ञानसे सर्वथा रहित हैं। उनमें लेशमात्र भी अज्ञान नहीं है, प्रत्युत वे अज्ञानके भी प्रकाशक हैं।

'**आदित्यवर्णम्**'—उन परमात्माका वर्ण सूर्यके समान है अर्थात् वे सूर्यके समान सबको, मन-बुद्धि आदिको प्रकाशित करनेवाले हैं। उन्हींसे सबको प्रकाश मिलता है।

'**अचिन्त्यरूपम्**'—उन परमात्माका स्वरूप अचिन्त्य है अर्थात् वे मन-बुद्धि आदिके चिन्तनका विषय नहीं हैं।

'**अनुस्मरेत्**'—सर्वज्ञ, अनादि, सबके शासक, परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाले, अज्ञानसे अत्यन्त परे और सबको प्रकाशित करनेवाले सगुण-निराकार परमात्माके चिन्तनके लिये यहाँ '**अनुस्मरेत्**' पद आया है।

यहाँ '**अनुस्मरेत्**' कहनेका तात्पर्य है कि प्राणिमात्र उन परमात्माकी जानकारीमें हैं; उनकी जानकारीके बाहर कुछ है ही नहीं अर्थात् उन परमात्माको सबका स्मरण है, अब उस स्मरणके बाद मनुष्य उन परमात्माको याद कर ले।

यहाँ शंका होती है कि जो अचिन्त्य है, उसका स्मरण कैसे करें? इसका समाधान है कि 'वह परमात्मतत्त्व चिन्तनमें नहीं आता'—ऐसी दृढ़ धारणा ही अचिन्त्य परमात्माका चिन्तन है।

परिशिष्ट भाव—परमात्माको '**कविम्**' कहनेका तात्पर्य है कि उसके ज्ञानके बाहर कुछ भी नहीं है। '**पुराणम्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह अनादि है, कालसे भी अतीत अर्थात् कालका भी प्रकाशक है। '**अनुशासितारम्**' कहनेका तात्पर्य है कि सब स्वाभाविक ही उसके शासनमें हैं। वह जीव और जगत्—दोनोंका ही शासक है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। (श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन दोनों-(विनाशशील और अविनाशी-) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

'**धातारम्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा सबका पालन-पोषण करनेवाला है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। '**आदित्यवर्णम्**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे सूर्यमें स्वतः-स्वाभाविक नित्य प्रकाश रहता है, ऐसे ही परमात्मामें स्वतः-स्वाभाविक नित्य ज्ञान, बोध रहता है। वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप है और सबका प्रकाशक है (गीता—तेरहवें अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)। '**तमसः परस्तात्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा अज्ञानसे अथवा अपरासे अत्यन्त परे है—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**' (गीता १५। १८)।

सम्बन्ध—अब अन्तकालके चिन्तनके अनुसार गति बताते हैं।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

सः	= वह	**अचलेन**	= अचल	**भ्रुवोः**	= भृकुटीके
भक्त्या,		**मनसा**	= मनसे	**मध्ये**	= मध्यमें
युक्तः	= भक्तियुक्त मनुष्य	**च**	= और	**प्राणम्**	= प्राणोंको
प्रयाणकाले	= अन्त समयमें	**योगबलेन**	= योगबलके द्वारा	**सम्यक्**	= अच्छी तरहसे

आवेश्य	= प्रविष्ट करके (शरीर छोड़नेपर)	**तम्**	= उस	**पुरुषम्**	= पुरुषको
		परम्	= परम	**एव**	= ही
		दिव्यम्	= दिव्य	**उपैति**	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—'**प्रयाणकाले मनसाचलेन ...... स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**'—यहाँ भक्ति नाम प्रियताका है; क्योंकि उस तत्त्वमें प्रियता (आकर्षण) होनेसे ही मन अचल होता है। वह भक्ति अर्थात् प्रियता स्वयंसे होती है, मन-बुद्धि आदिसे नहीं।

अन्तकालमें कवि, पुराण, अनुशासिता आदि विशेषणोंसे (पीछेके श्लोकमें) कहे हुए सगुण-निराकार परमात्मामें भक्तियुक्त मनुष्यका मन स्थिर हो जाना अर्थात् सगुण-निराकार-स्वरूपमें आदरपूर्वक दृढ़ हो जाना ही मनका अचल होना है।

पहले प्राणायामके द्वारा प्राणोंको रोकनेका जो अधिकार प्राप्त किया है, उसका नाम 'योगबल' है। उस योगबलके द्वारा दोनों भ्रुवोंके मध्यभागमें स्थित जो द्विदल चक्र है, उसमें स्थित सुषुम्णा नाड़ीमें प्राणोंका अच्छी तरहसे प्रवेश करके वह (शरीर छोड़कर दसवें द्वारसे होकर) दिव्य परम पुरुषको प्राप्त हो जाता है।

'**तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**' पदोंका तात्पर्य है कि जिस परमात्मतत्त्वका पीछेके (नवें) श्लोकमें वर्णन हुआ है, उसी दिव्य परम सगुण-निराकार परमात्माको वह प्राप्त हो जाता है।

आठवें श्लोकमें जो बात कही गयी थी, उसीको नवें और दसवें श्लोकमें विस्तारसे कहकर इन तीन श्लोकोंके प्रकरणका उपसंहार किया गया है।

इस प्रकरणमें सगुण-निराकार परमात्माकी उपासनाका वर्णन है। इस उपासनामें अभ्यासकी आवश्यकता है। प्राणायामपूर्वक मनको उस परमात्मामें लगानेका नाम अभ्यास है। यह अभ्यास अणिमा, महिमा आदि सिद्धि प्राप्त करनेके लिये नहीं है, प्रत्युत केवल परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेके लिये है। ऐसा अभ्यास करते हुए प्राणों और मनपर ऐसा अधिकार प्राप्त कर ले कि जब चाहे प्राणोंको रोक ले और मनको जब चाहे तभी तथा जहाँ चाहे वहीं लगा ले। जो ऐसा अधिकार प्राप्त कर लेता है, वही अन्तकालमें प्राणोंको सुषुम्णा नाड़ीमें प्रविष्ट कर सकता है। कारण कि जब अभ्यासकालमें भी मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेमें साधकको कठिनताका, असमर्थताका अनुभव होता है, तब अन्तकाल-जैसे कठिन समयमें मनको लगाना साधारण आदमीका काम नहीं है। जिसके पास पहलेसे योगबल है, वही अन्तसमयमें मनको परमात्मामें लगा सकता है और प्राणोंका सुषुम्णा नाड़ीमें प्रवेश करा सकता है।

साधक पहले यह निश्चय कर ले कि अज्ञानसे अत्यन्त परे, सबसे अतीत जो परमात्मतत्त्व है, वह सबका प्रकाशक, सबका आधार और सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला निर्विकार तत्त्व है। उस तत्त्वमें ही प्रियता होनी चाहिये, मनका आकर्षण होना चाहिये, फिर उसमें स्वाभाविक मन लगेगा।

परिशिष्ट भाव—'भक्त्या युक्तः' का तात्पर्य है कि संसारकी आसक्ति मिट जानेसे उस साधकका एक परमात्मामें ही आकर्षण रहता है, अन्यमें आकर्षण नहीं रहता। संसारी मनुष्य तो अपरामें आकृष्ट रहते हैं, पर जो अपराको छोड़कर भगवान्‌में आकृष्ट हो जाता है, वह भक्त हो जाता है। संसारी मनुष्य शरीर-संसारमें आसक्त होनेसे 'विभक्त' अर्थात् भगवान्‌से अलग हो जाते हैं, पर भगवान्‌में लगा हुआ साधक विभक्त नहीं रहता, प्रत्युत 'भक्त' अर्थात् भगवान्‌से एक (अभिन्न) हो जाता है।

'**योगबलेन**' कहनेका तात्पर्य है कि पहले किये हुए योगाभ्यासके कारण अन्त समयमें होनेवाली अशक्त अवस्था उसको बाधा नहीं पहुँचा सकती, उसमें कोई विकार पैदा नहीं कर सकती। प्राणायाम आदिका बल 'योगबल' है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें निर्गुण-निराकारकी प्राप्तिके उपायका उपक्रम करते हैं।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

वेदविदः	= वेदवेत्तालोग	**यत्**	= जिसको	**चरन्ति**	= पालन करते हैं,
यत्	= जिसको	**विशन्ति**	= प्राप्त करते हैं (और)	**तत्**	= वह
अक्षरम्	= अक्षर	**यत्**	= (साधक) जिसकी (प्राप्तिकी)	**पदम्**	= पद (मैं)
वदन्ति	= कहते हैं,			**ते**	= तेरे लिये
वीतरागाः	= वीतराग	**इच्छन्तः**	= इच्छा करते हुए	**सङ्ग्रहेण**	= संक्षेपसे
यतयः	= यति	**ब्रह्मचर्यम्**	= ब्रह्मचर्यका	**प्रवक्ष्ये**	= कहूँगा।

व्याख्या—[सातवें अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें जो निर्गुण-निराकार परमात्माका वर्णन हुआ था, उसीको यहाँ ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें विस्तारसे कहा गया है।]

'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति'—वेदोंको जाननेवाले पुरुष जिसको अक्षर-निर्गुण-निराकार कहते हैं, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो सदा-सर्वदा एकरूप, एकरस रहता है और जिसको इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें '**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' कहा गया है, उसी निर्गुण-निराकार तत्त्वका यहाँ 'अक्षर' नामसे वर्णन हुआ है।

'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः'—जिनके अन्तःकरणमें रागका अत्यन्त अभाव हो गया है; अतः जिनका अन्तःकरण महान् निर्मल है और जिनके हृदयमें सर्वोपरि अद्वितीय परम तत्त्वको पानेकी उत्कट लगन लगी है, ऐसे प्रयत्नशील यति महापुरुष उस तत्त्वमें प्रवेश करते हैं—उसको प्राप्त करते हैं।

'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'—जिनका उद्देश्य केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका है, परमात्मप्राप्तिके सिवाय जिनका और कोई ध्येय है ही नहीं और जो परमात्मप्राप्तिकी इच्छा रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संयम करते हैं अर्थात् किसी भी विषयका भोगबुद्धिसे सेवन नहीं करते।

'तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये'—जो सम्पूर्ण साधनोंका आखिरी फल है, उस पदको अर्थात् तत्त्वको मैं तेरे लिये संक्षेपसे और अच्छी तरहसे कहूँगा। संक्षेपसे कहनेका तात्पर्य है कि शास्त्रोंमें जिस तत्त्वको सर्वोपरि विलक्षण बताया गया है, हरेक आदमी उसको प्राप्त नहीं कर सकता—ऐसी जिसकी महिमा बतायी गयी है; वह पद (तत्त्व) किस तरहसे प्राप्त होता है—इस बातको मैं कहूँगा। अच्छी तरहसे कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्मकी उपासना करनेवाले जिस तरहसे उस ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं, उसको मैं अच्छी तरहसे कहूँगा।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें गौणतासे चारों आश्रमोंका वर्णन ले सकते हैं; जैसे—'**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति**' पदोंसे गृहस्थाश्रमका संकेत है; क्योंकि वेदोंका अध्ययन करना ब्राह्मणका खास काम है। '**विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः**' पदोंसे संन्यास और वानप्रस्थाश्रमका संकेत है। '**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**' पदोंसे ब्रह्मचर्याश्रमका संकेत है।

मुक्ति सभी वर्णों, आश्रमोंमें हो सकती है। इसलिये भगवान्ने आश्रमोंका स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं किया है और वर्णोंका स्पष्टरूपसे वर्णन भी कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे किया है। अर्जुन क्षत्रिय थे और वे अपने युद्धरूप कर्तव्यको छोड़ना चाहते थे। इसलिये भगवान्ने उनको अपने कर्तव्यमें लगानेके उद्देश्यसे वर्णधर्मका वर्णन किया। युद्ध करना वर्णधर्म है, आश्रमधर्म नहीं।

सम्बन्ध—अन्तकालमें उस निर्गुण-निराकार तत्त्वकी प्राप्तिकी फलसहित विधि बतानेके लिये आगेके दो श्लोक कहते हैं।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

सर्वद्वाराणि	=(इन्द्रियोंके) सम्पूर्ण द्वारोंको	**आधाय**	=स्थापित करके		उच्चारण (और)
संयम्य	=रोककर	**योगधारणाम्**	=योगधारणामें	**माम्**	=मेरा
मनः	=मनका	**आस्थितः**	=सम्यक् प्रकारसे स्थित हुआ	**अनुस्मरन्**	=स्मरण करता हुआ
हृदि	=हृदयमें	**यः**	=जो साधक	**देहम्**	=शरीरको
निरुध्य	=निरोध करके	**ओम्**	='ॐ'	**त्यजन्**	=छोड़कर
च	=और	**इति**	=इस	**प्रयाति**	=जाता है,
आत्मनः	=अपने	**एकाक्षरम्**	=एक अक्षर	**सः**	=वह
प्राणम्	=प्राणोंको	**ब्रह्म**	=ब्रह्मका	**पराम्**	=परम
मूर्ध्नि	=मस्तकमें	**व्याहरन्**	=(मानसिक)	**गतिम्**	=गतिको
				याति	=प्राप्त होता है।

व्याख्या—**'सर्वद्वाराणि संयम्य'**—(अन्तसमयमें) सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारोंका संयम कर ले अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंसे श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका—इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको तथा बोलना, ग्रहण करना, गमन करना, मूत्र-त्याग और मल-त्याग—इन पाँचों क्रियाओंसे वाणी, हाथ, चरण, उपस्थ और गुदा—इन पाँचों कर्मेन्द्रियोंको सर्वथा हटा ले। इससे इन्द्रियाँ अपने स्थानमें रहेंगी।

'मनो हृदि निरुध्य च'—मनका हृदयमें ही निरोध कर ले अर्थात् मनको विषयोंकी तरफ न जाने दे। इससे मन अपने स्थान-(हृदय-) में रहेगा।

'मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम्'—प्राणोंको मस्तकमें धारण कर ले अर्थात् प्राणोंपर अपना अधिकार प्राप्त करके दसवें द्वार—ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणोंको रोक ले।

'आस्थितो योगधारणाम्'—इस प्रकार योगधारणामें स्थित हो जाय। इन्द्रियोंसे कुछ भी चेष्टा न करना, मनसे भी संकल्प-विकल्प न करना और प्राणोंपर पूरा अधिकार प्राप्त करना ही योगधारणामें स्थित होना है।

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्'—इसके बाद एक अक्षर ब्रह्म 'ॐ' (प्रणव) का मानसिक उच्चारण करे और मेरा अर्थात् निर्गुण-निराकार परम अक्षर ब्रह्मका (जिसका वर्णन इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें हुआ है) स्मरण करे*। सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सत्तारूपसे परिपूर्ण हैं—ऐसी धारणा करना ही मेरा स्मरण है।

'यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्'—उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकारका स्मरण करते हुए जो देहका त्याग करता है अर्थात् दसवें द्वारसे प्राणोंको छोड़ता है वह परमगतिको अर्थात् निर्गुण-निराकार परमात्माको प्राप्त होता है।

परिशिष्ट भाव—इन श्लोकोंमें योगाभ्यास करनेवाले अद्वैतवादीका वर्णन है। **'व्याहरन्'** पदसे मानसिक उच्चारण समझना चाहिये; क्योंकि मनका हृदयमें निरोध करनेपर तथा प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करनेपर वाचिक उच्चारण होना असम्भव है।

सम्बन्ध—जिसके पास योगका बल होता है और जिसका प्राणोंपर अधिकार होता है, उसको तो निर्गुण-निराकारकी प्राप्ति हो जाती है; परन्तु दीर्घकालीन अभ्यास-साध्य होनेसे यह बात सबके लिये कठिन पड़ती है। इसलिये भगवान् आगेके श्लोकमें अपनी अर्थात् सगुण-साकारकी सुगमतापूर्वक प्राप्तिकी बात कहते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**यः**	= जो मनुष्य	**नित्यशः**	=नित्य-
अनन्यचेताः	=अनन्य चित्तवाला	**माम्**	=मेरा	**सततम्**	=निरन्तर

* समग्ररूपका प्रकरण होनेसे यहाँ 'माम्' शब्दसे निर्गुण-निराकारका चिन्तन लिया गया है।

स्मरति	=स्मरण करता है,		मुझमें लगे हुए	**सुलभः**	=सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।
तस्य	=उस	**योगिनः**	=योगीके लिये		
नित्ययुक्तस्य	=नित्य-निरन्तर	**अहम्**	=मैं		

व्याख्या—[सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें जो सगुण-साकार परमात्माका वर्णन हुआ था, उसीको यहाँ चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें विस्तारसे कहा गया है।]

'अनन्यचेताः'—जिसका चित्त भगवान्‌को छोड़कर किसी भी भोगभूमिमें, किसी भी ऐश्वर्यमें किंचिन्मात्र भी नहीं जाता; जिसके अन्तःकरणमें भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका कोई आश्रय नहीं है, महत्त्व नहीं है, वह पुरुष अनन्य चित्तवाला है। जैसे, पतिव्रता स्त्रीका पतिका ही व्रत, नियम रहता है। पतिके सिवाय उसके मनमें अन्य किसी भी पुरुषका रागपूर्वक चिन्तन कभी होता ही नहीं। शिष्य गुरुके और सुपुत्र माँ-बापके परायण रहता है, उनका दूसरा कोई इष्ट नहीं होता। इसी तरहसे भक्त भगवान्‌के ही परायण रहता है।

यहाँ **'अनन्यचेताः'** पद सगुण-उपासना करनेवालेका वाचक है। सगुण-उपासनामें विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जो भगवान्‌के स्वरूप हैं, उनमेंसे जो जिस स्वरूपकी उपासना करता है, उसी स्वरूपका चिन्तन हो। परन्तु दूसरे स्वरूपोंको अपने इष्टसे अलग न माने और अपने-आपको भी अपने इष्टके सिवाय और किसीका न माने, तो उसका अन्यकी तरफ मन नहीं जाता। तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं; मेरा और कोई नहीं है तथा मैं और किसीका नहीं हूँ' ऐसा भाव होनेसे वह **'अनन्यचेताः'** हो जाता है।

'सततं यो मां स्मरति नित्यशः'—**'सततम्'** का अर्थ होता है—निरन्तर अर्थात् जबसे नींद खुले, तबसे लेकर गाढ़ नींद आनेतक जो मेरा स्मरण करता है; और **'नित्यशः'** का अर्थ होता है—सदा अर्थात् इस बातको जिस दिनसे पकड़ा, उस दिनसे लेकर मृत्युतक जो मेरा स्मरण करता है।

'तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः'—ऐसे नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। यहाँ 'नित्ययुक्त' पद चित्तके द्वारा निरन्तर चिन्तन करनेवालेका वाचक नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे खुद भगवान्‌में लगनेवालेका वाचक है। जैसे कोई ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपनेमें स्थित रहता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ; क्षत्रिय, वैश्य आदि नहीं हूँ।' वह अपने ब्राह्मणपनेको याद करे या न करे, पर उसके ब्राह्मणपनेमें कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ही 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस नित्य-सम्बन्धमें दृढ़ रहनेवाला ही नित्ययुक्त है। ऐसे नित्ययुक्त योगीको भगवान् सुगमतासे मिल जाते हैं।

भगवान्‌के सिवाय शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि अपने नहीं हैं, केवल भगवान् ही अपने हैं—ऐसा दृढ़तासे माननेपर भगवान् सुलभ हो जाते हैं। परन्तु शरीर आदिको अपना मानते रहनेसे भगवान् सुलभ नहीं होते।

भगवान्‌के साथ अपनी भिन्नता तथा संसारके साथ अपनी एकता कभी हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। इस रीतिसे मनुष्यकी भगवान्‌के साथ स्वतः-स्वाभाविक अभिन्नता है और संसारके साथ स्वतः-स्वाभाविक भिन्नता है। परन्तु भूलके कारण मनुष्य अपनेको भगवान्‌से और भगवान्‌को अपनेसे अलग मान लेता है तथा अपनेको शरीरका तथा शरीरको अपना मान लेता है। इस विपरीत धारणाके कारण ही यह मनुष्य जन्म-मरणके चक्रमें फँसा रहता है। जब यह विपरीत धारणा सर्वथा मिट जाती है, तब भगवान् स्वतः सुलभ हो जाते हैं।

आठवेंसे तेरहवें श्लोकतक सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारका स्मरण बताया गया। इन दोनों स्मरणोंमें प्राणायामकी मुख्यता रहती है, जिसको सिद्ध करना कठिन है। अन्तकाल-जैसी विकट अवस्थामें भी प्राणायामके बलसे प्राणोंको भ्रुवोंके मध्यमें स्थापित कर सकें अथवा मूर्धा-(दशम द्वार-) में लगा सकें—ऐसा प्राणोंपर अधिकार रहनेकी आवश्यकता है। परन्तु भगवान्‌के स्मरणमें यह कठिनता नहीं है, क्योंकि यहाँ प्राणोंका खयाल नहीं है। यहाँ तो भगवान्‌के साथ साधकका स्वयंका अनादिकालसे स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिकी भी जरूरत नहीं है। अतः इसमें अन्तकालमें प्राण आदिको लगानेकी जरूरत नहीं है। जैसे किसी वस्तुका बीमा होनेपर वस्तुके बिगड़ने, टूटने-फूटनेकी चिन्ता नहीं रहती, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देनेपर साधकको अपनी गतिके विषयमें कभी किंचिन्मात्र

भी चिन्ता नहीं होती। कारण कि यह साधन क्रियाजन्य अथवा अभ्यासजन्य नहीं है। इसमें तो वास्तविक सम्बन्धकी जागृति है। अतः इसमें कठिनताका नामोनिशान नहीं है। इसीसे भगवान्ने अपने-आपको सुलभ बताया है।

परिशिष्ट भाव—'अनन्यचेताः'—भक्तकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय अन्यकी सत्ता न होनेसे उसका मन अन्य जगह कैसे जायगा? क्यों जायगा? कहाँ जायगा? इसलिये वह स्वतः अनन्यचित्तवाला हो जाता है।

'सततं यो मां स्मरति नित्यशः'—एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। जो करते हैं, वह क्रिया है और जो अपने-आप होता है, वह स्मरण है। जैसे, गीताके अन्तमें अर्जुनने कहा—**'स्मृतिर्लब्धा'** (१८। ७३) तो वह स्मृति क्रिया नहीं है, प्रत्युत भगवान्के साथ अपने नित्य सम्बन्धकी स्वतः होनेवाली स्मृति है। भगवान्के स्मरणमें खास हेतु उनमें अपनापन है। भगवान् ही मेरे हैं और मेरे लिये हैं—इस प्रकार भगवान्में अपनापन होनेसे स्वतः भगवान्में प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है, उसका स्मरण अपने-आप और नित्य-निरन्तर होता है। इसलिये भगवान्ने सातवें अध्यायके आरम्भमें **'मय्यासक्तमनाः'** पदसे अपनेमें आसक्ति अर्थात् प्रेम होनेकी बात कही है। तात्पर्य है कि केवल भगवान्को ही अपना और अपने लिये माननेसे साधककी भगवान्में प्रियता हो जाती है। भगवान्में प्रियता होनेके बाद फिर भगवान्का स्मरण स्वतः होता है।

'नित्ययुक्तस्य'—नित्य-निरन्तर भगवान्के साथ जुड़ा हुआ होनेसे भक्तको 'नित्ययुक्त' कहा गया है। सातवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें **'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः'** पदोंसे भी यही बात कही गयी है। **'नित्ययुक्तस्य'** पदसे श्लोकके पूर्वार्धमें आयी सभी बातोंका समाहार हो जाता है।

'तस्याहं सुलभः पार्थ'—भगवान्ने महात्माको तो दुर्लभ बताया है—**'स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७। १९), पर यहाँ अपनेको सुलभ बताया है। इसका तात्पर्य है कि संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत उनके तत्त्वको जानकर उनके शरण होनेवाले भक्त दुर्लभ हैं। कारण कि भगवान्को ढूँढ़े तो वे सब जगह मिल जायँगे, पर भगवान्का प्यारा भक्त कहीं-कहीं ही मिलेगा—

हरि दुरलभ नहिं जगतमें, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

भगवान् कृपा करके जो मनुष्यशरीर देते हैं, उस शरीरसे जीव अनेक योनियोंमें तथा नरकोंमें भी जा सकता है। परन्तु भक्त कृपा करके भगवान्की ही प्राप्ति कराता है—

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
हरि रीझै जग देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

वास्तवमें जो नित्यप्राप्त है, उसमें सुलभता-दुर्लभता कहना बनता ही नहीं। परन्तु लोगोंने उसको दुर्लभ (कठिन) मान रखा है, इस वृत्तिको हटानेके लिये भगवान्ने अपनेको सुलभ बताया है। जिसकी खुदकी सत्ता है ही नहीं, उस असत् (शरीर-संसार) को सत्ता और महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही नित्यप्राप्त परमात्मा दुर्लभ हो रहे हैं। असत्को सत्ता और महत्ता न दें तो परमात्माकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। असत् है और वह अपना तथा अपने लिये है—ऐसा मानना ही असत्को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना है।

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें भगवान् अपनी प्राप्तिका माहात्म्य बताते हैं।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

महात्मानः = महात्मालोग
माम् = मुझे
उपेत्य = प्राप्त करके
दुःखालयम् = दुःखालय अर्थात् दुःखोंके घर (और)
अशाश्वतम् = अशाश्वत अर्थात् निरन्तर बदलनेवाले
पुनर्जन्म = पुनर्जन्मको
न, आप्नुवन्ति = प्राप्त नहीं होते; (क्योंकि वे)

परमाम्	= परम	**गताः**	= प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उनको परम	प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है।
संसिद्धिम्	= सिद्धिको			

व्याख्या—‘**मामुपेत्य पुनर्जन्म .... संसिद्धिं परमां गताः**’—‘**मामुपेत्य**’ का तात्पर्य है कि भगवान्‌के दर्शन कर ले, भगवान्‌को तत्त्वसे जान ले अथवा भगवान्‌में प्रविष्ट हो जाय तो फिर पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्मका अर्थ है—फिर शरीर धारण करना। वह शरीर चाहे मनुष्यका हो, चाहे पशु-पक्षी आदि किसी प्राणीका हो, पर उसे धारण करनेमें दुःख-ही-दुःख है। इसलिये पुनर्जन्मको दुःखालय अर्थात् दुःखोंका घर कहा गया है।

मरनेके बाद यह प्राणी अपने कर्मोंके अनुसार जिस योनिमें जन्म लेता है, वहाँ जन्म-कालमें जेरसे बाहर आते समय उसको वैसा कष्ट होता है, जैसा कष्ट मनुष्यको शरीरकी चमड़ी उतारते समय होता है। परन्तु उस समय वह अपना कष्ट, दुःख किसीको बता नहीं सकता, क्योंकि वह उस अवस्थामें महान् असमर्थ होता है। जन्मके बाद बालक सर्वथा परतन्त्र होता है। कोई भी कष्ट होनेपर वह रोता रहता है,—पर बता नहीं सकता। थोड़ा बड़ा होनेपर उसको खाने-पीनेकी चीजें, खिलौने आदिकी इच्छा होती है और उनकी पूर्ति न होनेपर बड़ा दुःख होता है। पढ़ाईके समय शासनमें रहना पड़ता है। रातों जागकर अभ्यास करना पड़ता है तो कष्ट होता है। विद्या भूल जाती है तथा पूछनेपर उत्तर नहीं आता तो दुःख होता है। आपसमें ईर्ष्या, द्वेष, डाह, अभिमान आदिके कारण हृदयमें जलन होती है। परीक्षामें फेल हो जाय तो मूर्खताके कारण उसका इतना दुःख होता है कि कई आत्महत्यातक कर लेते हैं।

जवान होनेपर अपनी इच्छाके अनुसार विवाह आदि न होनेसे दुःख होता है। विवाह हो जाता है तो पत्नी अथवा पति अनुकूल न मिलनेसे दुःख होता है। बाल-बच्चे हो जाते हैं तो उनका पालन-पोषण करनेमें कष्ट होता है। लड़कियाँ बड़ी हो जाती हैं तो उनका जल्दी विवाह न होनेपर माँ-बापकी नींद उड़ जाती है, खाना-पीना अच्छा नहीं लगता, हरदम बेचैनी रहती है।

वृद्धावस्था आनेपर शरीरमें असमर्थता आ जाती है। अनेक प्रकारके रोगोंका आक्रमण होने लगता है। सुखसे उठना-बैठना, चलना-फिरना, खाना-पीना आदि भी कठिन हो जाता है। घरवालोंके द्वारा तिरस्कार होने लगता है। उनके अपशब्द सुनने पड़ते हैं। रातमें खाँसी आती है। नींद नहीं आती। मरनेके समय भी बड़े भयंकर कष्ट होते हैं। ऐसे दुःख कहाँतक कहें? उनका कोई अन्त नहीं।

मनुष्य-जैसा ही कष्ट पशु-पक्षी आदिको भी होता है। उनको शीत-घाम, वर्षा-हवा आदिसे कष्ट होता है। बहुत-से जंगली जानवर उनके छोटे बच्चोंको खा जाते हैं तो उनको बड़ा दुःख होता है। इस प्रकार सभी योनियोंमें अनेक तरहके दुःख होते हैं। ऐसे ही नरकोंमें और चौरासी लाख योनियोंमें दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिये पुनर्जन्मको ‘दुःखालय’ कहा गया है।

पुनर्जन्मको ‘अशाश्वत’ कहनेका तात्पर्य है कि कोई भी पुनर्जन्म (शरीर) निरन्तर नहीं रहता। उसमें हरदम परिवर्तन होता रहता है। कहीं किसी भी योनिमें स्थायी रहना नहीं होता। थोड़ा सुख मिल भी जाता है तो वह भी चला जाता है और शरीरका भी अन्त हो जाता है। नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इसी पुनर्जन्मको मौतका रास्ता कहा है—‘**मृत्युसंसारवर्त्मनि।**’

यहाँ भगवान्‌को ‘मेरी प्राप्ति होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता’—इतना ही कहना पर्याप्त था, फिर भी पुनर्जन्मके साथ ‘दुःखालय’ और ‘अशाश्वत’—ये दो विशेषण क्यों दिये गये? ये दो विशेषण देनेसे यह एक भाव निकलता है कि जैसे भगवान् भक्तजनोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये पृथ्वीपर अवतार लेते हैं, ऐसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए भक्तलोग भी साधु पुरुषोंकी रक्षा, दुष्टोंकी सेवा और धर्मका अच्छी तरहसे पालन करने तथा करवानेके लिये कारक पुरुषके रूपमें, सन्तके रूपमें इस पृथ्वीपर जन्म ले सकते हैं* अथवा जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब उनके साथ पार्षदके रूपमें भी (ग्वालबालोंकी तरह) वे भक्तजन पृथ्वीपर जन्म ले सकते हैं। परन्तु उन भक्तोंका यह जन्म दुःखालय और अशाश्वत नहीं होता; क्योंकि उनका जन्म कर्मजन्य नहीं होता, प्रत्युत

* **सन्तोंने कहा है—**

परित्राणाय साधूनां सेवां कर्तुं च दुष्कृताम्। धर्मसम्पालनार्थाय सम्भवन्ति कलौ युगे॥

भगवदिच्छासे होता है।

जो आरम्भसे ही भक्तिमार्गपर चलते हैं, उन साधकोंको भी भगवान्‌ने 'महात्मा' कहा है (नवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), जो भगवत्तत्त्वसे अभिन्न हो जाते हैं, उनको भी 'महात्मा' कहा है (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक) और जो वास्तविक प्रेमको प्राप्त हो जाते हैं, उनको भी 'महात्मा' कहा है (आठवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि असत् शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे मनुष्य 'अल्पात्मा' होते हैं; क्योंकि वे शरीर-संसारके आश्रित होते हैं। अपने स्वरूपमें स्थित होनेपर वे 'आत्मा' होते हैं; क्योंकि उनमें अणुरूपसे 'अहम्' की गंध रहनेकी संभावना होती है। भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेपर वे 'महात्मा' होते हैं; क्योंकि वे भगवन्निष्ठ होते हैं, उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती।

भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि योगोंमें 'महात्मा' शब्दका प्रयोग नहीं किया है। केवल भक्तियोगमें ही भगवान्‌ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि गीतामें भगवान् भक्तिको ही सर्वोपरि मानते हैं।

महात्माओंका पुनर्जन्मको प्राप्त न होनेका कारण यह है कि वे परम सिद्धिको अर्थात् परम प्रेमको प्राप्त हो गये हैं—'**संसिद्धिं* परमां गताः।**' जैसे लोभी व्यक्तिको जितना धन मिलता है, उतना ही उसको थोड़ा मालूम देता है और उसकी धनकी भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, ऐसे ही अपने अंशी भगवान्‌को पहचान लेनेपर भक्तमें प्रेमकी भूख बढ़ती रहती है, उसको प्रतिक्षण वर्धमान, असीम, अगाध, अनन्त प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। यह प्रेम भक्तिकी अन्तिम सिद्धि है। इसके समान दूसरी कोई सिद्धि है ही नहीं।

विशेष बात

गीताका अध्ययन करनेसे ऐसा असर पड़ता है कि भगवान्‌ने गीतामें अपनी भक्तिकी बहुत विशेषतासे महिमा गायी है। भगवान्‌ने भक्तको सम्पूर्ण योगियोंमें युक्ततम (सबसे श्रेष्ठ) कहा है (गीता—छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक) और अपने-आपको भक्तके लिये सुलभ बताया है (आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। परन्तु अपने आग्रहका त्याग करके कोई भी साधक केवल कर्मयोग, केवल ज्ञानयोग अथवा केवल भक्तियोगका अनुष्ठान करे तो अन्तमें वह एक ही तत्त्वको प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि साधकोंकी दृष्टिमें तो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन भेद हैं, पर साध्यतत्त्व एक ही है। साध्यतत्त्वमें भिन्नता नहीं है। परन्तु इसमें एक बात विचार करनेकी है कि जिस दर्शनमें ईश्वर, भगवान्, परमात्मा सर्वोपरि हैं—ऐसी मान्यता नहीं है, उस दर्शनके अनुसार चलनेवाले असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके मुक्त तो हो जाते हैं; पर अपने अंशीकी स्वीकृतिके बिना उनको परम प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती और परम प्रेमकी प्राप्तिके बिना उनको प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द नहीं मिलता। उस प्रतिक्षण वर्धमान आनन्दको, प्रेमको प्राप्त होना ही यहाँ परमसिद्धिको प्राप्त होना है।

परिशिष्ट भाव—गीताके सातवें अध्यायमें तो संसारको परमात्माका स्वरूप कहा गया है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), पर यहाँ उसको दुःखालय अर्थात् दुःखोंका घर कहा गया है—'**दुःखालयम्**'। इसका तात्पर्य है कि जो मनुष्य सांसारिक वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेता है, उसके लिये तो संसार भयंकर दुःख देनेवाला है, पर जो वस्तु और क्रियासे व्यक्तियोंकी सेवा करता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है। सुखकी आशा, कामना और भोग महान् दुःखोंके कारण हैं। सुख भोगनेवाला दुःखसे कभी बच सकता ही नहीं—यह अकाट्य नियम है। इसलिये वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेना ही नहीं है। जिस क्षण सुखबुद्धिका त्याग है, उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

जीव उस समग्र परमात्माका अंश है, जिसके रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं! पर जीव फँस गया अपरा प्रकृतिके तुच्छ-से-तुच्छ अंश एक शरीरमें! इसलिये जहाँ कोरा आनन्द-ही-आनन्द है, वहाँ जीव कोरा दुःख-ही-दुःख पा रहा है। जैसे—गायके थनोंमें जहाँ केवल दूध-ही-दूध है, वहाँ रहकर चींचड़ केवल खून-ही-खून पीता है। गोस्वामी तुलसीदासजी

*** यहाँ 'सिद्धि' शब्दके साथ 'सम्' उपसर्ग और 'परमाम्' विशेषण देनेका तात्पर्य है कि इससे बढ़कर कोई भी सिद्धि नहीं है। कारण कि जीव भगवान्‌का अंश है और जब वह सर्वथा भगवान्‌के समर्पित हो जाता है, तब कोई भी सिद्धि बाकी नहीं रहती।**

महाराज कहते हैं—

आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा।
बिनु जाने कस मरसि पियासा॥ (विनयपत्रिका १३६। २)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!		पुनः लौटकर	**माम्**	= मुझे
आब्रह्मभुवनात्	= ब्रह्मलोकतक		संसारमें आना	**उपेत्य**	= प्राप्त होनेपर
लोकाः	= सभी लोक		पड़ता है;	**पुनर्जन्म**	= पुनर्जन्म
पुनरावर्तिनः	= पुनरावर्तीवाले हैं	**तु**	= परन्तु	**न**	= नहीं
	अर्थात् वहाँ जानेपर	**कौन्तेय**	= हे कौन्तेय!	**विद्यते**	= होता।

व्याख्या— *‘**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**’—हे अर्जुन! ब्रह्माजीके लोकको लेकर सभी लोक पुनरावर्ती हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक और उससे नीचेके जितने लोक (सुखभोग-भूमियाँ) हैं, उनमें रहनेवाले सभी प्राणियोंको उन-उन लोकोंके प्रापक पुण्य समाप्त हो जानेपर लौटकर आना ही पड़ता है।

जितनी भी भोग-भूमियाँ हैं, उन सबमें ब्रह्मलोकको श्रेष्ठ बताया गया है। मात्र पृथ्वीमण्डलका राजा हो और उसका धन-धान्यसे सम्पन्न राज्य हो, स्त्री-पुरुष, परिवार आदि सभी उसके अनुकूल हों, उसकी युवावस्था हो तथा शरीर नीरोग हो—यह मृत्युलोकका पूर्ण सुख माना गया है। मृत्युलोकके सुखसे सौ गुणा अधिक सुख मर्त्य देवताओंका है। मर्त्य देवता उनको कहते हैं, जो पुण्यकर्म करके देवलोकको प्राप्त होते हैं और देवलोकके प्रापक पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इन मर्त्य देवताओंसे सौ गुणा अधिक सुख आजान देवताओंका है। आजान देवता वे कहलाते हैं, जो कल्पके आदिमें देवता बने हैं और कल्पके अन्ततक देवता बने रहेंगे। इन आजान देवताओंसे सौ गुणा अधिक सुख इन्द्रका माना गया है। इन्द्रके सुखसे सौ गुणा अधिक सुख ब्रह्मलोकका माना गया है। इस ब्रह्मलोकके सुखसे भी अनन्त गुणा अधिक सुख भगवत्प्राप्त, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुषका माना गया है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीमण्डलसे लेकर ब्रह्मलोकतकका सुख सीमित, परिवर्तनशील और विनाशी है। परन्तु भगवत्प्राप्तिका सुख अनन्त है, अपार है, अगाध है। यह सुख कभी नष्ट नहीं होता। अनन्त ब्रह्मा और अनन्त ब्रह्माण्ड समाप्त हो जायँ, तो भी यह परमात्मप्राप्तिका सुख कभी नष्ट नहीं होता, सदा बना रहता है।

‘**पुनरावर्तिनः**’ का एक भाव यह भी है कि ये प्राणी साक्षात् परमात्माके अंश होनेके कारण नित्य हैं। अतः ये जबतक नित्य तत्त्व परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेते, तबतक कितने ही ऊँचे लोकोंमें जानेपर भी इनको वहाँसे पीछे लौटना ही पड़ता है। अतः ब्रह्मलोक आदि ऊँचे लोकोंमें जानेवाले भी पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि सन्तों, भक्तों, जीवन्मुक्तों और कारकपुरुषोंके दर्शनमात्रसे जीवका कल्याण हो जाता है और ब्रह्माजी स्वयं कारकपुरुष हैं तथा भगवान्‌के भक्त भी हैं। ब्रह्मलोकमें जानेवाले ब्रह्माजीके दर्शन करते ही हैं, फिर उनकी मुक्ति क्यों नहीं होती? वे लौटकर क्यों आते हैं? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें कल्याण दर्शनमात्रसे नहीं होता, प्रत्युत अपनी भावना विशेष होनेसे होता है। इसके सिवाय सन्त, भक्त आदिके दर्शन, सम्भाषण, चिन्तन आदिका माहात्म्य इस मृत्युलोकके मनुष्योंके लिये ही है। कारण कि यह मनुष्य-शरीर केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः मनुष्यको भगवत्प्राप्तिका कोई भी और किंचिन्मात्र भी मुक्तिका उपाय मिल जाता है तो अपनी भावनाके अनुसार वह मुक्त हो सकता है। ऐसा मुक्तिका अधिकार अन्य लोकोंमें नहीं है, इसलिये वे मुक्त नहीं होते।

*** ‘आब्रह्मभुवनात्’ पदमें जो ‘आ’ शब्द आया है, उसके दो अर्थ होते हैं—(१) अभिविधि—जैसे, ब्रह्मलोकको लेकर सभी लोक अर्थात् ब्रह्मलोक तथा उससे नीचेके सभी लोक। (२) मर्यादा—जैसे ब्रह्मलोकको छोड़कर नीचेके सभी लोक अर्थात् ब्रह्मलोकसे नीचेके सभी लोक। यहाँ ‘आ’ शब्द ‘अभिविधि’ अर्थमें आया है।**

हाँ, उन लोकोंमें रहनेवालोंमें किसीकी मुक्त होनेके लिये तीव्र लालसा हो जाती है तो वह भी मुक्त हो जाता है। ऐसे ही पशु-पक्षियोंमें भी भक्त हुए हैं, पर ये दोनों ही अपवादरूपसे हैं, अधिकारीरूपसे नहीं। अगर वहाँके लोग भी अधिकारी माने जायँ तो नरकोंमें जानेवाले सभीकी मुक्ति हो जानी चाहिये; क्योंकि उन सभी प्राणियोंको परम भागवत, कारकपुरुष यमराजके दर्शन होते ही हैं? पर ऐसा शास्त्रोंमें न देखा और न सुना ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि उन-उन लोकोंमें रहनेवाले प्राणियोंका भक्त आदिके दर्शनसे कल्याण नहीं होता।

विशेष बात

यह जीव साक्षात् परमात्माका अंश है—**'ममैवांशः'** और जहाँ जानेके बाद फिर लौटकर नहीं आना पड़ता, वह परमात्माका धाम है—**'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'** जैसे कोई अपने घरपर जाता है, ऐसे ही परमात्माका अंश होनेसे इस जीवको वहीं (परमधाममें) जाना चाहिये। फिर भी यह जीव मरनेके बाद लौटकर क्यों आता है?

जैसे कोई मनुष्य सत्संग आदिमें जाता है और समय पूरा होनेपर वहाँसे चल देता है। परन्तु चलते समय उसकी कोई वस्तु (चद्दर आदि) भूलसे वहाँ रह जाय तो उसको लेनेके लिये उसे फिर लौटकर वहाँ आना पड़ता है। ऐसे ही इस जीवने घर, परिवार, जमीन, धन आदि जिन चीजोंमें ममता कर ली है, अपनापन कर लिया है, उस ममता-(अपनापन-) के कारण इस जीवको मरनेके बाद फिर लौटकर आना पड़ता है। कारण कि जिस शरीरमें रहते हुए संसारमें ममता-आसक्ति की थी, वह शरीर तो रहता नहीं, न चाहते हुए भी छूट जाता है। परन्तु उस ममता-(वासना-) के कारण दूसरा शरीर धारण करके यहाँ आना पड़ता है। वह मनुष्य बनकर भी आ सकता है और पशु-पक्षी आदि बनकर भी आ सकता है। उसको लौटकर आना पड़ता है—यह बात निश्चित है। भगवान्‌ने कहा है कि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका कारण गुणोंका संग ही है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (१३। २१) अर्थात् जो संसारमें ममता, आसक्ति, कामना करेगा उसको लौटकर संसारमें आना ही पड़ेगा।

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'— ब्रह्मलोकतक जानेवाले सभीको पुनर्जन्म लेना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! समग्ररूपसे मेरी प्राप्ति होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् मेरेको प्राप्त होनेपर फिर संसारमें, जन्म-मरणके चक्करमें नहीं आना पड़ता। कारण कि मैं कालातीत हूँ; अतः मेरेको प्राप्त होनेपर वे भी कालातीत हो जाते हैं। यहाँ **'मामुपेत्य'** का अर्थ है कि मेरे दर्शन हो जायँ, मेरे स्वरूपका बोध हो जाय और मेरेमें प्रवेश हो जाय (गीता—ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)।

मेरेको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म क्यों नहीं होता अर्थात् जीव लौटकर संसारमें क्यों नहीं आता? क्योंकि जीव मेरा अंश है और मेरा परमधाम ही इसका वास्तविक घर है। ब्रह्मलोक आदि लोक इसका घर नहीं है, इसलिये इसको वहाँसे लौटना पड़ता है। जैसे रेलगाड़ीका जहाँतकका टिकट होता है, वहाँतक ही मनुष्य उसमें बैठ सकता है। उसके बाद उसे उतरना ही पड़ता है। परन्तु वह अगर अपने घरमें बैठा हो तो उसे उतरना नहीं पड़ता। ऐसे ही जो देवताओंके लोकमें गया है, वह मानो रेलगाड़ीमें बैठा हुआ है। इसलिये उसको एक दिन नीचे उतरना ही पड़ेगा। परन्तु जो मेरेको प्राप्त हो गया है, वह अपने घरमें बैठा हुआ है। इसलिये उसको कभी उतरना नहीं पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को प्राप्त किये बिना ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें जानेपर भी कल्याण नहीं होता। अतः साधकको ऊँचे लोकोंके भोगोंकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

ब्रह्मलोकतक जाकर फिर पीछे लौटकर आनेवाले अर्थात् जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़नेवाले पुरुष आसुरी-सम्पत्तिवाले होते हैं; क्योंकि आसुरी-सम्पत्तिसे ही बन्धन होता है—**'निबन्धायासुरी मता।'** इसलिये ब्रह्मलोकतक बन्धन-ही-बन्धन है। परन्तु मेरे शरण होनेवाले, मुझे प्राप्त होनेवाले पुरुष दैवी-सम्पत्तिवाले होते हैं। उनका फिर जन्म-मरण नहीं होता; क्योंकि दैवी-सम्पत्तिसे मोक्ष होता है—**'दैवी संपद्विमोक्षाय'** (गीता १६। ५)।

विशेष बात

ब्रह्मलोकमें जानेवाले पुरुष दो तरहके होते हैं—एक तो जो ब्रह्मलोकके सुखका उद्देश्य रखकर यहाँ बड़े-बड़े पुण्यकर्म करते हैं तथा उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोकका सुख भोगनेके लिये ब्रह्मलोकमें जाते हैं; और दूसरे, जो परमात्मप्राप्तिके लिये ही तत्परतापूर्वक साधनमें लगे हुए हैं; परन्तु प्राणोंके रहते-रहते परमात्मप्राप्ति हुई नहीं और

अन्तकालमें भी किसी कारण-विशेषसे साधनसे विचलित हो गये, तो वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं और वहाँ रहकर महाप्रलयमें ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त हो जाते हैं। इन साधकोंका ब्रह्मलोकके सुखभोगका उद्देश्य नहीं होता; किन्तु अन्तकालमें साधनसे विमुख होनेसे तथा अन्तःकरणमें सुखभोगकी किंचिन्मात्र इच्छा रहनेसे ही उनको ब्रह्मलोकमें जाना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मलोकका सुख भोगकर ब्रह्माजीके साथ मुक्त होनेको 'क्रम-मुक्ति' कहते हैं। परन्तु जिन साधकोंको यहीं बोध हो जाता है, वे यहाँ ही मुक्त हो जाते हैं। इसको 'सद्योमुक्ति' कहते हैं।

इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें अर्जुनका प्रश्न था कि अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं? इसका उत्तर भगवान्ने पाँचवें श्लोकमें दिया। फिर छठे श्लोकमें अन्तकालीन गतिका सामान्य नियम बताया और सातवें श्लोकमें अर्जुनको सब समयमें स्मरण करनेकी आज्ञा दी। इस सातवें श्लोकका चौदहवें श्लोकसे सम्बन्ध है। बीचमें (आठवेंसे तेरहवें श्लोकतक) सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारकी बात प्रसंगसे आ गयी है।

आठवेंसे सोलहवें श्लोकतकके नौ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वोपरि पूर्ण परमात्मा हैं। वे ही समग्र परमात्मा हैं। उनके अन्तर्गत ही सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार आ जाते हैं। अतः इनका प्रेम प्राप्त करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ कोई शंका कर सकता है कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक भगवान्के ही स्वरूप हैं—**'वासुदेवः सर्वम्',** फिर उन लोकोंमें जानेवालोंका संसारमें पुनर्जन्म क्यों होता है? इसका समाधान है कि उन लोकोंमें जानेवाले मनुष्य उन लोकोंको भगवान्का स्वरूप नहीं समझते, प्रत्युत भोग-सामग्री समझते हैं (गीता—नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। वे सुखभोगके उद्देश्यसे ही ब्रह्मलोक आदिमें जाते हैं। इसलिये उनको कर्मफलके रूपमें ब्रह्मलोकतकके लोकोंकी प्राप्ति होती है और उनका पुनर्जन्म मिटता नहीं।

पुनर्जन्म सुखासक्तिके कारण ही होता है। इसलिये यहाँ **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः'** कहनेका तात्पर्य है कि सांसारिक सुखोंकी आखिरी हद जो 'ब्रह्मलोक' है, वहाँ जानेपर भी जीवको लौटना ही पड़ता है। अनन्त ब्रह्माण्डोंका सुख मिलकर भी जीवको सुखी नहीं कर सकता, उसकी आफत, जन्म-मरण नहीं मिटा सकता। अतः संसारसे सुखकी आशा करनेवाला केवल धोखेमें रहता है।

ब्रह्मलोकमें दो प्रकारके मनुष्य जाते हैं—एक तो सुखभोगके लिये ब्रह्मलोक जाते हैं और फिर लौटकर संसारमें आते हैं और दूसरे क्रममुक्तिवाले ब्रह्मलोक जाते हैं और ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं (गीता—आठवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। वे (क्रममुक्तिवाले) लौटकर संसारमें नहीं आते तो यह उनके उद्देश्यकी महिमा है, ब्रह्मलोककी महिमा नहीं है। ब्रह्मलोक तो पुनरावर्ती ही है; क्योंकि वहाँ कोई भी सदा नहीं रह सकता, न भोगी सदा रहता है, न योगी (क्रममुक्तिवाला) सदा रहता है। ब्रह्मलोकतक सब कर्मफल है। जब कर्ममात्र आदि-अन्तवाला (नाशवान्) होता है तो फिर उसका फल अविनाशी कैसे हो सकता है?

'मामुपेत्य' में **'माम्'** पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा—दोनोंका मालिक है। उसको प्राप्त होनेके बाद फिर दुःखालय संसारमें जन्म नहीं होता। हाँ, उनको प्राप्त हुए मनुष्य उनकी इच्छासे कारक महापुरुषके रूपमें अथवा भगवान्के अवतारके समय संसारमें आ सकते हैं। परन्तु उनका वह जन्म कर्मोंके अधीन नहीं होता, प्रत्युत भगवान्की इच्छासे होता है।

सम्बन्ध—ब्रह्मलोकमें जानेवाले भी पीछे लौटकर आते हैं—इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

यत् = जो मनुष्य
ब्रह्मणः = ब्रह्माके
सहस्रयुग-
पर्यन्तम् = एक हजार चतुर्युगीवाले
अहः = एक दिनको
(और)
युग-
सहस्रान्ताम् = एक हजार

	चतुर्युगीवाली	**ते**	= वे		दिन और
रात्रिम्	= एक रात्रिको	**जनाः**	= मनुष्य		रातको जानने-
विदुः	= जानते हैं,	**अहोरात्रविदः**	= ब्रह्माके		वाले हैं।

व्याख्या—'**सहस्त्रयुगपर्यन्तम् .... तेऽहोरात्रविदो जनाः**'—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—मृत्युलोकके इन चार युगोंको एक चतुर्युगी कहते हैं। ऐसी एक हजार चतुर्युगी बीतनेपर ब्रह्माजीका एक दिन होता है और एक हजार चतुर्युगी बीतनेपर ब्रह्माजीकी एक रात होती है*। दिन-रातकी इसी गणनाके अनुसार सौ वर्षोंकी ब्रह्माजीकी आयु होती है। ब्रह्माजीकी आयुके सौ वर्ष बीतनेपर ब्रह्माजी परमात्मामें लीन हो जाते हैं और उनका ब्रह्मलोक भी प्रकृतिमें लीन हो जाता है तथा प्रकृति परमात्मामें लीन हो जाती है।

कितनी ही बड़ी आयु क्यों न हो, वह भी कालकी अवधिवाली ही है। ऊँचे-से-ऊँचे कहे जानेवाले जो भोग हैं, वे भी संयोगजन्य होनेसे दुःखोंके ही कारण हैं—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**' (गीता ५। २२) और कालकी अवधिवाले हैं। केवल भगवान् ही कालातीत हैं। इस प्रकार कालके तत्त्वको जाननेवाले मनुष्य ब्रह्मलोकतकके दिव्य भोगोंको किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं देते।

सम्बन्ध—ब्रह्माजीके दिन और रातको लेकर जो सर्ग और प्रलय होते हैं, उसका वर्णन अब आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ १८॥

अहरागमे	= ब्रह्माके दिनके आरम्भकालमें	**व्यक्तयः**	= शरीर	**अव्यक्तसञ्ज्ञके,**	= अव्यक्त नामवाले-
अव्यक्तात्	= अव्यक्त-(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) से	**प्रभवन्ति**	= पैदा होते हैं (और)	**एव**	(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) में ही
सर्वाः	= सम्पूर्ण	**रात्र्यागमे**	= ब्रह्माकी रातके आरम्भकालमें	**प्रलीयन्ते**	= (सम्पूर्ण शरीर) लीन हो जाते हैं।
		तत्र	= उस		

* अत्यन्त सूक्ष्म काल है—परमाणु। दो परमाणुओंका एक अणु और तीन अणुओंका एक त्रसरेणु होता है। झरोखेसे आयी सूर्य-किरणोंमें त्रसरेणु उड़ते हुए दीखते हैं। ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्य जितना समय लेता है, उसे त्रुटि कहते हैं। सौ त्रुटियोंका एक वेध, तीन वेधोंका एक लव, तीन लवोंका एक निमेष और तीन निमेषोंका एक क्षण होता है। पाँच क्षणोंकी एक काष्ठा, पंद्रह काष्ठाओंका एक लघु, पंद्रह लघुओंकी एक नाड़िका, छः नाड़िकाओंका एक प्रहर और आठ प्रहरोंका एक दिन-रात होता है। पंद्रह दिन-रातोंका एक पक्ष, दो पक्षोंका एक मास, छः मासोंका एक अयन और दो अयनोंका एक वर्ष होता है।

इस प्रकार मनुष्योंके एक वर्षके समान देवताओंकी एक दिन-रात है अर्थात् मनुष्योंका छः महीनोंका उत्तरायण देवताओंका दिन है और छः महीनोंका दक्षिणायन देवताओंकी रात है। इस तरह देवताओंके समयका परिमाण मनुष्योंके समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुणा अधिक माना जाता है। इस हिसाबसे मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंके एक दिन-रात, मनुष्योंके तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और मनुष्योंके तीन सौ साठ वर्ष देवताओंका एक दिव्य वर्ष है। ऐसे ही मनुष्यके सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग बीतनेपर देवताओंका एक दिव्ययुग होता है अर्थात् मनुष्योंके सत्ययुगके सत्रह लाख अट्ठाईस हजार, त्रेताके बारह लाख छियानबे हजार, द्वापरके आठ लाख चौंसठ हजार और कलिके चार लाख बत्तीस हजार—ऐसे कुल तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षोंके बीतनेपर देवताओंका एक दिव्ययुग होता है। इसको 'महायुग' और 'चतुर्युगी' भी कहते हैं।

मनुष्यों और देवताओंके समयका परिमाण तो सूर्यसे होता है, पर ब्रह्माजीके दिन-रातका परिमाण देवताओंके दिव्य युगोंसे होता है अर्थात् देवताओंके एक हजार दिव्ययुगोंका (मनुष्योंके चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षोंका) ब्रह्माजीका एक दिन होता है और उतने ही दिव्ययुगोंकी एक रात होती है। ब्रह्माजीके इसी दिनको 'कल्प' या 'सर्ग' कहते हैं और रातको 'प्रलय' कहते हैं।

व्याख्या—'**अव्यक्ताद्व्यक्तयः ………… तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके**'—मात्र प्राणियोंके जितने शरीर हैं, उनको यहाँ '**व्यक्तयः**' और चौदहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें '**मूर्तयः**' कहा गया है। जैसे, जीवकृत सृष्टि अर्थात् 'मैं' और 'मेरापन' को लेकर जीवकी जो सृष्टि है, जीवके नींदसे जगनेपर वह सृष्टि जीवसे ही पैदा होती है और नींदके आ जानेपर वह सृष्टि जीवमें ही लीन हो जाती है। ऐसे ही जो यह स्थूल समष्टि सृष्टि दीखती है, वह सब-की-सब ब्रह्माजीके जगनेपर उनके सूक्ष्मशरीरसे अर्थात् प्रकृतिसे पैदा होती है और ब्रह्माजीके सोनेपर उनके सूक्ष्मशरीरमें ही लीन हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्माजीके जगनेपर तो 'सर्ग' होता है और ब्रह्माजीके सोनेपर 'प्रलय' होता है। जब ब्रह्माजीकी सौ वर्षकी आयु बीत जाती है, तब 'महाप्रलय' होता है, जिसमें ब्रह्माजी भी भगवान्में लीन हो जाते हैं। ब्रह्माजीकी जितनी आयु होती है, उतना ही महाप्रलयका समय रहता है। महाप्रलयका समय बीतनेपर ब्रह्माजी भगवान्से प्रकट होते हैं तो 'महासर्ग'का आरम्भ होता है (गीता—नवें अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती हैं। वे पुनरावर्ती क्यों हैं? इसके उत्तरमें भगवान् सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें बताते हैं कि ऊँचे-से-ऊँचा ब्रह्मलोक भी कालकी अवधिमें है। उस अवधिका विवेचन करते हुए भगवान् बताते हैं कि ब्रह्मलोककी अवधि कितनी ही बड़ी क्यों न हो, है वह कालके अन्तर्गत ही। परन्तु भगवान् कालकी अवधिमें नहीं हैं।

जैसे हम रातको सोते हैं तो संसारको भूल जाते हैं और प्रातः जागते हैं तो संसार पुनः याद आ जाता है, ऐसे ही ब्रह्माजीके रातमें सम्पूर्ण सृष्टि लीन हो जाती है और दिनमें पुनः उत्पन्न हो जाती है। यह रात और दिनकी आखिरी हद है।

ब्रह्माजीके दिन और रात सूर्यसे नहीं होते, प्रत्युत प्रकृतिसे होते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

पार्थ = हे पार्थ! **सः, एव** = वही **अयम्** = यह **भूतग्रामः** = प्राणिसमुदाय **भूत्वा, भूत्वा** = उत्पन्न हो-होकर **अवशः** = प्रकृतिके परवश हुआ **अहरागमे** = ब्रह्माके दिनके समय **प्रभवति** = उत्पन्न होता है (और) **रात्र्यागमे** = ब्रह्माकी रात्रिके समय **प्रलीयते** = लीन होता है।

व्याख्या—'**भूतग्रामः स एवायम्**'—अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ यह प्राणिसमुदाय वही है, जो कि साक्षात् मेरा अंश, मेरा स्वरूप है। मेरा सनातन अंश होनेसे यह नित्य है। सर्ग और प्रलय तथा महासर्ग और महाप्रलयमें भी यही था और आगे भी यही रहेगा। इसका न कभी अभाव हुआ है और न आगे कभी इसका अभाव होगा। तात्पर्य है कि यह अविनाशी है, इसका कभी विनाश नहीं होता। परन्तु भूलसे यह प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। प्राकृत पदार्थ (शरीर आदि) तो बदलते रहते हैं, उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, पर यह उनके सम्बन्धको पकड़े रहता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि सम्बन्धी (सांसारिक पदार्थ) तो नहीं रहते, पर उनका सम्बन्ध रहता है; क्योंकि उस सम्बन्धको स्वयंने पकड़ा है। अतः यह स्वयं जबतक उस सम्बन्धको नहीं छोड़ता, तबतक उसको दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता। उस सम्बन्धको छोड़नेमें यह स्वतन्त्र है, सबल है। वास्तवमें यह उस सम्बन्धको रखनेमें सदा परतन्त्र है; क्योंकि वे पदार्थ तो हरदम बदलते रहते हैं, पर यह नया-नया सम्बन्ध पकड़ता रहता है। जैसे, बालकपनको इसने नहीं छोड़ा और न छोड़ना चाहा, पर वह छूट गया। ऐसे ही जवानीको इसने नहीं छोड़ा, पर वह छूट गयी। और तो क्या, यह शरीरको भी छोड़ना नहीं चाहता, पर वह भी छूट जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्राकृत पदार्थ तो छूटते ही रहते हैं, पर यह जीव उन पदार्थोंके साथ अपने सम्बन्धको बनाये रखता है, जिससे इसको बार-बार शरीर धारण करने पड़ते हैं, बार-बार जन्मना-मरना पड़ता है। जबतक यह उस माने हुए सम्बन्धको नहीं छोड़ेगा, तबतक यह जन्म-मरणकी परम्परा चलती ही रहेगी, कभी मिटेगी नहीं।

भगवान्‌के द्वारा अकेले खेल नहीं हुआ (**'एकाकी न रमते'**) तो खेल खेलनेके लिये अर्थात् प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये भगवान्‌ने इस प्राणिसमुदायको शरीर-रूप खिलौनेके सहित प्रकट किया। खेलका यह नियम होता है कि खेलके पदार्थ केवल खेलनेके लिये ही होते हैं, किसीके व्यक्तिगत नहीं होते। परन्तु यह प्राणिसमुदाय खेल खेलना तो भूल गया और खेलके पदार्थोंको अर्थात् शरीरोंको व्यक्तिगत मानने लग गया। इसीसे यह उनमें फँस गया और भगवान्‌से सर्वथा विमुख हो गया।

'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'—ये पद शरीरोंके लिये कहे गये हैं, जो कि उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं अर्थात् जिनमें प्रतिक्षण ही परिवर्तन होता रहता है। परन्तु जीव उन शरीरोंके परिवर्तनको अपना परिवर्तन और उनके जन्मने-मरनेको अपना जन्म-मरण मानता रहता है। इसी मान्यताके कारण उसका जन्म-मरण कहा जाता है।

यह स्वयं सत्स्वरूप है—**'भूतग्रामः स एवायम्'** और शरीर उत्पत्ति-विनाशशील हैं—**'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'**, इसलिये शरीरोंको धारण करना अर्थात् जन्म-मरणका होना परधर्म है और मुक्त होना स्वधर्म है।

'रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे'—यहाँ **'अवशः'** कहनेका तात्पर्य है कि अगर यह जीव प्रकृतिकी वस्तुओंमेंसे किसी भी वस्तुको अपनी मानता रहेगा तो उसको वहम तो यह होगा कि 'मैं इस वस्तुका मालिक हूँ', पर हो जायगा उस वस्तुके परवश, पराधीन। प्राकृत पदार्थोंको यह जितना ही अधिक ग्रहण करेगा, उतना ही यह महान् परतन्त्र बनता चला जायगा। फिर इसकी परतन्त्रता कभी छूटेगी ही नहीं। ब्रह्माजीके जगने और सोनेपर अर्थात् सर्ग और प्रलयके होनेपर (आठवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), ब्रह्माजीके प्रकट और लीन होनेपर अर्थात् महासर्ग और महाप्रलयके होनेपर (नवें अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक) तथा वर्तमानमें प्रकृतिके परवश होकर कर्म करते रहनेपर (तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) भी यह जीव 'जन्मना और मरना तथा कर्म करना और उसका फल भोगना'—इस आफतसे कभी छूटेगा ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, बोध नहीं होता और यह प्रकृतिके सम्बन्धको नहीं छोड़ता, तबतक परतन्त्र होनेके कारण यह दुःखरूप जन्म-मरणके चक्करसे छूट नहीं सकता। परन्तु जब इसकी प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशता मिट जाती है अर्थात् इसको प्रकृतिके सम्बन्धसे सर्वथा रहित अपने शुद्ध स्वरूपका बोध हो जाता है, तो फिर यह महासर्गमें भी उत्पन्न नहीं होता और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होता—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

मूलमें परवशता प्रकृतिजन्य पदार्थोंको महत्त्व देने, उनको स्वीकार करनेमें ही है। इस परवशताको ही कहीं कालकी, कहीं स्वभावकी, कहीं कर्मकी और कहीं गुणोंकी परवशताके नामसे कहा गया है।

इस प्राणिसमुदायकी यह परवशता तभीतक रहती है, जबतक यह प्राकृत पदार्थोंके संयोगसे सुख लेना चाहता है। इस संयोगजन्य सुखकी इच्छासे ही यह पराधीनता भोगता रहता है और ऐसा मानता रहता है कि यह पराधीनता छूटती नहीं, इसको छोड़ना बड़ा कठिन है। परन्तु यह परवशता इसकी ही बनायी हुई है, स्वतः नहीं है। अतः इसको छोड़नेकी जिम्मेवारी इसीपर है। इसको यह जब चाहे, तभी छोड़ सकता है।

परिशिष्ट भाव—एक विभाग बदलनेवाले संसारका है और एक विभाग न बदलनेवाली चिन्मय सत्ताका है। जो अनादिकालसे जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़ा हुआ है, वही यह जीव-समुदाय बार-बार उत्पन्न और लीन होता है। ब्रह्माके दिन और रातके बीचमें भी जीव निरन्तर जन्म लेता और मरता रहता है। तात्पर्य है कि जो बार-बार उत्पन्न और लीन होता है, वह संसार है और जो वही रहता है (जो पहले सर्गावस्थामें था), वह जीवका असली स्वरूप अर्थात् चिन्मय सत्ता है, जो परमात्माका साक्षात् अंश है। ब्रह्माजीके कितने ही रात-दिन बीत जायँ, पर जीव स्वयं वही-का-वही रहता है।

चिन्मय सत्ता (चितिशक्ति) अर्थात् स्वयंमें स्वीकार अथवा अस्वीकार करनेकी सामर्थ्य है। इस सामर्थ्यका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् जड़ताको स्वीकार करनेसे ही वह जन्मता-मरता है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। यदि वह इस सामर्थ्यका दुरुपयोग न करे तो उसका जन्म-मरण हो ही नहीं सकता। अतः जीवका खास पुरुषार्थ है—जड़ताको स्वीकार न करना अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित होना अथवा अपने अंशी भगवान्‌के शरण होना। जड़तामें अर्थात् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थितिमें परिवर्तन होता है, अपनेमें (अपने होनेपनमें) कभी परिवर्तन नहीं होता—यह मनुष्यमात्रका अनुभव है। परन्तु ऐसा अनुभव होते हुए भी मनुष्य सुखासक्तिके कारण जड़तासे बँधा रहता है, जिससे

उसको अपने सहज स्वरूपका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत वह पशु-पक्षी आदिकी तरह अपने स्वरूपको भूला रहता है।

'अवशः' अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे जीव परवश, पराधीन हो जाता है—**'भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्'** (गीता ९।८)*। अतः प्रकृतिके साथ माना हुआ सम्बन्ध छूटनेपर यह स्वाधीन अर्थात् मुक्त हो जाता है।

हमारी सत्ता अपरा प्रकृतिके अर्थात् वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश होता है, प्रत्येक व्यक्तिका जन्म (संयोग) और मरण (वियोग) होता है तथा प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु इन तीनों-(वस्तु, व्यक्ति और क्रिया-) को जाननेवाली हमारी चिन्मय सत्ता-(होनेपन-) का कभी उत्पत्ति-विनाश, जन्म-मरण (संयोग-वियोग) और आरम्भ-अन्त नहीं होता। यह सत्ता नित्य-निरन्तर स्वतः ज्यों-की-त्यों रहती है—**'भूतग्रामः स एवायम्।'** इस सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)। इस सत्तामें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिके अनुभवका नाम ही मुक्ति (स्वाधीनता) है।

मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परन्तु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे सर्वथा असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। यह मनुष्यमात्रका अनुभव है कि सुषुप्तिके समय वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना भी हम स्वतः रहते हैं; परन्तु हमारे बिना वस्तु, व्यक्ति और क्रिया नहीं रहती। जब जाग्रत्में भी हम इनके बिना रहनेका स्वभाव बना लेंगे, तब हम स्वाधीन (मुक्त) हो जायँगे। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धकी मान्यता ही हमें स्वाधीन नहीं होने देती और हमारे न चाहते हुए भी हमें पराधीन बना देती है।

परमात्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं, जो चित्स्वरूप हैं। माया-(प्रकृति-) में भी अनन्त शक्तियाँ हैं, पर वे जड़स्वरूप तथा परिवर्तनशील हैं—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'** (९।१०)। सबसे विलक्षण शक्ति भगवत्प्रेममें है। परन्तु मुक्ति-(स्वाधीनता-) में सन्तोष करनेसे वह प्रेम प्रकट नहीं होता। जड़ताके सम्बन्धसे ही परवशता होती है और मुक्त होनेपर वह परवशता सर्वथा मिट जाती है और जीव स्वाधीन हो जाता है। परन्तु प्रेम इस स्वाधीनतासे भी विशेष विलक्षण है। स्वाधीनता-(मुक्ति-) में अखण्ड आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त आनन्द है।

ज्ञानयोगी तो स्वाधीन होता है और भक्त प्रेमी होता है। भक्तियोगमें भक्त भगवान्के पराधीन नहीं होता; क्योंकि भगवान् परकीय नहीं हैं, प्रत्युत स्वकीय (अपने) हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता होती है।

भगवान् तो स्वाधीन-से-स्वाधीन हैं। जीव ही जड़ताके पराधीन हो जाता है। उस पराधीनताको मिटानेसे वह स्वाधीन हो जाता है। परन्तु भगवान्के शरण होनेसे वह स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन अर्थात् परम स्वाधीन हो जाता है। भगवान्की अधीनता परम स्वाधीनता है, जिसमें भगवान् भी भक्तके अधीन हो जाते हैं—**'अहं भक्तपराधीनः'** (श्रीमद्भा० ९।४।६३)।

सम्बन्ध—अनित्य संसारका वर्णन करके अब आगेके श्लोकमें जीवोंके प्रापणीय परमात्माकी महिमाका विशेष वर्णन करते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

तु	= परन्तु	**सनातनः**	= अनादि	**सः**	= वह
तस्मात्	= उस	**परः**	= अत्यन्त श्रेष्ठ	**सर्वेषु**	= सम्पूर्ण
अव्यक्तात्	= अव्यक्त-(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) से	**भावः**	= भावरूप	**भूतेषु**	= प्राणियोंके
		यः	= जो	**नश्यत्सु**	= नष्ट होनेपर भी
अन्यः	= अन्य (विलक्षण)	**अव्यक्तः**	= अव्यक्त (ईश्वर) है,	**न, विनश्यति**	= नष्ट नहीं होता।

*** यहाँ (८।१९ में) और नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें—दोनों जगह 'भूतग्राम' और 'अवश' शब्द आये हैं। फर्क इतना है कि यहाँ सर्ग तथा प्रलयका वर्णन है, वहाँ (९।८ में) महासर्ग तथा महाप्रलयका वर्णन है।**

व्याख्या—'**परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्-सनातनः**'—सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक ब्रह्मलोक तथा उससे नीचेके लोकोंको पुनरावर्ती कहा गया है। परन्तु परमात्मतत्त्व उनसे अत्यन्त विलक्षण है—यह बतानेके लिये यहाँ '**तु**' पद दिया गया है।

यहाँ '**अव्यक्तात्**' पद ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरका ही वाचक है। कारण कि इससे पहले अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंमें सर्गके आदिमें ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे प्राणियोंके पैदा होनेकी और प्रलयमें ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरमें प्राणियोंके लीन होनेकी बात कही गयी है। इस श्लोकमें आया '**तस्मात्**' पद भी ब्रह्माजीके उस सूक्ष्मशरीरका द्योतन करता है। ऐसा होनेपर भी यहाँ ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीर-(समष्टि मन, बुद्धि और अहंकार-) से भी पर अर्थात् अत्यन्त विलक्षण जो भावरूप अव्यक्त कहा गया है, वह ब्रह्माजीके सूक्ष्म-शरीरके साथ-साथ ब्रह्माजीके कारण-शरीर-(मूल प्रकृति-) से भी अत्यन्त विलक्षण है।

ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे पर दो तत्त्व हैं—मूल प्रकृति और परमात्मा। यहाँ प्रसंग मूल प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत परमात्माका है। अतः इस श्लोकमें परमात्माको ही पर और श्रेष्ठ कहा गया है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता। आगेके श्लोकमें भी '**अव्यक्तोऽक्षर**' आदि पदोंसे उस परमात्माका ही वर्णन आया है।

गीतामें प्राणियोंके अप्रकट होनेको अव्यक्त कहा गया है—'**अव्यक्तादीनि भूतानि**' (२। २८); ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरको भी अव्यक्त कहा गया है (८। १८); प्रकृतिको भी अव्यक्त कहा गया है—'**अव्यक्तमेव च**' (१३। ५) आदि। उन सबसे परमात्माका स्वरूप विलक्षण, श्रेष्ठ है, चाहे वह स्वरूप व्यक्त हो, चाहे अव्यक्त हो। वह भावरूप है अर्थात् किसी भी कालमें उसका अभाव हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। कारण कि वह सनातन है अर्थात् वह सदासे है और सदा ही रहेगा। इसलिये वह पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ कोई हो ही नहीं सकता और होनेकी सम्भावना भी नहीं है।

'**यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति**'—अब उत्तरार्धमें उसकी विलक्षणता बताते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी अर्थात् उन सम्पूर्ण शरीरोंका अभाव होनेपर भी उस परमात्मतत्त्वका कभी अभाव नहीं होता—ऐसा वह परमात्माका अव्यक्त स्वरूप है।

'**न विनश्यति**' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें कार्यरूपसे अनेक तरहके परिवर्तन होनेपर भी वह परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों ही अपरिवर्तनशील रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन होता ही नहीं।

परिशिष्ट भाव—एक अपरिवर्तनशील (स्थायी) तत्त्व 'परा' है और एक परिवर्तनशील (अस्थायी) तत्त्व 'अपरा' है। परामें कभी परिवर्तन होता ही नहीं और अपरामें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अपरा कभी परिवर्तनके बिना रहती ही नहीं, रह सकती ही नहीं। सर्ग और प्रलयमें तो परिवर्तन होता रहता है, महासर्ग और महाप्रलयमें भी परिवर्तन होता रहता है।

अगर परा और अपरा—दोनों ही तत्त्व अपरिवर्तनशील हों तो जन्म-मरण मिट जाय अथवा दोनों ही परिवर्तनशील हों तो जन्म-मरण मिट जाय! परन्तु स्वयं अपरिवर्तनशील होते हुए भी जीव-(परा-) ने परिवर्तनशील अपरासे सम्बन्ध जोड़ लिया, इसीसे वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ गया। जगत्‌से अपना सम्बन्ध जोड़कर वह भी जगत् हो गया (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। जैसे कोई चलती हुई गाड़ीमें बैठकर चल पड़े, ऐसे ही परिवर्तनशील संसारको पकड़कर जीव भी परिवर्तनशील बन गया—अनेक योनियोंमें भटकने लग गया!

परमात्माको 'पर' अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे भी श्रेष्ठ मूल प्रकृति (कारणशरीर) है और मूल प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ परमात्मा हैं।

सम्बन्ध—अभीतक जो परमात्मविषयक वर्णन हुआ है, उस सबकी एकता करते हुए अनन्यभक्तिके विशेष महत्त्वका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

तम्	= उसीको	**परमाम्**	= परम	**न, निवर्तन्ते**	= फिर लौटकर (संसारमें) नहीं आते,
अव्यक्तः	= अव्यक्त (और)	**गतिम्**	= गति	**तत्**	= वह
अक्षरः	= अक्षर—	**आहुः**	= कहा गया है (और)	**मम**	= मेरा
इति	= ऐसा	**यम्**	= जिसको	**परमम्**	= परम
उक्तः	= कहा गया है (तथा उसीको)	**प्राप्य**	= प्राप्त होनेपर (जीव)	**धाम**	= धाम है।

व्याख्या—**'अव्यक्तोऽक्षर'''तद्धाम परमं मम'**—भगवान्‌ने सातवें अध्यायके अट्ठाईसवें, उनतीसवें और तीसवें श्लोकमें जिसको **'माम्',** कहा है तथा आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'अक्षरं ब्रह्म'**, चौथे श्लोकमें **'अधियज्ञः'**, पाँचवें और सातवें श्लोकमें **'माम्'**,आठवें श्लोकमें **'परमं पुरुषं दिव्यम्',** नवें श्लोकमें **'कविं पुराणमनुशासितारम्'** आदि, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोकमें **'माम्'**, बीसवें श्लोकमें **'अव्यक्तः'** और **'सनातनः'** कहा है, उन सबकी एकता करते हुए भगवान् कहते हैं कि उसीको अव्यक्त और अक्षर कहते हैं तथा उसीको परमगति अर्थात् सर्वश्रेष्ठ गति कहते हैं; और जिसको प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर नहीं आते, वह मेरा परमधाम है अर्थात् मेरा सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। इस प्रकार जिस प्रापणीय वस्तुको अनेक रूपोंमें कहा गया है, उसकी यहाँ एकता की गयी है। ऐसे ही चौदहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी 'ब्रह्म, अविनाशी अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ' ऐसा कहकर भगवान्‌ने प्रापणीय वस्तुकी एकता की है।

लोगोंकी ऐसी धारणा रहती है कि सगुण-उपासनाका फल दूसरा है और निर्गुण-उपासनाका फल दूसरा है। इस धारणाको दूर करनेके लिये इस श्लोकमें सबकी एकताका वर्णन किया गया है। मनुष्योंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार उपासनाके भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं, पर उनके अन्तिम फलमें कोई फरक नहीं होता। सबका प्रापणीय तत्त्व एक ही होता है। जैसे भोजनके प्राप्त न होनेपर अभावकी और प्राप्त होनेपर तृप्तिकी एकता होनेपर भी भोजनके पदार्थोंमें भिन्नता रहती है, ऐसे ही परमात्माके प्राप्त न होनेपर अभावकी और प्राप्त होनेपर पूर्णताकी एकता होनेपर भी उपासनाओंमें भिन्नता रहती है। तात्पर्य यह हुआ कि उस परमात्माको चाहे सगुण-निराकार मानकर उपासना करें, चाहे निर्गुण-निराकार मानकर उपासना करें और चाहे सगुण-साकार मानकर उपासना करें, अन्तमें सबको एक ही परमात्माकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मलोक आदि जितने भी लोक हैं, वे सभी पुनरावर्ती हैं अर्थात् वहाँ गये हुए प्राणियोंको फिर लौटकर जन्म-मरणके चक्करमें आना पड़ता है; क्योंकि वे सभी लोक प्रकृतिके राज्यमें हैं और विनाशी हैं। परन्तु भगवद्धाम प्रकृतिसे परे और अविनाशी है। वहाँ गये हुए प्राणियोंको गुणोंके परवश होकर लौटना नहीं पड़ता, जन्म लेना नहीं पड़ता। हाँ, भगवान् जैसे स्वेच्छासे अवतार लेते हैं, ऐसे ही वे भगवान्‌की इच्छासे लोगोंके उद्धारके लिये कारक पुरुषोंके रूपमें इस भूमण्डलपर आ सकते हैं।

परिशिष्ट भाव—अव्यक्त, अक्षर आदि नामोंकी पहुँच उस प्रापणीय तत्त्वतक नहीं है। कारण कि वह अव्यक्त-व्यक्त, अक्षर- क्षर, गति-स्थिति दोनोंसे रहित निरपेक्ष तत्त्व है। उसको प्राप्त होनेपर जीव लौटकर नहीं आता; क्योंकि उसकी अवधि नहीं है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन अर्जुन!	**येन**	= जिससे	**परः**	= परम
भूतानि	= सम्पूर्ण प्राणी	**इदम्**	= यह	**पुरुषः**	= पुरुष परमात्मा
यस्य	= जिसके	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण संसार	**तु**	= तो
अन्तःस्थानि	= अन्तर्गत हैं (और)	**ततम्**	= व्याप्त है,	**अनन्यया, भक्त्या**	= अनन्य भक्तिसे
		सः	= वह	**लभ्यः**	= प्राप्त होनेयोग्य है।

व्याख्या—‘**यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्**’—सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान्ने निषेधरूपसे कहा कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं, पर मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं। यहाँ भगवान् विधिरूपसे कहते हैं कि परमात्माके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं और परमात्मा सम्पूर्ण संसारमें परिपूर्ण हैं। इसीको भगवान्ने नवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकमें विधि और निषेध—दोनों रूपोंसे कहा है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरे सिवाय किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सब मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं; मेरेमें ही स्थित रहते हैं और मेरेमें ही लीन होते हैं, अतः सब कुछ मैं ही हुआ।

वे परमात्मा सर्वोपरि होनेपर भी सबमें व्याप्त हैं अर्थात् वे परमात्मा सब जगह हैं; सब समयमें हैं; सम्पूर्ण वस्तुओंमें हैं, सम्पूर्ण क्रियाओंमें हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंमें हैं। जैसे सोनेसे बने हुए गहनोंमें पहले भी सोना ही था, गहनारूप बननेपर भी सोना ही रहा और गहनोंके नष्ट होनेपर भी सोना ही रहेगा। परन्तु सोनेसे बने गहनोंके नाम, रूप, आकृति, उपयोग, तौल, मूल्य आदिपर दृष्टि रहनेसे सोनेकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। ऐसे ही संसारके पहले भी परमात्मा थे, संसाररूपसे भी परमात्मा ही हैं और संसारका अन्त होनेपर भी परमात्मा ही रहेंगे। परन्तु संसारको पांचभौतिक, ऊँच-नीच, बड़ा-छोटा, अनुकूल-प्रतिकूल आदि मान लेनेसे परमात्माकी तरफ दृष्टि नहीं जाती।

‘**पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया**’—पूर्वश्लोकमें जिसको अव्यक्त, अक्षर, परमगति आदि नामोंसे कहा गया है, उसीको यहाँ ‘**पुरुषः स परः**’ कहा गया है। ऐसा वह परम पुरुष परमात्मा अनन्यभक्तिसे प्राप्त होता है।

परमात्माके सिवाय प्रकृतिका यावन्मात्र कार्य ‘अन्य’ कहा जाता है। जो उस ‘अन्य’ की स्वतन्त्र सत्ता मानकर उसको आदर देता है, महत्त्व देता है, उसकी अनन्य भक्ति नहीं है। इससे परमात्माकी प्राप्तिमें देरी लगती है। अगर वह परमात्माके सिवाय किसीकी भी सत्ता और महत्ता न माने तथा भगवान्के नाते, भगवान्की प्रसन्नताके लिये प्रत्येक क्रिया करे, तो यह उसकी अनन्यभक्ति है। इसी अनन्य-भक्तिसे वह परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

परमात्माके सिवाय किसीकी भी सत्ता और महत्ता न माने—यह बात भी प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारको सत्ता देकर ही कही जाती है। कारण कि मनुष्यके हृदयमें ‘एक परमात्मा है और एक संसार है’—यह बात जँची हुई है। वास्तवमें तो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिके रूपमें एक परमात्मतत्त्व ही है। जैसे बर्फ, ओला, बादल, बूँदें, कोहरा, ओस, नदी, तालाब, समुद्र आदिके रूपमें एक जल ही है, ऐसे ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण-रूपसे जो कुछ संसार दीखता है, वह सब केवल परमात्म-तत्त्व ही है। भक्तकी मान्यतामें एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ रहता ही नहीं, इसलिये उसकी खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जगना आदि सभी क्रियाएँ केवल उस परमात्माकी पूजाके रूपमें ही होती हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक)।

विशेष बात

आप अन्तकालमें कैसे जाननेमें आते हैं? (८। २)—यह अर्जुनका प्रश्न बड़ा ही भावपूर्ण मालूम देता है। कारण कि भगवान्को सामने देखते हुए भी अर्जुनमें भगवान्की विलक्षणताको जाननेकी उत्कण्ठा पैदा हो गयी। उत्तरमें भगवान्ने अन्तकालमें अपने चिन्तनकी और सामान्य कानूनकी बात बताकर अर्जुनको सब समयमें भगवच्चिन्तन करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद आठवें श्लोकसे सोलहवें श्लोकतक सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारकी प्राप्तिके लिये क्रमशः तीन-तीन श्लोक कहे। उनमें भी सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारकी प्राप्तिमें (प्राणोंको रोकनेकी बात साथमें होनेसे) कठिनता बतायी; और सगुण-साकारकी उपासनामें भगवान्का आश्रय लेकर उनका चिन्तन करनेकी बात होनेसे सगुण-साकारकी प्राप्तिमें बहुत सुगमता बतायी।

सोलहवें श्लोकके बाद सगुण-साकार स्वरूपकी विशेष महिमा बतानेके लिये भगवान्ने छः श्लोक कहे। उनमें भी पहलेके तीन श्लोकोंमें ब्रह्माजीकी और उनके ब्रह्मलोककी अवधि बतायी और आगेके तीन श्लोकोंमें ब्रह्माजी और उनके ब्रह्मलोकसे अपनी और अपने लोककी विलक्षणता बतायी। तात्पर्य है कि ब्रह्माजीके सूक्ष्म-शरीर (प्रकृति)-से भी मेरा स्वरूप विलक्षण है। उपासनाओंकी जितनी गतियाँ हैं, वे सब मेरे स्वरूपके अन्तर्गत आ जाती हैं। ऐसा वह मेरा सर्वोपरि स्वरूप केवल मेरे परायण होनेसे अर्थात् अनन्यभक्तिसे प्राप्त हो जाता है। मेरा स्वरूप प्राप्त होनेपर

फिर साधकको न तो अन्य स्वरूपोंकी तरफ वृत्ति जाती है और न उनकी आवश्यकता ही रहती है। उसकी वृत्ति केवल मेरे स्वरूपकी तरफ ही रहती है।

इस प्रकार ब्रह्माजीके लोकसे मेरा लोक विलक्षण है, ब्रह्माजीके स्वरूपसे मेरा स्वरूप विलक्षण है और ब्रह्मलोककी गतिसे मेरे लोक-(धाम-) की गति विलक्षण है। तात्पर्य है कि सब प्राणियोंका अन्तिम ध्येय मैं ही हूँ और सब मेरे ही अन्तर्गत हैं।

परिशिष्ट भाव—भक्तिको 'अनन्य' कहनेका तात्पर्य है कि भक्तिके साथ थोड़ा भी जड़ताका अंश, अहम्का संस्कार, अपने मतका संस्कार न रहे अर्थात् किसी भी तरफ किंचिन्मात्र भी खिंचाव न रहे। सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करना अनन्यभक्ति है।

सुखकी वासना तो एक ही है, पर सुख-सामग्रीकी तारतम्यता अनेक लोकोंमें है। ब्रह्मलोकतकका सुख भी आकृष्ट न करे, यहाँतक कि अपनी स्वाधीनता-(मुक्ति-) का सुख भी सन्तुष्ट न कर सके, तब भक्ति प्राप्त होती है।

सातवें अध्यायमें भगवान्ने कहा था—'**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति**' (७। ७), उसी बातको यहाँ '**यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्**' पदोंसे कहा है। इसीको आगे नवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें विस्तारसे कहेंगे। इन सबका तात्पर्य है कि एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

सम्बन्ध—सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि ब्रह्मलोकतकको प्राप्त होनेवाले लौटकर आते हैं और मेरेको प्राप्त होनेवाले लौटकर नहीं आते। परंतु किस मार्गसे जानेवाले लौटकर नहीं आते और किस मार्गसे जानेवाले लौटकर आते हैं? यह बताना बाकी रह गया। अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् आगेके श्लोकमें उपक्रम करते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

तु	= परन्तु	**योगिनः**	= योगी		होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं,
भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**अनावृत्तिम्**	= अनावृत्तिको	**तम्**	= उस
यत्र	= जिस	**यान्ति**	= प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते	**कालम्**	= कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको
काले	= काल अर्थात् मार्गमें	**च, एव**	= और (जिस मार्गमें गये हुए)	**वक्ष्यामि**	= मैं कहूँगा।
प्रयाता	= शरीर छोड़कर गये हुए	**आवृत्तिम्**	= आवृत्तिको प्राप्त		

व्याख्या—[जीवित अवस्थामें ही बन्धनसे छूटनेको 'सद्योमुक्ति' कहते हैं अर्थात् जिनको यहाँ ही भगवत्प्राप्ति हो गयी, भगवान्में अनन्यभक्ति हो गयी, अनन्यप्रेम हो गया, वे यहाँ ही परम संसिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं। दूसरे जो साधक किसी सूक्ष्म वासनाके कारण ब्रह्मलोकमें जाकर क्रमशः ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं, उनकी मुक्तिको 'क्रममुक्ति' कहते हैं। जो केवल सुख भोगनेके लिये ब्रह्मलोक आदि लोकोंमें जाते हैं, वे फिर लौटकर आते हैं। इसको 'पुनरावृत्ति' कहते हैं। सद्योमुक्तिका वर्णन तो पंद्रहवें श्लोकमें हो गया, पर क्रममुक्ति और पुनरावृत्तिका वर्णन करना बाकी रह गया। अतः इन दोनोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं।]

'**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृतिं .... वक्ष्यामि भरतर्षभ**'—पीछे छूटे हुए विषयका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ '**तु**' अव्ययका प्रयोग किया गया है।

ऊर्ध्वगतिवालोंको कालाभिमानी देवता जिस मार्गसे ले जाता है, उस मार्गका वाचक यहाँ 'काल' शब्द लेना चाहिये; क्योंकि आगे छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोकमें इसी 'काल' शब्दको मार्गके पर्यायवाची 'गति' और 'सृति' शब्दोंसे कहा गया है।

'**अनावृत्तिमावृत्तिम्**' कहनेका तात्पर्य है कि अनावृत ज्ञानवाले पुरुष ही अनावृत्तिमें जाते हैं और आवृत ज्ञानवाले पुरुष ही आवृत्तिमें जाते हैं। जो सांसारिक पदार्थों और भोगोंसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो गये हैं, वे

अनावृत ज्ञानवाले हैं अर्थात् उनका ज्ञान (विवेक) ढका हुआ नहीं है, प्रत्युत जाग्रत् है। इसलिये वे अनावृत्तिके मार्गमें जाते हैं, जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता। निष्कामभाव होनेसे उनके मार्गमें प्रकाश अर्थात् विवेककी मुख्यता रहती है।

सांसारिक पदार्थों और भोगोंमें आसक्ति, कामना और ममता रखनेवाले जो पुरुष अपने स्वरूपसे तथा परमात्मासे विमुख हो गये हैं, वे आवृत ज्ञानवाले हैं अर्थात् उनका ज्ञान (विवेक) ढका हुआ है। इसलिये वे आवृत्तिके मार्गमें जाते हैं, जहाँसे फिर लौटकर जन्म-मरणके चक्रमें आना पड़ता है। सकामभाव होनेसे उनके मार्गमें अन्धकार अर्थात् अविवेककी मुख्यता रहती है।

जिनका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य है, पर भीतरमें आंशिक वासना रहनेसे जो अन्तकालमें विचलितमना होकर पुण्यकारी लोकों-(भोग-भूमियों-) को प्राप्त करके फिर वहाँसे लौटकर आते हैं, ऐसे योगभ्रष्टोंको भी आवृत्तिवालोंके मार्गके अन्तर्गत लेनेके लिये यहाँ **'चैव'** पद आया है।

यहाँ **'योगिनः'** पद निष्काम और सकाम—दोनों पुरुषोंके लिये आया है।

परिशिष्ट भाव—जो परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखता है, उसको पीछे लौटकर आना पड़ता है। परन्तु जो परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ सम्बन्ध नहीं रखता, उसको पीछे लौटकर नहीं आना पड़ता।

सम्बन्ध—अब उन दोनोंमेंसे पहले शुक्लमार्गका अर्थात् लौटकर न आनेवालोंके मार्गका वर्णन करते हैं।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

जिस मार्गमें—

ज्योतिः = प्रकाशस्वरूप
अग्निः = अग्निका अधिपति देवता,
अहः = दिनका अधिपति देवता,
शुक्लः = शुक्लपक्षका अधिपति देवता,
षण्मासाः = (और) छः महीनोंवाले
उत्तरायणम् = उत्तरायणका अधिपति देवता है,
तत्र = उस मार्गसे
प्रयाताः = (शरीर छोड़कर) गये हुए
ब्रह्मविदः = ब्रह्मवेत्ता
जनाः = पुरुष (पहले ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर पीछे ब्रह्माके साथ)
ब्रह्म = ब्रह्मको
गच्छन्ति = प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—**'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्'**—इस भूमण्डलपर शुक्लमार्गमें सबसे पहले अग्नि देवताका अधिकार रहता है। अग्नि रात्रिमें प्रकाश करती है, दिनमें नहीं; क्योंकि दिनके प्रकाशकी अपेक्षा अग्निका प्रकाश सीमित है। अतः अग्निका प्रकाश थोड़ी दूरतक (थोड़े देशमें) तथा थोड़े समयतक रहता है; और दिनका प्रकाश बहुत दूरतक तथा बहुत समयतक रहता है।

शुक्लपक्ष पंद्रह दिनोंका होता है, जो कि पितरोंकी एक रात है। इस शुक्लपक्षका प्रकाश आकाशमें बहुत दूरतक और बहुत दिनोंतक रहता है। इसी तरहसे जब सूर्यभगवान् उत्तरकी तरफ चलते हैं, तब उसको उत्तरायण कहते हैं, जिसमें दिनका समय बढ़ता है। वह उत्तरायण छः महीनोंका होता है, जो कि देवताओंका एक दिन है। उस उत्तरायणका प्रकाश बहुत दूरतक और बहुत समयतक रहता है।

'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः'— जो शुक्लमार्गमें अर्थात् प्रकाशकी बहुलतावाले मार्गमें जानेवाले हैं, वे सबसे पहले ज्योतिःस्वरूप अग्नि देवताके अधिकारमें आते हैं। जहाँतक अग्नि देवताका अधिकार है, वहाँसे पार कराकर अग्नि देवता उन जीवोंको दिनके देवताको सौंप देता है। दिनका देवता उन जीवोंको अपने अधिकारतक ले जाकर शुक्लपक्षके अधिपति देवताके समर्पित कर देता है। वह शुक्लपक्षका अधिपति देवता अपनी सीमाको पार कराकर उन जीवोंको उत्तरायणके अधिपति देवताके सुपुर्द कर देता है। फिर वह उत्तरायणका अधिपति देवता उनको ब्रह्मलोकके अधिकारी देवताके समर्पित कर देता है। इस प्रकार वे क्रमपूर्वक ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं। ब्रह्माजीकी आयुतक वे वहाँ रहकर महाप्रलयमें ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त हो जाते

हैं—सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ '**ब्रह्मविदः**' पद परमात्माको परोक्षरूपसे जाननेवाले मनुष्योंका वाचक है, अपरोक्षरूपसे अनुभव करनेवाले ब्रह्मज्ञानियोंका नहीं। कारण कि अगर वे अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानी होते, तो यहाँ ही मुक्त (सद्योमुक्त या जीवन्मुक्त) हो जाते और उनको ब्रह्मलोकमें जाना नहीं पड़ता।

परिशिष्ट भाव—पहले साधनावस्थामें जिनके भीतर ब्रह्मलोककी वासना अथवा अपने मतका आग्रह रहा है, वे क्रममुक्तिसे पहले ब्रह्मलोकमें जाते हैं और फिर महाप्रलय आनेपर ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

(कूर्मपुराण, पूर्व० ११। २८४)

'ब्रह्माकी आयु पूर्ण होनेपर जब महाप्रलयकाल उपस्थित होता है, तब वे सम्पूर्ण शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष ब्रह्माके साथ ही परमपदमें प्रविष्ट हो जाते हैं।'

क्रममुक्तिमें ब्रह्मलोक मार्गमें आनेवाले एक स्टेशनकी तरह है, जहाँ सुखकी वासनावाले पुरुष उतरते हैं। परन्तु जिनमें सुखकी वासना नहीं है, वे वहाँ नहीं उतरते; जैसे—हमारा कोई प्रयोजन न हो तो मार्गमें स्टेशन आये या जंगल, क्या फर्क पड़ता है!

उपनिषदोंमें शुक्लमार्गके क्रमका अलग-अलग ढंगसे वर्णन आता है; जैसे—

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—अर्चिका देवता, दिनका देवता, शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका देवता, संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् और फिर अमानव पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोकमें (ब्रह्माके पास) ले जाना (४। १५। ५; ५। १०। १-२)।

बृहदारण्यकोपनिषद्के अनुसार—ज्योतिका देवता, दिनका देवता, शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका देवता, देवलोक, आदित्य, विद्युत् (वैद्युत देव) और फिर मानस पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोककी प्राप्ति (६। २। १५)।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्के अनुसार—अग्निलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक (१। ३)।

ब्रह्मसूत्र (४। ३। २-३)-में भी इसपर विचार किया गया है।

शुक्लमार्गको उपनिषदोंमें देवयान, अर्चिमार्ग, उत्तरमार्ग, देवपथ और ब्रह्मपथ नामसे भी कहा गया है।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें कृष्णमार्गका अर्थात् लौटकर आनेवालोंके मार्गका वर्णन करते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

जिस मार्गमें—

धूमः	= धूमका अधिपति देवता,	**षण्मासाः**	= छः महीनोंवाले	**चान्द्रमसम्**	= चन्द्रमाकी
रात्रिः	= रात्रिका अधिपति देवता,	**दक्षिणायनम्**	= दक्षिणायनका अधिपति देवता है,	**ज्योतिः**	= ज्योतिको
कृष्णः	= कृष्णपक्षका अधिपति देवता	**तत्र**	= (शरीर छोड़कर) उस मार्गसे गया हुआ	**प्राप्य**	= प्राप्त होकर
तथा	= और	**योगी**	= योगी (सकाम मनुष्य)	**निवर्तते**	= लौट आता है अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होता है।

व्याख्या—'**धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः ''''''' प्राप्य निवर्तते**'—देश और कालकी दृष्टिसे जितना अधिकार अग्नि अर्थात् प्रकाशके देवताका है, उतना ही अधिकार धूम अर्थात् अन्धकारके देवताका है। वह धूमाधिपति देवता कृष्णमार्गसे जानेवाले जीवोंको अपनी सीमासे पार कराकर रात्रिके अधिपति देवताके अधीन कर देता है। रात्रिका

अधिपति देवता उस जीवको अपनी सीमासे पार कराकर देश-कालको लेकर बहुत दूरतक अधिकार रखनेवाले कृष्णपक्षके अधिपति देवताके अधीन कर देता है। वह देवता उस जीवको अपनी सीमासे पार कराकर देश और कालकी दृष्टिसे बहुत दूरतक अधिकार रखनेवाले दक्षिणायनके अधिपति देवताके समर्पित कर देता है। वह देवता उस जीवको चन्द्रलोकके अधिपति देवताको सौंप देता है। इस प्रकार कृष्णमार्गसे जानेवाला वह जीव धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके देशको पार करता हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको अर्थात् जहाँ अमृतका पान होता है, ऐसे स्वर्गादि दिव्य लोकोंको प्राप्त हो जाता है। फिर अपने पुण्योंके अनुसार न्यूनाधिक समयतक वहाँ रहकर अर्थात् भोग भोगकर पीछे लौट आता है।

यहाँ एक ध्यान देनेकी बात है कि यह जो चन्द्रमण्डल दीखता है, यह चन्द्रलोक नहीं है। कारण कि यह चन्द्रमण्डल तो पृथ्वीके बहुत नजदीक है, जब कि चन्द्रलोक सूर्यसे भी बहुत ऊँचा है। उसी चन्द्रलोकसे अमृत इस चन्द्रमण्डलमें आता है, जिससे शुक्लपक्षमें ओषधियाँ पुष्ट होती हैं।

अब एक समझनेकी बात है कि यहाँ जिस कृष्णमार्गका वर्णन है, वह शुक्लमार्गकी अपेक्षा कृष्णमार्ग है। वास्तवमें तो यह मार्ग ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें जानेका है। सामान्य मनुष्य मरकर मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं, जो पापी होते हैं, वे आसुरी योनियोंमें जाते हैं और उनसे भी जो अधिक पापी होते हैं, वे नरकके कुण्डोंमें जाते हैं—इन सब मनुष्योंसे कृष्णमार्गसे जानेवाले बहुत श्रेष्ठ हैं। वे चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं—ऐसा कहनेका यही तात्पर्य है कि संसारमें जन्म-मरणके जितने मार्ग हैं, उन सब मार्गोंसे यह कृष्णमार्ग (ऊर्ध्वगतिका होनेसे) श्रेष्ठ है और उनकी अपेक्षा प्रकाशमय है।

कृष्णमार्गसे लौटते समय वह जीव पहले आकाशमें आता है। फिर वायुके अधीन होकर बादलोंमें आता है और बादलोंमेंसे वर्षाके द्वारा भूमण्डलपर आकर अन्नमें प्रवेश करता है। फिर कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली योनिके पुरुषोंमें अन्नके द्वारा प्रवेश करता है और पुरुषसे स्त्री-जातिमें जाकर शरीर धारण करके जन्म लेता है। इस प्रकार वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है।

यहाँ सकाम मनुष्योंको भी 'योगी' क्यों कहा गया है? इसके अनेक कारण हो सकते हैं; जैसे—

(१) गीतामें भगवान्ने मरनेवाले प्राणियोंकी तीन गतियाँ बतायी हैं—ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। इनमेंसे ऊर्ध्वगतिका वर्णन इस प्रकरणमें हुआ है। मध्यगति और अधोगतिसे ऊर्ध्वगति श्रेष्ठ होनेके कारण यहाँ सकाम मनुष्योंको भी योगी कहा गया है।

(२) जो केवल भोग भोगनेके लिये ही ऊँचे लोकोंमें जाता है, उसने संयमपूर्वक इस लोकके भोगोंका त्याग किया है। इस त्यागसे उसकी यहाँके भोगोंके मिलने और न मिलनेमें समता हो गयी है। इस आंशिक समताको लेकर ही उसको यहाँ योगी कहा गया है।

(३) जिनका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका है, पर अन्तकालमें किसी सूक्ष्म भोग-वासनाके कारण वे योगसे विचलितमना हो जाते हैं, तो वे ब्रह्मलोक आदि ऊँचे लोकोंमें जाते हैं और वहाँ बहुत समयतक रहकर पीछे यहाँ भूमण्डलपर आकर शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं। ऐसे योगभ्रष्ट मनुष्योंका भी जानेका यही मार्ग (कृष्णमार्ग) होनेसे यहाँ सकाम मनुष्यको भी योगी कह दिया है।

भगवान्ने पीछेके (चौबीसवें) श्लोकमें ब्रह्मको प्राप्त होनेवालोंके लिये '**ब्रह्मविदो जनाः**' कहकर बहुवचनका प्रयोग किया है और यहाँ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होनेवालोंके लिये '**योगी**' कहकर एकवचनका प्रयोग किया है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि सभी मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हैं और परमात्माकी प्राप्ति सुगम है। कारण कि परमात्मा सबको स्वतः प्राप्त हैं। स्वतःप्राप्त तत्त्वका अनुभव बड़ा सुगम है। इसमें करना कुछ नहीं पड़ता। इसलिये बहुवचनका प्रयोग किया गया है। परन्तु स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये विशेष क्रिया करनी पड़ती है, पदार्थोंका संग्रह करना पड़ता है, विधि-विधानका पालन करना पड़ता है। इस प्रकार स्वर्गादिको प्राप्त करनेमें भी कठिनता है तथा प्राप्त करनेके बाद पीछे लौटकर भी आना पड़ता है। इसलिये यहाँ एकवचन दिया गया है।

विशेष बात

(१)

जिनका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका है; परन्तु सुखभोगकी सूक्ष्म वासना सर्वथा नहीं मिटी है, वे शरीर छोड़कर ब्रह्मलोकमें जाते हैं। ब्रह्मलोकके भोग भोगनेपर उनकी वह

वासना मिट जाती है तो वे मुक्त हो जाते हैं। इनका वर्णन यहाँ चौबीसवें श्लोकमें हुआ है।

जिनका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका ही है और जिनमें न यहाँके भोगोंकी वासना है तथा न ब्रह्मलोकके भोगोंकी; परन्तु जो अन्तकालमें निर्गुणके ध्यानसे विचलित हो गये हैं, वे ब्रह्मलोक आदि लोकोंमें नहीं जाते। वे तो सीधे ही योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं अर्थात् जहाँ पूर्वजन्मकृत ध्यानरूप साधन ठीक तरहसे हो सके, ऐसे योगियोंके कुलमें उनका जन्म होता है। वहाँ वे साधन करके मुक्त हो जाते हैं (गीता—छठे अध्यायका बयालीसवाँ-तैंतालीसवाँ श्लोक)।

—उपर्युक्त दोनों साधकोंका उद्देश्य तो एक ही रहा है, पर वासनामें अन्तर रहनेसे एक तो ब्रह्मलोकमें जाकर मुक्त होते हैं और एक सीधे ही योगियोंके कुलमें उत्पन्न होकर साधन करके मुक्त होते हैं।

जिनका उद्देश्य ही स्वर्गादि ऊँचे-ऊँचे लोकोंके सुख भोगनेका है, वे यज्ञ आदि शुभ-कर्म करके ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें जाते हैं और वहाँके दिव्य भोग भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पीछे लौटकर आ जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं (गीता—सातवें अध्यायके बीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक, आठवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक और नवें अध्यायका बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक)।

जिसका उद्देश्य तो परमात्मप्राप्तिका ही रहा है; पर सांसारिक सुखभोगकी वासनाको वह मिटा नहीं सका। इसलिये अन्तकालमें योगसे विचलित होकर वह स्वर्गादि लोकोंमें जाकर वहाँके भोग भोगता है और फिर लौटकर शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। वहाँ वह जबर्दस्ती पूर्वजन्मकृत साधनमें लग जाता है और मुक्त हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका इकतालीसवाँ, चौवालीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक)।

—उपर्युक्त दोनों साधकोंमें एकका तो उद्देश्य ही स्वर्गके सुखभोगका है, इसलिये वह पुण्यकर्मोंके अनुसार वहाँके भोग भोगकर पीछे लौटकर आता है। परन्तु जिसका उद्देश्य परमात्माका है और वह विचारद्वारा सांसारिक भोगोंका त्याग भी करता है, फिर भी वासना नहीं मिटी, तो अन्तमें भोगोंकी याद आनेसे वह स्वर्गादि लोकोंमें जाता है। उसने जो सांसारिक भोगोंका त्याग किया है, उसका बड़ा भारी माहात्म्य है। इसलिये वह उन लोकोंमें बहुत समयतक भोग भोगकर यहाँ श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

(२)

सामान्य मनुष्योंकी यह धारणा है कि जो दिनमें, शुक्लपक्षमें और उत्तरायणमें मरते हैं, वे तो मुक्त हो जाते हैं, पर जो रातमें, कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनमें मरते हैं, उनकी मुक्ति नहीं होती। यह धारणा ठीक नहीं है। कारण कि यहाँ जो शुक्लमार्ग और कृष्णमार्गका वर्णन हुआ है, वह ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करनेवालोंके लिये ही हुआ है। इसलिये अगर ऐसा ही मान लिया जाय कि दिन आदिमें मरनेवाले मुक्त होते हैं और रात आदिमें मरनेवाले मुक्त नहीं होते, तो फिर अधोगतिवाले कब मरेंगे? क्योंकि दिन-रात, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष और उत्तरायण-दक्षिणायनको छोड़कर दूसरा कोई समय ही नहीं है। वास्तवमें मरनेवाले अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही ऊँच-नीच गतियोंमें जाते हैं, वे चाहे दिनमें मरें, चाहे रातमें; चाहे शुक्लपक्षमें मरें, चाहे कृष्णपक्षमें; चाहे उत्तरायणमें मरें, चाहे दक्षिणायनमें—इसका कोई नियम नहीं है।

जो भगवद्भक्त हैं, जो केवल भगवान्‌के ही परायण हैं, जिनके मनमें भगवद्दर्शनकी ही लालसा है, ऐसे भक्त दिनमें या रातमें, शुक्लपक्षमें या कृष्णपक्षमें, उत्तरायणमें या दक्षिणायनमें, जब कभी शरीर छोड़ते हैं, तो उनको लेनेके लिये भगवान्‌के पार्षद आते हैं। पार्षदोंके साथ वे सीधे भगवद्धाममें पहुँच जाते हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि जब मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार ही गति पाता है, तो फिर भीष्मजीने, जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष थे, दक्षिणायनमें शरीर न छोड़कर उत्तरायणकी प्रतीक्षा क्यों की?

इसका समाधान यह है कि भीष्मजी भगवद्धाम नहीं गये थे। वे 'द्यौ' नामक वसु (आजान देवता) थे, जो शापके कारण मृत्युलोकमें आये थे। अतः उन्हें देवलोकमें जाना था। दक्षिणायनके समय देवलोकमें रात रहती है और उसके दरवाजे बंद रहते हैं। अगर भीष्मजी दक्षिणायनके समय शरीर छोड़ते, तो उन्हें अपने लोकमें प्रवेश करनेके लिये बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ती। वे इच्छामृत्यु तो थे ही; अतः उन्होंने सोचा कि वहाँ प्रतीक्षा करनेकी अपेक्षा यहीं प्रतीक्षा करनी ठीक है; क्योंकि यहाँ तो भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होते रहेंगे और सत्संग भी होता रहेगा, जिससे सभीका हित होगा, वहाँ अकेले पड़े रहकर क्या करेंगे? ऐसा सोचकर उन्होंने अपना शरीर दक्षिणायनमें न छोड़कर उत्तरायणमें ही छोड़ा।

परिशिष्ट भाव—निष्कामभाव प्रकाश है और सकामभाव अँधेरा है।

उपनिषदोंमें कृष्णमार्गके क्रमका अलग-अलग प्रकारसे वर्णन आता है; जैसे—

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—धूमका देवता, रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका देवता, पितृलोक, आकाश, चन्द्रमा (सोम) और फिर पुनरागमनको प्राप्त होना (५। ४०। ३-४)।

बृहदारण्यकोपनिषद्के अनुसार—धूमका देवता, रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका देवता, पितृलोक, चन्द्रमा और फिर पुनरागमनकी प्राप्ति (६। २। १६)।

कृष्णमार्गको उपनिषदोंमें पितृयान, धूममार्ग और दक्षिणमार्ग नामसे भी कहा गया है।

सम्बन्ध—तेईसवें श्लोकसे शुक्ल और कृष्ण-गतिका जो प्रकरण आरम्भ किया था, उसका आगेके श्लोकमें उपसंहार करते हैं।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

हि	= क्योंकि	**जगतः**	= जगत्-(प्राणिमात्र-) के साथ (सम्बन्ध रखनेवाली)	**अनावृत्तिम्, याति**	= जानेवालेको लौटना नहीं पड़ता (और)
शुक्लकृष्णे	= शुक्ल और कृष्ण—			**अन्यया**	= दूसरी गतिमें जानेवालेको
एते	= ये दोनों				
गती	= गतियाँ	**मते**	= मानी गयी हैं।		
शाश्वते	= अनादिकालसे	**एकया**	= (इनमेंसे) एक गतिमें	**पुनः,आवर्तते**	= पुनः लौटना पड़ता है।

व्याख्या—‘**शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते**’—शुक्ल और कृष्ण—इन दोनों मार्गोंका सम्बन्ध जगत्के सभी चर-अचर प्राणियोंके साथ है। तात्पर्य है कि ऊर्ध्वगतिके साथ मनुष्यका तो साक्षात् सम्बन्ध है और चर-अचर प्राणियोंका परम्परासे सम्बन्ध है। कारण कि चर-अचर प्राणी क्रमसे अथवा भगवत्कृपासे कभी-न-कभी मनुष्य-जन्ममें आते ही हैं और मनुष्यजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही उर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति होती है। अब वे ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करें अथवा न करें, पर उन सबका सम्बन्ध ऊर्ध्वगति अर्थात् शुक्ल और कृष्ण-गतिके साथ है ही।

जबतक मनुष्योंके भीतर असत् (विनाशी) वस्तुओंका आदर है, कामना है, तबतक वे कितनी ही ऊँची भोग-भूमियोंमें क्यों न चले जायँ, पर असत् वस्तुका महत्त्व रहनेसे उनकी कभी भी अधोगति हो सकती है। इसी तरह परमात्माके अंश होनेसे उनकी कभी भी ऊर्ध्वगति हो सकती है। इसलिये साधकको हरदम सजग रहना चाहिये और अपने अन्तःकरणमें विनाशी वस्तुओंको महत्त्व नहीं देना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मप्राप्तिके लिये किसी भी लोकमें, योनिमें कोई बाधा नहीं है। इसका कारण यह है कि परमात्माके साथ किसी भी प्राणीका कभी सम्बन्ध-विच्छेद होता ही नहीं। अतः न जाने कब और किस योनिमें वह परमात्माकी तरफ चल दे—इस दृष्टिसे साधकको किसी भी प्राणीको घृणाकी दृष्टिसे देखनेका अधिकार नहीं है।

चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्ने ‘योग’को अव्यय कहा है। जैसे योग अव्यय है, ऐसे ही ये शुक्ल और कृष्ण—दोनों गतियाँ भी अव्यय, शाश्वत हैं अर्थात् ये दोनों गतियाँ निरन्तर रहनेवाली हैं, अनादिकालसे हैं और जगत्के लिये अनन्तकालतक चलती रहेंगी।

‘**एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः**’—एक मार्गसे अर्थात् शुक्लमार्गसे गये हुए साधनपरायण साधक अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त हो जाते हैं, बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें नहीं आते; और दूसरे मार्गसे अर्थात् कृष्णमार्गसे गये हुए मनुष्य बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें आते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् दोनों मार्गोंको जाननेका माहात्म्य बतानेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**योगी**	= योगी	**सर्वेषु**	= सब
एते	= इन दोनों	**न, मुह्यति**	= मोहित नहीं होता।	**कालेषु**	= समयमें
सृती	= मार्गोंको			**योगयुक्तः**	= योगयुक्त (समतामें स्थित)
जानन्	= जाननेवाला	**तस्मात्**	= अतः		
कश्चन	= कोई भी	**अर्जुन**	= हे अर्जुन! (तू)	**भव**	= हो जा।

व्याख्या—**'नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन'**—शुक्लमार्ग प्रकाशमय है और कृष्णमार्ग अन्धकारमय है। जिनके अन्तःकरणमें उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व नहीं है और जिनके उद्‌देश्य, ध्येयमें प्रकाशस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) परमात्मा ही हैं, ऐसे वे परमात्माकी तरफ चलनेवाले साधक शुक्लमार्गी हैं अर्थात् उनका मार्ग प्रकाशमय है। परन्तु जो संसारमें रचे-पचे हैं और जिनका सांसारिक पदार्थोंका संग्रह करना और उनसे सुख भोगना ही ध्येय होता है, ऐसे मनुष्य तो घोर अन्धकारमें हैं ही, पर जो भोग भोगनेके उद्‌देश्यसे यहाँके भोगोंसे संयम करके यज्ञ, तप, दान आदि शास्त्रविहित शुभ कर्म करते हैं और मरनेके बाद स्वर्गादि ऊँची भोग-भूमियोंमें जाते हैं, वे यद्यपि यहाँके भोगोंमें आसक्त मनुष्योंसे ऊँचे उठे हुए हैं, तो भी आने-जानेवाले (जन्म-मरणके) मार्गमें होनेसे वे भी अन्धकारमें ही हैं। तात्पर्य है कि कृष्णमार्गवाले ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें जानेपर भी जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं। कहीं जन्म गये तो मरना बाकी रहता है और मर गये तो जन्मना बाकी रहता है—ऐसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए वे कोल्हूके बैलकी तरह अनन्तकालतक घूमते ही रहते हैं।

—इस तरह शुक्ल और कृष्ण दोनों मार्गोंके परिणामको जाननेवाला मनुष्य योगी अर्थात् निष्काम हो जाता है, भोगी नहीं। कारण कि वह यहाँके और परलोकके भोगोंसे ऊँचा उठ जाता है। इसलिये वह मोहित नहीं होता।

सांसारिक भोगोंके प्राप्त होनेमें और प्राप्त न होनेमें जिसका उद्‌देश्य निर्विकार रहनेका ही होता है, वह योगी कहलाता है।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन'— जिसका ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया है कि मुझे तो केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति ही करनी है, तो फिर कैसे ही देश, काल, परिस्थिति आदिके प्राप्त हो जानेपर भी वह विचलित नहीं होता अर्थात् उसकी जो साधना है, वह किसी देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिके अधीन नहीं होती। उसका लक्ष्य परमात्माकी तरफ अटल रहनेके कारण देश-काल आदिका उसपर कोई असर नहीं पड़ता। अनुकूल-प्रतिकूल देश, काल, परिस्थिति आदिमें उसकी स्वाभाविक समता हो जाती है। इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू सब समयमें अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके प्राप्त होनेपर उनसे प्रभावित न होकर उनका सदुपयोग करते हुए (अनुकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर मात्र संसारकी सेवा करते हुए और प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयसे अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करते हुए) योगयुक्त हो जा अर्थात् नित्य-निरन्तर समतामें स्थित रह।

परिशिष्ट भाव—कामनावाला मनुष्य ही मोहित होता है अर्थात् जन्म-मरणमें जाता है। शुक्ल और कृष्णमार्गको जाननेवाला मनुष्य निष्काम हो जाता है, इसलिये वह जन्म-मरणमें नहीं जाता अर्थात् कृष्णमार्गको प्राप्त नहीं होता।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** और यहाँ कहते हैं— **'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।'** तात्पर्य है कि भगवत्स्मरण करना अर्थात् भगवान्‌में लगना भी 'योग' है और समतामें स्थित होना अर्थात् संसारसे हटना भी 'योग' है। दोनोंका परिणाम एक ही है।

सम्बन्ध—अब भगवान् इस अध्यायमें वर्णित विषयको जाननेकी महिमा बताते हैं।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

योगी	= योगी (भक्त)	**तपःसु**	= तपोंमें	**सर्वम्**	= सभी पुण्यफलोंका
इदम्	= इसको (इस अध्यायमें वर्णित विषयको)	**च, एव**	= तथा	**अत्येति**	= अतिक्रमण कर जाता है
		दानेषु	= दानमें		
		यत्	= जो-जो	**च**	= और
विदित्वा	= जानकर	**पुण्यफलम्**	= पुण्यफल	**आद्यम्, स्थानम्**	= आदिस्थान
वेदेषु	= वेदोंमें,	**प्रदिष्टम्**	= कहे गये हैं,	**परम्**	= परमात्माको
यज्ञेषु	= यज्ञोंमें,	**तत्**	= उन	**उपैति**	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु ············ स्थानमुपैति चाद्यम्'**—यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जितने भी शास्त्रीय उत्तम-से-उत्तम कार्य हैं और उनका जो फल है, वह विनाशी ही होता है। कारण कि जब उत्तम-से-उत्तम कार्यका भी आरम्भ और समाप्ति होती है, तो फिर उस कार्यसे उत्पन्न होनेवाला फल अविनाशी कैसे हो सकता है? वह फल चाहे इस लोकका हो, चाहे स्वर्गादि भोग-भूमियोंका हो, उसकी नश्वरतामें किंचिन्मात्र भी फरक नहीं है। जीव स्वयं परमात्माका अविनाशी अंश होकर भी विनाशी पदार्थोंमें फँसा रहे, तो इसमें उसकी अज्ञता ही मुख्य है। अतः जो मनुष्य इस अध्यायमें वर्णित विषयके रहस्यको समझ लेता है, वह यज्ञ, तप, दान आदि सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है। कारण कि वह यह समझ लेता है कि भोग-भूमियोंकी भी आखिरी हद जो ब्रह्मलोक है, वहाँ जानेपर भी लौटकर पीछे आना पड़ता है; परन्तु भगवान्‌को प्राप्त होनेपर लौटकर नहीं आना पड़ता (आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक); और साथ-साथ यह भी समझ लेता है कि मैं तो साक्षात् परमात्माका अंश हूँ तथा ये प्राकृत पदार्थ नित्य-निरन्तर अभावमें, नाशमें जा रहे हैं, तो फिर वह नाशवान् पदार्थोंमें, भोगोंमें न फँसकर भगवान्‌के ही आश्रित हो जाता है। इसलिये वह आदिस्थान* परमात्माको प्राप्त हो जाता है, जिसको इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'परमगति' और 'परमधाम' नामसे कहा गया है।

नाशवान् पदार्थोंके संग्रह और भोगोंमें आसक्त हुआ मनुष्य उस आदिस्थान परमात्मतत्त्वको नहीं जान सकता। न जाननेकी यह असामर्थ्य न तो भगवान्‌की दी हुई है, न प्रकृतिसे पैदा हुई है और न किसी कर्मका फल ही है अर्थात् यह असामर्थ्य किसीकी देन नहीं है; किन्तु स्वयं जीवने ही परमात्मतत्त्वसे विमुख होकर इसको पैदा किया है। इसलिये यह स्वयं ही इसको मिटा सकता है। कारण कि अपने द्वारा की हुई भूलको स्वयं ही मिटा सकता है और इसको मिटानेका दायित्व भी स्वयंपर ही है। इस भूलको मिटानेमें यह जीव असमर्थ नहीं है, निर्बल नहीं है, अपात्र नहीं है। केवल संयोगजन्य सुखकी लोलुपताके कारण यह अपनेमें असामर्थ्यका आरोप कर लेता है और इसीसे मनुष्यजन्मके महान् लाभसे वंचित रह जाता है। अतः मनुष्यको संयोगजन्य सुखकी लोलुपताका त्याग करके मनुष्यजन्मको सार्थक बनानेके लिये नित्य-निरन्तर उद्यत रहना चाहिये।

छठे अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने पहले योगीकी महिमा कही और पीछे अर्जुनको योगी हो जानेकी आज्ञा दी (छठे अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक); और यहाँ भगवान्‌ने पहले अर्जुनको योगी होनेकी आज्ञा दी और पीछे योगीकी महिमा कही। इसका तात्पर्य है कि छठे अध्यायमें योगभ्रष्टका प्रसंग है, और उसके विषयमें अर्जुनके मनमें सन्देह था कि वह कहीं नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता? इस शंकाको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने कहा कि 'कोई किसी तरहसे योगमें लग जाय तो उसका पतन नहीं होता। इतना ही नहीं, इस योगका जिज्ञासुमात्र भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है।' इसलिये योगीकी महिमा पहले कही और पीछे अर्जुनके लिये योगी होनेकी आज्ञा दी। परन्तु यहाँ अर्जुनका प्रश्न रहा कि नियतात्मा पुरुषोंके द्वारा आप कैसे जाननेमें आते हैं? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने कहा कि 'जो सांसारिक पदार्थोंसे सर्वथा विमुख होकर केवल मेरे परायण होता है, उस योगीके लिये मैं सुलभ हूँ', इसलिये पहले 'तू योगी हो जा' ऐसी आज्ञा दी और पीछे योगीकी महिमा कही।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

* **अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः। (गीता १०। २)**
'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (गीता १५। ४)

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ८॥

'अक्षर' और 'ब्रह्म' शब्द परमात्माके निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—इन तीनों स्वरूपोंके वाचक हैं। इन तीनोंमेंसे किसी भी स्वरूपका चिन्तन करनेसे परमात्माके साथ योग (सम्बन्ध) हो जाता है। अतः इस अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' रखा गया है।

आठवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथाष्टमोऽध्यायः**' के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके चार, श्लोकोंके तीन सौ सतहत्तर और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ सत्तानबे है।

(२) '**अथाष्टमोऽध्यायः**' के छः, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके तेरह, श्लोकोंके नौ सौ पैंतालीस और पुष्पिकाके सैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार ग्यारह है। इस अध्यायके अट्ठाईस श्लोकोंमेंसे नवाँ, ग्यारहवाँ और अट्ठाईसवाँ—ये तीन श्लोक चौवालीस अक्षरोंके तथा दसवाँ श्लोक पैंतालीस अक्षरोंका है। शेष चौबीस श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उवाच हैं—'**अर्जुन उवाच**' और '**श्रीभगवानुवाच।**'

आठवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके अट्ठाईस श्लोकोंमेंसे नवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ—ये तीन श्लोक '**उपजाति**' छन्दवाले हैं और अट्ठाईसवाँ श्लोक '**इन्द्रवज्रा**' छन्दवाला है। बचे हुए चौबीस श्लोकोंमेंसे—दूसरे श्लोकके तृतीय चरणमें और चौदहवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; चौबीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; सत्ताईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**' तथा तीसरे श्लोकके प्रथम और तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**जातिपक्ष-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उन्नीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम: ॥

अथ नवमोऽध्याय:

अवतरणिका—

सातवें अध्यायमें भगवान्‌के द्वारा विज्ञानसहित ज्ञान कहनेका जो प्रवाह चल रहा था, उसके बीचमें ही अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न कर लिये। उनमेंसे छ: प्रश्नोंका उत्तर भगवान्‌ने संक्षेपसे देकर अन्तकालीन गतिविषयक सातवें प्रश्नका उत्तर विस्तारसे दिया।

अब सातवें अध्यायमें कहनेसे बचे हुए उसी विज्ञानसहित ज्ञानके विषयको विलक्षण रीतिसे कहनेके लिये भगवान् नवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

इदम्	= यह	**ते**	= तेरे लिये	**ज्ञात्वा**	= जानकर (तू)
गुह्यतमम्	= अत्यन्त गोपनीय	**तु**	= तो (मैं फिर)	**अशुभात्**	= अशुभसे अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे
विज्ञानसहितम्	= विज्ञानसहित	**प्रवक्ष्यामि**	= अच्छी तरहसे कहूँगा,		
ज्ञानम्	= ज्ञान				
अनसूयवे	= दोषदृष्टिरहित	**यत्**	= जिसको	**मोक्ष्यसे**	= मुक्त हो जायगा।

व्याख्या—‘**इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे**’—भगवान्‌के मनमें जिस तत्त्वको, विषयको कहनेकी इच्छा है, उसकी तरफ लक्ष्य करानेके लिये ही यहाँ भगवान् सबसे पहले ‘**इदम्**’ (यह) शब्दका प्रयोग करते हैं। उस (भगवान्‌के मन-बुद्धिमें स्थित) तत्त्वकी महिमा कहनेके लिये ही उसको ‘**गुह्यतमम्**’ कहा है अर्थात् वह तत्त्व अत्यन्त गोपनीय है। इसीको आगेके श्लोकमें ‘**राजगुह्यम्**’ और अठारहवें अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें ‘**सर्वगुह्यतमम्**’ कहा है।

यहाँ पहले ‘**गुह्यतमम्**’ कहकर पीछे (गीता ९। ३४ में) ‘**मन्मना भव ……**’ कहा है और अठारहवें अध्यायमें पहले ‘**सर्वगुह्यतमम्**’ कहकर पीछे (गीता १८। ६५ में) ‘**मन्मना भव ……**’ कहा है। तात्पर्य है कि यहाँका और वहाँका विषय एक ही है, दो नहीं।

यह अत्यन्त गोपनीय तत्त्व हरेकके सामने नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसमें भगवान्‌ने खुद अपनी महिमाका वर्णन किया है। जिसके अन्त:करणमें भगवान्‌के प्रति थोड़ी भी दोषदृष्टि है, उसको ऐसी गोपनीय बात कही जाय, तो वह ‘भगवान् आत्मश्लाघी हैं—अपनी प्रशंसा करनेवाले हैं’ ऐसा उलटा अर्थ ले सकता है। इसी बातको लेकर भगवान् अर्जुनके लिये ‘**अनसूयवे**’ विशेषण देकर कहते हैं कि भैया! तू दोष-दृष्टिरहित है, इसलिये मैं तेरे सामने अत्यन्त गोपनीय बातको फिर अच्छी तरहसे कहूँगा अर्थात् उस तत्त्वको भी कहूँगा और उसके उपायोंको भी कहूँगा—‘**प्रवक्ष्यामि**’।

‘**प्रवक्ष्यामि**’ पदका दूसरा भाव है कि मैं उस बातको विलक्षण रीतिसे और साफ-साफ कहूँगा अर्थात् मात्र मनुष्य मेरे शरण होनेके अधिकारी हैं। चाहे कोई दुराचारी-से-दुराचारी, पापी-से-पापी क्यों न हो तथा किसी वर्णका, किसी आश्रमका, किसी सम्प्रदायका, किसी देशका, किसी

वेशका, कोई भी क्यों न हो, वह भी मेरे शरण होकर मेरी प्राप्ति कर लेता है—यह बात मैं विशेषतासे कहूँगा।

सातवें अध्यायमें भगवान्‌के मनमें जितनी बातें कहनेकी आ रही थीं, उतनी बातें वे नहीं कह सके। इसलिये भगवान् यहाँ '**तु**' पद देते हैं कि उसी विषयको मैं फिर कहूँगा।

'**ज्ञानं विज्ञानसहितम्**'—भगवान् इस सम्पूर्ण जगत्‌के महाकारण हैं—ऐसा दृढ़तासे मानना 'ज्ञान' है और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई (कार्य-कारण) तत्त्व नहीं है—ऐसा अनुभव होना 'विज्ञान' है। इस विज्ञानसहित ज्ञानके लिये ही इस श्लोकके पूर्वार्धमें '**इदम्**' और '**गुह्यतमम्**'—ये दो विशेषण आये हैं।

ज्ञान और विज्ञान-सम्बन्धी विशेष बात

इस ज्ञान-विज्ञानको जानकर तू अशुभ संसारसे मुक्त हो जायगा। यह ज्ञान-विज्ञान ही राजविद्या, राजगुह्य आदि है। इस धर्मपर जो श्रद्धा नहीं करते, इसपर विश्वास नहीं करते, इसको मानते नहीं, वे मौतरूपी संसारके रास्तेमें पड़ जाते हैं और बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं (पहलेसे तीसरे श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने 'ज्ञान' बताया। अव्यक्तमूर्ति मेरेसे ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ; दूसरा कोई है ही नहीं (चौथेसे छठे श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने 'विज्ञान' बताया।

प्रकृतिके परवश हुए सम्पूर्ण प्राणी महाप्रलयमें मेरी प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं और महासर्गके आदिमें मैं फिर उनकी रचना करता हूँ। परन्तु वे कर्म मेरेको बाँधते नहीं। उनमें मैं उदासीनकी तरह अनासक्त रहता हूँ। मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करती है। मेरे परम भावको न जानते हुए मूढ़लोग मेरी अवहेलना करते हैं। राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवालोंकी आशा, कर्म, ज्ञान सब व्यर्थ हैं। महात्मालोग दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर और मेरेको सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि मानकर मेरा भजन करते हैं। मेरेको नमस्कार करते हैं। कई ज्ञानयज्ञके द्वारा एकीभावसे मेरी उपासना करते हैं; आदि-आदि (सातवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने 'ज्ञान' बताया। मैं ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा,औषध आदि हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ अर्थात् कार्य-कारणरूपसे जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ (सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर 'विज्ञान' बताया।

जो यज्ञ करके स्वर्गमें जाते हैं, वे वहाँपर सुख भोगते हैं और पुण्य समाप्त होनेपर फिर लौटकर मृत्युलोकमें आते हैं। अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करनेवालेका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करनेवाले वास्तवमें मेरा ही पूजन करते हैं, पर करते हैं अविधिपूर्वक। जो मुझे सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी नहीं मानते, उनका पतन हो जाता है। जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पत्र, पुष्प आदिको तथा सम्पूर्ण क्रियाओंको मेरे अर्पण करते हैं, वे शुभ-अशुभ कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं (बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने 'ज्ञान' बताया। मैं सम्पूर्ण भूतोंमें सम हूँ। मेरा कोई प्रेम या द्वेषका पात्र नहीं है। परन्तु जो मेरा भजन करते हैं वे मेरेमें और मैं उनमें हूँ (उनतीसवाँ श्लोक)—ऐसा कहकर 'विज्ञान' बताया। इसके आगेके पाँच श्लोक (तीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक) इस विज्ञानकी व्याख्यामें ही कहे गये हैं*।

'**यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्**'—असत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही 'अशुभ' है, जो कि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है। असत्-(संसार-) के साथ अपना सम्बन्ध केवल माना हुआ है, वास्तविक नहीं है। जिसके साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता, उसीसे मुक्ति होती है। अपने स्वरूपसे कभी किसीकी मुक्ति नहीं होती। अतः मुक्ति उसीसे होती है, जो अपना नहीं है; किन्तु जिसको भूलसे अपना मान लिया है। इस भूलजनित मान्यतासे ही मुक्ति होती है। भूलजनित मान्यताको न माननेमात्रसे ही उससे मुक्ति हो जाती है। जैसे, कपड़ेमें मैल लग जानेपर उसको साफ किया जाता है, तो मैल छूट जाता है। कारण कि मैल आगन्तुक है और मैलकी अपेक्षा कपड़ा पहलेसे है अर्थात् मैल और कपड़ा दो हैं, एक नहीं। ऐसे ही भगवान्‌का अविनाशी अंश यह जीव भगवान्‌से विमुख होकर जिस किसी योनिमें जाता है, वहींपर मैं-मेरापन करके शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है अर्थात् मैल चढ़ा लेता है और जन्मता-मरता रहता है। जब यह अपने स्वरूपको जान लेता है अथवा भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब यह अशुभ सम्बन्धसे मुक्त हो जाता है अर्थात् उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसी भावको लेकर भगवान् यहाँ अर्जुनसे कहते हैं कि इस तत्त्वको जानकर तू अशुभसे मुक्त हो जायगा।

* **यहाँ ज्ञानके वर्णनमें विज्ञान और विज्ञानके वर्णनमें ज्ञान नहीं है—ऐसी बात नहीं है।**

परिशिष्ट भाव—संसार ‘प्रकट’ है। कर्मयोग (निष्कामभाव) प्रकट न होनेसे ‘गुह्य’ है। उससे भी गुप्त होनेसे ज्ञानयोग (आत्मज्ञान) ‘गुह्यतर’ है। ज्ञानयोगसे भी गुप्त होनेसे भक्तियोग (परमात्मज्ञान) ‘गुह्यतम’ है। गुह्य और गुह्यतर तो लौकिक हैं, पर गुह्यतम अलौकिक है।

ब्रह्मलोकतकके सभी लोक पुनरावर्ती होनेसे ‘अशुभ’ हैं (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। गुह्यतम विषयको जान लेनेसे मनुष्य अशुभसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। अशुभसे मुक्ति तो कर्मयोग और ज्ञानयोगसे भी हो जाती है, पर यहाँ अशुभसे मुक्ति होनेका तात्पर्य है—एक परमात्माके सिवाय अन्यकी किंचिन्मात्र भी सत्ता न रहे, अहम्‌की वह सूक्ष्म गन्ध भी न रहे, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं।

अपने स्वरूपको जानना ‘ज्ञान’ है और समग्र भगवान्‌को जानना ‘विज्ञान’ है। निर्गुणके अन्तर्गत तो सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, पर सगुणके अन्तर्गत निर्गुण भी आ जाता है, इसलिये सगुणका ज्ञान ‘विज्ञान’ अर्थात् विशेष ज्ञान है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके उसका परिणाम अशुभसे मुक्त होना बताया। अब आगेके श्लोकमें उसी विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमाका वर्णन करते हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

इदम् = यह (विज्ञानसहित ज्ञान अर्थात् समग्ररूप)
राजविद्या = सम्पूर्ण विद्याओंका राजा (और)
राजगुह्यम् = सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा है।
पवित्रम् = यह अति पवित्र (तथा)
उत्तमम् = अतिश्रेष्ठ है (और)
प्रत्यक्षावगमम् = इसका फल भी प्रत्यक्ष है।
धर्म्यम् = यह धर्ममय है,
अव्ययम् = अविनाशी है (और)
कर्तुम् = करनेमें
सुसुखम् = बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना बहुत सुगम है।

व्याख्या—**‘राजविद्या’**—यह विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओंका राजा है; क्योंकि इसको ठीक तरहसे जान लेनेके बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।

भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें कहा है कि ‘मेरे समग्ररूपको जाननेके बाद जानना कुछ बाकी नहीं रहता।’ पन्द्रहवें अध्यायके अन्तमें कहा है कि ‘जो असम्मूढ़ पुरुष मेरेको क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम जानता है, वह सर्ववित् हो जाता है अर्थात् उसको जानना कुछ बाकी नहीं रहता’, इससे ऐसा मालूम होता है कि भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त आदि जितने स्वरूप हैं, उन सब स्वरूपोंमें भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपकी बहुत विशेष महिमा है।

‘राजगुह्यम्’—संसारमें रहस्यकी जितनी गुप्त बातें हैं, उन सब बातोंका यह राजा है; क्योंकि संसारमें इससे बड़ी दूसरी कोई रहस्यकी बात है ही नहीं।

जैसे नाटकमें सबके सामने खेलता हुआ कोई पात्र अपना असली परिचय दे देता है, तो उसका परिचय देना विशेष गोपनीय बात है; क्योंकि वह नाटकमें जिस स्वाँगमें खेलता है, उसमें वह अपने असली रूपको छिपाये रखता है। ऐसे ही भगवान् जब मनुष्यरूपमें लीला करते हैं, तब अभक्त लोग उनको मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करते हैं। इससे भगवान् उनके सामने अपने-आपको प्रकट नहीं करते (गीता—सातवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)। परन्तु जो भगवान्‌के ऐकान्तिक प्यारे भक्त होते हैं, उनके सामने भगवान् अपने-आपको प्रकट कर देते हैं—यह अपने-आपको प्रकट कर देना ही अत्यन्त गोपनीय बात है।

‘पवित्रमिदम्’—इस विद्याके समान पवित्र करनेवाली दूसरी कोई विद्या है ही नहीं अर्थात् यह विद्या पवित्रताकी आखिरी हद है। पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारी भी इस विद्यासे बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है अर्थात् पवित्र बन जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त कर लेता है (नवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

दसवें अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌को परम पवित्र बताया—**‘पवित्रं परमं भवान्’** (१०। १२); चौथे

अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानको पवित्र बताया—**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** (४। ३८) और यहाँ राजविद्या आदि आठ विशेषण देकर विज्ञानसहित ज्ञानको पवित्र बताते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पवित्र परमात्माका नाम, रूप, लीला, धाम, स्मरण, कीर्तन, जप, ध्यान, ज्ञान आदि सब पवित्र हैं अर्थात् भगवत्सम्बन्धी जो कुछ है, वह सब महान् पवित्र है और प्राणिमात्रको पवित्र करनेवाला है*।

'उत्तमम्'—यह सर्वश्रेष्ठ है। इसके समकक्ष दूसरी कोई वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि है ही नहीं। यह श्रेष्ठताकी आखिरी हद है, क्योंकि इस विद्यासे मेरा भक्त सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। इतना श्रेष्ठ हो जाता है कि मैं भी उसकी आज्ञाका पालन करता हूँ।

इस विज्ञानसहित ज्ञानको जानकर जो मनुष्य इसका अनुभव कर लेते हैं, उनके लिये भगवान् कहते हैं कि 'वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ'—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (९। २९) अर्थात् वे मेरेमें तल्लीन होकर मेरा स्वरूप ही बन जाते हैं।

'प्रत्यक्षावगमम्'—इसका फल प्रत्यक्ष है। जो मनुष्य इस बातको जितना जानेगा, वह उतना ही अपनेमें विलक्षणताका अनुभव करेगा। इस बातको जानते ही परमगति प्राप्त हो जाय—यह इसका प्रत्यक्ष फल है।

'धर्म्यम्'—यह धर्ममय है। परमात्माका लक्ष्य होनेपर निष्कामभावपूर्वक जितने भी कर्तव्य-कर्म किये जायँ, वे सब-के-सब इस धर्मके अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः यह विज्ञानसहित ज्ञान सभी धर्मोंसे परिपूर्ण है।

दूसरे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनको कहा कि इस धर्ममय युद्धके सिवाय क्षत्रियके लिये दूसरा कोई श्रेयस्कर साधन नहीं है—**'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते'** (२। ३१)। इससे यही सिद्ध होता है कि अपने-अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार शास्त्रविहित जितने कर्तव्य-कर्म हैं, वे सभी धर्म्य हैं। इसके सिवाय भगवत्प्राप्तिके जितने साधन हैं और भक्तोंके जितने लक्षण हैं, उन सबका नाम भगवान्ने 'धर्म्यामृत' रखा है (गीता—बारहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक) अर्थात् ये सभी भगवान्की प्राप्ति करानेवाले होनेसे धर्ममय हैं।

'अव्ययम्'—इसमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती, इसलिये यह अविनाशी है। भगवान्ने अपने भक्तके लिये भी कहा है कि 'मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता'—**'न मे भक्तः प्रणश्यति'** (९। ३१)।

'कर्तुं सुसुखम्'—यह करनेमें बहुत सुगम है। पत्र, पुष्प, फल, जल आदि चीजोंको भगवान्की मानकर भगवान्को ही देना कितना सुगम है (नवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)! चीजोंको अपनी मानकर भगवान्को देनेसे भगवान् उनको अनन्त गुणा करके देते हैं और उनको भगवान्की ही मानकर भगवान्के अर्पण करनेसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं। इसमें क्या परिश्रम करना पड़ा? इसमें तो केवल अपनी भूल मिटानी है।

मेरी प्राप्ति सुगम है, सरल है; क्योंकि मैं सब देशमें हूँ तो यहाँ भी हूँ, सब कालमें हूँ तो अभी भी हूँ। जो कुछ भी देखने, सुनने, समझनेमें आता है, उसमें मैं ही हूँ। जितने भी मनुष्य हैं, उनका मैं हूँ और वे मेरे हैं। परन्तु मेरी तरफ दृष्टि न रखकर प्रकृतिकी तरफ दृष्टि रखनेसे वे मुझे प्राप्त न होकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। अगर वे थोड़ा-सा भी मेरी तरफ ध्यान दें तो उनको मेरी अलौकिकता, विलक्षणता दीखने लग जाती है तथा प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध नहीं है और भगवान्के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध है—इसका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग 'राजविद्या' है और भक्तियोग 'राजगुह्य' है। इसी अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें राजविद्याकी और चौंतीसवें श्लोकमें राजगुह्यकी बात मुख्यतासे कही गयी है।

'प्रत्यक्षावगमम्'—इसका प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) फल होता है। कर्मयोगसे शान्ति, ज्ञानयोगसे मुक्ति और भक्तियोगसे प्रेम प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। भगवान्के शरणागत होनेपर निर्भयता, निःशोकता, निश्चिन्तता और निःशंकता प्रत्यक्षमें प्राप्त होती है। अपने स्वरूपकी सत्ता-स्फूर्ति (सत्-चित्), अपने होनेपनका ज्ञान (अनुभव) भी प्रत्यक्ष है।

'धर्म्यम्'—यह धर्मसे रहित नहीं है, प्रत्युत धर्ममय है, धर्मसे ओतप्रोत है। इसको जाननेसे मनुष्यजीवन सफल हो जाता है अर्थात् मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

---

* **अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥**

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्म० १७। १७)

'सुसुखं कर्तुम्'—यह करनेमें बहुत सुगम है; क्योंकि यह स्वतः प्राप्त है। सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसमें कोई परिश्रम नहीं है, यह तो केवल स्वीकृति है। कर्मयोगकी दृष्टिसे जो वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी है, उसको दूसरोंकी सेवामें लगानेमें क्या जोर आता है! ज्ञानयोगकी दृष्टिसे अपने-आपमें स्थित होनेमें क्या जोर आता है! भक्तियोगकी दृष्टिसे जो अपना है, उसकी तरफ जानेमें क्या जोर आता है! ये सब काम सुखपूर्वक होते हैं।

'अव्ययम्'—वास्तवमें अविनाशी और अन्तिम तत्त्व यही है इससे आगे कुछ नहीं है।

सम्बन्ध—ऐसी सुगम और सर्वोपरि विद्याके होनेपर भी लोग उससे लाभ क्यों नहीं उठा रहे हैं? इसपर कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

परन्तप	= हे परन्तप!	**पुरुषाः**	= मनुष्य	**वर्त्मनि**	संसारके मार्गमें
अस्य	= इस	**माम्**	= मुझे	**निवर्तन्ते**	= लौटते रहते हैं अर्थात् बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं।
धर्मस्य	= धर्मकी महिमापर	**अप्राप्य**	= प्राप्त न होकर		
अश्रद्दधानाः	= श्रद्धा न रखनेवाले	**मृत्युसंसार-**	= मृत्युरूप		

व्याख्या—**'अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य* परन्तप'**—धर्म दो तरहका होता है—स्वधर्म और परधर्म। मनुष्यका जो अपना स्वतःसिद्ध स्वरूप है, वह उसके लिये स्वधर्म है और प्रकृति तथा प्रकृतिका कार्यमात्र उसके लिये परधर्म है—**'संसारधर्मैरविमुह्यमानः'** (श्रीमद्भा० ११। २। ४९)। पीछेके दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा की और राजविद्या आदि आठ विशेषण देकर जिसका बड़ा माहात्म्य बताया, उसीको यहाँ 'धर्म' कहा गया है। इस धर्मके माहात्म्यपर श्रद्धा न रखनेवाले अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंको सच्चा मानकर उन्हींमें रचे-पचे रहनेवाले मनुष्योंको यहाँ **'अश्रद्दधानाः'** कहा गया है।

यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य अपने शरीरको, कुटुम्बको, धन-सम्पत्ति-वैभवको निःसन्देह-रूपसे उत्पत्ति-विनाशशील और प्रतिक्षण परिवर्तनशील जानते हुए भी उनपर विश्वास करते हैं, श्रद्धा करते हैं, उनका आश्रय लेते हैं। वे ऐसा विचार नहीं करते कि इन शरीरादिके साथ हम कितने दिन रहेंगे और ये हमारे साथ कितने दिन रहेंगे? श्रद्धा तो स्वधर्मपर होनी चाहिये थी, पर वह हो गयी परधर्मपर!

'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'— परधर्मपर श्रद्धा रखनेवालोंके लिये भगवान् कहते हैं कि सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें सदा-सर्वदा विद्यमान, सबको नित्यप्राप्त मुझे प्राप्त न करके मनुष्य मृत्युरूप संसारके रास्तेमें लौटते रहते हैं। कहीं जन्म गये तो मरना बाकी रहता है और मर गये तो जन्मना बाकी रहता है। ये जिन योनियोंमें जाते हैं, उन्हीं योनियोंमें ये अपनी स्थिति मान लेते हैं अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसी अहंता और 'शरीर मेरा है' ऐसी ममता कर लेते हैं। परन्तु वास्तवमें उन योनियोंसे भी उनका निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद होता रहता है। किसी भी योनिके साथ इनका सम्बन्ध टिक नहीं सकता। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिसे भी इनका निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है अर्थात् वहाँसे भी ये हरदम निवृत्त हो रहे हैं, लौट रहे हैं। ये किसीके साथ हरदम रह ही नहीं सकते। ऐसे ही ये ऊर्ध्वगतिमें अर्थात् ऊँची-से-ऊँची भोग-भूमियोंमें भी चले जायँ तो वहाँसे भी इनको लौटना ही पड़ेगा (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ तथा पचीसवाँ और नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि मेरेको प्राप्त हुए बिना ये मनुष्य जहाँ-कहीं भी जायँगे, वहाँसे इनको लौटना ही पड़ेगा, बार-बार जन्मना और मरना ही पड़ेगा।

'मृत्युसंसारवर्त्मनि' कहनेका मतलब है कि इस संसारके रास्तेमें मरना-ही-मरना है, विनाश-ही-विनाश है,

---

*** यहाँ 'अश्रद्दधानाः' पदमें आये हुए 'शानच् कृत्' प्रत्ययके योगमें 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पाणि० अष्टा० २। ३। ६९)—इस सूत्रके नियमसे द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये; परन्तु यह सूत्र कारक-षष्ठीका ही निषेध करता है। अतः यहाँ शेष षष्ठीसे 'धर्म' पदमें षष्ठी विभक्ति की गयी है।**

अभाव-ही-अभाव है अर्थात् जहाँ जायँगे, वहाँसे लौटना ही पड़ेगा। इसी बातको भगवान्ने बारहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें **'मृत्युसंसारसागरात्'** कहा है अर्थात् यह संसार मौतका ही समुद्र है। इसमें कहीं भी स्थिरतासे टिक नहीं सकते।

यह मनुष्यशरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। भगवान्ने कृपा करके सम्पूर्ण कर्मफलोंको (जो कि सत्-असत् योनियोंके कारण हैं) स्थगित करके मुक्तिका अवसर दिया है। ऐसे मुक्तिके अवसरको प्राप्त करके भी जो जीव जन्म-मरणकी परम्परामें चले जाते हैं, उनको देखकर भगवान् मानो पश्चात्ताप करते हैं कि मैंने अपनी तरफसे इनको जन्म-मरणसे छूटनेका पूरा अवसर दिया था, पर ये उस अवसरको प्राप्त करके भी जन्म-मरणमें जा रहे हैं! केवल साधारण मनुष्योंके लिये ही नहीं, प्रत्युत महान् आसुरी योनियोंमें पड़े हुए जीवोंके लिये भी भगवान् पश्चात्ताप करते हैं कि मेरेको प्राप्त किये बिना ही ये अधम गतिको जा रहे हैं—**'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'** (गीता १६। २०)।

'अप्राप्य माम्' (मेरेको प्राप्त न होकर) पदोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रको भगवत्प्राप्तिका अधिकार मिला हुआ है। इसलिये मनुष्यमात्र भगवान्की ओर चल सकता है, भगवान्को प्राप्त कर सकता है। सोलहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें **'मामप्राप्यैव'** पदसे भी यह सिद्ध होता है कि आसुरी प्रकृतिवाले भी भगवान्की ओर चल सकते हैं, भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये गीतामें कहा गया है कि दुराचारी-से-दुराचारी भी भक्त बन सकता है, धर्मात्मा बन सकता है और भगवान्को प्राप्त कर सकता है (नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ श्लोक) तथा पापी-से-पापी भी ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पापोंसे तर सकता है (चौथे अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक)।

एक शहर था। उसके चारों तरफ ऊँची दीवार बनी हुई थी। शहरसे बाहर निकलनेके लिये एक ही दरवाजा था। एक सूरदास (अन्धा) शहरसे बाहर निकलना चाहता था। वह एक हाथसे लाठीका सहारा और एक हाथसे दीवारका सहारा लेते हुए चल रहा था। चलते-चलते जब बाहर जानेका दरवाजा आया, तब उसके माथेपर खुजली आयी। वह एक हाथसे खुजलाते और एक हाथसे लाठीके सहारे चलता रहा, तो दरवाजा निकल गया और उसका हाथ फिर दीवारपर लग गया। इस तरह चलते-चलते जब दरवाजा आता, तब खुजली आ जाती। खुजलानेके लिये वह हाथ माथेपर लगाता, तबतक दरवाजा निकल जाता। इस प्रकार वह चक्कर ही काटता रहा। ऐसे ही यह जीव स्वर्ग, नरक, चौरासी लाख योनियोंमें घूमता रहता है। उन भोगयोनियोंसे यह स्वयं छुटकारा नहीं पा सकता, तो भगवान् कृपा करके जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेके लिये मनुष्यशरीर देते हैं। परन्तु मनुष्यशरीरको पाकर उसके मनमें भोगोंकी खुजली चलने लगती है, जिससे वह परमात्माकी तरफ न जाकर सांसारिक पदार्थोंका संग्रह करने और उन पदार्थोंसे सुख लेनेमें ही लगा रहता है। ऐसा करते-करते ही वह मर जाता है और पुनः स्वर्ग, नरक आदिकी योनियोंके चक्करमें पड़ जाता है। इस प्रकार वह बार-बार उन योनियोंमें लौटता रहता है—यही मृत्युरूप संसार-मार्गमें लौटना है।

यह जीव साक्षात् परमात्माका अंश है; अतः परमात्मा ही इस जीवका असली घर है। जब यह जीव उस परमात्माको प्राप्त कर लेता है, तब उसको अपना असली स्थान (घर) प्राप्त हो जाता है। फिर वहाँसे इसको लौटना नहीं पड़ता अर्थात् गुणोंके परवश होकर जन्म नहीं लेना पड़ता—इसको गीतामें जगह-जगह कहा गया है; जैसे—**'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन'** (४। ९); **'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्'** (५। १७); **'यं प्राप्य न निवर्तन्ते'** (८। २१); **'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः'** (१५। ४); **'यद्गत्वा न निवर्तन्ते'** (१५। ६) आदि-आदि। श्रुति भी कहती है—**'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'** (छान्दोग्य० ४। १५। १)।

विशेष बात

प्रायः लोगोंके भीतर यह बात जँची हुई है कि हम संसारी हैं, जन्मने-मरनेवाले हैं, यहाँ ही रहनेवाले हैं, इत्यादि। पर ये बातें बिलकुल गलत हैं। कारण कि हम सभी परमात्माके अंश हैं, परमात्माकी जातिके हैं, परमात्माके साथी हैं और परमात्माके धामके वासी हैं। हम सभी इस संसारमें आये हैं; हम संसारके नहीं हैं। कारण कि संसारके सब पदार्थ जड हैं, परिवर्तनशील हैं, जब कि हम स्वयं चेतन हैं और हमारेमें (स्वयंमें) कभी परिवर्तन नहीं होता। अनेक जन्म होनेपर भी हम स्वयं नित्य-निरन्तर वे ही रहते हैं—**'भूतग्रामः स एवायम्'** (८। १९) और ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

संसारके साथ हमारा संयोग और परमात्माके साथ

हमारा वियोग कभी हो ही नहीं सकता। हम चाहे स्वर्गमें जायँ, चाहे नरकोंमें जायँ, चाहे चौरासी लाख योनियोंमें जायँ, चाहे मनुष्ययोनिमें जायँ, तो भी हमारा परमात्मासे वियोग नहीं होता, परमात्माका साथ नहीं छूटता। परमात्मा सभी योनियोंमें हमारे साथ रहते हैं। परन्तु मनुष्येतर योनियोंमें विवेककी जागृति न रहनेसे हम परमात्माको पहचान नहीं सकते। परमात्माको पहचाननेका मौका तो इस मनुष्यशरीरमें ही है। कारण कि भगवान्‌ने कृपा करके इस मनुष्यको ऐसी शक्ति, योग्यता दी है, जिससे वह सत्संग, विचार, स्वाध्याय आदिके द्वारा विवेक जाग्रत् करके परमात्माको जान सकता है, परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। इसलिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि इन प्राणियोंको मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है, तो मेरेको प्राप्त हो ही जाना चाहिये और 'हम भगवान्‌के ही हैं तथा भगवान् ही हमारे हैं' यह बात उनकी समझमें आ ही जानी चाहिये। परन्तु ये इस बातको न समझकर, मेरेपर श्रद्धा-विश्वास न करके; मेरेको प्राप्त न होकर संसाररूपी मौतके मार्गमें पड़ गये हैं—यह बड़े दुःखकी और आश्चर्यकी बात है!

संसारमें आना, चौरासी लाख योनियोंमें भटकना हमारा काम नहीं है। ये देश, गाँव, कुटुम्ब, धन, पदार्थ, शरीर आदि हमारे नहीं हैं और हम इनके नहीं हैं। ये देश आदि सभी अपरा प्रकृति हैं और हम परा प्रकृति हैं। परन्तु भूलसे हमने अपनेको यहाँका रहनेवाला मान लिया है। इस भूलको मिटाना चाहिये; क्योंकि हम भगवान्‌के अंश हैं, भगवान्‌के धामके हैं। जहाँसे लौटकर नहीं आना पड़ता, वहाँ जाना हमारा खास काम है, जन्म-मरणसे रहित होना हमारा खास काम है। परन्तु अपने घर जानेको, खुदकी चीजको कठिन मान लिया, उद्योगसाध्य मान लिया! वास्तवमें यह कठिन नहीं है। कठिन तो संसारका रास्ता है, जो कि नया पकड़ना पड़ता है, नया शरीर धारण करना पड़ता है, नये कर्म करने पड़ते हैं; और कर्मोंके फल भोगनेके लिये नये-नये लोकोंमें नयी-नयी योनियोंमें जाना पड़ता है। भगवान्‌की प्राप्ति तो सुगम है; क्योंकि भगवान् सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सब वस्तुओंमें हैं, सब व्यक्तियोंमें हैं, सब घटनाओंमें हैं, सब परिस्थितियोंमें हैं और सभी भगवान्‌में हैं। हम हरदम भगवान्‌के साथ हैं और भगवान् हरदम हमारे साथ हैं। हम भगवान्‌से और भगवान् हमारेसे कभी अलग हो ही नहीं सकते।

तात्पर्य यह हुआ कि हम यहाँके, जन्म-मृत्युवाले संसारके नहीं हैं। यह हमारा देश नहीं है। हम इस देशके नहीं हैं। यहाँकी वस्तुएँ हमारी नहीं हैं। हम इन वस्तुओंके नहीं हैं। हमारे ये कुटुम्बी नहीं हैं। हम इन कुटुम्बियोंके नहीं हैं। हम तो केवल भगवान्‌के हैं और भगवान् ही हमारे हैं।

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें कही विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाते, प्रत्युत नाशवान् भोगोंको महत्त्व देकर उन्हींमें लगे रहते हैं। इसलिये वे भगवान्‌को प्राप्त न होकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं, स्वतःप्राप्त अमरताका रास्ता छोड़कर मृत्युके रास्तेपर चलते रहते हैं।

'अप्राप्य माम्' कहनेका तात्पर्य है कि मनुष्यशरीरमें भगवान्‌की प्राप्तिका मौका था, मनुष्य भगवत्प्राप्तिके नजदीक आ गया था, पर श्रद्धा न होनेके कारण वह भगवान्‌की प्राप्ति न करके संसारमें ही घूमता रहता है। जो नित्य विद्यमान है, उसको न मानकर वह जो एक क्षण भी नहीं टिकता, उसको मानता है। उसका अन्तःकरण इतना अशुद्ध होता है कि भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर भी उसपर श्रद्धा नहीं करता। जैसे—सत्संग, कीर्तन आदिमें प्रत्यक्ष लाभ दीखनेपर भी वह उसमें विशेषतासे नहीं लगता। किसी प्रिय व्यक्तिकी मृत्यु होनेपर या अन्य कोई घटना घटनेपर उसको संसारसे वैराग्य होता है, फिर भी वह उसमें स्थिर नहीं रहता। आश्विन कृष्ण द्वादशी, सं० दो हजार बावन (दिनांक-इक्कीस सितम्बर, उन्नीस सौ पंचानबे)-को भूमण्डलमात्रमें भगवान् गणेशजीकी प्रतिमाओंके द्वारा दूध पीनेकी प्रत्यक्ष घटना लोगोंके देखनेमें आयी। परन्तु अपनेको बुद्धिमान् समझनेवाले कई लोगोंने ऐसी प्रत्यक्ष घटनापर भी श्रद्धा नहीं की और अखबार, टेलिविजन आदिके माध्यमसे इसका खण्डन किया। कौरवोंकी सभामें भी जब द्रौपदीका चीर-हरण करनेकी चेष्टा की गयी, तब साड़ियोंका ढेर लग गया, पर दुःशासन द्रौपदीको किंचिन्मात्र भी नग्न नहीं कर सका। इतना बड़ा चमत्कार प्रत्यक्ष देखनेपर भी कौरवोंको चेत नहीं हुआ! अतः जिनकी बुद्धि तामसी है, अशुद्ध है, उनपर ऐसी विलक्षण घटनाओंका असर नहीं पड़ता, उनकी श्रद्धा नहीं होती। उनको सब उलटा-ही-उलटा दीखता है (गीता—अठारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। ऐसे अश्रद्धालु मनुष्य अमरताके मार्गको छोड़कर मृत्युके मार्गमें चलते रहते हैं, जिसमें केवल मृत्यु-ही-मृत्यु है। वे उस मार्गको पकड़ लेते हैं, जिस मार्गसे कभी भगवान्‌की प्राप्ति न हो सके।

अपराको पकड़नेसे ही मनुष्य मौतके रास्तेमें चला जाता है। अगर वह अपराको न पकड़े, प्रत्युत जिसकी अपरा है, उस भगवान्‌को पकड़े तो सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्त हो जाय! मनुष्य इसी जन्ममें मुक्त हो सकता है और मुक्तिसे भी बढ़कर भगवान्‌का प्रेम (भक्ति) प्राप्त कर सकता है। परन्तु भगवान्‌से इतनी बड़ी योग्यता, पात्रता, अधिकारिता पाकर भी वह मौतके रास्तेमें चल पड़ा! इसलिये भगवान् दुःखके साथ कहते हैं—'**अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि**'! और '**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (गीता १६। २०)। इससे सिद्ध होता है कि अभी कल्याणप्राप्तिका बड़ा सुन्दर मौका है। मनुष्य खुद अपने कल्याणमें लग जाय तो इसमें धर्म, ग्रन्थ, महात्मा, संसार, भगवान् सब सहायता करते हैं!

सम्बन्ध—इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें जिस राजविद्याकी महिमा कही गयी है, अब आगेके दो श्लोकोंमें उसीका वर्णन करते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

इदम्	= यह	**तेषु**	= उनमें	**भूतभावनः**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला
सर्वम्	= सब	**न, अवस्थितः**	= स्थित नहीं हूँ	**च**	= और
जगत्	= संसार	**च**	= तथा	**भूतभृत्**	= प्राणियोंका धारण, भरण-पोषण करनेवाला
मया	= मेरे	**भूतानि**	= (वे) प्राणी (भी)	**मम**	= मेरा
अव्यक्तमूर्तिना	= निराकार स्वरूपसे	**मत्स्थानि**	= मुझमें स्थित	**आत्मा**	= स्वरूप
ततम्	= व्याप्त है।	**न**	= नहीं हैं—	**भूतस्थः**	= उन प्राणियोंमें स्थित
सर्वभूतानि	= सम्पूर्ण प्राणी	**मे**	= मेरे (इस)	**न**	= नहीं है।
मत्स्थानि	= मुझमें स्थित हैं;	**ऐश्वरम्**	= ईश्वर-सम्बन्धी		
च	= परन्तु	**योगम्**	= योग- (सामर्थ्य-) को		
अहम्	= मैं	**पश्य**	= देख।		

व्याख्या—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**'—मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान होता है, वह भगवान्‌का व्यक्तरूप है और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय नहीं है अर्थात् मन आदि जिसको नहीं जान सकते, वह भगवान्‌का अव्यक्तरूप है। यहाँ भगवान्‌ने '**मया**' पदसे व्यक्त- (साकार-) स्वरूप और '**अव्यक्तमूर्तिना**' पदसे अव्यक्त- (निराकार-) स्वरूप बताया है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् व्यक्तरूपसे भी हैं और अव्यक्तरूपसे भी हैं। इस प्रकार भगवान्‌की यहाँ व्यक्त-अव्यक्त (साकार-निराकार) कहनेकी गूढ़ाभिसन्धि समग्ररूपसे है अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदिका भेद तो सम्प्रदायोंको लेकर है, वास्तवमें परमात्मा एक हैं। ये सगुण-निर्गुण आदि एक ही परमात्माके अलग-अलग विशेषण हैं, अलग-अलग नाम हैं।

गीतामें जहाँ सत्-असत्, शरीर-शरीरीका वर्णन किया गया है, वहाँ जीवके वास्तविक स्वरूपके लिये आया है—'**येन सर्वमिदं ततम्**' (२। १७); क्योंकि यह परमात्माका साक्षात् अंश होनेसे परमात्माके समान ही सर्वत्र व्यापक है अर्थात् परमात्माके साथ इसका अभेद है। जहाँ सगुण-निराकारकी उपासनाका वर्णन आया है, वहाँ बताया है—'**येन सर्वमिदं ततम्**' (८। २२), जहाँ कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन बताया है, वहाँ भी कहा है—

'येन सर्वमिदं ततम्' (१८। ४६)। इन सबके साथ एकता करनेके लिये ही भगवान् यहाँ कहते हैं—**'मया ततमिदं सर्वम्।'**

'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें स्थित हैं अर्थात् परा-अपरा प्रकृतिरूप सारा जगत् मेरेमें ही स्थित है। वह मेरेको छोड़कर रह ही नहीं सकता। कारण कि सम्पूर्ण प्राणी मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं, मेरेमें ही स्थित रहते हैं और मेरेमें ही लीन होते हैं अर्थात् उनका उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब मेरेमें ही होता है। अतः वे सब प्राणी मेरेमें स्थित हैं।

'न चाहं तेष्ववस्थितः'—पहले भगवान्ने दो बातें कहीं—पहली **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** और दूसरी **'मत्स्थानि सर्वभूतानि।'** अब भगवान् इन दोनों बातोंके विरुद्ध दो बातें कहते हैं।

पहली बात-(मैं सम्पूर्ण जगत्में स्थित हूँ-) के विरुद्ध यहाँ कहते हैं कि मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। कारण कि यदि मैं उनमें स्थित होता तो उनमें जो परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन मेरेमें भी होता; उनका नाश होनेसे मेरा भी नाश होता और उनका अभाव होनेसे मेरा भी अभाव होता। तात्पर्य है कि उनका तो परिवर्तन, नाश और अभाव होता है; परन्तु मेरेमें कभी किंचिन्मात्र भी विकृति नहीं आती। मैं उनमें सब तरहसे व्याप्त रहता हुआ भी उनसे निर्लिप्त हूँ, उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित हूँ। मैं तो निर्विकाररूपसे अपने-आपमें ही स्थित हूँ।

वास्तवमें 'मैं उनमें स्थित हूँ'—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरी सत्तासे ही उनकी सत्ता है, मेरे होनेपनसे ही उनका होनापन है। यदि मैं उनमें न होता, तो जगत्की सत्ता ही नहीं होती। जगत्का होनापन तो मेरी सत्तासे ही दीखता है। इसलिये कहा कि मैं उनमें स्थित हूँ।

'न च मत्स्थानि भूतानि'*—अब भगवान् दूसरी बात-(सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें स्थित हैं-) के विरुद्ध यहाँ कहते हैं कि वे प्राणी मेरेमें स्थित नहीं हैं। कारण कि अगर वे प्राणी मेरेमें स्थित होते तो मैं जैसा निरन्तर निर्विकाररूपसे ज्यों-का-त्यों रहता हूँ, वैसा संसार भी निर्विकाररूपसे ज्यों-का-त्यों रहता। मेरा कभी उत्पत्ति-विनाश नहीं होता, तो संसारका भी उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। एक देशमें हूँ और एक देशमें नहीं हूँ, एक कालमें हूँ और एक कालमें नहीं हूँ, एक व्यक्तिमें हूँ और एक व्यक्तिमें नहीं हूँ—ऐसी परिच्छिन्नता मेरेमें नहीं है, तो संसारमें भी ऐसी परिच्छिन्नता नहीं होती। तात्पर्य है कि निर्विकारता, नित्यता, व्यापकता, अविनाशीपन आदि जैसे मेरेमें हैं, वैसे ही उन प्राणियोंमें भी होते। परन्तु ऐसी बात नहीं है। मेरी स्थिति निरन्तर रहती है और उनकी स्थिति निरन्तर नहीं रहती, तो इससे सिद्ध हुआ कि वे मेरेमें स्थित नहीं हैं।

अब उपर्युक्त विधिपरक और निषेधपरक चारों बातोंको दूसरी रीतिसे इस प्रकार समझें। संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है; तथा परमात्मा संसारमें नहीं हैं और संसार परमात्मामें नहीं है। जैसे, अगर तरंगकी सत्ता मानी जाय तो तरंगमें जल है और जलमें तरंग है। कारण कि जलको छोड़कर तरंग रह ही नहीं सकती। तरंग जलसे ही पैदा होती है, जलमें ही रहती है और जलमें ही लीन हो जाती है; अतः तरंगका आधार, आश्रय केवल जल ही है। जलके बिना उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये तरंगमें जल है और जलमें तरंग है। ऐसे ही संसारकी सत्ता मानी जाय तो संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है। कारण कि परमात्माको छोड़कर संसार रह ही नहीं सकता। संसार परमात्मासे ही पैदा होता है, परमात्मामें ही रहता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है। परमात्माके सिवाय संसारकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है।

अगर तरंग उत्पन्न और नष्ट होनेवाली होनेसे तथा जलके सिवाय उसकी स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे तरंगकी सत्ता न मानी जाय, तो न तरंगमें जल है और न जलमें तरंग है अर्थात् केवल जल-ही-जल है और जल ही तरंगरूपसे दीख रहा है। ऐसे ही संसार उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होनेसे तथा परमात्माके सिवाय उसकी स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे संसारकी सत्ता न मानी जाय, तो न संसारमें परमात्मा हैं और न परमात्मामें संसार है अर्थात् केवल परमात्मा-ही-परमात्मा हैं और परमात्मा ही संसाररूपसे दीख रहे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे तत्त्वसे एक जल ही है, तरंग नहीं है, ऐसे ही तत्त्वसे एक परमात्मा ही हैं, संसार नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)।

अब कार्य-कारणकी दृष्टिसे देखें तो जैसे मिट्टीसे बने हुए जितने बर्तन हैं, उन सबमें मिट्टी ही है; क्योंकि वे मिट्टीसे ही बने हैं, मिट्टीमें ही रहते हैं और मिट्टीमें ही लीन

*** 'न च मत्स्थानि भूतानि' का दूसरा भाव यह भी है कि वे प्राणी अपनेको मेरेमें स्थित नहीं मानते, प्रत्युत अपनेको प्रकृतिमें स्थित मानते हैं। इसलिये वे मेरेमें स्थित नहीं हैं।**

होते हैं अर्थात् उनका आधार मिट्टी ही है। इसलिये बर्तनोंमें मिट्टी है और मिट्टीमें बर्तन हैं। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो बर्तनोंमें मिट्टी और मिट्टीमें बर्तन नहीं हैं। अगर बर्तनोंमें मिट्टी होती, तो बर्तनोंके मिटनेपर मिट्टी भी मिट जाती। परन्तु मिट्टी मिटती ही नहीं। अतः मिट्टी मिट्टीमें ही रही अर्थात् अपने-आपमें ही स्थित रही। ऐसे ही अगर मिट्टीमें बर्तन होते, तो मिट्टीके रहनेपर बर्तन हरदम रहते। परन्तु बर्तन हरदम नहीं रहते। इसलिये मिट्टीमें बर्तन नहीं हैं। ऐसे ही संसारमें परमात्मा और परमात्मामें संसार रहते हुए भी संसारमें परमात्मा और परमात्मामें संसार नहीं है। कारण कि अगर संसारमें परमात्मा होते तो संसारके मिटनेपर परमात्मा भी मिट जाते। परन्तु परमात्मा मिटते ही नहीं। इसलिये संसारमें परमात्मा नहीं हैं। परमात्मा तो अपने-आपमें स्थित हैं। ऐसे ही परमात्मामें संसार नहीं है। अगर परमात्मामें संसार होता तो परमात्माके रहनेपर संसार भी रहता; परन्तु संसार नहीं रहता। इसलिये परमात्मामें संसार नहीं है।

जैसे, किसीने हरिद्वारको याद किया तो उसके मनमें हरिकी पैड़ी दीखने लग गयी। बीचमें घण्टाघर बना हुआ है। उसके दोनों ओर गंगाजी बह रही हैं। सीढ़ियोंपर लोग स्नान कर रहे हैं। जलमें मछलियाँ उछल-कूद मचा रही हैं। यह सब-का-सब हरिद्वार मनमें है। इसलिये हरिद्वारमें बना हुआ सब कुछ (पत्थर, जल, मनुष्य, मछलियाँ आदि) मन ही है। परन्तु जहाँ चिन्तन छोड़ा, वहाँ फिर हरिद्वार नहीं रहा, केवल मन-ही-मन रहा। ऐसे ही परमात्माने **'बहु स्यां प्रजायेय'** संकल्प किया, तो संसार प्रकट हो गया। उस संसारके कण-कणमें परमात्मा ही रहे और संसार परमात्मामें ही रहा; क्योंकि परमात्मा ही संसाररूपमें प्रकट हुए हैं। परन्तु जहाँ परमात्माने संकल्प छोड़ा, वहाँ फिर संसार नहीं रहा, केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रहे।

तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मा हैं और संसार है—इस दृष्टिसे देखा जाय तो संसारमें परमात्मा और परमात्मामें संसार है। परन्तु तत्त्वकी दृष्टिसे देखा जाय तो न संसारमें परमात्मा हैं और न परमात्मामें संसार है; क्योंकि वहाँ संसारकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। वहाँ तो केवल परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। यही जीवन्मुक्तोंकी, भक्तोंकी दृष्टि है।

'पश्य मे योगमैश्वरम्'*—मैं सम्पूर्ण जगत्‌में और सम्पूर्ण जगत् मेरेमें होता हुआ भी सम्पूर्ण जगत् मेरेमें नहीं है और मैं सम्पूर्ण जगत्‌में नहीं हूँ अर्थात् मैं संसारसे सर्वथा निर्लिप्त हूँ, अपने-आपमें ही स्थित हूँ—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योगको अर्थात् प्रभाव-(सामर्थ्य-) को देख। तात्पर्य है कि मैं एक ही अनेकरूपसे दीखता हूँ और अनेकरूपसे दीखता हुआ भी मैं एक ही हूँ; अतः केवल मैं-ही-मैं हूँ।

'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—जानना और देखना। जानना बुद्धिसे और देखना नेत्रोंसे होता है। भगवान्‌के योग-(प्रभाव-) को जाननेकी बात यहाँ आयी है और उसे देखनेकी बात ग्यारहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें आयी है।

'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः'—मेरा जो स्वरूप है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको पैदा करनेवाला, सबको धारण करनेवाला तथा उनका भरण-पोषण करनेवाला है। परन्तु मैं उन प्राणियोंमें स्थित नहीं हूँ अर्थात् मैं उनके आश्रित नहीं हूँ, उनमें लिप्त नहीं हूँ। इसी बातको भगवान्‌ने पंद्रहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें कहा है कि क्षर (जगत्) और अक्षर (जीवात्मा)—दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जिसको 'परमात्मा' नामसे कहा गया है और जो सम्पूर्ण लोकोंमें व्याप्त होकर सबका भरण-पोषण करता हुआ सबका शासन करता है।

तात्पर्य यह हुआ कि जैसे मैं सबको उत्पन्न करता हुआ और सबका भरण-पोषण करता हुआ भी अहंता-ममतासे रहित हूँ और सबमें रहता हुआ भी उनके आश्रित नहीं हूँ, उनसे सर्वथा निर्लिप्त हूँ। ऐसे ही मनुष्यको चाहिये कि वह कुटुम्ब-परिवारका भरण-पोषण करता हुआ और सबका प्रबन्ध, संरक्षण करता हुआ उनमें अहंता-ममता न करे और जिस-किसी देश, काल, परिस्थितिमें रहता हुआ भी अपनेको उनके आश्रित न माने अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहे।

भक्तके सामने जो कुछ परिस्थिति आये, जो कुछ घटना घटे, मनमें जो कुछ संकल्प-विकल्प आये, उन सबमें

*** यहाँ 'योग' शब्द 'युज् संयमने' धातुसे बना हुआ लिया गया है; क्योंकि सम्पूर्ण संसारका संयमन भगवान् ही करते हैं। ऐसे तो यमराज भी प्राणियोंके पाप-पुण्योंके अनुसार उनका संयमन करते हैं; परन्तु वे तो एक मृत्युलोकके प्राणियोंका ही संयमन करते हैं, जब कि भगवान् अनन्त ब्रह्माण्डोंका तथा उनमें अलग-अलग नियुक्त किये हुए यमराजोंका भी संयमन करते हैं। इस संयमन करनेकी शक्तिका नाम ही यहाँ योग, सामर्थ्य, प्रभाव है। यह योग, सामर्थ्य, प्रभाव पूर्णरूपसे केवल भगवान्‌में ही होता है।**

उसको भगवान्‌की ही लीला देखनी चाहिये। भगवान् ही कभी उत्पत्तिकी लीला, कभी स्थितिकी लीला और कभी संहारकी लीला करते हैं। यह सब संसार स्वरूपसे तो भगवान्‌का ही रूप है और इसमें जो परिवर्तन होता है, वह सब भगवान्‌की ही लीला है—इस तरह भगवान् और उनकी लीलाको देखते हुए भक्तको हरदम प्रसन्न रहना चाहिये।

मार्मिक बात

'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इस बातको खूब गहरा उतरकर समझनेसे साधकको इसका यथार्थ अनुभव हो जाता है। यथार्थ अनुभव होनेकी कसौटी यह है कि अगर उसकी कोई प्रशंसा करे कि 'आपका सिद्धान्त बहुत अच्छा है' आदि, तो उसको अपनेमें बड़प्पनका अनुभव नहीं होना चाहिये। संसारमें कोई आदर करे या निरादर—इसका भी साधकपर असर नहीं होना चाहिये। अगर कोई कह दे कि 'संसार नहीं है और परमात्मा हैं—यह तो आपकी कोरी कल्पना है और कुछ नहीं' आदि, तो ऐसी काट-छाँटसे साधकको किंचिन्मात्र भी बुरा नहीं लगना चाहिये। उस बातको सिद्ध करनेके लिये दृष्टान्त देनेकी, प्रमाण खोजनेकी इच्छा ही नहीं होनी चाहिये और कभी भी ऐसा भाव नहीं होना चाहिये कि 'यह हमारा सिद्धान्त है, यह हमारी मान्यता है, इसको हमने ठीक समझा है' आदि। अपने सिद्धान्तके विरुद्ध कोई कितना ही विवेचन करे, तो भी अपने सिद्धान्तमें किसी कमीका अनुभव नहीं होना चाहिये और अपनेमें कोई विकार भी पैदा नहीं होना चाहिये। अपना यथार्थ अनुभव स्वाभाविकरूपसे सदा-सर्वदा अटल और अखण्डरूपसे बना रहना चाहिये। इसके विषयमें साधकको कभी सोचना ही नहीं पड़े।

परिशिष्ट भाव—'मया ततमिदं सर्वम्' कहनेका तात्पर्य है कि बर्फमें जलकी तरह संसारमें सत्ता ('है')-रूपसे एक सम, शान्त, सद्‌घन, चिद्‌घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। जिसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है, उस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। अज्ञानके कारण संसारमें जो सत्ता प्रतीत हो रही है, वह भी परमात्मतत्त्वकी सत्ताके कारण ही है। जब सबमें एक अविभक्त सत्ता ('है') ही परिपूर्ण है तो फिर उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चार विभाग कैसे हो सकते हैं? अहंता और ममता कैसे हो सकती है? राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं? जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटानेका अभ्यास भी कैसे हो सकता है?

भगवान्‌ने **'मत्स्थानि सर्वभूतानि'** के लिये **'न च मत्स्थानि भूतानि'** पद कहे हैं और **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** के लिये **'न चाहं तेष्ववस्थितः'** पद कहे हैं। जबतक साधकमें यह भाव है कि परमात्मा और संसार दो हैं, तबतक उसको यह समझना चाहिये कि परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं (गीता—छठे अध्यायका तीसवाँ श्लोक)। परन्तु जब दोका भाव न हो, तब न परमात्मामें संसार है और न संसारमें परमात्मा हैं।

संसारको स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५) संसारकी स्वतन्त्र सत्ता अहंता, ममता और कामनाके कारण ही है। अतः जबतक अहंता, ममता और कामना है, तबतक (साधककी दृष्टिमें) परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परन्तु अहंता, ममता और कामनाके मिटनेपर (सिद्धकी दृष्टिमें) न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

परमात्मामें संसार है, संसारमें परमात्मा हैं—यह 'ज्ञान' है और न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—यह 'विज्ञान' है।

श्रीमद्भागवतमें आया है कि जबतक साधककी दृष्टिमें जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता है, तबतक वह अपने बर्तावके द्वारा प्राणियोंमें भगवद्‌बुद्धिसे उपासना करे[1]। परन्तु जब उसकी दृष्टिमें जगत्‌की सत्ता न रहे अर्थात् केवल भगवान् ही रह जायँ, तब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस चिन्तनसे भी उपराम हो जाय[2]।

१-यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते। तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं' ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों-(बर्ताव-) से मेरी उपासना करता रहे।'

२-सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः'—भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करते हैं—**'अहं सर्वस्य प्रभवः'** (गीता १०। ८), **'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः'** (गीता ७। ६)। उन प्राणियोंका भरण-पोषण भी भगवान् ही करते हैं—**'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'** (गीता १५। १७)। सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करने तथा उनका भरण-पोषण करते हुए भी भगवान् उनमें लिप्त, आसक्त नहीं होते, उनके आश्रित नहीं होते। भगवान् उन प्राणियोंमें स्थित नहीं हैं; अतः उन प्राणियों और पदार्थोंमें आसक्त होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती।

वास्तवमें एक चिन्मय सत्ताके सिवाय जड़ताकी सत्ता है ही नहीं— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। जड़ता-(संसार-) की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध केवल कामना-(भोगेच्छा-) के कारण ही है। अतः जबतक सुखकी इच्छा है, तभीतक यह संसार है।

जो परमात्मामें संसारको देखते हैं अर्थात् संसारको परमात्मरूपसे न देखकर संसाररूपसे (जड़) देखते हैं, वे नास्तिक होते हैं। परन्तु जो संसारमें परमात्माको देखते हैं अर्थात् संसारको संसाररूपसे न देखकर परमात्मरूपसे (चिन्मय) देखते हैं, वे आस्तिक होते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् पीछेके दो श्लोकोंमें कही हुई बातोंको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

यथा	= जैसे	**नित्यम्**	= नित्य ही	**भूतानि**	= प्राणी
सर्वत्रगः	= सब जगह विचरनेवाली	**आकाशस्थितः**	= आकाशमें स्थित रहती है,	**मत्स्थानि**	= मुझमें ही स्थित रहते हैं—
महान्	= महान्	**तथा**	= ऐसे ही	**इति**	= ऐसा
वायुः	= वायु	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**उपधारय**	= तुम मान लो।

व्याख्या—**'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'**—जैसे सब जगह विचरनेवाली महान् वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है अर्थात् वह कहीं निःस्पन्दरूपसे रहती है, कहीं सामान्यरूपसे क्रियाशील रहती है, कहीं बड़े वेगसे चलती है आदि, पर किसी भी रूपसे चलनेवाली वायु आकाशसे अलग नहीं हो सकती। वह वायु कहीं रुकी हुई मालूम देगी और कहीं चलती हुई मालूम देगी, तो भी वह आकाशमें ही रहेगी। आकाशको छोड़कर वह कहीं रह ही नहीं सकती। ऐसे ही तीनों लोकों और चौदह भुवनोंमें घूमनेवाले स्थावर-जंगम सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें ही स्थित रहते हैं—**'तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि'**।

भगवान्‌ने चौथे श्लोकसे छठे श्लोकतक तीन बार **'मत्स्थानि'** शब्दका प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ये सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें ही स्थित हैं। मेरेको छोड़कर ये कहीं जा सकते ही नहीं। ये प्राणी प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर आदिके साथ कितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध मान लें, तो भी वे प्रकृति और उसके कार्यसे एक हो सकते ही नहीं; और अपनेको मेरेसे कितना ही अलग मान लें, तो भी वे मेरेसे अलग हो सकते ही नहीं।

वायुको आकाशमें नित्य स्थित बतानेका तात्पर्य यह है कि वायु आकाशसे कभी अलग हो ही नहीं सकती। वायुमें यह किंचिन्मात्र भी शक्ति नहीं है कि वह आकाशसे अलग हो जाय; क्योंकि आकाशके साथ उसका नित्य-निरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध अर्थात् अभिन्नता है। वायु आकाशका कार्य है और कार्यकी कारणके साथ अभिन्नता होती है। कार्य केवल कार्यकी दृष्टिसे देखनेपर कारणसे भिन्न दीखता है; परन्तु कारणसे कार्यकी अलग सत्ता नहीं होती। जिस समय कार्य कारणमें लीन रहता है, उस समय कार्य कारणमें प्रागभावरूपसे अर्थात् अप्रकटरूपसे रहता है, उत्पन्न होनेपर कार्य भावरूपसे अर्थात् प्रकटरूपसे रहता है और लीन

'पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है' ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं' यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगे।'

होनेपर कार्य प्रध्वंसाभावरूपसे अर्थात् कारणरूपसे रहता है। कार्यका प्रध्वंसाभाव नित्य रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह कारणरूप ही हो जाता है। इस रीतिसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है और आकाशमें ही लीन हो जाती है अर्थात् वायुकी स्वतन्त्र सत्ता न रहकर आकाश ही रह जाता है। ऐसे ही यह जीवात्मा परमात्मासे ही प्रकट होता है, परमात्मामें ही स्थित रहता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है अर्थात् जीवात्माकी स्वतन्त्र सत्ता न रहकर केवल परमात्मा ही रह जाते हैं।

जैसे वायु गतिशील होती है अर्थात् सब जगह घूमती है, ऐसे यह जीवात्मा गतिशील नहीं होता। परन्तु जब यह गतिशील प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ अपनापन (मैं-मेरापन) कर लेता है, तब शरीरकी गति इसको अपनी गति दीखने लग जाती है। गतिशीलता दीखनेपर भी यह नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही स्थित रहता है। इसलिये दूसरे अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भगवान्ने जीवात्माको नित्य, सर्वगत, अचल, स्थाणु और सनातन बताया है। यहाँ शरीरोंकी गतिशीलताके कारण इसको 'सर्वगत' बताया है। अर्थात् यह सब जगह विचरनेवाला दीखता हुआ भी अचल और स्थाणु है। यह स्थिर स्वभाववाला है। इसमें हिलने-डुलनेकी क्रिया नहीं है। इसलिये भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि सब प्राणी अटलरूपसे नित्य-निरन्तर मेरेमें ही स्थित हैं।

तात्पर्य हुआ कि तीनों लोक और चौदह भुवनोंमें घूमनेवाले जीवोंकी परमात्मासे भिन्न किंचिन्मात्र भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और हो सकती भी नहीं अर्थात् सब योनियोंमें घूमते रहनेपर भी वे नित्य-निरन्तर परमात्माके सच्चिदानन्दघन-स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्यके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे इसका अनुभव नहीं हो रहा है। अगर ये मनुष्य-शरीरमें अपनापन न करें, मैं-मेरापन न करें तो इनको असीम आनन्दका अनुभव हो जाय। इसलिये मनुष्यमात्रको चेतावनी देनेके लिये यहाँ भगवान् कहते हैं कि तुम मेरेमें नित्य-निरन्तर स्थित हो, फिर मेरी प्राप्तिमें परिश्रम और देरी किस बातकी? मेरेमें अपनी स्थिति न माननेसे और न जाननेसे ही मेरेसे दूरी प्रतीत हो रही है।

'इति उपधारय'—यह बात तुम विशेषतासे धारण कर लो, मान लो कि चाहे सर्ग-(सृष्टि-) का समय हो, चाहे प्रलयका समय हो, अनन्त ब्रह्माण्डोंके सम्पूर्ण प्राणी सर्वथा मेरेमें ही रहते हैं; मेरेसे अलग उनकी स्थिति कभी हो ही नहीं सकती। ऐसा दृढ़तासे मान लेनेपर प्रकृतिके कार्यसे विमुखता हो जायगी और वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जायगा।

इस वास्तविक तत्त्वका अनुभव करनेके लिये साधक दृढ़तासे ऐसा मान ले कि जो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें सर्वथा परिपूर्ण हैं, वे परमात्मा ही मेरे हैं। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि कोई भी मेरा नहीं है और मैं उनका नहीं हूँ।

विशेष बात

सम्पूर्ण जीव भगवान्में ही स्थित रहते हैं। भगवान्में स्थित रहते हुए भी जीवोंके शरीरोंमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका क्रम चलता रहता है; क्योंकि सभी शरीर परिवर्तनशील हैं और यह जीव स्वयं अपरिवर्तनशील है। इस जीवकी परमात्माके साथ तात्त्विक एकता है। परन्तु जब यह जीव परमात्मासे विमुख होकर शरीरके साथ अपनी एकता मान लेता है, तब इसे 'मैं'-पनकी स्वतन्त्र सत्ताका भान होने लगता है कि 'मैं शरीर हूँ।' इस 'मैं'-पनमें एक तो परमात्माका अंश है और एक प्रकृतिका अंश है—यह जीवका स्वरूप हुआ। जीव अंश तो है परमात्माका, पर पकड़ लेता है प्रकृतिके अंशको।

इस 'मैं'-पनमें जो प्रकृतिका अंश है, वह स्वत: ही प्रकृतिकी तरफ खिंचता है। परन्तु प्रकृतिके अंशके साथ तादात्म्य होनेसे परमात्माका अंश जीव उस खिंचावको अपना खिंचाव मान लेता है और 'मुझे सुख मिल जाय, धन मिल जाय, भोग मिल जाय'—ऐसा भाव कर लेता है। ऐसा भाव करनेसे वह परमात्मासे विशेष विमुख हो जाता है। उसमें 'संसारका सुख हरदम रहे; पदार्थोंका संयोग हरदम रहे; यह शरीर मेरे साथ और मैं शरीरके साथ सदा रहूँ'—ऐसी जो इच्छा रहती है, यह इच्छा वास्तवमें परमात्माके साथ रहनेकी है; क्योंकि उसका नित्य सम्बन्ध तो परमात्माके साथ ही है।

जीव शरीरोंके साथ कितना ही घुल-मिल जाय, पर परमात्माकी तरफ उसका खिंचाव कभी मिटता नहीं, मिटनेकी सम्भावना ही नहीं। 'मैं नित्य-निरन्तर रहूँ, सदा रहूँ, सदा सुखी रहूँ तथा मुझे सर्वोपरि सुख मिले'—इस रूपमें परमात्माका खिंचाव रहता ही है। परन्तु उससे भूल यह होती है कि वह (जड-अंशकी मुख्यतासे) इस सर्वोपरि

सुखको जडके द्वारा ही प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। वह भूलसे उस सुखको चाहने लगता है, जिस सुखपर उसका अधिकार नहीं है। अगर वह सजग, सावधान हो जाय और 'भोगोंमें कोई सुख नहीं है, आजतक कोई-सा भी संयोग नहीं रहा, रहना सम्भव ही नहीं'—ऐसा समझ ले, तो सांसारिक संयोगजन्य सुखकी इच्छा मिट जायगी और वास्तविक, सर्वोपरि, नित्य रहनेवाले सुखकी इच्छा (जो कि आवश्यकता है) जाग्रत् हो जायगी। यह आवश्यकता ज्यों-ज्यों जाग्रत् होगी, त्यों-ही-त्यों नाशवान् पदार्थोंसे विमुखता होती चली जायगी। नाशवान् पदार्थोंसे सर्वथा विमुखता होनेपर 'मेरी स्थिति तो अनादिकालसे परमात्मामें ही है'—इसका अनुभव हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है तथा आकाशमें ही लीन हो जाती है अर्थात् आकाशको छोड़कर वायुकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं तथा भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं अर्थात् भगवान्‌को छोड़कर प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—इस बातको साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसको 'सब कुछ भगवान् ही हैं' इस वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जायगा।

इस श्लोकको समझनेके लिये कार्य-कारणभाव जैसा ठीक बैठता है, वैसा विवर्तवाद ठीक नहीं बैठता। 'विवर्त' का अर्थ है— विरुद्ध बर्ताव। जो नहीं है और दीखता है, जैसे रस्सीमें साँप दीखना—यह विवर्तवाद है। विवर्तवादमें दो सत्ता होना आवश्यक है; जैसे—रस्सी और उसमें दीखनेवाला साँप—दोनोंकी अलग-अलग (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) सत्ता है। परन्तु गीताके इस श्लोकमें आकाश और वायुका दृष्टान्त दिया गया है, जो दोनों एक ही (व्यावहारिक) सत्ता है। तात्पर्य है कि रस्सीमें साँपकी तरह आकाशमें वायु अध्यस्त नहीं है अथवा आकाशमें वायुकी प्रतीतिमात्र नहीं है, प्रत्युत वायु आकाशका कार्य है। कार्यकी कारणके साथ अभिन्नता होती है अर्थात् कार्य और कारणकी एक सत्ता होती है; जैसे—सोना और उसका कार्य गहने—दोनोंकी एक सत्ता है। अतः जैसे सोना और गहने—दोनोंमें तत्त्वसे एक सोना-ही-सोना है, ऐसे ही परमात्मा और सम्पूर्ण प्राणी—दोनोंमें तत्त्वसे एक परमात्मा-ही-परमात्मा है। इसी बातको गीताने '**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९) और '**सदसच्चाहम्**' (९। १९) पदोंसे कहा है, जो गीताका खास सिद्धान्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत संसारमें सत्यत्वबुद्धि हटानेका एक साधन है।

अगर वायु स्पन्दित हो तो वायुमें आकाश है और आकाशमें वायु है। अगर वायु स्पन्दित न हो तो न वायुमें आकाश है, न आकाशमें वायु है अर्थात् आकाश-ही-आकाश है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक वायुकी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यता है, तबतक आकाशमें वायु और वायुमें आकाश है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो न आकाशमें वायु है, न वायुमें आकाश है अर्थात् आकाश-ही-आकाश है। इसी तरह तात्त्विक दृष्टिसे न परमात्मामें प्राणी हैं, न प्राणियोंमें परमात्मा है अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा है (गीता—इसी अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)।

इस श्लोकमें वायुके लिये दो पद आये हैं—'**सर्वत्रगः**' और '**महान्**'। इससे यह समझना चाहिये कि जीवात्मा भी संसारकी दृष्टिसे (प्रकृतिके सम्बन्धसे) चौरासी लाख योनियाँ, तीन लोक, चौदह भुवन आदिमें घूमनेके कारण '**सर्वत्रगः**' है। '**महान्**' पदसे अनन्त ब्रह्माण्डोंके सभी जीव (जीव-समुदाय) समझना चाहिये। जैसे वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है अर्थात् वायुका आकाशके साथ नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही जीवमात्रका परमात्माके साथ नित्य सम्बन्ध (नित्ययोग) है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण प्राणियोंकी स्थिति अपनेमें बतायी, पर उनके महासर्ग और महाप्रलयका वर्णन करना बाकी रह गया। अतः उसका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

कौन्तेय = हे कुन्तीनन्दन! **कल्पक्षये** = कल्पोंका क्षय होनेपर (महाप्रलय-के समय) **सर्वभूतानि** = सम्पूर्ण प्राणी **मामिकाम्** = मेरी **प्रकृतिम्** = प्रकृतिको **यान्ति** = प्राप्त होते हैं (और)

कल्पादौ	= कल्पोंके आदिमें (महासर्गके समय)	**अहम्**	= मैं	**तानि**	= उनकी
		पुनः	= फिर	**विसृजामि**	= रचना करता हूँ।

व्याख्या—**'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये'**—सम्पूर्ण प्राणी मेरे ही अंश हैं और सदा मेरेमें ही स्थित रहनेवाले हैं। परन्तु वे प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर आदिके साथ तादात्म्य (मैं-मेरेपनका सम्बन्ध) करके जो कुछ भी कर्म करते हैं, उन कर्मों तथा उनके फलोंके साथ उनका सम्बन्ध जुड़ता जाता है, जिससे वे बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। जब महाप्रलयका समय आता है (जिसमें ब्रह्माजी सौ वर्षकी आयु पूरी होनेपर लीन हो जाते हैं), उस समय प्रकृतिके परवश हुए वे सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिजन्य सम्बन्धको लेकर अर्थात् अपने-अपने कर्मोंको लेकर मेरी प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं।

महासर्गके समय प्राणियोंका जो स्वभाव होता है, उसी स्वभावको लेकर वे महाप्रलयमें लीन होते हैं।

'पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्'—महाप्रलयके समय अपने-अपने कर्मोंको लेकर प्रकृतिमें लीन हुए प्राणियोंके कर्म जब परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब प्रभुके मनमें **'बहु स्यां प्रजायेय'** ऐसा संकल्प हो जाता है। यही महासर्गका आरम्भ है। इसीको आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है—**'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः'** अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंका जो होनापन है, उसको प्रकट करनेके लिये भगवान्‌का जो संकल्प है, यही विसर्ग (त्याग) है और यही आदिकर्म है। चौदहवें अध्यायमें इसीको **'गर्भं दधाम्यहम्'** (१४। ३) और **'अहं बीजप्रदः पिता'** (१४। ४) कहा है।

तात्पर्य यह हुआ कि कल्पोंके आदिमें अर्थात् महासर्गके आदिमें ब्रह्माजीके प्रकट होनेपर मैं पुनः प्रकृतिमें लीन हुए, प्रकृतिके परवश हुए, उन जीवोंका उनके कर्मोंके अनुसार उन-उन योनियों-(शरीरों-) के साथ विशेष सम्बन्ध करा देता हूँ—यह मेरा उनको रचना है। इसीको भगवान्‌ने चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें कहा है—**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'** अर्थात् मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना की गयी है।

ब्रह्माजीके एक दिनका नाम 'कल्प' है, जो मानवीय एक हजार चतुर्युगीका होता है। इतने ही समयकी ब्रह्माजीकी एक रात होती है। इस हिसाबसे ब्रह्माजीकी आयु सौ वर्षोंकी होती है। ब्रह्माजीकी आयु समाप्त होनेपर जब ब्रह्माजी लीन हो जाते हैं, उस महाप्रलयको यहाँ **'कल्पक्षये'** पदसे कहा गया है। जब ब्रह्माजी पुनः प्रकट होते हैं, उस महासर्गको यहाँ **'कल्पादौ'** पदसे कहा गया है।

यहाँ **'सर्वभूतानि प्रकृतिं यान्ति'** महाप्रलयमें तो जीव स्वयं प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और **'तानि कल्पादौ विसृजामि'** महासर्गके आदिमें मैं उनकी रचना करता हूँ—ये दो प्रकारकी क्रियाएँ देनेका तात्पर्य है कि क्रियाशील होनेसे प्रकृति स्वयं लयकी तरफ जाती है अर्थात् क्रिया करते-करते थकावट होती है तो प्रकृतिका परमात्मामें लय होता है। ऐसी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखनेसे महाप्रलयके समय प्राणी भी स्वयं प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और प्रकृति परमात्मामें लीन हो जाती है। महासर्गके आदिमें उनके परिपक्व कर्मोंका फल देकर उनको शुद्ध करनेके लिये मैं उनके शरीरोंकी रचना करता हूँ। रचना उन्हीं प्राणियोंकी करता हूँ, जो कि प्रकृतिके परवश हुए हैं। जैसे मकानका निर्माण तो किया जाता है, पर वह धीरे-धीरे स्वतः गिर जाता है, ऐसे ही सृष्टिकी रचना तो भगवान् करते हैं, पर प्रलय स्वतः होता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रकृतिके कार्य-(संसार-शरीर-) की रचनामें तो भगवान्‌का हाथ होता है; पर प्रकृतिका कार्य ह्रासकी तरफ स्वतः जाता है। ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीव स्वतः भगवान्‌की तरफ, उत्थानकी तरफ जाता है। परन्तु जब वह कामना, ममता, आसक्ति करके स्वतः पतन-(ह्रास-) की तरफ जानेवाले नाशवान् शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह पतनकी तरफ चला जाता है। इसलिये मनुष्यको अपने विवेकको महत्त्व देकर तत्परतासे अपना उत्थान करना चाहिये अर्थात् कामना, ममता, आसक्तिका त्याग करके केवल भगवान्‌के ही सम्मुख हो जाना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—सृष्टिमें तीन बातें मुख्य हैं—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय। साधककी दृष्टि संसारकी स्थितिकी तरफ ही रहती है, इसलिये पहले पूर्वश्लोकमें स्थितिकी बात कहकर अब भगवान् इस श्लोकमें उत्पत्ति और प्रलयकी बात कहते हैं। तात्पर्य है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—तीनों ही समग्र परमात्मासे होते हैं।

वास्तवमें संसारकी स्थिति है ही नहीं, प्रत्युत उत्पत्ति और प्रलयके प्रवाहको ही स्थिति कह देते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो संसारकी उत्पत्ति भी नहीं है, प्रत्युत प्रलय-ही-प्रलय अर्थात् अभाव-ही-अभाव है। अतः संसारका प्रलय, अभाव अथवा वियोग ही मुख्य है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

प्रकृतेः	= प्रकृतिके	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण	**प्रकृतिम्**	= प्रकृतिको
वशात्	= वशमें होनेसे	**भूतग्रामम्**	= प्राणिसमुदायकी (कल्पोंके आदिमें)	**अवष्टभ्य**	= वशमें करके
अवशम्	= परतन्त्र हुए			**पुनः, पुनः**	= बार-बार
इमम्	= इस	**स्वाम्**	= (मैं) अपनी	**विसृजामि**	= रचना करता हूँ।

व्याख्या—**'भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्'**—यहाँ 'प्रकृति' शब्द व्यष्टि प्रकृतिका वाचक है। महाप्रलयके समय सभी प्राणी अपनी व्यष्टि प्रकृति-(कारणशरीर-) में लीन हो जाते हैं, व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृतिमें लीन होती है और समष्टि प्रकृति परमात्मामें लीन हो जाती है। परन्तु जब महासर्गका समय आता है, तब जीवोंके कर्म फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं। उस उन्मुखताके कारण भगवान्में **'बहु स्यां प्रजायेय'** (छान्दोग्य० ६। २। ३)—यह संकल्प होता है, जिससे समष्टि प्रकृतिमें क्षोभ (हलचल) पैदा हो जाता है। जैसे, दहीको बिलोया जाय तो उसमें मक्खन और छाछ—ये दो चीजें पैदा हो जाती हैं। मक्खन तो ऊपर आ जाता है और छाछ नीचे रह जाती है। यहाँ मक्खन सात्त्विक है, छाछ तामस है और बिलोनारूप क्रिया राजस है। ऐसे ही भगवान्के संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ हुआ तो प्रकृतिसे सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गुण पैदा हो गये। उन तीनों गुणोंसे स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—ये तीनों लोक पैदा हुए। उन तीनों लोकोंमें भी अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभावसे सात्त्विक, राजस और तामस जीव पैदा हुए अर्थात् कोई सत्त्व-प्रधान हैं, कोई रजःप्रधान हैं और कोई तमःप्रधान हैं।

इसी महासर्गका वर्णन चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें भी किया गया है। वहाँ परमात्माकी प्रकृतिको 'महद्ब्रह्म' कहा गया है और परमात्माके अंश जीवोंका अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध करा देनेको बीज-स्थापन करना कहा गया है।

ये जीव महाप्रलयके समय प्रकृतिमें लीन हुए थे, तो तत्त्वतः प्रकृतिका कार्य प्रकृतिमें लीन हुआ था और परमात्माका अंश—चेतन-समुदाय परमात्मामें लीन हुआ था। परन्तु वह चेतन-समुदाय अपने गुणों और कर्मोंके संस्कारोंको साथ लेकर ही परमात्मामें लीन हुआ था, इसलिये परमात्मामें लीन होनेपर भी वह मुक्त नहीं हुआ। अगर वह लीन होनेसे पहले गुणोंका त्याग कर देता, तो परमात्मामें लीन होनेपर सदाके लिये मुक्त हो जाता, जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूट जाता। उन गुणोंका त्याग न करनेसे ही उसका महासर्गके आदिमें अलग-अलग योनियोंके शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है अर्थात् अलग-अलग योनियोंमें जन्म हो जाता है।

अलग-अलग योनियोंमें जन्म होनेमें इस चेतन-समुदायकी व्यष्टि प्रकृति अर्थात् गुण, कर्म आदिसे माने हुए स्वभावकी परवशता ही कारण है। आठवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जो परवशता बतायी गयी है, वह भी व्यष्टि प्रकृतिकी है। तीसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जो अवशता बतायी गयी है, वह जन्म होनेके बादकी परवशता है। यह परवशता तीनों लोकोंमें है। इसी परवशताका चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें गुणोंकी परवशताके रूपमें वर्णन हुआ है।

'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य'—प्रकृति परमात्माकी एक अनिर्वचनीय अलौकिक विलक्षण शक्ति है। इसको परमात्मासे भिन्न भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते। ऐसी अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके परमात्मा महासर्गके आदिमें प्रकृतिके परवश हुए जीवोंकी रचना करते हैं।

परमात्मा प्रकृतिको लेकर ही सृष्टिकी रचना करते हैं, प्रकृतिके बिना नहीं। कारण कि सृष्टिमें जो परिवर्तन होता है, उत्पत्ति-विनाश होता है, वह सब प्रकृतिमें ही होता है,

भगवान्‌में नहीं। अतः भगवान् क्रियाशील प्रकृतिको लेकर ही सृष्टिकी रचना करते हैं। इसमें भगवान्‌की कोई असमर्थता, पराधीनता, अभाव, कमजोरी आदि नहीं है।

जैसे मनुष्यके द्वारा विभिन्न कार्य होते हैं, तो वे विभिन्न करण, उपकरण, इन्द्रियों और वृत्तियोंसे होते हैं। पर यह मनुष्यकी कमजोरी नहीं है, प्रत्युत यह उसका इन करण, उपकरण आदिपर आधिपत्य है, जिससे वह इनके द्वारा कर्म करा लेता है। (हाँ, मनुष्यमें यह कमी है कि वह उन कर्मोंको अपना और अपने लिये मान लेता है, जिससे वह लिप्त हो जाता है अर्थात् अधिपति होता हुआ भी गुलाम हो जाता है।) ऐसे ही भगवान् सृष्टिकी रचना करते हैं तो उनका प्रकृतिपर आधिपत्य ही सिद्ध होता है। पर आधिपत्य होनेपर भी भगवान्‌में लिप्तता आदि नहीं होती।

'विसृजामि पुनः पुनः'*—यहाँ **'वि'** उपसर्गपूर्वक **'सृजामि'** क्रिया देनेका तात्पर्य है कि भगवान् जिन जीवोंकी रचना करते हैं, वे विविध (अनेक प्रकारके) कर्मोंवाले ही होते हैं। इसलिये भगवान् उनकी विविध प्रकारसे रचना करते हैं अर्थात् स्थावर-जंगम, स्थूल-सूक्ष्म आदि भौतिक शरीरोंमें भी कई पृथ्वीप्रधान, कई तेजप्रधान, कई वायुप्रधान आदि अनेक प्रकारके शरीर होते हैं, उन सबकी भगवान् रचना करते हैं।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि भगवान् उन्हीं जीवोंकी रचना करते हैं, जो व्यष्टि प्रकृतिके साथ 'मैं' और 'मेरा' करके प्रकृतिके वशमें हो गये हैं। व्यष्टि प्रकृतिके परवश होनेसे ही जीव समष्टि प्रकृतिके परवश होता है। प्रकृतिके परवश न होनेसे महासर्गमें उसका जन्म नहीं होता।

परिशिष्ट भाव—तत्त्वसे प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न है। अतः वास्तवमें भगवान्‌का स्वरूप प्रकृतिसहित ही है। भगवान्‌को प्रकृतिरहित मानना उनको एकदेशीय मानना है, जो सम्भव ही नहीं है।

'अवशं प्रकृतेर्वशात्'—परा प्रकृति अर्थात् स्वयं सर्वथा स्वतन्त्र (स्वस्थ) है। विजातीय अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह परतन्त्र (प्रकृतिस्थ) हुआ है, अन्यथा वह परतन्त्र हो सकता ही नहीं। गुणोंका संग होना ही परतन्त्रता है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

जो प्रकृतिके वशमें (अवश) हैं, उन्हीं प्राणियोंकी भगवान् बार-बार रचना करते हैं। जो प्रकृतिके वशमें (अवश) नहीं हैं, उनकी रचना नहीं होती—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

सम्बन्ध—आसक्ति और कर्तृत्वाभिमानपूर्वक कर्म करनेसे मनुष्य कर्मोंसे बँध जाता है। भगवान् बार-बार सृष्टि-रचनारूप कर्म करनेसे भी क्यों नहीं बँधते? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

धनञ्जय	= हे धनंजय!	**च**	= और	**तानि**	= वे
तेषु	= उन (सृष्टि-रचना आदि)	**उदासीनवत्**	= उदासीनकी तरह	**कर्माणि**	= कर्म
कर्मसु	= कर्मोंमें	**आसीनम्**	= रहते हुए	**न**	= नहीं
असक्तम्	= अनासक्त	**माम्**	= मुझे	**निबध्नन्ति**	= बाँधते।

व्याख्या—**'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु'**—महासर्गके आदिमें प्रकृतिके परवश हुए प्राणियोंकी उनके कर्मोंके अनुसार विविध प्रकारसे रचनारूप जो कर्म है, उसमें मेरी आसक्ति नहीं है। कारण कि मैं उनमें उदासीनकी तरह रहता हूँ अर्थात् प्राणियोंके उत्पन्न होनेपर मैं हर्षित नहीं होता और उनके प्रकृतिमें लीन होनेपर मैं खिन्न नहीं होता।

यहाँ **'उदासीनवत्'** पदमें जो **'वत्'** (वति) प्रत्यय है, उसका अर्थ 'तरह' होता है; अतः इस पदका अर्थ हुआ—उदासीनकी तरह। भगवान्‌ने अपनेको उदासीनकी तरह क्यों कहा? कारण कि मनुष्य उसी वस्तुसे उदासीन होता है,

---

*** यहाँ (छठे, सातवें और आठवें श्लोकमें) 'विसृजामि' पदसे उत्पत्तिका, 'मत्स्थानि' पदसे स्थितिका और 'प्रकृतिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये' पदोंसे प्रलयका वर्णन आ गया है।**

जिस वस्तुकी वह सत्ता मानता है। परन्तु जिस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, उसकी भगवान्‌के सिवाय कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। इसलिये भगवान् उस संसारकी रचनारूप कर्मसे उदासीन क्या रहें? वे तो उदासीनकी तरह रहते हैं; क्योंकि भगवान्‌की दृष्टिमें संसारकी कोई सत्ता ही नहीं है। तात्पर्य है कि वास्तवमें यह सब भगवान्‌का ही स्वरूप है, इनकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, तो अपने स्वरूपसे भगवान् क्या उदासीन रहें? इसलिये भगवान् उदासीनकी तरह हैं।

'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति'—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैं प्राणियोंको बार-बार रचता हूँ, उन रचनारूप कर्मोंको ही यहाँ **'तानि'** कहा गया है। वे कर्म मेरेको नहीं बाँधते; क्योंकि उन कर्मों और उनके फलोंके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा कहकर भगवान् मनुष्यमात्रको यह शिक्षा देते हैं, कर्म-बन्धनसे छूटनेकी युक्ति बताते हैं कि जैसे मैं कर्मोंमें आसक्त न होनेसे बँधता नहीं हूँ, ऐसे ही तुमलोग भी कर्मोंमें और उनके फलोंमें आसक्ति न रखो, तो सब कर्म करते हुए भी उनसे बँधोगे नहीं। अगर तुमलोग कर्मोंमें और उनके फलोंमें आसक्ति रखोगे, तो तुमको दुःख पाना ही पड़ेगा, बार-बार जन्मना-मरना ही पड़ेगा। कारण कि कर्मोंका आरम्भ और अन्त होता है तथा फल भी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर कर्मफलकी इच्छाके कारण मनुष्य बँध जाता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि कर्म और उसका फल तो नहीं रहता, पर (फलेच्छाके कारण) बन्धन रह जाता है! ऐसे ही वस्तु नहीं रहती, पर वस्तुका सम्बन्ध (बन्धन) रह जाता है! सम्बन्धी नहीं रहता, पर उसका सम्बन्ध रह जाता है! मूर्खताकी बलिहारी है!!

परिशिष्ट भाव—'कर्मोंसे मनुष्य बँधता है **(कर्मणा बध्यते जन्तुः)**—इस सांसारिक दृष्टिसे ही भगवान् कहते हैं कि मैं कर्मोंसे नहीं बँधता (गीता—चौथे अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); क्योंकि मेरेमें न कर्मासक्ति है, न फलासक्ति है और न कर्तृत्व है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो कर्मोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं! सृष्टि-रचना-रूप कर्म भगवान्‌का ही स्वरूप है—**'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्'** (गीता ७। २९), **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः'** (गीता ८। ३)। तात्पर्य है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्‌के द्वारा ही हो रहा है तथा भगवान्‌का ही स्वरूप है। उत्पन्न करनेवाला तथा उत्पन्न होनेवाला, पालन करनेवाला तथा पालित होनेवाला, नाश करनेवाला तथा नष्ट होनेवाला—ये सब एक ही समग्र भगवान्‌के अंग (स्वरूप) हैं—**'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'** (गीता ७। ६)।

सब कुछ भगवान् ही हैं, दूसरा कोई है ही नहीं, फिर भगवान् किससे उदासीन हों? इसलिये भगवान्‌ने अपनेको **'उदासीनवत्'** अर्थात् उदासीनकी तरह कहा है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें आसक्तिका निषेध करके अब भगवान् कर्तृत्वाभिमानका निषेध करते हैं।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

प्रकृतिः = प्रकृति
मया = मेरी
अध्यक्षेण = अध्यक्षतामें
सचराचरम् = चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌की
सूयते = रचना करती है।
कौन्तेय = हे कुन्तीनन्दन!
अनेन = इसी
हेतुना = हेतुसे
जगत् = जगत्‌का (विविध प्रकारसे)
विपरिवर्तते = परिवर्तन होता है।

व्याख्या—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**—मेरेसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चर-अचर, जड-चेतन आदि भौतिक सृष्टिको रचती है। जैसे बर्फका जमना, हीटरका जलना, ट्राम और रेलका आना-जाना, लिफ्टका चढ़ना-उतरना, हजारों मील दूरीपर बोले जानेवाले शब्दोंको सुनना, हजारों मील दूरीपर होनेवाले नाटक आदिको देखना, शरीरके भीतरका चित्र लेना, अल्पसमयमें ही बड़े-से-बड़ा हिसाब कर लेना, आदि-आदि कार्य विभिन्न-विभिन्न यन्त्रोंके द्वारा होते हैं। परन्तु उन सभी यन्त्रोंमें शक्ति बिजलीकी ही होती है। बिजलीकी शक्तिके बिना वे यन्त्र

स्वयं काम कर ही नहीं सकते; क्योंकि उन यन्त्रोंमें बिजलीको छोड़कर कोई सामर्थ्य नहीं है। ऐसे ही संसारमें जो कुछ परिवर्तन हो रहा है अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डोंका सर्जन, पालन और संहार, स्वर्गादि लोकोंमें और नरकोंमें पुण्य-पापके फलका भोग, तरह-तरहकी विचित्र परिस्थितियाँ और घटनाएँ, तरह-तरहकी आकृतियाँ, वेश-भूषा, स्वभाव आदि जो कुछ हो रहा है, वह सब-का-सब प्रकृतिके द्वारा ही हो रहा है; पर वास्तवमें हो रहा है भगवान्‌की अध्यक्षता अर्थात् सत्ता-स्फूर्तिसे ही। भगवान्‌की सत्ता-स्फूर्तिके बिना प्रकृति ऐसे विचित्र काम कर ही नहीं सकती; क्योंकि भगवान्‌को छोड़कर प्रकृतिमें ऐसी स्वतन्त्र सामर्थ्य ही नहीं है कि जिससे वह ऐसे-ऐसे काम कर सके। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे बिजलीमें सब शक्तियाँ हैं, पर वे मशीनोंके द्वारा ही प्रकट होती हैं, ऐसे ही भगवान्‌में अनन्त शक्तियाँ हैं, पर वे प्रकृतिके द्वारा ही प्रकट होती हैं।

भगवान् संसारकी रचना प्रकृतिको लेकर करते हैं; और प्रकृति संसारकी रचना भगवान्‌की अध्यक्षतामें करती है। 'भगवान् अध्यक्ष हैं'—इसी हेतुसे जगत्‌का विविध परिवर्तन होता है—'**हेतुनानेन जगद्विपरिवर्तते**'। वह विविध परिवर्तन क्या है? जबतक प्राणियोंका प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरोंके साथ 'मैं' और 'मेरा-पन' बना हुआ है, तबतक उनका विविध परिवर्तन होता ही रहता है अर्थात् कभी किसी लोकमें तो कभी किसी लोकमें, कभी किसी शरीरमें तो कभी किसी शरीरमें परिवर्तन होता ही रहता है। तात्पर्य हुआ कि भगवत्प्राप्तिके बिना उन प्राणियोंकी कहीं भी स्थायी स्थिति नहीं होती। वे जन्म-मरणके चक्करमें घूमते ही रहते हैं (गीता—नवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

सभी प्राणी भगवान्‌में स्थित होनेसे भगवान्‌को प्राप्त हैं, पर जब वे अपनेको भगवान्‌में न मानकर प्रकृतिमें मान लेते हैं अर्थात् प्रकृतिके कार्यके साथ 'मैं' और 'मेरा-पन' का सम्बन्ध मान लेते हैं, तब वे प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं। फिर भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति उनके शरीरोंको उत्पन्न और लीन करती रहती है। वास्तवमें देखा जाय तो उन प्राणियोंको उत्पन्न और लीन करनेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है; क्योंकि वह जड है। यह स्वयं भी जन्मता-मरता नहीं; क्योंकि परमात्माका अंश होनेसे स्वयं अविनाशी है, चेतन है, निर्विकार है। परन्तु प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ मैं-मेरापनका सम्बन्ध जोड़कर, उनके परवश होकर इसको जन्मना-मरना पड़ता है अर्थात् नये-नये शरीर धारण करने और छोड़ने पड़ते हैं।

जगत्-मात्रकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी जो क्रिया होती है, वह सब प्रकृतिसे ही होती है, प्रकृतिमें ही होती है और प्रकृतिकी ही होती है। परन्तु उस प्रकृतिको परमात्मासे ही सत्ता-स्फूर्ति मिलती है। परमात्मासे सत्ता-स्फूर्ति मिलनेपर भी परमात्मामें कर्तृत्व नहीं आता। जैसे, सूर्यके प्रकाशमें सभी प्राणी सब कर्म करते हैं और उनके कर्मोंमें विहित तथा निषिद्ध सब तरहकी क्रियाएँ होती हैं। उन कर्मोंके अनुसार ही प्राणी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका अनुभव करते हैं अर्थात् कोई सुखी है तो कोई दु:खी है; कोई ऊँचा है तो कोई नीचा है, कोई किसी लोकमें है तो कोई किसी लोकमें है, कोई किसी वर्ण-आश्रममें है तो कोई किसी वर्ण-आश्रममें है आदि तरह-तरहका परिवर्तन होता है। परन्तु सूर्य और उसका प्रकाश ज्यों-का-त्यों ही रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई अन्तर नहीं आता। ऐसे ही संसारमें विविध प्रकारका परिवर्तन हो रहा है, पर परमात्मा और उनका अंश जीवात्मा ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। वास्तवमें अपने स्वरूपमें किंचिन्मात्र भी परिवर्तन न है, न हुआ, न होगा और न हो ही सकता है। केवल परिवर्तनशील संसारके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे अर्थात् तादात्म्य, ममता और कामना करनेसे ही संसारका परिवर्तन अपनेमें होता हुआ प्रतीत होता है। अगर प्राणी जिन भगवान्‌की अध्यक्षतामें सब परिवर्तन होता है, उनके साथ अपनी वास्तविक एकता मान ले (जो कि स्वत:सिद्ध है), तो भगवान्‌के साथ इसका जो वास्तविक प्रेम है, वह स्वत: प्रकट हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चराचरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करती है अर्थात् सब परिवर्तन प्रकृतिमें ही होता है, भगवान्‌में नहीं। जबतक प्राणियोंका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक प्रकृतिकी परवशताके कारण उनमें विविध परिवर्तन होता रहता है अर्थात् उनकी कहीं भी स्थायी स्थिति नहीं होती, प्रत्युत वे जन्म-मरणके चक्रमें घूमते रहते हैं।

प्रकृति तो परमात्माके अधीन रहकर सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना करती है, पर जीव प्रकृतिके अधीन होकर जन्म-मरणके चक्रमें घूमता है। तात्पर्य है कि परमात्मा तो स्वतन्त्र हैं, पर उनका अंश जीवात्मा सुखकी इच्छाके कारण परतन्त्र हो जाता है।

तत्त्वसे भगवान् (शक्तिमान्) और प्रकृति (शक्ति) एक होते हुए भी मनुष्योंको समझानेकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं कि सृष्टिकी रचनामें प्रकृतिका मुख्य हाथ है। वास्तवमें न प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता है, न कर्मोंकी।

अगर भगवान् और उनकी प्रकृतिको अलग-अलग देखें तो संसारका उपादान कारण प्रकृति है और निमित्त कारण भगवान् हैं; क्योंकि संसार-रूपसे भगवान् परिणत नहीं होते, प्रत्युत प्रकृति परिणत होती है। परन्तु भगवान् और उनकी प्रकृतिको एक देखें (जो कि वास्तवमें एक हैं) तो भगवान् संसारके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं।

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने परा और अपरा प्रकृतिके स्वरूपका वर्णन किया है और यहाँ (नवें अध्यायके आरम्भमें) उनके कार्यों-(उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-) का वर्णन किया है, जो भगवान्‌की लीला है। तात्पर्य है कि सातवें अध्यायमें परा-अपराका वर्णन मुख्य है और यहाँ परा-अपराके मालिक-(परमात्मा-) का वर्णन मुख्य है। इस अध्यायमें भगवान्‌की लीला, प्रभाव, ऐश्वर्यका विशद वर्णन है, जिससे साधकका भगवान्‌में प्रेम हो जाय, वह मुक्तिमें अटके नहीं।

सम्बन्ध—जो नित्य-निरन्तर अपने-आपमें ही स्थित रहते हैं, जिसके आश्रयसे प्रकृति घूम रही है और संसारमात्रका परिवर्तन हो रहा है, ऐसे परमात्माकी तरफ दृष्टि न डालकर जो उलटे चलते हैं, उनका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

मूढाः = मूर्खलोग
मम = मेरे
भूतमहेश्वरम् = सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप
परम्, भावम् = श्रेष्ठभावको
अजानन्तः = न जानते हुए
माम् = मुझे
मानुषीम्, तनुम् = मनुष्यशरीरके
आश्रितम् = आश्रित मानकर अर्थात् साधारण मनुष्य मानकर
अवजानन्ति = (मेरी) अवज्ञा करते हैं।

व्याख्या—**'परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्'**—जिसकी सत्ता-स्फूर्ति पाकर प्रकृति अनन्त ब्रह्माण्डोंकी रचना करती है, चर-अचर, स्थावर-जंगम प्राणियोंको पैदा करती है; जो प्रकृति और उसके कार्यमात्रका संचालक, प्रवर्तक, शासक और संरक्षक है; जिसकी इच्छाके बिना वृक्षका पत्ता भी नहीं हिलता; प्राणी अपने कर्मोंके अनुसार जिन-जिन लोकोंमें जाते हैं, उन-उन लोकोंमें प्राणियोंपर शासन करनेवाले जितने देवता हैं, उनका भी जो ईश्वर (मालिक) है और जो सबको जाननेवाला है—ऐसा वह मेरा भूतमहेश्वररूप सर्वोत्कृष्ट भाव (स्वरूप) है।

'परं भावम्' कहनेका तात्पर्य है कि मेरे सर्वोत्कृष्ट प्रभावको अर्थात् करनेमें, न करनेमें और उलट-फेर करनेमें जो सर्वथा स्वतन्त्र है; जो कर्म, क्लेश, विपाक आदि किसी भी विकारसे कभी आबद्ध नहीं है; जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम है तथा वेदों और शास्त्रोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)—ऐसे मेरे परम-भावको मूढ़लोग नहीं जानते, इसीसे वे मेरेको मनुष्य-जैसा मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं।

'मानुषीं तनुमाश्रितम्'—भगवान्‌को मनुष्य मानना क्या है? जैसे साधारण मनुष्य अपनेको शरीर, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति, पद-अधिकार आदिके आश्रित मानते हैं अर्थात् शरीर, कुटुम्ब आदिकी इज्जत-प्रतिष्ठाको अपनी इज्जत-प्रतिष्ठा मानते हैं; उन पदार्थोंके मिलनेसे अपनेको बड़ा मानते हैं और उनके न मिलनेसे अपनेको छोटा मानते हैं; और जैसे साधारण प्राणी पहले प्रकट नहीं थे, बीचमें प्रकट हो जाते हैं तथा अन्तमें पुनः अप्रकट हो जाते हैं (गीता २। २८), ऐसे ही वे मेरेको साधारण मनुष्य मानते हैं। वे मेरेको मनुष्यशरीरके परवश मानते हैं अर्थात् जैसे साधारण मनुष्य होते हैं, ऐसे ही साधारण मनुष्य कृष्ण हैं—ऐसा मानते हैं।

भगवान् शरीरके आश्रित नहीं होते। शरीरके आश्रित तो वे ही होते हैं, जिनको कर्मफलभोगके लिये पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार शरीर मिलता है। परन्तु भगवान्‌का मानवीय शरीर कर्मजन्य नहीं होता। वे अपनी इच्छासे ही प्रकट होते हैं—**'इच्छयाऽऽत्तवपुषः'** (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३५) और स्वतन्त्रतापूर्वक मत्स्य, कच्छप, वराह आदि अवतार लेते हैं। इसलिये उनको न तो कर्मबन्धन होता है और न वे शरीरके आश्रित होते हैं, प्रत्युत शरीर उनके आश्रित होता है—

'**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि**' (गीता ४। ६) अर्थात् वे प्रकृतिको अधिकृत करके प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य प्राणी तो प्रकृतिके परवश होकर जन्म लेते हैं तथा प्रकृतिके आश्रित होकर ही कर्म करते हैं, पर भगवान् स्वेच्छासे, स्वतन्त्रतासे अवतार लेते हैं और प्रकृति भी उनकी अध्यक्षतामें काम करती है।

मूढ़लोग मेरे अवतारके तत्त्वको न जानकर मेरेको मनुष्यशरीरके आश्रित (शरण) मानते हैं अर्थात् उनको होना तो चाहिये मेरे शरण, पर मानते हैं मेरेको मनुष्यशरीरके शरण! तो वे मेरे शरण कैसे होंगे? हो ही नहीं सकते। यही बात भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें कही है कि बुद्धिहीन लोग मेरे अज-अविनाशी परमभावको न जानते हुए मेरेको साधारण मनुष्य मानते हैं (सातवें अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ श्लोक)। इसलिये वे मेरे शरण न होकर देवताओंके शरण होते हैं (सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)।

'**अवजानन्ति मां**[1] **मूढाः**'—जिसकी अध्यक्षतामें प्रकृति अनन्त ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न और लीन करती है, जिसकी सत्ता-स्फूर्तिसे संसारमें सब कुछ हो रहा है और जिसने कृपा करके अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर दिया है—ऐसे मुझ सत्य-तत्त्वकी मूढ़लोग अवहेलना करते हैं। वे मेरेको न मानकर उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंको ही सत्य मानकर उनका संग्रह करने और भोग भोगनेमें ही लगे रहते हैं—यही मेरी अवज्ञा, अवहेलना करना है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें भगवान्‌के प्रभावका विशेष वर्णन हुआ है। भगवान्‌से बड़ा कोई ईश्वर नहीं है। वे सर्वोपरि हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य उनको स्वरूपसे नहीं जानते। वे अलौकिक भगवान्‌को भी अपनी तरह लौकिक समझते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण एक योगी थे, ईश्वर नहीं थे। योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि (योगदर्शन द्वितीयपाद, उनतीसवाँ सूत्र)। इनमें सबसे पहले 'यम' आता है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (योगदर्शन द्वितीयपाद, तीसवाँ सूत्र)। अतः जो योगी होगा, वह 'यम' का पालन अवश्य करेगा अर्थात् वह सत्य ही बोलेगा। अगर वह असत्य बोलता है तो वह योगी नहीं हो सकता; क्योंकि उसने योगके पहले अंग (यम)-का ही पालन नहीं किया! गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने जगह-जगह अपनेको ईश्वर कहा है[2]। अतः अगर वे योगी हैं तो वे सत्य बोलते हैं और अगर वे सत्य बोलते हैं तो वे समग्र ईश्वर हैं—यह मानना ही पड़ेगा।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें अपनी अवज्ञाका फल बताते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

आसुरीम्	= (जो) आसुरी,	**विचेतसः**	= ऐसे अविवेकी मनुष्योंकी	**मोघज्ञानाः**	= सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् उनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान (समझ) सत्-फल देनेवाले नहीं होते।
राक्षसीम्	= राक्षसी	**मोघाशाः**	= सब आशाएँ व्यर्थ होती हैं,		
च	= और	**मोघकर्माणः**	= सब शुभकर्म व्यर्थ होते हैं (और)		
मोहिनीम्	= मोहिनी				
प्रकृतिम्	= प्रकृतिका				
एव	= ही				
श्रिताः	= आश्रय लेते हैं,				

१-इस अध्यायके चौथे श्लोकसे दसवें श्लोकतक जिस परमात्माका वर्णन हुआ है, उसीको यहाँ 'माम्' पदसे कहा गया है।

२-'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' (४। ६), 'सर्वलोकमहेश्वरम्' (५। २९), 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७। ७), 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (९। ४), 'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्' (१०। ३), 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' (१५। १५) आदि-आदि।

व्याख्या—'**मोघाशाः**'—जो लोग भगवान्‌से विमुख होते हैं, वे सांसारिक भोग चाहते हैं, स्वर्ग चाहते हैं तो उनकी ये सब कामनाएँ व्यर्थ ही होती हैं। कारण कि नाशवान् और परिवर्तनशील वस्तुकी कामना पूरी होगी ही—यह कोई नियम नहीं है। अगर कभी पूरी हो भी जाय, तो वह टिकेगी नहीं अर्थात् फल देकर नष्ट हो जायगी। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक कितनी ही सांसारिक वस्तुओंकी इच्छाएँ की जायँ और उनका फल भी मिल जाय तो भी वह सब व्यर्थ ही है (गीता—सातवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

'**मोघकर्माणः**'—भगवान्‌से विमुख हुए मनुष्य शास्त्रविहित कितने ही शुभकर्म करें, पर अन्तमें वे सभी व्यर्थ हो जायँगे। कारण कि मनुष्य अगर सकामभावसे शास्त्र-विहित यज्ञ, दान आदि कर्म भी करेंगे, तो भी उन कर्मोंका आदि और अन्त होगा और उनके फलका भी आदि और अन्त होगा। वे उन कर्मोंके फलस्वरूप ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें भी चले जायँगे, तो भी वहाँसे उनको फिर जन्म-मरणमें आना ही पड़ेगा। इसलिये उन्होंने कर्म करके केवल अपना समय बरबाद किया, अपनी बुद्धि बरबाद की और मिला कुछ नहीं। अन्तमें रीते-के-रीते रह गये अर्थात् जिसके लिये मनुष्यशरीर मिला था, उस लाभसे सदा ही रीते रह गये। इसलिये उनके सब कर्म व्यर्थ, निष्फल ही हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि ये मनुष्य स्वरूपसे साक्षात् परमात्माके अंश हैं, सदा रहनेवाले हैं और कर्म तथा उनका फल आदि-अन्तवाला है; अतः जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक वे सकामभावपूर्वक कितने ही कर्म करें और उनका फल भोगें, पर अन्तमें दुःख और अशान्तिके सिवाय कुछ नहीं मिलेगा।

जो शास्त्रविहित कर्म अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करनेकी इच्छासे सकामभावपूर्वक किये जाते हैं, वे ही कर्म व्यर्थ होते हैं अर्थात् सत्-फल देनेवाले नहीं होते। परन्तु जो कर्म भगवान्‌के लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं और जो कर्म भगवान्‌के अर्पण किये जाते हैं, वे कर्म निष्फल नहीं होते अर्थात् नाशवान् फल देनेवाले नहीं होते, प्रत्युत सत्-फल देनेवाले हो जाते हैं—'**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते**' (गीता १७। २७)।

सत्रहवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है कि जिनकी मेरेमें श्रद्धा नहीं है अर्थात् जो मेरेसे विमुख हैं, उनके द्वारा किये गये यज्ञ, दान, तप आदि सभी कर्म असत् होते हैं अर्थात् मेरी प्राप्ति करानेवाले नहीं होते। उन कर्मोंका इस जन्ममें और मरनेके बाद भी (परलोकमें) स्थायी फल नहीं मिलता अर्थात् जो कुछ फल मिलता है, विनाशी ही मिलता है। इसलिये उनके वे सब कर्म व्यर्थ ही हैं।

'**मोघज्ञानाः**'—उनके सब ज्ञान व्यर्थ हैं। भगवान्‌से विमुख होकर उन्होंने संसारकी सब भाषाएँ सीख लीं, सब लिपियाँ सीख लीं, तरह-तरहकी कलाएँ सीख लीं, तरह-तरहकी विद्याओंका ज्ञान प्राप्त कर लिया, कई तरहके आविष्कार कर लिये, अनन्त प्रकारके ज्ञान प्राप्त कर लिये, पर इससे उनका कल्याण नहीं होगा, जन्म-मरण नहीं छूटेगा। इसलिये वे सब ज्ञान निष्फल हैं। जैसे, हिसाब करते समय एक अंककी भी भूल हो जाय तो हिसाब कभी सही नहीं आता, सब गलत हो जाता है, ऐसे ही जो भगवान्‌से विमुख हो गये हैं, वे कुछ भी ज्ञान-सम्पादन करें, वह सब गलत होगा और पतनकी तरफ ही ले जायगा।

'**विचेतसः**'—उनको सार-असार, नित्य-अनित्य, लाभ-हानि, कर्तव्य-अकर्तव्य, मुक्ति-बन्धन आदि बातोंका ज्ञान नहीं है।

'**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः**'—जो मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें, अपनी कामनापूर्ति करनेमें, अपने प्राणोंका पोषण करनेमें ही लगे रहते हैं, दूसरोंको कितना दुःख हो रहा है, दूसरोंका कितना नुकसान हो रहा है—इसकी परवाह ही नहीं करते, वे 'आसुरी' स्वभाववाले होते हैं।

जिनके स्वार्थमें, कामना-पूर्तिमें बाधा लग जाती है, उनको गुस्सा आ जाता है और गुस्सेमें आकर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंका नुकसान कर देते हैं, दूसरोंका नाश कर देते हैं, वे 'राक्षसी' स्वभाववाले होते हैं।

जिसमें अपना न स्वार्थ है, न परमार्थ है और न वैर है, फिर भी बिना किसी कारणके जो दूसरोंका नुकसान कर देते हैं, दूसरोंको कष्ट देते हैं (जैसे, उड़ते हुए पक्षीको गोली मार दी, सोते हुए कुत्तेको लाठी मार दी और फिर राजी हो गये), वे 'मोहिनी' स्वभाववाले होते हैं।

परमात्मासे विमुख होकर केवल अपने प्राणोंको रखनेकी अर्थात् सुखपूर्वक जीनेकी जो इच्छा होती है, वह आसुरी प्रकृति है। ऊपर जो तीन प्रकारकी प्रकृति (आसुरी, राक्षसी और मोहिनी) बतायी गयी है, उसके मूलमें आसुरी प्रकृति ही है अर्थात् आसुरी सम्पत्ति ही सबका मूल है। एक

आसुरी सम्पत्तिके आश्रित होनेपर राक्षसी और मोहिनी प्रकृति भी स्वाभाविक आ जाती है। कारण कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका ध्येय होनेसे सब अनर्थ-परम्परा आ ही जाती है। उसी आसुरी सम्पत्तिके तीन भेद यहाँ बताये गये हैं—कामनाकी प्रधानतावालोंकी 'आसुरी', क्रोधकी प्रधानतावालोंकी 'राक्षसी' और मोह-(मूढ़ता-) की प्रधानतावालोंकी 'मोहिनी' प्रकृति होती है। तात्पर्य है कि कामनाकी प्रधानता होनेसे आसुरी प्रकृति आती है। जहाँ कामनाकी प्रधानता होती है, वहाँ राक्षसी प्रकृति—क्रोध आ ही जाता है—**'कामात्क्रोधोऽभिजायते'** (गीता २। ६२) और जहाँ क्रोध आता है, वहाँ मोहिनी प्रकृति— मोह आ ही जाता है—**'क्रोधाद्भवति सम्मोहः'** (२। ६३)। यह सम्मोह लोभसे भी होता है और मूर्खतासे भी होता है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें आसुरी सम्पत्तिकी बात आयी है, जिसका फलसहित विस्तारसे वर्णन भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें किया है। आसुरी सम्पत्तिका फल है—चौरासी लाख योनियोंकी तथा नरकोंकी प्राप्ति (गीता—सोलहवें अध्यायका उन्नीसवाँ-बीसवाँ श्लोक)। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य जो फल चाहते हैं, वह तो उनको नहीं मिलता **(मोघाशाः)**, पर अनिष्ट फल (दण्ड) तो उनको मिलता ही है। वे पाप तो करते हैं सुख पानेके लिये, पर सुख तो मिलता नहीं, दुःख जरूर पाना पड़ता है! वे करते तो हैं भगवान्‌की अवज्ञा, पर परिणाममें अपना ही नुकसान करते हैं, भगवान्‌में क्या फर्क पड़ा?

सम्बन्ध—चौथे श्लोकसे लेकर दसवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने प्रभाव, सामर्थ्य आदिका वर्णन किया। उस प्रभावको न माननेवालोंका वर्णन तो ग्यारहवें और बारहवें श्लोकमें कर दिया। अब उस प्रभावको जानकर भजन करनेवालोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

तु	= परन्तु	**अनन्यमनसः**	= अनन्यमनवाले	**अव्ययम्**	= (और) अविनाशी
पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**महात्मानः**	= महात्मालोग		
दैवीम्	= दैवी	**माम्**	= मुझे	**ज्ञात्वा**	= समझकर
प्रकृतिम्	= प्रकृतिके	**भूतादिम्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि	**भजन्ति**	= (मेरा) भजन करते हैं।
आश्रिताः	= आश्रित				

व्याख्या—**'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः'**—पूर्वश्लोकमें जिन आसुरी, राक्षसी और मोहिनी स्वभावके आश्रित मूढ़लोगोंका वर्णन किया था, उनसे दैवी-सम्पत्तिके आश्रित महात्माओंकी विलक्षणता बतानेके लिये ही यहाँ **'तु'** पद आया है।

'दैवीं प्रकृतिम्'—अर्थात् दैवी सम्पत्तिमें 'देव' नाम परमात्माका है और परमात्माकी सम्पत्ति दैवी सम्पत्ति कहलाती है। परमात्मा 'सत्' हैं; अतः परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले जितने गुण और आचरण हैं, उनके साथ 'सत्' शब्द लगता है अर्थात् वे सद्‌गुण और सदाचार कहलाते हैं। जितने भी सद्‌गुण-सदाचार हैं, वे सब-के-सब भगवत्स्वरूप हैं अर्थात् वे सभी भगवान्‌के ही स्वभाव हैं और स्वभाव होनेसे ही उनको 'प्रकृति' कहा गया है। इसलिये दैवी प्रकृतिका आश्रय लेना भी भगवान्‌का ही आश्रय लेना है।

दैवी सम्पत्तिके जितने भी गुण हैं (गीता—सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक), वे सभी सामान्य गुण हैं और स्वतःसिद्ध हैं अर्थात् इन गुणोंपर सभी मनुष्योंका पूरा अधिकार है। अब कोई इन गुणोंका आश्रय ले या न ले—यह तो मनुष्योंपर निर्भर है; परन्तु जो इनका आश्रय लेकर परमात्माकी तरफ चलते हैं, वे अपना कल्याण कर लेते हैं।

एक खोज होती है और एक उत्पत्ति होती है। खोज नित्यतत्त्वकी होती है, जो कि पहलेसे ही है। जिस वस्तुकी उत्पत्ति होती है, वह नष्ट होनेवाली होती है। दैवी सम्पत्तिके जितने सद्‌गुण-सदाचार हैं, उनको भगवान्‌के और भगवत्-स्वरूप समझकर धारण करना, उनका आश्रय लेना 'खोज' है। कारण कि ये किसीके उत्पन्न किये हुए नहीं हैं अर्थात् ये किसीकी व्यक्तिगत उपज, बपौती नहीं हैं। जो इन गुणोंको अपने पुरुषार्थके द्वारा उपार्जित मानता है अर्थात्

स्वाभाविक न मानकर अपने बनाये हुए मानता है, उसको इन गुणोंका अभिमान होता है। यह अभिमान ही वास्तवमें प्राणीकी व्यक्तिगत उपज है, जो नष्ट होनेवाली है।

जब मनुष्य दैवी गुणोंको अपने बलके द्वारा उपार्जित मानता है और 'मैं सत्य बोलता हूँ, दूसरे सत्य नहीं बोलते'—इस तरह दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता मानता है, तब उसमें इन गुणोंका अभिमान पैदा हो जाता है। परन्तु इन गुणोंको केवल भगवान्‌के ही गुण माननेसे और भगवत्स्वरूप समझकर इनका आश्रय लेनेसे अभिमान पैदा नहीं होता।

दैवी सम्पत्तिके अधूरेपनमें ही अभिमान पैदा होता है। दैवी सम्पत्तिके (अपनेमें) पूर्ण होनेपर अभिमान पैदा नहीं होता। जैसे, किसीको 'मैं सत्यवादी हूँ'—इसका अभिमान होता है, तो उसमें सत्यभाषणके साथ-साथ आंशिक असत्यभाषण भी है। अगर सर्वथा सत्यभाषण हो तो 'मैं सत्य बोलनेवाला हूँ'—इसका अभिमान नहीं हो सकता, प्रत्युत उसका यह भाव रहेगा कि 'मैं सत्यवादी हूँ तो मैं असत्य कैसे बोल सकता हूँ!'

मनुष्यमें दैवी सम्पत्ति तभी प्रकट होती है, जब उसका उद्देश्य केवल भगवत्प्राप्तिका हो जाता है। भगवत्प्राप्तिके लिये दैवी गुणोंका आश्रय लेकर ही वह परमात्माकी तरफ बढ़ सकता है। दैवी गुणोंका आश्रय लेनेसे उसमें अभिमान नहीं आता; प्रत्युत नम्रता, सरलता, निरभिमानता आती है और साधनमें नित्य नया उत्साह आता है।

जो मनुष्य भगवान्‌से विमुख होकर उत्पत्ति-विनाशशील भोगों और उनके संग्रहमें लगे हुए हैं, वे 'अल्पात्मा' हैं अर्थात् मूढ़ हैं; परन्तु जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय लिया है, जिनकी मूढ़ता चली गयी है और जिन्होंने केवल प्रभुके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है, तो महान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेसे, सत्य-तत्त्वकी तरफ ही लक्ष्य होनेसे वे 'महात्मा' हैं।

'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्'—मैं सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि हूँ और अविनाशी हूँ। तात्पर्य है कि संसार उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समयमें मैं था और सब संसार लीन हो जायगा; उस समयमें भी मैं रहूँगा—ऐसा मैं अनादि-अनन्त हूँ। अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त सृष्टियाँ, अनन्त स्थावर-जंगम प्राणी मेरेसे उत्पन्न होते हैं, मेरेमें ही स्थित रहते हैं, मेरे द्वारा ही पालित होते हैं और मेरेमें ही लीन होते हैं; परन्तु मैं ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता हूँ अर्थात् मेरेमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती।

सांसारिक वस्तुओंका यह नियम है कि किसी वस्तुसे कोई चीज उत्पन्न होती है, तो उस वस्तुमें कमी आ जाती है; जैसे—मिट्टीसे घड़े पैदा होनेपर मिट्टीमें कमी आ जाती है; सोनेसे गहने पैदा होनेपर सोनेमें कमी आ जाती है, आदि। परन्तु मेरेसे अनन्त सृष्टियाँ पैदा होनेपर भी मेरेमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती; क्योंकि मैं सबका अव्यय बीज हूँ (गीता—नवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। जिन मनुष्योंने मेरेको अनादि और अव्यय जान लिया है, वे अनन्य मनसे मेरा ही भजन करते हैं।

जो जिसके महत्त्वको जितना अधिक जानता है, वह उतना ही अधिक उसमें लग जाता है। जिन्होंने भगवान्‌को सर्वोपरि जान लिया है, वे भगवान्‌में ही लग जाते हैं। उनकी पहचानके लिये यहाँ **'अनन्यमनसः'** पद आया है। उनका मन भगवान्‌में ही लीन हो जानेसे उनकी वृत्ति इस लोकके और परलोकके भोगोंकी तरफ कभी नहीं जाती। भोगोंमें उनकी महत्त्वबुद्धि नहीं रहती।

'अनन्य मनवाला' होनेका तात्पर्य है कि उनके मनमें अन्यका आश्रय नहीं है, सहारा नहीं है, भरोसा नहीं है, अन्य किसीमें आकर्षण नहीं है और केवल भगवान्‌में ही अपनापन है। इस प्रकार अनन्य मनसे वे भगवान्‌का भजन करते हैं।

भगवान्‌का भजन किसी तरहसे किया जाय, उससे लाभ ही होता है। परन्तु भगवान्‌के साथ अनन्य होकर 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' ऐसा सम्बन्ध जोड़कर थोड़ा भी भजन किया जाय तो उससे बहुत लाभ होता है। कारण कि अपनेपनका सम्बन्ध (भावरूप होनेसे) नित्य-निरन्तर रहता है, जब कि क्रियाका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर नहीं रहता, क्रिया छूटते ही उसका सम्बन्ध छूट जाता है। इसलिये सबके आदि और अविनाशी परमात्मा मेरे हैं और मैं उनका हूँ—ऐसा जिसने मान लिया है, वह अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित करके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो कुछ भी शारीरिक, व्यावहारिक, लौकिक, वैदिक, पारमार्थिक कार्य करता है, वह सब भजनरूपसे प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही होता है—यही उसका अनन्य मनसे भजन करना है। इसका वर्णन गीतामें जगह-जगह हुआ है (जैसे, आठवें अध्यायका चौदहवाँ, नवें अध्यायका बाईसवाँ, बारहवें अध्यायका छठा और चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें पतनकी तरफ जानेवाले संसारी मनुष्योंका वर्णन करके अब उनसे विलक्षण भगवान्‌की तरफ जानेवाले मनुष्यों-(भक्तों-)का वर्णन करते हैं। 'दैवी प्रकृति' का अर्थ है—भगवान्‌का स्वभाव।

आसुरी प्रकृतिके आश्रित मनुष्य न तो भगवान्‌को मानते हैं और न उनकी आज्ञाको ही मानते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। परन्तु दैवी प्रकृतिके आश्रित मनुष्य भगवान्‌को भी मानते हैं और उनकी आज्ञाको भी मानते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्'—अनन्त ब्रह्माण्डोंके अविनाशी बीज भगवान् ही हैं (गीता—सातवें अध्यायका दसवाँ और नवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)—इस प्रकार दृढ़तापूर्वक मानना ही भगवान्‌को आदि और अविनाशी जानना है। दृढ़ मान्यता भी जाननेके समान होती है। भगवान् सबके आदि और अविनाशी हैं—इसका वर्णन इसी अध्यायके चौथे श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक हुआ है।

सम्बन्ध—पीछेके श्लोकमें भजन करनेवालोंका वर्णन करके अब भगवान् आगेके श्लोकमें उनके भजनका प्रकार बताते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

नित्ययुक्ताः = नित्य-निरन्तर (मुझमें) लगे हुए मनुष्य
दृढव्रताः = दृढव्रती होकर
यतन्तः = लगनपूर्वक साधनमें लगे हुए
च = और
भक्त्या = प्रेमपूर्वक
कीर्तयन्तः = कीर्तन करते हुए
च = तथा
माम् = मुझे
नमस्यन्तः = नमस्कार करते हुए
सततम् = निरन्तर
माम् = मेरी
उपासते = उपासना करते हैं।

व्याख्या—**'नित्ययुक्ताः'**—मात्र मनुष्य भगवान्‌में ही नित्ययुक्त रह सकते हैं, हरदम लगे रह सकते हैं, सांसारिक भोगों और संग्रहमें नहीं। कारण कि समय-समयपर भोगोंसे भी ग्लानि होती है और संग्रहसे भी उपरति होती है। परन्तु भगवान्‌की प्राप्तिका, भगवान्‌की तरफ चलनेका जो एक उद्देश्य बनता है, एक दृढ़ विचार होता है, उसमें कभी भी फरक नहीं पड़ता।

भगवान्‌का अंश होनेसे जीवका भगवान्‌के साथ अखण्ड सम्बन्ध है। मनुष्य जबतक उस सम्बन्धको नहीं पहचानता, तभीतक वह भगवान्‌से विमुख रहता है, अपनेको भगवान्‌से अलग मानता है। परन्तु जब वह भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचान लेता है, तो फिर वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, भगवान्‌से अलग नहीं रह सकता और उसको भगवान्‌के सम्बन्धकी विस्मृति भी नहीं होती—यही उसका 'नित्ययुक्त' रहना है।

मनुष्यका भगवान्‌के साथ 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसा जो स्वयंका सम्बन्ध है, वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन अवस्थाओंमें, एकान्तमें भजन-ध्यान करते हुए अथवा सेवारूपसे संसारके सब काम करते हुए भी कभी खण्डित नहीं होता, अटलरूपसे सदा ही बना रहता है। जैसे मनुष्य अपनेको जिस माँ-बापका मान लेता है, सब काम करते हुए भी उसका 'मैं अमुकका लड़का हूँ' यह भाव सदा बना रहता है। उसको याद रहे चाहे न रहे, वह याद करे चाहे न करे, पर यह भाव हरदम रहता है; क्योंकि 'मैं अमुकका लड़का हूँ'—यह भाव उसके 'मैं'-पनमें बैठ गया है ऐसे ही जो 'अनादि, अविनाशी, सर्वोपरि भगवान् ही मेरे हैं और मैं उनका ही हूँ'—इस वास्तविकताको जान लेता है, मान लेता है, तो यह भाव हरदम बना रहता है। इस प्रकार भगवान्‌के साथ अपना वास्तविक सम्बन्ध मान लेना ही 'नित्ययुक्त' होना है।

'दृढव्रताः'—जो सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, वे जो पारमार्थिक निश्चय करते हैं, वह निश्चय दृढ़ नहीं होता (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। परन्तु जिन्होंने भीतरसे ही अपने मैं-पनको बदल दिया है कि 'हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं', उनका यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'हम संसारके नहीं हैं और संसार हमारा नहीं है'; अतः हमें सांसारिक भोग और संग्रहकी तरफ कभी जाना ही नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के नाते केवल सेवा कर देनी है। इस प्रकार उनका निश्चय बहुत दृढ़ होता है। अपने निश्चयसे वे कभी विचलित नहीं

होते। कारण कि उनका उद्देश्य भगवान्‌का है और वे स्वयं भी भगवान्‌के अंश हैं। उनके निश्चयमें अदृढ़ता आनेका प्रश्न ही नहीं है। अदृढ़ता तो सांसारिक निश्चयमें आती है, जो कि टिकनेवाला नहीं है।

'यतन्तश्च'—जैसे सांसारिक मनुष्य कुटुम्बका पालन करते हैं तो ममतापूर्वक करते हैं, रुपये कमाते हैं तो लोभपूर्वक कमाते हैं, ऐसे ही भगवान्‌के भक्त भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न (साधन) करते हैं तो लगनपूर्वक ही करते हैं। उनके प्रयत्न सांसारिक दीखते हुए भी वास्तवमें सांसारिक नहीं होते; क्योंकि उनके प्रयत्नमात्रका उद्देश्य भगवान् ही होते हैं।

'भक्त्या कीर्तयन्तो माम्'—वे भक्त प्रेमपूर्वक कभी भगवान्‌के नामका कीर्तन करते हैं, कभी नाम-जप करते हैं, कभी पाठ करते हैं, कभी नित्यकर्म करते हैं, कभी भगवत्-सम्बन्धी बातें सुनाते हैं; आदि-आदि। वे जो कुछ वाणी-सम्बन्धी क्रियाएँ करते हैं, वह सब भगवान्‌का स्तोत्र ही होता है—**'स्तोत्राणि सर्वा गिरः।'**

'नमस्यन्तश्च'—वे भक्तिपूर्वक भगवान्‌को नमस्कार करते हैं। उनमें सद्‌गुण-सदाचार आते हैं, उनके द्वारा भगवान्‌के अनुकूल कोई चेष्टा होती है, तो वे इस भावसे भगवान्‌को नमस्कार करते हैं कि 'हे नाथ! यह सब आपकी कृपासे ही हो रहा है। आपकी तरफ इतनी अभिरुचि और तत्परता मेरे उद्योगसे नहीं हुई है। अतः इन सद्‌गुण-सदाचारोंको, इस साधनको आपकी कृपासे हुआ समझकर मैं तो आपको केवल नमस्कार ही कर सकता हूँ।

'सततं मां उपासते'—इस प्रकार मेरे अनन्यभक्त निरन्तर मेरी उपासना करते हैं। निरन्तर उपासना करनेका तात्पर्य है कि वे कीर्तन-नमस्कार आदिके सिवाय जो भी खाना-पीना, सोना-जगना तथा व्यापार करना, खेती करना आदि साधारण क्रियाएँ करते हैं, उन सबको भी मेरे लिये ही करते हैं। उनकी सम्पूर्ण लौकिक, पारमार्थिक क्रियाएँ केवल मेरे उद्देश्यसे, मेरी प्रसन्नताके लिये ही होती हैं।

परिशिष्ट भाव—भक्त जो कुछ कहता है, वह सब भगवान्‌का ही कीर्तन है। वह जो कुछ क्रिया करता है, वह सब भगवान्‌की ही सेवा है* (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके कारण भक्त नित्ययुक्त होते हैं।

सम्बन्ध—अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके नित्य-तत्त्वकी तरफ चलनेवाले साधक कई प्रकारके होते हैं। उनमेंसे भक्तिके साधकोंका वर्णन पीछेके दो श्लोकोंमें कर दिया, अब दूसरे साधकोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

अन्ये	= दूसरे साधक
ज्ञानयज्ञेन	= ज्ञानयज्ञके द्वारा
एकत्वेन	= एकीभावसे (अभेदभावसे)
माम्	= मेरा
यजन्तः	= पूजन करते हुए
उपासते	= मेरी उपासना करते हैं
च	= और
अपि	= दूसरे भी कई साधक
पृथक्त्वेन	= (अपनेको) पृथक् मानकर
विश्वतोमुखम्	= चारों तरफ मुखवाले मेरे विराट्‌रूपकी अर्थात् संसारको मेरा विराट्‌रूप मानकर सेव्य-सेवकभावसे
बहुधा	= (मेरी) अनेक प्रकारसे (उपासना करते हैं)।

---

* **कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।**
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ (श्रीमद्भा० ११। २। ३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अथवा अनुगत स्वभावसे मनुष्य जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है, इस भावसे उन्हें समर्पित कर दे।'

संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥ (शिवमानसपूजा)

'हे शम्भो! मेरा चलना-फिरना आपकी परिक्रमा है तथा सम्पूर्ण शब्द आपके स्तोत्र हैं। मैं जो-जो भी कर्म करता हूँ, वह सब आपकी आराधना ही है।'

व्याख्या—[जैसे, भूखे आदमियोंकी भूख एक होती है और भोजन करनेपर सबकी तृप्ति भी एक होती है; परन्तु उनकी भोजनके पदार्थोंमें रुचि भिन्न-भिन्न होती है। ऐसे ही परिवर्तनशील अनित्य संसारकी तरफ लगे हुए लोग कुछ भी करते हैं, पर उनकी तृप्ति नहीं होती, वे अभावग्रस्त ही रहते हैं। जब वे संसारसे विमुख होकर केवल परमात्माकी तरफ ही चलते हैं, तब परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उन सबकी तृप्ति हो जाती है अर्थात् वे कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाते हैं। परन्तु उनकी रुचि, योग्यता, श्रद्धा, विश्वास आदि भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिये उनकी उपासनाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं।]

'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते एकत्वेन'—कई ज्ञानयोगी साधक ज्ञानयज्ञसे अर्थात् विवेकपूर्वक असत्का त्याग करते हुए सर्वत्र व्यापक परमात्मतत्त्वको और अपने वास्तविक स्वरूपको एक मानते हुए मेरे निर्गुण-निराकार स्वरूपकी उपासना करते हैं।

इस परिवर्तनशील संसारकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि यह संसार पहले अभावरूपसे था और अब भी अभावमें जा रहा है। अतः यह अभावरूप ही है। जिससे संसार उत्पन्न हुआ है, जिसके आश्रित है और जिससे प्रकाशित होता है, उस परमात्माकी सत्तासे ही इसकी सत्ता प्रतीत हो रही है। उस परमात्माके साथ हमारी एकता है—इस प्रकार उस परमात्माकी तरफ नित्य-निरन्तर दृष्टि रखना ही एकीभावसे उपासना करना है।

यहाँ **'यजन्तः'** पदका तात्पर्य है कि उनके भीतर केवल परमात्मतत्त्वका ही आदर है—यही उनका पूजन है।

'पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्'—ऐसे ही कई कर्मयोगी साधक अपनेको सेवक मानकर और मात्र संसारको भगवान्‌का विराट्‌रूप मानकर अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी सम्पूर्ण क्रियाओंको तथा पदार्थोंको संसारकी सेवामें ही लगा देते हैं। इन सबको सुख कैसे हो, सबका दुःख कैसे मिटे, इनकी सेवा कैसे बने—ऐसी विचारधारासे वे अपने तन, मन, धन आदिसे जनता-जनार्दनकी सेवामें ही लगे रहते हैं, भगवत्कृपासे उनको पूर्णताकी प्राप्ति हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—सभी साधक अपनी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वासके अनुसार अलग-अलग साधनोंसे जिसकी भी उपासना करते हैं, वह भगवान्‌के समग्ररूपकी ही उपासना होती है। आगे सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक इसी समग्ररूपका वर्णन हुआ है।

सम्बन्ध—जब सभी उपासनाएँ अलग-अलग हैं, तो फिर सभी उपासनाएँ आपकी कैसे हुईं? इसपर आगेके चार श्लोक कहते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

क्रतुः = क्रतु
अहम् = मैं हूँ,
यज्ञः = यज्ञ
अहम् = मैं हूँ,
स्वधा = स्वधा
अहम् = मैं हूँ,
औषधम् = औषध
अहम् = मैं हूँ,
मन्त्रः = मन्त्र
अहम् = मैं हूँ,
आज्यम् = घृत
अहम् = मैं हूँ,
अग्निः = अग्नि
अहम् = मैं हूँ (और)
हुतम् = हवनरूप क्रिया
एव = भी
अहम् = मैं हूँ।
वेद्यम् = जाननेयोग्य
पवित्रम् = पवित्र
ओङ्कारः = ओंकार,
ऋक् = ऋग्वेद,
साम = सामवेद
च = और
यजुः = यजुर्वेद
एव = भी
अहम् = मैं ही हूँ।
अस्य = इस

जगतः	= सम्पूर्ण जगत्का	**भर्ता**	= भर्ता,	**प्रभवः**	= उत्पत्ति,
पिता	= पिता,	**प्रभुः**	= प्रभु,	**प्रलयः**	= प्रलय,
धाता	= धाता,	**साक्षी**	= साक्षी,	**स्थानम्**	= स्थान,
माता	= माता,	**निवासः**	= निवास,	**निधानम्**	= निधान (भण्डार)
पितामहः	= पितामह,	**शरणम्**	= आश्रय,	**अव्ययम्**	= (तथा) अविनाशी
गतिः	= गति,	**सुहृत्**	= सुहृद्,	**बीजम्**	= बीज (भी मैं ही हूँ)।

व्याख्या—[सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतकके इस मध्यम षट्कमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिका (उपासनाका) वर्णन किया है और उसमें '**अस्मत्**' अर्थात् '**अहम्**', '**मम**', '**मया**', '**मत्**' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। यहाँ सोलहवें श्लोकमें तो '**अस्मत्**' अर्थात् '**अहम्**' शब्दका प्रयोग आठ बार किया गया है। '**अहम्**' शब्दका इतना अधिक प्रयोग इस षट्कके दूसरे किसी भी श्लोकमें नहीं किया गया है।

अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वासके अनुसार किसीको भी साक्षात् परमात्माका स्वरूप मानकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय तो वास्तवमें यह सम्बन्ध सत्‌के साथ ही है। केवल अपने मन-बुद्धिमें किंचिन्मात्र भी संदेह न हो। जैसे ज्ञानके द्वारा मनुष्य सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें एक परमात्मतत्त्वको ही जानता है। परमात्माके सिवाय दूसरी किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया आदिकी किंचिन्मात्र भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इसमें उसको किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं होता। ऐसे ही भगवान् विराट्‌रूपसे अनेक रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं; अतः सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं—इसमें अपनेको किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं होना चाहिये। कारण कि 'यह सब भगवान् कैसे हो सकते हैं?' यह संदेह साधकको वास्तविक तत्त्वसे, मुक्तिसे वंचित कर देता है और महान् आफतमें फँसा देता है। अतः यह बात दृढ़तासे मान लें कि कार्य-कारणरूपसे स्थूल-सूक्ष्मरूप जो कुछ देखने, सुनने, समझने और माननेमें आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं। इसी कार्य-कारणरूपसे भगवान्‌की सर्वव्यापकताका वर्णन सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक किया गया है।]

'**अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्**'—जो वैदिक रीतिसे किया जाय, वह 'क्रतु' होता है। वह क्रतु मैं ही हूँ। जो स्मार्त (पौराणिक) रीतिसे किया जाय, वह 'यज्ञ' होता है, जिसको पंचमहायज्ञ आदि स्मार्त-कर्म कहते हैं। वह यज्ञ मैं हूँ। पितरोंके लिये जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसको स्वधा कहते हैं। वह स्वधा मैं ही हूँ। उन क्रतु, यज्ञ और स्वधाके लिये आवश्यक जो शाकल्य है अर्थात् वनस्पतियाँ हैं, बूटियाँ हैं, तिल, जौ, छुहारा आदि औषध है, वह औषध भी मैं ही हूँ।

'**मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्**'—जिस मन्त्रसे क्रतु, यज्ञ और स्वधा किये जाते हैं, वह मन्त्र भी मैं ही हूँ। यज्ञ आदिके लिये गो-घृत आवश्यक होता है, वह घृत भी मैं ही हूँ। जिस आहवनीय अग्निमें होम किया जाता है, वह अग्नि भी मैं ही हूँ और हवन करनेकी क्रिया भी मैं ही हूँ।

'**वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च**'—वेदोंकी बतायी हुई जो विधि है, उसको ठीक तरहसे जानना 'वेद्य' है। तात्पर्य है कि कामनापूर्तिके लिये अथवा कामना-निवृत्तिके लिये वैदिक और शास्त्रीय जो कुछ क्रतु, यज्ञ आदिका अनुष्ठान किया जाता है, वह विधि-विधान-सहित सांगोपांग होना चाहिये। अतः विधि-विधानको जाननेयोग्य सब बातें 'वेद्य' कहलाती हैं। वह वेद्य मेरा स्वरूप है।

यज्ञ, दान और तप—ये तीनों निष्काम पुरुषोंको महान् पवित्र करनेवाले हैं—'**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्**' (१८। ५)। इनमें निष्कामभावसे जो हव्य आदि वस्तुएँ खर्च होती हैं, वे भी पवित्र हो जाती हैं और इनमें निष्कामभावसे जो क्रिया की जाती है, वह भी पवित्र हो जाती है। यह पवित्रता मेरा स्वरूप है।

क्रतु, यज्ञ आदिका अनुष्ठान करनेके लिये जिन ऋचाओंका उच्चारण किया है, उन सबमें सबसे पहले 'ॐ' का ही उच्चारण किया जाता है। इसका उच्चारण करनेसे ही ऋचाएँ अभीष्ट फल देती हैं। वेदवादियोंकी यज्ञ, दान, तप आदि सभी क्रियाएँ 'ॐ' का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं (गीता—सत्रहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। वैदिकोंके लिये प्रणवका उच्चारण मुख्य है। इसलिये भगवान्‌ने प्रणवको अपना स्वरूप बताया है।

उन क्रतु, यज्ञ आदिकी विधि बतानेवाले ऋग्वेद,

सामवेद और यजुर्वेद—ये तीनों वेद हैं। जिसमें नियताक्षरवाले मन्त्रोंकी ऋचाएँ होती हैं, उन ऋचाओंके समुदायको 'ऋग्वेद' कहते हैं। जिसमें स्वरोंसहित गानेमें आनेवाले मन्त्र होते हैं, वे सब मन्त्र 'सामवेद' कहलाते हैं। जिसमें अनियताक्षरवाले मन्त्र होते हैं, वे मन्त्र 'यजुर्वेद' कहलाते हैं।[१] ये तीनों वेद भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः'—इस जड-चेतन, स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण संसारको मैं ही उत्पन्न करता हूँ—**'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः'** (गीता ७। ६) और बार-बार अवतार लेकर मैं ही इसकी रक्षा करता हूँ। इसलिये मैं **'पिता'** हूँ। ग्यारहवें अध्यायके तैंतालीसवें श्लोकमें अर्जुनने भी कहा है कि 'आप ही इस चराचर जगत्‌के पिता हैं'—**'पितासि लोकस्य चराचरस्य'**।

इस संसारको सब तरहसे मैं ही धारण करता हूँ और संसारमात्रका जो कुछ विधान बनता है, उस विधानको बनानेवाला भी मैं हूँ। इसलिये मैं **'धाता'** हूँ।

जीवोंकी अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जिस-जिस योनिमें, जैसे-जैसे शरीरोंकी आवश्यकता पड़ती है, उस-उस योनिमें वैसे-वैसे शरीरोंको पैदा करनेवाली **'माता'** मैं हूँ अर्थात् मैं सम्पूर्ण जगत्‌की माता हूँ।

प्रसिद्धिमें ब्रह्माजी सम्पूर्ण सृष्टिको पैदा करनेवाले हैं—इस दृष्टिसे ब्रह्माजी प्रजाके पिता हैं। वे ब्रह्माजी भी मेरेसे प्रकट होते हैं—इस दृष्टिसे मैं ब्रह्माजीका पिता और प्रजाका **'पितामह'** हूँ। अर्जुनने भी भगवान्‌को ब्रह्माके आदिकर्ता कहा है—**'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे'** (११। ३७)।

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'—प्राणियोंके लिये जो सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है, वह **'गति'**-स्वरूप मैं ही हूँ। संसारमात्रका भरण-पोषण करनेवाला **'भर्ता'** और संसारका मालिक **'प्रभु'** मैं ही हूँ। सब समयमें सबको ठीक तरहसे जाननेवाला **'साक्षी'** मैं हूँ। मेरे ही अंश होनेसे सभी जीव स्वरूपसे नित्य-निरन्तर मेरेमें ही रहते हैं, इसलिये उन सबका **'निवास'**-स्थान मैं ही हूँ। जिसका आश्रय लिया जाता है, वह **'शरण'** अर्थात् शरणागतवत्सल मैं ही हूँ। बिना कारण प्राणिमात्रका हित करनेवाला **'सुहृद्'** अर्थात् हितैषी भी मैं हूँ।

'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्'—सम्पूर्ण संसार मेरेसे ही उत्पन्न होता है और मेरेमें ही लीन होता है, इसलिये मैं **'प्रभव'** और **'प्रलय'** हूँ अर्थात् मैं ही संसारका निमित्तकारण और उपादानकारण हूँ (गीता—सातवें अध्यायका छठा श्लोक)।

महाप्रलय होनेपर प्रकृतिसहित सारा संसार मेरेमें ही रहता है, इसलिये मैं संसारका **'स्थान'**[२] हूँ।

संसारकी चाहे सर्ग-अवस्था हो, चाहे प्रलय-अवस्था हो, इन सब अवस्थाओंमें प्रकृति, संसार, जीव तथा जो कुछ देखने, सुनने, समझनेमें आता है, वह सब-का-सब मेरेमें ही रहता है, इसलिये मैं **'निधान'** हूँ।

सांसारिक बीज तो वृक्षसे पैदा होता है और वृक्षको पैदा करके नष्ट हो जाता है; परन्तु ये दोनों ही दोष मेरेमें नहीं हैं। मैं अनादि हूँ अर्थात् पैदा होनेवाला नहीं हूँ और अनन्त सृष्टियाँ पैदा करके भी जैसा-का-तैसा ही रहता हूँ। इसलिये मैं **'अव्यय बीज'** हूँ।

परिशिष्ट भाव—जैसे ज्ञानकी दृष्टिसे गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८), ऐसे ही भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्‌की वस्तु ही भगवान्‌के अर्पित हो रही है। जैसे कोई गंगाजलसे गंगाका पूजन करे, दीपकसे सूर्यका पूजन करे, पुष्पोंसे पृथ्वीका पूजन करे, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुसे भगवान्‌का ही पूजन हो रहा है! वास्तवमें देखा जाय तो पूज्य भी भगवान् हैं, पूजाकी सामग्री भी भगवान् हैं, पूजा भी भगवान् हैं तथा पूजक भी भगवान् हैं!

लौकिक बीज तो खेतीसे पैदा होनेवाला होता है, पर भगवान्‌रूपी अलौकिक बीज पैदा होनेवाला नहीं है, इसलिये

१-जिन मन्त्रोंमें अस्त्र-शस्त्र, भवन आदिका निर्माण करनेवाली लौकिक विद्याओंका वर्णन है, वे सब मन्त्र 'अथर्ववेद' कहलाते हैं। यद्यपि अनुसमुच्चयार्थ 'च' अव्ययसे अथर्ववेदका ग्रहण किया जा सकता है, तथापि उसमें लौकिक विद्याओंका वर्णन होनेसे क्रतु, यज्ञ आदिके अनुष्ठानमें उसका नाम नहीं लिया गया है। इसी कारणसे आगे बीसवें-इक्कीसवें श्लोकोंमें आये 'त्रैविद्याः' और 'त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः' पदोंमें भी ऋक्, साम, यजुः—इन तीनोंका ही संकेत किया गया है।

२-महासर्ग अवस्थामें सम्पूर्ण प्राणी जिसमें रहते हैं, वह 'निवास' है और महाप्रलय-अवस्थामें प्रकृतिसहित सारा संसार जिसमें रहता है, वह 'स्थान' है। यही निवास और स्थानमें अन्तर है।

भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें अपनेको 'सनातन बीज' बताया—**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'** (७। १०)। अब यहाँ भगवान् अपनेको 'अव्यय बीज' बताते हैं—**'बीजमव्ययम्'**। कारण कि लौकिक बीज तो अंकुर पैदा करके नष्ट हो जाता है, पर भगवान्‌रूपी अलौकिक बीज अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा करके भी ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता। तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌के आदिमें भी रहते हैं और अन्तमें भी रहते हैं। जो आदि और अन्तमें रहता है, वही मध्य-(वर्तमान-) में भी रहता है— यह सिद्धान्त है। जैसे अनेक तरहकी चीजें मिट्टीसे पैदा होती हैं, मिट्टीमें ही रहती हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जाती हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जितने भी बीज हैं, वे सब भगवान्‌से ही पैदा होते हैं, भगवान्‌में ही रहते हैं और अन्तमें भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं (गीता—दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि सांसारिक बीज तो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर भगवान्‌रूपी अविनाशी बीज आदि, मध्य और अन्तमें ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः वर्तमानमें संसाररूपसे भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

अर्जुन = हे अर्जुन! (संसारके हितके लिये)
अहम् = मैं (ही)
तपामि = सूर्यरूपसे तपता हूँ,
अहम् = मैं (ही)
निगृह्णामि = जलको ग्रहण करता हूँ
च = और (फिर उस जलको)
वर्षम् = (मैं ही) वर्षारूपसे
उत्सृजामि = बरसा देता हूँ। (और तो क्या कहूँ)
अमृतम् = अमृत
च = और
मृत्युः = मृत्यु
च = तथा
सत् = सत्
च = और
असत् = असत् (भी)
अहम्, एव = मैं ही हूँ।

व्याख्या—**'तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च'**—पृथ्वीपर जो कुछ अशुद्ध, गंदी चीजें हैं, जिनसे रोग पैदा होते हैं, उनका शोषण करके प्राणियोंको नीरोग करनेके लिये* अर्थात् ओषधियों, जड़ी-बूटियोंमें जो जहरीला भाग है, उसका शोषण करनेके लिये और पृथ्वीका जो जलीय भाग है, जिससे अपवित्रता होती है, उसको सुखानेके लिये मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ। सूर्यरूपसे उन सबके जलीय भागको ग्रहण करके और उस जलको शुद्ध तथा मीठा बना करके समय आनेपर वर्षारूपसे प्राणिमात्रके हितके लिये बरसा देता हूँ, जिससे प्राणिमात्रका जीवन चलता है।

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'—मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ अर्थात् मात्र जीवोंका प्राण धारण करते हुए जीवित रहना (न मरना) और सम्पूर्ण जीवोंके पिण्डप्राणोंका वियोग होना (मरना) भी मैं ही हूँ।

और तो क्या कहूँ, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, कारण-कार्यरूपसे जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि जैसे महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ वासुदेव (भगवत्स्वरूप) ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**, ऐसे ही भगवान्‌की दृष्टिमें सत्-असत्, कारण-कार्य सब कुछ भगवान् ही हैं। परन्तु सांसारिक लोगोंकी दृष्टिमें सब एक-दूसरेसे विरुद्ध दीखते हैं; जैसे—जीना और मरना अलग-अलग दीखता है, उत्पत्ति और विनाश अलग-अलग दीखता है, स्थूल और सूक्ष्म अलग-अलग दीखते हैं, सत्त्व-रज-तम—ये तीनों अलग-अलग दीखते हैं, कारण और कार्य अलग-अलग दीखते हैं, जल और बर्फ अलग-अलग दीखते हैं। परन्तु वास्तवमें संसाररूपमें भगवान् ही प्रकट होनेसे, भगवान् ही बने हुए होनेसे सब

---

* **नीरोगता सूर्यसे ही होती है—'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्।' (लौगाक्षिस्मृति)**

कुछ भगवत्स्वरूप ही है। भगवान्‌के सिवाय उसकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। जैसे सूतसे बने हुए सब कपड़ोंमें केवल सूत-ही-सूत है, ऐसे ही वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ आदि सब कुछ केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं।

परिशिष्ट भाव—सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे और अन्तमें भी परमात्मा रहेंगे, फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? इसलिये अमृत भी भगवान्‌का स्वरूप है और मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है। सत् (परा प्रकृति) भी भगवान्‌का स्वरूप है और असत् (अपरा प्रकृति) भी भगवान्‌का स्वरूप है। जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेला आदिका साग भी होता है अर्थात् मीठा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है और कड़वा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है। ऐसे ही जो हमारे मनको सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और जो नहीं सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है। सूर्यरूपसे जलको ग्रहण करना और फिर उसको बरसा देना—ये दोनों विपरीत कार्य (ग्रहण और त्याग) भी भगवान् करते हैं। इतना ही नहीं, जलरूपसे ग्रहण किये जानेवाले भी भगवान् हैं, बरसनेवाले भी भगवान् हैं और वर्षारूप क्रिया भी भगवान् हैं!

'**सदसच्चाहमर्जुन**'—संसारमें सत् (परा) और असत्-(अपरा-) के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। संसार असत् है और उसमें रहनेवाला परमात्मतत्त्व सत् है। शरीर असत् है और उसमें रहनेवाला जीवात्मा सत् है। शरीर और संसार परिवर्तनशील हैं, जीवात्मा और परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं। शरीर और संसार नाशवान् हैं, जीवात्मा और परमात्मा अविनाशी हैं (गीता—दूसरे अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। भगवान् कहते हैं कि परिवर्तनशील भी मैं हूँ और अपरिवर्तनशील भी मैं हूँ, नाशवान् भी मैं हूँ और अविनाशी भी मैं हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं। भगवान्‌के सिवाय और कुछ भी नहीं है (गीता—सातवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**'—इसमें तो विवेक है, पर '**सदसच्चाहम्**'—इसमें विवेक नहीं है, प्रत्युत विश्वास है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विश्वास विवेकसे भी तेज है। कारण कि विवेक वहीं काम करता है, जहाँ सत् और असत् दोनोंका विचार होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर विवेक क्या करे? असत्‌को मानें तो विवेक है और असत्‌को न मानें तो विश्वास है। विवेकमें सत्-असत्‌का विभाग है, पर विश्वासमें विभाग है ही नहीं। विश्वासमें केवल सत्-ही-सत् अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं।

ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें विश्वास तथा प्रेमकी मुख्यता है। ज्ञानमार्गमें सत्-असत्, जड़-चेतन, नित्य-अनित्य आदिका विवेक मुख्य होनेसे इसमें 'द्वैत' है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌का ही विश्वास मुख्य होनेसे इसमें 'अद्वैत' है। तात्पर्य है कि दो सत्ता न होनेसे वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है।

ज्ञानमार्गमें साधक असत्‌का निषेध करता है। निषेध करनेसे असत्‌की सत्ताका भाव बना रह सकता है। साधक असत्‌के निषेधपर जितना जोर लगाता है, उतना ही असत्‌की सत्ताका भाव दृढ़ होता है। अतः असत्‌का निषेध करना उतना बढ़िया नहीं है, जितना उसकी उपेक्षा करना बढ़िया है। उपेक्षा करनेकी अपेक्षा भी 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह भाव और भी बढ़िया है। अतः भक्त न असत्‌को हटाता है, न असत्‌की उपेक्षा करता है प्रत्युत सत्-असत् सबमें परमात्माका ही दर्शन करता है; क्योंकि वास्तवमें सब कुछ परमात्मा ही हैं। भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत्, असत् तथा सत्-असत्‌से परे जो कुछ हो सकता है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, अहम् आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। जैसे हम मनसे हरिद्वारका चिन्तन करें तो हरिकी पैड़ी, घंटाघर आदि स्थावर भी मन ही बनता है और गंगाजी तथा उसमें तैरती हुई मछलियाँ, स्नान करते हुए मनुष्य आदि जंगम भी मन ही बनता है अर्थात् स्थावर भी मन ही हुआ और जंगम भी मन ही हुआ। इसी तरह सत् भी भगवान्

हैं और असत् भी भगवान् हैं।

सत् और असत्—ये दो विभाग हमारी दृष्टिमें हैं, तभी भगवान् हमें समझानेके लिये कहते हैं—'**सदसच्चाहम्**'। भगवान्‌की दृष्टिमें तो एक उनके सिवाय कुछ नहीं है। ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक दृष्टिसे भी देखें तो सत्ता एक ही है। दो सत्ता हो ही नहीं सकती। दूसरी सत्ता माननेसे ही मोह होता है (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। राग-द्वेष भी दूसरी सत्ता माननेसे ही होते हैं।

सम्बन्ध—जगत्‌की रचना तथा विविध परिवर्तन मेरी अध्यक्षतामें ही होता है; परन्तु मेरे इस प्रभावको न जाननेवाले मूढ़लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेकर मेरी अवहेलना करते हैं, इसलिये वे पतनकी ओर जाते हैं। जो भक्त मेरे प्रभावको जानते हैं, वे मेरे दैवी गुणोंका आश्रय लेकर अनन्यमनसे मेरी विविध प्रकारसे उपासना करते हैं, इसलिये उनको सत्-असत् सब कुछ एक परमात्मा ही हैं—ऐसा यथार्थ अनुभव हो जाता है। परन्तु जिनके अन्तःकरणमें सांसारिक भोग और संग्रहकी कामना होती है, वे वास्तविक तत्त्वको न जानकर भगवान्‌से विमुख होकर स्वर्गादि लोकोंके भोगोंकी प्राप्तिके लिये सकामभावपूर्वक यज्ञादि अनुष्ठान किया करते हैं, इसलिये वे आवागमनको प्राप्त होते हैं—इसका वर्णन भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

त्रैविद्या	= तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठान-को करनेवाले (और)
सोमपाः	= सोमरसको पीनेवाले
पूतपापाः	= (जो) पापरहित मनुष्य
यज्ञैः	= यज्ञोंके द्वारा
माम्	= (इन्द्ररूपसे) मेरा
इष्ट्वा	= पूजन करके
स्वर्गतिम्	= स्वर्ग-प्राप्तिकी
प्रार्थयन्ते	= प्रार्थना करते हैं,
ते	= वे (पुण्योंके फलस्वरूप)
पुण्यम्	= पवित्र
सुरेन्द्रलोकम्	= इन्द्रलोकको
आसाद्य	= प्राप्त करके
दिवि	= (वहाँ) स्वर्गके
दिव्यान्,	
देवभोगान्	= देवताओंके दिव्य भोगोंको
अश्नन्ति	= भोगते हैं।

व्याख्या—'**त्रैविद्याः मां सोमपाः.....दिव्यान्दिवि देवभोगान्**'—संसारके मनुष्य प्रायः यहाँके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। उनमें भी जो विशेष बुद्धिमान् कहलाते हैं, उनके हृदयमें भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व रहनेके कारण जब वे ऋक्, साम और यजुः—इन तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका तथा उनके फलका वर्णन सुनते हैं, तब वे (वेदोंमें आस्तिकभाव होनेके कारण) यहाँके भोगोंकी इतनी परवाह न करके स्वर्गके भोगोंके लिये ललचा उठते हैं और स्वर्गप्राप्तिके लिये वेदोंमें कहे हुए यज्ञोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं। ऐसे मनुष्योंके लिये ही यहाँ '**त्रैविद्याः**' पद आया है।

सोमलता अथवा सोमवल्ली नामकी एक लता होती है। उसके विषयमें शास्त्रमें आता है कि जैसे शुक्लपक्षमें प्रतिदिन चन्द्रमाकी एक-एक कला बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमाको कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं और कृष्णपक्षमें प्रतिदिन एक-एक कला क्षीण होते-होते अमावस्याको कलाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं, ऐसे ही उस सोमलताका भी शुक्लपक्षमें प्रतिदिन एक-एक पत्ता निकलते-निकलते पूर्णिमातक पंद्रह पत्ते निकल आते हैं और कृष्णपक्षमें प्रतिदिन एक-एक पत्ता गिरते-गिरते अमावस्यातक पूरे पत्ते गिर जाते हैं।* उस सोमलताके

---

* **पंचांगयुक्पंचदशच्छदाढ्या सर्पाकृतिः शोणितपर्वदेशा। सा सोमवल्ली रसबन्धकर्म करोति एकादिवसोपनीता॥**
करोति सोमवृक्षोऽपि रसबन्धवधादिकम्। पूर्णिमादिवसानीतस्तयोर्वल्ली गुणाधिका॥
कृष्णे पक्षे प्रगलति दलं प्रत्यहं चैकमेकं शुक्लेऽप्येकं प्रभवति पुनर्लम्बमाना लताः स्युः।
तस्याः कन्दः कलयतितरां पूर्णिमायां गृहीतो बद्ध्वा सूतं कनकसहितं देहलोहं विधत्ते॥

रसको सोमरस कहते हैं। यज्ञ करनेवाले उस सोमरसको वैदिक मन्त्रोंके द्वारा अभिमन्त्रित करके पीते हैं, इसलिये उनको '**सोमपाः**' कहा गया है।

वेदोंमें वर्णित यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले और वेदमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित सोमरसको पीनेवाले मनुष्योंके स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये उनको '**पूतपापाः**' कहा गया है।

भगवान्‌ने पूर्वश्लोकमें कहा है कि सत्-असत् सब कुछ मैं ही हूँ, तो इन्द्र भी भगवत्स्वरूप ही हुए। अतः यहाँ '**माम्**' पदसे इन्द्रको ही लेना चाहिये; क्योंकि सकाम यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे स्वर्गके अधिपति इन्द्रका ही पूजन करते हैं और इन्द्रसे ही स्वर्ग-प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं।

स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे स्वर्गके अधिपति इन्द्रकी स्तुति करना और उस इन्द्रसे स्वर्गलोककी याचना करना—इन दोनोंका नाम 'प्रार्थना' है। वैदिक और पौराणिक विधि-विधानसे किये गये सकाम यज्ञोंके द्वारा इन्द्रका पूजन करने और प्रार्थना करनेके फलस्वरूप वे लोग स्वर्गमें जाकर देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं। वे दिव्य भोग मनुष्यलोकके भोगोंकी अपेक्षा बहुत विलक्षण हैं। वहाँ वे दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन पाँचों विषयोंका भोग (अनुभव) करते हैं। इनके सिवाय दिव्य नन्दनवन आदिमें घूमना, सुख-आराम लेना, आदर-सत्कार पाना, महिमा पाना आदि भोगोंको भी भोगते हैं।

परिशिष्ट भाव—यहाँ ऐसे मनुष्योंका वर्णन हुआ है, जिनके भीतर संसारकी सत्ता और महत्ता बैठी हुई है और जो भगवान्‌की अविधिपूर्वक उपासना करनेवाले हैं (गीता—नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। ऐसी मनुष्योंकी उपासनाका फल नाशवान् ही होता है (गीता—सातवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

समग्ररूपके अन्तर्गत होनेसे सब भगवान् ही हैं, इसलिये यहाँ इन्द्रके लिये भी '**माम्**' पद आया है। मनुष्यलोककी अपेक्षा पवित्र होनेसे इन्द्रलोकके लिये '**पुण्यम्**' पद आया है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

ते	=वे	**पुण्ये**	=पुण्य		हुए सकाम धर्मका
तम्	=उस	**क्षीणे**	=क्षीण होनेपर	**अनुप्रपन्नाः**	=आश्रय लिये हुए
विशालम्	=विशाल	**मर्त्यलोकम्**	=मृत्युलोकमें	**कामकामाः**	=भोगोंकी कामना
स्वर्गलोकम्	=स्वर्गलोकके	**विशन्ति**	=आ जाते हैं।		करनेवाले मनुष्य
	(भोगोंको)	**एवम्**	=इस प्रकार	**गतागतम्**	=आवागमनको
भुक्त्वा	=भोगकर	**त्रयीधर्मम्**	=तीनों वेदोंमें कहे	**लभन्ते**	=प्राप्त होते हैं।

इयं सोमकला नाम वल्ली परमदुर्लभा। अनया बद्धसूतेन्द्रो लक्षवेधी प्रजायते॥

(रसेन्द्रचूड़ामणि ६। ६—९)

'जिसके पन्द्रह पत्ते होते हैं, जिसकी आकृति सर्पकी तरह होती है, जहाँसे पत्ते निकलते हैं—वे गाँठें जिसकी लाल होती हैं, ऐसी वह पूर्णिमाके दिन लायी हुई पंचांग-(मूल, डण्डी, पत्ते, फूल और फल-) से युक्त सोमवल्ली पारदको बद्ध कर देती है। पूर्णिमाके दिन लाया हुआ पंचांग-(मूल, छाल, पत्ते, फूल और फल-) से युक्त सोमवृक्ष भी पारदको बाँधना, पारदकी भस्म बनाना आदि कार्य कर देता है। परन्तु सोमवल्ली और सोमवृक्ष—इन दोनोंमें सोमवल्ली अधिक गुणोंवाली है। इस सोमवल्लीका कृष्णपक्षमें प्रतिदिन एक-एक पत्ता झड़ जाता है और शुक्लपक्षमें पुनः प्रतिदिन एक-एक पत्ता निकल आता है। इस तरह यह लता बढ़ती रहती है। पूर्णिमाके दिन इस लताका कन्द निकाला जाय तो वह बहुत श्रेष्ठ होता है। धतूरेके सहित इस कन्दमें बँधा हुआ पारद देहको लोहेकी तरह दृढ़ बना देता है और इससे बँधा हुआ पारद लक्षवेधी हो जाता है अर्थात् एकगुणा बद्ध पारद लाखगुणा लोहेको सोना बना देता है। यह सोम नामकी लता अत्यन्त ही दुर्लभ है।'

व्याख्या—**'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं.....कामकामा लभन्ते'**—स्वर्गलोक भी विशाल (विस्तृत) है, वहाँकी आयु भी विशाल (लम्बी) है और वहाँकी भोग-सामग्री भी विशाल (बहुत) है। इसलिये इन्द्रलोकको 'विशाल' कहा गया है।

स्वर्गकी प्राप्ति चाहनेवाले न तो भगवान्‌का आश्रय लेते हैं और न भगवत्प्राप्तिके किसी साधनका ही आश्रय लेते हैं। वे तो केवल तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम धर्मों-(अनुष्ठानों-)का ही आश्रय लेते हैं। इसलिये उनको त्रयीधर्मके शरण बताया गया है।

'गतागतम्' का अर्थ है—जाना और आना। सकाम अनुष्ठान करनेवाले स्वर्गके प्रापक जिन पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गमें जाते हैं, उन पुण्योंके समाप्त होनेपर वे पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं। इस प्रकार उनका घटीयन्त्रकी तरह बार-बार सकाम शुभकर्म करके स्वर्गमें जाने और फिर लौटकर मृत्युलोकमें आनेका चक्कर चलता ही रहता है। इस चक्करसे वे कभी छूट नहीं पाते।

अगर पूर्वश्लोकमें आये **'पूतपापाः'** पदसे जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं और यहाँ आये **'क्षीणे पुण्ये'** पदोंसे जिनके सम्पूर्ण पुण्य क्षीण हो गये हैं—ऐसा अर्थ लिया जाय, तो उनको (पाप-पुण्य दोनों क्षीण होनेसे) मुक्त हो जाना चाहिये? परन्तु वे मुक्त नहीं होते, प्रत्युत आवागमनको प्राप्त होते हैं। इसलिये यहाँ **'पूतपापाः'** पदसे वे लिये गये हैं, जिनके स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप यज्ञ करनेसे नष्ट हो गये हैं और **'क्षीणे पुण्ये'** पदोंसे वे लिये गये हैं, जिनके स्वर्गके प्रापक पुण्य वहाँका सुख भोगनेसे समाप्त हो गये हैं। अतः सम्पूर्ण पापों और पुण्योंके नाशकी बात यहाँ नहीं आयी है।

सम्बन्ध—जो त्रयीधर्मका आश्रय लेते हैं, उनको तो देवताओंसे प्रार्थना—याचना करनी पड़ती है; परन्तु जो केवल मेरा ही आश्रय लेते हैं, उनको अपने योगक्षेमके लिये मनमें चिन्ता, संकल्प अथवा याचना नहीं करनी पड़ती—यह बात भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

ये	= जो	**पर्युपासते**	= (मेरी) भलीभाँति उपासना करते हैं,	**योगक्षेमम्**	= योगक्षेम (अप्राप्त-की प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा)
अनन्याः	= अनन्य	**नित्याभि-युक्तानाम्**	= (मुझमें) निरन्तर लगे हुए		
जनाः	= भक्त				
माम्	= मेरा			**अहम्**	= मैं
चिन्तयन्तः	= चिन्तन करते हुए	**तेषाम्**	= उन भक्तोंका	**वहामि**	= वहन करता हूँ।

व्याख्या—**'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते'**—जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आ रहा है, वह सब-का-सब भगवान्‌का स्वरूप ही है और उसमें जो कुछ परिवर्तन तथा चेष्टा हो रही है, वह सब-की-सब भगवान्‌की लीला है—ऐसा जो दृढ़तासे मान लेते हैं, समझ लेते हैं, उनकी फिर भगवान्‌के सिवाय कहीं भी महत्त्वबुद्धि नहीं होती। वे भगवान्‌में ही लगे रहते हैं। इसलिये वे 'अनन्य' हैं। केवल भगवान्‌में ही महत्ता और प्रियता होनेसे उनके द्वारा स्वतः भगवान्‌का ही चिन्तन होता है।

'अनन्याः' कहनेका दूसरा भाव यह है कि उनके साधन और साध्य केवल भगवान् ही हैं अर्थात् केवल भगवान्‌के ही शरण होना है, उन्हींका चिन्तन करना है, उन्हींकी उपासना करनी है और उन्हींको प्राप्त करना है—ऐसा उनका दृढ़ भाव है। भगवान्‌के सिवाय उनका कोई अन्य भाव है ही नहीं; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय अन्य सब नाशवान् है। अतः उनके मनमें भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई इच्छा नहीं है; अपने जीवन-निर्वाहकी भी इच्छा नहीं है। इसलिये वे अनन्य हैं।

वे खाना-पीना, चलना-फिरना, बातचीत करना, व्यवहार करना आदि जो कुछ भी काम करते हैं, वह सब भगवान्‌की ही उपासना है; क्योंकि वे सब काम भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करते हैं।

'तेषां नित्याभियुक्तानाम्'—जो अनन्य होकर भगवान्‌का ही चिन्तन करते हैं और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सब काम करते हैं, उन्हींके लिये यहाँ **'नित्याभि-युक्तानाम्'** पद आया है।

इसको दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार समझें कि वे संसारसे

विमुख हो गये—यह उनकी 'अनन्यता' है, वे केवल भगवान्‌के सम्मुख हो गये—यह उनका 'चिन्तन' है और सक्रिय-अक्रिय सभी अवस्थाओंमें भगवत्सेवापरायण हो गये—यह उनकी 'उपासना' है। ये तीनों बातें जिनमें हो जाती हैं, वे ही 'नित्याभियुक्त' हैं।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्'—अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति करा देना 'योग' है और प्राप्त सामग्रीकी रक्षा करना 'क्षेम' है। भगवान् कहते हैं कि मेरेमें नित्य-निरन्तर लगे हुए भक्तोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।

वास्तवमें देखा जाय तो अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति करानेमें भी 'योग'का वहन है और प्राप्ति न करानेमें भी 'योग'का वहन है। कारण कि भगवान् तो अपने भक्तका हित देखते हैं और वही काम करते हैं, जिसमें भक्तका हित होता हो। ऐसे ही प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेमें भी 'क्षेम'का वहन है और रक्षा न करनेमें भी 'क्षेम'का वहन है। अगर भक्तकी भक्ति बढ़ती हो, उसका कल्याण होता हो तो भगवान् प्राप्तकी रक्षा करेंगे; क्योंकि इसीमें उसका 'क्षेम' है। अगर प्राप्तकी रक्षा करनेसे उसकी भक्ति न बढ़ती हो, उसका हित न होता हो तो भगवान् उस प्राप्त वस्तुको नष्ट कर देंगे; क्योंकि नष्ट करनेमें ही उसका 'क्षेम' है। इसलिये भगवान्‌के भक्त अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों परिस्थितियोंमें परम प्रसन्न रहते हैं। भगवान्‌पर निर्भर रहनेके कारण उनका यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि जो भी परिस्थिति आती है, वह भगवान्‌की ही भेजी हुई है। अत: 'अनुकूल परिस्थिति ठीक है और प्रतिकूल परिस्थिति बेठीक है'—उनका यह भाव मिट जाता है। उनका भाव रहता है कि 'भगवान्‌ने जो किया है, वही ठीक है और भगवान्‌ने जो नहीं किया है, वही ठीक है, उसीमें हमारा कल्याण है'।

'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये'—यह सोचनेकी हमें किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। कारण कि हम सदा भगवान्‌के हाथमें ही हैं और भगवान् सदा ही हमारा वास्तविक हित करते रहते हैं। इसलिये हमारा अहित कभी हो ही नहीं सकता। तात्पर्य है कि भक्तका मनचाहा हो जाय तो उसमें भी कल्याण है और मनचाहा न हो तो उसमें भी कल्याण है। भक्तका चाहा और न चाहा कोई मूल्य नहीं रखता, मूल्य तो भगवान्‌के विधानका है। इसलिये अगर कोई अनुकूलतामें प्रसन्न और प्रतिकूलतामें खिन्न होता है, तो वह भगवान्‌का दास नहीं है, प्रत्युत अपने मनका दास है।

वास्तवमें तो 'योग' नाम भगवान्‌के साथ सम्बन्धका है और 'क्षेम' नाम जीवके कल्याणका है। इस दृष्टिसे भगवान् भक्तके सम्बन्धको अपने साथ दृढ़ करते हैं—यह तो भक्तका 'योग' हुआ और भक्तके कल्याणकी चेष्टा करते हैं—यह भक्तका 'क्षेम' हुआ। इसी बातको लेकर दूसरे अध्यायके पैंतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनके लिये आज्ञा दी कि 'तू निर्योगक्षेम हो जा' अर्थात् तू योग और क्षेम-सम्बन्धी किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर।

'वहाम्यहम्' का तात्पर्य है कि जैसे छोटे बच्चेके लिये माँ किसी वस्तुकी आवश्यकता समझती है, तो बड़ी प्रसन्नता और उत्साहके साथ स्वयं वह वस्तु लाकर देती है। ऐसे ही मेरेमें निरन्तर लगे हुए भक्तोंके लिये मैं किसी वस्तुकी आवश्यकता समझता हूँ, तो वह वस्तु मैं स्वयं ढोकर लाता हूँ अर्थात् भक्तोंके सब काम मैं स्वयं करता हूँ।

परिशिष्ट भाव—भगवान् यहाँ पूर्वश्लोकमें वर्णित वैदिक सकामी मनुष्यों और आगेके श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंके उपासकोंकी अपेक्षा अपने भक्तोंकी विशेषता बताते हैं। भगवान्‌के अनन्यभक्त न तो पूर्वश्लोकमें वर्णित इन्द्रको मानते हैं और न आगेके श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंको मानते हैं। इन्द्रादिकी उपासना करनेवालोंको तो कामनाके अनुसार सीमित फल मिलता है। परन्तु भगवान्‌की उपासना करनेवालेको असीम फल मिलता है। देवताओंका उपासक तो मजदूर (नौकर) की तरह है और भगवान्‌की उपासना करनेवाला घरके सदस्यकी तरह है। मजदूर काम करता है तो उसको मजदूरीके अनुसार सीमित पैसे मिलते हैं, पर घरका सदस्य काम करता है तो सब कुछ उसीका होता है।

अनन्यभक्त वे हैं, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं है—**'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥'** (मानस, अरण्य० ५। ६)।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्'—भगवान् साधकको उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्री प्राप्त कराते हैं और प्राप्त साधन-सामग्रीकी रक्षा करते हैं—यही भगवान्‌का योगक्षेम वहन करना है। यद्यपि भगवान् सभी साधकोंका योगक्षेम वहन करते हैं, तथापि अनन्यभक्तोंका योगक्षेम विशेषरूपसे वहन करते हैं; जैसे—प्यारे बच्चेका पालन माँ स्वयं करती है, नौकरोंसे नहीं करवाती।

जैसे भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है, ऐसे ही भगवान्‌को भी भक्तकी सेवामें आनन्द आता है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपनी उपासनाकी बात कह करके अब भगवान् अन्य देवताओंकी उपासनाकी बात कहते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**अन्यदेवताः**	= अन्य देवताओंका	**यजन्ति**	= पूजन करते हैं,
ये	= जो	**यजन्ते**	= पूजन करते हैं,	**अविधिपूर्वकम्**	= (पर करते हैं) अविधिपूर्वक अर्थात् देवताओंको मुझसे अलग मानते हैं।
अपि	= भी	**ते**	= वे		
भक्ताः	= भक्त (मनुष्य)	**अपि**	= भी		
श्रद्धया, अन्विताः	= श्रद्धापूर्वक	**माम्**	= मेरा		
		एव	= ही		

व्याख्या—‘**येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः**’—देवताओंके जिन भक्तोंको ‘सब कुछ मैं ही हूँ’ (‘**सदसच्चाहम्**’ ९। १९)—यह समझमें नहीं आया है और जिनकी श्रद्धा अन्य देवताओंपर है, वे उन देवताओंका ही श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं। वे देवताओंको मेरेसे अलग और बड़ा मानकर अपनी-अपनी श्रद्धा-भक्तिके अनुसार अपने-अपने इष्ट देवताके नियमोंको धारण करते हैं। इन देवताओंकी कृपासे ही हमें सब कुछ मिल जायगा—ऐसा समझकर नित्य-निरन्तर देवताओंकी ही सेवा-पूजामें लगे रहते हैं।

‘**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्**’—देवताओंका पूजन करनेवाले भी वास्तवमें मेरा ही पूजन करते हैं; क्योंकि तत्त्वसे मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं। मेरेसे अलग उन देवताओंकी सत्ता ही नहीं है। वे मेरे ही स्वरूप हैं। अतः उनके द्वारा किया गया देवताओंका पूजन भी वास्तवमें मेरा ही पूजन है, पर है अविधिपूर्वक। अविधिपूर्वक कहनेका मतलब यह नहीं है कि पूजनसामग्री कैसी होनी चाहिये? उनके मन्त्र कैसे होने चाहिये? उनका पूजन कैसे होना चाहिये? आदि-आदि विधियोंका उनको ज्ञान नहीं है। इसका मतलब है—मेरेको उन देवताओंसे अलग मानना। जैसे कामनाके कारण ज्ञान हरा जानेसे वे देवताओंके शरण होते हैं (गीता—सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक), ऐसे ही यहाँ मेरेसे देवताओंकी अलग (स्वतन्त्र) सत्ता मानकर जो देवताओंका पूजन करना है, यही अविधिपूर्वक पूजन करना है।

इस श्लोकका निष्कर्ष यह निकला कि (१) अपनेमें किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी कामना न हो और उपास्यमें भगवद्बुद्धि हो, तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार किसी भी प्राणीको, मनुष्यको और किसी भी देवताको अपना उपास्य मानकर उसकी पूजा की जाय, तो वह सब भगवान्का ही पूजन हो जायगा और उसका फल भगवान्की ही प्राप्ति होगा; और (२) अपनेमें किंचिन्मात्र भी कामना हो और उपास्यरूपमें साक्षात् भगवान् हों तो वह अर्थार्थी, आर्त आदि भक्तोंकी श्रेणीमें आ जायगा, जिनको भगवान्ने उदार कहा है (सातवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही हैं। अतः जिस किसीकी उपासना की जाय, सेवा की जाय, हित किया जाय, वह प्रकारान्तरसे भगवान्की ही उपासना है। जैसे आकाशसे बरसा हुआ पानी नदी, नाला, झरना आदि बनकर अन्तमें समुद्रको ही प्राप्त होता है (क्योंकि वह जल समुद्रका ही है), ऐसे ही मनुष्य जिस किसीका भी पूजन करे, वह तत्त्वसे भगवान्का ही पूजन होता है*। परन्तु पूजकको लाभ तो अपनी-अपनी भावनाके अनुसार ही होता है।

परिशिष्ट भाव—‘**त्रैविद्या माम्**’ (९। २०), ‘**अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्**’ (९। २२) और ‘**तेऽपि मामेव**’ (९। २३)—तीनों जगह भगवान्के लिये ‘**माम्**’ शब्द देनेका तात्पर्य है कि सब कुछ भगवान् ही हैं, इसलिये भगवान् सबको अपना ही स्वरूप जानते हैं। अगर मनुष्यमें कामना न हो और सबमें भगवद्बुद्धि हो तो वह किसीकी भी उपासना करे, वह वास्तवमें भगवान्की ही उपासना है। तात्पर्य है कि अगर निष्कामभाव और भगवद्बुद्धि हो जाय तो उसका

* **आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥ (लौगाक्षिस्मृति)**

पूजन अविधिपूर्वक नहीं रहेगा, प्रत्युत वह भगवान्‌का ही पूजन हो जायगा।

सातवें अध्यायमें **'देवयजः'** पद आया था (७। २३), उसीको यहाँ **'यजन्ते'** पदसे कहा गया है।

सम्बन्ध—देवताओंका पूजन करनेवालोंका अविधिपूर्वक पूजन करना क्या है? इसपर कहते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

हि	= क्योंकि	**च**	= भी	**तत्त्वेन**	= तत्त्वसे
सर्वयज्ञानाम्	= सम्पूर्ण यज्ञोंका	**अहम्**	= मैं	**न**	= नहीं
		एव	= ही हूँ;	**अभिजानन्ति**	= जानते,
भोक्ता	= भोक्ता	**तु**	= परन्तु	**अतः**	= इसीसे
च	= और	**ते**	= वे	**च्यवन्ति**	= उनका पतन होता है।
प्रभुः	= स्वामी	**माम्**	= मुझे		

व्याख्या—[दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, वे 'मेरेको केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है'—ऐसा निश्चय नहीं कर सकते (दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। अतः परमात्माकी तरफ चलनेमें दो बाधाएँ मुख्य हैं—अपनेको भोगोंका भोक्ता मानना और अपनेको संग्रहका मालिक मानना। इन दोनोंसे ही मनुष्यकी बुद्धि उलटी हो जाती है, जिससे वह परमात्मासे सर्वथा विमुख हो जाता है। जैसे, बचपनमें बालक माँके बिना रह नहीं सकता; पर बड़ा होनेपर जब उसका विवाह हो जाता है, तब वह स्त्रीसे 'मेरी स्त्री है' ऐसा सम्बन्ध जोड़कर उसका भोक्ता और मालिक बन जाता है। फिर उसको माँ उतनी अच्छी नहीं लगती, सुहाती नहीं। ऐसे ही जब यह जीव भोग और ऐश्वर्यमें लग जाता है अर्थात् अपनेको भोगोंका भोक्ता और संग्रहका मालिक मानकर उनका दास बन जाता है और भगवान्‌से सर्वथा विमुख हो जाता है, तो फिर उसको यह बात याद ही नहीं रहती कि सबके भोक्ता और मालिक भगवान् हैं। इसीसे उसका पतन हो जाता है। परन्तु जब इस जीवको चेत हो जाता है कि वास्तवमें मात्र भोगोंके भोक्ता और मात्र ऐश्वर्यके मालिक भगवान् ही हैं, तो फिर वह भगवान्‌में लग जाता है, ठीक रास्तेपर आ जाता है। फिर उसका पतन नहीं होता।]

'अहं हि सर्वयज्ञानां* भोक्ता च प्रभुरेव च'—शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जितने शुभकर्म करते हैं तथा अपने वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार जितने व्यावहारिक और शारीरिक कर्तव्यकर्म करते हैं, उन सब कर्मोंका भोक्ता अर्थात् फलभागी मैं हूँ। कारण कि वेदोंमें, शास्त्रोंमें, पुराणोंमें, स्मृति-ग्रन्थोंमें प्राणियोंके लिये शुभ-कर्मोंका जो विधान किया गया है, वह सब-का-सब मेरा ही बनाया हुआ है और मेरेको देनेके लिये ही बनाया हुआ है, जिससे ये प्राणी सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंसे और उनके फलोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहें, कभी अपने स्वरूपसे च्युत न हों और अनन्य भावसे केवल मेरेमें ही लगे रहें। अतः उन सम्पूर्ण शुभ-कर्मोंका और व्यावहारिक तथा शारीरिक कर्तव्य-कर्मोंका भोक्ता मैं ही हूँ।

जैसे सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता (फलभागी) मैं ही हूँ, ऐसे ही सम्पूर्ण संसारका अर्थात् सम्पूर्ण लोक, पदार्थ, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया और प्राणियोंके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिका मालिक भी मैं ही हूँ। कारण कि अपनी प्रसन्नताके लिये ही मैंने अपनेमेंसे इस सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना की है; अतः इन सबकी रचना करनेवाला होनेसे इनका मालिक मैं ही हूँ।

विशेष बात

भगवान्‌का भोक्ता बनना क्या है?

भगवान्‌ने कहा है कि महात्माओंकी दृष्टिमें सब कुछ

---

* **यहाँ बहुवचन 'यज्ञानाम्' शब्दके अन्तर्गत सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म आ जाते हैं, फिर भी इसके साथ 'सर्व' शब्द लगानेका तात्पर्य है कि शास्त्रीय, शारीरिक, व्यावहारिक आदि कोई भी कर्तव्यकर्म बाकी न रहे।**

वासुदेव ही है (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक) और मेरी दृष्टिमें भी सत्-असत् सब कुछ मैं ही हूँ (नवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। जब सब कुछ मैं ही हूँ, तो कोई किसी देवताकी पुष्टिके लिये यज्ञ करता है, उस यज्ञके द्वारा देवतारूपमें मेरी ही पुष्टि होती है। कोई किसीको दान देता है, तो दान लेनेवालेके रूपमें मेरा ही अभाव दूर होता है, उससे मेरी ही सहायता होती है। कोई तप करता है, तो उस तपसे तपस्वीके रूपमें मेरेको ही सुख-शान्ति मिलती है। कोई किसीको भोजन कराता है, तो उस भोजनसे प्राणोंके रूपमें मेरी ही तृप्ति होती है। कोई शौच-स्नान करता है, तो उससे उस मनुष्यके रूपमें मेरेको ही प्रसन्नता होती है। कोई पेड़-पौधोंको खाद देता है, उनको जलसे सींचता है तो वह खाद और जल पेड़-पौधोंके रूपमें मेरेको ही मिलता है और उनसे मेरी ही पुष्टि होती है। कोई किसी दीन-दुःखी, अपाहिजकी तन-मन-धनसे सेवा करता है तो वह मेरी ही सेवा होती है। कोई वैद्य-डॉक्टर किसी रोगीका इलाज करता है, तो वह इलाज मेरा ही होता है। कोई कुत्तोंको रोटी डालता है; कबूतरोंको दाना डालता है; गायोंकी सेवा करता है; भूखोंको अन्न देता है; प्यासोंको जल पिलाता है; तो उन सबके रूपमें मेरी ही सेवा होती है। उन सब वस्तुओंको मैं ही ग्रहण करता हूँ*। जैसे कोई किसी मनुष्यकी सेवा करे, उसके किसी अंगकी सेवा करे, उसके कुटुम्बकी सेवा करे, तो वह सब सेवा उस मनुष्यकी ही होती है। ऐसे ही मनुष्य जहाँ-कहीं सेवा करे, जिस-किसीकी सहायता करे, वह सेवा और सहायता मेरेको ही मिलती है। कारण कि मेरे बिना अन्य कोई है ही नहीं। मैं ही अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ—**'बहु स्यां प्रजायेय'** (तैत्तिरीय० २। ६)। तात्पर्य यह हुआ कि अनेक रूपोंमें सब कुछ ग्रहण करना ही भगवान्‌का भोक्ता बनना है।

भगवान्‌का मालिक बनना क्या है?

भगवत्तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंकी दृष्टिमें अपरा और परा-प्रकृतिरूप मात्र संसारके मालिक भगवान् ही हैं। संसारमात्रपर उनका ही अधिकार है। सृष्टिकी रचना करें या न करें, संसारकी स्थिति रखें या न रखें, प्रलय करें या न करें; प्राणियोंको चाहे जहाँ रखें, उनका चाहे जैसा संचालन करें, चाहे जैसा उपभोग करें, अपनी मरजीके मुताबिक चाहे जैसा परिवर्तन करें, आदि मात्र परिवर्तन-परिवर्द्धन करनेमें भगवान्‌की बिलकुल स्वतन्त्रता है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे भोगी पुरुष भोग और संग्रहका चाहे जैसा उपभोग करनेमें स्वतन्त्र है (जबकि उसकी स्वतन्त्रता मानी हुई है, वास्तवमें नहीं है), ऐसे ही भगवान् मात्र संसारका चाहे जैसा परिवर्तन-परिवर्द्धन करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं। भगवान्‌की वह स्वतन्त्रता वास्तविक है। यही भगवान्‌का मालिक बनना है।

'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते'—वास्तवमें सत्-असत्, जड-चेतन आदि सब कुछ मैं ही हूँ। अतः जो भी कर्तव्य-कर्म किये जायँ, उन कर्मोंका और उनके फलोंका भोक्ता मैं ही हूँ, तथा सम्पूर्ण सामग्रीका मालिक भी मैं ही हूँ। परन्तु जो मनुष्य इस तत्त्वको नहीं जानते, वे तो यही समझते हैं कि हम जिस किसीको जो कुछ देते हैं, खिलाते हैं, पिलाते हैं, वह सब उन-उन प्राणियोंको ही मिलता है; जैसे—हम यज्ञ करते हैं, तो यज्ञके भोक्ता देवता बनते हैं; दान देते हैं, तो दानका भोक्ता वह लेनेवाला बनता है? कुत्तेको रोटी और गायको घास देते हैं, तो उस रोटी और घासके भोक्ता कुत्ता और गाय बनते हैं; हम भोजन करते हैं, तो भोजनके भोक्ता हम स्वयं बनते हैं, आदि-आदि। तात्पर्य यह हुआ कि वे सब रूपोंमें मेरेको न मानकर अन्यको ही मानते हैं, इसीसे उनका पतन होता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह किसी अन्यको भोक्ता और मालिक न मानकर केवल मेरेको ही भोक्ता और मालिक माने अर्थात् जो कुछ चीज दी जाय, उसको मेरी ही समझकर मेरे अर्पण करे—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'**

दूसरा भाव यह है कि मनुष्यके पास जो कुछ भोग और ऐश्वर्य है, वह सब मेरा ही है और मेरे विराट्‌रूप संसारकी

*** एक कथा सुनी है कि एक बार श्रीनामदेवजी महाराज तीर्थयात्रामें गये। यात्रामें कहींपर एक वृक्षके नीचे उन्होंने रोटियाँ बनायीं और सामानमेंसे घी लेनेके लिये पीछे घूमे तो इतनेमें ही एक कुत्ता आकर मुँहमें रोटी लेकर भागा। नामदेवजी महाराजने घी लेकर देखा कि कुत्ता रोटी लेकर भाग रहा है तो वे भी हाथमें घीका पात्र लिये उसके पीछे भागते हुए कहने लगे—'हे नाथ! आपको ही तो भोग लगाना है, फिर रूखी रोटी लेकर क्यों भाग रहे हो? रोटीपर थोड़ा घी तो लगाने दीजिये।' नामदेवजीके ऐसा कहते ही कुत्तेमेंसे भगवान् प्रकट हो गये। कुत्तेमें भगवान्‌के सिवाय और था ही कौन? नामदेवजी जान गये तो वे प्रकट हो गये। इस प्रकार प्राणिमात्रमें तत्त्वसे भगवान् ही हैं। इसलिये जिस किसीको जो कुछ दिया जाता है, वह भगवान्‌को ही मिलता है।**

सेवाके लिये ही है। परन्तु भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त मनुष्य उस तत्त्वको न जाननेके कारण उस भोग और ऐश्वर्यको अपना और अपने लिये मान लेते हैं, जिससे वे यही समझते हैं कि ये सब चीजें हमारे उपभोगमें आनेवाली हैं और हम इनके अधिपति हैं, मालिक हैं। पर वास्तवमें वे उन चीजोंके गुलाम हो जाते हैं। वे जितना ही उन चीजोंको अपनी और अपने लिये मानते हैं, उतने ही उनके पराधीन हो जाते हैं। फिर वे उन चीजोंके बनने-बिगड़नेसे अपना बनना-बिगड़ना मानने लगते हैं। इसलिये उनका पतन हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरेको सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और मालिक जाननेसे मुक्ति हो जाती है और न जाननेसे पतन हो जाता है।

'च्यवन्ति' पदका तात्पर्य है कि भगवान्को प्राप्त न होनेसे उनका पतन हो जाता है। वे शुभकर्म करके ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें चले जायँ, तो यह भी उनका पतन है; क्योंकि वहाँसे उनको पीछे लौटकर आना ही पड़ता है (गीता— नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। वे आवागमनको प्राप्त होते ही रहते हैं; मुक्त नहीं हो सकते।

परिशिष्ट भाव—पाँचवें अध्यायके अन्तमें भी भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता बताया है—**'भोक्तारं यज्ञतपसाम्'** (५। २९)। वहाँ तो भगवान्ने अन्वयरीतिसे अपनेको सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता जाननेवालोंको शान्ति प्राप्त होनेकी बात कही है और यहाँ व्यतिरेकरीतिसे वैसा न जाननेवालोंका पतन होनेकी बात कही है। स्वयं भोक्ता बननेसे ही पतन होता है। भगवान्को सम्पूर्ण शुभकर्मोंका भोक्ता माननेसे अपनेमें भोक्तापन या भोगेच्छा नहीं रहती। भोगेच्छा न रहनेसे शान्ति प्राप्त हो जाती है।

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्मोंके महाकर्ता और महाभोक्ता भगवान् ही हैं। परन्तु कर्ता-भोक्ता होते हुए भी भगवान् वास्तवमें निर्लिप्त ही हैं अर्थात् उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—**'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'** (गीता ४। १३), **'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा'** (गीता ४। १४)।

सम्बन्ध—जो भगवान्को सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और मालिक न मानकर देवता आदिका सकामभावसे पूजन करते हैं, उनकी गतियोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५ ॥

देवव्रताः	= (सकामभावसे) देवताओंका पूजन करनेवाले (शरीर छोड़नेपर)	**पितृव्रताः**	= पितरोंका पूजन करनेवाले	**भूतानि**	= भूत-प्रेतोंको
				यान्ति	= प्राप्त होते हैं।
		पितॄन्	= पितरोंको	**मद्याजिनः**	= (परन्तु) मेरा पूजन करनेवाले
		यान्ति	= प्राप्त होते हैं।		
देवान्	= देवताओंको	**भूतेज्याः**	= भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले	**माम्**	= मुझे
यान्ति	= प्राप्त होते हैं।			**अपि**	= ही
				यान्ति	= प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—[पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह बताया कि मैं ही सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और सम्पूर्ण संसारका मालिक हूँ, परन्तु जो मनुष्य मेरेको भोक्ता और मालिक न मानकर स्वयं भोक्ता और मालिक बन जाते हैं, उनका पतन हो जाता है। अब इस श्लोकमें उनके पतनका विवेचन करते हैं।]

'यान्ति देवव्रता देवान्'—भगवान्को ठीक तरहसे न जाननेके कारण भोग और ऐश्वर्यको चाहनेवाले पुरुष वेदों और शास्त्रोंमें वर्णित नियमों, व्रतों, मन्त्रों, पूजन-विधियों आदिके अनुसार अपने-अपने उपास्य देवताओंका विधि-विधानसे सांगोपांग पूजन करते हैं, अनुष्ठान करते हैं और सर्वथा उन देवताओंके परायण हो जाते हैं (गीता—सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। वे उपास्य देवता अपने उन भक्तोंको अधिक-से-अधिक और ऊँचा-से-ऊँचा फल यही देंगे कि उनको अपने-अपने लोकोंमें ले जायँगे, जिन लोकोंको भगवान्ने पुनरावर्ती कहा है (आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

तेईसवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि देवताओंका पूजन भी मेरा ही पूजन है; परन्तु वह पूजन अविधिपूर्वक

है। उस पूजनमें विधिरहितपना यह है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं' इस बातको वे जानते नहीं, मानते नहीं तथा देवता आदिका पूजन करके भोग और ऐश्वर्यको चाहते हैं। इसलिये उनका पतन होता है। अगर वे देवता आदिके रूपमें मेरेको ही मानते और उन भगवत्स्वरूप देवताओंसे कुछ भी नहीं चाहते, तो वे देवता अथवा स्वयं मैं भी उनको कुछ देना चाहता, तो भी वे ऐसा ही कहते कि 'हे प्रभो! आप हमारे हैं और हम आपके हैं—आपके साथ इस अपनेपनसे भी बढ़कर कुछ और (भोग तथा ऐश्वर्य) होता, तो हम आपसे चाहते भी और माँगते भी। अब आप ही बताइये, इससे बढ़कर क्या है?' इस तरहके भाववाले वे मेरेको ही आनन्द देनेवाले बन जाते, तो फिर वे तुच्छ और क्षणभंगुर देवलोकोंको प्राप्त नहीं होते।

'पितॄन्यान्ति पितृव्रताः'—जो सकामभावसे पितरोंका पूजन करते हैं, उनको पितरोंसे कई तरहकी सहायता मिलती है। इसलिये लौकिक सिद्धि चाहनेवाले मनुष्य पितरोंके व्रतोंका, नियमोंका, पूजन-विधियोंका सांगोपांग पालन करते हैं और पितरोंको अपना इष्ट मानते हैं। उनको अधिक-से-अधिक और ऊँचा-से-ऊँचा फल यह मिलेगा कि पितर उनको अपने लोकमें ले जायँगे। इसलिये यहाँ कहा गया कि पितरोंका पूजन करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं।

'भूतानि यान्ति भूतेज्याः'—तामस स्वभाववाले मनुष्य सकामभावपूर्वक भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं और उनके नियमोंको धारण करते हैं। जैसे, मन्त्र-जपके लिये गधेकी पूँछके बालोंका धागा बनाकर उसमें ऊँटके दाँतोंकी मणियाँ पिरोना, रात्रिमें श्मशानमें जाकर और मुर्देपर बैठकर भूत-प्रेतोंके मन्त्रोंको जपना, मांस-मदिरा आदि महान् अपवित्र चीजोंसे भूत-प्रेतोंका पूजन करना आदि-आदि। इससे अधिक-से-अधिक उनकी सांसारिक कामनाएँ सिद्ध हो सकती हैं। मरनेके बाद तो उनकी दुर्गति ही होगी अर्थात् उनको भूत-प्रेतकी योनि प्राप्त होगी। इसलिये यहाँ कहा गया कि भूतोंका पूजन करनेवाले भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं।

'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्'—जो अनन्यभावसे किसी भी तरह मेरे भजन, पूजन और चिन्तनमें लग जाते हैं, वे निश्चितरूपसे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।

विशेष बात

सांसारिक भोग और ऐश्वर्यकी कामनावाले मनुष्य अपने-अपने इष्टके पूजन आदिमें तत्परतासे लगे रहते हैं और इष्टकी प्रसन्नताके लिये सब काम करते हैं; परन्तु भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लगनेवाले जिस तत्त्वको प्राप्त होते हैं, उसको प्राप्त न होकर वे बार-बार सांसारिक तुच्छ भोगोंको और नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंको प्राप्त होते रहते हैं। इस तरह जो मनुष्यजन्म पाकर भगवान्‌के साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़कर उनको भी आनन्द देनेवाले हो सकते थे, वे सांसारिक तुच्छ कामनाओंमें फँसकर और तुच्छ देवता, पितर आदिके फेरेमें पड़कर कितनी अनर्थ-परम्पराको प्राप्त होते हैं! इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीसे केवल भगवान्‌में ही लग जाना चाहिये।

देवता, पितर, ऋषि, मुनि, मनुष्य आदिमें भगवद्बुद्धि हो और निष्कामभावपूर्वक केवल उनकी पुष्टिके लिये, उनके हितके लिये ही उनकी सेवा-पूजा की जाय, तो भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इन देवता आदिको भगवान्‌से अलग मानना और अपना सकामभाव रखना ही पतनका कारण है।

भूत, प्रेत, पिशाच आदि योनि ही अशुद्ध है और उनकी पूजा-विधि, सामग्री, आराधना आदि भी अत्यन्त अपवित्र है। इनका पूजन करनेवाले इनमें न तो भगवद्बुद्धि कर सकते हैं* और न निष्कामभाव ही रख सकते हैं। इसलिये उनका तो सर्वथा पतन ही होता है। इस विषयमें थोड़े वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। कोई 'कर्णपिशाचिनी' की उपासना करनेवाला था। उसके पास कोई भी कुछ पूछने आता, तो वह उसके बिना पूछे ही बता देता कि यह तुम्हारा

---

* अगर भक्तका किसी भूत-प्रेतमें भगवद्भाव हो भी जाय तो उस भूत-प्रेतका उद्धार हो जाता है और भक्तको भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं। जैसे, भक्त नामदेवजीको एक बार लम्बे कदका एक भयंकर प्रेत दिखायी दिया तो वे उसे भगवत्स्वरूप ही समझकर प्रसन्नतापूर्वक कह उठे—

भले पधारे लम्बकनाथ!
धरनी पाँव, स्वर्ग लों माथा, जोजन भरके लाँबे हाथ॥
सिव सनकादिक पार न पावें, अनगिन साज सजाये साथ।
नामदेवके तुम ही स्वामी, कीजै मोकों आज सनाथ॥

इससे उस प्रेतका उद्धार हो गया और उसकी जगह भगवान् प्रकट हो गये!

प्रश्न है और यह उसका उत्तर है। इससे उसने बहुत रुपये कमाये।

अब उस विद्याके चमत्कारको देखकर एक सज्जन उसके पीछे पड़ गये कि 'मेरेको भी यह विद्या सिखाओ, मैं भी इसको सीखना चाहता हूँ।' तो उसने सरलतासे कहा कि 'यह विद्या चमत्कारी तो बहुत है, पर वास्तविक हित, कल्याण करनेवाली नहीं है।' उससे यह पूछा गया कि 'आप दूसरेके बिना कहे ही उसके प्रश्नको और उत्तरको कैसे जान जाते हो?' तो उसने कहा कि 'मैं अपने कानमें विष्ठा लगाये रखता हूँ। जब कोई पूछने आता है, तो उस समय कर्णपिशाचिनी आकर मेरे कानमें उसका प्रश्न और प्रश्नका उत्तर सुना देती है और मैं वैसा ही कह देता हूँ।' फिर उससे पूछा गया कि 'आपका मरना कैसे होगा—इस विषयमें आपने कुछ पूछा है कि नहीं?' इसपर उसने कहा कि 'मेरा मरना तो नर्मदाके किनारे होगा'। उसका शरीर शान्त होनेके बाद पता लगा कि जब वह (अपना अन्त-समय जानकर) नर्मदामें जाने लगा, तब कर्णपिशाचिनी सूकरी बनकर उसके सामने आ गयी। उसको देखकर वह नर्मदाकी तरफ भागा, तो कर्णपिशाचिनीने उसको नर्मदामें जानेसे पहले ही किनारेपर मार दिया। कारण यह था कि अगर वह नर्मदामें मरता तो उसकी सद्‌गति हो जाती। परन्तु कर्णपिशाचिनीने उसकी सद्‌गति नहीं होने दी और उसको नर्मदाके किनारेपर ही मारकर अपने साथ ले गयी।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि देवता, पितर आदिकी उपासना स्वरूपसे त्याज्य नहीं है; परन्तु भूत, प्रेत, पिशाच आदिकी उपासना स्वरूपसे ही त्याज्य है। कारण कि देवताओंमें भगवद्भाव और निष्कामभाव हो, तो उनकी उपासना भी कल्याण करनेवाली है। परन्तु भूत, प्रेत आदिकी उपासना करनेवालोंकी कभी सद्‌गति होती ही नहीं, दुर्गति ही होती है।

हाँ, पारमार्थिक साधक भूत-प्रेतोंके उद्धारके लिये उनका श्राद्ध-तर्पण कर सकते हैं। कारण कि उन भूत-प्रेतोंको अपना इष्ट मानकर उनकी उपासना करना ही पतनका कारण है। उनके उद्धारके लिये श्राद्ध-तर्पण करना अर्थात् उनको पिण्ड-जल देना कोई दोषकी बात नहीं है। सन्त-महात्माओंके द्वारा भी अनेक भूत-प्रेतोंका उद्धार हुआ है।

परिशिष्ट भाव—'व्रत' का अर्थ है—नियम। अतः 'देवव्रत' शब्दका अर्थ हुआ—देवताओंकी उपासनाके नियमोंको धारण करना (गीता—सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। भगवान्‌के शरण होकर उन्हींके लिये कर्म करना भगवान्‌का पूजन है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८। ४६)।

मात्र क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे सब भगवान्‌का पूजन हो जाता है (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। निष्कामभाव और भगवद्‌बुद्धि होनेसे कोई निषिद्ध क्रिया हो ही नहीं सकती; क्योंकि कामनाके कारण ही निषिद्ध क्रिया होती है (गीता—तीसरे अध्यायका छत्तीसवाँ-सैंतीसवाँ श्लोक)।

वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का ही रूप है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, उसका उद्धार नहीं होता। वह ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय तो भी उसको लौटकर संसारमें आना ही पड़ता है (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—देवताओंके पूजनमें तो बहुत-सी सामग्री, नियमों और विधियोंकी आवश्यकता होती है, फिर आपके पूजनमें तो और भी ज्यादा कठिनता होती होगी? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

यः = जो भक्त
पत्रम् = पत्र,
पुष्पम् = पुष्प,
फलम् = फल,
तोयम् = जल आदि-(यथासाध्य एवं अनायास प्राप्त वस्तु-) को
भक्त्या = प्रेमपूर्वक
मे = मेरे
प्रयच्छति = अर्पण करता है,
तत् = उस (मुझमें)
प्रयतात्मनः = तल्लीन हुए अन्तः-करणवाले भक्तके द्वारा
भक्त्युपहृतम् = प्रेमपूर्वक दिये हुए उपहार-(भेंट-) को
अहम् = मैं
अश्नामि = खा लेता हूँ अर्थात् स्वीकार कर लेता हूँ।

व्याख्या—[भगवान्‌की अपरा प्रकृतिके दो कार्य हैं—पदार्थ और क्रिया। इन दोनोंके साथ अपनी एकता मानकर ही यह जीव अपनेको उनका भोक्ता और मालिक मानने लग जाता है और इन पदार्थों और क्रियाओंके भोक्ता एवं मालिक भगवान् हैं—इस बातको वह भूल जाता है। इस भूलको दूर करनेके लिये ही भगवान् यहाँ कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल आदि जो कुछ पदार्थ हैं और जो कुछ क्रियाएँ हैं (नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक), उन सबको मेरे अर्पण कर दो, तो तुम सदा-सदाके लिये आफतसे छूट जाओगे (नवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)।

दूसरी बात, देवताओंके पूजनमें विधि-विधानकी, मन्त्रों आदिकी आवश्यकता है। परन्तु मेरा तो जीवके साथ स्वतः-स्वाभाविक अपनेपनका सम्बन्ध है, इसलिये मेरी प्राप्तिमें विधियोंकी मुख्यता नहीं है। जैसे, बालक माँकी गोदीमें जाय, तो उसके लिये किसी विधिकी जरूरत नहीं है। वह तो अपनेपनके सम्बन्धसे ही माँकी गोदीमें जाता है। ऐसे ही मेरी प्राप्तिके लिये विधि, मन्त्र आदिकी आवश्यकता नहीं है, केवल अपनेपनके दृढ़ भावकी आवश्यकता है।]

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति'—जो भक्त अनायास यथासाध्य प्राप्त पत्र (तुलसीदल आदि), पुष्प, फल, जल आदि भी प्रेमपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करता है, तो भगवान् उसको खा जाते हैं। जैसे, द्रौपदीसे पत्ता लेकर भगवान्‌ने खा लिया और त्रिलोकीको तृप्त कर दिया। गजेन्द्रने सरोवरका एक पुष्प भगवान्‌के अर्पण करके नमस्कार किया, तो भगवान्‌ने गजेन्द्रका उद्धार कर दिया। शबरीके दिये हुए फल खाकर भगवान् इतने प्रसन्न हुए कि जहाँ कहीं भोजन करनेका अवसर आया, वहाँ शबरीके फलोंकी प्रशंसा करते रहे[१]। रन्तिदेवने अन्त्यजरूपसे आये भगवान्‌को जल पिलाया तो उनको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो गये।

जब भक्तका भगवान्‌को देनेका भाव बहुत अधिक बढ़ जाता है, तब वह अपने-आपको भूल जाता है। भगवान् भी भक्तके प्रेममें इतने मस्त हो जाते हैं कि अपने-आपको भूल जाते हैं। प्रेमकी अधिकतामें भक्तको इसका खयाल नहीं रहता कि मैं क्या दे रहा हूँ, तो भगवान्‌को भी यह खयाल नहीं रहता कि मैं क्या खा रहा हूँ! जैसे, विदुरानी प्रेमके आवेशमें भगवान्‌को केलोंकी गिरी न देकर छिलके देती हैं, तो भगवान् उन छिलकोंको भी गिरीकी तरह ही खा लेते हैं[२]!

'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः'—भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक दिये गये उपहारको भगवान् स्वीकार ही नहीं कर लेते, प्रत्युत उसको खा लेते हैं—**'अश्नामि'**। जैसे, पुष्प सूँघनेकी चीज है, पर भगवान् यह नहीं देखते कि यह खानेकी चीज है या नहीं; वे तो उसको खा ही लेते हैं। उसको आत्मसात् कर लेते हैं, अपनेमें मिला लेते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि भक्तका देनेका भाव रहता है, तो भगवान्‌का भी लेनेका भाव हो जाता है। भक्तमें भगवान्‌को खिलानेका भाव आता है, तो भगवान्‌को भी भूख लग जाती है!

'प्रयतात्मनः'का तात्पर्य है कि जिसका अन्तःकरण भगवान्‌में तल्लीन हो गया है, जो केवल भगवान्‌के ही परायण है, ऐसे प्रेमी भक्तके दिये हुए उपहार-(भेंट-) को भगवान् स्वयं खा लेते हैं।

यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जल—इन चारोंका नाम लेनेका तात्पर्य यह है कि पत्र, पुष्प और फल—ये तीनों जलसे पैदा होनेके कारण जलके कार्य हैं और जल इनका कारण है। इसलिये ये पत्र, पुष्प आदि कार्य-कारणरूप मात्र पदार्थोंके उपलक्षण हैं; क्योंकि मात्र सृष्टि जलका कार्य है और जल उसका कारण है। अतः मात्र पदार्थोंको भगवान्‌के अर्पण करना चाहिये।

इस श्लोकमें **'भक्त्या'** और **'भक्त्युपहृतम्'**—इस रूपमें 'भक्ति' शब्द दो बार आया है। इनमें **'भक्त्या'** पदसे भक्तका भक्तिपूर्वक देनेका भाव है और **'भक्त्युपहृतम्'** पद भक्तिपूर्वक दी गयी वस्तुका विशेषण है। तात्पर्य यह हुआ कि भक्तिपूर्वक देनेसे वह वस्तु भक्तिरूप, प्रेमरूप हो जाती है, तो भगवान् उसको आत्मसात् कर लेते हैं; अपनेमें मिला लेते हैं; क्योंकि वे प्रेमके भूखे हैं।

विशेष बात

इस श्लोकमें पदार्थोंकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत भक्तके भावकी मुख्यता है; क्योंकि भगवान् भावके भूखे हैं; पदार्थोंके नहीं। अतः अर्पण करनेवालेका भाव मुख्य

१-घर गुरु गृह प्रियसदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी, रुचि माधुरी न पाई॥
(विनयपत्रिका १६४। ४)

२-'ततवेता' तिहुँ लोकमें, भोजन कियो अपार। इक शबरी इक विदुरघर, रुच पायो दो बार॥

(भक्तिपूर्ण) होना चाहिये। जैसे, कोई अत्यधिक गुरुभक्त शिष्य हो, तो गुरुकी सेवामें उसका जितना समय, वस्तु, क्रिया लगती है, उतना ही उसको आनन्द आता है, प्रसन्नता होती है। इसी तरह पतिकी सेवामें समय, वस्तु, क्रिया लगनेपर पतिव्रता स्त्रीको बड़ा आनन्द आता है; क्योंकि पतिकी सेवामें ही उसको अपने जीवनकी और वस्तुकी सफलता दीखती है। ऐसे ही भक्तका भगवान्‌के प्रति प्रेम-भाव होता है, तो वस्तु चाहे छोटी हो या बड़ी हो, साधारण हो या कीमती हो, उसको भगवान्‌के अर्पण करनेमें भक्तको बड़ा आनन्द आता है। उसका भाव यह रहता है कि वस्तुमात्र भगवान्‌की ही है। मेरेको भगवान्‌ने सेवा-पूजाका अवसर दे दिया है—यह मेरेपर भगवान्‌की विशेष कृपा हो गयी है! इस कृपाको देख-देखकर वह प्रसन्न होता रहता है।

भावपूर्वक लगाये हुए भोगको भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं, चाहे हमें दीखे या न दीखे। इस विषयमें एक आचार्य कहते थे कि हमारे मन्दिरमें दीवालीसे होलीतक अर्थात् सरदीके दिनोंमें ठाकुरजीको पिस्ता, बादाम, अखरोट, काजू, चिरौंजी आदिका भोग लगाया जाता था; परन्तु जब यह बहुत मँहगा हो गया, तब हमने मूँगफलीका भोग लगाना शुरू कर दिया। एक दिन रातमें ठाकुरजीने स्वप्नमें कहा—'अरे यार! तू मूँगफली ही खिलायेगा क्या?' उस दिनके बाद फिर मेवाका भोग लगाना शुरू कर दिया। उनको यह विश्वास हो गया कि जब ठाकुरजीको भोग लगाते हैं, तब वे उसे अवश्य स्वीकार करते हैं।

भोग लगानेपर जिन वस्तुओंको भगवान् स्वीकार कर लेते हैं, उन वस्तुओंमें विलक्षणता आ जाती है अर्थात् उन वस्तुओंमें स्वाद बढ़ जाता है, उनमें सुगन्ध आने लगती है; उनको खानेपर विलक्षण तृप्ति होती है, वे चीजें कितने ही दिनोंतक पड़ी रहनेपर भी खराब नहीं होतीं; आदि-आदि। परन्तु यह कसौटी नहीं है कि ऐसा होता ही है। कभी भक्तका ऐसा भाव बन जाय तो भोग लगायी हुई वस्तुओंमें ऐसी विलक्षणता आ जाती है—ऐसा हमने सन्तोंसे सुना है।

मनुष्य जब पदार्थोंकी आहुति देते हैं तो वह यज्ञ हो जाता है; चीजोंको दूसरोंको दे देते हैं तो वह दान कहलाता है, संयमपूर्वक अपने काममें न लेनेसे वह तप हो जाता है और भगवान्‌के अर्पण करनेसे भगवान्‌के साथ योग (सम्बन्ध) हो जाता है—ये सभी एक 'त्याग'के ही अलग-अलग नाम हैं।

परिशिष्ट भाव—देवताओंकी उपासनामें तो अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है (गीता—सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक); परन्तु भगवान्‌की उपासनामें कोई नियम नहीं है। भगवान्‌की उपासनामें प्रेमकी, अपनेपनकी प्रधानता है, विधिकी नहीं—'**भक्त्या प्रयच्छति**', '**भक्त्युपहृतम्**'।

जैसे भोला बालक जो कुछ हाथमें आये, उसको मुँहमें डाल लेता है, ऐसे ही भोले भक्त भगवान्‌को जो भी अर्पण करते हैं, उसको भगवान् भी भोले बनकर खा लेते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११); जैसे—विदुरानीने केलेका छिलका दिया तो भगवान्‌ने उसको ही खा लिया!

'**भक्त्या प्रयच्छति**' का तात्पर्य है कि भक्त वस्तुको प्रेमपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करता है, किसी कामनासे नहीं। देवताओंकी उपासनामें तो वस्तुविशेषकी आवश्यकता होती है, पर भगवान्‌की उपासनामें वस्तुविशेषकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत प्रेमकी आवश्यकता है।

सम्बन्ध—संसारमात्रके दो रूप हैं—पदार्थ और क्रिया। इनमें आसक्ति होनेसे ये दोनों ही पतन करनेवाले होते हैं। अतः 'पदार्थ' अर्पण करनेकी बात पूर्वश्लोकमें कह दी और अब आगेके श्लोकमें 'क्रिया' अर्पण करनेकी बात कहते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

कौन्तेय =हे कुन्तीपुत्र! (तू)
यत् =जो कुछ
करोषि =करता है,
यत् =जो कुछ
अश्नासि =भोजन करता है,
यत् =जो कुछ
जुहोषि =यज्ञ करता है,
यत् =जो कुछ
ददासि =दान देता है (और)
यत् =जो कुछ
तपस्यसि =तप करता है,
तत् =वह (सब)
मदर्पणम् =मेरे अर्पण
कुरुष्व =कर दे।

व्याख्या—[भगवान्‌का यह नियम है कि जो जैसे मेरी शरण लेते हैं, मैं वैसे ही उनको आश्रय देता हूँ (गीता—चौथे अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। जो भक्त अपनी वस्तु मेरे अर्पण करता है, मैं उसे अपनी वस्तु देता हूँ। भक्त तो सीमित ही वस्तु देता है, पर मैं अनन्त गुणा करके देता हूँ। परन्तु जो अपने-आपको ही मुझे दे देता है, मैं अपने-आपको उसे दे देता हूँ। वास्तवमें मैंने अपने-आपको संसारमात्रको दे रखा है (गीता—नवें अध्यायका चौथा श्लोक), और सबको सब कुछ करनेकी स्वतन्त्रता दे रखी है। अगर मनुष्य मेरी दी हुई स्वतन्त्रताको मेरे अर्पण कर देता है, तो मैं भी अपनी स्वतन्त्रताको उसके अर्पण कर देता हूँ अर्थात् मैं उसके अधीन हो जाता हूँ। इसलिये यहाँ भगवान् उस स्वतन्त्रताको अपने अर्पण करनेके लिये अर्जुनसे कहते हैं।]

'यत्करोषि'—यह पद ऐसा विलक्षण है कि इसमें शास्त्रीय, शारीरिक, व्यावहारिक, सामाजिक, पारमार्थिक आदि यावन्मात्र क्रियाएँ आ जाती हैं। भगवान् कहते हैं कि तू इन सम्पूर्ण क्रियाओंको मेरे अर्पण कर दे अर्थात् तू खुद ही मेरे अर्पित हो जा, तो तेरी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वतः मेरे अर्पित हो जायँगी।

अब आगे भगवान् उन्हीं क्रियाओंका विभाग करते हैं—

'यदश्नासि'—इस पदके अन्तर्गत सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाएँ लेनी चाहिये अर्थात् शरीरके लिये तू जो भोजन करता है, जल पीता है, कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन करता है, ओषधि-सेवन करता है, कपड़ा पहनता है, सरदी-गरमीसे शरीरकी रक्षा करता है, स्वास्थ्यके लिये समयानुसार सोता और जागता है, घूमता-फिरता है, शौच-स्नान करता है, आदि सभी क्रियाओंको तू मेरे अर्पण कर दे।

यह शारीरिक क्रियाओंका पहला विभाग है।

'यज्जुहोषि'—इस पदमें यज्ञ-सम्बन्धी सभी क्रियाएँ आ जाती हैं अर्थात् शाकल्य-सामग्री इकट्ठी करना, अग्नि प्रकट करना, मन्त्र पढ़ना, आहुति देना आदि सभी शास्त्रीय क्रियाएँ मेरे अर्पण कर दे।

'ददासि यत्'—तू जो कुछ देता है अर्थात् दूसरोंकी सेवा करता है, दूसरोंकी सहायता करता है, दूसरोंकी आवश्यकता-पूर्ति करता है, आदि जो कुछ शास्त्रीय क्रिया करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।

'यत्तपस्यसि'—तू जो कुछ तप करता है अर्थात् विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंका संयम करता है, अपने कर्तव्यका पालन करते हुए अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंको प्रसन्नतापूर्वक सहता है और तीर्थ, व्रत, भजन-ध्यान, जप-कीर्तन, श्रवण-मनन, समाधि आदि जो कुछ पारमार्थिक क्रिया करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।

उपर्युक्त तीनों पद शास्त्रीय और पारमार्थिक क्रियाओंका दूसरा विभाग है।

'तत्कुरुष्व मदर्पणम्'—यहाँ भगवान्‌ने परस्मैपदी **'कुरु'** क्रियापद न देकर आत्मनेपदी **'कुरुष्व'** क्रियापद दिया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तू सब कुछ मेरे अर्पण कर देगा, तो मेरी कमीकी पूर्ति हो जायगी—यह बात नहीं है; किन्तु सब कुछ मेरे अर्पण करनेपर तेरे पास कुछ नहीं रहेगा अर्थात् तेरा 'मैं' और 'मेरा'-पन सब खत्म हो जायगा, जो कि बन्धनकारक है। सब कुछ मेरे अर्पण करनेके फलस्वरूप तेरेको पूर्णताकी प्राप्ति हो जायगी अर्थात् जिस लाभसे बढ़कर दूसरा कोई लाभ सम्भव ही नहीं है और जिस लाभमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता अर्थात् जहाँ दुःखोंके संयोगका ही अत्यन्त वियोग है (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ-तेईसवाँ श्लोक)—ऐसा लाभ तेरेको प्राप्त हो जायगा।

इस श्लोकमें **'यत्'** पद पाँच बार कहनेका तात्पर्य है कि एक-एक क्रिया अर्पण करनेका भी अपार माहात्म्य है, फिर सम्पूर्ण क्रियाएँ अर्पण की जायँ, तब तो कहना ही क्या है!

विशेष बात

छब्बीसवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने पत्र, पुष्प आदि अर्पण करनेकी बात कही, जो कि अनायास अर्थात् बिना परिश्रमके प्राप्त होते हैं। परन्तु इसमें कुछ-न-कुछ उद्योग तो करना ही पड़ेगा अर्थात् सुगम-से-सुगम वस्तुको भी भगवान्‌के अर्पण करनेका नया उद्योग करना पड़ेगा। परन्तु इस सत्ताईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने उससे भी विलक्षण बात बतायी है कि कोई नये पदार्थ नहीं देने हैं, कोई नयी क्रिया नहीं करनी है और कोई नया उद्योग भी नहीं करना है, प्रत्युत हमारे द्वारा जो लौकिक, पारमार्थिक आदि स्वाभाविक क्रियाएँ होती हैं, उनको भगवान्‌के अर्पण कर देना है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के लिये किसी वस्तु और क्रियाविशेषको अर्पण करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत खुदको ही अर्पित करनेकी जरूरत है। खुद अर्पित होनेसे

सब क्रियाएँ स्वाभाविक भगवान्‌के अर्पण हो जायँगी, भगवान्‌की प्रसन्नताका हेतु हो जायँगी। जैसे बालक अपनी माँके सामने खेलता है, कभी दौड़कर दूर चला जाता है और फिर दौड़कर गोदमें आ जाता है, कभी पीठपर चढ़ जाता है, आदि जो कुछ क्रिया बालक करता है, उस क्रियासे माँ प्रसन्न होती है। माँकी इस प्रसन्नतामें बालकका माँके प्रति अपनेपनका भाव ही हेतु है। ऐसे ही शरणागत भक्तका भगवान्‌के प्रति अपनेपनका भाव होनेसे भक्तकी प्रत्येक क्रियासे भगवान्‌को प्रसन्नता होती है।

यहाँ '**करोषि**' क्रियाके साथ सामान्य '**यत्**' पद होनेसे अर्थात् 'तू जो कुछ करता है'—ऐसा कहनेसे निषिद्ध क्रिया भी आ सकती है। परन्तु अन्तमें '**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**' 'वह मेरे अर्पण कर दे'—ऐसा आया है। अतः जो चीज या क्रिया भगवान्‌के अर्पण की जायगी, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, भगवान्‌के अनुकूल ही होगी। जैसे किसी त्यागी पुरुषको कोई वस्तु दी जायगी तो उसके अनुकूल ही दी जायगी, निषिद्ध वस्तु नहीं दी जायगी। ऐसे ही भगवान्‌को कोई वस्तु या क्रिया अर्पण की जायगी तो उनके अनुकूल, विहित वस्तु या क्रिया ही अर्पण की जायगी, निषिद्ध नहीं। कारण कि जिसका भगवान्‌के प्रति अर्पण करनेका भाव है, उसके द्वारा न तो निषिद्ध क्रिया होनेकी सम्भावना है और न निषिद्ध क्रिया अर्पण करनेकी ही सम्भावना है।

अगर कोई कहे कि 'हम तो चोरी आदि निषिद्ध क्रिया भी भगवान्‌के अर्पण करेंगे' तो यह नियम है कि भगवान्‌को दिया हुआ अनन्त गुणा हो करके मिलता है। इसलिये अगर चोरी आदि निषिद्ध क्रिया भगवान्‌के अर्पण करोगे, तो उसका फल भी अनन्त गुणा हो करके मिलेगा अर्थात् उसका सांगोपांग दण्ड भोगना ही पड़ेगा!

परिशिष्ट भाव—आदरपूर्वक देना और उसीकी वस्तु उसीको देना 'अर्पण' कहलाता है। भगवान्‌ने पदार्थोंको तो देनेकी बात बतायी है—'**प्रयच्छति**'और क्रियाओंको अर्पण करनेकी बात बतायी है—'**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**'; क्योंकि क्रियाएँ दी नहीं जातीं।

ज्ञानयोगी तो संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करता है, पर भक्त एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता मानता ही नहीं। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानयोगी 'मैं' और 'मेरा'का त्याग करता है तथा भक्त 'तू' और 'तेरा'को स्वीकार करता है। इसलिये ज्ञानयोगी पदार्थ और क्रियाका 'त्याग' करता है तथा भक्त पदार्थ और क्रियाको भगवान्‌के 'अर्पण' करता है अर्थात् उनको अपना न मानकर भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है।

जिस वस्तुमें मनुष्यकी सत्यत्व एवं महत्त्वबुद्धि होती है, उसको मिथ्या समझकर यों ही त्याग देनेकी अपेक्षा किसी व्यक्तिके अर्पण कर देना, उसकी सेवामें लगा देना सुगम पड़ता है। फिर जो परम श्रद्धास्पद, परम प्रेमास्पद भगवान् हैं, उनको अर्पण करनेकी सुगमताका तो कहना ही क्या है! दूसरी बात, त्यागीको त्यागका अभिमान भी आ सकता है, पर अर्पण करनेवालेको अभिमान नहीं आ सकता; क्योंकि जिसकी वस्तु है, उसीको देनेसे अभिमान कैसे आयेगा? '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**'। सम्पूर्ण वस्तुएँ (मात्र संसार) सदासे ही भगवान्‌की हैं। उनको भगवान्‌के अर्पण करना केवल अपनी भूल (उनको अपना मान लिया—यह भूल) मिटाना है। भूल मिटनेपर अभिमान नहीं होता, प्रत्युत प्रसन्नता होती है।

संसारको भगवान्‌का मानते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती (जो वास्तवमें है ही नहीं), प्रत्युत भगवान् ही रह जाते हैं (जो वास्तवमें हैं)। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये भक्तको विवेककी जरूरत नहीं है। वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) नहीं करता, प्रत्युत उसको भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है; क्योंकि अपरा प्रकृति भगवान्‌की ही है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा श्लोक)।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें पदार्थों और क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करनेका वर्णन करके अब आगेके श्लोकमें उस अर्पणका फल बताते हैं।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

एवम्	=इस प्रकार (मेरे अर्पण करनेसे)		(निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे		सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला (और)
कर्मबन्धनैः	=कर्मबन्धनसे (और)	**मोक्ष्यसे**	=(तू) मुक्त हो जायगा।	**विमुक्तः**	=सबसे सर्वथा मुक्त हुआ (तू)
शुभाशुभफलैः	=शुभ (विहित) और अशुभ	**सन्न्यासयोग-युक्तात्मा**	=ऐसे अपनेसहित	**माम्**	=मुझे
				उपैष्यसि	=प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**'—पूर्वोक्त प्रकारसे सब पदार्थ और क्रियाएँ मेरे अर्पण करनेसे अर्थात् तेरे स्वयंके मेरे अर्पित हो जानेसे अनन्त जन्मोंके जो शुभ-अशुभ कर्मोंके फल हैं, उन सबसे तू मुक्त हो जायगा। वे कर्मफल तेरेको जन्म-मरण देनेवाले नहीं होंगे।

यहाँ शुभ और अशुभ कर्मोंसे अनन्त जन्मोंके किये हुए संचित शुभ-अशुभ कर्म लेने चाहिये। कारण कि भक्त वर्तमानमें भगवदाज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म ही भगवान्को अर्पण करता है। भगवदाज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म शुभ ही होते हैं, अशुभ होते ही नहीं। हाँ, अगर किसी रीतिसे, किसी परिस्थितिके कारण, किसी पूर्वाभ्यासके प्रवाहके कारण भक्तके द्वारा कदाचित् किंचिन्मात्र भी कोई आनुषंगिक अशुभकर्म बन जाय, तो उसके हृदयमें विराजमान भगवान् उस अशुभकर्मको नष्ट कर देते हैं[1]।

जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी बाह्य होते हैं अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिके द्वारा ही होते हैं। इसलिये उन शुभ और अशुभकर्मोंका अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें जो फल आता है, वह भी बाह्य ही होता है। मनुष्य भूलसे उन परिस्थितियोंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दुःखी होता रहता है। यह सुखी-दुःखी होना ही कर्मबन्धन है और इसीसे वह जन्मता-मरता है। परन्तु भक्तकी दृष्टि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंपर न रहकर भगवान्की कृपापर रहती है अर्थात् भक्त उनको भगवान्का विधान ही मानता है, कर्मोंका फल मानता ही नहीं। इसलिये वह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

'**सन्न्यासयोगयुक्तात्मा**'—सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्के अर्पण करनेका नाम 'संन्यासयोग' है। इस संन्यासयोग अर्थात् समर्पणयोगसे युक्त होनेवालेको यहाँ '**सन्न्यासयोगयुक्तात्मा**' कहा गया है। ऐसे तो गीतामें बहुत जगह 'संन्यास' शब्द सांख्ययोगका वाचक आता है, पर इसका प्रयोग भक्तिमें भी होता है; जैसे—'**मयि सन्न्यस्य**' (१८। ५७)।

जैसे सांख्ययोगी सम्पूर्ण कर्मोंको मनसे नवद्वारवाले शरीरमें रखकर स्वयं सुखपूर्वक अपने स्वरूपमें स्थित रहता है (गीता—पाँचवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), ऐसे ही भक्त कर्मोंके साथ अपने माने हुए सम्बन्धको भगवान्में रख देता है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे कोई सज्जन अपनी धरोहरको कहीं रख देता है, ऐसे ही भक्त अपनेसहित अनन्त जन्मोंके संचित कर्मोंको, उनके फलोंको और उनके सम्बन्धको भगवान्में रख देता है। इसलिये इसको 'संन्यासयोग' कहा गया है।

'**विमुक्तो मामुपैष्यसि**'—पूर्वश्लोकमें '**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**' कहकर अर्पण करनेकी आज्ञा दी। यहाँ कहते हैं कि 'इस प्रकार अर्पण करनेसे तू शुभ-अशुभ कर्मफलोंसे मुक्त हो जायगा। शुभ-अशुभ कर्मफलोंसे मुक्त होनेपर तू मेरेको प्राप्त हो जायगा।' तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण कर्मफलोंसे मुक्त होना तो प्रेम-प्राप्तिका साधन है और भगवान्की प्राप्ति होना प्रेमकी प्राप्ति है।

विशेष बात

शुभ[2] और अशुभ कर्मोंका बन्धन क्या है?

शुभ अथवा अशुभ किसी भी कर्मको किया जाय, उस कर्मका आरम्भ और अन्त होता है। ऐसे ही उन कर्मोंके फलस्वरूपमें जो परिस्थिति आती है, उसका भी संयोग और वियोग होता है। तात्पर्य यह हुआ कि जब कर्म और उनके फल निरन्तर नहीं रहते, तो फिर उनके साथ सम्बन्ध निरन्तर कैसे रह सकता है? परन्तु जब कर्ता (कर्म करनेवाला)

१-विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥ (श्रीमद्भा० ११। ५। ४२)

२-जैसे अशुभकर्म बन्धनकारक हैं, ऐसे ही शुभकर्म भी बन्धनकारक हैं। जैसे, बेड़ी लोहेकी हो चाहे सोनेकी, पर बन्धन दोनोंसे ही होता है। शुभकर्म भी जन्मारम्भक होनेसे बन्धनकारक होता है और अशुभकर्म तो जबर्दस्ती बाँधनेवाला होता ही है।

कर्मोंके साथ अपनापन कर लेता है, तब उसका फलके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। यद्यपि कर्म और फलके साथ सम्बन्ध कभी रह नहीं सकता, तथापि कर्ता उस सम्बन्धको अपनेमें मान लेता है। कर्ता स्वयं (स्वरूपसे) नित्य है, इसलिये उस सम्बन्धको अपनेमें स्वीकार करनेसे वह सम्बन्ध भी नित्य प्रतीत होने लगता है।

कर्ता शुभकर्मोंका फल चाहता है, जो कि अनुकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है। उस परिस्थितिमें यह सुख मानता है। जबतक इस सुखकी चाहना रहती है, तबतक वह दु:खसे बच नहीं सकता। कारण कि सुखके आदिमें और अन्तमें दु:ख ही रहता है तथा सुखसे भी प्रतिक्षण स्वाभाविक वियोग होता रहता है। जिसके वियोगको यह प्राणी नहीं चाहता, उसका वियोग तो हो ही जाता है, यह नियम है। तात्पर्य यह हुआ कि सुखकी इच्छाको यह नहीं छोड़ता और दु:ख इसको नहीं छोड़ता।

जीव जब अपने-आपको प्रभुके समर्पित कर देता है, तब (साक्षात् परमात्माका ही अंश होनेसे) इसकी परमात्माके साथ स्वत: अभिन्नता हो जाती है; और शरीरके साथ भूलसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। यह परमात्माके साथ अभिन्न तो पहलेसे ही था। केवल अपने लिये कर्म करनेसे इस अभिन्नताका अनुभव नहीं होता था। अब अपनेसहित कर्मोंको भगवान्के अर्पण करनेसे उसकी अपने लिये कर्म करनेकी मान्यता मिट जाती है, तो उसको स्वाभाविक प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। इसीको भगवान्ने यहाँ '**विमुक्तो मामुपैष्यसि**' कहा है।

जब यह जीव अपने-आपको भगवान्के समर्पित कर देता है तो फिर उसके सामने जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब दया और कृपाके रूपमें परिणत हो जाती है। तात्पर्य है कि जब उसके सामने अनुकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें भगवान्की 'दया' को मानता है और जब प्रतिकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें भगवान्की 'कृपा' को मानता है। दया और कृपामें भेद यह है कि कभी भगवान् प्यार, स्नेह करके जीवको कर्मबन्धनसे मुक्त करते हैं—यह 'दया' है और कभी शासन करके, ताड़ना करके उसके पापोंका नाश करते हैं—यह 'कृपा' है। इस प्रकार दया और कृपा करके भगवान् भक्तको सबल, सहिष्णु बनाते हैं। परन्तु भक्त तो दोनोंमें ही प्रसन्न रहता है। कारण कि उसकी दृष्टि अनुकूलता-प्रतिकूलताकी तरफ न रहकर केवल भगवान्की तरफ ही रहती है। अत: उसकी दृष्टिमें भगवान्की दया और कृपा दो रूपसे नहीं होती, प्रत्युत एक ही रूपसे होती है। जैसा कि कहा है—

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयो:॥

'जिस प्रकार बालकका पालन करने और ताड़ना करने—दोनोंमें माँकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

परिशिष्ट भाव—भगवान्ने '**यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्**' (९। २५) से जो बात कहनी आरम्भ की थी, उसीका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको अपनेसहित मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे तथा शुभ-अशुभ दोनों कर्मोंके फलोंसे मुक्त होकर मेरेको ही प्राप्त हो जायगा।

'कर्म' भी शुभ-अशुभ होते हैं और 'फल' भी शुभ-अशुभ होता है। दूसरोंके हितके लिये करना 'शुभकर्म' है और अपने लिये करना 'अशुभकर्म' है। अनुकूल परिस्थिति 'शुभ फल' है और प्रतिकूल परिस्थिति 'अशुभ फल' है। भगवान्का भक्त शुभकर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देता है, अशुभकर्म करता ही नहीं और शुभ-अशुभ फलसे अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दु:खी नहीं होता। उसके अनन्त जन्मोंके संचित शुभाशुभ-कर्म भस्म हो जाते हैं; जैसे—जलता हुआ घासका टुकड़ा फेंकनेसे सब घास जल जाता है!

भगवान्के अर्पण करनेसे संसारका सम्बन्ध (गुणसंग) नहीं रहता, केवल भगवान्का सम्बन्ध रह जाता है, जो कि स्वत: पहलेसे ही है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:**' (गीता १५। ७)। जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेसे सिवाय बन्धनके कुछ नहीं होता। अपना माननेसे वस्तु तो रहती नहीं, केवल बन्धन रह जाता है। भक्तका किसी भी वस्तु, व्यक्ति और क्रियामें अपनापन न रहनेसे वह 'विमुक्त' हो जाता है।

यहाँ समर्पणयोगको 'संन्यासयोग' नामसे कहा गया है।

'**मामुपैष्यसि**' पदका तात्पर्य है कि भक्त भगवान्से अभिन्न हो जाता है, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)। इसीको प्रेमाद्वैत कहा गया है।

सम्बन्ध—अब एक शंका होती है कि जो भगवान्‌के समर्पित होते हैं, उनको तो भगवान् मुक्त कर देते हैं और जो भगवान्‌के समर्पित नहीं होते, उनको भगवान् मुक्त नहीं करते—इसमें तो भगवान्‌की दयालुता और समता नहीं हुई, प्रत्युत विषम-दृष्टि और पक्षपात हुआ? इसपर कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

अहम्	= मैं	**अस्ति**	= है (और)	**भजन्ति**	= भजन करते हैं,
सर्वभूतेषु	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें	**न**	= न कोई	**ते**	= वे
समः	= समान हूँ।	**प्रियः**	= प्रिय है।	**मयि**	= मुझमें हैं
न	= (उन प्राणियोंमें) न तो कोई	**तु**	= परन्तु	**च**	= और
		ये	= जो	**अहम्**	= मैं
मे	= मेरा	**भक्त्या**	= प्रेमपूर्वक	**अपि**	= भी
द्वेष्यः	= द्वेषी	**माम्**	= मेरा	**तेषु**	= उनमें हूँ।[1]

व्याख्या—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'**—मैं स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्यापकरूपसे और कृपा-दृष्टिसे सम हूँ। तात्पर्य है कि मैं सबमें समानरूपसे व्यापक, परिपूर्ण हूँ—**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** (गीता ९ । ४), और मेरी सबपर समानरूपसे कृपादृष्टि है—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९)।

मैं कहीं कम हूँ और कहीं अधिक हूँ अर्थात् चींटी छोटी होनेसे उसमें कम हूँ और हाथी बड़ा होनेसे उसमें अधिक हूँ; अन्त्यजमें कम हूँ और ब्राह्मणमें अधिक हूँ; जो मेरे प्रतिकूल चलते हैं, उनमें मैं कम हूँ और जो मेरे अनुकूल चलते हैं, उनमें मैं अधिक हूँ—यह बात है ही नहीं। कारण कि सब-के-सब प्राणी मेरे अंश हैं, मेरे स्वरूप हैं। मेरे स्वरूप होनेसे वे मेरेसे कभी अलग नहीं हो सकते और मैं भी उनसे कभी अलग नहीं हो सकता। इसलिये मैं सबमें समान हूँ, मेरा कहीं कोई पक्षपात नहीं है। तात्पर्य यह हुआ कि प्राणियोंमें जन्मसे, कर्मसे, परिस्थितिसे, घटनासे, संयोग, वियोग आदिसे अनेक तरहसे विषमता होनेपर भी मैं सर्वथा-सर्वदा सबमें समान रीतिसे व्यापक हूँ, कहीं कम और कहीं ज्यादा नहीं हूँ।

'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'[2]—पहले भगवान्‌ने कहा कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ, अब उसीका विवेचन करते हुए कहते हैं कि कोई भी प्राणी मेरे राग-द्वेषका विषय नहीं है। तात्पर्य है कि मेरेसे विमुख होकर कोई प्राणी शास्त्रीय यज्ञ, दान आदि कितने ही शुभकर्म करे, तो भी वह मेरे 'राग' का विषय नहीं है और दूसरा शास्त्रनिषिद्ध अन्याय, अत्याचार आदि कितने ही अशुभकर्म करे, तो भी वह मेरे 'द्वेष' का विषय नहीं है। कारण कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान रीतिसे व्याप्त हूँ, सबपर मेरी समान रीतिसे कृपा है और सब प्राणी मेरे अंश होनेसे मेरेको समान रीतिसे प्यारे हैं। हाँ, यह बात जरूर है कि जो सकामभावपूर्वक शुभकर्म करेगा, वह ऊँची गतिमें जायगा और जो अशुभ-कर्म करेगा, वह नीची गतिमें अर्थात् नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंमें जायगा। परन्तु वे दोनों पुण्यात्मा और पापात्मा होनेपर भी मेरे राग-द्वेषके विषय नहीं हैं।

मेरे रचे हुए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये भौतिक पदार्थ भी प्राणियोंके अच्छे-बुरे आचरणों तथा भावोंको लेकर उनको रहनेका स्थान देनेमें, उनकी प्यास बुझानेमें, उनको प्रकाश देनेमें, उनको चलने-फिरनेके लिये अवकाश देनेमें राग-द्वेषपूर्वक विषमता नहीं करते, प्रत्युत सबको समान रीतिसे देते हैं। फिर प्राणी अपने अच्छे-बुरे आचरणोंको लेकर मेरे राग-द्वेषके विषय कैसे बन सकते हैं? अर्थात् नहीं बन सकते। कारण कि वे साक्षात् मेरे ही अंश हैं, मेरे ही स्वरूप हैं।

जैसे, किसी व्यक्तिके एक हाथमें पीड़ा हो रही है, वह

१-इस श्लोकके दो विभाग हैं—पूर्वार्धमें तो भजन न करनेवालोंका वर्णन है और उत्तरार्धमें भजन करनेवालोंका वर्णन है।

२-यहाँ 'प्रिय' शब्दको रागका ही वाचक मानना चाहिये; क्योंकि प्राणिमात्रपर भगवान्‌की समान रीतिसे प्रियता है— 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' (मानस ७। ८६। २); अतः भगवान् इसका निषेध कैसे कर सकते हैं? दूसरी बात, 'द्वेष्य' शब्दके साथ 'राग' शब्द ही ठीक बैठ सकता है; क्योंकि राग और द्वेष—यह द्वन्द्व है। इसी द्वन्द्वका यहाँ निषेध किया गया है।

हाथ शरीरके किसी काममें नहीं आता, दर्द होनेसे रातमें नींद नहीं लेने देता, काम करनेमें बाधा डालता है और दूसरा हाथ सब प्रकारसे शरीरके काम आता है। परन्तु उस व्यक्तिका किसी हाथके प्रति राग या द्वेष नहीं होता कि यह तो अच्छा है और यह मन्दा है; क्योंकि दोनों ही हाथ उसके अंग हैं और अपने अंगके प्रति किसीके राग-द्वेष नहीं होते। ऐसे ही कोई मेरे वचनों, सिद्धान्तोंके अनुसार चलनेवाला हो, पुण्यात्मा-से-पुण्यात्मा हो और दूसरा कोई मेरे वचनों, सिद्धान्तोंका खण्डन करनेवाला हो, मेरे विरुद्ध चलनेवाला हो, पापी-से-पापी हो, तो उन दोनोंको लेकर मेरे राग-द्वेष नहीं होते। उनके अपने-अपने बर्तावोंमें, आचरणोंमें भेद है, इसलिये उनके परिणाम-(फल-) में भेद होगा, पर मेरा किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं है। अगर किसीके प्रति राग-द्वेष होता; तो **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** यह कहना ही नहीं बनता; क्योंकि विषमताके कारण ही राग-द्वेष होते हैं।

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'— परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं अर्थात् जिनकी संसारमें आसक्ति, राग, खिंचाव नहीं है, जो केवल मेरेको ही अपना मानते हैं, केवल मेरे ही परायण रहते हैं, केवल मेरी प्रसन्नताके लिये ही रात-दिन काम करते हैं और जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणीके द्वारा मेरी तरफ ही चलते हैं (गीता—नवें अध्यायका चौदहवाँ और दसवें अध्यायका नवाँ श्लोक), वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ।

प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो सामान्य जीव हैं तथा मेरी आज्ञाके विरुद्ध चलनेवाले हैं, वे मेरेमें और मैं उनमें नहीं हूँ, प्रत्युत वे अपनेको मेरेमें मानते ही नहीं। वे ऐसा कह देते हैं कि हम तो संसारी जीव हैं, संसारमें रहनेवाले हैं! वे यह नहीं समझते कि संसार, शरीर तो कभी एकरूप, एकरस रहता ही नहीं, तो ऐसे संसार, शरीरमें हम कैसे स्थित रह सकते हैं? इसको न जाननेके कारण ही वे अपनेको संसार, शरीरमें स्थित मानते हैं। उनकी अपेक्षा जो रात-दिन मेरे भजन-स्मरणमें लगे हुए हैं, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया आदिमें और अपने-आपमें भी मेरेको ही मानते हैं, वे मेरेमें विशेषरूपसे हैं और मैं उनमें विशेषरूपसे हूँ।

दूसरा भाव यह है कि जो मेरे साथ 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उनकी मेरे साथ इतनी घनिष्ठता हो जाती है कि मैं और वे एक हो जाते हैं—**'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'** (नारदभक्तिसूत्र ४१)। इसलिये वे मेरेमें और मैं उनमें हूँ।

तीसरा भाव यह है कि उनमें 'मैं'-पन नहीं रहता; क्योंकि 'मैं'-पन एक परिच्छिन्नता है। इस परिच्छिन्नता-(एक-देशीयता-) के मिटनेसे वे मेरेमें ही रहते हैं।

अब कोई भगवान्‌से कहे कि आप भक्तोंमें विशेषतासे प्रकट हो जाते हैं और दूसरोंमें कमरूपसे प्रकट होते हैं—यह आपकी विषमता क्यों? तो भगवान् कहते हैं कि भैया! मेरेमें यह विषमता तो भक्तोंके कारण है। अगर कोई मेरा भजन करे, मेरे परायण हो जाय, शरण हो जाय और मैं उससे विशेष प्रेम न करूँ, उसमें विशेषतासे प्रकट न होऊँ; तो यह मेरी विषमता हो जायगी। कारण कि भजन करनेवाले और भजन न करनेवाले—दोनोंमें मैं बराबर ही रहूँ, तो यह न्याय नहीं होगा; प्रत्युत मेरी विषमता होगी। इससे भक्तोंके भजनका और उनका मेरी तरफ लगनेका कोई मूल्य ही नहीं रहेगा। यह विषमता मेरेमें न आ जाय, इसलिये जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको आश्रय देता हूँ—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। अतः यह विषमता मेरेमें भक्तोंके भावोंको लेकर ही है।*

जैसे, कोई पुत्र अच्छा काम करता है तो सुपुत्र कहलाता है और खराब काम करता है तो कुपुत्र कहलाता है। यह सुपुत्र-कुपुत्रका भेद तो उनके आचरणोंके कारण हुआ है। माँ-बापके पुत्रभावमें कोई फरक नहीं पड़ता। गायके थनोंमें चींचड़ रहते हैं, वे दूध न पीकर खून पीते हैं, तो यह विषमता गायकी नहीं है, प्रत्युत चींचड़ोंकी अपनी बनायी हुई है। बिजलीके द्वारा कहीं बर्फ जम जाती है और कहीं आग पैदा हो जाती है, तो यह विषमता बिजलीकी नहीं है, प्रत्युत यन्त्रोंकी है। ऐसे ही जो भगवान्‌में रहते हुए भी भगवान्‌को नहीं मानते, उनका भजन नहीं करते, तो यह विषमता उन प्राणियोंकी ही है, भगवान्‌की नहीं। जैसे लकड़ीका टुकड़ा,

* तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ (मानस २। २१९। ३)

केवल भगवान्‌में ही नहीं, प्रत्युत जीवन्मुक्त श्रेष्ठ महापुरुषोंमें भी सामनेवालेके गुणों, भावों, आचरणों आदिको लेकर पक्षपात हो जाता है—

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः॥ (किराता० ३। १२)

काँचका टुकड़ा और आतशी शीशा—इन तीनोंमें सूर्यकी कोई विषमता नहीं है; परन्तु सूर्यके सामने (धूपमें) रखनेपर लकड़ीका टुकड़ा सूर्यकी किरणोंको रोक देता है, काँचका टुकड़ा किरणोंको नहीं रोकता और आतशी शीशा किरणोंको एक जगह केन्द्रित करके अग्नि प्रकट कर देता है। तात्पर्य है कि यह विषमता सामने आनेवाले पदार्थोंकी है, सूर्यकी नहीं। सूर्यकी किरणें तो सबपर एक समान ही पड़ती हैं। वे पदार्थ उन किरणोंको जितनी पकड़ लेते हैं, उतनी ही वे किरणें उनमें प्रकट हो जाती हैं। ऐसे ही भगवान् सब प्राणियोंमें समानरूपसे व्यापक हैं, परिपूर्ण है। परन्तु जो प्राणी भगवान्के सम्मुख हो जाते हैं, भगवान्का और भगवान्की कृपाका प्राकट्य उनमें विशेषतासे हो जाता है। उनकी भगवान्में जितनी अधिक प्रियता होती है, भगवान्की भी उतनी ही अधिक प्रियता प्रकट हो जाती है। वे अपने-आपको भगवान्को दे देते हैं, तो भगवान् भी अपने-आपको उनको दे देते हैं। इस प्रकार भक्तोंके भावोंके अनुसार ही भगवान्की विशेष कृपा, प्रियता आदि प्रकट होती है।

तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य सांसारिक रागके कारण ही अपनेको संसारमें मानते हैं। जब वे भगवान्का प्रेमपूर्वक भजन करने लग जाते हैं, तब उनका सांसारिक राग मिट जाता है और वे अपनी दृष्टिसे भगवान्में हो जाते हैं और भगवान् उनमें हो जाते हैं। भगवान्की दृष्टिसे तो वे वास्तवमें भगवान्में ही थे और भगवान् भी उनमें थे। केवल रागके कारण वे अपनेको भगवान्में और भगवान्को अपनेमें नहीं मानते थे।

भगवान्ने यहाँ **'ये भजन्ति'** पदोंमें **'ये'** सर्वनाम पद दिया है, जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य किसी भी देशके हों, किसी भी वेशमें हों, किसी भी अवस्थाके हों, किसी भी सम्प्रदायके हों, किसी भी वर्णके हों, किसी भी आश्रमके हों, कैसी ही योग्यतावाले हों, वे अगर भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, तो वे मेरेमें और मैं उनमें हूँ। अगर भगवान् यहाँ किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, जाति आदिको लेकर कहते, तब तो भगवान्में विषमता, पक्षपातका होना सिद्ध हो जाता। परन्तु भगवान्ने **'ये'** पदसे सबको भजन करनेकी और 'मैं भगवान्में हूँ और भगवान् मेरेमें हैं'—इसका अनुभव करनेकी पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है।

परिशिष्ट भाव—'समोऽहं सर्वभूतेषु'—जीव भगवान्को अपनी क्रियाएँ और पदार्थ अर्पण करे अथवा न करे, भगवान्में कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे तो सदा समान ही रहते हैं। किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष, जातिविशेष, कर्मविशेष, योग्यताविशेष आदिका भी भगवान्पर कोई असर नहीं पड़ता। अतः प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति आदिका मनुष्य उनके सम्मुख हो सकता है, उनका भक्त हो सकता है, उनको प्राप्त कर सकता है।

'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'—भगवान्की दृष्टिमें भगवान्के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, फिर उनके द्वेष और प्रेमका विषय दूसरा कैसे हो सकता है? जीव ही शुभाशुभ-कर्म और उनके फलसे राग-द्वेष करके संसारमें बँध जाता है और राग-द्वेषका त्याग करके मुक्त हो जाता है। इसलिये बन्धन और मुक्ति जीवकी ही होती है, भगवान्की नहीं। विषमता जीव करता है, भगवान् नहीं। भगवान् तो ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

चौथे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा था—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**, वही बात भगवान्ने यहाँ **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** पदोंसे कही है। भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण हैं, उनमें विषमता नहीं है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करते हैं, वे भगवान्में हैं और भगवान् उनमें हैं अर्थात् भगवान् उनमें विशेषरूपसे प्रकट हैं। तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें जल सब जगह रहता है, पर कुएँमें वह विशेष प्रकट (आवरणरहित) होता है, ऐसे ही भगवान् संसारमात्रमें परिपूर्ण होते हुए भी भक्तोंमें विशेष प्रकट होते हैं। भक्तोंमें यह विलक्षणता प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करनेसे भगवत्कृपासे ही आयी है। जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी गायके काम नहीं आता, प्रत्युत उसके दूधसे निकाला हुआ घी ही उसके काम आता है, ऐसे ही संसारमें परिपूर्ण होनेमात्रसे भगवान्के द्वारा लोगोंके पाप नहीं कटते, प्रत्युत जो भगवान्के सम्मुख होते हैं, प्रेमपूर्वक उनका भजन करते हैं, उनके ही पाप कटते हैं*। सामान्य प्राणी भगवान्के अन्तर्गत होते हुए भी भगवान्को नहीं देखते, पर भक्त सब जगह भगवान्को देखते हैं (गीता—छठें अध्यायका तीसवाँ श्लोक)। भक्त भगवान्से प्रेम करते हैं और भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं—**'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (गीता ७। १७)। इसलिये भक्त भगवान्में हैं और भगवान् भक्तोंमें

*** सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ (मानस, सुन्दर० ४४। १)**

हैं—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्'**। तात्पर्य यह निकला कि विषमता भगवान्‌में नहीं है, प्रत्युत प्राणियोंने ही विषमता की है, जो कि भगवान्‌से विमुख हैं।

तत्त्वसे तो भगवान् **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** हैं, पर अनुभव करनेमें भगवान् **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण होनेपर भी भगवान्‌का अनुभव भक्त ही करते हैं, अन्य प्राणी नहीं। वास्तवमें अनुभव करनेकी शक्ति भी भगवान्‌से ही प्राप्त होती है। मनुष्यका काम केवल भगवान्‌के सम्मुख होना है।

रामायणमें आया है—

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

(मानस, अरण्य० ३६। २)

तात्पर्य है कि भगवान्‌की सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान व्यापकता, प्रियता, कृपा तथा आत्मीयता है, पर भक्तोंमें वे विशेष दीखते हैं। भक्तोंमें यह विशेषता भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवत्कृपासे आती है और भगवान्‌की ही दी हुई होती है। भक्तोंकी भगवान्‌में जैसी तल्लीनता, प्रियता होती है, वैसी दूसरोंकी नहीं होती। इसलिये भगवान्‌की भी भक्तोंमें प्रियता होती है। भक्त और भगवान्‌की परस्पर प्रियताको **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** पदोंसे कहा गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या' पदोंसे भक्तिपूर्वक अपना भजन करनेकी बात कही। अब आगेके श्लोकमें भजन करनेवालोंका विवेचन आरम्भ करते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

चेत्	= अगर (कोई)	**भजते**	= भजन करता है (तो)	**हि**	= कारण कि
सुदुराचारः	= दुराचारी-से-दुराचारी	**सः**	= उसको	**सः**	= उसने
अपि	= भी	**साधुः**	= साधु	**सम्यक्, व्यवसितः**	= निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।
अनन्यभाक्	= अनन्यभक्त होकर	**एव**	= ही		
माम्	= मेरा	**मन्तव्यः**	= मानना चाहिये।		

व्याख्या—[कोई करोड़पति या अरबपति यह बात कह दे कि मेरे पास जो कोई आयेगा, उसको मैं एक लाख रुपये दूँगा, तो उसके इस वचनकी परीक्षा तब होगी, जब उससे सर्वथा ही विरुद्ध चलनेवाला, उसके साथ वैर रखनेवाला, उसका अनिष्ट करनेवाला भी आकर उससे एक लाख रुपये माँगे और वह उसको दे दे। इससे सबको यह विश्वास हो जायगा कि यह जो माँगे, उसको दे देता है। इसी भावको लेकर भगवान् सबसे पहले दुराचारीका नाम लेते हैं।]

'अपि चेत्'—सातवें अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें आया है कि जो पापी होते हैं, वे मेरे शरण नहीं होते और यहाँ कहा है कि दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है—इन दोनों बातोंमें आपसमें विरोध प्रतीत होता है। इस विरोधको दूर करनेके लिये ही यहाँ **'अपि'** और **'चेत्'** ये दो पद दिये गये हैं। तात्पर्य है कि सातवें अध्यायमें 'दुष्कृती मनुष्य मेरे शरण नहीं होते' ऐसा कहकर उनके स्वभावका वर्णन किया है। परन्तु वे भी किसी कारणसे मेरे भजनमें लगना चाहें तो लग सकते हैं। मेरी तरफसे किसीको कोई मना नहीं है*; क्योंकि किसी भी प्राणीके प्रति मेरा द्वेष नहीं है। ये भाव प्रकट करनेके लिये ही यहाँ **'अपि'** और **'चेत्'** पदोंका प्रयोग किया है।

'सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्'—जो सुष्ठु दुराचारी है, सांगोपांग दुराचारी है अर्थात् दुराचार करनेमें कोई कमी न रहे, दुराचारका अंग-उपांग न छूटे—ऐसा दुराचारी है, वह भी अनन्यभाक् होकर मेरे भजनमें लग जाय तो उसका उद्धार हो जाता है।

यहाँ **'भजते'** क्रिया वर्तमानकी है, जिसका कर्ता

---

* **कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥**
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ (मानस ५। ४४। १)

है—सांगोपांग दुराचारी। इसका तात्पर्य हुआ कि पहले भी उसके दुराचार बनते आये हैं और अभी वर्तमानमें वह अनन्यभावसे भजन करता है, तो भी उसके द्वारा दुराचार सर्वथा नहीं छूटे हैं अर्थात् कभी-कभी किसी परिस्थितिमें आकर पूर्वसंस्कारवश उसके द्वारा पाप-क्रिया हो सकती है। ऐसी अवस्थामें भी वह मेरा भजन करता है। कारण कि उसका ध्येय (लक्ष्य) अन्यका नहीं रहा है अर्थात् उसका लक्ष्य अब धन, सम्पत्ति, आदर-सत्कार, सुख-आराम आदि प्राप्त करनेका नहीं रहा है। उसका एकमात्र लक्ष्य अनन्यभावसे मेरेमें लगनेका ही है।

अब शंका यह होती है कि ऐसा दुराचारी अनन्यभावसे भगवान्‌के भजनमें कैसे लगेगा? उसके लगनेमें कई कारण हो सकते हैं; जैसे—

(१) वह किसी आफतमें पड़ जाय और उसको कहीं किंचिन्मात्र भी कोई सहारा न मिले। ऐसी अवस्थामें अचानक उसको सुनी हुई बात याद आ जाय कि 'भगवान् सबके सहायक हैं और उनकी शरणमें जानेसे सब काम ठीक हो जाता है' आदि।

(२) वह कभी किसी ऐसे वायुमण्डलमें चला जाय, जहाँ बड़े-बड़े अच्छे सन्त-महापुरुष हुए हैं और वर्तमानमें भी हैं, तो उनके प्रभावसे भगवान्‌में रुचि पैदा हो जाय।

(३) वाल्मीकि, अजामिल, सदन कसाई आदि पापी भी भगवान्‌के भक्त बन चुके हैं और भजनके प्रभावसे उनमें विलक्षणता आयी है—ऐसी कोई कथा सुन करके पूर्वका कोई अच्छा संस्कार जाग उठे, जो कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें रहता है*।

(४) कोई प्राणी ऐसी आफतमें आ गया, जहाँ उसके बचनेकी कोई सम्भावना ही नहीं थी, पर वह बच गया। ऐसी घटनाविशेषको देखनेसे उसके भीतर यह भाव पैदा हो जाय कि कोई ऐसी विलक्षण शक्ति है, जो ऐसी आफतसे बचाती है। वह विलक्षण शक्ति भगवान् ही हो सकते हैं; इसलिये अपनेको भी उनके परायण हो जाना चाहिये।

(५) उसको किसी सन्तके दर्शन हो जायँ और उसका पतन करनेवाले दुष्कर्मोंको देखकर उसपर सन्तकी कृपा हो जाय; जैसे—वाल्मीकि, अजामिल आदि पापियोंपर सन्तोंकी कृपा हुई।

—ऐसे कई कारणोंसे अगर दुराचारीका भाव बदल जाय, तो वह भगवान्‌के भजनमें अर्थात् भगवान्‌की तरफ लग सकता है। चोर, डाकू, लुटेरे, हत्या करनेवाले बधिक आदि भी अचानक भाव बदल जानेसे भगवान्‌के अच्छे भक्त हुए हैं—ऐसी कई कथाएँ पुराणोंमें तथा भक्तमाल आदि ग्रन्थोंमें आती हैं।

अब एक शंका होती है कि जो वर्षोंसे भजन-ध्यान कर रहे हैं, उनका मन भी तत्परतासे भगवान्‌में नहीं लगता, फिर जो दुराचारी-से-दुराचारी है, उसका मन भगवान्‌में तैलधारावत् कैसे लगेगा? यहाँ '**अनन्यभाक्**' का अर्थ 'वह तैलधारावत् चिन्तन करता है'—यह नहीं है, प्रत्युत इसका अर्थ है—'**न अन्यं भजति**' अर्थात् वह अन्यका भजन नहीं करता। उसका भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका सहारा, आश्रय नहीं है, केवल भगवान्‌का ही आश्रय है। जैसे पतिव्रता स्त्री केवल पतिका चिन्तन ही करती हो—ऐसी बात नहीं है। वह तो हरदम पतिकी ही बनी रहती है, स्वप्नमें भी वह दूसरोंकी नहीं होती। तात्पर्य है कि उसका तो एक पतिसे ही अपनापन रहता है। ऐसे ही उस दुराचारीका केवल भगवान्‌से ही अपनापन हो जाता है और एक भगवान्‌का ही आश्रय रहता है।

'**अनन्यभाक्**' होनेमें खास बात है 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस प्रकार अपनी अहंताको बदल देना। अहंता-परिवर्तनसे जितनी जल्दी शुद्धि आती है, जप, तप, यज्ञ, दान आदि क्रियाओंसे उतनी जल्दी शुद्धि नहीं आती। इस अहंताके परिवर्तनके विषयमें तीन बातें हैं—

(१) **अहंताको मिटाना**—ज्ञानयोगसे अहंता मिट जाती है। जिस प्रकाशमें 'अहम्' (मैं-पन)-का भान होता है, वह प्रकाश मेरा स्वरूप है और एकदेशीयरूपमें प्रतीत होनेवाला 'अहम्' मेरा स्वरूप नहीं है। कारण यह है कि 'अहम्' दृश्य होता है, और जो दृश्य होता है, वह अपना स्वरूप नहीं होता। इस प्रकार दोनोंका विभाजन करके अपने ज्ञप्तिमात्र स्वरूपमें स्थित होनेसे 'अहंता' मिट जाती है।

(२) **अहंताको शुद्ध करना**—कर्मयोगसे अहंता शुद्ध हो जाती है। जैसे, पुत्र कहता है कि 'मैं पुत्र हूँ और ये मेरे पिता हैं' तो इसका तात्पर्य है कि पिताकी सेवा करनामात्र मेरा कर्तव्य है; क्योंकि पिता-पुत्रका सम्बन्ध केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही है। पिता मेरेको पुत्र न मानें, मेरेको दुःख दें, मेरा अहित करें, तो भी मेरेको उनकी सेवा करनी है, उनको सुख पहुँचाना है। ऐसे ही माता, भाई, भौजाई, स्त्री, पुत्र, परिवारके प्रति भी मेरेको केवल अपने

* **सुमति कुमति सब कें उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥** (मानस ५। ४०। ३)

कर्तव्यका ही पालन करना है। उनके कर्तव्यकी तरफ मेरेको देखना ही नहीं है कि वे मेरे प्रति क्या करते हैं, दुनियाके प्रति क्या करते हैं। उनके कर्तव्यको देखना मेरा कर्तव्य नहीं है; क्योंकि दूसरोंके कर्तव्यको देखनेवाला अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। अतः उनका तो मेरेपर पूरा अधिकार है, पर वे मेरे अनुकूल चलें—ऐसा मेरा किसीपर भी अधिकार नहीं है। इस प्रकार दूसरोंका कर्तव्य न देखकर केवल अपना कर्तव्य-पालन करनेसे अहंता शुद्ध हो जाती है। कारण कि अपने सुख-आरामकी कामना होनेसे ही अहंता अशुद्ध होती है।

(३) **अहंताका परिवर्तन करना**—भक्तियोगसे अहंता बदल जाती है। जैसे, विवाहमें पतिके साथ सम्बन्ध होते ही कन्याकी अहंता बदल जाती है और वह पतिके घरको ही अपना घर, पतिके धर्मको ही अपना धर्म मानने लग जाती है। वह पतिव्रता अर्थात् एक पतिकी ही हो जाती है, तो फिर वह माता-पिता, सास-ससुर आदि किसीकी भी नहीं होती। इतना ही नहीं, वह अपने पुत्र और पुत्रीकी भी नहीं होती; क्योंकि जब वह सती होती है, तब पुत्र-पुत्रीके, माता-पिताके स्नेहकी भी परवाह नहीं करती। हाँ, वह पतिके नाते सेवा सबकी कर देती है, पर उसकी अहंता केवल पतिकी ही हो जाती है। ऐसे ही मनुष्यकी अहंता 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस प्रकार भगवान्के साथ हो जाती है, तो उसकी अहंता बदल जाती है। इस अहंताके बदलनेको ही यहाँ '**अनन्यभाक्**' कहा है।

'**साधुरेव स मन्तव्यः**'—अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि वह पहले भी दुराचारी रहा है और वर्तमानमें भी उसके आचरण सर्वथा शुद्ध नहीं हुए हैं, तो दुराचारोंको लेकर उसको दुराचारी मानना चाहिये या अनन्यभावको लेकर साधु ही मानना चाहिये? तो भगवान् कहते हैं कि उसको तो साधु ही मानना चाहिये। यहाँ '**मन्तव्यः**' (मानना चाहिये) विधि-वचन है अर्थात् यह भगवान्की विशेष आज्ञा है।

माननेकी बात वहीं कही जाती है, जहाँ साधुता नहीं दीखती। अगर उसमें किंचिन्मात्र भी दुराचार न होते, तो भगवान् 'उसको साधु ही मानना चाहिये' ऐसा क्यों कहते? तो भगवान्के कहनेसे यही सिद्ध होता है कि उसमें अभी दुराचार हैं। वह दुराचारोंसे सर्वथा रहित नहीं हुआ है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि वह अभी सांगोपांग साधु नहीं हुआ है, तो भी उसको साधु ही मानना चाहिये अर्थात् बाहरसे उसके आचरणोंमें, क्रियाओंमें कोई कमी भी देखनेमें आ जाय, तो भी वह असाधु नहीं है। इसका कारण यह है कि वह '**अनन्यभाक्**' हो गया अर्थात् 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं; मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है' इस प्रकार वह भीतरसे ही भगवान्का हो गया, उसने भीतरसे ही अपनी अहंता बदल दी। इसलिये अब उसके आचरण सुधरते देरी नहीं लगेगी; क्योंकि अहंताके अनुसार ही सब आचरण होते हैं।

उसको साधु ही मानना चाहिये—ऐसा भगवान्को क्यों कहना पड़ रहा है? कारण कि लोगोंमें यह रीति है कि वे किसीके भीतरी भावोंको न देखकर बाहरसे जैसा आचरण देखते हैं, वैसा ही उसको मान लेते हैं। जैसे, एक आदमी वर्षोंसे परिचित है अर्थात् भजन करता है, अच्छे आचरणोंवाला है—ऐसा बीसों, पचीसों वर्षोंसे जानते हैं। पर एक दिन देखा कि वह रात्रिके समय एक वेश्याके यहाँसे बाहर निकला, तो उसे देखते ही लोगोंके मनमें आता है कि देखो! हम तो इसको बड़ा अच्छा मानते थे, पर यह तो वैसा नहीं है, यह तो वेश्यागामी है! ऐसा विचार आते ही उनका जो अच्छेपनका भाव था, वह उड़ जाता है। जो कई दिनोंकी श्रद्धा-भक्ति थी, वह उठ जाती है। इसी तरहसे लोग वर्षोंसे किसी व्यक्तिको जानते हैं कि वह अन्यायी है, पापी है, दुराचारी है और वही एक दिन गंगाके किनारे स्नान किये हुए, हाथमें गोमुखी लिये हुए बैठा है। उसका चेहरा बड़ा प्रसन्न है। उसको देखकर कोई कहता है कि देखो भगवान्का भजन कर रहा है, बड़ा अच्छा पुरुष है, तो दूसरा कहता है कि अरे! तुम इसको जानते नहीं, मैं जानता हूँ; यह तो ऐसा-ऐसा है, कुछ नहीं है, केवल पाखण्ड करता है। इस प्रकार भजन करनेपर भी लोग उसको वैसा ही पापी मान लेते हैं और उधर साधन-भजन करनेवालेको भी वेश्याके घरसे निकलता देखकर खराब मान लेते हैं। उसको न जाने किस कारणसे वेश्याने बुलाया था, क्या पता वह दयापरवश होकर वेश्याको शिक्षा देनेके लिये गया हो, उसके सुधारके लिये गया हो—उस तरफ उनकी दृष्टि नहीं जाती। जिनका अन्तःकरण मैला हो, वे मैलापनकी बात करके अपने अन्तःकरणको और मैला कर लेते हैं। उनका अन्तःकरण मैलापनकी बात ही पकड़ता है। परन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकारकी बातें होनेपर भी भगवान्की दृष्टि मनुष्यके

भावपर ही रहती है, आचरणोंपर नहीं—

'रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥'

(मानस १। २९। ३)

क्योंकि भगवान् भावग्राही हैं—**'भावग्राही जनार्दनः।'**

'सम्यग्व्यवसितो हि सः'—दूसरे अध्यायमें कर्मयोगके प्रकरणमें 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' की बात आयी है (इकतालीसवाँ श्लोक) अर्थात् वहाँ पहले बुद्धिमें यह निश्चय होता है कि 'मेरेको राग-द्वेष नहीं करने हैं, कर्तव्य-कर्म करते हुए सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना है।' अतः कर्मयोगीकी बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है और यहाँ कर्ता स्वयं व्यवसित है—**'सम्यग्व्यवसितः।'** कारण कि 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ, अब मेरा काम केवल भजन करना ही है'—यह निश्चय स्वयंका है, बुद्धिका नहीं। अतः सम्यक् निश्चयवालेकी स्थिति भगवान्में है। तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ निश्चय 'करण'-(बुद्धि-) में है और यहाँ निश्चय 'कर्ता'- (स्वयं-) में है। करणमें निश्चय होनेपर भी जब कर्ता परमात्मतत्त्वसे अभिन्न हो जाता है, तो फिर कर्तामें निश्चय होनेपर करणमें भी निश्चय हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है!

जहाँ बुद्धिका निश्चय होता है, वहाँ वह निश्चय तबतक एकरूप नहीं रहता, जबतक स्वयं कर्ता उस निश्चयके साथ मिल नहीं जाता। जैसे; सत्संग-स्वाध्यायके समय मनुष्योंका ऐसा निश्चय होता है कि अब तो हम केवल भजन-स्मरण ही करेंगे। परन्तु यह निश्चय सत्संग-स्वाध्यायके बाद स्थिर नहीं रहता। इसमें कारण यह है कि उनकी स्वयंकी स्वाभाविक रुचि केवल परमात्माकी तरफ चलनेकी नहीं है, प्रत्युत साथमें संसारका सुख-आराम आदि लेनेकी भी रुचि रहती है। परन्तु जब स्वयंका यह निश्चय हो जाता है कि अब हमें परमात्माकी तरफ ही चलना है, तो फिर यह निश्चय कभी मिटता नहीं; क्योंकि यह निश्चय स्वयंका है।

जैसे, कन्याका विवाह होनेपर 'अब मैं पतिकी हो गयी, अब मेरेको पतिके घरका काम ही करना है' ऐसा निश्चय स्वयंमें हो जानेसे यह कभी मिटता नहीं, प्रत्युत बिना याद किये ही हरदम याद रहता है। इसका कारण यह है कि उसने स्वयंको ही पतिका मान लिया। ऐसे ही जब मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि 'मैं भगवान्का हूँ और अब केवल भगवान्का ही काम (भजन) करना है, भजनके सिवाय और कोई काम नहीं, किसी कामसे कोई मतलब नहीं, तो यह निश्चय स्वयंका होनेसे सदाके लिये पक्का हो जाता है, फिर कभी मिटता ही नहीं।' इसलिये भगवान् कहते हैं कि उसको साधु ही मानना चाहिये। केवल माननेकी ही बात नहीं, स्वयंका निश्चय होनेसे वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** (९। ३१)।

भक्तियोगकी दृष्टिसे सम्पूर्ण दुर्गुण-दुराचार भगवान्की विमुखतापर ही टिके रहते हैं। जब प्राणी अनन्यभावसे भगवान्के सम्मुख हो जाता है, तब सभी दुर्गुण-दुराचार मिट जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है—**'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** (गीता २। ३९)। इसलिये ज्ञानयोगी और कर्मयोगीकी बुद्धि व्यवसित होती है—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह'** (गीता २। ४१), **'व्यवसायात्मिका बुद्धिः'** (गीता २। ४४)। परन्तु भक्तियोगमें स्वयंकी प्रधानता रहती है, इसलिये भक्त स्वयं व्यवसित होता है—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'**।

मन-बुद्धिमें बैठी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, पर स्वयंमें बैठी हुई बातकी विस्मृति नहीं हो सकती। कारण कि मन-बुद्धि अपने साथ निरन्तर नहीं रहते, सुषुप्तिमें हमें उनके अभावका अनुभव होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उस स्वयंमें जो बात होती है, वह अखण्ड रहती है। इसलिये 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति स्वयंमें होती है, मन-बुद्धिमें नहीं। एक बार यह स्वीकृति होनेपर फिर कभी अस्वीकृति होती ही नहीं; क्योंकि स्वयं मूलमें भगवान्का ही अंश होनेसे भगवान्से अभिन्न है। परन्तु भूलसे यह प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। अतः वास्तवमें केवल अपनी भूल ही मिटती है। भूल मिटते ही भगवान्के नित्य-सम्बन्धकी स्वतः जागृति हो जाती है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३)। दूसरेके साथ सम्बन्ध माना था, यही भूल थी, मोह था।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें सम्यक् निश्चयका फल बताते हैं।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

क्षिप्रम्	= (वह) तत्काल (उसी क्षण)	**शश्वत्**	= निरन्तर रहनेवाली	**भक्तः**	= भक्तका
धर्मात्मा	= धर्मात्मा	**शान्तिम्**	= शान्तिको	**प्रणश्यति, न**	= पतन नहीं होता—
भवति	= हो जाता है (और)	**निगच्छति**	= प्राप्त हो जाता है।	**प्रतिजानीहि**	= (ऐसी तुम) प्रतिज्ञा करो।
		कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!		
		मे	= मेरे		

व्याख्या—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'**—वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है अर्थात् महान् पवित्र हो जाता है। कारण कि यह जीव स्वयं परमात्माका अंश है और जब इसका उद्देश्य भी परमात्माकी प्राप्ति करना हो गया तो अब उसके धर्मात्मा होनेमें क्या देरी लगेगी? अब वह पापात्मा कैसे रहेगा? क्योंकि वह धर्मात्मा तो स्वतः था ही, केवल संसारके सम्बन्धके कारण उसमें पापात्मापन आया था, जो कि आगन्तुक था। अब जब अहंता बदलनेसे संसारका सम्बन्ध नहीं रहा, तो वह ज्यों-का-त्यों (धर्मात्मा) रह गया।

यह जीव जब पापात्मा नहीं बना था, तब भी पवित्र था और जब पापात्मा बन गया, तब भी वैसा ही पवित्र था। कारण कि परमात्माका अंश होनेसे जीव सदा ही पवित्र है। केवल संसारके सम्बन्धसे वह पापात्मा बना था। संसारका सम्बन्ध छूटते ही वह ज्यों-का-त्यों पवित्र रह गया।

पाप करनेकी भावना रहते हुए मनुष्य 'मेरेको केवल भगवान्की तरफ ही चलना है'—ऐसा निश्चय नहीं कर सकता, यह बात ठीक है। परन्तु पापी मनुष्य ऐसा निश्चय नहीं कर सकता—यह नियम नहीं है। कारण कि जीवमात्र परमात्माका अंश होनेसे तत्त्वतः निर्दोष है। संसारकी आसक्तिके कारण ही उसमें आगन्तुक दोष आ जाते हैं। यदि उसके मनमें पापोंसे घृणा हो जाय और ऐसा निश्चय हो जाय कि अब भगवान्का ही भजन करना है, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है। कारण कि जहाँ संसारकी कामना है, वहीं भगवान्की तरफ चलनेकी रुचि भी है। अगर भगवान्की तरफ चलनेकी रुचि जम जाय, तो कामना, आसक्ति नष्ट हो जाती है। फिर भगवत्प्राप्तिमें देरी नहीं लग सकती।

वह बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है—इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें जो यत्किंचित् दुराचार दीखते हैं, वे भी टिकेंगे नहीं। कारण कि सब-के-सब दुराचार टिके हुए हैं—संसारको महत्त्व देनेपर। परन्तु जब वह संसारकी कामनासे रहित होकर केवल भगवान्को ही चाहता है, तब उसके भीतर संसारका महत्त्व न रहकर केवल भगवान्का महत्त्व हो जाता है। भगवान्का महत्त्व होनेसे वह धर्मात्मा हो जाता है।

मार्मिक बात

यह एक सिद्धान्त है कि कर्ताके बदलनेपर क्रियाएँ अपने-आप बदल जाती हैं, जैसे कोई धर्मरूपी क्रिया करके धर्मात्मा होना चाहता है, तो उसे धर्मात्मा होनेमें देरी लगेगी। परन्तु अगर वह कर्ताको ही बदल दे अर्थात् 'मैं धर्मात्मा हूँ' ऐसे अपनी अहंताको ही बदल दे, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जायगा। ऐसे ही दुराचारी-से-दुराचारी भी 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं' ऐसे अपनी अहंताको बदल देता है, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है, साधु हो जाता है, भक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब संसार-शरीरके साथ 'मैं' और 'मेरा'-पन करके संयोगजन्य सुख चाहने लगता है, तब वह 'कामात्मा' (गीता—दूसरे अध्यायका तैंतालीसवाँ श्लोक) बन जाता है और जब संसारसे सर्वथा विमुख होकर भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध जोड़ लेता है, जो कि वास्तवमें है, तब वह 'धर्मात्मा' बन जाता है।

साधारण दृष्टिसे लोग यही समझते हैं कि मनुष्य सत्य बोलनेसे सत्यवादी होता है और चोरी करनेसे चोर होता है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। जब स्वयं सत्यवादी होता है अर्थात् 'मैं सत्य बोलनेवाला हूँ' ऐसी अहंताको अपनेमें पकड़ लेता है, तब वह सत्य बोलता है और सत्य बोलनेसे उसकी सत्यवादिता दृढ़ हो जाती है। ऐसे ही चोर होता है, वह 'मैं चोर हूँ' ऐसी अहंताको पकड़कर ही चोरी करता है और चोरी करनेसे उसका चोरपना दृढ़ हो जाता है। परन्तु

जिसकी अहंतामें 'मैं चोर हूँ ही नहीं' ऐसा दृढ़ भाव है, वह चोरी नहीं कर सकता। तात्पर्य यह हुआ कि अहंताके परिवर्तनसे क्रियाओंका परिवर्तन हो जाता है।

इन दोनों दृष्टान्तोंसे यह सिद्ध हुआ कि कर्ता जैसा होता है, उसके द्वारा वैसे ही कर्म होते हैं और जैसे कर्म होते हैं, वैसा ही कर्तापन दृढ़ हो जाता है। ऐसे ही यहाँ दुराचारी भी '**अनन्यभाक्**' होकर अर्थात् 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं' ऐसे अनन्यभावसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तो उसकी अहंतामें 'मैं भगवान्‌का हूँ, संसारका नहीं हूँ' यह भाव दृढ़ हो जाता है, जो कि वास्तवमें सत्य है। इस प्रकार अहंताके बदल जानेपर क्रियाओंमें किंचिन्मात्र कमी रहनेपर भी वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है।

यहाँ शंका हो सकती है कि पूर्वश्लोकमें भगवान् '**सुदुराचारः**' कहकर आये हैं, तो फिर यहाँ भगवान्‌ने उसको 'धर्मात्मा' क्यों कहा है? इसका समाधान है कि दुराचारीके दुराचार मिट जायँ, तो वह सदाचारी अर्थात् धर्मात्मा ही होगा। अतः सदाचारी कहो या धर्मात्मा कहो—एक ही बात है।

'**शश्वच्छान्तिं निगच्छति**'—केवल धार्मिक क्रियाओंसे जो धर्मात्मा बनता है, उसके भीतर भोग और ऐश्वर्यकी कामना होनेसे उसको भोग और ऐश्वर्य तो मिल सकते हैं, पर शाश्वती शान्ति नहीं मिल सकती। दुराचारीकी अहंता बदलनेपर जब वह भगवान्‌के साथ भीतरसे एक हो जाता है, तब उसके भीतर कामना नहीं रह सकती, असत्‌का महत्त्व नहीं रह सकता। इसलिये उसको निरन्तर रहनेवाली शान्ति मिल जाती है।

दूसरा भाव यह है कि स्वयं परमात्माका अंश होनेसे '**चेतन अमल सहज सुखरासी**' है। अतः उसमें अपने स्वरूपकी जो अनादि अनन्त स्वतःसिद्ध शान्ति है, धर्मात्मा होनेसे अर्थात् भगवान्‌के साथ अनन्यभावसे सम्बन्ध होनेसे वह शाश्वती शान्ति प्राप्त हो जाती है। केवल संसारके साथ सम्बन्ध माननेसे ही उसका अनुभव नहीं हो रहा था।

'**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति**'—यहाँ 'मेरे भक्तका पतन नहीं होता' ऐसी प्रतिज्ञा भगवान् अर्जुनसे करवाते हैं, स्वयं नहीं करते। इसका आशय यह है कि अभी युद्धका आरम्भ होनेवाला है और भगवान्‌ने पहले ही हाथमें शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; परन्तु जब आगे भीष्मजी यह प्रतिज्ञा कर लेंगे कि '**आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ। तौ लाजौं गंगा-जननीकों शान्तनु सुत न कहाऊँ॥**' तो उस समय भगवान्‌की प्रतिज्ञा तो टूट जायगी, पर भक्त-(भीष्मजी-)की प्रतिज्ञा नहीं टूटेगी। भगवान्‌ने चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें '**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' कहकर अर्जुनको अपना भक्त स्वीकार किया है। अतः भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि भैया! तू प्रतिज्ञा कर ले। कारण कि तेरे द्वारा प्रतिज्ञा करनेपर अगर मैं खुद भी तेरी प्रतिज्ञा तोड़ना चाहूँगा, तो भी तोड़ नहीं सकूँगा, फिर और तोड़ेगा ही कौन? तात्पर्य हुआ कि अगर भक्त प्रतिज्ञा करे, तो उस प्रतिज्ञाके विरुद्ध मेरी प्रतिज्ञा भी नहीं चलेगी।

मेरे भक्तका विनाश अर्थात् पतन नहीं होता—यह कहनेका तात्पर्य है कि जब वह सर्वथा मेरे सम्मुख हो गया है, तो अब उसके पतनकी किंचिन्मात्र भी सम्भावना नहीं रही। पतनका कारण तो शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लेना ही था। उस माने हुए सम्बन्धसे सर्वथा विमुख होकर जब वह अनन्यभावसे मेरे ही सम्मुख हो गया, तो अब उसके पतनकी सम्भावना हो ही कैसे सकती है?

दुराचारी भी जब भक्त हो सकता है, तो फिर भक्त होनेके बाद वह पुनः दुराचारी भी हो सकता है—ऐसा न्याय कहता है। इस न्यायको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि यह न्याय यहाँ नहीं लगता। मेरे यहाँ तो दुराचारी-से-दुराचारी भी भक्त बन सकते हैं, पर भक्त होनेके बाद उनका फिर पतन नहीं हो सकता अर्थात् वे फिर दुराचारी नहीं बन सकते। इस प्रकार भगवान्‌के न्यायमें भी दया भरी हुई है। अतः भगवान् न्यायकारी और दयालु—दोनों ही सिद्ध होते हैं।

परिशिष्ट भाव—जैसे रोगीका वैद्यके साथ सम्बन्ध हो जाता है, ऐसे ही अपनी निर्बलताका और भगवान्‌की सर्वसमर्थताका विश्वास होनेपर मनुष्यका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि जब मनुष्य संसारके दुःखोंसे घबरा जाता है और उनको मिटानेमें अपनी निर्बलताका अनुभव करता है, पर साथ-ही-साथ उसमें यह विश्वास रहता है कि सर्वसमर्थ भगवान्‌की कृपाशक्तिसे मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है, मैं सांसारिक दुःखोंसे बच सकता हूँ, तब वह तत्काल 'भक्त' हो जाता है—'**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**'। भूखे व्यक्तिको अन्न मिल जाय तो क्या भोजन करनेमें देरी लगेगी?

जबतक मनुष्यको अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता दीखती है, तबतक वह 'अनन्यभाक्' नहीं होता। वह

'अनन्यभाक्' तभी होता है, जब उसको दूसरा कोई उसके दु:खोंको मिटानेवाला नहीं दीखता। 'अनन्यभाक्' होते ही वह धर्मात्मा अर्थात् भगवान्का भक्त हो जाता है।

भक्तका पतन नहीं होता; क्योंकि वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं; उसका अपना बल नहीं होता, प्रत्युत भगवान्का ही बल होता है। यहाँ शंका हो सकती है कि अगर भक्तका पतन नहीं होता तो भगवान्ने अठारहवें अध्यायमें अर्जुनको '**अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि**' (१८। ५८) 'यदि तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा'—ऐसा क्यों कहा? जबकि भगवान् अर्जुनको अपना भक्त भी मानते हैं—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' (गीता ४। ३)? इसका समाधान है कि भक्तका पतन तभी हो सकता है, जब वह भगवान्का आश्रय छोड़कर अहंकारका आश्रय ले ले—'**अहंकारान्न श्रोष्यसि**'। भगवान्का आश्रय रहते हुए उसका पतन नहीं हो सकता।

भक्त भगवान्के छोटे बालक हैं और ज्ञानी बड़े बालक हैं। जैसे माँको छोटे-बड़े सभी बालक समानरूपसे प्रिय लगते हैं, पर वह सँभाल छोटे बालककी ही करती है, बड़ेकी नहीं। कारण कि छोटा बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है; अत: उसके सँभालकी जितनी आवश्यकता है, उतनी बड़ेके लिये आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही भगवान् अपने आश्रित भक्तकी पूरी सँभाल करते हैं और स्वयं उसके योगक्षेमका वहन करते हैं (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। परन्तु ज्ञानीके योगक्षेमका वहन कौन करे? इसलिये ज्ञानका साधक तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त योगभ्रष्ट नहीं हो सकता।

ब्रह्मादि देवता भगवान्से कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३२)

'हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंकी शरण नहीं लेते और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३३)

'परन्तु भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! आपके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता।'

भगवान्की स्तुति करते हुए वेद कहते हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥

(मानस, उत्तर० १३। ३)

ज्ञानयोगके साधकमें कुछ कमी रहनेसे पतन हो सकता है, पर भक्तियोगके साधकमें कुछ कमी रहनेपर भी पतन नहीं होता। इसलिये भगवान् कहते हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः। प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते

हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं तो भी वह प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।

(महाभारत, अनु० १४९। १३१)

'भगवान्‌के भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता।'

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६। ४)

'कौन्तेय प्रतिजानीहि'—भगवान् अर्जुनको प्रतिज्ञा करनेके लिये कहते हैं; क्योंकि भक्तकी प्रतिज्ञा भगवान् भी टाल नहीं सकते। भक्ति भगवान्‌की कमजोरी है। इसलिये भगवान्‌ने दुर्वासासे कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'—इन पदोंसे साधकको यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मेरा पतन हो ही नहीं सकता; क्योंकि मैं भगवान्‌का ही हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकरणमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिके सात अधिकारी बताये हैं। उनमेंसे दुराचारीका वर्णन दो श्लोकोंमें किया। अब आगेके श्लोकमें भक्तिके चार अधिकारियोंका वर्णन करते हैं।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**वैश्याः**	= वैश्य	**व्यपाश्रित्य**	= सर्वथा मेरे शरण होकर
ये	= जो	**तथा**	= और	**हि**	= निःसन्देह
अपि	= भी	**शूद्राः**	= शूद्र (हों),	**पराम्**	= परम
पापयोनयः	= पापयोनिवाले	**ते**	= वे	**गतिम्**	= गतिको
स्युः	= हों (तथा जो भी)	**अपि**	= भी	**यान्ति**	= प्राप्त हो जाते हैं।
स्त्रियः	= स्त्रियाँ,	**माम्,**			

व्याख्या—**'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य ...... यान्ति परां गतिम्'**—जिनके इस जन्ममें आचरण खराब हैं अर्थात् जो इस जन्मका पापी है, उसको भगवान्‌ने तीसवें श्लोकमें 'दुराचारी' कहा है। जिनके पूर्वजन्ममें आचरण खराब थे अर्थात् जो पूर्वजन्मके पापी हैं और अपने पुराने पापोंका फल भोगनेके लिये नीच योनियोंमें पैदा हुए हैं, उनको भगवान्‌ने यहाँ 'पापयोनि' कहा है।

यहाँ 'पापयोनि' शब्द ऐसा व्यापक है, जिसमें असुर, राक्षस, पशु, पक्षी आदि सभी लिये जा सकते हैं* और ये सभी भगवद्भक्तिके अधिकारी माने जाते हैं। शाण्डिल्य ऋषिने कहा है—**'आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्।'** (शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र ७८) अर्थात् जैसे दया, क्षमा, उदारता आदि सामान्य धर्मोंके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवद्भक्तिके नीची-से-नीची योनिसे लेकर ऊँची-से-ऊँची योनितकके सब प्राणी अधिकारी हैं। इसका कारण यह है कि मात्र जीव भगवान्‌के अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें, भगवान्‌की भक्ति करनेमें, भगवान्‌के सम्मुख होनेमें अनधिकारी नहीं हैं। प्राणियोंकी योग्यता-अयोग्यता आदि तो सांसारिक कार्योंमें हैं; क्योंकि ये योग्यता आदि बाह्य हैं और मिली हुई हैं तथा बिछुड़नेवाली हैं। इसलिये भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेमें योग्यता-अयोग्यता कोई कारण नहीं है अर्थात् जिसमें योग्यता है, वह

*** केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः। येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरंजसा॥ (श्रीमद्भा० ११। १२। ८)**

'गोपियाँ, गायें, वृक्ष, पशु, नाग तथा इस प्रकारके और भी मूढ़बुद्धि प्राणियोंने अनन्यभावके द्वारा सिद्ध होकर अनायास ही मेरी प्राप्ति कर ली है।'

भगवान्‌में लग सकता है और जिसमें अयोग्यता है, वह भगवान्‌में नहीं लग सकता—यह कोई कारण नहीं है। प्राणी स्वयं भगवान्‌के हैं; अतः सभी भगवान्‌के सम्मुख हो सकते हैं। तात्पर्य हुआ कि जो हृदयसे भगवान्‌को चाहते हैं, वे सभी भगवद्भक्तिके अधिकारी हैं। ऐसे पापयोनिवाले भी भगवान्‌के शरण होकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं, परम पवित्र हो जाते हैं।

लौकिक दृष्टिसे तो आचरण भ्रष्ट होनेसे अपवित्रता मानी जाती है, पर वास्तवमें जो कुछ अपवित्रता आती है, वह सब-की-सब भगवान्‌से विमुख होनेसे ही आती है। जैसे, अंगार अग्निसे विमुख होते ही कोयला बन जाता है। फिर उस कोयलेको साबुन लगाकर कितना ही धो लें, तो भी उसका कालापन नहीं मिटता। अगर उसको पुनः अग्निमें रख दिया जाय, तो फिर उसका कालापन नहीं रहता और वह चमक उठता है। ऐसे ही भगवान्‌के अंश इस जीवमें कालापन अर्थात् अपवित्रता भगवान्‌से विमुख होनेसे ही आती है। अगर यह भगवान्‌के सम्मुख हो जाय, तो इसकी वह अपवित्रता सर्वथा मिट जाती है और यह महान् पवित्र हो जाता है तथा दुनियामें चमक उठता है। इसमें इतनी पवित्रता आ जाती है कि भगवान् भी इसे अपना मुकुटमणि बना लेते हैं!

जब स्वयं आर्त होकर प्रभुको पुकारता है, तो उस पुकारमें भगवान्‌को द्रवित करनेकी जो शक्ति है, वह शक्ति शुद्ध आचरणोंमें नहीं है। जैसे, माँका एक बेटा अच्छा काम करता है तो माँ उससे प्यार करती है और एक बेटा कुछ भी काम नहीं करता, प्रत्युत आर्त होकर माँको पुकारता है, रोता है, तो फिर माँ यह विचार नहीं करती कि यह तो कुछ भी अच्छा काम नहीं करता, इसको गोदमें कैसे लूँ? वह उसके रोनेको सह नहीं सकती और चट उठाकर गोदमें ले लेती है। ऐसे ही खराब-से-खराब आचरण करनेवाला, पापी-से-पापी व्यक्ति भी आर्त होकर भगवान्‌को पुकारता है, रोता है, तो भगवान् उसको अपनी गोदमें ले लेते हैं, उससे प्यार करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वयंके भगवान्‌की ओर लगनेपर जब इस जन्मके पाप भी बाधा नहीं दे सकते, तो फिर पुराने पाप बाधा कैसे दे सकते हैं?

कारण कि पुराने पाप-कर्मोंका फल जन्म और भोगरूप प्रतिकूल परिस्थिति है; अतः वे भगवान्‌की ओर चलनेमें बाधा नहीं दे सकते।

यहाँ **'स्त्रियः'** पद देनेका तात्पर्य है कि किसी भी वर्णकी, किसी भी आश्रमकी, किसी भी देशकी, किसी भी वेशकी कैसी ही स्त्रियाँ क्यों न हों, वे सभी मेरे शरण होकर परम पवित्र बन जाती हैं और परमगतिको प्राप्त होती हैं। जैसे, प्राचीन कालमें देवहूति, शबरी, कुन्ती, द्रौपदी, व्रजगोपियाँ आदि और अभीके जमानेमें मीरा, करमैती, करमाबाई, फूलीबाई आदि कई स्त्रियाँ भगवान्‌की भक्ता हो गयी हैं। ऐसे ही वैश्योंमें समाधि, तुलाधार आदि और शूद्रोंमें विदुर, संजय, निषादराज गुह आदि कई भगवान्‌के भक्त हुए हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र—ये सभी भगवान्‌का आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त होते हैं।

विशेष बात

इस श्लोकमें **'पापयोनयः'** पद स्वतन्त्ररूपसे आया है। इस पदको स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंका विशेषण नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा माननेपर कई बाधाएँ आती हैं। स्त्रियाँ चारों वर्णोंकी होती हैं। उनमेंसे ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंकी स्त्रियोंको अपने-अपने पतियोंके साथ यज्ञ आदि वैदिक कर्मोंमें बैठनेका अधिकार है। अतः स्त्रियोंको पापयोनि कैसे कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते। चारों वर्णोंमें आते हुए भी भगवान्‌ने स्त्रियोंका नाम अलगसे लिया है। इसका तात्पर्य है कि स्त्रियाँ पतिके साथ ही मेरा आश्रय ले सकती हैं, मेरी तरफ चल सकती हैं—ऐसा कोई नियम नहीं है। स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक मेरा आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो सकती हैं। इसलिये स्त्रियोंको किसी भी व्यक्तिका मनसे किंचिन्मात्र भी आश्रय न लेकर केवल मेरा ही आश्रय लेना चाहिये।

अगर इस **'पापयोनयः'** पदको वैश्योंका विशेषण माना जाय, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं बैठता। कारण कि श्रुतिके अनुसार वैश्योंको पापयोनि नहीं माना जा सकता*।

* **'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'** (छान्दोग्य० ५। १०। ७)

'अर्थात् जो अच्छे आचरणोंवाले हैं, उनका जन्म तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें होता है; परन्तु जो नीच आचरणोंवाले हैं, वे कुत्ते, सूकर तथा चाण्डालयोनिमें जन्म लेते हैं।'

वैश्योंको तो वेदोंके पढ़नेका और यज्ञ आदि वैदिक कर्मोंके करनेका पूरा अधिकार दिया गया है।

अगर इस '**पापयोनयः**' पदको शूद्रोंका विशेषण माना जाय, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं बैठता; क्योंकि शूद्र तो चारों वर्णोंमें आ जाते हैं। अतः चारों वर्णोंके अतिरिक्त अर्थात् शूद्रोंकी अपेक्षा भी जो हीन जातिवाले यवन, हूण, खस आदि मनुष्य हैं, उन्हींको '**पापयोनयः**' पदके अन्तर्गत लेना चाहिये।

जैसे माँकी गोदमें जानेके लिये किसी भी बच्चेके लिये मनाही नहीं है; क्योंकि वे बच्चे माँके ही हैं। ऐसे ही भगवान्का अंश होनेसे प्राणिमात्रके लिये भगवान्की तरफ चलनेमें (भगवान्की ओरसे) कोई मनाही नहीं है। पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदिमें भगवान्की तरफ चलनेकी समझ, योग्यता नहीं है, फिर भी पूर्वजन्मके संस्कारसे या अन्य किसी कारणसे वे भगवान्के सम्मुख हो सकते हैं। अतः यहाँ '**पापयोनयः**' पदमें पशु, पक्षी आदिको भी अपवादरूपसे ले सकते हैं। पशु-पक्षियोंमें गजेन्द्र, जटायु आदि भगवद्भक्त हो चुके हैं।

मार्मिक बात

भगवान्की तरफ चलनेमें भावकी प्रधानता होती है, जन्मकी नहीं। जिसके अन्तःकरणमें जन्मकी प्रधानता होती है, उसमें भावकी प्रधानता नहीं होती और उसमें भगवान्की भक्ति भी पैदा नहीं होती। कारण कि जन्मकी प्रधानता माननेवालेके 'अहम्' में शरीरका सम्बन्ध मुख्य रहता है, जो भगवान्में नहीं लगने देता अर्थात् शरीर भगवान्का भक्त नहीं होता और भक्त शरीर नहीं होता, प्रत्युत स्वयं भक्त होता है। ऐसे ही जीव ब्रह्मको प्राप्त नहीं हो सकता; किन्तु ब्रह्म ही ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्ममें जीवभाव नहीं होता और जीवभावमें ब्रह्मभाव नहीं होता। जीव तो प्राणोंको लेकर ही है और ब्रह्ममें प्राण नहीं होते। इसलिये ब्रह्म ही ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् जीवभाव मिटकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है—'**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**' (बृहदारण्यक० ४। ४। ६)।

स्वयंमें शरीरका अभिमान नहीं होता। जहाँ स्वयंमें शरीरका अभिमान होता है, वहाँ 'मैं शरीरसे अलग हूँ' यह विवेक नहीं होता, प्रत्युत वह हाड़-मांसका, मल-मूत्र पैदा करनेवाली मशीनका ही दास (गुलाम) बना रहता है। यही अविवेक है, अज्ञान है। इस तरह अविवेककी प्रधानता होनेसे मनुष्य न तो भक्ति-मार्गमें चल सकता है और न ज्ञानमार्गमें ही चल सकता है। अतः शरीरको लेकर जो व्यवहार है, वह लौकिक मर्यादाके लिये बहुत आवश्यक है और उस मर्यादाके अनुसार चलना ही चाहिये। परन्तु भगवान्की तरफ चलनेमें स्वयंकी मुख्यता है, शरीरकी नहीं।

तात्पर्य यह हुआ कि जो भक्ति या मुक्ति चाहता है, वह स्वयं होता है, शरीर नहीं। यद्यपि तादात्म्यके कारण स्वयं शरीर धारण करता रहता है; परन्तु स्वयं कभी भी शरीर नहीं हो सकता और शरीर कभी भी स्वयं नहीं हो सकता। स्वयं स्वयं ही है और शरीर शरीर ही है। स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है और शरीरकी संसारके साथ एकता है। जबतक शरीरके साथ तादात्म्य रहता है, तबतक वह न भक्तिका और न ज्ञानका ही अधिकारी होता है तथा न सम्पूर्ण शंकाओंका समाधान ही कर सकता है। वह शरीरका तादात्म्य मिटता है—भावसे। मनुष्यका जब भगवान्की तरफ भाव होता है, तब शरीर आदिकी तरफ उसकी वृत्ति ही नहीं जाती। वह तो केवल भगवान्में ही तल्लीन हो जाता है, जिससे शरीरका तादात्म्य मिट जाता है। इसलिये उसको विवेक-विचार नहीं करना पड़ता और उसमें वर्ण-आश्रम आदिकी किसी प्रकारकी शंका पैदा ही नहीं होती। ऐसे ही विवेकसे भी तादात्म्य मिटता है। तादात्म्य मिटनेपर उसमें किसी भी वर्ण या आश्रमका अभिमान नहीं होता। कारण कि स्वयंमें वर्ण-आश्रम नहीं है, वह वर्ण-आश्रमसे अतीत है।

परिशिष्ट भाव—जिसमें दूसरेका आश्रय नहीं है, ऐसे अनन्य आश्रयको यहाँ 'व्यपाश्रय' अर्थात् विशेष आश्रय कहा गया है।

पूर्वजन्मके पापीकी अपेक्षा वर्तमानका पापी विशेष दोषी होता है, इसलिये पहले (तीसवें-इकतीसवें श्लोकोंमें) वर्तमान (इस जन्मके) पापीकी बात कहकर अब इस श्लोकमें पूर्वजन्मके पापीकी बात कहते हैं—'**येऽपि स्युः पापयोनयः**'।

सम्बन्ध—अब भक्तिके शेष दो अधिकारियोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

पुण्याः	=(जो) पवित्र आचरण करने-वाले	**भक्ताः**	=भगवान्के भक्त हों, (वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ)	**अनित्यम्**	=अनित्य (और)
				असुखम्	=सुखरहित
				लोकम्	=शरीरको
ब्राह्मणाः	=ब्राह्मण	**किम्, पुनः**	=इसमें तो कहना ही क्या है!	**प्राप्य**	=प्राप्त करके (तू)
तथा	=और			**माम्**	=मेरा
राजर्षयः	=ऋषिस्वरूप क्षत्रिय	**इमम्**	=(इसलिये) इस	**भजस्व**	=भजन कर।

व्याख्या—'**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता*** **राजर्षयस्तथा**'—जब वर्तमानमें पाप करनेवाला सांगोपांग दुराचारी और पूर्वजन्मके पापोंके कारण नीच योनियोंमें जन्म लेनेवाले प्राणी तथा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र—ये सभी मेरे शरण होकर, मेरा आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं, परम पवित्र हो जाते हैं, तो फिर जिनके पूर्वजन्मके आचरण भी अच्छे हों और इस जन्ममें भी उत्तम कुलमें जन्म हुआ हो, ऐसे पवित्र ब्राह्मण और पवित्र क्षत्रिय अगर मेरे शरण हो जायँ, मेरे भक्त बन जायँ, तो वे परमगतिको प्राप्त हो जायँगे, इसमें कहना ही क्या है! अर्थात् वे निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जायँगे।

पहले तीसवें श्लोकमें जिसको दुराचारी कहा है, उसके विपक्षमें यहाँ '**पुण्याः**' पद आया है और बत्तीसवें श्लोकमें जिनको '**पापयोनयः**' कहा है, उनके विपक्षमें यहाँ '**ब्राह्मणाः**' पद आया है। इसका आशय है कि ब्राह्मण सदाचारी भी हैं और पवित्र जन्मवाले भी हैं। ऐसे ही इस जन्ममें जो शुद्ध आचरणवाले क्षत्रिय हैं, उनकी वर्तमानकी पवित्रताको बतानेके लिये यहाँ '**ऋषि**' शब्द आया है, और जिनके जन्मारम्भक कर्म भी शुद्ध हैं, यह बतानेके लिये यहाँ '**राजन्**' शब्द आया है।

पवित्र ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय—इन दोनोंके बीचमें '**भक्ताः**' पद देनेका तात्पर्य है कि जिनके पूर्वजन्मके आचरण भी शुद्ध हैं और जो इस जन्ममें भी सर्वथा पवित्र हैं, वे (ब्राह्मण और क्षत्रिय) अगर भगवान्की भक्ति करने लग जायँ तो उनके उद्धारमें सन्देह हो ही कैसे सकता है?

'**पुण्या ब्राह्मणाः**', '**राजर्षयः**' और '**भक्ताः**'—ये तीन बातें कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि इस जन्मके आचरणसे पवित्र और पूर्वजन्मके शुद्ध आचरणोंके कारण इस जन्ममें ऊँचे कुलमें पैदा होनेसे पवित्र—ये दोनों तो बाह्य चीजें हैं। कारण कि कर्ममात्र बाहरसे (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरसे) बनते हैं तो उनसे जो पवित्रता होगी, वह भी बाह्य ही होगी। इस बाह्य शुद्धिके वाचक ही यहाँ '**पुण्या ब्राह्मणाः**' और '**राजर्षयः**'—ये दो पद आये हैं। परन्तु जो भीतरसे स्वयं भगवान्के शरण होते हैं, उनके लिये अर्थात् स्वयंके लिये यहाँ '**भक्ताः**' पद आया है।

'**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्**'—यह मनुष्यजन्म अनन्त जन्मोंका अन्त करनेवाला होनेसे अन्तिम जन्म है। इस जन्ममें मनुष्य भगवान्के शरण होकर भगवान्को भी सुख देनेवाला बन सकता है। अतः यह मनुष्यजन्म पवित्र तो है, पर अनित्य है—'**अनित्यम्**' अर्थात् नित्य रहनेवाला नहीं है; किस समय छूट जाय, इसका कुछ पता नहीं है। इसलिये जल्दी-से-जल्दी अपने उद्धारमें लग जाना चाहिये।

इस मनुष्यशरीरमें सुख भी नहीं है—'**असुखम्**।' आठवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने मनुष्यजन्मको दुःखालय बताया है। इसलिये मनुष्यशरीर मिलनेपर सुखभोगके लिये ललचाना नहीं चाहिये। ललचानेमें और सुख भोगनेमें अपना भाव और समय खराब नहीं करना चाहिये।

यहाँ '**इमं लोकम्**' पद मनुष्यशरीरका वाचक है, जो कि केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। मनुष्यशरीर पानेके बाद किसी पूर्वकर्मके कारण भविष्यमें इस जीवका दूसरा जन्म होगा—ऐसा कोई विधान भगवान्ने नहीं बनाया है, प्रत्युत केवल अपनी प्राप्तिके लिये ही यह अन्तिम जन्म दिया है। अगर इस जन्ममें भगवत्प्राप्ति करना, अपना उद्धार करना भूल गये, तो अन्य शरीरोंमें ऐसा मौका मिलेगा नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि इस मनुष्यशरीरको प्राप्त करके केवल मेरा भजन कर। मनुष्यमें जो कुछ विलक्षणता आती

*** यहाँ 'भक्ताः' पद देहली-दीपक-न्यायसे ब्राह्मण और राजर्षि (क्षत्रिय)—इन दोनोंके लिये आया है।**

है, वह सब भजन करनेसे ही आती है।

'मां भजस्व'से भगवान्‌का यह तात्पर्य नहीं है कि मेरा भजन करनेसे मेरेको कुछ लाभ होगा, प्रत्युत तेरेको ही महान् लाभ होगा।* इसलिये तू तत्परतासे केवल मेरी तरफ ही लग जा, केवल मेरा ही उद्देश्य, लक्ष्य रख। सांसारिक पदार्थोंका आना-जाना तो मेरे विधानसे स्वतः होता रहेगा, पर तू अपनी तरफसे उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका लक्ष्य, उद्देश्य मत रख, उनपर दृष्टि ही मत डाल; उनको महत्त्व ही मत दे। उनसे विमुख होकर तू केवल मेरे सम्मुख हो जा।

मार्मिक बात

जैसे माताकी दृष्टि बालकके शरीरपर रहती है, ऐसे ही भगवान् और उनके भक्तोंकी दृष्टि प्राणियोंके स्वरूपपर रहती है। वह स्वरूप भगवान्‌का अंश होनेसे शुद्ध है, चेतन है, अविनाशी है। परन्तु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़कर वह तरह-तरहके आचरणोंवाला बन जाता है। उनतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हूँ। किसी भी प्राणीके प्रति मेरा राग और द्वेष नहीं है। मेरे सिद्धान्तसे, मेरी मान्यतासे और मेरे नियमोंसे सर्वथा विरुद्ध चलनेवाले जो दुराचारी-से-दुराचारी हैं, वे भी जब मेरेमें अपनापन करके मेरा भजन करते हैं तो उनके वास्तविक स्वरूपकी तरफ दृष्टि रखनेवाला मैं उनको पापी कैसे मान सकता हूँ? नहीं मान सकता। और उनके पवित्र होनेमें देरी कैसे लग सकती है? नहीं लग सकती। कारण कि मेरा अंश होनेसे वे सर्वथा पवित्र हैं ही। केवल उत्पन्न और नष्ट होनेवाले आगन्तुक दोषोंको लेकर वे स्वयंसे दोषी कैसे हो सकते हैं? और मैं उनको दोषी कैसे मान सकता हूँ? वे तो केवल उत्पत्ति-विनाशशील शरीरोंके साथ 'मैं' और 'मेरा'-पन करनेके कारण मायाके परवश होकर दुराचारमें, पापाचारमें लग गये थे, पर वास्तवमें वे हैं तो मेरे ही अंश! ऐसे ही जो पापयोनिवाले हैं अर्थात् पूर्वके पापोंके कारण जिनका चाण्डाल आदि नीच योनियोंमें और पशु, पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें जन्म हुआ है, वे तो अपने पूर्वके पापोंसे मुक्त हो रहे हैं। अतः ऐसे पापयोनिवाले प्राणी भी मेरे शरण होकर मेरेको पुकारें तो उनका भी उद्धार हो जाता है। इस प्रकार भगवान्‌ने वर्तमानके पापी और पूर्वजन्मके पापी—इन दो नीचे दर्जेके मनुष्योंका वर्णन किया।

अब आगे भगवान्‌ने मध्यम दर्जेके मनुष्योंका वर्णन किया। पहले **'स्त्रियः'** पदसे स्त्री जातिमात्रको लिया। इसमें ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी स्त्रियाँ भी आ गयी हैं, जो वैश्योंके लिये भी वन्दनीया हैं। अतः इनको पहले रखा है। जो ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके समान पुण्यात्मा नहीं हैं, पर द्विजाति हैं, वे वैश्य हैं। जो द्विजाति नहीं हैं अर्थात् जो वैश्योंके समान पवित्र नहीं हैं, वे शूद्र हैं। वे स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी मेरा आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। जो उत्तम दर्जेके मनुष्य हैं अर्थात् जो पूर्वजन्ममें अच्छे आचरण होनेसे और इस जन्ममें ऊँचे कुलमें पैदा होनेसे पवित्र हैं, ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रिय भी मेरा आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें सन्देह ही क्या है!

भगवान्‌ने यहाँ (तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक) भक्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंमें सबसे पहले भगवान्‌को श्रेष्ठ अधिकारीका अर्थात् पवित्र भक्त ब्राह्मण या क्षत्रियका नाम लेना चाहिये था। परन्तु भगवान्‌ने सबसे पहले दुराचारीका नाम लिया है। इसका कारण यह है कि भक्तिमें जो जितना छोटा और अभिमानरहित होता है, वह भगवान्‌को उतना ही अधिक प्यारा लगता है। दुराचारीमें अच्छाईका, सद्गुण-सदाचारोंका अभिमान नहीं होता, इसलिये उसमें स्वाभाविक ही छोटापन और दीनता रहती है। अतः भगवान् सबसे पहले दुराचारीका नाम लेते हैं। इसी कारणसे बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंको प्यारा और साधक भक्तोंको अत्यन्त प्यारा बताया है (बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे बीसवें श्लोकतक)।

अब इस विषयमें एक ध्यान देनेकी बात है कि भगवान्‌ने यहाँ भक्तिके जो सात अधिकारी बताये हैं, उनका विभाग वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), आचरण (दुराचारी और पापयोनि) और व्यक्तित्व (स्त्रियाँ)-को लेकर किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण (जन्म), आचरण और व्यक्तित्वसे भगवान्‌की भक्तिमें कोई फरक नहीं पड़ता; क्योंकि इन तीनोंका सम्बन्ध शरीरके साथ है। परन्तु भगवान्‌का सम्बन्ध स्वरूपके साथ है, शरीरके साथ नहीं। स्वरूपसे तो सभी भगवान्‌के ही अंश हैं। जब वे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर, उनके सम्मुख होकर भगवान्‌का भजन करते हैं, तब उनके उद्धारमें कहीं

* **इसी भावको लेकर भगवान्‌ने यहाँ आत्मनेपदी 'भजस्व' क्रिया दी है।**

किंचिन्मात्र भी फरक नहीं होता; क्योंकि भगवान्‌के अंश होनेसे वे पवित्र और उद्धारस्वरूप ही हैं। तात्पर्य यह हुआ कि भक्तिके सात अधिकारियोंमें जो कुछ विलक्षणता, विशेषता आयी है, वह किसी वर्ण, आश्रम, भाव, आचरण आदिको लेकर नहीं आयी है, प्रत्युत भगवान्‌के सम्बन्धसे, भगवद्भक्तिसे आयी है।

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने भावोंके अनुसार भक्तोंके चार भेद बताये, और यहाँ वर्ण, आचरण एवं व्यक्तित्वके अनुसार भक्तिके अधिकारियोंके सात भेद बताये। इसका तात्पर्य है कि भावोंको लेकर तो भक्तोंमें भिन्नता है, पर वर्ण, आचरण आदिको लेकर कोई भिन्नता नहीं है अर्थात् भक्तिके सभी अधिकारी हैं। हाँ, कोई भगवान्‌को नहीं चाहता और नहीं मानता—यह बात दूसरी है, पर भगवान्‌की तरफसे कोई भी भक्तिका अनधिकारी नहीं है।

मात्र मनुष्य भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ सकते हैं; क्योंकि ये मनुष्य भगवान्‌से स्वयं विमुख हुए हैं, भगवान् कभी किसी मनुष्यसे विमुख नहीं हुए हैं। इसलिये भगवान्‌से विमुख हुए सभी मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख होनेमें, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेमें, भगवान्‌की तरफ चलनेमें स्वतन्त्र हैं, समर्थ हैं, योग्य हैं, अधिकारी हैं। इसलिये भगवान्‌की तरफ चलनेमें किसीको कभी किंचिन्मात्र भी निराश नहीं होना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने भक्तिके तथा भगवत्प्राप्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंसे बाहर कोई भी प्राणी नहीं है। कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो और पूर्वजन्मके कितने ही पाप हों, पर भगवान् और उनकी भक्तिके मनुष्यमात्र अधिकारी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंका नाम इन श्लोकोंमें आ गया। कोई चारों वर्णोंमें केवल पुरुष-ही-पुरुष न समझ ले, इसलिये स्त्रियोंका नाम अलगसे आया है। जो चारों वर्णोंसे नीचे हैं, वे यवन, हूण, खस आदि सब पापयोनिमें आ गये। मनुष्योंके सिवाय दूसरे जीव (पशु, पक्षी आदि) भी पापयोनिमें लिये जा सकते हैं; क्योंकि जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) किसीके लिये भी मनाही नहीं है।

जो वर्तमानमें पाप कर रहा है, वह 'दुराचारी' है और पूर्वजन्मके पापोंके कारण जिसका नीच योनिमें जन्म हुआ है, वह 'पापयोनि' है। तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी और नीच-से-नीच योनिवाला भी भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है। अतः जाति और आचरणको लेकर मनुष्यको भगवत्प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये। जाति और आचरण अनित्य तथा बनावटी हैं, पर भगवान्‌के साथ मनुष्यका सम्बन्ध नित्य तथा वास्तविक है। इसलिये भगवान् केवल भक्तिका नाता (सम्बन्ध) ही मानते हैं, जाति-आचरणका नहीं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(मानस, अरण्य० ३५। २-३)

संसारमें लोग बाहरके जाति-आचरणको देखते हैं, भीतरके तत्त्व-(वास्तविकता-) को नहीं देखते; परन्तु भगवान् तत्त्वको देखते हैं कि यह सदासे ही मेरा अंश है!

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने भीतरके भावोंको लेकर भक्तोंके अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार भेद बताये हैं और यहाँ बाहरकी मान्यता-(जाति तथा आचरण-) को लेकर लौकिक दृष्टिसे भक्तोंके सात भेद बताये हैं। सातवें अध्यायमें तो उन भक्तोंकी बात है, जो भगवान्‌में लगे हुए हैं और यहाँ उन मनुष्योंकी बात है, जो भगवान्‌में लग सकते हैं। तात्पर्य है कि वर्ण, आश्रम, वेश-भूषा, जाति, सम्प्रदाय आदि अलग-अलग होते हुए भी सभी मनुष्य अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं और भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवत्प्राप्तिके विषयमें सब एक है, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। भगवत्प्राप्तिका अनधिकारी किसी भी योनिमें कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा'—इस श्लोकार्धके बीचमें **'भक्ताः'** पद देनेका तात्पर्य है कि पवित्र आचरणवाले ब्राह्मणोंकी और ऋषिस्वरूप क्षत्रियोंकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनमें जो भक्ति है, उस भक्तिकी महिमा है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌का न तो दुराचारी तथा पापयोनिके साथ द्वेष है और न पुण्यात्मा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके साथ पक्षपात

है। वे तो सब प्राणियोंमें समान हैं (गीता—इसी अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। परन्तु जो प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करता है, वह किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसका भगवान्से घनिष्ठ सम्बन्ध है—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (गीता ९। २९)। अतः दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये सातों भक्तिमें एक हो जाते हैं, इनमें कोई भेद नहीं रहता। इसलिये भगवान् भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—**'भजस्व माम्'।** भजन करनेका अर्थ है—भगवान्के सम्मुख होना, भगवान्में प्रियता (अपनापन) होना, भगवान्की प्राप्तिका उद्देश्य होना। भगवद्बुद्धिसे दूसरोंकी सेवा करना, दूसरोंको देनेका भाव रखना, अभावग्रस्तोंकी सहायता करना—यह भी भजन है।

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'—अनित्य और सुखरहित इस शरीरको पाकर अर्थात् हम जीते रहें और सुख भोगते रहें—ऐसी कामनाको छोड़कर भगवान्का भजन करना चाहिये। कारण कि संसारमें सुख है ही नहीं, केवल सुखका भ्रम है। ऐसे ही जीनेका भी भ्रम है। हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत प्रतिक्षण मर रहे हैं!

पहले उनतीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसलिये यहाँ भगवान् भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—**'भजस्व माम्'।**

सम्बन्ध—उनतीसवें श्लोकसे लेकर तैंतीसवें श्लोकतक भगवान्के भजनकी ही बात मुख्य आयी है। अब आगेके श्लोकमें उस भजनका स्वरूप बताते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

मद्भक्तः	=(तू) मेरा भक्त	**माम्**	=(और) मुझे	**मत्परायणः**	=मेरे परायण हुआ (तू)
भव	=हो जा,	**नमस्कुरु**	=नमस्कार कर।	**माम्**	=मुझे
मन्मनाः	=मुझमें मनवाला हो जा,	**एवम्**	=इस प्रकार		
		आत्मानम्	=अपने-आपको		
मद्याजी	=मेरा पूजन करनेवाला हो जा	**युक्त्वा**	=(मेरे साथ) लगाकर	**एव**	=ही
				एष्यसि	=प्राप्त होगा।

व्याख्या—[अपने हृदयकी बात वहीं कही जाती है, जहाँ सुननेवालेमें कहनेवालेके प्रति दोषदृष्टि न हो, प्रत्युत आदरभाव हो। अर्जुन दोषदृष्टिसे रहित हैं, इसलिये भगवान्ने उनको **'अनसूयवे'** (९। १) कहा है। इसी कारण भगवान् यहाँ अर्जुनके सामने अपने हृदयकी गोपनीय बात कह रहे हैं।]

'मद्भक्तः'—'मेरा भक्त हो जा' कहनेका तात्पर्य है कि तू केवल मेरे साथ ही अपनापन कर; केवल मेरे साथ ही सम्बन्ध जोड़, जो कि अनादिकालसे स्वतःसिद्ध है। केवल भूलसे ही शरीर और संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान रखा है अर्थात् 'मैं अमुक वर्णका हूँ, अमुक आश्रमका हूँ, अमुक सम्प्रदायका हूँ, अमुक नामवाला हूँ'—इस प्रकार वर्ण, आश्रम आदिको अपनी अहंतामें मान रखा है। इसलिये अब असत्-रूपसे बनी हुई अवास्तविक अहंताको वास्तविक सत्-रूपमें बदल दे कि 'मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो'। फिर तेरा मेरे साथ स्वाभाविक ही अपनापन हो जायगा, जो कि वास्तवमें है।

'मन्मना भव'—मन वहीं लगता है, जहाँ अपनापन होता है, प्रियता होती है। तेरा मेरे साथ जो अखण्ड सम्बन्ध है, उसको मैं तो नहीं भूल सकता, पर तू भूल सकता है; इसलिये तेरेको 'मेरेमें मनवाला हो जा'—ऐसा कहना पड़ता है।

'मद्याजी'—'मेरा पूजन करनेवाला हो' अर्थात् तू खाना-पीना, सोना-जगना, आना-जाना, काम-धन्धा करना आदि जो कुछ क्रिया करता है, वह सब-की-सब मेरी पूजाके रूपमें ही कर; उन सबको मेरी पूजा ही समझ।

'मां नमस्कुरु'—'मेरेको नमस्कार कर' कहनेका तात्पर्य है कि मेरा जो कुछ अनुकूल, प्रतिकूल या सामान्य विधान हो, उसमें तू परम प्रसन्न रह। मैं चाहे तेरे मन और मान्यतासे सर्वथा विरुद्ध फैसला दे दूँ, तो भी उसमें तू प्रसन्न

रह। जो मनुष्य हानि और परलोकके भयसे मेरे चरणोंमें पड़ते हैं, मेरे शरण होते हैं, वे वास्तवमें अपने सुख और सुविधाके ही शरण होते हैं, मेरे शरण नहीं। मेरे शरण होनेपर किसीसे कुछ भी सुख-सुविधा पानेकी इच्छा होती है तो वह सर्वथा मेरे शरणागत कहाँ हुआ? कारण कि वह जबतक कुछ-न-कुछ सुख-सुविधा चाहता है, तबतक वह अपना कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है।

वास्तवमें मेरे चरणोंमें पड़ा हुआ वही माना जाता है, जो अपनी कुछ भी मान्यता न रखकर मेरी मरजीमें अपने मनको मिला देता है। उसमें मेरेसे ही नहीं प्रत्युत संसारमात्रसे भी अपनी सुख-सुविधा, सम्मानकी किंचित् गन्धमात्र भी नहीं रहती। अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होनेपर भी उसपर उसका कुछ भी असर नहीं होता अर्थात् मेरे द्वारा कोई अनुकूल-प्रतिकूल घटना घटती है, तो मेरे परायण रहनेवाले भक्तकी उस घटनामें विषमता नहीं होती। अनुकूल-प्रतिकूलका ज्ञान होनेपर भी वह घटना उसको दो रूपसे नहीं दीखती, प्रत्युत केवल मेरी कृपारूपसे दीखती है।

मेरा किया हुआ विधान चाहे शरीरके अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो, मेरे विधानसे कैसी भी घटना घटे, उसको मेरा दिया हुआ प्रसाद मानकर परम प्रसन्न रहना चाहिये। अगर मनके प्रतिकूल-से-प्रतिकूल घटना घटती है, तो उसमें मेरी विशेष कृपा माननी चाहिये; क्योंकि उस घटनामें उसकी सम्मति नहीं है। अनुकूल घटनामें उसकी जितने अंशमें सम्मति हो जाती है, उतने अंशमें वह घटना उसके लिये अपवित्र हो जाती है। परन्तु प्रतिकूल घटनामें केवल मेरा ही किया हुआ शुद्ध विधान होता है—इस बातको लेकर उसको परम प्रसन्न होना चाहिये।

मनुष्य प्रतिकूल घटनाको चाहता नहीं, करता नहीं और उसमें उसका अनुमोदन भी नहीं रहता, फिर भी ऐसी घटना घटती है, तो उस घटनाको उपस्थित करनेमें कोई भी निमित्त क्यों न बने और वह भी भले ही किसीको निमित्त मान ले, पर वास्तवमें उस घटनाको घटानेमें मेरा ही हाथ है, मेरी ही मरजी है*। इसलिये मनुष्यको उस घटनामें दु:खी होना और चिन्ता करना तो दूर रहा, प्रत्युत उसमें अधिक-से-अधिक प्रसन्न होना चाहिये। उसकी यह प्रसन्नता मेरे विधानको लेकर नहीं होनी चाहिये; किन्तु मेरेको (विधान करनेवालेको) लेकर होनी चाहिये। कारण कि अगर उसमें उस मनुष्यका मंगल न होता, तो प्राणिमात्रका परमसुहृद् मैं उसके लिये ऐसी घटना क्यों घटाता? इसी प्रकार हे अर्जुन! तू भी सर्वथा मेरे चरणोंमें पड़ जा अर्थात् मेरे प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न रह।

जैसे, कोई किसीका अपराध करता है, तो वह उसके सामने जाकर लम्बा पड़ जाता है और उससे कहता है कि आप चाहे दण्ड दें, चाहे पुरस्कार दें, चाहे दुत्कार दें, चाहे जो करें, उसीमें मेरी परम प्रसन्नता है। उसके मनमें यह नहीं रहता कि सामनेवाला मेरे अनुकूल ही फैसला दे। ऐसे ही भक्त भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, तो भगवान्‌से कह देता है कि 'हे प्रभो! मैंने न जाने किन-किन जन्मोंमें आपके प्रतिकूल क्या-क्या आचरण किये हैं, इसका मेरेको पता नहीं है। परन्तु उन कर्मोंके अनुरूप आप जो परिस्थिति भेजेंगे, वह मेरे लिये सर्वथा कल्याणकारक ही होगी। इसलिये मेरेको किसी भी परिस्थितिमें किंचिन्मात्र भी असन्तोष न होकर प्रसन्नता-ही-प्रसन्नता होगी।'

'हे नाथ! मेरे कर्मोंका आप कितना खयाल रखते हैं कि मैंने न जाने किस-किस जन्ममें, किस-किस परिस्थितिमें परवश होकर क्या-क्या कर्म किये हैं, उन सम्पूर्ण कर्मोंसे सर्वथा रहित करनेके लिये आप कितना विचित्र विधान करते हैं! मैं तो आपके विधानको किंचिन्मात्र भी समझ नहीं सकता और मेरेमें आपके विधानको समझनेकी शक्ति भी नहीं है। इसलिये हे नाथ! मैं उसमें अपनी बुद्धि क्यों लगाऊँ? मेरेको तो केवल आपकी तरफ ही देखना है। कारण कि आप जो कुछ विधान करते हैं, उसमें आपका ही हाथ रहता है अर्थात् वह आपका ही किया हुआ होता है, जो कि मेरे लिये परम मंगलमय है। यही **'मां नमस्कुरु'** का तात्पर्य है।

'मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः'—यहाँ **'एवम्'** का तात्पर्य है कि **'मद्भक्तः'** से तू स्वयं मेरे अर्पित हो गया, **'मन्मनाः'** से तेरा अन्तःकरण मेरे परायण हो गया, **'मद्याजी'** से तेरी मात्र क्रियाएँ और पदार्थ मेरी पूजा-सामग्री बन गये और **'मां नमस्कुरु'** से तेरा शरीर मेरे चरणोंके अर्पित हो गया। इस प्रकार मेरे परायण हुआ तू मेरेको ही प्राप्त होगा।

'युक्त्वैवमात्मानम्' (अपने-आपको मेरेमें लगाकर) कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ' ऐसे अपनी अहंताका परिवर्तन होनेपर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, क्रिया—ये सब-के-सब मेरेमें ही लग

* **राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ (मानस १। १२८। १)**

जायँगे। इसीका नाम शरणागति है। ऐसी शरणागति होनेपर मेरी ही प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं है। मेरी प्राप्तिमें सन्देह वहीं होता है, जहाँ मेरे सिवाय दूसरेकी कामना है, आदर है, महत्त्वबुद्धि है। कारण कि कामना, महत्त्वबुद्धि, आसक्ति आदि होनेपर सब जगह परिपूर्ण रहते हुए भी मेरी प्राप्ति नहीं होती।

'मत्परायणः' का तात्पर्य है कि मेरी मरजीके बिना कुछ भी करने-करानेकी किंचिन्मात्र भी स्फुरणा नहीं रहे। मेरे साथ सर्वथा अभिन्न होकर मेरे हाथका खिलौना बन जाय।

विशेष बात

(१)

भगवान्का भक्त बननेसे, भगवान्के साथ अपनापन करनेसे, 'मैं भगवान्का हूँ' इस प्रकार अहंताको बदल देनेसे मनुष्यमें बहुत जल्दी परिवर्तन हो जाता है। वह परिवर्तन यह होगा कि वह भगवान्में मनवाला हो जायगा, भगवान्का पूजन करनेवाला बन जायगा और भगवान्के मात्र विधानमें प्रसन्न रहेगा। इस प्रकार इन चारों बातोंसे शरणागति पूर्ण हो जाती है। परन्तु इन चारोंमें मुख्यता भगवान्का भक्त बननेकी ही है। कारण कि जो स्वयं भगवान्का हो जाता है, उसके न मन-बुद्धि अपने रहते हैं, न पदार्थ और क्रिया अपने रहते हैं और न शरीर अपना रहता है। तात्पर्य है कि लौकिक दृष्टिमें जो अपनी कहलानेवाली चीजें हैं, जो कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली हैं, उनमेंसे कोई भी चीज अपनी नहीं रहती। स्वयंके अर्पित हो जानेसे मात्र प्राकृत चीजें भगवान्की ही हो जाती हैं। उनमेंसे अपनी ममता उठ जाती है। उनमें ममता करना ही गलती थी, वह गलती सर्वथा मिट जाती है।

(२)

मनुष्य संसारके साथ कितनी ही एकता मान लें, तो भी वे संसारको नहीं जान सकते। ऐसे ही शरीरके साथ कितनी ही अभिन्नता मान लें, तो भी वे शरीरके साथ एक नहीं हो सकते और उसको जान भी नहीं सकते। वास्तवमें संसार-शरीरसे अलग होकर ही उनको जान सकते हैं। इस रीतिसे परमात्मासे अलग रहते हुए परमात्माको यथार्थरूपसे नहीं जान सकते। परमात्माको तो वे ही जान सकते हैं, जो परमात्मासे एक हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने 'मैं' और 'मेरा'-पन सर्वथा भगवान्के समर्पित कर दिया है। 'मैं' और 'मेरा'-पन तो दूर रहा, 'मैं' और 'मेरे'-पनकी गन्ध भी अपनेमें न रहे कि मैं भी कुछ हूँ, मेरा भी कोई सिद्धान्त है, मेरी भी कुछ मान्यता है आदि।

जैसे, प्राणी शरीरके साथ अपनी एकता मान लेता है, तो स्वाभाविक ही शरीरका सुख-दुःख अपना सुख-दुःख दीखता है। फिर उसको शरीरसे अलग अपने अस्तित्वका भान नहीं होता। ऐसे ही भगवान्के साथ अपनी स्वतःसिद्ध एकताका अनुभव होनेपर भक्तका अपना किंचिन्मात्र भी अलग अस्तित्व नहीं रहता। जैसे संसारमें भगवान्की मरजीसे जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका भक्तपर असर नहीं पड़ता, ऐसे ही उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका उसपर कुछ भी असर नहीं पड़ता। उसके शरीरद्वारा भगवान्की मरजीसे स्वतः-स्वाभाविक क्रिया होती रहती है। यही वास्तवमें भगवान्की परायणता है।

भगवान्को प्राप्त होनेका तात्पर्य है कि भगवान्के साथ अभिन्नता हो जाती है, जो कि वास्तविकता है। यह अभिन्नता भेदभावसे भी होती है और अभेदभावसे भी होती है। जैसे, श्रीजीकी भगवान् श्रीकृष्णके साथ अभिन्नता है। मूलमें भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीजी और श्रीकृष्ण—इन दो रूपोंमें प्रकट हुए हैं। दो रूप होते हुए भी श्रीजी भगवान्से भिन्न नहीं हैं और भगवान् श्रीजीसे भिन्न नहीं हैं। परन्तु परस्पर रस-(प्रेम-) का आदान-प्रदान करनेके लिये उनमें योग और वियोगकी लीला होती रहती है। वास्तवमें उनके योगमें भी वियोग है और वियोगमें भी योग है अर्थात् योगसे वियोग और वियोगसे योग पुष्ट होता रहता है, जिसमें अनिर्वचनीय प्रेमकी वृद्धि होती रहती है। इस अनिर्वचनीय और प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमको प्राप्त हो जाना ही भगवान्को प्राप्त होना है।

सातवें और नवें अध्यायके विषयकी एकता

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने विज्ञानसहित ज्ञान अर्थात् राजविद्याको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी—**'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः'** (७। २)। सातवें अध्यायमें भगवान्के कहनेका जो प्रवाह चल रहा था, आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेसे उसमें कुछ परिवर्तन आ गया। अतः आठवें अध्यायका विषय समाप्त होते ही भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही **'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं.........'** (९। १)

कहकर अपनी तरफसे पुनः विज्ञानसहित ज्ञान कहना शुरू कर देते हैं। सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने जो विषय तीस श्लोकोंमें कहा था, उसी विषयको नवें अध्यायके आरम्भसे लेकर दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक लगातार कहते ही चले जाते हैं। इन श्लोकोंमें कही हुई बातोंका अर्जुनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है, जिससे वे दसवें अध्यायके बारहवें श्लोकसे अठारहवें श्लोकतक भगवान्‌की स्तुति और प्रार्थना करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सातवें अध्यायमें कही गयी बातको भगवान्‌ने नवें अध्यायमें संक्षेपसे, विस्तारसे अथवा प्रकारान्तरसे कहा है।

सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें '**मय्यासक्तमनाः**' आदि पदोंसे जो विषय संक्षेपसे कहा था, उसीको नवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें '**मन्मनाः**' आदि पदोंसे थोड़ा विस्तारसे कहा है।

सातवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैं विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा; जिसको जाननेसे फिर जानना बाकी नहीं रहेगा। यही बात भगवान्‌ने नवें अध्यायके पहले श्लोकमें कही कि मैं विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा जिसको जानकर तू अशुभ-(संसार-)से मुक्त हो जायगा। मुक्ति होनेसे फिर जानना बाकी नहीं रहता। इस प्रकार भगवान्‌ने सातवें और नवें—दोनों ही अध्यायोंके आरम्भमें विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा की और दोनोंका एक फल बताया।

सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि हजारोंमेंसे कोई एक मनुष्य वास्तविक सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवालोंमें कोई एक मेरेको तत्त्वसे जानता है। इसका कारण नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें बताते हैं कि इस विज्ञानसहित ज्ञानपर श्रद्धा न रखनेसे मनुष्य मेरेको प्राप्त न हो करके मौतके रास्तेमें चले जाते हैं अर्थात् बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं।

सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव और प्रलय बताया। यही बात नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें '**प्रभवः प्रलयः**' पदोंसे बतायी।

सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनेको सनातन बीज बताया और नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें अपनेको अव्यय बीज बताया।

सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें '**न त्वहं तेषु ते मयि**' कहकर जिस राजविद्याका संक्षेपसे वर्णन किया था, उसीका नवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकमें विस्तारसे वर्णन किया है।

सातवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण प्राणियोंको तीनों गुणोंसे मोहित बताया और नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें सम्पूर्ण प्राणियोंको प्रकृतिके परवश हुआ बताया।

सातवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि जो मनुष्य मेरे ही शरण हो जाते हैं, वे मायाको तर जाते हैं और नवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें कहा कि जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।

सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्‌ने '**न मां दुष्कृतिनो मूढाः**' कहा था, उसीको नवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें '**अवजानन्ति मां मूढाः**' कहा है।

सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्‌ने '**आसुरं भावमाश्रिताः**' पदोंसे जो बात कही थी, वही बात नवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें '**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः**' पदोंसे कही है।

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें जिनको '**सुकृतिनः**' कहा था, उनको ही नवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें '**महात्मानः**' कहा है।

सातवें अध्यायके सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकतक सकाम और निष्कामभावको लेकर भक्तोंके चार प्रकार बताये; और नवें अध्यायके तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक वर्ण, आचरण और व्यक्तिको लेकर भक्तोंके सात भेद बताये।

सातवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने महात्माकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' कहा और नवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनी दृष्टिसे '**सदसच्चाहम्**' कहा।

भगवान्‌से विमुख होकर अन्य देवताओंमें लगनेमें खास दो ही कारण हैं—पहला कामना और दूसरा भगवान्‌को न पहचानना। सातवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें कामनाके कारण देवताओंके शरण होनेकी बात कही गयी और नवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌को न पहचाननेके कारण देवताओंका पूजन करनेकी बात कही गयी।

सातवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें सकाम पुरुषोंको अन्तवाला (नाशवान्) फल मिलनेकी बात कही और नवें

अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें सकाम पुरुषोंके आवागमनको प्राप्त होनेकी बात कही।

सातवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि देवताओंके भक्त देवताओंको और मेरे भक्त मेरेको प्राप्त होते हैं। यही बात भगवान्ने नवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भी कही।

सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने जो '**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः**' कहा था, उसीको नवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकके पूर्वार्धमें '**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्**' कहा है। ऐसे ही सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें जो '**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्**' कहा था, उसीको नवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकके उत्तरार्धमें '**परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्**' कहा है।

सातवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भगवान्ने '**सर्गे यान्ति**' कहा था, उसीको नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें '**मृत्युसंसारवर्त्मनि**' कहा है।

सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें भगवान्ने अपनेको जाननेकी बात मुख्य बतायी है और नवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्ने अर्पण करनेकी बात मुख्य बतायी है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें अहंता-परिवर्तनकी बात मुख्य है। भक्त 'मैं भगवान्का हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंताको बदलता है और खुदका सम्बन्ध भगवान्से जोड़ता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है। इसलिये उसको संसारके सम्बन्धका त्याग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह स्वतः छूट जाता है। कारण कि वर्ण, आश्रम, जाति, योग्यता, अधिकार, कर्म, गुण आदिका भेद होनेपर भी ये सब आगन्तुक हैं, पर स्वयंके साथ भगवान्का सम्बन्ध आगन्तुक नहीं है, प्रत्युत अनादि, नित्य और स्वतःसिद्ध है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ९ ॥

इस अध्यायमें भगवान्ने जो '**मया ततमिदं सर्वम्**' आदि उपदेश दिया है, वह सब विद्याओंका राजा है और जो भगवान्ने अपने-आपको प्रकट करके अर्जुनको अपने शरण होने और अपनेमें मन लगानेके लिये कहा है, वह सम्पूर्ण गोपनीय भावोंका राजा है। इन दोनों-(राजविद्या और राजगुह्य-) को तत्त्वसे समझ लेनेपर 'योग'-(नित्य-योग-)का अनुभव हो जाता है। अतः इस अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' रखा गया है।

नवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ नवमोऽध्यायः**' के तीन, '**श्रीभगवानुवाच**' के दो, श्लोकोंके चार सौ छियालीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग चार सौ चौंसठ है।

(२) '**अथ नवमोऽध्यायः**' के सात, '**श्रीभगवानुवाच**' के सात, श्लोकोंके एक हजार एक सौ बारह और पुष्पिकाके इक्यावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार एक सौ सतहत्तर है। इस अध्यायके चौंतीस श्लोकोंमेंसे बीसवाँ और इक्कीसवाँ—ये दो श्लोक चौवालीस अक्षरोंके हैं और शेष बत्तीस श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है—'**श्रीभगवानुवाच**'।

नवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके चौंतीस श्लोकोंमेंसे बीसवाँ और इक्कीसवाँ—ये दो श्लोक '**उपजाति**' छन्दवाले हैं। बचे हुए बत्तीस श्लोकोंमेंसे—पहले श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' और तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**संकीर्ण-विपुला**'; दूसरे श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; तीसरे और दसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; सत्रहवें श्लोकके प्रथम चरणमें और तेरहवें तथा छब्बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष पचीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

नवें अध्यायका सार

भगवान्‌ने सातवें अध्यायसे 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का विषय कहना आरम्भ किया है। 'ज्ञान' से संसारसे मुक्ति होती है और 'विज्ञान' से भगवान्‌में प्रेम होता है। बीचमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर आठवें अध्यायमें दूसरा विषय चला। परन्तु नवें अध्यायसे भगवान् पुनः वही विषय कहना आरम्भ करते हैं।

सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने संसारकी उत्पत्तिका कारण बताया कि परा और अपरा—इन दोनों मेरी प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है (छठा श्लोक)। परन्तु नवें अध्यायमें संसारकी स्थिति बताते हैं कि जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, उन साधकोंके लिये संसार मेरेमें है और मैं संसारमें हूँ (चौथा, पाँचवाँ, छठा श्लोक)। इसीको छठे अध्यायमें कहा है—'**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**' (६। ३०)। परन्तु जिन सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उनकी दृष्टिमें एक मैं-ही-मैं हूँ—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

भगवान् कहते हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला तथा धारण करनेवाला मैं ही हूँ, तथापि मैं उन प्राणियोंके आश्रित नहीं हूँ, प्रत्युत वे प्राणी ही मेरे आश्रित हैं (नवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। जैसे आकाशमें रहनेवाली वायु आकाशके आश्रित होती है, पर आकाश वायुके आश्रित नहीं होता, ऐसे ही परा और अपरा प्रकृति तो भगवान्‌का स्वभाव होनेसे भगवान्‌के आश्रित (अधीन) है, पर भगवान् परा और अपरा प्रकृतिके आश्रित नहीं हैं। इसलिये जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है और आकाशमें ही लीन होती है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी महासर्गमें भगवान्‌से ही प्रकट होते हैं, भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं और महाप्रलयमें भगवान्‌में ही लीन होते हैं (सातवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिके आश्रित हैं और प्रकृति भगवान्‌के आश्रित है (आठवाँ श्लोक)। दूसरे शब्दोंमें, भगवान्‌के एक अंशमें प्रकृति है और प्रकृतिके एक अंशमें प्राणी हैं। इसलिये सृष्टिकी रचना करनेपर भी भगवान् सृष्टि-रचनारूप कर्मसे बँधते नहीं (नवाँ श्लोक); क्योंकि वास्तवमें सृष्टि-रचनाका कार्य भगवान्‌के आश्रित रहनेवाली प्रकृति ही करती है (दसवाँ श्लोक)। इस रहस्यको न जाननेके कारण बेसमझ लोग भगवान्‌को भी अपनी तरह शरीर-(अपरा-)के आश्रित मान लेते हैं कि जैसे हम शरीरके बिना नहीं रह सकते, ऐसे ही भगवान् भी शरीरके बिना नहीं रह सकते (ग्यारहवाँ श्लोक)। ऐसे लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिके आश्रित रहनेवाले होते हैं (बारहवाँ श्लोक)। वास्तवमें जैसे मनुष्यमें शरीर और शरीरीका भेद रहता है, ऐसे भगवान्‌में शरीर-शरीरीका भेद नहीं है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९)। इसलिये जो मनुष्य भगवान्‌को प्रकृतिके आश्रित नहीं समझते, वे दैवी प्रकृतिके आश्रित रहनेवाले होते हैं अर्थात् वे प्रकृतिके आश्रित न होकर भगवान्‌के आश्रित होते हैं (तेरहवाँ श्लोक)। भगवान्‌के आश्रित होनेके कारण वे 'महात्मा' कहलाते हैं।

कर्मयोग 'शरीर'-(अपरा-) की मुख्यतासे चलता है और ज्ञानयोग 'शरीरी'-(परा-) की मुख्यतासे चलता है। एक देश-(शरीर अथवा शरीरी-) को लेकर चलनेसे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी एकदेशीय होते हैं। परन्तु भक्तियोग भगवान्‌की मुख्यतासे चलता है। इसलिये भक्तको भगवान्‌ने 'महात्मा' अर्थात् महान् आत्मा कहा है। वे अनन्यमनसे भगवान्‌का भजन करते हैं। कारण कि जब उनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, तो फिर उनका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जाय? इसलिये वे भगवान्‌में नित्ययुक्त रहते हैं, कभी भगवान्‌से अलग होते ही नहीं—'**नित्ययुक्ताः**' (९। १४), '**नित्याभियुक्तानाम्**' (९। २२)।

साधक कई प्रकारके होते हैं और अलग-अलग साधनोंसे भिन्न-भिन्न उपास्यदेवोंकी उपासना करते हैं। परन्तु वास्तवमें उन सभी साधकोंके द्वारा एक ही समग्र भगवान्‌की उपासना होती है—'**मामुपासते**' (९। १५), '**त्रैविद्या माम्**' (९। २०), '**तेऽपि मामेव**' (९। २३), '**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**' (९। २४)। कारण कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं (९। १६—१९)। इस रहस्यको न समझनेके कारण जो लोग अपने उपास्यदेवको भगवान्‌से अलग मानकर सकामभावसे उनकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना वास्तवमें भगवान्‌की होनेपर भी

अविधिपूर्वक होती है। इसलिये उनका पतन हो जाता है अर्थात् वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं (नवें अध्यायका तेईसवाँ-चौबीसवाँ श्लोक)। परन्तु भगवान्‌की उपासना करनेवाले भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं।

जो लोग भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवी-देवताओंकी उपासना करते हैं, उनको अनेक नियमों, विधियों आदिकी जरूरत पड़ती है, जिसमें बड़ी कठिनता होती है। परन्तु भगवान्‌की उपासनामें भावकी जरूरत है, क्रियाओं-(नियमों, विधियों आदि-) की जरूरत नहीं है (नवें अध्यायका छब्बीसवाँ-सत्ताईसवाँ श्लोक)। भगवान् क्रियाग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—**'भावग्राही जनार्दनः'।** इसलिये भक्तको सुगमतापूर्वक भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, मनुष्य किसी भी आचरण, वर्ण, आश्रम, जाति आदिका क्यों न हो, वह भगवान्‌का भक्त होकर सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो सकता है (नवें अध्यायके तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक)।

नवें अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—**'मन्मना भव०'** (९। ३४)। इसका तात्पर्य है कि जो कुछ भी है, वह मैं ही हूँ, मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं (सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। इस बातको दृढ़तासे स्वीकार करना ही **'मन्मना भव०'** आदि पदोंका तात्पर्य है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान् सातवें अध्यायमें अपने हृदयकी बात—विज्ञानसहित ज्ञान कह रहे थे। जब बीचमें ही आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर अपनी बात कहनेमें कुछ परिवर्तन हुआ, तब भगवान्ने पुनः विज्ञानसहित ज्ञान कहनेके लिये नवें अध्यायका विषय आरम्भ किया और उसकी समाप्ति भगवत्परायणतामें की। फिर भी भगवान्के मनमें और कहनेका भाव रहा। उन्हें अपने कथनपर संतोष नहीं हुआ। जैसे भक्तको भगवान्की बात सुनते हुए तृप्ति नहीं होती (गीता—दसवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), ऐसे ही अपने प्यारे भक्त अर्जुनके प्रति अपने हृदयकी बात कहते-कहते भगवान्को तृप्ति नहीं हो रही है। कारण कि भगवान्के हृदयकी गोपनीय बात भक्तके सिवाय संसारमें और कोई सुननेवाला नहीं है। अतः भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही कृपापूर्वक दसवें अध्यायका विषय आरम्भ कर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहो	= हे महाबाहो अर्जुन!	**भूयः**	= फिर	**प्रीयमाणाय**	= मुझमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाले
मे	= मेरे	**एव**	= भी	**ते**	= तुम्हारे लिये
परमम्	= परम	**शृणु**	= सुनो,	**हितकाम्यया**	= हितकी कामनासे
वचः	= वचनको (तुम)	**यत्**	= जिसे	**वक्ष्यामि**	= कहूँगा।
		अहम्	= मैं		

व्याख्या—**'भूय एव'**—भगवान्की विभूतियोंको तत्त्वसे जाननेपर भगवान्में भक्ति होती है, प्रेम होता है। इसलिये कृपावश होकर भगवान्ने सातवें अध्यायमें (आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक) कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ और नवें अध्यायमें (सोलहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक) कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ बतायीं। अब यहाँ और भी विभूतियाँ बतानेके लिये[1] तथा (गीता—आठवें अध्यायके चौदहवें एवं नवें अध्यायके बाईसवें तथा चौंतीसवें श्लोकमें कही हुई) भक्तिका और भी विशेषतासे वर्णन करनेके लिये भगवान् **'भूय एव'** कहते हैं।

'शृणु मे परमं वचः'—भगवान्के मनमें अपनी महिमाकी बात, अपने हृदयकी बात, अपने प्रभावकी बात कहनेकी विशेष आ रही है[2]। इसलिये वे अर्जुनसे कहते हैं कि 'तू फिर मेरे परम वचनको सुन'।

दूसरा भाव यह है कि भगवान् जहाँ-जहाँ अर्जुनको अपनी विशेष महत्ता, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि बताते हैं अर्थात् अपने-आपको खोल करके बताते हैं, वहाँ-वहाँ वे परम वचन, रहस्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं; जैसे—चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'** पदोंसे बताते

१-इस (दसवें) अध्यायमें भगवान्ने चौथेसे छठे श्लोकतक अपनी पैंतालीस विभूतियाँ बतायी हैं।

२-भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी तरफसे उन भक्तोंपर कृपा करके उनको ज्ञान दे देता हूँ—'तेषामेवानुकम्पार्थम्' (गीता १०। ११)—यह भगवान्का परम वचन है।

हैं कि जिसने सूर्यको उपदेश दिया था, वही मैं तेरे रथके घोड़े हाँकता हुआ तेरे सामने बैठा हूँ। अठारहवें अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें '**शृणु मे परमं वचः**' पदोंसे यह परम वचन कहते हैं कि तू सम्पूर्ण धर्मोंका निर्णय करनेकी झंझटको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर (१८। ६६)। यहाँ '**शृणु मे परमं वचः**' पदोंसे भगवान्‌का आशय है कि प्राणियोंके अनेक प्रकारके भाव मेरेसे ही पैदा होते हैं और मेरेमें ही भक्तिभाव रखनेवाले सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सभी मेरे मनसे पैदा होते हैं। तात्पर्य यह है कि सबके मूलमें मैं ही हूँ।

जैसे आगे तेरहवें अध्यायमें ज्ञानकी बात कहते हुए भी चौदहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने फिर ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है, ऐसे ही सातवें और नवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानकी बात कहते हुए भी दसवें अध्यायके आरम्भमें फिर उसी विषयको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। चौदहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने '**परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्**' कहा और यहाँ (दसवें अध्यायके आरम्भमें) '**शृणु मे परमं वचः**' कहा। इनका तात्पर्य है कि ज्ञानमार्गमें समझकी, विवेक-विचारकी मुख्यता रहती है; अतः साधक वचनोंको सुन करके विचारपूर्वक तत्त्वको समझ लेता है। इसलिये वहाँ '**ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्**' कहा है। भक्तिमार्गमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता रहती है; अतः साधक वचनोंको सुन करके श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मान लेता है। इसलिये यहाँ '**परमं वचः**' कहा गया है।

'**यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया**'—सुननेवाला वक्तामें श्रद्धा और प्रेम रखनेवाला हो और वक्ताके भीतर सुननेवालेके प्रति कृपापूर्वक हित-भावना हो तो वक्ताके वचन, उसके द्वारा कहा हुआ विषय श्रोताके भीतर अटलरूपसे जम जाता है। इससे श्रोताकी भगवान्‌में स्वतः रुचि पैदा हो जाती है, भक्ति हो जाती है, प्रेम हो जाता है।

यहाँ '**हितकाम्यया**' पदसे एक शंका हो सकती है कि भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह कामनाका निषेध किया है, फिर वे स्वयं अपनेमें कामना क्यों रखते हैं? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें अपने लिये भोग, सुख, आराम आदि चाहना ही 'कामना' है। दूसरोंके हितकी कामना 'कामना' है ही नहीं। दूसरोंके हितकी कामना तो त्याग है और अपनी कामनाको मिटानेका मुख्य साधन है। इसलिये भगवान् सबको धारण करनेके लिये आदर्शरूपसे कह रहे हैं कि जैसे मैं हितकी कामनासे कहता हूँ, ऐसे ही मनुष्यमात्रको चाहिये कि वह प्राणिमात्रके हितकी कामनासे ही सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करे। इससे अपनी कामना मिट जायगी और कामना मिटनेपर मेरी प्राप्ति सुगमतासे हो जायगी। प्राणिमात्रके हितकी कामना रखनेवालेको मेरे सगुण स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२। ४), और निर्गुण स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है—'**लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं ...... सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५। २५)।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन युद्धक्षेत्रमें आकर भी विजयकी कामना न रखकर अपना कल्याण चाहते हैं, इसलिये उनके लिये '**महाबाहो**' सम्बोधन आया है। यह सम्बोधन अर्जुनकी श्रेष्ठताका, उपदेश धारण करनेकी सामर्थ्यका, अधिकारका सूचक है।

'**परमं वचः**'—जीवमात्रका कल्याण करनेवाले होनेसे भगवान्‌के वचन 'परम' अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाली होनेसे ही गीता विश्वमात्रको प्रिय, विश्ववन्द्य है।

'**वक्ष्यामि हितकाम्यया**'—अर्जुन जीवमात्रके प्रतिनिधि हैं और अपना हित ही चाहते हैं*। अतः भगवान् उनके अर्थात् जीवमात्रके हितके उद्देश्यसे परम वचन कहते हैं। कल्याणके सिवाय जीवका अन्य कोई हित है ही नहीं। भगवान्‌के वचन भी कल्याण करनेवाले हैं और उनका उद्देश्य भी कल्याण करनेका है, इसलिये भगवान्‌की वाणीमें जीवका विशेष कल्याण (परमहित) भरा हुआ है। जीवका जितना हित भगवान् कर सकते हैं, उतना दूसरा कोई कर सकता ही नहीं—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

---

* '**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**' (**गीता २। ७**)
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ (**गीता ३। २**)
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ (**गीता ५। १**)

दूसरोंकी वाणीमें तो मतभेद रहता है, पर भगवान्‌की वाणी सर्वसम्मत है। भगवान् योगमें स्थित होकर गीता कह रहे हैं[1]; अतः उनके वचन विशेष कल्याण करनेवाले हैं। भगवान्‌का योगमें स्थित होना क्या है? भगवान् सामान्यरूपसे मात्र प्राणियोंके परम सुहृद् हैं, पर जब कोई व्याकुल होकर उनकी शरणमें आता है, तब भगवान्‌के हृदयमें उसके हितके विशेष भाव प्रकट होते हैं—यही भगवान्‌का योगमें स्थित होना है[2]; जैसे—बछड़ेके सामने आते ही गायके शरीरमें रहनेवाला दूध उसके थनोंमें आ जाता है!

'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया' पदोंसे भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे भीतर मेरे प्रति प्रेमका भाव है और मेरे भीतर तुम्हारे प्रति हितका भाव है, इसलिये मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान पुनः कहूँगा, जो मैंने सातवें और नवें अध्यायमें कहा है। इससे सिद्ध होता है कि सातवाँ, नवाँ और दसवाँ—तीनों अध्यायोंमें भगवान्‌ने प्राणिमात्रके हितकी कामनासे अपने हृदयकी बात कही है!

सम्बन्ध—परम वचनके विषयमें, जिसे मैं आगे कहूँगा, मेरे सिवाय पूरा-पूरा बतानेवाला अन्य कोई नहीं मिल सकता। इसका कारण क्या है? इसे भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मे	= मेरे		(और)	**सर्वशः**	= सब प्रकारसे
प्रभवम्	= प्रकट होनेको	**न**	= न	**देवानाम्**	= देवताओंका
न	= न	**महर्षयः**	= महर्षि;	**च**	= और
सुरगणाः	= देवता	**हि**	= क्योंकि	**महर्षीणाम्**	= महर्षियोंका
विदुः	= जानते हैं	**अहम्**	= मैं	**आदिः**	= आदि हूँ।

व्याख्या—**'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः'**—यद्यपि देवताओंके शरीर, बुद्धि, लोक, सामग्री आदि सब दिव्य हैं, तथापि वे मेरे प्रकट होनेको नहीं जानते। तात्पर्य है कि मेरा जो विश्वरूपसे प्रकट होना है, मत्स्य, कच्छप आदि अवताररूपसे प्रकट होना है, सृष्टिमें क्रिया, भाव और विभूतिरूपसे प्रकट होना है, ऐसे मेरे प्रकट होनेके उद्देश्यको, लक्ष्यको, हेतुओंको देवता भी पूरा-पूरा नहीं जानते। मेरे प्रकट होनेको पूरा-पूरा जानना तो दूर रहा, उनको तो मेरे दर्शन भी बड़ी कठिनतासे होते हैं। इसलिये वे मेरे दर्शनके लिये हरदम लालायित रहते हैं (गीता—ग्यारहवें अध्यायके बावनवें श्लोकमें)।

ऐसे ही जिन महर्षियोंने अनेक ऋचाओंको, मन्त्रोंको, विद्याओंको, विलक्षण-विलक्षण शक्तियोंको प्रकट किया है, जो संसारसे ऊँचे उठे हुए हैं, जो दिव्य अनुभवसे युक्त हैं, जिनके लिये कुछ करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा है, ऐसे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महर्षि लोग भी मेरे प्रकट होनेको अर्थात् मेरे अवतारोंको, अनेक प्रकारकी लीलाओंको, मेरे महत्त्वको पूरा-पूरा नहीं जानते।

यहाँ भगवान्‌ने देवता और महर्षि—इन दोनोंका नाम लिया है। इसमें ऐसा मालूम देता है कि ऊँचे पदकी दृष्टिसे देवताका नाम और ज्ञानकी दृष्टिसे महर्षिका नाम लिया गया है। इन दोनोंका मेरे प्रकट होनेको न जाननेमें कारण यह है कि मैं देवताओं और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि हूँ—**'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।'** उनमें जो

१-न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। (महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)
'(भगवान् अर्जुनसे बोले—) वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात नहीं है। उस समय योगयुक्त होकर ही मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

२-ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत। (श्रीमद्भा० १। १। ८; १०। १३। ३)
'गुरुजन' अपने प्रेमी शिष्यको गुप्त-से-गुप्त बात भी बतला दिया करते हैं।'
गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥ (मानस, बाल० ११०। १)

कुछ बुद्धि है, शक्ति है, सामर्थ्य है, पद है, प्रभाव है, महत्ता है, वह सब उन्होंने मेरेसे ही प्राप्त की है। अत: मेरेसे प्राप्त किये हुए प्रभाव, शक्ति, सामर्थ्य आदिसे वे मेरेको पूरा कैसे जान सकते हैं? अर्थात् नहीं जान सकते। जैसे बालक जिस माँसे पैदा हुआ है, उस माँके विवाहको और अपने शरीरके पैदा होनेको नहीं जानता, ऐसे ही देवता और महर्षि मेरेसे ही प्रकट हुए हैं; अत: वे मेरे प्रकट होनेको और अपने कारणको नहीं जानते। कार्य अपने कारणमें लीन तो हो सकता है, पर उसको जान नहीं सकता। ऐसे ही देवता और महर्षि मेरेसे उत्पन्न होनेसे, मेरा कार्य होनेसे कारणरूप मेरेको नहीं जान सकते, प्रत्युत मेरेमें लीन हो सकते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि देवता और महर्षि भगवान्‌के आदिको, अन्तको और वर्तमानकी इयत्ताको अर्थात् भगवान् ऐसे ही हैं, इतने ही अवतार लेते हैं—इस माप-तौलको नहीं जान सकते। कारण कि इन देवताओं और महर्षियोंके प्रकट होनेसे पहले भी भगवान् ज्यों-के-त्यों ही थे और उनके लीन होनेपर भी भगवान् ज्यों-के-त्यों ही रहेंगे। अत: जिनके शरीरोंका आदि और अन्त होता रहता है, वे देवता और महर्षि अनादि-अनन्तको अर्थात् असीम परमात्माको अपनी सीमित बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिके द्वारा कैसे जान सकते हैं? असीमको अपनी सीमित बुद्धिके अन्तर्गत कैसे ला सकते हैं? अर्थात् नहीं ला सकते।

इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें अर्जुनने भी भगवान्‌से कहा है कि आपको देवता और दानव नहीं जानते; क्योंकि देवताओंके पास भोग-सामग्रीकी और दानवोंके पास माया-शक्तिकी अधिकता है। तात्पर्य है कि भोगोंमें लगे रहनेसे देवताओंको (मेरेको जाननेके लिये) समय ही नहीं मिलता और माया-शक्तिसे छल-कपट करनेसे दानव मेरेको जान ही नहीं सकते।

परिशिष्ट भाव—सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने **'मनुष्याणां सहस्रेषु०'** पदोंसे जो बात कही थी, वह यहाँ **'न मे विदु:०'** पदोंसे कहते हैं। वे भगवान्‌को क्यों नहीं जानते—इसका हेतु बताते हैं कि मैं सब तरहसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ। सातवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है कि भूत, भविष्य और वर्तमानके सब प्राणियोंको मैं जानता हूँ, पर मेरेको कोई नहीं जानता। इसलिये अर्जुनने भी आगे चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें कहा है कि आपको न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं, प्रत्युत आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने 'राजगुह्य' बात कही है। भगवान् विद्या, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिसे जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत जिज्ञासुके श्रद्धा-विश्वाससे एवं भगवत्कृपासे ही जाननेमें आते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि देवता और महर्षिलोग भी भगवान्‌के प्रकट होनेको सर्वथा नहीं जान सकते, तो फिर मनुष्य भगवान्‌को कैसे जानेगा और उसका कल्याण कैसे होगा? इसका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढ: स मर्त्येषु सर्वपापै: प्रमुच्यते॥ ३॥

य: = जो (मनुष्य)
माम् = मुझे
अजम् = अजन्मा,
अनादिम् = अनादि
च = और
लोकमहेश्वरम् = सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर
वेत्ति = जानता है अर्थात् दृढ़तासे (सन्देहरहित) स्वीकार कर लेता है,
स: = वह
मर्त्येषु = मनुष्योंमें
असम्मूढ: = ज्ञानवान् है (और)
सर्वपापै: = (वह) सम्पूर्ण पापोंसे
प्रमुच्यते = मुक्त हो जाता है।

व्याख्या—**'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक-महेश्वरम्'**—पीछेके श्लोकमें भगवान्‌के प्रकट होनेको जाननेका विषय नहीं बताया है। इस विषयको तो मनुष्य भी नहीं जानता, पर जितना जाननेसे मनुष्य अपना कल्याण कर ले, उतना तो वह जान ही सकता है। वह जानना अर्थात् मानना यह है कि भगवान् अज अर्थात् जन्मरहित हैं। वे अनादि हैं अर्थात् यह जो काल कहा जाता है, जिसमें आदि-अनादि शब्दोंका प्रयोग होता है, भगवान् उस कालके भी काल हैं। उन कालातीत भगवान्‌में कालका भी आदि और अन्त हो जाता है। भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके

महान् ईश्वर हैं अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पातालरूप जो त्रिलोकी है तथा उस त्रिलोकीमें जितने प्राणी हैं और उन प्राणियोंपर शासन करनेवाले (अलग-अलग अधिकार-प्राप्त) जितने ईश्वर (मालिक) हैं, उन सब ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर भगवान् हैं। इस प्रकार जाननेसे अर्थात् श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृढ़तासे माननेसे मनुष्यको भगवान्के अज, अविनाशी और लोकमहेश्वर होनेमें कभी किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं होता।

'असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते'— भगवान्को अज, अविनाशी और लोकमहेश्वर जाननेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त कैसे होगा? भगवान् जन्मरहित हैं, नाशरहित हैं अर्थात् उनमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। वे अजन्मा तथा अविनाशी रहते हुए ही सबके महान् ईश्वर हैं। वे सब देशमें रहनेके नाते यहाँ भी हैं, सब समयमें होनेके नाते अभी भी हैं, सबके होनेके नाते मेरे भी हैं और सबके मालिक होनेके नाते मेरे अकेलेके भी मालिक हैं—इस प्रकार दृढ़तासे मान ले। इसमें सन्देहकी गन्ध भी न रहे। साथ-ही-साथ, यह जो क्षणभंगुर संसार है, जिसका प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है और जिसको जिस क्षणमें जिस रूपमें देखा है, उसको दूसरे क्षणमें उस रूपमें दुबारा कोई भी देख नहीं सकता; क्योंकि वह दूसरे क्षणमें वैसा रहता ही नहीं—इस प्रकार संसारको यथार्थरूपसे जान ले। जिसने अपनेसहित सारे संसारके मालिक भगवान्को दृढ़तासे मान लिया है और संसारकी क्षणभंगुरताको तत्त्वसे ठीक जान लिया है, उसका संसारमें 'मैं' और 'मेरा'-पन रह ही नहीं सकता; प्रत्युत एकमात्र भगवान्में ही अपनापन हो जाता है। तो फिर वह पापोंसे मुक्त नहीं होगा, तो और क्या होगा? ऐसा मूढ़तारहित मनुष्य ही भगवान्को तत्त्वसे अज, अविनाशी और लोकमहेश्वर जानता है और वही सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। उसके क्रियमाण, संचित आदि सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। मनुष्यको इस वास्तविकताका अनुभव करनेकी आवश्यकता है, केवल तोतेकी तरह सीखनेकी आवश्यकता नहीं। तोतेकी तरह सीखा हुआ ज्ञान पूरा काम नहीं देता।

असम्मूढ़ता क्या है? संसार (शरीर) किसीके भी साथ कभी रह नहीं सकता तथा कोई भी संसारके साथ कभी रह नहीं सकता और परमात्मा किसीसे भी कभी अलग हो नहीं सकते और कोई भी परमात्मासे कभी अलग हो नहीं सकता—यह वास्तविकता है। इस वास्तविकताको न जानना ही सम्मूढ़ता है और इसको यथार्थ जानना ही असम्मूढ़ता है। यह असम्मूढ़ता जिसमें रहती है, वह मनुष्य असम्मूढ़ कहा जाता है। ऐसा असम्मूढ़ पुरुष मेरे सगुण-निर्गुण, साकार-निराकाररूपको तत्त्वसे जान लेता है, तो उसे मेरी लीला, रहस्य, प्रभाव, ऐश्वर्य आदिमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता।

परिशिष्ट भाव—नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भगवान्ने व्यतिरेकरीतिसे कहा कि जो मेरेको नहीं जानता, उसका पतन हो जाता है और यहाँ अन्वयरीतिसे कहते हैं कि जो मेरेको जानता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

यहाँ **'वेत्ति'** का अर्थ है—दृढ़तापूर्वक, सन्देहरहित स्वीकार कर लेना; क्योंकि भगवान्को इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जान नहीं सकते (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा श्लोक)। अतः भगवान् जाननेका विषय नहीं हैं, प्रत्युत मानने और अनुभव करनेका विषय हैं। जाननेका विषय खुद प्रकृति भी नहीं है; फिर प्रकृतिसे अतीत भगवान् जाननेका विषय कैसे हो सकते हैं। अनुभव करनेका तात्पर्य है—अपनेको भगवान्में लीन कर देना, भगवान्से अभिन्न हो जाना। भगवान्से अभिन्न होकर ही भगवान्को जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें अभिन्न ही हैं। (इसी तरह संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें अलग ही हैं।)

महर्षिगण भगवान्के आदिको तो नहीं जान सकते, पर वे भगवान्को अज-अनादि तो जानते ही हैं। भगवान्का अंश होनेसे जीव भी अज-अनादि है। अतः वह भगवान्को अज-अनादि जानेगा तो अपनेको भी वैसा ही (अज-अनादि) जानेगा; क्योंकि जीव भगवान्से अभिन्न होकर ही भगवान्को जानता है। अपनेको अज-अनादि जाननेपर वह मूढ़तारहित हो जाता है, फिर उसमें पाप कैसे रहेंगे? क्योंकि पाप तो पीछे पैदा हुए हैं, अज-अनादि पहलेसे है। **'सर्वपापैः प्रमुच्यते'** का तात्पर्य है—गुणोंके संगसे रहित होना। गुणोंका संग रहते हुए मनुष्य पापोंसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि गुणोंका संग पापोंका मूल कारण है।

आगे चौथेसे छठे श्लोकतक असम्मूढ़ताका ही विवेचन हुआ है, जिसमें भगवान्ने अपनेको सबका 'आदि' बताया है। भगवान् स्वयं 'अनादि' हैं और भावोंके तथा महर्षियोंके 'आदि' हैं।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जिस परम वचनको सुननेकी आज्ञा दी थी, उसको अब आगेके तीन श्लोकोंमें बताते हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

बुद्धिः	= बुद्धि,	**भवः**	= उत्पत्ति,	**यशः**	= यश
ज्ञानम्	= ज्ञान,	**अभावः**	= विनाश,	**च**	= और
असम्मोहः	= असम्मोह,	**भयम्**	= भय,	**अयशः**	= अपयश—
क्षमा	= क्षमा,	**अभयम्**	= अभय	**भूतानाम्**	= प्राणियोंके (ये)
सत्यम्	= सत्य,	**च**	= और	**पृथग्विधाः**	= अनेक प्रकारके अलग-अलग
दमः	= दम,	**अहिंसा**	= अहिंसा,		
शमः	= शम	**समता**	= समता,	**भावाः**	= (बीस) भाव
एव	= तथा	**तुष्टिः**	= सन्तोष,	**मत्तः**	= मुझसे
सुखम्	= सुख,	**तपः**	= तप,	**एव**	= ही
दुःखम्	= दुःख,	**दानम्**	= दान,	**भवन्ति**	= होते हैं।

व्याख्या—‘**बुद्धिः**’—उद्देश्यको लेकर निश्चय करनेवाली वृत्तिका नाम ‘बुद्धि’ है।

‘**ज्ञानम्**’—सार-असार, ग्राह्य-अग्राह्य, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य—ऐसा जो विवेक अर्थात् अलग-अलग जानकारी है, उसका नाम ‘ज्ञान’ है। यह ज्ञान (विवेक) मानवमात्रको भगवान्‌से मिला है।

‘**असम्मोहः**’—शरीर और संसारको उत्पत्ति-विनाशशील जानते हुए भी उनमें ‘मैं’ और ‘मेरा’-पन करनेका नाम सम्मोह है और इसके न होनेका नाम ‘असम्मोह’ है।

‘**क्षमा**’—कोई हमारे प्रति कितना ही बड़ा अपराध करे, अपनी सामर्थ्य रहते हुए भी उसे सह लेना और उस अपराधीको अपनी तथा ईश्वरकी तरफसे यहाँ और परलोकमें कहीं भी दण्ड न मिले—ऐसा विचार करनेका नाम ‘क्षमा’ है।

‘**सत्यम्**’—सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये सत्यभाषण करना अर्थात् जैसा सुना, देखा और समझा है, उसीके अनुसार अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये न ज्यादा, न कम—वैसा-का-वैसा कह देनेका नाम ‘सत्य’ है।

‘**दमः शमः**’—परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखते हुए इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे हटाकर अपने वशमें करनेका नाम ‘दम’ है, और मनको सांसारिक भोगोंके चिन्तनसे हटानेका नाम ‘शम’ है।

‘**सुखं दुःखम्**’—शरीर, मन, इन्द्रियोंके अनुकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयमें जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम ‘सुख’ है और प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयमें जो अप्रसन्नता होती है, उसका नाम ‘दुःख’ है।

‘**भवोऽभावः**’—सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, भाव आदिके उत्पन्न होनेका नाम ‘भव’ है और इन सबके लीन होनेका नाम ‘अभाव’ है।

‘**भयं चाभयमेव च**’—अपने आचरण, भाव आदि शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध होनेसे अन्तःकरणमें अपना अनिष्ट होनेकी जो एक आशंका होती है, उसको ‘भय’ कहते हैं। मनुष्यके आचरण, भाव आदि अच्छे हैं, वह किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, शास्त्र और सन्तोंके सिद्धान्तसे विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता, तो उसके हृदयमें अपना अनिष्ट होनेकी आशंका नहीं रहती अर्थात्

उसको किसीसे भय नहीं होता। इसीको 'अभय' कहते हैं।

'**अहिंसा**'—अपने तन, मन और वचनसे किसी भी देश, काल, परिस्थिति आदिमें किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी दुःख न देनेका नाम 'अहिंसा' है।

'**समता**'—तरह-तरहकी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके प्राप्त होनेपर भी अपने अन्तःकरणमें कोई विषमता न आनेका नाम 'समता' है।

'**तुष्टिः**'—आवश्यकता ज्यादा रहनेपर भी कम मिले तो उसमें सन्तोष करना तथा और मिले—ऐसी इच्छाका न रहना 'तुष्टि' है। तात्पर्य है कि मिले अथवा न मिले, कम मिले अथवा ज्यादा मिले आदि हर हालतमें प्रसन्न रहना 'तुष्टि' है।

'**तपः**'—अपने कर्तव्यका पालन करते हुए जो कुछ कष्ट आ जाय, प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय, उन सबको प्रसन्नतापूर्वक सहनेका नाम 'तप' है। एकादशी-व्रत आदि करनेका नाम भी तप है।

'**दानम्**'—प्रत्युपकार और फलकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न रखकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी शुद्ध कमाईका हिस्सा सत्पात्रको देनेका नाम 'दान' है (गीता—सत्रहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)।

'**यशोऽयशः**'—मनुष्यके अच्छे आचरणों, भावों और गुणोंको लेकर संसारमें जो नामकी प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि होते हैं, उनका नाम 'यश' है। मनुष्यके बुरे आचरणों, भावों और गुणोंको लेकर संसारमें जो नामकी निन्दा होती है, उसको 'अयश' (अपयश) कहते हैं।

'**भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः**'—प्राणियोंके ये पृथक्-पृथक् और अनेक तरहके भाव मेरेसे ही होते हैं अर्थात् उन सबको सत्ता, स्फूर्ति, शक्ति, आधार और प्रकाश मुझ लोकमहेश्वरसे ही मिलता है। तात्पर्य है कि तत्त्वसे सबके मूलमें मैं ही हूँ।

यहाँ '**मत्तः**' पदसे भगवान्‌का योग, सामर्थ्य, प्रभाव और '**पृथग्विधाः**' पदसे अनेक प्रकारकी अलग-अलग विभूतियाँ जाननी चाहिये।

संसारमें जो कुछ विहित तथा निषिद्ध हो रहा है; शुभ तथा अशुभ हो रहा है और संसारमें जितने सद्भाव तथा दुर्भाव हैं, वह सब-की-सब भगवान्‌की लीला है—इस प्रकार भक्त भगवान्‌को तत्त्वसे समझ लेता है तो उसका भगवान्‌में अविकम्प (अविचल) योग हो जाता है (गीता—दसवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

यहाँ प्राणियोंके जो बीस भाव बताये गये हैं, उनमें बारह भाव तो एक-एक (अकेले) हैं और वे सभी अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले हैं और भयके साथ आया हुआ अभय भी अन्तःकरणमें पैदा होनेवाला भाव है तथा बचे हुए सात भाव परस्परविरोधी हैं। उनमेंसे भव (उत्पत्ति), अभाव, यश और अयश—ये चार तो प्राणियोंके पूर्वकृत कर्मोंके फल हैं और सुख, दुःख तथा भय—ये तीन मूर्खताके फल हैं। इस मूर्खताको मनुष्य मिटा सकता है।

यहाँ प्राणियोंके बीस भावोंको अपनेसे पैदा हुए और अपनी विभूति बतानेमें भगवान्‌का तात्पर्य है कि ये बीस भाव तो पृथक्-पृथक् हैं, पर इन सब भावोंका आधार मैं एक ही हूँ। इन सबके मूलमें मैं ही हूँ, ये सभी मेरेसे ही होते हैं एवं मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं। सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने '**मत्त एव**' पदोंसे बताया है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं अर्थात् उनके मूलमें मैं ही हूँ, वे मेरेसे ही होते हैं और मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं। अतः यहाँ भी भगवान्‌का आशय विभूतियोंके मूल तत्त्वकी तरफ साधककी दृष्टि करानेमें ही है।

विशेष बात

साधक संसारको कैसे देखे? ऐसे देखे कि संसारमें जो कुछ क्रिया, पदार्थ, घटना आदि है, वह सब भगवान्‌का रूप है। चाहे उत्पत्ति हो, चाहे प्रलय हो; चाहे अनुकूलता हो, चाहे प्रतिकूलता हो; चाहे अमृत हो, चाहे मृत्यु हो; चाहे स्वर्ग हो, चाहे नरक हो; यह सब भगवान्‌की लीला है। भगवान्‌की लीलामें बालकाण्ड भी है, अयोध्याकाण्ड भी है, अरण्यकाण्ड भी है और लंकाकाण्ड भी है। पुरियोंमें देखा जाय तो अयोध्यापुरीमें भगवान्‌का प्राकट्य है; राजा, रानी और प्रजाका वात्सल्यभाव है। जनकपुरीमें रामजीके प्रति राजा जनक, महारानी सुनयना और प्रजाके विलक्षण-विलक्षण भाव हैं। वे रामजीको दामादरूपसे खिलाते हैं, खेलाते हैं, विनोद करते हैं। वनमें (अरण्यकाण्डमें) भक्तोंका मिलना भी है और राक्षसोंका मिलना भी। लंकापुरीमें युद्ध होता है, मार-काट होती है, खूनकी नदियाँ बहती हैं। इस तरह अलग-अलग पुरियोंमें, अलग-अलग काण्डोंमें भगवान्‌की तरह-तरहकी लीलाएँ होती हैं। परन्तु तरह-तरहकी लीलाएँ होते हुए भी रामायण एक है और ये

सभी लीलाएँ एक ही रामायणके अंग हैं तथा इन अंगोंसे रामायण सांगोपांग होती है। ऐसे ही संसारमें प्राणियोंके तरह-तरहके भाव हैं, क्रियाएँ हैं। कहींपर कोई हँस रहा है तो कहींपर कोई रो रहा है, कहींपर विद्वद्गोष्ठी हो रही है तो कहींपर आपसमें लड़ाई हो रही है, कोई जन्म ले रहा है तो कोई मर रहा है, आदि-आदि जो विविध भाँतिकी चेष्टाएँ हो रही हैं, वे सब भगवान्‌की लीलाएँ हैं। लीलाएँ करनेवाले ये सब भगवान्‌के रूप हैं। इस प्रकार भक्तकी दृष्टि हरदम भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये; क्योंकि इन सबके मूलमें एक परमात्मतत्त्व ही है।

परिशिष्ट भाव— ज्ञानकी दृष्टिसे तो सभी भाव प्रकृतिसे होते हैं, पर भक्तिकी दृष्टिसे सभी भाव भगवान्‌से होते हैं। अगर इन भावोंको जीवका मानें तो जीव भी भगवान्‌की ही परा प्रकृति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है; अतः ये भाव भगवान्‌के ही हुए। भगवान्‌में तो ये भाव निरन्तर रहते हैं, पर जीवमें अपराके संगसे आते-जाते रहते हैं। भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सभी भाव भगवत्स्वरूप ही हैं।

‘**पृथग्विधाः**’ कहनेका तात्पर्य है कि जैसे हाथ एक ही होता है, पर उसमें अँगुलियाँ अलग-अलग होती हैं, ऐसे ही भगवान् एक ही हैं, पर उनसे प्रकट होनेवाले भाव अलग-अलग हैं। एक ही भगवान्‌में अनेक प्रकारके परस्परविरुद्ध भाव एक साथ रहते हैं!

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

सप्त = सात
महर्षयः = महर्षि (और)
पूर्वे = उनसे भी पहले होनेवाले
चत्वारः = चार सनकादि
तथा = तथा
मनवः = चौदह मनु (—ये सब-के-सब)
मानसाः = (मेरे) मनसे
जाताः = पैदा हुए हैं (और)
मद्भावाः = मुझमें भाव (श्रद्धा-भक्ति) रखनेवाले हैं,
येषाम् = जिनकी
लोके = संसारमें
इमाः = यह
प्रजाः = सम्पूर्ण प्रजा है।

व्याख्या—[पीछेके दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने प्राणियोंके भाव-रूपसे बीस विभूतियाँ बतायीं। अब इस श्लोकमें व्यक्ति-रूपसे पचीस विभूतियाँ बता रहे हैं, जो कि प्राणियोंमें विशेष प्रभावशाली और जगत्‌की कारण हैं।]

‘**महर्षयः सप्त**’—जो दीर्घ आयुवाले; मन्त्रोंको प्रकट करनेवाले; ऐश्वर्यवान्; दिव्य दृष्टिवाले; गुण, विद्या आदिसे वृद्ध; धर्मका साक्षात् करनेवाले और गोत्रोंके प्रवर्तक हैं—ऐसे सातों गुणोंसे युक्त ऋषि सप्तर्षि कहे जाते हैं[1]। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों ऋषि उपर्युक्त सातों ही गुणोंसे युक्त हैं। ये सातों ही वेदवेत्ता हैं, वेदोंके आचार्य माने गये हैं, प्रवृत्ति-धर्मका संचालन करनेवाले हैं और प्रजापतिके कार्यमें नियुक्त किये गये हैं[2]। इन्हीं सात ऋषियोंको यहाँ ‘महर्षि’ कहा गया है।

‘**पूर्वे चत्वारः**’—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चारों ही ब्रह्माजीके तप करनेपर सबसे पहले प्रकट हुए हैं। ये चारों भगवत्स्वरूप हैं। सबसे पहले प्रकट होनेपर भी ये चारों सदा पाँच वर्षकी अवस्थावाले बालकरूपमें ही रहते हैं। ये तीनों लोकोंमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका प्रचार करते हुए घूमते रहते हैं। इनकी वाणीसे सदा ‘**हरिः शरणम्**’ का उच्चारण होता रहता है[3]। ये भगवत्कथाके बहुत प्रेमी हैं। अतः इन चारोंमेंसे एक वक्ता

१-सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः॥
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरो दिव्यचक्षुषः। वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये॥ (वायुपुराण ६१। ९३-९४)

२-मरीचिरंगिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः। प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः॥
(महा०, शान्तिपर्व० ३४७। ६९-७०)

३-हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः। (पद्मपुराणोक्त श्रीमद्भागवत-माहात्म्य २। ४८)

और तीन श्रोता बनकर भगवत्कथा करते और सुनते रहते हैं।

'मनवस्तथा'—ब्रह्माजीके एक दिन-(कल्प-) में चौदह मनु होते हैं। ब्रह्माजीके वर्तमान कल्पके स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि नामवाले चौदह मनु हैं*। ये सभी ब्रह्माजीकी आज्ञासे सृष्टिके उत्पादक और प्रवर्तक हैं।

'मानसा जाताः'—मात्र सृष्टि भगवान्‌के संकल्पसे पैदा होती है। परन्तु यहाँ सप्तर्षि आदिको भगवान्‌के मनसे पैदा हुआ कहा है। इसका कारण यह है कि सृष्टिका विस्तार करनेवाले होनेसे सृष्टिमें इनकी प्रधानता है। दूसरा कारण यह है कि ये सभी ब्रह्माजीके मनसे अर्थात् संकल्पसे पैदा हुए हैं। स्वयं भगवान् ही सृष्टि-रचनाके लिये ब्रह्मारूपसे प्रकट हुए हैं। अतः सात महर्षि, चार सनकादि और चौदह मनु—इन पचीसोंको ब्रह्माजीके मानसपुत्र कहें अथवा भगवान्‌के मानसपुत्र कहें, एक ही बात है।

'मद्भावाः'—ये सभी मेरेमें ही भाव अर्थात् श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले हैं।

'येषां लोकमिमाः प्रजाः'—संसारमें दो तरहकी प्रजा है—स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली और शब्दसे (दीक्षा, मन्त्र, उपदेश आदिसे) उत्पन्न होनेवाली। संयोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा 'बिन्दुज' कहलाती है और शब्दसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा 'नादज' कहलाती है। बिन्दुज प्रजा पुत्र-परम्परासे और नादज प्रजा शिष्य-परम्परासे चलती है।

सप्तर्षियों और चौदह मनुओंने तो विवाह किया था; अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा 'बिन्दुज' है। परन्तु सनकादिकोंने विवाह किया ही नहीं; अतः उनसे उपदेश प्राप्त करके पारमार्थिक मार्गमें लगनेवाली प्रजा 'नादज' है। निवृत्तिपरायण होनेवाले जितने सन्त-महापुरुष पहले हुए हैं, अभी हैं और आगे होंगे, वे सब उपलक्षणसे उनकी ही नादज प्रजा हैं।

परिशिष्ट भाव—सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सब भगवान्‌के मनसे पैदा होनेके कारण भगवान्‌से अभिन्न हैं।

सम्बन्ध—चौथेसे छठे श्लोकतक प्राणियोंके भावों तथा व्यक्तियोंके रूपमें अपनी विभूतियोंका और अपने योग-(प्रभाव-) का वर्णन करके अब भगवान् आगेके श्लोकमें उनको तत्त्वसे जाननेका फल बताते हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

यः	= जो मनुष्य	**तत्त्वतः**	= तत्त्वसे	**अविकम्पेन**	= अविचल
मम	= मेरी	**वेत्ति**	= जानता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक (सन्देह-रहित) स्वीकार कर लेता है,	**योगेन**	= भक्तियोगसे
एताम्	= इस			**युज्यते**	= युक्त हो जाता है;
विभूतिम्	= विभूतिको			**अत्र**	= इसमें (कुछ भी)
च	= और			**संशयः**	= संशय
योगम्	= योग-(सामर्थ्य-)को	**सः**	= वह	**न**	= नहीं है।

व्याख्या—**'एतां विभूतिं योगं च मम'**—**'एताम्'** सर्वनाम अत्यन्त समीपका लक्ष्य कराता है। यहाँ यह शब्द चौथेसे छठे श्लोकतक कही हुई विभूति और योगका लक्ष्य कराता है।

'विभूति' नाम भगवान्‌के ऐश्वर्यका है और 'योग' नाम भगवान्‌की अलौकिक विलक्षण शक्ति, अनन्त सामर्थ्यका है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌की शक्तिका नाम 'योग' है और उस योगसे प्रकट होनेवाली विशेषताओंका नाम

*** (श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायमें इनका विस्तारसे वर्णन आया है।)**

ब्रह्माजीका एक दिन एक हजार चतुर्युगीका होता है। उसमें एक मनुका राज्य इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ ज्यादा समयका माना गया है। इस समय ब्रह्माजीकी आयुका इक्यावनवाँ वर्ष चल रहा है और इसमें सातवें मनु 'वैवस्वत'का राज्य चल रहा है।

'विभूति' है। चौथेसे छठे श्लोकतक कही हुई भाव और व्यक्तिके रूपमें जितनी विभूतियाँ हैं, वे तो भगवान्‌के सामर्थ्यसे, प्रभावसे प्रकट हुई विशेषताएँ हैं और 'मेरेसे पैदा होते हैं' (**'मत्तः'; 'मानसा जाताः'**)—यह भगवान्‌का योग है, प्रभाव है। इसीको नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (मेरे इस ईश्वरीय योगको देख) पदोंसे कहा गया है। ऐसे ही आगे ग्यारहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें अर्जुनको विश्वरूप दिखाते समय भगवान्‌ने **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** पदोंसे अपना ऐश्वर्यमय योग देखनेके लिये कहा है।

विशेष बात

जब मनुष्य भोग-बुद्धिसे भोग भोगता है, भोगोंसे सुख लेता है, तब अपनी शक्तिका ह्रास और भोग्य वस्तुका विनाश होता है। इस प्रकार दोनों तरफसे हानि होती है। परन्तु जब वह भोगोंको भोगबुद्धिसे नहीं भोगता अर्थात् उसके भीतर भोग भोगनेकी किंचिन्मात्र भी लालसा उत्पन्न नहीं होती, तब उसकी शक्तिका ह्रास नहीं होता। उसकी शक्ति, सामर्थ्य निरन्तर बनी रहती है।

वास्तवमें भोगोंके भोगनेमें सुख नहीं है। सुख है—भोगोंके संयममें। यह संयम दो तरहका होता है— (१) दूसरोंपर शासनरूप संयम और (२) अपनेपर शासनरूप संयम। दूसरोंपर शासनरूप संयमका तात्पर्य है—'दूसरोंका दुःख मिट जाय और वे सुखी हो जायँ'—इस भावसे दूसरोंको उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गपर लगाना। अपनेपर शासनरूप संयमका तात्पर्य है—'अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग करना और स्वयं किंचिन्मात्र भी सुख न भोगना।' इन्हीं दोनों संयमोंका नाम 'योग' अथवा 'प्रभाव' है। ऐसा योग अथवा प्रभाव सर्वोपरि परमात्मामें स्वतः-स्वाभाविक होता है। दूसरोंमें यह साधन-साध्य होता है।

स्वार्थ और अभिमानपूर्वक दूसरोंपर शासन करनेसे, अपना हुक्म चलानेसे दूसरा वशमें हो जाता है तो शासन करनेवालेको एक सुख होता है। इस सुखमें शासककी शक्ति, सामर्थ्य क्षीण हो जाती है और जिसपर वह शासन करता है, वह पराधीन हो जाता है। इसलिये स्वार्थ और अभिमानपूर्वक दूसरोंपर शासन करनेकी अपेक्षा स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्याग करके 'दूसरोंका हित हो, मनुष्य नश्वर भोगोंमें न फँसें, मनुष्य अनादिकालसे अनन्त दुःखोंको भोगते आये हैं; अतः वे सदाके लिये इन दुःखोंसे छूटकर महान् आनन्दको प्राप्त हो जायँ'—ऐसी बुद्धिसे दूसरोंपर शासन करना बहुत श्रेष्ठ और विलक्षण शासन (संयम) है। इस शासनकी आखिरी हद है—भगवान्‌का शासन अर्थात् संयमन। इसीका नाम 'योग' है।

'योग' नाम समता, सम्बन्ध और सामर्थ्यका है। जो स्थिर परमात्मतत्त्व है, उसीसे अपार सामर्थ्य आती है। कारण कि वह निर्विकार परमात्मतत्त्व महान् सामर्थ्यशाली है। उसके समान सामर्थ्य किसीमें हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। मनुष्यमें आंशिकरूपसे वह सामर्थ्य निष्काम होनेसे आती है। कारण कि कामना होनेसे शक्तिका क्षय होता है और निष्काम होनेसे शक्तिका संचय होता है।

आदमी काम करते-करते थक जाता है तो विश्राम करनेसे फिर काम करनेकी शक्ति आ जाती है, बोलते-बोलते थक जाता है तो चुप होनेसे फिर बोलनेकी शक्ति आ जाती है। जीते-जीते आदमी मर जाता है तो फिर जीनेकी शक्ति आ जाती है। सर्गमें शक्ति क्षीण होती है और प्रलयमें शक्तिका संचय होता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृतिके सम्बन्धसे शक्ति क्षीण होती है और उससे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर महान् शक्ति आ जाती है।

'यो वेत्ति तत्त्वतः'—विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका तात्पर्य है कि संसारमें कारणरूपसे मेरा जो कुछ प्रभाव, सामर्थ्य है और उससे कार्यरूपमें प्रकट होनेवाली जितनी विशेषताएँ हैं अर्थात् वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो कुछ विशेषता दीखनेमें आती है, प्राणियोंके अन्तःकरणमें प्रकट होनेवाले जितने भाव हैं और प्रभावशाली व्यक्तियोंमें ज्ञान-दृष्टिसे, विवेक-दृष्टिसे तथा संसारकी उत्पत्ति और संचालनकी दृष्टिसे जो कुछ विलक्षणता है, उन सबके मूलमें मैं ही हूँ और मैं ही सबका आदि हूँ। इस प्रकार जो मेरेको समझ लेता है, तत्त्वसे ठीक मान लेता है, तो फिर वह उन सब विलक्षणताओंके मूलमें केवल मेरेको ही देखता है। उसका भाव केवल मेरेमें ही होता है, व्यक्तियों, वस्तुओंकी विशेषताओंमें नहीं। जैसे, सुनारकी दृष्टि गहनोंपर जाती है तो गहनोंके नाम, आकृति, उपयोगपर दृष्टि रहते हुए भी भीतर यह भाव रहता है कि तत्त्वसे यह सब सोना ही है। ऐसे ही जहाँ-कहीं जो कुछ भी विशेषता दीखे, उसमें दृष्टि भगवान्‌पर ही जानी चाहिये कि उसमें जो कुछ विशेषता है, वह भगवान्‌की ही है; वस्तु, व्यक्ति, क्रिया

आदिकी नहीं।

संसारमें क्रिया और पदार्थ निरन्तर परिवर्तनशील हैं। इनमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह स्थायीरूपसे व्यापक परमात्माकी ही है। जहाँ-जहाँ विलक्षणता, अलौकिकता आदि दीखे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी ही विलक्षणता माननेसे मनुष्य उसीमें उलझ जाता है और मिलता कुछ नहीं। कारण कि वस्तुओंमें जो विलक्षणता दीखती है, वह उस अपरिवर्तनशील परमात्मतत्त्वकी ही झलक है, परिवर्तनशील वस्तुकी नहीं। इस प्रकार उस मूल तत्त्वकी तरफ दृष्टि जाना ही उसे तत्त्वसे जानना अर्थात् श्रद्धासे दृढ़तापूर्वक मानना है।

यहाँ जो विभूतियोंका वर्णन किया गया है, इसका तात्पर्य इनमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्माके ऐश्वर्यसे है। विभूतियोंके रूपमें प्रकट होनेवाला मात्र ऐश्वर्य परमात्माका है। वह ऐश्वर्य प्रकट हुआ है परमात्माकी योगशक्तिसे। इसलिये जिस-किसीमें जहाँ-कहीं विलक्षणता दिखायी दे, वह विलक्षणता भगवान्‌की योगशक्तिसे प्रकट हुए ऐश्वर्य-(विभूति-) की ही है, न कि उस वस्तुकी। इस प्रकार योग और विभूति परमात्माकी हुई तथा उस योग और विभूतिको तत्त्वसे जाननेका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें विलक्षणता परमात्माकी है। अतः द्रष्टाकी दृष्टि केवल उस परमात्माकी तरफ ही जानी चाहिये। यही इनको तत्त्वसे जानना अर्थात् मानना है।*

'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते'—उसकी मेरेमें दृढ़ भक्ति हो जाती है। दृढ़ कहनेका तात्पर्य है कि उसकी मेरे सिवाय कहीं भी किंचिन्मात्र भी महत्त्वबुद्धि नहीं होती। अतः उसका आकर्षण दूसरेमें न होकर एक मेरेमें ही होता है।

'नात्र संशयः'—इसमें कोई संदेहकी बात नहीं—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि अगर उसको कहीं भी किंचिन्-मात्र भी संदेह होता है तो उसने मेरेको तत्त्वसे नहीं माना है। कारण कि उसने मेरे योगको अर्थात् विलक्षण प्रभावको और उससे उत्पन्न होनेवाली विभूतियोंको (ऐश्वर्यको) मेरेसे अलग मानकर महत्त्व दिया है।

मेरेको तत्त्वसे जान लेनेके बाद उसके सामने लौकिक दृष्टिसे किसी तरहकी विलक्षणता आ जाय, तो वह उसपर प्रभाव नहीं डाल सकेगी। उसकी दृष्टि उस विलक्षणताकी तरफ न जाकर मेरी तरफ ही जायगी। अतः उसकी मेरेमें स्वाभाविक ही दृढ़ भक्ति होती है।

परिशिष्ट भाव—संसारमें जो कुछ विलक्षणता (विशेषता) देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌का 'योग' अर्थात् विलक्षण प्रभाव, सामर्थ्य है। उस विलक्षण प्रभावसे प्रकट होनेवाली विशेषता 'विभूति' है—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जान लेता है, उसकी भगवान्‌में दृढ़ भक्ति हो जाती है। एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं—ऐसा सन्देहरहित दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लेना ही तत्त्वसे जानना है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवालेको भगवान्‌ने 'ज्ञानवान्' कहा है (गीता—सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

'अविकम्प (अविचल) योग' कहनेका तात्पर्य है कि वह भक्तियोग खुद भी नहीं हिलता और उसको कोई हिला भी नहीं सकता; क्योंकि इसमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

जैसे रुपयोंसे सब वस्तुएँ मिल जाती हैं—ऐसा मानकर साधारण मनुष्य रुपयोंको ही महत्त्व देता है और उसका रुपयोंमें आकर्षण हो जाता है। ऐसे ही जो कुछ प्रभाव, महत्त्व दीखता है, वह सब भगवान्‌का ही है—ऐसा जाननेपर मनुष्यकी भगवान्‌में ही दृढ़ भक्ति हो जाती है।

'नात्र संशयः' कहनेका तात्पर्य है कि जब भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता ही नहीं है तो फिर इसमें संशय कैसे हो?

*** भक्तिका प्रकरण होनेसे यहाँ 'तत्त्वतः वेत्ति' (तत्त्वतः जानना) का अर्थ 'तत्त्वतः मानना' ही लेना चाहिये। कारण कि यहाँ भगवान्‌ने 'तत्त्वतः वेत्ति' का फल अपनेमें दृढ़ भक्ति होना बताया है और आगेके श्लोकमें भी 'संसारमात्रका मूल कारण मैं ही हूँ और सब संसार मेरेसे ही चेष्टा करता है' ऐसा मानकर (इति मत्वा) भजन करनेकी बात कही है।**

जैसे जानना दृढ़ होता है, ऐसे ही मानना भी दृढ़ होता है अर्थात् दृढ़ मान्यता तत्त्वज्ञानकी तरह ही फल देती है। जैसे, 'मैं हिन्दू हूँ' 'मैं अमुक वर्णवाला हूँ' आदि मान्यताओंको जबतक स्वयं नहीं छोड़ता, तबतक ये मान्यताएँ छूटती नहीं। इसी तरह 'इन सब विभूतियोंके मूलमें भगवान् ही हैं, यह मान्यता कभी मिटती नहीं। वर्ण, सम्प्रदाय आदिकी मान्यता सच्ची नहीं है, प्रत्युत शरीरको लेकर होनेसे प्राकृत है और मिटनेवाली है। परन्तु सबके मूलमें परमात्मा हैं' यह मान्यता सच्ची है, वास्तविक है। अतः यह मान्यता कभी मिटती नहीं, प्रत्युत ज्ञान (तत्त्वसे जानना)-में परिणत होकर ज्ञानस्वरूप हो जाती है।

इसमें संशय होनेका अवकाश ही नहीं है; क्योंकि जहाँ दो सत्ता होती है, वहीं संशय होता है। एक भगवान्‌के सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर वृत्ति कहाँ जायगी, क्यों जायगी, किसमें जायगी और कैसे जायगी? इसलिये एक भगवान्‌में ही अविचल भक्ति हो जाती है—इसमें सन्देह नहीं है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेवाला अविचल भक्तिसे युक्त हो जाता है। अतः विभूति और योगको तत्त्वसे जानना क्या है? इसका विवेचन आगेके श्लोकमें करते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

अहम् = मैं, **सर्वस्य** = संसारमात्रका, **प्रभवः** = प्रभव (मूल कारण) हूँ, **मत्तः** = (और) मुझसे ही, **सर्वम्** = सारा संसार, **प्रवर्तते** = प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है—, **इति** = ऐसा, **मत्वा** = मानकर, **भावसमन्विताः** = मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए, **बुधाः** = बुद्धिमान् भक्त, **माम्** = मेरा ही, **भजन्ते** = भजन करते हैं—सब प्रकारसे मेरे ही शरण होते हैं।

व्याख्या—[पूर्व श्लोककी बात ही इस श्लोकमें कही गयी है। **'अहं सर्वस्य प्रभवः'** में **'सर्वस्य'** भगवान्‌की विभूति है अर्थात् देखने, सुनने, समझनेमें जो कुछ आ रहा है, वह सब-की-सब भगवान्‌की विभूति ही है। **'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** में **'मत्तः'** भगवान्‌का योग (प्रभाव) है, जिससे सभी विभूतियाँ प्रकट होती हैं। सातवें, आठवें और नवें अध्यायमें जो कुछ कहा गया है, वह सब-का-सब इस श्लोकके पूर्वार्धमें आ गया है।]

'अहं सर्वस्य प्रभवः'—मानस, नादज, बिन्दुज, उद्भिज्ज, जरायुज, अण्डज, स्वेदज अर्थात् जड-चेतन, स्थावर-जंगम यावन्मात्र जितने प्राणी पैदा होते हैं, उन सबकी उत्पत्तिके मूलमें परमपिता परमेश्वरके रूपमें मैं ही हूँ।*

यहाँ **'प्रभव'** का तात्पर्य है कि मैं सबका 'अभिन्न-निमित्तोपादानकारण' हूँ अर्थात् स्वयं मैं ही सृष्टिरूपसे प्रकट हुआ हूँ।

'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—संसारमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, पालन, संरक्षण आदि जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, जितने भी कार्य होते हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं। मूलमें उनको सत्ता-स्फूर्ति आदि जो कुछ मिलता है, वह सब मेरेसे ही मिलता है। जैसे बिजलीकी शक्तिसे सब कार्य होते हैं, ऐसे ही संसारमें जितनी क्रियाएँ होती हैं, उन सबका मूल कारण मैं ही हूँ।

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—कहनेका तात्पर्य है कि साधककी दृष्टि प्राणिमात्रके भाव, आचरण, क्रिया आदिकी तरफ न जाकर उन सबके मूलमें स्थित भगवान्‌की तरफ ही जानी चाहिये। कार्य, कारण, भाव, क्रिया, वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मूलमें जो तत्त्व है, उसकी तरफ ही भक्तोंकी दृष्टि रहनी चाहिये।

सातवें अध्यायके सातवें तथा बारहवें श्लोकमें और दसवें अध्यायके पाँचवें और इस (आठवें) श्लोकमें **'मत्तः'** पद बार-बार कहनेका तात्पर्य है कि ये भाव, क्रिया, व्यक्ति आदि सब भगवान्‌से ही पैदा होते हैं, भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं और भगवान्‌में लीन हो जाते हैं। अतः तत्त्वसे सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है—इस बातको जान लें अथवा मान लें, तो भगवान्‌के साथ अविकम्प (कभी विचलित न किया जानेवाला) योग अर्थात् सम्बन्ध हो जायगा।

यहाँ **'सर्वस्य'** और **'सर्वम्'**—दो बार 'सर्व' पद देनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌के सिवाय इस सृष्टिका न कोई उत्पादक है और न कोई संचालक है। इस सृष्टिके उत्पादक

*** जैसे सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने अपनेको अपरा और परा प्रकृतिका कारण बताया है और चौदहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें अपनेको बीज प्रदान करनेवाला पिता बताया है, ऐसे ही यहाँ भगवान्‌ने अपनेको सबका उत्पादक बताया है।**

और संचालक केवल भगवान् ही हैं।

'इति मत्वा भावसमन्विताः'—भगवान्से ही सब संसारकी उत्पत्ति होती है और सारे संसारको सत्ता-स्फूर्ति भगवान्से ही मिलती है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूपसे सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा जो दृढ़तासे मान लेते हैं, वे 'भगवान् ही सर्वोपरि हैं; भगवान्के समान कोई हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं तथा होना सम्भव भी नहीं'—ऐसे सर्वोच्च भावसे युक्त हो जाते हैं। इस प्रकार जब उनकी महत्त्वबुद्धि केवल भगवान्में हो जाती है तो फिर उनका आकर्षण, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि सब भगवान्में ही हो जाते हैं। भगवान्का ही आश्रय लेनेसे उनमें समता, निर्विकारता, निःशोकता, निश्चिन्तता, निर्भयता आदि स्वतःस्वाभाविक ही आ जाते हैं। कारण कि जहाँ देव (परमात्मा) होते हैं, वहाँ दैवी-सम्पत्ति स्वाभाविक ही आ जाती है।

'बुधाः'—भगवान्के सिवाय अन्यकी सत्ता ही न मानना, भगवान्को ही सबके मूलमें मानना, भगवान्का ही आश्रय लेकर उनमें ही श्रद्धा-प्रेम करना—यही उनकी बुद्धिमानी है। इसलिये उनको बुद्धिमान् कहा गया है। इसी बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायके अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंमें कहा है कि जो मेरेको क्षर-(संसारमात्र-) से अतीत और अक्षर-(जीवात्मा-)से उत्तम जानता है, वह सर्ववित् है और सर्वभावसे मेरा ही भजन करता है।

'माम् भजन्ते'—भगवान्के नामका जप-कीर्तन करना, भगवान्के रूपका चिन्तन-ध्यान करना, भगवान्की कथा सुनना, भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थों-(गीता, रामायण, भागवत आदि) का पठन-पाठन करना—ये सब-के-सब भजन हैं। परन्तु असली भजन तो वह है, जिसमें हृदय भगवान्की तरफ ही खिंच जाता है, केवल भगवान् ही प्यारे लगते हैं, भगवान्की विस्मृति चुभती है, बुरी लगती है। इस प्रकार भगवान्में तल्लीन होना ही असली भजन है।

विशेष बात

सबके मूलमें परमात्मा है और परमात्मासे ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना आदि सबको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है—ऐसा ज्ञान होना परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले सभी साधकोंके लिये बहुत आवश्यक है। कारण कि जब सबके मूलमें परमात्मा ही है, तब साधकका लक्ष्य भी परमात्माकी तरफ ही होना चाहिये। उस परमात्माकी तरफ लक्ष्य करानेमें ही सम्पूर्ण विभूतियों और योगके ज्ञानका तात्पर्य है। यही बात गीतामें जगह-जगह बतायी गयी है; जैसे—जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा पूजन करना चाहिये (अठारहवें अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक); जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विराजमान है और जो सब प्राणियोंको प्रेरणा देता है, उस परमात्माकी सर्वभावसे शरण जाना चाहिये (अठारहवें अध्यायका इकसठवाँ-बासठवाँ श्लोक); इत्यादि। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये साधन तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर उपर्युक्त ज्ञान सभी साधकोंके लिये बहुत ही आवश्यक है।

परिशिष्ट भाव—लोग रुपयोंको इसलिये बहुत महत्त्व देते हैं कि उनसे सब वस्तुएँ मिल सकती हैं। रुपयोंसे तो वस्तुएँ मिलती हैं, पैदा नहीं होतीं, पर भगवान्से सम्पूर्ण वस्तुएँ पैदा भी होती हैं और मिलती भी हैं! इस प्रकार जो भगवान्के महत्त्वको जान लेते हैं, वे तुच्छ रुपयोंके लोभमें न फँसकर भगवान्के ही भजनमें लग जाते हैं—**'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'** (गीता १५। १९)।

भगवान् कहते हैं कि पदार्थ और व्यक्ति भी मेरेसे होते हैं **(अहं सर्वस्य प्रभवः)** और क्रियाएँ भी मेरेसे होती हैं **(मत्तः सर्वं प्रवर्तते)**। परन्तु जीव पदार्थों और क्रियाओंसे सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उनका भोक्ता और कर्ता बनकर बँध जाता है। भोक्ता बननेसे पदार्थ बन्धनकारक हो जाते हैं और कर्ता बननेसे क्रियाएँ बन्धनकारक हो जाती हैं। अगर जीव भोक्ता और कर्ता न बने तो बन्धन है ही नहीं।

संसारमें जो भी प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब भगवान्का ही है—यह बात भगवान्ने गीतामें **'मत्तः'** पदसे कई जगह कही है; जैसे—

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' (७। ७)

'मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।'

'मत्त एवेति तान्विद्धि' (७। १२)

'ये (सात्त्विक, राजस और तामस) भाव मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो।'

'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (१०। ५)

'प्राणियोंके ये (बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि) अनेक प्रकारके अलग-अलग भाव मुझसे ही होते हैं।'

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५।१५)

'मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है।'

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें उन भक्तोंका भजन किस रीतिसे होता है—यह बताते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मच्चिताः	= मुझमें चित्तवाले		आदिको) जनाते हुए	**तुष्यन्ति**	= सन्तुष्ट रहते हैं
मद्गतप्राणाः	= मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले (भक्तजन)	**च**	= और	**च**	= और
परस्परम्	= आपसमें	**कथयन्तः**	= उनका कथन करते हुए	**माम्**	= मुझमें
बोधयन्तः	= (मेरे गुण, प्रभाव	**नित्यम्**	= नित्य-निरन्तर	**च**	= ही
				रमन्ति	= प्रेम करते हैं।

व्याख्या—[इस श्लोकमें छः बातें हैं। उनमेंसे **'मच्चित्ताः'** और **'मद्गतप्राणाः'** ये दो बातें स्वयं करनेकी हैं अर्थात् भक्त स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसे बन जाते हैं, **'बोधयन्तः'** और **'कथयन्तः'**—ये दो बातें आपसमें मिलनेपर होती हैं तथा **'तुष्यन्ति** और **रमन्ति'**—ये दो बातें फलरूपमें होती हैं।

भगवान्‌से ही सब उत्पन्न हुए हैं और भगवान्‌से ही सबकी चेष्टा हो रही है अर्थात् सबके मूलमें परमात्मा है—यह बात जिनको दृढ़तासे और निःसन्देहपूर्वक जँच गयी है, उनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता। बस, उनका एक ही काम रहता है—सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लगे रहना। यही बात इस श्लोकमें बतायी गयी है।]

'मच्चित्ताः'—वे मेरेमें चित्तवाले हैं। एक स्वयंका भगवान्‌में लगना होता है और एक चित्तको भगवान्‌में लगाना होता है। जहाँ 'मैं भगवान्‌का हूँ' ऐसे स्वयं भगवान्‌में लग जाता है, वहाँ चित्त, बुद्धि आदि सब स्वतः भगवान्‌में लग जाते हैं। कारण कि कर्ता-(स्वयं-) के लगनेपर करण (मन, बुद्धि आदि) अलग थोड़े ही रहेंगे! वे भी लग जायँगे। करणोंके लगनेपर तो कर्ता अलग रह सकता है, पर कर्ताके लगनेपर करण अलग नहीं रह सकते। जहाँ कर्ता रहेगा, वहीं करण भी रहेंगे। कारण कि करण कर्ताके ही अधीन होते हैं। कर्ता स्वयं जहाँ लगता है, करण भी वहीं लगते हैं। जैसे, कोई मनुष्य परमात्मप्राप्तिके लिये सच्चे हृदयसे साधक बन जाता है, तो साधनमें उसका मन स्वतः लगता है। उसका मन साधनके सिवाय अन्य किसी कार्यमें नहीं लगता और जिस कार्यमें लगता है, वह कार्य भगवान्‌का ही होता है। कारण कि स्वयं कर्ताके विपरीत मन-बुद्धि आदि नहीं चलते। परन्तु जहाँ स्वयं भगवान्‌में नहीं लगता, प्रत्युत 'मैं तो संसारी हूँ', 'मैं तो गृहस्थ हूँ'—इस प्रकार स्वयंको संसारमें लगाकर चित्तको भगवान्‌में लगाना चाहता है, उसका चित्त भगवान्‌में निरन्तर नहीं लगता। तात्पर्य है कि स्वयं तो संसारी बना रहे और चित्तको भगवान्‌में लगाना चाहे, तो भगवान्‌में चित्त लगना असम्भव-सा है।

दूसरी बात, चित्त वहीं लगता है, जहाँ प्रियता होती है। प्रियता वहीं होती है, जहाँ अपनापन होता है, आत्मीयता होती है। अपनापन होता है—भगवान्‌के साथ स्वयंका सम्बन्ध जोड़नेसे। 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं, शरीर-संसार मेरा नहीं है। मेरेपर प्रभुका पूरा अधिकार है, इसलिये वे मेरे प्रति चाहे जैसा बर्ताव या विधान कर सकते हैं। परन्तु मेरा प्रभुपर कोई अधिकार नहीं है अर्थात् वे मेरे हैं तो मैं जैसा चाहूँ, वे वैसा ही करें—ऐसा कोई अधिकार नहीं है'—इस प्रकार जो स्वयंको भगवान्‌का मान लेता है, अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है, उसका चित्त स्वतः भगवान्‌में लग जाता है। ऐसे भक्तोंको ही यहाँ **'मच्चित्ताः'** कहा गया है।

यहाँ **'मच्चित्ताः'** पदमें चित्तके अन्तर्गत ही मन है अर्थात् मनोवृत्ति अलग नहीं है। गीतामें चित्त और मनको एक भी कहा है और अलग-अलग भी; जैसे **'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च'** (७।४)—यहाँ मनके अन्तर्गत ही चित्त है और **'मनः संयम्य मच्चित्तः'**

(६ । १४)—यहाँ मन और चित्त अलग-अलग हैं। परन्तु इस श्लोकमें आये '**मच्चित्ताः**' पदमें मन और चित्त एक ही हैं, दो नहीं।

'**मद्गतप्राणाः**'—उनके प्राण मेरे ही अर्पण हो गये हैं। प्राणोंमें दो बातें हैं—जीना और चेष्टा। उन भक्तोंका जीना भी भगवान्‌के ही लिये है और शरीरकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ (क्रियाएँ) भी भगवान्‌के लिये ही हैं। शरीरकी जितनी क्रियाएँ होती हैं, उनमें प्राणोंकी ही मुख्यता होती है। अतः उन भक्तोंकी यज्ञ, अनुष्ठान आदि शास्त्रीय; भजन-ध्यान, कथा-कीर्तन आदि भगवत्सम्बन्धी; खाना-पीना आदि शारीरिक; खेती, व्यापार आदि जीविका-सम्बन्धी; सेवा आदि सामाजिक आदि-आदि जितनी क्रियाएँ होती हैं, वे सब भगवान्‌के लिये ही होती हैं। उनकी क्रियाओंमें क्रियाभेद तो होता है, पर उद्‌देश्यभेद नहीं होता। उनकी मात्र क्रियाएँ एक भगवान्‌के उद्‌देश्यसे ही होती हैं। इसलिये वे 'भगवद्‌गतप्राण' होते हैं।

जैसे गोपिकाओंने 'गोपीगीत' में भगवान्‌से कहा है कि हमने अपने प्राणोंको आपमें अर्पण कर दिया है—'**त्वयि धृतासवः**' (श्रीमद्भा० १० । ३१ । १), ऐसे ही भक्तोंके प्राण केवल भगवान्‌में रहते हैं। उनका जितना भगवान्‌से अपनापन है, उतना अपने प्राणोंसे नहीं। हरेक प्राणीमें 'किसी भी अवस्थामें मेरे प्राण न छूटें' इस तरह जीनेकी इच्छा रहती है। यह प्राणोंका मोह है, स्नेह है। परन्तु भगवान्‌के भक्तोंका प्राणोंमें मोह नहीं रहता। उनमें 'हम जीते रहें' यह इच्छा नहीं होती और मरनेका भय भी नहीं होता। उनको न जीनेसे मतलब रहता है और न मरनेसे। उनको तो केवल भगवान्‌से मतलब रहता है। कारण कि वे इस बातको अच्छी तरहसे जान जाते हैं कि मरनेसे तो प्राणोंका ही वियोग होता है, भगवान्‌से तो कभी वियोग होता ही नहीं। प्राणोंके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, पर भगवान्‌के साथ हमारा स्वतःसिद्ध घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राण प्रकृतिके कार्य हैं और हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं।

ऐसे '**मद्गतप्राणाः**' होनेके लिये साधकको सबसे पहले यह उद्‌देश्य बनाना चाहिये कि हमें तो भगवत्प्राप्ति ही करनी है। सांसारिक चीजें प्राप्त हों या न हों, हम स्वस्थ रहें या बीमार, हमारा आदर हो या निरादर, हमें सुख मिले या दुःख—इनसे हमारा कोई मतलब नहीं है। हमारा मतलब तो केवल भगवान्‌से है। ऐसा दृढ़ उद्‌देश्य बननेपर साधक 'भगवद्‌गतप्राण' हो जायगा।

'**बोधयन्तः परस्परम्**'—उन भक्तोंको भगवद्भाववाले, भगवद्रुचिवाले मिल जाते हैं तो उनके बीच भगवान्‌की बात छिड़ जाती है। फिर वे आपसमें एक-दूसरेको भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि जनाते हैं तो एक विलक्षण सत्संग होता है*। जब वे आपसमें भावपूर्वक बातें करते हैं, तब उनके भीतर भगवत्सम्बन्धी विलक्षण-विलक्षण बातें स्वतः आने लगती हैं। जैसे दीपकके नीचे अँधेरा रहता है, पर दो दीपक एक-दूसरेके सामने रख दें तो दोनों दीपकोंके नीचेका अँधेरा दूर हो जाता है। ऐसे ही जब दो भगवद्भक्त एक साथ मिलते हैं और आपसमें भगवत्-सम्बन्धी बातें चल पड़ती हैं, तब किसीके मनमें किसी तरहका भगवत्सम्बन्धी विलक्षण भाव पैदा होता है तो वह उसे प्रकट कर देता है तथा दूसरेके मनमें और तरहका भाव पैदा होता है तो वह भी उसे प्रकट कर देता है। इस प्रकार आदान-प्रदान होनेसे उनमें नये-नये भाव प्रकट होते रहते हैं। परन्तु अकेलेमें भगवान्‌का चिन्तन करनेसे उतने भाव प्रकट नहीं होते। अगर भाव प्रकट हो भी जायँ तो अकेले अपने पास ही रहते हैं, उनका आदान-प्रदान नहीं होता।

'**कथयन्तश्च माम्**'—उनको भगवान्‌की कथा-लीला सुननेवाला कोई भगवद्भक्त मिल जाता है, तो वे भगवान्‌की कथा-लीला कहना शुरू कर देते हैं। जैसे सनकादि चारों भगवान्‌की कथा कहते हैं और सुनते हैं। उनमें कोई एक वक्ता बन जाता है और तीन श्रोता बन जाते हैं। ऐसे ही भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंको कोई सुननेवाला मिल जाता है तो वे उसको भगवान्‌की कथा, गुण, प्रभाव, रहस्य आदि सुनाते हैं और कोई सुनानेवाला मिल जाता है तो स्वयं सुनने लग जाते हैं। परन्तु उनमें सुनाते समय 'वक्ता' बननेका अभिमान नहीं होता और सुनते समय 'श्रोता' बननेकी लज्जा नहीं होती।

*** सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि। प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता॥**
(श्रीमद्भा० १० । १३ । २)

'सार-तत्त्वको धारण करनेवाले पुरुषोंका यह स्वभाव होता है कि उनकी वाणी, कान और अन्तःकरण भगवान्‌की लीलाओंको गाने, सुनने और चिन्तन करनेके लिये ही होते हैं। जैसे लम्पट पुरुषोंको स्त्रियोंकी चर्चामें नयापन मालूम देता है, ऐसे ही भक्तोंको भगवान्‌की लीलाओंमें, कथाओंमें नित्य नयापन मालूम देता है।

'नित्यं तुष्यन्ति च'—इस तरह भगवान्की कथा, लीला, गुण, प्रभाव, रहस्य आदिको आपसमें एक-दूसरेको जनाते हुए और उनका ही कथन तथा चिन्तन करते हुए वे भक्त नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं। तात्पर्य है कि उनकी सन्तुष्टिका कारण भगवान्के सिवाय दूसरा कोई नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं।

'रमन्ति च'—वे भगवान्में ही रमण अर्थात् प्रेम करते हैं। इस प्रेममें उनमें और भगवान्में भेद नहीं रहता—**'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'** (नारदभक्तिसूत्र ४१)। कभी भक्त भगवान्का भक्त हो जाता है, तो कभी भगवान् अपने भक्तके भक्त बन जाते हैं[1]। इस तरह भगवान् और भक्तमें परस्पर प्रेमकी लीला अनन्तकालतक चलती ही रहती है, और प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है।

इस वर्णनसे साधकको इस बातकी तरफ ध्यान देना चाहिये कि उसकी हरेक क्रिया, भाव आदिका प्रवाह केवल भगवान्की तरफ ही हो।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान् सातवें श्लोकमें वर्णित अविचल भक्तियोगका वर्णन करते हैं। भगवान्के भक्तोंका चित्त एक भगवान्को छोड़कर कहीं नहीं जाता। उनकी दृष्टिमें जब एक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं तो फिर उनका चित्त कहाँ जायगा, कैसे जायगा और क्यों जायगा? वे भक्त भगवान्के लिये ही जीते हैं और उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ भी भगवान्के लिये ही होती हैं। कोई सुननेवाला आ जाय तो वे भगवान्के गुण, प्रभाव आदिकी विलक्षण बातोंका ज्ञान कराते हैं, भगवान्की कथा-लीलाका वर्णन करते हैं और कोई सुनानेवाला आ जाय तो प्रेमपूर्वक सुनते हैं। न तो कहनेवाला तृप्त होता है और न सुननेवाला ही तृप्त होता है! तृप्ति नहीं होती—यह वियोग है और नित नया रस मिलता है—यह योग है। इस वियोग और योगके कारण प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। नारदभक्तिसूत्रमें आया है—

कण्ठावरोधरोमांचाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥ ६८॥

'ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमांच और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र कर देते हैं।'

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भक्तोंके द्वारा होनेवाले भजनका प्रकार बताकर अब आगेके दो श्लोकोंमें भगवान् उनपर विशेष कृपा करनेकी बात बताते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

तेषाम्	= उन	**भजताम्**	= (मेरा) भजन करनेवाले भक्तोंको	**येन**	= जिससे
सतत-युक्तानाम्	= नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए (और)	**तम्**	= (मैं) वह	**ते**	= उनको
प्रीतिपूर्वकम्	= प्रेमपूर्वक	**बुद्धियोगम्**	= बुद्धियोग	**माम्**	= मेरी
		ददामि	= देता हूँ,	**उपयान्ति**	= प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या—[भगवन्निष्ठ भक्त भगवान्को छोड़कर न तो समता चाहते हैं, न तत्त्वज्ञान चाहते हैं तथा न और ही कुछ चाहते हैं[2]। उनका तो एक ही काम है—हरदम भगवान्में लगे रहना। भगवान्में लगे रहनेके सिवाय उनके लिये और कोई काम ही नहीं है। अब सारा-का-सारा काम, सारी जिम्मेवारी भगवान्की ही है अर्थात् उन भक्तोंसे जो कुछ कराना है, उनको जो कुछ देना है आदि सब काम भगवान्का ही रह जाता है। इसलिये भगवान् यहाँ (दो श्लोकोंमें) उन भक्तोंको समता और तत्त्वज्ञान देनेकी बात कह रहे हैं।]

१-'एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।' (श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९)

२-न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥ (श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता।'

'**तेषां सततयुक्तानाम्**'—नवें श्लोकके अनुसार जो भगवान्‌में ही चित्त और प्राणवाले हैं, भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला, रहस्य आदिको आपसमें एक-दूसरेको जनाते हुए तथा भगवान्‌के नाम, गुणोंका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही सन्तुष्ट रहते हैं और भगवान्‌में ही प्रेम करते हैं, ऐसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे हुए भक्तोंके लिये यहाँ '**सततयुक्तानाम्**' पद आया है।

'**भजतां प्रीतिपूर्वकम्**'—वे भक्त न ज्ञान चाहते हैं, न वैराग्य। जब वे पारमार्थिक ज्ञान, वैराग्य आदि भी नहीं चाहते, तो फिर सांसारिक भोग तथा अष्टसिद्धि और नव-निधि चाह ही कैसे सकते हैं! उनकी दृष्टि इन वस्तुओंकी तरफ जाती ही नहीं। उनके हृदयमें सिद्धि आदिका कोई आदर नहीं होता, कोई मूल्य नहीं होता। वे तो केवल भगवान्‌को अपना मानते हुए प्रेमपूर्वक स्वाभाविक ही भगवान्‌के भजनमें लगे रहते हैं। उनका किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिसे किसी तरहका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनका भजन, भक्ति यही है कि हरदम भगवान्‌में लगे रहना है। भगवान्‌की प्रीतिमें वे इतने मस्त रहते हैं कि उनके भीतर स्वप्नमें भी भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीकी इच्छा जाग्रत् नहीं होती।

'**ददामि बुद्धियोगं तम्**'—किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोगसे अन्तःकरणमें कोई हलचल न हो अर्थात् संसारके पदार्थ मिलें या न मिलें, नफा हो या नुकसान हो, आदर हो या निरादर हो, स्तुति हो या निन्दा हो, स्वास्थ्य ठीक रहे या न रहे आदि तरह-तरहकी और एक-दूसरेसे विरुद्ध विभिन्न परिस्थितियाँ आनेपर भी उनमें एकरूप (सम) रह सकें—ऐसा बुद्धियोग अर्थात् समता मैं उन भक्तोंको देता हूँ।

'**ददामि**' का तात्पर्य है कि वे बुद्धियोगको अपना नहीं मानते, प्रत्युत भगवान्‌का दिया हुआ ही मानते हैं। इसलिये बुद्धियोगको लेकर उनको अपनेमें कोई विशेषता नहीं मालूम देती।

'**येन**'—मैं उनको वह बुद्धियोग देता हूँ, जिस बुद्धियोगसे वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं।

'**मामुपयान्ति ते**'—जब वे भगवान्‌में ही चित्त और प्राणवाले हो गये हैं और भगवान्‌में ही सन्तुष्ट रहते हैं तथा भगवान्‌में ही प्रेम करते हैं, तो उनके लिये अब भगवान्‌को प्राप्त होना क्या बाकी रहा, जिससे कि भगवान्‌को यह कहना पड़ रहा है कि वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं? मेरेको प्राप्त हो जानेका तात्पर्य है कि वे प्रेमी भक्त अपनेमें जो कमी मानते हैं, वह कमी उनमें नहीं रहती अर्थात् उन्हें पूर्णताका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—जबतक राग-द्वेष (विषमता) है, तबतक संसार ही दीखता है, भगवान् नहीं दीखते। भगवान् द्वन्द्वातीत हैं। जबतक राग-द्वेषरूप द्वन्द्व रहता है, तबतक दो चीजें दीखती हैं, एक चीज नहीं दीखती। जब राग-द्वेष मिट जाते हैं, तब एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं दीखता! तात्पर्य है कि राग-द्वेष मिटनेपर अर्थात् समता आनेपर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है। इसलिये भगवान् अपने भक्तोंको समता देते हैं। समता ही '**बुद्धियोग**' अर्थात् कर्मयोग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। गीतामें कर्मयोगको '**बुद्धियोग**' नामसे कहा गया है; जैसे—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' (२। ४९), '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव**' (१८। ५७)। बुद्धियोग प्राप्त होनेपर भक्त दूसरेके दुःखसे दुःखी होकर उसको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करता है।

एक चिन्तन 'करते' हैं और एक चिन्तन 'होता' है। जो चिन्तन, भजन करते हैं, वह नकली (कृत्रिम) होता है और जो स्वतः होता है, वह असली होता है। किया जानेवाला चिन्तन निरन्तर नहीं होता, पर होनेवाला चिन्तन श्वासकी तरह निरन्तर होता है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता—'**सततयुक्तानाम्**'। शरीरमें प्रियता, आसक्ति होनेसे भगवान्‌का चिन्तन करना पड़ता है और शरीरका चिन्तन स्वतः होता है। परन्तु भगवान्‌में प्रियता (अपनापन) होनेसे भजन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः होता है और छूटता भी नहीं। इसलिये यहाँ प्रेमपूर्वक भजन करनेकी बात आयी है—'**भजतां प्रीतिपूर्वकम्**'।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

तेषाम् = उन भक्तोंपर
अनुकम्पार्थम् = कृपा करनेके लिये
एव = ही
आत्मभावस्थः = उनके स्वरूप-(होनेपन-)में

	रहनेवाला	**तमः**	= अन्धकारको		दीपकके द्वारा
अहम्	= मैं (उनके)	**भास्वता**	= देदीप्यमान	**नाशयामि**	= नष्ट कर देता
अज्ञानजम्	= अज्ञानजन्य	**ज्ञानदीपेन**	= ज्ञानरूप		हूँ।

व्याख्या—‘**तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः**’—उन भक्तोंके हृदयमें कुछ भी सांसारिक इच्छा नहीं होती। इतना ही नहीं, उनके भीतर मुझे छोड़कर मुक्तितककी भी इच्छा नहीं होती[1]। अभिप्राय है कि वे न तो सांसारिक चीजें चाहते हैं और न पारमार्थिक चीजें (मुक्ति, तत्त्वबोध आदि) ही चाहते हैं। वे तो केवल प्रेमसे मेरा भजन ही करते हैं। उनके इस निष्कामभाव और प्रेमपूर्वक भजन करनेको देखकर मेरा हृदय द्रवित हो जाता है। मैं चाहता हूँ कि मेरे द्वारा उनकी कुछ सेवा बन जाय, वे मेरेसे कुछ ले लें। परन्तु वे मेरेसे कुछ लेते नहीं तो द्रवित हृदय होनेके कारण केवल उनपर कृपा करनेके लिये कृपा-परवश होकर मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको दूर कर देता हूँ। मेरे द्रवित हृदय होनेका कारण यह है कि मेरे भक्तोंमें किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी कमी न रहे।

‘**आत्मभावस्थः**’—मनुष्य अपना जो होनापन मानते हैं कि ‘मैं हूँ’ तो यह होनापन प्रायः प्रकृति-(शरीर-) के साथ सम्बन्ध जोड़कर ही मानते हैं अर्थात् तादात्म्यके कारण शरीरके बदलनेमें अपना बदलना मानते हैं, जैसे—मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं निर्बल हूँ इत्यादि। परन्तु इन विशेषणोंको छोड़कर तत्त्वकी दृष्टिसे इन प्राणियोंका अपना जो होनापन है, वह प्रकृतिसे रहित है। इसी होनेपनमें सदा रहनेवाले प्रभुके लिये यहाँ ‘**आत्मभावस्थः**’ पद आया है।

‘**भास्वता ज्ञानदीपेन नाशयामि**’—प्रकाशमान ज्ञानदीपकके द्वारा उन प्राणियोंके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ। तात्पर्य है कि जिस अज्ञानके कारण ‘मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?’ ऐसा जो अनजानपना रहता है, उस अज्ञानका मैं नाश कर देता हूँ अर्थात् तत्त्वबोध करा देता हूँ। जिस तत्त्वबोधकी महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है, उसके लिये उनको श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधन नहीं करने पड़ते, कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत मैं स्वयं उनको तत्त्वबोध करा देता हूँ।

विशेष बात

भक्त जब अनन्यभावसे केवल भगवान्‌में लगे रहते हैं, तब सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना—यह ‘समता’ भी भगवान् देते हैं और जिसके समान पवित्र कोई नहीं है, वह ‘तत्त्वबोध’ (स्वरूपज्ञान) भी भगवान् स्वयं देते हैं। भगवान्‌के स्वयं देनेका तात्पर्य है कि भक्तोंको इनके लिये इच्छा और प्रयत्न नहीं करना पड़ता; प्रत्युत भगवत्कृपासे उनमें समता स्वतः आ जाती है। उनको तत्त्वबोध स्वतः हो जाता है। कारण कि जहाँ भक्तिरूपी माँ होगी, वहाँ उसके वैराग्य और ज्ञानरूपी बेटे रहेंगे ही। इसलिये भक्तिके आनेपर समता—संसारसे वैराग्य और अपने स्वरूपका बोध—ये दोनों स्वतः आ जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि जो साधनजन्य पूर्णता होती है, उसकी अपेक्षा भगवान्‌द्वारा की हुई पूर्णता बहुत विलक्षण होती है। इसमें अपूर्णताकी गंध भी नहीं रहती।

जैसे भगवान् अनन्यभावसे भजन करनेवाले भक्तोंका योगक्षेम वहन करते हैं (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), ऐसे ही जो केवल भगवान्‌के ही परायण हैं, ऐसे प्रेमी भक्तोंको (उनके न चाहनेपर भी और उनके लिये कुछ भी बाकी न रहनेपर भी) भगवान् समता और तत्त्वबोध देते हैं। यह सब देनेपर भी भगवान् उन भक्तोंके ऋणी ही बने रहते हैं। भागवतमें भगवान्‌ने गोपियोंके लिये कहा है कि ‘मेरे साथ सर्वथा निर्दोष (अनिन्द्य) सम्बन्ध जोड़नेवाली गोपियोंका मेरेपर जो एहसान है, ऋण है, उसको मैं देवताओंके समान लम्बी आयु पाकर भी नहीं चुका सकता। कारण कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, त्यागी आदि भी घरकी जिस अपनापनरूपी बेड़ियोंको सुगमतासे नहीं तोड़ पाते, उनको उन्होंने तोड़ डाला है’।[2]

भक्त भगवान्‌के भजनमें इतने तल्लीन रहते हैं कि

१-(१) सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ (श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

‘मेरे प्रेमी भक्तगण मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य (इन पाँच प्रकारकी) मुक्तियोंको देनेपर भी नहीं लेते।’

(२) अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥ (मानस ७। ११९। ४)

२-न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥ (श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

उनको यह पता ही नहीं रहता कि हमारेमें समता आयी है, हमें स्वरूपका बोध हुआ है। अगर कभी पता लग भी जाता है तो वे आश्चर्य करते हैं कि ये समता और बोध कहाँसे आये! वे 'अपनेमें कोई विशेषता न दीखे' इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि 'हे नाथ! आप समता, बोध ही नहीं, दुनियाके उद्धारका अधिकार भी दे दें, तो भी मेरेको कुछ मालूम नहीं होना चाहिये कि मेरेमें यह विशेषता है। मैं केवल आपके भजन-चिन्तनमें ही लगा रहूँ।'

परिशिष्ट भाव—यद्यपि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है, तथापि भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग भी दे देते हैं—**'ददामि बुद्धियोगं तम्'** और ज्ञानयोग भी दे देते हैं—**'ज्ञानदीपेन भास्वता'**। अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं। इसलिये भगवान् कृपा करके अपने भक्तको अपराकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मयोग और पराकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञानयोग—दोनों प्रदान करते हैं। अतः भक्तको कर्मयोगका प्रापणीय तत्त्व 'निष्कामभाव' और ज्ञानयोगका प्रापणीय तत्त्व 'स्वरूपबोध'—दोनों ही सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं। कर्मयोग प्राप्त होनेपर भक्तके द्वारा संसारका उपकार होता है और ज्ञानयोग प्राप्त होनेपर भक्तका देहाभिमान दूर हो जाता है।

भक्त भगवान्‌के चिन्तनमें, प्रेममें ही सन्तुष्ट और मग्न रहता है। उसको न तो अपनेमें कोई कमी दीखती है और न कुछ पानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। जैसे बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है तो उसकी दृष्टि अपनी कमियोंकी तरफ जाती ही नहीं! माँ ही उसका ख्याल रखती है, उसको स्नान कराती है, मैले कपड़े उतारकर स्वच्छ कपड़े पहनाती है। ऐसे ही भक्त सर्वथा भगवान्‌के ही आश्रित हो जाता है कि 'मैं जैसा भी हूँ, भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'। वह अपनी तरफ देखता ही नहीं। इसलिये भगवान् ही उसके भीतर स्थित अज्ञानको तत्त्वज्ञानके द्वारा नष्ट कर देते हैं। बालकमें तो मूढ़ता विशेष रहती है, पर भक्तमें विवेक विशेष रहता है।

भक्तका खास कर्तव्य है—भगवान्‌को अपना मानना। भक्त अपने कर्तव्यका पालन करता है तो भगवान् भी अपने कर्तव्यका पालन करते हैं और उसके बिना माँगे, बिना चाहे, अपनी तरफसे कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंकी सामर्थ्य प्रदान कर देते हैं, जिससे उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे।

कर्मयोगमें शान्तरस, ज्ञानयोगमें अखण्डरस और भक्तियोगमें अनन्तरस है। शान्तरस और अखण्डरसमें अनन्तरस नहीं है, पर अनन्तरसमें शान्तरस भी है और अखण्डरस भी है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग लौकिक साधन हैं तथा भक्तियोग अलौकिक साधन है। अलौकिककी प्राप्ति होनेपर लौकिककी प्राप्ति भगवत्कृपासे स्वतः हो जाती है, पर लौकिककी प्राप्ति होनेपर अलौकिककी प्राप्ति नहीं होती। कारण कि अलौकिकमें तो लौकिक आ जाता है, पर लौकिकमें अलौकिक नहीं आता।

ज्ञानी तो भक्तिसे रहित हो सकता है, पर भक्त ज्ञानसे रहित नहीं हो सकता[1]। गोपियोंने श्रुतियोंका अध्ययन भी नहीं किया था, ज्ञानी महापुरुषोंका संग भी नहीं किया था और व्रत, तप आदि भी नहीं किये थे[2], फिर भी उनमें विलक्षण ज्ञान था[3]! तात्पर्य है कि भक्तको स्वरूपका भी बोध हो जाता है। **'वासुदेवः सर्वम्'** का बोध तो उसको है ही!

'आत्मभावस्थः'—जीवमें भगवान् रहते हैं; क्योंकि वह भगवान्‌का ही अंश है। वास्तवमें भगवान् ही जीवरूपसे प्रकट हुए हैं; क्योंकि भगवान्‌की परा प्रकृति होनेसे जीव भगवान्‌से अभिन्न है। उपनिषद्‌में आया है कि शरीरोंकी रचना करके भगवान् आप ही उनमें प्रविष्ट हो गये—**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तैत्तिरीय० २। ६)।

१-मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ (मानस, अरण्य० ३६। ५)

२-ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः। अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः॥ (श्रीमद्भा० ११। १२। ७)

'उन्होंने न तो वेदोंका अध्ययन किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग-(प्रेम-) के प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

३-न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले॥ (श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

(गोपियाँ कहती हैं—) 'हे सखे! आप निश्चय ही केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्माके साक्षी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर विश्वकी रक्षाके लिये ही आप यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं।'

सम्बन्ध—भक्तोंपर भगवान्‌की अलौकिक, विलक्षण कृपाकी बात सुनकर अर्जुनकी दृष्टि भगवान्‌की कृपाकी तरफ जाती है और कृपासे प्रभावित होकर वे आगेके चार श्लोकोंमें भगवान्‌की स्तुति करते हैं।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—

परम्	= परम	**पुरुषम्**	= पुरुष,	**देवलः**	= देवल
ब्रह्म	= ब्रह्म,	**आदिदेवम्**	= आदिदेव,	**तथा**	= तथा
परम्	= परम	**अजम्**	= अजन्मा (और)	**व्यासः**	= व्यास
धाम	= धाम (और)	**विभुम्**	= सर्वव्यापक हैं—	**आहुः**	= कहते हैं
		त्वाम्	= (ऐसा) आपको	**च**	= और
परमम्	= महान्	**सर्वे**	= सब-के-सब	**स्वयम्**	= स्वयं आप
पवित्रम्	= पवित्र	**ऋषयः**	= ऋषि,		
भवान्	= आप ही हैं।	**देवर्षिः**	= देवर्षि,	**एव**	= भी
शाश्वतम्	= (आप) शाश्वत,	**नारदः**	= नारद,	**मे**	= मेरे प्रति
दिव्यम्	= दिव्य	**असितः**	= असित,	**ब्रवीषि**	= कहते हैं।

व्याख्या—**'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्'**—अपने सामने बैठे हुए भगवान्‌की स्तुति करते हुए अर्जुन कहते हैं कि मेरे पूछनेपर जिसको आपने परम ब्रह्म (गीता—आठवें अध्यायका तीसरा श्लोक) कहा है, वह परम ब्रह्म आप ही हैं। जिसमें सब संसार स्थित रहता है, वह परम धाम अर्थात् परम स्थान आप ही हैं (गीता—नवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। जिसको पवित्रोंमें भी पवित्र कहा है—**'पवित्राणां पवित्रं यः'** वह महान् पवित्र भी आप ही हैं।

'पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं ..... स्वयं चैव ब्रवीषि मे'—ग्रन्थोंमें ऋषियोंने,[1] देवर्षि नारदने[2], असित और उनके पुत्र देवल ऋषिने[3] तथा महर्षि व्यासजीने[4] आपको शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु कहा है।

आत्माके रूपमें 'शाश्वत' (गीता—दूसरे अध्यायका बीसवाँ श्लोक), सगुण-निराकारके रूपमें 'दिव्य पुरुष' (गीता—आठवें अध्यायका दसवाँ श्लोक), देवताओं

१-मार्कण्डेय ऋषिने कहा है—'श्रीकृष्ण यज्ञोंके यज्ञ, तपोंके तप और भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूप हैं।' (महा०, भीष्म० ६८। ३)

भृगु ऋषिने कहा है—'ये देवताओंके देवता और परम पुरातन विष्णु हैं।' (महा०, भीष्म० ६८। ४)

अंगिरा ऋषिने कहा है—'ये सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करनेवाले हैं।' (महा०, भीष्म० ६८। ६)

सनत्कुमार आदिने कहा है—'इनके मस्तकसे आकाश और भुजाओंसे पृथ्वी व्याप्त है। तीनों लोक इनके उदरमें स्थित हैं। ये सनातन पुरुष हैं। तपसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही साधक इन्हें जान सकते हैं। आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ऋषियोंमें भी ये परमोत्कृष्ट हैं। युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले उदार राजर्षियोंकी भी ये ही परमगति हैं।' (महा०, भीष्म० ६८। ८—१०)

२-देवर्षि नारदजीने कहा है—'भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण लोकोंको उत्पन्न करनेवाले और सम्पूर्ण भावोंको जाननेवाले हैं। ये साध्यों और देवताओंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं।' (महा०, भीष्म० ६८। २)

३-असित और देवल ऋषिने कहा है—'भगवान् श्रीकृष्ण ही प्रजाकी सृष्टिमें प्रजापति और सम्पूर्ण लोकोंके एकमात्र रचयिता हैं।' (महा०, वन० १२। ५०)

४-महर्षि व्यासजीने कहा है—'आप वसुओंके वासुदेव, इन्द्रको इन्द्रत्व देनेवाले और देवताओंके भी परम देवता हैं।' (महा०, भीष्म० ६८। ५)

और महर्षियों आदिके रूपमें 'आदिदेव' (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा श्लोक), मूढ़लोग मेरेको अज नहीं जानते (गीता—सातवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) तथा असम्मूढ़लोग मेरेको अज जानते हैं (गीता—दसवें अध्यायका तीसरा श्लोक)— इस रूपमें 'अज' और मैं अव्यक्तरूपसे सारे संसारमें व्यापक हूँ (गीता—नवें अध्यायका चौथा श्लोक)—इस रूपमें 'विभु' स्वयं आपने मेरे प्रति कहा है।

परिशिष्ट भाव—निर्गुण-निराकारके लिये '**परं ब्रह्म**', सगुण-निराकारके लिये '**परं धाम**' और सगुण-साकारके लिये '**पवित्रं परमं भवान्**' पदोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्‌से मानो यह कहते हैं कि समग्र परमात्मा आप ही हैं (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक और आठवें अध्यायका पहलेसे चौथे श्लोकतक)।

जो स्वयं भी शुद्ध हो और दूसरोंको भी शुद्ध करे, वह 'परम पवित्र' है। भगवान् परम पवित्र हैं और उनके नाम, रूप आदि सब भी परम पवित्र हैं। चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें ज्ञानको इस लोकमें सबसे पवित्र बताया गया है—'**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**'। परन्तु वह ज्ञान भी समग्र भगवान्‌के अन्तर्गत है। अतः भगवान् ज्ञानसे भी अधिक पवित्र हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

केशव	= हे केशव!	**ऋतम्**	= सत्य	**हि**	= तो
माम्	= मुझसे (आप)	**मन्ये**	= मानता हूँ।	**देवाः**	= देवता
यत्	= जो कुछ	**भगवन्**	= हे भगवन्!	**विदुः**	= जानते हैं (और)
वदसि	= कह रहे हैं,	**ते**	= आपके	**न**	= न
एतत्	= यह	**व्यक्तिम्**	= प्रकट होनेको	**दानवाः**	= दानव ही
सर्वम्	= सब (मैं)	**न**	= न		जानते हैं।

व्याख्या—'**सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव**'— 'क' नाम ब्रह्माका है, 'अ' नाम विष्णुका है, 'ईश' नाम शंकरका है और 'व' नाम वपु अर्थात् स्वरूपका है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शंकर जिसके स्वरूप हैं, उसको '**केशव**' कहते हैं। अर्जुनका यहाँ '**केशव**' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले हैं।

सातवेंसे नवें अध्यायतक मेरे प्रति आप '**यत्**'—जो कुछ कहते आये हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ; और '**एतत्**'—अभी दसवें अध्यायमें आपने जो विभूति तथा योगका वर्णन किया है, वह सब भी मैं सत्य मानता हूँ। तात्पर्य है कि आप ही सबके उत्पादक और संचालक हैं। आपसे भिन्न कोई भी ऐसा नहीं हो सकता। आप ही सर्वोपरि हैं। इस प्रकार सबके मूलमें आप ही हैं—इसमें मेरेको कोई सन्देह नहीं है।

भक्तिमार्गमें विश्वासकी मुख्यता है। भगवान्‌ने पहले श्लोकमें अर्जुनको परम वचन सुननेके लिये आज्ञा दी थी, उसी परम वचनको अर्जुन यहाँ '**ऋतम्**' अर्थात् सत्य कहकर उसपर विश्वास प्रकट करते हैं।

'**न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः**'— आपने (गीता—चौथे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें) कहा है कि मेरे और तेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता। इसी प्रकार आपने (दसवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें) कहा है कि मेरे प्रकट होनेको देवता और महर्षि भी नहीं जानते। अपने प्रकट होनेके विषयमें आपने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक ही है। कारण कि मनुष्योंकी अपेक्षा देवताओंमें जो दिव्यता है, वह दिव्यता भगवत्तत्त्वको जाननेमें कुछ भी काम नहीं आती। वह दिव्यता प्राकृत—उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। इसलिये वे आपके प्रकट होनेके तत्त्वको, हेतुको पूरा-पूरा नहीं जान सकते। जब देवता भी नहीं जान सकते, तो दानव जान ही कैसे सकते हैं? फिर भी यहाँ '**दानवाः**' पद देनेका तात्पर्य यह है कि दानवोंके पास बहुत विलक्षण-विलक्षण माया है, जिससे वे विचित्र प्रभाव दिखा सकते हैं। परन्तु उस माया-शक्तिसे वे भगवान्‌को नहीं जान सकते। भगवान्‌के सामने दानवोंकी माया कुण्ठित हो जाती है।

कारण कि प्रकृति और प्रकृतिकी जितनी शक्तियाँ हैं, उन सबसे भगवान् अतीत हैं। भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं और दानवोंकी माया-शक्ति कितनी ही विलक्षण होनेपर भी प्राकृत, सीमित और उत्पत्ति-विनाशशील है। सीमित और नाशवान् वस्तुके द्वारा असीम और अविनाशी तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है।

तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य, देवता, दानव आदि कोई भी अपनी शक्तिसे, सामर्थ्यसे, योग्यतासे, बुद्धिसे भगवान्को नहीं जान सकते। कारण कि मनुष्य आदिमें जितनी जाननेकी योग्यता, सामर्थ्य, विशेषता है, वह सब प्राकृत है और भगवान् प्रकृतिसे अतीत हैं। त्याग, वैराग्य, तप, स्वाध्याय आदि अन्त:करणको निर्मल करनेवाले हैं, पर इनके बलसे भी भगवान्को नहीं जान सकते। भगवान्को तो अनन्यभावसे उनके शरण होकर उनकी कृपासे ही जान सकते हैं (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ और ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—भगवान्को अपनी शक्तिसे कोई जान नहीं सकता, प्रत्युत भगवान्की कृपासे ही जान सकता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस २। १२७। २)

भगवान्के यहाँ बुद्धिके चमत्कार, सिद्धियाँ नहीं चल सकतीं। बड़े-बड़े भौतिक आविष्कारोंसे कोई भगवान्को नहीं जान सकता।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

भूतभावन	= हे भूतभावन!	**पुरुषोत्तम**	= हे पुरुषोत्तम!	**आत्मना**	= अपने-आपसे
भूतेश	= हे भूतेश!	**त्वम्**	= आप	**आत्मानम्**	= अपने-आपको
देवदेव	= हे देवदेव!	**स्वयम्**	= स्वयं		
जगत्पते	= हे जगत्पते!	**एव**	= ही	**वेत्थ**	= जानते हैं।

व्याख्या—**'भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते पुरुषोत्तम'**—सम्पूर्ण प्राणियोंको संकल्पमात्रसे उत्पन्न करनेवाले होनेसे आप 'भूतभावन' हैं; सम्पूर्ण प्राणियोंके और देवताओंके मालिक होनेसे आप 'भूतेश' और 'देवदेव' हैं; जड-चेतन, स्थावर-जंगममात्र जगत्का पालन-पोषण करनेवाले होनेसे आप 'जगत्पति' हैं; और सम्पूर्ण पुरुषोंमें उत्तम होनेसे आप लोकमें और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे कहे गये हैं (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)[1]।

इस श्लोकमें पाँच सम्बोधन आये हैं। इतने सम्बोधन गीताभरमें दूसरे किसी भी श्लोकमें नहीं आये। कारण है कि भगवान्की विभूतियोंकी और भक्तोंपर कृपा करनेकी बात सुनकर अर्जुनमें भगवान्के प्रति विशेष भाव पैदा होते हैं और उन भावोंमें विभोर होकर वे भगवान्के लिये एक साथ पाँच सम्बोधनोंका प्रयोग करते हैं।[2]

'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वम्'—भगवान् अपने-आपको अपने-आपसे ही जानते हैं। अपने-आपको जाननेमें उन्हें किसी प्राकृत साधनकी आवश्यकता नहीं होती। अपने-आपको जाननेमें उनकी अपनी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, कोई जिज्ञासा भी नहीं होती, किसी करण-(अन्त:करण और बहि:करण-) की

१-काव्यमें भी भगवान्को 'पुरुषोत्तम' नामसे कहा गया है—
'हरिर्यथैक: पुरुषोत्तम: स्मृत:' (रघुवंश ३। ४९)

२-यहाँ भूतभावन, भूतेश, देवदेव, जगत्पते और पुरुषोत्तम—इन पाँच सम्बोधनोंको क्रमश: सूर्य, शिव, गणेश, शक्ति और विष्णु—इन ईश्वरकोटिके पाँच देवताओंका वाचक मान सकते हैं। इन सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्से मानो यह कहते हैं कि ये पाँचों देवता मूलत: आप ही हैं।

आवश्यकता भी नहीं होती। उनमें शरीर-शरीरीका भाव भी नहीं है। वे तो स्वतः-स्वाभाविक अपने-आपसे ही अपने-आपको जानते हैं। उनका यह ज्ञान करण-निरपेक्ष है, करण-सापेक्ष नहीं।

इस श्लोकका भाव यह है कि जैसे भगवान् अपने-आपको अपने-आपसे ही जानते हैं, ऐसे ही भगवान्‌के अंश जीवको भी अपने-आपसे ही अपने-आपको अर्थात् अपने स्वरूपको जानना चाहिये। अपने-आपको अपने स्वरूपका जो ज्ञान होता है, वह सर्वथा करण-निरपेक्ष होता है। इसलिये इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपने स्वरूपको नहीं जान सकते। भगवान्‌का अंश होनेसे भगवान्‌की तरह जीवका अपना ज्ञान भी करण-निरपेक्ष है।

परिशिष्ट भाव—आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं—इसका तात्पर्य है कि जाननेवाले भी आप ही हैं, जाननेमें आनेवाले भी आप ही हैं और जानना भी आप ही हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। जब आपके सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर कौन किसको जाने?

तत्त्वको जाननेकी चेष्टा करेंगे तो तत्त्वसे दूर हो जायँगे; क्योंकि तत्त्वको ज्ञेय (जाननेका विषय) बनायेंगे, तभी तो उसको जानना चाहेंगे! तत्त्व तो सबका ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। सबके ज्ञाताका कोई और ज्ञाता नहीं हो सकता[1]। जैसे, आँखसे सबको देखते हैं, पर आँखसे आँखको नहीं देख सकते; क्योंकि आँखकी देखनेकी शक्ति इन्द्रियका विषय नहीं है अर्थात् इन्द्रियाँ खुद अतीन्द्रिय हैं[2]। अतः वह परमात्मतत्त्व स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता है।

सम्बन्ध—विभूतियोंका ज्ञान भगवान्‌में दृढ़ भक्ति करानेवाला है (गीता १०। ७)। अतः अब आगेके तीन श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्‌से विभूतियोंको विस्तारसे कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

हि	=इसलिये		लोकोंको		विभूतियोंका
याभिः	=जिन	**व्याप्य**	=व्याप्त करके	**अशेषेण**	=सम्पूर्णतासे
विभूतिभिः	=विभूतियोंसे	**तिष्ठसि**	=स्थित हैं,	**वक्तुम्**	=वर्णन
त्वम्	=आप		(उन सभी)		करनेमें
इमान्	=इन	**दिव्याः,**		**अर्हसि**	=(आप ही)
लोकान्	=सम्पूर्ण	**आत्मविभूतयः**	= अपनी दिव्य		समर्थ हैं।

*व्याख्या—***'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'—**भगवान्‌ने पहले (सातवें श्लोकमें) यह बात कही थी कि जो मनुष्य मेरी विभूतियोंको और योगको तत्त्वसे जानता है, उसका मेरेमें अटल भक्तियोग हो जाता है। उसे सुननेपर अर्जुनके मनमें आया कि भगवान्‌में दृढ़ भक्ति होनेका यह बहुत सुगम और श्रेष्ठ उपाय है; क्योंकि भगवान्‌की विभूतियोंको और योगको तत्त्वसे जाननेपर मनुष्यका मन भगवान्‌की तरफ स्वाभाविक ही खिंच जाता है और भगवान्‌में उसकी स्वाभाविक ही भक्ति जाग्रत् हो जाती है। अर्जुन अपना कल्याण चाहते हैं और कल्याणके लिये उनको भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ उपाय दीखती है। इसलिये अर्जुन कहते हैं कि जिन विभूतियोंसे आप सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन अलौकिक, विलक्षण विभूतियोंका विस्तारपूर्वक सम्पूर्णतासे वर्णन कीजिये। कारण कि उनको

१-**'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'** (बृहदारण्यक० ३। ७। २३)
'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है।'
'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृहदारण्यक० २। ४। १४)
'सबके विज्ञाताको किसके द्वारा जाना जाय?'

२-**इन्द्रियोंको देखनेवाली इन्द्रियाँ नहीं हैं, मन है। मनको देखनेवाला मन नहीं है, बुद्धि है। बुद्धिको देखनेवाली बुद्धि नहीं है, अहम् है। अहम्‌को देखनेवाला अहम् नहीं है, स्वयं है। स्वयंको देखनेवाला स्वयं ही है।**

कहनेमें आप ही समर्थ हैं; आपके सिवाय उन विभूतियोंको और कोई नहीं कह सकता।

'वक्तुमर्हस्यशेषेण'—आपने पहले (सातवें, नवें और यहाँ दसवें अध्यायके आरम्भमें) अपनी विभूतियाँ बतायीं और उनको जाननेका फल दृढ़ भक्तियोग होना बताया। अतः मैं भी आपकी सब विभूतियोंको जान जाऊँ और मेरा भी आपमें दृढ़ भक्तियोग हो जाय, इसलिये आप अपनी विभूतियोंको पूरी-की-पूरी कह दें, बाकी कुछ न रखें।

'दिव्या ह्यात्मविभूतयः'—विभूतियोंको दिव्य कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें जो कुछ विशेषता दीखती है वह मूलमें दिव्य परमात्माकी ही है, संसारकी नहीं। अतः संसारकी विशेषता देखना भोग है और परमात्माकी विशेषता देखना विभूति है, योग है।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका आप ही वर्णन कर सकते हैं; क्योंकि आप स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं (गीता—इसी अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। दूसरा आपको जान ले—यह सम्भव ही नहीं है (इसी अध्यायका दूसरा और चौदहवाँ श्लोक)। अतः आप स्वयं ही अपनी पूरी-की-पूरी विभूतियोंको कह दें, जिससे मेरेको अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति हो जाय।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

योगिन्	= हे योगिन्!	**कथम्**	= कैसे	**मया**	= मेरे द्वारा
सदा	= निरन्तर	**विद्याम्**	= जानूँ?	**चिन्त्यः, असि**	= चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ?
परिचिन्तयन्	= सांगोपांग चिन्तन करता हुआ	**च**	= और		
अहम्	= मैं	**भगवन्**	= हे भगवन्!		
त्वाम्	= आपको	**केषु, केषु**	= किन-किन		
		भावेषु	= भावोंमें (आप)		

व्याख्या—**'कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्'**—सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इसलिये अर्जुन भगवान्‌से पूछते हैं कि हरदम चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ?

'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया'—आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि जो अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस योगीको मैं सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ। फिर नवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें कहा कि जो अनन्य भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। इस प्रकार चिन्तनकी महिमा सुनकर अर्जुन कहते हैं कि जिस चिन्तनसे मैं आपको तत्त्वसे जान जाऊँ, वह चिन्तन मैं कहाँ-कहाँ करूँ? किस वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिमें मैं आपका चिन्तन करूँ? [यहाँ चिन्तन करना साधन है और भगवान्‌को तत्त्वसे जानना साध्य है।]

यहाँ अर्जुनने तो पूछा है कि मैं कहाँ-कहाँ, किस-किस वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदिमें आपका चिन्तन करूँ, पर भगवान्‌ने आगे उत्तर यह दिया है कि जहाँ-जहाँ भी तू चिन्तन करता है, वहाँ-वहाँ ही तू मेरेको समझ। तात्पर्य यह है कि मैं तो सब वस्तु, व्यक्ति, देश, काल आदिमें परिपूर्ण हूँ। इसलिये किसी विशेषता, महत्ता, सुन्दरता आदिको लेकर जहाँ-जहाँ तेरा मन जाता है, वहाँ-वहाँ मेरा ही चिन्तन कर अर्थात् वहाँ उस विशेषता आदिको मेरी ही समझ। कारण कि संसारकी विशेषताको माननेसे संसारका चिन्तन होगा, पर मेरी विशेषताको माननेसे मेरा ही चिन्तन होगा। इस प्रकार संसारका चिन्तन मेरे चिन्तनमें परिणत होना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य है कि हे भगवन्! आप किन-किन रूपोंमें प्रकट हुए हैं, जिन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन कर सकूँ? अर्जुनने यह प्रश्न सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया है। अर्जुन साधकमात्रके प्रतिनिधि हैं; अतः उनका प्रश्न साधकोंके लिये है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको तो जानते थे, पर उनके समग्ररूपको नहीं जानते थे। उनमें भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेकी जिज्ञासा थी। इसलिये वे पूछते हैं कि मैं आपके समग्ररूपको कैसे जानूँ? किन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? इससे सिद्ध होता है कि विभूतियाँ गौण नहीं हैं, प्रत्युत भगवत्प्राप्तिका माध्यम होनेसे मुख्य हैं। विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। जबतक मनुष्य भगवान्‌को नहीं जानता, तबतक उसमें गौण अथवा मुख्यकी भावना रहती है। भगवान्‌को जाननेपर गौण अथवा मुख्यकी भावना नहीं रहती; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य? तात्पर्य है कि गौण अथवा मुख्य साधककी दृष्टिमें है, भगवान् और सिद्धकी दृष्टिमें नहीं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

जनार्दन	= हे जनार्दन!	**विस्तरेण**	= विस्तारसे	**शृण्वतः**	= सुनते-सुनते
आत्मनः	= (आप) अपने	**भूयः**	= फिर	**मे**	= मेरी
योगम्	= योग-(सामर्थ्य-) को	**कथय**	= कहिये;	**तृप्तिः**	= तृप्ति
		हि	= क्योंकि	**न**	= नहीं
च	= और	**अमृतम्**	= (आपके) अमृतमय वचन	**अस्ति**	= हो रही है।
विभूतिम्	= विभूतियोंको				

व्याख्या—**'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन'**—भगवान्‌ने सातवें और नवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका विषय खूब कह दिया। इतना कहनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई, इसलिये दसवाँ अध्याय अपनी ओरसे ही कहना शुरू कर दिया। भगवान्‌ने दसवाँ अध्याय आरम्भ करते हुए कहा कि 'तू फिर मेरे परम वचनको सुन।' ऐसा सुनकर भगवान्‌की कृपा और महत्त्वकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि विशेषतासे जाती है और वे भगवान्‌से फिर सुनानेके लिये प्रार्थना करते हैं। अर्जुन कहते हैं कि 'आप अपने योग और विभूतियोंको विस्तारपूर्वक फिरसे कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए तृप्ति नहीं हो रही है। मन करता है कि सुनता ही चला जाऊँ।'

भगवान्‌की विभूतियोंको सुननेसे भगवान्‌में प्रत्यक्ष आकर्षण बढ़ता देखकर अर्जुनको लगा कि इन विभूतियोंका ज्ञान होनेसे भगवान्‌के प्रति मेरा विशेष आकर्षण हो जायगा और भगवान्‌में सहज ही मेरी दृढ़ भक्ति हो जायगी। इसलिये अर्जुन विस्तारपूर्वक फिरसे कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

'भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'—अर्जुन श्रेयका साधन चाहते हैं (गीता—दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक), और भगवान्‌ने विभूति एवं योगको तत्त्वसे जाननेका फल अपनेमें दृढ़ भक्ति होना बताया (गीता—दसवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। इसलिये अर्जुनको विभूतियोंको जाननेवाली बात बहुत सरल लगी कि मेरेको कोई नया काम नहीं करना है, नया चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत जहाँ-कहीं विशेषता आदिको लेकर मनका स्वाभाविक खिंचाव होता है, वहीं उस विशेषताको भगवान्‌की मानना है। इससे मनकी वृत्तियोंका प्रवाह संसारमें न होकर भगवान्‌में हो जायगा, जिससे मेरी भगवान्‌में दृढ़ भक्ति हो जायगी और मेरा सुगमतासे कल्याण हो जायगा। कितनी सीधी, सरल और सुगम बात है! इसलिये अर्जुन विभूतियोंको फिर कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

जैसे, कोई भोजन करने बैठे और भोजनमें कोई वस्तु प्रिय (बढ़िया) मालूम दे, तो उसमें उसकी रुचि बढ़ती है और वह बार-बार उस प्रिय वस्तुको माँगता है। पर उस रुचिमें दो बाधाएँ लगती हैं—एक तो वह वस्तु अगर कम मात्रामें होती है तो पूरी तृप्तिपूर्वक नहीं मिलती; और दूसरी, वह वस्तु अधिक मात्रामें होनेपर भी पेट भर जानेसे अधिक नहीं खायी जा सकती! परन्तु भगवान्‌की विभूतियोंका और अर्जुनकी विभूतियाँ सुननेकी रुचिका अन्त ही नहीं आता। कानोंके द्वारा अमृतमय वचनोंको सुनते हुए न तो उन वचनोंका अन्त आता है, और न उनको सुनते हुए तृप्ति ही होती है। अतः अर्जुन भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि आप ऐसे अमृतमय वचन सुनाते ही जाइये।

परिशिष्ट भाव—जैसे भूखेको अन्न और प्यासेको जल अच्छा लगता है, ऐसे ही जिज्ञासु अर्जुनको भगवान्‌के वचन बहुत विलक्षण लगते हैं। उनको भगवान्‌के वचन ज्यों-ज्यों विलक्षण दीखते हैं, त्यों-ही-त्यों उनका भगवान्‌के प्रति विशेष भाव प्रकट होता जाता है[१]।

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् अब आगेके श्लोकसे अपनी विभूतियों और योगको कहना आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीभगवान् बोले—

हन्त	= हाँ, ठीक है।	**प्राधान्यतः**	= प्रधानतासे (संक्षेपसे)	**मे**	= मेरी विभूतियोंके
दिव्याः,		**कथयिष्यामि**	= कहूँगा;	**विस्तरस्य**	= विस्तारका
आत्मविभूतयः	= मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको	**हि**	= क्योंकि	**अन्तः**	= अन्त
ते	= तेरे लिये	**कुरुश्रेष्ठ**	= हे कुरुश्रेष्ठ!	**न**	= नहीं
				अस्ति	= है।

व्याख्या—**'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः'**—योग और विभूति कहनेके लिये अर्जुनकी जो प्रार्थना है, उसको **'हन्त'** अव्ययसे स्वीकार करते हुए भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी दिव्य, अलौकिक, विलक्षण विभूतियोंको तेरे लिये कहूँगा (योगकी बात भगवान्‌ने आगे इकतालीसवें श्लोकमें कही है)।

'दिव्याः' कहनेका तात्पर्य है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह वस्तुतः भगवान्‌की ही है। इसलिये उसको भगवान्‌की ही देखना दिव्यता है और वस्तु, व्यक्ति आदिकी देखना अदिव्यता अर्थात् लौकिकता है।

'प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे'—जब अर्जुनने कहा कि भगवन्! आप अपनी विभूतियोंको विस्तारसे, पूरी-की-पूरी कह दें, तब भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है। पर आगे ग्यारहवें अध्यायमें जब अर्जुन बड़े संकोचसे कहते हैं कि मैं आपका विश्वरूप देखना चाहता हूँ; अगर मेरे द्वारा वह रूप देखा जाना शक्य है तो दिखा दीजिये, तब भगवान् कहते हैं—**'पश्य मे पार्थ रूपाणि'** (११।५) अर्थात् तू मेरे रूपोंको देख ले। रूपोंमें कितने रूप? क्या दो-चार? नहीं-नहीं, सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख! इस प्रकार यहाँ अर्जुनकी विस्तारसे विभूतियाँ कहनेकी प्रार्थना सुनकर भगवान् संक्षेपसे विभूतियाँ सुननेके लिये कहते हैं और वहाँ अर्जुनकी एक रूप दिखानेकी प्रार्थना सुनकर भगवान् सैकड़ों-हजारों रूप देखनेके लिये कहते हैं!

यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि सुननेमें तो आदमी बहुत सुन सकता है, पर उतना नेत्रोंसे देख नहीं सकता; क्योंकि देखनेकी शक्ति कानोंकी अपेक्षा सीमित होती है[२]। फिर भी जब अर्जुनने सम्पूर्ण विभूतियोंको सुननेमें अपनी

१-द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' पुस्तकका बारहवाँ लेख—'गीतामें भगवान्‌का विविध रूपोंमें प्रकट होना'।

२-कानका विषय है शब्द और शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। कानके द्वारा शब्दोंको सुनकर हमें प्रत्यक्षका भी ज्ञान होता है और अप्रत्यक्ष-(स्वर्ग, नरक आदि-) का भी ज्ञान होता है। इसीलिये वेदान्त-प्रक्रिया-(श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिमें) 'श्रवण' सबसे पहले आया है। ऐसे ही भक्तिमें भी (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदिमें) 'श्रवण' पहले आया है। शास्त्रोंमें जिस परमात्मतत्त्वका वर्णन किया गया है, उसका ज्ञान (परोक्ष ज्ञान) हमें कानोंसे ही होता है अर्थात् कानोंसे सुनकर ही उसके अनुसार करने, मानने या जाननेसे हम उस परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं।

शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है—

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः। प्रसुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुध्यते॥ (सदाचारानुसन्धानम् १९)

सामर्थ्य बतायी तो भगवान्ने संक्षेपसे सुननेके लिये कहा; और जब अर्जुनने एक रूपको देखनेमें नम्रतापूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट की तो भगवान्ने अनेक रूप देखनेके लिये कहा! इसका कारण यह है कि गीतामें अर्जुनका भगवद्विषयक ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस दसवें अध्यायमें जब भगवान्ने यह कहा कि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है, तब अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की अनन्तताकी तरफ चली गयी। उन्होंने समझा कि भगवान्के विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं जानता; क्योंकि भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं, अपार हैं। परन्तु अर्जुनने भूलसे कह दिया कि आप अपनी सब-की-सब विभूतियाँ कह दीजिये। इसलिये अर्जुन आगे चलकर सावधान हो जाते हैं और नम्रतापूर्वक एक रूपको दिखानेके लिये ही भगवान्से प्रार्थना करते हैं। नेत्रोंकी शक्ति सीमित होते हुए भी भगवान् दिव्य चक्षु प्रदान करके अर्थात् चर्मचक्षुओंमें विशेष शक्ति प्रदान करके अपने अनेक रूपोंको देखनेकी आज्ञा देते हैं।

दूसरी बात, वक्ताकी व्यक्तिगत बात पूछी जाय और अपनी अज्ञता तथा अयोग्यतापूर्वक अपने जाननेके लिये प्रार्थना की जाय—इन दोनोंमें फरक होता है। यहाँ अर्जुनने विस्तारपूर्वक विभूतियाँ कहनेके लिये कहकर भगवान्की थाह लेनी चाही, तो भगवान्ने कह दिया कि मैं तो संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि मेरी विभूतियोंकी थाह नहीं है। ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनने अपनी अज्ञता और अयोग्यता प्रकट करते हुए भगवान्से अपना अव्यय रूप दिखानेकी प्रार्थना की, तो भगवान्ने अपने अनन्तरूप देखनेके लिये आज्ञा दी और उनको देखनेकी सामर्थ्य (दिव्य दृष्टि) भी दी! इसलिये साधकको किंचिन्मात्र भी अपना आग्रह, अहंकार न रखकर और अपनी सामर्थ्य, बुद्धि न लगाकर केवल भगवान्पर ही सर्वथा निर्भर हो जाना चाहिये; क्योंकि भगवान्की निर्भरतासे जो चीज मिलती है, वह अपार मिलती है।

परिशिष्ट भाव—भगवान् अनन्त हैं; अतः उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस कारण भगवान्की विभूतियोंके विस्तारको न तो कोई कह सकता है और न कोई सुन ही सकता है। अगर कोई कह-सुन ले तो फिर वे अनन्त कैसे रहेंगी? इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा।

अर्जुनको '**कुरुश्रेष्ठ**' कहनेमें भगवान्का तात्पर्य है कि तेरे मनमें मेरेको जाननेकी इच्छा हो गयी, इसलिये तू श्रेष्ठ है!

सम्बन्ध—विभूतियाँ और योग—इन दोनोंमेंसे पहले भगवान् बीसवें श्लोकसे उनतालीसवें श्लोकतक अपनी बयासी विभूतियोंका वर्णन करते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

मनुष्य सोता है तो नींदमें इन्द्रियाँ संकुचित होकर मनमें, मन संकुचित होकर बुद्धिमें और बुद्धि संकुचित होकर अज्ञान-(अविद्या-) में लीन हो जाती है। इस तरह यद्यपि नींदमें इन्द्रियाँ बहुत छिपी रहती हैं, तथापि सोये हुए आदमीका नाम लेकर पुकारा जाय तो वह जग जाता है। शब्दमें इतनी शक्ति है कि वह अविद्यामें लीन हुएको भी जगा देता है। अतः शब्दमें अनन्त शक्ति है। दृष्टि तो पदार्थतक जाकर रुक जाती है। पर शब्द केवल कानतक ही नहीं जाता, प्रत्युत स्वयंतक चला जाता है।

नेत्रोंमें रूप पकड़ा जाता है। जैसे दर्पणमें मुख देखते समय काँचके भीतर रूप चला जाता है तो उसमें मुख दिखायी देने लगता है, ऐसे ही आँखमें भी एक काँच है, जिसके भीतर पदार्थका रूप चला जाता है तो वह पदार्थ दिखायी देने लगता है। नेत्रोंमें एक विशेष शक्ति यह है कि वे पहले रूपको पकड़े हुए ही दूसरे रूपको देख लेते हैं, इसी कारण जब बिजलीसे पंखा चलता है, तब उसके तीनों पर अलग-अलग घूमनेपर भी नेत्रोंको (अलग-अलग पर घूमते दिखायी न देकर) एक चक्र-सा दिखायी देता है। ऐसे होते हुए भी कानोंमें जितनी शक्ति है, उतनी नेत्रोंमें नहीं है।

इन्द्रियाँ केवल अपने-अपने विषयोंको ही पकड़ सकती हैं, परमात्मतत्त्वको नहीं पकड़ सकतीं; क्योंकि परमात्मतत्त्व इन्द्रियोंका विषय नहीं है। परमात्मतत्त्व स्वयंका विषय है अर्थात् उसका ज्ञान स्वयंसे ही होता है। इसलिये अर्जुनने इस अध्यायमें कहा है कि आप स्वयंको स्वयंसे ही जानते हैं—'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वम्' (गीता १०। १५)। दूसरे अध्यायमें भगवान्ने बताया है कि मनमें आयी हुई सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़नेपर मनुष्य अपनेसे ही अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है—'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः ·······' (२। ५५)। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण-निरपेक्ष है। उस ज्ञानको आँखें नहीं पकड़ सकतीं, पर कान शब्दोंके द्वारा पकड़ करके स्वयंतक पहुँचा देता है।

गुडाकेश	= हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन!	**च**	= तथा	**सर्वभूताशय-**	
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**अन्तः**	= अन्तमें	**स्थितः**	= सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तः-करण-(हृदय-)में स्थित
आदिः	= आदि,	**अहम्**	= मैं		
मध्यम्	= मध्य	**एव**	= ही हूँ	**आत्मा**	= आत्मा भी
		च	= और	**अहम्**	= मैं ही हूँ।

व्याख्या—[भगवान्‌का चिन्तन दो तरहसे होता है—(१) साधक अपना जो इष्ट मानता है, उसके सिवाय दूसरा कोई भी चिन्तन न हो। कभी हो भी जाय तो मनको वहाँसे हटाकर अपने इष्टदेवके चिन्तनमें ही लगा दे; और (२) मनमें सांसारिक विशेषताको लेकर चिन्तन हो, तो उस विशेषताको भगवान्‌की ही विशेषता समझे। इस दूसरे चिन्तनके लिये ही यहाँ विभूतियोंका वर्णन है। तात्पर्य है कि किसी विशेषताको लेकर जहाँ-कहीं वृत्ति जाय, वहाँ भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये, उस वस्तु-व्यक्तिका नहीं। इसीके लिये भगवान् विभूतियोंका वर्णन कर रहे हैं।]

'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च'*—यहाँ भगवान्‌ने अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका सार कहा है कि सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ। यह नियम है कि जो वस्तु उत्पत्ति-विनाशशील होती है, उसके आरम्भ और अन्तमें जो तत्त्व रहता है, वही तत्त्व उसके मध्यमें भी रहता है (चाहे दीखे या न दीखे) अर्थात् जो वस्तु जिस तत्त्वसे उत्पन्न होती है और जिसमें लीन होती है, उस वस्तुके आदि, मध्य और अन्तमें (सब समयमें) वही तत्त्व रहता है। जैसे, सोनेसे बने गहने पहले सोनारूप होते हैं और अन्तमें (गहनोंके सोनेमें लीन होनेपर) सोनारूप ही रहते हैं तथा बीचमें भी सोनारूप ही रहते हैं। केवल नाम, आकृति, उपयोग, माप, तौल आदि अलग-अलग होते हैं; और इनके अलग-अलग होते हुए भी गहने सोना ही रहते हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी आदिमें भी परमात्मस्वरूप थे और अन्तमें लीन होनेपर भी परमात्मस्वरूप रहेंगे तथा मध्यमें नाम, रूप, आकृति, क्रिया, स्वभाव आदि अलग-अलग होनेपर भी तत्त्वतः परमात्मस्वरूप ही हैं—यह बतानेके लिये ही यहाँ भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें कहा है।

भगवान्‌ने विभूतियोंके इस प्रकरणमें आदि, मध्य और अन्तमें—तीन जगह साररूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। पहले इस बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि 'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ;' बीचके बत्तीसवें श्लोकमें कहा कि 'सम्पूर्ण सर्गोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ;' और अन्तके उनतालीसवें श्लोकमें कहा कि 'सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह मैं ही हूँ; क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है।' चिन्तन करनेके लिये यही विभूतियोंका सार है। तात्पर्य यह है कि किसी विशेषता आदिको लेकर जो विभूतियाँ कही गयी हैं, उन विभूतियोंके अतिरिक्त भी जो कुछ दिखायी दे, वह भी भगवान्‌की ही विभूति है—यह बतानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें विद्यमान कहा है। तत्त्वसे सब कुछ परमात्मा ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**—इस लक्ष्यको बतानेके लिये ही विभूतियाँ कही गयी हैं।

इस बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्राणियोंमें जो आत्मा है, जीवोंका जो स्वरूप है, उसको अपनी विभूति बताया है। फिर बत्तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने सृष्टिरूपसे अपनी विभूति बतायी कि जो जड-चेतन, स्थावर-जंगम सृष्टि है, उसके आदिमें 'मैं एक ही बहुत रूपोंमें हो जाऊँ' (**'बहु स्यां प्रजायेयेति'** छान्दोग्य० ६। २। ३)—ऐसा संकल्प करता हूँ और अन्तमें मैं ही शेष रहता हूँ—**'शिष्यते शेषसंज्ञः'** (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। अतः बीचमें भी सब कुछ मैं ही हूँ—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९) **'सदसच्चाहमर्जुन'**

*** यहाँ 'आदिः' और 'अन्तः' शब्दका प्रयोग पुँल्लिंगमें और 'मध्यम्' शब्दका प्रयोग नपुंसकलिंगमें किया गया है। इसका तात्पर्य है कि आदिमें अकेले परमपुरुष भगवान् रहते हैं—'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः' (गीता १०। २), और अन्तमें भी अकेले परमपुरुष भगवान् रहते हैं—'शिष्यते शेषसंज्ञः' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। इसलिये भगवान्‌ने 'आदि' और 'अन्त' शब्दका प्रयोग पुँल्लिंगमें किया है। परन्तु मध्यमें अर्थात् सृष्टिके समय पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग तीनों लिंगोंवाले व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, क्रिया, भाव आदि रहते हैं। अतः इन तीनों लिंगोंमें नपुंसकलिंग ही शेष रहता है अर्थात् नपुंसकलिंगके अन्तर्गत ही तीनों लिंग आ जाते हैं। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ और आगे बत्तीसवें श्लोकमें भी 'मध्य' शब्दका प्रयोग नपुंसकलिंगमें किया है।**

(गीता ९। १९); क्योंकि जो तत्त्व आदि और अन्तमें होता है, वही तत्त्व बीचमें होता है। अन्तमें उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बीज-(कारण-) रूपसे अपनी विभूति बतायी कि मैं ही सबका बीज हूँ, मेरे बिना कोई भी प्राणी नहीं है। इस प्रकार इन तीन जगह—तीन श्लोकोंमें मुख्य विभूतियाँ बतायी गयी हैं और अन्य श्लोकोंमें जो समुदायमें मुख्य हैं, जिनका समुदायपर आधिपत्य है, जिनमें कोई विशेषता है, उनको लेकर विभूतियाँ बतायी गयी हैं। परन्तु साधकको चाहिये कि वह इन विभूतियोंकी महत्ता, विशेषता, सुन्दरता, आधिपत्य आदिकी तरफ खयाल न करे, प्रत्युत ये सब विभूतियाँ भगवान्‌से ही प्रकट होती हैं, इनमें जो महत्ता आदि है, वह केवल भगवान्‌की है; ये विभूतियाँ भगवत्स्वरूप ही हैं—इस तरफ खयाल रखे। कारण कि अर्जुनका प्रश्न भगवान्‌के चिन्तनके विषयमें है (सत्रहवाँ श्लोक), किसी वस्तु, व्यक्तिके चिन्तनके विषयमें नहीं।

'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'— साधक इन विभूतियोंका उपयोग कैसे करे? इसे बताते हैं कि जब साधककी दृष्टि प्राणियोंकी तरफ चली जाय, तब वह 'सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे भगवान् ही हैं'—इस तरह भगवान्‌का चिन्तन करे। जब किसी विचारक साधककी दृष्टि सृष्टिकी तरफ चली जाय, तब वह 'उत्पत्ति-विनाशशील और हरदम परिवर्तनशील सृष्टिके आदि, मध्य तथा अन्तमें एक भगवान् ही हैं' इस तरह भगवान्‌का चिन्तन करे। कभी प्राणियोंके मूलकी तरफ उसकी दृष्टि चली जाय, तब वह 'बीजरूपसे भगवान् ही हैं, भगवान्‌के बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है और हो सकता भी नहीं'—इस तरह भगवान्‌का चिन्तन करे।

परिशिष्ट भाव—सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भगवान् ही हैं—इसका तात्पर्य यह है कि एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और आत्मा उनकी विभूति है। आत्मा भगवान्‌की 'परा प्रकृति' है और अन्तःकरण 'अपरा प्रकृति' है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा, पाँचवाँ श्लोक)। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

अहम् = मैं, **आदित्यानाम्** = अदितिके पुत्रोंमें, **विष्णुः** = विष्णु (वामन), **ज्योतिषाम्** = (और) प्रकाशमान वस्तुओंमें, **अंशुमान्** = किरणोंवाला, **रविः** = सूर्य हूँ। **अहम्** = मैं, **मरुताम्** = मरुतोंका, **मरीचिः** = तेज (और) **नक्षत्राणाम्** = नक्षत्रोंका अधिपति **शशी** = चन्द्रमा **अस्मि** = हूँ।

व्याख्या—[इन विभूतियोंमें षष्ठीका प्रयोग किया गया है। षष्ठीका प्रयोग निर्धारण अर्थात् मुख्यताके अर्थमें भी होता है और सम्बन्धके अर्थमें भी। जहाँ निर्धारणमें षष्ठी होती है, वहाँ हिन्दीकी 'में' विभक्तिका प्रयोग होता है, और जहाँ सम्बन्धमें षष्ठी होती है, वहाँ हिन्दीकी 'का', 'की' विभक्तियोंका प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, इस श्लोकके पूर्वार्धमें निर्धारणके अर्थमें और उत्तरार्धमें सम्बन्धके अर्थमें षष्ठीका प्रयोग हुआ है।]

'आदित्यानामहं विष्णुः'—अदितिके धाता, मित्र आदि जितने पुत्र हैं, उनमें 'विष्णु' अर्थात् वामन मुख्य हैं। भगवान्‌ने ही वामनरूपसे अवतार लेकर दैत्योंकी सम्पत्तिको दानरूपसे लिया और उसे अदितिके पुत्रों-(देवताओं-)को दे दिया*।

'ज्योतिषां रविरंशुमान्'—चन्द्रमा, नक्षत्र, तारा, अग्नि आदि जितनी भी प्रकाशमान चीजें हैं, उनमें किरणोंवाला सूर्य मेरी विभूति है; क्योंकि प्रकाश करनेमें सूर्यकी मुख्यता है। सूर्यके प्रकाशसे ही सभी प्रकाशमान होते हैं।

'मरीचिर्मरुतामस्मि'—सत्त्वज्योति, आदित्य, हरित आदि नामोंवाले जो उनचास मरुत हैं, उनका मुख्य तेज मैं हूँ। उस तेजके प्रभावसे ही इन्द्रके द्वारा दितिके गर्भके सात टुकड़े करनेपर और उन सातोंके फिर सात-सात टुकड़े करनेपर भी वे मरे नहीं प्रत्युत एकसे उनचास हो गये।

* **बारह महीनोंमें जो बारह आदित्य होते हैं, उनमें कार्तिक मासके सूर्यका नाम भी 'विष्णु' है।**

'नक्षत्राणामहं शशी'—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबका अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ।

इन विभूतियोंमें जो विशेषता—महत्ता है, वह वास्तवमें भगवान्‌की है।

[इस प्रकरणमें जिन विभूतियोंका वर्णन आया है, उनको भगवान्‌ने विभूतिरूपसे ही कहा है, अवताररूपसे नहीं; जैसे—अदितिके पुत्रोंमें वामन मैं हूँ (इक्कीसवाँ श्लोक), शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ (इकतीसवाँ श्लोक), वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव (कृष्ण) और पाण्डवोंमें धनंजय (अर्जुन) मैं हूँ (सैंतीसवाँ श्लोक) इत्यादि। कारण कि यहाँ प्रसंग विभूतियोंका है।]

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

वेदानाम्	= (मैं) वेदोंमें	**वासवः**	= इन्द्र	**च**	= और
सामवेदः	= सामवेद	**अस्मि**	= हूँ,	**भूतानाम्**	= प्राणियोंकी
अस्मि	= हूँ,	**इन्द्रियाणाम्**	= इन्द्रियोंमें	**चेतना**	= चेतना
देवानाम्	= देवताओंमें	**मनः**	= मन	**अस्मि**	= हूँ।
		अस्मि	= हूँ		

व्याख्या—**'वेदानां सामवेदोऽस्मि'**—वेदोंकी जो ऋचाएँ स्वरसहित गायी जाती हैं, उनका नाम सामवेद है। सामवेदमें इन्द्ररूपसे भगवान्‌की स्तुतिका वर्णन है। इसलिये सामवेद भगवान्‌की विभूति है।

'देवानामस्मि वासवः'—सूर्य, चन्द्रमा आदि जितने भी देवता हैं, उन सबमें इन्द्र मुख्य है और सबका अधिपति है। इसलिये भगवान्‌ने उसको अपनी विभूति बताया है।

'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'—नेत्र, कान आदि सब इन्द्रियोंमें मन मुख्य है। सब इन्द्रियाँ मनके साथ रहनेसे (मनको साथमें लेकर) ही काम करती हैं। मन साथमें न रहनेसे इन्द्रियाँ अपना काम नहीं करतीं। यदि मनका साथ न हो तो इन्द्रियोंके सामने विषय आनेपर भी विषयोंका ज्ञान नहीं होता। मनमें यह विशेषता भगवान्‌से ही आयी है। इसलिये भगवान्‌ने मनको अपनी विभूति बताया है।

'भूतानामस्मि चेतना'—सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो चेतना-शक्ति, प्राणशक्ति है, जिससे मरे हुए आदमीकी अपेक्षा सोये हुए आदमीमें विलक्षणता दीखती है, उसे भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विशेषता है, वह भगवान्‌से ही आयी है। इनकी स्वतन्त्र विशेषता नहीं है।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

रुद्राणाम्	= रुद्रोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ।	**शिखरिणाम्**	= शिखरवाले पर्वतोंमें
शङ्करः	= शंकर	**वसूनाम्**	= वसुओंमें	**मेरुः**	= सुमेरु
च	= और	**पावकः**	= पवित्र करनेवाली अग्नि	**अहम्**	= मैं
यक्षरक्षसाम्	= यक्ष-राक्षसोंमें	**च**	= और	**अस्मि**	= हूँ।
वित्तेशः	= कुबेर				

व्याख्या—**'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि'**—हर, बहुरूप, त्र्यम्बक आदि ग्यारह रुद्रोंमें शम्भु अर्थात् शंकर सबके अधिपति हैं। ये कल्याण प्रदान करनेवाले और कल्याणस्वरूप हैं। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'वित्तेशो यक्षरक्षसाम्'—कुबेर यक्ष तथा राक्षसोंके अधिपति हैं और इनको धनाध्यक्षके पदपर नियुक्त किया गया है। सब यक्ष-राक्षसोंमें मुख्य होनेसे ये भगवान्‌की विभूति हैं।

'वसूनां पावकश्चास्मि'—धर, ध्रुव, सोम आदि आठ

वसुओंमें अनल अर्थात् पावक (अग्नि) सबके अधिपति हैं। ये सब देवताओंको यज्ञकी हवि पहुँचानेवाले तथा भगवान्‌के मुख हैं। इसलिये इनको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

'मेरुः शिखरिणामहम्'—सोने, चाँदी, ताँबे आदिके शिखरोंवाले जितने पर्वत हैं, उनमें सुमेरु पर्वत मुख्य है। यह सोने तथा रत्नोंका भण्डार है। इसलिये भगवान्‌ने इसको अपनी विभूति बताया है।

इस श्लोकमें जो चार विभूतियाँ कही हैं, उनमें जो कुछ विशेषता—महत्ता दीखती है, वह विभूतियोंके मूलरूप परमात्मासे ही आयी है। अतः इन विभूतियोंमें परमात्माका ही चिन्तन होना चाहिये।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**विद्धि**	= समझो।	**सरसाम्**	= जलाशयोंमें
पुरोधसाम्	= पुरोहितोंमें	**सेनानीनाम्**	= सेनापतियोंमें		
मुख्यम्	= मुख्य			**सागरः**	= समुद्र
बृहस्पतिम्	= बृहस्पतिको	**स्कन्दः**	= कार्तिकेय	**अहम्**	= मैं
माम्	= मेरा स्वरूप	**च**	= और	**अस्मि**	= हूँ।

व्याख्या—**'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्'**—संसारके सम्पूर्ण पुरोहितोंमें और विद्या-बुद्धिमें बृहस्पति श्रेष्ठ हैं। ये इन्द्रके गुरु तथा देवताओंके कुलपुरोहित हैं। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे बृहस्पतिको अपनी विभूति जानने-(मानने-)के लिये कहा है।

'सेनानीनामहं स्कन्दः'—स्कन्द (कार्तिकेय) शंकरजीके पुत्र हैं। इनके छः मुख और बारह हाथ हैं। ये देवताओंके सेनापति हैं और संसारके सम्पूर्ण सेनापतियोंमें श्रेष्ठ हैं। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'सरसामस्मि सागरः'—इस पृथ्वीपर जितने जलाशय हैं, उनमें समुद्र सबसे बड़ा है। समुद्र सम्पूर्ण जलाशयोंका अधिपति है और अपनी मर्यादामें रहनेवाला तथा गम्भीर है। इसलिये भगवान्‌ने इसको अपनी विभूति बताया है।

यहाँ इन विभूतियोंकी जो अलौकिकता दीखती है, यह उनकी खुदकी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की है और भगवान्‌से ही आयी है। अतः इनको देखनेपर भगवान्‌की ही स्मृति होनी चाहिये।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षीणाम्	= महर्षियोंमें	**अक्षरम्**	= अक्षर अर्थात् प्रणव	**जपयज्ञः**	= जपयज्ञ (और)
भृगुः	= भृगु (और)			**स्थावराणाम्**	= स्थिर रहनेवालोंमें
गिराम्	= वाणियों-(शब्दों-) में	**अहम्**	= मैं		
		अस्मि	= हूँ।	**हिमालयः**	= हिमालय
एकम्	= एक	**यज्ञानाम्**	= सम्पूर्ण यज्ञोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ।

व्याख्या—**'महर्षीणां भृगुरहम्'**—भृगु, अत्रि, मरीचि आदि महर्षियोंमें भृगुजी बड़े भक्त, ज्ञानी और तेजस्वी हैं। इन्होंने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनोंकी परीक्षा करके भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ सिद्ध किया था। भगवान् विष्णु भी अपने वक्षःस्थलपर इनके चरणचिह्नको 'भृगुलता' नामसे धारण किये रहते हैं। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'गिरामस्म्येकमक्षरम्'—सबसे पहले तीन मात्रा-वाला प्रणव प्रकट हुआ। फिर प्रणवसे त्रिपदा गायत्री, त्रिपदा गायत्रीसे वेद और वेदोंसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्‌मय जगत् प्रकट हुआ। अतः इन सबका कारण होनेसे और इन सबमें श्रेष्ठ होनेसे भगवान्‌ने एक अक्षर—

प्रणवको अपनी विभूति बताया है। गीतामें और जगह भी इसका वर्णन आता है; जैसे—'**प्रणवः सर्ववेदेषु**' (७।८)—'सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव मैं हूँ'; '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥**' (८।१३) 'जो मनुष्य '**ॐ**'—इस एक अक्षर प्रणवका उच्चारण करके और भगवान्‌का स्मरण करके शरीर छोड़कर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है'; '**तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्**' (१७।२४) 'वैदिक लोगोंकी शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ प्रणवका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।'

'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**'—मन्त्रोंसे जितने यज्ञ किये जाते हैं, उनमें अनेक वस्तु-पदार्थोंकी, विधियोंकी आवश्यकता पड़ती है और उनको करनेमें कुछ-न-कुछ दोष आ ही जाता है। परन्तु जपयज्ञ अर्थात् भगवन्नामका जप करनेमें किसी पदार्थ या विधिकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसको करनेमें दोष आना तो दूर रहा, प्रत्युत सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। इसको करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें भगवान्‌के नामोंमें अन्तर तो होता है, पर नामजपसे कल्याण होता है—इसको हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन आदि सभी मानते हैं। इसलिये भगवान्‌ने जपयज्ञको अपनी विभूति बताया है।

'**स्थावराणां हिमालयः**'—स्थिर रहनेवाले जितने भी पर्वत हैं, उन सबमें हिमालय तपस्याका स्थल होनेसे महान् पवित्र है और सबका अधिपति है। गंगा, यमुना आदि जितनी तीर्थस्वरूप पवित्र नदियाँ हैं, वे सभी प्रायः हिमालयसे प्रकट होती हैं। भगवत्प्राप्तिमें हिमालयस्थल बहुत सहायक है। आज भी दीर्घ आयुवाले बड़े-बड़े योगी और सन्तजन हिमालयकी गुफाओंमें साधन-भजन करते हैं। नर-नारायण ऋषि भी हिमालयमें जगत्‌के कल्याणके लिये आज भी तपस्या कर रहे हैं। हिमालय भगवान् शंकरका ससुराल है और स्वयं शंकर भी इसीके एक शिखर—कैलास पर्वतपर रहते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने हिमालयको अपनी विभूति बताया है।

संसारमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, उसको संसारकी माननेसे मनुष्य उसमें फँस जाता है, जिससे उसका पतन होता है। परन्तु भगवान् यहाँ बहुत ही सरल साधन बताते हैं कि तुम्हारा मन जहाँ-कहीं और जिस-किसी विशेषताको लेकर आकृष्ट होता है, वहाँ उस विशेषताको तुम मेरी समझो कि यह विशेषता भगवान्‌की है और भगवान्‌से ही आयी है, यह इस परिवर्तनशील नाशवान् संसारकी नहीं है। ऐसा समझोगे, मानोगे तो तुम्हारा वह आकर्षण मेरेमें ही होगा। तुम्हारे मनमें मेरी ही महत्ता हो जायगी। इससे संसारका चिन्तन छूटकर मेरा ही चिन्तन होगा, जिससे तुम्हारा मेरेमें प्रेम हो जायगा।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

सर्ववृक्षाणाम्	= सम्पूर्ण वृक्षोंमें	**नारदः**	= नारद,	**सिद्धानाम्**	= सिद्धोंमें
अश्वत्थः	= पीपल,	**गन्धर्वाणाम्**	= गन्धर्वोंमें	**कपिलः**	= कपिल
देवर्षीणाम्	= देवर्षियोंमें	**चित्ररथः**	= चित्ररथ	**मुनिः**	= मुनि (मैं हूँ)।
		च	= और		

व्याख्या—'**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्**'—पीपल एक सौम्य वृक्ष है। इसके नीचे हरेक पेड़ लग जाता है और यह पहाड़, मकानकी दीवार, छत आदि कठोर जगहपर भी पैदा हो जाता है। पीपल वृक्षके पूजनकी बड़ी महिमा है। आयुर्वेदमें बहुत-से रोगोंका नाश करनेकी शक्ति पीपल वृक्षमें बतायी गयी है। इन सब दृष्टियोंसे भगवान्‌ने पीपलको अपनी विभूति बताया है।

'**देवर्षीणां च नारदः**'—देवर्षि भी कई हैं और नारद भी कई हैं; पर 'देवर्षि नारद' एक ही हैं। ये भगवान्‌के मनके अनुसार चलते हैं और भगवान्‌को जैसी लीला करनी होती है, ये पहलेसे ही वैसी भूमिका तैयार कर देते हैं। इसलिये नारदजीको भगवान्‌का मन कहा गया है। ये सदा वीणा लेकर भगवान्‌के गुण गाते हुए घूमते रहते हैं। वाल्मीकि और व्यासजीको उपदेश देकर उनको रामायण और भागवत-जैसे ग्रन्थोंके लेखन-कार्यमें प्रवृत्त करानेवाले भी नारदजी ही हैं। नारदजीकी बातपर मनुष्य, देवता, असुर, नाग आदि सभी विश्वास करते हैं। सभी इनकी बात मानते हैं और इनसे सलाह लेते हैं। महाभारत आदि ग्रन्थोंमें इनके अनेक गुणोंका वर्णन

किया गया है। यहाँ भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'गन्धर्वाणां चित्ररथः'—स्वर्गके गायकोंको गन्धर्व कहते हैं और उन सभी गन्धर्वोंमें चित्ररथ मुख्य हैं। अर्जुनके साथ इनकी मित्रता रही और इनसे ही अर्जुनने गानविद्या सीखी थी। गानविद्यामें अत्यन्त निपुण और गन्धर्वोंमें मुख्य होनेसे भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'सिद्धानां कपिलो मुनिः'—सिद्ध दो तरहके होते हैं—एक तो साधन करके सिद्ध बनते हैं और दूसरे जन्मजात सिद्ध होते हैं। कपिलजी जन्मजात सिद्ध हैं और इनको आदिसिद्ध कहा जाता है। ये कर्दमजीके यहाँ देवहूतिके गर्भसे प्रकट हुए थे। ये सांख्यके आचार्य और सम्पूर्ण सिद्धोंके गणाधीश हैं। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन सब विभूतियोंमें जो विलक्षणता प्रतीत होती है, वह मूलतः, तत्त्वतः भगवान्‌की ही है। अतः साधककी दृष्टि भगवान्‌में ही रहनी चाहिये।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

अश्वानाम्	= घोड़ोंमें	**उच्चैःश्रवसम्**	= उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको,	**च**	= और
अमृतोद्भवम्	= अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले	**गजेन्द्राणाम्**	= श्रेष्ठ हाथियोंमें	**नराणाम्**	= मनुष्योंमें
		ऐरावतम्	= ऐरावत नामक हाथीको	**नराधिपम्**	= राजाको
				माम्	= मेरी विभूति
				विद्धि	= मानो।

व्याख्या—**'उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्'**—समुद्रमन्थनके समय प्रकट होनेवाले चौदह रत्नोंमें उच्चैःश्रवा घोड़ा भी एक रत्न है। यह इन्द्रका वाहन और सम्पूर्ण घोड़ोंका राजा है। इसलिये भगवान्‌ने इसको अपनी विभूति बताया है।

'ऐरावतं गजेन्द्राणाम्'—हाथियोंके समुदायमें जो श्रेष्ठ होता है, उसको गजेन्द्र कहते हैं। ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी श्रेष्ठ है। उच्चैःश्रवा घोड़ेकी तरह ऐरावत हाथीकी उत्पत्ति भी समुद्रसे हुई है और यह भी इन्द्रका वाहन है। इसलिये भगवान्‌ने इसको अपनी विभूति बताया है।

'नराणां च नराधिपम्'—सम्पूर्ण प्रजाका पालन, संरक्षण, शासन करनेवाला होनेसे राजा सम्पूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा राजामें भगवान्‌की ज्यादा शक्ति रहती है। इसलिये भगवान्‌ने राजाको अपनी विभूति बताया है*।

इन विभूतियोंमें जो बलवत्ता, सामर्थ्य है, वह भगवान्‌से ही आयी है, अतः उसको भगवान्‌की ही मानकर भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

आयुधानाम्	= आयुधोंमें	**अस्मि**	= हूँ।	**अस्मि**	= मैं हूँ
वज्रम्	= वज्र (और)	**प्रजनः**	= सन्तान-उत्पत्तिका हेतु	**च**	= और
धेनूनाम्	= धेनुओंमें			**सर्पाणाम्**	= सर्पोंमें
कामधुक्	= कामधेनु			**वासुकिः**	= वासुकि
अहम्	= मैं	**कन्दर्पः**	= कामदेव	**अस्मि**	= मैं हूँ।

व्याख्या—**'आयुधानामहं वज्रम्'**—जिनसे युद्ध किया जाता है, उनको आयुध (अस्त्र-शस्त्र) कहते हैं। उन आयुधोंमें इन्द्रका वज्र मुख्य है। यह दधीचि ऋषिकी हड्डियोंसे बना हुआ है और इसमें दधीचि ऋषिकी तपस्याका

* यहाँ वर्तमान मन्वन्तरके मनुको भी राजा मान सकते हैं।

तेज है। इसलिये भगवान्‌ने वज्रको अपनी विभूति कहा है।

'धेनूनामस्मि कामधुक्'—नयी ब्यायी हुई गायको धेनु कहते हैं। सभी धेनुओंमें कामधेनु मुख्य है, जो समुद्र-मन्थनसे प्रकट हुई थी। यह सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंकी कामनापूर्ति करनेवाली है। इसलिये यह भगवान्‌की विभूति है।

'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः'—संसारमात्रकी उत्पत्ति कामसे ही होती है। धर्मके अनुकूल केवल सन्तानकी उत्पत्तिके लिये सुखबुद्धिका त्याग करके जिस कामका उपयोग किया जाता है, वह काम भगवान्‌की विभूति है। सातवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कामको अपनी विभूति बताया है—**'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'** अर्थात् सब प्राणियोंमें धर्मके अनुकूल काम मैं हूँ।

'सर्पाणामस्मि वासुकिः'—वासुकि सम्पूर्ण सर्पोंके अधिपति और भगवान्‌के भक्त हैं। समुद्र-मन्थनके समय इन्हींकी मन्थन-डोरी बनायी गयी थी। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विलक्षणता दिखायी देती है, वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसारकी हो ही कैसे सकती है! वह तो परमात्माकी ही है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

नागानाम्	= नागोंमें		अधिपति	**च**	= और
अनन्तः	= अनन्त (शेषनाग)	**वरुणः**	= वरुण	**संयमताम्**	= शासन करनेवालोंमें
च	= और	**अहम्**	= मैं	**यमः**	= यमराज
यादसाम्	= जल-जन्तुओंका	**अस्मि**	= हूँ।	**अहम्**	= मैं
		पितॄणाम्	= पितरोंमें	**अस्मि**	= हूँ।
		अर्यमा	= अर्यमा		

व्याख्या—**'अनन्तश्चास्मि नागानाम्'**—शेषनाग सम्पूर्ण नागोंके राजा हैं*। इनके एक हजार फण हैं। ये क्षीरसागरमें सदा भगवान्‌की शय्या बनकर भगवान्‌को सुख पहुँचाते रहते हैं। ये अनेक बार भगवान्‌के साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें शामिल हुए हैं। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'वरुणो यादसामहम्'—वरुण सम्पूर्ण जल-जन्तुओंके तथा जल-देवताओंके अधिपति हैं और भगवान्‌के भक्त हैं। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'पितॄणामर्यमा चास्मि'—कव्यवाह, अनल, सोम आदि सात पितृगण हैं। इन सबमें अर्यमा नामवाले पितर मुख्य हैं। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'यमः संयमतामहम्'—प्राणियोंपर शासन करनेवाले राजा आदि जितने भी अधिकारी हैं, उनमें यमराज मुख्य हैं। ये प्राणियोंको उनके पाप-पुण्योंका फल भुगताकर शुद्ध करते हैं। इनका शासन न्याय और धर्मपूर्वक होता है। ये भगवान्‌के भक्त और लोकपाल भी हैं। इसलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विलक्षणता दीखती है, वह इनकी व्यक्तिगत नहीं है। वह तो भगवान्‌से ही आयी है और भगवान्‌की ही है। अतः इनमें भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

* सर्प पृथ्वीपर रहता है और नाग जलमें रहता है—यही सर्प और नागमें अन्तर है।

दैत्यानाम्	= दैत्योंमें	**कालः**	= काल	**मृगेन्द्रः**	= सिंह
प्रह्लादः	= प्रह्लाद	**अहम्**	= मैं	**च**	= और
च	= और	**अस्मि**	= हूँ	**पक्षिणाम्**	= पक्षियोंमें
कलयताम्	= गणना करनेवालों- (ज्योतिषियों-)में	**च**	= तथा	**वैनतेयः**	= गरुड़
		मृगाणाम्	= पशुओंमें	**अहम्**	= मैं हूँ।

व्याख्या—**'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्'**—जो दितिसे उत्पन्न हुए हैं, उनको दैत्य कहते हैं। उन दैत्योंमें प्रह्लादजी मुख्य हैं और श्रेष्ठ हैं। ये भगवान्के परम विश्वासी और निष्काम प्रेमी भक्त हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

प्रह्लादजी तो बहुत पहले हो चुके थे, पर भगवान्ने 'दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूँ' ऐसा वर्तमानका प्रयोग किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्के भक्त नित्य रहते हैं और श्रद्धा-भक्तिके अनुसार दर्शन भी दे सकते हैं। उनके भगवान्में लीन हो जानेके बाद अगर कोई उनको याद करता है और उनके दर्शन चाहता है, तो उनका रूप धारण करके भगवान् दर्शन देते हैं।

'कालः कलयतामहम्'—ज्योतिष-शास्त्रमें काल-(समय-)से ही आयुकी गणना होती है। इसलिये क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि गणना करनेके साधनोंमें काल भगवान्की विभूति है।

'मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्'—बाघ, हाथी, चीता, रीछ आदि जितने भी पशु हैं, उन सबमें सिंह बलवान्, तेजस्वी, प्रभावशाली, शूरवीर और साहसी है। यह सब पशुओंका राजा है। इसलिये भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'—विनताके पुत्र गरुड़जी सम्पूर्ण पक्षियोंके राजा हैं और भगवान्के भक्त हैं। ये भगवान् विष्णुके वाहन हैं और जब ये उड़ते हैं, तब इनके पंखोंसे स्वतः सामवेदकी ऋचाएँ ध्वनित होती हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन सब विभूतियोंमें अलग-अलग रूपसे जो मुख्यता बतायी गयी है, वह तत्त्वतः भगवान्की ही है। इसलिये इनकी ओर दृष्टि जाते ही स्वतः भगवान्का चिन्तन होना चाहिये।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवताम्	= पवित्र करनेवालोंमें	**अहम्**	= मैं	**अस्मि**	= मैं हूँ
पवनः	= वायु (और)	**अस्मि**	= हूँ।	**च**	= और
शस्त्रभृताम्	= शस्त्रधारियोंमें	**झषाणाम्**	= जल-जन्तुओंमें	**स्त्रोतसाम्**	= नदियोंमें
रामः	= राम	**मकरः**	= मगर	**जाह्नवी**	= गंगाजी
				अस्मि	= मैं हूँ।

व्याख्या—**'पवनः पवतामस्मि'**—वायुसे ही सब चीजें पवित्र होती हैं। वायुसे ही नीरोगता आती है। अतः भगवान्ने पवित्र करनेवालोंमें वायुको अपनी विभूति बताया है।

'रामः शस्त्रभृतामहम्'—ऐसे तो राम अवतार हैं, साक्षात् भगवान् हैं, पर जहाँ शस्त्रधारियोंकी गणना होती है, उन सबमें राम श्रेष्ठ हैं। इसलिये भगवान्ने रामको अपनी विभूति बताया है।

'झषाणां मकरश्चास्मि'—जल-जन्तुओंमें मगर सबसे बलवान् है। इसलिये जलचरोंमें मगरको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

'स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी'—प्रवाहरूपसे बहनेवाले जितने भी नद, नदी, नाले, झरने हैं, उन सबमें गंगाजी श्रेष्ठ हैं। ये भगवान्की खास चरणोदक हैं। गंगाजी अपने दर्शन, स्पर्श आदिसे दुनियाका उद्धार करनेवाली हैं। मरे हुए मनुष्योंकी अस्थियाँ गंगाजीमें डालनेसे उनकी सद्गति हो जाती है। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

वास्तवमें इन विभूतियोंकी मुख्यता न मानकर भगवान्की ही मुख्यता माननी चाहिये। कारण कि इन सबमें जो विशेषता-महत्ता देखनेमें आती है, वह भगवान्से ही आयी है।

सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनके दो प्रश्न थे—पहला, भगवान्को जाननेका (मैं आपको कैसे जानूँ) और दूसरा,

जाननेके उपायका (किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ)। इन दोनोंमेंसे उपाय तो है—विभूतियोंमें भगवान्‌का चिन्तन करना और उस चिन्तनका फल (परिणाम) होगा—सब विभूतियोंके मूलमें भगवान्‌को तत्त्वसे जानना। जैसे, शस्त्रधारियोंमें श्रीरामको और वृष्णियोंमें वासुदेव-(अपने-) को भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया। यह तो उस समुदायमें विभूतिरूपसे श्रीरामका और वासुदेवका चिन्तन करनेके लिये बताया और उनके चिन्तनका फल होगा—श्रीरामको और वासुदेवको तत्त्वसे भगवान् जान जाना। यह चिन्तन करना और भगवान्‌को तत्त्वसे जानना सभी विभूतियोंके विषयमें समझना चाहिये।

संसारमें जहाँ-कहीं भी जो कुछ विशेषता, विलक्षणता, सुन्दरता दीखती है, उसको वस्तु-व्यक्तिकी माननेसे फँसावट होती है अर्थात् मनुष्य उस विशेषता आदिको संसारकी मानकर उसमें फँस जाता है। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ मनुष्य-मात्रके लिये यह बताया है कि तुमलोग उस विशेषता सुन्दरता आदिको वस्तु-व्यक्तिकी मत मानो, प्रत्युत मेरी और मेरेसे ही आयी हुई मानो। ऐसा मानकर मेरा चिन्तन करोगे तो तुम्हारा संसारका चिन्तन तो छूट जायगा और उस जगह मैं आ जाऊँगा। इसका परिणाम यह होगा कि तुमलोग मेरेको तत्त्वसे जान जाओगे। मेरेको तत्त्वसे जाननेपर मेरेमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति हो जायगी (गीता—इसी अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

अर्जुन = हे अर्जुन! **सर्गाणाम्** = सम्पूर्ण सृष्टियोंके **आदिः** = आदि, **मध्यम्** = मध्य **च** = तथा **अन्तः** = अन्तमें **अहम्** = मैं **एव** = ही हूँ। **विद्यानाम्** = विद्याओंमें **अध्यात्मविद्या** = अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) **च** = और **प्रवदताम्** = परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका **वादः** = (तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला) वाद **अहम्** = मैं हूँ।

व्याख्या—**'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहम्'**— जितने सर्ग और महासर्ग होते हैं अर्थात् जितने प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, उनके आदिमें भी मैं रहता हूँ, उनके मध्यमें भी मैं रहता हूँ और उनके अन्तमें (उनके लीन होनेपर) भी मैं रहता हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ वासुदेव ही है। अतः मात्र संसारको, प्राणियोंको देखते ही भगवान्‌की याद आनी चाहिये।

'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'—जिस विद्यासे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, वह 'अध्यात्मविद्या' कहलाती है*। दूसरी सांसारिक कितनी ही विद्याएँ पढ़ लेनेपर भी पढ़ना बाकी ही रहता है; परन्तु इस अध्यात्मविद्याके प्राप्त होनेपर पढ़ना अर्थात् जानना बाकी नहीं रहता। इसलिये भगवान्‌ने इसको अपनी विभूति बताया है।

'वादः प्रवदतामहम्'—आपसमें जो शास्त्रार्थ किया जाता है, वह तीन प्रकारका होता है—

(१) जल्प—युक्ति-प्रयुक्तिसे अपने पक्षका मण्डन और दूसरे पक्षका खण्डन करके अपने पक्षकी जीत और दूसरे पक्षकी हार करनेकी भावनासे जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको जल्प कहते हैं।

(२) वितण्डा—अपना कोई भी पक्ष न रखकर केवल दूसरे पक्षका खण्डन-ही-खण्डन करनेके लिये जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको 'वितण्डा' कहते हैं।

(३) वाद—बिना किसी पक्षपातके केवल तत्त्व-निर्णयके लिये आपसमें जो शास्त्रार्थ (विचार-विनिमय) किया जाता है उसको 'वाद' कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकारके शास्त्रार्थोंमें 'वाद' श्रेष्ठ है। इसी वादको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

*** अध्यात्मविद्या और राजविद्या—इन दोनोंमें अन्तर है। अध्यात्मविद्यामें निर्गुण-स्वरूपकी मुख्यता है और राजविद्यामें सगुण-स्वरूपकी मुख्यता है। संसारका अभाव करके निर्गुण परमात्माको जानना अध्यात्मविद्या है। सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिमें व्यापकरूपसे नित्य-निरन्तर रहनेवाले सगुण परमात्माको जानना राजविद्या है।**

परिशिष्ट भाव—लौकिक विद्याओंमें 'अध्यात्मविद्या' अर्थात् आत्मज्ञान श्रेष्ठ है। इसीको गीताके अध्यायोंकी पुष्पिकामें 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है।

अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञानको अपनी विभूति बतानेका कारण है कि यह सबसे सरल है, सबसे सुगम है और सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। इसको करनेमें, समझनेमें और पानेमें कोई कठिनता है ही नहीं। इसमें करना, समझना और पाना लागू होता ही नहीं। कारण कि यह नित्यप्राप्त है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है। आत्मज्ञान जितना प्रत्यक्ष है, उतना प्रत्यक्ष यह संसार भी नहीं है। तात्पर्य है कि हमारे अनुभवमें आत्मज्ञान जितना स्पष्ट आता है, उतना स्पष्ट संसार नहीं आता। इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। हम अपने बालकपनको देखें और वर्तमान अवस्थाको देखें तो शरीर वही नहीं रहा, आदत वही नहीं रही, भाषा वही नहीं रही, व्यवहार वही नहीं रहा, स्थान वही नहीं रहा, समय वही नहीं रहा, साथी वही नहीं रहे, क्रियाएँ वही नहीं रहीं, विचार वही नहीं रहे; सब कुछ बदल गया, पर सत्तारूपसे हम स्वयं नहीं बदले, तभी हम कहते हैं कि 'मैं तो वही हूँ, जो बालकपनमें था'। तात्पर्य यह हुआ कि जो बदल गया, वह अलग स्वभाववाला है और जो नहीं बदला, वह अलग स्वभाववाला है। जो नहीं बदला, वह हमारा असली स्वरूप अर्थात् शरीरी है और जो बदल गया, वह शरीर है। यह आत्मज्ञान है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अक्षराणाम् = अक्षरोंमें
अकारः = अकार
च = और
सामासिकस्य = समासोंमें
द्वन्द्वः = द्वन्द्व समास
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ।
अक्षयः, कालः = अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल (तथा)
विश्वतोमुखः = सब ओर मुखवाला
धाता = धाता (सबका पालन-पोषण करनेवाला भी)
अहम्, एव = मैं ही हूँ।

व्याख्या—'**अक्षराणामकारोऽस्मि**'—वर्णमालामें सर्वप्रथम अकार आता है। स्वर और व्यंजन—दोनोंमें अकार मुख्य है। अकारके बिना व्यंजनोंका उच्चारण नहीं होता। इसलिये अकारको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

'**द्वन्द्वः सामासिकस्य च**'—जिससे दो या दोसे अधिक शब्दोंको मिलाकर एक शब्द बनता है, उसको समास कहते हैं। समास कई तरहके होते हैं। उनमें अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुब्रीहि और द्वन्द्व—ये चार मुख्य हैं। दो शब्दोंके समासमें यदि पहला शब्द प्रधानता रखता है तो वह 'अव्ययीभाव समास' होता है। यदि आगेका शब्द प्रधानता रखता है तो वह 'तत्पुरुष समास' होता है। यदि दोनों शब्द अन्यके वाचक होते हैं तो वह 'बहुब्रीहि समास' होता है। यदि दोनों शब्द प्रधानता रखते हैं तो वह 'द्वन्द्व समास' होता है।

द्वन्द्व समासमें दोनों शब्दोंका अर्थ मुख्य होनेसे भगवान्‌ने इसको अपनी विभूति बताया है।

'**अहमेवाक्षयः कालः**'—जिस कालका कभी क्षय नहीं होता अर्थात् जो कालातीत है और अनादि-अनन्तरूप है, वह काल भगवान् ही हैं।

सर्ग और प्रलयकी गणना तो सूर्यसे होती है, पर महाप्रलयमें जब सूर्य भी लीन हो जाता है, तब समयकी गणना परमात्मासे ही होती है*। इसलिये परमात्मा अक्षय काल हैं।

तीसवें श्लोकके '**कालः कलयतामहम्**' पदोंमें आये 'काल'में और यहाँ आये 'अक्षय काल'में क्या अन्तर है? वहाँका जो 'काल' है, वह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता,

---

*** महाप्रलयमें ब्रह्माजी लीन हो जाते हैं। महासर्गका अर्थात् ब्रह्माजीकी आयुका जितना समय होता है, उतना ही समय महाप्रलयका होता है। अतः इतने लम्बे (महाप्रलयके) समयकी गणना अक्षयकालरूप परमात्मासे ही होती है।**

बदलता रहता है। वह काल ज्योतिष-शास्त्रका आधार है और उसीसे संसारमात्रके समयकी गणना होती है। परन्तु यहाँका जो 'अक्षय काल' है, वह परमात्मस्वरूप होनेसे कभी बदलता नहीं। वह अक्षयकाल सबको खा जाता है और स्वयं ज्यों-का-त्यों ही रहता है अर्थात् इसमें कभी कोई विकार नहीं होता। उसी अक्षयकालको यहाँ भगवान्ने अपनी विभूति बताया है। आगे ग्यारहवें अध्यायमें भी भगवान्ने '**कालोऽस्मि**' (११। ३२) पदसे अक्षय कालको अपना स्वरूप बताया है।

'**धाताहं विश्वतोमुखः**'—सब ओर मुखवाले होनेसे भगवान्की दृष्टि सभी प्राणियोंपर रहती है। अतः सबका धारण-पोषण करनेमें भगवान् बहुत सावधान रहते हैं। किस प्राणीको कौन-सी वस्तु कब मिलनी चाहिये, इसका भगवान् खूब खयाल रखते हैं और समयपर उस वस्तुको पहुँचा देते हैं। इसलिये भगवान्ने अपना विभूतिरूपसे वर्णन किया है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

सर्वहरः	= सबका हरण करनेवाली	**अहम्**	= मैं हूँ	**स्मृतिः**	= स्मृति,
मृत्युः	= मृत्यु	**च**	= तथा	**मेधा**	= मेधा,
च	= और	**नारीणाम्**	= स्त्री-जातिमें	**धृतिः**	= धृति
भविष्यताम्	= भविष्यमें	**कीर्तिः**	= कीर्ति,	**च**	= और
उद्भवः	= उत्पन्न होनेवाला	**श्रीः**	= श्री,	**क्षमा**	= क्षमा (मैं हूँ)।
		वाक्	= वाक् (वाणी),		

व्याख्या—'**मृत्युः सर्वहरश्चाहम्**'—मृत्युमें हरण करनेकी ऐसी विलक्षण सामर्थ्य है कि मृत्युके बाद यहाँकी स्मृतितक नहीं रहती, सब कुछ अपहृत हो जाता है। वास्तवमें यह सामर्थ्य मृत्युकी नहीं है, प्रत्युत परमात्माकी है।

अगर सम्पूर्णका हरण करनेकी, विस्मृत करनेकी भगवत्प्रदत्त सामर्थ्य मृत्युमें न होती तो अपनेपनके सम्बन्धको लेकर जैसी चिन्ता इस जन्ममें मनुष्यको होती है, वैसी ही चिन्ता पिछले जन्मके सम्बन्धको लेकर भी होती। मनुष्य न जाने कितने जन्म ले चुका है। अगर उन जन्मोंकी याद रहती तो मनुष्यकी चिन्ताओंका, उसके मोहका कभी अन्त आता ही नहीं। परन्तु मृत्युके द्वारा विस्मृति होनेसे पूर्वजन्मोंके कुटुम्ब, सम्पत्ति आदिकी चिन्ता नहीं होती। इस तरह मृत्युमें जो चिन्ता, मोह मिटानेकी सामर्थ्य है, वह सब भगवान्की ही है।

उद्भवश्च भविष्यताम्—जैसे पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि सबका धारण-पोषण करनेवाला मैं ही हूँ, वैसे ही यहाँ बताते हैं कि सब उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका हेतु भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला मैं ही हूँ।

'**कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा**'—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों संसारभरकी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं। इनमेंसे कीर्ति, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये पाँच प्रजापति दक्षकी कन्याएँ हैं, 'श्री' महर्षि भृगुकी कन्या है और 'वाक्' ब्रह्माजीकी कन्या है।

कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों स्त्रीवाचक नामवाले गुण भी संसारमें प्रसिद्ध हैं। सद्गुणोंको लेकर संसारमें जो प्रसिद्धि है, प्रतिष्ठा है, उसे 'कीर्ति' कहते हैं।

स्थावर और जंगम—यह दो प्रकारका ऐश्वर्य होता है। जमीन, मकान, धन, सम्पत्ति आदि स्थावर ऐश्वर्य हैं और गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि जंगम ऐश्वर्य हैं। इन दोनों ऐश्वर्योंको 'श्री' कहते हैं।

जिस वाणीको धारण करनेसे संसारमें यश-प्रतिष्ठा होती है और जिससे मनुष्य पण्डित, विद्वान् कहलाता है, उसे 'वाक्' कहते हैं।

पुरानी सुनी-समझी बातकी फिर याद आनेका नाम 'स्मृति' है।

बुद्धिकी जो स्थायीरूपसे धारण करनेकी शक्ति है अर्थात् जिस शक्तिसे विद्या ठीक तरहसे याद रहती है, उस शक्तिका नाम 'मेधा' है।

मनुष्यको अपने सिद्धान्त, मान्यता आदिपर डटे रखने

तथा उनसे विचलित न होने देनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है।

दूसरा कोई बिना कारण अपराध कर दे, तो अपनेमें दण्ड देनेकी शक्ति होनेपर भी उसे दण्ड न देना और उसे लोक-परलोकमें कहीं भी उस अपराधका दण्ड न मिले—इस तरहका भाव रखते हुए उसे माफ कर देनेका नाम 'क्षमा' है।

कीर्ति, श्री और वाक्—ये तीन प्राणियोंके बाहर प्रकट होनेवाली विशेषताएँ हैं तथा स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये चार प्राणियोंके भीतर प्रकट होनेवाली विशेषताएँ हैं। इन सातों विशेषताओंको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

यहाँ जो विशेष गुणोंको विभूतिरूपसे कहा है, उसका तात्पर्य केवल भगवान्‌की तरफ लक्ष्य करानेमें है। किसी व्यक्तिमें ये गुण दिखायी दें तो उस व्यक्तिकी विशेषता न मानकर भगवान्‌की ही विशेषता माननी चाहिये और भगवान्‌की ही याद आनी चाहिये। यदि ये गुण अपनेमें दिखायी दें तो इनको भगवान्‌के ही मानने चाहिये, अपने नहीं। कारण कि यह दैवी-(भगवान्‌की-) सम्पत्ति है, जो भगवान्‌से ही प्रकट हुई है। इन गुणोंको अपना मान लेनेसे अभिमान पैदा होता है, जिससे पतन हो जाता है; क्योंकि अभिमान सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका जनक है।

साधकोंको जिस-किसीमें जो कुछ विशेषता, सामर्थ्य दीखे, उसे उस वस्तु-व्यक्तिका न मानकर भगवान्‌की ही मानना चाहिये। जैसे, लोमश ऋषिके शापसे काकभुशुण्डि ब्राह्मणसे चाण्डाल पक्षी बन गये, पर उनको न भय हुआ, न किसी प्रकारकी दीनता आयी और न कोई विचार ही हुआ, प्रत्युत उनको प्रसन्नता ही हुई। कारण कि उन्होंने इसमें ऋषिका दोष न मानकर भगवान्‌की प्रेरणा ही मानी—**सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥** (मानस ७। ११३। १)। ऐसे ही मनुष्य सब वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके मूलमें भगवान्‌को देखने लगे तो हर समय आनन्द-ही-आनन्द रहेगा।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

साम्नाम्	= गायी जानेवाली श्रुतियोंमें	**छन्दसाम्**	= सब छन्दोंमें	**मार्गशीर्षः**	= मार्गशीर्ष (और)
बृहत्साम	= बृहत्साम	**गायत्री**	= गायत्री छन्द	**ऋतूनाम्**	= छः ऋतुओंमें
तथा	= और	**अहम्**	= मैं हूँ।	**कुसुमाकरः**	= वसन्त
		मासानाम्	= बारह महीनोंमें	**अहम्**	= मैं हूँ।

व्याख्या—**'बृहत्साम तथा साम्नाम्'**—सामवेदमें बृहत्साम नामक एक गीति है। इसके द्वारा इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है। अतिरात्रयागमें यह एक पृष्ठस्तोत्र है। सामवेदमें सबसे श्रेष्ठ होनेसे इस बृहत्सामको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है*।

'गायत्री छन्दसामहम्'—वेदोंकी जितनी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उनमें गायत्रीकी मुख्यता है। गायत्रीको वेद-जननी कहते हैं; क्योंकि इसीसे वेद प्रकट हुए हैं। स्मृतियों और शास्त्रोंमें गायत्रीकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। गायत्रीमें स्वरूप, प्रार्थना और ध्यान—तीनों परमात्माके ही होनेसे इससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान्‌ने गायत्रीको अपनी विभूति बताया है।

'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'—जिस अन्नसे सम्पूर्ण प्रजा जीवित रहती है, उस (वर्षासे होनेवाले) अन्नकी उत्पत्ति मार्गशीर्ष महीनेमें होती है। इस महीनेमें नये अन्नसे यज्ञ भी किया जाता है। महाभारत-कालमें नया वर्ष मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होता था। इन विशेषताओंके कारण भगवान्‌ने मार्गशीर्षको अपनी विभूति बताया है।

'ऋतूनां कुसुमाकरः'—वसन्त-ऋतुमें बिना वर्षाके ही वृक्ष, लता आदि पत्र-पुष्पोंसे युक्त हो जाते हैं। इस ऋतुमें न अधिक गरमी रहती है और न अधिक सरदी। इसलिये भगवान्‌ने वसन्त-ऋतुको अपनी विभूति कहा है।

इन सब विभूतियोंमें जो महत्ता, विशेषता दीखती है, वह केवल भगवान्‌की ही है। अतः चिन्तन केवल भगवान्‌का ही होना चाहिये।

*** इस (दसवें) अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने वेदोंमें 'सामवेद' को अपनी विभूति बताया है और यहाँ (पैंतीसवें श्लोकमें) भगवान्‌ने सामवेदमें भी 'बृहत्साम' को अपनी विभूति बताया है।**

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६ ॥

छलयताम्	= छल करनेवालोंमें	**अस्मि**	= हूँ।	**सत्त्ववताम्**	= (और) सात्त्विक मनुष्योंका
द्यूतम्	= जुआ (और)	**जयः**	= (जीतनेवालोंकी) विजय	**सत्त्वम्**	= सात्त्विक भाव
तेजस्विनाम्	= तेजस्वियोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ।	**अहम्**	= मैं
तेजः	= तेज	**व्यवसायः**	= (निश्चय करने-वालोंका) निश्चय	**अस्मि**	= हूँ।
अहम्	= मैं				

व्याख्या—'**द्यूतं छलयतामस्मि**'—छल करके दूसरोंके राज्य, वैभव, धन, सम्पत्ति आदिका (सर्वस्वका) अपहरण करनेकी विशेष सामर्थ्य रखनेवाली जो विद्या है, उसको जूआ कहते हैं। इस जूएको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

शंका—यहाँ भगवान्ने छल करनेवालोंमें जूएको अपनी विभूति बताया है तो फिर इसके खेलनेमें क्या दोष है? अगर दोष नहीं है तो फिर शास्त्रोंने इसका निषेध क्यों किया है।

समाधान—'ऐसा करो और ऐसा मत करो'—यह शास्त्रोंका विधि-निषेध कहलाता है। ऐसे विधि-निषेधका वर्णन यहाँ नहीं है। यहाँ तो विभूतियोंका वर्णन है। 'मैं आपका चिन्तन कहाँ-कहाँ करूँ?'—अर्जुनके इस प्रश्नके अनुसार भगवान्ने विभूतियोंके रूपमें अपने चिन्तनकी बात ही बतायी है अर्थात् भगवान्का चिन्तन सुगमतासे हो जाय, इसका उपाय विभूतियोंके रूपमें बताया है। अतः जिस समुदायमें मनुष्य रहता है, उस समुदायमें जहाँ दृष्टि पड़े, वहाँ संसारको न देखकर भगवान्को ही देखे; क्योंकि भगवान् कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरेसे व्याप्त है अर्थात् इस जगत्में मैं ही व्याप्त हूँ, परिपूर्ण हूँ (गीता—नवें अध्यायका चौथा श्लोक)।

जैसे किसी साधकका पहले जूआ खेलनेका व्यसन रहा हो और अब वह भगवान्के भजनमें लगा है। उसको कभी जूआ याद आ जाय तो उस जूएका चिन्तन छोड़नेके लिये वह उसमें भगवान्का चिन्तन करे कि इस जूएके खेलमें हार-जीतकी जो विशेषता है, वह भगवान्की ही है। इस प्रकार जूएमें भगवान्को देखनेसे जूएका चिन्तन तो छूट जायगा और भगवान्का चिन्तन होने लगेगा। ऐसे ही किसी दूसरेको जूआ खेलते देखा और उसमें हार-जीतको देखा, तो हराने और जितानेकी शक्तिको जूएकी न मानकर भगवान्की ही माने। कारण कि खेल तो समाप्त हो रहा है और समाप्त हो जायगा, पर परमात्मा उसमें निरन्तर रहते हैं और रहेंगे। इस प्रकार जूआ आदिको विभूति कहनेका तात्पर्य भगवान्के चिन्तनमें है[1]।

जीव स्वयं साक्षात् परमात्माका अंश है, पर इसने भूलसे असत् शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है। अगर यह संसारमें दीखनेवाली महत्ता, विशेषता, शोभा आदिको परमात्माकी ही मानकर परमात्माका चिन्तन करेगा तो यह परमात्माकी तरफ जायगा अर्थात् इसका उद्धार हो जायगा (गीता—आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); और अगर महत्ता, विशेषता, शोभा आदिको संसारकी मानकर संसारका चिन्तन करेगा तो यह संसारकी तरफ जायगा अर्थात् इसका पतन हो जायगा (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। इसलिये परमात्माका चिन्तन करते हुए परमात्माको तत्त्वसे जाननेके उद्देश्यसे ही इन विभूतियोंका वर्णन किया गया है।

'**तेजस्तेजस्विनामहम्**'[2]—महापुरुषोंके उस दैवी-सम्पत्तिवाले प्रभावका नाम तेज है, जिसके सामने पापी पुरुष भी पाप करनेमें हिचकते हैं। इस तेजको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

'**जयोऽस्मि**'—विजय प्रत्येक प्राणीको प्रिय लगती है। विजयकी यह विशेषता भगवान्की है। इसलिये विजयको

१-किसी ग्रन्थके किसी अंशपर शंका हो, तो उस ग्रन्थका आदिसे अन्ततक अध्ययन करके उसमें वक्ताके उद्देश्यको, लक्ष्यको और आशयको समझनेसे उस शंकाका समाधान हो जाता है।

२-सातवें अध्यायमें जहाँ भगवान्ने कारणरूपसे विभूतियोंका वर्णन किया है, वहाँ भी यही पद आया है—'तेजस्तेजस्विनामहम्' (७। १०)।

भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

अपने मनके अनुसार अपनी विजय होनेसे जो सुख होता है, उसका उपभोग न करके उसमें भगवद्‌बुद्धि करनी चाहिये कि विजयरूपसे भगवान् आये हैं।

'व्यवसायोऽस्मि'—व्यवसाय नाम एक निश्चयका है। इस एक निश्चयकी भगवान्‌ने गीतामें बहुत महिमा गायी है; जैसे—कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है (दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक); भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त पुरुषोंकी निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती (दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक) 'अब तो मैं केवल भगवान्‌का भजन ही करूँगा'—इस एक निश्चयके बलपर दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्यको भी भगवान् साधु बताते हैं (नवें अध्यायका तीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार भगवान्‌की तरफ चलनेका जो निश्चय है, उसको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

निश्चयको अपनी विभूति बतानेका तात्पर्य है कि साधकको ऐसा निश्चय तो रखना ही चाहिये, पर इसको अपना गुण नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत ऐसा मानना चाहिये कि यह भगवान्‌की विभूति है और उन्हींकी कृपासे मुझे प्राप्त हुई है।

'सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'—सात्त्विक मनुष्योंमें जो सत्त्व गुण है, जो सात्त्विक भाव और आचरण है, वह भी भगवान्‌की विभूति है। तात्पर्य है कि रजोगुण और तमोगुणको दबाकर जो सात्त्विक भाव बढ़ता है, उस सात्त्विक भावको साधक अपना गुण न मानकर भगवान्‌की विभूति माने।

तेज, व्यवसाय, सात्त्विक भाव आदि अपनेमें अथवा दूसरोंमें देखनेमें आयें तो साधक इनको अपना अथवा किसी वस्तु-व्यक्तिका गुण न माने, प्रत्युत भगवान्‌का ही गुण माने। उन गुणोंकी तरफ दृष्टि जानेपर उनमें तत्त्वतः भगवान्‌को देखकर भगवान्‌को ही याद करना चाहिये।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णीनाम्	= वृष्णिवंशियोंमें	**धनञ्जयः**	= अर्जुन	**कवीनाम्**	= कवियोंमें
वासुदेवः	= वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण (और)	**अस्मि**	= मैं हूँ।	**उशना, कविः**	= कवि शुक्राचार्य
		मुनीनाम्	= मुनियोंमें	**अपि**	= भी
पाण्डवानाम्	= पाण्डवोंमें	**व्यासः**	= वेदव्यास (और)	**अहम्**	= मैं हूँ।

व्याख्या—**'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'**—यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका वर्णन नहीं है, प्रत्युत वृष्णिवंशियोंमें अपनी जो विशेषता है, उस विशेषताको लेकर भगवान्‌ने अपना विभूतिरूपसे वर्णन किया है।

यहाँ भगवान्‌का अपनेको विभूतिरूपसे कहना तो संसारकी दृष्टिसे है, स्वरूपकी दृष्टिसे तो वे साक्षात् भगवान् ही हैं। इस अध्यायमें जितनी विभूतियाँ आयी हैं, वे सब संसारकी दृष्टिसे ही हैं। तत्त्वतः तो वे परमात्मस्वरूप ही हैं।

'पाण्डवानां धनंजयः'—पाण्डवोंमें अर्जुनकी जो विशेषता है, वह विशेषता भगवान्‌की ही है। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको अपनी विभूति बताया है।

'मुनीनामप्यहं व्यासः'—वेदका चार भागोंमें विभाग, पुराण, उपपुराण, महाभारत आदि जो कुछ संस्कृत वाङ्मय है, वह सब-का-सब व्यासजीकी कृपाका ही फल है। आज भी कोई नयी रचना करता है तो उसे भी व्यासजीका ही उच्छिष्ट माना जाता है। कहा भी है—**'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।'** इस तरह सब मुनियोंमें व्यासजी मुख्य हैं। इसलिये भगवान्‌ने व्यासजीको अपनी विभूति बताया है। तात्पर्य है कि व्यासजीमें विशेषता दीखते ही भगवान्‌की याद आनी चाहिये कि यह सब विशेषता भगवान्‌की है और भगवान्‌से ही आयी है।

'कवीनामुशना कविः'—शास्त्रीय सिद्धान्तोंको ठीक तरहसे जाननेवाले जितने भी पण्डित हैं, वे सभी 'कवि' कहलाते हैं। उन सब कवियोंमें शुक्राचार्यजी मुख्य हैं। शुक्राचार्यजी संजीवनी विद्याके ज्ञाता हैं। इनकी शुक्रनीति प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनेक गुणोंके कारण भगवान्‌ने इन्हें अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंकी महत्ता देखकर कहीं भी बुद्धि अटके, तो उस महत्ताको भगवान्‌की ही माननी चाहिये; क्योंकि वह महत्ता एक क्षण भी स्थायीरूपसे न टिकनेवाले संसारकी नहीं हो सकती।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दमयताम्	= दमन करनेवालोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ।	**ज्ञानवताम्**	= ज्ञानवानोंमें
दण्डः	= दण्डनीति (और)	**गुह्यानाम्**	= गोपनीय भावोंमें	**ज्ञानम्**	= ज्ञान
जिगीषताम्	= विजय चाहने-वालोंमें	**मौनम्**	= मौन	**अहम्**	= मैं
		अस्मि	= मैं हूँ	**एव**	= ही
नीतिः	= नीति	**च**	= और	**अस्मि**	= हूँ।

व्याख्या—**'दण्डो दमयतामस्मि'**—दुष्टोंको दुष्टतासे बचाकर सन्मार्गपर लानेके लिये दण्डनीति मुख्य है। इसलिये भगवान्‌ने इसको अपनी विभूति बताया है।

'नीतिरस्मि जिगीषताम्'—नीतिका आश्रय लेनेसे ही मनुष्य विजय प्राप्त करता है और नीतिसे ही विजय ठहरती है। इसलिये नीतिको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है।

'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्'—गुप्त रखनेयोग्य जितने भाव हैं, उन सबमें मौन (वाणीका संयम अर्थात् चुप रहना) मुख्य है; क्योंकि चुप रहनेवालेके भावोंको हरेक व्यक्ति नहीं जान सकता। इसलिये गोपनीय भावोंमें भगवान्‌ने मौनको अपनी विभूति बताया है।

'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'—संसारमें कला-कौशल आदिको जाननेवालोंमें जो ज्ञान (जानकारी) है, वह भगवान्‌की विभूति है। तात्पर्य है कि ऐसा ज्ञान अपनेमें और दूसरोंमें देखनेमें आये, तो इसे भगवान्‌की ही विभूति माने।

यहाँ सामान्य शास्त्रज्ञानसे लेकर तत्त्वज्ञानतक सब-का-सब ज्ञान **'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'** के अन्तर्गत ले सकते हैं।

इन सब विभूतियोंमें जो विलक्षणता है, वह इनकी व्यक्तिगत नहीं है, प्रत्युत परमात्माकी ही है। इसलिये परमात्माकी तरफ ही दृष्टि जानी चाहिये।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

च	= और	**अपि**	= भी	**अस्ति**	= है,
अर्जुन	= हे अर्जुन!	**अहम्**	= मैं ही हूँ; (क्योंकि)	**यत्**	= जो
सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंका			**मया**	= मेरे
यत्	= जो	**तत्**	= वह	**विना**	= बिना
बीजम्	= बीज (मूल कारण) है,	**चराचरम्**	= चर-अचर (कोई)	**स्यात्**	= हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।
		भूतम्	= प्राणी		
तत्	= वह बीज	**न**	= नहीं		

व्याख्या—[भगवान्‌ने बीसवें श्लोकसे उनतालीसवें श्लोकतक अपनी कुल बयासी विभूतियोंका वर्णन किया है; जैसे—बीसवें श्लोकमें चार, इक्कीसवें श्लोकमें चार, बाईसवें श्लोकमें चार, तेईसवें श्लोकमें चार, चौबीसवें श्लोकमें तीन, पचीसवें श्लोकमें चार, छब्बीसवें श्लोकमें चार, सत्ताईसवें श्लोकमें तीन, अट्ठाईसवें श्लोकमें चार, उनतीसवें श्लोकमें चार, तीसवें श्लोकमें चार, इकतीसवें श्लोकमें चार, बत्तीसवें श्लोकमें पाँच, तैंतीसवें श्लोकमें चार, चौंतीसवें श्लोकमें नौ, पैंतीसवें श्लोकमें चार, छत्तीसवें श्लोकमें पाँच, सैंतीसवें श्लोकमें चार, अड़तीसवें श्लोकमें चार और उनतालीसवें श्लोकमें एक विभूतिका वर्णन किया है।]

'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन'—यहाँ भगवान् समस्त विभूतियोंका सार बताते हैं कि सबका बीज अर्थात् कारण मैं ही हूँ। बीज कहनेका तात्पर्य है कि इस संसारका निमित्त कारण भी मैं हूँ और उपादान कारण भी मैं हूँ अर्थात् संसारको बनानेवाला भी मैं हूँ और संसाररूपसे बननेवाला भी मैं हूँ।

भगवान्‌ने सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें अपनेको 'सनातन बीज', नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अव्यय

बीज' और यहाँ केवल 'बीज' बताया है। इसका तात्पर्य है कि मैं ज्यों-का-त्यों रहता हुआ ही संसाररूपसे प्रकट हो जाता हूँ और संसाररूपसे प्रकट होनेपर भी मैं उसमें ज्यों-का-त्यों व्यापक रहता हूँ।

'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्'—संसारमें जड-चेतन, स्थावर-जंगम, चर-अचर आदि जो कुछ भी देखनेमें आता है, वह सब मेरे बिना नहीं हो सकता। सब मेरेसे ही होते हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ। इस वास्तविक मूल तत्त्वको जानकर साधककी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जहाँ-कहीं जायँ अथवा मन-बुद्धिमें संसारकी जो कुछ बात याद आये, उन सबको भगवान्का ही स्वरूप माने। ऐसा माननेसे साधकको भगवान्का ही चिन्तन होगा, दूसरेका नहीं; क्योंकि तत्त्वसे भगवान्के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं।

यहाँ भगवान्ने कहा है कि मेरे सिवाय चर-अचर कुछ नहीं है अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ और अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें कहा है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सिवाय कुछ नहीं है अर्थात् सब गुणोंका ही कार्य है। इस भेदका तात्पर्य है कि यहाँ भक्तियोगका प्रकरण है। इस प्रकरणमें अर्जुनने प्रश्न किया है कि मैं आपका कहाँ-कहाँ चिन्तन करूँ? इसलिये उत्तरमें भगवान्ने कहा कि तेरे मनमें जिस-जिसका चिन्तन होता है, वह सब मैं ही हूँ। परन्तु वहाँ (१८। ४० में) सांख्ययोगका प्रकरण है। सांख्ययोगमें प्रकृति और पुरुष—दोनोंके विवेककी तथा प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी प्रधानता है। प्रकृतिका कार्य होनेसे मात्र सृष्टि त्रिगुणमयी है[1]। इसलिये वहाँ तीनों गुणोंसे रहित कोई नहीं है—ऐसा कहा गया है।

विशेष बात

भगवान्ने **'अहमात्मा गुडाकेश'** (१०। २०)से लेकर **'बीजं तदहमर्जुन'** (१०। ३९) तक जो बयासी विभूतियाँ कही हैं, उनका तात्पर्य छोटा-बड़ा, उत्तम-मध्यम-अधम बतानेमें नहीं है, प्रत्युत यह बतानेमें है कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सामने आये तो उसमें भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये[2]। कारण कि मूलमें अर्जुनका प्रश्न यही था कि आपका चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ और किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? (सत्रहवाँ श्लोक)। उस प्रश्नके उत्तरमें चिन्तन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनी विभूतियोंका संक्षिप्त वर्णन किया है।

जैसे यहाँ गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे अपनी विभूतियाँ कही हैं, ऐसे ही श्रीमद्भागवतमें (ग्यारहवें स्कन्धके सोलहवें अध्यायमें) भगवान्ने उद्धवजीसे अपनी विभूतियाँ कही हैं। गीतामें कही कुछ विभूतियाँ भागवतमें नहीं आयी हैं और भागवतमें कही कुछ विभूतियाँ गीतामें नहीं आयी हैं। गीता और भागवतमें कही गयी कुछ विभूतियोंमें तो समानता है, पर कुछ विभूतियोंमें दोनों जगह अलग-अलग बात आयी है; जैसे—गीतामें भगवान्ने पुरोहितोंमें बृहस्पतिको अपनी विभूति बताया है—**'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्'**(१०। २४) और भागवतमें भगवान्ने पुरोहितोंमें वसिष्ठजीको अपनी विभूति बताया है—**'पुरोधसां वसिष्ठोऽहम्'**(११। १६। २२)। अब शंका यह होती है कि गीता और भागवतकी विभूतियोंका वक्ता एक होनेपर भी दोनोंमें एक समान बात क्यों नहीं मिलती? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें विभूतियाँ कहनेमें भगवान्का तात्पर्य किसी वस्तु, व्यक्ति आदिकी महत्ता बतानेमें नहीं है, प्रत्युत अपना चिन्तन करानेमें है। अतः गीता और भागवत—दोनों ही जगह कही हुई विभूतियोंमें भगवान्का चिन्तन करना ही मुख्य है। इस दृष्टिसे जहाँ-जहाँ विशेषता दिखायी दे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता न देखकर केवल भगवान्की ही विशेषता देखनी चाहिये और भगवान्की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये।

परिशिष्ट भाव—सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिके चार खानि (स्थान) हैं—**१. जरायुज**—जेरके साथ पैदा होनेवाले मनुष्य, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि; **२. अण्डज**—अण्डेसे पैदा होनेवाले पक्षी, साँप, गिलहरी, छिपकली आदि; **३. उद्भिज्ज**—पृथ्वीका भेदन करके उपरकी तरफ निकलनेवाले वृक्ष, लता, दूब, घास, अनाज आदि; और **४. स्वेदज**—

१-इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम्॥ (श्रीमद्भा० ११। २८। ७)

२-यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

(महानारायणोपनिषद् ११। ६)

'यह जो कुछ भी जगत् देखने या सुननेमें आता है, इस सबको बाहर और भीतरसे व्याप्त करके भगवान् नारायण स्थित हैं।'

पसीनेसे पैदा होनेवाले जूँ, लीख आदि तथा वर्षामें जमीनसे पैदा होनेवाले केंचुए आदि जीव। इन चार स्थानोंसे चौरासी लाख योनियाँ पैदा होती हैं। इन योनियोंमें दो तरहके जीव होते हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष, लता, दूब, घास आदि एक ही जगह रहनेवाले जीव 'स्थावर' हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जीव 'जंगम' हैं। इन जीवोंमें भी कोई जलमें रहनेवाले हैं, कोई आकाशमें रहनेवाले हैं और कोई भूमिपर रहनेवाले हैं। इन चौरासी लाख योनियोंके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, पूतना, बालग्रह आदि कई योनियाँ हैं। इन सम्पूर्ण योनियोंके बीज अर्थात् मूल कारण भगवान् हैं। तात्पर्य है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर उन सबका बीज एक ही है! इसलिये सब रूपोंमें एक भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

जैसे बीजसे खेती होती है, ऐसे ही एक भगवान्से यह सम्पूर्ण संसार हुआ है। जिस प्रकार बाजरीसे बाजरी ही पैदा होती है, गेहूँसे गेहूँ ही होता है, पशुसे पशु ही होते हैं, मनुष्यसे मनुष्य ही होते हैं, इसी प्रकार भगवान्से भगवान् ही होते हैं अर्थात् संसाररूपसे भगवान् ही प्रकट होते हैं! जैसे सोनेसे बने गहने सोनारूप ही होते हैं, लोहेसे बने औजार लोहारूप ही होते हैं, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टीरूप ही होते हैं, रुईसे बने वस्त्र रुईरूप ही होते हैं, ऐसे ही भगवान्से होनेवाला संसार भी भगवद्रूप ही है।

लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती पैदा होती है। जैसे, गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है, ऐसा नहीं होता कि एक ही बीजसे गेहूँ भी पैदा हो जाय, बाजरी भी पैदा हो जाय, मोठ भी पैदा हो जाय, मूँग भी पैदा हो जाय। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्रूपी बीज इतना विलक्षण बीज है कि उस एक ही बीजसे अनेक प्रकारकी सृष्टि पैदा हो जाती है (गीता—चौदहवें अध्यायका चौथा श्लोक) और सब प्रकारकी सृष्टि पैदा होनेपर भी उसमें कोई विकृति नहीं आती, वह ज्यों-का-त्यों रहता है; क्योंकि वह बीज 'अव्यय' है (गीता—नवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक) और 'सनातन' है। (गीता—सातवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंके कथनका उपसंहार करते हैं।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

परन्तप	= हे परन्तप अर्जुन!	**न**	= नहीं	**प्रोक्तः**	= कहा है,
मम	= मेरी	**अस्ति**	= है।	**एषः**	= यह
दिव्यानाम्	= दिव्य	**मया**	= मैंने (तुम्हारे सामने अपनी)	**तु**	= तो (केवल)
विभूतीनाम्	= विभूतियोंका	**विभूतेः**	= विभूतियोंका जो	**उद्देशतः**	= संक्षेपसे नाममात्र कहा है।
अन्तः	= अन्त	**विस्तरः**	= विस्तार		

व्याख्या—**'मम दिव्यानां* विभूतीनाम्'**—'दिव्य' शब्द अलौकिकता, विलक्षणताका द्योतक है। साधकका मन जहाँ चला जाय, वहीं भगवान्का चिन्तन करनेसे यह दिव्यता वहीं प्रकट हो जायगी; क्योंकि भगवान्के समान दिव्य कोई है ही नहीं। देवता जो दिव्य कहे जाते हैं, वे भी नित्य ही भगवान्के दर्शनकी इच्छा रखते हैं,—**'नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः'** (गीता ११। ५२)। इससे यही सिद्ध होता है कि दिव्यातिदिव्य तो एक भगवान् ही हैं। इसलिये भगवान्की जितनी भी विभूतियाँ हैं, तत्त्वसे वे सभी दिव्य हैं। परन्तु साधकके सामने उन विभूतियोंकी दिव्यता तभी प्रकट होती है, जब उसका उद्देश्य केवल एक भगवत्प्राप्तिका ही होता है और भगवत्तत्त्व जाननेके लिये राग-द्वेषसे रहित होकर उन विभूतियोंमें केवल भगवान्का ही चिन्तन करता है।

*** अर्जुनने पहले प्रार्थनाके रूपमें पूछा था—'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः' (१०। १६)। भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन आरम्भ करते हुए कहा—'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः' (१०। १९)। और यहाँ उसका उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप' (१०। ४०)। इस तरह प्रार्थना-(प्रश्न-) में, उपक्रममें और उपसंहारमें—तीनों जगह 'दिव्य' पदकी एकता है।**

'नान्तोऽस्ति'—भगवान्‌की दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। कारण कि भगवान् अनन्त हैं तो उनकी विभूतियाँ, गुण, लीलाएँ आदि भी अनन्त हैं—**'हरि अनंत हरि कथा अनंता'** (मानस १। १४०। ५)। इसलिये भगवान्‌ने विभूतियोंके उपक्रममें और उपसंहारमें—दोनों ही जगह कहा है कि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंके विषयमें कहा है कि 'मेरे द्वारा परमाणुओंकी संख्या समयसे गिनी जा सकती है, पर करोड़ों ब्रह्माण्डोंको रचनेवाली मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं पाया जा सकता[1]।'

भगवान् अनन्त, असीम और अगाध हैं। संख्याकी दृष्टिसे भगवान् 'अनन्त' हैं अर्थात् उनकी गणना परार्द्धतक नहीं हो सकती। सीमाकी दृष्टिसे भगवान् 'असीम' हैं। सीमा दो तरहकी होती है—कालकृत और देशकृत। अमुक समय पैदा हुआ और अमुक समयतक रहेगा—यह कालकृत सीमा हुई; और यहाँसे लेकर वहाँतक—यह देशकृत सीमा हुई। भगवान् ऐसे सीमामें बँधे हुए नहीं हैं। तलकी दृष्टिसे भगवान् 'अगाध' हैं। अगाध शब्दमें 'गाध' नाम 'तल' का है; जैसे, जलमें नीचेका तल होता है। अगाधका अर्थ हुआ—जिसका तल है ही नहीं, ऐसा अथाह गहरा।

'एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया'— अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा कि आप अपनी दिव्य विभूतियोंको विस्तारसे कहिये, तो उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है। ऐसा कहकर भी भगवान्‌ने अर्जुनकी जिज्ञासाके कारण कृपापूर्वक अपनी विभूतियोंका विस्तारसे वर्णन किया। परन्तु यह विस्तार केवल लौकिक दृष्टिसे ही है। इसलिये भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि मैंने यहाँ जो विभूतियोंका विस्तार किया है, वह विस्तार केवल तेरी दृष्टिसे ही है। मेरी दृष्टिसे तो यह विस्तार भी वास्तवमें बहुत ही संक्षेपसे (नाममात्रका) है; क्योंकि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है।

[इस अध्यायमें बतायी गयी सम्पूर्ण विभूतियाँ सबके काम नहीं आतीं, प्रत्युत ऐसी अनेक दूसरी विभूतियाँ भी काममें आती हैं, जिनका यहाँ वर्णन नहीं हुआ है। अतः साधकको चाहिये कि जहाँ-जहाँ किसी विशेषताको लेकर मन खिंचता हो, वहाँ-वहाँ उस विशेषताको भगवान्‌की ही माने और भगवान्‌का ही चिन्तन करे; चाहे वह विभूति यहाँ भगवान्‌द्वारा कही गयी हो अथवा न कही गयी हो।]

परिशिष्ट भाव—गीतामें भगवान्‌ने कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ (सातवें अध्यायके आठवेंसे बारहवें श्लोकतक), कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ (नवें अध्यायके सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक), भावरूपसे बीस विभूतियाँ (दसवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक), व्यक्तिरूपसे पचीस विभूतियाँ (दसवें अध्यायका छठा श्लोक), मुख्यरूपसे तथा अधिपतिरूपसे इक्यासी विभूतियाँ (दसवें अध्यायके बीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक), साररूपसे एक विभूति (दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक) और प्रभावरूपसे तेरह विभूतियाँ (पन्द्रहवें अध्यायके बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक) बतायी हैं। इन सबका तात्पर्य यही है कि एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। सब रूपोंमें एक भगवान्-ही-भगवान् हैं। सब भगवान्‌का ही समग्ररूप है। असत् परिवर्तनशील है और सत् अपरिवर्तनशील है। ये सत् (परा) और असत् (अपरा)—दोनों ही भगवान्‌की विभूतियाँ हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। तात्पर्य है कि विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। अतः जिसमें हमारा आकर्षण होता है, वह वास्तवमें भगवान्‌का ही आकर्षण है। परंतु भोगबुद्धिके कारण वह आकर्षण भगवत्प्रेममें परिणत न होकर काम, आसक्तिमें परिणत हो जाता है, जो संसारमें बाँधनेवाला है।

गीतामें भगवान्‌ने ब्रह्मको भी **'माम्'** (अपना स्वरूप) कहा है (आठवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), देवताओंको भी **'माम्'** कहा है (नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक), इन्द्रको भी **'माम्'** कहा है (नवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक), उत्तम गतिको भी **'माम्'** कहा है (सातवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), क्षेत्रज्ञ-(जीवात्मा-)को भी **'माम्'** कहा है (तेरहवें अध्यायका दूसरा श्लोक), सबके शरीरमें रहनेवाले अन्तर्यामीको भी **'माम्'** कहा है (सोलहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), सम्पूर्ण प्राणियोंके बीजको भी **'माम्'** कहा है (सातवें अध्यायका दसवाँ श्लोक) आदि। तात्पर्य है कि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्‌का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्‌की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है[2]। ये सब-की-सब

१-संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया। न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः॥ (श्रीमद्भा० ११। १६। ३९)

२-सर्वे च देवा मनवस्समस्तास्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च। इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः॥
(विष्णुपुराण ३। १। ४६)

विभूतियाँ अव्यय (अविनाशी) हैं।

यहाँ शंका होती है कि जब सम्पूर्ण संसार ही भगवत्स्वरूप है, तो फिर विभूति-वर्णनका तात्पर्य क्या है? इसका समाधान है कि अर्जुनका प्रश्न ही यही था कि मैं कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करूँ (इसी अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)? वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का समग्ररूप ही है, पर मनुष्यको जिस वस्तुमें विशेषता दीखती है, उस वस्तुमें भगवान्‌को देखना, उनका चिन्तन करना सुगम पड़ता है; क्योंकि मनमें उसकी विशेषता अंकित रहनेसे मन स्वतः उसमें जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा कि सम्पूर्ण प्राणियोंका एवं सृष्टिमात्रका आदि, मध्य तथा अन्त मैं ही हूँ (दसवें अध्यायका बीसवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक), सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं ही हूँ, मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है (इसी अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक), और सम्पूर्ण जगत् मेरे एक अंशमें स्थित है (इसी अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक), फिर भगवान्‌के सिवाय बाकी क्या रहा? कुछ भी बाकी नहीं रहा! सब कुछ भगवान् ही हुए—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)।

गीतामें विभूति-वर्णन गौण नहीं है, प्रत्युत यह भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है, जिसकी सिद्धि **'वासुदेवः सर्वम्'** में होती है। कारण कि संसारमें हमें जहाँ भी कोई विशेषता दिखायी दे, उसको भगवान्‌की ही विशेषता माननेसे हमारा आकर्षण उस वस्तु, व्यक्ति आदिमें न होकर भगवान्‌में ही होगा। जड़ताका आकर्षण, प्रियता ही मनुष्यको बाँधनेवाली है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। अतः विभूति-वर्णनका तात्पर्य संसारकी सत्ता, महत्ता और प्रियताको हटाकर मनुष्यको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कराना है, जो कि गीताका खास ध्येय है।

संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध ही मनुष्यको बाँधनेवाला है। इसलिये संसारमें जहाँ मनुष्यका ज्यादा आकर्षण होता है, वहाँ उसकी भोगबुद्धि न होकर भगवद्‌बुद्धि हो जायगी तो उसके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध न होकर भगवान्‌की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध हो जायगा*।

सम्बन्ध—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से विभूति और योग बतानेकी प्रार्थना की। इसपर भगवान्‌ने पहले अपनी विभूतियोंको बताया और अब आगेके श्लोकमें योग बताते हैं।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

यत्, यत्	= जो-जो	**सत्त्वम्**	= प्राणी तथा पदार्थ है,	**तेजः**	= तेज-(योग अर्थात् सामर्थ्य-)के
विभूतिमत्	= ऐश्वर्ययुक्त,	**तत्, तत्**	= उस-उसको	**अंशसम्भवम्**	= अंशसे उत्पन्न हुई
श्रीमत्	= शोभायुक्त	**त्वम्**	= तुम	**अवगच्छ**	= समझो।
वा	= और	**मम**	= मेरे		
ऊर्जितम्	= बलयुक्त	**एव**	= ही		

व्याख्या—**'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा'**—संसारमात्रमें जिस-किसी सजीव-निर्जीव वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, गुण, भाव, क्रिया आदिमें जो कुछ ऐश्वर्य दीखे, शोभा या सौन्दर्य दीखे, बलवत्ता दीखे तथा जो कुछ भी विशेषता, विलक्षणता, योग्यता दीखे, उन सबको मेरे तेजके किसी एक अंशसे उत्पन्न हुई जानो। तात्पर्य है कि उनमें वह विलक्षणता मेरे योगसे, सामर्थ्यसे, प्रभावसे ही आयी है—ऐसा तुम समझो—**'तत्तदेवावगच्छ**

'समस्त देवता, मनु, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र और देवताओंके अधिपति इन्द्र तथा इनके सिवाय जो कुछ है—ये सब-की-सब भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं।'

*** 'नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्। स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥**

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकारसहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।

त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।' मेरे बिना कहीं भी और कुछ भी विलक्षणता नहीं है।

मनुष्यको जिस-जिसमें विशेषता मालूम दे, उस-उसमें भगवान्‌की ही विशेषता मानते हुए भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये। अगर भगवान्‌को छोड़कर दूसरे वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता दीखती है, तो यह पतनका कारण है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने मनमें यदि पतिके सिवाय दूसरे किसी पुरुषकी विशेषता रखती है, तो उसका पातिव्रत्य भंग हो जाता है, ऐसे ही भगवान्‌के सिवाय दूसरी किसी वस्तुकी विशेषताको लेकर मन खिंचता है, तो व्यभिचार-दोष आ जाता है अर्थात् भगवान्‌के अनन्यभावका व्रत भंग हो जाता है।

संसारमें छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदिमें जो भी महत्ता, सुन्दरता, सुखरूपता दीखती है और जो कुछ लाभरूप, हितरूप दीखता है, वह वास्तवमें सांसारिक वस्तुका है ही नहीं। अगर उस वस्तुका होता तो वह सब समय रहता और सबको दीखता, पर वह न तो सब समय रहता है और न सबको दीखता है। इससे सिद्ध होता है कि वह उस वस्तुका नहीं है। तो फिर किसका है? उस वस्तुका जो आधार है, उस परमात्माका है। उस परमात्माकी झलक ही उस वस्तुमें सुन्दरता, सुखरूपता आदि रूपोंसे दीखती है। परन्तु जब मनुष्यकी वृत्ति परमात्माकी महिमाकी तरफ न जाकर उस वस्तुकी तरफ ही जाती है, तब वह संसारमें फँस जाता है। संसारमें फँसनेपर उसको न तो कुछ मिलता है और न उसकी तृप्ति ही होती है। इसमें सुख नहीं है, इससे तृप्ति नहीं होती—इतना अनुभव होनेपर भी मनुष्यका वस्तु आदिमें सुखरूपताका वहम मिटता नहीं। मनुष्यको सावधानीके साथ विचारपूर्वक देखना चाहिये कि प्रतिक्षण मिटनेवाली वस्तुमें जो सुख दीखता है, वह उसका कैसे हो सकता है! वह वस्तु प्रतिक्षण नष्ट हो रही है तो उसमें दीखनेवाली महत्ता, सुन्दरता उस वस्तुकी कैसे हो सकती है!

जैसे बिजलीके सम्बन्धसे रेडियो बोलता है तो मनुष्य राजी होता है कि देखो, इस यन्त्रसे कैसी आवाज आ रही है! पर वास्तवमें उस रेडियोमें जो कुछ शक्ति है, वह सब बिजलीकी ही है। बिजलीसे सम्बन्ध न होनेपर केवल यन्त्रसे आवाज नहीं निकाली जा सकती। अनजान व्यक्ति तो उस शक्तिको यन्त्रकी ही मान लेता है, पर जानकार व्यक्ति उस शक्तिको बिजलीकी ही मानता है। ऐसे ही किसी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया आदिमें जो कुछ विशेषता दीखती है, उसको अनजान मनुष्य तो उस वस्तु, व्यक्ति आदिकी ही मान लेता है, पर जानकार मनुष्य उस विशेषताको भगवान्‌की ही मानता है।

इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि सब मेरेसे ही पैदा होते हैं और सबमें मेरी ही शक्ति है। इसमें भगवान्‌का तात्पर्य यही है कि तुम्हें जहाँ-कहीं और जिस-किसीमें विशेषता, महत्ता, सुन्दरता, बलवत्ता आदि दीखे, वह सब मेरी ही है, उनकी नहीं। एक वेश्या बड़े सुन्दर स्वरोंमें गाना गा रही थी, तो उसको सुनकर एक सन्त मस्त हो गये कि देखो! ठाकुरजीने कैसा कण्ठ दिया है! कितनी सुन्दर आवाज दी है! तो सन्तकी दृष्टि वेश्यापर नहीं गयी, प्रत्युत भगवान्‌पर गयी कि इसके कण्ठमें जो आकर्षण है, मिठास है, वह भगवान्‌की है। ऐसे ही कोई फूल दीखे तो राजी हो जाय कि वाह-वाह, भगवान्‌ने इसमें कैसी सुन्दरता भरी है! कोई किसीको बढ़िया पढ़ा रहा है तो बढ़िया पढ़ानेकी शक्ति भगवान्‌की है, पढ़ानेवालेकी नहीं। देवताओंको बृहस्पति प्रिय लगते हैं, रघुवंशियोंको वसिष्ठजी प्रिय लगते है, किसीको सिंहमें विशेषता दीखती है, किसीको रुपये बहुत प्यारे लगते हैं, तो उनमें जिस शक्ति, महत्ता, विशेषता आदिको लेकर आकर्षण, प्रियता, खिंचाव हो रहा है, वह शक्ति, महत्ता आदि भगवान्‌की ही है, उनकी अपनी नहीं। इस तरह जिस-किसीमें जहाँ-कहीं विशेषता दीखे, वह भगवान्‌की ही दीखनी चाहिये। इसलिये भगवान्‌ने अनेक तरहकी विभूतियाँ बतायी हैं। इसका तात्पर्य है कि उन विभूतियोंमें श्रद्धा, रुचिके भेदसे आकर्षण हरेकका अलग-अलग होगा, एक समान सबको विभूतियाँ अच्छी नहीं लगेंगी, पर उन सबमें शक्ति भगवान्‌की है।

यद्यपि जिस-किसीमें जो भी विशेषता है, वह परमात्माकी है, तथापि जिनसे हमें लाभ हुआ है अथवा हो रहा है, उनके हम जरूर कृतज्ञ बनें, उनकी सेवा करें। परन्तु उनकी व्यक्तिगत विशेषता मानकर वहाँ फँस न जायँ—यह सावधानी रखें।

विशेष बात

भगवान्‌ने बीसवें श्लोकसे लेकर उनतालीसवें श्लोकतक जितनी विभूतियाँ कही हैं, उनमें प्राय: **'अस्मि'** (मैं हूँ) पदका प्रयोग किया है। केवल तीन

जगह—चौबीसवें और सत्ताईसवें श्लोकमें '**विद्धि**' तथा यहाँ इकतालीसवें श्लोकमें '**अवगच्छ**' पदका प्रयोग करके 'जानने' की बात कही है।

'**अस्मि**' (मैं हूँ) पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य विभूतियोंके मूल तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है कि इन सब विभूतियोंके मूलमें मैं ही हूँ। कारण कि सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि मैं आपको कैसे जानूँ, तो भगवान्ने '**अस्मि**' का प्रयोग करके सब विभूतियोंमें अपनेको जाननेकी बात कही।

दो जगह '**विद्धि**' पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य मनुष्यको सावधान, सावचेत करानेमें है। मनुष्य दोके द्वारा सावचेत होता है—ज्ञानके द्वारा और शासनके द्वारा। ज्ञान गुरुके द्वारा प्राप्त होता है और शासन स्वयं राजा करता है। अतः चौबीसवें श्लोकमें जहाँ गुरु बृहस्पतिका वर्णन आया है, वहाँ '**विद्धि**' कहनेका तात्पर्य है कि तुमलोग गुरुके द्वारा मेरी विभूतियोंके तत्त्वको ठीक तरहसे समझो। विभूतियोंके तत्त्वको समझनेका फल है—मेरेमें दृढ़ भक्ति होना (गीता—इसी अध्यायका सातवाँ श्लोक)। सत्ताईसवें श्लोकमें जहाँ राजाका वर्णन आया है, वहाँ '**विद्धि**' कहनेका तात्पर्य है कि तुमलोग राजाके शासनद्वारा उन्मार्गसे बचकर सन्मार्गमें लगना अर्थात् अपना जीवन शुद्ध बनाना समझो। गुरु प्रेमसे समझाता है और राजा बलसे, भयसे समझाता है। गुरुके समझानेमें उद्धारकी बात मुख्य रहती है और राजाके समझानेमें लौकिक मर्यादाका पालन करनेकी बात मुख्य रहती है।

सत्ताईसवें श्लोकमें जो 'उच्चैःश्रवा' और 'ऐरावत' का वर्णन आया है, वे दोनों राजाके वैभवके उपलक्षण हैं। कारण कि घोड़े, हाथी आदि राजाके ऐश्वर्य हैं और ऐश्वर्यवान् राजा ही शासन करता है। इसलिये उस श्लोकमें '**विद्धि**' पदका प्रयोग खास करके राजाके लिये ही किया हुआ मालूम देता है।

यहाँ इकतालीसवें श्लोकमें जो '**अवगच्छ**' पद आया है, उसका अर्थ है—वास्तविकतासे समझना कि जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह वस्तुतः भगवान्‌की ही है।

इस प्रकार दो बार '**विद्धि**' और एक बार '**अवगच्छ**' पद देनेका तात्पर्य यह है कि गुरु और राजाके द्वारा समझानेपर भी जबतक मनुष्य स्वयं उनकी बातको वास्तविकतासे नहीं समझेगा, उनकी बातको नहीं मानेगा, तबतक गुरुका ज्ञान और राजाका शासन उसके काम नहीं आयेगा। अन्तमें तो स्वयंको ही मानना पड़ेगा और वही उसके काम आयेगा।

परिशिष्ट भाव—पहले कही गयी विभूतियोंके सिवाय भी साधकको स्वतः जिस-जिसमें व्यक्तिगत आकर्षण दीखता है, वहाँ-वहाँ भगवान्‌को ही देखना चाहिये अर्थात् वह विशेषता भगवान्‌की ही है—ऐसा दृढ़तासे धारण कर लेना चाहिये। भगवद्बुद्धिकी दृढ़ता होनेसे संसार लुप्त हो जायगा; जैसे—सोनेके गहनोंमें सोनाबुद्धि होनेसे गहने लुप्त हो जाते हैं, खाँड़के खिलौनोंमें खाँड़बुद्धि होनेसे खिलौने लुप्त हो जाते हैं। कारण कि वास्तवमें संसार है नहीं। केवल जीवने ही अपने राग-द्वेषसे संसारको धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। सार बात यह है कि किसी भी तरह साधकको अन्तमें '**वासुदेवः सर्वम्**' (सब कुछ भगवान् ही हैं) में ही पहुँचना है। इसीलिये भगवान्ने अरुन्धतीन्यायसे '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करानेके लिये ही विभूतियोंका वर्णन किया है; क्योंकि विभूतियोंमें भगवान्‌को देखनेसे फिर सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे अर्थात् वस्तुरूपसे आकर्षण न रहकर भगवद्रूपसे आकर्षण हो जायगा।

मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता आती है, वह सब वास्तवमें भगवान्‌से ही आती है। अगर भगवान्‌में विशेषता, विलक्षणता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती? जो चीज अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है? मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह उस विशेषताको अपनी विशेषता मानकर अभिमान कर लेता है और जहाँसे वह विशेषता आयी है, उस तरफ खयाल करता ही नहीं।

सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदि प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहे हैं। हम जिस वस्तु, व्यक्ति आदिमें सुन्दरता, बलवत्ता आदि विशेषता देखते हैं, वे एक दिन नष्ट हो जाते हैं। अतः सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु मानो यह क्रियात्मक उपदेश दे रही है कि मेरी तरफ मत देखो, मैं तो रहूँगी नहीं, मेरेको बनानेवाले और बननेवालेकी तरफ देखो। मेरेमें जो सुन्दरता, सामर्थ्य, विलक्षणता आदि दीख रही है, यह मेरी नहीं है, प्रत्युत उसकी है! ऐसा जान लेनेपर फिर वस्तु, व्यक्ति आदिमें हमारा आकर्षण नहीं रहेगा और प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदिमें भगवान्‌के ही दर्शन होंगे। ऐसा होनेपर फिर भोग नहीं होगा, प्रत्युत स्वतः योग (भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध) हो जायगा।

परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों, कलाओं, विद्याओं आदिके विलक्षण भण्डार हैं। शक्तियाँ जड़ प्रकृतिमें नहीं रह सकतीं, प्रत्युत चिन्मय परमात्मतत्त्वमें ही रह सकती हैं। जिस ज्ञानसे क्रिया हो रही है, वह ज्ञान जड़में कैसे रह सकता है? अगर ऐसा मानें कि सब शक्तियाँ प्रकृतिमें ही हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि उन शक्तियोंका प्राकट्य और उपयोग (सृष्टि-रचना आदि) करनेकी योग्यता प्रकृतिमें नहीं है। जैसे, कम्प्यूटर जड़ होते हुए भी अनेक चमत्कारिक कार्य करता है, पर उसका निर्माण और संचालन करनेवाला चेतन (मनुष्य) है। मनुष्यके द्वारा निर्मित, शिक्षित तथा संचालित हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्वतःसिद्ध नहीं है, प्रत्युत कृत्रिम (बनाया हुआ) है, जबकि परमात्मा स्वतःसिद्ध हैं।

अगर परमात्मामें विशेषता न होती तो वह संसारमें कैसे आती? जो विशेषता बीजमें होती है, वही वृक्षमें भी आती है। जो विशेषता बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? उसी परमात्माकी कवित्व-शक्ति कविमें आती है, उसीकी वक्तृत्व-शक्ति वक्तामें आती है, उसीकी लेखन-शक्ति लेखकमें आती है, उसीकी दातृत्व-शक्ति दातामें आती है। मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि सब उस परमात्माका ही दिया हुआ है। यह प्रकृतिका कार्य नहीं है। अगर 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर बन्धन कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? अगर 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर अज्ञान कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? सूर्यमें अमावसकी रात कैसे आ सकती है? वास्तवमें ज्ञान है तो परमात्माका, पर मान लिया अपना, तभी अज्ञान आया है[१]। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान मेरा है—यह 'मैं' और 'मेरा' (अहंता-ममता) ही अज्ञान है[२] जिससे मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि मिले हैं, उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे ही ऐसा दीखता है कि मुक्ति मेरी है, ज्ञान मेरा है, प्रेम मेरा है। यह तो देनेवाले-(परमात्मा-) की विलक्षणता है कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है! परमात्माकी यह विलक्षणता महान् आदर्श है, जिसका साधकोंको आदर करना चाहिये। मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो अपनी मान लेता है, पर जहाँसे वह मिली है, उस देनेवालेकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर देनेवालेको देखता ही नहीं! कार्यको तो देखता है, पर जिसकी शक्तिसे कार्य हुआ, उस कारणको देखता ही नहीं! वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत देनेवाला अपना है।

भगवान्‌की दी हुई सामर्थ्यसे ही मनुष्य कर्मयोगी होता है, उनके दिये हुए ज्ञानसे ही मनुष्य ज्ञानयोगी होता है और उनके दिये हुए प्रेमसे ही मनुष्य भक्तियोगी होता है। मनुष्यमें जो भी विलक्षणता, विशेषता देखनेमें आती है, वह सब-की-सब उन्हींकी दी हुई है। सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते—यह उनका स्वभाव है।

सम्बन्ध—यहाँतक अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर देकर अब भगवान् अपनी तरफसे खास बात बताते हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अथवा	= अथवा	**किम्**	= क्या आवश्यकता है, (जबकि)	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
अर्जुन	= हे अर्जुन!			**जगत्**	= जगत्‌को
तव	= तुम्हें	**अहम्**	= मैं	**विष्टभ्य**	= व्याप्त करके
एतेन	= इस प्रकार	**एकांशेन**	= (अपने किसी) एक अंशसे	**स्थितः**	= स्थित हूँ अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे किसी एक अंशमें है।
बहुना	= बहुत-सी बातें				
ज्ञातेन	= जाननेकी	**इदम्**	= इस		

१-ज्ञान अथवा जाननेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है। प्रकृति एकरस रहनेवाली नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलनेवाली है। अगर प्रकृतिमें ज्ञान होगा तो वह ज्ञान भी एकरस न रहकर बदलनेवाला हो जायगा। जो ज्ञान पैदा होगा, वह सदाके लिये नहीं होगा, प्रत्युत अनित्य होगा। अगर कोई माने कि ज्ञान प्रकृतिमें ही है तो उसी प्रकृतिको हम परमात्मा कहते हैं, केवल शब्दोंमें फर्क है! तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान प्रकृतिमें नहीं है, अगर है तो वही परमात्मा है।

२-मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥ (मानस, अरण्य० १५। १)

व्याख्या—'**अथवा**'—यह अव्यय-पद देकर भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने उत्तर दिया ही है; अब मैं अपनी तरफसे तेरे लिये एक विशेष महत्त्वकी सार बात बताता हूँ।

'**बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन**'—भैया अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुत जाननेकी क्या जरूरत है? मैं घोड़ोंकी लगाम और चाबुक पकड़े तेरे सामने बैठा हूँ। दीखनेमें तो मैं छोटा-सा दीखता हूँ, पर मेरे इस शरीरके किसी एक अंशमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड महासर्ग और महाप्रलय—दोनों अवस्थाओंमें मेरेमें स्थित हैं। उन सबको लेकर मैं तेरे सामने बैठा हूँ और तेरी आज्ञाका पालन करता हूँ! इसलिये जब मैं स्वयं तेरे सामने हूँ, तब तेरे लिये बहुत-सी बातें जाननेकी क्या जरूरत है?

'**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्**'— मैं इस सम्पूर्ण जगत्को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ—यह कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्के किसी भी अंशमें अनन्त सृष्टियाँ विद्यमान हैं—'**रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड**' (मानस १। २०१)। परन्तु उन सृष्टियोंसे भगवान्का कोई अंश, भाग रुका नहीं है अर्थात् भगवान्के किसी अंशमें उन सब सृष्टियोंके रहनेपर भी वहाँ खाली जगह पड़ी है। जैसे, प्रकृतिका बहुत क्षुद्र अंश हमारी बुद्धि है। बुद्धिमें कई भाषाओंका, कई लिपियोंका, कई कलाओंका ज्ञान होनेपर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि हमारी बुद्धि अनेक भाषाओं आदिके ज्ञानसे भर गयी है; अतः अब दूसरी भाषा, लिपि आदि जाननेके लिये जगह नहीं रही। तात्पर्य है कि बुद्धिमें अनेक भाषाओं आदिका ज्ञान होनेपर भी बुद्धिमें जगह खाली ही रहती है और कितनी ही भाषाएँ आदि सीखनेपर भी बुद्धि भर नहीं सकती। इस प्रकार जब प्रकृतिका छोटा अंश बुद्धि भी अनेक भाषाओं आदिके ज्ञानसे नहीं भरती, तो फिर प्रकृतिसे अतीत, अनन्त, असीम और अगाध भगवान्का कोई अंश अनन्त सृष्टियोंसे कैसे भर सकता है? वह तो बुद्धिकी अपेक्षा भी विशेषरूपसे खाली रहता है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकका तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे स्थित हैं; क्योंकि व्याप्य और व्यापक, सूक्ष्म और महान्, सत् और असत्—दोनों भगवान् ही हैं। भगवान् अनन्त हैं, इसीलिये अनन्त ब्रह्माण्ड उनके किसी एक अंशमें स्थित हैं—'**एकांशेन स्थितो जगत्**'।

भगवान्के कथनका तात्पर्य अपनी तरफ दृष्टि करानेमें है कि सब कुछ मैं ही तो हूँ! मेरी तरफ देखनेसे फिर कोई भी विभूति बाकी नहीं रहेगी। जब सम्पूर्ण विभूतियोंका आधार, आश्रय, प्रकाशक, बीज (मूल कारण) मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तो फिर विभूतियोंका चिन्तन करनेकी क्या जरूरत?

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इस प्रकार 'ॐ, तत्, सत्'—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'विभूतियोग' नामक दसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १०॥

जहाँ-कहीं जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह सब भगवान्की ही विभूति है—ऐसा माननेसे भगवान्के साथ योग-(सम्बन्ध-) का अनुभव हो जाता है। इसलिये दसवें अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है।

दसवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ दशमोऽध्यायः**' के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके छः, श्लोकोंके पाँच सौ छप्पन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ अठहत्तर है।

(२) '**अथ दशमोऽध्यायः**' के सात, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके बीस, श्लोकोंके एक हजार तीन सौ चौवालीस और पुष्पिकाके छियालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार चार सौ सत्रह है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें तीन उवाच हैं—दो '**श्रीभगवानुवाच**' और एक '**अर्जुन उवाच**'।

दसवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बयालीस श्लोकोंमेंसे—दूसरे और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न विपुला**'; सातवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पाँचवें और बत्तीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; आठवें श्लोकके प्रथम चरणमें और छब्बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**' और छठे श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष छत्तीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

अवतरणिका—

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनपर विशेष कृपा करके कहा कि सम्पूर्ण जगत् अर्थात् अनन्त सृष्टियाँ मेरे किसी एक अंशमें हैं और वह मैं तेरा सारथि बना हुआ तेरे घोड़ोंकी लगाम और चाबुक लेकर बैठा हूँ तथा तेरी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ! जब सब विभूतियों और योग-(प्रभाव-) का महान् आधार मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तब तुझे अलग-अलग विभूतियोंको जाननेकी क्या आवश्यकता है? इस बातको सुनकर जब अर्जुनकी दृष्टि भगवान्‌की महती कृपापर गयी, तब वे बड़े आश्चर्यमें डूब जाते हैं और बोल उठते हैं—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

अर्जुन बोले—

मदनुग्रहाय	= केवल मुझपर कृपा करनेके लिये	**गुह्यम्**	= गोपनीय	**तेन**	= उससे
त्वया	= आपने	**अध्यात्म-सञ्ज्ञितम्**	= अध्यात्म-विषयक	**मम**	= मेरा
यत्	= जो	**वचः**	= वचन	**अयम्**	= यह
परमम्	= परम	**उक्तम्**	= कहे,	**मोहः**	= मोह
				विगतः	= नष्ट हो गया है।

व्याख्या—[भगवान्‌की कृपाका अनुभव करके अर्जुन भावविभोर हो उठे और कृपाका रहस्य प्रकट करनेके लिये जब अत्यधिक प्रसन्नतासे बोले, तब नियमका खयाल न रहनेसे यह श्लोक तैंतीस अक्षरोंका आया है, जब कि गीताभरमें अनुष्टुप् छन्दवाले श्लोक बत्तीस अक्षरोंके ही आये हैं। तात्पर्य है कि अत्यधिक प्रसन्नता होनेपर नियमका ध्यान नहीं रहता।]

'मदनुग्रहाय'—मेरा भजन करनेवालोंपर कृपा करके मैं स्वयं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)—यह बात भगवान्‌ने केवल कृपा-परवश होकर कही। इस बातका अर्जुनपर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिससे अर्जुन भगवान्‌की स्तुति करने लगे (दसवें अध्यायके बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक)। ऐसी स्तुति उन्होंने पहले गीतामें कहीं नहीं की। उसीका लक्ष्य करके अर्जुन यहाँ कहते हैं कि केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही आपने ऐसी बात कही है*।

'परमं गुह्यम्'—अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंको कहनेके बाद भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तमें अपनी ओरसे कहा कि मैं अपने किसी अंशमें सम्पूर्ण जगत्‌को, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंको व्याप्त करके स्थित हूँ (दसवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक) अर्थात् भगवान्‌ने खुद अपना परिचय दिया कि मैं कैसा हूँ। इसी बातको अर्जुन परम गोपनीय मानते हैं।

'अध्यात्मसञ्ज्ञितम्'—दसवें अध्यायके सातवें

*** ऐसे तो पहले अध्यायसे लेकर यहाँतक भगवान्‌ने जो कुछ कहा है वह सब कृपा-परवश होकर ही कहा है। वास्तवमें भगवान्‌की सम्पूर्ण क्रियाओंमें कृपा भरी रहती है, पर मनुष्य उसे पहचानता नहीं। भगवान्‌की कृपाको पहचाननेपर भगवत्तत्त्वका अनुभव बहुत सुगमतासे और शीघ्रतासे हो जाता है। अर्जुनका लक्ष्य भी जब भगवत्कृपाकी ओर जाता है, तब वे विभोर होकर कह उठते हैं कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया।**

श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है अर्थात् सम्पूर्ण विभूतियोंके मूलमें भगवान् ही हैं और सम्पूर्ण विभूतियाँ भगवान्‌की सामर्थ्यसे ही प्रकट होती हैं तथा अन्तमें भगवान्‌में ही लीन हो जाती हैं—ऐसा तत्त्वसे जानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इसी बातको अर्जुन अध्यात्मसंज्ञित मान रहे हैं[१]।

'यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम'—सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌के किसी एक अंशमें है—इस बातपर पहले अर्जुनकी दृष्टि नहीं थी और वे स्वयं इस बातको जानते भी नहीं थे, यही उनका मोह था। परन्तु जब भगवान्‌ने कहा कि सम्पूर्ण जगत्‌को अपने एक अंशमें व्याप्त करके मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तब अर्जुनकी इस तरफ दृष्टि गयी कि भगवान् कितने विलक्षण हैं! उनके किसी एक अंशमें अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं और वे वैसे-के-वैसे रहते हैं! इस मोहके नष्ट होते ही अर्जुनको यह खयाल आया कि पहले जो मैं इस बातको नहीं जानता था, वह मेरा मोह ही था[२]। इसलिये अर्जुन यहाँ अपनी दृष्टिसे कहते हैं कि भगवन्! मेरा यह मोह सर्वथा चला गया है। परन्तु ऐसा कहनेपर भी भगवान्‌ने इसको (अर्जुनके मोहनाशको) स्वीकार नहीं किया; क्योंकि आगे उनचासवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि तेरेको व्यथा और मूढभाव (मोह) नहीं होना चाहिये—**'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः।'**

परिशिष्ट भाव—अर्जुन कहते हैं कि आपने जो वचन कहे हैं, वे केवल मेरेपर कृपा करके ही कहे हैं, अपनी विद्वत्ता बतानेके लिये नहीं। इसमें केवल कृपाके अलावा और कोई हेतु नहीं है।

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ (दसवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक), मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज हूँ, (दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक), ऐश्वर्य, शोभा और बलसे युक्त प्रत्येक वस्तुको मेरे ही योगके अंशसे उत्पन्न हुई समझो (दसवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक), मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ, (दसवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)—इन वचनोंको सुननेसे अर्जुनको ऐसा लगा कि मेरा मोह नष्ट हो गया। परन्तु वास्तवमें उनका आंशिक मोह नष्ट हुआ है, पूरा नहीं।

सम्बन्ध—मोह कैसे नष्ट हो गया—इसीको आगेके श्लोकमें विस्तारसे कहते हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

हि = क्योंकि
कमलपत्राक्ष = हे कमलनयन!
भूतानाम् = सम्पूर्ण प्राणियोंके
भवाप्ययौ = उत्पत्ति तथा विनाश
मया = मैंने
विस्तरशः = विस्तारपूर्वक
त्वत्तः = आपसे ही
श्रुतौ = सुने हैं
च = और (आपका)
अव्ययम् = अविनाशी
माहात्म्यम् = माहात्म्य
अपि = भी (सुना है)।

व्याख्या—**भवाप्ययौ हि भूतानां त्वत्तः श्रुतौ विस्तरशो मया'**—भगवान्‌ने पहले कहा था—मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव और प्रलय हूँ, मेरे सिवाय अन्य कोई कारण नहीं है (सातवें अध्यायका छठा-सातवाँ श्लोक); सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं (सातवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक); प्राणियोंके अलग-अलग अनेक तरहके भाव मेरेसे ही होते हैं (दसवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक); सम्पूर्ण प्राणी मेरेसे ही होते हैं और मेरेसे ही सब चेष्टा करते हैं (दसवें अध्यायका आठवाँ श्लोक); प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ (दसवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक) और सम्पूर्ण सृष्टियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ (दसवें अध्यायका

१-भगवान्‌ने अभीतक भक्तिकी जितनी बातें कही हैं, वे सब-की-सब परम गोपनीय अध्यात्म उपदेश हैं।

२-मोहके रहते हुए मोहका ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत मोहके चले जानेपर ही मोहका ज्ञान होता है और ज्ञान होनेपर मोह रहता ही नहीं।

बत्तीसवाँ श्लोक)। इसीको लेकर अर्जुन यहाँ कहते हैं कि मैंने आपसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन विस्तारसे सुना है। इसका तात्पर्य प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश सुननेसे नहीं है, प्रत्युत इसका तात्पर्य यह सुननेसे है कि सभी प्राणी आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आपमें ही रहते हैं और आपमें ही लीन हो जाते हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं।

'माहात्म्यमपि चाव्ययम्'—आपने दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें बताया कि मेरी विभूति और योगको जो तत्त्वसे जानता है, वह अविकम्प भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इस प्रकार आपकी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका माहात्म्य भी मैंने सुना है।

माहात्म्यको 'अव्यय' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेपर भगवान्‌में जो भक्ति होती है, प्रेम होता है, भगवान्‌से अभिन्नता होती है, वह सब अव्यय है। कारण कि भगवान् अव्यय, नित्य हैं तो उनकी भक्ति, प्रेम भी अव्यय ही होगा।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें अर्जुन अपनी दृष्टिसे मोह नष्ट होनेका कारण बताते हैं।

'माहात्म्यमपि चाव्ययम्'—यहाँ **'अपि'** पदसे ऐसा अर्थ निकलता है कि अर्जुनने भगवान्‌का विनाशी माहात्म्य भी सुना है और अविनाशी माहात्म्य भी सुना है। **'भवाप्ययौ हि भूतानाम्'**—यह भगवान्‌का विनाशी अर्थात् परिवर्तनशील माहात्म्य है। मनुष्य भगवान्‌के साथ किसी भी प्रकारसे सम्बन्ध जोड़ ले तो वह कल्याण ही करेगा—यह भगवान्‌का अविनाशी अर्थात् अपरिवर्तनशील माहात्म्य है। तात्पर्य है कि सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन विराट्‌रूपके दर्शनके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

पुरुषोत्तम	= हे पुरुषोत्तम!	**एतत्**	= यह (वास्तवमें)	**ऐश्वरम्**	= ईश्वर-सम्बन्धी
त्वम्	= आप	**एवम्**	= ऐसा ही है।	**रूपम्**	= रूपको (मैं)
आत्मानम्	= अपने-आपको	**परमेश्वर**	= हे परमेश्वर!	**द्रष्टुम्**	= देखना
यथा	= जैसा	**ते**	= आपके	**इच्छामि**	= चाहता हूँ।
आत्थ	= कहते हैं,				

व्याख्या—**पुरुषोत्तम'**—यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि हे भगवन्! मेरी दृष्टिमें इस संसारमें आपके समान कोई उत्तम, श्रेष्ठ नहीं है अर्थात् आप ही सबसे उत्तम, श्रेष्ठ हैं। इस बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने भी कहा है कि मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ; अतः मैं शास्त्र और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।

'एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानम्'—हे पुरुषोत्तम! आपने (सातवें अध्यायसे दसवें अध्यायतक) मेरे प्रति अपने अलौकिक प्रभावका, सामर्थ्यका जो कुछ वर्णन किया, वह वास्तवमें ऐसा ही है।

यह संसार मेरेसे ही उत्पन्न होता है और मेरेमें ही लीन हो जाता है (सातवें अध्यायका छठा श्लोक), मेरे सिवाय इसका और कोई कारण नहीं है (सातवें अध्यायका सातवाँ श्लोक), सब कुछ वासुदेव ही है (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक), ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूपमें मैं ही हूँ (सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक), अनन्य भक्तिसे प्रापणीय परम तत्त्व मैं ही हूँ (आठवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), मेरेसे ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, पर मैं संसारमें और संसार मेरेमें नहीं है (नवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक), सत् और असत्-रूपसे सब कुछ मैं ही हूँ (नवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक), मैं ही संसारका मूल कारण हूँ और मेरेसे ही सारा संसार सत्ता-स्फूर्ति पाता है (दसवें अध्यायका आठवाँ श्लोक), यह सारा संसार मेरे ही किसी एक अंशमें स्थित है (दसवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)

आदि-आदि। अपने-आपको आपने जो कुछ कहा है, वह सब-का-सब यथार्थ ही है।

'परमेश्वर'—भगवान्‌के मुखसे अर्जुनने पहले सुना है कि 'मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर हूँ—**'भूतानामीश्वरोऽपि'** (४। ६); **'सर्वलोक-महेश्वरम्'** (५। २९)। इसलिये अर्जुन यहाँ भगवान्‌के विलक्षण प्रभावसे प्रभावित होकर उनके लिये **'परमेश्वर'** सम्बोधन देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि हे भगवन्! वास्तवमें आप ही परम ईश्वर हैं, आप ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यके मालिक हैं।

'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्'—अर्जुन कहते हैं कि मैंने आपसे आपका माहात्म्यसहित प्रभाव सुन लिया है और इस विषयमें मेरे हृदयमें दृढ़ विश्वास भी हो गया है। 'सम्पूर्ण संसार मेरे शरीरके एक अंशमें है'—इसे सुनकर मेरे मनमें आपके उस रूपको देखनेकी उत्कट लालसा हो रही है।

दूसरा भाव यह है कि आप इतने विलक्षण और महान् होते हुए भी मेरे साथ कितना स्नेह रखते हैं, कितनी आत्मीयता रखते हैं कि मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही आप करते हैं और जो कुछ पूछता हूँ, उसका आप उत्तर देते हैं। इस कारण आपसे कहनेका, पूछनेका किंचिन्मात्र भी संकोच न होनेसे मेरे मनमें आपका वह रूप देखनेकी बहुत इच्छा हो रही है, जिसके एक अंशमें सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।

दसवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि आप अपनी पूरी-की-पूरी विभूतियाँ कह दीजिये, बाकी मत रखिये—**'वक्तुमर्हस्यशेषेण'**, तो भगवान्‌ने विभूतियोंका वर्णन करते हुए उपक्रममें और उपसंहारमें कहा कि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है (दसवें अध्यायका उन्नीसवाँ और चालीसवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान्‌ने विभूतियोंका वर्णन संक्षेपसे ही किया। परन्तु यहाँ जब अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके एक रूपको देखना चाहता हूँ—**'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्'**, तब भगवान् आगे (पाँचवें श्लोकमें) कहेंगे कि तू मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख। जैसे संसारमें कोई किसीसे लालचपूर्वक अधिक माँगता है, तो देनेवालेमें देनेका भाव कम हो जाता है और वह कम देता है। इसके विपरीत यदि कोई संकोचपूर्वक कम माँगता है, तो देनेवाला उदारतापूर्वक अधिक देता है। ऐसे ही वहाँ अर्जुनने स्पष्टरूपसे कह दिया कि आप सब-की-सब विभूतियाँ कह दीजिये तो भगवान्‌ने कहा कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा। इस बातको लेकर अर्जुन सावधान हो जाते हैं कि अब मेरे कहनेमें ऐसी कोई अनुचित बात न आ जाय। इसलिये अर्जुन यहाँ संकोचपूर्वक कहते हैं कि अगर मेरे द्वारा आपका विराट्‌रूप देखा जा सकता है तो दिखा दीजिये। अर्जुनके इस संकोचको देखकर भगवान् बड़ी उदारतापूर्वक कहते हैं कि तू मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख ले।

दूसरा भाव यह है कि अर्जुनके रथमें एक जगह बैठे हुए भगवान्‌ने यह कहा कि 'तू जो मेरे इस शरीरको देख रहा है, इसके किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् (जिसके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं) व्याप्त है।' तात्पर्य है कि भगवान्‌का छोटा-सा शरीर है और उस छोटे-से शरीरके किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् है। अतः उस एक अंशमें स्थित रूपको मैं देखना चाहता हूँ—यही अर्जुनके **'रूपम्'** (एक रूप) कहनेका आशय मालूम देता है।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनके कथनका तात्पर्य है कि मैंने आपकी बातोंको सुनकर ठीक समझ लिया है और अब उसमें कोई सन्देह नहीं रहा है। सब कुछ आप ही हैं—यह ठीक ऐसा ही है। अब केवल आपका ईश्वर-सम्बन्धी रूप देखना बाकी रह गया है।

उपदेश दो तरहसे होता है—कहना और करके दिखाना। पहले दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपने समग्ररूपका वर्णन किया कि मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ। अब इस अध्यायमें अर्जुन उसी रूपको प्रत्यक्ष दिखानेकी प्रार्थना करते हैं।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

प्रभो	= हे प्रभो!	**इति**	= —ऐसा	**त्वम्**	= आप
मया	= मेरे द्वारा	**यदि**	= अगर	**आत्मानम्**	= अपने (उस)
तत्	= (आपका) वह ऐश्वर-रूप	**मन्यसे**	= (आप) मानते हैं,	**अव्ययम्**	= अविनाशी स्वरूपको
द्रष्टुम्	= देखा	**ततः**	= तो	**मे**	= मुझे
शक्यम्	= जा सकता है	**योगेश्वर**	= हे योगेश्वर!	**दर्शय**	= दिखा दीजिये।

व्याख्या—**प्रभो**'—'प्रभु' नाम सर्वसमर्थका है, इसलिये इस सम्बोधनका भाव यह मालूम देता है कि यदि आप मेरेमें विराट्रूप देखनेकी सामर्थ्य मानते हैं, तब तो ठीक है; नहीं तो आप मेरेको ऐसी सामर्थ्य दीजिये, जिससे मैं आपका वह ऐश्वर (ईश्वर-सम्बन्धी) रूप देख सकूँ।

'**मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति**'—इसका तात्पर्य है कि अगर आप अपना वह रूप नहीं दिखायेंगे, तो भी मैं यही मानूँगा कि आपका रूप तो वैसा ही है, जैसा आप कहते हैं, पर मैं उसको देखनेका अधिकारी नहीं हूँ, योग्य नहीं हूँ, पात्र नहीं हूँ। इस प्रकार अर्जुनको भगवान्‌के वचनोंमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है, प्रत्युत दृढ़ विश्वास है। इसीलिये तो वे कहते हैं कि आप मेरेको अपना विराट्रूप दिखाइये।

'**योगेश्वर**'—'**योगेश्वर**' सम्बोधन देनेका यह भाव मालूम देता है कि भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी योग हो सकते हैं, उन सबके आप मालिक हैं, इसलिये आप अपनी अलौकिक योगशक्तिसे वह विराट्रूप भी दिखा दीजिये।

अर्जुनने दसवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्‌के लिये '**योगिन्**' सम्बोधन दिया था अर्थात् भगवान्‌को योगी बताया था; परन्तु अब अर्जुनने भगवान्‌के लिये '**योगेश्वर**' सम्बोधन दिया है अर्थात् भगवान्‌को सम्पूर्ण योगोंका मालिक बताया है। कारण यह है कि दसवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनकी भगवान्‌के प्रति जो धारणा थी, उस धारणामें अब बहुत परिवर्तन हुआ है।

'**ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्**'—आपका वह स्वरूप तो अविनाशी ही है, जिससे अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं। आप अपने ऐसे अविनाशी स्वरूपके दर्शन कराइये।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌के विश्वरूपको '**अव्यय**' (अविनाशी) कहनेसे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण संसार भगवान्‌का ही स्वरूप है। अव्यय होनेसे इसका अत्यन्त अभाव नहीं होता (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका पहला श्लोक)। वास्तवमें परिवर्तनशील (असत्) और अपरिवर्तनशील (सत्)—दोनों ही मिलकर भगवान्‌का समग्ररूप है—'**सदसच्चाहमर्जुन**'। जड़ता केवल अपनी आसक्ति और अज्ञताके कारण ही प्रतीत होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनकी नम्रतापूर्वक की हुई प्रार्थनाको सुनकर अब भगवान् अर्जुनको विश्वरूप देखनेके लिये आज्ञा देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**च**	= और	**शतशः**	= सैकड़ों-
अथ	= अब	**नाना-**		**सहस्रशः**	= हजारों
मे	= मेरे	**वर्णाकृतीनि**	= अनेक वर्णों (रंगों) तथा आकृतियोंवाले	**दिव्यानि**	= अलौकिक
नानाविधानि	= अनेक तरहके			**रूपाणि**	= रूपोंको
				पश्य	= (तू) देख।

व्याख्या—**'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश:'**—अर्जुनकी संकोचपूर्वक प्रार्थनाको सुनकर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न हुए; अत: अर्जुनके लिये **'पार्थ'** सम्बोधनका प्रयोग करते हुए कहते हैं कि तू मेरे रूपोंको देख। रूपोंमें भी तीन-चार नहीं, प्रत्युत सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख अर्थात् अनगिनत रूपोंको देख। भगवान्‌ने जैसे विभूतियोंके विषय कहा है कि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं आ सकता, ऐसे ही यहाँ भगवान्‌ने अपने रूपोंकी अनन्तता बतायी है।

'नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च'—अब भगवान् उन रूपोंकी विशेषताओंका वर्णन करते हैं कि उनकी तरह-तरहकी बनावट है। उनके रंग भी तरह-तरहके हैं अर्थात् कोई किसी रंगका तो कोई किसी रंगका, कोई पीला तो कोई लाल आदि-आदि। उनमें भी एक-एक रूपमें कई तरहके रंग हैं। उन रूपोंकी आकृतियाँ भी तरह-तरहकी हैं अर्थात् कोई छोटा तो कोई मोटा, कोई लम्बा तो कोई चौड़ा आदि-आदि।

जैसे पृथ्वीका एक छोटा-सा कण भी पृथ्वी ही है, ऐसे ही भगवान्‌के अनन्त, अपार विश्वरूपका एक छोटा-सा अंश होनेके कारण यह संसार भी विश्वरूप ही है। परन्तु यह हरेकके सामने दिव्य विश्वरूपसे प्रकट नहीं है, प्रत्युत संसाररूपसे ही प्रकट है। कारण कि मनुष्यकी दृष्टि भगवान्‌की तरफ न होकर नाशवान् संसारकी तरफ ही रहती है। जैसे अवतार लेनेपर भगवान् सबके सामने भगवद्रूपसे प्रकट नहीं रहते (गीता—सातवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक), प्रत्युत मनुष्यरूपसे ही प्रकट रहते हैं, ऐसे ही विश्वरूपभगवान् सबके सामने संसाररूपसे ही प्रकट रहते हैं अर्थात् हरेकको यह विश्वरूप संसाररूपसे ही दीखता है। परन्तु यहाँ भगवान् अपने दिव्य अविनाशी विश्वरूपसे साक्षात् प्रकट होकर अर्जुनको कह रहे हैं कि तू मेरे दिव्य रूपोंको देख।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने तो अपनेको असमर्थ मानकर भगवान्‌से अपना एक ऐश्वररूप दिखानेकी प्रार्थना की थी और उसको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ दिया था, पर भगवान् उनको सैकड़ों-हजारों रूपोंको देखनेकी बात कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌की इच्छापर छोड़नेसे साधकको जो लाभ होता है, वह अपनी इच्छासे, अपनी बुद्धिसे नहीं होता। कारण कि मनुष्य कितनी ही विद्याएँ, कला-कौशल आदि सीख ले, कितने ही शास्त्र पढ़ ले तो भी उसकी बुद्धि तुच्छ, सीमित ही रहती है। साधकमें जितनी सरलता, निर्बलता, निरभिमानताका भाव होगा, उतना ही वह भगवान्‌को जानेगा। अपना अभिमान करके साधक भगवान्‌को जाननेमें आड़ ही लगाता है। वह जितना समझदार बनता है, उतना ही बेसमझ रहता है। अपनेको समझदार माननेसे वह समझदारीका गुलाम हो जाता है। वह जितना निरभिमान होता है, समझदारीका अभिमान नहीं करता, उतना ही वह समझदार होता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अपने विश्वरूपमें तरह-तरहके वर्णों और आकृतियोंको देखनेकी बात कही। अब आगेके श्लोकमें देवताओंको देखनेकी बात कहते हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६ ॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**अश्विनौ**	= दो अश्विनी-कुमारोंको	**अदृष्टपूर्वाणि**	= जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं,
आदित्यान्	= बारह आदित्योंको,	**तथा**	= तथा	**बहूनि**	= (ऐसे) बहुत-से
वसून्	= आठ वसुओंको,	**मरुत:**	= उनचास मरुद्गणोंको	**आश्चर्याणि**	= आश्चर्यजनक रूपोंको (भी)
रुद्रान्	= ग्यारह रुद्रोंको (और)	**पश्य**	= देख।	**पश्य**	= (तू) देख।

व्याख्या—**पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा'**—अदितिके पुत्र धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु—ये बारह 'आदित्य' हैं (महा०, आदि० पैंसठवाँ अध्याय, पन्द्रहवाँ-सोलहवाँ श्लोक)।

धर, ध्रुव, सोम, अह:, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ 'वसु' हैं (महा०, आदि० छाछठवाँ अध्याय, अठारहवाँ श्लोक)।

हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह 'रुद्र' हैं (हरिवंश० पहला पर्व, तीसरा अध्याय, इक्यावनवाँ-बावनवाँ श्लोक)।

'अश्विनीकुमार' दो हैं। ये दोनों भाई देवताओंके वैद्य हैं।

सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश्—ये उनचास 'मरुत' हैं (वायुपुराण, सड़सठवाँ अध्याय, एक सौ तेईसवेंसे एक सौ तीसवें श्लोकतक)—इन सबको तू मेरे विराट्‌रूपमें देख।

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस कोटि (तैंतीस प्रकारके) देवता सम्पूर्ण देवताओंमें मुख्य हैं। देवताओंमें मरुद्‌गणोंका नाम भी आता है, पर वे उनचास मरुद्‌गण इन तैंतीस प्रकारके देवताओंसे अलग माने जाते हैं; क्योंकि वे सभी दैत्योंसे देवता बने हैं। इसलिये भगवान्‌ने भी **'तथा'** पद देकर मरुद्‌गणोंको अलग बताया है।

'बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत'—तुमने इन रूपोंको पहले कभी आँखोंसे नहीं देखा है, कानोंसे नहीं सुना है, मनसे चिन्तन नहीं किया है, बुद्धिसे कल्पना नहीं की है। इन रूपोंकी तरफ तुम्हारी कभी वृत्ति ही नहीं गयी है। ऐसे बहुत-से अदृष्टपूर्व रूपोंको तू अब प्रत्यक्ष देख ले।

इन रूपोंके देखते ही आश्चर्य होता है कि अहो! ऐसे भी भगवान्‌के रूप हैं! ऐसे अद्‌भुत रूपोंको तू देख।

परिशिष्ट भाव—पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने विराट्‌रूपमें अनेक तरहके और अनेक रंगों तथा आकृतियोंवाले रूपोंको देखनेकी बात कही थी, अब उसी बातको इस श्लोकमें विस्तारसे कहते हैं।

भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि सभी देवता मेरे स्वरूप हैं अर्थात् उन देवताओंके रूपमें मैं ही हूँ (गीता—नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—भगवान्‌द्वारा विश्वरूप देखनेकी आज्ञा देनेपर अर्जुनकी यह जिज्ञासा हो सकती है कि मैं इस रूपको कहाँ देखूँ? अतः भगवान् कहते हैं—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

गुडाकेश = हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन!
मम = मेरे
इह = इस
देहे = शरीरके
एकस्थम् = एक देशमें
सचराचरम् = चराचरसहित
कृत्स्नम् = सम्पूर्ण
जगत् = जगत्‌को
अद्य = अभी
पश्य = देख ले।
अन्यत् = इसके सिवाय (तू) और
च = भी
यत् = जो कुछ
द्रष्टुम् = देखना
इच्छसि = चाहता है, (वह भी देख ले)

व्याख्या—**'गुडाकेश'**—निद्रापर अधिकार प्राप्त करनेसे अर्जुनको 'गुडाकेश' कहते हैं। यहाँ यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि तू निरालस्य होकर सावधानीसे मेरे विश्वरूपको देख।

'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्, मम देहे'—दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने कहा था कि मैं सम्पूर्ण जगत्‌को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ। इसीपर अर्जुनके मनमें विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई। अतः भगवान् कहते हैं कि हाथमें घोड़ोंकी लगाम और चाबुक लेकर तेरे सामने बैठे हुए मेरे इस शरीरके एक देश-(अंश-) में चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को देख। एक देशमें देखनेका अर्थ है कि तू जहाँ दृष्टि डालेगा, वहीं तेरेको अनन्त ब्रह्माण्ड दीखेंगे। तू मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस, भूत, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जंगम और वृक्ष, लता, घास, पौधा

आदि स्थावर तथा पृथ्वी, पहाड़, रेत आदि जडसहित सम्पूर्ण जगत्‌को **'अद्य'**—अभी, इसी क्षण देख ले, इसमें देरीका काम नहीं है।

'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि'—भगवान्‌के शरीरमें सब बातें वर्तमान थीं अर्थात् जो बातें भूतकालमें बीत गयी हैं और जो भविष्यमें बीतनेवाली हैं, वे सब बातें भगवान्‌के शरीरमें वर्तमान थीं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले। अर्जुन और क्या देखना चाहते थे? अर्जुनके मनमें सन्देह था कि युद्धमें जीत हमारी होगी या कौरवोंकी? (गीता—दूसरे अध्यायका छठा श्लोक) इसलिये भगवान् कहते हैं कि वह भी तू मेरे इस शरीरके एक अंशमें देख ले।

विशेष बात

जैसे दसवें अध्यायमें भगवान्‌से 'जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है, उसका मेरेमें दृढ़ भक्तियोग हो जाता है' इस बातको सुनकर ही अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करके विभूतियाँ पूछी थीं, ऐसे ही भगवान्‌से 'मेरे एक अंशमें सारा संसार स्थित है' इस बातको सुनकर अर्जुनने विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना की है। अगर भगवान् **'अथवा'** कहकर अपनी ही तरफसे 'मेरे किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है' यह बात न कहते, तो अर्जुन विश्वरूप देखनेकी इच्छा ही नहीं करते। जब इच्छा ही नहीं करते, तो फिर विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना कैसे करते? और जब प्रार्थना ही नहीं करते, तो फिर भगवान् अपना विश्वरूप कैसे दिखाते? इससे सिद्ध होता है कि भगवान् कृपापूर्वक अपनी ओरसे ही अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाना चाहते हैं।

ऐसी ही बात गीताके आरम्भमें भी आयी है। जब अर्जुनने भगवान्‌से दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये कहा, तब भगवान्‌ने रथको पितामह भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने खड़ा किया और अर्जुनसे कहा—इन कुरुवंशियोंको देखो—**'कुरून् पश्य'** (१। २५)। इसका यही आशय मालूम देता है कि भगवान् कृपापूर्वक गीता प्रकट करना चाहते हैं। कारण कि यदि भगवान् ऐसा न कहते तो अर्जुनको शोक नहीं होता और गीताका उपदेश आरम्भ नहीं होता। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने अपनी तरफसे कृपा करके ही गीताको प्रकट किया है।

परिशिष्ट भाव—भगवान् अपने शरीरके एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् देखनेकी आज्ञा देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनके एक अंशमें सम्पूर्ण संसार है। **'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड'** (मानस, बाल० २०१)—यह भगवान् प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं! जब सम्पूर्ण संसार भगवान्‌के किसी एक अंशमें है, तो फिर भगवान्‌के सिवाय क्या बाकी रहा? सब कुछ भगवान् ही हुए! इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू जो कुछ भी देखना चाहता है, वह सब तू मेरे विराट्‌रूपमें देख सकता है। अर्जुन युद्धका परिणाम देखना चाहते थे, जिसको उन्होंने विराट्‌रूपमें ही देख लिया (गीता—इसी अध्यायका छब्बीसवाँ-सत्ताईसवाँ श्लोक)।

*सम्बन्ध—भगवान्‌ने तीन श्लोकोंमें चार बार **'पश्य'** पदसे अपना रूप देखनेके लिये आज्ञा दी। इसके अनुसार ही अर्जुन आँखें फाड़-फाड़कर देखते हैं और देखना चाहते भी हैं; परन्तु अर्जुनको कुछ भी नहीं दीखता। इसलिये अब भगवान् आगेके श्लोकमें अर्जुनको न दीखनेका कारण बताते हुए उनको दिव्यचक्षु देकर विश्वरूप देखनेकी आज्ञा देते हैं।*

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

तु = परन्तु
अनेन = (तू) इस
स्वचक्षुषा = अपनी आँख-(चर्मचक्षु-) से
माम् = मुझे
द्रष्टुम् = देख
एव = ही
न = नहीं
शक्यसे = सकता,
ते = (इसलिये मैं) तुझे
दिव्यम् = दिव्य
चक्षुः = चक्षु
ददामि = देता हूँ, (जिससे तू)
मे = मेरी
ऐश्वरम् = ईश्वरीय
योगम् = सामर्थ्यको
पश्य = देख।

व्याख्या—**'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा'**—तुम्हारे जो चर्मचक्षु हैं, इनकी शक्ति बहुत अल्प और सीमित है। प्राकृत होनेके कारण ये चर्मचक्षु केवल प्रकृतिके तुच्छ कार्यको ही देख सकते हैं अर्थात् प्राकृत मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके रूपोंको, उनके भेदोंको तथा धूप-छाया आदिके रूपोंको ही देख सकते हैं। परन्तु वे मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे अतीत मेरे रूपको नहीं देख सकते।

'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'—मैं तुझे अतीन्द्रिय, अलौकिक रूपको देखनेकी सामर्थ्यवाले दिव्यचक्षु देता हूँ अर्थात् तेरे इन चर्मचक्षुओंमें ही दिव्य शक्ति प्रदान करता हूँ, जिससे तू अतीन्द्रिय, अलौकिक पदार्थ भी देख सके और साथ-साथ उनकी दिव्यताको भी देख सके।

यद्यपि दिव्यता देखना नेत्रका विषय नहीं है, प्रत्युत बुद्धिका विषय है, तथापि भगवान् कहते हैं मेरे दिये हुए दिव्यचक्षुओंसे तू दिव्यताको अर्थात् मेरे ईश्वर-सम्बन्धी अलौकिक प्रभावको भी देख सकेगा। तात्पर्य है कि मेरा विराट्रूप देखनेके लिये दिव्यचक्षुओंकी आवश्यकता है।

'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—बुद्धि-(विवेक-) से देखना और नेत्रोंसे देखना। नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्ने **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** कहकर बुद्धिके द्वारा देखने-(जानने-)की बात कही थी। अब यहाँ **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** कहकर नेत्रोंके द्वारा देखनेकी बात कहते हैं।

विशेष बात

जैसे किसी जगह 'श्रीमद्भगवद्गीता'—ऐसा लिखा हुआ है। जिनको वर्णमालाका बिलकुल ज्ञान नहीं है, उनको तो इसमें केवल काली-काली लकीरें दीखती हैं और जिनको वर्णमालाका ज्ञान है, उनको इसमें अक्षर दीखते हैं। परन्तु जो पढ़ा-लिखा है और जिसको गीताका गहरा मनन है, उसको 'श्रीमद्भगवद्गीता'—ऐसा लिखा हुआ दीखते ही गीताके अध्यायोंकी, श्लोकोंकी, भावोंकी सब बातें दीखने लग जाती हैं। ऐसे ही अर्जुनको जब भगवान्ने दिव्यचक्षु दिये, तब उनको अलौकिक विश्वरूप तथा उसकी दिव्यता भी दीखने लगी, जो कि साधारण बुद्धिका विषय नहीं है। यह सब सामर्थ्य भगवत्प्रदत्त दिव्यचक्षुकी ही थी।

अब यहाँ एक शंका होती है कि जब अर्जुनने चौथे श्लोकमें कहा कि अगर मैं आपके विश्वरूपको देख सकता हूँ तो आप अपने विश्वरूपको दिखा दीजिये, तब उसके उत्तरमें भगवान्को यह आठवाँ श्लोक कहना चाहिये था कि तू अपने इन चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकता, इसलिये मैं तेरेको दिव्यचक्षु देता हूँ। परन्तु भगवान्ने वहाँ ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत दिव्यचक्षु देनेसे पहले ही **'पश्य-पश्य'** कहकर बार-बार देखनेकी आज्ञा दी। जब अर्जुनको दीखा नहीं, तब उनको न दीखनेका कारण बताया और फिर दिव्यचक्षु देकर उसका निराकरण किया। अतः इतनी झंझट भगवान्ने की ही क्यों?

साधकपर भगवान्की कृपाका क्रमशः कैसे विस्तार होता है, यह बतानेके लिये ही भगवान्ने ऐसा किया है; क्योंकि भगवान्का ऐसा ही स्वभाव है। भगवान् अत्यधिक कृपालु हैं। उन कृपासागरकी कृपाका कभी अन्त नहीं आता। भक्तोंपर कृपा करनेके उनके विचित्र-विचित्र ढंग हैं। जैसे, पहले तो भगवान्ने अर्जुनको उपदेश दिया। उपदेशके द्वारा अर्जुनके भीतरके भावोंका परिवर्तन कराकर उनको अपनी विभूतियोंका ज्ञान कराया। उन विभूतियोंको जाननेसे अर्जुनमें एक विलक्षणता आ गयी, जिससे उन्होंने भगवान्से कहा कि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं हो रही है। विभूतियोंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्ने कहा कि ऐसे (तरह-तरहकी विभूतियोंवाले) अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे एक अंशमें पड़े हुए हैं। जिसके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, उस विराट्रूपको देखनेके लिये अर्जुनकी इच्छा हुई और इसके लिये उन्होंने प्रार्थना की। इसपर भगवान्ने अपना विराट्रूप दिखाया और उसको देखनेके लिये बार-बार आज्ञा दी। परन्तु अर्जुनको विराट्रूप दीखा नहीं। तब उनको भगवान्ने दिव्यचक्षु प्रदान किये। सारांश यह हुआ कि भगवान्ने ही विराट्रूप देखनेकी जिज्ञासा प्रकट की। जिज्ञासा प्रकट करके विराट्रूप दिखानेकी इच्छा प्रकट की। इच्छा प्रकट करनेपर विराट्रूप दिखाया। अर्जुनको नहीं दीखा तो दिव्यचक्षु देकर इसकी पूर्ति की। तात्पर्य यह निकला कि भगवान्के शरण होनेपर शरणागतका सब काम करनेकी जिम्मेवारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं।

परिशिष्ट भाव—'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—जानना और देखना। नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** पदोंसे भगवान्को जाननेकी बात आयी है और यहाँ **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** पदोंसे भगवान्के विराट्रूपको

देखनेकी बात आयी है। तात्पर्य है कि जो जाननेमें आता है, वह भी भगवान् है और जो देखनेमें आता है, वह भी भगवान् है। भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है। इस ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌के अलौकिक रूपको देखनेकी विलक्षणता है, विवेचनकी विलक्षणता नहीं है। इसलिये गीताके अन्तमें भी संजयने एक तो 'संवाद' की विलक्षणता कही है और एक 'रूप' की विलक्षणता कही है (अठारहवें अध्यायका छिहत्तरवाँ-सतहत्तरवाँ श्लोक)।

भगवान्‌का विराट्‌रूप अलौकिक था, इसलिये उसको देखनेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको अलौकिक चक्षु दिये।

सम्बन्ध—दिव्यचक्षु प्राप्त करके अर्जुनने भगवान्‌का कैसा रूप देखा, यह बात संजय धृतराष्ट्रसे आगेके श्लोकमें कहते हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

संजय बोले—

राजन्	= हे राजन्!	**महायोगेश्वरः**	= महायोगेश्वर	**परमम्**	= परम
एवम्	= ऐसा	**हरिः**	= भगवान् श्रीकृष्णने	**ऐश्वरम्**	= ऐश्वर
उक्त्वा	= कहकर			**रूपम्**	= विराट्‌रूप
ततः	= फिर	**पार्थाय**	= अर्जुनको	**दर्शयामास**	= दिखाया।*

व्याख्या—**एवमुक्त्वा ततो .... परमं रूपमैश्वरम्'**—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जो यह कहा था कि 'तू अपने चर्मचक्षुओंसे मुझे नहीं देख सकता, इसलिये मैं तेरेको दिव्यचक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरे ईश्वर-सम्बन्धी योगको देख', उसीका संकेत यहाँ संजयने '**एवमुक्त्वा**' पदसे किया है।

चौथे श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌को '**योगेश्वर**' कहा और यहाँ संजय भगवान्‌को '**महायोगेश्वर**' कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवान्‌ने अर्जुनकी प्रार्थनासे बहुत अधिक अपना विश्वरूप दिखाया। भक्तकी थोड़ी-सी भी वास्तविक रुचि भगवान्‌की तरफ होनेपर भगवान् अपनी अपार शक्तिसे उसकी पूर्ति कर देते हैं।

तीसरे श्लोकमें अर्जुनने जिस रूपके लिये '**रूपमैश्वरम्**' कहा, उसी रूपके लिये यहाँ संजय '**परमं रूपमैश्वरम्**' कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवान्‌का विश्वरूप बहुत ही विलक्षण है। सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा विलक्षण, अलौकिक, अद्‌भुत विश्वरूप दिखाया, जिसको धैर्यशाली, जितेन्द्रिय, शूरवीर और भगवान्‌से प्राप्त दिव्यदृष्टिवाले अर्जुनको भी दुर्निरीक्ष्य कहना पड़ा (सत्रहवाँ श्लोक) और भयभीत होना पड़ा (पैंतालीसवाँ श्लोक), तथा भगवान्‌को भी '**व्यपेतभीः**' कहकर अर्जुनको आश्वासन देना पड़ा (उनचासवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌को 'महायोगेश्वर' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर हैं। ऐसा कोई भी योग नहीं है, जिसके ईश्वर (मालिक) भगवान् न हों अर्थात् सब योग भगवान्‌के ही अन्तर्गत हैं।

अर्जुनने तो भगवान्‌को 'योगेश्वर' कहा था (इसी अध्यायका चौथा श्लोक), पर संजय भगवान्‌को 'महायोगेश्वर' कहते हैं। कारण कि संजय भगवान्‌को पहलेसे ही अर्जुनसे ज्यादा जानते थे। संजयसे भी ज्यादा वेदव्यासजी भगवान्‌को जानते थे। वेदव्यासजीकी कृपासे ही संजयने भगवान् और अर्जुनका संवाद सुना—'**व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्**' (गीता १८। ७५)। वेदव्यासजीसे भी ज्यादा भगवान्‌को स्वयं भगवान् ही जानते हैं (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा और पन्द्रहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—अब संजय भगवान्‌के उस परम ऐश्वर-रूपका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

*** संजयको भी वेदव्यासजी महाराजसे दिव्यदृष्टि मिली हुई थी, इसलिये अर्जुनके साथ-ही-साथ उन्होंने भी भगवान्‌के विश्वरूपके दर्शन किये थे (गीता—अठारहवें अध्यायका सतहत्तरवाँ श्लोक)। अब संजय उसी विश्वरूपका धृतराष्ट्रसे वर्णन करते हैं।**

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

अनेकवक्त्रनयनम् = जिनके अनेक मुख और नेत्र हैं, **अनेकाद्भुतदर्शनम्** = अनेक तरहके अद्भुत दर्शन हैं, **अनेकदिव्याभरणम्** = अनेक अलौकिक आभूषण हैं, **दिव्यानेकोद्यतायुधम्** = हाथोंमें उठाये हुए अनेक दिव्य आयुध हैं **दिव्यमाल्याम्बरधरम्** = (तथा) जिनके गलेमें दिव्य मालाएँ हैं, जो अलौकिक वस्त्र पहने हुए हैं, **दिव्यगन्धानुलेपनम्** = जिनके ललाट तथा शरीरपर दिव्य चन्दन, कुंकुम आदि लगा हुआ है, **सर्वाश्चर्यमयम्** = ऐसे सम्पूर्ण आश्चर्यमय, **अनन्तम्** = अनन्त रूपोंवाले (तथा) **विश्वतोमुखम्** = सब तरफ मुखोंवाले **देवम्** = देव-(अपने दिव्य स्वरूप-) को (भगवान्‌ने दिखाया)।

व्याख्या—**'अनेकवक्त्रनयनम्'**—विराट्‌रूपसे प्रकट हुए भगवान्‌के जितने मुख और नेत्र दीख रहे हैं, वे सब-के-सब दिव्य हैं। विराट्‌रूपमें जितने प्राणी दीख रहे हैं, उनके मुख, नेत्र, हाथ, पैर आदि सब-के-सब अंग विराट्‌रूप भगवान्‌के हैं। कारण कि भगवान् स्वयं ही विराट्‌रूपसे प्रकट हुए हैं।

'अनेकाद्भुतदर्शनम्'—भगवान्‌के विराट्‌रूपमें जितने रूप दीखते हैं, जितनी आकृतियाँ दीखती हैं, जितने रंग दीखते हैं, जितनी उनकी विचित्र रूपसे बनावट दीखती है, वह सब-की-सब अद्भुत दीख रही है।

'अनेकदिव्याभरणम्'—विराट्‌रूपमें दीखनेवाले अनेक रूपोंके हाथोंमें, पैरोंमें, कानोंमें, नाकोंमें और गलोंमें जितने गहने हैं, आभूषण हैं, वे सब-के-सब दिव्य हैं। कारण कि भगवान् स्वयं ही गहनोंके रूपमें प्रकट हुए हैं।

'दिव्यानेकोद्यतायुधम्'—विराट्‌रूप भगवान्‌ने अपने हाथोंमें चक्र, गदा, धनुष, बाण, परिघ आदि अनेक प्रकारके जो आयुध (अस्त्र-शस्त्र) उठा रखे हैं, वे सब-के-सब दिव्य हैं।

'दिव्यमाल्याम्बरधरम्'—विराट्‌रूप भगवान्‌ने गलेमें फूलोंकी, सोनेकी, चाँदीकी, मोतियोंकी, रत्नोंकी, गुंजाओं आदिकी अनेक प्रकारकी मालाएँ धारण कर रखी हैं। वे सभी दिव्य हैं। उन्होंने अपने शरीरोंपर लाल, पीले, हरे, सफेद, कपिश आदि अनेक रंगोंके वस्त्र पहन रखे हैं, जो सभी दिव्य हैं।

'दिव्यगन्धानुलेपनम्'—विराट्‌रूप भगवान्‌ने ललाटपर कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम आदि गन्धके जितने तिलक किये हैं तथा शरीरपर जितने लेप किये हैं, वे सब-के-सब दिव्य हैं।

'सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्'—इस प्रकार देखते ही चकित कर देनेवाले, अनन्तरूपवाले तथा चारों तरफ मुख-ही-मुखवाले अपने परम ऐश्वर्यमय रूपको भगवान्‌ने अर्जुनको दिखाया।

जैसे, कोई व्यक्ति दूर बैठे ही अपने मनसे चिन्तन करता है कि मैं हरिद्वारमें हूँ तथा गंगाजीमें स्नान कर रहा हूँ, तो उस समय उसको गंगाजी, पुल, घाटपर खड़े स्त्री-पुरुष आदि दीखने लगते हैं तथा मैं गंगाजीमें स्नान कर रहा हूँ—ऐसा भी दीखने लगता है। वास्तवमें वहाँ न हरिद्वार है और न गंगाजी हैं; परन्तु उसका मन ही उन सब रूपोंमें बना हुआ उसको दीखता है। ऐसे ही एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें, उन रूपोंमें पहने हुए गहनोंके रूपमें, अनेक प्रकारके आयुधोंके रूपमें, अनेक प्रकारकी मालाओंके रूपमें, अनेक प्रकारके वस्त्रोंके रूपमें प्रकट हुए हैं। इसलिये भगवान्‌के विराट्‌रूपमें सब कुछ दिव्य है।

श्रीमद्भागवतमें आता है कि जब ब्रह्माजी बछड़ों और ग्वालबालोंको चुराकर ले गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल बन गये। बछड़े और ग्वालबाल ही नहीं, प्रत्युत उनके बेंत, सींग, बाँसुरी, वस्त्र, आभूषण आदि भी भगवान् स्वयं ही बन गये (श्रीमद्भा०, दसवाँ स्कन्ध, तेरहवाँ अध्याय, उन्नीसवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—दूसरे अध्यायमें तो भगवान्‌के अंश जीवका सब कुछ आश्चर्यमय बताया गया है (गीता—दूसरे अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक), यहाँ भगवान्‌का सब कुछ आश्चर्यमय बताते हैं। भगवान्‌को ज्यों देखें, त्यों-ही विलक्षणता दीखती चली जाती है। भगवान्‌की विलक्षणता अनन्त है।

सम्बन्ध—अब संजय विश्वरूपके प्रकाशका वर्णन करते हैं।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

दिवि	=(अगर) आकाशमें	**सा**	=उन सबका	**भासः**	=प्रकाशके
युगपत्	=एक साथ	**भाः**	=प्रकाश (मिलकर)	**सदृशी**	=समान
सूर्यसहस्रस्य	=हजारों सूर्योंका	**तस्य**	=उस	**यदि**	=शायद ही
उत्थिता	=उदय	**महात्मनः**	=महात्मा-(विराट्‌रूप परमात्मा-) के	**स्यात्**	=हो अर्थात् नहीं हो सकता।
भवेत्	=हो जाय, (तो भी)				

व्याख्या—'**दिवि सूर्यसहस्रस्य .... तस्य महात्मनः**'—जैसे आकाशमें हजारों तारे एक साथ उदित होनेपर भी उन सबका मिला हुआ प्रकाश एक चन्द्रमाके प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता और हजारों चन्द्रमाओंका मिला हुआ प्रकाश एक सूर्यके प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता, ऐसे ही आकाशमें हजारों सूर्य एक साथ उदित होनेपर भी उन सबका मिला हुआ प्रकाश विराट् भगवान्‌के प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता। तात्पर्य यह हुआ कि हजारों सूर्योंका प्रकाश भी विराट् भगवान्‌के प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता। इस प्रकार जब हजारों सूर्योंके प्रकाशको उपमेय बनानेमें भी दिव्यदृष्टिवाले संजयको संकोच होता है, तब वह प्रकाश विराट्‌रूप भगवान्‌के प्रकाशका उपमान हो ही कैसे सकता है! कारण कि सूर्यका प्रकाश भौतिक है, जब कि विराट् भगवान्‌का प्रकाश दिव्य है। भौतिक प्रकाश कितना ही बड़ा क्यों न हो, दिव्य प्रकाशके सामने वह तुच्छ ही है। भौतिक प्रकाश और दिव्य प्रकाशकी जाति अलग-अलग होनेसे उनकी आपसमें तुलना नहीं की जा सकती। हाँ, अंगुलिनिर्देशकी तरह भौतिक प्रकाशसे दिव्य प्रकाशका संकेत किया जा सकता है। यहाँ संजय भी हजारों सूर्योंके भौतिक प्रकाशकी कल्पना करके विराट्‌रूप भगवान्‌के प्रकाश-(तेज-) का लक्ष्य कराते हैं।

परिशिष्ट भाव—हजारों सूर्योंका प्रकाश मिलकर भी भगवान्‌के प्रकाशकी बराबरी नहीं कर सकता; क्योंकि सूर्यमें जो तेज है, वह भी भगवान्‌से ही आया है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। अगर हजारों सूर्योंका प्रकाश हो तो भी है तो भौतिक ही, जबकि भगवान्‌का प्रकाश भौतिक नहीं है, प्रत्युत दिव्य है।

सम्बन्ध—पीछेके श्लोकोंमें विश्वरूप भगवान्‌के दिव्यरूप, अवयव और तेजका वर्णन करके अब संजय अर्जुनद्वारा विश्वरूपका दर्शन करनेकी बात कहते हैं।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

तदा	=उस समय	**तत्र**	=उस	**प्रविभक्तम्**	=विभागोंमें विभक्त
पाण्डवः	=अर्जुनने	**शरीरे**	=शरीरमें	**कृत्स्नम्**	=सम्पूर्ण
देवदेवस्य	=देवोंके देव भगवान्‌के	**एकस्थम्**	=एक जगह स्थित	**जगत्**	=जगत्‌को
		अनेकधा	=अनेक प्रकारके	**अपश्यत्**	=देखा।

व्याख्या—**तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा'**—अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त अर्थात् ये देवता हैं, ये मनुष्य हैं, ये पशु-पक्षी हैं, यह पृथ्वी है, ये समुद्र हैं, यह आकाश है, ये नक्षत्र हैं, आदि-आदि विभागोंके सहित (संकुचित नहीं, प्रत्युत विस्तारसहित) सम्पूर्ण चराचर जगत्को भगवान्के शरीरके भी एक देशमें अर्जुनने भगवान्के दिये हुए दिव्यचक्षुओंसे प्रत्यक्ष देखा। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्णके छोटे-से शरीरके भी एक अंशमें चर-अचर, स्थावर-जंगमसहित सम्पूर्ण संसार है। वह संसार भी अनेक ब्रह्माण्डोंके रूपमें, अनेक देवताओंके लोकोंके रूपमें, अनेक व्यक्तियों और पदार्थोंके रूपमें विभक्त और विस्तृत है—इस प्रकार अर्जुनने स्पष्ट रूपसे देखा*।

'अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा'—**'तदा'** का तात्पर्य है कि जिस समय भगवान्ने दिव्यदृष्टि देकर अपना विराट्रूप दिखाया, उसी समय उसको अर्जुनने देखा। **'अपश्यत्'** का तात्पर्य है कि जैसा रूप भगवान्ने दिखाया, वैसा ही अर्जुनने देखा। संजय पहले भगवान्के जैसे रूपका वर्णन करके आये हैं, वैसा ही रूप अर्जुनने भी देखा।

जैसे मनुष्यलोकसे देवलोक बहुत विलक्षण है, ऐसे ही देवलोकसे भी भगवान् अनन्तगुना विलक्षण हैं; क्योंकि देवलोक आदि सब-के-सब लोक प्राकृत हैं और भगवान् प्रकृतिसे अतीत हैं। इसलिये भगवान् **'देवदेव'** अर्थात् देवताओंके भी देवता (मालिक) हैं।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज; स्थावर-जंगम; नभचर-जलचर-थलचर; चौरासी लाख योनियाँ; चौदह भुवन आदि अनेक विभागोंमें विभक्त जगत्को देखा। जगत् भले ही अनन्त हो, पर है वह भगवान्के एक अंशमें ही (गीता—दसवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)! अर्जुन भगवान्के शरीरमें जहाँ भी दृष्टि डालते हैं, वहीं उनको अनन्त जगत् दीखता है!

सम्बन्ध—भगवान्के अलौकिक विराट्रूपको देखनेके बाद अर्जुनकी क्या दशा हुई—इसका वर्णन संजय आगेके श्लोकमें करते हैं।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

ततः	= भगवान्के विश्व-रूपको देखकर	**विस्मयाविष्टः**	= बहुत चकित हुए (और)	**कृताञ्जलिः**	= (वे) हाथ जोड़कर
सः	= वे	**हृष्टरोमाः**	= आश्चर्यके कारण उनका शरीर रोमांचित हो गया।	**देवम्**	= विश्वरूप देवको
धनञ्जयः	= अर्जुन			**शिरसा**	= मस्तकसे
				प्रणम्य	= प्रणाम करके
				अभाषत	= बोले।

व्याख्या—**'ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः'**—अर्जुनने भगवान्के रूपके विषयमें जैसी कल्पना भी नहीं की थी, वैसा रूप देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। भगवान्ने मेरेपर कृपा करके विलक्षण आध्यात्मिक बातें अपनी ओरसे बतायीं और अब कृपा करके मेरेको अपना विलक्षण रूप दिखा रहे हैं—इस बातको लेकर अर्जुन प्रसन्नताके कारण रोमांचित हो उठे।

'प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत'— भगवान्की विलक्षण कृपाको देखकर अर्जुनका ऐसा भाव उमड़ा कि मैं इसके बदलेमें क्या कृतज्ञता प्रकट करूँ? मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो मैं इनके अर्पण करूँ। मैं तो केवल

*** श्रीमद्भागवतमें आया है कि एक बार यशोदाजीने कन्हैयाके छोटे-से मुखमें विश्वरूप देखा। इसपर विचार किया जाय तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमेंसे एक ब्रह्माण्डमें एक भूमण्डल है। इस भूमण्डलमें भारतवर्ष, भारतवर्षमें एक माथुरमण्डल, माथुरमण्डलमें एक व्रजमण्डल, व्रजमण्डलमें एक नन्दगाँव, नन्दगाँवमें एक नन्दभवन और नन्दभवनमें एक जगह छोटा-सा कन्हैया खड़ा है। उस कन्हैयाको यशोदा मैया छड़ी लेकर धमकाती हैं कि 'तूने माटी क्यों खायी? दिखा अपना मुख!' कन्हैयाने अपना मुख खोलकर दिखाया तो उस छोटे-से मुखमें यशोदा मैयाने सम्पूर्ण जगत्को—नन्दगाँवको और नन्दभवनमें अपने-आपको भी देखा—'सहात्मानम्' (श्रीमद्भा० दसवाँ स्कन्ध, आठवाँ अध्याय, उनतालीसवाँ श्लोक)। इसी तरह अर्जुनने भी भगवान्के शरीरके किसी अंशमें सम्पूर्ण जगत्को देखा।**

सिरसे प्रणाम ही कर सकता हूँ अर्थात् अपने-आपको अर्पित ही कर सकता हूँ। अतः अर्जुन हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए विश्वरूप भगवान्‌की स्तुति करने लगे।

सम्बन्ध—अर्जुन विराट्‌रूप भगवान्‌की जिस विलक्षणताको देखकर चकित हुए, उसका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें करते हुए भगवान्‌की स्तुति करते हैं।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—

देव	=हे देव! (मैं)	**भूतविशेष-सङ्घान्**	=प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको	**ईशम्**	=शंकारजीको,
तव	=आपके	**च**	=और	**सर्वान्**	=सम्पूर्ण
देहे	=शरीरमें	**कमलासनस्थम्**	=कमलासन-पर बैठे हुए	**ऋषीन्**	=ऋषियोंको
सर्वान्	=सम्पूर्ण	**ब्रह्माणम्**	=ब्रह्माजीको,	**च**	=और
देवान्	=देवताओंको			**दिव्यान्**	=दिव्य
तथा	=तथा			**उरगान्**	=सर्पोंको
				पश्यामि	=देख रहा हूँ।

व्याख्या—'**पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्**'—अर्जुनकी भगवत्प्रदत्त दिव्य दृष्टि इतनी विलक्षण है कि उनको देवलोक भी अपने सामने दीख रहे हैं। इतना ही नहीं, उनको सब-की-सब त्रिलोकी दिख रही है। केवल त्रिलोकी ही नहीं, प्रत्युत त्रिलोकीके उत्पादक (ब्रह्मा), पालक (विष्णु) और संहारक (महेश) भी प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। अतः अर्जुन वर्णन करते हैं कि मैं सम्पूर्ण देवोंको, प्राणियोंके समुदायोंको और ब्रह्मा तथा शंकरको देख रहा हूँ।

'**ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्**'—अर्जुन कहते हैं कि मैं कमलके ऊपर स्थित ब्रह्माजीको देखता हूँ—इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन कमलके नालको और नालके उद्‌गम-स्थान अर्थात् मूल आधार भगवान् विष्णुको (जो कि शेषशय्यापर सोये हुए हैं) भी देख रहे हैं। इसके सिवाय भगवान् शंकरको, उनके कैलास पर्वतको और कैलास पर्वतपर स्थित उनके निवासस्थान वटवृक्षको भी अर्जुन देख रहे हैं।

'**ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्**'—पृथ्वीपर रहनेवाले जितने भी ऋषि हैं, उनको तथा पाताललोकमें रहनेवाले दिव्य सर्पोंको भी अर्जुन देख रहे हैं।

इस श्लोकमें अर्जुनके कथनसे यह सिद्ध होता है कि उन्हें स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—यह त्रिलोकी अलग-अलग नहीं दीख रही है; किन्तु विभागसहित एक साथ एक जगह ही दीख रही है—'**प्रविभक्तमनेकधा**' (गीता ११। १३)। उस त्रिलोकीसे जब अर्जुनकी दृष्टि हटती है, तब जिनको ब्रह्मलोक, कैलास और वैकुण्ठलोक कहते हैं, वे अधिकारियोंके अभीष्ट लोक तथा उनके मालिक (ब्रह्मा, शंकर और विष्णु) भी अर्जुनको दीखते हैं। यह सब भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिका ही प्रभाव है।

विशेष बात

जब भगवान्‌ने कहा कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरे किसी एक अंशमें है, तब अर्जुन उसे दिखानेकी प्रार्थना करते हैं। अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान् कहते हैं कि तू मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचर जगत्‌को देख—'**इह एकस्थं ...... मम देहे**' (११। ७)। वेदव्यासजीद्वारा प्राप्त दिव्यदृष्टिवाले संजय भी यही बात कहते हैं कि अर्जुनने भगवान्‌के शरीरमें एक जगह स्थित सम्पूर्ण जगत्‌को देखा—'**तत्र एकस्थं ..... देवदेवस्य शरीरे**' (११। १३)। यहाँ अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण भूतसमुदाय आदिको देखता हूँ—'**तव देव देहे।**' इस प्रकार भगवान् और संजयके वचनोंमें तो '**एकस्थम्**' (एक जगह स्थित) पद आया है, पर अर्जुनके वचनोंमें यह पद नहीं आया है। इसका कारण

यह है कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्‌के शरीरमें जिस-किसी एक स्थानपर गयी, वहीं उनको भगवान्‌का विश्वरूप दिखायी देने लग गया। उस समय अर्जुनकी दृष्टि सारथिरूप भगवान्‌के शरीरकी तरफ गयी ही नहीं। अर्जुनकी दृष्टि जहाँ गयी, वहीं अनन्त सृष्टियाँ दीखने लग गयीं; अतः अर्जुनकी दृष्टि उधर ही बह गयी। इसलिये अर्जुन **'एकस्थम्'** नहीं कह सके। वे **'एकस्थम्'** तो तभी कह सकते हैं, जब विश्वरूप दीखनेके साथ-साथ सारथिरूपसे भगवान्‌का शरीर भी दीखे। अर्जुनको केवल विश्वरूप ही दीख रहा है, इसलिये वे विश्वरूपका ही वर्णन कर रहे हैं। उनको विश्वरूप इतना अपार दीख रहा है, जिसकी देश या कालसे कोई सीमा नहीं दीखती। तात्पर्य यह हुआ कि जब अर्जुनकी दृष्टिमें विश्वरूपका ही अन्त नहीं आ रहा है, तब उनकी दृष्टि सारथिरूपसे बैठे भगवान्‌की तरफ जाय ही कैसे?

भगवान् तो अपने शरीरके एक देशमें विश्वरूप दिखा रहे हैं, इसलिये उन्होंने **'एकस्थम्'** कहा है। संजय सारथिरूपमें बैठे हुए भगवान्‌को और उनके शरीरके एक देशमें स्थित विश्वरूपको देख रहे हैं, इसलिये संजयने **'एकस्थम्'** पद दिया है[1]।

अब प्रश्न यह होता है कि भगवान् और संजयकी दृष्टिमें वह एक जगह कौन-सी थी, जिसमें अर्जुन विश्वरूप देख रहे थे? इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के शरीरमें अमुक जगह ही अर्जुनने विश्वरूप देखा था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। कारण कि भगवान्‌के शरीरके एक-एक रोमकूपमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं[2]। भगवान्‌ने भी यह कहा था कि मेरे शरीरके एक देशमें तू चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को देख ले (इसी अध्यायका सातवाँ श्लोक)। इसलिये जहाँ अर्जुनकी दृष्टि एक बार पड़ी, वहीं उनको सम्पूर्ण विश्वरूप दीखने लग गया।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्‌के विराट्‌रूपमें देवता, प्राणी, ब्रह्माजी, विष्णु, शंकरजी, ऋषि, नाग—इन सबका समूह देखते हैं। तात्पर्य है कि अर्जुन मृत्युलोकमें बैठे हुए ही देवलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, कैलास, नागलोक आदि लोक देख रहे हैं। अतः जो कुछ भी कहने-सुननेमें आता है, वह सब-का-सब भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है। भगवान् साकार हों या निराकार हों, बड़े-से-बड़े हों या छोटे-से-छोटे हों, उनका अनन्तपना नहीं मिटता। सम्पूर्ण सृष्टि उनसे ही उत्पन्न होती है, उनमें ही रहती है और उनमें ही लीन हो जाती है, पर वे वैसे-के-वैसे ही रहते हैं!

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

विश्वरूप	= हे विश्वरूप!		(तथा)	**आदिम्**	= आदिको,
विश्वेश्वर	= हे विश्वेश्वर!	**सर्वतः**	= सब ओरसे	**न**	= न
त्वाम्	= आपको (मैं)	**अनन्तरूपम्**	= अनन्त रूपोंवाला	**मध्यम्**	= मध्यको
अनेकबाहूदर-वक्त्रनेत्रम्	= अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला	**पश्यामि**	= देख रहा हूँ।	**पुनः**	= और
		तव	= (मैं) आपके	**न**	= न
		न	= न	**अन्तम्**	= अन्तको ही
				पश्यामि	= देख रहा हूँ।

१-भगवान् और संजयके वचनोंमें 'एकस्थम्' पद आनेसे यह मान लेना चाहिये कि अर्जुनने भी भगवान्‌के शरीरमें एक जगह ही सम्पूर्ण विश्वरूपको देखा।

२-(१) 'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड' (मानस १। २०१)।

(२) क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥ (श्रीमद्भा० १०। १४। ११)

'आपके एक-एक रोमछिद्रमें ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड उसी प्रकार उड़ते-पड़ते रहते हैं, जिस प्रकार झरोखेकी जालीमेंसे आनेवाली सूर्यकी किरणोंमें रजके छोटे-छोटे परमाणु उड़ते हुए दिखायी देते हैं।'

व्याख्या—'**विश्वरूप**', '**विश्वेश्वर**'—इन दो सम्बोधनोंका तात्पर्य है कि मेरेको जो कुछ भी दीख रहा है, वह सब आप ही हैं और इस विश्वके मालिक भी आप ही हैं। सांसारिक मनुष्योंके शरीर तो जड होते हैं और उनमें शरीरी चेतन होता है; परन्तु आपके विराट्‌रूपमें शरीर और शरीरी—ये दो विभाग नहीं हैं। विराट्‌रूपमें शरीर और शरीरीरूपसे एक आप ही हैं। इसलिये विराट्‌रूपमें सब कुछ चिन्मय-ही-चिन्मय है। तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुन '**विश्वरूप**' सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीर हैं और '**विश्वेश्वर**' सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीरी (शरीरके मालिक) हैं।

'**अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्**'—मैं आपके हाथोंकी तरफ देखता हूँ तो आपके हाथ भी अनेक हैं; आपके पेटकी तरफ देखता हूँ तो पेट भी अनेक हैं; आपके मुखकी तरफ देखता हूँ तो मुख भी अनेक हैं; और आपके नेत्रोंकी तरफ देखता हूँ तो नेत्र भी अनेक हैं। तात्पर्य है कि आपके हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंका कोई अन्त नहीं है, सब-के-सब अनन्त हैं।

'**पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्**'—आप देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिके रूपमें चारों तरफ अनन्त-ही-अनन्त दिखायी दे रहे हैं।

'**नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्**'—आपका कहाँ अन्त है, इसका भी पता नहीं; आपका कहाँ मध्य है, इसका भी पता नहीं और आपका कहाँ आदि है, इसका भी पता नहीं।

सबसे पहले '**नान्तम्**' कहनेका तात्पर्य यह मालूम देता है कि जब कोई किसीको देखता है, तब सबसे पहले उसकी दृष्टि उस वस्तुकी सीमापर जाती है कि यह कहाँतक है। जैसे, किसी पुस्तकको देखनेपर सबसे पहले उसकी सीमापर दृष्टि जाती है कि पुस्तककी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है। ऐसे ही भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखनेपर अर्जुनकी दृष्टि सबसे पहले उसकी सीमा-(अन्त-) की ओर गयी। जब अर्जुनको उसका अन्त नहीं दीखा, तब उनकी दृष्टि मध्यभागपर गयी; फिर आदि-(आरम्भ-) की तरफ दृष्टि गयी, पर कहीं भी विराट्‌स्वरूपका अन्त, मध्य और आदिका पता नहीं लगा। इसलिये इस श्लोकमें '**नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्**'—यह क्रम रखा गया है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान्‌के विराट्‌रूपकी अनन्तताका वर्णन हुआ है। भगवान्‌के एक अंशमें भी अनन्तता है। जैसे स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? सोनेमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? ऐसे ही भगवान्‌में क्या नहीं है? अर्थात् भगवान्‌में स्वाभाविक ही सब कुछ है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

त्वाम् = (मैं) आपको (आपको)
किरीटिनम् = किरीट (मुकुट),
गदिनम् = गदा,
चक्रिणम् = चक्र (तथा शंख और पद्म) धारण किये हुए
पश्यामि = देख रहा हूँ।
तेजोराशिम् = तेजकी राशि,
सर्वतः = सब ओर
दीप्तिमन्तम् = प्रकाशवाले,
दीप्तानलार्कद्युतिम् = देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले,
दुर्निरीक्ष्यम् = नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जानेयोग्य
च = और
समन्तात् = सब तरफसे
अप्रमेयम् = अप्रमेयस्वरूप (देख रहा हूँ)।

व्याख्या—'**किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च**'—आपको मैं किरीट, गदा और चक्र धारण किये हुए देख रहा हूँ। यहाँ '**च**' पदसे शंख और पद्मको भी ले लेना चाहिये। इसका तात्पर्य ऐसा मालूम देता है कि अर्जुनको विश्वरूपमें भगवान् विष्णुका चतुर्भुजरूप भी दीख रहा है।

'**तेजोराशिम्**'—आप तेजकी राशि हैं, मानो तेजका समूह-का-समूह (अनन्त तेज) इकट्ठा हो गया हो। इसका पहले संजयने वर्णन किया है कि आकाशमें हजारों सूर्य एक साथ उदित होनेपर भी भगवान्‌के तेजकी बराबरी नहीं कर सकते (ग्यारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। ऐसे आप प्रकाशस्वरूप हैं।

'**सर्वतो दीप्तिमन्तम्**'—स्वयं प्रकाशस्वरूप होनेसे आप चारों तरफ प्रकाश कर रहे हैं।

'**पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्क-**

द्युतिमप्रमेयम्'—खूब देदीप्यमान अग्नि और सूर्यके समान आपकी कान्ति है। जैसे सूर्यके तेज प्रकाशके सामने आँखें चौंध जाती हैं, ऐसे ही आपको देखकर आँखें चौंध जाती हैं। अत: आप कठिनतासे देखे जानेयोग्य हैं। आपको ठीक तरहसे देख नहीं सकते।

[यहाँ एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी, पर वे दिव्यदृष्टिवाले अर्जुन भी विश्वरूपको देखनेमें पूरे समर्थ नहीं हो रहे हैं! ऐसा देदीप्यमान भगवान्‌का स्वरूप है!]

आप सब तरफसे अप्रमेय (अपरिमित) हैं अर्थात् आप प्रमा-(माप-) के विषय नहीं हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि कोई भी प्रमाण आपको बतानेमें काम नहीं करता; क्योंकि प्रमाणोंमें शक्ति आपकी ही है।

परिशिष्ट भाव—'अप्रमेयम्'—परमात्माके सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सभी रूप अप्रमेय (अपरिमित) हैं और उनका अंश जीवात्मा भी अप्रमेय है—**'अनाशिनोऽप्रमेयस्य'** (गीता २। १८)। वे परमात्मा ज्ञानका विषय नहीं हैं; क्योंकि वे ज्ञानके भी ज्ञाता हैं—**'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'** (गीता १५। १५)।

'दुर्निरीक्ष्यम्'—भगवान्‌के द्वारा प्रदत्त दिव्यदृष्टिसे भी अर्जुन भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखनेमें पूरे समर्थ नहीं हो रहे हैं! इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे भी भगवान्‌को पूरा नहीं जान सकते। भगवान् भी अपनेको पूरा नहीं जानते, यदि जान जायँ तो वे अनन्त कैसे रहेंगे ?

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें अर्जुन भगवान्‌को निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकाररूपमें देखते हुए भगवान्‌की स्तुति करते हैं।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

त्वम्	= आप (ही)	**विश्वस्य**	= सम्पूर्ण विश्वके	**त्वम्**	= (और) आप (ही)
वेदितव्यम्	= जाननेयोग्य	**परम्**	= परम	**अव्ययः**	= अविनाशी
परमम्	= परम	**निधानम्**	= आश्रय हैं,	**सनातनः**	= सनातन
अक्षरम्	= अक्षर (अक्षर-ब्रह्म) हैं,	**त्वम्**	= आप (ही)	**पुरुषः**	= पुरुष हैं (—ऐसा)
त्वम्	= आप (ही)	**शाश्वतधर्म-गोप्ता**	= सनातनधर्मके रक्षक हैं	**मे**	= मैं
अस्य	= इस			**मतः**	= मानता हूँ।

व्याख्या—**'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्'**—वेदों, शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों, सन्तोंकी वाणियों और तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंद्वारा जाननेयोग्य जो परमानन्दस्वरूप अक्षरब्रह्म है, जिसको निर्गुण-निराकार कहते हैं, वे आप ही हैं।

'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'—देखने, सुनने और समझनेमें जो कुछ संसार आता है, उस संसारके परम आश्रय, आधार आप ही हैं। जब महाप्रलय होता है, तब सम्पूर्ण संसार कारणसहित आपमें ही लीन होता है और फिर महासर्गके आदिमें आपसे ही प्रकट होता है। इस तरह आप इस संसारके परम निधान हैं। [इन पदोंसे अर्जुन सगुण-निराकारका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं।]

'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता'—जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब आप ही अवतार लेकर अधर्मका नाश करके सनातनधर्मकी रक्षा करते हैं। [इन पदोंसे अर्जुन सगुण-साकारका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं।]

'अव्ययः सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे'—अव्यय अर्थात् अविनाशी, सनातन, आदिरहित, सदा रहनेवाले उत्तम पुरुष आप ही हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

परिशिष्ट भाव—यहाँ **'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्'** पदोंसे निर्गुण-निराकारकी बात आयी है, **'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'** पदोंसे सगुण-निराकारकी बात आयी है और **'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता'** पदोंसे सगुण-साकारकी बात आयी है। तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—ये सब मिलकर भगवान्‌का समग्ररूप है, जिसको

जाननेपर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता (गीता—सातवें अध्यायका दूसरा श्लोक); क्योंकि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

सम्बन्ध—पंद्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक आश्चर्यचकित करनेवाले देवरूपका वर्णन करके अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन उस विश्वरूपकी उग्रता, प्रभाव, सामर्थ्यका वर्णन करते हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

त्वाम् = आपको (मैं) **अनादिमध्यान्तम्** = आदि, मध्य और अन्तसे रहित, **अनन्तवीर्यम्** = अनन्त प्रभाव-शाली, **अनन्तबाहुम्** = अनन्त भुजाओंवाले, **शशिसूर्यनेत्रम्** = चन्द्र और सूर्य-रूप नेत्रोंवाले, **दीप्तहुताशवक्त्रम्** = प्रज्वलित अग्निरूप मुखों-वाले (और) **स्वतेजसा** = अपने तेजसे **इदम्** = इस **विश्वम्** = संसारको **तपन्तम्** = तपाते हुए **पश्यामि** = देख रहा हूँ।

व्याख्या—**'अनादिमध्यान्तम्'**—आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं अर्थात् आपकी कोई सीमा नहीं है।

सोलहवें श्लोकमें भी अर्जुनने कहा है कि मैं आपके आदि, मध्य और अन्तको नहीं देखता हूँ। वहाँ तो 'देशकृत' अनन्तताका वर्णन हुआ है और यहाँ 'कालकृत' अनन्तताका वर्णन हुआ है। तात्पर्य है कि देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत आदि किसी तरहसे भी आपकी सीमा नहीं है। सम्पूर्ण देश, काल आदि आपके अन्तर्गत हैं, फिर आप देश, काल आदिके अन्तर्गत कैसे आ सकते हैं? अर्थात् देश, काल आदि किसीके भी आधारपर आपको मापा नहीं जा सकता।

'अनन्तवीर्यम्'—आपमें अपार पराक्रम, सामर्थ्य, बल और तेज है। आप अनन्त, असीम, शक्तिशाली हैं।

'अनन्तबाहुम्'— * आपकी कितनी भुजाएँ हैं, इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती। आप अनन्त भुजाओं-वाले हैं।

'शशिसूर्यनेत्रम्'—संसारमात्रको प्रकाशित करनेवाले जो चन्द्र और सूर्य हैं, वे आपके नेत्र हैं। इसलिये संसार-मात्रको आपसे ही प्रकाश मिलता है।

'दीप्तहुताशवक्त्रम्'—यज्ञ, होम आदिमें जो कुछ अग्निमें हवन किया जाता है, उन सबको ग्रहण करनेवाले देदीप्यमान अग्निरूप मुखवाले आप ही हैं।

'स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्'—अपने तेजसे सम्पूर्ण विश्वको तपानेवाले आप ही हैं। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन व्यक्तियों, वस्तुओं, परिस्थितियों आदिसे प्रतिकूलता मिल रही है, उन-उनसे ही सम्पूर्ण प्राणी संतप्त हो रहे हैं। संतप्त करनेवाले और संतप्त होनेवाले—दोनों एक ही विराट्‌रूपके अंग हैं।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकका तात्पर्य है कि भगवान् सब तरहसे अनन्त हैं। उनके तेजसे तपनेवाला विश्व भगवान्‌से अलग नहीं है। अतः तपानेवाला और तपनेवाला—दोनों ही भगवान्‌के स्वरूप हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

* सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने 'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्' कहा और यहाँ भी 'अनन्तबाहुम्' कहते हैं, तो इसमें पुनरुक्ति-सी दीखती है। परन्तु वास्तवमें यह पुनरुक्ति नहीं है; क्योंकि वहाँ विराट्‌रूप भगवान्‌के देवरूपका वर्णन है और यहाँ उग्ररूपका वर्णन है। उग्ररूपका वर्णन होनेसे ही यहाँ 'विश्वमिदं तपन्तम्' और आगेके (बीसवें) श्लोकमें 'दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितम्' पद आये हैं।

महात्मन्	= हे महात्मन्!	**दिशः**	= दिशाएँ	**अद्भुतम्**	= अद्भुत (और)
इदम्	= यह	**एकेन**	= एक	**उग्रम्**	= उग्र
द्यावापृथिव्योः	= स्वर्ग और पृथ्वीके	**त्वया**	= आपसे	**रूपम्**	= रूपको
		हि	= ही	**दृष्ट्वा**	= देखकर
अन्तरम्	= बीचका अन्तराल	**व्याप्तम्**	= परिपूर्ण हैं।	**लोकत्रयम्**	= तीनों लोक
च	= और	**तव**	= आपके	**प्रव्यथितम्**	= व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं।
सर्वाः	= सम्पूर्ण	**इदम्**	= इस		

व्याख्या—**'महात्मन्'**—इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि आपके स्वरूपके समान किसीका स्वरूप हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। इसलिये आप 'महात्मा' अर्थात् महान् स्वरूपवाले हैं।

'द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः'—स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें जितना अवकाश है, पोलाहट है, वह सब पोलाहट आपसे परिपूर्ण हो रही है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण; पूर्व-उत्तरके बीचमें 'ईशान', उत्तर-पश्चिमके बीचमें 'वायव्य', पश्चिम-दक्षिणके बीचमें 'नैर्ऋत्य' और दक्षिण-पूर्वके बीचमें 'आग्नेय' तथा ऊपर और नीचे—ये दसों दिशाएँ आपसे व्याप्त हैं अर्थात् इन सबमें आप-ही-आप विराजमान हैं।

'दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितम्'—[उन्नीसवें श्लोकमें तथा बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें उग्ररूपका वर्णन करके अब बीसवें श्लोकके उत्तरार्धसे बाईसवें श्लोकतक अर्जुन उग्ररूपके परिणामका वर्णन करते हैं—] आपके इस अद्भुत, विलक्षण, अलौकिक, आश्चर्यजनक, महान् देदीप्यमान और भयंकर उग्ररूपको देखकर स्वर्ग, मृत्यु और पाताललोकमें रहनेवाले सभी प्राणी व्यथित हो रहे हैं, भयभीत हो रहे हैं।

यद्यपि इस श्लोकमें स्वर्ग और पृथ्वीकी ही बात आयी है (**द्यावापृथिव्योः**), तथापि अर्जुनद्वारा **'लोकत्रयम्'** कहनेके अनुसार यहाँ पाताल भी ले सकते हैं। कारण कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्के शरीरके किसी एक देशमें जा रही है और वहाँ अर्जुनको जो दीख रहा है, वह दृश्य कभी पातालका है, कभी मृत्युलोकका है और कभी स्वर्गका है। इस तरह अर्जुनकी दृष्टिके सामने सब दृश्य बिना क्रमके आ रहे हैं*।

यहाँपर एक शंका होती है कि अगर विराट्रूपको देखकर त्रिलोकी व्यथित हो रही है, तो दिव्यदृष्टिके बिना त्रिलोकीने विराट्रूपको कैसे देखा? भगवान्ने तो केवल अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी। त्रिलोकीको विराट्रूप देखनेके लिये दिव्यदृष्टि किसने दी? कारण कि प्राकृत चर्मचक्षुओंसे यह विराट्रूप नहीं देखा जा सकता, जबकि **'विश्वमिदं तपन्तम्'** (११।१९) और **'लोकत्रयं प्रव्यथितम्'** पदोंसे विराट्रूपको देखकर त्रिलोकीके संतप्त और व्यथित होनेकी बात अर्जुनने कही है।

इसका समाधान यह है कि संतप्त और व्यथित होनेवाली त्रिलोकी भी उस विराट्रूपके अन्तर्गत ही है अर्थात् विराट्रूपका ही अंग है। संजयने और भगवान्ने विराट्रूपको एक देशमें देखनेकी बात (**एकस्थम्**) कही, पर अर्जुनने एक देशमें देखनेकी बात नहीं कही। कारण कि विराट्रूप देखते हुए भगवान्के शरीरकी तरफ अर्जुनका खयाल ही नहीं गया। उनकी दृष्टि केवल विराट्रूपकी तरफ ही बह गयी। जब सारथिरूप भगवान्के शरीरकी तरफ भी अर्जुनकी दृष्टि नहीं गयी, तब संतप्त और व्यथित होनेवाले इस लौकिक संसारकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि कैसे जा सकती है? इससे सिद्ध होता है कि संतप्त होनेवाला और संतप्त करनेवाला तथा व्यथित होनेवाला और व्यथित करने-वाला—ये चारों उस विराट्रूपके ही अंग हैं। अर्जुनको ऐसा दीख रहा है कि त्रिलोकी विराट्रूपको देखकर व्यथित, भयभीत हो रही है, पर वास्तवमें (विराट्रूपके अन्तर्गत)

* अर्जुनने स्वर्गसे पातालतक तथा पातालसे स्वर्गतक क्रमपूर्वक विश्वरूपको देखा हो, ऐसी बात नहीं है। अर्जुन भगवान्की दी हुई दिव्यदृष्टिसे स्वर्ग, भूमण्डल, पाताल आदि सबको एक साथ देख रहे हैं; और जैसे देख रहे हैं वैसे ही बोल रहे हैं—'हे देव! मैं आपकी देहमें देवताओंको देख रहा हूँ। प्राणियोंके अलग-अलग समुदायोंको देख रहा हूँ, कमलपर विराजमान ब्रह्माजीको देख रहा हूँ, कैलासपर विराजमान शंकरको देख रहा हूँ', सम्पूर्ण ऋषियोंको देख रहा हूँ, दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ, (११।१५) आदि-आदि। अर्जुनको ऐसा कहनेमें तो देरी लगी है, पर ऐसा (सबको एक साथ) देखनेमें देरी नहीं लगी। इसलिये अर्जुनके वचनोंमें स्वर्ग, मृत्यु, पाताल आदि लोकोंका कोई क्रम नहीं है।

भयानक सिंह, व्याघ्र, साँप आदि जन्तुओंको और मृत्युको देखकर त्रिलोकी भयभीत हो रही है।

मार्मिक बात

देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाला सम्पूर्ण संसार भगवान्‌के दिव्य विराट्‌रूपका ही एक छोटा-सा अंग है। संसारमें जो जडता, परिवर्तनशीलता, अदिव्यता दीखती है, वह वस्तुतः दिव्य विराट्‌रूपकी ही एक झलक है, एक लीला है। विराट्‌रूपकी जो दिव्यता है, उसकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, पर संसारकी जो अदिव्यता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अर्जुनको तो दिव्यदृष्टिसे भगवान्‌का विराट्‌रूप दीखा, पर भक्तोंको भावदृष्टिसे यह संसार भगवत्स्वरूप दीखता है—'**वासुदेवः सर्वम्।**' तात्पर्य है कि जैसे बचपनमें बालकका कंकड़-पत्थरोंमें जो भाव रहता है, वैसा भाव बड़े होनेपर नहीं रहता; बड़े होनेपर कंकड़-पत्थर उसे आकृष्ट नहीं करते, ऐसे ही भोगदृष्टि रहनेपर संसारमें जो भाव रहता है, वह भाव भोगदृष्टिके मिटनेपर नहीं रहता।

जिनकी भोगदृष्टि होती है, उनको तो संसार सत्य दीखता है, पर जिनकी भोगदृष्टि नहीं है, ऐसे महापुरुषोंको संसार भगवत्स्वरूप ही दीखता है। जैसे एक ही स्त्री बालकको माँके रूपमें, पिताको पुत्रीके रूपमें, पतिको पत्नीके रूपमें और सिंहको भोजनके रूपमें दीखती है, ऐसे ही यह संसार 'चर्मदृष्टि'से सच्चा, 'विवेकदृष्टि'से परिवर्तनशील, 'भावदृष्टि' से भगवत्स्वरूप और 'दिव्यदृष्टि'से विराट्‌रूपका ही एक छोटा-सा अंग दीखता है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें आये '**त्वयैकेन**' पदका तात्पर्य है कि असंख्य रूपोंमें एक आप ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। आपके अनेक रूपोंकी कोई गणना नहीं कर सकता, पर उनमें हैं आप एक ही।

भगवान्‌में अनेक तरहकी अद्भुतता है। वे देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, रूप, ज्ञान, योग आदि सब दृष्टियोंसे अनन्त हैं। जिसको हमने देखा नहीं, सुना नहीं, जाना नहीं, समझा नहीं और जो हमारी कल्पनामें आया ही नहीं, वह सब विराट्‌रूपके अन्तर्गत है।

सम्बन्ध—अब अर्जुनकी दृष्टिके सामने (विराट्‌रूपमें) स्वर्गादि लोकोंका दृश्य आता है और वे उसका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

अमी	= वे	**प्राञ्जलयः**	= हाथ जोड़े हुए (आपके नामों और गुणोंका)	**स्वस्ति**	= 'कल्याण हो! मंगल हो!'
हि	= ही			**इति**	= ऐसा
सुरसङ्घाः	= देवताओंके समुदाय			**उक्त्वा**	= कहकर
त्वाम्	= आपमें	**गृणन्ति**	= कीर्तन कर रहे हैं।	**पुष्कलाभिः**	= उत्तम-उत्तम
विशन्ति	= प्रविष्ट हो रहे हैं।	**महर्षि-**		**स्तुतिभिः**	= स्तोत्रोंके द्वारा
केचित्	= (उनमेंसे) कई तो	**सिद्धसङ्घाः**	= महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय	**त्वाम्**	= आपकी
भीताः	= भयभीत होकर			**स्तुवन्ति**	= स्तुति कर रहे हैं।

व्याख्या—'**अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति**'—जब अर्जुन स्वर्गमें गये थे, उस समय उनका जिन देवताओंसे परिचय हुआ था, उन्हीं देवताओंके लिये यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि वे ही देवतालोग आपके स्वरूपमें प्रविष्ट होते हुए दीख रहे हैं। ये सभी देवता आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आपमें ही स्थित रहते हैं और आपमें ही प्रविष्ट होते हैं।

'**केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति**'—परन्तु उन देवताओंमेंसे जिनकी आयु अभी ज्यादा शेष है, ऐसे आजान देवता (विराट्‌रूपके अन्तर्गत) नृसिंह आदि भयानक रूपोंको देखकर भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम, रूप, लीला, गुण आदिका गान कर रहे हैं।

यद्यपि देवतालोग नृसिंह आदि अवतारोंको देखकर और कालरूप मृत्युसे भयभीत होकर ही भगवान्‌का गुणगान कर

रहे हैं (जो सभी विराट्‌रूपके ही अंग हैं); परन्तु अर्जुनको ऐसा लग रहा है कि वे विराट्‌रूप भगवान्‌को देखकर ही भयभीत होकर स्तुति कर रहे हैं।

'स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः'—सप्तर्षियों, देवर्षियों, महर्षियों, सनकादिकों और देवताओंके द्वारा स्वस्तिवाचन (कल्याण हो! मंगल हो!) हो रहा है और बड़े उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुतियाँ हो रही हैं।

परिशिष्ट भाव—देवता, महर्षि, सिद्ध आदि सब भगवान्‌के ही विराट्‌रूपके अंग हैं। अतः प्रविष्ट होनेवाले, भयभीत होनेवाले, भगवान्‌के नामों और गुणोंका कीर्तन करनेवाले तथा स्तुति करनेवाले भी भगवान् हैं और जिनमें प्रविष्ट हो रहे हैं, जिनसे भयभीत हो रहे हैं, जिनके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं और जिनकी स्तुति कर रहे हैं, वे भी भगवान् हैं। यह भगवान्‌के सगुण रूपकी विलक्षणता है!

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च। गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

ये = जो, **रुद्रादित्याः** = ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, **वसवः** = आठ वसु, **साध्याः** = बारह साध्यगण, **विश्वे** = दस विश्वेदेव **च** = और **अश्विनौ** = दो अश्विनीकुमार, **च** = तथा **मरुतः** = उनचास मरुद्‌गण **च** = और **ऊष्मपाः** = गरम-गरम भोजन करनेवाले (सात पितृगण) **च** = तथा **गन्धर्वयक्षासुर-सिद्धसङ्घाः** = गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, **सर्वे, एव** = (वे) सभी **विस्मिताः** = चकित होकर **त्वाम्** = आपको **वीक्षन्ते** = देख रहे हैं।

व्याख्या—**'रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च'**—ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, दो अश्विनीकुमार और उनचास मरुद्‌गण—इन सबके नाम इसी अध्यायके छठे श्लोककी व्याख्यामें दिये गये हैं, इसलिये वहाँ देख लेना चाहिये।

मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु—ये बारह 'साध्य' हैं (वायुपुराण, छाछठवाँ अध्याय, पन्द्रहवाँ-सोलहवाँ श्लोक)।

क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस 'विश्वेदेव' हैं (वायुपुराण, छाछठवाँ अध्याय, इकतीसवाँ-बत्तीसवाँ श्लोक)।

कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषत्—ये सात 'पितर' हैं (शिवपुराण, धर्म० तिरसठवाँ अध्याय, दूसरा श्लोक)। ऊष्म अर्थात् गरम अन्न खानेके कारण पितरोंका नाम 'ऊष्मपा' है।

'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः'—कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई है। गन्धर्वलोग राग-रागिनियोंकी विद्यामें बड़े चतुर हैं। ये स्वर्गलोकके गायक हैं।

कश्यपजीकी पत्नी खसासे यक्षोंकी उत्पत्ति हुई है। देवताओंके विरोधी* दैत्यों, दानवों और राक्षसोंको असुर कहते हैं। कपिल आदिको सिद्ध कहते हैं।

'वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे'—उपर्युक्त सभी देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष आदि चकित होकर आपको देख रहे हैं। ये सभी देवता आदि विराट्‌रूपके ही अंग हैं।

परिशिष्ट भाव—रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव आदि सब-के-सब एक भगवान्‌के समग्ररूपके ही अंग हैं। अतः देखनेवाले और दीखनेवाले सभी एक परमात्मा ही हैं।

सम्बन्ध—अब अर्जुन आगेके तीन श्लोकोंमें विश्वरूपके महान् विकराल रूपका वर्णन करके उसका परिणाम बताते हैं।

*** यहाँ आये 'असुर' शब्दमें 'नञ्' समास है—'न सुरा असुराः।' अतः यहाँ 'असुर' शब्द देवताओंके विरोधीका वाचक है।**

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

महाबाहो	= हे महाबाहो!
ते	= आपके
बहुवक्त्र-नेत्रम्	= बहुत मुखों और नेत्रोंवाले,
बहुबाहूरुपादम्	= बहुत भुजाओं, जंघाओं और चरणोंवाले,
बहूदरम्	= बहुत उदरोंवाले (और)
बहुदंष्ट्रा-करालम्	= बहुत विकराल दाढ़ोंवाले
महत्	= महान्
रूपम्	= रूपको
दृष्ट्वा	= देखकर
लोकाः	= सब प्राणी
प्रव्यथिताः	= व्यथित हो रहे हैं
तथा	= तथा
अहम्	= मैं भी (व्यथित हो रहा हूँ)।

व्याख्या—[पन्द्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक विश्वरूपमें 'देव'-रूपका, उन्नीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक 'उग्र'-रूपका और तेईसवेंसे तीसवें श्लोकतक 'अत्यन्त उग्र'-रूपका वर्णन हुआ है।]

'बहुवक्त्रनेत्रम्'—आपके मुख एक-दूसरेसे नहीं मिलते। कई मुख सौम्य हैं और कई विकराल हैं। कई मुख छोटे हैं और कई बड़े हैं। ऐसे ही आपके जो नेत्र हैं, वे भी सभी एक समान नहीं दीख रहे हैं। कई नेत्र सौम्य हैं और कई विकराल हैं। कई नेत्र छोटे हैं, कई बड़े हैं, कई लम्बे हैं, कई चौड़े हैं, कई गोल हैं, कई टेढ़े हैं, आदि-आदि।

'बहुबाहूरुपादम्'— हाथोंकी बनावट, वर्ण, आकृति और उनके कार्य विलक्षण-विलक्षण हैं। जंघाएँ विचित्र-विचित्र हैं और चरण भी तरह-तरहके हैं।

'बहूदरम्'— पेट भी एक समान नहीं हैं। कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई भयंकर आदि कई तरहके पेट हैं।

'बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्'-मुखोंमें बहुत प्रकारकी विकराल दाढ़ें है। ऐसे महान् भयंकर, विकराल रूपको देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ।

इस श्लोकसे पहले कहे हुए श्लोकोंमें भी अनेक मुखों, नेत्रों आदिकी और सब लोगोंके भयभीत होनेकी बात आयी है। अतः अर्जुन एक ही बात बार-बार क्यों कह रहे हैं? इसका कारण है कि—(१) विराट्रूपमें अर्जुनकी दृष्टिके सामने जो-जो रूप आता है, उस-उसमें उनको नयी-नयी विलक्षणता और दिव्यता दीख रही है।

(२) विराट्रूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा गये, चकित हो गये, चकरा गये, व्यथित हो गये कि उनको यह खयाल ही नहीं रहा कि मैंने क्या कहा है और मैं क्या कह रहा हूँ।

(३) पहले तो अर्जुनने तीनों लोकोंके व्यथित होनेकी बात कही थी, पर यहाँ सब प्राणियोंके साथ-साथ स्वयंके भी व्यथित होनेकी बात कहते हैं।

(४) एक बातको बार-बार कहना अर्जुनके भयभीत और आश्चर्यचकित होनेका चिह्न है। संसारमें देखा भी जाता है कि जिसको भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि होते हैं, उसके मुखसे स्वाभाविक ही किसी शब्द या वाक्यका बार-बार उच्चारण हो जाता है; जैसे—कोई साँपको देखकर भयभीत होता है तो वह बार-बार 'साँप! साँप! साँप!' ऐसा कहता है। कोई सज्जन पुरुष आता है तो हर्षमें भरकर कहते हैं—'आइये! आइये! आइये!' कोई प्रिय व्यक्ति मर जाता है तो शोकाकुल होकर कहते हैं—'मैं मारा गया! मारा गया! घरमें अँधेरा हो गया, अँधेरा हो गया!' अचानक कोई आफत आ जाती है तो मुखसे निकलता है—'मैं मरा! मरा! मरा!' ऐसे ही यहाँ विश्वरूप-दर्शनमें अर्जुनके द्वारा भय और हर्षके कारण कुछ शब्दों और वाक्योंका बार-बार उच्चारण हुआ है। अर्जुनने भय और हर्षको स्वीकार भी किया है—**'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'** (११।४५)। तात्पर्य है कि भय, हर्ष, शोक आदिमें एक बातको बार-बार कहना पुनरुक्ति-दोष नहीं माना जाता।

परिशिष्ट भाव—दीखनेवाले और देखनेवाले, व्यथित करनेवाले और व्यथित होनेवाले सब प्राणी और स्वयं अर्जुन भी भगवान्के विराट्रूपके अन्तर्गत ही हैं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

हि	= क्योंकि	**व्यात्ताननम्**	= आपका मुख फैला हुआ है,	**प्रव्यथितान्तरात्मा**	= भयभीत अन्तःकरणवाला (मैं)
विष्णो	= हे विष्णो! (आपके)	**दीप्तविशाल-नेत्रम्**	= आपके नेत्र प्रदीप्त और विशाल हैं।	**धृतिम्**	= धैर्य
दीप्तम्	= देदीप्यमान	**त्वाम्**	= (ऐसे) आपको	**च**	= और
अनेकवर्णम्	= अनेक वर्ण हैं,	**दृष्ट्वा**	= देखकर	**शमम्**	= शान्तिको
नभःस्पृशम्	= आप आकाशको स्पर्श कर रहे हैं अर्थात् सब तरफसे बहुत बड़े हैं,			**न, विन्दामि**	= प्राप्त नहीं हो रहा हूँ।

व्याख्या—[बीसवें श्लोकमें तो अर्जुनने विराट्रूपकी लम्बाई-चौड़ाईका वर्णन किया, अब यहाँ केवल लम्बाईका वर्णन करते हैं।]

'विष्णो'—आप साक्षात् सर्वव्यापक विष्णु हैं, जिन्होंने पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये कृष्णरूपसे अवतार लिया है।

'दीप्तमनेकवर्णम्'—आपके काले, पीले, श्याम, गौर आदि अनेक वर्ण हैं, जो बड़े ही देदीप्यमान हैं।

'नभःस्पृशम्'—आपका स्वरूप इतना लम्बा है कि वह आकाशको स्पर्श कर रहा है।

वायुका गुण होनेसे स्पर्श वायुका ही होता है, आकाशका नहीं। फिर यहाँ आकाशको स्पर्श करनेका तात्पर्य क्या है? मनुष्यकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक तो उसको आकाश दीखता है, पर उसके आगे कालापन दिखायी देता है। कारण कि जब दृष्टि आगे नहीं जाती, थक जाती है, तब वह वहाँसे लौटती है, जिससे आगे कालापन दीखता है। यही दृष्टिका आकाशको स्पर्श करना है। ऐसे ही अर्जुनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक उनको भगवान्का विराट्रूप दिखायी देता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्का विराट्रूप असीम है, जिसके सामने दिव्यदृष्टि भी सीमित ही है।

'व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्'—जैसे कोई भयानक जन्तु किसी जन्तुको खानेके लिये अपना मुख फैलाता है, ऐसे ही मात्र विश्वको चट करनेके लिये आपका मुख फैला हुआ दीख रहा है।

आपके नेत्र बड़े ही देदीप्यमान और विशाल दीख रहे हैं।

'दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो'—इस तरह आपको देखकर मैं भीतरसे बहुत व्यथित हो रहा हूँ। मेरेको कहींसे भी धैर्य नहीं मिल रहा है और शान्ति भी नहीं मिल रही है।

यहाँ एक शंका होती है कि अर्जुनमें एक तो खुदकी सामर्थ्य है और दूसरी, भगवत्प्रदत्त सामर्थ्य (दिव्यदृष्टि) है। फिर भी अर्जुन तो विश्वरूपको देखकर डर गये, पर संजय नहीं डरे। इसमें क्या कारण है? सन्तोंसे ऐसा सुना है कि भीष्म, विदुर, संजय और कुन्ती—ये चारों भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको विशेषतासे जाननेवाले थे। इसलिये संजय पहलेसे ही भगवान्के तत्त्वको, उनके प्रभावको जानते थे, जब कि अर्जुन भगवान्के तत्त्वको उतना नहीं जानते थे। अर्जुनका विमूढ़भाव (मोह) अभी सर्वथा दूर नहीं हुआ था (गीता—ग्यारहवें अध्यायका उनचासवाँ श्लोक)। इस विमूढ़भावके कारण अर्जुन भयभीत हुए। परन्तु संजय भगवान्के तत्त्वको जानते थे अर्थात् उनमें विमूढ़भाव नहीं था; अतः वे भयभीत नहीं हुए।

उपर्युक्त विवेचनसे एक बात सिद्ध होती है कि भगवान् और महापुरुषोंकी कृपा विशेषरूपसे अयोग्य मनुष्योंपर होती है, पर उस कृपाको विशेषरूपसे योग्य मनुष्य ही जानते हैं। जैसे, छोटे बच्चेपर माँका अधिक स्नेह होता है, पर बड़ा लड़का माँको जितना जानता है, उतना छोटा बच्चा नहीं जानता। ऐसे ही भोले-भाले, सीधे-सादे व्रजवासी, ग्वालबाल, गोप-गोपी और गाय—इनपर भगवान् जितना अधिक स्नेह करते हैं, उतना स्नेह जीवन्मुक्त महापुरुषोंपर नहीं करते। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष ग्वालबाल आदिकी अपेक्षा भगवान्को विशेषरूपसे जानते हैं। संजयने विश्वरूपके लिये प्रार्थना भी नहीं की और विश्वरूपको देख लिया। परन्तु विश्वरूप देखनेके लिये अर्जुनको स्वयं

भगवान्‌ने ही उत्कण्ठित किया और अपना विश्वरूप भी दिखाया; क्योंकि संजयकी अपेक्षा भगवान्‌के तत्त्वको जाननेमें अर्जुन छोटे थे और भगवान्‌के साथ सखाभाव रखते थे। इसलिये अर्जुनपर भगवान्‌की कृपा अधिक थी। इस कृपाके कारण अन्तमें अर्जुनका मोह नष्ट हो गया—**'नष्टो मोहः ...... त्वत्प्रसादात्'** (गीता १८।७३)। इससे सिद्ध होता है कि कृपापात्रका मोह अन्तमें नष्ट हो ही जाता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ आया **'नभःस्पृशम्'** पद विराट्‌रूपकी अनन्तताका द्योतक है। अर्जुनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक उनको विराट्‌रूप ही दीखता है—**'सा काष्ठा सा परा गतिः'** (कठ० १।३।११) अर्थात् वह परमात्मा सबकी परम अवधि और परम गति है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

ते	= आपके	**मुखानि**	= मुखोंको	**शर्म**	= शान्ति
कालानल-		**दृष्ट्वा**	= देखकर	**एव**	= ही
सन्निभानि	= प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित		(मुझे)	**लभे**	= मिल रही है। (इसलिये)
च	= और	**न**	= न तो	**देवेश**	= हे देवेश!
दंष्ट्राकरालानि	= दाढ़ोंके कारण विकराल (भयानक)	**दिशः**	= दिशाओंका	**जगन्निवास**	= हे जगन्निवास!
		जाने	= ज्ञान हो रहा है	**प्रसीद**	= (आप) प्रसन्न होइये।
		च	= और		
		न	= न		

व्याख्या—**'दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि'**—महाप्रलयके समय सम्पूर्ण त्रिलोकीको भस्म करनेवाली जो अग्नि प्रकट होती है, उसे संवर्तक अथवा कालाग्नि कहते हैं। उस कालाग्निके समान आपके मुख हैं, जो भयंकर-भयंकर दाढ़ोंके कारण बहुत विकराल हो रहे हैं। उनको देखनेमात्रसे ही बड़ा भय लग रहा है। अगर उनका कार्य देखा जाय तो उसके सामने किसीका टिकना ही मुश्किल है।

'दिशो न जाने न लभे च शर्म'—ऐसे विकराल मुखोंको देखकर मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि दिशाओंका ज्ञान होता है सूर्यके उदय और अस्त होनेसे। पर वह सूर्य तो आपके नेत्रोंकी जगह है अर्थात् वह तो आपके विराट्‌रूपके अन्तर्गत आ गया है। इसके सिवाय आपके चारों ओर महान् प्रज्वलित प्रकाश-ही-प्रकाश दीख रहा है (ग्यारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक), जिसका न उदय और न अस्त हो रहा है। इसलिये मेरेको दिशाओंका ज्ञान नहीं हो रहा है और विकराल मुखोंको देखकर भयके कारण मैं किसी तरहका सुख और शान्ति भी प्राप्त नहीं कर रहा हूँ।

'प्रसीद देवेश जगन्निवास'— आप सब देवताओंके मालिक हैं और सम्पूर्ण संसार आपमें ही निवास कर रहा है। अतः कोई भी देवता, मनुष्य भयभीत होनेपर आपको ही तो पुकारेगा! आपके सिवाय और किसको पुकारेगा? तथा और कौन सुनेगा? इसलिये मैं भी आपको पुकारकर कह रहा हूँ कि हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये।

भगवान्‌के विकराल रूपको देखकर अर्जुनको ऐसा लगा कि भगवान् मानो बड़े क्रोधमें आये हुए हैं। इस भावनाको लेकर ही भयभीत अर्जुन भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

परिशिष्ट भाव—भगवान् तो प्रसन्न होकर ही अर्जुनको अपना विराट्‌रूप दिखा रहे हैं (गीता—इसी अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक), पर उनके रूपकी उग्रताको देखकर अर्जुनको यह वहम हो रहा है कि भगवान् अप्रसन्न हैं। इसलिये वे भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

सम्बन्ध—अब अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें मुख्य-मुख्य योद्धाओंका विराट्‌रूपमें प्रवेश होनेका वर्णन करते हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

अस्मदीयैः	= हमारे पक्षके
योधमुख्यैः	= मुख्य-मुख्य योद्धाओंके
सह	= सहित
भीष्मः	= भीष्म,
द्रोणः	= द्रोण
तथा	= और
असौ	= वह
सूतपुत्रः	= कर्ण
अपि	= भी
त्वाम्	= आपमें (प्रविष्ट हो रहे हैं)
अवनिपाल-सङ्घैः	= राजाओंके समुदायोंके
सह	= सहित
धृतराष्ट्रस्य	= धृतराष्ट्रके
अमी	= वे
एव	= ही
सर्वे	= सब-के-सब
पुत्राः	= पुत्र
ते	= आपके
दंष्ट्राकरालानि	= विकराल दाढ़ोंके कारण
भयानकानि	= भयंकर
वक्त्राणि	= मुखोंमें
त्वरमाणाः	= बड़ी तेजीसे
विशन्ति	= प्रविष्ट हो रहे हैं।
केचित्	= (उनमेंसे) कई-एक तो
चूर्णितैः	= चूर्ण हुए
उत्तमाङ्गैः	= सिरोंसहित
दशनान्तरेषु	= (आपके) दाँतोंके बीचमें
विलग्नाः	= फँसे हुए
सन्दृश्यन्ते	= दीख रहे हैं।

व्याख्या—'**भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः**'—हमारे पक्षके धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद आदि जो मुख्य-मुख्य योद्धालोग हैं, वे सब-के-सब धर्मके पक्षमें हैं और केवल अपना कर्तव्य समझकर युद्ध करनेके लिये आये हैं। हमारे इन सेनापतियोंके साथ पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और वह प्रसिद्ध सूतपुत्र कर्ण आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

यहाँ भीष्म, द्रोण और कर्णका नाम लेनेका तात्पर्य है कि ये तीनों ही अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये युद्धमें आये थे*।

---

* **भीष्म—भीष्मजीकी प्रतिज्ञा दुनियामें प्रसिद्ध है कि उन्होंने पिताजीकी प्रसन्नताके लिये विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा की और आबाल ब्रह्मचारी रहे। इस प्रतिज्ञापर वे इतने डटे रहे कि उन्होंने गुरु परशुरामजीके साथ युद्ध किया, पर अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी। भगवान्‌ने पहले हाथमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। परन्तु जब भीष्मजीने (भगवान्‌की प्रतिज्ञाके विरुद्ध) यह प्रतिज्ञा कर ली कि 'आजु जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ। तौ लाजौं गंगा जननीको शान्तनु-सुत न कहाऊँ॥' तो भगवान्‌को भी अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर एक बार चाबुक और दूसरी बार चक्र लेकर भीष्मजीकी तरफ दौड़ना पड़ा। इस तरह भीष्मकी प्रतिज्ञा बनी रही और भगवान्‌की प्रतिज्ञा टूट गयी!**

द्रोण—द्रोणाचार्य दुर्योधनका अन्न खाकर उसके वृत्तिभोगी रहे हैं। इसलिये वे युद्धको अपना कर्तव्य समझकर युद्धमें लग जाते हैं और अन्तमें देवताओंकी बातें सुनकर और युद्धमें अपने ब्राह्मणोचित धर्मको समझकर युद्धसे उपरत हो जाते हैं।

द्रोणाचार्यमें इतनी निष्पक्षता थी कि गुरुभक्त और विद्यामें तत्पर अर्जुनको ब्रह्मास्त्र छोड़ना और उसका उपसंहार करना (वापस लेना)—ये दो विद्याएँ सिखा दीं; परन्तु अपने पुत्र अश्वत्थामाको केवल ब्रह्मास्त्र छोड़ना ही सिखाया, उपसंहार करना सिखाया ही नहीं।

कर्ण—कर्णकी दुर्योधनके साथ मित्रता थी, उस मित्रतारूप कर्तव्यको निभानेके लिये वे युद्धमें आते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा 'कर्ण! तू कुन्तीका बेटा है,' ऐसा कहनेपर भी वे दुर्योधनके पक्षमें ही रहे और उन्होंने भगवान्‌से कहा कि 'यह बात आप धर्मराज युधिष्ठिरसे मत कहना; क्योंकि अगर उनको पता लग जायगा तो मुझे बड़ा समझकर वे राज्य मुझे दे देंगे और मैं राज्य दुर्योधनको दे दूँगा। इससे पाण्डव सदाके लिये दुःखी रहेंगे।'

कर्ण बड़े दृढ़प्रतिज्ञ थे। वे विचित्र ही दानवीर थे। इन्द्रके माँगनेपर उन्होंने अपने नैसर्गिक (जन्मजात) कुण्डल और कवच उतारकर दे दिये थे। माता कुन्तीके द्वारा माँगनेपर उन्होंने उनको पाँच पुत्रोंके बने रहनेका वचन दिया, जिसमें उन्होंने कहा 'माँ! मैं युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेवको तो मारूँगा नहीं, पर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध होगा। युद्धमें अगर अर्जुन मेरेको मार देगा, तो तेरे पाँच पुत्र रहेंगे ही और अगर मैं अर्जुनको मार दूँगा, तो भी मेरेसहित तेरे पाँच पुत्र रहेंगे!'

'अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः'—दुर्योधनके पक्षमें जितने राजालोग हैं, जो युद्धमें दुर्योधनका प्रिय करना चाहते हैं (गीता—पहले अध्यायका तेईसवाँ श्लोक) अर्थात् दुर्योधनको हितकी सलाह नहीं दे रहे हैं, उन सभी राजाओंके समूहोंके साथ धृतराष्ट्रके दुर्योधन, दु:शासन आदि सौ पुत्र विकराल दाढ़ोंके कारण अत्यन्त भयानक आपके मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रवेश कर रहे हैं—**'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।'**

विराट्रूपमें वे चाहे भगवान्‌में प्रवेश करें, चाहे भगवान्‌के मुखोंमें जायँ, वह एक ही लीला है। परन्तु भावोंके अनुसार उनकी गतियाँ अलग-अलग प्रतीत हो रही हैं। इसलिये भगवान्‌में जायँ अथवा मुखोंमें जायँ, वे हैं तो विराट्रूपमें ही।

'केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितै-रुत्तमाङ्गैः'—जैसे खाद्य पदार्थोंमें कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जो चबाते समय सीधे पेटमें चले जाते हैं, पर कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जो चबाते समय दाँतों और दाढ़ोंके बीचमें फँस जाते हैं। ऐसे ही आपके मुखोंमें प्रविष्ट होनेवालोंमेंसे कई-एक तो सीधे भीतर (पेटमें) चले जा रहे हैं, पर कई-एक चूर्ण हुए मस्तकोंसहित आपके दाँतों और दाढ़ोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि योद्धालोग तो अभी सामने युद्धक्षेत्रमें खड़े हुए हैं, फिर वे अर्जुनको विराट्रूपके मुखोंमें जाते हुए कैसे दिखायी दिये? इसका समाधान यह है कि भगवान् विराट्रूपमें अर्जुनको आसन्न भविष्यकी बात दिखा रहे हैं। भगवान्‌ने विराट्रूप दिखाते समय अर्जुनसे कहा था कि तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी मेरे इस विराट्रूपमें देख ले (सातवाँ श्लोक)। अर्जुनके मनमें सन्देह था कि युद्धमें हमारी जीत होगी या कौरवोंकी? (दूसरे अध्यायका छठा श्लोक) इसलिये उस सन्देहको दूर करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आसन्न भविष्यका दृश्य दिखाकर मानो यह बताते हैं कि युद्धमें तुम्हारी ही जीत होगी। आगे अर्जुनके द्वारा प्रश्न करनेपर भी भगवान्‌ने यही बात कही है (बत्तीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक)।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्‌के विराट्रूपमें आसन्न भविष्यको देख रहे हैं। कालातीत होनेसे भगवान्‌में भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों काल वर्तमान ही हैं (गीता—सातवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—जो अपना कर्तव्य समझकर धर्मकी दृष्टिसे युद्धमें आये हैं और जो परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले हैं—ऐसे पुरुषोंका विराट्रूपमें नदियोंके दृष्टान्तसे प्रवेश करनेका वर्णन अर्जुन आगेके श्लोकमें करते हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा = जैसे
नदीनाम् = नदियोंके
बहवः = बहुत-से
अम्बुवेगाः = जलके प्रवाह
एव = (स्वाभाविक) ही
समुद्रम् = समुद्रके
अभिमुखाः = सम्मुख
द्रवन्ति = दौड़ते हैं,
तथा = ऐसे ही
अमी = वे
नरलोकवीराः = संसारके महान् शूरवीर
तव = आपके
अभिविज्वलन्ति = सब तरफसे देदीप्यमान
वक्त्राणि = मुखोंमें
विशन्ति = प्रवेश कर रहे हैं।

व्याख्या—**'यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्र-मेवाभिमुखा द्रवन्ति'**—मूलमें जलमात्र समुद्रका है। वही जल बादलोंके द्वारा वर्षारूपमें पृथ्वीपर बरसकर झरने, नाले आदिको लेकर नदियोंका रूप धारण करता है। उन नदियोंके जितने वेग हैं, प्रवाह हैं, वे सभी स्वाभाविक ही समुद्रकी तरफ दौड़ते हैं। कारण कि जलका उद्गम स्थान समुद्र ही है। वे सभी जल-प्रवाह समुद्रमें जाकर अपने नाम और रूपको छोड़कर अर्थात् गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नामोंको और प्रवाहके रूपको छोड़कर समुद्ररूप ही हो जाते हैं। फिर वे जल-प्रवाह समुद्रके सिवाय अपना कोई अलग, स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। वास्तवमें तो उनका स्वतन्त्र अस्तित्व पहले भी नहीं था, केवल नदियोंके प्रवाहरूपमें होनेके कारण वे अलग दीखते थे।

'तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभि-

विज्वलन्ति'—नदियोंकी तरह मात्र जीव नित्य सुखकी अभिलाषाको लेकर परमात्माके सम्मुख ही दौड़ते हैं। परन्तु भूलसे असत्, नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे वे सांसारिक संग्रह और संयोगजन्य सुखमें लग जाते हैं तथा अपना अलग अस्तित्व मानने लगते हैं। उन जीवोंमें वे ही वास्तविक शूरवीर हैं, जो सांसारिक संग्रह और सुखभोगोंमें न लगकर, जिसके लिये शरीर मिला है, उस परमात्मप्राप्तिके मार्गमें ही तत्परतासे लगे हुए हैं। ऐसे युद्धमें आये हुए भीष्म, द्रोण आदि नरलोकवीर आपके प्रकाशमय (ज्ञानस्वरूप) मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

सामने दीखनेवाले लोगोंमें परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले लोग विलक्षण हैं और बहुत थोड़े हैं। अतः उनके लिये परोक्षवाचक **'अमी'** (वे) पद दिया गया है।

सम्बन्ध—जो राज्य और प्रशंसाके लोभसे युद्धमें आये हैं और जो सांसारिक संग्रह और भोगोंकी प्राप्तिमें लगे हुए हैं—ऐसे पुरुषोंका विराट्रूपमें पतंगोंके दृष्टान्तसे प्रवेश करनेका वर्णन अर्जुन आगेके श्लोकमें करते हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

यथा	= जैसे	**ज्वलनम्**	= अग्निमें		करनेके लिये
पतङ्गाः	= पतंगे (मोहवश)	**विशन्ति**	= प्रविष्ट होते हैं,	**समृद्धवेगाः**	= बड़े वेगसे दौड़ते हुए
नाशाय	= (अपना) नाश करनेके लिये	**तथा**	= ऐसे	**तव**	= आपके
		एव	= ही		
समृद्धवेगाः	= बड़े वेगसे दौड़ते हुए	**लोकाः**	= ये सब लोग	**वक्त्राणि**	= मुखोंमें
		अपि	= भी (मोहवश)	**विशन्ति**	= प्रविष्ट हो रहे हैं।
प्रदीप्तम्	= प्रज्वलित	**नाशाय**	= (अपना) नाश		

व्याख्या—**'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः'**—जैसे हरी-हरी घासमें रहनेवाले पतंगे चातुर्मासकी अँधेरी रात्रिमें कहींपर प्रज्वलित अग्नि देखते हैं, तो उसपर मुग्ध होकर (कि बहुत सुन्दर प्रकाश मिल गया, हम इससे लाभ ले लेंगे, हमारा अँधेरा मिट जायगा) उसकी तरफ बड़ी तेजीसे दौड़ते हैं। उनमेंसे कुछ तो प्रज्वलित अग्निमें स्वाहा हो जाते हैं; कुछको अग्निकी थोड़ी-सी लपट लग जाती है तो उनका उड़ना बंद हो जाता है और वे तड़पते रहते हैं। फिर भी उनकी लालसा उस अग्निकी तरफ ही रहती है! यदि कोई पुरुष दया करके उस अग्निको बुझा देता है तो वे पतंगे बड़े दुःखी हो जाते हैं कि उसने हमारेको बड़े लाभसे वंचित कर दिया!

'तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः'—भोग भोगने और संग्रह करनेमें ही तत्परतापूर्वक लगे रहना और मनमें भोगों और संग्रहका ही चिन्तन होते रहना—यह बढ़ा हुआ सांसारिक वेग है। ऐसे वेगवाले दुर्योधनादि राजालोग पतंगोंकी तरह बड़ी तेजीसे कालचक्ररूप आपके मुखोंमें जा रहे हैं अर्थात् पतनकी तरफ जा रहे हैं—चौरासी लाख योनियों और नरकोंकी तरफ जा रहे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि प्रायः मनुष्य सांसारिक भोग, सुख, आराम, मान, आदर आदिको प्राप्त करनेके लिये रात-दिन दौड़ते हैं। उनको प्राप्त करनेमें उनका अपमान होता है, निन्दा होती है, घाटा लगता है, चिन्ता होती है, अन्तःकरणमें जलन होती है और जिस आयुके बलपर वे जी रहे हैं, वह आयु भी समाप्त होती जाती है, फिर भी वे नाशवान् भोग और संग्रहकी प्राप्तिके लिये भीतरसे लालायित रहते हैं*।

---

* अजानन् दाहात्म्यं पतति शलभो दीपदहने स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान् न मुंचामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥ (भर्तृहरिवैराग्यशतक)

'पतंग दीपकके दाहक स्वरूपको न जाननेके कारण ही उसपर गिरता है, मछली भी अज्ञानवश ही बंसीमें लगे हुए मांसके टुकड़ेको निगलती है; परन्तु हमलोग जानते हुए भी विपत्तिके जटिल जालमें फँसानेवाली कामनाओंको नहीं छोड़ते; अहो! मोहकी महिमा बड़ी गहन है।'

परिशिष्ट भाव—पिछले श्लोकमें नदियोंका और इस श्लोकमें पतंगोंका दृष्टान्त दिया गया है। पतंगे तो मोहवश लेनेकी इच्छासे खुद अग्निमें जाते हैं, पर नदियाँ अपने-आपको देनेके लिये समुद्रमें जाती हैं। अतः जो मनुष्य, 'लेने' की इच्छा रखते हैं, वे पतंगोंके समान हैं और जो मनुष्य 'देने' की इच्छा रखते हैं, वे नदियोंके समान हैं, लेनेका भाव जड़ता है और देनेका भाव चेतनता है। लेनेकी भावनासे अशुभ कर्म और देनेकी भावनासे शुभ कर्म होते हैं। लेनेकी इच्छावालोंके लिये स्वर्ग है और देनेकी इच्छावालोंके लिये मोक्ष है। कारण कि लेनेका भाव बाँधनेवाला और देनेका भाव मुक्त करनेवाला होता है।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें दो दृष्टान्तोंसे दोनों समुदायोंका वर्णन करके अब सम्पूर्ण लोकोंका ग्रसन करते हुए विश्वरूप भगवान्‌के भयानक रूपका वर्णन करते हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

ज्वलद्भिः	=(आप अपने) प्रज्वलित	**समन्तात्**	=सब ओरसे	**तेजोभिः**	=अपने तेजसे
वदनैः	=मुखोंद्वारा	**लेलिह्यसे**	=बार-बार चाट रहे हैं;	**समग्रम्**	=सम्पूर्ण
समग्रान्	=सम्पूर्ण	**विष्णो**	=(और) हे विष्णो!	**जगत्**	=जगत्‌को
लोकान्	=लोकोंका	**तव**	=आपका	**आपूर्य**	=परिपूर्ण करके
ग्रसमानः	=ग्रसन करते हुए (उन्हें)	**उग्राः**	=उग्र	**प्रतपन्ति**	=(सबको) तपा रहा है।
		भासः	=प्रकाश		

व्याख्या—**'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः'**—आप सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार कर रहे हैं और कोई इधर-उधर न चला जाय, इसलिये बार-बार जीभके लपेटेसे अपने प्रज्वलित मुखोंमें लेते हुए उनका ग्रसन कर रहे हैं। तात्पर्य है कि कालरूप भगवान्‌की जीभके लपेटसे कोई भी प्राणी बच नहीं सकता।

'तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो'—विराट्‌रूप भगवान्‌का तेज बड़ा उग्र है। वह उग्र तेज सम्पूर्ण जगत्‌में परिपूर्ण होकर सबको संतप्त कर रहा है, व्यथित कर रहा है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ **'लोकान्समग्रान्'** (लोकमात्र) तथा **'जगत्समग्रम्'** (जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूप जगन्मात्र) कहनेका तात्पर्य है कि यह सब कुछ भगवान्‌के ही समग्ररूपके अन्तर्गत है।

गीतामें भगवान्‌को भी समग्र कहा है—**'असंशयं समग्रं माम्'** (७। १), कर्मोंको भी समग्र कहा है—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रम्'** (४। २३) और प्रस्तुत श्लोकमें संसारको भी समग्र कहा है। इसका तात्पर्य है कि सब भगवान्‌के ही रूप हैं।

सम्बन्ध—विराट्‌रूप भगवान् अपने विलक्षण-विलक्षण रूपोंका दर्शन कराते ही चले गये। उनके भयंकर और अत्यन्त उग्ररूपके मुखोंमें सम्पूर्ण प्राणी और दोनों पक्षोंके योद्धा जाते देखकर अर्जुन बहुत घबरा गये। अतः अत्यन्त उग्ररूपधारी भगवान्‌का वास्तविक परिचय जाननेके लिये अर्जुन प्रश्न करते हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

मे	=मुझे यह	**भवान्**	=आप	**ते**	=आपको
आख्याहि	=बताइये कि	**कः**	=कौन हैं ?	**नमः**	=नमस्कार
उग्ररूपः	=उग्र रूपवाले	**देववर**	=हे देवताओंमें श्रेष्ठ!	**अस्तु**	=हो।

प्रसीद	=(आप) प्रसन्न होइये।	**विज्ञातुम्**	=तत्त्वसे जानना	**तव**	=आपकी
आद्यम्	=आदिरूप	**इच्छामि**	=चाहता हूँ;	**प्रवृत्तिम्**	=प्रवृत्तिको
भवन्तम्	=आपको (मैं)	**हि**	=क्योंकि (मैं)	**न, प्रजानामि**	=भलीभाँति नहीं जानता।

व्याख्या—'**आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद**'—आप देवरूपसे भी दीख रहे हैं और उग्ररूपसे भी दीख रहे हैं; तो वास्तवमें ऐसे रूपोंको धारण करनेवाले आप कौन हैं?

अत्यन्त उग्र विराट्‌रूपको देखकर भयके कारण अर्जुन नमस्कारके सिवाय और करते भी क्या? जब अर्जुन भगवान्‌के ऐसे विराट्‌रूपको समझनेमें सर्वथा असमर्थ हो गये, तब अन्तमें कहते हैं कि हे देवताओंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार है।

भगवान् अपनी जीभसे सबको अपने मुखोंमें लेकर बार-बार चाट रहे हैं, ऐसे भयंकर बर्तावको देखकर अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि आप प्रसन्न हो जाइये।

'**विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्**'—भगवान्‌का पहला अवतार विराट्-(संसार-) रूपमें ही हुआ था। इसलिये अर्जुन कहते हैं कि आदिनारायण! आपको मैं स्पष्टरूपसे नहीं जानता हूँ। मैं आपकी इस प्रवृत्तिको भी नहीं जानता हूँ कि आप यहाँ क्यों प्रकट हुए हैं? और आपके मुखोंमें हमारे पक्षके तथा विपक्षके बहुत-से योद्धा प्रविष्ट होते जा रहे हैं; अतः वास्तवमें आप क्या करना चाहते हैं? तात्पर्य यह हुआ कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं—इस बातको मैं जानना चाहता हूँ और इसको आप ही स्पष्टरूपसे बताइये।

एक प्रश्न होता है कि भगवान्‌का पहला अवतार विराट्-(संसारके) रूपमें हुआ और अभी अर्जुन भगवान्‌के किसी एक देशमें विराट्‌रूप देख रहे हैं—ये दोनों विराट्‌रूप एक ही हैं या अलग-अलग? इसका उत्तर यह है कि वास्तविक बात तो भगवान् ही जानें, पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुनने जो विराट्‌रूप देखा था, उसीके अन्तर्गत यह संसाररूपी विराट्‌रूप भी था। जैसे कहा जाता है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं, तो इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि भगवान् केवल सम्पूर्ण संसारमें ही व्याप्त हैं, प्रत्युत भगवान् संसारसे बाहर भी व्याप्त हैं। संसार तो भगवान्‌के किसी अंशमें है तथा ऐसी अनन्त सृष्टियाँ भगवान्‌के किसी अंशमें हैं। ऐसे ही अर्जुन जिस विराट्-रूपको देख रहे हैं, उसमें यह संसार भी है और इसके सिवाय और भी बहुत कुछ है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌के ऐश्वर्ययुक्त उग्ररूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा जाते हैं कि अपने ही सखा श्रीकृष्णसे पूछ बैठते हैं कि आप कौन हैं!

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने प्रार्थनापूर्वक जो प्रश्न किया था, उसका यथार्थ उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥

श्रीभगवान् बोले—

लोकक्षयकृत्	=(मैं) सम्पूर्ण लोकोंका नाश करनेवाला		लोगोंका	**अवस्थिताः**	=खड़े हैं,
प्रवृद्धः	=बढ़ा हुआ	**समाहर्तुम्**	=संहार करनेके लिये	**सर्वे**	=(वे) सब
कालः	=काल	**प्रवृत्तः**	=(यहाँ) आया हूँ।	**त्वाम्**	=तुम्हारे
अस्मि	=हूँ (और)	**प्रत्यनीकेषु**	=(तुम्हारे) प्रतिपक्षमें	**ऋते**	=(युद्ध किये) बिना
इह	=इस समय (मैं)	**ये**	=जो	**अपि**	=भी
लोकान्	=(इन सब)	**योधाः**	=योद्धालोग	**न**	=नहीं
				भविष्यन्ति	=रहेंगे।

व्याख्या—[भगवान्‌का विश्वरूप विचार करनेपर बहुत विलक्षण मालूम देता है; क्योंकि उसको देखनेमें अर्जुनकी दिव्यदृष्टि भी पूरी तरहसे काम नहीं कर रही है और वे विश्वरूपको कठिनतासे देखे जानेयोग्य बताते हैं—**'दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्'** (११। १७)। यहाँ भी वे भगवान्‌से पूछ बैठते हैं कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं? ऐसा मालूम देता है कि अगर अर्जुन भयभीत होकर ऐसा नहीं पूछते तो भगवान् और भी अधिक विलक्षणरूपसे प्रकट होते चले जाते। परन्तु अर्जुनके बीचमें ही पूछनेसे भगवान्‌ने और आगेका रूप दिखाना बन्द कर दिया और अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देने लगे।]

'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः'—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं—**'आख्याहि मे को भवानुग्ररूपः,** उसके उत्तरमें विराट्‌रूप भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण लोकोंका क्षय (नाश) करनेवाला बड़े भयंकररूपसे बढ़ा हुआ अक्षय काल हूँ।

'लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'—अर्जुनने पूछा था कि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जान रहा हूँ—**'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्'** अर्थात् आप यहाँ क्या करने आये हैं? उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि मैं इस समय दोनों सेनाओंका संहार करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ।

'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः'—तुमने पहले यह कहा था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—**'न योत्स्ये'** (२। ९), तो क्या तुम्हारे युद्ध किये बिना ये प्रतिपक्षी नहीं मरेंगे? अर्थात् तुम्हारे युद्ध करने और न करनेसे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। कारण कि मैं सबका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। यह बात तुमने विराट्‌रूपमें भी देख ली है कि तुम्हारे पक्षकी और विपक्षकी दोनों सेनाएँ मेरे भयंकर मुखोंमें प्रविष्ट हो रही हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि अर्जुनने अपनी और कौरवपक्षकी सेनाके सभी लोगोंको भगवान्‌के मुखोंमें जाकर नष्ट होते हुए देखा था, तो फिर भगवान्‌ने यहाँ केवल प्रतिपक्षकी ही बात क्यों कही कि तुम्हारे युद्ध किये बिना भी ये प्रतिपक्षी नहीं रहेंगे? इसका समाधान है कि अगर अर्जुन युद्ध करते तो केवल प्रतिपक्षियोंको ही मारते और युद्ध नहीं करते तो प्रतिपक्षियोंको नहीं मारते। अतः भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी नहीं बचेंगे; क्योंकि मैं कालरूपसे सबको खा जाऊँगा। तात्पर्य यह है कि इन सबका संहार तो होनेवाला ही है, तुम केवल अपने युद्धरूप कर्तव्यका पालन करो।

एक शंका यह भी होती है कि यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि प्रतिपक्षके योद्धालोग तुम्हारे युद्ध किये बिना भी नहीं रहेंगे, फिर इस युद्धमें प्रतिपक्षके अश्वत्थामा आदि योद्धा कैसे बच गये? इसका समाधान है कि यहाँ भगवान्‌ने उन्हीं योद्धाओंके मरनेकी बात कही है, जिनको अर्जुन मार सकते हैं और जिनको अर्जुन आगे मारेंगे। अतः भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि जिन योद्धाओंको तुम मार सकते हो, वे सभी तुम्हारे मारे बिना ही मर जायँगे। जिनको तुम आगे मारोगे, वे मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं—**'मयैवैते निहताः पूर्वमेव'** (११। ३३)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि तुम्हारे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी योद्धा नहीं रहेंगे। ऐसी स्थितिमें अर्जुनको क्या करना चाहिये—इसका उत्तर भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

तस्मात् = इसलिये
त्वम् = तुम (युद्धके लिये)
उत्तिष्ठ = खड़े हो जाओ (और)
यशः = यशको
लभस्व = प्राप्त करो (तथा)
शत्रून् = शत्रुओंको
जित्वा = जीतकर
समृद्धम् = धन-धान्यसे सम्पन्न
राज्यम् = राज्यको
भुङ्क्ष्व = भोगो।
एते, एव = ये सभी
मया = मेरे द्वारा
पूर्वम् = पहलेसे
एव = ही
निहताः = मारे हुए हैं।
सव्यसाचिन् = हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले अर्जुन! (तुम इनको मारनेमें)
निमित्तमात्रम् = निमित्तमात्र
भव = बन जाओ।

व्याख्या—**'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व'**—हे अर्जुन! जब तुमने यह देख ही लिया कि तुम्हारे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी बचेंगे नहीं, तो तुम कमर कसकर युद्धके लिये खड़े हो जाओ और मुफ्तमें ही यशको प्राप्त कर लो। इसका तात्पर्य है कि यह सब होनहार है, जो होकर ही रहेगी और इसको मैंने तुम्हें प्रत्यक्ष दिखा भी दिया है। अतः तुम युद्ध करोगे तो तुम्हें मुफ्तमें ही यश मिलेगा और लोग भी कहेंगे कि अर्जुनने विजय कर ली?

'यशो लभस्व' कहनेका यह अर्थ नहीं है कि यशकी प्राप्ति होनेपर तुम फूल जाओ कि 'वाह'! मैंने विजय प्राप्त कर ली', प्रत्युत तुम ऐसा समझो कि जैसे ये प्रतिपक्षी मेरे द्वारा मारे हुए ही मरेंगे, ऐसे ही यश भी जो होनेवाला है, वही होगा। अगर तुम यशको अपने पुरुषार्थसे प्राप्त मानकर राजी होओगे, तो तुम फलमें बँध जाओगे—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)। तात्पर्य यह हुआ कि लाभ-हानि, यश-अपयश सब प्रभुके हाथमें है। अतः मनुष्य इनके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े; क्योंकि ये तो होनहार हैं।

'जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्'—समृद्ध राज्यमें दो बातें होती हैं—(१) राज्य निष्कण्टक हो अर्थात् उसमें बाधा देनेवाला कोई भी शत्रु या प्रतिपक्षी न रहे और (२) राज्य धन-धान्यसे सम्पन्न हो अर्थात् प्रजाके पास खूब धन-सम्पत्ति हो; हाथी, घोड़े, गाय, जमीन, मकान, जलाशय आदि आवश्यक वस्तुएँ भरपूर हों; प्रजाके खानेके लिये भरपूर अन्न हो। इन दोनों बातोंसे ही राज्यकी समृद्धता, पूर्णता होती है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि शत्रुओंको जीतकर तुम ऐसे निष्कण्टक और धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो।

यहाँ राज्यको भोगनेका अर्थ अनुकूलताका सुख भोगनेमें नहीं है, प्रत्युत यह अर्थ है कि साधारण लोग जिसे भोग मानते हैं, उस राज्यको भी तुम अनायास प्राप्त कर लो।

'मयैवैते निहताः पूर्वमेव'—तुम मुफ्तमें यश और राज्यको कैसे प्राप्त कर लोगे, इसका हेतु बताते हैं कि यहाँ जितने भी आये हुए हैं, उन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् कालरूप मेरे द्वारा ये पहलेसे ही मारे जा चुके हैं।

'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—बायें हाथसे बाण चलानेके कारण अर्थात् दायें और बायें—दोनों हाथोंसे बाण चलानेके कारण अर्जुनका नाम 'सव्यसाची' था*। इस नामसे सम्बोधित करके भगवान् अर्जुनसे यह कहते हैं कि तुम दोनों हाथोंसे बाण चलाओ अर्थात् युद्धमें अपनी पूरी शक्ति लगाओ, पर बनना है निमित्तमात्र। निमित्तमात्र बननेका तात्पर्य अपने बल, बुद्धि, पराक्रम आदिको कम लगाना नहीं है, प्रत्युत इनको सावधानीपूर्वक पूरा-का-पूरा लगाना है। परन्तु मैंने मार दिया, मैंने विजय प्राप्त कर ली—यह अभिमान नहीं करना है; क्योंकि ये सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इसलिये तुम्हें केवल निमित्तमात्र बनना है, कोई नया काम नहीं करना है।

निमित्तमात्र बनकर कार्य करनेमें अपनी ओरसे किसी भी अंशमें कोई कमी नहीं रहनी चाहिये, प्रत्युत पूरी-की-पूरी शक्ति लगाकर सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिये। कार्यकी सिद्धिमें अपने अभिमानका किंचिन्मात्र भी अंश नहीं रखना चाहिये। जैसे, भगवान् श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वत उठाया तो उन्होंने ग्वालबालोंसे कहा कि तुमलोग भी पर्वतके नीचे अपनी-अपनी लाठियाँ लगाओ। सभी ग्वालबालोंने अपनी-अपनी लाठियाँ लगायीं और वे ऐसा समझने लगे कि हम सबकी लाठियाँ लगनेसे ही पर्वत ऊपर ठहरा हुआ है। वास्तवमें पर्वत ठहरा हुआ था भगवान्‌के बायें हाथकी छोटी अंगुलीके नखपर! ग्वालबालोंमें जब इस तरहका अभिमान हुआ, तब भगवान्‌ने अपनी अंगुली थोड़ी-सी नीचे कर ली। अंगुली नीचे करते ही पर्वत नीचे आने लगा तो ग्वालबालोंने पुकारकर भगवान्‌से कहा—'अरे दादा! मरे! मरे!! मरे!!!' भगवान्‌ने कहा कि जोरसे शक्ति लगाओ। पर वे सब-के-सब एक साथ अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी पर्वतको ऊँचा नहीं कर सके। तब भगवान्‌ने पुनः अपनी अंगुलीसे पर्वतको ऊँचा कर दिया। ऐसे ही साधकको परमात्मप्राप्तिके लिये अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिको तो पूरा-का-पूरा लगाना चाहिये, उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं रखनी चाहिये, पर परमात्माका अनुभव होनेमें बल, उद्योग, योग्यता, तत्परता, जितेन्द्रियता, परिश्रम आदिको कारण मानकर अभिमान नहीं करना चाहिये। उसमें तो केवल भगवान्‌की कृपाको ही कारण मानना चाहिये। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है कि शाश्वत अविनाशी पदकी प्राप्ति मेरी कृपासे होगी—**'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्'** (१८। ५६), और सम्पूर्ण विघ्नोंको मेरी कृपासे तर जायगा—**'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'** (१८। ५८)। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल निमित्तमात्र बननेसे साधकको परमात्माकी प्राप्ति

*** उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे। तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः॥ (महा० विराट० ४४। १९)**

हो जाती है।

जब साधक अपना बल मानते हुए साधन करता है, तब अपना बल माननेके कारण उसको बार-बार विफलताका अनुभव होता रहता है और तत्त्वकी प्राप्तिमें देरी लगती है। अगर साधक अपने बलका किंचिन्मात्र भी अभिमान न करे तो सिद्धि तत्काल हो जाती है। कारण कि परमात्मा तो नित्यप्राप्त हैं ही, केवल अपने पुरुषार्थके अभिमानके कारण ही उनका अनुभव नहीं हो रहा था। इस पुरुषार्थके अभिमानको दूर करनेमें ही '**निमित्तमात्रं भव**' पदोंका तात्पर्य है।

कर्मोंमें जो अपने करनेका अभिमान है कि 'मैं करता हूँ तो होता है, अगर मैं नहीं करूँ तो नहीं होगा', यह केवल अज्ञताके कारण ही अपनेमें आरोपित कर रखा है। अगर मनुष्य अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेमें निमित्तमात्र बन जाय, तो उसका उद्धार स्वत:सिद्ध है। कारण कि जो होनेवाला है, वह तो होगा ही, उसको कोई अपनी शक्तिसे रोक नहीं सकता; और जो नहीं होनेवाला है, वह नहीं होगा, उसको कोई अपने बल-बुद्धिसे कर नहीं सकता। अतः सिद्धि-असिद्धिमें सम रहते हुए कर्तव्य-कर्मोंका पालन किया जाय तो मुक्ति स्वत:सिद्ध है। बन्धन, नरकोंकी प्राप्ति, चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति—ये सभी कृतिसाध्य हैं और मुक्ति, कल्याण, भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम आदि सभी स्वत:सिद्ध हैं।

परिशिष्ट भाव—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—निमित्तमात्र बननेका तात्पर्य यह नहीं है कि नाममात्रके लिये कर्म करो, प्रत्युत इसका तात्पर्य है कि अपनी पूरी-की-पूरी शक्ति लगाओ, पर अपनेको कारण मत मानो अर्थात् अपने उद्योगमें कमी भी मत रखो और अपनेमें अभिमान भी मत करो। भगवान्‌ने जो कुछ बल, विद्या, योग्यता आदि दी है, वह सब लगानेके लिये दी है; परन्तु अपना पूरा बल आदि लगाकर हम उसको प्राप्त नहीं कर सकते। प्राप्ति तो उनकी कृपासे ही होगी।

भगवान्‌ने अपनी ओरसे हमारेपर कृपा करनेमें कोई कमी नहीं रखी है। जैसे बछड़ा एक थनसे ही दूध पीता है, पर भगवान्‌ने गायको चार थन दिये हैं! ऐसे ही भगवान् चारों तरफसे हमारेपर कृपा कर रहे हैं! हमें तो निमित्तमात्र बनना है। अर्जुनके सामने तो युद्ध था, इसलिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी। इसी तरह हमारे सामने संसार है; अतः हम भी निमित्तमात्र बनकर साधन करें तो संसारपर हमारी विजय हो जायगी।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

द्रोणम् = द्रोण
च = और
भीष्मम् = भीष्म
च = तथा
जयद्रथम् = जयद्रथ
च = और
कर्णम् = कर्ण
तथा = तथा
अन्यान्,
अपि = अन्य सभी
मया = मेरे द्वारा
हतान् = मारे हुए
योधवीरान् = शूरवीरोंको
त्वम् = तुम
जहि = मारो।
मा, व्यथिष्ठाः = तुम व्यथा मत करो।
युध्यस्व = (और) युद्ध करो।
रणे = युद्धमें (तुम नि:सन्देह)
सपत्नान् = वैरियोंको
जेतासि = जीतोगे।

व्याख्या—'**द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् मया हतांस्त्वं जहि**'—तुम्हारी दृष्टिमें गुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य जितने प्रतिपक्षके नामी शूरवीर हैं, जिनपर विजय करना बड़ा कठिन काम है*, उन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् वे सब कालरूप मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इसलिये हे अर्जुन! मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको तुम मार दो।

भगवान्‌के द्वारा पूर्वश्लोकमें '**मयैवैते निहताः पूर्वमेव**'

* भीष्म, द्रोण और कर्ण अपनी शूरवीरताके कारण संसारमें प्रसिद्ध थे; अतः इनको जीतनेमें कठिनता थी। जयद्रथ तो ऐसा कोई नामी शूरवीर था नहीं, पर उसको एक वरदान था कि 'तुम्हारा सिर कोई पृथ्वीपर गिरा देगा तो उस (सिर गिरानेवाले-) के सिरके सौ टुकड़े हो जायँगे। इस वरदानके कारण जयद्रथको मारनेमें कठिनता थी।

और यहाँ '**मया हतांस्त्वं जहि**' कहनेका तात्पर्य यह है कि तुम इनपर विजय करो, पर विजयका अभिमान मत करो; क्योंकि ये सब-के-सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं।

'**मा व्यथिष्ठा युध्यस्व**'—अर्जुन पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यको मारनेमें पाप समझते थे, यही अर्जुनके मनमें व्यथा थी। अतः भगवान् कह रहे हैं कि वह व्यथा भी तुम मत करो अर्थात् भीष्म और द्रोण आदिको मारनेसे हिंसा आदि दोषोंका विचार करनेकी तुम्हें किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। तुम अपने क्षात्रधर्मका अनुष्ठान करो अर्थात् युद्ध करो। इसका त्याग मत करो।

'**जेतासि रणे सपत्नान्**'—इस युद्धमें तुम वैरियोंको जीतोगे। ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि पहले (गीता—दूसरे अध्यायके छठे श्लोकमें) अर्जुनने कहा था कि हम उनको जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे—इसका हमें पता नहीं। इस प्रकार अर्जुनके मनमें सन्देह था। यहाँ ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूप देखनेकी आज्ञा दी, तो उसमें भगवान्ने कहा कि तुम और भी जो कुछ देखना चाहो, वह देख लो (सातवाँ श्लोक) अर्थात् किसकी जय होगी और किसकी पराजय होगी—यह भी तुम देख लो। फिर भगवान्ने विराट्रूपके अन्तर्गत भीष्म, द्रोण और कर्णके नाशकी बात दिखा दी और इस श्लोकमें वह बात स्पष्टरूपसे कह दी कि युद्धमें निःसन्देह तुम्हारी विजय होगी।

विशेष बात

साधकको अपने साधनमें बाधकरूपसे नाशवान् पदार्थोंका, व्यक्तियोंका जो आकर्षण दीखता है, उससे वह घबरा जाता है कि मेरा उद्योग कुछ भी काम नहीं कर रहा है; अतः यह आकर्षण कैसे मिटे! भगवान् '**मयैवैते निहताः पूर्वमेव**' और '**मया हतांस्त्वं जहि**' पदोंसे ढाढ़स बँधाते हुए मानो यह आश्वासन देते हैं कि तुम्हारेको अपने साधनमें जो वस्तुओं आदिका आकर्षण दिखायी देता है और वृत्तियाँ खराब होती हुई दीखती हैं, ये सब-के-सब विघ्न नाशवान् हैं और मेरे द्वारा नष्ट किये हुए हैं। इसलिये साधक इनको महत्त्व न दे।

'दुर्गुण-दुराचार दूर नहीं हो रहे हैं, क्या करूँ!'—ऐसी चिन्ता होनेमें तो साधकका अभिमान ही कारण है और 'ये दूर होने चाहिये और जल्दी होने चाहिये'—इसमें भगवान्के विश्वासकी, भरोसेकी, आश्रयकी कमी है। दुर्गुण-दुराचार अच्छे नहीं लगते, सुहाते नहीं, इसमें दोष नहीं है। दोष है चिन्ता करनेमें। इसलिये साधकको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

'मेरे द्वारा मारे हुएको तू मार'—इस कथनसे यह शंका होती है कि कालरूप भगवान्के द्वारा सब-के-सब मारे हुए हैं तो संसारमें कोई किसीको मारता है तो वह भगवान्के द्वारा मारे हुएको ही मारता है। अतः मारनेवालेको पाप नहीं लगना चाहिये। इसका समाधान यह है कि किसीको मारनेका या दुःख देनेका अधिकार मनुष्यको नहीं है। उसका तो सबकी सेवा करनेका, सबको सुख पहुँचानेका ही अधिकार है। अगर मारनेका अधिकार मनुष्यको होता तो विधि-निषेध अर्थात् शुभ-कर्म करो, अशुभ-कर्म मत करो—ऐसा शास्त्रोंका, गुरुजनों और सन्तोंका कहना ही व्यर्थ हो जायगा। वह विधि-निषेध किसपर लागू होगा? अतः मनुष्य किसीको मारता है या दुःख देता है तो उसको पाप लगेगा ही; क्योंकि यह उसकी राग-द्वेषपूर्वक अनधिकार चेष्टा है। परन्तु क्षत्रियके लिये शास्त्रविहित युद्ध प्राप्त हो जाय, तो स्वार्थ और अहंकारका त्याग करके कर्तव्य-पालन करनेसे पाप नहीं लगता, क्योंकि यह क्षत्रियका स्वधर्म है।

परिशिष्ट भाव—भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ये सभी शूरवीर मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इससे यह समझना चाहिये कि साधकके राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भी पहलेसे ही मारे हुए हैं अर्थात् सत्तारहित हैं। इनको हमने ही सत्ता और महत्ता देकर अपनेमें स्वीकार किया है। वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २।१६)।

सम्बन्ध—विराट्रूप भगवान्के अत्यन्त उग्ररूपको देखकर अर्जुनने इकतीसवें श्लोकमें पूछा कि आप कौन हैं और यहाँ क्या करने आये हैं? बत्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने उसका उत्तर दिया कि मैं बढ़ा हुआ काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ। फिर तैंतीसवें-चौंतीसवें श्लोकोंमें भगवान्ने अर्जुनको आश्वासन दिया कि मेरे द्वारा मारे हुएको ही तू मार दे, तेरी जीत होगी। इसके बाद अर्जुनने क्या किया—इसको संजय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

संजय बोले—

केशवस्य	= भगवान् केशवका	**कृताञ्जलिः**	= हाथ जोड़कर	**प्रणम्य**	= प्रणाम करके
एतत्	= यह	**नमस्कृत्वा**	= नमस्कार करके (और)	**सगद्गदम्**	= गद्गद वाणीसे
वचनम्	= वचन	**भीतभीतः**	= भयभीत होते हुए	**कृष्णम्**	= भगवान् कृष्णसे
श्रुत्वा	= सुनकर	**एव**	= भी	**आह**	= बोले।
वेपमानः	= (भयसे) काँपते हुए	**भूयः**	= फिर		
किरीटी	= किरीटधारी अर्जुन				

व्याख्या—**'एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी'**—अर्जुन तो पहलेसे भयभीत थे ही, फिर भगवान्ने 'मैं काल हूँ, सबको खा जाऊँगा'—ऐसा कहकर मानो डरे हुएको और डरा दिया। तात्पर्य है कि **'कालोऽस्मि'**—यहाँसे लेकर **'मया हतांस्त्वं जहि'**—यहाँतक भगवान्ने नाश-ही-नाशकी बात बतायी। इसे सुनकर अर्जुन डरके मारे काँपने लगे और हाथ जोड़कर बार-बार नमस्कार करने लगे।

अर्जुनने इन्द्रकी सहायताके लिये जब काल, खंज आदि राक्षसोंको मारा था, तब इन्द्रने प्रसन्न होकर अर्जुनको सूर्यके समान प्रकाशवाला एक दिव्य 'किरीट' (मुकुट) दिया था। इसीसे अर्जुनका नाम 'किरीटी' पड़ गया*। यहाँ 'किरीटी' कहनेका तात्पर्य है कि जिन्होंने बड़े-बड़े राक्षसोंको मारकर इन्द्रकी सहायता की थी, वे अर्जुन भी भगवान्के विराट्रूपको देखकर कम्पित हो रहे हैं।

'नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य'—काल सबका भक्षण करता है; किसीको भी छोड़ता नहीं। कारण कि यह भगवान्की संहारशक्ति है, जो हरदम संहार करती ही रहती है। इधर अर्जुनने जब भगवान्के अत्युग्र विराट्रूपको देखा तो उनको लगा कि भगवान् कालके भी काल—महाकाल हैं। उनके सिवाय दूसरा कोई भी कालसे बचानेवाला नहीं है। इसलिये अर्जुन भयभीत होकर भगवान्को बार-बार प्रणाम करते हैं।

'भूयः' कहनेका तात्पर्य है कि पहले पंद्रहवेंसे इकतीसवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्की स्तुति और नमस्कार किया, अब फिर भगवान्की स्तुति और नमस्कार करते हैं।

हर्षसे भी वाणी गद्गद होती है और भयसे भी। यहाँ भयका विषय है। अगर अर्जुन बहुत ज्यादा भयभीत होते तो वे बोल ही न सकते। परन्तु अर्जुन गद्गद वाणीसे बोलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे इतने भयभीत नहीं हैं।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकसे अर्जुन भगवान्की स्तुति करना आरम्भ करते हैं।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—

हृषीकेश	= हे अन्तर्यामी भगवन्!		लीलाका) कीर्तन करनेसे	**च**	= और
तव	= आपके	**जगत्**	= यह सम्पूर्ण जगत्	**अनुरज्यते**	= अनुराग-(प्रेम) को प्राप्त हो रहा है।
प्रकीर्त्या	= (नाम, गुण,	**प्रहृष्यति**	= हर्षित हो रहा है		

* पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः। किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम्॥ (महा० विराट० ४४। १७)

भीतानि	= (आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे) भयभीत होकर	**द्रवन्ति**	= भागते हुए जा रहे हैं	**नमस्यन्ति**	= आपको नमस्कार कर रहे हैं।
रक्षांसि	= राक्षसलोग	**च**	= और	**स्थाने**	= यह सब होना उचित ही है।
दिशः	= दसों दिशाओंमें	**सर्वे**	= सम्पूर्ण		
		सिद्धसङ्घाः	= सिद्धगण		

व्याख्या—[संसारमें यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति अत्यन्त भयभीत हो जाता है, उससे बोला नहीं जाता। अर्जुन भगवान्‌का अत्युग्ररूप देखकर अत्यन्त भयभीत हो गये थे। फिर उन्होंने इस (छत्तीसवें) श्लोकसे लेकर छियालीसवें श्लोकतक भगवान्‌की स्तुति कैसे की? इसका समाधान यह है कि यद्यपि अर्जुन भगवान्‌के अत्यन्त उग्र (भयानक) विश्वरूपको देखकर भयभीत हो रहे थे, तथापि वे भयभीत होनेके साथ-साथ हर्षित भी हो रहे थे, जैसा कि अर्जुनने आगे कहा है—'**अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे**' (११। ४५)। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे, जिससे कि वे भगवान्‌की स्तुति भी न कर सकें।]

'**हृषीकेश**'—इन्द्रियोंका नाम 'हृषीक' है और उनके 'ईश' अर्थात् मालिक भगवान् हैं। यहाँ इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि आप सबके हृदयमें विराजमान रहकर इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले हैं।

'**तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च**'—संसारसे विमुख होकर आपको प्रसन्न करनेके लिये भक्तलोग आपके नामोंका, गुणोंका कीर्तन करते हैं, आपकी लीलाके पद गाते हैं, आपके चरित्रोंका कथन और श्रवण करते हैं, तो इससे सम्पूर्ण जगत् हर्षित होता है। तात्पर्य यह है कि संसारकी तरफ चलनेसे तो सबको जलन होती है, परस्पर राग-द्वेष पैदा होते हैं, पर जो आपके सम्मुख होकर आपका भजन-कीर्तन करते हैं, उनके द्वारा मात्र जीवोंको शान्ति मिलती है, मात्र जीव प्रसन्न हो जाते हैं! उन जीवोंको पता लगे चाहे न लगे, पर ऐसा होता है।

जैसे भगवान् अवतार लेते हैं तो सम्पूर्ण स्थावर-जंगम, जड-चेतन जगत् हर्षित हो जाता है अर्थात् वृक्ष, लता आदि स्थावर; देवता, मनुष्य, ऋषि, मुनि, किन्नर, गन्धर्व, पशु, पक्षी आदि जंगम; नदी, सरोवर आदि जड—सब-के-सब प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसे ही भगवान्‌के नाम, लीला, गुण आदिके कीर्तनका सभीपर असर पड़ता है और सभी हर्षित होते हैं।

भगवान्‌के नामों और गुणोंका कीर्तन करनेसे जब मनुष्य हर्षित हो जाते हैं अर्थात् उनका मन भगवान्‌में तल्लीन हो जाता है, तब (भगवान्‌की तरफ वृत्ति होनेसे,) उनका भगवान्‌में अनुराग, प्रेम हो जाता है।

'**रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति**'—जितने राक्षस हैं; भूत, प्रेत, पिशाच हैं, वे सब-के-सब आपके नामों और गुणोंका कीर्तन करनेसे, आपके चरित्रोंका पठन-कथन करनेसे भयभीत होकर भाग जाते हैं।*

राक्षस, भूत, प्रेत आदिके भयभीत होकर भाग जानेमें भगवान्‌के नाम, गुण आदि कारण नहीं हैं, प्रत्युत उनके अपने खुदके पाप ही कारण हैं। अपने पापोंके कारण ही वे पवित्रोंमें महान् पवित्र और मंगलोंमें महान् मंगलस्वरूप भगवान्‌के गुणगानको सह नहीं सकते और जहाँ गुणगान होता है, वहाँ वे टिक नहीं सकते। अगर उनमेंसे कोई टिक जाता है तो उसका सुधार हो जाता है, उसकी वह दुष्ट योनि छूट जाती है और उसका कल्याण हो जाता है।

'**सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः**'—सिद्धोंके, सन्त-महात्माओंके और भगवान्‌की तरफ चलनेवाले साधकोंके जितने समुदाय हैं, वे सब-के-सब आपके नामों और गुणोंके कीर्तनको तथा आपकी लीलाओंको सुनकर आपको नमस्कार करते हैं।

यह ध्यान रहे कि यह सब-का-सब दृश्य भगवान्‌के नित्य, दिव्य, अलौकिक विराट्‌रूपमें ही है। उसीमें एक-एकसे विचित्र लीलाएँ हो रही हैं।

'**स्थाने**'—यह सब यथोचित ही है और ऐसा ही होना चाहिये तथा ऐसा ही हो रहा है। कारण कि आपकी तरफ चलनेसे शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता होती है, विघ्नोंका

*** न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु। कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि॥ (श्रीमद्भा० १०। ६। ३)**

'जहाँ लोग अपने प्रतिदिनके कामोंमें राक्षसोंके भयको दूर भगानेवाले भगवान्‌के नाम, गुण, लीलाके श्रवण, कीर्तन आदि नहीं करते, वहीं ऐसी राक्षसियोंका बल चलता है।'

नाश होता है, और आपसे विमुख होनेपर दुःख-ही-दुःख, अशान्ति-ही-अशान्ति होती है। तात्पर्य है कि आपका अंश जीव आपके सम्मुख होनेसे सुख पाता है, उसमें शान्ति, क्षमा, नम्रता आदि गुण प्रकट हो जाते हैं और आपके विमुख होनेसे दुःख पाता है—यह सब उचित ही है।

यह जीवात्मा परमात्मा और संसारके बीचका है। यह स्वरूपसे तो साक्षात् परमात्माका अंश है और प्रकृतिके अंशको इसने पकड़ा है। अब यह ज्यों-ज्यों प्रकृतिकी तरफ झुकता है, त्यों-ही-त्यों इसमें संग्रह और भोगोंकी इच्छा बढ़ती है। संग्रह और भोगोंकी प्राप्तिके लिये यह ज्यों-ज्यों उद्योग करता है, त्यों-ही-त्यों इसमें अभाव, अशान्ति, दुःख, जलन, सन्ताप आदि बढ़ते चले जाते हैं। परन्तु संसारसे विमुख होकर यह जीवात्मा ज्यों-ज्यों भगवान्के सम्मुख होता है, त्यों-ही-त्यों यह आनन्दित होता है और इसका दुःख मिटता चला जाता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ '**स्थाने**' पद पीछे और आगे—दोनों जगह आये श्लोकोंके लिये समझना चाहिये। भगवान्ने बत्तीसवें, तैंतीसवें और चौंतीसवें श्लोकोंमें जो बात कही थी और जो बात इस श्लोकमें कही है, उसके लिये अर्जुन कहते हैं कि 'प्रतिपक्षके सभी योद्धा मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू केवल निमित्त बन जा' आदि जो कुछ आपने कहा है, वह आपका कथन उचित ही है। 'आपके नाम, गुण आदिका कीर्तन करनेसे जगत् हर्षित हो रहा है और राक्षसलोग भयभीत होकर भाग रहे हैं' आदि जो हो रहा है, वह भी ठीक ही हो रहा है। आपके द्वारा ही यह सब लीला हो रही है, मेरे द्वारा नहीं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें 'स्थाने' पदसे जो औचित्य बताया है, उसकी आगेके चार श्लोकोंमें पुष्टि करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

महात्मन्	= हे महात्मन्!
गरीयसे	= गुरुओंके भी गुरु
च	= और
ब्रह्मणः	= ब्रह्माके
अपि	= भी
आदिकर्त्रे	= आदिकर्ता
ते	= आपके लिये (वे सिद्धगण)
कस्मात्,	
न, नमेरन्	= नमस्कार क्यों नहीं करें?
अनन्त	= (क्योंकि) हे अनन्त!
देवेश	= हे देवेश!
जगन्निवास	= हे जगन्निवास!
त्वम्	= आप
अक्षरम्	= अक्षरस्वरूप हैं;
सत्	= (आप) सत् भी हैं,
असत्	= असत् भी हैं (और)
तत्परम्	= उनसे (सत्-असत्से) पर भी
यत्	= जो कुछ है, (वह भी आप ही हैं।)

व्याख्या—'**कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे**'—आदिरूपसे प्रकट होनेवाले महान् स्वरूप आपको (पूर्वोक्त सिद्धगण) नमस्कार क्यों न करें? नमस्कार दोको किया जाता है—(१) जिनसे मनुष्यको शिक्षा मिलती है, प्रकाश मिलता है, ऐसे आचार्य, गुरुजन आदिको नमस्कार किया जाता है और (२) जिनसे हमारा जन्म हुआ है, उन माता-पिताको तथा आयु, विद्या आदिमें अपनेसे बड़े पुरुषोंको नमस्कार किया जाता है। अर्जुन कहते हैं कि आप गुरुओंके भी गुरु हैं—'**गरीयसे**'* और आप सृष्टिकी रचना करनेवाले पितामह ब्रह्माजीको भी उत्पन्न करनेवाले हैं—'**ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।**' अतः सिद्ध महापुरुष आपको नमस्कार करें, यह उचित ही है।

'**अनन्त**'—आपको देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि किसीकी भी दृष्टिसे देखें, आपका अन्त नहीं आता। तात्पर्य है कि आपको देशकी दृष्टिसे देखें तो आपका कहाँसे आरम्भ हुआ है और कहाँ जाकर अन्त होगा—ऐसा है ही नहीं। कालकी दृष्टिसे देखा जाय तो आप कबसे हैं और कबतक रहेंगे—इसका कोई अन्त नहीं है। वस्तु, व्यक्ति

*** पतंजलि महाराजने कहा है कि वे परमात्मा पहले-से-पहले जो ब्रह्मा आदि प्रकट हुए हैं, उनके भी गुरु हैं—'पूर्वेषामपि गुरुः।' (योगदर्शन १। २६)**

आदिकी दृष्टिसे देखें तो आप वस्तु, व्यक्ति आदि कितने रूपोंमें हैं—इसका कोई आदि और अन्त नहीं है। सब दृष्टियोंसे आप अनन्त-ही-अनन्त हैं। बुद्धि आदि कोई भी दृष्टि आपको देखने जाती है तो वह दृष्टि खत्म हो जाती है, पर आपका अन्त नहीं आता। इसलिये सब तरफसे आप सीमारहित हैं, अपार हैं, अगाध हैं।

'देवेश'—इन्द्र, वरुण आदि अनेक देवता हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन आता है। उन सब देवताओंके आप मालिक हैं, नियन्ता हैं, शासक हैं। इसलिये आप 'देवेश' हैं।

'जगन्निवास'—अनन्त सृष्टियाँ आपके किसी अंशमें विस्तृतरूपसे निवास कर रही हैं, तो भी आपका वह अंश पूरा नहीं होता, प्रत्युत खाली ही रहता है। ऐसे आप असीम 'जगन्निवास' हैं।

'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'—आप अक्षरस्वरूप हैं*। जिसकी स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र सत्ता है, वह 'सत्' भी आप हैं; और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत सत्‌के आश्रित ही जिसकी सत्ता प्रतीत होती है, वह 'असत्' भी आप ही हैं। जो सत् और असत्—दोनोंसे विलक्षण है, जिसका किसी तरहसे निर्वचन नहीं हो सकता, मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि किसीसे भी जिसकी कल्पना नहीं कर सकते अर्थात् जो सम्पूर्ण कल्पनाओंसे सर्वथा अतीत है, वह भी आप ही हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि आपसे बढ़कर दूसरा कोई है ही नहीं, हो सकता नहीं और होना सम्भव भी नहीं—ऐसे आपको नमस्कार करना उचित ही है।

परिशिष्ट भाव—नवें अध्यायमें आये **'सदसच्चाहम्'** (९। १९) पदसे और यहाँ आये **'सदसत्तत्परं यत्'** पदोंसे परमात्माके सगुण रूपकी अनन्तता, समग्रता सिद्ध होती है।

सत् और असत्—दोनों सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं और जो इनसे परे है, वह निरपेक्ष होनेसे अलौकिक है। लौकिक और अलौकिक—दोनों ही समग्र परमात्माके रूप हैं। परमात्माकी परा और अपरा प्रकृति सत्-असत्‌से परे नहीं है, पर परमात्मा सत्-असत्‌से परे भी हैं—**'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय'** (गीता ७। ७)।

सगुण (समग्र) के अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण एकदेशीय होता है अर्थात् उसके अन्तर्गत सब कुछ नहीं आता। परन्तु सगुण (समग्र) के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है, कुछ भी बाकी नहीं रहता। इसलिये अर्जुन **'सदसत्तत्परं यत्'** पदोंसे मानो यह कहते हैं कि सत् भी आप हैं, असत् भी आप हैं और सत्-असत्‌के सिवाय जो भी हमारी कल्पनामें आ सकता है, वह भी आप ही हैं। ज्ञानकी दृष्टिसे जो न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है, वह अनिर्वचनीय तत्त्व भी आप ही हैं—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (गीता १३। १२)। तात्पर्य है कि आपके सिवाय न तो कोई हुआ है, न कोई है, न कोई होगा और न कोई हो ही सकता है अर्थात् केवल आप-ही-आप हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

त्वम्	= आप (ही)	**विश्वस्य**	= संसारके	**परम्**	= परम
आदिदेवः	= आदिदेव	**परम्**	= परम	**धाम**	= धाम
च	= और	**निधानम्**	= आश्रय हैं।	**असि**	= हैं।
पुराणः	= पुराण	**वेत्ता**	= (आप ही) सबको जाननेवाले,	**अनन्तरूप**	= हे अनन्तरूप!
पुरुषः	= पुरुष हैं (तथा)			**त्वया**	= आपसे (ही)
त्वम्	= आप (ही)	**वेद्यम्**	= जाननेयोग्य	**विश्वम्**	= सम्पूर्ण संसार
अस्य	= इस	**च**	= और	**ततम्**	= व्याप्त है।

व्याख्या—**'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः'**—आप सम्पूर्ण देवताओंके आदिदेव हैं; क्योंकि सबसे पहले आप ही प्रकट होते हैं। आप पुराणपुरुष हैं; क्योंकि आप सदासे हैं और सदा ही रहनेवाले हैं।

* इसी अक्षर ब्रह्मको अर्जुनने पहले 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्' (११। १८) पदोंसे और यहाँ 'त्वमक्षरम्' पदसे कहा है।

'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'—देखने, सुनने, समझने और जाननेमें जो कुछ संसार आता है; और संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि जो कुछ होता है, उस सबके परम आधार आप हैं।

'वेत्तासि'—आप सम्पूर्ण संसारको जाननेवाले हैं अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान काल तथा देश, वस्तु, व्यक्ति आदि जो कुछ है, उन सबको जाननेवाले (सर्वज्ञ) आप ही हैं।

'वेद्यम्'—वेदों, शास्त्रों, सन्त-महात्माओं आदिके द्वारा जाननेयोग्य केवल आप ही हैं।

'परं धाम'—जिसको मुक्ति, परमपद आदि नामोंसे कहते हैं, जिसमें जाकर फिर लौटकर नहीं आना पड़ता और जिसको प्राप्त करनेपर करना, जानना और पाना कुछ भी बाकी नहीं रहता, ऐसे परमधाम आप हैं।

'अनन्तरूप'—विराट्‌रूपसे प्रकट हुए आपके रूपोंका कोई पारावार नहीं है। सब तरफसे ही आपके अनन्त रूप हैं।

'त्वया ततं विश्वम्'—आपसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है अर्थात् संसारके कण-कणमें आप ही व्याप्त हो रहे हैं।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्‌की कही बातको ही कह रहे हैं—**'आदिदेवः'**—इसको भगवान्‌ने **'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'** (१०। २) पदोंसे कहा था। यद्यपि प्रकृति भी अनादि है—**'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'** (१३। १९), तथापि अनादि होते हुए भी प्रकृति परमात्माके अधीन, आश्रित है। कारण कि प्रकृति परमात्माकी परिवर्तनशील शक्ति है, पर परमात्मा किसीकी शक्ति नहीं हैं, प्रत्युत शक्तिमान् हैं।

'पुराणः'—इसको भगवान्‌ने **'पुराणम्'** (८। ९) पदसे कहा था। भगवान्‌से पुराना कोई नहीं है; क्योंकि वे कालातीत हैं।

'परं निधानम्'—इसको भगवान्‌ने **'निधानम्'** (९। १८) पदसे कहा था। सृष्टि अनन्त है, पर वह भी भगवान्‌के एक देशमें रहती है।

'वेत्ता'—इसको भगवान्‌ने **'वेदाहं समतीतानि०'** (७। २६) आदि पदोंसे कहा था।

'वेद्यम्'—इसको भगवान्‌ने **'वेद्यम्'** (९। १७) पदसे कहा था।

'परं धाम'—इसको भगवान्‌ने **'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** (८। २१) पदोंसे कहा था।

'त्वया ततं विश्वम्'—इसको भगवान्‌ने **'येन सर्वमिदं ततम्'** (८। २२) और **'मया ततमिदं सर्वम्'** (९। ४) पदोंसे कहा था।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

त्वम्	= आप ही	**प्रपितामहः**	= प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता) हैं।	**च**	= और
वायुः	= वायु,			**पुनः**	= फिर
यमः	= यमराज,			**अपि**	= भी
अग्निः	= अग्नि,	**ते**	= आपको	**ते**	= आपको
वरुणः	= वरुण,	**सहस्रकृत्वः**	= हजारों बार		
शशाङ्कः	= चन्द्रमा,	**नमः**	= नमस्कार	**भूयः**	= बार-बार
प्रजापतिः	= दक्ष आदि प्रजापति	**अस्तु**	= हो!	**नमः**	= नमस्कार हो!
च	= और	**नमः**	= नमस्कार हो!	**नमः**	= नमस्कार हो!

व्याख्या—**'वायुः'**—जिससे सबको प्राण मिल रहे हैं, मात्र प्राणी जी रहे हैं, सबको सामर्थ्य मिल रही है, वह वायु आप ही हैं।

'यमः'—जो संयमनीपुरीके अधिपति हैं और सम्पूर्ण संसारपर जिनका शासन चलता है, वे यम आप ही हैं।

'अग्निः'—जो सबमें व्याप्त रहकर शक्ति देता है, प्रकट होकर प्रकाश देता है और जठराग्निके रूपमें अन्नका पाचन करता है, वह अग्नि आप ही हैं।

'वरुणः'—जिसके द्वारा सबको जीवन मिल रहा है, उस जलके अधिपति वरुण आप ही हैं।

'शशाङ्कः'—जिससे सम्पूर्ण ओषधियोंका, वनस्पतियों-का पोषण होता है, वह चन्द्रमा आप ही हैं।

'प्रजापतिः'—प्रजाको उत्पन्न करनेवाले दक्ष आदि प्रजापति आप ही हैं।

'प्रपितामहः'—पितामह ब्रह्माजीको भी प्रकट करनेवाले होनेसे आप प्रपितामह हैं।

'नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते'—इन्द्र आदि जितने भी देवता हैं, वे सब-के-सब आप ही हैं। आप अनन्तस्वरूप हैं। आपकी मैं क्या स्तुति करूँ? क्या महिमा गाऊँ? मैं तो आपको हजारों बार नमस्कार ही कर सकता हूँ और कर ही क्या सकता हूँ?

कुछ भी करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर तभीतक रहती है, जबतक अपनेमें करनेका बल अर्थात् अभिमान रहता है। जब अपनेमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती, तब करनेकी जिम्मेवारी बिलकुल नहीं रहती। अब वह केवल नमस्कार ही करता है अर्थात् अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के समर्पित कर देता है। फिर करने-करानेका सब काम शरण्य-(भगवान्-) का ही रहता है, शरणागतका नहीं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

सर्व = हे सर्वस्वरूप!
ते = आपको
पुरस्तात् = आगेसे (भी)
नमः = नमस्कार हो
अथ = और
पृष्ठतः = पीछेसे (भी नमस्कार हो!)
ते = आपको
सर्वतः = सब ओरसे (दसों दिशाओंसे)
एव = ही
नमः = नमस्कार
अस्तु = हो
अनन्तवीर्य = हे अनन्तवीर्य!
अमित-विक्रमः = असीम पराक्रमवाले
त्वम् = आपने
सर्वम् = सबको (एक देशमें)
समाप्नोषि = समेट रखा है;
ततः = अतः
सर्वः = सब कुछ
असि = (आप ही) हैं।

व्याख्या—**'नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व'**—अर्जुन भयभीत हैं। मैं क्या बोलूँ—यह उनकी समझमें नहीं आ रहा है। इसलिये वे आगेसे, पीछेसे सब ओरसे अर्थात् दसों दिशाओंसे केवल नमस्कार-ही-नमस्कार कर रहे हैं।

'अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वम्'—'अनन्तवीर्य' कहनेका तात्पर्य है कि आप तेज, बल आदिसे भी अनन्त हैं; और 'अमितविक्रम' कहनेका तात्पर्य है कि आपके पराक्रमयुक्त संरक्षण आदि कार्य भी असीम हैं। इस तरह आपकी शक्ति भी अनन्त है और पराक्रम भी अनन्त है।

'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'—आपने सबको समावृत कर रखा है अर्थात् सम्पूर्ण संसार आपके अन्तर्गत है। संसारका कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जो कि आपके अन्तर्गत न हो।

अर्जुन एक बड़ी अलौकिक, विलक्षण बात देख रहे हैं कि भगवान् अनन्त सृष्टियोंमें परिपूर्ण, व्याप्त हो रहे हैं, और अनन्त सृष्टियाँ भगवान्‌के किसी अंशमें हैं।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌के दिव्य विराट्‌रूपको देखकर अर्जुनने कहा कि आप अपने तेजसे संसारको संतप्त कर रहे हैं—**'स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्'** (११। १९) तो संतप्त करनेवाले और संतप्त होनेवाले—दोनों एक ही विराट्‌रूपके अंग हैं। भगवान्‌के उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं—**'लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्'** (११। २०) तो व्यथित होनेवाली त्रिलोकी भी भगवान्‌के विराट्‌रूपका ही अंग है। भगवान्‌को देखकर देवता भयभीत होकर उनका गुणगान कर रहे हैं—**'केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति'** (११। २१) और राक्षसलोग भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं—**'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति'** (११। ३६) तो भयभीत होनेवाले देवता और राक्षस भी भगवान्‌के विराट्‌रूपके ही अंग हैं। कारण कि ये देवता, राक्षस आदि कुरुक्षेत्रमें नहीं थे, प्रत्युत भगवान्‌के विराट्‌रूपमें ही अर्जुनको दीख रहे थे।

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, सर्प, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, असुर, ऋषि-महर्षि, सिद्धगण, वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, सूर्य आदि और इनके सिवाय भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि समस्त राजालोग—ये सब-के-सब दिव्य विराट्रूपके ही अंग हैं। इतना ही नहीं, अर्जुन, संजय, धृतराष्ट्र तथा कौरव और पाण्डवसेना भी उसी विराट्रूपके ही अंग हैं—'**सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः**'।

तात्पर्य है कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूपसे जो कुछ देखने, सुनने, सोचनेमें आ रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको दृढ़तासे यह मान लेना चाहिये कि चाहे मेरी समझमें आये या न आये, अनुभवमें आये या न आये, स्वीकार हो या न हो, पर बात यही सच्ची है। जैसे जलके एक कणमें और समुद्रमें एक ही जल-तत्त्व परिपूर्ण है, ऐसे ही छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक वस्तुमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है—ऐसा मानकर वह हर समय मन-ही-मन सबको नमस्कार करता रहे। उसको वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, दीवार आदि जो कुछ भी दीखे, उसमें अपने इष्ट भगवान्को देखकर वह प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो, हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो'। ऐसा करनेसे उसको सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे; क्योंकि वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही हैं।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्से प्रार्थना करते हुए क्षमा माँगते हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२ ॥

तव = आपकी
इदम् = इस
महिमानम् = महिमाको
अजानता = न जानते हुए
सखा = 'मेरे सखा हैं'
इति = ऐसा
मत्वा = मानकर
मया = मैंने
प्रमादात् = प्रमादसे
वा = अथवा
प्रणयेन = प्रेमसे
अपि = भी
प्रसभम् = हठपूर्वक (बिना सोचे-समझे)
हे, कृष्ण = 'हे कृष्ण!
हे, यादव = हे यादव!
हे, सखे = हे सखे!'
इति = इस प्रकार
यत् = जो कुछ
उक्तम् = कहा है;
च = और
अच्युत = हे अच्युत!
अवहासार्थम् = हँसी-दिल्लगीमें,
विहारशय्यासन-भोजनेषु = चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समय
एकः = अकेले
अथवा = अथवा
तत्समक्षम् = उन (सखाओं, कुटुम्बियों आदि)के सामने
यत् = (मेरे द्वारा आपका) जो कुछ
असत्कृतः = तिरस्कार (अपमान) किया गया
असि = है;
अप्रमेयम् = हे अप्रमेयस्वरूप!
तत् = वह सब
त्वाम् = आपसे
अहम् = मैं
क्षामये = क्षमा करवाता हूँ अर्थात् आपसे क्षमा माँगता हूँ।

व्याख्या—[जब अर्जुन विराट्भगवान्के अत्युग्ररूपको देखकर भयभीत होते हैं, तब वे भगवान्के कृष्णरूपको भूल जाते हैं और पूछ बैठते हैं कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं? परन्तु जब उनको भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति आती है कि वे ये ही हैं, तब भगवान्के प्रभाव आदिको देखकर उनको सखाभावसे किये हुए पुराने व्यवहारकी याद आ जाती है और उसके लिये वे भगवान्से क्षमा माँगते हैं।]

'**सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति**'—जो बड़े आदमी होते हैं, श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उनको साक्षात् नामसे नहीं पुकारा जाता। उनके लिये तो

'आप', 'महाराज' आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। परन्तु मैंने आपको कभी 'हे कृष्ण' कह दिया, कभी 'हे यादव' कह दिया और कभी 'हे सखे' कह दिया। इसका कारण क्या था? **'अजानता महिमानं तवेदम्'**[1] इसका कारण यह था कि मैंने आपकी ऐसी महिमाको और स्वरूपको जाना नहीं कि आप ऐसे विलक्षण हैं। आपके किसी एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं—ऐसा मैं पहले नहीं जानता था। आपके प्रभावकी तरफ मेरी दृष्टि ही नहीं गयी। मैंने कभी सोचा-समझा ही नहीं कि आप कौन हैं और कैसे हैं।

यद्यपि अर्जुन भगवान्‌के स्वरूपको, महिमाको, प्रभावको पहले भी जानते थे, तभी तो उन्होंने एक अक्षौहिणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान्‌को स्वीकार किया था; तथापि भगवान्‌के शरीरके किसी एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड यथावकाश स्थित हैं—ऐसे प्रभावको, स्वरूपको, महिमाको अर्जुनने पहले नहीं जाना था। जब भगवान्‌ने कृपा करके विश्वरूप दिखाया, तब उसको देखकर ही अर्जुनकी दृष्टि भगवान्‌के प्रभावकी तरफ गयी और वे भगवान्‌को कुछ जानने लगे। उनका यह विचित्र भाव हो गया कि 'कहाँ तो मैं और कहाँ ये देवोंके देव! परन्तु मैंने प्रमादसे अथवा प्रेमसे हठपूर्वक, बिना सोचे-समझे, जो मनमें आया, वह कह दिया—**'मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥'** बोलनेमें मैंने बिलकुल ही सावधानी नहीं बरती!'

वास्तवमें भगवान्‌की महिमाको सर्वथा कोई जान ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌की महिमा अनन्त है। अगर वह सर्वथा जाननेमें आ जायगी तो उसकी अनन्तता नहीं रहेगी, वह सीमित हो जायगी। जब भगवान्‌की सामर्थ्यसे उत्पन्न होनेवाली विभूतियोंका भी अन्त नहीं है, तब भगवान् और उनकी महिमाका अन्त आ ही कैसे सकता है? अर्थात् आ ही नहीं सकता।

'यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासन-भोजनेषु'—मैंने आपको बराबरीका साधारण मित्र समझकर हँसी-दिल्लगी करते समय, रास्तेमें चलते-फिरते समय, शय्यापर सोते-जागते समय, आसनपर उठते-बैठते समय, भोजन करते समय जो कुछ अपमानके शब्द कहे, आपका असत्कार किया अथवा हे अच्युत! आप अकेले थे, उस समय या उन सखाओं, कुटुम्बीजनों, सभ्य व्यक्तियों आदिके सामने मैंने आपका जो कुछ तिरस्कार किया है, वह सब मैं आपसे क्षमा करवाता हूँ—**'एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।'**

अर्जुन और भगवान्‌की मित्रताका ऐसा वर्णन आता है कि जैसे दो मित्र आपसमें खेलते हैं, ऐसे ही अर्जुन भगवान्‌के साथ खेलते थे। कभी स्नान करते तो अर्जुन हाथोंसे भगवान्‌के ऊपर जल फेंकते और भगवान् अर्जुनके ऊपर। कभी अर्जुन भगवान्‌के पीछे दौड़ते तो कभी भगवान् अर्जुनके पीछे दौड़ते। कभी दोनों आपसमें हँसते-हँसाते। कभी दोनों परस्पर अपनी-अपनी विशेष कलाएँ दिखाते। कभी भगवान् सो जाते तो अर्जुन कहते—'तुम इतने फैलकर सो गये हो, क्या कोई दूसरा नहीं सोयेगा? तुम अकेले ही हो क्या?' कभी भगवान् आसनपर बैठ जाते तो अर्जुन कहते—'आसनपर तुम अकेले ही बैठोगे क्या? और किसीको बैठने दोगे कि नहीं? अकेले ही आधिपत्य जमा लिया! जरा एक तरफ तो खिसक जाओ।' इस प्रकार अर्जुन भगवान्‌के साथ बहुत ही घनिष्ठताका व्यवहार करते थे[2]। अब अर्जुन उन बातोंको याद करके कहते हैं कि 'हे भगवन्! मैंने आपके न जाने कितने-कितने तिरस्कार किये हैं। मेरेको तो सब याद भी नहीं हैं। यद्यपि आपने मेरे तिरस्कारोंकी तरफ खयाल नहीं किया, तथापि मेरे द्वारा आपके बहुत-से तिरस्कार हुए हैं, इसलिये मैं अप्रमेयस्वरूप आपसे सब तिरस्कार क्षमा करवाता हूँ।' भगवान्‌को 'अप्रमेय' कहनेका तात्पर्य है कि दिव्यदृष्टि होनेपर भी आप दिव्यदृष्टिके अन्तर्गत नहीं आते हैं।

१-'महिमानं तव इदम्'—इसमें आया 'इदम्' पद 'महिमानम्' का विशेषण नहीं है; क्योंकि 'महिमानम्' पद पुँल्लिंगमें आया है और 'इदम्' पद नपुंसकलिंगमें आया है। अतः यहाँ 'इदम्' का अर्थ 'स्वरूप' लिया गया है। इस दृष्टिसे 'महिमानं तव इदम्' का अर्थ हुआ—आपकी महिमा और स्वरूप।

२-शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादिष्वैक्याद् वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे॥ (श्रीमद्भा० १।१५।१९)

अर्जुन कहते हैं—'भगवान् श्रीकृष्णके साथ सोने, बैठने, घूमने, बातचीत करने और भोजनादि करनेमें मेरा-उनका ऐसा सहज भाव हो गया था कि मैं कभी-कभी 'हे सखे! तुम बड़े सच बोलनेवाले हो!' ऐसा कहकर आक्षेप भी करता था। परन्तु वे महात्मा प्रभु अपने बड़प्पनके अनुसार मुझ कुबुद्धिके उन समस्त तिरस्कारोंको वैसे ही सहा करते थे, जैसे सखा अपने सखाके या पिता अपने पुत्रके तिरस्कारको सहा करता है।'

परिशिष्ट भाव—अर्जुनका भगवान्‌के साथ सखाभाव था, पर भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखनेसे वे अपना सखाभाव भूल जाते हैं और भगवान्‌को देखकर आश्चर्य करते हैं, भयभीत होते हैं। उनके मनमें यह सम्भावना ही नहीं थी कि भगवान् ऐसे हैं!

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्‌की महत्ता और प्रभावका वर्णन करके पुनः क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

त्वम् = आप (ही)
अस्य = इस
चराचरस्य = चराचर
लोकस्य = संसारके
पिता = पिता
असि = हैं,
पूज्यः = (आप ही) पूजनीय हैं
च = और
गरीयान् = (आप ही) गुरुओंके
गुरुः = महान् गुरु हैं।
अप्रतिमप्रभाव = हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्!
लोकत्रये = इस त्रिलोकीमें
त्वत्समः = आपके समान
अपि = भी
अन्यः = दूसरा कोई
न = नहीं
अस्ति = है, (फिर आपसे)
अभ्यधिकः = अधिक तो
कुतः = हो ही कैसे सकता है!

व्याख्या—**'पितासि लोकस्य चराचरस्य'**—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जितने जंगम प्राणी हैं, और वृक्ष, लता आदि जितने स्थावर प्राणी हैं, उन सबको उत्पन्न करनेवाले और उनका पालन करनेवाले पिता भी आप हैं, उनके पूजनीय भी आप हैं तथा उनको शिक्षा देनेवाले महान् गुरु भी आप ही हैं—**'त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।'**

'गुरुर्गरीयान्' का तात्पर्य है कि मनुष्यमात्रको व्यवहार और परमार्थमें जहाँ-कहीं भी गुरुजनोंसे शिक्षा मिलती है, उन शिक्षा देनेवाले गुरुओंके भी महान् गुरु आप ही हैं अर्थात् मात्र शिक्षाका, मात्र ज्ञानका उद्‌गम-स्थान आप ही हैं।

'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव'—इस त्रिलोकीमें जब आपके समान भी कोई नहीं है, कोई होगा नहीं और कोई हो सकता ही नहीं, तब आपसे अधिक विलक्षण कोई हो ही कैसे सकता है? इसलिये आपका प्रभाव अतुलनीय है, उसकी तुलना किसीसे भी नहीं की जा सकती।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन लौकिक दृष्टिसे, संसारकी सत्ताको लेकर कहते हैं कि इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे हो सकता है! परन्तु वास्तविक दृष्टिसे जब भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं, तो फिर उसमें समान और अधिक कहना बनता ही नहीं।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४ ॥

तस्मात् = इसलिये
ईड्यम् = स्तुति करनेयोग्य
त्वाम् = आप
ईशम् = ईश्वरको
अहम् = मैं
कायम् = शरीरसे
प्रणिधाय = लम्बा पड़कर
प्रणम्य = प्रणाम करके
प्रसादये = प्रसन्न करना चाहता हूँ।
पिता = पिता
इव = जैसे
पुत्रस्य = पुत्रके,
सखा = मित्र
इव = जैसे
सख्युः = मित्रके (और)
प्रियः = पति (जैसे)

प्रियाय	= पत्नीके (अपमान सह लेता है),	(आप मेरे द्वारा किया गया अपमान)	**सोढुम्** = सहनेमें अर्थात् क्षमा करनेमें
देव	= (ऐसे ही) हे देव!		**अर्हसि** = समर्थ हैं।

व्याख्या—**'तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्'**—आप अनन्त ब्रह्माण्डोंके ईश्वर हैं। इसलिये सबके द्वारा स्तुति करनेयोग्य आप ही हैं। आपके गुण, प्रभाव, महत्त्व आदि अनन्त हैं; अतः ऋषि, महर्षि, देवता, महापुरुष आपकी नित्य-निरन्तर स्तुति करते रहें, तो भी पार नहीं पा सकते। ऐसे स्तुति करनेयोग्य आपकी मैं क्या स्तुति कर सकता हूँ? मेरेमें आपकी स्तुति करनेका बल नहीं है, सामर्थ्य नहीं है। इसलिये मैं तो केवल आपके चरणोंमें लम्बा पड़कर दण्डवत् प्रणाम ही कर सकता हूँ और इसीसे आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ।

'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्'—किसीका अपमान होता है तो उसमें मुख्य तीन कारण होते हैं—(१) प्रमाद-(असावधानी-) से, (२) हँसी-दिल्लगी, विनोदमें खयाल न रहनेसे और (३) अपनेपनकी घनिष्ठता होनेपर अपने साथ रहनेवालेका महत्त्व न जाननेसे। जैसे, गोदीमें बैठा हुआ छोटा बच्चा अज्ञानवश पिताकी दाढ़ी-मूँछ खींचता है, मुँहपर थप्पड़ लगाता है, कभी कहीं लात मार देता है तो बच्चेकी ऐसी चेष्टा देखकर पिता राजी ही होते हैं, प्रसन्न ही होते हैं। वे अपनेमें यह भाव लाते ही नहीं कि पुत्र मेरा अपमान कर रहा है। मित्र मित्रके साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते आदि समय चाहे जैसा व्यवहार करता है, चाहे जैसा बोल देता है, जैसे—'तुम बड़े सत्य बोलते हो जी! तुम तो बड़े सत्यप्रतिज्ञ हो! अब तो तुम बड़े आदमी हो गये हो! तुम तो खूब अभिमान करने लग गये हो! आज मानो तुम राजा ही बन गये हो! आदि, पर उसका मित्र उसकी इन बातोंका खयाल नहीं करता। वह तो यही समझता है कि हम बराबरीके मित्र हैं, ऐसी हँसी-दिल्लगी तो होती ही रहती है। पत्नीके द्वारा आपसके प्रेमके कारण उठने-बैठने, बातचीत करने आदिमें पतिकी जो कुछ अवहेलना होती है, उसे पति सह लेता है। जैसे, पति नीचे बैठा है तो वह ऊँचे आसनपर बैठ जाती है, कभी किसी बातको लेकर अवहेलना भी कर देती है, पर पति उसे स्वाभाविक ही सह लेता है। अर्जुन कहते हैं कि जैसे पिता पुत्रके, मित्र मित्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेता है अर्थात् क्षमा कर देता है, ऐसे ही हे भगवन्! आप मेरे अपमानको सहनेमें समर्थ हैं अर्थात् इसके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।

इकतालीसवें-बयालीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने तीन बातें कही थीं—**'प्रमादात्'** (प्रमादसे), **'अवहासार्थम्'** (हँसी-दिल्लगीसे) और **'प्रणयेन'** (प्रेमसे)। उन्हीं तीन बातोंका संकेत अर्जुनने यहाँ तीन दृष्टान्त देकर किया है अर्थात् प्रमादके लिये पिता-पुत्रका, हँसी-दिल्लगीके लिये मित्र-मित्रका और प्रेमके लिये पति-पत्नीका दृष्टान्त दिया है।

ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन

ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन इस प्रकार हुआ है—देवरूपका वर्णन होनेसे 'शान्तरस' (पन्द्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक); स्वर्गसे पृथ्वीतक और दसों दिशाओंमें व्याप्त विराट्रूपका वर्णन होनेसे 'अद्‌भुतरस' (बीसवाँ श्लोक); अपनी जिह्वासे सबका ग्रसन कर रहे हैं और सबका संहार करनेके लिये कालरूपसे प्रवृत्त हुए हैं—ऐसा रूप धारण किये होनेसे 'रौद्ररस' (तीसवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक); भयंकर विकराल मुख और दाढ़ोंवाला रूप होनेसे 'बीभत्सरस' (तेईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक); तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ—इस रूपमें 'वीररस' (तैंतीसवाँ श्लोक); लम्बे पड़कर दण्डवत्-प्रणाम आदि करनेसे 'दास्यरस' (चौवालीसवें श्लोकका पूर्वार्ध); मुख्य-मुख्य योद्धाओंको तथा अन्य राजालोगोंको भगवान्‌के मुखमें जाते हुए देखनेसे 'करुणरस' (अट्ठाईसवाँ-उनतीसवाँ श्लोक); दृष्टान्तसे मित्र मित्रके, पिता पुत्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेता है—इस रूपमें क्रमशः 'सख्यरस', 'वात्सल्यरस' और 'माधुर्यरस'का वर्णन हुआ है (चौवालीसवें श्लोकका उत्तरार्ध) और हँसी आदिकी स्मृतिरूपसे 'हास्यरस'का वर्णन हुआ है (बयालीसवें श्लोकका पूर्वार्ध)।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये प्रार्थना करते हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

अदृष्टपूर्वम्	= जिसको पहले कभी नहीं देखा, उस रूपको	**भयेन**	= भयसे	**देवरूपम्**	= देवरूप (शान्त विष्णुरूप)-को
दृष्ट्वा	= देखकर (मैं)	**मे**	= मेरा	**दर्शय**	= दिखाइये।
हृषितः	= हर्षित	**मनः**	= मन	**देवेश**	= हे देवेश!
अस्मि	= हो रहा हूँ	**प्रव्यथितम्**	= अत्यन्त व्यथित हो रहा है। (अतः आप)	**जगन्निवास**	= हे जगन्निवास!
च	= और (साथ-ही-साथ)	**मे**	= मुझे (अपने)	**प्रसीद**	= (आप) प्रसन्न होइये।
		तत्, एव	= उसी		

व्याख्या—[जैसे विराट्‌रूप दिखानेके लिये मैंने भगवान्‌से प्रार्थना की तो भगवान्‌ने मुझे विराट्‌रूप दिखा दिया, ऐसे ही देवरूप दिखानेके लिये प्रार्थना करनेपर भगवान् देवरूप दिखायेंगे ही—ऐसी आशा होनेसे अर्जुन भगवान्‌से देवरूप दिखानेके लिये प्रार्थना करते हैं।]

'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'—आपका ऐसा अलौकिक आश्चर्यमय विशाल-रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा। आपका ऐसा भी रूप है—ऐसी मेरे मनमें सम्भावना भी नहीं थी। ऐसा रूप देखनेकी मेरेमें कोई योग्यता भी नहीं थी। यह तो केवल आपने अपनी तरफसे ही कृपा करके दिखाया है। इससे मैं अपने-आपको बड़ा सौभाग्यशाली मानकर हर्षित हो रहा हूँ, आपकी कृपाको देखकर गद्‌गद हो रहा हूँ। परन्तु साथ-ही-साथ आपके स्वरूपकी उग्रताको देखकर मेरा मन भयके कारण अत्यन्त व्यथित हो रहा है, व्याकुल हो रहा है, घबरा रहा है।

'तदेव मे दर्शय देवरूपम्'—**'तत्'** (वह) शब्द परोक्षवाची है; अतः **'तदेव' (तत् एव)** कहनेसे ऐसा मालूम देता है कि अर्जुनने देवरूप (विष्णुरूप) पहले कभी देखा है, जो अभी सामने नहीं है। विश्वरूप देखनेपर जहाँ अर्जुनकी पहले दृष्टि पड़ी, वहाँ उन्होंने कमलासनपर विराजमान ब्रह्माजीको देखा—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे ····· ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्'** (११।१५)। इससे सिद्ध होता है कि वह कमल जिसकी नाभिसे निकला है, उस शेषशायी चतुर्भुज विष्णुरूपको भी अर्जुनने देखा है। फिर सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा है कि मैं आपको किरीट, गदा, चक्र (और **'च'** पदसे शंख और पद्म) धारण किये हुए देख रहा हूँ—**'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च'**—इन दोनों बातोंसे यही सिद्ध होता है कि अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत भगवान्‌के जिस विष्णुरूपको देखा था, उसीके लिये अर्जुन यहाँ 'वही देवरूप मेरेको दिखाइये' ऐसा कह रहे हैं।*

'देवरूपम्' कहनेका तात्पर्य है कि मैंने विराट्‌रूपमें आपके विष्णुरूपको भी देखा था, पर अब आप मेरेको केवल विष्णुरूप ही दिखाइये। दूसरी बात, पंद्रहवें श्लोकमें भी अर्जुनने भगवान्‌के लिये 'देव' कहा है—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'** और यहाँ भी देवरूप दिखानेके लिये कहते हैं इसका तात्पर्य है कि विराट्‌रूप भी नहीं और मनुष्यरूप भी नहीं, केवल देवरूप दिखाइये। आगेके (छियालीसवें) श्लोकमें भी **'तेनैव'** पदसे विराट्‌रूप और मनुष्यरूपका निषेध करके भगवान्‌से चतुर्भुज विष्णुरूप बन जानेके लिये प्रार्थना करते हैं।

'प्रसीद देवेश जगन्निवास'—यहाँ 'जगन्निवास' सम्बोधन विश्वरूपका और 'देवेश' सम्बोधन चतुर्भुजरूपका संकेत कर रहा है। अर्जुन ये दो सम्बोधन देकर मानो यह कह रहे हैं कि सम्पूर्ण संसारका निवास आपमें है—ऐसा विश्वरूप तो मैंने देख लिया है और देख ही रहा हूँ। अब आप 'देवेश'—देवताओंके मालिक विष्णुरूपसे हो जाइये।

विशेष बात

भगवान्‌का विश्वरूप दिव्य है, अविनाशी है, अक्षय है। इस विश्वरूपमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं तथा उन ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी अनन्त हैं। इस नित्य विश्वरूपसे अनन्त विश्व (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हो-होकर उसमें लीन होते रहते हैं, पर यह विश्वरूप अव्यय होनेसे ज्यों-का-त्यों ही रहता है। यह

*** आगे उनचासवें श्लोकमें 'पुनः' तथा 'तदेव' पदसे भगवान्‌ने और पचासवें श्लोकमें 'भूयः' पदसे संजयने भी उसी (विश्वरूपके अन्तर्गत देखे गये) चतुर्भुजरूपको दिखानेकी बात कही है।**

विश्वरूप इतना दिव्य, अलौकिक है कि हजारों भौतिक सूर्योंका प्रकाश भी इसके प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता (इसी अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। इसलिये इस विश्वरूपको 'दिव्यचक्षु' के बिना कोई भी देख नहीं सकता। 'ज्ञानचक्षु'के द्वारा संसारके मूलमें सत्तारूपसे जो परमात्मतत्त्व है, उसका बोध होता है और 'भावचक्षु'से संसार भगवत्स्वरूप दीखता है, पर इन दोनों ही चक्षुओंसे विश्वरूपका दर्शन नहीं होता। 'चर्मचक्षु'से न तो तत्त्वका बोध होता है, न संसार भगवत्स्वरूप दीखता है और न विश्वरूपका दर्शन ही होता है; क्योंकि चर्मचक्षु प्रकृतिका कार्य है। इसलिये चर्मचक्षुसे प्रकृतिके स्थूल कार्यको ही देखा जा सकता है।

वास्तवमें भगवान्‌के द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि जितने भी रूप हैं, वे सब-के-सब दिव्य और अव्यय हैं। इसी तरह भगवान्‌के सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार आदि जितने रूप हैं, वे सब-के-सब भी दिव्य और अव्यय हैं।

माधुर्य-लीलामें तो भगवान् द्विभुजरूप ही रहते हैं; परन्तु जहाँ अपना कुछ ऐश्वर्य दिखलानेकी आवश्यकता होती है, वहाँ भगवान् पात्र, अधिकार, भाव आदिके भेदसे अपना विराट्‌रूप भी दिखा देते हैं। जैसे, भगवान्‌ने अर्जुनको मनुष्यरूपसे प्रकट हुए अपने द्विभुजरूप—शरीरके किसी अंशमें विराट्‌रूप दिखाया है।

भगवान्‌में अनन्त-असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुण हैं। उन अनन्त दिव्य गुणोंके सहित भगवान्‌का विश्वरूप है। भगवान् जिस-किसीको ऐसा विश्वरूप दिखाते हैं, उसे पहले दिव्यदृष्टि देते हैं। दिव्यदृष्टि देनेपर भी वह जैसा पात्र होता है, जैसी योग्यता और रुचिवाला होता है, उसीके अनुसार भगवान् उसको अपने विश्वरूपके स्तरोंका दर्शन कराते हैं। यहाँ ग्यारहवें अध्यायके पंद्रहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान् विश्वरूपसे अनेक स्तरोंसे प्रकट होते गये, जिसमें पहले देवरूपकी (पन्द्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक), फिर उग्ररूपकी (उन्नीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक) और उसके बाद अत्युग्ररूपकी (तेईसवेंसे तीसवें श्लोकतक) प्रधानता रही। अत्युग्ररूपको देखकर जब अर्जुन भयभीत हो गये, तब भगवान्‌ने अपने दिव्यातिदिव्य विश्वरूपके स्तरोंको दिखाना बंद कर दिया अर्थात् अर्जुनके भयभीत होनेके कारण भगवान्‌ने अगले रूपोंके दर्शन नहीं कराये। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने दिव्य विराट्‌रूपके अनन्त स्तरोंमेंसे उतने ही स्तर अर्जुनको दिखाये, जितने स्तरोंको दिखानेकी आवश्यकता थी और जितने स्तर देखनेकी अर्जुनमें योग्यता थी।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

अहम् = मैं
त्वाम् = आपको
तथा = वैसे
एव = ही
किरीटिनम् = किरीट-(मुकुट) धारी,
गदिनम् = गदाधारी (और)
चक्रहस्तम् = हाथमें चक्र लिये हुए अर्थात् चतुर्भुज-रूपसे
द्रष्टुम् = देखना
इच्छामि = चाहता हूँ। (इसलिये)
सहस्रबाहो = हे सहस्रबाहो!
विश्वमूर्ते = हे विश्वमूर्ते! (आप)
तेन, एव* = उसी
चतुर्भुजेन, रूपेण = चतुर्भुजरूपसे (शंख-चक्र-गदा-पद्मसहित)
भव = हो जाइये।

---

* इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥

—इस उक्तिके अनुसार 'इदम्' शब्द समीपका, 'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपका, 'अदस्' शब्द दूरका और 'तत्' शब्द परोक्षका वाचक है। विश्वरूपमें इन सबका प्रयोग हुआ है; जैसे—विश्वरूप नजदीक होनेसे अर्जुनने अठारहवें-उन्नीसवें आदि श्लोकोंमें 'इदम्' शब्दका; भीष्म, द्रोण आदि विराट्‌रूप भगवान्‌के अत्यन्त नजदीक होनेसे अर्थात् विराट्‌रूपका ही अंग होनेसे भगवान्‌ने तैंतीसवें श्लोकमें 'एतत्' शब्दका; भगवान्‌की दी हुई दिव्यदृष्टिसे विराट्‌रूप बहुत दूरतक दीखता था और उसमें देवता आदि भी दूरतक दीखते थे, इसलिये अर्जुनने इक्कीसवें, छब्बीसवें और अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अदस्' शब्दका; और विराट्‌रूपके पहले स्तरमें देखा हुआ चतुर्भुज विष्णुरूप (विराट्‌रूपके स्तर बदलनेके कारण) नेत्रोंके सामने न होनेसे अर्थात् परोक्ष होनेसे अर्जुनने 'तत्' शब्दका प्रयोग किया है।

व्याख्या—'**किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव**'—जिसमें आपने सिरपर दिव्य मुकुट तथा हाथोंमें गदा और चक्र धारण कर रखे हैं, उसी रूपको मैं देखना चाहता हूँ।

'**तथैव**' कहनेका तात्पर्य है कि मेरे द्वारा '**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्**' (११। ३) ऐसी इच्छा प्रकट करनेसे आपने विराट्‌रूप दिखाया। अब मैं अपनी इच्छा बाकी क्यों रखूँ? अत: मैंने आपके विराट्‌रूपमें जैसा सौम्य चतुर्भुजरूप देखा है, वैसा-का-वैसा ही रूप मैं अब देखना चाहता हूँ—'**इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव**'।

'**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते**'—पंद्रहवें और सत्रहवें श्लोकमें जिस विराट्‌रूपमें चतुर्भुज विष्णुरूपको देखा था, उस विराट्‌रूपका निषेध करनेके लिये अर्जुन यहाँ '**एव**' पद देते हैं। तात्पर्य यह है कि '**तेन चतुर्भुजेन रूपेण**'—ये पद तो चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये आये हैं और '**एव**' पद 'विराट्‌रूपके साथ नहीं'—ऐसा निषेध करनेके लिये आया है तथा '**भव**' पद 'हो जाइये'—ऐसी प्रार्थनाके लिये आया है।

पूर्वश्लोकमें '**तदेव**' तथा यहाँ '**तथैव**' और '**तेनैव**'—तीनों पदोंका तात्पर्य है कि अर्जुन विश्वरूपसे बहुत डर गये थे। इसलिये तीन बार '**एव**' शब्दका प्रयोग करके भगवान्‌से कहते हैं कि मैं आपका केवल विष्णुरूप ही देखना चाहता हूँ; विष्णुरूपके साथ विश्वरूप नहीं। अत: आप केवल चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो जाइये।

'**सहस्रबाहो**' सम्बोधनका यह भाव मालूम देता है कि हे हजारों हाथोंवाले भगवन्! आप चार हाथोंवाले हो जाइये; और '**विश्वमूर्ते**' सम्बोधनका यह भाव मालूम देता है कि हे अनेक रूपोंवाले भगवन्! आप एक रूपवाले हो जाइये। तात्पर्य है कि आप विश्वरूपका उपसंहार करके चतुर्भुज विष्णुरूपसे हो जाइये।

परिशिष्ट भाव—यद्यपि मूल श्लोकमें भगवान्‌को गदा और चक्र धारण किये हुए बताया गया है, तथापि '**चतुर्भुजेन**' पद आनेसे यहाँ चारों भुजाओंमें गदा और चक्रके साथ-साथ शंख और पद्म भी समझ लेने चाहिये।

सम्बन्ध—इकतीसवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं, तो भगवान्‌ने उत्तर दिया कि मैं काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। ऐसा सुनकर तथा अत्यन्त विकरालरूपको देखकर अर्जुनको ऐसा लगा कि भगवान् बड़े क्रोधमें हैं। इसलिये अर्जुन भगवान्‌से बार-बार प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं। अर्जुनकी इस भावनाको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

श्रीभगवान् बोले—

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**परम्**	= अत्यन्त श्रेष्ठ,	**तव**	= तुझे
मया	= मैंने	**तेजोमयम्**	= तेजस्वरूप,	**दर्शितम्**	= दिखाया है,
प्रसन्नेन	= प्रसन्न होकर	**आद्यम्**	= सबका आदि (और)	**यत्**	= जिसको
आत्मयोगात्	= अपनी सामर्थ्यसे	**अनन्तम्**	= अनन्त	**त्वदन्येन**	= तुम्हारे सिवाय
मे	= मेरा	**विश्वम्**	= विश्व-	**न, दृष्टपूर्वम्**	= पहले किसीने नहीं देखा है।
इदम्	= यह	**रूपम्**	= रूप		

व्याख्या—'**मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं दर्शितम्**'—हे अर्जुन! तू बार-बार यह कह रहा है कि आप प्रसन्न हो जाओ (पचीसवाँ, इकतीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक), तो प्यारे भैया! मैंने जो यह विराट्‌रूप तुझे दिखाया है, उसमें विकरालरूपको देखकर तू भयभीत हो गया है, पर यह विकरालरूप मैंने क्रोधमें आकर या तुझे भयभीत करनेके लिये नहीं दिखाया है। मैंने तो अपनी प्रसन्नतासे ही यह विराट्‌रूप तुझे दिखाया है। इसमें तेरी कोई योग्यता, पात्रता अथवा भक्ति कारण नहीं है। तुमने तो पहले केवल विभूति और योगको ही पूछा था। विभूति और योगका वर्णन करके मैंने अन्तमें कहा था कि तुझे जहाँ-कहीं जो कुछ विलक्षणता दीखे, वहाँ-वहाँ मेरी ही विभूति समझ। इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नका उत्तर सम्यक् प्रकारसे मैंने दे ही दिया था। परन्तु वहाँ मैंने ('**अथवा**' पदसे) अपनी ही तरफसे

यह बात कही कि तुझे बहुत जाननेसे क्या मतलब? देखने, सुनने, समझनेमें जो कुछ संसार आता है, उस सम्पूर्ण संसारको मैं अपने किसी अंशमें धारण करके स्थित हूँ। दूसरा भाव यह है कि तुझे मेरी विभूति और योगशक्तिको जाननेकी क्या जरूरत है? क्योंकि सब विभूतियाँ मेरी योगशक्तिके आश्रित हैं और उस योगशक्तिका आश्रय मैं स्वयं तेरे सामने बैठा हूँ। यह बात तो मैंने विशेष कृपा करके ही कही थी। इस बातको लेकर ही तेरी विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा हुई और मैंने दिव्यचक्षु देकर तुझे विश्वरूप दिखाया। यह तो मेरी कोरी प्रसन्नता-ही-प्रसन्नता है। तात्पर्य है कि इस विश्वरूपको दिखानेमें मेरी कृपाके सिवाय दूसरा कोई हेतु नहीं है। तेरी देखनेकी इच्छा तो निमित्तमात्र है।

'आत्मयोगात्'—इस विराट्‌रूपको दिखानेमें मैंने किसीकी सहायता नहीं ली, प्रत्युत केवल अपनी सामर्थ्यसे ही तेरेको यह रूप दिखाया है।

'परम्'—मेरा यह विराट्‌रूप अत्यन्त श्रेष्ठ है।

'तेजोमयम्'—यह मेरा विश्वरूप अत्यन्त तेजोमय है। इसलिये दिव्यदृष्टि मिलनेपर भी तुमने इस रूपको दुर्निरीक्ष्य कहा है (सत्रहवाँ श्लोक)।

'विश्वम्'—इस रूपको तुमने स्वयं विश्वरूप, विश्वमूर्ते आदि नामोंसे सम्बोधित किया है। मेरा यह रूप सर्वव्यापी है।

'अनन्तमाद्यम्'—मेरे इस विश्वरूपका देश, काल आदिकी दृष्टिसे न तो आदि है और न अन्त ही है। यह सबका आदि है और स्वयं अनादि है।

'यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्'—तेरे सिवाय मेरे विश्वरूपको पहले किसीने भी नहीं देखा—यह बात भगवान्‌ने कैसे कही? क्योंकि रामावतारमें माता कौसल्याजीने और कृष्णावतारमें माता यशोदाजीने तथा कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, संजय, विदुर और ऋषि-मुनियोंने भगवान्‌का विराट्‌रूप देखा ही था! इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌ने अपने विराट्‌रूपके लिये **'एवंरूपः'** (११।४८) पद देकर कहा है कि इस प्रकारके भयंकर विश्वरूपको, जिसके मुखोंमें बड़े-बड़े योद्धा, सेनापति आदि जा रहे हैं, पहले किसीने नहीं देखा है।

दूसरी बात, अर्जुनके सामने युद्धका मौका होनेसे ऐसा भयंकर विश्वरूप दिखानेकी ही आवश्यकता थी और शूरवीर अर्जुन ही ऐसे रूपको देख सकते थे। परन्तु माता कौसल्या आदिके सामने ऐसा रूप दिखानेकी आवश्यकता भी नहीं थी और वे ऐसा रूप देख भी नहीं सकते थे अर्थात् उनमें ऐसा रूप देखनेकी सामर्थ्य भी नहीं थी।

भगवान्‌ने यह तो कहा है कि इस विश्वरूपको पहले किसीने नहीं देखा, पर वर्तमानमें कोई नहीं देख रहा है—ऐसा नहीं कहा है। कारण कि अर्जुनके साथ-साथ संजय भी भगवान्‌के विश्वरूपको देख रहे हैं। अगर संजय न देखते तो वे गीताके अन्तमें यह कैसे कह सकते थे कि भगवान्‌के अति अद्‌भुत विराट्‌रूपका बार-बार स्मरण करके मेरेको बड़ा भारी विस्मय हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ (अठारहवें अध्यायका सतहत्तरवाँ श्लोक)।

विशेष बात

भगवान्‌के द्वारा 'मैंने अपनी प्रसन्नतासे, कृपासे ही तेरेको यह विश्वरूप दिखाया है'—ऐसा कहनेसे एक विलक्षण भाव निकलता है कि साधक अपनेपर भगवान्‌की जितनी कृपा मानता है, उससे कई गुना अधिक भगवान्‌की कृपा होती है। भगवान्‌की जितनी कृपा होती है, उसको माननेकी सामर्थ्य साधकमें नहीं है। कारण कि भगवान्‌की कृपा अपार-असीम है; और उसको माननेकी सामर्थ्य सीमित है।

साधक प्रायः अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें ही भगवान्‌की कृपा मान लेता है अर्थात् सत्संग मिलता है, साधन ठीक चलता है, वृत्तियाँ ठीक हैं, मन भगवान्‌में ठीक लग रहा है आदिमें वह भगवान्‌की कृपा मान लेता है। इस प्रकार केवल अनुकूलतामें ही कृपा मानना कृपाको सीमामें बाँधना है, जिससे असीम कृपाका अनुभव नहीं होता। उस कृपामें ही राजी होना कृपाका भोग है। साधकको चाहिये कि वह न तो कृपाको सीमामें बाँधे और न कृपाका भोग ही करे।

साधन ठीक चलनेमें जो सुख होता है, उस सुखमें सुखी होना, राजी होना भी भोग है, जिससे बन्धन होता है— **'सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ'** (गीता १४।६)। सुख होना अथवा सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उसके साथ संग करना, उससे सुखी होना, प्रसन्न होना ही दोषी है। इससे अर्थात् साधनजन्य सात्त्विक सुख भोगनेसे गुणातीत होनेमें बाधा लगती है। अतः साधकको बड़ी सावधानीसे इस सुखसे असंग होना चाहिये। जो साधक इस सुखसे असंग नहीं होता अर्थात् इसमें प्रसन्नतापूर्वक सुख लेता रहता है, वह भी यदि अपनी साधनामें

तत्परतापूर्वक लगा रहे, तो समय पाकर उसकी उस सुखसे स्वतः अरुचि हो जायगी। परन्तु जो उस सुखसे सावधानीपूर्वक असंग रहता है, उसे शीघ्र ही वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

सम्बन्ध—विश्वरूपदर्शनके लिये भगवान्की कृपाके सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है—इस बातका आगेके श्लोकमें विशेषतासे वर्णन करते हैं।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

कुरुप्रवीर = हे कुरुश्रेष्ठ! **नृलोके** = मनुष्यलोकमें **एवंरूपः** = इस प्रकारके विश्वरूपवाला **अहम्** = मैं **न,** **वेदयज्ञाध्ययनैः** = न वेदोंके पाठसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न शास्त्रोंके अध्ययनसे*, **न** = न **दानैः** = दानसे, **न** = न **उग्रैः** = उग्र **तपोभिः** = तपोंसे **च** = और **न** = न **क्रियाभिः** = मात्र क्रियाओंसे **त्वदन्येन** = तेरे (कृपापात्रके) सिवाय और किसीके द्वारा **द्रष्टुम्** = देखा जा **शक्यः** = सकता हूँ।

व्याख्या—**'कुरुप्रवीर'**—यहाँ अर्जुनके लिये 'कुरुप्रवीर' सम्बोधन देनेका अभिप्राय है कि सम्पूर्ण कुरुवंशियोंमें मेरेसे उपदेश सुननेकी, मेरे रूपको देखनेकी और जाननेकी तेरी जिज्ञासा हुई, तो यह कुरुवंशियोंमें तुम्हारी श्रेष्ठता है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्को देखनेकी, जाननेकी इच्छा होना ही वास्तवमें मनुष्यकी श्रेष्ठता है।

'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभि-रुग्रैः'—वेदोंका अध्ययन किया जाय, यज्ञोंका विधि-विधानसे अनुष्ठान किया जाय, शास्त्रोंका अध्ययन किया जाय, बड़े-बड़े दान किये जायँ, बड़ी उग्र (कठिन-से-कठिन) तपस्याएँ की जायँ और तीर्थ, व्रत आदि शुभ-कर्म किये जायँ—ये सब-के-सब कर्म विश्वरूपदर्शनमें हेतु नहीं बन सकते। कारण कि जितने भी कर्म किये जाते हैं, उन सबका आरम्भ और समाप्ति होती है। अतः उन कर्मोंसे मिलनेवाला फल भी आदि और अन्तवाला ही होता है। अतः ऐसे कर्मोंसे भगवान्के अनन्त, असीम, अव्यय, दिव्य विश्वरूपके दर्शन कैसे हो सकते हैं? उसके दर्शन तो केवल भगवान्की कृपासे ही होते हैं। कारण कि भगवान् नित्य हैं और उनकी कृपा भी नित्य है। अतः नित्य कृपासे ही अर्जुनको भगवान्के नित्य, अव्यय, दिव्य विश्वरूपके दर्शन हुए हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उनमेंसे एक-एकमें अथवा सभी साधनोंमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वे विराट्रूपके दर्शन करा सकें। विराट्रूपके दर्शन तो केवल भगवान्की कृपासे, प्रसन्नतासे ही हो सकते हैं।

गीतामें प्रायः यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंका ही वर्णन आता है। आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें और इसी अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें वेद, यज्ञ, दान और तप—इन चारोंका वर्णन आया है और यहाँ वेद, यज्ञ, दान, तप और क्रिया—इन पाँचोंका वर्णन आया है। आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें सप्तमी विभक्ति और बहुवचन तथा यहाँके श्लोकमें तृतीया विभक्ति और बहुवचनका प्रयोग हुआ है, जब कि दूसरी जगह प्रायः प्रथमा विभक्ति और एकवचनका प्रयोग आता है।

यहाँ तृतीया विभक्ति और बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि इन वेद, यज्ञ, दान आदि साधनोंमेंसे एक-एक साधन विशेषतासे बहुत बार किया जाय अथवा सभी साधन विशेषतासे बहुत बार किये जायँ, तो भी वे सब-के-सब साधन विश्वरूपदर्शनके कारण नहीं बन सकते अर्थात् इनके द्वारा विश्वरूप नहीं देखा जा सकता। कारण कि विश्वरूपका

*** अगर 'वेदयज्ञाध्ययनैः' पदका अर्थ 'वेदोंका अध्ययन और यज्ञोंका अनुष्ठान' लिया जाय तो वेदोंके अध्ययनके अन्तर्गत शास्त्रोंका अध्ययन भी आ जाता है; क्योंकि सभी शास्त्र वेदोंका ही अनुगमन करते हैं। परन्तु खुलासा करनेके लिये यहाँ शास्त्रोंका अध्ययन अलगसे लिया गया है।**

दर्शन करना किसी कर्मका फल नहीं है।

जैसे यहाँ वेद, यज्ञ आदि साधनोंसे विश्वरूप नहीं देखा जा सकता—ऐसा कहकर विश्वरूपदर्शनकी दुर्लभता बतायी है, ऐसे ही आगे तिरपनवें श्लोकमें वेद, यज्ञ आदि साधनोंसे चतुर्भुजरूप नहीं देखा जा सकता—ऐसा कहकर चतुर्भुजरूप—दर्शनकी दुर्लभता बतायी है। चतुर्भुजरूपको देखनेमें अनन्यभक्तिको साधन बताया है। (इसी अध्यायका चौवनवाँ श्लोक); क्योंकि वह रूप ऐसा विलक्षण है कि उसका दर्शन देवता भी चाहते हैं। इसलिये उस रूपमें भक्ति हो सकती है। परन्तु विश्वरूपको देखकर तो भय लगता है; अतः ऐसे रूपमें भक्ति कैसे होगी, प्रेम कैसे होगा? इसलिये इसके दर्शनमें भक्तिको साधन नहीं बताया है। यह तो केवल भगवान्‌की प्रसन्नतासे, कृपासे ही देखा जा सकता है।

'एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन'— मनुष्यलोकमें इन साधनोंसे तुम्हारे सिवाय मेरा विश्वरूप कोई देख नहीं सकता—इसका अर्थ यह नहीं है कि इन साधनोंसे तू देख सकता है। तुम्हारेको तो मैंने अपनी प्रसन्नतासे ही यह रूप दिखाया है।

संजयको भी जो विश्वरूपके दर्शन हो रहे थे, वह भी व्यासजीकी कृपासे प्राप्त दिव्यदृष्टिसे ही हो रहे थे, किसी दूसरे साधनसे नहीं। तात्पर्य है कि भगवान् और उनके भक्तों, सन्तोंकी कृपासे जो काम होता है, वह काम साधनोंसे नहीं होता। इनकी कृपा भी अहैतुकी होती है।

कई लोग ठीक न समझनेके कारण ऐसा कहते हैं कि भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूप दिखाया नहीं था, प्रत्युत यह समझा दिया था कि मेरे शरीरके किसी एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। पर वास्तवमें यह बात है ही नहीं। स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि 'मेरे इस शरीरमें एक जगह चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत्‌को अभी देख ले' (सातवाँ श्लोक)। जब अर्जुनको दिखायी नहीं दिया, तब भगवान्‌ने कहा कि 'तू अपने इन चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकता, इसलिये मैं तुझे दिव्यचक्षु देता हूँ' (आठवाँ श्लोक)। फिर भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यचक्षु देकर साक्षात् अपना विश्वरूप दिखाया। संजयने भी कहा है कि 'भगवान्‌के शरीरमें एक जगह स्थित विश्वरूपको अर्जुनने देखा' (तेरहवाँ श्लोक)। अर्जुनने भी विश्वरूपका दर्शन करते हुए कहा कि 'मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंके समुदायोंको तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सबको देख रहा हूँ' (पन्द्रहवाँ श्लोक) आदि-आदि। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने अर्जुनको प्रत्यक्षमें अपने विश्वरूपके दर्शन कराये थे। दूसरी बात, समझानेके लिये तो ज्ञानचक्षु होते हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका चौंतीसवाँ और पन्द्रहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक), पर दिव्यचक्षुसे साक्षात् दर्शन ही होते हैं। अतः भगवान्‌ने केवल कहकर समझा दिया हो, ऐसी बात नहीं है।

सम्बन्ध—अर्जुनका भय दूर करनेके लिये भगवान् आगेके श्लोकमें उनको 'देवरूप' देखनेकी आज्ञा देते हैं।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

इदम्	= यह	**मा**	= नहीं होनी चाहिये	**त्वम्**	= तू
मम	= मेरा	**च**	= और	**पुनः**	= फिर
ईदृङ्	= इस प्रकारका	**विमूढभावः**	= विमूढभाव (भी)	**तत्, एव**	= उसी
घोरम्	= उग्र	**मा**	= नहीं होना चाहिये। (अब)	**मे**	= मेरे
रूपम्	= रूप			**इदम्**	= इस (चतुर्भुज)
दृष्ट्वा	= देखकर	**व्यपेतभीः**	= निर्भय (और)	**रूपम्**	= रूपको
ते	= तुझे	**प्रीतमनाः**	= प्रसन्न मनवाला होकर	**प्रपश्य**	= अच्छी तरह देख ले।
व्यथा	= व्यथा				

व्याख्या—**'मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्'**—विकराल दाढ़ोंके कारण भयभीत करनेवाले मेरे मुखोंमें योद्धालोग बड़ी तेजीसे जा रहे हैं, उनमेंसे कई चूर्ण हुए सिरोंसहित दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं और मैं प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित मुखोंद्वारा सम्पूर्ण लोगोंका ग्रसन करते हुए उनको चारों

ओरसे चाट रहा हूँ—इस प्रकारके मेरे घोर रूपको देखकर तेरेको व्यथा नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत प्रसन्नता होनी चाहिये। तात्पर्य है कि पहले (पैंतालीसवें श्लोकमें) तू जो मेरी कृपाको देखकर हर्षित हुआ था, तो मेरी कृपाकी तरफ दृष्टि होनेसे तेरा हर्षित होना ठीक ही था, पर यह व्यथित होना ठीक नहीं है।

अर्जुनने जो पहले कहा है—'**प्रव्यथितास्तथाहम्**' (११। २३) और '**प्रव्यथितान्तरात्मा**' (११। २४)। उसीके उत्तरमें भगवान् यहाँ कहते हैं—'**मा ते व्यथा।**'

मैं कृपा करके ही ऐसा रूप दिखा रहा हूँ। इसको देखकर तेरेको मोहित नहीं होना चाहिये—'**मा च विमूढभावः।**' दूसरी बात, मैं तो प्रसन्न ही हूँ और अपनी प्रसन्नतासे ही तेरेको यह रूप दिखा रहा हूँ; परन्तु तू जो बार-बार यह कह रहा है कि 'प्रसन्न हो जाओ; प्रसन्न हो जाओ', यही तेरा विमूढ़भाव है। तू इसको छोड़ दे। तीसरी बात, पहले तूने कहा था कि मेरा मोह चला गया (पहला श्लोक), पर वास्तवमें तेरा मोह अभी नहीं गया है। तेरेको इस मोहको छोड़ देना चाहिये और निर्भय तथा प्रसन्न मनवाला होकर मेरा वह देवरूप देखना चाहिये।

तेरा और मेरा जो संवाद है, यह तो प्रसन्नतासे, आनन्दरूपसे, लीलारूपसे होना चाहिये। इसमें भय और मोह बिलकुल नहीं होने चाहिये। मैं तेरे कहे अनुसार घोड़े हाँकता हूँ, बातें करता हूँ, विश्वरूप दिखाता हूँ आदि सब कुछ करनेपर भी तूने मेरेमें कोई विकृति देखी है क्या?[१] मेरेमें कुछ अन्तर आया है क्या? ऐसे ही मेरे विश्वरूपको देखकर तेरेमें भी कोई विकृति नहीं आनी चाहिये।

हे अर्जुन! तेरेको जो भय लग रहा है, वह शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन) होनेसे ही लग रहा है अर्थात् अहंता-ममतावाली चीज (शरीर) नष्ट न हो जाय, इसको लेकर तू भयभीत हो रहा है—यह तेरी मूर्खता है, अनजानपना है। इसको तू छोड़ दे।

आज भी जिस-किसीको जहाँ-कहीं जिस-किसीसे भी भय होता है, वह शरीरमें अहंता-ममता होनेसे ही होता है। शरीरमें अहंता-ममता होनेसे वह उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु-(प्राणों-) को रखना चाहता है। यही मनुष्यकी मूर्खता है और यही आसुरी सम्पत्तिका मूल है। परन्तु जो भगवान्की तरफ चलनेवाले हैं, उनका प्राणोंमें मोह नहीं रहता, प्रत्युत उनका सर्वत्र भगवद्भाव रहता है और एकमात्र भगवान्में प्रेम रहता है। इसलिये वे निर्भय हो जाते हैं। उनका भगवान्की तरफ चलना दैवी सम्पत्तिका मूल है। नृसिंह-भगवान्के भयंकर रूपको देखकर देवता आदि सभी डर गये, पर प्रह्लादजी नहीं डरे; क्योंकि प्रह्लादजीकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि थी। इसलिये वे नृसिंहभगवान्के पास जाकर उनके चरणोंमें गिर गये और भगवान्ने उनको उठाकर गोदमें ले लिया तथा उनको जीभसे चाटने लगे!

'**व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य**'—अर्जुनने पैंतालीसवें श्लोकमें कहा था— '**भयेन च प्रव्यथितं मनो मे**'; अतः भगवान्ने '**भयेन**' के लिये कहा है—'**व्यपेतभीः**' अर्थात् तू भयरहित हो जा और '**प्रव्यथितं मनः**' के लिये कहा है—'**प्रीतमनाः**' अर्थात् तू प्रसन्न मनवाला हो जा।

भगवान्ने विराट्रूपमें अर्जुनको जो चतुर्भुजरूप दिखाया था, उसीके लिये भगवान् '**पुनः**' पद देकर कह रहे हैं कि वही मेरा यह रूप तू फिर अच्छी तरहसे देख ले।

'**तदेव**' कहनेका तात्पर्य है कि तू देवरूप (विष्णुरूप-) के साथ ब्रह्मा, शंकर आदि देवता और भयानक विश्वरूप नहीं देखना चाहता, केवल देवरूप ही देखना चाहता है; इसलिये वही रूप तू अच्छी तरहसे देख ले।

अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान् अभी जो रूप दिखाना चाहते हैं, उसके लिये भगवान्ने यहाँ '**इदम्**' शब्दका प्रयोग किया है।

संजय और अर्जुनकी दिव्यदृष्टि कबतक रही?

संजयको वेदव्यासजीने युद्धके आरम्भमें दिव्यदृष्टि दी थी,[२] जिससे वे धृतराष्ट्रको युद्धके समाचार सुनाते रहे।

१-अपनेमें कई तरहका परिवर्तन देखनेपर भी अर्जुन सब अवस्थाओंमें भगवान्को निर्विकार ही मानते हैं, तभी तो उन्होंने गीताके आदि, मध्य तथा अन्तमें (गीता—पहले अध्यायके इक्कीसवें, ग्यारहवें अध्यायके बयालीसवें और अठारहवें अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें) भगवान्के लिये 'अच्युत' सम्बोधनका प्रयोग किया है।

२-एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति। एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति॥
चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः। कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति॥

(महा०, भीष्म० २। ९-१०)

'राजन्! यह संजय आपको इस युद्धका सब समाचार बताया करेगा। सम्पूर्ण संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो इसके प्रत्यक्ष न हो। राजन्! संजय दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न होकर सर्वज्ञ हो जायगा और तुम्हें युद्धकी बात बतायेगा।'

परन्तु अन्तमें जब दुर्योधनकी मृत्युपर संजय शोकसे व्याकुल हो गये, तब संजयकी वह दिव्यदृष्टि चली गयी*।

अर्जुनके द्वारा विश्वरूप दिखानेकी प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी—'**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्**' (११।८) और अर्जुन विराट्‌रूप भगवान्‌के देवरूप, उग्ररूप आदि रूपोंके दर्शन करने लगे। जब अर्जुनके सामने अत्युग्र रूप आया, तब वे डर गये और भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करते हुए कहने लगे कि 'मेरा मन भयसे व्यथित हो रहा है, आप मेरेको वही चतुर्भुजरूप दिखाइये।' तब भगवान्‌ने अपना चतुर्भुजरूप दिखाया और फिर द्विभुजरूपसे हो गये। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ (उनचासवें श्लोक-) तक ही अर्जुनकी दिव्यदृष्टि रही। इक्यावनवें श्लोकमें स्वयं अर्जुनने कहा है कि 'मैं आपके सौम्य मनुष्यरूपको देखकर सचेत हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ।'

यहाँ शंका होती है कि अर्जुन तो पहले भी व्यथित (व्याकुल) हुए थे—'**दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्**' (११।२३), '**दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा**' (११।२४); अतः वहीं उनकी दिव्यदृष्टि चली जानी चाहिये थी। इसका समाधान यह है कि वहाँ अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे, जितने यहाँ हुए हैं। यहाँ तो अर्जुन भयभीत होकर भगवान्‌को बार-बार नमस्कार करते हैं और उनसे चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये प्रार्थना भी करते हैं (पैंतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये यहाँ अर्जुनकी दिव्यदृष्टि चली जाती है।

दूसरा कारण यह भी माना जा सकता है कि पहले अर्जुनकी विश्वरूप देखनेकी विशेष रुचि (इच्छा) थी—'**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्**' (११।३), इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी; परन्तु यहाँ अर्जुनकी विश्वरूप देखनेकी रुचि नहीं रही और वे भयभीत होनेके कारण चतुर्भुजरूप देखनेकी इच्छा करते हैं, इसलिये (दिव्य-दृष्टिकी आवश्यकता न रहनेसे) उनकी दिव्यदृष्टि चली जाती है।

अगर संजय और अर्जुन शोकसे, भयसे व्यथित (व्याकुल) न होते, तो उनकी दिव्यदृष्टि बहुत समयतक रहती और वे बहुत कुछ देख लेते। परन्तु शोक और भयसे व्यथित होनेके कारण उनकी दिव्यदृष्टि चली गयी। इसी तरहसे जब मनुष्य मोहसे संसारमें आसक्त हो जाता है, तब भगवान्‌की दी हुई विवेकदृष्टि काम नहीं करती। जैसे, मनुष्यका रुपयोंमें अधिक मोह होता है तो वह चोरी करने लग जाता है, फिर और मोह बढ़नेपर डकैती करने लग जाता है तथा अत्यधिक मोह बढ़ जानेपर वह रुपयोंके लिये दूसरेकी हत्यातक कर देता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसका विवेक काम नहीं करता। अगर मनुष्य मोहमें न फँसकर अपनी विवेकदृष्टिको महत्त्व देता, तो वह अपना उद्धार करके संसारमात्रका उद्धार करनेवाला बन जाता!

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने घबराकर भगवान्‌से कहा—'**तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्**' (११।४२) तो भगवान् यहाँ कहते हैं कि मैं चाहे शान्त अथवा उग्र किसी भी रूपमें दिखायी दूँ, हूँ तो मैं तुम्हारा सखा ही! तुम डर गये तो यह तुम्हारी मूढ़ता है, मित्रतामें ढिलाई है! जो कुछ दीख रहा है, वह सब मेरी ही लीला है। इसमें घबरानेकी क्या बात है? मित्रतामें कौन बड़ा और कौन छोटा?

भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं, इसलिये यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार कहा जाता है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २।६।४१)। जैसे भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूपोंसे अवतार लिया है, ऐसे ही जगत्-रूपसे भी अवतार लिया है। इसको अवतार इसलिये कहा है कि इसमें भगवान् दृश्यरूपसे दीखनेमें आ जाते हैं। अवतारके समय लौकिक दृष्टिसे दीखनेपर भी भगवान् सदा अलौकिक ही रहते हैं (गीता—चौथे अध्यायका छठा श्लोक)। परन्तु राग-द्वेषके कारण अज्ञानियोंको भगवान् लौकिक दीखते हैं (गीता—सातवें अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ और नवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

भगवान् शान्त अथवा उग्र किसी भी रूपमें आयें, उसकी मरजी है। सुन्दर दृश्य हो, पुष्प खिले हों, सुगन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का रूप है और मांस, हड्डियाँ, मैला पड़ा हो, दुर्गन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का रूप है।

---

* **तव पुत्रे गते स्वर्गे शोकार्त्तस्य ममानघ। ऋषिदत्तं प्रणष्टे तद् दिव्यदर्शित्वमद्य वै॥**

(महा०, सौप्तिक० ९।६२)

'निष्पाप नरेश! आपके पुत्रके स्वर्गलोकमें चले जानेसे मैं शोकसे आतुर हो गया हूँ और महर्षि व्यासजीकी दी हुई मेरी वह दिव्यदृष्टि भी अब नष्ट हो गयी है।'

भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। वे कोई भी रूप धारण करें, हैं तो भगवान् ही! रूप तो भगवान्‌का है और क्रिया उनकी लीला है। कोई पाप, अन्याय करता हुआ दीखे तो समझे कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला (क्रिया) करते हैं[१]। मूर्तिका रूप (अर्चावतार) धारण करके वे मूर्तिकी तरह ही अचल रहनेकी लीला करते हैं। मूर्तिरूप धारण करके क्रिया करनेमें शोभा नहीं है, प्रत्युत क्रिया न करनेमें ही शोभा है, अन्यथा वह अर्चावतार कैसे रहेगा? वराह (सूअर) का रूप धारण करके वे वराहकी तरह क्रिया करते हैं और मनुष्यका रूप धारण करके वे मनुष्यकी तरह क्रिया करते हैं[२]। वे कोई भी रूप धारण करके कैसी ही क्रिया करें, उससे भक्तोंके हृदयमें कोई विकार नहीं होता, क्योंकि उनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं।

हमें जो संसार दीखता है, यह भगवान्‌का विराट्‌रूप नहीं है; क्योंकि विराट्‌रूप तो दिव्य और अव्यय है, पर दीखनेवाला संसार भौतिक और नाशवान् है। जैसे हमें भौतिक वृन्दावन तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य वृन्दावन नहीं दीखता, ऐसे ही हमें भौतिक विश्व तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य विश्व (विराट्‌रूप) नहीं दीखता, ऐसा दीखनेमें कारण है—सुखभोगकी इच्छा। भोगेच्छाके कारण ही जड़ता, भौतिकता, मलिनता आयी है। अगर भोगेच्छाको लेकर संसारमें आकर्षण न हो तो सब कुछ चिन्मय विराट्‌रूप ही है।

तत्त्वबोध होनेपर ज्ञानीको तो संसार चिन्मयरूपसे दीखता है, पर प्रेमी भक्तको वह माधुर्यरूपसे दीखता है। माधुर्यरूपसे दीखनेपर जैसे अपने शरीरमें सबकी स्वाभाविक प्रियता होती है, ऐसे ही भक्तकी मात्र प्राणियोंके साथ स्वाभाविक प्रियता होती है। परन्तु अर्जुनने ऐश्वर्यरूपसे भगवान्‌का विराट्‌रूप देखा था; क्योंकि वे वही रूप देखना चाहते थे—**'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम'** (११। ३)। माधुर्यमें प्रियता विशेष होती है और ऐश्वर्यमें प्रभाव विशेष होता है। तात्पर्य है कि दिव्य विराट्‌रूप एक होनेपर भी भावनाके अनुसार अनेक रूपोंमें दीखता है और अनेकरूपसे दीखनेपर भी एक ही रहता है। एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता भगवान्‌की विलक्षणता, अलौकिकता, विचित्रता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको जिस रूपको देखनेके लिये आज्ञा दी, उसीके अनुसार भगवान् अपना विष्णुरूप दिखाते हैं—इसका वर्णन संजय आगेके श्लोकमें करते हैं।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

संजय बोले—

वासुदेवः	= वासुदेवभगवान्‌ने	**रूपम्**	= रूप (देवरूप)	**भूत्वा**	= होकर
अर्जुनम्	= अर्जुनसे	**दर्शयामास**	= दिखाया	**एनम्**	= इस
इति	= ऐसा	**च**	= और	**भीतम्**	= भयभीत अर्जुनको
उक्त्वा	= कहकर	**महात्मा**	= महात्मा श्रीकृष्णने		
भूयः	= फिर	**पुनः**	= पुनः	**आश्वासयामास**	= आश्वासन दिया।
तथा	= उसी प्रकारसे	**सौम्यवपुः**	= सौम्यरूप (द्विभुज मानुषरूप)		
स्वकम्	= अपना				

व्याख्या—**'इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः'**—अर्जुनने जब भगवान्‌से चतुर्भुजरूप होनेके लिये प्रार्थना की, तब भगवान्‌ने कहा कि मेरे इस विश्वरूपको देखकर तू व्यथित और भयभीत मत हो।

१-जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥
(मानस, उत्तर० ७२ ख)

२-देखें, चौथे अध्यायके नवें श्लोकका परिशिष्ट भाव।

तू प्रसन्न मनवाला होकर मेरे इस रूपको देख (उनचासवाँ श्लोक)। भगवान्‌के इसी कथनको संजयने यहाँ '**इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा**' पदोंसे कहा है।

'**तथा**' कहनेका तात्पर्य है कि जिस प्रकार कृपाके परवश होकर भगवान्‌ने अपना विश्वरूप दिखाया था, उसी प्रकार कृपाके परवश होकर भगवान्‌ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया। इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की कृपा-ही-कृपा है।

'**भूयः**' कहनेका तात्पर्य है, जिस देवरूप-(चतुर्भुज-रूप-) को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था (पन्द्रहवाँ और सत्रहवाँ श्लोक) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी (पैंतालीसवाँ-छियालीसवाँ श्लोक), वही रूप भगवान्‌ने फिर दिखाया।

'**आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्य-वपुर्महात्मा**'—भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया। फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप-(मनुष्यरूप-) से प्रकट हो गये और उन्होंने विश्वरूपको देखनेसे भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया।

भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज? इसका उत्तर है कि भगवान् हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर समय-समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव सामर्थ्यको बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विश्व-रूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है। अगर मनुष्य भगवान्‌के ऐसे महान् प्रभावको जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसारमें आकर्षण नहीं रहे। वह सदाके लिये संसार-बन्धनसे छूट जाय।

अर्जुनपर भगवान्‌की कितनी अद्‌भुत कृपा है कि भगवान्‌ने पहले विश्वरूप दिखाया, फिर देवरूप (चतुर्भुज-रूप) दिखाया और फिर मानुषरूप (द्विभुजरूप) हो गये। इसके साथ-साथ भगवान्‌ने हमलोगोंपर भी कितनी अलौकिक विलक्षण कृपा की है कि जहाँ-कहीं जिस किसी विशेषताको लेकर हमारा मन चला जाय, वहीं हम भगवान्‌का चिन्तन कर सकते हैं और भगवान्‌के विश्वरूपका पठन-पाठन, चिन्तन कर सकते हैं। इस भयंकर समयमें हमें भगवान्‌की विभूतियों तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिका जो मौका मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की कृपा ही कारण है। भगवान्‌की इस कृपाको देखकर हमें प्रसन्न हो जाना चाहिये। इन विभूतियोंको सुनने और विश्वरूपके चिन्तन-स्मरणका मौका तो उस समय भी संजय आदि बहुत थोड़े लोगोंको ही मिला था। वही मौका आज हमें प्राप्त हुआ है। अतः ऐसे मौकेको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने मनुष्यरूप होकर जब अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन बोले—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

अर्जुन बोले—

जनार्दन	= हे जनार्दन!	**रूपम्**	= रूपको	**अस्मि**	= हूँ (और)
तव	= आपके	**दृष्ट्वा**	= देखकर (मैं)	**प्रकृतिम्**	= अपनी स्वाभाविक स्थितिको
इदम्	= इस	**इदानीम्**	= इस समय		
सौम्यम्	= सौम्य	**सचेताः**	= स्थिरचित्त	**गतः**	= प्राप्त हो गया हूँ।
मानुषम्	= मनुष्य	**संवृत्तः**	= हो गया		

व्याख्या—'**दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन**'—आपके मनुष्यरूपमें प्रकट होकर लीला करनेवाले रूपको देखकर गायें, पशु-पक्षी, वृक्ष, लताएँ आदि भी पुलकित हो जाती हैं*, ऐसे सौम्य द्विभुजरूपको देखकर मैं होशमें आ

* त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥ (श्रीमद्भा० १०। २९। ४०)

गया हूँ, मेरा चित्त स्थिर हो गया है—'**इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः**', विराट्‌रूपको देखकर जो मैं भयभीत हो गया था, वह सब भय अब मिट गया है, सब व्यथा चली गयी है और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ—'**प्रकृतिं गतः**।'

यहाँ '**सचेताः**' कहनेका तात्पर्य है कि जब अर्जुनकी दृष्टि भगवान्‌की कृपाकी तरफ गयी, तब अर्जुनको होश आया और वे सोचने लगे कि कहाँ तो मैं और कहाँ भगवान्‌का विस्मयकारक विलक्षण विराट्‌रूप! इसमें मेरी कोई योग्यता, अधिकारिता नहीं है। इसमें तो केवल भगवान्‌की कृपा-ही-कृपा है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌का सौम्यरूप द्विभुज होनेके कारण अर्जुनने उसको मनुष्यरूप कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आया है—

त्वमेव भगवानाद्यो निर्गुणः प्रकृतेः परः। अर्द्धांगो द्विभुजः कृष्णोऽप्यर्द्धांगेन चतुर्भुजः॥

(प्रकृति० १२। १५)

'आप सबके आदि, निर्गुण और प्रकृतिसे अतीत भगवान् ही अपने आधे अंगसे द्विभुज कृष्ण और आधे अंगसे चतुर्भुज विष्णुके रूपमें प्रकट हुए हैं।'

द्विभुजो राधिकाकान्तो लक्ष्मीकान्तश्चतुर्भुजः। गोलोके द्विभुजस्तस्थौ गोपैर्गोपीभिरावृतः॥
चतुर्भुजश्च वैकुण्ठं प्रययौ पद्मया सह। सर्वांशेन समौ तौ द्वौ कृष्णनारायणौ परौ॥

(प्रकृति० ३५। १४-१५)

'द्विभुज कृष्ण राधिकापति हैं और चतुर्भुज विष्णु लक्ष्मीपति हैं। कृष्ण गोप-गोपियोंसे आवृत होकर गोलोकमें और विष्णु लक्ष्मीके साथ (पार्षदोंसहित) वैकुण्ठमें स्थित हैं। वे कृष्ण और विष्णु—दोनों सब प्रकारसे समान अर्थात् एक ही हैं।'

तात्पर्य है कि द्विभुजरूप (कृष्ण), चतुर्भुजरूप (विष्णु) और सहस्रभुजरूप (विराट्‌रूप)—तीनों एक ही समग्र भगवान्‌के रूप हैं।

सम्बन्ध—अर्जुनकी कृतज्ञताका अनुमोदन करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

श्रीभगवान् बोले—

मम	= मेरा	**सुदुर्दर्शम्**	= इसके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ हैं।	**रूपस्य**	= रूपको
इदम्	= यह			**नित्यम्, दर्शनकाङ्क्षिणः**	= देखनेके लिये नित्य लालायित रहते हैं।
यत्	= जो				
रूपम्	= (चतुर्भुज) रूप	**देवाः**	= देवता		
दृष्टवान्, असि	= (तुमने) देखा है,	**अपि**	= भी		
		अस्य	= इस		

व्याख्या—'**सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम**'—यहाँ '**सुदुर्दर्शम्**' पद चतुर्भुजरूपके लिये ही आया है, विराट्‌रूप या द्विभुजरूपके लिये नहीं। कारण कि विराट्‌रूपकी तो देवता भी कल्पना क्यों करने लगे! और मनुष्यरूप जब मनुष्योंके लिये सुलभ था, तब देवताओंके लिये वह दुर्लभ कैसे होता! इसलिये '**सुदुर्दर्शम्**' पदसे भगवान् विष्णुका चतुर्भुजरूप ही लेना चाहिये, जिसके लिये '**देवरूपम्**' (११। ४५) और '**स्वकं रूपम्**' (११। ५०) पद आये हैं।

'**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः**'—भगवान्‌ने यहाँ कहा है कि मेरा यह जो चतुर्भुजरूप है इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। आगे तिरपनवें-चौवनवें श्लोकोंमें कहा है कि इस चतुर्भुजरूपके दर्शन वेद, यज्ञ, तप, दान आदि साधनोंसे नहीं हो सकते; प्रत्युत इसके दर्शन तो अनन्यभक्तिसे ही हो सकते हैं। अब यहाँ एक शंका होती है कि देवता भी इस रूपके दर्शनकी नित्य आकांक्षा

(लालसा) रखते हैं, फिर उनको दर्शन क्यों नहीं होते? जब कि भगवान्‌के दर्शनकी नित्य लालसा रहना अनन्य-भक्ति ही है। इसका समाधान यह है कि वास्तवमें देवताओंकी नित्य लालसा अनन्यभक्ति नहीं है।

नित्य लालसा रखनेका तात्पर्य है कि नित्य-निरन्तर एक परमात्माकी ही लालसा लगी रहे और दूसरी कोई लालसा न रहे। ऐसी लालसावाला दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी भगवान्‌का भक्त हो जाता है और उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। परन्तु ऐसी अनन्य लालसा देवताओंकी नहीं होती; क्योंकि वे प्रायः भोग भोगनेके लिये ही देवता बने हैं और उनका प्रायः भोग भोगनेका ही उद्‌देश्य होता है। तो फिर उनकी लालसा कैसी होती है? जैसी लालसा (इच्छा) प्रायः सभी आस्तिक मनुष्योंमें रहती है कि 'हमें भगवान्‌के दर्शन हो जायँ, हमारा कल्याण हो जाय।' उनकी ऐसी इच्छा तो रहती है, पर भोग और संग्रहकी रुचि ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। तात्पर्य है कि जैसे मार्गमें चलते हुए किसीको मणि मिल जाय, ऐसे ही (गौणतासे) हमारी मुक्ति हो जाय तो अच्छी बात है[१]—इस प्रकार जैसे मनुष्योंमें मुक्तिकी इच्छा गौण होती है, ऐसे ही भगवान् दर्शन दें तो हम भी दर्शन कर लें—इस प्रकार देवताओंमें दर्शनकी इच्छा गौण होती है।

देवतालोग 'हम इतने ऊँचे पदपर हैं, हमारे लोक, शरीर और भोग दिव्य हैं, हम बड़े पुण्यशाली हैं; अतः हमें भगवान्‌के दर्शन होने चाहिये'—ऐसी कोरी इच्छा ही करते हैं, इसलिये उनको कभी दर्शन होंगे नहीं। कारण कि उनमें देवत्व, पद आदिका अभिमान है। अभिमानसे, पद आदिके बलसे भगवान्‌के दर्शन नहीं हो सकते। इसलिये अर्जुनने दसवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें कहा है कि 'हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको देवता और दानव भी नहीं जानते।' इस प्रकार अर्जुनने भगवान्‌को न जाननेमें देवताओं और दानवोंको एक श्रेणीमें लिया है। इसका तात्पर्य यही है कि जैसे देवताओंके पास वैभव है, ऐसे ही दानवोंके पास विचित्र-विचित्र माया है, सिद्धियाँ हैं, पर उनके बलपर वे भगवान्‌को नहीं जान सकते। ऐसे ही देवता भगवान्‌के दर्शनकी लालसा भी रखें, तो भी उनको देवत्व-शक्तिसे दर्शन नहीं हो सकते; क्योंकि भगवान्‌के दर्शनमें देवत्व कारण नहीं है। तात्पर्य है कि भगवान्‌को न तो देवत्व-शक्तिसे देखा जा सकता है और न यज्ञ, तप, दान आदि शुभ-कर्मोंसे ही देखा जा सकता है (इसी अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक)। उनको तो अनन्यभक्तिसे ही देखा जा सकता है (चौवनवाँ श्लोक)। अनन्यभक्तिसे देवता और मनुष्य—दोनों ही भगवान्‌को देख सकते हैं।

'देवा अपि' कहनेका तात्पर्य है कि जिन पुण्योंके कारण देवताओंको ऊँचा पद मिला है, ऊँचे (दिव्य) भोग मिले हैं, उन पुण्योंके बलसे, पद आदिके बलसे वे भगवान्‌के दर्शन नहीं कर सकते। तात्पर्य है कि पुण्यकर्म ऊँचे लोक, ऊँचे भोग तो दे सकते हैं, पर भगवान्‌के दर्शन करानेकी उनमें सामर्थ्य नहीं है। भगवान्‌के दर्शनमें यह प्राकृत महत्त्व कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

परिशिष्ट भाव—यद्यपि देवताओंका शरीर दिव्य होता है, पर भगवान्‌का शरीर उससे भी विलक्षण होता है। देवताओंका शरीर भौतिक तेजोमय और भगवान्‌का शरीर चिन्मय होता है। भगवान्‌का शरीर सत्-चित्-आनन्दमय, नित्य, अलौकिक और अत्यन्त दिव्य होता है[२]। अतः देवता भी भगवान्‌को देखनेके लिये लालायित रहते हैं। जैसे साधारण लोगोंमें नये-नये स्थान देखनेका शौक रहता है, ऐसे ही देवताओंमें भगवान्‌को देखनेका शौक है, प्रेम नहीं। तात्पर्य है कि जैसे भक्त प्रेमपूर्वक भगवान्‌को देखना चाहते हैं, ऐसे देवता नहीं देखना चाहते। इसलिये भगवान् प्रेमी भक्तोंके तो अधीन हैं, पर देवताओंके अधीन नहीं हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कही हुई बातको ही भगवान् आगेके श्लोकमें पुष्ट करते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

१-मार्गे प्रयाते मणिलाभवन्मे लभेत मोक्षो यदि तर्हि धन्यः।

२-चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ (मानस, अयोध्या० १२७। ३)

यथा	= जिस प्रकार (तुमने)	**अहम्**	= (चतुर्भुजरूपवाला) मैं	**दानेन**	= दानसे
माम्	= मुझे	**न**	= न तो	**च**	= और
दृष्टवान्	= देखा	**वेदैः**	= वेदोंसे,	**न**	= न
असि	= है,	**न**	= न	**इज्यया**	= यज्ञसे ही
एवंविधः	= इस प्रकारका	**तपसा**	= तपसे,	**द्रष्टुम्**	= देखा
		न	= न	**शक्यः**	= जा सकता हूँ।

व्याख्या—**'दृष्टवानसि मां यथा'**—तुमने मेरा चतुर्भुजरूप मेरी कृपासे ही देखा है। तात्पर्य है कि मेरे दर्शन मेरी कृपासे ही हो सकते हैं, किसी योग्यतासे नहीं।

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया शक्य एवंविधो द्रष्टुम्'—यह एक सिद्धान्तकी बात है कि जो चीज किसी मूल्यसे खरीदी जाती है, वह चीज उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है। जैसे, कोई दूकानदार एक घड़ी सौ रुपयेमें बेचता है, तो उसने वह घड़ी कम मूल्यमें ली है, तभी तो वह सौ रुपयेमें देता है। इसी तरह अनेक वेदोंका अध्ययन करनेपर, बहुत बड़ी तपस्या करनेपर, बहुत बड़ा दान देनेपर तथा बहुत बड़ा यज्ञ-अनुष्ठान करनेपर भगवान् मिल जायँगे—ऐसी बात नहीं है। कितनी ही महान् क्रिया क्यों न हो, कितनी ही योग्यता सम्पन्न क्यों न की जाय, उसके द्वारा भगवान् खरीदे नहीं जा सकते। वे सब-के-सब मिलकर भी भगवत्प्राप्तिका मूल्य नहीं हो सकते। उनके द्वारा भगवान्पर अधिकार नहीं जमाया जा सकता। अर्जुनने इसी अध्यायके तैंतालीसवें श्लोकमें साफ कहा है कि त्रिलोकीमें आपके समान भी कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक हो ही कैसे सकता है? तात्पर्य है कि आपसे अधिक हुए बिना आपपर अधिकार नहीं किया जा सकता।

सांसारिक चीजोंमें तो अधिक योग्यतावाला कम योग्यतावालेपर आधिपत्य कर सकता है, अधिक बुद्धिमान् कम बुद्धिवालोंपर अपना रोब जमा सकता है, अधिक धनवान् निर्धनोंपर अपनी अधिकता प्रकट कर सकता है; परन्तु भगवान् किसी बल, बुद्धि, योग्यता, व्यक्ति, वस्तु आदिसे खरीदे नहीं जा सकते। कारण कि जिस भगवान्के संकल्पमात्रसे तत्काल अनन्त ब्रह्माण्डोंकी रचना हो जाती है, उसे एक ब्रह्माण्डके भी किसी अंशमें रहनेवाले किसी वस्तु, व्यक्ति आदिसे कैसे खरीदा जा सकता है? तात्पर्य यह है कि भगवान्की प्राप्ति केवल भगवान्की कृपासे ही होती है। वह कृपा तब प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य, समय, समझ, सामग्री आदिको भगवान्के सर्वथा अर्पण करके अपनेमें सर्वथा निर्बलता, अयोग्यताका अनुभव करता है अर्थात् अपने बल, योग्यता आदिका किंचिन्मात्र भी अभिमान नहीं करता। इस प्रकार जब वह सर्वथा निर्बल होकर अपने-आपको भगवान्के सर्वथा समर्पित करके अनन्यभावसे भगवान्को पुकारता है, तब भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं। कारण कि जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें प्राकृत वस्तु, योग्यता, बल, बुद्धि आदिका महत्त्व और सहारा रहता है, तबतक भगवान् अत्यन्त नजदीक होनेपर भी दूर दीखते हैं।

इस श्लोकमें जो दुर्लभता बतायी गयी है, वह चतुर्भुजरूपके लिये ही बतायी गयी है, विश्वरूपके लिये नहीं। अगर इसको विश्वरूपके लिये ही मान लिया जाय तो पुनरुक्ति-दोष आ जायगा; क्योंकि पहले अड़तालीसवें श्लोकमें विश्वरूपकी दुर्लभता बतायी जा चुकी है। दूसरी बात, आगेके श्लोकमें भगवान्ने अनन्यभक्तिसे अपनेको देखा जाना शक्य बताया है। विश्वरूपमें अनन्यभक्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि अर्जुन-जैसे शूरवीर पुरुष भगवान्से दिव्यदृष्टि प्राप्त करके भी विश्वरूपको देखकर भयभीत हो गये, तो उस रूपमें अनन्यभक्ति, अनन्यप्रेम, आकर्षण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—जब कोई किसी साधनसे, किसी योग्यतासे, किसी सामग्रीसे आपको प्राप्त नहीं कर सकता, तो फिर आप कैसे प्राप्त किये जाते हैं—इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ ५४॥

तु	= परन्तु	**अनन्यया,**		**द्रष्टुम्**	= (साकाररूपसे) देखनेमें
परन्तप	= हे शत्रुतापन	**भक्त्या**	= (केवल) अनन्य-भक्तिसे ही	**च**	= तथा
अर्जुन	= अर्जुन!	**तत्त्वेन**	= तत्त्वसे	**प्रवेष्टुम्**	= प्रवेश (प्राप्त) करनेमें
एवंविधः	= इस प्रकार	**ज्ञातुम्**	= जाननेमें	**शक्यः**	= शक्य हूँ।
अहम्	= (चतुर्भुजरूप-वाला) मैं	**च**	= और		

व्याख्या—**'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं-विधोऽर्जुन'**—यहाँ **'तु'** पद पहले बताये हुए साधनोंसे विलक्षण साधन बतानेके लिये आया है। भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! तुमने मेरा जैसा शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूप देखा है, वैसा रूपवाला मैं यज्ञ, दान, तप आदिके द्वारा नहीं देखा जा सकता, प्रत्युत अनन्यभक्तिके द्वारा ही देखा जा सकता हूँ।

अनन्यभक्तिका अर्थ है—केवल भगवान्‌का ही आश्रय हो, सहारा हो, आशा हो, विश्वास हो*। भगवान्‌के सिवाय किसी योग्यता, बल, बुद्धि आदिका किंचिन्मात्र भी सहारा न हो। इनका अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी महत्त्व न हो। यह अनन्यभक्ति स्वयंसे ही होती है, मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिके द्वारा नहीं। तात्पर्य है कि केवल स्वयंकी व्याकुलतापूर्वक उत्कण्ठा हो, भगवान्‌के दर्शन बिना एक क्षण भी चैन न पड़े। ऐसी जो भीतरमें स्वयंकी बेचैनी है, वही भगवत्प्राप्तिमें खास कारण है। इस बेचैनीमें, व्याकुलतामें अनन्त जन्मोंके अनन्त पाप भस्म हो जाते हैं। ऐसी अनन्यभक्तिवालोंके लिये ही भगवान्‌ने कहा है—'जो अनन्यचित्तवाला भक्त नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करता है, उसके लिये मैं सुलभ हूँ' (गीता—आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); और 'जो अनन्यभक्त मेरा चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

अनन्यभक्तिका दूसरा तात्पर्य यह है कि अपनेमें भजन-स्मरण करनेका, साधन करनेका, उत्कण्ठापूर्वक पुकारनेका जो कुछ सहारा है, वह सहारा किंचिन्मात्र भी न हो। फिर साधन किसलिये करना है? केवल अपना अभिमान मिटानेके लिये अर्थात् अपनेमें जो साधन करनेके बलका भान होता है, कि साधनके बलपर मैं अपना उद्धार कर लूँगा, उसको मिटानेके लिये ही साधन करना है। तात्पर्य है कि भगवान्‌की प्राप्ति साधन करनेसे नहीं होती, प्रत्युत साधनका अभिमान गलनेसे होती है। साधनका अभिमान गल जानेसे साधकपर भगवान्‌की शुद्ध कृपा असर करती है अर्थात् उस कृपाके आनेमें कोई आड़ नहीं रहती और (उस कृपासे) भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुम्'—ऐसी अनन्यभक्तिसे ही मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, अनन्यभक्तिसे ही मैं देखा जा सकता हूँ और अनन्यभक्तिसे ही मैं प्राप्त किया जा सकता हूँ।

ज्ञानके द्वारा भी भगवान् तत्त्वसे जाने जा सकते हैं और प्राप्त किये जा सकते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका पचपनवाँ श्लोक), पर दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं।

'ज्ञातुम्' कहनेका तात्पर्य है कि मैं जैसा हूँ, वैसा-का-वैसा जाननेमें आ जाता हूँ। जाननेमें आनेका यह अर्थ नहीं है कि मैं उसकी बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता हूँ, प्रत्युत उसकी जाननेकी शक्ति मेरेसे परिपूर्ण हो जाती है। तात्पर्य है कि वह मेरेको **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९) और **'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)— इस तरह वास्तविक तत्त्वसे जान लेता है।

'द्रष्टुम्' कहनेका तात्पर्य है कि वह सगुणरूपसे अर्थात् विष्णु, राम, कृष्ण आदि जिस किसी भी रूपसे देखना चाहे, मेरेको देख सकता है।

'प्रवेष्टुम्' कहनेका तात्पर्य है कि वह भगवान्‌के साथ अपने-आपकी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है अथवा उसका भगवान्‌की नित्यलीलामें प्रवेश हो जाता है। नित्यलीलामें प्रवेश होनेमें भक्तकी इच्छा और भगवान्‌की मरजी ही मुख्य होती है। यद्यपि भगवान्‌के सर्वथा शरण

*** (१) एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥ (दोहावली २७७)**
(२) एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥ (मानस ३। १०। ४)

होनेपर भक्तकी सब इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तथापि भगवान्‌की यह एक विलक्षणता है कि भक्तकी लीलामें प्रवेश होनेकी जो इच्छा रही है, उसको वे पूरी कर देते हैं। केवल पारमार्थिक इच्छाको ही पूरी करते हों, ऐसी बात नहीं; किन्तु भक्तकी पहले जो सांसारिक यत्किंचित् इच्छा रही हो, उसको भी भगवान् पूरी कर देते हैं। जैसे भगवद्दर्शनसे पूर्वकी इच्छाके अनुसार ध्रुवजीको छत्तीस हजार वर्षका राज्य मिला और विभीषणको एक कल्पका। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् भक्तकी इच्छाको पूरी कर देते हैं और फिर अपनी मरजीके अनुसार उसे वास्तविक पूर्णताकी प्राप्ति करा देते हैं, जिससे भक्तके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

विशेष बात

भक्तकी खुदकी जो उत्कट अभिलाषा है, उस अभिलाषामें ऐसी ताकत है कि वह भगवान्‌में भी भक्तसे मिलनेकी उत्कण्ठा पैदा कर देती है। भगवान्‌की इस उत्कण्ठामें बाधा देनेकी किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। अनन्त सामर्थ्यशाली भगवान्‌की जब भक्तकी तरफ कृपा उमड़ती है, तब वह कृपा भक्तके सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर करके, भक्तकी योग्यता-अयोग्यताको किंचिन्मात्र भी न देखती हुई भगवान्‌को भी परवश कर देती है, जिससे भगवान् भक्तके सामने तत्काल प्रकट हो जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—जहाँ भगवान्‌ने ज्ञानकी परानिष्ठा बतायी है, वहाँ ज्ञानसे केवल जानना और प्रवेश करना—ये दो ही बताये हैं—'**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्**' (गीता १८।५५) परन्तु यहाँ भक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—ये तीनों बताये हैं। भक्तिसे भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं—यह भक्तिकी विशेषता है, जबकि ज्ञानकी परानिष्ठा होनेपर भी भगवान्‌के दर्शन नहीं होते। अतः भक्तिकी विशेष महिमा है। भक्तिमें समग्रकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मकी प्राप्तिमें जानना और प्रवेश करना—ये दो बातें हो सकती हैं, पर समग्रकी प्राप्तिमें जानना, प्रवेश करना और देखना—ये तीनों बातें होती हैं। कारण कि एकदेशीयमें एकदेशीयता होती है और समग्रमें समग्रता होती है।

सम्बन्ध—अब भगवान् अनन्यभक्तिके साधनोंका वर्णन करते हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

पाण्डव	= हे पाण्डव!
यः	= जो
मत्कर्मकृत्	= मेरे लिये ही कर्म करनेवाला,
मत्परमः	= मेरे ही परायण (और)
मद्भक्तः	= मेरा ही प्रेमी भक्त है (तथा)
सङ्गवर्जितः	= सर्वथा आसक्ति-रहित (और)
सर्वभूतेषु	= प्राणिमात्रके साथ
निर्वैरः	= वैरभावसे रहित है,
सः	= वह भक्त
माम्	= मुझे
एति	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—[इस श्लोकमें पाँच बातें आयी हैं। इन पाँचोंको 'साधनपंचक' भी कहते हैं। इन पाँचों बातोंके दो विभाग हैं। (१) भगवान्‌के साथ घनिष्ठता और (२) संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद। पहले विभागमें '**मत्कर्मकृत्**', '**मत्परमः**' और '**मद्भक्तः**'—ये तीन बातें हैं; और दूसरे विभागमें '**संगवर्जितः**' और '**निर्वैरः सर्वभूतेषु**'—ये दो बातें हैं।

'**मत्कर्मकृत्**'—जो जप, कीर्तन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि भगवत्सम्बन्धी कर्मोंको और वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार प्राप्त लौकिक कर्मोंको केवल मेरे लिये ही अर्थात् मेरी प्रसन्नताके लिये ही करता है, वह '**मत्कर्मकृत्**' है।

वास्तवमें देखा जाय तो कर्मके पारमार्थिक और लौकिक—ये दो बाह्यरूप होते हैं, पर भीतरमें 'सब कर्म केवल भगवान्‌के लिये ही करने हैं'—ऐसा एक ही भाव रहता है, एक ही उद्देश्य रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि भक्त शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो कुछ भी कर्म करता है, वह सब भगवान्‌के लिये ही करता है। कारण कि उसके पास शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, योग्यता, करनेकी सामर्थ्य, समझ आदि जो कुछ है, वह सब-की-सब भगवान्‌की ही

दी हुई है और भगवान्‌की ही है, तथा वह स्वयं भी भगवान्‌का ही है। वह तो केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे निमित्तमात्र बनकर कार्य करता है। यही उसका '**मत्कर्मकृत्**' होना है।

'**मत्परमः**'—जो मेरेको ही परमोत्कृष्ट समझकर केवल मेरे ही परायण रहता है अर्थात् जिसका परम प्रापणीय, परम ध्येय, परम आश्रय केवल मैं ही हूँ, ऐसा भक्त '**मत्परमः**' है।

'**मद्भक्तः**'—जो केवल मेरा ही भक्त है अर्थात् जिसने मेरे साथ अटल सम्बन्ध जोड़ लिया है कि 'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं, तथा मैं अन्य किसीका भी नहीं हूँ और अन्य कोई भी मेरा नहीं है।' ऐसा होनेसे भगवान्‌में अतिशय प्रेम हो जाता है; क्योंकि जो अपना होता है, वह स्वतः प्रिय लगता है। प्रेमकी जागृतिमें अपनापन ही मुख्य है।

वह भक्त सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंमें और अपने-आपमें सदा-सर्वदा प्रभुको ही परिपूर्ण देखता है। इस दृष्टिसे प्रभु सब देशमें होनेसे यहाँ भी हैं, सब कालमें होनेसे अभी भी हैं, सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंमें होनेसे मेरेमें भी हैं और सबके होनेसे मेरे भी हैं—ऐसा भाव रखनेवाला ही '**मद्भक्तः**' है।

'**संगवर्जितः निर्वैरः सर्वभूतेषु यः**'—केवल भगवान्‌के लिये ही कर्म करनेसे, केवल भगवान्‌के ही परायण रहनेसे और केवल भगवान्‌का ही भक्त बननेसे क्या होता है? इसका उपर्युक्त पदोंसे वर्णन करते हैं कि वह '**संगवर्जितः**' हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें आसक्ति, ममता और कामना नहीं रहती। आसक्ति, ममता और कामनासे ही संसारके साथ सम्बन्ध होता है। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होते ही आसक्ति आदिका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

दूसरी बात, जब भक्तको 'मैं भगवान्‌का ही अंश हूँ'—इस वास्तविकताका अनुभव हो जाता है, तब उसका भगवान्‌में प्रेम जाग्रत् हो जाता है। प्रेम जाग्रत् होनेपर रागका अत्यन्त अभाव हो जाता है। रागका अत्यन्त अभाव होनेसे और सर्वत्र भगवद्भाव होनेसे उसके शरीरके साथ कोई कितना ही दुर्व्यवहार करे, उसको मारे-पीटे, उसका अनिष्ट करे, तो भी उसके हृदयमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति किंचिन्मात्र भी वैरभाव उत्पन्न नहीं होता। वह उसमें भगवान्‌की ही मरजी, कृपा मानता है। ऐसे भक्तको भगवान्‌ने '**निर्वैरः सर्वभूतेषु**' कहा है।

'**संगवर्जितः**' और '**निर्वैरः सर्वभूतेषु**'—इन दोनोंका वर्णन करनेका तात्पर्य 'उसका संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है' यह बतानेमें है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वतःसिद्ध परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

'**स मामेति**'—ऐसा वह मेरा भक्त मेरेको ही प्राप्त हो जाता है। '**स मामेति**' में तत्त्वसे जानना, दर्शन करना और प्राप्त होना—ये तीनों ही बातें आ जाती हैं, जो कि पीछेके (चौवनवें) श्लोकमें बतायी गयी हैं। तात्पर्य है कि जिस उद्देश्यसे मनुष्यजन्म हुआ है, वह उद्देश्य सर्वथा पूर्ण हो जाता है।

विशेष बात

श्रीभगवान्‌ने नवें अध्यायके अन्तमें कहा था—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९। ३४)

ऐसा कहनेपर भी भगवान्‌के मनमें यह बात रह गयी कि मैं अपने रहस्यकी सब बात किस तरहसे, किस रीतिसे समझाऊँ? इसीको समझानेके लिये भगवान्‌ने दसवाँ और ग्यारहवाँ अध्याय कहा है।

जीवने उत्पत्ति-विनाशशील और नित्य परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारका सहारा ले रखा है, जिससे यह अविनाशी और नित्य अपरिवर्तनशील भगवान्‌से विमुख हो रहा है। इस विमुखताको मिटाकर जीवको भगवान्‌के सम्मुख करनेमें ही इन दोनों—दसवें और ग्यारहवें अध्यायका तात्पर्य है।

इस मनुष्यके पास दो शक्तियाँ हैं—चिन्तन करनेकी और देखनेकी। इनमेंसे जो चिन्तन करनेकी शक्ति है, उसको भगवान्‌की विभूतियोंमें लगाना चाहिये। तात्पर्य है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो कुछ विशेषता, महत्ता, विलक्षणता, अलौकिकता दीखे और उसमें मन चला जाय, उस विशेषता आदिको भगवान्‌की ही मानकर वहाँ भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये। इसके लिये भगवान्‌ने दसवाँ अध्याय कहा है।

दूसरी जो देखनेकी शक्ति है, उसको भगवान्‌में लगाना चाहिये। तात्पर्य है कि जैसे भगवान्‌के दिव्य अविनाशी विराट्‌रूपमें अनेक रूप हैं, अनेक आकृतियाँ हैं, अनेक

तरहके दृश्य हैं, ऐसे ही यह संसार भी उस विराट्‌रूपका ही एक अंग है और इसमें अनेक नाम, रूप, आकृति आदिके रूपमें परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं। इस दृष्टिसे सबको परमात्मस्वरूप देखे। इसके लिये भगवान्‌ने ग्यारहवाँ अध्याय कहा है।

अर्जुनने भी इन दोनों दृष्टियोंके लिये दो बार प्रार्थना की है। दसवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा कि 'हे भगवन्! मैं किन-किन भावोंमें आपका चिन्तन करूँ?' तो भगवान्‌ने चिन्तनशक्तिको लगानेके लिये अपनी विभूतियोंका वर्णन किया। ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने कहा कि 'मैं आपके रूपको देखना चाहता हूँ' तो भगवान्‌ने अपना विश्वरूप दिखाया और उसको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये।

तात्पर्य यह हुआ कि साधकको अपनी चिन्तन और दर्शन-शक्तिको भगवान्‌के सिवाय दूसरी किसी भी जगह खर्च नहीं करनी चाहिये अर्थात् साधक चिन्तन करे तो परमात्माका ही चिन्तन करे और जिस किसीको देखे तो उसको परमात्मस्वरूप ही देखे।

परिशिष्ट भाव—जिस भक्तिसे भगवान् चतुर्भुजरूपसे देखे जा सकते हैं, उस भक्तिका स्वरूप बताते हैं कि मनुष्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके सर्वथा मेरे परायण हो जाय। '**मत्कर्मकृत्**'—यह स्थूलशरीरसे भगवान्‌के परायण होना है, '**मत्परमः**'—यह सूक्ष्म तथा कारणशरीरसे भगवान्‌के परायण होना है, और '**मद्भक्तः**'— यह स्वयंसे भगवान्‌के परायण होना है; क्योंकि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वयंकी स्वीकृति है।

'**स मामेति**' पदोंसे समग्रकी प्राप्ति बतायी गयी है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ११ ॥

अर्जुनने भगवान्‌से दिव्यदृष्टि प्राप्त करके भगवान्‌के जिस विश्वरूपके दर्शन किये थे, उसके वर्णनको पढ़-सुनकर भगवान्‌के प्रभावको मान लेनेसे भगवान्‌के साथ योग-(सम्बन्ध-) का अनुभव हो जाता है। अतः ग्यारहवें अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' है।

ग्यारहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथैकादशोऽध्यायः**' के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके बाईस, श्लोकोंके आठ सौ इक्यावन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग आठ सौ नवासी है।

(२) '**अथैकादशोऽध्यायः**' के सात, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके सत्तर, श्लोकोंके दो हजार एक सौ तिरानबे और पुष्पिकाके पचास अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग दो हजार तीन सौ बीस है। इस अध्यायके पचपन श्लोकोंमेंसे पहला श्लोक तैंतीस अक्षरोंका और पंद्रहवेंसे पचासवें श्लोकतकके छत्तीस श्लोक चौवालीस अक्षरोंके हैं। शेष अठारह श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें ग्यारह '**उवाच**' हैं—चार '**अर्जुन उवाच**', चार '**श्रीभगवानुवाच**' और तीन '**संजय उवाच**'।

ग्यारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायमें पचपन श्लोक हैं। उनमें उन्नीस श्लोक '**अनुष्टुप्**' छन्दके, तीन श्लोक '**उपेन्द्रवज्रा**' छन्दके और तैंतीस श्लोक '**उपजाति**' छन्दके हैं।

'**अनुष्टुप्**' छन्दवाले उन्नीस श्लोकोंमेंसे—पहले और पचपनवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; ग्यारहवें और तिरपनवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; और दसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' तथा तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**संकीर्ण-विपुला**' छन्दवाले श्लोक हैं। शेष चौदह (दूसरेसे नवेंतक, बारहवेंसे चौदहवेंतक, इक्यावनवाँ, बावनवाँ और चौवनवाँ) श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

शेष छत्तीस श्लोकोंमेंसे—अट्ठाईसवाँ, उनतीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक '**उपेन्द्रवज्रा**' तथा शेष तैंतीस (पन्द्रहवेंसे सत्ताईसवेंतक, तीसवेंसे चौवालीसवेंतक और छियालीसवेंसे पचासवेंतक) श्लोक ठीक '**उपजाति**' छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्‌ने चौथे अध्यायके तैंतीसवें और चौंतीसवें श्लोकमें ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता बताते हुए ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रेरणा की। फिर ज्ञानकी महिमाका वर्णन किया। उसके बाद पाँचवें अध्यायके सोलहवें, सत्रहवें एवं चौबीसवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायके चौबीसवेंसे अट्‌ठाईसवें श्लोकतक और आठवें अध्यायके ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक निर्गुण-निराकारकी उपासनाका महत्त्व बताया।

छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें साधक भक्तकी महिमा बतायी और सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक जगह-जगह **'अहम्,' 'माम्'** *आदि पदोंद्वारा विशेषरूपसे सगुण-साकार एवं सगुण-निराकारकी उपासनाका महत्त्व बताया तथा अन्तमें ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें-पचपनवें श्लोकोंमें अनन्य भक्तिकी महिमा एवं फलसहित उसके स्वरूपका वर्णन किया*।*

उपर्युक्त वर्णनसे अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि सगुण भगवान्‌की उपासना करनेवाले और निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले—दोनोंमेंसे कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं। इसी जिज्ञासाको लेकर अर्जुन प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

---

* इस अध्यायसे पहले साकार भगवान्‌के उपासकोंका वर्णन जिन श्लोकोंमें जिन पदोंके द्वारा हुआ है, उनका परिचय इस प्रकार है—

अध्याय	श्लोक	पद	अर्थ
६	४७	'मद्‌गतेनान्तरात्मना''''श्रद्धावान्भजते यो माम्'	(जो श्रद्धावान् भक्त मेरेमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है)।
७	१	'मय्यासक्तमनाः'''' योगं युंजन्मदाश्रयः'	(मुझमें अनन्य प्रेमसे आसक्त मनवाला और मेरे आश्रित होकर भक्तियोगमें लगा हुआ)।
७	२९-३०	'मामाश्रित्य यतन्ति', 'युक्तचेतसः'	('युक्त चित्तवाले पुरुष मेरे शरण होकर साधन करते हैं)।
८	७	'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'	(मेरेमें अर्पित किये हुए मन-बुद्धिवाला)।
८	१४	'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः'	(मेरेमें अनन्यचित्त होकर जो नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है)।
९	१४	'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः'	(दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं)।
९	२२	'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते'	(अनन्यभावसे जो भक्तजन मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं)।
९	३०	'भजते मामनन्यभाक्'	(अनन्यभावसे मेरा भजन करता है)।
१०	९	'मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्'	(मेरेमें मन लगाये रखनेवाले और मेरेमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए)।
११	५५	'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः'	(मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करनेवाला, मेरे परायण और मेरा भक्त है)।

अर्जुन बोले—

ये	=जो	**त्वाम्**	=आप (सगुण-साकार)-की	**अव्यक्तम्**	=निर्गुण-निराकारकी
भक्ताः	=भक्त	**पर्युपासते**	=उपासना करते हैं	**अपि**	=ही (उपासना करते हैं),
एवम्	=इस प्रकार (ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकके अनुसार)	**च**	=और	**तेषाम्**	=उन दोनोंमेंसे
सततयुक्ताः	= निरन्तर आपमें लगे रहकर	**ये**	=जो	**योगवित्तमाः**	=उत्तम योगवेत्ता
		अक्षरम्	=अविनाशी	**के**	=कौन हैं ?

व्याख्या—'**एवं सततयुक्ता ये भक्ताः**'—ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने '**यः**' और '**सः**' पद जिस साधकके लिये प्रयुक्त किये हैं, उसी साधकके लिये अर्थात् सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले सब साधकोंके लिये यहाँ '**ये भक्ताः**' पद आये हैं।

यहाँ '**एवम्**' पदसे ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकका निर्देश किया गया है।

'मैं भगवान्‌का ही हूँ',—इस प्रकार भगवान्‌का होकर रहना ही 'सततयुक्त' होना है।

भगवान्‌में पूर्ण श्रद्धा रखनेवाले साधक भक्तोंका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति होता है। अतः प्रत्येक (पारमार्थिक—भगवत्सम्बन्धी जप-ध्यानादि अथवा व्यावहारिक— शारीरिक और आजीविका-सम्बन्धी) क्रियामें उनका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर भगवान्‌से बना रहता है। '**सततयुक्ताः**' पद ऐसे ही साधक भक्तोंका वाचक है।

साधकसे यह एक बहुत बड़ी भूल होती है कि वह पारमार्थिक क्रियाओंको करते समय तो अपना सम्बन्ध भगवान्‌से मानता है, पर व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय वह अपना सम्बन्ध संसारसे मानता है। इस भूलका कारण है—समय-समयपर साधकके उद्देश्यमें होनेवाली भिन्नता। जबतक बुद्धिमें धन-प्राप्ति, मान-प्राप्ति, कुटुम्ब-पालन आदि भिन्न-भिन्न उद्देश्य बने रहते हैं, तबतक साधकका सम्बन्ध निरन्तर भगवान्‌के साथ नहीं रहता। अगर वह अपने जीवनके एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको ठीक-ठीक पहचान ले, तो उसकी प्रत्येक क्रिया भगवत्प्राप्तिका साधन हो जायगी। भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य हो जानेपर भगवान्‌का जप-स्मरण-ध्यानादि करते समय तो उसका सम्बन्ध भगवान्‌से है ही; किन्तु व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय भी उसको नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगा हुआ ही समझना चाहिये।

अगर क्रियाके आरम्भ और अन्तमें साधकको भगवत्स्मृति है, तो क्रिया करते समय भी उसकी निरन्तर सम्बन्धात्मक भगवत्स्मृति रहती है—ऐसा मानना चाहिये। जैसे, बहीखातेमें जोड़ लगाते समय व्यापारीकी वृत्ति इतनी

इस अध्यायसे पहले निराकार उपासकोंका वर्णन जिन श्लोकोंमें जिन पदोंके द्वारा हुआ है, उनका परिचय इस प्रकार है—

अध्याय	श्लोक	पद	अर्थ
४	३४	'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'	(उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे)।
४	३९	'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'	(श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है)।
५	८	'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'	(तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ)।
५	१३	'नैव कुर्वन्न कारयन्'	(कर्मोंको न करता हुआ, न करवाता हुआ)।
५	२४—२६	'ब्रह्मनिर्वाणम्'	(निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है)।
६	२५	'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा'	(मनको परमात्मामें स्थित करके)।
८	११	'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति'	(वेदोंके ज्ञाता पुरुष जिस परमपदको 'अक्षर' कहते हैं)।
८	१३	'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्'	(ॐ—इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण और मुझ निर्गुण ब्रह्मका स्मरण करता हुआ)।
९	१५	'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते'	(ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं)।

तल्लीन होती है कि मैं कौन हूँ और जोड़ क्यों लगा रहा हूँ—इसका भी ज्ञान नहीं रहता। केवल जोड़के अंकोंकी ओर ही उसका ध्यान रहता है। जोड़ शुरू करनेसे पहले उसके मनमें यह धारणा रहती है कि 'मैं अमुक व्यापारी हूँ तथा अमुक कार्यके लिये जोड़ लगा रहा हूँ' और जोड़ लगाना समाप्त करते ही पुनः उसमें उसी भावकी स्फुरणा हो जाती है कि 'मैं अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा था।' अतः जिस समयमें वह तल्लीनतापूर्वक जोड़ लगा रहा है, उस समय भी 'मैं अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा हूँ'—इस भावकी विस्मृति दीखते हुए भी वस्तुतः 'विस्मृति' नहीं मानी जाती।

इसी प्रकार यदि कर्तव्य-कर्मके आरम्भ और अन्तमें साधकका यह भाव है कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान्‌के लिये ही कर्तव्य-कर्म कर रहा हूँ', तथा इस भावमें उसे थोड़ी भी शंका नहीं है, तो जब वह अपने कर्तव्य-कर्ममें तल्लीनतापूर्वक लग जाता है, उस समय उसमें भगवान्‌की विस्मृति दीखते हुए भी वस्तुतः विस्मृति नहीं मानी जाती।

'त्वाम् पर्युपासते'—यहाँ **'त्वाम्'** पदसे उन सभी सगुण-साकार स्वरूपोंको ग्रहण कर लेना चाहिये, जिनको भगवान् भक्तोंके इच्छानुसार समय-समयपर धारण किया करते हैं और जो स्वरूप भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें धारण किये हैं तथा भगवान्‌का जो स्वरूप दिव्यधाममें विराजमान है—जिसको भक्तलोग अपनी मान्यताके अनुसार अनेक रूपों और नामोंसे कहते हैं।

'पर्युपासते'—पदका अर्थ है—**'परितः उपासते'** अर्थात् अच्छी तरह उपासना करते हैं। जैसे पतिव्रता स्त्री कभी पतिकी सेवामें अपने शरीरको अर्पण करके, कभी पतिकी अनुपस्थितिमें पतिका चिन्तन करके, कभी पतिके सम्बन्धसे सास-ससुर आदिकी सेवा करके और कभी पतिके लिये रसोई बनाना आदि घरके कार्य करके सदा-सर्वदा पतिकी ही उपासना करती है, ऐसे ही साधक भक्त भी कभी भगवान्‌में तल्लीन होकर, कभी भगवान्‌का जप-स्मरण-चिन्तन करके, कभी सांसारिक प्राणियोंको भगवान्‌का ही मानकर उनकी सेवा करके और कभी भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार सांसारिक कर्मोंको करके सदा-सर्वदा भगवान्‌की उपासनामें ही लगा रहता है। ऐसी उपासना ही अच्छी तरह की गयी उपासना है। ऐसे उपासकके हृदयमें उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थों और क्रियाओंका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं होता।

'ये चाप्यक्षरमव्यक्तम्'—यहाँ **'ये'** पद निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवाले साधकोंका वाचक है। अर्जुनने श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिस श्रेणीके सगुण-साकारके उपासकोंके लिये **'ये'** पदका प्रयोग किया है, उसी श्रेणीके निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये यहाँ **'ये'** पदका प्रयोग किया गया है।

'अक्षरम्' पद अविनाशी सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका वाचक है (इसकी व्याख्या इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें की जायगी)।

जो किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। यहाँ **'अव्यक्तम्'** पदके साथ **'अक्षरम्'** विशेषण दिया गया है। अतः यह पद निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है (इसकी व्याख्या इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें की जायगी)।

'अपि' पदसे ऐसा भाव प्रतीत होता है कि यहाँ साकार उपासकोंकी तुलना उन्हीं निराकार उपासकोंसे की गयी है, जो केवल निराकार ब्रह्मको श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं।

'तेषां के योगवित्तमाः'—यहाँ **'तेषाम्'** पद सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके उपासकोंके लिये आया है। इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें **'तेषाम्'** पद निर्गुण उपासकोंके लिये आया है, जबकि सातवें श्लोकमें **'तेषाम्'** पद सगुण उपासकोंके लिये आया है।

इन पदोंसे अर्जुनका अभिप्राय यह है कि इन दो प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं।

'साकार और निराकारके उपासकोंमें श्रेष्ठ कौन है?'—अर्जुनके इस प्रश्नका भगवान्‌ने जो उत्तर दिया है, उसपर गहरा विचार करनेसे अर्जुनके प्रश्नकी महत्ताका पता चलता है; जैसे—

इस अध्यायके दूसरे श्लोकसे चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक भगवान् अविराम बोलते ही चले गये हैं। तिहत्तर श्लोकोंका इतना लम्बा प्रकरण गीतामें एकमात्र यही है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् इस प्रकरणमें कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात समझाना चाहते हैं। साधकोंको साकार और निराकार स्वरूपमें एकताका बोध हो, उनके हृदयमें इन दोनों स्वरूपोंको प्राप्त करानेवाले साधनोंका सांगोपांग रहस्य प्रकट हो, सिद्ध भक्तों (गीता—बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक)

और ज्ञानियों (गीता—चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक)-के आदर्श लक्षणोंसे वे परिचित हों और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदकी विशेष महत्ता उनकी समझमें आ जाय—इन्हीं उद्देश्योंको सिद्ध करनेमें भगवान्‌की विशेष रुचि मालूम देती है। तात्पर्य है कि भगवान्‌के हृदयमें जीवोंके लिये जो परमकल्याणकारी, अत्यन्त गोपनीय और उत्तमोत्तम भाव थे, उनको प्रकट करवानेका श्रेय अर्जुनके इस भगवत्प्रेरित प्रश्नको ही है।

परिशिष्ट भाव—'योगशास्त्र' होनेसे गीतामें 'योग' मुख्य है। अतः असली योगवेत्ता कौन है?—यह अर्जुनका प्रश्न है। योगवेत्ताओंकी तीन श्रेणियाँ हैं—(१) योगवित् अर्थात् योगी (२) योगवित्तर अर्थात् दो योगियोंमें श्रेष्ठ योगी और (३) योगवित्तम अर्थात् सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ योगी। अर्जुनको 'योगवित्' और 'योगवित्तर' के विषयमें सन्देह नहीं है, प्रत्युत 'योगवित्तम' के विषयमें सन्देह है।

सम्बन्ध—अर्जुनके सगुण और निर्गुण उपासकोंकी श्रेष्ठता-विषयक प्रश्नके उत्तरमें भगवान् निर्णय देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—

मयि	= मुझमें	**परया**	= परम	**ते**	= वे
मनः	= मनको	**श्रद्धया**	= श्रद्धासे	**मे**	= मेरे
आवेश्य	= लगाकर	**उपेताः**	= युक्त होकर	**मताः**	= मतमें
नित्ययुक्ताः	= नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए	**माम्**	= मेरी (सगुण-साकारकी)	**युक्ततमाः**	= सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।
ये	= जो भक्त	**उपासते**	= उपासना करते हैं,		

व्याख्या—[भगवान्‌ने ठीक यही निर्णय अर्जुनके बिना पूछे ही छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें दे दिया था। परन्तु उस विषयमें अपना प्रश्न न होनेके कारण अर्जुन उस निर्णयको पकड़ नहीं पाये। कारण कि स्वयंका प्रश्न न होनेसे सुनी हुई बात भी प्रायः लक्ष्यमें नहीं आती। इसलिये उन्होंने इस अध्यायके पहले श्लोकमें ऐसा प्रश्न किया।

इसी प्रकार अपने मनमें किसी विषयको जाननेकी पूर्ण अभिलाषा और उत्कण्ठाके अभावमें तथा अपना प्रश्न न होनेके कारण सत्संगमें सुनी हुई और शास्त्रोंमें पढ़ी हुई साधन-सम्बन्धी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण बातें प्रायः साधकोंके लक्ष्यमें नहीं आतीं। अगर वही बात उनके प्रश्न करनेपर समझायी जाती है, तो वे उसको अपने लिये विशेषरूपसे कही गयी मानकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। प्रायः वे सुनी और पढ़ी हुई बातोंको अपने लिये न समझकर उनकी उपेक्षा कर देते हैं, जबकि उनमें उस बातके संस्कार सामान्यरूपसे रहते ही हैं, जो विशेष उत्कण्ठा होनेसे जाग्रत् भी हो सकते हैं। अतः साधकोंको चाहिये कि वे जो पढ़ें और सुनें, उसको अपने लिये ही मानकर जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करें।]

'**मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते**'—मन वहीं लगता है, जहाँ प्रेम होता है। जिसमें प्रेम होता है, उसका चिन्तन स्वतः होता है।

'**नित्ययुक्ताः**' का तात्पर्य है कि साधक स्वयं भगवान्‌में लग जाय। 'भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्‌का ही हूँ'—यही स्वयंका भगवान्‌में लगना है। स्वयंका दृढ़ उद्देश्य भगवत्प्राप्ति होनेपर ही मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌में लगते हैं। इसके विपरीत स्वयंका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति न हो तो मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका यत्न करनेपर भी वे पूरी तरह भगवान्‌में नहीं लगते। परन्तु जब स्वयं ही अपने-आपको भगवान्‌का मान ले, तब तो मन-बुद्धि भगवान्‌में तल्लीन हो ही जाते हैं। स्वयं कर्ता है और मन-बुद्धि करण हैं। करण कर्ताके ही आश्रित रहते हैं। जब कर्ता भगवान्‌का हो जाय, तब मन-बुद्धिरूप करण स्वतः भगवान्‌में लगते हैं।

साधकसे भूल यह होती है कि वह स्वयं भगवान्‌में न लगकर अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका अभ्यास करता है। स्वयं भगवान्‌में लगे बिना मन-बुद्धिको भगवान्‌में

लगाना कठिन है। इसीलिये साधकोंकी यह व्यापक शिकायत रहती है कि मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लगते। मन-बुद्धि एकाग्र होनेसे सिद्धि (समाधि आदि) तो हो सकती है, पर कल्याण स्वयंके भगवान्‌में लगनेसे ही होगा।

उपासनाका तात्पर्य है—स्वयं-(अपने-आप-) को भगवान्‌के अर्पित करना कि मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं। स्वयंको भगवान्‌के अर्पित करनेसे नाम-जप, चिन्तन, ध्यान, सेवा, पूजा आदि तथा शास्त्रविहित क्रियामात्र स्वतः भगवान्‌के लिये ही होती है।

शरीर प्रकृतिका और जीव परमात्माका अंश है। प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्‌से तादात्म्य, ममता और कामना न करके केवल भगवान्‌को ही अपना माननेवाला यह कह सकता है कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। ऐसा कहने या माननेवाला भगवान्‌से कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ता। चेतन और नित्य होनेके कारण जीवका भगवान्‌से सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। किन्तु उस नित्यसिद्ध वास्तविक सम्बन्धको भूलकर जीवने अपना सम्बन्ध प्रकृति एवं उसके कार्य शरीरसे मान लिया, जो अवास्तविक है। अतः जबतक प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है, तभीतक भगवान्‌से अपना सम्बन्ध माननेकी आवश्यकता है। प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध टूटते ही भगवान्‌से अपना वास्तविक और नित्यसिद्ध सम्बन्ध प्रकट हो जाता है; उसकी स्मृति प्राप्त हो जाती है—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८। ७३)।

जडता-(प्रकृति-) के सम्मुख होनेके कारण अर्थात् उससे सुखभोग करते रहनेके कारण जीव शरीरसे 'मैं' पनका सम्बन्ध जोड़ लेता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है। इस प्रकार शरीरसे माने हुए सम्बन्धके कारण वह वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय तथा बालकपन, जवानी आदि अवस्थाओंको बिना याद किये भी (स्वाभाविक रूपसे) अपनी ही मानता रहता है अर्थात् अपनेको उनसे अलग नहीं मानता।

जीवकी विजातीय शरीर और संसारके साथ (भूलसे की हुई) सम्बन्धकी मान्यता भी इतनी दृढ़ रहती है कि बिना याद किये सदा याद रहती है। अगर वह अपने सजातीय (चेतन और नित्य) परमात्माके साथ अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचान ले, तो किसी भी अवस्थामें परमात्माको नहीं भूल सकता। फिर उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हर समय प्रत्येक अवस्थामें भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन स्वतः होने लगता है।

जिस साधकका उद्देश्य सांसारिक भोगोंका संग्रह और उनसे सुख लेना नहीं है, प्रत्युत एकमात्र परमात्माको प्राप्त करना ही है, उसके द्वारा भगवान्‌से अपने सम्बन्धकी पहचान आरम्भ हो गयी—ऐसा मान लेना चाहिये। इस सम्बन्धकी पूर्ण पहचानके बाद साधकमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिके द्वारा सांसारिक भोग और उनका संग्रह करनेकी इच्छा बिलकुल नहीं रहती।

वास्तवमें एकमात्र भगवान्‌का होते हुए जीव जितने अंशमें प्रकृतिसे सुख-भोग प्राप्त करना चाहता है, उतने ही अंशमें उसने इस भगवत्सम्बन्धको दृढ़तापूर्वक नहीं पकड़ा है। उतने अंशमें उसका प्रकृतिके साथ ही सम्बन्ध है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह प्रकृतिसे विमुख होकर अपने-आपको केवल भगवान्‌का ही माने, उन्हींके सम्मुख हो जाय।

'श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः'— साधककी श्रद्धा वहीं होगी, जिसे वह सर्वश्रेष्ठ समझेगा। श्रद्धा होनेपर अर्थात् बुद्धि लगनेपर वह अपने द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्तके अनुसार स्वाभाविक जीवन बनायेगा और अपने सिद्धान्तसे कभी विचलित नहीं होगा।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ मन लगता है और जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ बुद्धि लगती है। प्रेममें प्रेमास्पदके संगकी तथा श्रद्धामें आज्ञापालनकी मुख्यता रहती है।

एकमात्र भगवान्‌में प्रेम होनेसे भक्तको भगवान्‌के साथ नित्य-निरन्तर सम्बन्धका अनुभव होता है, कभी वियोगका अनुभव होता ही नहीं। इसीलिये भगवान्‌के मतमें ऐसे भक्त ही वास्तवमें उत्तम योगवेत्ता हैं।

यहाँ '**ते मे युक्ततमा मताः**' बहुवचनान्त पदसे जो बात कही गयी है, यही बात छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें '**स मे युक्ततमो मतः**' एकवचनान्त पदसे कही जा चुकी है*।

*** ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें भगवान् कह चुके हैं कि अनन्य भक्तिके द्वारा साधक मुझे प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्त्वसे जान सकता है और मुझे प्राप्त हो सकता है; परन्तु अठारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने निर्गुण-उपासकोंके लिये अपनेको तत्त्वसे जानने और प्राप्त करनेकी ही बात कही है, दर्शन देनेकी बात नहीं कही। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण-उपासकोंको भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं। यह उनकी विशेषता है।**

परिशिष्ट भाव—'स योगी परमो मतः' (गीता ६। ३२), **'स मे युक्ततमो मतः'** (गीता ६। ४७), **'ते मे युक्ततमा मताः'** (गीता १२। २)—इस प्रकार भगवान्‌ने जो श्रेष्ठताकी बात कही है, इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे चले, वास्तवमें श्रेष्ठ वही है, जिसको भक्ति प्राप्त हो गयी है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीको तो अन्तमें भक्ति प्राप्त होती है, पर भक्तियोगी आरम्भसे ही भक्तिमें लगा है (जो कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोगका फल है), इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ है।

ज्ञान और भक्ति—दोनों ही संसारका दुःख दूर करनेमें समान हैं; परन्तु दोनोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अधिक है। ज्ञानमें तो अखण्डरसकी प्राप्ति होती है, पर भक्तिमें अनन्तरसकी प्राप्ति होती है। अनन्तरसमें प्रतिक्षण बढ़नेवाला, लहरोंवाला, उछालवाला एक बहुत विलक्षण आनन्द है। जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है कि 'ये रुपये हैं; यह घड़ी है' आदि, तो यह ज्ञान केवल अज्ञान (अनजानपने)-को मिटाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान केवल अज्ञानको मिटाता है। अज्ञान मिटनेसे दुःख, भय, जन्म-मरणरूप बन्धन—ये सब मिट जाते हैं। परन्तु प्रेम (भक्ति) ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञान भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, पर प्रेम भगवान्‌तक पहुँचता है। ज्ञानका अनुभव करनेवाला तो स्वयं होता है, पर प्रेमका अनुभव करनेवाले और ज्ञाता भगवान् होते हैं! भगवान् ज्ञानके भूखे नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे हैं। मुक्त होनेपर तो ज्ञानयोगी सन्तुष्ट, तृप्त हो जाता है (गीता—तीसरे अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। पर प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त सन्तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। अतः आखिरी तत्त्व प्रेम है, मुक्ति नहीं।

जैसे 'ये रुपये हैं'—ऐसा ज्ञान हो गया तो अनजानपना मिट गया; परन्तु उनको पानेका लोभ हो जाय कि 'और मिले, और मिले' तो उसमें एक विशेष रस आता है। ऐसे ही भक्तिमें एक विशेष रस आता है। तात्पर्य है कि संसारमें जैसे रुपयोंमें आकर्षित करनेकी शक्ति लोभमें ही है, ऐसे ही भगवान्‌में आकर्षित करनेकी शक्ति प्रेममें ही है, ज्ञानमें नहीं। धनका लोभ तो अधिक पतन करता है, पर प्रेम ज्ञानसे भी अधिक उन्नत करता है। वस्तुके आकर्षणमें जो रस है, वह रस वस्तुमें और वस्तुके ज्ञानमें नहीं है।

विवेकमार्ग (ज्ञानयोग)-में सत् और असत्—दोनोंकी मान्यता साथ-साथ रहनेसे असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता अर्थात् अति सूक्ष्म अहम् दूरतक साथ रहता है। यह सूक्ष्म अहम् अथवा अहम्‌का संस्कार मुक्त होनेपर भी रहता है। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर यह ईश्वरसे अभिन्न होनेमें बाधक होता है। इसलिये विवेकमार्गमें ज्ञानियोंकी अथवा दार्शनिकोंकी मुक्ति तो हो सकती है, पर ईश्वरके साथ अभिन्नता अर्थात् प्रेम हो जाय—यह नियम नहीं है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद रहता है। परन्तु विश्वासमार्ग (भक्तियोग)-में आरम्भसे ही भक्त एक ईश्वरके सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसलिये वह ईश्वरके साथ अभिन्न हो जाता है। ईश्वरके साथ अभिन्न होनेपर अर्थात् प्रेमका उदय होनेपर सूक्ष्म अहम् तथा उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद सर्वथा मिट जाते हैं[1] अर्थात् द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि जितने भी मतभेद हैं, वे सब वासुदेवरूप हो जाते हैं, जो कि वास्तवमें है। इसलिये **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्तके हृदयमें किसी एक मतका आग्रह नहीं रहता, प्रत्युत सबका समान आदर रहता है। किसी एक मतका आग्रह न होनेसे उसके द्वारा किसीका भी कभी अनादर नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानकी एकतासे प्रेमकी एकता श्रेष्ठ है। ज्ञानमें परमात्मासे दूरी और भेद तो मिट जाते हैं, पर अभिन्नता (मिलन) नहीं होती। परन्तु प्रेममें दूरी, भेद और भिन्नता—तीनों ही मिट जाते हैं। इसलिये वास्तविक अद्वैत प्रेममें ही है। प्रेममें इतनी शक्ति है कि इसमें भक्त भगवान्‌का भी इष्ट हो जाता है। ज्ञानमार्गवाले मुक्तिको सबसे ऊँची चीज मानते हैं, फिर वे मुक्तिसे भी आगेकी चीज प्रेम (प्रेमाभक्ति या पराभक्ति) को कैसे समझें? मुक्तिमें तो अखण्ड रस है, पर प्रेममें अनन्त (प्रतिक्षण वर्धमान) रस है। प्रेम मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी चीज है[2]!

भगवान्‌ने छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें अपने सगुणरूपमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले साधकको सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ बताया है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को अपना मानकर उनके परायण रहनेवाला साधक ही भगवान्‌को विशेष प्रिय है।

१-प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ (मानस, उत्तर० ४९। ३)

२-द्वैतं मोहाय बोधात्प्रागजाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥ (बोधसार, भक्ति० ४२)

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक निष्ठाएँ है; (गीता—तीसरे अध्यायका तीसरा श्लोक) परन्तु भक्तियोग लौकिक निष्ठा अर्थात् प्राणीकी निष्ठा नहीं है। जो भगवान्में लग जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। उसके साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। इसलिये भक्तियोग साधन भी है और साध्य भी, तभी कहा है—'**भक्त्या संजातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१) अर्थात् भक्तिसे भक्ति पैदा होती है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी 'साधन भक्ति' है* और इससे आगे प्रेमलक्षणा भक्ति 'साध्य भक्ति' है, जो कर्मयोग और ज्ञानयोग सबकी साध्य है (गीता—अठारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)। यह साध्य भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

ज्ञानयोगमें साधक सत्-असत्के विवेकको महत्त्व देकर असत्का त्याग करता है। असत्का त्याग करनेसे त्यागीकी और त्याज्य वस्तुकी सत्ता भावरूपसे बहुत दूरतक साथ रहती है, इसलिये ज्ञानयोगमें असत्का सर्वथा त्याग बहुत देरीसे होता है। कर्मयोगमें साधक असत् वस्तुओंको त्याज्य न मानकर सेवा-सामग्री मानता है। त्याग करनेमें निकृष्ट वस्तु तो सुगमतासे छूटती है, पर अच्छी वस्तुको छोड़ना कठिन होता है। अतः अच्छी वस्तुका त्याग करनेकी अपेक्षा उसको दूसरेकी सेवामें लगाना सुगम पड़ता है। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवामें लगानेसे असत्का त्याग सुगमतासे और जल्दी हो जाता है। भक्तियोगमें जगत्को भगवान्का अथवा भगवत्स्वरूप माननेसे जगत् (असत्) बहुत शीघ्र लुप्त हो जाता है और भगवान् रह जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगमें असत् (जड़ता)-का शीघ्र त्याग होता है और कर्मयोगकी अपेक्षा भक्तियोगमें असत्का शीघ्र त्याग होता है; क्योंकि भक्तिमें असत् रहता ही नहीं—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। अतः ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५। २) और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है—'**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।**' (गीता ६। ४७)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने सगुण-उपासकोंको सर्वश्रेष्ठ योगी बताया। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या निर्गुण-उपासक सर्वश्रेष्ठ योगी नहीं हैं? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

तु	= और	**कूटस्थम्**	= निर्विकार,	**सर्वभूतहिते**	= प्राणिमात्रके हितमें
ये	= जो (अपने)	**अचलम्**	= अचल,	**रताः**	= प्रीति रखनेवाले (और)
इन्द्रियग्रामम्	= इन्द्रिय-समूहको	**ध्रुवम्**	= ध्रुव,	**सर्वत्र**	= सब जगह
सन्नियम्य	= भलीभाँति वशमें करके	**अक्षरम्**	= अक्षर	**समबुद्धयः**	= समबुद्धिवाले मनुष्य
अचिन्त्यम्	= चिन्तनमें न आनेवाले,	**च**	= और	**माम्**	= मुझे
सर्वत्रगम्	= सब जगह परिपूर्ण,	**अव्यक्तम्**	= अव्यक्तकी	**एव**	= ही
अनिर्देश्यम्	= देखनेमें न आनेवाले,	**पर्युपासते**	= तत्परतासे उपासना करते हैं,	**प्राप्नुवन्ति**	= प्राप्त होते हैं।
		ते	= वे		

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत-अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

* **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

व्याख्या—**'तु'**—यहाँ **'तु'** पद साकार-उपासकोंसे निराकार-उपासकोंकी भिन्नता दिखानेके लिये आया है।

'सन्नियम्येन्द्रियग्रामम्'—**'सम्'** और **'नि'**—दो उपसर्गोंसे युक्त **'सन्नियम्य'** पद देकर भगवान्‌ने यह बताया है कि सभी इन्द्रियोंको सम्यक् प्रकारसे एवं पूर्णत: वशमें करे, जिससे वे किसी अन्य विषयमें न जायँ। इन्द्रियाँ अच्छी प्रकारसे पूर्णत: वशमें न होनेपर निर्गुण-तत्त्वकी उपासनामें कठिनता होती है। सगुण-उपासनामें तो ध्यानका विषय सगुण भगवान् होनेसे इन्द्रियाँ भगवान्‌में लग सकती हैं; क्योंकि भगवान्‌के सगुण स्वरूपमें इन्द्रियोंको अपने विषय प्राप्त हो जाते हैं। अत: सगुण-उपासनामें इन्द्रिय-संयमकी आवश्यकता होते हुए भी इसकी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण-उपासनामें है। निर्गुण-उपासनामें चिन्तनका कोई आधार न रहनेसे इन्द्रियोंका सम्यक् संयम हुए बिना (आसक्ति रहनेपर) विषयोंमें मन जा सकता है और विषयोंका चिन्तन होनेसे पतन होनेकी अधिक सम्भावना रहती है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। अत: निर्गुणोपासकके लिये सभी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाते हुए सम्यक् प्रकारसे पूर्णत: वशमें करना आवश्यक है। इन्द्रियोंको केवल बाहरसे ही वशमें नहीं करना है, प्रत्युत विषयोंके प्रति साधकके अन्त:करणमें भी राग नहीं रहना चाहिये; क्योंकि जबतक विषयोंमें राग है, तबतक ब्रह्मकी प्राप्ति कठिन है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

गीतामें इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात विशेषरूपसे जितनी निर्गुणोपासना तथा कर्मयोगमें आयी है, उतनी सगुणोपासनामें नहीं।

'अचिन्त्यम्'—मन-बुद्धिका विषय न होनेके कारण **'अचिन्त्यम्'** पद निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है; क्योंकि मन-बुद्धि प्रकृतिका कार्य होनेसे सम्पूर्ण प्रकृतिको भी अपना विषय नहीं बना सकते, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्मा इनका विषय बन ही कैसे सकता है!

प्राकृतिक पदार्थमात्र चिन्त्य है और परमात्मा प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण सम्पूर्ण चिन्त्य पदार्थोंसे भी अतीत, विलक्षण हैं। प्रकृतिकी सहायताके बिना उनका चिन्तन, वर्णन नहीं किया जा सकता। अत: परमात्माको स्वयं-(करण-निरपेक्ष ज्ञान-) से ही जाना जा सकता है; प्रकृतिके कार्य मन-बुद्धि आदि (करण-सापेक्ष ज्ञान)-से नहीं।

'सर्वत्रगम्'—सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण होनेसे ब्रह्म **'सर्वत्रगम्'** है। सर्वव्यापी होनेके कारण वह सीमित मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता।

'अनिर्देश्यम्'—जिसे इदंतासे नहीं बताया जा सकता अर्थात् जो भाषा, वाणी आदिका विषय नहीं है, वह **'अनिर्देश्यम्'** है। निर्देश (संकेत) उसीका किया जा सकता है, जो जाति, गुण, क्रिया एवं सम्बन्धसे युक्त हो और देश, काल, वस्तु एवं व्यक्तिसे परिच्छिन्न हो; परन्तु जो चिन्मय तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण हो, उसका संकेत जड भाषा, वाणीसे कैसे किया जा सकता है?

'कूटस्थम्'—यह पद निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाले सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। सभी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें रहते हुए भी वह तत्त्व सदा निर्विकार और निर्लिप्त रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये वह **'कूटस्थ'** है। कूट-(अहरन-) में तरह-तरहके गहने, अस्त्र, औजार आदि पदार्थ गढ़े जाते हैं, पर वह ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी प्रकार संसारके भिन्न-भिन्न प्राणी-पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होनेपर भी परमात्मा सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

'अचलम्'—यह पद आने-जानेकी क्रियासे सर्वथा रहित ब्रह्मका वाचक है। प्रकृति चल है और ब्रह्म अचल है।

'ध्रुवम्'—जिसकी सत्ता निश्चित (सत्य) और नित्य है, उसको **'ध्रुव'** कहते हैं। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सत्तारूपसे सर्वत्र विद्यमान रहनेसे **'ध्रुवम्'** है।

निर्गुण ब्रह्मके आठों विशेषणोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषण **'ध्रुवम्'** है। ब्रह्मके लिये अनिर्देश्य, अचिन्त्य आदि निषेधात्मक विशेषण देनेसे कोई ऐसा न समझ ले कि वह है ही नहीं, इसलिये यहाँ **'ध्रुवम्'** विशेषण देकर उस तत्त्वकी निश्चित सत्ता बतायी गयी है। उस तत्त्वका कभी कहीं किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं होता। उसकी सत्तासे ही असत्-(संसार-) को सत्ता मिल रही है—**जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥** (मानस १। ११७। ४)।

'अक्षरम्'—जिसका कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता तथा जिसमें कभी कोई कमी नहीं आती, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म **'अक्षरम्'** है।

'अव्यक्तम्'—जो व्यक्त न हो अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय न हो और जिसका कोई रूप या आकार न हो, उसको **'अव्यक्तम्'** कहा गया है।

'पर्युपासते'—यह पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंकी सम्यक् उपासनाका बोधक है। शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थों

और कर्मोंमें वासना तथा अहंभावका अभाव तथा भावरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अभिन्नभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थित रहना ही उपासना करना है।

इन श्लोकोंमें आठ विशेषणोंसे जिस विशेष वस्तु-तत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो विशेष वस्तु समझमें आती है, वह बुद्धिविशिष्ट ब्रह्मका ही स्वरूप है, जो कि पूर्ण नहीं है; क्योंकि (लक्षण और विशेषणोंसे रहित) निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्मका स्वरूप (जो बुद्धिसे अतीत है) किसी भी प्रकारसे पूर्णतया बुद्धि आदिका विषय नहीं हो सकता। हाँ, इन विशेषणोंका लक्ष्य रखकर जो उपासना की जाती है, वह निर्गुण ब्रह्मकी ही उपासना है और इसके परिणाममें प्राप्ति भी निर्गुण ब्रह्मकी ही होती है।

विशेष बात

परमात्माको तत्त्वसे समझानेके लिये दो प्रकारके विशेषण दिये जाते हैं—निषेधात्मक और विध्यात्मक। परमात्माके अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, अचल, अव्यय, असीम, अपार, अविनाशी आदि विशेषण 'निषेधात्मक' हैं और सर्वव्यापी, कूटस्थ, ध्रुव, सत्, चित्, आनन्द आदि विशेषण 'विध्यात्मक' हैं। परमात्माके निषेधात्मक विशेषणोंका तात्पर्य प्रकृतिसे परमात्माकी 'असंगता' बताना है और विध्यात्मक विशेषणोंका तात्पर्य परमात्माकी स्वतन्त्र 'सत्ता' बताना है।

परमात्मतत्त्व सांसारिक प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे परे (सहज निवृत्त) और दोनोंको समानरूपसे प्रकाशित करनेवाला है। ऐसे निरपेक्ष परमात्मतत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये और बुद्धिको परमात्माके नजदीक पहुँचानेके लिये ही भिन्न-भिन्न विशेषणोंसे परमात्माका वर्णन (लक्ष्य) किया जाता है।

गीतामें परमात्मा और जीवात्माके स्वरूपका वर्णन प्रायः समान ही मिलता है। परमात्माके लिये यहाँ जो विशेषण दिये गये हैं, वही विशेषण गीतामें जीवात्माके लिये भी दिये गये हैं; जैसे—दूसरे अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें '**सर्वगतः**', '**अचलः**', '**अव्यक्तः**', '**अचिन्त्यः**' आदि और पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**कूटस्थः**' एवं '**अक्षरः**' विशेषण जीवात्माके लिये आये हैं। इसी प्रकार सातवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें '**अव्ययम्**' विशेषण परमात्माके लिये और चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें '**अव्ययम्**' विशेषण जीवात्माके लिये आया है।

संसारमें व्यापकरूपसे भी परमात्मा और जीवात्माको समान बताया गया है; जैसे—आठवें अध्यायके बाईसवें तथा अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें '**येन सर्वमिदं ततम्**' पदोंसे और नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें '**मया ततमिदं सर्वम्**' पदोंसे परमात्माको सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बताया गया है। इसी प्रकार दूसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें '**येन सर्वमिदं ततम्**' पदोंसे जीवात्माको भी सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बताया गया है।

जैसे नेत्रोंकी दृष्टि आपसमें नहीं टकराती अथवा व्यापक होनेपर भी शब्द परस्पर नहीं टकराते। ऐसे ही (द्वैतमतके अनुसार) सम्पूर्ण जगत्में समानरूपसे व्याप्त होनेपर भी निरवयव होनेसे परमात्मा और जीवात्माकी सर्वव्यापकता आपसमें नहीं टकराती।

'**सर्वभूतहिते रताः**'—कर्मयोगके साधनमें आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थके त्यागकी मुख्यता है। मनुष्य जब शरीर, धन, सम्पत्ति आदि पदार्थोंको 'अपना' और 'अपने लिये' न मानकर उनको दूसरोंकी सेवामें लगाता है; तब उसकी आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थभावका त्याग स्वतः हो जाता है। जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रकी सेवा करना ही है, वह अपने शरीर और पदार्थोंको (दीन-दुःखी, अभावग्रस्त) प्राणियोंकी सेवामें लगायेगा ही। शरीरको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे 'अहंता' और पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे 'ममता' नष्ट होती है। साधकका पहलेसे ही यह लक्ष्य होता है कि जो पदार्थ सेवामें लग रहे हैं, वे सेव्यके ही हैं। अतः कर्मयोगके साधनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये '**सर्वभूतहिते रताः**' पदका प्रयोग कर्मयोगका आचरण करनेवालेके सम्बन्धमें करना ही अधिक युक्तिसंगत है। परन्तु भगवान्‌ने इस पदका प्रयोग यहाँ तथा पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें— दोनों ही स्थानोंपर ज्ञानयोगियोंके सम्बन्धमें किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये कर्मयोगकी प्रणालीको अपनानेकी आवश्यकता ज्ञानयोगमें भी है।

एक बात खास ध्यान देनेकी है। शरीर, पदार्थ और क्रियासे जो सेवा की जाती है, वह सीमित ही होती है; क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाएँ मिलकर भी सीमित ही हैं। परन्तु सेवामें प्राणिमात्रके हितका भाव असीम होनेसे

सेवा भी असीम हो जाती है। अतः पदार्थोंके अपने पास रहते हुए भी (उनमें आसक्ति, ममता आदि न करके) उनको सम्पूर्ण प्राणियोंका मानकर उन्हींकी सेवामें लगाना है; क्योंकि वे पदार्थ समष्टिके ही हैं। ऐसा असीम भाव होनेपर जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण साधकको असीम तत्त्व-(परमात्मा-) की प्राप्ति हो जाती है। कारण कि पदार्थोंको व्यक्तिगत (अपना) माननेसे ही मनुष्यमें परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) तथा विषमता रहती है और पदार्थोंको व्यक्तिगत न मानकर सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव रखनेसे परिच्छिन्नता तथा विषमता मिट जाती है। इसके विपरीत साधारण मनुष्यका ममतावाले प्राणियोंकी सेवा करनेका सीमित भाव रहनेसे वह चाहे अपना सर्वस्व उनकी सेवामें क्यों न लगा दे, तो भी पदार्थोंमें तथा जिनकी सेवा करे, उनमें आसक्ति, ममता आदि रहनेसे (सीमित भावके कारण) उसे असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। अतः असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये प्राणिमात्रके हितमें रति अर्थात् प्रीतिरूप असीम भावका होना आवश्यक है। '**सर्वभूतहिते रताः**' पद उसी भावको व्यक्त करते हैं।

ज्ञानयोगका साधक जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता तो है; परन्तु जबतक उसके हृदयमें नाशवान् पदार्थोंका आदर है, तबतक पदार्थोंको मायामय अथवा स्वप्नवत् समझकर उनका ऐसे ही त्याग कर देना उसके लिये कठिन है। परन्तु कर्मयोगका साधक पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगाकर उनका त्याग ज्ञानयोगीकी अपेक्षा सुगमतापूर्वक कर सकता है। ज्ञानयोगीमें तीव्र वैराग्य होनेसे ही पदार्थोंका त्याग हो सकता है; परन्तु कर्मयोगी थोड़े वैराग्यमें ही पदार्थोंका त्याग (परहितमें) कर सकता है। प्राणियोंके हितमें पदार्थोंका सदुपयोग करनेसे जडतासे सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। भगवान्ने यहाँ '**सर्वभूतहिते रताः**' पद देकर यही बताया है कि प्राणिमात्रके हितमें रत रहनेसे पदार्थोंके प्रति आदरबुद्धि रहते हुए भी जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद सुगमतापूर्वक हो जायगा। प्राणिमात्रका हित करनेके लिये कर्मयोग ही सुगम उपाय है।

निर्गुण-उपासकोंकी साधनाके अन्तर्गत अनेक अवान्तर भेद होते हुए भी मुख्य भेद दो हैं—(१) जड-चेतन और चर-अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब आत्मा या ब्रह्म है और (२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह अनित्य, क्षणभंगुर और असत् है—इस प्रकार संसारका बाध करनेपर जो तत्त्व शेष रह जाता है, वह आत्मा या ब्रह्म है।

पहली साधनामें 'सब कुछ ब्रह्म है' इतना सीख लेने-मात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती। जबतक अन्तःकरणमें राग अर्थात् काम-क्रोधादि विकार हैं, तबतक ज्ञाननिष्ठाका सिद्ध होना बहुत कठिन है। जैसे राग मिटानेके लिये कर्मयोगीके लिये सभी प्राणियोंके हितमें रति होना आवश्यक है, ऐसे ही निर्गुण-उपासना करनेवाले साधकोंके लिये भी प्राणिमात्रके हितमें रति होना आवश्यक है—तभी राग मिटकर ज्ञाननिष्ठा सिद्ध हो सकती है। इसी बातका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ '**सर्वभूतहिते रताः**' पद आये हैं।

दूसरी साधनामें, जो साधक संसारसे उदासीन रहकर एकान्तमें ही तत्त्वका चिन्तन करते रहते हैं, उनके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग सहायक तो होता है; परन्तु केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेमात्रसे ही सिद्धि प्राप्त नहीं होती (गीता—तीसरे अध्यायका चौथा श्लोक), प्रत्युत सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भोगोंसे वैराग्य और शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धिमें अपनेपनके त्यागकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये वैराग्य और निर्ममताके लिये '**सर्वभूतहिते रताः**' होना आवश्यक है।

ज्ञानयोगका साधक प्रायः समाजसे दूर, असंग रहता है। अतः उसमें व्यक्तित्व रह जाता है, जिसे दूर करनेके लिये संसारमात्रके हितका भाव रहना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तवमें असंगता शरीरसे ही होनी चाहिये। समाजसे असंगता होनेपर अहंभाव दृढ़ होता है, अर्थात् मिटता नहीं। जबतक साधक अपनेको शरीरसे स्पष्टतः अलग अनुभव नहीं कर लेता, तबतक संसारसे अलग रहनेमात्रसे उसका लक्ष्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि शरीर भी संसारका ही अंग है और शरीरमें तादात्म्य और ममताका न रहना ही उससे वस्तुतः अलग होना है। तादात्म्य और ममता मिटानेके लिये साधकको प्राणिमात्रके हितमें लगना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि साधक सर्वदा एकान्तमें ही रहे, यह सम्भव भी नहीं है; क्योंकि शरीर-निर्वाहके लिये उसे व्यवहार-क्षेत्रमें आना ही पड़ता है और वैराग्यमें कमी होनेपर उसके व्यवहारमें अभिमानके कारण कठोरता आनेकी सम्भावना रहती है तथा कठोरता आनेसे उसके व्यक्तित्व-(अहंभाव-) का नाश नहीं होता। अतः उसे तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता होती है। व्यवहारमें कहीं कठोरता न आ जाय, इसके लिये भी यह जरूरी है कि साधक सभी प्राणियोंके

हितमें रत रहे। ऐसे ज्ञानयोगके साधकद्वारा सेवाकार्यका विस्तार चाहे न हो; परन्तु भगवान् कहते हैं कि वह भी (सभी प्राणियोंके हितमें रति होनेके कारण) मेरेको प्राप्त कर लेगा।

सगुणोपासक और निर्गुणोपासक—दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव रखना जरूरी है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसे अलग अपना हित माननेसे 'अहम्' अर्थात् व्यक्तित्व बना रहता है, जो साधकके लिये आगे चलकर बाधक होता है। वास्तवमें कल्याण 'अहम्' के मिटनेपर ही होता है। अपने लिये किये जानेवाले साधनसे 'अहम्' बना रहता है, इसलिये 'अहम्'को पूर्णतया मिटानेके लिये साधकको प्रत्येक क्रिया (खाना, पीना, सोना आदि एवं जप, ध्यान, पाठ, स्वाध्याय आदि भी) संसारमात्रके हितके लिये ही करनी चाहिये। संसारके हितमें ही अपना हित निहित है। भगवान्‌की मात्र शक्ति परहितमें लग रही है। अतः जो सबके हितमें लगेगा, भगवान्‌की शक्ति उसके साथ हो जायगी।

केवल दूसरेके लिये वस्तुओंको देना और शरीरसे सेवा कर देना ही सेवा नहीं है, प्रत्युत अपने लिये कुछ भी न चाहकर दूसरेका हित कैसे हो, उसको सुख कैसे मिले—इस भावसे कर्म करना ही सेवा है। अपनेको सेवक कहलानेका भाव भी मनमें नहीं रहना चाहिये। सेवा तभी हो सकती है, जब सेवक जिसकी सेवा करता है, उसे अपनेसे अभिन्न (अपने शरीरकी तरह) मानता है और बदलेमें उससे कुछ भी लेना नहीं चाहता।

जैसे मनुष्य बिना किसीके उपदेश दिये अपने शरीरकी सेवा स्वतः ही बड़ी सावधानीसे करता है और सेवा करनेका अभिमान भी नहीं करता, ऐसे ही सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होनेसे भक्तकी स्वतः सबके हितमें रति रहती है (गीता—छठे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। उनके द्वारा प्राणिमात्रका कल्याण होता है; परन्तु उनके मनमें लेशमात्र भी ऐसा भाव नहीं होता कि हम किसीका कल्याण कर रहे हैं। उनमें अहंताका सर्वथा अभाव हो जाता है, अतः ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषोंको आदर्श मानकर साधकको चाहिये कि सर्वत्र आत्मबुद्धि करके संसारके किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर उनके हितमें सदा तत्परतासे स्वाभाविक ही रत रहे।

'सर्वत्र समबुद्धयः'—इस पदका भाव यह है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासकोंकी दृष्टि सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहनेके कारण विषम नहीं होती; क्योंकि परमात्मा सम है (गीता—पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

यहाँ भगवान् ज्ञाननिष्ठावाले उपासकोंके लिये इस पदका प्रयोग करके एक विशेष भाव प्रकट करते हैं कि ज्ञानमार्गियोंके लिये एकान्तमें रहकर तत्त्वका चिन्तन करना ही एकमात्र साधन नहीं है; क्योंकि **'समबुद्धयः'** पदकी सार्थकता विशेषरूपसे व्यवहारकालमें ही होती है। दूसरी बात, संसारसे हटकर शरीरको निर्जन स्थानमें ले जाना ही सर्वथा एकान्त-सेवन नहीं है; क्योंकि शरीर भी तो संसारका ही एक अंग है। शरीर और संसारको अलग-अलग देखना विषमबुद्धि है। अतः शरीर और संसारको एक देखनेपर ही समबुद्धि हो सकती है। वास्तविक एकान्तकी सिद्धि तो परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों अर्थात् शरीर और संसारकी सत्ताका अभाव होनेसे ही होती है। साधन करनेके लिये एकान्त भी उपयोगी है; परन्तु सर्वथा एकान्तसेवी साधकके द्वारा व्यवहारकालमें भूल होना सम्भव है। शरीरमें अपनापन न होना ही वास्तविक एकान्त है। अतः साधकको चाहिये कि वास्तविक एकान्तको लक्ष्यमें रखकर अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिसे अपनी अहंता-ममता हटाकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित रहे। ऐसे साधक ही वास्तवमें समबुद्धि हैं।

गीतामें समबुद्धिका तात्पर्य 'समदर्शन' है, न कि 'समवर्तन'। पाँचवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण तथा गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल—इन पाँच प्राणियोंके नाम गिनाये हैं, जिनके साथ व्यवहारमें किसी भी प्रकारसे समता होनी सम्भव नहीं। वहाँ भी **'समदर्शिनः'** पद प्रयुक्त हुआ है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि सबके प्रति व्यवहार कभी समान नहीं हो सकता। व्यवहार एक समान कोई कर सकता भी नहीं और होना चाहिये भी नहीं। व्यवहारमें भिन्नता होनी आवश्यक है। व्यवहारमें साधककी विभिन्न प्राणी-पदार्थोंकी आकृति और उपयोगितापर दृष्टि रहते हुए भी वास्तवमें उसकी दृष्टि उन प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहती है। जैसे विभिन्न प्रकारके गहनोंसे तत्त्व-(सोने-) में कोई अन्तर नहीं आता, ऐसे ही विभिन्न प्रकारके व्यवहारसे साधककी तत्त्व-दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं आता। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति साधकमें आन्तरिक समता रहती है। यहाँ **'समबुद्धयः'** पदसे उस

आन्तरिक समताकी ओर ही लक्ष्य कराया गया है।

सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता न रहनेके कारण वे सदा और सर्वत्र 'समबुद्धि' ही हैं। सिद्ध महापुरुषोंकी स्वत:सिद्ध स्थिति ही साधकोंके लिये आदर्श होती है और उसीको लक्ष्य करके वे चलते हैं। साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवाय अन्य पदार्थोंकी जितने अंशमें सत्ता रहती है, उतने ही अंशमें उनकी बुद्धिमें समता नहीं रहती। अत: साधककी बुद्धिमें अन्य पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता जैसे-जैसे कम होती जायगी, वैसे-वैसे ही उसकी बुद्धि सम होती जायगी।

साधक अपनी बुद्धिसे सर्वत्र परमात्माको देखनेकी चेष्टा करता है, जबकि सिद्ध महापुरुषोंकी बुद्धिमें परमात्मा स्वाभाविकरूपसे इतनी घनतासे परिपूर्ण हैं कि उनके लिये परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं। इसलिये उनकी बुद्धिका विषय परमात्मा नहीं है, प्रत्युत उनकी बुद्धि ही परमात्मासे परिपूर्ण है। अत: वे '**सर्वत्र समबुद्धय:**' हैं।

'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**'—निर्गुणके उपासक कहीं यह समझ लें कि निर्गुण तत्त्व कोई दूसरा है और सगुण कोई दूसरा है, इसलिये भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि निर्गुण ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है (गीता—नवें अध्यायका चौथा और चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। सगुण और निर्गुण दोनों मेरे ही स्वरूप हैं।

इन दोनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने निर्गुण-उपासकोंके लिये चार बातें बतायी हैं, (१) निर्गुण-तत्त्वका स्वरूप क्या है, (२) साधककी स्थिति क्या है, (३) उपासनाका स्वरूप क्या है और (४) साधक क्या प्राप्त करता है।

(१) अर्जुनने इसी अध्यायके पहले श्लोकके उत्तरार्धमें जिस निर्गुण-तत्त्वके लिये '**अक्षरम्**' और '**अव्यक्तम्**' दो विशेषण प्रयुक्त करके प्रश्न किया था, उसी तत्त्वका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान्‌ने छ: और विशेषण अर्थात् कुल आठ विशेषण दिये, जिनमें पाँच निषेधात्मक (**अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, अचिन्त्यम्** और **अचलम्**) तथा तीन विध्यात्मक (**सर्वत्रगम्, कूटस्थम्** और **ध्रुवम्**) विशेषण हैं।

(२) सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण तत्त्वपर दृष्टि रहनेसे निर्गुण-उपासकोंकी सर्वत्र समबुद्धि होती है। देहाभिमान और भोगोंकी पृथक् सत्ता माननेके कारण ही भोग भोगनेकी इच्छा होती है और भोग भोगे जाते हैं। परन्तु इन निर्गुण-उपासकोंकी दृष्टिमें एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी पृथक् (स्वतन्त्र) सत्ता न होनेके कारण उनकी बुद्धिमें भोगोंका महत्त्व नहीं रहता। अत: वे सुगमतापूर्वक इन्द्रियोंका संयम कर लेते हैं। सर्वत्र समबुद्धिवाले होनेके कारण उनकी सब प्राणियोंके हितमें रति रहती है। इसलिये वे '**सर्वभूतहिते रता:**' हैं।

(३) साधकका सब समय उस निर्गुण-तत्त्वकी ओर दृष्टि रखना (तत्त्वके सम्मुख रहना) ही 'उपासना' है।

(४) भगवान् कहते हैं कि ऐसे साधकोंको जो निर्गुण-ब्रह्म प्राप्त होता है, वह मैं ही हूँ। तात्पर्य यह है कि सगुण और निर्गुण एक ही तत्त्व है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने यहाँ ब्रह्मके जो लक्षण (अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर, अव्यक्त आदि) बताये हैं, वे ही लक्षण जीवात्माके भी बताये हैं; जैसे—'अचिन्त्य' (दूसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक), 'कूटस्थ' (पन्द्रहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक), 'अचल' (दूसरे अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक), 'अक्षर' (पन्द्रहवें अध्यायका सोलहवाँ और अठारहवाँ श्लोक), 'अव्यक्त' (दूसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) आदि। दोनोंके समान लक्षण बतानेका तात्पर्य है कि जीव और ब्रह्म—दोनों स्वरूपसे एक ही हैं। देहके साथ सम्बन्ध होनेसे (अनेक रूपसे) जो 'जीव' है, वही देहके साथ सम्बन्ध न होनेसे (एक रूपसे) 'ब्रह्म' है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे, देहाभिमानके कारण ही अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। इसलिये ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर उपासकको उपास्यसे सधर्मता प्राप्त हो जाती है—'**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:**' (गीता १४। २)।

'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**'—सगुण (गुणसहित) और निर्गुण (गुणरहित)—दोनों विशेषणोंमें विशेष्य (तत्त्व) तो एक ही हुआ, इसलिये भगवान्‌ने निर्गुणके उपासकोंको भी अपनी ही प्राप्ति बतायी है। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है।

'**सर्वभूतहिते रता:**'—जगत्, जीव और परमात्मा—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण शरीर अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे एक हैं और सम्पूर्ण जीव परा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे एक हैं। इसलिये जब साधककी सम्पूर्ण प्राणियोंमें समबुद्धि हो जाती है—'**सर्वत्र समबुद्धय:**' और वह अपने शरीरकी तरह ही सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना

मानने लगता है—'**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन**' (गीता ६। ३२), तब उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें प्रीति हो जाती है। कारण कि सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना ही शरीर माननेसे वह किसीको भी बुरा नहीं समझता, किसीका भी बुरा नहीं चाहता और किसीका भी बुरा नहीं करता। इस प्रकार बुराईका त्याग होनेपर उसके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है। इतना ही नहीं, जैसे अपने दाँतोंसे अपनी जीभ कट जाय तो दाँतोंपर क्रोध करके उनको कोई नहीं तोड़ता, ऐसे ही जो सब प्राणियोंको अपना मानता है, उसका कोई बुरा भी करता है, तो भी उसके मनमें उसका बुरा करनेका भाव नहीं आता—'**उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥**' (मानस, सुन्दर० ४१। ४)।

बुराईका त्याग होनेपर दूसरोंकी जो सेवा होती है, वह बड़े-से-बड़े दान-पुण्यसे भी नहीं हो सकती। इसलिये बुराईका त्याग भलाईका मूल है। जिसने बुराईका त्याग कर दिया है, वही '**सर्वभूतहिते रताः**' हो सकता है।

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको सर्वश्रेष्ठ बताया और तीसरे-चौथे श्लोकोंमें निर्गुण-उपासकोंको अपनी प्राप्तिकी बात कही। अब दोनों प्रकारकी उपासनाओंके अवान्तर भेद तथा कठिनाई एवं सुगमताका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें करते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्‌ ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५ ॥

अव्यक्तासक्त-चेतसाम्‌	= अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले	**क्लेशः**	= कष्ट	**अव्यक्ता**	= अव्यक्त-विषयक
तेषाम्‌	= उन साधकोंको (अपने साधनमें)	**अधिकतरः**	= अधिक होता है;	**गतिः**	= गति
		हि	= क्योंकि	**दुःखम्‌**	= कठिनतासे
		देहवद्भिः	= देहाभिमानियोंके द्वारा	**अवाप्यते**	= प्राप्त की जाती है।

व्याख्या—'**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्‌**'—अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले—इस विशेषणसे यहाँ उन साधकोंकी बात कही गयी है, जो निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, पर जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें आविष्ट नहीं हुआ है। तत्त्वमें आविष्ट होनेके लिये साधकमें तीन बातोंकी आवश्यकता होती है—रुचि, विश्वास और योग्यता। शास्त्रों और गुरुजनोंके द्वारा निर्गुण-तत्त्वकी महिमा सुननेसे जिनकी (निराकारमें आसक्त चित्तवाला होने और निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ माननेके कारण) उसमें कुछ रुचि तो पैदा हो जाती है और वे विश्वासपूर्वक साधन आरम्भ भी कर देते हैं; परन्तु वैराग्यकी कमी और देहाभिमानके कारण जिनका चित्त तत्त्वमें प्रविष्ट नहीं होता—ऐसे साधकोंके लिये यहाँ '**अव्यक्तासक्तचेतसाम्‌**' पदका प्रयोग हुआ है।

भगवान्‌ने छठे अध्यायके सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें बताया है कि 'ब्रह्मभूत' अर्थात् ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। परन्तु यहाँ इस श्लोकमें '**क्लेशः अधिकतरः**' पदोंसे यह स्पष्ट किया है कि इन साधकोंका चित्त ब्रह्मभूत साधकोंकी तरह निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा तल्लीन नहीं हो पाया है। अतः उन्हें अव्यक्तमें 'आविष्ट' चित्तवाला न कहकर 'आसक्त' चित्तवाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इन साधकोंकी आसक्ति तो देहमें होती है, पर अव्यक्तकी महिमा सुनकर वे निर्गुणोपासनाको ही श्रेष्ठ मानकर उसमें आसक्त हो जाते हैं; जबकि आसक्ति देहमें ही हुआ करती है, अव्यक्तमें नहीं।

तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें '**अव्यक्तम्‌**' पद प्रकृतिके अर्थमें आया है तथा और भी कई जगह वह प्रकृतिके लिये ही प्रयुक्त हुआ है; परन्तु यहाँ '**अव्यक्तासक्तचेतसाम्‌**' पदमें '**अव्यक्त**' का अर्थ प्रकृति नहीं, प्रत्युत निर्गुण-निराकार ब्रह्म है। कारण यह है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने '**त्वाम्‌**' पदसे सगुण-साकार स्वरूपके और '**अव्यक्तम्‌**' पदसे निर्गुण-निराकार स्वरूपके विषयमें ही प्रश्न किया है। उपासनाका विषय भी परमात्मा ही है, न कि प्रकृति; क्योंकि प्रकृति और प्रकृतिका कार्य तो त्याज्य है। इसलिये उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने 'अव्यक्त' पदका (व्यक्तरूपके विपरीत) निर्गुण-निराकार स्वरूपके अर्थमें ही प्रयोग किया है। अतः यहाँ प्रकृतिका प्रसंग न होनेके कारण 'अव्यक्त' पदका अर्थ

प्रकृति नहीं लिया जा सकता।

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें **'अव्यक्तमूर्तिना'** पद सगुण-निराकार स्वरूपके लिये आया है। ऐसी दशामें यह प्रश्न हो सकता है कि यहाँ भी **'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'** पदका अर्थ 'सगुण-निराकारमें आसक्त चित्तवाले पुरुष' ही क्यों न ले लिया जाय? परन्तु ऐसा अर्थ भी नहीं लिया जा सकता; क्योंकि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नमें **'त्वाम्'** पद सगुण-साकारके लिये और **'अव्यक्तम्'** पदके साथ **'अक्षरम्'** पद निर्गुण-निराकारके लिये आया है। ब्रह्म क्या है?—अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान् बता चुके हैं कि 'परम अक्षर ब्रह्म है' अर्थात् वहाँ भी **'अक्षरम्'** पद निर्गुण-निराकारके लिये ही आया है। इसलिये अर्जुनने **'अव्यक्तम् अक्षरम्'** पदोंसे जिस निर्गुण-ब्रह्मके विषयमें प्रश्न किया था, उसीके उत्तरमें यहाँ ('अक्षर' विशेषण होनेसे) 'अव्यक्त' पदसे निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही लेना चाहिये, सगुण-निराकार नहीं।

'क्लेशोऽधिकतरः' पदका भाव यह है कि जिन साधकोंका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें तल्लीन नहीं होता, ऐसे निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपनी साधनामें विशेष कष्ट अर्थात् कठिनाई होती है*। गौणरूपसे इस पदका भाव यह है कि साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर अन्तिम अवस्थातकके सभी निर्गुण-उपासकोंको सगुण-उपासकोंसे अधिक कठिनाई होती है।

विशेष बात

अब सगुण-उपासनाकी सुगमताओं और निर्गुण-उपासनाकी कठिनताओंका विवेचन किया जाता है—

सगुण-उपासनाकी सुगमताएँ

१—सगुण-उपासनामें उपास्यतत्त्वके सगुण-साकार होनेके कारण साधकके मन-इन्द्रियोंके लिये भगवान्के स्वरूप, नाम, लीला, कथा आदिका आधार रहता है। भगवान्के परायण होनेसे उसके मन-इन्द्रियाँ भगवान्के स्वरूप एवं लीलाओंके चिन्तन, कथा-श्रवण, भगवत्सेवा और पूजनमें अपेक्षाकृत सरलतासे लग जाते हैं (गीता—आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। इसलिये उसके द्वारा सांसारिक विषय-चिन्तनकी सम्भावना कम रहती है।

२—सांसारिक आसक्ति ही साधनमें क्लेश देती है। परन्तु सगुणोपासक इसको दूर करनेके लिये भगवान्के ही आश्रित रहता है। वह अपनेमें भगवान्का ही बल मानता

निर्गुण-उपासनाकी कठिनताएँ

१—निर्गुण-उपासनामें उपास्यतत्त्वके निर्गुण-निराकार होनेके कारण साधकके मन-इन्द्रियोंके लिये कोई आधार नहीं रहता। आधार न होने तथा वैराग्यकी कमीके कारण इन्द्रियोंके द्वारा विषय-चिन्तनकी अधिक सम्भावना रहती है।

२—देहमें जितनी अधिक आसक्ति होती है, साधनमें उतना ही अधिक क्लेश मालूम देता है। निर्गुणोपासक उसे विवेकके द्वारा हटानेकी चेष्टा करता है। विवेकका आश्रय लेकर साधन करते हुए वह अपने ही साधन-बलको महत्त्व देता है। बँदरीका छोटा बच्चा जैसे (अपने

*** साधक मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं—**

एक तो वे साधक हैं, जो सत्संग, श्रवण और शास्त्राध्ययनके फलस्वरूप साधनमें प्रवृत्त होते हैं। इनको अपने साधनमें अधिक क्लेश होता है।

दूसरे वे साधक हैं, जिनकी साधनमें स्वाभाविक रुचि तथा संसारसे स्वाभाविक वैराग्य होता है। इनको अपने साधनमें कम क्लेश होता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि साधक दो ही प्रकारके क्यों होते हैं? इसका समाधान यह है कि गीतामें योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिके वर्णनमें भगवान्ने दो ही गतियोंका वर्णन किया है—

(१) कुछ योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यलोकोंमें जाते हैं और वहाँ भोग भोगकर लौटनेपर शुद्ध आचरणवाले श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और पुनः साधनरत होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं (गीता—छठे अध्यायका इकतालीसवाँ, चौवालीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक)।

(२) कुछ योगभ्रष्ट पुरुष सीधे ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेते हैं और फिर साधन करके परमात्माको प्राप्त होते हैं। ऐसे कुलमें जन्म होना 'दुर्लभतर' है (गीता—छठे अध्यायका बयालीसवाँ-तैंतालीसवाँ श्लोक)।

है। बिल्लीका बच्चा जैसे माँपर निर्भर रहता है, ऐसे ही यह साधक भी भगवान्‌पर निर्भर रहता है। भगवान् ही उसकी सँभाल करते हैं (गीता ९। २२)।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥

(मानस ३। ४३। २-३)

अतः उसकी सांसारिक आसक्ति सुगमतासे मिट जाती है।

३—ऐसे उपासकोंके लिये गीतामें भगवान्‌ने **'नचिरात्'** आदि पदोंसे शीघ्र ही अपनी प्राप्ति बतायी है (गीता—बारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

४—सगुण-उपासकोंके अज्ञानरूप अन्धकारको भगवान् ही मिटा देते हैं (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

५—उनका उद्धार भगवान् करते हैं (गीता—बारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई सूक्ष्म दोष रह जाता है, तो (भगवान्‌पर निर्भर होनेसे) सर्वज्ञ भगवान् कृपा करके उसको दूर कर देते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अट्ठावनवाँ और छाछठवाँ श्लोक)।

७—ऐसे उपासकोंकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना है। भगवान् सदा-सर्वदा पूर्ण हैं ही। अतः भगवान्‌की पूर्णतामें किंचिन्मात्र भी संदेह न रहनेके कारण उनमें सुगमतासे श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धा होनेसे वे नित्य-निरन्तर भगवत्परायण हो जाते हैं। अतः भगवान् ही उन उपासकोंको बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिससे उन्हें भगवत्प्राप्ति हो जाती है (गीता—दसवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)।

८—ऐसे उपासक भगवान्‌को परम कृपालु मानते हैं। अतः उनकी कृपाके आश्रयसे वे सब कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं। यही कारण है कि उनका साधन सुगम हो जाता है और भगवत्-कृपाके बलसे वे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति कर लेते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे अट्ठावनवे श्लोकतक)।

९—मनुष्यमें कर्म करनेका अभ्यास तो रहता ही है (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक), इसलिये भक्तको अपने कर्म भगवान्‌के प्रति करनेमें केवल भाव ही बदलना पड़ता है; कर्म तो वे ही रहते हैं। अतः भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे भक्त कर्म-बन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक)।

बलपर निर्भर होनेसे अपनी माँको पकड़े रहता है और अपनी पकड़से ही अपनी रक्षा मानता है, ऐसे ही यह साधक अपने साधनके बलपर अपनी उन्नति मानता है (गीता—अठारहवें अध्यायके इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक)। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌ने इसको अपने समझदार पुत्रकी उपमा दी है—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥

(३। ४३। ४)

३—ज्ञानयोगियोंके द्वारा लक्ष्यप्राप्तिके प्रसंगमें चौथे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें **'अचिरेण'** पद तत्त्वज्ञानके अनन्तर शान्तिकी प्राप्तिके लिये आया है, न कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये।

४—निर्गुण-उपासक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति स्वयं करते हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)।

५—ये अपना उद्धार (निर्गुण-तत्त्वकी प्राप्ति) स्वयं करते हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई कमी रह जाती है, तो उस कमीका अनुभव उनको विलम्बसे होता है और कमीको ठीक-ठीक पहचाननेमें भी कठिनाई होती है। हाँ, कमीको ठीक-ठीक पहचान लेनेपर ये भी उसे दूर कर सकते हैं।

७—चौथे अध्यायके चौंतीसवें और तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगियोंको ज्ञानप्राप्तिके लिये गुरुकी उपासनाकी आज्ञा दी है। अतः निर्गुण-उपासनामें गुरुकी आवश्यकता भी है; किंतु गुरुकी पूर्णताका निश्चित पता न होनेपर अथवा गुरुके पूर्ण न होनेपर स्थिर श्रद्धा होनेमें कठिनाई होती है तथा साधनकी सफलतामें भी विलम्बकी सम्भावना रहती है।

८—ऐसे उपासक उपास्य-तत्त्वको निर्गुण, निराकार और उदासीन मानते हैं। अतः उन्हें भगवान्‌की कृपाका वैसा अनुभव नहीं होता। वे तत्त्वप्राप्तिमें आनेवाले विघ्नोंको अपनी साधनाके बलपर ही दूर करनेमें कठिनाईका अनुभव करते हैं। फलस्वरूप तत्त्वकी प्राप्तिमें भी उन्हें विलम्ब हो सकता है।

९—ज्ञानयोगी अपनी क्रियाओंको सिद्धान्ततः प्रकृतिके अर्पण करता है; किन्तु पूर्ण विवेक जाग्रत् होनेपर ही उसकी क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण हो सकती हैं। यदि

१०—हृदयमें पदार्थोंका आदर रहते हुए भी यदि वे प्राणियोंकी सेवामें लग जाते हैं तो उन्हें पदार्थोंका त्याग करनेमें कठिनाई नहीं होती। सत्पात्रोंके लिये पदार्थोंके त्यागमें तो और भी सुगमता है। फिर भगवान्के लिये तो पदार्थोंका त्याग बहुत ही सुगमतासे हो सकता है।

११—इस साधनमें विवेक और वैराग्यकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी प्रेम और विश्वासकी है। जैसे, कौरवोंके प्रति द्वेष-वृत्ति रहते हुए भी द्रौपदीके पुकारनेमात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते थे;[1] क्योंकि वह भगवान्को अपना मानती थी। भगवान् तो अपने साथ भक्तके प्रेम और विश्वासको ही देखते हैं, उसके दोषोंको नहीं। भगवान्के साथ अपनापनका सम्बन्ध जोड़ना उतना कठिन नहीं (क्योंकि भगवान्की ओरसे अपनापन स्वत:सिद्ध है), जितना कि पात्र बनना कठिन है। विवेककी किंचिन्मात्र भी कमी रही तो क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण नहीं होंगी और साधक कर्तृत्वाभिमान रहनेसे कर्म-बन्धनमें बँध जायगा।

१०—जबतक साधकके चित्तमें पदार्थोंका किंचिन्मात्र भी आदर तथा अपने कहलानेवाले शरीर और नाममें अहंता-ममता है, तबतक उसके लिये पदार्थोंको मायामय समझकर उनका त्याग करना कठिन होता है।

११—यह साधक पात्र बननेपर ही तत्त्वको प्राप्त कर सकेगा। पात्र बननेके लिये विवेक और तीव्र वैराग्यकी आवश्यकता होगी, जिनको आसक्ति रहते हुए प्राप्त करना कठिन है।

'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते'— 'देही', 'देहभृत्' आदि पदोंका अर्थ साधारणतया 'देहधारी पुरुष' लिया जाता है। प्रसंगानुसार इनका अर्थ 'जीव' और 'आत्मा' भी लिया जाता है। यहाँ **'देहवद्भिः'**[2] पदका अर्थ 'देहाभिमानी मनुष्य' लेना चाहिये; क्योंकि निर्गुण-उपासकोंके लिये इसी श्लोकके पूर्वार्धमें **'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'** पद आया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वे निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं; परन्तु उनका चित्त देहाभिमानके कारण निर्गुण-तत्त्वमें आविष्ट नहीं हुआ है। देहाभिमानके कारण ही उन्हें साधनमें अधिक क्लेश होता है।

निर्गुण-उपासनामें देहाभिमान ही मुख्य बाधा है—**'देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति'**—इस बाधाकी ओर ध्यान दिलानेके लिये ही भगवान्ने **'देहवद्भिः'** पद दिया है। इस देहाभिमानको दूर करनेके लिये ही (अर्जुनके पूछे बिना ही) भगवान्ने तेरहवाँ और चौदहवाँ अध्याय कहा है। उनमें भी तेरहवें अध्यायका प्रथम श्लोक देहाभिमान मिटानेके लिये ही कहा गया है।

ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपकी प्राप्तिको यहाँ **'अव्यक्ता गतिः'** कहा गया है। साधारण मनुष्योंकी स्थिति व्यक्त अर्थात् देहमें होती है। इसलिये उन्हें अव्यक्तमें स्थित होनेमें कठिनाईका अनुभव होता है। यदि साधक अपनेको देहवाला न माने, तो उसकी अव्यक्तमें सुगमता और शीघ्रतापूर्वक स्थिति हो सकती है।

परिशिष्ट भाव—निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह **'उपासक'** (जीव) है और जो देहरहित है, वह **'उपास्य'** (ब्रह्म) है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें खास बाधक है। इसलिये देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे तथा देरीसे होती है। परन्तु सगुणोपासनामें भगवान्की विमुखता बाधक है, देहाभिमान बाधक नहीं है। इसलिये सगुणोपासक संसारसे विमुख होकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है, साधनके आश्रित न होकर भगवान्के आश्रित हो जाता है। अतः भगवान् कृपा करके उसका शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं (गीता—बारहवें अध्यायका

१-यह बात उन भक्तोंके लिये है, जिनके स्मरणमात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं, सर्वसाधारणके लिये नहीं है। जो भक्त सर्वथा भगवान्पर निर्भर हो जाता है एवं जिसकी भगवान्के साथ इतनी प्रगाढ़ आत्मीयता होती है कि केवल स्मरणसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं, उसके दोष दूर करनेका दायित्व भगवान्पर आ जाता है।

२-यहाँ 'देह' शब्दमें 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥'—इस कारिकाके अनुसार संसर्ग अर्थमें 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५। २। ९४), इस पाणिनिसूत्रसे 'मतुप्' प्रत्यय किया गया है। 'देहवद्भिः' पदका अर्थ है—वे मनुष्य, जिनका देहके साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्ध माना हुआ है।

छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' होनेपर सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है, जबकि यहाँ 'देहभूत' होनेके कारण दुःखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है।

सातवाँ और आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। यह सगुणोपासनाकी विलक्षणता है!

सगुणोपासनामें भक्त जगत्‌को मिथ्या मानकर उसके त्यागपर जोर नहीं देता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें जड़-चेतन, सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। इसलिये सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन सबको समग्र भगवान्‌के ही अन्तर्गत माना है (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। इसलिये गीताको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्‌की उपासना है—**'त्वां पर्युपासते'** (गीता १२। १), **'मां ध्यायन्त उपासते'** (१२। ६)।

जो समग्र, भगवान्‌के एक अंगकी उपासना करता है, उसको भी अन्तमें समग्रकी प्राप्ति होती है—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** (गीता १२। ४), **'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (१८। ५५)। अतः जिसको निर्गुण अच्छा लगता हो, वह निर्गुणकी उपासना करे, पर उसको निर्गुणका आग्रह रखकर सगुणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। सगुणका तिरस्कार, निन्दा, खण्डन करना निर्गुणोपासकके लिये बहुत घातक है अर्थात् उसकी साधनाके सिद्ध होनेमें बहुत बाधक है। कारण कि अपरा प्रकृति भगवान्‌की है; अतः उसकी निन्दा करनेसे वह भगवान्‌की निन्दा होती है। गुणोंका खण्डन करनेसे गुणोंकी सत्ता आ जाती है, जो बाधक होती है; क्योंकि सत्ता माने बिना साधक निराकरण किसका करेगा? अतः साधक यदि दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करके तत्परतापूर्वक अपने साधनमें लगा रहे तो आगे चलकर सभी साधक एक हो जाते हैं; क्योंकि तत्त्व एक ही है*। सगुणकी उपेक्षा करनेसे साधक मुक्त तो हो सकता है, पर मतभेद नहीं मिट सकता। परन्तु सगुणकी उपेक्षा न रहनेसे मतभेद भी नहीं रहता और साधकको समग्रकी प्राप्ति हो जाती है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

तु	= परन्तु	**सन्न्यस्य**	= अर्पण करके (और)	**माम्**	= मेरा
ये	= जो			**एव**	= ही
सर्वाणि	= सम्पूर्ण	**मत्पराः**	= मेरे परायण होकर	**ध्यायन्तः**	= ध्यान करते हुए
कर्माणि	= कर्मोंको	**अनन्येन**	= अनन्य-	**उपासते**	= (मेरी) उपासना करते हैं।
मयि	= मेरे	**योगेन**	= योग-(सम्बन्ध-) से		

व्याख्या—[ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तके लक्षणोंमें तीन विध्यात्मक (**'मत्कर्मकृत्'**, **'मत्परमः'** और **'मद्भक्तः'**) और दो निषेधात्मक (**'संगवर्जितः'** और **'निर्वैरः'**) पद दिये थे। उन्हीं पदोंका संकेत इस श्लोकमें इस प्रकार किया गया है—

(१) **'सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य'** पदोंसे **'मत्कर्मकृत्'** की ओर लक्ष्य है।

(२) **'मत्पराः'** पदसे **'मत्परमः'** का संकेत है।

(३) **'अनन्येनैव योगेन'** पदोंमें **'मद्भक्तः'** का लक्ष्य है।

(४) भगवान्‌में ही अनन्यतापूर्वक लगे रहनेके कारण उनकी कहीं भी आसक्ति नहीं होती; अतः वे **'संगवर्जितः'** हैं।

(५) कहीं भी आसक्ति न रहनेके कारण उनके मनमें किसीके प्रति भी वैर, द्वेष, क्रोध आदिका भाव नहीं रहता, इसलिये **'निर्वैरः'** पदका भाव भी इसीके अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु भगवान्‌ने इसे महत्त्व देनेके लिये आगे तेरहवें श्लोकमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले **'अद्वेष्टा'** पदका प्रयोग किया है। अतः साधकको किसीमें किंचिन्मात्र भी द्वेष नहीं रखना चाहिये]।

'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य'—अब

---

* **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥**

(श्रीमद्भा० १। २। ११)

'तत्त्वज्ञ महापुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।'

यहाँसे निर्गुणोपासनाकी अपेक्षा सगुणोपासनाकी सुगमता बतानेके लिये '**तु**' पदसे प्रकरण-भेद करते हैं।

यद्यपि '**कर्माणि**' पद स्वयं ही बहुवचनान्त होनेसे सम्पूर्ण कर्मोंका बोध कराता है, तथापि इसके साथ '**सर्वाणि**' विशेषण देकर मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले सभी लौकिक (शरीर-निर्वाह और आजीविका-सम्बन्धी) एवं पारमार्थिक (जप-ध्यान-सम्बन्धी) शास्त्रविहित कर्मोंका समावेश किया गया है (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

यहाँ '**मयि सन्न्यस्य**' पदोंसे भगवान्का आशय क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग करनेका नहीं है। कारण कि एक तो स्वरूपसे कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ और अठारहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। दूसरे, यदि सगुणोपासक मोहपूर्वक शास्त्रविहित क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग करता है, तो उसका यह त्याग 'तामस' होगा (गीता—अठारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) और यदि दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे वह उनका त्याग करता है, तो यह त्याग 'राजस' होगा (गीता—अठारहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)। अतः इस रीतिसे त्याग करनेपर कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं छूटेगा। कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करे; क्योंकि ममता, आसक्ति और फलेच्छासे किये गये कर्म ही बाँधनेवाले होते हैं।

यदि साधकका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति होता है, तो वह पदार्थोंकी इच्छा नहीं करता और अपने-आपको भगवान्का समझनेके कारण उसकी ममता शरीरादिसे हटकर एक भगवान्में ही हो जाती है। स्वयं भगवान्के अर्पित होनेसे उसके सम्पूर्ण कर्म भी भगवदर्पित हो जाते हैं।

भगवान्के लिये कर्म करनेके विषयमें कई प्रकार हैं, जिनको गीतामें 'मदर्पण कर्म', 'मदर्थ कर्म' और 'मत्कर्म' नामसे कहा गया है।

१—'मदर्पण कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं, जिनका उद्देश्य पहले कुछ और हो; किन्तु कर्म करते समय अथवा कर्म करनेके बाद उनको भगवान्के अर्पण कर दिया जाय।

२—'मदर्थ कर्म' वे कर्म हैं, जो आरम्भसे ही भगवान्के लिये किये जायँ अथवा जो भगवत्सेवारूप हों। भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करना भगवान्की आज्ञा मानकर कर्म करना, और भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्म करना—ये सभी भगवदर्थ कर्म हैं।

३—भगवान्का ही काम समझकर सम्पूर्ण लौकिक (व्यापार, नौकरी आदि) और भगवत्सम्बन्धी (जप, ध्यान आदि) कर्मोंको करना 'मत्कर्म' है।

वास्तवमें कर्म कैसे भी किये जायँ, उनका उद्देश्य एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही होना चाहिये।

उपर्युक्त तीनों ही प्रकारों-(मदर्पण-कर्म, मदर्थ-कर्म, मत्कर्म-)से सिद्धि प्राप्त करनेवाले साधकका कर्मोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि उसमें न तो फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान है और न पदार्थोंमें और शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंमें ममता ही है। जब कर्म करनेके साधन शरीर, मन, बुद्धि आदि ही अपने नहीं हैं, तो फिर कर्मोंमें ममता हो ही कैसे सकती है। इस प्रकार कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही वास्तविक समर्पण है। सिद्ध पुरुषोंकी क्रियाओंका स्वतः ही समर्पण होता है और साधक पूर्ण समर्पणका उद्देश्य रखकर वैसे ही कर्म करनेकी चेष्टा करता है।

जैसे भक्तियोगी अपनी क्रियाओंको भगवान्के अर्पण करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिसे हुई समझकर अपनेको उनसे सर्वथा असंग और निर्लिप्त अनुभव करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

'**मत्पराः**'—परायण होनेका अर्थ है—भगवान्को परमपूज्य और सर्वश्रेष्ठ समझकर भगवान्के प्रति समर्पण-भावसे रहना। सर्वथा भगवान्के परायण होनेसे सगुण-उपासक अपने-आपको भगवान्का यन्त्र समझता है। अतः शुभ क्रियाओंको वह भगवान्के द्वारा करवायी हुई मानता है तथा संसारका उद्देश्य न रहनेके कारण उसमें भोगोंकी कामना नहीं रहती और कामना न रहनेके कारण उससे अशुभ क्रियाएँ होती ही नहीं।

'**अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते**'—इन पदोंमें इष्ट-सम्बन्धी और उपाय-सम्बन्धी—दोनों प्रकारकी अनन्यताका संकेत है अर्थात् उन भक्तोंके इष्ट भगवान् ही हैं; उनके सिवाय अन्य कोई साध्य उनकी दृष्टिमें है ही नहीं और उनकी प्राप्तिके लिये आश्रय भी उन्हींका है। वे भगवत्कृपासे ही साधनकी सिद्धि मानते हैं, अपने पुरुषार्थ या साधनके बलसे नहीं। वे उपाय भी भगवान्को मानते हैं और उपेय भी। वे एक भगवान्का ही लक्ष्य, ध्येय रखकर उपासना अर्थात् जप, ध्यान, कीर्तन आदि करते हैं।

'**मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई**'—इस प्रकार केवल भगवान्से ही सम्बन्ध मानना 'अनन्ययोग' है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

पार्थ = हे पार्थ!
मयि = मुझमें
आवेशित-
चेतसाम् = आविष्ट चित्तवाले
तेषाम् = उन भक्तोंका
अहम् = मैं
मृत्युसंसार-
सागरात् = मृत्युरूप संसार-समुद्रसे
नचिरात् = शीघ्र ही
समुद्धर्ता = उद्धार करनेवाला
भवामि = बन जाता हूँ।

व्याख्या—**'तेषामहं समुद्धर्ता .... मय्यावेशितचेतसाम्'**—जिन साधकोंका लक्ष्य, उद्देश्य, ध्येय भगवान् ही बन गये हैं और जिन्होंने भगवान्‌में ही अनन्य प्रेमपूर्वक अपने चित्तको लगा दिया है तथा जो स्वयं भी भगवान्‌में ही लग गये हैं, उन्हींके लिये यहाँ **'मय्यावेशितचेतसाम्'** पद आया है।

जैसे समुद्रमें जल-ही-जल होता है, ऐसे ही संसारमें मौत-ही-मौत है। संसारमें उत्पन्न होनेवाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मौतके थपेड़ोंसे बचती हो अर्थात् उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण मौतके तरफ ही जा रही है। इसलिये संसारको 'मृत्यु-संसार-सागर' कहा गया है।

मनुष्यमें अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों वृत्तियाँ रहती हैं। संसारकी घटना, परिस्थिति तथा प्राणी-पदार्थोंमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियाँ राग-द्वेष उत्पन्न करके मनुष्यको संसारमें बाँध देती हैं (गीता—सातवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। यहाँतक देखा जाता है कि साधक भी सम्प्रदाय-विशेष और संत-विशेषमें अनुकूल-प्रतिकूल भावना करके राग-द्वेषके शिकार बन जाते हैं, जिससे वे संसार-समुद्रसे जल्दी पार नहीं हो पाते। कारण कि तत्त्वको चाहनेवाले साधकके लिये साम्प्रदायिकताका पक्षपात बहुत बाधक है। सम्प्रदायका मोहपूर्वक आग्रह मनुष्यको बाँधता है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने जगह-जगह इन द्वन्द्वों-(राग और द्वेष-) से छूटनेके लिये विशेष जोर दिया है।[१]

यदि साधक भक्त अपनी सारी अनुकूलताएँ भगवान्‌में कर ले अर्थात् एकमात्र भगवान्‌से ही अनन्य प्रेमका सम्बन्ध जोड़ ले और सारी प्रतिकूलताएँ संसारमें कर ले अर्थात् संसारकी सेवा करके अनुकूलताकी इच्छासे विमुख हो जाय, तो वह इस संसार-बन्धनसे बहुत जल्दी मुक्त हो सकता है। संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल वृत्तियोंका होना ही संसारमें बँधना है।

भगवान्‌का यह सामान्य नियम है कि जो जिस भावसे उनकी शरण लेता है, उसी भावसे भगवान् भी उसको आश्रय देते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। अतः वे कहते हैं कि यद्यपि मैं सबमें समभावसे स्थित हूँ—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९), तथापि जिनका एकमात्र प्रिय मैं हूँ, जो मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्म करते हैं और मेरे परायण होकर नित्य-निरन्तर मेरे ही ध्यान-जप-चिन्तन आदिमें लगे रहते हैं, ऐसे भक्तोंका मैं स्वयं मृत्यु-संसारसागरसे बहुत जल्दी और सम्यक् प्रकारसे उद्धार कर देता हूँ[२]।

परिशिष्ट भाव—छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने सब तरहके सामान्य साधकोंके लिये अपने द्वारा अपना उद्धार करनेकी बात कही थी—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** और यहाँ कहते हैं कि भक्तोंका उद्धार मैं करता हूँ—**'तेषामहं समुद्धर्ता'**। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक साधक आरम्भमें स्वयं ही साधनमें लगता है। साधनमें लगनेवालोंमें जो साधक भगवान्‌के आश्रित होता है, उसका उद्धार भगवान् करते हैं; क्योंकि उसका भगवान्‌पर ही भरोसा होता है कि मेरा उद्धार

१-उदाहरणार्थ—'निर्द्वन्द्वः' (२। ४५); 'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो' (५। ३); 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' (७। २८); 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' (१५। ५); 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते' (१८। १०); 'रागद्वेषौ व्युदस्य च' (१८। ५१)।

२-'समुद्धर्ता भवामि' पदोंके अन्तर्गत भगवान्‌के ये भाव भी समझने चाहिये कि वह सगुणोपासक मेरी कृपासे साधनकी सब विघ्न-बाधाओंको पार करके मेरी कृपासे ही मेरी प्राप्ति कर लेता है (गीता—अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे अट्ठावनवें श्लोकतक); साधनकी कमीको पूरा करके मैं उसे अपनी प्राप्ति करा देता हूँ (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक); उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ तत्त्वज्ञानसे उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक) और उन्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देता हूँ (गीता—अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक)।

वे ही करेंगे। वह अपने उद्धारकी चिन्ता न करके केवल भगवान्‌के भजनमें ही लगा रहता है। उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गमें चलनेवाला अपना उद्धार स्वयं करता है।

स्वरूप-बोध होनेपर भक्ति प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर भक्ति प्राप्त होनेपर स्वरूप-बोध भी हो जाता है, इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६। ५)

भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों दे देते हैं (गीता—दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक); क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप समग्र है।

देहाभिमानके कारण ज्ञानमार्गके साधकका चित्त अव्यक्तमें 'आसक्त' होता है—'**अव्यक्तासक्तचेतसाम्**' (गीता १२। ५)। पर भक्तका चित्त भगवान्‌में 'आविष्ट' होता है—'**मय्यावेशितचेतसाम्**'। ज्ञानमें विवेक मुख्य है, भक्तिमें विश्वास मुख्य है। ज्ञानमें अपरा प्रकृति त्याज्य होती है, भक्तिमें वह भगवत्स्वरूप होती है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ योगी बताया तथा छठे और सातवें श्लोकमें यह बात कही कि ऐसे भक्तोंका मैं शीघ्र उद्धार करता हूँ। इसलिये अब भगवान् अर्जुनको ऐसा श्रेष्ठ योगी बननेके लिये पहले आठवें श्लोकमें समर्पणयोगरूप साधनका वर्णन करके फिर नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमशः अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म और सर्वकर्मफलत्यागरूप साधनोंका वर्णन करते हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

मयि = (तू) मुझमें
मनः = मनको
आधत्स्व = स्थापन कर (और)
मयि = मुझमें
एव = ही
बुद्धिम् = बुद्धिको
निवेशय = प्रविष्ट कर;
अतः = इसके
ऊर्ध्वम् = बाद (तू)
मयि = मुझमें
एव = ही
निवसिष्यसि = निवास करेगा—
संशयः, न = (इसमें) संशय नहीं है।

व्याख्या—'**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**'—भगवान्‌के मतमें वे ही पुरुष उत्तम योगवेत्ता हैं, जिनको भगवान्‌के साथ अपने नित्ययोगका अनुभव हो गया है। सभी साधकोंको उत्तम योगवेत्ता बनानेके उद्देश्यसे भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर यह आज्ञा देते हैं कि मुझ परमेश्वरको ही परमश्रेष्ठ और परम प्रापणीय मानकर बुद्धिको मेरेमें लगा दे और मेरेको ही अपना परम प्रियतम मानकर मनको मेरेमें लगा दे।

भगवान्‌में हमारी स्वतःसिद्ध स्थिति (नित्ययोग) है; परन्तु भगवान्‌में मन-बुद्धिके न लगनेके कारण हमें भगवान्‌के साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धका अनुभव नहीं होता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मन-बुद्धिको मेरेमें लगा, फिर तू मेरेमें ही निवास करेगा (जो पहलेसे ही है) अर्थात् तुझे मेरेमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जायगा।

मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य यह है कि अबतक मनुष्य जिस मनसे जड संसारमें ममता, आसक्ति, सुख-भोगकी इच्छा, आशा आदिके कारण बार-बार संसारका ही चिन्तन करता रहा है और बुद्धिसे संसारमें ही अच्छे-बुरेका निश्चय करता रहा है, उस मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगाये तथा बुद्धिके द्वारा दृढ़तासे निश्चय करे कि 'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं तथा मेरे लिये सर्वोपरि, परमश्रेष्ठ एवं परम प्रापणीय भगवान् ही हैं।' ऐसा दृढ़ निश्चय करनेसे संसारका चिन्तन और महत्त्व समाप्त हो जायगा और एक भगवान्‌के साथ ही सम्बन्ध रह जायगा। यही मन-बुद्धिका भगवान्‌में लगाना है।

मन-बुद्धि लगानेमें भी बुद्धिका लगाना मुख्य है। किसी विषयमें पहले बुद्धिका ही निश्चय होता है और फिर बुद्धिके उस निश्चयको मन स्वीकार कर लेता है। साधन करनेमें भी पहले (उद्देश्य बनानेमें) बुद्धिकी प्रधानता होती है, फिर मनकी प्रधानता होती है। जिन पुरुषोंका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं है, उनके मन-बुद्धि भी, वे जिस विषयमें लगाना

चाहेंगे, उस विषयमें लग सकते हैं। उस विषयमें मन-बुद्धि लग जानेपर उन्हें सिद्धियाँ तो प्राप्त हो सकती हैं, पर (भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य न होनेसे) भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: साधकको चाहिये कि बुद्धिसे यह दृढ़ निश्चय कर ले कि 'मुझे भगवत्प्राप्ति ही करनी है।' इस निश्चयमें बड़ी शक्ति है। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि होनेमें सबसे बड़ी बाधा है—भोग और संग्रहका सुख लेना। सुखकी आशासे ही मनुष्यकी वृत्तियाँ धन, मान-बड़ाई आदि पानेका उद्देश्य बनाती हैं, इसलिये उसकी बुद्धि बहुत भेदोंवाली तथा अनन्त हो जाती है (गीता—दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)। परन्तु अगर भगवत्प्राप्तिका ही एक निश्चय हो, तो इस निश्चयमें इतनी पवित्रता और शक्ति है कि दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषको भी भगवान् साधु माननेके लिये तैयार हो जाते हैं! इस निश्चयमात्रके प्रभावसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्ति प्राप्त कर लेता है (गीता—नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ श्लोक)।

'मैं भगवान्का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—ऐसा निश्चय (साधककी दृष्टिमें) बुद्धिमें हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। बुद्धिमें ऐसा निश्चय दीखनेपर भी साधकको इस बातका पता नहीं होता कि वह 'स्वयं' पहलेसे ही भगवान्में स्थित है। वह चाहे इस बातको न भी जाने, पर वास्तविकता यही है। 'स्वयं' भगवान्में स्थित होनेकी पहचान यही है कि इस सम्बन्धकी कभी विस्मृति नहीं होती। अगर यह केवल बुद्धिकी बात हो तो भूली भी जा सकती है, पर 'मैं'-पनकी बातको साधक कभी नहीं भूलता। जैसे, 'मैं विवाहित हूँ' यह 'मैं'-पनका निश्चय है, बुद्धिका नहीं। इसीलिये मनुष्य इस बातको कभी नहीं भूलता। अगर कोई यह निश्चय कर ले कि मैं अमुक गुरुका शिष्य हूँ, तो इस सम्बन्धके लिये कोई अभ्यास न करनेपर भी यह निश्चय उसके भीतर अटल रहता है। स्मृतिमें तो स्मृति रहती ही है, विस्मृतिमें भी सम्बन्धकी स्मृतिका अभाव नहीं होता; क्योंकि सम्बन्धका निश्चय 'मैं'-पनमें है। इस प्रकार संसारमें माना हुआ सम्बन्ध भी जब स्मृति और विस्मृति दोनों अवस्थाओंमें अटल रहता है, तब भगवान्के साथ जो सदासे ही नित्य-सम्बन्ध है, उसकी विस्मृति कैसे हो सकती है? अत: 'मैं भगवान्का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—इस प्रकार 'मैं'-पन (स्वयं-) के भगवान्में लग जानेसे मन-बुद्धि भी स्वत: भगवान्में लग जाते हैं।

मन-बुद्धिमें अन्त:करण-चतुष्टयका अन्तर्भाव है। मनके अन्तर्गत चित्तका और बुद्धिके अन्तर्गत अहंकारका अन्तर्भाव है। मन-बुद्धि भगवान्में लगनेसे अहंकारका आधार 'स्वयं' भगवान्में लग जायगा और परिणामस्वरूप 'मैं भगवान्का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं' ऐसा भाव हो जायगा। इस भावमें निर्विकल्प स्थिति होनेसे 'मैं'-पन भगवान्में लीन हो जायगा।

विशेष बात

साधारणतया अपना स्वरूप-('मैं'-पनका आधार 'स्वयम्') मन, बुद्धि, शरीर आदिके साथ दीखता है, पर वास्तवमें इनके साथ है नहीं। सामान्य रूपसे प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि बचपनसे लेकर अबतक शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब-के-सब बदल गये, पर मैं वही हूँ। अत: 'मैं बदलनेवाला नहीं हूँ' इस बातको आजसे ही दृढ़तापूर्वक मान लेना चाहिये (साधारणतया मनुष्य बुद्धिसे ही समझनेकी चेष्टा करता है, पर यहाँ स्वयंसे जाननेकी बात है)।

विचार करें—एक ओर अपना स्वरूप नहीं बदला, यह सभीका प्रत्यक्ष अनुभव है और आस्तिकों एवं भगवान्में श्रद्धा रखनेवालोंके भगवान् भी कभी नहीं बदले, दूसरी ओर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब-के-सब बदल गये और संसार भी बदलता हुआ प्रत्यक्ष दीखता है। इससे सिद्ध हुआ कि कभी न बदलनेवाले 'स्वयम्' और 'भगवान्' दोनों एक जातिके हैं, जब कि निरन्तर बदलनेवाले 'शरीर' और 'संसार' दोनों एक जातिके हैं। न बदलनेवाले 'स्वयम्' और 'भगवान्' दोनों ही व्यक्तरूपसे नहीं दीखते, जब कि बदलनेवाले शरीर और संसार—दोनों ही व्यक्तरूपसे प्रत्यक्ष दीखते हैं। बदलनेवाले मन-बुद्धि इन्द्रियाँ-शरीरादिको पकड़कर ही 'स्वयम्' अपनेको बदलनेवाला मान लेता है। वास्तवमें 'अहं'का जो सत्तारूपसे आधार ('स्वयम्') है, वह कभी नहीं बदलता; क्योंकि वह परमात्माका अंशस्वरूप है।

वास्तवमें 'मैं क्या हूँ' इसका तो पता नहीं, पर 'मैं हूँ' इस होनेपनमें थोड़ा भी सन्देह नहीं है। जैसे संसार प्रत्यक्ष दीखता है, ऐसे ही 'मैं'-पनका भी भान होता है। इसलिये तत्त्वत: 'मैं' क्या है, इसकी खोज करना साधकके लिये बहुत उपयोगी है।

'मैं' क्या है, इसका तो पता नहीं; परन्तु संसार (शरीर)

क्या है, इसका तो पता है ही। संसार (शरीर) उत्पत्ति-विनाशवाला है, सदा एकरस रहनेवाला नहीं है—यह सबका अनुभव है। इस अनुभवको निरन्तर जाग्रत् रखना चाहिये। यह नियम है कि 'संसार' और 'मैं'—दोनोंमेंसे किसी एकका भी ठीक-ठीक ज्ञान होनेपर दूसरेके स्वरूपका ज्ञान अपने-आप हो जाता है।

'मैं' का प्रकाशक और आधार (अपना स्वरूप) चेतन और नित्य है। इसलिये उत्पत्ति-विनाशवाले जड संसारसे स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वरूपका तो भगवान्‌से स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है। इस सम्बन्धको पहचानना ही 'मैं' की वास्तविकताका अनुभव करना है। इस सम्बन्धको पहचान लेनेपर मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌में लग जायँगे*।

'निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः'—यहाँ **'अत ऊर्ध्वम्'**—पदोंका भाव यह है कि जिस क्षण मन-बुद्धि भगवान्‌में पूरी तरह लग जायँगे अर्थात् मन-बुद्धिमें किंचिन्मात्र भी अपनापन नहीं रहेगा, उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो जायगी। ऐसा नहीं है कि मन-बुद्धि पूर्णतया लगनेके बाद भगवत्प्राप्तिमें कालका कोई व्यवधान रह जाय।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! मुझमें ही मन-बुद्धि लगानेपर तू मुझमें निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है। इससे ऐसा मालूम देता है कि अर्जुनके हृदयमें कुछ संशय है, तभी भगवान् **'न संशयः'** पद देते हैं। यदि संशयकी सम्भावना न होती, तो इस पदको देनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वह संशय क्या है? मनुष्यके हृदयमें प्रायः यह बात बैठी हुई है कि कर्म अच्छे होंगे, आचरण अच्छे होंगे, एकान्तमें ध्यान लगायेंगे, तभी परमात्माकी प्राप्ति होगी, और यदि इस प्रकार साधन नहीं कर पाये, तो परमात्मप्राप्ति असम्भव है। इस भ्रमको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर मन-बुद्धिको मेरेमें लगाना जितना कीमती है, ये सब साधन मिलकर भी उतने कीमती नहीं हो सकते। अतः मन-बुद्धिको मेरेमें लगानेसे निश्चय ही मेरी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संशय नहीं है—**'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥'** (गीता ८। ७)।

जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व है और मनसे संसारका चिन्तन होता रहता है, तबतक (परमात्मामें स्वाभाविक स्थिति होते हुए भी) अपनी स्थिति संसारमें ही समझनी चाहिये। संसारमें स्थिति अर्थात् संसारका संग रहनेसे ही संसारचक्रमें घूमना पड़ता है।

उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनका संशय दूर करते हुए भगवान् कहते हैं कि तू यह चिन्ता मत कर कि मेरेमें मन-बुद्धि सर्वथा लग जानेपर तेरी स्थिति कहाँ होगी। जिस क्षण तेरे मन-बुद्धि एकमात्र मेरेमें सर्वथा लग जायँगे, उसी क्षण तू मेरेमें ही निवास करेगा।

मन-बुद्धि भगवान्‌में लगानेके सिवाय साधकके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है। मन भगवान्‌में लगानेसे संसारका चिन्तन नहीं होगा और बुद्धि भगवान्‌में लगानेसे साधक संसारके आश्रयसे रहित हो जायगा। संसारका किसी प्रकारका चिन्तन और आश्रय न रहनेसे भगवान्‌का ही चिन्तन और भगवान्‌का ही आश्रय होगा, जिससे भगवान्‌की ही प्राप्ति होगी।

यहाँ मनके साथ 'चित्त' को तथा बुद्धिके साथ 'अहम्' को भी ले लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌में चित्त और अहम्‌के लगे बिना 'तू मेरेमें ही निवास करेगा' यह कहना सार्थक नहीं होगा।

सम्पूर्ण सृष्टिके एकमात्र ईश्वर-(परमात्मा-) का ही साक्षात् अंश यह जीवात्मा है। परन्तु यह इस सृष्टिके एक तुच्छ अंश (शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि)-को अपना मानकर इनको अपनी ओर खींचता है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) अर्थात् इनका स्वामी बन बैठता है। वह (जीवात्मा) इस बातको सर्वथा भूल जाता है कि ये मन-बुद्धि आदि भी तो उसी परमात्माकी समष्टि सृष्टिके ही अंश हैं। मैं उसी परमात्माका अंश हूँ और सर्वदा उसीमें स्थित हूँ, इसको भूलकर वह अपनी अलग सत्ता मानने लगता है। जैसे, एक करोड़पतिका मूर्ख पुत्र उससे अलग होकर अपनी विशाल कोठीके एक-दो कमरोंपर अपना अधिकार जमाकर अपनी उन्नति समझ लेता है, पर जब उसे अपनी भूल समझमें आ जाती है, तब उसे करोड़पतिका उत्तराधिकारी होनेमें कठिनाई नहीं होती। इसी लक्ष्यसे भगवान् कहते हैं कि जब तू इन व्यष्टि मन-बुद्धिको मेरे अर्पण कर देगा (जो स्वतः ही मेरे हैं; क्योंकि मैं ही समष्टि मन-बुद्धिका स्वामी हूँ) तो स्वयं इनसे मुक्त होकर (वास्तवमें पहलेसे ही मेरा अंश और मेरेमें ही स्थित होनेके कारण) निःसन्देह मेरेमें ही निवास करेगा।

*** चेतन और अविनाशी स्वरूप-(आत्मा-) को ही 'स्वयं', 'अहम्' का आधार, वास्तविक 'मैं', 'मैं' का प्रकाशक, आधार आदि नामोंसे कहा जाता है।**

भगवान्‌ने सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार आठ भागोंमें विभक्त अपनी 'अपरा (जड) प्रकृति' का वर्णन किया और पाँचवें श्लोकमें इससे भिन्न अपनी जीवभूता 'परा (चेतन) प्रकृति' का वर्णन किया। इन दोनों प्रकृतियोंको भगवान्‌ने अपनी कहा; अतः इन दोनोंके स्वामी भगवान् हैं। इन दोनोंमें, जड प्रकृतिका कार्य होनेसे 'अपरा प्रकृति' तो निकृष्ट है और चेतन परमात्माका अंश होनेसे 'परा प्रकृति' श्रेष्ठ है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। परन्तु परा प्रकृति (जीव) भूलसे अपरा प्रकृतिको अपनी तथा अपने लिये मानकर उससे बँध जाती है तथा जन्म-मरणके चक्रमें पड़ जाती है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान् इस श्लोकमें यह कह रहे हैं कि मन-बुद्धिरूप अपरा प्रकृतिसे अपनापन हटाकर इनको मेरी ही मान ले, जो वास्तवमें मेरी ही है। इस प्रकार मन-बुद्धिको मेरे अर्पण करनेसे इनके साथ भूलसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जायगा और तेरेको मेरे साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जायगा।

भगवत्प्राप्ति-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌की प्राप्ति किसी साधनविशेषसे नहीं होती। कारण कि ध्यानादि साधन शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयसे होते हैं। शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके कार्य होनेसे जड वस्तुएँ हैं। जड पदार्थोंके द्वारा चिन्मय भगवान् खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि प्रकृतिके सम्पूर्ण पदार्थ मिलकर भी चिन्मय परमात्माके समान कभी नहीं हो सकते।

सांसारिक पदार्थ कर्म (पुरुषार्थ) करनेसे ही प्राप्त होते हैं; अतः साधक भगवान्‌की प्राप्तिको भी स्वाभाविक ही कर्मोंसे होनेवाली मान लेता है। इसलिये भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें भी वह यही सोचता है कि मेरे द्वारा किये जानेवाले साधनसे ही भगवत्प्राप्ति होगी।

मनु-शतरूपा, पार्वती आदिको तपस्यासे ही अपने इष्टकी प्राप्ति हुई—इतिहास-पुराणादिमें इस प्रकारकी कथाएँ पढ़ने-सुननेसे साधकके अन्तःकरणमें ऐसी छाप पड़ जाती है कि साधनके द्वारा ही भगवान् मिलते हैं और उसकी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती रहती है। परन्तु साधनसे ही भगवान् मिलते हों, ऐसी बात वस्तुतः है नहीं। तपस्यादि साधनोंसे जहाँ भगवान्‌की प्राप्ति हुई दीखती है, वहाँ भी वह जडके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होनेसे ही हुई है, न कि साधनोंसे। साधनकी सार्थकता असाधन-(जडके साथ माने हुए सम्बन्ध-) का त्याग करनेमें ही है। भगवान् सबको सदा-सर्वदा स्वतः प्राप्त हैं ही; किन्तु जडके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर ही उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसलिये भगवत्प्राप्ति जडताके द्वारा नहीं, प्रत्युत जडताके त्याग-(सम्बन्ध-विच्छेद-) से होती है। अतः जो साधक अपने साधनके बलसे भगवत्प्राप्ति मानते हैं, वे बड़ी भूलमें हैं। साधनकी सार्थकता केवल जडताका त्याग करानेमें है—इस रहस्यको न समझकर साधनमें ममता करने और उसका आश्रय लेनेसे साधकका जडके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक हृदयमें जडताका किंचिन्मात्र भी आदर है, तबतक भगवत्प्राप्ति कठिन है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह साधनकी सहायतासे जडताके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

एकमात्र भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले साधनसे जडताका सम्बन्ध सुगमतापूर्वक छूट जाता है।

परिशिष्ट भाव—मन-बुद्धि भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। भगवान्‌की प्रकृति अर्थात् स्वभाव होते हुए भी अपरा प्रकृति भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली (जड़ एवं परिवर्तनशील) है। परन्तु परा प्रकृति (जीवात्मा) भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली नहीं है। इसलिये भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत जीव-(स्वयं-) का है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। मन-बुद्धि प्रकृतिकी जातिके हैं अर्थात् वे प्रकृतिके अंश हैं, पर हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं। अतः स्वयं और मन-बुद्धिमें जातीय भिन्नता है। आकर्षण एवं मिलन सजातीयतामें ही होता है, विजातीयतामें नहीं—यह नियम है। इसलिये मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लग सकते, प्रत्युत स्वयं ही भगवान्‌में लग सकता है। मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता मान लेनेसे साधकसे यह भूल होती है कि वह स्वयं अलग रहकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका उद्योग करता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि भगवान्‌में स्वयं ही लगता है, मन-बुद्धि नहीं लगते। जब स्वयं भगवान्‌में लगता है, तब मन-बुद्धि अपने-आप छूट जाते हैं अर्थात् उनकी सत्ता रहती ही नहीं, प्रत्युत एक भगवान् ही रह जाते हैं। कारण कि वास्तवमें मन-बुद्धिकी सत्ता थी ही नहीं, जीवने ही उनको सत्ता दी थी—

'ययेदं धार्यते जगत्' (गीता ७।५), **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** (गीता १५।७)। इसलिये गीतामें **'मय्यासक्तमनाः'** (७।१) **'मन्मना भव'** (९।३४, १८।६५), **'मय्यावेश्य मनो ये माम्'** (१२।२), **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'** (१२।८), **'मच्चित्तः सततं भव'** (१८।५७) आदि पदोंमें जो मन लगानेकी बात आयी है, वह वास्तवमें स्वयंको भगवान्‌में लगानेका ही उपाय है। भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेसे मन-बुद्धि तो नहीं लगते, पर स्वयं लग जाता है—**'निवसिष्यसि मय्येव'**। कारण कि जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसके मन-बुद्धि लगते हैं। जैसे सुई जहाँ जाती है, धागा वहीं जाता है, ऐसे ही मन-बुद्धि जहाँ जाते हैं, स्वयं वहीं जाता है। संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे मन-बुद्धि संसारमें लग गये और संसारमें मन-बुद्धि लगनेसे जीव स्वयं संसारमें लग गया, इसलिये जीवको संसारसे हटानेके लिये भगवान् मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेकी आज्ञा देते हैं। जैसे सुनार सोनेको शुद्ध करनेके लिये उसको अग्निमें तपाता है तो सोनेमें मिला हुआ विजातीय पदार्थ (खोट) अलग हो जाता है और शुद्ध सोना रह जाता है, ऐसे ही भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि अलग हो जाते हैं और स्वयं भगवान्‌में मिल जाता है अर्थात् केवल भगवान् रह जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११।१४।२७)

विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें फँस जाता है और मेरा स्मरण करनेसे मन मेरेमें विलीन हो जाता है अर्थात् मनकी सत्ता रहती ही नहीं।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि भगवान्‌में लगते नहीं, प्रत्युत लीन हो जाते हैं; क्योंकि मूलमें अपरा प्रकृति भगवान्‌का ही स्वभाव है। भगवानमें लीन होनेपर मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। दूसरे शब्दोंमें, मन-बुद्धि संसारसे तो हट गये, पर भगवान्‌को पकड़ सके नहीं, इसलिये उनकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं, केवल भगवान् रह जाते हैं।

ज्ञानमें स्वरूप मुख्य है और भक्तिमें भगवान् मुख्य हैं। इसलिये ज्ञानी स्वरूपमें स्थित होता है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४।२४) और भक्त भगवान्‌में स्थित होता है—**'निवसिष्यसि मय्येव'**। स्वरूपमें स्थित होनेपर अखण्डरसका अनुभव होता है और भगवान्‌में स्थित होनेपर प्रतिक्षण वर्धमान अनन्तरसका अनुभव होता है। भगवान्‌में स्थित होनेपर फिर भक्त सब जगह भगवान्‌को ही देखता है (गीता—छठे अध्यायका तीसवाँ श्लोक); क्योंकि उसका पहलेसे ही यह भाव है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं।

इस श्लोकमें यह क्रम बताया गया है कि भगवान्‌में पहले साधकका मन लगता है, फिर बुद्धि लगती है, फिर स्वयं लगता है। स्वयं लगनेसे अहम् मिट जाता है।

प्रेममें मन लगता है और श्रद्धामें बुद्धि लगती है। भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य है—भगवान्‌में प्रेम और श्रद्धा होना अर्थात् संसारकी प्रियता और महत्ता न रहकर केवल भगवान्‌में ही प्रियता और महत्ता हो जाना।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

अथ	= अगर (तू)		करनेमें	**अभ्यासयोगेन**	= अभ्यासयोगके द्वारा (तू)
चित्तम्	= मनको	**न, शक्नोषि**	= अपनेको समर्थ नहीं मानता,	**माम्**	= मेरी
मयि	= मुझमें	**ततः**	= तो	**आप्तुम्**	= प्राप्तिकी
स्थिरम्	= अचलभावसे	**धनञ्जय**	= हे धनंजय!	**इच्छ**	= इच्छा कर।
समाधातुम्	= स्थिर (अर्पण)				

व्याख्या—**'अथ चित्तं समाधातुं ...... मामिच्छाप्तुं धनंजय'**—यहाँ **'चित्तम्'** पदका अर्थ 'मन' है। परन्तु इस श्लोकका पीछेके श्लोकमें वर्णित साधनसे सम्बन्ध है, इसलिये **'चित्तम्'** पदसे यहाँ मन और बुद्धि दोनों ही लेना

युक्तिसंगत है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि अगर तू मन-बुद्धिको मेरेमें अचलभावसे स्थापित करनेमें अर्थात् मेरे अर्पण करनेमें अपनेको असमर्थ मानता है, तो अभ्यासयोगके द्वारा मेरेको प्राप्त करनेकी इच्छा कर।

'अभ्यास' और 'अभ्यासयोग' पृथक्-पृथक् हैं। किसी लक्ष्यपर चित्तको बार-बार लगानेका नाम 'अभ्यास' है और समताका नाम 'योग' है। समता रखते हुए अभ्यास करना ही 'अभ्यासयोग' कहलाता है। केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया भजन, नाम-जप आदि 'अभ्यासयोग' है।

अभ्यासके साथ योगका संयोग न होनेसे साधकका उद्देश्य संसार ही रहेगा। संसारका उद्देश्य होनेपर स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई, नीरोगता, अनुकूलता आदिकी अनेक कामनाएँ उत्पन्न होंगी। कामनावाले पुरुषकी क्रियाओंके उद्देश्य भी (कभी पुत्र, कभी धन, कभी मान-बड़ाई आदि) भिन्न-भिन्न रहेंगे (गीता—दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये ऐसे पुरुषकी क्रियामें योग नहीं होगा। योग तभी होगा, जब क्रियामात्रका उद्देश्य (ध्येय) केवल परमात्मा ही हो।

साधक जब भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार नाम-जप आदि करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके मनमें दूसरे अनेक संकल्प भी पैदा होते रहते हैं, अतः साधकको 'मेरा ध्येय भगवत्प्राप्ति ही है'—इस प्रकारकी दृढ़ धारणा करके अन्य सब संकल्पोंसे उपराम हो जाना चाहिये।

'**मामिच्छाप्तुम्**' पदोंसे भगवान् 'अभ्यासयोग' को अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताते हैं।

पीछेके श्लोकमें भगवान्ने अपनेमें मन-बुद्धि अर्पण करनेके लिये कहा। अब इस श्लोकमें अभ्यासयोगके लिये कहते हैं। इससे यह धारणा हो सकती है कि अभ्यासयोग भगवान्में मन-बुद्धि अर्पण करनेका साधन है; अतः पहले अभ्यासके द्वारा मन-बुद्धि भगवान्के अर्पण होंगे, फिर भगवान्की प्राप्ति होगी। परन्तु मन-बुद्धिको अर्पण करनेसे ही भगवत्प्राप्ति होती हो, ऐसा नियम नहीं है। भगवान्के कथनका तात्पर्य यह है कि यदि उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही हो अर्थात् उद्देश्यके साथ साधककी पूर्ण एकता हो तो केवल 'अभ्यास'से ही उसे भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

जब साधक भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे बार-बार नाम-जप, भजन-कीर्तन, श्रवण आदिका अभ्यास करता है, तब उसका अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत् हो जाती है। सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें सम होनेपर भगवत्प्राप्तिकी इच्छा तीव्र हो जाती है। भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होनेपर भगवान्से मिलनेके लिये व्याकुलता पैदा हो जाती है। यह व्याकुलता उसकी अवशिष्ट सांसारिक आसक्ति एवं अनन्त जन्मोंके पापोंको जला डालती है। सांसारिक आसक्ति तथा पापोंका नाश होनेपर उसका एकमात्र भगवान्में ही अनन्य प्रेम हो जाता है और वह भगवान्के वियोगको सहन नहीं कर पाता। जब भक्त भगवान्के बिना नहीं रह सकता, तब भगवान् भी उस भक्तके बिना नहीं रह सकते अर्थात् भगवान् भी उसके वियोगको नहीं सह सकते और उस भक्तको मिल जाते हैं।

साधकको भगवत्प्राप्तिमें देरी होनेका कारण यही है कि वह भगवान्के वियोगको सहन कर रहा है। यदि उसको भगवान्का वियोग असह्य हो जाय, तो भगवान्के मिलनेमें देरी नहीं होगी। भगवान्की देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिसे दूरी है ही नहीं। जहाँ साधक है, वहाँ भगवान् हैं ही। भक्तमें उत्कण्ठाकी कमीके कारण ही भगवत्प्राप्तिमें देरी होती है। सांसारिक सुखभोगकी इच्छाके कारण ही ऐसी आशा कर ली जाती है कि भगवत्प्राप्ति भविष्यमें होगी। जब भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता और तीव्र उत्कण्ठा होगी, तब सुख-भोगकी इच्छाका स्वतः नाश हो जायगा और वर्तमानमें ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

साधकका यदि आरम्भसे ही यह दृढ़ निश्चय हो कि मेरेको तो केवल भगवत्प्राप्ति ही करनी है (चाहे लौकिक दृष्टिसे कुछ भी बने या बिगड़े) तो कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी भी मार्गसे उसे बहुत जल्दी भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

परिशिष्ट भाव—छठे अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें तो केवल '**अभ्यास**' की बात आयी थी; परन्तु यहाँ '**अभ्यासयोग**' की बात आयी है, जिससे कल्याण हो जाता है। केवल अभ्यास हो, योग न हो तो एक स्थिति (अवस्था) बनेगी, पर कल्याण नहीं होगा।

मनका निरोध करना अथवा मनको बार-बार भगवान्में लगाना अभ्यास है। अभ्यासयोगमें मनका निरोध नहीं है, प्रत्युत मनसे सम्बन्ध-विच्छेद है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

अभ्यासे	=(अगर तू) अभ्यास-(योग-) में	**असि**	=है, (तो)	**कर्माणि**	=कर्मोंको
		मत्कर्मपरमः	=मेरे लिये कर्म करनेके परायण	**कुर्वन्**	=करता हुआ
				अपि	=भी (तू)
अपि	=भी (अपनेको)	**भव**	=हो जा।	**सिद्धिम्**	=सिद्धिको
असमर्थः	=असमर्थ (पाता)	**मदर्थम्**	=मेरे लिये	**अवाप्स्यसि**	=प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या—**'अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव'**—यहाँ **'अभ्यासे'** पदका अभिप्राय पीछेके (नवें) श्लोकमें वर्णित 'अभ्यासयोग' से है। गीताकी यह शैली है कि पहले कहे हुए विषयका आगे संक्षेपमें वर्णन किया जाता है। आठवें श्लोकमें भगवान्ने अपनेमें मन-बुद्धि लगानेके साधनको नवें श्लोकमें पुनः **'चित्तं समाधातुम्'** पदोंसे कहा अर्थात् **'चित्तम्'** पदके अन्तर्गत मन-बुद्धि दोनोंका समावेश कर लिया। इसी प्रकार नवें श्लोकमें आये हुए अभ्यासयोगके लिये यहाँ (दसवें श्लोकमें) **'अभ्यासे'** पद आया है।

भगवान् कहते हैं कि अगर तू पूर्वश्लोकमें वर्णित अभ्यासयोगमें भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्म करनेके परायण हो जा। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मों-(वर्णाश्रमधर्मानुसार शरीरनिर्वाह और आजीविका-सम्बन्धी लौकिक एवं भजन, ध्यान, नाम-जप आदि पारमार्थिक कर्मों-) का उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रह न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो। जो कर्म भगवत्प्राप्तिके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं, उनको 'मत्कर्म' कहते हैं। जो साधक इस प्रकार कर्मोंके परायण हैं, वे 'मत्कर्मपरम' कहे जाते हैं। साधकका अपना सम्बन्ध भी भगवान्से हो और कर्मोंका सम्बन्ध भी भगवान्के साथ रहे, तभी मत्कर्मपरायणता सिद्ध होगी।

साधकका ध्येय जब संसार (भोग और संग्रह) नहीं रहेगा, तब निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा छूट जायँगी; क्योंकि निषिद्ध क्रियाओंके अनुष्ठानमें संसारकी 'कामना' ही हेतु है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। अतः भगवत्प्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे साधककी सम्पूर्ण क्रियाएँ शास्त्रविहित और भगवदर्थ ही होंगी।

'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि'— भगवान्ने जिस साधनकी बात इसी श्लोकके पूर्वार्धमें **'मत्कर्मपरमो भव'** पदोंसे कही है, वही बात इन पदोंमें पुनः कही गयी है। भाव यह है कि केवल परमात्माका उद्देश्य होनेसे उस साधककी और जगह स्थिति हो ही कैसे सकती है?

जिस प्रकार भगवान्ने आठवें श्लोकमें मन-बुद्धि अपनेमें अर्पण करनेके साधनको तथा नवें श्लोकमें अभ्यासयोगके साधनको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया, उसी प्रकार यहाँ भगवान् **'मत्कर्मपरमो भव'** (केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो)—इस साधनको भी अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बता रहे हैं।

जैसे धन-प्राप्तिके लिये व्यापार आदि कर्म करनेवाले मनुष्यको ज्यों-ज्यों धन प्राप्त होता है, त्यों-त्यों उसके मनमें धनका लोभ और कर्म करनेका उत्साह बढ़ता है, ऐसे ही साधक जब भगवान्के लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसके मनमें भी भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा और साधन करनेका उत्साह बढ़ता रहता है। उत्कण्ठा तीव्र होनेपर जब उसको भगवान्का वियोग असह्य हो जाता है, तब सर्वत्र परिपूर्ण भगवान् उससे छिपे नहीं रहते। भगवान् अपनी कृपासे उसको अपनी प्राप्ति करा ही देते हैं। यदि साधकका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है और सम्पूर्ण क्रियाएँ वह भगवान्के लिये ही करता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि उसने अपनी सारी समझ, सामग्री, सामर्थ्य और समय भगवत्प्राप्तिके लिये ही लगा दिया। इसके सिवाय वह और कर भी क्या सकता है? भगवान् उस साधकसे इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं रखते। अतः उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् किसी साधन-विशेषसे खरीदे नहीं जा सकते। भगवान्के महत्त्वके सामने सृष्टिमात्रका महत्त्व भी कुछ नहीं है, फिर एक व्यक्तिके द्वारा अर्पित सीमित सामग्री और साधनसे उनका मूल्य चुकाया ही कैसे जा सकता है! अतः अपनी प्राप्तिके लिये भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी योग्यता, सामर्थ्य आदिको मेरी प्राप्तिमें लगा दे अर्थात् अपने पास बचाकर कुछ न रखे और इन योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना भी न समझे।

परिशिष्ट भाव—अभ्यासकी अपेक्षा क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करना सुगम है। कारण कि अभ्यास तो नया काम है, जो करना पड़ता है, पर कर्म स्वतः होते हैं; क्योंकि कर्म करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँधता है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**'। इसलिये कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे मनुष्य सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ-अट्ठाईसवाँ श्लोक)।

'**मदर्थमपि**' पदका तात्पर्य है कि आरम्भसे भगवान्‌के लिये ही कर्म किये जायँ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अथ = अगर
मद्योगम् = मेरे योग-(समता-) के
आश्रितः = आश्रित हुआ (तू)
एतत् = इस-(पूर्वश्लोकमें कहे गये साधन-) को
अपि = भी
कर्तुम् = करनेमें (अपनेको)
अशक्तः = असमर्थ (पाता)
असि = है,
ततः = तो
यतात्मवान् = मन-इन्द्रियोंको वशमें करके
सर्वकर्मफल-त्यागम् = सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग
कुरु = कर।

व्याख्या—'**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः**'—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अपने लिये ही सम्पूर्ण कर्म करनेसे अपनी प्राप्ति बतायी और अब इस श्लोकमें वे सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागरूप साधनकी बात बता रहे हैं। वहाँ भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करनेमें भक्तिकी प्रधानता होनेसे उसे 'भक्तियोग' कहेंगे और यहाँ सर्वकर्मफलत्यागमें केवल फलत्यागकी मुख्यता होनेसे इसे 'कर्मयोग' कहेंगे। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिके ये दोनों ही स्वतन्त्र (पृथक्-पृथक्) साधन हैं।

इस श्लोकमें '**मद्योगमाश्रितः**' पदका सम्बन्ध '**अथैतदप्यशक्तोऽसि**' के साथ मानना ही ठीक मालूम देता है; क्योंकि यदि इसका सम्बन्ध '**सर्वकर्मफलत्यागं कुरु**' के साथ माना जाय, तो भगवान्‌के आश्रयकी मुख्यता हो जानेसे यहाँ 'भक्तियोग' ही हो जायगा। ऐसी दशामें दसवें श्लोकमें कहे हुए भक्तियोगके साधनसे इसकी भिन्नता नहीं रहेगी, जबकि भगवान् दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमशः 'भक्तियोग' और 'कर्मयोग'—दो भिन्न-भिन्न साधन बताना चाहते हैं।

दूसरी बात, भगवान्‌ने इस श्लोकमें '**यतात्मवान्**' (मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सहित शरीरपर विजय प्राप्त करने-वाला) पद भी दिया है। आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता कर्मयोगमें ही है; क्योंकि आत्मसंयमके बिना सर्वकर्म-फलत्याग होना असम्भव है। इसलिये भी '**मद्योगमाश्रितः**' पदका सम्बन्ध '**अथैतदप्यशक्तोऽसि**' के साथ मानना चाहिये, न कि सर्वकर्मफलत्याग करनेकी आज्ञाके साथ।

जिसका भगवान्‌पर तो उतना विश्वास नहीं है, पर भगवान्‌के विधानमें अर्थात् देश-समाजकी सेवा आदि करनेमें अधिक विश्वास है, उसके लिये भगवान् इस श्लोकमें सर्वकर्मफलत्याग-रूप साधन बताते हैं। तात्पर्य है कि अगर वह सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण न कर सके, तो जिस फलको प्राप्त करना उसके हाथकी बात नहीं है, उस फलकी इच्छाका त्याग कर दे—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २। ४७)। फलकी इच्छाका त्याग करके कर्तव्य कर्म करनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

'**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्**'—कर्मयोगके साधनमें स्वाभाविक ही कर्मोंका विस्तार होता है; क्योंकि योगकी प्राप्तिमें अनासक्त भावसे कर्म करना ही हेतु कहा गया है (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। इससे कर्मोंमें फलासक्ति होनेके कारण बँधनेका भय रहता है। अतः '**यतात्मवान्**' पदसे भगवान् कर्मफलत्यागके साधनमें मन-इन्द्रियों आदिके संयमकी आवश्यकता बताते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि मन-इन्द्रियोंका संयम होनेपर कर्मफलत्यागमें भी सुगमता होती है। अगर साधक मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिका संयम नहीं करता, तो स्वाभाविक ही उसके मनद्वारा विषयोंका चिन्तन होगा और उसकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जायगी। इससे उसका

पतन होनेकी बहुत सम्भावना रहेगी (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। त्यागका उद्देश्य होनेसे साधक मन-इन्द्रियोंका संयम सुगमतासे कर सकता है।

यहाँ **'सर्वकर्म'** पद यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंका वाचक है। सर्वकर्मफलत्यागका अभिप्राय स्वरूपसे कर्मफलका त्याग न होकर कर्मफलमें ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदिका त्याग ही है।

कर्मफलत्यागके साधनमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी बात नहीं कही गयी; क्योंकि कर्म करना तो जरूरी है (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। जैसा कि पहले कह चुके हैं, आवश्यकता केवल कर्मों और उनके फलोंमें ममता, आसक्ति, कामना आदिके त्यागकी ही है।

कर्मयोगके साधकको अकर्मण्य नहीं होना चाहिये; क्योंकि कर्मफल-त्यागकी बात सुनकर प्राय: साधक सोचता है कि जब कुछ लेना ही नहीं है, तो फिर कर्मोंको करनेकी क्या जरूरत! इसलिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगकी बात कहते हुए **'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'** 'तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो'— यह कहकर साधकके लिये अकर्मण्यता-(कर्मके त्याग-) का निषेध किया है।

अठारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्‌ने सात्त्विक त्यागके लक्षण बताते हुए कर्मोंमें फलासक्तिके त्यागको ही 'सात्त्विक त्याग' कहा है, न कि स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको।

फलासक्तिका त्याग करके क्रियाओंको करते रहनेसे क्रियाओंको करनेका वेग शान्त हो जाता है और पुरानी आसक्ति मिट जाती है। फलकी इच्छा न रहनेसे कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और नयी आसक्ति पैदा नहीं होती। फिर साधक कृतकृत्य हो जाता है। पदार्थोंमें राग, आसक्ति, कामना, ममता, फलेच्छा आदि ही क्रियाओंका वेग पैदा करनेवाली है। इनके रहते हुए हठपूर्वक क्रियाओंका त्याग करनेपर भी क्रियाओंका वेग शान्त नहीं होता। राग-द्वेष रहनेके कारण साधककी प्रकृति पुन: उसे कर्मोंमें लगा देती है। अत: राग-द्वेषादिका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे ही क्रियाओंका वेग शान्त होता है।

जिन साधकोंकी सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा और भक्ति नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक और लोकहितके कार्य करनेमें ही अधिक श्रद्धा और रुचि है, ऐसे साधकोंके लिये यह (सर्वकर्मफलत्यागरूप) साधन बहुत उपयोगी है।

भगवान्‌ने जहाँ भी कर्मफलत्यागकी बात कही है, वहाँ आसक्ति और फलेच्छाके त्यागका अध्याहार कर लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के मतमें आसक्ति और फलेच्छाका पूरी तरह त्याग होनेसे ही कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका छठा श्लोक)।

सम्पूर्ण कर्मोंके फल-(फलेच्छा-) का त्याग भगवत्-प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है। कर्मफलत्यागसे विषयासक्तिका नाश होकर शान्ति-(सात्त्विक सुख-) की प्राप्ति हो जाती है। उस शान्तिका उपभोग न करनेसे (उसमें सुख-बुद्धि करके उसमें न अटकनेसे) वह शान्ति परमतत्त्वका बोध कराकर उससे अभिन्न करा देती है।

ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने साधक भक्तके पाँच लक्षणोंमें एक लक्षण **'संगवर्जितः'** (आसक्तिसे रहित) बताया था। इस श्लोकमें भगवान् सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागकी बात कहते हैं, जो संसारकी आसक्तिके सर्वथा त्यागसे ही सम्भव है। इस-(सर्वकर्मफलत्याग-)का फल भगवान्‌ने इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति होना बताया है। अत: यह समझना चाहिये कि केवल आसक्तिका सर्वथा त्याग करनेसे भी परमशान्ति अथवा भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—अगर साधक सर्वथा भगवान्‌के लिये कर्म न कर सके तो उसको फलेच्छाका त्याग करके कर्म करना चाहिये; क्योंकि फलेच्छा ही बाँधनेवाली है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा, दूसरे साधनमें असमर्थ होनेपर तीसरा और तीसरे साधनमें असमर्थ होनेपर चौथा साधन बताया। इससे यह शंका हो सकती है कि क्या अन्तमें बताया गया 'सर्वकर्मफलत्याग' साधन सबसे निम्न श्रेणीका है? क्योंकि उसको सबसे अन्तमें कहा गया है तथा भगवान्‌ने उस-(सर्वकर्मफलत्याग-)का कोई फल भी नहीं बताया। इस शंकाका निवारण करते हुए भगवान् सर्वकर्मफलत्यागरूप साधनकी श्रेष्ठता तथा उसका फल बताते हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अभ्यासात्	= अभ्याससे	**विशिष्यते**	= श्रेष्ठ है (और)		त्याग (श्रेष्ठ है);
ज्ञानम्	= शास्त्रज्ञान	**ध्यानात्**	= ध्यानसे (भी)	**हि**	= क्योंकि
श्रेयः	= श्रेष्ठ है,			**त्यागात्**	= त्यागसे
ज्ञानात्	= शास्त्रज्ञानसे	**कर्मफल-त्यागः**	= सब कर्मोंके फलकी इच्छाका	**अनन्तरम्**	= तत्काल ही
ध्यानम्	= ध्यान			**शान्तिः**	= परमशान्ति प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—[भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक-एक साधनमें असमर्थ होनेपर क्रमशः समर्पणयोग, अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म और कर्मफलत्याग—ये चार साधन बताये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमशः पहले साधनकी अपेक्षा आगेका साधन नीचे दर्जेका है, और अन्तमें कहा गया कर्मफलत्यागका साधन सबसे नीचे दर्जेका है। इस बातकी पुष्टि इससे भी होती है कि पहलेके तीन साधनोंमें भगवत्प्राप्तिरूप फलकी बात (**'निवसिष्यसि मय्येव'**, **'मामिच्छाप्तुम्'** तथा **'सिद्धिमवाप्स्यसि'**—इन पदोंद्वारा) साथ-साथ कही गयी; परन्तु ग्यारहवें श्लोकमें जहाँ कर्मफलत्याग करनेकी आज्ञा दी गयी है, वहाँ उसका फल भगवत्प्राप्ति नहीं बताया गया।

उपर्युक्त धारणाओंको दूर करनेके लिये यह बारहवाँ श्लोक कहा गया है। इसमें भगवान्‌ने कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ और तत्काल परमशान्ति देनेवाला बताया है, जिससे कि इस चौथे साधनको कोई निम्न श्रेणीका न समझ ले। कारण कि इस साधनमें आसक्ति, ममता और फलेच्छाके त्यागकी ही प्रधानता होनेसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति समर्पणयोग, अभ्यासयोग एवं भगवदर्थ कर्म करनेसे होती है, ठीक उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्मफलत्यागसे भी होती है।

वास्तवमें उपर्युक्त चारों साधन स्वतन्त्रतासे भगवत्प्राप्ति करानेवाले हैं। साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण ही भगवान्‌ने आठवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अलग-अलग साधन कहे हैं।

जहाँतक कर्मफलत्यागके फल-(भगवत्प्राप्ति-) को अलगसे बारहवें श्लोकमें कहनेका प्रश्न है, उसमें यही विचार करना चाहिये कि समर्पणयोग, अभ्यासयोग एवं भगवदर्थ कर्म करनेसे भगवत्प्राप्ति होती है, यह तो प्रायः प्रचलित ही है; किंतु कर्मफलत्यागसे भी भगवत्प्राप्ति होती है, यह बात प्रचलित नहीं है। इसीलिये प्रचलित साधनोंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता बतानेके लिये बारहवाँ श्लोक कहा गया है और उसीमें कर्मफलत्यागका फल कहना उचित प्रतीत होता है।]

'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्'—महर्षि पतंजलि कहते हैं—**'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।'** (योगदर्शन १। १३) अर्थात् किसी एक विषयमें स्थिति (स्थिरता) प्राप्त करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम 'अभ्यास' है।

यहाँ (इस श्लोकमें) 'अभ्यास' शब्द केवल अभ्यास-रूप क्रियाका वाचक है, अभ्यासयोगका वाचक नहीं; क्योंकि इस (प्राणायाम, मनोनिग्रह आदि) अभ्यासमें शास्त्रज्ञान और ध्यान नहीं है तथा कर्मफलकी इच्छाका त्याग भी नहीं है। जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही योग होता है, जबकि उपर्युक्त अभ्यासमें जडता-(शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि-) का आश्रय रहता है।

यहाँ 'ज्ञान' शब्दका अर्थ शास्त्रज्ञान है, तत्त्वज्ञान नहीं; क्योंकि तत्त्वज्ञान तो सभी साधनोंका फल है। अतः यहाँ जिस ज्ञानकी अभ्याससे तुलना की जा रही है, उस ज्ञानमें न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्मफलत्याग ही है। जिस अभ्यासमें न ज्ञान है, न ध्यान है और न कर्मफलत्याग ही है—ऐसे अभ्यासकी अपेक्षा उपर्युक्त ज्ञान ही श्रेष्ठ है।

शास्त्रोंके अध्ययन और सत्संगके द्वारा आध्यात्मिक जानकारीको तो प्राप्त कर ले, पर न तो उसके अनुसार वास्तविक तत्त्वका अनुभव करे और न ध्यान, अभ्यास और कर्मफलत्यागरूप किसी साधनका अनुष्ठान ही करे—ऐसी (केवल शास्त्रोंकी) जानकारीके लिये यहाँ **'ज्ञानम्'** पद आया है। इस ज्ञानको उपर्युक्त अभ्यासकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहनेका तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक ज्ञानसे रहित अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं होता, जितना अभ्याससे रहित ज्ञान सहायक होता है। कारण कि ज्ञानसे भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा जाग्रत् हो सकती है, जिससे संसारसे ऊँचा उठना जितना सुगम हो सकता है, उतना अभ्यासमात्रसे नहीं।

'ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते'—यहाँ 'ध्यान' शब्द केवल मनकी एकाग्रतारूप क्रियाका वाचक है, ध्यानयोगका वाचक नहीं। इस ध्यानमें शास्त्रज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है। ऐसा ध्यान उस ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, जिस ज्ञानमें अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्याग नहीं है। कारण कि ध्यानसे मनका नियन्त्रण होता है, जब कि केवल शास्त्रज्ञानसे मनका नियन्त्रण नहीं होता। इसलिये मन-नियन्त्रणके कारण ध्यानसे जो शक्ति संचित होती है, वह शास्त्रज्ञानसे नहीं होती। यदि साधक उस शक्तिका सदुपयोग करके परमात्माकी तरफ बढ़ना चाहे, तो जितनी सुगमता उसको होगी, उतनी शास्त्रज्ञानवालेको नहीं। इसके साथ-साथ ध्यान करनेवाले साधकको (अगर वह शास्त्रका अध्ययन करे, तो) मनकी एकाग्रताके कारण वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति बहुत सुगमतासे हो सकती है, जबकि केवल शास्त्राध्यायी साधकको (चाहनेपर भी) मनकी चंचलताके कारण ध्यान लगानेमें कठिनता होती है। [आजकल भी देखा जाय तो शास्त्रका अध्ययन करनेवाले आदमी जितने मिलते हैं, उतने मनकी एकाग्रताके लिये उद्योग करनेवाले नहीं मिलते।]

'ध्यानात्कर्मफलत्यागः'—ज्ञान और कर्मफलत्यागसे रहित 'ध्यान'की अपेक्षा ज्ञान और ध्यानसे रहित 'कर्म-फलत्याग' श्रेष्ठ है। यहाँ कर्मफलत्यागका अर्थ कर्मों तथा कर्मफलोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है, प्रत्युत कर्मों और उनके फलोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग ही है।

उत्पत्ति-विनाशशील सब-की-सब वस्तुएँ कर्मफल हैं। उनकी आसक्तिका त्याग करना ही सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करना है।

कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छा ही संसारमें बन्धनका कारण है। आसक्ति और फलेच्छा न रहनेसे कर्मफलत्यागी पुरुष सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य, पदार्थ आदि जो कुछ मनुष्यके पास है, वह सब-का-सब संसारसे ही मिला हुआ है, उसका व्यक्तिगत नहीं है। इसलिये कर्मफलत्यागी अर्थात् कर्मयोगी मिली हुई (शरीरादि) सब सामग्रीको अपनी और अपने लिये न मानकर उसको निष्कामभावपूर्वक संसारकी ही सेवामें लगा देता है। इस प्रकार मिली हुई सामग्री-(जडता-) का प्रवाह संसार-(जडता-) की ही तरफ हो जानेसे उसका जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उसको परमात्मासे अपने स्वाभाविक और नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव हो जाता है। इसलिये कर्मयोगीके लिये अलगसे ध्यान लगानेकी जरूरत नहीं है। अगर वह ध्यान लगाना भी चाहे, तो कोई सांसारिक कामना न होनेके कारण वह सुगमतापूर्वक ध्यान लगा सकता है, जब कि सकामभावके कारण सामान्य साधकको ध्यान लगानेमें कठिनाई होती है।

गीताके छठे अध्यायमें (ध्यानयोगके प्रकरणमें) भगवान्‌ने बताया है कि ध्यानका अभ्यास करते-करते अन्तमें जब साधकका चित्त एकमात्र परमात्मामें अच्छी तरहसे स्थित हो जाता है, तब वह सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो जाता है और चित्तके उपराम होनेपर वह स्वयंसे परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाता है (छठे अध्यायके अठारहवेंसे बीसवें श्लोकतक)। परन्तु कर्मयोगी सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके तत्काल स्वयंसे परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक)। कारण यह है कि ध्यानमें परमात्मामें चित्त लगाया जाता है, इसलिये उसमें चित्त-(जडता-) का आश्रय रहनेके कारण चित्त-(जडता-) के साथ बहुत दूरतक सम्बन्ध बना रहता है। परन्तु कर्मयोगमें ममता और कामनाका त्याग किया जाता है, इसलिये उसमें ममता और कामना- (जडता-) का त्याग करनेके साथ ही चित्त-(जडता-) का भी स्वतः त्याग हो जाता है। इसलिये परिणाममें समानरूपसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भी ध्यानका अभ्यास करनेवाले साधकको ध्येयमें चित्त लगानेमें कठिनाई होती है तथा उसे परमात्मतत्त्वका अनुभव भी देरीसे होता है, जब कि कर्मयोगीको परमात्मतत्त्वका अनुभव सुगमतापूर्वक तथा शीघ्रतासे होता है। इससे सिद्ध होता है कि ध्यानकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन श्रेष्ठ है।

अपना कुछ नहीं, अपने लिये कुछ नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ नहीं करना है—यही कर्मयोगका मूल महामन्त्र है, जिसके कारण यह सब साधनोंसे विलक्षण हो जाता है—**'कर्मयोगो विशिष्यते'** (गीता ५। २)।

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'—यहाँ **'त्यागात्'** पद 'कर्मफलत्याग'के लिये ही आया है। त्यागके स्वरूपको विशेषरूपसे समझनेकी आवश्यकता है। त्याग न तो उसका हो सकता है, जो अपना स्वरूप है और न उसीका हो सकता है, जिसके साथ अपना सम्बन्ध नहीं है। जैसे, अपना स्वरूप होनेके कारण प्रकाश और उष्णतासे सूर्यका वियोग नहीं हो सकता, और जिससे वियोग नहीं हो सकता, उसका त्याग

करना असम्भव है। इसके विपरीत अपना स्वरूप न होनेके कारण अन्धकार और शीतलतासे सूर्यका वियोग भी कहना नहीं बनता; क्योंकि अपना स्वरूप न होनेके कारण उनका वियोग अथवा त्याग नित्य और स्वत:सिद्ध है। इसलिये वास्तवमें त्याग उसीका होता है जो अपना नहीं है, पर भूलसे अपना मान लिया गया है।

जीव स्वयं चेतन और अविनाशी है तथा संसार जड और विनाशी है। जीव भूलसे (अपने अंशी परमात्माको भूलकर) विजातीय संसारको अपना मान लेता है। इसलिये संसारसे माने हुए सम्बन्धका ही त्याग करनेकी आवश्यकता है।

त्याग असीम होता है। संसारके सम्बन्धमें तो सीमा होती है, पर संसारके त्याग-(सम्बन्ध-विच्छेद) में सीमा नहीं होती। तात्पर्य है कि जिन वस्तुओंसे हम अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, उन वस्तुओंकी तो सीमा होती है, पर उन वस्तुओंका त्याग असीम होता है। त्याग करते ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति भी असीम होती है। कारण कि परमात्मतत्त्व देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिकी सीमासे रहित (असीम) है। सीमित वस्तुओंके मोहके कारण ही उस असीम परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं होता।

'कर्मफलत्याग' में संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग हो जाता है। इसलिये यहाँ **'त्यागात्'** पद कर्मों और उनके फलों (संसार)-के साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके अर्थमें ही आया है। यही त्यागका वास्तविक स्वरूप है।

त्यागके अन्तर्गत जप, भजन, ध्यान, समाधि आदिके फलका त्याग भी समझना चाहिये। कारण कि जबतक जप, भजन, ध्यान, समाधि अपने लिये की जाती है, तबतक व्यक्तित्व बना रहनेसे बन्धन बना रहता है। अत: अपने लिये किया हुआ ध्यान, समाधि आदि भी बन्धन ही है। इसलिये किसी भी क्रियाके साथ अपने लिये कुछ भी चाह न रखना ही 'त्याग' है। वास्तविक त्यागमें त्याग-वृत्तिसे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

यहाँ **'शान्तिः'** पदका तात्पर्य परमशान्तिकी प्राप्ति है। इसीको भगवत्प्राप्ति कहते हैं।

अभ्यास, ज्ञान और ध्यान—तीनों साधनोंसे वस्तुत: कर्मफलत्यागरूप साधन श्रेष्ठ है। जबतक साधकमें फलकी आसक्ति रहती है, तबतक वह (जडताका आश्रय रहनेसे) मुक्त नहीं हो सकता (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। इसलिये फलासक्तिके त्यागकी जरूरत अभ्यास, ज्ञान और ध्यान— तीनों ही साधनोंमें है। जडता अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका सम्बन्ध ही अशान्तिका खास कारण है। कर्मफलत्याग अर्थात् कर्मयोगमें आरम्भसे ही कर्मों और उनके फलोंमें आसक्तिका त्याग किया जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। इसलिये जडताका सम्बन्ध न रहनेसे कर्मयोगीको शीघ्र परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

कर्मफलत्याग-सम्बन्धी विशेष बात

'कर्मफलत्याग' कर्मयोगका ही दूसरा नाम है। कारण कि कर्मयोगमें 'कर्मफलत्याग' ही मुख्य है। यह कर्मयोग भगवान् श्रीकृष्णके अवतारसे बहुत पहले ही लुप्तप्राय हो गया था (गीता—चौथे अध्यायका दूसरा श्लोक)। भगवान्ने अर्जुनको निमित्त बनाकर कृपापूर्वक इस कर्मयोगको पुन: प्रकट किया (गीता—चौथे अध्यायका तीसरा श्लोक)। भगवान्ने इसको प्रकट करके प्रत्येक परिस्थितिमें प्रत्येक मनुष्यको कल्याणका अधिकार प्रदान किया, अन्यथा अध्यात्ममार्गके विषयमें कभी यह सोचा ही नहीं जा सकता कि एकान्तके बिना, कर्मोंको छोड़े बिना, वस्तुओंका त्याग किये बिना, स्वजनोंके त्यागके बिना—प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है!

कर्मयोगमें फलासक्तिका त्याग ही मुख्य है। स्वस्थता-अस्वस्थता, धनवत्ता-निर्धनता, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ कर्मोंके फलरूपमें आती हैं। इनके साथ राग-द्वेष रहनेसे कभी परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती (गीता—दूसरे अध्यायके बयालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक)।

उत्पन्न होनेवाली मात्र वस्तुएँ कर्मफल हैं। जो फलरूपमें मिला है, वह सदा रहनेवाला नहीं होता; क्योंकि जब कर्म सदा नहीं रहता, तब उससे उत्पन्न होनेवाला फल सदा कैसे रहेगा? इसलिये उसमें आसक्ति, ममता करना भूल ही है। जो फल अभी नहीं मिला है, उसकी कामना करना भी भूल है। अत: फलासक्तिका त्याग कर्मयोगका बीज है।

कर्मयोगमें क्रियाओंकी प्रधानता प्रतीत होती है और

शरीरादि जड पदार्थोंके बिना क्रियाओंका होना सम्भव नहीं है, इसलिये कर्मों एवं फलोंसे छुटकारा पाना कठिन मालूम देता है। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो मिली हुई कर्म-सामग्री-(शरीरादि जड-पदार्थों-) को अपनी तथा अपने लिये माननेसे ही फलासक्तिका त्याग कठिन मालूम देता है। शरीरादि प्राप्त-सामग्रीमें किसी प्रकारकी आसक्ति न रखकर कर्तव्य-कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। वास्तवमें क्रियाएँ कभी बन्धनकारक नहीं होतीं। बन्धनका मूल हेतु कामना और फलासक्ति है। कामना और फलासक्तिके मिटनेपर सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायके उन्नीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक)।

भगवान्‌ने कर्मयोगको कर्मसंन्याससे भी श्रेष्ठ बताया है (गीता—पाँचवें अध्यायका दूसरा श्लोक)। भगवान्‌के मतमें स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेवाला व्यक्ति संन्यासी नहीं है, प्रत्युत कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला कर्मयोगी ही संन्यासी है (गीता—छठे अध्यायका पहला श्लोक)। आसक्तिरहित कर्मयोगी सभी संकल्पोंसे मुक्त होकर सुगमतापूर्वक योगारूढ़ हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)। इसके विपरीत जो कर्मों तथा उनके फलोंको अपना और अपने लिये मानकर सुख-भोगकी इच्छा रखते हैं, वे वास्तवमें पापका ही भोग करते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। अतः फलासक्ति ही संसारमें बन्धनका मुख्य कारण है— **'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। इसका त्याग ही वास्तवमें त्याग है (गीता—अठारहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

गीता फलासक्तिके त्यागपर जितना जोर देती है, उतना और किसी साधनपर नहीं। दूसरे साधनोंका वर्णन करते समय भी कर्मफलत्यागको उनके साथ रखा गया है। भगवान्‌के मतानुसार त्याग वही है, जिसमें निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन हो और फलोंमें किसी प्रकारकी आसक्ति न हो (गीता—अठारहवें अध्यायका छठा श्लोक)। उत्तम-से-उत्तम कर्मोंमें भी आसक्ति न हो और साधारण-से-साधारण कर्मोंमें भी द्वेष न हो; क्योंकि कर्म तो उत्पन्न होकर समाप्त हो जायँगे, पर उनमें होनेवाली आसक्ति (राग) और द्वेष रह जायगा, जो बन्धनका हेतु है। इसके विपरीत अहंभाव तथा राग-द्वेषसे रहित मनुष्यके सामने समस्त प्राणियोंका संहाररूप कर्तव्य-कर्म भी आ जाय, तो भी वह बँध नहीं सकता (गीता—अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। इसीलिये भगवान् 'कर्मफल-त्याग' को तप, ज्ञान, कर्म, अभ्यास, ध्यान आदि साधनोंसे श्रेष्ठ बताते हैं। दूसरे साधनोंमें क्रियाएँ तो उत्तम प्रतीत होती हैं, पर विशेष लाभ दिखायी नहीं देता तथा श्रम भी करना पड़ता है। परन्तु फलासक्तिका त्याग कर देनेपर न तो कोई नये कर्म करने पड़ते हैं, न आश्रम, देश आदिका परिवर्तन ही करना पड़ता है, प्रत्युत साधक जहाँ है, जो करता है, जैसी परिस्थितिमें है, उसीमें (फलासक्तिके त्यागसे) बहुत सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है।

नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है, प्राप्ति नहीं। जहाँ 'परमात्माकी प्राप्ति' कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ नित्यप्राप्तकी प्राप्ति या अनुभव ही मानना चाहिये। वह प्राप्ति साधनोंसे नहीं होती, प्रत्युत जडताके त्यागसे होती है। ममता, कामना और आसक्ति ही जडता है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, पदार्थ आदिको 'मैं' या 'मेरा' मानना ही जडता है। ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदि साधन करते-करते जब जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, तभी नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है। इस जडताका त्याग जितना कर्मफलत्यागसे अर्थात् कर्मयोगसे सुगम होता है, उतना ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदिसे नहीं। कारण कि ज्ञानादि साधनोंमें शरीरादिको अपना और साधनको अपने लिये मानते रहनेसे जडता-(शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ-) से विशेष सम्बन्ध बना रहता है। इन साधनोंका लक्ष्य परमात्मप्राप्ति होनेसे आखिरमें सफलता तो मिल जाती है; किन्तु उसमें देरी और कठिनाई होती है। परन्तु कर्मयोगमें आरम्भसे ही जडताके त्यागका लक्ष्य रहता है। जडताका सम्बन्ध ही नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूतिमें प्रधान बाधा है—यह बात अन्य साधनोंमें स्पष्ट प्रतीत नहीं होती।

जब साधक यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि मेरेको कभी किसी परिस्थितिमें मन, वाणी अथवा क्रियासे चोरी, झूठ, व्यभिचार, हिंसा, छल, कपट, अभक्ष्य-भक्षण आदि कोई शास्त्र-विरुद्ध कर्म नहीं करने हैं, तब उसके द्वारा स्वतः विहित कर्म होने लगते हैं।

साधकको निषिद्ध कर्मोंके त्यागका ही निश्चय करना चाहिये, न कि विहित कर्मोंको करनेका। कारण कि अगर साधक विहित कर्मोंको करनेका निश्चय करता है, तो उसमें विहित कर्म करनेका अभिमान आ जायगा, जिससे उसका 'अहम्' सुरक्षित रहेगा। विहित कर्म करनेका अभिमान

रहनेसे निषिद्ध कर्म होते हैं। परन्तु 'मैं निषिद्ध कर्म नहीं करूँगा' इस निषेधात्मक निश्चयमें किसी योग्यता, सामर्थ्यकी अपेक्षा न रहनेके कारण साधकमें अभिमान नहीं आता। निषिद्ध कर्मोंके त्यागमें भी मूर्खतासे अभिमान आ सकता है। अभिमान आनेपर विचार करे कि जो नहीं करना चाहिये,वह नहीं किया तो इसमें विशेषता किस बातकी? फलकी कामना भी तभी होती है, जब कुछ किया जाता है। जब कुछ किया ही नहीं, केवल निषिद्ध कर्मका त्याग ही किया है,* तब फलकी कामना क्यों होगी? अत: करनेका अभिमान न रहनेसे फलासक्तिका त्याग स्वत: हो जाता है। फलासक्तिका त्याग होनेपर शान्ति स्वत:सिद्ध है।

साधन-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमश: जो तीन साधन (अभ्यासयोग, भगवदर्थ-कर्म और कर्मफल-त्याग) बताये हैं, विचारपूर्वक देखा जाय तो उनमेंसे (कर्मफलत्यागको छोड़कर) प्रत्येक साधनमें शेष दोनों साधन भी आ जाते हैं; जैसे—(१)अभ्यासयोगमें भगवान्‌के लिये भजन, नाम-जप आदि क्रियाएँ करनेसे वह भगवदर्थ है ही और नाशवान् फलकी कामना न होनेसे उसमें कर्मफलत्याग भी है, (२) भगवदर्थ-कर्ममें भगवान्‌के लिये कर्म होनेसे अभ्यासयोग भी है और नाशवान् फलकी कामना न होनेसे कर्मफलत्याग भी है।

वास्तवमें साधकको सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्‌देश्यको दृढ़ करना चाहिये। इसके बाद उसे यह पहचानना चाहिये कि उसका सम्बन्ध वास्तवमें किसके साथ है। फिर चाहे कोई भी साधन करे—अभ्यास करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करे अथवा कर्मफलत्याग करे, वही साधन उसके लिये श्रेष्ठ हो जायगा। जब साधकका यह लक्ष्य हो जायगा कि उसे भगवान्‌को ही प्राप्त करना है और वह यह भी पहचान लेगा कि अनादिकालसे उसका भगवान्‌के साथ स्वत:सिद्ध सम्बन्ध है, तब कोई भी साधन उसके लिये छोटा नहीं रह जायगा। किसी साधनका छोटा या बड़ा होना लौकिक दृष्टिसे ही है। वास्तवमें मुख्यता उद्‌देश्यकी ही है। अत: साधकको चाहिये कि वह अपने उद्‌देश्यमें कभी किंचिन्मात्र भी शिथिलता न आने दे।

किसी साधनकी सुगमता या कठिनता साधककी 'रुचि' और 'उद्‌देश्य' पर निर्भर करती है। रुचि और उद्‌देश्य एक भगवान्‌का होनेसे साधन सुगम होता है तथा रुचि संसारकी और उद्‌देश्य भगवान्‌का होनेसे साधन कठिन हो जाता है।

जैसे, भूख सबकी एक ही होती है और भोजन करनेपर तृप्तिका अनुभव भी सबको एक ही होता है, पर भोजनकी रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होनेके कारण भोज्य-पदार्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं, पर भगवान्‌की अप्राप्तिका दु:ख तथा भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा (भूख) सभी साधकोंमें एक ही होती है। साधक चाहे किसी भी श्रेणीका क्यों न हो, साधनकी पूर्णताके बाद भगवत्प्राप्तिरूप आनन्दकी अनुभूति (तृप्ति) भी सबको एक-जैसी ही होती है।

इस प्रकरणमें अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान्‌ने मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये चार साधन बताये हैं—(१) समर्पणयोग, (२) अभ्यासयोग, (३) भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान और (४) सर्वकर्मफल-त्याग। यद्यपि चारों साधनोंका फल भगवत्प्राप्ति ही है, तथापि साधकोंमें रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण ही भिन्न-भिन्न साधनोंका वर्णन हुआ है। वास्तवमें चारों ही साधन समानरूपसे स्वतन्त्र और श्रेष्ठ हैं। इसलिये साधक जो भी साधन अपनाये, उसे उस साधनको सर्वोपरि मानना चाहिये।

अपने साधनको किसी भी तरह हीन (निम्नश्रेणीका) नहीं मानना चाहिये और साधनकी सफलता-(भगवत्प्राप्ति-) के विषयमें कभी निराश भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि कोई भी साधन निम्नश्रेणीका नहीं होता। अगर साधकका एकमात्र उद्‌देश्य भगवत्प्राप्ति हो, साधन उसकी रुचि, विश्वास तथा योग्यताके अनुसार हो, साधन पूरी सामर्थ्य और तत्परता-(लगन-) से किया जाय और भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा भी तीव्र हो तो सभी साधन एक समान हैं। साधकको उद्‌देश्य, सामर्थ्य और तत्परताके विषयमें कभी हतोत्साह नहीं होना चाहिये। भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी सामर्थ्य और योग्यताको साधनमें लगा दे।

*** निषिद्ध कर्म न करनेका निश्चय होनेपर दो अवस्थाएँ होती हैं—या तो विहित कर्मोंमें प्रवृत्ति होगी या सर्वथा निवृत्ति। विहित कर्मोंमें प्रवृत्तिसे अन्त:करण निर्मल होता है और सर्वथा निवृत्ति होनेसे परमात्मामें स्थिति होती है। सर्वथा निवृत्तिका तात्पर्य वासनारहित अवस्थासे है, न कि अकर्मण्यता या आलस्यसे; क्योंकि आलस्य आदि भी निषिद्ध कर्म है।**

साधक चाहे भगवत्तत्त्वको ठीक-ठीक न जाने, पर सर्वज्ञ भगवान् तो उसके उद्देश्य, भाव, सामर्थ्य, तत्परता आदिको अच्छी तरह जानते ही हैं। यदि साधक अपने उद्देश्य, भाव, चेष्टा, तत्परता, उत्कण्ठा आदिमें किसी प्रकारकी कमी न आने दे तो भगवान् स्वयं उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। वास्तवमें अपने उद्योग, बल, ज्ञान आदिकी कीमतसे भगवान्की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अगर भगवान्के दिये हुए बल, ज्ञान आदिको भगवान्की प्राप्तिके लिये ही लगा दिया जाय तो वे साधकको कृपापूर्वक अपनी प्राप्ति करा देते हैं।

संसारमें भगवत्प्राप्ति ही सबसे सुगम है और इसके सभी अधिकारी हैं; क्योंकि इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है। सब प्राणियोंके कर्म भिन्न-भिन्न होनेके कारण किन्हीं दो व्यक्तियोंको भी संसारके पदार्थ एक समान नहीं मिल सकते, जब कि (भगवान् एक होनेसे) भगवत्प्राप्ति सबको एक समान ही होती है; क्योंकि भगवत्प्राप्ति कर्मजन्य नहीं है।

भगवान्की प्राप्तिमें संसारसे वैराग्य और भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा—ये दो बातें ही मुख्य हैं। इन दोनोंमेंसे किसी भी एक साधनके तीव्र होनेपर भगवत्प्राप्ति हो जाती है। फिर भी भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठामें विशेष शक्ति है।

ऊपर जो चार साधन बताये गये हैं, उनमेंसे प्रथम तीन साधन तो मुख्यतः भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा जाग्रत् करनेवाले हैं, और चौथा साधन (कर्मफलत्याग) मुख्यतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है।

साधन कोई भी हो; जब सांसारिक भोग दुःखदायी प्रतीत होने लगेंगे तथा भोगोंका हृदयसे त्याग होगा, तब (लक्ष्य भगवान् होनेसे) भगवान्की ओर स्वतः प्रगति होगी और भगवान्की कृपासे ही उनकी प्राप्ति हो जायगी।

इसी तरह जब भगवान् परमप्रिय लगने लगेंगे, उनके बिना रहा नहीं जायगा, उनके वियोगमें व्याकुलता होने लगेगी, तब शीघ्र ही भगवान्की प्राप्ति हो जायगी।

परिशिष्ट भाव—अभ्यास, शास्त्रज्ञान और ध्यान—ये तीनों तो करणसापेक्ष हैं, पर कर्मफलत्याग करणनिरपेक्ष है। कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ बतानेका कारण यह है कि लोगोंकी इस साधनमें निकृष्टबुद्धि है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्मफलत्याग पहलेके तीनों साधनोंसे श्रेष्ठ है। वास्तवमें ये चारों ही साधन श्रेष्ठ हैं और उन साधकोंके लिये हैं, जिनका उद्देश्य त्यागका है।

इस श्लोकमें आये चार साधनोंके अन्तर्गत दसवें श्लोकमें आये **'मदर्थमपि कर्माणि'** (भगवान्के लिये कर्म करना) को नहीं लिया गया है। इसका कारण यह है कि **'मदर्थमपि कर्माणि'** अर्थात् भक्तिमें ही साधनकी पूर्णता हो जाती है। अतः भक्ति और त्याग—दोनों ही साधन श्रेष्ठ हैं।

कर्मफलत्यागसे कर्मफलकी इच्छाका त्याग समझना चाहिये। इच्छा भीतर होती है और फलत्याग बाहर होता है। फलत्याग करनेपर भी भीतरमें उसकी इच्छा रह सकती है। अतः साधकका उद्देश्य कर्मफलकी इच्छाके त्यागका रहना चाहिये। इच्छाका त्याग होनेपर जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहता। मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है।

सम्बन्ध—भगवान्ने निर्गुण-निराकार ब्रह्म और सगुण-साकार भगवान्की उपासना करनेवाले उपासकोंमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ बताकर अर्जुनको सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा दी। सगुण-उपासनाके अन्तर्गत भगवान्ने आठवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अपनी प्राप्तिके चार साधन बताये। अब तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान् पाँच प्रकरणोंमें चारों साधनोंसे सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए अपने प्रिय भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं। पहला प्रकरण तेरहवें और चौदहवें दो श्लोकोंका है, जिसमें सिद्ध भक्तके बारह लक्षण बताये गये हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

सर्वभूतानाम्	= सब प्राणियोंमें	**समदुःखसुखः**	= सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम,	**मयि**	= मुझमें
अद्वेष्टा	= द्वेषभावसे रहित	**क्षमी**	= क्षमाशील,	**अर्पित-मनोबुद्धिः**	= अर्पित मन-बुद्धिवाला
च	= और	**सततम्**	= निरन्तर	**यः**	= जो
मैत्रः	= मित्रभाववाला (तथा)	**सन्तुष्टः**	= सन्तुष्ट,	**मद्भक्तः**	= मेरा भक्त है,
करुणः	= दयालु	**योगी**	= योगी,	**सः**	= वह
एव	= भी (और)	**यतात्मा**	= शरीरको वशमें किये हुए,	**मे**	= मुझे
निर्ममः	= ममतारहित,	**दृढनिश्चयः**	= दृढ़ निश्चयवाला,	**प्रियः**	= प्रिय है।
निरहङ्कारः	= अहंकाररहित,				

व्याख्या—**'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'**—अनिष्ट करनेवालोंके दो भेद हैं—(१) इष्टकी प्राप्तिमें अर्थात् धन, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिकी प्राप्तिमें बाधा पैदा करनेवाले और (२) अनिष्ट पदार्थ, क्रिया, व्यक्ति, घटना आदिसे संयोग करानेवाले। भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और सिद्धान्तके प्रतिकूल चाहे कोई कितना ही, किसी प्रकारका व्यवहार करे—इष्टकी प्राप्तिमें बाधा डाले, किसी प्रकारकी आर्थिक और शारीरिक हानि पहुँचाये, पर भक्तके हृदयमें उसके प्रति कभी किंचिन्मात्र भी द्वेष नहीं होता। कारण कि वह प्राणिमात्रमें अपने प्रभुको ही व्याप्त देखता है, ऐसी स्थितिमें वह विरोध करे तो किससे करे—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस ७। ११२ ख)

इतना ही नहीं; वह तो अनिष्ट करनेवालोंकी सब क्रियाओंको भी भगवान्‌का कृपापूर्ण मंगलमय विधान ही मानता है!

प्राणिमात्र स्वरूपसे भगवान्‌का ही अंश है। अतः किसी भी प्राणीके प्रति थोड़ा भी द्वेषभाव रहना भगवान्‌के प्रति ही द्वेष है। इसलिये किसी प्राणीके प्रति द्वेष रहते हुए भगवान्‌से अभिन्नता तथा अनन्यप्रेम नहीं हो सकता। प्राणिमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित होनेपर ही भगवान्‌में पूर्ण प्रेम हो सकता है। इसलिये भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति द्वेषका सर्वथा अभाव होता है।

'मैत्रः करुण एव च'*—भक्तके अन्तःकरणमें प्राणिमात्रके प्रति केवल द्वेषका अत्यन्त अभाव ही नहीं होता, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवद्भाव होनेके नाते उसका सबसे मैत्री और दयाका व्यवहार भी होता है। भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९)। भगवान्‌का स्वभाव भक्तमें अवतरित होनेके कारण भक्त भी सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् होता है—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भागवत ३। २५। २१)। इसलिये भक्तका भी सभी प्राणियोंके प्रति बिना किसी स्वार्थके स्वाभाविक ही मैत्री और दयाका भाव रहता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस ७। ४७। ३)

अपना अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी भक्तके द्वारा मित्रताका व्यवहार होता है; क्योंकि उसका भाव यह रहता है कि अनिष्ट करनेवालेने अनिष्टरूपमें भगवान्‌का विधान ही प्रस्तुत किया है। अतः उसने जो कुछ किया है, मेरे लिये ठीक ही किया है। कारण कि भगवान्‌का विधान सदैव मंगलमय होता है। इतना ही नहीं, भक्त यह मानता है कि मेरा अनिष्ट करनेवाला (अनिष्टमें निमित्त बनकर) मेरे पूर्वकृत पापकर्मोंका नाश कर रहा है; अतः वह विशेषरूपसे आदरका पात्र है।

साधकमात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना ही चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पिछले पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। जब सामान्य साधकमें भी अनिष्ट करनेवालेके प्रति मैत्री और करुणाका भाव रहता है, फिर सिद्ध भक्तका तो कहना ही क्या है? सिद्ध भक्तका तो उसके प्रति ही क्या, प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दयाका विलक्षण भाव रहता है।

पातंजलयोगदर्शनमें चित्त-शुद्धिके चार हेतु बताये गये हैं—

* **यहाँ भक्तके जो लक्षण बताये गये हैं, वे ज्ञानी (गुणातीत) पुरुषोंके (गीता—चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक वर्णित) लक्षणोंकी अपेक्षा भी अधिक एवं विलक्षण हैं। 'मैत्रः' और 'करुणः' पद भी यहीं—भक्तके लक्षणोंमें ही आये हैं।**

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।' (१। ३३)

'सुखियोंके प्रति मैत्री, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता (प्रसन्नता) और पापात्माओंके प्रति उपेक्षाके भावसे चित्तमें निर्मलता आती है।'

परन्तु भगवान्‌ने इन चारों हेतुओंको दोमें विभक्त कर दिया है—**'मैत्रः च करुणः।'** तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्तका सुखियों और पुण्यात्माओंके प्रति **'मैत्री'** का भाव तथा दुःखियों और पापात्माओंके प्रति **'करुणा'** का भाव रहता है।

दुःख पानेवालेकी अपेक्षा दुःख देनेवालेपर (उपेक्षाका भाव न होकर) दया होनी चाहिये; क्योंकि दुःख पानेवाला तो (पुराने पापोंका फल भोगकर) पापोंसे छूट रहा है, पर दुःख देनेवाला नया पाप कर रहा है। अतः दुःख देनेवाला दयाका विशेष पात्र है।

'निर्ममः'—यद्यपि भक्तका प्राणिमात्रके प्रति स्वाभाविक ही मैत्री और करुणाका भाव रहता है, तथापि उसकी किसीके प्रति किंचिन्मात्र भी ममता नहीं होती। प्राणियों और पदार्थोंमें ममता (मेरेपनका भाव) ही मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाली होती है। भक्त इस ममतासे सर्वथा रहित होता है। उसकी अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें भी बिलकुल ममता नहीं होती। साधकसे भूल यह होती है कि वह प्राणियों और पदार्थोंसे तो ममताको हटानेकी चेष्टा करता है, पर अपने शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे ममता हटानेकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता। इसीलिये वह सर्वथा निर्मम नहीं हो पाता।

'निरहंकारः'—शरीर, इन्द्रियाँ आदि जड-पदार्थोंको अपना स्वरूप माननेसे अहंकार उत्पन्न होता है।

भक्तकी अपने शरीरादिके प्रति किंचिन्मात्र भी अहंबुद्धि न होनेके कारण तथा केवल भगवान्‌से अपने नित्य सम्बन्धका अनुभव हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणमें स्वतः श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण प्रकट होने लगते हैं। इन गुणोंको भी वह अपने गुण नहीं मानता, प्रत्युत (दैवी सम्पत्ति होनेसे) भगवान्‌के ही मानता है। 'सत्'-(परमात्मा-)के होनेके कारण ही ये गुण 'सद्‌गुण' कहलाते हैं। ऐसी दशामें भक्त उनको अपना मान ही कैसे सकता है! इसलिये वह अहंकारसे सर्वथा रहित होता है।

'समदुःखसुखः'—भक्त सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम रहता है अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलता उसके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार पैदा नहीं कर सकते।

गीतामें 'सुख-दुःख' पद अनुकूलता-प्रतिकूलताकी परिस्थिति-(जो सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें हेतु है) के लिये तथा अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये भी आया है।

अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी बनाकर ही उसे बाँधती है। इसलिये सुख-दुःखमें सम होनेका अर्थ है—अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर अपनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना।

भक्तके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सिद्धान्त आदिके अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिका संयोग या वियोग होनेपर उसे अनुकूलता और प्रतिकूलताका 'ज्ञान' तो होता है, पर उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि कोई 'विकार' उत्पन्न नहीं होता। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिये कि किसी परिस्थितिका ज्ञान होना अपने-आपमें कोई दोष नहीं है, प्रत्युत उससे अन्तःकरणमें विकार उत्पन्न होना ही दोष है। भक्त राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है। जैसे, प्रारब्धानुसार भक्तके शरीरमें कोई रोग होनेपर उसे शारीरिक पीड़ाका ज्ञान (अनुभव) तो होगा; किन्तु उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं होगा।

'क्षमी'—अपना किसी तरहका भी अपराध करने-वालेको किसी भी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे क्षमा कर देनेवालेको **'क्षमी'** कहते हैं।

भक्तके लक्षणोंमें पहले **'अद्वेष्टा'** पद देकर भगवान्‌ने भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति द्वेषका अभाव बताया, अब यहाँ **'क्षमी'** पदसे यह बताते हैं कि भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति ऐसा भाव रहता है कि उसको भगवान् अथवा अन्य किसीके द्वारा भी दण्ड न मिले। ऐसा क्षमाभाव भक्तकी एक विशेषता है।

'सन्तुष्टः सततम्'*—जीवको मनके अनुकूल प्राणी,

*** ऐसे संतोषीके लिये भागवतकार कहते हैं—**

सदा संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः। शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥

(श्रीमद्भागवत ७। १५। १७)

'जैसे पैरोंमें जूते पहनकर चलनेवालेको कंकड़ और काँटोंसे कोई भय नहीं होता, ऐसे ही जिसके मनमें संतोष है, उसके लिये सर्वदा सब जगह सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं।'

पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिके संयोगमें और मनके प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिके वियोगमें एक संतोष होता है। विजातीय और अनित्य पदार्थोंसे होनेके कारण यह संतोष स्थायी नहीं रह पाता। स्वयं नित्य होनेके कारण जीवको नित्य परमात्माकी अनुभूतिसे ही वास्तविक और स्थायी संतोष होता है।

भगवान्‌को प्राप्त होनेपर भक्त नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहता है; क्योंकि न तो उसका भगवान्‌से कभी वियोग होता है और न उसको नाशवान् संसारकी कोई आवश्यकता ही रहती है। अतः उसके असंतोषका कोई कारण ही नहीं रहता। इस संतुष्टिके कारण वह संसारके किसी भी प्राणी-पदार्थके प्रति किंचिन्मात्र भी महत्त्वबुद्धि नहीं रखता*।

'सन्तुष्टः' के साथ **'सततम्'** पद देकर भगवान्‌ने भक्तके उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले संतोषकी ओर ही लक्ष्य कराया है, जिसमें न तो कभी कोई अन्तर पड़ता है और न कभी अन्तर पड़नेकी सम्भावना ही रहती है। कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी भी योगमार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले महापुरुषमें ऐसी संतुष्टि (जो वास्तवमें है) निरन्तर रहती है।

'योगी'—भक्तियोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त (नित्य-निरन्तर परमात्मासे संयुक्त) पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है।

वास्तवमें किसी भी मनुष्यका परमात्मासे कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं और सम्भव ही नहीं। इस वास्तविकताका जिसने अनुभव कर लिया है, वही 'योगी' है।

'यतात्मा'—जिसका मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरपर पूर्ण अधिकार है, वह 'यतात्मा' है। सिद्ध भक्तको मन-बुद्धि आदि वशमें करने नहीं पड़ते, प्रत्युत ये स्वाभाविक ही उसके वशमें रहते हैं। इसलिये उसमें किसी प्रकारके इन्द्रियजन्य दुर्गुण-दुराचारके आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

वास्तवमें मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ स्वाभाविकरूपसे सन्मार्गपर चलनेके लिये ही हैं; किन्तु संसारसे रागयुक्त सम्बन्ध रहनेसे ये मार्गच्युत हो जाती हैं। भक्तका संसारसे किंचिन्मात्र भी रागयुक्त सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये उसकी मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ सर्वथा उसके वशमें होती हैं। अतः उसकी प्रत्येक क्रिया दूसरोंके लिये आदर्श होती है।

ऐसा देखा जाता है कि न्याय-पथपर चलनेवाले सत्पुरुषोंकी इन्द्रियाँ भी कभी कुमार्गगामी नहीं होतीं। जैसे, राजा दुष्यन्तकी वृत्ति शकुन्तलाकी ओर जानेपर उन्हें दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह क्षत्रिय-कन्या ही है, ब्राह्मण-कन्या नहीं। कवि कालिदासके कथनानुसार जहाँ सन्देह हो, वहाँ सत्पुरुषके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् १। २१)

जब न्यायशील सत्पुरुषकी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी स्वतः कुमार्गकी ओर नहीं होती, तब सिद्ध भक्त (जो न्यायधर्मसे कभी किसी अवस्थामें च्युत नहीं होता-) की मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ कुमार्गकी ओर जा ही कैसे सकती हैं!

'दृढनिश्चयः'—सिद्ध महापुरुषकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका सर्वथा अभाव रहता है। उसकी बुद्धिमें एक परमात्माकी ही अटल सत्ता रहती है। अतः उसकी बुद्धिमें विपर्यय-दोष (प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारका स्थायी दीखना) नहीं रहता। उसको एक भगवान्‌के साथ ही अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव होता रहता है। अतः उसका भगवान्‌में ही दृढ़ निश्चय होता है। उसका यह निश्चय बुद्धिमें नहीं, प्रत्युत 'स्वयं' में होता है, जिसका आभास बुद्धिमें प्रतीत होता है।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ता माननेसे अथवा संसारसे अपना सम्बन्ध माननेसे ही बुद्धिमें विपर्यय और संशयरूप दोष उत्पन्न होते हैं। विपर्यय और संशययुक्त बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती। ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषकी बुद्धिके निश्चयमें ही अन्तर होता है; स्वरूपसे तो दोनों समान ही होते हैं। अज्ञानीकी बुद्धिमें संसारकी सत्ता और उसका महत्त्व रहता है; परन्तु सिद्ध भक्तकी बुद्धिमें एक भगवान्‌के सिवाय न तो संसारकी किसी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता रहती है और न उसका कोई महत्त्व ही रहता है। अतः उसकी बुद्धि विपर्यय और संशयदोषसे सर्वथा रहित होती है और उसका केवल परमात्मामें ही दृढ़ निश्चय होता है।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'—जब साधक एकमात्र भगवत्प्राप्तिको ही अपना उद्‌देश्य बना लेता है और स्वयं भगवान्‌का ही हो जाता है (जो कि वास्तवमें है) तब उसके मन-बुद्धि भी अपने-आप भगवान्‌में लग जाते हैं। फिर

* **संत कबीरदासजी कहते हैं—**

गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खान। जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

सिद्ध भक्तके मन-बुद्धि भगवान्के अर्पित रहें—इसमें तो कहना ही क्या है!

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मनुष्यका मन लगता है और जिसे मनुष्य सिद्धान्तसे श्रेष्ठ समझता है, उसमें स्वाभाविक ही उसकी बुद्धि लगती है। भक्तके लिये भगवान्से बढ़कर कोई प्रिय और श्रेष्ठ होता ही नहीं। भक्त तो मन-बुद्धिपर अपना अधिकार ही नहीं मानता। वह तो इनको सर्वथा भगवान्का ही मानता है। अतः उसके मन-बुद्धि स्वाभाविक ही भगवान्में लगे रहते हैं।

'यः मद्भक्तः स मे प्रियः'*—भगवान्को तो सभी प्रिय हैं; परन्तु भक्तका प्रेम भगवान्के सिवाय और कहीं नहीं होता। ऐसी दशामें **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४। ११)—इस प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान्को भी भक्त प्रिय होता है।

परिशिष्ट भाव—गीतामें कर्मयोगीके लक्षण भी आये हैं (दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक और छठे अध्यायके सातवेंसे नवें श्लोकतक), ज्ञानयोगीके लक्षण भी आये हैं (चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक) और भक्तके लक्षण भी आये हैं (बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक)। परन्तु केवल भक्तके लक्षणोंमें ही भगवान्ने कहा है—**'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'।** यह लक्षण (मित्रता और करुणा) न कर्मयोगीके लक्षणोंमें आया है, न ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें, प्रत्युत केवल भक्तके लक्षणोंमें आया है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीमें समता तो होती है, पर मित्रता और करुणा नहीं होती। परन्तु भक्तमें आरम्भसे ही मित्रता और करुणा होती है।

भक्तकी दृष्टिमें सम्पूर्ण प्राणी समग्र भगवान्का अंग होनेसे अपने प्रभु ही हैं, फिर कौन वैर करे, किससे करे और क्यों करे?—**'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'** (मानस, उत्तर० ११२ ख)। उदाहरणके लिये, किसीको राम प्रिय हैं, किसीको कृष्ण प्रिय हैं, किसीको शंकर प्रिय हैं तो इष्ट अलग-अलग होनेपर भी वे सब भक्त परस्पर एक हो सकते हैं, पर सब ज्ञानयोगी परस्पर एक नहीं हो सकते। अगर भक्त और ज्ञानयोगी परस्पर मिलें तो भक्त ज्ञानयोगीका जितना आदर करेगा, उतना ज्ञानयोगी भक्तका नहीं कर सकेगा। इसलिये भक्तोंका लक्षण बताया है—**'सबहि मानप्रद आपु अमानी'** (मानस, उत्तर० ३८। २)।

श्रीरामचरितमानसके आरम्भमें गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सज्जनोंके साथ-साथ दुष्टोंकी भी वन्दना करते हैं और सच्चे भावसे करते हैं—**'बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ'** (मानस, बाल० ४। १)। ऐसा भक्त ही कर सकता है, ज्ञानयोगी नहीं! यद्यपि ज्ञानयोगीका किसीसे कभी किंचिन्मात्र भी वैर नहीं होता, तथापि उसमें स्वाभाविक उदासीनता, तटस्थता रहती है। विवेकमार्ग-(ज्ञान-)में वैराग्यकी मुख्यता रहती है और वैराग्य रूखा होता है। इसलिये ज्ञानयोगीमें भीतरसे कठोरता न होनेपर भी वैराग्य, उदासीनताके कारण बाहरसे कठोरता प्रतीत होती है।

सुख लेनेमें कठोरता रहती है और सुख देनेमें कोमलता रहती है। ज्ञानयोगी मोक्षका भी सुख लेता है, तो उसमें कठोरता रहती है। परन्तु दूसरेको सुख देनेका भाव होनेसे भक्तमें आरम्भसे ही कोमलता रहती है। भक्तके मनमें वैरीसे भी द्वेष नहीं होता। ज्ञानयोगी पिताकी तरह होता है और भक्त माँकी तरह, इसलिये भक्तमें करुणा ज्यादा होती है।

'एव' पद देनेका तात्पर्य है कि भक्त द्वेषभावसे रहित होता है—इतनी ही बात नहीं है, वह मित्रभाववाला और दयालु भी होता है।

'निर्ममो निरहंकारः'—प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है, इसलिये गीतामें भगवान्ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति'** (२। ७१), ज्ञानयोगमें **'अहंकारं ...... विमुच्य निर्ममः**

---

* भगवान् श्रीराम कहते हैं—

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(मानस, उत्तर० ८७। ४, ८७ क)

शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते' (१८। ५३) और भक्तियोगमें '**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (१२। १३)। इस विषयमें एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता-ममतासे रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी सबके लिये निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु हम निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं, तभी भगवान् ऐसा कहते हैं।

कर्मयोगमें पहले 'कामना'का त्याग होता है, फिर कर्मयोगी स्वतः निर्मम-निरहंकार हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका इकहत्तरवाँ श्लोक)। ज्ञानयोगमें पहले 'अहंकार'का त्याग होता है, फिर ज्ञानयोगी स्वतः निर्मम हो जाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक)। भक्तियोगमें भक्त अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर देता है तो भगवत्कृपासे वह स्वतः निर्मम-निरहंकार हो जाता है।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'—यहाँ **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** पद उस मनुष्यका वाचक है, जिसने स्वयंको (अपने-आपको) भगवान्के अर्पित कर दिया है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि भी स्वतः भगवान्के अर्पित हो जाते हैं। स्वयं अर्पित होनेसे फिर कुछ बाकी रहता ही नहीं। कारण कि स्वयं पहले है, शरीर-मन-बुद्धि आदि पीछे हैं। भक्त पहले है, मनुष्य पीछे है। भगवान्में अर्पित होनेसे मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं।

भगवान्का परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंके साथ समान सम्बन्ध है, पर जीव-(परा-) का सम्बन्ध अपराके साथ नहीं है। कारण कि जीव अपरा प्रकृतिसे उत्कृष्ट है और भगवान्का अंश है। इसलिये जीवका सम्बन्ध भगवान्के साथ है। **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** का तात्पर्य है कि जीव अपरा प्रकृति-(मन-बुद्धि-) को अपना न माने, प्रत्युत भगवान्को ही अपना माने*।

भगवान् ज्ञानस्वरूप और नित्य परिपूर्ण हैं। अतः उनमें ज्ञानकी भूख (जिज्ञासा) तो नहीं है, पर प्रेमकी भूख (प्रेम-पिपासा) अवश्य है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मेरेमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है। ऐसे भक्तके सिवाय भगवान्को प्यारा और कोई हो ही नहीं सकता।

जैसे किसी राजाका बेटा दूसरोंसे भीख माँगने लगे तो वह राजाको नहीं सुहाता, ऐसे ही सत्-चित्-आनन्दरूप भगवान्का अंश जीव जब असत्-जड़-दुःखरूप संसारसे कुछ आशा रखता है, तब वह भगवान्को नहीं सुहाता, प्यारा नहीं लगता; क्योंकि इसमें जीवका महान् अहित है। भगवान्को वही प्यारा लगता है, जो अन्यसे आशा नहीं रखता तथा जिसमें जीवका परम हित होता है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥ (मानस, अरण्य० १०। ४)

सम्बन्ध—सिद्ध भक्तके लक्षणोंका दूसरा प्रकरण, जिसमें छः लक्षणोंका वर्णन है, आगेके श्लोकमें आया है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

यस्मात् = जिससे
लोकः = कोई भी प्राणी
न, उद्विजते = उद्विग्न (क्षुब्ध) नहीं होता
च = और
यः = जो स्वयं भी
लोकात् = किसी प्राणीसे
न, उद्विजते = उद्विग्न नहीं होता
च = तथा
यः = जो
हर्षामर्ष-भयोद्वेगैः = हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय और उद्वेग- (हलचल-) से
मुक्तः = रहित है,
सः = वह
मे = मुझे
प्रियः = प्रिय है।

*** यहाँ 'मन'के अन्तर्गत चित्तको और बुद्धिके अन्तर्गत अहम्को भी लेना चाहिये।**

व्याख्या—**'यस्मान्नोद्विजते लोकः'**—भक्त सर्वत्र और सबमें अपने परमप्रिय प्रभुको ही देखता है। अतः उसकी दृष्टिमें मन, वाणी और शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ एकमात्र भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं (गीता ६। ३१)। ऐसी अवस्थामें भक्त किसी भी प्राणीको उद्वेग कैसे पहुँचा सकता है? फिर भी भक्तोंके चरित्रमें यह देखनेमें आता है कि उनकी महिमा, आदर-सत्कार तथा कहीं-कहीं उनकी क्रिया, यहाँतक कि उनकी सौम्य आकृतिमात्रसे भी कुछ लोग ईर्ष्यावश उद्विग्न हो जाते हैं और भक्तोंसे अकारण द्वेष और विरोध करने लगते हैं।

लोगोंको भक्तसे होनेवाले उद्वेगके सम्बन्धमें विचार किया जाय, तो यही पता चलेगा कि भक्तकी क्रियाएँ कभी किसीके उद्वेगका कारण नहीं होतीं; क्योंकि भक्त प्राणिमात्रमें भगवान्‌को ही देखता है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। उसकी मात्र क्रियाएँ स्वभावतः प्राणियोंके परमहितके लिये ही होती हैं। उसके द्वारा कभी भूलसे भी किसीके अहितकी चेष्टा नहीं होती। जिनको उससे उद्वेग होता है, वह उनके अपने राग-द्वेषयुक्त आसुर स्वभावके कारण ही होता है। अपने ही दोषयुक्त स्वभावके कारण उनको भक्तकी हितपूर्ण चेष्टाएँ भी उद्वेगजनक प्रतीत होती हैं। इसमें भक्तका क्या दोष? भर्तृहरिजी कहते हैं—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥

(भर्तृहरि-नीतिशतक ६१)

'हरिण, मछली और सज्जन क्रमशः तृण, जल और संतोषपर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं (किसीको कुछ नहीं कहते); परन्तु व्याध, मछुए और दुष्टलोग अकारण ही इनसे वैर करते हैं।'

वास्तवमें भक्तोंद्वारा दूसरे मनुष्योंके उद्विग्न होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता, प्रत्युत भक्तोंके चरित्रमें ऐसे प्रसंग देखनेमें आते हैं कि उनसे द्वेष रखनेवाले लोग भी उनके चिन्तन और संग-दर्शन-स्पर्श-वार्तालापके प्रभावसे अपना आसुर स्वभाव छोड़कर भक्त हो गये। ऐसा होनेमें भक्तोंका उदारतापूर्ण स्वभाव ही हेतु है।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

(मानस ५। ४१। ४)

परन्तु भक्तोंसे द्वेष करनेवाले सभी लोगोंको लाभ ही होता हो—ऐसा नियम भी नहीं है।

अगर ऐसा मान लिया जाय कि भक्तसे किसीको उद्वेग होता ही नहीं अथवा दूसरे लोग भक्तके विरुद्ध कोई चेष्टा करते ही नहीं या भक्तके शत्रु-मित्र होते ही नहीं, तो फिर भक्तके लिये शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिमें सम होनेकी बात (जो आगे अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंमें कही गयी है) नहीं कही जाती। तात्पर्य यह है कि लोगोंको अपने आसुर स्वभावके कारण भक्तकी हितकर क्रियाओंसे भी उद्वेग हो सकता है और वे बदलेकी भावनासे भक्तके विरुद्ध चेष्टा कर सकते हैं तथा अपनेको उस भक्तका शत्रु मान सकते हैं; परन्तु भक्तकी दृष्टिमें न तो कोई शत्रु होता है और न किसीको उद्विग्न करनेका उसका भाव ही होता है।

'लोकान्नोद्विजते च यः'—पहले भगवान्‌ने बताया कि भक्तसे किसी प्राणीको उद्वेग नहीं होता और अब उपर्युक्त पदोंसे यह बताते हैं कि भक्तको खुद भी किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता। इसके दो कारण हैं—

(१) भक्तके शरीर, मन, इन्द्रियाँ, सिद्धान्त आदिके विरुद्ध भी अनिच्छा या परेच्छासे क्रियाएँ और घटनाएँ हो सकती हैं। परन्तु वास्तविकताका बोध होने तथा भगवान्‌में अत्यन्त प्रेम होनेके कारण भक्त भगवत्प्रेममें इतना निमग्न रहता है कि उसको सर्वत्र और सबमें भगवान्‌के ही दर्शन होते हैं। इसलिये प्राणिमात्रकी क्रियाओंमें (चाहे उनमें कुछ उसके प्रतिकूल ही क्यों न हों) उसको भगवान्‌की ही लीला दिखायी देती है। अतः उसको किसी भी क्रियासे कभी उद्वेग नहीं होता।

(२) मनुष्यको दूसरोंसे उद्वेग तभी होता है, जब उसकी कामना, मान्यता, साधना, धारणा आदिका विरोध होता है। भक्त सर्वथा पूर्णकाम होता है। इसलिये दूसरोंसे उद्विग्न होनेका कोई कारण ही नहीं रहता।

'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः'—यहाँ हर्षसे मुक्त होनेका तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्त सब प्रकारके हर्षादि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है। पर इसका आशय यह नहीं है कि सिद्ध भक्त सर्वथा हर्षरहित (प्रसन्नताशून्य) होता है, प्रत्युत उसकी प्रसन्नता तो नित्य, एकरस, विलक्षण और अलौकिक होती है। हाँ, उसकी प्रसन्नता सांसारिक पदार्थोंके संयोग-वियोगसे उत्पन्न क्षणिक, नाशवान् तथा घटने-बढ़नेवाली नहीं होती। सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि रहनेसे एकमात्र अपने इष्टदेव भगवान्‌को और उनकी लीलाओंको देख-देखकर वह सदा ही प्रसन्न रहता है।

किसीके उत्कर्ष-(उन्नति-) को सहन न करना 'अमर्ष' कहलाता है। दूसरे लोगोंको अपने समान या अपनेसे

अधिक सुख-सुविधा, धन, विद्या, महिमा, आदर-सत्कार आदि प्राप्त हुआ देखकर साधारण मनुष्यके अन्तःकरणमें उनके प्रति ईर्ष्या होने लगती है; क्योंकि उसको दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं होता।

कई बार कुछ साधकोंके अन्तःकरणमें भी दूसरे साधकोंकी आध्यात्मिक उन्नति और प्रसन्नता देखकर अथवा सुनकर किंचित् ईर्ष्याका भाव पैदा हो जाता है। पर भक्त इस विकारसे सर्वथा रहित होता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें अपने प्रिय प्रभुके सिवाय अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं। फिर वह किसके प्रति अमर्ष करे और क्यों करे?

अगर साधकके हृदयमें दूसरोंकी आध्यात्मिक उन्नति देखकर ऐसा भाव पैदा होता है कि मेरी भी ऐसी ही आध्यात्मिक उन्नति हो, तो यह भाव उसके साधनमें सहायक होता है। परन्तु अगर साधकके हृदयमें ऐसा भाव पैदा हो जाय कि इसकी उन्नति क्यों हो गयी, तो ऐसे दुर्भावके कारण उसके हृदयमें अमर्षका भाव पैदा हो जायगा, जो उसे पतनकी ओर ले जानेवाला होगा।

इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशंकासे होनेवाले विकारको 'भय' कहते हैं। भय दो कारणोंसे होता है—(१) बाहरी कारणोंसे; जैसे—सिंह, साँप, चोर, डाकू आदिसे अनिष्ट होने अथवा किसी प्रकारकी सांसारिक हानि पहुँचनेकी आशंकासे होनेवाला भय और (२) भीतरी कारणोंसे; जैसे—चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि शास्त्र-विरुद्ध भावों तथा आचरणोंसे होनेवाला भय।

सबसे बड़ा भय मौतका होता है। विवेकशील कहे जानेवाले पुरुषोंको भी प्रायः मौतका भय बना रहता है।* साधकको भी प्रायः सत्संग-भजन-ध्यानादि साधनोंसे शरीरके कृश होने आदिका भय रहता है। उसको कभी-कभी यह भय भी होता है कि संसारसे सर्वथा वैराग्य हो जानेपर मेरे शरीर और परिवारका पालन कैसे होगा! साधारण मनुष्यको अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेवाले अपनेसे बलवान् मनुष्यसे भय होता है। ये सभी भय केवल शरीर-(जडता-) के आश्रयसे ही पैदा होते हैं। भक्त सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित रहता है, इसलिये वह सदा-सर्वदा भयरहित होता है। साधकको भी तभीतक भय रहता है, जबतक वह सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित नहीं हो जाता।

सिद्ध भक्तको तो सदा, सर्वत्र अपने प्रिय प्रभुकी लीला ही दीखती है। फिर भगवान्की लीला उसके हृदयमें भय कैसे पैदा कर सकती है!

मनका एकरूप न रहकर हलचलयुक्त हो जाना 'उद्वेग' कहलाता है। इस (पंद्रहवें) श्लोकमें 'उद्वेग' शब्द तीन बार आया है। पहली बार उद्वेगकी बात कहकर भगवान्ने यह बताया कि भक्तकी कोई भी क्रिया उसकी ओरसे किसी मनुष्यके उद्वेगका कारण नहीं बनती। दूसरी बार उद्वेगकी बात कहकर यह बताया कि दूसरे मनुष्योंकी किसी भी क्रियासे भक्तके अन्तःकरणमें उद्वेग नहीं होता। इसके सिवाय दूसरे कई कारणोंसे भी मनुष्यको उद्वेग हो सकता है; जैसे बार-बार कोशिश करनेपर भी अपना कार्य पूरा न होना, कार्यका इच्छानुसार फल न मिलना, अनिच्छासे ऋतु-परिवर्तन; भूकम्प, बाढ़ आदि दुःखदायी घटनाएँ घटना; अपनी कामना, मान्यता, सिद्धान्त अथवा साधनमें विघ्न पड़ना आदि। भक्त इन सभी प्रकारके उद्वेगोंसे सर्वथा मुक्त होता है—यह बतानेके लिये ही तीसरी बार उद्वेगकी बात कही गयी है। तात्पर्य यह है कि भक्तके अन्तःकरणमें 'उद्वेग' नामकी कोई चीज रहती ही नहीं।

उद्वेगके होनेमें अज्ञानजनित इच्छा और आसुर स्वभाव ही कारण है। भक्तमें अज्ञानका सर्वथा अभाव होनेसे कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रहती, फिर आसुर स्वभाव तो साधना-अवस्थामें ही नष्ट हो जाता है। भगवान्की इच्छा ही भक्तकी इच्छा होती है। भक्त अपनी क्रियाओंके फलरूपमें अथवा अनिच्छासे प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें भगवान्का कृपापूर्ण विधान ही देखता है और निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है। अतः भक्तमें उद्वेगका सर्वथा अभाव होता है।

'मुक्तः' पदका अर्थ है—विकारोंसे सर्वथा छूटा हुआ। अन्तःकरणमें संसारका आदर रहनेसे अर्थात् परमात्मामें पूर्णतया मन-बुद्धि न लगनेसे ही हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग आदि विकार उत्पन्न होते हैं। परन्तु भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्के सिवाय अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता न रहनेसे उसमें ये विकार उत्पन्न ही नहीं होते। उसमें स्वाभाविक ही सद्गुण-सदाचार रहते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्ने **'भक्तः'** पद न देकर **'मुक्तः'** पद दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भक्त यावन्मात्र दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होता है।

गुणोंका अभिमान होनेसे दुर्गुण अपने-आप आ जाते हैं।

* **स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥ (पातंजलयोगदर्शन २।९)**

अपनेमें किसी गुणके आनेपर अभिमानरूप दुर्गुण उत्पन्न हो जाय तो उस गुणको गुण कैसे माना जा सकता है? दैवी सम्पत्ति (सद्गुण)-से कभी आसुरी सम्पत्ति (दुर्गुण) उत्पन्न नहीं हो सकती। अगर दैवी सम्पत्तिसे आसुरी सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती तो '**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' (गीता १६। ५)—इन भगवद्वचनोंके अनुसार मनुष्य मुक्त कैसे होता? वास्तवमें गुणोंके अभिमानमें गुण कम तथा दुर्गुण (अभिमान) अधिक होता है। अभिमानसे दुर्गुणोंकी वृद्धि होती है; क्योंकि सभी दुर्गुण-दुराचार अभिमानके ही आश्रित रहते हैं।

भक्तको तो प्रायः इस बातकी जानकारी ही नहीं होती कि मेरेमें कोई गुण है। अगर उसको अपनेमें कभी कोई गुण दीखता भी है तो वह उसको भगवान्‌का ही मानता है, अपना नहीं। इस प्रकार गुणोंका अभिमान न होनेके कारण भक्त सभी दुर्गुण-दुराचारों, विकारोंसे मुक्त होता है भक्तको भगवान् प्रिय होते हैं, इसलिये भगवान्‌को भी भक्त प्रिय होते हैं, (गीता—सातवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—दूसरेको सत्ता देनेसे ही उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि होते हैं। भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं, फिर वह किससे उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि करे और क्यों करे?—'**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध**' (मानस, उत्तर० ११२ ख)।

सम्बन्ध—सिद्ध भक्तके छः लक्षण बतानेवाला तीसरा प्रकरण आगेके श्लोकमें आया है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

यः = जो, **अनपेक्षः** = अपेक्षा- (आवश्यकता-) से रहित, **शुचिः** = (बाहर-भीतरसे) पवित्र, **दक्षः** = चतुर, **उदासीनः** = उदासीन, **गतव्यथः** = व्यथासे रहित (और), **सर्वारम्भ-परित्यागी** = सभी आरम्भोंका अर्थात् नये-नये कर्मोंके आरम्भका सर्वथा त्यागी है, **सः** = वह, **मद्भक्तः** = मेरा भक्त, **मे** = मुझे, **प्रियः** = प्रिय है।

व्याख्या—'**अनपेक्षः**'—भक्त भगवान्‌को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। उसकी दृष्टिमें भगवत्प्राप्तिसे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं होता। अतः संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका किंचिन्मात्र भी खिंचाव नहीं होता। इतना ही नहीं, अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धिमें भी उसका अपनापन नहीं रहता, प्रत्युत वह उनको भी भगवान्‌का ही मानता है, जो कि वास्तवमें भगवान्‌के ही हैं। अतः उसको शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं होती। फिर वह और किस बातकी अपेक्षा करे? अर्थात् फिर उसे किसी भी वस्तुकी इच्छा-वासना-स्पृहा नहीं रहती।

भक्तपर चाहे कितनी ही बड़ी आपत्ति आ जाय, आपत्तिका ज्ञान होनेपर भी उसके चित्तपर प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता। भयंकर-से-भयंकर परिस्थितिमें भी वह भगवान्‌की लीलाका अनुभव करके मस्त रहता है। इसलिये वह किसी प्रकारकी अनुकूलताकी कामना नहीं करता।

नाशवान् पदार्थ तो रहते नहीं, उनका वियोग अवश्यम्भावी है और अविनाशी परमात्मासे कभी वियोग होता ही नहीं—इस वास्तविकताको जाननेके कारण भक्तमें स्वाभाविक ही नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा पैदा नहीं होती।

यह बात खास ध्यान देनेकी है कि केवल इच्छा करनेसे शरीर-निर्वाहके पदार्थ मिलते हों तथा इच्छा न करनेसे न मिलते हों—ऐसा कोई नियम नहीं है। वास्तवमें शरीर-निर्वाहकी आवश्यक सामग्री स्वतः प्राप्त होती है; क्योंकि जीवमात्रके शरीर-निर्वाहकी आवश्यक सामग्रीका प्रबन्ध भगवान्‌की ओरसे पहले ही हुआ रहता है। इच्छा करनेसे तो आवश्यक वस्तुओंकी प्राप्तिमें बाधा ही आती है। अगर मनुष्य किसी वस्तुको अपने लिये अत्यन्त आवश्यक समझकर 'वह वस्तु कैसे मिले? कहाँ मिले? कब मिले?'—ऐसी प्रबल इच्छाको अपने अन्तःकरणमें पकड़े रहता है, तो उसकी उस इच्छाका विस्तार नहीं हो पाता

अर्थात् उसकी वह इच्छा दूसरे लोगोंके अन्तःकरणतक नहीं पहुँच पाती। इस कारण दूसरे लोगोंके अन्तःकरणमें उस आवश्यक वस्तुको देनेकी इच्छा या प्रेरणा नहीं होती। प्रायः देखा जाता है कि लेनेकी प्रबल इच्छा रखनेवाले-(चोर आदि) को कोई देना नहीं चाहता। इसके विपरीत किसी वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले विरक्त त्यागी और बालककी आवश्यकताओंका अनुभव अपने-आप दूसरोंको होता है, और दूसरे उनके शरीर-निर्वाहका अपने-आप प्रसन्नतापूर्वक प्रबन्ध करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छा न करनेसे जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे स्वतः मिलती हैं। अतः वस्तुओंकी इच्छा करना केवल मूर्खता और अकारण दुःख पाना ही है। सिद्ध भक्तको तो अपने कहे जानेवाले शरीरकी भी अपेक्षा नहीं होती; इसलिये वह सर्वथा निरपेक्ष होता है।

किसी-किसी भक्तको तो इसकी भी अपेक्षा नहीं होती कि भगवान् दर्शन दें! भगवान् दर्शन दें तो आनन्द, न दें तो आनन्द! वह तो सदा भगवान्‌की प्रसन्नता और कृपाको देखकर मस्त रहता है। ऐसे निरपेक्ष भक्तके पीछे-पीछे भगवान् भी घूमा करते हैं! भगवान् स्वयं कहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'जो निरपेक्ष (किसीकी अपेक्षा न रखनेवाला), निरन्तर मेरा मनन करनेवाला, शान्त, द्वेषरहित और सबके प्रति समान दृष्टि रखनेवाला है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं सदा यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसकी चरण-रज मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

किसी वस्तुकी इच्छाको लेकर भगवान्‌की भक्ति करनेवाला मनुष्य वस्तुतः उस इच्छित वस्तुका ही भक्त होता है; क्योंकि (वस्तुकी ओर लक्ष्य रहनेसे) वह वस्तुके लिये ही भगवान्‌की भक्ति करता है, न कि भगवान्‌के लिये। परन्तु भगवान्‌की यह उदारता है कि उसको भी अपना भक्त मानते हैं (गीता—सातवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक); क्योंकि वह इच्छित वस्तुके लिये किसी दूसरेपर भरोसा न रखकर अर्थात् केवल भगवान्‌पर भरोसा रखकर ही भजन करता है। इतना ही नहीं, भगवान् भक्त ध्रुवकी तरह उस (अर्थार्थी भक्त)-की इच्छा पूरी करके उसको सर्वथा निःस्पृह भी बना देते हैं।

'शुचिः'—शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन) न रहनेसे भक्तका शरीर अत्यन्त पवित्र होता है। अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि विकारोंके न रहनेसे उसका अन्तःकरण भी अत्यन्त पवित्र होता है। ऐसे (बाहर-भीतरसे अत्यन्त पवित्र) भक्तके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे दूसरे लोग भी पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ सब लोगोंको पवित्र करते हैं; किन्तु ऐसे भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं अर्थात् तीर्थ भी उनके चरण-स्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं (पर भक्तोंके मनमें ऐसा अहंकार नहीं होता)। ऐसे भक्त अपने हृदयमें विराजित **'पवित्राणां पवित्रम्'** (पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले) भगवान्‌के प्रभावसे तीर्थोंको भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

महाराज भगीरथ गंगाजीसे कहते हैं—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। ९। ६)

'माता! जिन्होंने लोक-परलोककी समस्त कामनाओंका त्याग कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने-आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी साधु पुरुष हैं, वे अपने अंगस्पर्शसे तुम्हारे (पापियोंके अंग-स्पर्शसे आये) समस्त पापोंको नष्ट कर देंगे; क्योंकि उनके हृदयमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं।'

'दक्षः'—जिसने करनेयोग्य काम कर लिया है, वही दक्ष है। मानव-जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है। इसीके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। अतः जिसने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लिया, वही वास्तवमें दक्ष अर्थात् चतुर है। भगवान् कहते हैं—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

'विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें।'

सांसारिक दक्षता (चतुराई) वास्तवमें दक्षता नहीं है। एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक दक्षता होना कलंक ही है; क्योंकि इससे अन्तःकरणमें जड पदार्थोंका आदर बढ़ता है,

जो मनुष्यके पतनका कारण होता है।

सिद्ध भक्तमें व्यावहारिक (सांसारिक) दक्षता भी होती है। परन्तु व्यावहारिक दक्षताको पारमार्थिक स्थितिकी कसौटी मानना वस्तुतः सिद्ध भक्तका अपमान ही करना है।

'उदासीनः'—उदासीन शब्दका अर्थ है—उत्+आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ, पक्षपातसे रहित।

विवाद करनेवाले दो व्यक्तियोंके प्रति जिसका सर्वथा तटस्थ भाव रहता है, उसको उदासीन कहा जाता है। उदासीन शब्द निर्लिप्तताका द्योतक है। जैसे ऊँचे पर्वतपर खड़े हुए पुरुषपर नीचे पृथ्वीपर लगी हुई आग या बाढ़ आदिका कोई असर नहीं पड़ता, ऐसे ही किसी भी अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिका भक्तपर कोई असर नहीं पड़ता, वह सदा निर्लिप्त रहता है।

जो मनुष्य भक्तका हित चाहता है तथा उसके अनुकूल आचरण करता है, वह उसका मित्र समझा जाता है और जो मनुष्य भक्तका अहित चाहता है तथा उसके प्रतिकूल आचरण करता है, वह उसका शत्रु समझा जाता है। इस प्रकार मित्र और शत्रु समझे जानेवाले व्यक्तिके साथ भक्तके बाहरी व्यवहारमें फरक मालूम दे सकता है; परन्तु भक्तके अन्तःकरणमें दोनों मनुष्योंके प्रति किंचिन्मात्र भी भेदभाव नहीं होता। वह दोनों स्थितियोंमें सर्वथा उदासीन अर्थात् निर्लिप्त रहता है।

भक्तके अन्तःकरणमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। वह शरीरसहित सम्पूर्ण संसारको परमात्माका ही मानता है। इसलिये उसका व्यवहार पक्षपातसे रहित होता है।

'गतव्यथः'—कुछ मिले या न मिले, कुछ भी आये या चला जाय, जिसके चित्तमें दुःख-चिन्ता-शोकरूप हलचल कभी होती ही नहीं, उस भक्तको यहाँ **'गतव्यथः'** कहा गया है।

यहाँ 'व्यथा' शब्द केवल दुःखका वाचक नहीं है। अनुकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें प्रसन्नता तथा प्रतिकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें खिन्नताकी जो हलचल होती है, वह भी 'व्यथा' ही है। अतः अनुकूलता तथा प्रतिकूलतासे अन्तःकरणमें होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंके सर्वथा अभावको ही यहाँ **'गतव्यथः'** पदसे कहा गया है।

'सर्वारम्भपरित्यागी'—भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्म करनेको 'आरम्भ' कहते हैं; जैसे—सुखभोगके उद्देश्यसे घरमें नयी-नयी चीजें इकट्ठी करना, वस्त्र खरीदना; रुपये बढ़ानेके उद्देश्यसे नयी-नयी दूकानें खोलना, नया व्यापार शुरू करना आदि। भक्त भोग और संग्रहके लिये किये जानेवाले मात्र कर्मोंका सर्वथा त्यागी होता है*।

जिसका उद्देश्य संसारका है और जो वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, योग्यता, पद, अधिकार आदिको लेकर अपनेमें विशेषता देखता है, वह भक्त नहीं होता। भक्त भगवन्निष्ठ होता है। अतः उसके कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, क्रिया, फल आदि सब भगवान्के अर्पित होते हैं। वास्तवमें इन शरीरादिके मालिक भगवान् ही हैं। प्रकृति और प्रकृतिका कार्यमात्र भगवान्का है। अतः भक्त एक भगवान्के सिवाय किसीको भी अपना नहीं मानता। वह अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। उसके द्वारा होनेवाले मात्र कर्म भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही होते हैं। धन-सम्पत्ति, सुख-आराम, मान-बड़ाई आदिके लिये किये जानेवाले कर्म उसके द्वारा कभी होते ही नहीं।

जिसके भीतर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी ही सच्ची लगन लगी है, वह साधक चाहे किसी भी मार्गका क्यों न हो, भोग भोगने और संग्रह करनेके उद्देश्यसे वह कभी कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता।

'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'—भगवान्में स्वाभाविक ही इतना महान् आकर्षण है कि भक्त स्वतः उनकी ओर खिंच जाता है, उनका प्रेमी हो जाता है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १। ७। १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चित्-जड-ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अगर भगवान्में इतना महान् आकर्षण है, तो सभी मनुष्य भगवान्की ओर क्यों नहीं खिंच जाते, उनके प्रेमी क्यों नहीं हो जाते?

वास्तवमें देखा जाय तो जीव भगवान्का ही अंश है। अतः उसका भगवान्की ओर स्वतः-स्वाभाविक आकर्षण होता है। परन्तु जो भगवान् वास्तवमें अपने हैं, उनको तो

* **अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥ (मानस ७। ४६। ३)**

मनुष्यने अपना माना नहीं और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीर-कुटुम्बादि अपने नहीं हैं, उनको उसने अपना मान लिया। इसीलिये वह शारीरिक निर्वाह और सुखकी कामनासे सांसारिक भोगोंकी ओर आकृष्ट हो गया तथा अपने अंशी भगवान्‌से दूर (विमुख) हो गया। फिर भी उसकी यह दूरी वास्तविक नहीं माननी चाहिये। कारण कि नाशवान् भोगोंकी ओर आकृष्ट होनेसे उसकी भगवान्‌से दूरी दिखायी तो देती है, पर वास्तवमें दूरी है नहीं; क्योंकि उन भोगोंमें भी तो सर्वव्यापी भगवान् परिपूर्ण हैं। परन्तु इन्द्रियोंके विषयोंमें अर्थात् भोगोंमें ही आसक्ति होनेके कारण उसको उनमें छिपे भगवान् दिखायी नहीं देते। जब इन नाशवान् भोगोंकी ओर उसका आकर्षण नहीं रहता, तब वह स्वतः ही भगवान्‌की ओर खिंच जाता है। संसारमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेसे भक्तका एकमात्र भगवान्‌में स्वतः प्रेम होता है। ऐसे अनन्यप्रेमी भक्तको भगवान् '**मद्भक्तः**' कहते हैं।

जिस भक्तका भगवान्‌में अनन्य प्रेम है, वह भगवान्‌को प्रिय होता है।

परिशिष्ट भाव—'अनपेक्षः'—अमुक वस्तु आदि न हो तो काम कैसे चलेगा—यह अपेक्षा भक्तमें नहीं होती। भक्तकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं, फिर वह किसकी अपेक्षा रखे? '**शुचिः**'—भक्तका दर्शन, स्पर्श, भाषण दूसरोंको शुद्ध करनेवाला होता है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी शुद्ध होती है! यद्यपि ऐसी शुद्धि ज्ञानयोगी महापुरुषमें भी होती है, तथापि भक्तमें शुरूसे ही सबकी हितैषिता (**मैत्रः करुण एव च**) विशेषरूपसे रहनेके कारण उसमें विशेष शुद्धि होती है। '**दक्षः**'—भक्तने करनेयोग्य काम कर लिया अर्थात् वह कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो गया, इसलिये वह 'दक्ष' है।

'**सर्वारम्भपरित्यागी**'—यह पद चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें गुणातीत महापुरुषके लिये भी आया है—'**सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते**'। गुणातीत महापुरुषमें कर्तृत्व न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है और भक्तमें स्वार्थ तथा अभिमान न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है। भक्तको अपने लिये कुछ करना शेष है ही नहीं, फिर वह आरम्भ क्या करे? उसके द्वारा आरम्भ तो हो सकता है, पर उसमें उसको कोई लगाव, आसक्ति, प्रयोजन, आग्रह नहीं रहता, आरम्भ हो जाय तो ठीक, न हो तो ठीक! वह दोनोंमें सम रहता है।

सम्बन्ध—सिद्ध भक्तके पाँच लक्षणोंवाला चौथा प्रकरण आगेके श्लोकमें आया है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

यः	=जो	**न**	=न		(राग-द्वेषरहित) है,
न	=न (कभी)	**काङ्क्षति**	=कामना करता है (और)	**सः**	=वह
हृष्यति	=हर्षित होता है,				
न	=न	**यः**	=जो	**भक्तिमान्**	=भक्तिमान् मनुष्य
द्वेष्टि	=द्वेष करता है,	**शुभाशुभ-**			
न	=न	**परित्यागी**	=शुभ-अशुभ कर्मोंसे ऊँचा उठा हुआ	**मे**	=मुझे
शोचति	=शोक करता है,			**प्रियः**	=प्रिय है।

व्याख्या—'**यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति**'—मुख्य विकार चार हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) हर्ष और (४) शोक*। सिद्ध भक्तमें ये चारों ही विकार नहीं होते। उसका यह अनुभव होता है कि संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है और भगवान्‌से कभी वियोग होता ही नहीं। संसारके साथ कभी संयोग था नहीं, है नहीं, रहेगा नहीं और रह सकता भी नहीं। अतः संसारकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इस वास्तविकताका अनुभव

*** प्रचलित भाषामें किसीकी मृत्युसे मनमें होनेवाली व्यथाके लिये 'शोक' शब्दका प्रयोग किया जाता है; परन्तु यहाँ 'शोक' शब्दका तात्पर्य अन्तःकरणके दुःखरूप 'विकार' से है।**

कर लेनेके बाद (जडताका कोई सम्बन्ध न रहनेपर) भक्तका केवल भगवान्‌के साथ अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव अटलरूपसे रहता है। इस कारण उसका अन्त:करण राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होता है। भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर ये विकार सर्वथा मिट जाते हैं।

साधनावस्थामें भी साधक ज्यों-ज्यों साधनमें आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसमें राग-द्वेषादि कम होते चले जाते हैं। जो कम होनेवाला होता है, वह मिटनेवाला भी होता है। अत: जब साधनावस्थामें ही विकार कम होने लगते हैं, तब सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिद्धावस्थामें भक्तमें ये विकार नहीं रहते, पूर्णतया मिट जाते हैं।

हर्ष और शोक—दोनों राग-द्वेषके ही परिणाम हैं। जिसके प्रति राग होता है, उसके संयोगसे और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके वियोगसे 'हर्ष' होता है। इसके विपरीत जिसके प्रति राग होता है, उसके वियोग या वियोगकी आशंकासे और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके संयोग या संयोगकी आशंकासे 'शोक' होता है। सिद्ध भक्तमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव होनेसे स्वत: एक साम्यावस्था निरन्तर रहती है। इसलिये वह विकारोंसे सर्वथा रहित होता है।

जैसे रात्रिके समय अन्धकारमें दीपक जलानेकी कामना होती है; दीपक जलानेसे हर्ष होता है, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है और पुन: दीपक कैसे जले—ऐसी चिन्ता होती है। रात्रि होनेसे ये चारों बातें होती हैं। परन्तु मध्याह्नका सूर्य तपता हो तो दीपक जलानेकी कामना नहीं होती, दीपक जलानेसे हर्ष नहीं होता, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध नहीं होता और (अँधेरा न होनेसे) प्रकाशके अभावकी चिन्ता भी नहीं होती। इसी प्रकार भगवान्‌से विमुख और संसारके सम्मुख होनेसे शरीर-निर्वाह और सुखके लिये अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति आदिके मिलनेकी कामना होती है; इनके मिलनेपर हर्ष होता है; इनकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है और इनके न मिलनेपर 'कैसे मिलें' ऐसी चिन्ता होती है। परन्तु जिसको (मध्याह्नके सूर्यकी तरह) भगवत्प्राप्ति हो गयी है, उसमें ये विकार कभी नहीं रहते। वह पूर्णकाम हो जाता है। अत: उसको संसारकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

'शुभाशुभपरित्यागी'—ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर ही शुभ कर्म करनेके कारण भक्तके कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं। इसलिये भक्तको शुभ कर्मोंका भी त्यागी कहा गया है। राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेके कारण उससे अशुभ कर्म होते ही नहीं। अशुभ कर्मोंके होनेमें कामना, ममता, आसक्ति ही प्रधान कारण हैं और भक्तमें इनका सर्वथा अभाव होता है। इसलिये उसको अशुभ कर्मोंका भी त्यागी कहा गया है।

भक्त शुभ कर्मोंसे तो राग नहीं करता और अशुभ कर्मोंसे द्वेष नहीं करता। उसके द्वारा स्वाभाविक शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण और अशुभ (निषिद्ध एवं काम्य) कर्मोंका त्याग होता है, राग-द्वेषपूर्वक नहीं। राग-द्वेषका सर्वथा त्याग करनेवाला ही सच्चा त्यागी है।

मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते, प्रत्युत कर्मोंमें राग-द्वेष ही बाँधते हैं। भक्तके सम्पूर्ण कर्म राग-द्वेषरहित होते हैं, इसलिये वह शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका परित्यागी है।

'शुभाशुभपरित्यागी' पदका अर्थ शुभ और अशुभ कर्मोंके फलका त्यागी भी लिया जा सकता है। परन्तु इसी श्लोकके पूर्वार्धमें आये **'न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति'** पदोंका सम्बन्ध भी शुभ (अनुकूल) और अशुभ (प्रतिकूल) कर्मफलके त्यागसे ही है। अत: यहाँ **'शुभाशुभपरित्यागी'** पदका अर्थ शुभाशुभ कर्मफलका त्यागी माननेसे पुनरुक्ति-दोष आता है। इसलिये इस पदका अर्थ शुभ एवं अशुभ कर्मोंमें राग-द्वेषका त्यागी ही मानना चाहिये।

'भक्तिमान्यः स मे प्रियः'—भक्तकी भगवान्‌में अत्यधिक प्रियता रहती है। उसके द्वारा स्वत:-स्वाभाविक भगवान्‌का चिन्तन, स्मरण, भजन होता रहता है। ऐसे भक्तको यहाँ **'भक्तिमान्'** कहा गया है।

भक्तका भगवान्‌में अनन्य प्रेम होता है, इसलिये वह भगवान्‌को प्रिय होता है।

परिशिष्ट भाव—हर्ष (**हृष्यति**) और शोक (**शोचति**), राग (**काङ्क्षति**) और द्वेष (**द्वेष्टि**)—ये द्वन्द्व हैं। भक्तमें कोई द्वन्द्व नहीं रहता, वह निर्द्वन्द्व हो जाता है। नारदभक्तिसूत्रमें भी आया है—

यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥

'जिस भक्तिके प्राप्त होनेपर भक्त न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे किसी वस्तुकी प्राप्तिमें उत्साह (हर्ष) होता है।'

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके दस लक्षणोंवाला पाँचवाँ और अन्तिम प्रकरण कहते हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

शत्रौ	= (जो) शत्रु
च	= और
मित्रे	= मित्रमें
तथा	= तथा
मानापमानयोः	= मान-अपमानमें
समः	= सम है (और)
शीतोष्ण-सुखदुःखेषु	= शीत-उष्ण (शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख-(मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता-) में
समः	= सम है
च	= एवं
सङ्गविवर्जितः	= आसक्तिरहित है (और)
तुल्यनिन्दा-स्तुतिः	= जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला,
मौनी	= मननशील,
येन	= जिस
केनचित्	= किसी प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होने-न-होनेमें)
सन्तुष्टः	= सन्तुष्ट
अनिकेतः	= रहनेके स्थान तथा शरीरमें ममता-आसक्तिसे रहित (और)
स्थिरमतिः	= स्थिर बुद्धिवाला है,
भक्तिमान्	= (वह) भक्तिमान्
नरः	= मनुष्य
मे	= मुझे
प्रियः	= प्रिय है।

व्याख्या—'**समः शत्रौ च मित्रे च**'—यहाँ भगवान्‌ने भक्तमें व्यक्तियोंके प्रति होनेवाली समताका वर्णन किया है। सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होने तथा राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण सिद्ध भक्तका किसीके भी प्रति शत्रु-मित्रका भाव नहीं रहता। लोग ही उसके व्यवहारमें अपने स्वभावके अनुसार अनुकूलता या प्रतिकूलताको देखकर उसमें मित्रता या शत्रुताका आरोप कर लेते हैं। साधारण लोगोंका तो कहना ही क्या है, सावधान रहनेवाले साधकोंका भी उस सिद्ध भक्तके प्रति मित्रता और शत्रुताका भाव हो सकता है। परंतु भक्त अपने-आपमें सदैव पूर्णतया सम रहता है। उसके हृदयमें कभी किसीके प्रति शत्रु-मित्रका भाव उत्पन्न नहीं होता।

मान लिया जाय कि भक्तके प्रति शत्रुता और मित्रताका भाव रखनेवाले दो व्यक्तियोंमें धनके बँटवारेसे सम्बन्धित कोई विवाद हो जाय और उसका निर्णय करानेके लिये वे भक्तके पास जायँ, तो भक्त धनका बँटवारा करते समय शत्रु-भाववाले व्यक्तिको कुछ अधिक और मित्र-भाववाले व्यक्तिको कुछ कम धन देगा। यद्यपि भक्तके इस निर्णय- (व्यवहार-) में विषमता दीखती है, तथापि शत्रु-भाववाले व्यक्तिको इस निर्णयमें समता दिखायी देगी कि इसने पक्षपातरहित बँटवारा किया है। अतः भक्तके इस निर्णयमें विषमता (पक्षपात) दीखनेपर भी वास्तवमें यह (समताको उत्पन्न करनेवाला होनेसे) समता ही कहलायेगी।

उपर्युक्त पदोंसे यह भी सिद्ध होता है कि सिद्ध भक्तके साथ भी लोग (अपने भावके अनुसार) शत्रुता-मित्रताका व्यवहार करते हैं और उसके व्यवहारसे अपनेको उसका शत्रु-मित्र मान लेते हैं। इसीलिये उसे यहाँ शत्रु-मित्रसे रहित न कहकर 'शत्रु-मित्रमें सम' कहा गया है।

'**तथा मानापमानयोः**'—मान-अपमान परकृत क्रिया है, जो शरीरके प्रति होती है। भक्तकी अपने कहलानेवाले शरीरमें न तो अहंता होती है, न ममता। इसलिये शरीरका मान-अपमान होनेपर भी भक्तके अन्तःकरणमें कोई विकार (हर्ष-शोक) पैदा नहीं होता। वह नित्य-निरन्तर समतामें स्थित रहता है।

'**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**'—इन पदोंमें दो स्थानोंपर सिद्ध भक्तकी समता बतायी गयी है—

(१) शीत-उष्णमें समता अर्थात् इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे संयोग होनेपर अन्तःकरणमें कोई विकार न होना।

(२) सुख-दु:खमें समता अर्थात् धनादि पदार्थोंकी प्राप्ति या अप्राप्ति होनेपर अन्त:करणमें कोई विकार न होना।

'शीतोष्ण' शब्दका अर्थ 'सरदी-गरमी' होता है। सरदी-गरमी त्वगिन्द्रियके विषय हैं। भक्त केवल त्वगिन्द्रियके विषयोंमें ही सम रहता हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें सम रहता है। अत: यहाँ 'शीतोष्ण' शब्द समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका वाचक है। प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विषयके साथ संयोग होनेपर भक्तको उन (अनुकूल या प्रतिकूल) विषयोंका ज्ञान तो होता है, पर उसके अन्त:करणमें हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते। वह सदा सम रहता है।

साधारण मनुष्य धनादि अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें सुख तथा प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें दु:खका अनुभव करते हैं। परन्तु उन्हीं पदार्थोंके प्राप्त होने अथवा न होनेपर सिद्ध भक्तके अन्त:करणमें कभी किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते। वह प्रत्येक परिस्थितिमें सम रहता है।

'सुख-दु:खमें सम' रहने तथा 'सुख-दु:खसे रहित' होने—दोनोंका गीतामें एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है। सुख-दु:खकी परिस्थिति अवश्यम्भावी है; अत: उससे रहित होना सम्भव नहीं है। इसलिये भक्त अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सम रहता है। हाँ, अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर अन्त:करणमें जो हर्ष-शोक होते हैं, उनसे रहित हुआ जा सकता है। इस दृष्टिसे गीतामें जहाँ 'सुख-दु:खमें सम' होनेकी बात आयी है, वहाँ सुख-दु:खकी परिस्थितिमें सम समझना चाहिये और जहाँ 'सुख-दु:खसे रहित' होनेकी बात आयी है, वहाँ (अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितिकी प्राप्तिसे होनेवाले) हर्ष-शोकसे रहित समझना चाहिये।

'संगविवर्जित:'—'संग' शब्दका अर्थ सम्बन्ध (संयोग) तथा आसक्ति दोनों ही होते हैं। मनुष्यके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह स्वरूपसे सब पदार्थोंका संग अर्थात् सम्बन्ध छोड़ सके; क्योंकि जबतक मनुष्य जीवित रहता है, तबतक शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ उसके साथ रहती ही हैं। हाँ, शरीरसे भिन्न कुछ पदार्थोंका त्याग स्वरूपसे किया जा सकता है। जैसे किसी व्यक्तिने स्वरूपसे प्राणी-पदार्थोंका संग छोड़ दिया, पर उसके अन्त:करणमें अगर उनके प्रति किंचिन्मात्र भी आसक्ति बनी हुई है, तो उन प्राणी-पदार्थोंसे दूर होते हुए भी वास्तवमें उसका उनसे सम्बन्ध बना हुआ ही है। दूसरी ओर, अगर अन्त:करणमें प्राणी-पदार्थोंकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं है, तो पास रहते हुए भी वास्तवमें उनसे सम्बन्ध नहीं है। अगर पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही मुक्ति होती, तो मरनेवाला हरेक व्यक्ति मुक्त हो जाता; क्योंकि उसने तो अपने शरीरका भी त्याग कर दिया! परन्तु ऐसी बात है नहीं। अन्त:करणमें आसक्तिके रहते हुए शरीरका त्याग करनेपर भी संसारका बन्धन बना रहता है। अत: मनुष्यको सांसारिक आसक्ति ही बाँधनेवाली है, न कि सांसारिक प्राणी-पदार्थोंका स्वरूपसे सम्बन्ध।

आसक्तिको मिटानेके लिये पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करना भी एक साधन हो सकता है; किंतु खास जरूरत आसक्तिका सर्वथा त्याग करनेकी ही है। संसारके प्रति यदि किंचिन्मात्र भी आसक्ति है, तो उसका चिन्तन अवश्य होगा। इस कारण वह आसक्ति साधकको क्रमश: कामना, क्रोध, मूढ़ता आदिको प्राप्त कराती हुई उसे पतनके गर्तमें गिरानेका हेतु बन सकती है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)।

भगवान्ने दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें **'परं दृष्ट्वा निवर्तते'** पदोंसे भगवत्प्राप्तिके बाद आसक्तिकी सर्वथा निवृत्तिकी बात कही है। भगवत्प्राप्तिसे पहले भी आसक्तिकी निवृत्ति हो सकती है, पर भगवत्प्राप्तिके बाद तो आसक्ति सर्वथा निवृत्त हो ही जाती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषमें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही है। परन्तु भगवत्प्राप्तिसे पूर्व साधनावस्थामें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही नहीं—ऐसा नियम नहीं है। साधनावस्थामें भी आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर साधकको तत्काल भगवत्प्राप्ति हो सकती है (गीता—पाँचवें अध्यायका इक्कीसवाँ और सोलहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

आसक्ति न तो परमात्माके अंश शुद्ध चेतनमें रहती है और न जड-(प्रकृति-)में ही। वह जड और चेतनके सम्बन्धरूप 'मैं'-पनकी मान्यतामें रहती है। वही आसक्ति बुद्धि, मन, इन्द्रियों और विषयों-(पदार्थों-) में प्रतीत होती है। अगर साधकके 'मैं'-पनकी मान्यतामें रहनेवाली आसक्ति मिट जाय, तो दूसरी जगह प्रतीत होनेवाली आसक्ति स्वत: मिट जायगी। आसक्तिका कारण अविवेक है। अपने विवेकको पूर्णतया महत्त्व न देनेसे साधकमें आसक्ति रहती है। भक्तमें अविवेक नहीं रहता। इसलिये

वह आसक्तिसे सर्वथा रहित होता है।

अपने अंशी भगवान्से विमुख होकर भूलसे संसारको अपना मान लेनेसे संसारमें राग हो जाता है और राग होनेसे संसारमें आसक्ति हो जाती है। संसारसे माना हुआ अपनापन सर्वथा मिट जानेसे बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धिके सम होनेपर स्वयं आसक्ति रहित हो जाता है।

मार्मिक बात

वास्तवमें जीवमात्रकी भगवान्के प्रति स्वाभाविक अनुरक्ति (प्रेम) है। जबतक संसारके साथ भूलसे माना हुआ अपनेपनका सम्बन्ध है, तबतक वह अनुरक्ति प्रकट नहीं होती, प्रत्युत संसारमें आसक्तिके रूपमें प्रतीत होती है। संसारकी आसक्ति रहते हुए भी वस्तुतः भगवान्की अनुरक्ति मिटती नहीं। अनुरक्तिके प्रकट होते ही आसक्ति (सूर्यका उदय होनेपर अंधकारकी तरह) सर्वथा निवृत्त हो जाती है। ज्यों-ज्यों संसारसे विरक्ति होती है, त्यों-ही-त्यों भगवान्में अनुरक्ति प्रकट होती है। यह नियम है कि आसक्तिको समाप्त करके विरक्ति स्वयं भी उसी प्रकार शान्त हो जाती है, जिस प्रकार लकड़ीको जलाकर अग्नि। इस प्रकार आसक्ति और विरक्तिके न रहनेपर स्वतः-स्वाभाविक अनुरक्ति-(भगवत्प्रेम-) का स्रोत प्रवाहित होने लगता है। इसके लिये किंचिन्मात्र भी कोई उद्योग नहीं करना पड़ता। फिर भक्त सब प्रकारसे भगवान्के पूर्ण समर्पित हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्की प्रियताके लिये ही होती हैं। उससे प्रसन्न होकर भगवान् उस भक्तको अपना प्रेम प्रदान करते हैं। भक्त उस प्रेमको भी भगवान्के ही प्रति लगा देता है। इससे भगवान् और आनन्दित होते हैं तथा पुनः उसे प्रेम प्रदान करते हैं। भक्त पुनः उसे भगवान्के प्रति लगा देता है। इस प्रकार भक्त और भगवान्के बीच प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके आदान-प्रदानकी यह लीला चलती रहती है।

'तुल्यनिन्दास्तुतिः'—निन्दा-स्तुति मुख्यतः नामकी होती है। यह भी परकृत क्रिया है। लोग अपने स्वभावके अनुसार भक्तकी निन्दा या स्तुति किया करते हैं। भक्तमें अपने कहलानेवाले नाम और शरीरमें लेशमात्र भी अहंता और ममता नहीं होती। इसलिये निन्दा-स्तुतिका उसपर लेशमात्र भी असर नहीं पड़ता। भक्तका न तो अपनी स्तुति या प्रशंसा करनेवालेके प्रति राग होता है और न निन्दा करनेवालेके प्रति द्वेष ही होता है। उसकी दोनोंमें ही समबुद्धि रहती है।

साधारण मनुष्योंके भीतर अपनी प्रशंसाकी कामना रहा करती है, इसलिये वे अपनी निन्दा सुनकर दुःखका और स्तुति सुनकर सुखका अनुभव करते हैं। इसके विपरीत (अपनी प्रशंसा न चाहनेवाले) साधक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान होते हैं और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं। परन्तु नाममें किंचिन्मात्र भी अपनापन न होनेके कारण सिद्ध भक्त इन दोनों भावोंसे रहित होता है अर्थात् निन्दा-स्तुतिमें सम होता है। हाँ, वह भी कभी-कभी लोकसंग्रहके लिये साधककी तरह (निन्दामें सावधान तथा स्तुतिमें लज्जित होनेका) व्यवहार कर सकता है।

भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भी उसका निन्दा-स्तुति करनेवालोंमें भेदभाव नहीं होता। ऐसा भेदभाव न रहनेसे ही यह प्रतीत होता है कि वह निन्दा-स्तुतिमें सम है।

भक्तके द्वारा अशुभ कर्म तो हो ही नहीं सकते और शुभ-कर्मोंके होनेमें वह केवल भगवान्को हेतु मानता है। फिर भी उसकी कोई निन्दा या स्तुति करे, तो उसके चित्तमें कोई विकार पैदा नहीं होता।

'मौनी'—सिद्ध भक्तके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक भगवत्स्वरूपका मनन होता रहता है, इसलिये उसको **'मौनी'** अर्थात् मननशील कहा गया है। अन्तःकरणमें आनेवाली प्रत्येक वृत्तिमें उसको **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९) 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यही दीखता है। इसलिये उसके द्वारा निरन्तर ही भगवान्का मनन होता है।

यहाँ **'मौनी'** पदका अर्थ 'वाणीका मौन रखनेवाला' नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा माननेसे वाणीके द्वारा भक्तिका प्रचार करनेवाले भक्त पुरुष भक्त ही नहीं कहलायेंगे। इसके सिवाय अगर वाणीका मौन रखनेमात्रसे भक्त होना सम्भव होता, तो भक्त होना बहुत ही आसान हो जाता और ऐसे भक्त असंख्य बन जाते; किंतु संसारमें भक्तोंकी संख्या अधिक देखनेमें नहीं आती। इसके सिवाय आसुर स्वभाववाला दम्भी व्यक्ति भी हठपूर्वक वाणीका मौन रख सकता है। परन्तु यहाँ भगवत्प्राप्त सिद्ध भक्तके लक्षण बताये जा रहे हैं। इसलिये यहाँ **'मौनी'** पदका अर्थ 'भगवत्स्वरूपका मनन करनेवाला' ही मानना युक्तिसंगत है।

'सन्तुष्टो येन केनचित्'—दूसरे लोगोंको भक्त **'सन्तुष्टो येन केनचित्'** अर्थात् प्रारब्धानुसार शरीर-निर्वाहके लिये जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट दीखता है; परन्तु वास्तवमें भक्तकी संतुष्टिका कारण कोई सांसारिक पदार्थ, परिस्थिति आदि नहीं होती। एकमात्र

भगवान्में ही प्रेम होनेके कारण वह नित्य-निरन्तर भगवान्में ही संतुष्ट रहता है। इस संतुष्टिके कारण वह संसारकी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें सम रहता है; क्योंकि उसके अनुभवमें प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भगवान्के मंगलमय विधानसे ही आती है। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थितिमें नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहनेके कारण उसे '**सन्तुष्टो येन केनचित्**' कहा गया है।

'**अनिकेतः**'—जिनका कोई निकेत अर्थात् वास-स्थान नहीं है, वे ही 'अनिकेत' हों—ऐसी बात नहीं है। चाहे गृहस्थ हों या साधु-संन्यासी, जिनकी अपने रहनेके स्थानमें ममता-आसक्ति नहीं है, वे सभी 'अनिकेत' हैं। भक्तका रहनेके स्थानमें और शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर) में लेशमात्र भी अपनापन एवं आसक्ति नहीं होती। इसलिये उसको '**अनिकेतः**' कहा गया है।

'**स्थिरमतिः**'—भक्तकी बुद्धिमें भगवत्तत्त्वकी सत्ता और स्वरूपके विषयमें कोई संशय अथवा विपर्यय (विपरीत ज्ञान) नहीं होता। अतः उसकी बुद्धि भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे कभी किसी अवस्थामें विचलित नहीं होती। इसलिये उसको '**स्थिरमतिः**' कहा गया है। भगवत्तत्त्वको जाननेके लिये उसको कभी किसी प्रमाण या शास्त्र-विचार, स्वाध्याय आदिकी जरूरत नहीं रहती; क्योंकि वह स्वाभाविकरूपसे भगवत्तत्त्वमें तल्लीन रहता है।

स्थिरबुद्धि होनेमें कामनाएँ ही बाधक होती हैं (गीता— दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। अतः कामनाओंके त्यागसे ही स्थिरबुद्धि होना सम्भव है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक)। अन्तःकरणमें सांसारिक (संयोगजन्य) सुखकी कामना रहनेसे संसारमें आसक्ति हो जाती है। यह आसक्ति संसारको असत्य या मिथ्या जान लेनेपर भी मिटती नहीं; जैसे—सिनेमामें दीखनेवाले दृश्य- (प्राणी-पदार्थों-) को मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है अथवा जैसे भूतकालकी बातोंको याद करते समय मानसिक दृष्टिके सामने आनेवाले दृश्यको मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है। अतः जबतक भीतरमें सांसारिक सुखकी कामना है, तबतक संसारको मिथ्या माननेपर भी संसारकी आसक्ति नहीं मिटती। आसक्तिसे संसारकी स्वतन्त्र सत्ता दृढ़ होती है। सांसारिक सुखकी कामना मिटनेपर आसक्ति स्वतः मिट जाती है। आसक्ति मिटनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है और एक भगवत्तत्त्वमें बुद्धि स्थिर हो जाती है।

'**भक्तिमान्मे प्रियो नरः**'—'**भक्तिमान्**' पदमें 'भक्ति' शब्दके साथ नित्ययोगके अर्थमें '**मतुप्**' प्रत्यय है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें स्वाभाविकरूपसे 'भक्ति' (भगवत्प्रेम) रहती है। मनुष्यसे भूल यही होती है कि वह भगवान्को छोड़कर संसारकी भक्ति करने लगता है। इसलिये उसे स्वाभाविक रहनेवाली भगवद्भक्तिका रस नहीं मिलता और उसके जीवनमें नीरसता रहती है। सिद्ध भक्त हरदम भक्ति-रसमें तल्लीन रहता है। इसलिये उसको '**भक्तिमान्**' कहा गया है। ऐसा भक्तिमान् मनुष्य भगवान्को प्रिय होता है।

'**नरः**' पद देनेका तात्पर्य है कि भगवान्को प्राप्त करके जिसने अपना मनुष्यजीवन सफल (सार्थक) कर लिया है, वही वास्तवमें नर (मनुष्य) कहलानेयोग्य है। जो मनुष्य-शरीरको पाकर सांसारिक भोग और संग्रहमें ही लगा हुआ है, वह नर (मनुष्य) कहलानेयोग्य नहीं है।

[इन दो श्लोकोंमें भक्तके सदा-सर्वदा समभावमें स्थित रहनेकी बात कही गयी है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति—इन पाँचों द्वन्द्वोंमें समता होनेसे ही साधक पूर्णतः समभावमें स्थित कहा जा सकता है।]

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्ने पहले प्रकरणके अन्तर्गत तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करके अन्तमें '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' कहा, दूसरे प्रकरणके अन्तर्गत पन्द्रहवें श्लोकके अन्तमें '**यः स च मे प्रियः**' कहा, तीसरे प्रकरणके अन्तर्गत सोलहवें श्लोकके अन्तमें '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' कहा, चौथे प्रकरणके अन्तर्गत सत्रहवें श्लोकके अन्तमें '**भक्तिमान् यः स मे प्रियः**' कहा और अन्तिम पाँचवें प्रकरणके अन्तर्गत अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंके अन्तमें '**भक्तिमान् मे प्रियो नरः**' कहा। इस प्रकार भगवान्ने पाँच बार अलग-अलग '**मे प्रियः**' पद देकर सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको पाँच भागोंमें विभक्त किया है। इसलिये सात श्लोकोंमें बताये गये सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको एक ही प्रकरणके अन्तर्गत नहीं समझना चाहिये। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि यह एक ही प्रकरण होता, तो एक लक्षणको बार-बार न कहकर एक ही बार कहा जाता, और '**मे प्रियः**' पद भी एक ही बार कहे जाते।

पाँचों प्रकरणोंके अन्तर्गत सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। जैसे, पहले प्रकरणमें '**निर्ममः**' पदसे रागका, '**अद्वेष्टा**' पदसे द्वेषका और '**समदुःखसुखः**' पदसे हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। दूसरे प्रकरणमें '**हर्षामर्षभयोद्वेगैः**' पदसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। तीसरे प्रकरणमें '**अनपेक्षः**' पदसे रागका, '**उदासीनः**' पदसे द्वेषका और '**गतव्यथः**' पदसे हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। चौथे प्रकरणमें '**न काङ्क्षति**' पदोंसे रागका, '**न द्वेष्टि**' पदोंसे द्वेषका और '**न हृष्यति**' तथा '**न शोचति**' पदोंसे हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। अन्तिम पाँचवें प्रकरणमें '**संगविवर्जितः**' पदसे रागका, '**सन्तुष्टः**' पदसे एकमात्र भगवान्‌में ही सन्तुष्ट रहनेके कारण द्वेषका और '**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**' पदोंसे हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है।

अगर सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतानेवाला (सात श्लोकोंका) एक ही प्रकरण होता, तो सिद्ध भक्तमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंके अभावकी बात कहीं शब्दोंसे और कहीं भावसे बार-बार कहनेकी जरूरत नहीं होती। इसी तरह चौदहवें और उन्नीसवें श्लोकमें '**सन्तुष्टः**' पदका तथा तेरहवें श्लोकमें '**समदुःखसुखः**' और अठारहवें श्लोकमें '**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**' पदोंका भी सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें दो बार प्रयोग हुआ है, जिससे (सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका एक ही प्रकरण माननेसे) पुनरुक्तिका दोष आता है। भगवान्‌के वचनोंमें पुनरुक्तिका दोष आना सम्भव ही नहीं। अतः सातों श्लोकोंके विषयको एक प्रकरण न मानकर अलग-अलग पाँच प्रकरण मानना ही युक्तिसंगत है।

इस तरह पाँचों प्रकरण स्वतन्त्र (भिन्न-भिन्न) होनेसे किसी एक प्रकरणके भी सब लक्षण जिसमें हों, वही भगवान्‌का प्रिय भक्त है। प्रत्येक प्रकरणमें सिद्ध भक्तोंके अलग-अलग लक्षण बतानेका कारण यह है कि साधन-पद्धति, प्रारब्ध, वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिके भेदसे सब भक्तोंकी प्रकृति-(स्वभाव-) में परस्पर थोड़ा-बहुत भेद रहा करता है। हाँ, राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंका अत्यन्ताभाव एवं समतामें स्थिति और समस्त प्राणियोंके हितमें रति सबकी समान ही होती है।

साधकको अपनी रुचि, विश्वास, योग्यता, स्वभाव आदिके अनुसार जो प्रकरण अपने अनुकूल दिखायी दे, उसीको आदर्श मानकर उसके अनुसार अपना जीवन बनानेमें लग जाना चाहिये। किसी एक प्रकरणके भी यदि पूरे लक्षण अपनेमें न आयें, तो भी साधकको निराश नहीं होना चाहिये। फिर सफलता अवश्यम्भावी है।

परिशिष्ट भाव—इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने वे ही स्थल दिये हैं, जहाँ समता होनेमें कठिनता आती है। अगर इनमें समता हो जाय तो अन्य जगह समता होनेमें कठिनता नहीं आयेगी। अपनेपर कोई असर न पड़ना 'समता' है।

यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, तथापि दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें वह शत्रु और मित्रमें सम दीखता है। शत्रुता-मित्रताका ज्ञान होनेपर भी वह सम रहता है।

'**शीतोष्णसुखदुःखेषु**'—भक्त शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें भी सम रहता है और मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें भी सम रहता है। तात्पर्य है कि भक्त शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, इन्द्रियोंकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, सिद्धान्तकी अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब तरहकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सम रहता है। उसका न तो अनुकूलतामें राग होता है और न प्रतिकूलतामें द्वेष होता है।

'**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**', '**भक्तिमान्मे प्रियो नरः**' आदि पदोंका तात्पर्य है कि वे भक्तिके कारण भगवान्‌को प्रिय हैं, गुणों-(लक्षणों-)के कारण नहीं। गुण मुख्य नहीं हैं, प्रत्युत भक्ति मुख्य है।

सम्बन्ध—पीछेके सात श्लोकोंमें भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके कुल उनतालीस लक्षण बताये। अब आगेके श्लोकमें भगवान् अर्जुनके प्रश्नका स्पष्ट रीतिसे उत्तर देते हैं।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

तु	= परन्तु	**भक्ताः**	= भक्त	**पर्युपासते**	= भलीभाँति सेवन करते हैं,
ये	= जो (मुझमें)	**इदम्**	= इस	**ते**	= वे
श्रद्दधानाः	= श्रद्धा रखनेवाले (और)	**धर्म्यामृतम्**	= धर्ममय अमृतका	**मे**	= मुझे
मत्परमाः	= मेरे परायण हुए	**यथा, उक्तम्**	= जैसा कहा है, (वैसा ही)	**अतीव**	= अत्यन्त
				प्रियाः	= प्रिय हैं।

व्याख्या—**'ये तु'**—यहाँ **'ये'** पदसे भगवान्ने उन साधक भक्तोंका संकेत किया है, जिनके विषयमें अर्जुनने पहले श्लोकमें प्रश्न करते हुए **'ये'** पदका प्रयोग किया था। उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने दूसरे श्लोकमें सगुणकी उपासना करनेवाले साधकोंको अपने मतमें (**'ये'** और **'ते'** पदोंसे) **'युक्ततमाः'** बताया था। फिर उसी सगुण-उपासनाके साधन बताये और फिर सिद्ध भक्तोंके लक्षण बताकर अब उसी प्रसंगका उपसंहार करते हैं।

यहाँ **'ये'** पद उन परम श्रद्धालु भगवत्परायण साधकोंके लिये आया है। जो सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करते हैं।

'तु' पदका प्रयोग प्रकरणको अलग करनेके लिये किया जाता है। यहाँ सिद्ध भक्तोंके प्रकरणसे साधक भक्तोंके प्रकरणको अलग करनेके लिये **'तु'** पदका प्रयोग हुआ है। इस पदसे ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा साधक भक्त भगवान्को विशेष प्रिय हैं।

'श्रद्दधानाः'—भगवत्प्राप्ति हो जानेके कारण सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें श्रद्धाकी बात नहीं आयी; क्योंकि जबतक नित्यप्राप्त भगवान्का अनुभव नहीं होता, तभीतक श्रद्धाकी जरूरत रहती है। अतः इस पदको श्रद्धालु साधक भक्तोंका ही वाचक मानना चाहिये। ऐसे श्रद्धालु भक्त भगवान्के धर्ममय अमृतरूप उपदेशको (जो भगवान्ने तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक कहा है) भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे अपनेमें उतारनेकी चेष्टा किया करते हैं।

यद्यपि भक्तिके साधनमें श्रद्धा और प्रेमका तथा ज्ञानके साधनमें विवेकका महत्त्व होता है, तथापि इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्तिके साधनमें विवेकका और ज्ञानके साधनमें श्रद्धाका महत्त्व ही नहीं है। वास्तवमें श्रद्धा और विवेककी सभी साधनोंमें बड़ी आवश्यकता है। विवेक होनेसे भक्ति-साधनमें तेजी आती है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें तथा परमात्मतत्त्वमें श्रद्धा होनेसे ही ज्ञान-साधनका पालन हो सकता है। इसलिये भक्ति और ज्ञान दोनों ही साधनोंमें श्रद्धा और विवेक सहायक हैं।

'मत्परमाः'—साधक भक्तोंका सिद्ध भक्तोंमें अत्यन्त पूज्यभाव होता है। उनकी सिद्ध भक्तोंके गुणोंमें श्रेष्ठ बुद्धि होती है। अतः वे उन गुणोंको आदर्श मानकर आदरपूर्वक उनका अनुसरण करनेके लिये भगवान्के परायण होते हैं। इस प्रकार भगवान्का चिन्तन करनेसे और भगवान्पर ही निर्भर रहनेसे वे सब गुण उनमें स्वतः आ जाते हैं।

भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें **'मत्परमः'** पदसे और इसी (बारहवें) अध्यायके छठे श्लोकमें **'मत्पराः'** पदसे अपने परायण होनेकी बात विशेषरूपसे कहकर अन्तमें पुनः उसी बातको इस श्लोकमें **'मत्परमाः'** पदसे कहा है। इससे सिद्ध होता है कि भक्तियोगमें भगवत्परायणता मुख्य है। भगवत्परायण होनेपर भगवत्कृपासे अपने-आप साधन होता है और असाधन-(साधनके विघ्नों-) का नाश होता है।

'धर्म्यामृतमिदं यथोक्तम्'—सिद्ध भक्तोंके उनतालीस लक्षणोंके पाँचों प्रकरण धर्ममय अर्थात् धर्मसे ओतप्रोत हैं। उनमें किंचिन्मात्र भी अधर्मका अंश नहीं है। जिस साधनमें साधन-विरोधी अंश सर्वथा नहीं होता, वह साधन अमृत-तुल्य होता है। पहले कहे हुए लक्षण समुदायके धर्ममय होनेसे तथा उसमें साधन-विरोधी कोई बात न होनेसे ही उसे **'धर्म्यामृत'** संज्ञा दी गयी है।

साधनमें साधन-विरोधी कोई बात न होते हुए भी जैसा पहले कहा गया है, ठीक वैसा-का-वैसा धर्ममय अमृतका सेवन तभी सम्भव है, जब साधकका उद्देश्य किंचिन्मात्र भी धन, मान, बड़ाई, आदर, सत्कार, संग्रह, सुखभोग आदि न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो।

प्रत्येक प्रकरणके सब लक्षण धर्म्यामृत हैं। अतः साधक जिस प्रकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करता है, उसके लिये वही धर्म्यामृत है।

धर्म्यामृतके जो **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः····'** आदि लक्षण बताये गये हैं, वे आंशिकरूपसे साधकमात्रमें रहते हैं और इनके साथ-साथ कुछ दुर्गुण-दुराचार भी रहते हैं। प्रत्येक प्राणीमें गुण और अवगुण दोनों ही रहते हैं, फिर भी

अवगुणोंका तो सर्वथा त्याग हो सकता है, पर गुणोंका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। कारण कि साधन और स्वभावके अनुसार सिद्ध पुरुषमें गुणोंका तारतम्य तो रहता है; परन्तु उनमें गुणोंकी कमीरूप अवगुण किंचिन्मात्र भी नहीं रहता। गुणोंमें न्यूनाधिकता रहनेसे उनके पाँच विभाग किये गये हैं; परन्तु अवगुण सर्वथा त्याज्य हैं; अतः उनका विभाग हो ही नहीं सकता।

साधक सत्संग तो करता है, पर साथ-ही-साथ कुसंग भी होता रहता है। वह संयम तो करता है, पर साथ-ही-साथ असंयम भी होता रहता है। वह साधन तो करता है, पर साथ-ही-साथ असाधन भी होता रहता है। जबतक साधनके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तबतक साधककी साधना पूर्ण नहीं होती। कारण कि असाधनके साथ साधन अथवा अवगुणोंके साथ गुण उनमें भी पाये जाते हैं, जो साधक नहीं है। इसके सिवाय जबतक साधनके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तबतक साधकमें अपने साधन अथवा गुणोंका अभिमान रहता है, जो आसुरी सम्पत्तिका आधार है। इसलिये धर्म्यामृतका यथोक्त सेवन करनेके लिये कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इसका ठीक वैसा ही पालन होना चाहिये, जैसा वर्णन किया गया है। अगर धर्म्यामृतके सेवनमें दोष (असाधन) भी साथ रहेंगे तो भगवत्प्राप्ति नहीं होगी। अतः इस विषयमें साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये। यदि साधनमें किसी कारणवश आंशिकरूपसे कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाय, तो उसकी अवहेलना न करके तत्परतासे उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये। चेष्टा करनेपर भी न हटे, तो व्याकुलतापूर्वक प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये।

जितने सद्गुण, सदाचार, सद्भाव आदि हैं, वे सब-के-सब 'सत्'-(परमात्मा-) के सम्बन्धसे ही होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सब 'असत्'के सम्बन्धसे ही होते हैं। दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषमें भी सद्गुण-सदाचारका सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि 'सत्'-(परमात्मा-)का अंश होनेके कारण जीवमात्रका 'सत्'से नित्यसिद्ध सम्बन्ध है। परमात्मासे सम्बन्ध रहनेके कारण किसी-न-किसी अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

सद्गुण-सदाचार-सद्भाव भगवान्‌की सम्पत्ति है। इसलिये साधक जितना ही भगवान्‌के सम्मुख अथवा भगवत्परायण होता जायगा, उतने ही अंशमें स्वतः सद्गुण-सदाचार-सद्भाव प्रकट होते जायँगे और दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव नष्ट होते जायँगे।

राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अन्तःकरणके विकार हैं, धर्म नहीं (गीता—तेरहवें अध्यायका छठा श्लोक)। धर्मीके साथ धर्मका नित्य-सम्बन्ध रहता है। जैसे, सूर्यरूप धर्मीके साथ उष्णतारूप धर्मका नित्य-सम्बन्ध रहता है, जो कभी मिट नहीं सकता। अतः धर्मीके बिना धर्म तथा धर्मके बिना धर्मी नहीं रह सकता। काम-क्रोधादि विकार साधारण मनुष्यमें भी हर समय नहीं रहते, साधन करनेवालेमें कम होते रहते हैं और सिद्ध पुरुषमें तो सर्वथा ही नहीं रहते। यदि ये विकार अन्तःकरणके धर्म होते, तो हर समय एकरूपसे रहते और अन्तःकरण-(धर्मी-) के रहते हुए कभी नष्ट नहीं होते। अतः ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, प्रत्युत आगन्तुक (आने-जानेवाले) विकार हैं। साधक जैसे-जैसे अपने एकमात्र लक्ष्य भगवान्‌की ओर बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे राग-द्वेषादि विकार मिटते जाते हैं और भगवान्‌को प्राप्त होनेपर उन विकारोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है।

गीतामें जगह-जगह भगवान्‌ने **'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (३।३४), **'रागद्वेषवियुक्तैः'** (२।६४), **'रागद्वेषौ व्युदस्य'** (१८। ५१) आदि पदोंसे साधकोंको इन राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा त्याग करनेके लिये कहा है। यदि ये (राग-द्वेषादि) अन्तःकरणके धर्म होते तो अन्तःकरणके रहते हुए इनका त्याग असम्भव होता और असम्भवको सम्भव बनानेके लिये भगवान् आज्ञा भी कैसे दे सकते थे?

गीतामें सिद्ध महापुरुषोंको राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त बताया गया है। जैसे, इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक जगह-जगह भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंको राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त बताया है। इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं, अन्तःकरणके धर्म नहीं। असत्से सर्वथा विमुख होनेसे उन सिद्ध महापुरुषोंमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं रहते। यदि अन्तःकरणमें ये विकार बने रहते, तो फिर वे मुक्त किससे होते?

जिसमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुषके अन्तःकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर भगवत्प्राप्तिके लिये उनका अनुसरण करनेके लिये भगवान्‌ने उन लक्षणोंको यहाँ **'धर्म्यामृतम्'** के नामसे सम्बोधित किया है।

'**पर्युपासते**'—साधक भक्तोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के प्यारे सिद्ध भक्त अत्यन्त श्रद्धास्पद होते हैं। भगवान्‌की तरफ स्वाभाविक आकर्षण (प्रियता) होनेके कारण उनमें दैवी सम्पत्ति अर्थात् सद्गुण (भगवान्‌के होनेसे) स्वाभाविक ही आ जाते हैं। फिर भी साधकोंका उन सिद्ध महापुरुषोंके गुणोंके प्रति स्वाभाविक आदरभाव होता है और वे उन गुणोंको अपनेमें उतारनेकी चेष्टा करते हैं। यही साधक भक्तोंद्वारा उन गुणोंका अच्छी तरहसे सेवन करना, उनको अपनाना है।

इसी अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक, सात श्लोकोंमें 'धर्म्यामृत' का जिस रूपमें वर्णन किया गया है, उसका ठीक उसी रूपमें श्रद्धापूर्वक अच्छी तरह सेवन करनेके अर्थमें यहाँ '**पर्युपासते**' पद प्रयुक्त हुआ है। अच्छी तरह सेवन करनेका तात्पर्य यही है कि साधकमें किंचिन्मात्र भी अवगुण नहीं रहने चाहिये। जैसे, साधकमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति करुणाका भाव पूर्णरूपसे भले ही न हो, पर उसमें किसी प्राणीके प्रति अकरुणा-(निर्दयता-) का भाव बिलकुल भी नहीं रहना चाहिये। साधकोंमें ये लक्षण सांगोपांग नहीं होते, इसीलिये उनसे इनका सेवन करनेके लिये कहा गया है। सांगोपांग लक्षण होनेपर वे सिद्धकी कोटिमें आ जायँगे।

साधकमें भगवत्प्राप्तिकी तीव्र उत्कण्ठा और व्याकुलता होनेपर उसके अवगुण अपने-आप नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि उत्कण्ठा और व्याकुलता अवगुणोंको खा जाती है तथा उसके द्वारा साधन भी अपने-आप होने लगता है। इस कारण उसको भगवत्प्राप्ति जल्दी और सुगमतासे हो जाती है।

'**भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**'—भक्तिमार्गपर चलनेवाले भगवदाश्रित साधकोंके लिये यहाँ '**भक्ताः**' पद प्रयुक्त हुआ है।

भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदिसे अपने दर्शनकी दुर्लभता बताकर चौवनवें श्लोकमें अनन्यभक्तिसे अपने दर्शनकी सुलभताका वर्णन किया। फिर पचपनवें श्लोकमें अपने भक्तके लक्षणोंके रूपमें अनन्यभक्तिके स्वरूपका वर्णन किया। इसपर अर्जुनने इसी (बारहवें) अध्यायके पहले श्लोकमें यह प्रश्न किया कि सगुण-साकारके उपासकों और निर्गुण-निराकारके उपासकोंमें श्रेष्ठ कौन है? भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें इस प्रश्नके उत्तरमें (सगुण-साकारकी उपासना करनेवाले) उन साधकोंको श्रेष्ठ बताया, जो भगवान्‌में मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करते हैं। यहाँ उपसंहारमें उन्हीं साधकोंके लिये '**भक्ताः**' पद आया है।

उन साधक भक्तोंको भगवान् अपना 'अत्यन्त प्रिय' बताते हैं।

सिद्ध भक्तोंको 'प्रिय' और साधकोंको 'अत्यन्त प्रिय' बतानेके कारण इस प्रकार हैं—

(१) सिद्ध भक्तोंको तो तत्त्वका अनुभव अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो चुकी है; किन्तु साधक भक्त भगवत्प्राप्ति न होनेपर भी श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के परायण होते हैं। इसलिये वे भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होते हैं।

(२) सिद्ध भक्त भगवान्‌के बड़े पुत्रके समान हैं।

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।

परन्तु साधक भक्त भगवान्‌के छोटे, अबोध बालकके समान हैं—

बालक सुत सम दास अमानी॥

(मानस ३। ४३। ४)

छोटा बालक स्वाभाविक ही सबको प्रिय लगता है। इसलिये भगवान्‌को भी साधक भक्त अत्यन्त प्रिय हैं।

(३) सिद्ध भक्तको तो भगवान् अपने प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपनेको ऋणमुक्त मान लेते हैं, पर साधक भक्त तो (प्रत्यक्ष दर्शन न होनेपर भी) सरल विश्वासपूर्वक एकमात्र भगवान्‌के आश्रित होकर उनकी भक्ति करते हैं। अतः उनको अभीतक अपने प्रत्यक्ष दर्शन न देनेके कारण भगवान् अपनेको उनका ऋणी मानते हैं और इसीलिये उनको अपना अत्यन्त प्रिय कहते हैं।

परिशिष्ट भाव—कर्तव्यको 'धर्म' कहते हैं। जो धर्मसे विचलित, इधर-उधर नहीं होता, उसको 'धर्म्य' कहते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसके समान दूसरा कोई सिद्धान्त है ही नहीं, इसलिये यह 'धर्म्य' है (गीता—नवें अध्यायका दूसरा श्लोक)।

श्रद्धा साधकमें होती है। सिद्धमें श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत अनुभव होता है; क्योंकि उसके अनुभवमें एक परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं, सब कुछ परमात्मा ही हैं, फिर वह श्रद्धा क्या करे! साधककी दृष्टिमें दूसरी सत्ता रहती है, इसलिये वह उपासना करता है (**पर्युपासते**) अर्थात् अपना जीवन वैसा बनाता है; परन्तु उसका भाव यह रहता है कि भगवान्‌के सिवाय अगर कुछ है तो वह भी भगवान्‌की ही लीला है।

दूसरी सत्ताकी मान्यता होते हुए भी साधक भगवान्‌के परायण रहता है और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसका प्रेमास्पद नहीं होता, इसलिये वह भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा होता है। जबतक उसको 'सब कुछ भगवान् ही हैं'— इसका अनुभव नहीं होता, तबतक भगवान् उसके ऋणी रहते हैं!

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते। तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों-(बर्ताव-) से मेरी उपासना करता रहे।'

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसम्वादमें 'भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १२॥

इस (बारहवें) अध्यायमें अनेक प्रकारके साधनों-सहित भगवद्भक्तिका वर्णन करके भक्तोंके लक्षण बताये गये हैं और इस अध्यायका उपक्रम तथा उपसंहार भी भगवद्भक्तिमें ही हुआ है। केवल तीसरे, चौथे और पाँचवें—तीन श्लोकोंमें ज्ञानके साधनका वर्णन है, पर वह भी भक्ति और ज्ञानकी परस्पर तुलना करके भक्तिको श्रेष्ठ बतानेके लिये ही है। इसीलिये इस अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रखा गया है।

बारहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ द्वादशोऽध्यायः**'के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके चार, श्लोकोंके दो सौ चौवालीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग दो सौ चौंसठ है।

(२) '**अथ द्वादशोऽध्यायः**' के सात, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके तेरह, श्लोकोंके छः सौ चालीस और पुष्पिकाके पैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग सात सौ पाँच है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उवाच हैं—'**अर्जुन उवाच**' और '**श्रीभगवानुवाच**।'

बारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बीस श्लोकोंमेंसे—नवें श्लोकके तृतीय चरणमें '**भगण**' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; उन्नीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; और बीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' तथा तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**संकीर्ण-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष सत्रह श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अवतरणिका—

बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि आप (सगुण-साकार-)की उपासना करनेवाले और अव्यक्त अक्षर-(निर्गुण-निराकार) की उपासना करनेवाले—इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ हैं? उत्तरमें भगवान्‌ने अपनी उपासना करनेवालोंको श्रेष्ठ बताया और आगे कहा कि अव्यक्त अक्षरकी उपासना करनेवाले भी मेरेको ही प्राप्त होते हैं; परन्तु देहाभिमान रहनेके कारण उनको उपासनामें कठिनता अधिक होती है। ऐसा कहकर भगवान्‌ने सगुण-साकारकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन किया। अब अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये और उसमें देहाभिमानरूप मुख्य बाधाको दूर करनेके लिये भगवान् तेरहवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

सबसे पहले भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विवेकका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

कौन्तेय	= हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!	**क्षेत्रम्**	= 'क्षेत्र'—	**वेत्ति**	= जानता है,
इदम्	= 'यह'-रूपसे कहे जानेवाले	**इति**	= इस	**तम्**	= उसको
शरीरम्	= शरीरको	**अभिधीयते**	= नामसे कहते हैं (और)	**तद्विदः**	= ज्ञानीलोग
		एतत्	= इस क्षेत्रको	**क्षेत्रज्ञः**	= 'क्षेत्रज्ञ'—
		यः	= जो	**इति**	= इस नामसे
				प्राहुः	= कहते हैं।

व्याख्या—**'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'**—मनुष्य 'यह पशु है, यह पक्षी है, यह वृक्ष है' आदि-आदि भौतिक चीजोंको इदंतासे अर्थात् 'यह'-रूपसे कहता है और इस शरीरको कभी 'मैं'-रूपसे तथा कभी 'मेरा'-रूपसे कहता है। परन्तु वास्तवमें अपना कहलानेवाला शरीर भी इदंतासे कहलानेवाला ही है। चाहे स्थूलशरीर हो, चाहे सूक्ष्मशरीर हो और चाहे कारणशरीर हो, पर वे हैं सभी इदंतासे कहलानेवाले ही।

जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ है अर्थात् जो माता-पिताके रज-वीर्यसे पैदा होता है, उसको स्थूलशरीर कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'अन्नमयकोश' भी है; क्योंकि यह अन्नके विकारसे ही पैदा होता है और अन्नसे ही जीवित रहता है। अतः यह अन्नमय, अन्नस्वरूप ही है। इन्द्रियोंका विषय होनेसे यह शरीर **'इदम्'** ('यह')कहा जाता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे बने हुएको सूक्ष्मशरीर कहते हैं। इन सत्रह तत्त्वोंमेंसे प्राणोंकी प्रधानताको लेकर यह सूक्ष्मशरीर 'प्राणमयकोश', मनकी प्रधानताको लेकर यह 'मनोमयकोश' और बुद्धिकी प्रधानताको लेकर यह 'विज्ञानमयकोश' कहलाता है। ऐसा यह सूक्ष्मशरीर भी अन्तःकरणका विषय होनेसे **'इदम्'** कहा जाता है।

अज्ञानको कारणशरीर कहते हैं। मनुष्यको बुद्धितकका तो ज्ञान होता है, पर बुद्धिसे आगेका ज्ञान नहीं होता, इसलिये इसे अज्ञान कहते हैं। यह अज्ञान सम्पूर्ण शरीरोंका कारण होनेसे कारणशरीर कहलाता है—**'अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणम्'** (अध्यात्म०, उत्तर० ५। ९)। इस कारण-शरीरको स्वभाव, आदत और प्रकृति भी कह देते हैं और

इसीको 'आनन्दमयकोश' भी कह देते हैं। जाग्रत्-अवस्थामें स्थूलशरीरकी प्रधानता होती है और उसमें सूक्ष्म तथा कारणशरीर भी साथमें रहता है। स्वप्न-अवस्थामें सूक्ष्मशरीरकी प्रधानता होती है और उसमें कारणशरीर भी साथमें रहता है। सुषुप्ति-अवस्थामें स्थूलशरीरका ज्ञान नहीं रहता, जो कि अन्नमयकोश है और सूक्ष्मशरीरका भी ज्ञान नहीं रहता, जो कि प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमयकोश है अर्थात् बुद्धि अविद्या-(अज्ञान-)में लीन हो जाती है। अत: सुषुप्ति-अवस्था कारणशरीरकी होती है। जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें तो सुख-दु:खका अनुभव होता है, पर सुषुप्ति-अवस्थामें दु:खका अनुभव नहीं होता और सुख रहता है। इसलिये कारणशरीरको 'आनन्दमयकोश' कहते हैं। कारण-शरीर भी स्वयंका विषय होनेसे, स्वयंके द्वारा जाननेमें आनेवाला होनेसे **'इदम्'** कहा जाता है।

उपर्युक्त तीनों शरीरोंको 'शरीर' कहनेका तात्पर्य है कि इनका प्रतिक्षण नाश होता रहता है।[१] इनको कोश कहनेका तात्पर्य है कि जैसे चमड़ेसे बनी हुई थैलीमें तलवार रखनेसे उसकी म्यान संज्ञा हो जाती है, ऐसे ही जीवात्माके द्वारा इन तीनों शरीरोंको अपना माननेसे, अपनेको इनमें रहनेवाला माननेसे इन तीनों शरीरोंकी 'कोश' संज्ञा हो जाती है।

इस शरीरको 'क्षेत्र' कहनेका तात्पर्य है कि यह प्रतिक्षण नष्ट होता, प्रतिक्षण बदलता है।[२] यह इतना जल्दी बदलता है कि इसको दुबारा कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् दृष्टि पड़ते ही जिसको देखा, उसको फिर दुबारा नहीं देख सकते; क्योंकि वह तो बदल गया।

शरीरको क्षेत्र कहनेका दूसरा भाव खेतसे है। जैसे खेतमें तरह-तरहके बीज डालकर खेती की जाती है, ऐसे ही इस मनुष्य-शरीरमें अहंता-ममता करके जीव तरह-तरहके कर्म करता है। उन कर्मोंके संस्कार अन्त:करणमें पड़ते हैं। वे संस्कार जब फलके रूपमें प्रकट होते हैं, तब दूसरा (देवता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदिका) शरीर मिलता है। जिस प्रकार खेतमें जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही अनाज पैदा होता है, उसी प्रकार इस शरीरमें जैसे कर्म किये जाते हैं, उनके अनुसार ही दूसरे शरीर, परिस्थिति आदि मिलते हैं। तात्पर्य है कि इस शरीरमें किये गये कर्मोंके अनुसार ही यह जीव बार-बार जन्म-मरणरूप फल भोगता है। इसी दृष्टिसे इसको क्षेत्र (खेत) कहा गया है।

अपने वास्तविक स्वरूपसे अलग दीखनेवाला यह शरीर प्राकृत पदार्थोंसे, क्रियाओंसे, वर्ण-आश्रम आदिसे **'इदम्'** (दृश्य) ही है। यह है तो **'इदम्'** पर जीवने भूलसे इसको **'अहम्'** मान लिया और फँस गया। स्वयं परमात्माका अंश एवं चेतन है, सबसे महान् है। परन्तु जब वह जड (दृश्य) पदार्थोंसे अपनी महत्ता मानने लगता है (जैसे,'मैं धनी हूँ', 'मैं विद्वान् हूँ' आदि), तब वास्तवमें वह अपनी महत्ता घटाता ही है। इतना ही नहीं, अपनी महान् बेइज्जती करता है; क्योंकि अगर धन, विद्या आदिसे वह अपनेको बड़ा मानता है, तो धन, विद्या आदि ही बड़े हुए। उसका अपना महत्त्व तो कुछ रहा ही नहीं! वास्तवमें देखा जाय तो महत्त्व स्वयंका ही है, नाशवान् और जड धनादि पदार्थोंका नहीं; क्योंकि जब स्वयं उन पदार्थोंको स्वीकार करता है, तभी वे महत्त्वशाली दीखते हैं। इसलिये भगवान् **'इदं शरीरं क्षेत्रम्'** पदोंसे शरीरादि पदार्थोंको अपनेसे भिन्न 'इदंता' से देखनेके लिये कह रहे हैं।

'एतद्यो वेत्ति'—जीवात्मा इस शरीरको जानता है अर्थात् यह शरीर मेरा है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, प्राण मेरे हैं—ऐसा मानता है। यह जीवात्मा इस शरीरको कभी 'मैं' कह देता है और कभी 'यह' कह देता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ'—ऐसा भी मान लेता है और 'यह शरीर मेरा है'—ऐसा भी मान लेता है।

इस श्लोकके पूर्वार्धमें शरीरको **'इदम्'** पदसे कहा है और उत्तरार्धमें शरीरको **'एतत्'** पदसे कहा है। यद्यपि ये दोनों ही पद नजदीकके वाचक हैं, तथापि **'इदम्'** की अपेक्षा **'एतत्'** पद अत्यन्त नजदीकका वाचक है। अत: यहाँ **'इदम्'** पद अंगुलिनिर्दिष्ट शरीर-समुदायका द्योतन करता है और **'एतत्'** पद इस शरीरमें जो 'मैं'-पन है, उस मैं-पनका द्योतन करता है।

'तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ[३] इति तद्विदः'—जैसे दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें सत्-असत्के तत्त्वको जानने-वालोंको तत्त्वदर्शी कहा है, ऐसे ही यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वको जाननेवालोंको **'तद्विदः'** कहा है। क्षेत्र क्या है और क्षेत्रज्ञ क्या है—इसका जिनको बोध हो चुका है, ऐसे तत्त्वज्ञ

१-'शॄ हिंसायाम्' धातुसे 'शरीर' शब्द बनता है।

२-'क्षि क्षये' धातुसे 'क्षेत्र' शब्द बनता है।

३-यद्यपि 'प्राहुः' क्रियाका कर्म होनेसे 'क्षेत्रज्ञ' शब्दमें द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये थी, तथापि आगे 'इति' पद आनेसे अर्थात् 'इति' पदसे उक्त होनेसे 'क्षेत्रज्ञ' शब्दमें प्रथमा विभक्ति हो गयी है।

महापुरुष इस जीवात्माको 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं। तात्पर्य है कि क्षेत्रकी तरफ दृष्टि रहनेसे, क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही इस जीवात्माको वे ज्ञानी महापुरुष 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। अगर यह जीवात्मा क्षेत्रके साथ सम्बन्ध न रखे, तो फिर इसकी 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा नहीं रहेगी, यह परमात्मस्वरूप हो जायगा (गीता—तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

मार्मिक बात

यह नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, वहाँसे खोलनेपर ही (बन्धनसे) छुटकारा हो सकता है। अतः मनुष्यशरीरसे ही बन्धन होता है और मनुष्यशरीरके द्वारा ही बन्धनसे मुक्ति हो सकती है। अगर मनुष्यका अपने शरीरके साथ किसी प्रकारका भी अहंता-ममतारूप सम्बन्ध न रहे, तो वह मात्र संसारसे मुक्त ही है। अतः भगवान् शरीरके साथ माने हुए अहंता-ममतारूप सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये शरीरको 'क्षेत्र' बताकर उसको इदंता-(पृथक्ता-) से देखनेके लिये कह रहे हैं, जो कि वास्तवमें पृथक् है ही।

शरीरको इदंतासे देखना केवल अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंके लिये ही नहीं, प्रत्युत मनुष्यमात्रके लिये परम आवश्यक है। कारण कि अपना उद्धार करनेका अधिकार और अवसर मनुष्यशरीरमें ही है। यही कारण है कि गीताका उपदेश आरम्भ करते ही भगवान्‌ने सबसे पहले शरीर और शरीरीकी पृथक्ताका वर्णन किया है।

'इदम्' का अर्थ है—'यह' अर्थात् अपनेसे अलग दीखनेवाला। सबसे पहले देखनेमें आता है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशसे बना यह स्थूलशरीर। यह दृश्य है और परिवर्तनशील है। इसको देखनेवाले हैं—नेत्र। जैसे दृश्यमें रंग, आकृति, अवस्था, उपयोग आदि सभी बदलते रहते हैं, पर उनको देखनेवाले नेत्र एक ही रहते हैं, ऐसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय भी बदलते रहते हैं, पर उनको जाननेवाले कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका एक ही रहते हैं। जैसे नेत्रोंसे ठीक दीखना, कम दीखना और बिलकुल न दीखना—ये नेत्रमें होनेवाले परिवर्तन मनके द्वारा जाने जाते हैं, ऐसे ही कान, त्वचा, जिह्वा और नासिकामें होनेवाले परिवर्तन भी मनके द्वारा जाने जाते हैं। अतः पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका) भी दृश्य हैं। कभी क्षुब्ध और कभी शान्त, कभी स्थिर और कभी चंचल—ये मनमें होनेवाले परिवर्तन बुद्धिके द्वारा जाने जाते हैं। अतः मन भी दृश्य है। कभी ठीक समझना, कभी कम समझना और कभी बिलकुल न समझना—ये बुद्धिमें होनेवाले परिवर्तन स्वयं-(जीवात्मा-) के द्वारा जाने जाते हैं। अतः बुद्धि भी दृश्य है। बुद्धि आदिके द्रष्टा स्वयं-(जीवात्मा-) में कभी परिवर्तन हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव भी नहीं। वह सदा एकरस रहता है; अतः वह कभी किसीका दृश्य नहीं हो सकता*।

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको तो जान सकती हैं, पर विषय अपनेसे पर (सूक्ष्म, श्रेष्ठ और प्रकाशक) इन्द्रियोंको नहीं जान सकते। इसी तरह इन्द्रियाँ और विषय मनको नहीं जान सकते; मन, इन्द्रियाँ और विषय बुद्धिको नहीं जान सकते; तथा बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और विषय स्वयंको नहीं जान सकते। न जाननेमें मुख्य कारण यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तो सापेक्ष द्रष्टा हैं अर्थात् एक-दूसरेकी सहायतासे केवल अपनेसे स्थूल रूपको देखनेवाले हैं; किन्तु स्वयं (जीवात्मा) शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिसे अत्यन्त सूक्ष्म और श्रेष्ठ होनेके कारण निरपेक्ष द्रष्टा है अर्थात् दूसरे किसीकी सहायताके बिना खुद ही देखनेवाला है।

उपर्युक्त विवेचनमें यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको भी द्रष्टा कहा गया है, तथापि वहाँ भी यह समझ लेना चाहिये कि स्वयं-(जीवात्मा-) के साथ रहनेपर ही इनके द्वारा देखा जाना सम्भव होता है। कारण कि मन, बुद्धि आदि जड प्रकृतिका कार्य होनेसे स्वतन्त्र द्रष्टा नहीं हो सकते। अतः स्वयं ही वास्तविक द्रष्टा है। दृश्य पदार्थ (शरीर), देखनेकी शक्ति (नेत्र, मन, बुद्धि) और देखनेवाला (जीवात्मा)— इन तीनोंमें गुणोंकी भिन्नता होनेपर भी तात्त्विक एकता है। कारण कि तात्त्विक एकताके बिना देखनेका आकर्षण, देखनेकी सामर्थ्य और देखनेकी प्रवृत्ति सिद्ध ही नहीं होती। यहाँ यह शंका हो सकती है कि स्वयं (जीवात्मा) तो चेतन है, फिर वह जड बुद्धि आदिको (जिससे उसकी तात्त्विक एकता नहीं है।) कैसे देखता है? इसका समाधान यह है कि स्वयं जडसे तादात्म्य करके जडके सहित अपनेको 'मैं'

*** रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्। दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥ (वाक्यसुधा १)**

'सर्वप्रथम नेत्र द्रष्टा हैं और रूप दृश्य है। फिर मन द्रष्टा है और नेत्रादि इन्द्रियाँ दृश्य हैं। फिर बुद्धि द्रष्टा है और मन दृश्य है। अन्तमें बुद्धिकी वृत्तियोंका भी जो द्रष्टा है, वह साक्षी (स्वयंप्रकाश आत्मा) किसीका भी दृश्य नहीं है।'

मान लेता है। यह 'मैं' न तो जड है और न चेतन ही है। जडमें विशेषता देखकर यह जडके साथ एक होकर कहता है कि 'मैं धनवान् हूँ; मैं विद्वान् हूँ' आदि; और चेतनमें विशेषता देखकर यह चेतनके साथ एक होकर कहता है कि 'मैं आत्मा हूँ; मैं ब्रह्म हूँ' आदि। यही प्रकृतिस्थ पुरुष है, जो प्रकृतिजन्य गुणोंके संगसे ऊँच-नीच योनियोंमें बार-बार जन्म लेता रहता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह निकला कि प्रकृतिस्थ पुरुषमें जड और चेतन—दोनों अंश विद्यमान हैं। चेतनकी रुचि परमात्माकी तरफ जानेकी है; किन्तु भूलसे उसने जडके साथ तादात्म्य कर लिया। तादात्म्यमें जो जड-अंश है, उसका आकर्षण (प्रवृत्ति) जडताकी तरफ होनेसे वही सजातीयताके कारण जड बुद्धि आदिका द्रष्टा बनता है। यह नियम है कि देखना केवल सजातीयतामें ही सम्भव होता है अर्थात् दृश्य, दर्शन और द्रष्टाके एक ही जातिके होनेसे देखना होता है, अन्यथा नहीं। इस नियमसे यह पता लगता है कि स्वयं (जीवात्मा) जबतक बुद्धि आदिका द्रष्टा रहता है, तबतक उसमें बुद्धिकी जातिकी जड वस्तु है अर्थात् जड प्रकृतिके साथ उसका माना हुआ सम्बन्ध है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही सब अनर्थोंका मूल है। इसी माने हुए सम्बन्धके कारण वह सम्पूर्ण जड प्रकृति अर्थात् बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, विषय, शरीर और पदार्थोंका द्रष्टा बनता है।

परिशिष्ट भाव—'इदम्' (क्षेत्र) के अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जितने भी शरीर हैं, उनमें 'परा' (जीव) क्षेत्रज्ञ है और 'अपरा' (जगत्) क्षेत्र है। जीव जगत्‌को जाननेवाला और परमात्माको माननेवाला है। जाननेवाला व्यापक होता है। अत: क्षेत्रज्ञके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं— **'येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता २। १७)। साधकको जानना चाहिये कि मैं क्षेत्र नहीं हूँ, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ हूँ।

दृश्य द्रष्टाके किसी अंशमें होता है। जैसे, आँखसे सब कुछ देखनेपर भी आँख नहीं भरती। अत: वास्तवमें आँख दृश्यसे भी बड़ी हुई। बुद्धिसे कितनी ही बातें जान लें, पर बुद्धि कभी भरती नहीं, खाली ही रहती है। ज्यों भरते हैं, त्यों खाली होती है। अत: बुद्धि बड़ी हुई। ब्रह्माजीकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी हमारी बुद्धिके जाननेके अन्तर्गत हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण शरीर दृश्य हैं। ऐसे ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण सृष्टि भी दृश्य है। यह सम्पूर्ण दृश्य द्रष्टा (क्षेत्रज्ञ)-के किसी अंशमें है।

जैसे धनके सम्बन्धसे मनुष्य 'धनवान्' कहलाता है; किन्तु धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनवान् (व्यक्ति) तो रहता है, पर उसकी 'धनवान्' संज्ञा नहीं रहती। ऐसे ही क्षेत्रके सम्बन्धसे स्वयं 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है; किन्तु क्षेत्रका सम्बन्ध न रहनेपर क्षेत्रज्ञ (स्वयं) तो रहता है, पर उसकी 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा नहीं रहती। तात्पर्य है कि एक ही चिन्मय तत्त्व (समझनेकी दृष्टिसे) क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा, साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी और करणके सम्बन्धसे कर्ता कहा जाता है। वास्तवमें उस तत्त्वका कोई नाम नहीं है। वह केवल अनुभवरूप है।

सम्बन्ध—उस क्षेत्रज्ञका स्वरूप क्या है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! (तू)	**अपि**	= ही	**ज्ञानम्**	= ज्ञान है,
सर्वक्षेत्रेषु	= सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें	**विद्धि**	= समझ	**तत्**	= वही
क्षेत्रज्ञम्	= क्षेत्रज्ञ	**च**	= और	**मम**	= मेरे
माम्	= मुझे	**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः**	= क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका	**मतम्**	= मतमें
		यत्	= जो	**ज्ञानम्**	= ज्ञान है।

व्याख्या—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'**—सम्पूर्ण क्षेत्रों-(शरीरों-)में 'मैं हूँ'—ऐसा जो अहंभाव है, उसमें 'मैं' तो क्षेत्र है (जिसको पूर्वश्लोकमें **'एतत्'** कहा है) और 'हूँ' मैं-पनका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है (जिसको पूर्वश्लोकमें **'वेत्ति'** पदसे जाननेवाला कहा है)। 'मैं' का सम्बन्ध होनेसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' का सम्बन्ध

न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। कारण कि 'है' ही 'मैं'के साथ सम्बन्ध होनेसे 'हूँ' कहा जाता है। अत: वास्तवमें क्षेत्रज्ञ-('हूँ'-) की परमात्मा-('है'-) के साथ एकता है। इसी बातको भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें मेरेको ही क्षेत्रज्ञ समझो।

मनुष्य किसी विषयको जानता है, तो वह जाननेमें आनेवाला विषय 'ज्ञेय' कहलाता है। उस ज्ञेयको वह किसी करणके द्वारा ही जानता है। करण दो तरहका होता है—बहि:करण और अन्त:करण। मनुष्य विषयोंको बहि:करण-(श्रोत्र, नेत्र आदि-) से जानता है और बहि:करणको अन्त:करण-(मन, बुद्धि आदि-) से जानता है। उस अन्त:करणकी चार वृत्तियाँ हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इन चारोंमें भी अहंकार सबसे सूक्ष्म है, जो कि एकदेशीय है। यह अहंकार भी जिससे देखा जाता है, जाना जाता है, वह जाननेवाला प्रकाशस्वरूप क्षेत्रज्ञ है। उस अहंभावके भी ज्ञाता क्षेत्रज्ञको साक्षात् मेरा स्वरूप समझो।

यहाँ '**विद्धि**' पद कहनेका तात्पर्य है कि हे अर्जुन! जैसे तू अपनेको शरीरमें मानता है और शरीरको अपना मानता है, ऐसे ही तू अपनेको मेरेमें जान (मान) और मेरेको अपना मान। कारण कि तुमने शरीरके साथ जो एकता मान रखी है, उसको छोड़नेके लिये मेरे साथ एकता माननी बहुत आवश्यक है।

जैसे यहाँ भगवान्‌ने '**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' पदोंसे क्षेत्रज्ञकी अपने साथ एकता बतायी है, ऐसे ही गीतामें अन्य जगह भी एकता बतायी है; जैसे—दूसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्‌ने शरीरी-(क्षेत्रज्ञ-)के लिये कहा कि 'जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उसको तुम अविनाशी समझो'—'**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**' और नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें अपने लिये कहा कि 'मेरेसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है'—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**' यहाँ तो भगवान्‌ने क्षेत्रज्ञ-(अंश-) की अपने (अंशीके) साथ एकता बतायी है और आगे इसी अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें शरीर-संसार-(कार्य-) की प्रकृति-(कारण-) के साथ एकता बतायेंगे। तात्पर्य है कि शरीर तो प्रकृतिका अंश है, इसलिये तुम इससे सर्वथा विमुख हो जाओ; और तुम मेरे अंश हो, इसलिये तुम मेरे सम्मुख हो जाओ।

शरीरकी संसारके साथ स्वाभाविक एकता है। परन्तु यह जीव शरीरको संसारसे अलग मानकर उसके साथ ही अपनी एकता मान लेता है। परमात्माके साथ क्षेत्रज्ञकी स्वाभाविक एकता होते हुए भी शरीरके साथ एकता माननेसे यह अपनेको परमात्मासे अलग मानता है। शरीरको संसारसे अलग मानना और अपनेको परमात्मासे अलग मानना—ये दोनों ही गलत मान्यताएँ हैं। अत: भगवान् यहाँ '**विद्धि**' पदसे आज्ञा देते हैं कि क्षेत्रज्ञ मेरे साथ एक है, ऐसा समझो। तात्पर्य है कि तुमने जहाँ शरीरके साथ अपनी एकता मान रखी है, वहीं मेरे साथ अपनी एकता मान लो, जो कि वास्तवमें है।

शास्त्रोंमें प्रकृति, जीव और परमात्मा—इन तीनोंका अलग-अलग वर्णन आता है; परन्तु यहाँ '**अपि**' पदसे भगवान् एक विलक्षण भावकी ओर लक्ष्य कराते हैं कि शास्त्रोंमें परमात्माके जिस सर्वव्यापक स्वरूपका वर्णन हुआ है, वह तो मैं हूँ ही, इसके साथ ही सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक् दीखनेवाला भी मैं ही हूँ। अत: प्रस्तुत पदोंका यही भाव है कि क्षेत्रज्ञरूपसे परमात्मा ही है—ऐसा जानकर साधक मेरे साथ अभिन्नताका अनुभव करे।

स्वयं संसारसे भिन्न और परमात्मासे अभिन्न है। इसलिये यह नियम है कि संसारका ज्ञान तभी होता है, जब उससे सर्वथा भिन्नताका अनुभव किया जाय। तात्पर्य है कि संसारसे रागरहित होकर ही संसारके वास्तविक स्वरूपको जाना जा सकता है। परन्तु परमात्माका ज्ञान उनसे अभिन्न होनेसे ही होता है। इसलिये परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करानेके लिये भगवान् क्षेत्रज्ञके साथ अपनी अभिन्नता बता रहे हैं। इस अभिन्नताको यथार्थरूपसे जाननेपर परमात्माका वास्तविक ज्ञान हो जाता है।

'**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम**'— क्षेत्र-(शरीर-)की सम्पूर्ण संसारके साथ एकता है और क्षेत्रज्ञ-(जीवात्मा-) की मेरे साथ एकता है—ऐसा जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, वही मेरे मतमें यथार्थ 'ज्ञान' है।

'**मतं मम**' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें अनेक विद्याओंका, अनेक भाषाओंका, अनेक लिपियोंका, अनेक कलाओंका, तीनों लोक और चौदह भुवनोंका जो ज्ञान है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। कारण कि वह ज्ञान सांसारिक व्यवहारमें काममें आनेवाला होते हुए भी संसारमें फँसाने-वाला होनेसे अज्ञान ही है। वास्तविक ज्ञान तो वही है, जिससे स्वयंका शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और फिर संसारमें जन्म न हो, संसारकी परतन्त्रता न हो। यही ज्ञान भगवान्‌के मतमें यथार्थ ज्ञान है।

परिशिष्ट भाव—क्षेत्रज्ञ (जीव) और ब्रह्म एक ही हैं। एक क्षेत्रके सम्बन्धसे वह 'क्षेत्रज्ञ' है और सम्पूर्ण क्षेत्रोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर वह 'ब्रह्म' है।

'**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम्**' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि शरीर (क्षेत्र)-की अनन्त ब्रह्माण्डों (सृष्टिमात्र)-के साथ एकता है और '**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि स्वयं (क्षेत्रज्ञ)-की अनन्त-अपार-असीम परमात्माके साथ एकता है। अतः हमारेसे दूर-से-दूर कोई वस्तु है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई वस्तु है तो वह परमात्मा है। तात्पर्य है कि शरीर और संसार एक हैं तथा स्वयं और परमात्मा एक हैं (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। यही ज्ञान है।

ब्रह्मके लिये '**माम्**' कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं— '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है'। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जो निर्लिप्तरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण चेतन है, वह ब्रह्म है और जो अनन्त ब्रह्माण्डोंका मालिक है, वह ईश्वर है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानको ही अपने मतमें ज्ञान बताकर अब भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको सुननेकी आज्ञा देते हैं।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

तत्	= वह	**च**	= और	**च**	= और
क्षेत्रम्	= क्षेत्र	**यतः**	= जिससे	**यत्प्रभावः**	= जिस प्रभाववाला है,
यत्	= जो है	**यत्**	= जो (पैदा हुआ है)	**तत्**	= वह सब
च	= और	**च**	= तथा	**समासेन**	= संक्षेपमें
यादृक्	= जैसा है	**सः**	= वह क्षेत्रज्ञ (भी)	**मे**	= मुझसे
च	= तथा	**यः**	= जो है	**शृणु**	= सुन।
यद्विकारि	= जिन विकारोंवाला है				

व्याख्या—'**तत्क्षेत्रम्**'—'**तत्**' शब्द दोका वाचक होता है—पहले कहे हुए विषयका और दूरीका। इसी अध्यायके पहले श्लोकमें जिसको '**इदम्**' पदसे कहा गया है, उसीको यहाँ '**तत्**' पदसे कहा है। क्षेत्र सब देशमें नहीं है, सब कालमें नहीं है और अभी भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है—यह क्षेत्रकी (स्वयंसे) दूरी है।

'**यच्च**'—उस क्षेत्रका जो स्वरूप है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें हुआ है।

'**यादृक् च**'—उस क्षेत्रका जैसा स्वभाव है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके छब्बीसवें-सत्ताईसवें श्लोकोंमें उसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाला बताकर किया गया है।

'**यद्विकारि**'—यद्यपि प्रकृतिका कार्य होनेसे इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें आये तेईस तत्त्वोंको भी विकार कहा गया है, तथापि यहाँ उपर्युक्त पदसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके माने हुए सम्बन्धके कारण क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले इच्छा-द्वेषादि विकारोंको ही विकार कहा गया है, जिनका वर्णन छठे श्लोकमें हुआ है।

'**यतश्च यत्**'—यह क्षेत्र जिससे पैदा होता है अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सात विकार और तीन गुण, जिनका वर्णन इसी अध्यायके उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें हुआ है।

'**स च**'—पहले श्लोकके उत्तरार्धमें जिस क्षेत्रज्ञका वर्णन हुआ है, उसी क्षेत्रज्ञका वाचक यहाँ '**सः**' पद है और उसीके विषयमें यहाँ सुननेके लिये कहा जा रहा है।

'**यः**'—इस क्षेत्रज्ञका जो स्वरूप है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके बीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें और बाईसवें श्लोकमें किया गया है।

'**यत्प्रभावश्च**'—वह क्षेत्रज्ञ जिस प्रभाववाला है; जिसका वर्णन इसी अध्यायके इकतीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक किया गया है।

'**तत्समासेन मे शृणु**'—यहाँ '**तत्**' पदके अन्तर्गत

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—दोनोंको लेना चाहिये। तात्पर्य है कि वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जिन विकारोंवाला और जिससे पैदा हुआ है—इस तरह क्षेत्रके विषयमें चार बातें और वह क्षेत्रज्ञ जो है और जिस प्रभाववाला है—इस तरह क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें तू मेरेसे संक्षेपमें सुन।

यद्यपि इस अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सूत्ररूपसे वर्णन हुआ है, जिसको भगवान्‌ने 'ज्ञान' भी कहा है तथापि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका स्पष्टरूपसे विवेचन (विकारसहित क्षेत्र और निर्विकार क्षेत्रज्ञके स्वरूपका प्रभावसहित विवेचन) इस तीसरे श्लोकसे आरम्भ किया गया है। इसलिये भगवान् इसको सावधान होकर सुननेकी आज्ञा देते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रके विषयमें तो चार बातें सुननेकी आज्ञा दी है, पर क्षेत्रज्ञके विषयमें केवल दो बातें—स्वरूप और प्रभाव ही सुननेकी आज्ञा दी है। इससे यह शंका हो सकती है कि क्षेत्रका प्रभाव भी क्यों नहीं कहा गया और साथ ही क्षेत्रज्ञके स्वभाव, विकार और जिससे जो पैदा हुआ—इन विषयोंपर भी क्यों नहीं कहा गया? इसका समाधान यह है कि एक क्षण भी एक रूपमें स्थिर न रहनेवाले क्षेत्रका प्रभाव हो ही क्या सकता है? प्रकृतिस्थ (संसारी) पुरुषके अन्तःकरणमें धनादि जड पदार्थोंका महत्त्व रहता है, इसीलिये उसको संसारमें क्षेत्रका (धनादि जड पदार्थोंका) प्रभाव दीखता है। वास्तवमें स्वतन्त्ररूपसे क्षेत्रका कुछ भी प्रभाव नहीं है। अतः उसके प्रभावका कोई वर्णन नहीं किया गया।

क्षेत्रज्ञका स्वरूप उत्पत्ति-विनाशरहित है, इसलिये उसका स्वभाव भी उत्पत्ति-विनाशरहित है। अतः भगवान्‌ने उसके स्वभावका अलगसे वर्णन न करके स्वरूपके अन्तर्गत ही कर दिया। क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही क्षेत्रज्ञमें इच्छा-द्वेषादि विकारोंकी प्रतीति होती है, अन्यथा क्षेत्रज्ञ (स्वरूपतः) सर्वथा निर्विकार ही है। अतः निर्विकार क्षेत्रज्ञके विकारोंका वर्णन सम्भव ही नहीं। क्षेत्रज्ञ अद्वितीय, अनादि और नित्य है। अतः इसके विषयमें 'कौन किससे पैदा हुआ'—यह प्रश्न ही नहीं बनता।

परिशिष्ट भाव— भगवान्‌के द्वारा **'तत्समासेन मे शृणु'** कहनेका तात्पर्य है कि साधकके लिये ज्यादा जाननेकी जरूरत नहीं है। ज्यादा जाननेमें समय तो ज्यादा खर्च होगा, पर साधन कम होगा।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जिसको संक्षेपसे सुननेके लिये कहा गया है, उसका विस्तारसे वर्णन कहाँ हुआ है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्व—

ऋषिभिः	= ऋषियोंके द्वारा	**विविधैः**	= बहुत प्रकारसे	**विनिश्चितैः**	= निश्चित किये हुए
बहुधा	= बहुत विस्तारसे	**पृथक्**	= विभागपूर्वक (कहा गया है)	**ब्रह्मसूत्रपदैः**	= ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा
गीतम्	= कहा गया है (तथा)	**च**	= और	**एव**	= भी (कहा गया है)।
छन्दोभिः	= वेदोंकी ऋचाओंद्वारा	**हेतुमद्भिः**	= युक्तियुक्त (एवं)		

व्याख्या— **'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्'—** वैदिक मन्त्रोंके द्रष्टा तथा शास्त्रों, स्मृतियों और पुराणोंके रचयिता ऋषियोंने अपने-अपने (शास्त्र, स्मृति आदि) ग्रन्थोंमें जड-चेतन, सत्-असत्, शरीर-शरीरी, देह-देही, नित्य-अनित्य आदि शब्दोंसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका बहुत विस्तारसे वर्णन किया है।

'छन्दोभिर्विविधैः पृथक्'—यहाँ **'विविधैः'** विशेषणसहित **'छन्दोभिः'** पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' भागोंके मन्त्रोंका वाचक है। इन्हींके अन्तर्गत सम्पूर्ण उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी समझ लेना चाहिये। इनमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अलग-अलग वर्णन किया गया है।

'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'—अनेक

युक्तियोंसे युक्त तथा अच्छी तरहसे निश्चित किये हुए ब्रह्म-सूत्रके पदोंद्वारा भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वका वर्णन किया गया है।

इस श्लोकमें भगवान्‌का आशय यह मालूम देता है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो संक्षेपसे वर्णन मैं कर रहा हूँ, उसे अगर कोई विस्तारसे देखना चाहे तो वह उपर्युक्त ग्रन्थोंमें देख सकता है।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें जिन छः बातोंको संक्षेपसे सुननेकी आज्ञा दी थी, उनमेंसे क्षेत्रकी दो बातोंका अर्थात् उसके स्वरूप और विकारोंका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

अव्यक्तम् = मूल प्रकृति
च = और
बुद्धिः = समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व),
अहङ्कारः = समष्टि अहंकार,
महाभूतानि = पाँच महाभूत
च = और
दश = दस
इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ,
एकम् = एक मन
च = तथा
पञ्च = पाँचों
इन्द्रिय-गोचराः = इन्द्रियोंके पाँच विषय—
एव = यही (चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र है।)

व्याख्या—**'अव्यक्तमेव च'**—अव्यक्त नाम मूल प्रकृतिका है। मूल प्रकृति समष्टि बुद्धिका कारण होनेसे और स्वयं किसीका भी कार्य न होनेसे केवल 'प्रकृति' ही है।

'बुद्धिः'—यह पद समष्टि बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्वका वाचक है। इस बुद्धिसे अहंकार पैदा होता है, इसलिये यह 'प्रकृति' है और मूल प्रकृतिका कार्य होनेसे यह 'विकृति' है। तात्पर्य है कि यह बुद्धि 'प्रकृति-विकृति' है।

'अहंकारः'— यह पद समष्टि अहंकारका वाचक है। इसको अहंभाव भी कहते हैं। पंचमहाभूतका कारण होनेसे यह अहंकार 'प्रकृति' है और बुद्धिका कार्य होनेसे यह 'विकृति' है। तात्पर्य है कि यह अहंकार 'प्रकृति-विकृति' है।

महाभूतानि'—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं। महाभूत दो प्रकारके होते हैं—पंचीकृत और अपंचीकृत। एक-एक महाभूतके पाँच विभाग होकर जो मिश्रण होता है, उसको 'पंचीकृत महाभूत' कहते हैं*। इन पाँच महाभूतोंके विभाग न होनेपर इनको 'अपंचीकृत महाभूत' कहते हैं। यहाँ इन्हीं अपंचीकृत महाभूतोंका वाचक **'महाभूतानि'** पद है। इन महाभूतोंको 'पंचतन्मात्राएँ' तथा 'सूक्ष्ममहाभूत' भी कहते हैं।

दस इन्द्रियाँ, एक मन और शब्दादि पाँच विषयोंके कारण होनेसे ये महाभूत 'प्रकृति' हैं और अहंकारके कार्य होनेसे ये 'विकृति' हैं। तात्पर्य है कि ये पंचमहाभूत 'प्रकृति-विकृति' हैं।

'इन्द्रियाणि दश'—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये दसों इन्द्रियाँ अपंचीकृत महाभूतोंसे पैदा होनेसे और स्वयं किसीका भी कारण न होनेसे केवल 'विकृति' ही हैं।

'एकं च'—अपंचीकृत महाभूतोंसे पैदा होनेसे और स्वयं किसीका भी कारण न होनेसे मन केवल 'विकृति' ही है।

*** आकाशके दो विभाग हैं, जिनमेंसे आधा भाग आकाश अपने स्वरूपसे रहा और दूसरे आधे भागके चार विभाग किये। उनमेंसे उसने एक भाग वायुको, एक भाग तेजको, एक भाग जलको और एक भाग पृथ्वीको दिया। वायुके दो विभाग हैं। उनमेंसे आधा भाग वायु अपने स्वरूपसे रही और दूसरे आधे भागके चार विभाग किये, जिनको क्रमशः आकाश, तेज, जल और पृथ्वीको दिया। तेजके दो विभाग हैं। उनमेंसे आधा भाग तेज अपने स्वरूपसे रहा और दूसरे आधे भागके चार विभाग करके क्रमशः एक-एक भाग आकाश, वायु, जल और पृथ्वीको दिया। जलके दो विभाग हैं। उनमेंसे आधा भाग जल अपने स्वरूपसे रहा और दूसरे आधे भागके चार विभाग करके क्रमशः एक-एक भाग आकाश, वायु, तेज और पृथ्वीको दिया। ऐसे ही पृथ्वीके दो विभाग हैं। उनमेंसे आधा भाग पृथ्वी अपने स्वरूपसे रही और दूसरे आधे भागके चार विभाग करके क्रमशः एक-एक भाग आकाश, वायु, तेज और जलको दिया। इस तरह पाँचों महाभूतोंका पंचीकरण—मिश्रण होनेसे इसको 'पंचीकृत महाभूत' कहते हैं।**

'पंच चेन्द्रियगोचराः'—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये (पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके) पाँच विषय हैं। अपंचीकृत महाभूतोंसे पैदा होनेसे और स्वयं किसीके भी कारण न होनेसे ये पाँचों विषय केवल 'विकृति' ही हैं।

इन सबका निष्कर्ष यह निकला कि पाँच महाभूत, एक अहंकार और एक बुद्धि—ये सात 'प्रकृति-विकृति' हैं, मूल प्रकृति केवल 'प्रकृति' है और दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय—ये सोलह केवल 'विकृति' हैं। इस तरह इन चौबीस तत्त्वोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है। इसीका एक तुच्छ अंश यह मनुष्य-शरीर है, जिसको भगवान्‌ने पहले श्लोकमें **'इदं शरीरम्'** और तीसरे श्लोकमें **'तत्क्षेत्रम्'** पदसे कहा है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

इच्छा	= इच्छा,	**चेतना**	= चेतना (प्राणशक्ति) (और)	**एतत्**	= यह
द्वेषः	= द्वेष,			**क्षेत्रम्**	= क्षेत्र
सुखम्	= सुख,	**धृतिः**	= धृति—	**समासेन**	= संक्षेपसे
दुःखम्	= दुःख,	**सविकारम्**	= इन विकारों-सहित	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।
सङ्घातः	= संघात (शरीर)				

व्याख्या—**'इच्छा'**—अमुक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि मिले—ऐसी जो मनमें चाहना रहती है, उसको इच्छा कहते हैं। क्षेत्रके विकारोंमें भगवान् सबसे पहले इच्छारूप विकारका नाम लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इच्छा मूल विकार है; क्योंकि ऐसा कोई पाप और दुःख नहीं है, जो सांसारिक इच्छाओंसे पैदा न होता हो अर्थात् सम्पूर्ण पाप और दुःख सांसारिक इच्छाओंसे ही पैदा होते हैं।

'द्वेषः'—कामना और अभिमानमें बाधा लगनेपर क्रोध पैदा होता है। अन्तःकरणमें उस क्रोधका जो सूक्ष्म रूप रहता है, उसको 'द्वेष' कहते हैं। यहाँ **'द्वेषः'** पदके अन्तर्गत क्रोधको भी समझ लेना चाहिये।

'सुखम्'—अनुकूलताके आनेपर मनमें जो प्रसन्नता होती है अर्थात् अनुकूल परिस्थिति जो मनको सुहाती है, उसको 'सुख' कहते हैं।

'दुःखम्'—प्रतिकूलताके आनेपर मनमें जो हलचल होती है अर्थात् प्रतिकूल परिस्थिति जो मनको सुहाती नहीं है, उसको 'दुःख' कहते हैं।

'सङ्घातः'—चौबीस तत्त्वोंसे बने हुए शरीररूप समूहका नाम 'संघात' है। शरीरका उत्पन्न होकर सत्तारूपसे दीखना भी विकार है तथा उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहना भी विकार है।

'चेतना'—चेतना नाम प्राणशक्तिका है अर्थात् शरीरमें जो प्राण चल रहे हैं, उसका नाम 'चेतना' है। इस चेतनामें परिवर्तन होता रहता है, जैसे—सात्त्विक-वृत्ति आनेपर प्राणशक्ति शान्त रहती है और चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि होनेपर प्राणशक्ति वैसी शान्त नहीं रहती, क्षुब्ध हो जाती है। यह प्राणशक्ति निरन्तर नष्ट होती रहती है। अतः यह भी विकाररूप ही है।

साधारण लोग प्राणवालोंको चेतन और निष्प्राण-वालोंको अचेतन कहते हैं, इस दृष्टिसे यहाँ प्राणशक्तिको 'चेतना' कहा गया है।

'धृतिः'—धृति नाम धारणशक्तिका है। यह धृति भी बदलती रहती है। मनुष्य कभी धैर्यको धारण करता है और कभी (प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर) धैर्यको छोड़ देता है। कभी धैर्य ज्यादा रहता है और कभी धैर्य कम रहता है। मनुष्य कभी अच्छी बातको धारण करता है और कभी विपरीत बातको धारण करता है। अतः धृति भी क्षेत्रका विकार है।

[अठारहवें अध्यायके तैंतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक धृतिके सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इन तीन भेदोंका वर्णन किया गया है। परमात्माकी तरफ चलनेमें सात्त्विकी धृतिकी बड़ी आवश्यकता है।]

'एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्'—जैसे पहले श्लोकमें **'इदं शरीरम्'** कहकर व्यष्टि शरीरसे अपनेको अलग देखनेके लिये कहा, ऐसे ही दृश्य-(क्षेत्र और उसमें होनेवाले विकार-) से द्रष्टाको अलग दिखानेके लिये यहाँ **'एतत्'** पद आया है।

पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने समष्टि संसारका वर्णन किया और यहाँ छठे श्लोकमें व्यष्टि शरीरके विकारोंका वर्णन

किया; क्योंकि समष्टि संसारमें इच्छा-द्वेषादि विकार होते ही नहीं। तात्पर्य यह है कि व्यष्टि शरीर समष्टि संसारसे और समष्टि संसार व्यष्टि शरीरसे अलग नहीं है अर्थात् ये दोनों एक हैं। जैसे इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रज्ञके साथ अपनी एकता बतायी, ऐसे ही यहाँ व्यष्टि शरीर और उसमें होनेवाले विकारोंकी समष्टि संसारके साथ एकता बताते हैं। आगे इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने पुरुषकी स्थिति शरीरमें न बताकर प्रकृतिमें बतायी है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि।**' इससे भी सिद्ध होता है कि पुरुषकी स्थिति (सम्बन्ध) व्यष्टि शरीरमें हो जानेसे उसकी स्थिति समष्टि प्रकृतिमें हो जाती है; क्योंकि व्यष्टि शरीर और समष्टि प्रकृति—दोनों एक ही हैं। वास्तवमें देखा जाय तो व्यष्टि है ही नहीं, केवल समष्टि ही है। व्यष्टि केवल भूलसे मानी हुई है। जैसे समुद्रकी लहरोंको समुद्रसे अलग मानना भूल है, ऐसे ही व्यष्टि शरीरको समष्टि संसारसे अलग (अपना) मानना भूल ही है।

विशेष बात

क्षेत्रज्ञ जब अविवेकसे क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब क्षेत्रमें इच्छा-द्वेषादि विकार पैदा हो जाते हैं। क्षेत्रज्ञका वास्तविक स्वरूप तो सर्वथा निर्विकार ही है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे पैदा होनेवाले विकार सर्वथा मिटाये जा सकते हैं; क्योंकि क्षेत्रज्ञका क्षेत्रके साथ संयोग केवल माना हुआ है। इस माने हुए संयोगको मिटानेके लिये भगवान् इस अध्यायके पहले श्लोकमें शरीरको अपनेसे पृथक् देखनेके लिये और फिर दूसरे श्लोकमें परमात्मासे अपने नित्यसंयोग- (एकता-) का अनुभव करनेके लिये कहते हैं। ऐसा अनुभव होनेपर क्षेत्रके साथ मानी हुई एकताका सर्वथा अभाव हो जाता है और फिर विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकते।

बोध होनेपर अर्थात् क्षेत्र-(शरीर-) से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'इच्छा' और 'द्वेष' सदाके लिये सर्वथा मिट जाते हैं। 'सुख' और 'दुःख' अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान तो होता है, पर उससे अन्तःकरणमें कोई विकार पैदा नहीं होता अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर जीवन्मुक्त महापुरुष सुखी-दुःखी नहीं होता। सुख-दुःखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उसका असर पड़ना (विकार होना) दोषी है*।

जीवन्मुक्त महापुरुषका 'संघात' अर्थात् शरीरसे किंचिन्मात्र भी मैं-मेरेपनका सम्बन्ध न रहनेके कारण उसका कहा जानेवाला शरीर यद्यपि महान् पवित्र हो जाता है, तथापि प्रारब्धके अनुसार उसका यह शरीर रहता ही है। जबतक शरीर रहता है, तबतक 'चेतना' (प्राणशक्ति) भी रहती है। परिश्रम होनेपर उसमें चंचलता आती है, नहीं तो वह शान्त रहती है। साधनावस्थामें जो सात्त्विकी 'धृति' थी, वह बोध होनेपर भी रहती है। परन्तु अन्तःकरणसे तादात्म्य न रहनेसे तत्त्वज्ञ महापुरुषका 'चेतना' और 'धृति'-रूप विकारोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

तात्पर्य यह हुआ कि शरीरके साथ तादात्म्य होनेसे जो विकार होते हैं, वे विकार बोध होनेपर नहीं होते। संघात, चेतना और धृति-रूप विकारोंके रहनेपर भी उनका स्वयंपर कुछ भी असर नहीं पड़ता।

परिशिष्ट भाव—क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि विकार क्षेत्रज्ञमें होते हैं—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**' (१३। २०)। इच्छा-द्वेषादि सभी विकार तादात्म्य (जड़-चेतनकी ग्रन्थि) में हैं। तादात्म्यमें भी ये विकार जड़-अंशमें रहते हैं।

यहाँ भगवान्‌ने चौबीस तत्त्वोंवाले शरीरको तथा उसके सात विकारोंको '**एतत्**' (यह) कहा है—'**एतत्क्षेत्रम्**'। इसका तात्पर्य है कि स्वयं क्षेत्रसे मिला हुआ नहीं है, प्रत्युत सर्वथा अलग है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर '**एतत्**' पदके अन्तर्गत होनेसे हमारा स्वरूप नहीं है। यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जब अहंकारका कारण 'महत्तत्त्व' और 'मूल प्रकृति' को भी '**एतत्**' शब्दसे कह दिया तो फिर अहंकारके '**एतत्**' होनेमें कहना ही क्या है। अहम्‌से नजदीक महत्तत्त्व है और महत्तत्त्वसे नजदीक प्रकृति है, वह प्रकृति भी '**एतत् क्षेत्रम्**' में है। तात्पर्य है कि अहम् हमारा स्वरूप है ही नहीं। जो मनुष्य स्वयंको और अहम् (क्षेत्र) को अलग-अलग जान लेता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता—तेरहवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

*** ज्ञान किसीका भी दोषी नहीं होता; जैसे— भोजन करते समय जीभमें स्वादका ज्ञान होना दोष नहीं है, प्रत्युत भोजनके पदार्थोंमें राग या द्वेष होना दोष है।**

सम्बन्ध—शरीरके साथ तादात्म्य कर लेनेसे ही इच्छा, द्वेष आदि विकार पैदा होते हैं और उन विकारोंका स्वयंपर असर पड़ता है। इसलिये भगवान् शरीरके साथ किये हुए तादात्म्यको मिटानेके लिये आवश्यक बीस साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे आगेके पाँच श्लोकोंमें वर्णन करते हैं।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

अमानित्वम् = अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना,
अदम्भित्वम् = दिखावटीपन न होना,
अहिंसा = अहिंसा,
क्षान्तिः = क्षमा,
आर्जवम् = सरलता,
आचार्योपासनम् = गुरुकी सेवा,
शौचम् = बाहर-भीतरकी शुद्धि,
स्थैर्यम् = स्थिरता (और)
आत्मविनिग्रहः = मनका वशमें होना।

व्याख्या—**'अमानित्वम्'**—अपनेमें मानीपनके अभावका नाम 'अमानित्व' है। वर्ण, आश्रम, योग्यता, विद्या, गुण, पद आदिको लेकर अपनेमें श्रेष्ठताका भाव होता है कि 'मैं मान्य हूँ, आदरणीय हूँ,' परन्तु यह भाव उत्पत्ति-विनाशशील शरीरके साथ तादात्म्य होनेसे ही होता है। अतः इसमें जडताकी ही मुख्यता रहती है। इस मानीपनके रहनेसे साधकको वास्तविक ज्ञान नहीं होता। यह मानीपन साधकमें जितना कम रहेगा, उतना ही जडताका महत्त्व कम होगा। जडताका महत्त्व जितना कम होगा, जडताको लेकर अपनेमें मानीपनका भाव भी उतना ही कम होगा, और साधक उतना ही चिन्मयताकी तरफ तेजीसे लगेगा।

उपाय—जब साधक खुद बड़ा बन जाता है, तब उसमें मानीपन आ जाता है। अतः साधकको चाहिये कि जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, साधनमें अपनेसे बड़े हैं, तत्त्वज्ञ (जीवन्मुक्त) हैं, उनका संग करे, उनके पासमें रहे, उनके अनुकूल बन जाय। इससे मानीपन दूर हो जाता है। इतना ही नहीं, उनके संगसे बहुत-से दोष सुगमतापूर्वक दूर हो जाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—**'सबहि मानप्रद आपु अमानी'** (मानस ७। ३८। २) अर्थात् संत सभीको मान देनेवाले और स्वयं अमानी—मान पानेकी इच्छासे रहित होते हैं। इसी तरह साधकको भी मानीपन दूर करनेके लिये सदा दूसरोंको मान, आदर, सत्कार, बड़ाई आदि देनेका स्वभाव बनाना चाहिये। ऐसा स्वभाव तभी बन सकता है, जब वह दूसरोंको किसी-न-किसी दृष्टिसे अपनेसे श्रेष्ठ माने। यह नियम है कि प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न स्थितिवाला होते हुए भी कोई-न-कोई विशेषता रखता ही है। यह विशेषता वर्ण, आश्रम, गुण, विद्या, बुद्धि, योग्यता, पद, अधिकार आदि किसी भी कारणसे हो सकती है। अतः साधकको चाहिये कि वह दूसरोंकी विशेषताकी तरफ दृष्टि रखकर उनका सदा सम्मान करे। इस प्रकार दूसरोंको मान देनेका भीतरसे स्वभाव बन जानेसे स्वयं मान पानेकी इच्छाका स्वतः अभाव होता चला जाता है। हाँ, दूसरोंको मान देते समय साधकका उद्देश्य अपनेमें मानीपन मिटानेका होना चाहिये, बदलेमें दूसरोंसे मान पानेका नहीं।

विशेष बात

गीतामें भगवान्ने भक्तिमार्गके साधकमें सबसे पहले भयका अभाव बताया है—**'अभयम्'** (१६। १), और अन्तमें मानीपनका अभाव बताया है—**'नातिमानिता'** (१६। ३)। परन्तु ज्ञानमार्गके साधनमें मानीपनका अभाव सबसे पहले बताया है—**'अमानित्वम्'** (१३। ७) और भयका अभाव सबसे अन्तमें बताया है—**'तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम्'** (१३। ११)। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे बालक अपनी माँको देखकर अभय हो जाता है, ऐसे ही भक्तिमार्गमें साधक प्रह्लादजीकी तरह आरम्भसे ही सब जगह अपने प्रभुको ही देखता है, इसलिये वह आरम्भमें ही अभय हो जाता है। भक्तमें स्वयं अमानी रहकर दूसरोंको मान देनेकी आदत शुरूसे ही रहती है। अन्तमें उसका देहाध्यास अर्थात् शरीरसे मानी हुई एकता अपने-आप मिट जाती है, तो वह सर्वथा अमानी हो जाता है। परन्तु ज्ञानमार्गमें साधक आरम्भसे ही शरीरके साथ अपनी एकता नहीं मानता (इसी अध्यायका पहला श्लोक), इसलिये वह आरम्भमें ही अमानी हो जाता है; क्योंकि शरीरसे एकता माननेसे ही मानीपन आता है। अन्तमें वह तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह देखकर अभय हो जाता है।

'अदम्भित्वम्'—दम्भ नाम दिखावटीपनका है। लोग हमारेमें अच्छे गुण देखेंगे तो वे हमारा आदर करेंगे, हमें

माला पहनायेंगे, हमारी पूजा करेंगे, हमें ऊँचे आसनपर बैठायेंगे आदिको लेकर अपनेमें वैसा गुण न होनेपर भी गुण दिखाना, अपनेमें गुण कम होनेपर भी उसे बाहरसे ज्यादा प्रकट करना—यह सब दम्भ है।

अपनेमें सदाचार है, शुद्धि है, पवित्रता है, पर अगर लोगोंके सामने हम पवित्रता रखेंगे तो वे हमारी हँसी उड़ायेंगे, हमारी निन्दा करेंगे—ऐसा सोचकर अपनी पवित्रता छोड़ देना और सामनेवालेकी तरह बन जाना भी दम्भ है। जैसे, आजकल विवाह आदिके अवसरोंपर, क्लबों-होटलोंके स्वागत-समारोहोंमें अथवा वायुयान आदिपर यात्रा करते समय पवित्र आचरणवाले सज्जन भी मान-सत्कार आदिके लिये अपवित्र खाद्य पदार्थ लेते देखे जाते हैं। यह भी दम्भ ही है। इसी तरह दुराचारी पुरुष भी अच्छे लोगोंके समुदायमें आनेपर मान, सत्कार, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदिकी प्राप्तिकी इच्छासे अपनेको बाहरसे धर्मात्मा, भक्त, सेवक, दानी आदि प्रकट करने लगते हैं, तो यह भी दम्भ ही है।

कोई साधक एकान्तमें, बंद कमरेमें बैठकर जप, ध्यान, चिन्तन कर रहा है और साथमें आलस्य, नींद भी ले रहा है। परन्तु जब बाहरसे उसपर श्रद्धा, पूज्यभाव रखनेवाले आदमीकी आवाज आती है, तब उस आवाजको सुनते ही वह सावधान होकर जप-ध्यान करने लग जाता है और उसके नींद-आलस्य भाग जाते हैं। यह भी एक सूक्ष्म दम्भ है। इसमें भी देखा जाय तो आवाज सुनकर सावधान हो जाना कोई दोष नहीं है, पर उसमें जो दिखावटीपनका भाव आ जाता है कि यह आदमी मेरेमें अश्रद्धा न कर ले, यह भाव आना दोष है। इस भावके स्थानपर ऐसा भाव आना चाहिये कि भगवान्‌ने बड़ा अच्छा किया कि मेरेको सावधान करके जप-ध्यानमें लगा दिया। इन सब प्रकारके दम्भोंका अभाव होना 'अदम्भित्व' है।

'उपाय'—साधकको अपना उद्देश्य एकमात्र परमात्म-प्राप्तिका ही रखना चाहिये, लोगोंको दिखानेका किंचिन्मात्र भी नहीं। अगर उसमें दिखावटीपन आ जायगा तो उसके साधनमें शिथिलता आ जायगी, जिससे उद्देश्यकी सिद्धिमें बाधा लग जायगी। अतः उसको कोई अच्छा, बुरा, ऊँच, नीच जो कुछ भी समझे, इसकी तरफ खयाल न करके वह अपने साधनमें लगा रहे। ऐसी सावधानी रखनेसे दम्भ मिट जाता है।

'अहिंसा'—मन, वाणी और शरीरसे कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न देनेका नाम 'अहिंसा' है। कर्ता-भेदसे हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृत (स्वयं हिंसा करना), कारित (किसीसे हिंसा करवाना) और अनुमोदित (हिंसाका अनुमोदन-समर्थन करना)।

उपर्युक्त तीन प्रकारकी हिंसा तीन भावोंसे होती है—क्रोधसे, लोभसे और मोहसे। तात्पर्य है कि क्रोधसे भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है; लोभसे भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है तथा मोहसे भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा होती है। इस तरह हिंसा नौ प्रकारकी हो जाती है।

उपर्युक्त नौ प्रकारकी हिंसामें तीन मात्राएँ होती हैं—मृदुमात्रा, मध्यमात्रा और अधिमात्रा। किसीको थोड़ा दुःख देना मृदुमात्रामें हिंसा है, मृदुमात्रासे अधिक दुःख देना मध्यमात्रामें हिंसा है और बहुत अधिक घायल कर देना अथवा खत्म कर देना अधिमात्रामें हिंसा है। इस तरह मृदु, मध्य और अधिमात्राके भेदसे हिंसा सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है।

उपर्युक्त सत्ताईस प्रकारकी हिंसा तीन करणोंसे होती है—शरीरसे, वाणीसे और मनसे। इस तरह हिंसा इक्यासी प्रकारकी हो जाती है। इनमेंसे किसी भी प्रकारकी हिंसा न करनेका नाम 'अहिंसा' है।

अहिंसा भी चार प्रकारकी होती है—देशगत, कालगत, समयगत और व्यक्तिगत। अमुक तीर्थमें, अमुक मन्दिरमें, अमुक स्थानमें किसीको दुःख नहीं देना है—यह 'देशगत अहिंसा' है। अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात आदि पर्वोंके दिन किसीको दुःख नहीं देना है—यह 'कालगत अहिंसा' है। सन्तके मिलनेपर, पुत्रके जन्म-दिनपर, पिताके निधन-दिवसपर किसीको दुःख नहीं देना है—यह 'समयगत अहिंसा' है। गाय, हरिण आदिको तथा गुरुजन, माता-पिता, बालक आदिको दुःख नहीं देना है—यह 'व्यक्तिगत अहिंसा' है।

किसी भी देश, काल आदिमें क्रोध-लोभ-मोहपूर्वक किसीको भी शरीर, वाणी और मनसे किसी भी प्रकारसे दुःख न देनेसे यह सार्वभौम अहिंसा 'महाव्रत' कहलाती है।

उपाय—जैसे साधारण प्राणी अपने शरीरका सुख चाहता है, ऐसे ही साधकको सबके सुखमें अपना सुख, सबके हितमें अपना हित और सबकी सेवामें अपनी सेवा माननी चाहिये अर्थात् सबके सुख, हित और सेवासे अपना सुख, हित और सेवा अलग नहीं माननी चाहिये। 'सब अपने ही स्वरूप हैं'—ऐसा विवेक जाग्रत् रहनेसे उसके द्वारा किसीको दुःख देनेकी क्रिया होगी ही नहीं और उसमें अहिंसाभाव स्वतः आ जायगा।

'क्षान्तिः'—क्षान्ति नाम सहनशीलता अर्थात् क्षमाका है। अपनेमें सामर्थ्य होते हुए भी अपराध करनेवालेको कभी किसी प्रकारसे किंचिन्मात्र भी दण्ड न मिले—ऐसा भाव रखना तथा उससे बदला लेने अथवा किसी दूसरेके द्वारा दण्ड दिलवानेका भाव न रखना ही 'क्षान्ति' है।

'उपाय—(१) सहनशीलता अपने स्वरूपमें स्वतः-सिद्ध है; क्योंकि अपने स्वरूपमें कभी विकृति आती ही नहीं। अतः कभी 'अमुकने दुःख दिया है, अपराध किया है'—ऐसी कोई वृत्ति आ भी जाय, तो उस समय यह विचार स्वतः आना चाहिये कि हमारा कोई बिगाड़ कर ही नहीं सकता, हमारेमें कोई विकृति आ ही नहीं सकती, वह हमारे स्वरूपतक पहुँच ही नहीं सकती। ऐसा विचार करनेसे क्षमाभाव स्वतः आ जाता है।

(२) जैसे भोजन करते समय अपने ही दाँतोंसे अपनी जीभ कट जाय, तो हम दाँतोंपर क्रोध नहीं करते, दाँतोंको दण्ड नहीं देते। हाँ, जीभ ठीक हो जाय—यह बात तो मनमें आती है, पर दाँतोंको तोड़ दें—यह भाव मनमें कभी आता ही नहीं। कारण कि दाँतोंको तोड़ेंगे तो एक नयी पीड़ा और होगी अर्थात् पीड़ा दुगुनी होगी, जिससे हमारेको ही दुःख होगा, हमारा ही अनिष्ट होगा। ऐसे ही बिना कारण कोई हमारा अपराध करता है, हमें दुःख देता है, उसको अगर हम दण्ड देंगे, दुःख देंगे तो वास्तवमें हमारा ही अनिष्ट होगा; क्योंकि वह भी तो अपना ही स्वरूप है (गीता—छठे अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

'आर्जवम्'—सरल-सीधेपनके भावको 'आर्जव' कहते हैं। साधकके शरीर, मन और वाणीमें सरल-सीधापन होना चाहिये। शरीरकी सजावटका भाव न होना, रहन-सहनमें सादगी तथा चाल-ढालमें स्वाभाविक सीधापन होना, ऐंठ-अकड़ न होना—यह 'शरीरकी सरलता' है। छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष आदिका न होना तथा निष्कपटता, सौम्यता, हितैषिता, दया आदिका होना—यह 'मनकी सरलता' है। व्यंग्य, निन्दा, चुगली आदि न करना, चुभनेवाले एवं अपमानजनक वचन न बोलना तथा सरल, प्रिय और हितकारक वचन बोलना—यह 'वाणीकी सरलता' है।

उपाय—अपनेको एक देशमें माननेसे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दीखती है। इससे व्यवहारमें भी चलते-फिरते, उठते-बैठते आदि क्रिया करते हुए कुछ टेढ़ापन, अकड़ आ जाती है। अतः शरीरके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे और अपने स्वरूपकी तरफ दृष्टि रखनेसे यह अकड़ मिट जाती है और साधकमें स्वतः सरलता, नम्रता आ जाती है।

'आचार्योपासनम्'—विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम भी आचार्य है और उनकी सेवासे भी लाभ होता है; परन्तु यहाँ 'आचार्य' पद परमात्मतत्त्वको प्राप्त जीवन्मुक्त महापुरुषका ही वाचक है। आचार्यको दण्डवत्-प्रणाम करना, उनका आदर-सत्कार करना और उनके शरीरको सुख पहुँचानेकी शास्त्रविहित चेष्टा करना भी उनकी उपासना है, पर वास्तवमें उनके सिद्धान्तों और भावोंके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी सच्ची उपासना है। कारण कि देहाभिमानीकी सेवा तो उसके देहकी सेवा करनेसे ही हो जाती है, पर गुणातीत महापुरुषके केवल देहकी सेवा करना उनकी पूर्ण सेवा नहीं है।

भगवान्ने दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंमें **'आचार्योपासनम्'** पद न देकर यहाँ ज्ञानके साधनोंमें उसे दिया है। इसमें एक विशेष रहस्यकी बात मालूम देती है कि ज्ञानमार्गमें गुरुकी जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता भक्तिमार्गमें नहीं है। कारण कि भक्तिमार्गमें साधक सर्वथा भगवान्के आश्रित रहकर ही साधन करता है, इसलिये भगवान् स्वयं उसपर कृपा करके उसके योगक्षेमका वहन करते हैं (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), उसकी कमियोंको, विघ्न-बाधाओंको दूर कर देते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अट्ठावनवाँ श्लोक) और उसको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करा देते हैं (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। परन्तु ज्ञानमार्गमें साधक अपनी साधनाके बलपर चलता है, इसलिये उसमें कुछ सूक्ष्म कमियाँ रह सकती हैं; जैसे—

(१) शास्त्रों एवं संतोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके जब साधक शरीरको (अपनी धारणासे) अपनेसे अलग मानता है, तब उसे शान्ति मिलती है। ऐसी दशामें वह यह मान लेता है कि मेरेको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया! परन्तु जब मान-अपमानकी स्थिति सामने आती है अथवा अपनी इच्छाके अनुकूल या प्रतिकूल घटना घटती है, तब अन्तःकरणमें हर्ष-शोक पैदा हो जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि अभी तत्त्वज्ञान हुआ नहीं।

(२) किसी आदमीके द्वारा अचानक अपना नाम सुनायी पड़नेपर अन्तःकरणमें 'इस नामवाला शरीर मैं हूँ'—ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है, तो समझना चाहिये कि अभी मेरी शरीरमें ही स्थिति है।

(३) साधनाकी ऊँची स्थिति प्राप्त होनेपर जाग्रत्-अवस्थामें तो साधकको जड-चेतनका विवेक अच्छी तरह

रहता है, पर निद्रावस्थामें उसकी विस्मृति हो जाती है। इसलिये नींदसे जगनेपर साधक उस विवेकको पकड़ता है, जब कि सिद्ध महापुरुषका विवेक स्वाभाविक रूपसे रहता है।

(४) साधकमें पूज्यजनोंसे भी मान-आदर पानेकी इच्छा हो जाती है; जैसे—जब वह संतों या गुरुजनोंकी सेवा करता है, सत्संग आदिमें मुख्यतासे भाग लेता है, तब उसके भीतर ऐसा भाव पैदा होता है कि वे संत या गुरुजन मेरेको दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ मानें। यह उसकी सूक्ष्म कमी ही है।

इस प्रकार साधकमें कई कमियोंके रहनेकी सम्भावना रहती है, जिनकी तरफ खयाल न रहनेसे वह अपने अधूरे ज्ञानको भी पूर्ण मान सकता है। इसलिये भगवान् **'आचार्योपासनम्'** पदसे यह कह रहे हैं कि ज्ञानमार्गके साधकको आचार्यके पास रहकर उनकी अधीनतामें ही साधन करना चाहिये। चौथे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि 'तू तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके पास जा, उनको दण्डवत्-प्रणाम कर, उनकी सेवा कर और अपनी जिज्ञासा-पूर्तिके लिये नम्रतापूर्वक प्रश्न कर तो वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी महात्मा तेरेको ज्ञानका उपदेश देंगे।' इस प्रकार साधन करनेपर वे महापुरुष उसकी उन सूक्ष्म कमियोंको, जिनको वह खुद भी नहीं जानता, दूर करके उसको सुगमतासे परमात्मतत्त्वका अनुभव करा सकते हैं।

साधकको शुरूमें ही सोच-समझकर आचार्य, संत-महापुरुषके पास जाना चाहिये। आचार्य (गुरु) कैसा हो? इस सम्बन्धमें ये बातें ध्यानमें रखनी चाहिये—

(१) अपनी दृष्टिमें जो वास्तविक बोधवान्, तत्त्वज्ञ दीखते हों।

(२) जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंको ठीक-ठीक जाननेवाले हों।

(३) जिनके संगसे, वचनोंसे हमारे हृदयमें रहनेवाली शंकाएँ बिना पूछे ही स्वतः दूर हो जाती हों।

(४) जिनके पासमें रहनेसे प्रसन्नता, शान्तिका अनुभव होता हो।

(५) जो हमारे साथ केवल हमारे हितके लिये ही सम्बन्ध रखते हुए दीखते हों।

(६) जो हमारेसे किसी भी वस्तुकी किंचिन्मात्र भी आशा न रखते हों।

(७) जिनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ केवल साधकोंके हितके लिये ही होती हों ।

(८) जिनके पासमें रहनेसे लक्ष्यकी तरफ हमारी लगन स्वतः बढ़ती हो।

(९) जिनके संग, दर्शन, भाषण, स्मरण आदिसे हमारे दुर्गुण-दुराचार दूर होकर स्वतः सद्गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पत्ति आती हो।

(१०) जिनके सिवाय और किसीमें वैसी अलौकिकता, विलक्षणता न दीखती हो।

ऐसे आचार्य, संतके पास रहना चाहिये और केवल अपने उद्धारके लिये ही उनसे सम्बन्ध रखना चाहिये। वे क्या करते हैं, क्या नहीं करते? वे ऐसी क्रिया क्यों करते हैं? वे कब किसके साथ कैसा बर्ताव करते हैं? आदिमें अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिये अर्थात् उनकी क्रियाओंमें तर्क नहीं लगाना चाहिये। साधकको तो उनके अधीन होकर रहना चाहिये, उनकी आज्ञा, रुखके अनुसार मात्र क्रियाएँ करनी चाहिये और श्रद्धाभावपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये। अगर वे महापुरुष न चाहते हों तो उनसे गुरु-शिष्यका व्यावहारिक सम्बन्ध भी जोड़नेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, उनको हृदयसे गुरु मानकर उनपर श्रद्धा रखनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

अगर ऐसे महापुरुष न मिलें तो साधकको चाहिये कि वह केवल परमात्माके परायण होकर उनके ध्यान, चिन्तन आदिमें लग जाय और विश्वास रखे कि परमात्मा अवश्य गुरुकी प्राप्ति करा देंगे। वास्तवमें देखा जाय तो पूर्णतया परमात्मापर निर्भर हो जानेके बाद गुरुका काम परमात्मा ही पूर्ण कर देते हैं; क्योंकि गुरुके द्वारा भी वस्तुतः परमात्मा ही साधकका मार्ग-दर्शन करते हैं।

उपाय—जिस साधकका परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य है, उसमें यह भाव रहना चाहिये कि आजतक जिस-किसीको जो कुछ भी मिला है, वह गुरुकी, सन्तोंकी सेवासे, उनकी प्रसन्नतासे, उनके अनुकूल बननेसे ही मिला है*; अतः मेरेको भी सच्चे हृदयसे सन्तोंकी सेवा करनी है।

विशेष बात

शिष्यका कर्तव्य है—गुरुकी सेवा करना। अगर शिष्य अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करे तो उसका संसारसे

*** इस विषयमें किसीने कहा है—**

न कुछ हम हँसके सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं। जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं, किसीके होके सीखे हैं।

सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह गुरु-तत्त्वके साथ एक हो जाता है अर्थात् उसमें गुरुत्व आ जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मुक्ति और गुरु-तत्त्वसे एक होनेपर भक्ति प्राप्त होती है। शिष्यमें गुरुत्व आनेसे उसमें शिष्यत्व नहीं रहता। उसपर शास्त्र आदिका शासन नहीं रहता। अगर शिष्य अपने कर्तव्यका पालन न करे तो उसका नाम तो शिष्य रहेगा, पर उसमें शिष्यत्व नहीं रहेगा। शिष्यत्व न रहनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा और उसमें गुरुत्व भी नहीं आयेगा। अतः उसमें संसारकी दासता रहेगी।

गुरु केवल मेरा ही कल्याण करे—ऐसा भाव रखना भी शिष्यके लिये बन्धन है। शिष्यको चाहिये कि वह अपने लिये कुछ भी न चाहकर सर्वथा गुरुके समर्पित हो जाय, उनकी मरजीमें ही अपनी मरजी मिला दे।

गुरुका कर्तव्य है—शिष्यका कल्याण करना। अगर गुरु अपने कर्तव्यका पालन न करे तो उसका नाम तो गुरु रहेगा, पर उसमें गुरुत्व नहीं रहेगा। गुरुत्व न रहनेसे उसमें शिष्यका दासत्व रहेगा। जबतक गुरु शिष्यसे कुछ भी (धन, मान, बड़ाई आदि) चाहता है, तबतक उसमें गुरुत्व न रहकर शिष्यकी दासता रहती है।

'शौचम्'—बाहर-भीतरकी शुद्धिका नाम शौच है। जल, मिट्टी आदिसे शरीरकी शुद्धि होती है और दया, क्षमा, उदारता आदिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

उपाय—शरीर बना ही ऐसे पदार्थोंसे है कि इसको चाहे जितना शुद्ध करते रहें, यह अशुद्ध ही रहता है। इससे बार-बार अशुद्धि ही निकलती रहती है। अतः इसको बार-बार शुद्ध करते-करते ही इसकी वास्तविक अशुद्धिका ज्ञान होता है, जिससे शरीरसे अरुचि (उपरामता) हो जाती है।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार सच्चाईके साथ धनका उपार्जन करना; झूठ, कपट आदि न करना; पराया हक न आने देना; खान-पानमें पवित्र चीजें काममें लाना आदिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

'स्थैर्यम्'—स्थैर्य नाम स्थिरताका, विचलित न होनेका है। जो विचार कर लिया है, जिसको लक्ष्य बना लिया है, उससे विचलित न होना 'स्थैर्य' है। मेरेको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना ही है—ऐसा दृढ़ निश्चय करना और विघ्न-बाधाओंके आनेपर भी उनसे विचलित न होकर अपने निश्चयके अनुसार साधनमें तत्परतापूर्वक लगे रहना—इसीको यहाँ **'स्थैर्यम्'** पदसे कहा गया है।

उपाय—(१) सांसारिक भोग और संग्रहमें आसक्त पुरुषोंकी बुद्धि एक निश्चयपर दृढ़ नहीं रहती (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। अतः साधकको भोग और संग्रहकी आसक्तिका त्याग कर देना चाहिये।

(२) साधक अगर किसी छोटे-से-छोटे कार्यका भी विचार कर ले, तो उस विचारकी हिंसा न करे अर्थात् उसपर दृढ़तासे स्थिर रहे। ऐसा करनेसे उसका स्थिर रहनेका स्वभाव बन जायगा।

(३) साधकका संतों और शास्त्रोंके वचनोंपर जितना अधिक विश्वास होगा, उतनी ही उसमें स्थिरता आयेगी।

'आत्मविनिग्रहः'—यहाँ आत्मा नाम मनका है, और उसको वशमें करना ही 'आत्मविनिग्रह' है। मनमें दो तरहकी चीजें पैदा होती हैं—स्फुरणा और संकल्प। स्फुरणा अनेक प्रकारकी होती है और वह आती-जाती रहती है। पर जिस स्फुरणामें मन चिपक जाता है, जिसको मन पकड़ लेता है, वह 'संकल्प' बन जाती है। संकल्पमें दो चीजें रहती हैं—राग और द्वेष। इन दोनोंको लेकर मनमें चिन्तन होता है। स्फुरणा तो दर्पणके दृश्यकी तरह होती है। दर्पणमें दृश्य दीखता तो है, पर कोई भी दृश्य चिपकता नहीं अर्थात् दर्पण किसी भी दृश्यको पकड़ता नहीं। परन्तु संकल्प कैमरेकी फिल्मकी तरह होता है, जो दृश्यको पकड़ लेता है। अभ्याससे अर्थात् मनको बार-बार ध्येयमें लगानेसे स्फुरणाएँ नष्ट हो जाती हैं और वैराग्यसे अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिमें राग, महत्त्व न रहनेसे संकल्प नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्यसे मन वशमें हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक)।

उपाय—(मनके वशमें करनेके उपाय छठे अध्यायके छब्बीसवें श्लोककी व्याख्यामें देखने चाहिये)।

परिशिष्ट भाव—भगवान् क्षेत्रके साथ माने हुए सम्बन्ध-(तादात्म्य-)को तोड़नेके लिये ज्ञानके साधन बताते हैं। ये साधन तादात्म्यको तोड़नेमें सहायक हैं।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु	=इन्द्रियोंके विषयोंमें	**च**	=और
वैराग्यम्	=वैराग्यका होना,	**जन्ममृत्यु-**	
अनहङ्कारः,		**जराव्याधि-**	
एव	=अहंकारका भी न होना	**दुःखदोषानु-**	
		दर्शनम्	=जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियोंमें दुःख-रूप दोषोंको बार-बार देखना।

व्याख्या—'**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**'—लोक-परलोकके शब्दादि समस्त विषयोंमें इन्द्रियोंका खिंचाव न होना ही इन्द्रियोंके विषयोंमें रागरहित होना है। इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी तथा शास्त्रके अनुसार जीवन-निर्वाहके लिये इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका सेवन करते हुए भी साधकको विषयोंमें राग, आसक्ति, प्रियता नहीं होनी चाहिये।

उपाय—(१) विषयोंमें राग होनेसे ही विषयोंकी महत्ता दीखती है, संसारमें आकर्षण होता है और इसीसे सब पाप होते हैं। अगर हमारा विषयोंमें ही राग रहेगा तो तत्त्वबोध कैसे होगा? परमात्मतत्त्वमें हमारी स्थिति कैसे होगी? अगर रागका त्याग कर दें तो परमात्मामें स्थिति हो जायगी—ऐसा विचार करनेसे विषयोंसे वैराग्य हो जाता है।

(२) बड़े-बड़े धनी, शूरवीर, राजा-महाराजा हुए और उन्होंने बहुत-से भोगोंको भोगा, पर अन्तमें उनका क्या रहा? कुछ नहीं रहा। उनके शरीर कमजोर हो गये और अन्तमें सब चले गये। इस प्रकार विचार करनेसे भी वैराग्य हो जाता है।

(३) जिन्होंने भोग नहीं भोगे हैं, जिनके पास भोग-सामग्री नहीं है, जो संसारसे विरक्त हैं, उनकी अपेक्षा जिन्होंने बहुत भोग भोगे हैं और भोग रहे हैं, उनमें क्या विलक्षणता, विशेषता आयी? कुछ नहीं, प्रत्युत भोग भोगनेवाले तो शोक-चिन्तामें डूबे हुए हैं। ऐसा विचार करनेसे भी वैराग्य होता है।

'**अनहंकार एव च**'—प्रत्येक व्यक्तिके अनुभवमें 'मैं हूँ'—इस प्रकारकी एक वृत्ति होती है। यह वृत्ति ही शरीरके साथ मिलकर 'मैं शरीर हूँ'—इस प्रकार एकदेशीयता अर्थात् अहंकार उत्पन्न कर देती है। इसीके कारण शरीर, नाम, क्रिया, पदार्थ, भाव, ज्ञान, त्याग, देश, काल आदिके साथ अपना सम्बन्ध मानकर जीव ऊँच-नीच योनियोंमें जन्मता-मरता रहता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। यह अहंकार साधनमें प्रायः बहुत दूरतक रहता है। वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है, फिर भी स्वयंकी मान्यता होनेके कारण व्यक्तित्वके रूपमें इसका भान होता रहता है। भगवान्‌द्वारा ज्ञानके साधनोंमें इस पदका प्रयोग किये जानेका तात्पर्य शरीरादिमें माने हुए अहंकारका सर्वथा अभाव करनेमें है; क्योंकि जड-चेतनका यथार्थ बोध होनेपर इसका सर्वथा अभाव हो जाता है। मनुष्यमात्र अहंकाररहित हो सकता है, इसीलिये भगवान् यहाँ '**अनहंकारः**' पदसे अहंकारका त्याग करनेकी बात कहते हैं।

अभिमान और अहंकारका प्रयोग एक साथ होनेपर उनसे अलग-अलग भावोंका बोध होता है। सांसारिक चीजोंके सम्बन्धसे अभिमान पैदा होता है। ऐसे ही त्याग, वैराग्य, विद्या आदिको लेकर अपनेमें विशेषता देखनेसे भी अभिमान पैदा होता है। शरीरको ही अपना स्वरूप माननेसे अहंकार पैदा होता है। यहाँ '**अनहंकारः**' पदसे अभिमान और अहंकार—दोनोंके सर्वथा अभावका अर्थ लेना चाहिये।

मनुष्यको नींदसे जगनेपर सबसे पहले 'अहम्' अर्थात् 'मैं हूँ'—इस वृत्तिका ज्ञान होता है। फिर मैं अमुक शरीर, नाम, जाति, वर्ण, आश्रम आदिका हूँ—ऐसा अभिमान होता है। यह एक क्रम है। इसी प्रकार पारमार्थिक मार्गमें भी अहंकारके नाशका एक क्रम है। सबसे पहले स्थूल-शरीरसे सम्बन्धित धनादि पदार्थोंका अभिमान मिटता है। फिर कर्मेन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहनेवाले कर्तृत्वाभिमानका नाश होता है। उसके बाद बुद्धिकी प्रधानतासे रहनेवाला ज्ञातापनका अहंकार मिटता है। अन्तमें 'अहम्' वृत्तिकी प्रधानतासे जो साक्षीपनका अहंकार है, वह भी मिट जाता है। तब सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दघनस्वरूप स्वतः रह जाता है।

उपाय—(१) अपनेमें श्रेष्ठताकी भावनासे ही अभिमान पैदा होता है। अभिमान तभी होता है, जब मनुष्य दूसरोंकी तरफ देखकर यह सोचता है कि वे मेरी अपेक्षा तुच्छ हैं। जैसे, गाँवभरमें एक ही लखपति हो तो दूसरोंको देखकर उसको लखपति होनेका अभिमान होता है। परन्तु अगर दूसरे सभी करोड़पति हों तो उसको अपने लखपति होनेका अभिमान नहीं होता। अतः अभिमानरूप दोषको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह दूसरोंकी कमीकी

तरफ कभी न देखे, प्रत्युत अपनी कमियोंको देखकर उनको दूर करे[१]।

(२) एक ही आत्मा जैसे इस शरीरमें व्याप्त है, ऐसे ही वह अन्य शरीरोंमें भी व्याप्त है—'**सर्वगतः**' (गीता २। २४)। परन्तु मनुष्य अज्ञानसे सर्वव्यापी आत्माको एक अपने शरीरमें ही सीमित मानकर शरीरको 'मैं' मान लेता है। जैसे मनुष्य बैंकमें रखे हुए बहुत-से रुपयोंमेंसे केवल अपने द्वारा जमा किये हुए कुछ रुपयोंमें ही ममता करके, उनके साथ अपना सम्बन्ध मानकर अपनेको धनी मान लेता है, ऐसे ही एक शरीरमें 'मैं शरीर हूँ'—ऐसी अहंता करके वह कालसे सम्बन्ध मानकर 'मैं इस समयमें हूँ', देशसे सम्बन्ध मानकर 'मैं यहाँ हूँ,' बुद्धिसे सम्बन्ध मानकर 'मैं समझदार हूँ', वाणीसे सम्बन्ध मानकर 'मैं वक्ता हूँ' आदि अहंकार कर लेता है। इस प्रकारके सम्बन्ध न मानना ही अहंकाररहित होनेका उपाय है।

(३) शास्त्रोंमें परमात्माका 'सच्चिदानन्दघन'-रूपसे वर्णन आया है। 'सत्' (सत्ता), 'चित्' (ज्ञान) और 'आनन्द' (अविनाशी सुख)—ये तीनों परमात्माके भिन्न-भिन्न स्वरूप नहीं हैं, प्रत्युत एक ही परमात्मतत्त्वके तीन नाम हैं। अतः साधक इन तीनोंमेंसे किसी एक विशेषणसे भी परमात्माका लक्ष्य करके निर्विकल्प[२] हो सकता है। निर्विकल्प होनेसे उसको परमात्मतत्त्वमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है और अहंकारका सर्वथा नाश हो जाता है। इसको इस प्रकार समझना चाहिये—

(क) '**सत्**'—परमात्मतत्त्व सदासे ही था, सदासे है और सदा ही रहेगा। वह कभी बनता-बिगड़ता नहीं, कम-ज्यादा भी नहीं होता, सदा ज्यों-का-त्यों रहता है—ऐसा बुद्धिके द्वारा विचार करके निर्विकल्प होकर स्थिर हो जानेसे साधकका बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उस सत्-तत्त्वमें अपनी वास्तविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। ऐसा अनुभव होनेपर फिर अहंकार नहीं रहता।

(ख) '**चित्**'—जैसे प्रत्येक व्यक्तिके शरीरादि 'अहम्' के अन्तर्गत दृश्य हैं, ऐसे ही 'अहम्' भी (मैं, तू, यह और वहके रूपमें) एक ज्ञानके अन्तर्गत दृश्य है[३]। उस ज्ञान-(चेतन-) में निर्विकल्प होकर स्थिर हो जानेसे परमात्मतत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर अहंकार नहीं रहता।

(ग)'**आनन्द**'—साधकलोग प्रायः बुद्धि और अहम्को प्रकाशित करनेवाले 'चेतन'को भी बुद्धिके द्वारा ही जाननेकी चेष्टा किया करते हैं। वास्तवमें बुद्धिके द्वारा जाने अर्थात् सीखे हुए विषयको 'ज्ञान' की संज्ञा देना और उससे अपने-आपको ज्ञानी मान लेना भूल ही है। बुद्धिको प्रकाशित करनेवाला तत्त्व बुद्धिके द्वारा कैसे जाना जा सकता है? यद्यपि साधकके पास बुद्धिके सिवाय ऐसा और कोई साधन नहीं है, जिससे वह तत्त्व जाना जा सके, तथापि बुद्धिके द्वारा केवल जड संसारकी वास्तविकताको ही जाना जा सकता है। बुद्धि जिससे प्रकाशित होती है, उस तत्त्वको बुद्धि नहीं जान सकती। उस तत्त्वको जाननेके लिये बुद्धिसे भी सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है। बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले परमात्मतत्त्वमें निर्विकल्परूपसे स्थित हो जानेपर बुद्धिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। फिर एक 'आनन्द'-स्वरूप (जहाँ दुःखका लेश भी नहीं है) परमात्मतत्त्व ही शेष रह जाता है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप और सत्स्वरूप भी है। इस प्रकार तत्त्वमें निर्विकल्प (चुप) हो जानेपर 'आनन्द-ही-आनन्द है'—ऐसा अनुभव होता है। ऐसा अनुभव होनेपर फिर अहंकार नहीं रहता।

'**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्**'— जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगोंके दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखनेका तात्पर्य है—जैसे आँवामें मटका पकता है, ऐसे ही जन्मसे पहले माताके उदरमें बच्चा जठराग्निमें पकता रहता है। माताके खाये हुए नमक, मिर्च आदि क्षार और तीखे पदार्थोंसे बच्चेके शरीरमें जलन होती है। गर्भाशयमें

१-तेरे भावे जो करे, भलौ बुरौ संसार। 'नारायण' तू बैठिके, अपनौ भवन बुहार॥

२-संसारके चिन्तनसे साधकका कोई प्रयोजन होता नहीं और अचिन्त्य परमात्मतत्त्व चिन्तनमें आता नहीं—यही निर्विकल्पता है।

३-किसी सेठने सुना कि अमुक दूकानमें इतना नफा हुआ है और साथ ही यह भी सुना कि अमुक दूकानमें इतना नुकसान हुआ है। इस प्रकार नफा और नुकसान—इन दोनोंमें तो फरक है, पर इन दोनोंके ज्ञानमें कोई फरक नहीं है; ज्ञान तो एक ही है। अगर ज्ञान एक न होता तो नफा और नुकसान—दोनोंकी भिन्नताका ज्ञान कैसे होता? इसी तरह 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों अलग-अलग होनेपर भी इनका प्रकाशक ज्ञान एक ही है। जिस सामान्य प्रकाशमें 'मैं' में क्रियाएँ होती हैं, उसी प्रकाशमें 'तू, यह और वह' में भी क्रियाएँ होती हैं। उस सामान्य प्रकाशमें 'मैं, तू, यह और वह' का भेद नहीं है। उस सामान्य प्रकाशका सम्बन्ध यदि है तो चारोंके साथ है और यदि नहीं है तो किसीके भी साथ नहीं है।

रहनेवाले सूक्ष्म जन्तु भी बच्चेको काटते रहते हैं। प्रसवके समय माताको जो पीड़ा होती है, उसका कोई अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। वैसी ही पीड़ा उदरसे बाहर आते समय बच्चेको होती है। इस तरह जन्मके दुःखरूप दोषोंका बार-बार विचार करके इस विचारको दृढ़ करना कि इसमें केवल दुःख-ही-दुःख है।

जो जन्मता है, उसको मरना ही पड़ता है—यह नियम है। इससे कोई बच ही नहीं सकता। मृत्युके समय जब प्राण शरीरसे निकलते हैं, तब हजारों बिच्छू शरीरमें एक साथ डंक मारते हों—ऐसी पीड़ा होती है। उम्रभरमें कमाये हुए धनसे, उम्रभरमें रहे हुए मकानसे और अपने परिवारसे जब वियोग होता है और फिर उनके मिलनेकी सम्भावना नहीं रहती, तब (ममता-आसक्तिके कारण) बड़ा भारी दुःख होता है। जिस धनको कभी किसीको दिखाना नहीं चाहता था, जिस धनको परिवारवालोंसे छिपा-छिपाकर तिजोरीमें रखा था, उसकी चाबी परिवारवालोंके हाथमें पड़ी देखकर मनमें असह्य वेदना होती है। इस तरह मृत्युके दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखे।

वृद्धावस्थामें शरीर और अवयवोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है, जिससे चलने-फिरने, उठने-बैठनेमें कष्ट होता है। हरेक तरहका भोजन पचता नहीं। बड़ा होनेके कारण परिवारसे आदर चाहता है, पर कोई प्रयोजन न रहनेसे घरवाले निरादर, अपमान करते हैं। तब मनमें पहलेकी बातें याद आती हैं कि मैंने धन कमाया है, इनको पाला-पोसा है, पर आज ये मेरा तिरस्कार कर रहे हैं! इन बातोंको लेकर बड़ा दुःख होता है। इस तरह वृद्धावस्थाके दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखे।

यह शरीर व्याधियोंका, रोगोंका घर है—'**शरीरं व्याधिमन्दिरम्।**' शरीरमें वात, कफ आदिसे पैदा होनेवाले अनेक प्रकारके रोग होते रहते हैं और उन रोगोंसे शरीरमें बड़ी पीड़ा होती है। इस तरह रोगोंके दुःखरूप दोषोंको बार-बार देखे।

यहाँ बार-बार देखनेका तात्पर्य बार-बार चिन्तन करनेसे नहीं है, प्रत्युत विचार करनेसे है। जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगोंके दुःखोंको बार-बार देखनेसे अर्थात् विचार करनेसे उनके मूल कारण—उत्पत्तिविनाशशील पदार्थोंमें राग स्वाभाविक ही कम हो जाता है अर्थात् भोगोंसे वैराग्य हो जाता है। तात्पर्य है कि जन्म, मृत्यु आदिके दुःखरूप दोषोंको देखना भोगोंसे वैराग्य होनेमें हेतु है; क्योंकि भोगोंके रागसे अर्थात् गुणोंके संगसे ही जन्म होता है—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१) और जो जन्म होता है, वह सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। भगवान्‌ने पुनर्जन्मको दुःखालय बताया है—'**पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्**' (गीता ८। १५)।

शरीर आदि जड पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे, उनको महत्त्व देनेसे, उनका आश्रय लेनेसे ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं—'**देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति।**' परमात्माका स्वरूप अथवा उसका ही अंश होनेके ही कारण जीवात्मा स्वयं निर्दोष है—'**चेतन अमल सहज सुखरासी**' (मानस ७। ११७। १)। यही कारण है कि जीवात्माको दुःख और दोष अच्छे नहीं लगते; क्योंकि वे इसके सजातीय नहीं हैं। जीव अपने द्वारा ही पैदा किये दोषोंके कारण सदा दुःख पाता रहता है। अतः भगवान् जन्म, मृत्यु आदिके दुःखरूप दोषोंके मूल कारण देहाभिमानको विचारपूर्वक मिटानेके लिये कह रहे हैं।

परिशिष्ट भाव—एक 'दुःखका भोग' होता है और एक 'दुःखका प्रभाव' होता है। दुःखसे दुःखी होना और सुखकी इच्छा करना 'दुःखका भोग' है। दुःखके कारणकी खोज करके उसको मिटाना 'दुःखका प्रभाव' है। यहाँ दुःखके प्रभावको '**दुःखदोषानुदर्शनम्**' पदसे कहा गया है।

दुःखका भोग करनेसे अर्थात् दुःखी होनेसे विवेक लुप्त हो जाता है। परन्तु दुःखका प्रभाव होनेसे विवेक लुप्त नहीं होता, प्रत्युत मनुष्य विवेकदृष्टिसे दुःखके कारणकी खोज करता है और खोज करके उसको मिटाता है। सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। कारणके मिटनेपर कार्य अपने-आप मिट जाता है; अतः सुखकी इच्छा मिटनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९ ॥

असक्तिः = आसक्तिरहित होना, **पुत्रदारगृहादिषु** = पुत्र, स्त्री, घर आदिमें **अनभिष्वङ्गः** = एकात्मता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना **च** = और **इष्टानिष्टोपपत्तिषु** = अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें **नित्यम्**, **समचित्तत्वम्** = चित्तका नित्य सम रहना।

व्याख्या—'**असक्तिः**'—उत्पन्न होनेवाली (सांसारिक) वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें जो प्रियता है, उसको 'सक्ति' कहते हैं। उस 'सक्ति'से रहित होनेका नाम 'असक्ति' है।

सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों आदिसे सुख लेनेकी इच्छासे, सुखकी आशासे और सुखके भोगसे ही मनुष्यकी उनमें आसक्ति, प्रियता होती है। कारण कि मनुष्यको संयोगके सिवाय सुख नहीं दीखता, इसलिये उसको संयोगजन्य सुख प्रिय लगता है। परन्तु वास्तविक सुख संयोगके वियोगसे होता है (गीता—छठे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक), इसलिये साधकके लिये सांसारिक आसक्तिका त्याग करना बहुत आवश्यक है।

उपाय—संयोगजन्य सुख आरम्भमें तो अमृतकी तरह दीखता है, पर परिणाममें विषकी तरह होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। संयोगजन्य सुख भोगनेवालेको परिणाममें दुःख भोगना ही पड़ता है—यह नियम है। अतः संयोगजन्य सुखके परिणामपर दृष्टि रखनेसे उसमें आसक्ति नहीं रहती।

'**अनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु**'—पुत्र, स्त्री, घर, धन, जमीन, पशु आदिके साथ माना हुआ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, गाढ़ मोह है, तादात्म्य है, मानी हुई एकात्मता है, जिसके कारण शरीरपर भी असर पड़ता है, उसका नाम 'अभिष्वंग' है*। जैसे—पुत्रके साथ माताकी एकात्मता रहनेके कारण जब पुत्र बीमार हो जाता है, तब माताका शरीर कमजोर हो जाता है। ऐसे ही पुत्रके, स्त्रीके मर जानेपर मनुष्य कहता है कि मैं मर गया, धनके चले जानेपर कहता है कि मैं मारा गया, आदि। ऐसी एकात्मतासे रहित होनेके लिये यहाँ '**अनभिष्वंगः**' पद आया है।

उपाय—जिनके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध दीखे, उनकी सेवा करे, उनको सुख पहुँचाये, पर उनसे सुख लेनेका उद्‌देश्य न रखे। उद्‌देश्य तो उनसे अभिष्वंग (तादात्म्य) दूर करनेका ही रखे। अगर उनसे सेवा लेनेका उद्‌देश्य रखेंगे तो उनसे तादात्म्य हो जायगा। हाँ, उनकी प्रसन्नताके लिये कभी उनसे सेवा लेनी भी पड़े तो उसमें राजी न हो; क्योंकि राजी होनेसे अभिष्वंग हो जायगा। तात्पर्य है कि किसीके भी साथ अपनेको लिप्त न करे। इस बातकी बहुत सावधानी रखे।

'**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु**'—'इष्ट' अर्थात् मनके अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिके प्राप्त होनेपर चित्तमें राग, हर्ष, सुख आदि विकार न हो और 'अनिष्ट' अर्थात् मनके प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति आदिके प्राप्त होनेपर चित्तमें द्वेष, शोक, दुःख, उद्वेग आदि विकार न हो। तात्पर्य है कि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके प्राप्त होनेपर चित्तमें निरन्तर समता रहे, चित्तपर उनका कोई असर न पड़े। इसको भगवान्‌ने '**सिद्‌ध्यसिद्‌ध्योः समो भूत्वा**' (२। ४८) पदोंसे भी कहा है।

उपाय—मनुष्यको जो कुछ अनुकूल सामग्री मिली है, उसको वह अपने लिये मानकर सुख भोगता है—यह महान् बाधक है। कारण कि संसारकी सामग्री केवल संसारकी सेवामें लगानेके लिये ही मिली है, अपने शरीर-इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेके लिये नहीं। ऐसे ही मनुष्यको जो कुछ प्रतिकूल सामग्री मिली है, वह दुःख भोगनेके लिये नहीं मिली है, प्रत्युत संयोगजन्य सुखका त्याग करनेके लिये, मनुष्यको सांसारिक राग, आसक्ति, कामना, ममता आदिसे छुड़ानेके लिये ही मिली है। तात्पर्य है कि अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों परिस्थितियाँ मनुष्यको सुख-दुःखसे ऊँचा उठाकर (उन दोनोंसे अतीत) परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करानेके लिये ही मिली हैं—ऐसा दृढ़तासे मान लेनेसे साधकका चित्त इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें स्वतः सम रहेगा।

*** पुत्र, स्त्री आदिके साथ यथायोग्य बर्ताव करना, उनमें अपनापन न रखकर उनकी सेवा करना 'अभिष्वंग' नहीं है, प्रत्युत यह तो निर्लिप्तता, असंगता है, जो कि अमरताका अनुभव करानेवाली है।**

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मयि	= मुझमें	**भक्तिः**	= भक्तिका होना,	**च**	= और
अनन्ययोगेन	= अनन्ययोगके द्वारा	**विविक्त-**		**जनसंसदि**	= जन-समुदायमें
अव्यभि-		**देशसेवित्वम्**	= एकान्त स्थानमें		
चारिणी	= अव्यभिचारिणी		रहनेका स्वभाव होना	**अरतिः**	= प्रीतिका न होना।

व्याख्या—'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**'—संसारका आश्रय लेनेके कारण साधकका देहाभिमान बना रहता है। यह देहाभिमान अव्यक्तके ज्ञानमें प्रधान बाधा है। इसको दूर करनेके लिये भगवान् यहाँ तत्त्वज्ञानका उद्देश्य रखकर अनन्ययोगद्वारा अपनी अव्यभिचारिणी भक्ति करनेका साधन बता रहे हैं। तात्पर्य है कि भक्तिरूप साधनसे भी देहाभिमान सुगमतापूर्वक दूर हो सकता है।

भगवान्‌के सिवाय और किसीसे कुछ भी पानेकी इच्छा न हो अर्थात् भगवान्‌के सिवाय मनुष्य, गुरु, देवता, शास्त्र आदि मेरेको उस तत्त्वका अनुभव करा सकते हैं तथा अपने बल, बुद्धि, योग्यतासे मैं उस तत्त्वको प्राप्त कर लूँगा—इस प्रकार किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिका सहारा न हो और 'भगवान्‌की कृपासे ही मेरेको उस तत्त्वका अनुभव होगा'—इस प्रकार केवल भगवान्‌का ही सहारा हो—यह भगवान्‌में 'अनन्ययोग' होना है।

अपना सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ ही हो, दूसरे किसीके साथ किंचिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न हो—यह भगवान्‌में 'अव्यभिचारिणी भक्ति' होना है।

तात्पर्य है कि तत्त्वप्राप्तिका साधन (उपाय) भी भगवान् ही हों और साध्य (उपेय) भी भगवान् ही हों—यही अनन्ययोगके द्वारा भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्तिका होना है।

जिस साधकमें ज्ञानके साथ-साथ भक्तिके भी संस्कार हों, उसके लिये यह साधन बहुत उपयोगी है। भक्तिपरायण साधक अगर तत्त्वज्ञानका उद्देश्य रखकर एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय ग्रहण करता है, तो केवल इसी साधनसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है। गुणातीत होनेके उपायोंमें भी भगवान्‌ने अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कही है (गीता—चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

शंका—यहाँ तो भक्तिसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति बतायी गयी है और अठारहवें अध्यायके चौवनवें-पचपनवें श्लोकोंमें ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्ति कही गयी है, ऐसा क्यों?

समाधान—जैसे भक्ति दो प्रकारकी होती है—साधन-भक्ति और साध्य-भक्ति, ऐसे ही ज्ञान भी दो प्रकारका होता है—साधन-ज्ञान और साध्य-ज्ञान। साध्य-भक्ति और साध्य-ज्ञान—दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। साधन-भक्ति और साधन-ज्ञान—ये दोनों साध्य-भक्ति अथवा साध्य-ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं। अतः जहाँ भक्तिसे तत्त्वज्ञान-(साध्य-ज्ञान-) की प्राप्तिकी बात कही है, वह भी ठीक है और जहाँ ज्ञानसे पराभक्ति-(साध्य-भक्ति-)की प्राप्तिकी बात कही है, वह भी ठीक है। अतः साधकको चाहिये कि उसमें कर्म, ज्ञान अथवा भक्ति—जिस संस्कारकी प्रधानता हो, उसीके अनुरूप साधनमें लग जाय। सावधानी केवल इतनी रखे कि उद्देश्य केवल परमात्माका ही हो, प्रकृति अथवा उसके कार्यका नहीं। ऐसा उद्देश्य होनेपर वह उसी साधनसे परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

शंका—भगवान्‌ने ज्ञानके साधनोंमें अपनी भक्तिको किसलिये बताया? क्या ज्ञानयोगका साधक भगवान्‌की भक्ति भी करता है?

समाधान—ज्ञानयोगके साधक (जिज्ञासु) दो प्रकारके होते हैं—भावप्रधान (भक्तिप्रधान) और विवेकप्रधान (ज्ञानप्रधान)।

(१) भावप्रधान जिज्ञासु वह है, जो भगवान्‌का आश्रय लेकर तत्त्वको जानना चाहता है (गीता—सातवें अध्यायका सोलहवाँ और तेरहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें '**माम्**', '**मम**', तीसरे श्लोकमें '**मे**', इस (दसवें) श्लोकमें '**मयि**' और अठारहवें श्लोकमें '**मद्भक्तः**' तथा '**मद्भावाय**' पदोंके आनेसे सिद्ध होता है कि अठारहवें श्लोकतक भावप्रधान जिज्ञासुका प्रकरण है। परन्तु उन्नीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक एक बार भी '**अस्मद्**' ('मैं' वाचक) पदका प्रयोग नहीं हुआ है, इसलिये वहाँ विवेकप्रधान जिज्ञासुका प्रकरण है। अतः यहाँ भावप्रधान जिज्ञासुका प्रसंग होनेसे ज्ञानके साधनोंके अन्तर्गत भक्तिरूप साधनका वर्णन किया गया है।

दूसरी बात, जैसे सात्त्विक भोजनमें पुष्टिके लिये घी या

दूधकी आवश्यकता होती है, तो वहाँ घी और दूध सात्त्विक भोजनके साथ मिलकर भी पुष्टि करते हैं और अकेले-अकेले भी पुष्टि करते हैं। ऐसे ही भगवान्‌की भक्ति ज्ञानके साधनोंमें मिलकर भी परमात्मप्राप्तिमें सहायक होती है और अकेली भी गुणातीत बना देती है (गीता—चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)। पातंजलयोगदर्शनमें भी परमात्मप्राप्तिके लिये अष्टांगयोगके साधनोंमें सहायकरूपसे 'ईश्वरप्रणिधान' अर्थात् भक्तिरूप नियम कहा है[1] और उसी भक्तिको स्वतन्त्ररूपसे भी कहा है[2]। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिरूप साधन अपनी एक अलग विशेषता रखता है। इस विशेषताके कारण भी ज्ञानके साधनोंमें भक्तिका वर्णन किया गया है।

(२) विवेकप्रधान जिज्ञासु वह है, जो सत्-असत्‌का विचार करते हुए तीव्र विवेक-वैराग्यसे युक्त होकर तत्त्वको जानना चाहता है (इसी अध्यायके उन्नीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक)।

विचार करके देखा जाय तो आजकल आध्यात्मिक जिज्ञासाकी कमी और भोगासक्तिकी बहुलताके कारण विवेकप्रधान जिज्ञासु बहुत कम देखनेमें आते हैं। ऐसे साधकोंके लिये भक्तिरूप साधन बहुत उपयोगी है। अत: यहाँ भक्तिका वर्णन करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

उपाय—केवल भगवान्‌को ही अपना मानना और भगवान्‌का ही आश्रय लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका जप, कीर्तन, चिन्तन, स्मरण आदि करना ही भक्तिका सुगम उपाय है।

'विविक्तदेशसेवित्वम्'—'मैं एकान्तमें रहकर परमात्मतत्त्वका चिन्तन करूँ, भजन-स्मरण करूँ, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय करूँ, उस तत्त्वको गहरा उतरकर समझूँ, मेरी वृत्तियोंमें और मेरे साधनमें कोई भी विघ्न-बाधा न पड़े, मेरे साथ कोई न रहे और मैं किसीके साथ न रहूँ'— साधककी ऐसी स्वाभाविक अभिलाषाका नाम 'विविक्तदेश-सेवित्व' है। तात्पर्य यह हुआ कि साधककी रुचि तो एकान्तमें रहनेकी ही होनी चाहिये, पर ऐसा एकान्त न मिले तो मनमें किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होना चाहिये। उसके मनमें यही विचार होना चाहिये कि संसारके संगका, संयोगका तो स्वत: ही वियोग हो रहा है और स्वरूपमें असंगता स्वत:सिद्ध है। इस स्वत:सिद्ध असंगतामें संसारका संग, संयोग, सम्बन्ध कभी हो ही नहीं सकता। अत: संसारका संग कभी बाधक हो ही नहीं सकता।

केवल निर्जन वन आदिमें जाकर और अकेले पड़े रहकर यह मान लेना कि 'मैं एकान्त स्थानमें हूँ' वास्तवमें भूल ही है; क्योंकि सम्पूर्ण संसारका बीज यह शरीर तो साथमें है ही। जबतक इस शरीरके साथ सम्बन्ध है, तबतक सम्पूर्ण संसारके साथ सम्बन्ध बना ही हुआ है। अत: एकान्त स्थानमें जानेका लाभ तभी है, जब देहाभिमानके नाशका उद्देश्य मुख्य हो।

वास्तविक एकान्त वह है, जिसमें एक तत्त्वके सिवाय दूसरी कोई चीज न उत्पन्न हुई, न है और न होगी। जिसमें न इन्द्रियाँ हैं, न प्राण हैं, न मन है और न अन्त:करण है। जिसमें न स्थूलशरीर है, न सूक्ष्मशरीर है और न कारणशरीर है। जिसमें न व्यष्टि शरीर है और न समष्टि संसार है। जिसमें केवल एक तत्त्व-ही-तत्त्व है अर्थात् एक तत्त्वके सिवाय और कुछ है ही नहीं। कारण कि एक परमात्मतत्त्वके सिवाय पहले भी कुछ नहीं था और अन्तमें भी कुछ नहीं रहेगा। बीचमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी प्रतीतिके द्वारा ही प्रतीत हो रहा है अर्थात् जिनसे संसार प्रतीत हो रहा है, वे इन्द्रियाँ, अन्त:करण आदि भी स्वयं प्रतीति ही हैं। अत: प्रतीतिके द्वारा ही प्रतीति हो रही है। हमारा (स्वरूपका) सम्बन्ध शरीर और अन्त:करणके साथ कभी हुआ ही नहीं; क्योंकि शरीर और अन्त:करण प्रकृतिका कार्य है और स्वरूप सदा ही प्रकृतिसे अतीत है। इस प्रकार अनुभव करना ही वास्तवमें 'विविक्तदेशसेवित्व' है।

'अरतिर्जनसंसदि'—साधारण मनुष्य-समुदायमें प्रीति, रुचि न हो अर्थात् कहाँ क्या हो रहा है, कब क्या होगा, कैसे होगा आदि-आदि सांसारिक बातोंको सुननेकी कोई भी इच्छा न हो तथा समाचार सुनानेवाले लोगोंसे मिलें, कुछ समाचार प्राप्त करें—ऐसी किंचिन्मात्र भी इच्छा, प्रीति न हो। परन्तु हमारेसे कोई तत्त्वकी बात पूछना चाहता है, साधनके विषयमें चर्चा करना चाहता है, उससे मिलनेके लिये मनमें जो इच्छा होती है, वह '**अरतिर्जनसंसदि**' नहीं है। ऐसे ही जहाँ तत्त्वकी बात होती हो, आपसमें तत्त्वका विचार होता हो अथवा हमारी दृष्टिमें कोई परमात्मतत्त्वको जाननेवाला हो, ऐसे पुरुषोंके संगकी जो रुचि होती है, वह जनसमुदायमें रुचि नहीं

१-शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:। (योगदर्शन २। ३२)

२-ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योगदर्शन १। २३)

कहलाती, प्रत्युत वह तो आवश्यक है। कहा भी गया है—

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम्॥

(मार्कण्डेयपुराण ३७। २३)

अर्थात् आसक्तिपूर्वक किसीका भी संग नहीं करना चाहिये; परन्तु अगर ऐसी असंगता न होती हो, तो श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करना चाहिये। कारण कि श्रेष्ठ पुरुषोंका संग असंगता प्राप्त करनेकी औषध है।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वम् = अध्यात्मज्ञानमें नित्य-निरन्तर रहना,
तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम् = तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह देखना
एतत् = —यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो
ज्ञानम् = ज्ञान है (और)
यत् = जो
अतः = इसके
अन्यथा = विपरीत है,
अज्ञानम् = वह अज्ञान है—
इति = ऐसा
प्रोक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या—**'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'**—सम्पूर्ण शास्त्रोंका तात्पर्य मनुष्यको परमात्माकी तरफ लगानेमें, परमात्म-प्राप्ति करानेमें है—ऐसा निश्चय करनेके बाद परमात्मतत्त्व जितना समझमें आया है, उसका मनन करे। युक्ति-प्रयुक्तिसे देखा जाय तो परमात्मतत्त्व भावरूपसे पहले भी था, अभी भी है और आगे भी रहेगा। परन्तु संसार पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं रहेगा तथा अभी भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। संसारकी तो उत्पत्ति और विनाश होता है, पर उसका जो आधार, प्रकाशक है, वह परमात्मतत्त्व नित्य-निरन्तर रहता है। उस परमात्मतत्त्वके सिवाय संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। परमात्माकी सत्तासे ही संसार सत्तावाला दीखता है। इस प्रकार संसारकी स्वतन्त्र सत्ताके अभावका और परमात्माकी सत्ताका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना **'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'** है।

उपाय—आध्यात्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन, तत्त्वज्ञ महापुरुषोंसे तत्त्वज्ञान-विषयक श्रवण और प्रश्नोत्तर करना।

'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्—तत्त्वज्ञानका अर्थ है— परमात्मा। उस परमात्माका ही सब जगह दर्शन करना, उसका ही सब जगह अनुभव करना **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** है। वह परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। एकान्तमें अथवा व्यवहारमें, सब समय साधककी दृष्टि, उसका लक्ष्य केवल उस परमात्मापर ही रहे। एक परमात्माके सिवाय उसको दूसरी कोई सत्ता दीखे ही नहीं। सब जगह, सब समय समभावसे परिपूर्ण परमात्माको ही देखनेका उसका स्वभाव बन जाय—यही **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** है। इसके सिद्ध होनेपर साधकको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा'—**'अमानित्वम्'** से लेकर **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** तक ये जो बीस साधन कहे गये हैं, ये सभी साधन देहाभिमान मिटानेवाले होनेसे और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होनेसे 'ज्ञान' नामसे कहे गये हैं। इन साधनोंसे विपरीत मानित्व, दम्भित्व, हिंसा आदि जितने भी दोष हैं, वे सभी देहाभिमान बढ़ानेवाले होनेसे और परमात्मतत्त्वसे विमुख करनेवाले होनेसे 'अज्ञान' नामसे कहे गये हैं।

विशेष बात

यदि साधकमें इतना तीव्र विवेक जाग्रत् हो जाय कि वह शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग कर सके, तो उसमें यह साधन-समुदाय स्वतः प्रकट हो जाता है। फिर उसको इन साधनोंका अलग-अलग अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। विनाशी शरीरको अपने अविनाशी स्वरूपसे अलग देखना मूल साधन है। अतः सभी साधकोंको चाहिये कि वे शरीरको अपनेसे अलग अनुभव करें, जो कि वास्तवमें अलग ही है!

पूर्वोक्त किसी भी साधनका अनुष्ठान करनेके लिये मुख्यतः दो बातोंकी आवश्यकता है—(१) साधकका

उद्देश्य केवल परमात्माको प्राप्त करना हो और (२) शास्त्रोंको पढ़ते-सुनते समय यदि विवेकद्वारा शरीरको अपनेसे अलग समझ ले, तो फिर दूसरे समयमें भी उसी विवेकपर स्थिर रहे। इन दो बातोंके दृढ़ होनेसे साधन-समुदायके सभी साधन सुगम हो जाते हैं।

शरीर तो बदल गया, पर मैं वही हूँ, जो कि बचपनमें था—यह सबके अनुभवकी बात है। अतः शरीरके साथ अपना सम्बन्ध वास्तविक न होकर केवल माना हुआ है—ऐसा निश्चय होनेपर ही वास्तविक साधन आरम्भ होता है। साधककी बुद्धि जितने अंशमें परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको धारण करती है, उतने ही अंशमें उसमें विवेककी जागृति तथा संसारसे वैराग्य हो जाता है। भगवान्ने विवेक और वैराग्यको पुष्ट करनेके लिये ज्ञानके आवश्यक साधनोंका वर्णन किया है।

जब मनुष्यका उद्देश्य परमात्मप्राप्ति करना ही हो जाता है, तब दुर्गुणों एवं दुराचारोंकी जड़ कट जाती है, चाहे साधकको इसका अनुभव हो या न हो! जैसे वृक्षकी जड़ कटनेपर भी बड़ी टहनीपर लगे हुए पत्ते कुछ दिनतक हरे दीखते हैं; किन्तु वास्तवमें उन पत्तोंके हरेपनकी भी जड़ कट चुकी है। इसलिये कुछ दिनोंके बाद कटी हुई टहनीके पत्तोंका हरापन मिट जाता है। ऐसे ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य होते ही दुर्गुण-दुराचार मिट जाते हैं। यद्यपि साधकको आरम्भमें ऐसा अनुभव नहीं होता और उसको अपनेमें अवगुण दीखते हैं, तथापि कुछ समयके बाद उनका सर्वथा अभाव दीखने लग जाता है।

साधन करते समय कभी-कभी साधकको अपनेमें दुर्गुण दिखायी दे सकते हैं। परन्तु वास्तवमें साधनमें लगनेसे पहले उसमें जो दुर्गुण रहे थे, वे ही जाते हुए दिखायी देते हैं। यह नियम है कि दरवाजेसे आनेवाले और जानेवाले—दोनों ही दिखायी देते हैं। यदि साधन करते समय अपनेमें दुर्गुण बढ़ते हुए दीखते हों, तो समझना चाहिये कि दुर्गुण आ रहे हैं। परन्तु यदि अपनेमें दुर्गुण कम होते हुए दीखते हों, तो समझना चाहिये कि दुर्गुण जा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें साधकको निराश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत अपने उद्देश्यपर दृढ़ रहकर तत्परतापूर्वक साधनमें लगे रहना चाहिये। इस प्रकार साधनमें लगे रहनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान करानेमें हेतु होनेसे इन बीस साधनोंको 'ज्ञान' नामसे कहा गया है। इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है। साधन न करनेसे मनुष्य ज्ञानकी बातें तो सीख लेता है, पर अनुभव नहीं कर सकता। अतः साधन न करनेसे अज्ञान (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको एक देखना) रहता है और अज्ञानके रहते हुए अगर कोई सीखकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका विवेचन करता है तो वह वास्तवमें देहाभिमानको ही पुष्ट करता है। परन्तु जो ये साधन करता है, उसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विभाग करनेकी योग्यता आ जाती है।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त ज्ञान-(साधन-समुदाय-) के द्वारा जिसको जाना जाता है, उस साध्य-तत्त्वका अब 'ज्ञेय' नामसे वर्णन आरम्भ करते हैं।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

यत्	= जो	**ज्ञात्वा**	= जानकर (मनुष्य)	**तत्**	= उसको
ज्ञेयम्	= ज्ञेय (पूर्वोक्त ज्ञानसे जाननेयोग्य) है,	**अमृतम्**	= अमरताका	**न**	= न
		अश्नुते	= अनुभव कर लेता है।	**सत्**	= सत्
तत्	= उस (परमात्मतत्त्व) को			**उच्यते**	= कहा जा सकता है (और)
		अनादिमत्	= (वह ज्ञेय-तत्त्व) अनादिवाला		
प्रवक्ष्यामि	= मैं अच्छी तरहसे कहूँगा,			**न, असत्**	= न असत् ही (कहा जा सकता है)।
		परम्	= (और) परम		
यत्	= जिसको	**ब्रह्म**	= ब्रह्म है।		

व्याख्या—[इस श्लोकमें भगवान्‌ने '**प्रवक्ष्यामि**' पदसे ज्ञेय तत्त्वका वर्णन करनेके लिये प्रतिज्ञा की है, '**अमृतमश्नुते**' पदसे उसे जाननेका फल बताया है, '**अनादिमत्**' पदसे उसका लक्षण बताया है, '**परं ब्रह्म**' पदोंसे उसका नाम बताया है, और '**न सत्तन्नासदुच्यते**' पदोंसे उसका वर्णन किया है।]

'**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि**'—भगवान् यहाँ ज्ञेय तत्त्वके वर्णनका उपक्रम करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं कि जिसकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है, जिसका वर्णन उपनिषदों, शास्त्रों और ग्रन्थोंमें किया गया है, उस प्रापणीय ज्ञेय तत्त्वका मैं अच्छी तरहसे वर्णन करूँगा।

'**ज्ञेयम्**' (अवश्य जाननेयोग्य) कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें जितने भी विषय, पदार्थ, विद्याएँ, कलाएँ आदि हैं, वे सभी अवश्य जाननेयोग्य नहीं हैं। अवश्य जाननेयोग्य तो एक परमात्मा ही है। कारण कि सांसारिक विषयोंको कितना ही जान लें, तो भी जानना बाकी ही रहेगा। सांसारिक विषयोंकी जानकारीसे जन्म-मरण भी नहीं मिटेगा। परन्तु परमात्माको तत्त्वसे ठीक जान लेनेपर जानना बाकी नहीं रहेगा और जन्म-मरण भी मिट जायगा। अतः संसारमें परमात्माके सिवाय जाननेयोग्य दूसरा कोई है ही नहीं।

'**यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते**'—उस ज्ञेय तत्त्वको जाननेपर अमरताका अनुभव हो जाता है अर्थात् स्वतःसिद्ध तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, जिसकी प्राप्ति होनेपर जानना, करना, पाना आदि कुछ भी बाकी नहीं रहता।

वास्तवमें स्वयं पहलेसे ही अमर है, पर उसने मरणशील शरीरादिके साथ एकता करके अपनेको जन्मने-मरनेवाला मान लिया है। परमात्मतत्त्वको जाननेसे यह भूल मिट जाती है और वह अपने वास्तविक स्वरूपको पहचान लेता है अर्थात् अमरताका अनुभव कर लेता है।

'**अनादिमत्**'—उससे यावन्मात्र संसार उत्पन्न होता है, उसीमें रहता है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाता है। परन्तु वह आदि, मध्य और अन्तमें ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। अतः वह 'अनादि' कहा जाता है।

'**परं ब्रह्म**'—'**ब्रह्म**' प्रकृतिको भी कहते हैं, वेदको भी कहते हैं, पर 'परम ब्रह्म' तो एक परमात्मा ही है। जिससे बढ़कर दूसरा कोई व्यापक, निर्विकार, सदा रहनेवाला तत्त्व नहीं है, वह 'परम ब्रह्म' कहा जाता है।

'**न सत्तन्नासदुच्यते**'—उस तत्त्वको 'सत्' भी नहीं कह सकते और 'असत्' भी नहीं कह सकते। कारण कि असत्की भावना-(सत्ता-) के बिना उस परमात्मतत्त्वमें सत् शब्दका प्रयोग नहीं होता, इसलिये उसको 'सत्' नहीं कह सकते और उस परमात्मतत्त्वका कभी अभाव नहीं होता, इसलिये उसको 'असत्' भी नहीं कह सकते। तात्पर्य है कि उस परमात्मतत्त्वमें सत्-असत् शब्दोंकी अर्थात् वाणीकी प्रवृत्ति होती ही नहीं—ऐसा वह करण-निरपेक्ष तत्त्व है।

जैसे पृथ्वीपर रात और दिन—ये दो होते हैं। इनमें भी दिनके अभावको 'रात' और रातके अभावको 'दिन' कह देते हैं। परन्तु सूर्यमें रात और दिन—ये दो भेद नहीं होते। कारण कि रात तो सूर्यमें है ही नहीं और रातका अत्यन्त अभाव होनेसे सूर्यमें दिन भी नहीं कह सकते; क्योंकि 'दिन' शब्दका प्रयोग रातकी अपेक्षासे किया जाता है। यदि रातकी सत्ता न रहे तो न दिन कह सकते हैं, न रात। ऐसे ही सत्की अपेक्षासे 'असत्' शब्दका प्रयोग होता है और असत्की अपेक्षासे 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। जहाँ परमात्माको 'सत्' कहा जाता है, वहाँ असत्की अपेक्षासे ही कहा जाता है। परन्तु जहाँ असत्का अत्यन्त अभाव है, वहाँ परमात्माको 'सत्' नहीं कह सकते और जो परमात्मा निरन्तर सत् है, उसको 'असत्' नहीं कह सकते। अतः परमात्मामें सत् और असत्—इन दोनों शब्दोंका प्रयोग नहीं होता। जैसे सूर्य दिन-रात दोनोंसे विलक्षण केवल प्रकाशरूप है, ऐसे ही वह ज्ञेय तत्त्व सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण है*।

दूसरी बात, सत्-असत्का निर्णय बुद्धि करती है और ऐसा कहना भी वहीं होता है, जहाँ वह मन, वाणी और बुद्धिका विषय होता है। परन्तु ज्ञेय तत्त्व मन, वाणी और बुद्धिसे सर्वथा अतीत है; अतः उसकी सत्-असत् संज्ञा नहीं हो सकती।

परिशिष्ट भाव—परमात्मतत्त्वको '**ज्ञेय**' कहनेका तात्पर्य है कि वह तत्त्व जाननेयोग्य है, उसको जानना चाहिये और वह जाननेमें शक्य है अर्थात् जाना जा सकता है। वास्तवमें वह तत्त्व जाननेमें आता नहीं है; क्योंकि प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण वह प्रकृतिकी पकड़में नहीं आता। परन्तु वह स्वयंसे प्राप्त किया जा सकता है।

---

* **राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥**
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥ (मानस १। ११६। ३)

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि कहा गया है (गीता—इसी अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); अतः दोनोंका मालिक होनेसे परमात्माको यहाँ **'अनादिमत्'** अर्थात् अनादिवाला कहा गया है*। सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपरा प्रकृतिको **'इतीयं मे'** कहकर और परा प्रकृति (जीवात्मा)-को **'मे पराम्'** कहकर दोनोंको अपने अधीन बताया है; अतः दोनोंके मालिक भगवान् ही हुए। उपनिषद्‌में भी आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। (श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो क्षर (परिवर्तनशील) है और इसको भोगनेवाला पुरुष (जीवात्मा) अमृतस्वरूप अक्षर (अपरिवर्तनशील) है। इन दोनों (प्रकृति और पुरुष)-को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

गीतामें एक ही समग्र परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आया है—

(१) परमात्मा सत् भी हैं और असत् भी हैं—**'सदसच्चाहम्'** (९। १९)।

(२) परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्‌से पर भी हैं—**'सदसत्तत्परं यत्'** (११। ३७)।

(३) परमात्मा न सत् हैं और न असत् ही हैं—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३। १२)।

—इसका तात्पर्य है कि वास्तवमें एक परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। वह मन, बुद्धि और वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर उसको प्राप्त किया जा सकता है।

वास्तवमें परमात्मतत्त्वका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्‌की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस तत्त्वमें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, पर तत्त्व निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, गुण आदिको लेकर ही संज्ञा बनती है। परमात्मामें देश, काल आदि हैं ही नहीं, फिर उनकी संज्ञा कैसे? इसलिये यहाँ आया है कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।

परमात्मतत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है। जो सदासे है, उसका आदि कैसे? सब अपर हैं, वह पर है। वह न सत् है, न असत्। आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्‌का भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि पर-अपर और सत्-असत्‌से विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्‌ने ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करनेकी जो बात कही है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक अर्थात् लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाला है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं। इसलिये साधकको भी लक्षककी दृष्टिसे ही विचार करना चाहिये, केवल सीखनेकी दृष्टिसे नहीं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें 'वह तत्त्व न सत् कहा जा सकता है, न असत्'—ऐसा कहकर ज्ञेय तत्त्वका निर्गुण-निराकाररूपसे वर्णन किया। अब आगेके श्लोकमें उसी ज्ञेय तत्त्वका सगुण-निराकाररूपसे वर्णन करते हैं।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

तत् = वे (परमात्मा)
सर्वतःपाणिपादम् = सब जगह हाथों और पैरोंवाले,
सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् = सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले (तथा)
सर्वतःश्रुतिमत् = सब जगह कानोंवाले हैं।
लोके = (वे) संसारमें
सर्वम् = सबको
आवृत्य = व्याप्त करके
तिष्ठति = स्थित हैं।

---

* **'अनादिमत्परं ब्रह्म' पदोंका ऐसा अर्थ भी ले सकते हैं—'अनादि, मत्परं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म मेरे परायण (आश्रित) है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १३। २७)**

व्याख्या—**'सर्वतः पाणिपादं तत्'**—जैसे स्याहीमें सब जगह सब तरहकी लिपियाँ विद्यमान हैं; अतः लेखक स्याहीसे सब तरहकी लिपियाँ लिख सकता है। सोनेमें सब जगह सब तरहके गहने विद्यमान हैं; अतः सुनार सोनेमें किसी भी जगहसे जो गहना बनाना चाहे, बना सकता है। ऐसे ही भगवान्‌के सब जगह ही हाथ और पैर हैं; अतः भक्त भक्तिसे जहाँ-कहीं जो कुछ भी भगवान्‌के हाथोंमें देना चाहता है, अर्पण करना चाहता है, उसको ग्रहण करनेके लिये उसी जगह भगवान्‌के हाथ मौजूद हैं। भक्त बाहरसे अर्पण करना चाहे अथवा मनसे, पूर्वमें देना चाहे अथवा पश्चिममें, उत्तरमें देना चाहे अथवा दक्षिणमें, उसे ग्रहण करनेके लिये वहीं भगवान्‌के हाथ मौजूद हैं। ऐसे ही भक्त जलमें, स्थलमें, अग्निमें, जहाँ-कहीं जिस किसी भी संकटमें पड़नेपर भगवान्‌को पुकारता है, उसकी रक्षा करनेके लिये वहाँ ही भगवान्‌के हाथ तैयार हैं अर्थात् भगवान् वहाँ ही अपने हाथोंसे उसकी रक्षा करते हैं।

भक्त जहाँ-कहीं भगवान्‌के चरणोंमें चन्दन लगाना चाहता है, पुष्प चढ़ाना चाहता है, नमस्कार करना चाहता है, उसी जगह भगवान्‌के चरण मौजूद हैं। हजारों-लाखों भक्त एक ही समयमें भगवान्‌के चरणोंकी अलग-अलग पूजा करना चाहें, तो उनके भावके अनुसार वहाँ ही भगवान्‌के चरण मौजूद हैं।

'सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'—भक्त भगवान्‌को जहाँ दीपक दिखाता है, आरती करता है, वहाँ ही भगवान्‌के नेत्र हैं। भक्त जहाँ शरीरसे अथवा मनसे नृत्य करता है, वहाँ ही भगवान् उसके नृत्यको देख लेते हैं। तात्पर्य है कि जो भगवान्‌को सब जगह देखता है, भगवान् भी उसकी दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होते (गीता—छठे अध्यायका तीसवाँ श्लोक)।

भक्त जहाँ भगवान्‌के मस्तकपर चन्दन लगाना चाहे, पुष्प चढ़ाना चाहे, वहाँ ही भगवान्‌का मस्तक है।

भक्त जहाँ भगवान्‌को भोग लगाना चाहे, वहाँ ही भगवान्‌का मुख है अर्थात् भक्तद्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए पदार्थको भगवान् वहाँ ही खा लेते हैं (गीता—नवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

'सर्वतःश्रुतिमत्'—भक्त जहाँ-कहीं जोरसे बोलकर प्रार्थना करे, धीरेसे बोलकर प्रार्थना करे अथवा मनसे प्रार्थना करे, वहाँ ही भगवान् अपने कानोंसे सुन लेते हैं।

मनुष्योंके सब अवयव (अंग) सब जगह नहीं होते अर्थात् जहाँ नेत्र हैं, वहाँ कान नहीं होते और जहाँ कान हैं, वहाँ नेत्र नहीं होते; जहाँ हाथ हैं, वहाँ पैर नहीं होते और जहाँ पैर हैं, वहाँ हाथ नहीं होते इत्यादि। परन्तु भगवान्‌की इन्द्रियाँ, उनके अवयव सब जगह हैं। अतः भगवान् नेत्रोंसे सुन भी सकते हैं, बोल भी सकते हैं, ग्रहण भी कर सकते हैं इत्यादि। तात्पर्य है कि वे सभी अवयवोंसे सभी क्रियाएँ कर सकते हैं; क्योंकि उनके सभी अवयवोंमें सभी अवयव मौजूद हैं। उनके छोटे-से-छोटे अंशमें भी सब-की-सब इन्द्रियाँ हैं।

भगवान्‌के सब जगह हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख और कान कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् किसी भी प्राणीसे दूर नहीं हैं। कारण कि भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें परिपूर्णरूपसे विद्यमान हैं। संतोंने कहा है—

चहुँ दिसि आरति चहुँ दिसि पूजा।
चहुँ दिसि राम और नहिं दूजा॥

संसारी आदमीको जैसे बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सब जगह संसार-ही-संसार दीखता है, संसारके सिवाय दूसरा कुछ दीखता ही नहीं, ऐसे ही परमात्माको तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषको सब जगह परमात्मा-ही-परमात्मा दीखते हैं।

'लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति'—अनन्त सृष्टियाँ हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, अनन्त ऐश्वर्य हैं और उन सबमें देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि भी अनन्त हैं, वे सभी परमात्माके अन्तर्गत हैं। परमात्मा उन सबको व्याप्त करके स्थित हैं। दसवें अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है कि मैं सारे संसारको एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ।

परिशिष्ट भाव—परमात्मामें सब जगह सब कुछ है। जैसे, कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं हैं? जानकार आदमी उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, हार, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा औजार अथवा अस्त्र-शस्त्र नहीं है? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है? ऐसे ही परमात्मामें किस जगह क्या नहीं है? परमात्मासे ही यह सब सृष्टि पैदा हुई है, उसीमें स्थित रहती है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है। पहले भी वही है, पीछे भी वही है, फिर बीचमें दूसरी चीज कैसे आये? कहाँसे आये? इस बातको

साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो फिर परमात्मा दीखने लग जायगा; क्योंकि वास्तवमें हैं ही वही, दूसरी चीज है ही नहीं! भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत्, असत् तथा सत्-असत्से परे जो कुछ कल्पना की जा सकती है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

तात्पर्य है कि सत्ता एक ही है। द्वन्द्वोंमें उलझे रहनेके कारण उसका अनुभव नहीं होता।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें सगुण-निराकारका वर्णन करके अब आगेके तीन श्लोकोंमें उसकी विलक्षणता, सर्वव्यापकता और सर्वसमर्थताका वर्णन करते हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

सर्वेन्द्रियविवर्जितम् = वे (परमात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं (और)
सर्वेन्द्रियगुणाभासम् = सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं;
असक्तम् = आसक्तिरहित हैं
च = और
सर्वभृत् = सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं
च, एव = तथा
निर्गुणम् = गुणोंसे रहित हैं (और)
गुणभोक्तृ = सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।

व्याख्या—**'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'**—पहले परमात्मा हैं, फिर परमात्माकी शक्ति प्रकृति है। प्रकृतिका कार्य महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका कार्य अहंकार, अहंकारका कार्य पंचमहाभूत, पंचमहाभूतोंका कार्य मन एवं दस इन्द्रियाँ और दस इन्द्रियोंका कार्य पाँच विषय[1]—ये सभी प्रकृतिके कार्य हैं। परमात्मा प्रकृति और उसके कार्यसे अतीत हैं। वे चाहे सगुण हों या निर्गुण, साकार हों या निराकार, सदा प्रकृतिसे अतीत ही रहते हैं। वे अवतार लेते हैं, तो भी प्रकृतिसे अतीत ही रहते हैं। अवतारके समय वे प्रकृतिको अपने वशमें करके प्रकट होते हैं।

जो अपनेको गुणोंमें लिप्त, गुणोंसे बँधा हुआ मानकर जन्मता-मरता था, वह बद्ध जीव भी जब परमात्माको प्राप्त होनेपर गुणातीत (गुणोंसे रहित) कहा जाता है, तो फिर परमात्मा गुणोंमें बद्ध कैसे हो सकते हैं? वे तो सदा ही गुणोंसे अतीत (रहित) हैं। अतः वे प्राकृत इन्द्रियोंसे रहित हैं अर्थात् संसारी जीवोंकी तरह हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, कान आदि इन्द्रियोंसे युक्त नहीं हैं; किन्तु उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें सर्वथा समर्थ हैं[2]। जैसे—वे कानोंसे रहित होनेपर भी भक्तोंकी पुकार सुन लेते हैं, त्वचासे रहित होनेपर भी भक्तोंका आलिंगन करते हैं, नेत्रोंसे रहित होनेपर भी प्राणिमात्रको निरन्तर देखते रहते हैं, रसनासे रहित होनेपर भी भक्तोंके द्वारा लगाये हुए भोगका आस्वादन

१-विषयोंका ज्ञान इन्द्रियोंसे ही होता है। इन्द्रियाँ ही विषयोंको प्रकाशित करती हैं। इसलिये विषय इन्द्रियोंका कार्य हैं।

२-(१) अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३। १९)

'वे परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होनेपर भी ग्रहण करनेमें समर्थ तथा वेगपूर्वक चलनेवाले हैं। वे नेत्रोंके बिना ही देखते हैं और कानोंके बिना ही सुनते हैं।'

(२) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥ (मानस १। ११८। ३-४)

करते हैं, आदि-आदि। इस तरह ज्ञानेन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी परमात्मा शब्द, स्पर्श आदि विषयोंको ग्रहण करते हैं। ऐसे ही वे वाणीसे रहित होनेपर भी अपने प्यारे भक्तोंसे बातें करते हैं, चरणोंसे रहित होनेपर भी भक्तके पुकारनेपर दौड़कर चले आते हैं, हाथोंसे रहित होनेपर भी भक्तके दिये हुए उपहारको ग्रहण करते हैं, आदि-आदि। इस तरह कर्मेन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी परमात्मा कर्मेन्द्रियोंका सब कार्य करते हैं। यही इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी भगवान्‌का इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करना है।

'असक्तं सर्वभृच्चैव'—भगवान्‌का सभी प्राणियोंमें अपनापन, प्रेम है, पर किसी भी प्राणीमें आसक्ति नहीं है। आसक्ति न होनेपर भी वे ब्रह्मासे चींटीपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंका पालन-पोषण करते हैं। जैसे माता-पिता अपने बालकका पालन-पोषण करते हैं, उससे कई गुना अधिक पालन-पोषण भगवान् प्राणियोंका करते हैं। कौन प्राणी कहाँ है और किस प्राणीको कब किसी वस्तु आदिकी जरूरत पड़ती है, इसको पूरी तरह जानते हुए भगवान् उस वस्तुको आवश्यकतानुसार यथोचित रीतिसे पहुँचा देते हैं। प्राणी पृथ्वीपर हो, समुद्रमें हो, आकाशमें हो अथवा स्वर्गमें हो अर्थात् त्रिलोकीमें कहीं भी कोई छोटा-से-छोटा अथवा बड़ा-से-बड़ा प्राणी हो, उसका पालन-पोषण भगवान् करते हैं। प्राणिमात्रके सुहृद् होनेसे वे अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके द्वारा पाप-पुण्योंका नाश करके प्राणिमात्रको शुद्ध, पवित्र करते रहते हैं।

'निर्गुणं गुणभोक्तृ च'—वे परमात्मा सम्पूर्ण गुणोंसे रहित होनेपर भी सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं। तात्पर्य है कि जैसे माता-पिता बालककी मात्र क्रियाओंको देखकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही परमात्मा भक्तके द्वारा की हुई मात्र क्रियाओंको देखकर प्रसन्न होते हैं, अर्थात् भक्तलोग जो भी क्रियायें करते हैं, उन सब क्रियाओंके भोक्ता भगवान् ही बनते हैं।

परिशिष्ट भाव—इस प्रकरणमें ब्रह्मकी मुख्यता होनेपर भी प्रस्तुत श्लोकमें 'समग्र' परमात्माका वर्णन हुआ है। यह समग्र ही ज्ञेय-तत्त्व है। अतः समग्रकी मुख्यता ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९), **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३। १४। १)

इस श्लोकका तात्पर्य है कि एक परमात्माके सिवाय और किसीकी भी सत्ता नहीं है। हम जो कुछ भी कहेंगे, वह परमात्मासे अलग नहीं है। सबसे रहित भी वही है और सबके सहित भी वही है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

तत्	= वे (परमात्मा)		(प्राणियोंके रूपमें)		(वे ही हैं)
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**एव**	= भी (वे ही हैं)	**च**	= और
		च	= एवं	**तत्**	= वे
बहिः, अन्तः	= बाहर-भीतर (परिपूर्ण हैं)	**दूरस्थम्**	= दूर-से-दूर	**सूक्ष्मत्वात्**	= अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे
		च	= तथा		
च	= और	**अन्तिके**	= नजदीक-से-नजदीक भी	**अविज्ञेयम्**	= जाननेमें नहीं आते।
चरम्, अचरम्	= चर-अचर				

व्याख्या—[ज्ञेय तत्त्वका वर्णन बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक—कुल छः श्लोकोंमें हुआ है। उनमेंसे यह पन्द्रहवाँ श्लोक चौथा है। इस श्लोकके अन्तर्गत पहलेके तीन श्लोकोंका और आगेके दो श्लोकोंका भाव भी आ गया है। अतः यह श्लोक इस प्रकरणका सार है।]

'बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च'—जैसे बर्फके बने हुए घड़ोंको समुद्रमें डाल दिया जाय तो उन घड़ोंके बाहर भी जल है, भीतर भी जल है और वे खुद भी (बर्फके बने होनेसे) जल ही हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियोंके बाहर भी परमात्मा हैं, भीतर भी परमात्मा हैं

और वे खुद भी परमात्मस्वरूप ही हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे घड़ोंमें जलके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है अर्थात् सब कुछ जल-ही-जल है, ऐसे ही संसारमें परमात्माके सिवाय दूसरा कोई तत्त्व नहीं है अर्थात् सब कुछ परमात्मा- ही-परमात्मा हैं। इसी बातको भगवान्‌ने महात्माओंकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९) और अपनी दृष्टिसे '**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९) कहा है।

'**दूरस्थं चान्तिके च तत्**'—किसी वस्तुका दूर और नजदीक होना तीन दृष्टियोंसे कहा जाता है—देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत। परमात्मा तीनों ही दृष्टियोंसे दूर-से-दूर और नजदीक-से-नजदीक हैं; जैसे—दूर-से-दूर देशमें भी वे ही परमात्मा हैं और नजदीक-से-नजदीक देशमें भी वे ही परमात्मा हैं*; पहले-से-पहले भी वे ही परमात्मा थे, पीछे-से-पीछे भी वे ही परमात्मा रहेंगे और अब भी वे ही परमात्मा हैं; सम्पूर्ण वस्तुओंके पहले भी वे ही परमात्मा हैं, वस्तुओंके अन्तमें भी वे ही परमात्मा हैं और वस्तुओंके रूपमें भी वे ही परमात्मा हैं।

उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके संग्रह और सुख-भोगकी इच्छा करनेवालेके लिये परमात्मा (तत्त्वत: समीप होनेपर भी) दूर हैं। परन्तु जो केवल परमात्माके ही सम्मुख है, उसके लिये परमात्मा नजदीक हैं। इसलिये साधकको सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग करके केवल परमात्म-प्राप्तिकी अभिलाषा जाग्रत् करनी चाहिये। परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्मासे नित्ययोगका अनुभव हो जाता है।

'**सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्**'—वे परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियों और अन्त:करणका विषय नहीं हैं अर्थात् वे परमात्मा इनकी पकड़में नहीं आते। अब प्रश्न उठता है कि जब जाननेमें नहीं आते, तो फिर उनका अभाव होगा? उनका अभाव नहीं है। जैसे परमाणुरूप जल सूक्ष्म होनेसे नेत्रोंसे नहीं दीखता, पर न दीखनेपर भी उसका अभाव नहीं है। वह जल परमाणुरूपसे आकाशमें रहता है और स्थूल होनेपर बूँदें, ओले आदिके रूपमें दीखने लग जाता है। ऐसे ही परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जाननेमें नहीं आते; क्योंकि वे इनसे परे हैं, अतीत हैं।

जीवोंके अज्ञानके कारण ही वे परमात्मा जाननेमें नहीं आते। जैसे, कहींपर '**श्रीमद्भगवद्गीता**' शब्द लिखा हुआ है। जो पढ़ा-लिखा नहीं है, उसको तो केवल लकीरें ही दीखती हैं और जो पढ़ा-लिखा है, उसको '**श्रीमद्भगवद्गीता**' दीखती है। संस्कृत पढ़े हुएको यह शब्द किस धातुसे बना हुआ है, इसका क्या अर्थ होता है—यह दीखने लग जाता है। गीताका मनन करनेवालेको गीताके गहरे भाव दीखने लग जाते हैं। ऐसे ही जिन मनुष्योंको परमात्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है, उनको परमात्मा नहीं दीखते, उनके जाननेमें नहीं आते। परन्तु जिनको परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया है, उनको तो सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा दीखते हैं।

उस परमात्मतत्त्वको 'ज्ञेय' (इसी अध्यायका बारहवाँ और सत्रहवाँ श्लोक) भी कहा है और 'अविज्ञेय' भी कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वह स्वयंके द्वारा ही जाना जा सकता है, इसलिये वह 'ज्ञेय' है और वह इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा नहीं जाना जा सकता, इसलिये वह 'अविज्ञेय' है।

सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माको जाननेके लिये यह आवश्यक है कि साधक परमात्माको सर्वत्र परिपूर्ण मान ले। ऐसा मानना भी जाननेकी तरह ही है। जैसे (बोध होनेपर) ज्ञान-(जानने-) को कोई मिटा नहीं सकता, ऐसे ही 'परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं' इस मान्यता-(मानने-) को कोई मिटा नहीं सकता। जब सांसारिक मान्यताओं—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं साधु हूँ' आदिको (जो कि अवास्तविक हैं) कोई मिटा नहीं सकता, तब पारमार्थिक मान्यताओंको (जो कि

* **पृथ्वीसे दूर जल है, जलसे दूर तेज है, तेजसे दूर वायु है, वायुसे दूर आकाश है, आकाशसे दूर महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वसे दूर प्रकृति है और प्रकृतिसे दूर परमात्मा हैं। इस तरह दूर-से-दूर परमात्मा हैं। दूर-से-दूर होते हुए भी वे परमात्मा व्यापकरूपसे सबमें हैं; क्योंकि परमात्मा सबके कारण हैं और कारण सब कार्योंमें रहता है।**

प्रकृतिसे नजदीक स्थूलशरीर है, स्थूलशरीरसे नजदीक सूक्ष्मशरीर है, सूक्ष्मशरीरसे नजदीक कारणशरीर है, कारणशरीरसे नजदीक अहम् है और अहम्‌से नजदीक परमात्मा है। इस तरह नजदीक-से-नजदीक परमात्मा हैं। परमात्मा जितने नजदीक हैं, उतना नजदीक दूसरा कोई भी नहीं है।

वास्तविक हैं) कौन मिटा सकता है? तात्पर्य यह है कि दृढ़तापूर्वक मानना भी एक साधन है। जाननेकी तरह माननेकी भी बहुत महिमा है। 'परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं'—ऐसा दृढ़तापूर्वक मान लेनेपर यह मान्यता मान्यता-रूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे परे जो अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा हैं, उनका अनुभव हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—परमात्माको बारहवें श्लोकमें 'ज्ञेय' कहा गया है। परन्तु इस श्लोकमें उनको 'अविज्ञेय' कहनेका तात्पर्य है कि परमात्मा ज्ञेय होनेपर भी संसारकी तरह ज्ञेय नहीं हैं। जैसे संसार इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जाना जाता है, ऐसे परमात्मा इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं जाने जाते। इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके कार्य हैं और परमात्मा प्रकृतिसे अतीत हैं। प्रकृतिका कार्य प्रकृतिको भी पूरा नहीं जान सकता, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्माको जान ही कैसे सकता है? परमात्माको तो मानकर स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि स्वीकृति स्वयंमें होती है, करण (मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ)-में नहीं।* स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है, इसलिये परमात्माकी प्राप्ति भी स्वीकृतिसे होती है, चिन्तन-मनन-वर्णन करनेसे नहीं। शरीर-संसारके साथ स्वयंकी एकता कभी हुई नहीं, है नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। परमात्मासे स्वयं कभी अलग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

तत्	= वे (परमात्मा)	**इव**	= तरह		उत्पन्न करनेवाले
अविभक्तम्	= (स्वयं) विभागरहित होते हुए	**स्थितम्**	= स्थित हैं	**च**	= तथा
च	= भी	**च**	= और	**भूतभर्तृ**	= उनका भरण-पोषण करनेवाले
भूतेषु	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें	**ज्ञेयम्**	= (वे) जाननेयोग्य (परमात्मा ही)	**च**	= और
विभक्तम्	= विभक्तकी	**प्रभविष्णु**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको	**ग्रसिष्णु**	= संहार करनेवाले हैं।

व्याख्या—'**अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्**'—इस त्रिलोकीमें देखने, सुनने और समझनेमें जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी आते हैं, उन सबमें परमात्मा स्वयं विभागरहित होते हुए भी विभक्तकी तरह प्रतीत होते हैं। विभाग केवल प्रतीति है।

जिस प्रकार आकाश घट, मठ आदिकी उपाधिसे घटाकाश, मठाकाश आदिके रूपमें अलग-अलग दीखते हुए भी तत्त्वसे एक ही है, उसी प्रकार परमात्मा भिन्न-भिन्न प्राणियोंके शरीरोंकी उपाधिसे अलग-अलग दीखते हुए भी तत्त्वसे एक ही हैं।

इसी अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें '**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्**' पदोंसे परमात्माको सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभावसे स्थित देखनेके लिये कहा गया है। इसी तरह अठारहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें '**अविभक्तं विभक्तेषु**' पदोंसे सात्त्विक ज्ञानका वर्णन करते हुए भी परमात्माको अविभक्तरूपसे देखनेको ही 'सात्त्विक ज्ञान' कहा गया है।

'**भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च**'— इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें '**विद्धि**' पदसे जिस परमात्माको जाननेकी बात कही गयी है और बारहवें श्लोकमें जिस 'ज्ञेय' तत्त्वका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, उसीका यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपसे वर्णन हुआ है। वस्तुतः चेतन तत्त्व (परमात्मा) एक ही है। वे ही परमात्मा रजोगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाले; सत्त्वगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे

*** स्वीकृति स्वयंमें होती है, इसलिये स्वीकृतिवाली बात भूली नहीं जाती; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ'; 'मैं विवाहित हूँ' आदि। परन्तु मन-बुद्धिमें होनेवाली बात भूली जाती है। स्वीकृतिवाली बातमें कोई सन्देह भी नहीं होता और विपरीत भावना भी नहीं होती।**

विष्णुरूपसे सबका भरण-पोषण करनेवाले और तमोगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे रुद्ररूपसे सबका संहार करनेवाले हैं। तात्पर्य है कि एक ही परमात्मा सृष्टि, पालन और संहार करनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम धारण करते हैं*। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि परमात्मा सृष्टि-रचनादि कार्योंके लिये भिन्न-भिन्न गुणोंको स्वीकार करनेपर भी उन गुणोंके वशीभूत नहीं होते। गुणोंपर उनका पूर्ण आधिपत्य रहता है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें परमात्माके समग्ररूपका वर्णन हुआ है। जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक है, ऐसे ही वास्तविक तत्त्व (परमात्मा) भी एक है, अविभक्त है। परन्तु जैसे संसार पांचभौतिक दृष्टिसे एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों (जड़-चेतन, स्थावर-जंगम) आदिके रूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। वास्तविक सत्ता कभी दो हो सकती ही नहीं; क्योंकि दो होनेसे असत् आ जाता है।

उत्पन्न करनेवाले भी परमात्मा हैं और उत्पन्न होनेवाले भी परमात्मा हैं। भरण-पोषण करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका भरण-पोषण होता है, वे भी परमात्मा हैं। संहार करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका संहार होता है, वे भी परमात्मा हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञेय तत्त्वका आधाररूपसे वर्णन किया, अब आगेके श्लोकमें उसका प्रकाशकरूपसे वर्णन करते हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

तत्	= वे (परमात्मा)	**तमसः**	= अज्ञानसे	**ज्ञानगम्यम्**	= ज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य (और)
ज्योतिषाम्	= सम्पूर्ण ज्योतियोंके	**परम्**	= अत्यन्त परे	**सर्वस्य**	= सबके
अपि	= भी	**उच्यते**	= कहे गये हैं।	**हृदि**	= हृदयमें
ज्योतिः	= ज्योति (और)	**ज्ञानम्**	= (वे) ज्ञानस्वरूप,	**विष्ठितम्**	= विराजमान हैं।
		ज्ञेयम्	= जाननेयोग्य,		

*व्याख्या—***'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'—**ज्योति नाम प्रकाश-(ज्ञान-) का है अर्थात् जिनसे प्रकाश मिलता है, ज्ञान होता है, वे सभी ज्योति हैं। भौतिक पदार्थ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा, अग्नि, विद्युत् आदिके प्रकाशमें दीखते हैं; अतः भौतिक पदार्थोंकी ज्योति (प्रकाशक) सूर्य, चन्द्र आदि हैं।

वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दोंका ज्ञान कानसे होता है; अतः शब्दकी ज्योति (प्रकाशक) **'कान'** है। शीत-उष्ण, कोमल-कठोर आदिके स्पर्शका ज्ञान त्वचासे होता है; अतः स्पर्शकी ज्योति (प्रकाशक) **'त्वचा'** है। श्वेत, नील, पीत आदि रूपोंका ज्ञान नेत्रसे होता है; अतः रूपकी ज्योति (प्रकाशक) **'नेत्र'** है। खट्टा, मीठा, नमकीन आदि रसोंका ज्ञान जिह्वासे होता है; अतः रसकी ज्योति (प्रकाशक) **'जिह्वा'** है। सुगन्ध-दुर्गन्धका ज्ञान नाकसे होता है; अतः गन्धकी ज्योति (प्रकाशक) **'नाक'** है। इन पाँचों इन्द्रियोंसे शब्दादि पाँचों विषयोंका ज्ञान तभी होता है, जब उन इन्द्रियोंके साथ मन रहता है। अगर उनके साथ मन न रहे तो किसी भी विषयका ज्ञान नहीं होता। अतः इन्द्रियोंकी ज्योति (प्रकाशक) **'मन'** है। मनसे विषयोंका ज्ञान होनेपर भी जबतक बुद्धि उसमें नहीं लगती, बुद्धि मनके साथ नहीं रहती, तबतक उस विषयका स्पष्ट और स्थायी ज्ञान नहीं होता। बुद्धिके साथ रहनेसे ही उस विषयका स्पष्ट और स्थायी ज्ञान होता है। अतः मनकी ज्योति (प्रकाशक) **'बुद्धि'** है। बुद्धिसे कर्तव्य-अकर्तव्य, सत्-असत्, नित्य-अनित्यका ज्ञान होनेपर भी अगर स्वयं (कर्ता) उसको धारण नहीं करता, तो वह बौद्धिक ज्ञान ही

---

* **सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्माविष्णुशिवात्मकः। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥**

(पद्मपुराण, सृष्टि० २। ११४)

रह जाता है; वह ज्ञान जीवनमें, आचरणमें नहीं आता। वह बात स्वयंमें नहीं बैठती। जो बात स्वयंमें बैठ जाती है, वह फिर कभी नहीं जाती। अतः बुद्धिकी ज्योति (प्रकाशक) **'स्वयं'** है। स्वयं भी परमात्माका अंश है और परमात्मा अंशी है। स्वयंमें ज्ञान, प्रकाश परमात्मासे ही आता है। अतः स्वयंकी ज्योति (प्रकाशक) **'परमात्मा'** है। उस स्वयंप्रकाश परमात्माको कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकता।

तात्पर्य यह हुआ कि परमात्माका प्रकाश (ज्ञान) स्वयंमें आता है। स्वयंका प्रकाश बुद्धिमें, बुद्धिका प्रकाश मनमें, मनका प्रकाश इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंका प्रकाश विषयोंमें आता है। मूलमें इन सबमें प्रकाश परमात्मासे ही आता है। अतः इन सब ज्योतियोंका ज्योति, प्रकाशकोंका प्रकाशक परमात्मा ही है*। जैसे एक-एकके पीछे बैठे हुए परीक्षार्थी अपनेसे आगे बैठे हुएको तो देख सकते हैं, पर अपनेसे पीछे बैठे हुएको नहीं, ऐसे ही अहम्, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि भी अपनेसे आगेवालेको तो देख (जान) सकते हैं, पर अपनेसे पीछेवालेको नहीं। जैसे सबसे पीछे बैठा हुआ परीक्षार्थी अपने आगे बैठे हुए समस्त परीक्षार्थियोंको देख सकता है, ऐसे ही परमप्रकाशक परमात्मा अहम्, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि सबको देखता है, प्रकाशित करता है, पर उसको कोई प्रकाशित नहीं कर सकता। वह परमात्मा सम्पूर्ण चर-अचर जगत्का समानरूपसे निरपेक्ष प्रकाशक है—**'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्'** (श्रीमद्भा १०। १३। ५५)। वहाँ प्रकाशक, प्रकाश और प्रकाश्य—यह त्रिपुटी नहीं है।

'तमसः परमुच्यते'—वह परमात्मा अज्ञानसे अत्यन्त परे अर्थात् सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्—इनमें तो ज्ञान और अज्ञान दोनों आते-जाते हैं; परन्तु जो सबका परम प्रकाशक है, उस परमात्मामें अज्ञान कभी आता ही नहीं, आ सकता ही नहीं और आना सम्भव ही नहीं। जैसे सूर्यमें अँधेरा कभी आता ही नहीं, ऐसे ही उस परमात्मामें अज्ञान कभी आता ही नहीं। अतः उस परमात्माको अज्ञानसे अत्यन्त परे कहा गया है।

'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'—उस परमात्मामें कभी अज्ञान नहीं आता। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और उसीसे सबको प्रकाश मिलता है। अतः उस परमात्माको 'ज्ञान' अर्थात् ज्ञानस्वरूप कहा गया है।

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा भी (जाननेमें आनेवाले) विषयोंका ज्ञान होता है, पर वे अवश्य जाननेयोग्य नहीं हैं; क्योंकि उनको जान लेनेपर भी जानना बाकी रह जाता है, जानना पूरा नहीं होता। वास्तवमें अवश्य जाननेयोग्य तो एक परमात्मा ही है—**'अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥'** (मानस १। २२९। ३) उस परमात्माको जान लेनेके बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपने लिये कहा है कि 'सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ' (पन्द्रहवाँ श्लोक); 'जो मुझे जान लेता है, वह सर्ववित् हो जाता है' (उन्नीसवाँ श्लोक)। अतः परमात्माको 'ज्ञेय' कहा गया है।

ज्ञानके द्वारा असत्का त्याग होनेपर परमात्माको तत्त्वसे जाना जा सकता है। अतः उस परमात्माको 'ज्ञानगम्य' कहा गया है।

'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'—वह परमात्मा सबके हृदयमें नित्य-निरन्तर विराजमान है। तात्पर्य है कि यद्यपि वह परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें परिपूर्णरूपसे व्यापक है, तथापि उसका प्राप्तिस्थान तो हृदय ही है।

उस परमात्माका अपने हृदयमें अनुभव करनेका उपाय है—

(१) मनुष्य हरेक विषयको जानता है तो उस जानकारीमें सत् और असत्—ये दोनों रहते हैं। इन दोनोंका विभाग करनेके लिये साधक यह अनुभव करे कि मेरी जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और बालकपन, जवानी, बुढ़ापा आदि अवस्थाएँ तो भिन्न-भिन्न हुईं, पर मैं एक रहा। सुखदायी-दुःखदायी, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आयीं और चली गयीं, पर उनमें मैं एक ही रहा। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिका संयोग-वियोग हुआ, पर उनमें भी मैं एक ही रहा। तात्पर्य यह हुआ कि अवस्थाएँ, परिस्थितियाँ, संयोग-वियोग तो भिन्न-भिन्न (तरह-तरहके) हुए, पर उन सबमें जो एक ही रहा है, भिन्न-भिन्न नहीं हुआ है, उसका (उन सबसे अलग करके) अनुभव करे। ऐसा करनेसे जो सबके हृदयमें विराजमान है, उसका अनुभव हो जायगा; क्योंकि यह स्वयं परमात्मासे अभिन्न है।

---

* (१) बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥ (मानस १। ११७। ३)
(२) जो ज्योतियोंका ज्योति है, सबसे प्रथम जो भासता। अव्यय सनातन दिव्य दीपक, सर्व विश्व प्रकाशता॥

(२) जैसे अत्यन्त भूखा अन्नके बिना और अत्यन्त प्यासा जलके बिना रह नहीं सकता, ऐसे ही उस परमात्माके बिना रह नहीं सके, बेचैन हो जाय। उसके बिना न भूख लगे, न प्यास लगे और न नींद आये। उस परमात्माके सिवाय और कहीं वृत्ति जाय ही नहीं। इस तरह परमात्माको पानेके लिये व्याकुल हो जाय तो अपने हृदयमें उस परमात्माका अनुभव हो जायगा।

इस प्रकार एक बार हृदयमें परमात्माका अनुभव हो जानेपर साधकको 'सब जगह परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है। यही वास्तविक अनुभव है।

परिशिष्ट भाव—बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन हुआ है, वह भगवान्‌का समग्ररूप (**'वासुदेवः सर्वम्'**) ही है। कारण कि इसमें निर्गुण-निराकार (बारहवाँ श्लोक), सगुण-निराकार (तेरहवाँ श्लोक) और सगुण-साकार (सोलहवाँ श्लोक)—तीनों ही रूपोंका वर्णन हुआ है।

'ज्ञानगम्यम्'—परमात्मा तत्त्वज्ञानसे ही जाने जाते हैं, क्रिया, वस्तु आदिसे नहीं। तत्त्वज्ञानके सिवाय उनको जाननेका दूसरा कोई साधन नहीं है। मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जिस साधनसे परमात्माको जानेगा, वास्तवमें तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, भगवत्कृपा आदिसे भी जानेगा तो तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। कारण कि जानना ज्ञानसे ही होता है।

यहाँ **'ज्ञानगम्यम्'** पदका अर्थ 'साधन-समुदायसे प्राप्त होनेयोग्य' भी लिया जा सकता है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक हुआ है।

सम्बन्ध—पहले श्लोकसे सत्रहवें श्लोकतक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका जो वर्णन हुआ है, अब आगेके श्लोकमें फलसहित उसका उपसंहार करते हैं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

इति	= इस प्रकार	**ज्ञेयम्**	= ज्ञेयको	**विज्ञाय**	= तत्त्वसे जानकर
क्षेत्रम्	= क्षेत्र	**समासतः**	= संक्षेपसे		
तथा	= तथा	**उक्तम्**	= कहा गया है।	**मद्भावाय**	= मेरे भावको
ज्ञानम्	= ज्ञान	**मद्भक्तः**	= मेरा भक्त	**उपपद्यते**	= प्राप्त हो जाता है।
च	= और	**एतत्**	= इसको		

व्याख्या—**'इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः'**—इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकमें जिसका वर्णन किया गया है, वह 'क्षेत्र' है; सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक जिस साधन-समुदायका वर्णन किया गया है, वह 'ज्ञान' है और बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिसका वर्णन किया गया है, वह 'ज्ञेय' है। इस तरह मैंने क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका संक्षेपसे वर्णन किया है।

'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'—मेरा भक्त क्षेत्रको, साधन-समुदायरूप ज्ञानको और ज्ञेय तत्त्व-(परमात्मा-) को तत्त्वसे जानकर मेरे भावको प्राप्त हो जाता है।

क्षेत्रको ठीक तरहसे जान लेनेपर क्षेत्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ज्ञानको अर्थात् साधन-समुदायको ठीक तरहसे जाननेसे, अपनानेसे देहाभिमान (व्यक्तित्व) मिट जाता है। ज्ञेय तत्त्वको ठीक तरहसे जान लेनेपर उसकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ **'मद्भक्त एतद्विज्ञाय'** पदोंका तात्पर्य है कि समग्र परमात्माका ज्ञान भक्तिसे ही हो सकता है*। अतः साधकको भक्त होना चाहिये।

इस श्लोकमें आये **'मद्भावायोपपद्यते'** पदको गीतामें कई प्रकारसे कहा गया है; जैसे— **'मद्भावमागताः'** (४। १०), **'मम साधर्म्यमागताः'** (१४। २), **मद्भावं सोऽधिगच्छति'** (१४। १९)। 'मद्भाव' का अर्थ है—मुझ

---

* **प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ (मानस, उत्तर० ४९। ३)**

परमात्माकी सत्ता। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं होती। भगवान्ने गीतामें ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें ही अपने भावकी प्राप्ति बतायी है। 'ज्ञान' में इसका तात्पर्य है—ब्रह्मसे साधर्म्य होना अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दरूप है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषका भी सत्-चित्-आनन्दरूप होना। 'भक्ति' में इसका तात्पर्य है—भक्तकी भगवान्के साथ आत्मीयता अर्थात् अभिन्नता होना।

सम्बन्ध—इसी अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें जिस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संक्षेपसे वर्णन किया था, उसीका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

प्रकृतिम् = प्रकृति
च = और
पुरुषम् = पुरुष
उभौ = दोनोंको
एव = ही (तुम)
अनादी = अनादि
विद्धि = समझो
च = और
विकारान् = विकारोंको
च = तथा
गुणान् = गुणोंको
अपि = भी
प्रकृतिसम्भवान्, एव = प्रकृतिसे ही उत्पन्न
विद्धि = समझो।
कार्यकरणकर्तृत्वे = कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें
प्रकृतिः = प्रकृति
हेतुः = हेतु
उच्यते = कही जाती है (और)
सुखदुःखानाम् = सुख-दुःखोंके
भोक्तृत्वे = भोक्तापनमें
पुरुषः = पुरुष
हेतुः = हेतु
उच्यते = कहा जाता है।

व्याख्या—[इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्रके विषयमें **'यच्च'** (जो है), **'यादृक् च'** (जैसा है), **'यद्विकारि'** (जिन विकारोंवाला है) और **'यतश्च यत्'** (जिससे जो उत्पन्न हुआ है)—ये चार बातें सुननेकी आज्ञा दी थी। उनमेंसे **'यच्च'** का वर्णन पाँचवें श्लोकमें और **'यद्विकारि'** का वर्णन छठे श्लोकमें कर दिया। **'यादृक् च'** का वर्णन आगे इसी अध्यायके छब्बीसवें-सत्ताईसवें श्लोकोंमें करेंगे। अब **'यतश्च यत्'** का वर्णन करते हुए प्रकृतिसे विकारों और गुणोंको उत्पन्न हुआ बताते हैं। इसमें भी देखा जाय तो विकारोंका वर्णन पहले छठे श्लोकमें **'इच्छा द्वेषः'** आदि पदोंसे किया जा चुका है। यहाँ गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं—यह बात नयी बतायी है।

बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक 'ज्ञेय तत्त्व'-(परमात्मा-) का वर्णन है और यहाँ उन्नीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक 'पुरुष'-(क्षेत्रज्ञ-) का वर्णन है। वहाँ तो ज्ञेय तत्त्वके अन्तर्गत ही सब कुछ है और यहाँ पुरुषके अन्तर्गत सब कुछ है अर्थात् वहाँ ज्ञेय तत्त्वके अन्तर्गत पुरुष है और यहाँ पुरुषके अन्तर्गत ज्ञेय तत्त्व है। तात्पर्य यह है कि ज्ञेय तत्त्व (परमात्मा) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ)—दोनों तत्त्वसे दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं।]

'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'—यहाँ **'प्रकृतिम्'** पद सम्पूर्ण क्षेत्र-(जगत्-)की कारणरूप मूल प्रकृतिका वाचक है। सात प्रकृति-विकृति (पंचमहाभूत, अहंकार और महत्तत्त्व) तथा सोलह विकृति (दस, इन्द्रियाँ, मन और पाँच विषय)—ये सभी प्रकृतिके कार्य हैं और प्रकृति इन सबकी मूल कारण है।

'पुरुषम्' पद यहाँ क्षेत्रज्ञका वाचक है, जिसको इसी अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्रको जाननेवाला कहा गया है।

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि कहनेका तात्पर्य है कि जैसे परमात्माका अंश यह पुरुष (जीवात्मा) अनादि

है, ऐसे ही यह प्रकृति भी अनादि है। इन दोनोंके अनादिपनेमें फर्क नहीं है; किन्तु दोनोंके स्वरूपमें फर्क है। जैसे—प्रकृति गुणोंवाली है और पुरुष गुणोंसे सर्वथा रहित है; प्रकृतिमें विकार होता है और पुरुषमें विकार नहीं होता; प्रकृति जगत्‌की कारण बनती है और पुरुष किसीका भी कारण नहीं बनता; प्रकृतिमें कार्य एवं कारण-भाव है और पुरुष कार्य एवं कारण-भावसे रहित है।

'**उभौ एव**' कहनेका तात्पर्य है कि प्रकृति और पुरुष—दोनों अलग-अलग हैं। अतः जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही उन दोनोंका यह भेद (विवेक) भी अनादि है।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें आये '**इदं शरीरं क्षेत्रम्**' पदोंसे मनुष्य-शरीरकी तरफ ही दृष्टि जाती है अर्थात् व्यष्टि मनुष्य-शरीरका ही बोध होता है और '**क्षेत्रज्ञः**' पदसे मनुष्य-शरीरको जाननेवाले व्यष्टि क्षेत्रज्ञका ही बोध होता है। अतः प्रकृति और उसके कार्यमात्रका बोध करानेके लिये यहाँ '**प्रकृतिम्**' पदका और मात्र क्षेत्रज्ञोंका बोध करानेके लिये यहाँ '**पुरुषम्**' पदका प्रयोग किया गया है।

इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें क्षेत्रज्ञकी परमात्माके साथ एकता जाननेके लिये '**विद्धि**' पदका प्रयोग किया था और यहाँ पुरुषकी प्रकृतिसे भिन्नता जाननेके लिये '**विद्धि**' पदका प्रयोग किया गया है। तात्पर्य है कि मनुष्य स्वयंको और शरीरको एक समझता है, इसलिये भगवान् यहाँ '**विद्धि**' पदसे अर्जुनको यह आज्ञा देते हैं कि ये दोनों सर्वथा अलग-अलग हैं—इस बातको तुम ठीक तरहसे समझ लो।

'**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**'—इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति—इन सात विकारोंको तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुए समझो। इसका तात्पर्य यह है कि पुरुषमें विकार और गुण नहीं हैं।

सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने गुणोंको अपनेसे उत्पन्न बताया है और यहाँ गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बताते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ भक्तिका प्रकरण होनेसे भगवान्‌ने गुणोंको अपनेसे उत्पन्न बताया है और गुणमयी मायासे तरनेके लिये अपनी शरणागति बतायी है। परन्तु यहाँ ज्ञानका प्रकरण होनेसे गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बताया है। अतः साधक गुणोंसे अपना सम्बन्ध न मानकर ही गुणोंसे छूट सकता है।

'**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते**'—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन दस-(महाभूतों और विषयों-)का नाम 'कार्य' है। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा तथा मन, बुद्धि और अहंकार—इन तेरह-(बहिःकरण और अन्तःकरण-)का नाम 'करण' है। इन सबके द्वारा जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, उनको उत्पन्न करनेमें प्रकृति ही हेतु है।

जो उत्पन्न होता है, वह 'कार्य' कहलाता है और जिसके द्वारा कार्यकी सिद्धि होती है, वह 'करण' कहलाता है अर्थात् क्रिया करनेके जितने औजार (साधन) हैं, वे सब 'करण' कहलाते हैं। करण तीन तरहके होते हैं—(१) कर्मेन्द्रियाँ, (२) ज्ञानेन्द्रियाँ और (३) मन, बुद्धि एवं अहंकार। कर्मेन्द्रियाँ स्थूल हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं और मन, बुद्धि एवं अहंकार अत्यन्त सूक्ष्म हैं। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंको 'बहिःकरण' कहते हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकारको 'अन्तःकरण' कहते हैं। जिनसे क्रियाएँ होती हैं, वे कर्मेन्द्रियाँ हैं और कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियोंपर जो शासन करते हैं, वे मन, बुद्धि और अहंकार हैं। तात्पर्य है कि कर्मेन्द्रियोंपर ज्ञानेन्द्रियोंका शासन है, ज्ञानेन्द्रियोंपर मनका शासन है, मनपर बुद्धिका शासन है और बुद्धिपर अहंकारका शासन है। मन, बुद्धि और अहंकारके बिना कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ काम नहीं करतीं। ज्ञानेन्द्रियोंके साथ जब मनका सम्बन्ध हो जाता है, तब विषयोंका ज्ञान होता है। मनसे जिन विषयोंका ज्ञान होता है, उन विषयोंमेंसे कौन-सा विषय ग्राह्य है और कौन-सा त्याज्य है, कौन-सा विषय ठीक है और कौन-सा बेठीक है—इसका निर्णय बुद्धि करती है। बुद्धिके द्वारा निर्णीत विषयोंपर अहंकार शासन करता है।

अहंकार दो तरहका होता है—(१) अहंवृत्ति और (२) अहंकर्ता। अहंवृत्ति किसीके लिये कभी दोषी नहीं होती, पर उस अहंवृत्तिके साथ जब स्वयं (पुरुष) अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तादात्म्य कर लेता है, तब वह अहंकर्ता बन जाता है। तात्पर्य है कि अहंवृत्तिसे मोहित होकर, उसके परवश होकर स्वयं उस अहंवृत्तिमें अपनी स्थिति मान लेता है तो वह कर्ता बन जाता है—'**अहंकार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)।

प्रकृतिका कार्य बुद्धि (महत्तत्त्व) है और बुद्धिका कार्य अहंवृत्ति (अहंकार) है। यह अहंवृत्ति है तो बुद्धिका कार्य,

पर इसके साथ तादात्म्य करके स्वयं बुद्धिका मालिक बन जाता है अर्थात् कर्ता और भोक्ता बन जाता है—**'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'** (गीता १३। २१)। परन्तु जब तत्त्वका बोध हो जाता है, तब स्वयं न कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। फिर कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित पुरुषके शरीरद्वारा जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, वे सब क्रियाएँ अहंवृत्तिसे ही होती हैं। इसी अहंवृत्तिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको गीतामें कई तरहसे बताया गया है; जैसे—प्रकृतिके द्वारा ही सब क्रियाएँ होती हैं। (तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक); प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सब क्रियाएँ होती हैं (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (तीसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक); गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है (चौदहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं (पाँचवें अध्यायका नवाँ श्लोक) आदि। तात्पर्य है कि बहिःकरण और अन्तःकरणके द्वारा जो क्रियाएँ होती हैं, वे सब प्रकृतिसे ही होती हैं।

'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'—अनुकूल परिस्थितिके आनेपर सुखी (राजी) होना—यह सुखका भोग है और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर दुःखी (नाराज) होना—यह दुःखका भोग है। यह सुख-दुःखका भोग पुरुष-(चेतन-)में ही होता है—प्रकृति-(जड-)में नहीं; क्योंकि जड प्रकृतिमें सुखी-दुःखी होनेकी सामर्थ्य नहीं है। अतः सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा गया है। अगर पुरुष अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंसे मिलकर राजी-नाराज न हो तो वह सुख-दुःखका भोक्ता नहीं बन सकता।

सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपरा (जड) और परा (चेतन) नामसे अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया है। ये दोनों प्रकृतियाँ भगवान्के स्वभाव हैं, इसलिये ये दोनों स्वतः ही भगवान्की ओर जा रही हैं। परन्तु परा प्रकृति (चेतन), जो परमात्माका अंश है और जिसकी स्वाभाविक रुचि परमात्माकी ओर जानेकी ही है, तात्कालिक सुखभोगमें आकर्षित होकर अपरा प्रकृति-(जड-)के साथ तादात्म्य कर लेता है। इतना ही नहीं, प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके वह 'प्रकृतिस्थ पुरुष'के रूपमें अपनी एक स्वतन्त्र सत्ताका निर्माण कर लेता है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), जिसको 'अहम्' कहते हैं। इस 'अहम्' में जड और चेतन दोनों हैं। सुख-दुःखरूप जो विकार होता है, वह जड-अंशमें ही होता है, पर जडसे तादात्म्य होनेके कारण उसका परिणाम ज्ञाता चेतनपर होता है अर्थात् जडके सम्बन्धसे सुख-दुःखरूप विकारको चेतन अपनेमें मान लेता है कि **'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'**। जैसे, घाटा लगता है दूकानमें, पर दूकानदार कहता है कि मुझे घाटा लग गया। ज्वर शरीरमें आता है, पर मान लेता है कि मेरेमें ज्वर आ गया। स्वयंमें ज्वर नहीं आता*, यदि आता तो कभी मिटता नहीं।

सुख-दुःखका परिणाम चेतनपर होता है, तभी वह सुख-दुःखसे मुक्ति चाहता है। अगर वह सुखी-दुःखी न हो, तो उसमें मुक्तिकी इच्छा हो ही नहीं सकती। मुक्तिकी इच्छा जडके सम्बन्धसे ही होती है; क्योंकि जडको स्वीकार करनेसे ही बन्धन हुआ है। जो अपनेको सुखी-दुःखी मानता है, वही सुख-दुःखरूप विकारसे अपनी मुक्ति चाहता है और उसीकी मुक्ति होती है। तात्पर्य है कि तादात्म्यमें मुक्ति-(कल्याण-) की इच्छामें चेतनकी मुख्यता और भोगोंकी इच्छामें जडकी मुख्यता होती है, इसलिये अन्तमें कल्याणका भागी चेतन ही होता है, जड नहीं।

विकृतिमात्र जडमें ही होती है, चेतनमें नहीं। अतः वास्तवमें सुखी-दुःखी 'होना' चेतनका धर्म नहीं है, प्रत्युत जडके संगसे अपनेको सुखी-दुःखी 'मानना' ज्ञाता चेतनका स्वभाव है। तात्पर्य है कि चेतन सुखी-दुःखी होता नहीं, प्रत्युत (सुखाकार-दुःखाकार वृत्तिसे मिलकर) अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। चेतनमें एक-दूसरेसे विरुद्ध सुख-दुःखरूप दो भाव हो ही कैसे सकते हैं? दो रूप परिवर्तनशील प्रकृतिमें ही हो सकते हैं। जो परिवर्तनशील नहीं है, उसके दो रूप नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि सब विकार परिवर्तनशीलमें ही हो सकते हैं। चेतन स्वयं ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी परिवर्तनशील प्रकृतिके संगसे उसके विकारोंको अपनेमें आरोपित करता रहता है। यह

---

* **आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥**

(बृहदारण्यक ४। ४। १२)

'यदि पुरुष आत्माको 'मैं यही हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय, तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके ज्वर-(ताप-)से अनुतप्त हो?'

सबका अनुभव भी है कि हम सुखमें दूसरे तथा दुःखमें दूसरे नहीं हो जाते। सुख और दुःख दोनों अलग-अलग हैं, पर हम एक ही रहते हैं; इसीलिये कभी सुखी होते हैं और कभी दुःखी होते हैं।

परिशिष्ट भाव—भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ही प्रकृति और पुरुषके नामसे पुनः वर्णन करते हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ व्यष्टि हैं और प्रकृति-पुरुष समष्टि हैं।

एक प्रकृति-विभाग है और एक पुरुष-विभाग है। शरीर तथा संसार प्रकृति-विभागमें हैं और आत्मा तथा परमात्मा पुरुष-विभागमें हैं। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इन दोनोंके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि है। अतः विवेक-दृष्टिसे देखें तो ये दोनों विभाग एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध हैं अर्थात् दोनोंमें किंचिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृति तो असत्, जड़ तथा दुःखरूप है और पुरुष सत्, चित् तथा आनन्दरूप है। प्रकृति नाशवान्, विकारी तथा क्रियाशील है और पुरुष अविनाशी, निर्विकार तथा अक्रिय है। प्रकृतिकी नित्यनिवृत्ति है और पुरुषकी नित्यप्राप्ति है। गीताके आरम्भमें भी भगवान्ने इसी विभागका वर्णन शरीर और शरीरी, देह और देही, सत् और असत् आदि नामोंसे किया है।[1] अतः इस विभागको ठीक-ठीक समझना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक तथा शीघ्र बोध करानेवाला है। कारण कि शरीर और शरीरीको एक मानना ही बन्धन है और इन दोनोंको बिलकुल अलग-अलग अनुभव करना ही मुक्ति है।

भगवान् शक्तिमान् हैं और प्रकृति उनकी शक्ति है।[2] ज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अलग-अलग हैं, क्योंकि शक्तिमें तो परिवर्तन (घटना-बढ़ना) होता है, पर शक्तिमान् ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु भक्तिकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अभिन्न हैं, क्योंकि शक्तिको शक्तिमान्से अलग नहीं कर सकते अर्थात् शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी बात रखनेके लिये ही भगवान्ने प्रकृतिको न अनन्त कहा है और न सान्त कहा है, प्रत्युत 'अनादि' कहा है। कारण कि अगर प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन हो जायगा; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। अगर प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन हो जायगा; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्की शक्ति होनेसे भगवान्से अभिन्न है—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृति और पुरुषका स्वभाव अलग-अलग होते हुए भी दोनों परस्पर अभिन्न ही हैं।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप 'समग्र' है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा सम्भव नहीं है। अगर परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा परमात्माके सिवाय शक्ति (प्रकृति) के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये यहाँ प्रकृति और पुरुष दोनोंको 'अनादि' कहा गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने पुरुषको सुख-दुःखके भोगनेमें हेतु बताया। इसपर प्रश्न होता है कि कौन-सा पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता बनता है? इसका उत्तर अब भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

प्रकृतिस्थः = प्रकृतिमें स्थित
पुरुषः = पुरुष (जीव)
हि = ही
प्रकृतिजान् = प्रकृतिजन्य
गुणान् = गुणोंका
भुङ्क्ते = भोक्ता बनता है (और)
गुणसङ्गः = गुणोंका संग (ही)
अस्य = इसके
सदसद्योनिजन्मसु = ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका
कारणम् = कारण बनता है।

१-पुरुष ही अहम्को स्वीकार करनेसे जीव, क्षेत्रज्ञ, शरीरी, देही आदि नामोंसे कहा जाता है।

२-'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतर० ४। १०)

व्याख्या—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो* हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**'—वास्तवमें पुरुष प्रकृति-(शरीर-) में स्थित है ही नहीं। परन्तु जब वह प्रकृति-(शरीर-)के साथ तादात्म्य करके शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान लेता है, तब वह प्रकृतिमें स्थित कहा जाता है। ऐसा प्रकृतिस्थ पुरुष ही (गुणोंके द्वारा रचित अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको सुखदायी-दु:खदायी मानकर) अनुकूल परिस्थितिके आनेपर सुखी होता है और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर दु:खी होता है। यही पुरुषका प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनना है।

जैसे मोटर-दुर्घटनामें मोटर और चालक—दोनोंका हाथ रहता है। क्रियाके होनेमें तो केवल मोटरकी ही प्रधानता रहती है, पर दुर्घटनाका फल (दण्ड) मोटरसे अपना सम्बन्ध जोड़नेवाले चालक-(कर्ता-) को ही भोगना पड़ता है। ऐसे ही सांसारिक कार्योंको करनेमें प्रकृति और पुरुष—दोनोंका हाथ रहता है। क्रियाओंके होनेमें तो केवल शरीरकी ही प्रधानता रहती है, पर सुख-दु:खरूप फल शरीरसे अपना सम्बन्ध जोड़नेवाले पुरुष-(कर्ता-) को ही भोगना पड़ता है। अगर वह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े और सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकृतिके द्वारा ही होती हुई माने (गीता—तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक), तो वह उन क्रियाओंका फल भोगनेवाला नहीं बनेगा।

'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**'—जिन योनियोंमें सुखकी बहुलता होती है, उनको 'सत्-योनि' कहते हैं और जिन योनियोंमें दु:खकी बहुलता होती है, उनको 'असत्-योनि' कहते हैं। पुरुषका सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेका कारण गुणोंका संग ही है।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। इन तीनों गुणोंसे ही सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिस्थ पुरुष जब इन गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब ये उसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बन जाते हैं।

प्रकृतिमें स्थित होनेसे ही पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनता है और यह गुणोंका संग, आसक्ति, प्रियता ही पुरुषको ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण बनती है। अगर यह प्रकृतिस्थ न हो, प्रकृति-(शरीर-) में अहंता-ममता न करे, अपने स्वरूपमें स्थित रहे, तो यह पुरुष सुख-दु:खका भोक्ता कभी नहीं बनता, प्रत्युत सुख-दु:खमें सम हो जाता है, स्वस्थ हो जाता है (गीता—चौदहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। अत: यह प्रकृतिमें भी स्थित हो सकता है और अपने स्वरूपमें भी। अन्तर इतना ही है कि प्रकृतिमें स्थित होनेमें तो यह परतन्त्र है और स्वरूपमें स्थित होनेमें यह स्वाभाविक स्वतन्त्र है। बन्धनमें पड़ना इसका अस्वाभाविक है और मुक्त होना इसका स्वाभाविक है। इसलिये बन्धन इसको सुहाता नहीं है और मुक्त होना इसको सुहाता है।

जहाँ प्रकृति और पुरुष—दोनोंका भेद (विवेक) है, वहाँ ही प्रकृतिके साथ तादात्म्य करनेका, सम्बन्ध जोड़नेका अज्ञान है। इस अज्ञानसे ही यह पुरुष स्वयं प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेता है। तादात्म्य कर लेनेसे यह पुरुष अपनेको प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति-(शरीर-) में स्थित मान लेता है। प्रकृतिस्थ होनेसे शरीरमें 'मैं' और 'मेरा-पन' हो जाता है। यही गुणोंका संग है। इस गुणसंगसे पुरुष बँध जाता है (गीता—चौदहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। गुणोंके द्वारा बँध जानेसे ही पुरुषकी गुणोंके अनुसार गति होती है (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—भगवान्ने उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें एवं बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'प्रकृति' का वर्णन किया है और बीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें और यहाँ इक्कीसवें श्लोकमें 'पुरुष'का वर्णन किया है।

वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ सम्बन्ध ही 'गुणसंग' है, जो जन्म-मरणका कारण है। गुणोंका संग अनित्य है और गुणोंसे असंगता नित्य है। असंगता हमारा स्वरूप है—'**असंगो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। अगर हम अनित्य (गुणोंके संग)-को न पकड़ें तो जन्म-मरण हो ही नहीं सकता।

'मैं' जड़ (प्रकृति) है और 'हूँ' चेतन (पुरुष) है तथा 'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनका तादात्म्य है। इस 'मैं हूँ' में ही कर्तापन और भोक्तापन रहता है। अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। जैसे लोहे और अग्निमें तादात्म्य

*** यहाँ पुरुषको 'प्रकृतिस्थ' कहनेका तात्पर्य 'शरीरस्थ' कहना ही है। उन्नीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषका प्रकरण चल रहा है, इसीलिये यहाँ पुरुषको प्रकृतिस्थ कहा गया है। वास्तवमें पुरुष प्रकृतिस्थ अथवा शरीरस्थ नहीं है। अपनेको स्वस्थ न माननेसे अर्थात् 'स्व'में अपनी स्थितिका अनुभव न करनेसे ही वह अपनेको शरीरस्थ मानता है।**

न रहनेसे लोहा पृथ्वीपर ही रह जाता है और अग्नि निराकार अग्नि-तत्त्वमें लीन हो जाती है, ऐसे ही अहम् तो प्रकृतिमें ही रह जाता है और 'हूँ' ('है' का स्वरूप होनेसे) 'है' में ही विलीन हो जाता है। 'है' में कर्तापन और भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' 'कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः साधक 'हूँ' को न मानकर 'है' को ही माने अर्थात् अनुभव करे।

सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है। पापी-से-पापी मनुष्यको भी इसका अनुभव है। ऐसा अनुभव होनेपर भी मनुष्य आगन्तुक सुख-दुःखके साथ मिलकर सुखी-दुःखी हो जाता है। इसका कारण यह है कि सुखकी आसक्ति और दुःखका भय रहनेसे 'मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं'—यह विवेक काम नहीं करता। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता, प्रत्युत शरीरके साथ मिलकर अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। तात्पर्य है कि सुख-दुःख केवल अविवेकपूर्वक की गयी मान्यतापर टिके हुए हैं।

सम्बन्ध—उन्नीसवें, बीसवें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृति और पुरुषका वर्णन हुआ। अब आगेके श्लोकमें पुरुषका विशेषतासे वर्णन करते हैं।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ २२॥

यह पुरुष—

उपद्रष्टा	= (शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे) 'उपद्रष्टा',	**भोक्ता**	= (उसके संगसे सुख-दुःख भोगनेसे) 'भोक्ता'	**परमात्मा**	= 'परमात्मा'—
		च	= और	**इति**	= इस नामसे
अनुमन्ता	= (उसके साथ मिलकर सम्मति, अनुमति देनेसे) 'अनुमन्ता',	**महेश्वरः**	= (अपनेको उसका स्वामी माननेसे) 'महेश्वर' (बन जाता है)।	**उक्तः**	= कहा जाता है। (यह)
				अस्मिन्	= इस
भर्ता	= (अपनेको उसका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे) 'भर्ता',	**च**	= परन्तु	**देहे, अपि**	= देहमें रहता हुआ भी (देहसे)
		पुरुषः	= (स्वरूपसे यह) पुरुष	**परः**	= पर (सर्वथा सम्बन्धरहित) ही है।

व्याख्या—**'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः'**—यह पुरुष स्वरूपसे नित्य है, सब जगह परिपूर्ण है, स्थिर है, अचल है, सदा रहनेवाला है (गीता—दूसरे अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। ऐसा होता हुआ भी जब यह प्रकृति और उसके कार्य शरीरकी तरफ दृष्टि डालता है अर्थात् उनके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तब इसकी **'उपद्रष्टा'** संज्ञा हो जाती है।

यह हरेक कार्यके करनेमें सम्मति, अनुमति देता है। अतः इसका नाम **'अनुमन्ता'** है।

यह एक व्यष्टि शरीरके साथ मिलकर, उसके साथ तादात्म्य करके अन्न-जल आदिसे शरीरका पालन-पोषण करता है; शीत-उष्ण आदिसे उसका संरक्षण करता है। अतः इसका नाम **'भर्ता'** हो जाता है।

यह शरीरके साथ मिलकर अनुकूल परिस्थितिके आनेसे अपनेको सुखी मानता है और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेसे अपनेको दुःखी मानता है। अतः इसकी **'भोक्ता'** संज्ञा हो जाती है।

यह अपनेको शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा धन, सम्पत्ति आदिका मालिक मानता है। अतः यह **'महेश्वर'** नामसे कहा जाता है।

'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः'—पुरुष सर्वोत्कृष्ट है, परम आत्मा है, इसलिये शास्त्रोंमें इसको 'परमात्मा' नामसे कहा गया है। यह देहमें रहता हुआ भी देहके सम्बन्धसे स्वतः रहित है। आगे इसी अध्यायके

इकतीसवें श्लोकमें इसके विषयमें कहा गया है कि यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।

इस श्लोकमें एक ही तत्त्वको भिन्न-भिन्न उपाधियोंके सम्बन्धसे **'उपद्रष्टा'** आदि पदोंसे सम्बोधित किया गया है, इसलिये इन पृथक्-पृथक् नामोंसे पुरुषके ही स्वरूपका वर्णन समझना चाहिये। वास्तवमें उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जैसे एक ही व्यक्ति देश, काल, वेश, सम्बन्ध आदिके अनुसार भिन्न-भिन्न (पिता, चाचा, नाना, भाई आदि) नामोंसे पुकारा जाता है, ऐसे ही पुरुष भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जानेपर भी वास्तवमें एक ही है।

परिशिष्ट भाव—वास्तवमें पुरुष 'पर' ही है, पर अन्यके सम्बन्धसे वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि बन जाता है। जैसे, मनुष्य पुत्रके सम्बन्धसे 'पिता', पिताके सम्बन्धसे 'पुत्र', पत्नीके सम्बन्धसे 'पति', बहनके सम्बन्धसे 'भाई' आदि बन जाता है। ये सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, ममता करनेके लिये नहीं। वास्तविक स्वरूप तो 'पर' अर्थात् सर्वथा सम्बन्धरहित ही है।

यहाँ उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि अनेक उपाधियोंका तात्पर्य एकतामें है कि चेतन तत्त्व वास्तवमें एक ही है। ज्ञानके प्रकरणमें प्रकृति और पुरुष दोका ही वर्णन मुख्य है। अतः यहाँ आये उपद्रष्टा, अनुमन्ता, ईश्वर आदि सब शब्द 'पुरुष'के वाचक समझने चाहिये।

सम्बन्ध—उन्नीसवें श्लोकसे बाईसवें श्लोकतक प्रकृति और पुरुषका विवेचन करके अब आगेके श्लोकमें उन दोनोंको तत्त्वसे जाननेका फल बताते हैं।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

एवम् = इस प्रकार
पुरुषम् = पुरुषको
च = और
गुणैः = गुणोंके
सह = सहित
प्रकृतिम् = प्रकृतिको
यः = जो मनुष्य
वेत्ति = (अलग-अलग) जानता है,
सः = वह
सर्वथा = सब तरहका
वर्तमानः = बर्ताव करता हुआ
अपि = भी
भूयः = फिर
न,
अभिजायते = जन्म नहीं लेता।

*व्याख्या—***'य एवं वेत्ति''''न स भूयोऽभिजायते'—** पूर्वश्लोकमें **'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः'** पदोंसे पुरुषको देहसे पर अर्थात् सम्बन्धरहित कहा है, उसीको यहाँ **'एवम्'** पदसे कहते हैं कि जो साधक इस तरह पुरुषको देहसे, प्रकृतिसे पर अर्थात् सम्बन्धरहित जान लेता है तथा विकार, कार्य, करण, विषय आदि रूपसे जो कुछ भी संसार दीखता है, वह सब प्रकृति और उसके गुणोंका कार्य है—ऐसा यथार्थरूपसे जान लेता है, वह फिर वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार प्राप्त कर्तव्यकर्मको करता हुआ भी पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता। कारण कि जन्म होनेमें गुणोंका संग ही कारण है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

यहाँ **'सर्वथा वर्तमानोऽपि'** पदोंमें निषिद्ध आचरण नहीं लेना चाहिये; क्योंकि जो अपनेको देहके सम्बन्धसे रहित अनुभव करता है और गुणोंके सहित प्रकृतिको अपनेसे अलग अनुभव करता है, उसमें असत् वस्तुओंकी कामना पैदा हो ही नहीं सकती। कामना न होनेसे उसके द्वारा निषिद्ध आचरण होना असम्भव है; क्योंकि निषिद्ध आचरणके होनेमें कामना ही हेतु है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)।

भगवान् यहाँ साधकको अपना वास्तविक स्वरूप जाननेके लिये सावधान करते हैं, जिससे वह अच्छी प्रकार जान ले कि स्वरूपमें वस्तुतः कोई भी क्रिया नहीं है। अतः वह किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं है और कर्ता न होनेके कारण वह भोक्ता भी नहीं होता। साधक जब अपने-आपको अकर्ता जान लेता है, तब उसका कर्तापनका अभिमान स्वतः नष्ट हो जाता है और उसमें क्रियाकी फलासक्ति भी नहीं रहती। फिर भी उसके द्वारा शास्त्रविहित क्रियाएँ स्वतः होती रहती हैं। गुणातीत होनेके कारण वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता।

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें आये '**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**' की व्याख्या इस श्लोकमें करते हैं। जिसका विवेक जाग्रत् हो गया है अर्थात् '**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**'—यह अनुभवमें आ गया है, वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब कर्म करते हुए भी निर्लेप रहता है। वास्तवमें मनुष्यमात्रका स्वरूप निर्लिप्त ही है, पर गुणोंके संगसे वह लिप्त हो जाता है और बार-बार जन्मता-मरता है (इसी अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। गुणोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, पुरुषके साथ नहीं (इसी अध्यायका उन्नीसवाँ-बीसवाँ श्लोक)।

'**सर्वथा वर्तमानोऽपि**' पदोंमें आये '**अपि**' का तात्पर्य है कि वह आसक्त मनुष्यकी तरह सब बर्ताव करता हुआ भी निर्विकार रहता है (गीता—तीसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)।

'**न स भूयोऽभिजायते**'—जैसे छाछसे निकला हुआ मक्खन पुनः छाछमें मिलकर दही नहीं बनता, ऐसे ही प्रकृतिजन्य गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य पुनः गुणोंसे नहीं बँधता। उसकी ब्रह्मसे सधर्मता हो जाती है अर्थात् जैसे ब्रह्मका जन्म-मरण नहीं होता, ऐसे ही उसका भी जन्म-मरण नहीं होता।

छठे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें आया है— '**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते**' और यहाँ आया है— '**सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते**'। छठे अध्यायमें आये '**स योगी मयि वर्तते**' पदोंमें प्रेमकी प्राप्ति है और यहाँ आये '**न स भूयोऽभिजायते**' पदोंमें बोधकी प्राप्ति है। प्रेम और बोध—दोनोंमें ही गुणोंका संग नहीं रहता। दोनोंमें अन्तर यह है कि बोधमें तो जन्म-मरणसे मुक्ति होती है, पर प्रेममें मुक्तिके साथ-साथ भगवान्‌से अभिन्नता होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जन्मरहित होनेमें प्रकृति-पुरुषको यथार्थ जानना कारण बताया। अब यह जिज्ञासा होती है कि क्या जन्म-मरणसे रहित होनेका और भी कोई उपाय है? इसपर भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें चार साधन बताते हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

केचित्	= कई मनुष्य	**योगेन**	= सांख्ययोगके द्वारा	**आत्मना**	= अपने-आपसे
ध्यानेन	= ध्यानयोगके द्वारा,	**च**	= और	**आत्मनि**	= अपने-आपमें
अन्ये	= कई	**अपरे**	= कई	**आत्मानम्**	= परमात्मतत्त्वका
साङ्ख्येन,		**कर्मयोगेन**	= कर्मयोगके द्वारा	**पश्यन्ति**	= अनुभव करते हैं।

व्याख्या—'**ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना**'—पाँचवें अध्यायके सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें; छठे अध्यायके दसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक; और आठवें अध्यायके आठवेंसे चौदहवें श्लोकतक जो सगुण-साकार, निर्गुण-निराकार आदिके ध्यानका वर्णन हुआ है, उस ध्यानमें जिसकी जैसी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यता है, उसके अनुसार ध्यान करके कई साधक अपने-आपसे अपनेमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

जो सम्बन्ध-विच्छेद प्रकृति और पुरुषको अलग-अलग जाननेसे होता है, वह सम्बन्ध-विच्छेद ध्यानसे भी होता है। ध्यान न तो चित्तकी मूढ़ वृत्तिमें होता है और न क्षिप्त वृत्तिमें होता है। ध्यान विक्षिप्त वृत्तिमें आरम्भ होता है। चित्त जब स्वरूपमें एकाग्र हो जाता है, तब समाधि हो जाती है। एकाग्र होनेपर चित्त निरुद्ध हो जाता है। इस तरह जिस अवस्थामें चित्त निरुद्ध हो जाता है। उस अवस्थामें चित्त संसार, शरीर, वृत्ति, चिन्तन आदिसे भी उपरत हो जाता है। उस समय ध्यानयोगी अपने-आपसे अपने-आपमें अपना अनुभव करके सन्तुष्ट हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका उन्नीसवाँ-बीसवाँ श्लोक)।

'**अन्ये साङ्ख्येन योगेन**'—दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक; चौथे अध्यायके तैंतीसवेंसे उनतालीसवें श्लोकतक; पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें तथा तेरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक; और बारहवें अध्यायके चौथे-पाँचवें आदि श्लोकोंमें कहे हुए सांख्ययोगके द्वारा कई साधक अपने-आपसे अपनेमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

सांख्ययोग नाम है विवेकका। उस विवेकके द्वारा सत्-असत्का निर्णय हो जाता है कि 'सत्' नित्य है,

सर्वव्यापक है, स्थिर स्वभाववाला है, अचल है, अव्यक्त है, अचिन्त्य है; और 'असत्' चल है, अनित्य है, विकारी है, परिवर्तनशील है। ऐसे विवेक-विचारसे सांख्ययोगी प्रकृति और उसके कार्यसे बिलकुल अलग हो जाता है और अपने-आपसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेता है।

'कर्मयोगेन चापरे'—दूसरे अध्यायके सैंतालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक; तीसरे अध्यायके सातवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक; चौथे अध्यायके सोलहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक; पाँचवें अध्यायके छठे-सातवें आदि श्लोकोंमें कहे हुए कर्मयोगके द्वारा कई साधक अपने-आपसे अपनेमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।

जो सम्बन्ध-विच्छेद प्रकृति और पुरुषको अलग-अलग जाननेसे होता है, वह सम्बन्ध-विच्छेद कर्मयोगसे भी होता है। कर्मयोगी जो कुछ भी करे, वह केवल संसारके हितके लिये ही करे। यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी करे, वह सब मात्र प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करे, अपने लिये नहीं। ऐसा करनेसे स्वयंका उन क्रियाओंसे, पदार्थ, शरीर आदिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अपने-आपसे अपनेमें परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

मनुष्यने स्वाभाविक ही अपनेमें देहको स्वीकार किया है, माना है। इस मान्यताको दूर करनेके लिये अपनेमें परमात्माको देखना अर्थात् देहकी जगह अपनेमें परमात्माको मानना बहुत आवश्यक है।

अपनेमें परमात्माको देखना करणनिरपेक्ष होता है। करणसापेक्ष ज्ञान प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है। इसलिये साधक किसी करणके द्वारा परमात्मामें स्थित नहीं होता, प्रत्युत स्वयं ही स्थित होता है स्वयंकी परमात्मामें स्थिति किसी करणके द्वारा हो ही नहीं सकती।

परिशिष्ट भाव— जैसे पूर्वश्लोकमें विवेकके महत्त्वको मुक्तिका उपाय बताया, ऐसे ही यहाँ ध्यानयोग आदि अन्य उपाय बताते हैं। गीतामें ध्यानयोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात छठे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें कही है, सांख्ययोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात दूसरे अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें कही है और कर्मयोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें कही है। ये सभी परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

अन्ये = दूसरे मनुष्य
एवम् = इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि साधनोंको)
अजानन्तः = नहीं जानते,
तु = पर
अन्येभ्यः = दूसरोंसे (जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे)
श्रुत्वा = सुनकर
एव = ही
उपासते = उपासना करते हैं,
च, ते = ऐसे वे
श्रुतिपरायणाः = सुननेके अनुसार आचरण करनेवाले मनुष्य
अपि = भी
मृत्युम् = मृत्युको
अतितरन्ति = तर जाते हैं।

व्याख्या—**'अन्ये त्वेवमजानन्तः......मृत्युं श्रुतिपरायणाः'**—कई ऐसे तत्त्वप्राप्तिकी उत्कण्ठावाले मनुष्य हैं, जो ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग आदि साधनोंको समझते ही नहीं; अतः वे साधन उनके अनुष्ठानमें भी नहीं आते। ऐसे मनुष्य केवल तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं। जैसे धनी आदमीकी आज्ञाका पालन करनेसे धन मिलता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करनेसे तत्त्वज्ञान मिलता है। हाँ, इसमें इतना फरक है कि धनी जब देता है, तब धन मिलता है; परन्तु सन्त-महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करनेसे, उनके मनके, संकेतके, आज्ञाके

अनुसार तत्परतापूर्वक चलनेसे मनुष्य स्वतः उस परमात्म-तत्त्वको प्राप्त हो जाता है, जो कि सबको सदासे ही स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त है। कारण कि धन तो धनीके अधीन होता है, पर परमात्मतत्त्व किसीके अधीन नहीं है।

शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही मृत्यु होती है। जो मनुष्य महापुरुषोंकी आज्ञाके परायण हो जाते हैं, उनका शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जाता है। अतः वे मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् वे पहले शरीरकी मृत्युसे अपनी मृत्यु मानते थे, उस मान्यतासे रहित हो जाते हैं।

ऐसे श्रुतिपरायण साधकोंकी तीन श्रेणियाँ होती हैं—

१—यदि साधकमें सांसारिक सुख-भोगकी इच्छा नहीं है, केवल तत्त्वप्राप्तिकी ही उत्कट अभिलाषा है और वह जिनकी आज्ञाका पालन करता है, वे अनुभवी महापुरुष हैं, तो साधकको शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

२—यदि साधकमें सुखभोगकी इच्छा शेष है, तो केवल महापुरुषकी आज्ञाका पालन करनेसे ही उसकी उस इच्छाका नाश हो जायगा और उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

३—साधक जिनकी आज्ञाका पालन करता है, वे अनुभवी महापुरुष नहीं हैं, पर साधकमें किंचिन्मात्र भी सांसारिक इच्छा नहीं है और उसका उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति करना है, तो उसको भगवत्कृपासे परमात्मप्राप्ति हो जायगी; क्योंकि भगवान् तो उसको जानते ही हैं।

अगर किसी कारणवश साधककी संत-महापुरुषके प्रति अश्रद्धा, दोष-दृष्टि हो जाय तो उनमें साधकको अवगुण-ही-अवगुण दीखेंगे, गुण दीखेंगे ही नहीं। इसका कारण यह है कि महापुरुष गुण-अवगुणोंसे ऊँचे उठे (गुणातीत) होते हैं; अतः उनमें अश्रद्धा होनेपर अपना ही भाव अपनेको दीखता है। मनुष्य जिस भावसे देखता है, उसी भावसे उसका सम्बन्ध हो जाता है। अवगुण देखनेसे उसका सम्बन्ध अवगुणोंसे हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह तत्त्वज्ञ महापुरुषकी क्रियाओंपर, उनके आचरणोंपर ध्यान न देकर उनके पास तटस्थ होकर रहे। संत-महापुरुषसे ज्यादा लाभ वही ले सकता है, जो उनसे किसी प्रकारके सांसारिक व्यवहारका सम्बन्ध न रखकर केवल पारमार्थिक (साधनका) सम्बन्ध रखता है। दूसरी बात, साधक इस बातकी सावधानी रखे कि उसके द्वारा उन महापुरुषकी कहीं भी निन्दा न हो। यदि वह उनकी निन्दा करेगा, तो उसकी कहीं भी उन्नति नहीं होगी।

परिशिष्ट भाव—जिन मनुष्योंमें शास्त्रोंको समझनेकी योग्यता नहीं है, जिनका विवेक कमजोर है, पर जिनके भीतर मृत्युसे तरनेकी उत्कट अभिलाषा है, ऐसे मनुष्य भी जीवन्मुक्त सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं।

उपनिषद्में एक कथा आती है। जबालाका पुत्र सत्यकाम गौतम ऋषिके पास उपदेश लेने गया। ऋषिने उसको चार सौ कृश तथा निर्बल गायें देकर कहा कि तू इनके पीछे-पीछे जा। सत्यकामने उत्साहपूर्वक कहा कि इनकी संख्या एक हजार होनेपर ही मैं वापिस आऊँगा। ऐसा कहकर वह उन गायोंको वनमें ले गया और वहाँ उनका पालन-पोषण करने लगा। बहुत वर्ष बीतनेपर जब उनकी संख्या एक हजार हो गयी, तब एक साँड़ने उससे कहा कि हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब तू हमारेको आचार्यके पास पहुँचा दे, ऐसा कहकर उस साँड़ने सत्यकामको ब्रह्मके प्रथम पादका उपदेश दिया। दूसरे ही दिन सत्यकाम गायोंको लेकर गुरुकुलकी ओर रवाना हो गया। रास्तेमें उसको अग्निने ब्रह्मके दूसरे पादका, हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका और मद्गु [एक जलचर पक्षी]-ने ब्रह्मके चौथे पादका उपदेश दिया। इस प्रकार रास्तेमें ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके वह गौतम ऋषिके पास पहुँचा। गुरुके पूछनेपर उसने सारी बात बतायी और उनसे अपने श्रीमुखसे उपदेश देनेकी प्रार्थना की। तब गौतम ऋषिने उसको उपदेश दिया (छान्दोग्य० चौथा अध्याय, चौथेसे नवें खण्डतक)। इस तरह केवल तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुषकी आज्ञा माननेसे ही सत्यकामको तत्त्वज्ञान हो गया।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि श्रुतिपरायण साधक भी मृत्युको तर जाते हैं, तो अब प्रश्न होता है कि जन्म-मरणके होनेमें क्या कारण है? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**यावत्,**		**क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-**	
स्थावर-		**किञ्चित्**	= जितने भी	**संयोगात्**	= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे (उत्पन्न हुए)
जङ्गमम्	= स्थावर और जंगम	**सत्त्वम्**	= प्राणी		
		सञ्जायते	= पैदा होते हैं,		
		तत्	= उनको (तुम)	**विद्धि**	= समझो।

व्याख्या—**'यावत्संजायते''''क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्'**— स्थिर रहनेवाले वृक्ष, लता, दूब, गुल्म, त्वक्सार, बेंत, बाँस, पहाड़ आदि जितने भी स्थावर प्राणी हैं और चलने-फिरनेवाले मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मछली, कछुआ आदि जितने भी जंगम (थलचर, जलचर, नभचर) प्राणी हैं, वे सब-के-सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही पैदा होते हैं।

उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थ 'क्षेत्र' हैं और जो इस क्षेत्रको जाननेवाला, उत्पत्ति-विनाशरहित एवं सदा एकरस रहनेवाला है, वह 'क्षेत्रज्ञ' है। उस क्षेत्रज्ञ-(प्रकृतिस्थ पुरुष-)का जो शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध मानना है—यही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है। इस माने हुए संयोगके कारण ही इस जीवको स्थावर-जंगम योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। इसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगको पहले इक्कीसवें श्लोकमें **'गुणसंगः'** पदसे कहा है। तात्पर्य यह हुआ कि निरन्तर परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ तादात्म्य कर लेनेसे स्वयं जीवात्मा भी अपनेको जन्मने-मरनेवाला मान लेता है।

[स्थावर-जंगम प्राणियोंके पैदा होनेकी बात तो यहाँ **'संजायते'** पदसे कह दी और उनके मरनेकी बात आगेके श्लोकमें **'विनश्यत्सु'** पदसे कहेंगे।]

'तद्विद्धि भरतर्षभ'—यह क्षेत्रज्ञ क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, इसीसे इसका जन्म होता है; परन्तु जब यह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, तब इसका जन्म नहीं होता—इस बातको तुम ठीक समझ लो।

परिशिष्ट भाव— यहाँ **'यावत्संजायते'** के अन्तर्गत जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज, जलचर-नभचर-थलचर, मनुष्य, देवता, पितर, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सम्पूर्ण प्राणी लेने चाहिये। सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भी **'एतद्योनीनि भूतानि'** पदोंसे यही बात कही गयी है।

भक्तिके प्रकरणमें भगवान्ने परा और अपरा—दोनोंको अपनी प्रकृति बताकर कहा कि 'इन दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और मैं ही सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ' (गीता—सातवें अध्यायका छठा श्लोक)। परन्तु यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य है कि भक्तिके प्रकरणमें भगवान् अपनी तरफ दृष्टि कराते हैं; क्योंकि भक्तका भगवान्पर ही दृढ़ विश्वास होता है। उसके साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमें भगवान् क्षेत्रज्ञ (स्वरूप)-की ओर दृष्टि कराते हैं कि क्षेत्रके साथ तादात्म्य करनेके कारण ही वह जन्म-मृत्युरूप बन्धनमें पड़ा है। यहाँ प्रश्न होता है कि आकर्षण एवं मिलन (संयोग) सजातीयतामें ही होता है, फिर विजातीय क्षेत्र (जड़) के साथ क्षेत्रज्ञ (चेतन)-का संयोग कैसे हुआ? इसका उत्तर है कि जैसे रात और दिनका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भी संयोग नहीं हो सकता। परन्तु परमात्माका अंश होनेके कारण क्षेत्रज्ञमें यह शक्ति है कि वह विजातीय वस्तुको भी पकड़ सकता है, उसके साथ अपना सम्बन्ध मान सकता है। उसको यह स्वतन्त्रता भगवान्ने ही दी है। परन्तु उसने इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया अर्थात् भगवान्के साथ सम्बन्ध न मानकर संसारके साथ सम्बन्ध मान लिया और जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि क्षेत्र-(शरीर-) के साथ सम्बन्ध रखनेसे, उसकी तरफ दृष्टि रखनेसे यह पुरुष जन्म-मरणमें जाता है, तो अब प्रश्न होता है कि इस जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेके लिये उसको क्या करना चाहिये? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

यः	= जो	**परमेश्वरम्**	= परमेश्वरको	**पश्यति**	= देखता है,
विनश्यत्सु	= नष्ट होते हुए	**अविनश्यन्तम्**	= नाशरहित (और)	**सः**	= वही
सर्वेषु	= सम्पूर्ण	**समम्**	= समरूपसे	**पश्यति**	= (वास्तवमें सही) देखता है।
भूतेषु	= प्राणियोंमें	**तिष्ठन्तम्**	= स्थित		

व्याख्या—**'समं सर्वेषु भूतेषु'**—परमात्माको सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम कहनेका तात्पर्य है कि सभी प्राणी विषम हैं अर्थात् स्थावर-जंगम हैं, सात्त्विक-राजस-तामस हैं, आकृतिसे छोटे-बड़े, लम्बे-चौड़े हैं, नाना वर्णवाले हैं—इस प्रकार तरह-तरहके जितने भी प्राणी हैं, उन सब प्राणियोंमें परमात्मा समरूपसे स्थित हैं। वे परमात्मा किसीमें छोटे-बड़े, कम-ज्यादा नहीं हैं।

पहले इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रज्ञके साथ अपनी एकता बताते हुए कहा था कि तू सम्पूर्ण प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञ मेरेको समझ, उसी बातको यहाँ कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्मा समरूपसे स्थित हैं।

'तिष्ठन्तम्'—सम्पूर्ण प्राणी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—इन तीन अवस्थाओंमें जाते हैं; सर्ग-प्रलय, महासर्ग-महाप्रलयमें जाते हैं; ऊँच-नीच गतियोंमें, योनियोंमें जाते हैं अर्थात् सभी प्राणी किसी भी क्षण स्थिर नहीं रहते। परन्तु परमात्मा उन सब अस्थिर प्राणियोंमें नित्य-निरन्तर एकरूपसे स्थित रहते हैं।

'परमेश्वरम्'—सभी प्राणी अपनेको किसी-न- किसीका ईश्वर अर्थात् मालिक मानते ही रहते हैं; परन्तु परमात्मा उन सभी प्राणियोंके तथा सम्पूर्ण जड-चेतन संसारके परम ईश्वर हैं।

'विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति'—प्रतिक्षण विनाशकी तरफ जानेवाले प्राणियोंमें विनाशरहित, सदा एकरूप रहनेवाले परमात्माको जो निर्विकार देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है। तात्पर्य है कि जो परिवर्तनशील शरीरके साथ अपने-आपको देखता है, उसका देखना सही नहीं है; किन्तु जो सदा ज्यों-के-त्यों रहनेवाले परमात्माके साथ अपने-आपको अभिन्नरूपसे देखता है, उसका देखना ही सही है।

पहले इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही मेरे मतमें ज्ञान है, उसी बातको यहाँ कहते हैं कि जो नष्ट होनेवाले प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और सम देखता है, उसका देखना (ज्ञान) ही सही है। तात्पर्य है कि जैसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगमें क्षेत्रमें तो हरदम परिवर्तन होता है, पर क्षेत्रज्ञ ज्यों-का-त्यों ही रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर परमात्मा सब अवस्थाओंमें समानरूपसे स्थित रहते हैं।

पीछेके (छब्बीसवें) श्लोकमें भगवान्‌ने यह बताया कि जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही पैदा होते हैं। परन्तु उन दोनोंमें क्षेत्र तो किसी भी क्षण स्थिर नहीं रहता और क्षेत्रज्ञ एक क्षण भी नहीं बदलता। अतः क्षेत्रज्ञसे क्षेत्रका जो निरन्तर वियोग हो रहा है, उसका अनुभव कर ले। इस (सत्ताईसवें) श्लोकमें भगवान् यह बताते हैं कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाले सम्पूर्ण विषम प्राणियोंमें जो परमात्मा नाशरहित और समानरूपसे स्थित रहते हैं, उनके साथ अपनी एकताका अनुभव कर ले।

परिशिष्ट भाव—जैसे आकाशमें कभी सूर्यका प्रकाश फैल जाता है, कभी अँधेरा छा जाता है, कभी धुआँ छा जाता है, कभी काले-काले बादल छा जाते हैं, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है, कभी ओले गिरते हैं, कभी तरह-तरहके शब्द होते हैं, गर्जना होती है; परन्तु आकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहता है। ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण सत्तामें कभी महासर्ग और महाप्रलय होता है, कभी सर्ग और प्रलय होता है, कभी जन्म और मृत्यु होती है, कभी अकाल पड़ता है, कभी बाढ़ आती है, कभी भूचाल आता है, कभी घमासान युद्ध होता है; परन्तु सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहती है। यह निर्विकारता स्वाभाविक है, जबकि विकार (संग) कृत्रिम है, माना हुआ है। बद्ध हो या मुक्त, पापी हो या धर्मात्मा, यह निर्विकार सत्ता दोनोंमें समानरूपसे स्थित है।

जैसे, गंगाजी निरन्तर बहती रहती हैं, पर जिसके ऊपर बहती हैं, वह आधारशिला ज्यों-की-त्यों स्थिर रहती है। गंगाजीका जल कभी स्वच्छ होता है, कभी मटमैला होता है। कभी जल कम हो जाता है, कभी बाढ़ आ जाती है। कभी तपे पहाड़पर वर्षा होनेसे जल गरम हो जाता है, कभी ठण्डा हो जाता है। कभी तेज प्रवाहके कारण जल आवाज करने लगता है, कभी शान्त हो जाता है। परन्तु आधारशिला ज्यों-की-त्यों रहती है, उसमें कभी कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी तरह कभी जलमें मछलियाँ आ जाती हैं, कभी साँप आदि जन्तु आ जाते हैं, कभी लकड़ीके सिलपट तैरते हुए आ जाते हैं, कभी पुष्प बहते हुए आ जाते हैं, कभी कूड़ा-कचरा आ जाता है, कभी मैला आ जाता है, कभी गोबर आ जाता है, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई जीवित व्यक्ति तैरता हुआ आ जाता है। ये सब तो आकर चले जाते हैं, पर आधारशिला ज्यों-की-त्यों अचल-निर्विकार रहती है। ऐसे ही सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदि निरन्तर बह रही है, पर स्वयं (चिन्मय सत्ता) ज्यों-का-त्यों अचल रहता है। परिवर्तन और विनाश देश, काल आदिमें होता है, स्वयंमें नहीं।

'यः पश्यति स पश्यति'—ये पद पाँचवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें साधनके विषयमें आये हैं और प्रस्तुत श्लोकमें सिद्धिके विषयमें आये हैं। इसीको आगे अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें व्यतिरेकरीतिसे कहा गया है कि जो आत्माको कर्ता देखता है, वह दुर्मति ठीक नहीं देखता—**'न स पश्यति दुर्मतिः'**।

सम्बन्ध—अब भगवान् नष्ट होनेवाले सम्पूर्ण प्राणियोंमें अविनाशी परमात्माको देखनेका फल बताते हैं।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

हि	= क्योंकि	**पश्यन्**	= देखनेवाला मनुष्य	**ततः**	= इसलिये (वह)
सर्वत्र	= सब जगह	**आत्मना**	= अपने-आपसे	**पराम्**	= परम
समवस्थितम्	= समरूपसे स्थित	**आत्मानम्**	= अपनी	**गतिम्**	= गतिको
ईश्वरम्	= ईश्वरको	**न, हिनस्ति**	= हिंसा नहीं करता,	**याति**	= प्राप्त हो जाता है।
समम्	= समरूपसे				

व्याख्या—**'समं पश्यन्हि ···· हिनस्त्यात्मनात्मानम्'**—जो मनुष्य स्थावर-जंगम, जड-चेतन प्राणियोंमें, ऊँच-नीच योनियोंमें, तीनों लोकोंमें समान रीतिसे परिपूर्ण परमात्माको देखता है अर्थात् उस परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, वह अपने द्वारा अपनी हत्या नहीं करता।

जो शरीरके साथ तादात्म्य करके शरीरके बढ़नेसे अपना बढ़ना और शरीरके घटनेसे अपना घटना, शरीरके बीमार होनेसे अपना बीमार होना और शरीरके नीरोग होनेसे अपना नीरोग होना, शरीरके जन्मनेसे अपना जन्मना और शरीरके मरनेसे अपना मरना मानता है तथा शरीरके विकारोंको अपने विकार मानता है, वह अपने-आपसे अपनी हत्या करता है अर्थात् अपनेको जन्म-मरणके चक्करमें ले जाता है। परन्तु जिसकी दृष्टि शरीरकी तरफसे हटकर केवल सर्वव्यापक, सबके शासक परमात्माकी तरफ हो जाती है, वह फिर अपनी हत्या नहीं करता अर्थात् जन्म-मरणके चक्करमें नहीं जाता, अपनेमें संसार और शरीरके विकारोंका अनुभव नहीं करता।

वास्तवमें अपने-आपकी (स्वरूपकी) हत्या अर्थात् अभाव कभी कोई कर ही नहीं सकता और अपना अभाव कभी हो भी नहीं सकता तथा अपना अभाव करना कोई चाहता भी नहीं। वास्तवमें नाशवान् शरीरके साथ तादात्म्य करना ही अपनी हत्या करना है, अपना पतन करना है, अपने-आपको जन्म-मरणमें ले जाना है।

'ततो याति परां गतिम्'—शरीरके साथ तादात्म्य करके जो ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता था, बार-बार जन्मता-मरता था, वह जब परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है, तब वह परमगतिको अर्थात् नित्यप्राप्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

मार्मिक बात

परमात्मतत्त्व सब देशमें है, सब कालमें है, सम्पूर्ण

व्यक्तियोंमें है, सम्पूर्ण वस्तुओंमें है, सम्पूर्ण घटनाओंमें है, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें है। वह सबमें एक रूपसे, समान रीतिसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। अब उसको प्राप्त करना कठिन है तो सुगम क्या होगा? जहाँ चाहो, वहीं प्राप्त कर लो। वास्तवमें इस संसारका जो 'है'-पना दीखता है, वह संसारका नहीं है। संसार तो एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता। इसमें केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तन है। यह केवल परिवर्तनका ही पुंज है। जैसे पंखा तेजीसे घूमता है तो एक चक्र दीखता है, पर वास्तवमें वहाँ चक्र नहीं है, प्रत्युत पंखेकी ताड़ी ही चक्ररूपसे दीखती है। ऐसे ही यह संसार 'नहीं' होते हुए भी 'है'-रूपसे दीखता है। वास्तवमें एक परमात्मतत्त्व ही 'है'-रूपसे विद्यमान है।

विचार करें, अभी जितने शरीर आदि दीखते हैं, ये सौ वर्ष पहले थे क्या? और सौ वर्ष बाद रहेंगे क्या? ये पहले भी नहीं थे और अन्तमें भी नहीं रहेंगे; अतः ये बीचमें भी नहीं हैं। परन्तु परमात्मा सृष्टिके पैदा होनेसे पहले भी था, सृष्टिके लीन होनेके बाद भी रहेगा, अतः परमात्मा सृष्टिके समय भी ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। जो पहले भी नहीं था, बादमें भी नहीं रहेगा, वह अभी भी नहीं है; और जो पहले भी था, बादमें भी रहेगा, वह अभी भी है। अतः संसारका जो 'है'-पना दीखता है, यह गलती है। परमात्मतत्त्व ही 'है'-रूपसे दीखता है। उस परमात्मतत्त्वकी सत्यतासे ही यह असत् संसार मोह-(मूर्खता-) के कारण सत्यकी तरह दीखता है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १। ११७। ४)

यदि मोह नहीं होगा, तो यह संसार नहीं दीखेगा, प्रत्युत एक परमात्मतत्त्व ही दीखेगा—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। कारण कि परमात्मा ही था, परमात्मा ही रहेगा, बीचमें दूसरा कहाँसे आयेगा? सोनेके जितने गहने हैं, उनमें पहले सोना ही था फिर सोना ही रहेगा; अतः बीचमें सोनेके सिवाय दूसरा कहाँसे आयेगा? गहना तो केवल (रूप, आकृति, उपयोग आदिको लेकर) कहनेके लिये है, तत्त्वतः तो सोना ही है। ऐसे ही संसार केवल कहनेके लिये है, तत्त्वतः तो परमात्मा ही है। उस परमात्माका अनुभव करनेमें ही मनुष्य-जन्मकी सफलता है।

'है'-(परमात्मा-) का अनुभव न करके 'नहीं'-(संसार-) में उलझ जाना मनुष्यता नहीं है, प्रत्युत पशुता है। इस पशुताका त्याग करना है—**'पशुबुद्धिमिमां जहि'** (श्रीमद्भा० १२। ५। २)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो नष्ट होनेवाले प्राणियोंमें नष्ट न होनेवाले परमात्माको देखता है, उसका देखना सही है। परन्तु जो नष्ट होनेवालेको देखता है और नष्ट न होनेवालेको नहीं देखता, वह आत्मघाती है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

(महाभारत, उद्योग० ४२। ३७)

'जो अन्य प्रकारका (अविनाशी) होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका (विनाशी) मानता है, उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया?'

जो नाशवान् संसारको न देखकर सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण परमात्मतत्त्वको देखता है, वह आत्मघाती नहीं होता अर्थात् वह अपने द्वारा अपनी हत्या नहीं करता, इसलिये वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो सब जगह परिपूर्ण परमात्मतत्त्वको न देखकर संसार-शरीरको देखता है, वह आत्मघाती परमगतिको न प्राप्त होकर बार-बार जन्मता-मरता रहता है, दुःख पाता रहता है। इसलिये मनुष्य अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे (गीता—छठे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

जैसे दर्पणमें मुख नहीं होनेपर भी मुख दीखता है और स्वप्नमें हाथी नहीं होनेपर भी हाथी दीखता है, ऐसे ही संसार नहीं होनेपर भी संसार दीखता है। अगर संसारकी तरफ दृष्टि न रहे तो संसार 'है'-रूपसे नहीं दीखेगा। परमात्मा ही 'है'- रूपसे दीख रहा है—इस बातको साधक दृढ़तासे मान ले, फिर चाहे वह अभी न दीखे, पर बादमें दीखने लग जायगा। जैसे अभी साधक वृन्दावनमें बैठा है, तो उसे वृन्दावनको याद नहीं करना पड़ता। सोते समय, भोजन करते समय, हरेक कार्य करते समय वह वृन्दावनको याद नहीं करता; परन्तु 'मैं वृन्दावनमें हूँ'—इस बातमें उसको सन्देह नहीं होता। वह बिना याद किये याद रहता है। ऐसे ही अभी भले ही परमात्मा न दीखे, पर साधक ऐसा दृढ़तासे मान ले कि 'है'-रूपसे तो केवल परमात्मा ही है, संसार नहीं है, तो बादमें उसको ऐसा अनुभव होने लग जायगा। कारण कि मिथ्या वस्तु कबतक टिकी रहेगी और सत्य वस्तु कबतक छिपी रहेगी?

परिशिष्ट भाव— वास्तवमें सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें आत्माका ही वर्णन है; परन्तु 'परमेश्वर' और 'ईश्वर' नाम आनेसे इन श्लोकोंकी व्याख्यामें परमात्माका वर्णन किया गया है; क्योंकि आत्माका परमात्मासे साधर्म्य है (इसी अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—इसी अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगकी बात बतायी। इस संयोगसे छूटनेके दो उपाय हैं—परमात्माके साथ अपने स्वतःसिद्ध सम्बन्धको पहचानना और प्रकृति-(शरीर-) से अपने माने हुए सम्बन्धको तोड़ना। सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें परमात्माके साथ सम्बन्धको पहचाननेकी बात बता दी। अब आगेके दो श्लोकोंमें प्रकृतिसे सम्बन्ध तोड़नेकी बात बताते हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

यः	= जो	**क्रियमाणानि**	= की जाती हुई	**पश्यति**	= देखता (अनुभव करता) है,
कर्माणि	= सम्पूर्ण क्रियाओंको	**पश्यति**	= देखता है		
सर्वशः	= सब प्रकारसे	**तथा**	= और		
प्रकृत्या	= प्रकृतिके द्वारा	**आत्मानम्**	= अपने-आपको	**सः, च**	= वही (यथार्थ देखता है)।
एव	= ही	**अकर्तारम्**	= अकर्ता		

व्याख्या—'**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः**'—वास्तवमें चेतन तत्त्व स्वतः-स्वाभाविक निर्विकार, सम और शान्तरूपसे स्थित है। उस चेतन तत्त्व-(परमात्मा-) की शक्ति प्रकृति स्वतः-स्वाभाविक क्रियाशील है। उसमें नित्य-निरन्तर क्रिया होती रहती है—'**प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः**'। यद्यपि प्रकृतिको सक्रिय और अक्रिय—दो अवस्थाओंवाली (सर्ग-अवस्थामें सक्रिय और प्रलय-अवस्थामें अक्रिय) कहते हैं, तथापि सूक्ष्म विचार करें तो प्रलय-अवस्थामें भी उसकी क्रियाशीलता मिटती नहीं है। कारण कि जब प्रलयका आरम्भ होता है, तब प्रकृति सर्ग-अवस्थाकी तरफ चलती है। इस प्रकार प्रकृतिमें सूक्ष्म क्रिया चलती ही रहती है। प्रकृतिकी सूक्ष्म क्रियाको ही अक्रिय-अवस्था कहते हैं; क्योंकि इस अवस्थामें सृष्टिकी रचना नहीं होती। परन्तु महासर्गमें जब सृष्टिकी रचना होती है, तब सर्गके आरम्भसे सर्गके मध्यतक प्रकृति सर्गकी तरफ चलती है और सर्गका मध्य भाग आनेपर प्रकृति प्रलयकी तरफ चलती है। इस प्रकार प्रकृतिकी स्थूल क्रियाको सक्रिय-अवस्था कहते हैं। अगर प्रलय और महाप्रलयमें प्रकृतिको अक्रिय माना जाय, तो प्रलय-महाप्रलयका आदि, मध्य और अन्त कैसे होगा? ये तीनों तो प्रकृतिमें सूक्ष्म क्रिया होनेसे ही होते हैं। अतः सर्ग-अवस्थाकी अपेक्षा प्रलय-अवस्थामें अपेक्षाकृत अक्रियता है, सर्वथा अक्रियता नहीं है।

सूर्यका उदय होता है, फिर वह मध्यमें आ जाता है और फिर वह अस्त हो जाता है, तो इससे मालूम होता है कि प्रातः सूर्योदय होनेपर प्रकाश मध्याह्नतक बढ़ता जाता है और मध्याह्नसे सूर्यास्ततक प्रकाश घटता जाता है। सूर्यास्त होनेके बाद आधी राततक अन्धकार बढ़ता जाता है और आधी रातसे सूर्योदयतक अन्धकार घटता जाता है। वास्तवमें प्रकाश और अन्धकारकी सूक्ष्म सन्धि मध्याह्न और मध्य-रात ही है, पर वह दीखती है सूर्योदय और सूर्यास्तके समय। इस दृष्टिसे प्रकाश और अन्धकारकी क्रिया मिटती नहीं, प्रत्युत निरन्तर होती ही रहती है। ऐसे ही सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलयमें भी प्रकृतिमें क्रिया निरन्तर होती ही रहती है*।

इस क्रियाशील प्रकृतिके साथ जब यह पुरुष सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब शरीरद्वारा होनेवाली स्वाभाविक क्रियाएँ (तादात्म्यके कारण) अपनेमें प्रतीत होने लगती हैं।

'**यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति**'—प्रकृति और उसके कार्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें

*** महासर्गमें समयकी गणनाका साधन सूर्य होता है; किन्तु महाप्रलयमें सूर्य भी लीन हो जाता है। अतः महासर्गके कालसे ही महाप्रलयके कालकी गणना आरम्भ हो जाती है। महाप्रलयके कालकी गणनाका एकमात्र साधन नित्य, चेतन, अविनाशी परमात्मतत्त्व ही होता है।**

खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, घटना-बढ़ना, हिलना-डुलना, सोना-जागना, चिन्तन करना, समाधिस्थ होना आदि जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, वे सभी प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं, स्वयंके द्वारा नहीं; क्योंकि स्वयंमें कोई क्रिया होती ही नहीं—ऐसा जो देखता है अर्थात् अनुभव करता है, वही वास्तवमें ठीक देखता है। कारण कि ऐसा देखनेसे अपनेमें अकर्तृत्व-(अकर्तापन-) का अनुभव हो जाता है।

यहाँ क्रियाओंको प्रकृतिके द्वारा होनेवाली बताया है, कहीं गुणोंके द्वारा होनेवाली बताया है और कहीं इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली बताया है—ये तीनों बातें एक ही हैं। प्रकृति सबका कारण है, गुण प्रकृतिके कार्य हैं और गुणोंका कार्य इन्द्रियाँ हैं। अतः प्रकृति, गुण और इन्द्रियाँ—इनके द्वारा होनेवाली सभी क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा होनेवाली ही कही जाती हैं।

परिशिष्ट भाव—जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृति-विभागमें ही होती हैं। इसमें जीवका हाथ नहीं है। प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको ही गीतामें कहीं 'गुणोंसे होनेवाली क्रियाएँ' और कहीं 'इन्द्रियोंसे होनेवाली क्रियाएँ' कहा गया है; जैसे—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**' (३। २७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (३। २८); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं—'**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति**' (१४। १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं—'**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (५। ९) आदि। तात्पर्य है कि क्रियामात्र प्रकृतिजन्य ही है। अतः प्रकृति कभी किंचिन्मात्र भी अक्रिय नहीं होती और पुरुषमें कभी किंचिन्मात्र भी क्रिया नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं) लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है—'**नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (५। ८); स्वयं न करता है, न करवाता है—'**नैव कुर्वन्न कारयन्**' (५। १३); यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (१३। ३१); जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है— '**तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं..........**' (१८। १६) आदि।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥

यदा	= जिस कालमें (साधक)		स्थित	**विस्तारम्**	= विस्तार (देखता है),
भूतपृथग्भावम्	= प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको	**अनुपश्यति**	= देखता है	**तदा**	= उस कालमें (वह)
एकस्थम्	= एक प्रकृतिमें ही	**च**	= और	**ब्रह्म**	= ब्रह्मको
		ततः	= उस प्रकृतिसे	**सम्पद्यते**	= प्राप्त हो जाता है।
		एव	= ही (उन सबका)		

व्याख्या—[प्रकृतिके दो रूप हैं—क्रिया और पदार्थ। क्रियासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये उनतीसवाँ श्लोक कहा, अब पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये यह तीसवाँ श्लोक कहते हैं।]

'यदा भूतपृथग्भावं ..... ब्रह्म सम्पद्यते तदा'—जिस कालमें साधक सम्पूर्ण प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको अर्थात् त्रिलोकीमें जितने जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज प्राणी पैदा होते हैं, उन प्राणियोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंको एक प्रकृतिमें ही स्थित देखता है, उस कालमें वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

त्रिलोकीके स्थावर-जंगम प्राणियोंके शरीर, नाम, रूप, आकृति, मनोवृत्ति, गुण, विकार, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि सब एक प्रकृतिसे ही उत्पन्न हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृतिमें ही स्थित रहते हैं और प्रकृतिमें ही लीन होते हैं। इस प्रकार देखनेवाला ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है अर्थात् प्रकृतिसे अतीत स्वतःसिद्ध अपने स्वरूप परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें वह पहलेसे ही प्राप्त था, केवल प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ

अपना सम्बन्ध माननेसे ही उसको अपने स्वरूपका अनुभव नहीं होता था। परन्तु जब वह सबको प्रकृतिमें ही स्थित और प्रकृतिसे ही उत्पन्न देखता है, तब उसको अपने स्वत:सिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है।

जैसे पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले स्थावर-जंगम जितने भी शरीर हैं तथा उन शरीरोंमें जो कुछ भी परिवर्तन होता है, रूपान्तर होता है[1] क्रियाएँ होती हैं[2] वे सब पृथ्वीपर ही होती हैं। ऐसे ही प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले जितने गुण, विकार हैं तथा उनमें जो कुछ परिवर्तन होता है, घट-बढ़ होती है, वह सब-की-सब प्रकृतिमें ही होती है। तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीसे पैदा होनेवाले पदार्थ पृथ्वीमें ही स्थित रहनेसे और पृथ्वीमें लीन होनेसे पृथ्वीरूप ही हैं, ऐसे ही प्रकृतिसे पैदा होनेवाला सब संसार प्रकृतिमें ही स्थित रहनेसे और प्रकृतिमें ही लीन होनेसे प्रकृतिरूप ही है। इसी प्रकार स्थावर-जंगम प्राणियोंके रूपमें जो चेतन-तत्त्व है, वह निरन्तर परमात्मामें ही स्थित रहता है। प्रकृतिके संगसे उसमें कितने ही विकार क्यों न दीखें, पर वह सदा असंग ही रहता है। ऐसा स्पष्ट अनुभव हो जानेपर साधक ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

यह नियम है कि प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, सुख-बुद्धि आदिसे प्राणियोंको अलग-अलग भावसे देखनेपर राग-द्वेष पैदा हो जाते हैं। राग होनेपर उनमें गुण दिखायी देते हैं और द्वेष होनेपर दोष दिखायी देते हैं। इस प्रकार दृष्टिके आगे राग-द्वेषरूप परदा आ जानेसे वास्तविकताका अनुभव नहीं होता। परन्तु जब साधक अपने कहलानेवाले स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको प्रकृतिमें ही देखता है तथा अपनेमें उनका अभाव देखता है, तब उसकी दृष्टिके आगेसे राग-द्वेषरूप परदा हट जाता है और उसको स्वत:सिद्ध परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें व्यक्तिकी बात और प्रस्तुत श्लोकमें कालकी बात आयी है।

भक्तिके प्रकरणमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण भावोंको अपनेमें बताया है—'**भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः**' (१०। ५), पर यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें सम्पूर्ण भावोंको प्रकृतिमें बताया है। तात्पर्य है कि जहाँ सत्-असत्‌का विभाग किया है, वहाँ सब भाव असत्‌में कहे हैं और जहाँ समग्रकी बात कही है, वहाँ सब भाव अपनेमें कहे हैं। समग्रमें सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही हैं—'**सदसच्चाहम्**' (९। १९)

सम्बन्ध—बाईसवें श्लोकमें जिसको देहसे पर बताया है और पीछेके (तीसवें) श्लोकमें जिसका ब्रह्मको प्राप्त होना बताया है, उस पुरुष-(चेतन-) के वास्तविक स्वरूपका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१ ॥

कौन्तेय = हे कुन्तीनन्दन!
अयम् = यह (पुरुष स्वयं)
अनादित्वात् = अनादि होनेसे (और)
निर्गुणत्वात् = गुणोंसे रहित होनेसे
अव्ययः = अविनाशी
परमात्मा = परमात्मस्वरूप ही है।
शरीरस्थः = यह शरीरमें रहता हुआ
अपि = भी
न = न
करोति = करता है (और)
न = न
लिप्यते = लिप्त होता है।

१-पहले मिट्टी और बीजको तौल ले और एक पात्रमें वह तुली हुई मिट्टी बिछाकर बीज बो दे और पानी सींच दे। फसल होनेपर उसको काटकर अनाज तैयार कर ले और मिट्टीको सूखने दे। सूखनेके बाद मिट्टी और अनाजको तौलकर देखे तो मिट्टीका वजन कम तथा अनाजका वजन ज्यादा होगा। यह मिट्टी-(पृथ्वी-) का अनाजमें रूपान्तर होना है

२-क्रियाएँ दो तरह की होती हैं—होना और करना। बालकका जवान और बूढ़ा होना आदि क्रियाएँ 'होती' हैं और खाना-पीना आदि क्रियाएँ 'करते' हैं। ये सब क्रियाएँ शरीरमें ही होती हैं।

व्याख्या—'**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः**'— इसी अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिसको अनादि कहा है, उसीको यहाँ भी '**अनादित्वात्**' पदसे अनादि कहा है अर्थात् यह पुरुष आदि-(आरम्भ-) से रहित है। अब प्रश्न होता है कि वहाँ तो प्रकृतिको भी अनादि कहा है, इसलिये प्रकृति और पुरुष—दोनोंमें क्या फरक रहा? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—'**निर्गुणत्वात्**' अर्थात् यह पुरुष गुणोंसे रहित है। प्रकृति अनादि तो है, पर वह गुणोंसे रहित नहीं है, प्रत्युत गुणों और विकारोंवाली है। उससे सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गुण तथा विकार पैदा होते हैं। परन्तु पुरुष इन तीनों गुणों और विकारोंसे सर्वथा रहित (निर्गुण और निर्विकार) है। ऐसा यह पुरुष साक्षात् अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है अर्थात् यह पुरुष विनाशरहित परम शुद्ध आत्मा है।

'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'— यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न कुछ करता है और न किसी कर्मसे लिप्त ही होता है। तात्पर्य है कि इस पुरुष- (स्वयं-) ने न तो पहले किसी भी अवस्थामें कुछ किया है, न वर्तमानमें कुछ करता है और न आगे ही कुछ कर सकता है अर्थात् यह पुरुष सदासे ही प्रकृतिसे निर्लिप्त, असंग है तथा गुणोंसे रहित और अविनाशी है। इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व है ही नहीं।

यहाँ '**शरीरस्थोऽपि**' कहनेका तात्पर्य है कि यह पुरुष जिस समय अपनेको शरीरमें स्थित मानकर अपनेको कार्यका कर्ता और सुख-दुःखका भोक्ता मानता है, उस समय भी वास्तवमें यह तटस्थ, प्रकाशमात्र ही रहता है। सुख-दुःखका भान इसीसे होता है; अतः इसको प्रकाशक कह सकते हैं, पर इसमें प्रकाशक-धर्म नहीं है।

यहाँ '**अपि**' पदसे ऐसा मालूम होता है कि अनादिकालसे अपनेको शरीरमें स्थित माननेवाला हरेक (चींटीसे ब्रह्मापर्यन्त) प्राणी स्वरूपसे सदा ही निर्लिप्त, असंग है। उसकी शरीरके साथ एकता कभी हुई ही नहीं; क्योंकि शरीर तो प्रकृतिका कार्य होनेसे सदा प्रकृतिमें ही स्थित रहता है और स्वयं परमात्माका अंश होनेसे सदा परमात्मामें ही स्थित रहता है। स्वयं परमात्मासे कभी अलग हो सकता ही नहीं। शरीरके साथ एकात्मता माननेपर भी, शरीरके साथ कितना ही घुल-मिल जानेपर भी, शरीरको ही अपना स्वरूप माननेपर भी उसकी निर्लिप्तता कभी नष्ट नहीं होती, वह स्वरूपसे सदा ही निर्लिप्त रहता है। अपनी निर्लिप्तताका अनुभव न होनेपर भी उसके स्वरूपमें कुछ भी विकृति नहीं होती। अतः उसने अपने स्वरूपसे न कभी कुछ किया है और न करता ही है तथा वह स्वयं न कभी लिप्त हुआ है और न लिप्त होता ही है।

यद्यपि पुरुष अपनेको शरीरमें स्थित माननेसे ही कर्ता और भोक्ता बनता है, तथापि इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि 'प्रकृति'में स्थित पुरुष ही भोक्ता बनता है और यहाँ कहते हैं कि 'शरीर' में स्थित होनेपर भी पुरुष कर्ता-भोक्ता नहीं है। ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रकृति और उसका कार्य शरीर—दोनों एक ही हैं। अतः पुरुषको चाहे प्रकृतिमें स्थित कहो, चाहे शरीरमें स्थित कहो, एक ही बात है। एक शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे मात्र प्रकृतिके साथ, मात्र शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। वास्तवमें पुरुषका सम्बन्ध न तो व्यष्टि शरीरके साथ है और न समष्टि प्रकृतिके साथ ही है। अपना सम्बन्ध शरीरके साथ माननेसे ही वह अपनेको कर्ता-भोक्ता मान लेता है। वास्तवमें वह न कर्ता है और न भोक्ता है।

परिशिष्ट भाव—पुरुष अनादि है, पर शरीर आदिवाला है। पुरुष निर्गुण है, पर शरीर गुणमय है। पुरुष परमात्मा है, पर शरीर अनात्मा है। पुरुष अव्यय है, पर शरीर नाशवान् है। इसलिये अज्ञानी मनुष्यके द्वारा पुरुष (आत्मा)-को शरीरमें स्थित माननेपर भी वास्तवमें वह शरीरमें स्थित नहीं है अर्थात् शरीरसे सर्वथा असम्बद्ध है—'**न करोति न लिप्यते**'। कारण कि शरीरका सम्बन्ध तो संसारके साथ है, पर पुरुषका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। अतः वास्तवमें पुरुष कभी शरीरस्थ हो सकता ही नहीं। परन्तु इस वास्तविकताकी तरफ ध्यान न देनेके कारण मनुष्य उसको शरीरस्थ मान लेता है।

'**निर्गुणत्वात्**'— पुरुष स्वयं निर्गुण होते हुए भी गुणोंका संग करके बँध जाता है (गीता—इसी अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। दीखता तो ऐसा ही है कि बन्धन स्वतः-स्वाभाविक है और मुक्ति कृतिसाध्य है, पर वास्तवमें मुक्ति स्वतः-स्वाभाविक है और बन्धन कृतिसाध्य है। गुणोंका सम्बन्ध पुरुषके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रकृतिके साथ है (गीता १३। २३) इसलिये 'अनादि, निर्गुण, परमात्मा, अव्यय' और '**न करोति न लिप्यते**'— ये स्वतः-स्वाभाविक हैं। साधकको इस स्वाभाविकताका अनुभव करना है।

जैसे मकानमें रहते हुए भी हम मकानसे अलग हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए माननेपर भी हम शरीरसे अलग हैं।

'न करोति न लिप्यते'—यह साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। तात्पर्य है कि स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—यह स्वतःसिद्ध बात है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है। तात्पर्य है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! इसलिये साधकको अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव करना चाहिये। अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व (निष्कामता-निर्ममता)-का अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। इसीको गीताने स्मृति प्राप्त होना कहा है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८। ७३)

अगर स्वरूप कर्ता और भोक्ता नहीं है तो फिर कर्ता और भोक्ता कौन है? यह विचार किया जाता है। पहले यह विचार करें कि कर्ता कौन है? शरीर कर्ता नहीं है; क्योंकि यह प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार करण हैं, जिनको 'अन्तःकरण' कहते हैं। यह अन्तःकरण भी कर्ता नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—**'स्वतन्त्रः कर्ता'** (पाणि० अ० १। ४। ५४)। करण तो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त सहायक होता है—**'साधकतमं करणम्'** (पाणि० अ० १। ४। ४२), इसलिये करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं। जैसे, कलम स्वतन्त्रतासे नहीं लिखती, प्रत्युत वह तो लिखनेका एक साधन (करण) है, जो लेखक (कर्ता)-के अधीन होता है। अतः करण कर्ता नहीं होता और कर्ता करण नहीं होता। दूसरी बात, यदि करणमें कर्तापन है तो फिर सुखी-दुःखी स्वयं क्यों होता है? यदि करण सुखी-दुःखी होता है तो हमें क्या नुकसान है? सत्-स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि मैंपन तो प्रकृतिका कार्य है, वह प्रकृतिसे अतीतमें कैसे सम्भव है? यदि स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं; क्योंकि स्वरूप अविनाशी है। इसलिये भगवान्ने यहाँ स्वरूपमें कर्तापनका निषेध किया है—**'न करोति'**। आगे अठारहवें अध्यायमें भी भगवान्ने कहा है कि जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है (गीता—अठारहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दुःखी) होता है, वही कर्ता होता है।

अब यह विचार करें कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न सत् है, न असत् है। सत् भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि सत्‌में कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'**, जबकि भोक्तापनका अभाव होता है—**'न लिप्यते'**। असत् भी भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि असत्‌की सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'**। असत्‌में चेतनता भी नहीं है। अतः उसमें भोक्तापनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तापन और भोक्तापन न तो सत्‌में है और न असत्‌में ही है। सत्-असत्‌के संयोगमें भी कर्तापन और भोक्तापन नहीं है; क्योंकि जैसे दिन और रातका संयोग असम्भव है, ऐसे ही सत् और असत्‌का संयोग भी असम्भव है। अतः कर्तापन-भोक्तापन केवल माने हुए हैं—**'कर्ताहमिति मन्यते'** (३। २७)। जब साधक विवेकपूर्वक शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् मैं-मेरापनको मिटा देता है (जो कि वास्तवमें है नहीं), तब न कर्ता रहता है, न भोक्ता रहता है, प्रत्युत एक चिन्मय सत्ता रहती है। इस प्रकार अपनेमें कर्तापन और भोक्तापनके अभावका अनुभव होनेपर साधक मुक्त हो जाता है अर्थात् कर्ता-भोक्ता नहीं रहता, प्रत्युत शुद्ध स्वरूप (चिन्मय सत्ता) रह जाता है।

'न करोति न लिप्यते' पदोंका विवेचन भगवान्ने आगे बत्तीसवें-तैंतीसवें श्लोकोंमें किया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि वह पुरुष न करता है और न लिप्त होता है, तो अब प्रश्न होता है कि वह कैसे लिप्त नहीं होता और कैसे नहीं करता? इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

यथा = जैसे
सर्वगतम् = सब जगह व्याप्त
आकाशम् = आकाश
सौक्ष्म्यात् = अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे
न, उपलिप्यते = (कहीं भी) लिप्त नहीं होता,
तथा = ऐसे ही
सर्वत्र = सब जगह
अवस्थितः = परिपूर्ण
आत्मा = आत्मा
देहे = (किसी भी) देहमें
न, उपलिप्यते = लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—[पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने **'न करोति'** पदोंसे पहले कर्तृत्वका और फिर **'न लिप्यते'** पदोंसे भोक्तृत्वका अभाव बताया है। परन्तु उन दोनोंका विवेचन करते हुए इस श्लोकमें पहले भोक्तृत्वके अभावकी बात बतायी है और आगेके श्लोकमें कर्तृत्वके अभावकी बात बतायेंगे। अत: यहाँ ऐसा व्यतिक्रम रखनेमें भगवान्‌का क्या भाव है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि कर्तृत्वके बाद ही भोक्तृत्व होता है अर्थात् कर्म करनेके बाद ही उस कर्मके फलका भोग होता है, तथापि मनुष्य जो कुछ भी करता है, पहले किसी फल-(सिद्धि-) का उद्देश्य मनमें रखकर ही करता है। अत: मनमें पहले भोक्तृत्व आता है, फिर उसके अनुसार काम करता है अर्थात् फिर कर्तृत्व आता है। इस दृष्टिसे भगवान् यहाँ सबसे पहले भोक्तृत्वका निषेध करते हैं। भोक्तृत्व-(लिप्तता-) का त्याग होनेपर कर्तृत्वका त्याग स्वत: हो जाता है अर्थात् फलेच्छाका त्याग होनेपर क्रिया करनेपर भी कर्तृत्व नहीं होता।]

'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते'—आकाशका कार्य वायु, तेज, जल और पृथ्वी है। अत: आकाश अपने कार्य वायु आदि चारों भूतोंमें व्यापक है, पर ये चारों आकाशमें व्यापक नहीं हैं, प्रत्युत व्याप्य हैं। ये चारों आकाशके अन्तर्गत हैं, पर आकाश इन चारोंके अन्तर्गत नहीं है। इसका कारण यह है कि आकाशकी अपेक्षा ये चारों स्थूल हैं और आकाश इनकी अपेक्षा सूक्ष्म है। ये चारों सीमित हैं, सान्त हैं और आकाश असीम है, अनन्त है। इन चारों भूतोंमें विकार होते हैं, पर आकाशमें विकार नहीं होता।

'सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते'—जैसे आकाश वायु आदि चारों भूतोंमें रहता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह, सब शरीरोंमें रहनेवाला आत्मा किसी भी शरीरमें लिप्त नहीं होता। आत्मा सबमें परिपूर्ण रहता हुआ भी किसीमें घुलता-मिलता नहीं। वह सदा-सर्वदा सर्वथा निर्लिप्त रहता है; क्योंकि आत्मा स्वयं नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है (गीता—दूसरे अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ श्लोक) तथा इस अविनाशी आत्मासे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है (गीता—दूसरे अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—चिन्मय सत्ता एक ही है, पर अहंताके कारण वह अलग-अलग दीखती है। अपरा प्रकृतिके अंश **'अहम्'** को पकड़नेके कारण ही यह जीव 'अंश' कहलाता है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)। अगर यह अहम्‌को न पकड़े तो एक सत्ता-ही-सत्ता है। सत्ता (होनेपन)-के सिवाय सब कल्पना है। वह चिन्मय सत्ता सब कल्पनाओंका आधार, अधिष्ठान, प्रकाशक और आश्रय है। उस सत्तामें एकदेशीयपना नहीं है। वह चिन्मय सत्ता सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण सृष्टि (क्रियाएँ और पदार्थ) उस सत्ताके अन्तर्गत हैं। सृष्टि तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता न शरीरस्थ है और न प्रकृतिस्थ है, प्रत्युत आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित है अर्थात् वह सम्पूर्ण शरीरोंके, सृष्टिमात्रके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है। तात्पर्य है कि सर्वदेशीय सत्ता एक ही है। वही योगियोंका योग है, वही ज्ञानियोंका ज्ञान है और वही भक्तोंका भगवान् है। साधकका लक्ष्य निरन्तर उस सत्ताकी तरफ ही रहना चाहिये।

सत्तामें एकदेशीयता अहम्‌के कारण दीखती है। वह अहम् सुखलोलुपतापर टिका हुआ है। साधन करते हुए भी साधक जहाँ है, वहीं सुख भोगने लग जाता है—**'सुखसंगेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)। यह सुखलोलुपता गुणातीत होनेतक रहती है। अत: इसमें साधकको बहुत विशेष सावधान रहना चाहिये और सावधानीपूर्वक सुखलोलुपतासे बचना चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने आत्मामें भोक्तृत्वका अभाव बताया, अब आगेके श्लोकमें आत्मामें कर्तृत्वका अभाव बताते हैं।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**इमम्**	= इस	**क्षेत्री**	= क्षेत्रज्ञ (आत्मा)
यथा	= जैसे	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
एकः	= एक ही	**लोकम्**	= संसारको	**क्षेत्रम्**	= क्षेत्रको
रविः	= सूर्य	**प्रकाशयति**	= प्रकाशित करता है,	**प्रकाशयति**	= प्रकाशित करता है,
		तथा	= ऐसे ही		

व्याख्या—**'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः'**—नेत्रोंसे दीखनेवाले इस सम्पूर्ण संसारको, संसारके मात्र पदार्थोंको एक सूर्य ही प्रकाशित करता है और संसारकी सब क्रियाएँ सूर्यके प्रकाशके अन्तर्गत होती हैं; परन्तु सूर्यमें 'मैं सबको प्रकाशित करता हूँ' ऐसा कर्तृत्व नहीं होता। जैसे—सूर्यके प्रकाशमें ही ब्राह्मण वेदपाठ करता है और शिकारी पशुओंको मारता है, पर सूर्यका प्रकाश वेदपाठ और शिकाररूपी क्रियाओंको करने-करवानेमें कारण नहीं बनता।

यहाँ **'लोक'** शब्द मात्र संसार-(चौदह भुवनों-) का वाचक है। कारण कि मात्र संसारमें जो कुछ भी (चन्द्रमा, तारे, अग्नि, मणि, जड़ी-बूटी आदिमें) प्रकाश है, वह सब सूर्यका ही है।

'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत'—सूर्यकी तरह एक ही क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ, आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है अर्थात् सब क्षेत्रोंमें करना-करवानारूप सम्पूर्ण क्रियाएँ क्षेत्रीके प्रकाशमें ही होती हैं; परन्तु क्षेत्री उन क्रियाओंको करने-करवानेमें कारण नहीं बनता।

सूर्य तो केवल स्थूल संसारको ही प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशमें स्थूल संसारकी ही क्रियाएँ होती हैं, पर क्षेत्री केवल स्थूल क्षेत्र-(संसार-) को ही प्रकाशित नहीं करता, प्रत्युत वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है तथा उसके प्रकाशमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं।

जैसे सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करनेपर भी सूर्यमें (सबको प्रकाशित करनेका) अभिमान नहीं आता और तरह-तरहकी क्रियाओंको प्रकाशित करनेपर भी सूर्यमें नानाभेद नहीं आता, ऐसे ही सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करने, उनको सत्ता-स्फूर्ति देनेपर भी क्षेत्रीमें अभिमान, कर्तृत्व नहीं आता और तरह-तरहकी क्रियाओंको प्रकाशित करनेपर भी क्षेत्रीमें नानाभेद नहीं आता। वह क्षेत्री सदा ही ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त, असंग रहता है।

कोई भी क्रिया तथा वस्तु बिना आश्रयके नहीं होती और कोई भी प्रतीति बिना प्रकाश-(ज्ञान-) के नहीं होती। क्षेत्री सम्पूर्ण क्रियाओं, वस्तुओं और प्रतीतियोंका आश्रय और प्रकाशक है।

परिशिष्ट भाव—जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् (दृश्यमात्र)-को प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है। ऐसे ही स्वयं सम्पूर्ण लोकोंके सब शरीरोंको प्रकाशित करता है अर्थात् उनको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें स्वयं न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है, अर्थात् उसमें न कर्तृत्व आता है, न भोक्तृत्व। तात्पर्य है कि स्वयंमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है।

करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि)-के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष (चेतन) बिना प्रकृतिकी सहायताके कुछ नहीं कर सकता। अतः पुरुषपर कुछ करनेकी जिम्मेवारी हो ही नहीं सकती। यह सबका अनुभव है कि शरीरके बिना हम कुछ कर सकते ही नहीं। इसलिये कुछ-न-कुछ करनेमें ही शरीरका उपयोग है। अगर हम कुछ भी न करना चाहें तो शरीरका क्या उपयोग है? कुछ भी उपयोग नहीं है। अगर हम कुछ भी देखना न चाहें तो आँख हमारे क्या काम आयी? कुछ भी सुनना न चाहें तो कान हमारे क्या काम आया? स्थूल क्रिया करनेमें स्थूलशरीर काम आता है। चिन्तन, ध्यान करनेमें सूक्ष्मशरीर काम आता है। स्थिरता, समाधिमें कारणशरीर काम आता है।* अगर कुछ न करें तो तीनों शरीर हमारे क्या काम आये? शरीर और उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसके लिये शरीर और उसकी क्रियाएँ कुछ काम नहीं आतीं। चिन्मय सत्तामात्रमें कोई कमी नहीं आती, वह सर्वथा पूर्ण है; अतः हमारेको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। चिन्मय सत्ताके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं; क्योंकि सत्ता एक ही हो सकती है, दो हो सकती ही नहीं। अतः हमारेको किसी साथीकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार न तो क्रियाके साथ सम्बन्ध (कर्तृत्व)

---

* **समाधि और व्युत्थान—दोनों कारणशरीरमें होते हैं। कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'सहज-समाधि' अथवा 'सहजावस्था' होती है।**

हो, न अप्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (कामना) हो और न प्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (ममता) हो तो प्रकृतिके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा। प्रकृतिसे तादात्म्य न रहनेपर प्रकृतिमें क्रिया तो रहेगी, पर कर्ता और भोक्ता कोई नहीं रहेगा। (इसी अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—अब भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको जाननेका फल बताते हुए प्रकरणका उपसंहार करते हैं।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

एवम्	= इस प्रकार	**च**	= तथा	**विदुः**	= जानते हैं,
ये	= जो			**ते**	= वे
ज्ञानचक्षुषा	= ज्ञानरूपी नेत्रोंसे	**भूतप्रकृतिमोक्षम्**	= कार्य-कारण-सहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग	**परम्**	= परमात्माको
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः	= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके			**यान्ति**	= प्राप्त हो जाते हैं।
अन्तरम्	= विभागको				

व्याख्या—[ज्ञानमार्ग विवेकसे ही आरम्भ होता है और वास्तविक विवेक-(बोध-) में ही समाप्त होता है। वास्तविक विवेक होनेपर प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वत:सिद्ध परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—इसी बातको यहाँ बताया गया है।]

'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा'—सत्-असत्, नित्य-अनित्य, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको अलग-अलग जाननेका नाम 'ज्ञानचक्षु' (विवेक) है। यह क्षेत्र विकारी है, कभी एकरूप नहीं रहता। यह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। ऐसा कोई भी क्षण नहीं है, जिसमें यह स्थिर रहता हो। परन्तु इस क्षेत्रमें रहनेवाला, इसको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ सदा एकरूप रहता है। क्षेत्रज्ञमें परिवर्तन न हुआ है, न होगा और न होना सम्भव ही है। इस तरह जानना, अनुभव करना ही ज्ञानचक्षुसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागको जानना है।

'भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्'—वास्तविक विवेक अर्थात् बोध होनेपर भूत और प्रकृतिसे अर्थात् प्रकृतिके कार्यमात्रसे तथा प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अर्थात् प्रकृतिसे अपने अलगावका ठीक अनुभव होनेपर साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान्‌ने पहले अव्यक्तकी उपासना करनेवालोंको अपनी प्राप्ति बतायी थी—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** (१२। ४), उसी बातको इस अध्यायके अठारहवें श्लोकमें **'मद्भावायोपपद्यते'** पदसे, तेईसवें श्लोकमें **'न स भूयोऽभिजायते'** पदोंसे और यहाँ **'यान्ति ते परम्'** पदोंसे कहा है।

ज्ञानमार्गमें देहाभिमान ही प्रधान बाधा है। इस बाधाको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके आरम्भमें **'इदं शरीरम्'** पदोंसे शरीर-(क्षेत्र-) से अपनी (क्षेत्रज्ञकी) पृथक्ताका अनुभव करनेके लिये कहा, और दूसरे श्लोकमें **'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्'** पदसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानको वास्तविक ज्ञान कहा, फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पृथक्ताका कई तरहसे वर्णन किया। अब उसी विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् अन्तमें कहते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पृथक्ताको ठीक-ठीक जान लेनेसे क्षेत्रके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

क्षेत्रज्ञने ही परमात्मासे विमुख होकर परमात्मासे भिन्नता मानी है और क्षेत्रके सम्मुख होकर क्षेत्रसे एकता मानी है। इसलिये परमात्मासे एकता और क्षेत्रसे सर्वथा भिन्नता— दोनों बातोंको कहना आवश्यक हो गया। अत: भगवान्‌ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** पदोंसे क्षेत्रज्ञकी परमात्मासे एकता बतायी और यहाँ क्षेत्रकी समष्टि संसारसे एकता बता रहे हैं। दोनोंका तात्पर्य क्षेत्रज्ञ और परमात्माकी अभिन्नता बतानेमें ही है।

जैसे किसी मकानमें चारों ओर अँधेरा है। कोई कह देता है कि मकानमें प्रेत रहते हैं, तो उसमें प्रेत दीखने लग जाते हैं अर्थात् उसमें प्रेत होनेका वहम हो जाता है। परन्तु किसी साहसी पुरुषके द्वारा मकानके भीतर जाकर प्रकाश कर देनेसे अँधेरा और प्रेत—दोनों ही मिट जाते हैं। अँधेरेमें चलते समय मनुष्य धीरे-धीरे चलता है कि कहीं ठोकर न लग जाय, कहीं गड्ढा न आ जाय। उसको गिरनेका और साथ ही बिच्छू, साँप, चोर आदिका भय भी लगा रहता है।

परन्तु प्रकाश होते ही ये सब भय मिट जाते हैं। ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण प्रकाशस्वरूप परमात्मासे विमुख होनेपर अन्धकारस्वरूप संसारकी स्वतन्त्र सत्ता सर्वत्र दीखने लग जाती है और तरह-तरहके भय सताने लग जाते हैं। परन्तु वास्तविक बोध होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और सब भय मिट जाते हैं। एक प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही शेष रह जाता है। अँधेरेको मिटानेके लिये तो प्रकाशको लाना पड़ता है, परमात्माको कहींसे लाना नहीं पड़ता। वह तो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। इसलिये संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसका अनुभव अपने-आप हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान 'विवेक' कहलाता है। जो साधक इस विवेकको महत्त्व देकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको ठीक-ठीक जान लेते हैं तथा प्रकृति और उसके कार्य (शरीर)-को स्वयंसे सर्वथा अलग अनुभव कर लेते हैं, वे चिन्मय परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें एक चिन्मय तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता।

भगवान्ने '**मद्भावायोपपद्यते**' (१३। १८) पदसे सगुणकी प्राप्ति बतायी है और यहाँ '**ये विदुर्यान्ति ते परम्**' पदोंसे निर्गुणकी प्राप्ति बतायी है। वास्तवमें '**मद्भाव**' और '**परम्**' की प्राप्ति एक ही है (गीता—आठवें अध्यायका इक्कीसवाँ और चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक तेरहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १३॥

इस (तेरहवें) अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका वर्णन किया गया है। क्षेत्र अलग है और क्षेत्रज्ञ अलग है—ऐसा अनुभव हो जानेसे क्षेत्रज्ञका परमात्माके साथ योग हो जाता है, जो कि नित्य है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' रखा गया है।

तेरहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ त्रयोदशोऽध्यायः**' के तीन, '**श्रीभगवानुवाच**' के दो, श्लोकोंके चार सौ आठ और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग चार सौ छब्बीस है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ त्रयोदशोऽध्यायः**' के आठ, '**श्रीभगवानुवाच**' के सात, श्लोकोंके एक हजार अट्ठासी और पुष्पिकाके बावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार एक सौ पचपन है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है—'**श्रीभगवानुवाच।**'

तेरहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके चौंतीस श्लोकोंमेंसे—पहले श्लोकके प्रथम चरणमें तथा अठारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; सत्रहवें श्लोकके तृतीय चरणमें तथा इकतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; और तेईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उनतीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्‌ने तेरहवें अध्यायके अन्तमें कहा कि ज्ञानचक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको देखनेवाला परमात्माको प्राप्त हो जाता है। अब प्रश्न होता है कि वह ज्ञान क्या है और उसकी क्या महिमा है तथा उस ज्ञानकी प्राप्तिका सरल उपाय क्या है? इसका वर्णन करनेके लिये भगवान् चौदहवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

बन्धन दोसे होता है—प्रकृतिसे और प्रकृतिके कार्य गुणोंसे। प्रकृतिके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायका विषय बता दिया। अब प्रकृतिके कार्य गुणोंके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान् चौदहवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें ज्ञानकी महिमाका वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

ज्ञानानाम्	= सम्पूर्ण ज्ञानोंमें	**प्रवक्ष्यामि**	= कहूँगा,	**इतः**	= इस संसारसे (मुक्त होकर)
उत्तमम्	= उत्तम (और)	**यत्**	= जिसको	**पराम्**	= परम
परम्	= श्रेष्ठ	**ज्ञात्वा**	= जानकर	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
ज्ञानम्	= ज्ञानको (मैं)	**सर्वे**	= सब-के-सब	**गताः**	= प्राप्त हो गये हैं।
भूयः	= फिर	**मुनयः**	= मुनिलोग		

व्याख्या—**'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्'**—तेरहवें अध्यायके अठारहवें, तेईसवें और चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका, प्रकृति-पुरुषका जो ज्ञान (विवेक) बताया था, उसी ज्ञानको फिर बतानेके लिये भगवान् '**भूयः प्रवक्ष्यामि**' पदोंसे प्रतिज्ञा करते हैं।

लौकिक और पारलौकिक जितने भी ज्ञान हैं अर्थात् जितनी भी विद्याओं, कलाओं, भाषाओं, लिपियों आदिका ज्ञान है, उन सबसे प्रकृति-पुरुषका भेद बतानेवाला, प्रकृतिसे अतीत करनेवाला, परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला यह ज्ञान श्रेष्ठ है, सर्वोत्कृष्ट है। इसके समान दूसरा कोई ज्ञान है ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होना सम्भव भी नहीं। कारण कि दूसरे सभी ज्ञान संसारमें फँसानेवाले हैं, बन्धनमें डालनेवाले हैं।

यद्यपि 'उत्तम' और 'पर'—इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ होता है, तथापि जहाँ एक अर्थके दो शब्द एक साथ आ जाते हैं, वहाँ उनके दो अर्थ होते हैं। अतः यहाँ 'उत्तम' शब्दका अर्थ है कि यह ज्ञान प्रकृति और उसके कार्य संसार-शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाला होनेसे श्रेष्ठ है; और 'पर' शब्दका अर्थ है कि यह ज्ञान परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे सर्वोत्कृष्ट है।

'यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः'—जिस ज्ञानको जानकर अर्थात् जिसका अनुभव करके बड़े-बड़े मुनिलोग इस संसारसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, उसको मैं कहूँगा। उस ज्ञानको प्राप्त करनेपर कोई मुक्त हो और कोई मुक्त न हो—ऐसा होता ही नहीं, प्रत्युत इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब मुनिलोग मुक्त हो जाते हैं, संसारके बन्धनसे, संसारकी परवशतासे छूट जाते हैं और परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

तत्त्वका मनन करनेवाले जिस मनुष्यका शरीरके साथ अपनापन नहीं रहा, वह 'मुनि' कहलाता है।

'परां सिद्धिम्' कहनेका तात्पर्य है कि सांसारिक कार्योंकी जितनी सिद्धियाँ हैं अथवा योग-साधनसे होनेवाली अणिमा, महिमा, गरिमा आदि जितनी सिद्धियाँ हैं, वे सभी वास्तवमें असिद्धियाँ ही हैं। कारण कि वे सभी जन्म-मरण देनेवाली, बन्धनमें डालनेवाली, परमात्मप्राप्तिमें बाधा डालनेवाली हैं। परन्तु परमात्मप्राप्तिरूप जो सिद्धि है, वह सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि उसको प्राप्त होनेपर मनुष्य जन्म-मरणसे छूट जाता है।

परिशिष्ट भाव—(यह चौदहवाँ अध्याय तेरहवें अध्यायका ही परिशिष्ट है।) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान सम्पूर्ण लौकिक-पारलौकिक ज्ञानोंसे उत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट है। यह ज्ञान परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका रामबाण उपाय है, इसलिये इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

'ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' पदोंका तात्पर्य है—सात्त्विक, राजस और तामस ज्ञानसे तथा लौकिक-पारलौकिक ज्ञानसे भी उत्तम, आखिरी ज्ञान। इस ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई ज्ञान परमसिद्धि प्राप्त नहीं करा सकता। एक परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ भी नहीं है—ऐसा अनुभव हो जाना ही परमसिद्धिकी प्राप्ति है। तात्पर्य है कि परमसिद्धि प्राप्त होनेपर क्रिया तथा पदार्थका अत्यन्त अभाव हो जाता है और एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कोई जड़ वस्तु रहती ही नहीं, जो कि वास्तवमें है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

इदम्	= इस	**साधर्म्यम्**	= सधर्मताको	**न, उपजायन्ते**	= पैदा नहीं होते
ज्ञानम्	= ज्ञानका	**आगताः**	= प्राप्त हो गये हैं,	**च**	= और
उपाश्रित्य	= आश्रय लेकर	**सर्गे**	= (वे) महासर्गमें	**प्रलये**	= महाप्रलयमें भी
मम	= (जो मनुष्य) मेरी	**अपि**	= भी	**न, व्यथन्ति**	= व्यथित नहीं होते।

व्याख्या—**'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य'**—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने उत्तम और पर—इन दो विशेषणोंसे जिस ज्ञानकी महिमा कही थी, उस ज्ञानका अनुभव करना ही उसका आश्रय लेना है। उस ज्ञानका अनुभव होनेसे मनुष्यके सम्पूर्ण संशय मिट जाते हैं और वह ज्ञानस्वरूप हो जाता है।

'मम साधर्म्यमागताः'—उस ज्ञानका आश्रय लेकर मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जैसे मेरेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है, ऐसे ही उनमें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं रहता। जैसे मैं सदा ही निर्लिप्त-निर्विकार रहता हूँ, ऐसे ही उनको भी अपनी निर्लिप्तता-निर्विकारताका अनुभव हो जाता है।

ज्ञानी महापुरुष भगवान्के समान निर्लिप्त-निर्विकार तो हो जाते हैं, पर वे भगवान्के समान संसारकी उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य नहीं कर सकते। हाँ, योगाभ्यासके बलसे किसी योगीमें कुछ सामर्थ्य आ जाती है, पर वह सामर्थ्य भी भगवान्की सामर्थ्यके समान नहीं होती। कारण कि वह 'युंजान योगी' है अर्थात् उसने अभ्यास करके कुछ सामर्थ्य प्राप्त की है। परन्तु भगवान् 'युक्त योगी' हैं अर्थात् भगवान्में सामर्थ्य सदासे स्वतःसिद्ध है। भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं—**'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः।'** योगीकी सामर्थ्य तो सीमित होती है, पर भगवान्की सामर्थ्य असीम होती है।

'सर्गेऽपि नोपजायन्ते'—यहाँ **'अपि'** पदसे यह मालूम होता है कि वे ज्ञानी महापुरुष महासर्गके आरम्भमें भी उत्पन्न नहीं होते। महासर्गके आदिमें चौदह लोकोंकी तथा उन लोकोंके अधिकारियोंकी उत्पत्ति होती है, पर वे महापुरुष उत्पन्न नहीं होते अर्थात् उनको फिर कर्मपरवश होकर शरीर धारण नहीं करना पड़ता।

'प्रलये न व्यथन्ति च'—महाप्रलयमें संवर्तक अग्निसे चर-अचर सभी प्राणी भस्म हो जाते हैं। समुद्रके बढ़ जानेसे पृथ्वी डूब जाती है। चौदह लोकोंमें हलचल, हाहाकार मच जाता है। सभी प्राणी दुःखी होते हैं, नष्ट होते हैं। परन्तु महाप्रलयमें उन ज्ञानी महापुरुषोंको कोई दुःख नहीं होता, उनमें कोई हलचल नहीं होती, विकार नहीं होता। वे महापुरुष जिस तत्त्वको प्राप्त हो गये हैं, उस तत्त्वमें हलचल, विकार है ही नहीं, तो फिर वे महापुरुष व्यथित कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते।

महासर्गमें भी उत्पन्न न होने और महाप्रलयमें भी व्यथित न होनेका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुषका

प्रकृति और प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये प्रकृतिका सम्बन्ध रहनेसे जो जन्म-मरण होता है, दुःख होता है, हलचल होती है, प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित महापुरुषमें वह जन्म-मरण, दुःख आदि नहीं होते।

परिशिष्ट भाव—कारणशरीरके सम्बन्धसे 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (स्वयंमें) 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प स्थिति तो सविकल्पमें बदल जाती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें नहीं बदलता। तात्पर्य है कि निर्विकल्प स्थितिमें परिवर्तन होता है, पर निर्विकल्प बोधमें कभी परिवर्तन नहीं होता, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इस बातको यहाँ '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' पदोंसे कहा गया है।

महासर्ग और महाप्रलय प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (परमात्मा)-की प्राप्ति होनेपर महासर्ग और महाप्रलयका कोई असर नहीं पड़ता; क्योंकि प्रकृतिसे सम्बन्ध ही नहीं रहता। प्रकृतिसे सम्बन्ध न रहनेको 'आत्यन्तिक प्रलय' भी कहा गया है। तात्पर्य है कि प्रकृतिके कार्य शरीरको पकड़नेसे मनुष्य परतन्त्र हो जाता है*, जन्म-मरणमें पड़ जाता है; परन्तु प्रकृतिके कार्यसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर वह स्वतन्त्र हो जाता है, निरपेक्ष जीवन हो जाता है, जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाता है।

'**मम साधर्म्यमागताः**' पदोंका तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं, ऐसे ही उनको प्राप्त होनेवाले ज्ञानी महापुरुष भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाते हैं।

सम्बन्ध—जो भगवान्‌की सधर्मताको प्राप्त हो जाते हैं, वे तो महासर्गमें भी पैदा नहीं होते; परन्तु जो प्राणी महासर्गमें पैदा होते हैं, उनके उत्पन्न होनेकी क्या प्रक्रिया है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

भारत = हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!
मम = मेरी
महत्, ब्रह्म = मूल प्रकृति तो
योनिः = उत्पत्ति-स्थान है (और)
अहम् = मैं
तस्मिन् = उसमें
गर्भम् = जीवरूप गर्भका
दधामि = स्थापन करता हूँ।
ततः = उससे
सर्वभूतानाम् = सम्पूर्ण प्राणियोंकी
सम्भवः = उत्पत्ति
भवति = होती है।

व्याख्या—'**मम योनिर्महद्ब्रह्म**'**—**यहाँ मूल प्रकृतिको '**महद्ब्रह्म**' नामसे कहा गया है, इसके कई कारण हो सकते हैं; जैसे—

(१) परमात्मा छोटे-पन और बड़े-पनसे रहित हैं; अतः वे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भी हैं और महान्-से-महान् भी हैं— '**अणोरणीयान्महतो महीयान्**' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३। २०)। परन्तु संसारकी दृष्टिसे सबसे बड़ी चीज मूल प्रकृति ही है अर्थात् संसारमें सबसे बड़ा व्यापक तत्त्व मूल प्रकृति ही है। परमात्माके सिवाय संसारमें इससे बढ़कर कोई व्यापक तत्त्व नहीं है। इसलिये इस मूल प्रकृतिको यहाँ '**महद्ब्रह्म**' कहा गया है।

(२) '**महत्**' (महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि बुद्धि) और '**ब्रह्म**'-(परमात्मा-) के बीचमें होनेसे मूल प्रकृतिको '**महद्ब्रह्म**' कहा गया है।

(३) पीछेके (दूसरे) श्लोकमें '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' पदोंमें आये 'सर्ग' और 'प्रलय' शब्दोंका अर्थ क्रमशः ब्रह्माका दिन और ब्रह्माकी रात माना जा सकता है। अतः उनका अर्थ महासर्ग (ब्रह्माका प्रकट होना) और महाप्रलय (ब्रह्माका लीन होना) सिद्ध करनेके लिये यहाँ '**महद्ब्रह्म**' शब्द दिया है। तात्पर्य है कि जीवन्मुक्त महापुरुषोंका इस मूल प्रकृतिसे ही सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये वे महासर्गमें भी पैदा

---

* '**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः**' (३। ५)
'**अवशं प्रकृतेर्वशात्**' (९। ८)
'**रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे**' (८। १९)

नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते।

सबका उत्पत्ति-स्थान होनेसे इस मूल प्रकृतिको **'योनि'** कहा गया है। इसी मूल प्रकृतिसे अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा होते हैं और इसीमें लीन होते हैं। इस मूल प्रकृतिसे ही सांसारिक अनन्त शक्तियाँ पैदा होती हैं।

इस मूल प्रकृतिके लिये **'मम'** पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि यह प्रकृति मेरी है। अतः इसपर आधिपत्य भी मेरा ही है। मेरी इच्छाके बिना यह प्रकृति अपनी तरफसे कुछ भी नहीं कर सकती। यह जो कुछ भी करती है, वह सब मेरी अध्यक्षतामें ही करती है (गीता—नवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)।

मैं मूल प्रकृति-(महद्ब्रह्म-) से भी श्रेष्ठ साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हूँ—इसको बतानेके लिये भगवान्ने **'मम महद्ब्रह्म'** पदोंका प्रयोग किया है।

महद् ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ परब्रह्म परमात्माका अंश होते हुए भी जीव परमात्मासे विमुख होकर प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है। इतना ही नहीं, वह प्रकृतिके कार्य तीनों गुणोंसे सम्बन्ध जोड़ लेता है और उससे भी नीचे गिरकर गुणोंके भी कार्य शरीर आदिसे सम्बन्ध जोड़ लेता है और बँध जाता है। अतः भगवान् **'मम महद्ब्रह्म'** पदोंसे कहते हैं कि जीवका सम्बन्ध वास्तवमें मूल प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ मुझ परमात्माके साथ है—**'मम एव अंशः'** (गीता १५।७), इसलिये प्रकृतिके साथ सम्बन्ध मानकर उसको अपना पतन नहीं करना चाहिये।

'तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्'—यहाँ **'गर्भम्'** पद कर्म-संस्कारोंसहित जीव-समुदायका वाचक है। भगवान् कोई नया गर्भ स्थापन नहीं करते। अनादिकालसे जो जीव जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़े हुए हैं, वे महाप्रलयके समय अपने-अपने कर्म-संस्कारोंसहित प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। प्रकृतिमें लीन हुए जीवोंके कर्म जब परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब महासर्गके आदिमें भगवान् उन जीवोंका प्रकृतिके साथ पुनः विशेष सम्बन्ध (जो कि कारणशरीररूपसे पहलेसे ही था) स्थापित करा देते हैं—यही भगवान्के द्वारा जीव-समुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'— भगवान्के द्वारा प्रकृतिमें गर्भ-स्थापन करनेके बाद सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है अर्थात् वे प्राणी सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करके पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं। महासर्गके आदिमें प्राणियोंका यह उत्पन्न होना ही भगवान्का विसर्ग (त्याग) है, आदिकर्म है (गीता—आठवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

[जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक प्रकृतिके अंश कारण-शरीरसे उसका सम्बन्ध बना रहता है और वह महाप्रलयमें कारणशरीरसहित ही प्रकृतिमें लीन होता है।]

परिशिष्ट भाव—भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि जन्म-मरणमें पड़ा हुआ होनेपर भी जीव मेरा ही अंश है। उसकी सधर्मता, एकता मेरे साथ है, शरीरके साथ नहीं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें समष्टि संसारकी उत्पत्तिकी बात बतायी, अब आगेके श्लोकमें व्यष्टि शरीरोंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**सम्भवन्ति**	=पैदा होते हैं,	**अहम्**	=मैं
सर्वयोनिषु	=सम्पूर्ण योनियोंमें	**तासाम्**	=उन सबकी	**बीजप्रदः**	=बीज-स्थापन करनेवाला
याः	=(प्राणियोंके) जितने	**महत्, ब्रह्म**	=मूल प्रकृति तो		
मूर्तयः	=शरीर	**योनिः**	=माता है (और)	**पिता**	=पिता हूँ।

व्याख्या—**'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः'**—जरायुज (जेरके साथ पैदा होनेवाले मनुष्य, पशु आदि), अण्डज (अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी, सर्प आदि), स्वेदज (पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जूँ, लीख आदि) और उद्भिज्ज (पृथ्वीको फोड़कर उत्पन्न होनेवाले वृक्ष, लता आदि)—सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिके ये चार खानि अर्थात्

स्थान हैं। इन चारोंमेंसे एक-एक स्थानसे लाखों योनियाँ पैदा होती हैं। उन लाखों योनियोंमेंसे एक-एक योनिमें भी जो प्राणी पैदा होते हैं, उन सबकी आकृति अलग-अलग होती है। एक योनिमें, एक जातिमें पैदा होनेवाले प्राणियोंकी आकृतिमें भी स्थूल या सूक्ष्म भेद रहता है अर्थात् एक समान आकृति किसीकी भी नहीं मिलती। जैसे, एक मनुष्ययोनिमें अरबों वर्षोंसे अरबों शरीर पैदा होते चले आये हैं, पर आजतक किसी भी मनुष्यकी आकृति परस्पर नहीं मिलती। इस विषयमें किसी कविने कहा है—

पाग भाग वाणी प्रकृति, आकृति वचन विवेक।
अक्षर मिलत न एक-से, देखे देश अनेक॥

अर्थात् पगड़ी, भाग्य, वाणी (कण्ठ), स्वभाव, आकृति, शब्द, विचार-शक्ति और लिखनेके अक्षर—ये सभी दो मनुष्योंके भी एक समान नहीं मिलते। इस तरह चौरासी लाख योनियोंमें जितने शरीर अनादिकालसे पैदा होते चले आ रहे हैं, उन सबकी आकृति अलग-अलग है। चौरासी लाख योनियोंके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत आदिको भी यहाँ '**सर्वयोनिषु**' पदके अन्तर्गत ले लेना चाहिये।

'**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता**'—उपर्युक्त चार खानि अर्थात् चौरासी लाख योनियाँ तो शरीरोंके पैदा होनेके स्थान हैं और उन सब योनियोंका उत्पत्ति-स्थान (माताके स्थानमें) 'महद्ब्रह्म' अर्थात् मूल प्रकृति है। उस मूल प्रकृतिमें जीवरूप बीजका स्थापन करनेवाला पिता मैं हूँ।

भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले नाना प्रकारके शरीरोंमें भगवान् अपने चेतन-अंशरूप बीजको स्थापित करते हैं—इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणीमें स्थित परमात्माका अंश शरीरोंकी भिन्नतासे ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक ही परमात्मा विद्यमान हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका दूसरा श्लोक)। इस बातको एक दृष्टान्तसे समझाया जाता है। यद्यपि दृष्टान्त सर्वांशमें नहीं घटता, तथापि वह बुद्धिको दार्ष्टान्तके नजदीक ले जानेमें सहायक होता है। कपड़ा और पृथ्वी—दोनोंमें एक ही तत्त्वकी प्रधानता है। कपड़ेको अगर जलमें डाला जाय तो वह जलके निचले भागमें जाकर बैठ जाता है। कपड़ा ताना (लम्बा धागा) और बाना-(आड़ा धागा-) से बुना जाता है। प्रत्येक ताने और बानेके बीचमें एक सूक्ष्म छिद्र रहता है। कपड़ेमें ऐसे अनेक छिद्र होते हैं। जलमें पड़े रहनेसे कपड़ेके सम्पूर्ण तन्तुओंमें और अलग-अलग छिद्रोंमें जल भर जाता है। कपड़ेको जलसे बाहर निकालनेपर भी उसके तन्तुओंमें और असंख्य छिद्रोंमें एक ही जल समानरीतिसे परिपूर्ण रहता है। इस दृष्टान्तमें कपड़ा 'प्रकृति' है, अलग-अलग असंख्य छिद्र 'शरीर' हैं और कपड़े तथा उसके छिद्रोंमें परिपूर्ण जल 'परमात्मतत्त्व' है। तात्पर्य है कि स्थूल दृष्टिसे तो प्रत्येक शरीरमें परमात्मतत्त्व अलग-अलग दिखायी देता है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो सम्पूर्ण शरीरोंमें, सम्पूर्ण संसारमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है।

परिशिष्ट भाव—चौरासी लाख योनियाँ, देवता, पितर, गन्धर्व, भूत-प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, बालग्रह, स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज आदि सभी '**सर्वयोनिषु**' पदके अन्तर्गत लेने चाहिये। इसी बातको सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें '**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय**' पदोंसे और तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें '**यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्**' पदोंसे कहा गया है।

यहाँ 'मूर्ति' शब्दका अर्थ है—शरीर। इसके अन्तर्गत मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त दोनों शरीर लेने चाहिये। पृथ्वी, जल और अग्नि मूर्त हैं। वायु और आकाश अमूर्त हैं। वायुप्रधान शरीर होनेसे भूत-प्रेत-पिशाच भी अमूर्त हैं।

भगवान्‌ने पहले-दूसरे श्लोकोंमें बताया कि प्रकृतिका सम्बन्ध न रहे तो जन्म-मरण नहीं होता और तीसरे-चौथे श्लोकोंमें बताया कि प्रकृतिका सम्बन्ध रहनेसे जन्म-मरण होता है। इसी (तीसरे-चौथे श्लोकोंकी) बातको आगे पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक विस्तारसे कहा है।

सम्बन्ध—परमात्मा और उनकी शक्ति प्रकृतिके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जीव प्रकृतिजन्य गुणोंसे कैसे बँधते हैं—इस विषयका विवेचन आगेके श्लोकसे आरम्भ करते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

महाबाहो	= हे महाबाहो!	**रजः**	= रज (और)	**अव्ययम्**	= अविनाशी
प्रकृतिसम्भवाः	= प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले	**तमः**	= तम	**देहिनम्**	= देही (जीवात्मा)-को
		इति	= —ये (तीनों)	**देहे**	= देहमें
सत्त्वम्	= सत्त्व,	**गुणाः**	= गुण	**निबध्नन्ति**	= बाँध देते हैं।

व्याख्या—‘**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः**’—तीसरे और चौथे श्लोकमें जिस मूल प्रकृतिको ‘महद् ब्रह्म’ नामसे कहा है, उसी मूल प्रकृतिसे सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण पैदा होते हैं।

यहाँ ‘**इति**’ पदका तात्पर्य है कि इन तीनों गुणोंसे अनन्त सृष्टियाँ पैदा होती हैं तथा तीनों गुणोंके तारतम्यसे प्राणियोंके अनेक भेद हो जाते हैं, पर गुण न दो होते हैं, न चार होते हैं, प्रत्युत तीन ही होते हैं।

‘**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्**’—ये तीनों गुण अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो ये तीनों गुण अपनी तरफसे किसीको भी नहीं बाँधते, प्रत्युत यह पुरुष ही इन गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़कर बँध जाता है। तात्पर्य है कि गुणोंके कार्य पदार्थ, धन, परिवार, शरीर, स्वभाव, वृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, क्रियाएँ आदिको अपना मान लेनेसे यह जीव स्वयं अविनाशी होता हुआ भी बँध जाता है, विनाशी पदार्थ, धन आदिके वशमें हो जाता है; सर्वथा स्वतन्त्र होता हुआ भी पराधीन हो जाता है। जैसे, मनुष्य जिस धनको अपना मानता है, उस धनके घटने-बढ़नेसे स्वयंपर असर पड़ता है; जिन व्यक्तियोंको अपना मानता है, उनके जन्मने-मरनेसे स्वयंपर असर पड़ता है; जिस शरीरको अपना मानता है, उसके घटने-बढ़नेसे स्वयंपर असर पड़ता है। यही गुणोंका अविनाशी देहीको बाँधना है।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह देही स्वयं अविनाशीरूपसे ज्यों-का-त्यों रहता हुआ भी गुणोंके, गुणोंकी वृत्तियोंके अधीन होकर स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस बन जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

जीवका यह अविनाशी स्वरूप वास्तवमें कभी भी गुणोंसे नहीं बँधता; परन्तु जब वह विनाशी देहको ‘मैं’, ‘मेरा’ और ‘मेरे लिये’ मान लेता है, तब वह अपनी मान्यताके कारण गुणोंसे बँध जाता है और उसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता प्रतीत होती है (गीता—बारहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। देहाभिमानके कारण गुणोंके द्वारा देहमें बँध जानेसे वह तीनों गुणोंसे परे अपने अविनाशी स्वरूपको नहीं जान सकता। गुणोंसे देहमें बँध जानेपर भी जीवका जो वास्तविक अविनाशी स्वरूप है, वह ज्यों-का-त्यों ही रहता है, जिसका लक्ष्य भगवान्ने यहाँ ‘**अव्ययम्**’ पदसे कराया है।

यहाँ ‘**देहिनम्**’ पदका तात्पर्य है कि देहमें तादात्म्य, ममता और कामना होनेसे ही तीनों गुण इस पुरुषको देहमें बाँधते हैं। यदि देहमें तादात्म्य, ममता और कामना न हो, तो फिर यह परमात्मस्वरूप ही है।

विशेष बात

शरीरके साथ जीव दो तरहसे अपना सम्बन्ध जोड़ता है—(१) **अभेदभावसे**—अपनेको शरीरमें बैठाना, जिससे ‘मैं शरीर हूँ’ ऐसा दीखने लगता है, और (२) **भेदभावसे**—शरीरको अपनेमें बैठाना, जिससे ‘शरीर मेरा है’ ऐसा दीखने लगता है। अभेदभावसे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव अपनेको शरीर मान लेता है, जिसको ‘अहंता’ कहते हैं; और भेदभावसे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव शरीरको अपना मान लेता है, जिसको ‘ममता’ कहते हैं। इस प्रकार शरीरसे अपना सम्बन्ध जोड़नेपर सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण अपनी वृत्तियोंके द्वारा शरीरमें अहंता-ममता दृढ़ करके जीवको बाँध देते हैं।

जैसे विवाह हो जानेपर पत्नीके पूरे परिवार-(ससुराल-) के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, पत्नीके वस्त्राभूषण आदिकी आवश्यकता अपनी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, ऐसे ही शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध हो जानेपर जीवका पूरे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंको वह अपनी आवश्यकता मानने लग जाता है। अनित्य शरीरसे सम्बन्ध (एकात्मता) माननेके कारण वह अनित्य शरीरको नित्य रखनेकी इच्छा करने लगता है; क्योंकि वह स्वयं नित्य है। शरीरके साथ सम्बन्ध माननेके कारण ही उसको मरनेका भय लगने लगता है; क्योंकि शरीर मरनेवाला है। यदि शरीरसे सम्बन्ध न रहे, तो

फिर न तो नित्य बने रहनेकी इच्छा होगी और न मरनेका भय ही होगा। अतः जबतक नित्य बने रहनेकी इच्छा और मरनेका भय है, तबतक वह गुणोंसे बँधा हुआ है।

जीव स्वयं अविनाशी है और शरीर विनाशी है। शरीरका प्रतिक्षण अपने-आप वियोग हो रहा है। जिसका अपने-आप वियोग हो रहा है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें क्या कठिनता और क्या उद्योग? उद्योग है तो केवल इतना ही है कि स्वतः वियुक्त होनेवाली वस्तुको पकड़ना नहीं है। उसको न पकड़नेसे अपने अविनाशी, गुणातीत स्वरूपका अपने-आप अनुभव हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—प्रकृतिसे पैदा होनेके कारण सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति-विभागमें ही हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरसे अपना सम्बन्ध ('मैं' और 'मेरा') मान लेनेके कारण ये गुण अविनाशी चेतनको नाशवान् जड़ शरीरमें बाँध देते हैं अर्थात् 'मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है'—ऐसा देहाभिमान पैदा कर देते हैं। तात्पर्य है कि सभी विकार प्रकृतिके सम्बन्धसे पैदा होते हैं। सत्तामात्र स्वरूपमें कोई भी विकार नहीं है—**'असंगो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५), **'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'** (गीता १३। २२)। विकारोंके कारण ही जन्म-मरण होता है।

वास्तवमें गुण जीवको नहीं बाँधते, प्रत्युत जीव ही उनका संग करके बँध जाता है (इसी अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। अगर गुण बाँधनेवाले होते तो गुणोंके रहते हुए कोई उनसे छूट सकता ही नहीं, जीवन्मुक्त हो सकता ही नहीं!

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा देहीके बाँधे जानेकी बात कही। उन तीनों गुणोंमेंसे सत्त्वगुणका स्वरूप और उसके बाँधनेका प्रकार आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

अनघ	= हे पापरहित अर्जुन!		होनेके कारण		आसक्तिसे
तत्र	= उन गुणोंमें	**प्रकाशकम्**	= प्रकाशक (और)	**च**	= और
सत्त्वम्	= सत्त्वगुण	**अनामयम्**	= निर्विकार है।	**ज्ञानसङ्गेन**	= ज्ञानकी आसक्तिसे
निर्मलत्वात्	= निर्मल (स्वच्छ)	**सुखसङ्गेन**	= (वह) सुखकी	**बध्नाति**	= (देहीको) बाँधता है।

व्याख्या—**'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्'**—पूर्वश्लोकमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी बात कही। इन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल (मलरहित) है। तात्पर्य है कि रजोगुण और तमोगुणकी तरह सत्त्वगुणमें मलिनता नहीं है, प्रत्युत यह रजोगुण और तमोगुणकी अपेक्षा निर्मल, स्वच्छ है। निर्मल होनेके कारण यह परमात्मतत्त्वका ज्ञान करानेमें सहायक है।

'प्रकाशकम्'—सत्त्वगुण निर्मल, स्वच्छ होनेके कारण प्रकाश करनेवाला है। जैसे प्रकाशके अन्तर्गत वस्तुएँ साफ-साफ दीखती हैं, ऐसे ही सत्त्वगुणकी अधिकता होनेसे रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियाँ साफ-साफ दीखती हैं। रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि दोष भी साफ-साफ दीखते हैं अर्थात् इन सब विकारोंका साफ-साफ ज्ञान होता है।

सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर इन्द्रियोंमें प्रकाश, चेतना और हलकापन विशेषतासे प्रतीत होता है, जिससे प्रत्येक पारमार्थिक अथवा लौकिक विषयको अच्छी तरह समझनेमें बुद्धि पूरी तरह कार्य करती है और कार्य करनेमें बड़ा उत्साह रहता है।

सत्त्वगुणके दो रूप हैं—(१) शुद्ध सत्त्व, जिसमें उद्देश्य परमात्माका होता है, और (२) मलिन सत्त्व, जिसमें उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रहका होता है*।

शुद्ध सत्त्वगुणमें परमात्माका उद्देश्य होनेसे परमात्माकी तरफ चलनेमें स्वाभाविक रुचि होती है। मलिन सत्त्वगुणमें पदार्थोंके संग्रह और सुखभोगका उद्देश्य होनेसे सांसारिक प्रवृत्तियोंमें रुचि होती है, जिससे मनुष्य बँध जाता है।

मलिन सत्त्वगुणमें भी बुद्धि सांसारिक विषयको अच्छी

*** परमात्माका उद्देश्य न रहनेके कारण इसको 'मलिन सत्त्व' कहा गया है। मलिन सत्त्वमें रजोगुण साथ रहता है।**

तरह समझनेमें समर्थ होती है। जैसे, सत्त्वगुणकी वृद्धिमें ही वैज्ञानिक नये-नये आविष्कार करता है; किन्तु उसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति न होनेसे वह अहंकार, मान-बड़ाई, धन आदिसे संसारमें बँधा रहता है।

'**अनामयम्**'—सत्त्वगुण रज और तमकी अपेक्षा विकाररहित है। वास्तवमें प्रकृतिका कार्य होनेसे यह सर्वथा निर्विकार नहीं है। सर्वथा निर्विकार तो अपना स्वरूप अथवा परमात्मतत्त्व ही है, जो कि गुणातीत है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होनेसे भगवान्ने सत्त्वगुणको भी विकाररहित कह दिया है।

'**सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ**'—जब अन्तःकरणमें सात्त्विक वृत्ति होती है, कोई विकार नहीं होता है, तब एक सुख मिलता है, शान्ति मिलती है। उस समय साधकके मनमें यह विचार आता है कि ऐसा सुख हरदम बना रहे, ऐसी शान्ति हरदम बनी रहे, ऐसी निर्विकारता हरदम बनी रहे। परन्तु जब ऐसा सुख, शान्ति, निर्विकारता नहीं रहती, तब साधकको अच्छा नहीं लगता। यह अच्छा लगना और अच्छा न लगना ही सत्त्वगुणके सुखमें आसक्ति है, जो बाँधनेवाली है।

जब सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका, इनकी वृत्तियोंका, विकारोंका साफ-साफ ज्ञान होता है और साधकको ऐसी बहुत-सी आश्चर्यजनक बातोंकी जानकारी होती है, जो पहले कभी जानी हुई नहीं होती, तब साधकके मनमें आता है कि यह ज्ञान हरदम बना रहे। यह ज्ञानमें आसक्ति है, जो बाँधनेवाली है। 'मैं दूसरोंकी अपेक्षा अधिक (विशेष) जानता हूँ'—यह अभिमान भी बाँधनेवाला होता है।

इस तरह सत्त्वगुण सुख और ज्ञानके संग-(आसक्ति-) से साधकको बाँध देता है अर्थात् उसको गुणातीत नहीं होने देता। यह संग ही रजोगुण है, जो बाँधनेवाला है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। यदि साधक सुख और ज्ञानका संग न करे तो सत्त्वगुण उसको बाँधता नहीं, प्रत्युत उसको गुणातीत कर देता है। तात्पर्य है कि यदि संग न हो तो साधक सत्त्वगुणसे भी ऊँचा उठ जाता है और अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव कर लेता है।

सत्त्वगुणसे सुख और ज्ञान होनेपर साधकको यह सावधानी रखनी चाहिये कि यह सुख और ज्ञान मेरा लक्ष्य नहीं है। ये मेरे भोग्य नहीं हैं। ये तो लक्ष्यकी प्राप्तिमें कारण हैं। मेरेको तो उस लक्ष्यको प्राप्त करना है, जो इस सुख और ज्ञानको भी प्रकाशित करनेवाला है।

सुख, ज्ञान आदि सभी सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं। ये कभी घटती हैं, कभी बढ़ती हैं; कभी आती हैं, कभी जाती हैं। परन्तु अपना स्वरूप निरन्तर एकरस रहता है। उसमें कभी घट-बढ़ नहीं होती। अतः साधकको सत्त्वगुणकी वृत्तियोंसे सदा तटस्थ, उदासीन रहना चाहिये। उनका उपभोग नहीं करना चाहिये। इससे वह सुख और ज्ञानकी आसक्तिमें फँसेगा नहीं।

अगर साधक सत्त्वगुणसे होनेवाले सुख और ज्ञानका संग न करे, तो उसको शीघ्र ही परमात्मप्राप्ति हो जाती है। परन्तु अगर वह इनके संगका त्याग न करे तो (परमात्मप्राप्तिका लक्ष्य होनेसे) समय पाकर उसकी इस सुख और ज्ञानसे स्वतः अरुचि हो जाती है और वह परमात्मप्राप्ति कर लेता है।

परिशिष्ट भाव— यहाँ भगवान्ने सत्त्वगुणको अनामय (निर्विकार) बताया है—यह सत्त्वगुणकी विलक्षणता है। कारण कि सत्त्वगुण गुणातीत होनेके बहुत नजदीक है। यद्यपि सत्त्वगुण निर्विकार है, पर संगके कारण वह विकारी हो जाता है—'**सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ**'; क्योंकि संग रजोगुणका स्वरूप है—'**रजो रागात्मकं विद्धि**' (गीता १४। ७)। सुख और ज्ञान बाधक नहीं हैं, प्रत्युत उनका संग बाधक है। संग है—उनको अपना मान लेना। वास्तवमें सत्त्वगुण अपना है ही नहीं, वह तो प्रकृतिका है।

मनुष्यमें रजोगुणकी मुख्यता रहती है—'**रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते**' (१४। १५), '**मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः**' (१४। १८)। अतः जबतक संग रहता है, तबतक मुक्ति नहीं होती; क्योंकि स्वरूप असंग है।

भगवान्ने सत्त्वगुणको भी अनामय कहा है और परमपदको भी अनामय कहा है—'**पदं गच्छन्त्यनामयम्**' (२। ५१)। इससे यह समझना चाहिये कि सत्त्वगुण तो सापेक्ष अनामय है और परमपद निरपेक्ष अनामय है।

तीनों गुण प्रकृतिजन्य होते हुए भी रजोगुण तृष्णा तथा आसक्तिसे पैदा होनेवाला और तमोगुण अज्ञानसे पैदा होनेवाला है (इसी अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक); परन्तु सत्त्वगुण केवल प्रकृतिजन्य है। तात्पर्य है कि सत्त्वगुण प्रकृतिजन्य तो है, पर किसी विकारसे जन्य नहीं है। इसलिये इसको 'अनामय' कहा गया है।

सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञान भी स्वयंके नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिजन्य होनेसे 'पर' के हैं अर्थात् पराधीन

हैं। इनमें पराधीनताका सुख है, अपने स्वरूपका सुख नहीं है।

सात्त्विक ज्ञान और तत्त्वज्ञानमें अन्तर—सात्त्विक ज्ञानमें तो 'मैं ज्ञानी हूँ' यह संग है, पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञान रहता है, पर 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह (ज्ञानी) नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा रहता है और अपनेमें विशेषताका भान होता है; परन्तु तत्त्वज्ञानमें कोई द्रष्टा नहीं रहता और अपनेमें कोई कमी भी नहीं रहती तथा विशेषताका भान भी नहीं होता; क्योंकि व्यक्तित्व नहीं रहता। अपनेमें विशेषताका अनुभव होना ही संग है। विशेषताका अनुभव 'मैं ज्ञानी हूँ'—ऐसा स्वीकार करनेसे होता है। तत्त्वज्ञान होनेपर निजानन्दका अनुभव होता है। तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें सात्त्विक ज्ञानका और अट्ठाईसवें श्लोकमें तत्त्वज्ञानका वर्णन हुआ है।

सम्बन्ध—रजोगुणका स्वरूप और उसके बाँधनेका प्रकार क्या है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**रजः**	= रजोगुणको (तुम)	**कर्मसङ्गेन**	= कर्मोंकी आसक्तिसे
तृष्णासङ्गसमुद्भवम्	= तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले	**रागात्मकम्**	= रागस्वरूप	**देहिनम्**	= देही (जीवात्मा)-को
		विद्धि	= समझो।		
		तत्	= वह	**निबध्नाति**	= बाँधता है।

व्याख्या—**'रजो रागात्मकं विद्धि'**—यह रजोगुण रागस्वरूप है अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, क्रिया आदिमें जो प्रियता पैदा होती है, वह प्रियता रजोगुणका स्वरूप है।

'रागात्मकम्' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे स्वर्णके आभूषण स्वर्णमय होते हैं, ऐसे ही रजोगुण रागमय है।

पातंजलयोगदर्शनमें 'क्रिया' को रजोगुणका स्वरूप कहा गया है[1]। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् (क्रियामात्रको गौणरूपसे रजोगुण मानते हुए भी) मुख्यतः रागको ही रजोगुणका स्वरूप मानते हैं।[2] इसीलिये **'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा'** (२। ४८) पदोंमें आसक्तिका त्याग करके कर्तव्यकर्मोंको करनेकी आज्ञा दी गयी है। निष्कामभावसे किये गये कर्म मुक्त करनेवाले होते हैं (तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'प्रवृत्ति' अर्थात् क्रिया करनेका भाव उत्पन्न होनेपर भी गुणातीत पुरुषका उसमें राग नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि गुणातीत पुरुषमें भी रजोगुणके प्रभावसे प्रवृत्ति तो होती है, पर वह रागपूर्वक नहीं होती। गुणातीत होनेमें सहायक होनेपर भी सत्त्वगुणको सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे बाँधनेवाला कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि आसक्ति ही बन्धनकारक है, सत्त्वगुण स्वयं नहीं। अतः भगवान् यहाँ रागको ही

१-प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। (योगदर्शन २। १८)

२-श्रीमद्भगवद्गीताकी एक बहुत बड़ी विलक्षणता यह है कि वह किसी मतका खण्डन किये बिना ही उस विषयमें अपनी मान्यता प्रकट कर देती है। गीतामें भगवान्‌ने क्रियाको भी रजोगुण माना है—'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणाम्' (१४। १२), और क्रियाको सात्त्विक भी बताया है (अठारहवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। इसलिये दोष क्रियाओंमें नहीं है, प्रत्युत राग या आसक्तिमें है। रागपूर्वक किये हुए कर्म ही बाँधते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्य कर्मोंकी आसक्ति और फलेच्छासे ही बँधता है, कर्मोंको करनेमात्रसे नहीं। राग न रहनेपर सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी मनुष्य नहीं बँधता (चौथे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। अगर क्रियामात्र ही बन्धनकारक होती तो जीवन्मुक्त महापुरुषोंको भी बाँध देती; क्योंकि क्रियाएँ तो उनके द्वारा भी होती ही हैं (चौदहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। भगवान्‌के द्वारा सृष्टिकी रचना करना भी 'कर्म' है तथा अवतार लेकर वे भी क्रियाएँ (लीलाएँ) करते हैं, पर कर्मोंमें आसक्ति न रहनेसे उनको कर्म बाँधते नहीं (नवें अध्यायका नवाँ श्लोक)।

अठारहवें अध्यायके तेईसवें, चौबीसवें और पचीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके कर्मोंका वर्णन किया है। अगर मात्र कर्म रजोगुण ही होते, तो फिर उनके सात्त्विक और तामस भेद कैसे होते? इससे सिद्ध होता है कि गीता मुख्यतः रागको ही रजोगुण कहती है।

रजोगुणका मुख्य स्वरूप जाननेके लिये कह रहे हैं।

महासर्गके आदिमें परमात्माका '**बहु स्यां प्रजायेय**'— यह संकल्प होता है। यह संकल्प रजोगुणी है। इसको गीताने 'कर्म' नामसे कहा है (आठवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। जिस प्रकार दहीको बिलोनेसे मक्खन और छाछ अलग-अलग हो जाते हैं, ऐसे ही सृष्टिरचनाके इस रजोगुणी संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ पैदा होता है, जिससे सत्त्वगुणरूपी मक्खन और तमोगुणरूपी छाछ अलग-अलग हो जाती है। सत्त्वगुणसे अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ तथा तमोगुणसे स्थूल पदार्थ, शरीर आदिका निर्माण होता है। तीनों गुणोंसे संसारके अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार महासर्गके आदिमें भगवान्‌का सृष्टिरचनारूप कर्म भी सर्वथा रागरहित होता है (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

'**तृष्णासंगसमुद्भवम्**'—प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदि बने रहें तथा वे और भी मिलते रहें—ऐसी '**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई**' की तरह तृष्णा पैदा हो जाती है। इस तृष्णासे फिर वस्तु आदिमें आसक्ति पैदा हो जाती है।

व्याकरणके अनुसार इस '**तृष्णासंगसमुद्भवम्**' पदके दो अर्थ होते हैं—(१) जिससे तृष्णा और आसक्ति पैदा होती है[1] अर्थात् तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाला और (२) जो तृष्णा और आसक्तिसे पैदा होता है[2] अर्थात् तृष्णा और आसक्तिसे पैदा होनेवाला। जैसे बीज और वृक्ष अन्योन्य कारण हैं, अर्थात् बीजसे वृक्ष पैदा होता है और वृक्षसे फिर बहुत-से बीज पैदा हो जाते हैं, ऐसे ही रागस्वरूप रजोगुणसे तृष्णा और आसक्ति बढ़ती है तथा तृष्णा और आसक्तिसे रजोगुण बहुत बढ़ जाता है। तात्पर्य है कि ये दोनों ही एक-दूसरेको पुष्ट करनेवाले हैं। अतः उपर्युक्त दोनों ही अर्थ ठीक हैं।

'**तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्**'—रजोगुण कर्मोंकी आसक्तिसे शरीरधारीको बाँधता है अर्थात् रजोगुणके बढ़नेपर ज्यों-ज्यों तृष्णा और आसक्ति बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों मनुष्यकी कर्म करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती है। कर्म करनेकी प्रवृत्ति बढ़नेसे मनुष्य नये-नये कर्म करना शुरू कर देता है। फिर वह रात-दिन इस प्रवृत्तिमें ही फँसा रहता है अर्थात् मनुष्यकी मनोवृत्तियाँ रात-दिन नये-नये कर्म आरम्भ करनेके चिन्तनमें लगी रहती हैं। ऐसी अवस्थामें उसको अपना कल्याण, उद्धार करनेका अवसर ही प्राप्त नहीं होता। इस तरह रजोगुण कर्मोंकी सुखासक्तिसे शरीरधारीको बाँध देता है अर्थात् जन्म-मरणमें ले जाता है। अतः साधकको प्राप्त परिस्थितिके अनुसार निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म तो कर देना चाहिये, पर संग्रह और सुखभोगके लिये नये-नये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना चाहिये।

'**देहिनम्**' पदका तात्पर्य है कि देहसे अपना सम्बन्ध माननेवाले देहीको ही यह रजोगुण कर्मोंकी आसक्तिसे बाँधता है।

सकामभावसे कर्मोंको करनेमें भी एक सुख होता है और 'कर्मोंका अमुक फल भोगेंगे' इस फलासक्तिमें भी एक सुख होता है। इस कर्म और फलकी सुखासक्तिसे मनुष्य बँध जाता है।

कर्मोंकी सुखासक्तिसे छूटनेके लिये साधक यह विचार करे कि ये पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि कितने दिन हमारे साथ रहेंगे। कारण कि सब दृश्य प्रतिक्षण अदृश्यतामें जा रहा है; जीवन प्रतिक्षण मृत्युमें जा रहा है; सर्ग प्रतिक्षण प्रलयमें जा रहा है; महासर्ग प्रतिक्षण महाप्रलयमें जा रहा है। आज दिनतक जो बाल्य, युवा आदि अवस्थाएँ चली गयीं, वे फिर नहीं मिल सकतीं। जो समय चला गया, वह फिर नहीं मिल सकता। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और धनियोंकी अन्तिम दशाको याद करनेसे तथा बड़े-बड़े राजमहलों और मकानोंके खण्डहरोंको देखनेसे साधकको यह विचार आना चाहिये कि उनकी जो दशा हुई है, वही दशा इस शरीर, धन-सम्पत्ति, मकान आदिकी भी होगी। परन्तु मैंने इनके प्रलोभनमें पड़कर अपनी शक्ति, बुद्धि, समयको बरबाद कर दिया है। यह तो बड़ी भारी हानि हो गयी! ऐसे विचारोंसे साधकके अन्तःकरणमें सात्त्विक वृत्तियाँ आयेंगी और वह कर्मसंगसे ऊँचा उठ जायगा।

अगर मैं रात-दिन नये-नये कर्मोंके करनेमें ही लगा रहूँगा, तो मेरा मनुष्यजन्म निरर्थक चला जायगा और उन कर्मोंकी आसक्तिसे मेरेको न जाने किन-किन योनियोंमें जाना पड़ेगा और कितनी बार जन्मना-मरना पड़ेगा! इसलिये मुझे संग्रह और सुख-भोगके लिये नये-नये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना है, प्रत्युत प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अनासक्तभावसे कर्तव्य-कर्म करना है! ऐसे विचारोंसे भी साधक कर्मोंकी आसक्तिसे ऊँचा उठ जाता है।

१-तृष्णायाः संगस्य च समुद्भवो यस्मात्।

२-तृष्णायाः संगाच्च समुद्भवो यस्य।

परिशिष्ट भाव—रजोगुण कर्मोंके संगसे मनुष्यको बाँधता है। अत: सात्त्विक कर्म भी संग होनेसे बाँधनेवाले हो जाते हैं। अगर संग न हो तो कर्म बन्धनकारक नहीं होते (गीता—अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। इसलिये कर्मयोगसे मुक्ति हो जाती है; क्योंकि कर्मोंका और उनके फलका संग न होनेसे ही कर्मयोग होता है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)।

सम्बन्ध—तमोगुणका स्वरूप और उसके बाँधनेका प्रकार क्या है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

तु = और; **भारत** = हे भरतवंशी अर्जुन!; **सर्वदेहिनाम्** = सम्पूर्ण देहधारियोंको; **मोहनम्** = मोहित करनेवाले; **तमः** = तमोगुणको (तुम); **अज्ञानजम्** = अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला; **विद्धि** = समझो। **तत्** = वह; **प्रमादालस्यनिद्राभिः** = प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा; **निबध्नाति** = (देहके साथ अपना सम्बन्ध माननेवालों-को) बाँधता है।

व्याख्या—‘**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्**’—सत्त्वगुण और रजोगुण—इन दोनोंसे तमोगुणको अत्यन्त निकृष्ट बतानेके लिये यहाँ ‘**तु**’ पदका प्रयोग हुआ है।

यह तमोगुण अज्ञानसे अर्थात् बेसमझीसे, मूर्खतासे पैदा होता है और सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहित कर देता है अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान (विवेक) नहीं होने देता। इतना ही नहीं, यह सांसारिक सुख-भोग और संग्रहमें भी नहीं लगने देता अर्थात् राजस सुखमें भी नहीं जाने देता, फिर सात्त्विक सुखकी तो बात ही क्या है!

वास्तवमें तमोगुणके द्वारा मोहित होनेकी बात केवल मनुष्योंके लिये ही है; क्योंकि दूसरे प्राणी तो स्वाभाविक ही तमोगुणसे मोहित हैं। फिर भी यहाँ ‘**सर्वदेहिनाम्**’ पद देनेका तात्पर्य है कि जिन मनुष्योंमें सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान (विवेक) नहीं है, वे मनुष्य होते हुए भी चौरासी लाख योनियोंवाले प्राणियोंके समान ही हैं अर्थात् जैसे पशु-पक्षी आदि प्राणी खा-पी लेते हैं और सो जाते हैं, ऐसे ही वे मनुष्य भी हैं।

‘**प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत**’—यह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा सम्पूर्ण देहधारियोंको बाँध देता है।

‘**प्रमाद**’ दो तरहका होता है—(१) करनेलायक कामको न करना अर्थात् जिस कामसे अपना और दुनियाका, अभी और परिणाममें हित होता है, ऐसे कर्तव्य-कर्मोंको प्रमादके कारण न करना; और (२) न करनेलायक कामको करना अर्थात् जिस कामसे अपना और दुनियाका अभी और परिणाममें अहित होता है, ऐसे कर्मोंको करना।

न करनेलायक काम भी दो तरहके होते हैं—१—व्यर्थ खर्च करना अर्थात् बीड़ी-सिगरेट, भाँग-गाँजा आदि पीनेमें और नाटक-सिनेमा, खेल आदि देखनेमें धन खर्च करना; और २—व्यर्थ क्रिया करना अर्थात् ताश-चौपड़ खेलना, खेल-कूद करना, बिना किसी कारणके पशु-पक्षी आदिको कष्ट देना, तंग करना, बिना किसी स्वार्थके छोटे-छोटे पेड़-पौधोंको नष्ट कर देना आदि व्यर्थ क्रियाएँ करना।

‘**आलस्य**’ भी दो प्रकारका होता है—(१) सोते रहना, निकम्मे बैठे रहना, आवश्यक काम न करना और ऐसा विचार रखना कि फिर कर लेंगे, अभी तो बैठे हैं—इस तरहका आलस्य मनुष्यको बाँधता है; और (२) निद्राके पहले शरीर भारी हो जाना, वृत्तियोंका भारी हो जाना, समझनेकी शक्ति न रहना—इस तरहका आलस्य दोषी नहीं है; क्योंकि यह आलस्य आता है, मनुष्य करता नहीं।

‘**निद्रा**’ भी दो तरहकी होती है—(१) आवश्यक निद्रा—जो निद्रा शरीरके स्वास्थ्यके लिये नियमितरूपसे ली जाती है और जिससे शरीरमें हलकापन आता है, वृत्तियाँ

स्वच्छ होती हैं, बुद्धिको विश्राम मिलता है, ऐसी आवश्यक निद्रा त्याज्य और दोषी नहीं है। भगवान्‌ने भी ऐसी नियमित निद्राको दोषी नहीं माना है, प्रत्युत योग-साधनमें सहायक माना है—**'युक्तस्वप्नावबोधस्य'** (६। १७) और (२) अनावश्यक निद्रा—जो निद्रा निद्राके लिये ली जाती है, जिससे बेहोशी ज्यादा आती है, नींदसे उठनेपर भी शरीर भारी रहता है, वृत्तियाँ भारी रहती हैं, पुरानी स्मृति नहीं होती, ऐसी अनावश्यक निद्रा त्याज्य और दोषी है। इस अनावश्यक निद्राको भगवान्‌ने भी त्याज्य बताया है—**'न चाति स्वप्नशीलस्य'** (६। १६)।

इस तरह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा मनुष्यको बाँध देता है अर्थात् उसकी सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति नहीं होने देता।

विशेष बात

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण मनुष्यको बाँधते हैं, पर इन तीनोंके बाँधनेके प्रकारमें फरक है। सत्त्वगुण और रजोगुण 'संग'से बाँधते हैं अर्थात् सत्त्वगुण सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे तथा रजोगुण कर्मोंकी आसक्तिसे बाँधता है। अतः सत्त्वगुणमें 'सुखसंग और ज्ञानसंग' बताया तथा रजोगुणमें 'कर्मसंग' बताया। परन्तु तमोगुणमें 'संग' नहीं बताया; क्योंकि तमोगुण मोहनात्मक है। इसमें किसीका संग करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। यह तो स्वरूपसे ही बाँधनेवाला है। तात्पर्य यह हुआ कि सत्त्वगुण और रजोगुण तो संग-(सुखासक्ति-) से बाँधते हैं, पर तमोगुण स्वरूपसे ही बाँधनेवाला है।

अगर सुखकी आसक्ति न हो और ज्ञानका अभिमान न हो तो सुख और ज्ञान बाँधनेवाले नहीं होते, प्रत्युत गुणातीत करनेवाले होते हैं। ऐसे ही कर्म और कर्मफलमें आसक्ति न हो, तो वह कर्म परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करानेवाला होता है (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

उपर्युक्त तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं और जीव स्वयं प्रकृति और उसके कार्य गुणोंसे सर्वथा रहित है। गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही वह स्वयं निर्लिप्त, गुणातीत होता हुआ भी गुणोंके द्वारा बँध जाता है। अतः अपने वास्तविक स्वरूपका लक्ष्य रखनेसे ही साधक गुणोंके बन्धनसे छूट सकता है।

सम्बन्ध—बाँधनेसे पहले तीनों गुण क्या करते हैं—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!		(मनुष्यपर)	**आवृत्य**	= ढककर
सत्त्वम्	= सत्त्वगुण	**सञ्जयति**	= विजय करता है।	**उत**	= एवं
सुखे	= सुखमें (और)	**तु**	= परन्तु	**प्रमादे**	= प्रमादमें लगाकर (मनुष्यपर)
रजः	= रजोगुण	**तमः**	= तमोगुण	**सञ्जयति**	= विजय करता है।
कर्मणि	= कर्ममें लगाकर	**ज्ञानम्**	= ज्ञानको		

व्याख्या—**'सत्त्वं सुखे सञ्जयति'**—सत्त्वगुण साधकको सुखमें लगाकर अपनी विजय करता है, साधकको अपने वशमें करता है। तात्पर्य है कि जब सात्त्विक सुख आता है, तब साधककी उस सुखमें आसक्ति हो जाती है। सुखमें आसक्ति होनेसे वह सुख साधकको बाँध देता है अर्थात् उसके साधनको आगे नहीं बढ़ने देता, जिससे साधक सत्त्वगुणसे ऊँचा नहीं उठ सकता, गुणातीत नहीं हो सकता।

यद्यपि भगवान्‌ने पहले छठे श्लोकमें सत्त्वगुणके द्वारा सुख और ज्ञानके संगसे बाँधनेकी बात बतायी है, तथापि यहाँ सत्त्वगुणकी विजय केवल सुखमें ही बतायी है, ज्ञानमें नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें साधक सुखकी आसक्तिसे ही बँधता है। ज्ञान होनेपर साधकमें एक अभिमान आ जाता है कि 'मैं कितना जानकार हूँ!' इस अभिमानमें भी एक सुख मिलता है, जिससे साधक बँध जाता है। इसलिये यहाँ सत्त्वगुणकी केवल सुखमें ही विजय बतायी है।

'रजः कर्मणि भारत'—रजोगुण मनुष्यको कर्ममें लगाकर अपनी विजय करता है। तात्पर्य है कि मनुष्यको क्रिया करना अच्छा लगता है, प्रिय लगता है। जैसे छोटा बालक पड़े-पड़े हाथ-पैर हिलाता है तो उसको अच्छा लगता है और उसका हाथ-पैर हिलाना बंद कर दिया जाय तो वह रोने लगता है। ऐसे ही मनुष्य कोई क्रिया करता है तो उसको अच्छा लगता है और उसकी उस क्रियाको बीचमें कोई छुड़ा दे तो उसको बुरा लगता है। यही क्रियाके प्रति आसक्ति है, प्रियता है, जिससे रजोगुण मनुष्यपर विजय करता है।

'कर्मोंके फलमें तेरा अधिकार नहीं है' (गीता—दूसरे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक) आदि वचनोंसे फलमें आसक्ति न रखनेकी तरफ तो साधकका खयाल जाता है, पर कर्मोंमें आसक्ति न रखनेकी तरफ साधकका खयाल नहीं जाता। वह 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है; कर्म न करनेमें तेरी आसक्ति न हो' (गीता—दूसरे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक), 'जो योगारूढ़ होना चाहता है, उसके लिये निष्कामभावसे कर्म करना कारण है' (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक) आदि वचनोंसे यही समझ लेता है कि कर्म तो करने ही चाहिये। अतः वह कर्म करता है, तो कर्मोंको करते-करते उसकी उन कर्मोंमें आसक्ति, प्रियता हो जाती है, उनका आग्रह हो जाता है। इसकी तरफ खयाल करानेके लिये, सजग करानेके लिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि रजोगुण कर्ममें लगाकर विजय करता है अर्थात् कर्मोंमें आसक्ति पैदा करके बाँध देता है। अतः साधककी कर्तव्य-कर्म करनेमें तत्परता तो होनी चाहिये, पर कर्मोंमें आसक्ति, प्रियता, आग्रह कभी नहीं होना चाहिये—**'न कर्मस्वनुषज्जते'** (गीता ६। ४)।

'ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत'—जब तमोगुण आता है, तब वह सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, हित-अहितके ज्ञान-(विवेक-) को ढक देता है, आच्छादित कर देता है अर्थात् उस ज्ञानको जाग्रत् नहीं होने देता। ज्ञानको ढककर वह मनुष्यको प्रमादमें लगा देता है अर्थात् कर्तव्य-कर्मोंको करने नहीं देता और न करनेयोग्य कर्मोंमें लगा देता है। यही उसका विजयी होना है।

सत्त्वगुणसे ज्ञान (विवेक) और प्रकाश (स्वच्छता)—ये दो वृत्तियाँ पैदा होती हैं। तमोगुण इन दोनों ही वृत्तियोंका विरोधी है, इसलिये वह ज्ञान-(विवेक-)को ढककर मनुष्यको प्रमादमें लगाता है और प्रकाश-(इन्द्रियों और अन्तःकरणकी निर्मलता-) को ढककर मनुष्यको आलस्य एवं निद्रामें लगाता है, जिससे ज्ञानकी बातें कहने-सुनने, पढ़नेपर भी समझमें नहीं आतीं।

परिशिष्ट भाव—सत्त्वगुण केवल सुख होनेपर विजय नहीं करता, प्रत्युत सुखका संग होनेपर विजय करता है—**'सुखसंगेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)। इसी तरह रजोगुण भी कर्मका संग होनेपर विजय करता है—**'तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्'** (१४। ७)। परन्तु तमोगुण स्वरूपसे ही विजय करता है। इसलिये तमोगुणमें 'संग' शब्द नहीं आया है।

'मैं सुखी हूँ'—यह सुखका संग है और 'मैं अच्छे कर्म करनेवाला हूँ, मेरे कर्म बड़े अच्छे हैं'—यह कर्मका संग है। संग करनेसे अर्थात् अपना सम्बन्ध जोड़नेसे ही मनुष्य बँधता है।

सम्बन्ध—एक-एक गुण मनुष्यपर कैसे विजय करता है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

भारत = हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!
रजः = रजोगुण
च = और
तमः = तमोगुणको
अभिभूय = दबाकर
सत्त्वम् = सत्त्वगुण
भवति = बढ़ता है,
सत्त्वम् = सत्त्वगुण
च = और
तमः = तमोगुणको (दबाकर)
रजः = रजोगुण (बढ़ता है)
तथा, एव = वैसे ही
सत्त्वम् = सत्त्वगुण (और)
रजः = रजोगुणको (दबाकर)
तमः = तमोगुण (बढ़ता है)।

व्याख्या—**'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत'**—रजोगुणकी और तमोगुणकी वृत्तियोंको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है अर्थात् रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा, सांसारिक भोग और संग्रहमें प्रियता आदि वृत्तियाँ और तमोगुणकी प्रमाद, आलस्य, अनावश्यक निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ—इन सबको 'सत्त्वगुण' दबा देता है और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता, वैराग्य, निःस्पृहता, उदारता, निवृत्ति आदि वृत्तियोंको उत्पन्न कर देता है।

'रजः सत्त्वं तमश्चैव'—सत्त्वगुणकी और तमोगुणकी वृत्तियोंको दबाकर रजोगुण बढ़ता है अर्थात् सत्त्वगुणकी ज्ञान, प्रकाश, वैराग्य, उदारता आदि वृत्तियाँ और तमोगुणकी प्रमाद, आलस्य, अनावश्यक निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ—इन सबको 'रजोगुण' दबा देता है और अन्तःकरणमें लोभ, प्रवृत्ति, आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियोंको उत्पन्न कर देता है।

'तमः सत्त्वं रजस्तथा'—वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है अर्थात् सत्त्वगुणकी स्वच्छता, निर्मलता, प्रकाश, उदारता आदि वृत्तियाँ और रजोगुणकी चंचलता, अशान्ति, लोभ आदि वृत्तियाँ—इन सबको 'तमोगुण' दबा देता है और अन्तःकरणमें प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियोंको उत्पन्न कर देता है।

दो गुणोंको दबाकर एक गुण बढ़ता है, बढ़ा हुआ गुण मनुष्यपर विजय करता है और विजय करके मनुष्यको बाँध देता है। परन्तु भगवान्‌ने यहाँ (छठेसे दसवें श्लोकतक) उलटा क्रम दिया है अर्थात् पहले बाँधनेकी बात कही, फिर विजय करना कहा और फिर दो गुणोंको दबाकर एकका बढ़ना कहा। ऐसा क्रम देनेका तात्पर्य है—पहले भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें बताया कि जिन महापुरुषोंका प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है, वे महासर्गमें भी उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते। कारण कि महासर्ग और महाप्रलय दोनों प्रकृतिके सम्बन्धसे ही होते हैं। परन्तु जो मनुष्य प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उनको प्रकृतिजन्य गुण बाँध देते हैं (चौदहवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। इसपर स्वाभाविक ही यह प्रश्न होता है कि उन गुणोंका स्वरूप क्या है और वे मनुष्यको किस प्रकार बाँध देते हैं? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने छठेसे आठवें श्लोकतक क्रमशः सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवको बाँधे जानेका प्रकार बताया। इसपर प्रश्न होता है कि बाँधनेसे पहले तीनों गुण क्या करते हैं? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने बताया कि बाँधनेसे पहले बढ़ा हुआ गुण मनुष्यपर विजय करता है, तब उसको बाँधता है (चौदहवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। अब प्रश्न होता है कि गुण मनुष्यपर विजय कैसे करता है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि दो गुणोंको दबाकर एक गुण मनुष्यपर विजय करता है (चौदहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)। इस प्रकार विचार करनेसे मालूम होता है कि भगवान्‌ने छठेसे दसवें श्लोकतक जो क्रम रखा है, वह ठीक ही है।

परिशिष्ट भाव—जो गुण बढ़ता है, उसकी मुख्यता हो जाती है और दूसरे गुणोंकी गौणता हो जाती है। यह गुणोंका स्वभाव है।

सम्बन्ध—जब दो गुणोंको दबाकर एक गुण बढ़ता है, तब उस बढ़े हुए गुणके क्या लक्षण होते हैं—इसको बतानेके लिये पहले बढ़े हुए सत्त्वगुणके लक्षणोंका वर्णन करते हैं।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥

यदा = जब; **अस्मिन्** = इस; **देहे** = मनुष्य-शरीरमें; **सर्वद्वारेषु** = सब द्वारों (इन्द्रियों और अन्तःकरण)-में; **प्रकाशः** = प्रकाश (स्वच्छता); **उत** = और; **ज्ञानम्** = विवेक; **उपजायते** = प्रकट हो जाता है, **तदा** = तब; **इति** = यह; **विद्यात्** = जानना चाहिये (कि); **सत्त्वम्** = सत्त्वगुण; **विवृद्धम्** = बढ़ा हुआ है।

व्याख्या—**'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्''''ज्ञानं यदा'**—जिस समय रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, उस समय सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें तथा अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता प्रकट हो जाती है। जैसे सूर्यके प्रकाशमें सब वस्तुएँ साफ-साफ दीखती हैं, ऐसे ही स्वच्छ बहिःकरण और अन्तःकरणसे शब्दादि पाँचों विषयोंका यथार्थरूपसे ज्ञान होता है। मनसे किसी भी विषयका ठीक-ठीक मनन-चिन्तन होता है।

इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता होनेसे 'सत् क्या है और असत् क्या है? कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है? लाभ किसमें है और हानि किसमें है? हित किसमें है और अहित किसमें है?' आदि बातोंका स्पष्टतया ज्ञान (विवेक) हो जाता है।

यहाँ **'देहेऽस्मिन्'** कहनेका तात्पर्य है कि सत्त्वगुणके बढ़नेका अर्थात् बहिःकरण और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता और विवेकशक्ति प्रकट होनेका अवसर इस मनुष्य-शरीरमें ही है, अन्य शरीरोंमें नहीं। भगवान्ने तमोगुणसे बँधनेवालोंके लिये **'सर्वदेहिनाम्'** (१४।८) पदका प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य है कि रजोगुण-तमोगुण तो अन्य शरीरोंमें भी बढ़ते हैं, पर सत्त्वगुण मनुष्यशरीरमें ही बढ़ सकता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह रजोगुण और तमोगुणपर विजय प्राप्त करके सत्त्वगुणसे भी ऊँचा उठे। इसीमें मनुष्यजीवनकी सफलता है। भगवान्ने कृपापूर्वक मनुष्यशरीर देकर इन तीनों गुणोंपर विजय प्राप्त करनेका पूरा अवसर, अधिकार, योग्यता, सामर्थ्य, स्वतन्त्रता दी है।

'तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत'—इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता और विवेकशक्ति आनेपर साधकको यह जानना चाहिये कि अभी सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ बढ़ी हुई हैं और रजोगुण-तमोगुणकी वृत्तियाँ दबी हुई हैं। अतः साधक कभी भी अपनेमें यह अभिमान न करे कि 'मैं जानकार हो गया हूँ, ज्ञानी हो गया हूँ' अर्थात् वह सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश और ज्ञानको अपना गुण न माने, प्रत्युत सत्त्वगुणका ही कार्य, लक्षण माने।

यहाँ **'इति विद्यात्'** पदोंका तात्पर्य है कि तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका पैदा होना, बढ़ना और एक गुणकी प्रधानता होनेपर दूसरे दो गुणोंका दबना आदि-आदि परिवर्तन गुणोंमें ही होते हैं, स्वरूपमें नहीं—इस बातको मनुष्यशरीरमें ही ठीक तरहसे समझा जा सकता है। परन्तु मनुष्य भगवान्के दिये विवेकको महत्त्व न देकर गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है और अपनेको सात्त्विक, राजस या तामस मानने लगता है। मनुष्यको चाहिये कि अपनेको ऐसा न मानकर सर्वथा निर्विकार, अपरिवर्तनशील जाने।

तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ अलग-अलग बनती-बिगड़ती हैं—इसका सबको अनुभव है। स्वयं परिवर्तनरहित और इन सब वृत्तियोंको देखनेवाला है। यदि स्वयं भी बदलनेवाला होता तो इन वृत्तियोंके बनने-बिगड़नेको कौन देखता? परिवर्तनको परिवर्तनरहित ही जान सकता है।

जब सात्त्विक वृत्तियोंके बढ़नेसे इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता आ जाती है और विवेक जाग्रत् हो जाता है, तब संसारसे राग हट जाता है और वैराग्य हो जाता है। अशान्ति मिट जाती है और शान्ति आ जाती है। लोभ मिट जाता है और उदारता आ जाती है। प्रवृत्ति निष्कामभावपूर्वक होने लगती है (गीता—अठारहवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। भोग और संग्रहके लिये नये-नये कर्मोंका आरम्भ नहीं होता। मनमें पदार्थों, भोगोंकी आवश्यकता पैदा नहीं होती, प्रत्युत निर्वाहमात्रकी दृष्टि रहती है। हरेक विषयको समझनेके लिये बुद्धिका विकास होता है। हरेक कार्य सावधानीपूर्वक और सुचारुरूपसे होता है। कार्योंमें भूल कम होती है। कभी भूल हो भी जाती है तो उसका सुधार होता है, लापरवाही नहीं होती। सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक स्पष्टतया जाग्रत् रहता है। अतः जिस समय सात्त्विक वृत्तियाँ बढ़ी हों, उस समय साधकको विशेषरूपसे भजन-ध्यान आदिमें लग जाना चाहिये। ऐसे समयमें किये गये थोड़े-से साधनसे भी शीघ्र ही बहुत लाभ हो सकता है।

परिशिष्ट भाव—'प्रकाश' और 'ज्ञान' दोनोंमें भेद है। 'प्रकाश'का अर्थ है—इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जागृति अर्थात् रजोगुणसे होनेवाले मनोराज्यका तथा तमोगुणसे होनेवाले निद्रा, आलस्य और प्रमादका न होकर स्वच्छता होना। 'ज्ञान' का अर्थ है—विवेक अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, ग्राह्य-त्याज्य आदिका ज्ञान होना।

सम्बन्ध—बढ़े हुए रजोगुणके क्या लक्षण होते हैं—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

भरतर्षभ	= हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**लोभः**	= लोभ,	**अशमः**	= अशान्ति (और)
रजसि	= रजोगुणके	**प्रवृत्तिः**	= प्रवृत्ति,	**स्पृहा**	= स्पृहा—
विवृद्धे	= बढ़नेपर	**कर्मणाम्**	= कर्मोंका	**एतानि**	= ये वृत्तियाँ
		आरम्भः	= आरम्भ,	**जायन्ते**	= पैदा होती हैं।

व्याख्या—**'लोभः'**—निर्वाहकी चीजें पासमें होनेपर भी उनको अधिक बढ़ानेकी इच्छाका नाम 'लोभ' है। परन्तु उन चीजोंके स्वाभाविक बढ़नेका नाम लोभ नहीं है। जैसे, कोई खेती करता है और अनाज ज्यादा पैदा हो गया, व्यापार करता है और मुनाफा ज्यादा हो गया, तो इस तरह पदार्थ, धन आदिके स्वाभाविक बढ़नेका नाम लोभ नहीं है और यह बढ़ना दोषी भी नहीं है।

'प्रवृत्तिः'—कार्यमात्रमें लग जानेका नाम 'प्रवृत्ति' है। परन्तु राग-द्वेषरहित होकर कार्यमें लग जाना दोषी नहीं है; क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति तो गुणातीत महापुरुषमें भी होती है (गीता—चौदहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। रागपूर्वक अर्थात् सुख, आराम, धन आदिकी इच्छाको लेकर क्रियामें प्रवृत्त हो जाना ही दोषी है।

'आरम्भः कर्मणाम्'—संसारमें धनी और बड़ा कहलानेके लिये; मान, आदर, प्रशंसा आदि पानेके लिये नये-नये कर्म करना, नये-नये व्यापार शुरू करना, नयी-नयी फैक्टरियाँ खोलना, नयी-नयी दूकानें खोलना आदि 'कर्मोंका आरम्भ' है।

प्रवृत्ति और आरम्भ—इन दोनोंमें अन्तर है। परिस्थितिके आनेपर किसी कार्यमें प्रवृत्ति होती है और किसी कार्यसे निवृत्ति होती है। परन्तु भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंको शुरू करना 'आरम्भ' है।

मनुष्यजन्म प्राप्त होनेपर केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका ही उद्देश्य रहे, भोग और संग्रहका उद्देश्य बिलकुल न रहे—इसी दृष्टिसे भक्तियोग और ज्ञानयोगमें **'सर्वारम्भपरित्यागी'** (बारहवें अध्यायका सोलहवाँ और चौदहवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) पदसे सम्पूर्ण आरम्भोंका त्याग करनेके लिये कहा गया है। कर्मयोगमें कर्मोंके आरम्भ तो होते हैं, पर वे सभी आरम्भ कामना और संकल्पसे रहित होते हैं (गीता—चौथे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। कर्मयोगमें ऐसे आरम्भ दोषी भी नहीं हैं; क्योंकि कर्मयोगमें कर्म करनेका विधान है और बिना कर्म किये कर्मयोगी योग-(समता-) पर आरूढ़ नहीं हो सकता (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। अतः आसक्तिरहित होकर प्राप्त परिस्थितिके अनुसार कर्मोंके आरम्भ किये जायँ, तो वे आरम्भ-आरम्भ नहीं हैं, प्रत्युत प्रवृत्तिमात्र ही हैं; क्योंकि उनसे कर्म करनेका राग मिटता है। वे आरम्भ निवृत्ति देनेवाले होनेसे दोषी नहीं हैं।

'अशमः'—अन्तःकरणमें अशान्ति, हलचल रहनेका नाम 'अशम' है। जैसी इच्छा करते हैं, वैसी चीजें (धन, सम्पत्ति, यश, प्रतिष्ठा आदि) जब नहीं मिलतीं, तब अन्तःकरणमें अशान्ति, हलचल होती है। कामनाका त्याग करनेपर यह अशान्ति नहीं रहती।

'स्पृहा'—स्पृहा नाम परवाहका है; जैसे—भूख लगनेपर अन्नकी, प्यास लगनेपर जलकी, जाड़ा लगनेपर कपड़ेकी परवाह, आवश्यकता होती है। वास्तवमें भूख, प्यास और जाड़ा—इनका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत अन्न, जल आदि मिल जाय—ऐसी इच्छा करना ही दोषी है। साधकको इस इच्छाका त्याग करना चाहिये; क्योंकि कोई भी वस्तु इच्छाके अधीन नहीं है।

'रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ'—जब भीतरमें रजोगुण बढ़ता है, तब उपर्युक्त लोभ, प्रवृत्ति आदि वृत्तियाँ बढ़ती हैं। ऐसे समयमें साधकको यह विचार करना चाहिये कि अपना जीवन-निर्वाह तो हो ही रहा है, फिर अपने लिये और क्या चाहिये? ऐसा विचार करके रजोगुणकी वृत्तियोंको मिटा दे, उनसे उदासीन हो जाय।

परिशिष्ट भाव—रजोगुणके बढ़नेपर सत्त्वगुणके प्रकाश और ज्ञान दब जाते हैं। रजोगुण असंगताका विरोधी है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (गीता १४।७)। क्रिया और पदार्थका संग करनेके कारण यह मनुष्यको योगारूढ़ नहीं होने देता। कारण कि मनुष्य क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर ही योगारूढ़ होता है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)।

सम्बन्ध—बढ़े हुए तमोगुणके क्या लक्षण होते हैं—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

कुरुनन्दन	= हे कुरुनन्दन!	**अप्रवृत्तिः**	= अप्रवृत्ति,	**मोहः**	= मोह
तमसि	= तमोगुणके	**च**	= तथा	**एतानि**	= —ये वृत्तियाँ
विवृद्धे	= बढ़नेपर	**प्रमादः**	= प्रमाद	**एव**	= भी
अप्रकाशः	= अप्रकाश,	**च**	= और	**जायन्ते**	= पैदा होती हैं।

व्याख्या—'**अप्रकाशः**'—सत्त्वगुणकी प्रकाश (स्वच्छता-) वृत्तिको दबाकर जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें स्वच्छता नहीं रहती। इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें जो समझनेकी शक्ति है, वह तमोगुणके बढ़नेपर लुप्त हो जाती है अर्थात् पहली बात तो याद रहती नहीं और नया विवेक पैदा होता नहीं। इस वृत्तिको यहाँ 'अप्रकाश' कहकर इसका सत्त्वगुणकी वृत्ति 'प्रकाश' के साथ विरोध बताया गया है।

'**अप्रवृत्तिः**'—रजोगुणकी वृत्ति 'प्रवृत्ति' को दबाकर जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब कार्य करनेका मन नहीं करता। निरर्थक बैठे रहने अथवा पड़े रहनेका मन करता है। आवश्यक कार्यको करनेकी भी रुचि नहीं होती। यह सब 'अप्रवृत्ति' वृत्तिका काम है।

'**प्रमादः**'—न करनेलायक काममें लग जाना और करनेलायक कामको न करना, तथा जिन कामोंको करनेसे न पारमार्थिक उन्नति होती है, न सांसारिक उन्नति होती है, न समाजका कोई काम होता है और जो शरीरके लिये भी आवश्यक नहीं है—ऐसे बीड़ी-सिगरेट, ताश-चौपड़, खेल-तमाशे आदि कार्योंमें लग जाना 'प्रमाद' वृत्तिका काम है।

'**मोहः**'—तमोगुणके बढ़नेपर जब 'मोह' वृत्ति आ जाती है, तब भीतरमें विवेक-विरोधी भाव पैदा होने लगते हैं। क्रियाके करने और न करनेमें विवेक काम नहीं करता, प्रत्युत मूढ़ता छायी रहती है, जिससे पारमार्थिक और व्यावहारिक काम करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती।

'**एव च**'—इन पदोंसे अधिक निद्रा लेना, अपने जीवनका समय निरर्थक नष्ट करना, धन निरर्थक नष्ट करना आदि जितने भी निरर्थक कार्य हैं, उन सबको ले लेना चाहिये।

'**तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन**'—ये सब बढ़े हुए तमोगुणके लक्षण हैं अर्थात् जब ये अप्रकाश, अप्रवृत्ति आदि दिखायी दें, तब समझना चाहिये कि सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ा है।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों ही गुण सूक्ष्म होनेसे अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियाँ और अन्तःकरणके विषय नहीं हैं। इसलिये ये तीनों गुण साक्षात् दीखनेमें नहीं आते, इनके स्वरूपका साक्षात् ज्ञान नहीं होता। इन गुणोंका ज्ञान, इनकी पहचान तो वृत्तियोंसे ही होती है; क्योंकि वृत्तियाँ स्थूल होनेसे वे इन्द्रियाँ और अन्तःकरणका विषय हो जाती हैं। इसलिये भगवान्ने ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें क्रमशः तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका ही वर्णन किया है, जिससे अतीन्द्रिय गुणोंकी पहचान हो जाय और साधक सावधानीपूर्वक रजोगुण-तमोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणकी वृद्धि कर सके।

मार्मिक बात

सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ स्वाभाविक ही उत्पन्न, नष्ट तथा कम-अधिक होती रहती हैं। ये सभी परिवर्तनशील हैं। साधक अपने जीवनमें इन वृत्तियोंके परिवर्तनका अनुभव भी करता है। इससे सिद्ध होता है कि तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ बदलनेवाली हैं और इनके परिवर्तनको जाननेवाले पुरुषमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ दृश्य हैं और पुरुष इनको देखनेवाला होनेसे द्रष्टा है। द्रष्टा दृश्यसे सर्वथा भिन्न होता है—यह नियम है। दृश्यकी तरफ दृष्टि होनेसे ही द्रष्टा संज्ञा होती है। दृश्यपर दृष्टि न रहनेपर द्रष्टा संज्ञारहित रहता है। भूल यह होती है कि दृश्यको अपनेमें आरोपित करके वह 'मैं कामी हूँ', 'मैं क्रोधी हूँ' आदि मान लेता है।

काम-क्रोधादि विकारोंसे सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपनेमें मान लेना उन विकारोंको निमन्त्रण देना है और उन्हें स्थायी बनाना है। मनुष्य भूलसे क्रोध आनेके समय क्रोधको उचित समझता है और कहता है कि यह तो सभीको आता है और अन्य समय 'मेरा क्रोधी स्वभाव है'—ऐसा भाव रखता है। इस प्रकार 'मैं क्रोधी हूँ' ऐसा मान लेनेसे वह क्रोध अहंतामें बैठ जाता है। फिर क्रोधरूप विकारसे छूटना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि साधक प्रयत्न करनेपर भी क्रोधादि विकारोंको दूर नहीं कर पाता और उनसे अपनी हार मान लेता है।

काम-क्रोधादि विकारोंको दूर करनेका मुख्य और सुगम उपाय यह है कि साधक इनको अपनेमें कभी माने ही नहीं। वास्तवमें विकार निरन्तर नहीं रहते, प्रत्युत विकाररहित अवस्था निरन्तर रहती है। कारण कि विकार तो आते और चले जाते हैं, पर स्वयं निरन्तर निर्विकार रहता है। क्रोधादि

विकार भी अपनेमें नहीं, प्रत्युत मन-बुद्धिमें आते हैं। परन्तु साधक मन-बुद्धिसे मिलकर उन विकारोंको भूलसे अपनेमें मान लेता है। अगर वह विकारोंको अपनेमें न माने, तो उनसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। फिर विकारोंको दूर करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वे अपने-आप दूर हो जाते हैं। जैसे, क्रोधके आनेपर साधक ऐसा विचार करे कि 'मैं तो वही हूँ; मैं आने-जानेवाले क्रोधसे कभी मिल सकता ही नहीं।' ऐसा विचार दृढ़ होनेपर क्रोधका वेग कम हो जायगा और वह पहलेकी अपेक्षा कम बार आयेगा। फिर अन्तमें वह सर्वथा दूर हो जायगा।

भगवान् पूर्वोक्त तीन श्लोकोंमें क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके साधकको सावधान करते हैं कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ उसको अपनेमें प्रतीत होती हैं, वास्तवमें साधकका इनके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। गुण एवं गुणोंकी वृत्तियाँ प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील हैं और स्वयं पुरुष परमात्माका अंश होनेसे अपरिवर्तनशील है। प्रकृति और पुरुष—दोनों विजातीय हैं। बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका एकात्मभाव हो ही कैसे सकता है? इस वास्तविकताकी तरफ दृष्टि रखनेसे तमोगुण और रजोगुण दब जाते हैं तथा साधकमें सत्त्वगुणकी वृद्धि स्वतः हो जाती है। सत्त्वगुणमें भोग-बुद्धि होनेसे अर्थात् उससे होनेवाले सुखमें राग होनेसे यह सत्त्वगुण भी गुणातीत होनेमें बाधा उत्पन्न कर देता है। अतः साधकको सत्त्वगुणसे उत्पन्न सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये। सात्त्विक सुखका उपभोग करना रजोगुण-अंश है। रजोगुणमें राग बढ़नेपर रागमें बाधा देनेवालेके प्रति क्रोध पैदा होकर सम्मोह हो जाता है और रागके अनुसार पदार्थ मिलनेपर लोभ पैदा होकर सम्मोह हो जाता है। इस प्रकार सम्मोह पैदा होनेसे वह रजोगुणसे तमोगुणमें चला जाता है और उसका पतन हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—अप्रकाश और अप्रवृत्ति तो सत्त्वगुण और रजोगुणके विरोधी हैं तथा प्रमाद और मोह तमोगुणके अपने हैं।

सम्बन्ध—तात्कालिक बढ़े हुए गुणोंकी वृत्तियोंका फल क्या होता है—इसे आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ १४॥

यदा	= जिस समय	**तु**	= यदि	**उत्तमविदाम्**	= उत्तमवेत्ताओंके
सत्त्वे	= सत्त्वगुण	**देहभृत्**	= देहधारी मनुष्य	**अमलान्**	= निर्मल
प्रवृद्धे	= बढ़ा हो,	**प्रलयम्,**		**लोकान्**	= लोकोंमें
तदा	= उस समय	**याति**	= मर जाता है (तो वह)	**प्रतिपद्यते**	= जाता है।

व्याख्या—'**यदा सत्त्वे प्रवृद्धे**'''**प्रतिपद्यते**'—जिस कालमें जिस-किसी भी देहधारी मनुष्यमें, चाहे वह सत्त्वगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी ही क्यों न हो, जिस-किसी कारणसे सत्त्वगुण तात्कालिक बढ़ जाता है अर्थात् सत्त्व-गुणके कार्य स्वच्छता, निर्मलता आदि वृत्तियाँ तात्कालिक बढ़ जाती हैं, उस समय अगर उस मनुष्यके प्राण छूट जाते हैं, तो वह उत्तम (शुभ) कर्म करनेवालोंके निर्मल लोकोंमें चला जाता है।

'**उत्तमविदाम्**' कहनेका तात्पर्य है कि जो मनुष्य उत्तम (शुभ) कर्म ही करते हैं, अशुभ-कर्म कभी करते ही नहीं अर्थात् उत्तम ही उनके भाव हैं, उत्तम ही उनके कर्म हैं और उत्तम ही उनका ज्ञान है, ऐसे पुण्यकर्मा लोगोंका जिन लोकोंपर अधिकार हो जाता है, उन्हीं निर्मल लोकोंमें वह मनुष्य चला जाता है, जिसका शरीर सत्त्वगुणके बढ़नेपर छूटा है। तात्पर्य है कि उम्रभर शुभ-कर्म करनेवालोंको जिन ऊँचे-ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन्हीं लोकोंमें तात्कालिक बढ़े हुए सत्त्वगुणकी वृत्तिमें प्राण छूटनेवाला जाता है।

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें शरीर छोड़नेवाले मनुष्य पुण्यात्माओंके प्राप्तव्य ऊँचे लोकोंमें जाते हैं—इससे

सिद्ध होता है कि गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ कर्मोंकी अपेक्षा कमजोर नहीं हैं। अतः सात्त्विक वृत्ति भी पुण्यकर्मोंके समान ही श्रेष्ठ है। इस दृष्टिसे शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंमें भी भावका ही महत्त्व है, पुण्यकर्मविशेषका नहीं। इसलिये सात्त्विक भावका स्थान बहुत ऊँचा है। पदार्थ, क्रिया, भाव और उद्देश्य—ये चारों क्रमशः एक-दूसरेसे ऊँचे होते हैं।

रजोगुण और तमोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुणकी वृत्ति सूक्ष्म और व्यापक होती है। लोकमें भी स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मका आहार कम होता है; जैसे—देवतालोग सूक्ष्म होनेसे केवल सुगन्धिसे ही तृप्त हो जाते हैं। हाँ, स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्ममें शक्ति अवश्य अधिक होती है। यही कारण है कि सूक्ष्मभावकी प्रधानतासे अन्तसमयमें सत्त्वगुणकी वृद्धि मनुष्यको ऊँचे लोकोंमें ले जाती है।

'अमलान्' कहनेका तात्पर्य है कि सत्त्वगुणका स्वरूप निर्मल है; अतः सत्त्वगुणके बढ़नेपर जो मरता है, उसको निर्मल लोकोंकी ही प्राप्ति होती है।

यहाँ यह शंका होती है कि उम्रभर शुभ-कर्म करनेवालोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन लोकोंमें सत्त्वगुणकी वृत्ति बढ़नेपर मरनेवाला कैसे चला जायगा? भगवान्‌की यह एक विशेष छूट है कि अन्तकालमें मनुष्यकी जैसी मति होती है, वैसी ही उसकी गति होती है (गीता—आठवें अध्यायका छठाँ श्लोक)। अतः सत्त्वगुणकी वृत्तिके बढ़नेपर शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उत्तम लोकोंमें चला जाय—इसमें शंकाकी कोई बात ही नहीं है।

परिशिष्ट भाव—'तदोत्तमविदां लोकानमलान्'—विवेकवान् पुरुष उत्तमवेत्ता हैं। यदि सत्त्वगुणको अपना मानकर उसमें रमण न करे और भगवान्‌की सम्मुखता रहे तो सात्त्विक मनुष्य सत्त्वगुणसे भी असंग (गुणातीत) होकर भगवान्‌के परमधामको चला जायगा, अन्यथा सत्त्वगुणका सम्बन्ध रहनेपर वह ब्रह्मलोकतकके ऊँचे लोकोंको चला जायगा।

'अमलान्'—ब्रह्मलोकतकके लोकोंमें तो सापेक्ष निर्मलता है, पर भगवान्‌के परमधाममें निरपेक्ष निर्मलता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

रजसि	= रजोगुणके बढ़नेपर	**जायते**	= जन्म लेता है	**प्रलीनः**	= मरनेवाला
प्रलयम्, गत्वा	= मरनेवाला प्राणी	**तथा**	= तथा	**मूढयोनिषु**	= मूढ़ योनियोंमें
कर्मसङ्गिषु	= कर्मसंगी मनुष्ययोनिमें	**तमसि**	= तमोगुणके बढ़नेपर	**जायते**	= जन्म लेता है।

व्याख्या—**'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते'**—अन्तसमयमें जिस-किसी भी मनुष्यमें जिस-किसी कारणसे रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा आदि वृत्तियाँ बढ़ जाती हैं और उसी वृत्तिके चिन्तनमें उसका शरीर छूट जाता है, तो वह मृतात्मा प्राणी कर्मोंमें आसक्ति रखनेवाले मनुष्योंमें जन्म लेता है।

जिसने उम्रभर अच्छे काम, आचरण किये हैं, जिसके अच्छे भाव रहे हैं, वह यदि अन्तकालमें रजोगुणके बढ़नेपर मर जाता है, तो मरनेके बाद मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेपर भी उसके आचरण, भाव अच्छे ही रहेंगे, वह शुभ-कर्म करने-वाला ही होगा। जिसका साधारण जीवन रहा है, वह यदि अन्तसमयमें रजोगुणकी लोभ आदि वृत्तियोंके बढ़नेपर मर जाता है, तो वह मनुष्ययोनिमें आकर पदार्थ, व्यक्ति, क्रिया आदिमें आसक्तिवाला ही होगा। जिसके जीवनमें काम, क्रोध आदिकी ही मुख्यता रही है, वह यदि रजोगुणके बढ़नेपर मरता है, तो वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेपर भी विशेषरूपसे आसुरी सम्पत्तिवाला ही होगा। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यलोकमें जन्म लेनेपर भी गुणोंके तारतम्यसे मनुष्योंके तीन प्रकार हो जाते हैं अर्थात् तीन प्रकारके स्वभाववाले मनुष्य हो जाते हैं। परन्तु इसमें एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि रजोगुणकी वृद्धिपर मरकर मनुष्य बननेवाले प्राणी कैसे ही आचरणोंवाले क्यों न हों, उन सबमें भगवत्प्रदत्त विवेक रहता ही है। अतः प्रत्येक मनुष्य इस विवेकको महत्त्व देकर; सत्संग, स्वाध्याय आदिसे इस विवेकको स्वच्छ करके ऊँचे उठ सकते हैं, परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। इस भगवत्प्रदत्त विवेकके कारण सब-के-

सब मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं।

'तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते'—अन्त-कालमें, जिस-किसी भी मनुष्यमें, जिस-किसी कारणसे तात्कालिक तमोगुण बढ़ जाता है अर्थात् तमोगुणकी प्रमाद, मोह, अप्रकाश आदि वृत्तियाँ बढ़ जाती हैं और उन वृत्तियोंका चिन्तन करते हुए ही वह मरता है, तो वह मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि मूढ़योनियोंमें जन्म लेता है। इन मूढ़योनियोंमें मूढ़ता तो सबमें रहती है, पर वह न्यूनाधिकरूपसे रहती है; जैसे—वृक्ष, लता आदि योनियोंमें जितनी अधिक मूढ़ता होती है, उतनी मूढ़ता पशु, पक्षी आदि योनियोंमें नहीं होती।

अच्छे काम करनेवाला मनुष्य यदि अन्तसमयमें तमोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरकर मूढ़योनियोंमें भी चला जाय, तो वहाँ भी उसके गुण, आचरण अच्छे ही होंगे, उसका स्वभाव अच्छे काम करनेका ही होगा। जैसे, भरत मुनिका अन्तसमयमें तमोगुणकी वृत्तिमें अर्थात् हरिणके चिन्तनमें शरीर छूटा, तो वे मूढ़योनिवाले हरिण बन गये। परन्तु उनका मनुष्यजन्ममें किया हुआ त्याग, तप हरिणके जन्ममें भी वैसा ही बना रहा। वे हरिणयोनिमें भी अपनी माताके साथ नहीं रहे, हरे पत्ते न खाकर सूखे पत्ते ही खाते रहे, आदि। ऐसी सावधानी मनुष्योंमें भी बहुत कम होती है, जो कि भरत मुनिकी हरिणजन्ममें थी।

परिशिष्ट भाव—रजोगुणमें 'राग'-अंश ही बाँधनेवाला, जन्म-मरण देनेवाला है, 'क्रिया'-अंश नहीं। राग होनेके कारण ही **'कर्मसंगिषु जायते'** कहा है। क्रियारूपसे रजोगुण तो गुणातीतमें भी होता है—**'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च'** (गीता १४। २२)। पदार्थ, क्रिया अथवा व्यक्ति—किसीमें भी राग हो जायगा तो वह कर्मसंगी मनुष्ययोनिमें जन्म लेगा। मनुष्य स्वाभाविक कर्मसंगी है; क्योंकि कर्म करनेका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है—**'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'** (गीता १५। २)।

सम्बन्ध—अन्तकालमें गुणोंके तात्कालिक बढ़नेपर मरनेवाले मनुष्योंकी ऐसी गतियाँ क्यों होती हैं—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

विवेकी पुरुषोंने—

सुकृतस्य	= शुभ	**फलम्**	= फल	**तमसः**	= तामस कर्मका
कर्मणः	= कर्मका	**आहुः**	= कहा है,	**फलम्**	= फल
तु	= तो	**रजसः**	= राजस कर्मका	**अज्ञानम्**	= अज्ञान (मूढ़ता) (कहा है)।
सात्त्विकम्	= सात्त्विक	**फलम्**	= फल		
निर्मलम्	= निर्मल	**दुःखम्**	= दुःख (कहा है और)		

व्याख्या—[वास्तवमें कर्म न सात्त्विक होते हैं, न राजस होते हैं और न तामस ही होते हैं। सभी कर्म क्रियामात्र ही होते हैं। वास्तवमें उन कर्मोंको करनेवाला कर्ता ही सात्त्विक, राजस और तामस होता है। सात्त्विक कर्ताके द्वारा किया हुआ कर्म 'सात्त्विक', राजस कर्ताके द्वारा किया हुआ कर्म 'राजस' और तामस कर्ताके द्वारा किया हुआ कर्म 'तामस' कहा जाता है।]

'कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्'—सत्त्वगुणका स्वरूप निर्मल, स्वच्छ, निर्विकार है। अतः सत्त्वगुणवाला कर्ता जो कर्म करेगा, वह कर्म सात्त्विक ही होगा; क्योंकि कर्म कर्ताका ही रूप होता है। इस सात्त्विक कर्मके फलरूपमें जो परिस्थिति बनेगी, वह भी वैसे ही शुद्ध, निर्मल, सुखदायी होगी।

फलेच्छारहित होकर कर्म करनेपर भी जबतक सत्त्व-गुणके साथ कर्ताका सम्बन्ध रहता है, तबतक उसकी 'सात्त्विक कर्ता' संज्ञा होती है और तभीतक उसके कर्मोंका फल बनता है। परन्तु जब गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उसकी 'सात्त्विक कर्ता' संज्ञा नहीं होती और उसके द्वारा किये हुए कर्मोंका फल भी नहीं बनता, प्रत्युत उसके द्वारा किये हुए कर्म अकर्म हो जाते हैं।

'रजसस्तु फलं दुःखम्'—रजोगुणका स्वरूप रागात्मक है। अतः रागवाले कर्ताके द्वारा जो कर्म होगा, वह कर्म भी राजस ही होगा और उस राजस कर्मका फल भोग होगा। तात्पर्य है कि उस राजस कर्मसे पदार्थोंका भोग होगा, शरीरमें सुख-आराम आदिका भोग होगा, संसारमें

आदर-सत्कार आदिका भोग होगा, और मरनेके बाद स्वर्गादि लोकोंके भोगोंकी प्राप्ति होगी। परन्तु ये जितने भी सम्बन्धजन्य भोग हैं, वे सब-के-सब दु:खोंके ही कारण हैं—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते**' (गीता ५। २२) अर्थात् जन्म-मरण देनेवाले हैं। इसी दृष्टिसे भगवान्‌ने यहाँ राजस कर्मका फल दु:ख कहा है।

रजोगुणसे दो चीजें पैदा होती हैं—पाप और दु:ख। रजोगुणी मनुष्य वर्तमानमें पाप करता है और परिणाममें उन पापोंका फल दु:ख भोगता है। तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके द्वारा 'मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है?' ऐसा पूछनेपर उत्तरमें भगवान्‌ने रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाली कामनाको ही पाप करानेमें हेतु बताया है!

'**अज्ञानं तमसः फलम्**'— तमोगुणका स्वरूप मोहनात्मक है। अत: मोहवाला तामस कर्ता परिणाम, हिंसा, हानि और सामर्थ्यको न देखकर मूढ़तापूर्वक जो कुछ कर्म करेगा, वह कर्म तामस ही होगा और उस तामस कर्मका फल अज्ञान अर्थात् अज्ञानबहुल योनियोंकी प्राप्ति ही होगा। उस कर्मके अनुसार उसका पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, पहाड़ आदि मूढ़योनियोंमें जन्म होगा, जिनमें अज्ञान-(मूढ़ता-) की मुख्यता रहती है।

इस श्लोकका निष्कर्ष यह निकला कि सात्त्विक पुरुषके सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाय, पर उसमें उसको दु:ख नहीं हो सकता। राजस पुरुषके सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाय, पर उसमें उसको सुख नहीं हो सकता। तामस पुरुषके सामने कैसी ही परिस्थिति आ जाय, पर उसमें उसका विवेक जाग्रत् नहीं हो सकता, प्रत्युत उसमें उसकी मूढ़ता ही रहेगी।

गुण (भाव) और परिस्थिति तो कर्मोंके अनुसार ही बनती है। जबतक गुण (भाव) और कर्मोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक मनुष्य किसी भी परिस्थितिमें सुखी नहीं हो सकता। जब गुण और कर्मोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहता, तब मनुष्य किसी भी परिस्थितिमें कभी दु:खी नहीं हो सकता और बन्धनमें भी नहीं पड़ सकता।

जन्मके होनेमें अन्तकालीन चिन्तन ही मुख्य होता है और अन्तकालीन चिन्तनके मूलमें गुणोंका बढ़ना होता है तथा गुणोंका बढ़ना कर्मोंके अनुसार होता है। तात्पर्य है कि मनुष्यका जैसा भाव (गुण) होगा, वैसा वह कर्म करेगा और जैसा कर्म करेगा, वैसा भाव दृढ़ होगा तथा उस भावके अनुसार अन्तिम चिन्तन होगा। अत: आगे जन्म होनेमें अन्तकालीन चिन्तन ही मुख्य रहा। चिन्तनके मूलमें भाव और भावके मूलमें कर्म रहता है। इस दृष्टिसे गतिके होनेमें अन्तिम चिन्तन, भाव (गुण) और कर्म—ये तीनों कारण हैं।

परिशिष्ट भाव—रजोगुणका स्वरूप राग है और उस रागके कारण ही दु:ख होता है—'**रजसस्तु फलं दु:खम्**'। संसारके सभी दु:ख और पाप रागके कारण ही होते हैं। रागके कारण ही काम पैदा होता है—'**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः**' (गीता ३। ३७)।

'**अज्ञानं तमसः फलम्**'—तमोगुण ज्ञान, प्रकाश, विवेक नहीं होने देता; क्योंकि तमोगुण अज्ञानको उत्पन्न करनेवाला और अज्ञानसे ही उत्पन्न होनेवाला है (इसी अध्यायका आठवाँ और सत्रहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने गुणोंकी तात्कालिक वृत्तियोंके बढ़नेपर जो गतियाँ होती हैं, उनके मूलमें सात्त्विक, राजस और तामस कर्म बताये। अब सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंके मूलमें गुणोंको बतानेके लिये भगवान् आगेका श्लोक कहते हैं।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

सत्त्वात्	= सत्त्वगुणसे	**एव**	= ही	**अज्ञानम्**	= अज्ञान
ज्ञानम्	= ज्ञान	**सञ्जायते**	= उत्पन्न होते हैं।	**एव**	= भी
च	= और	**तमसः**	= तमोगुणसे		
रजसः	= रजोगुणसे	**प्रमादमोहौ**	= प्रमाद, मोह	**भवतः**	= उत्पन्न होते हैं।
लोभः	= लोभ (आदि)	**च**	= एवं		

व्याख्या—'**सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्**'—सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है अर्थात् सुकृत-दुष्कृत कर्मोंका विवेक जाग्रत् होता है। उस विवेकसे मनुष्य सुकृत, सत्कर्म ही करता है। उन सुकृत कर्मोंका फल सात्त्विक, निर्मल होता है।

'रजसो लोभ एव च'—रजोगुणसे लोभ आदि पैदा होते हैं। लोभको लेकर मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मोंका फल दुःख होता है।

जितना मिला है, उसकी वृद्धि चाहनेका नाम लोभ है। लोभके दो रूप हैं—उचित खर्च न करना और अनुचित रीतिसे संग्रह करना। उचित कामोंमें धन खर्च न करनेसे, उससे जी चुरानेसे मनुष्यके मनमें अशान्ति, हलचल रहती है और अनुचित रीतिसे अर्थात् झूठ, कपट आदिसे धनका संग्रह करनेसे पाप बनते हैं, जिससे नरकोंमें तथा चौरासी लाख योनियोंमें दुःख भोगना पड़ता है। इस दृष्टिसे राजस कर्मोंका फल दुःख होता है।

'प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च'— तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान पैदा होता है। इन तीनोंके बुद्धिमें आनेसे विवेक-विरुद्ध काम होते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक), जिससे अज्ञान ही बढ़ता है, दृढ़ होता है।

यहाँ तो तमोगुणसे अज्ञानका पैदा होना बताया है और इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें अज्ञानसे तमोगुणका पैदा होना बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे वृक्षसे बीज पैदा होते हैं और उन बीजोंसे आगे बहुत-से वृक्ष पैदा होते हैं, ऐसे ही तमोगुणसे अज्ञान पैदा होता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है, पुष्ट होता है।

पहले आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्रमाद, आलस्य और निद्रा—ये तीन बताये। परन्तु तेरहवें श्लोकमें और यहाँ प्रमाद तो बताया, पर निद्रा नहीं बतायी। इससे यह सिद्ध होता है कि आवश्यक निद्रा तमोगुणी नहीं है और निषिद्ध भी नहीं है तथा बाँधनेवाली भी नहीं है। कारण कि शरीरके लिये आवश्यक निद्रा तो सात्त्विक पुरुषको भी आती है और गुणातीत पुरुषको भी! वास्तवमें अधिक निद्रा ही बाँधनेवाली, निषिद्ध और तमोगुणी है; क्योंकि अधिक निद्रासे शरीरमें आलस्य बढ़ता है, पड़े रहनेका ही मन करता है, बहुत समय बरबाद हो जाता है।

विशेष बात

यह जीव साक्षात् परमात्माका अंश होते हुए भी जब प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब इसका प्रकृतिजन्य गुणोंके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। फिर गुणोंके अनुसार उसके अन्तःकरणमें वृत्तियाँ पैदा होती हैं। उन वृत्तियोंके अनुसार कर्म होते हैं और इन्हीं कर्मोंका फल ऊँच-नीच गतियाँ होती हैं। तात्पर्य है कि जीवित-अवस्थामें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं और मरनेके बाद ऊँच-नीच गतियाँ होती हैं। वास्तवमें उन कर्मोंके मूलमें भी गुणोंकी वृत्तियाँ ही होती हैं, जो कि पुनर्जन्मके होनेमें खास कारण हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि गुणोंका संग कर्मोंसे कमजोर नहीं है। जैसे कर्म शुभ-अशुभ फल देते हैं, ऐसे ही गुणोंका संग भी शुभ-अशुभ फल देता है (गीता—आठवें अध्यायका छठा श्लोक)। इसीलिये पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें पहले चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें गुणोंकी तात्कालिक वृत्तियोंके बढ़नेका फल बताया और जीवित-अवस्थामें जो परिस्थितियाँ आती हैं, उनको सोलहवें श्लोकमें बताया तथा आगे अठारहवें श्लोकमें गुणोंकी स्थायी वृत्तियोंका फल बतायेंगे। अतः वृत्तियों और कर्मोंके होनेमें गुण ही मुख्य हैं। इस पूरे प्रकरणमें गुणोंकी मुख्य बात इसी (सत्रहवें) श्लोकमें कही गयी है।

जिसका उद्देश्य संसार नहीं है, प्रत्युत परमात्मा है, वह साधारण मनुष्योंकी तरह प्रकृतिमें स्थित नहीं है। अतः उसमें प्रकृतिजन्य गुणोंकी परवशता नहीं रहती और साधन करते-करते आगे चलकर जब अहंता परिवर्तित होकर लक्ष्यकी दृढ़ता हो जाती है, तब उसको अपने स्वतःसिद्ध गुणातीत स्वरूपका अनुभव हो जाता है। इसीका नाम बोध है। इस बोधके विषयमें भगवान्‌ने इस अध्यायका पहला-दूसरा श्लोक कहा और गुणातीतके विषयमें बाईसवेंसे छब्बीसवेंतकके पाँच श्लोक कहे। इस तरह यह पूरा अध्याय गुणोंसे अतीत स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव करनेके लिये ही कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—ज्ञान (विवेक) सत्त्वगुणसे प्रकट होता है और संग न करनेपर बढ़ते-बढ़ते तत्त्वबोधतक चला जाता है अर्थात् तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है। परन्तु लोभ, प्रमाद, मोह, अज्ञान बढ़ते हैं तो कोई नुकसान बाकी नहीं रहता, कोई दुःख बाकी नहीं रहता, कोई मूढ़योनि बाकी नहीं रहती, कोई नरक बाकी नहीं रहता।

सम्बन्ध—तात्कालिक गुणोंके बढ़नेपर मरनेवालोंकी गतिका वर्णन तो चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें कर दिया; परन्तु जिनके जीवनमें सत्त्वगुण, रजोगुण अथवा तमोगुणकी प्रधानता रहती है, उनकी (मरनेपर) क्या गति होती है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

सत्त्वस्थाः	= सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य
ऊर्ध्वम्	= ऊर्ध्वलोकोंमें
गच्छन्ति	= जाते हैं,
राजसाः	= रजोगुणमें स्थित मनुष्य
मध्ये	= मृत्युलोकमें
तिष्ठन्ति	= जन्म लेते हैं (और)
जघन्यगुण-वृत्तिस्थाः	= निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित
तामसाः	= तामस मनुष्य
अधः	= अधोगतिमें
गच्छन्ति	= जाते हैं।

व्याख्या—**'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'**—जिनके जीवनमें सत्त्वगुणकी प्रधानता रही है और उसके कारण जिन्होंने भोगोंसे संयम किया है; तीर्थ, व्रत, दान आदि शुभ-कर्म किये हैं; दूसरोंके सुख-आरामके लिये प्याऊ, अन्नक्षेत्र आदि चलाये हैं; सड़कें बनवायी हैं; पशु-पक्षियोंकी सुख-सुविधाके लिये पेड़-पौधे लगाये हैं; गौशालाएँ बनवायी हैं, उन मनुष्योंको यहाँ **'सत्त्वस्थाः'** कहा गया है। जब सत्त्वगुणकी प्रधानतामें ही ऐसे मनुष्योंका शरीर छूट जाता है, तब वे सत्त्वगुणका संग होनेसे, सत्त्वगुणमें आसक्ति होनेसे स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें चले जाते हैं। उन लोकोंका वर्णन इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें **'उत्तमविदां अमलान् लोकान्'** पदोंसे किया गया है। ऊर्ध्वलोकोंमें जानेवाले मनुष्योंको तेजस्तत्त्वप्रधान शरीरकी प्राप्ति होती है।

'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'—जिन मनुष्योंके जीवनमें रजोगुणकी प्रधानता होती है और उसके कारण जो शास्त्रकी मर्यादामें रहते हुए ही संग्रह करना और भोग भोगना; ऐश-आराम करना; पदार्थोंमें ममता, आसक्ति रखना आदिमें लगे रहते हैं, उनको यहाँ **'राजसाः'** कहा गया है। जब रजोगुणकी प्रधानतामें ही अर्थात् रजोगुणके कार्योंके चिन्तनमें ही ऐसे मनुष्योंका शरीर छूट जाता है, तब वे पुनः इस मृत्युलोकमें ही जन्म लेते हैं। यहाँ उनको पृथ्वीतत्त्वप्रधान मनुष्यशरीरकी प्राप्ति होती है।

यहाँ **'तिष्ठन्ति'** पद देनेका तात्पर्य है कि वे राजस मनुष्य अभी जैसे इस मृत्युलोकमें हैं, मरनेके बाद वे पुनः मृत्युलोकमें आकर ऐसे ही बन जाते हैं अर्थात् जैसे पहले थे, वैसे ही बन जाते हैं। वे अशुद्ध आचरण नहीं करते, शास्त्रकी मर्यादा भंग नहीं करते, प्रत्युत शास्त्रकी मर्यादामें ही रहते हैं और शुद्ध आचरण करते हैं; परन्तु पदार्थों, व्यक्तियों आदिमें राग, आसक्ति, ममता रहनेके कारण वे पुनः मृत्युलोकमें ही जन्म लेते हैं।

'जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः'—जिन मनुष्योंके जीवनमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है और उसके कारण जिन्होंने प्रमाद आदिके वशमें होकर निरर्थक पैसा और समय बरबाद किया है; जो आलस्य तथा नींदमें ही पड़े रहे हैं; आवश्यक कार्योंको भी जिन्होंने समयपर नहीं किया है; जो दूसरोंका अहित ही सोचते आये हैं; जिन्होंने दूसरोंका अहित किया है, दूसरोंको दुःख दिया है; जिन्होंने झूठ, कपट, चोरी, डकैती आदि निन्दनीय कर्म किये हैं, ऐसे मनुष्योंको यहाँ **'जघन्यगुणवृत्तिस्थाः'** कहा गया है। जब तमोगुणकी प्रधानतामें ही अर्थात् तमोगुणके कार्योंके चिन्तनमें ही ऐसे मनुष्य मर जाते हैं, तब वे अधोगतिमें चले जाते हैं।

अधोगतिके दो भेद हैं—योनिविशेष और स्थान-विशेष। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, साँप, बिच्छू, भूत-प्रेत आदि 'योनिविशेष' अधोगति है और वैतरिणी, असिपत्र, लालाभक्ष, कुम्भीपाक, रौरव, महारौरव आदि नरकके कुण्ड 'स्थानविशेष' अधोगति है। जिनके जीवनमें सत्त्वगुण अथवा रजोगुण रहते हुए भी अन्तसमयमें तात्कालिक तमोगुण बढ़ जाता है, वे मनुष्य मरनेके बाद 'योनिविशेष' अधोगतिमें अर्थात् मूढ़योनियोंमें चले जाते हैं (गीता—चौदहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। जिनके जीवनमें तमोगुणकी प्रधानता रही है और उसी तमोगुणकी प्रधानतामें जिनका शरीर छूट जाता है, वे मनुष्य मरनेके बाद 'स्थानविशेष' अधोगतिमें अर्थात् नरकोंमें चले जाते हैं (गीता—सोलहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि सात्त्विक, राजस अथवा तामस मनुष्यका अन्तिम चिन्तन और हो जानेसे उनकी गति तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार ही होगी, पर सुख-दुःखका भोग उनके कर्मोंके अनुसार ही होगा। जैसे—कर्म तो अच्छे हैं, पर अन्तिम चिन्तन कुत्तेका हो गया, तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार वह कुत्ता बन जायगा; परन्तु उस योनिमें भी उसको

कर्मोंके अनुसार बहुत सुख-आराम मिलेगा। कर्म तो बुरे हैं, पर अन्तिम चिन्तन मनुष्य आदिका हो गया, तो अन्तिम चिन्तनके अनुसार वह मनुष्य बन जायगा; परन्तु उसको कर्मोंके फलरूपमें भयंकर परिस्थिति मिलेगी। उसके शरीरमें रोग-ही-रोग रहेंगे। खानेके लिये अन्न, पीनेके लिये जल और पहननेके लिये कपड़ा भी कठिनाईसे मिलेगा।

सात्त्विक गुणको बढ़ानेके लिये साधक सत्-शास्त्रोंके पढ़नेमें लगा रहे। खाना-पीना भी सात्त्विक करे, राजस-तामस खान-पान न करे। सात्त्विक श्रेष्ठ मनुष्योंका ही संग करे, उन्हींके सान्निध्यमें रहे, उनके कहे अनुसार साधन करे। शुद्ध, पवित्र तीर्थ आदि स्थानोंका सेवन करे; जहाँ कोलाहल होता हो, ऐसे राजस स्थानोंका और जहाँ अण्डा, माँस, मदिरा बिकती हो, ऐसे तामस स्थानोंका सेवन न करे। प्रात:काल और सायंकालका समय सात्त्विक माना जाता है; अत: इस सात्त्विक समयका विशेषतासे सदुपयोग करे अर्थात् इसे भजन, ध्यान आदिमें लगाये। शास्त्रविहित शुभ-कर्म ही करे, निषिद्ध कर्म कभी न करे; राजस-तामस कर्म कभी न करे। जो जिस वर्ण, आश्रममें स्थित है, उसीमें अपने-अपने कर्तव्यका ठीक तरहसे पालन करे। ध्यान भगवान्‌का ही करे। मन्त्र भी सात्त्विक ही जपे। इस प्रकार सब कुछ सात्त्विक करनेसे पुराने संस्कार मिट जाते हैं और सात्त्विक संस्कार (सत्त्वगुण) बढ़ जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें गुणोंको बढ़ानेवाले दस हेतु बताये गये हैं—

आगमोऽप: प्रजा देश: काल: कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतव:॥

(११। १३। ४)

'शास्त्र, जल (खान-पान), प्रजा (संग), स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसी हों तो रजोगुणकी और तामसी हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं।'

विशेष बात

अन्तसमयमें रजोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्य मनुष्यलोकमें जन्म लेता है (इसी अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक) और रजोगुणकी प्रधानतावाला मनुष्य मरकर फिर इस मनुष्यलोकमें ही आता है (इसी अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)—इन दोनों बातोंसे यही सिद्ध होता है कि इस मनुष्यलोकके सभी मनुष्य रजोगुणवाले ही होते हैं; सत्त्वगुण और तमोगुण इनमें नहीं होता। अगर वास्तवमें ऐसी ही बात है, तो फिर सत्त्वगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरनेवाला (इसी अध्यायका चौदहवाँ श्लोक) और सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाला मनुष्य ऊँचे लोकोंमें जाता है (इसी अध्यायका अठारहवाँ श्लोक); तथा तमोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरनेवाला (इसी अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक) और तमोगुणमें स्थित रहनेवाला मनुष्य अधोगतिमें जाता है (इसी अध्यायका अठारहवाँ श्लोक); सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं (इसी अध्यायका पाँचवाँ श्लोक); यह सारा संसार तीनों गुणोंसे मोहित है (सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक); सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन प्रकारके कर्ता कहे जाते हैं (अठारहवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोक तक); यह सम्पूर्ण त्रिलोकी त्रिगुणात्मक है (अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक), आदि बातें भगवान्‌ने कैसे कही हैं?

इस शंकाका समाधान यह है कि ऊर्ध्वगतिमें सत्त्वगुणकी प्रधानता तो है, पर साथमें रजोगुण-तमोगुण भी रहते हैं। इसलिये देवताओंके भी सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव होते हैं। अत: सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेपर भी उसमें अवान्तर भेद रहते हैं। ऐसे ही मध्यगतिमें रजोगुणकी प्रधानता होनेपर भी साथमें सत्त्वगुण-तमोगुण रहते हैं। इसलिये मनुष्योंके भी सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव होते हैं। अधोगतिमें तमोगुणकी प्रधानता है, पर साथमें सत्त्वगुण-रजोगुण भी रहते हैं। इसलिये पशु, पक्षी आदिमें तथा भूत, प्रेत, गुह्यक आदिमें और नरकोंके प्राणियोंमें भी भिन्न-भिन्न स्वभाव होता है। कई सौम्य स्वभावके होते हैं, कई मध्यम स्वभावके होते हैं और कई क्रूर स्वभावके होते हैं। तात्पर्य है कि जहाँ किसी भी गुणके साथ सम्बन्ध है, वहाँ तीनों गुण रहेंगे ही। इसलिये भगवान्‌ने (अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें) कहा है कि त्रिलोकीमें ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो तीनों गुणोंसे रहित हो।

ऊर्ध्वगतिमें सत्त्वगुणकी प्रधानता, रजोगुणकी गौणता और तमोगुणकी अत्यन्त गौणता रहती है। मध्यगतिमें रजोगुणकी प्रधानता, सत्त्वगुणकी गौणता और तमोगुणकी अत्यन्त गौणता रहती है। अधोगतिमें तमोगुणकी प्रधानता, रजोगुणकी गौणता और सत्त्वगुणकी अत्यन्त गौणता रहती है। तात्पर्य है कि सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी प्रधानतावालोंमें भी अधिक, मध्यम और कनिष्ठमात्रामें प्रत्येक गुण रहता है। इस तरह गुणोंके सैकड़ों-हजारों

सूक्ष्म भेद हो जाते हैं। अतः गुणोंके तारतम्यसे प्रत्येक प्राणीका अलग-अलग स्वभाव होता है।

जैसे भगवान्‌के द्वारा सात्त्विक, राजस और तामस कार्य होते हुए भी वे गुणातीत ही रहते हैं (सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), ऐसे ही गुणातीत महापुरुषके अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियोंके आनेपर भी वह गुणातीत ही रहता है (चौदहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। अतः भगवान्‌की उपासना करना और गुणातीत महापुरुषका संग करना—ये दोनों ही निर्गुण होनेसे साधकको गुणातीत करनेवाले हैं।

परिशिष्ट भाव—तमोगुण थोड़ा बढ़नेपर मनुष्य मूढ़ योनियोंमें जाता है और ज्यादा बढ़नेपर नरकोंमें जाता है।

सम्बन्ध—पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक प्रकृतिके कार्य गुणोंका परिचय देकर अब आगेके दो श्लोकोंमें स्वयंको तीनों गुणोंसे अतीत अनुभव करनेका वर्णन करते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

यदा	= जब	**कर्तारम्**	= कर्ता	**वेत्ति**	= अनुभव करता है, (तब)
द्रष्टा	= विवेकी (विचार-कुशल) मनुष्य	**न**	= नहीं	**सः**	= वह
गुणेभ्यः	= तीनों गुणोंके (सिवाय)	**अनुपश्यति**	= देखता	**मद्भावम्**	= मेरे सत्स्वरूपको
अन्यम्	= अन्य किसीको	**च**	= और (अपनेको)	**अधिगच्छति**	= प्राप्त हो जाता है।
		गुणेभ्यः	= गुणोंसे		
		परम्	= पर		

*व्याख्या—***'नान्यं गुणेभ्यः .... मद्भावं सोऽधिगच्छति'—**गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंसे ही हो रही हैं, सम्पूर्ण परिवर्तन गुणोंमें ही हो रहा है। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण क्रियाओं और परिवर्तनोंमें गुण ही कारण हैं और कोई कारण नहीं है। वे गुण जिससे प्रकाशित होते हैं, वह तत्त्व गुणोंसे पर है। गुणोंसे पर होनेसे वह कभी गुणोंसे लिप्त नहीं होता अर्थात् गुणों और क्रियाओंका उसपर कोई असर नहीं पड़ता। ऐसे उस तत्त्वको जो विचार-कुशल साधक जान लेता है अर्थात् विवेकके द्वारा अपने-आपको गुणोंसे पर, असम्बद्ध, निर्लिप्त अनुभव कर लेता है कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध न कभी हुआ है, न है, न होगा और न हो ही सकता है। कारण कि गुण परिवर्तनशील हैं और स्वयंमें कभी परिवर्तन होता ही नहीं। वह फिर मेरे भावको, मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि वह जो भूलसे गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मानता था, वह मान्यता मिट जाती है और मेरे साथ उसका जो स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है, वह ज्यों-का-ज्यों रह जाता है।

परिशिष्ट भाव—'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति' का तात्पर्य है कि जिससे गुण प्रकाशित होते हैं, उस प्रकाशकमें अपनी स्थितिका अनुभव करना (गीता—तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

'मद्भावं सोऽधिगच्छति' पदोंका अर्थ है कि वह मेरे भावको अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। इसी बातको दूसरे श्लोकमें **'मम साधर्म्यमागताः'** पदोंसे कहा गया है।

विवेकी साधक गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे अर्थात् क्रिया और पदार्थसे असंग अनुभव करता है। क्रिया और पदार्थसे असंग अनुभव करनेपर वह योगारूढ़ हो जाता है—**'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु.......'** (गीता ६।४)। योगारूढ़ होनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है और उस शान्तिमें न अटकनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देही = देहधारी (विवेकी मनुष्य)
देहसमुद्भवान् = देहको उत्पन्न करनेवाले
एतान् = इन
त्रीन् = तीनों
गुणान् = गुणोंका
अतीत्य = अतिक्रमण करके
जन्ममृत्युजरादुःखैः = जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप दुःखोंसे
विमुक्तः = रहित हुआ
अमृतम् = अमरताका
अश्नुते = अनुभव करता है।

व्याख्या—'**गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्**'— यद्यपि विचार-कुशल मनुष्यका देहके साथ सम्बन्ध नहीं होता, तथापि लोगोंकी दृष्टिमें देहवाला होनेसे उसको यहाँ 'देही' कहा गया है।

देहको उत्पन्न करनेवाले गुण ही हैं। जिस गुणके साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध मान लेता है, उसके अनुसार उसको ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेना ही पड़ता है (गीता— तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

अभी इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकसे अठारहवें श्लोकतक जिनका वर्णन हुआ है, उन्हीं तीनों गुणोंके लिये यहाँ '**एतान् त्रीन् गुणान्**' पद आये हैं। विचार-कुशल मनुष्य इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् इनके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इनके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग कर देता है। कारण कि उसको यह स्पष्ट विवेक हो जाता है कि सभी गुण परिवर्तनशील हैं, उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं और अपना स्वरूप गुणोंसे कभी लिप्त हुआ नहीं, हो सकता भी नहीं। ध्यान देनेकी बात है कि जिस प्रकृतिसे ये गुण उत्पन्न होते हैं, उस प्रकृतिके साथ भी स्वयंका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, फिर गुणोंके साथ तो उसका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है?

'**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते**'— जब साधक इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर जाता है, तो फिर उसको जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाका दुःख नहीं होता। वह जन्म-मृत्यु आदिके दुःखोंसे छूट जाता है; क्योंकि जन्म आदिके होनेमें गुणोंका संग ही कारण है। ये गुण आते-जाते रहते हैं; इनमें परिवर्तन होता रहता है। गुणोंकी वृत्तियाँ कभी सात्त्विकी, कभी राजसी और कभी तामसी हो जाती हैं; परन्तु स्वयंमें कभी सात्त्विकपना, राजसपना और तामसपना आता ही नहीं। स्वयं (स्वरूप) तो स्वतः असंग रहता है। इस असंग स्वरूपका कभी जन्म नहीं होता। जब जन्म नहीं होता, तो मृत्यु भी नहीं होती। कारण कि जिसका जन्म होता है, उसीकी मृत्यु होती है तथा उसीकी वृद्धावस्था भी होती है। गुणोंका संग रहनेसे ही जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखोंका अनुभव होता है। जो गुणोंसे सर्वथा निर्लिप्तताका अनुभव कर लेता है, उसको स्वतःसिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है।

देहसे तादात्म्य (एकता) माननेसे ही मनुष्य अपनेको मरनेवाला समझता है। देहके सम्बन्धसे होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंमें सबसे बड़ा दुःख मृत्यु ही माना गया है। मनुष्य स्वरूपसे है तो अमर ही; किन्तु भोग और संग्रहमें आसक्त होनेसे और प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले शरीरको अमर रखनेकी इच्छासे ही इसको अमरताका अनुभव नहीं होता। विवेकी मनुष्य देहसे तादात्म्य नष्ट होनेपर अमरताका अनुभव करता है।

पूर्वश्लोकमें '**मद्भावं सोऽधिगच्छति**' पदोंसे भगवद्भावकी प्राप्ति कही गयी एवं यहाँ '**अमृतमश्नुते**' पदोंसे अमरताका अनुभव करनेको कहा गया—वस्तुतः दोनों एक ही बात है।

गीतामें '**जरामरणमोक्षाय**' (७। २९), '**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्**' (१३। ८) और यहाँ '**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः**' (१४। २०)—इन तीनों जगह बाल्य और युवा-अवस्थाका नाम न लेकर 'जरा' (वृद्धावस्था) का ही नाम लिया गया है, जबकि शरीरमें बाल्य, युवा और वृद्ध—ये तीनों ही अवस्थाएँ होती हैं। इसका कारण यह है कि बाल्य और युवा-अवस्थामें मनुष्य अधिक दुःखका अनुभव नहीं करता; क्योंकि इन दोनों ही अवस्थाओंमें शरीरमें बल रहता है। परन्तु वृद्धावस्थामें शरीरमें बल न रहनेसे मनुष्य अधिक दुःखका अनुभव करता है। ऐसे ही जब मनुष्यके प्राण छूटते हैं, तब वह भयंकर दुःखका अनुभव करता है। परन्तु जो तीनों गुणोंका

अतिक्रमण कर जाता है, वह सदाके लिये जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके दु:खोंसे मुक्त हो जाता है।

इस मनुष्यशरीरमें रहते हुए जिसको बोध हो जाता है, उसका फिर जन्म होनेका तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। हाँ, उसके अपने कहलानेवाले शरीरके रहते हुए वृद्धावस्था और मृत्यु तो आयेगी ही, पर उसको वृद्धावस्था और मृत्युका दु:ख नहीं होगा।

वर्तमानमें शरीरके साथ स्वयंकी एकता माननेसे ही पुनर्जन्म होता है और शरीरमें होनेवाले जरा व्याधि आदिके दु:खोंको जीव अपनेमें मान लेता है। शरीर गुणोंके संगसे उत्पन्न होता है। देहके उत्पादक गुणोंसे रहित होनेके कारण गुणातीत महापुरुष देहके सम्बन्धसे होनेवाले सभी दु:खोंसे मुक्त हो जाता है।

अत: प्रत्येक मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव कर लेना चाहिये। गुणातीत होनेसे जरा,व्याधि, मृत्यु आदि सब प्रकारके दु:खोंसे मुक्ति हो जाती है और मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। फिर उसका पुनर्जन्म होता ही नहीं।

परिशिष्ट भाव—मनुष्यमात्रके भीतर यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। उदाहरणार्थ, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अत: अमरता स्वत:सिद्ध है—'**भूतग्राम: स एवायं** ....' (गीता ८। १९)। परन्तु स्वरूपसे अमर होते हुए भी जब मनुष्य अपने विवेकका तिरस्कार करके मरणधर्मा शरीरके साथ तादात्म्य मान लेता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है, तब उसमें मृत्युका भय और अमरताकी इच्छा पैदा हो जाती है। जब वह अपने विवेकको महत्त्व देता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं स्वयं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ', तब उसको अपनी स्वत:सिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है। शरीरके विकारोंका, परिवर्तनका अनुभव स्वयं सदा एक रहते हुए ही करता है। अत: साधकको चाहिये कि वह विकारोंको, परिवर्तनको मुख्यता न देकर अपने होनेपनको, अपनी अमरताको मुख्यता दे।

यह श्लोक चौदहवें अध्यायका सार, निचोड़ है।

सम्बन्ध—गुणातीत पुरुष दु:खोंसे मुक्त होकर अमरताको प्राप्त कर लेता है—ऐसा सुनकर अर्जुनके मनमें गुणातीत मनुष्यके लक्षण जाननेकी जिज्ञासा हुई। अत: वे आगेके श्लोकमें भगवान्‌से प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचार: कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

अर्जुन बोले—

प्रभो = हे प्रभो! **एतान्** = इन **त्रीन्** = तीनों **गुणान्** = गुणोंसे **अतीत:** = अतीत हुआ मनुष्य **कै:** = किन **लिङ्गै:** = लक्षणोंसे (युक्त) **भवति** = होता है? **किमाचार:** = उसके आचरण कैसे होते हैं? **च** = और **एतान्** = इन **त्रीन्** = तीनों **गुणान्** = गुणोंका **कथम्,** **अतिवर्तते** = अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है?

व्याख्या—'**कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो**'—हे प्रभो! मैं यह जानना चाहता हूँ कि जो गुणोंका अतिक्रमण कर चुका है, ऐसे मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं? तात्पर्य है कि संसारी मनुष्यकी अपेक्षा गुणातीत मनुष्यमें ऐसी कौन-सी विलक्षणता आ जाती है, जिससे साधारण व्यक्ति समझ ले कि यह गुणातीत पुरुष है?

'**किमाचार:**'—उस गुणातीत मनुष्यके आचरण कैसे होते हैं? अर्थात् साधारण आदमीकी जैसी दिनचर्या और

रात्रिचर्या होती है, गुणातीत मनुष्यकी वैसी ही दिनचर्या-रात्रिचर्या होती है या उससे विलक्षण होती है? साधारण आदमीके जैसे आचरण होते हैं; जैसा खान-पान, रहन-सहन, सोना-जागना होता है, गुणातीत मनुष्यके आचरण, खान-पान आदि भी वैसे ही होते हैं या कुछ विलक्षण होते हैं?

'कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते'—इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करनेका क्या उपाय है? अर्थात् कौन-सा साधन करनेसे मनुष्य गुणातीत हो सकता है?

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नोंमेंसे पहले प्रश्नके उत्तरमें भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें गुणातीत मनुष्यके लक्षणोंका वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

श्रीभगवान् बोले—

पाण्डव	= हे पाण्डव!
प्रकाशम्	= प्रकाश
च	= और
प्रवृत्तिम्	= प्रवृत्ति
च	= तथा
मोहम्	= मोह—
सम्प्रवृत्तानि	= (ये सभी) अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ
एव	= तो भी (गुणातीत मनुष्य)
न, द्वेष्टि	= इनसे द्वेष नहीं करता
च	= और
निवृत्तानि	= (ये सभी) निवृत्त हो जायँ तो (इनकी)
न, काङ्क्षति	= इच्छा नहीं करता।

व्याख्या—**'प्रकाशं च'**—इन्द्रियों और अन्तःकरणकी स्वच्छता, निर्मलताका नाम प्रकाश है। तात्पर्य है कि जिससे इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि पाँचों विषयोंका स्पष्टतया ज्ञान होता है, मनसे मनन होता है और बुद्धिसे निर्णय होता है, उसका नाम 'प्रकाश' है।

भगवान्ने पहले (ग्यारहवें श्लोकमें) सत्त्वगुणकी दो वृत्तियाँ बतायी थीं—प्रकाश और ज्ञान। उनमेंसे यहाँ केवल प्रकाश-वृत्ति लेनेका तात्पर्य है कि सत्त्वगुणमें प्रकाश-वृत्ति ही मुख्य है; क्योंकि जबतक इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें प्रकाश नहीं आता, स्वच्छता-निर्मलता नहीं आती, तबतक ज्ञान (विवेक) जाग्रत् नहीं होता। प्रकाशके आनेपर ही ज्ञान जाग्रत् होता है। अतः यहाँ ज्ञान-वृत्तिको प्रकाशके ही अन्तर्गत ले लेना चाहिये।

'प्रवृत्तिं च'—जबतक गुणोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक रजोगुणकी लोभ, प्रवृत्ति, रागपूर्वक कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा—ये वृत्तियाँ पैदा होती रहती हैं। परन्तु जब मनुष्य गुणातीत हो जाता है, तब रजोगुणके साथ तादात्म्य रखनेवाली वृत्तियाँ तो पैदा हो ही नहीं सकतीं, पर आसक्ति, कामनासे रहित प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) रहती है। यह प्रवृत्ति दोषी नहीं है। गुणातीत मनुष्यके द्वारा भी क्रियाएँ होती हैं। इसलिये भगवान्ने यहाँ केवल 'प्रवृत्ति' को ही लिया है।

रजोगुणके दो रूप हैं—राग और क्रिया। इनमेंसे राग तो दुःखोंका कारण है। यह राग गुणातीतमें नहीं रहता। परन्तु जबतक गुणातीत मनुष्यका दीखनेवाला शरीर रहता है, तबतक उसके द्वारा निष्कामभावपूर्वक स्वतः क्रियाएँ होती रहती हैं। इसी क्रियाशीलताको भगवान्ने यहाँ 'प्रवृत्ति' नामसे कहा है।

'मोहमेव च पाण्डव'—मोह दो प्रकारका है— (१) नित्य-अनित्य, सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक न होना और (२) व्यवहारमें भूल होना । गुणातीत महापुरुषमें पहले प्रकारका मोह (सत्-असत् आदिका विवेक न होना) तो होता ही नहीं (गीता—चौथे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक)। परन्तु व्यवहारमें भूल होना अर्थात् किसीके कहनेसे किसी निर्दोष व्यक्तिको दोषी मान लेना और दोषी व्यक्तिको निर्दोष मान लेना आदि तथा रस्सीमें साँप दीख जाना, मृगतृष्णामें जल दीख जाना, सीपी और अभ्रकमें चाँदीका भ्रम हो जाना आदि मोह तो गुणातीत मनुष्यमें भी होता है।

'न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति'—सत्त्वगुणका कार्य 'प्रकाश', रजोगुणका कार्य 'प्रवृत्ति' और तमोगुणका कार्य 'मोह'—इन तीनोंके अच्छी तरह प्रवृत्त होनेपर भी गुणातीत महापुरुष इनसे द्वेष नहीं करता और

इनके निवृत्त होनेपर भी इनकी इच्छा नहीं करता। तात्पर्य है कि ऐसी वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न हो रही हैं, इनमेंसे कोई-सी भी वृत्ति न रहे'—ऐसा द्वेष नहीं करता और 'ये वृत्तियाँ पुन: आ जायँ; ये वृत्तियाँ बनी रहें'—ऐसा राग नहीं करता। गुणातीत होनेके कारण गुणोंकी वृत्तियोंके आने-जानेसे उसमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता। वह इन वृत्तियोंसे स्वाभाविक ही निर्लिप्त रहता है।

विशेष बात

एक तो वृत्तियोंका 'होना' होता है और एक वृत्तियोंको 'करना' (उनसे सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् राग-द्वेष करना) होता है। होने और करनेमें बड़ा अन्तर है। 'होना' समष्टिगत होता है और 'करना' व्यक्तिगत होता है। संसारमें जो 'होता' है, उसकी जिम्मेवारी हमारेपर नहीं होती। जो हम 'करते' हैं, उसीकी जिम्मेवारी हमारेपर होती है।

जिस समष्टि शक्तिसे संसारमात्रका संचालन होता है, उसी शक्तिसे हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि-(जो कि संसारके ही अंश हैं-) का भी संचालन होता है। जब संसारमें होनेवाली क्रियाओंके गुण-दोष हमें नहीं लगते, तब शरीरादिमें होनेवाली क्रियाओंके गुण-दोष हमें लग ही कैसे सकते हैं? परन्तु जब स्वत: होनेवाली क्रियाओंमेंसे कुछ क्रियाओंके साथ मनुष्य राग-द्वेषपूर्वक अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है अर्थात् उनका कर्ता बन जाता है, तब उनका फल उसको ही भोगना पड़ता है। इसलिये अन्त:करणमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे होनेवाली अच्छी-बुरी वृत्तियोंसे साधकको राग-द्वेष नहीं करना चाहिये अर्थात् उनसे अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये।

वृत्तियाँ एक समान किसीकी भी नहीं रहतीं। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ तो गुणातीत महापुरुषके अन्त:करणमें भी होती हैं, पर उसका उन वृत्तियोंसे राग-द्वेष नहीं होता। वृत्तियाँ आप-से-आप आती और चली जाती हैं। गुणातीत महापुरुषकी दृष्टि उधर जाती ही नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय और कुछ रहता ही नहीं।

देखना और दीखना—दोनोंमें बड़ा फरक है। देखना 'करने' के अन्तर्गत होता है और दीखना 'होने'के अन्तर्गत होता है। दोष देखनेमें होता है, दीखनेमें नहीं। अत: साधकको यदि अन्त:करणमें खराब-से-खराब वृत्ति भी दीख जाय, तो भी उसको घबराना नहीं चाहिये। अपने-आप दीखनेवाली (होनेवाली) वृत्तियोंसे राग-द्वेष करना अर्थात् उनके अनुसार अपनी स्थिति मानना ही उनको देखना है। साधकसे भूल यही होती है कि वह दीखनेवाली वस्तुको देखने लग जाता है और फँस जाता है। भगवान् राम कहते हैं—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस ७। ४१)

साधकको गहराईसे विचार करना चाहिये कि वृत्तियाँ तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं, पर स्वयं (अपना स्वरूप) सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। वृत्तियोंमें होनेवाले परिवर्तनको देखनेवाला स्वरूप परिवर्तनरहित है। कारण कि परिवर्तनशीलको परिवर्तनशील नहीं देख सकता, प्रत्युत परिवर्तनरहित ही परिवर्तनशीलको देख सकता है। इससे सिद्ध होता है कि स्वरूप वृत्तियोंसे अलग है। परिवर्तनशील गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ अपनेमें प्रतीत होती हैं। अत: साधकको आने-जानेवाली वृत्तियोंके साथ मिलकर अपने वास्तविक स्वरूपसे विचलित नहीं होना चाहिये। चाहे जैसी वृत्तियाँ आयें, उनसे राजी-नाराज नहीं होना चाहिये; उनके साथ अपनी एकता नहीं माननी चाहिये। सदा एकरस रहनेवाले गुणोंसे सर्वथा निर्लिप्त, निर्विकार एवं अविनाशी अपने स्वरूपको न देखकर परिवर्तनशील, विकारी एवं विनाशी वृत्तियोंको देखना साधकके लिये महान् बाधक है।

परिशिष्ट भाव—गुणातीत मनुष्यमें 'अनुकूलता बनी रहे, प्रतिकूलता चली जाय' ऐसी इच्छा नहीं होती। निर्विकारताका अनुभव होनेपर उसको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, पर स्वयंपर उनका असर नहीं पड़ता। अन्त:करणमें वृत्तियाँ बदलती हैं, पर स्वयं उनसे निर्लिप्त रहता है। साधकपर भी वृत्तियोंका असर नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि गुणातीत मनुष्य साधकका आदर्श होता है, साधक उसका अनुयायी होता है।

साधकमात्रके लिये यह आवश्यक है कि वह देहका धर्म अपनेमें न माने। वृत्तियाँ अन्त:करणमें हैं, अपनेमें नहीं हैं। अत: साधक वृत्तियोंको न अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने। कारण कि वृत्तियाँ तो आने-जानेवाली हैं, पर स्वयं निरन्तर रहनेवाला है। अगर वृत्तियाँ हमारेमें होतीं तो जबतक हम रहते, तबतक वृत्तियाँ भी रहतीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं। वृत्तियोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और हमारा (स्वयंका) सम्बन्ध परमात्माके साथ है। इसलिये वृत्तियोंके परिवर्तनका अनुभव करनेवाला स्वयं एक ही रहता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

यः	= जो		(तथा)	**यः**	= जो (अपने स्वरूपमें ही)
उदासीनवत्	= उदासीनकी तरह	**गुणाः**	= गुण	**अवतिष्ठति**	= स्थित रहता है (और स्वयं कोई भी)
आसीनः	= स्थित है (और)	**एव**	= ही (गुणोंमें)	**न, इङ्गते**	= चेष्टा नहीं करता।
गुणैः	= (जो) गुणोंके द्वारा	**वर्तन्ते**	= बरत रहे हैं—		
न, विचाल्यते	= विचलित नहीं किया जा सकता	**इति**	= इस भावसे		

व्याख्या—**'उदासीनवदासीनः'**—दो व्यक्ति परस्पर विवाद करते हों, तो उन दोनोंमेंसे किसी एकका पक्ष लेनेवाला 'पक्षपाती' कहलाता है और दोनोंका न्याय करनेवाला 'मध्यस्थ' कहलाता है। परन्तु जो उन दोनोंको देखता तो है, पर न तो किसीका पक्ष लेता है और न किसीसे कुछ कहता ही है, वह 'उदासीन' कहलाता है। ऐसे ही संसार और परमात्मा—दोनोंको देखनेसे गुणातीत मनुष्य उदासीनकी तरह दीखता है।

वास्तवमें देखा जाय तो संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। सत्-स्वरूप परमात्माकी सत्तासे ही संसार सत्तावाला दीख रहा है। अतः जब गुणातीत मनुष्यकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है ही नहीं, केवल एक परमात्माकी सत्ता ही है, तो फिर वह उदासीन किससे हो? परन्तु जिनकी दृष्टिमें संसार और परमात्माकी सत्ता है, ऐसे लोगोंकी दृष्टिमें वह गुणातीत मनुष्य उदासीनकी तरह दीखता है।

'गुणैर्यो न विचाल्यते'—उसके कहलानेवाले अन्तःकरणमें सत्त्व, रज, और तम—इन गुणोंकी वृत्तियाँ तो आती हैं, पर वह इनसे विचलित नहीं होता। तात्पर्य है कि जैसे अपने सिवाय दूसरोंके अन्तःकरणमें गुणोंकी वृत्तियाँ आनेपर अपनेमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता, ऐसे ही उसके कहलानेवाले अन्तःकरणमें गुणोंकी वृत्तियाँ आनेपर उसमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता अर्थात् वह उन वृत्तियोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता। कारण कि उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसारका अत्यन्त अभाव एवं परमात्मतत्त्वका भाव निरन्तर स्वतः-स्वाभाविक जाग्रत् रहता है।

'गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति'—गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता—तीसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक) अर्थात् गुणोंमें ही सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं—ऐसा समझकर वह अपने स्वरूपमें निर्विकाररूपसे स्थित रहता है।

'न इंगते'—पहले **'गुणा वर्तन्त इत्येव'** पदोंसे उसका गुणोंके साथ सम्बन्धका निषेध किया, अब **'न इंगते'** पदोंसे उसमें क्रियाओंका अभाव बताते हैं। तात्पर्य है कि गुणातीत पुरुष खुद कुछ भी चेष्टा नहीं करता। कारण कि अविनाशी शुद्ध स्वरूपमें कभी कोई क्रिया होती ही नहीं।

[बाईसवें और तेईसवें—इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने गुणातीत महापुरुषकी तटस्थता, निर्लिप्तताका वर्णन किया है।]

परिशिष्ट भाव—'न विचाल्यते', 'अवतिष्ठति' और **'नेङ्गते'**—ये तीनों पद वास्तवमें एक ही अर्थ रखते हैं। फिर भी ये तीनों पद देनेका तात्पर्य है कि गुणातीत महापुरुष स्वतः-स्वाभाविक अचल (स्थिरतामें) रहता है। वह न तो स्वयं विचलित होता है और न किसीसे विचलित किया जा सकता है।

'करना', 'होना' और 'है'—ये तीन विभाग हैं। 'करना' होनेमें और 'होना' 'है' में बदल जाय तो अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिसके अन्तःकरणमें क्रिया और पदार्थका महत्त्व है, ऐसा असाधक (संसारी मनुष्य) मानता है कि 'मैं क्रिया कर रहा हूँ'—**'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। जो कर्ता बनता है, उसको भोक्ता बनना ही पड़ता है। जिसमें विवेककी प्रधानता है, ऐसा साधक अनुभव करता है कि 'क्रिया हो रही है'—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८) अर्थात् 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—**'नैव किंचित्करोमीति'** (गीता ५। ८)। परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा सिद्ध महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र ('है') का ही अनुभव करता है—**'योऽवतिष्ठति नेङ्गते'**। वह चिन्मय सत्ता सम्पूर्ण क्रियाओंमें ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता

ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वतः एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है') पर ही रहती है।

सम्बन्ध—इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने दूसरे प्रश्नके रूपमें गुणातीत मनुष्यके आचरण पूछे थे। उसका उत्तर अब आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

धीरः = जो धीर मनुष्य
समदुःखसुखः = दुःख-सुखमें सम (तथा)
स्वस्थः = अपने स्वरूपमें स्थित रहता है;
समलोष्टाश्मकाञ्चनः = जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें सम रहता है;
तुल्यप्रियाप्रियः = जो प्रिय-अप्रियमें सम रहता है,
तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः = जो अपनी निन्दा-स्तुतिमें सम रहता है;
मानापमानयोः = जो मान-अपमानमें
तुल्यः = सम रहता है;
मित्रारिपक्षयोः = जो मित्र-शत्रुके पक्षमें
तुल्यः = सम रहता है (और)
सर्वारम्भपरित्यागी = जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है,
सः = वह मनुष्य
गुणातीतः = गुणातीत
उच्यते = कहा जाता है।

व्याख्या—**'धीरः, समदुःखसुखः'**—नित्य-अनित्य, सार-असार आदिके तत्त्वको जानकर स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित होनेसे गुणातीत मनुष्य धैर्यवान् कहलाता है।

पूर्वकर्मोंके अनुसार आनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका नाम सुख-दुःख है अर्थात् प्रारब्धके अनुसार शरीर, इन्द्रियों आदिके अनुकूल परिस्थितिको 'सुख' कहते हैं और शरीर, इन्द्रियों आदिके प्रतिकूल परिस्थितिको 'दुःख' कहते हैं। गुणातीत मनुष्य इन दोनोंमें सम रहता है। तात्पर्य है कि सुख-दुःखरूप बाह्य परिस्थितियाँ उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणमें विकार पैदा नहीं कर सकतीं, उसको सुखी-दुःखी नहीं कर सकतीं।

'स्वस्थः'—स्वरूपमें सुख-दुःख है ही नहीं। स्वरूपसे तो सुख-दुःख प्रकाशित होते हैं। अतः गुणातीत मनुष्य आने-जानेवाले सुख-दुःखका भोक्ता नहीं बनता, प्रत्युत अपने नित्य-निरन्तर रहनेवाले स्वरूपमें स्थिर रहता है।

'समलोष्टाश्मकांचनः'—उसका मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णमें न तो आकर्षण (राग) होता है और न विकर्षण (द्वेष) होता है। परन्तु व्यवहारमें वह ढेलेको ढेलेकी जगह रखता है, पत्थरको पत्थरकी जगह रखता है और स्वर्णको स्वर्णकी जगह (तिजोरी आदिमें) रखता है। तात्पर्य है कि यद्यपि उनकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें उसको हर्ष-शोक नहीं होते, वह सम रहता है, तथापि उनसे व्यवहार तो यथायोग्य ही करता है।

ढेले, पत्थर और स्वर्णका ज्ञान न होना समता नहीं कहलाती। समता वही है कि इन तीनोंका ज्ञान होते हुए भी इनमें राग-द्वेष न हों। ज्ञान कभी दोषी नहीं होता, विकार ही दोषी होते हैं।

'तुल्यप्रियाप्रियः'—क्रियमाण कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें अर्थात् उनके तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें भी वह सम रहता है।

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः'—निन्दा और स्तुतिमें नामकी मुख्यता होती है। गुणातीत मनुष्यका नामके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता; अतः कोई निन्दा करे तो उसके चित्तमें खिन्नता नहीं होती और कोई स्तुति करे तो उसके चित्तमें प्रसन्नता नहीं होती। इसी प्रकार निन्दा करनेवालोंके प्रति उसका द्वेष नहीं होता और स्तुति करनेवालोंके प्रति उसका राग नहीं होता।

साधारण मनुष्योंकी यह एक आदत बन जाती है कि उनको अपनी निन्दा बुरी लगती है और स्तुति अच्छी लगती है। परन्तु जो गुणोंसे ऊँचे उठ जाते हैं, उनको निन्दा-स्तुतिका ज्ञान तो होता है और वे बर्ताव भी सबके साथ यथोचित ही करते हैं, पर उनमें निन्दा-स्तुतिको लेकर खिन्नता-प्रसन्नता नहीं होती। कारण कि वे जिस तत्त्वमें स्थित हैं, वहाँ गुणोंवाली परकृत निन्दा-स्तुति पहुँचती ही नहीं।

निन्दा और स्तुति—ये दोनों ही परकृत क्रियाएँ हैं। उन क्रियाओंसे राजी-नाराज होना गलती है। कारण कि जिसका जैसा स्वभाव है, जैसी धारणा है, वह उसके अनुसार ही बोलता है। वह हमारे अनुकूल ही बोले, हमारी निन्दा न करे—यह न्याय नहीं है अर्थात् उसको बोलनेमें बाध्य करनेका भाव न्याय नहीं है, अन्याय है। दूसरोंपर हमारा क्या अधिकार है कि तुम हमारी निन्दा मत करो? हमारी स्तुति ही करो? दूसरी बात, कोई निन्दा करता है तो उसमें साधकको प्रसन्न होना चाहिये कि इससे मेरे पाप कट रहे हैं, मैं शुद्ध हो रहा हूँ। अगर कोई हमारी प्रशंसा करता है, तो उससे हमारे पुण्य नष्ट होते हैं। अतः प्रशंसामें राजी नहीं होना चाहिये; क्योंकि राजी होनेमें खतरा है!

'मानापमानयोस्तुल्यः'—मान और अपमान होनेमें शरीरकी मुख्यता होती है। गुणातीत मनुष्यका शरीरके साथ तादात्म्य नहीं रहता। अतः कोई उसका आदर करे या निरादर करे, मान करे या अपमान करे, इन परकृत क्रियाओंका उसपर कोई असर नहीं पड़ता।

निन्दा-स्तुति और मान-अपमान—इन दोनों ही परकृत क्रियाओंमें गुणातीत मनुष्य सम रहता है। इन दोनों परकृत क्रियाओंका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत निन्दा और अपमानमें दुःखी होना तथा स्तुति और मानमें हर्षित होना दोषी है; क्योंकि ये दोनों ही प्रकृतिके विकार हैं। गुणातीत पुरुषको निन्दा-स्तुति और मान-अपमानका ज्ञान तो होता है, पर गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे, नाम और शरीरके साथ तादात्म्य न रहनेसे वह सुखी-दुःखी नहीं होता। कारण कि वह जिस तत्त्वमें स्थित है, वहाँ ये विकार नहीं हैं। वह तत्त्व गुणरहित है, निर्विकार है।

'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः'—वह मित्र और शत्रुके पक्षमें सम रहता है। यद्यपि गुणातीत मनुष्यकी दृष्टिमें कोई मित्र और शत्रु नहीं होता, तथापि दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसे अपना मित्र अथवा शत्रु भी मान सकते हैं। साधारण मनुष्यको भी दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार मित्र या शत्रु मान सकते हैं; किन्तु इस बातका पता लगनेपर उस मनुष्यपर इसका असर पड़ता है, जिससे उसमें राग-द्वेष उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु गुणातीत मनुष्यपर इस बातका पता लगनेपर भी कोई असर नहीं पड़ता। वस्तुतः मित्र और शत्रुकी भावनाके कारण ही व्यवहारमें पक्षपात होता है। गुणातीत मनुष्यके कहलानेवाले अन्तःकरणमें मित्र-शत्रुकी भावना ही नहीं होती; अतः उसके व्यवहारमें पक्षपात नहीं होता।

एक व्यक्ति उस महापुरुषके साथ मित्रता रखता है और दूसरा व्यक्ति अपने स्वभाववश उस महापुरुषके साथ शत्रुता रखता है। जब उन दोनों व्यक्तियोंकी किसी बातको लेकर न्याय करनेका अवसर आ जाय, तब (व्यवहारमें) वह मित्रता रखनेवालेकी अपेक्षा शत्रुता रखनेवालेका कुछ अधिक पक्ष लेता है। जैसे—पदार्थादिका बँटवारा करते समय वह मित्रता रखनेवालेको कम (उतना ही, जितना वह प्रसन्नतापूर्वक सहन कर सकता हो) और शत्रुता रखनेवालोंको कुछ ज्यादा पदार्थ देता है। यह भी समता ही कहलाती है; क्योंकि अपने पक्षवालोंके साथ न्याय और विपक्षवालोंके साथ उदारता होनी चाहिये।

'सर्वारम्भपरित्यागी'—वह महापुरुष सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी होता है। तात्पर्य है कि धन-सम्पत्तिके संग्रह और भोगोंके लिये वह किसी तरहका कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता। स्वतः प्राप्त परिस्थितिके अनुसार ही उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है अर्थात् क्रियाओंमें उसकी प्रवृत्ति कामना, वासना, ममतासे रहित होती है और निवृत्ति भी मान-बड़ाई आदिकी इच्छासे रहित होती है।

'गुणातीतः स उच्यते'—यहाँ **'उच्यते'** पदसे यही ध्वनि निकलती है कि उस महापुरुषकी 'गुणातीत' संज्ञा नहीं है; किन्तु उसके कहे जानेवाले शरीर, अन्तःकरणके लक्षणोंको लेकर ही उसको गुणातीत कहा जाता है।

वास्तवमें देखा जाय तो जो गुणातीत है, उसके लक्षण नहीं हो सकते। लक्षण तो गुणोंसे ही होते हैं; अतः जिसके लक्षण होते हैं, वह गुणातीत कैसे हो सकता है? परन्तु अर्जुनने भी गुणातीतके ही लक्षण पूछे हैं और भगवान्‌ने भी गुणातीतके ही लक्षण कहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि लोग पहले उस गुणातीतकी जिस शरीर और अन्तःकरणमें स्थिति मानते थे, उसी शरीर और अन्तःकरणके लक्षणोंको लेकर वे उसमें आरोप करते हैं कि यह गुणातीत मनुष्य है।

अत: ये लक्षण गुणातीत मनुष्यको पहचाननेके संकेत-मात्र हैं।

प्रकृतिके कार्य गुण हैं और गुणोंके कार्य शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि हैं। अत: मन-बुद्धि आदिके द्वारा अपने कारण गुणोंका भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता, फिर गुणोंके भी कारण प्रकृतिका वर्णन हो ही कैसे सकता है? जो प्रकृतिसे भी सर्वथा अतीत (गुणातीत) है, उसका वर्णन करना तो उन मन-बुद्धि आदिके द्वारा सम्भव ही नहीं है। वास्तवमें गुणातीतके ये लक्षण स्वरूपमें तो होते ही नहीं; किन्तु अन्त:करणमें मानी हुई अहंता-ममताके नष्ट हो जानेपर उसके कहे जानेवाले अन्त:करणके माध्यमसे ही ये लक्षण—गुणातीतके लक्षण कहे जाते हैं।

यहाँ भगवान्‌ने सुख-दु:ख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान—ये आठ परस्पर विरुद्ध नाम लिये हैं, जिनमें साधारण आदमियोंकी तो विषमता हो ही जाती है, साधकोंकी भी कभी-कभी विषमता हो जाती है। ऐसे इन आठ कठिन स्थलोंमें जिसकी समता हो जाती है, उसके लिये अन्य सभी अवस्थाओंमें समता रखना सुगम हो जाता है। अत: यहाँ उन्हीं आठ कठिन स्थलोंका नाम लेकर भगवान् यह बताते हैं कि गुणातीत महापुरुषकी इन आठों स्थलोंमें स्वत:-स्वाभाविक समता होती है।

गुणातीत मनुष्यकी जो स्वत:सिद्ध निर्विकारता है, उसकी जो स्वाभाविक स्थिति है, उसमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके आने-जानेका कुछ भी फरक नहीं पड़ता। उसकी निर्विकारता, समता ज्यों-की-त्यों अटल रहती है। उसकी शान्ति कभी भंग नहीं होती।

[चौबीसवें और पचीसवें—इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने गुणातीत महापुरुषकी समताका वर्णन किया है।]

परिशिष्ट भाव—राग-द्वेषादि विकार न जड़में रहते हैं, न चेतनमें रहते हैं और न ये अन्त:करणके धर्म हैं, प्रत्युत ये देहाभिमानमें रहते हैं। देहाभिमान भी वास्तवमें है नहीं, प्रत्युत अविवेक-अविचारपूर्वक माना हुआ है। तात्पर्य है कि वास्तवमें विकार अपनेमें नहीं हैं, पर मनुष्य अविवेकके कारण अपनेमें मान लेता है। वह विकारोंके भाव और अभावका तथा स्वयंके भावका अनुभव तो करता है, पर इस अनुभवको महत्त्व नहीं देता। अगर वह विवेक-विचारपूर्वक अपनेमें विकारोंके अभावका अनुभव कर ले तो वह उनका भोक्ता (सुखी-दु:खी) नहीं बनेगा।

सम्बन्ध—अर्जुनने तीसरे प्रश्नके रूपमें गुणातीत होनेका उपाय पूछा था। उसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

च	= और	**माम्**	= मेरा	**गुणान्**	= गुणोंका
यः	= जो मनुष्य	**सेवते**	= सेवन करता है,	**समतीत्य**	= अतिक्रमण करके
अव्यभिचारेण	= अव्यभिचारी			**ब्रह्मभूयाय**	= ब्रह्मप्राप्तिका
भक्तियोगेन	= भक्तियोगके द्वारा	**सः**	= वह	**कल्पते**	= पात्र हो जाता है।
		एतान्	= इन		

व्याख्या—[यद्यपि भगवान्‌ने इसी अध्यायके उन्नीसवें-बीसवें श्लोकोंमें गुणोंका अतिक्रमण करनेका उपाय बता दिया था, तथापि अर्जुनने इक्कीसवें श्लोकमें गुणातीत होनेका उपाय पूछ लिया। इससे यह मालूम होता है कि अर्जुन उस उपायके सिवाय गुणातीत होनेके लिये दूसरा कोई उपाय जानना चाहते हैं। अत: अर्जुनको भक्तिका अधिकारी समझकर भगवान् उनको गुणातीत होनेका उपाय भक्ति बताते हैं।]

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'—इन पदोंमें उपासक, उपास्य और उपासना—ये तीनों आ गये हैं अर्थात् **'यः'** पदसे उपासक, **'माम्'** पदसे उपास्य और **'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'** पदोंसे उपासना आ गयी है।

'अव्यभिचारेण' पदका तात्पर्य है कि दूसरे किसीका भी सहारा न हो। सांसारिक सहारा तो दूर रहा, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि योगों-(साधनों-) का भी सहारा न हो! और **'भक्तियोगेन'** पदका तात्पर्य है कि केवल भगवान्‌का ही सहारा हो, आश्रय हो, आशा हो, बल हो, विश्वास हो।

इस तरह '**अव्यभिचारेण**' पदसे दूसरोंका आश्रय लेनेका निषेध करके '**भक्तियोगेन**' पदसे केवल भगवान्‌का ही आश्रय लेनेकी बात कही गयी है।

'**सेवते**' पदका तात्पर्य है कि अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का भजन करे, उनकी उपासना करे, उनके शरण हो जाय, उनके अनुकूल चले।

'**स गुणान्समतीत्यैतान्**'—जो अनन्यभावसे केवल भगवान्‌के ही शरण हो जाता है, उसको गुणोंका अतिक्रमण करना नहीं पड़ता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे उसके द्वारा स्वतः गुणोंका अतिक्रमण हो जाता है (गीता—बारहवें अध्यायका छठाँ-सातवाँ श्लोक)।

'**ब्रह्मभूयाय कल्पते**'—वह गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र (अधिकारी) हो जाता है। भगवान्‌ने जब यहाँ भक्तिकी बात बतायी है, तो फिर भगवान्‌को यहाँ ब्रह्मप्राप्तिकी बात न कहकर अपनी प्राप्तिकी बात बतानी चाहिये थी। परन्तु यहाँ ब्रह्मप्राप्तिकी बात बतानेका तात्पर्य यह है कि अर्जुनने गुणातीत होने-(निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति-) का उपाय पूछा था। इसलिये भगवान्‌ने अपनी भक्तिको ब्रह्मप्राप्तिका उपाय बताया।

दूसरी बात, शास्त्रोंमें कहा गया है कि भगवान्‌की उपासना करनेवालेको ज्ञानकी भूमिकाओंकी सिद्धिके लिये दूसरा कोई साधन, प्रयत्न नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उसके लिये ज्ञानकी भूमिकाएँ अपने-आप सिद्ध हो जाती हैं। उसी बातको लक्ष्य करके भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरा सेवन करनेवालेको ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बननेके लिये दूसरा कोई साधन नहीं करना पड़ता, प्रत्युत वह अपने-आप ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है। परन्तु वह भक्त ब्रह्मप्राप्तिमें सन्तोष नहीं करता। उसका तो यही भाव रहता है कि भगवान् कैसे प्रसन्न हों? भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही उसकी प्रसन्नता होती है। तात्पर्य यह निकला कि जो केवल भगवान्‌के ही परायण है, भगवान्‌में ही आकृष्ट है, उसके लिये ब्रह्मप्राप्ति स्वतःसिद्ध है। हाँ, वह ब्रह्मप्राप्तिको महत्त्व दे अथवा न दे—यह बात दूसरी है, पर वह ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी स्वतः हो जाता है।

तीसरी बात, जिस तत्त्वकी प्राप्ति ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनोंसे होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति भक्तिसे भी होती है। साधनोंमें भेद होनेपर भी उस तत्त्वकी प्राप्तिमें कोई भेद नहीं होता।

परिशिष्ट भाव—भक्तिसे साधक जो भी चाहता है, उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जो साधक मुख्यरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति, तत्त्वज्ञान चाहता है, उसको भक्ति करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि ब्रह्मकी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं (इसी अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक), ब्रह्म समग्र भगवान्‌का ही एक अंग है, स्वरूप है (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी भक्तिको ज्ञानप्राप्तिका साधन बताया गया है।

श्रीमद्भागवतमें सगुणकी उपासनाको निर्गुण (गुणोंसे अतीत) बताया है; जैसे—'**मन्निकेतं तु निर्गुणम्**' (११। २५। २५), '**मत्सेवायां तु निर्गुणा**' (११। २५। २७) आदि। इसलिये सगुणकी उपासना करनेवाला तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। सगुण भगवान् भी गुणोंके आश्रित नहीं हैं, प्रत्युत गुण उनके आश्रित हैं। जो सत्त्व-रज-तम गुणोंके वशमें है, उसका नाम 'सगुण' नहीं है, प्रत्युत जिसमें असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि अनन्त दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। भगवान्‌के द्वारा सात्त्विक, राजस अथवा तामस क्रियाएँ हो सकती हैं, पर वे उन गुणोंके वशमें नहीं होते।

भगवान्‌की तरफ चलनेसे भक्त स्वतः और सुगमतासे गुणातीत हो जाता है। इतना ही नहीं, उसको भगवान्‌के समग्ररूपका भी ज्ञान हो जाता है।

सम्बन्ध—उपासना तो करे भगवान्‌की और पात्र बन जाय ब्रह्मप्राप्तिका—यह कैसे? इसका उत्तर आगेके श्लोकमें देते हैं।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

हि	= क्योंकि	**च**	= तथा	**सुखस्य**	= सुखका
ब्रह्मणः	= ब्रह्मका	**शाश्वतस्य**	= शाश्वत	**प्रतिष्ठा**	= आश्रय
च	= और	**धर्मस्य**	= धर्मका		
अव्ययस्य	= अविनाशी	**च**	= और	**अहम्**	= मैं
अमृतस्य	= अमृतका	**ऐकान्तिकस्य**	= ऐकान्तिक		(ही हूँ)।

व्याख्या—‘**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**’—मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा, आश्रय हूँ—ऐसा कहनेका तात्पर्य ब्रह्मसे अपनी अभिन्नता बतानेमें है। जैसे जलती हुई अग्नि साकार है और काष्ठ आदिमें रहनेवाली अग्नि निराकार है—ये अग्निके दो रूप हैं, पर तत्त्वतः अग्नि एक ही है। ऐसे ही भगवान् साकार-रूपसे हैं और ब्रह्म निराकार-रूपसे है—ये दो रूप साधकोंकी उपासनाकी दृष्टिसे हैं, पर तत्त्वतः भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं। जैसे भोजनमें एक सुगन्ध होती है और एक स्वाद होता है; नासिकाकी दृष्टिसे सुगन्ध होती है और रसनाकी दृष्टिसे स्वाद होता है, पर भोजन तो एक ही है। ऐसे ही ज्ञानकी दृष्टिसे ब्रह्म है और भक्तिकी दृष्टिसे भगवान् हैं, पर तत्त्वतः भगवान् और ब्रह्म एक ही हैं।

भगवान् कृष्ण अलग हैं और ब्रह्म अलग है—यह भेद नहीं है; किन्तु भगवान् कृष्ण ही ब्रह्म हैं और ब्रह्म ही भगवान् कृष्ण है। गीतामें भगवान्ने अपने लिये ‘ब्रह्म’ शब्दका भी प्रयोग किया है—‘**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि**’ (५। १०) और अपनेको ‘अव्यक्तमूर्ति’ भी कहा है—‘**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**’ (९। ४)। तात्पर्य है कि साकार और निराकार एक ही हैं, दो नहीं।

‘**अमृतस्याव्ययस्य च**’—अविनाशी अमृतका अधिष्ठान मैं ही हूँ और मेरा ही अधिष्ठान अविनाशी अमृत है। तात्पर्य है कि अविनाशी अमृत और मैं—ये दो तत्त्व नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं। इसी अविनाशी अमृतकी प्राप्तिको भगवान्ने ‘**अमृतमश्नुते**’ (१३। १२; १४। २०) पदसे कहा है।

‘**शाश्वतस्य च धर्मस्य**’—सनातन धर्मका आधार मैं हूँ और मेरा आधार सनातन धर्म है। तात्पर्य है कि सनातन धर्म और मैं—ये दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं। सनातन धर्म मेरा ही स्वरूप है*। गीतामें अर्जुनने भगवान्को शाश्वतधर्मका गोप्ता (रक्षक) बताया है (ग्यारहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। भगवान् भी अवतार लेकर सनातन धर्मकी रक्षा किया करते हैं (चौथे अध्यायका आठवाँ श्लोक)।

‘**सुखस्यैकान्तिकस्य च**’—ऐकान्तिक सुखका आधार मैं हूँ और मेरा आधार ऐकान्तिक सुख है अर्थात् मेरा ही स्वरूप ऐकान्तिक सुख है। भगवान्ने इसी ऐकान्तिक सुखको ‘अक्षय सुख’ (५। २१), ‘आत्यन्तिक सुख’ (६। २१) और ‘अत्यन्त सुख’ (६। २८) नामसे कहा है।

इस श्लोकमें ‘**ब्रह्मणः**’, ‘**अमृतस्य**’ आदि पदोंमें ‘**राहोः शिरः**’ की तरह अभिन्नतामें षष्ठी विभक्तिका प्रयोग किया गया है। तात्पर्य है कि ‘राहुका सिर’—ऐसा जो प्रयोग होता है, उसमें राहु अलग है और सिर अलग है—ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत राहुका नाम ही सिर है और सिरका नाम ही राहु है। ऐसे ही यहाँ ब्रह्म, अविनाशी अमृत आदि ही भगवान् कृष्ण हैं और भगवान् कृष्ण ही ब्रह्म, अविनाशी अमृत आदि हैं।

*** हिन्दू (सनातन), बौद्ध, ईसाई और मुस्लिम—ये चार धर्म वर्तमान समयमें संसारमें मुख्य माने जाते हैं। इन चारोंमेंसे एक-एक धर्मको माननेवालोंकी संख्या करोड़ोंकी है। इनमें बौद्ध, ईसाई और मुस्लिम-धर्मको चलानेवाले क्रमशः बुद्ध, ईसा और मोहम्मद माने जाते हैं। ये तीनों ही धर्म अर्वाचीन हैं। परन्तु हिन्दूधर्म किसी मनुष्यके द्वारा चलाया हुआ नहीं है अर्थात् यह किसी मानवीय बुद्धिकी उपज नहीं है। यह तो विभिन्न ऋषियोंद्वारा किया गया अन्वेषण है, खोज है। खोज उसीकी होती है, जो पहलेसे ही मौजूद हो। हिन्दूधर्म अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है। जैसे भगवान् शाश्वत (सनातन) हैं, ऐसे ही हिन्दूधर्म भी शाश्वत है। इसीलिये भगवान्ने यहाँ (गीता १४। २७ में) सनातन हिन्दूधर्मको अपना स्वरूप बताया है। जब-जब हिन्दूधर्मका ह्रास होता है, तब-तब भगवान् अवतार लेकर इसकी संस्थापना करते हैं (गीता—चौथे अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि भगवान् भी इसकी संस्थापना, रक्षा करनेके लिये ही अवतार लेते हैं, इसको बनानेके लिये, उत्पन्न करनेके लिये नहीं। वास्तवमें अन्य सभी धर्म तथा मत-मतान्तर भी इसी सनातन धर्मसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये उन धर्मोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये जो साधन बताये गये हैं, उनको भी हिन्दूधर्मकी ही देन मानना चाहिये। अतः उन धर्मोंमें बताये गये अनुष्ठानोंका भी निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर पालन किया जाय, तो कल्याण होनेमें सन्देह नहीं मानना चाहिये। प्राणिमात्रके कल्याणके लिये जितना गहरा विचार हिन्दूधर्ममें किया गया है, उतना दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलता। हिन्दूधर्मके सभी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक और कल्याण करनेवाले हैं।**

ब्रह्म कहो, चाहे कृष्ण कहो, और कृष्ण कहो, चाहे ब्रह्म कहो; अविनाशी अमृत कहो, चाहे कृष्ण कहो, और कृष्ण कहो चाहे अविनाशी अमृत कहो; शाश्वत धर्म कहो, चाहे कृष्ण कहो और कृष्ण कहो चाहे शाश्वत धर्म कहो; ऐकान्तिक सुख कहो चाहे कृष्ण कहो; और कृष्ण कहो चाहे ऐकान्तिक सुख कहो; एक ही बात है। इसमें कोई आधार-आधेय भाव नहीं है, एक ही तत्त्व है। इसलिये भगवान्‌की उपासना करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—यह बात ठीक ही है।

परिशिष्ट भाव—'ब्रह्म तथा अविनाशी अमृतका आश्रय मैं हूँ'—यह निर्गुण-निराकारकी तथा ज्ञानयोगकी बात है, 'शाश्वतधर्मका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-साकारकी तथा कर्मयोगकी बात है और 'ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-निराकारकी तथा ध्यानयोगकी बात है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करनेसे, मेरा आश्रय लेनेसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग—तीनों सिद्ध हो जाते हैं। तीनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है, जिसको 'समग्र' कहते हैं।

जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सब भगवान्‌के ऐश्वर्य हैं। ब्रह्म भी भगवान्‌की एक विभूति है, ऐश्वर्य है। इसलिये यहाँ भगवान्‌ने कहा है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**'। पद्मपुराणमें आया है कि भगवान् श्रीकृष्णके ही नखकी एक किरण 'ब्रह्म' है—

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः। गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

(पाताल० ७७। ६०)

'(भगवान् शंकर कहते हैं—) जिनके नखचन्द्रकी कान्तिरूप ब्रह्मका देवतागण ध्यान करते हैं, उन त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसम्वादमें 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौदहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १४॥

इस अध्यायमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका विभागपूर्वक वर्णन किया गया है। इन तीनों गुणोंसे अतीत होनेपर, इनका सम्बन्ध छूटनेपर परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभागयोग' रखा गया है।

चौदहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ चतुर्दशोऽध्यायः**' के तीन, '**श्रीभगवानुवाच**' आदि पदोंके छः, श्लोकोंके तीन सौ बाईस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ चौवालीस है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ चतुर्दशोऽध्यायः**' के आठ, '**श्रीभगवानुवाच**' आदि पदोंके बीस, श्लोकोंके आठ सौ चौंसठ और पुष्पिकाके इक्यावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग नौ सौ तैंतालीस है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें तीन उवाच हैं—दो '**श्रीभगवानुवाच**' और एक '**अर्जुन उवाच**'।

चौदहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सत्ताईस श्लोकोंमेंसे—पाँचवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; छठे और दसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; पन्द्रहवें और सत्रहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; उन्नीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; और नवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' तथा तीसरे चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**संकीर्ण-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष बीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'सगुण और निर्गुण-उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है?'—इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको सर्वश्रेष्ठ योगी बताया। पाँचवें श्लोकमें सगुण और निर्गुण-उपासनाकी तुलना करते हुए भगवान्‌ने कहा कि देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त अर्थात् निर्गुण-तत्त्वकी उपासना कठिन है। यह देहाभिमान-रूपी बाधा दूर कैसे हो—इस विषयका तथा निर्गुण-तत्त्वका विवेचन भगवान्‌ने तेरहवें और चौदहवें अध्यायमें किया।

चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीत पुरुषोंके लक्षणों और आचरणोंके साथ-ही-साथ गुणातीत होनेका उपाय पूछा। इसके उत्तरमें भगवान्‌ने बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण-उपासकोंके लिये 'अव्यभिचारी भक्तियोग' को गुणातीत होनेका उपाय बताया। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का अनन्य भक्त (भगवान्‌पर ही आश्रित और भगवान्‌को ही अपना माननेके कारण) सुगमतापूर्वक गुणातीत भी हो जाता है। इस (छब्बीसवें) श्लोकमें भगवान्‌ने ***'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन'*** *पदोंसे व्यभिचारदोष-(संसारके आश्रय-) से रहित भक्तियोगका,* ***'यः'*** *पदसे जीवका और* ***'माम्'*** *पदसे अपना (परमात्माका) सूक्ष्मरूपसे वर्णन किया। इसलिये इन्हीं तीनों विषयोंका अर्थात् संसार, जीव और परमात्माका विस्तृत विवेचन भगवान् इस (पन्द्रहवें) अध्यायमें करते हैं।*

जीव स्वरूपतः (परमात्माका अंश होनेसे) गुणातीत होनेपर भी अनादि अज्ञानके कारण गुणोंके प्रभावसे प्रभावित होकर गुणोंके कार्यभूत शरीर-(संसार-) में तादात्म्य, ममता और कामना करके आबद्ध हुआ है। जबतक वह गुणोंसे अतीत (विलक्षण) तत्त्व परमात्माके प्रभावको नहीं जानता, तबतक वह प्रकृतिजन्य गुणोंके प्रभावसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् (अपनी प्राप्तिके प्रिय साधन 'अव्यभिचारिणी भक्ति' को प्राप्त कराने हेतु) अपना अत्यन्त गोपनीय और विशेष प्रभाव बतानेके लिये इस (पन्द्रहवें) अध्यायका आरम्भ करते हैं।

जीव परमात्माका अंश है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। अतः इसका एकमात्र सम्बन्ध अपने अंशी परमात्मासे ही है। परन्तु भूलसे यह अपना सम्बन्ध प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे मान लेता है, जिनसे उसका सम्बन्ध वास्तवमें कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको भूलकर शरीरादि विजातीय पदार्थोंको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानना ही व्यभिचार-दोष है। यह व्यभिचार-दोष ही अनन्य भक्तियोगमें खास बाधक है। इस बाधाको दूर करनेके लिये पन्द्रहवें अध्यायके पहले पाँच श्लोकोंके प्रकरणमें भगवान् संसार-वृक्षका वर्णन करके उसका छेदन करनेकी आज्ञा देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥*

---

* ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत्॥ (कठोपनिषद् २। ३। १)

श्रीभगवान् बोले—

ऊर्ध्वमूलम् = ऊपरकी ओर मूलवाले (तथा)
अधःशाखम् = नीचेकी ओर शाखावाले
अश्वत्थम् = (जिस) संसाररूप अश्वत्थवृक्षको
अव्ययम् = (प्रवाहरूपसे) अव्यय
प्राहुः = कहते हैं (और)
छन्दांसि = वेद
यस्य = जिसके
पर्णानि = पत्ते हैं,
तम् = उस संसार-वृक्षको
यः = जो
वेद = जानता है,
सः = वह
वेदवित् = सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है।

व्याख्या—‘**ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्**’— [तेरहवें अध्यायके आरम्भके दो श्लोकोंकी तरह यहाँ पन्द्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्ने अध्यायके सम्पूर्ण विषयोंका दिग्दर्शन कराया है और ‘**ऊर्ध्वमूलम्**’ पदसे परमात्माका, ‘**अधःशाखम्**’ पदसे सम्पूर्ण जीवोंके प्रतिनिधि ब्रह्माजीका तथा ‘**अश्वत्थम्**’ पदसे संसारका संकेत करके (संसाररूप अश्वत्थवृक्षके मूल) सर्वशक्तिमान् परमात्माको यथार्थरूपसे जाननेवालेको ‘**वेदवित्**’ कहा है।]

साधारणतया वृक्षोंका मूल नीचे और शाखाएँ ऊपरकी ओर होती हैं; परन्तु यह संसारवृक्ष ऐसा विचित्र वृक्ष है कि इसका मूल ऊपर तथा शाखाएँ नीचेकी ओर हैं!

जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आता, ऐसा भगवान्का परमधाम ही सम्पूर्ण भौतिक संसारसे ऊपर (सर्वोपरि) है। संसारवृक्षकी प्रधान शाखा (तना) ब्रह्माजी हैं; क्योंकि संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माजीका उद्भव होता है। इस कारण ब्रह्माजी ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्मलोक भगवद्धामकी अपेक्षा नीचे है। स्थान, गुण, पद, आयु आदि सभी दृष्टियोंसे परमधामकी अपेक्षा निम्न श्रेणीमें होनेके कारण ही इन्हें ‘**अधः**’ (नीचेकी ओर) कहा गया है।[1]

यह संसाररूपी वृक्ष ऊपरकी ओर मूलवाला है। वृक्षमें मूल ही प्रधान होता है। ऐसे ही इस संसाररूपी वृक्षमें परमात्मा ही प्रधान हैं। उनसे ब्रह्माजी प्रकट होते हैं, जिनका वर्णन ‘**अधःशाखम्**’ पदसे हुआ है।

सबके मूल प्रकाशक और आश्रय परमात्मा ही हैं। देश, काल, भाव, सिद्धान्त, गुण, रूप, विद्या आदि सभी दृष्टियोंसे परमात्मा ही सबसे श्रेष्ठ हैं। उनसे ऊपर अथवा श्रेष्ठकी तो बात ही क्या है, उनके समान भी दूसरा कोई नहीं है[2] (गीता—ग्यारहवें अध्यायका तैंतालीसवाँ श्लोक)। संसारवृक्षके मूल सर्वोपरि परमात्मा हैं। जैसे ‘मूल’ वृक्षका आधार होता है, ऐसे ही ‘परमात्मा’ सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं। इसीलिये उस वृक्षको ‘**ऊर्ध्वमूलम्**’ कहा गया है।

‘मूल’ शब्द कारणका वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार परमात्मासे ही हुआ है। वे परमात्मा नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं तथा सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य-धाममें निवास करते हैं, इसलिये वे ‘ऊर्ध्व’ नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको ऊपरकी ओर मूलवाला (ऊर्ध्वमूल) कहते हैं।

वृक्षके मूलसे ही तने, शाखाएँ, कोंपलें निकलती हैं। इसी प्रकार परमात्मासे ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, उन्हींसे विस्तृत होता है और उन्हींमें स्थित रहता है। उन्हींसे शक्ति पाकर सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है[3]। ऐसे सर्वोपरि परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सदाके लिये कृतार्थ हो जाता है। (शरण लेनेकी बात आगे चौथे श्लोकमें ‘**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**’ पदोंमें कही गयी है)।

सृष्टि-रचनाके लिये ब्रह्माजी प्रकृतिको स्वीकार करते हैं। परन्तु वास्तवमें वे (प्रकृतिसे सम्बन्धरहित होनेके कारण)

१-यहाँ ‘अधःशाखम्’ पदमें ब्रह्माजीसे लेकर कीटपर्यन्त सभी जीवोंका समावेश है।

२-‘न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।’ (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ८)

उस-(परमात्मा-) से बड़ा और उसके समान भी दूसरा नहीं दीखता।

३-जैसे गीतामें कहा है—‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा’ (७। ६), ‘प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्’ (९। १८); ‘अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते’ (१०। ८); ‘यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी’ (१५। ४) और ‘यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्’ (१८। ४६)।

मुक्त हैं। ब्रह्माजीके सिवाय दूसरे सम्पूर्ण जीव प्रकृति और उसके कार्य शरीरादिके साथ अहंता-ममतापूर्वक जितना-जितना अपना सम्बन्ध मानते हैं, उतने-उतने ही वे बन्धनमें पड़े हुए हैं और उनका बार-बार पतन(जन्म-मरण) होता रहता है अर्थात् उतनी ही शाखाएँ नीचेकी ओर फैलती रहती हैं। सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गतियाँ **'अधःशाखम्'** के ही अन्तर्गत हैं (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

'अश्वत्थम्'—'अश्वत्थम्' शब्दके दो अर्थ हैं—(१) जो कल दिनतक भी न रह सके[1] और (२) पीपलका वृक्ष।

पहले अर्थके अनुसार—**'अश्वत्थ'** पदका तात्पर्य यह है कि संसार एक क्षण[2] भी स्थिर रहनेवाला नहीं है। केवल परिवर्तनके समूहका नाम ही संसार है। परिवर्तनका जो नया रूप सामने आता है, उसको उत्पत्ति कहते हैं; थोड़ा और परिवर्तन होनेपर उसको स्थितिरूपसे मान लेते हैं और जब उस स्थितिका स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है, तब उसको समाप्ति (प्रलय) कह देते हैं। वास्तवमें इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते ही नहीं। इसलिये इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होनेके कारण यह (संसार) एक क्षण भी स्थिर नहीं है। दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदर्शनमें जा रहा है। इसी भावसे इस संसारको **'अश्वत्थम्'** कहा गया है।

दूसरे अर्थके अनुसार—यह संसार पीपलका वृक्ष है। शास्त्रोंमें अश्वत्थ अर्थात् पीपलके वृक्षकी बहुत महिमा गायी गयी है। स्वयं भगवान् भी सब वृक्षोंमें 'अश्वत्थ' को अपनी विभूति कहकर उसको श्रेष्ठ एवं पूज्य बताते हैं—**'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्'** (गीता १०। २६)। पीपल, आँवला और तुलसी—इनकी भगवद्भावपूर्वक पूजा करनेसे वह भगवान्‌की पूजा हो जाती है।

परमात्मासे संसार उत्पन्न होता है। वे ही संसारके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। अतः संसाररूपी पीपलका वृक्ष भी तत्त्वतः परमात्मस्वरूप होनेसे पूजनीय है। इस संसाररूप पीपलवृक्षकी पूजा यही है कि इससे सुख लेनेकी इच्छाका त्याग करके केवल इसकी सेवा करना। सुखकी इच्छा न रखनेवालेके लिये यह संसार साक्षात् भगवत्स्वरूप है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। परन्तु संसारसे सुखकी इच्छा रखनेवालोंके लिये यह संसार दुःखोंका घर ही है। कारण कि स्वयं अविनाशी है और यह संसारवृक्ष प्रतिक्षण परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभंगुर है। अतः स्वयंकी कभी इससे तृप्ति हो ही नहीं सकती; किंतु इससे सुखकी इच्छा करके यह बार-बार जन्मता-मरता रहता है। इसलिये संसारसे यत्किंचित् भी स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल उसकी सेवा करनेका भाव ही रखना चाहिये।

'प्राहुरव्ययम्'—संसारवृक्षको अव्यय कहा जाता है। क्षणभंगुर अनित्य संसारका आदि और अन्त न जान सकनेके कारण, प्रवाहकी निरन्तरता-(नित्यता-)के कारण तथा इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी होनेके कारण ही इसे अव्यय कहते हैं। जिस प्रकार समुद्रका जल सूर्यके तापसे भाप बनकर बादल बनता है। फिर आकाशमें ठण्डक पाकर वही जल बादलसे पुनः जलरूपसे पृथ्वीपर आ जाता है। फिर वही जल नदी-नालेका रूप धारण करके समुद्रमें चला जाता है, पुनः समुद्रका जल बादल बनकर बरसता है—ऐसे घूमते हुए जलके चक्रका कभी भी अन्त नहीं आता। इसी प्रकार इस संसार-चक्रका भी कभी अन्त नहीं आता। यह संसार-चक्र इतनी तेजीसे घूमता (बदलता) है कि चलचित्र-(सिनेमा-)के समान अस्थिर (प्रतिक्षण परिवर्तनशील) होते हुए भी स्थिरकी तरह प्रतीत होता है।

यह संसारवृक्ष अव्यय कहा जाता है। **(प्राहुः),** वास्तवमें यह अव्यय (अविनाशी) है नहीं। अगर यह अव्यय होता तो न तो इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इस-(संसार-)का जैसा स्वरूप कहा जाता है, वैसा उपलब्ध नहीं होता; और न इस-(संसारवृक्ष-) को वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही भगवान् प्रेरणा करते।

'छन्दांसि यस्य पर्णानि'—वेद इस संसारवृक्षके पत्ते हैं। यहाँ वेदोंसे तात्पर्य वेदोंके उस अंशसे है, जिसमें सकामकर्मोंके अनुष्ठानोंका वर्णन है[3]। तात्पर्य यह है कि

१-'श्वः' पर्यन्तं न तिष्ठतीति अश्वत्थः'—'श्वस्' अव्यय आनेवाले कलका वाचक है। जो कलतक स्थिर रहे, उसे 'श्वत्थ' तथा जो कलतक स्थिर न रहे, उसे 'अश्वत्थ' कहते हैं।

२-'क्षण' का विवेचन दार्शनिकोंने इस प्रकार किया है—कमलके पत्तेपर सूई मारी जाय तो सूईके दूसरी तरफ निकलनेमें तीन क्षण लगते हैं—पहले क्षणमें स्पर्श, दूसरे क्षणमें छेदन और तीसरे क्षणमें पार निकलना।

३-वेदोंमें सकाम मन्त्रोंकी संख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनेवाले मन्त्रोंकी संख्या बीस हजार ही है, जिसमें चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके एवं सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं।

जिस वृक्षमें सुन्दर फूल-पत्ते तो हों, पर फल नहीं हों तो वह वृक्ष अनुपयोगी है; क्योंकि वास्तवमें तृप्ति तो फलसे ही होती है, फूल-पत्तोंकी सजावटसे नहीं। इसी प्रकार सुख-भोग चाहनेवाले सकाम पुरुषको भोग-ऐश्वर्यरूप फूल-पत्तोंसे सम्पन्न यह संसारवृक्ष बाहरसे तो सुन्दर प्रतीत होता है, पर इससे सुख चाहनेके कारण उसको अक्षय सुखरूप तृप्ति अर्थात् महान् आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती।

वेदविहित पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान स्वर्गादि लोकोंकी कामनासे किया जाय तो वह निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ तो है, पर उन कर्मोंसे मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि फलभोगके बाद पुण्यकर्म नष्ट हो जाते हैं और उसे पुनः संसारमें आना पड़ता है (गीता—नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार सकाम-कर्म और उसका फल—दोनों ही उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। अतः साधकको इन (दोनों) से सर्वथा असंग होकर एकमात्र परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना चाहिये।

पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न होनेवाले तथा वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। पत्तोंसे वृक्ष सुन्दर दीखता है तथा दृढ़ होता है (पत्तोंके हिलनेसे वृक्षका मूल, तना एवं शाखाएँ दृढ़ होती हैं)। वेद भी इस संसारवृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्माजीसे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है। इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है। संसारमें सकाम (काम्य) कर्मोंसे स्वर्गादिमें देव-योनियाँ प्राप्त होती हैं—यह संसारवृक्षका बढ़ना है। स्वर्गादिमें नन्दनवन, सुन्दर विमान, रमणीय अप्सराएँ आदि हैं—यह संसारवृक्षके सौन्दर्यकी प्रतीति है। सकाम-कर्मोंको करते रहनेसे बारम्बार जन्म-मरण होता रहता है—यह संसारवृक्षका दृढ़ होना है।

इन पदोंसे भगवान् यह कहना चाहते हैं कि साधकको सकामभाव, वैदिक सकाम-कर्मानुष्ठानरूप पत्तोंमें न फँसकर संसारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। परमात्माका आश्रय लेनेसे वेदोंका वास्तविक तत्त्व भी जाननेमें आ जाता है। वेदोंका वास्तविक तत्त्व संसार या स्वर्ग नहीं, प्रत्युत परमात्मा ही हैं (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)।[१]

'यस्तं वेद स वेदवित्'—उस संसारवृक्षको जो मनुष्य जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ तात्पर्यको जाननेवाला है। संसारको क्षणभंगुर (अनित्य) जानकर इससे कभी किंचिन्मात्र भी सुखकी आशा न रखना—यही संसारको यथार्थरूपसे जानना है। वास्तवमें संसारको क्षणभंगुर जान लेनेपर सुखभोग हो ही नहीं सकता। सुखभोगके समय संसार क्षणभंगुर नहीं दीखता। जबतक संसारके प्राणी-पदार्थोंको स्थायी मानते रहते हैं, तभीतक सुखभोग, सुखकी आशा और कामना तथा संसारका आश्रय, महत्त्व, विश्वास बना रहता है। जिस समय यह अनुभव हो जाता है कि संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, उसी समय उससे सुख लेनेकी इच्छा मिट जाती है और साधक उसके वास्तविक स्वरूपको जानकर (संसारसे विमुख और परमात्माके सम्मुख होकर) परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है। परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव होनेमें ही वेदोंका वास्तविक तात्पर्य है। जो मनुष्य संसारसे विमुख होकर परमात्मतत्त्वसे अपनी अभिन्नता (जो कि वास्तवमें है)-का अनुभव कर लेता है, वही वास्तवमें **'वेदवित्'** है। वेदोंके अध्ययनमात्रसे मनुष्य वेदोंका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ वेदवेत्ता नहीं। वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी जिसको (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक) परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो गयी है, वही वास्तवमें वेदवेत्ता (वेदोंके तात्पर्यको अनुभवमें लानेवाला) है।

भगवान्‌ने इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें अपनेको 'वेदवित्' कहा है। यहाँ वे संसारके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषको 'वेदवित्' कहकर उससे अपनी एकता प्रकट करते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-शरीरमें मिले विवेककी इतनी महिमा है कि उससे जीव संसारके यथार्थ तत्त्वको जानकर भगवान्‌के सदृश वेदवेत्ता बन सकता है[२]!

परमात्माका ही अंश होनेके कारण जीवका एकमात्र वास्तविक सम्बन्ध परमात्मासे है। संसारसे तो इसने भूलसे अपना सम्बन्ध माना है, वास्तवमें है नहीं। विवेकके द्वारा इस भूलको मिटाकर अर्थात् संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करके एकमात्र अपने अंशी परमात्मासे अपनी स्वतःसिद्ध अभिन्नताका अनुभव करनेवाला ही संसारवृक्षके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला है; और उसीको भगवान् यहाँ 'वेदवित्' कहते हैं।

१-**'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' (कठोपनिषद् १। २। १५)**

'सम्पूर्ण वेद जिस परमपद परमात्माका बारम्बार प्रतिपादन करते हैं।'

२-**'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४। २) में भी यही बात कही गयी है।**

परिशिष्ट भाव—जगत्, जीव और परमात्मा—तीनों वासुदेवरूप ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्।**' इसीका यहाँ वृक्षरूपसे वर्णन किया गया है।

परिवर्तनशील होनेपर भी संसारको 'अव्यय' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें निरन्तर परिवर्तन होनेपर भी कुछ व्यय (खर्चा) नहीं होता अर्थात् अन्त नहीं होता। जैसे समुद्रके ऊपर कितनी लहरें उठती दीखती हैं, ज्वार-भाटा आता है, पर उसका जल उतना ही रहता है, घटता-बढ़ता नहीं। ऐसे ही निरन्तर परिवर्तन दीखनेपर भी संसार अव्यय ही रहता है। कारण कि परिवर्तनरूप संसार भी परमात्माकी शक्ति 'अपरा प्रकृति' का कार्य होनेसे परमात्माका ही स्वरूप है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परिवर्तनरूप अपरा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है और अपरिवर्तनरूप परा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है। यह संसार उस परमात्माकी ही लहरें हैं। जैसे ऊपरसे लहरें दीखनेपर भी समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है, एक सम, शान्त समुद्र है, ऐसे ही ऊपरसे परिवर्तनशील संसार दीखते हुए भी भीतरसे एक सम, शान्त परमात्मा है! (गीता—तेरहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक) तात्पर्य है कि संसार संसाररूपसे अव्यय नहीं है, प्रत्युत भगवद्रूपसे अव्यय है। संसाररूपसे भगवान्‌की ही झलक दीखती है। साधककी दृष्टि उस झलककी ओर न होकर भगवान्‌की ओर ही होनी चाहिये। झलककी ओर दृष्टि होना अर्थात् उसीको स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही बन्धन है।

संसारको 'अव्यय' कहनेका एक आशय यह भी है कि जो इस संसारके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ेगा, उसका वह सम्बन्ध अर्थात् जन्म-मरण भी अव्यय हो जायगा, कभी मिटेगा नहीं, उसका कभी अन्त आयेगा नहीं। लम्बे रास्तेका तो अन्त आ सकता है, पर गोल रास्तेका अन्त कैसे आये? कोल्हूके बैलकी तरह जन्मनेके बाद मरना और मरनेके बाद जन्मना—यह गोल रास्ता है।

संसार 'अव्यय' है; क्योंकि संसारका बीज भी 'अव्यय' है—'**बीजमव्ययम्**' (गीता ९। १८)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जिस संसारवृक्षका दिग्दर्शन कराया, उसी संसारवृक्षका अब आगेके श्लोकमें अवयवोंसहित विस्तारसे वर्णन करते हैं।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

तस्य = उस संसार-वृक्षकी
गुणप्रवृद्धाः = गुणों (सत्त्व, रज और तम) के द्वारा बढ़ी हुई (तथा)
विषयप्रवालाः = विषयरूप कोंपलोंवाली
शाखाः = शाखाएँ
अधः = नीचे,
च = (मध्यमें) और
ऊर्ध्वम् = ऊपर (सब जगह)
प्रसृताः = फैली हुई हैं।
मनुष्यलोके = मनुष्यलोकमें
कर्मानुबन्धीनि = कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले
मूलानि = मूल (भी)
अधः = नीचे
च = और (ऊपर)
अनुसन्ततानि = (सभी लोकोंमें) व्याप्त हो रहे हैं।

व्याख्या—'**तस्य शाखा गुणप्रवृद्धाः**'—संसारवृक्षकी मुख्य शाखा ब्रह्मा है। ब्रह्मासे सम्पूर्ण देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियोंकी उत्पत्ति और विस्तार हुआ है। इसलिये ब्रह्मलोकसे पातालतक जितने भी लोक तथा उनमें रहनेवाले देव, मनुष्य, कीट आदि प्राणी हैं, वे सभी संसारवृक्षकी शाखाएँ हैं। जिस प्रकार जल सींचनेसे वृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जलके संगसे इस संसारवृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं। इसीलिये भगवान्‌ने जीवात्माके ऊँच, मध्य और नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण गुणोंका संग ही बताया है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ और चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। सम्पूर्ण सृष्टिमें ऐसा कोई देश, वस्तु, व्यक्ति नहीं, जो प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे रहित हो (गीता—अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक)।

इसलिये गुणोंके सम्बन्धसे ही संसारकी स्थिति है। गुणोंकी अनुभूति गुणोंसे उत्पन्न वृत्तियों तथा पदार्थोंके द्वारा होती है। अतः वृत्तियों तथा पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करानेके लिये ही '**गुणप्रवृद्धाः**' पद देकर भगवान्‌ने यहाँ यह बताया है कि जबतक गुणोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध है, तबतक संसारवृक्षकी शाखाएँ बढ़ती ही रहेंगी। अतः संसारवृक्षका छेदन करनेके लिये गुणोंका संग किंचिन्मात्र भी नहीं रखना चाहिये; क्योंकि गुणोंका संग रहते हुए संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता।

'**विषयप्रवालाः**'—जिस प्रकार शाखासे निकलने-वाली नयी कोमल पत्तीके डंठलसे लेकर पत्तीके अग्रभाग-तकको प्रवाल (कोंपल) कहा जाता है, उसी प्रकार गुणोंकी वृत्तियोंसे लेकर दृश्य पदार्थमात्रको यहाँ '**विषयप्रवालाः**' कहा गया है।

वृक्षके मूलसे तना (मुख्य शाखा), तनेसे शाखाएँ और शाखाओंसे कोंपलें फूटती हैं और कोंपलोंसे शाखाएँ आगे बढ़ती हैं। इस संसारवृक्षमें विषय-चिन्तन ही कोंपलें हैं। विषय-चिन्तन तीनों गुणोंसे होता है। जिस प्रकार गुणरूप जलसे संसारवृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जलसे विषयरूप कोंपलें भी बढ़ती हैं। जैसे कोंपलें दीखती हैं, उनमें व्याप्त जल नहीं दीखता, ऐसे ही शब्दादि विषय तो दीखते हैं, पर उनमें गुण नहीं दीखते। अतः विषयोंसे ही गुण जाने जाते हैं।

'**विषयप्रवालाः**' पदका भाव यह प्रतीत होता है कि विषय-चिन्तन करते हुए मनुष्यका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता[1] (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। अन्तकालमें मनुष्य जिस-जिस भावका चिन्तन करते हुए शरीरका त्याग करता है, उस-उस भावको ही प्राप्त होता है (गीता—आठवें अध्यायका छठा श्लोक)—यही विषयरूप कोंपलोंका फूटना है।

कोंपलोंकी तरह विषय भी देखनेमें बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं, जिससे मनुष्य उनमें आकर्षित हो जाता है। साधक अपने विवेकसे परिणामपर विचार करते हुए इनको क्षणभंगुर, नाशवान् और दुःखरूप जानकर इन विषयोंका सुगमतापूर्वक त्याग कर सकता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। विषयोंमें सौन्दर्य और आकर्षण अपने रागके कारण ही दीखता है, वास्तवमें वे सुन्दर और आकर्षक हैं नहीं। इसलिये विषयोंमें रागका त्याग ही वास्तविक त्याग है। जैसे कोमल कोंपलोंको नष्ट करनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, ऐसे ही इन विषयोंके त्यागमें भी साधकको कठिनता नहीं माननी चाहिये। मनसे आदर देनेपर ही ये विषयरूप कोंपलें सुन्दर और आकर्षक दीखती हैं, वास्तवमें तो ये विषयुक्त लड्डूके समान ही हैं[2]। इसलिये इस संसारवृक्षका छेदन करनेके लिये भोगबुद्धि-पूर्वक विषय-चिन्तन एवं विषयसेवनका सर्वथा त्याग करना आवश्यक है।[3]

'**अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः**'—यहाँ '**च**' पदको मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोक-(इसी श्लोकके '**मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि**' पदों-) का वाचक समझना चाहिये। '**ऊर्ध्वम्**' पदका तात्पर्य ब्रह्मलोक आदिसे है, जिसमें जानेके दो मार्ग हैं—देवयान और पितृयान (जिसका वर्णन आठवें अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें शुक्ल और कृष्ण-मार्गके नामसे हुआ है)। '**अधः**' पदका तात्पर्य नरकोंसे है, जिसके भी दो भेद हैं—योनिविशेष नरक और स्थानविशेष नरक।

इन पदोंसे यह कहा गया है कि ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नीचे, संसारवृक्षकी शाखाएँ नीचे, मध्य और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। इसमें मनुष्ययोनिरूप शाखा ही मूल शाखा है; क्योंकि मनुष्ययोनिमें नवीन कर्मोंको करनेका अधिकार है। अन्य शाखाएँ भोगयोनियाँ हैं, जिनमें केवल पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगनेका ही अधिकार है। इस मनुष्ययोनिरूप मूल शाखासे मनुष्य नीचे (अधोलोक) तथा ऊपर (ऊर्ध्व-लोक)—दोनों ओर जा सकता है; और संसारवृक्षका छेदन करके सबसे ऊर्ध्व (परमात्मा) तक भी जा सकता है।

१-सेवत विषय बिबर्ध जिमि नित नित नूतन मार॥ (मानस ६। ९२)

२-दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि। विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम्॥

(विवेकचूड़ामणि ७९)

'दोषमें विषय काले सर्पके विषसे भी अधिक तीव्र हैं; क्योंकि विष तो खानेवालेको ही मारता है, पर विषय आँखसे देखनेवालेको भी नहीं छोड़ते।'

३-मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा। (विवेक० ८४)

'यदि तुझे मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान दूरहीसे त्याग दे।

मनुष्य-शरीरमें ऐसा विवेक है, जिसको महत्त्व देकर जीव परमधामतक पहुँच सकता है और अविवेकपूर्वक विषयोंका सेवन करके नरकोंमें भी जा सकता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

(मानस ७। १२१। ५)

'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'—मनुष्यके अतिरिक्त दूसरी सब भोगयोनियाँ हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए पाप-पुण्योंका फल भोगनेके लिये ही मनुष्यको दूसरी योनियोंमें जाना पड़ता है। नये पाप-पुण्य करनेका अथवा पाप-पुण्यसे रहित होकर मुक्त होनेका अधिकार और अवसर मनुष्य-शरीरमें ही है।

यहाँ **'मूलानि'** पदका तात्पर्य तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूलसे है, वास्तविक ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नहीं। 'मैं शरीर हूँ'—ऐसा मानना 'तादात्म्य' है। शरीरादि पदार्थोंको अपना मानना 'ममता' है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—ये तीन प्रकारकी मुख्य कामनाएँ हैं। पुत्र-परिवारकी कामना 'पुत्रैषणा' और धन-सम्पत्तिकी कामना 'वित्तैषणा' है। 'संसारमें मेरा मान-आदर हो जाय', 'मैं बना रहूँ', 'शरीर नीरोग रहे', 'मैं शास्त्रोंका पण्डित बन जाऊँ' आदि अनेक कामनाएँ 'लोकैषणा' के अन्तर्गत हैं। इतना ही नहीं कीर्तिकी कामना मरनेके बाद भी इस रूपमें रहती है कि लोग मेरी प्रशंसा करते रहें; मेरा स्मारक बन जाय; मेरी स्मृतिमें पुस्तकें बन जायँ; लोग मुझे याद करें, आदि। यद्यपि कामनाएँ प्रायः सभी योनियोंमें न्यूनाधिकरूपसे रहती हैं, तथापि वे मनुष्ययोनिमें ही बाँधनेवाली होती हैं*। जब कामनाओंसे प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है, तब उन कर्मोंके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संचित होकर भावी जन्म-मरणके कारण बन जाते हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंका फल इस जन्ममें तथा मरनेके बाद भी अवश्य भोगना पड़ता है (गीता—अठारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। अतः तादात्म्य, ममता और कामनाके रहते हुए कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं छूट सकता।

यह नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, वहींसे छुटकारा होता है; जैसे—रस्सीकी गाँठ जहाँ लगी है, वहींसे वह खुलती है। मनुष्ययोनिमें ही जीव शुभाशुभ कर्मोंसे बँधता है; अतः मनुष्ययोनिमें ही वह मुक्त हो सकता है।

पहले श्लोकमें आये **'ऊर्ध्वमूलम्'** पदका तात्पर्य है—परमात्मा, जो संसारके रचयिता तथा उसके मूल आधार हैं; और यहाँ **'मूलानि'** पदका तात्पर्य है—तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल, जो संसारमें मनुष्यको बाँधते हैं। साधकको इन (तादात्म्य, ममता और कामनारूप) मूलोंका तो छेदन करना है और ऊर्ध्वमूल परमात्माका आश्रय लेना

*** ये तीन इच्छाएँ (बाँधनेवाली न होनेके कारण) 'कामना' नहीं कहलातीं—(१) भगवद्दर्शन या भगवत्प्रेमकी कामना, (२) स्वरूपबोधकी कामना और (३) सेवा करनेकी कामना। स्वरूपबोध या परमात्मा (भगवद्दर्शन या भगवत्प्रेम)-की इच्छा 'कामना' नहीं है; क्योंकि स्वरूप और परमात्मा दोनों ही 'नित्यप्राप्त' तथा 'अपने' हैं। जैसे अपनी जेबसे पैसे निकालना चोरी नहीं कहलाती, ऐसे ही स्वरूप या परमात्मा-(जो अपने तथा अपनेमें हैं-) की इच्छा करना 'कामना' नहीं कहलाती। संसारकी वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देनेकी इच्छा भी 'कामना' नहीं, प्रत्युत त्याग है; क्योंकि 'कामना' लेनेकी होती है, देनेकी नहीं। तात्पर्य है कि जो वस्तु अपनी तथा अविनाशी है, उसकी इच्छा करना 'आवश्यकता' (भूख) है; और जो वस्तु दूसरेकी तथा नाशवान् है, उसे दूसरेको देनेकी इच्छा करना 'त्याग' है। जैसे शरीरकी भूख मिटानेके लिये भोजनकी इच्छा करना एक प्रकारसे 'कामना' नहीं होती , ऐसे ही 'स्वयं' की भूख मिटानेके लिये परमात्मतत्त्वकी इच्छा करना 'कामना' नहीं होती। कामना नाशवान् जड-वस्तुकी होती है, और आवश्यकता चिन्मय-तत्त्वकी होती है। कामनाकी पूर्ति नहीं होती, प्रत्युत वह बढ़ती ही रहती है, इसलिये उसका त्याग करना है; परन्तु आवश्यकताकी पूर्ति होती है। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये तीन उपाय हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। मनुष्यने सांसारिक नाशवान् चीजोंको अपनी माना है, जिससे वह संसारका गुलाम हुआ है। अतः वह सबके हितके उद्देश्यसे उन नाशवान् चीजोंको संसारकी समझकर संसारकी सेवा, हितमें लगा दे, तो उसकी गुलामी (पराधीनता) छूट जायगी और वह स्वतन्त्र हो जायगा—यह कर्मयोग है। परमात्मा तो अपना स्वरूप है। जीव उससे अलग नहीं है। केवल नाशवान् चीजोंसे अपना सम्बन्ध माननेसे वह अपने स्वरूपसे च्युत हुआ है। अतः नाशवान्‌के सम्बन्धका त्याग कर दें, तो अपने स्वरूपका बोध हो जायगा—यह ज्ञानयोग है। भगवान् अंशी हैं और जीव अंश है, और इनका परस्पर नित्य-सम्बन्ध है। केवल नाशवान् चीजको अपनी माना है, जिससे वह भगवान्‌से विमुख हुआ है। नाशवान्‌को अपना न मानकर एकमात्र भगवान्‌को ही अपना माननेसे वह स्वतः भगवान्‌के सम्मुख हो जायगा और उसे भगवत्प्रेम प्राप्त हो जायगा—यह भक्तियोग है। तात्पर्य यह है कि नाशवान् चीजको अपनी माननेसे ही यह जीव संसारका गुलाम, अपने स्वरूपसे च्युत और भगवान्‌से विमुख हुआ है। यदि वह नाशवान् चीजको अपनी न माने (जो कि अपनी नहीं है), तो संसारकी गुलामी छूट जायगी, अपने स्वरूपका बोध हो जायगा और भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी।**

है, जिसका उल्लेख '**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**' पदसे इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें हुआ है।

मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल नीचे और ऊपर सभी लोकों, योनियोंमें व्याप्त हो रहे हैं। पशु-पक्षियोंका भी अपने शरीरसे 'तादात्म्य' रहता है, अपनी सन्तानमें 'ममता' होती है और भूख लगनेपर खानेके लिये अच्छे पदार्थोंकी 'कामना' होती है। ऐसे ही देवताओंमें भी अपने दिव्य शरीरसे 'तादात्म्य', प्राप्त पदार्थोंमें 'ममता' और अप्राप्त भोगोंकी 'कामना' रहती है। इस प्रकार तादात्म्य,ममता और कामनारूप दोष किसी-न-किसी रूपमें ऊँच-नीच सभी योनियोंमें रहते हैं। परन्तु मनुष्ययोनिके सिवाय दूसरी योनियोंमें ये बाँधनेवाले नहीं होते। यद्यपि मनुष्ययोनिके सिवाय देवादि अन्य योनियोंमें भी विवेक रहता है, पर भोगोंकी अधिकता होने तथा भोग भोगनेके लिये ही उन योनियोंमें जानेके कारण उनमें विवेकका उपयोग नहीं हो पाता। इसलिये उन योनियोंमें उपर्युक्त दोषोंसे 'स्वयं' को (विवेकके द्वारा) अलग देखना सम्भव नहीं है। मनुष्ययोनि ही ऐसी है, जिसमें (विवेकके कारण) मनुष्य ऐसा अनुभव कर सकता है कि मैं (स्वरूपसे) तादात्म्य, ममता और कामनारूप दोषोंसे सर्वथा रहित हूँ।

भोगोंके परिणामपर दृष्टि रखनेकी योग्यता भी मनुष्य-शरीरमें ही है। परिणामपर दृष्टि न रखकर भोग भोगनेवाले मनुष्यको पशु कहना भी मानो पशुयोनिकी निन्दा ही करना है; क्योंकि पशु तो अपने कर्मफल भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आ रहा है, पर यह मनुष्य तो निषिद्ध भोग भोगकर पशुयोनिकी तरफ ही जा रहा है।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें संसारवृक्षका जो वर्णन किया गया है, उसका प्रयोजन क्या है—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

अस्य	= इस संसारवृक्षका (जैसा)	**न**	= न तो	**सुविरूढमूलम्**	= दृढ़ मूलोंवाले
रूपम्	= रूप (देखनेमें आता है),	**आदिः**	= आदि है,	**अश्वत्थम्**	= संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको
तथा	= वैसा	**न**	= न	**दृढेन**	= दृढ़
इह	= यहाँ (विचार करनेपर)	**अन्तः**	= अन्त है	**असङ्गशस्त्रेण**	= असंगतारूप शस्त्रके द्वारा
न, उपलभ्यते	= मिलता नहीं; (क्योंकि इसका)	**च**	= और	**छित्त्वा**	= काटकर—
		न	= न		
		सम्प्रतिष्ठा	= स्थिति ही है।		
		च	= इसलिये		
		एनम्	= इस		

व्याख्या—'**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते**'—इसी अध्यायके पहले श्लोकमें संसारवृक्षके विषयमें कहा गया है कि लोग इसको अव्यय (अविनाशी) कहते हैं; और शास्त्रोंमें भी वर्णन आता है कि सकाम-अनुष्ठान करनेसे लोक-परलोकमें विशाल भोग प्राप्त होते हैं। ऐसी बातें सुनकर मनुष्यलोक तथा स्वर्गलोकमें सुख, रमणीयता और स्थायीपन मालूम देता है। इसी कारण अज्ञानी मनुष्य काम और भोगके परायण होते हैं और 'इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है'—ऐसा उनका निश्चय हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बयालीसवाँ और सोलहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। जबतक संसारसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध है, तबतक ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि विवेकवती बुद्धिसे संसारसे अलग होकर अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके देखनेसे उसका जैसा रूप हमने अभी मान रखा है, वैसा उपलब्ध नहीं होता अर्थात् यह नाशवान् और दुःखरूप प्रतीत होता है।

'**नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा**'—किसी वस्तुके आदि, मध्य और अन्तका ज्ञान दो तरहका होता है—देशकृत और कालकृत। इस संसारका कहाँसे आरम्भ है, कहाँ मध्य है और कहाँ इसका अन्त होता है?—इस प्रकारसे संसारके 'देशकृत' आदि, मध्य, अन्तका पता नहीं; और कबसे इसका आरम्भ हुआ है, कबतक यह रहेगा और कब इसका अन्त होगा?—इस प्रकारसे संसारके 'कालकृत' आदि, मध्य, अन्तका भी पता नहीं।

मनुष्य किसी विशाल प्रदर्शनीमें तरह-तरहकी वस्तुओंको देखकर मुग्ध हुआ घूमता रहे, तो वह उस प्रदर्शनीका आदि-अन्त नहीं जान सकता। उस प्रदर्शनीसे बाहर निकलनेपर ही वह उसके आदि-अन्तको जान सकता है। इसी तरह संसारसे सम्बन्ध मानकर भोगोंकी तरफ वृत्ति रखते हुए इस संसारका आदि-अन्त कभी जाननेमें नहीं आ सकता।

मनुष्यके पास संसारके आदि-अन्तका पता लगानेके लिये जो साधन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि) हैं,वे सब संसारके ही अंश हैं। यह नियम है कि कार्य अपने कारणमें विलीन तो हो सकता है, पर उसको जान नहीं सकता। जैसे मिट्टीका घड़ा पृथ्वीको अपने भीतर नहीं ला सकता, ऐसे ही व्यष्टि इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि समष्टि संसार और उसके कार्यको अपनी जानकारीमें नहीं ला सकते। अतः संसारसे (मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे भी) अलग होनेपर ही संसारका स्वरूप ('स्वयं' के द्वारा) ठीक-ठीक जाना जा सकता है।

वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता (स्थिति) है ही नहीं। केवल उत्पत्ति और विनाशका क्रममात्र है। संसारका यह उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह ही 'स्थिति' रूपसे प्रतीत होता है। वास्तवमें देखा जाय तो उत्पत्ति भी नहीं है, केवल नाश-ही-नाश है। जिसका स्वरूप एक क्षण भी स्थायी न रहता हो, ऐसे संसारकी प्रतिष्ठा (स्थिति) कैसी? संसारसे अपना माना हुआ सम्बन्ध छोड़ते ही उसका अपने लिये अन्त हो जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप अथवा परमात्मामें स्थिति हो जाती है।

विशेष बात

इस संसारके आदि, मध्य और अन्तका पता आजतक कोई वैज्ञानिक नहीं लगा सका और न ही लगा सकता है। संसारसे सम्बन्ध रखते हुए अथवा सांसारिक भोगोंको भोगते हुए संसारके आदि, मध्य और अन्तको ढूँढ़ना चाहें, तो कोल्हूके बैलकी तरह उम्रभर घूमते रहनेपर भी कुछ हाथ आनेका नहीं।

वास्तवमें इस संसारके आदि, मध्य और अन्तका पता लगानेकी जरूरत भी नहीं है। जरूरत संसारसे अपने माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेकी ही है।

संसार अनादि-सान्त है या अनादि-अनन्त है अथवा प्रतीतिमात्र है, इत्यादि विषयोंपर दार्शनिकोंमें अनेक मतभेद हैं; परन्तु संसारके साथ हमारा सम्बन्ध असत् है, जिसका विच्छेद करना आवश्यक है—इस विषयपर सभी दार्शनिक एकमत हैं।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेका सुगम उपाय है—संसारसे प्राप्त (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, सम्पत्ति आदि) सम्पूर्ण सामग्रीको 'अपनी' और 'अपने लिये' न मानते हुए उसको संसारकी ही सेवामें लगा देना।

सांसारिक स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, सम्पत्ति, आयु, नीरोगता आदि कितने ही प्राप्त हो जायँ; यहाँतक कि संसारके समस्त भोग एक ही मनुष्यको मिल जायँ, तो भी उनसे मनुष्यको तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि जीव स्वयं अविनाशी है और सांसारिक भोग नाशवान् हैं। नाशवान्‌से अविनाशी कैसे तृप्त हो सकता है?

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्'—संसारको **'सुविरूढमूलम्'** कहनेका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य, ममता और कामनाके कारण यह संसार (प्रतिष्ठारहित होनेपर भी) दृढ़ मूलोंवाला प्रतीत हो रहा है।

व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया आदिमें राग, ममता होनेसे सांसारिक बन्धन अधिक-से-अधिक दृढ़ होता चला जाता है। जिन पदार्थों, व्यक्तियोंमें राग, ममताका घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है, उनको मनुष्य अपना स्वरूप ही मानने लग जाता है। जैसे, धनमें ममता होनेसे उसकी प्राप्तिमें मनुष्यको बड़ी प्रसन्नता होती है और 'मैं बड़ा धनवान् हूँ'—ऐसा अभिमान हो जाता है। धनके नाशसे वह अपना नाश मानने लग जाता है। लोभ बढ़नेसे धनकी प्राप्तिके लिये वह अन्याय, पाप आदि न करनेलायक काम भी कर बैठता है। फिर इतना लोभ बढ़ जाता है कि उसके भीतर यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि झूठ, कपट, बेईमानी आदिके बिना धन कमाया ही नहीं जा सकता। उसे यह विचार ही नहीं होता कि 'पापसे धन कमाकर मैं यहाँ कितने दिन ठहरूँगा? पापसे कमाया धन तो शरीरके साथ यहीं छूट जायगा; किंतु धनके लिये किये झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी आदि पाप तो मेरे साथ जायँगे*, जिससे परलोकमें मेरी कितनी दुर्गति होगी!' आदि। इतना ही नहीं, वह दूसरोंको भी प्रेरणा करने लग जाता है कि 'धन कमानेके

---

* **धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे नारी गृहद्वारि सुताः श्मशाने। देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥**

'शरीरको छोड़ते समय धन तिजोरीमें पड़ा रह जाता है; पशु जहाँ-तहाँ बँधे रह जाते हैं; स्त्री घरके दरवाजेतक ही साथ देती है; पुत्र श्मशानतक साथ देते हैं तथा शरीर चितातक ही साथ रहता है। उसके बाद परलोकके मार्गमें केवल धर्म ही जीवके साथ जाता है।'

लिये पाप करनेमें कोई खराबी नहीं; यह तो व्यापार है, इसमें झूठ बोलना, ठगना आदि सब उचित है' इत्यादि। इस दुर्भावका होना ही तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूलोंका दृढ़ होना है। इस प्रकारके दूषित भावोंके दृढ़मूल होनेसे मनुष्य वैसा ही बन जाता है (गीता—सत्रहवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

ये तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल अन्त:करणमें इतनी दृढ़तासे जमे हुए हैं कि पढ़ने, सुनने तथा विचार-विवेचन करनेपर भी सर्वथा नष्ट नहीं होते। साधक प्राय: कहा करते हैं कि सत्संग-चर्चा सुनते समय तो इन दोषोंके त्यागकी बात अच्छी और सुगम लगती है; परन्तु व्यवहारमें आनेपर ऐसा होता नहीं। इनको छोड़ना तो चाहते हैं, पर ये छूटते नहीं। इन दोषोंके न छूटनेमें खास कारण है—सांसारिक सुख लेनेकी इच्छा। साधकसे भूल यह होती है कि वह सांसारिक सुख भी लेना चाहता है और साथ ही दोषोंसे भी बचना चाहता है। जैसे लोभी व्यक्ति विषयुक्त लड्डुओंकी मिठासको भी लेना चाहे और साथ ही विषसे भी बचना चाहे! ऐसा कभी सम्भव नहीं है। संसारसे कभी किंचिन्मात्र भी सुखकी आशा न रखनेपर इसका दृढ़मूल स्वत: नष्ट हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि 'तादात्म्य, ममता और कामनाका मिटना बहुत कठिन है'—साधककी यह मान्यता ही इन दोषोंको मिटने नहीं देती। वास्तवमें तो ये स्वत: मिट रहे हैं। किसी भी मनुष्यमें ये दोष सदा नहीं रहते; उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं; किंतु अपनी मान्यताके कारण ये स्थायी दीखते हैं। अत: साधकको चाहिये कि वह इन दोषोंके मिटनेको कभी कठिन न माने।

'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'—भगवान् कहते हैं कि यद्यपि इस संसारवृक्षके अवान्तर मूल बहुत दृढ़ हैं, फिर भी इनको दृढ़ असंगतारूप शस्त्रके द्वारा काटा जा सकता है। किसी भी स्थान, व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति आदिके प्रति मनमें आकर्षण, सुख-बुद्धिका होना और उनके सम्बन्धसे अपने-आपको बड़ा तथा सुखी मानना; पदार्थोंके प्राप्त होने अथवा संग्रह होनेपर प्रसन्न होना—यही 'संग' कहलाता है। इसका न होना ही असंगता अर्थात् वैराग्य है। वैराग्यके दो प्रकार हैं—(१) साधारण वैराग्य और (२) दृढ़ वैराग्य। दृढ़ वैराग्यको उपरति अथवा 'पर वैराग्य' भी कहते हैं।

वैराग्य-सम्बन्धी विशेष बात

वैराग्यके अनेक रूप हैं, जो इस प्रकार हैं—

पहला वैराग्य धन, मकान, जमीन आदि पदार्थोंसे होता है। इन पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी अगर मनमें उनका महत्त्व बना हुआ है और 'मैं त्यागी हूँ'—ऐसा अभिमान है, तो वास्तवमें यह वैराग्य नहीं है। अन्त:करणमें जड-पदार्थोंका किंचिन्मात्र भी महत्त्व और आकर्षण न रहे—यही वैराग्य है।

दूसरा वैराग्य अपने कहलानेवाले माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, भौजाई आदि-(परिवार-)से होता है। उनकी सेवा करने या उनको सुख पहुँचानेके लिये ही उनसे अपना सम्बन्ध मानना चाहिये। अपने सुखके लिये उनसे किंचिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न मानना ही बन्धु-बान्धवोंसे वैराग्य है।

तीसरा और वास्तविक वैराग्य अपने शरीरसे होता है। अगर शरीरसे सम्बन्ध बना हुआ है तो सम्पूर्ण संसारसे सम्बन्ध बना हुआ है; क्योंकि शरीर संसारका ही बीज अथवा अंश है। शरीरसे तादात्म्य न रहना ही शरीरसे वैराग्य है।

तादात्म्य (शरीरके साथ मानी हुई एकता अर्थात् अहंता)-का नाश करनेके लिये साधकको पहले मान, प्रतिष्ठा, पूजा, धन आदिकी कामनाका त्याग करना चाहिये। इनकी कामनाका त्याग करनेपर भी (शरीरके) 'नाम' में ममता रहनेके कारण यश, कीर्ति, बड़ाई आदिकी कामना रह जाती है। इसके कारण मरनेके बाद भी अपने नामकी कीर्ति, अपना स्मारक बननेकी चाह आदि सूक्ष्म कामनाएँ रह जाती हैं। इन सब कामनाओंका नाश करना आवश्यक है। कहीं-कहीं साधकके भीतर दूसरोंकी प्रशंसा सुनकर, दूसरेकी बड़ाई देखकर ईर्ष्याका भाव जाग्रत् हो जाता है। अत: इसका भी नाश करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कामनाओंका नाश करनेके बाद शरीरमें ममता रह जाती है। यह ममताका सम्बन्ध मृत्युके बाद भी बना रहता है। इसी कारण मृत शरीरको जला देनेके बाद भी हड्डियोंको गंगाजीमें डालनेसे जीव-(जिसने शरीरमें ममता की है-)की आगे गति होती है। 'विवेक' (जड-चेतन, प्रकृति-पुरुष अथवा शरीर-शरीरीकी भिन्नताका ज्ञान) जाग्रत् होनेपर ममताका नाश हो जाता है। कामना और ममता—दोनोंका नाश होनेके बाद तादात्म्य (अहंता) नष्टप्राय हो जाता है अर्थात् बहुत सूक्ष्म रह जाता है। तादात्म्यका अत्यन्ताभाव भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होनेपर होता है।

जब मनुष्य स्वयं यह अनुभव कर लेता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर मेरा नहीं है', तब कामना, ममता और तादात्म्य—तीनों मिट जाते हैं। यही वास्तविक वैराग्य है।

जिसके भीतर दृढ़ वैराग्य है उसके अन्त:करणमें सम्पूर्ण वासनाओंका नाश हो जाता है। अपने स्वरूपसे विजातीय (जड) पदार्थ—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे किंचिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न मानकर—'सबका कल्याण हो, सब सुखी हों, सब नीरोग हों, कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दु:ख न हो'[1]—इस भावका रहना ही दृढ़ वैराग्यका लक्षण है।

'यह'-(इदम्-) रूपसे जाननेमें आनेवाले स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसहित सम्पूर्ण संसारको जाननेवाला 'मैं' (अहम्) कहलाता है। 'यह' (जाननेमें आनेवाला दृश्य) और 'मैं' (जाननेवाला द्रष्टा) कभी एक नहीं हो सकते—यह नियम है। इस प्रकार संसार और शरीर नष्ट होनेवाले हैं और मैं (स्वयं) अविनाशी है—इस विवेकका आदर करते हुए अपने-आपको संसार और शरीरसे सर्वथा अलग अनुभव करना ही असंग-शस्त्रके द्वारा संसारवृक्षका छेदन करना है। इस विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही संसार दृढ़ मूलोंवाला प्रतीत होता है।

सांसारिक वस्तुओंका अत्यन्ताभाव अर्थात् सर्वथा नाश तो नहीं हो सकता, पर उनमें रागका सर्वथा अभाव हो सकता है। अत: 'छेदन' का तात्पर्य सांसारिक वस्तुओंका नाश करना नहीं, प्रत्युत उनसे अपना राग हटा लेना है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारका अपने लिये सर्वथा अभाव हो जाता है, जिसे 'आत्यन्तिक प्रलय' भी कहते हैं। जो हमारा स्वरूप नहीं है तथा जिसके साथ हमारा वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, उसीका त्याग (छेदन) होता है। हम स्वरूपत: चेतन और अविनाशी हैं एवं संसार जड और विनाशी है; अत: संसारसे हमारा सम्बन्ध अवास्तविक और भूलसे माना हुआ है। स्वरूपसे हम संसारसे असंग ही हैं। पहलेसे ही जो असंग है, वही असंग होता है—यह नियम है। अत: संसारसे हमारी असंगता स्वत:सिद्ध है—इस वास्तविकताको दृढ़तासे मान लेना चाहिये। संसार कितना ही सुविरूढमूल क्यों न हो, उसके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे वह स्वत: कट जाता है; क्योंकि संसारके साथ अपना सम्बन्ध है नहीं, केवल माना हुआ है। अत: संसारके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे उसका छेदन हो जाता है— इसमें साधकको सन्देह नहीं करना चाहिये; चाहे (आरम्भमें) व्यवहारमें ऐसा दिखायी दे या न दे।

जीवने अपनी भूलसे शरीर-संसारसे सम्बन्ध माना था। इसलिये इसका छेदन करनेकी जिम्मेवारी भी जीवपर ही है। अत: भगवान् इसे ही छेदन करनेके लिये कह रहे हैं।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदके कुछ सुगम उपाय

(१) कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखकर संसारसे प्राप्त सामग्रीको संसारकी सेवामें ही लगा देना।

(२) सांसारिक सुख-(भोग और संग्रह-) की कामनाका सर्वथा त्याग करना।

(३) संसारके आश्रयका सर्वथा त्याग करना।

(४) शरीर-संसारसे 'मैं' और 'मेरा'-पनको बिलकुल हटा लेना।

(५) मैं भगवान्का हूँ; भगवान् मेरे हैं—इस वास्तविकतापर दृढ़तासे डटे रहना।

(६) मुझे एक परमात्माकी तरफ ही चलना है—ऐसे दृढ़ निश्चय-(व्यवसायात्मिका बुद्धि-) का होना।

(७) शास्त्रविहित अपने-अपने कर्तव्य-कर्मों-(स्वधर्म-) का तत्परतापूर्वक पालन करना[2] (गीता १८। ४५)।

(८) बचपनमें शरीर, पदार्थ, परिस्थिति, विद्या, सामर्थ्य आदि जैसे थे, वैसे अब नहीं हैं अर्थात् वे सब-के-सब बदल गये, पर मैं 'स्वयं' वही हूँ, बदला नहीं—अपने इस अनुभवको महत्त्व देना।

(९) संसारसे माने हुए सम्बन्धका सद्भाव (सत्ताभाव) मिटाना।

परिशिष्ट भाव—भगवान्ने अपने विषयमें कहा है—**'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च'** (गीता १०। २०), **'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन'** (गीता १०। ३२) और यहाँ संसारके विषयमें कहते हैं—**'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।'** तात्पर्य है कि भगवान् आदिमें भी हैं, अन्तमें भी हैं और मध्यमें भी हैं; परन्तु संसार न आदिमें है, न अन्तमें है और न मध्यमें ही है; अर्थात् संसार है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भाव:'** (गीता २। १६)। अत: एक

१-सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग् भवेत्॥

२-धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥ (मानस ३। १६। १)

भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है।

'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'—इन पदोंमें आये **'छित्त्वा'** शब्दका अर्थ काटना अथवा नाश (अभाव) करना नहीं है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कारण कि यह संसार-वृक्ष भगवान्‌की अपरा प्रकृति होनेसे अव्यय है। स्वरूप असंग है—**'असंगो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदा० ४। ३। १५)। स्वरूपमें गुणसंग नहीं है। गुणसंगसे ही जन्म-मरण होता है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। अतः स्वरूपकी असंगताका, निर्लिप्तताका, अजरता-अमरताका अनुभव करके उसमें स्थित होना ही संसार-वृक्षका छेदन करना है।

संसार रागके कारण ही दीखता है। जिस वस्तुमें राग होता है, उसी वस्तुकी सत्ता और महत्ता दीखती है। अगर राग न रहे तो संसारकी सत्ता दीखते हुए भी महत्ता नहीं रहती। अतः **'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'** पदोंका तात्पर्य है—संसारके रागको सर्वथा मिटा देना अर्थात् अपने अन्तःकरणमें परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे सम्बन्ध न मानना, सृष्टिमात्रकी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानना। वास्तवमें संसारकी सत्ता बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत उससे रागपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। सत्ता बाधक नहीं है, राग बाधक है। इसलिये अन्य दार्शनिक तो संसारको असत्, सत् आदि अनेक प्रकारसे कहते हैं, पर भगवान् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी बात कहते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे संसारका संसाररूपसे अभाव हो जाता है और वह भगवद्रूपसे दीखने लगता है—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

सम्बन्ध—संसारवृक्षका छेदन करनेके बाद साधकको क्या करना चाहिये—इसका विवेचन आगेके श्लोकमें करते हैं।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

ततः = उसके बाद
तत् = उस
पदम् = परमपद (परमात्मा)-की
परिमार्गितव्यम् = खोज करनी चाहिये।
यस्मिन् = जिसको
गताः = प्राप्त हुए मनुष्य
भूयः = फिर
न, निवर्तन्ति = लौटकर संसारमें नहीं आते
च = और
यतः = जिससे
पुराणी = अनादिकालसे चली आनेवाली
प्रवृत्तिः = (यह) सृष्टि
प्रसृता = विस्तारको प्राप्त हुई है,
तम् = उस
आद्यम् = आदि
पुरुषम् = पुरुष परमात्माके
एव = ही
प्रपद्ये = मैं शरण हूँ।

व्याख्या—**'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'**—भगवान्‌ने पूर्वश्लोकमें **'छित्त्वा'** पदसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी बात कही है। इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी खोज करनेसे पहले संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना बहुत आवश्यक है। कारण कि परमात्मा तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं, केवल संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्माके अनुभवमें बाधा लग रही है। संसारसे सम्बन्ध बना रहनेसे परमात्माकी खोज करनेमें ढिलाई आती है और जप, कीर्तन, स्वाध्याय आदि सब कुछ करनेपर भी विशेष लाभ नहीं दीखता। इसलिये साधकको पहले संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेको ही मुख्यता देनी चाहिये।

जीव परमात्माका ही अंश है। संसारसे सम्बन्ध मान लेनेके कारण ही वह अपने अंशी-(परमात्मा-) के नित्य-सम्बन्धको भूल गया है। अतः भूल मिटनेपर **'मैं भगवान्‌का ही हूँ'**—इस वास्तविकताकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। इसी बातपर भगवान् कहते हैं कि उस परमपद-(परमात्मा-) से नित्य-सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है। केवल उसकी खोज करनी है।

संसारको अपना माननेसे नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त दीखने लग जाता है और अप्राप्त संसार प्राप्त दीखने लग जाता है। इसलिये परमपद-(परमात्मा-) को **'तत्'** पदसे लक्ष्य करके भगवान् कहते हैं कि जो परमात्मा नित्यप्राप्त है, उसीकी पूरी तरह खोज करनी है।

खोज उसीकी होती है, जिसका अस्तित्व पहलेसे ही

होता है। परमात्मा अनादि और सर्वत्र परिपूर्ण हैं। अतः यहाँ खोज करनेका मतलब यह नहीं है कि किसी साधन-विशेषके द्वारा परमात्माको ढूँढ़ना है। जो संसार (शरीर, परिवार, धनादि) कभी अपना था नहीं, है नहीं, होगा नहीं उसका आश्रय न लेकर, जो परमात्मा सदासे ही अपने हैं, अपनेमें हैं और अभी हैं, उनका आश्रय लेना ही उनकी खोज करना है।

साधकको साधन-भजन करना तो बहुत आवश्यक है; क्योंकि इसके समान कोई उत्तम काम नहीं है; किंतु 'परमात्मतत्त्वको साधन-भजनके द्वारा प्राप्त कर लेंगे'—ऐसा मानना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान बढ़ता है, जो परमात्मप्राप्तिमें बाधक है। परमात्मा कृपासे मिलते हैं। उनको किसी साधनसे खरीदा नहीं जा सकता। साधनसे केवल असाधन-(संसारसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध अथवा परमात्मासे विमुखता-) का नाश होता है, जो अपने द्वारा ही किया हुआ है। अतः साधनका महत्त्व असाधनको मिटानेमें ही समझना चाहिये। असाधनको मिटानेकी सच्ची लगन हो, तो असाधनको मिटानेका बल भी परमात्माकी कृपासे मिलता है।

साधकोंके अन्तःकरणमें प्रायः एक दृढ़ धारणा बनी हुई है कि जैसे उद्योग करनेसे संसारके पदार्थ प्राप्त होते हैं, ऐसे ही साधन करते-करते (अन्तःकरण शुद्ध होनेपर) ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है; क्योंकि परमात्मप्राप्ति किसी भी कर्म (साधन, तपस्यादि)-का फल नहीं है, चाहे वह कर्म कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो। कारण कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कर्मका भी आरम्भ और अन्त होता है; अतः उस कर्मका फल नित्य कैसे होगा? कर्मका फल भी आदि और अन्तवाला होता है। इसलिये नित्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति किसी कर्मसे नहीं होती। वास्तवमें त्याग, तपस्या आदिसे जडता-(संसार और शरीर-) से सम्बन्ध-विच्छेद ही होता है, जो भूलसे माना हुआ है। सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जो तत्त्व सर्वत्र है, सदा है, नित्यप्राप्त है, उसकी अनुभूति हो जाती है—उसकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है।

अर्जुन भी पूरा उपदेश सुननेके बाद अन्तमें कहते हैं—**'स्मृतिर्लब्धा'** (१८। ७३) 'मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है।' यद्यपि विस्मृति भी अनादि है, तथापि वह अन्त होनेवाली है। संसारकी स्मृति और परमात्माकी स्मृतिमें बहुत अन्तर है। संसारकी स्मृतिके बाद विस्मृतिका होना सम्भव है; जैसे—पक्षाघात (लकवा) होनेपर पढ़ी हुई विद्याकी विस्मृति होना सम्भव है। इसके विपरीत परमात्माकी स्मृति एक बार हो जानेपर फिर कभी विस्मृति नहीं होती (गीता—दूसरे अध्यायका बहत्तरवाँ और चौथे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक); जैसे—पक्षाघात होनेपर अपनी सत्ता ('मैं हूँ')-की विस्मृति नहीं होती। कारण यह है कि संसारके साथ कभी सम्बन्ध होता नहीं और परमात्मासे कभी सम्बन्ध छूटता नहीं।

शरीर, संसारसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—इस तत्त्वका अनुभव करना ही संसारवृक्षका छेदन करना है और मैं परमात्माका अंश हूँ—इस वास्तविकतामें हरदम स्थित रहना ही परमात्माकी खोज करना है। वास्तवमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है।

'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः'—जिसे पहले श्लोकमें **'ऊर्ध्वमूलम्'** पदसे तथा इस श्लोकमें **'आद्यं पुरुषम्'** पदोंसे कहा गया है; और आगे छठे श्लोकमें जिसका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसी परमात्मतत्त्वका निर्देश यहाँ **'यस्मिन्'** पदसे किया गया है।

जैसे जलकी बूँद समुद्रमें मिल जानेके बाद पुनः समुद्रसे अलग नहीं हो सकती, ऐसे ही परमात्माका अंश (जीवात्मा) परमात्माको प्राप्त हो जानेके बाद फिर परमात्मासे अलग नहीं हो सकता अर्थात् पुनः लौटकर संसारमें नहीं आ सकता। ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण प्रकृति अथवा उसके कार्य गुणोंका संग ही है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। अतः जब साधक असंगशस्त्रके द्वारा गुणोंके संगका सर्वथा छेदन (असत्‌के सम्बन्धका सर्वथा त्याग) कर देता है, तब उसका पुनः कहीं जन्म लेनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'—सम्पूर्ण सृष्टिके रचयिता एक परमात्मा ही हैं। वे ही इस संसारके आश्रय और प्रकाशक हैं। मनुष्य भ्रमवश सांसारिक पदार्थोंमें सुखोंको देखकर संसारकी तरफ आकर्षित हो जाता है और संसारके रचयिता-(परमात्मा-)को भूल जाता है। परमात्माका रचा हुआ संसार भी जब इतना प्रिय लगता है, तब (संसारके रचयिता) परमात्मा कितने प्रिय लगने चाहिये! यद्यपि रची हुई वस्तुमें आकर्षणका होना एक प्रकारसे रचयिताका ही आकर्षण है (गीता—दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक), तथापि मनुष्य अज्ञानवश

उस आकर्षणमें परमात्माको कारण न मानकर संसारको ही कारण मान लेता है और उसीमें फँस जाता है।

प्राणिमात्रका यह स्वभाव है कि वह उसीका आश्रय लेना चाहता है और उसीकी प्राप्तिमें जीवन लगा देना चाहता है, जिसको वह सबसे बढ़कर मानता है अथवा जिससे उसे कुछ प्राप्त होनेकी आशा रहती है। जैसे संसारमें लोग रुपयोंको प्राप्त करनेमें और उनका संग्रह करनेमें बड़ी तत्परतासे लगते हैं, क्योंकि उनको रुपयोंसे सम्पूर्ण मनचाही वस्तुओंके मिलनेकी आशा रहती है। वे सोचते हैं—'शरीरके निर्वाहकी वस्तुएँ तो रुपयोंसे मिलती ही हैं, अनेक तरहके भोग, ऐश-आरामके साधन भी रुपयोंसे प्राप्त होते हैं। इसलिये रुपये मिलनेपर मैं सुखी हो जाऊँगा तथा लोग मुझे धनी मानकर मेरा बहुत मान-आदर करेंगे।' इस प्रकार रुपयोंको सर्वोपरि मान लेनेपर वे लोभके कारण अन्याय, पापकी भी परवाह नहीं करते। यहाँतक कि वे शरीरके आरामकी भी उपेक्षा करके रुपये कमाने तथा संग्रह करनेमें ही तत्पर रहते हैं। उनकी दृष्टिमें रुपयोंसे बढ़कर कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार जब साधकको यह ज्ञात हो जाता है कि परमात्मासे बढ़कर कुछ भी नहीं है और उनकी प्राप्तिमें ऐसा आनन्द है, जहाँ संसारके सब सुख फीके पड़ जाते हैं (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), तब वह परमात्माको ही प्राप्त करनेके लिये तत्परतासे लग जाता है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'—जिसका कोई आदि नहीं है; किन्तु जो सबका आदि है (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा श्लोक), उस आदिपुरुष परमात्माका ही आश्रय (सहारा) लेना चाहिये। परमात्माके सिवाय अन्य कोई भी आश्रय टिकनेवाला नहीं है। अन्यका आश्रय वास्तवमें आश्रय ही नहीं है, प्रत्युत वह आश्रय लेनेवालेका ही नाश (पतन) करनेवाला है; जैसे—समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिके लिये मगरमच्छका आश्रय! इस मृत्यु-संसार-सागरके सभी आश्रय मगरमच्छके आश्रयकी तरह ही हैं। अतः मनुष्यको विनाशी संसारका आश्रय न लेकर अविनाशी परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये।

जब साधक अपना पूरा बल लगानेपर भी दोषोंको दूर करनेमें सफल नहीं होता, तब वह अपने बलसे स्वतः निराश हो जाता है। ठीक ऐसे समयपर यदि वह (अपने बलसे सर्वथा निराश होकर) एकमात्र भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, तो भगवान्‌की कृपाशक्तिसे उसके दोष निश्चितरूपसे नष्ट हो जाते हैं और भगवत्प्राप्ति हो जाती है*। इसलिये साधकको भगवत्प्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। भगवान्‌की शरण लेकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाना चाहिये। भगवान्‌के शरण होनेपर उनकी कृपासे विघ्नोंका नाश और भगवत्प्राप्ति—दोनोंकी सिद्धि हो जाती है (गीता—अठारहवें अध्यायका अट्ठावनवाँ और बासठवाँ श्लोक)।

साधकको जैसे संसारके संगका त्याग करना है, ऐसे ही 'असंगता' के संगका भी त्याग करना है। कारण कि असंग होनेके बाद भी साधकमें 'मैं असंग हूँ'—ऐसा सूक्ष्म अहंभाव (परिच्छिन्नता) रह सकता है, जो परमात्माके शरण होनेपर ही सुगमतापूर्वक मिट सकता है। परमात्माके शरण होनेका तात्पर्य है—अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् (मैं-पन), धन, परिवार, मकान आदि सब-के-सब पदार्थोंको परमात्माके अर्पण कर देना अर्थात् उन पदार्थोंसे अपनापन सर्वथा हटा लेना!

शरणागत भक्तमें दो भाव रहते हैं—'मैं भगवान्‌का हूँ' और 'भगवान् मेरे हैं।' इन दोनोंमें भी 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌के लिये हूँ'—यह भाव ज्यादा उत्तम है। कारण कि 'भगवान् मेरे हैं और मेरे लिये हैं'—इस भावमें अपने लिये भगवान्‌से कुछ चाह रहती है; अतः साधक भगवान्‌से अपनी मनचाही कराना चाहेगा। परन्तु 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌के लिये हूँ'—इस भावमें केवल भगवान्‌की मनचाही होगी। इस प्रकार साधकमें अपने लिये कुछ भी करने और पानेका भाव न रहना ही वास्तवमें अनन्य शरणागति है। इस अनन्य शरणागतिसे उसका भगवान्‌के प्रति वह अनिर्वचनीय और अलौकिक प्रेम जाग्रत् हो जाता है जो क्षति, पूर्ति और निवृत्तिसे रहित है, जिसमें अपने प्रियके मिलनेपर भी तृप्ति नहीं होती और वियोगमें भी अभाव नहीं होता; जो प्रतिक्षण बढ़ता रहता है; जिसमें असीम-अपार आनन्द है, जिससे आनन्ददाता भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है। तत्त्वज्ञान होनेके बाद जो प्रेम प्राप्त होता है, वही प्रेम अनन्य शरणागतिसे भी प्राप्त हो जाता है।

---

* **जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम॥**
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो आये आधे नाम।
सुने री मैंने निरबल के बल राम॥

'एव' पदका तात्पर्य है कि दूसरे सब आश्रयोंका त्याग करके एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय ले। यही भाव गीतामें **'मामेव ये प्रपद्यन्ते'** (७। १४), **'तमेव शरणं गच्छ'** (१८। ६२) और **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६) पदोंमें भी आया है।

'प्रपद्ये' कहनेका अर्थ है—'मैं शरण हूँ।' यहाँ शंका हो सकती है कि भगवान् कैसे कहते हैं कि 'मैं शरण हूँ'? क्या भगवान् भी किसीके शरण होते हैं? यदि शरण होते हैं तो किसके शरण होते हैं? इसका समाधान यह है कि भगवान् किसीके शरण नहीं होते; क्योंकि वे सर्वोपरि हैं। केवल लोकशिक्षाके लिये भगवान् साधककी भाषामें बोलकर साधकको यह बताते हैं कि वह 'मैं शरण हूँ' ऐसी भावना करे।

'परमात्मा है' और 'मैं (स्वयं) हूँ'—इन दोनोंमें 'है' के रूपमें एक ही परमात्मसत्ता विद्यमान है। 'मैं' के साथ होनेसे ही 'है' का 'हूँ' में परिवर्तन हुआ है। यदि 'मैं'-रूप एकदेशीय स्थितिको सर्वदेशीय 'है' में विलीन कर दें, तो 'है' ही रह जायगा, 'हूँ' नहीं रहेगा। जबतक 'स्वयं'के साथ बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर आदिका सम्बन्ध मानते हुए 'हूँ' बना हुआ है, तबतक व्यभिचार-दोष होनेके कारण अनन्य शरणागति नहीं है।

परमात्माका अंश होनेके कारण जीव वास्तवमें सदा परमात्माके ही आश्रित रहता है; परन्तु परमात्मासे विमुख होनेके बाद (आश्रय लेनेका स्वभाव न छूटनेके कारण) वह भूलसे नाशवान् संसारका आश्रय लेने लगता है, जो कभी टिकता नहीं। अतः वह दुःख पाता रहता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचानकर एकमात्र परमात्माके शरण हो जाय।

परिशिष्ट भाव—संसार नित्यनिवृत्त है, इसलिये उसका त्याग होता है—**'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'** और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं, इसलिये उनकी खोज होती है—**'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'**। निर्माण और खोज—दोनोंमें बहुत अन्तर है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जिसका पहलेसे अभाव होता है और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान होती है। परमात्मा नित्यप्राप्त और स्वतःसिद्ध हैं, इसलिये उनकी खोज होती है, निर्माण नहीं होता। जब साधक परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करता है, तब खोज होती है। खोज करनेके दो प्रकार हैं—एक तो कण्ठी कहीं रखकर भूल जायँ तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं और दूसरा, कण्ठी गलेमें ही हो, पर वहम हो जाय कि कण्ठी खो गयी तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं। परमात्माकी खोज गलेमें पड़ी कण्ठीकी खोजके समान है। वास्तवमें परमात्मा खोया नहीं है। संसारमें अपने रागके कारण परमात्माकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। उधर दृष्टि न जाना ही उसका खोना है। तात्पर्य है कि जिस परमात्माको हम चाहते हैं और जिसकी हम खोज करते हैं, वह परमात्मा नित्य-निरन्तर अपनेमें ही मौजूद है! परन्तु संसार अपनेमें नहीं है। जो अपनेमें है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिल जाता है। परन्तु जो अपनेमें नहीं है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिलता नहीं; क्योंकि वास्तवमें उसकी सत्ता ही नहीं है।

परमात्मा कभी अप्राप्त हुए ही नहीं, अप्राप्त हैं ही नहीं, अप्राप्त होना सम्भव ही नहीं। उनकी अप्राप्ति नहीं हुई है, प्रत्युत विस्मृति हुई है। यह विस्मृति अनादि और सान्त (अन्त होनेवाली) है। जैसे दो व्यक्ति आपसमें एक-दूसरेको पहचानते नहीं तो यह अपरिचय कबसे है—इसको कोई बता नहीं सकता। हम संस्कृत भाषाको नहीं जानते तो यह अनजानपना कबसे है—इसको हम बता नहीं सकते। तात्पर्य है कि व्यक्तियोंकी सत्ता, हमारी सत्ता, संस्कृत भाषाकी सत्ता तो पहलेसे ही है, पर उनका परिचय पहलेसे नहीं है। ऐसे ही विस्मृतिके समय भी परमात्माकी सत्ता ज्यों-की-त्यों है। परमात्मा तो नित्यप्राप्त हैं, पर उनकी विस्मृति है अर्थात् उधर दृष्टि नहीं है, उनसे विमुखता है, उनसे अपरिचय है, उनकी अप्राप्तिका वहम है! परमात्माकी खोज करनेपर यह विस्मृति मिट जाती है और उनकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माकी खोज करनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते जाना—**'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।'** छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानकर उससे सम्बन्ध न जोड़ना, उसको अस्वीकार करना। अतः संसारके त्यागमें ही परमात्माकी खोज निहित है। श्रीमद्भागवतमें आया है—**'अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः'** (१०।१४।२८)।

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भावरूप स्वरूपमें स्थिति हो जाती है और साधक मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी कामना तो मिट जाती है, पर प्रेमकी भूख नहीं मिटती। ब्रह्मसूत्रमें आया है—**'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्'** (१।३।२)। 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है।' तात्पर्य है कि स्वरूप जिसका अंश है, उस अंशी (परमात्मा)-के प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। स्वरूपमें

निजानन्द (अखण्ड आनन्द) है और अंशीमें परमानन्द (अनन्त आनन्द) है। जो मुक्तिमें नहीं अटकता, उसमें सन्तोष नहीं करता, उसको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८।५४)। इसीलिये भगवान्ने संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करने अर्थात् मुक्त होनेके बाद परमात्माकी खोज करके उनकी शरण ग्रहण करनेकी बात कही है।

सम्बन्ध—जो महापुरुष आदिपुरुष परमात्माके शरण होकर परमपदको प्राप्त होते हैं, उनके लक्षणोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

निर्मानमोहाः = जो मान और मोहसे रहित हो गये हैं,
जितसङ्गदोषाः = जिन्होंने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको जीत लिया है,
अध्यात्मनित्याः = जो नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगे हुए हैं,
विनिवृत्तकामाः = जो (अपनी दृष्टिसे) सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो गये हैं,
सुखदुःखसञ्ज्ञैः = जो सुख-दुःख नामवाले
द्वन्द्वैः = द्वन्द्वोंसे
विमुक्ताः = मुक्त हो गये हैं, (ऐसे)
अमूढाः = (ऊँची स्थितिवाले) मोहरहित साधक भक्त
तत् = उस
अव्ययम् = अविनाशी
पदम् = परमपद (परमात्मा)-को
गच्छन्ति = प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—'**निर्मानमोहाः**'—शरीरमें मैं-मेरापन होनेसे ही मान, आदर-सत्कारकी इच्छा होती है। शरीरसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही मनुष्य शरीरके मान-आदरको भूलसे स्वयंका मान-आदर मान लेता है और फँस जाता है। जिन भक्तोंका केवल भगवान्में ही अपनापन होता है, उनका शरीरमें मैं-मेरापन नहीं रहता; अतः वे शरीरके मान-आदरसे प्रसन्न नहीं होते। एकमात्र भगवान्के शरण होनेपर उनका शरीरसे मोह नहीं रहता, फिर मान-आदरकी इच्छा उनमें हो ही कैसे सकती है?

केवल भगवान्का ही उद्देश्य, ध्येय होनेसे और केवल भगवान्के ही शरण, परायण रहनेसे वे भक्त संसारसे विमुख हो जाते हैं। अतः उनमें संसारका मोह नहीं रहता।

'**जितसंगदोषाः**'—भगवान्में आकर्षण होना 'प्रेम' और संसारमें आकर्षण होना 'आसक्ति' कहलाती है। ममता, स्पृहा, वासना, आशा आदि दोष आसक्तिके कारण ही होते हैं। केवल भगवान्के ही परायण होनेके कारण भक्तोंकी सांसारिक भोगोंमें आसक्ति नहीं रहती। आसक्ति न रहनेके कारण भक्त आसक्तिसे होनेवाले ममता आदि दोषोंको जीत लेते हैं।

आसक्ति प्राप्त और अप्राप्त—दोनोंकी होती है; किन्तु कामना अप्राप्तकी ही होती है। इसलिये इस श्लोकमें '**विनिवृत्तकामाः**' पद अलगसे आया है।

'**अध्यात्मनित्याः**'—केवल भगवान्के ही शरण रहनेसे भक्तोंकी अहंता बदल जाती है। मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं, मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है—इस प्रकार अहंता बदलनेसे उनकी स्थिति निरन्तर भगवान्में ही रहती है*। कारण कि मनुष्यकी जैसी अहंता होती है, उसकी स्थिति वहाँ ही होती है। जैसे मनुष्य जन्मके अनुसार अपनेको ब्राह्मण मानता है, तो उसकी ब्राह्मणपनकी मान्यता नित्य-निरन्तर रहती है अर्थात् वह नित्य-निरन्तर ब्राह्मणपनमें स्थित रहता है, चाहे याद करे या न करे। ऐसे ही जो भक्त अपना सम्बन्ध केवल भगवान्के साथ ही मानते हैं, वे नित्य-निरन्तर भगवान्में ही स्थित रहते हैं।

'**विनिवृत्तकामाः**'—संसारका ध्येय, लक्ष्य रहनेसे ही संसारकी वस्तु, परिस्थिति आदिकी कामना होती है अर्थात् 'अमुक वस्तु, व्यक्ति आदि मुझे मिल जाय'—इस तरह

*** यद्यपि मात्र प्राणियोंकी स्थिति निरन्तर उसी सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सर्वेश्वर भगवान्में ही रहती है, तथापि वे भूलसे अपनी स्थिति भगवान्में न मानकर संसारमें मान लेते हैं; जैसे—मैं अमुक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, नाम, जाति आदिका हूँ। अपनी इस विपरीत मान्यताके कारण ही वे बँध जाते हैं और बार-बार जन्मते-मरते हैं।**

अप्राप्तकी कामना होती है। परन्तु जिन भक्तोंका सांसारिक वस्तु आदिको प्राप्त करनेका उद्देश्य है ही नहीं, वे कामनाओंसे सर्वथा रहित हो जाते हैं।

शरीरमें ममता होनेसे कामना पैदा हो जाती है कि मेरा शरीर स्वस्थ रहे, बीमार न हो जाय; शरीर हृष्टपुष्ट रहे, कमजोर न हो जाय। इसीसे सांसारिक धन, पदार्थ, मकान आदिकी अनेक कामनाएँ पैदा होती हैं। शरीर आदिमें ममता न रहनेसे भक्तोंकी कामनाएँ मिट जाती हैं।

भक्तोंका यह अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम् (मैं-पन)—ये सभी भगवान्‌के ही हैं। भगवान्‌के सिवाय उनका अपना कुछ होता ही नहीं। ऐसे भक्तोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ विशेष और नि:शेषरूपसे नष्ट हो जाती हैं। इसलिये उन्हें यहाँ '**विनिवृत्तकामाः**' कहा गया है।

विशेष बात

वास्तवमें शरीर आदिका वियोग तो प्रतिक्षण हो ही रहा है। साधकको प्रतिक्षण होनेवाले इस वियोगको स्वीकारमात्र करना है। इन वियुक्त होनेवाले पदार्थोंसे संयोग माननेसे ही कामनाएँ पैदा होती हैं। जन्मसे लेकर आजतक निरन्तर हमारी प्राणशक्ति नष्ट हो रही है और शरीरसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। जब एक दिन शरीर मर जायगा, तब लोग कहेंगे कि आज यह मर गया। वास्तवमें देखा जाय तो शरीर आज नहीं मरा है, प्रत्युत प्रतिक्षण मरनेवाले शरीरका मरना आज समाप्त हुआ है! अत: कामनाओंसे निवृत्त होनेके लिये साधकको चाहिये कि वह प्रतिक्षण वियुक्त होनेवाले शरीरादि पदार्थोंको स्थिर मानकर उनसे कभी अपना सम्बन्ध न माने।

वास्तवमें कामनाओंकी पूर्ति कभी होती ही नहीं। जबतक एक कामना पूरी होती हुई दीखती है, तबतक दूसरी अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन कामनाओंमेंसे जब किसी एक कामनाकी पूर्ति होनेपर मनुष्यको सुख प्रतीत होता है, तब वह दूसरी कामनाओंकी पूर्तिके लिये चेष्टा करने लग जाता है। परन्तु यह नियम है कि चाहे कितने ही भोग-पदार्थ मिल जायँ, पर कामनाओंकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। कामनाओंकी पूर्तिके सुखभोगसे नयी-नयी कामनाएँ पैदा होती रहती हैं—'**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई**'। संसारके सम्पूर्ण व्यक्ति, पदार्थ एक साथ मिलकर एक व्यक्तिकी भी कामनाओंकी पूर्ति नहीं कर सकते, फिर सीमित पदार्थोंकी कामना करके सुखकी आशा रखना महान् भूल ही है। कामनाओंके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिल सकती—'**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**' (गीता २। ७०)। अत: कामनाओंकी निवृत्ति ही परम-शान्तिका उपाय है। इसलिये कामनाओंकी निवृत्ति ही करनी चाहिये, न कि पूर्तिकी चेष्टा।

सांसारिक भोग-पदार्थोंके मिलनेसे सुख होता है—यह मान्यता कर लेनेसे ही कामना पैदा होती है। यह कामना जितनी तेज होगी, उस पदार्थके मिलनेमें उतना ही सुख होगा। वास्तवमें कामनाकी पूर्तिसे सुख नहीं होता। जब मनुष्य किसी पदार्थके अभावका दु:ख मानकर कामना करके उस पदार्थका मनसे सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब उस पदार्थके मिलनेपर अर्थात् उस पदार्थका मनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (अभावकी मान्यताका दु:ख मिट जानेपर) सुख प्रतीत होता है। यदि वह पहलेसे ही कामना न करे तो पदार्थके मिलनेपर सुख और न मिलनेपर दु:ख होगा ही नहीं।

मूलमें कामनाकी सत्ता है ही नहीं क्योंकि जब काम्यपदार्थकी ही स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, तब उसकी कामना कैसे रह सकती है? इसलिये सभी साधक निष्काम होनेमें समर्थ हैं।

'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैः**'—वे भक्त सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाते हैं। कारण कि उनके सामने अनुकूल-प्रतिकूल जो भी परिस्थिति आती है, उसको वे भगवान्‌का ही दिया हुआ प्रसाद मानते हैं। उनकी दृष्टि केवल भगवत्कृपापर ही रहती है, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिपर नहीं। अत: 'जो कुछ होता है, वह हमारे प्यारे प्रभुका ही मंगलमय विधान है'—ऐसा भाव होनेसे उनके द्वन्द्व सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं।

भगवान् सबके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९)। उनके द्वारा अपने अंश-(जीवात्मा-) का कभी अहित हो ही नहीं सकता। उनके मंगलमय विधानसे जो भी परिस्थिति हमारे सामने आती है, वह हमारे परमहितके लिये ही होती है। इसलिये भक्त भगवान्‌के विधानमें परम प्रसन्न रहते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान होनेपर भी 'ऐसी परिस्थिति क्यों आ गयी? ऐसी परिस्थिति आती रहे' आदि विकार, द्वन्द्व उनमें नहीं होते।

विशेष बात

द्वन्द्व (राग-द्वेषादि) ही विषमता है, जिनसे सब प्रकारके पाप पैदा होते हैं। अत: विषमताका त्याग करनेके लिये साधकको नाशवान् पदार्थोंके माने हुए महत्त्वको अन्त:करणसे निकाल देना चाहिये। द्वन्द्वके दो भेद हैं—

(१) **स्थूल (व्यावहारिक) द्वन्द्व**—सुख-दु:ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि स्थूल द्वन्द्व हैं। प्राणी सुख, अनुकूलता आदिकी इच्छा तो करते हैं, पर दु:ख, प्रतिकूलता आदिकी इच्छा नहीं करते। यह स्थूल द्वन्द्व मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभीमें देखनेमें आता है।

(२) **सूक्ष्म (आध्यात्मिक) द्वन्द्व**—यद्यपि अपनी उपासना और उपास्यको सर्वश्रेष्ठ मानकर उसको आदर (महत्त्व) देना आवश्यक एवं लाभप्रद है, तथापि दूसरोंकी उपासना और उपास्यको नीचा बताकर उसका खण्डन, निन्दा आदि करना 'सूक्ष्म द्वन्द्व' है जो साधकके लिये हानिकारक है।

वास्तवमें सभी उपासनाओंका एकमात्र उद्‌देश्य संसार-(जडता-) से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करना है। साधकोंकी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताके अनुसार उपासनाओंमें भिन्नता होती है, जिसका होना उचित भी है। अत: साधकको उपासनाओंकी भिन्नतापर दृष्टि न रखकर 'उद्‌देश्य'की अभिन्नतापर ही दृष्टि रखनी चाहिये। दूसरेकी उपासनाको न देखकर अपनी उपासनामें तत्परतापूर्वक लगे रहनेसे उपासना-सम्बन्धी 'सूक्ष्म द्वन्द्व' स्वत: मिट जाता है।

गीतामें 'स्थूल द्वन्द्व' को '**मोहकलिलम्**' (२। ५२) और 'सूक्ष्म द्वन्द्व' को '**श्रुतिविप्रतिपन्ना**'* (२। ५३) पदोंसे कहा गया है। साधकके अन्त:करणमें जबतक संसार-(जडता-) का सम्बन्ध या महत्त्व रहता है, तभीतक ये द्वन्द्व रहते हैं। 'स्थूल द्वन्द्व' संसारको विशेषरूपसे सत्ता और महत्ता देता है। अत: 'स्थूल द्वन्द्व' को मिटाना बहुत जरूरी है।

जबतक मूढ़ता रहती है, तभीतक द्वन्द्व रहते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो अपनेमें द्वन्द्व मानना ही मूढ़ता है। राग-द्वेष, सुख-दु:ख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व अन्त:करणमें होते हैं, स्वयं-(अपने स्वरूप-) में नहीं। अन्त:करण जड है और 'स्वयं' चेतन एवं जडका प्रकाशक है। अत: अन्त:करणसे 'स्वयं' का सम्बन्ध है ही नहीं। केवल मान्यतासे ही यह सम्बन्ध प्रतीत होता है।

यह सभीका अनुभव है कि सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंके आनेपर हम तो वही रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि सुख आनेपर हम और होते हैं तथा दु:ख आनेपर और। परन्तु मूढ़तावश इन सुख-दु:खादिसे मिलकर सुखी और दु:खी होने लगते हैं। यदि हम इन आने-जानेवालोंसे न मिलकर अपने स्वरूपमें स्थित (स्वस्थ) रहें, तो सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंसे स्वत: रहित हो जायँगे। इसलिये साधकको बदलनेवाली अर्थात् आने-जानेवाली अवस्थाओं-(सुख-दु:ख, हर्ष-शोकादि-) पर दृष्टि न रखकर कभी न बदलनेवाले अपने स्वरूपपर ही दृष्टि रखनी चाहिये, जो सब अवस्थाओंसे अतीत है।

गीतामें भगवान्‌ने राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त होनेका बड़ा सुगम उपाय बताया है कि अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राग-द्वेष छिपे हुए हैं। उनसे बचनेके लिये साधकको केवल इतनी सावधानी रखनी है कि वह इनके वशमें न हो (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष दीखनेपर भी साधक इनके वशीभूत होकर तदनुसार क्रिया न करे; क्योंकि क्रिया करनेसे ही ये पुष्ट होते हैं।

'गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्'—आने-जानेवाले पदार्थोंको प्राप्त करनेकी इच्छा या चेष्टा करना तथा उनसे सुखी-दु:खी होना 'मूढ़ता' है। वास्तवमें संसार निरन्तर परिवर्तनशील है और परमात्मा नित्य रहनेवाला है। परमात्माकी सत्तासे ही संसारकी सत्ता दीखती है। परन्तु अविनाशी परमात्मा और विनाशी संसारकी सत्ताको मिलाकर 'संसार है' ऐसा मान लेना 'मूढ़ता' है।

जिस प्रकार मूढ़ (अज्ञानी) मनुष्योंको 'संसार है' ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है, उसी प्रकार अमूढ़ (मोहरहित) भक्तोंको 'परमात्मा है' ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है। संसार जैसा दिखायी देता है, वैसा ही है—इस प्रकार संसारको स्थायी मान लेना 'मूढ़ता' (मोह) है। जिनकी यह मूढ़ता चली गयी, उन भक्तोंको यहाँ '**अमूढाः**' कहा गया है। मूढ़ता चले जानेके बाद सुख-दु:खका असर नहीं पड़ता। जिसपर सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वोंका असर नहीं पड़ता, वह

*** 'श्रुतिविप्रतिपन्न' का अर्थ है—शास्त्रोंमें ज्ञान, कर्म और भक्ति; द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्त; विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश आदि उपास्यदेव; सकाम और निष्कामभाव इत्यादि भिन्न-भिन्न विचारोंको देखकर किसी एक विचारपर अपना निश्चय या निर्णय नहीं कर सकना अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाना।**

मुक्तिका पात्र होता है (गीता—दूसरे अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। इसीलिये इस श्लोकमें भगवान्‌ने दो बार मूढ़ताके त्यागकी बात (**'निर्मानमोहाः'** और **'अमूढाः'**) कहकर मूढ़ताके त्यागपर विशेष जोर दिया है।

मूढ़ता अर्थात् मोह दो प्रकारका होता है—(१) परमात्माकी ओर न लगकर संसारमें ही लग जाना और (२) परमात्माको ठीक तरहसे न जानना। इस श्लोकमें पहले **'निर्मानमोहाः'** पदसे संसारका मोह चले जानेकी बात कही है और यहाँ **'अमूढाः'*** पदसे परमात्माको ठीक तरहसे जान लेनेकी बात कही है।

जिस परमात्माको इसी अध्यायके पहले श्लोकमें **'ऊर्ध्वमूलम्'** पदसे कहा गया तथा जिस परमपदरूप परमात्माकी खोज करनेके लिये चौथे श्लोकमें प्रेरणा की गयी और आगे छठे श्लोकमें जिसकी महिमाका वर्णन किया गया है, उसी परमात्मरूप परमपदको यहाँ **'अव्ययम् पदम्'** कहा है। जो ऊँची स्थितिके साधक भक्त मान, मोह, ममता आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हो जाते हैं, वे उस अविनाशी परमपदको अवश्य प्राप्त होते हैं, जिसको प्राप्त कर लेनेपर मनुष्य लौटकर नाशवान् संसारमें नहीं आता।

वास्तवमें तो मनुष्यमात्र उस पदको स्वतः प्राप्त है, पर उधर दृष्टि न रहनेसे उसको वैसा अनुभव नहीं होता। इसे एक उदाहरणसे समझना चाहिये। हम रेलगाड़ीसे यात्रा कर रहे हैं। हमारी गाड़ी एक स्टेशनपर रुक जाती है। हमारी गाड़ीके पास (दूसरी पटरीपर) खड़ी हुई दूसरी गाड़ी सहसा चलने लगती है। उस समय (उस चलती हुई गाड़ीपर दृष्टि रहनेसे) भ्रमसे हमें अपनी गाड़ी चलती हुई दीखने लगती है। परन्तु जब हम वहाँसे अपनी दृष्टि हटाकर स्टेशनकी तरफ देखते हैं, तब पता लगता है कि हमारी गाड़ी तो ज्यों-की-त्यों (अपने स्थानपर) खड़ी हुई है। इसी प्रकार संसारसे सम्बन्ध होनेपर मनुष्य अपनेको संसारकी तरह क्रियाशील (आने-जानेवाला) देखने लगता है। पर जब वह संसारसे दृष्टि हटाकर अपने स्वरूपको देखता है, तो उसको पता लगता है कि मैं स्वयं तो ज्यों-का-त्यों ही हूँ।

परिशिष्ट भाव—ज्ञानयोग और कर्मयोगके अन्तर्गत भक्ति नहीं आती, पर भक्तिके अन्तर्गत ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों आ जाते हैं (गीता—दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक)। इसलिये यहाँ **'अध्यात्मनित्याः'** पदसे ज्ञानयोग और **'विनिवृत्तकामाः'** पदसे कर्मयोग ले सकते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित जिस अविनाशी पदको भक्तलोग प्राप्त होते हैं, वह अविनाशी पद कैसा है—इसका भगवान् विवेचन करते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

तत्	= उस (परमपद)-को	**पावकः**	= अग्नि ही	**न, निवर्तन्ते**	= लौटकर (संसारमें) नहीं आते,
न	= न	**भासयते**	= प्रकाशित कर सकती है (और)	**तत्**	= वही
सूर्यः	= सूर्य,	**यत्**	= जिसको	**मम**	= मेरा
न	= न	**गत्वा**	= प्राप्त होकर (जीव)	**परमम्**	= परम
शशाङ्कः	= चन्द्र (और)			**धाम**	= धाम है।
न	= न				

व्याख्या—[छठा श्लोक पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेवाला है। इन श्लोकोंमें भगवान् यह बताते हैं कि वह अविनाशी पद मेरा ही धाम है, जो मेरेसे अभिन्न है और जीव भी मेरा अंश होनेके कारण मेरेसे अभिन्न है। अतः जीवकी भी उस धाम-(अविनाशी पद-) से अभिन्नता है अर्थात् वह उस धामको नित्यप्राप्त है।

*** जैसे निर्गुण तत्त्वको जाननेवाला अमूढ़ (मोहरहित) हो जाता है (पाँचवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक), ऐसे ही सगुण-साकारको दृढ़तापूर्वक माननेवाला भी अमूढ़ हो जाता है (दसवें अध्यायका तीसरा और पन्द्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।**

यद्यपि इस छठे श्लोकका बारहवें श्लोकसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेके लिये इसको यहाँ दिया गया है। इस श्लोकमें भगवान्‌ने दो खास बातें बतायी हैं—(१) उस धामको सूर्यादि प्रकाशित नहीं कर सकते (जिसका कारणरूपसे विवेचन भगवान्‌ने इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें किया है) और (२) उस धामको प्राप्त हुए जीव पुनः लौटकर संसारमें नहीं आते (जिसका कारणरूपसे विवेचन भगवान्‌ने इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें किया है)।]

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः'—दृश्य जगत्‌में सूर्यके समान तेजस्वी, प्रकाशस्वरूप कोई चीज नहीं है। वह सूर्य भी उस परमधामको प्रकाशित करनेमें असमर्थ है; फिर सूर्यसे प्रकाशित होनेवाले चन्द्र और अग्नि उसे प्रकाशित कर ही कैसे सकते हैं! इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान् स्पष्ट कहेंगे कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मेरा ही तेज है। मेरेसे ही प्रकाश पाकर ये भौतिक जगत्‌को प्रकाशित करते हैं। अतः जो उस परमात्मतत्त्वसे प्रकाश पाते हैं, उनके द्वारा परमात्मस्वरूप परमधाम कैसे प्रकाशित हो सकता है?* तात्पर्य यह है कि परमात्मतत्त्व चेतन है और सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि जड (प्राकृत) हैं। ये सूर्य, चन्द्र और अग्नि क्रमशः नेत्र, मन और वाणीको प्रकाशित करते हैं। ये तीनों (नेत्र, मन और वाणी) भी जड ही हैं। इसलिये नेत्रोंसे उस परमात्मतत्त्वको देखा नहीं जा सकता, मनसे उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता और वाणीसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि जड तत्त्वसे चेतन परमात्मतत्त्वकी अनुभूति नहीं हो सकती। वह चेतन (प्रकाशक) तत्त्व इन सभी प्रकाशित पदार्थोंमें सदा परिपूर्ण है। उस तत्त्वमें अपनी प्रकाशकताका अभिमान नहीं है।

चेतन जीवात्मा भी परमात्माका ही अंश होनेके कारण 'स्वयं प्रकाशस्वरूप' है; अतः उसको भी जड पदार्थ (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि) प्रकाशित नहीं कर सकते। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि जड-पदार्थोंका उपयोग (भगवान्‌के नाते दूसरोंकी सेवा करके) केवल जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें ही है।

एक बात ध्यान देनेकी है कि यहाँ सूर्यको 'भगवान्' या 'देव' की दृष्टिसे न देखकर केवल प्रकाश करनेवाले पदार्थोंकी दृष्टिसे देखा गया है। तात्पर्य है कि सूर्य तैजस-तत्त्वोंमें श्रेष्ठ है; अतः यहाँ केवल सूर्यकी बात नहीं, प्रत्युत चन्द्र आदि सभी तैजस-तत्त्वोंकी बात चल रही है। जैसे, दसवें अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि 'वृष्णिवंशियोंमें मैं वासुदेव हूँ', तो वहाँ 'वासुदेव'का भगवान्‌के रूपसे वर्णन नहीं, प्रत्युत वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुषके रूपसे ही वर्णन है।

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—जीव परमात्माका अंश है। वह जबतक अपने अंशी परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उसका आवागमन नहीं मिट सकता। जैसे नदियोंके जलको अपने अंशी समुद्रसे मिलनेपर ही स्थिरता मिलती है, ऐसे ही जीवको अपने अंशी परमात्मासे मिलनेपर ही वास्तविक, स्थायी शान्ति मिलती है। वास्तवमें जीव परमात्मासे अभिन्न ही है, पर संसारके (माने हुए) संगके कारण उसको ऊँच-नीच योनियोंमें जाना पड़ता है।

यहाँ 'परमधाम' शब्द परमात्माका धाम और परमात्मा—दोनोंका ही वाचक है। यह परमधाम प्रकाशस्वरूप है। जैसे सूर्य अपने स्थान-विशेषपर भी स्थित है और प्रकाशरूपसे सब जगह भी स्थित है अर्थात् सूर्य और उसका प्रकाश परस्पर अभिन्न हैं, ऐसे ही परमधाम और सर्वव्यापी परमात्मा भी परस्पर अभिन्न हैं।

भक्तोंकी भिन्न-भिन्न मान्यताओंके कारण ब्रह्मलोक, साकेत धाम, गोलोक धाम, देवीद्वीप, शिवलोक आदि सब एक ही परमधामके भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह परमधाम चेतन, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और परमात्मस्वरूप है।

यह अविनाशी परमपद आत्मरूपसे सबमें समानरूपसे अनुस्यूत (व्याप्त) है। अतः स्वरूपसे हम उस परमपदमें

---

*(१) **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।**
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठोपनिषद् २। २। १५; मुण्डकोपनिषद् २। २। १०; श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १४)

'उस परमात्माको सूर्य प्रकाशित नहीं करता, चन्द्र और तारे प्रकाशित नहीं करते, विद्युत् भी प्रकाशित नहीं करती, फिर यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित करेगी? यह सम्पूर्ण जगत् उस परमात्माके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है।'

(२) 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।' (मानस १। ११७। ४)

स्थित हैं ही; परन्तु जडता-(शरीर आदि-) से तादात्म्य, ममता और कामनाके कारण हमें उसकी प्राप्ति अथवा उसमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव नहीं हो रहा है।

परिशिष्ट भाव—हम भगवान्‌के अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये भगवान्‌का जो धाम है, वही हमारा धाम है। इसी कारण उस धामकी प्राप्ति होनेपर फिर लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता। जबतक हम अपने उस धाममें नहीं जायँगे, तबतक हम मुसाफिरकी तरह अनेक योनियोंमें और अनेक लोकोंमें घूमते ही रहेंगे, कहीं भी ठहर नहीं सकेंगे। अगर हम ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोकमें भी चले जायँ तो वहाँसे भी लौटकर आना पड़ेगा—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। कारण कि यह सम्पूर्ण संसार (मात्र ब्रह्माण्ड) परदेश है, स्वदेश नहीं। यह पराया घर है, अपना घर नहीं। विभिन्न योनियोंमें और लोकोंमें हमारा घूमना, भटकना तभी बन्द होगा, जब हम अपने असली घरमें पहुँच जायँगे।

परमपदको प्राप्त होकर फिर लौटकर संसारमें न आनेकी बात गीतामें तीन जगह कही गयी है—

१-यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। (८। २१)

२-ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। (१५। ४)

३-यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। (१५। ६)

भगवान्‌ने ज्ञानमार्गमें तो अपुनरावृत्तिकी प्राप्ति बतायी है—'**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**' (गीता ५। १७), पर भक्तिमार्गमें अपने धामकी प्राप्ति बतायी है—यह भक्तिकी विशेषता है! भगवान्‌के धाममें प्रेमका विशेष आस्वादन होता है।

परमपदको न तो आधिभौतिक प्रकाश (सूर्य, चन्द्र आदि) प्रकाशित कर सकता है और न आधिदैविक प्रकाश (नेत्र, मन, बुद्धि, वाणी आदि) ही प्रकाशित कर सकता है। कारण कि यह स्वयंप्रकाश है। इसमें प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद नहीं है।

'**गत्वा**' में गति है, प्रवृत्ति नहीं; क्योंकि अंशकी अंशीकी ओर गति होती है, प्रवृत्ति नहीं। प्रवृत्ति तो परतः होती है, पर गति स्वतः होती है।

गति और प्रवृत्ति—गति स्वतः-स्वाभाविक होती है और उसमें परिश्रम (प्रयत्न), उद्योग तथा कर्तृत्व नहीं होता। परन्तु प्रवृत्ति अस्वाभाविक और श्रमसाध्य, उद्योगसाध्य तथा कर्तृत्वसहित होती है। प्रवृत्ति तो अहंकारयुक्त होनेपर होती है, पर गति अहंकाररहित होनेपर होती है। इसलिये गति 'स्व' की तरफ होती है और प्रवृत्ति 'पर' की तरफ होती है। गति परमात्माकी तरफ होती है और प्रवृत्ति संसारकी तरफ होती है। गति चिन्मयताकी तरफ होती है और प्रवृत्ति जड़ताकी तरफ होती है। गति असीमकी तरफ ले जाती है और प्रवृत्ति सीमितकी तरफ ले जाती है। गति स्वाधीन करती है और प्रवृत्ति पराधीन करती है। भोग तथा संग्रहका सुख चाहनेपर प्रवृत्ति होती है और दूसरेको सुख देनेपर गति होती है।

गतिका उद्‌गम-स्थान 'सत्' है और प्रवृत्तिका उद्‌गम-स्थान 'असत्' है। जैसे, गंगाका उद्‌गम-स्थान गंगोत्री है। अगर गंगाको रोककर एक ऐसा बाँध बना दिया जाय, जो गंगोत्रीसे भी ऊँचा हो तो गंगाका जल स्वतः अपने उद्‌गम-स्थान गंगोत्रीकी तरफ जायगा। इस प्रकार गंगाका अपने उद्‌गम-स्थानकी ओर जाना 'गति' है। अतः गति दो तरहसे होती है—संसार (भोग और संग्रह)-की तरफ जाना बन्द करनेसे अर्थात् उससे विमुख होनेसे अथवा अपने उद्देश्य परमात्माकी तरफ जानेसे अर्थात् उनके सम्मुख होनेसे। नित्यप्राप्त परमात्माकी जो अप्राप्ति मानी है, उसका मिटना ही परमात्माकी तरफ गति होना है। गतिमें परमात्मासे मानी हुई दूरी मिटती है और वास्तविक एकता प्रकट होती है।

साधकको ऐसा अनुभव होता है कि कई वर्ष पहले जैसे भाव तथा आचरण थे, वैसे अब नहीं रहे, प्रत्युत पहलेसे अधिक श्रेष्ठ हो गये तो यह साधककी गति हुई है। साधनावस्थामें जो गति होती है, उसमें अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर मुक्त होनेके बाद प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी तरफ जो गति होती है, उसमें अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता अर्थात् अहम्‌का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसका कारण यह है कि जीव परमात्मासे जितना दूर होता है, उतना ही उसमें अहंकार रहता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहंकार रहता है, जो मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर अन्य दार्शनिकोंसे मतभेद करनेवाला होता है। परमात्मासे अभिन्नता होनेपर अहंकार सर्वथा मिट जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अपने परमधामका वर्णन करते हुए यह बताया कि उसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते। उसके विवेचनके रूपमें अपने अंश जीवात्माको भी (परमधामकी ही तरह) अपनेसे अभिन्न बताते हुए, जीवसे क्या भूल हो रही है कि जिससे उसको नित्यप्राप्त परमात्मस्वरूप परमधामका अनुभव नहीं हो रहा है—इसका हेतुसहित वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

जीवलोके	= इस संसारमें	**एव**	= ही	**मनःषष्ठानि**	= मन और पाँचों
जीवभूतः	= जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं)	**सनातनः**	= सनातन	**इन्द्रियाणि**	= इन्द्रियोंको
मम	= मेरा	**अंशः**	= अंश है; (परन्तु वह)	**कर्षति**	= आकर्षित करता है (अपना मान लेता है)।
		प्रकृतिस्थानि	= प्रकृतिमें स्थित		

व्याख्या—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'**—जिनके साथ जीवकी तात्त्विक अथवा स्वरूपकी एकता नहीं है, ऐसे प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमात्रका नाम 'लोक' है। तीन लोक, चौदह भुवनोंमें जीव जितनी योनियोंमें शरीर धारण करता है, उन सम्पूर्ण लोकों तथा योनियोंको **'जीवलोके'** पदके अन्तर्गत समझना चाहिये।

आत्मा परमात्माका अंश है; परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदिके साथ अपनी एकता मानकर वह 'जीव' हो गया है—**'जीवभूतः।'** उसका यह जीवपना बनावटी है, वास्तविक नहीं। नाटकमें कोई पात्र बननेकी तरह ही यह आत्मा जीवलोकमें 'जीव' बनता है।

सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि इस सम्पूर्ण जगत्‌को मेरी 'जीवभूता' परा प्रकृतिने धारण कर रखा है अर्थात् अपरा प्रकृति-(संसार-) से वास्तविक सम्बन्ध न होनेपर भी जीवने उससे अपना सम्बन्ध मान रखा है।

भगवान् जीवके प्रति कितनी आत्मीयता रखते हैं कि उसको अपना ही मानते हैं—**'ममैवांशः।'** मानते ही नहीं, प्रत्युत जानते भी हैं। उनकी यह आत्मीयता महान् हितकारी, अखण्ड रहनेवाली और स्वतःसिद्ध है।

यहाँ भगवान् यह वास्तविकता प्रकट करते हैं कि जीव केवल मेरा ही अंश है; इसमें प्रकृतिका किंचिन्मात्र भी अंश नहीं है। जैसे सिंहका बच्चा भेड़ोंमें मिलकर अपनेको भेड़ मान ले, ऐसे ही जीव शरीरादि जड पदार्थोंके साथ मिलकर अपने असली चेतनस्वरूपको भूल जाता है। अतः इस भूलको मिटाकर उसे अपनेको सदा सर्वथा चेतनस्वरूप ही अनुभव करना चाहिये। सिंहका बच्चा भेड़ोंके साथ मिलकर भी भेड़ नहीं हो जाता। जैसे कोई दूसरा सिंह आकर उसे बोध करा दे कि 'देख! तेरी और मेरी आकृति, स्वभाव, जाति, गर्जना आदि सब एक समान हैं; अतः निश्चितरूपसे तू भेड़ नहीं, प्रत्युत मेरे-जैसा ही सिंह है।' ऐसे ही भगवान् यहाँ **'मम एव'** पदोंसे जीवको बोध कराते हैं कि हे जीव! तू मेरा ही अंश है। प्रकृतिके साथ तेरा सम्बन्ध कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं।

भगवत्प्राप्तिके सभी साधनोंमें 'अहंता' (मैं-पन) और 'ममता'-(मेरा-पन-) का परिवर्तन-रूप साधन बहुत सुगम और श्रेष्ठ है। अहंता और ममता—दोनोंमें साधककी जैसी मान्यता होती है, उसके अनुसार उसका भाव तथा क्रिया भी स्वतः होती है। साधककी 'अहंता' यह होनी चाहिये कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ' और 'ममता' यह होनी चाहिये कि 'भगवान् ही मेरे हैं।'

यह सबका अनुभव है कि हम अपनेको जिस वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मानते हैं, उसीके अनुसार हमारा जीवन बनता है। पर यह मान्यता (जैसे-मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ आदि) केवल (नाटकके स्वाँगकी तरह) कर्तव्य-पालनके लिये है; क्योंकि यह सदा रहनेवाली नहीं है। परन्तु 'मैं भगवान्‌का हूँ' यह वास्तविकता सदा रहनेवाली है। 'मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ' आदि भाव कभी हमसे ऐसा नहीं कहते कि 'तुम ब्राह्मण हो' या 'तुम साधु हो।' इसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, जमीन, मकान आदि जिन पदार्थोंको हम भूलसे अपना मान रहे हैं, वे हमें कभी भी ऐसा नहीं कहते कि तुम हमारे हो, पर सम्पूर्ण सृष्टिके रचयिता परमात्मा स्पष्ट घोषणा करते हैं कि जीव मेरा ही है!

विचार करना चाहिये कि शरीरादि पदार्थोंको हम अपने साथ लाये नहीं, इच्छानुसार उनमें परिवर्तन कर सकते नहीं, इच्छानुसार उनको अपने पास स्थिर रख सकते नहीं, हम भी उनके साथ सदा रह सकते नहीं, उनको अपने साथ ले जा सकते नहीं, फिर भी उनको अपना मानते हैं—यह हमारी कितनी बड़ी भूल है!

बचपनमें हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर जैसे थे, वैसे अब नहीं हैं, सब-के-सब बदल गये हैं, फिर भी हम 'मैं जो बचपनमें था, वही अब हूँ' ऐसा मानते हैं। कारण यही है कि शरीरादिमें परिवर्तन होनेपर भी हमारेमें परिवर्तन नहीं हुआ। इस प्रकार शरीरादिमें हमें स्पष्ट परिवर्तन दीखता है। जिसको परिवर्तन दीखता है, वह स्वयं परिवर्तनरहित होता ही है। अतः संसारके पदार्थ, व्यक्ति हमारे साथी नहीं हैं।

'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा भाव रखना अपने-आपको भगवान्‌में लगाना है। साधकोंसे भूल यही होती है कि वे अपने-आपको भगवान्‌में न लगाकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेकी कोशिश करते हैं। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस वास्तविकताको भूलकर 'मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ' आदि भी मानते रहें और मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाते रहें तो यह दुविधा कभी मिटेगी नहीं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी मन-बुद्धि जैसे भगवान्‌में लगने चाहिये, वैसे लगेंगे नहीं। भगवान्‌ने भी इस अध्यायके चौथे श्लोकमें 'मैं उस परमात्माके शरण हूँ' पदोंसे अपने-आपको परमात्मामें लगानेकी बात ही कही है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं कि पहले भगवान्‌का होकर फिर नाम-जप आदि साधन करें तो अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई स्थिति आज अभी सुधर सकती है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌में केवल मन-बुद्धि लगानेकी अपेक्षा अपने-आपको भगवान्‌में लगाना श्रेष्ठ है। अपने-आपको भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि स्वतः सुगमतापूर्वक भगवान्‌में लग जाते हैं। नाटकका पात्र हजारों दर्शकोंके सामने यह कहता है कि 'मैं रावणका बेटा मेघनाद हूँ' और मेघनादकी तरह ही वह बाहरी सब क्रियाएँ करता है। परन्तु उसके भीतर यह भाव हरदम रहता है कि यह तो स्वाँग है; वास्तवमें मैं मेघनाद हूँ ही नहीं। इसी तरह साधकोंको भी नाटकके स्वाँगकी तरह इस संसाररूपी नाट्यशालामें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हुए भीतरसे 'मैं तो भगवान्‌का हूँ' ऐसा भाव हरदम जाग्रत् रखना चाहिये।

जीव सदासे ही भगवान्‌का है—'**सनातनः**।' भगवान्‌ने न तो कभी जीवका त्याग ही किया, न कभी उससे विमुख ही हुए। जीव भी भगवान्‌का त्याग नहीं कर सकता। भगवान्‌के द्वारा मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके वह भगवान्‌से विमुख हुआ है। जिस प्रकार सोनेका गहना तत्त्वतः सोनेसे अलग नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीव भी तत्त्वतः परमात्मासे कभी अलग नहीं हो सकता।

बुद्धिमान् कहलानेवाले मनुष्यकी यह बहुत बड़ी भूल है कि वह अपने अंशी भगवान्‌से विमुख हो रहा है। वह इधर खयाल ही नहीं करता कि भगवान् इतने सुहृद् (दयालु और प्रेमी) हैं कि हमारे न चाहनेपर भी हमें चाहते हैं, न जाननेपर भी हमें जानते हैं। वे कितने उदार, दयालु और प्रेमी हैं—इसका वर्णन भाषा, भाव, बुद्धि आदिके द्वारा हो ही नहीं सकता। ऐसे सुहृद् भगवान्‌को छोड़कर अन्य नाशवान् जड पदार्थोंको अपना मानना बुद्धिमानी नहीं, प्रत्युत महान् मूर्खता है।

जब मनुष्य भगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्तव्यका पालन करता है, तब वे उसकी इतनी उन्नति कर देते हैं कि जीवन सफल हो जाता है और जन्म-मरणरूप बन्धन सदाके लिये मिट जाता है। जब मनुष्य भूलसे कोई निषिद्ध आचरण (पाप) कर बैठता है, तब वे दुःखोंको भेजकर उसको चेताते हैं, पुराने पापोंको भुगताकर उसको शुद्ध करते हैं और नये पापोंमें प्रवृत्तिसे रोकते हैं।

जीव कहीं भी क्यों न हो, नरकमें हो अथवा स्वर्गमें, मनुष्ययोनिमें हो अथवा पशुयोनिमें, भगवान् उसको अपना ही अंश मानते हैं। यह उनकी कितनी अहैतुकी कृपा, उदारता और महत्ता है! जीवके पतनको देखकर भगवान् दुःखी होकर कहते हैं कि मेरे पास आनेका उसका पूरा अधिकार था, पर वह मेरेको प्राप्त किये बिना **('माम् अप्राप्य')** नरकोंमें जा रहा है (गीता—सोलहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)।

मनुष्य चाहे किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, भगवान् उसे वहाँ स्थिर नहीं रहने देते; उसे अपनी ओर खींचते ही रहते हैं। जब हमारी सामान्य स्थितिमें कुछ भी परिवर्तन (सुख-दुःख, आदर-निरादर आदि) हो, तब यह मानना चाहिये कि भगवान् हमें विशेषरूपसे याद करके नयी

परिस्थिति पैदा कर रहे हैं; हमें अपनी ओर खींच रहे हैं। ऐसा मानकर साधक प्रत्येक परिस्थितिमें विशेष भगवत्-कृपाको देखकर मस्त रहे और भगवान्‌को कभी भूले नहीं।

अंशीको प्राप्त करनेमें अंशको कठिनाई और देरी नहीं लगती। कठिनाई और देरी इसलिये लगती है कि अंशने अपने अंशीसे विमुखता मानकर उन शरीरादिको अपना मान रखा है, जो अपने नहीं हैं। अतः भगवान्‌के सम्मुख होते ही उनकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। सम्मुख होना जीवका काम है; क्योंकि जीव ही भगवान्‌से विमुख हुआ है। भगवान् तो जीवको अपना मानते ही हैं; जीव भगवान्‌को अपना मान ले—यही सम्मुखता है।

मनुष्यसे यह बड़ी भारी भूल हो रही है कि जो व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति अभी नहीं है अथवा जिसका मिलना निश्चित भी नहीं है और जो मिलनेपर भी सदा नहीं रहेगी—उसकी प्राप्तिमें वह अपना पूर्ण पुरुषार्थ और उन्नति मानता है। यह मनुष्यका अपने साथ बड़ा भारी धोखा है! वास्तवमें जो नित्यप्राप्त और अपना है, उस परमात्माको प्राप्त करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है, शूरवीरता है। हम धन, सम्पत्ति आदि सांसारिक पदार्थ कितने ही क्यों न प्राप्त कर लें, पर अन्तमें या तो वे नहीं रहेंगे अथवा हम नहीं रहेंगे। अन्तमें 'नहीं' ही शेष रहेगा। वास्तवमें जो सदा 'है', उस-(अविनाशी परमात्मा-)को प्राप्त कर लेनेमें ही शूरवीरता है। जो 'नहीं' है, उसको प्राप्त करनेमें कोई शूरवीरता नहीं है।

जीव जितना ही नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देता है, उतना ही वह पतनकी तरफ जाता है और जितना ही अविनाशी परमात्माको महत्त्व देता है, उतना ही वह ऊँचा उठता है। कारण कि जीव परमात्माका ही अंश है।

नाशवान् सांसारिक पदार्थोंको प्राप्त करके मनुष्य कभी भी बड़ा नहीं हो सकता। केवल बड़े होनेका वहम या धोखा हो जाता है और वास्तवमें असली बड़प्पन-(परमात्मप्राप्ति)-से वंचित हो जाता है। नाशवान् पदार्थोंके कारण माना गया बड़प्पन कभी टिकता नहीं और परमात्माके कारण होनेवाला बड़प्पन कभी मिटता नहीं! इसलिये जीव जिसका अंश है, उस सर्वोपरि परमात्माको प्राप्त करनेसे ही वह बड़ा होता है। इतना बड़ा होता है कि देवतालोग भी उसका आदर करते हैं और कामना करते हैं कि वह हमारे लोकमें आये। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् भी उसके अधीन हो जाते हैं!

'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'—भगवान्‌ने जिस प्रकार इसी श्लोकके पूर्वार्धमें जीवको अपनेमें स्थित न कहकर उसको अपना अंश बताया है, उसी प्रकार श्लोकके उत्तरार्धमें मन तथा इन्द्रियोंको प्रकृतिका अंश न कहकर उनको प्रकृतिमें स्थित बताया है। तात्पर्य है कि भगवान्‌का अंश जीव सदा भगवान्‌में ही स्थित है और प्रकृतिमें स्थित मन तथा इन्द्रियाँ प्रकृतिके ही अंश हैं। मन और इन्द्रियोंको अपना मानना, उनसे अपना सम्बन्ध मानना ही उनको आकर्षित करना है।

यहाँ बुद्धिका अन्तर्भाव 'मन' शब्दमें (जो अन्तः-करणका उपलक्षण है)और पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव 'इन्द्रिय' शब्दमें मान लेना चाहिये। उपर्युक्त पदोंमें भगवान् कहते हैं कि मेरा अंश जीव मेरेमें स्थित रहता हुआ भी भूलसे अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिमें मान लेता है। जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि प्रकृतिका अंश होनेसे कभी प्रकृतिसे पृथक् नहीं होते, ऐसे ही जीव भी मेरा अंश होनेसे कभी मेरेसे पृथक् होता नहीं, हो सकता नहीं। परन्तु यह जीव मेरेसे विमुख होकर मुझे भूल गया है।

यहाँ मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका नाम लेनेका तात्पर्य यह है कि इन छहोंसे सम्बन्ध जोड़कर ही जीव बँधता है। अतः साधकको चाहिये कि वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको संसारके अर्पण कर दे अर्थात् संसारकी सेवामें लगा दे और अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर दे।

विशेष बात

(१)

मनुष्य भूलसे शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई आदि नाशवान् वस्तुओंको अपनी और अपने लिये मानकर दुःखी होता है। इससे भी नीची बात यह है कि इस सामग्रीके भोग और संग्रहको लेकर वह अपनेको बड़ा मानने लगता है; जबकि वास्तवमें इनको अपना मानते ही इनका गुलाम हो जाता है। हमें पता लगे या न लगे, हम जिन पदार्थोंकी आवश्यकता समझते हैं, जिनमें कोई विशेषता या महत्त्व देखते हैं या जिनकी हम गरज रखते हैं, वे (धन, विद्या आदि) पदार्थ हमसे बड़े और हम उनसे तुच्छ हो ही गये। पदार्थोंके मिलनेमें जो अपना महत्त्व समझता है, वह वास्तवमें तुच्छ ही है, चाहे उसे पदार्थ मिलें या न मिलें।

भगवान्‌का दास होनेपर भगवान् कहते हैं—**'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'**! परंतु जिनके हम दास बने हुए हैं, वे धनादि जड पदार्थ कभी नहीं कहते—**'लोभी मेरे मुकुटमणि'**! वे तो केवल हमें अपना दास ही बनाते हैं। वास्तवमें भगवान्‌को अपना जानकर उनके शरण हो जानेसे ही मनुष्य बड़ा बनता है, ऊँचा उठता है। इतना ही नहीं; भगवान् ऐसे भक्तको अपनेसे भी बड़ा मान लेते हैं और कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

हे द्विज! मैं भक्तोंके पराधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। भक्तजन मेरेको अत्यन्त प्यारे हैं। मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है। कोई भी सांसारिक व्यक्ति, पदार्थ क्या हमें इतनी बड़ाई दे सकता है?

यह जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके अंश शरीरादिको अपना मानकर स्वयं अपना अपमान करता है और अपनेको नीचे गिराता है। अगर मनुष्य इन शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सांसारिक पदार्थोंका दास न बने, तो वह भगवान्‌का भी इष्ट हो जाय—**'इष्टोऽसि मे दृढमिति'** (गीता १८। ६४)। जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया है, उनको भगवान् अपना प्रिय कहते हैं (गीता—बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक)। परंतु जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया है; किंतु जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंको तो वे अपना 'अत्यन्त प्रिय' कहते हैं— **'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः'** (गीता १२। २०)। ऐसे परम दयालु भगवान्‌को, जो साधकोंको 'अत्यन्त प्रिय' और सिद्ध भक्तोंको केवल 'प्रिय' कहते हैं, मनुष्य अपना नहीं मानता—यह उसका कितना प्रमाद है!

(२)

संसारका एक छोटा-सा अंश शरीर है और परमात्माका अंश स्वयं (जीवात्मा) है। भूल यह होती है कि परमात्माका अंश संसारके अंशके साथ मिलकर संसार और परमात्मा—दोनोंको अपने अनुकूल बनाना चाहता है! साधकका काम है—इस भूलको मिटाना। इसके लिये वह शरीरको तो संसारके अनुकूल बना दे और स्वयं परमात्माके अनुकूल बन जाय। तात्पर्य है कि शरीरको संसारपर छोड़ दे कि जैसी संसारकी मरजी हो, वैसे रखे; और अपनेको परमात्मापर छोड़ दे कि जैसी परमात्माकी मरजी हो, वैसे रखे।

संसारकी चीज संसारको दे दे और परमात्माकी चीज परमात्माको दे दे—यह ईमानदारी है। इस ईमानदारीका नाम ही 'मुक्ति' है। जिसकी चीज है, उसको न दे; संसारकी चीज भी ले ले और परमात्माकी चीज भी ले ले—यह बेईमानी है। इस बेईमानीका नाम ही 'बन्धन' है।

संसारकी चीज संसारपर और परमात्माकी चीज परमात्मापर छोड़कर निश्चिन्त हो जाय। अपनी कोई कामना न रखे। न जीनेकी कामना रखे, न मरनेकी। भगवान् ऐसा कर देते तो ठीक रहता; भगवान् वर्षा कर देते तो ठीक रहता; गरमी ज्यादा पड़ रही है, थोड़ी कम कर देते तो अच्छा था; बाढ़ आ गयी, वर्षा कम करते तो ठीक रहता—इस तरह मनुष्य परमात्माको भी अपने अनुकूल बनाना चाहता है और संसारको भी। इस बातको छोड़कर अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर दे और भगवान्‌से कह दे कि हे नाथ! आप मेरेको पृथ्वीपर रखें या स्वर्गमें रखें अथवा नरकोंमें रखें; बालक रखें या जवान रखें अथवा बूढ़ा रखें; अपमानित रखें या सम्मानित रखें; सुखी रखें या दुःखी रखें; जैसी परिस्थितिमें रखना चाहें, वैसे रखें, पर मैं आपको भूलूँ नहीं।

मनुष्य जिस घरको अपना मानता है, जिस कुटुम्बको अपना मानता है, जिन रुपयोंको अपना मानता है, उनकी ही चिन्ता उसको होती है। संसारमें लाखों-करोड़ों घर हैं, अरबों आदमी हैं, अनगिनत रुपये हैं, पर उनकी चिन्ता नहीं होती; क्योंकि उनको वह अपना नहीं मानता। जिनको अपना नहीं मानता, उनसे तो मुक्त है ही। अतः ज्यादा मुक्ति तो हो चुकी है, थोड़ी-सी ही मुक्ति बाकी है!

विचार करना चाहिये कि जिन थोड़ी-सी चीजोंको हम अपनी मानते हैं, वे कौन-सी सदा साथ रहनेवाली हैं! चीजें तो रहेंगी नहीं, पर बन्धन (उनका सम्बन्ध) रह जायगा, जो जन्म-जन्मान्तरतक साथ रहेगा। इसलिये साधकको चाहिये कि वह या तो शरीरको संसारके अर्पण कर दे, जो कर्मयोग है; चाहे अपनेको शरीर-संसारसे सर्वथा अलग कर ले, जो ज्ञानयोग है; और चाहे अपनेको भगवान्‌के अर्पण कर दे, जो भक्तियोग है। इन तीनोंमेंसे कोई भी साधन अपना ले, तीनोंका फल एक ही होगा।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान्‌ने जिसको अपना अंश कहा है, उसीको सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अपनी 'परा प्रकृति' कहा है। इसलिये दोनों ही जगह 'जीवभूत' (जीव बना हुआ) शब्द आया है—**'जीवभूतः', 'जीवभूताम्'**। परा और अपरा—दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ हैं (गीता—सातवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। जबसे पराकी दृष्टि भगवान्‌से हटकर अपराकी तरफ चली गयी, तबसे परा जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गयी। इसी बातको सातवें अध्यायमें **'ययेदं धार्यते जगत्'** पदोंसे और यहाँ **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥'** पदोंसे कहा गया है।

यद्यपि अपरा भी भगवान्‌की है, तथापि उसका स्वभाव अलग (परिवर्तनशील) है। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको अपरासे अतीत बताया है—**'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्'** (गीता १५। १८)। परन्तु परा और भगवान् एक स्वभाववाले (अपरिवर्तनशील) हैं। इसलिये **'ममैवांशः'** पदमें **'एव'** कहनेका तात्पर्य है कि जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण होता है, ऐसे जीवमें मेरा और प्रकृतिके अंशका मिश्रण (संयोग) नहीं है, प्रत्युत यह केवल मेरा अंश है। अतः इसका सम्बन्ध केवल मेरे साथ है, प्रकृतिके साथ नहीं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध तो यह खुद जोड़ता है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥'**

अपरा प्रकृति परमात्माकी है, पर जीवने उसको अपना मान लिया और उससे सुख लेने लग गया, तभी वह बन्धनमें पड़ा है। अपनी न होनेके कारण ही न वस्तुएँ ठहरती हैं, न सुख ठहरता है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही अनर्थका कारण है। जीव शरीरको अपनी तरफ खींचता है **(कर्षति)** अर्थात् अपना मानता है, पर जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको अपना मानता ही नहीं। यही जीवकी मूल भूल है।

जीव ब्रह्म (निर्गुण)-का अंश नहीं है, प्रत्युत ईश्वर (सगुण)-का अंश है—**'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'** (मानस ७। ११७। १)। कारण कि ब्रह्म चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसमें अंश-अंशीभाव हो सकता ही नहीं। जीवकी ब्रह्मसे एकता (साधर्म्य) है अर्थात् अनेक रूपसे जो जीव है, वही एक रूपसे ब्रह्म है। शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे वह जीव है और शरीरके साथ सम्बन्ध न होनेसे वह ब्रह्म है। अतः वास्तवमें जीव और ब्रह्म—दोनों ही समग्र भगवान्‌के अंश हैं। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आधार) बताया है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (१४। २७) और ब्रह्मको अपने ही समग्र रूपका एक अंग बताया है—**'ते ब्रह्म तद्विदुः.......'** (७। २९-३०)।

मन और इन्द्रियाँ जिसके अंश हैं, उसीमें रहते हैं—**'प्रकृतिस्थानि'**। इससे जीवको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि मैं भी जिसका अंश हूँ, उसीमें निरन्तर रहना चाहिये, उसीके साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। यह सम्बन्ध स्वयंको ही जोड़ना पड़ेगा, दूसरा नहीं जोड़ेगा। कारण कि स्वयंने ही जगत्‌से सम्बन्ध जोड़ा है और स्वयं ही परमात्मासे विमुख हुआ है। जगत्‌के सम्मुख होने (सम्बन्ध जोड़ने)-में जगत् कारण नहीं है और परमात्मासे विमुख होनेमें परमात्मा कारण नहीं हैं, प्रत्युत दोनोंमें स्वयं ही कारण है। परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वतन्त्र है और इसी स्वतन्त्रताका उसने दुरुपयोग किया है। इसलिये इसका सदुपयोग स्वयंको ही करना पड़ेगा—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६। ५)।

प्रकृतिके साथ मन और इन्द्रियोंका नित्य और वास्तविक सम्बन्ध है, पर मन और इन्द्रियोंके साथ स्वयं (आत्मा)-का अनित्य और माना हुआ सम्बन्ध है। अनित्य सम्बन्ध कभी स्थायी नहीं रहता, प्रत्युत बदलता और मिटता रहता है। स्वयंका नित्य सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो कभी बदलता और मिटता नहीं। परन्तु अनित्य सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेसे उस नित्य सम्बन्धसे विमुखता हो जाती है, जिससे उसका अनुभव नहीं होता।

'ममैवांशो जीवलोके' पदोंसे यह भाव निकलता है कि हम तो प्रभुको अपना मानते हैं, पर प्रभु हमें अपना जानते हैं! जब जीव भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब वह भी प्रभुको अपना जान लेता है—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७। १४)।

जीव भगवान्‌का सनातन अंश है; अतः भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् उनको अपना मानना ही इसका वास्तविक पुरुषार्थ है। शरीरसे होनेवाले पुरुषार्थमें तो क्रिया मुख्य है, जो केवल संसारके लिये ही होती है; क्योंकि शरीर संसारका अंश है। परन्तु स्वयंसे होनेवाले पुरुषार्थमें भाव मुख्य है। इसलिये बुराईरहित होना, असंग होना, भगवान्‌को अपना मानना—ये स्वयंके पुरुषार्थ हैं। बुराईरहित होनेसे मनुष्य संसारके लिये उपयोगी हो जाता है।

शरीर-संसारसे असंग होनेसे अपने लिये उपयोगी हो जाता है। भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान्‌के लिये उपयोगी हो जाता है। बुराईरहित हुए बिना मनुष्य संसारके लिये उपयोगी नहीं हो सकता। शरीर-संसारसे असंग हुए बिना मनुष्य अपने लिये उपयोगी नहीं हो सकता। भगवान्‌के साथ अपनेपनका सम्बन्ध जोड़े बिना मनुष्य भगवान्‌के लिये उपयोगी नहीं हो सकता।

मैं बुराईरहित हो जाऊँ, मैं असंग हो जाऊँ, मैं भगवत्प्रेमी हो जाऊँ—ऐसी आवश्यकताका अनुभव करना भी पुरुषार्थ है। परन्तु सबसे पहले साधकको यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि मैं बुराईरहित हो सकता हूँ, असंग हो सकता हूँ, प्रेमी हो सकता हूँ। इसके लिये साधकको यह जानना चाहिये कि संसारके नाते भी हम सब एक हैं, आत्माके नाते भी हम सब एक हैं और परमात्माके नाते भी हम सब एक हैं। इसलिये जैसे अपने शरीरके हितका भाव रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण शरीरोंके हितका भाव रहना चाहिये अथवा जैसे सम्पूर्ण शरीरोंसे हम निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे ही इस शरीरसे भी निर्लिप्त रहना चाहिये। सम्पूर्ण शरीरोंके साथ अपने शरीरकी एकता मानकर हम बुराई-रहित हो सकते हैं। अपने शरीरसहित सम्पूर्ण शरीरोंको छोड़कर हम असंग (अपने स्वरूपमें स्थित) हो सकते हैं। सम्पूर्ण शरीर-संसारको छोड़कर हम भगवत्प्रेमी हो सकते हैं।

हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है—**'ममैवांशो जीवलोके'**, इसलिये हम परमात्मामें ही स्थित हैं। परन्तु शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ है, इसलिये वे प्रकृतिमें ही स्थित हैं—**'प्रकृतिस्थानि'**। **'विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्'** (गीता १३। १९)। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं और परमात्मासे अलग हम कभी हुए ही नहीं, हैं ही नहीं, होंगे ही नहीं, हो सकते ही नहीं। हमारेसे दूर-से-दूर कोई चीज है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई चीज है तो वह परमात्मा है। परन्तु कामना-ममता-तादात्म्यके कारण मनुष्यको उलटा दीखता है अर्थात् शरीर तो नजदीक दीखता है और परमात्मा दूर! शरीर तो प्राप्त दीखता है और परमात्मा अप्राप्त!

शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१-शरीर मेरा नहीं है; क्योंकि इसपर मेरा वश नहीं चलता। २-मेरेको कुछ नहीं चाहिये और ३-मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। जबतक साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक स्थूलशरीरसे होनेवाला 'कर्म', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' (निर्विकल्प अवस्था)—तीनों ही उसको बाँधनेवाले होते हैं। परन्तु तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह कर्म, चिन्तन और स्थिरता— तीनोंसे बँधता नहीं अर्थात् तीनोंसे असंग हो जाता है।

भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी जागृतिके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१-प्रभु मेरे हैं, २-मैं प्रभुका हूँ और ३-सब कुछ प्रभुका है। भगवान्‌से नित्य-सम्बन्धकी जागृति होनेपर साधकको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जीवनकी पूर्णता है।

मनुष्यमें तीन इच्छाएँ होती हैं—भोगकी इच्छा, तत्त्वकी इच्छा और प्रेमकी इच्छा। भोगकी इच्छा 'कामना', तत्त्वकी इच्छा 'जिज्ञासा' और प्रेमकी इच्छा 'पिपासा' (अभिलाषा) कहलाती है। भोगकी कामना शरीरको लेकर, तत्त्वकी जिज्ञासा स्वरूपको लेकर और प्रेमकी पिपासा परमात्माको लेकर होती है। शरीरको अपना मानना भूल है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका अंश है। अतः शरीरको लेकर होनेवाली भोगकी इच्छा प्राकृत (असत्) होनेसे अपनी नहीं है, प्रत्युत भूलसे है। परन्तु तत्त्वकी और प्रेमकी इच्छा अपनी है, भूलसे नहीं है। इसलिये शरीरको निष्कामभावपूर्वक परिवारकी, समाजकी और संसारकी सेवामें लगानेसे अथवा तत्त्वकी जिज्ञासा तेज होनेसे भूल मिट जाती है। भूल मिटनेसे भोगकी इच्छा मिट जाती है। भोगकी इच्छा मिटनेसे तत्त्वकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और साधकको स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है अर्थात् उसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माके प्रेमकी पिपासा जाग्रत् होती है। मात्र जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये मात्र जीवोंकी अन्तिम इच्छा प्रेमकी ही है। प्रेमकी इच्छा सार्वभौम इच्छा है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यजन्म पूर्ण हो जाता है, फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

सम्बन्ध—मनसहित इन्द्रियोंको अपना माननेके कारण जीव किस प्रकार उनको साथ लेकर अनेक योनियोंमें घूमता है—इसका भगवान् दृष्टान्तसहित वर्णन करते हैं।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

जैसे—

वायुः	= वायु	**अपि**	= भी	**गृहीत्वा**	= ग्रहण करके
आशयात्	= गन्धके स्थानसे	**यत्**	= जिस	**च**	= फिर
गन्धान्	= गन्धको (ग्रहण करके ले जाती है),	**शरीरम्**	= शरीरको	**यत्**	= जिस (शरीर)-को
इव	= ऐसे ही	**उत्क्रामति**	= छोड़ता है, (वहाँसे)	**अवाप्नोति**	= प्राप्त होता है (उसमें)
ईश्वरः	= शरीरादिका स्वामी बना हुआ जीवात्मा	**एतानि**	= इन (मनसहित इन्द्रियों)-को	**संयाति**	= चला जाता है।

व्याख्या—**'वायुर्गन्धानिवाशयात्'**—जिस प्रकार वायु इत्रके फोहेसे गन्ध ले जाती है; किन्तु वह गन्ध स्थायीरूपसे वायुमें नहीं रहती; क्योंकि वायु और गन्धका सम्बन्ध नित्य नहीं है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्वभाव आदि-(सूक्ष्म और कारण—दोनों शरीरों-) को अपना माननेके कारण जीवात्मा उनको साथ लेकर दूसरी योनिमें जाता है।

जैसे वायु तत्त्वतः गन्धसे निर्लिप्त है, ऐसे ही जीवात्मा भी तत्त्वतः मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिसे निर्लिप्त है; परन्तु इन मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिमें मैं-मेरेपनकी मान्यता होनेके कारण वह (जीवात्मा) इनका आकर्षण करता है।

जैसे वायु आकाशका कार्य होते हुए भी पृथ्वीके अंश गन्धको साथ लिये घूमती है, ऐसे ही जीवात्मा परमात्माका सनातन अंश होते हुए भी प्रकृतिके कार्य (प्रतिक्षण बदलनेवाले) शरीरोंको साथ लिये भिन्न-भिन्न योनियोंमें घूमता है। जड होनेके कारण वायुमें यह विवेक नहीं है कि वह गन्धको ग्रहण न करे; परन्तु जीवात्माको तो यह विवेक और सामर्थ्य मिला हुआ है कि वह जब चाहे, तब शरीरसे सम्बन्ध मिटा सकता है। भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दे रखी है कि वह चाहे जिससे सम्बन्ध जोड़ सकता है और चाहे जिससे सम्बन्ध तोड़ सकता है। अपनी भूल मिटानेके लिये केवल अपनी मान्यता बदलनेकी आवश्यकता है कि प्रकृतिके अंश इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंसे मेरा (जीवात्माका) कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर जन्म-मरणके बन्धनसे सहज ही मुक्ति है।

भगवान्‌ने यहाँ तीन शब्द दृष्टान्तके रूपमें दिये हैं—(१) वायु, (२) गन्ध और (३) आशय। 'आशय' कहते हैं स्थानको; जैसे—जलाशय (जल+आशय) अर्थात् जलका स्थान। यहाँ आशय नाम स्थूलशरीरका है। जिस प्रकार गन्धके स्थान (आशय) इत्रके फोहेसे वायु गन्ध ले जाती है और फोहा पीछे पड़ा रहता है, इसी प्रकार वायुरूप जीवात्मा गन्धरूप सूक्ष्म और कारण-शरीरोंको साथ लेकर जाता है, तब गन्धका आशय-रूप स्थूलशरीर पीछे रह जाता है।

'शरीरं यदवाप्नोति ..... गृहीत्वैतानि संयाति'— यहाँ **'ईश्वरः'** पद जीवात्माका वाचक है। इस जीवात्मासे तीन खास भूलें हो रही हैं—

(१) अपनेको मन, बुद्धि, शरीरादि जड पदार्थोंका स्वामी मानता है, पर वास्तवमें बन जाता है स्वयं उनका दास।

(२) अपनेको उन जड पदार्थोंका स्वामी मान लेनेके कारण अपने वास्तविक स्वामी परमात्माको भूल जाता है।

(३) जड पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेमें स्वाधीन होनेपर भी उनका त्याग नहीं करता।

परमात्माने जीवात्माको शरीरादि सामग्रीका सदुपयोग करनेकी स्वाधीनता दी है। उनका सदुपयोग करके अपना उद्धार करनेके लिये ये वस्तुएँ दी हैं, उनका स्वामी बननेके लिये नहीं। परन्तु जीवसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह उस सामग्रीका सदुपयोग नहीं करता; प्रत्युत अपनेको उनका मालिक मान लेता है, पर वास्तवमें उनका गुलाम बन जाता है।

जीवात्मा जड पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग तभी कर सकता है, जब उसे यह मालूम हो जाय कि इनका मालिक बननेसे मैं सर्वथा पराधीन हो गया हूँ और मेरा पतन हो गया है। यह जिनका मालिक बनता है, उनकी गुलामी इसमें आ ही जाती है। इसे केवल वहम होता है कि मैं इनका मालिक हूँ। जड पदार्थोंका मालिक बन

जानेसे एक तो इसे उन पदार्थोंकी 'कमी' का अनुभव होता है और दूसरा यह अपनेको 'अनाथ' मान लेता है।

जिसे मालिकपना या अधिकार प्यारा लगता है, वह परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि जो किसी व्यक्ति, वस्तु, पद आदिका स्वामी बनता है, वह अपने स्वामीको भूल जाता है—यह नियम है। उदाहरणार्थ, जिस समय बालक केवल माँको अपना मानकर उसे ही चाहता है, उस समय वह माँके बिना रह ही नहीं सकता। किन्तु वही बालक जब बड़ा होकर गृहस्थ बन जाता है और अपनेको स्त्री, पुत्र आदिका स्वामी मानने लगता है, तब उसी माँका पास रहना उसे सुहाता नहीं। यह स्वामी बननेका ही परिणाम है! इसी प्रकार यह जीवात्मा भी शरीरादि जड पदार्थोंका स्वामी (ईश्वर) बनकर अपने वास्तविक स्वामी परमात्माको भूल जाता है—उनसे विमुख हो जाता है। जबतक यह भूल या विमुखता रहेगी, तबतक जीवात्मा दुःख पाता ही रहेगा।

'**ईश्वरः**' पदके साथ '**अपि**' पद एक विशेष अर्थ रखता है कि यह ईश्वर बना जीवात्मा वायुके समान असमर्थ, जड और पराधीन नहीं है। इस जीवात्मामें ऐसी सामर्थ्य और विवेक है कि यह जब चाहे, तब माने हुए सम्बन्धको छोड़ सकता है और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव कर सकता है। परन्तु संयोगजन्य सुखकी लोलुपताके कारण यह संसारसे माने हुए सम्बन्धको छोड़ता नहीं और छोड़ना चाहता भी नहीं। जडता-(शरीरादि-) से तादात्म्य छूटनेपर जीवात्मा (गन्धकी तरह) शरीरोंको साथ ले जा सकता ही नहीं।

जीवको दो शक्तियाँ प्राप्त हैं—(१) प्राणशक्ति, जिससे श्वासोंका आवागमन होता है और (२) इच्छाशक्ति, जिससे भोगोंको पानेकी इच्छा करता है। प्राणशक्ति हरदम (श्वासोच्छ्‌वासके द्वारा) क्षीण होती रहती है। प्राणशक्तिका खत्म होना ही मृत्यु कहलाती है। जडका संग करनेसे कुछ करने और पानेकी इच्छा बनी रहती है। प्राणशक्तिके रहते हुए इच्छाशक्ति अर्थात् कुछ करने और पानेकी इच्छा मिट जाय, तो मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। प्राणशक्ति नष्ट हो जाय और इच्छाएँ बनी रहें, तो दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। नया शरीर मिलनेपर इच्छाशक्ति तो वही (पूर्वजन्मकी) रहती है, प्राणशक्ति नयी मिल जाती है।

प्राणशक्तिका व्यय इच्छाओंको मिटानेमें होना चाहिये। निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेसे इच्छाएँ सुगमतापूर्वक मिट जाती हैं।

यहाँ '**गृहीत्वा**' पदका तात्पर्य है—जो अपने नहीं हैं, उनसे राग, ममता, प्रियता करना। जिन मन, इन्द्रियोंके साथ अपनापन करके जीवात्मा उनको साथ लिये फिरता है, वे मन, इन्द्रियाँ कभी नहीं कहतीं कि हम तुम्हारी हैं और तुम हमारे हो। इनपर जीवात्माका शासन भी चलता नहीं; जैसा चाहे वैसा रख सकता नहीं, परिवर्तन कर सकता नहीं; फिर भी इनके साथ अपनापन रखता है, जो कि भूल ही है। वास्तवमें यह अपनेपनका (राग, ममतायुक्त) सम्बन्ध ही बाँधनेवाला होता है।

वस्तु हमें प्राप्त हो या न हो, बढ़िया हो या घटिया हो, हमारे काममें आये या न आये, दूर हो या पास हो, यदि उस वस्तुको हम अपनी मानते हैं तो उससे हमारा सम्बन्ध बना हुआ ही है।

अपनी तरफसे छोड़े बिना शरीरादिमें ममताका सम्बन्ध मरनेपर भी नहीं छूटता। इसलिये मृत शरीरकी हड्डियोंको गंगाजीमें डालनेसे उस जीवकी आगे गति होती है। इस माने हुए सम्बन्धको छोड़नेमें हम सर्वथा स्वतन्त्र तथा सबल हैं। यदि शरीरके रहते हुए ही हम उससे अपनापन हटा दें, तो जीते-जी ही मुक्त हो जायँ!

जो अपना नहीं है, उसको अपना मानना और जो अपना है, उसको अपना न मानना—यह बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण ही पारमार्थिक मार्गमें उन्नति नहीं होती।

इस श्लोकमें आया '**एतानि**' पद सातवें श्लोकके '**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि**' (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन-) का वाचक है। यहाँ '**एतानि**' पदको सत्रह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीर एवं कारणशरीर-(स्वभाव-) का भी द्योतक मानना चाहिये। इन सबको ग्रहण करके जीवात्मा दूसरे शरीरमें जाता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंका त्याग करके नये वस्त्र धारण करता है, ऐसे ही जीवात्मा पुराने शरीरका त्याग करके नये शरीरको प्राप्त होता है(गीता—दूसरे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

वास्तवमें शुद्ध चेतन-(आत्मा-)का किसी शरीरको प्राप्त करना और उसका त्याग करके दूसरे शरीरमें जाना हो नहीं सकता; क्योंकि आत्मा अचल और समानरूपसे सर्वत्र व्याप्त है (गीता—दूसरे अध्यायका सत्रहवाँ और चौबीसवाँ श्लोक)। शरीरोंका ग्रहण और त्याग परिच्छिन्न (एकदेशीय) तत्त्वके द्वारा ही होना सम्भव है, जबकि आत्मा कभी किसी भी देश-कालादिमें परिच्छिन्न नहीं हो सकता। परन्तु जब यह आत्मा प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य कर लेता है अर्थात् प्रकृतिस्थ हो जाता है, तब

(स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंमें अपनेको तथा अपनेमें तीनों शरीरोंको धारण करने अर्थात् उनमें अपनापन करनेसे) वह प्रकृतिके कार्य शरीरोंका ग्रहण-त्याग करने लगता है। तात्पर्य यह है कि शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान लेनेके कारण आत्मा सूक्ष्मशरीरके आने-जानेको अपना आना-जाना मान लेता है। जब प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य मिट जाता है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे आत्माका माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता; तब ये शरीर अपने कारणभूत समष्टि तत्त्वोंमें लीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पुनर्जन्मका मूल कारण जीवका शरीरसे माना हुआ तादात्म्य ही है।

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें '**कर्षति**' पद और इस श्लोकमें '**गृहीत्वा**' पद आया है। '**कर्षति**' का अर्थ है—अपनी तरफ खींचना और '**गृहीत्वा**' का अर्थ है—पकड़ना अर्थात् तादात्म्य करना। वायुका दृष्टान्त देनेका तात्पर्य है कि जीव वायुकी तरह निर्लिप्त रहता है। शरीरसे लिप्त होनेपर भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता कभी मिटती नहीं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। वायुमें गन्ध हरदम नहीं रहती, स्वतः छूट जाती है; परन्तु जीव जबतक मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको छोड़ता नहीं, तबतक वे छूटते नहीं। इसका कारण यह है कि मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको जीव खुद पकड़ता है—'**गृहीत्वैतानि**'; अतः खुद छोड़नेपर ही वे छूटते हैं।

प्रत्येक भोगसे स्वाभाविक उपरति होती है—यह सबका अनुभव है। भोगोंमें प्रवृत्ति तो कृत्रिम होती है, पर निवृत्ति स्वाभाविक होती है। रुचि तो जीव करता है, पर अरुचि स्वतः होती है। जैसे, तम्बाकू पीनेवाले धुआँ भीतर खींचते हैं, पर वह बाहर स्वतः निकलता है! मुँह बन्द करें तो नाकसे निकल जायगा! धुआँ तो टिकता नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है, व्यसन लग जाता है। ऐसे ही भोग तो टिकते नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है। भोग तो स्वतः छूटते हैं, उनसे अरुचि स्वतः होती है, पर आदत बिगड़नेसे जीव उनको बार-बार पकड़ता रहता है और 'ईश्वर' अर्थात् स्वतन्त्र होते हुए भी परवशताका अनुभव करता रहता है। भोगोंमें लिप्त होते हुए भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता मिटती नहीं, पर इसकी तरफ यह ध्यान नहीं देता और इसको महत्त्व नहीं देता। शरीरसे सम्बन्ध न होते हुए भी यह उससे सम्बन्ध मानकर सुख लेता रहता है। सम्बन्ध तो अनित्य होता है, पर सम्बन्ध-विच्छेद नित्य होता है। कारण कि संसारकी जातिका (जड़ तथा परिवर्तनशील) होनेसे शरीर विजातीय है। विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है। परमात्माका अंश होनेसे जीवकी परमात्माके साथ सजातीयता है। अतः इसका स्वतः सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। अगर जीव सन्तोंकी, भगवान्‌की, शास्त्रोंकी वाणीपर विश्वास करके परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ ले तो फिर इसको अनुभव हो जायगा। परन्तु यह पदार्थोंके सम्बन्धको मुख्यता दे देता है। जबतक यह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तबतक भगवान् कोई भी सम्बन्ध टिकने नहीं देते, तोड़ते ही रहते हैं। जीव कितना ही जोर लगा ले, वह संसारका सम्बन्ध स्थायी रख सकता ही नहीं।

सम्बन्ध—अब भगवान् सातवें श्लोकमें आये हुए 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' पदका खुलासा करते हैं।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

अयम्	= यह (जीवात्मा)	**च**	= और	**च**	= और
मनः	= मनका	**चक्षुः**	= नेत्र	**घ्राणम्**	= घ्राण (—इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा)
अधिष्ठाय	= आश्रय लेकर	**च**	= तथा		
एव	= ही	**स्पर्शनम्**	= त्वचा,	**विषयान्**	= विषयोंका
श्रोत्रम्	= श्रोत्र	**रसनम्**	= रसना	**उपसेवते**	= सेवन करता है।

व्याख्या—'**अधिष्ठाय मनश्चायम्**'—मनमें अनेक प्रकारके (अच्छे-बुरे) संकल्प-विकल्प होते रहते हैं*। इनसे 'स्वयं' की स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि 'स्वयं' (चेतन-तत्त्व, आत्मा) जड शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिसे अत्यन्त परे

*** मनुष्य अपने मनमें निरन्तर कुछ-न-कुछ सोचता रहता है, जिसे संकल्प-विकल्प, मनोरथ या मनोराज्य कहते हैं। निद्राके समय यही 'स्वप्न' होकर दीखने लगता है। मनपर बुद्धिका परदा (प्रभाव) रहनेके कारण हम मनमें आयी हुई प्रत्येक बातको प्रकट नहीं करते। परंतु बुद्धिका परदा हटनेपर मनमें आयी हुई प्रत्येक बातको कहना या उसके अनुसार आचरण करना 'पागलपन' कहलाता है। इस प्रकार मनोराज्य, स्वप्न तथा पागलपन—ये तीनों एक ही हैं।**

और उनका आश्रय तथा प्रकाशक है। संकल्प-विकल्प आते-जाते हैं और 'स्वयं' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

मनका संयोग होनेपर ही सुनने, देखने, स्पर्श करने, स्वाद लेने तथा सूँघनेका ज्ञान होता है। जीवात्माको मनके बिना इन्द्रियोंसे सुख-दु:ख नहीं मिल सकता। इसलिये यहाँ मनको अधिष्ठित करनेकी बात कही गयी है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा मनको अधिष्ठित करके अर्थात् उसका आश्रय लेकर ही इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता है।

'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च'— श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कानोंमें सुननेकी शक्ति* **'श्रोत्रम्'** है। आजतक हमने अनेक प्रकारके अनुकूल (स्तुति, मान, बड़ाई, आशीर्वाद, मधुर गान, वाद्य आदि) और प्रतिकूल (निन्दा, अपमान, शाप, गाली आदि) शब्द सुने हैं; पर उनसे 'स्वयं' में क्या फरक पड़ा?

किसीको पौत्रके जन्म तथा पुत्रकी मृत्युका समाचार एक साथ मिला। दोनों समाचार सुननेसे एकके 'जन्म' तथा दूसरेकी 'मृत्यु' का जो ज्ञान हुआ, उस 'ज्ञान' में कोई अन्तर नहीं आया। जब ज्ञानमें भी कोई अन्तर नहीं आया, तो फिर 'ज्ञाता' में अन्तर आयेगा ही कैसे! अत: जन्म और मृत्युका समाचार सुननेसे अन्त:करणमें (माने हुए सम्बन्धके कारण) जो असर होता है, उसकी तरफ दृष्टि न रखकर इस 'ज्ञान' पर ही दृष्टि रखनी चाहिये। इसी तरह अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

नेत्रेन्द्रिय अर्थात् नेत्रोंमें देखनेकी शक्ति **'चक्षुः'** है। आजतक हमने अनेक सुन्दर, असुन्दर, मनोहर, भयानक रूप या दृश्य देखे हैं, पर उनसे अपने 'स्वरूप' में क्या फरक पड़ा?

स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् त्वचामें स्पर्श करनेकी शक्ति **'स्पर्शनम्'** है। जीवनमें हमारेको अनेक कोमल, कठोर, चिपचिपे, ठण्डे, गरम आदि स्पर्श प्राप्त हुए हैं, पर उनसे 'स्वयं' की स्थितिमें क्या अन्तर आया?

रसनेन्द्रिय अर्थात् जीभमें स्वाद लेनेकी शक्ति **'रसनम्'** है। कड़ुआ, तीखा, मीठा, कसैला, खट्टा और नमकीन— ये छ: प्रकारके भोजनके रस हैं। आजतक हमने तरह-तरहके रसयुक्त भोजन किये हैं; पर विचार करना चाहिये कि उनसे 'स्वयं'को क्या प्राप्त हुआ?

घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिकामें सूँघनेकी शक्ति **'घ्राणम्'** है। जीवनमें हमारी नासिकाने तरह-तरहकी सुगन्ध और दुर्गन्ध ग्रहण की है; पर उनसे 'स्वयं' में क्या फरक पड़ा?

विशेष बात

श्रोत्रका वाणीसे, नेत्रका पैरसे, त्वचाका हाथसे, रसनाका उपस्थसे और घ्राणका गुदासे (पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका पाँचों कर्मेन्द्रियोंसे) घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे, जो जन्मसे बहरा होता है, वह गूँगा भी होता है। पैरके तलवेमें तेलकी मालिश करनेसे नेत्रोंपर तेलका असर पड़ता है। त्वचाके होनेसे ही हाथ स्पर्शका काम करते हैं। रसनेन्द्रियके वशमें होनेसे उपस्थेन्द्रिय भी वशमें हो जाती है। घ्राणसे गन्धका ग्रहण तथा उससे सम्बन्धित गुदासे गन्धका त्याग होता है।

पंचमहाभूतोंमें एक-एक महाभूतके सत्त्वगुण-अंशसे ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुण-अंशसे कर्मेन्द्रियाँ और तमोगुण-अंशसे शब्दादि पाँचों विषय बने हैं।

पंचमहाभूत	सत्त्वगुण-अंश	रजोगुण-अंश	तमोगुण-अंश
आकाश	श्रोत्र	वाक्	शब्द
वायु	त्वचा	हस्त	स्पर्श
अग्नि	नेत्र	पाद	रूप
जल	रसना	उपस्थ	रस
पृथ्वी	घ्राण	गुदा	गन्ध

* **श्रवणेन्द्रियसे दो प्रकारका ज्ञान होता है—(१) अपरोक्ष शब्दका ज्ञान और (२) परोक्ष विषयका ज्ञान। इसलिये श्रवणकी बहुत महिमा है। ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—दोनों ही मार्गोंमें 'श्रवण' का मुख्य स्थान है। यद्यपि नेत्रोंसे शास्त्रोंका अवलोकन, अध्ययन करनेसे भी परोक्ष विषयका ज्ञान होता है, तथापि वास्तवमें वह भी (शब्दका ही लिखितरूप होनेसे) प्रकारान्तरसे शब्दकी शक्ति ही है। शास्त्रज्ञान भी जैसा (गुरुमुखसे) श्रवणसे होता है, वैसा पढ़नेसे नहीं। विद्याध्ययनमें भी पहले सुननेसे ही बोध होता है। शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है, जिसे श्रवणेन्द्रिय ही ग्रहण कर सकती है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं।**

पाँचों महाभूतोंके मिले हुए सत्त्वगुण-अंशसे मन और बुद्धि, रजोगुण-अंशसे प्राण और तमोगुण-अंशसे शरीर बना है।

'विषयानुपसेवते'—जैसे व्यापारी किसी कारणवश एक जगहसे दूकान उठाकर दूसरी जगह दूकान लगाता है, ऐसे ही जीवात्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है; और जैसे पहले शरीरमें विषयोंका रागपूर्वक सेवन करता था ऐसे ही दूसरे शरीरमें जानेपर (वही स्वभाव होनेसे) विषयोंका सेवन करने लगता है। इस प्रकार जीवात्मा बार-बार विषयोंमें आसक्ति करनेके कारण ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है।

भगवान्ने यह मनुष्यशरीर अपना उद्धार करनेके लिये दिया है, सुख-दु:ख भोगनेके लिये नहीं। जैसे ब्राह्मणको गाय दान करनेपर हम उसको चारा-पानी तो दे सकते हैं, पर दी हुई गायका दूध पीनेका हमें हक नहीं है; ऐसे ही मिले हुए शरीरका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगनेका हमें हक नहीं है।

विशेष बात

विषय-सेवन करनेसे परिणाममें विषयोंमें राग-आसक्ति ही बढ़ती है, जो कि पुनर्जन्म तथा सम्पूर्ण दु:खोंका कारण है। विषयोंमें वस्तुत: सुख है भी नहीं। केवल आरम्भमें भ्रमवश सुख प्रतीत होता है (अठारहवें अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। अगर विषयोंमें सुख होता तो जिनके पास प्रचुर भोग-सामग्री है, ऐसे बड़े-बड़े धनी, भोगी और पदाधिकारी तो सुखी हो ही जाते, पर वास्तवमें देखा जाय तो पता चलता है कि वे भी दु:खी, अशान्त ही हैं। कारण यह है कि भोग-पदार्थोंमें सुख है ही नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। सुख लेनेकी इच्छासे जो-जो भोग भोगे गये, उन-उन भोगोंसे धैर्य नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग पैदा हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चात्ताप हुआ, बेइज्जती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी एवं प्राय: दु:ख-शोक-उद्वेग आये—ऐसा यह परिणाम विचारशील व्यक्तिके प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।[1]

जिस प्रकार स्वप्नमें जल पीनेसे प्यास नहीं मिटती, उसी प्रकार भोग-पदार्थोंसे न तो शान्ति मिलती है और न जलन ही मिटती है। मनुष्य सोचता है कि इतना धन हो जाय, इतना संग्रह हो जाय, इतनी (अमुक-अमुक) वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ तो शान्ति मिल जायगी; किंतु उतना हो जानेपर भी शान्ति नहीं मिलती, उलटे वस्तुओंके मिलनेसे उनकी लालसा और बढ़ जाती है[2]। धन आदि भोग-पदार्थोंके मिलनेपर भी 'और मिल जाय, और मिल जाय'—यह क्रम चलता ही रहता है। परन्तु संसारमें जितना धन-धान्य है, जितनी सुन्दर स्त्रियाँ हैं, जितनी उत्तम वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब एक साथ किसी एक व्यक्तिको मिल भी जायँ, तो भी उनसे उसे तृप्ति नहीं हो सकती[3]। इसका कारण यह है कि जीव अविनाशी परमात्माका अंश तथा चेतन है और भोग-पदार्थ नाशवान् प्रकृतिके अंश तथा जड हैं। चेतनकी भूख जड पदार्थोंके द्वारा कैसे मिट सकती है? भूख है पेटमें और हलवा बाँधा जाय पीठपर, तो भूख कैसे मिट सकती है? प्यास लगनेपर बढ़िया-से-बढ़िया गरमागरम हलवा खानेपर

१-भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥
(भर्तृहरिवैराग्यशतक)

'हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगोंने ही हमें भोग लिया; हमने तप नहीं किया, हम ही तप्त हो गये; काल व्यतीत नहीं हुआ, हम ही व्यतीत हो गये; तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गये।'

२-न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(मनु० २। ९४; श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

'भोग-पदार्थोंके उपभोगसे कामना कभी शान्त नहीं होती, प्रत्युत जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, ऐसे ही भोग-वासना भी भोगोंके भोगनेसे प्रबल होती है।'

३-यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
(विष्णुपुराण ४। १०। २४; महा०, आदि० ८५। १३)

भी प्यास नहीं मिट सकती। इसी प्रकार जीवको प्यास तो है चिन्मय परमात्माकी, पर वह उस प्यासको मिटाना चाहता है जड पदार्थोंके द्वारा, जिससे तृप्ति होनेकी नहीं। तृप्ति तो दूर रही, ज्यों-ज्यों वह जड पदार्थोंको अपनाता है, त्यों-त्यों उसकी भूख भी बढ़ती ही जाती है। यह उसकी कितनी बड़ी भूल है!

साधकको चाहिये कि वह आज ही यह दृढ़ विचार (निश्चय) कर ले कि मेरेको भोगबुद्धिसे विषयोंका सेवन करना ही नहीं है। उसका यह पक्का निर्णय हो जाय कि सम्पूर्ण संसार मिलकर भी मेरेको तृप्त नहीं कर सकता। विषय-सेवन न करनेका दृढ़ विचार होनेसे इन्द्रियाँ निर्विषय हो जाती हैं; और इन्द्रियोंके निर्विषय हो जानेसे मन निर्विकल्प हो जाता है। मनके निर्विकल्प हो जानेसे बुद्धि स्वतः सम हो जाती है; और बुद्धिके सम हो जानेसे परमात्माकी प्राप्तिका स्वतः अनुभव हो जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); क्योंकि परमात्मा तो सदा प्राप्त ही हैं। विषयोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण ही उनकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो पाता।

सुखभोग और संग्रह—इन दोमें जो आसक्त हो जाते हैं, उनके लिये परमात्मप्राप्ति तो दूर रही, वे परमात्माकी तरफ चलनेका दृढ़ निश्चय भी नहीं कर पाते (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज श्रीरामचरितमानसके अन्तमें प्रार्थना करते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(मानस ७। १३०)

'जैसे कामीको स्त्री (भोग) और लोभीको धन (संग्रह) प्यारा लगता है, ऐसे ही रघुनाथका रूप और राम-नाम मुझे निरन्तर प्यारा लगे।' तात्पर्य यह है कि जैसे कामी स्त्रीके रूपमें आकृष्ट होता है, ऐसे ही मैं रघुनाथके रूपमें निरन्तर आकृष्ट रहूँ और जैसे लोभी धनका संग्रह करता रहता है, ऐसे ही मैं राम-नामका (जपके द्वारा) निरन्तर संग्रह करता रहूँ। संसारका भोग और संग्रह निरन्तर प्रिय नहीं लगता—यह नियम है; पर भगवान्‌का रूप और नाम निरन्तर प्रिय लगता है। संतोंने भी अपना अनुभव कहा है—

चाख चाख सब छाड़िया माया-रस खारा हो।
नाम-सुधारस पीजिये छिन बारंबारा हो॥
लगे मोहि राम पियारा हो॥

परिशिष्ट भाव—विषयोंका सेवन करनेसे स्वयंकी गौणता हो जाती है और शरीर-संसारकी मुख्यता हो जाती है। इसलिये स्वयं भी जगत्‌रूप हो जाता है (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)!

सम्बन्ध—पीछेके तीन श्लोकोंमें जीवात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है। उस विषयका उपसंहार करनेके लिये आगेके श्लोकमें 'जीवात्माके स्वरूपको कौन जानता है और कौन नहीं जानता'—इसका वर्णन करते हैं।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

उत्क्रामन्तम् = शरीरको छोड़कर जाते हुए, **वा** = या, **स्थितम्** = दूसरे शरीरमें स्थित हुए, **वा** = अथवा, **भुञ्जानम्** = विषयोंको भोगते हुए, **अपि** = भी, **गुणान्वितम्** = गुणोंसे युक्त (जीवात्मा-के स्वरूप)-को, **विमूढाः** = मूढ़ मनुष्य, **न** = नहीं, **अनुपश्यन्ति** = जानते, **ज्ञानचक्षुषः** = ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले (ज्ञानी मनुष्य ही), **पश्यन्ति** = जानते हैं।

व्याख्या—'**उत्क्रामन्तम्**'—स्थूलशरीरको छोड़ते समय जीव सूक्ष्म और कारणशरीरको साथ लेकर प्रस्थान करता है। इसी क्रियाको यहाँ '**उत्क्रामन्तम्**' पदसे कहा है। जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक जीवका प्रस्थान नहीं माना जाता। हृदयकी धड़कन बंद हो जानेके बाद भी जीव कुछ समयतक रह सकता है। वास्तवमें अचल होनेसे शुद्ध चेतन-तत्त्वका आवागमन नहीं होता। प्राणोंका ही आवागमन होता है। परन्तु सूक्ष्म और कारणशरीरसे सम्बन्ध रहनेके कारण जीवका आवागमन कहा जाता है।

आठवें श्लोकमें ईश्वर बने जीवात्माके विषयमें आये '**उत्क्रामति**' पदको यहाँ '**उत्क्रामन्तम्**' पदसे कहा गया है।

'**स्थितं वा**'—जिस प्रकार कैमरेपर वस्तुका जैसा

प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसका वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है। इसी प्रकार मृत्युके समय अन्त:करणमें जिस भावका चिन्तन होता है, उसी आकारका सूक्ष्मशरीर बन जाता है। जैसे कैमरेपर पड़े प्रतिबिम्बके अनुसार चित्रके तैयार होनेमें समय लगता है, ऐसे ही अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार भावी स्थूलशरीरके बननेमें (शरीरके अनुसार कम या अधिक) समय लगता है।

आठवें श्लोकमें जिसका '**यदवाप्नोति**' पदसे वर्णन हुआ है, उसीको यहाँ '**स्थितम्**' पदसे कहा गया है।

'**अपि भुञ्जानं वा**'—मनुष्य जब विषयोंको भोगता है, तब अपनेको बड़ा सावधान मानता है और विषय-सेवनमें सावधान रहता भी है। विषयी मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इनमेंसे एक-एक विषयको अच्छी तरह जानता है। अपनी जानकारीसे एक-एक विषयको भी बड़ी स्पष्टतासे वर्णन करता है। इतनी सावधानी रखनेपर भी वह 'मूढ़' (अज्ञानी) ही है; क्योंकि विषयोंके प्रति यह सावधानी किसी कामकी नहीं है, प्रत्युत मरनेपर नरकों और नीच योनियोंमें ले जानेवाली है।

परमात्मा, जीवात्मा और संसार—इन तीनोंके विषयमें शास्त्रों और दार्शनिकोंके अनेक मतभेद हैं; परन्तु जीवात्मा संसारके सम्बन्धसे महान् दु:ख पाता है और परमात्माके सम्बन्धसे महान् सुख पाता है—इसमें सभी शास्त्र और दार्शनिक एकमत हैं।

संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता—यह अकाट्य नियम है। संसार क्षणभंगुर है—यह बात कहते, सुनते और पढ़ते हुए भी मूढ़ मनुष्य संसारको स्थिर मानते हैं। भोग-सामग्री, भोक्ता और भोगरूप क्रिया—इन सबको स्थायी माने बिना भोग हो ही नहीं सकता। भोगी मनुष्यकी बुद्धि इतनी मूढ़ हो जाती है कि वह 'इन भोगोंसे बढ़कर कुछ है ही नहीं'—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेता है (गीता—सोलहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। इसलिये ऐसे मनुष्योंके ज्ञाननेत्र बंद ही रहते हैं। वे मौतको निश्चित जानते हुए भी भोग भोगनेके लिये (मरनेवालोंके लोकमें रहते हुए भी) सदा जीते रहनेकी इच्छा रखते हैं।

'**अपि**' पदका भाव है कि जीवात्मा जिस समय स्थूल-शरीरसे निकलकर (सूक्ष्म और कारणशरीरसहित) जाता है, दूसरे शरीरको प्राप्त होता है तथा विषयोंका उपभोग करता है—इन तीनों ही अवस्थाओंमें गुणोंसे लिप्त दीखनेपर भी वास्तवमें वह स्वयं निर्लिप्त ही रहता है। वास्तविक स्वरूपमें न 'उत्क्रमण' है, न 'स्थिति' है और न 'भोक्तापन' ही है।

पिछले श्लोकके '**विषयानुपसेवते**' पदको ही यहाँ '**भुञ्जानम्**' पदसे कहा गया है।

'**गुणान्वितम्**'—यहाँ '**गुणान्वितम्**' पदका तात्पर्य यह है कि गुणोंसे सम्बन्ध मानते रहनेके कारण ही जीवात्मामें उत्क्रमण, स्थिति और भोग—ये तीनों क्रियाएँ प्रतीत होती हैं।

वास्तवमें आत्माका गुणोंसे सम्बन्ध है ही नहीं। भूलसे ही इसने अपना सम्बन्ध गुणोंसे मान रखा है, जिसके कारण इसे बारम्बार ऊँच-नीच योनियोंमें जाना पड़ता है। गुणोंसे सम्बन्ध जोड़कर जीवात्मा संसारसे सुख चाहता है—यह उसकी भूल है। सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है!

मनुष्य मानो किसी-न-किसी प्रकारसे संसारमें ही फँसना चाहता है! व्याख्यान देनेवाला व्यक्ति श्रोताओंको अपना मानने लग जाता है। किसीका भाई-बहन न हो, तो वह धर्मका भाई-बहन बना लेता है। किसीका पुत्र न हो, तो वह दूसरेका बालक गोद ले लेता है। इस तरह नये-नये सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य चाहता तो सुख है, पर पाता दु:ख ही है। इसी बातको भगवान् कह रहे हैं कि जीव स्वरूपसे गुणातीत होते हुए भी गुणों-(देश, काल, व्यक्ति, वस्तु-) से सम्बन्ध जोड़कर उनसे बँध जाता है।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें आये '**प्रकृतिस्थानि**' पदको ही यहाँ '**गुणान्वितम्**' पदसे कहा गया है।

मार्मिक बात

जबतक मनुष्यका प्रकृति अथवा उसके कार्य—गुणोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है, तबतक गुणोंके अधीन होकर उसे कर्म करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। चेतन होकर गुणोंके अधीन रहना अर्थात् जडकी परतन्त्रता स्वीकार करना व्यभिचार-दोष है। प्रकृति अथवा गुणोंसे सर्वथा मुक्त होनेपर जो स्वाधीनताका अनुभव होता है, उसमें भी साधक जबतक (अहम्की गन्ध रहनेके कारण) रस लेता है, तबतक व्यभिचार-दोष रहता ही है। रस न लेनेसे जब वह व्यभिचार-दोष मिट जाता है, तब अपने प्रेमास्पद भगवान्के प्रति स्वत: प्रियता जाग्रत् होती है। फिर प्रेम-ही-प्रेम रह जाता है, जो उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता है। इस प्रेमको प्राप्त करना ही जीवका अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रेमकी प्राप्तिमें ही पूर्णता है। भगवान् भी भक्तको अपना अलौकिक प्रेम देकर ही राजी होते हैं और ऐसे प्रेमी

भक्तको योगियोंमें सर्वश्रेष्ठ योगी मानते हैं (गीता—छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)।

गुणातीत होनेमें तो (स्वयंका विवेक सहायक होनेके कारण) अपने साधनका सम्बन्ध रहता है, पर गुणातीत होनेके बाद प्रेमकी प्राप्ति होनेमें भगवान्‌की कृपाका ही सम्बन्ध रहता है।

'विमूढा नानुपश्यन्ति'—जैसे भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्य करनेपर भी हम वही रहते हैं, ऐसे ही गुणोंसे युक्त होकर शरीरको छोड़ते, अन्य शरीरको प्राप्त होते तथा भोग भोगते समय भी 'स्वयं' (आत्मा) वही रहता है। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन क्रियाओंमें होता है, 'स्वयं' में नहीं। परन्तु जो भिन्न-भिन्न क्रियाओंके साथ मिलकर 'स्वयं' को भी भिन्न-भिन्न देखने लगता है (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक), ऐसे अज्ञानी (तत्त्वको न जाननेवाले) मनुष्यके लिये यहाँ **'विमूढा नानुपश्यन्ति'** पद दिये गये हैं।

मूढ़लोग भोग और संग्रहमें इतने आसक्त रहते हैं कि शरीरादि पदार्थ नित्य रहनेवाले नहीं हैं—यह बात सोचते ही नहीं। भोग भोगनेका क्या परिणाम होगा उस ओर वे देखते ही नहीं। भगवान्‌ने गीताके सत्रहवें अध्यायमें जहाँ सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषोंको प्रिय लगनेवाले आहारोंका वर्णन किया है, वहाँ सात्त्विक आहारके परिणामका वर्णन पहले किया गया है; राजस आहारके परिणामका वर्णन अन्तमें किया गया है और तामस आहारके परिणामका वर्णन ही नहीं किया गया है (गीता—सत्रहवें अध्यायके आठवेंसे दसवें श्लोकतक)। इसका कारण यह है कि सात्त्विक मनुष्य कर्म करनेसे पहले उसके परिणाम-(फल-) पर दृष्टि रखता है; राजस मनुष्य पहले सहसा काम कर बैठता है, फिर परिणाम चाहे जैसा आये; परन्तु तामस मनुष्य तो परिणामकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालता। इसी प्रकार यहाँ भी **'विमूढा नानुपश्यन्ति'** पद देकर भगवान् मानो यह कहते हैं कि मोहग्रस्त मनुष्य तामस ही हैं; क्योंकि मोह तमोगुणका कार्य है। वे विषयोंका सेवन करते समय परिणामपर विचार ही नहीं करते। केवल भोग भोगने और संग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। ऐसे मनुष्योंका ज्ञान तमोगुणसे ढका रहता है। इस कारण वे शरीर और आत्माके भेदको नहीं जान सकते।

'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः'—प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति—कोई भी स्थिर नहीं है अर्थात् दृश्यमात्र निरन्तर अदर्शनमें जा रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होना ही ज्ञानरूप चक्षुओंसे देखना है। परिवर्तनकी ओर दृष्टि होनेसे अपरिवर्तनशील तत्त्वमें स्थिति स्वतः होती है; क्योंकि नित्य परिवर्तनशील पदार्थका अनुभव अपरिवर्तनशील तत्त्वको ही होता है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानी मनुष्यका भी स्थूलशरीरसे निकलकर दूसरे शरीरको प्राप्त होना तथा भोग भोगना होता है। ज्ञानी मनुष्यका स्थूलशरीर तो छूटेगा ही, पर दूसरे शरीरको प्राप्त करना तथा रागबुद्धिसे विषयोंका सेवन करना उसके द्वारा नहीं होते। दूसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, परन्तु उस विषयमें ज्ञानी मनुष्य मोहित अथवा विकारको प्राप्त नहीं होता। कारण यह है कि वह ज्ञानी मनुष्य ज्ञानरूप नेत्रोंके द्वारा यह देखता है कि जन्म-मृत्यु आदि सब क्रियाएँ या विकार परिवर्तनशील शरीरमें ही हैं, अपरिवर्तनशील स्वरूपमें नहीं। स्वरूप इन विकारोंसे सब समय सर्वथा निर्लिप्त रहता है। शरीरको अपना मानने तथा उससे सुख लेनेकी आशा रखनेसे ही विमूढ़ मनुष्योंको तादात्म्यके कारण ये विकार स्वयंमें होते प्रतीत होते हैं। विमूढ़ मनुष्य आत्माको गुणोंसे युक्त देखते हैं और ज्ञाननेत्रोंवाले मनुष्य आत्माको गुणोंसे रहित—वास्तविक रूपसे देखते हैं।

परिशिष्ट भाव—गुणोंके साथ सम्बन्ध माननेसे जीव 'गुणान्वित' हो जाता है। अगर सम्बन्ध न माने तो वह निर्गुण (तीनों गुणोंसे रहित) ही है—**'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्'** (गीता १३। ३१)। इसका आशय यह है कि गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे ही जन्म-मरण होते हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। यद्यपि अपनी अवनति कोई नहीं चाहता, तथापि सुखासक्तिके कारण जीवको पता ही नहीं लगता कि मेरी उन्नति किसमें है। वह नाशवान् पदार्थोंके द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है, जिसका परिणाम महान् अवनति होता है।

शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना और विषयोंको भोगना—तीनों क्रियाएँ अलग-अलग हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा एक ही है—यह बात प्रत्यक्ष होते हुए भी अविवेकी मनुष्य इसको नहीं जानता अर्थात् अपने अनुभवकी तरफ नहीं देखता, उसको महत्त्व नहीं देता। तीनों गुणोंसे मोहित रहनेके कारण बेहोश रहता है (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। जीवात्मा किसी भी अवस्थाके साथ निरन्तर नहीं रहता—यह सबका अनुभव है। इसकी निर्लिप्तता स्वतःसिद्ध है।

भगवान्‌ने पिछले श्लोकमें पाँच क्रियाएँ बतायी हैं—सुनना, देखना, स्पर्श करना, स्वाद लेना तथा सूँघना और इस श्लोकमें तीन क्रियाएँ बतायी हैं—शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना तथा विषयोंको भोगना। इन आठोंमें कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रहती, पर स्वयं निरन्तर रहता है। क्रियाएँ तो आठ हैं, पर इन सबमें स्वयं एक ही रहता है। इसलिये इनके भाव और अभावका, आरम्भ और अन्तका ज्ञान सबको होता है। जिसको आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है, वह स्वयं नित्य होता है।

शरीरका, पदार्थोंका, हरेक भोगका संयोग और वियोग होता है। अनेक अवस्थाओंमें स्वयं एक रहता है और एक रहते हुए अनेक अवस्थाओंमें जाता है। अगर स्वयं एक न रहता तो सब अवस्थाओंका अलग-अलग अनुभव कौन करता? परन्तु ऐसी बात प्रत्यक्ष होते हुए भी विमूढ़ मनुष्य इस तरफ नहीं देखते, प्रत्युत ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले योगी मनुष्य ही देखते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित तत्त्वको जो पुरुष यत्न करनेपर जानते हैं, उनमें क्या विशेषता है; और जो यत्न करनेपर भी नहीं जानते, उनमें क्या कमी है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

यतन्तः = यत्न करनेवाले
योगिनः = योगीलोग
आत्मनि = अपने-आपमें
अवस्थितम् = स्थित
एनम् = इस परमात्मतत्त्वका
पश्यन्ति = अनुभव करते हैं।
च = परन्तु
अकृतात्मानः = जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, (ऐसे)
अचेतसः = अविवेकी मनुष्य
यतन्तः = यत्न करनेपर
अपि = भी
एनम् = इस तत्त्वका
न, पश्यन्ति = अनुभव नहीं करते।

व्याख्या—‘**यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्ति**’—यहाँ ‘**योगिनः**’ पद उन सांख्ययोगी साधकोंका वाचक है, जिनका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका बन चुका है।

यहाँ ‘**यतन्तः**’ पद साधनपरक है। भीतरकी लगन, जिसे पूर्ण किये बिना चैनसे न रहा जाय, यत्न कहलाती है।

जिन साधकोंका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, उनमें असंगता, निर्ममता और निष्कामता स्वतः आ जाती है। उद्देश्यकी पूर्तिके लिये अनन्यभावसे जो उत्कण्ठा, तत्परता, व्याकुलता, विरहयुक्त चिन्तन, प्रार्थना एवं विचार साधकके हृदयमें प्रकट होते हैं, उन सबको यहाँ ‘**यतन्तः**’ पदके अन्तर्गत समझना चाहिये। जिसकी प्राप्तिका उद्देश्य बनाया और जिसकी विमुखताको यत्नके द्वारा दूर किया, उसी तत्त्वका योगिजन अपने-आपमें अनुभव करते हैं। परमात्माके पूर्ण सम्मुख हो जानेके बाद योगीकी परमात्मतत्त्वमें सदा सहज स्थिति रहती है। यही ‘**पश्यन्ति**’ पदका भाव है।

जो सांख्ययोगी साधक सत्-असत्‌के विचारद्वारा सत्-तत्त्वकी प्राप्ति और असत् संसारकी निवृत्ति करना चाहते हैं, विवेककी सर्वथा जागृति होनेपर वे अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेते हैं।

‘**आत्मन्यवस्थितम्**’ परमात्मतत्त्वसे देश-कालकी दूरी नहीं है। वह समानरूपसे सर्वत्र एवं सदैव विद्यमान है। वही सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा है—‘**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**’ (गीता १०। २०)। इसलिये योगीलोग अपने-आपमें ही इस तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं।

सत्ता (अस्तित्व या ‘है’-पन) दो प्रकारकी होती है—(१) विकारी और (२) स्वतःसिद्ध। जो सत्ता उत्पन्न होनेके बाद प्रतीत होती है, वह ‘विकारी’ सत्ता कहलाती है और जो सत्ता कभी उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत सदा (अनादिकालसे) ज्यों-की-त्यों रहती है, वह ‘स्वतःसिद्ध’ सत्ता कहलाती है। इस दृष्टिसे संसार एवं शरीरकी सत्ता ‘विकारी’ और परमात्मा एवं आत्माकी सत्ता ‘स्वतःसिद्ध’ है। विकारी सत्ताको स्वतःसिद्ध सत्तामें मिला देना भूल है।* उत्पन्न हुई विकारी सत्तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके अनुत्पन्न स्वतःसिद्ध सत्तामें स्थित होना ही ‘**आत्मनि अवस्थितम्**’ पदोंका भाव है।

*** विकारी सत्ता-(शरीर-) को स्वतःसिद्ध सत्तामें मिलानेका तात्पर्य है—अपनेको शरीर मानना (अहंता) और शरीरको अपना मानना (ममता)। अपनेको शरीर माननेसे शरीर सत्य प्रतीत होता है और शरीरको अपना माननेसे शरीरमें प्रियता होती है।**

जीव-(चेतन-)ने भगवत्प्रदत्त विवेकका अनादर करके शरीर-(जड-) को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया अर्थात् शरीरसे अपना सम्बन्ध मान लिया। जीवके बन्धनका कारण यह माना हुआ सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि मरनेपर भी छूटता नहीं और कच्चा इतना है कि जब चाहे, तब छोड़ा जा सकता है। किसीसे अपना सम्बन्ध जोड़ने अथवा तोड़नेमें जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। इसी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके जीव शरीरादि विजातीय पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है।

अपने विवेक-(शरीरसे अपनी भिन्नताका ज्ञान-) को महत्त्व न देनेसे विवेक दब जाता है। विवेकके दबनेपर शरीर-(जड-तत्त्व) की प्रधानता हो जाती है और वह सत्य प्रतीत होने लगता है। सत्संग, स्वाध्याय आदिसे जैसे-जैसे विवेक विकसित होता है, वैसे-वैसे शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध छूटता चला जाता है। विवेक जाग्रत् होनेपर परमात्मा-(चिन्मय-तत्त्व-) से अपने वास्तविक सम्बन्धका—उसमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। यही **'आत्मनि अवस्थितम्'** पदोंका भाव है।

विकारी सत्ता-(संसार-)के सम्बन्धसे अहंता-('मैं'-पन) की उत्पत्ति होती है। यह अहंता दो प्रकारसे मानी जाती है—(१) श्रवणसे मानना; जैसे—दूसरोंसे सुनकर 'मैं अमुक नामवाला हूँ', 'मैं अमुक वर्णवाला हूँ' आदि अहंता मान लेते हैं (२) क्रियासे मानना; जैसे—व्याख्यान देना, शिक्षा देना, चिकित्सा करना आदि क्रियाओंसे 'मैं वक्ता हूँ','मैं शिक्षक हूँ', 'मैं चिकित्सक हूँ' आदि अहंता मान लेते हैं। ये दोनों ही प्रकारकी अहंता सदा रहनेवाली नहीं है, जब कि 'है'-रूप स्वतःसिद्ध सत्ता सदा रहनेवाली है। 'मैं'- रूपमें मानी हुई अहंताका त्याग होनेपर 'हूँ'-रूप विकारी सत्ताका भी स्वतः त्याग हो जाता है और योगीको 'है'-रूप स्वतःसिद्ध सत्तामें अपनी स्थितिका अनुभव हो जाता है। यही अपने-आपमें तत्त्वका अनुभव करना है।

मार्मिक बात

(१)

देश-काल आदिकी अपेक्षासे कहे जानेवाले 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—इन चारोंके मूलमें 'है' के रूपमें एक ही परमात्मतत्त्व समानरूपसे विद्यमान है, जो इन चारोंका प्रकाशक और आधार है। 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों निरन्तर परिवर्तनशील हैं और 'है' नित्य अपरिवर्तनशील है। इनमें 'तू है', 'यह है' और 'वह है'—ऐसा तो कहा जाता है, पर 'मैं है'—ऐसा न कहकर 'मैं हूँ' कहा जाता है। कारण यह है कि 'मैं हूँ' में 'हूँ' 'मैं'-पनके कारण आया है। जबतक 'मैं'-पन है, तभीतक 'हूँ' के रूपमें एकदेशीयता या परिच्छिन्नता है। 'मैं'-पनके मिटनेपर एक 'है' ही शेष रह जाता है।

'आत्मनि अवस्थितम्' का तात्पर्य यह है कि 'हूँ' में 'है' और 'है' में 'हूँ' स्थित है। दूसरे शब्दोंमें व्यष्टिमें समष्टि और समष्टिमें व्यष्टि स्थित है। जिस प्रकार समुद्र और लहरें दोनों एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार 'है' और 'हूँ' दोनों एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते। परन्तु जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र और लहरें—ये दोनों ही नहीं हैं (वास्तवमें एक ही जल-तत्त्व है), ऐसे ही परमात्मतत्त्व ('है') में 'हूँ' और 'है'—ये दोनों ही नहीं हैं। ऐसा अनुभव करना ही अपने-आप-(स्वयं-) में स्थित तत्त्वका अनुभव करना है।

'मैं'-पनके कारण (संसारमें सुखासक्ति तथा परमात्मासे विमुखता होनेसे) ही परमात्माका अपने-आपमें अनुभव नहीं होता। इसलिये परमात्माको अपने-आपसे भिन्नमें देखनेके कारण उससे दूरी या वियोगका अनुभव करना पड़ता है और उसकी प्राप्तिके लिये जगह-जगह भटकना पड़ता है। अपने-आपसे भिन्न जितने पदार्थ हैं, उनसे वियोग होना अवश्यम्भावी है। परन्तु अपने-आपमें परमात्माका अनुभव करनेवालेको उससे अपनी दूरी या वियोगका अनुभव नहीं करना पड़ता*।

अपने-आपमें परमात्माको देखना भिन्नता-(द्वैतभाव-) का पोषक नहीं, प्रत्युत भिन्नताका नाशक है। वास्तवमें 'मैं'-पन ही भिन्नताका पोषक है। मनुष्यने भिन्नताके वाचक 'मैं'-पन अथवा परिच्छिन्नता, पराधीनता, अभाव, अज्ञान आदि विकारोंको भूलसे अपने-आपमें ही मान लिया है। इनको दूर करनेके लिये परमात्माको अपने-आपमें देखना है। इन विकारोंका नाश अपने-आपमें परमात्माको देखनेपर ही हो सकता है। ये विकार तभीतक हैं, जबतक साधक 'हूँ' को देखता (मानता) है, 'है'को नहीं। इस 'हूँ'के स्थानपर 'है'को देखनेपर कोई विकार नहीं रहता; क्योंकि 'है' में किंचिन्मात्र भी विकार नहीं है।

संसार बदलनेवाला है। संसारका ही अंश होनेके कारण 'मैं' भी बदलनेवाला है, जैसे—'मैं बालक हूँ', 'मैं युवा

---

* **तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ (कठ० २। २। १३; श्वेताश्वतर० ६। १२)**

'अपने-आपमें स्थित (आत्मस्थ) परमात्माको जो ज्ञानी मनुष्य निरन्तर देखते रहते हैं, उनको ही सदा रहनेवाला सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

हूँ', 'मैं वृद्ध हूँ', 'मैं रोगी हूँ', 'मैं नीरोग हूँ' इत्यादि।[१] संसारकी तरह 'मैं' भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है। जैसे संसार नहीं है, ऐसे ही 'मैं' भी नहीं है।

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

'है' सदा है और 'नहीं' कभी नहीं है। 'है' दीखनेमें नहीं आता, पर 'नहीं' दीखनेमें आता है; क्योंकि जिसके द्वारा हम 'नहीं' को देखते हैं, वे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि भी 'नहीं' के अंश हैं। त्रिपुटीमें देखना सजातीयतामें ही होता है अर्थात् त्रिपुटीसे होनेवाले (करण-सापेक्ष) ज्ञानमें सजातीयताका होना आवश्यक है। अत: 'नहीं' के द्वारा 'नहीं' को ही देखा जा सकता है, 'है' को नहीं। 'है' का ज्ञान त्रिपुटीसे रहित (करण-निरपेक्ष) है।

'नहीं' की स्वतन्त्र सत्ता न होनेपर भी 'है' की सत्तासे ही उसकी सत्ता दीखती है। 'है' ही 'नहीं' का प्रकाशक और आधार है। जिस प्रकार नेत्रसे संसारको तो देख सकते हैं, पर नेत्रसे नेत्रको नहीं देखते; क्योंकि जिससे देखते हैं, वह नेत्र है। इसी प्रकार जो सबको जाननेवाला है, उस परमात्माको कैसे और किसके द्वारा जाना जा सकता है **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।'** (बृहदारण्यक० २। ४। १४)? जो 'है' से प्रकाशित होता है, वह ('नहीं') 'है' को कैसे प्रकाशित कर सकता है?

अपने-आपमें स्थित तत्त्व-('है'-) का अनुभव अपने-आप-('है'-) से ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि-('नहीं'-) से बिलकुल नहीं। अपने-आपसे होनेवाला ज्ञान स्वाधीन और दूसरों-(मन, बुद्धि आदि-) से होनेवाला ज्ञान पराधीन होता है। अपने-आपमें स्थित तत्त्वका अनुभव करनेके लिये किसी दूसरेकी सहायता लेनेकी जरूरत भी नहीं है।

कानोंसे सुनने, मनसे मनन करने, बुद्धिसे विचार करने आदि उपायोंसे कोई तत्त्वको नहीं जान सकता[२]। कारण कि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, देश, काल, वस्तु आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिके कार्यसे उस तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है, जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है? अत: प्रकृतिके कार्यका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) करनेपर ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है और वह अपने-आपमें ही होती है।

साधकसे सबसे बड़ी गलती यह होती है कि वह जिस रीतिसे संसारको जानता है, उसी रीतिसे परमात्माको भी जानना चाहता है। परन्तु संसार और परमात्मा—दोनोंको जाननेकी रीति एक-दूसरेसे विरुद्ध है। संसारको इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जाना जाता है; क्योंकि उसकी जानकारी करण-सापेक्ष है; परन्तु परमात्माको इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा नहीं जाना जा सकता; क्योंकि उसकी जानकारी करण-निरपेक्ष है।

जडताके आश्रयसे चिन्मयतामें स्थितिका अनुभव हो ही नहीं सकता। जडता (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर)-का आश्रय लेकर जो परमात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहते हैं, वे पुरुष समाधि लगाकर भी परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते; क्योंकि समाधि भी कारण-शरीरके आश्रित रहती है[३]।

१-यहाँ शंका हो सकती है कि बालक, युवा आदि अवस्थाएँ तो बदल गयीं, पर 'मैं तो वही हूँ' अर्थात् 'मैं' तो नहीं बदला। समाधान यह है कि 'विकारी' सत्ता-(जड-) को 'स्वत:सिद्ध' सत्ता-(चेतन-) में मिला देनेके कारण ही 'मैं' में परिवर्तन नहीं दीखता। वास्तवमें 'मैं' का प्रकाशक ('स्वयं') वही रहता है, 'मैं' वही नहीं रहता। 'मैं बालक हूँ' में जो 'मैं' है, वह 'मैं युवा हूँ' में नहीं है। अवस्थाओंके साथ सूक्ष्मरूपसे 'मैं' भी बदलता है। इसी प्रकार अन्य शरीरकी प्राप्ति (दूसरा जन्म) होनेपर भी पहले शरीरका 'मैं' तो नहीं रहता, पर सत्ता रहती है (गीता—दूसरे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

'स्वत:सिद्ध' सत्ताको लेकर 'मैं वही हूँ' कहा जाता है और 'विकारी' सत्ताको लेकर 'मैं बदल गया' कहा जाता है।

२-(१) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (कठ० १। २। २३; मुण्डक० ३। २। ३)

'यह परमात्मतत्त्व न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है।'

(२) नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। (कठ० २। ३। १२)

'यह परमात्मतत्त्व न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रोंसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

३-स्थूलशरीरसे 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे 'चिन्तन' तथा कारणशरीरसे 'समाधि' होती है।

कारणशरीर तथा उससे होनेवाली समाधि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाकी अपेक्षा विशिष्ट होनेपर भी सूक्ष्मरूपसे निरन्तर क्रियाशील रहती है। इस कारणशरीरसे भी अतीत होनेपर एकमात्र तत्त्व शेष रह जाता है। यही क्रिया और अक्रिया—दोनोंसे अतीत, सदा अखण्ड रहनेवाली 'स्वरूपकी समाधि' है। कारणशरीरसे होनेवाली समाधिमें तो व्युत्थान होता है, पर 'स्वरूपकी समाधि' अर्थात् स्वत:सिद्ध स्वरूपका बोध होनेपर समाधि तथा व्युत्थान दोनों ही नहीं होते। इसको 'निर्बीज समाधि' भी कहते हैं; क्योंकि इसमें संसारका सम्बन्ध (बीज) सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसको 'सहजावस्था' भी कहते हैं। परन्तु वास्तवमें यह अवस्था नहीं है; प्रत्युत अवस्थासे अतीत है। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं होती।

जो परमात्माको अपना तथा अपनेको परमात्माका जानते हैं, वे ज्ञानरूप नेत्रोंवाले योगीलोग शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको अलग करके अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेते हैं। परन्तु जो शरीरको अपना और अपनेको शरीरका मानते हैं, वे विमूढ़ और अकृतात्मा पुरुष शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा यत्न करनेपर भी अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते।

(२)

'आत्मनि अवस्थितम्' पदोंमें भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मामें स्थित (सर्वव्यापी) बताया है। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको ये चार बातें दृढ़तापूर्वक मान लेनी चाहिये—

१. परमात्मा यहाँ हैं।

२. परमात्मा अभी हैं।

३. परमात्मा अपनेमें हैं।

४. परमात्मा अपने हैं।

परमात्मा सब जगह (सर्वव्यापी) होनेसे यहाँ भी हैं; सब समय (तीनों कालोंमें) होनेसे अभी भी हैं; सबमें होनेसे अपनेमें भी हैं; और सबके होनेसे अपने भी हैं। इस दृष्टिसे परमात्मा यहाँ होनेसे उनको प्राप्त करनेके लिये दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है; अभी होनेसे उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है; अपनेमें होनेसे उन्हें बाहर ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है; और अपने होनेसे उनके सिवाय किसीको भी अपना माननेकी आवश्यकता नहीं है। अपने होनेसे वे स्वाभाविक ही अत्यन्त प्रिय लगेंगे!

प्रत्येक साधकके लिये उपर्युक्त चारों बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और तत्काल लाभदायक हैं। साधकको ये चारों बातें दृढ़तासे मान लेनी चाहिये। समस्त साधनोंका यह सार साधन है। इसमें किसी योग्यता, अभ्यास, गुण आदिकी भी जरूरत नहीं है। ये बातें स्वत:सिद्ध और वास्तविक हैं, इसलिये इसको माननेके लिये सभी योग्य हैं, सभी पात्र हैं, सभी समर्थ हैं। शर्त यही है कि वे एकमात्र परमात्माको ही चाहते हों।

'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः'—जिन्होंने अपना अन्त:करण शुद्ध नहीं किया है, उन पुरुषोंको यहाँ **'अकृतात्मानः'** कहा गया है। सत्-असत्‌के ज्ञान-(विवेक-)को महत्त्व न देनेके कारण ऐसे पुरुषोंको **'अचेतसः'** कहा गया है।

जिनके अन्त:करणमें संसारके व्यक्ति, पदार्थ आदिका महत्त्व बना हुआ है और जो शरीरादिको अपना मानते हुए उनसे सुख-भोगकी आशा रखते हैं, ऐसे सभी पुरुष **'अकृतात्मानः'** और **'अचेतसः'** हैं। ऐसे पुरुष तत्त्वकी प्राप्ति तो चाहते हैं, पर वे शरीर, मन, बुद्धि आदि जड (प्राकृत) पदार्थोंकी सहायतासे चेतन परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहते हैं। परमात्मा जड पदार्थोंकी सहायतासे नहीं, प्रत्युत जडताके त्याग-(सम्बन्ध-विच्छेद-) से मिलते हैं।

इस श्लोकमें **'यतन्तः'** पद दो बार आया है। भाव यह है कि यत्न करनेमें समानता होनेपर भी एक (ज्ञानी) पुरुष तो तत्त्वका अनुभव कर लेता है, दूसरा (मूढ़) नहीं कर पाता। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके द्वारा किया गया यत्न तत्त्वप्राप्तिमें सहायक होनेपर भी अन्त:करण-(जडता-)के साथ सम्बन्ध बने रहनेके कारण और अन्त:करणमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व रहनेके कारण (यत्न करनेपर भी) तत्त्वको प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिनकी दृष्टि असत्-(सांसारिक भोग और संग्रह-) पर ही जमी हुई है, ऐसे पुरुष सत्-(तत्त्व-) को कैसे देख सकते हैं!

अकृतात्मा और अचेतस पुरुष करनेमें तो ध्यान, स्वाध्याय, जप आदि सब कुछ करते हैं, पर अन्त:करणमें जडता-(सांसारिक भोग और संग्रह-) का महत्त्व रहनेके कारण उन्हें तत्त्वका अनुभव नहीं होता। यद्यपि ऐसे पुरुषोंके द्वारा किया गया यत्न भी निष्फल नहीं जाता, तथापि तत्त्वका अनुभव उन्हें वर्तमानमें नहीं होता। वर्तमानमें तत्त्वका अनुभव जडताका सर्वथा त्याग होनेपर ही हो सकता है।

जिसका आश्रय लिया जाय, उसका त्याग नहीं हो सकता—यह नियम है। अत: शरीर, मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंका आश्रय लेकर साधक जडताका त्याग नहीं कर सकता। इसके सिवाय मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंको लेकर साधन करनेवालेमें सूक्ष्म अहंकार बना रहता है, जो जडताका त्याग होनेपर ही निवृत्त होता है। जडताका त्याग करनेका सुगम उपाय है—एकमात्र भगवान्‌का आश्रय लेना अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' इस वास्तविकताको स्वीकार कर लेना; इसपर अटल विश्वास कर लेना। इसके लिये यत्न या अभ्यास करनेकी भी जरूरत नहीं है। वास्तविक बातको दृढ़तापूर्वक स्वीकारमात्र कर लेनेकी जरूरत है।

परिशिष्ट भाव—सदा न भोग साथ रहता है, न संग्रह साथ रहता है—यह विवेक मनुष्यमें स्वतः है। परन्तु जो मनुष्य शास्त्र पढ़ते हुए, सत्संग करते हुए, साधन करते हुए भी अपने विवेककी तरफ ध्यान नहीं देते, भोग और संग्रहसे अलगावका अनुभव नहीं करते, वे मनुष्य '**अकृतात्मा**' हैं। ऐसे मनुष्योंको अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**अकृतबुद्धि**' और '**दुर्मति**' कहा गया है। यद्यपि परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, तथापि भीतरमें राग, आसक्ति, सुखबुद्धि पड़ी रहनेसे वे साधन करते हुए भी परमात्माको नहीं जानते। कारण कि भोग और संग्रहमें रुचि रखनेवालेका विवेक ठहरता नहीं।

पूर्वश्लोकमें जिनको '**विमूढाः**' कहा है, उनको यहाँ '**अचेतसः**' कहा है, गुणोंसे मोहित होनेके कारण वे न तो विषयोंके विभागको जानते हैं और न स्वयंके विभागको ही जानते हैं अर्थात् भोगोंका संयोग-वियोग अलग है और स्वयं भी अलग है—यह नहीं जानते।

सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें भगवान् यह बताना चाहते हैं कि मेरा अंश जीवात्मा बिलकुल अलग है और जिस सामग्री (शरीरादि पदार्थ और क्रिया)-को वह भूलसे अपनी मानता है, वह बिलकुल अलग है—'**प्रकृतिस्थानि**'। सूर्य और अमावस्याकी रात्रिकी तरह दोनोंका विभाग ही अलग-अलग है। उनका परस्पर संयोग होना सम्भव ही नहीं है। जो उपर्युक्त जड़ और चेतन—दोनोंके विभागको सर्वथा अलग-अलग देखता है, वही ज्ञानी और योगी है। परन्तु जो दोनोंको मिला हुआ देखता है, वह अज्ञानी और भोगी है।

सम्बन्ध—पंद्रहवें अध्यायमें पाँच-पाँच श्लोकोंके चार प्रकरण हैं। उनमेंसे यह तीसरा प्रकरण बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतकका है, जिसमें छठा श्लोक भी लेनेसे पाँच श्लोक पूरे हो जाते हैं। यह तीसरा प्रकरण विशेषरूपसे भगवान्के प्रभाव और महत्त्वको प्रकट करनेवाला है। छठे श्लोकमें जो विषय (परमधामको सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते) स्पष्ट नहीं हो पाया था, उसीका स्पष्ट विवेचन अब भगवान् आगेके श्लोकमें करते हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

आदित्यगतम्	= सूर्यको प्राप्त हुआ	**जगत्**	= जगत्को	**यत्**	= जो तेज
यत्	= जो	**भासयते**	= प्रकाशित करता है (और)	**अग्नौ**	= अग्निमें है,
तेजः	= तेज	**यत्**	= जो तेज	**तत्**	= उस
अखिलम्	= सम्पूर्ण	**चन्द्रमसि**	= चन्द्रमामें है	**तेजः**	= तेजको
		च	= तथा	**मामकम्**	= मेरा ही
				विद्धि	= जान।

व्याख्या—[प्रभाव और महत्त्वकी ओर आकर्षित होना जीवका स्वभाव है। प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धसे जीव प्राकृत पदार्थोंके प्रभावसे प्रभावित हो जाता है। कारण यह है कि प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण जीवको प्राकृत पदार्थों-(शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि-) का महत्त्व दीखने लगता है, भगवान्का नहीं। अतः जीवपर पड़े प्राकृत पदार्थोंका प्रभाव हटानेके लिये भगवान् अपने प्रभावका वर्णन करते हुए यह रहस्य प्रकट करते हैं कि उन प्राकृत पदार्थोंमें जो प्रभाव और महत्त्व देखनेमें आता है, वह वस्तुतः (मूलमें) मेरा ही है, उनका नहीं। सर्वोपरि प्रभावशाली मैं ही हूँ। मेरे ही प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहे हैं।]

'**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्**'—जैसे भगवान्ने (गीता—दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें) कामनाओंको '**मनोगतान्**' बताया है, ऐसे ही यहाँ तेजको '**आदित्यगतम्**' बताते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे मनमें स्थित कामनाएँ मनका धर्म या स्वरूप न होकर आगन्तुक हैं, ऐसे ही सूर्यमें स्थित तेज सूर्यका धर्म या स्वरूप न होकर आगन्तुक है अर्थात् वह तेज सूर्यका अपना न होकर (भगवान्से) आया हुआ है।

सूर्यका तेज (प्रकाश) इतना महान् है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उससे प्रकाशित होता है। ऐसा वह तेज सूर्यका दीखनेपर भी वास्तवमें भगवान्का ही है। इसलिये सूर्य भगवान्को या उनके परमधामको प्रकाशित नहीं कर सकता। महर्षि पतंजलि कहते हैं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

(योगदर्शन १। २६)

'ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है।'

सम्पूर्ण भौतिक जगत्‌में सूर्यके समान प्रत्यक्ष प्रभावशाली पदार्थ कोई नहीं है। चन्द्र, अग्नि , तारे, विद्युत् आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, वे सभी सूर्यसे ही प्रकाश पाते हैं। भगवान्‌से मिले हुए तेजके कारण जब सूर्य इतना विलक्षण और प्रभावशाली है, तब स्वयं भगवान् कितने विलक्षण और प्रभावशाली होंगे! ऐसा विचार करनेपर स्वतः भगवान्‌की तरफ आकर्षण होता है।

सूर्य 'नेत्रों'का अधिष्ठातृ-देवता है। अतः नेत्रोंमें जो प्रकाश (देखनेकी शक्ति) है वह भी परम्परासे भगवान्‌से ही आयी हुई समझनी चाहिये।

'यच्चन्द्रमसि'—जैसे सूर्यमें स्थित प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति—दोनों ही भगवान्‌से प्राप्त (आगत) हैं, ऐसे ही चन्द्रमाकी प्रकाशिका शक्ति और पोषण शक्ति—दोनों (सूर्यद्वारा प्राप्त होनेपर भी परम्परासे) भगवत्प्रदत्त ही हैं। जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, ऐसे ही उनका तेज 'चन्द्रगत' भी समझना चाहिये। चन्द्रमामें प्रकाशके साथ शीतलता, मधुरता, पोषणता आदि जो भी गुण हैं, वह सब भगवान्‌का ही प्रभाव है।

यहाँ चन्द्रमाको तारे, नक्षत्र आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये।

चन्द्रमा 'मन' का अधिष्ठातृ-देवता है। अतः मनमें जो प्रकाश (मनन करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌से ही आयी हुई समझनी चाहिये।

'यच्चाग्नौ'—जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, ऐसे ही उनका तेज 'अग्निगत' भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अग्निकी प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति—दोनों भगवान्‌की ही हैं, अग्निकी नहीं।

यहाँ अग्निको विद्युत्, दीपक, जुगनू आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये।

अग्नि 'वाणी'का अधिष्ठातृ-देवता है। अतः वाणीमें जो प्रकाश (अर्थप्रकाश करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌से ही आयी हुई समझनी चाहिये।

'तत्तेजो विद्धि मामकम्'—जो तेज सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें है और जो तेज इन तीनोंके प्रकाशसे प्रकाशित अन्य पदार्थों (तारे, नक्षत्र, विद्युत्, जुगनू आदि)-में देखने तथा सुननेमें आता है, उसे भगवान्‌का ही तेज समझना चाहिये।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् यह कह रहे हैं कि मनुष्य जिस-जिस तेजस्वी पदार्थकी तरफ आकर्षित होता है, उस-उस पदार्थमें उसको मेरा ही प्रभाव देखना चाहिये (गीता—दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)। जैसे बूँदीके लड्डूमें जो मिठास है, वह उसकी अपनी न होकर चीनीकी ही है, ऐसे ही सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें जो तेज है, वह उनका अपना न होकर भगवान्‌का ही है। भगवान्‌के प्रकाशसे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (कठोपनिषद् २। २। १५)। वह सम्पूर्ण ज्योतियोंकी भी ज्योति है—**'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'** (गीता १३। १७)।

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि क्रमशः नेत्र, मन और वाणीके अधिष्ठाता एवं उनको प्रकाशित करनेवाले हैं। मनुष्य अपने भावोंको प्रकट करने और समझनेके लिये नेत्र, मन (अन्तःकरण) और वाणी—इन तीन इन्द्रियोंका ही उपयोग करता है। ये तीन इन्द्रियाँ जितना प्रकाश करती हैं, उतना प्रकाश अन्य इन्द्रियाँ नहीं करतीं। प्रकाशका तात्पर्य है—अलग-अलग ज्ञान कराना। नेत्र और वाणी बाहरी करण हैं तथा मन भीतरी करण है। करणोंके द्वारा वस्तुका ज्ञान होता है। ये तीनों ही करण (इन्द्रियाँ) भगवान्‌को प्रकाशित नहीं कर सकते; क्योंकि इनमें जो तेज या प्रकाश है, वह इनका अपना न होकर भगवान्‌का ही है।

परिशिष्ट भाव—परमात्मा ही सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल हैं। इस विषयमें केनोपनिषद्‌की एक कथा है। एक बार परमात्माने देवताओंके लिये असुरोंपर विजय प्राप्त की। परन्तु इस विजयमें देवताओंने अपनी शक्तिका अभिमान कर लिया। वे समझने लगे हमने ही अपनी शक्तिसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है। देवताओंके इस अभिमानको नष्ट करनेके लिये परमात्मा यक्षका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हो गये। यक्षको देखकर देवतालोग आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगे कि यह यक्ष कौन है? उसका परिचय जाननेके लिये देवताओंने अग्निदेवको उसके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर अग्निदेवने कहा कि मैं 'जातवेदा' नामसे प्रसिद्ध अग्निदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको जलाकर भस्म कर सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको जला दो। अग्निदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं जला सका। वह लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया और बोला कि वह यक्ष कौन है—यह मैं नहीं जान सका। तब देवताओंने वायुदेवको यक्षके पास भेजा। यक्षके

पूछनेपर वायुदेवने कहा कि मैं 'मातरिश्वा' नामसे प्रसिद्ध वायुदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको उड़ा सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने भी एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको उड़ा दो। वायुदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं उड़ा सका। वह लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया और बोला कि मैं उस यक्षको नहीं जान सका। तब देवताओंने इन्द्रको उस यक्षका परिचय जाननेके लिये भेजा। परन्तु इन्द्रके वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया और उस जगह हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयीं। इन्द्रके पूछनेपर उमादेवीने कहा कि स्वयं परमात्मा ही तुमलोगोंका अभिमान दूर करनेके लिये यक्षरूपसे प्रकट हुए थे। तात्पर्य है कि सृष्टिमें जो भी बलवत्ता, विशेषता, विलक्षणता देखनेमें आती है, वह सब परमात्मासे ही आयी हुई है (गीता—दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—दृश्य (दीखनेवाले) पदार्थोंमें अपना प्रभाव बतानेके बाद अब भगवान् आगेके श्लोकमें जिस शक्तिसे समष्टि-जगत्में क्रियाएँ हो रही हैं, उस समष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव प्रकट करते हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

अहम्	= मैं	**भूतानि**	= समस्त प्राणियोंको	**सोमः**	= चन्द्रमा
च	= ही	**धारयामि**	= धारण करता हूँ	**भूत्वा**	= होकर
गाम्	= पृथ्वीमें	**च**	= और (मैं ही)	**सर्वाः**	= समस्त
आविश्य	= प्रविष्ट होकर	**रसात्मकः**	= रसस्वरूप	**औषधीः**	= ओषधियों (वनस्पतियों)-को
ओजसा	= अपनी शक्तिसे			**पुष्णामि**	= पुष्ट करता हूँ।

व्याख्या—**'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा'**—भगवान् ही पृथ्वीमें प्रवेश करके उसपर स्थित सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंको धारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीमें जो धारण-शक्ति देखनेमें आती है, वह पृथ्वीकी अपनी न होकर भगवान्की ही है[1]।

वैज्ञानिक भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि पृथ्वीकी अपेक्षा जलका स्तर ऊँचा है और पृथ्वीपर जलका भाग स्थलकी अपेक्षा बहुत अधिक है[2]। ऐसा होनेपर भी पृथ्वी जलमग्न नहीं होती—यह भगवान्की धारण-शक्तिका ही प्रभाव है।

पृथ्वीके उपलक्षणसे यह समझना चाहिये कि पृथ्वीके सिवाय जहाँ भी धारण-शक्ति देखनेमें आती है, वह सब भगवान्की ही है। पृथ्वीमें अन्नादि ओषधियोंको उत्पन्न करनेकी (उत्पादिका) शक्ति एवं गुरुत्वाकर्षण-शक्ति भी भगवान्की ही समझनी चाहिये।

'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः'—चन्द्रमामें दो शक्तियाँ हैं—प्रकाशिका-शक्ति और पोषण-शक्ति। प्रकाशिका शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन

१-(१) द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः। वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः॥
(महाभारत, अनु० १४९। १३४)

'स्वर्ग, सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रसहित आकाश, दस दिशाएँ, पृथ्वी और महासागर—ये सब भगवान् वासुदेवकी शक्तिसे धारण किये हुए हैं।'

(२) पृथिव्यां तिष्ठन् यो यमयति महीं वेद न धरा यमित्यादौ वेदो वदति जगतामीशममलम्।
नियन्तारं ध्येयं मुनिसुरनृणां मोक्षदमसौ शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥
(शङ्कराचार्यकृत कृष्णाष्टकम्)

'पृथ्वीमें रहकर जो पृथ्वीका नियमन करते हैं, परन्तु पृथ्वी जिनको नहीं जानती; 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथ्वीं यमयति यं पृथिवी न वेद' आदि श्रुतियोंसे वेद जिन अमलस्वरूपको जगत्का स्वामी, नियामक, ध्येय और देवता, मनुष्य तथा मुनिजनोंको मोक्ष देनेवाला बताता है, वे शरणागतवत्सल निखिल भुवनेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र मेरे नेत्रोंके विषय हों।'

२-पृथ्वीपर जलका कुल भाग लगभग इकहत्तर प्रतिशत और स्थलका कुल भाग लगभग उनतीस प्रतिशत माना जाता है।

पूर्वश्लोकमें करनेके बाद अब भगवान् इस श्लोकमें चन्द्रमाकी पोषण-शक्तिमें अपना प्रभाव बताते हैं कि चन्द्रमाके माध्यमसे सम्पूर्ण वनस्पतियोंको मैं ही पुष्ट करता हूँ।

चन्द्रमा शुक्लपक्षमें पोषक और कृष्णपक्षमें शोषक होता है। शुक्लपक्षमें रसमय चन्द्रमाकी मधुर किरणोंसे अमृत-वर्षा होनेके कारण ही लता-वृक्षादि पुष्ट होते हैं और फलते-फूलते हैं। माताके उदरमें स्थित शिशु भी शुक्लपक्षमें वृद्धिको प्राप्त होता है।

यहाँ '**सोमः**' पद चन्द्रलोकका वाचक है, चन्द्रमण्डलका नहीं। नेत्रोंसे हमें जो दीखता है, वह चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमण्डलसे भी ऊपर (आँखोंसे न दीखनेवाला) चन्द्रलोक है। उपर्युक्त पदोंमें विशेषरूपसे '**सोमः**' पद देनेका अभिप्राय यह है कि चन्द्रमामें प्रकाशके साथ-साथ अमृत-वर्षाकी शक्ति भी है। वह अमृत पहले चन्द्रलोकसे चन्द्रमण्डलमें आता है और फिर चन्द्रमण्डलसे भूमण्डलपर आता है।

यहाँ '**औषधीः**' पदके अन्तर्गत गेहूँ, चना आदि सब प्रकारके अन्न समझने चाहिये। चन्द्रमाके द्वारा पुष्ट हुए अन्नका भोजन करनेसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी पुष्टि प्राप्त करते हैं। ओषधियों, वनस्पतियोंमें शरीरको पुष्ट करनेकी जो शक्ति है, वह चन्द्रमासे आती है। चन्द्रमाकी वह पोषण-शक्ति भी उसकी अपनी न होकर भगवान्‌की ही है। भगवान् ही चन्द्रमाको निमित्त बनाकर सबका पोषण करते हैं।

परिशिष्ट भाव—पृथ्वी, चन्द्रमा आदि सब भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा श्लोक)। अतः इसके धारक, उत्पादक, पालक, संरक्षक, प्रकाशक आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे अपरा प्रकृति भगवान्से अभिन्न है।

यहाँ 'सोम' शब्द चन्द्रलोकका वाचक है, जो सूर्यसे भी ऊपर है[1]।

सम्बन्ध—समष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव बतानेके बाद अब भगवान् जिस शक्तिसे व्यष्टि-जगत्‌में क्रियाएँ हो रही हैं, उस व्यष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव बताते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

प्राणिनाम्	= प्राणियोंके	**प्राणापान-**		**भूत्वा**	= होकर
देहम्	= शरीरमें	**समायुक्तः**	= प्राण-अपानसे युक्त	**चतुर्विधम्**	= चार प्रकारके
आश्रितः	= रहनेवाला			**अन्नम्**	= अन्नको
अहम्	= मैं	**वैश्वानरः**	= वैश्वानर (जठराग्नि)	**पचामि**	= पचाता हूँ।

व्याख्या—'**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः**'—बारहवें श्लोकमें अग्निकी प्रकाशन-शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन करनेके बाद भगवान् इस श्लोकमें वैश्वानररूप अग्निकी पाचन-शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन करते हैं[2]। तात्पर्य यह है कि अग्निके दोनों ही कार्य (प्रकाश करना और पचाना) भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं।

प्राणियोंके शरीरको पुष्ट करने तथा उनके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् ही वैश्वानर-(जठराग्नि-) के रूपसे उन प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं। मनुष्योंकी तरह लता, वृक्ष आदि स्थावर और पशु, पक्षी आदि जंगम प्राणियोंमें भी वैश्वानरकी पाचन-शक्ति काम करती है। लता, वृक्ष आदि जो खाद्य, जल ग्रहण करते हैं, पाचन-शक्तिके द्वारा उसका पाचन होनेके फलस्वरूप ही उन लता-वृक्षादिकी वृद्धि होती है।

'**प्राणापानसमायुक्तः**'—शरीरमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्रधान वायु एवं नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये पाँच उपप्रधान वायु रहती

१-न विदुः सोम ते मायां ये च नक्षत्रयोनयः। त्वमादित्यपथादूर्ध्वं ज्योतिषां चोपरिस्थितः॥
(पद्मपुराण, सृष्टि० ४१। १२८)

२-'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते।' (बृहदारण्यक० ५। ९। १)
'जो यह पुरुषके भीतर अग्नि है, यह वैश्वानर है, जिससे यह अन्न जो भक्षण किया जाता है, पचाया जाता है।'

हैं*। इस श्लोकमें भगवान् दो प्रधान वायु—प्राण और अपानका ही वर्णन करते हैं; क्योंकि ये दोनों वायु जठराग्निको प्रदीप्त करती हैं। जठराग्निसे पचे हुए भोजनके सूक्ष्म अंश या रसको शरीरके प्रत्येक अंगमें पहुँचानेका सूक्ष्म कार्य भी मुख्यत: प्राण और अपान वायुका ही है।

'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'—प्राणी चार प्रकारके अन्नका भोजन करते हैं—

(१) **भोज्य**—जो अन्न दाँतोंसे चबाकर खाया जाता है; जैसे—रोटी, पुआ आदि।

(२) **पेय**—जो अन्न निगला जाता है; जैसे खिचड़ी, हलवा, दूध, रस आदि।

(३) **चोष्य**—दाँतोंसे दबाकर जिस खाद्य पदार्थका रस चूसा जाता है और बचे हुए असार भागको थूक दिया जाता है; जैसे—ऊख, आम आदि। वृक्षादि स्थावर योनियाँ इसी प्रकारसे अन्नको ग्रहण करती हैं।

(४) **लेह्य**—जो अन्न जिह्वासे चाटा जाता है; जैसे—चटनी, शहद आदि।

अन्नके उपर्युक्त चार प्रकारोंमें भी एक-एकके अनेक भेद हैं। भगवान् कहते हैं कि उन चारों प्रकारके अन्नोंको वैश्वानर-(जठराग्नि-) रूपसे मैं ही पचाता हूँ। अन्नका ऐसा कोई अंश नहीं है, जो मेरी शक्तिके बिना पच सके।

परिशिष्ट भाव—पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करना, चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंका पोषण करना, फिर उनको खानेवाले प्राणियोंके भीतर जठराग्नि होकर खाये हुए अन्नको पचाना आदि सम्पूर्ण कार्य भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं। परन्तु मनुष्य उन कार्योंको अपने द्वारा किया जानेवाला मानकर मुफ्तमें ही अभिमान कर लेता है— **'अहं करोमीति वृथाभिमानः'**; जैसे बैलगाड़ीके नीचे छायामें चलनेवाला कुत्ता समझता है कि बैलगाड़ी मैं ही चलाता हूँ!

सम्बन्ध—पीछेके तीन श्लोकोंमें अपनी प्रभावयुक्त विभूतियोंका वर्णन करके अब उस विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् सब प्रकारसे जाननेयोग्य तत्त्व स्वयंको बताते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

अहम्	= मैं	**ज्ञानम्**	= ज्ञान	**एव**	= ही
च	= ही	**च**	= और	**वेद्यः**	= जाननेयोग्य हूँ।
सर्वस्य	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**अपोहनम्**	= अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है।	**वेदान्तकृत्**	= वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला
हृदि	= हृदयमें			**च**	= और
सन्निविष्टः	= स्थित हूँ			**वेदवित्**	= वेदोंको जाननेवाला
च	= तथा	**सर्वैः**	= सम्पूर्ण	**एव**	= भी
मत्तः	= मुझसे (ही)	**वेदैः**	= वेदोंके द्वारा	**अहम्**	= मैं (ही हूँ)।
स्मृतिः	= स्मृति,	**अहम्**	= मैं		

---

* इन दसों प्राणवायुके भिन्न-भिन्न कार्य इस प्रकार हैं—

(१) प्राण—इसका निवास-स्थान हृदय है। इसके कार्य हैं—श्वासको बाहर निकालना, खाये हुए अन्नको पचाना इत्यादि।

(२) अपान—इसका निवास-स्थान गुदा है। इसके कार्य हैं—श्वासको भीतर ले जाना, मल-मूत्रको बाहर निकालना, गर्भको बाहर निकालना इत्यादि।

(३) समान—इसका निवास-स्थान नाभि है। इसका कार्य है—पचे हुए भोजनके रसको सब अंगोंमें बाँटना।

(४) उदान—इसका निवास-स्थान कण्ठ है। जब भोजन करते हैं, तब उसके गाढ़े भाग और जल-भागको यह अलग-अलग करता है। सूक्ष्मशरीरको स्थूलशरीरसे बाहर निकालना तथा उसे दूसरे शरीर या लोकमें ले जाना भी इसीका कार्य है।

(५) व्यान—इसका निवास-स्थान सम्पूर्ण शरीर है। इसका कार्य है—शरीर तथा उसके अंगोंको सिकोड़ना या फैलाना।

(६) नाग—इसका कार्य है—डकार लेना।

व्याख्या—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'***—पीछेके श्लोकोंमें अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि मैं स्वयं सब प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान हूँ। यद्यपि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी स्थानोंमें भगवान् विद्यमान हैं, तथापि हृदयमें वे विशेषरूपसे विद्यमान हैं।

हृदय शरीरका प्रधान अंग है। सब प्रकारके भाव हृदयमें ही होते हैं। समस्त कर्मोंमें भाव ही प्रधान होता है। भावकी शुद्धिसे समस्त पदार्थ, क्रिया आदिकी शुद्धि हो जाती है। अतः महत्त्व भावका ही है, वस्तु, व्यक्ति, कर्म आदिका नहीं। वह भाव हृदयमें होनेसे हृदयकी बहुत महत्ता है। हृदय सत्त्वगुणका कार्य है, इसलिये भी भगवान् हृदयमें विशेषरूपसे रहते हैं।

भगवान् कहते हैं कि मैं प्रत्येक मनुष्यके अत्यन्त नजदीक उसके हृदयमें रहता हूँ; अतः किसी भी साधकको (मेरेसे दूरी अथवा वियोगका अनुभव करते हुए भी) मेरी प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये। इसलिये पापी-पुण्यात्मा, मूर्ख-पण्डित, निर्धन-धनवान्, रोगी-नीरोग आदि कोई भी स्त्री-पुरुष किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो, भगवत्प्राप्तिका वह पूरा अधिकारी है। आवश्यकता केवल भगवत्प्राप्तिकी ऐसी तीव्र अभिलाषा, लगन, व्याकुलताकी है, जिसमें भगवत्प्राप्तिके बिना रहा न जाय।

परमात्मा सर्वव्यापी अर्थात् सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण होनेपर भी हृदयमें प्राप्त होते हैं। जैसे गायके सम्पूर्ण शरीरमें दूध व्याप्त होनेपर भी वह उसके स्तनोंसे ही प्राप्त होता है अथवा पृथ्वीमें सर्वत्र जल रहनेपर भी वह कुएँ आदिसे ही प्राप्त होता है, ऐसे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथ्वी, वैश्वानर आदि सबमें व्याप्त होनेपर भी परमात्मा 'हृदय' में प्राप्त होते हैं। (गीता—तेरहवें अध्यायका सत्रहवाँ और अठारहवें अध्यायका इकसठवाँ श्लोक)।

परमात्मप्राप्ति-सम्बन्धी विशेष बात

हृदयमें निरन्तर स्थित रहनेके कारण परमात्मा वास्तवमें मनुष्यमात्रको प्राप्त हैं; परन्तु जडता-(संसार-) से माने हुए सम्बन्धके कारण जडताकी तरफ ही दृष्टि रहनेसे नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त प्रतीत हो रहे हैं अर्थात् उनकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो रहा है। जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही सर्वत्र विद्यमान (नित्यप्राप्त) परमात्मतत्त्व स्वतः अनुभवमें आ जाता है।

परमात्मप्राप्तिके लिये जो सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन किया जाता है, उसमें जडता-(असत्-)का आश्रय रहता ही है। कारण है कि जडता-(स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर-) का आश्रय लिये बिना इनका होना सम्भव ही नहीं है। वास्तवमें इनकी सार्थकता जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें ही है। जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होगा, जब ये (सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन) केवल संसारके हितके लिये ही किये जायँ, अपने लिये नहीं।

किसी विशेष साधन, गुण, योग्यता, लक्षण आदिके बदलेमें परमात्मप्राप्ति होगी—यह बिलकुल गलत धारणा है। किसी मूल्यके बदलेमें जो वस्तु प्राप्त होती है, वह उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है—यह सिद्धान्त है। अतः यदि किसी विशेष साधन, योग्यता आदिके द्वारा ही परमात्म-प्राप्तिका होना माना जाय, तो परमात्मा उस साधन, योग्यता आदिसे कम मूल्यके (कमजोर) ही सिद्ध होते हैं, जबकि परमात्मा किसीसे कम मूल्यके नहीं हैं (गीता—ग्यारहवें अध्यायका तैंतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये वे किसी साधन आदिसे खरीदे नहीं जा सकते। इसके सिवाय अगर किसी

---

(७) कूर्म—इसका कार्य है—नेत्रोंको खोलना और बंद करना।

(८) कृकर—इसका कार्य है—छींकना।

(९) देवदत्त—इसका कार्य है—जम्हाई लेना।

(१०) धनंजय—यह मृत्युके बाद भी शरीरमें रहता है, जिससे मृतशरीर फूल जाया करता है। वास्तवमें एक ही प्राणवायुके भिन्न-भिन्न कार्योंके अनुसार उपर्युक्त भेद माने गये हैं।

***द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

'सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा एवं परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किन्तु दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।'

मूल्य-(साधन, योग्यता आदि-) के बदलेमें परमात्माकी प्राप्ति मानी जाय, तो उनसे हमें लाभ भी क्या होगा? क्योंकि उनसे अधिक मूल्यकी वस्तु (साधन आदि) तो हमारे पास पहलेसे है ही!

जैसे सांसारिक पदार्थ कर्मोंसे मिलते हैं, ऐसे परमात्माकी प्राप्ति कर्मोंसे नहीं होती; क्योंकि परमात्मप्राप्ति किसी कर्मका फल नहीं है। प्रत्येक कर्मकी उत्पत्ति अहंभावसे होती है और परमात्मप्राप्ति अहंभावके मिटनेपर होती है। कारण कि अहंभाव कृति (कर्म) है और परमात्मा कृतिरहित हैं। कृतिरहित तत्त्वको किसी कृतिसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है—**'नास्त्यकृतः कृतेन।'** (मुण्डक० १। २। १२) तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि जड-पदार्थोंके द्वारा नहीं, प्रत्युत जडताके त्यागसे होती है। जबतक मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, देश, काल, वस्तु आदिका आश्रय है, तबतक एक परमात्माका आश्रय नहीं हो सकता। मन, बुद्धि आदिके आश्रयसे परमात्मप्राप्ति होगी—यही साधककी मूल भूल है। अगर जडताका आश्रय और विश्वास छूट जाय तथा एकमात्र परमात्माका ही आश्रय और विश्वास हो जाय, तो परमात्मप्राप्तिमें देरी नहीं लग सकती।

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'—किसी बातकी भूली हुई जानकारीका (किसी कारणसे) पुनः प्राप्त होना 'स्मृति' कहलाती है। स्मृति और चिन्तन—दोनोंमें फरक है। नयी बातका 'चिन्तन' और पुरानी बातकी 'स्मृति' होती है। अतः चिन्तन संसारका और स्मृति परमात्माकी होती है; क्योंकि संसार पहले नहीं था और परमात्मा पहले-(अनादिकाल-) से हैं। स्मृतिमें जो शक्ति है, वह चिन्तनमें नहीं है। स्मृतिमें कर्तापनका भाव कम रहता है, जबकि चिन्तनमें कर्तापनका भाव अधिक रहता है।

एक स्मृति की जाती है और एक स्मृति होती है। जो स्मृति की जाती है, वह 'बुद्धि'में और जो होती है, वह 'स्वयं'में होती है। होनेवाली स्मृति जडतासे तत्काल सम्बन्ध-विच्छेद करा देती है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि यह (होनेवाली) स्मृति मेरेसे ही होती है।

परमात्माका अंश होते हुए भी जीव भूलसे परमात्मासे विमुख हो जाता है और अपना सम्बन्ध संसारसे मानने लगता है। इस भूलका नाश होनेपर 'मैं भगवान्‌का ही हूँ, संसारका नहीं' ऐसा साक्षात् अनुभव हो जाना ही 'स्मृति' है (गीता—अठारहवें अध्यायका तिहत्तरवाँ श्लोक)। स्मृतिमें कोई नया ज्ञान या अनुभव नहीं होता, प्रत्युत केवल विस्मृति-(मोह-) का नाश होता है। भगवान्‌से हमारा वास्तविक सम्बन्ध है। इस वास्तविकताका प्रकट होना ही स्मृतिका प्राप्त होना है।

जीवमें निष्कामभाव (कर्मयोग), स्वरूप-बोध (ज्ञान-योग) और भगवत्प्रेम (भक्तियोग)—तीनों स्वतः विद्यमान हैं। जीवको (अनादिकालसे) इनकी विस्मृति हो गयी है। एक बार इनकी स्मृति हो जानेपर फिर विस्मृति नहीं होती। कारण कि यह स्मृति 'स्वयं'में जाग्रत् होती है। 'बुद्धि'में होनेवाली लौकिक स्मृति (बुद्धिके क्षीण होनेपर) नष्ट भी हो सकती है, पर 'स्वयं' में होनेवाली स्मृति कभी नष्ट नहीं होती।

किसी विषयकी जानकारीको 'ज्ञान' कहते हैं। लौकिक और पारमार्थिक जितना भी ज्ञान है, वह सब ज्ञानस्वरूप परमात्माका आभास-मात्र है। अतः ज्ञानको भगवान् अपनेसे ही होनेवाला बताते हैं। वास्तवमें ज्ञान वही है, जो 'स्वयं' से जाना जाय। अनन्त, पूर्ण और नित्य होनेके कारण इस ज्ञानमें कोई सन्देह या भ्रम नहीं होता। यद्यपि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'ज्ञान' कहलाता है, तथापि सीमित, अल्प (अपूर्ण) तथा परिवर्तनशील होनेके कारण इस ज्ञानमें सन्देह या भ्रम रहता है; जैसे-नेत्रोंसे देखनेपर सूर्य अत्यन्त बड़ा होते हुए भी (आकाशमें) छोटा-सा दीखता है इत्यादि। बुद्धिसे जिस बातको पहले ठीक समझते थे, बुद्धिके विकसित अथवा शुद्ध होनेपर वही बात गलत दीखने लग जाती है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान करण-सापेक्ष और अल्प होता है। अल्प ज्ञान ही 'अज्ञान' कहलाता है। इसके विपरीत 'स्वयं' का ज्ञान किसी करण-(इन्द्रिय, बुद्धि आदि-) की अपेक्षा नहीं रखता और वह सदा पूर्ण होता है। वास्तवमें इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'स्वयं' के ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं अर्थात् सत्ता पाते हैं।

संशय, भ्रम, विपर्यय (विपरीत भाव), तर्क-वितर्क आदि दोषोंके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। भगवान् कहते हैं कि ये (संशय आदि) दोष भी मेरी कृपासे ही दूर होते हैं।

शास्त्रोंकी बातें सत्य हैं या असत्य? भगवान्‌को किसने देखा है? संसार ही सत्य है इत्यादि संशय और भ्रम भगवान्‌की कृपासे ही मिटते हैं। सांसारिक पदार्थोंमें अपना हित दीखना, उनकी प्राप्तिमें सुख दीखना, प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले संसारकी सत्ता दीखना आदि विपरीत भाव भी भगवान्‌की कृपासे ही दूर होते हैं। गीतोपदेशके अन्तमें

अर्जुन भी भगवान्‌की कृपासे ही अपने मोहका नाश, स्मृतिकी प्राप्ति और संशयका नाश होना स्वीकार करते हैं (अठारहवें अध्यायका तिहत्तरवाँ श्लोक)।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'—यहाँ **'सर्वैः'** पद वेद एवं वेदानुकूल सम्पूर्ण शास्त्रोंका वाचक है। सम्पूर्ण शास्त्रोंका एकमात्र तात्पर्य परमात्माका वास्तविक ज्ञान कराने अथवा उनकी प्राप्ति करानेमें ही है।

यहाँ भगवान् यह बात स्पष्ट करते हैं कि वेदोंका वास्तविक तात्पर्य मेरी प्राप्ति करानेमें ही है, सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति करानेमें नहीं। श्रुतियोंमें सकामभावका विशेष वर्णन आनेका यह कारण भी है कि संसारमें सकाम मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है। इसलिये श्रुति (सबकी माता होनेसे) उनका भी पालन करती है।

जाननेयोग्य एकमात्र परमात्मा ही हैं, जिनको जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। परमात्माको जाने बिना संसारको कितना ही क्यों न जान लें, जानकारी कभी पूरी नहीं होती, सदा अधूरी ही रहती है*। अर्जुनमें भगवान्‌को जाननेकी विशेष जिज्ञासा थी। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं स्वयं तुम्हारे सामने बैठा हूँ।

'वेदान्तकृत्'—भगवान्‌से ही वेद प्रकट हुए हैं (गीता—तीसरे अध्यायका पन्द्रहवाँ और सत्रहवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। अतः वे ही वेदोंके अन्तिम सिद्धान्तको ठीक-ठीक बताकर वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका अच्छी तरह समन्वय कर सकते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि (वेदोंका पूर्ण वास्तविक ज्ञाता होनेके कारण) मैं ही वेदोंके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय करनेवाला हूँ।

'वेदविदेव चाहम्'—वेदोंके अर्थ, भाव आदिको भगवान् ही यथार्थरूपसे जानते हैं। वेदोंमें कौन-सी बात किस भाव या उद्देश्यसे कही गयी है; वेदोंका यथार्थ तात्पर्य क्या है इत्यादि बातें भगवान् ही पूर्णरूपसे जानते हैं; क्योंकि भगवान्‌से ही वेद प्रकट हुए हैं।

वेदोंमें भिन्न-भिन्न विषय होनेके कारण अच्छे-अच्छे विद्वान् भी एक निर्णय नहीं कर पाते (गीता—दूसरे अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक)। इसलिये वेदोंके यथार्थ ज्ञाता भगवान्‌का आश्रय लेनेसे ही वे वेदोंका तत्त्व जान सकते हैं और 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' से मुक्त हो सकते हैं।

इस (पंद्रहवें) अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने संसारवृक्षको तत्त्वसे जाननेवाले मनुष्यको 'वेदवित्' कहा था। अब इस श्लोकमें भगवान् स्वयंको 'वेदवित्' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संसारके यथार्थ तत्त्वको जान लेनेवाला महापुरुष भगवान्‌से अभिन्न हो जाता है। संसारके यथार्थ तत्त्वको जाननेका अभिप्राय है—'संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और परमात्माकी ही सत्ता है'—इस प्रकार जानते हुए संसारसे माने हुए सम्बन्धको छोड़कर अपना सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ना, संसारका आश्रय छोड़कर भगवान्‌के आश्रित हो जाना।

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके चार अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है—

सातवें अध्यायमें आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक सृष्टिके प्रधान-प्रधान पदार्थोंमें कारणरूपसे सत्रह विभूतियोंका वर्णन करके भगवान्‌ने अपनी सर्वव्यापकता और सर्वरूपता सिद्ध की है।

नवें अध्यायमें सोलहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक क्रिया, भाव, पदार्थ आदिमें कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियोंका वर्णन करके भगवान्‌ने अपनेको सर्वव्यापक बताया है।

दसवें अध्यायका तो नाम ही 'विभूतियोग' है। इस अध्यायमें चौथे और पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्राणियोंके भावोंके रूपमें बीस विभूतियोंका और छठे श्लोकमें व्यक्तियोंके रूपमें पचीस विभूतियोंका वर्णन किया है। फिर बीसवें श्लोकसे उनतालीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बयासी प्रधान विभूतियोंका विशेषरूपसे वर्णन किया है।

इस पन्द्रहवें अध्यायमें बारहवें श्लोकसे पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपना प्रभाव बतलानेके लिये तेरह

---

* **सांगोपांगानपि यदि यश्च वेदानधीयते। वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥**

(महाभारत, शान्ति० ३१८। ५०)

'सांगोपांग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है।'

विभूतियोंका वर्णन किया है[१]।

उपर्युक्त चारों अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें विभूतियोंका वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि साधकको **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९) 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस तत्त्वका अनुभव हो जाय। इसीलिये अपनी विभूतियोंका वर्णन करते समय भगवान्‌ने अपनी सर्वव्यापकताको ही विशेषरूपसे सिद्ध किया है; जैसे—

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' (७। ७)

'मेरेसे बढ़कर इस जगत्‌का दूसरा कोई भी महान् कारण नहीं है।'

'सदसच्चाहमर्जुन' (९। १९)

'सत् और असत्—सब कुछ मैं ही हूँ।'

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (१०। ८)

'मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मेरेसे ही सब जगत् चेष्टा करता है।'

'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।' (१०। ३९)

'चर और अचर कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मेरेसे रहित हो अर्थात् चराचर सब प्राणी मेरे ही स्वरूप हैं।'

इसी प्रकार इस पन्द्रहवें अध्यायमें भी अपनी विभूतियोंके वर्णनका उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (१५। १५)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हूँ।'

तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ परमात्माकी सत्तासे ही सत्तावान् हो रहे हैं। परमात्मासे अलग किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

प्रकाशके अभाव-(अन्धकार-)में कोई वस्तु दिखायी नहीं देती। आँखोंसे किसी वस्तुको देखनेपर पहले प्रकाश दीखता है, उसके बाद वस्तु दीखती है अर्थात् हरेक वस्तु प्रकाशके अन्तर्गत ही दीखती है; किन्तु हमारी दृष्टि प्रकाशपर न जाकर प्रकाशित होनेवाली वस्तुपर जाती है। इसी प्रकार यावन्मात्र वस्तु, क्रिया, भाव आदिका ज्ञान एक विलक्षण और अलुप्त प्रकाश—ज्ञानके अन्तर्गत होता है, जो सबका प्रकाशक और आधार है। प्रत्येक वस्तुसे पहले ज्ञान (स्वयंप्रकाश परमात्मतत्त्व) रहता है। अतः संसारमें परमात्माको व्याप्त कहनेपर भी वस्तुतः संसार बादमें है और उसका अधिष्ठान परमात्मतत्त्व पहले है अर्थात् पहले परमात्मतत्त्व दीखता है, बादमें संसार। परन्तु संसारमें राग होनेके कारण मनुष्यकी दृष्टि उसके प्रकाशक-(परमात्म-तत्त्व-) पर नहीं जाती।

परमात्माकी सत्ताके बिना संसारकी कोई सत्ता नहीं है। परन्तु परमात्मसत्ताकी तरफ दृष्टि न रहने तथा सांसारिक प्राणी-पदार्थोंमें राग या सुखासक्ति रहनेके कारण उन प्राणी-पदार्थोंकी पृथक् (स्वतन्त्र) सत्ता प्रतीत होने लगती है और परमात्माकी वास्तविक सत्ता (जो तत्त्वसे है) नहीं दीखती। यदि संसारमें राग या सुखासक्तिका सर्वथा अभाव हो जाय, तो तत्त्वसे एक परमात्मसत्ता ही दीखने या अनुभवमें आने लगती है। अतः विभूतियोंके वर्णनका तात्पर्य यही है कि किसी भी प्राणी-पदार्थकी तरफ दृष्टि जानेपर साधकको एकमात्र भगवान्‌की स्मृति होनी चाहिये अर्थात् उसे प्रत्येक प्राणी-पदार्थमें भगवान्‌को ही देखना चाहिये (गीता—दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)।

वर्तमानमें समाजकी दशा बड़ी विचित्र है। प्रायः सब लोगोंके अन्तःकरणमें रुपयोंका बहुत ज्यादा महत्त्व हो गया है। रुपये खुद काममें नहीं आते, प्रत्युत उनसे खरीदी गयी वस्तुएँ ही काममें आती हैं; परन्तु लोगोंने रुपयोंके उपयोगको खास महत्त्व न देकर उनकी संख्याकी वृद्धिको ही ज्यादा महत्त्व दे दिया! इसलिये मनुष्यके पास जितने अधिक रुपये होते हैं, वह समाजमें अपनेको उतना ही अधिक बड़ा मान लेता है[२]। इस प्रकार रुपयोंको ही महत्त्व देनेवाला व्यक्ति परमात्माके महत्त्वको समझ ही नहीं सकता। फिर परमात्मप्राप्तिके बिना रहा न जाय—ऐसी लगन उस मनुष्यके भीतर उत्पन्न हो ही कैसे सकती है? जिसके भीतर यह बात बैठी हुई है कि रुपयोंके बिना रहा ही नहीं जा सकता अथवा रुपयोंके बिना काम ही नहीं चल सकता, उसकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि हो

१-इस अध्यायमें वर्णित तेरह विभूतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) सूर्यमें स्थित तेज, (२) चन्द्रमें स्थित तेज, (३) अग्निमें स्थित तेज, (४) पृथ्वीकी धारण-शक्ति, (५) चन्द्रकी पोषण-शक्ति, (६) वैश्वानर, (७) हृदयस्थित अन्तर्यामी, (८) स्मृति, (९) ज्ञान, (१०) अपोहन, (११) वेदोंद्वारा जाननेयोग्य, (१२) वेदान्तका कर्ता और (१३) वेदोंको जाननेवाला।

२-वस्तुतः रुपयोंकी संख्याके आधारपर अपनेको छोटा या बड़ा मानना पतनका चिह्न है। रुपयोंकी संख्या केवल अभिमान बढ़ानेके सिवाय और कुछ काम नहीं आती। अभिमान आसुरी सम्पत्तिका मूल है। जितने भी दुर्गुण-दुराचार, पाप हैं, सब अभिमानरूपी वृक्षकी छायामें रहते हैं।

ही नहीं सकती। वह यह बात समझ ही नहीं सकता कि रुपयोंके बिना भी अच्छी तरह काम चल सकता है।

जिस प्रकार व्यापारीको (एकमात्र धनप्राप्तिका उद्देश्य रहनेपर) माल लेने, माल देने आदि व्यापार-सम्बन्धी प्रत्येक क्रियामें धन ही दीखता है, इसी प्रकार परमात्मतत्त्वके जिज्ञासुको (एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रहनेपर) प्रत्येक वस्तु, क्रिया आदिमें तत्त्वरूपसे परमात्मा ही दीखते हैं। उसको ऐसा अनुभव हो जाता है कि परमात्माके सिवाय दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं, हो सकता ही नहीं।

मार्मिक बात

अर्जुनने चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय पूछा था। गुणोंके संगसे ही जीव संसारमें फँसता है। अतः गुणोंका संग मिटानेके लिये भगवान्ने यहाँ अपने प्रभावका वर्णन किया है। छोटे प्रभावको मिटानेके लिये बड़े प्रभावकी आवश्यकता होती है। अतः जबतक जीवपर गुणों-(संसार-) का प्रभाव है, तबतक भगवान्के प्रभावको जाननेकी बड़ी आवश्यकता है।

अपने प्रभावका वर्णन करते हुए भगवान्ने (इस अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक) यह बताया कि मैं ही सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता हूँ; मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके सब प्राणियोंको धारण करता हूँ; मैं ही पृथ्वीपर अन्न उत्पन्न करके उसको पुष्ट करता हूँ; जब मनुष्य उस अन्नको खाता है, तब मैं ही वैश्वानररूपसे उस अन्नको पचाता हूँ और मनुष्यमें स्मृति, ज्ञान और अपोहन भी मैं ही करता हूँ। इस वर्णनसे सिद्ध होता है कि आदिसे अन्ततक, समष्टिसे व्यष्टितककी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्के अन्तर्गत, उन्हींकी शक्तिसे हो रही हैं। मनुष्य अहंकारवश अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है अर्थात् उन क्रियाओंको व्यक्तिगत मान लेता है और बँध जाता है।

परिशिष्ट भाव—इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्ने जो बात कही थी, उसका उपसंहार इस श्लोकमें करते हैं।

पहलेके तीन श्लोकोंमें भगवान्ने प्रभाव और क्रियारूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है, पर प्रस्तुत श्लोकमें स्वयं अपना वर्णन करते हैं। तात्पर्य है कि इस श्लोकमें स्वयं भगवान्का वर्णन है, आदित्यगत, चन्द्रगत, अग्निगत अथवा वैश्वानरगत भगवान्का वर्णन नहीं। मूलमें एक ही तत्त्व है, केवल वर्णनमें फर्क है।

पहले '**ममैवांशो जीवलोके**' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् 'अपने' हैं और यहाँ '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् 'अपनेमें' हैं। भगवान्को 'अपना' स्वीकार करनेसे उनमें स्वाभाविक प्रेम होगा और 'अपनेमें' स्वीकार करनेसे उनको पानेके लिये दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं रहेगी।

'**अपोहनम्**' पदका अर्थ है—'**अपगत ओहनम्**' अर्थात् संशयका निवारण। 'वेदान्त' का अर्थ है—वेदोंका अन्त अर्थात् निष्कर्ष, निचोड़—'**उभयोरपि दृष्टोऽन्तः**' (गीता २। १६)

भगवान् कहते हैं कि वेद अनेक हैं, पर उन सबमें जाननेयोग्य मैं एक ही हूँ और उन सबको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ।

सम्बन्ध—भगवान्ने इसी अध्यायके पहले श्लोकसे पंद्रहवें श्लोकतक (तीन प्रकरणोंमें) क्रमशः संसार, जीवात्मा और परमात्माका विस्तारसे वर्णन किया। अब उस विषयका उपसंहार करते हुए आगेके दो श्लोकोंमें उन तीनोंका क्रमशः क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम नामसे स्पष्ट वर्णन करते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

लोके	= इस संसारमें	**द्वौ**	= दो प्रकारके	**क्षरः**	= क्षर
क्षरः	= क्षर (नाशवान्)	**एव**	= ही	**च**	= और
च	= और	**पुरुषौ**	= पुरुष हैं।	**कूटस्थः**	= जीवात्मा
अक्षरः	= अक्षर (अविनाशी)—	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**अक्षरः**	= अक्षर
इमौ	= ये	**भूतानि**	= प्राणियोंके शरीर	**उच्यते**	= कहा जाता है।

व्याख्या—‘**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**’—यहाँ ‘**लोके**’ पदको सम्पूर्ण संसारका वाचक समझना चाहिये। इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें ‘**जीवलोके**’ पद भी इसी अर्थमें आया है।

इस जगत्‌में दो विभाग जाननेमें आते हैं—शरीरादि नाशवान् पदार्थ (जड) और अविनाशी जीवात्मा (चेतन)। जैसे, विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक तो प्रत्यक्ष दीखनेवाला शरीर है और एक उसमें रहनेवाला जीवात्मा है। जीवात्माके रहनेसे ही प्राण कार्य करते हैं और शरीरका संचालन होता है। जीवात्माके साथ प्राणोंके निकलते ही शरीरका संचालन बंद हो जाता है और शरीर सड़ने लगता है। लोग उस शरीरको जला देते हैं। कारण कि महत्त्व नाशवान् शरीरका नहीं, प्रत्युत उसमें रहनेवाले अविनाशी जीवात्माका है।

पंचमहाभूतों-(आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी-) से बने हुए शरीरादि जितने पदार्थ हैं, वे सभी जड और नाशवान् हैं। प्राणियोंके (प्रत्यक्ष देखनेमें आनेवाले) स्थूलशरीर स्थूल समष्टि-जगत्‌के साथ एक हैं; दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे युक्त सूक्ष्मशरीर सूक्ष्म समष्टि-जगत्‌के साथ एक हैं और कारण-शरीर (स्वभाव, कर्मसंस्कार, अज्ञान) कारण समष्टि-जगत्-(मूल प्रकृति-) के साथ एक हैं। ये सब क्षरणशील (नाशवान्) होनेके कारण ‘क्षर’ नामसे कहे गये हैं।

वास्तवमें ‘व्यष्टि’ नामसे कोई वस्तु है ही नहीं; केवल समष्टि-संसारके थोड़े अंशकी वस्तुको अपनी माननेके कारण उसको व्यष्टि कह देते हैं। संसारके साथ शरीर आदि वस्तुओंकी भिन्नता केवल (राग-ममता आदिके कारण) मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। मात्र पदार्थ और क्रियाएँ प्रकृतिकी ही हैं[1]। इसलिये स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरकी समस्त क्रियाएँ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण समष्टि-संसारके हितके लिये ही करनी हैं, अपने लिये नहीं।

जिस तत्त्वका कभी विनाश नहीं होता और जो सदा निर्विकार रहता है, उस जीवात्माका वाचक यहाँ ‘**अक्षरः**’ पद है[2]। प्रकृति जड है और जीवात्मा (चेतन परमात्माका अंश होनेसे) चेतन है।

इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसका छेदन करनेके लिये कहा था, उस संसारको यहाँ ‘**क्षरः**’ पदसे और सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपना अंश बताया था, उस जीवात्माको यहाँ ‘**अक्षरः**’ पदसे कहा गया है।

यहाँ आये क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—ये तीनों ही शब्द गीतामें तीनों लिंगोंमें आये हैं[3]। इससे यह समझना चाहिये कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा न तो स्त्री हैं, न पुरुष हैं और न नपुंसक ही हैं। वास्तवमें लिंग भी शब्दकी

१-पदार्थों और क्रियाओंको संसारका मानना ‘कर्मयोग’, प्रकृतिका मानना ‘ज्ञानयोग’ और भगवान्‌का मानना ‘भक्तियोग’ है। इनको चाहे जिसका मानें, पर ये अपने नहीं हैं—यह तो मानना ही पड़ेगा।

२-गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इन तीनोंका एक साथ वर्णन भिन्न-भिन्न नामोंसे इस प्रकार हुआ है।

अध्याय-श्लोक	क्षर	अक्षर	पुरुषोत्तम
७। ४—६	अपरा प्रकृति	परा प्रकृति	अहम्
८। ३-४	अधिभूत; कर्म	अध्यात्म; अधिदैव	ब्रह्म; अधियज्ञ
१३। १-२	क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ	माम्
१४। ३-४	महद्ब्रह्म; योनि	गर्भ; बीज	अहम्; पिता

३-गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमका वर्णन तीनों लिंगोंमें मिलता है। उदाहरणार्थ—

(१) क्षर—क्षरः (१५। १६)—पुँल्लिंग
अपरा (७। ५)—स्त्रीलिंग
महद्ब्रह्म (१४। ३-४)—नपुंसकलिंग

(२) अक्षर—जीवभूतः (१५। ७)—पुँल्लिंग
जीवभूताम् (७। ५)—स्त्रीलिंग
अध्यात्मम् (८। ३)—नपुंसकलिंग

(३) पुरुषोत्तम—भर्ता (९। १८)—पुँल्लिंग
गतिः (९। १८)—स्त्रीलिंग
शरणम् (९। १८)—नपुंसकलिंग

दृष्टिसे है, तत्त्वसे कोई लिंग नहीं है।

क्षर और अक्षर—दोनोंसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' नामकी सिद्धिके लिये यहाँ भगवान्‌ने क्षर और अक्षर—दोनोंको 'पुरुष' नामसे कहा है।

'क्षरः सर्वाणि भूतानि'—इसी अध्यायके आरम्भमें जिस संसारवृक्षका स्वरूप बताकर उसका छेदन करनेकी प्रेरणा की गयी थी, उसी संसारवृक्षको यहाँ 'क्षर' नामसे कहा गया है।

यहाँ **'भूतानि'** पद प्राणियोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंका ही वाचक समझना चाहिये। कारण कि यहाँ भूतोंको नाशवान् बताया गया है। प्राणियोंके शरीर ही नाशवान् होते हैं, प्राणी स्वयं नहीं। अतः यहाँ **'भूतानि'** पद जड शरीरोंके लिये ही आया है।

'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'—इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपना सनातन अंश बताया है, उसी जीवात्माको यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है।

जीवात्मा चाहे जितने शरीर धारण करे, चाहे जितने लोकोंमें जाय, उसमें कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता; वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है (गीता—आठवें अध्यायका उन्नीसवाँ और तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)। इसीलिये यहाँ उसको 'कूटस्थ' कहा गया है।

गीतामें परमात्मा और जीवात्मा दोनोंके स्वरूपका वर्णन प्रायः समान ही मिलता है। जैसे परमात्माको (बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें) 'कूटस्थ' तथा (आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें) 'अक्षर' कहा गया है, ऐसे ही यहाँ (पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें) जीवात्माको भी 'कूटस्थ' और 'अक्षर' कहा गया है। जीवात्मा और परमात्मा—दोनोंमें ही परस्पर तात्त्विक एवं स्वरूपगत एकता है।

स्वरूपसे जीवात्मा सदा-सर्वदा निर्विकार ही है; परन्तु भूलसे प्रकृति और उसके कार्य शरीरादिसे अपनी एकता मान लेनेके कारण उसकी 'जीव' संज्ञा हो जाती है, नहीं तो (अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार) वह साक्षात् परमात्मतत्त्व ही है।

परिशिष्ट भाव—पहले छठे श्लोकमें और फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान्‌ने 'अलौकिक तत्त्वका वर्णन किया कि स्वतन्त्र सत्ता अलौकिककी ही है, लौकिककी नहीं, लौकिककी सत्ता अलौकिकसे ही है। अलौकिकसे ही लौकिक प्रकाशित होता है। लौकिकमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब अलौकिकका ही है। अब सोलहवें श्लोकमें भगवान् **'लोके'** शब्दसे 'लौकिक तत्त्व' का वर्णन करते हैं।

जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों 'लौकिक' हैं—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** और भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् 'अलौकिक' हैं—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो योगमार्ग भी 'लौकिक' हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा ....'** (गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; परन्तु भक्तियोग 'अलौकिक' है, जो भगवान्‌को लेकर चलता है। सातवें अध्यायमें वर्णित 'अपरा प्रकृति' को यहाँ 'क्षर' नामसे और 'परा' प्रकृति' को यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

उत्तमः	= उत्तम	**यः**	= जो	**ईश्वरः**	= ईश्वर
पुरुषः	= पुरुष	**परमात्मा**	= 'परमात्मा'—	**लोकत्रयम्**	= तीनों लोकोंमें
तु	= तो	**इति**	= इस नामसे	**आविश्य**	= प्रविष्ट होकर (सबका)
अन्यः	= अन्य (विलक्षण) ही है,	**उदाहृतः**	= कहा गया है। (वही)	**बिभर्ति**	= भरण-पोषण करता है।
		अव्ययः	= अविनाशी		

व्याख्या—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'**—पूर्वश्लोकमें क्षर और अक्षर दो प्रकारके पुरुषोंका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यह बताते हैं कि उन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है*।

---

*(१) **द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।**
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५। १)

यहाँ **'अन्यः'** पद परमात्माको अविनाशी अक्षर-(जीवात्मा-) से भिन्न बतानेके लिये नहीं, प्रत्युत उससे विलक्षण बतानेके लिये आया है। इसीलिये भगवान्ने आगे अठारहवें श्लोकमें अपनेको नाशवान् क्षरसे 'अतीत' और अविनाशी अक्षरसे 'उत्तम' बताया है। परमात्माका अंश होते हुए भी जीवात्माकी दृष्टि या खिंचाव नाशवान् क्षरकी ओर हो रहा है। इसीलिये यहाँ भगवान्को उससे विलक्षण बताया गया है।

'परमात्मेत्युदाहृतः'—उस उत्तम पुरुषको ही 'परमात्मा' नामसे कहा जाता है। 'परमात्मा' शब्द निर्गुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—परम (श्रेष्ठ) आत्मा अथवा सम्पूर्ण जीवोंकी आत्मा। इस श्लोकमें 'परमात्मा' और 'ईश्वर'—दोनों शब्द आये हैं, जिसका तात्पर्य है कि निर्गुण और सगुण सब एक पुरुषोत्तम ही है।

'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'—वह उत्तम पुरुष (परमात्मा) तीनों लोकोंमें अर्थात् सर्वत्र समानरूपसे नित्य व्याप्त है।

यहाँ **'बिभर्ति'** पदका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंका भरण-पोषण करते हैं, पर जीवात्मा संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण भूलसे सांसारिक व्यक्तियों आदिको अपना मानकर उनके भरण-पोषणादिका भार अपने ऊपर ले लेता है। इससे वह व्यर्थ ही दुःख पाता रहता है[1]।

भगवान्को **'अव्ययः'** कहनेका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करते रहनेपर भी भगवान्का कोई व्यय (खर्चा) नहीं होता अर्थात् उनमें किसी तरहकी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती। वे सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

'ईश्वरः' शब्द सगुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—शासन करनेवाला।

मार्मिक बात

यद्यपि माता-पिता बालकका पालन-पोषण किया करते हैं, तथापि बालकको इस बातका ज्ञान नहीं होता कि मेरा पालन-पोषण कौन करता है, कैसे करता है और किसलिये करता है? इसी तरह यद्यपि भगवान् मात्र प्राणियोंका पालन-पोषण करते हैं, तथापि अज्ञानी मनुष्यको (भगवान्पर दृष्टि न रहनेसे) इस बातका पता ही नहीं लगता कि मेरा पालन-पोषण कौन करता है। भगवान्का शरणागत भक्त ही इस बातको ठीक तरहसे जानता है कि एक भगवान् ही सबका सम्यक् प्रकारसे पालन-पोषण कर रहे हैं।

पालन-पोषण करनेमें भगवान् किसीके साथ कोई पक्षपात (विषमता) नहीं करते। वे भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा, आस्तिक-नास्तिक आदि सभीका समानरूपसे पालन-पोषण करते हैं[2]। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि भगवान्द्वारा रचित सृष्टिमें सूर्य सबको समानरूपसे प्रकाश देता है, पृथ्वी सबको समानरूपसे धारण करती है, वैश्वानर-अग्नि सबके अन्नको समानरूपसे पचाती है, वायु सबको (श्वास लेनेके लिये) समानरूपसे प्राप्त होती है, अन्न-जल सबको समानरूपसे तृप्त करते हैं, इत्यादि।

'जिस ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ, छिपे हुए, असीम और परम अक्षर परमात्मामें विद्या और अविद्या दोनों स्थित हैं, वही ब्रह्म है। विनाशशील जडवर्ग तो अविद्या नामसे कहा गया है और अविनाशी जीवात्मा विद्या नामसे। जो इन विद्या और अविद्या दोनोंपर शासन करता है, वह परमेश्वर इन दोनोंसे भिन्न—सर्वथा विलक्षण है।'

(२) क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् १। १०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसे भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन दोनों-(क्षर और अक्षर-) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

१-भरण-पोषणकी बात भक्तिमार्गमें ही आ सकती है, ज्ञानमार्गमें नहीं। कारण कि भक्तिमार्गमें जीव और परमात्मामें भिन्नता मानी जाती है। इसलिये इस प्रकरणको भक्तिका ही मानना चाहिये।

२-अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा। श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
अन्तःस्वभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः। खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति॥

(प्रबोधसुधाकर २५२-२५३)

'किसीपर कृपा करते समय भगवान् ऐसा विचार नहीं करते कि यह जाति, रूप, धन और आयुसे उत्तम है या अधम? स्तुत्य है या निन्द्य?'

'यह अन्तरात्मा-रूपी महामेघ आन्तरिक भावोंका ही भोक्ता है। मेघ क्या वर्षाके समय इस बातका विचार करता है कि यह खदिर (खैर) है अथवा चम्पक (चम्पा)?'

परिशिष्ट भाव—पुरुषोत्तमको '*अन्य*' कहनेका तात्पर्य है कि क्षर और अक्षर तो लौकिक हैं, पर पुरुषोत्तम दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं। अतः परमात्मा विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं। परमात्माके होनेमें भक्त, सन्त-महात्मा, वेद और शास्त्र ही प्रमाण हैं। '*अन्य*' का खुलासा भगवान्‌ने आगेके श्लोकमें किया है।

'**यो लोकत्रयमाविश्य**.....'—इन पदोंमें बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतकका भाव आ गया है। मनुष्यका कर्तव्य तो मनुष्यलोकमें है, पर भगवान्‌का कर्तव्य तीनों लोकोंमें है। वास्तवमें भगवान्‌का अपना कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी वे केवल जीवोंके हितके लिये कर्तव्य करते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका बाईसवाँ, तेईसवाँ और चौबीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित उत्तम पुरुषके साथ अपनी एकता बताकर अब साकाररूपसे प्रकट भगवान् श्रीकृष्ण अपना अत्यन्त गोपनीय रहस्य प्रकट करते हैं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

यस्मात्	= कारण कि	**अक्षरात्**	= अक्षरसे	**च**	= और
अहम्	= मैं	**अपि**	= भी	**वेदे**	= वेदमें
क्षरम्	= क्षरसे	**उत्तमः**	= उत्तम हूँ,	**पुरुषोत्तमः**	= 'पुरुषोत्तम' (नामसे)
अतीतः	= अतीत हूँ	**अतः**	= इसलिये	**प्रथितः**	= प्रसिद्ध
च	= और	**लोके**	= लोकमें	**अस्मि**	= हूँ।

व्याख्या—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**'—इन पदोंमें भगवान्‌का यह भाव है कि क्षर (प्रकृति) प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और मैं नित्य-निरन्तर निर्विकाररूपसे ज्यों-का-त्यों रहनेवाला हूँ। इसलिये मैं क्षरसे सर्वथा अतीत हूँ।

शरीरसे पर (व्यापक, श्रेष्ठ, प्रकाशक, सबल, सूक्ष्म) इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंसे पर मन है और मनसे पर बुद्धि है (गीता—तीसरे अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार एक-दूसरेसे पर होते हुए भी शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि एक ही जातिके, जड हैं। परन्तु परमात्मतत्त्व इनसे भी अत्यन्त पर है; क्योंकि वह जड नहीं है, प्रत्युत चेतन है।

'**अक्षरादपि चोत्तमः**'—यद्यपि परमात्माका अंश होनेके कारण जीवात्मा-(अक्षर-) की परमात्मासे तात्त्विक एकता है, तथापि यहाँ भगवान् अपनेको जीवात्मासे भी उत्तम बताते हैं। इसके कारण ये हैं—(१) परमात्माका अंश होनेपर भी जीवात्मा क्षर-(जड प्रकृति-) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) और प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हो जाता है, जबकि परमात्मा (प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण) कभी मोहित नहीं होते (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। (२) परमात्मा प्रकृतिको अपने अधीन करके लोकमें आते, अवतार लेते हैं (गीता—चौथे अध्यायका छठा श्लोक), जबकि जीवात्मा प्रकृतिके वशमें होकर लोकमें आता है (गीता—आठवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। (३) परमात्मा सदैव निर्लिप्त रहते हैं, (गीता—चौथे अध्यायका चौदहवाँ और नवें अध्यायका नवाँ श्लोक), जबकि जीवात्माको निर्लिप्त होनेके लिये साधन करना पड़ता है (गीता—चौथे अध्यायका अठारहवाँ और सातवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)।

भगवान्‌द्वारा अपनेको क्षरसे 'अतीत' और अक्षरसे 'उत्तम' बतानेसे यह भाव भी प्रकट होता है कि क्षर और अक्षर—दोनोंमें भिन्नता है। यदि उन दोनोंमें भिन्नता न होती, तो भगवान् अपनेको या तो उन दोनोंसे ही अतीत बताते या दोनोंसे ही उत्तम बताते। अतः यह सिद्ध होता है कि जैसे भगवान् क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हैं, ऐसे ही अक्षर भी क्षरसे अतीत और उत्तम है।

'**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः**'—यहाँ '**लोके**' पदका अर्थ है—पुराण, स्मृति आदि शास्त्र। शास्त्रोंमें भगवान् 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं।

शुद्ध ज्ञानका नाम 'वेद' है, जो अनादि है। वही ज्ञान आनुपूर्वीरूपसे ऋक्, यजुः आदि वेदोंके रूपसे प्रकट हुआ है। वेदोंमें भी भगवान् 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं।

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने कहा था कि क्षर और अक्षर—दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है। वह उत्तम पुरुष कौन है—इसको बताते हुए भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि वह उत्तम पुरुष—'**पुरुषोत्तम**' मैं ही हूँ।

विशेष बात

(१) भौतिक सृष्टिमात्र 'क्षर' (नाशवान्) है और परमात्माका सनातन अंश जीवात्मा 'अक्षर' (अविनाशी) है। क्षरसे अतीत और उत्तम होनेपर भी अक्षरने क्षरसे अपना सम्बन्ध मान लिया—इससे बढ़कर और कोई दोष, भूल या गलती है ही नहीं। क्षरके साथ यह सम्बन्ध केवल माना हुआ है, वास्तवमें एक क्षण भी रहनेवाला नहीं है। जैसे बाल्यावस्थासे अबतक शरीर बिलकुल बदल गया, फिर भी हम कहते हैं कि 'मैं वही हूँ।' यह भी हम नहीं बता सकते कि अमुक दिन बाल्यावस्था खत्म हुई और युवावस्था शुरू हुई। कारण कि नदीके प्रवाहकी तरह शरीर निरन्तर ही बहता रहता है, जब कि अक्षर (जीवात्मा) नदीमें स्थित शिला-(चट्टान-) की तरह सदा अचल और असंग रहता है। यदि अक्षर भी क्षरकी तरह निरन्तर परिवर्तनशील और नाशवान् होता तो इसकी आफत मिट जाती। परन्तु स्वयं (अक्षर) अपरिवर्तनशील और अविनाशी होते हुए भी निरन्तर परिवर्तनशील और नाशवान् क्षरको पकड़ लेता है—उसको अपना मान लेता है। होता यह है कि अक्षर क्षरको छोड़ता नहीं और क्षर एक क्षण भी ठहरता नहीं। इस आफतको मिटानेका सुगम उपाय है—क्षर-(शरीरादि-) को क्षर-(संसार-) की ही सेवामें लगा दिया जाय—उसको संसाररूपी वाटिकाकी खाद बना दी जाय।

मनुष्यको शरीरादि नाशवान् पदार्थ अधिकार करने अथवा अपना माननेके लिये नहीं मिले हैं, प्रत्युत सेवा करनेके लिये ही मिले हैं। इन पदार्थोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेकी ही मनुष्यपर जिम्मेवारी है, अपना माननेकी बिलकुल जिम्मेवारी नहीं।

(२) पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान्ने पहले क्षर—संसार-वृक्षका वर्णन किया। फिर उसका छेदन करके परम पुरुष परमात्माके शरण होने अर्थात् संसारसे अपनापन हटाकर एकमात्र परमात्माको अपना माननेकी प्रेरणा की। फिर अक्षर—जीवात्माको अपना सनातन अंश बताते हुए उसके स्वरूपका वर्णन किया। उसके बाद भगवान्ने (बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक) अपने प्रभावका वर्णन करते हुए बताया कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मेरा ही तेज है; मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे चराचर सब प्राणियोंको धारण करता हूँ; मैं ही अमृतमय चन्द्रके रूपसे सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ; वैश्वानर अग्निके रूपमें मैं ही प्राणियोंके शरीरमें स्थित होकर उनके द्वारा खाये हुए अन्नको पचाता हूँ; मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान हूँ; मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (भ्रम, संशय आदि दोषोंका नाश) होता है; वेदादि सब शास्त्रोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ; और वेदोंके अन्तिम सिद्धान्तका निर्णय करनेवाला तथा वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। इस प्रकार अपना प्रभाव प्रकट करनेके बाद इस श्लोकमें भगवान् यह गुह्यतम रहस्य प्रकट करते हैं कि जिसका यह सब प्रभाव है, वह (क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम) 'पुरुषोत्तम' मैं (साक्षात् साकाररूपसे प्रकट श्रीकृष्ण) ही हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनपर बहुत विशेष कृपा करके ही अपने रहस्यकी बात अपने मुखसे प्रकट की है; जैसे—कोई पिता अपने पुत्रके सामने अपनी गुप्त सम्पत्ति प्रकट कर दे अथवा कोई आदमी किसी भूले-भटके मनुष्यको अपना परिचय दे दे कि जिसके लिये तू भटक रहा है, वह मैं ही हूँ और तेरे सामने बैठा हूँ!

परिशिष्ट भाव—अपनी अलौकिकताकी तरफ दृष्टि करानेके लिये यहाँ भगवान्ने '**यस्मात्**' पद दिया है।

'**अक्षरादपि चोत्तमः**'—'अक्षर' शब्द जीवात्माके लिये भी आता है और ब्रह्मके लिये भी—'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (गीता ८। ३)। यह शब्द सब जगह चेतनका वाचक ही आता है, जड़का वाचक कहीं नहीं आता।

क्षर और अक्षरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पर परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता है। क्षर और अक्षर दोनों परमात्मामें ही रहते हैं। परन्तु अक्षर अर्थात् जीव क्षरके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसके अधीन हो जाता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। परमात्मा स्वतः असंग रहते हैं, वे क्षरके अधीन नहीं होते—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**'। इसलिये परमात्मा अक्षर (जीव) से भी उत्तम हैं। अगर जीव जगत्के साथ सम्बन्ध न जोड़कर उसके स्वामी परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़े तो वह परमात्मासे अभिन्न (आत्मीय) हो जायगा—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)।

मुक्तिमें तो अक्षर (स्वरूप)में स्थिति होती है, पर भक्तिमें अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है। स्वरूप अंश है, पुरुषोत्तम अंशी हैं।

सम्बन्ध—चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिस अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कही थी और जिसको प्राप्त करानेके लिये इस पन्द्रहवें अध्यायमें संसार, जीव और परमात्माका विस्तृत विवेचन किया गया, उसका अब आगेके श्लोकमें उपसंहार करते हैं।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

भारत	= हे भरतवंशी अर्जुन!	**माम्**	= मुझे	**सर्वभावेन**	= सब प्रकारसे
एवम्	= इस प्रकार	**पुरुषोत्तमम्**	= पुरुषोत्तम	**माम्**	= मेरा ही
यः	= जो	**जानाति**	= जानता है,	**भजति**	= भजन करता है।
असम्मूढः	= मोहरहित मनुष्य	**सः**	= वह		
		सर्ववित्	= सर्वज्ञ		

व्याख्या—**'यो मामेवमसम्मूढः'**—जीवात्मा परमात्माका सनातन अंश है। अतः अपने अंशी परमात्माके वास्तविक सम्बन्ध-(जो सदासे ही है-) का अनुभव करना ही उसका असम्मूढ़ (मोहसे रहित) होना है।

संसार या परमात्माको तत्त्वसे जाननेमें मोह (मूढ़ता) ही बाधक है। किसी वस्तुकी वास्तविकताका ज्ञान तभी हो सकता है, जब उस वस्तुसे राग या द्वेषपूर्वक माना गया कोई सम्बन्ध न हो। नाशवान् पदार्थोंसे राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध मानना ही मोह है।

संसारको तत्त्वसे जानते ही परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है और परमात्माको तत्त्वसे जानते ही संसारसे अपनी भिन्नताका अनुभव हो जाता है। तात्पर्य है कि संसारको तत्त्वसे जाननेसे संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और परमात्माको तत्त्वसे जाननेसे परमात्मासे वास्तविक सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

संसारसे अपना सम्बन्ध मानना ही भक्तिमें व्यभिचार-दोष है। इस व्यभिचार-दोषसे सर्वथा रहित होनेमें ही उपर्युक्त पदोंका भाव समझना चाहिये।

'जानाति पुरुषोत्तमम्'—जिसकी मूढ़ता सर्वथा नष्ट हो गयी है, वही मनुष्य भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जानता है।

क्षरसे सर्वथा अतीत पुरुषोत्तम-(परमपुरुष परमात्मा-) को ही सर्वोपरि मानकर उनके सम्मुख हो जाना, केवल उन्हींको अपना मान लेना ही भगवान्‌को यथार्थरूपसे 'पुरुषोत्तम' जानना है।

संसारमें जो कुछ भी प्रभाव देखने-सुननेमें आता है, वह सब एक भगवान्-(पुरुषोत्तम-) का ही है—ऐसा मान लेनेसे संसारका खिंचाव सर्वथा मिट जाता है। यदि संसारका थोड़ा-सा भी खिंचाव रहता है, तो यही समझना चाहिये कि अभी भगवान्‌को दृढ़तासे माना ही नहीं।

'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'—जो भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान लेता है और इस विषयमें जिसके अन्तःकरणमें कोई विकल्प, भ्रम या संशय नहीं रहता, उस मनुष्यके लिये जाननेयोग्य कोई तत्त्व शेष नहीं रहता। इसलिये भगवान् उसको 'सर्ववित्' कहते हैं*।

भगवान्‌को जाननेवाला व्यक्ति कितना ही कम पढ़ा-लिखा क्यों न हो, वह सब कुछ जाननेवाला है; क्योंकि उसने जाननेयोग्य तत्त्वको जान लिया। उसको और कुछ भी जानना शेष नहीं है।

जो मनुष्य भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान लेता है, उस 'सर्ववित्' मनुष्यकी पहचान यह है कि वह सब प्रकारसे स्वतः भगवान्‌का ही भजन करता है।

जब मनुष्य भगवान्‌को 'क्षरसे अतीत' जान लेता है, तब उसका मन (राग) क्षर-(संसार-) से हटकर भगवान्‌में लग जाता है और जब वह भगवान्‌को 'अक्षरसे

---

* **तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥ (प्रश्नोपनिषद् ४। ११)**
'हे सोम्य! उस अविनाशी परमात्माको जो कोई जान लेता है, वह सर्वज्ञ है। वह सर्वरूप परमेश्वरमें प्रविष्ट हो जाता है।'

उत्तम' जान लेता है, तब उसकी बुद्धि (श्रद्धा) भगवान्‌में लग जाती है*। फिर उसकी प्रत्येक वृत्ति और क्रियासे स्वतः भगवान्‌का भजन होता है। इस प्रकार सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन करना ही 'अव्यभिचारिणी भक्ति' है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सांसारिक पदार्थोंसे जबतक मनुष्य रागपूर्वक अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन नहीं कर सकता। कारण कि जहाँ राग होता है, वृत्ति स्वतः वहीं जाती है।

'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—इस वास्तविकताको दृढ़तापूर्वक मान लेनेसे स्वतः सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन होता है। फिर भक्तकी मात्र क्रियाएँ (सोना, जागना, बोलना, चलना, खाना-पीना आदि) भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं, अपने लिये नहीं।

ज्ञानमार्गमें 'जानना' और भक्तिमार्गमें 'मानना' मुख्य होता है। जिस बातमें किंचिन्मात्र भी सन्देह न हो, उसे दृढ़तापूर्वक 'मानना' ही भक्तिमार्गमें 'जानना' है। भगवान्‌को सर्वोपरि मान लेनेके बाद भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌का ही भजन करता है (गीता—दसवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)।

भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' (सर्वोपरि) माननेसे भी मनुष्य 'सर्ववित्' हो जाता है, फिर सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन करते हुए भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान जाय—इसमें तो कहना ही क्या है!

परिशिष्ट भाव—'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्'—जो भगवान्‌को जानता है, वही वास्तवमें 'असम्मूढ़' है (गीता—दसवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। परन्तु जो भगवान्‌को नहीं जानता, वह 'मूढ़' है—'**अवजानन्ति मां मूढाः**' (गीता ९। ११)।

'**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत**'—क्षर और अक्षर दोनों ही समग्र भगवान्‌के अंग हैं; अतः इनको जाननेवाला मनुष्य सर्ववित् (सर्वज्ञ) नहीं होता। जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम पुरुषोत्तमको जानता है, वही मनुष्य 'सर्ववित्' अर्थात् समग्रको जाननेवाला है। ऐसा सर्ववित् भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा रहता है—'**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते**' (गीता ६। ३१); क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं।

गीतामें 'सर्ववित्' शब्द केवल भक्तके लिये ही आया है। भक्त समग्रको अर्थात् लौकिक और अलौकिक दोनोंको जानता है, इसलिये वह सर्ववित् होता है। लौकिकके अन्तर्गत अलौकिक नहीं आ सकता, पर अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है। अतः निर्गुण तत्त्व (अक्षर) को जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी सर्ववित् नहीं होता, प्रत्युत समग्र भगवान्‌को जाननेवाला भक्त सर्ववित् होता है।

सम्बन्ध—'अरुन्धती-दर्शन-न्याय'-(स्थूलसे क्रमशः सूक्ष्मकी ओर जाने-) के अनुसार भगवान्‌ने इस अध्यायमें पहले 'क्षर' और फिर 'अक्षर' का विवेचन करनेके बाद अन्तमें 'पुरुषोत्तम' का वर्णन किया—अपने पुरुषोत्तमत्वको सिद्ध किया। ऐसा वर्णन करनेका तात्पर्य और प्रयोजन क्या है—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

अनघ = हे निष्पाप अर्जुन!
इति = इस प्रकार
इदम् = यह
गुह्यतमम् = अत्यन्त गोपनीय
शास्त्रम् = शास्त्र
मया = मेरे द्वारा
उक्तम् = कहा गया है।
भारत = हे भरतवंशी अर्जुन!
एतत् = इसको
बुद्ध्वा = जानकर (मनुष्य)
बुद्धिमान् = ज्ञानवान् (ज्ञात-ज्ञातव्य)
च = (तथा प्राप्त-प्राप्तव्य) और
कृतकृत्यः = कृतकृत्य
स्यात् = हो जाता है।

* **किसी विशेष महत्त्वपूर्ण बातपर मन रागपूर्वक तथा बुद्धि श्रद्धापूर्वक लगती है।**

व्याख्या—**'अनघ'**—अर्जुनको निष्पाप इसलिये कहा गया है कि वे दोष-दृष्टि-(असूया-) से रहित थे। दोष-दृष्टि करना पाप है। इससे अन्त:करण अशुद्ध होता है। जो दोष-दृष्टिसे रहित होता है, वही भक्तिका पात्र होता है।

गोपनीय बात दोष-दृष्टिसे रहित मनुष्यके सामने ही कही जाती है*। यदि दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने गोपनीय बात कह दी जाय, तो उस मनुष्यपर उस बातका उलटा असर पड़ता है अर्थात् वह उस गोपनीय बातका उलटा अर्थ लगाकर वक्तामें भी दोष देखने लगता है कि यह आत्मश्लाघी है; दूसरोंको मोहित करनेके लिये कहता है इत्यादि। इससे दोष-दृष्टिवाले मनुष्यकी बहुत हानि होती है।

दोष-दृष्टि होनेमें खास कारण है—अभिमान। मनुष्यमें जिस बातका अभिमान हो, उस बातकी उसमें कमी होती है। उस कमीको वह दूसरोंमें देखने लगता है। अपनेमें अच्छाईका अभिमान होनेसे दूसरोंमें बुराई दीखती है; और दूसरोंमें बुराई देखनेसे ही अपनेमें अच्छाईका अभिमान आता है।

यदि दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने भगवान् अपनेको सर्वोपरि 'पुरुषोत्तम' कहें, तो उसको विश्वास नहीं होगा, उलटे वह यह सोचेगा कि भगवान् आत्मश्लाघी (अपने मुँह अपनी बड़ाई करनेवाले) हैं—

'निज अग्यान राम पर धरहीं।'(मानस ७। ७३। ५)

भगवान्‌के प्रति दोष-दृष्टि होनेसे उसकी बहुत हानि होती है। इसलिये भगवान् और संतजन दोष-दृष्टिवाले अश्रद्धालु मनुष्यके सामने गोपनीय बातें प्रकट नहीं करते (गीता— अठारहवें अध्यायका सड़सठवाँ श्लोक)। वास्तवमें देखा जाय तो दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने गोपनीय (रहस्ययुक्त) बातें मुखसे निकलती ही नहीं!

अर्जुनके लिये **'अनघ'** सम्बोधन देनेमें यह भाव भी हो सकता है कि इस अध्यायमें भगवान्‌ने जो परमगोपनीय प्रभाव बताया है, वह अर्जुन-जैसे दोष-दृष्टिसे रहित सरल पुरुषके सम्मुख ही प्रकट किया जा सकता है।

'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदम्'—चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कहनेके बाद भगवान्‌ने पन्द्रहवें अध्यायके पहले श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक जिस (क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके) विषयका वर्णन किया है, उस विषयकी पूर्णता और लक्ष्यका निर्देश यहाँ **'इति इदम्'** पदोंसे किया गया है।

इस अध्यायमें पहले भगवान्‌ने क्षर (संसार) और अक्षर-(जीवात्मा-) का वर्णन करके अपना अप्रतिम प्रभाव (बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक) प्रकट किया। फिर भगवान्‌ने यह गोपनीय बात प्रकट की कि जिसका यह सब प्रभाव है, वह (क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम) 'पुरुषोत्तम' मैं ही हूँ।

नाटकमें स्वाँग धारण किये हुए मनुष्यकी तरह भगवान् इस पृथ्वीपर मनुष्यका स्वाँग धारण करके अवतरित होते हैं और ऐसा बर्ताव करते हैं कि अज्ञानी मनुष्य उनको नहीं जान पाते (गीता—सातवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। स्वाँगमें अपना वास्तविक परिचय नहीं दिया जाता, गुप्त रखा जाता है। परन्तु भगवान्‌ने इस अध्यायमें (अठारहवें श्लोकमें) अपना वास्तविक परिचय देकर अत्यन्त गोपनीय बात प्रकट कर दी कि मैं ही पुरुषोत्तम हूँ। इसलिये इस अध्यायको 'गुह्यतम' कहा गया है।

'शास्त्र' में प्राय: संसार, जीवात्मा और परमात्माका वर्णन आता है। इन तीनोंका ही वर्णन पंद्रहवें अध्यायमें हुआ है, इसलिये इस अध्यायको 'शास्त्र' भी कहा गया है।

सर्वशास्त्रमयी गीतामें केवल इसी अध्यायको 'शास्त्र' की उपाधि मिली है। इसमें 'पुरुषोत्तम' का वर्णन मुख्य होनेके कारण इस अध्यायको 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है। इस गुह्यतम शास्त्रमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके छ: उपायोंका वर्णन किया है—

(१) संसारको तत्त्वसे जानना (पहला श्लोक)।

(२) संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करके एक भगवान्‌के शरण होना (तीसरा-चौथा श्लोक)।

(३) अपनेमें स्थित परमात्मतत्त्वको जानना (ग्यारहवाँ श्लोक)।

(४) वेदाध्ययनके द्वारा तत्त्वको जानना (पन्द्रहवाँ श्लोक)।

(५) भगवान्‌को पुरुषोत्तम जानकर सब प्रकारसे उनका भजन करना (उन्नीसवाँ श्लोक)।

*** नवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्‌ने अर्जुनको दोष-दृष्टिसे रहित कहते हुए ही गुह्यतम ज्ञान बतानेकी प्रतिज्ञा की थी—'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।' इस पंद्रहवें अध्यायमें तो नवें अध्यायसे भी अधिक गोपनीय विषय बताया गया है। अत: यहाँ 'अनघ'का तात्पर्य 'अनसूया' मानना उचित ही है।**

(६) सम्पूर्ण अध्यायके तत्त्वको जानना (बीसवाँ श्लोक)।

जिस अध्यायमें भगवत्प्राप्तिके ऐसे सुगम उपाय बताये गये हों, उसको 'शास्त्र' कहना उचित ही है।

'मया उक्तम्'—इन पदोंसे भगवान् यह कहते हैं कि सम्पूर्ण भौतिक जगत्का प्रकाशक और अधिष्ठान, समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित, वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य एवं क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम साक्षात् मुझ पुरुषोत्तमके द्वारा ही यह गुह्यतम शास्त्र अत्यन्त कृपापूर्वक कहा गया है। अपने विषयमें जैसा मैं कह सकता हूँ, वैसा कोई नहीं कह सकता। कारण कि दूसरा पहले (मेरी ही कृपाशक्तिसे) मेरेको जानेगा*, फिर वह मेरे विषयमें कुछ कहेगा, जबकि मेरेमें अनजानपना है ही नहीं।

वास्तवमें स्वयं भगवान्के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उनको पूर्णरूपसे नहीं जान सकता (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा और पन्द्रहवाँ श्लोक)। छठे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से कहा था कि आपके सिवाय दूसरा कोई भी मेरे संशयका छेदन नहीं कर सकता। यहाँ भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि मेरे द्वारा कहे हुए विषयमें किसी प्रकारका संशय रहनेकी सम्भावना ही नहीं है।

'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत'—पूरे अध्यायमें भगवान्ने जो संसारकी वास्तविकता, जीवात्माके स्वरूप और अपने अप्रतिम प्रभाव एवं गोपनीयताका वर्णन किया है, उसका (विशेषरूपसे उन्नीसवें श्लोकका) निर्देश यहाँ **'एतत्'** पदसे किया गया है। इस गुह्यतम शास्त्रको जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह ज्ञानवान् अर्थात् ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने जाननेयोग्य पुरुषोत्तमको जान लिया।

परमात्मतत्त्वको जाननेसे मनुष्यकी मूढ़ता नष्ट हो जाती है। परमात्मतत्त्वको जाने बिना लौकिक सम्पूर्ण विद्याएँ, भाषाएँ, कलाएँ आदि क्यों न जान ली जायँ, उनसे मूढ़ता नहीं मिटती; क्योंकि लौकिक सब विद्याएँ आरम्भ और समाप्त होनेवाली तथा अपूर्ण हैं। जितनी लौकिक विद्याएँ हैं, सब परमात्मासे ही प्रकट होनेवाली हैं; अतः वे परमात्माको कैसे प्रकाशित कर सकती हैं? इन सब लौकिक विद्याओंसे अनजान होते हुए भी जिसने परमात्माको जान लिया है, वही वास्तवमें ज्ञानवान् है।

उन्नीसवें श्लोकमें सब प्रकारसे भजन करनेवाले जिस मोहरहित भक्तको **'सर्ववित्'** कहा गया है, उसीको यहाँ **'बुद्धिमान्'** नामसे कहा गया है।

यहाँ **'च'** पदमें पूर्वश्लोकमें आयी बातके फल-(प्राप्त-प्राप्तव्यता-) का अनुकर्षण है। पूर्वश्लोकमें सर्वभावसे भगवान्का भजन करने अर्थात् अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात विशेषरूपसे आयी है। भक्तिके समान कोई लाभ नहीं है—**'लाभु कि किछु हरि भगति समाना'** (मानस ७। ११२। ४)। अतः जिसने भक्तिको प्राप्त कर लिया, वह प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

भगवत्तत्त्वकी यह विलक्षणता है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंमेंसे किसी एकको सिद्धिसे कृतकृत्यता, ज्ञात-ज्ञातव्यता और प्राप्त-प्राप्तव्यता—तीनोंकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये जो भगवत्तत्त्वको जान लेता है, उसके लिये फिर कुछ जानना, पाना और करना शेष नहीं रहता। उसका मनुष्यजीवन सफल हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्ने इस अध्यायमें अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे अर्थात् अलौकिक समग्ररूपसे प्रकट किया है, इसलिये इसको 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है।

मनुष्य कर्मयोगसे कृतकृत्य, ज्ञानयोगसे ज्ञात-ज्ञातव्य और भक्तियोगसे प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है। मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। शरीर मेरा नहीं है, शरीरपर मेरा अधिकार नहीं है तथा शरीरसे मेरा सम्बन्ध नहीं है—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। मेरेको कुछ नहीं चाहिये—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है। इस श्लोकमें आये **'बुद्धिमान्'** पदमें ज्ञात-ज्ञातव्य होनेका भाव आया है। पूर्वश्लोकमें **'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'** पदोंमें प्राप्त-प्राप्तव्य होनेका भाव आया है। प्रस्तुत श्लोकमें आये **'च'** पदसे भी अनुक्त समुच्चय अर्थ—प्राप्त-प्राप्तव्य ले सकते हैं। लौकिक क्षर और अक्षर तो प्राप्त हैं; अतः अलौकिक

---

*सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥ (मानस २। १२७। २)

परमात्मा ही प्राप्तव्य हैं। इस श्लोकसे यह भाव निकलता है कि भक्तको ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ज्ञात-ज्ञातव्य और कृतकृत्य भी हो जाता है (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ और दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १५॥

इस अध्यायमें कहे हुए विषयको यथार्थरूपसे समझ लेनेपर पुरुषोत्तम-(भगवान्-) के साथ नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' रखा गया है।

पंद्रहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ पंचदशोऽध्यायः**' के तीन, '**श्रीभगवानुवाच**' के दो, श्लोकोंके दो सौ अट्ठासी और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ छः है।

(२) '**अथ पंचदशोऽध्यायः**' के आठ, '**श्रीभगवानुवाच**' के सात, श्लोकोंके सात सौ एक और पुष्पिकाके छियालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग सात सौ बासठ है। इस अध्यायके बीस श्लोकोंमेंसे दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और पंद्रहवाँ—ये चार श्लोक चौवालीस अक्षरोंके और तीसरा श्लोक पैंतालीस अक्षरोंका है। शेष पंद्रह श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है—'**श्रीभगवानुवाच**।'

पंद्रहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बीस श्लोकोंमेंसे दूसरा, तीसरा और चौथा—ये तीन श्लोक '**उपजाति**' छन्दवाले हैं; और पाँचवाँ तथा पंद्रहवाँ—ये दो श्लोक '**इन्द्रवज्रा**' छन्दवाले हैं। बचे हुए पंद्रह श्लोकोंमेंसे—सातवें श्लोकके प्रथम और तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**जातिपक्ष-विपुला**'; नवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; अठारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; और उन्नीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष दस (१, ६, ८, १०—१४, १६-१७) श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

पन्द्रहवें अध्यायका सार

भगवान्ने सातवें अध्यायमें अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया था—अपरा और परा (७। ४-५)। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली 'अपरा प्रकृति' है और जिसने जगत्को धारण किया हुआ है, वह जीवरूप बनी हुई 'परा प्रकृति' है। अपरा और परा—दोनों ईश्वरकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव हैं। अपरा, परा और ईश्वर—इन तीनोंका विस्तारसे वर्णन भगवान् पन्द्रहवें अध्यायमें करते हैं। पन्द्रहवें अध्यायमें पहले संसार-वृक्षके रूपमें 'अपरा' का वर्णन करते हैं, फिर सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अपने अंश-रूपसे 'पराका वर्णन करते हैं, फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक अपने प्रभावका वर्णन करते हैं। अन्तमें अपरा, परा और ईश्वर—तीनोंका क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम नामसे वर्णन करके अध्यायका उपसंहार करते हैं।

सातवें अध्यायमें तो भगवान्ने अपरा और परा— दोनोंको अपनी प्रकृति अर्थात् अपनेसे अभिन्न बताया है—'**इतीयं मे**' (७। ४), '**मे पराम्**' (७। ५)। परन्तु पन्द्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें अपनेको अपरा (क्षर) से अतीत और परा (अक्षर) से उत्तम बताया है। इसका तात्पर्य है कि जबतक साधक अपरा (संसार) और परा (स्वयं)—दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, तबतक भगवान् अपरासे अतीत और परासे उत्तम हैं। परन्तु जब उसकी मान्यतामें अपरा और पराकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, तब अपरा, परा और भगवान्—तीनों एक ही होते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), '**सदसच्चाहम्**' (९। १९)।

पन्द्रहवें अध्यायके मध्यमें अक्षर (जीवात्मा) के वर्णनका तात्पर्य है कि जीवके एक तरफ क्षर (संसार) है और एक तरफ पुरुषोत्तम (परमात्मा) हैं। जीवका सम्बन्ध परमात्माके साथ है—'**ममैवांशो जीवलोके**'; क्योंकि जैसे

परमात्मा चेतन, अविनाशी और अपरिवर्तनशील हैं, ऐसे ही जीव भी चेतन, अविनाशी और अपरिवर्तनशील है। शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है—'**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**'; क्योंकि जैसे संसार जड़, नाशवान् और परिवर्तनशील है, ऐसे ही शरीर भी जड़, नाशवान् और परिवर्तनशील है। जीवको परमात्मासे कभी अलग नहीं कर सकते और शरीरको संसारसे कभी अलग नहीं कर सकते।

परमात्मा उसको कहते हैं, जो अभी हो, सबमें हो, सबका हो, सर्वसमर्थ हो, परम दयालु हो और अद्वितीय हो। अभी होनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा नहीं करनी पड़ेगी। सबमें होनेसे वह अपनेमें भी है; अतः उनको ढूँढ़नेके लिये कहीं जाना नहीं पड़ेगा। सबका होनेसे वह अपना भी है; अतः उसमें स्वतः प्रेम होगा। सर्वसमर्थ होनेसे हमें भयभीत होनेकी जरूरत नहीं रहेगी। परमदयालु होनेसे हमें निराश होनेकी जरूरत नहीं रहेगी। अद्वितीय होनेसे हमें उसको पहचाननेकी, उसका वर्णन करनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

परमात्माकी प्राप्ति न होनेका कारण यही है कि हम उसकी सत्ता और महत्ता स्वीकार नहीं करते और उसको अपना नहीं मानते। अगर हम उसकी सत्ता, महत्ता और अपनेपनको स्वीकार करते तो फिर वह हमें अप्राप्त नहीं लगता। वह हमें स्वतः प्यारा लगता; क्योंकि परमात्माको अपना माननेके सिवाय प्रेम-प्राप्तिका और कोई उपाय है ही नहीं। प्रेम यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि बड़े-बड़े पुण्यकर्मोंसे नहीं मिलता, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे मिलता है। भगवान्‌ने कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (१५।७)। इसका तात्पर्य है कि जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) ही अंश है, इसमें अन्य किसीका मिश्रण नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि केवल भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हमारा सम्बन्ध केवल भगवान्‌के ही साथ है। जब हम भगवान्‌के ही अंश हैं, तो फिर प्रकृतिका कार्य शरीर अपना कैसे हुआ? अतः भगवान् ही अपने हैं, दूसरा कोई भी अपना नहीं है। भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हम भगवान्‌से अलग नहीं हो सकते, उनको छोड़ नहीं सकते। सर्वसमर्थ भगवान् भी जीवसे अलग नहीं हो सकते, जीवको छोड़ नहीं सकते। अगर भगवान् जीवको छोड़ दें तो जीव एक नया भगवान् हो जायगा अर्थात् भगवान् एक नहीं रहेंगे, प्रत्युत अनेक हो जायँगे, जो कभी सम्भव नहीं है। जिसको हम छोड़ नहीं सकते, उसके विषयमें यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वह कैसा है? अतः भगवान् कैसे हैं, क्या हैं, यह विचार न करके उनमें प्रेम करना चाहिये। जब मनुष्य संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है और जब परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब मुक्त होकर भक्त हो जाता है। मनुष्यसे सबसे बड़ी गलती यह होती है कि जो शरीर संसारका है, उसको अपना मान लेता है और जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको भूल जाता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है, तब उसके द्वारा स्वतः संसारकी 'सेवा' होती है। जब वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि भगवान् मेरे हैं और मेरे लिये हैं, तब उसका स्वतः भगवान्‌में 'प्रेम' होता है। सेवाके बदलेमें साधकको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि संसारकी ही वस्तु संसारको दे दी तो अपना क्या खर्च हुआ? नया उद्योग क्या हुआ? प्रेमके बदलेमें भी उसको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि जो सदासे ही अपना है, उसमें प्रेमसे बढ़कर ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसकी उसको आवश्यकता हो। प्रभु मेरे लिये हैं, इसलिये अपनेको उनके अर्पित करना है, उनसे कुछ लेना नहीं है। उनसे कुछ चाहनेसे हम उनसे अलग हो जायँगे और अपनेको देनेसे उनसे अभिन्न हो जायँगे।

सेवासे मुक्ति होती है और प्रेमसे पराभक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिसे निरपेक्ष जीवनकी और भक्तिसे सरस जीवनकी प्राप्ति हो जाती है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ षोडशोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्‌ने सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें **'दुष्कृतिनो मूढाः आसुरं भावमाश्रिताः मां न प्रपद्यन्ते'** *(बुरे कर्म करनेवाले तथा आसुरी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ़ मनुष्य मेरा भजन नहीं करते) पदोंसे आसुरी सम्पत्तिवालोंका और सोलहवें श्लोकमें* **'सुकृतिनः मां भजन्ते'** *(पुण्यकर्मा लोग मेरा भजन करते हैं) पदोंसे दैवी सम्पत्तिवालोंका संकेतरूपसे वर्णन किया। सातवें अध्यायके अन्तिम दो श्लोकोंपर अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न किये। उन प्रश्नोंके उत्तरमें आठवाँ अध्याय पूरा हुआ।*

भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसी विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेके लिये नवें अध्यायका विषय आरम्भ किया । इस नवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भी **'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः'** *पदोंसे आसुरी सम्पदावालोंका और तेरहवें श्लोकमें* **'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः मां भजन्ते'** *पदोंसे दैवी सम्पदावालोंका संक्षेपसे वर्णन करके दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञान-विज्ञानका विषय कहा।*

दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकके बाद भगवान्‌को दैवी-आसुरी-सम्पदाका विस्तारसे वर्णन करना चाहिये था, पर भगवान्‌के प्रभावसे प्रभावित होकर अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति की एवं पुनः विभूति कहनेके लिये उनसे प्रार्थना की। विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें अर्जुनसे कहा कि 'तुझे अधिक जाननेसे क्या मतलब? मैं तो सारे संसारको एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ।' इसपर उस स्वरूपको (जिसके एक अंशमें सारा संसार स्थित है) देखनेके लिये उत्सुक हुए अर्जुनने ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌से अपना विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना की।

अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाकर भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें-पचपनवें श्लोकोंमें अनन्य-भक्तिकी महिमा एवं उसका स्वरूप बताया। इसपर सगुण और निर्गुण-उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें अर्जुनने बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें प्रश्न किया। अतः भगवान्‌ने बारहवें अध्यायमें सगुण-उपासकोंका वर्णन करके तेरहवें अध्यायसे चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक निर्गुण-विषयका वर्णन किया। फिर अर्जुनने चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें गुणातीतके लक्षण, आचरण एवं गुणातीत होनेका उपाय पूछा। उन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने छब्बीसवें श्लोकमें **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'** *पदोंसे अव्यभिचारिणी भक्तिको गुणातीत होनेका उपाय बताया अर्थात् अव्यभिचारसे दैवी सम्पत्तिका और व्यभिचारसे आसुरी सम्पत्तिका संकेत किया। वह अव्यभिचारी भक्ति कैसे प्राप्त हो—यह बतानेके लिये पन्द्रहवें अध्यायका आरम्भ हुआ।*

पंद्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने **'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'** *पदोंसे आसुरी सम्पत्तिके कारणरूप 'संग'-(संसारकी आसक्ति-) का त्याग करके असंगतासे प्रकट होनेवाली दैवी सम्पत्तिकी बात कही। फिर चौथे श्लोकमें* **'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'** *पदोंसे शरणागतिरूप दैवी सम्पत्तिका वर्णन किया और अर्थान्तरमें जो शरण नहीं होते, उन आसुरी सम्पत्तिवालोंका संकेत किया। फिर उन्नीसवें श्लोकमें* **'स सर्वविद् असम्मूढः मां सर्वभावेन भजति'** *पदोंसे दैवी सम्पदावालोंका अर्थात् अधिकारियोंका वर्णन किया और अर्थान्तरमें जो भगवान्‌का भजन नहीं करते, उन आसुरी सम्पदावालोंका अर्थात् अनधिकारियोंका वर्णन किया।*

इस प्रकार अर्जुनके अन्य प्रश्नोंके कारण अबतक भगवान्‌को दैवी और आसुरी सम्पदापर विस्तारसे कहनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ। अब अर्जुनका कोई प्रश्न न रहनेसे भगवान् इस सोलहवें अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पदाका विस्तारसे वर्णन आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

अभयम् = भयका सर्वथा अभाव, **सत्त्वसंशुद्धिः** = अन्तःकरणकी अत्यन्त शुद्धि, **ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः** = ज्ञानके लिये योगमें दृढ़ स्थिति, **च** = और **दानम्** = सात्त्विक दान, **दमः** = इन्द्रियोंका दमन, **यज्ञः** = यज्ञ, **स्वाध्यायः** = स्वाध्याय, **तपः** = कर्तव्य-पालनके लिये कष्ट सहना **च** = और **आर्जवम्** = शरीर-मन-वाणीकी सरलता।

व्याख्या—[पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'जो मुझे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है अर्थात् वह मेरा अनन्य भक्त हो जाता है।' इस प्रकार एकमात्र भगवान्का उद्देश्य होनेपर साधकमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट होने लग जाती है। अतः भगवान् पहले तीन श्लोकोंमें क्रमशः भाव, आचरण और प्रभावको लेकर दैवी-सम्पत्तिका वर्णन करते हैं।]

'अभयम्'[1]—अनिष्टकी आशंकासे मनुष्यके भीतर जो घबराहट होती है, उसका नाम भय है और उस भयके सर्वथा अभावका नाम 'अभय' है।

भय दो रीतिसे होता है—(१) बाहरसे और (२) भीतरसे।

(१) बाहरसे आनेवाला भय—

(क) चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प आदि प्राणियोंसे जो भय होता है, वह बाहरका भय है। यह भय शरीरनाशकी आशंकासे ही होता है। परन्तु जब यह अनुभव हो जाता है कि यह शरीर नाशवान् है और जानेवाला ही है, तो फिर भय नहीं रहता।

बीड़ी-सिगरेट, अफीम, भाँग, शराब आदिके व्यसनोंको छोड़नेका एवं व्यसनी मित्रोंसे अपनी मित्रता टूटनेका जो भय होता है, वह मनुष्यकी अपनी कायरतासे ही होता है। कायरता छोड़नेसे यह भय नहीं रहता।

(ख) अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार कर्तव्य-पालन करते हुए उसमें भगवान्की आज्ञाके विरुद्ध कोई काम न हो जाय; हमें विद्या पढ़ानेवाले, अच्छी शिक्षा देनेवाले आचार्य, गुरु, सन्त-महात्मा, माता-पिता आदिके वचनोंकी आज्ञाकी अवहेलना न हो जाय; हमारे द्वारा शास्त्र और कुलमर्यादाके विरुद्ध कोई आचरण न बन जाय—इस प्रकारका भय भी बाहरी भय कहलाता है। परन्तु यह भय वास्तवमें भय नहीं है, प्रत्युत यह तो अभय बनानेवाला भय है। ऐसा भय तो साधकके जीवनमें होना ही चाहिये। ऐसा भय होनेसे ही वह अपने मार्गपर ठीक तरहसे चल सकता है। कहा भी है—

हरि-डर, गुरु-डर, जगत-डर, डर करनी में सार।
रज्जब डर्‌या सो ऊबर्‌या, गाफिल खायी मार॥

(२) भीतरसे पैदा होनेवाला भय—

(क) मनुष्य जब पाप, अन्याय, अत्याचार आदि निषिद्ध आचरण करना चाहता है, तब (उनको करनेकी भावना मनमें आते ही) भीतरसे भय पैदा होता है। मनुष्य निषिद्ध आचरण तभीतक करता है, जबतक उसके मनमें 'मेरा शरीर बना रहे, मेरा मान-सम्मान होता रहे, मेरेको सांसारिक भोग-पदार्थ मिलते रहें', इस प्रकार सांसारिक जड वस्तुओंकी प्राप्तिका और उनकी रक्षाका उद्देश्य रहता है[2]। परन्तु जब मनुष्यका एकमात्र उद्देश्य चिन्मय-तत्त्वको

१-यहाँ दैवी सम्पत्तिमें सबसे पहले 'अभयम्' पद देनेका तात्पर्य यह है कि जो भगवान्के शरण होकर सर्वभावसे भगवान्का भजन करता है, वह सर्वत्र अभय हो जाता है। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ (वाल्मीकि० ६। १८। ३३)

२-भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

(भर्तृहरिवैराग्यशतक)

प्राप्त करनेका हो जाता है[1], तब उसके द्वारा अन्याय, दुराचार छूट जाते हैं और वह सर्वथा अभय हो जाता है। कारण कि उसके लक्ष्य परमात्मतत्त्वमें कभी कमी नहीं आती और वह कभी नष्ट नहीं होता।

(ख) जब मनुष्यके आचरण ठीक नहीं होते और वह अन्याय, अत्याचार आदिमें लगा रहता है, तब उसको भय लगता है। जैसे, रावणसे मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस आदि सभी डरते थे, पर वही रावण जब सीताका हरण करनेके लिये जाता है, तब वह डरता है। ऐसे ही कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके बाजे बजे, तो उसका पाण्डव-सेनापर कुछ भी असर नहीं हुआ (गीता—पहले अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), पर जब पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाके बाजे बजे, तब कौरव-सेनाके हृदय विदीर्ण हो गये (पहले अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह कि अन्याय, अत्याचार करनेवालोंके हृदय कमजोर हो जाते हैं, इसलिये वे भयभीत होते हैं। जब मनुष्य अन्याय आदिको छोड़कर अपने आचरणों एवं भावोंको शुद्ध बनाता है, तब उसका भय मिट जाता है।

(ग) मनुष्य-शरीर प्राप्त करके यह जीव जबतक करनेयोग्यको नहीं करता, जाननेयोग्यको नहीं जानता और पानेयोग्यको नहीं पाता, तबतक वह सर्वथा अभय नहीं हो सकता; उसके जीवनमें भय रहता ही है।

भगवान्‌की तरफ चलनेवाला साधक भगवान्‌पर जितना-जितना अधिक विश्वास करता है और उनके आश्रित होता है, उतना-ही-उतना वह अभय होता चला जाता है। उसमें स्वतः यह विचार आता है कि मैं तो परमात्माका अंश हूँ; अतः कभी नष्ट होनेवाला नहीं हूँ, तो फिर भय किस बातका?[2] और संसारके अंश शरीर आदि सब पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं, तो फिर भय किस बातका? ऐसा विवेक स्पष्टरूपसे प्रकट होनेपर भय स्वतः नष्ट हो जाता है और साधक सर्वथा अभय हो जाता है।

भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेपर, भगवान्‌को ही अपना माननेपर शरीर, कुटुम्ब आदिमें ममता नहीं रहती। ममता न रहनेसे मरनेका भय नहीं रहता और साधक अभय हो जाता है।

'सत्त्वसंशुद्धिः'—अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धिको सत्त्वसंशुद्धि कहते हैं। सम्यक् शुद्धि क्या है? संसारसे राग-रहित होकर भगवान्‌में अनुराग हो जाना ही अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि है। जब अपना विचार, भाव, उद्देश्य, लक्ष्य केवल एक परमात्माकी प्राप्तिका हो जाता है, तब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। कारण कि नाशवान् वस्तुओंकी प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे ही अन्तःकरणमें मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन तरहके दोष आते हैं। शास्त्रोंमें मल-दोषको दूर करनेके लिये निष्कामभावसे कर्म (सेवा), विक्षेप-दोषको दूर करनेके लिये उपासना और आवरण-दोषको दूर करनेके लिये ज्ञान बताया है। यह होनेपर भी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये सबसे बढ़िया उपाय है—अन्तःकरणको अपना न मानना।

साधकको पुराने पापको दूर करनेके लिये या किसी परिस्थितिके वशीभूत होकर किये गये नये पापको दूर करनेके लिये अन्य प्रायश्चित्त करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है। उसको तो चाहिये कि वह जो साधन कर रहा है, उसीमें उत्साह और तत्परतापूर्वक लगा रहे। फिर उसके ज्ञात-अज्ञात सब पाप दूर हो जायँगे और अन्तःकरण स्वतः शुद्ध हो जायगा।

साधकमें ऐसी एक भावना बन जाती है कि साधन-भजन करना अलग काम है और व्यापार-धंधा आदि करना अलग काम है अर्थात् ये दोनों अलग-अलग विभाग हैं। इसलिये व्यापार आदि व्यवहारमें झूठ-कपट आदि तो करने ही पड़ते हैं—ऐसी जो छूट ली जाती है, उससे अन्तःकरण बहुत ही अशुद्ध होता है। साधनके साथ-साथ जो असाधन होता रहता है, उससे साधनमें जल्दी उन्नति नहीं होती। इसलिये साधकको सदा सावधान रहना चाहिये अर्थात् नया पाप कभी न बने—ऐसी सावधानी सदा-सर्वदा बनी रहनी चाहिये।

'भोगोंमें रोगका भय, ऊँचे कुलमें गिरनेका भय, धनमें राजाका भय, मानमें दीनताका भय, बलमें शत्रुका भय, रूपमें बुढ़ापेका भय, शास्त्रमें वाद-विवादका भय, गुणमें दुर्जनका भय और शरीरमें मृत्युका भय है। इस प्रकार संसारमें मनुष्योंके लिये सम्पूर्ण वस्तुएँ भयावह हैं, एक वैराग्य ही भयसे रहित है।'

तात्पर्य यह है कि ये सांसारिक वस्तुएँ कहीं नष्ट न हो जायँ—इसका मनुष्यको सदा भय रहता है, इसलिये वह अभय नहीं हो पाता।

१-उद्देश्य तो पहलेसे ही बना हुआ है। उसके बाद हमें मनुष्य-शरीर मिला है। अतः उद्देश्यको केवल पहचानना है, बनाना नहीं है।

२-राम मरे तो मैं मरूँ, नहिं तो मरे बलाय। अविनाशी का बालका, मरे न मारा जाय॥

साधक भूलसे किये हुए दुष्कर्मोंके अनुसार अपनेको दोषी मान लेता है और अपना बुरा करनेवाले व्यक्तिको भी दोषी मान लेता है, जिससे उसका अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है। उस अशुद्धिको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह भूलसे किये हुए दुष्कर्मको पुनः कभी न करनेका दृढ़ व्रत ले ले तथा अपना बुरा करनेवाले व्यक्तिके अपराधको क्षमा माँगे बिना ही क्षमा कर दे और भगवान्से प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! मेरा जो कुछ बुरा हुआ है, वह तो मेरे दुष्कर्मोंका ही फल है। वह बेचारा तो मुफ्तमें ही ऐसा कर बैठा है। उसका इसमें कोई दोष नहीं है। आप उसे क्षमा कर दें।' ऐसा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'—ज्ञानके लिये योगमें स्थित होना अर्थात् परमात्मतत्त्वका जो ज्ञान (बोध) है, वह चाहे सगुणका हो या निर्गुणका, उस ज्ञानके लिये योगमें स्थित होना आवश्यक है। योगका अर्थ है—सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें, मान-अपमानमें, निन्दा-स्तुतिमें, रोग-नीरोगतामें सम रहना अर्थात् अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि न होकर निर्विकार रहना।

'दानम्'—लोकदृष्टिमें जिन वस्तुओंको अपना माना जाता है, उन वस्तुओंको सत्पात्रका तथा देश, काल, परिस्थिति आदिका विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार दूसरोंको वितीर्ण कर देना 'दान' है। दान कई तरहके होते हैं; जैसे भूमिदान, गोदान, स्वर्णदान, अन्नदान, वस्त्रदान आदि। इन सबमें अन्नदान प्रधान है। परन्तु इससे भी अभयदान प्रधान (श्रेष्ठ) है[1]। उस अभयदानके दो भेद होते हैं—

(१) संसारकी आफतसे, विघ्नोंसे, परिस्थितियोंसे भयभीत हुएको अपनी शक्ति, सामर्थ्यके अनुसार भयरहित करना, उसे आश्वासन देना, उसकी सहायता करना। यह अभयदान उसके शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको लेकर होता है।

(२) संसारमें फँसे हुए व्यक्तिको जन्म-मरणसे रहित करनेके लिये भगवान्की कथा आदि सुनाना[2]। गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंको एवं उनके भावोंको सरल भाषामें छपवाकर सस्ते दामोंमें लोगोंको देना अथवा कोई समझना चाहे तो उसको समझाना, जिससे उसका कल्याण हो जाय। ऐसे दानसे भगवान् बहुत राजी होते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़सठवाँ-उनहत्तरवाँ श्लोक); क्योंकि भगवान् ही सबमें परिपूर्ण हैं। अतः जितने अधिक जीवोंका कल्याण होता है, उतने ही अधिक भगवान् प्रसन्न होते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ अभयदान है। इसमें भी भगवत्-सम्बन्धी बातें दूसरोंको सुनाते समय साधक वक्ताको यह सावधानी रखनी चाहिये कि वह दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता न माने, प्रत्युत इसमें भगवान्की कृपा माने कि भगवान् ही श्रोताओंके रूपमें आकर मेरा समय सार्थक कर रहे हैं।

ऊपर जितने दान बताये हैं, उनके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़कर साधक ऐसा माने कि अपने पास वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्ने दूसरोंकी सेवा करनेके लिये मुझे निमित्त बनाकर दी है। अतः भगवत्प्रीत्यर्थ आवश्यकतानुसार जिस-किसीको जो कुछ दिया जाय, वह सब उसीका समझकर उसे देना 'दान' है।

'दमः'—इन्द्रियोंको पूरी तरह वशमें करनेका नाम 'दम' है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों, अन्तःकरण और शरीरसे कोई भी प्रवृत्ति शास्त्रनिषिद्ध नहीं होनी चाहिये। शास्त्रविहित प्रवृत्ति भी अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही होनी चाहिये। इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे इन्द्रियलोलुपता, आसक्ति और पराधीनता नहीं रहती एवं शरीर और इन्द्रियोंके बर्ताव शुद्ध, निर्मल होते हैं।

साधकका उद्देश्य इन्द्रियोंके दमनका होनेसे अकर्तव्यमें तो उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं और कर्तव्यमें स्वाभाविक

१-न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्। यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्॥

(पंचतन्त्र, मित्रभेद ३१३)

'गोदान, भूमिदान और अन्नदान भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि अभयदान है। विद्वान्लोग अभयदानको सब दानोंसे श्रेष्ठ कहते हैं।'

२-तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्। श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ९)

'हे प्रभो! आपका कथामृत संसारमें जो संतप्त प्राणी हैं, उनको जीवन देनेवाला, शान्ति देनेवाला है, अच्छे-अच्छे महापुरुष भी उसका हृदयसे वर्णन करते हैं, वह सम्पूर्ण पापोंका अर्थात् भगवद्विमुखताका नाश करनेवाला है, कानोंमें पड़ते ही सब तरहसे मंगल-ही-मंगल देनेवाला है, संत-महापुरुषोंके द्वारा उसका विस्तारसे वर्णन किया गया है। ऐसे कथामृतका पृथ्वीपर जो कथन करते हैं, वे संसारको बहुत विशेषतासे दान देनेवाले हैं अर्थात् संसारका सबसे अधिक उपकार, हित करनेवाले हैं।'

प्रवृत्ति होती है, तो उसमें स्वार्थ, अभिमान, आसक्ति, कामना आदि दोष नहीं रहते। यदि कभी किसी कार्यमें स्वार्थभाव आ भी जाता है, तो वह उसका दमन करता चला जाता है, जिससे अशुद्धि मिटती जाती है और शुद्धि होती चली जाती है और आगे चलकर उसका दम अर्थात् इन्द्रिय-संयम सिद्ध हो जाता है।

'यज्ञः'—**'यज्ञ'** शब्दका अर्थ आहुति देना होता है। अतः अपने वर्णाश्रमके अनुसार होम, बलिवैश्वदेव आदि करना 'यज्ञ' है। इसके सिवाय गीताकी दृष्टिसे अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार जिस-किसी समय जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसको स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितकी भावनासे या भगवत्प्रीत्यर्थ करना 'यज्ञ' है। इसके अतिरिक्त जीविका-सम्बन्धी व्यापार, खेती आदि तथा शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना, देना-लेना आदि सभी क्रियाएँ भगवत्प्रीत्यर्थ करना 'यज्ञ' है। ऐसे ही माता-पिता, आचार्य, गुरुजन आदिकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना, उनको मन, वाणी, तन और धनसे सुख पहुँचाकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना और गौ, ब्राह्मण, देवता, परमात्मा आदिका पूजन करना, सत्कार करना—ये सभी 'यज्ञ' हैं।

'स्वाध्यायः'—अपने ध्येयकी सिद्धिके लिये भगवन्नामका जप और गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदिके पठन-पाठनका नाम 'स्वाध्याय' है। वास्तवमें तो '**स्वस्य अध्यायः (अध्ययनम्) स्वाध्यायः**' के अनुसार अपनी वृत्तियोंका, अपनी स्थितिका ठीक तरहसे अध्ययन करना ही 'स्वाध्याय' है। इसमें भी साधकको न तो अपनी वृत्तियोंसे अपनी स्थितिकी कसौटी लगानी है और न वृत्तियोंके अधीन अपनी स्थिति ही माननी है। कारण कि वृत्तियाँ तो हरदम आती-जाती रहती हैं, बदलती रहती हैं। तो फिर स्वाभाविक यह प्रश्न उठता है कि क्या हम अपनी वृत्तियोंको शुद्ध न करें? वास्तवमें तो साधकका कर्तव्य वृत्तियोंको शुद्ध करनेका ही होना चाहिये और वह शुद्धि अन्तःकरण तथा उसकी वृत्तियोंको अपना न माननेसे बहुत जल्दी हो जाती है; क्योंकि उनको अपना मानना ही मूल अशुद्धि है। साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे अपना स्वरूप कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं। केवल वृत्तियोंके अशुद्ध होनेसे ही उसका यथार्थ अनुभव नहीं होता।

'तपः'—भूख-प्यास, सरदी-गरमी, वर्षा आदि सहना भी एक तप है, पर इस तपमें भूख-प्यास आदिको जानकर सहते हैं। वास्तवमें साधन करते हुए अथवा जीवन-निर्वाह करते हुए देश, काल, परिस्थिति आदिको लेकर जो कष्ट, आफत, विघ्न आदि आते हैं, उनको प्रसन्नतापूर्वक सहना ही 'तप' है;* क्योंकि इस तपमें पहले किये गये पापोंका नाश होता है और सहनेवालेमें सहनेकी एक नयी शक्ति, एक नया बल आता है।

साधकको सावधान रहना चाहिये कि वह उस तपोबलका प्रयोग दूसरोंको वरदान देनेमें, शाप देने या अनिष्ट करनेमें तथा अपनी इच्छापूर्ति करनेमें न लगाये, प्रत्युत उस बलको अपने साधनमें जो बाधाएँ आती हैं, उनको प्रसन्नतासे सहनेकी शक्ति बढ़ानेमें ही लगाये।

साधक जब साधन करता है, तब वह साधनमें कई तरहसे विघ्न मानता है। वह समझता है कि मुझे एकान्त मिले तो मैं साधन कर सकता हूँ, वायुमण्डल अच्छा हो तो साधन कर सकता हूँ इत्यादि। इन सब अनुकूलताओंकी चाहना न करना अर्थात् उनके अधीन न होना भी 'तप' है। साधकको अपना साधन परिस्थितियोंके अधीन नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत परिस्थितिके अनुसार अपना साधन बना लेना चाहिये। साधकको अपनी चेष्टा तो एकान्तमें साधन करनेकी करनी चाहिये, पर एकान्त न मिले तो मिली हुई परिस्थितिको भगवान्की भेजी हुई समझकर विशेष उत्साहसे प्रसन्नतापूर्वक साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये।

'आर्जवम्'—सरलता, सीधेपनको 'आर्जव' कहते हैं। यह सरलता साधकका विशेष गुण है। यदि साधक यह चाहता है कि दूसरे लोग मुझे अच्छा समझें, मेरा व्यवहार ठीक नहीं होगा तो लोग मुझे बढ़िया नहीं मानेंगे, इसलिये मुझे सरलतासे रहना चाहिये, तो यह एक प्रकारका कपट ही है। इससे साधकमें बनावटीपन आता है, जब कि साधकमें सीधा, सरल भाव होना चाहिये। सीधा, सरल होनेके कारण लोग उसको मूर्ख, बेसमझ कह सकते हैं, पर उससे साधककी कोई हानि नहीं है। अपने उद्धारके लिये

*** आगते स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं न निवारयेत्। यथाप्राप्तं सहेत्सर्वं सा तपस्योत्तमोत्तमा॥ (बोधसार)**

'प्रारब्धवश परिस्थितिरूपसे जो कुछ आ जाय, उसका स्वागत करे, जानेवालेको रोके नहीं और जो जैसे प्राप्त हो, उसे वैसे ही सहन करे, यही उत्तम-से-उत्तम तप है।'

तो सरलता बड़े कामकी चीज है—

कपट गाँठ मन में नहीं, सबसों सरल सुभाव।
'नारायन' ता भक्त की, लगी किनारे नाव॥

इसलिये साधकके शरीर, वाणी और मनके व्यवहारमें कोई बनावटीपन नहीं रहना चाहिये*। उसमें स्वाभाविक सीधापन हो।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा = अहिंसा, **सत्यम्** = सत्यभाषण, **अक्रोधः** = क्रोध न करना, **त्यागः** = संसारकी कामनाका त्याग, **शान्तिः** = अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना, **अपैशुनम्** = चुगली न करना, **भूतेषु** = प्राणियोंपर **दया** = दया करना, **अलोलुप्त्वम्** = सांसारिक विषयोंमें न ललचाना, **मार्दवम्** = अन्तःकरणकी कोमलता, **ह्रीः** = अकर्तव्य करनेमें लज्जा, **अचापलम्** = चपलताका अभाव।

व्याख्या—'**अहिंसा**'—शरीर, मन, वाणी, भाव आदिके द्वारा किसीका भी किसी प्रकारसे अनिष्ट न करनेको तथा अनिष्ट न चाहनेको 'अहिंसा' कहते हैं। वास्तवमें सर्वथा अहिंसा तब होती है, जब मनुष्य संसारकी तरफसे विमुख होकर परमात्माकी तरफ ही चलता है। उसके द्वारा 'अहिंसा' का पालन स्वतः होता है। परन्तु जो रागपूर्वक, भोग-बुद्धिसे भोगोंका सेवन करता है; वह कभी सर्वथा अहिंसक नहीं हो सकता। वह अपना पतन तो करता ही है, जिन पदार्थों आदिको वह भोगता है, उनका भी नाश करता है।

जो संसारके सीमित पदार्थोंको व्यक्तिगत (अपने) न होनेपर भी व्यक्तिगत मानकर सुखबुद्धिसे भोगता है, वह हिंसा ही करता है। कारण कि समष्टि संसारसे सेवाके लिये मिले हुए पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति आदिमेंसे किसीको भी अपने भोगके लिये व्यक्तिगत मानना हिंसा ही है। यदि मनुष्य समष्टि संसारसे मिली हुई वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिको संसारकी ही मानकर निर्ममतापूर्वक संसारकी सेवामें लगा दे, तो वह हिंसासे बच सकता है और वही अहिंसक हो सकता है।

जो सुख और भोग-बुद्धिसे भोगोंका सेवन करता है, उसको देखकर, जिनको वे भोग-पदार्थ नहीं मिलते—ऐसे अभावग्रस्तोंको दुःख-संताप होता है। यह उनकी हिंसा ही है; क्योंकि भोगी व्यक्तिमें अपना स्वार्थ और सुख-बुद्धि रहती है तथा दूसरोंके दुःखकी लापरवाही रहती है। परन्तु जो संत-महापुरुष केवल दूसरोंका हित करनेके लिये ही जीवन-निर्वाह करते हैं, उनको देखकर किसीको दुःख हो भी जायगा, तो भी उनको हिंसा नहीं लगेगी; क्योंकि वे भोग-बुद्धिसे जीवन-निर्वाह करते ही नहीं—'**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**' (गीता ४। २१)।

केवल परमात्माकी ओर चलनेवालेके द्वारा हिंसा नहीं होती; क्योंकि वह भोग-बुद्धिसे पदार्थ आदिका सेवन नहीं करता। परमात्माकी ओर चलनेवाला साधक शरीर, मन, वाणीके द्वारा कभी किसीको दुःख नहीं पहुँचाता। यदि उसकी बाह्य क्रियाओंसे किसीको दुःख होता है, तो यह दुःख उसके खुदके स्वभावसे ही होता है। साधकको तो भीतरसे कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख देनेकी भावना नहीं होनी चाहिये। उसका भाव निरन्तर सबका हित करनेका होना चाहिये—'**सर्वभूतहिते रताः**।'

साधककी साधनामें कोई बाधा डाल दे, तो उसे उसपर क्रोध नहीं आता और न उसके मनमें उसके अहितकी भावना (हिंसा) ही पैदा होती है। हाँ, परमात्माकी ओर चलनेमें बाधा पड़नेसे उसको दुःख हो सकता है, पर वह दुःख भी सांसारिक दुःखकी तरह नहीं होता। साधकको बाधा लगती है, तो वह भगवान्‌को पुकारता है कि

*** मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥**
'महात्माओंके मन, वचन और कर्म—तीनोंमें एक ही बात होती है; परन्तु दुरात्माओंके मन, वचन और कर्म—तीनोंमें ही अलग-अलग बातें होती हैं।'

'हे नाथ! मेरी कहाँ भूल हुई, जिससे बाधा लग रही है!' ऐसा विचार करके उसे रोना आ सकता है; पर बाधा डालनेवालेके प्रति क्रोध, द्वेष नहीं हो सकता। बाधा लगनेपर साधकमें तत्परता और सावधानी आती है। यदि उसमें बाधा डालनेवालेके प्रति द्वेष होता है, तो जितने अंशमें द्वेष-वृत्ति रहती है, उतने अंशमें तत्परताकी कमी है, अपने साधनका आग्रह है।

साधकमें एक तत्परता होती है और एक आग्रह होता है। तत्परता होनेसे साधनमें रुचि रहती है और आग्रह होनेसे साधनमें राग रहता है। रुचि होनेसे अपने साधनमें कहाँ-कहाँ कमी है, उसका ज्ञान होता है और उसे दूर करनेकी शक्ति आती है तथा उसे दूर करनेकी चेष्टा भी होती है। परन्तु राग होनेसे साधनमें विघ्न डालनेवालेके साथ द्वेष होनेकी सम्भावना रहती है। वास्तवमें देखा जाय तो साधनमें हमारी रुचि कम होनेसे ही दूसरा हमारे साधनमें बाधा डालता है। अगर साधनमें हमारी रुचि कम न हो तो दूसरा हमारे साधनमें बाधा नहीं डालेगा, प्रत्युत यह सोचकर उपेक्षा कर देगा कि यह जिद्दी है, मानेगा नहीं; अत: जैसा चाहे, वैसा करने दो।

जैसे पुष्पसे सुगन्ध स्वत: फैलती है, ऐसे ही साधकसे स्वत: पारमार्थिक परमाणु फैलते हैं और वायुमण्डल शुद्ध होता है। इससे उसके द्वारा स्वत:-स्वाभाविक प्राणिमात्रका बड़ा भारी उपकार एवं हित होता रहता है। परन्तु जो अपने दुर्गुण-दुराचारोंके द्वारा वायुमण्डलको अशुद्ध करता रहता है, वह प्राणिमात्रकी हिंसा करनेका अपराधी होता है।

'सत्यम्'—अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे जैसा सुना, देखा, पढ़ा, समझा और निश्चय किया है, उससे न अधिक और न कम—वैसा-का-वैसा प्रिय शब्दोंमें कह देना 'सत्य' है।

सत्यस्वरूप परमात्माको पाने और जाननेका एकमात्र उद्देश्य हो जानेपर साधकके द्वारा मन, वाणी और क्रियासे असत्य-व्यवहार नहीं हो सकता। उसके द्वारा सत्य-व्यवहार, सबके हितका व्यवहार ही होता है। जो सत्यको जानना चाहता है, वह सत्यके ही सम्मुख रहता है। इसलिये उसके मन-वाणी-शरीरसे जो क्रियाएँ होती हैं, वे सभी उत्साहपूर्वक सत्यकी ओर चलनेके लिये ही होती हैं।

'अक्रोध:'—दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये अन्त:-करणमें जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह 'क्रोध' है। पर जबतक अन्त:करणमें दूसरोंका अनिष्ट करनेकी भावना पैदा नहीं होती, तबतक वह 'क्षोभ' है, क्रोध नहीं।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे साधन करनेवाला मनुष्य अपना अपकार करनेवालेका भी अनिष्ट नहीं करना चाहता। वह इस बातको समझता है कि अनिष्ट करनेवाला व्यक्ति वास्तवमें हमारा अनिष्ट कभी कर ही नहीं सकता। यह जो हमें दु:ख देनेके लिये आया है, यह हमने पहले कोई गलती की है, उसीका फल है। अत: यह हमें शुद्ध कर रहा है, निर्मल कर रहा है। जैसे, डॉक्टर किसी रुग्ण अंगको काटता है, तो उसपर रोगी क्रोध नहीं करता, प्रत्युत उसे अच्छा मानता है, ठीक मानता है। उसके रुग्ण अंगको काटना तो उसे ठीक करनेके लिये ही है। ऐसे ही साधकको कोई अहितकी भावनासे किसी तरहसे दु:ख देता है, तो उसमें यह भाव पैदा होता है कि वह मेरेको शुद्ध, निर्मल बनानेमें निमित्त बन रहा है; अत: उसपर क्रोध कैसे? वह तो मेरा उपकार कर रहा है और भविष्यके लिये सावधान कर रहा है कि जो गलती पहले की है, आगे वैसी गलती न करूँ।

जो लोग साधकका हित करनेवाले हैं, उसकी सेवा करनेवाले हैं, वे तो साधकको सुख पहुँचाकर उसके पुण्योंका नाश करते हैं। पर साधकको उनपर (उसके पुण्योंका नाश करनेके कारण) क्रोध नहीं आता। उनपर साधकको यह विचार आता है कि वे जो मेरी सेवा करते हैं, मेरे अनुकूल आचरण करते हैं, यह तो उनकी सज्जनता है, उनका श्रेष्ठ भाव है। परन्तु पुण्योंका नाश तो तब होता है, जब मैं उनकी सेवासे सुख भोगता हूँ। इस प्रकार साधककी दृष्टि सेवा करनेवालोंकी अच्छाई, शुद्ध नीयतपर ही जाती है। अत: साधकको न तो दु:ख देनेवालोंपर क्रोध होता है और न सुख देनेवालोंपर।

'त्याग:'—संसारसे विमुख हो जाना ही असली त्याग है। साधकके जीवनमें बाहरका और भीतरका—दोनोंका ही त्याग होना चाहिये। जैसे, बाहरसे पाप, अन्याय, अत्याचार, दुराचार आदिका और बाहरी सुख-आराम आदिका त्याग भी करना चाहिये, और भीतरसे सांसारिक नाशवान् वस्तुओंकी कामनाका त्याग भी करना चाहिये। इसमें भी बाहरके त्यागकी अपेक्षा भीतरकी कामनाका त्याग श्रेष्ठ है। कामनाका सर्वथा त्याग होनेपर तत्काल शान्तिकी प्राप्ति होती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)।

साधकके लिये उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंकी कामना ही वास्तवमें सबसे ज्यादा बाधक होती है। अत: कामनाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। त्याग कब होता है?

जब साधकका उद्देश्य एकमात्र परमात्मप्राप्तिका ही हो जाता है, तब उसकी कामनाएँ दूर होती चली जाती हैं। कारण कि सांसारिक भोग और संग्रह साधकका लक्ष्य नहीं होता। अत: वह सांसारिक भोग और संग्रहकी कामनाका त्याग करते हुए अपने साधनमें आगे बढ़ता रहता है।

'शान्ति:'—अन्त:करणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना 'शान्ति' है; क्योंकि संसारके साथ राग-द्वेष करनेसे ही अन्त:करणमें अशान्ति आती है और उनके न होनेसे अन्त:करण स्वाभाविक ही शान्त, प्रसन्न रहता है।

अनुकूलतासे पुराने पुण्योंका नाश होता है और उसमें अपना स्वभाव सुधरनेकी अपेक्षा बिगड़नेकी सम्भावना अधिक रहती है। परन्तु प्रतिकूलता आनेपर पापोंका नाश होता है और अपने स्वभावमें भी सुधार होता है। इस बातको समझनेपर प्रतिकूलतामें भी स्वत: शान्ति बनी रहती है।

किसी परिस्थिति आदिको लेकर साधकमें कभी राग-द्वेषका भाव हो भी जाता है तो उसके मनमें अशान्ति पैदा हो जाती है और अशान्ति होते ही वह तुरंत सावधान हो जाता है कि राग-द्वेषपूर्वक कर्म करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इस विचारसे फिर शान्ति आ जाती है और समय पाकर स्थिर हो जाती है।

'अपैशुनम्'—किसीके दोषको दूसरेके आगे प्रकट करके दूसरोंमें उसके प्रति दुर्भाव पैदा करना पिशुनता है और इसका सर्वथा अभाव ही 'अपैशुन' है। परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे साधक कभी किसीकी चुगली नहीं करता। ज्यों-ज्यों उसका साधन आगे बढ़ता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों उसकी दोषदृष्टि और द्वेषवृत्ति मिटकर दूसरोंके प्रति उसका स्वत: ही अच्छा भाव होता चला जाता है। उसके मनमें यह विचार भी नहीं आता कि मैं साधन करनेवाला हूँ और ये दूसरे (साधन न करनेवाले) साधारण मनुष्य हैं, प्रत्युत तत्परतासे साधन होनेपर उसे जैसी अपनी स्थिति (जडतासे सम्बन्ध न होना) दिखायी देती है, वैसी ही दूसरोंकी स्थिति भी दिखायी देती है कि वास्तवमें उनका भी जडतासे सम्बन्ध नहीं है, केवल सम्बन्ध माना हुआ है। इस तरह जब उसकी दृष्टिमें किसीका भी जडतासे सम्बन्ध है ही नहीं, तो वह किसीका दोष किसीके प्रति क्यों प्रकट करेगा?

भक्तिमार्गवाला सर्वत्र अपने प्रभुको देखता है, ज्ञानमार्गवाला केवल अपने स्वरूपको ही देखता है और कर्मयोगमार्गवाला अपने सेव्यको देखता है। इसलिये साधक किसीकी बुराई, निन्दा, चुगली आदि कर ही कैसे सकता है?

'दया भूतेषु'—दूसरोंको दु:खी देखकर उनका दु:ख दूर करनेकी भावनाको 'दया' कहते हैं। भगवान्‌की, संत-महात्माओंकी, साधकोंकी और साधारण मनुष्योंकी दया अलग-अलग होती है—

(१) भगवान्‌की दया—भगवान्‌की दया सभीको शुद्ध करनेके लिये होती है। भक्तलोग इस दयाके दो भेद मानते हैं—कृपा और दया। मात्र मनुष्योंको पापोंसे शुद्ध करनेके लिये उनके मनके विरुद्ध (प्रतिकूल) परिस्थितिको भेजना 'कृपा' है और अनुकूल परिस्थितिको भेजना 'दया' है।

(२) संत-महात्माओंकी दया—संत-महात्मालोग दूसरोंके दु:खसे दु:खी और दूसरोंके सुखसे सुखी होते हैं—**'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'** (मानस ७। ३८। १)। पर वास्तवमें उनके भीतर न दूसरोंके दु:खसे दु:ख होता है और न अपने दु:खसे ही दु:ख होता है। कारण कि तत्त्वमें न सुख है, न दु:ख। जैसे समुद्रके ऊपर लहरें उठती दीखती हैं, पर समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं होती, भीतरसे समुद्र शान्त (सम) रहता है, ऐसे ही व्यवहारमें सन्त दु:खी होते हुए दीखते हैं, पर उनके भीतर न सुख है, न दु:ख। तात्पर्य है कि वास्तवमें वे दु:खी नहीं होते, प्रत्युत उनके द्वारा दूसरेका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा होती है। अपनेपर प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर वे उसमें भगवान्‌की कृपाको देखते हैं, पर दूसरोंपर दु:ख आनेपर उन्हें सुखी करनेके लिये वे उनके दु:खको स्वयं अपनेपर ले लेते हैं। जैसे, इन्द्रने क्रोधपूर्वक बिना अपराधके दधीचि ऋषिका सिर काट दिया था, पर जब इन्द्रने अपनी रक्षाके लिये उनकी हड्डियाँ माँगी, तब दधीचिने सहर्ष प्राण छोड़कर उन्हें अपनी हड्डियाँ दे दीं। इस प्रकार संत-महापुरुष दूसरेके दु:खको सह नहीं सकते, प्रत्युत उन्हें सुख पहुँचानेके लिये अपनी सुख-सामग्री और प्राणतक दे देते हैं, चाहे दूसरा उनका अहित करनेवाला ही क्यों न हो!* इसलिये संत-

---

* **कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहन:। ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम्॥**

'कर्णने अपनी त्वचा, शिबिने अपना मांस, दधीचिने अपनी हड्डियाँ और जीमूतवाहनने अपना जीवन (शरीर) दे दिया। सच है, महात्माओंके लिये (परहितके लिये) कुछ भी अदेय नहीं है।'

महात्माओंकी दया विशेष शुद्ध, निर्मल होती है।

(३) साधकोंकी दया—साधक अपने मनमें दूसरोंका दु:ख दूर करनेकी भावना रखता है और उसके अनुसार उनका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा भी करता है। दूसरोंको दु:खी देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है; क्योंकि वह अपनी ही तरह दूसरोंके दु:खको भी समझता है। इसलिये उसका यह भाव रहता है कि सब सुखी कैसे हों? सबका भला कैसे हो? सबका उद्धार कैसे हो? सबका हित कैसे हो? अपनी ओरसे वह ऐसी ही चेष्टा करता है; परन्तु मैं सबका हित करता हूँ, सबके हितकी चेष्टा करता हूँ—इन बातोंको लेकर उसके मनमें अभिमान नहीं होता। कारण कि दूसरोंका दु:ख दूर करनेका सहज स्वभाव बन जानेसे उसे अपने इस आचरणमें कोई विशेषता नहीं दीखती। इसलिये उसको अभिमान नहीं होता।

जो प्राणी भगवान्‌की ओर नहीं चलते, दुर्गुण-दुराचारोंमें रत रहते हैं, दूसरोंका अपराध करते हैं और अपना पतन करते हैं—ऐसे मनुष्योंपर साधकको क्रोध न आकर दया आती है। इसलिये वह हरदम ऐसी चेष्टा करता रहता है कि ये लोग दुर्गुण-दुराचारोंसे ऊपर कैसे उठें? इनका भला कैसे हो? कभी-कभी वह उनके दोषोंको दूर करनेमें अपनेको निर्बल मानकर भगवान्‌से प्रार्थना करता है कि 'हे नाथ! ये लोग इन दोषोंसे छूट जायँ और आपके भक्त बन जायँ।'

(४) साधारण मनुष्योंकी दया—साधारण मनुष्यकी दयामें थोड़ी मलिनता रहती है। वह किसी जीवके हितकी चेष्टा करता है, तो यह सोचता है कि 'मैं कितना दयालु हूँ! मैंने इस जीवको सुख पहुँचाया, तो मैं कितना अच्छा हूँ! हरेक आदमी मेरे-जैसा दयालु नहीं है, कोई-कोई ही होता है, इत्यादि।' इस प्रकार लोग मुझे अच्छा समझेंगे, मेरा आदर करेंगे आदि बातोंको लेकर, अपनेमें महत्त्वबुद्धि रखकर जो दया की जाती है, उसमें दयाका अंश तो अच्छा है, पर साथमें उपर्युक्त मलिनताएँ रहनेसे उस दयामें अशुद्धि आ जाती है।

इनसे भी साधारण दर्जेके मनुष्य दया तो करते हैं, पर उनकी दया ममतावाले व्यक्तियोंपर ही होती है। जैसे, ये हमारे परिवारके हैं, हमारे मत और सिद्धान्तको माननेवाले हैं, तो उनका दु:ख दूर करनेकी इच्छासे उन्हें सुख-आराम देनेका प्रयत्न करते हैं। यह दया ममता और पक्षपातयुक्त होनेसे अधिक अशुद्ध है।

इनसे भी घटिया दर्जेके वे मनुष्य हैं, जो केवल अपने सुख और स्वार्थकी पूर्तिके लिये ही दूसरोंके प्रति दयाका बर्ताव करते हैं।

'अलोलुप्त्वम्'—इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध होनेसे अथवा दूसरोंको भोग भोगते हुए देखनेसे मनका (भोग भोगनेके लिये) ललचा उठनेका नाम 'लोलुपता' है और उसके सर्वथा अभावका नाम 'अलोलुप्त्व' है।

अलोलुपताके उपाय—(१) साधकके लिये विशेष सावधानीकी बात है कि वह अपनी इन्द्रियोंसे भोगोंका सम्बन्ध न रखे और मनमें कभी भी ऐसा भाव, ऐसा अभिमान न आने दे कि मेरा इन्द्रियोंपर अधिकार है अर्थात् इन्द्रियाँ मेरे वशमें हैं; अत: मेरा क्या बिगड़ सकता है?

(२) 'मैं हृदयसे परमात्माकी प्राप्ति चाहता हूँ, अगर कभी हृदयमें विषय-लोलुपता हो गयी, तो मेरा पतन हो जायगा और मैं परमात्मासे विमुख हो जाऊँगा'—इस प्रकार साधक खूब सावधान रहे और कहीं अचानक विचलित होनेका अवसर आ जाय, तो 'हे नाथ! बचाओ; हे नाथ! बचाओ' ऐसे सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारे।

(३) स्त्री-पुरुषोंकी तथा जन्तुओंकी कामविषयक चेष्टा न देखे। यदि दीख जाय, तो ऐसा विचार करे कि 'यह तो बिलकुल चौरासी लाख योनियोंका रास्ता है। यह चीज तो मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, राक्षस-असुर, भूत-प्रेत आदि मात्र जीवोंमें भी है। पर मैं तो चौरासी लाख योनियों अर्थात् जन्म-मरणसे ऊँचा उठना चाहता हूँ। मैं जन्म-मरणके मार्गका पथिक नहीं हूँ। मेरेको तो जन्म-मरणादि दु:खोंका अत्यन्त अभाव करके परमात्माकी प्राप्ति करना है।' इस भावको बड़ी सावधानीके साथ जाग्रत् रखे और जहाँतक बने, ऐसी काम-चेष्टा न देखे।

'मार्दवम्'—बिना कारण दु:ख देनेवालों और वैर रखनेवालोंके प्रति भी अन्त:करणमें कठोरताका भाव न होना तथा स्वाभाविक कोमलताका रहना 'मार्दव' है*।

साधकके हृदयमें सबके प्रति कोमलताका भाव रहता है। उसके प्रति कोई कठोरता एवं अहितका बर्ताव भी करता है, तो भी उसकी कोमलतामें अन्तर नहीं आता। यदि साधक कभी किसी बातको लेकर किसीको कठोर जवाब

*** शरीरकी प्रधानताको लेकर 'आर्जव' और अन्त:करणकी प्रधानताको लेकर 'मार्दव' कहा जाता है—यही इन दोनोंमें अन्तर है।**

भी दे दे, तो वह कठोर जवाब भी उसके हितकी दृष्टिसे ही देता है। पर पीछे उसके मनमें यह विचार आता है कि मैंने उसके प्रति कठोरताका व्यवहार क्यों किया? मैं प्रेमसे या अन्य किसी उपायसे भी समझा सकता था—इस प्रकारके भाव आनेसे कठोरता मिटती रहती है और कोमलता बढ़ती रहती है।

यद्यपि साधकोंके भावोंमें और वाणीमें कोमलता रहती है, तथापि उनकी भिन्न-भिन्न प्रकृति होनेसे सबकी वाणीमें एक समान कोमलता नहीं होती। परन्तु हृदयमें साधकोंका सबके प्रति कोमल भाव रहता है। ऐसे ही कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदिका साधन करनेवालोंके स्वभावमें विभिन्नता होनेसे उनके बर्ताव सबके प्रति भिन्न-भिन्न होते हैं; अतः उनके आचरणोंमें एक-जैसी कोमलता नहीं दीखती, पर भीतरमें बड़ी भारी कोमलता रहती है।

'ह्रीः'—शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम करनेमें जो एक संकोच होता है, उसका नाम **'ह्रीः'** (लज्जा) है। साधकको साधन-विरुद्ध क्रिया करनेमें लज्जा आती है। वह लज्जा केवल लोगोंके देखनेसे ही नहीं आती, प्रत्युत उसके मनमें अपने-आप ही यह विचार आता है कि 'राम-राम, मैं ऐसी क्रिया कैसे कर सकता हूँ? क्योंकि मैं तो परमात्माकी तरफ चलनेवाला (साधक) हूँ। लोग भी मुझे परमात्माकी तरफ चलनेवाला समझते हैं। अतः ऐसी साधन-विरुद्ध क्रियाओंको मैं एकान्तमें अथवा लोगोंके सामने कैसे कर सकता हूँ?'—इस लज्जाके कारण साधक बुरे कर्मोंसे बच जाता है एवं उसके आचरण ठीक होते चले जाते हैं। जब साधक अपनी अहंता बदल देता है कि मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ, तब उसे अपनी अहंताके विरुद्ध क्रिया करनेमें स्वाभाविक ही लज्जा आती है। इसलिये पारमार्थिक उद्देश्य रखनेवाले प्रत्येक साधकको अपनी अहंता 'मैं साधक हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भगवद्भक्त हूँ'—इस प्रकारसे यथारुचि बदल लेनी चाहिये, जिससे वह साधन-विरोधी कर्मोंसे बचकर अपने उद्देश्यको जल्दी प्राप्त कर सकता है।

'अचापलम्'—कोई भी कार्य करनेमें चपलताका अर्थात् उतावलापनका न होना 'अचापल' है। चपलता (चंचलता) होनेसे काम जल्दी होता है, ऐसी बात नहीं है। सात्त्विक मनुष्य सब काम धैर्यपूर्वक करता है; अतः उसका काम सुचारुरूपसे और ठीक समयपर हो जाता है। जब कार्य ठीक हो जाता है, तब उसके अन्तःकरणमें हलचल, चिन्ता नहीं होती। चपलता न होनेसे कार्यमें दीर्घसूत्रताका दोष भी नहीं आता, प्रत्युत कार्यमें तत्परता आती है, जिससे सब काम सुचारुरूपसे होते हैं। अपने कर्तव्य-कर्मोंको करनेके अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा न होनेसे उसका चित्त विक्षिप्त और चंचल नहीं होता (गीता—अठारहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

तेजः	= तेज (प्रभाव),		(और)	**सम्पदम्**	= सम्पदाको
क्षमा	= क्षमा,	**नातिमानिता**	= मानको न चाहना,	**अभिजातस्य**	= प्राप्त हुए मनुष्यके (लक्षण)
धृतिः	= धैर्य,	**भारत**	= हे भरतवंशी अर्जुन! (ये सभी)		
शौचम्	= शरीरकी शुद्धि,				
अद्रोहः	= वैरभावका न होना	**दैवीम्**	= दैवी	**भवन्ति**	= हैं।

व्याख्या—**'तेजः'**—महापुरुषोंका संग मिलनेपर उनके प्रभावसे प्रभावित होकर साधारण पुरुष भी दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करके सद्गुण-सदाचारोंमें लग जाते हैं। महापुरुषोंकी उस शक्तिको ही यहाँ 'तेज' कहा है। ऐसे तो क्रोधी आदमीको देखकर भी लोगोंको उसके स्वभावके विरुद्ध काम करनेमें भय लगता है; परन्तु यह क्रोधरूप दोषका तेज है।

साधकमें दैवी-सम्पत्तिके गुण प्रकट होनेसे उसको देखकर दूसरे लोगोंके भीतर स्वाभाविक ही सौम्यभाव आते हैं अर्थात् उस साधकके सामने दूसरे लोग दुराचार करनेमें लज्जित होते हैं, हिचकते हैं और अनायास ही सद्भावपूर्वक सदाचार करने लग जाते हैं। यही उन दैवी-सम्पत्तिवालोंका तेज (प्रभाव) है।

'क्षमा'—बिना कारण अपराध करनेवालेको दण्ड

देनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी उसके अपराधको सह लेना और उसको माफ कर देना 'क्षमा'[1] है। यह क्षमा मोह-ममता, भय और स्वार्थको लेकर भी की जाती है; जैसे—पुत्रके अपराध कर देनेपर पिता उसे क्षमा कर देता है, तो यह क्षमा मोह-ममताको लेकर होनेसे शुद्ध नहीं है। इसी प्रकार किसी बलवान् एवं क्रूर व्यक्तिके द्वारा हमारा अपराध किये जानेपर हम भयवश उसके सामने कुछ नहीं बोलते, तो यह क्षमा भयको लेकर है। हमारी धन-सम्पत्तिकी जाँच-पड़ताल करनेके लिये इन्सपेक्टर आता है, तो वह हमें धमकाता है, अनुचित भी बोलता है और उसका ठहरना हमें बुरा भी लगता है तो भी स्वार्थ-हानिके भयसे हम उसके सामने कुछ नहीं बोलते, तो यह क्षमा स्वार्थको लेकर है। पर ऐसी क्षमा वास्तविक क्षमा नहीं है। वास्तविक क्षमा तो वही है, जिसमें 'हमारा अनिष्ट करनेवालेको यहाँ और परलोकमें भी किसी प्रकारका दण्ड न मिले'—ऐसा भाव रहता है।

क्षमा माँगना भी दो रीतिसे होता है—

(१) हमने किसीका अपकार किया, तो उसका दण्ड हमें न मिले—इस भयसे भी क्षमा माँगी जाती है; परन्तु इस क्षमामें स्वार्थका भाव रहनेसे यह ऊँचे दर्जेकी क्षमा नहीं है।

(२) हमसे किसीका अपराध हुआ, तो अब यहाँसे आगे उम्रभर ऐसा अपराध फिर कभी नहीं करूँगा—इस भावसे जो क्षमा माँगी जाती है, वह अपने सुधारकी दृष्टिको लेकर होती है और ऐसी क्षमा माँगनेसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है।

मनुष्य क्षमाको अपनेमें लाना चाहे तो कौन-सा उपाय करे? यदि मनुष्य अपने लिये किसीसे किसी प्रकारके सुखकी आशा न रखे और अपना अपकार करनेवालेका बुरा न चाहे, तो उसमें क्षमाभाव प्रकट हो जाता है।

'धृतिः'—किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिमें विचलित न होकर अपनी स्थितिमें कायम रहनेकी शक्तिका नाम 'धृति' (धैर्य) है (गीता—अठारहवें अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)।

वृत्तियाँ सात्त्विक होती हैं तो धैर्य ठीक रहता है और वृत्तियाँ राजसी-तामसी होती हैं तो धैर्य वैसा नहीं रहता। जैसे बद्रीनारायणके रास्तेपर चलनेवालेके लिये कभी गरमी, चढ़ाई आदि प्रतिकूलताएँ आती हैं और कभी ठण्डक, उतराई आदि अनुकूलताएँ आती हैं, पर चलनेवालेको उन प्रतिकूलताओं और अनुकूलताओंको देखकर ठहरना नहीं है, प्रत्युत 'हमें तो बद्रीनारायण पहुँचना है'—इस उद्‌देश्यसे धैर्य और तत्परतापूर्वक चलते रहना है। ऐसे ही साधकको अच्छी-मन्दी वृत्तियों और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंकी ओर देखना ही नहीं चाहिये। इनमें उसे धीरज धारण करना चाहिये; क्योंकि जो अपना उद्‌देश्य सिद्ध करना चाहता है, वह मार्गमें आनेवाले सुख और दुःखको नहीं देखता—

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

(भर्तृहरिनीतिशतक)

'शौचम्'—बाह्यशुद्धि एवं अन्तःशुद्धिका नाम 'शौच' है[2]। परमात्मप्राप्तिका उद्‌देश्य रखनेवाला साधक बाह्यशुद्धिका भी खयाल रखता है; क्योंकि बाह्यशुद्धि रखनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि स्वतः होती है और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर बाह्य-अशुद्धि उसको सुहाती नहीं। इस विषयपर पतंजलि महाराजने कहा है—

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(योगदर्शन २। ४०)

'शौचसे साधककी अपने शरीरमें घृणा अर्थात् अपवित्र-बुद्धि और दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा होती है।'

तात्पर्य यह है कि अपने शरीरको शुद्ध रखनेसे शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान होता है। शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान होनेसे 'सम्पूर्ण शरीर इसी तरहके हैं'—इसका बोध होता है। इस बोधसे दूसरे शरीरोंके प्रति जो आकर्षण होता है, उसका अभाव हो जाता है अर्थात् दूसरे शरीरोंसे सुख

१-क्षमा और अक्रोधमें क्या अन्तर है? क्षमामें जिसने अपराध किया है, उसपर विशेषतासे यह दृष्टि रहती है कि उसको कभी किसी प्रकारका दण्ड न हो और अक्रोधमें अपनी तरफ दृष्टि रहती है कि हमारेमें क्रोध न हो, जलन न हो, किसी प्रकारकी हलचल न हो। यद्यपि क्षमाके अन्तर्गत अक्रोध भी आ जाता है, तथापि क्षमाशील कह देनेपर उसके लिये क्रोधरहित कहनेकी आवश्यकता नहीं है, जब कि क्रोधरहित कहनेपर यह क्षमाशील है, ऐसा कहनेकी आवश्यकता रह जाती है। अतः ये दोनों गुण (क्षमा और अक्रोध) भिन्न-भिन्न हैं।

२-यहाँ 'शौचम्' पदसे बाह्यशुद्धि ही लेनी चाहिये; क्योंकि अन्तःशुद्धि 'सत्त्वसंशुद्धिः' पदसे इसी अध्यायके पहले श्लोकमें आ चुकी है।

लेनेकी इच्छा मिट जाती है।

बाह्यशुद्धि चार प्रकारसे होती है—(१) शारीरिक, (२) वाचिक, (३) कौटुम्बिक और (४) आर्थिक।

(१) शारीरिक शुद्धि—प्रमाद, आलस्य, आरामतलबी, स्वाद-शौकीनी आदिसे शरीर अशुद्ध हो जाता है और इनके विपरीत कार्य-तत्परता, पुरुषार्थ, उद्योग, सादगी आदि रखते हुए आवश्यक कार्य करनेपर शरीर शुद्ध हो जाता है। ऐसे ही जल, मृत्तिका आदिसे भी शारीरिक शुद्धि होती है।

(२) वाचिक शुद्धि—झूठ बोलने, कड़ुआ बोलने, वृथा बकवाद करने, निन्दा करने, चुगली करने आदिसे वाणी अशुद्ध हो जाती है। इन दोषोंसे रहित होकर सत्य, प्रिय एवं हितकारक आवश्यक वचन बोलना (जिससे दूसरोंकी पारमार्थिक उन्नति होती हो और देश, ग्राम, मोहल्ले, परिवार, कुटुम्ब आदिका हित होता हो) और अनावश्यक बात न करना—यह वाणीकी शुद्धि है।

(३) कौटुम्बिक शुद्धि—अपने बाल-बच्चोंको अच्छी शिक्षा देना; जिससे उनका हित हो, वही आचरण करना; कुटुम्बियोंका हमपर जो न्याययुक्त अधिकार है, उसको अपनी शक्तिके अनुसार पूरा करना; कुटुम्बियोंमें किसीका पक्षपात न करके सबका समानरूपसे हित करना—यह कौटुम्बिक शुद्धि है।

(४) आर्थिक शुद्धि—न्याययुक्त, सत्यतापूर्वक, दूसरोंके हितका बर्ताव करते हुए जिस धनका उपार्जन किया गया है, उसको यथाशक्ति, अरक्षित, अभावग्रस्त, दरिद्री, रोगी, अकालपीड़ित, भूखे आदि आवश्यकतावालोंको देनेसे एवं गौ, स्त्री, ब्राह्मणोंकी रक्षामें लगानेसे द्रव्यकी शुद्धि होती है। त्यागी-वैरागी-तपस्वी सन्त-महापुरुषोंकी सेवामें लगानेसे एवं सद्ग्रन्थोंको सरल भाषामें छपवाकर कम मूल्यमें देनेसे तथा उनका लोगोंमें प्रचार करनेसे धनकी महान् शुद्धि हो जाती है।

परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य हो जानेपर अपनी (स्वयंकी) शुद्धि हो जाती है। स्वयंकी शुद्धि होनेपर शरीर, वाणी, कुटुम्ब, धन आदि सभी शुद्ध एवं पवित्र होने लगते हैं। शरीर आदिके शुद्ध हो जानेसे वहाँका स्थान, वायुमण्डल आदि भी शुद्ध हो जाते हैं। बाह्यशुद्धि और पवित्रताका खयाल रखनेसे शरीरकी वास्तविकता अनुभवमें आ जाती है, जिससे शरीरसे अहंता-ममता छोड़नेमें सहायता मिलती है। इस प्रकार यह साधन भी परमात्मप्राप्तिमें निमित्त बनता है।

'अद्रोहः'—बिना कारण अनिष्ट करनेवालेके प्रति भी अन्तःकरणमें बदला लेनेकी भावनाका न होना 'अद्रोह'* है। साधारण व्यक्तिका कोई अनिष्ट करता है, तो उसके मनमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति द्वेषकी एक गाँठ बँध जाती है कि मौका पड़नेपर मैं इसका बदला ले ही लूँगा; किन्तु जिसका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका है, उस साधकका कोई कितना ही अनिष्ट क्यों न करे, उसके मनमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति बदला लेनेकी भावना ही पैदा नहीं होती। कारण कि कर्मयोगका साधक सबके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करता है, ज्ञानयोगका साधक सबको अपना स्वरूप समझता है और भक्तियोगका साधक सबमें अपने इष्ट भगवान्‌को समझता है। अतः वह किसीके प्रति कैसे द्रोह कर सकता है।

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस ७। ११२ ख)

'नातिमानिता'—एक 'मानिता' होती है और एक 'अतिमानिता' होती है। सामान्य व्यक्तियोंसे मान चाहना 'मानिता' है और जिनसे हमने शिक्षा प्राप्त की, जिनका आदर्श ग्रहण किया और ग्रहण करना चाहते हैं, उनसे भी अपना मान, आदर-सत्कार चाहना 'अतिमानिता' है। इन मानिता और अतिमानिताका न होना 'नातिमानिता' है—

स्थूल दृष्टिसे 'मानिता' के दो भेद होते हैं—

(१) सांसारिक मानिता—धन, विद्या, गुण, बुद्धि, योग्यता, अधिकार, पद, वर्ण, आश्रम आदिको लेकर दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें एक श्रेष्ठताका भाव होता है कि 'मैं साधारण मनुष्योंकी तरह थोड़े ही हूँ, मेरा कितने लोग आदर-सत्कार करते हैं! वे आदर करते हैं तो यह ठीक ही है; क्योंकि मैं आदर पानेयोग्य ही हूँ'—इस प्रकार अपने प्रति जो मान्यता होती है, वह सांसारिक मानिता कहलाती है।

(२) पारमार्थिक मानिता—प्रारम्भिक साधनकालमें जब अपनेमें कुछ दैवी-सम्पत्ति प्रकट होने लगती है, तब साधकको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें कुछ विशेषता दीखती है। साथ ही दूसरे लोग भी उसे परमात्माकी ओर चलनेवाला साधक मानकर उसका विशेष आदर करते हैं और साथ-ही-साथ 'ये साधन करनेवाले हैं, अच्छे सज्जन

*** क्रोध और द्रोह—दोनोंमें अन्तर है। अपना अनिष्ट करनेवालेके प्रति तत्काल जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम 'क्रोध' है; और क्रोधका जो भीतरी भाव बैठता है अर्थात् मौका मिलनेपर उसका अनिष्ट करनेकी जो वैरभावना बैठती है, उसका नाम 'द्रोह' है।**

हैं'—ऐसी प्रशंसा भी करते हैं। इससे साधकको अपनेमें विशेषता मालूम देती है, पर वास्तवमें यह विशेषता अपने साधनमें कमी होनेके कारण ही दीखती है। यह विशेषता दीखना पारमार्थिक मानिता है।

जबतक अपनेमें व्यक्तित्व (एकदेशीयता, परिच्छिन्नता) रहता है, तभीतक अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दिखायी दिया करती है। परन्तु ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व मिटता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों साधकका दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषताका भाव मिटता चला जाता है। अन्तमें इन सभी मानिताओंका अभाव होकर साधकमें दैवी-सम्पत्तिका गुण 'नातिमानिता' प्रकट हो जाती है।

दैवी-सम्पत्तिके जितने सद्‌गुण-सदाचार हैं, उनको पूर्णतया जाग्रत् करनेका उद्‌देश्य तो साधकका होना ही चाहिये। हाँ, प्रकृति-(स्वभाव-)की भिन्नतासे किसीमें किसी गुणकी कमी, तो किसीमें किसी गुणकी कमी रह सकती है। परन्तु वह कमी साधकके मनमें खटकती रहती है और वह प्रभुका आश्रय लेकर अपने साधनको तत्परतासे करते रहता है; अतः भगवत्कृपासे वह कमी मिटती जाती है। कमी ज्यों-ज्यों मिटती जाती है, त्यों-त्यों उत्साह और उस कमीके उत्तरोत्तर मिटनेकी सम्भावना भी बढ़ती जाती है। इससे दुर्गुण-दुराचार सर्वथा नष्ट होकर सद्‌गुण-सदाचार अर्थात् दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो जाती है।

'भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत'—भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! ये सभी दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुए मनुष्योंके लक्षण हैं।

परमात्मप्राप्तिका उद्‌देश्य होनेपर ये दैवी-सम्पत्तिके लक्षण साधकमें स्वाभाविक ही आने लगते हैं। कुछ लक्षण पूर्वजन्मोंके संस्कारोंसे भी जाग्रत् होते हैं। परन्तु साधक इन गुणोंको अपने नहीं मानता और न उनको अपने पुरुषार्थसे उपार्जित ही मानता है, प्रत्युत गुणोंके आनेमें वह भगवान्‌की ही कृपा मानता है। कभी खयाल करनेपर साधकके मनमें ऐसा विचार होता है कि मेरेमें पहले तो ऐसी वृत्तियाँ नहीं थीं, ऐसे सद्‌गुण नहीं थे, फिर ये कहाँसे आ गये? तो ये सब भगवान्‌की कृपासे ही आये हैं—ऐसा अनुभव होनेसे उस साधकको दैवी-सम्पत्तिका अभिमान नहीं आता।

साधकको दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको अपने नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यह देव—परमात्माकी सम्पत्ति है, व्यक्तिगत (अपनी) किसीकी नहीं है। यदि व्यक्तिगत होती, तो यह अपनेमें ही रहती, किसी अन्य व्यक्तिकी नहीं रहती। इसको व्यक्तिगत माननेसे ही अभिमान आता है। अभिमान आसुरी-सम्पत्तिका मुख्य लक्षण है। अभिमानकी छायामें ही आसुरी-सम्पत्तिके सभी अवगुण रहते हैं। यदि दैवी-सम्पत्तिसे आसुरी-सम्पत्ति (अभिमान) पैदा हो जाय, तो फिर आसुरी-सम्पत्ति कभी मिटेगी ही नहीं। परन्तु दैवी-सम्पत्तिसे आसुरी-सम्पत्ति कभी पैदा नहीं होती, प्रत्युत दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके साथ-साथ आसुरी-सम्पत्तिके जो अवगुण रहते हैं, उनसे ही गुणोंका अभिमान पैदा होता है अर्थात् साधनके साथ कुछ-कुछ असाधन रहनेसे ही अभिमान आदि दोष पैदा होते हैं। जैसे, किसीको सत्य बोलनेका अभिमान होता है, तो उसके मूलमें वह सत्यके साथ-साथ असत्य भी बोलता है, जिसके कारण सत्यका अभिमान आता है। तात्पर्य यह है कि दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको अपना माननेसे एवं गुणोंके साथ अवगुण रहनेसे ही अभिमान आता है। सर्वथा गुण आनेपर गुणोंका अभिमान हो ही नहीं सकता।

यहाँ दैवी-सम्पत्ति कहनेका तात्पर्य है कि यह भगवान्‌की सम्पत्ति है। अतः भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे, उनका आश्रय लेनेसे शरणागत भक्तमें यह स्वाभाविक ही आती है। जैसे शबरीके प्रसंगमें रामजीने कहा है—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

....

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

(मानस ३। ३५-३६)

मनुष्य-देवता, भूत-पिशाच, पशु-पक्षी, नारकीय जीव, कीट-पतंग, लता-वृक्ष आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उन सबमें अपनी-अपनी योनिके अनुसार मिले हुए शरीरोंके रुग्ण एवं जीर्ण हो जानेपर भी 'मैं जीता रहूँ, मेरे प्राण बने रहें'—यह इच्छा बनी रहती है*। इस इच्छाका होना ही आसुरी-सम्पत्ति है।

त्यागी-वैरागी साधकमें भी प्राणोंके बने रहनेकी इच्छा रहती है; परन्तु उसमें प्राणपोषण-बुद्धि, इन्द्रिय-लोलुपता नहीं रहती; क्योंकि उसका उद्‌देश्य परमात्मा होता है, न कि शरीर और संसार।

* **यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥ (श्रीमद्भा० १०। १४। ५३)**

जब साधक भक्तका भगवान्‌में प्रेम हो जाता है, तब उसको भगवान् प्राणोंसे भी प्यारे लगते हैं। प्राणोंका मोह न रहनेसे उसके प्राणोंका आधार केवल भगवान् हो जाते हैं। इसलिये वह भगवान्‌को 'प्राणनाथ! प्राणेश्वर! प्राणप्रिय!' आदि सम्बोधनोंसे पुकारता है। भगवान्‌का वियोग न सहनेसे उसके प्राण भी छूट सकते हैं। कारण कि मनुष्य जिस वस्तुको प्राणोंसे भी बढ़कर मान लेता है, उसके लिये यदि प्राणोंका त्याग करना पड़े तो वह सहर्ष प्राणोंका त्याग कर देता है; जैसे—पतिव्रता स्त्री पतिको प्राणोंसे भी बढ़कर (प्राणनाथ) मानती है, तो उसका प्राण, शरीर, वस्तु, व्यक्ति आदिमें मोह नहीं रहता। इसीलिये पतिके मरनेपर वह उसके वियोगमें प्रसन्नतापूर्वक सती हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि जब केवल भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, तो फिर प्राणोंका मोह नहीं रहता। प्राणोंका मोह न रहनेसे आसुरी-सम्पत्ति सर्वथा मिट जाती है और दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट हो जाती है। इसी बातका संकेत गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने इस प्रकार किया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस ७। ४९। ३)

सम्बन्ध—अबतक एक परमात्माका ही उद्देश्य रखनेवालोंकी दैवी-सम्पत्ति बतायी; परन्तु सांसारिक भोग भोगना और संग्रह करना ही जिनका उद्देश्य है, ऐसे प्राणपोषणपरायण लोगोंकी कौन-सी सम्पत्ति होती है—इसे अब आगेके श्लोकमें बताते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**क्रोधः**	= क्रोध करना	**एव**	= भी—(ये सभी)
दम्भः	= दम्भ करना,	**च**	= तथा	**आसुरीम्**	= आसुरी
दर्पः	= घमण्ड करना	**पारुष्यम्**	= कठोरता रखना	**सम्पदम्**	= सम्पदाको
च	= और	**च**	= और	**अभिजातस्य**	= प्राप्त हुए मनुष्यके (लक्षण) हैं।
अभिमानः	= अभिमान करना,	**अज्ञानम्**	= अविवेकका होना		

व्याख्या—'**दम्भः**'—मान, बड़ाई, पूजा, ख्याति आदि प्राप्त करनेके लिये, अपनी वैसी स्थिति न होनेपर भी वैसी स्थिति दिखानेका नाम 'दम्भ' है। यह दम्भ दो प्रकारसे होता है—

(१) सद्गुण-सदाचारोंको लेकर—अपनेको धर्मात्मा, साधक, विद्वान्, गुणवान् आदि प्रकट करना अर्थात् अपनेमें वैसा आचरण न होनेपर भी अपनेमें श्रेष्ठ गुणोंको लेकर वैसा आचरण दिखाना, थोड़ा होनेपर भी ज्यादा दिखाना, भोगी होनेपर भी अपनेको योगी दिखाना आदि दिखावटी भावों और क्रियाओंका होना—यह सद्गुण-सदाचारोंको लेकर 'दम्भ' है।

(२) दुर्गुण-दुराचारोंको लेकर—जिसका आचरण, खान-पान स्वाभाविक अशुद्ध नहीं है, ऐसा व्यक्ति भी जिनके आचरण, खान-पान अशुद्ध हैं—ऐसे दुर्गुणी-दुराचारी लोगोंमें जाकर उनको राजी करके अपनी इज्जत जमानेके लिये, मान-आदर आदि प्राप्त करनेके लिये, अपने मनमें बुरा लगनेपर भी वैसा आचरण, खान-पान कर बैठता है—यह दुर्गुण-दुराचारोंको लेकर 'दम्भ' है।

तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य प्राण, शरीर, धन, सम्पत्ति, आदर, महिमा आदिको प्रधानता देने लगता है, तब उसमें दम्भ आ जाता है।

'**दर्पः**'—घमण्डका नाम 'दर्प' है। धन-वैभव, जमीन-जायदाद, मकान-परिवार आदि ममतावाली चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पनका अनुभव होता है, वह 'दर्प' है। जैसे—मेरे पास इतना धन है; मेरा इतना बड़ा परिवार है; मेरा इतना राज्य है; मेरे पास इतनी जमीन-जायदाद है; मेरे पीछे इतने आदमी हैं; मेरी आवाजके पीछे इतने आदमी बोलते हैं; मेरे पक्षमें बहुत आदमी हैं; धन-सम्पत्ति-वैभवमें मेरी बराबरी कौन कर सकता है? मेरे पास ऐसे-ऐसे पद हैं, अधिकार हैं; संसारमें मेरा कितना यश, प्रतिष्ठा हो रही है! मेरे बहुत अनुयायी हैं; मेरा सम्प्रदाय कितना ऊँचा है! मेरे गुरुजी कितने प्रभावशाली हैं! आदि-आदि।

'**अभिमानः**'—अहंतावाली चीजोंको लेकर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर अपनेमें जो

बड़प्पनका अनुभव होता है, उसका नाम 'अभिमान' है[1]। जैसे—मैं जाति-पाँतिमें कुलीन हूँ; मैं वर्ण-आश्रममें ऊँचा हूँ; हमारी जातिमें हमारी प्रधानता है; गाँवभरमें हमारी बात चलती है अर्थात् हम जो कह देंगे, उसको सभी मानेंगे; हम जिसको सहारा देंगे, उस आदमीसे विरुद्ध चलनेमें सभी लोग भयभीत होंगे और हम जिसके विरोधी होंगे, उसका साथ देनेमें भी सभी लोग भयभीत होंगे; राजदरबारमें भी हमारा आदर है, इसलिये हम जो कह देंगे, उसे कोई टालेगा नहीं; हम न्याय-अन्याय जो कुछ भी करेंगे, उसको कोई टाल नहीं सकता, उसका कोई विरोध नहीं कर सकता; मैं बड़ा विद्वान् हूँ, मैं अणिमा, महिमा, गरिमा आदि सिद्धियोंको जानता हूँ, इसलिये सारे संसारको उथल-पुथल कर सकता हूँ, आदि-आदि।

'**क्रोधः**'—दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये अन्तः-करणमें जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम 'क्रोध' है।

मनुष्यके स्वभावके विपरीत कोई काम करता है तो उसका अनिष्ट करनेके लिये अन्तःकरणमें उत्तेजना होकर जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह क्रोध है। क्रोध और क्षोभमें अन्तर है। बच्चा उद्दण्डता करता है, कहना नहीं मानता, तो माता-पिता उत्तेजनामें आकर उसको ताड़ना करते हैं—यह उनका 'क्षोभ' (हृदयकी हलचल) है, क्रोध नहीं। कारण कि उनमें बच्चेका अनिष्ट करनेकी भावना होती ही नहीं, प्रत्युत बच्चेके हितकी भावना होती है। परंतु यदि उत्तेजनामें आकर दूसरेका अनिष्ट, अहित करके उसे दुःख देनेमें सुखका अनुभव होता है, तो यह 'क्रोध' है। आसुरी प्रकृतिवालोंमें यही क्रोध होता है।

क्रोधके वशीभूत होकर मनुष्य न करनेयोग्य काम भी कर बैठता है, जिसके फलस्वरूप स्वयं उसको पश्चात्ताप करना पड़ता है। क्रोधी व्यक्ति उत्तेजनामें आकर दूसरोंका अपकार तो करता है, पर क्रोधसे स्वयं उसका अपकार कम नहीं होता; क्योंकि अपना अनिष्ट किये बिना क्रोधी व्यक्ति दूसरेका अनिष्ट कर ही नहीं सकता। इसमें भी एक मर्मकी बात है कि क्रोधी व्यक्ति जिसका अनिष्ट करता है, उसका किन्हीं दुष्कर्मोंका जो फल भोगरूपसे आनेवाला है, वही होता है अर्थात् उसका कोई नया अनिष्ट नहीं हो सकता; परंतु क्रोधी व्यक्तिका दूसरेका अनिष्ट करनेकी भावनासे और अनिष्ट करनेसे नया पाप-संग्रह हो जायगा तथा उसका स्वभाव भी बिगड़ जायगा। यह स्वभाव उसे नरकोंमें ले जानेका हेतु बन जायगा और वह जिस योनिमें जायगा, वहीं उसे दुःख देगा।

क्रोध स्वयंको ही जलाता है[2]। क्रोधी व्यक्तिकी संसारमें अच्छी ख्याति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा ही होती है। खास अपने घरके आदमी भी क्रोधीसे डरते हैं। इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने क्रोधको नरकोंका दरवाजा बताया है। जब मनुष्यके स्वार्थ और अभिमानमें बाधा पड़ती है, तब क्रोध पैदा होता है। फिर क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे मनुष्यका पतन हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)।

'**पारुष्यम्**'—कठोरताका नाम 'पारुष्य' है। यह कई प्रकारका होता है; जैसे—शरीरसे अकड़कर चलना, टेढ़े चलना—यह शारीरिक पारुष्य है। नेत्रोंसे टेढ़ा-टेढ़ा देखना—यह नेत्रोंका पारुष्य है। वाणीसे कठोर बोलना, जिससे दूसरे भयभीत हो जायँ—यह वाणीका पारुष्य है। दूसरोंपर आफत, संकट, दुःख आनेपर भी उनकी सहायता न करके राजी होना आदि जो कठोर भाव होते हैं, यह हृदयका पारुष्य है।

जो शरीर और प्राणोंके साथ एक हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंको यदि दूसरोंकी क्रिया, वाणी बुरी लगती है, तो उसके बदलेमें वे उनको कठोर वचन सुनाते हैं, दुःख देते हैं और स्वयं राजी होकर कहते हैं कि 'आपने देखा कि नहीं? मैंने उसके साथ ऐसा कड़ा व्यवहार किया कि उसके दाँत खट्टे कर दिये! अब वह मेरे साथ बोल सकता है क्या?' यह सब व्यवहारका पारुष्य है।

स्वार्थबुद्धिकी अधिकता रहनेके कारण मनुष्य अपना

१-जहाँ अभिमान और दर्प—दोनोंमेंसे कोई एक आता है, वहाँ अभिमानके ही अन्तर्गत दर्प और दर्पके ही अन्तर्गत अभिमान आ जाता है। परन्तु जहाँ ये दोनों एक साथ स्वतन्त्ररूपसे आते हैं, वहाँ दोनोंमें थोड़ा अन्तर हो जाता है। 'ममता' की चीजोंको लेकर 'दर्प' और 'अहंता' की चीजोंको लेकर 'अभिमान' कहा जाता है अर्थात् बाहरी चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पन दीखता है, वह 'दर्प' है और विद्या, बुद्धि आदि भीतरी चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पन दीखता है, वह 'अभिमान' है।

२-क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां देहस्थितो देहविनाशनाय। यथास्थितः काष्ठगतो हि वह्निः स एव वह्निर्दहते शरीरम्॥

'क्रोध ही मनुष्यका प्रथम शत्रु है, जो देहमें स्थित होकर देहका ही विनाश करता है। जैसे लकड़ीमें स्थित अग्नि लकड़ीको ही जलाती है, ऐसे ही देहमें स्थित क्रोधरूपी अग्नि देहको ही जलाती है।'

मतलब सिद्ध करनेके लिये, अपनी क्रियाओंसे दूसरोंको कष्ट होगा, उनपर कोई आफत आयेगी—इन बातोंपर विचार ही नहीं कर सकता। हृदयमें कठोर भाव होनेसे वह केवल अपना मतलब देखता है और उसके मन, वाणी, शरीर, बर्ताव आदि सब जगह कठोरता रहती है। स्वार्थभावकी बहुत ज्यादा वृत्ति बढ़ती है, तो वह हिंसा आदि भी कर बैठता है, जिससे उसके स्वभावमें स्वाभाविक ही क्रूरता आ जाती है। क्रूरता आनेपर हृदयमें सौम्यता बिलकुल नहीं रहती। सौम्यता न रहनेसे उसके बर्तावमें, लेन-देनमें स्वाभाविक ही कठोरता रहती है। इसलिये वह केवल दूसरोंसे रुपये ऐंठने, दूसरोंको दुःख देने आदिमें लगा रहता है। इनके परिणाममें मुझे सुख होगा या दुःख—इसका वह विचार ही नहीं कर सकता।

'अज्ञानम्'—यहाँ 'अज्ञान' नाम अविवेकका है। अविवेकी पुरुषोंको सत्-असत्, सार-असार, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका बोध नहीं होता। कारण कि उनकी दृष्टि नाशवान् पदार्थोंके भोग और संग्रहपर ही लगी रहती है। इसलिये (परिणामपर दृष्टि न रहनेसे) वे यह सोच ही नहीं सकते कि ये नाशवान् पदार्थ कबतक हमारे साथ रहेंगे और हम कबतक इनके साथ रहेंगे। पशुओंकी तरह केवल प्राणपोषणमें ही लगे रहनेके कारण वे क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है—इन बातोंको नहीं जान सकते और न जानना ही चाहते हैं।

वे तात्कालिक संयोगजन्य सुखको ही सुख मानते हैं और शरीर तथा इन्द्रियोंके प्रतिकूल संयोगको ही दुःख मानते हैं। इसलिये वे उद्योग तो सुखके लिये ही करते हैं, पर परिणाममें उनको पहलेसे भी अधिक दुःख मिलता है[1]। फिर भी उनको चेत नहीं होता कि इसका हमारे लिये नतीजा क्या होगा? वे तो मान-बड़ाई, सुख-आराम, धन-सम्पत्ति आदिके प्रलोभनमें आकर न करनेलायक काम भी करने लग जाते हैं, जिनका नतीजा उनके लिये तथा दुनियाके लिये भी बड़ा अहितकारक होता है।

'अभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्'—हे पार्थ! ये सब आसुरी सम्पत्ति[2] को प्राप्त हुए मनुष्योंके लक्षण हैं। मरणधर्मा शरीरके साथ एकता मानकर 'मैं कभी मरूँ नहीं; सदा जीता रहूँ और सुख भोगता रहूँ'—ऐसी इच्छावाले मनुष्यके अन्तःकरणमें ये लक्षण होते हैं।

अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि कोई भी साधारण प्राणी प्रकृतिके गुणोंके सम्बन्धसे सर्वथा रहित नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध लेकर ही पैदा होता है। प्रकृतिके साथ सम्बन्धका तात्पर्य है—प्रकृतिके कार्य शरीरमें 'मैं-मेरे' का सम्बन्ध (तादात्म्य) और पदार्थोंमें ममता, आसक्ति तथा कामनाका होना। शरीरमें 'मैं-मेरे'का सम्बन्ध ही आसुरी-सम्पत्तिका मूलभूत लक्षण है। जिसका प्रकृतिके साथ मुख्यतासे सम्बन्ध है, उसीके लिये यहाँ कहा गया है कि वह आसुरी-सम्पत्तिको प्राप्त हुआ है।

प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जीवका अपना माना हुआ है। अतः वह जब चाहे इस सम्बन्धका त्याग कर सकता है। कारण कि जीव (आत्मा) चेतन तथा निर्विकार है और प्रकृति जड तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, इसलिये चेतनका जडसे सम्बन्ध वास्तवमें है नहीं, केवल मान रखा है। इस सम्बन्धको छोड़ते ही आसुरी-सम्पत्ति सर्वथा मिट जाती है। इस प्रकार मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्तिको मिटानेकी पूरी योग्यता है। तात्पर्य है कि आसुरी-सम्पत्तिको प्राप्त होते हुए भी वह प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके आसुरी-सम्पत्तिको मिटा सकता है।

प्राणोंमें मनुष्यका ज्यों-ज्यों मोह होता जाता है, त्यों-ही-त्यों आसुरी-सम्पत्ति अधिक बढ़ती जाती है। आसुरी-सम्पत्तिके अत्यधिक बढ़नेपर मनुष्य अपने प्राणोंको रखनेके लिये और सुख भोगनेके लिये दूसरोंका नुकसान भी कर देता है। इतना ही नहीं, दूसरोंकी हत्या कर देनेमें भी वह नहीं हिचकता।

१-कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च। पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥ (श्रीमद्भा० ११। ३। १८)

राजन्! स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध आदि बन्धनोंसे बँधे हुए पुरुष तो सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये कर्म करते रहते हैं। परन्तु जो पुरुष मायासे तरना चाहता है, उसको विचार करना चाहिये कि उसके कर्मोंका फल किस प्रकार उलटा होता जाता है। वे सुखके बदले दुःख पाते हैं और दुःख दूर होनेके बदले उनका दुःख बढ़ता जाता है!

२-यहाँ 'आसुरी' शब्दमें देवताओंका विरोधवाचक 'नञ्' समास नहीं है, प्रत्युत 'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः' के अनुसार जो मनुष्य केवल इन्द्रियों और प्राणोंका पोषण करनेमें ही लगे हुए हैं अर्थात् जो केवल संयोगजन्य सुखमें ही आसक्त हैं, उन मनुष्योंका वाचक यहाँ 'असुर' शब्द है। तात्पर्य यह है कि जिनका उद्देश्य परमात्माको प्राप्त करना नहीं है और जो शरीर धारण करके केवल भोग भोगना चाहते हैं, वे असुर हैं। उन असुरोंकी सम्पत्तिका नाम 'आसुरी-सम्पत्ति' है।

मनुष्य जब अस्थायीको स्थायी मान लेता है, तब आसुरी-सम्पत्तिके दुर्गुण-दुराचारोंके समूह-के-समूह उसमें आ जाते हैं। तात्पर्य है कि असत्‌का संग होनेसे असत् आचरण, असत् भाव और दुर्गुण बिना बुलाये तथा बिना उद्योग किये अपने-आप आते हैं, जो मनुष्यको परमात्मासे विमुख करके अधोगतिमें ले जानेवाले हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् दैवी और आसुरी—दोनों प्रकारकी सम्पत्तियोंका फल बताते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी = दैवी
सम्पत् = सम्पत्ति
विमोक्षाय = मुक्तिके लिये (और)
आसुरी = आसुरी सम्पत्ति
निबन्धाय = बन्धनके लिये
मता = मानी गयी है।
पाण्डव = हे पाण्डव! (तुम)
दैवीम् = दैवी
सम्पदम् = सम्पत्तिको
अभिजातः = प्राप्त हुए
असि = हो, (इसलिये तुम)
मा, शुचः = शोक (चिन्ता) मत करो।

व्याख्या—‘**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**’—मेरेको भगवान्‌की तरफ ही चलना है—यह भाव साधकमें जितना स्पष्टरूपसे आ जाता है, उतना ही वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है। भगवान्‌के सम्मुख होनेसे उसमें संसारसे विमुखता आ जाती है। संसारसे विमुखता आ जानेसे आसुरी-सम्पत्तिके जितने दुर्गुण-दुराचार हैं, वे कम होने लगते हैं और दैवी-सम्पत्तिके जितने सद्‌गुण-सदाचार हैं, वे प्रकट होने लगते हैं। इससे साधककी भगवान्‌में और भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, चरित्र आदिमें रुचि हो जाती है।

इसमें विशेषतासे ध्यान देनेकी बात है कि साधकका उद्‌देश्य जितना दृढ़ होगा, उतना ही उसका परमात्माके साथ जो अनादिकालका सम्बन्ध है, वह प्रकट हो जायगा और संसारके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, वह मिट जायगा। मिट क्या जायगा, वह तो प्रतिक्षण मिट ही रहा है! वास्तवमें प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है नहीं। केवल इस जीवने सम्बन्ध मान लिया है। इस माने हुए सम्बन्धकी सद्भावनापर अर्थात् ‘शरीर ही मैं हूँ और शरीर ही मेरा है’—इस सद्भावनापर ही संसार टिका हुआ है। इस सद्भावनाके मिटते ही संसारसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जायगा और दैवी-सम्पत्तिके सम्पूर्ण गुण प्रकट हो जायँगे, जो कि मुक्तिके हेतु हैं।

दैवी-सम्पत्ति केवल अपने लिये ही नहीं है, प्रत्युत मात्र प्राणियोंके कल्याणके लिये है। जैसे गृहस्थमें छोटे, बड़े, बूढ़े आदि अनेक सदस्य होते हैं, पर सबका पालन-पोषण करनेके लिये गृहस्वामी (घरका मुखिया) स्वयं उद्योग करता है, ऐसे ही संसारमात्रका उद्धार करनेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको बनाया है। वह मनुष्य और तो क्या, भगवान्‌की दी हुई विलक्षण शक्तिके द्वारा भगवान्‌के सम्मुख होकर, भगवान्‌की सेवा करके उन्हें भी अपने वशमें कर सकता है। ऐसा विचित्र अधिकार उसे दिया है! अतः मनुष्य उस अधिकारके अनुसार यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, जप, ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग आदि जितना साधन-समुदाय है, उसका अनुष्ठान केवल अनन्त ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंके कल्याणके लिये ही करे और दृढ़तासे यह संकल्प रखते हुए प्रार्थना करे कि ‘हे नाथ! मात्र जीवोंका कल्याण हो, मात्र जीव जीवन्मुक्त हो जायँ, मात्र जीव आपके अनन्य प्रेमी भक्त बन जायँ; पर हे नाथ! यह होगा केवल आपकी कृपासे ही। मैं तो केवल प्रार्थना कर सकता हूँ और वह भी आपकी दी हुई सद्‌बुद्धिके द्वारा ही!’ ऐसा भाव रखते हुए अपनी कहलानेवाली शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन-सम्पत्ति आदि सभी चीजोंको मात्र दुनियाके कल्याणके लिये भगवान्‌के अर्पण कर दे*। ऐसा करनेसे अपनी कहलानेवाली चीजोंकी तो संसारके साथ और अपनी भगवान्‌के साथ स्वतःसिद्ध एकता प्रकट हो जायगी। इसे भगवान्‌ने ‘**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**’ पदोंसे कहा है।

*** मात्र जीवोंके कल्याणका जो भाव है, वह भाव भी भगवान्‌की ही दी हुई विभूति (दैवी-सम्पत्ति) है, अपना नहीं है। अपने तो केवल भगवान् ही हैं।**

'**निबन्धायासुरी मता**'—जो जन्म-मरणको देनेवाली है, वह सब आसुरी-सम्पत्ति है।

जबतक मनुष्यकी अहंताका परिवर्तन नहीं होता, तबतक अच्छे-अच्छे गुण धारण करनेपर वे निरर्थक तो नहीं जाते, पर उनसे उसकी मुक्ति हो जायगी—ऐसी बात नहीं है। तात्पर्य यह है कि जबतक 'मेरा शरीर बना रहे, मेरेको सुख-आराम मिलता रहे' इस प्रकारके विचार अहंतामें बैठे रहेंगे, तबतक ऊपरसे भरे हुए दैवी-सम्पत्तिके गुण मुक्तिदायक नहीं होंगे। हाँ, यह बात तो हो सकती है कि वे गुण उसको शुभ फल देनेवाले हो जायँगे, ऊँचे लोक देनेवाले हो जायँगे, पर मुक्ति नहीं देंगे।

जैसे बीजको मिट्टीमें मिला देनेपर मिट्टी, जल, हवा, धूप—ये सभी उस बीजको ही पुष्ट करते हैं; आकाश भी उसे अवकाश देता है; बीजसे उसी जातिका वृक्ष पैदा होता है और उस वृक्षमें उसी जातिके फल लगते हैं। ऐसे ही अहंता-(मैं-पन-) में संसारके संस्काररूपी बीज रखते हुए जिस शुभ-कर्मको करेंगे, वह शुभ-कर्म उन बीजोंको ही पुष्ट करेगा और उन बीजोंके अनुसार ही फल देगा। तात्पर्य यह है कि सकाम मनुष्यकी अहंताके भीतर संसारके जो संस्कार पड़े हैं, उन संस्कारोंके अनुसार उसकी सकाम साधनामें अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ आयेंगी। उसमें और कुछ विशेषता भी आयेगी, तो वह ब्रह्मलोक आदि लोकोंमें जाकर वहाँके ऊँचे-ऊँचे भोग प्राप्त कर सकता है, पर उसकी मुक्ति नहीं होगी (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

अब प्रश्न यह होता है कि मनुष्य मुक्तिके लिये क्या करे? उत्तर यह है कि जैसे बीजको भून दिया जाय या उबाल दिया जाय, तो वह बीज अंकुर नहीं देगा*। उस बीजको बोया जाय तो पृथ्वी उसको अपने साथ मिला लेगी। फिर यह पता ही नहीं चलेगा कि बीज था या नहीं! ऐसे ही मनुष्यका जब दृढ़ निश्चय हो जायगा कि मुझे केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है, तो संसारके सब बीज (संस्कार) अहंतामेंसे नष्ट हो जायँगे।

शरीर-प्राणोंमें एक प्रकारकी आसक्ति होती है कि मैं सुखपूर्वक जीता रहूँ, मेरेको मान-बड़ाई मिलती रहे, मैं भोग भोगता रहूँ, आदि। इस प्रकार जो व्यक्तित्वको रखकर चलते हैं, उनमें अच्छे गुण आनेपर भी आसक्तिके कारण उनकी मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण प्रकृतिका सम्बन्ध ही है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि जिसने प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध जोड़ा हुआ है, वह शुभ-कर्म करके ब्रह्मलोकतक भी चला जाय तो भी वह बन्धनमें ही रहेगा।

मार्मिक बात

भगवान्‌ने इस अध्यायमें आसुरी-सम्पदाके तीन फल बताये हैं, जिनमेंसे इस श्लोकमें '**निबन्धायासुरी मता**' पदोंसे बन्धनरूप सामान्य फल बताया है। दूसरे अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकोंमें वर्णित और नवें अध्यायके बीसवें-इक्कीसवें श्लोकोंमें वर्णित सकाम उपासक भी इसीमें आ जाते हैं। जिनका उद्‌देश्य केवल भोग भोगना और संग्रह करना है, ऐसे मनुष्योंकी बहुत शाखाओंवाली अनन्त बुद्धियाँ होती हैं अर्थात् उनकी कामनाओंका कोई अन्त नहीं होता। जो कामनाओंमें तन्मय हैं और कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, वे वैदिक यज्ञादिको विधि-विधानसे करते हैं, पर कामनाओंके कारण उनको जन्म-मरणरूप बन्धन होता है (गीता—दूसरे अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक)। ऐसे ही जो यहाँके भोगोंको न चाहकर स्वर्गके दिव्य भोगोंकी कामनासे शास्त्रविहित यज्ञ करते हैं, वे यज्ञके फलस्वरूप (स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप नष्ट होनेसे) स्वर्गमें जाकर दिव्य भोग भोगते हैं। जब उनके (स्वर्ग देनेवाले) पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब वे वहाँसे लौटकर आवागमनको प्राप्त हो जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक)।

अब यहाँ शंका यह होती है कि जिस कृष्णमार्ग (गीता—आठवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)-से उपर्युक्त सकाम पुरुष जाते हैं, उसी मार्गसे योगभ्रष्ट पुरुष (गीता—छठे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक) भी जाते हैं; अतः दोनोंका मार्ग एक होनेसे और दोनों पुनरावर्ती होनेसे सकाम पुरुषोंके समान योगभ्रष्ट पुरुषोंको भी '**निबन्धायासुरी मता**' वाला बन्धन होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि योगभ्रष्टोंको यह बन्धन नहीं होता। कारण कि पूर्व-(मनुष्यजन्ममें की हुई) साधनामें उनका उद्‌देश्य अपने कल्याणका रहा है और अन्त समयमें वासना, बेहोशी, पीड़ा आदिके कारण उनको विघ्नरूपसे स्वर्गादिमें जाना पड़ता है। अतः इन योगभ्रष्टोंके इस मार्गसे जानेके

* **भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥** (श्रीमद्भा० १०। २२। २६)

कारण ही (गीता—आठवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें) सकाम पुरुषोंके लिये भी '**योगी**' पद आया है, अन्यथा सकाम पुरुष योगी कहे ही नहीं जा सकते।

आसुरी-सम्पत्तिका दूसरा फल है—'**पतन्ति नरकेऽशुचौ**' (गीता १६। १६)। जो कामनाके वशीभूत होकर पाप, अन्याय, दुराचार आदि करते हैं, उनको फलस्वरूप स्थानविशेष नरकोंकी प्राप्ति होती है।

आसुरी-सम्पत्तिका तीसरा फल है—'**आसुरीष्वेव योनिषु**', '**ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (गीता १६। १९-२०)। जिनके भीतर दुर्गुण-दुर्भाव रहते हैं और कभी-कभी उनसे प्रेरित होकर वे दुराचार भी कर बैठते हैं, उनको दुर्गुण-दुर्भावके अनुसार पहले तो आसुरी योनिकी प्राप्ति और फिर दुराचारके अनुसार अधम गति-(नरकों-) की प्राप्ति बतायी गयी है।

'**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव**'— केवल अविनाशी परमात्माको चाहनेवालेकी दैवी-सम्पत्ति होती है, जिससे मुक्ति होती है और विनाशी संसारके भोग तथा संग्रहको चाहनेवालेकी आसुरी-सम्पत्ति होती है, जिससे बन्धन होता है—इस बातको सुनकर अर्जुनके मनमें कहीं यह शंका पैदा न हो जाय कि मुझे तो अपनेमें दैवी-सम्पत्ति दीखती ही नहीं! इसलिये भगवान् कहते हैं कि 'भैया अर्जुन! तुम दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुए हो; अतः शोक-संदेह मत करो।'

दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हो जानेपर साधकके द्वारा कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोगका साधन स्वाभाविक ही होता है। कर्तव्य-पालनसे कर्मयोगीके और ज्ञानाग्निसे ज्ञानयोगीके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ और सैंतीसवाँ श्लोक); परंतु भक्तियोगीके सभी पाप भगवान् नष्ट करते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक) और संसारसे उसका उद्धार करते हैं (गीता—बारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

'**मा शुचः**'*—तीसरे श्लोकमें '**भारत**', चौथे श्लोकमें '**पार्थ**' और इस पाँचवें श्लोकमें '**पाण्डव**'—इन तीन सम्बोधनोंका प्रयोग करके भगवान् अर्जुनको उत्साह दिलाते हैं कि 'भारत! तुम्हारा वंश बड़ा श्रेष्ठ है; पार्थ! तुम उस माता-(पृथा-) के पुत्र हो, जो वैरभाव रखनेवालोंकी भी सेवा करनेवाली है; पाण्डव! तुम बड़े धर्मात्मा और श्रेष्ठ पिता-(पाण्डु-) के पुत्र हो'। तात्पर्य है कि वंश, माता और पिता—इन तीनों ही दृष्टियोंसे तुम श्रेष्ठ हो; अतः तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति भी स्वाभाविक है। इसलिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

गीतामें दो बार '**मा शुचः**' पद आये हैं—एक यहाँ और दूसरा अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें। इन पदोंका दो बार प्रयोग करके भगवान् अर्जुनको समझाते हैं कि तुझे साधन और सिद्धि—दोनोंके ही विषयमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। साधनके विषयमें यहाँ यह आश्वासन दिया कि तू दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुआ है और सिद्धिके विषय (अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक)-में यह आश्वासन दिया कि मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तात्पर्य यह है कि साधकको अपने साधनमें जो कमियाँ दीखती हैं, उनको तो वह दूर करता रहता है, पर कमियोंके कारण उसके अन्तःकरणमें नम्रताके साथ एक निराशा-सी रहती है कि मेरेमें अच्छे गुण कहाँ हैं, जिससे साध्यकी प्राप्ति हो! साधककी इस निराशाको दूर करनेके लिये भगवान् अर्जुनको साधकमात्रका प्रतिनिधि बनाकर उसे यह आश्वासन देते हैं कि तुम साधन और साध्यके विषयमें चिन्ता-शोक मत करो, निराश मत होओ।

दैवी-सम्पत्तिवाले पुरुषोंका यह स्वभाव होता है कि उनके सामने अनुकूल या प्रतिकूल कोई भी परिस्थिति, घटना आये, उनकी दृष्टि हमेशा अपने कल्याणकी तरफ ही रहती है। युद्धके मौकेपर जब भगवान्ने अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा किया, तब उन सेनाओंमें खड़े अपने कुटुम्बियोंको देखकर अर्जुनमें कौटुम्बिक स्नेहरूपी मोह पैदा हो गया और वे करुणा तथा शोकसे व्याकुल होकर युद्धरूप कर्तव्यसे हटने लगे। उन्हें विचार हुआ कि युद्धमें कुटुम्बियोंको मारनेसे मुझे पाप ही लगेगा, जिससे मेरे कल्याणमें बाधा लगेगी। इन्हें मारनेसे हमें नाशवान् राज्य और सुखकी प्राप्ति तो हो जायगी, पर उससे श्रेय-(कल्याण-) की प्राप्ति रुक जायगी। इस प्रकार अर्जुनमें कुटुम्बका मोह और पाप-(अन्याय, अधर्म-) का भय—दोनों एक साथ आ जाते हैं। उनमें जो कुटुम्बका मोह है, वह आसुरी-सम्पत्ति है और पापके कारण अपने कल्याणमें बाधा लग जानेका जो भय है, वह दैवी-सम्पत्ति है।

इसमें भी एक खास बात है। अर्जुन कहते हैं कि हमने जो युद्ध करनेका निश्चय कर लिया है, यह भी एक महान् पाप है—'**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्**'

* यहाँ 'मा शुचः' क्रिया दिवादिगणकी 'शुचिर् पूतीभावे' धातुके लुङ् लकारका रूप है।

(१। ४५)। वे युद्ध-क्षेत्रमें भी भगवान्से बार-बार अपने कल्याणकी बात पूछते हैं—**'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (२।७); **'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'** (३। २); **'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्'** (५। १)। यह उनमें दैवी-सम्पत्ति होनेके कारण ही है। इसके विपरीत जिनमें आसुरी-सम्पत्ति है, ऐसे दुर्योधन आदिमें राज्य और धनका इतना लोभ है कि वे कुटुम्बके नाशसे होनेवाले पापकी तरफ देखते ही नहीं (पहले अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार अर्जुनमें दैवी-सम्पत्ति आरम्भसे ही थी। मोहरूप आसुरी-सम्पत्ति तो उनमें आगन्तुक रूपसे आयी थी, जो आगे चलकर भगवान्की कृपासे नष्ट हो गयी—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** (१८।७३)। इसीलिये यहाँ भगवान् कहते हैं कि 'भैया अर्जुन! तू चिन्ता मत कर; क्योंकि तू दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त है।'

अर्जुनको अपनेमें दैवी-सम्पत्ति नहीं दीखती, इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति प्रकट है। कारण कि जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उनको अपनेमें अच्छे गुण नहीं दीखते और अवगुण उनमें रहते नहीं। अपनेमें गुण न दीखनेका कारण यह है कि उनकी गुणोंके साथ अभिन्नता होती है। जैसे आँखमें लगा हुआ अंजन आँखको नहीं दीखता; क्योंकि वह आँखके साथ एक हो जाता है, ऐसे ही दैवी-सम्पत्तिके साथ अभिन्नता होनेपर गुण नहीं दीखते। जबतक अपनेमें गुण दीखते हैं, तबतक गुणोंके साथ एकता नहीं हुई है। गुण तभी दीखते हैं, जब वे अपनेसे कुछ दूर होते हैं। अतः भगवान् अर्जुनको आश्वासन देते हैं कि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति स्वाभाविक है, भले ही वह तुम्हें न दीखे; इसलिये तुम चिन्ता मत करो।

मार्मिक बात

भगवान्ने कृपा करके मानवशरीर दिया है, तो उसकी सफलताके लिये अपने भावों और आचरणोंका विशेष ध्यान रखना चाहिये। कारण कि शरीरका कुछ पता नहीं कि कब प्राण चले जायँ। ऐसी अवस्थामें जल्दी-से-जल्दी अपना उद्धार करनेके लिये दैवी-सम्पत्तिका आश्रय और आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करना बहुत आवश्यक है।

दैवी-सम्पत्तिमें 'देव' शब्द परमात्माका वाचक है और उनकी सम्पत्ति 'दैवी-सम्पत्ति' कहलाती है—**'देवस्येयं दैवी।'** परमात्माका ही अंश होनेसे जीवमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः-स्वाभाविक है। जब जीव अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर जड प्रकृतिके सम्मुख हो जाता है अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील शरीरादि पदार्थोंका संग (तादात्म्य) कर लेता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है। कारण कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, द्वेष आदि जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब-के-सब नाशवान्के संगसे ही पैदा होते हैं। जो प्राणोंको बनाये रखना चाहते हैं, प्राणोंमें ही जिनकी रति है, ऐसे प्राणपोषणपरायण लोगोंका वाचक **'असुर'** शब्द है—**'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः'**। इसलिये 'मैं सुखपूर्वक जीता रहूँ'—यह इच्छा आसुरी-सम्पत्तिका खास लक्षण है।

दैवी और आसुरी-सम्पत्ति सब प्राणियोंमें पायी जाती है (गीता—सोलहवें अध्यायका छठा श्लोक)। ऐसा कोई भी साधारण प्राणी नहीं है, जिसमें ये दोनों सम्पत्तियाँ न पायी जाती हों। हाँ, इसमें जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष तो आसुरी-सम्पत्तिसे सर्वथा रहित हो जाते हैं*, पर दैवी-सम्पत्तिसे रहित कभी कोई हो ही नहीं सकता। कारण कि जीव 'देव' अर्थात् परमात्माका सनातन अंश है। परमात्माका अंश होनेसे इसमें दैवी-सम्पत्ति रहती ही है। आसुरी-सम्पत्तिकी मुख्यता होनेसे दैवी-सम्पत्ति दब-सी जाती है, मिटती नहीं; क्योंकि सत्-वस्तु कभी मिट नहीं सकती। इसलिये कोई भी मनुष्य सर्वथा दुर्गुणी-दुराचारी नहीं हो सकता, सर्वथा निर्दयी नहीं हो सकता, सर्वथा असत्यवादी नहीं हो सकता, सर्वथा व्यभिचारी नहीं हो सकता। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे किसी भी व्यक्तिमें सर्वथा हो ही नहीं सकते। कोई भी, कभी भी, कितना ही दुर्गुणी-दुराचारी क्यों न हो, उसके साथ आंशिक सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही। दैवी-सम्पत्ति प्रकट होनेपर आसुरी-सम्पत्ति मिट जाती है; क्योंकि दैवी-सम्पत्ति परमात्माकी होनेसे अविनाशी है और आसुरी-सम्पत्ति संसारकी होनेसे नाशवान् है।

*** जीवन्मुक्त महापुरुष नाशवान्से असंग होकर अविनाशी परमात्मामें स्थित हो जाते हैं। इसलिये उनमें जीनेकी आशा और मरनेका भय नहीं रहता। सत्स्वरूप परमात्मामें स्थित होनेसे उनमें सद्गुण-सदाचार स्वतः-स्वाभाविक रहते हैं। वे सिद्ध महापुरुष तो दैवी-सम्पत्तिसे ऊपर उठे रहते हैं। अतः उनमें दैवी-सम्पत्तिके गुण स्वाभाविक होते हैं, जो साधकोंके लिये आदर्श होते हैं।**

सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माका अंश होनेसे 'मैं सदा जीता रहूँ अर्थात् कभी मरूँ नहीं; मैं सब कुछ जान लूँ अर्थात् कभी अज्ञानी न रहूँ; मैं सर्वदा सुखी रहूँ अर्थात् कभी दुःखी न होऊँ'—इस तरह सत्-चित्-आनन्दकी इच्छा प्राणिमात्रमें रहती है। पर उससे गलती यह होती है कि 'मैं रहूँ तो शरीरसहित रहूँ; मैं जानकार बनूँ तो बुद्धिको लेकर जानकार बनूँ; मैं सुख लूँ तो इन्द्रियों और शरीरको लेकर सुख लूँ'—इस तरह इन इच्छाओंको नाशवान् संसारसे ही पूरी करना चाहता है। इस प्रकार प्राणोंका मोह होनेसे आसुरी-सम्पत्ति रहती ही है*। इसमें एक मार्मिक बात है कि प्राणीमें नित्य-निरन्तर रहनेकी इच्छा होती है, तो यह नित्य-निरन्तर रह सकता है और मैं मरूँ नहीं, यह इच्छा होती है, तो यह मरता नहीं। जीता रहना अच्छा लगता है, तो जीते रहना इसका स्वाभाविक है और मरनेसे भय लगता है, तो मरना इसका स्वाभाविक नहीं है। ऐसे ही अज्ञान बुरा लगता है, तो अज्ञान इसका साथी नहीं है। दुःख बुरा लगता है, तो दुःख इसका साथी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि इसका स्वरूप 'सत्' है। 'असत्' इसका स्वरूप नहीं है। सत्-स्वरूप होकर भी यह असत्को क्यों चाहता है? कारण कि इसने नष्ट होनेवाले असत् शरीरादिको 'मैं' तथा 'मेरा' मान लिया है और उनमें आसक्त हो गया है। तात्पर्य यह कि असत्को स्वीकार करनेसे स्वयं सत् होते हुए भी सत्की इच्छा होती है; जडताको स्वीकार करनेसे स्वयं ज्ञानस्वरूप होते हुए भी ज्ञानकी इच्छा होती है; दुःखरूप संसारको स्वीकार करनेसे स्वयं सुखस्वरूप होते हुए भी सुखकी इच्छा होती है। पर उसकी पूर्ति भी असत्-जड-दुःखरूप संसारके द्वारा ही करना चाहता है। तादात्म्यके कारण यह शरीरको ही रखना चाहता है, बुद्धिसे ही ज्ञानी बनना चाहता है, शरीरसे ही श्रेष्ठ और सुखी बनना चाहता है, अपने नाम और रूपको ही स्थायी रखना चाहता है। अपने नामको तो मरनेके बाद भी स्थायी रखना चाहता है, इस प्रकार असत्के संगसे आसुरी-सम्पत्ति आती है। ऐसे ही असत्के संगका त्याग करनेसे आसुरी-सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो जाती है।

जब सत्संग, स्वाध्याय आदिके द्वारा मनुष्यमें परमात्मप्राप्ति करनेका विचार होता है, तब वह इसके लिये दैवी-सम्पत्तिको धारण करना चाहता है। दैवी-सम्पत्तिको वह कर्तव्यरूपसे उपार्जित करता है कि मुझे सत्य बोलना है, मुझे अहिंसक बनना है, मुझे दयालु बनना है, आदि-आदि। इस प्रकार जितने भी दैवी-सम्पत्तिके गुण हैं, उन गुणोंको वह अपने बलसे उपार्जित करना चाहता है। यह सिद्धान्त है कि कर्तव्यरूपसे प्राप्त की हुई और अपने बल-(पुरुषार्थ-) से उपार्जित की हुई चीज स्वाभाविक नहीं होती, प्रत्युत कृत्रिम होती है। इसके अलावा अपने पुरुषार्थसे उपार्जित माननेके कारण अभिमान आता है कि मैं बड़ा सत्यभाषी हूँ, मैं बड़ा अच्छा आदमी हूँ, आदि। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, सब-के-सब अभिमानकी छायामें रहते हैं और अभिमानसे ही पुष्ट होते हैं। इसलिये अपने उद्योगसे किया हुआ जितना भी साधन होता है, उस साधनमें अहंकार ज्यों-का-त्यों रहता है और अहंकारमें आसुरी-सम्पत्ति रहती है। अतः जबतक वह दैवी-सम्पत्तिके लिये उद्योग करता रहता है, तबतक आसुरी-सम्पत्ति छूटती नहीं। अन्तमें वह हार मान लेता है अथवा उसका उत्साह कम हो जाता है, उसका प्रयत्न मंद हो जाता है और मान लेता है कि यह मेरे वशकी बात नहीं है। साधककी ऐसी दशा क्यों होती है? कारण कि उसने अभीतक यह जाना नहीं कि आसुरी-सम्पत्ति मेरेमें कैसे आयी? आसुरी-सम्पत्तिका कारण है—नाशवान्का संग। इसका संग जबतक रहेगा, तबतक आसुरी-सम्पत्ति रहेगी ही। वह नाशवान्के संगको नहीं छोड़ता, तो आसुरी-सम्पत्ति उसे नहीं छोड़ती अर्थात् 'आसुरी-सम्पत्ति' से वह सर्वथा रहित नहीं हो सकता। इसलिये यदि वह दैवी-सम्पत्तिको लाना चाहे, तो नाशवान् जडके संगका त्याग कर दे। नाशवान्के संगका त्याग करनेपर दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट होगी; क्योंकि परमात्माका अंश होनेसे परमात्माकी सम्पत्ति उसमें स्वतःसिद्ध है, कर्तव्यरूपसे उपार्जित नहीं करनी है।

इसमें एक और मार्मिक बात है। दैवी-सम्पत्तिके गुण स्वतः-स्वाभाविक रहते हैं। इन्हें कोई छोड़ नहीं सकता। इसका पता कैसे लगे? जैसे कोई विचार करे कि मैं सत्य ही बोलूँगा तो वह उम्रभर सत्य बोल सकता है। परन्तु कोई विचार करे कि मैं झूठ ही बोलूँगा, तो वह आठ पहर

*** देहाभिमानमें 'मैं सुखपूर्वक जीता रहूँ' इस प्रकार प्राणोंका मोह रहता है। इसलिये देहाभिमानसे आसुरी-सम्पत्ति पैदा होती है। अतः गीतामें 'देहवद्भिः' (१२।५), 'देहिनम्' (३।४०; १४।५,७) आदि पदोंसे जिन देहाभिमानियोंकी बात आयी है, उन्हें आसुरी-सम्पत्तिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये।**

भी झूठ नहीं बोल सकता। सत्य ही बोलनेका विचार होनेपर वह दु:ख भोग सकता है, पर झूठ बोलनेके लिये बाध्य नहीं हो सकता। परन्तु झूठ ही बोलूँगा—ऐसा विचार होनेपर तो खाना-पीना, बोलना-चलनातक उसके लिये मुश्किल हो जायगा। भूख लगी हो और झूठ बोले कि भूख नहीं है, तो जीना मुश्किल हो जायगा। यदि वह ऐसी प्रतिज्ञा कर ले कि झूठ बोलनेसे बेशक मर जाऊँ, पर झूठ ही बोलूँगा, तो यह प्रतिज्ञा सत्य हो जायगी। अत: या तो प्रतिज्ञा भंग होनेसे सत्य आ जायगा या प्रतिज्ञा सत्य हो जायगी। सत्य कभी छूटेगा नहीं; क्योंकि सत्य मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक है। इस तरह दैवी-सम्पत्तिके जितने भी गुण हैं, सबके विषयमें ऐसी ही बात है। वे तो नित्य रहनेवाले और स्वाभाविक हैं। केवल नाशवान्‌के संगका त्याग करना है। नाशवान्‌का संग अनित्य और अस्वाभाविक है।

आसुरी-सम्पत्ति आगन्तुक है। दुर्गुण-दुराचार बिलकुल ही आगन्तुक हैं। कोई आदमी प्रसन्न रहता है, तो लोग ऐसा नहीं कहते कि तुम प्रसन्न क्यों रहते हो? पर कोई आदमी दु:खी रहता है, तब कहते हैं कि दु:खी क्यों रहते हो? क्योंकि प्रसन्नता स्वाभाविक है और दु:ख अस्वाभाविक (आगन्तुक) है। इसलिये अच्छे आचरण करनेवालेको कोई नहीं कहता कि तुम अच्छे आचरण क्यों करते हो? पर बुरे आचरणवालेको सब कहते हैं कि तुम बुरे आचरण क्यों करते हो? अत: सद्‌गुण-सदाचार स्वत: रहते हैं और दुर्गुण-दुराचार संगसे आते हैं, इसलिये आगन्तुक हैं।

अर्जुनमें दैवी-सम्पत्ति विशेषतासे थी। जब उनमें कायरता आ गयी, तब भगवान्‌ने आश्चर्यसे कहा कि तेरेमें यह कायरता कहाँसे आ गयी (दूसरे अध्यायका दूसरा-तीसरा श्लोक)? तात्पर्य यह है कि अर्जुनमें यह दोष स्वाभाविक नहीं, आगन्तुक है। पहले उनमें यह दोष था नहीं। अर्जुन आगे कहते हैं कि जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो, ऐसी बात कहिये (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरेका दूसरा और पाँचवेंका पहला श्लोक)। युद्धके प्रसंगमें भी अर्जुनमें 'मेरा कल्याण हो जाय' यह इच्छा है। तो इससे प्रतीत होता है कि अर्जुनके स्वभावमें पहलेसे ही दैवी-सम्पत्ति थी, नहीं तो उर्वशी-जैसी अप्सराको एकदम ठुकरा देना कोई मामूली आदमीकी बात नहीं थी। वे अर्जुन विचार करते हैं कि मेरेको दैवी-सम्पत्ति प्राप्त है कि नहीं? मैं उसका अधिकारी हूँ कि नहीं? अत: उसे आश्वासन देते हुए भगवान् कहते हैं कि तू शोक मत कर; तू दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त है—'**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव**' (१६। ५)।

सत् (चेतन) और असत्-(जड-) के तादात्म्यसे '**अहम्**'-भाव पैदा होता है। मनुष्य शुभ या अशुभ, कोई भी काम करता है, तो अपने अहंकारको लेकर करता है। जब वह परमात्माकी तरफ चलता है, तब उसके अहंभावमें सत्-अंशकी मुख्यता होती है और जब संसारकी तरफ चलता है, तब उसके अहंभावमें नाशवान् असत्-अंशकी मुख्यता होती है। सत्-अंशकी मुख्यता होनेसे वह दैवी-सम्पत्तिका अधिकारी कहा जाता है और असत्-अंशकी मुख्यता होनेसे वह उसका अनधिकारी कहा जाता है। असत्-अंशको मिटानेके लिये ही मानवशरीर मिला है। अत: मनुष्य निर्बल नहीं है, पराधीन नहीं है, प्रत्युत यह सर्वथा सबल है, स्वाधीन है। नाशवान्, असत्-अंश तो सबका मिटता ही रहता है, पर वह उससे अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। यह भूल होती है। नाशवान्‌से सम्बन्ध बनाये रखनेके कारण आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा अभाव नहीं होता।

अहंभाव नाशवान्, असत्‌के सम्बन्धसे ही होता है। असत्‌का सम्बन्ध मिटते ही अहंभाव मिट जाता है। प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे ही अहंभाव है। अहम्‌में जड-चेतन दोनों हैं। तादात्म्य होनेसे पुरुष-(चेतन-) ने जडके साथ अपनेको एक मान लिया। भोगपदार्थोंकी सब इच्छाएँ असत्-अंशमें ही रहती हैं। परन्तु सुख-दु:खके भोक्तापनमें पुरुष हेतु बनता है—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**' (१३। २०)। वास्तवमें हेतु है नहीं; क्योंकि वह प्रकृतिस्थ होनेसे ही भोक्ता बनता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते**' (१३। २१)। अत: सुख-दु:खरूप जो विकार होता है, वह मुख्यतासे जड-अंशमें ही होता है। परन्तु तादात्म्य होनेसे उसका परिणाम ज्ञाता चेतनपर होता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ। जैसे विवाह होनेपर स्त्रीकी जो आवश्यकता होती है, वह अपनी आवश्यकता कहलाती है। पुरुष जो गहने आदि खरीदता है, वह स्त्रीके सम्बन्धसे ही (स्त्रीके लिये) खरीदता है, नहीं तो उसे अपने लिये गहने आदिकी आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही जड-अंशके सम्बन्धसे ही चेतनमें जडकी इच्छा और जडका भोग होता है। जडका भोग जड-अंशमें ही होता है, पर जडसे तादात्म्य होनेसे भोगका परिणाम केवल जडमें नहीं हो सकता अर्थात्

सुख-दु:खका भोक्ता केवल जड-अंश नहीं बन सकता। परिणामका ज्ञाता चेतन ही भोक्ता बनता है। जितनी क्रियाएँ होती हैं, सब प्रकृतिमें होती हैं (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ और तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक), पर तादात्म्यके कारण चेतन उन्हें अपनेमें मान लेता है कि मैं कर्ता हूँ। तादात्म्यमें चेतन (परमात्मा)-की इच्छामें चेतनकी मुख्यता और जड-(संसार-) की इच्छामें जडकी मुख्यता रहती है। जब चेतनकी मुख्यता रहती है, तब दैवी-सम्पत्ति आती है और जब जडकी मुख्यता रहती है, तब आसुरी-सम्पत्ति आती है। जडसे तादात्म्य रहनेपर भी सत्, चित् और आनन्दकी इच्छा चेतनमें ही रहती है। संसारकी ऐसी कोई इच्छा नहीं है, जो इन तीन (सदा रहना, सब कुछ जानना और सदा सुखी रहना) इच्छाओंमें सम्मिलित न हो। इससे गलती यह होती है कि इन इच्छाओंकी पूर्ति जड-(संसार-) के द्वारा करना चाहता है।

जडको और आसुरी-सम्पत्तिको स्वयं-(चेतन-) ने स्वीकार किया है। जडमें यह ताकत नहीं है कि वह स्वयंके साथ स्थिर रह जाय। जडमें तो हरदम परिवर्तन होता रहता है। चेतन उसको न पकड़े, तो वह अपने-आप छूट जायगा। कारण कि चेतनमें कभी विकार नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। पर असत् प्रकृति नित्य-निरन्तर, हरदम बदलती रहती है। वह कभी एकरूप रह ही नहीं सकती। चेतनने प्रकृतिके साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। उस सम्बन्धकी सत्ता यह 'मैं' और 'मेरे'-रूपसे स्वीकार कर लेता है। अत: जडका सम्बन्ध और उससे पैदा होनेवाली आसुरी-सम्पत्ति आगन्तुक है। यदि यह स्वयंमें होती, तो इसका कभी नाश नहीं होता; क्योंकि स्वयंका कभी नाश नहीं होता और आसुरी-सम्पत्तिके त्यागकी बात ही नहीं होती। अनित्य होनेपर भी चेतनके सम्बन्धसे यह नित्य दीखने लगती है। अविनाशीके सम्बन्धसे विनाशी भी अविनाशीकी तरह दीखने लगता है। इसलिये जिस मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्ति होती है, वह आसुरी-सम्पत्तिका त्याग कर सकता है और कल्याणका आचरण करके परमात्माको प्राप्त हो सकता है (सोलहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

परमात्माके सम्मुख होते ही आसुरी-सम्पत्ति मिटने लगती है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५। ४४। १)

कारण कि '**जन्म कोटि अघ**' प्रकृतिसे सम्बन्ध स्वीकार करनेसे ही हुए हैं। प्रकृतिको स्वीकार न करें, तो फिर कैसे जन्म-मरण होगा? जन्म-मरणमें कारण प्रकृतिसे सम्बन्ध ही है—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। परन्तु जीवात्मा प्रकृतिकी क्रियाको अपनेमें मान लेता है और प्रकृतिके कार्य शरीरमें मैं-मेरापन कर लेता है, जिससे जन्मता-मरता रहता है। वास्तवमें यह कर्ता भी नहीं है और लिप्त भी नहीं है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (१३। ३१)। इस वास्तविकताका अनुभव करना ही 'कर्ममें अकर्म' तथा 'अकर्ममें कर्म' देखना है। इन दोनों बातोंका अभिप्राय यह है कि कर्म करते हुए भी यह सर्वथा निर्लिप्त तथा अकर्ता है और निर्लिप्त तथा अकर्ता रहते हुए ही यह कर्म करता है अर्थात् कर्म करते समय और कर्म न करते समय यह (आत्मा) नित्य-निरन्तर निर्लिप्त तथा अकर्ता रहता है। इस वास्तविकताका अनुभव करनेवाला ही मनुष्योंमें बुद्धिमान् है (चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। जिसमें कर्तापनका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें लिप्तता नहीं है अर्थात् कोई भी कामना नहीं है, वह यदि सब प्राणियोंको मार दे, तो भी पाप नहीं लगता (अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। अर्जुनने पूछा कि मनुष्य किससे प्रेरित होकर पाप करता है? तो भगवान्ने कहा—कामनासे (तीसरे अध्यायका छत्तीसवाँ-सैंतीसवाँ श्लोक)। कामनाके कारण ही सब पाप होते हैं। शरीरके तादात्म्यसे भोग और संग्रहकी कामना होती है*। अत: जडका संग (महत्त्व) ही सम्पूर्ण पापोंका—आसुरी-सम्पत्तिका कारण है। जडका संग न हो, तो दैवी-सम्पत्ति स्वत:सिद्ध है।

अर्जुन साधकमात्रके प्रतिनिधि हैं। इसलिये अर्जुनके निमित्तसे भगवान् साधकमात्रको आश्वासन देते हैं कि चिन्ता मत करो; अपनेमें आसुरी-सम्पत्ति दीख जाय, तो घबराओ मत; क्योंकि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति स्वत:-स्वाभाविक विद्यमान है—

*** कोई भी मनुष्य अपनेको दोषी बनाना पसंद नहीं करता; क्योंकि इस लोकमें दोषीका अपमान, तिरस्कार और निन्दा होती है तथा परलोकमें चौरासी लाख योनियाँ तथा नरक भोगने पड़ते हैं। परन्तु मनुष्य नाशवान् जडके संगसे पैदा हुई कामनाके वशीभूत होकर न करनेलायक शास्त्र-निषिद्ध क्रिया कर बैठता है। अत: उस क्रियाका परिणाम कर्ता (मनुष्य)-की रुचिके (मैं निर्दोष रहूँ—इसके) अनुसार नहीं होता और कर्ता—(अपनी रुचिके विरुद्ध) दोषी तथा पापी बन जाता है।**

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।

(१६। ५)

तात्पर्य यह हुआ कि साधकको पारमार्थिक उन्नतिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि परमात्माका ही अंश होनेसे मनुष्यमात्रमें परमात्माकी सम्पत्ति (दैवी-सम्पत्ति) रहती ही है। परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट हो जाती है।

परमात्माका अंश होनेके नाते साधकको परमात्मप्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि परमात्माने कृपा करके मनुष्य-शरीर अपनी प्राप्तिके लिये ही दिया है। इसलिये परमात्माका संकल्प तो हमारे कल्याणका ही है। यदि हम अपना अलग कोई संकल्प न रखें, प्रत्युत परमात्माके संकल्पमें ही अपना संकल्प मिला दें, तो फिर उनकी कृपासे स्वतः कल्याण हो ही जाता है।

परिशिष्ट भाव—जीवके एक ओर भगवान् हैं और एक ओर संसार है। जब वह भगवान्की ओर चलता है, तब उसमें दैवी-सम्पत्ति आती है और जब वह संसारकी ओर चलता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आती है। दैवी-सम्पत्तिमें आस्तिक भाव रहता है और आसुरी-सम्पत्तिमें नास्तिक भाव रहता है। यद्यपि मुक्तिके सभी साधन (कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि) दैवी-सम्पत्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं—**'दैवी-सम्पद्विमोक्षाय',** तथापि दैवी-सम्पत्तिमें मुख्यता भक्तिकी ही है। इसीलिये भगवान्ने भक्तिके प्रकरणमें कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

'हे पृथानन्दन! दैवी प्रकृतिके आश्रित अनन्यमनवाले महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं।'

आगे भी भगवान्ने कहा है—**'मामप्राप्यैव कौन्तेय—'** (१६। २०)। भक्तिके अन्तर्गत मुक्तिके सभी साधन आ जाते हैं। जिनको अपने प्राणोंसे प्यार होता है, वे प्राणपोषणपरायण मनुष्य आसुरी-सम्पत्तिवाले होते हैं। परन्तु जो भगवान्को अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा मानते हैं, वे दैवी-सम्पत्तिवाले होते हैं।

दूसरोंके सुखके लिये कर्म करना अथवा दूसरोंका सुख चाहना 'चेतनता' है और अपने सुखके लिये कर्म करना अथवा अपना सुख चाहना 'जड़ता' है। भजन-ध्यान भी अपने सुखके लिये, शरीरके आराम, मान-आदरके लिये करना जड़ता है। चेतनताकी मुख्यतासे दैवी-सम्पत्ति आती है और जड़ताकी मुख्यतासे आसुरी-सम्पत्ति आती है।

मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति पैदा होती है और मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दैवी-सम्पत्ति प्रकट होती है। मूल दोष है—शरीर तथा संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उससे सम्बन्ध जोड़ना। मूल गुण है—भगवान्की सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनसे सम्बन्ध जोड़ना। यह मूल दोष और मूल गुण ही स्थानभेदसे अनेक रूपोंमें दीखता है।

जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तभीतक गुणोंकी महत्ता दीखती है और उनका अभिमान होता है। कोई भी अवगुण न रहे तो अभिमान नहीं होता। अभिमान आसुरी-सम्पत्तिका मूल है। अभिमानके कारण मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखने लगती है—यह आसुरी-सम्पत्ति है। अभिमान होनेके कारण दैवी-सम्पत्ति भी आसुरी-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली बन जाती है। जब गुणोंके साथ अवगुण नहीं रहते, तब गुणोंकी महत्ता नहीं दीखती और उनका अभिमान नहीं होता। गुणोंकी महत्ता न दीखनेसे साधककी दृष्टि अपने गुणोंकी तरफ नहीं जाती, जिससे वह घबरा जाता है*। अपने गुणोंकी तरफ दृष्टि न जानेसे ही अर्जुन घबरा जाते हैं कि मेरेमें दैवी-सम्पत्ति है ही नहीं! ऐसी दशामें उनकी चिन्ताको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं—**'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'**।

*** एक बार एक साधु बड़े व्याकुल होकर बोले कि गीतामें मेरी श्रद्धा नहीं है, मेरी क्या दशा होगी! क्योंकि भगवान्ने कहा है—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (४। ४०)। मैंने कहा कि श्रद्धा न करनेवालेका नाश हो जाता है—यह बात लिखी किसमें है? वे बोले—गीतामें। मैंने कहा कि गीतामें लिखी बातसे आपको घबराहट हुई तो यह गीतापर श्रद्धा नहीं तो क्या है? यह बात सुनते ही वे प्रसन्न हो गये!**

सम्बन्ध—सम्पूर्ण प्राणियोंमें चेतन और जड—दोनों अंश रहते हैं। उनमेंसे कई प्राणियोंका जडतासे विमुख होकर चेतन-(परमात्मा-) की ओर मुख्यतासे लक्ष्य रहता है और कई प्राणियोंका चेतनसे विमुख होकर जडता-(भोग और संग्रह-) की ओर मुख्यतासे लक्ष्य रहता है। इस प्रकार चेतन और जडकी मुख्यताको लेकर प्राणियोंके दो भेद हो जाते हैं, जिनको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

अस्मिन्	= इस	**दैवः**	= दैवी	**प्रोक्तः**	= कह दिया, (अब)
लोके	= लोकमें	**च**	= और	**पार्थ**	= हे पार्थ! (तुम)
द्वौ	= दो तरहके	**आसुरः**	= आसुरी।	**मे**	= मुझसे
एव	= ही	**दैवः**	= दैवीको तो (मैंने)	**आसुरम्**	= आसुरीको (विस्तारसे)
भूतसर्गौ	= प्राणियोंकी सृष्टि है—	**विस्तरशः**	= विस्तारसे	**शृणु**	= सुनो।

व्याख्या—‘**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च**’—आसुरी-सम्पत्तिका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये उसका उपक्रम करते हुए भगवान् कहते हैं कि इस लोकमें प्राणिसमुदाय दो तरहका है—दैव और आसुर। तात्पर्य यह है कि प्राणिमात्रमें परमात्मा और प्रकृति—दोनोंका अंश है। (गीता—दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ और अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक)। परमात्माका अंश चेतन है और प्रकृतिका अंश जड है। वह चेतन अंश जब परिवर्तनशील जड-अंशके सम्मुख हो जाता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है और जब वह जड प्रकृतिसे विमुख होकर केवल परमात्माके सम्मुख हो जाता है, तब उसमें दैवी-सम्पत्ति जाग्रत् हो जाती है।

‘देव’ नाम परमात्माका है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने भी सद्गुण-सदाचार आदि साधन हैं, वे सब दैवी-सम्पदा हैं। जैसे भगवान् नित्य हैं, ऐसे ही उनकी साधन-सम्पत्ति भी नित्य है। भगवान्ने परमात्मप्राप्तिके साधनको ‘अव्यय’ अर्थात् अविनाशी कहा है—‘**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**’ (गीता ४। १)।

‘**द्वौ भूतसर्गौ**’ में ‘भूत’ शब्दसे मनुष्य, देवता, असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी लिये जा सकते हैं। परन्तु आसुर स्वभावका त्याग करनेकी विवेकशक्ति मुख्य-रूपसे मनुष्यशरीरमें ही है। इसलिये मनुष्यको आसुर स्वभावका सर्वथा त्याग करना चाहिये। उसका त्याग होते ही दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट हो जाती है।

मनुष्यमें दैवी और आसुरी—दोनों सम्पत्तियाँ रहती हैं—

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥

(मानस ५। ४०। ३)

क्रूर-से-क्रूर कसाईमें भी दया रहती है, चोर-से-चोरमें भी साहूकारी रहती है। इसी तरह दैवी-सम्पत्तिसे रहित कोई हो ही नहीं सकता; क्योंकि जीवमात्र परमात्माका अंश है। उसमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः-स्वाभाविक है और आसुरी-सम्पत्ति अपनी बनायी हुई है। सच्चे हृदयसे परमात्माकी तरफ चलनेवाले साधकोंको आसुरी-सम्पत्ति निरन्तर खटकती है, बुरी लगती है और उसको दूर करनेका वे प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु जो लोग भजन-स्मरणके साथ आसुरी-सम्पत्तिका भी पोषण करते रहते हैं अर्थात् कुछ भजन-स्मरण, नित्यकर्म आदि भी कर लेते हैं और सांसारिक भोग तथा संग्रहमें भी सुख लेते हैं और उसे आवश्यक समझते हैं, वे वास्तवमें साधक नहीं कहे जा सकते। कारण कि कुछ दैव स्वभाव और कुछ आसुर स्वभाव तो नीच-से-नीच प्राणीमें भी स्वाभाविक रहता है।

एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि अहंताके अनुरूप प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्तिके अनुसार अहंताकी दृढ़ता होती है। जिसकी अहंतामें ‘मैं सत्यवादी हूँ’ ऐसा भाव होगा, वह सत्य बोलेगा और सत्य बोलनेसे उसकी सत्यनिष्ठा दृढ़ हो जायगी। फिर वह कभी असत्य नहीं बोल सकेगा। परन्तु जिसकी अहंतामें ‘मैं संसारी हूँ और संसारके भोग भोगना और संग्रह करना मेरा काम है’ ऐसे भाव होंगे, उसको झूठ-कपट करते देरी नहीं लगेगी। झूठ-कपट करनेसे उसकी अहंतामें ये भाव दृढ़ हो जाते हैं कि ‘बिना

झूठ-कपट किये किसीका काम चल ही नहीं सकता, जिसमें भी आजकलके जमानेमें तो ऐसा करना ही पड़ता है, इससे कोई बच नहीं सकता' आदि। इस प्रकार अहंतामें दुर्भाव आनेसे ही दुराचारोंसे छूटना कठिन हो जाता है और इसी कारण लोग दुर्गुण-दुराचारको छोड़ना कठिन या असम्भव मानते हैं।

परमात्माका अंश होनेसे सद्भावसे रहित कोई नहीं हो सकता और शरीरके साथ अहंता-ममता रखते हुए दुर्भावसे सर्वथा रहित कोई नहीं हो सकता। दुर्भावोंके आनेपर भी सद्भावका बीज कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि सद्भाव 'सत्' है और सत्का कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (२। १६)। इसके विपरीत दुर्भाव कुसंगसे उत्पन्न होनेवाले हैं और उत्पन्न होनेवाली वस्तु नित्य नहीं होती—**'नासतो विद्यते भावः'** (२। १६)।

मनुष्योंकी सद्भाव या दुर्भावकी मुख्यताको लेकर ही प्रवृत्ति होती है। जब सद्भावकी मुख्यता होती है, तब वह सदाचार करता है और जब दुर्भावकी मुख्यता होती है, तब वह दुराचार करता है। तात्पर्य है कि जिसका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, उसमें सद्भावकी मुख्यता हो जाती है और दुर्भाव मिटने लगते हैं और जिसका उद्देश्य सांसारिक भोग और संग्रहका हो जाता है, उसमें दुर्भावकी मुख्यता हो जाती है और सद्भाव छिपने लगते हैं।

'लोकेऽस्मिन्' का तात्पर्य है कि नये-नये अधिकार पृथ्वीमण्डलमें ही मिलते हैं। पृथ्वीमण्डलमें भी भारत-क्षेत्रमें विलक्षण अधिकार प्राप्त होते हैं। भारतभूमिपर जन्म लेनेवाले मनुष्योंकी देवताओंने भी प्रशंसा की है*। कल्याणका मौका मनुष्यलोकमें ही है। इस लोकमें आकर मनुष्यको विशेष सावधानीसे दैवी-सम्पत्ति जाग्रत् करनी चाहिये। भगवान्ने विशेष कृपा करके ही यह मनुष्यशरीर दिया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस ७। ४४। ३)

जिन प्राणियोंको भगवान् मनुष्य बनाते हैं, उनपर भगवान् विश्वास करते हैं कि ये अपना कल्याण (उद्धार) करेंगे। इसी आशासे वे मनुष्यशरीर देते हैं। भगवान्ने विशेष कृपा करके मनुष्यको अपनी प्राप्तिकी सामग्री और योग्यता दे रखी है और विवेक भी दे रखा है। इसलिये **'लोकेऽस्मिन्'** पदसे विशेषरूपसे मनुष्यकी ओर ही लक्ष्य है। परन्तु भगवान् तो प्राणिमात्रमें समानरूपसे रहते हैं—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९)। जहाँ भगवान् रहते हैं, वहाँ उनकी सम्पत्ति भी रहती है, इसलिये **'भूतसर्गौ'** पद दिया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राणिमात्र भगवान्की तरफ चल सकता है। भगवान्की तरफसे किसीको मना नहीं है।

मनुष्योंमें जो सर्वथा दुराचारोंमें लगे हुए हैं, वे चाण्डाल और पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि पापयोनिवालोंकी अपेक्षा भी अधिक दोषी हैं। कारण कि पापयोनिवालोंका तो पहलेके पापोंके कारण परवशतासे पापयोनिमें जन्म होता है और वहाँ उनका पुराने पापोंका फलभोग होता है; परन्तु दुराचारी मनुष्य यहाँ जान-बूझकर बुरे आचरणोंमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् नये पाप करते हैं। पापयोनिवाले तो पुराने पापोंका फल भोगकर उन्नतिकी ओर जाते हैं और दुराचारी नये-नये पाप करके पतनकी ओर जाते हैं। ऐसे दुराचारियोंके लिये भी भगवान्ने कहा है कि यदि अत्यन्त दुराचारी भी मेरे अनन्य शरण होकर मेरा भजन करता है, तो वह भी सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त कर लेता है (नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ श्लोक)। ऐसे ही पापी-से-पापी भी ज्ञानरूपी नौकासे सब पापोंको तरकर अपना उद्धार कर लेता है (चौथे अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह कि जब दुराचारी-से-दुराचारी और पापी-से-पापी व्यक्ति भी

***(१) अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।**
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥ (श्रीमद्भा० ५। १९। २१)

'अहो! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्की सेवाके योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्यके लिये तो हम भी निरन्तर तरसते रहते हैं।'

(२) गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥ (श्रीविष्णुपुराण २। ३। २४)

'देवगण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्गके मार्गभूत भारतवर्षमें जन्म लिया है, वे पुरुष हम देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक धन्य (बड़भागी) हैं।'

भक्ति और ज्ञान प्राप्त करके अपना उद्धार कर सकता है, तो फिर अन्य पापयोनियोंके लिये भगवान्‌की तरफसे मना कैसे हो सकती है? इसलिये यहाँ 'भूत' (प्राणिमात्र) शब्द दिया है।

मानवेतर प्राणियोंमें भी दैवी प्रकृतिके पाये जानेकी बहुत बातें सुनने, पढ़ने तथा देखनेमें आती हैं। ऐसे कई उदाहरण आते हैं, जिसमें पशु-पक्षियोंकी योनिमें भी दैवी गुण होनेकी बात आती है*। कई कुत्ते ऐसे भी देखे गये हैं, जो अमावस्या, एकादशी आदिका व्रत रखते हैं और उस दिन अन्न नहीं खाते। सत्संगमें भी मनुष्येतर प्राणियोंके आकर बैठनेकी बातें सुनी हैं। सत्संगमें साँपको भी आते देखा है। गोरखपुरमें जब बारह महीनोंका कीर्तन हुआ था, तब एक काला कुत्ता कीर्तन-मण्डलीके बीचमें चलता और जहाँ सत्संग होता, वहाँ बैठ जाता। ऋषिकेश-(स्वर्गाश्रम-) में वटवृक्षके नीचे एक साँप आया करता था। वहाँ एक सन्त थे। एक दिन उन्होंने साँपसे कहा 'ठहर' तो वह ठहर गया। सन्तने उसे गीता सुनायी, तो वह चुपचाप बैठा रहा। गीता पूरी होते ही साँप वहाँसे चला गया और फिर कभी वहाँ नहीं आया। (इस तरहके पशु-पक्षियोंमें ऐसी प्रकृति पूर्वसंस्कारवश स्वाभाविक होती है।)

इस प्रकार पशु-पक्षियोंमें भी दैवी-सम्पत्तिके गुण देखनेमें आते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वहाँ दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके विकासका क्षेत्र और योग्यता नहीं है। उनके विकासका क्षेत्र और योग्यता केवल मनुष्यशरीरमें ही है।

पशु, पक्षी, जड़ी, बूटी, वृक्ष, लता आदि जितने भी जंगम-स्थावर प्राणी हैं, उन सभीमें दैवी और आसुरी-सम्पत्तिवाले प्राणी होते हैं। मनुष्यको उन सबकी रक्षा करनी ही चाहिये; क्योंकि सबकी रक्षाके लिये, सबका प्रबन्ध करनेके लिये ही यह मनुष्य बनाया गया है। उनमें भी जो सात्त्विक पशु, पक्षी, जड़ी, बूटी आदि हैं, उनकी तो विशेषतासे रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि उनकी रक्षासे हमारेमें दैवी-सम्पत्ति बढ़ती है। जैसे, गोमाता हमारी पूजनीया है तो हमें उसकी रक्षा और पालन करना चाहिये; क्योंकि गाय सम्पूर्ण सृष्टिका कारण है—'**गावो विश्वस्य मातरः।**' गायके घीसे ही यज्ञ होता है; भैंस आदिके घीसे नहीं। यज्ञसे वर्षा होती है। वर्षासे अन्न और अन्नसे प्राणी पैदा होते हैं। उन प्राणियोंमें खेतीके लिये बैलोंकी जरूरत होती है। वे बैल गायोंके होते हैं। बैलोंसे खेती होती है अर्थात् बैलोंसे

* महाभारतके शान्तिपर्वमें इसी प्रसंगकी एक कथा आती है। शकुनिलुब्धक नामका एक बधिक था। उसका मुख्य काम पशु-पक्षियोंको मारना ही था। एक दिन वह शिकारके लिये जंगलमें गया। दिनभर घूमता रहा, पर खानेको कुछ मिला नहीं। अकस्मात् आकाश बादलोंसे भर गया और जोरोंसे आँधी-वर्षा होने लगी। वह बधिक एक वृक्षके नीचे आकर बैठ गया।

उसी वृक्षपर दम्पती कपोत और कपोती रहते थे। चुग्गा चुगनेके लिये दोनों बाहर गये हुए थे। बरसातके कारण कपोती जल्दी आ गयी। पंख गीले होनेसे वह ठिठुरकर नीचे गिर पड़ी, तो बधिकने उसको पकड़कर अपने पिंजड़ेमें बंद कर लिया। जब कपोत घरपर आया, तो कपोतीको वहाँ न देखकर विलाप करने लगा। उसके विलापको सुनकर कपोती बोली कि 'हे प्राणनाथ! आप मेरे लिये इतना विलाप क्यों करते हैं? आप अपने कर्तव्यका पालन कीजिये। हमारे स्थानपर आये हुए अतिथिकी आप रक्षा कीजिये। अतिथिका सत्कार करना गृहस्थका खास कर्तव्य है। इसका किसी तरह जाड़ा छूटे, भूख मिटे—ऐसा आपको प्रबन्ध करना चाहिये। मैं तो पिंजड़ेमें पड़ी हूँ!' अपनी स्त्रीकी बात सुनकर कपोतने अपनी चोंचसे सूखे पत्ते एवं छोटी-छोटी सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। फिर किसी घरसे जलती हुई लकड़ी लाकर अग्नि कर दी। वह बधिक सरदीसे ठिठुर रहा था। अग्निकी गरमीसे जब कुछ ठीक हुआ, तो उसने कपोतसे कहा कि 'मुझे भूख लग रही है, क्या करूँ?' कपोत बोला कि 'आप चिन्ता न करें। आप मेरे अतिथि हो; अतः मैं आपकी भूख मिटानेका प्रबन्ध करूँगा।' कपोतने थोड़ी देर विचार किया। परन्तु उसे अपने-आपको अग्निमें गिरानेके अलावा कोई दूसरा उपाय सूझा नहीं। अतः वह अग्निकी तीन परिक्रमा करके उसमें कूद पड़ा। उसको अग्निमें जलते हुए देखकर बधिकके मनमें विचार आया कि इस कपोतने मुझे कितना आराम दिया है! भोजनके लिये तो इसने अपने-आपको ही दे दिया है! हाय-हाय! मैं कितना क्रूर, निर्दयी पापी हूँ! यह पक्षी होकर भी इतना आदर करता है और मैं मनुष्य होकर भी ऐसा क्रूर काम करता हूँ! आजसे मैं कभी ऐसा पापकर्म नहीं करूँगा। ऐसा निश्चय करके उसने पिंजड़ेमेंसे कपोतीको छोड़ दिया। अपने पतिदेवके अभावमें वह कपोती विलाप करने लगी कि पतिदेवके बिना मैं रहकर क्या करूँगी? ऐसे विलाप करते हुए वह भी अग्निमें कूद पड़ी। इतनेमें उन दोनों (कपोत और कपोती)-को लेने विमान आया और वे दोनों उस विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको चले गये।

उनको इस प्रकार विमानमें जाते हुए देखकर बधिकने अपने सब अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये। उसने विचार किया कि अब मैं भजन-स्मरण करूँगा और त्याग-तपस्या करके शरीरको सुखा डालूँगा—कुछ खाऊँगा-पिऊँगा नहीं। इस तरहका विचार करके वह काँटोंसे भरे जंगलमें चला गया! काँटोंसे उसका शरीर छिल गया! आगे वनमें चारों ओरसे आग (दावाग्नि) लगी हुई थी। उसी आगमें घुसकर वह जलकर मर गया। अन्त समयमें भजन-स्मरण करनेसे उसकी सद्‌गति हो गयी।

हल आदि जोतकर तथा कुएँ आदिके जलसे सींचकर खेती की जाती है। खेतीसे अन्न, वस्त्र आदि निर्वाहकी चीजें पैदा होती हैं, जिनसे मनुष्य, पशु आदि सभीका जीवन-निर्वाह होता है। निर्वाहमें भी गायके घी-दूध हमारे खाने-पीनेके काम आते हैं। उन घी-दूधसे हमारे शरीरमें बल और अन्तःकरणमें सात्त्विक भाव बढ़ते हैं। इसी तरहसे जितनी जड़ी-बूटियाँ हैं, उनमेंसे सात्त्विक जड़ी-बूटीसे कायाकल्प होता है, रोग दूर होता है और शरीर पुष्ट होता है। इसलिये हमलोगोंको सात्त्विक पशु, पक्षी, जड़ी-बूटी आदिकी विशेष रक्षा करनी चाहिये, जिससे हमारे इहलोक और परलोक दोनों सुधर जायँ।

'दैवो विस्तरशः प्रोक्तः'—भगवान् कहते हैं कि दैवी-सम्पत्तिका मैंने विस्तारसे वर्णन कर दिया। इसी अध्यायके पहले श्लोकमें नौ, दूसरे श्लोकमें ग्यारह और तीसरे श्लोकमें छः—इस तरह दैवी-सम्पत्तिके कुल छब्बीस लक्षणोंका वर्णन किया गया है। इससे पहले भी गुणातीतके लक्षणोंमें (चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक), ज्ञानके बीस साधनोंमें (तेरहवें अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक), भक्तोंके लक्षणोंमें (बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक), कर्मयोगीके लक्षणोंमें (छठे अध्यायके सातवेंसे नवें श्लोकतक) और स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें (दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे इकहत्तरवें श्लोकतक) दैवी-सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन हुआ है।

'आसुरं पार्थ मे शृणु'—भगवान् कहते हैं कि अब तू मुझसे आसुरी-सम्पत्तिको विस्तारपूर्वक सुन अर्थात् जो मनुष्य केवल प्राण-पोषणपरायण होते हैं, उनका स्वभाव कैसा होता है—यह मेरेसे सुन।

परिशिष्ट भाव—दैवी और आसुरी—यह दो तरहके प्राणियोंकी सृष्टि मनुष्यलोकमें होनेसे लौकिक है। अलौकिक तत्त्वमें ये दोनों ही नहीं हैं। साधन भी लौकिक और अलौकिक दोनों होते हैं, पर साध्य अलौकिक ही होता है। अलौकिक तत्त्व व्यापक, अनन्त-अपार है। लौकिक भी उसीके अन्तर्गत है। वास्तवमें लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। सब कुछ अलौकिक ही है। जीवने ही लौकिकको धारण किया है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। तात्पर्य है कि जबतक जीवकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तभीतक 'लौकिक' है। संसारकी सत्ता न रहनेपर सब 'अलौकिक' ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**, **'सदसच्चाहम्'**।

सम्बन्ध—भगवान्से विमुख मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्ति किस क्रमसे आती है, उसका आगेके श्लोकमें वर्णन करते हैं।*

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

आसुराः	= आसुरी प्रकृतिवाले	**न**	= नहीं	**आचारः**	= श्रेष्ठ आचरण
जनाः	= मनुष्य	**विदुः**	= जानते	**च**	= तथा
प्रवृत्तिम्	= किसमें प्रवृत्त होना चाहिये	**च**	= और	**न**	= न
च	= और	**तेषु**	= उनमें	**सत्यम्**	= सत्य-पालन
निवृत्तिम्	= किससे निवृत्त होना चाहिये (—इसको)	**न**	= न तो	**अपि**	= ही
		शौचम्	= बाह्य शुद्धि,	**विद्यते**	= होता है।
		न	= न		

* आरम्भमें ही अच्छी शिक्षा न मिलनेसे वे आसुर प्राणी क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, शरीरकी शुद्धि क्या होती है और अशुद्धि क्या होती है, खान-पान क्या शुद्ध होता है और क्या अशुद्ध होता है, बड़ों और छोटोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये और कैसा नहीं करना चाहिये, वाणी आदिका सत्य क्या होता है और असत्य क्या होता है—इन सब बातोंको नहीं जानते अर्थात् अच्छी शिक्षाके अभावमें वे प्रवृत्ति और निवृत्तिको, शौचको, सदाचारको और सत्यको नहीं जानते। इस कारण वे सत्य तत्त्व परमात्मासे विमुख हो जाते हैं। परमात्मासे विमुख होनेसे वे न ईश्वर, धर्म आदिको मानते हैं और न उनकी मर्यादाको ही मानते हैं। वे स्त्री-पुरुषके संगसे ही संसारकी उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेकर वे दूसरोंको दुःख देते हैं और अपना महान् पतन कर लेते हैं।

व्याख्या—**'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः'**—आजकलके उच्छृंखल वातावरण, खान-पान, शिक्षा आदिके प्रभावसे प्रायः मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्तिको अर्थात् किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये—इसको नहीं जानते और जानना चाहते भी नहीं। कोई इसको बताना चाहे, तो उसकी मानते नहीं, प्रत्युत उसकी हँसी उड़ाते हैं, उसे मूर्ख समझते हैं और अभिमानके कारण अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं। कुछ लोग (प्रवृत्ति और निवृत्तिको) जानते भी हैं, पर उनपर आसुरी-सम्पदाका विशेष प्रभाव होनेसे उनकी विहित कार्योंमें प्रवृत्ति और निषिद्ध कार्योंसे निवृत्ति नहीं होती। इस कारण सबसे पहले आसुरी-सम्पत्ति आती है—प्रवृत्ति और निवृत्तिको न जाननेसे।

प्रवृत्ति और निवृत्तिको कैसे जाना जाय? इसे गुरुके द्वारा, ग्रन्थके द्वारा, विचारके द्वारा जाना जा सकता है। इसके अलावा उस मनुष्यपर कोई आफत आ जाय, वह मुसीबतमें फँस जाय, कोई विचित्र घटना घट जाय, तो विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है। किसी महापुरुषके दर्शन हो जानेसे पूर्वसंस्कारवश मनुष्यकी वृत्ति बदल जाती है अथवा जिन स्थानोंपर बड़े-बड़े प्रभावशाली सन्त हुए हैं, उन स्थलोंमें, तीर्थोंमें जानेसे भी विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है।

विवेकशक्ति प्राणिमात्रमें रहती है। परन्तु पशु-पक्षी आदि योनियोंमें इसको विकसित करनेका अवसर, स्थान और योग्यता नहीं है एवं मनुष्यमें उसको विकसित करनेका अवसर, स्थान और योग्यता भी है। पशु-पक्षी आदिमें वह विवेकशक्ति केवल अपने शरीर-निर्वाहतक ही सीमित रहती है पर मनुष्य उस विवेकशक्तिसे अपना और अपने परिवारका तथा अन्य प्राणियोंका भी पालन-पोषण कर सकता है, और दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करके सद्गुण-सदाचारोंको भी ला सकता है। मनुष्य इसमें सर्वथा स्वतन्त्र है; क्योंकि वह साधन-योनि है। परन्तु पशु-पक्षी इसमें स्वतन्त्र नहीं हैं; क्योंकि वह भोग-योनि है।

जब मनुष्योंकी खाने-पीने आदिमें ही विशेष वृत्ति रहती है, तब उनमें कर्तव्य-अकर्तव्यका होश नहीं रहता। ऐसे मनुष्योंमें पशुओंकी तरह दैवी-सम्पत्ति छिपी हुई रहती है, सामने नहीं आती। ऐसे मनुष्योंके लिये भी भगवान्ने **'जनाः'** पद दिया है अर्थात् वे भी मनुष्य कहलानेके लायक हैं; क्योंकि उनमें दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो सकती है।

विशेष बात

'जनाः' (१६। ७) से लेकर **'नराधमान्'** (१६। १९) पदतक बीचमें आये हुए श्लोकोंमें कहीं भी भगवान्ने मनुष्यवाचक शब्द नहीं दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करनेकी तथा दैवी-सम्पत्तिको धारण करनेकी योग्यता है, तथापि जो मनुष्य होकर भी दैवी-सम्पत्तिको धारण न करके आसुरी-सम्पत्तिको बनाये रखते हैं, वे मनुष्य कहलानेलायक नहीं हैं। वे पशुओंसे और नारकीय प्राणियोंसे भी गये-बीते हैं; क्योंकि पशु और नारकीय प्राणी तो पापोंका फल भोगकर पवित्रताकी तरफ जा रहे हैं और ये आसुर स्वभाववाले मनुष्य जिस पुण्यसे मनुष्यशरीर मिला है, उसको नष्ट करके और यहाँ नये-नये पाप बटोरकर पशु-पक्षी आदि योनियों तथा नरकोंकी तरफ जा रहे हैं। अतः उनकी दुर्गतिका वर्णन इसी अध्यायके सोलहवें और उन्नीसवें श्लोकोंमें किया गया है।

भगवान्ने आसुर मनुष्योंके जितने लक्षण बताये हैं, उनमें उनको पशु आदिका विशेषण न देकर **'अशुभान्'**, **'नराधमान्'** विशेषण दिये हैं। कारण यह कि पशु आदि इतने पापी नहीं हैं और उनके दर्शनसे पाप भी नहीं लगता, पर आसुर मनुष्योंमें विशेष पाप होते हैं और उनके दर्शनसे पाप लगता है, अपवित्रता आती है। इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें **'नरः'** पद देकर यह बताते हैं कि जो काम-क्रोध-लोभरूप नरकके द्वारोंसे छूटकर अपने कल्याणका आचरण करता है, वही मनुष्य कहलानेलायक है। पाँचवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी **'नरः'** पदसे इसी बातको पुष्ट किया गया है।

'न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते'—प्रवृत्ति और निवृत्तिको न जाननेसे उन आसुर स्वभाववालोंमें शुद्धि-अशुद्धिका खयाल नहीं रहता। उनको सांसारिक बर्तावका, व्यवहारका भी खयाल नहीं होता अर्थात् माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ोंके साथ तथा अन्य मनुष्योंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये और कैसा नहीं करना चाहिये—इस बातको वे जानते ही नहीं। उनमें सत्य नहीं होता अर्थात् वे असत्य बोलते हैं और आचरण भी असत्य ही करते हैं। इन सबका तात्पर्य यह है कि वे पुरुष असुर हैं। खाना-पीना, आरामसे रहना तथा 'मैं जीता रहूँ,

संसारका सुख भोगता रहूँ और संग्रह करता रहूँ' आदि उद्देश्य होनेसे उनकी शौचाचार और सदाचारकी तरफ दृष्टि ही नहीं जाती।

भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके चौवालीसवें श्लोकमें बताया है कि वैदिक प्रक्रियाके अनुसार सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए पुरुषोंमें भी परमात्माकी प्राप्तिका एक निश्चय नहीं होता। भाव यह है कि आसुरी-सम्पदाका अंश रहनेके कारण जब ऐसे शास्त्र-विधिसे यज्ञादि कर्मोंमें लगे हुए पुरुष भी परमात्माका एक निश्चय नहीं कर पाते, तब जिन पुरुषोंमें आसुरी-सम्पदा विशेष बढ़ी हुई है अर्थात् जो अन्यायपूर्वक भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, उनकी बुद्धिमें परमात्माका एक निश्चय होना कितना कठिन है[1]!

परिशिष्ट भाव—ज्यों-ज्यों आसुरी-सम्पत्ति आती है, त्यों-त्यों विवेक लुप्त होता जाता है। भोगोंके परायण होनेसे आसुर मनुष्य 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इसको नहीं जान सकते। उनकी निष्ठा तो लौकिक भी नहीं होती, अलौकिक तो दूर रही! उनकी निष्ठा नरकोंमें ले जानेवाली होती है।

आसुर मनुष्य पिण्डप्राणपोषणपरायण होते हैं। इसलिये वे केवल अपना सुख-आराम, अपना स्वार्थ देखते हैं। जिससे अपनेको सुख मिलता दीखे, उसीमें उनकी प्रवृत्ति होती है और जिससे दु:ख मिलता दीखे, स्वार्थ सिद्ध होता न दीखे, उसीसे उनकी निवृत्ति होती है। वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्तिमें शास्त्र ही प्रमाण है (गीता—सोलहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक); परन्तु अपने शरीर और प्राणोंमें मोह रहनेके कारण आसुर मनुष्योंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्रको लेकर नहीं होती। आसुर स्वभावके कारण वे शास्त्रकी बात सुनते ही नहीं और अगर सुन भी लें तो उसको समझ सकते ही नहीं—**'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः'** (गीता १५। ११)।

सम्बन्ध—जहाँ सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ सद्भावोंका भी निरादर होता है अर्थात् सद्‌भाव दबते चले जाते हैं—अब इसको बताते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

ते = वे
आहुः = कहा करते हैं कि
जगत् = संसार
असत्यम् = असत्य,
अप्रतिष्ठम् = बिना मर्यादाके (और)
अनीश्वरम् = बिना ईश्वरके
अपरस्पर-सम्भूतम् = अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है।
कामहैतुकम् = (इसलिये) काम ही इसका कारण है,
अन्यत् = इसके सिवाय और
किम् = क्या कारण है? (और कारण हो ही नहीं सकता।)

*व्याख्या—***'असत्यम्'**—आसुर स्वभाववाले पुरुष कहा करते हैं कि यह जगत् असत्य है अर्थात् इसमें कोई भी बात सत्य नहीं है। जितने भी यज्ञ, दान, तप, ध्यान, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत आदि शुभकर्म किये जाते हैं, उनको वे सत्य नहीं मानते। उनको तो वे एक बहकावा मानते हैं।

'अप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्'—संसारमें आस्तिक पुरुषोंकी धर्म, ईश्वर, परलोक[2] (पुनर्जन्म) आदिमें श्रद्धा होती है। परन्तु वे आसुर मनुष्य धर्म, ईश्वर आदिमें श्रद्धा नहीं रखते; अत: वे ऐसा मानते हैं कि इस संसारमें धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदिकी कोई प्रतिष्ठा—मर्यादा नहीं है। इस जगत्‌को वे बिना मालिकका कहते हैं अर्थात् इस जगत्‌को रचनेवाला, इसका शासन करनेवाला, यहाँपर किये हुए पाप-पुण्योंका फल भुगतानेवाला कोई (ईश्वर)

१-पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥ (मानस ५। ४४। २)

२-मरनेके बाद जो जन्म होता है, वह चाहे मृत्युलोकमें हो, चाहे किसी अन्य लोकमें हो, चाहे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि किसी योनिविशेषमें हो, वह सब 'परलोक' ही है।

नहीं है।*

'अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्'—वे कहते हैं कि स्त्रीको पुरुषकी और पुरुषको स्त्रीकी कामना हो गयी। अतः उन दोनोंके परस्पर संयोगसे यह संसार पैदा हो गया। इसलिये काम ही इस संसारका हेतु है। इसके लिये ईश्वर, प्रारब्ध आदि किसीकी क्या जरूरत है? ईश्वर आदिको इसमें कारण मानना ढकोसला है, केवल दुनियाको बहकाना है।

सम्बन्ध—जहाँ सद्भाव लुप्त हो जाते हैं, वहाँ सद्विचार काम नहीं करते अर्थात् सद्विचार प्रकट ही नहीं होते—इसको अब आगेके श्लोकमें बताते हैं।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

एताम् = इस (पूर्वोक्त) **दृष्टिम्** = (नास्तिक) दृष्टिका **अवष्टभ्य** = आश्रय लेनेवाले **नष्टात्मानः** = जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूपको नहीं मानते, **अल्पबुद्धयः** = जिनकी बुद्धि तुच्छ है, **उग्रकर्माणः** = जो उग्र कर्म करनेवाले (और) **जगतः** = संसारके **अहिताः** = शत्रु हैं, **क्षयाय, प्रभवन्ति** = उन मनुष्योंकी सामर्थ्यका उपयोग जगत्का नाश करनेके लिये ही होता है।

व्याख्या—**'एतां दृष्टिमवष्टभ्य'**—न कोई कर्तव्य-अकर्तव्य है, न शौचाचार-सदाचार है, न ईश्वर है, न प्रारब्ध है, न पाप-पुण्य है, न परलोक है, न किये हुए कर्मोंका कोई दण्ड-विधान है—ऐसी नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेकर वे चलते हैं।

'नष्टात्मानः'—आत्मा कोई चेतन-तत्त्व है, आत्माकी कोई सत्ता है—इस बातको वे मानते ही नहीं। वे तो इस बातको मानते हैं कि जैसे कत्था और चूना मिलनेसे एक लाली पैदा हो जाती है, ऐसी ही भौतिक तत्त्वोंके मिलनेसे एक चेतनता पैदा हो जाती है। वह चेतन कोई अलग चीज है— यह बात नहीं है। उनकी दृष्टिमें जड ही मुख्य होता है। इसलिये वे चेतन-तत्त्वसे बिलकुल ही विमुख रहते हैं। चेतन-तत्त्व-(आत्मा-) से विमुख होनेसे उनका पतन हो चुका होता है।

'अल्पबुद्धयः'—उनमें जो विवेक-विचार होता है, वह अत्यन्त ही अल्प, तुच्छ होता है। उनकी दृष्टि केवल दृश्य पदार्थोंपर अवलम्बित रहती है कि कमाओ, खाओ, पीओ और मौज करो। आगे भविष्यमें क्या होगा? परलोकमें क्या होगा? ये बातें उनकी बुद्धिमें नहीं आतीं।

यहाँ अल्पबुद्धिका यह अर्थ नहीं है कि हरेक काममें उनकी बुद्धि काम नहीं करती। सत्य-तत्त्व क्या है? धर्म क्या है? अधर्म क्या है? सदाचार-दुराचार क्या हैं? और उनका परिणाम क्या होता है? इस विषयमें उनकी बुद्धि काम नहीं करती। परन्तु धनादि वस्तुओंके संग्रहमें उनकी बुद्धि बड़ी तेज होती है। तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक उन्नतिके विषयमें उनकी बुद्धि तुच्छ होती है और सांसारिक भोगोंमें फँसनेके लिये उनकी बुद्धि बड़ी तेज होती है।

'उग्रकर्माणः'—वे किसीसे डरते ही नहीं। यदि डरेंगे तो चोर, डाकू या राजकीय आदमीसे डरेंगे। ईश्वरसे, परलोकसे, मर्यादासे वे नहीं डरते। ईश्वर और परलोकका भय न होनेसे उनके द्वारा दूसरोंकी हत्या आदि बड़े भयानक कर्म होते हैं।

'अहिताः'—उनका स्वभाव खराब होनेसे वे दूसरोंका अहित (नुकसान) करनेमें ही लगे रहते हैं और दूसरोंका नुकसान करनेमें ही उनको सुख होता है।

*** 'अनीश्वर' पदका तात्पर्य यह है कि आसुरी-सम्पत्तिवाले ईश्वरको नहीं मानते। 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' इस न्यायके अनुसार यह सिद्ध होता है कि ईश्वरकी सत्ता तो है, पर वे उसे स्वीकार नहीं करते। ईश्वरकी सत्ता न माननेसे वे अपार चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं (सोलहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक), पर ईश्वरकी सत्ताको मानकर उसके आश्रित रहनेवाले दैवी-सम्पत्तिवाले मनुष्य निश्चिन्त और निर्भय रहते हैं।**

'जगतः क्षयाय प्रभवन्ति'—उनके पास जो शक्ति है, ऐश्वर्य है, सामर्थ्य है, पद है, अधिकार है, वह सब-का-सब दूसरोंका नाश करनेमें ही लगता है। दूसरोंका नाश ही उनका उद्देश्य होता है। अपना स्वार्थ पूरा सिद्ध हो या थोड़ा सिद्ध हो अथवा बिलकुल सिद्ध न हो, पर वे दूसरोंकी उन्नतिको सह नहीं सकते। दूसरोंका नाश करनेमें ही उनको सुख होता है अर्थात् पराया हक छीनना, किसीको जानसे मार देना— इसीमें उनको प्रसन्नता होती है। सिंह जैसे दूसरे पशुओंको मारकर खा जाता है, दूसरोंके दुःखकी परवाह नहीं करता और राजकीय स्वार्थी अफसर जैसे दस, पचास, सौ रुपयोंके लिये हजारों रुपयोंका सरकारी नुकसान कर देते हैं, ऐसे ही अपना स्वार्थ पूरा करनेके लिये दूसरोंका चाहे कितना ही नुकसान हो जाय, उसकी वे परवाह नहीं करते। वे आसुर स्वभाववाले पशु-पक्षियोंको मारकर खा जाते हैं और अपने थोड़े-से सुखके लिये दूसरोंको कितना दुःख हुआ—इसको वे सोच ही नहीं सकते।

सम्बन्ध—जहाँ सत्कर्म, सद्भाव और सद्विचारका निरादर हो जाता है, वहाँ मनुष्य कामनाओंका आश्रय लेकर क्या करता है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

शब्द	अर्थ
दुष्पूरम्	= कभी पूरी न होनेवाली
कामम्	= कामनाओंका
आश्रित्य	= आश्रय लेकर
दम्भमान-मदान्विताः	= दम्भ, अभिमान और मदमें चूर रहनेवाले (तथा)
अशुचिव्रताः	= अपवित्र व्रत धारण करनेवाले मनुष्य
मोहात्	= मोहके कारण
असद्ग्राहान्	= दुराग्रहोंको
गृहीत्वा	= धारण करके
प्रवर्तन्ते	= (संसारमें) विचरते रहते हैं।

व्याख्या—**'काममाश्रित्य दुष्पूरम्'**—वे आसुरी प्रकृतिवाले कभी भी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेते हैं। जैसे कोई मनुष्य भगवान्‌का, कोई कर्तव्यका, कोई धर्मका, कोई स्वर्ग आदिका आश्रय लेता है, ऐसे ही आसुर प्राणी कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेते हैं। उनके मनमें यह बात अच्छी तरहसे जँची हुई रहती है कि कामनाके बिना आदमी पत्थर-जैसा हो जाता है; कामनाके आश्रयके बिना आदमीकी उन्नति हो ही नहीं सकती; आज जितने आदमी नेता, पण्डित, धनी आदि हो गये हैं, वे सब कामनाके कारण ही हुए हैं। इस प्रकार कामनाके आश्रित रहनेवाले भगवान्‌को, परलोकको, प्रारब्ध आदिको नहीं मानते।

अब उन कामनाओंकी पूर्ति किनके द्वारा करें? उसके साथी (सहायक) कौन हैं? तो बताते हैं—**'दम्भमान-मदान्विताः।'** वे दम्भ, मान और मदसे युक्त रहते हैं अर्थात् वे उनकी कामनापूर्तिके बल हैं। जहाँ जिनके सामने जैसा बननेसे अपना मतलब सिद्ध होता हो अर्थात् धन, मान, बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार, वाह-वाह आदि मिलते हों, वहाँ उनके सामने वैसा ही अपनेको दिखाना 'दम्भ' है। अपनेको बड़ा मानना, श्रेष्ठ मानना 'मान' है। हमारे पास इतनी विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि है—इस बातको लेकर नशा-सा आ जाना 'मद' है। वे सदा दम्भ, मान और मदमें सने हुए रहते हैं, तदाकार रहते हैं।

'अशुचिव्रताः'—उनके व्रत-नियम बड़े अपवित्र होते हैं; जैसे—'इतने गाँवमें, इतने गायोंके बाड़ोंमें आग लगा देनी है; इतने आदमियोंको मार देना है' आदि। ये वर्ण, आश्रम, आचार-शुद्धि आदि सब ढकोसलाबाजी है; अतः किसीके भी साथ खाओ-पीओ। हम कथा आदि नहीं सुनेंगे; हम तीर्थ, मन्दिर आदि स्थानोंमें नहीं जायँगे—ऐसे उनके व्रत-नियम होते हैं।

ऐसे नियमोंवाले डाकू भी होते हैं। उनका यह नियम रहता है कि बिना मार-पीट किये ही कोई वस्तु दे दे, तो वे लेंगे नहीं। जबतक चोट नहीं लगायेंगे, घावसे खून नहीं टपकेगा, तबतक हम उसकी वस्तु नहीं लेंगे, आदि।

'मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्'—मूढ़ताके कारण वे अनेक दुराग्रहोंको पकड़े रहते हैं। तामसी बुद्धिको लेकर चलना ही मूढ़ता है (गीता—अठारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। वे शास्त्रोंकी, वेदोंकी, वर्णाश्रमोंकी और

कुल-परम्पराकी मर्यादाको नहीं मानते, प्रत्युत इनके विपरीत चलनेमें, इनको भ्रष्ट करनेमें ही वे अपनी बहादुरी, अपना गौरव समझते हैं। वे अकर्तव्यको ही कर्तव्य और कर्तव्यको ही अकर्तव्य मानते हैं, हितको ही अहित और अहितको ही हित मानते हैं, ठीकको ही बेठीक और बेठीकको ही ठीक मानते हैं। इन असद्विचारोंके कारण उनकी बुद्धि इतनी गिर जाती है कि वे यह कहने लग जाते हैं कि माता-पिताका हमारेपर कोई ऋण नहीं है। उनसे हमारा क्या सम्बन्ध है? झूठ, कपट, जालसाजी करके भी धन कैसे बचे? आदि उनके दुराग्रह होते हैं।

परिशिष्ट भाव—'काममाश्रित्य दुष्पूरम्'—तीसरे अध्यायमें भी भगवान्‌ने कहा है कि यह काम बहुत खानेवाला है—**'महाशनः'** (३। ३७) और अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाला है—**'दुष्पूरेणानलेन च'** (३। ३९)। इसलिये सभी कामनाओंकी पूर्ति कभी सम्भव नहीं है। अतः कामनापूर्ति ही जिनका उद्देश्य है, उनको कभी शान्ति नहीं मिलती। कामनापूर्तिमें महान् परतन्त्रता है, पर आसुर मनुष्य इस परतन्त्रतामें भी स्वतन्त्रताका अनुभव करते हैं कि धनादि पदार्थ मिल जायँगे तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे। वे शास्त्र, गुरु, ईश्वर, धर्म आदिको मानते ही नहीं, फिर कामके सिवाय और किसका आश्रय लें?

सम्बन्ध—सत्कर्म, सद्भाव और सद्विचारोंके अभावमें उन आसुरी प्रकृतिवालोंके नियम, भाव और आचरण किस उद्देश्यको लेकर और किस प्रकारके होते हैं, अब उनको आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

प्रलयान्ताम् =(वे) मृत्युपर्यन्त रहनेवाली
अपरिमेयाम् =अपार
चिन्ताम् =चिन्ताओंका
उपाश्रिताः =आश्रय लेनेवाले,
कामोपभोगपरमाः = पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले
च = और
एतावत् ='जो कुछ है, वह इतना ही है'—
इति =ऐसा
निश्चिताः =निश्चय करनेवाले होते हैं।

व्याख्या—**'चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः'**—आसुरी-सम्पदावाले मनुष्योंमें ऐसी चिन्ताएँ रहती हैं, जिनका कोई माप-तौल नहीं है। जबतक प्रलय अर्थात् मौत नहीं आती, तबतक उनकी चिन्ताएँ मिटती नहीं। ऐसी प्रलयतक रहनेवाली चिन्ताओंका फल भी प्रलय-ही-प्रलय अर्थात् बार-बार मरना ही होता है।

चिन्ताके दो विषय होते हैं—एक पारमार्थिक और दूसरा सांसारिक। मेरा कल्याण, मेरा उद्धार कैसे हो? परब्रह्म परमात्माका निश्चय कैसे हो? (**'चिन्ता परब्रह्मविनिश्चयाय'**) इस प्रकार जिनको पारमार्थिक चिन्ता होती है, वे श्रेष्ठ हैं। परन्तु आसुरी-सम्पदावालोंको ऐसी चिन्ता नहीं होती। वे तो इससे विपरीत सांसारिक चिन्ताओंके आश्रित रहते हैं कि हम कैसे जीयेंगे? अपना जीवन-निर्वाह कैसे करेंगे? हमारे बिना बड़े-बूढ़े किसके आश्रित जीयेंगे? हमारा मान, आदर, प्रतिष्ठा, इज्जत, प्रसिद्धि, नाम आदि कैसे बने रहेंगे? मरनेके बाद हमारे बाल-बच्चोंकी क्या दशा होगी? मर जायँगे तो धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदादका क्या होगा? धनके बिना हमारा काम कैसे चलेगा? धनके बिना मकानकी मरम्मत कैसे होगी? आदि-आदि।

मनुष्य व्यर्थमें ही चिन्ता करता है। निर्वाह तो होता रहेगा। निर्वाहकी चीजें तो बाकी रहेंगी और उनके रहते हुए ही मरेंगे। अपने पास एक लंगोटी रखनेवाले विरक्त-से-विरक्तकी भी फटी लंगोटी और फूटी तूम्बी बाकी बचती है और मरता है पहले। ऐसे ही सभी व्यक्ति वस्तु आदिके रहते हुए ही मरते हैं। यह नियम नहीं है कि धन पासमें होनेसे आदमी मरता न हो। धन पासमें रहते-रहते ही मनुष्य मर जाता है और धन पड़ा रहता है, काममें नहीं आता।

एक बहुत बड़ा धनी आदमी था। उसने तिजोरीकी तरह लोहेका एक मजबूत मकान बना रखा था, जिसमें बहुत रत्न रखे हुए थे। उस मकानका दरवाजा ऐसा बना हुआ था, जो बंद होनेपर चाबीके बिना खुलता नहीं था। एक बार वह

धनी आदमी बाहर चाबी छोड़कर उस मकानके भीतर चला गया और उसने भूलसे दरवाजा बंद कर लिया। अब चाबीके बिना दरवाजा न खुलनेसे अन्न, जल, हवाके अभावमें मरते हुए उसने लिखा कि 'इतनी धन-सम्पत्ति आज मेरे पास रहते हुए भी मैं मर रहा हूँ; क्योंकि मुझे भीतर अन्न-जल नहीं मिल रहा है, हवा नहीं मिल रही है!' ऐसे ही खाद्य पदार्थोंके रहनेसे नहीं मरेगा, यह भी नियम नहीं है। भोगोंके पासमें होते हुए भी ऐसे ही मरेगा। जैसे पेट आदिमें रोग लग जानेपर वैद्य-डॉक्टर उसको (अन्न पासमें रहते हुए भी) अन्न खाने नहीं देते, ऐसे ही मरना हो, तो पदार्थोंके रहते हुए भी मनुष्य मर जाता है।

जो अपने पास एक कौड़ीका भी संग्रह नहीं करते, ऐसे विरक्त संतोंको भी प्रारब्धके अनुसार आवश्यकतासे अधिक चीजें मिल जाती हैं। अत: जीवन-निर्वाह चीजोंके अधीन नहीं है[1]। परन्तु इस तत्त्वको आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य नहीं समझ सकते। वे तो यही समझते हैं कि हम चिन्ता करते हैं, कामना करते हैं, विचार करते हैं, उद्योग करते हैं, तभी चीजें मिलती हैं। यदि ऐसा न करें, तो भूखों मरना पड़े!

'कामोपभोगपरमा:'—जो मनुष्य धनादि पदार्थोंका उपभोग करनेके परायण हैं, उनकी तो हरदम यही इच्छा रहती है कि सुख-सामग्रीका खूब संग्रह कर लें और भोग भोग लें। उनको तो भोगोंके लिये धन चाहिये; संसारमें बड़ा बननेके लिये धन चाहिये, सुख-आराम, स्वाद-शौकीनी आदिके लिये धन चाहिये। तात्पर्य है कि उनके लिये भोगोंसे बढ़कर कुछ नहीं है।

'एतावदिति निश्चिता:'—उनका यह निश्चय होता है कि सुख भोगना और संग्रह करना—इसके सिवाय और कुछ नहीं है[2]। इस संसारमें जो कुछ है, यही है। अत: उनकी दृष्टिमें परलोक एक ढकोसला है। उनकी मान्यता रहती है कि मरनेके बाद कहीं आना-जाना नहीं होता। बस, यहाँ शरीरके रहते हुए जितना सुख भोग लें, वही ठीक है; क्योंकि मरनेपर तो शरीर यहीं बिखर जायगा[3]। शरीर स्थिर रहनेवाला है ही नहीं, आदि-आदि भोगोंके निश्चयके सामने वे पाप-पुण्य, पुनर्जन्म आदिको भी नहीं मानते।

परिशिष्ट भाव— भोग और संग्रहमें लगा हुआ मनुष्य अन्धा हो जाता है। वह न तो संसारको जान सकता है और न परमात्माको ही जान सकता है। अस्वाभाविकमें स्वाभाविक बुद्धि होनेके कारण उसकी दृष्टि परमात्माकी तरफ जा ही नहीं सकती। वह अस्वाभाविक संसारको ही सच्चा मानता है।

वस्तुएँ विनाशी हैं, आप अविनाशी है, फिर पूर्ति कैसे हो? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी पूर्ति कैसे हो सकती है?

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

आशापाशशतै: =(वे) आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे
बद्धा: =बँधे हुए मनुष्य
कामक्रोधपरायणा: = काम-क्रोधके परायण होकर
कामभोगार्थम् = पदार्थोंका भोग करनेके लिये
अन्यायेन =अन्यायपूर्वक
अर्थसञ्चयान् = धन-संचय करनेकी
ईहन्ते =चेष्टा करते रहते हैं।

व्याख्या—**'आशापाशशतैर्बद्धा:'**—आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य आशारूपी सैकड़ों पाशोंसे बँधे रहते हैं अर्थात् उनको 'इतना धन हो जायगा, इतना मान हो जायगा, शरीरमें नीरोगता आ जायगी' आदि सैकड़ों आशाओंकी

१-(१) प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर। तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुवीर॥
(२) मुरदेको हरि देत है, कपड़ो लकड़ी आग। जीवित नर चिन्ता करे, उनका बड़ा अभाग॥
(३) धान नहीं धीणों नहीं, नहीं रुपैयो रोक। जीमण बैठे रामदास, आन मिलै सब थोक॥

२-ऐसे ही स्वर्गको माननेवाले सकाम मनुष्य भी कहते हैं कि स्वर्गसे बढ़कर और कुछ नहीं है—'नान्यदस्तीति वादिन:' (गीता २। ४२)। उनकी यही कामना रहती है कि मरनेके बाद हम स्वर्गमें जायँगे और वहाँके दिव्य भोगोंको भोगेंगे। स्वर्गके भोगोंके सामने यहाँके भोग कुछ भी नहीं हैं—ऐसा वे मानते हैं।

३-यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:॥

फाँसियाँ लगी रहती हैं। आशाकी फाँसीसे बँधे हुए मनुष्योंके पास लाखों-करोड़ों रुपये हो जायँ, तो भी उनका मँगतापन नहीं मिटता! उनकी तो यही आशा रहती है कि सन्तोंसे कुछ मिल जाय, भगवान्‌से कुछ मिल जाय, मनुष्योंसे कुछ मिल जाय। इतना ही नहीं पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, पहाड़-समुद्र आदिसे भी हमें कुछ मिल जाय। इस प्रकार उनमें सदा 'खाऊँ-खाऊँ' बनी रहती है। ऐसे व्यक्तियोंकी सांसारिक आशाएँ कभी पूरी नहीं होतीं (गीता—नवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। यदि पूरी हो भी जायँ, तो भी कुछ फायदा नहीं है; क्योंकि यदि वे जीते रहेंगे, तो आशावाली वस्तु नष्ट हो जायगी और आशावाली वस्तु रहेगी, तो वे मर जायँगे अथवा दोनों ही नष्ट हो जायँगे।

जो आशारूपी फाँसीसे बँधे हुए हैं, वे कभी एक जगह स्थिर नहीं रह सकते और जो इस आशारूपी फाँसीसे छूट गये हैं, वे मौजसे एक जगह रहते हैं—

आशा नाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यशृङ्खला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत्॥

'**कामक्रोधपरायणाः**'—उनका परम अयन, स्थान काम और क्रोध ही होते हैं* अर्थात् अपनी कामनापूर्ति करनेके लिये और क्रोधपूर्वक दूसरोंको कष्ट देनेके लिये ही उनका जीवन होता है। काम-क्रोधके परायण मनुष्योंका यह निश्चय रहता है कि कामनाके बिना मनुष्य जड हो जाता है। क्रोधके बिना उसका तेज भी नहीं रहता। कामनासे ही सब काम होता है, नहीं तो आदमी काम करे ही क्यों? कामनाके बिना तो आदमीका जीवन ही भार हो जायगा। संसारमें काम और क्रोध ही तो सार चीज है। इसके बिना लोग हमें संसारमें रहने ही नहीं देंगे। क्रोधसे ही शासन चलता है, नहीं तो शासनको मानेगा ही कौन? क्रोधसे दबाकर दूसरोंको ठीक करना चाहिये, नहीं तो लोग हमारा सर्वस्व छीन लेंगे। फिर तो हमारा अपना कुछ अस्तित्व ही नहीं रहेगा, आदि।

'**ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्**'—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंका उद्‌देश्य धनका संग्रह करना और विषयोंका भोग करना होता है। इस उद्‌देश्यकी पूर्तिके लिये वे बेईमानी, धोखेबाजी, विश्वासघात, टैक्सकी चोरी आदि करके; दूसरोंका हक मारकर; मन्दिर, बालक, विधवा आदिका धन दबाकर और इस तरह अनेक अन्यान्य पाप करके धनका संचय करना चाहते हैं। कारण कि उनके मनमें यह बात गहराईसे बैठी रहती है कि आजकलके जमानेमें ईमानदारीसे, न्यायसे कोई धनी थोड़े ही हो सकता है? ये जितने धनी हुए हैं, सब अन्याय, चोरी, धोखेबाजी करके ही हुए हैं। ईमानदारीसे, न्यायसे काम करनेकी जो बात है, वह तो कहनेमात्रकी है; काममें नहीं आ सकती। यदि हम न्यायके अनुसार काम करेंगे, तो हमें दुःख पाना पड़ेगा और जीवन-धारण करना मुश्किल हो जायगा। ऐसा उन आसुर स्वभाववाले व्यक्तियोंका निश्चय होता है।

जो व्यक्ति न्यायपूर्वक स्वर्गके भोगोंकी प्राप्तिके लिये लगे हुए हैं, उनके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि उन लोगोंकी बुद्धिमें 'हमें परमात्माकी प्राप्ति करना है' यह निश्चय हो ही नहीं सकता (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। फिर जो अन्यायपूर्वक धन कमाकर प्राणोंके पोषणमें लगे हुए हैं, उनकी बुद्धिमें परमात्मप्राप्तिका निश्चय कैसे हो सकता है? परन्तु वे भी यदि चाहें तो परमात्मप्राप्तिका निश्चय करके साधनपरायण हो सकते हैं। ऐसा निश्चय करनेके लिये किसीको भी मना नहीं है; क्योंकि मनुष्य-जन्म परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है।

परिशिष्ट भाव—'आशापाशशतैर्बद्धाः'—यहाँ '**शतैः**' पद अनन्तका वाचक है। जबतक संसारके साथ सम्बन्ध है, तबतक कामनाओंका अन्त नहीं आता। दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें आया है—'**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्**' 'अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं।' कारण कि उन्होंने अविनाशीसे विमुख होकर नाशवान्‌की सत्ता और महत्ता दे दी तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया।

'**कामक्रोधपरायणाः**'—आसुर स्वभाववाले लोग काम और क्रोधको स्वाभाविक मानते हैं। काम और क्रोधके सिवाय उनको और कुछ दीखता ही नहीं, इनसे आगे उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। यही उनके परम अयन अर्थात् स्थान हैं।

मनुष्य समझता है कि क्रोध करनेसे दूसरा हमारे वशमें रहेगा। परन्तु जो मजबूर, लाचार होकर हमारे वशमें हुआ है, वह कबतक वशमें रहेगा? मौका पड़ते ही वह घात करेगा। अतः क्रोधका परिणाम बुरा ही होता है।

*** इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें आये 'दम्भ, मान और मद' तो उनके साथी होते हैं और यहाँ आये 'काम और क्रोध' उनके आश्रय होते हैं।**

सम्बन्ध—आसुर स्वभाववाले व्यक्ति लोभ, क्रोध और अभिमानको लेकर किस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं, उसे क्रमशः आगेके तीन श्लोकोंमें बताते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

वे इस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं कि—

इदम्	= इतनी वस्तुएँ तो	**मनोरथम्**	= मनोरथको	**अस्ति**	= है ही,
मया	= हमने	**प्राप्स्ये**	= प्राप्त (पूरा) कर लेंगे।	**इदम्**	= इतना (धन)
अद्य	= आज				
लब्धम्	= प्राप्त कर लीं (और अब)	**इदम्**	= इतना	**पुनः**	= फिर
		धनम्	= धन तो	**अपि**	= भी
इमम्	= इस	**मे**	= हमारे पास	**भविष्यति**	= हो जायगा।

व्याख्या—**'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्'**—आसुरी प्रकृतिवाले व्यक्ति लोभके परायण होकर मनोरथ करते रहते हैं कि हमने अपने उद्योगसे, बुद्धिमानीसे, चतुराईसे, होशियारीसे, चालाकीसे इतनी वस्तुएँ तो आज प्राप्त कर लीं, इतनी और प्राप्त कर लेंगे। इतनी वस्तुएँ तो हमारे पास हैं, इतनी और वहाँसे आ जायँगी। इतना धन व्यापारसे आ जायगा। हमारा बड़ा लड़का इतना पढ़ा हुआ है; अतः इतना धन और वस्तुएँ तो उसके विवाहमें आ ही जायँगी। इतना धन टैक्सकी चोरीसे बच जायगा, इतना जमीनसे आ जायगा, इतना मकानोंके किरायेसे आ जायगा, इतना ब्याजका आ जायगा, आदि-आदि।

'इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्'— जैसे-जैसे उनका लोभ बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे उनके मनोरथ भी बढ़ते जाते हैं। जब उनका चिन्तन बढ़ जाता है, तब वे चलते-फिरते हुए, काम-धंधा करते हुए, भोजन करते हुए, मल-मूत्रका त्याग करते हुए और यदि नित्यकर्म (पाठ-पूजा-जप आदि) करते हैं तो उसे करते हुए भी 'धन कैसे बढ़े' इसका चिन्तन करते रहते हैं। इतनी दूकानें, मिल, कारखाने तो हमने खोल दिये हैं, इतने और खुल जायँ। इतनी गायें-भैंसे, भेड़-बकरियाँ आदि तो हैं ही, इतनी और हो जायँ। इतनी जमीन तो हमारे पास है, पर यह बहुत थोड़ी है, किसी तरहसे और मिल जाय तो बहुत अच्छा हो जायगा। इस प्रकार धन आदि बढ़ानेके विषयमें उनके मनोरथ होते हैं।

जब उनकी दृष्टि अपने शरीर तथा परिवारपर जाती है, तब वे उस विषयमें मनोरथ करने लग जाते हैं कि अमुक-अमुक दवाएँ सेवन करनेसे शरीर ठीक रहेगा। अमुक-अमुक चीजें इकट्ठी कर ली जायँ, तो हम सुख और आरामसे रहेंगे। एयरकण्डीशनवाली गाड़ी मँगवा लें, जिससे बाहरकी गरमी न लगे। ऊनके ऐसे वस्त्र मँगवा लें, जिससे सरदी न लगे। ऐसा बरसाती कोट या छाता मँगवा लें, जिससे वर्षासे शरीर गीला न हो। ऐसे-ऐसे गहने-कपड़े और शृंगार आदिकी सामग्री मँगवा लें, जिससे हम खूब सुन्दर दिखायी दें, आदि-आदि।

ऐसे मनोरथ करते-करते उनको यह याद नहीं रहता कि हम बूढ़े हो जायँगे तो इस सामग्रीका क्या करेंगे और मरते समय यह सामग्री हमारे क्या काम आयेगी? अन्तमें इस सम्पत्तिका मालिक कौन होगा? बेटा तो कपूत है; अतः वह सब नष्ट कर देगा। मरते समय यह धन-सम्पत्ति खुदको दुःख देगी। इस सामग्रीके लोभके कारण ही मुझे बेटा-बेटीसे डरना पड़ता है और नौकरोंसे डरना पड़ता है कि कहीं ये लोग हड़ताल न कर दें।

प्रश्न—दैवी-सम्पत्तिको धारण करके साधन करनेवाले साधकके मनमें भी कभी-कभी व्यापार आदिके कार्यको लेकर (इस श्लोककी तरह) 'इतना काम हो गया, इतना काम करना बाकी है और इतना काम आगे हो जायगा; इतना पैसा आ गया है और इतना वहाँपर टैक्स देना है' आदि स्फुरणाएँ होती हैं। ऐसी ही स्फुरणाएँ जडताका उद्देश्य रखनेवाले आसुरी-सम्पत्तिवालोंके मनमें भी होती हैं, तो इन दोनोंकी वृत्तियोंमें क्या अन्तर हुआ?

उत्तर—दोनोंकी वृत्तियाँ एक-सी दीखनेपर भी उनमें बड़ा अन्तर है। साधकका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका होता है; अतः वह उन वृत्तियोंमें तल्लीन नहीं होता। परन्तु आसुरी

प्रकृतिवालोंका उद्देश्य धन इकट्ठा करने और भोग भोगनेका रहता है; अतः वे उन वृत्तियोंमें ही तल्लीन होते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनोंके उद्देश्य भिन्न-भिन्न होनेसे दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान् ग्यारहवें श्लोकमें कहे '**कामोपभोगपरमाः**' पदकी व्याख्या करते हैं।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

असौ	= वह	**अपि**	= भी (हम)	**भोगी**	= भोग भोगनेवाले हैं।
शत्रुः	= शत्रु तो	**हनिष्ये**	= मार डालेंगे।	**अहम्**	= हम
मया	= हमारे द्वारा	**अहम्**	= हम	**सिद्धः**	= सिद्ध हैं।
हतः	= मारा गया	**ईश्वरः**	= ईश्वर (सर्वसमर्थ) हैं।	**बलवान्**	= (हम) बड़े बलवान् (और)
च	= और	**अहम्**	= हम	**सुखी**	= सुखी हैं।
अपरान्	= (उन) दूसरे शत्रुओंको				

व्याख्या—आसुरी-सम्पदावाले व्यक्ति क्रोधके परायण होकर इस प्रकारके मनोरथ करते हैं—'**असौ मया हतः शत्रुः**'—वह हमारे विपरीत चलता था, हमारे साथ वैर रखता था, उसको तो हमने मार दिया है और '**हनिष्ये चापरानपि**'—दूसरे जो भी हमारे विपरीत चलते हैं, हमारे साथ वैर रखते हैं, हमारा अनिष्ट सोचते हैं, उनको भी हम मजा चखा देंगे, मार डालेंगे। '**ईश्वरोऽहम्**'—हम धन, बल, बुद्धि आदिमें सब तरहसे समर्थ हैं। हमारे पास क्या नहीं है? हमारी बराबरी कोई कर सकता है क्या? '**अहं भोगी**'—हम भोग भोगनेवाले हैं। हमारे पास स्त्री, मकान, कार आदि कितनी भोग सामग्री है! '**सिद्धोऽहम्**'—हम सब तरहसे सिद्ध हैं। हमने तो पहले ही कह दिया था न? वैसा हो गया कि नहीं? हमारेको तो पहलेसे ही ऐसा दीखता है; ये जो लोग भजन, स्मरण, जप, ध्यान आदि करते हैं, ये सभी किसीके बहकावेमें आये हुए हैं। अतः इनकी क्या दशा होगी, उसको हम जानते हैं। हमारे समान सिद्ध और कोई है संसारमें? हमारे पास अणिमा, गरिमा आदि सभी सिद्धियाँ हैं। हम एक फूँकमें सबको भस्म कर सकते हैं। '**बलवान्**'—हम बड़े बलवान् हैं। अमुक आदमीने हमारेसे टक्कर लेनी चाही, तो उसका क्या नतीजा हुआ? आदि। परन्तु जहाँ स्वयं हार जाते हैं, वह बात दूसरोंको नहीं कहते, जिससे कि कोई हमें कमजोर न समझ ले। उन्हें अपने हारनेकी बात तो याद भी नहीं रहती, पर अभिमानकी बात उन्हें याद रहती है। '**सुखी**'—हमारे पास कितना सुख है, आराम है। हमारे समान सुखी संसारमें कौन है?

ऐसे व्यक्तियोंके भीतर तो जलन होती रहती है, पर ऊपरसे इस प्रकारकी डींग हाँकते हैं।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान् बारहवें श्लोकमें कहे '**कामक्रोधपरायणाः**' पदकी व्याख्या करते हैं।

आसुर स्वभाववाले मनुष्योंमें 'हम सुखी हैं'—यह केवल अभिमान होता है। वास्तवमें वे सुखी नहीं होते। सुखी वास्तवमें वही है, जिसपर अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर नहीं पड़ता (गीता—पाँचवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके पास काम और क्रोधका ही बल होता है। वे नाशवान्‌के सम्बन्धसे अपनेको बलवान् मानते हैं। हिरण्यकशिपु आदिकी तरह वे अपनेको ही सर्वोपरि मानते हैं; क्योंकि दूसरे लोग उनको निकृष्ट दीखते हैं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

आढ्यः = हम धनवान् हैं,
अभिजनवान्,
अस्मि = बहुत-से मनुष्य हमारे पास हैं,
मया = हमारे
सदृशः = समान
अन्यः = दूसरा
कः = कौन
अस्ति = है?
यक्ष्ये = (हम) खूब यज्ञ करेंगे,
दास्यामि = दान देंगे (और)
मोदिष्ये = मौज करेंगे—
इति = इस तरह (वे)
अज्ञानविमोहिताः = अज्ञानसे मोहित रहते हैं।

व्याख्या—आसुर स्वभाववाले व्यक्ति अभिमानके परायण होकर इस प्रकारके मनोरथ करते हैं—

'आढ्योऽभिजनवानस्मि'—कितना धन हमारे पास है! कितना सोना-चाँदी, मकान, खेत, जमीन हमारे पास है! कितने अच्छे आदमी, ऊँचे पदाधिकारी हमारे पक्षमें हैं! हम धन और जनके बलपर, रिश्वत और सिफारिशके बलपर जो चाहें, वही कर सकते हैं।

'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'—आप इतने घूमे-फिरे हो, आपको कई आदमी मिले होंगे; पर आप बताओ, हमारे समान आपने कोई देखा है क्या? **'यक्ष्ये दास्यामि'**— हम ऐसा यज्ञ करेंगे, ऐसा दान करेंगे कि सबपर टाँग फेर देंगे! थोड़ा-सा यज्ञ करनेसे, थोड़ा-सा दान देनेसे, थोड़े-से ब्राह्मणोंको भोजन कराने आदिसे क्या होता है? हम तो ऐसे यज्ञ, दान आदि करेंगे, जैसे आजतक किसीने न किये हों। क्योंकि मामूली यज्ञ, दान करनेसे लोगोंको क्या पता लगेगा कि इन्होंने यज्ञ किया, दान दिया। बड़े यज्ञ, दानसे हमारा नाम अखबारोंमें निकलेगा। किसी धर्मशालामें मकान बनवायेंगे, तो उसमें हमारा नाम खुदवाया जायगा, जिससे हमारी यादगारी रहेगी। **'मोदिष्ये'**—हम कितने बड़े आदमी हैं! हमें सब तरहसे सब सामग्री सुलभ है! अतः हम आनन्दसे मौज करेंगे।

इस प्रकार अभिमानको लेकर मनोरथ करनेवाले आसुर लोग केवल 'करेंगे, करेंगे'—ऐसा मनोरथ ही करते रहते हैं, वास्तवमें करते-कराते कुछ नहीं। वे करेंगे भी, तो वह भी नाममात्रके लिये करेंगे (जिसका उल्लेख आगे सत्रहवें श्लोकमें आया है)। कारण कि **'इत्यज्ञानविमोहिताः'**— इस प्रकार तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें श्लोकमें वर्णित मनोरथ करनेवाले आसुर लोग अज्ञानसे मोहित रहते हैं अर्थात् मूढ़ताके कारण ही उनकी ऐसे मनोरथवाली वृत्ति होती है।

सम्बन्ध—परमात्मासे विमुख हुए आसुरी सम्पदावालोंको जीते-जी अशान्ति, जलन, संताप आदि तो होते ही हैं, पर मरनेपर उनकी क्या गति होती है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

अनेकचित्तविभ्रान्ताः = (कामनाओंके कारण) तरह-तरहसे भ्रमित चित्तवाले,
मोहजालसमावृताः = मोह-जालमें अच्छी तरहसे फँसे हुए (तथा)
कामभोगेषु = पदार्थों और भोगोंमें
प्रसक्ताः = अत्यन्त आसक्त रहनेवाले मनुष्य
अशुचौ = भयंकर
नरके = नरकोंमें
पतन्ति = गिरते हैं।

व्याख्या—**'अनेकचित्तविभ्रान्ताः'**—उन आसुर मनुष्योंका एक निश्चय न होनेसे उनके मनमें अनेक तरहकी चाहना होती है और उस एक-एक चाहनाकी पूर्तिके लिये अनेक तरहके उपाय होते हैं तथा उन उपायोंके विषयमें उनका अनेक तरहका चिन्तन होता है। उनका चित्त किसी एक बातपर स्थिर नहीं रहता, अनेक तरहसे भटकता ही रहता है।

'मोहजालसमावृताः'—जडका उद्देश्य होनेसे वे मोहजालसे ढके रहते हैं। मोहजालका तात्पर्य है कि तेरहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक काम, क्रोध और अभिमानको

लेकर जितने मनोरथ बताये गये हैं, उन सबसे वे अच्छी तरहसे आवृत रहते हैं; अतः उनसे वे कभी छूटते नहीं। जैसे मछली जालमें फँस जाती है, ऐसे ही वे प्राणी मनोरथरूप मोहजालमें फँसे रहते हैं। उनके मनोरथोंमें भी केवल एक तरफ ही वृत्ति नहीं होती, प्रत्युत दूसरी तरफ भी वृत्ति रहती है; जैसे—इतना धन तो मिल जायगा, पर उसमें अमुक-अमुक बाधा लग जायगी तो? हमारे पास दो नम्बरकी इतनी पूँजी है, इसका पता राजकीय अधिकारियोंको लग जायगा तो? हमारे मुनीम, नौकर आदि हमारी शिकायत कर देंगे तो? हम अमुक व्यक्तिको मार देंगे, पर हमारी न चली और दशा विपरीत हो गयी तो? हम अमुकका नुकसान करेंगे, पर उससे हमारा नुकसान हो गया तो?—इस प्रकार मोहजालमें फँसे हुए आसुरी सम्पदावालोंमें काम, क्रोध और अभिमानके साथ-साथ भय भी बना रहता है। इसलिये वे निश्चय नहीं कर पाते। कहींपर जाते हैं ठीक करनेके लिये, पर हो जाता है बेठीक! मनोरथ सिद्ध न होनेसे उनको जो दुःख होता है, उसको तो वे ही जानते हैं!

'प्रसक्ताः कामभोगेषु'—वस्तु आदिका संग्रह करने और उसका उपभोग करनेमें तथा मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिमें वे अत्यन्त आसक्त रहते हैं।

'पतन्ति नरकेऽशुचौ'—मोहजाल उनके लिये जीते-जी ही नरक है और मरनेके बाद उन्हें कुम्भीपाक, महारौरव आदि स्थान-विशेष नरकोंकी प्राप्ति होती है। उन नरकोंमें भी वे घोर यातनावाले नरकोंमें गिरते हैं। **'नरके अशुचौ'** कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन नरकोंमें महान् असह्य यातना और भयंकर दुःख दिया जाता है, ऐसे घोर नरकोंमें वे गिरते हैं;* क्योंकि जिनकी जैसी स्थिति होती है, मरनेके बाद भी उनकी वैसी (स्थितिके अनुसार) ही गति होती है।

परिशिष्ट भाव—वास्तवमें आसुर मनुष्य काम-क्रोधपरायण होनेके कारण पहलेसे ही नरकमें पड़े हैं और अभावरूपी अग्निमें जल रहे हैं। परिणाममें उनको भयंकर नरकोंकी प्राप्ति होती है।

ऊँचे लोकोंमें अथवा नरकोंमें जानेमें पदार्थ और क्रिया मुख्य कारण नहीं हैं, प्रत्युत भाव मुख्य कारण है। भावका विशेष मूल्य है। जैसा भाव होता है, वैसी क्रिया अपने-आप होती है। इसलिये भगवान्‌ने आसुर मनुष्योंके भावों (मनोरथ आदि)-का वर्णन किया है।

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्तिके उद्‌देश्यसे विमुख हुए आसुरी-सम्पदावालोंके दुराचारोंका फल नरक-प्राप्ति बताकर, दुराचारोंद्वारा बोये गये दुर्भावोंसे वर्तमानमें उनकी कितनी भयंकर दुर्दशा होती है और भविष्यमें उसका क्या परिणाम होता है—इसे बतानेके लिये आगेका (चार श्लोकोंका) प्रकरण आरम्भ करते हैं।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

आत्मसम्भाविताः	= अपनेको सबसे अधिक पूज्य माननेवाले,	स्तब्धाः	= अकड़ रखनेवाले (तथा)
धनमानमदान्विताः	= धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले	ते	= वे मनुष्य
दम्भेन	= दम्भसे	अविधिपूर्वकम्	= अविधिपूर्वक
नामयज्ञैः	= नाममात्रके यज्ञोंसे	यजन्ते	= यजन करते हैं।

व्याख्या—'**आत्मसम्भाविताः**'—वे धन, मान, बड़ाई, आदर आदिकी दृष्टिसे अपने मनसे ही अपने-आपको बड़ा मानते हैं, पूज्य समझते हैं कि हमारे समान कोई नहीं है; अतः हमारा पूजन होना चाहिये, हमारा आदर होना चाहिये,

* नरकोंमें जानेवाले प्राणीको 'यातनाशरीर' की प्राप्ति होती है। उस यातनाशरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, तेलमें डालकर उबाला जाय, आगमें फेंककर जलाया जाय, तो भी वह मरता नहीं। प्राणी जबतक अपने पापकर्मोंका फल (दण्ड) न भोग ले, तबतक भयंकर यातना देनेपर भी वह शरीर मरता नहीं।

हमारी प्रशंसा होनी चाहिये। वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, पद, अधिकार, योग्यता आदिमें हम सब तरहसे श्रेष्ठ हैं; अतः सब लोगोंको हमारे अनुकूल चलना चाहिये।

'स्तब्धाः'—वे किसीके सामने नम्र नहीं होते, नमते नहीं। कोई सन्त-महात्मा या अवतारी भगवान् ही सामने क्यों न आ जायँ, तो भी वे उनको नमस्कार नहीं करेंगे। वे तो अपने-आपको ही ऊँचा समझते हैं, फिर किसके सामने नम्रता करें और किसको नमस्कार करें! कहीं किसी कारणसे परवश होकर लोगोंके सामने झुकना भी पड़े, तो अभिमानसहित ही झुकेंगे। इस प्रकार उनमें बहुत ज्यादा ऐंठ-अकड़ रहती है।

'धनमानमदान्विताः'—वे धन और मानके मदसे सदा चूर रहते हैं। उनमें धनका, अपने जनोंका, जमीन-जायदाद और मकान आदिका मद (नशा) होता है। इधर-उधर पहचान हो जाती है, तो उसका भी उनके मनमें मद होता है कि हमारी तो बड़े-बड़े मिनिस्टरोंतक पहचान है। हमारे पास ऐसी शक्ति है, जिससे चाहे जो प्राप्त कर सकते हैं और चाहे जिसका नाश कर सकते हैं। इस प्रकार धन और मान ही उनका सहारा होता है। इनका ही उन्हें नशा होता है, गरमी होती है। अतः वे इनको ही श्रेष्ठ मानते हैं।

'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेन'—वे लोग (पन्द्रहवें श्लोकमें आये **'यक्ष्ये दास्यामि'** पदोंके अनुसार) दम्भपूर्वक नाममात्रके यज्ञ करते हैं। वे केवल लोगोंको दिखानेके लिये और अपनी महिमाके लिये ही यज्ञ करते हैं तथा इस भावसे करते हैं कि दूसरोंपर असर पड़ जाय और वे हमारे प्रभावसे प्रभावित हो जायँ; उनकी आँख खुल जाय कि हम क्या हैं, उन्हें चेत हो जाय आदि।

लोगोंमें हमारा नाम हो जाय, प्रसिद्धि हो जाय, आदर हो जाय—इसके लिये वे यज्ञके नामपर अपने नामका खूब प्रचार करेंगे, अपने नामका छापा (पैम्फलेट) छपवायेंगे। ब्राह्मणोंके लिये भोजन करेंगे, तो खीरमें कपूर डाल देंगे, जिससे वे अधिक न खा सकें; क्योंकि उससे खर्चा भी अधिक नहीं होगा और नाम भी हो जायगा। ऐसे ही पंक्तिमें भोजनके लिये दो-दो, चार-चार, पाँच-पाँच सकोरे और पत्तलें एक साथ परोस देंगे, जिससे उन सकोरे और पत्तलोंको बाहर फेंकनेपर उनका ढेर लग जाय और लोगोंको यह पता चल जाय कि ये कितने अच्छे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इतने ब्राह्मणोंको भोजन कराया है। इस प्रकार ये आसुरी-सम्पदावालोंके भीतरके भाव होते हैं और भावोंके अनुसार ही उनके आचरण होते हैं।

आसुरी-सम्पत्तिवाले व्यक्ति शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, पूजन आदि कर्म तो करते हैं और उनके लिये पैसे भी खर्च करते हैं, पर करते हैं शास्त्रविधिकी परवाह न करके और दम्भपूर्वक ही।

मन्दिरोंमें जब कोई मेला-महोत्सव हो और ज्यादा लोगोंके आनेकी उम्मीद हो तथा बड़े-बड़े धनी लोग आनेवाले हों, तब मन्दिरको अच्छी तरह सजायेंगे, ठाकुरजीको खूब बढ़िया-बढ़िया गहने-कपड़े पहनायेंगे, जिससे ज्यादा लोग आ जायँ और खूब भेंट-चढ़ावा इकट्ठा हो जाय। इस प्रकार ठाकुरजीका तो नाममात्रका पूजन होता है, पर वास्तवमें पूजन होता है लोगोंका। ऐसे ही कोई मिनिस्टर या अफसर आनेवाला हो, तो उनको राजी करनेके लिये ठाकुरजीको खूब सजायेंगे और जब वे मन्दिरमें आयेंगे, तब उनका खूब आदर-सत्कार करेंगे, उनको ठाकुरजीकी माला देंगे, प्रसाद (जो उनके लिये विशेषरूपसे तैयार रखा रहता है) देंगे, इसलिये कि वे राजी हो जायँगे, तो हमारे व्यापारमें, घरेलू कामोंमें हमारी सहायता करेंगे, मुकदमे आदिमें हमारा पक्ष लेंगे, आदि। इन भावोंसे वे ठाकुरजीका जो पूजन करते हैं, वह तो नाममात्रका पूजन है। वास्तवमें पूजन होता है—अपने व्यापारका, घरेलू कामोंका, लड़ाई-झगड़ोंका; क्योंकि उनका उद्देश्य ही वही है।

गौ-सेवी-संस्था-संचालक भी गोशालाओंमें प्रायः दूध देनेवाली स्वस्थ गायोंको ही रखेंगे और उनको अधिक चारा देंगे; पर लूली-लँगड़ी, अपाहिज, अन्धी और दूध न देनेवाली गायोंको नहीं रखेंगे तथा किसीको रखेंगे भी तो उसको दूध देनेवाली गायोंकी अपेक्षा बहुत कम चारा देंगे। परन्तु हमारी गोशालामें कितना गोपालन हो रहा है, इसकी असलियतकी तरफ खयाल न करके केवल लोगोंको दिखानेके लिये उसका झूठा प्रचार करेंगे। छापा, लेख, विज्ञापन, पुस्तिका आदि छपवाकर बाँटेंगे, जिससे पैसा तो अधिक-से-अधिक आये, पर खर्चा कम-से-कम हो।

धार्मिक संस्थाओंमें भी जो संचालक कहलाते हैं, वे प्रायः उन धार्मिक संस्थाओंके पैसोंसे अपने घरका काम चलायेंगे। अपनेको नफा किस प्रकार हो, हमारी दूकान किस तरह चले, पैसे कैसे मिलें—इस प्रकार अपने स्वार्थको लेकर केवल दिखावटीपनसे सारा काम करेंगे।

प्रायः साधन-भजन करनेवाले भी दूसरेको आता देखकर

आसन लगाकर बैठ जायँगे, भजन-ध्यान करने लग जायँगे, माला घुमाने लग जायँगे। परन्तु कोई देखनेवाला न हो तो बातचीतमें लग जायँगे, ताश-चौपड़ खेलेंगे अथवा सो जायँगे। ऐसा जो साधन-भजन होता है, वह केवल इसलिये कि दूसरे मुझे अच्छा मानें, भक्त मानें और मेरी प्रशंसा करें, मेरा आदर-सम्मान करें, मुझे पैसे मिलें, लोगोंमें मेरा नाम हो जाय, आदि। इस प्रकार यह साधन-भजन भगवान्‌का तो नाममात्रके लिये होता है, पर वास्तवमें साधन-भजन होता है अपने नामका, अपने शरीरका, पैसोंका। इस प्रकार आसुरी प्रकृतिवालोंके विषयमें कहाँतक कहा जाय?

'अविधिपूर्वकम्'—वे आसुर मनुष्य शास्त्रविधिको तो मानते ही नहीं, सदा शास्त्रनिषिद्ध काम करते हैं। वे यज्ञ, दान आदि तो करेंगे, पर उनको विधिपूर्वक नहीं करेंगे। दान करेंगे तो सुपात्रको न देकर कुपात्रको देंगे। कुपात्रोंके साथ ही एकता रखेंगे। इस प्रकार उलटे-उलटे काम करेंगे। बुद्धि सर्वथा विपरीत होनेके कारण उनको उलटी बात भी सुलटी ही दीखती है—**'सर्वार्थान् विपरीतांश्च'** (गीता १८। ३२)।

परिशिष्ट भाव—आसुर स्वभाववाले मनुष्य दूसरोंसे प्रतिस्पर्धा रखते हैं और इसलिये यज्ञ करते हैं कि दूसरोंकी अपेक्षा हमारेमें कोई कमी न रह जाय, कोई हमारेको यज्ञ करनेवालोंकी अपेक्षा नीचा न मान ले। वे केवल लोगोंमें अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये यज्ञ करते हैं, फलपर विश्वास नहीं रखते। दूसरा व्यक्ति यज्ञ करता है तो वे ऐसा समझते हैं कि वह भी अपनी प्रसिद्धिके लिये ही यज्ञ करता है। ईश्वर और परलोकपर विश्वास न होनेके कारण उनकी दृष्टि विधिपर नहीं रहती। विधिका विचार वही करते हैं, जो ईश्वर और परलोकको मानते हैं कि अमुक कर्मका अमुक फल होगा।

आसुर मनुष्योंकी सब चेष्टाएँ दिखावटी होती हैं। परन्तु उनके भीतरमें अभिमान होता है कि हम दूसरोंसे भी बढ़िया यज्ञ करेंगे। उनमें अपनी जानकारीका भी अभिमान होता है कि हम समझदार हैं, दूसरे सब मूर्ख हैं, समझते नहीं। वास्तवमें उनमें कोरी मूर्खता भरी होती है।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अहङ्कारम्	= (वे) अहंकार,	**संश्रिताः**	= आश्रय लेनेवाले मनुष्य	**माम्**	= मुझ अन्तर्यामीके साथ
बलम्	= हठ,	**आत्म-परदेहेषु**	= अपने और दूसरोंके शरीरमें (रहनेवाले)	**प्रद्विषन्तः**	= द्वेष करते हैं (तथा)
दर्पम्	= घमण्ड,			**अभ्यसूयकाः**	= (मेरे और दूसरोंके गुणोंमें) दोषदृष्टि रखते हैं।
कामम्	= कामना				
च	= और				
क्रोधम्	= क्रोधका				

व्याख्या—**'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः'**—वे आसुर मनुष्य जो कुछ काम करेंगे, उसको अहंकार, हठ, घमण्ड, काम और क्रोधसे ही करेंगे। जैसे भक्त भगवान्‌के आश्रित रहता है, ऐसे ही वे आसुर लोग अहंकार, हठ, काम आदिके आश्रित रहते हैं। उनके मनमें यह बात अच्छी तरहसे जँची हुई रहती है कि अहंकार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोधके बिना काम नहीं चलेगा; संसारमें ऐसा होनेसे ही काम चलता है, नहीं तो मनुष्योंको दुःख ही पाना पड़ता है; जो इनका (अहंकार, हठ आदिका) आश्रय नहीं लेते, वे बुरी तरहसे कुचले जाते हैं; सीधे-सादे व्यक्तिको संसारमें कौन मानेगा? इसलिये अहंकारादिके रहनेसे ही अपना मान होगा, सत्कार होगा और लोगोंमें नाम होगा, जिससे लोगोंपर हमारा दबाव, आधिपत्य रहेगा।

'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तः'— भगवान् कहते हैं कि मैं जो उनके शरीरमें और दूसरोंके शरीरमें रहता हूँ, उस मेरे साथ वे आसुर मनुष्य वैर रखते हैं। भगवान्‌के साथ वैर रखना क्या है?—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे य उल्लङ्घ्य प्रवर्तते।
आज्ञाभंगी मम द्वेषी नरके पतति ध्रुवम्॥

'श्रुति और स्मृति—ये दोनों मेरी आज्ञाएँ हैं। इनका उल्लंघन करके जो मनमाने ढंगसे बर्ताव करता है, वह मेरी

आज्ञा-भंग करके मेरे साथ द्वेष रखनेवाला मनुष्य निश्चित ही नरकोंमें गिरता है।'

वे अपने अन्तःकरणमें विराजमान परमात्माके साथ भी विरोध करते हैं अर्थात् हृदयमें जो अच्छी स्फुरणाएँ होती हैं, सिद्धान्तकी अच्छी बातें आती हैं, उनकी वे उपेक्षा-तिरस्कार करते हैं, उनको मानते नहीं। वे दूसरे लोगोंकी अवज्ञा करते हैं, उनका तिरस्कार करते हैं, अपमान करते हैं, उनको दुःख देते हैं, उनसे अच्छी तरहसे द्वेष रखते हैं। यह सब उन प्राणियोंके रूपमें भगवान्‌के साथ द्वेष करना है।

'अभ्यसूयकाः'—वे मेरे और दूसरोंके गुणोंमें दोष-दृष्टि रखते हैं। मेरे विषयमें वे कहते हैं कि भगवान् बड़े पक्षपाती हैं; वे भक्तोंकी तो रक्षा करते हैं और दूसरोंका विनाश करते हैं, यह बात बढ़िया नहीं है। आजतक जितने संत-महात्मा हुए हैं और अभी भी जो संत-महात्मा तथा अच्छी स्थितिवाले साधक हैं, उनके विषयमें वे आसुर लोग कहते हैं कि उनमें भी राग-द्वेष, काम-क्रोध, स्वार्थ, दिखावटीपन आदि दोष पाये जाते हैं; किसी भी संत-महात्माका चरित्र ऐसा नहीं है, जिसमें ये दोष न आये हों; अतः यह सब पाखण्ड है; हमने भी इन सब बातोंको करके देखा है; हमने भी संयम किया है, भजन किया है, व्रत किये हैं, तीर्थ किये हैं, पर वास्तवमें इनमें कोई दम नहीं है; हमें तो कुछ नहीं मिला, मुफ्तमें ही दुःख पाया; उनके करनेमें वह समय हमारा व्यर्थमें ही बरबाद हुआ है; वे लोग भी किसीके बहकावेमें आकर अपना समय बरबाद कर रहे हैं; अभी ये ऐसे प्रवाहमें बहे हुए हैं और उलटे रास्तेपर जा रहे हैं; अभी इनको होश नहीं है, पर जब कभी चेतेंगे, तब उनको भी पता लगेगा; आदि-आदि।

परिशिष्ट भाव—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य अपनी जिदपर पक्के रहते हैं और अपनी बातको ही सच्चा मानते हैं। यह सिद्धान्त है कि जो खुद दुःखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। आसुर मनुष्य खुद दुःखी रहते हैं, इसलिये वे दूसरोंको भी दुःख देते हैं। उनको कहीं भी गुण नहीं दीखता, प्रत्युत दोष-ही-दोष दीखते हैं। उनकी ऐसी मान्यता होती है कि सब अच्छाई हमारेमें ही है। उनको संसारमें कोई अच्छा आदमी दीखता ही नहीं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

तान्	= उन	**नराधमान्**	= महान् नीच,	**आसुरीषु**	= आसुरी
द्विषतः	= द्वेष करनेवाले,	**अशुभान्**	= अपवित्र मनुष्योंको	**योनिषु**	= योनियोंमें
क्रूरान्	= क्रूर स्वभाववाले (और)			**एव**	= ही
		अहम्	= मैं	**क्षिपामि**	= गिराता रहता हूँ।
संसारेषु	= संसारमें	**अजस्रम्**	= बार-बार		

व्याख्या—**'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्'**—सातवें अध्यायके पंद्रहवें और नवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें वर्णित आसुरी-सम्पदाका इस अध्यायके सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक विस्तारसे वर्णन किया गया। अब आसुरी-सम्पदाके विषयका इन दो (उन्नीसवें-बीसवें) श्लोकोंमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि ऐसे आसुर मनुष्य बिना ही कारण सबसे वैर रखते हैं और सबका अनिष्ट करनेपर ही तुले रहते हैं। उनके कर्म बड़े क्रूर होते हैं, जिनके द्वारा दूसरोंकी हिंसा आदि हुआ करती है। ऐसे वे क्रूर, निर्दयी, हिंसक मनुष्य नराधम अर्थात् मनुष्योंमें महान् नीच हैं—**'नराधमान्।'** उनको मनुष्योंमें नीच कहनेका मतलब यह है कि नरकोंमें रहनेवाले और पशु-पक्षी आदि (चौरासी लाख योनियाँ) अपने पूर्वकर्मोंका फल भोगकर शुद्ध हो रहे हैं और ये आसुर मनुष्य अन्याय-पाप करके पशु-पक्षी आदिसे भी नीचेकी ओर जा रहे हैं। इसलिये इन लोगोंका संग बहुत बुरा कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥
(मानस ५। ४६। ४)

नरकोंका वास बहुत अच्छा है, पर विधाता (ब्रह्मा) हमें दुष्टका संग कभी न दे; क्योंकि नरकोंके वाससे तो पाप नष्ट होकर शुद्धि आती है, पर दुष्टोंके संगसे अशुद्धि आती है, पाप बनते हैं; पापके ऐसे बीज बोये जाते हैं, जो आगे नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ भोगनेपर भी पूरे नष्ट नहीं होते।

प्रकृतिके अंश शरीरमें राग अधिक होनेसे आसुरी-सम्पत्ति अधिक आती है; क्योंकि भगवान्ने कामना-(राग-) को सम्पूर्ण पापोंमें हेतु बताया है (तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। उस कामनाके बढ़ जानेसे आसुरी-सम्पत्ति बढ़ती ही चली जाती है। जैसे धनकी अधिक कामना बढ़नेसे झूठ, कपट, छल आदि दोष विशेषतासे बढ़ जाते हैं और वृत्तियोंमें भी अधिक-से-अधिक धन कैसे मिले—ऐसा लोभ बढ़ जाता है। फिर मनुष्य अनुचित रीतिसे, छिपावसे, चोरीसे धन लेनेकी इच्छा करता है। इससे भी अधिक लोभ बढ़ जाता है, तो फिर मनुष्य डकैती करने लग जाता है और थोड़े धनके लिये मनुष्यकी हत्या कर देनेमें भी नहीं हिचकता। इस प्रकार उसमें क्रूरता बढ़ती रहती है और उसका स्वभाव राक्षसों-जैसा बन जाता है। स्वभाव बिगड़नेपर उसका पतन होता चला जाता है और अन्तमें उसे कीट-पतंग आदि आसुरी योनियों और घोर नरकोंकी महान् यातना भोगनी पड़ती है।

'क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु'—जिनका नाम लेना, दर्शन करना, स्मरण करना आदि भी महान् अपवित्र करनेवाला है—**'अशुभान्'**, ऐसे क्रूर, निर्दयी, सबके वैरी मनुष्योंके स्वभावके अनुसार ही भगवान् उनको आसुरी योनि देते हैं। भगवान् कहते हैं—**'आसुरीष्वेव योनिषु क्षिपामि'** अर्थात् मैं उनको उनके स्वभावके लायक ही कुत्ता, साँप, बिच्छू, बाघ, सिंह आदि आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ। वह भी एक-दो बार नहीं, प्रत्युत बार-बार गिराता हूँ—**'अजस्त्रम्'**, जिससे वे अपने कर्मोंका फल भोगकर शुद्ध, निर्मल होते रहें।

भगवान्का उनको आसुरी योनियोंमें गिरानेका तात्पर्य क्या है?

भगवान्का उन क्रूर, निर्दयी मनुष्योंपर भी अपनापन है। भगवान् उनको पराया नहीं समझते, अपना द्वेषी-वैरी नहीं समझते, प्रत्युत अपना ही समझते हैं। जैसे, जो भक्त जिस प्रकार भगवान्की शरण लेते हैं, भगवान् भी उनको उसी प्रकार आश्रय देते हैं (गीता—चौथे अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। ऐसे ही जो भगवान्के साथ द्वेष करते हैं, उनके साथ भगवान् द्वेष नहीं करते, प्रत्युत उनको अपना ही समझते हैं। दूसरे साधारण मनुष्य जिस मनुष्यसे अपनापन करते हैं, उस मनुष्यको ज्यादा सुख-आराम देकर उसको लौकिक सुखमें फँसा देते हैं; परन्तु भगवान् जिनसे अपनापन करते हैं, उनको शुद्ध बनानेके लिये वे प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं, जिससे वे सदाके लिये सुखी हो जायँ—उनका उद्धार हो जाय।

जैसे, हितैषी अध्यापक विद्यार्थियोंपर शासन करके, उनकी ताड़ना करके पढ़ाते हैं, जिससे वे विद्वान् बन जायँ, उन्नत बन जायँ, सुन्दर बन जायँ, ऐसे ही जो प्राणी परमात्माको जानते नहीं, मानते नहीं और उनका खण्डन करते हैं, उनको भी परम कृपालु भगवान् जानते हैं, अपना मानते हैं और उनको आसुरी योनियोंमें गिराते हैं, जिससे उनके किये हुए पाप दूर हो जायँ और वे शुद्ध, निर्मल बनकर अपना कल्याण कर लें।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

कौन्तेय = हे कुन्तीनन्दन!
मूढाः = (वे) मूढ़ मनुष्य
माम् = मुझे
अप्राप्य = प्राप्त न करके
एव = ही
जन्मनि, जन्मनि = जन्म-जन्मान्तरमें
आसुरीम् = आसुरी
योनिम् = योनिको
आपन्नाः = प्राप्त होते हैं,
ततः = (फिर) उससे भी अधिक
अधमाम् = अधम
गतिम् = गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें
यान्ति = चले जाते हैं।

व्याख्या—**'आसुरीं योनिमापन्ना .... मामप्राप्यैव कौन्तेय'**—पीछेके श्लोकमें भगवान्ने आसुर मनुष्योंको बार-बार पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें गिरानेकी बात कही। अब उसी बातको लेकर भगवान् यहाँ कहते हैं कि मनुष्य-जन्ममें मुझे प्राप्त करनेका दुर्लभ अवसर पाकर भी वे आसुर मनुष्य मेरी प्राप्ति न करके पशु, पक्षी आदि आसुरी योनियोंमें चले जाते हैं और बार-बार उन आसुरी योनियोंमें ही जन्म लेते रहते हैं।

'मामप्राप्यैव' पदसे भगवान् पश्चात्तापके साथ कहते हैं कि अत्यन्त कृपा करके मैंने जीवोंको मनुष्यशरीर देकर इन्हें अपना उद्धार करनेका मौका दिया और यह विश्वास किया कि ये अपना उद्धार अवश्य कर लेंगे; परन्तु ये नराधम इतने मूढ़ और विश्वासघाती निकले कि जिस शरीरसे मेरी प्राप्ति करनी थी, उससे मेरी प्राप्ति न करके उलटे अधम गतिको चले गये!

मनुष्यशरीर प्राप्त हो जानेके बाद वह कैसा ही आचरणवाला क्यों न हो अर्थात् दुराचारी-से-दुराचारी क्यों न हो, वह भी यदि चाहे तो थोड़े-से-थोड़े समयमें (गीता—नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ श्लोक) और जीवनके अन्तकालमें (गीता—आठवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) भी भगवान्को प्राप्त कर सकता है। कारण कि **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९) कहकर भगवान्ने अपनी प्राप्ति सबके लिये अर्थात् प्राणिमात्रके लिये खुली रखी है। हाँ, यह बात हो सकती है कि पशु-पक्षी आदिमें उनको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है; परन्तु भगवान्की तरफसे तो किसीके लिये भी मना नहीं है। ऐसा अवसर सर्वथा प्राप्त हो जानेपर भी ये आसुर मनुष्य भगवान्को प्राप्त न करके अधम गतिमें चले जाते हैं, तो इनकी इस दुर्गतिको देखकर परम दयालु प्रभु दुःखी होते हैं।

'ततो यान्त्यधमां गतिम्'—आसुरी योनियोंमें जानेपर भी उनके सभी पाप पूरे नष्ट नहीं होते। अतः उन बचे हुए पापोंको भोगनेके लिये वे उन आसुरी योनियोंसे भी भयंकर अधम गतिको अर्थात् नरकोंको प्राप्त होते हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि आसुरी योनियोंको प्राप्त हुए मनुष्योंको तो उन योनियोंमें भगवान्को प्राप्त करनेका अवसर ही नहीं है और उनमें वह योग्यता भी नहीं है, फिर भगवान्ने ऐसा क्यों कहा कि वे मेरेको प्राप्त न करके उससे भी अधम गतिमें चले जाते हैं? इसका समाधान यह है कि भगवान्का ऐसा कहना आसुरी योनियोंको प्राप्त होनेसे पूर्व मनुष्यशरीरको लेकर ही है। तात्पर्य है कि मनुष्यशरीरको पाकर, मेरी प्राप्तिका अधिकार पाकर भी वे मनुष्य मेरी प्राप्ति न करके जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, वे उन आसुरी योनियोंसे भी नीचे कुम्भीपाक आदि घोर नरकोंमें चले जाते हैं।

विशेष बात

भगवत्प्राप्तिके अथवा कल्याणके उद्देश्यसे दिये गये मनुष्यशरीरको पाकर भी मनुष्य कामना, स्वार्थ एवं अभिमानके वशीभूत होकर चोरी-डकैती, झूठ-कपट, धोखा, विश्वासघात, हिंसा आदि जिन कर्मोंको करते हैं, उनके दो परिणाम होते हैं—(१) बाहरी फल-अंश और (२) भीतरी संस्कार-अंश। दूसरोंको दुःख देनेपर उनका (जिनको दुःख दिया गया है) तो वही नुकसान होता है, जो प्रारब्धसे होनेवाला है; परन्तु जो दुःख देते हैं, वे नया पाप करते हैं, जिसका फल नरक उन्हें भोगना ही पड़ता है। इतना ही नहीं, दुराचारोंके द्वारा जो नये पाप होनेके बीज बोये जाते हैं अर्थात् उन दुराचारोंके द्वारा अहंतामें जो दुर्भाव बैठ जाते हैं, उनसे मनुष्यका बहुत भयंकर नुकसान होता है। जैसे, चोरीरूप कर्म करनेसे पहले मनुष्य स्वयं चोर बनता है; क्योंकि वह चोर बनकर ही चोरी करेगा और चोरी करनेसे अपनेमें (अहंतामें) चोरका भाव दृढ़ हो जायगा*। इस प्रकार चोरीके संस्कार उसकी अहंतामें बैठ जाते हैं। ये संस्कार मनुष्यका बड़ा भारी पतन करते हैं—उससे बार-बार चोरीरूप पाप करवाते हैं और फलस्वरूप नरकोंमें ले जाते हैं। अतः जबतक वह मनुष्य अपना कल्याण नहीं कर लेता अर्थात् जबतक वह अपनी अहंतामें बैठाये हुए दुर्भावोंको नहीं मिटाता, तबतक वे दुर्भाव जन्म-जन्मान्तरतक दुराचारोंको बल देते रहेंगे, उकसाते रहेंगे और उनके कारण वे आसुरी योनियोंमें तथा उससे भी भयंकर नरक आदिमें दुःख, सन्ताप, आफत आदि पाते ही रहेंगे।

उन आसुरी योनियोंमें भी उनकी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार यह देखा जाता है कि कई पशु-पक्षी, भूत-पिशाच, कीट-पतंग आदि सौम्य-प्रकृति-प्रधान होते हैं और कई क्रूर-प्रकृति-प्रधान होते हैं। इस तरह उनकी प्रकृति-(स्वभाव-) में भेद उनकी अपनी बनायी हुई शुद्ध या अशुद्ध अहंताके कारण ही होते हैं। अतः उन योनियोंमें अपने-अपने कर्मोंका फलभोग होनेपर भी उनकी प्रकृतिके भेद वैसे ही बने रहते हैं। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण योनियोंको और नरकोंको भोगनेके बाद किसी क्रमसे अथवा भगवत्कृपासे उनको मनुष्यशरीर प्राप्त हो भी जाता है, तो भी उनकी अहंतामें बैठे हुए काम-क्रोधादि दुर्भाव पहले-जैसे ही रहते

* **दुर्भावोंसे दुराचार पैदा होते हैं और दुराचारोंसे दुर्भाव पुष्ट होते हैं।**

हैं[१]। इसी प्रकार जो स्वर्गप्राप्तिकी कामनासे यहाँ शुभ कर्म करते हैं, और मरनेके बाद उन कर्मोंके अनुसार स्वर्गमें जाते हैं, वहाँ उनके कर्मोंका फलभोग तो हो जाता है, पर उनके स्वभावका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् उनकी अहंतामें परिवर्तन नहीं होता[२]। स्वभावको बदलनेका, शुद्ध बनानेका मौका तो मनुष्य-शरीरमें ही है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि ये जीव मनुष्य-शरीरमें मेरी प्राप्तिका अवसर पाकर भी मुझे प्राप्त नहीं करते, जिससे मुझे उनको अधम योनिमें भेजना पड़ता है। उनका अधम योनिमें और अधम गति-(नरक-) में जानेका मूल कारण क्या है—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

कामः	= काम,	**त्रिविधम्**	= तीन प्रकारके	**तस्मात्**	= इसलिये
क्रोधः	= क्रोध	**नरकस्य**	= नरकके	**एतत्**	= इन
तथा	= और	**द्वारम्**	= दरवाजे	**त्रयम्**	= तीनोंका
लोभः	= लोभ—	**आत्मनः**	= जीवात्माका	**त्यजेत्**	= त्याग कर देना चाहिये।
इदम्	= ये	**नाशनम्**	= पतन करनेवाले हैं,		

व्याख्या—**'कामः क्रोधस्तथा लोभस्त्रिविधं नरकस्येदं द्वारम्'**—भगवान्‌ने पाँचवें श्लोकमें कहा था कि दैवी-सम्पत्ति मोक्षके लिये और आसुरी-सम्पत्ति बन्धनके लिये है। तो वह आसुरी-सम्पत्ति आती कहाँसे है? जहाँ संसारकी कामना होती है। संसारके भोग-पदार्थोंका संग्रह, मान, बड़ाई, आराम आदि जो अच्छे दीखते हैं, उनमें जो महत्त्वबुद्धि या आकर्षण है, बस, वही मनुष्यको नरकोंकी तरफ ले जानेवाला है। इसलिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—ये षड्रिपु माने गये हैं। इनमेंसे कहींपर तीनका, कहींपर दोका और कहींपर एकका कथन किया जाता है, पर वे सब मिले-जुले हैं, एक ही धातुके हैं। इन सबमें 'काम' ही मूल है; क्योंकि कामनाके कारण ही आदमी बँधता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों करता है? उसके उत्तरमें भगवान्‌ने 'काम' और 'क्रोध'—ये दो शत्रु बताये। परन्तु उन दोनोंमें भी **'एष'** शब्द देकर कामनाको ही मुख्य बताया; क्योंकि कामनामें विघ्न पड़नेपर क्रोध आता है। यहाँ काम, क्रोध और लोभ—ये तीन शत्रु बताते हैं। तात्पर्य है कि भोगोंकी तरफ वृत्तियोंका होना 'काम' है और संग्रहकी तरफ वृत्तियोंका होना 'लोभ' है। जहाँ 'काम' शब्द अकेला आता है, वहाँ उसके अन्तर्गत ही भोग और संग्रहकी इच्छा आती है। परन्तु जहाँ 'काम' और 'लोभ'—दोनों स्वतन्त्ररूपसे आते हैं, वहाँ भोगकी

१-अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्। नीचप्रसंगः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥
(चाणक्यनीति ७। १७)

'नरकसे आये हुए लोगोंमें ये लक्षण रहा करते हैं—अत्यन्त क्रोध, कटु वचन बोलना, दरिद्रता, स्वजनोंसे वैर, नीचोंका संग और कुलहीन-(नीच-) की सेवा।'

(कार्पण्यवृत्तिः स्वजनेषु निन्दा कुचैलता नीचजनेषु भक्तिः। अतीव रोषः कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य॥)
(पद्मपुराण, सृष्टि० ५१। १३२)

२-स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे। दानप्रसंगो मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥
(चाणक्यनीति ७। १६)

'स्वर्गसे लौटकर मनुष्यलोकमें आये हुए लोगोंकी देहमें चार लक्षण रहा करते हैं—दान करनेमें प्रवृत्ति, मधुर वाणी बोलना, देवताओंका पूजन और ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट रखना।'

(स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके चत्वारि तेषां हृदये वसन्ति। दानं प्रशस्तं मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥)
(पद्मपुराण, सृष्टि० ५१। १३१)

इच्छाको लेकर 'काम' और संग्रहकी इच्छाको लेकर 'लोभ' आता है और इन दोनोंमें बाधा पड़नेपर 'क्रोध' आता है। जब काम, क्रोध और लोभ—तीनों अधिक बढ़ जाते हैं, तब 'मोह' होता है।

कामसे क्रोध पैदा होता है और क्रोधसे सम्मोह हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। यदि कामनामें बाधा न पड़े, तो लोभ पैदा होता है और लोभसे सम्मोह हो जाता है। वास्तवमें यह 'काम' ही क्रोध और लोभका रूप धारण कर लेता है। सम्मोह हो जानेपर तमोगुण आ जाता है। फिर तो पूरी आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है।

'नाशनमात्मनः'—काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों मनुष्यका पतन करनेवाले हैं। जिनका उद्देश्य भोग भोगना और संग्रह करना होता है, वे लोग (अपनी समझसे) अपनी उन्नति करनेके लिये इन तीनों दोषोंको हितकारी मान लेते हैं। उनका यही भाव रहता है कि हमलोग काम आदिसे सुख पायेंगे, आरामसे रहेंगे, खूब भोग भोगेंगे। यह भाव ही उनका पतन कर देता है।

'तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्'—ये काम, क्रोध आदि नरकोंके दरवाजे हैं। इसलिये मनुष्य इनका त्याग कर दे। इनका त्याग कैसे करे? तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया है कि प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर राग (काम) और द्वेष (क्रोध) स्थित रहते हैं। साधकको चाहिये कि वह इनके वशीभूत न हो। वशीभूत न होनेका अर्थ है कि काम, क्रोध, लोभको लेकर अर्थात् इनके आश्रित होकर कोई कार्य न करे; क्योंकि इनके वशीभूत होकर शास्त्र, धर्म और लोकमर्यादाके विरुद्ध कार्य करनेसे मनुष्यका पतन हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—भोग भोगना 'काम' है। संग्रह करना 'लोभ' है। भोग और संग्रहमें बाधा देनेवालेपर 'क्रोध' आता है। ये तीनों आसुरी-सम्पत्तिके मूल हैं। सब पाप इन तीनोंसे ही होते हैं।

व्यक्ति और पदार्थ तो यहीं छूट जाते हैं, पर भीतरका भाव आसुर मनुष्योंको नरकोंमें ले जाता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् काम, क्रोध और लोभसे रहित होनेका माहात्म्य बताते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**विमुक्तः**	= रहित हुआ		करता है, (वह)
एतैः	= इन	**नरः**	= (जो) मनुष्य	**ततः**	= उससे
त्रिभिः,		**आत्मनः**	= अपने	**पराम्**	= परम
तमोद्वारैः	= नरकके तीनों दरवाजोंसे	**श्रेयः**	= कल्याणका	**गतिम्**	= गतिको
		आचरति	= आचरण	**याति**	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**'एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ······ ततो याति परां गतिम्'**—पूर्वश्लोकमें जिनको नरकका दरवाजा बताया गया है, उन्हीं काम, क्रोध और लोभको यहाँ 'तमोद्वार' कहा गया है। **'तम'** नाम अन्धकारका है, जो अज्ञानसे उत्पन्न होता है—**'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि'** (गीता १४। ८)। तात्पर्य है कि इन काम आदिके कारण 'मेरे साथ ये धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुरुष, घर-परिवार आदि पहले भी नहीं थे और पीछे भी नहीं रहेंगे और अब भी इनसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है; अतः इनमें ममता करनेसे आगे मेरी क्या दशा होगी' आदि बातोंकी तरफ दृष्टि जाती ही नहीं अर्थात् बुद्धिमें अन्धकार छाया रहता है। अतः इन काम आदिसे मुक्त होकर जो अपने कल्याणका आचरण करता है, वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है। इसलिये साधकको इस बातकी विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि वह काम, क्रोध और लोभ—तीनोंसे सावधान रहे। कारण कि इन तीनोंको साथमें रखते हुए जो साधन करता है, वह वास्तवमें असली साधक नहीं है। असली साधक वह होता है, जो इन दोषोंको अपने साथ रहने ही नहीं देता। ये दोष उसको हर समय खटकते रहते हैं; क्योंकि इनको साथमें रहनेका अवसर देना ही बड़ी भारी गलती है।

मनुष्य साधनकी तरफ तो ध्यान देते हैं, पर साथमें जो काम-क्रोधादि दोष रहते हैं, उनसे हमारा कितना अहित

होता है—इस तरफ वे ध्यान कम देते हैं। इस कमीके कारण ही साधन करते हुए सदाचार भी होते रहते हैं और दुराचार भी होते रहते हैं; सद्गुण भी आते हैं और दुर्गुण भी साथ रहते हैं। जप, ध्यान, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत आदि करके हम अपनेको शुद्ध बना लेंगे—ऐसा भाव साधकमें विशेष रहता है; परन्तु जो हमें अशुद्ध कर रहे हैं, उन दुर्गुण-दुराचारोंको हटानेका खयाल साधकमें कम रहता है, इसलिये—

आसुप्तेरामृते कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।
न वा दद्यादवसरं कामादीनां मनागपि॥

नींद खुलनेसे लेकर नींद आनेतक और जिस दिन पता लगे, उस दिनसे लेकर मौत आनेतक—सब-का-सब समय परमात्मतत्त्वके (सगुण-निर्गुणके) चिन्तनमें ही लगाये। चिन्तनके सिवाय काम आदिको किंचिन्मात्र भी अवसर न दे।

'एतैर्विमुक्तः' का यह मतलब नहीं है कि जब हम दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा छूट जायँगे, तब साधन करेंगे; किंतु साधकको भगवत्प्राप्तिका मुख्य उद्देश्य रखकर इनसे छूटनेका भी लक्ष्य रखना है। कारण कि झूठ, कपट, बेईमानी, काम, क्रोध आदि हमारे साथमें रहेंगे, तो नयी-नयी अशुद्धि—नये-नये पाप होते रहेंगे, जिससे साधनका साक्षात् लाभ नहीं होगा। यही कारण है कि वर्षोंतक साधनमें लगे रहनेपर भी साधक अपनी वास्तविक उन्नति नहीं देखते, उनको अपनेमें विशेष परिवर्तनका अनुभव नहीं होता। इन दोषोंसे रहित होनेपर शुद्धि स्वतःस्वाभाविक आती है। जीवमें अशुद्धि तो संसारकी तरफ लगनेसे ही आयी है, अन्यथा परमात्माका अंश होनेसे वह तो स्वतः ही शुद्ध है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

'श्रेयः आचरति' का तात्पर्य यह है कि काम, क्रोध और लोभ—इनमेंसे किसीको भी लेकर आचरण नहीं होना चाहिये अर्थात् असाधन-(निषिद्ध आचरण-) से रहित शुद्ध साधन होना चाहिये। भीतरमें कभी कोई वृत्ति आ भी जाय, तो उसको आचरणमें न आने दे। अपनी तरफसे तो (काम, क्रोधादिकी) वृत्तियोंको दूर करनेका ही उद्योग करे। अगर अपने उद्योगसे न दूर हों तो 'हे नाथ! हे नाथ!! हे नाथ!!!' ऐसे भगवान्‌को पुकारे। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥

(विनय-पत्रिका १२५। २-३)

परिशिष्ट भाव—'एतैर्विमुक्तः'—काम-क्रोध-लोभसे रहित होनेका तात्पर्य है—इनके त्यागका उद्देश्य रखना, इनके वशमें न होना। कामसे, क्रोधसे अथवा लोभसे किया गया शुभकर्म भी कल्याणकारक नहीं होता। इसलिये इनके त्यागकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। काम-क्रोध-लोभको पकड़े रहनेसे कल्याणका आचरण (जप, ध्यान आदि) करनेपर भी कल्याण नहीं होता; क्योंकि ये सम्पूर्ण पापोंके कारण हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)।

काम-क्रोध-लोभके कारण धर्म और समाजकी मर्यादा नष्ट हो जाती है, जिससे दुनियाका बड़ा अहित होता है। आसुरी स्वभाववाले मनुष्य काम-क्रोध-लोभके परायण होते हैं। वे यज्ञ, दान आदि सब शुभकर्म नाममात्रके लिये करते हैं, अपने कल्याणके लिये कुछ नहीं करते। परन्तु दैवी-सम्पत्तिवाले साधक काम-क्रोध-लोभके वशमें न होकर अपने कल्याणका आचरण करते हैं, जिससे दुनियाका स्वतः हित होता है। आसुरी मनुष्य ऐसे साधकोंको बेसमझ समझते हैं और इनसे द्वेष रखते हैं, पर इन साधकोंको उन आसुरी मनुष्योंपर दया आती है और वे उनको सद्बुद्धि देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं।

सम्बन्ध—जो अपने कल्याणके लिये शास्त्रविधिके अनुसार चलते हैं, उनको तो परमगतिकी प्राप्ति होती है, पर जो ऐसा न करके मनमाने ढंगसे आचरण करते हैं, उनकी क्या गति होती है—यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

यः	= जो मनुष्य	**सः**	= वह		(और)
शास्त्रविधिम्	= शास्त्रविधिको	**न**	= न	**न**	= न
उत्सृज्य	= छोड़कर	**सिद्धिम्**	= सिद्धि (अन्तः-करणकी शुद्धि)-को,	**पराम्**	= परम
कामकारतः	= अपनी इच्छासे मनमाना	**न**	= न	**गतिम्**	= गतिको (ही)
वर्तते	= आचरण करता है,	**सुखम्**	= सुख (शान्ति)-को	**अवाप्नोति**	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—[सत्रहवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक भी इससे मिलता-जुलता है।]

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते'—जो लोग शास्त्रविधिकी अवहेलना करके शास्त्रविहित यज्ञ करते हैं, दान करते हैं, परोपकार करते हैं, दुनियाके लाभके लिये तरह-तरहके कई अच्छे-अच्छे काम करते हैं; परन्तु वह सब करते हैं— **'कामकारतः'*** अर्थात् शास्त्रविधिकी तरफ ध्यान न देकर अपने मनमाने ढंगसे करते हैं। मनमाने ढंगसे करनेमें कारण यह है कि उनके भीतर जो काम, क्रोध आदि पड़े रहते हैं, उनकी परवाह न करके वे बाहरी आचरणोंसे ही अपनेको बड़ा मानते हैं। तात्पर्य है कि वे बाहरके आचरणोंको ही श्रेष्ठ समझते हैं। दूसरे लोग भी बाहरके आचरणोंको ही विशेषतासे देखते हैं। भीतरके भावोंको, सिद्धान्तोंको जाननेवाले लोग बहुत कम होते हैं। परन्तु वास्तवमें भीतरके भावोंका ही विशेष महत्त्व है।

अगर भीतरमें दुर्गुण-दुर्भाव रहते हैं और बाहरसे बड़े भारी त्यागी-तपस्वी बन जाते हैं, तो अभिमानमें आकर दूसरोंकी ताड़ना कर देते हैं। इस प्रकार भीतरमें बढ़े हुए देहाभिमानके कारण उनके गुण भी दोषमें परिणत हो जाते हैं, उनकी महिमा निन्दामें परिणत हो जाती है, उनका त्याग रागमें, आसक्तिमें, भोगोंमें परिणत हो जाता है और आगे चलकर वे पतनमें चले जाते हैं। इसलिये भीतरमें दोषोंके रहनेसे ही वे शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करते हैं।

जैसे रोगी अपनी दृष्टिसे तो कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन करता है, पर वह आसक्तिवश कुपथ्य ले लेता है, जिससे उसका स्वास्थ्य और अधिक खराब हो जाता है। ऐसे ही वे लोग अपनी दृष्टिसे अच्छे-अच्छे काम करते हैं, पर भीतरमें काम, क्रोध और लोभका आवेश रहनेसे वे शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे काम करने लग जाते हैं, जिससे वे अधोगतिमें चले जाते हैं।

'न स सिद्धिमवाप्नोति'—आसुरी-सम्पदावाले जो लोग शास्त्र-विधिका त्याग करके यज्ञ आदि शुभ कर्म करते हैं, उनको धन, मान, आदर आदिके रूपमें कुछ प्रसिद्धिरूप सिद्धि मिल सकती है, पर वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धिरूप जो सिद्धि है, वह उनको नहीं मिलती।

'न सुखम्'—उनको सुख भी नहीं मिलता; क्योंकि उनके भीतरमें काम-क्रोधादिकी जलन बनी रहती है। पदार्थोंके संयोगसे होनेवाला सुख उन्हें मिल सकता है, पर वह सुख दुःखोंका कारण ही है अर्थात् उससे दुःख-ही-दुःख पैदा होते हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक मार्गमें मिलनेवाला सात्त्विक सुख उनको नहीं मिलता।

'न परां गतिम्'—उनको परमगति भी नहीं मिलती। परमगति मिले ही कैसे? पहले तो वे परमगतिको मानते ही नहीं और यदि मानते भी हैं, तो भी वह उनको मिल नहीं सकती; क्योंकि काम, क्रोध और लोभके कारण उनके कर्म ही ऐसे होते हैं।

*** (अ) यहाँ आये, 'कामकारतः वर्तते' (शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे बर्ताव करता है) और पाँचवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें आये 'कामकारेण फले सक्तः' (भोगोंकी, पदार्थोंकी इच्छासे फलमें आसक्त हुआ)—दोनोंमें थोड़ा अन्तर है। 'कामकारतः' में क्रिया करनेमें उच्छृङ्खल वृत्ति है और 'कामकारेण' में भोगोंकी इच्छा है। तात्पर्य है कि 'कामकारतः' की दृष्टि क्रियाकी तरफ है और 'कामकारेण' की दृष्टि क्रियाके परिणाम-(फल-) की तरफ है कि परिणाममें मुझे अमुकामुक लाभ होगा। पर दोनोंमें मूल कारण तो 'काम' ही है।**

(ब) एक बात ध्यान देनेकी है कि सातवें श्लोकसे लेकर इस तेईसवें श्लोकतक जो आसुरी-सम्पत्तिका वर्णन हुआ है, उसमें कुल नौ बार 'काम' शब्द आया है; जैसे—१—'कामहैतुकम्' (१६। ८), २—'काममाश्रित्य' (१६। १०), ३—'कामोपभोगपरमाः' (१६। ११), ४—'कामक्रोधपरायणाः' (१६। १२), ५—'कामभोगार्थम्' (१६। १२), ६—'कामभोगेषु' (१६। १६), ७—'कामम्' (१६। १८), ८—'कामः' (१६। २१) और ९—'कामकारतः' (१६। २३)। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आसुरी-सम्पत्तिका मूल कारण 'काम' अर्थात् कामना ही है।

सिद्धि, सुख और परमगतिके न मिलनेका तात्पर्य यह है कि वे आचरण तो श्रेष्ठ करते हैं, जिससे उन्हें सिद्धि, सुख और परमगतिकी प्राप्ति हो सके; परन्तु भीतरमें काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि रहनेसे उनके अच्छे आचरण भी बुराईमें ही चले जाते हैं। इससे उनको उपर्युक्त चीजें नहीं मिलतीं। यदि ऐसा मान लिया जाय कि उनके आचरण ही बुरे होते हैं, तो भगवान्‌का **'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'**—ऐसा कहना बनेगा ही नहीं; क्योंकि प्राप्ति होनेपर ही निषेध होता है—**'प्राप्तौ सत्यां निषेधः'**।

परिशिष्ट भाव—आसुर मनुष्य अभिमानके कारण अपनेको सिद्ध और सुखी मानते हैं—**'सिद्धोऽहं बलवान्सुखी'** (गीता १६। १४), पर वास्तवमें वे सिद्ध और सुखी होते नहीं—**'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखम्'**। उनके हृदयमें अभिमान और द्वेषकी अग्नि जलती रहती है!

सम्बन्ध—शास्त्रविधिका त्याग करनेसे मनुष्यको सिद्धि आदिकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

तस्मात्	= अतः	**प्रमाणम्**	= प्रमाण है	**कर्म**	= कर्तव्य-कर्म
ते	= तेरे लिये	**ज्ञात्वा**	= (—ऐसा) जानकर (तू)	**कर्तुम्**	= करने
कार्याकार्य-व्यवस्थितौ	= कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें	**इह**	= इस लोकमें	**अर्हसि**	= योग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।
शास्त्रम्	= शास्त्र (ही)	**शास्त्र-विधानोक्तम्**	= शास्त्रविधिसे नियत		

व्याख्या—**'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ'**—जिन मनुष्योंको अपने प्राणोंसे मोह होता है, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यको न जाननेसे विशेषरूपसे आसुरी-सम्पत्तिमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिये तू कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये शास्त्रको सामने रख।

जिनकी महिमा शास्त्रोंने गायी है और जिनका बर्ताव शास्त्रीय सिद्धान्तके अनुसार होता है, ऐसे संत-महापुरुषोंके आचरणों और वचनोंके अनुसार चलना भी शास्त्रोंके अनुसार ही चलना है। कारण कि उन महापुरुषोंने शास्त्रोंको आदर दिया है और शास्त्रोंके अनुसार चलनेसे ही वे श्रेष्ठ पुरुष बने हैं। वास्तवमें देखा जाय तो जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए हैं, उनके आचरणों, आदर्शों, भावों आदिसे ही शास्त्र बनते हैं।

'शास्त्रं प्रमाणम्' का तात्पर्य यह है कि लोक-परलोकका आश्रय लेकर चलनेवाले मनुष्योंके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है।

'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि*'—प्राणपोषण-परायण मनुष्य शास्त्रविधिको (कि किसमें प्रवृत्त होना है और किससे निवृत्त होना है) नहीं जानते (गीता— सोलहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक); इसलिये उनको सिद्धि आदिकी प्राप्ति नहीं होती। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू तो दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त है; अतः तू शास्त्रविधिको जानकर कर्तव्यका पालन करनेयोग्य है।

अर्जुन पहले अपनी धारणासे कहते थे कि युद्ध करनेसे मुझे पाप लगेगा, जबकि भाग्यशाली श्रेष्ठ क्षत्रियोंके लिये अपने-आप प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्गको देनेवाला है (गीता—दूसरे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। भगवान् कहते हैं कि भैया! तू पाप-पुण्यका निर्णय अपने मनमाने ढंगसे कर रहा है; तुझे तो इस विषयमें शास्त्रको प्रमाण

*** यहाँ 'इह' पद देनेका तात्पर्य है कि इस संसारमें मनुष्य-शरीर केवल श्रेष्ठ कर्म करके परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ही मिला है। अतः यह अवसर कभी वृथा न जाने दे।**

रखना चाहिये। शास्त्रकी आज्ञा समझकर ही तुझे कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि युद्धरूप क्रिया बाँधनेवाली नहीं है, प्रत्युत स्वार्थ और अभिमान रखकर की हुई शास्त्रीय क्रिया (यज्ञ, दान आदि) ही बाँधनेवाली होती है; और मनमाने ढंगसे (शास्त्र-विपरीत)-की हुई क्रिया तो पतन करनेवाली होती है।

स्वतः प्राप्त युद्धरूप क्रिया क्रूर और हिंसारूप दीखती हुई भी पापजनक नहीं होती (गीता—अठारहवें अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि स्वभावनियत कर्म करता हुआ सर्वथा स्वार्थरहित मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनके स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने जो आज्ञा दी है, उसके अनुसार कर्म करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता। पाप लगता है—स्वार्थसे, अभिमानसे और दूसरोंका अनिष्ट सोचनेसे।

मनुष्य-जन्मकी सार्थकता यही है कि वह शरीर-प्राणोंके मोहमें न फँसकर केवल परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे शास्त्रविहित कर्मोंको करे।

परिशिष्ट भाव—सातवें श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि आसुर स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यको नहीं जानते। यहाँ भगवान् बताते हैं कि वह आसुर स्वभाव शास्त्रके अनुसार आचरण करनेसे ही मिटेगा।

यहाँ शंका हो सकती है कि जो शास्त्र पढ़े हुए नहीं हैं, उनको कर्तव्यका ज्ञान कैसे होगा? इसका समाधान है कि अगर उनका अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो अपने कर्तव्यका ज्ञान स्वतः होगा; क्योंकि आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य नहीं होगा तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उल्टे अज्ञान बढ़ेगा कि हम अधिक जानते हैं!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' नामक सोलहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १६॥

इस (सोलहवें) अध्यायका नाम 'दैवासुरसम्पद्-विभागयोग' है; क्योंकि इस अध्यायमें जो दोनों सम्पत्तियोंका वर्णन हुआ है, वह परस्पर एक-दूसरेसे बिलकुल विरुद्ध है अर्थात् दैवी-सम्पत्ति कल्याण करनेवाली है और आसुरी-सम्पत्ति बाँधनेवाली तथा नीच योनियों और नरकोंमें ले जानेवाली है। जो साधक इन दोनों विभागोंको ठीक रीतिसे जान लेगा, वह आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा त्याग कर देगा। आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा त्याग होते ही दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट हो जायगी। दैवी-सम्पत्ति प्रकट होते ही एकमात्र परमात्मासे सम्बन्ध रह जायगा।

सोलहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ षोडशोऽध्यायः**' के तीन, '**श्रीभगवानुवाच**' के दो, श्लोकोंके दो सौ सत्तासी और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ पाँच है।

(२) इस अध्यायमें '**अथ षोडशोऽध्यायः**' के सात, '**श्रीभगवानुवाच**' के सात, श्लोकोंके सात सौ अड़सठ और पुष्पिकाके बावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग आठ सौ चौंतीस है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है— '**श्रीभगवानुवाच**।'

सोलहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके चौबीस श्लोकोंमेंसे—छठे श्लोकके प्रथम चरणमें, दसवें श्लोकके तृतीय चरणमें और बाईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; तथा ग्यारहवें, तेरहवें और उन्नीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष अठारह श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अवतरणिका—

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करनेवाले पुरुषोंको सिद्धि, सुख और परमगति न मिलनेकी बात कही। यह सुननेपर अर्जुनके मनमें आया कि शास्त्रविधिको ठीक-ठीक जाननेवाले लोग तो बहुत कम हैं। अधिक संख्यामें ऐसे ही लोग हैं, जो शास्त्रविधिको तो जानते नहीं, पर अपनी कुल-परम्परा, वर्ण, आश्रम, संस्कार आदिके अनुसार देवता आदिका श्रद्धापूर्वक यजन (पूजन) करते हैं। शास्त्रविधिका त्याग होनेसे ऐसे पुरुषोंकी नीची (आसुरी) स्थिति होनी चाहिये और श्रद्धा होनेसे ऊँची (दैवी) स्थिति होनी चाहिये। इसलिये वास्तवमें उनकी क्या स्थिति है—यह जाननेके लिये अर्जुन पहले श्लोकमें प्रश्न करते हैं[1]।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	=हे कृष्ण!	**यजन्ते**	=(देवता आदिका) पूजन करते हैं,	**का**	=कौन-सी है?
ये	=जो मनुष्य	**तेषाम्**	=उनकी	**सत्त्वम्**	=सात्त्विकी है
शास्त्रविधिम्	=शास्त्रविधिका	**निष्ठा**	=निष्ठा	**आहो**	=अथवा
उत्सृज्य	=त्याग करके	**तु**	=फिर	**रजः, तमः**	= राजसी-तामसी
श्रद्धया, अन्विताः	= श्रद्धापूर्वक				

व्याख्या—[यह सत्रहवाँ अध्याय सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकपर चला है। उसीको लेकर अर्जुन वहाँ आये **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य'** (जो शास्त्रविधिका त्याग करके) की जगह यहाँ **'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य'** ही कहकर **'कामकारतः'** (मनमाने ढंगसे) की जगह **'श्रद्धयान्विताः'** (श्रद्धासे) कहते हैं; **'वर्तते'** (बर्ताव करता है) की जगह **'यजन्ते'** (यजन करता है) कहते हैं; और **'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'** (वह सिद्धि, सुख और परमगतिको प्राप्त नहीं होता) की जगह **'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः'** (उनकी निष्ठा कौन-सी है? सात्त्विकी—दैवी-सम्पत्तिवाली अथवा राजसी-तामसी—आसुरी-सम्पत्तिवाली?) कहकर भगवान्‌से प्रश्न करते हैं।]

'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य ..... सत्त्वमाहो रजस्तमः'— श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिये है। उन दोनोंके सामने कलियुगकी जनता थी; क्योंकि द्वापरयुग समाप्त हो रहा था। आगे आनेवाले कलियुगी जीवोंकी तरफ दृष्टि रहनेसे अर्जुन पूछते हैं कि महाराज! जिन मनुष्योंका भाव बड़ा अच्छा है, श्रद्धा-भक्ति भी है, पर शास्त्रविधिको जानते नहीं[2]। यदि वे जान जायँ, तो पालन करने लग जायँ, पर उनको पता नहीं। अतः उनकी क्या स्थिति होती है?

१-इस (सत्रहवें) अध्यायको नवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोक (यत्करोषि यदश्नासि ...... तत्कुरुष्व मदर्पणम्) की व्याख्या मानना विचारसे युक्तिसंगत नहीं बैठता। कारण कि नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक 'भगवदर्पण-विषयक' प्रकरणमें आया है, जो छब्बीसवें श्लोकसे आरम्भ हुआ है और अट्ठाईसवें श्लोकमें (भगवदर्पणका फल बतलाकर) समाप्त हुआ है। परन्तु यहाँ मनुष्योंकी श्रद्धाको पहचाननेका प्रसंग है; क्योंकि इस (सत्रहवें) अध्यायके आरम्भमें अर्जुनका प्रश्न मनुष्योंकी निष्ठा, श्रद्धाको लेकर ही है। अतः भगवान् उसका उत्तर भी श्रद्धाको लेकर ही देते हैं।

२-शास्त्रविधिका त्याग तीन कारणोंसे होता है—(१) अज्ञतासे, (२) उपेक्षासे और (३) विरोधसे।

आगे आनेवाली जनतामें शास्त्रका ज्ञान बहुत कम रहेगा। उन्हें अच्छा सत्संग मिलना भी कठिन होगा; क्योंकि अच्छे सन्त-महात्मा पहले युगोंमें भी कम हुए हैं, फिर कलियुगमें तो और भी कम होंगे। कम होनेपर भी यदि भीतर चाहना हो तो उन्हें सत्संग मिल सकता है। परन्तु मुश्किल यह है कि कलियुगमें दम्भ, पाखण्ड ज्यादा होनेसे कई दम्भी और पाखण्डी पुरुष सन्त बन जाते हैं। अत: सच्चे सन्त पहचानमें आने मुश्किल हैं। इस प्रकार पहले तो सन्त-महात्मा मिलने कठिन हैं और मिल भी जायँ तो उनमेंसे कौन-से संत कैसे हैं—इस बातकी पहचान प्राय: नहीं होती और पहचान हुए बिना उनका संग करके विशेष लाभ ले लें—ऐसी बात भी नहीं है। अत: जो शास्त्र-विधिको भी नहीं जानते और असली सन्तोंका संग भी नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ यजन-पूजन करते हैं, श्रद्धासे करते हैं—ऐसे मनुष्योंकी निष्ठा कौन-सी होती है? सात्त्विकी अथवा राजसी-तामसी?

'**सत्त्वमाहो रजस्तम:**' पदोंमें सत्त्वगुणको दैवी-सम्पत्तिमें और रजोगुण तथा तमोगुणको आसुरी-सम्पत्तिमें ले लिया गया है। रजोगुणको आसुरी-सम्पत्तिमें लेनेका कारण यह है कि रजोगुण-तमोगुणके बहुत निकट है[१]। गीतामें कई जगह ऐसी बात आयी है; जैसे—दूसरे अध्यायके बासठवें-तिरसठवें श्लोकोंमें काम अर्थात् रजोगुणसे क्रोध और क्रोधसे मोहरूप तमोगुणका उत्पन्न होना बताया गया है[२]। ऐसे ही अठारहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें हिंसात्मक और शोकान्वितको रजोगुणी कर्ताका लक्षण बताया गया है और अठारहवें अध्यायके ही पचीसवें श्लोकमें 'हिंसा' को तामस कर्मका लक्षण और पैंतीसवें श्लोकमें 'शोक' को तामस धृतिका लक्षण बताया गया है। इस प्रकार रजोगुण और तमोगुणके बहुत-से लक्षण आपसमें मिलते हैं।

सात्त्विक भाव, आचरण और विचार दैवी-सम्पत्तिके होते हैं और राजसी-तामसी भाव, आचरण और विचार आसुरी-सम्पत्तिके होते हैं। सम्पत्तिके अनुसार ही निष्ठा होती है अर्थात् मनुष्यके जैसे भाव, आचरण और विचार होते हैं, उन्हींके अनुसार उसकी स्थिति (निष्ठा) होती है। स्थितिके अनुसार ही आगे गति होती है। आप कहते हैं कि शास्त्र-विधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करनेपर सिद्धि, सुख और परमगति नहीं मिलती, तो जब उनकी निष्ठाका ही पता नहीं, फिर उनकी गतिका क्या पता लगे? इसलिये आप उनकी निष्ठा बताइये, जिससे पता लग जाय कि वे सात्त्विकी गतिमें जाननेवाले हैं या राजसी-तामसी गतिमें।

'कृष्ण' का अर्थ है—खींचनेवाला। यहाँ 'कृष्ण' सम्बोधनका तात्पर्य यह मालूम देता है कि आप ऐसे मनुष्योंको अन्तिम समयमें किस ओर खींचेंगे? उनको किस गतिकी तरफ ले जायँगे? छठे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भी अर्जुनने गति-विषयक प्रश्नमें 'कृष्ण' सम्बोधन दिया है—'**कां गतिं कृष्ण गच्छति**'। यहाँ भी अर्जुनका निष्ठा पूछनेका तात्पर्य गतिमें ही है।

मनुष्यको भगवान् खींचते हैं या वह कर्मोंके अनुसार स्वयं खींचा जाता है? वस्तुत: कर्मोंके अनुसार ही फल मिलता है, पर कर्मफलके विधायक होनेसे भगवान्का खींचना सम्पूर्ण फलोंमें होता है। तामसी कर्मोंका फल नरक होगा, तो भगवान् नरकोंकी तरफ खींचेंगे। वास्तवमें नरकोंके द्वारा पापोंका नाश करके प्रकारान्तरसे भगवान् अपनी तरफ ही खींचते हैं। उनका किसीसे भी वैर या द्वेष नहीं है। तभी तो आसुरी योनियोंमें जानेवालोंके लिये भगवान् कहते हैं कि वे मेरेको प्राप्त न होकर अधोगतिमें चले गये (सोलहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। कारण कि उनका अधोगतिमें जाना भगवान्को सुहाता नहीं है। इसलिये सात्त्विक मनुष्य हो, राजस मनुष्य हो या तामस मनुष्य हो, भगवान् सबको अपनी तरफ ही खींचते हैं। इसी भावसे यहाँ 'कृष्ण' सम्बोधन आया है।

सम्बन्ध—शास्त्रविधिको न जाननेपर भी मनुष्यमात्रमें किसी-न-किसी प्रकारकी स्वभावजा श्रद्धा तो रहती ही है। उस श्रद्धाके भेद आगेके श्लोकमें बताते हैं।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

१-तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—तीनों गुणोंमें परस्पर दसगुना अन्तर है। जैसे एकका दसगुना दस; और दसका दसगुना सौ है, उसी तरह तमोगुण (१) से दसगुना श्रेष्ठ रजोगुण (१०) है और रजोगुणसे दसगुना श्रेष्ठ सत्त्वगुण (१००) है। तात्पर्य है कि तमोगुण और रजोगुण पास-पासमें हैं, जबकि सत्त्वगुण दोनोंसे बहुत दूर है।

२-क्रोधका कारण रजोगुण है और कार्य तमोगुण है।

श्रीभगवान् बोले—

देहिनाम्	= मनुष्योंकी	**च**	= तथा	**एव**	= ही
सा	= वह	**राजसी**	= राजसी	**भवति**	= होती है,
स्वभावजा	= स्वभावसे उत्पन्न हुई	**च**	= और	**ताम्**	= उसको (तुम मुझसे)
श्रद्धा	= श्रद्धा	**तामसी**	= तामसी		
सात्त्विकी	= सात्त्विकी	**इति**	= —ऐसे		
		त्रिविधा	= तीन तरहकी	**शृणु**	= सुनो।

व्याख्या—[अर्जुनने निष्ठाको जाननेके लिये प्रश्न किया था, पर भगवान् उसका उत्तर श्रद्धाको लेकर देते हैं; क्योंकि श्रद्धाके अनुसार ही निष्ठा होती है।]

'त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा'—श्रद्धा तीन तरहकी होती है। वह श्रद्धा कौन-सी है? संगजा है, शास्त्रजा है या स्वभावजा है? तो कहते हैं कि वह स्वभावजा है—'**सा स्वभावजा**' अर्थात् स्वभावसे पैदा हुई स्वत:सिद्ध श्रद्धा है। वह न तो संगसे पैदा हुई है और न शास्त्रोंसे पैदा हुई है। वे स्वाभाविक इस प्रवाहमें बह रहे हैं और देवता आदिका पूजन करते जा रहे हैं।

'सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु'—वह स्वभावजा श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उन तीनोंको अलग-अलग सुनो।

पीछेके श्लोकमें '**सत्त्वमाहो रजस्तमः**' पदोंमें '**आहो**' अव्यय देनेका तात्पर्य यह था कि अर्जुनकी दृष्टिमें '**सत्त्वम्**' से दैवी-सम्पत्ति और '**रजस्तमः**' से आसुरी-सम्पत्ति—ये दो ही विभाग हैं और भगवान् भी बन्धनकी दृष्टिसे राजसी-तामसी दोनोंको आसुरी-सम्पत्ति ही मानते हैं—'**निबन्धायासुरीमता**' (१६। ५)। परंतु बन्धनकी दृष्टिसे राजसी और तामसी एक होते हुए भी दोनोंके बन्धनमें भेद है। राजस मनुष्य सकामभावसे शास्त्रविहित कर्म भी करते हैं; अत: वे स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाकर और वहाँके भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर फिर मृत्युलोकमें लौट आते हैं—'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**' (गीता ९। २१)। परन्तु तामस मनुष्य शास्त्रविहित कर्म नहीं करते; अत: वे कामना और मूढ़ताके कारण अधम गतिमें जाते हैं—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८)। इस प्रकार राजस और तामस—दोनों ही मनुष्योंका बन्धन बना रहता है। दोनोंके बन्धनमें भेदकी दृष्टिसे ही भगवान् आसुरी-सम्पदावालोंकी श्रद्धाके राजसी और तामसी—दो भेद करते हैं और सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी—तीनों श्रद्धाओंको अलग-अलग सुननेके लिये कहते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित स्वभावजा श्रद्धाके तीन भेद क्यों होते हैं—इसे भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

भारत	= हे भारत!	**भवति**	= होती है।	**यच्छ्रद्धः**	= जैसी श्रद्धावाला है,
सर्वस्य	= सभी मनुष्योंकी	**अयम्**	= यह	**सः, एव**	= वही
श्रद्धा	= श्रद्धा	**पुरुषः**	= मनुष्य	**सः**	= उसका स्वरूप है अर्थात् वही उसकी निष्ठा (स्थिति) है।
सत्त्वानुरूपा	= अन्त:करणके अनुरूप	**श्रद्धामयः**	= श्रद्धामय है।		
		यः	= (इसलिये) जो		

व्याख्या—'**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत**'—पीछेके श्लोकमें जिसे '**स्वभावजा**' कहा गया है, उसीको यहाँ '**सत्त्वानुरूपा**' कहा है। '**सत्त्व**' नाम अन्त:करणका है। अन्त:करणके अनुरूप श्रद्धा होती है अर्थात् अन्त:करण जैसा होता है, उसमें सात्त्विक, राजस या तामस जैसे संस्कार होते हैं, वैसी ही श्रद्धा होती है।

दूसरे श्लोकमें जिनको '**देहिनाम्**' पदसे कहा था, उन्हींको यहाँ '**सर्वस्य**' पदसे कह रहे हैं। '**सर्वस्य**' पदका तात्पर्य है कि जो शास्त्रविधिको न जानते हों और देवता आदिका पूजन करते हों—उनकी ही नहीं, प्रत्युत जो शास्त्रविधिको जानते हों या न जानते हों, मानते हों या न मानते हों, अनुष्ठान करते हों या न करते हों, किसी

जातिके, किसी वर्णके, किसी आश्रमके, किसी सम्प्रदायके, किसी देशके, कोई व्यक्ति कैसे ही क्यों न हों—उन सभीकी स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है।

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'—यह मनुष्य श्रद्धा-प्रधान है। अतः जैसी उसकी श्रद्धा होगी, वैसा ही उसका रूप होगा। उससे जो प्रवृत्ति होगी, वह श्रद्धाको लेकर, श्रद्धाके अनुसार ही होगी।

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—जो मनुष्य जैसी श्रद्धा-वाला है, वैसी ही उसकी निष्ठा होगी और उसके अनुसार ही उसकी गति होगी। उसका प्रत्येक भाव और क्रिया अन्तःकरणकी श्रद्धाके अनुसार ही होगी। जबतक वह संसारसे सम्बन्ध रखेगा, तबतक अन्तःकरणके अनुरूप ही उसका स्वरूप होगा।

मार्मिक बात

मनुष्यकी सांसारिक प्रवृत्ति संसारके पदार्थोंको सच्चा मानने, देखने, सुनने और भोगनेसे होती है तथा पारमार्थिक प्रवृत्ति परमात्मामें श्रद्धा करनेसे होती है। जिसे हम अपने अनुभवसे नहीं जानते, पर पूर्वके स्वाभाविक संस्कारोंसे, शास्त्रोंसे, संत-महात्माओंसे सुनकर पूज्यभावसहित विश्वास कर लेते हैं, उसका नाम है—श्रद्धा। श्रद्धाको लेकर ही आध्यात्मिक मार्गमें प्रवेश होता है, फिर चाहे वह मार्ग कर्मयोगका हो, चाहे ज्ञानयोगका हो और चाहे भक्तियोगका हो, साध्य और साधन—दोनोंपर श्रद्धा हुए बिना आध्यात्मिक मार्गमें प्रगति नहीं होती।

मनुष्य-जीवनमें श्रद्धाकी बड़ी मुख्यता है। मनुष्य जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप, उसकी निष्ठा है—**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** (गीता १७।३)। वह आज वैसा न दीखे तो भी क्या? पर समय पाकर वह वैसा बन ही जायगा।

आजकल साधकके लिये अपनी स्वाभाविक श्रद्धाको पहचानना बड़ा मुश्किल हो गया है। कारण कि अनेक मत-मतान्तर हो गये हैं। कोई ज्ञानकी प्रधानता कहता है, कोई भक्तिकी प्रधानता कहता है, कोई योगकी प्रधानता कहता है, आदि-आदि। ऐसे तरह-तरहके सिद्धान्त पढ़ने और सुननेसे मनुष्यपर उनका असर पड़ता है, जिससे वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि मैं क्या करूँ? मेरा वास्तविक ध्येय, लक्ष्य क्या है? मेरेको किधर चलना चाहिये? ऐसी दशामें उसे गहरी रीतिसे अपने भीतरके भावोंपर विचार करना चाहिये कि संगसे बनी हुई रुचि, शास्त्रसे बनी हुई रुचि, किसीके सिखानेसे बनी हुई रुचि, गुरुके बतानेसे बनी हुई रुचि—ऐसी जो अनेक रुचियाँ हैं, उन सबके मूलमें स्वतः उद्बुद्ध होनेवाली अपनी स्वाभाविक रुचि क्या है?

मूलमें सबकी स्वाभाविक रुचि यह होती है कि मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाऊँ और मुझे सदाके लिये महान् सुख मिल जाय। ऐसी रुचि हरेक प्राणीके भीतर रहती है। मनुष्योंमें तो यह रुचि कुछ जाग्रत् रहती है। उनमें पिछले जन्मोंके जैसे संस्कार हैं और इस जन्ममें वे जैसे माता-पितासे पैदा हुए, जैसे वायुमण्डलमें रहे, जैसी उनको शिक्षा मिली, जैसे उनके सामने दृश्य आये और वे जो ईश्वरकी बातें, परलोक तथा पुनर्जन्मकी बातें, मुक्ति और बन्धनकी बातें, सत्संग और कुसंगकी बातें सुनते रहते हैं, उन सबका उनपर अदृश्यरूपसे असर पड़ता है। उस असरसे उनकी एक धारणा बनती है। उनकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी—जैसी प्रकृति होती है, उसीके अनुसार वे उस धारणाको पकड़ते हैं और उस धारणाके अनुसार ही उनकी रुचि—श्रद्धा बनती है। इसमें सात्त्विकी श्रद्धा परमात्माकी तरफ लगानेवाली होती है और राजसी-तामसी श्रद्धा संसारकी तरफ।

गीतामें जहाँ-कहीं सात्त्विकताका वर्णन हुआ है, वह परमात्माकी तरफ ही लगानेवाली है। अतः सात्त्विकी श्रद्धा पारमार्थिक हुई और राजसी-तामसी श्रद्धा सांसारिक हुई अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा दैवी-सम्पत्ति हुई और राजसी-तामसी श्रद्धा आसुरी-सम्पत्ति हुई। दैवी-सम्पत्तिको प्रकट करने और आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करनेके उद्देश्यसे सत्रहवाँ अध्याय चला है। कारण कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यके लिये सात्त्विकी श्रद्धा (दैवी-सम्पत्ति) ग्राह्य है और राजसी-तामसी श्रद्धा (आसुरी-सम्पत्ति) त्याज्य है।

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है, जो मनुष्य इस जन्ममें तथा मरनेके बाद भी सुख-सम्पत्ति-(स्वर्गादि-) को चाहता है, उसकी श्रद्धा राजसी होती है और जो मनुष्य पशुओंकी तरह (मूढ़ता-पूर्वक) केवल खाने-पीने, भोग भोगने तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, खेल-कूद, तमाशे आदिमें लगा रहता है, उसकी श्रद्धा तामसी होती है। सात्त्विकी श्रद्धाके लिये सबसे पहली बात है कि 'परमात्मा है।' शास्त्रोंसे, संत-महात्माओंसे, गुरुजनोंसे सुनकर पूज्यभावके सहित ऐसा विश्वास हो जाय कि 'परमात्मा है और उसको प्राप्त करना है'—इसका नाम श्रद्धा है। ठीक श्रद्धा जहाँ होती है, वहाँ

प्रेम स्वतः हो जाता है। कारण कि जिस परमात्मामें श्रद्धा होती है, उसी परमात्माका अंश यह जीवात्मा है। अतः श्रद्धा होते ही यह परमात्माकी तरफ खिंचता है। अभी यह परमात्मासे विमुख होकर जो संसारमें लगा हुआ है, वह भी संसारमें श्रद्धा-विश्वास होनेसे ही है। पर यह वास्तविक श्रद्धा नहीं है, प्रत्युत श्रद्धाका दुरुपयोग है। जैसे, संसारमें यह रुपयोंपर विशेष श्रद्धा करता है कि इनसे सब कुछ मिल जाता है। यह श्रद्धा कैसे हुई? कारण कि बचपनमें खाने और खेलनेके पदार्थ पैसोंसे मिलते थे। ऐसा देखते-देखते पैसोंको ही मुख्य मान लिया और उसीमें श्रद्धा कर ली, जिससे यह बहुत ही पतनकी तरफ चला गया। यह सांसारिक श्रद्धा हुई। इससे ऊँची धार्मिक श्रद्धा होती है कि मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ। परन्तु सबसे ऊँची श्रद्धा पारमार्थिक (परमात्माको लेकर) है। यही वास्तविक श्रद्धा है और इसीसे कल्याण होता है। शास्त्रोंमें, सन्त-महात्माओंमें, तत्त्वज्ञ-जीवन्मुक्तोंमें जो श्रद्धा होती है, वह भी पारमार्थिक श्रद्धा ही है।*

जिनको शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है और सन्त-महात्माओंका संग भी नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी भी पूर्व-संस्कारके कारण पारमार्थिक श्रद्धा हो सकती है। इसकी पहचान क्या है? पहचान यह है कि ऐसे मनुष्योंके भीतर स्वाभाविक यह भाव होता है कि ऐसी कोई महान् चीज (परमात्मा) है, जो दीखती तो नहीं, पर है अवश्य। ऐसे मनुष्योंको स्वाभाविक ही पारमार्थिक बातें बहुत प्रिय लगती हैं और वे स्वाभाविक ही यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, सत्संग, स्वाध्याय आदि शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। यदि वे ऐसे कर्म न भी करें, तो भी सात्त्विक आहारमें स्वाभाविक रुचि होनेसे उनकी श्रद्धाकी पहचान हो जाती है।

मनुष्य, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे किसी-न-किसीको (किसी-न-किसी अंशमें) अपनेसे बड़ा अवश्य मानते हैं और बड़ा मानकर उसका सहारा लेते हैं। मनुष्यपर जब आफत आती है, तब वह किसीको अपनेसे बड़ा मानकर उसका सहारा लेता है। पशु-पक्षी भी अपनी रक्षा चाहते हैं और भयभीत होनेपर किसीका सहारा लेते हैं। लता भी किसीका सहारा लेकर ही ऊँची चढ़ती है। इस प्रकार जिसने किसीको बड़ा मानकर उसका सहारा लिया, उसने वास्तवमें 'ईश्वरवाद' के सिद्धान्तको स्वीकार कर ही लिया, चाहे वह ईश्वरको माने या न माने। इसलिये आयु, विद्या, गुण, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य, पद, अधिकार, ऐश्वर्य आदिमेंसे एक-एकसे बड़ा देखे, तो बड़प्पन देखते-देखते अन्तमें बड़प्पनकी जहाँ समाप्ति हो, वही ईश्वर है; क्योंकि बड़े-से-बड़ा ईश्वर है। उससे बड़ा कोई है ही नहीं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योगदर्शन १। २६)

'वह परमात्मा सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है अर्थात् वह कालकी सीमासे बाहर है।'

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी दृष्टिसे किसी-न-किसीको बड़ा मानता है। बड़प्पनकी यह मान्यता अपने-अपने अन्तःकरणके भावोंके अनुसार अलग-अलग होती है। इस कारण उनकी श्रद्धा भी अलग-अलग होती है।

श्रद्धा अन्तःकरणके अनुरूप ही होती है। धारणा, मान्यता, भावना आदि सभी अन्तःकरणमें रहते हैं। इसलिये अन्तःकरणमें सात्त्विक, राजस या तामस जिस गुणकी प्रधानता रहती है, उसी गुणके अनुसार धारणा, मान्यता आदि बनती है और उस धारणा, मान्यता आदिके अनुसार ही तीन प्रकारकी (सात्त्विकी, राजसी या तामसी) श्रद्धा बनती है।

सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुण सभी प्राणियोंमें रहते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक)। उन प्राणियोंमें किसीमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, किसीमें रजोगुणकी प्रधानता होती है और किसीमें तमोगुणकी प्रधानता होती है। अतः यह नियम नहीं है कि सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें रजोगुण और तमोगुण न आयें, रजोगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें सत्त्वगुण और तमोगुण न आयें, तथा तमोगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें सत्त्वगुण और रजोगुण न आयें (गीता—चौदहवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)। कारण कि प्रकृति परिवर्तनशील है—'**प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः।**' इसलिये प्रकृतिजन्य गुणोंमें भी परिवर्तन होता रहता है। अतः एकमात्र परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यवाले साधकको चाहिये कि वह उन आने-जानेवाले गुणोंसे अपना सम्बन्ध मानकर उनसे विचलित न हो।

जीवमात्र परमात्माका अंश है। इसलिये किसी मनुष्यमें

---

* **सांसारिक श्रद्धामें 'भोग' की, धार्मिक श्रद्धामें 'भाव' की और पारमार्थिक श्रद्धामें 'तत्त्व' की प्रधानता है।**

रजोगुण-तमोगुणकी प्रधानता देखकर उसे नीचा नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि कौन-सा मनुष्य किस समय समुन्नत हो जाय—इसका कुछ पता नहीं है। कारण कि परमात्माका अंश—स्वरूप (आत्मा) तो सबका शुद्ध ही है, केवल संग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिको लेकर अन्त:करणमें किसी एक गुणकी प्रधानता हो जाती है अर्थात् जैसा संग, शास्त्र आदि मिलता है, वैसा ही मनुष्यका अन्त:करण बन जाता है और उस अन्त:करणके अनुसार ही उसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा बन जाती है। इसलिये मनुष्यको सदा-सर्वदा सात्त्विक संग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिका ही सेवन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उसका अन्त:करण तथा उसके अनुसार उसकी श्रद्धा भी सात्त्विकी बन जायगी, जो उसका उद्धार करनेवाली होगी। इसके विपरीत मनुष्यको राजस-तामस संग, शास्त्र आदिका सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे उसकी श्रद्धा भी राजसी-तामसी बन जायगी, जो उसका पतन करनेवाली होगी।

परिशिष्ट भाव— श्रद्धा भाव है। जैसा जिसका भाव होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है। भाव दो तरहका होता है—सद्भाव और असद्भाव। जो परमात्माकी तरफ ले जाता है, वह सद्भाव होता है और जो संसारकी तरफ ले जाता है, वह असद्भाव होता है। दैवी-सम्पत्तिमें सद्भावकी मुख्यता होती है और आसुरी-सम्पत्तिमें असद्भावकी मुख्यता होती है।

'मैं साधक हूँ'—इसमें अगर असद्भावकी मुख्यता हो तो अभिमान होता है और सद्भावकी मुख्यता हो तो स्वाभिमान होता है। अभिमानसे आसुरी-सम्पत्ति आती है और स्वाभिमानसे दैवी-सम्पत्ति आती है। दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे अभिमान होता है और अपने कर्तव्यको देखनेसे स्वाभिमान होता है कि मैं साधन-विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ! अभिमान होनेपर तो मनुष्य साधन-विरुद्ध काम कर बैठेगा, पर स्वाभिमान होनेपर उसको साधन-विरुद्ध काम करनेमें लज्जा होगी। स्वाभिमान होनेसे वह सात्त्विकीमें चला जायगा और अभिमान होनेसे वह राजसी-तामसीमें चला जायगा।

सम्बन्ध—अपने इष्टके यजन-पूजनद्वारा मनुष्योंकी निष्ठाकी पहचान किस प्रकार होती है, अब उसको बताते हैं।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

सात्त्विकाः = सात्त्विक मनुष्य
देवान् = देवताओंका
यजन्ते = पूजन करते हैं,
राजसाः = राजस मनुष्य
यक्षरक्षांसि = यक्षों तथा राक्षसोंका
च = और
अन्ये = दूसरे (जो)
तामसाः = तामस
जनाः = मनुष्य हैं, (वे)
प्रेतान् = प्रेतों (और)
भूतगणान् = भूतगणोंका
यजन्ते = पूजन करते हैं।

व्याख्या— **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'**—सात्त्विक अर्थात् दैवी-सम्पत्तिवाले मनुष्य देवोंका पूजन करते हैं। यहाँ **'देवान्'** शब्दसे विष्णु, शंकर, गणेश, शक्ति और सूर्य—ये पाँच ईश्वरकोटिके देवता लेने चाहिये; क्योंकि दैवी-सम्पत्तिमें 'देव' शब्द ईश्वरका वाचक है और उसकी सम्पत्ति अर्थात् दैवी-सम्पत्ति मुक्ति देनेवाली है—**'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'** (१६।५)। वह दैवी-सम्पत्ति जिनमें प्रकट होती है, उन (दैवी-सम्पत्तिवाले) साधकोंकी स्वाभाविक श्रद्धाकी पहचान बतानेके लिये यहाँ **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'** पद आये हैं।

ईश्वरकोटिके देवताओंमें भी साधकोंकी श्रद्धा अलग-अलग होती है। किसीकी श्रद्धा भगवान् विष्णु-(राम, कृष्ण, आदि-) में होती है, किसीकी भगवान् शंकरमें होती है, किसीकी भगवान् गणेशमें होती है, किसीकी भगवती शक्तिमें होती है और किसीकी भगवान् सूर्यमें होती है। ईश्वरके जिस रूपमें उनकी स्वाभाविक श्रद्धा होती है, उसीका वे विशेषतासे यजन-पूजन करते हैं।

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—इन तैंतीस प्रकारके शास्त्रोक्त देवताओंका निष्कामभावसे पूजन करना भी **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'**

के अन्तर्गत मानना चाहिये।

'यक्षरक्षांसि राजसाः'—राजस मनुष्य यक्षों और राक्षसोंका पूजन करते हैं। यक्ष-राक्षस भी देवयोनिमें हैं। यक्षोंमें धनके संग्रहकी मुख्यता होती है और राक्षसोंमें दूसरोंका नाश करनेकी मुख्यता होती है। अपनी कामना-पूर्तिके लिये और दूसरोंका विनाश करनेके लिये राजस मनुष्योंमें यक्षों और राक्षसोंका पूजन करनेकी प्रवृत्ति होती है।

'प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः'—तामस मनुष्य प्रेतों तथा भूतोंका पूजन करते हैं। जो मर गये हैं, उन्हें प्रेत कहते हैं और जो भूतयोनिमें चले गये हैं, उन्हें 'भूत' कहते हैं।

यहाँ 'प्रेत' शब्दके अन्तर्गत जो अपने पितर हैं, उनको नहीं लेना चाहिये; क्योंकि जो अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे अपने-अपने पितरोंका पूजन करते हैं, वे तामस नहीं कहलायेंगे, प्रत्युत सात्त्विक ही कहलायेंगे। अपने-अपने पितरोंके पूजनका भगवान्ने निषेध नहीं किया है—**'पितॄन्यान्ति पितृव्रताः'** (गीता ९। २५)। तात्पर्य है कि जो पितरोंका सकामभावसे पूजन करते हैं कि पितर हमारी रक्षा करेंगे अथवा हम जैसे पिता-पितामह आदिके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि करते हैं, ऐसे ही हमारी कुलपरम्परावाले भी हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण आदि करेंगे—ऐसे भावसे पूजन करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं। परन्तु अपने माता-पिता, दादा-दादी आदि पितरोंका पूजन करनेसे पितरोंको प्राप्त हो जायँगे—यह बात नहीं है। जो पितृऋणसे उऋण होना अपना कर्तव्य समझते हैं और इसीलिये (अपना कर्तव्य समझकर) निष्कामभावसे पितरोंका पूजन करते हैं, वे पुरुष सात्त्विक हैं, राजस नहीं। पितृलोकको वे ही जाते हैं, जो **'पितृव्रताः'** हैं अर्थात् जो पितरोंको सर्वोपरि और अपना इष्ट मानते हैं तथा पितरोंपर ही निष्ठा रखते हैं। ऐसे लोग पितृलोकको तो जा सकते हैं, पर उससे आगे नहीं जा सकते।

कुत्ते, कौए आदिको भी जो निष्कामभावसे रोटी देते हैं (शास्त्रमें ऐसा विधान है), उससे उनकी योनि प्राप्त नहीं होती; क्योंकि वह उनका इष्ट नहीं है। वे तो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं। इसी प्रकार पितरोंका श्राद्ध-तर्पण आदि भी शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार निष्काम-भावपूर्वक करनेसे पितृयोनि प्राप्त नहीं हो जाती। शास्त्र या भगवान्की आज्ञा मानकर करनेसे उनका उद्धार होगा। इसलिये निष्कामभावसे किये गये शास्त्रविहित नारायणबलि, गयाश्राद्ध आदि प्रेतकर्मोंको तामस नहीं मानना चाहिये; क्योंकि ये तो मृत प्राणीकी सद्‌गतिके लिये किये जानेवाले आवश्यक कर्म हैं, जिन्हें मरे हुए प्राणीके लिये शास्त्रके आज्ञानुसार हरेकको करना चाहिये।

हम शास्त्रविहित यज्ञ आदि शुभ कर्म करते हैं, तो उनमें पहले गणेशजी, नवग्रह, षोडश-मातृका आदिका पूजन शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे करते हैं। यह वास्तवमें नवग्रह आदिका पूजन न होकर शास्त्रका ही पूजन, आदर हुआ। जैसे, स्त्री पतिकी सेवा करती है, तो उसका कल्याण हो जाता है। विवाह तो हरेक पुरुषका हो सकता है, राक्षसका भी और असुरका भी। वे भी पति बन सकते हैं। परन्तु वास्तवमें कल्याण पतिकी सेवासे नहीं होता, प्रत्युत पतिकी सेवा करना—पातिव्रतधर्मका पालन करना ऋषि, शास्त्र, भगवान्की आज्ञा है, इसलिये इनकी आज्ञाके पालनसे ही कल्याण होता है।

देवता आदिके पूजनसे पूजक-(पूजा करनेवाले-) की गति वैसी ही होगी—यह बतानेके लिये यहाँ **'यजन्ते'** पद नहीं आया है। अर्जुनने शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यजन-पूजन करनेवालोंकी निष्ठा पूछी थी; अतः अपने-अपने इष्ट-(पूज्य-) के अनुसार पूजकोंकी निष्ठा— श्रद्धा होती है, इसकी पहचान बतानेके लिये ही **'यजन्ते'** पद आया है।

परिशिष्ट भाव—देवताओंका पूजन करनेवाले सात्त्विक मनुष्यशरीर छूटनेपर देवताओंको प्राप्त होते हैं, यक्ष-राक्षसोंका पूजन करनेवाले राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंको प्राप्त होते हैं और भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले तामस मनुष्य भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं (गीता—नवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)।

गीतामें 'यज्ञ' शब्द बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म आ जाते हैं' (गीता—चौथे अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ श्लोक)। अतः यहाँ भी **'यजन्ते'** पदके अन्तर्गत सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको लेना चाहिये, जिनमें यज्ञ मुख्य है।

'प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये'—हमारे जो पितर हैं, वे दूसरोंके लिये भूत हैं और दूसरेके जो पितर हैं, वे हमारे लिये भूत हैं। पितरोंका पूजन करना तामस नहीं है, पर भूतोंका पूजन करना तामस है।

सम्बन्ध—अबतक उन मनुष्योंकी बात बतायी, जो शास्त्रविधिको न जाननेके कारण उसका (अज्ञतापूर्वक) त्याग करते हैं; परन्तु अपने इष्ट तथा उसके यजन-पूजनमें श्रद्धा रखते हैं। अब, विरोधपूर्वक शास्त्रविधिका त्याग करनेवाले श्रद्धारहित मनुष्योंकी क्रियाओंका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

ये	= जो
जनाः	= मनुष्य
अशास्त्रविहितम्	= शास्त्रविधिसे रहित
घोरम्	= घोर
तपः	= तप
तप्यन्ते	= करते हैं;
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः	= (जो) दम्भ और अहंकारसे अच्छी तरह युक्त हैं;
कामरागबलान्विताः	= (जो) भोग-पदार्थ, आसक्ति और हठसे युक्त हैं;
शरीरस्थम्	= (जो) शरीरमें स्थित
भूतग्रामम्	= पाँच भूतोंको अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरको
च	= तथा
अन्तःशरीरस्थम्	= अन्तःकरणमें स्थित
माम्	= मुझ परमात्माको
एव	= भी
कर्शयन्तः	= कृश करनेवाले हैं,
तान्	= उन
अचेतसः	= अज्ञानियोंको (तू)
आसुरनिश्चयान्	= आसुर निष्ठावाले (आसुरी सम्पत्तिवाले)
विद्धि	= समझ।

व्याख्या—‘**अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः**’—शास्त्रमें जिसका विधान नहीं है, प्रत्युत निषेध है, ऐसे घोर तपको करनेमें उनकी रुचि होती है अर्थात् उनकी रुचि सदा शास्त्रसे विपरीत ही होती है। कारण कि तामसी बुद्धि (गीता—अठारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक) होनेसे वे स्वयं तो शास्त्रोंको जानते नहीं और दूसरा कोई बता भी दे तो वे न उसको मानना चाहते हैं तथा न वैसा करना ही चाहते हैं।

‘**दम्भाहंकारसंयुक्ताः**’—उनके भीतर यह बात गहरी बैठी हुई रहती है कि आज संसारमें जितने भजन, ध्यान, स्वाध्याय आदि करते हैं, वे सब दम्भ करते हैं, दम्भके बिना दूसरा कुछ है ही नहीं। अतः वे खुद भी दम्भ करते हैं। उनके भीतर अपनी बुद्धिमानीका, चतुराईका, जानकारीका अभिमान रहता है कि हम बड़े जानकार आदमी हैं; हमलोगोंको समझा सकते हैं, उनको रास्तेपर ला सकते हैं; हम शास्त्रोंकी बातें क्यों सुनें? हम कोई कम जानते हैं क्या? हमारी बातें सुनो तो तुम्हारेको पता चले; आदि-आदि।

‘**कामरागबलान्विताः**’—‘काम’ शब्द भोग-पदार्थोंका वाचक है। उन पदार्थोंमें रँग जाना, तल्लीन हो जाना, एकरस हो जाना ‘राग’ है और उनको प्राप्त करनेका अथवा उनको बनाये रखनेका जो हठ, दुराग्रह है, वह ‘बल’ है। इनसे वे सदा युक्त रहते हैं। उन आसुर स्वभाववाले लोगोंमें यह भाव रहता है कि मनुष्य-शरीर पाकर इन भोगोंको नहीं भोगा तो मनुष्य-शरीर पशुकी तरह ही है। सांसारिक भोग-सामग्रीको मनुष्यने प्राप्त नहीं किया, तो फिर उसने क्या किया? मनुष्य-शरीर पाकर मनचाही भोग-सामग्री नहीं मिली, तो फिर उसका जीवन ही व्यर्थ है, आदि-आदि। इस प्रकार वे प्राप्त सामग्रीको भोगनेमें सदा तल्लीन रहते हैं और धन-सम्पत्ति आदि भोग-सामग्रीको प्राप्त करनेके लिये हठपूर्वक, जिदसे तप किया करते हैं।

‘**कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम्**’—वे शरीरमें स्थित पाँच भूतों-(पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-) को कृश करते हैं, शरीरको सुखाते हैं और इसीको तप समझते हैं। शरीरको कष्ट दिये बिना तप नहीं होता—ऐसी उनकी स्वाभाविक धारणा रहती है।

आगे चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोकमें जहाँ शरीर, वाणी और मनके तपका वर्णन हुआ है, वहाँ शरीरको कष्ट देनेकी बात नहीं है। वह तप बड़ी शान्तिसे होता है। परन्तु यहाँ जिस तपकी बात है, वह शास्त्रविरुद्ध घोर तप है और अविधिपूर्वक शरीरको कष्ट देकर किया जाता है।

'मां चैवान्तःशरीरस्थम्'—भगवान् कहते हैं कि ऐसे लोग अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करते हैं, दुःख देते हैं। कैसे? वे मेरी आज्ञा, मेरे मतके अनुसार नहीं चलते, प्रत्युत उसके विपरीत चलते हैं।

अर्जुनने पूछा था कि वे कौन-सी निष्ठावाले हैं—सात्त्विक हैं कि राजस-तामस? दैवी-सम्पत्तिवाले हैं कि आसुरी-सम्पत्तिवाले? तो भगवान् कहते हैं कि उनको आसुर निश्चयवाले समझो—**'तान्विद्धि आसुरनिश्चयान्।'** यहाँ **'आसुरनिश्चयान्'** पद सामान्य आसुरी-सम्पत्तिवालोंका वाचक नहीं है, प्रत्युत उनमें भी जो अत्यन्त नीच—विशेष नास्तिक हैं, उनका वाचक है।

विशेष बात

चौथे श्लोकमें शास्त्रविधिको न जाननेवाले श्रद्धायुक्त मनुष्योंके द्वारा किये जानेवाले पूजनके लिये **'यजन्ते'** पद आया है; परन्तु यहाँ शास्त्रविधिका त्याग करनेवाले श्रद्धारहित मनुष्योंके द्वारा किये जानेवाले पूजनके लिये **'तप्यन्ते'** पद आया है। इसका कारण यह है कि आसुर निश्चयवाले मनुष्योंकी तप करनेमें ही पूज्य-बुद्धि होती है—तप ही उनका यज्ञ होता है और वे मनगढ़ंत रीतिसे शरीरको कष्ट देनेको ही तप मानते हैं। उनके तपका लक्षण है—शरीरको सुखाना, कष्ट देना। वे तपको बहुत महत्त्व देते हैं, उसे बहुत अच्छा मानते हैं; परन्तु भगवान्‌को, शास्त्रको नहीं मानते। तप भी वही करते हैं, जो शास्त्रके विरुद्ध है। बहुत ज्यादा भूखे रहना, काँटोंपर सोना, उलटे लटकना, एक पैरसे खड़े होना, शास्त्राज्ञासे विरुद्ध अग्नि तपना, अपने शरीर, मन, इन्द्रियोंको किसी तरह कष्ट पहुँचाना आदि—ये सब आसुर निश्चयवालोंके तप होते हैं।

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रविधिको जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करके दान-सेवा, उपकार आदि शुभकर्मोंको करनेकी बात आयी है, जो इतनी बुरी नहीं है; क्योंकि उनके दान आदि कर्म शास्त्र-विधियुक्त तो नहीं हैं, पर शास्त्रनिषिद्ध भी नहीं हैं। परन्तु यहाँ जो शास्त्रोंमें विहित नहीं हैं, उनको ही श्रेष्ठ मानकर मनमाने ढंगसे विपरीत कर्म करनेकी बात है। दोनोंमें फरक क्या हुआ? तेईसवें श्लोकमें कहे लोगोंको सिद्धि, सुख और परमगति नहीं मिलेगी अर्थात् उनके नाममात्रके शुभकर्मोंका पूरा फल नहीं मिलेगा। परन्तु यहाँ कहे लोगोंको तो नीच योनियों तथा नरकोंकी प्राप्ति होगी; क्योंकि इनमें दम्भ, अभिमान आदि हैं। ये शास्त्रोंको मानते भी नहीं, सुनते भी नहीं और कोई सुनाना चाहे तो सुनना चाहते भी नहीं।

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रका 'उपेक्षा-पूर्वक' त्याग है, इसी अध्यायके पहले श्लोकमें शास्त्रका 'अज्ञतापूर्वक' त्याग है और यहाँ शास्त्रका 'विरोधपूर्वक' त्याग है। आगे तामस यज्ञादिमें भी शास्त्रकी उपेक्षा है। परन्तु यहाँ श्रद्धा, शास्त्रविधि, प्राणिसमुदाय और भगवान्—इन चारोंके साथ विरोध है। ऐसा विरोध दूसरी जगह आये राजसी-तामसी वर्णनमें नहीं है।

सम्बन्ध—अगर कोई मनुष्य किसी प्रकार भी यजन न करे, तो उसकी श्रद्धा कैसे पहचानी जायगी—इसे बतानेके लिये भगवान् आहारकी रुचिसे आहारीकी निष्ठाकी पहचानका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहारः = आहार
अपि = भी
सर्वस्य = सबको
त्रिविधः = तीन प्रकारका
प्रियः = प्रिय
भवति = होता है
तु = और
तथा = वैसे ही
यज्ञः = यज्ञ,
तपः = तप (और)
दानम् = दान (भी तीन प्रकारके होते हैं अर्थात् शास्त्रीय कर्मोंमें भी गुणोंको लेकर तीन प्रकारकी रुचि होती है,)
तेषाम् = (तू) उनके
इमम् = इस
भेदम् = भेदको
शृणु = सुन।

व्याख्या—**'आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः'**—चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाकी परीक्षाके लिये सात्त्विक, राजस और तामस—तीन तरहके यजन बताये। परन्तु जिसकी श्रद्धा, रुचि, प्रियता यजन-पूजनमें नहीं है, उनकी निष्ठाकी पहचान कैसे हो? इसके लिये बताया कि जिनकी यजन-पूजनमें श्रद्धा नहीं है, ऐसे मनुष्योंको भी शरीर-निर्वाहके लिये भोजन तो करना ही पड़ता है, चाहे वे नास्तिक हों, चाहे आस्तिक हों, चाहे वैदिक अथवा ईसाई, पारसी, यहूदी, यवन आदि किसी सम्प्रदायके हों। उन सबके लिये यहाँ **'आहारस्त्वपि'** पद देकर कहा है कि निष्ठाकी पहचानके लिये केवल यजन-पूजन ही नहीं है, प्रत्युत भोजनकी रुचिसे ही उनकी निष्ठाकी पहचान हो जायगी।

मनुष्यका मन स्वाभाविक ही जिस भोजनमें ललचाता है अर्थात् जिस भोजनकी बात सुनकर, उसे देखकर और उसे चखकर मन आकृष्ट होता है, उसके अनुसार उसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी निष्ठा मानी जाती है।

यहाँ कोई ऐसा भी कह सकता है कि सात्त्विक, राजस और तामस आहार कैसा-कैसा होता है—इसे बतानेके लिये यह प्रकरण आया है। स्थूलदृष्टिसे देखनेपर तो ऐसा ही दीखता है; परन्तु विचारपूर्वक गहराईसे देखनेपर यह बात दीखती नहीं। वास्तवमें यहाँ आहारका वर्णन नहीं है, प्रत्युत आहारीकी रुचिका वर्णन है। अतः आहारीकी श्रद्धाकी पहचान कैसे हो? यह बतानेके लिये ही यह प्रकरण आया है।

यहाँ **'सर्वस्य'** और **'प्रियः'** पद यह बतानेके लिये आये हैं कि सामान्यरूपसे सम्पूर्ण मनुष्योंमें एक-एककी किस-किस भोजनमें रुचि होती है, जिससे उनकी सात्त्विकी, राजसी और तामसी निष्ठाकी पहचान हो। ऐसे ही **'यज्ञस्तपस्तथा दानम्'**[1] पद यह बतानेके लिये आये हैं कि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उनमें भी उन मनुष्योंकी यज्ञ, तप आदि किस-किस कर्ममें कैसी-कैसी रुचि—प्रियता होती है। यहाँ **'तथा'** कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे पूजन तीन तरहका होता है और जैसे आहार तीन तरहका प्रिय होता है, इसी तरह शास्त्रीय यज्ञ, तप आदि कर्म भी तीन तरहके होते हैं। इससे यहाँ एक और बात भी सिद्ध होती है कि शास्त्र, सत्संग, विवेचन, वार्तालाप, कहानी, पुस्तक, व्रत, तीर्थ, व्यक्ति आदि जो-जो भी सामने आयेंगे, उनमें जो सात्त्विक होगा वह सात्त्विक मनुष्यको, जो राजस होगा, वह राजस मनुष्यको और जो तामस होगा, वह तामस मनुष्यको प्रिय लगेगा।

'तेषां भेदमिमं शृणु'—यज्ञ, तप और दानके भेद सुनो अर्थात् मनुष्यकी स्वाभाविक रुचि, प्रवृत्ति और प्रसन्नता किस-किसमें होती है, उसको तुम सुनो। जैसे अपनी रुचिके अनुसार कोई ब्राह्मणको दान देना पसंद करता है, तो कोई अन्य साधारण मनुष्यको दान देना ही पसंद करता है। कोई शुद्ध आचरणवाले व्यक्तियोंके साथ मित्रता करते हैं, तो कोई जिनका खान-पान, आचरण आदि शुद्ध नहीं हैं, ऐसे मनुष्योंके साथ ही मित्रता करते हैं, आदि-आदि[2]।

तात्पर्य यह कि सात्त्विक मनुष्योंकी रुचि सात्त्विक खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदिमें होती है और उन्हींका संग करना उनको अच्छा लगता है। राजस मनुष्योंकी रुचि राजस खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदिमें होती है और उन्हींका संग उनको अच्छा लगता है। तामस मनुष्योंकी रुचि तामस खान-पान, रहन-सहन आदिमें तथा शास्त्रनिषिद्ध आचरण करनेवाले नीच मनुष्योंके साथ उठने-बैठने, खाने-पीने, बातचीत करने, साथ रहने, मित्रता करने आदिमें होती है और उन्हींका संग उनको अच्छा लगता है तथा वैसे ही आचरणोंमें उनकी प्रवृत्ति होती है।

परिशिष्ट भाव—मनुष्यके द्वारा स्वभावसे होनेवाली क्रियाएँ दो प्रकारकी होती हैं—व्यावहारिक और शास्त्रीय। अतः यहाँ 'आहार'के अन्तर्गत व्यावहारिक (खान-पान, रहन-सहन आदि) और 'यज्ञ-तप-दान' के अन्तर्गत शास्त्रीय क्रियाओंको समझना चाहिये।

१-यद्यपि यहाँ 'यज्ञ' शब्द होमरूप यज्ञका ही वाचक है, सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंका नहीं (क्योंकि यज्ञके साथ तप और दान अलगसे आये हैं), तथापि गौणतासे तीर्थ, व्रत आदि कर्तव्य-कर्म भी लिये जा सकते हैं।

२-मृगा मृगैः संगमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः। मूर्खाश्च मूर्खैः सुधयः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्॥

(पंचतन्त्र, मित्रभेद ३०५)

'जिस प्रकार पशुओंमें हरिण हरिणोंके साथ, गायें गायोंके साथ, घोड़े घोड़ोंके साथ ही चलते-फिरते हैं, उसी प्रकार मनुष्योंमें भी मूर्ख मूर्खोंके साथ और विद्वान् विद्वानोंके साथ मित्रता आदिका व्यवहार करते हैं; क्योंकि मित्रता समान स्वभाव, आचरण आदिमें ही होती है।'

आयु:सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना: ।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्त्विकप्रिया: ॥ ८ ॥

शब्द	अर्थ
आयु:सत्त्व-बलारोग्य-सुखप्रीति-विवर्धना:	= आयु, सत्त्व-गुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले,
स्थिरा:	= स्थिर रहनेवाले,
हृद्या:	= हृदयको शक्ति देनेवाले,
रस्या:	= रसयुक्त (तथा)
स्निग्धा:	= चिकने—
आहारा:	= (ऐसे) आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ
सात्त्विकप्रिया:	= सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं।

व्याख्या—‘**आयु:**’—जिन आहारोंके करनेसे मनुष्यकी आयु बढ़ती है; ‘**सत्त्वम्**’—सत्त्वगुण बढ़ता है; ‘**बलम्**’—शरीर, मन, बुद्धि आदिमें सात्त्विक बल एवं उत्साह पैदा होता है; ‘**आरोग्य:**’—शरीरमें नीरोगता बढ़ती है; ‘**सुखम्**’—सुख-शान्ति प्राप्त होती है; और ‘**प्रीतिविवर्धना:**’—जिनको देखनेसे ही प्रीति पैदा होती है*, वे अच्छे लगते हैं।

इस प्रकारके ‘**स्थिरा:**’—जो गरिष्ठ नहीं, प्रत्युत सुपाच्य हैं और जिनका सार बहुत दिनतक शरीरमें शक्ति देता रहता है; और ‘**हृद्या:**’—हृदय, फेफड़े आदिको शक्ति देनेवाले तथा बुद्धि आदिमें सौम्य भाव लानेवाले; ‘**रस्या:**’—फल, दूध, खाँड़ आदि रसयुक्त पदार्थ; ‘**स्निग्धा:**’—घी, मक्खन, बादाम, काजू, किशमिश, सात्त्विक पदार्थोंसे निकले हुए तेल आदि स्नेहयुक्त भोजनके पदार्थ, जो अच्छे पके हुए तथा ताजे हैं।

‘**आहारा: सात्त्विकप्रिया:**’—ऐसे भोजनके (भोज्य, पेय, लेह्य और चोष्य) पदार्थ सात्त्विक मनुष्यको प्यारे लगते हैं। अत: ऐसे आहारमें रुचि होनेसे उसकी पहचान हो जाती है कि यह मनुष्य सात्त्विक है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन: ।
आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदा: ॥ ९ ॥

शब्द	अर्थ
कट्वम्ल-लवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्ष-विदाहिन:	= अति कड़वे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखे, अति रूखे और अति दाहकारक
आहारा:	= आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ
राजसस्य	= राजस मनुष्यको
इष्टा:	= प्रिय होते हैं, (जो कि)
दु:खशोकामय-प्रदा:	= दु:ख, शोक और रोगोंको देनेवाले हैं।

व्याख्या—‘**कटु**’—करेला, ग्वारपाठा आदि अधिक कड़वे पदार्थ; ‘**अम्ल**’—इमली, अमचूर, नींबू, छाछ, सड़न पैदा करके बनाया गया सिरका आदि अधिक खट्टे पदार्थ; ‘**लवणम्**’—अधिक नमकवाले पदार्थ; ‘**अत्युष्णम्**’—जिनसे भाप निकल रही हो, ऐसे अत्यन्त गरम-गरम पदार्थ; ‘**तीक्ष्णम्**’—जिनको खानेसे नाक, आँख, मुख और सिरसे पानी आने लगे, ऐसे लाल मिर्च आदि अधिक तीखे पदार्थ; ‘**रूक्षम्**’—जिनमें घी, दूध आदिका सम्बन्ध नहीं है, ऐसे भुने हुए चने, सतुआ आदि अधिक रूखे पदार्थ और ‘**विदाहिन:**’—राई आदि अधिक दाहकारक पदार्थ (राईको दो-तीन घंटे छाछमें भिगोकर रखा जाय, तो उसमें एक खमीर पैदा होता है, जो बहुत दाहकारक होता है)।

‘**आहारा राजसस्येष्टा:**’—इस प्रकारके भोजनके

*** ऐसे तो अनुकूल आहार मिलनेपर राजस पुरुषको भी प्रीति होगी, पर वह प्रीति परिणाममें विष हो जायगी (अठारहवें अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। ऐसे ही तामस पुरुषको भी प्रीति होगी, पर वह प्रीति परिणाममें उसको मूढ़तामें अर्थात् अतिनिद्रा, आलस्य और प्रमाद (खेल-तमाशे, व्यर्थ बकवाद, दुर्व्यसन आदि) में लगा देगी (अठारहवें अध्यायका उन्तालीसवाँ श्लोक)।**

(भोज्य, पेय, लेह्य और चोष्य) पदार्थ राजस मनुष्यको प्यारे होते हैं। इससे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जाती है।

'दुःखशोकामयप्रदाः'—परन्तु ऐसे पदार्थ परिणाममें दुःख, शोक और रोगोंको देनेवाले होते हैं। खट्टा, तीखा और दाहकारक भोजन करते समय मुख आदिमें जो जलन होती है, यह दुःख है। भोजन करनेके बाद मनमें प्रसन्नता नहीं होती, प्रत्युत स्वाभाविक चिन्ता रहती है, यह शोक है। ऐसे भोजनसे शरीरमें प्रायः रोग होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

यत्	= जो	**पर्युषितम्**	= बासी		(मांस आदि)
भोजनम्	= भोजन	**च**	= और	**अपि**	= भी है, (वह)
यातयामम्	= सड़ा हुआ,	**उच्छिष्टम्**	= जूठा है	**तामसप्रियम्**	= तामस मनुष्यको प्रिय होता है।
गतरसम्	= रसरहित,	**च**	= तथा (जो)		
पूति	= दुर्गन्धित,	**अमेध्यम्**	= महान् अपवित्र		

व्याख्या—**'यातयामम्'**—पकनेके लिये जिनको पूरा समय प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे अधपके या उचित समयसे ज्यादा पके हुए अथवा जिनका समय बीत गया है, ऐसे बिना ऋतुके पैदा किये हुए एवं ऋतु चली जानेपर फ्रिज आदिकी सहायतासे रखे हुए साग, फल आदि भोजनके पदार्थ।

'गतरसम्'—धूप आदिसे जिनका स्वाभाविक रस सूख गया है अथवा मशीन आदिसे जिनका सार खींच लिया गया है, ऐसे दूध, फल आदि।

'पूति'—सड़नसे पैदा की गयी मदिरा[1] और स्वाभाविक दुर्गन्धवाले प्याज, लहसुन आदि।

'पर्युषितम्'—जल और नमक मिलाकर बनाये हुए साग, रोटी आदि पदार्थ रात बीतनेपर बासी कहलाते हैं। परन्तु केवल शुद्ध दूध, घी, चीनी आदिसे बने हुए अथवा अग्निपर पकाये हुए पेड़ा, जलेबी, लड्डू आदि जो पदार्थ हैं, उनमें जबतक विकृति नहीं आती, तबतक वे बासी नहीं माने जाते। ज्यादा समय रहनेपर उनमें विकृति (दुर्गन्ध आदि) पैदा होनेसे वे भी बासी कहे जायँगे।

'उच्छिष्टम्'—भुक्तावशेष अर्थात् भोजनके बाद पात्रमें बचा हुआ अथवा जूठा हाथ लगा हुआ और जिसको गाय, बिल्ली, कुत्ता, कौआ आदि पशु-पक्षी देख ले, सूँघ ले या खा ले—वह सब जूठन माना जाता है।

'अमेध्यम्'—रज-वीर्यसे पैदा हुए मांस, मछली, अंडा आदि महान् अपवित्र पदार्थ, जो मुर्दा हैं और जिनको छूनेमात्रसे स्नान करना पड़ता है।[2]

'अपि च'—इन अव्ययोंके प्रयोगसे उन सब पदार्थोंको ले लेना चाहिये, जो शास्त्रनिषिद्ध हैं। जिस वर्ण, आश्रमके

१-मदिरापान करनेवालेको शास्त्रोंमें महापापी कहा गया है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरिति। (छान्दोग्योपनिषद् ५। १०। ९)

अर्थात् स्वर्णकी चोरी करनेवाला, मदिरा (शराब) पीनेवाला, गुरुपत्नीगमन करनेवाला, ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला—ये चारों महापापी हैं और इनका संग करनेवाला पाँचवाँ महापापी है।

इससे सिद्ध होता है कि मदिरापान सर्वथा निन्दनीय, मांसाहारसे भी अधिक निन्दनीय और पतन करनेवाला है।

गंगाजी सबको शुद्ध करनेवाली हैं। परन्तु यदि गंगाजीमें मदिराका पात्र डाल दिया जाय तो वह शुद्ध नहीं होता। जब मदिराका पात्र भी (जिसमें मदिरा डाली जाती है) इतना अशुद्ध हो जाता है, तब मदिरा पीनेवाला कितना अशुद्ध हो जाता होगा—इसका कोई ठिकाना नहीं है।

मदिराके निर्माणमें असंख्य जीवोंकी हत्या होती है। मदिरापानसे होनेवाली सबसे भयंकर हानि यह है कि इससे अन्तःकरणमें रहनेवाले धर्मके अंकुर नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्यके भीतर जो धार्मिक भावनाएँ रहती हैं, धर्मकी रुचि, संस्कार रहते हैं, उनको मदिरापान नष्ट कर देता है। इससे मनुष्य महान् पतनकी तरफ चला जाता है।

२-यहाँ तामस भोजनमें 'अमेध्य' शब्दका प्रयोग करके भगवान् मानो इन चीजोंका नाम भी लेना नहीं चाहते।

लिये जिन-जिन पदार्थोंका निषेध है, उस वर्ण-आश्रमके लिये उन-उन पदार्थोंको निषिद्ध माना गया है; जैसे मसूर, गाजर, शलगम आदि।

'भोजनं तामसप्रियम्'—ऐसा भोजन तामस मनुष्यको प्रिय लगता है। इससे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जाती है।

उपर्युक्त भोजनोंमेंसे सात्त्विक भोजन भी अगर रागपूर्वक खाया जाय, तो वह राजस हो जाता है और लोलुपतावश अधिक खाया जाय, (जिससे अजीर्ण आदि हो जाय) तो वह तामस हो जाता है। ऐसे ही भिक्षुकको विधिसे प्राप्त भिक्षा आदिमें रूखा, सूखा, तीखा और बासी भोजन प्राप्त हो जाय, जो कि राजस-तामस है, पर वह उसको भगवान्‌के भोग लगाकर भगवन्नाम लेते हुए स्वल्पमात्रामें* खाये, तो वह भोजन भी भाव और त्यागकी दृष्टिसे सात्त्विक हो जाता है।

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

चार श्लोकोंके इस प्रकरणमें तीन तरहके—सात्त्विक, राजस और तामस आहारका वर्णन दीखता है; परन्तु वास्तवमें यहाँ आहारका प्रसंग नहीं है, प्रत्युत 'आहारी' की रुचिका प्रसंग है। इसलिये यहाँ 'आहारी' की रुचिका ही वर्णन हुआ है—इसमें निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं—

(१) सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें आये **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः'** पदोंको लेकर अर्जुनने प्रश्न किया कि मनमाने ढंगसे श्रद्धापूर्वक काम करनेवालोंकी निष्ठाकी पहचान कैसे हो? तो भगवान्‌ने इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें श्रद्धाके तीन भेद बताकर तीसरे श्लोकमें **'सर्वस्य'** पदसे मनुष्यमात्रकी अन्तःकरणके अनुरूप श्रद्धा बतायी और चौथे श्लोकमें पूज्यके अनुसार पूजककी निष्ठाकी पहचान बतायी। सातवें श्लोकमें उसी **'सर्वस्य'** पदका प्रयोग करके भगवान् यह बताते हैं कि मनुष्यमात्रको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार तीन तरहका भोजन प्रिय होता है—**'आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।'** उस प्रियतासे ही मनुष्यकी निष्ठा-(स्थिति-) की पहचान हो जायगी।

'प्रियः' शब्द केवल सातवें श्लोकमें ही नहीं आया है, प्रत्युत आठवें श्लोकमें **'सात्त्विकप्रियाः'** नवें श्लोकमें **'राजसस्येष्टाः'** और दसवें श्लोकमें **'तामसप्रियम्'** में भी 'प्रिय' और 'इष्ट' शब्द आये हैं, जो रुचिके वाचक हैं। यदि यहाँ आहारका ही वर्णन होता तो भगवान् प्रिय और इष्ट शब्दोंका प्रयोग न करके ये सात्त्विक आहार हैं, ये राजस आहार हैं, ये तामस आहार हैं—ऐसे पदोंका प्रयोग करते।

(२) दूसरी प्रबल युक्ति यह है कि सात्त्विक आहारमें पहले **'आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः'** पदोंसे भोजनका फल बताकर बादमें भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया। कारण कि सात्त्विक मनुष्य भोजन करने आदि किसी भी कार्यमें विचारपूर्वक प्रवृत्त होता है, तो उसकी दृष्टि सबसे पहले उसके परिणामपर जाती है।

रागी होनेसे राजस मनुष्यकी दृष्टि सबसे पहले भोजनपर ही जाती है, इसलिये राजस आहारके वर्णनमें पहले भोजनके पदार्थोंका वर्णन करके बादमें **'दुःखशोकामयप्रदाः'** पदसे उसका फल बताया है। तात्पर्य यह कि राजस मनुष्य अगर आरम्भमें ही भोजनके परिणामपर विचार करेगा, तो फिर उसे राजस भोजन करनेमें हिचकिचाहट होगी; क्योंकि परिणाममें मुझे दुःख, शोक और रोग हो जायँ—ऐसा कोई मनुष्य नहीं चाहता। परन्तु राग होनेके कारण राजस पुरुष परिणामपर विचार करता ही नहीं।

सात्त्विक भोजनका फल पहले और राजस भोजनका फल पीछे बताया गया; परन्तु तामस भोजनका फल बताया ही नहीं गया। कारण कि मूढ़ता होनेके कारण तामस मनुष्य भोजन और उसके परिणामपर विचार करता ही नहीं। भोजन न्याययुक्त है या नहीं, उसमें हमारा अधिकार है या नहीं, शास्त्रोंकी आज्ञा है या नहीं और परिणाममें हमारे मन-बुद्धिके बलको बढ़ानेमें हेतु है या नहीं—इन बातोंका कुछ भी विचार न करके तामस मनुष्य पशुकी तरह खानेमें प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य है कि सात्त्विक भोजन करनेवाला तो दैवी-सम्पत्तिवाला होता है और राजस तथा तामस भोजन करनेवाला आसुरी-सम्पत्तिवाला होता है।

(३) यदि भगवान्‌को यहाँ आहारका ही वर्णन करना होता, तो वे आहारकी विधिका और उसके लिये कर्मोंकी शुद्धि-अशुद्धिका वर्णन करते; जैसे—

शुद्ध कमाईके पैसोंसे अनाज आदि पवित्र खाद्य पदार्थ खरीदे जायँ; रसोईमें चौका देकर और स्वच्छ वस्त्र पहनकर

*** स्वल्पमात्रामें खानेका तात्पर्य यह है कि भोजन करनेके बाद पेट याद न आये; क्योंकि पेट दो कारणोंसे याद आता है—अधिक खानेपर और बहुत कम खानेपर।**

पवित्रतापूर्वक भोजन बनाया जाय; भोजनको भगवान्‌के अर्पण किया जाय और भगवान्‌का चिन्तन तथा उनके नामका जप करते हुए प्रसाद-बुद्धिसे भोजन ग्रहण किया जाय—ऐसा भोजन सात्त्विक होता है।

स्वार्थ और अभिमानकी मुख्यताको लेकर सत्य-असत्यका कोई विचार न करते हुए पैसे कमाये जायँ; स्वाद, शरीरकी पुष्टि, भोग भोगनेकी सामर्थ्य बढ़ाने आदिका उद्देश्य रखकर भोजनके पदार्थ खरीदे जायँ; जिह्वाको स्वादिष्ट लगें और दीखनेमें भी सुन्दर दीखें—इस दृष्टिसे, रीतिसे उनको बनाया जाय; और आसक्तिपूर्वक खाया जाय—ऐसा भोजन राजस होता है।

झूठ-कपट, चोरी, डकैती, धोखेबाजी आदि किसी तरहसे पैसे कमाये जायँ; अशुद्धि-शुद्धिका कुछ भी विचार न करके मांस, अंडे आदि पदार्थ खरीदे जायँ; विधि-विधानका कोई खयाल न करके भोजन बनाया जाय और बिना हाथ-पैर धोये एवं चप्पल-जूती पहनकर ही अशुद्ध वायुमण्डलमें उसे खाया जाय—ऐसा भोजन तामस होता है।

परन्तु भगवान्‌ने यहाँ केवल सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषोंको प्रिय लगनेवाले खाद्य पदार्थोंका वर्णन किया है, जिससे उनकी रुचिकी पहचान हो जाय।

(४) इसके सिवाय गीतामें जहाँ-जहाँ आहारकी बात आयी है, वहाँ-वहाँ आहारीका ही वर्णन हुआ है; जैसे—'**नियताहाराः**' (४। ३०) पदमें नियमित आहार करनेवालेका, '**नात्यश्नतस्तु**' और '**युक्ताहारविहारस्य**' (६।१६-१७) पदोंमें अधिक खानेवाले और नियत खानेवालोंका; '**यदश्नासि**' (९। २७) पदमें भोजनके पदार्थको भगवान्‌के अर्पण करनेवालेका, और '**लघ्वाशी**' (१८।५२) पदमें अल्प भोजन करनेवालोंका वर्णन हुआ है।

इसी प्रकार इस अध्यायके सातवें श्लोकमें '**यज्ञस्तपस्तथा दानम्**' पदोंमें आया '**तथा**' (वैसे ही) पद यह कह रहा है कि जो मनुष्य यज्ञ, तप, दान आदि कार्य करते हैं, वे भी अपनी-अपनी (सात्त्विक, राजस अथवा तामस) रुचिके अनुसार ही कार्य करते हैं। आगे ग्यारहवेंसे बाईसवें श्लोकतकका जो प्रकरण है, उसमें भी यज्ञ, तप और दान करनेवालोंके स्वभावका ही वर्णन हुआ है।

भोजनके लिये आवश्यक विचार

उपनिषदोंमें आता है कि जैसा अन्न होता है, वैसा ही मन बनता है—'**अन्नमयं हि सोम्य मनः।**' (छान्दोग्य० ६।५।४) अर्थात् अन्नका असर मनपर पड़ता है। अन्नके सूक्ष्म सारभागसे मन (अन्तःकरण) बनता है, दूसरे नम्बरके भागसे वीर्य, तीसरे नम्बरके भागसे रक्त आदि और चौथे नम्बरके स्थूल भागसे मल बनता है, जो कि बाहर निकल जाता है। अतः मनको शुद्ध बनानेके लिये भोजन शुद्ध, पवित्र होना चाहिये। भोजनकी शुद्धिसे मन-(अन्तःकरण-)की शुद्धि होती है—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' (छान्दोग्य० २। २६। २)। जहाँ भोजन करते हैं, वहाँका स्थान, वायुमण्डल, दृश्य तथा जिसपर बैठकर भोजन करते हैं, वह आसन भी शुद्ध, पवित्र होना चाहिये। कारण कि भोजन करते समय प्राण जब अन्न ग्रहण करते हैं, तब वे शरीरके सभी रोमकूपोंसे आसपासके परमाणुओंको भी खींचते—ग्रहण करते हैं। अतः वहाँका स्थान, वायुमण्डल आदि जैसे होंगे, प्राण वैसे ही परमाणु खींचेंगे और उन्हींके अनुसार मन बनेगा। भोजन बनानेवालेके भाव, विचार भी शुद्ध सात्त्विक हों।

भोजनके पहले दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—ये पाँचों शुद्ध, पवित्र जलसे धो ले। फिर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके शुद्ध आसनपर बैठकर भोजनकी सब चीजोंको '**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥**' (गीता ९।२६)— यह श्लोक पढ़कर भगवान्‌के अर्पण कर दे। अर्पणके बाद दायें हाथमें जल लेकर '**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥**' (गीता ४। २४)—यह श्लोक पढ़कर आचमन करे और भोजनका पहला ग्रास भगवान्‌का नाम लेकर ही मुखमें डाले। प्रत्येक ग्रासको चबाते समय '**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥**'

—इस मन्त्रको मनसे दो बार पढ़ते हुए या अपने इष्टका नाम लेते हुए ग्रासको चबाये और निगले। इस मन्त्रमें कुल सोलह नाम हैं और दो बार मन्त्र पढ़नेसे बत्तीस नाम हो जाते हैं। हमारे मुखमें भी बत्तीस ही दाँत हैं। अतः (मन्त्रके प्रत्येक नामके साथ) बत्तीस बार चबानेसे वह भोजन सुपाच्य और आरोग्यदायक होता है एवं थोड़े अन्नसे ही तृप्ति हो जाती है तथा उसका रस भी अच्छा बनता है और इसके साथ ही भोजन भी भजन बन जाता है।

भोजन करते समय ग्रास-ग्रासमें भगवन्नाम-जप करते रहनेसे अन्नदोष भी दूर हो जाता है*।

* **कवले कवले कुर्वन् रामनामानुकीर्तनम्। यः कश्चित् पुरुषोऽश्नाति सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते॥**

जो लोग ईर्ष्या, भय और क्रोधसे युक्त हैं तथा लोभी हैं, और रोग तथा दीनतासे पीड़ित और द्वेषयुक्त हैं, वे जिस भोजनको करते हैं, वह अच्छी तरह पचता नहीं अर्थात् उससे अजीर्ण हो जाता है*। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह भोजन करते समय मनको शान्त तथा प्रसन्न रखे। मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंकी वृत्तियोंको न आने दे। यदि कभी आ जायँ तो उस समय भोजन न करे; क्योंकि वृत्तियोंका असर भोजनपर पड़ता है और उसीके अनुसार अन्तःकरण बनता है। ऐसा भी सुननेमें आया है कि फौजी लोग जब गायको दुहते हैं, तब दुहनेसे पहले बछड़ा छोड़ते हैं और उस बछड़ेके पीछे कुत्ता छोड़ते हैं। अपने बछड़ेके पीछे कुत्तेको देखकर जब गाय गुस्सेमें आ जाती है, तब बछड़ेको लाकर बाँध देते हैं और फिर गायको दुहते हैं। वह दूध फौजियोंको पिलाते हैं, जिससे वे लोग खूँखार बनते हैं।

ऐसे ही दूधका भी असर प्राणियोंपर पड़ता है। एक बार किसीने परीक्षाके लिये कुछ घोड़ोंको भैंसका दूध और कुछ घोड़ोंको गायका दूध पिलाकर उन्हें तैयार किया। एक दिन सभी घोड़े कहीं जा रहे थे। रास्तेमें नदीका जल था। भैंसका दूध पीनेवाले घोड़े उस जलमें बैठ गये और गायका दूध पीनेवाले घोड़े उस जलको पार कर गये। इसी प्रकार बैल और भैंसेका परस्पर युद्ध कराया जाय, तो भैंसा बैलको मार देगा; परन्तु यदि दोनोंको गाड़ीमें जोता जाय, तो भैंसा धूपमें जीभ निकाल देगा, जबकि बैल धूपमें भी चलता रहेगा। कारण कि भैंसके दूधमें सात्त्विक बल नहीं होता, जबकि गायके दूधमें सात्त्विक बल होता है।

जैसे प्राणियोंकी वृत्तियोंका पदार्थोंपर असर पड़ता है, ऐसे ही प्राणियोंकी दृष्टिका भी असर पड़ता है। बुरे व्यक्तिकी अथवा भूखे कुत्तेकी दृष्टि भोजनपर पड़ जाती है, तो वह भोजन अपवित्र हो जाता है। अब वह भोजन पवित्र कैसे हो? भोजनपर उसकी दृष्टि पड़ जाय, तो उसे देखकर मनमें प्रसन्न हो जाना चाहिये कि भगवान् पधारे हैं! अतः उसको सबसे पहले थोड़ा अन्न देकर भोजन करा दे। उसको देनेके बाद बचे हुए शुद्ध अन्नको स्वयं ग्रहण करे, तो दृष्टिदोष मिट जानेसे वह अन्न पवित्र हो जाता है।

दूसरी बात, लोग बछड़ेको पेटभर दूध न पिलाकर सारा दूध स्वयं दुह लेते हैं। वह दूध पवित्र नहीं होता; क्योंकि उसमें बछड़ेका हक आ जाता है। बछड़ेको पेटभर दूध पिला दे; और इसके बाद जो दूध निकले, वह चाहे पावभर ही क्यों न हो, बहुत पवित्र होता है।

भोजन करनेवाले और करानेवालेके भावका भी भोजनपर असर पड़ता है; जैसे—(१) भोजन करनेवालेकी अपेक्षा भोजन करानेवालेकी जितनी अधिक प्रसन्नता होगी, वह भोजन उतने ही उत्तम दर्जेका माना जायगा। (२) भोजन करानेवाला तो बड़ी प्रसन्नतासे भोजन कराता है; परन्तु भोजन करनेवाला 'मुफ्तमें भोजन मिल गया; अपने इतने पैसे बच गये; इससे मेरेमें बल आ जायगा' आदि स्वार्थका भाव रख लेता है, तो वह भोजन मध्यम दर्जेका हो जाता है, और (३) भोजन करानेवालेका यह भाव है कि 'यह घरपर आ गया, तो खर्चा करना पड़ेगा, भोजन बनाना पड़ेगा, भोजन कराना ही पड़ेगा' आदि और भोजन करनेवालेमें भी स्वार्थभाव है, तो वह भोजन निकृष्ट दर्जेका हो जायगा।

इस विषयमें गीताने सिद्धान्तरूपसे कह दिया है—'**सर्वभूतहिते रताः**' (५। २५, १२। ४)। तात्पर्य यह है कि जिसका सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव जितना अधिक होगा, उसके पदार्थ, क्रियाएँ आदि उतनी ही पवित्र हो जायँगी।

भोजनके अन्तमें आचमनके बाद ये श्लोक पढ़ने चाहिये—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(गीता ३। १४-१५)

फिर भोजनके पाचनके लिये '**अहं वैश्वानरो भूत्वा०**' (गीता १५। १४) श्लोक पढ़ते हुए मध्यमा अंगुलीसे नाभिको धीरे-धीरे घुमाना चाहिये।

---

* **ईर्ष्याभयक्रोधसमन्वितेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन। विद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥**
(भावप्रकाश-दिनचर्याप्रकरण ५।२२८)

सम्बन्ध—पहले यजन-पूजन और भोजनके द्वारा जो श्रद्धा बतायी, उससे शास्त्रविधिका अज्ञतापूर्वक त्याग करनेवालोंकी स्वाभाविक निष्ठा—रुचिकी तो पहचान हो जाती है; परन्तु जो मनुष्य व्यापार, खेती आदि जीविकाके कार्य करते हैं अथवा शास्त्रविहित यज्ञादि शुभकर्म करते हैं, उनकी स्वाभाविक रुचिकी पहचान कैसे हो—यह बतानेके लिये यज्ञ, तप और दानके तीन-तीन भेदोंका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

यष्टव्यम्, एव = यज्ञ करना ही कर्तव्य है
इति = —इस तरह
मनः = मनको
समाधाय = समाधान (सन्तुष्ट) करके
अफलाकाङ्क्षिभिः = फलेच्छारहित मनुष्योंद्वारा
यः = जो
विधिदृष्टः = शास्त्रविधिसे नियत
यज्ञः = यज्ञ
इज्यते = किया जाता है,
सः = वह
सात्त्विकः = सात्त्विक है।

व्याख्या—‘**यष्टव्यमेवेति**’—जब मनुष्य-शरीर मिल गया और अपना कर्तव्य करनेका अधिकार भी प्राप्त हो गया, तो अपने वर्ण-आश्रममें शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ करनामात्र मेरा कर्तव्य है। ‘**एव इति**’—ये दो अव्यय लगानेका तात्पर्य है कि इसके सिवाय दूसरा कोई भाव न रखे अर्थात् इस यज्ञसे लोकमें और परलोकमें मेरेको क्या मिलेगा? इससे मेरेको क्या लाभ होगा?—ऐसा भाव भी न रहे, केवल कर्तव्यमात्र रहे।

जब उससे कुछ मिलनेकी आशा ही नहीं रखनी है, तो फिर (फलेच्छाका त्याग करके) यज्ञ करनेकी जरूरत ही क्या है?—इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—‘**मनः समाधाय**’ अर्थात् ‘यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है’ ऐसे मनको समाधान करके यज्ञ करना चाहिये।

‘**अफलाकाङ्क्षिभिः**’—मनुष्य फलकी इच्छा रखनेवाला न हो अर्थात् लोक-परलोकमें मेरेको इस यज्ञका अमुक फल मिले—ऐसा भाव रखनेवाला न हो।

‘**यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते**’—शास्त्रोंमें विधिके विषयमें जैसी आज्ञा दी गयी है, उसके अनुसार ही यज्ञ किया जाय। इस प्रकारसे जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक होता है—‘**स सात्त्विकः**।’

सात्त्विकताका तात्पर्य

सात्त्विकताका क्या तात्पर्य होता है? अब इसपर थोड़ा विचार करें। ‘**यष्टव्यम्**’*—‘यज्ञ करनामात्र कर्तव्य है’—ऐसा जब उद्देश्य रहता है, तब उस यज्ञके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जुड़ता। परन्तु जब कर्तामें ‘वर्तमानमें मान, आदर, सत्कार आदि मिलें, मरनेके बाद स्वर्गादि लोक मिलें तथा आगेके जन्ममें धनादि पदार्थ मिलें’—इस प्रकारकी इच्छाएँ होंगी, तब उसका उस यज्ञके साथ सम्बन्ध जुड़ जायगा। तात्पर्य है कि फलकी इच्छा रखनेसे ही यज्ञके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। केवल कर्तव्यमात्रका पालन करनेसे उससे सम्बन्ध नहीं जुड़ता, प्रत्युत उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और (स्वार्थ तथा अभिमान न रहनेसे) कर्ताकी अहंता शुद्ध हो जाती है।

इसमें एक बड़ी मार्मिक बात है कि कुछ भी कर्म करनेमें कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध रहता है। कर्म कर्तासे अलग नहीं होता। कर्म कर्ताका ही चित्र होता है अर्थात् जैसा कर्ता होगा, वैसे ही कर्म होंगे। इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा है—‘**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**’ अर्थात् जो जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है और वैसा ही (श्रद्धाके अनुसार) उससे कर्म होता है। तात्पर्य यह है कि कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध होता है और कर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे ही कर्ताका बन्धन होता है। केवल कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् कर्ता मुक्त हो जाता है।

केवल कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करना क्या है? अपने लिये कुछ नहीं करना है, सामग्रीके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; मेरा देश, काल आदिसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है; केवल मनुष्य होनेके नाते जो कर्तव्य प्राप्त हुआ है, उसको कर देना है—ऐसा भाव होनेसे कर्ता फलाकांक्षी नहीं होगा और कर्मोंका फल कर्ताको बाँधेगा नहीं अर्थात् यज्ञकी क्रिया

*** जो करनेयोग्य है, जो अपनी सामर्थ्यके अनुरूप है, जिसे अवश्य करना चाहिये और जिसको करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है, वह ‘कर्तव्य’ होता है। वही कर्तव्य यज्ञमें ‘यष्टव्य’ और दानमें ‘दातव्य’ है।**

और यज्ञके फलके साथ कर्ताका सम्बन्ध नहीं होगा। गीता कहती है—**'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।'** (५। ११) अर्थात् करण (शरीर, इन्द्रियाँ आदि) उपकरण (यज्ञ करनेमें उपयोगी सामग्री) और अधिकरण (स्थान) आदि किसीके भी साथ हमारा सम्बन्ध न हो।

यज्ञकी क्रियाका आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। ऐसे ही उसके फलका भी आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। क्रिया और फल दोनों उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले हैं और स्वयं (आत्मा) नित्य-निरन्तर रहनेवाला है; परन्तु यह (स्वयं) क्रिया और फलके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। इस माने हुए सम्बन्धको यह जबतक नहीं छोड़ता, तबतक यह जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा रहता है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)।

एक विलक्षण बात है कि गीतामें जो सत्त्वगुण कहा है, वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माकी तरफ ले जानेवाला होनेसे 'सत्' अर्थात् निर्गुण हो जाता है*। दैवी-सम्पत्तिमें भी जितने गुण हैं, वे सब सात्त्विक ही हैं। परन्तु दैवी-सम्पत्तिवाला तभी परमात्माको प्राप्त होगा, जब वह सत्त्वगुणसे ऊँचा उठ जायगा अर्थात् जब गुणोंके संगसे सर्वथा रहित हो जायगा।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

तु	= परन्तु	**एव**	= ही	**अपि**	= भी (किया जाता है),
भरतश्रेष्ठ	= हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन!	**इज्यते**	= किया जाता है	**तम्**	= उस
यत्	= जो	**च**	= अथवा	**यज्ञम्**	= यज्ञको (तुम)
फलम्	= फलकी	**दम्भार्थम्**	= दम्भ (दिखावटीपन)-के लिये	**राजसम्**	= राजस
अभिसन्धाय	= इच्छाको लेकर			**विद्धि**	= समझो।

व्याख्या—**'अभिसन्धाय तु फलम्'**—फल अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिकी कामना रखकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस हो जाता है।

'इस लोकमें हमें धन-वैभव मिले; स्त्री-पुत्र, परिवार अच्छा मिले; नौकर-चाकर, गाय-भैंस आदि भी हमारे अनुकूल मिलें; हमारा शरीर नीरोग रहे; हमारा आदर-सत्कार, मान-बड़ाई, प्रसिद्धि हो जाय तथा मरनेके बाद भी हमें स्वर्गादि लोकोंके दिव्य भोग मिलें' आदि इष्टकी प्राप्तिकी कामनाएँ हैं।

---

* श्रीमद्भागवतमें एकादश स्कन्धके पचीसवें अध्यायमें जहाँ तामस, राजस और सात्त्विक—इन तीन गुणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ उनके साथ एक 'निर्गुण' और कहा है। परन्तु गीतामें तीन ही गुण कहे गये हैं। जब दोनोंके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, तो फिर ऐसा भेद क्यों?

गीताका जो सात्त्विक भाव है, उसमें भगवान्ने 'यष्टव्यम्' (१७। ११), 'दातव्यम्' (१७। २०), 'कार्यमित्येव' (१८। ९) आदि पद कहे हैं। इन्हें कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस कर्ताका 'यज्ञ करनामात्र, दान देनामात्र और कर्तव्य करनामात्र' उद्देश्य रहता है, उसका कर्म और कर्मफलके साथ प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् सात्त्विक यज्ञ, दान आदि भी 'निर्गुण' हो जाते हैं।

सत्रहवें अध्यायके अन्तमें परमात्माके तीन नामों 'ॐ, तत्, सत्' के वर्णनमें 'सत्' शब्दकी व्याख्या करते हुए भगवान्ने बताया कि उस परमात्माके निमित्त जितने कर्म किये जाते हैं, वे सभी 'सत्' (निर्गुण) हो जाते हैं—'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते' (१७। २७)। तात्पर्य यह है कि कर्मयोगीका कर्म और कर्मफलके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे और भक्तियोगीके कर्मोंका भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़नेसे उनके सभी कर्म 'निर्गुण' हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों ही बातें एक हीमें आ जानेसे गीतामें निर्गुणका अलग वर्णन नहीं आया है।

गीतामें जहाँ सत्त्वगुणको अनामय बताया है, वहाँ सत्त्वगुणसे बन्धन होनेकी बात भी कही है (१४। ६) और कहा है कि सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं (१४। १८)। इसका तात्पर्य यह है कि बन्धन सत्त्वगुणसे नहीं होता, प्रत्युत उसका संग करनेसे ही बन्धन होता है—'सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥' (१४। ६) और 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥' (१३। २१)। ऐसे ही सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति मानना 'सत्त्वस्थाः' (१४। १८) भी बन्धनकारक है।

'हमारे वैरी नष्ट हो जायँ; संसारमें हमारा अपमान, बेइज्जती, तिरस्कार आदि कभी न हो; हमारे प्रतिकूल परिस्थिति कभी आये ही नहीं' आदि अनिष्टकी निवृत्तिकी कामनाएँ हैं।

'दम्भार्थमपि चैव यत्'—लोग हमें भीतरसे सद्गुणी, सदाचारी, संयमी, तपस्वी, दानी, धर्मात्मा, याज्ञिक आदि समझें, जिससे संसारमें हमारी प्रसिद्धि हो जाय—ऐसे दिखावटीपनेको लेकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस कहलाता है। इस प्रकारके दिखावटी यज्ञ करनेवालोंमें **'यक्ष्ये दास्यामि'** (१६।१५) और **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते'** (१६।१७) आदि सभी बातें विशेषतासे आ जाती हैं।

'इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्'—इस प्रकार फलकी कामना और दम्भ-(दिखावटीपन-) को लेकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस हो जाता है।

जो यज्ञ कामनापूर्तिके लिये किया जाता है, उसमें शास्त्रविधिकी मुख्यता रहती है। कारण कि यज्ञकी विधि और क्रियामें यदि किसी प्रकारकी कमी रहेगी, तो उससे प्राप्त होनेवाले फलमें भी कमी आ जायगी। इसी प्रकार यदि यज्ञकी विधि और क्रियामें विपरीत बात आ जायगी, तो उसका फल भी विपरीत हो जायगा अर्थात् वह यज्ञ सिद्धि न देकर उलटे यज्ञकर्ताके लिये घातक हो जायगा।

परन्तु जो यज्ञ केवल दिखावटीपनके लिये किया जाता है, उसमें शास्त्रविधिकी परवाह नहीं होती।

यहाँ **'विद्धि'** क्रिया देनेका तात्पर्य है कि हे अर्जुन! सांसारिक राग (कामना) ही जन्म-मरणका कारण है। अतः इस विषयमें तेरेको विशेष सावधान रहना है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें आये **'यत्'** पदसे यह भाव निकलता है कि फलेच्छा और दम्भके लिये जो भी यज्ञ, दान, तप आदि कर्म किये जायँ, वे सब राजस समझने चाहिये।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

विधिहीनम् = शास्त्रविधिसे हीन, **असृष्टान्नम्** = अन्न-दानसे रहित, **मन्त्रहीनम्** = बिना मन्त्रोंके, **अदक्षिणम्** = बिना दक्षिणाके (और) **श्रद्धाविरहितम्** = बिना श्रद्धाके किये जानेवाले **यज्ञम्** = यज्ञको **तामसम्** = तामस **परिचक्षते** = कहते हैं।

व्याख्या—**'विधिहीनम्'**—अलग-अलग यज्ञोंकी अलग-अलग विधियाँ होती हैं और उसके अनुसार यज्ञकुण्ड, स्रुवा आदि पात्र, बैठनेकी दिशा, आसन आदिका विचार होता है। अलग-अलग देवताओंकी अलग-अलग सामग्री होती है; जैसे—देवीके यज्ञमें लाल वस्त्र और लाल सामग्री होती है। परन्तु तामस यज्ञमें इन विधियोंका पालन नहीं होता, प्रत्युत उपेक्षापूर्वक विधिका त्याग होता है।

'असृष्टान्नम्'—तामस मनुष्य जो द्रव्ययज्ञ करते हैं, उसमें ब्राह्मणादिको अन्न-दान नहीं किया जाता। तामस मनुष्योंका यह भाव रहता है कि मुफ्तमें रोटी मिलनेसे वे आलसी हो जायँगे, काम-धंधा नहीं करेंगे।

'मन्त्रहीनम्'—वेदोंमें और वेदानुकूल शास्त्रोंमें कहे हुए मन्त्रोंसे ही द्रव्ययज्ञ किया जाता है। परन्तु तामस यज्ञमें वैदिक तथा शास्त्रीय मन्त्रोंसे यज्ञ नहीं किया जाता। कारण कि तामस पुरुषोंका यह भाव रहता है कि आहुति देनेमात्रसे यज्ञ हो जाता है, सुगन्ध हो जाती है, गंदे परमाणु नष्ट हो जाते हैं, फिर मन्त्रोंकी क्या जरूरत है? आदि।

'अदक्षिणम्'—तामस यज्ञमें दान नहीं किया जाता। कारण कि तामस पुरुषोंका यह भाव रहता है कि हमने यज्ञमें आहुति दे दी और ब्राह्मणोंको अच्छी तरहसे भोजन करा दिया, अब उनको दक्षिणा देनेकी क्या जरूरत रही? यदि हम उनको दक्षिणा देंगे तो वे आलसी-प्रमादी हो जायँगे, पुरुषार्थहीन हो जायँगे, जिससे दुनियामें बेकारी फैलेगी; दूसरी बात, जिन ब्राह्मणोंको दक्षिणा मिलती है, वे कुछ कमाते ही नहीं, इसलिये वे पृथ्वीपर भाररूप रहते हैं, इत्यादि। वे तामस मनुष्य यह नहीं सोचते कि ब्राह्मणादिको अन्नदान, दक्षिणा आदि न देनेसे वे तो प्रमादी बनें, चाहे न बनें; पर शास्त्रविधिका, अपने कर्तव्य-कर्मका त्याग करनेसे हम तो प्रमादी बन ही गये!

'श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते'—अग्निमें आहुति देनेके विषयमें तामस मनुष्योंका यह भाव रहता है कि अन्न, घी, जौ, चावल, नारियल, छुहारा आदि तो मनुष्यके निर्वाहके कामकी चीजें हैं। ऐसी चीजोंको अग्निमें फूँक देना कितनी मूर्खता है!* अपनी प्रसिद्धि, मान-बड़ाईके लिये वे यज्ञ करते भी हैं तो बिना शास्त्रविधिके, बिना अन्नदानके, बिना मन्त्रोंके और बिना दक्षिणाके करते हैं। उनकी शास्त्रोंपर, शास्त्रोक्त मन्त्रोंपर और उनमें बतायी हुई विधियोंपर तथा शास्त्रोक्त विधिपूर्वक की गयी यज्ञकी क्रियापर और उसके पारलौकिक फलपर भी श्रद्धा-विश्वास नहीं होते। कारण कि उनमें मूढ़ता होती है। उनमें अपनी तो अक्ल होती नहीं और दूसरा कोई समझा दे तो उसे मानते नहीं।

इस तामस यज्ञमें **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः'** (गीता १६। २३) और **'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्'** (गीता १७। २८)—ये दोनों भाव होते हैं। अतः वे इहलोक और परलोकका जो फल चाहते हैं, वह उनको नहीं मिलता—**'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्', 'न च तत्प्रेत्य नो इह।'** तात्पर्य है कि उनको उपेक्षापूर्वक किये गये शुभ-कर्मोंका इच्छित फल तो नहीं मिलेगा, पर अशुभ-कर्मोंका फल (अधोगति) तो मिलेगा ही—**'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (१४। १८)। कारण कि अशुभ फलमें अश्रद्धा ही हेतु है और वे अश्रद्धापूर्वक ही शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं; अतः इसका दण्ड तो उनको मिलेगा ही।

इन यज्ञोंमें कर्ता, ज्ञान, क्रिया, धृति, बुद्धि, संग, शास्त्र, खान-पान आदि यदि सात्त्विक होंगे, तो वह यज्ञ सात्त्विक हो जायगा; यदि राजस होंगे, तो वह यज्ञ राजस हो जायगा; और यदि तामस होंगे, तो वह यज्ञ तामस हो जायगा।

सम्बन्ध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञका वर्णन करके अब आगेके तीन श्लोकोंमें क्रमशः शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका वर्णन करते हैं (जिसका सात्त्विक, राजस और तामस-भेद आगे करेंगे)।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् = देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषका यथायोग्य पूजन करना, **शौचम्** = शुद्धि रखना, **आर्जवम्** = सरलता, **ब्रह्मचर्यम्** = ब्रह्मचर्यका पालन करना **च** = और **अहिंसा** = हिंसा न करना—(यह) **शारीरम्** = शरीर-सम्बन्धी **तपः** = तप **उच्यते** = कहा जाता है।

व्याख्या—**'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'**—यहाँ 'देव' शब्द मुख्यरूपसे विष्णु, शंकर, गणेश, शक्ति और सूर्य—इन पाँच ईश्वरकोटिके देवताओंके लिये आया है। इन पाँचोंमें जो अपना इष्ट है, जिसपर अधिक श्रद्धा है, उसका

* जब खेतमें हल चलानेवाला अनाजके बढ़िया-बढ़िया बीजोंको मिट्टीमें मिला देता है, तो खेती होनेपर उन बीजोंसे कई गुणा अधिक अनाज पैदा हो जाता है; फिर शास्त्रीय मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक वस्तुओंका हवन करना क्या निरर्थक जायगा? मिट्टीमें मिलाया हुआ बीज तो आधिभौतिक है; क्योंकि पृथ्वी जड है, पर शास्त्रविधिसहित अग्निमें दी गयी आहुति आधिदैविक है; क्योंकि देवता चेतन हैं। अतः उन देवताओंके लिये दी गयी आहुति वर्षाके रूपमें बहुत बड़ा काम करती है। मनुजीने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनुस्मृति ३। ७६)

अर्थात् अग्निमें डाली हुई आहुति आदित्यकी किरणोंको पुष्ट करती है और उन पुष्ट हुई किरणोंसे वर्षा होती है (इस बातको भौतिक वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं)।

मात्र जीव अन्नसे पैदा होते हैं और अन्न जलसे पैदा होता है—'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।' (गीता ३। १४)। अतः सृष्टिमें जल ही प्रधान है। जल बरसनेमें 'यज्ञ' ही खास हेतु है—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' (३। १४)।

निष्कामभावसे पूजन करना चाहिये।*

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस शास्त्रोक्त देवता भी '**देव**' शब्दके अन्तर्गत आते हैं। यज्ञ, तीर्थ, व्रत आदिमें, दीपमालिका आदि विशेष पर्वोंमें और जातकर्म, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारोंके समय जिन देवताओंके पूजनका शास्त्रोंमें विधान आता है, उन सब देवताओंको भी 'देव' शब्दके अन्तर्गत मानना चाहिये। इन देवताओंका यथावसर पूजन करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है। अतः हमें तो केवल शास्त्रमर्यादाको सुरक्षित रखनेके लिये अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे इनका पूजन करना है—ऐसे भावसे इन देवताओंका भी यथावसर पूजन करना चाहिये। तात्पर्य है कि शास्त्रोंने जिन-जिन तिथि, वार, नक्षत्र, आदिके दिन जिन-जिन देवताओंका पूजन करनेका विधान बताया है, उन-उन तिथि आदिके दिन उन-उन देवताओंका पूजन करना चाहिये।

'**द्विज**' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंका वाचक है; परन्तु यहाँ पूजनका विषय होनेसे इसे केवल ब्राह्मणका ही वाचक समझना चाहिये, क्षत्रिय और वैश्यका नहीं।

जिनसे हमें शिक्षा प्राप्त होती है, ऐसे हमारे माता-पिता बड़े-बूढ़े, कुलके आचार्य, पढ़ानेवाले अध्यापक और आश्रम, अवस्था, विद्या आदिमें जो हमारेसे बड़े हैं, उन सभीको 'गुरु' शब्दके अन्तर्गत समझना चाहिये।

द्विज (ब्राह्मण) एवं अपने माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना और उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना तथा पत्र-पुष्प, आरती आदिसे उनकी पूजा करना—यह सब उनका पूजन है।

यहाँ '**प्राज्ञ**' शब्द जीवन्मुक्त महापुरुषके लिये आया है। यदि वह वर्ण और आश्रममें ऊँचा होता, तो 'द्विज' पदमें आ जाता और यदि शरीरके सम्बन्धमें (जन्म और विद्यासे) बड़ा होता, तो 'गुरु' पदमें आ जाता। इसलिये जो वर्ण और आश्रममें ऊँचा नहीं है एवं जिसके साथ गुरुका सम्बन्ध भी नहीं है—ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषको यहाँ 'प्राज्ञ' कहा गया है। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषके वचनोंका, सिद्धान्तोंका आदर करते हुए उनके अनुसार अपना जीवन बनाना ही वास्तवमें उनका पूजन है। वास्तवमें देखा जाय तो द्विज और गुरु तो सांसारिक दृष्टिसे आदरणीय हैं, पूजनीय हैं; परन्तु प्राज्ञ (जीवन्मुक्त) तो आध्यात्मिक दृष्टिसे आदरणीय—पूजनीय है। अतः जीवन्मुक्तका हृदयसे आदर करना चाहिये; क्योंकि केवल बाहरी (बाह्य दृष्टिसे) आदर ही आदर नहीं है, प्रत्युत हृदयका आदर ही वास्तविक आदर है, पूजन है।

'**शौचम्**'—जल, मृत्तिका आदिसे शरीरको पवित्र बनानेका नाम 'शौच' है। शारीरिक शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(योगदर्शन २। ४०)

शौचसे अपने शरीरमें घृणा होगी कि हम इस शरीरको रात-दिन इतना साफ करते हैं, फिर भी इससे मल, मूत्र, पसीना, नाकका कफ, आँख और कानकी मैल, लार, थूक आदि निकलते ही रहते हैं। यह शरीर हड्डी, मांस, मज्जा आदि घृणित (अपवित्र) चीजोंका बना हुआ है। इस हड्डी-मांसके थैलेमें तोलाभर भी कोई शुद्ध, पवित्र, निर्मल और सुगन्धयुक्त वस्तु नहीं है। यह केवल गंदगीका पात्र है। इसमें कोरी मलिनता-ही-मलिनता भरी पड़ी है। यह केवल मल-मूत्र पैदा करनेकी एक फैक्टरी है, मशीन है। इस प्रकार शरीरकी अशुद्धि, मलिनताका ज्ञान होनेसे मनुष्य शरीरसे ऊँचा उठ जाता है। शरीरसे ऊँचा उठनेपर उसको वर्ण, आश्रम, अवस्था आदिको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अभिमान नहीं होता। इन्हीं बातोंके लिये शौच रखा जाता है।

आजकल प्रायः लोग कहते हैं कि जो शौचाचार रखते हैं, वे तो दूसरोंका अपमान करते हैं, दूसरोंसे घृणा करते हैं। उनका ऐसा कहना बिलकुल गलत है; क्योंकि शौचका फल यह नहीं बताया गया कि तुम दूसरोंका तिरस्कार करो, प्रत्युत यह बताया गया कि इससे दूसरोंके साथ संसर्ग नहीं होगा—'**परैरसंसर्गः।**' तात्पर्य है कि शरीरमात्रसे ग्लानि हो जायगी कि ये सब पुतले ऐसे ही अशुद्ध हैं। जैसे, मिट्टीके ढेलेको जलसे धोते चले जायँ, तो अन्तमें वह सब (गलकर) समाप्त हो जायगा, पर उसमें मिट्टीके सिवाय कोई बढ़िया चीज नहीं मिलेगी; ऐसे ही शरीरको कितना ही शुद्ध करते रहें, पर वह कभी शुद्ध होगा नहीं; क्योंकि इसके मूलमें ही अशुद्धि है—

*** इनमें भी वैष्णव भगवान् विष्णुको, शैव भगवान् शिवको, गाणपत भगवान् गणेशको, शाक्त भगवती शक्तिको और सौर भगवान् सूर्यको सर्वोपरि ईश्वर मानते हैं। अतः इन पाँचोंमें भी अपनी श्रद्धा-भक्तिके अनुसार अपना इष्ट तो सर्वोपरि ईश्वर होगा और अन्य सभी देवता होंगे।**

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

(योगदर्शन २। ५ का व्यास-भाष्य)

'विद्वान् लोग शरीरको स्थान (माताके उदरमें स्थित), बीज (माता-पिताके रजोवीर्यसे उद्भूत), उपष्टम्भ (खाये-पीये हुए आहारके रससे परिपुष्ट), निःस्यन्द (मल, मूत्र, थूक, लार, स्वेद आदि स्रावसे युक्त), निधन (मरणधर्मा) और आधेय शौच (जल-मृत्तिका आदिसे प्रक्षालित करनेयोग्य) होनेके कारण अपवित्र मानते हैं।'

'**आर्जवम्**'—शरीरकी ऐंठ-अकड़का त्याग करके उठने, बैठने आदि शारीरिक क्रियाओंको सीधी-सरलतासे करनेका नाम 'आर्जव' है। अभिमान अधिक होनेसे ही शरीरमें टेढ़ापन आता है। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, ऐसे साधकको अपनेमें अभिमान नहीं रखना चाहिये। निरभिमानता होनेसे शरीरमें और शरीरकी चलने, उठने, बैठने, बोलने, देखने आदि सभी क्रियाओंमें स्वाभाविक ही सरलता आ जाती है, जो 'आर्जव' है।

'**ब्रह्मचर्यम्**'—ये आठ क्रियाएँ ब्रह्मचर्यको भंग करनेवाली हैं—(१) पहले कभी स्त्रीसंग किया है, उसको याद करना, (२) स्त्रियोंसे रागपूर्वक बातें करना, (३) स्त्रियोंके साथ हँसी-दिल्लगी करना, (४) स्त्रियोंकी तरफ रागपूर्वक देखना, (५) स्त्रियोंके साथ एकान्तमें बातें करना, (६) मनमें स्त्रीसंगका संकल्प करना, (७) स्त्रीसंगका पक्का विचार करना और (८) साक्षात् स्त्रीसंग करना। ये आठ प्रकारके मैथुन विद्वानोंने बताये हैं[1]। इनमेंसे कोई भी क्रिया कभी न हो, उसका नाम 'ब्रह्मचर्य' है।

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन तीनोंका तो बिलकुल ही वीर्यपात नहीं होना चाहिये और न ऐसा संकल्प ही होना चाहिये। गृहस्थ केवल सन्तानार्थ शास्त्रविधिके अनुसार ऋतुकालमें स्त्रीसंग करता है, तो वह गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी ब्रह्मचारी माना जाता है। विधवाओंके विषयमें भी ऐसी ही बात आती है कि जो स्त्री अपने पतिके रहते पातिव्रत-धर्मका पालन करती रही है और पतिकी मृत्युके बाद ब्रह्मचर्य धर्मका पालन करती है, उस विधवाकी वही गति होती है, जो आबाल ब्रह्मचारीकी होती है।

वास्तवमें तो '**ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**' (गीता ६। १४)—ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित रहना ही ब्रह्मचर्य है। परन्तु इसमें भी यदि स्वप्नदोष हो जाय अथवा प्रमेह आदि शरीरकी खराबीसे वीर्यपात हो जाय, तो उसे ब्रह्मचर्यभंग नहीं माना गया है। भीतरके भावोंमें गड़बड़ी आनेसे जो वीर्यपात आदि होते हैं, वही ब्रह्मचर्यभंग माना गया है। कारण कि ब्रह्मचर्यका भावोंके साथ सम्बन्ध है। इसलिये ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको चाहिये कि अपने भाव शुद्ध रखनेके लिये वह अपने मनको परस्त्रीकी तरफ कभी जाने ही न दे। सावधानी रखनेपर कभी मन चला भी जाय, तो भीतरमें यह दृढ़ विचार रखे कि यह मेरा काम नहीं है, मैं ऐसा काम करूँगा ही नहीं; क्योंकि मेरा ब्रह्मचर्य-पालन करनेका पक्का विचार है; मैं ऐसा काम कैसे कर सकता हूँ?

'**अहिंसा**'—सभी प्रकारकी हिंसाका अभाव अहिंसा है। हिंसा स्वार्थ, क्रोध, लोभ और मोह-(मूढ़ता-) को लेकर होती है। जैसे, अपने स्वार्थमें आकर किसीका धन दबा लिया, दूसरोंका नुकसान करा दिया—यह 'स्वार्थ' को लेकर हिंसा है। क्रोधमें आकर किसीको थोड़ी चोट पहुँचायी, ज्यादा चोट पहुँचायी अथवा खत्म ही कर दिया—यह 'क्रोध' को लेकर हिंसा है। चमड़ा मिलेगा, मांस मिलेगा, इसके लिये किसी पशुको मार दिया अथवा धनके कारण किसीको मार दिया—यह 'लोभ' को लेकर हिंसा है। रास्तेपर चलते-चलते किसी कुत्तेको लाठी मार दी, वृक्षकी डाली तोड़ दी, किसी घासको ही तोड़ दिया, किसीको ठोकर मार दी, तो इसमें न क्रोध है, न लोभ है और न कुछ मिलनेकी सम्भावना ही है—यह 'मोह' (मूढ़ता)-को लेकर हिंसा है। अहिंसामें इन सभी हिंसाओंका अभाव है[2]।

'**शारीरं तप उच्यते**'— देव आदिका पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह पाँच प्रकारका 'शारीरिक तप' कहा गया है। इस शारीरिक तपमें तीर्थ, व्रत, संयम आदि भी ले लेने चाहिये।

जब कष्ट उठाना पड़ता है, तपन होती है, तब वह तप होता है; परन्तु उपर्युक्त शारीरिक तपमें तो ऐसी कोई बात नहीं है, फिर यह तप किस प्रकार हुआ? कष्ट उठाकर जो तप किया जाता है, वह वास्तवमें श्रेष्ठ कोटिका तप नहीं है।

१-स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

२-यहाँ 'अहिंसा' शारीरिक तपके अन्तर्गत आयी है, इसलिये यहाँ शरीर-सम्बन्धी अहिंसा ही ली जायगी, मन-वाणीकी अहिंसा नहीं ली जायगी।

तपमें कष्टकी मुख्यता रखनेवालोंको भगवान्‌ने **'आसुरनिश्चयान्'** (१७। ६)—आसुर निश्चयवाले बताया है। तप तो वही श्रेष्ठ है, जिसमें उच्छृंखल वृत्तियोंको रोककर शास्त्र, कुल-परम्परा और लोक-परम्पराकी मर्यादाके अनुसार संयमपूर्वक चलना होता है। ऐसे ही साधन करते हुए स्वाभाविक ही देश, काल, परिस्थिति, घटना आदि अपने विपरीत आ जायँ, तो उनको साधन-सिद्धिके लिये प्रसन्नतापूर्वक सहना भी तप है। इस तपमें शरीर, इन्द्रिय, मन आदिका संयम होता है।

अष्टांगयोगमें जहाँ यम-नियमादि आठ अंगोंका वर्णन किया गया है[1], वहाँ 'यम' को सबसे पहले बताया है। यद्यपि पाँच ही 'यम' हैं—**'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'** (योगदर्शन २। ३०) और पाँच ही 'नियम' हैं—**'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'** (योगदर्शन २। ३२), तथापि इन दोनोंमेंसे नियमकी अपेक्षा यमकी ज्यादा महिमा है। कारण कि 'नियम' में व्रतोंका पालन करना पड़ता है और 'यम' में इन्द्रियों, मन आदिका संयम करना पड़ता है।[2]

लोगोंकी दृष्टिमें यह बात हो सकती है कि शरीरको कष्ट देना तप है और आरामसे रहकर संयम करना, त्याग करना तप नहीं है; परंतु वास्तवमें देखा जाय तो समस्त सांसारिक विषयोंमें अनासक्त होकर जो संयम, त्याग किया जाता है, वह तपसे कम नहीं है, प्रत्युत पारमार्थिक मार्गमें उसीका ऊँचा दर्जा है। कारण कि त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति होती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। केवल बाहरी तपसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं बतायी गयी है; किंतु अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण होनेसे वह तप परमात्मप्राप्तिमें सहायक हो सकता है। इसलिये साधकको मुख्यरूपसे यमोंका सेवन करते हुए समय-समयपर नियमोंका भी पालन करते रहना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—शारीरिक तपमें त्याग मुख्य है; जैसे—पूजन करनेमें अपनेमें बड़प्पनके भावका त्याग है; शुद्धि रखनेमें आलस्य-प्रमादका त्याग है; सरलता रखनेमें अभिमानका त्याग है; ब्रह्मचर्यमें विषयसुखका त्याग है; अहिंसामें अपने सुखके भावका त्याग है। इस प्रकार त्याग करनेसे शारीरिक तप होता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

यत् = जो, **अनुद्वेगकरम्** = किसीको भी उद्विग्न न करनेवाला, **सत्यम्** = सत्य **च** = और **प्रियहितम्** = प्रिय तथा हितकारक **वाक्यम्** = भाषण है, (वह) **च** = तथा **स्वाध्यायाभ्यसनम्** = स्वाध्याय और अभ्यास (नामजप आदि) **एव** = भी **वाङ्मयम्** = वाणी-सम्बन्धी **तपः** = तप **उच्यते** = कहा जाता है।

व्याख्या—**'अनुद्वेगकरं वाक्यम्'**—जो वाक्य वर्तमानमें और भविष्यमें कभी किसीमें भी उद्वेग, विक्षेप और हलचल पैदा करनेवाला न हो, वह वाक्य 'अनुद्वेगकर' कहा जाता है।

'सत्यं प्रियहितं च यत्'—जैसा पढ़ा, सुना, देखा और निश्चय किया गया हो, उसको वैसा-का-वैसा ही अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंको समझानेके लिये कह देना 'सत्य' है[3]।

१-यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। (पातंजलयोगदर्शन २। २९)

२-हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण आदि राक्षसोंमें भी 'नियम' तो मिलते हैं, पर उनमें 'यम' नहीं मिलते।

३-सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ (मनुस्मृति ४। १३८)
'मनुष्यको सत्य बोलना चाहिये और प्रिय बोलना चाहिये। उसमें भी सत्य हो, पर अप्रिय न हो और प्रिय हो, पर असत्य न हो—यही सनातन धर्म है।'

जो क्रूरता, रूखेपन, तीखेपन, ताने, निन्दा-चुगली और अपमानकारक शब्दोंसे रहित हो और जो प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त वचनोंसे कहा जाय, वह वाक्य 'प्रिय' कहलाता है।*

जो हिंसा, डाह, द्वेष, वैर आदिसे सर्वथा रहित हो और प्रेम, दया, क्षमा, उदारता, मंगल आदिसे भरा हो तथा जो वर्तमानमें और भविष्यमें भी अपना और दूसरे किसीका अनिष्ट करनेवाला न हो, वह वाक्य 'हित' (हितकर) कहलाता है।

'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव'—पारमार्थिक उन्नतिमें सहायक गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंको स्वयं पढ़ना और दूसरोंको पढ़ाना, भगवान् तथा भक्तोंके चरित्रोंको पढ़ना आदि **'स्वाध्याय'** है।

गीता आदि पारमार्थिक ग्रन्थोंकी बार-बार आवृत्ति करना, उन्हें कण्ठस्थ करना, भगवन्नामका जप करना, भगवान्‌की बार-बार स्तुति-प्रार्थना करना आदि **'अभ्यसन'** है।

'च एव'—इन दो अव्यय पदोंसे वाणीसम्बन्धी तपकी अन्य बातोंको भी ले लेना चाहिये; जैसे—दूसरोंकी निन्दा न करना, दूसरोंके दोषोंको न कहना, वृथा बकवाद न करना अर्थात् जिससे अपना तथा दूसरोंका कोई लौकिक या पारमार्थिक हित सिद्ध न हो—ऐसे वचन न बोलना, पारमार्थिक साधनमें बाधा डालनेवाले तथा शृंगार-रसके काव्य, नाटक, उपन्यास आदि न पढ़ना अर्थात् जिनसे काम, क्रोध, लोभ आदिको सहायता मिले—ऐसी पुस्तकोंको न पढ़ना आदि-आदि।

'वाङ्मयं तप उच्यते'—उपर्युक्त सभी लक्षण जिसमें होते हैं, वह वाणीसे होनेवाला तप कहलाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

मनःप्रसादः = मनकी प्रसन्नता, **सौम्यत्वम्** = सौम्य भाव, **मौनम्** = मननशीलता, **आत्मविनिग्रहः** = मनका निग्रह (और) **भावसंशुद्धिः** = भावोंकी भलीभाँति शुद्धि **इति** = —इस तरह **एतत्** = यह **मानसम्** = मन-सम्बन्धी **तपः** = तप **उच्यते** = कहा जाता है।

व्याख्या—**'मनःप्रसादः'**—मनकी प्रसन्नताको 'मनःप्रसाद' कहते हैं। वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, परिस्थिति, घटना आदिके संयोगसे पैदा होनेवाली प्रसन्नता स्थायीरूपसे हरदम नहीं रह सकती; क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, वह वस्तु स्थायी रहनेवाली नहीं होती। परन्तु दुर्गुण-दुराचारोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जो स्थायी तथा स्वाभाविक प्रसन्नता प्रकट होती है, वह हरदम रहती है और वही प्रसन्नता मन, बुद्धि आदिमें आती है, जिससे मनमें कभी अशान्ति होती ही नहीं अर्थात् मन हरदम प्रसन्न रहता है।

मनमें अशान्ति, हलचल आदि कब होते हैं? जब मनुष्य धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि नाशवान् चीजोंका सहारा ले लेता है। जिसका सहारा उसने ले रखा है, वे सब चीजें आने-जानेवाली हैं, स्थायी रहनेवाली नहीं हैं। अतः उनके संयोग-वियोगसे उसके मनमें हलचल आदि होती है। यदि साधक न रहनेवाली चीजोंका सहारा छोड़कर नित्य-निरन्तर रहनेवाले प्रभुका सहारा ले ले, तो फिर पदार्थ, व्यक्ति आदिके संयोग-वियोगको लेकर उसके मनमें कभी अशान्ति, हलचल नहीं होगी।

मनकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके उपाय

(१) सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, देश, काल, घटना आदिको लेकर मनमें राग और द्वेष पैदा न होने दे।

(२) अपने स्वार्थ और अभिमानको लेकर किसीसे पक्षपात न करे।

(३) मनको सदा दया, क्षमा, उदारता आदि भावोंसे परिपूर्ण रखे।

(४) मनमें प्राणिमात्रके हितका भाव हो।

---

* **प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः। तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥**

'प्रिय वाक्य बोलनेसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सम्पूर्ण प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं, इसलिये मनुष्यको प्रिय वाक्य ही बोलना चाहिये। बोलनेमें दरिद्रता—कंजूसी किस बातकी?'

(५) **हितपरिमितभोजी नित्यमेकान्तसेवी**
सकृदुचितहितोक्तिः स्वल्पनिद्राविहारः।
अनुनियमनशीलो यो भजत्युक्तकाले
स लभत इव शीघ्रं साधुचित्तप्रसादम्॥

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ३७२)

जो शरीरके लिये हितकारक एवं नियमित भोजन करनेवाला है, सदा एकान्तमें रहनेके स्वभाववाला है, किसीके पूछनेपर कभी कोई हितकी उचित बात कह देता है अर्थात् बहुत ही कम मात्रामें बोलता है, जो सोना और घूमना बहुत कम करनेवाला है। इस प्रकार जो शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार खान-पान-विहार आदिका सेवन करनेवाला है, वह साधक बहुत ही जल्दी चित्तकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है।

—इन उपायोंसे मन सदा प्रसन्न रहता है।

'सौम्यत्वम्'—हृदयमें हिंसा, क्रूरता, कुटिलता, असहिष्णुता, द्वेष आदि भावोंके न रहनेसे एवं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, दयालुता, सर्वव्यापकता आदिपर अटल विश्वास होनेसे साधकके मनमें स्वाभाविक ही 'सौम्यभाव' रहता है। फिर उसको कोई टेढ़ा वचन कह दे, उसका तिरस्कार कर दे, उसपर बिना कारण दोषारोपण करे, उसके साथ कोई वैर-द्वेष रखे अथवा उसके धन, मान, महिमा आदिकी हानि हो जाय, तो भी उसके सौम्यभावमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता।

'मौनम्'— अनुकूलता-प्रतिकूलता, संयोग-वियोग, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको लेकर मनमें हलचलका न होना ही वास्तवमें 'मौन' है।*

शास्त्रों, पुराणों और सन्त-महापुरुषोंकी वाणियोंका तथा उनके गहरे भावोंका मनन होता रहे; गीता, रामायण, भागवत आदि भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थोंमें कहे हुए भगवान्‌के गुणोंका, चरित्रोंका सदा मनन होता रहे; संसारके प्राणी किस प्रकार सुखी हो सकते हैं? सबका कल्याण किन-किन उपायोंसे हो सकता है? किन-किन सरल युक्तियोंसे हो सकता है? उन-उन उपायोंका और युक्तियोंका मनमें हरदम मनन होता रहे—ये सभी 'मौन' शब्दसे कहे जा सकते हैं।

'आत्मविनिग्रहः'—मन बिलकुल एकाग्र हो जाय और तैलधारावत् एक ही चिन्तन करता रहे—इसको भी मनका निग्रह कहते हैं; परन्तु मनका सच्चा निग्रह यही है कि मन साधकके वशमें रहे अर्थात् मनको जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाय और जहाँ जितनी देर लगाना चाहें, वहाँ उतनी देर लगा रहे। तात्पर्य यह कि साधक मनके वशीभूत होकर काम नहीं करे, प्रत्युत मन ही उसके वशीभूत होकर काम करता रहे। इस प्रकार मनका वशीभूत होना ही वास्तवमें 'आत्मविनिग्रह' है।

'भावसंशुद्धिः'—जिस भावमें अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग हो और दूसरोंकी हितकारिता हो, उसे 'भावसंशुद्धि' अर्थात् भावकी महान् पवित्रता कहते हैं।

जिसके भीतर एक भगवान्‌का ही आसरा, भरोसा है, एक भगवान्‌का ही चिन्तन है और एक भगवान्‌की तरफ चलनेका ही निश्चय है, उसके भीतरके भाव बहुत जल्दी शुद्ध हो जाते हैं। फिर उसके भीतर उत्पत्ति-विनाशशील सांसारिक वस्तुओंका सहारा नहीं रहता; क्योंकि संसारका सहारा रखनेसे ही भाव अशुद्ध होते हैं।

'इत्येतत्तपो मानसमुच्यते'—इस प्रकार जिस तपमें मनकी मुख्यता होती है, वह मानस (मन-सम्बन्धी) तप कहलाता है।

परिशिष्ट भाव—प्रतिकूल परिस्थितिमें भी प्रसन्न रहे। अपने ऊपर परिस्थितिका असर न पड़े। दूसरेकी प्रतिकूल बात सुनकर भी सौम्य रहे। मनकी स्वतन्त्रताका त्याग करके मनन करे; क्योंकि मनको स्वतन्त्र छोड़नेसे सुखभोग होता है, मननशीलता नहीं आती। मनकी मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्तियोंका त्याग करे। अपने मनमें किसीके अहितका भाव न हो। यह सब मन-सम्बन्धी तप है।

---

* यहाँ 'मौनम्' पद वाणीके मौन-(चुप रहने-) का वाचक नहीं है। यदि यह वाणीके मौनका वाचक होता, तो इसे वाणी-सम्बन्धी तपमें देते। परन्तु यहाँ 'मौन' शब्द मानसिक तपके अन्तर्गत आया है।

गीतामें प्रायः यह देखा जाता है कि जहाँ अर्जुनका क्रियापरक प्रश्न है, वहाँ भगवान् भावपरक उत्तर देते हैं। जैसे दूसरे अध्यायके चौवनवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' 'स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है?' तो भगवान्‌ने उसका उत्तर दिया—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः...... स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥' अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर जिसके मनमें हर्ष-शोक नहीं होते, वह स्थितप्रज्ञ मुनि (मौनी) है। तात्पर्य यह कि भगवान् क्रियाकी अपेक्षा भावको श्रेष्ठ मानते हैं। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ भी 'मौन'को मानसिक तपमें लिया है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके तीन श्लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस तपका वर्णन करते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

परया	= परम	**नरैः**	= मनुष्योंके द्वारा (जो)	**तपः**	= तप
श्रद्धया	= श्रद्धासे			**तप्तम्**	= किया जाता है,
युक्तैः	= युक्त	**त्रिविधम्**	= तीन प्रकार (शरीर, वाणी और मन)-का	**तत्**	= उसको
अफला-काङ्क्षिभिः	= फलेच्छारहित			**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
				परिचक्षते	= कहते हैं।

व्याख्या—'**श्रद्धया परया तप्तम्**'—शरीर, वाणी और मनके द्वारा जो तप किया जाता है, वह तप ही मनुष्योंका सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है और यही मानव-जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिका अचूक उपाय है* तथा इसको सांगोपांग—अच्छी तरहसे करनेपर मनुष्यके लिये कुछ करना बाकी नहीं रहता अर्थात् जो वास्तविक तत्त्व है, उसमें स्वतः स्थिति हो जाती है—ऐसे अटल विश्वासपूर्वक श्रेष्ठ श्रद्धा करके बड़े-बड़े विघ्न और बाधाओंकी कुछ भी परवाह न करते हुए उत्साह एवं आदरपूर्वक तपका आचरण करना ही परम श्रद्धासे युक्त मनुष्योंद्वारा उस तपको करना है।

'**अफलाकाङ्क्षिभिः युक्तैः नरैः**'—यहाँ इन दो विशेषणोंसहित '**नरैः**' पद देनेका तात्पर्य यह है कि आंशिक सद्गुण-सदाचार तो प्राणिमात्रमें रहते ही हैं; परन्तु मनुष्यमें यह विशेषता है कि वह सद्गुण-सदाचारोंको सांगोपांग एवं विशेषतासे अपनेमें ला सकता है और दुर्गुण-दुराचार, कामना, मूढ़ता आदि दोषोंको सर्वथा मिटा सकता है। निष्कामभाव मनुष्योंमें ही हो सकता है।

सात्त्विक तपमें तो 'नर' शब्द दिया है; परन्तु राजस-तामस तपमें मनुष्यवाचक शब्द दिया ही नहीं। तात्पर्य यह है कि अपना कल्याण करनेके उद्देश्यसे मिले हुए अमूल्य शरीरको पाकर भी जो कामना, दम्भ, मूढ़ता आदि दोषोंको पकड़े हुए हैं, वे मनुष्य कहलानेके लायक ही नहीं हैं।

फलकी इच्छा न रखकर निष्कामभावसे तपका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्योंके लिये यहाँ उपर्युक्त पद आये हैं।

'**तपस्तत्त्रिविधम्**'—यहाँ केवल सात्त्विक तपमें 'त्रिविध' पद दिया है और राजस तथा तामस तपमें 'त्रिविध' पद न देकर '**यत्-तत्**' पद देकर ही काम चलाया है। इसका आशय यह है कि शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों तप केवल सात्त्विकमें ही सांगोपांग आ सकते हैं, राजस तथा तामसमें तो आंशिकरूपसे ही आ सकते हैं। इसमें भी राजसमें कुछ अधिक लक्षण आ जायँगे, क्योंकि राजस मनुष्यका शास्त्रविधिकी तरफ खयाल रहता है। परन्तु तामसमें तो उन तपोंके बहुत ही कम लक्षण आयेंगे; क्योंकि तामस मनुष्योंमें मूढ़ता, दूसरोंको कष्ट देना आदि दोष रहते हैं।

दूसरी बात, तेरहवें अध्यायमें सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक जो ज्ञानके बीस साधनोंका वर्णन आया है, उनमें भी शारीरिक तपके तीन लक्षण—शौच, आर्जव और अहिंसा तथा मानसिक तपके दो लक्षण—मौन और आत्मविनिग्रह आये हैं। ऐसे ही सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जो दैवी-सम्पत्तिके छब्बीस लक्षण बताये गये हैं, उनमें भी शारीरिक तपके तीन लक्षण—शौच, अहिंसा और आर्जव तथा वाचिक तपके दो लक्षण—सत्य और स्वाध्याय आये हैं। अतः ज्ञानके जिन साधनोंसे तत्त्वबोध हो जाय तथा दैवी-सम्पत्तिके जिन गुणोंसे मुक्ति हो जाय, वे लक्षण या गुण राजस-तामस नहीं हो सकते। इसलिये राजस और तामस तपमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक—यह तीनों प्रकारका तप सांगोपांग नहीं लिया जा सकता। वहाँ तो '**यत्-तत्**' पदोंसे आंशिक जितना-जितना आ सके, उतना-उतना ही लिया जा सकता है।

तीसरी बात, भगवद्गीताका आदिसे अन्ततक अध्ययन करनेपर यह असर पड़ता है कि इसका उद्देश्य केवल जीवका कल्याण करनेका है। कारण कि अर्जुनका जो प्रश्न

*** शरीर, वाणी और मनका तप सांगोपांग-रूपसे तभी सम्पन्न होता है, जब नाशवान् वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेदका उद्देश्य रहता है।**

है, वह निश्चित श्रेय-(कल्याण-) का है (दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक)। भगवान्ने भी उत्तरमें जितने साधन बताये हैं, वे 'सब जीवोंका निश्चित कल्याण हो जाय'—इस लक्ष्यको लेकर ही बताये हैं। इसलिये गीतामें जहाँ-कहीं सात्त्विक, राजस और तामस भेद किया गया है, वहाँ जो सात्त्विक विभाग है, वह ग्राह्य है; क्योंकि वह मुक्ति देनेवाला है—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' और जो राजस-तामस विभाग है, वह त्याज्य है; क्योंकि वह बाँधनेवाला है—'**निबन्धायासुरी मता।**' इसी आशयसे भगवान् यहाँ सात्त्विक तपमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक—इन तीनों तपोंका लक्ष्य करानेके लिये '**त्रिविधम्**' पद देते हैं।

'**सात्त्विकं परिचक्षते**'—परम श्रद्धासे युक्त, फलको न चाहनेवाले मनुष्योंके द्वारा जो तप किया जाता है, वह सात्त्विक तप कहलाता है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

यत्	= जो	**दम्भेन**	= दिखानेके भावसे	**चलम्**	= अनिश्चित (और)
तपः	= तप	**एव**	= भी	**अध्रुवम्**	= नाशवान् फल देनेवाला (तप)
सत्कारमान-पूजार्थम्	= सत्कार, मान और पूजाके लिये	**क्रियते**	= किया जाता है,	**राजसम्**	= राजस
च	= तथा	**तत्**	= वह	**प्रोक्तम्**	= कहा गया है।
		इह	= इस लोकमें		

व्याख्या—'**सत्कारमानपूजार्थं तपः क्रियते**'— राजस मनुष्य सत्कार, मान और पूजाके लिये ही तप किया करते हैं; जैसे—हम जहाँ-कहीं जायँगे, वहाँ हमें तपस्वी समझकर लोग हमारी अगवानीके लिये सामने आयेंगे। गाँवभरमें हमारी सवारी निकालेंगे। जगह-जगह लोग हमें उत्थान देंगे, हमें बैठनेके लिये आसन देंगे, हमारे नामका जयघोष करेंगे, हमसे मीठा बोलेंगे, हमें अभिनन्दनपत्र देंगे इत्यादि बाह्य क्रियाओंद्वारा हमारा '**सत्कार**' करेंगे। लोग हृदयसे हमें श्रेष्ठ मानेंगे कि ये बड़े संयमी, सत्यवादी, अहिंसक सज्जन हैं, वे सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा हमारेमें विशेष भाव रखेंगे इत्यादि हृदयके भावोंसे लोग हमारा '**मान**' करेंगे। जीते-जी लोग हमारे चरण धोयेंगे, हमारे मस्तकपर फूल चढ़ायेंगे, हमारे गलेमें माला पहनायेंगे, हमारी आरती उतारेंगे, हमें प्रणाम करेंगे, हमारी चरणरजको सिरपर चढ़ायेंगे और मरनेके बाद हमारी वैकुण्ठी निकालेंगे, हमारा स्मारक बनायेंगे और लोग उसपर श्रद्धा-भक्तिसे पत्र, पुष्प, चन्दन, वस्त्र, जल आदि चढ़ायेंगे, हमारे स्मारककी परिक्रमा करेंगे इत्यादि क्रियाओंसे हमारी '**पूजा**' करेंगे।

'**दम्भेन चैव यत्**'—भीतरसे तपपर श्रद्धा और भाव न होनेपर भी बाहरसे केवल लोगोंको दिखानेके लिये आसन लगाकर बैठ जाना, माला घुमाने लग जाना, देवता आदिका पूजन करने लग जाना, सीधे-सरल चलना, हिंसा न करना आदि।

'**तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्**'—राजस तपका फल चल और अध्रुव कहा गया है। तात्पर्य है कि जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये किया जाता है, उस राजस तपका फल यहाँ 'चल' अर्थात् नाशवान् कहा गया है और जो तप केवल दिखावटीपनके लिये किया जाता है, उसका फल यहाँ 'अध्रुव' अर्थात् अनिश्चित (फल मिले या न मिले, दम्भ सिद्ध हो या न हो) कहा गया है।

'**इह प्रोक्तम्**' पदोंका तात्पर्य यह है कि इस राजस तपका इष्ट फल प्रायः यहाँ ही होता है। कारण कि सात्त्विक पुरुषोंका तो ऊर्ध्वलोक है, तामस मनुष्योंका अधोलोक है और राजस मनुष्योंका मध्यलोक है (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। इसलिये राजस तपका फल न स्वर्ग होगा और न नरक होगा; किन्तु यहाँ ही महिमा होकर, प्रशंसा होकर खत्म हो जायगा।

राजस मनुष्यके द्वारा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप हो सकता है क्या? फलेच्छा होनेसे वह देवता आदिका पूजन कर सकता है। उसमें कुछ सीधा-सरलपन भी रह सकता है। ब्रह्मचर्य रहना मुश्किल है। अहिंसा भी मुश्किल है। पुस्तक आदि पढ़ सकता है। उसका मन हरदम प्रसन्न

नहीं रह सकता और सौम्यभाव भी हरदम नहीं रह सकता। कामनाके कारण उसके मनमें संकल्प-विकल्प होते रहेंगे। वह केवल सत्कार, मान, पूजा और दम्भके लिये ही तप करता है, तो उसके भावकी संशुद्धि कैसे होगी अर्थात् उसके भाव शुद्ध कैसे होंगे? अतः राजस मनुष्य तीन प्रकारके तपको सांगोपांग नहीं कर सकता।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

यत्	= जो	**पीडया**	= पीड़ा देकर	**क्रियते**	= किया जाता है,
तपः	= तप	**वा**	= अथवा	**तत्**	= वह (तप)
मूढग्राहेण	= मूढ़तापूर्वक हठसे	**परस्य**	= दूसरोंको	**तामसम्**	= तामस
आत्मनः	= अपनेको	**उत्सादनार्थम्**	= कष्ट देनेके लिये	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

व्याख्या—**'मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः'**—तामस तपमें मूढ़तापूर्वक आग्रह होनेसे अपने-आपको पीड़ा देकर तप किया जाता है। तामस मनुष्योंमें मूढ़ताकी प्रधानता रहती है; अतः जिसमें शरीरको, मनको कष्ट हो, उसीको वे तप मानते हैं।

'परस्योत्सादनार्थं वा'—अथवा वे दूसरोंको दुःख देनेके लिये तप करते हैं। उनका भाव रहता है कि शक्ति प्राप्त करनेके लिये तप (संयम आदि) करनेमें मुझे भले ही कष्ट सहना पड़े, पर दूसरोंको नष्ट-भ्रष्ट तो करना ही है। तामस मनुष्य दूसरोंको दुःख देनेके लिये उन तीन (कायिक, वाचिक और मानसिक) तपोंके आंशिक भागके सिवाय मनमाने ढंगसे उपवास करना, शीत-घामको सहना आदि तप भी कर सकता है।

'तत्तामसमुदाहृतम्'—तामस मनुष्यका उद्देश्य ही दूसरोंको कष्ट देनेका, उनका अनिष्ट करनेका रहता है। अतः ऐसे उद्देश्यसे किया गया तप तामस कहलाता है।

[सात्त्विक मनुष्य फलकी इच्छा न रखकर परमश्रद्धासे तप करता है, इसलिये वास्तवमें वही मनुष्य कहलाने-लायक है। राजस मनुष्य सत्कार, मान, पूजा तथा दम्भके लिये तप करता है, इसलिये वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है; क्योंकि सत्कार, मान आदि तो पशु-पक्षियोंको भी प्रिय लगते हैं और वे बेचारे दम्भ भी नहीं करते! तामस मनुष्य तो पशुओंसे भी नीचे हैं; क्योंकि पशु-पक्षी स्वयं दुःख पाकर दूसरोंको दुःख तो नहीं देते, पर यह तामस मनुष्य तो स्वयं दुःख पाकर दूसरोंको दुःख देता है।]

परिशिष्ट भाव—'मूढग्राहेण' में तो शुद्ध तमोगुण है, पर **'परस्योत्सादनार्थम्'** में रजोगुण मिला हुआ है। मूढ़ता तमोगुण है और स्वार्थभाव, क्रोध आदि राजस हैं। क्रोध रजोगुणसे पैदा होकर तमोगुणमें चला जाता है—**'क्रोधाद्भवति सम्मोहः'** (गीता २। ६३)।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके तीन श्लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस दानके लक्षण बताते हैं।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

दातव्यम्	= दान देना कर्तव्य है—	**च**	= तथा		निष्कामभावसे
इति	= ऐसे भावसे	**काले**	= काल	**दीयते**	= दिया जाता है,
यत्	= जो	**च**	= और	**तत्**	= वह
दानम्	= दान	**पात्रे**	= पात्रके प्राप्त होनेपर	**दानम्**	= दान
देशे	= देश	**अनुपकारिणे**	= अनुपकारीको अर्थात्	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
				स्मृतम्	= कहा गया है।

व्याख्या—इस श्लोकमें दानके दो विभाग हैं—

(१) '**दातव्यमिति यद्दानं दीयते अनुपकारिणे**' और

(२) '**देशे काले च पात्रे च।**'

'**दातव्यमिति .... देशे काले च पात्रे च**'— केवल देना ही मेरा कर्तव्य है। कारण कि मैंने वस्तुओंको स्वीकार किया है अर्थात् उन्हें अपना माना है। जिसने वस्तुओंको स्वीकार किया है, उसीपर देनेकी जिम्मेवारी होती है। अतः देनामात्र मेरा कर्तव्य है—इस भावसे दान करना चाहिये। उसका यहाँ क्या फल होगा और परलोकमें क्या फल होगा—यह भाव बिलकुल नहीं होना चाहिये। 'दातव्य' का तात्पर्य ही त्यागमें है।

अब किसको दिया जाय? तो कहते हैं—'**दीयते-ऽनुपकारिणे**' अर्थात् जिसने पहले कभी हमारा उपकार किया ही नहीं, अभी भी उपकार नहीं करता है और आगे हमारा उपकार करेगा, ऐसी सम्भावना भी नहीं है—ऐसे 'अनुपकारी' को निष्कामभावसे देना चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिसने हमारा उपकार किया है, उसको न दे, प्रत्युत जिसने हमारा उपकार किया है, उसे देनेमें दान न माने। कारण कि केवल देनेमात्रसे सच्चे उपकारका बदला नहीं चुकाया जा सकता। अतः 'उपकारी' की भी अवश्य सेवा-सहायता करनी चाहिये, पर उसको दानमें भरती नहीं करना चाहिये। उपकारकी आशा रखकर देनेसे वह दान राजसी हो जाता है।

'**देशे काले च पात्रे च**'[1] पदोंके दो अर्थ होते हैं—(१) जिस देशमें जो चीज नहीं है और उस चीजकी आवश्यकता है, उस देशमें वह चीज देना; जिस समय जिस चीजकी आवश्यकता है, उस समय वह चीज देना; और जिसके पास जो चीज नहीं है और उसकी आवश्यकता है, उस अभावग्रस्तको वह चीज देना।

(२) गंगा, यमुना, गोदावरी आदि नदियाँ और कुरुक्षेत्र, प्रयागराज, काशी आदि पवित्र देश प्राप्त होनेपर दान देना; अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात, अक्षय तृतीया, संक्रान्ति आदि पवित्र काल प्राप्त होनेपर दान देना; और वेदपाठी ब्राह्मण, सद्गुणी-सदाचारी भिक्षुक आदि उत्तम पात्र प्राप्त होनेपर दान देना।

'**देशे काले च पात्रे च**' पदोंसे उपर्युक्त दोनों ही अर्थ लेने चाहिये।

'**तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्**'—ऐसा दिया हुआ दान सात्त्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टिकी जितनी चीजें हैं, वे सबकी हैं और सबके लिये हैं, अपनी व्यक्तिगत नहीं हैं। इसलिये अनुपकारी व्यक्तिको भी जिस चीज—वस्तुकी आवश्यकता हो, वह चीज उसीकी समझकर उसको देनी चाहिये। जिसके पास वह वस्तु पहुँचेगी, वह उसीका हक है; क्योंकि यदि उसकी वस्तु नहीं है, तो दूसरा व्यक्ति चाहते हुए भी उसे वह वस्तु दे सकेगा नहीं। इसलिये पहलेसे यह समझे कि उसकी ही वस्तु उसको देनी है, अपनी वस्तु (अपनी मानकर) उसको नहीं देनी है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु अपनी नहीं है और अपने पास है अर्थात् उसको हमने अपनी मान रखी है, उस वस्तुको अपनी न माननेके लिये उसकी समझकर उसीको देनी है।

इस प्रकार जिस दानको देनेसे वस्तु, फल और क्रियाके साथ अपना सम्बन्ध-विच्छेद होता है, वह दान सात्त्विक कहा जाता है।

परिशिष्ट भाव—यह सात्त्विक दान वास्तवमें त्याग है। यह वह दान नहीं है, जिसके लिये कहा गया है—'एक गुना दान, सहस्रगुना पुण्य'; क्योंकि उस दानसे (सहस्रके साथ) सम्बन्ध जुड़ता है[2]। परन्तु त्यागसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। दानके बदलेमें कुछ पानेकी कामना करनेसे वह राजस हो जाता है—'**यत्तु प्रत्युपकारार्थम्**' (गीता १७। २१)। इस राजसभावका निषेध करनेके लिये यहाँ '**अनुपकारिणे**' पद आया है।

गीतामें वर्णित सात्त्विक गुण त्यागकी तरफ जाता है, इसलिये इसको भगवान्‌ने 'अनामय' कहा है (चौदहवें अध्यायका छठा श्लोक)। सत्त्वगुण सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) करता है, रजोगुण सम्बन्ध जोड़ता है और तमोगुण मूढ़ता लाता है।

१-यहाँ देश, काल और पात्र—तीनोंमें 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इस सूत्रसे सप्तमी की गयी है।

२-सुपात्रदानाच्च भवेद्धनाढ्यो धनप्रभावेण करोति पुण्यम्।
पुण्यप्रभावात्सुरलोकवासी पुनर्धनाढ्यः पुनरेव भोगी॥
कुपात्रदानाच्च भवेद्दरिद्रो दारिद्र्यदोषेण करोति पापम्।
पापप्रभावान्नरकं प्रयाति पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी॥

गीताके अनुसार दूसरेके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञ' है, हरदम प्रसन्न रहना 'तप' है और उसकी चीज उसीको दे देना 'दान' है। स्वार्थबुद्धिपूर्वक अपने लिये यज्ञ-तप-दान करना आसुरी अथवा राक्षसी स्वभाव है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

तु	= किन्तु	**वा**	= अथवा	**तत्**	= वह
यत्	= जो (दान)	**फलम्**	= फल-प्राप्तिका	**दानम्**	= दान
परिक्लिष्टम्	= क्लेशपूर्वक	**उद्दिश्य**	= उद्देश्य बनाकर	**राजसम्**	= राजस
च	= और	**पुनः**	= फिर	**स्मृतम्**	= कहा
प्रत्युपकारार्थम्	= प्रत्युपकारके लिये	**दीयते**	= दिया जाता है,		जाता है।

व्याख्या—**'यत्तु प्रत्युपकारार्थम्'**—राजस दान प्रत्युपकारके लिये दिया जाता है; जैसे—राजस पुरुष किसी विशेष अवसरपर दानकी चीजोंको गिन करके निकालता है, तो वह विचार करता है कि हमारे सगे-सम्बन्धीके जो कुल-पुरोहित हैं, उनको हम दान करेंगे, जिससे कि हमारे सगे-सम्बन्धी हमारे कुल-पुरोहितको दान करें और इस प्रकार हमारे कुल-पुरोहितके पास धन आ जायगा। अमुक पण्डितजी बड़े अच्छे हैं और ज्योतिष भी जानते हैं, उनको हम दान करेंगे, जिससे वे कभी यात्राका, पुत्रोंका तथा कन्याओंके विवाहका, नया मकान बनवानेका, कुआँ खुदवानेका मुहूर्त निकाल देंगे। हमारे सम्बन्धी हैं अथवा हमारा हित करनेवाले हैं, उनको हम सहायतारूपमें पैसे देंगे, तो वे कभी हमारी सहायता करेंगे, हमारा हित करेंगे। हमें दवाई देनेवाले जो पण्डितजी हैं; उनको हम दान करेंगे; क्योंकि दानसे राजी होकर वे हमें अच्छी-अच्छी दवाइयाँ देंगे, आदि-आदि। इस प्रकार प्रतिफलकी भावना रखकर अर्थात् इस लोकके साथ सम्बन्ध जोड़कर जो दान किया जाता है, वह 'प्रत्युपकारार्थ' कहा जाता है।

'फलमुद्दिश्य वा पुनः'—फलका उद्देश्य रखकर अर्थात् परलोकके साथ सम्बन्ध जोड़कर जो दान किया जाता है, उसमें भी राजस मनुष्य देश (गंगा, यमुना, कुरुक्षेत्र आदि), काल (अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण आदि) और पात्र (वेदपाठी ब्राह्मण आदि)-को देखेगा तथा शास्त्रीय विधि-विधानको देखेगा; परन्तु इस प्रकार विचारपूर्वक दान करनेपर भी फलकी कामना होनेसे वह दान राजस हो जाता है। अब उसके लिये दूसरे विधि-विधानका वर्णन करनेकी भगवान्ने आवश्यकता नहीं समझी, इसलिये राजस दानमें **'देशे काले च पात्रे'** पदोंका प्रयोग नहीं किया।

यहाँ **'पुनः'** पद कहनेका तात्पर्य है कि जिससे कुछ उपकार पाया है अथवा जिससे भविष्यमें कुछ-न-कुछ मिलनेकी सम्भावना है, उसका विचार राजस पुरुष पहले करता है, फिर पीछे दान देता है।

'दीयते च परिक्लिष्टम्'—राजस दान बहुत क्लेशपूर्वक दिया जाता है; जैसे—वक्त आ गया है, इसलिये देना पड़ रहा है। इतनी चीजें देंगे तो इतनी चीजें कम हो जायँगी। इतना धन देंगे तो इतना धन कम हो जायगा। वे समयपर हमारे काम आते हैं, इसलिये उनको देना पड़ रहा है। इतनेमें ही काम चल जाय तो बहुत अच्छी बात है। इतनेसे काम तो चल ही जायगा, फिर ज्यादा क्यों दें? ज्यादा देंगे तो और कहाँसे लायेंगे? और ज्यादा देनेसे लेनेवालेका स्वभाव बिगड़ जायगा। ज्यादा देनेसे हमारेको घाटा लग जायेगा, तो काम कैसे चलेगा? पर इतना तो देना ही पड़ रहा है, आदि-आदि। इस प्रकार राजस मनुष्य दान तो थोड़ा-सा देते हैं, पर कसाकसी करके देते हैं।

'तद्दानं राजसं स्मृतम्'—उपर्युक्त प्रकारसे दिया जानेवाला दान राजस कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यत्	= जो	**अवज्ञातम्**	= अवज्ञापूर्वक	**दीयते**	= दिया जाता है,
दानम्	= दान	**अदेशकाले**	= अयोग्य देश और कालमें	**तत्**	= वह (दान)
असत्कृतम्	= बिना सत्कारके			**तामसम्**	= तामस
च	= तथा	**अपात्रेभ्यः**	= कुपात्रको	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

व्याख्या—**'असत्कृतमवज्ञातम्'**—तामस दान असत्कार और अवज्ञापूर्वक दिया जाता है; जैसे—तामस मनुष्यके पास कभी दान लेनेके लिये ब्राह्मण आ जाय, तो वह तिरस्कारपूर्वक उसको उलाहना देगा कि देखो पण्डितजी! जब हमारी माताका शरीर शान्त हुआ, तब भी आप नहीं आये; परन्तु क्या करें; आप हमारे घरके गुरु हो इसलिये हमें देना ही पड़ता है! इतनेमें ही घरका दूसरा आदमी बोल पड़ता है कि तुम क्यों ब्राह्मणोंके झंझटमें पड़ते हो? किसी गरीबको दे दो। जिसको कोई नहीं देता, उसको देना चाहिये। वास्तवमें वही दान है। ब्राह्मणको तो और कोई भी दे देगा, पर बेचारे गरीबको कौन देगा? पण्डितजी क्या आ गया, यह तो कुत्ता आ गया; टुकड़ा डाल दो, नहीं तो भौंकेगा आदि-आदि। इस प्रकार शास्त्रविधिका, ब्राह्मणोंका तिरस्कार करनेके कारण यह दान तामस कहलाता है।

'अदेशकाले यद्दानम्'—मूढ़ताके कारण तामस मनुष्यको अपने मनकी बातें ही जँचती हैं; जैसे—दान करनेके लिये देश-कालकी क्या जरूरत है? जब चाहे, तब कर दिया। जब किसी विशेष देश और कालमें ही पुण्य होगा, तो क्या यहाँ पुण्य नहीं होगा? इसके लिये अमुक समय आयेगा, अमुक पर्व आयेगा—इसकी क्या आवश्यकता? अपनी चीज खर्च करनी है, चाहे कभी दो, आदि-आदि। इस प्रकार तामस मनुष्य शास्त्रविधिका अनादर, तिरस्कार करके दान करते हैं। कारण कि उनके हृदयमें शास्त्रविधिका महत्त्व नहीं होता, प्रत्युत रुपयोंका महत्त्व होता है।

'अपात्रेभ्यश्च दीयते'—तामस दान अपात्रको किया जाता है। तामस मनुष्य कई प्रकारके तर्क-वितर्क करके पात्रका विचार नहीं करते; जैसे—शास्त्रोंमें देश, काल और पात्रकी बातें यों ही लिखी गयी हैं; कोई यहाँ दान लेगा तो क्या यहाँ उसका पेट नहीं भरेगा? तृप्ति नहीं होगी? जब पात्रको देनेसे पुण्य होता है, तो इनको देनेसे क्या पुण्य नहीं होगा? क्या ये आदमी नहीं हैं? क्या इनको देनेसे पाप लगेगा? अपनी जीविका चलानेके लिये, अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये ही ब्राह्मणोंने शास्त्रोंमें ऐसा लिख दिया है, आदि-आदि।

'तत्तामसमुदाहृतम्'—उपर्युक्त प्रकारसे दिया जानेवाला दान तामस कहा गया है।

शंका—गीतामें तामस-कर्मका फल अधोगति बताया है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (१४।१८) और रामचरितमानसमें बताया है कि जिस-किसी प्रकारसे भी दिया हुआ दान कल्याण करता है—

'जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥'

(मानस ७। १०३ ख)

इन दोनोंमें विरोध आता है?

समाधान—तामस मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं—यह कानून दानके विषयमें लागू नहीं होता। कारण कि धर्मके चार चरण हैं—**'सत्यं दया तपो दानमिति'** (श्रीमद्भा० १२। ३। १८)। इन चारों चरणोंमेंसे कलियुगमें एक ही चरण 'दान' है—**'दानमेकं कलौ युगे'** (मनुस्मृति १। ८६)। इसलिये गोस्वामीजी महाराजने कहा—

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥

(मानस ७। १०३ ख)

ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि किसी प्रकार भी दान दिया जाय, उसमें वस्तु आदिके साथ अपनेपनका त्याग करना ही पड़ता है। इस दृष्टिसे तामस दानमें भी आंशिक त्याग होनेसे दान देनेवाला अधोगतिके योग्य नहीं हो सकता।

दूसरी बात, इस कलियुगके समय मनुष्योंका अन्तःकरण बहुत मलिन हो रहा है। इसलिये कलियुगमें एक छूट है कि जिस-किसी प्रकार भी किया हुआ दान कल्याण करता है। इससे मनुष्यका दान करनेका स्वभाव तो बन ही जायगा, जो आगे कभी किसी जन्ममें कल्याण भी कर सकता है। परन्तु दानकी क्रिया ही बन्द हो जायगी, तो फिर देनेका स्वभाव बननेका कोई अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। इसी दृष्टिसे एक संतने **'श्रद्धया देयमश्रद्धयादेयम्'** (तैत्तिरीय० १। ११) —इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए कहा था कि इसमें पहले पदका अर्थ तो यह है कि श्रद्धासे देना चाहिये, पर दूसरे पदका अर्थ **'अश्रद्धया अदेयम्'** (अश्रद्धासे नहीं देना चाहिये)—ऐसा न लेकर **'अश्रद्धया देयम्'** (श्रद्धा न हो, तो भी देना चाहिये)—इस प्रकार लेना चाहिये।

दान-सम्बन्धी विशेष बात

अन्न, जल, वस्त्र और औषध—इन चारोंके दानमें पात्र-कुपात्र आदिका विशेष विचार नहीं करना चाहिये। इनमें केवल दूसरेकी आवश्यकताको ही देखना चाहिये। इसमें भी देश, काल, और पात्र मिल जाय, तो उत्तम बात और न मिले, तो कोई बात नहीं। हमें तो जो भूखा है, उसे अन्न देना है; जो प्यासा है, उसे जल देना है; जो वस्त्रहीन है, उसे वस्त्र देना है और जो रोगी है, उसे औषध देनी है। इसी प्रकार कोई किसीको अनुचितरूपसे भयभीत कर रहा है, दुःख दे रहा है, तो उससे उसको छुड़ाना और उसे अभयदान देना हमारा कर्तव्य है।

हाँ, कुपात्रको अन्न-जल इतना नहीं देना चाहिये कि जिससे वह पुनः हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त हो जाय; जैसे कोई हिंसक मनुष्य अन्न-जलके बिना मर रहा है, तो उसको उतना ही अन्न-जल दे कि जिससे उसके प्राण रह जायँ, वह जी जाय। इस प्रकार उपर्युक्त चारोंके दानमें पात्रता नहीं देखनी है, प्रत्युत आवश्यकता देखनी है।

भगवान्‌का भक्त भी वस्तु देनेमें पात्र नहीं देखता, वह तो दिये जाता है; क्योंकि वह सबमें अपने प्यारे प्रभुको ही देखता है कि इस रूपमें तो हमारे प्रभु ही आये हैं। अतः वह दान नहीं करता, कर्तव्य-पालन नहीं करता, प्रत्युत पूजा करता है—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८। ४६)। तात्पर्य यह है कि भक्तकी सम्पूर्ण क्रियाओंका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ होता है।

कर्मफल-सम्बन्धी विशेष बात

ग्यारहवेंसे बाईसवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें जो सात्त्विक यज्ञ, तप और दान आये हैं, वे सब-के-सब 'दैवी-सम्पत्ति' हैं और जो राजस तथा तामस यज्ञ, तप और दान आये हैं, वे सब-के-सब 'आसुरी-सम्पत्ति' हैं।

आसुरी सम्पत्तिमें आये हुए 'राजस' यज्ञ, तप और दानके फलके दो विभाग हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमें भी दृष्टके दो फल हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। जैसे—राजस भोजनके बाद तृप्तिका होना तात्कालिक फल है और रोग आदिका होना कालान्तरिक फल है। ऐसे ही अदृष्टके भी दो फल हैं—लौकिक और पारलौकिक। जैसे—दम्भपूर्वक '**दम्भार्थमपि चैव यत्**' (१७। १२), सत्कार-मान-पूजाके लिये '**सत्कारमानपूजार्थम्**' (१७। १८) और प्रत्युपकारके लिये '**प्रत्युपकारार्थम्**' (१७। २१) किये गये राजस यज्ञ, तप और दानका फल 'लौकिक' है और वह इसी लोकमें, इसी जन्ममें, इसी शरीरके रहते-रहते ही मिलनेकी सम्भावनावाला होता है[१]। स्वर्गको ही परम प्राप्य वस्तु मानकर उसकी प्राप्तिके लिये किये गये यज्ञ आदिका फल 'पारलौकिक' होता है। परन्तु राजस यज्ञ '**अभिसन्धाय तु फलम्**' (१७। १२) और दान '**फलमुद्दिश्य वा पुनः**' (१७। २१) का फल लौकिक तथा पारलौकिक—दोनों ही हो सकता है। इसमें भी स्वर्ग-प्राप्तिके लिये यज्ञ आदि करनेवाले (दूसरे अध्यायका बयालीसवाँ-तैंतालीसवाँ और नवें अध्यायका बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक) और केवल दम्भ, सत्कार, मान, पूजा, प्रत्युपकार आदिके लिये यज्ञ, तप और दान करनेवाले (सत्रहवें अध्यायका बारहवाँ, अठारहवाँ और इक्कीसवाँ श्लोक) दोनों प्रकारके राजस पुरुष जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं[२]। परन्तु तामस यज्ञ और तप करनेवाले (सत्रहवें अध्यायका तेरहवाँ और उन्नीसवाँ श्लोक) तामस पुरुष तो अधोगतिमें जाते हैं—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (१४। १८), '**पतन्ति नरकेऽशुचौ**' (१६। १६), '**आसुरीष्वेव योनिषु**' (१६। १९) '**ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (१६। २०)।

जो मनुष्य यज्ञ करके स्वर्गमें जाते हैं, उनको स्वर्गमें भी दुःख, जलन, ईर्ष्या आदि होते हैं[३]। जैसे—शतक्रतु

१-राजसके दृष्टका कालान्तरिक फल और अदृष्टका लौकिक फल—दोनों एक-जैसे दीखते हुए भी इनमें अन्तर है; जैसे—भोजनके परिणामस्वरूप जो रोग आदि होंगे, वह भौतिक (कालान्तरिक) फल है अर्थात् वह सीधे भोजनका ही परिणाम है और पुत्रेष्टि यज्ञ आदिका जो फल होगा, वह आधिदैविक (लौकिक) फल है अर्थात् वह प्रारब्ध बनकर फल (पुत्रादि)-के रूपमें आता है।

२-यदि राजस पुरुषोंका दम्भ (सत्रहवें अध्यायका बारहवाँ और अठारहवाँ श्लोक) अधिक बढ़ जाय, तो वे नरकोंमें भी जा सकते हैं।

३-स्वर्गमें भी यज्ञ आदि पुण्यकर्मोंके अनुसार उच्च, मध्यम और कनिष्ठ—ऐसी तीन तरहकी श्रेणियाँ होती हैं। उनमें भी उच्च श्रेणीवाले जब अपने समान श्रेणीवालोंको देखते हैं, तब उन्हें ईर्ष्या होती है कि ये हमारे समान पदपर क्यों आये?

इन्द्रको भी असुरोंके अत्याचारोंसे दुःख होता है, कोई तपस्या करे तो उसके हृदयमें जलन होती है, वह भयभीत होता है। इसे पूर्वजन्मके पापोंका फल भी नहीं कह सकते; क्योंकि उनके स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो जाते हैं—'**पूतपापाः**' (९। २०) और वे यज्ञके पुण्योंसे स्वर्गलोकको जाते हैं। फिर उनको दुःख, जलन, भय आदिका होना किन पापोंका फल है? इसका उत्तर यह है कि यह सब यज्ञमें की हुई पशु-हिंसाके पापका ही फल है।

दूसरी बात, यज्ञ आदि सकामकर्म करनेसे अनेक तरहके दोष आते हैं। गीतामें आया है—'**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**' (१८। ४८) अर्थात् धुएँसे अग्निकी तरह सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं। जब सभी कर्मोंके आरम्भमात्रमें भी दोष रहता है, तब सकामकर्मोंमें तो (सकामभाव होनेसे) दोषोंकी सम्भावना ज्यादा ही होती है और उनमें अनेक तरहके दोष बनते ही हैं। इसलिये शास्त्रोंमें यज्ञ करनेके बाद प्रायश्चित्त करनेका विधान है। प्रायश्चित्त-विधानसे यह सिद्ध होता है कि यज्ञमें दोष (पाप) अवश्य होते हैं। अगर दोष न होते, तो प्रायश्चित्त किस बातका? परन्तु वास्तवमें प्रायश्चित्त करनेपर भी सब दोष दूर नहीं होते, उनका कुछ अंश रह जाता है; जैसे—मैल लगे वस्त्रको साबुनसे धोनेपर भी उसके तन्तुओंके भीतर थोड़ी मैल रह जाती है। इसी कारण इन्द्रादिक देवताओंको भी प्रतिकूल-परिस्थितिजन्य दुःख भोगना पड़ता है।

वास्तवमें दोषोंकी पूर्ण निवृत्ति तो निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करके उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देनेसे ही होती है। इसलिये निष्कामभावसहित किये गये कर्म ही श्रेष्ठ हैं। सबसे बड़ी शुद्धि (दोष-निवृत्ति) होती है—'मैं तो केवल भगवान्‌का ही हूँ', इस प्रकार अहंता-परिवर्तनपूर्वक भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य बनानेसे। इससे जितनी शुद्धि होती है, उतनी कर्मोंसे नहीं होती*। भगवान्‌ने कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५। ४४। १)

तीसरी बात, गीतामें अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों करता है? तो उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—'**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः**' (३। ३७)। तात्पर्य है कि रजोगुणसे उत्पन्न कामना ही पाप कराती है। इसलिये कामनाको लेकर किये जानेवाले राजस यज्ञकी क्रियाओंमें पाप हो सकते हैं।

राजस तथा तामस यज्ञ आदि करनेवाले आसुरी-सम्पत्तिवाले हैं और सात्त्विक यज्ञ आदि करनेवाले दैवी-सम्पत्तिवाले हैं; परन्तु दैवी-सम्पत्तिके गुणोंमें भी यदि 'राग' हो जाता है, तो रजोगुणका धर्म होनेसे वह राग भी बन्धनकारक हो जाता है (गीता—चौदहवें अध्यायका छठा श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—शास्त्रमें आया है कि कलियुगमें दान ही एकमात्र धर्म है; अतः जिस-किसी प्रकारसे भी दान दिया जाय, वह कल्याण ही करता है। इसका तात्पर्य है कि कलियुगमें यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि शुभकर्म विधिपूर्वक करने कठिन हैं; अतः किसी तरहसे देनेकी, त्याग करनेकी आदत पड़ जाय। इसलिये जिस-किसी प्रकारसे भी दान देते रहना चाहिये।

और मध्यम तथा कनिष्ठ श्रेणीवालोंको देखकर उनके मनमें अभिमान होता है कि हम कितने बड़े हैं!

मध्यम श्रेणीवाले जब अपनेसे उच्च श्रेणीवालोंको देखते हैं, तो उनकी भोग-सामग्री, पद, अधिकार आदिको देखकर उन्हें जलन होती है और कनिष्ठ श्रेणीवालोंको देखकर अभिमान होता है।

कनिष्ठ श्रेणीवालोंमें उच्च और मध्यम श्रेणीवालोंको देखकर असहिष्णुता होती है, जलन होती है कि उनके पास इतनी भोग-सामग्री क्यों है? वे इतने ऊँचे पद-अधिकारपर क्यों गये हैं? और अपने समान श्रेणीवालोंको देखकर ईर्ष्या होती है कि ये हमारे समान कैसे आकर बैठे हैं, तथा जो स्वर्गमें नहीं आये हैं, उनको देखकर अभिमान होता है कि हम कितने उच्च स्थान—स्वर्गमें हैं!

स्वर्गमें जो स्थिति है, वह भी तो नित्य नहीं है; क्योंकि किसी भी श्रेणीवाले क्यों न हों, पुण्य क्षीण हो जानेपर उनको भी मृत्युलोकमें आना पड़ता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९। २१) और इसकी चिन्ता, इसका भय सदा बना रहता है कि यह स्थिति हमारी रहेगी नहीं, एक दिन चली जायगी।

*** दूसरोंकी उन्नति सही न जाय, ईर्ष्या हो जाय आदि जितने भी दोष हैं, वे पूर्वकृत कर्मोंके फल नहीं हैं। वे सब दोष अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण ही होते हैं। शास्त्रविहित सकाम कर्मोंको करनेसे अन्तःकरणकी सर्वथा शुद्धि नहीं होती, प्रत्युत आंशिक शुद्धि होती है, जिससे स्वर्गादि लोकोंके भोगोंको भोगते हैं। अन्तःकरणकी अशुद्धि सर्वथा तभी मिटती है, जब उद्देश्य केवल भगवान्‌का ही हो।**

सम्बन्ध—सोलहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें दैवी-सम्पत्ति मोक्षके लिये और आसुरी-सम्पत्ति बन्धनके लिये बतायी है। दैवी-सम्पत्तिको धारण करनेवाले सात्त्विक मनुष्य परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे जो यज्ञ, तप और दानरूप कर्म करते हैं, उन कर्मोंमें होनेवाली (भाव, विधि, क्रिया आदिकी) कमीकी पूर्तिके लिये क्या करना चाहिये? इसे बतानेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

ॐ	= ॐ,	**ब्रह्मणः**	= (जिस) परमात्माका	**वेदाः**	= वेदों
तत्	= तत्,	**निर्देशः**	= निर्देश (संकेत)	**च**	= तथा
सत्	= सत्—			**ब्राह्मणाः**	= ब्राह्मणों
इति	= इन	**स्मृतः**	= किया गया है,	**च**	= और
त्रिविधः	= तीन प्रकारके नामोंसे	**तेन**	= उसी परमात्मासे	**यज्ञाः**	= यज्ञोंकी
		पुरा	= सृष्टिके आदिमें	**विहिताः**	= रचना हुई है।

व्याख्या—'**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः**'—ॐ, तत् और सत्—यह तीन प्रकारका परमात्माका निर्देश है अर्थात् परमात्माके तीन नाम हैं (इन तीनों नामोंकी व्याख्या भगवान्‌ने आगेके चार श्लोकोंमें की है)।

'**ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा**'—उस परमात्माने पहले (सृष्टिके आरम्भमें) वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञोंको बनाया। इन तीनोंमें विधि बतानेवाले वेद हैं, अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मण हैं और क्रिया करनेके लिये यज्ञ हैं। अब इनमें यज्ञ, तप, दान आदिकी क्रियाओंमें कोई कमी रह जाय, तो क्या करें? परमात्माका नाम लें तो उस कमीकी पूर्ति हो जायगी। जैसे रसोई बनानेवाला जलसे आटा सानता (गूँधता) है, तो कभी उसमें जल अधिक पड़ जाय, तो वह क्या करता है? आटा और मिला लेता है। ऐसे ही कोई निष्कामभावसे यज्ञ, दान आदि शुभकर्म करे और उनमें कोई कमी—अंग-वैगुण्य रह जाय, तो जिस भगवान्‌से यज्ञ आदि रचे गये हैं, उस भगवान्‌का नाम लेनेसे वह अंग-वैगुण्य ठीक हो जाता है, उसकी पूर्ति हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—'महानिर्वाणतन्त्र' में आया है—

ॐ तत्सदिति मन्त्रेण यो यत्कर्म समाचरेत्।
गृहस्थो वाप्युदासीनस्तस्याभीष्टाय तद् भवेत्॥
जपो होमः प्रतिष्ठा च संस्काराद्यखिलाः क्रियाः।
ॐ तत्सन्मन्त्रनिष्पन्नाः सम्पूर्णाः स्युर्न संशयः॥

(१४। १५४-१५५)

'**ॐ तत् सत्**'—इस मन्त्रसे गृहस्थ अथवा उदासीन (साधु) जो भी कर्म आरम्भ करता है, उसको इससे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। जप, होम, प्रतिष्ठा, संस्कार आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ 'ॐ तत् सत्'—इस मन्त्रसे सफल हो जाती हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

तस्मात्	= इसलिये	**यज्ञदानतपःक्रियाः**	= यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ	**इति**	= इस परमात्माके नामका
ब्रह्मवादिनाम्	= वैदिक सिद्धान्तोंको माननेवाले पुरुषोंकी	**सततम्**	= सदा	**उदाहृत्य**	= उच्चारण करके (ही)
विधानोक्ताः	= शास्त्रविधिसे नियत	**ओम्**	= 'ॐ'	**प्रवर्तन्ते**	= आरम्भ होती हैं।

व्याख्या—**'तस्मादोमित्युदाहृत्य ..... ब्रह्मवादिनाम्'**—वेदवादीके लिये अर्थात् वेदोंको मुख्य माननेवाला जो वैदिक सम्प्रदाय है, उसके लिये 'ॐ' का उच्चारण करना खास बताया है। वे 'ॐ' का उच्चारण करके ही वेदपाठ, यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि जैसे गायें साँड़के बिना फलवती नहीं होतीं, ऐसे ही वेदकी जितनी ऋचाएँ हैं, श्रुतियाँ हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण किये बिना फलवती नहीं होतीं अर्थात् फल नहीं देतीं।

'ॐ' का सबसे पहले उच्चारण क्यों किया जाता है? कारण कि सबसे पहले 'ॐ'—प्रणव प्रकट हुआ है। उस प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं। उन मात्राओंसे त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है और त्रिपदा गायत्रीसे ऋक्, साम और यजुः—यह वेदत्रयी प्रकट हुई है। इस दृष्टिसे 'ॐ' सबका मूल है और इसीके अन्तर्गत गायत्री भी है तथा सब-के-सब वेद भी हैं। अतः जितनी वैदिक क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण करके ही की जाती हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

तत् ='तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माके लिये ही सब कुछ है—
इति =ऐसा मानकर
मोक्षकाङ्क्षिभिः = मुक्ति चाहनेवाले मनुष्योंद्वारा
फलम् =फलकी
अनभिसन्धाय =इच्छासे रहित होकर
विविधाः =अनेक प्रकारकी
यज्ञतपः-क्रियाः =यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ
च =तथा
दानक्रियाः =दानरूप क्रियाएँ
क्रियन्ते =की जाती हैं।

व्याख्या—**'तदित्यनभिसन्धाय ..... मोक्षकाङ्क्षिभिः'**—केवल उस परमात्माकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे, किंचिन्मात्र भी फलकी इच्छा न रखकर शास्त्रीय यज्ञ, तप, दान आदि शुभकर्म किये जायँ। कारण कि विहित-निषिद्ध, शुभ-अशुभ आदि क्रियामात्रका आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। ऐसे ही उस क्रियाका जो फल होता है, उसका भी संयोग होता है और वियोग होता है अर्थात् कर्मफलके भोगका भी आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। परन्तु परमात्मा तो उस क्रिया और फलभोगके आरम्भ होनेसे पहले भी हैं तथा क्रिया और फलभोगकी समाप्तिके बाद भी हैं एवं क्रिया और फलभोगके समय भी वैसे-के-वैसे हैं। परमात्माकी सत्ता नित्य-निरन्तर है। नित्य-निरन्तर रहनेवाली इस सत्ताकी तरफ ध्यान दिलानेमें ही **'तत् इति'** पदोंका तात्पर्य है; और उत्पत्ति-विनाशशील फलकी तरफ ध्यान न देनेमें ही **'अनभिसन्धाय फलम्'** पदोंका तात्पर्य है; अर्थात् नित्य-निरन्तर रहनेवाले तत्त्वकी स्मृति रहनी चाहिये और नाशवान् फलकी अभिसंधि (इच्छा) बिलकुल नहीं रहनी चाहिये।

नित्य-निरन्तर वियुक्त होनेवाले, प्रतिक्षण अभावमें जानेवाले इस संसारमें जो कुछ देखने, सुनने और जाननेमें आता है, उसीको हम प्रत्यक्ष, सत्य मान लेते हैं और उसीकी प्राप्तिमें हम अपनी बुद्धिमानी और बलको सफल मानते हैं। इस परिवर्तनशील संसारको प्रत्यक्ष माननेके कारण ही सदा-सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण रहता हुआ भी वह परमात्मा हमें प्रत्यक्ष नहीं दीखता। इसलिये एक परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर उस संसारका अर्थात् अहंता-ममता (मैं-मेरेपन)-का त्याग करके, उन्हींकी दी हुई शक्तिसे, यज्ञ आदिको उन्हींका मानकर निष्कामभावपूर्वक उन्हींके लिये यज्ञ आदि शुभकर्म करने चाहिये। इसीमें ही मनुष्यकी वास्तविक बुद्धिमानी और बल-(पुरुषार्थ-) की सफलता है। तात्पर्य यह है कि जो संसार प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है, उसका तो निराकरण करना है और जिसको अप्रत्यक्ष मानते हैं, उस **'तत्'** नामसे कहे जानेवाले परमात्माका अनुभव करना है, जो नित्य-निरन्तर प्राप्त है।

भगवान्‌के भक्त (भगवान्‌का उद्देश्य रखकर) **'तत्'** पदके बोधक राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, वासुदेव, शिव आदि नामोंका उच्चारण करके सब क्रियाएँ आरम्भ करते हैं।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, जप, स्वाध्याय, ध्यान, समाधि आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब भगवान्‌के लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌की आज्ञा-पालनके लिये ही करते हैं, अपने लिये नहीं। कारण कि जिनसे क्रियाएँ की जाती हैं, वे शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सभी परमात्माके ही हैं, हमारे नहीं हैं। जब शरीर आदि हमारे नहीं हैं, तो घर, जमीन-जायदाद, रुपये-पैसे, कुटुम्ब आदि भी हमारे नहीं हैं। ये सभी प्रभुके हैं और इनमें जो सामर्थ्य, समझ आदि है, वह भी सब प्रभुकी है और हम खुद भी प्रभुके ही हैं। हम प्रभुके हैं और प्रभु हमारे हैं—इस भावसे वे सब क्रियाएँ प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही करते हैं।

परिशिष्ट भाव—परमात्माके लिये परोक्षवाचक **'तत्'** (वह) पदके प्रयोगका तात्पर्य है कि परमात्मा अलौकिक हैं—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५। १७)। वे विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं।

सम्बन्ध—चौबीसवें श्लोकमें 'ॐ' की और पचीसवें श्लोकमें 'तत्' शब्दकी व्याख्या करके अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें पाँच प्रकारसे 'सत्' शब्दकी व्याख्या करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**च**	= और	**प्रशस्ते**	= प्रशंसनीय
सत्	= 'सत्'—	**साधुभावे**	= श्रेष्ठ भावमें	**कर्मणि**	= कर्मके साथ
इति	= ऐसा	**प्रयुज्यते**	= प्रयोग किया जाता है	**सत्**	= 'सत्'
एतत्	= यह परमात्माका नाम			**शब्दः**	= शब्द
सद्भावे	= सत्तामात्रमें	**तथा**	= तथा	**युज्यते**	= जोड़ा जाता है।

व्याख्या—**'सद्भावे'**—'परमात्मा हैं' इस प्रकार परमात्माकी सत्ता-(होनेपन-) का नाम 'सद्भाव' है। उस परमात्माके सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि जितने रूप हैं और सगुण-साकारमें भी उसके विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जितने अवतार हैं, वे सब-के-सब 'सद्भाव' के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार जिसका किसी देश, काल, वस्तु आदिमें कभी अभाव नहीं होता, ऐसे परमात्माके जो अनेक रूप हैं, अनेक नाम हैं, अनेक तरहकी लीलाएँ हैं, वे सब-के-सब 'सद्भाव' के अन्तर्गत हैं।

'साधुभावे'—परमात्मप्राप्तिके लिये अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अलग-अलग जितने साधन बताये गये हैं, उनमें हृदयके जो दया, क्षमा आदि श्रेष्ठ, उत्तम भाव हैं, वे सब-के-सब 'साधुभाव' के अन्तर्गत हैं।

'सदित्येतत्प्रयुज्यते'—सत्तामें और श्रेष्ठतामें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है अर्थात् जो सदा है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी और अभाव नहीं होता—ऐसे परमात्माके लिये और उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये दैवी-सम्पत्तिके जो सत्य, क्षमा, उदारता, त्याग आदि श्रेष्ठ गुण हैं, उनके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है; जैसे—सत्-तत्त्व, सद्गुण, सद्भाव आदि।

'प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते'—परमात्मप्राप्तिके लिये अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अलग-अलग जितने साधन बताये गये हैं, उनमें क्रियारूपसे जितने श्रेष्ठ आचरण हैं, वे सब-के-सब **'प्रशस्ते कर्मणि'** के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कार; अन्नदान, भूमिदान, गोदान आदि दान; और कुआँ-बावड़ी खुदवाना, धर्मशाला बनवाना, मन्दिर बनवाना, बगीचा लगवाना आदि श्रेष्ठ कर्म भी **'प्रशस्ते कर्मणि'** के अन्तर्गत आते हैं। इन सब श्रेष्ठ आचरणोंमें, श्रेष्ठ कर्मोंमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है; जैसे—सदाचार, सत्कर्म, सत्सेवा, सद्व्यवहार आदि।

परिशिष्ट भाव—परमात्माके अस्तित्व या होनेपनको **'सद्भाव'** कहते हैं, जिसका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। प्रायः सभी आस्तिक यह भाव तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता

कोई विलक्षण शक्ति सदासे है और वह अपरिवर्तनशील है। जो संसार प्रत्यक्ष प्रतिक्षण बदलता है तथा जिसका अभाव होता है, उसको 'है' अथवा स्थिर कैसे कहा जाय? कारण कि इन्द्रियों, बुद्धि आदिसे जिसको देखते, जानते हैं, वह संसार पहले नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी जा रहा है—यह सभीका अनुभव है। जिनसे संसारको देखते, जानते हैं, वे इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि भी संसारके ही हैं। फिर भी आश्चर्य यह है कि 'नहीं' होते हुए भी संसार 'है' के रूपमें स्थिर दिखायी दे रहा है! अगर संसार वास्तवमें होता तो बदलता नहीं और बदलता है तो 'है' नहीं। अतः यह 'होनापन' संसार-शरीरादिका नहीं है, प्रत्युत सत्-तत्त्व (परमात्मा)-का है, जिससे नहीं होते हुए भी संसार 'है' दीखता है।

अन्तःकरणके श्रेष्ठ भावोंको 'साधुभाव' कहते हैं। परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे श्रेष्ठ भावोंके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठ भाव अर्थात् सद्गुण-सदाचार दैवी-सम्पत्ति है। दैवी-सम्पत्ति 'सत्' है और आसुरी-सम्पत्ति 'असत्' है। मुक्ति देनेवाले सब साधन 'सत्' हैं और बन्धनकारक सब कर्म 'असत्' हैं। दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं, पर उनका त्याग 'सत्' है। असत्का त्याग भी 'सत्' है और सत्का ग्रहण भी 'सत्' है। वास्तवमें असत्के त्यागकी जितनी जरूरत है, उतनी 'सत्' को ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं है। 'असत्' का त्याग किये बिना लाया गया 'सत्' ऊपरसे चिपकाया जाता है, जो ठहरता नहीं। परन्तु असत्का त्याग करनेसे 'सत्' भीतरसे उदय होता है। अतः जिसको हम असत्-रूपसे जानते हैं, उसका त्याग करनेसे 'सत्' का अनुभव हो जाता है।

यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, व्रत, पूजा-पाठ, विवाह आदि जितने भी शास्त्रविहित शुभकर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं। परन्तु इन प्रशंसनीय कर्मोंका सम्बन्ध अगर भगवान्के साथ न हो तो ये 'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्रविहित कर्ममात्र रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव भी तपस्या आदि प्रशंसनीय कर्म करते हैं, तथापि असद्भाव अर्थात् अपने स्वार्थ और दूसरेके अहितका भाव होनेसे वे बाँधनेवाले असत्-कर्म हो जाते हैं। (इसी अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। उनसे अगर ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो वहाँसे लौटकर आना पड़ता है—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाले मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते—'**न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति**' (गीता ६। ४०); क्योंकि उसका फल 'सत्' होता है। जो कर्म स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके प्राणिमात्रके हितके भावसे किये जाते हैं, वही वास्तवमें प्रशंसनीय सत्कर्म होते हैं।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

यज्ञे = यज्ञ
च = तथा
तपसि = तप
च = और
दाने = दानरूप क्रियामें (जो)
स्थितिः = स्थिति (निष्ठा) है,
एव = (वह) भी
सत् = 'सत्'—
इति = ऐसे
उच्यते = कही जाती है
च = और
तदर्थीयम् = उस परमात्माके निमित्त किया जानेवाला
कर्म = कर्म
एव = भी
सत् = 'सत्'—
इति = ऐसा
अभिधीयते = कहा जाता है।

व्याख्या—'**यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते**'—यज्ञ, तप और दानरूप प्रशंसनीय क्रियाओंमें जो स्थिति (निष्ठा) होती है, वह 'सत्' कही जाती है। जैसे, किसीकी सात्त्विक यज्ञमें, किसीकी सात्त्विक तपमें और किसीकी सात्त्विक दानमें जो स्थिति—निष्ठा है अर्थात् इनमेंसे एक-एक चीजके प्रति हृदयमें जो श्रद्धा है और इन्हें करनेकी जो तत्परता है, वह 'सन्निष्ठा' (सत्-निष्ठा) कही जाती है।

'**च**' पद देनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लोगोंकी सात्त्विक यज्ञ, तप और दानमें श्रद्धा—निष्ठा होती है, ऐसे ही किसीकी वर्णधर्ममें, किसीकी आश्रमधर्ममें, किसीकी सत्यव्रत-पालनमें, किसीकी अतिथि-सत्कारमें, किसीकी सेवामें, किसीकी आज्ञा-पालनमें, किसीकी पातिव्रत-धर्ममें और किसीकी गंगाजीमें, किसीकी यमुनाजीमें, किसीकी प्रयागराज आदि विशेष तीर्थोंमें जो हृदयसे श्रद्धा है, उनमें जो रुचि,

विश्वास और तत्परता है, वह भी 'सन्निष्ठा' कही जाती है।

'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'—उन प्रशंसनीय कर्मोंके अलावा कर्मोंके दो तरहके स्वरूप होते हैं—लौकिक (स्वरूपसे ही संसार-सम्बन्धी) और पारमार्थिक (स्वरूपसे ही भगवत्सम्बन्धी):—

(१) वर्ण और आश्रमके अनुसार जीविकाके लिये यज्ञ, अध्यापन, व्यापार, खेती आदि व्यावहारिक कर्तव्य-कर्म और खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जगना आदि शारीरिक कर्म—ये सभी 'लौकिक' हैं।

(२) जप-ध्यान, पाठ-पूजा, कथा-कीर्तन, श्रवण-मनन, चिन्तन-ध्यान आदि जो कुछ किया जाय, सब 'पारमार्थिक' है।

इन दोनों प्रकारके कर्मोंको अपने सुख-आराम आदिका उद्देश्य न रखकर निष्कामभाव एवं श्रद्धा-विश्वाससे केवल भगवान्‌के लिये अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ तो वे सब-के-सब 'तदर्थीय कर्म' हो जाते हैं। भगवदर्थ होनेके कारण उनका फल 'सत्' हो जाता है अर्थात् सत्स्वरूप परमात्माके साथ सम्बन्ध होनेसे वे सभी 'दैवी-सम्पत्ति' हो जाते हैं, जो कि मुक्ति देनेवाली है।

जैसे अग्निमें ठीकरी रख दी जाय तो अग्नि उसको अग्निरूप बना देती है। यह सब अग्निकी ही विशेषता है कि ठीकरी भी अग्निरूप हो जाती है! ऐसे ही उस परमात्माके लिये जो भी कर्म किया जाय, वह सब सत् अर्थात् परमात्म-स्वरूप हो जाता है अर्थात् उस कर्मसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उस कर्ममें जो भी विशेषता आयी है, वह परमात्माके सम्बन्धसे ही आयी है। वास्तवमें तो कर्ममें कुछ भी विशेषता नहीं है।

यहाँ **'तदर्थीयम्'** कहनेका तात्पर्य है कि जो ऊँचे-से-ऊँचे भोगोंको, स्वर्ग आदि भोग-भूमियोंको न चाहकर केवल परमात्माको चाहता है, अपना कल्याण चाहता है, मुक्ति चाहता है, ऐसे साधकका जितना पारमार्थिक साधन बन गया है, वह सब सत् हो जाता है। इस विषयमें भगवान्‌ने कहा है कि 'कल्याणकारी काम करनेवाले किसीकी भी दुर्गति नहीं होती' (गीता—छठे अध्यायका चालीसवाँ श्लोक), इतनी ही बात नहीं, 'जो योग-(समता अथवा परमात्मतत्त्व-) का जिज्ञासु होता है, वह भी वेदोंमें स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये बताये हुए सकाम कर्मोंसे ऊँचा उठ जाता है' (गीता—छठे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। कारण कि वे कर्म तो फल देकर नष्ट हो जाते हैं, पर उस परमात्माके लिये किया हुआ साधन—कर्म नष्ट नहीं होता, प्रत्युत सत् हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—पचीसवें श्लोकमें निष्कामभावसे कर्म करनेकी बात आयी थी—**'अनभिसन्धाय फलम्'**। अब यहाँ भगवान्‌के लिये कर्म करनेकी बात आयी है। मुक्ति चाहनेवाले निष्कामभावसे कर्म करते हैं—**'मोक्षकाङ्क्षिभिः'** (गीता १७। २५) और भक्ति चाहनेवाले भगवान्‌के लिये कर्म करते हैं (गीता—नवें अध्यायका छब्बीसवाँ, सत्ताईसवाँ, अट्ठाईसवाँ श्लोक)।

भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे भी कर्म 'सत्' अर्थात् सत्-फल देनेवाला हो जाता है और असत्‌के सम्बन्धका त्याग होनेसे भी कर्म 'सत्' हो जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें आया कि परमात्माके उद्देश्यसे किये गये कर्म 'सत्' हो जाते हैं। परन्तु परमात्माके उद्देश्यसे रहित जो कर्म किये जाते हैं, उनकी कौन-सी संज्ञा होगी? इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

पार्थ = हे पार्थ!
अश्रद्धया = अश्रद्धासे
हुतम् = किया हुआ हवन,
दत्तम् = दिया हुआ दान (और)
तप्तम् = तपा हुआ
तपः = तप
च = तथा
यत् = (और भी) जो कुछ
कृतम् = किया जाय, (वह सब)
असत् = 'असत्'—
इति = ऐसा
उच्यते = कहा जाता है।
तत् = उसका (फल)
नो = न तो
इह = यहाँ होता है
च = और
न = न
प्रेत्य = मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता।

व्याख्या—'**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्**'—अश्रद्धापूर्वक यज्ञ, दान और तप किया जाय, और '**कृतं च यत्**'* अर्थात् जिसकी शास्त्रमें आज्ञा आती है, ऐसा जो कुछ कर्म अश्रद्धापूर्वक किया जाय—वह सब 'असत्' कहा जाता है।

'**अश्रद्धया**' पदमें श्रद्धाके अभावका वाचक '**नञ्**' समास है, जिसका तात्पर्य है कि आसुरलोग परलोक, पुनर्जन्म, धर्म, ईश्वर आदिमें श्रद्धा नहीं रखते।

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी।
श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥

(मानस ७। ९८। १)

—इस प्रकारके विरुद्ध भाव रखकर वे यज्ञ, दान आदि क्रियाएँ करते हैं।

जब वे शास्त्रमें श्रद्धा ही नहीं रखते, तो फिर वे यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्म क्यों करते हैं? वे उन शास्त्रीय कर्मोंको इसलिये करते हैं कि लोगोंमें उन क्रियाओंका ज्यादा प्रचलन है, उनको करनेवालोंका लोग आदर करते हैं तथा उनको करना अच्छा समझते हैं। इसलिये समाजमें अच्छा बननेके लिये और जो लोग यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्म करते हैं, उनकी श्रेणीमें गिने जानेके लिये वे श्रद्धा न होनेपर भी शास्त्रीय कर्म कर देते हैं।

'**असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह**'—अश्रद्धापूर्वक यज्ञ आदि जो कुछ शास्त्रीय कर्म किया जाय, वह सब '**असत्**' कहा जाता है। उसका न इस लोकमें फल होता है और न परलोकमें—जन्म-जन्मान्तरमें ही फल होता है। तात्पर्य यह कि सकामभावसे श्रद्धा एवं विधिपूर्वक शास्त्रीय कर्मोंको करनेपर यहाँ धन-वैभव, स्त्री-पुत्र आदिकी प्राप्ति और मरनेके बाद स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है और उन्हीं कर्मोंको निष्कामभावसे श्रद्धा एवं विधिपूर्वक करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्मप्राप्ति हो जाती है; परन्तु अश्रद्धापूर्वक कर्म करनेवालोंको इनमेंसे कोई भी फल प्राप्त नहीं होता।

यदि यहाँ यह कहा जाय कि अश्रद्धापूर्वक जो कुछ भी किया जाता है, उसका इस लोकमें और परलोकमें कुछ भी फल नहीं होता, तो जितने पाप-कर्म किये जाते हैं, वे सभी अश्रद्धासे ही किये जाते हैं, तब तो उनका भी कोई फल नहीं होना चाहिये! और मनुष्य भोग भोगने तथा संग्रह करनेकी इच्छाको लेकर अन्याय, अत्याचार, झूठ, कपट, धोखेबाजी आदि जितने भी पाप-कर्म करता है, उन कर्मोंका फल दण्ड भी नहीं चाहता! पर वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। कारण कि कर्मोंका यह नियम है कि रागी पुरुष रागपूर्वक जो कुछ भी कर्म करता है, उसका फल कर्ताके न चाहनेपर भी कर्ताको मिलता ही है। इसलिये आसुरी-सम्पदावालोंको बन्धन और आसुरी योनियों तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है।

छोटे-से-छोटा और साधारण-से-साधारण कर्म भी यदि उस परमात्माके उद्देश्यसे ही निष्कामभावपूर्वक किया जाय, तो वह कर्म 'सत्' हो जाता है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो जाता है; परन्तु बड़े-से-बड़ा यज्ञादि कर्म भी यदि श्रद्धापूर्वक और शास्त्रीय विधि-विधानसे सकामभावपूर्वक किया जाय, तो वह कर्म भी फल देकर नष्ट हो जाता है; परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला नहीं होता तथा वे यज्ञादि कर्म यदि अश्रद्धापूर्वक किये जायँ, तो वे सब असत् हो जाते हैं अर्थात् 'सत्' फल देनेवाले नहीं होते। तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्राप्तिमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत श्रद्धाभावकी ही प्रधानता है।

पूर्वोक्त सद्भाव, साधुभाव, प्रशस्त कर्म, सत्-स्थिति और तदर्थीय कर्म—ये पाँचों परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे अर्थात् 'सत्'—परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाले होनेसे 'सत्' कहे जाते हैं।

अश्रद्धासे किये गये कर्म 'असत्' क्यों होते हैं? वेदोंने, भगवान्‌ने और शास्त्रोंने कृपा करके मनुष्योंके कल्याणके लिये ही ये शुभकर्म बताये हैं, पर जो मनुष्य इन तीनोंपर अश्रद्धा करके शुभकर्म करते हैं, उनके ये सब कर्म 'असत्' हो जाते हैं। इन तीनोंपर की हुई अश्रद्धाके कारण उनको नरक आदि दण्ड मिलने चाहिये; परन्तु उनके कर्म शुभ (अच्छे) हैं, इसलिये उन कर्मोंका कोई फल नहीं होता—यही उनके लिये दण्ड है।

मनुष्यको उचित है कि वह यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि शास्त्रविहित कर्मोंको श्रद्धापूर्वक और निष्कामभावसे करे। भगवान्‌ने विशेष कृपा करके मानव-शरीर दिया है और इसमें शुभकर्म करनेसे अपनेको और सब लोगोंको लाभ होता है। इसलिये जिससे अभी और परिणाममें सबका हित हो—ऐसे श्रेष्ठ कर्तव्य-कर्म श्रद्धापूर्वक और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करते रहना चाहिये।

*** यहाँ 'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्'—व्याकरणके इस न्यायके अनुसार यज्ञ, दान और तपके साहचर्यसे 'कृतम्' पदसे शास्त्रीय कर्म ही लिये जायँगे।**

परिशिष्ट भाव—'कृतं च यत्' पदोंमें नामजप, कीर्तन आदि नहीं आयेंगे; क्योंकि उनमें भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे वे 'कर्म' नहीं हैं, प्रत्युत 'उपासना' है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्,—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १७ ॥

इस अध्यायमें श्रद्धाके तीन विभाग किये गये हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इस विभागको जो ठीक-ठीक जान लेगा, वह सात्त्विकी श्रद्धाका ग्रहण और राजसी-तामसी श्रद्धाका त्याग कर देगा। राजसी-तामसी श्रद्धाका त्याग करते ही (सात्त्विकी श्रद्धासे) भगवान्‌के साथ स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जायगा। इसलिये इस अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रयविभागयोग' रखा गया है।

सत्रहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें **'अथ सप्तदशोऽध्यायः'** के तीन, **'अर्जुन उवाच'** आदि पदोंके चार, श्लोकोंके तीन सौ अड़तीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ अट्ठावन है।

(२) इस अध्यायमें **'अथ सप्तदशोऽध्यायः'** के आठ, **'अर्जुन उवाच'** आदि पदोंके तेरह, श्लोकोंके आठ सौ छियानबे और पुष्पिकाके इक्यावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग नौ सौ अड़सठ है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उवाच हैं—**'अर्जुन उवाच'** और **'श्रीभगवानुवाच'**।

सत्रहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके अट्ठाईस श्लोकोंमेंसे तीसरे श्लोकके पहले चरणमें 'मगण' और तीसरे चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे **'संकीर्ण-विपुला'**; दसवें और बारहवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पचीसवें-छब्बीसवें श्लोकोंके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे **'न-विपुला'**; सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंके प्रथम चरणमें 'मगण प्रयुक्त होनेसे **'म-विपुला'**; ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे **'भ-विपुला'**; और उन्नीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे **'र-विपुला'** संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उन्नीस श्लोक ठीक **'पथ्यावक्त्र'** अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अवतरणिका—

*श्रीभगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें **'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** पदोंसे जिस सांख्ययोग और कर्मयोगकी बात कही है, उसीको तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाके नामसे कहा है। उन दोनों निष्ठाओंके तत्त्वको अलग-अलग रूपसे ठीक जाननेकी इच्छा अर्जुनके मनमें थी। परन्तु जिस प्रकार भगवान्‌को सातवेंसे पंद्रहवें अध्यायतक दैवी-सम्पत्ति और आसुरी-सम्पत्तिको कहनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ, उसी प्रकार अर्जुनको भी तीसरेसे सत्रहवें अध्यायतक उन दोनों निष्ठाओंके विषयमें अपनी जिज्ञासा प्रकट करनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ।*

*तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें दो निष्ठाओंको कहकर भगवान्‌ने चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें बताया कि मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था। इसपर अर्जुनने प्रश्न किया कि आपका जन्म तो अभीका है, फिर आपने सृष्टिके आदिमें सूर्यको कैसे उपदेश दिया? उत्तरमें भगवान्‌ने अपने अवतार और कर्मयोगके तत्त्वका वर्णन किया। चौथे अध्यायके ही चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञान प्राप्त करनेकी आज्ञा दी—**'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'** और बयालीसवें श्लोकमें योगमें स्थित होनेकी आज्ञा दी—**'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत'** इन दो अलग-अलग आज्ञाओंके कारण अर्जुनने पाँचवें अध्यायके आरम्भमें दोनोंमें अपने लिये एक निश्चित कल्याणकारक साधन पूछा। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने पाँचवें अध्यायका विषय पूरा कहकर अपनी ओरसे ही छठे अध्यायका विषय आरम्भ किया।*

छठे अध्यायके तैंतीसवें-चौंतीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने मनकी चंचलताके विषयमें प्रश्न किया। उसका भगवान्‌ने बहुत संक्षेपसे उत्तर दिया। फिर अर्जुनने सैंतीसवेंसे उनतालीसवें श्लोकतक योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिके विषयमें प्रश्न किया। उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने छठे अध्यायका विषय समाप्त किया। छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने अपने भक्तको सम्पूर्ण योगियोंमें परम श्रेष्ठ बताया। उसीको लेकर भगवान्‌ने सातवें अध्यायका विषय आरम्भ किया और उसमें भक्तिका विशेष वर्णन किया।

सातवें अध्यायके अन्तमें आये हुए ब्रह्म, अध्यात्म आदिको लेकर अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न किये। उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपसे देकर अन्तकालीन गति-विषयक सातवें प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने विस्तारपूर्वक आठवें अध्यायका विषय कहा। फिर सातवें अध्यायमें जो विषय छूट गया था, उसी विषयका वर्णन नवें अध्यायमें तथा दसवें अध्यायमें ग्यारहवें श्लोकतक किया। दसवें अध्यायके नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें भक्त और उनपर कृपाकी बात सुनकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए और प्रभावित भी हुए। अतः अर्जुनने बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक भगवान्‌की स्तुति की और अपनी विभूतियोंको विस्तारसे कहनेके लिये प्रार्थना की। अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियोंको कहते हुए भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तमें कहा कि 'हे अर्जुन! तेरेको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है? मैं सम्पूर्ण संसारको अपने एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ। इसी बातको लेकर ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने भगवान्‌से अपना विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना की। अपना विश्वरूप दिखाकर भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें कहा कि अनन्य भक्तिसे मेरा दर्शन, ज्ञान और मेरेमें प्रवेश—ये तीनों हो जाते हैं।

ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने भक्तिकी महिमा कही और उससे पहले (चौथे अध्यायके चौंतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक, पाँचवें अध्यायके तेरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायके चौबीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक और आठवें अध्यायके ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक) निर्गुण-तत्त्वकी उपासनाकी महिमा कही। उन

दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है—इस बातको अर्जुनने बारहवें अध्यायके आरम्भमें पूछा। उत्तरमें भगवान्‌ने बारहवें अध्यायमें भक्तिकी और तेरहवें-चौदहवें अध्यायोंमें निर्गुण-साधनाकी बात कही। चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीतके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेका उपाय पूछा तो भगवान्‌ने गुणातीतके लक्षण और आचरण बताकर अपनी अव्यभिचारिणी भक्तिको गुणातीत होनेका उपाय बताया। उसी-(अव्यभिचारिणी भक्ति-) के वर्णनमें भगवान्‌ने पंद्रहवें अध्यायका विषय कहा। पंद्रहवें अध्यायके अन्तमें ***'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत'*** *पदोंसे यह बात कही कि दैवी-सम्पत्तिवाले पुरुष मेरा भजन करते हैं और अर्थान्तरमें आसुरी-सम्पत्तिवाले पुरुष मेरा भजन नहीं करते। इससे पहले भी सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें और नवें अध्यायके बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें संकेतरूपसे दैवी और आसुरी-सम्पत्तिका वर्णन हुआ था। अतः दैवी और आसुरी-सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये सोलहवें अध्यायका आरम्भ हुआ।*

सोलहवें अध्यायके उपान्त्य श्लोकको लेकर अर्जुनने सत्रहवें अध्यायके आरम्भमें निष्ठाके विषयमें प्रश्न किया। उत्तरमें भगवान्‌ने तीन प्रकारकी श्रद्धाका वर्णन करते हुए अध्यायका विषय पूरा कर दिया। सत्रहवें अध्यायके बाद अब अर्जुन तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कही दो निष्ठाओंके तत्त्वको अलग-अलग स्पष्ट जाननेके लिये भगवान्‌के सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं।

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥*

---

* अर्जुनकी इस जिज्ञासाके समाधानमें भगवान्‌ने जो-जो बातें कही हैं, उनके आधारपर अर्जुनके मनमें आयी अन्य जिज्ञासाओंका भी अनुमान लगाया जा सकता है, जो इस प्रकार हैं—

(क) सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्—

(१) संन्यास किसे कहते हैं?—

किसी भी कर्मके साथ कर्तापनका भाव न रहना और बुद्धिका कहीं भी लिप्त न होना (१८। १७)।

(२) संन्यासी कैसा होना चाहिये?—

रागरहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार होना चाहिये (१८। २६)।

(३) संन्यासका साधन कैसा होना चाहिये?—

सात्त्विकी बुद्धिवाला, वैराग्यवान्, एकान्तका सेवन करनेवाला, इन्द्रियोंका नियमन करनेवाला, शरीर-वाणी-मनको संयत करनेवाला आदि होना चाहिये (१८। ५१—५३)।

(४) संन्यासीके आचरण कैसे होने चाहिये?—

कर्तृत्वाभिमान और राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करना (१८। २३)।

(५) संन्यासीका भाव कैसा होना चाहिये?—

सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक परमात्मतत्त्वको देखना (१८। २०)।

(६) संन्यासका फल क्या होता है?—

परमात्मतत्त्वमें प्रविष्ट होना (१८। ५५)।

(ख) त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन—

(१) त्याग किसे कहते हैं?—

कर्म और कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करना (१८। ६)।

(२) त्यागी कैसा होना चाहिये?—

कर्मफलका त्यागी होना चाहिये (१८। ११)।

(३) त्यागका साधन कैसा होना चाहिये?—

कर्म और फलकी आसक्तिका त्याग (१८। ९)।

अर्जुन बोले—

महाबाहो	= हे महाबाहो!	**च**	= और	**पृथक्**	= अलग-अलग
हृषीकेश	= हे हृषीकेश!				
केशिनिषूदन	= हे केशिनिषूदन!	**त्यागस्य**	= त्यागका	**वेदितुम्**	= जानना
सन्यासस्य	= (मैं) संन्यास	**तत्त्वम्**	= तत्त्व	**इच्छामि**	= चाहता हूँ।

व्याख्या—**'सन्यासस्य महाबाहो ''''''' पृथक्केशिनिषूदन'**—यहाँ **'महाबाहो'** सम्बोधन सामर्थ्यका सूचक है। अर्जुनद्वारा इस सम्बोधनका प्रयोग करनेका भाव यह है कि आप सम्पूर्ण विषयोंको कहनेमें समर्थ हैं; अतः मेरी जिज्ञासाका समाधान आप इस प्रकार करें, जिससे मैं विषयको सरलतासे समझ सकूँ।

'हृषीकेश' सम्बोधन अन्तर्यामीका वाचक है। इसके प्रयोगमें अर्जुनका भाव यह है कि मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहता हूँ; अतः इस विषयमें जो-जो आवश्यक बातें हों, उनको आप (मेरे पूछे बिना भी) कह दें।

'केशिनिषूदन' सम्बोधन विघ्नोंको दूर करनेवालेका सूचक है। इसके प्रयोगमें अर्जुनका भाव यह है कि जिस प्रकार आप अपने भक्तोंके सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर कर देते हैं, उसी प्रकार मेरे भी सम्पूर्ण विघ्नोंको अर्थात् शंकाओं और संशयोंको दूर कर दें।

जिज्ञासा प्रायः दो प्रकारसे प्रकट की जाती है—

(१) अपने आचरणमें लानेके लिये और (२) सिद्धान्तको समझनेके लिये। जो केवल पढ़ाई करनेके लिये (सीखनेके लिये) सिद्धान्तको समझते हैं, वे केवल पुस्तकोंके विद्वान् बन सकते हैं और नयी पुस्तक भी बना सकते हैं, पर अपना कल्याण नहीं कर सकते*। अपना कल्याण तो वे ही कर सकते हैं, जो सिद्धान्तको समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये तत्पर हो जाते हैं।

यहाँ अर्जुनकी जिज्ञासा भी केवल सिद्धान्तको जाननेके लिये ही नहीं है, प्रत्युत सिद्धान्तको जानकर उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये है।

'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये' (गीता २। ३९) में आये 'सांख्य' पदको ही यहाँ 'संन्यास' पदसे कहा गया है। भगवान्ने भी सांख्य और संन्यासको पर्यायवाची माना है; जैसे—पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें **'सन्न्यासः'**, चौथे श्लोकमें **'साङ्ख्ययोगौ'**, पाँचवें श्लोकमें **'यत्साङ्ख्यैः'** और छठे श्लोकमें **'सन्न्यासस्तु'** पदोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है। इसलिये यहाँ अर्जुनने सांख्यको ही संन्यास कहा है।

इसी प्रकार **'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** (गीता २। ३९) में आये 'योग' पदको ही यहाँ 'त्याग' पदसे कहा गया है। भगवान्ने भी योग (कर्मयोग) और त्यागको पर्यायवाची माना है; जैसे—दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें **'संगं त्यक्त्वा'** तथा इक्यावनवें श्लोकमें **'फलं त्यक्त्वा'**, तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'कर्मयोगेन योगिनाम्'**, चौथे अध्यायके बीसवें श्लोकमें **'त्यक्त्वा कर्मफलासंगम्'**, पाँचवें अध्यायके चौथे श्लोकमें **'योगौ'**, पाँचवें श्लोकमें **'तद्योगैरपि गम्यते'**, ग्यारहवें श्लोकमें **'संगं त्यक्त्वा'** तथा बारहवें श्लोकमें **'कर्मफलं त्यक्त्वा'**, बारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें **'त्यागात्'** पदोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है। इसलिये यहाँ अर्जुनने कर्मयोगको ही त्याग कहा है।

अच्छी तरहसे रखनेका नाम 'संन्यास' है—**'सम्यक् न्यासः सन्न्यासः।'** तात्पर्य है कि प्रकृतिकी चीज सर्वथा प्रकृतिमें देने (छोड़ देने) और विवेकद्वारा प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेका नाम 'संन्यास' है।

कर्म और फलकी आसक्तिको छोड़नेका नाम 'त्याग' है। छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें आया है कि जो कर्म और फलमें आसक्त नहीं होता, वह योगारूढ़ हो जाता है।

---

(४) त्यागीके आचरण कैसे होने चाहिये?—

अकुशल कर्मसे द्वेष न करना और कुशल कर्ममें आसक्त न होना (१८। १० पूर्वार्ध)।

(५) त्यागीका भाव कैसा होना चाहिये?—

कर्तव्यमात्र करना (१८। ९)।

(६) त्यागका फल क्या होता है?—

परमात्मतत्त्वमें स्थित होना (१८। १० उत्तरार्ध)।

*** असत्को असत् जाननेपर भी तबतक सत्की प्राप्ति नहीं होती, जबतक मनुष्य सत्की प्राप्तिको ही अपने जीवनका सर्वोपरि लक्ष्य नहीं बना लेता।**

परिशिष्ट भाव—कर्मयोग और ज्ञानयोगके विषयमें अर्जुनने तीसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌को उलाहना दिया है, पाँचवें अध्यायके आरम्भमें यह जानना चाहा है कि दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है, और यहाँ वे दोनोंका तत्त्व जानना चाहते हैं।

सम्बन्ध—अर्जुनकी जिज्ञासाके उत्तरमें पहले भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें अन्य दार्शनिक विद्वानोंके चार मत बताते हैं।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—

कवयः	=(कई) विद्वान्
काम्यानाम्	=काम्य
कर्मणाम्	=कर्मोंके
न्यासम्	=त्यागको
सन्न्यासम्	=संन्यास
विदुः	=समझते हैं (और)
विचक्षणाः	=(कई)विद्वान्
सर्वकर्मफलत्यागम्	=सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको
त्यागम्	=त्याग
प्राहुः	=कहते हैं।
एके	=कई
मनीषिणः	=विद्वान्
इति	=ऐसा
प्राहुः	=कहते हैं कि
कर्म	=कर्मोंको
दोषवत्	=दोषकी तरह
त्याज्यम्	=छोड़ देना चाहिये
च	=और
अपरे	=कई विद्वान्
इति	=ऐसा (कहते हैं कि)
यज्ञदानतपःकर्म	=यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका
न, त्याज्यम्	=त्याग नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—दार्शनिक विद्वानोंके चार मत हैं—

१-‘**काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः**’—कई विद्वान् कहते हैं कि काम्य-कर्मोंके त्यागका नाम ‘**संन्यास**’ है अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनका त्याग करनेका नाम ‘**संन्यास**’ है।

२-‘**सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः**’—कई विद्वान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग करनेका नाम ‘**त्याग**’ है अर्थात् फल न चाहकर कर्तव्य-कर्मोंको करते रहनेका नाम ‘**त्याग**’ है।

३-‘**त्याज्यं दोष*वदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः**’—कई विद्वान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये।

४-‘**यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे**’—अन्य विद्वान् कहते हैं कि दूसरे सब कर्मोंका भले ही त्याग कर दें, पर यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये।

उपर्युक्त चारों मतोंमें दो विभाग दिखायी देते हैं—पहला और तीसरा मत ‘**संन्यास**’-(सांख्ययोग-)का है तथा दूसरा और चौथा मत ‘**त्याग**’-(कर्मयोग-) का है। इन दो विभागोंमें भी थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। पहले मतमें केवल काम्य-कर्मोंका त्याग है और तीसरे मतमें कर्ममात्रका त्याग है। ऐसे ही दूसरे मतमें कर्मोंके फलका त्याग है और

*** ‘दोषवत्’ पद व्याकरणके ‘वति’ और ‘मतुप्’ दोनों प्रत्ययोंसे बनता है; परन्तु दोनोंका अर्थ दो तरहका होता है। ‘वति’ प्रत्यय करनेसे ‘दोषवत्’ पदका अर्थ होता है—कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये और ‘मतुप्’ प्रत्यय करनेसे ‘दोषवत्’ पदका अर्थ होता है—दोषवाले कर्म छोड़ देने चाहिये। परन्तु यहाँ ‘वति’ प्रत्ययका ही अर्थ लेना चाहिये, ‘मतुप्’ प्रत्ययका नहीं; क्योंकि ‘मतुप्’ प्रत्ययका अर्थ भगवान्‌के मतके अनुसार है (गीता—अठारहवें अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक), दार्शनिकोंके मतके अनुसार नहीं।**

दूसरा अन्तर यह है कि ‘वति’ प्रत्यय अव्यय बनकर क्रियाका विशेषण होता है और ‘मतुप्’ प्रत्यय कर्ता और कर्मका विशेषण बनता है।

चौथे मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंके त्यागका निषेध है।

दार्शनिकोंके उपर्युक्त चार मतोंमें क्या-क्या कमियाँ हैं और उनकी अपेक्षा भगवान्‌के मतमें क्या-क्या विलक्षणताएँ हैं, इसका विवेचन इस प्रकार है—

१-'**काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासम्**'— संन्यासके इस पहले मतमें केवल काम्य-कर्मोंका त्याग बताया गया है; परन्तु इसके अलावा भी नित्य, नैमित्तिक आदि आवश्यक कर्तव्य-कर्म बाकी रह जाते हैं[1]। अत: यह मत पूर्ण नहीं है; क्योंकि इसमें न तो कर्तृत्वका त्याग बताया है और न स्वरूपमें स्थिति ही बतायी है। परन्तु भगवान्‌के मतमें कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता और स्वरूपमें स्थिति हो जाती है; जैसे—इसी अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'जिसमें अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्मफलमें लिप्त नहीं होती'—ऐसा कहकर कर्तृत्वाभिमानका त्याग बताया है और 'अगर वह सम्पूर्ण प्राणियोंको मार दे, तो भी न मारता है, न बँधता है'—ऐसा कहकर स्वरूपमें स्थिति बतायी है।

२-'**त्याज्यं दोषवदित्येके**'—संन्यासके इस दूसरे मतमें सब कर्मोंको दोषकी तरह छोड़नेकी बात है। परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कोई कर ही नहीं सकता (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) और कर्ममात्रका त्याग करनेसे जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता (गीता—तीसरे अध्यायका आठवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान्‌ने नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेको राजस-तामस त्याग बताया है (अठारहवें अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक)।

३-'**सर्वकर्मफलत्यागम्**'—त्यागके इस पहले मतमें केवल फलका त्याग बताया है। यहाँ फलत्यागके अन्तर्गत केवल कामनाके त्यागकी ही बात आयी है[2]। ममता-आसक्तिके त्यागकी बात इसके अन्तर्गत नहीं ले सकते; क्योंकि ऐसा लेनेपर दार्शनिकों और भगवान्‌के मतोंमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। भगवान्‌के मतमें कर्मकी आसक्ति और फलकी आसक्ति—दोनोंके ही त्यागकी बात आयी है—'**संगं त्यक्त्वा फलानि च**' (गीता १८। ६)।

१-कर्म पाँच प्रकारके होते हैं—

(१) नित्यकर्म—शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार प्रतिदिन जो आवश्यक दैनिक कर्म किये जाते हैं, उनको 'नित्यकर्म' कहते हैं; जैसे—संध्या, गायत्री आदि।

(२) नैमित्तिक कर्म—देश, काल, परिस्थिति आदि किसी निमित्तको लेकर जो कर्म किये जाते हैं, उनको नैमित्तिक कर्म कहते हैं, जैसे गंगा, प्रयाग, नैमिषारण्य, पुष्कर आदि तीर्थोंमें जाकर जो शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं, वे 'देशकृत नैमित्तिक कर्म' हैं; एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या, व्यतिपात, ग्रहण, होली, दीपावली, अक्षयतृतीया आदिके समय जो शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं, वे 'कालकृत नैमित्तिक कर्म' हैं; पुत्रके उत्पन्न होनेपर, पुत्र या पुत्रीका विवाह होनेपर, किसीकी मृत्यु होनेपर, संत-महात्माओंका सत्संग मिलनेपर जो शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं, वे 'परिस्थितिकृत नैमित्तिक कर्म' हैं।

(३) काम्य कर्म—हमारा मान-सम्मान हो जाय, लोगोंमें हमारी प्रसिद्धि हो जाय, हमारा पुत्र हो जाय, हमें बहुत-सा धन मिल जाय, हमारी मनचाही हो जाय आदि इष्टकी प्राप्तिके लिये और हमारा रोग मिट जाय, आफत मिट जाय, कर्जा दूर हो जाय आदि अनिष्टकी निवृत्तिके लिये जो शास्त्रीय अनुष्ठान किये जाते हैं, वे सब 'काम्य कर्म' कहलाते हैं।

(४) प्रायश्चित्त कर्म—हमारे द्वारा बने हुए पापोंको दूर करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे सब 'प्रायश्चित्त कर्म' कहलाते हैं। इसके दो भेद हैं—विशेष प्रायश्चित्त और सामान्य प्रायश्चित्त। जैसे, किसीके हाथसे चूहा, बिल्ली, कबूतर आदि मर जाय तो इन ज्ञात पापोंको दूर करनेके लिये धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु आदि धर्म-ग्रन्थोंमें बताये गये प्रायश्चित्त कर्मोंका अनुष्ठान करना 'विशेष प्रायश्चित्त कर्म' कहलाते हैं, और ज्ञात-अज्ञात सब पापोंको दूर करनेके लिये गंगास्नान, एकादशीव्रत, नामजप, सेवा आदि जो शुभ-कर्म किये जाते हैं, वे 'सामान्य प्रायश्चित्त कर्म' कहलाते हैं।

(५) आवश्यक कर्तव्य-कर्म—खेती, व्यापार,नौकरी आदि जीविकाके लिये और खाना-पीना, सोना-जागना आदि शरीरके लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे 'आवश्यक कर्तव्य-कर्म' कहलाते हैं।

२-जहाँ फलके त्यागकी बात कही गयी है, वहाँ फलकी कामनाका त्याग ही समझना चाहिये; क्योंकि फलका त्याग हो ही नहीं सकता। यह नियम है कि प्रत्येक कर्म फलके रूपमें परिणत होता है। जैसे, कोई खेती करता है तो वह अनाजका त्याग कैसे करेगा? व्यापार करता है तो मुनाफेका त्याग कैसे करेगा? जैसे अनाज होना खेतीका फल है, वैसे ही अनाज न होना भी खेतीका फल है। जैसे मुनाफा होना व्यापारका फल है, वैसे ही घाटा होना भी व्यापारका फल है। परन्तु कामनाका त्याग करनेसे फलसे स्वत: सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। इसीलिये भगवान्‌ने सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें सम रहनेको योग अर्थात् समता कहा है (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक); क्योंकि सिद्धि और असिद्धि दोनों कर्मका फल है। सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेका तात्पर्य है—कर्मफलमें ममता-आसक्ति न करना अथवा कर्मफलसे अपना सम्बन्ध न जोड़ना।

४-**'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्'**—त्याग अर्थात् कर्मयोगके इस दूसरे मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग न करनेकी बात है। परन्तु इन तीनोंके अलावा वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिको लेकर जितने कर्म आते हैं, उनको करने अथवा न करनेके विषयमें कुछ नहीं कहा गया है—यह इसमें अधूरापन है। भगवान्के मतमें इन कर्मोंका केवल त्याग ही नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इनको न करते हों, तो जरूर करना चाहिये; और इनके अतिरिक्त तीर्थ, व्रत आदि कर्मोंको भी फल एवं आसक्तिका त्याग करके करना चाहिये (अठारहवें अध्यायका पाँचवाँ-छठा श्लोक)।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें दार्शनिक विद्वानोंके चार मत बतानेके बाद अब भगवान् आगेके तीन श्लोकोंमें पहले त्यागके विषयमें अपना मत बताते हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

भरतसत्तम = हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! (तू)
तत्र = संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले
त्यागे = त्यागके विषयमें
मे = मेरा
निश्चयम् = निश्चय
शृणु = सुन;
हि = क्योंकि
पुरुषव्याघ्र = हे पुरुषश्रेष्ठ!
त्यागः = त्याग
त्रिविधः = तीन प्रकारका
सम्प्रकीर्तितः = कहा गया है।

व्याख्या—[इस श्लोकके पूर्वार्धकी व्याख्याके रूपमें भगवान्ने पाँचवें और छठे श्लोकमें अपना मत बताया है और उत्तरार्धकी व्याख्याके रूपमें सातवेंसे नवें श्लोकतक तीन प्रकारके त्यागका वर्णन किया है।

जिस प्रकार शरीर और शरीरीका विवेक सभी योगियोंके लिये परम आवश्यक होनेके कारण भगवान्ने उसका वर्णन गीतामें सबसे पहले (दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक) किया है, उसी प्रकार फलकी कामना और कर्मकी आसक्तिका त्याग सभी योगियोंके लिये अत्यन्त आवश्यक होनेके कारण यहाँ भगवान् 'त्याग' का वर्णन सबसे पहले आरम्भ करते हैं।]

'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम'—हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं संन्यास और त्याग—दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें अपना मत कहता हूँ, उसको तुम सुनो।

'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः'—हे पुरुषव्याघ्र! त्याग तीन तरहका कहा गया है—सात्त्विक, राजस और तामस। वास्तवमें भगवान्के मतमें सात्त्विक त्याग ही 'त्याग' है; परन्तु उसके साथ राजस और तामस त्यागका भी वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि उनके बिना भगवान्के अभीष्ट सात्त्विक त्यागकी श्रेष्ठता स्पष्ट नहीं होती; क्योंकि परीक्षा या तुलना करके किसी भी वस्तुकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये दूसरी वस्तुएँ सामने रखनी ही पड़ती हैं।

तीन प्रकारका त्याग बतानेका तात्पर्य यह भी है कि साधक सात्त्विक त्यागको ग्रहण करे और राजस तथा तामस त्यागका त्याग करे।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञदान-तपःकर्म = यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका
न, त्याज्यम् = त्याग नहीं करना चाहिये, (प्रत्युत)
तत् = उनको तो
कार्यम्, एव = करना ही चाहिये; (क्योंकि)
यज्ञः = यज्ञ,
दानम् = दान
च = और
तपः = तप—ये तीनों
एव = ही (कर्म)
मनीषिणाम् = मनीषियोंको
पावनानि = पवित्र करनेवाले हैं।

व्याख्या—**'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्'**—यहाँ भगवान्‌ने दूसरोंके मत (तीसरा श्लोक)-को ठीक बताया है। भगवान् कठोर शब्दोंसे किसीके मतका खण्डन नहीं करते। आदर देनेके लिये भगवान् दूसरेके मतका वास्तविक अंश ले लेते हैं और उसमें अपना मत भी शामिल कर देते हैं। यहाँ भगवान्‌ने दूसरेके मतके अनुसार कहा कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म छोड़ने नहीं चाहिये। इसके साथ भगवान्‌ने अपना मत बताया कि इतना ही नहीं, प्रत्युत उनको न करते हों तो जरूर करना चाहिये—**'कार्यमेव तत्।'** कारण कि यज्ञ, दान और तप—तीनों कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'—यहाँ **'चैव'** पदका तात्पर्य है कि नित्य, नैमित्तिक, जीविका-सम्बन्धी, शरीर-सम्बन्धी आदि जितने भी कर्तव्य-कर्म हैं, उनको भी जरूर करना चाहिये; क्योंकि वे भी मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

जो मनुष्य समत्वबुद्धिसे युक्त होकर कर्मजन्य फलका त्याग कर देते हैं, वे मनीषी हैं—**'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'** (गीता २।५१)। ऐसे मनीषियोंको वे यज्ञादि कर्म पवित्र करते हैं। परन्तु जो वास्तवमें मनीषी नहीं हैं, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं अर्थात् अपने सुखभोगके लिये ही जो यज्ञ, दानादि कर्म करते हैं, उनको वे कर्म पवित्र नहीं करते, प्रत्युत वे कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं।

इस श्लोकके पूर्वार्धमें **'यज्ञदानतपःकर्म'**—ऐसा समासयुक्त पद दिया है और उत्तरार्धमें **'यज्ञो दानं तपः'**—ऐसे अलग-अलग पद दिये हैं, इसका तात्पर्य है कि भगवान्‌ने समासयुक्त पदसे यह बताया है कि यज्ञ, दान और तपका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इनको जरूर करना चाहिये और अलग-अलग पदोंसे यह बताया है कि इनमेंसे एक-एक कर्म भी मनीषीको पवित्र करनेवाला है।

परिशिष्ट भाव—मनीषीका अर्थ है—विचारशील। जो कर्म अपनी कोई कामना न रखकर दूसरोंके हितके लिये किये जाते हैं, वे कर्म पवित्र करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् दुर्गुण-दुराचार, पाप आदि मलको दूर करके महान् आनन्द देनेवाले हो जाते हैं। परन्तु वे ही कर्म अगर अपनी कामना रखकर और दूसरोंका अहित करनेके लिये किये जायँ तो वे अपवित्र करनेवाले अर्थात् लोक-परलोक दोनोंमें महान् दुःख देनेवाले हो जाते हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

पार्थ	= हे पार्थ!		(कर्मोंको)	**कर्तव्यानि**	= करना चाहिये—
एतानि	= इन (यज्ञ, दान और तपरूप)	**सङ्गम्**	= आसक्ति	**इति**	= यह
		च	= और	**मे**	= मेरा
		फलानि	= फलोंकी इच्छाका	**निश्चितम्**	= निश्चित किया हुआ
कर्माणि	= कर्मोंको				
तु	= तथा	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके	**उत्तमम्**	= उत्तम
अपि	= (दूसरे) भी			**मतम्**	= मत है।

व्याख्या—**'एतान्यपि तु कर्माणि ········ निश्चितं मतमुत्तमम्'**—यहाँ **'एतानि'** पदसे पूर्वश्लोकमें कहे यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंकी तथा **'अपि'** पदसे शास्त्रविहित पठन-पाठन, खेती-व्यापार आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म; शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि शारीरिक कर्म और परिस्थितिके अनुसार सामने आये अवश्य कर्तव्य-कर्म—इन सभी कर्मोंको लेना चाहिये। इन समस्त कर्मोंको आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके जरूर करना चाहिये। अपनी कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके कर्मोंको केवल प्राणिमात्रके हितके लिये करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारके लिये और योग अपने लिये हो जाता है। परन्तु कर्मोंको अपने लिये करनेसे कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं—अपने व्यक्तित्वको नष्ट नहीं होने देते।

गीतामें कहीं संग-(आसक्ति-) के त्यागकी बात आती है और कहीं कर्मोंके फलके त्यागकी बात आती है। इस

श्लोकमें संग और फल—दोनोंके त्यागकी बात आयी है। इसका तात्पर्य यह है कि गीतामें जहाँ संगके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ फलके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये और जहाँ फलके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ संगके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये। यहाँ अर्जुनने त्यागके तत्त्वकी बात पूछी है; अतः भगवान्‌ने त्यागका यह तत्त्व बताया है कि संग (आसक्ति) और फल—दोनोंका ही त्याग करना चाहिये, जिससे साधकको यह जानकारी स्पष्ट हो जाय कि आसक्ति न तो कर्ममें रहनी चाहिये और न फलमें ही रहनी चाहिये। आसक्ति न रहनेसे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि कर्म करनेके औजारों-(करणों-)में तथा प्राप्त वस्तुओंमें ममता नहीं रहती (गीता—पाँचवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

संग (आसक्ति या सम्बन्ध) सूक्ष्म होता है और फलेच्छा स्थूल होती है। संग या आसक्तिकी सूक्ष्मता वहाँतक है, जहाँ चेतन-स्वरूपने नाशवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। वहींसे आसक्ति पैदा होती है, जिससे जन्म-मरण आदि सब अनर्थ होते—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। आसक्तिका त्याग करनेसे नाशवान्‌के साथ जोड़े हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और स्वतः-स्वाभाविक रहनेवाली असंगताका अनुभव हो जाता है।

इस विषयमें एक और बात समझनेकी है कि कई दार्शनिक इस नाशवान् संसारको असत् मानते हैं; क्योंकि यह पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा, इसलिये वर्तमानमें भी यह नहीं है; जैसे—स्वप्न। कई दार्शनिकोंका यह मत है कि संसार परिवर्तनशील है, हरदम बदलता रहता है, कभी एक रूप नहीं रहता; जैसे—अपना शरीर। कई यह मानते हैं कि परिवर्तनशील होनेपर भी संसारका कभी अभाव नहीं होता, प्रत्युत तत्त्वसे सदा रहता है; जैसे—जल (जल ही बर्फ, बादल, भाप और परमाणुरूपसे हो जाता है, पर स्वरूपसे वह मिटता नहीं)। इस तरह अनेक मतभेद हैं; किन्तु नाशवान् जडका अपने अविनाशी चेतन-स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसमें किसी भी दार्शनिकका मतभेद नहीं है। **'संगं त्यक्त्वा'** पदोंसे भगवान्‌ने उसी सम्बन्धका त्याग कहा है।

प्रकृति सत् है या असत् है अथवा सत्-असत्से विलक्षण है? अनादि-सान्त है या अनादि-अनन्त है? इस झगड़ेमें पड़कर साधकको अपना अमूल्य समय खर्च नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इस प्रकृतिसे तथा प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिये, जो कि स्वतः हो ही रहा है। स्वतः होनेवाले सम्बन्ध-विच्छेदका केवल अनुभव करना है कि शरीर तो प्रतिक्षण बदलता ही रहता है और स्वयं निर्विकाररूपसे सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

अब प्रश्न यह होता है कि फल क्या है? प्रारब्ध-कर्मके अनुसार अभी हमें जो परिस्थिति, वस्तु, देश, काल आदि प्राप्त हैं, वह सब कर्मोंका 'प्राप्त फल' है और भविष्यमें जो परिस्थिति, वस्तु आदि प्राप्त होनेवाली है, वह सब कर्मोंका 'अप्राप्त फल' है। प्राप्त तथा अप्राप्त फलमें आसक्ति रहनेके कारण ही प्राप्तमें ममता और अप्राप्तकी कामना होती है। इसलिये भगवान्‌ने **'त्यक्त्वा फलानि च'*** कहकर फलोंका त्याग करनेकी बात कही है।

कर्मफलका त्याग क्यों करना चाहिये? क्योंकि कर्मफल हमारे साथ रहनेवाला है ही नहीं। कारण यह है कि जिन कर्मोंसे फल बनता है, उन कर्मोंका आरम्भ और अन्त होता है; अतः उनका फल भी प्राप्त और नष्ट होनेवाला ही है। इसलिये कर्मफलका त्याग करना है। फलके त्यागमें वस्तुतः फलकी आसक्तिका, कामनाका ही त्याग करना है। वास्तवमें आसक्ति हमारे स्वरूपमें है नहीं, केवल मानी हुई है।

दूसरी बात, जो अपना स्वरूप होता है, उसका त्याग नहीं होता; जैसे—प्रज्वलित अग्नि उष्णता और प्रकाशका त्याग नहीं कर सकती। जो चीज अपनी नहीं होती, उसका भी त्याग नहीं होता; जैसे—संसारमें अनेक वस्तुएँ पड़ी हैं; परन्तु उनका हम त्याग करें—ऐसा कहना भी नहीं बनता; क्योंकि वे वस्तुएँ हमारी हैं ही नहीं। इसलिये त्याग उसीका होता है, जो वास्तवमें अपना नहीं है, पर जिसको अपना मान लिया है। ऐसे ही प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर आदि हमारे नहीं हैं, फिर भी उनको हम अपना मानते हैं, तो इस अपनेपनकी मान्यताका ही त्याग करना है।

मनुष्यके सामने कर्तव्यरूपसे जो कर्म आ जाय, उसको

*** यहाँ 'फलानि' शब्दमें बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि सकामभावसे कर्म करनेवालोंमें बहुत-से फलोंकी इच्छा होती है—'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' (गीता २। ४१)। वे इस लोकमें सुख-आराम, मान-सम्मान, यश-प्रतिष्ठा आदि चाहते हैं और परलोकमें स्वर्ग आदिकी प्राप्ति चाहते हैं। भगवान्‌के मतमें इन सभी फलोंकी इच्छाओंका त्याग है।**

फल और आसक्तिका त्याग करके सावधानीके साथ तत्परतापूर्वक करना चाहिये—'**कर्तव्यानि।**' कर्मयोगमें विधि-निषेधको लेकर 'अमुक काम करना है और अमुक काम नहीं करना है'—ऐसा विचार तो करना ही है; परन्तु 'अमुक काम बड़ा है और अमुक काम छोटा है'—ऐसा विचार नहीं करना है। कारण कि जहाँ कर्म और उसके फलसे अपना कोई सम्बन्ध ही नहीं है, वहाँ यह कर्म बड़ा है, यह कर्म छोटा है; इस कर्मका फल बड़ा है, इस कर्मका फल छोटा है—ऐसा विचार हो ही नहीं सकता। कर्मका बड़ा या छोटा होना फलकी इच्छाके कारण ही दीखता है, जब कि कर्मयोगमें फलेच्छाका त्याग होता है।

कर्म करना राग-पूर्तिके लिये भी होता है और राग-निवृत्तिके लिये भी। कर्मयोगी राग-निवृत्तिके लिये अर्थात् करनेका राग मिटानेके लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करता है—'**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**' (गीता ६। ३), '**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**' (गीता ३। ४)। अपने लिये कर्म करनेसे करनेका राग बढ़ता है। इसलिये कर्मयोगी कोई भी कर्म अपने लिये नहीं करता, प्रत्युत केवल दूसरोंके हितके लिये ही करता है। उसके स्थूलशरीरमें होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरमें होनेवाला 'परहित-चिन्तन' तथा कारणशरीरमें होनेवाली 'स्थिरता'—तीनों ही दूसरोंके हितके लिये होती हैं, अपने लिये नहीं। इसलिये उसका करनेका राग सुगमतासे मिट जाता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें संसारका राग ही बाधक है। अतः राग मिटनेपर कर्मयोगीको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है (गीता—चौथे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)।

'कर्तव्य' शब्दका अर्थ होता है—जिसको हम कर सकते हैं तथा जिसको जरूर करना चाहिये और जिसको करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि जरूर होती है। उद्देश्य वही कहलाता है, जो नित्यसिद्ध और अनुत्पन्न है अर्थात् जो अनादि है और जिसका कभी विनाश नहीं होता। उस उद्देश्यकी सिद्धि मनुष्यजन्ममें ही होती है और उसकी सिद्धिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है, न कि कर्मजन्य परिस्थितिरूप सुख-दुःख भोगनेके लिये। कर्मजन्य परिस्थिति वह होती है, जो उत्पन्न और नष्ट होती हो। वह परिस्थिति तो मनुष्यके अलावा पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता, नारकीय-स्वर्गीय आदि योनियोंके प्राणियोंको भी मिलती है, जहाँ कर्तव्यका कोई प्रश्न ही नहीं है और जहाँ उद्देश्यकी पूर्तिका अधिकार भी नहीं है।

भगवान्‌के द्वारा अपने मतको '**निश्चितम्**' कहनेका तात्पर्य है कि इस मतमें सन्देहकी कोई गुंजाइश नहीं है, यह मत अटल है अर्थात् यह किंचिन्मात्र भी इधर-उधर नहीं हो सकता; और '**उत्तमम्**' कहनेका तात्पर्य है कि इस मतमें शास्त्रीय दृष्टिसे कोई कमी नहीं है, प्रत्युत यह पूर्णताको प्राप्त करानेवाला है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें कर्मासक्ति और फलासक्ति—दोनोंके त्यागकी बात आयी है। कर्मासक्ति और फलासक्ति ही खास बन्धन है, जिससे छूटनेपर ही मनुष्य योगारूढ़ होता है—'**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते**......' (गीता ६। ४)।

शुभ कर्म भी निष्कामभाव होनेसे ही कल्याण करनेवाले होते हैं। अगर निष्कामभाव न हो तो शुभ कर्म भी बन्धनकारक होते हैं—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)।

सम्बन्ध—इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने तीन प्रकारके त्यागकी बात कही थी। अब आगेके तीन श्लोकोंमें उसी त्रिविध त्यागका वर्णन करते हैं।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

नियतस्य = नियत
कर्मणः = कर्मका
तु = तो
सन्न्यासः = त्याग करना
न, उपपद्यते = उचित नहीं है।
तस्य = उसका
मोहात् = मोहपूर्वक
परित्यागः = त्याग करना
तामसः = तामस
परिकीर्तितः = कहा गया है।

व्याख्या—[तीन तरहके त्यागका वर्णन भगवान् इसलिये करते हैं कि अर्जुन कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना चाहते थे—'**श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके**' (गीता २। ५); अतः त्रिविध त्याग बताकर अर्जुनको चेत कराना था, और आगेके लिये मनुष्यमात्रको यह बताना था कि नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना भगवान्‌को मान्य (अभीष्ट) नहीं है। भगवान् तो सात्त्विक त्यागको ही वास्तवमें त्याग मानते हैं। सात्त्विक त्यागसे संसारके सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है।

दूसरी बात, सत्रहवें अध्यायमें भी भगवान् गुणोंके अनुसार श्रद्धा, आहार आदिके तीन-तीन भेद कहकर आये हैं, इसलिये यहाँ भी अर्जुनद्वारा त्यागका तत्त्व पूछनेपर भगवान्‌ने त्यागके तीन भेद कहे हैं।]

'**नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते**'—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने त्यागके विषयमें अपना जो निश्चित उत्तम मत बताया है, उससे यह तामस त्याग बिलकुल ही विपरीत है और सर्वथा निकृष्ट है, यह बतानेके लिये यहाँ '**तु**' पद आया है।

नियत कर्मोंका त्याग करना कभी भी उचित नहीं है; क्योंकि वे तो अवश्यकर्तव्य हैं। बलिवैश्वदेव आदि यज्ञ करना, कोई अतिथि आ जाय तो गृहस्थ-धर्मके अनुसार उसको अन्न, जल आदि देना, विशेष पर्वमें या श्राद्ध-तर्पणके दिन ब्राह्मणोंको भोजन कराना और दक्षिणा देना, अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार प्रातः और सायंकालमें सन्ध्या करना आदि कर्मोंको न मानना और न करना ही नियत कर्मोंका त्याग है।

'**मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः**'—ऐसे नियत कर्मोंको मूढ़तासे अर्थात् बिना विवेक-विचारके छोड़ देना तामस त्याग कहा जाता है। सत्संग, सभा, समिति आदिमें जाना आवश्यक था, पर आलस्यमें पड़े रहे, आराम करने लग गये अथवा सो गये; घरमें माता-पिता बीमार हैं, उनके लिये वैद्यको बुलाने या ओषधि लानेके लिये जा रहे थे, रास्तेमें कहींपर लोग ताश-चौपड़ आदि खेल रहे थे, उनको देखकर खुद भी खेलमें लग गये और वैद्यको बुलाना या ओषधि लाना भूल गये; कोर्टमें मुकदमा चल रहा है, उसमें हाजिर होनेके समय हँसी-दिल्लगी, खेल-तमाशा आदिमें लग गये और समय बीत गया; शरीरके लिये शौच-स्नान आदि जो आवश्यक कर्तव्य हैं, उनको आलस्य और प्रमादके कारण छोड़ दिया—यह सब तामस त्यागके उदाहरण हैं।

विहित कर्म और नियत कर्ममें क्या अन्तर है? शास्त्रोंने जिन कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है, वे सभी 'विहित कर्म' कहलाते हैं। उन सम्पूर्ण विहित कर्मोंका पालन एक व्यक्ति कर ही नहीं सकता; क्योंकि शास्त्रोंमें सम्पूर्ण वारों तथा तिथियोंके व्रतका विधान आता है। यदि एक ही मनुष्य सब वारोंमें या सब तिथियोंमें व्रत करेगा तो फिर वह भोजन कब करेगा? इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके लिये सभी विहित कर्म लागू नहीं होते। परन्तु उन विहित कर्मोंमें भी वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो कर्तव्य आवश्यक होता है, उसके लिये वह 'नियत कर्म' कहलाता है। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्णोंमें जिस-जिस वर्णके लिये जीविका और शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी जितने भी नियम हैं, उस-उस वर्णके लिये वे सभी 'नियत कर्म' हैं।

नियत कर्मोंका मोहपूर्वक त्याग करनेसे वह त्याग 'तामस' हो जाता है तथा सुख और आरामके लिये त्याग करनेसे वह त्याग 'राजस' हो जाता है। सुखेच्छा, फलेच्छा तथा आसक्तिका त्याग करके नियत कर्मोंको करनेसे वह त्याग 'सात्त्विक' हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मोहमें उलझ जाना तामस पुरुषका स्वभाव है, सुख-आराममें उलझ जाना राजस पुरुषका स्वभाव है और इन दोनोंसे रहित होकर सावधानीपूर्वक निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करना सात्त्विक पुरुषका स्वभाव है। इस सात्त्विक स्वभाव अथवा सात्त्विक त्यागसे ही कर्म और कर्मफलसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, राजस और तामस त्यागसे नहीं; क्योंकि राजस और तामस त्याग वास्तवमें त्याग है ही नहीं।

लोग सामान्य रीतिसे स्वरूपसे कर्मोंको छोड़ देनेको ही त्याग मानते हैं; क्योंकि उन्हें प्रत्यक्षमें वही त्याग दीखता है। कौन व्यक्ति कौन-सा काम किस भावसे कर रहा है, इसका उन्हें पता नहीं लगता। परन्तु भगवान् भीतरकी कामना-ममता-आसक्तिके त्यागको ही त्याग मानते हैं; क्योंकि ये ही जन्म-मरणके कारण हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

यदि बाहरके त्यागको ही असली त्याग माना जाय तो सभी मरनेवालोंका कल्याण हो जाना चाहिये; क्योंकि उनकी तो सम्पूर्ण वस्तुएँ छूट जाती हैं; और तो क्या, अपना कहलानेवाला शरीर भी छूट जाता है और उनको वे वस्तुएँ प्रायः यादतक नहीं रहतीं! अतः भीतरका त्याग ही असली त्याग है। भीतरका त्याग होनेसे बाहरसे वस्तुएँ अपने पास रहें या न रहें, मनुष्य उनसे बँधता नहीं।

परिशिष्ट भाव—'विहित' की अपेक्षा 'नियत' कर्ममें व्यक्तिकी विशेष जिम्मेवारी होती है। जैसे, किसीको पहरेपर खड़ा कर दिया अथवा जल पिलानेके लिये प्याऊपर बैठा दिया तो यह उसके लिये नियत कर्म हो गया, जिसकी उसपर विशेष जिम्मेवारी है। नियत कर्मके त्यागका ज्यादा दोष लगता है। नियतका त्याग करनेसे विप्लव होता है। अतः पैसे कम मिलें या ज्यादा, आराम कम मिले या ज्यादा, अपने नियत कर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। नियत कर्म न करनेके कारण ही आजकल समाजमें अव्यवस्था हो रही है। जिसकी जिस कामके लिये नियुक्ति कर दी, वह उस कामको नहीं करेगा तो क्या दशा होगी? नियतका मोहपूर्वक त्याग करना तामस है, जिसका फल अधोगतिकी प्राप्ति है—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८)।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

यत्	=जो कुछ	**कायक्लेशभयात्**	= शारीरिक परिश्रमके भयसे (उसका)	**त्यागम्**	=त्याग
कर्म	=कर्म है, (वह)			**कृत्वा**	=करके
दुःखम्	=दुःखरूप			**एव**	=भी
एव	=ही है—	**त्यजेत्**	=त्याग कर दे, (तो)	**त्यागफलम्**	=त्यागके फलको
इति	=ऐसा (समझकर कोई)	**सः**	=वह	**न**	=नहीं
		राजसम्	=राजस	**लभेत्**	=पाता।

व्याख्या—'**दुःखमित्येव यत्कर्म**'—यज्ञ, दान आदि शास्त्रीय नियत कर्मोंको करनेमें केवल दुःख ही भोगना पड़ता है और उनमें है ही क्या? क्योंकि उन कर्मोंको करनेके लिये अनेक नियमोंमें बँधना पड़ता है और खर्चा भी करना पड़ता है—इस प्रकार राजस पुरुषको उन कर्मोंमें केवल दुःख-ही-दुःख दीखता है। दुःख दीखनेका कारण यह है कि उनका परलोकपर, शास्त्रोंपर, शास्त्रविहित कर्मोंपर और उन कर्मोंके परिणामपर श्रद्धा-विश्वास नहीं होता।

'**कायक्लेशभयात्त्यजेत्**'—राजस मनुष्यको शास्त्र-मर्यादा और लोक-मर्यादाके अनुसार चलनेसे शरीरमें क्लेश अर्थात् परिश्रमका अनुभव होता है*। राजस मनुष्यको अपने वर्ण, आश्रम आदिके धर्मका पालन करनेमें और माता-पिता, गुरु, मालिक आदिकी आज्ञाका पालन करनेमें पराधीनता और दुःखका अनुभव होता है तथा उनकी आज्ञा भंग करके जैसी मरजी आये, वैसा करनेमें स्वाधीनता और सुखका अनुभव होता है। राजस मनुष्योंके विचार यह होते हैं कि 'गृहस्थमें आराम नहीं मिलता, स्त्री-पुत्र आदि हमारे अनुकूल नहीं हैं अथवा सब कुटुम्बी मर गये हैं, घरमें काम करनेके लिये कोई रहा नहीं, खुदको तकलीफ उठानी पड़ती है, इसलिये साधु बन जायँ तो आरामसे रहेंगे, रोटी, कपड़ा आदि सब चीजें मुफ्तमें मिल जायँगी, परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; कोई ऐसी सरकारी नौकरी मिल जाय, जिससे काम कम करना पड़े और रुपये आरामसे मिलते रहें, हम काम न करें तो भी उस नौकरीसे हमें कोई छुड़ा न सके, हम नौकरी छोड़ देंगे तो हमें पेंशन मिलती रहेगी', इत्यादि। ऐसे विचारोंके कारण उन्हें घरका काम-धन्धा करना अच्छा नहीं लगता और वे उसका त्याग कर देते हैं।

यहाँ शंका होती है कि ज्ञानप्राप्तिके साधनोंमें दुःख और दोषको बार-बार देखनेकी बात कही है (गीता—तेरहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक) और यहाँ कर्मोंमें दुःख देखकर उनका त्याग करनेको राजस त्याग कहा है अर्थात् कर्मोंके त्यागका निषेध किया है—इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इसका समाधान है कि वास्तवमें इन दोनोंमें विरोध नहीं है, प्रत्युत इन दोनोंका विषय अलग-अलग है। वहाँ (गीता—तेरहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें) भोगोंमें दुःख और दोषको देखनेकी बात है और यहाँ नियत कर्तव्य-कर्मोंमें दुःखको देखनेकी बात है। इसलिये वहाँ भोगोंका त्याग करनेका विषय है और यहाँ कर्तव्य-कर्मोंका

* **क्लेशका अनुभव होनेमें शरीरकी ममता और आसक्ति ही कारण है।**

त्याग करनेका विषय है। भोगोंका तो त्याग करना चाहिये, पर कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। कारण कि जिन भोगोंमें सुखबुद्धि और गुणबुद्धि हो रही है, उन भोगोंमें बार-बार दुःख और दोषको देखनेसे भोगोंसे वैराग्य होगा, जिससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होगी; परन्तु नियत कर्तव्य-कर्मोंमें दुःख देखकर उन कर्मोंका त्याग करनेसे सदा पराधीनता और दुःख भोगना पड़ेगा—'**यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता ३। ९)। तात्पर्य यह हुआ कि भोगोंमें दुःख और दोष देखनेसे भोगासक्ति छूटेगी, जिससे कल्याण होगा और कर्तव्यमें दुःख देखनेसे कर्तव्य छूटेगा, जिससे पतन होगा।

कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करनेमें तो राजस और तामस—ये दो भेद होते हैं, पर परिणाम-(आलस्य, प्रमाद, अतिनिद्रा आदि-) में दोनों एक हो जाते हैं अर्थात् परिणाममें दोनों ही तामस हो जाते हैं, जिसका फल अधोगति होता है—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८)।

एक शंका यह भी हो सकती है कि सत्संग, भगवत्-कथा, भक्तचरित्र सुननेसे किसीको वैराग्य हो जाय तो वह प्रभुको पानेके लिये आवश्यक कर्तव्य-कर्मोंको भी छोड़ देता है और केवल भगवान्‌के भजनमें लग जाता है। इसलिये उसका वह कर्तव्य-कर्मोंका त्याग राजस कहा जाना चाहिये? ऐसी बात नहीं है। सांसारिक कर्मोंको छोड़कर जो भजनमें लग जाता है, उसका त्याग राजस या तामस नहीं हो सकता। कारण कि भगवान्‌को प्राप्त करना मनुष्य-जन्मका ध्येय है; अतः उस ध्येयकी सिद्धिके लिये कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करना वास्तवमें कर्तव्यका त्याग करना नहीं है, प्रत्युत असली कर्तव्यको करना है। उस असली कर्तव्यको करते हुए आलस्य, प्रमाद आदि दोष नहीं आ सकते; क्योंकि उसकी रुचि भगवान्‌में रहती है। परन्तु राजस और तामस त्याग करनेवालोंमें आलस्य, प्रमाद आदि दोष आयेंगे ही; क्योंकि उसकी रुचि भोगोंमें रहती है।

'**स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्**'—त्यागका फल 'शान्ति' है। राजस मनुष्य त्याग करके भी त्यागके फल-(शान्ति-) को नहीं पाता। कारण कि उसने जो त्याग किया है, वह अपने सुख-आरामके लिये ही किया है। ऐसा त्याग तो पशु-पक्षी आदि भी करते हैं। अपने सुख-आरामके लिये शुभ-कर्मोंका त्याग करनेसे राजस मनुष्यको शान्ति तो नहीं मिलती, पर शुभ-कर्मोंके त्यागका फल दण्डरूपसे जरूर भोगना पड़ता है।

परिशिष्ट भाव—त्यागका फल 'शान्ति' है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२) और रागका फल 'दुःख' है—'**रजसस्तु फलं दुःखम्**' (गीता १४। १६)। राजस मनुष्यको त्यागका फल 'शान्ति' तो नहीं मिलती, पर रागका फल 'दुःख' तो मिलता ही है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**नियतम्**	= शास्त्रविहित	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके
कार्यम्, एव	= 'केवल कर्तव्यमात्र करना है'—	**कर्म**	= कर्म	**क्रियते**	= किया जाता है,
		सङ्गम्	= आसक्ति	**सः, एव**	= वही
इति	= ऐसा (समझकर)	**च**	= और	**सात्त्विकः**	= सात्त्विक
यत्	= जो	**फलम्**	= फलेच्छाका	**त्यागः मतः**	= त्याग माना गया है।

व्याख्या—'**कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन**'—यहाँ '**कार्यम्**' पदके साथ '**इति**' और '**एव**' ये दो अव्यय लगानेसे यह अर्थ निकलता है कि केवल कर्तव्यमात्र करना है। इसको करनेमें कोई फलासक्ति नहीं, कोई स्वार्थ नहीं और कोई क्रियाजन्य सुखभोग भी नहीं। इस प्रकार कर्तव्यमात्र करनेसे कर्ताका उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसा होनेसे वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता अर्थात् संसारके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता। कर्म तथा उसके फलमें आसक्त होनेसे ही बन्धन होता है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)।

शास्त्रविहित कर्मोंमें भी देश, काल, वर्ण, आश्रम, परिस्थितिके अनुसार जिस-जिस कर्ममें जिस-जिसकी

नियुक्ति की जाती है, वे सब नियत कर्म कहलाते हैं; जैसे—साधुको ऐसा करना चाहिये, गृहस्थको ऐसा करना चाहिये, ब्राह्मणको अमुक काम करना चाहिये, क्षत्रियको अमुक काम करना चाहिये इत्यादि। उन कर्मोंको प्रमाद, आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता आदि दोषोंसे रहित होकर तत्परता और उत्साहपूर्वक करना चाहिये। इसीलिये भगवान्ने कर्मयोगके प्रसंगमें जगह-जगह '**समाचर**' शब्द दिया है (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ और उन्नीसवाँ श्लोक)।

'**संगं त्यक्त्वा फलं चैव**'—संगके त्यागका तात्पर्य है कि कर्म, कर्म करनेके औजार (साधन) आदिमें आसक्ति, प्रियता, ममता आदि न हो और फलके त्यागका तात्पर्य है कि कर्मके परिणामके साथ सम्बन्ध न हो अर्थात् फलकी इच्छा न हो। इन दोनोंका तात्पर्य है कि कर्म और फलमें आसक्ति तथा इच्छाका त्याग हो।

'**स त्यागः सात्त्विको मतः**'[1]—कर्म और फलमें आसक्ति तथा कामनाका त्याग करके कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे वह त्याग सात्त्विक हो जाता है। राजस त्यागमें कायक्लेशके भयसे और तामस त्यागमें मोहपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाता है; परन्तु सात्त्विक त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जाता, प्रत्युत कर्मोंको सावधानी एवं तत्परतासे, विधिपूर्वक, निष्कामभावसे किया जाता है। सात्त्विक त्यागसे कर्म और कर्मफलरूप शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। राजस और तामस त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेसे केवल बाहरसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद दीखता है; परन्तु वास्तवमें (भीतरसे) सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। इसका कारण यह है कि शरीरके कष्टके भयसे कर्मोंका त्याग करनेसे कर्म तो छूट जाते हैं, पर अपने सुख और आरामके साथ सम्बन्ध जुड़ा ही रहता है। ऐसे ही मोहपूर्वक कर्मोंका त्याग करनेसे कर्म तो छूट जाते हैं, पर मोहके साथ सम्बन्ध जुड़ा रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर बन्धन होता है और कर्मोंको तत्परतासे विधिपूर्वक करनेपर मुक्ति (सम्बन्ध-विच्छेद) होती है।

परिशिष्ट भाव—तमोगुणमें मूढ़ता (बेसमझी) है और रजोगुणमें स्वार्थबुद्धि है, पर सत्त्वगुणमें न मूढ़ता है, न स्वार्थबुद्धि है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद है। सात्त्विक मनुष्य कर्तव्यमात्र समझकर सब नियत कर्म करता है। एक मार्मिक बात है कि कर्तव्यमात्र समझकर जो भी कर्म किया जाता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। लौकिक साधन (कर्मयोग और ज्ञानयोग)-में शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद मुख्य है। इसलिये साधकको प्रत्येक कर्म कर्तव्यमात्र समझकर करना चाहिये। स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे तो बन्धन होता है, पर सम्बन्ध न जोड़कर कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे मुक्ति होती है।[2]

१-गीताभरमें जहाँ कहीं (सातवें अध्यायके बारहवें, चौदहवें अध्यायके पाँचवेंसे अठारहवें, और बाईसवें, सत्रहवें अध्यायके पहले, दूसरे, आठवेंसे दसवें, ग्यारहवेंसे तेरहवें, सत्रहवेंसे बाईसवें और अठारहवें अध्यायके बीसवेंसे अट्ठाईसवें, तीसवेंसे पैंतीसवें तथा सैंतीसवेंसे उनतालीसवें श्लोकोंमें) गुणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ सत्त्व, रज और तम—यही क्रम रखा गया है। केवल यहीं (१८। ७—९में) व्यतिक्रम हुआ है अर्थात् तम, रज और सत्त्व—ऐसा क्रम रखा गया है। इसका कारण है—(१) यदि छठे श्लोकके बाद ही (सातवें श्लोकमें) सात्त्विक त्यागका वर्णन करते तो भगवान्के निश्चित मतमें और सात्त्विक त्यागमें पुनरुक्तिका दोष आ जाता। (२) किसी वस्तुकी उत्तमता तभी सिद्ध होती है, जब उसके पहले अनुत्तम वस्तुका वर्णन किया जाय। इसलिये भगवान् सात्त्विक त्यागकी उत्तमता सिद्ध करनेके लिये पहले अनुत्तम तामस और राजस त्यागका वर्णन करते हैं। (३) आगे दसवेंसे बारहवें श्लोकतक 'सात्त्विक त्यागी' का वर्णन हुआ है। यदि सात्त्विक त्यागका वर्णन सात्त्विक त्यागीके पास (नवें श्लोकमें) न देते तो तामस त्यागके पास होनेसे सात्त्विक त्यागीका सम्बन्ध न जुड़ता।

२-अलौकिक साधन (भक्तियोग)-में भगवान्से सम्बन्ध जोड़ना मुख्य है। इसलिये भक्तको जप, ध्यान, कीर्तन आदि कर्तव्य समझकर नहीं करने चाहिये, प्रत्युत अपने प्रियतमका काम (सेवा-पूजन) समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये प्रेमपूर्वक करने चाहिये। भगवान्की हरेक वस्तु (नाम, रूप आदि) प्रिय लगनी चाहिये। भगवान्का काम करनेमें आनन्द आना चाहिये। जैसे, दवा कर्तव्य समझकर ली जाती है, पर भोजन कर्तव्य समझकर नहीं किया जाता, प्रत्युत अपनी भूख मिटानेके लिये किया जाता है। इसलिये भक्तको जप, ध्यान आदि कर्तव्यमात्र समझकर त्यागके उद्देश्यसे नहीं करने चाहिये, प्रत्युत भगवान्के साथ सम्बन्ध जाग्रत् करनेके लिये करने चाहिये। अगर वह जप, ध्यान आदि भी कर्तव्य समझकर करेगा तो भगवत्सम्बन्ध जाग्रत् नहीं होगा, प्रेमका उदय नहीं होगा।

यहाँ शंका हो सकती है कि प्रस्तुत श्लोकमें तो कर्म करनेकी बात आयी है, त्यागकी बात आयी ही नहीं, फिर यह 'सात्त्विक त्याग' कैसे हुआ? इसका समाधान है कि सात्त्विक कर्तामें न मोह है, न स्वार्थ है, न आसक्ति है, न फलेच्छा है, केवल कर्तव्यमात्र है, इसलिये कर्मके साथ कर्ताका कुछ भी सम्बन्ध न होनेसे यह 'त्याग' हुआ। कर्तव्यमात्र जड़-विभागमें ही रहा, चेतनके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ। जब चेतन (शरीरी) शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब शरीरसे होनेवाले कर्मोंके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। अगर वह शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े, केवल कर्तव्यमात्र करे तो उसका कर्मोंके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा। शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण इसका नाम 'त्याग' हुआ। इसमें कर्म और फल दोनोंके साथ सम्बन्ध-विच्छेद है।

---

*सम्बन्ध—छठे श्लोकमें '**एतानि**' और '**अपि तु**' पदोंसे कहे गये यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंके करनेमें और शास्त्रनिषिद्ध तथा काम्य कर्मोंका त्याग करनेमें क्या भाव होना चाहिये? यह आगेके श्लोकमें बताते हैं।*

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

अकुशलम् = (जो) अकुशल
कर्म = कर्मसे
न, द्वेष्टि = द्वेष नहीं करता (और)
कुशले = कुशल कर्ममें
न, अनुषज्जते = आसक्त नहीं होता,
त्यागी = (वह) त्यागी,
मेधावी = बुद्धिमान्,
छिन्नसंशयः = सन्देहरहित (और)
सत्त्व-समाविष्टः = अपने स्वरूपमें स्थित है।

व्याख्या—'**न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म**'—जो शास्त्रविहित शुभ-कर्म फलकी कामनासे किये जाते हैं और परिणाममें जिनसे पुनर्जन्म होता है (गीता—दूसरे अध्यायके बयालीसवेंसे चौवालीसवें तक और नवें अध्यायका बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक) तथा जो शास्त्रनिषिद्ध पाप-कर्म हैं और परिणाममें जिनसे नीच योनियों तथा नरकोंमें जाना पड़ता है (गीता—सोलहवें अध्यायके सातवेंसे बीसवें श्लोकतक), वे सब-के-सब कर्म 'अकुशल' कहलाते हैं। साधक ऐसे अकुशल कर्मोंका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं। कारण कि द्वेषपूर्वक त्याग करनेसे कर्मोंसे तो सम्बन्ध छूट जाता है, पर द्वेषके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, जो शास्त्रविहित काम्य-कर्मोंसे तथा शास्त्र-निषिद्ध पाप-कर्मोंसे भी भयंकर है।

'**कुशले नानुषज्जते**'—शास्त्रविहित कर्मोंमें भी जो वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार नियत हैं और जो आसक्ति तथा फलेच्छाका त्याग करके किये जाते हैं तथा परिणाममें जिनसे मुक्ति होती है, ऐसे सभी कर्म 'कुशल' कहलाते हैं। साधक ऐसे कुशल कर्मोंको करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता।

'**त्यागी**'—कुशल कर्मोंके करनेमें जिसका राग नहीं होता और अकुशल कर्मोंके त्यागमें जिसका द्वेष नहीं होता, वही असली त्यागी है*। परन्तु वह त्याग पूर्णतया तब सिद्ध होता है, जब कर्मोंको करने अथवा न करनेसे अपनेमें कोई फरक न पड़े अर्थात् निरन्तर निर्लिप्तता बनी रहे (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ और चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। ऐसा होनेपर साधक योगारूढ़ हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)।

'**मेधावी**'—जिसके सम्पूर्ण कार्य सांगोपांग होते हैं और संकल्प तथा कामनासे रहित होते हैं तथा ज्ञानरूप अग्निसे जिसने सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर दिया है, उसे पण्डित भी पण्डित (मेधावी अथवा बुद्धिमान्) कहते हैं (गीता—चौथे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

*** दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते। गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ (श्रीमद्भा० ११। ७। ११)**
'जो पुरुष अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, वैसे ही उभयातीत पुरुषकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित पुरुषमें विज्ञता रहती है)।'

कारण कि कर्मोंको करते हुए भी कर्मोंसे लिपायमान न होना बड़ी बुद्धिमत्ता है।

इसी मेधावीको चौथे अध्यायके अठारहवें श्लोकमें '**स बुद्धिमान्मनुष्येषु**' पदोंसे सम्पूर्ण मनुष्योंमें बुद्धिमान् बताया गया है।

'**छिन्नसंशयः**'—उस त्यागी पुरुषमें कोई सन्देह नहीं रहता। तत्त्वमें अभिन्नभावसे स्थित रहनेके कारण उसमें किसी तरहका संदेह रहनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। सन्देह तो वहीं रहता है, जहाँ अधूरा ज्ञान होता है अर्थात् कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते।

'**सत्त्वसमाविष्टः**'—आसक्ति आदिका त्याग होनेसे उसकी अपने स्वरूपमें, चिन्मयतामें स्वतः स्थिति हो जाती है। इसलिये उसे '**सत्त्वसमाविष्टः**' कहा गया है। इसीको पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें '**तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः**' पदोंसे परमात्मामें स्थित बताया गया है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकका तात्पर्य राग-द्वेषका त्याग करनेमें है। मनुष्यका स्वभाव है कि वह रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्याग करता है। राग और द्वेष—दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् कहते हैं कि वास्तवमें वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो शुभ कर्मका ग्रहण तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं और अशुभ कर्मका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं।

सम्बन्ध—कर्मोंको करनेमें राग न हो और छोड़नेमें द्वेष न हो—इतनी झंझट क्यों की जाय? कर्मोंका सर्वथा ही त्याग क्यों न कर दिया जाय?—इस शंकाको दूर करनेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

हि	=कारण कि
देहभृता	=देहधारी मनुष्यके द्वारा
अशेषतः	=सम्पूर्ण
कर्माणि	=कर्मोंका
त्यक्तुम्	=त्याग करना
न, शक्यम्	=सम्भव नहीं है।
तु	=इसलिये
यः	=जो
कर्मफल-त्यागी	=कर्मफलका त्यागी है,
सः	=वही
त्यागी	=त्यागी है—
इति	=ऐसा
अभिधीयते	=कहा जाता है।

व्याख्या—'**न हि देहभृता*** **शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः**'—देहधारी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य रखनेवाले मनुष्योंके द्वारा कर्मोंका सर्वथा त्याग होना सम्भव नहीं है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति स्वतः क्रियाशील है। अतः शरीरके साथ तादात्म्य (एकता) रखनेवाला क्रियासे रहित कैसे हो सकता है? हाँ, यह हो सकता है कि मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ आदि कर्मोंको छोड़ दे; परन्तु वह खाना-पीना, चलना-फिरना, आना-जाना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि आवश्यक शारीरिक क्रियाओंको कैसे छोड़ सकता है?

दूसरी बात, भीतरसे कर्मोंका सम्बन्ध छोड़ना ही वास्तवमें छोड़ना है। बाहरसे सम्बन्ध नहीं छोड़ा जा सकता। यदि बाहरसे सम्बन्ध छोड़ भी दिया जाय तो वह कबतक छूटा रहेगा? जैसे कोई समाधि लगा ले तो उस समय बाहरकी क्रियाओंका सम्बन्ध छूट जाता है। परन्तु समाधि भी एक क्रिया है, एक कर्म है; क्योंकि इसमें प्रकृतिजन्य कारण-शरीरका सम्बन्ध रहता है। इसलिये समाधिसे भी व्युत्थान होता है।

कोई भी देहधारी मनुष्य कर्मोंका स्वरूपसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मता (योगनिष्ठा) प्राप्त नहीं होती और कर्मोंका त्याग करनेमात्रसे सिद्धि

*** यहाँ 'देहभृता' पदको देहाभिमानी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य माननेवाले सामान्य पुरुषोंका ही वाचक समझना चाहिये। गुणातीत महापुरुषकी देहसे भी क्रियाएँ होती रहती हैं; परन्तु देहके साथ तादात्म्य न रहनेसे उसका उन क्रियाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् वह उन क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता।**

(सांख्यनिष्ठा) भी प्राप्त नहीं होती (गीता—तीसरे अध्यायका चौथा श्लोक)।

मार्मिक बात

पुरुष (चेतन) सदा निर्विकार और एकरस रहनेवाला है; परन्तु प्रकृति विकारी और सदा परिवर्तनशील है। जिसमें अच्छी रीतिसे क्रियाशीलता हो, उसको 'प्रकृति' कहते हैं—'**प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः।**'

उस प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ जबतक पुरुष अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मानता रहेगा, तबतक वह कर्मोंका सर्वथा त्याग कर ही नहीं सकता। कारण कि शरीरमें अहंता-ममता होनेके कारण मनुष्य शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रियाको अपनी क्रिया मानता है, इसलिये वह कभी किसी अवस्थामें भी क्रियारहित नहीं हो सकता।

दूसरी बात, केवल पुरुषने ही प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है। प्रकृतिने पुरुषके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। जहाँ विवेक रहता है, वहाँ पुरुषने विवेककी उपेक्षा करके प्रकृतिसे सम्बन्धकी सद्भावना कर ली अर्थात् सम्बन्धको सत्य मान लिया। सम्बन्धको सत्य माननेसे ही बन्धन हुआ है। वह सम्बन्ध दो तरहका होता है—अपनेको शरीर मानना और शरीरको अपना मानना। अपनेको शरीर माननेसे 'अहंता' और शरीरको अपना माननेसे 'ममता' होती है। इस अहंता-ममतारूप सम्बन्धका घनिष्ठ होना ही देहधारीका स्वरूप है। ऐसा देहधारी मनुष्य कर्मोंको सर्वथा नहीं छोड़ सकता।

'**यस्तु* कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते**'—जो किसी भी कर्म और फलके साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखता, वही त्यागी है। जबतक मनुष्य कुशल-अकुशलके साथ, अच्छे-मन्देके साथ अपना सम्बन्ध रखता है, तबतक वह त्यागी नहीं है।

यह पुरुष जिस प्राकृत क्रिया और पदार्थको अपना मानता है, उसमें उसकी प्रियता हो जाती है। उसी प्रियताका नाम है—आसक्ति। यह आसक्ति ही वर्तमानके कर्मोंको लेकर 'कर्मासक्ति' और भविष्यमें मिलनेवाले फलकी इच्छाको लेकर 'फलासक्ति' कहलाती है। जब मनुष्य फल-त्यागका उद्देश्य बना लेता है, तब उसके सब कर्म संसारके हितके लिये होने लगते हैं, अपने लिये नहीं। कारण कि उसको यह बात अच्छी तरहसे समझमें आ जाती है कि कर्म करनेकी सब-की-सब सामग्री संसारसे मिली है और संसारकी ही है, अपनी नहीं। इन कर्मोंका भी आदि और अन्त होता है तथा उनका फल भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होता है; परन्तु स्वयं सदा निर्विकार रहता है; न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है और न कभी विकृत ही होता है। ऐसा विवेक होनेपर फलेच्छाका त्याग सुगमतासे हो जाता है। फलका त्याग करनेमें उस विवेकी मनुष्यमें कभी अभिमान भी नहीं आता; क्योंकि कर्म और उसका फल—दोनों ही अपनेसे प्रतिक्षण वियुक्त हो रहे हैं; अतः उनके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तवमें है ही कहाँ? इसीलिये भगवान् कहते हैं कि जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी कहा जाता है।

निर्विकारका विकारी कर्मफलके साथ सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं है। केवल अविवेकके कारण सम्बन्ध माना हुआ था। उस अविवेकके मिटनेसे मनुष्यकी अभिधा अर्थात् उसका नाम 'त्यागी' हो जाता है—'**स त्यागीत्यभिधीयते।**'

माने हुए सम्बन्धके विषयमें दृष्टान्तरूपसे एक बात कही जाती है। एक व्यक्ति घर-परिवारको छोड़कर सच्चे हृदयसे साधु-संन्यासी हो जाता है तो उसके बाद घरवालोंकी कितनी ही उन्नति अथवा अवनति हो जाय अथवा सब-के-सब मर जायँ, उनका नामोनिशान भी न रहे, तो भी उसपर कोई असर नहीं पड़ता। इसमें विचार करें कि उस व्यक्तिका परिवारके साथ जो सम्बन्ध था, वह दोनों तरफसे माना हुआ था अर्थात् वह परिवारको अपना मानता था और परिवार उसको अपना मानता था। परन्तु पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध केवल पुरुषकी तरफसे माना हुआ है, प्रकृतिकी तरफसे माना हुआ नहीं! जब दोनों तरफसे माना हुआ (व्यक्ति और परिवारका) सम्बन्ध भी एक तरफसे छोड़नेपर छूट जाता है, तब केवल एक तरफसे माना हुआ (पुरुष और प्रकृतिका) सम्बन्ध छोड़नेपर छूट जाय, इसमें कहना ही क्या है!

*** यहाँ 'तु' अव्ययका प्रयोग करनेका तात्पर्य है कि जो सामान्य संसारी पुरुष हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ है, विलक्षण है। कारण कि उसका उद्देश्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनेका अर्थात् अपना कल्याण करनेका होता है।**

परिशिष्ट भाव—यह श्लोक कर्मयोगकी दृष्टिसे कहा गया है। कर्मयोगमें कर्मफलकी इच्छाका त्याग होता है और ज्ञानयोगमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग होता है।

'कर्मफलत्याग' का तात्पर्य है—कर्मफलकी इच्छाका त्याग। कारण कि कर्मफलका त्याग हो ही नहीं सकता, जैसे—शरीर भी कर्मफल है, फिर उसका त्याग कैसे होगा? भोजन करनेपर तृप्तिका त्याग कैसे होगा! खेती करनेपर अन्नका त्याग कैसे होगा? अत: साधकको कर्मफलकी इच्छाका त्याग करना है। फलेच्छाका त्याग करनेसे साधक सुखी-दु:खी नहीं होगा। इसलिये गीतामें फलेच्छाके त्यागको ही फलका त्याग कहा गया है।

बाहरका त्याग वास्तवमें त्याग नहीं है, प्रत्युत भीतरका त्याग ही त्याग है। अगर कोई बाहरसे त्याग करके एकान्तमें चला जाय तो भी संसारका बीज शरीर तो उसके साथ है ही। मरनेवालेका अपने शरीरसहित सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है, पर उससे मुक्ति नहीं होती। अत: हमारी कामना-ममता-आसक्ति ही बाँधनेवाले हैं, संसार नहीं। इसलिये अपने लिये कुछ न करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—'**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (गीता ४। २३)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि कर्मफलका त्याग करनेवाला ही वास्तवमें त्यागी है। अगर मनुष्य कर्मफलका त्याग न करे तो क्या होता है—इसे आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

अत्यागिनाम् = कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको
कर्मणः = कर्मोंका
इष्टम् = इष्ट,
अनिष्टम् = अनिष्ट
च = और
मिश्रम् = मिश्रित—
त्रिविधम् = (ऐसे) तीन प्रकारका
फलम् = फल
प्रेत्य = मरनेके बाद (भी)
भवति = होता है;
तु = परन्तु
सन्न्यासिनाम् = कर्मफलका त्याग करनेवालोंको
क्वचित् = कहीं भी
न = नहीं होता।

व्याख्या—'**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्**'—कर्मका फल तीन तरहका होता है—इष्ट, अनिष्ट और मिश्र। जिस परिस्थितिको मनुष्य चाहता है, वह '**इष्ट**' कर्मफल है, जिस परिस्थितिको मनुष्य नहीं चाहता, वह '**अनिष्ट**' कर्मफल है और जिसमें कुछ भाग इष्टका तथा कुछ भाग अनिष्टका है, वह '**मिश्र**' कर्मफल है। वास्तवमें देखा जाय तो संसारमें प्राय: मिश्रित ही फल होता है; जैसे—धन होनेसे अनुकूल (इष्ट) और प्रतिकूल (अनिष्ट)—दोनों ही परिस्थितियाँ आती हैं; धनसे निर्वाह होता है—यह अनुकूलता है और टैक्स लगता है, धन नष्ट हो जाता है, छिन जाता है—यह प्रतिकूलता है। तात्पर्य है कि इष्टमें भी आंशिक अनिष्ट और अनिष्टमें भी आंशिक इष्ट रहता ही है। कारण कि सम्पूर्ण संसार त्रिगुणात्मक है (गीता—अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक); यहाँ जन्म भी दु:खालय (आठवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक) और सुखरहित (नवें अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक) है। अत: चाहे इष्ट (अनुकूल) परिस्थिति हो, चाहे अनिष्ट (प्रतिकूल) परिस्थिति हो, वह सर्वथा अनुकूल या प्रतिकूल होती ही नहीं। यहाँ इष्ट और अनिष्ट कहनेका मतलब यह है कि इष्टमें अनुकूलताकी और अनिष्टमें प्रतिकूलताकी प्रधानता होती है। वास्तवमें कर्मोंका फल मिश्रित ही होता है; क्योंकि कोई भी कर्म सर्वथा निर्दोष नहीं होता (अठारहवें अध्यायका अड़तालीसवाँ श्लोक)।

'**भवत्यत्यागिनां प्रेत्य**'—उपर्युक्त सभी फल अत्यागियोंको अर्थात् फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंको ही मिलते हैं, संन्यासियोंको नहीं। कारण कि जितने भी कर्म होते हैं, वे सब प्रकृतिके द्वारा अर्थात् प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके द्वारा ही होते हैं तथा फलरूप परिस्थिति भी प्रकृतिके द्वारा ही बनती है। इसलिये कर्मोंका और उनके फलोंका सम्बन्ध केवल प्रकृतिके साथ है, 'स्वयं-(चेतनस्वरूप-) के साथ नहीं। परन्तु जब 'स्वयं' उनसे सम्बन्ध तोड़ लेता है, तो फिर वह भोगी नहीं बनता, प्रत्युत त्यागी हो जाता है।

अत्यागीका मतलब है—पीछेके दो (दसवें-ग्यारहवें)

श्लोकोंमें जिन त्यागियोंकी बात आयी है, उनके समान जो त्यागी नहीं है अर्थात् जिन्होंने कर्मफलका त्याग नहीं किया है, ऐसे अत्यागी मनुष्योंके सामने इष्ट, अनिष्ट और मिश्र—तीनों कर्मफल अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें आते रहते हैं, जिनसे वे सुखी-दु:खी होते रहते हैं। उनसे सुखी-दु:खी होना ही वास्तवमें बन्धन है।

वास्तवमें अनुकूलतासे सुखी होना ही प्रतिकूलतामें दु:खी होनेका कारण है; क्योंकि परिस्थितिजन्य सुख भोगनेवाला कभी दु:खसे बच ही नहीं सकता। जबतक वह सुख भोगता रहेगा, तबतक वह प्रतिकूल परिस्थितियोंमें दु:खी होता ही रहेगा। चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि उसको कभी छोड़ नहीं सकते और वह भी इनसे कभी छूट नहीं सकता।

'प्रेत्य भवति' कहनेका तात्पर्य है कि जो कर्म-फलके त्यागी नहीं हैं, उनको इष्ट, अनिष्ट और मिश्र—ये तीनों कर्मफल मरनेके बाद जरूर मिलते हैं। परन्तु इसके साथ **'न तु सन्न्यासिनां क्वचित्'** पदोंमें कहा गया है कि जो कर्मफलके त्यागी हैं, उनको कहीं भी अर्थात् यहाँ और मरनेके बाद भी कर्मफल नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि अत्यागियोंको मरनेके बाद तो कर्मफल मिलता ही है, पर यहाँ जीते-जी भी कर्मफल मिल सकता है।

'न तु सन्न्यासिनां क्वचित्'—संन्यासियों-(त्यागियों-) को कहीं भी अर्थात् इस लोकमें या परलोकमें, इस जन्ममें या मरनेके बाद भी कर्मफल भोगना नहीं पड़ता। हाँ, पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार इस जन्ममें उनके सामने अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति तो आती है, पर वे अपने विवेकके बलसे उन परिस्थितियोंके भोगी नहीं बनते, उनसे सुखी-दु:खी नहीं होते अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं।

संन्यासियों अर्थात् त्यागियोंको फल क्यों नहीं भोगना पड़ता? कारण कि वे अपने लिये कुछ भी नहीं करते। उनको अच्छी तरहसे यह विवेक हो जाता है कि अपना जो सत्स्वरूप है, उसके लिये किसी भी क्रिया और वस्तुकी आवश्यकता है ही नहीं। अपने लिये पानेकी इच्छासे साधक कुछ भी करता है तो वह अपने व्यक्तित्वको ही स्थिर रखता है; क्योंकि वह संसारमात्रके हितसे अपना हित अलग मानता है। जब वह संसारमात्रके हितसे अपना हित अलग नहीं मानता अर्थात् सबके हितमें ही अपना हित मानता है, तब वह स्वतः **'सर्वभूतहिते रताः'** हो जाता है। फिर उसके स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला परहित-चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता—तीनों ही संसारके मात्र प्राणियोंके हितके लिये होती हैं। कारण कि शरीर आदि सब-की-सब सामग्री संसारसे अभिन्न है। उस सामग्रीसे अपना हित चाहता है—यही गलती होती है, जो कि अपनी परिच्छिन्नतामें हेतु है।

यहाँ **'सन्न्यासिनाम्'** पदमें त्यागी (कर्मयोगी) और संन्यासी (सांख्ययोगी)—दोनोंकी एकता की गयी है; जैसे—कर्मयोगी कर्मोंसे असंग रहता है तो सांख्ययोगी भी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। कर्मयोगी (निष्कामभावसे) कर्म करते हुए भी फलके साथ सम्बन्ध नहीं रखता तो सांख्ययोगी कर्ममात्रके साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं रखता। कर्मयोगी फलसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है अर्थात् ममताका त्याग करता है तो सांख्ययोगी कर्तृत्वाभिमान अर्थात् अहंताका त्याग करता है। ममताका त्याग होनेपर अहंताका भी स्वतः त्याग हो जाता है और अहंताका त्याग होनेपर ममताका भी स्वतः त्याग हो जाता है। इसलिये भगवान्‌ने कर्मयोगमें ममताके त्यागके बाद अहंताका त्याग बताया है—**'निर्ममो निरहंकारः'** (२।७१) और सांख्ययोगमें अहंताके त्यागके बाद ममताका त्याग बताया है—**'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः.....'** (१८।५३)। इन दोनोंकी इस त्याग करनेकी प्रक्रियामें तो फरक है; परन्तु परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिका कार्य—इनमेंसे किसीके भी साथ इन दोनोंका सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् तत्त्वमें कर्मयोगी और सांख्ययोगी—दोनों एक हो जाते हैं।

पहले अर्जुनने यह पूछा था कि मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहता हूँ; अतः भगवान्‌ने यहाँ **'सन्न्यासिनाम्'** पदसे दोनोंका यह तत्त्व बताया कि कर्मयोगीका यह भाव रहता है कि अपना कुछ नहीं है, अपने लिये कुछ नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ नहीं करना है। ऐसे ही सांख्ययोगीका यह भाव रहता है कि अपना कुछ नहीं है और अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। सांख्ययोगी प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ किंचिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इसलिये उसके लिये 'अपने लिये कुछ नहीं करना है'—यह कहना ही नहीं बनता।

यहाँ **'त्यागिनाम्'** पद न देकर **'सन्न्यासिनाम्'** पद देनेका यह तात्पर्य है कि जो निर्लिप्तता सांख्ययोगसे होती है, वही निर्लिप्तता त्यागसे अर्थात् कर्मयोगसे भी होती है (गीता—पाँचवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। दूसरी बात,

यहाँतक भगवान्‌ने कर्मयोगसे निर्लिप्तता बतायी, अब '**सन्यासिनाम्**' पद कहकर आगे सांख्ययोगसे निर्लिप्तता बतानेका बीज भी डाल देते हैं।

कर्म-सम्बन्धी विशेष बात

पुरुष और प्रकृति—ये दो हैं। इनमेंसे पुरुषमें कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति कभी परिवर्तनरहित नहीं होती। जब यह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब प्रकृतिकी क्रिया पुरुषका 'कर्म' बन जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे तादात्म्य हो जाता है। तादात्म्य होनेसे जो प्राकृत वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनमें ममता होती है और उस ममताके कारण अप्राप्त वस्तुओंकी कामना होती है। इस प्रकार जबतक कामना, ममता और तादात्म्य रहता है, तबतक जो कुछ परिवर्तनरूप क्रिया होती है, उसका नाम 'कर्म' है।

तादात्म्यके टूटनेपर वही कर्म पुरुषके लिये 'अकर्म' हो जाता है अर्थात् वह कर्म क्रियामात्र रह जाता है, उसमें फलजनकता नहीं रहती—यह 'कर्ममें अकर्म' है। अकर्म-अवस्थामें अर्थात् स्वरूपका अनुभव होनेपर उस महापुरुषके शरीरसे जो क्रिया होती रहती है, वह 'अकर्ममें कर्म' है (गीता—चौथे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि अपने निर्लिप्त स्वरूपका अनुभव न होनेपर भी वास्तवमें सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्य शरीरमें होती हैं; परन्तु प्रकृति या शरीरसे अपनी पृथक्‌ताका अनुभव न होनेसे वे क्रियाएँ 'कर्म' बन जाती हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ और तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)।

कर्म तीन तरहके होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। अभी वर्तमानमें जो कर्म किये जाते हैं, वे '**क्रियमाण**' कर्म कहलाते हैं*। वर्तमानसे पहले इस जन्ममें किये हुए अथवा पहलेके अनेक मनुष्यजन्मोंमें किये हुए जो कर्म संगृहीत हैं, वे '**संचित**' कर्म कहलाते हैं। संचितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये प्रस्तुत (उन्मुख) हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें परिणत होनेके लिये सामने आ गये हैं, वे '**प्रारब्ध**' कर्म कहलाते हैं।

क्रियमाण कर्म

- क्रियमाण कर्म
  - फल-अंश
    - दृष्ट
      - तात्कालिक
      - कालान्तरिक
    - अदृष्ट
      - लौकिक
      - पारलौकिक
  - संस्कार-अंश
    - शुद्ध
    - अशुद्ध
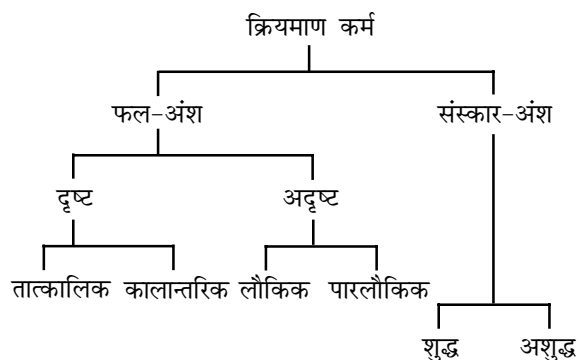
क्रियमाण कर्म दो तरहके होते हैं—शुभ और अशुभ। जो कर्म शास्त्रानुसार विधि-विधानसे किये जाते हैं, वे शुभकर्म कहलाते हैं और काम, क्रोध, लोभ, आसक्ति आदिको लेकर जो शास्त्र-निषिद्ध कर्म किये जाते हैं, वे अशुभकर्म कहलाते हैं।

शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक क्रियमाण कर्मका एक तो फल-अंश बनता है और एक संस्कार-अंश। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

क्रियमाण कर्मके फल-अंशके दो भेद हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमेंसे दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। जैसे, भोजन करते हुए जो रस आता है, सुख होता है, प्रसन्नता होती है और तृप्ति होती है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और भोजनके परिणाममें आयु, बल, आरोग्य आदिका बढ़ना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है। ऐसे ही जिसका अधिक मिर्च खानेका स्वभाव है, वह जब अधिक मिर्चवाले पदार्थ खाता है, तब उसको प्रसन्नता होती है, सुख होता है और मिर्चकी तीक्ष्णताके कारण मुँहमें, जीभमें जलन होती है, आँखोंसे और नाकसे पानी निकलता है, सिरसे पसीना निकलता है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और कुपथ्यके कारण परिणाममें पेटमें जलन और रोग, दुःख आदिका होना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है।

इसी प्रकार अदृष्टके भी दो भेद होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। जीते-जी ही फल मिल जाय—इस भावसे यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, मन्त्र-जप आदि शुभकर्मोंको

* **जो भी नये कर्म और उनके संस्कार बनते हैं, वे सब केवल मनुष्यजन्ममें ही बनते हैं (गीता—चौथे अध्यायका बारहवाँ और पन्द्रहवें अध्यायका दूसरा श्लोक), पशु-पक्षी आदि योनियोंमें नहीं; क्योंकि वे योनियाँ केवल कर्मफल-भोगके लिये ही मिलती हैं।**

विधि-विधानसे किया जाय और उसका कोई प्रबल प्रतिबन्ध न हो तो यहाँ ही पुत्र, धन, यश, प्रतिष्ठा आदि अनुकूलकी प्राप्ति होना और रोग, निर्धनता आदि प्रतिकूलकी निवृत्ति होना—यह अदृष्टका 'लौकिक' फल है[1] और मरनेके बाद स्वर्ग आदिकी प्राप्ति हो जाय—इस भावसे यथार्थ विधि-विधान और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जो यज्ञ, दान, तप आदि शुभकर्म किये जायँ तो मरनेके बाद स्वर्ग आदि लोकोंकी प्राप्ति होना—यह अदृष्टका 'पारलौकिक' फल है। ऐसे ही डाका डालने, चोरी करने, मनुष्यकी हत्या करने आदि अशुभकर्मोंका फल यहाँ ही कैद, जुर्माना, फाँसी आदि होना—यह अदृष्टका 'लौकिक' फल है और पापोंके कारण मरनेके बाद नरकोंमें जाना और पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि बनना—यह अदृष्टका 'पारलौकिक' फल है।

पाप-पुण्यके इस लौकिक और पारलौकिक फलके विषयमें एक बात और समझनेकी है कि जिन पापकर्मोंका फल यहीं कैद, जुर्माना, अपमान, निन्दा आदिके रूपमें भोग लिया है, उन पापोंका फल मरनेके बाद भोगना नहीं पड़ेगा। परन्तु व्यक्तिके पाप कितनी मात्राके थे और उनका भोग कितनी मात्रामें हुआ अर्थात् उन पापकर्मोंका फल उसने पूरा भोगा या अधूरा भोगा—इसका पूरा पता मनुष्यको नहीं लगता; क्योंकि मनुष्यके पास इसका कोई माप-तौल नहीं है। परन्तु भगवान्‌को इसका पूरा पता है; अतः उनके कानूनके अनुसार उन पापोंका फल यहाँ जितने अंशमें कम भोगा गया है, उतना इस जन्ममें या मरनेके बाद भोगना ही पड़ेगा। इसलिये मनुष्यको ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि मेरा पाप तो कम था, पर दण्ड अधिक भोगना पड़ा अथवा मैंने पाप तो किया नहीं, पर दण्ड मुझे मिल गया! कारण कि यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ भगवान्‌का विधान है कि पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह किसी-न-किसी पापका ही फल होता है[2]।

इसी तरह धन-सम्पत्ति, मान, आदर, प्रशंसा, नीरोगता

१-यहाँ दृष्टका 'कालान्तरिक' फल और अदृष्टका 'लौकिक' फल—दोनों फल एक समान ही दीखते हैं, फिर भी दोनोंमें अन्तर है। जो 'कालान्तरिक' फल है, वह सीधे मिलता है, प्रारब्ध बनकर नहीं; परन्तु जो 'लौकिक' फल है, वह प्रारब्ध बनकर ही मिलता है।

२-एक सुनी हुई घटना है। किसी गाँवमें एक सज्जन रहते थे। उनके घरके सामने एक सुनारका घर था। सुनारके पास सोना आता रहता था और वह गढ़कर देता रहता था। ऐसे वह पैसे कमाता था। एक दिन उसके पास अधिक सोना जमा हो गया। रात्रिमें पहरा लगानेवाले सिपाहीको इस बातका पता लग गया। उस पहरेदारने रात्रिमें उस सुनारको मार दिया और जिस बक्सेमें सोना था, उसे उठाकर चल दिया। इसी बीच सामने रहनेवाले सज्जन लघुशंकाके लिये उठकर बाहर आये। उन्होंने पहरेदारको पकड़ लिया कि तू इस बक्सेको कैसे ले जा रहा है? तो पहरेदारने कहा—'तू चुप रह, हल्ला मत कर। इसमेंसे कुछ तू ले ले और कुछ मैं ले लूँ।' सज्जन बोले—'मैं कैसे ले लूँ? मैं चोर थोड़े ही हूँ!' पहरेदारने कहा—'देख, तू समझ जा, मेरी बात मान ले, नहीं तो दुःख पायेगा।' पर वे सज्जन माने नहीं। तब पहरेदारने बक्सा नीचे रख दिया और उस सज्जनको पकड़कर जोरसे सीटी बजा दी। सीटी सुनते ही और जगह पहरा लगानेवाले सिपाही दौड़कर वहाँ आ गये। उसने सबसे कहा कि 'यह इस घरसे बक्सा लेकर आया है और मैंने इसको पकड़ लिया है।' तब सिपाहियोंने घरमें घुसकर देखा कि सुनार मरा पड़ा है। उन्होंने उस सज्जनको पकड़ लिया और राजकीय आदमियोंके हवाले कर दिया। जजके सामने बहस हुई तो उस सज्जनने कहा कि 'मैंने नहीं मारा है, उस पहरेदार सिपाहीने मारा है।' सब सिपाही आपसमें मिले हुए थे, उन्होंने कहा कि 'नहीं इसीने मारा है, हमने खुद रात्रिमें इसे पकड़ा है,' इत्यादि।

मुकदमा चला। चलते-चलते अन्तमें उस सज्जनके लिये फाँसीका हुक्म हुआ। फाँसीका हुक्म होते ही उस सज्जनके मुखसे निकला—'देखो, सरासर अन्याय हो रहा है! भगवान्‌के दरबारमें कोई न्याय नहीं! मैंने मारा नहीं, मुझे दण्ड हो और जिसने मारा है, वह बेदाग छूट जाय, जुर्माना भी नहीं; यह अन्याय है!' जजपर उसके वचनोंका असर पड़ा कि वास्तवमें यह सच्चा बोल रहा है, इसकी किसी तरहसे जाँच होनी चाहिये। ऐसा विचार करके उस जजने एक षड्यन्त्र रचा।

सुबह होते ही एक आदमी रोता-चिल्लाता हुआ आया और बोला—'हमारे भाईकी हत्या हो गयी, सरकार! इसकी जाँच होनी चाहिये।' तब जजने उसी सिपाहीको और कैदी सज्जनको मरे व्यक्तिकी लाश उठाकर लानेके लिये भेजा। दोनों उस आदमीके साथ वहाँ गये, जहाँ लाश पड़ी थी। खाटपर लाशके ऊपर कपड़ा बिछा था। खून बिखरा पड़ा था। दोनोंने उस खाटको उठाया और उठाकर ले चले। साथका दूसरा आदमी खबर देनेके बहाने दौड़कर आगे चला गया। तब चलते-चलते सिपाहीने कैदीसे कहा—'देख, उस दिन तू मेरी बात मान लेता तो सोना मिल जाता और फाँसी भी नहीं होती, अब देख लिया सच्चाईका फल?' कैदीने कहा—'मैंने तो अपना काम सच्चाईका ही किया था, फाँसी हो गयी तो हो गयी! हत्या की तूने और दण्ड भोगना पड़ा मेरेको! भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं!'

खाटपर झूठमूठ मरे हुएके समान पड़ा हुआ आदमी उन दोनोंकी बातें सुन रहा था। जब जजके सामने खाट रखी गयी

आदि अनुकूल परिस्थितिके रूपमें पुण्य-कर्मोंका जितना फल यहाँ भोग लिया है, उतना अंश तो यहाँ नष्ट हो ही गया और जितना बाकी रह गया है, वह परलोकमें फिर भोगा जा सकता है। यदि पुण्यकर्मोंका पूरा फल यहीं भोग लिया गया है तो पुण्य यहींपर समाप्त हो जायँगे।

क्रियमाण-कर्मके संस्कार-अंशके भी दो भेद हैं—शुद्ध एवं पवित्र संस्कार और अशुद्ध एवं अपवित्र संस्कार। शास्त्रविहित कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे शुद्ध एवं पवित्र होते हैं और शास्त्र, नीति, लोकमर्यादाके विरुद्ध कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे अशुद्ध एवं अपवित्र होते हैं।

इन दोनों शुद्ध और अशुद्ध संस्कारोंको लेकर स्वभाव (प्रकृति, आदत) बनता है। उन संस्कारोंमेंसे अशुद्ध अंशका सर्वथा नाश करनेपर स्वभाव शुद्ध, निर्मल, पवित्र हो जाता है; परन्तु जिन पूर्वकृत कर्मोंसे स्वभाव बना है, उन कर्मोंकी भिन्नताके कारण जीवन्मुक्त पुरुषोंके स्वभावोंमें भी भिन्नता रहती है। इन विभिन्न स्वभावोंके कारण ही उनके द्वारा विभिन्न कर्म होते हैं, पर वे कर्म दोषी नहीं होते, प्रत्युत सर्वथा शुद्ध होते हैं और उन कर्मोंसे दुनियाका कल्याण होता है।

संस्कार-अंशसे जो स्वभाव बनता है, वह एक दृष्टिसे महान् प्रबल होता है—'**स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते**'; अतः उसे मिटाया नहीं जा सकता*। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, उसमें कर्म करनेकी मुख्यता रहती है। इसलिये भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि जिस कर्मको तू मोहवश नहीं करना चाहता, उसको भी अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा (गीता—अठारहवें अध्यायका साठवाँ श्लोक)।

अब इसमें विचार करनेकी एक बात है कि एक ओर तो स्वभावकी महान् प्रबलता है कि उसको कोई छोड़ ही नहीं सकता और दूसरी ओर मनुष्य-जन्मके उद्योगकी महान् प्रबलता है कि मनुष्य सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र है। अतः इन दोनोंमें किसकी विजय होगी और किसकी पराजय होगी? इसमें विजय-पराजयकी बात नहीं है। अपनी-अपनी जगह दोनों ही प्रबल हैं। परन्तु यहाँ स्वभाव न छोड़नेकी जो बात है, वह जाति-विशेषके स्वभावकी बात है। तात्पर्य है कि जीव जिस वर्णमें जन्मा है, जैसा रज-वीर्य था, उसके अनुसार

तो खूनभरे कपड़ेको हटाकर वह उठ खड़ा हुआ और उसने सारी बात जजको बता दी कि रास्तेमें सिपाही यह बोला और कैदी यह बोला। यह सुनकर जजको बड़ा आश्चर्य हुआ। सिपाही भी हक्का-बक्का रह गया। सिपाहीको पकड़कर कैद कर लिया गया। परन्तु जजके मनमें सन्तोष नहीं हुआ। उसने कैदीको एकान्तमें बुलाकर कहा कि 'इस मामलेमें तो मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ, पर सच-सच बताओ कि इस जन्ममें तुमने कोई हत्या की है क्या?' वह बोला—बहुत पहलेकी घटना है। एक दुष्ट था, जो छिपकर मेरे घर मेरी स्त्रीके पास आया करता था। मैंने अपनी स्त्रीको तथा उसको अलग-अलग खूब समझाया। पर वह माना नहीं। एक रात वह घरपर था और अचानक मैं आ गया। मेरेको गुस्सा आया हुआ था। मैंने तलवारसे उसका गला काट दिया और घरके पीछे जो नदी है, उसमें फेंक दिया। इस घटनाका किसीको पता नहीं लगा। यह सुनकर जज बोला—तुम्हारेको इस समय फाँसी होगी ही; मैंने भी सोचा कि मैंने किसीसे घूस (रिश्वत) नहीं खायी, कभी बेईमानी नहीं की, फिर मेरे हाथसे इसके लिये फाँसीका हुक्म लिखा कैसे गया? अब सन्तोष हुआ। उसी पापका फल तुम्हें यह भोगना पड़ेगा। सिपाहीको अलग फाँसी होगी।'

[उस सज्जनने चोर सिपाहीको पकड़कर अपने कर्तव्यका पालन किया था। फिर उसको जो दण्ड मिला है, वह उसके कर्तव्य-पालनका फल नहीं है, प्रत्युत उसने बहुत पहले जो हत्या की थी, उस हत्याका फल है। कारण कि मनुष्यको अपनी रक्षा करनेका अधिकार है, मारनेका अधिकार नहीं। मारनेका अधिकार रक्षक क्षत्रियका, राजाका है। अतः कर्तव्यका पालन करनेके कारण उस पाप-(हत्या-) का फल उसको यहीं मिल गया और परलोकके भयंकर दण्डसे उसका छुटकारा हो गया। कारण कि इस लोकमें जो दण्ड भोग लिया जाता है, उसका थोड़ेमें ही छुटकारा हो जाता है, थोड़ेमें ही शुद्धि हो जाती है, नहीं तो परलोकमें बड़ा भयंकर (ब्याजसहित) दण्ड भोगना पड़ता है।]

इस कहानीसे यह पता लगता है कि मनुष्यके कब किये हुए पापका फल कब मिलेगा—इसका कुछ पता नहीं। भगवान्‌का विधान विचित्र है। जबतक पुराने पुण्य प्रबल रहते हैं, तबतक उग्र पापका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जब पुराने पुण्य खत्म होते हैं, तब उस पापकी बारी आती है। पापका फल (दण्ड) तो भोगना ही पड़ता है, चाहे इस जन्ममें भोगना पड़े या जन्मान्तरमें।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

* व्याघ्रस्तुष्यति कानने सुगहनां सिंहो गुहां सेवते हंसो वाञ्छति पद्मिनीं कुसुमितां गृध्रः श्मशाने स्थले।
साधुः सत्कृतिसाधुमेव भजते नीचोऽपि नीचं जनं या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते॥

'व्याघ्र घने वनमें संतुष्ट रहता है, सिंह गहन गुफाका सेवन करता है, हंस खिली हुई कमलिनीको चाहता है, गीध श्मशान-भूमिमें रहना पसंद करता है, सज्जन पुरुष अच्छे आचरणोंवाले सज्जन पुरुषोंमें और नीच पुरुष नीच लोगोंमें ही रहना चाहते हैं। सच है, स्वभावसे पैदा हुई जिसकी जैसी प्रकृति है, उस प्रकृतिको कोई नहीं छोड़ता।

बना हुआ जो स्वभाव है, उसको कोई बदल नहीं सकता; अतः वह स्वभाव दोषी नहीं है, निर्दोष है। जैसे, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, वह स्वभाव नहीं बदल सकता और उसको बदलनेकी आवश्यकता भी नहीं है तथा उसको बदलनेके लिये शास्त्र भी नहीं कहता। परन्तु उस स्वभावमें जो अशुद्ध-अंश (राग-द्वेष) है, उसको मिटानेकी सामर्थ्य भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। अतः जिन दोषोंसे मनुष्यका स्वभाव अशुद्ध बना है, उन दोषोंको मिटाकर मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपने स्वभावको शुद्ध बना सकता है। मनुष्य चाहे तो कर्मयोगकी दृष्टिसे अपने प्रयत्नसे राग-द्वेषको मिटाकर स्वभाव शुद्ध बना ले (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक), चाहे भक्तियोगकी दृष्टिसे सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर अपना स्वभाव शुद्ध बना ले (गीता—अठारहवें अध्यायका बासठवाँ श्लोक)। इस प्रकार प्रकृति-(स्वभाव-) की प्रबलता भी सिद्ध हो गयी और मनुष्यकी स्वतन्त्रता भी सिद्ध हो गयी। तात्पर्य यह हुआ कि शुद्ध स्वभावको रखनेमें प्रकृतिकी प्रबलता है और अशुद्ध स्वभावको मिटानेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है।

जैसे, लोहेकी तलवारको पारस छुआ दिया जाय तो तलवार सोना बन जाती है; परन्तु उसकी मार, धार और आकार—ये तीनों नहीं बदलते। इस प्रकार सोना बनानेमें पारसकी प्रधानता रही और 'मार-धार-आकार' में तलवारकी प्रधानता रही। ऐसे ही जिन लोगोंने अपने स्वभावको परम शुद्ध बना लिया है, उनके कर्म भी सर्वथा शुद्ध होते हैं। परन्तु स्वभावके शुद्ध होनेपर भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, साधन-पद्धति, मान्यता आदिके अनुसार आपसमें उनके कर्मोंकी भिन्नता रहती है। जैसे, किसी ब्राह्मणको तत्त्वबोध हो जानेपर भी वह खान-पान आदिमें पवित्रता रखेगा और अपने हाथसे बनाया हुआ भोजन ही ग्रहण करेगा; क्योंकि उसके स्वभावमें पवित्रता है। परन्तु किसी हरिजन आदि साधारण वर्णवालेको तत्त्वबोध हो जाय तो वह खान-पान आदिमें पवित्रता नहीं रखेगा और दूसरोंकी जूठन भी खा लेगा; क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा पड़ा हुआ है। पर ऐसा स्वभाव उसके लिये दोषी नहीं होगा।

जीवका असत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेका स्वभाव अनादि-कालसे बना हुआ है, जिसके कारण वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ है और बार-बार ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है। उस स्वभावको मनुष्य शुद्ध कर सकता है अर्थात् उसमें जो कामना, ममता और तादात्म्य है, उनको मिटा सकता है। कामना, ममता और तादात्म्यके मिटनेके बाद जो स्वभाव रहता है, वह स्वभाव दोषी नहीं रहता। इसलिये उस स्वभावको मिटाना नहीं है और मिटानेकी आवश्यकता भी नहीं है।

जब मनुष्य अहंकारका आश्रय छोड़कर सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब उसका स्वभाव शुद्ध हो जाता है; जैसे—लोहा पारसके स्पर्शसे शुद्ध सोना बन जाता है। स्वभाव शुद्ध होनेसे फिर वह स्वभावज कर्म करते हुए भी दोषी और पापी नहीं बनता (गीता—अठारहवें अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। सर्वथा भगवान्‌के शरण होनेके बाद भक्तका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फिर भक्तके जीवनमें भगवान्‌का स्वभाव काम करता है। भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९) तो भक्त भी समस्त प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—'**सुहृदः सर्वदेहिनाम्**' (श्रीमद्भा० ३। २५। २१)।

इसी तरह कर्मयोगकी दृष्टिसे जब मनुष्य राग-द्वेषको मिटा देता है, तब उसके स्वभावकी शुद्धि हो जाती है, जिससे अपने स्वार्थका भाव मिटकर केवल दुनियाके हितका भाव स्वतः हो जाता है। जैसे भगवान्‌का स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका है, ऐसे ही उसका स्वभाव भी प्राणिमात्रका हित करनेका हो जाता है। जब उसकी सब चेष्टाएँ प्राणिमात्रके हितमें हो जाती हैं, तब उसकी भगवान्‌की सर्वभूतसुहृत्ता-शक्तिके साथ एकता हो जाती है। उसके उस स्वभावमें भगवान्‌की सुहृत्ता-शक्ति कार्य करने लगती है।

वास्तवमें भगवान्‌की वह सर्वभूतसुहृत्ता-शक्ति मनुष्य-मात्रके लिये समान रीतिसे खुली हुई है; परन्तु अपने अहंकार और राग-द्वेषके कारण उस शक्तिमें बाधा लग जाती है अर्थात् वह शक्ति कार्य नहीं करती। महापुरुषोंमें अहंकार (व्यक्तित्व) और राग-द्वेष नहीं रहते, इसलिये उनमें यह शक्ति कार्य करने लग जाती है।

संचित कर्म

संचित कर्म
- फल-अंश → प्रारब्ध
- संस्कार-अंश → स्फुरणा
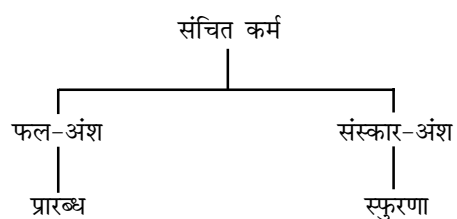
अनेक मनुष्य-जन्मोंमें किये हुए जो कर्म (फल-अंश और संस्कार-अंश) अन्तःकरणमें संगृहीत रहते हैं, वे संचित कर्म कहलाते हैं। उनमें फल-अंशसे तो 'प्रारब्ध' बनता है और संस्कार-अंशसे 'स्फुरणा' होती रहती है। उन स्फुरणाओंमें भी वर्तमानमें किये गये जो नये क्रियमाण

कर्म संचितमें भरती हुए हैं, प्रायः उनकी ही स्फुरणा होती है। कभी-कभी संचितमें भरती हुए पुराने कर्मोंकी स्फुरणा भी हो जाती है[1]; जैसे किसी बर्तनमें पहले प्याज डाल दें और उसके ऊपर क्रमशः गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा डाल दें तो निकालते समय जो सबसे पीछे डाला था, वही (बाजरा) सबसे पहले निकलेगा, पर बीचमें कभी-कभी प्याजका भी भभका आ जायगा। परन्तु यह दृष्टान्त पूरा नहीं घटता; क्योंकि प्याज, गेहूँ आदि सावयव पदार्थ हैं और संचित कर्म निरवयव हैं। यह दृष्टान्त केवल इतने ही अंशमें बतानेके लिये दिया है कि नये क्रियमाण कर्मोंकी स्फुरणा ज्यादा होती है और कभी-कभी पुराने कर्मोंकी भी स्फुरणा होती है।

इसी तरह जब नींद आती है तो उसमें भी स्फुरणा होती है। नींदमें जाग्रत्-अवस्थाके दब जानेके कारण संचितकी वह स्फुरणा स्वप्नरूपसे दीखने लग जाती है, उसीको स्वप्नावस्था कहते हैं[2]। स्वप्नावस्थामें बुद्धिकी सावधानी न रहनेके कारण क्रम, व्यतिक्रम और अनुक्रम ये नहीं रहते। जैसे, शहर तो दिल्लीका दीखता है और बाजार बम्बईका तथा उस बाजारमें दूकानें कलकत्ताकी दीखती हैं, कोई जीवित आदमी दीख जाता है अथवा किसी मरे हुए आदमीसे मिलना हो जाता है, बातचीत हो जाती है, आदि-आदि।

जाग्रत्-अवस्थामें हरेक मनुष्यके मनमें अनेक तरहकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं। जब जाग्रत्-अवस्थामें शरीर, इन्द्रियाँ और मनपरसे बुद्धिका अधिकार हट जाता है, तब मनुष्य जैसा मनमें आता है, वैसा बोलने लगता है। इस तरह उचित-अनुचितका विचार करनेकी शक्ति काम न करनेसे वह 'सीधा-सरल पागल' कहलाता है। परन्तु जिसके शरीर, इन्द्रियाँ और मनपर बुद्धिका अधिकार रहता है, वह जो उचित समझता है, वही बोलता है और जो अनुचित समझता है, वह नहीं बोलता। बुद्धि सावधान रहनेसे वह सावचेत रहता है, इसलिये वह 'चतुर पागल' है!

इस प्रकार मनुष्य जबतक परमात्मप्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक वह अपनेको स्फुरणाओंसे बचा नहीं सकता। परमात्मप्राप्ति होनेपर बुरी स्फुरणाएँ सर्वथा मिट जाती हैं। इसलिये जीवन्मुक्त महापुरुषके मनमें अपवित्र बुरे विचार कभी आते ही नहीं। अगर उसके कहलानेवाले शरीरमें प्रारब्धवश (व्याधि आदि किसी कारणवश) कभी बेहोशी, उन्माद आदि हो जाता है तो उसमें भी वह न तो शास्त्रनिषिद्ध बोलता है और न शास्त्रनिषिद्ध कुछ करता ही है; क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे शास्त्रनिषिद्ध बोलना या करना उसके स्वभावमें नहीं रहता।

१-स्फुरणा संचितके अनुसार भी होती है और प्रारब्धके अनुसार भी। संचितके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं करती। परन्तु संचितकी स्फुरणामें भी यदि राग-द्वेष हो जायँ तो वह 'संकल्प' बनकर मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य कर सकती है। प्रारब्धके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह (फल-भोग करानेके लिये) मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य करती है; परन्तु वह विहित कर्म करनेके लिये ही बाध्य करती है, निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं। कारण कि विवेकप्रधान मनुष्यशरीर निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं है। अतः अपनी विवेकशक्तिको प्रबल करके निषिद्धका त्याग करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर है और ऐसा करनेमें वह स्वतन्त्र है।

२-जाग्रत्-अवस्थामें भी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ होती हैं; जैसे—मनुष्य जाग्रत्-अवस्थामें बड़ी सावधानीसे काम करता है, तो यह जाग्रत्में जाग्रत्-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जिस कामको करता है, उस कामके अलावा अचानक जो दूसरी स्फुरणा होने लगती है, वह जाग्रत्में स्वप्न-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें कभी-कभी काम करते हुए भी उस कामकी तथा पूर्वकर्मोंकी कोई भी स्फुरणा नहीं होती, बिलकुल वृत्तिरहित अवस्था हो जाती है, वह जाग्रत्में सुषुप्ति-अवस्था है।

कर्म करनेका वेग ज्यादा रहनेसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था तो ज्यादा होती है, पर सुषुप्ति-अवस्था बहुत थोड़ी होती है। अगर कोई साधक जाग्रत्की स्वाभाविक सुषुप्तिको स्थायी बना ले तो उसका साधन बहुत तेज हो जायगा; क्योंकि जाग्रत्-सुषुप्तिमें साधकका परमात्माके साथ निरावरणरूपसे स्वतः सम्बन्ध होता है। ऐसे तो सुषुप्ति-अवस्थामें भी संसारका सम्बन्ध टूट जाता है; परन्तु बुद्धि-वृत्ति अज्ञानमें लीन हो जानेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जाग्रत्-सुषुप्तिमें बुद्धि जाग्रत् रहनेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव होता है।

यह जाग्रत्-सुषुप्ति समाधिसे भी विलक्षण है; क्योंकि यह स्वतः होती है और समाधिमें अभ्यासके द्वारा वृत्तियोंको एकाग्र तथा निरुद्ध करना पड़ता है। इसलिये समाधिमें पुरुषार्थ साथमें रहनेके कारण शरीरमें स्थिति होती है; परन्तु जाग्रत्-सुषुप्तिमें अभ्यास और अहंकारके बिना वृत्तियाँ स्वतः निरुद्ध होनेके कारण स्वरूपमें स्थिति होती है अर्थात् स्वरूपका अनुभव होता है।

प्रारब्ध कर्म

प्रारब्ध कर्म

- अनुकूल परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया (प्रवृत्ति)
  - अनच्छिापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया
- मिश्रित (अनुकूल-प्रतिकूल) परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया
  - अनिच्छापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया
- प्रतिकूल परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया
  - अनिच्छापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया
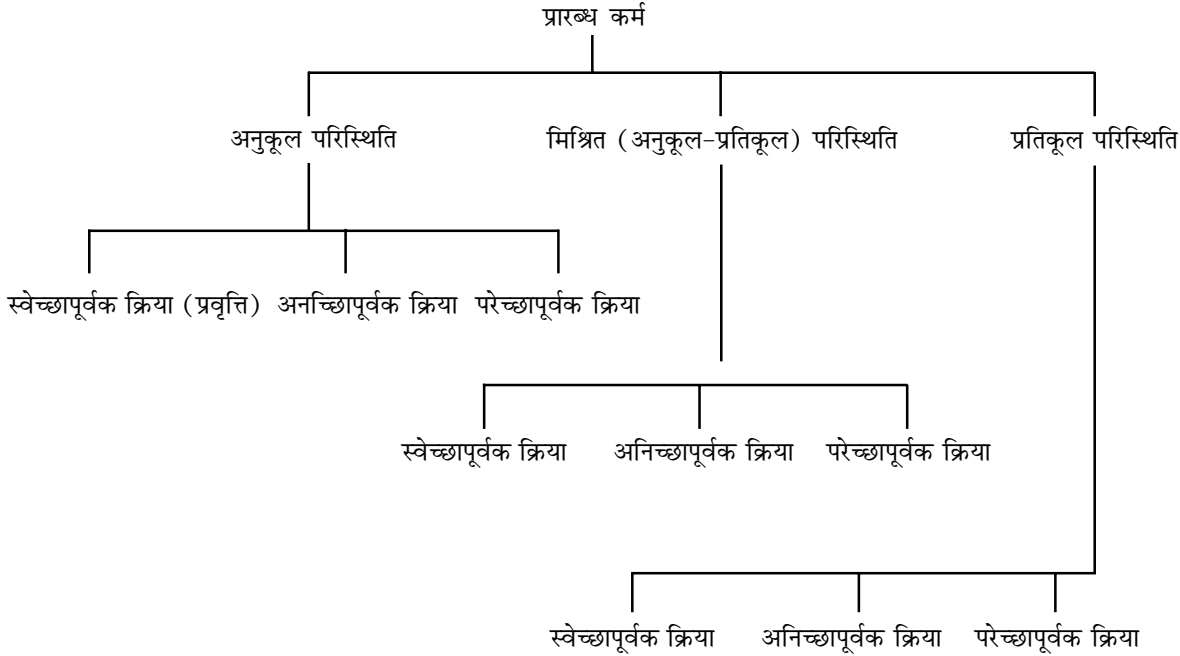
संचितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये सम्मुख होते हैं, उन कर्मोंको प्रारब्ध कर्म कहते हैं*। प्रारब्ध कर्मोंका फल तो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है; परन्तु उन प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेके लिये प्राणियोंकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे होती है—(१) स्वेच्छापूर्वक, (२) अनिच्छा-(दैवेच्छा-) पूर्वक और (३) परेच्छापूर्वक। उदाहरणार्थ—

(१) किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें मुनाफा हो गया। ऐसे ही किसी दूसरे व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें घाटा लग गया। इन दोनोंमें मुनाफा होना और घाटा लगना तो उनके शुभ-अशुभकर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु माल खरीदनेमें उनकी प्रवृत्ति स्वेच्छापूर्वक हुई है।

(२) कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो आगे आनेवाली नदीमें बाढ़के प्रवाहके कारण एक धनका टोकरा बहकर आया और उस सज्जनने उसे निकाल लिया। ऐसे ही कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो उसपर वृक्षकी एक टहनी गिर पड़ी और उसको चोट लग गयी। इन दोनोंमें धनका मिलना और चोट लगना तो उनके शुभ-अशुभकर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु धनका टोकरा मिलना और वृक्षकी टहनी गिरना—यह प्रवृत्ति अनिच्छा-(दैवेच्छा-) पूर्वक हुई है।

(३) किसी धनी व्यक्तिने किसी बच्चेको गोद ले लिया अर्थात् उसको पुत्र-रूपमें स्वीकार कर लिया, जिससे उसका सब धन उस बच्चेको मिल गया। ऐसे ही चोरोंने किसीका सब धन लूट लिया। इन दोनोंमें बच्चेको धन मिलना और चोरीमें धनका चला जाना तो उनके शुभ-अशुभकर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु गोदमें जाना और चोरी होना—यह प्रवृत्ति परेच्छापूर्वक हुई है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये कि कर्मोंका फल 'कर्म' नहीं होता, प्रत्युत 'परिस्थिति' होती है अर्थात् प्रारब्ध कर्मोंका फल परिस्थितिरूपसे सामने आता है। अगर नये (क्रियमाण) कर्मको प्रारब्धका फल मान लिया जाय तो फिर 'ऐसा करो, ऐसा मत करो'—यह शास्त्रोंका, गुरुजनोंका विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। दूसरी बात, पहले जैसे कर्म किये थे, उन्हींके अनुसार जन्म होगा और उन्हींके अनुसार कर्म होंगे तो वे कर्म फिर आगे नये कर्म पैदा कर देंगे, जिससे यह कर्म-परम्परा चलती ही रहेगी अर्थात् इसका कभी अन्त ही नहीं आयेगा।

* **'प्रकर्षेण आरब्धः प्रारब्धः' अर्थात् अच्छी तरहसे फल देनेके लिये जिसका आरम्भ हो चुका है, वह 'प्रारब्ध' है।**

प्रारब्ध कर्मसे मिलनेवाले फलके दो भेद हैं—प्राप्त फल और अप्राप्त फल। अभी प्राणियोंके सामने जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आ रही है, वह 'प्राप्त' फल है और इसी जन्ममें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें आनेवाली है वह 'अप्राप्त' फल है।

क्रियमाण कर्मोंका जो फल-अंश संचितमें जमा रहता है, वही प्रारब्ध बनकर अनुकूल, प्रतिकूल और मिश्रित परिस्थितिके रूपमें मनुष्यके सामने आता है। अतः जबतक संचित कर्म रहते हैं, तबतक प्रारब्ध बनता ही रहता है और प्रारब्ध परिस्थितिके रूपमें परिणत होता ही रहता है। यह परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी होनेके लिये बाध्य नहीं करती। सुखी-दुःखी होनेमें तो परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही मुख्य कारण है। परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ने अथवा न जोड़नेमें यह मनुष्य सर्वथा स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। जो परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, वह अविवेकी पुरुष तो सुखी-दुःखी होता ही रहता है। परन्तु जो परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं मानता, वह विवेकी पुरुष कभी सुखी-दुःखी नहीं होता; अतः उसकी स्थिति स्वतः साम्यावस्थामें होती है, जो कि उसका स्वरूप है।

कर्मोंमें मनुष्यके प्रारब्धकी प्रधानता है या पुरुषार्थकी? अथवा प्रारब्ध बलवान् है या पुरुषार्थ?—इस विषयमें बहुत-सी शंकाएँ हुआ करती हैं। उनके समाधानके लिये पहले यह समझ लेना जरूरी है कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ क्या है?

मनुष्यमें चार तरहकी चाहना हुआ करती है—एक धनकी, दूसरी धर्मकी, तीसरी भोगकी और चौथी मुक्तिकी। प्रचलित भाषामें इन्हीं चारोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके नामसे कहा जाता है—

(१) **अर्थ**—धनको 'अर्थ' कहते हैं। वह धन दो तरहका होता है—स्थावर और जंगम। सोना, चाँदी, रुपये, जमीन, जायदाद, मकान आदि स्थावर हैं और गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, भेड़, बकरी आदि जंगम हैं।

(२) **धर्म**—सकाम अथवा निष्कामभावसे जो यज्ञ, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदि किये जाते हैं, उसको 'धर्म' कहते हैं।

(३) **काम**—सांसारिक सुख-भोगको 'काम' कहते हैं। वह सुखभोग आठ तरहका होता है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान, बड़ाई और आराम।

(क) शब्द—शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। व्याकरण, कोश, साहित्य, उपन्यास, गल्प, कहानी आदि 'वर्णात्मक' शब्द हैं[1]। खाल, तार और फूँकके तीन बाजे और तालका आधा बाजा—ये साढ़े तीन प्रकारके बाजे 'ध्वन्यात्मक' शब्दको प्रकट करनेवाले हैं[2]। इन वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दोंको सुननेसे जो सुख मिलता है, वह शब्दका सुख है।

(ख) स्पर्श—स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके साथ मिलनेसे तथा ठण्डा, गरम, कोमल आदिसे अर्थात् उनका त्वचाके साथ संयोग होनेसे जो सुख होता है, वह स्पर्शका सुख है।

(ग) रूप—नेत्रोंसे खेल, तमाशा, सिनेमा, बाजीगरी, वन, पहाड़, सरोवर, मकान आदिकी सुन्दरताको देखकर जो सुख होता है, वह रूपका सुख है।

(घ) रस—मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), तिक्त (तीखा) और कषाय (कसैला)—इन छः रसोंको चखनेसे जो सुख होता है, वह रसका सुख है।

(ङ) गन्ध—नाकसे अतर, तेल, फुलेल, लवेण्डर, पुष्प आदि सुगन्धवाले और लहसुन, प्याज आदि दुर्गन्धवाले पदार्थोंको सूँघनेसे जो सुख होता है, वह गन्धका सुख है।

(च) मान—शरीरका आदर-सत्कार होनेसे जो सुख होता है, वह मानका सुख है।

(छ) बड़ाई—नामकी प्रशंसा, वाह-वाह होनेसे जो सुख होता है, वह बड़ाईका सुख है।

(ज) आराम—शरीरसे परिश्रम न करनेसे अर्थात् निकम्मे पड़े रहनेसे जो सुख होता है, वह आरामका सुख है।

(४) **मोक्ष**—आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार, मुक्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदिका नाम 'मोक्ष' है।

१-वर्णात्मक शब्दमें भी दस रस होते हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य। ये दसों ही रस चित्त द्रवित होनेसे होते हैं। इन दसों रसोंका उपयोग भगवान्‌के लिये किया जाय तो ये सभी रस कल्याण करनेवाले हो जाते हैं और इनसे सुख भोगा जाय तो ये सभी रस पतन करनेवाले हो जाते हैं।

२-ढोल, ढोलकी, तबला, पखावज, मृदंग आदि 'खाल' के; सितार, सारंगी, मोरचंग आदि 'तार' के; मशक, पेटी (हारमोनियम), बाँसुरी, पूँगी आदि 'फूँक' के और झाँझ, मंजीरा, करताल आदि 'ताल' के बाजे हैं।

इन चारों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष)-में देखा जाय तो अर्थ और धर्म—दोनों ही परस्पर एक-दूसरेकी वृद्धि करनेवाले हैं अर्थात् अर्थसे धर्मकी और धर्मसे अर्थकी वृद्धि होती है। परन्तु धर्मका पालन कामनापूर्तिके लिये किया जाय तो वह धर्म भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है और अर्थको कामनापूर्तिमें लगाया जाय तो वह अर्थ भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है। तात्पर्य है कि कामना धर्म और अर्थ—दोनोंको खा जाती है। इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने कामनाको 'महाशन' (बहुत खानेवाला) बताते हुए उसके त्यागकी बात विशेषतासे कही है (तीसरे अध्यायके सैंतीसवेंसे तैंतालीसवें श्लोकतक)।

यदि धर्मका अनुष्ठान कामनाका त्याग करके किया जाय तो वह अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है। ऐसे ही धनको कामनाका त्याग करके दूसरोंके उपकारमें, हितमें, सुखमें खर्च किया जाय तो वह भी अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंमें 'अर्थ' (धन) और 'काम' (भोग)-की प्राप्तिमें प्रारब्धकी मुख्यता और पुरुषार्थकी गौणता है तथा 'धर्म' और 'मोक्ष'में पुरुषार्थकी मुख्यता और प्रारब्धकी गौणता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंका क्षेत्र अलग-अलग है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हैं। इसलिये कहा है—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्यः स्वाध्याये जपदानयोः॥

अर्थात् अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार, भोजन और धनमें तो सन्तोष करना चाहिये और स्वाध्याय, पाठ-पूजा, नाम-जप, कीर्तन और दान करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि प्रारब्धके फल—धन और भोगमें तो सन्तोष करना चाहिये; क्योंकि वे प्रारब्धके अनुसार जितने मिलनेवाले हैं, उतने ही मिलेंगे, उससे अधिक नहीं। परन्तु धर्मका अनुष्ठान और अपना कल्याण करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह नया पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थके लिये मनुष्यशरीर मिला है।

कर्मके दो भेद हैं—शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप)। शुभकर्मका फल अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होना है और अशुभकर्मका फल प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होना है। कर्म बाहरसे किये जाते हैं, इसलिये उन कर्मोंका फल भी बाहरकी परिस्थितिके रूपमें ही प्राप्त होता है। परन्तु उन परिस्थितियोंसे जो सुख-दुःख होते हैं, वे भीतर होते हैं। इसलिये उन परिस्थितियोंमें सुखी तथा दुःखी होना शुभाशुभकर्मोंका अर्थात् प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत अपनी मूर्खताका फल है। अगर वह मूर्खता चली जाय, भगवान्पर[१] अथवा प्रारब्धपर[२] विश्वास हो जाय तो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी चित्तमें प्रसन्नता होगी, हर्ष होगा। कारण कि प्रतिकूल परिस्थितिमें पाप कटते हैं, आगे पाप न करनेमें सावधानी आती है और पापोंके नष्ट होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

साधकको अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो अनुकूल सामग्रीको दूसरोंके हितके लिये सेवाबुद्धिसे खर्च करना अनुकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उसका सुख-बुद्धिसे भोग करना दुरुपयोग है। ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करना और 'मेरे पूर्वकृत पापोंका नाश करनेके लिये, भविष्यमें पाप न करनेकी सावधानी रखनेके लिये और मेरी उन्नति करनेके लिये ही प्रभु-कृपासे ऐसी परिस्थिति आयी है'—ऐसा समझकर परम प्रसन्न रहना प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उससे दुःखी होना दुरुपयोग है।

मनुष्यशरीर सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं है। सुख भोगनेके स्थान स्वर्गादिक हैं और दुःख भोगनेके स्थान नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ हैं। इसलिये वे भोगयोनियाँ हैं और मनुष्य कर्मयोनि है। परन्तु यह कर्मयोनि उनके लिये है जो मनुष्यशरीरमें सावधान नहीं होते, केवल जन्म-मरणके सामान्य प्रवाहमें ही पड़े हुए हैं। वास्तवमें मनुष्यशरीर सुख-दुःखसे ऊँचा उठनेके लिये अर्थात्

१-लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥
'जिस प्रकार बच्चेका पालन करने और ताड़ना करने—दोनोंमें माताकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती है।'

२-यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्। इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥ (नारदपुराण, पूर्व, ३७।४७)
'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा निश्चय जिनकी बुद्धिमें होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

मुक्तिकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये इसको कर्मयोनि न कहकर 'साधनयोनि' ही कहना चाहिये।

प्रारब्ध-कर्मोंके फलस्वरूप जो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उन दोनोंमें अनुकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है, पर प्रतिकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें मनुष्य परतन्त्र है अर्थात् उसका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि अनुकूल परिस्थिति दूसरोंका हित करने, उन्हें सुख देनेके फलस्वरूप बनी है और प्रतिकूल परिस्थिति दूसरोंको दुःख देनेके फलस्वरूप बनी है। इसको एक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

श्यामलालने रामलालको सौ रुपये उधार दिये। रामलालने वायदा किया कि अमुक महीने मैं ब्याजसहित रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत गया, पर रामलालने रुपये नहीं लौटाये तो श्यामलाल रामलालके घर पहुँचा और बोला—'तुमने वायदेके अनुसार रुपये नहीं दिये! अब दो।' रामलालने कहा—'अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं, परसों दे दूँगा।' श्यामलाल तीसरे दिन पहुँचा और बोला— 'लाओ मेरे रुपये!' रामलालने कहा—'अभी मैं आपके पैसे नहीं जुटा सका, परसों आपके रुपये जरूर दूँगा।' तीसरे दिन फिर श्यामलाल पहुँचा और बोला—'रुपये दो!' तो रामलालने कहा—'कल जरूर दूँगा।' दूसरे दिन श्यामलाल फिर पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये!' रामलालने कहा—'रुपये जुटे नहीं, मेरे पास रुपये हैं नहीं, तो मैं कहाँसे दूँ? परसों आना।' रामलालकी बातें सुनकर श्यामलालको गुस्सा आ गया और 'परसों-परसों करता है, रुपये देता नहीं'—ऐसा कहकर उसने रामलालको पाँच जूते मार दिये। रामलालने कोर्टमें नालिश (शिकायत) कर दी। श्यामलालको बुलाया गया और पूछा गया—'तुमने इसके घरपर जाकर जूता मारा है?' तो श्यामलालने कहा—'हाँ साहब, मैंने जूता मारा है।' मैजिस्ट्रेटने पूछा—'क्यों मारा?'

श्यामलालने कहा—'इसको मैंने रुपये दिये थे और इसने वायदा किया था कि मैं इस महीने रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत जानेपर मैंने इसके घरपर जाकर रुपये माँगे तो कल-परसों,कल-परसों कहकर इसने मुझे बहुत तंग किया। इसपर मैंने गुस्सेमें आकर इसे पाँच जूते मार दिये। तो सरकार! पाँच जूतोंके पाँच रुपये काटकर शेष रुपये मुझे दिला दीजिये।'

मैजिस्ट्रेटने हँसकर कहा—'यह फौजदारी कोर्ट है। यहाँ रुपये दिलानेका कायदा (नियम) नहीं है। यहाँ दण्ड देनेका कायदा है। इसलिये आपको जूता मारनेके बदलेमें कैद या जुर्माना भोगना ही पड़ेगा। आपको रुपये लेने हों तो दीवानी कोर्टमें जाकर नालिश करो, वहाँ रुपये दिलानेका कायदा है; क्योंकि वह विभाग अलग है।'

इस तरह अशुभकर्मोंका फल जो प्रतिकूल परिस्थिति है, वह 'फौजदारी' है, इसलिये उसका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकते और शुभकर्मोंका फल जो अनुकूल परिस्थिति है, वह 'दीवानी' है, इसलिये उसका स्वरूपसे त्याग किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके शुभ-अशुभ-कर्मोंका विभाग अलग-अलग है। इसलिये शुभकर्मों (पुण्यों) और अशुभकर्मों-(पापों-)का अलग-अलग संग्रह होता है। स्वाभाविकरूपसे ये दोनों एक-दूसरेसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते। हाँ, अगर मनुष्य पाप काटनेके उद्देश्यसे (प्रायश्चित्तरूपसे) शुभकर्म करता है, तो उसके पाप कट सकते हैं।

संसारमें एक आदमी पुण्यात्मा है, सदाचारी है और दुःख पा रहा है तथा एक आदमी पापात्मा है, दुराचारी है और सुख भोग रहा है—इस बातको लेकर अच्छे-अच्छे पुरुषोंके भीतर भी यह शंका हो जाया करती है कि इसमें ईश्वरका न्याय कहाँ है*। इसका समाधान यह है कि अभी पुण्यात्मा जो दुःख पा रहा है, यह पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पापका फल है, अभी किये हुए पुण्यका नहीं। ऐसे ही अभी पापात्मा जो सुख भोग रहा है, यह भी पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पुण्यका फल है, अभी किये हुए पापका नहीं।

*** महाभारत, वनपर्वमें एक कथा आती है। एक दिन द्रौपदीने युधिष्ठिरजी महाराजसे कहा कि आप धर्मको छोड़कर एक कदम भी आगे नहीं रखते, पर आप वनवासमें दुःख पा रहे हैं और दुर्योधन धर्मकी किंचिन्मात्र भी परवाह न करके केवल स्वार्थ-परायण हो रहा है, पर वह राज्य कर रहा है, आरामसे रह रहा है और सुख भोग रहा है? ऐसी शंका करनेपर युधिष्ठिरजी महाराजने कहा कि जो सुख पानेकी इच्छासे धर्मका पालन करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको जानते ही नहीं! वे तो पशुओंकी तरह सुख-भोगके लिये लोलुप और दुःखसे भयभीत रहते हैं, फिर बेचारे धर्मके तत्त्वको कैसे जानें! इसलिये मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है कि वे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिकी परवाह न करके शास्त्रके आज्ञानुसार केवल अपने धर्म-(कर्तव्य-)का पालन करते रहें।**

इसमें एक तात्त्विक बात और है। कर्मोंके फलरूपमें जो अनुकूल परिस्थिति आती है, उससे सुख ही होता है और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उससे दु:ख ही होता है—ऐसी बात है नहीं। जैसे, अनुकूल परिस्थिति आनेपर मनमें अभिमान होता है, छोटोंसे घृणा होती है, अपनेसे अधिक सम्पत्तिवालोंको देखकर उनसे ईर्ष्या होती है, असहिष्णुता होती है, अन्त:करणमें जलन होती है और मनमें ऐसे दुर्भाव आते हैं कि उनकी सम्पत्ति कैसे नष्ट हो तथा वक्तपर उनको नीचा दिखानेकी चेष्टा भी होती है। इस तरह सुख-सामग्री और धन-सम्पत्ति पासमें रहनेपर भी वह सुखी नहीं हो सकता। परन्तु बाहरी सामग्रीको देखकर अन्य लोगोंको यह भ्रम होता है कि वह बड़ा सुखी है। ऐसे ही किसी विरक्त और त्यागी मनुष्यको देखकर भोग-सामग्रीवाले मनुष्यको उसपर दया आती है कि बेचारेके पास धन-सम्पत्ति आदि सामग्री नहीं है, बेचारा बड़ा दु:खी है! परन्तु वास्तवमें विरक्तके मनमें बड़ी शान्ति और बड़ी प्रसन्नता रहती है। वह शान्ति और प्रसन्नता धनके कारण किसी धनीमें नहीं रह सकती। इसलिये धनका होनामात्र सुख नहीं है और धनका अभावमात्र दु:ख नहीं है। सुख नाम हृदयकी शान्ति और प्रसन्नताका है और दु:ख नाम हृदयकी जलन और सन्तापका है।

पुण्य और पापका फल भोगनेमें एक नियम नहीं है। पुण्य तो निष्कामभावसे भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त हो सकता है; परन्तु पाप भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त नहीं होता। पापका फल तो भोगना ही पड़ता है; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध किये हुए कर्म भगवान्‌के अर्पण कैसे हो सकते हैं? और अर्पण करनेवाला भी भगवान्‌के विरुद्ध कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कैसे कर सकता है? प्रत्युत भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म ही भगवान्‌के अर्पण होते हैं। इस विषयमें एक कहानी आती है।

एक राजा अपनी प्रजासहित हरिद्वार गया। उसके साथमें सब तरहके लोग थे। उनमें एक चमार भी था। उस चमारने सोचा कि ये बनिये लोग बड़े चतुर होते हैं। ये अपनी बुद्धिमानीसे धनी बन गये हैं। अगर हम भी उनकी बुद्धिमानीके अनुसार चलें तो हम भी धनी बन जायँ! ऐसा विचार करके वह एक चतुर बनियेकी क्रियाओंपर निगरानी रखकर चलने लगा। जब हरिद्वारके ब्रह्मकुण्डमें पण्डा दान-पुण्यका संकल्प कराने लगा, तब उस बनियेने कहा—'मैंने अमुक ब्राह्मणको सौ रुपये उधार दिये थे, आज मैं उनको दानरूपमें श्रीकृष्णार्पण करता हूँ!' पण्डेने संकल्प भरवा दिया। चमारने देखा कि इसने एक कौड़ी भी नहीं दी और लोगोंमें प्रसिद्ध हो गया कि इसने सौ रुपयोंका दान कर दिया, कितना बुद्धिमान् है! मैं भी इससे कम नहीं रहूँगा। जब पण्डेने चमारसे संकल्प भरवाना शुरू किया, तब चमारने कहा—'अमुक बनियेने मुझे सौ रुपये उधार दिये थे तो उन सौ रुपयोंको मैं श्रीकृष्णार्पण करता हूँ।' उसकी ग्रामीण बोलीको पण्डा पूरी तरह समझा नहीं और संकल्प भरवा दिया। इससे चमार बड़ा खुश हो गया कि मैंने भी बनियेके समान सौ रुपयोंका दान-पुण्य कर दिया!

सब घर पहुँचे। समयपर खेती हुई। ब्राह्मण और चमारके खेतोंमें खूब अनाज पैदा हुआ। ब्राह्मण देवताने बनियेसे कहा—'सेठ! आप चाहें तो सौ रुपयोंका अनाज ले लो, इससे आपको नफा भी हो सकता है। मुझे तो आपका कर्जा चुकाना है।' बनियेने कहा—'ब्राह्मण देवता! जब मैं हरिद्वार गया था, तब मैंने आपको उधार दिये हुए सौ रुपये दान कर दिये।' ब्राह्मण बोला—'सेठ! मैंने आपसे सौ रुपये उधार लिये हैं, दान नहीं लिये। इसलिये इन रुपयोंको मैं रखना नहीं चाहता, ब्याजसहित पूरा चुकाना चाहता हूँ।' सेठने कहा—'आप देना ही चाहते हैं तो अपनी बहन अथवा कन्याको दे सकते हैं। मैंने सौ रुपये भगवान्‌के अर्पण कर दिये हैं, इसलिये मैं तो लूँगा नहीं।' अब ब्राह्मण और क्या करता? वह अपने घर लौट गया।

अब जिस बनियेसे चमारने सौ रुपये लिये थे, वह बनिया चमारके खेतमें पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये। तुम्हारा अनाज हुआ है, सौ रुपयोंका अनाज ही दे दो।' चमारने सुन रखा था कि ब्राह्मणके देनेपर भी बनियेने उससे रुपये नहीं लिये। अत: उसने सोचा कि मैंने भी संकल्प कर रखा है तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे? ऐसा सोचकर चमार बनियेसे बोला—'मैंने तो अमुक सेठकी तरह गंगाजीमें खड़े होकर सब रुपये श्रीकृष्णार्पण कर दिये, तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे?' बनिया बोला—'तेरे अर्पण कर देनेसे कर्जा नहीं छूट सकता; क्योंकि तूने मेरेसे कर्जा लिया है तो तेरे छोड़नेसे कैसे छूट जायगा? मैं तो अपने सौ रुपये ब्याजसहित पूरे लूँगा; लाओ मेरे रुपये!' ऐसा कहकर उसने चमारसे अपने रुपयोंका अनाज ले लिया।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि हमारेपर दूसरोंका जो कर्जा है, वह हमारे छोड़नेसे नहीं छूट सकता। ऐसे ही हम

भगवदाज्ञानुसार शुभकर्मोंको तो भगवान्‌के अर्पण करके उनके बन्धनसे छूट सकते हैं, पर अशुभकर्मोंका फल तो हमारेको भोगना ही पड़ेगा। इसलिये शुभ और अशुभ-कर्मोंमें एक कायदा, कानून नहीं है। अगर ऐसा नियम बन जाय कि भगवान्‌के अर्पण करनेसे ऋण और पाप-कर्म छूट जायँ तो फिर सभी प्राणी मुक्त हो जायँ; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। हाँ, इसमें एक मार्मिक बात है कि अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर देनेपर अर्थात् सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जानेपर पाप-पुण्य सर्वथा नष्ट हो जाते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक)।

दूसरी शंका यह होती है कि धन और भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्ध कर्मके अनुसार होती है—ऐसी बात समझमें नहीं आती; क्योंकि हम देखते हैं कि इनकम-टैक्स, सेल्स-टैक्स आदिकी चोरी करते हैं तो धन बच जाता है और टैक्स पूरा देते हैं तो धन चला जाता है तो धनका आना-जाना प्रारब्धके अधीन कहाँ हुआ? यह तो चोरीके ही अधीन हुआ!

इसका समाधान इस प्रकार है। वास्तवमें धन प्राप्त करना और भोग भोगना—इन दोनोंमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। परन्तु इन दोनोंमें भी किसीका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध होता है, भोगका नहीं और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, धन-प्राप्तिका नहीं तथा किसीका धन और भोग दोनोंका ही प्रारब्ध होता है। जिसका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध तो है, पर भोगका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास लाखों रुपये रहनेपर भी बीमारीके कारण वैद्य, डॉक्टरके मना करनेपर वह भोगोंको भोग नहीं सकता, उसको खानेमें रूखा-सूखा ही मिलता है। जिसका भोगका प्रारब्ध तो है, पर धनका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास धनका अभाव होनेपर भी उसके सुख-आराममें किसी तरहकी कमी नहीं रहती[1]। उसको किसीकी दयासे, मित्रतासे, काम-धंधा मिल जानेसे प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाहकी सामग्री मिलती रहती है।

अगर धनका प्रारब्ध नहीं है तो चोरी करनेपर भी धन नहीं मिलेगा, प्रत्युत चोरी किसी प्रकारसे प्रकट हो जायगी तो बचा हुआ धन भी चला जायगा तथा दण्ड और मिलेगा। यहाँ दण्ड मिले या न मिले, पर परलोकमें तो दण्ड जरूर मिलेगा। उससे वह बच नहीं सकेगा। अगर प्रारब्धवश चोरी करनेसे धन मिल भी जाय तो भी उस धनका उपभोग नहीं हो सकेगा। वह धन बीमारीमें, चोरीमें, डाकेमें, मुकदमेमें, ठगाईमें चला जायगा। तात्पर्य यह है कि वह धन जितने दिन टिकनेवाला है, उतने ही दिन टिकेगा और फिर नष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, इनकम-टैक्स आदिकी चोरी करनेके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार जन्म-जन्मान्तरतक उसे चोरी करनेके लिये उकसाते रहेंगे और वह उनके कारण दण्ड पाता रहेगा।

अगर धनका प्रारब्ध है तो कोई गोद ले लेगा अथवा मरता हुआ कोई व्यक्ति उसके नामसे वसीयतनामा लिख देगा अथवा मकान बनाते समय नींव खोदते ही जमीनमें गड़ा हुआ धन मिल जायगा, आदि-आदि। इस प्रकार प्रारब्धके अनुसार जो धन मिलनेवाला है, वह किसी-न-किसी कारणसे मिलेगा ही[2]। परन्तु मनुष्य प्रारब्धपर तो विश्वास करता नहीं, कम-से-कम अपने पुरुषार्थपर भी विश्वास नहीं करता कि हम मेहनतसे कमाकर खा लेंगे। इसी कारण उसकी चोरी आदि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे हृदयमें जलन रहती है, दूसरोंसे छिपाव करना पड़ता है, पकड़े जानेपर दण्ड पाना पड़ता है, आदि-आदि। अगर मनुष्य विश्वास और सन्तोष रखे तो हृदयमें महान् शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता रहती है तथा आनेवाला धन भी आ जाता है और जितना जीनेका प्रारब्ध है, उतनी जीवन-निर्वाहकी सामग्री भी किसी-न-किसी तरह मिलती ही रहती है।

जैसे व्यापारमें घाटा लगना, घरमें किसीकी मृत्यु होना, बिना कारण अपयश और अपमान होना आदि प्रतिकूल

१-सर्वथा त्यागीको भी अनुकूल वस्तुएँ बहुत मिलती हुई देखी जाती हैं (यह बात अलग है कि वह उन्हें स्वीकार न करे)। त्यागमें तो एक और विलक्षणता भी है कि जो मनुष्य धनका त्याग कर देता है, जिसके मनमें धनका महत्त्व नहीं है और अपनेको धनके अधीन नहीं मानता, उसके लिये धनका एक नया प्रारब्ध बन जाता है। कारण कि त्याग भी एक बड़ा भारी पुण्य है, जिससे तत्काल एक नया प्रारब्ध बनता है।

धान नहीं धीणों नहीं, नहीं रुपैयो रोक। जीमण बैठे रामदास, आन मिलै सब थोक॥

२-प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो दैवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः। तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्॥

(पंचतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति ११२)

'प्राप्त होनेवाला धन मनुष्यको मिलता ही है, दैव भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसलिये न तो मैं शोक करता हूँ और न मुझे विस्मय ही होता है; क्योंकि जो हमारा है, वह दूसरोंका नहीं हो सकता।'

परिस्थितिको कोई भी नहीं चाहता, पर फिर भी वह आती ही है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति भी आती ही है, उसको कोई रोक नहीं सकता। भागवतमें आया है—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥

(११। ८। १)

'राजन्! प्राणियोंको जैसे इच्छाके बिना प्रारब्धानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, ऐसे ही इन्द्रियजन्य सुख स्वर्गमें और नरकमें भी प्राप्त होते हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह उन सुखोंकी इच्छा न करे।'

जैसे धन और भोगका प्रारब्ध अलग-अलग होता है अर्थात् किसीका धनका प्रारब्ध होता है और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, ऐसे ही धर्म और मोक्षका पुरुषार्थ भी अलग-अलग होता है अर्थात् कोई धर्मके लिये पुरुषार्थ करता है और कोई मोक्षके लिये पुरुषार्थ करता है। धर्मके अनुष्ठानमें शरीर, धन आदि वस्तुओंकी मुख्यता रहती है और मोक्षकी प्राप्तिमें भाव तथा विचारकी मुख्यता रहती है।

एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। दोनों विभाग अलग-अलग हैं। करनेकी चीज है—कर्तव्य और होनेकी चीज है—फल। मनुष्यका कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें नहीं—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गीता २। ४७)। तात्पर्य यह है कि होनेकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार अवश्य होती है, उसके लिये 'यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये'—ऐसी इच्छा नहीं करनी चाहिये और करनेमें शास्त्र तथा लोक-मर्यादाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। 'करना' पुरुषार्थके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इसलिये मनुष्य करनेमें स्वाधीन है और होनेमें पराधीन है। मनुष्यकी उन्नतिमें खास बात है—'करनेमें सावधान रहे और होनेमें प्रसन्न रहे।'

क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—तीनों कर्मोंसे मुक्त होनेका क्या उपाय है?

प्रकृति और पुरुष—ये दो हैं। प्रकृति सदा क्रियाशील है, पर पुरुषमें कभी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध माननेवाला 'प्रकृतिस्थ' पुरुष ही कर्ता-भोक्ता बनता है। जब वह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसपर कोई भी कर्म लागू नहीं होता।

प्रारब्ध-सम्बन्धी अन्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) बोध हो जानेपर भी ज्ञानीका प्रारब्ध रहता है—यह कथन केवल अज्ञानियोंको समझानेमात्रके लिये है। कारण कि अनुकूल या प्रतिकूल घटनाका घट जाना ही प्रारब्ध है। प्राणीको सुखी या दुःखी करना प्रारब्धका काम नहीं है, प्रत्युत अज्ञानका काम है। अज्ञान मिटनेपर मनुष्य सुखी-दुःखी नहीं होता। उसे केवल अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है। ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत सुख-दुःखरूप विकार होना दोषी है। इसलिये वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्ध नहीं होता।

(२) जैसा प्रारब्ध होता है, वैसी बुद्धि बन जाती है। जैसे, एक ही बाजारमें एक व्यापारी मालकी बिक्री कर देता है और एक व्यापारी माल खरीद लेता है। बादमें जब बाजार-भाव तेज हो जाता है, तब बिक्री करनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नफा होता है; और जब बाजार-भाव मन्दा हो जाता है, तब बिक्री करनेवाले व्यापारीको नफा होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है। अतः खरीदने और बेचनेकी बुद्धि प्रारब्धसे बनती है अर्थात् नफा या नुकसानका जैसा प्रारब्ध होता है, उसीके अनुसार पहले बुद्धि बन जाती है, जिससे प्रारब्धके अनुसार फल भुगताया जा सके। परन्तु खरीदने और बेचनेकी क्रिया न्याययुक्त की जाय अथवा अन्याययुक्त की जाय—इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि यह क्रियमाण (नया कर्म) है, प्रारब्ध नहीं।

(३) एक आदमीके हाथसे गिलास गिरकर टूट गया तो यह उसकी असावधानी है या प्रारब्ध?

कर्म करते समय तो सावधान रहना चाहिये, पर जो (अच्छा या बुरा) हो गया, उसे पूरी तरहसे प्रारब्ध—होनहार ही मानना चाहिये। उस समय जो यह कहते हैं कि यदि तू सावधानी रखता तो गिलास न टूटता—इससे यह समझना चाहिये कि अब आगेसे मुझे सावधानी रखनी है कि दुबारा ऐसी गलती न हो जाय। वास्तवमें जो हो गया, उसे असावधानी न मानकर होनहार मानना चाहिये। इसलिये करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहे।

(४) प्रारब्धसे होनेवाले और कुपथ्यसे होनेवाले रोगमें क्या फरक है?

कुपथ्यजन्य रोग दवाईसे मिट सकता है; परन्तु प्रारब्धजन्य रोग दवाईसे नहीं मिटता। महामृत्युंजय आदिका जप और यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करनेसे प्रारब्धजन्य रोग भी कट सकता है, अगर अनुष्ठान प्रबल हो तो।

रोगके दो प्रकार हैं—आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग)। आधिके भी दो भेद हैं—एक तो शोक, चिन्ता आदि और दूसरा पागलपन। चिन्ता, शोक आदि तो अज्ञानसे होते हैं और पागलपन प्रारब्धसे होता है। अत: ज्ञान होनेपर चिन्ता-शोकादि तो मिट जाते हैं, पर प्रारब्धके अनुसार पागलपन हो सकता है। हाँ, पागलपन होनेपर भी ज्ञानीके द्वारा कोई अनुचित, शास्त्रनिषिद्ध क्रिया नहीं होती।

(५) आकस्मिक मृत्यु और अकाल मृत्युमें क्या फरक है? कोई व्यक्ति साँप काटनेसे मर जाय, अचानक ऊपरसे गिरकर मर जाय, पानीमें डूबकर मर जाय, हार्टफेल होनेसे मर जाय, किसी दुर्घटना आदिसे मर जाय, तो यह उसकी 'आकस्मिक मृत्यु' है। स्वाभाविक मृत्युकी तरह आकस्मिक मृत्यु भी प्रारब्धके अनुसार (आयु पूरी होनेपर) होती है।

कोई व्यक्ति जानकर आत्महत्या कर ले अर्थात् फाँसी लगाकर, कुएँमें कूदकर, गाड़ीके नीचे आकर, छतसे कूदकर, जहर खाकर, शरीरमें आग लगाकर मर जाय, तो यह उसकी 'अकाल मृत्यु' है। यह मृत्यु आयुके रहते हुए ही होती है। आत्महत्या करनेवालेको मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है। अत: यह नया पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं। मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है; अत: उसको आत्महत्या करके नष्ट करना बड़ा भारी पाप है।

कई बार आत्महत्या करनेकी चेष्टा करनेपर भी मनुष्य बच जाता है, मरता नहीं। इसका कारण यह है कि उसका दूसरे मनुष्यके प्रारब्धके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ रहता है; अत: उसके प्रारब्धके कारण वह बच जाता है। जैसे, भविष्यमें किसीका पुत्र होनेवाला है और वह आत्महत्या करनेका प्रयास करे तो उस (आगे होनेवाले) लड़केका प्रारब्ध उसको मरने नहीं देगा। अगर उस व्यक्तिके द्वारा भविष्यमें कोई विशेष अच्छा काम होनेवाला हो, लोगोंका उपकार होनेवाला हो अथवा इसी जन्ममें, इसी शरीरमें प्रारब्धका कोई उत्कट भोग (सुख-दु:ख) आनेवाला हो, तो आत्महत्याका प्रयास करनेपर भी वह मरेगा नहीं।

(६) एक आदमीने दूसरे आदमीको मार दिया तो यह उसने पिछले जन्मके वैरका बदला लिया और मरनेवालेने पुराने कर्मोंका फल पाया, फिर मारनेवालेका क्या दोष?

मारनेवालेका दोष है। दण्ड देना शासकका काम है, सर्वसाधारणका नहीं। एक आदमीको दस बजे फाँसी मिलनी है। एक-दूसरे आदमीने उस (फाँसीकी सजा पानेवाले) आदमीको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसे कत्ल कर दिया! ऐसी हालतमें उस कत्ल करनेवाले आदमीको भी फाँसी होगी कि यह आज्ञा तो राज्यने जल्लादोंको दी थी, पर तुम्हें किसने आज्ञा दी थी?

मारनेवालेको यह याद नहीं है कि मैं पूर्वजन्मका बदला ले रहा हूँ, फिर भी मारता है तो यह उसका दोष है। दूसरेको मारनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। मरना कोई भी नहीं चाहता। दूसरेको मारना अपने विवेकका अनादर है। मनुष्यमात्रको विवेकशक्ति प्राप्त है और उस विवेकके अनुसार अच्छे या बुरे कार्य करनेमें वह स्वतन्त्र है। अत: विवेकका अनादर करके दूसरेको मारना अथवा मारनेकी नीयत रखना दोष है।

यदि पूर्वजन्मका बदला एक-दूसरे ऐसे ही चुकाते रहें तो यह शृंखला कभी खत्म नहीं होगी और मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

पिछले जन्मका बदला अन्य (साँप आदि) योनियोंमें लिया जा सकता है। मनुष्ययोनि बदला लेनेके लिये नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि पिछले जन्मका हत्यारा व्यक्ति हमें स्वाभाविक ही अच्छा नहीं लगेगा, बुरा लगेगा। परन्तु बुरे लगनेवाले व्यक्तिसे द्वेष करना या उसे कष्ट देना दोष है; क्योंकि यह नया कर्म है।

जैसा प्रारब्ध है, उसीके अनुसार उसकी बुद्धि बन गयी, फिर दोष किस बातका?

बुद्धिमें जो द्वेष है, उसके वशमें हो गया—यह दोष है। उसे चाहिये कि वह उसके वशमें न होकर विवेकका आदर करे। गीता भी कहती है कि बुद्धिमें जो राग-द्वेष रहते हैं (तीसरे अध्यायका चालीसवाँ श्लोक), उनके वशमें न हो—'**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (३। ३४)।

(७) प्रारब्ध और भगवत्कृपामें क्या अन्तर है?

इस जीवको जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अनुसार मिलता है, पर प्रारब्ध-विधानके विधाता स्वयं भगवान् हैं। कारण कि कर्म जड होनेसे स्वतन्त्र फल नहीं दे सकते, वे तो भगवान्‌के विधानसे ही फल देते हैं। जैसे, एक आदमी किसीके खेतमें दिनभर काम करता है तो उसको शामके समय कामके अनुसार पैसे मिलते हैं, पर मिलते हैं खेतके मालिकसे।

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं, बिना काम किये पैसे मिलते हैं क्या?

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं; परन्तु बिना

मालिकके पैसा देगा कौन? यदि कोई जंगलमें जाकर दिनभर मेहनत करे तो क्या उसको पैसे मिल जायँगे? नहीं मिल सकते। उसमें यह देखा जायगा कि किसके कहनेसे काम किया और किसकी जिम्मेवारी रही।

अगर कोई नौकर कामको बड़ी तत्परता, चतुरता और उत्साहसे करता है, पर करता है केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये तो मालिक उसको मजदूरीसे अधिक पैसे भी दे देता है और तत्परता आदि गुणोंको देखकर उसको अपने खेतका हिस्सेदार भी बना देता है। ऐसे ही भगवान् मनुष्यको उसके कर्मोंके अनुसार फल देते हैं। अगर कोई मनुष्य भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सब कार्य करता है, उसे भगवान् दूसरोंकी अपेक्षा अधिक ही देते हैं; परन्तु जो भगवान्‌के सर्वथा समर्पित होकर सब कार्य करता है, उस भक्तके भगवान् भी भक्त बन जाते हैं!* संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परन्तु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं। ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है। ऐसे प्रभुके चरणोंकी शरण न होकर जो मनुष्य प्राकृत—उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके पराधीन रहते हैं, उनकी बुद्धि सर्वथा ही भ्रष्ट हो चुकी है। वे इस बातको समझ ही नहीं सकते कि हमारे सामने प्रत्यक्ष उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ हमें कहाँतक सहारा दे सकते हैं।

सम्बन्ध—जिस प्रकार कर्मयोगमें कर्मोंका अपने साथ सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे ही सांख्यसिद्धान्तमें भी कर्मोंका अपने साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता—इसका विवेचन आगे करते हैं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

महाबाहो	= हे महाबाहो!	**सर्वकर्मणाम्**	= सम्पूर्ण कर्मोंकी	**कारणानि**	= कारण
कृतान्ते	= कर्मोंका अन्त करनेवाले	**सिद्धये**	= सिद्धिके लिये	**प्रोक्तानि**	= बताये गये हैं,
		एतानि	= ये	**मे**	= (इनको तू) मुझसे
साङ्ख्ये	= सांख्यसिद्धान्तमें	**पञ्च**	= पाँच	**निबोध**	= समझ।

व्याख्या—**'पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि'**—हे महाबाहो! जिसमें सम्पूर्ण कर्मोंका अन्त हो जाता है, ऐसे सांख्यसिद्धान्तमें सम्पूर्ण विहित और निषिद्ध कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बताये गये हैं। 'स्वयं' (स्वरूप) उन कर्मोंमें हेतु नहीं है।

'निबोध मे'—इस अध्यायमें भगवान्‌ने जहाँ सांख्य-सिद्धान्तका वर्णन आरम्भ किया है, वहाँ **'निबोध'** क्रियाका प्रयोग किया है (इसी अध्यायका तेरहवाँ और पचासवाँ श्लोक), जबकि दूसरी जगह **'शृणु'** क्रियाका प्रयोग किया है (इसी अध्यायका चौथा, उन्नीसवाँ, उनतीसवाँ, छत्तीसवाँ, पैंतालीसवाँ और चौंसठवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि सांख्यसिद्धान्तमें तो **'निबोध'** पदसे अच्छी तरह समझनेकी बात कही है और दूसरी जगह **'शृणु'** पदसे सुननेकी बात कही है। अतः सांख्यसिद्धान्तको गहरी रीतिसे समझना चाहिये। अगर उसे अपने-आप (स्वयं)-से गहरी रीतिसे समझा जाय, तो तत्काल तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

'साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्'—कर्म चाहे शास्त्रविहित हों, चाहे शास्त्रनिषिद्ध हों, चाहे शारीरिक हों, चाहे मानसिक हों, चाहे वाचिक हों, चाहे स्थूल हों और चाहे सूक्ष्म हों—इन सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये पाँच हेतु कहे गये हैं। जब पुरुषका इन कर्मोंमें कर्तृत्व रहता है, तब कर्मसिद्धि और कर्मसंग्रह दोनों होते हैं और जब पुरुषका इन कर्मोंके होनेमें कर्तृत्व नहीं रहता, तब कर्मसिद्धि तो होती है, पर कर्मसंग्रह नहीं होता, प्रत्युत क्रियामात्र होती है। जैसे, संसारमात्रमें परिवर्तन होता है अर्थात् नदियाँ बहती हैं, वायु चलती है, वृक्ष बढ़ते हैं आदि-आदि क्रियाएँ होती रहती हैं, परन्तु इन क्रियाओंसे कर्मसंग्रह नहीं होता अर्थात् ये क्रियाएँ पाप-पुण्यजनक

* एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्। (श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९)

अथवा बन्धनकारक नहीं होतीं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तृत्वाभिमानसे ही कर्मसिद्धि और कर्मसंग्रह होता है। कर्तृत्वाभिमान मिटनेपर क्रियामात्रमें अधिष्ठान, करण, चेष्टा और दैव—ये चार हेतु ही होते हैं (गीता—इसी अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)।

यहाँ सांख्यसिद्धान्तका वर्णन हो रहा है। सांख्यसिद्धान्तमें विवेक-विचारकी प्रधानता होती है, फिर भगवान्ने '**सर्वकर्मणां सिद्धये**' वाली कर्मोंकी बात यहाँ क्यों छेड़ी? कारण कि अर्जुनके सामने युद्धका प्रसंग है। क्षत्रिय होनेके नाते युद्ध उनका कर्तव्य-कर्म है। इसलिये कर्मयोगसे अथवा सांख्ययोगसे ऐसे कर्म करने चाहिये, जिससे कर्म करते हुए भी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहे—यह बात भगवान्को कहनी है। अर्जुनने सांख्यका तत्त्व पूछा है, इसलिये भगवान् सांख्यसिद्धान्तसे कर्म करनेकी बात कहना आरम्भ करते हैं।

अर्जुन स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करना चाहते थे; अतः उनको यह समझाना था कि कर्मोंका ग्रहण और त्याग—दोनों ही कल्याणमें हेतु नहीं हैं। कल्याणमें हेतु तो परिवर्तनशील नाशवान् प्रकृतिसे अपरिवर्तनशील अविनाशी अपने स्वरूपका सम्बन्ध-विच्छेद ही है। उस सम्बन्ध-विच्छेदकी दो प्रक्रियाएँ हैं—कर्मयोग और सांख्ययोग। कर्मयोगमें तो फलका अर्थात् ममताका त्याग मुख्य है और सांख्ययोगमें अहंताका त्याग मुख्य है। परन्तु ममताके त्यागसे अहंताका और अहंताके त्यागसे ममताका त्याग स्वतः हो जाता है। कारण कि अहंतामें भी ममता होती है; जैसे—मेरी बात रहे, मेरी बात कट न जाय—यह मैंपनके साथ भी मेरापन है। इसलिये ममता-(मेरापन-)को छोड़नेसे अहंता (मैं-पन) छूट जाती है*। ऐसे ही पहले अहंता होती है, तब ममता होती है अर्थात् पहले 'मैं' होता है, तब 'मेरापन' होता है। परन्तु जहाँ अहंता-(मैंपन-)का ही त्याग कर दिया जायगा, वहाँ ममता (मेरापन) कैसे रहेगी? वह भी छूट ही जायगी।

परिशिष्ट भाव—आत्माको अकर्ता बतानेके लिये पाँच कारणोंका वर्णन करते हैं। इन पाँचोंमें कर्तृत्वका त्याग होनेपर कर्मोंका सर्वथा अन्त (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है।

सम्बन्ध—सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु कौन-से हैं? अब यह बताते हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

* साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे इस जीवकी परमात्माके साथ स्वतःसिद्ध आत्मीयता है। उस परमात्मासे विमुख होकर जीवने अहंताके साथ ममता कर ली, जिससे स्वयंको 'मैं संसारी हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं विवेकी हूँ, मैं पढ़ा-लिखा समझदार हूँ'—ऐसा व्यक्तित्व (मैंपन) प्रिय लगता है और यह छूट न जाय—इसका भय लगता है। यह अहंताके साथ ममता है। इसका त्याग करनेके लिये कर्मयोगमें 'मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मेरे लिये कुछ नहीं करना है' इसी भावसे संसारके हितके लिये सब क्रियाएँ करे (कारण कि कर्मका सम्बन्ध 'पर'के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं)। ऐसा करनेसे ममता छूट जायगी। ममता छूटते ही अहंता भी सर्वथा छूट जायगी।

कर्मयोगमें स्थूलशरीरसे क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे परहितचिन्तन और कारणशरीरसे स्थिरता (एकाग्रता)—ये तीनों ही संसारके हितार्थ होते हैं। इसलिये दूसरोंके हितके लिये कर्म करते-करते सबके हितका चिन्तन होता है। हितका चिन्तन होते-होते स्वतः ही स्थिरता आती है, उस स्थिरतामें अहंता और ममता दोनोंका त्याग होता है और त्याग होनेसे शान्ति मिलती है।

संसारके त्यागसे जो शान्ति मिलती है, वह स्वरूप अथवा साध्य नहीं है, प्रत्युत वह तो एक साधन है—'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' (गीता ६। ३)। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिसे जो शान्ति मिलती है, वह साध्य है अर्थात् परमात्माका स्वरूप है—'शान्तिं निर्वाणपरमाम्' (गीता ६। १५)।

अब साधकको सावधानी यह रखनी है कि वह उस साधनजन्य शान्तिका भोग न करे। भोग न करनेसे स्वतः वास्तविकताकी अनुभूति हो जायगी और यदि भोग करेगा तो वहींपर अटक जायगा।

अत्र	= इसमें (कर्मोंकी सिद्धिमें)	**च**	= और	**पृथक्**	= अलग-अलग
अधिष्ठानम्	= अधिष्ठान	**पृथग्विधम्**	= अनेक प्रकारके	**चेष्टा**	= चेष्टाएँ
तथा	= तथा	**करणम्**	= करण	**च, एव**	= और वैसे ही
कर्ता	= कर्ता	**च**	= एवम्	**पञ्चमम्**	= पाँचवाँ कारण
		विविधाः	= विविध प्रकारकी	**दैवम्**	= दैव (संस्कार) है।

व्याख्या—**'अधिष्ठानम्'**—शरीर और जिस देशमें यह शरीर स्थित है, वह देश—ये दोनों 'अधिष्ठान' हैं।

'कर्ता'—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंके द्वारा ही होती हैं। वे क्रियाएँ चाहे समष्टि हों, चाहे व्यष्टि हों; परन्तु उन क्रियाओंका कर्ता 'स्वयं' नहीं है। केवल अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अर्थात् जिसको चेतन और जडका ज्ञान नहीं है—ऐसा अविवेकी पुरुष ही जब प्रकृतिसे होनेवाली क्रियाओंको अपनी मान लेता है, तब वह 'कर्ता' बन जाता है*। ऐसा 'कर्ता' ही कर्मोंकी सिद्धिमें हेतु बनता है।

'करणं च पृथग्विधम्'—कुल तेरह करण हैं। पाणि, पाद, वाक्, उपस्थ और पायु—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये दस 'बहिःकरण' हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन 'अन्तःकरण' हैं।

'विविधाश्च पृथक्चेष्टाः'—उपर्युक्त तेरह करणोंकी अलग-अलग चेष्टाएँ होती हैं; जैसे—**पाणि** (हाथ)—आदान-प्रदान करना, **पाद** (पैर)—आना-जाना, चलना-फिरना, **वाक्**—बोलना, **उपस्थ**—मूत्रका त्याग करना, **पायु** (गुदा)—मलका त्याग करना, **श्रोत्र**—सुनना, **चक्षु**—देखना, **त्वक्**—स्पर्श करना, **रसना**—चखना, **घ्राण**—सूँघना, **मन**—मनन करना, **बुद्धि**—निश्चय करना और **अहंकार**—'मैं ऐसा हूँ'आदि अभिमान करना।

'दैवं चैवात्र पञ्चमम्'—कर्मोंकी सिद्धिमें पाँचवें हेतुका नाम 'दैव' है। यहाँ दैव नाम संस्कारोंका है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही संस्कार उसके अन्तःकरणपर पड़ता है। शुभ-कर्मका शुभ संस्कार पड़ता है और अशुभ-कर्मका अशुभ संस्कार पड़ता है। वे ही संस्कार आगे कर्म करनेकी स्फुरणा पैदा करते हैं। जिसमें जिस कर्मका संस्कार जितना अधिक होता है, उस कर्ममें वह उतनी ही सुगमतासे लग सकता है और जिस कर्मका विशेष संस्कार नहीं है, उसको करनेमें उसे कुछ परिश्रम पड़ सकता है। इसी प्रकार मनुष्य सुनता है, पुस्तकें पढ़ता है और विचार भी करता है तो वे भी अपने-अपने संस्कारोंके अनुसार ही करता है। तात्पर्य है कि मनुष्यके अन्तःकरणमें शुभ और अशुभ— जैसे संस्कार होते हैं, उन्हींके अनुसार कर्म करनेकी स्फुरणा होती है।

इस श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बताये गये हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव। इसका कारण यह है कि आधारके बिना कोई भी काम कहाँ किया

---

* सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—इसका वर्णन गीतामें कई रीतियोंसे आता है; जैसे—

(१) सब कर्म प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं—'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः' (१३। २९), सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (३। २७)।

(२) गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३। २८); द्रष्टा गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता—'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' (१४। १९)।

(३) सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों-(विषयों-) में बरतती हैं—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५। ९)।

(४) यहाँ (१८। १४ में) कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान आदि पाँच हेतु बताये गये हैं।

इन सबका तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंमेंसे केवल प्रकृतिमें ही क्रियाएँ होती हैं, पुरुषमें नहीं। प्रकृतिके साथ तादात्म्य करनेसे ही पुरुष उन क्रियाओंको अपनी मान लेता है। जैसे, कोई मनुष्य वायुयानमें बैठकर यह मान लेता है कि मैं वायुयानद्वारा जा रहा हूँ, जबकि वास्तवमें वायुयान ही चलता है, मनुष्य नहीं। ऐसे ही पुरुष अपनेको प्रकृतिकी क्रियाओंका कर्ता मान लेता है—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (३। २७)।

तत्त्वको जाननेवाला विवेकी पुरुष ऐसा अनुभव करता है कि सब क्रियाएँ प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें ही हो रही हैं, इनमें मैं कुछ भी नहीं करता हूँ—'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५। ८)।

जायगा? इसलिये '**अधिष्ठान**' पद आया है। कर्ताके बिना क्रिया कौन करेगा? इसलिये '**कर्ता**' पद आया है। क्रिया करनेके साधन (करण) होनेसे ही तो कर्ता क्रिया करेगा, इसलिये '**करण**' पद आया है। करनेके साधन होनेपर भी क्रिया नहीं की जायगी तो कर्मसिद्धि कैसे होगी? इसलिये '**चेष्टा**' पद आया है। कर्ता अपने-अपने संस्कारोंके अनुसार ही क्रिया करेगा, संस्कारोंके विरुद्ध अथवा संस्कारोंके बिना क्रिया नहीं कर सकेगा, इसलिये '**दैव**' पद आया है। इस प्रकार इन पाँचोंके होनेसे ही कर्मसिद्धि होती है।

परिशिष्ट भाव—'कर्ता'—अहंकार अपरा प्रकृति है और जीव परा प्रकृति है। जीवका सम्बन्ध (सजातीयता) परमात्माके साथ है, पर वह अहंकारके साथ सम्बन्ध जोड़कर अपनेको कर्ता मान लेता है।

'दैवम्'—अच्छे-बुरे संस्कार सबके भीतर रहते हैं—'**सुमति कुमति सब कें उर रहहीं**' (मानस, सुन्दर० ४०। ३)। संग, शास्त्र और विचार—इन तीनोंसे अच्छे या बुरे संस्कारोंको बल मिलता है, जिससे नये कर्म होते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

नरः	= मनुष्य	**विपरीतम्**	= शास्त्रविरुद्ध	**तस्य**	= उसके
शरीरवाङ्मनोभिः	= शरीर, वाणी और मनके द्वारा	**यत्**	= जो कुछ	**एते**	= ये (पूर्वोक्त)
		वा	= भी	**पञ्च**	= पाँचों
न्याय्यम्	= शास्त्रविहित	**कर्म**	= कर्म	**हेतवः**	= हेतु होते हैं।
वा	= अथवा	**प्रारभते**	= आरम्भ करता है,		

व्याख्या—'**शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म.....पञ्चैते तस्य हेतवः**'—पीछेके (चौदहवें) श्लोकमें कर्मोंके होनेमें जो अधिष्ठान आदि पाँच हेतु बताये गये हैं, वे पाँचों हेतु इन पदोंमें आ जाते हैं; जैसे—'**शरीर**' पदमें अधिष्ठान आ गया, '**वाक्**' पदमें बहिःकरण और '**मन**' पदमें अन्तःकरण आ गया, '**नरः**' पदमें कर्ता आ गया और '**प्रारभते**' पदमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टा आ गयी। अब रही '**दैव**' की बात। यह दैव अर्थात् संस्कार अन्तःकरणमें ही रहता है; परन्तु उसका स्पष्ट रीतिसे पता नहीं लगता। उसका पता तो उससे उत्पन्न हुई वृत्तियोंसे और उसके अनुसार किये हुए कर्मोंसे ही लगता है।

मनुष्य शरीर, वाणी और मनसे जो कर्म आरम्भ करता है अर्थात् कहीं शरीरकी प्रधानतासे, कहीं वाणीकी प्रधानतासे और कहीं मनकी प्रधानतासे जो कर्म करता है, वह चाहे न्याय्य—शास्त्रविहित हो, चाहे विपरीत—शास्त्र-विरुद्ध हो, उसमें ये (पूर्वश्लोकमें आये) पाँच हेतु होते हैं।

शरीर, वाणी और मन—इन तीनोंके द्वारा ही सम्पूर्ण कर्म होते हैं। इनके द्वारा किये गये कर्मोंको ही कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मकी संज्ञा दी जाती है। इन तीनोंमें अशुद्धि आनेसे ही बन्धन होता है। इसीलिये इन तीनों-(शरीर, वाणी और मन-) की शुद्धिके लिये सत्रहवें अध्यायके चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोकमें क्रमशः कायिक, वाचिक और मानसिक तपका वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि शरीर, वाणी और मनसे कोई भी शास्त्रनिषिद्ध कर्म न किया जाय, केवल शास्त्रविहित कर्म ही किये जायँ, तो वह 'तप' हो जाता है। सत्रहवें अध्यायके ही सत्रहवें श्लोकमें '**अफलाकाङ्क्षिभिः**' पद देकर यह बताया है कि निष्कामभावसे किया हुआ तप सात्त्विक होता है। सात्त्विक तप बाँधनेवाला नहीं होता, प्रत्युत मुक्ति देनेवाला होता है। परन्तु राजस-तामस तप बाँधनेवाले होते हैं।

इन शरीर, वाणी आदिको अपना समझकर अपने लिये कर्म करनेसे ही इनमें अशुद्धि आती है, इसलिये इनको शुद्ध किये बिना केवल विचारसे बुद्धिके द्वारा सांख्यसिद्धान्तकी बातें तो समझमें आ सकती हैं; परन्तु 'कर्मोंके साथ मेरा किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है'—ऐसा स्पष्ट बोध नहीं हो सकता। ऐसी हालतमें साधक शरीर आदिको अपना न समझे और अपने लिये कोई कर्म न करे तो वे शरीरादि बहुत जल्दी शुद्ध हो जायँगे; अतः चाहे कर्मयोगकी दृष्टिसे इनको शुद्ध करके इनसे सम्बन्ध तोड़ ले, चाहे सांख्ययोगकी

दृष्टिसे प्रबल विवेकके द्वारा इनसे सम्बन्ध तोड़ ले। दोनों ही साधनोंसे प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ अपने माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

जिस समष्टि-शक्तिसे संसारमात्रकी क्रियाएँ होती हैं, उसी समष्टि-शक्तिसे व्यष्टि शरीरकी क्रियाएँ भी स्वाभाविक होती हैं। विवेकको महत्त्व न देनेके कारण 'स्वयं' उन क्रियाओंमेंसे खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जगना आदि जिन क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है, वहाँ कर्मसंग्रह होता है अर्थात् वे क्रियाएँ बाँधनेवाली हो जाती हैं। परन्तु जहाँ स्वयं अपनेको कर्ता नहीं मानता, वहाँ कर्मसंग्रह नहीं होता। वहाँ तो केवल क्रियामात्र होती है। इसलिये वे क्रियाएँ फलोत्पादक अर्थात् बाँधनेवाली नहीं होतीं। जैसे, बचपनसे जवान होना, श्वासका आना-जाना, भोजनका पाचन होना तथा रस आदि बन जाना आदि क्रियाएँ बिना कर्तृत्वाभिमानके प्रकृतिके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक होती हैं और उनका कोई कर्मसंग्रह अर्थात् पाप-पुण्य नहीं होता। ऐसे ही कर्तृत्वाभिमान न रहनेपर 'सभी क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं'—ऐसा स्पष्ट अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—मनमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि होना मानसिक कर्म हैं।

'न्याय्यम्' पदका अर्थ है—सात्त्विक कर्म, शास्त्रविहित कर्म अथवा शुभ कर्म। **'विपरीतम्'** पदका अर्थ है—राजस-तामस कर्म, शास्त्रनिषिद्ध कर्म अथवा अशुभ कर्म। **'न्याय्यं वा विपरीतं वा'** पदोंका तात्पर्य है—मात्र कर्म।

सम्बन्ध—भगवान्ने सांख्यसिद्धान्त बतानेके लिये जो उपक्रम किया है, उसमें कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बतानेका क्या आशय है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

तु	= परन्तु	**केवलम्**	= केवल (शुद्ध)	**न, पश्यति**	= ठीक नहीं देखता;
एवम्	= ऐसे पाँच हेतुओंके	**आत्मानम्**	= आत्माको	**अकृतबुद्धित्वात्**	= (क्योंकि) उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।
सति	= होनेपर भी	**कर्तारम्**	= कर्ता		
यः	= जो	**पश्यति**	= देखता है,		
तत्र	= उस (कर्मोंके) विषयमें	**सः**	= वह		
		दुर्मतिः	= दुष्ट बुद्धिवाला		

*व्याख्या—***'तत्रैवं सति......पश्यति दुर्मतिः'**— जितने भी कर्म होते हैं, वे सब अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव—इन पाँच हेतुओंसे ही होते हैं, अपने स्वरूपसे नहीं। परन्तु ऐसा होनेपर भी जो पुरुष अपने स्वरूपको कर्ता मान लेता है, उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है—**'अकृतबुद्धित्वात्'** अर्थात् उसने विवेक-विचारको महत्त्व नहीं दिया है। जड और चेतनका, प्रकृति और पुरुषका जो वास्तविक विवेक है, अलगाव है, उसकी तरफ उसने ध्यान नहीं दिया है। इसलिये उसकी बुद्धिमें दोष आ गया है। उस दोषके कारण वह अपनेको कर्ता मान लेता है।

यहाँ आये **'अकृतबुद्धित्वात्'** और **'दुर्मतिः'** पदोंका समान अर्थ दीखते हुए भी इनमें थोड़ा फरक है। **'अकृतबुद्धित्वात्'** पद हेतुके रूपमें आया है और **'दुर्मतिः'** पद कर्ताके विशेषणके रूपमें आया है अर्थात् कर्ताके दुर्मति होनेमें अकृतबुद्धि ही हेतु है। तात्पर्य है कि बुद्धिको शुद्ध न करनेसे अर्थात् बुद्धिमें विवेक जाग्रत् न करनेसे ही वह दुर्मति है। अगर वह विवेकको जाग्रत् करता, तो वह दुर्मति नहीं रहता।

केवल (शुद्ध) आत्मा कुछ नहीं करता—**'न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१); परन्तु तादात्म्यके कारण 'मैं नहीं करता हूँ'—ऐसा बोध नहीं होता। बोध न होनेमें 'अकृतबुद्धि' ही कारण है अर्थात् जिसने बुद्धिको शुद्ध नहीं किया है, वह दुर्मति ही अपनेको कर्ता मान लेता है; जब कि शुद्ध आत्मामें कर्तृत्व नहीं है।

'केवलम्' पद कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनोंमें ही आया है। प्रकृति और पुरुषके विवेकको लेकर कर्मयोग और सांख्ययोग चलते हैं। कर्मयोगमें सब क्रियाएँ शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही होती हैं, पर उनके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता अर्थात् उनमें ममता नहीं होती। ममता न होनेसे शरीर, मन आदिकी संसारके साथ जो एकता है, वह एकता अनुभवमें आ जाती है। एकताका अनुभव होते ही स्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। इसलिये कर्मयोगमें **'केवलैः'** पद शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ दिया गया है—**'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि'** (गीता ५। ११)।

सांख्ययोगमें विवेक-विचारकी प्रधानता है। जितने भी कर्म होते हैं, वे सब पाँच हेतुओंसे ही होते हैं, अपने स्वरूपसे नहीं। परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अपनेको कर्ता मान लेता है। विवेकसे मोह मिट जाता है। मोह मिटनेसे वह अपनेको कर्ता कैसे मान सकता है? अर्थात् उसे अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है। इसलिये सांख्ययोगमें **'केवलम्'** पद स्वरूपके साथ दिया गया है—**'केवलम् आत्मानम्'**।

अब इसमें एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि कर्मयोगमें 'केवल' शब्द शरीर, मन आदिके साथ रहनेसे शरीर, मन, बुद्धि आदिके साथ 'अहम्' भी संसारकी सेवामें लग जायगा तथा स्वरूप ज्यों-का-त्यों रह जायगा और सांख्ययोगमें स्वरूपके साथ **'केवल'** रहनेसे 'मैं निर्लेप हूँ', 'मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ' इस प्रकार सूक्ष्मरीतिसे 'अहम्' की गंध रह जायगी। 'मैं निर्लेप हूँ; मेरेमें कर्तृत्व नहीं है'—ऐसी स्थिति बहुत कालतक रहनेसे यह 'अहम्' भी अपने-आप गल जायगा अर्थात् अपने कारण प्रकृतिमें लीन हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—सब कारकोंमें कर्ता मुख्य है। कर्तामें चेतनकी झलक आती है, अन्य कारकोंमें नहीं। वास्तवमें 'कर्ता' नाम चेतनका नहीं है। यह माना हुआ कर्ता है—**'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। इसलिये भगवान्ने यहाँ अपने वास्तविक स्वरूपको कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है कि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वह दुर्मति है। कारण कि स्वरूपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। मूलमें ये नहीं हैं, तभी इनका त्याग होता है। ये कर्तृत्व-भोक्तृत्व न भगवान्के बनाये हुए हैं, न प्रकृतिके, प्रत्युत जीवके बनाये हुए हैं।

वास्तवमें कर्ता कोई नहीं है; न तो चेतन कर्ता है और न जड़ कर्ता है। अगर कर्ता मानना ही पड़े तो वह जड़में ही माना जायगा। इसको भगवान्ने गीतामें कई प्रकारसे बताया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं अर्थात् प्रकृति कर्ता है (तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक); सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा होती हैं; गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् गुण कर्ता है (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ-अट्ठाईसवाँ और चौदहवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ कर्ता हैं (पाँचवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसीलिये अपने चेतन स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा अनुभव करता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८)। भगवान् भी कहते हैं कि जब मनुष्य गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् वह क्रियामात्रमें ऐसा अनुभव करता है कि गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है और अपनेको गुणोंसे बिलकुल असम्बद्ध अनुभव करता है, जो वास्तवमें है*, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है (चौदहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

साधक खाने-पीने, सोने-जागने आदि लौकिक क्रियाओंको तो विचारद्वारा प्रकृतिमें होनेवाली सुगमतासे मान सकता है, पर वह जप, ध्यान, समाधि आदि पारमार्थिक क्रियाओंको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये मानता है तो यह वास्तवमें साधकके लिये बाधक है। कारण कि ज्ञानयोगकी दृष्टिसे क्रिया चाहे ऊँची-से-ऊँची हो अथवा नीची-से-नीची, है वह एक जातिकी (प्राकृत) ही। लाठी घुमाना और माला फेरना—दोनों क्रियाएँ अलग-अलग होनेपर भी प्रकृतिमें ही हैं। तात्पर्य है कि खाने-पीने, सोने-जागने आदिसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। प्रकृतिका सम्बन्ध किये बिना क्रिया सम्भव ही नहीं है। अतः साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक

*** स्वरूप (आत्मा) गुणोंसे सर्वथा रहित है—'निर्गुणत्वात्' (गीता १३। ३१)। गुण प्रकाश्य है, स्वरूप प्रकाशक है। गुण परिवर्तनशील हैं, स्वरूप अपरिवर्तनशील है। गुण अनित्य हैं, स्वरूप नित्य है। स्वरूप निर्गुण होते हुए भी जब यह गुणोंका संग कर लेता है, तब जन्म-मरणमें पड़ जाता है—'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३। २१)।**

क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। शास्त्रविहित होनेके कारण पारमार्थिक क्रियाओंका अन्त:करणमें जो विशेष महत्त्व रहता है, वह भी जड़ताका ही महत्त्व होनेसे साधकके लिये बाधक है*। पारमार्थिक क्रियाओंका उद्देश्य परमात्मा रहनेसे वे कल्याणकारक हो जाती हैं। ज्यों-ज्यों क्रियाकी गौणता और भगवत्सम्बन्धकी मुख्यता होती है, त्यों-त्यों अधिक लाभ होता है। क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी लाभ नहीं होता। अत: क्रियाका महत्त्व न होकर भगवान्में प्रियता होनी चाहिये। प्रियता ही भजन है, क्रिया नहीं।

जिसकी बुद्धि विवेकरहित है अर्थात् जिसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है, वह दुर्मति है। बोधमें विवेक कारण है, बुद्धि नहीं। बुद्धि विवेकसे शुद्ध होती है। बुद्धिकी शुद्धिमें शुभ कर्म भी कुछ सहायक होते है, पर विवेक-विचारसे बुद्धिकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुभ कर्मोंसे नहीं होती। विवेकको महत्त्व न देना जितना दोषी है, उतने मल-विक्षेप-आवरण दोषी नहीं हैं। विवेक अनादि और नित्य है। इसलिये मल-विक्षेप-आवरणके रहते हुए भी विवेक जाग्रत् हो सकता है। पापसे विवेक नष्ट नहीं होता, प्रत्युत विवेक जाग्रत् नहीं होता। विवेकको महत्त्व न देनेमें कारण है—क्रिया और पदार्थका महत्त्व। क्रिया और पदार्थको महत्त्व देनेवाला ही 'दुर्मति' है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बताया कि शुद्ध स्वरूपको कर्ता देखनेवाला दुर्मति ठीक नहीं देखता। तो ठीक देखनेवाला कौन है—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

यस्य	= जिसका	**यस्य**	= जिसकी	**हत्वा**	= मारकर
अहङ्कृत:,		**बुद्धि:**	= बुद्धि	**अपि**	= भी
भाव:	= अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव)	**न, लिप्यते**	= लिप्त नहीं होती,	**न**	= न
		स:	= वह (युद्धमें)	**हन्ति**	= मारता है (और)
		इमान्	= इन	**न**	= न
न	= नहीं है (और)	**लोकान्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको	**निबध्यते**	= बँधता है।

व्याख्या—'**यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते**'—जिसमें 'मैं करता हूँ'—ऐसा अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें 'मेरेको फल मिलेगा'—ऐसे स्वार्थ-भावका लेप नहीं है। इसको ऐसे समझना चाहिये—जैसे शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्ध—ये सभी क्रियाएँ एक प्रकाशमें होती हैं और प्रकाशके ही आश्रित होती हैं; परन्तु प्रकाश किसी भी क्रियाका 'कर्ता' नहीं बनता अर्थात् प्रकाश उन क्रियाओंको न करनेवाला है और न करानेवाला है। ऐसे ही स्वरूपकी सत्ताके बिना विहित और निषिद्ध—कोई भी क्रिया नहीं होती; परन्तु वह सत्ता उन क्रियाओंको न करनेवाली है और न करानेवाली है—ऐसा जिसको साक्षात् अनुभव हो जाता है, उसमें 'मैं क्रियाओंको करनेवाला हूँ'—ऐसा अहंकृतभाव नहीं रहता और 'अमुक चीज चाहिये, अमुक चीज नहीं चाहिये'; 'अमुक घटना होनी चाहिये, अमुक घटना नहीं होनी चाहिये'—ऐसा बुद्धिमें लेप (द्वन्द्वमोह) नहीं रहता। अहंकृतभाव और बुद्धिमें लेप न रहनेसे उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनों नष्ट हो जाते हैं अर्थात् अपनेमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व—ये दोनों ही नहीं हैं, इसका वास्तविक अनुभव हो जाता है।

प्रकृतिका कार्य स्वत:-स्वाभाविक ही चल रहा है, परिवर्तित हो रहा है और अपना स्वरूप केवल उसका प्रकाशक है—ऐसा समझकर जो अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, उसमें 'मैं करता हूँ' ऐसा अहंकृतभाव नहीं होता; क्योंकि अहंकृतभाव प्रकृतिके कार्य शरीरको स्वीकार

*** भगवान्के लिये की गयी उपासनामें भगवान्की कृपा प्रधान होती है; अत: इसमें साधकका कर्तृत्व नहीं है। क्रिया, कर्म, उपासना और विवेक—चारों अलग-अलग हैं। 'क्रिया' किसीके भी साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ती। 'कर्म' अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति (फल)-के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। 'उपासना' भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। 'विवेक' जड़-चेतनका सम्बन्ध-विच्छेद करता है।**

करनेसे ही होता है। अहंकृतभाव सर्वथा मिटनेपर उसकी बुद्धिमें 'फल मेरेको मिले' ऐसा लेप भी नहीं होता अर्थात् फलकी कामना नहीं होती।

अहंकृतभाव एक मनोवृत्ति है। मनोवृत्ति होते हुए भी यह भाव स्वयं-(कर्ता-)में रहता है; क्योंकि कर्तृत्व और अकर्तृत्व भाव स्वयं ही स्वीकार करता है।

'**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते**'—वह इन सम्पूर्ण प्राणियोंको एक साथ मार डाले, तो भी वह मारता नहीं; क्योंकि उसमें कर्तृत्व नहीं है और वह बँधता भी नहीं; क्योंकि उसमें भोक्तृत्व नहीं है। तात्पर्य यह है कि उसका न क्रियाओंके साथ सम्बन्ध है और न फलके साथ सम्बन्ध है।

वास्तवमें प्रकृति ही क्रिया और फलमें परिणत होती है। परन्तु इस वास्तविकताका अनुभव न होनेसे ही पुरुष (चेतन) कर्ता और भोक्ता बनता है। कारण कि जब अहंकारपूर्वक क्रिया होती है, तब कर्ता, करण और कर्म—तीनों मिलते हैं और तभी कर्मसंग्रह होता है। परन्तु जिसमें अहंकृतभाव नहीं रहा, केवल सबका प्रकाशक, आश्रय, सामान्य चेतन ही रहा, फिर वह कैसे किसको मारे? और कैसे किससे बँधे? उसका 'मारना' और 'बँधना' सम्भव ही नहीं है (गीता—दूसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

सम्पूर्ण प्राणियोंको मारना क्या है? जिसमें अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें लेप नहीं है—ऐसे मनुष्यका शरीर जिस वर्ण और आश्रममें रहता है, उसके अनुसार उसके सामने जो परिस्थिति आ जाती है, उसमें प्रवृत्त होनेपर उसे पाप नहीं लगता। जैसे, किसी जीवन्मुक्त क्षत्रियके लिये स्वतः युद्धकी परिस्थिति प्राप्त हो जाय तो वह उसके अनुसार सबको मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है। कारण कि उसमें अभिमान और स्वार्थभाव नहीं है।

यहाँ अर्जुनके सामने भी युद्धका प्रसंग है। इसलिये भगवान्‌ने '**हत्वापि**' पदसे अर्जुनको युद्धके लिये प्रेरणा की है। '**अपि**' पदका भाव है—'**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः**' (गीता ४। २०) 'कर्मोंमें अच्छी तरह प्रवृत्त होनेपर भी वह कुछ नहीं करता।' '**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते**' (गीता ६। ३१) 'सर्वथा बर्ताव करता हुआ भी वह योगी मेरेमें रहता है। '**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१) 'शरीरमें स्थित होनेपर भी न करता है और न लिप्त होता है।' तात्पर्य यह है कि कर्मोंमें सांगोपांग प्रवृत्त होनेके समय और जिस समय कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, उस समय भी स्वरूपकी निर्विकल्पता ज्यों-की-त्यों रहती है अर्थात् क्रिया करनेसे अथवा क्रिया न करनेसे स्वरूपमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता। कारण कि क्रिया-विभाग प्रकृतिमें है, स्वरूपमें नहीं।

वास्तवमें यह अहंभाव (व्यक्तित्व) ही मनुष्यमें भिन्नता करनेवाला है। अहंभाव न रहनेसे परमात्माके साथ भिन्नताका कोई कारण ही नहीं है। फिर तो केवल सबका आश्रय, प्रकाशक सामान्य चेतन रहता है। वह न तो क्रियाका कर्ता बनता है और न फलका भोक्ता ही बनता है। क्रियाओंका कर्ता और फलका भोक्ता तो वह पहले भी नहीं था। केवल नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध मानकर जिस अहंभावको स्वीकार किया है, उसी अहंभावसे उसमें कर्तापन और भोक्तापन आया है।

'**अहम्**' दो प्रकारका होता है—'अहंस्फूर्ति और अहंकृति। गाढ़ नींदसे उठते ही सबसे पहले मनुष्यको अपने होनेपन-(सत्तामात्र-) का भान होता है, इसको 'अहंस्फूर्ति' कहते हैं। इसके बाद वह अपनेमें 'मैं अमुक नाम, वर्ण, आश्रम आदिका हूँ'—ऐसा आरोप करता है, यही असत्‌का सम्बन्ध है। असत्‌के सम्बन्धसे अर्थात् शरीरके साथ तादात्म्य माननेसे शरीरकी क्रियाको लेकर 'मैं करता हूँ'—ऐसा भाव उत्पन्न होता है, इसको 'अहंकृति' कहते हैं।

'**अहम्**' को लेकर ही अपनेमें परिच्छिन्नता आती है। इसलिये अहंस्फूर्तिमें भी किंचित् परिच्छिन्नता (व्यक्तित्व) रह सकती है। परन्तु यह परिच्छिन्नता बन्धनकारक नहीं होती अर्थात् परिच्छिन्नता रहनेपर भी अहंस्फूर्ति दोषी नहीं होती। कारण कि अहंकृति अर्थात् कर्तृत्वके बिना अपनेमें गुण-दोषका आरोप नहीं होता। अहंकृति आनेसे ही अपनेमें गुण-दोषका आरोप होता है, जिससे शुभ-अशुभ कर्म बनते हैं। बोध होनेपर अहंस्फूर्तिमें जो परिच्छिन्नता है, वह जल जाती है और स्फूर्तिमात्र रह जाती है। ऐसी स्थितिमें मनुष्य न मारता है और न बँधता है।

'**न हन्ति न निबध्यते**' (न मारता है और न बँधता है) का क्या भाव है? एक निर्विकल्प-अवस्था होती है और एक निर्विकल्प-बोध होता है। निर्विकल्प-अवस्था साधन-साध्य है और उसका उत्थान भी होता है अर्थात् वह एकरस नहीं रहती। इस निर्विकल्प-अवस्थासे भी असंगता होनेपर स्वतःसिद्ध निर्विकल्प-बोधका अनुभव होता है। निर्विकल्प-बोध साधन-साध्य नहीं है और उसमें निर्विकल्पता किसी

भी अवस्थामें किंचिन्मात्र भी भंग नहीं होती। निर्विकल्प-बोधमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव भी नहीं। तात्पर्य है कि उस निर्विकल्प-बोधमें कभी हलचल आदि नहीं होते, यही '**न हन्ति न निबध्यते**' का भाव है।

अहंकृतभाव और बुद्धिमें लेप न रहनेका उपाय क्या है? क्रियारूपसे परिवर्तन केवल प्रकृतिमें ही होता है और उन क्रियाओंका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा उन कर्मोंके फलरूपसे जो पदार्थ मिलते हैं, उनका भी संयोग-वियोग होता है। इस प्रकार क्रिया और पदार्थ—दोनोंके साथ संयोग-वियोग होता रहता है। संयोग-वियोग होनेपर भी स्वयं तो प्रकाशकरूपसे ज्यों-का-त्यों ही रहता है। विवेक-विचारसे ऐसा अनुभव होनेपर अहंकृतभाव और बुद्धिमें लेप नहीं रहता।

परिशिष्ट भाव—अहंकृतभाव नहीं होनेका तात्पर्य है—अहंतारहित होना और बुद्धि लिप्त नहीं होनेका तात्पर्य है—कामना, ममता और स्वार्थभावसे रहित होना।

अर्जुनने कहा था कि इन आततायियोंको मारनेसे हमारेको पाप लगेगा—'**पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः**' (गीता १। ३६) और गुरुजनोंको मारनेसे पाप लगेगा—'**गुरूनहत्वा हि महानुभावान्**......' (गीता २। ५)। अतः यहाँ भगवान् कहते हैं कि इनको मारनेसे पाप लगनेकी तो बात ही क्या है, सम्पूर्ण प्राणियोंको मारनेसे भी पाप नहीं लगेगा, क्योंकि पाप लगनेमें हेतु अहंता और बुद्धिकी लिप्तता है। बुद्धि कामना, ममता और स्वार्थभावसे लिप्त होती है। गंगाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो गंगाजीको पाप नहीं लगता और कोई उसका जल पीता है, स्नान करता है, खेती करता है तो उससे गंगाजीको पुण्य नहीं लगता है। वर्षासे कई जीव मर जाते हैं और कइयोंको जीवन मिल जाता है, पर वर्षाको पाप-पुण्य नहीं लगते। कारण कि गंगाजीमें और वर्षामें अहंकृतभाव और बुद्धिका लेप नहीं है। अगर डॉक्टरमें कामना, ममता और स्वार्थबुद्धि न हो तो ऑपरेशनमें अंग काटनेपर भी उसको पाप नहीं लगता। अगर उसमें अहंकृतभाव भी न हो तो फिर पाप लगनेकी बात ही क्या है।

ज्ञानयोगसे 'अहंकृतभाव' का नाश होता है और कर्मयोगसे 'बुद्धिकी लिप्तता' नष्ट होती है। दोनोंमेंसे किसी एकका नाश होनेपर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। अहंकृतभावके कारण ही जीवमें भोग और मोक्षकी इच्छा पैदा होती है। अहंकृतभाव मिटनेसे भोगेच्छा भी मिट जाती है—'**बुद्धिर्यस्य न लिप्यते**'। भोगेच्छा मिटनेपर मोक्षकी इच्छा स्वतः पूरी हो जाती है; क्योंकि मोक्ष स्वतःसिद्ध है।

सम्बन्ध—ज्ञान और प्रवृत्ति (क्रिया) दोषी नहीं होते, प्रत्युत कर्तृत्वाभिमान ही दोषी होता है; क्योंकि कर्तृत्वाभिमानसे ही कर्मसंग्रह होता है—यह बात आगेके श्लोकमें बताते हैं।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥ १८॥

ज्ञानम्	= ज्ञान,	**कर्मचोदना**	= कर्मप्रेरणा होती है (तथा)	**कर्ता**	= कर्ता—
ज्ञेयम्	= ज्ञेय (और)			**इति**	= इन
परिज्ञाता	= परिज्ञाता	**करणम्**	= करण,	**त्रिविधः**	= तीनोंसे
त्रिविधा	= इन तीनोंसे	**कर्म**	= कर्म (और)	**कर्मसङ्ग्रहः**	= कर्मसंग्रह होता है।

व्याख्या—[इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मोंके बननेमें पाँच हेतु बताये—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव (संस्कार)। इन पाँचोंमें भी मूल हेतु है—कर्ता। इसी मूल हेतुको मिटानेके लिये भगवान्‌ने सोलहवें श्लोकमें कर्तृत्वभाव रखनेवालेकी बड़ी निन्दा की और सत्रहवें श्लोकमें कर्तृत्वभाव न रखनेवालेकी बड़ी प्रशंसा की। कर्तृत्वभाव बिलकुल न रहे, यह साफ-साफ समझानेके लिये ही अठारहवाँ श्लोक कहा गया है।]

'**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना**'—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—इन तीनोंसे कर्म-प्रेरणा होती है। 'ज्ञान' को सबसे पहले कहनेमें यह भाव है कि हरेक मनुष्यकी कोई भी प्रवृत्ति होती है तो प्रवृत्तिसे पहले ज्ञान होता है। जैसे, जल पीनेकी प्रवृत्तिसे पहले प्यासका ज्ञान

होता है, फिर वह जलसे प्यास बुझाता है। जल आदि जिस विषयका ज्ञान होता है, वह 'ज्ञेय' कहलाता है और जिसको ज्ञान होता है, वह 'परिज्ञाता' कहलाता है। ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता— तीनों होनेसे ही कर्म करनेकी प्रेरणा होती है। यदि इन तीनोंमेंसे एक भी न हो तो कर्म करनेकी प्रेरणा नहीं होती।

'**परिज्ञाता**' उसको कहते हैं, जो '**परितः**' ज्ञाता है अर्थात् जो सब तरहकी क्रियाओंकी स्फुरणाका ज्ञाता है। वह केवल 'ज्ञाता' मात्र है अर्थात् उसे क्रियाओंकी स्फुरणामात्रका ज्ञान होता है, उसमें अपने लिये कुछ चाहनेका अथवा उस क्रियाको करनेका अभिमान आदि बिलकुल नहीं होता।

कोई भी क्रिया करनेकी स्फुरणा एक व्यक्तिविशेषमें ही होती है। इसलिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— इन विषयोंको लेकर सुननेवाला, स्पर्श करनेवाला, देखनेवाला, चखनेवाला और सूँघनेवाला—इस तरह अनेक 'कर्ता' हो सकते हैं; परन्तु उन सबको जाननेवाला एक ही रहता है, उसे ही यहाँ '**परिज्ञाता**' कहा है।

'**करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः**'— कर्मसंग्रहके तीन हेतु हैं—करण, कर्म तथा कर्ता। इन तीनोंके सहयोगसे कर्म पूरा होता है। जिन साधनोंसे कर्ता कर्म करता है, उन क्रिया करनेके साधनों-(इन्द्रियों आदि-)को 'करण' कहते हैं। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, आना-जाना आदि जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उनको 'कर्म' कहते हैं। करण और क्रियासे अपना सम्बन्ध जोड़कर कर्म करनेवालेको 'कर्ता' कहते हैं। इस प्रकार इन तीनोंके मिलनेसे ही कर्म बनता है।

भगवान्‌को यहाँ खास बात यह बतानी है कि कर्मसंग्रह कैसे होता है? अर्थात् कर्म बाँधनेवाला कैसे होता है? कर्म बननेके तीन हेतु बताते हुए भगवान्‌का लक्ष्य मूल हेतु 'कर्ता' को बतानेमें है; क्योंकि कर्मसंग्रहका खास सम्बन्ध कर्तासे है। यदि कर्तापन न हो तो कर्मसंग्रह नहीं होता, केवल क्रियामात्र होती है।

कर्म-संग्रहमें 'करण' हेतु नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। कर्ता जैसा कर्म करना चाहता है, वैसा ही कर्म होता है, इसलिये 'कर्म' भी कर्मसंग्रहमें खास हेतु नहीं है। सांख्यसिद्धान्तके अनुसार खास बाँधनेवाला है—अहंकृतभाव और इसीसे कर्मसंग्रह होता है। अहंकृतभाव न रहनेसे कर्मसंग्रह नहीं होता अर्थात् कर्म फलजनक नहीं होता। इस मूलका अर्थात् अहंकृतभावका ज्ञान करानेके लिये ही भगवान्‌ने करण और कर्मको पहले रखकर कर्ताको कर्मसंग्रहके पासमें रखा है, जिससे यह खयालमें आ जाय कि बाँधनेवाला 'कर्ता' ही है।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने ज्ञानयोग और कर्मयोगका तत्त्व जाननेकी इच्छा प्रकट की थी (अठारहवें अध्यायका पहला श्लोक), इसलिये भगवान्‌ने बारहवें श्लोकतक कर्मयोगका वर्णन किया। फिर भगवान्‌ने ज्ञानयोगकी दृष्टिसे कर्मोंका विवेचन करते हुए पहले कर्मोंकी सिद्धिके लिये पाँच हेतु बताये (अठारहवें अध्यायका तेरहवाँ, चौदहवाँ तथा पन्द्रहवाँ श्लोक)। उसी बातको अब प्रकारान्तरसे कर्मप्रेरणा और कर्मसंग्रहके रूपमें वर्णन करते हैं।

जब मनुष्यके भीतर अहंकार और लिप्तता रहती है, तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटीसे 'कर्मप्रेरणा' अर्थात् कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है कि मैं अमुक कार्य करूँगा तो मेरेको अमुक फल मिलेगा। कर्मप्रेरणा होनेसे 'कर्मसंग्रह' अर्थात् पाप और पुण्यका संग्रह होता है। वे पाप और पुण्य-कर्म कैसे होते हैं—यह आगे बीसवें श्लोकसे विस्तारपूर्वक बतायेंगे।

सम्बन्ध—गुणातीत होनेके उद्देश्यसे अब आगेके श्लोकसे त्रिगुणात्मक पदार्थोंका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

गुणसङ्ख्याने	= गुणोंका विवेचन करनेवाले शास्त्रमें	**कर्म**	= कर्म	**प्रोच्यते**	= कहे जाते हैं,
		च	= तथा	**तानि**	= उनको
गुणभेदतः	= गुणोंके भेदसे	**कर्ता**	= कर्ता	**अपि**	= भी (तुम)
ज्ञानम्	= ज्ञान	**त्रिधा**	= तीन-तीन प्रकारसे	**यथावत्**	= यथार्थरूपसे
च	= और	**एव**	= ही	**शृणु**	= सुनो।

व्याख्या—'**प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने**'—जिस शास्त्रमें गुणोंके सम्बन्धसे प्रत्येक पदार्थके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी है, उसी शास्त्रके अनुसार मैं तुम्हें ज्ञान, कर्म तथा कर्ताके भेद बता रहा हूँ।

'**ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः**'—पीछेके श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मकी प्रेरणा होनेमें तीन हेतु बताये तथा तीन ही हेतु कर्मके बननेमें बताये। इस प्रकार कर्मसंग्रह होनेतकमें कुल छः बातें बतायीं*। अब इस श्लोकमें भगवान् ज्ञान, कर्म तथा कर्ता—इन तीनोंका विवेचन करनेकी ही बात कहते हैं। कर्म-प्रेरक-विभागमेंसे विवेचन करनेके लिये केवल 'ज्ञान' लिया गया है, क्योंकि किसी भी कर्मकी प्रेरणामें पहले ज्ञान ही होता है। ज्ञानके बाद ही कार्यका आरम्भ होता है। कर्मसंग्रह-विभागमेंसे केवल 'कर्म' और 'कर्ता' लिये गये हैं। यद्यपि कर्मके होनेमें कर्ता मुख्य है, तथापि साथमें कर्मको भी लेनेका कारण यह है कि कर्ता जब कर्म करता है, तभी कर्मसंग्रह होता है। अगर कर्ता कर्म न करे तो कर्मसंग्रह होगा ही नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मप्रेरणामें 'ज्ञान' तथा कर्मसंग्रहमें 'कर्म' और 'कर्ता' मुख्य हैं। इन तीनों—(ज्ञान, कर्म और कर्ता—)-के सात्त्विक होनेसे ही मनुष्य निर्लिप्त हो सकता है, राजस और तामस होनेसे नहीं। अतः यहाँ कर्मप्रेरक-विभागमें 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' को तथा कर्मसंग्रह-विभागमें 'करण' को नहीं लिया गया है।

कर्मप्रेरक-विभागके 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' का विवेचन क्यों नहीं किया? कारण कि ज्ञाता जब क्रियासे सम्बन्ध जोड़ता है, तब वह 'कर्ता' कहलाता है और उस कर्ताके तीन (सात्त्विक, राजस और तामस) भेदोंके अन्तर्गत ही ज्ञाताके भी तीन भेद हो जाते हैं। परन्तु ज्ञाता जब ज्ञप्तिमात्र रहता है, तब उसके तीन भेद नहीं होते; क्योंकि उसमें गुणोंका संग नहीं है। गुणोंका संग होनेसे ही उसके तीन भेद होते हैं। इसलिये वृत्ति-ज्ञान ही सात्त्विक, राजस तथा तामस होता है।

जिसे जाना जाय, उस विषयको 'ज्ञेय' कहते हैं। जाननेके विषय अनेक हैं, इसलिये इसके अलग भेद नहीं किये गये। परन्तु जाननेयोग्य सब विषयोंका एकमात्र लक्ष्य 'सुख' प्राप्त करना ही रहता है। जैसे, कोई विद्या पढ़ता है, कोई धन कमाता है, कोई अधिकार पानेकी चेष्टा करता है तो इन सब विषयोंको जानने, पानेकी चेष्टाका लक्ष्य एकमात्र 'सुख' ही रहता है। विद्या पढ़नेमें यही भाव रहता है कि ज्यादा पढ़कर ज्यादा धन कमाऊँगा, मान पाऊँगा और उनसे मैं सुखी होऊँगा। ऐसे ही हरेक कर्मका लक्ष्य परम्परासे सुख ही रहता है। इसलिये भगवान्‌ने ज्ञेयके तीन भेद सात्त्विक, राजस और तामस 'सुख' के नामसे आगे (छत्तीसवेंसे उनतालीसवें श्लोकतक) किये हैं।

ऐसे ही भगवान्‌ने करणके भी तीन भेद नहीं किये; क्योंकि इन्द्रियाँ आदि जितने भी करण हैं, वे सब साधनमात्र हैं। इसलिये उनके तीन भेद नहीं होते। परन्तु इन सभी करणोंमें 'बुद्धि' की ही प्रधानता है; क्योंकि मनुष्य करणोंसे जो कुछ भी काम करता है, उसको वह बुद्धिपूर्वक (विचारपूर्वक) ही करता है। इसलिये भगवान्‌ने करणके तीन भेद सात्त्विक, राजस और तामस 'बुद्धि' के नामसे आगे (तीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक) किये हैं।

बुद्धिको दृढ़तासे रखनेमें 'धृति' बुद्धिकी सहायक बनती है। ज्ञानयोगकी साधनामें भगवान्‌ने दो जगह (छठे अध्यायके पचीसवें तथा अठारहवें अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें) बुद्धिके साथ 'धृति' पद भी दिया है। इससे यह मालूम देता है कि ज्ञानमार्गमें बुद्धिके साथ धृतिकी विशेष आवश्यकता है। इसलिये भगवान्‌ने धृतिके भी तीन भेद (तैंतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक) बताये हैं।

'**त्रिधैव**' पदमें यह भाव है कि ये भेद तीन (सात्त्विक, राजस और तामस) ही होते हैं, कम और ज्यादा नहीं होते अर्थात् न दो होते हैं और न चार होते हैं। कारण कि सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही प्रकृतिसे उत्पन्न हैं—'**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः**' (गीता १४। ५)। इसलिये इन तीनों गुणोंको लेकर तीन ही भेद होते हैं।

'**यथावत्**'—गुणसंख्यान-शास्त्रमें इस विषयका जैसा वर्णन हुआ है, वैसा-का-वैसा तुम्हें सुना रहा हूँ; अपनी तरफसे कुछ कम या अधिक करके नहीं सुना रहा हूँ।

'**शृणु**'—इस विषयको ध्यानसे सुनो। कारण कि सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनोंमेंसे 'सात्त्विक' चीजें तो कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्मतत्त्वका बोध करानेवाली हैं, 'राजस' चीजें जन्म-मरण देनेवाली हैं; और 'तामस' चीजें पतन करनेवाली अर्थात् नरकों और नीच योनियोंमें ले जानेवाली हैं। इसलिये इनका वर्णन सुनकर

---

* **कर्मप्रेरणा तो सूक्ष्म है और कर्मसंग्रह स्थूल है अर्थात् ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—ये तीनों सूक्ष्म सामग्री हैं तथा कर्म, करण और कर्ता—ये तीनों स्थूल सामग्री हैं।**

सात्त्विक चीजोंको ग्रहण तथा राजस-तामस चीजोंका त्याग करना चाहिये।

'तानि'—इन ज्ञान आदिका तुम्हारे स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारा स्वरूप तो सदा निर्लेप है।

'अपि'—इनके भेदोंको जाननेकी भी बड़ी भारी आवश्यकता है; क्योंकि इनको ठीक तरहसे जाननेपर **'यस्य नाहंकृतो भावो ······ न हन्ति न निबध्यते'** (१८। १७)— इस श्लोकका ठीक अनुभव हो जायगा अर्थात् अपने स्वरूपका बोध हो जायगा।

सम्बन्ध—अब भगवान् सात्त्विक ज्ञानका वर्णन करते हैं।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

येन	=जिस ज्ञानके द्वारा	**अविभक्तम्**	=विभागरहित	**तत्**	=उस
	(साधक)	**एकम्**	=एक	**ज्ञानम्**	=ज्ञानको
विभक्तेषु ,		**अव्ययम्**	=अविनाशी		(तुम)
सर्वभूतेषु	=सम्पूर्ण	**भावम्**	=भाव (सत्ता) को	**सात्त्विकम्**	=सात्त्विक
	विभक्त प्राणियोंमें	**ईक्षते**	=देखता है,	**विद्धि**	=समझो।

व्याख्या—**'सर्वभूतेषु येनैकं ·········· अविभक्तं विभक्तेषु'**—व्यक्ति, वस्तु आदिमें जो 'है' पन दीखता है, वह उन व्यक्ति, वस्तु आदिका नहीं है, प्रत्युत सबमें परिपूर्ण परमात्माका ही है। उन व्यक्ति, वस्तु आदिकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है; क्योंकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। कोई भी व्यक्ति, वस्तु आदि ऐसी नहीं है, जिसमें परिवर्तन न होता हो; परन्तु अपनी अज्ञता-(बेसमझी-)से उनकी सत्ता दीखती है। जब अज्ञता मिट जाती है, ज्ञान हो जाता है, तब साधककी दृष्टि उस अविनाशी तत्त्वकी तरफ ही जाती है, जिसकी सत्तासे यह सब सत्तावान् हो रहा है।

ज्ञान होनेपर साधककी दृष्टि परिवर्तनशील वस्तुओंको भेदकर परिवर्तनरहित तत्त्वकी ओर ही जाती है (गीता—तेरहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। फिर वह विभक्त अर्थात् अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिमें विभागरहित एक ही तत्त्वको देखता है (गीता—तेरहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति आदिका अलग-अलग ज्ञान और यथायोग्य अलग-अलग व्यवहार होते हुए भी वह इन विकारी वस्तुओंमें उस स्वत:सिद्ध निर्विकार एक तत्त्वको देखता है। उसके देखनेकी यही पहचान है कि उसके अन्त:करणमें राग-द्वेष नहीं होते।

'तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्'—उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान। परिवर्तनशील वस्तुओं, वृत्तियोंके सम्बन्धसे ही इसे 'सात्त्विक ज्ञान' कहते हैं। सम्बन्धरहित होनेपर यही ज्ञान 'वास्तविक बोध' कहलाता है, जिसको भगवान्ने सब साधनोंसे जाननेयोग्य ज्ञेय-तत्त्व बताया है—**'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'** (गीता १३। १२)।

मार्मिक बात

संसारका ज्ञान इन्द्रियोंसे होता है, इन्द्रियोंका ज्ञान बुद्धिसे होता है और बुद्धिका ज्ञान 'मैं'से होता है। वह 'मैं' बुद्धि, इन्द्रियाँ और विषय—इन तीनोंको जानता है। परन्तु उस 'मैं' का भी एक प्रकाशक है, जिसमें 'मैं'का भी भान होता है। वह प्रकाश सर्वदेशीय और असीम है, जबकि 'मैं' एकदेशीय और सीमित है। उस प्रकाशमें जैसे 'मैं'का भान होता है, वैसे ही 'तू', 'यह' और 'वह' का भी भान होता है। वह प्रकाश किसीका भी विषय नहीं है। वास्तवमें वह प्रकाश निर्गुण ही है; परन्तु व्यक्ति-विशेषमें रहनेवाला होनेसे (वृत्तियोंके सम्बन्धसे) उसे 'सात्त्विक ज्ञान' कहते हैं।

इस सात्त्विक ज्ञानको दूसरे ढंगसे इस प्रकार समझना चाहिये—'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों ही किसी प्रकाशमें काम करते हैं। इन चारोंके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी आ जाते हैं, जो विभक्त हैं; परन्तु इनका जो प्रकाशक है, वह अविभक्त (विभागरहित) है।

बोलनेवाला 'मैं', उसके सामने सुननेवाला 'तू' और पासवाला 'यह' तथा दूरवाला 'वह' कहा जाता है अर्थात् बोलनेवाला अपनेको 'मैं' कहता है, सामनेवालेको 'तू'

कहता है, पासवालेको 'यह' कहता है और दूरवालेको 'वह' कहता है। जो 'तू' बना हुआ था, वह 'मैं' हो जाय तो 'मैं' बना हुआ 'तू' हो जायगा और 'यह' तथा 'वह' वही रहेंगे। इसी प्रकार 'यह' कहलानेवाला अगर 'मैं' बन जाय तो 'तू' कहलानेवाला 'यह' बन जायगा और 'मैं' कहलानेवाला 'तू' बन जायगा। 'वह' परोक्ष होनेसे अपनी जगह ही रहा। अब 'वह' कहलानेवाला 'मैं' बन जायगा तो उसकी दृष्टिमें 'मैं', 'तू' और 'यह' कहलानेवाले सब 'वह' हो जायँगे*। इस प्रकार 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें चारों ही बन सकते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये सब परिवर्तनशील हैं अर्थात् टिकनेवाले नहीं हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर वास्तविक होते तो एक ही रहते। वास्तविक तो इन सबका प्रकाशक और आश्रय है, जिसके प्रकाशमें 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह' का भान हो रहा है। उस प्रकाशकमें 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों ही नहीं हैं, प्रत्युत उसीसे इन चारोंको सत्ता मिलती है। अपनी मान्यताके कारण 'मैं', 'तू', 'यह', 'वह' का तो भान होता है, पर प्रकाशकका भान नहीं होता। वह प्रकाशक सबको प्रकाशित करता है, स्वयंप्रकाश-स्वरूप है और सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—यह सब विभक्त प्राणियोंका स्वरूप है और जो वास्तविक प्रकाशक है, वह विभागरहित है। यही वास्तवमें 'सात्त्विक ज्ञान' है।

विभागवाली, परिवर्तनशील और नष्ट होनेवाली जितनी वस्तुएँ हैं, यह ज्ञान उन सबका प्रकाशक है और स्वयं भी निर्मल तथा विकाररहित है—**'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्'** (गीता १४। ६)। इसलिये इस ज्ञानको 'सात्त्विक' कहा जाता है।

वास्तवमें यह 'सात्त्विक ज्ञान' प्रकाश्यकी दृष्टि-(सम्बन्ध-)से 'प्रकाशक' और विभक्तकी दृष्टिसे 'अविभक्त' कहा जाता है। प्रकाश्य और विभक्तसे रहित होनेपर तो यह निर्गुण, निरपेक्ष 'वास्तविक ज्ञान' ही है।

परिशिष्ट भाव—जैसे साधारण मनुष्य शरीरमें अपनेको व्यापक मानता है, ऐसे ही साधक संसारमें परमात्माको व्यापक मानता है। जैसे शरीर और संसार एक हैं, ऐसे ही स्वयं और परमात्मा एक हैं।

साधककी दृष्टिमें प्राणियोंकी भी सत्ता रहनेके कारण यह 'सात्त्विक ज्ञान' (विवेक) कहा गया है। अगर उसकी दृष्टिमें प्राणियोंकी सत्ता न रहे, केवल अविनाशी सत्ता ही रहे तो यह गुणातीत 'तत्त्वज्ञान' (ब्रह्मकी प्राप्ति) ही है। वह अविनाशी सत्ता सब जगह समानरूपसे विद्यमान है। उस सत्ताके साथ हमारी स्वाभाविक एकता है।

सम्बन्ध—अब राजस ज्ञानका वर्णन करते हैं।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

तु	= परन्तु	**भूतेषु**	= प्राणियोंमें	**तत्**	= उस
यत्	= जो	**पृथक्त्वेन**	= अलग-अलग	**ज्ञानम्**	= ज्ञानको (तुम)
ज्ञानम्	= ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य	**नानाभावान्**	= अनेक भावोंको		
		पृथग्विधान्	= अलग-अलग रूपसे	**राजसम्**	= राजस
सर्वेषु	= सम्पूर्ण	**वेत्ति**	= जानता है,	**विद्धि**	= समझो।

* उदाहरणके रूपमें—राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चार व्यक्ति हैं। राम और श्याम एक-दूसरेके सामने हैं, गोविन्द उनके पास है और गोपाल उनसे दूर है। राम अपनेको 'मैं' कहता है, अपने सामनेवाले श्यामको 'तू' कहता है, पासवाले गोविन्दको 'यह' कहता है और दूरवाले गोपालको 'वह' कहता है। अब यदि श्याम अपनेको 'मैं' कहे तो रामको वह 'तू' कहेगा, गोविन्दको 'यह' कहेगा तथा गोपालको 'वह' कहेगा। इसी तरह अगर गोविन्द अपनेको 'मैं' कहे तो वह श्यामको 'यह' कहेगा और रामको 'तू' कहेगा अथवा श्यामको 'तू' और रामको 'यह' कहेगा, तथा दूरवाले गोपालको 'वह' कहेगा। अब अगर गोपाल अपनेको 'मैं' कहे तो वह राम,श्याम और गोविन्द—तीनोंको 'वह' कहेगा। इस प्रकार राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह' बन सकते हैं।

व्याख्या—**'पृथक्त्वेन तु[1] यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्'**—राजस ज्ञानमें 'राग' की मुख्यता होती है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (गीता १४। ७)। रागका यह नियम है कि वह जिसमें आ जाता है, उसमें किसीके प्रति आसक्ति, प्रियता पैदा करा देता है और किसीके प्रति द्वेष पैदा करा देता है। इस रागके कारण ही मनुष्य, देवता, यक्ष-राक्षस, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता आदि जितने भी चर-अचर प्राणी हैं, उन प्राणियोंकी विभिन्न आकृति, स्वभाव, नाम, रूप, गुण आदिको लेकर राजस ज्ञानवाला मनुष्य उनमें रहनेवाली एक ही अविनाशी आत्माको तत्त्वसे अलग-अलग समझता है।

'वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्'—इसी तरह जिस ज्ञानसे मनुष्य अलग-अलग शरीरोंमें अन्तःकरण, स्वभाव, इन्द्रियाँ, प्राण आदिके सम्बन्धसे प्राणियोंको भी अलग-अलग मानता है, वह ज्ञान 'राजस' कहलाता है। राजस ज्ञानमें जड-चेतनका विवेक नहीं होता।

परिशिष्ट भाव—क्रिया और पदार्थ—दोनोंको सत्ता देकर उनके साथ रागपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेके कारण सब अलग-अलग दीखते हैं।

सम्बन्ध—अब तामस ज्ञानका वर्णन करते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

तु	= किन्तु
यत्	= जो (ज्ञान) अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य
एकस्मिन्	= एक
कार्ये	= कार्यरूप शरीरमें ही
कृत्स्नवत्	= सम्पूर्णकी तरह
सक्तम्	= आसक्त रहता है
च	= तथा (जो)
अहैतुकम्	= युक्तिरहित,
अतत्त्वार्थवत्	= वास्तविक ज्ञानसे रहित (और)
अल्पम्	= तुच्छ है,
तत्	= वह
तामसम्	= तामस
उदाहृतम्	= कहा गया है।

व्याख्या—**'यत्तु[2] कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तम्'**— तामस मनुष्य एक ही शरीरमें सम्पूर्णकी तरह आसक्त रहता है अर्थात् उत्पन्न और नष्ट होनेवाले इस पांचभौतिक शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है। वह मानता है कि मैं ही छोटा बच्चा था, मैं ही जवान हूँ और मैं ही बूढ़ा हो जाऊँगा; मैं भोगी, बलवान् और सुखी हूँ; मैं धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ; मेरे समान दूसरा कौन है; इत्यादि। ऐसी मान्यता मूढ़ताके कारण ही होती है—**'इत्यज्ञानविमोहिताः'** (१६। १५)।

'अहैतुकम्'—तामस मनुष्यकी मान्यता युक्ति और शास्त्रप्रमाणसे विरुद्ध होती है। यह शरीर हरदम बदल रहा है, शरीरादि वस्तुमात्र अभावमें परिवर्तित हो रही है, दृश्यमात्र अदृश्य हो रहा है और इनमें तू सदा ज्यों-का-त्यों रहता है; अतः यह शरीर और तू एक कैसे हो सकते हैं?—इस प्रकारकी युक्तियोंको वह स्वीकार नहीं करता।

'अतत्त्वार्थवदल्पं च'—यह शरीर और मैं दोनों अलग-अलग हैं—इस वास्तविक ज्ञान-(विवेक) से वह रहित है। उसकी समझ अत्यन्त तुच्छ है अर्थात् तुच्छताकी प्राप्ति करानेवाली है। इसलिये इसको 'ज्ञान' कहनेमें भगवान्‌को संकोच हुआ है। कारण कि तामस पुरुषमें मूढ़ताकी प्रधानता होती है। मूढ़ता और ज्ञानका आपसमें विरोध है। अतः भगवान्‌ने **'ज्ञान'** पद न देकर **'यत्'** और **'तत्'** पदसे ही काम चलाया है।

१-यहाँ 'तु' पद राजस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञानसे भिन्न बतानेके लिये आया है।
२-इस श्लोकमें राजस ज्ञानसे भी तामस ज्ञानको भिन्न बतानेके लिये 'तु' पद आया है।

'तत्तामसमुदाहृतम्'—युक्तिरहित, अल्प और अत्यन्त तुच्छ समझको ही महत्त्व देना 'तामस' कहा गया है।

जब तामस समझ 'ज्ञान' है ही नहीं और भगवान्‌को भी इसको 'ज्ञान' कहनेमें संकोच हुआ है, तो फिर इसका वर्णन ही क्यों किया गया? कारण कि भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकमें ज्ञानके त्रिविध भेद कहनेका उपक्रम किया है, इसलिये सात्त्विक और राजस-ज्ञानका वर्णन करनेके बाद तामस समझको भी कहनेकी आवश्यकता थी।

परिशिष्ट भाव—तामस ज्ञानमें आसुरी सम्पत्ति विशेष है। इस श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द न देनेका तात्पर्य है कि वास्तवमें यह ज्ञान नहीं है, प्रत्युत अज्ञान ही है। यह तामस मनुष्योंकी बुद्धि है, जिसको 'पशुबुद्धि' कहा गया है—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२।५।२)

(श्रीशुकदेवजी बोले—) 'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।'

सम्बन्ध—अब भगवान् सात्त्विक कर्मका वर्णन करते हैं।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

यत् = जो
कर्म = कर्म
नियतम् = शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ (और)
सङ्गरहितम् = कर्तृत्वाभिमानसे रहित हो (तथा)
अफलप्रेप्सुना = फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा
अरागद्वेषतः = बिना राग-द्वेषके
कृतम् = किया हुआ हो,
तत् = वह
सात्त्विकम् = सात्त्विक
उच्यते = कहा जाता है।

व्याख्या—**'नियतं सङ्गरहितम् .... सात्त्विक-मुच्यते'**—जिस व्यक्तिके लिये वर्ण और आश्रमके अनुसार जिस परिस्थितिमें और जिस समय शास्त्रोंने जैसा करनेके लिये कहा है, उसके लिये वह कर्म 'नियत' हो जाता है।

यहाँ **'नियतम्'** पदसे एक तो कर्मोंका स्वरूप बताया है और दूसरे, शास्त्रनिषिद्ध कर्मका निषेध किया है।

'सङ्गरहितम्' पदका तात्पर्य है कि वह नियत-कर्म कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर किया जाय। कर्तृत्वाभिमानसे रहित कहनेका भाव है कि जैसे वृक्ष आदिमें मूढ़ता होनेके कारण उनको कर्तृत्वका भान नहीं होता, पर उनकी भी ऋतु आनेपर पत्तोंका झड़ना, नये पत्तोंका निकलना,शाखा कटनेपर घावका मिल जाना, शाखाओंका बढ़ना, फल-फूलका लगना आदि सभी क्रियाएँ समष्टि शक्तिके द्वारा अपने-आप ही होती हैं; ऐसे ही इन सभी शरीरोंका बढ़ना-घटना, खाना-पीना, चलना-फिरना आदि सभी क्रियाएँ भी समष्टि शक्तिके द्वारा अपने-आप हो रही हैं। इन क्रियाओंके साथ न अभी कोई सम्बन्ध है, न पहले कोई सम्बन्ध था और न आगे ही कोई सम्बन्ध होगा। इस प्रकार जब साधकको प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है, तो फिर उसमें कर्तृत्व नहीं रहता। कर्तृत्व न रहनेपर उसके द्वारा जो कर्म होता है, वह संगरहित अर्थात् कर्तृत्वाभिमानरहित ही होता है।

यहाँ सांख्य-प्रकरणमें कर्तृत्वका त्याग मुख्य होनेसे और आगे **'अरागद्वेषतः कृतम्'** पदोंमें भी आसक्तिके त्यागकी बात आनेसे यहाँ **'सङ्गरहितम्'** पदका अर्थ कर्तृत्व-अभिमानरहित लिया गया है*।

'अरागद्वेषतः कृतम्' पदोंका तात्पर्य है कि राग-द्वेषसे

*** यहाँ संन्यास-(सांख्ययोग-) में 'सङ्गरहितम्' पदसे कर्तृत्व-अभिमानसे रहित होनेकी बात आयी है और त्याग-(कर्मयोग-) में 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव' (१८।९) पदोंसे आसक्ति तथा फलेच्छासे रहित होनेकी बात आयी है। इसका तात्पर्य यह है कि सांख्ययोगीका शरीरमें थोड़ा भी अभिमान रहेगा तो उसका शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहेगा, जो कि**

रहित हो करके कर्म किया जाय अर्थात् कर्मका ग्रहण रागपूर्वक न हो और कर्मका त्याग द्वेषपूर्वक न हो तथा कर्म करनेके जितने साधन (शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि) हैं, उनमें भी राग-द्वेष न हो।

'अरागद्वेषतः' पदसे वर्तमानमें रागका अभाव बताया है और **'अफलप्रेप्सुना'** पदसे भविष्यमें रागका अभाव बताया है। तात्पर्य यह है कि भविष्यमें मिलनेवाले फलकी इच्छासे रहित मनुष्यके द्वारा कर्म किया जाय अर्थात् क्रिया और पदार्थोंसे निर्लिप्त रहते हुए असंगतापूर्वक कर्म किया जाय तो वह सात्त्विक कहा जाता है।

इस सात्त्विक कर्ममें सात्त्विकता तभीतक है, जबतक अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। जब प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब यह कर्म 'अकर्म' हो जाता है।

सम्बन्ध—अब राजस कर्मका वर्णन करते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

तु	= परन्तु	**वा**	= अथवा	**क्रियते**	= किया जाता है,
यत्	= जो	**साहङ्कारेण**	= अहंकारसे	**तत्**	= वह
कर्म	= कर्म	**पुनः**	= और	**राजसम्**	= राजस
कामेप्सुना	= भोगोंकी इच्छासे	**बहुलायासम्**	= परिश्रमपूर्वक	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

व्याख्या—**'यत्तु* कामेप्सुना कर्म'**—हम कर्म करेंगे तो हमें पदार्थ मिलेंगे, सुख-आराम मिलेगा, भोग मिलेंगे, आदर-सम्मान-बड़ाई मिलेगी आदि फलकी इच्छासे कर्म किया जाय।

'साहंकारेण'—लोगोंके सामने कर्म करनेसे लोग देखते हैं और वाह-वाह करते हैं तो अभिमान आता है और जहाँ लोग सामने नहीं होते, वहाँ (एकान्तमें) कर्म करनेसे दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विलक्षणता, विशेषता देखकर अभिमान आता है। जैसे—दूसरे आदमी हमारी तरह सुचारुरूपसे सांगोपांग कार्य नहीं कर सकते; हमारेमें काम करनेकी जो योग्यता, विद्या, चतुरता आदि है, वह हरेक आदमीमें नहीं मिलेगी; हम जो भी काम करते हैं, उसको बहुत ही ईमानदारीसे और जल्दी करते हैं, आदि-आदि। इस प्रकार अहंकारपूर्वक किया गया कर्म राजस कहलाता है।

'वा पुनः'—आगे भविष्यमें मिलनेवाले फलको लेकर (फलेच्छापूर्वक) कर्म किया जाय अथवा वर्तमानमें अपनी विशेषताको लेकर (अहंकारपूर्वक) कर्म किया जाय—इन दोनों भावोंमेंसे एक भाव होनेपर भी वह कर्म राजस हो जाता है, यह बतानेके लिये यहाँ **'वा पुनः'** पद आये हैं। तात्पर्य है कि फलेच्छा और अहंकार—इन दोनोंमेंसे जब एक भाव होनेपर भी कर्म 'राजस' हो जाता है, तब दोनों भाव होनेपर वह कर्म राजस हो ही जायगा।

'क्रियते बहुलायासम्'—कर्म करते समय हरेक व्यक्तिके शरीरमें परिश्रम तो होता ही है, पर जिस व्यक्तिमें शरीरके सुख-आरामकी इच्छा मुख्य होती है, उसको कर्म करते समय शरीरमें ज्यादा परिश्रम मालूम देता है।

जिस व्यक्तिमें कर्मफलकी इच्छा तो मुख्य है, पर शारीरिक सुख-आरामकी इच्छा मुख्य नहीं है, अर्थात् सुख-आराम लेनेकी स्वाभाविक ही प्रकृति नहीं है, उसको कर्म करते हुए भी शरीरमें परिश्रम नहीं मालूम देता। कारण कि भीतरमें भोगों और संग्रहकी जोरदार कामना होनेसे उसकी वृत्ति कामनापूर्तिकी तरफ ही लगी रहती है; शरीरकी तरफ

तत्त्वप्राप्तिमें बाधक होगा; परन्तु कर्मयोगीका शरीरमें थोड़ा अभिमान रह भी जायगा तो वह सांख्ययोगीकी तरह उतना बाधक नहीं होगा। कारण कि (कोई भी कर्म अपने लिये न करनेसे) कर्मयोगीका कर्तृत्व-अभिमान केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही होता है अर्थात् वह जिस समय जो कार्य करता है, उसी समय उसमें तात्कालिक कर्तृत्व-अभिमान रहता है। कार्यका अन्त होनेपर वह कर्तृत्व-अभिमान उसी कार्यमें लीन हो जाता है।

*** राजस कर्मको सात्त्विक कर्मसे भिन्न बतानेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग हुआ है।**

नहीं। तात्पर्य है कि शरीरके सुख-आरामकी मुख्यता होनेसे फलेच्छाकी अवहेलना हो जाती है और फलेच्छाकी मुख्यता होनेसे शरीरके सुख-आरामकी अवहेलना हो जाती है।

लोगोंके सामने कर्म करते समय अहंकारजन्य सुखकी खुराक मिलनेसे और शरीरके सुख-आरामकी मुख्यता न होनेसे राजस मनुष्यको कर्म करनेमें परिश्रम नहीं मालूम देता। परन्तु एकान्तमें कर्म करते समय अहंकारजन्य सुखकी खुराक न मिलनेसे और शरीरके सुख-आरामकी मुख्यता होनेसे राजस मनुष्यको कर्म करनेमें ज्यादा परिश्रम मालूम देता है।

'तद्राजसमुदाहृतम्'—ऐसे फलकी इच्छावाले मनुष्यके द्वारा अहंकार और परिश्रमपूर्वक किया हुआ जो कर्म है, वह 'राजस' कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—राजस मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको अधिक बढ़ा लेता है, जिससे प्रत्येक काममें उसको अधिक वस्तुओंकी जरूरत पड़ती है। अधिक वस्तुओंको जुटानेमें परिश्रम भी अधिक होता है। राजस मनुष्य कर्मोंका विस्तार अधिक करता है, इसलिये भी उसको परिश्रम अधिक होता है। शरीरमें राग रहनेके कारण राजस मनुष्य शरीरका आराम चाहता है, जिससे उसको थोड़े काममें भी अधिक परिश्रम मालूम देता है।

सम्बन्ध—अब तामस कर्मका वर्णन करते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

यत्	= जो	**च**	= और	**आरभ्यते**	= आरम्भ किया जाता है,
कर्म	= कर्म	**पौरुषम्**	= सामर्थ्यको	**तत्**	= वह
अनुबन्धम्	= परिणाम,	**अनवेक्ष्य**	= न देखकर	**तामसम्**	= तामस
क्षयम्	= हानि,	**मोहात्**	= मोहपूर्वक	**उच्यते**	= कहा जाता है।
हिंसाम्	= हिंसा				

व्याख्या—**'अनुबन्धम्'**—जिसको फलकी कामना होती है, वह मनुष्य तो फलप्राप्तिके लिये विचारपूर्वक कर्म करता है, परन्तु तामस मनुष्यमें मूढ़ताकी प्रधानता होनेसे वह कर्म करनेमें विचार करता ही नहीं। इस कार्यको करनेसे मेरा तथा दूसरे प्राणियोंका अभी और परिणाममें कितना नुकसान होगा, कितना अहित होगा—इस अनुबन्ध अर्थात् परिणामको न देखकर वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'क्षयम्'—इस कार्यको करनेसे अपने और दूसरोंके शरीरोंकी कितनी हानि होगी; धन और समयका कितना खर्चा होगा; इससे दुनियामें मेरा कितना अपमान, निन्दा, तिरस्कार आदि होगा, मेरा लोक-परलोक बिगड़ जायगा आदि नुकसानको न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'हिंसाम्'—इस कर्मसे कितने जीवोंकी हत्या होगी; कितने श्रेष्ठ व्यक्तियोंके सिद्धान्तों और मान्यताओंकी हत्या हो जायगी; दूसरे मनुष्योंकी मनुष्यताकी कितनी भारी हिंसा हो जायगी; अभीके और भावी जीवोंके शुद्ध भाव, आचरण, वेश-भूषा, खान-पान आदिकी कितनी भारी हिंसा हो जायगी; इससे मेरा और दुनियाका कितना अध:पतन होगा आदि हिंसाको न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'अनवेक्ष्य च पौरुषम्'—इस कामको करनेकी मेरेमें कितनी योग्यता है, कितना बल, सामर्थ्य है; मेरे पास कितना समय है, कितनी बुद्धि है, कितनी कला है, कितना ज्ञान है आदि अपने पौरुष-(पुरुषार्थ-) को न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते'—तामस मनुष्य कर्म करते समय उसके परिणाम, उससे होनेवाले नुकसान, हिंसा और अपनी सामर्थ्यका कुछ भी विचार न करके, जब जैसा मनमें भाव आया, उसी समय बिना विवेक-विचारके वैसा ही कर बैठता है। इस प्रकार किया गया कर्म 'तामस' कहलाता है।

परिशिष्ट भाव—तामस मनुष्य अपनी शक्ति, परिणाम आदिका विचार न करके मूढ़तासे काम करता है*। वह स्वाभाविक ही ऐसे काम करता है, जिनसे दूसरोंको बाधा पहुँचे; जैसे—रास्तेमें खड़े होकर बात करने लग जाना, रास्तेमें साइकिल खड़ी कर देना आदि। दूसरोंको लगनेवाली बाधाकी तरफ उसका ध्यान ही नहीं जाता।

सात्त्विक स्वभाव स्वत: उत्थानकी तरफ जाता है, राजस स्वभावमें उन्नति रुक जाती है और तामस स्वभाव स्वत: पतनकी तरफ जाता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् सात्त्विक कर्ताके लक्षण बताते हैं।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वित:।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार: कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

कर्ता = (जो) कर्ता
मुक्तसङ्ग: = रागरहित,
अनहंवादी = कर्तृत्वाभिमानसे रहित,
धृत्युत्साह-समन्वित: = धैर्य और उत्साहयुक्त (तथा)
सिद्ध्यसिद्ध्यो: = सिद्धि और असिद्धिमें
निर्विकार: = निर्विकार है, (वह)
सात्त्विक: = सात्त्विक
उच्यते = कहा जाता है।

व्याख्या—**'मुक्तसंग:'**—जैसे सांख्ययोगीका कर्मोंके साथ राग नहीं होता, ऐसे सात्त्विक कर्ता भी रागरहित होता है।

कामना, वासना, आसक्ति, स्पृहा, ममता आदिसे अपना सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिमें आसक्ति, लिप्तता होती है। सात्त्विक कर्ता इस लिप्ततासे सर्वथा रहित होता है।

'अनहंवादी'—पदार्थ, वस्तु, परिस्थिति आदिको लेकर अपनेमें जो एक विशेषताका अनुभव करना है—यह अहंवदनशीलता है। यह अहंवदनशीलता आसुरी-सम्पत्ति होनेसे अत्यन्त निकृष्ट है। सात्त्विक कर्तामें यह अहंवदनशीलता, अभिमान तो रहता ही नहीं, प्रत्युत 'मैं इन चीजोंका त्यागी हूँ, मेरेमें यह अभिमान नहीं है, मैं निर्विकार हूँ, मैं सम हूँ, मैं सर्वथा निष्काम हूँ, मैं संसारके सम्बन्धसे रहित हूँ'—इस तरहके अहंभावका भी उसमें अभाव रहता है।

'धृत्युत्साहसमन्वित:'—कर्तव्य-कर्म करते हुए विघ्न-बाधाएँ आ जायँ, उस कर्मका परिणाम ठीक न निकले, लोगोंमें निन्दा हो जाय, तो भी विघ्न-बाधा आदि न आनेपर जैसा धैर्य रहता है, वैसा ही धैर्य विघ्न-बाधा आनेपर भी नित्य-निरन्तर बना रहे—इसका नाम 'धृति' है और सफलता-ही-सफलता मिलती चली जाय, उन्नति होती चली जाय, लोगोंमें मान, आदर, महिमा आदि बढ़ते चले जायँ—ऐसी स्थितिमें मनुष्यके मनमें जैसी उम्मेदवारी, सफलताके प्रति उत्साह रहता है, वैसी ही उम्मेदवारी इससे विपरीत अर्थात् असफलता, अवनति, निन्दा आदि हो जानेपर भी बनी रहे—इसका नाम 'उत्साह' है। सात्त्विक कर्ता इस प्रकारकी धृति और उत्साहसे युक्त रहता है।

'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार:'—सिद्धि और असिद्धिमें अपनेमें कुछ भी विकार न आये, अपनेपर कुछ भी असर न पड़े अर्थात् कार्य ठीक तरहसे सांगोपांग पूर्ण हो जाय अथवा पूरा उद्योग करते हुए अपनी शक्ति, समझ, समय, सामर्थ्य आदिको पूरा लगाते हुए भी कार्य पूरा न हो; फल प्राप्त हो अथवा न हो, तो भी अपने अन्त:करणमें प्रसन्नता और खिन्नता, हर्ष और शोकका न होना ही सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहना है।

'कर्ता सात्त्विक उच्यते'—ऐसा आसक्ति तथा अहंकारसे

---

* **बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।**
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय॥
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै।
खान पान सनमान, राग-रँग मन नहिं भावै॥
कह गिरधर कविराय करमगति टरत न टारे।
खटकत है जिय माहिं कियौ जो बिना बिचारे॥

रहित, धैर्य तथा उत्साहसे युक्त और सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार कर्ता 'सात्त्विक' कहा जाता है।

इस श्लोकमें छः बातें बतायी गयी हैं—संग, अहंवदनशीलता, धृति, उत्साह, सिद्धि और असिद्धि। इनमेंसे पहली दो बातोंसे रहित, बीचकी दो बातोंसे युक्त और अन्तकी दो बातोंमें निर्विकार रहनेके लिये कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार, सम रहनेकी बात गीतामें तीन बार आयी है—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (२। ४८), '**समः सिद्धावसिद्धौ च**' (४। २२) और यहाँ '**सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः**'। तात्पर्य है कि सिद्धि-असिद्धि हाथकी बात नहीं है, पर उसमें निर्विकार रहना हाथकी बात है। जो हाथकी बात है, उसको ठीक करना है।

'**अनहंवादी**'—सात्त्विक मनुष्य 'जैसा मैं कर सकता हूँ, वैसा दूसरा नहीं कर सकता'—इस तरह न तो बाहरसे बोलता है और न भीतरसे बोलता है। अपनेमें विशेषताका अनुभव करना ही भीतरसे बोलना है।

सम्बन्ध—अब राजस कर्ताके लक्षण बताते हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

कर्ता = (जो) कर्ता
रागी = रागी
कर्मफलप्रेप्सुः = कर्मफलकी इच्छावाला,
लुब्धः = लोभी,
हिंसात्मकः = हिंसाके स्वभाव-वाला,
अशुचिः = अशुद्ध (और)
हर्षशोकान्वितः = हर्ष-शोकसे युक्त है, (वह)
राजसः = राजस
परिकीर्तितः = कहा गया है।

व्याख्या—'**रागी**'—रागका स्वरूप रजोगुण होनेके कारण भगवान्ने राजस कर्ताके लक्षणोंमें सबसे पहले 'रागी' पद दिया है। रागका अर्थ है—कर्मोंमें, कर्मोंके फलोंमें तथा वस्तु, पदार्थ आदिमें मनका खिंचाव होना, मनकी प्रियता होना। इन चीजोंका जिसपर रंग चढ़ जाता है, वह 'रागी' होता है।

'**कर्मफलप्रेप्सुः**'—राजस मनुष्य कोई भी काम करेगा तो वह किसी फलकी चाहनाको लेकर ही करेगा; जैसे—मैं ऐसा-ऐसा अनुष्ठान कर रहा हूँ, दान दे रहा हूँ, उससे यहाँ धन, मान, बड़ाई आदि मिलेंगे और परलोकमें स्वर्गादिके भोग, सुख आदि मिलेंगे; मैं ऐसी-ऐसी दवाइयोंका सेवन कर रहा हूँ तो उनसे मेरा शरीर नीरोग रहेगा, आदि।

'**लुब्धः**'—राजस मनुष्यको जितना जो कुछ मिलता है, उसमें वह संतोष नहीं करता, प्रत्युत '***जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई***'की तरह 'और मिलता रहे, और मिलता रहे' अर्थात् आदर, सत्कार, महिमा आदि अधिक-से-अधिक होते रहें; धन, पुत्र, परिवार आदि अधिक-से-अधिक बढ़ते रहें—इस प्रकारकी लाग लगी रहती है, लोभ लगा रहता है।

'**हिंसात्मकः**'—वह हिंसाके स्वभाववाला होता है। अपने स्वार्थके लिये वह दूसरोंके नुकसानकी, दुःखकी परवाह नहीं करता। वह ज्यों-ज्यों अधिक भोग-सामग्री इकट्ठी करके भोग भोगता है, त्यों-ही-त्यों दूसरे अभावग्रस्त लोगोंके हृदयमें जलन पैदा होती है। अतः दूसरोंके दुःखकी परवाह न करना तथा भोग भोगना हिंसा ही है।

तामस कर्म (इसी अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) और राजस कर्ता—दोनोंमें हिंसा बतानेका तात्पर्य यह है कि मूढ़ता रहनेके कारण तामस मनुष्यकी क्रियाएँ विवेकपूर्वक नहीं होतीं; अतः चलने-फिरने, उठने-बैठने आदिमें उसके द्वारा हिंसा होती है। राजस मनुष्य अपने सुखके लिये बढ़िया-बढ़िया भोग भोगता है तो उसको देखकर जिनको वे भोग नहीं मिलते, उनके हृदयमें जलन होती है, यह हिंसा उस भोग भोगनेवालेको ही लगती है। कारण कि कोई भी भोग बिना हिंसाके होता ही नहीं। तात्पर्य है कि तामस मनुष्यके द्वारा तो कर्ममें हिंसा होती है और राजस मनुष्य स्वयं हिंसात्मक होता है।

'**अशुचिः**'—रागी पुरुष भोग-बुद्धिसे जिन वस्तुओं,

पदार्थों आदिका संग्रह करता है,वे सब चीजें अपवित्र हो जाती हैं। वह जहाँ रहता है, वहाँका वायुमण्डल अपवित्र हो जाता है। वह जिन कपड़ोंको पहनता है, उन कपड़ोंमें भी अपवित्रता आ जाती है। यही कारण है कि आसक्ति-ममतावाले मनुष्यके मरनेपर उसके कपड़े आदिको कोई रखना नहीं चाहता। जिस स्थानपर उसके शवको जलाया जाता है, वहाँ कोई भजन-ध्यान करना चाहे तो उसका मन नहीं लगेगा। वहाँ भूलसे कोई सो जायगा तो उसको प्रायः खराब-खराब स्वप्न आयेंगे। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी तरफ आकृष्ट होते ही आसक्ति-ममतारूप मलिनता आने लगती है, जिससे मनुष्यका शरीर और शरीरकी हड्डियाँतक अधिक अपवित्र हो जाती हैं।

'हर्षशोकान्वितः'—उसके सामने दिनमें कितनी बार सफलता-विफलता, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, घटना आदि आते रहते हैं, उनको लेकर वह हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिमें ही उलझा रहता है।

'कर्ता राजसः परिकीर्तितः'—उपर्युक्त लक्षणोंवाला कर्ता 'राजस' कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—'हिंसात्मकः'—पहले तामस कर्ममें भी हिंसा बतायी गयी है, (इसी अध्यायका पचीसवाँ श्लोक); क्योंकि रजोगुण और तमोगुण—दोनों एक-दूसरेके नजदीक पड़ते हैं, पर सत्त्वगुण दोनोंसे दूर पड़ता है। रजोगुण रागात्मक होता है और तमोगुण मोहात्मक। रजोगुणमें तो होश और सावधानी रहती है, पर तमोगुणमें बेहोशी और असावधानी रहती है। राग, स्वार्थबुद्धि होनेसे जितनी हिंसा होती है, उतनी मोह होनेसे नहीं होती। इसलिये रजोगुणमें अधिक हिंसा होती है। राग, स्वार्थबुद्धिके कारण राजस मनुष्य 'हिंसात्मक' हो जाता है। उसकी हिंसामें तल्लीनता हो जाती है।

सम्बन्ध—अब तामस कर्ताके लक्षण बताते हैं।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

कर्ता	= (जो) कर्ता	**अनैष्कृतिकः**	= उपकारीका अपकार करनेवाला,	**दीर्घसूत्री**	= दीर्घसूत्री है, (वह)
अयुक्तः	= असावधान,	**अलसः**	= आलसी,	**तामसः**	= तामस
प्राकृतः	= अशिक्षित,	**विषादी**	= विषादी	**उच्यते**	= कहा जाता है।
स्तब्धः	= ऐंठ-अकड़वाला,	**च**	= और		
शठः	= जिद्दी,				

व्याख्या—**'अयुक्तः'**—तमोगुण मनुष्यको मूढ़ बना देता है (गीता—चौदहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)। इस कारण किस समयमें कौन-सा काम करना चाहिये? किस तरह करनेसे हमें लाभ है और किस तरह करनेसे हमें हानि है?—इस विषयमें तामस मनुष्य सावधान नहीं रहता अर्थात् वह कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें सोचता ही नहीं। इसलिये वह 'अयुक्त' अर्थात् असावधान कहलाता है।

'प्राकृतः'—जिसने शास्त्र, सत्संग, अच्छी शिक्षा, उपदेश आदिसे न तो अपने जीवनको ठीक बनाया है और न अपने जीवनपर कुछ विचार ही किया है, माँ-बापसे जैसा पैदा हुआ है, वैसा-का-वैसा ही कोरा अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्यकी शिक्षासे रहित रहा है, ऐसा मनुष्य 'प्राकृत' अर्थात् अशिक्षित कहलाता है।

'स्तब्धः'—तमोगुणकी प्रधानताके कारण उसके मन, वाणी और शरीरमें अकड़ रहती है। इसलिये वह अपने वर्ण-आश्रममें बड़े-बूढ़े माता, पिता, गुरु, आचार्य आदिके सामने कभी झुकता नहीं। वह मन, वाणी और शरीरसे कभी सरलता और नम्रताका व्यवहार नहीं करता, प्रत्युत कठोर व्यवहार करता है। ऐसा मनुष्य 'स्तब्ध' अर्थात् ऐंठ-अकड़वाला कहलाता है।

'शठः'—तामस मनुष्य अपनी एक जिद होनेके कारण दूसरोंकी दी हुई अच्छी शिक्षाको, अच्छे विचारोंको नहीं मानता। उसको तो मूढ़ताके कारण अपने ही विचार अच्छे लगते हैं। इसलिये वह 'शठ' अर्थात् जिद्दी कहलाता है*।

---

* **मूर्खस्य पंच चिह्नानि गर्वी दुर्वचनी तथा। हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते॥**

'अनैष्कृतिकः'—जिनसे कुछ उपकार पाया है, उनका प्रत्युपकार करनेका जिसका स्वभाव होता है, वह 'नैष्कृतिक' कहलाता है। परन्तु तामस मनुष्य दूसरोंसे उपकार पा करके भी उनका उपकार नहीं करता, प्रत्युत उनका अपकार करता है, इसलिये वह 'अनैष्कृतिक' कहलाता है।

'अलसः'—अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार आवश्यक कर्तव्य-कर्म प्राप्त हो जानेपर भी तामस मनुष्यको मूढ़ताके कारण वह कर्म करना अच्छा नहीं लगता, प्रत्युत सांसारिक निरर्थक बातोंको पड़े-पड़े सोचते रहना अथवा नींदमें पड़े रहना अच्छा लगता है। इसलिये उसे आलसी कहा गया है।

'विषादी'—यद्यपि तामस मनुष्यमें यह विचार होता ही नहीं कि क्या कर्तव्य होता है और क्या अकर्तव्य होता है तथा निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिमें मेरी शक्तिका, मेरे जीवनके अमूल्य समयका कितना दुरुपयोग हो रहा है, तथापि अच्छे मार्गसे और कर्तव्यसे च्युत होनेसे उसके भीतर स्वाभाविक ही एक विषाद (दुःख, अशान्ति) होता रहता है। इसलिये उसे 'विषादी' कहा गया है।

'दीर्घसूत्री'—अमुक काम किस तरीकेसे बढ़िया और जल्दी हो सकता है—इस बातको वह सोचता ही नहीं। इसलिये वह किसी काममें अविवेकपूर्वक लग भी जाता है तो थोड़े समयमें होनेवाले काममें भी बहुत ज्यादा समय लगा देता है और उससे काम भी सुचारुरूपसे नहीं होता। ऐसा मनुष्य 'दीर्घसूत्री' कहलाता है।

'कर्ता तामस उच्यते'—उपर्युक्त आठ लक्षणोंवाला कर्ता 'तामस' कहलाता है।

विशेष बात

छब्बीसवें, सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकमें जितनी बातें आयी हैं, वे सब कर्ताको लेकर ही कही गयी हैं। कर्ताके जैसे लक्षण होते हैं, उन्हींके अनुसार कर्म होते हैं। कर्ता जिन गुणोंको स्वीकार करता है, उन गुणोंके अनुसार ही कर्मोंका रूप होता है। कर्ता जिस साधनको करता है, वह साधन कर्ताका रूप हो जाता है। कर्ताके आगे जो करण होते हैं, वे भी कर्ताके अनुरूप होते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म, करण आदि होते हैं। कर्ता सात्त्विक, राजस अथवा तामस होगा तो कर्म आदि भी सात्त्विक, राजस अथवा तामस होंगे।

सात्त्विक कर्ता अपने कर्म, बुद्धि आदिको सात्त्विक बनाकर सात्त्विक सुखका अनुभव करते हुए असंगतापूर्वक परमात्मतत्त्वसे अभिन्न हो जाता है—**'दुःखान्तं च निगच्छति'** (गीता १८। ३६)। कारण कि सात्त्विक कर्ताका ध्येय परमात्मा होता है। इसलिये वह कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित होकर चिन्मय तत्त्वसे अभिन्न हो जाता है; क्योंकि वह तात्त्विक स्वरूपसे अभिन्न ही था। परन्तु राजस-तामस कर्ता राजस-तामस कर्म, बुद्धि आदिके साथ तन्मय होकर राजस-तामस सुखमें लिप्त होता है। इसलिये वह परमात्मतत्त्वसे अभिन्न नहीं हो सकता। कारण कि राजस-तामस कर्ताका उद्देश्य परमात्मा नहीं होता और उसमें जडताका बन्धन भी अधिक होता है।

अब यहाँ शंका हो सकती है कि कर्ताका सात्त्विक होना तो ठीक है, पर कर्म सात्त्विक कैसे होते हैं? इसका समाधान यह है कि जिस कर्मके साथ कर्ताका राग नहीं है, कर्तृत्वाभिमान नहीं है, लेप (फलेच्छा) नहीं है, वह कर्म सात्त्विक हो जाता है। ऐसे सात्त्विक कर्मसे अपना और दुनियाका बड़ा भला होता है। उस सात्त्विक कर्मका जिन-जिन वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, वायुमण्डल आदिके साथ सम्बन्ध होता है, उन सबमें निर्मलता आ जाती है; क्योंकि निर्मलता सत्त्वगुणका स्वभाव है—**'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्'** (गीता १४। ६)।

दूसरी बात, पतंजलि महाराजने रजोगुणको क्रियात्मक ही माना है—**'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योगदर्शन २। १८)। परन्तु गीता रजोगुणको क्रियात्मक मानते हुए भी मुख्यरूपसे रागात्मक ही मानती है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (१४। ७)। वास्तवमें देखा जाय तो 'राग' ही बाँधनेवाला है, 'क्रिया' नहीं।

गीतामें कर्म तीन प्रकारके बताये गये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस (इसी अध्यायके तेईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक)। कर्म करनेवालेका भाव सात्त्विक होगा तो वे कर्म 'सात्त्विक' हो जायँगे, भाव राजस होगा तो वे कर्म 'राजस' हो जायँगे और भाव तामस होगा तो वे कर्म 'तामस' हो जायँगे। इसलिये भगवान्‌ने केवल क्रियाको रजोगुणी नहीं माना है।

परिशिष्ट भाव—'विषादी' पद रजोगुणमें आना चाहिये, पर यहाँ तमोगुणमें आया है। तामस वृत्तिका विवेकसे विरोध है, इसलिये तामस मनुष्यमें विषाद अधिक होता है।

सम्बन्ध—सभी कर्म विचारपूर्वक किये जाते हैं। उन कर्मोंके विचारमें बुद्धि और धृति—इन कर्मसंग्राहक करणोंकी प्रधानता होनेसे अब आगे उनके भेद बताते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

धनञ्जय	= हे धनंजय! (अब तू)	**धृतेः**	= धृतिके	**शृणु**	= सुन,
गुणतः	= गुणोंके अनुसार	**एव**	= भी	**अशेषेण**	= (जो कि मेरे द्वारा) पूर्णरूपसे
बुद्धेः	= बुद्धि	**त्रिविधम्**	= तीन प्रकारके	**प्रोच्यमानम्**	= कहे जा रहे हैं।
च	= और	**भेदम्**	= भेद		
		पृथक्त्वेन	= अलग-अलगरूपसे		

व्याख्या—[इसी अध्यायके अठारहवें श्लोकमें कर्म-संग्रहके तीन हेतु बताये गये हैं—करण, कर्म और कर्ता। इनमेंसे कर्म करनेके जो इन्द्रियाँ आदि करण हैं, उनके सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद नहीं होते। उन इन्द्रियोंमें बुद्धिकी ही प्रधानता रहती है और सभी इन्द्रियाँ बुद्धिके अनुसार ही काम करती हैं। इसलिये यहाँ बुद्धिके भेदसे करणोंके भेद बता रहे हैं।

बुद्धिके निश्चयको, विचारको दृढ़तासे ठीक तरह रखनेवाली और अपने लक्ष्यसे विचलित न होने देनेवाली धारण-शक्तिका नाम धृति है। धारण-शक्ति अर्थात् धृतिके बिना बुद्धि अपने निश्चयपर दृढ़ नहीं रह सकती। इसलिये बुद्धिके साथ-ही-साथ धृतिके भी तीन भेद बताने आवश्यक हो गये*।

मनुष्य जो कुछ भी करता है, बुद्धिपूर्वक ही करता है अर्थात् ठीक सोच-समझकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होता है। उस कार्यमें प्रवृत्त होनेपर भी उसको धैर्यकी बड़ी भारी आवश्यकता होती है। उसकी बुद्धिमें विचार-शक्ति तेज है और उसे धारण करनेवाली शक्ति—धृति श्रेष्ठ है, तो उसकी बुद्धि अपने निश्चित किये हुए लक्ष्यसे विचलित नहीं होती। जब बुद्धि अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहती है, तब मनुष्यका कार्य सिद्ध हो जाता है।

अभी साधकोंके लिये कर्मप्रेरक और कर्म-संग्रहका जो प्रकरण चला है, उसमें ज्ञान, कर्म और कर्ताकी ही खास आवश्यकता है। ऐसे ही साधक अपनी साधनामें दृढ़ता-पूर्वक लगा रहे, इसके लिये बुद्धि और धृतिके भेदको जाननेकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि उनके भेदको ठीक जानकर ही वह संसारसे ऊँचा उठ सकता है। किस प्रकारकी बुद्धि और धृतिको धारण करके साधक संसारसे ऊँचा उठ सकता है और किस प्रकारकी बुद्धि और धृतिके रहनेसे उसे ऊँचा उठनेमें बाधा लग सकती है—यह जानना साधकके लिये बहुत जरूरी है। इसलिये भगवान्‌ने उन दोनोंके भेद बताये हैं। भेद बतानेमें भगवान्‌का भाव यह है कि सात्त्विकी बुद्धि और धृतिसे ही साधक ऊँचा उठ सकता है, राजसी-तामसी बुद्धि और धृतिसे नहीं।]

'**धनंजय**'—जब पाण्डवोंने राजसूय यज्ञ किया था, तब अर्जुन अनेक राजाओंको जीतकर बहुत-सा धन लेकर आये थे। इसीसे उनका नाम 'धनंजय' पड़ा था। अब भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि अपनी साधनामें सात्त्विकी बुद्धि और धृतिको ग्रहण करके गुणातीत तत्त्वकी प्राप्ति करना ही वास्तविक धन है; इसलिये तुम इस वास्तविक धनको धारण करो, इसीमें तुम्हारे 'धनंजय' नामकी सार्थकता है।

'**बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु**'—भगवान् कहते हैं कि बुद्धि भी एक है और धृति भी एक है; परन्तु गुणोंकी प्रधानतासे उस बुद्धि और धृतिके भी सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन-तीन भेद हो जाते हैं। उनका मैं ठीक-ठीक विवेचन करूँगा और थोड़ेमें बहुत विशेष बात कहूँगा, उनको तुम मन लगाकर, ध्यान देकर ठीक तरहसे सुनो।

धृति श्रोत्रादि करणोंमें नहीं आयी है। इसलिये भगवान् '**चैव**' पदका प्रयोग करके कह रहे हैं कि जैसे बुद्धिके तीन भेद बताऊँगा, ऐसे ही धृतिके भी तीन भेद बताऊँगा। साधारण दृष्टिसे देखनेपर तो धृति भी बुद्धिका ही एक गुण

*** सांख्ययोगमें तो बुद्धि और धृतिकी खास आवश्यकता है ही; परमात्मप्राप्तिके अन्य जितने भी साधन हैं, उन सबमें भी बुद्धि और धृतिकी बड़ी भारी आवश्यकता है। इसलिये गीतामें बुद्धि और धृति—दोनोंको साथ-साथ कहा है; जैसे—'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया' (६। २५), और 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च' (१८। ५१)।**

दीखती है। बुद्धिका एक गुण होते हुए भी धृति बुद्धिसे अलग और विलक्षण है; क्योंकि धृति स्वयं अर्थात् कर्तामें रहती है। उस धृतिके कारण ही मनुष्य बुद्धिका ठीक-ठीक उपयोग कर सकता है। धृति जितनी श्रेष्ठ अर्थात् सात्त्विकी होगी, साधककी (साधनमें) बुद्धि उतनी ही स्थिर रहेगी। साधनमें बुद्धिकी स्थिरताकी जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता मनकी स्थिरताकी नहीं है। हाँ, एक अंशमें अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्तिमें मनकी स्थिरताकी आवश्यकता है; परन्तु पारमार्थिक उन्नतिमें तो बुद्धिके अपने उद्देश्यपर स्थिर रहनेकी ही ज्यादा आवश्यकता है[१]। साधककी बुद्धि भी सात्त्विकी हो और धृति भी सात्त्विकी हो, तभी साधक अपने साधनमें दृढ़तासे लगा रहेगा। इसलिये इन दोनोंके ही भेद जाननेकी आवश्यकता है।

'**पृथक्त्वेन**'—उनके भेद अलग-अलग ठीक तरहसे कहूँगा अर्थात् बुद्धि और धृतिके विषयोंमें भी क्या-क्या भेद होते हैं, उनको भी कहूँगा।

'**प्रोच्यमानमशेषेण**'—भगवान् कहते हैं कि बुद्धि और धृतिके विषयमें जाननेकी जो-जो आवश्यक बातें हैं, उन सबको मैं पूरा-पूरा कहूँगा, जिसके बाद फिर जानना बाकी नहीं रहेगा।

सम्बन्ध—अब भगवान् सात्त्विकी बुद्धिके लक्षण बताते हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**कार्याकार्ये**	= कर्तव्य और अकर्तव्यको,	**च**	= और
या	= जो (बुद्धि)	**भयाभये**	= भय और अभयको	**मोक्षम्**	= मोक्षको
प्रवृत्तिम्	= प्रवृत्ति	**च**	= तथा	**वेत्ति**	= जानती है,
च	= और	**बन्धम्**	= बन्धन	**सा**	= वह
निवृत्तिम्	= निवृत्तिको,			**बुद्धिः**	= बुद्धि
				सात्त्विकी	= सात्त्विकी है।

व्याख्या—'**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च**—साधकमात्रकी प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कभी वह संसारका काम-धंधा करता है, तो यह प्रवृत्ति-अवस्था है और कभी संसारका काम-धंधा छोड़कर एकान्तमें भजन-ध्यान करता है, तो यह निवृत्ति-अवस्था है। परन्तु इन दोनोंमें सांसारिक कामनासहित प्रवृत्ति और वासनासहित निवृत्ति[२]—ये दोनों ही अवस्थाएँ 'प्रवृत्ति' हैं अर्थात् संसारमें लगानेवाली हैं तथा सांसारिक कामनारहित प्रवृत्ति और वासनारहित निवृत्ति—ये दोनों ही अवस्थाएँ 'निवृत्ति' हैं अर्थात् परमात्माकी तरफ ले जानेवाली हैं। इसलिये साधक इनको ठीक-ठीक जानकर कामना-वासनारहित प्रवृत्ति और निवृत्तिको ही ग्रहण करें।

वास्तवमें गहरी दृष्टिसे देखा जाय तो कामना-वासना-रहित प्रवृत्ति और निवृत्ति भी यदि अपने सुख, आराम आदिके लिये की जायँ तो वे दोनों ही 'प्रवृत्ति' हैं; क्योंकि वे दोनों ही बाँधनेवाली हैं अर्थात् उनसे अपना व्यक्तित्व नहीं मिटता। परन्तु यदि कामना-वासनारहित प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों केवल दूसरोंके सुख, आराम और हितके लिये ही की जायँ, तो वे दोनों ही 'निवृत्ति' हैं; क्योंकि उन दोनोंसे ही अपना व्यक्तित्व नहीं रहता। वह व्यक्तित्व कब नहीं रहता? जब प्रवृत्ति और निवृत्ति जिसके प्रकाशसे प्रकाशित होती हैं तथा जो प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रहित है, उस प्रकाशक अर्थात्

१-बुद्धिके द्वारा तो अपना ध्येय (लक्ष्य) ठीक-ठीक समझमें आता है और धृतिके द्वारा कर्ता स्वयं उस लक्ष्यपर दृढ़ रहता है। साधक पहले कैसे ही भावों और आचरणोंवाला अर्थात् पापी-से-पापी और दुराचारी-से-दुराचारी क्यों न रहा हो, वह भी 'मुझे तो परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—इस उद्देश्यपर दृढ़ रहता है, तो उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका तीसवाँ श्लोक)।

२-प्रवृत्तिको छोड़कर कोई एकान्तमें भजन-ध्यान करता है तो वहाँ उसके सामने द्रव्य, पदार्थ तो नहीं हैं, पर 'लोग मेरेको ज्ञानी, ध्यानी, साधक समझेंगे, तो मेरा आदर-सत्कार होगा' इस प्रकार भीतर एक सूक्ष्म इच्छा रहती है, जिसे 'वासना' कहते हैं।

तत्त्वकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की जाय। प्रवृत्ति तो की जाय प्राणिमात्रकी सेवाके लिये और निवृत्ति की जाय परम विश्राम अर्थात् स्वरूप-स्थितिके लिये।

'कार्याकार्ये'—शास्त्र, वर्ण, आश्रमकी मर्यादाके अनुसार जो काम किया जाता है, वह **'कार्य'** है और शास्त्र आदिकी मर्यादासे विरुद्ध जो काम किया जाता है वह **'अकार्य'** है।

जिसको हम कर सकते हैं, जिसको जरूर करना चाहिये और जिसको करनेसे जीवका जरूर कल्याण होता है, वह **'कार्य'** अर्थात् कर्तव्य कहलाता है और जिसको हमें नहीं करना चाहिये तथा जिससे जीवका बन्धन होता है, वह **'अकार्य'** अर्थात् अकर्तव्य कहलाता है। जिसको हम नहीं कर सकते, वह अकर्तव्य नहीं कहलाता, वह तो अपनी असामर्थ्य है।

'भयाभये'—भय और अभयके कारणको देखना चाहिये। जिस कर्मसे अभी और परिणाममें अपना और दुनियाका अनिष्ट होनेकी सम्भावना है, वह कर्म **'भय'** अर्थात् भयदायक है और जिस कर्मसे अभी और परिणाममें अपना और दुनियाका हित होनेकी सम्भावना है, वह कर्म **'अभय'** अर्थात् सबको अभय करनेवाला है।

मनुष्य जब करनेलायक कार्यसे च्युत होकर अकार्यमें प्रवृत्त होता है, तब उसके मनमें अपनी मान-बड़ाईकी हानि और निन्दा-अपमान होनेकी आशंकासे भय पैदा होता है। परन्तु जो अपनी मर्यादासे कभी विचलित नहीं होता, अपने मनसे किसीका भी अनिष्ट नहीं चाहता और केवल परमात्मामें ही लगा रहता है, उसके मनमें सदा अभय बना रहता है। यह अभय ही मनुष्यको सर्वथा अभयपद—परमात्माको प्राप्त करा देता है।

'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'—जो बाहरसे तो यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि उत्तम-से-उत्तम कार्य करता है; परन्तु भीतरसे असत्, जड, नाशवान् पदार्थोंको और स्वर्ग आदि लोकोंको चाहता है, उसके लिये वे सभी कर्म **'बन्ध'** अर्थात् बन्धनकारक ही हैं। केवल परमात्मासे ही सम्बन्ध रखना, परमात्माके सिवाय कभी किसी अवस्थामें असत् संसारके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध न रखना **'मोक्ष'** अर्थात् मोक्षदायक है।

अपनेको जो वस्तुएँ नहीं मिली हैं, उनकी कामना होनेसे मनुष्य उनके अभावका अनुभव करता है। वह अपनेको उन वस्तुओंके परतन्त्र मानता है और वस्तुओंके मिलनेपर अपनेको स्वतन्त्र मानता है। वह समझता तो यह है कि मेरे पास वस्तुएँ होनेसे मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ, पर हो जाता है उन वस्तुओंके परतन्त्र! वस्तुओंके अभाव और वस्तुओंके भाव—इन दोनोंकी परतन्त्रतामें इतना ही फर्क पड़ता है कि वस्तुओंके अभावमें परतन्त्रता दीखती है, खटकती है और वस्तुओंके होनेपर वस्तुओंकी परतन्त्रता परतन्त्रताके रूपमें दीखती ही नहीं; क्योंकि उस समय मनुष्य अन्धा हो जाता है। परन्तु हैं ये दोनों ही परतन्त्रता, और परतन्त्रता ही बन्धन है। अभावकी परतन्त्रता प्रकट विष है और भावकी परतन्त्रता छिपा हुआ मीठा विष है, पर हैं दोनों ही विष। विष तो मारनेवाला ही होता है।

निष्कर्ष यह निकला कि सांसारिक वस्तुओंकी कामनासे ही बन्धन होता है और परमात्माके सिवाय किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, देश, काल आदिकी कामना न होनेसे मुक्ति होती है*। यदि मनमें कामना है तो वस्तु पासमें हो तो बन्धन और पासमें न हो तो बन्धन! यदि मनमें कामना नहीं है तो वस्तु पासमें हो तो मुक्ति और पासमें न हो तो मुक्ति!

'बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी'—इस प्रकार जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्षके वास्तविक तत्त्वको जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।

इनके वास्तविक तत्त्वको जानना क्या है? प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष—इनको गहरी रीतिसे समझकर, जिसके साथ वास्तवमें हमारा सम्बन्ध नहीं है, उस संसारके साथ सम्बन्ध न मानना और जिसके साथ हमारा स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है, ऐसे (प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिके आश्रय तथा प्रकाशक) परमात्माको तत्त्वसे ठीक-ठीक जानना—यही सात्त्विकी बुद्धिके द्वारा वास्तविक तत्त्वको ठीक-ठीक जानना है।

परिशिष्ट भाव—प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको—दोनोंको जाननेका तात्पर्य संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही है। अगर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद न हो तो वह जानना वास्तवमें जानना नहीं है, प्रत्युत सीखना है।

***एक कामना होती है और एक आवश्यकता होती है। संसारकी कामना होती है और परमात्माकी आवश्यकता। कामनाकी कभी पूर्ति होती ही नहीं, उसकी तो निवृत्ति होती है, पर आवश्यकताकी पूर्ति ही होती है।**

परमात्माकी आवश्यकता भी संसारकी कामना होनेसे ही पैदा होती है। कामनाका अत्यन्त अभाव होनेपर आवश्यकता रहती ही नहीं अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

गीताका 'सात्त्विक' गुणातीत करनेवाला, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है। इसलिये इसमें बन्धन और मोक्षतकका विचार होता है—**'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'**। सात्त्विकी बुद्धिमें वह विवेक होता है, जो तत्त्वज्ञानमें परिणत होता है। विवेकवती बुद्धि 'ब्रह्मलोककी प्राप्तितक सब बन्धन है'—ऐसा जानती है।

सम्बन्ध—अब राजसी बुद्धिके लक्षण बताते हैं।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**अधर्मम्**	= अधर्मको	**अयथावत्**	= ठीक तरहसे नहीं
यया	= (मनुष्य) जिसके द्वारा	**च**	= तथा	**प्रजानाति**	= जानता,
धर्मम्	= धर्म	**कार्यम्**	= कर्तव्य	**सा**	= वह
च	= और	**च**	= और	**बुद्धिः**	= बुद्धि
		अकार्यम्	= अकर्तव्यको	**राजसी**	= राजसी है।
		एव	= भी		

व्याख्या—**'यया धर्ममधर्मं च'**—शास्त्रोंने जो कुछ भी विधान किया है, वह 'धर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा दी है और जिससे परलोकमें सद्‌गति होती है, वह धर्म है। शास्त्रोंने जिसका निषेध किया है, वह 'अधर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा नहीं दी है और जिससे परलोकमें दुर्गति होती है, वह अधर्म है। जैसे, अपने माता-पिता, बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेमें, दूसरोंको सुख पहुँचानेमें, दूसरोंका हित करनेकी चेष्टामें अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार, सामर्थ्य आदिको लगा देना 'धर्म' है। ऐसे ही कुआँ-बावड़ी खुदवाना, धर्मशाला-औषधालय बनवाना, प्याऊ-सदावर्त चलाना; देश, ग्राम, मोहल्लेके अनाथ तथा गरीब बालकोंकी और समाजकी उन्नतिके लिये अपनी कहलानेवाली चीजोंको आवश्यकतानुसार उनकी ही समझकर निष्कामभावसे उदारतापूर्वक खर्च करना 'धर्म' है। इसके विपरीत अपने स्वार्थ, सुख, आरामके लिये दूसरोंकी धन-सम्पत्ति, हक, पद, अधिकार छीनना; दूसरोंका अपकार, अहित, हत्या आदि करना; अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार आदिके द्वारा दूसरोंको दुःख देना 'अधर्म' है।

वास्तवमें धर्म वह है, जो जीवका कल्याण कर दे और अधर्म वह है, जो जीवको बन्धनमें डाल दे।

'कार्यं चाकार्यमेव च'—वर्ण, आश्रम, देश, काल, लोक-मर्यादा, परिस्थिति आदिके अनुसार शास्त्रोंने हमारे लिये जिस कर्मको करनेकी आज्ञा दी है, वह कर्म हमारे लिये 'कर्तव्य' है। अवसरपर प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन न करना तथा न करनेलायक कामको करना 'अकर्तव्य' है। जैसे, भिक्षा माँगना; यज्ञ, विवाह आदि कराना और उनमें दान-दक्षिणा लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये तो कर्तव्य हैं, पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये अकर्तव्य हैं। इसी प्रकार शास्त्रोंने जिन-जिन वर्ण और आश्रमोंके लिये जो-जो कर्म बताये हैं, वे सब उन-उनके लिये कर्तव्य हैं और जिनके लिये निषेध किया है, उनके लिये वे सब अकर्तव्य हैं।

जहाँ नौकरी करते हैं, वहाँ ईमानदारीसे अपना पूरा समय देना, कार्यको सुचारुरूपसे करना, जिस तरहसे मालिकका हित हो, ऐसा काम करना—ये सब कर्मचारियोंके लिये 'कर्तव्य' हैं। अपने स्वार्थ, सुख और आराममें फँसकर कार्यमें पूरा समय न लगाना, कार्यको तत्परतासे न करना, थोड़ी-सी घूस (रिश्वत) मिलनेसे मालिकका बड़ा नुकसान कर देना, दस-पाँच रुपयोंके लिये मालिकका अहित कर देना—ये सब कर्मचारियोंके लिये 'अकर्तव्य' हैं।

राजकीय जितने अफसर हैं, उनको राज्यका प्रबन्ध करनेके लिये, सबका हित करनेके लिये ही ऊँचे पदपर रखा जाता है। इसीलिये अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके जिस प्रकार सब लोगोंका हित हो सकता है, सबको सुख, आराम, शान्ति मिल सकती है—ऐसे कामोंको करना उनके लिये 'कर्तव्य' है। अपने तुच्छ स्वार्थमें आकर राज्यका नुकसान कर देना, लोगोंको दुःख देना आदि उनके लिये 'अकर्तव्य' है।

सात्त्विकी बुद्धिमें कही हुई प्रवृत्ति-निवृत्ति, भय-अभय और बन्ध-मोक्षको भी यहाँ **'एव च'** पदोंसे ले लेना चाहिये।

'अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी'— राग होनेसे राजसी बुद्धिमें स्वार्थ, पक्षपात, विषमता आदि दोष आ जाते हैं। इन दोषोंके रहते हुए बुद्धि धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्ध-मोक्ष आदिके वास्तविक तत्त्वको ठीक-ठीक नहीं जान सकती। अतः किस वर्ण-आश्रमके लिये किस परिस्थितिमें कौन-सा धर्म कहा जाता है और कौन-सा अधर्म कहा जाता है? वह धर्म किस वर्ण-आश्रमके लिये कर्तव्य हो जाता है और किसके लिये अकर्तव्य हो जाता है; किससे भय होता है और किससे मनुष्य अभय हो जाता है? इन बातोंको जो बुद्धि ठीक-ठीक नहीं जान सकती, वह बुद्धि राजसी है।

जब सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया, पदार्थ आदिमें राग (आसक्ति) हो जाता है, तो वह राग दूसरोंके प्रति द्वेष पैदा करनेवाला हो जाता है। फिर जिसमें राग हो जाता है उसके दोषोंको और जिसमें द्वेष हो जाता है, उसके गुणोंको मनुष्य नहीं देख सकता। राग और द्वेष—इन दोनोंमें संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। संसारके साथ सम्बन्ध जुड़नेपर मनुष्य संसारको नहीं जान सकता। ऐसे ही परमात्मासे अलग रहनेपर मनुष्य परमात्माको नहीं जान सकता। संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकता है और परमात्मासे अभिन्न होकर ही परमात्माको जान सकता है। वह अभिन्नता चाहे प्रेमसे हो, चाहे ज्ञानसे हो।

परमात्मासे अभिन्न होनेमें सात्त्विकी बुद्धि ही काम करती है; क्योंकि सात्त्विकी बुद्धिमें विवेकशक्ति जाग्रत् रहती है। परन्तु राजसी बुद्धिमें वह विवेकशक्ति रागके कारण धुँधली-सी रहती है। जैसे जलमें मिट्टी घुल जानेसे जलमें स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती, ऐसे ही बुद्धिमें रजोगुण आ जानेसे बुद्धिमें उतनी स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती। इसलिये धर्म-अधर्म आदिको समझनेमें कठिनता पड़ती है। राजसी बुद्धि होनेपर मनुष्य जिस-किसी विषयमें प्रवेश करता है, उसको उस विषयको समझनेमें कठिनता पड़ती है। उस विषयके गुण-दोषोंको ठीक-ठीक समझे बिना वह ग्रहण और त्यागको अपने आचरणमें नहीं ला सकता अर्थात् वह ग्राह्य वस्तुका ग्रहण नहीं कर सकता और त्याज्य वस्तुका त्याग नहीं कर सकता।

परिशिष्ट भाव—जो धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानता, वह बन्धन और मोक्षको कैसे जानेगा? नहीं जान सकता। बुद्धि रागात्मिका होनेसे वह इनको ठीक तरहसे नहीं जानता; क्योंकि रागकी मुख्यता होनेसे वह विवेकको महत्त्व नहीं दे पाता। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका रंग चढ़नेसे उसका विवेक लुप्त हो जाता है।

सम्बन्ध—अब तामसी बुद्धिके लक्षण बताते हैं।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**अधर्मम्**	=अधर्मको	**सर्वार्थान्**	=सम्पूर्ण चीजोंको
तमसा	=तमोगुणसे	**धर्मम्**	=धर्म—	**विपरीतान्**	=उलटा (मान लेती है),
आवृता	=घिरी हुई	**इति**	=ऐसा	**सा**	=वह
या	=जो	**मन्यते**	=मान लेती है	**तामसी**	=तामसी है।
बुद्धिः	=बुद्धि	**च**	=और		

व्याख्या—**'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता'—** ईश्वरकी निन्दा करना; शास्त्र, वर्ण, आश्रम और लोक-मर्यादाके विपरीत काम करना; माता-पिताके साथ अच्छा बर्ताव न करना; सन्त-महात्मा, गुरु-आचार्य आदिका अपमान करना; झूठ, कपट, बेईमानी, जालसाजी, अभक्ष्य भोजन, परस्त्रीगमन आदि शास्त्रनिषिद्ध पाप-कर्मोंको धर्म मानना—यह सब अधर्मको 'धर्म' मानना है।

अपने शास्त्र, वर्ण, आश्रमकी मर्यादामें चलना; माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना तथा उनकी तन-मन-धनसे सेवा करना; संत-महात्माओंके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बनाना; धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना; दूसरोंकी सेवा-उपकार करना; शुद्ध-पवित्र भोजन करना आदि

शास्त्रविहित कर्मोंको उचित न मानना—यह धर्मको 'अधर्म' मानना है।

तामसी बुद्धिवाले मनुष्योंके विचार होते हैं कि 'शास्त्रकारोंने, ब्राह्मणोंने अपनेको बड़ा बता दिया और तरह-तरहके नियम बनाकर लोगोंको बाँध दिया, जिससे भारत परतन्त्र हो गया; जबतक ये शास्त्र रहेंगे, ये धार्मिक पुस्तकें रहेंगी, तबतक भारतका उत्थान नहीं होगा, भारत परतन्त्रताकी बेड़ीमें ही जकड़ा हुआ रहेगा, आदि-आदि। इसलिये वे मर्यादाओंको तोड़नेमें ही धर्म मानते हैं।

'**सर्वार्थान्विपरीतांश्च**'—आत्माको स्वरूप न मानकर शरीरको ही स्वरूप मानना; ईश्वरको न मान करके दृश्य जगत्को ही सच्चा मानना; दूसरोंको तुच्छ समझकर अपनेको ही सबसे बड़ा मानना; दूसरोंको मूर्ख समझकर अपनेको ही पढ़ा-लिखा, विद्वान् समझना; जितने संत-महात्मा हो गये हैं, उनकी मान्यताओंसे अपनी मान्यताको श्रेष्ठ मानना; सच्चे सुखकी तरफ ध्यान न देकर वर्तमानमें मिलनेवाले संयोगजन्य सुखको ही सच्चा मानना; न करनेयोग्य कार्यको ही अपना कर्तव्य समझना; अपवित्र वस्तुओंको ही पवित्र मानना—यह सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मानना है।

'**बुद्धिः सा पार्थ तामसी**'—तमोगुणसे आवृत जो बुद्धि अधर्मको धर्म, धर्मको अधर्म और अच्छेको बुरा, सुलटेको उलटा मानती है, वह बुद्धि तामसी है। यह तामसी बुद्धि ही मनुष्यको अधोगतिमें ले जानेवाली है—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८)। इसलिये अपना उद्धार चाहनेवालेको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—जिनकी बुद्धि तामसी होती है, उनको व्यवहारमें और परमार्थमें सब जगह उलटा ही दीखता है। इसका उदाहरण वर्तमान समयमें स्पष्ट दीखनेमें आ रहा है। जैसे—पशुओंके विनाशको 'मांसका उत्पादन' कहा जाता है! गर्भपातरूपी महापापको और मनुष्यकी उत्पादक शक्तिके विनाशको 'परिवार-कल्याण' कहा जाता है! स्त्रियोंकी उच्छृंखलताको, मर्यादाके नाशको 'नारी-मुक्ति' कहा जाता है! पहले स्त्री घरकी स्वामिनी (गृहलक्ष्मी) होती थी, अब घरसे बाहर अनेक पुरुषोंकी दासता (नौकरी) करनेको 'नारीकी स्वाधीनता' कहा जाता है! इस प्रकार पराधीनताको स्वाधीनताका लक्षण माना जाता है। नैतिक पतनको उन्नतिकी संज्ञा दी जाती है। पशुताको सभ्यताका चिह्न माना जाता है। धार्मिकताको साम्प्रदायिकता और धर्मविरुद्धको धर्म-निरपेक्ष कहा जाता है। जब विनाशकाल समीप आता है, तभी ऐसी विपरीत, तामसी बुद्धि पैदा होती है—'**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः**', '**बुद्धिनाशात्प्रणश्यति**' (गीता २। ६३)।

सम्बन्ध—अब भगवान् सात्त्विकी धृतिके लक्षण बताते हैं।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

पार्थ	=हे पार्थ!		द्वारा	**धारयते**	=धारण करता है
योगेन	=समतासे युक्त		(मनुष्य)		अर्थात्
यया	=जिस	**मनःप्राणेन्द्रिय-**			संयम रखता है,
अव्यभि-		**क्रियाः**	= मन, प्राण	**सा**	=वह
चारिण्या	=अव्यभिचारिणी		और इन्द्रियोंकी	**धृतिः**	=धृति
धृत्या	=धृतिके		क्रियाओंको	**सात्त्विकी**	=सात्त्विकी है।

व्याख्या—'**धृत्या यया धारयते....योगेनाव्यभिचारिण्या**'—सांसारिक लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख, आदर-निरादर, सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम 'योग' (समता) है।

परमात्माको चाहनेके साथ-साथ इस लोकमें सिद्धि, असिद्धि, वस्तु, पदार्थ, सत्कार, पूजा आदि और परलोकमें सुख-भोगको चाहना 'व्यभिचार' है और इस लोक तथा परलोकके सुख, भोग, वस्तु, पदार्थ आदिकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न रखकर केवल परमात्माको चाहना 'अव्यभिचार' है। यह अव्यभिचार जिसमें होता है, वह धृति 'अव्यभिचारिणी' कहलाती है।

अपनी मान्यता, सिद्धान्त, लक्ष्य, भाव, क्रिया, वृत्ति,

विचार आदिको दृढ़, अटल रखनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है। योग अर्थात् समतासे युक्त इस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है।

मनमें राग-द्वेषको लेकर होनेवाले चिन्तनसे रहित होना, मनको जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लग जाना और जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाना आदि मनकी क्रियाओंको धृतिके द्वारा धारण करना है।

प्राणायाम करते हुए रेचकमें पूरक न होना, पूरकमें रेचक न होना और बाह्य कुम्भकमें पूरक न होना तथा आभ्यन्तर कुम्भकमें रेचक न होना अर्थात् प्राणायामके नियमसे विरुद्ध श्वास-प्रश्वासोंका न होना ही धृतिके द्वारा प्राणोंकी क्रियाओंको धारण करना है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंको लेकर इन्द्रियोंका उच्छृंखल न होना, जिस विषयमें जैसे प्रवृत्त होना चाहें, उसमें प्रवृत्त होना और जिस विषयसे निवृत्त होना चाहें, उससे निवृत्त होना ही धृतिके द्वारा इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करना है।

'धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी'—जिस धृतिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंपर आधिपत्य हो जाता है, हे पार्थ! वह धृति सात्त्विकी है।

परिशिष्ट भाव—जीव परमात्माका अंश है, इसलिये परमात्माके सिवाय कहीं भी जाना 'व्यभिचार' है और केवल परमात्माकी तरफ चलना 'अव्यभिचार' है। केवल परमात्माकी तरफ चलनेवाली धृति 'अव्यभिचारिणी धृति' है।

सम्बन्ध—अब राजसी धृतिके लक्षण बताते हैं।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

तु	= परन्तु	**यया**	= जिस		आसक्तिपूर्वक
पार्थ	= हे पृथानन्दन	**धृत्या**	= धृतिके द्वारा	**धारयते**	= धारण करता है,
अर्जुन	= अर्जुन!	**धर्मकामार्थान्**	= धर्म, काम (भोग) और धनको	**सा**	= वह
फलाकाङ्क्षी	= फलकी इच्छावाला मनुष्य	**प्रसङ्गेन**	= अत्यन्त	**धृतिः**	= धृति
				राजसी	= राजसी है।

व्याख्या—**'यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या .... सा पार्थ राजसी'**—राजसी धारण-शक्तिसे मनुष्य अपनी कामनापूर्तिके लिये धर्मका अनुष्ठान करता है, काम अर्थात् भोग-पदार्थोंको भोगता है और अर्थ अर्थात् धनका संग्रह करता है।

अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात आदि अवसरोंपर दान करना, तीर्थोंमें अन्नदान करना; पर्वोंपर उत्सव मनाना; तीर्थयात्रा करना; धार्मिक संस्थाओंमें चन्दा-चिट्ठाके रूपमें कुछ चढ़ा देना; कभी कथा-कीर्तन, भागवत-सप्ताह आदि करवा लेना—यह सब केवल कामनापूर्तिके लिये करना ही 'धर्म' को धारण करना है*।

सांसारिक भोग-पदार्थ तो प्राप्त होने ही चाहिये; क्योंकि भोग-पदार्थोंसे ही सुख मिलता है, संसारमें कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो भोग-पदार्थोंकी कामना न करता हो; यदि मनुष्य भोगोंकी कामना न करे तो उसका जीवन ही व्यर्थ है—ऐसी धारणाके साथ भोग-पदार्थोंकी कामनापूर्तिमें ही लगे रहना 'काम' को धारण करना है।

धनके बिना दुनियामें किसीका भी काम नहीं चलता; धनसे ही धर्म होता है; यदि पासमें धन न हो तो आदमी धर्म कर ही नहीं सकता; जितने आयोजन किये जाते हैं, वे सब धनसे ही तो होते हैं; आज जितने आदमी बड़े कहलाते हैं, वे सब धनके कारण ही तो बड़े बने हैं; धन होनेसे ही लोग आदर-सम्मान करते हैं; जिसके पास धन नहीं होता, उसको संसारमें कोई पूछता ही नहीं; अतः धनका खूब

*** धर्मका अनुष्ठान धनके लिये किया जाय और धनका खर्चा धर्मके लिये किया जाय, तो धर्मसे धन और धनसे धर्म—दोनों परस्पर बढ़ते रहते हैं। परन्तु धर्मका अनुष्ठान और धनका खर्चा केवल कामनापूर्तिके लिये ही किया जाय तो धर्म (पुण्य) और धन—दोनों ही कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाते हैं।**

संग्रह करना चाहिये—इस प्रकार धनमें ही रचे-पचे रहना '**अर्थ**' को धारण करना है। संसारमें अत्यन्त राग (आसक्ति) होनेके कारण राजस पुरुष शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार जो कुछ भी शुभ काम करता है, उसमें उसकी यही कामना रहती है कि इस कर्मका मुझे इस लोकमें सुख, आराम, मान, सत्कार आदि मिले और परलोकमें सुख-भोग मिले। ऐसे फलकी कामनावाले तथा संसारमें अत्यन्त आसक्त मनुष्यकी धारण-शक्ति राजसी होती है।

सम्बन्ध—अब तामसी धृतिके लक्षण बताते हैं।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

पार्थ = हे पार्थ! **दुर्मेधाः** = दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य **यया** = जिस धृतिके द्वारा **स्वप्नम्** = निद्रा, **भयम्** = भय, **शोकम्** = चिन्ता, **विषादम्** = दुःख **च** = और **मदम्** = घमण्डको **एव** = भी **न** = नहीं **विमुञ्चति** = छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है, **सा** = वह **धृतिः** = धृति **तामसी** = तामसी है।

व्याख्या—'**यया स्वप्नं भयं····सा पार्थ तामसी**'—तामसी धारण-शक्तिके द्वारा मनुष्य ज्यादा निद्रा, बाहर और भीतरका भय, चिन्ता, दुःख और घमण्ड—इनका त्याग नहीं करता, प्रत्युत इन सबमें रचा-पचा रहता है। वह कभी ज्यादा नींदमें पड़ा रहता है, कभी मृत्यु, बीमारी, अपयश, अपमान, स्वास्थ्य, धन आदिके भयसे भयभीत होता रहता है, कभी शोक-चिन्तामें डूबा रहता है, कभी दुःखमें मग्न रहता है और कभी अनुकूल पदार्थोंके मिलनेसे घमण्डमें चूर रहता है।

निद्रा, भय, शोक आदिके सिवाय प्रमाद, अभिमान, दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुणोंको तथा हिंसा, दूसरोंका अपकार करना, उनको कष्ट देना, उनके धनका किसी तरहसे अपहरण करना आदि दुराचारोंको भी '**एव च**' पदोंसे मान लेना चाहिये।

इस प्रकार निद्रा, भय आदिको और दुर्गुण-दुराचारोंको पकड़े रहनेवाली अर्थात् उनको न छोड़नेवाली धृति तामसी होती है।

भगवान्‌ने तैंतीसवें-चौंतीसवें श्लोकोंमें '**धारयते**' पदसे सात्त्विक और राजस मनुष्यके द्वारा क्रमशः सात्त्विकी और राजसी धृतिको धारण करनेकी बात कही है; परन्तु यहाँ तामस मनुष्यके द्वारा तामसी धृतिको धारण करनेकी बात नहीं कही। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि बहुत ही दुष्टा है, जिसकी बुद्धिमें अज्ञता, मूढ़ता भरी हुई है, ऐसा मलिन अन्तःकरणवाला तामस मनुष्य निद्रा, भय, शोक आदि भावोंको छोड़ता ही नहीं। वह उनमें स्वाभाविक ही रचा-पचा रहता है।

सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इन तीनों धृतियोंके वर्णनमें राजसी और तामसी धृतिमें तो क्रमशः '**फलाकाङ्क्षी**' और '**दुर्मेधाः**' पदसे कर्ताका उल्लेख किया है, पर सात्त्विकी धृतिमें कर्ताका उल्लेख किया ही नहीं। इसका कारण यह है कि सात्त्विकी धृतिमें कर्ता निर्लिप्त रहता है अर्थात् उसमें कर्तृत्वका लेप नहीं होता; परन्तु राजसी और तामसी धृतिमें कर्ता लिप्त होता है।

विशेष बात

मानवशरीर विवेक-प्रधान है। मनुष्य जो कुछ करता है, उसे वह विचारपूर्वक ही करता है। वह ज्यों ही विचारपूर्वक काम करता है, त्यों ही विवेक ज्यादा स्पष्ट प्रकट होता है। सात्त्विक मनुष्यकी धृति-(धारणशक्ति-) में यह विवेक साफ-साफ प्रकट होता है कि मुझे तो केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है। राजस मनुष्यकी धृतिमें संसारके पदार्थों और भोगोंमें रागकी प्रधानता होनेके कारण विवेक वैसा स्पष्ट नहीं होता; फिर भी इस लोकमें सुख-आराम, मान-आदर मिले और परलोकमें अच्छी गति मिले, भोग मिले—इस विषयमें विवेक काम करता है और आचरण भी मर्यादाके अनुसार ही होता है। परन्तु तामस मनुष्यकी

धृतिमें विवेक बिलकुल ही दब जाता है। तामसभावोंमें उसकी इतनी दृढ़ता हो जाती है कि उसे उन भावोंको धारण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। वह तो निद्रा, भय आदि तामसभावोंमें ही रचा-पचा रहता है।

पारमार्थिक मार्गमें क्रिया इतना काम नहीं करती, जितना अपना उद्देश्य काम करता है। स्थूल क्रियाकी प्रधानता स्थूलशरीरमें, चिन्तनकी प्रधानता सूक्ष्मशरीरमें और स्थिरताकी प्रधानता कारणशरीरमें होती है, यह सब क्रिया ही है। 'क्रिया तो शरीरोंमें होती है, पर मेरेको तो केवल पारमार्थिक मार्गपर ही चलना है'—ऐसा उद्देश्य या लक्ष्य स्वयं-(चेतनस्वरूप-) में ही रहता है। स्वयंमें जैसा लक्ष्य होता है, उसके अनुसार स्वतः क्रियाएँ होती हैं। जो चीज स्वयंमें रहती है, वह कभी बदलती नहीं। उस लक्ष्यकी दृढ़ताके लिये सात्त्विकी बुद्धिकी आवश्यकता है और बुद्धिके निश्चयको अटल रखनेके लिये सात्त्विकी धृतिकी आवश्यकता है। इसलिये यहाँ तीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक कुल छः श्लोकोंमें छः बार '**पार्थ**' सम्बोधनका प्रयोग करके भगवान् साधकमात्रके प्रतिनिधि अर्जुनको चेताते हैं कि 'पृथानन्दन! लौकिक वस्तुओं और व्यक्तियोंके लिये चिन्ता न करके तुम अपने लक्ष्यको दृढ़तासे धारण किये रहो। अपनेमें कभी भी राजस-तामसभाव न आने पायें—इसके लिये निरन्तर सजग रहो!'

परिशिष्ट भाव—निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख, घमण्ड आदि दोष तो रहेंगे ही, दूर हो ही नहीं सकते—ऐसा निश्चय करनेवाले मनुष्य 'दुर्मेधा' हैं। ऐसे मनुष्योंका दोषोंको छोड़नेकी तरफ खयाल ही नहीं जाता, छोड़नेकी हिम्मत ही नहीं होती, प्रत्युत वे इनको स्वाभाविक ही धारण किये रहते हैं।

अधिक निद्रा ही बाधक होती है। आवश्यक, यथायोग्य निद्रा बाधक नहीं होती (गीता—छठे अध्यायका सोलहवाँ-सत्रहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—मनुष्योंकी कर्मोंमें प्रवृत्ति सुखके लोभसे ही होती है अर्थात् सुख कर्म-संग्रहमें हेतु है। अतः आगेके चार श्लोकोंमें सुखके भेद बताते हैं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

भरतर्षभ = हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!
इदानीम् = अब
त्रिविधम् = तीन प्रकारके
सुखम् = सुखको
तु = भी (तुम)
मे = मुझसे
शृणु = सुनो।
यत्र = जिसमें
अभ्यासात् = अभ्याससे
रमते = रमण होता है
च = और (जिससे)
दुःखान्तम् = दुःखोंका अन्त
निगच्छति = हो जाता है,
तत् = ऐसा वह
आत्मबुद्धि-प्रसादजम् = परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला
यत् = जो
सुखम् = सुख (सांसारिक आसक्तिके कारण)
अग्रे = आरम्भमें
विषम् = विषकी
इव = तरह
(और)
परिणामे = परिणाममें
अमृतोपमम् = अमृतकी तरह होता है,
तत् = वह (सुख)
सात्त्विकम् = सात्त्विक
प्रोक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या—'**भरतर्षभ**'—इस सम्बोधनको देनेमें भगवान्का भाव यह है कि भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तुम राजस-तामस सुखोंमें लुब्ध, मोहित होनेवाले नहीं हो; क्योंकि तुम्हारे लिये राजस और तामस सुखपर विजय करना कोई बड़ी बात नहीं है। तुमने राजस सुखपर विजय भी कर ली है; क्योंकि स्वर्गकी उर्वशी-जैसी सुन्दरी अप्सराको भी

तुमने ठुकरा दिया है। इसी प्रकार तुमने तामस सुखपर भी विजय कर ली है; क्योंकि प्राणिमात्रके लिये आवश्यक जो निद्राका तामस सुख है, उसको तुमने जीत लिया है। इसीसे तुम्हारा नाम 'गुडाकेश' हुआ है।

'सुखं तु इदानीम्'—ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृतिके तीन-तीन भेद बतानेके बाद यहाँ 'तु' पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि सुख भी तीन तरहका होता है। इसमें एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि आज पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले जितने भी साधक हैं, उन साधकोंकी ऊँची स्थिति न होनेमें अथवा उनको परमात्मतत्त्वका अनुभव न होनेमें अगर कोई विघ्न-बाधा है, तो वह है—सुखकी इच्छा।

सात्त्विक सुख भी आसक्तिके कारण बन्धनकारक हो जाता है। तात्पर्य है कि अगर साधनजन्य—ध्यान और एकाग्रताका सुख भी लिया जाय, तो वह भी बन्धनकारक हो जाता है। इतना ही नहीं, अगर समाधिका सुख भी लिया जाय, तो वह भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हो जाता है—**'सुखसंगेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)। इस विषयमें कोई कहे कि परमात्मतत्त्वका सुख आ जाय तो क्या उस सुखको भी हम न लें? वास्तवमें परमात्मतत्त्वका सुख लिया नहीं जाता, प्रत्युत उस अक्षय सुखका स्वतः अनुभव होता है (गीता—पाँचवें अध्यायका इक्कीसवाँ और छठे अध्यायका इक्कीसवाँ तथा अट्ठाईसवाँ श्लोक)। साधनजन्य सुखका भोग न करनेसे वह अक्षय सुख स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त हो जाता है। उस अक्षय सुखकी तरफ विशेष खयाल करानेके लिये भगवान् यहाँ **'तु'** पदका प्रयोग करते हैं।

यहाँ **'इदानीम्'** कहनेका तात्पर्य है कि अर्जुन संन्यास और त्यागके तत्त्वको जानना चाहते हैं; अतः उनकी जिज्ञासाके उत्तरमें भगवान्ने त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृतिके तीन-तीन भेद बताये। परन्तु इन सबमें ध्येय तो सुखका ही रहता है। अतः भगवान् कहते हैं कि तुम उसी ध्येयकी सिद्धिके लिये सुखके भेद सुनो।

'त्रिविधं शृणु मे'—लोग रात-दिन राजस और तामस सुखमें लगे रहते हैं और उसीको वास्तविक सुख मानते हैं। इस कारण 'सांसारिक भोगोंसे ऊँचा उठकर भी कोई सुख मिल सकता है; प्राणोंके मोहसे ऊँचा उठकर भी कोई सुख मिल सकता है; राजस और तामस सुखसे आगे भी कोई सात्त्विक सुख है; वे इन बातोंको समझ ही नहीं सकते। इसलिये भगवान् कहते हैं कि भैया! वह सुख तीन प्रकारका होता है, उनको तुम सुनो और उनमेंसे सात्त्विक सुखको ग्रहण करो और राजस-तामस सुखोंका त्याग करो। कारण कि सात्त्विक सुख परमात्माकी तरफ चलनेमें सहायता करनेवाला है और राजस-तामस सुख संसारमें फँसाकर पतन करनेवाले हैं।

'अभ्यासाद्रमते यत्र'—सात्त्विक सुखमें अभ्याससे रमण होता है। साधारण मनुष्योंको अभ्यासके बिना इस सुखका अनुभव नहीं होता। राजस और तामस सुखमें अभ्यास नहीं करना पड़ता। उसमें तो प्राणिमात्रका स्वतः-स्वाभाविक ही आकर्षण होता है।

राजस-तामस सुखमें इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर, मन-बुद्धिका भोग-संग्रहकी ओर तथा थकावट होनेपर निद्रा आदिकी ओर स्वतः आकर्षण होता है। विषयजन्य, अभिमानजन्य, प्रशंसाजन्य और निद्राजन्य सुख सभी प्राणियोंको स्वतः ही अच्छे लगते हैं। कुत्ते आदि जो नीच प्राणी हैं, उनका भी आदर करते हैं तो वे राजी होते हैं; और निरादर करते हैं तो नाराज हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि राजस और तामस सुखमें अभ्यासकी जरूरत नहीं है; क्योंकि इस सुखको सभी प्राणी अन्य योनियोंमें भी लेते आये हैं।

इस सात्त्विक सुखमें अभ्यास क्या है? श्रवण-मनन भी अभ्यास है, शास्त्रोंको समझना भी अभ्यास है और राजसी-तामसी वृत्तियोंको हटाना भी अभ्यास है। जिस राजस और तामस सुखमें प्राणिमात्रकी स्वतः-स्वाभाविक प्रवृत्ति हो रही है, उससे भिन्न नयी प्रवृत्ति करनेका नाम 'अभ्यास' है। सात्त्विक सुखमें अभ्यास करना तो आवश्यक है, पर रमण करना बाधक है।

यहाँ **'अभ्यासाद्रमते'** पदका यह भाव नहीं है कि सात्त्विक सुखका भोग किया जाय, प्रत्युत सात्त्विक सुखमें अभ्याससे ही रुचि, प्रियता, प्रवृत्ति आदिके होनेको ही यहाँ रमण करना कहा गया है।

'दुःखान्तं च निगच्छति'—उस सात्त्विक सुखमें अभ्याससे ज्यों-ज्यों रुचि, प्रियता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों परिणाममें दुःखोंका नाश होता जाता है और प्रसन्नता, सुख तथा आनन्द बढ़ते जाते हैं (गीता—दूसरे अध्यायका पैंसठवाँ श्लोक)।

'च' अव्यय देनेका तात्पर्य है कि जबतक सात्त्विक सुखमें रमण होगा अर्थात् साधक सात्त्विक सुख लेता रहेगा,

तबतक दु:खोंका अत्यन्त अभाव नहीं होगा। कारण कि सात्त्विक सुख भी परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा हुआ है—'**आत्मबुद्धिप्रसादजम्।**' जो उत्पन्न होनेवाला होता है, वह जरूर नष्ट होता है। ऐसे सुखसे दु:खोंका अन्त कैसे होगा? इसलिये सात्त्विक सुखमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। सात्त्विक सुखसे भी ऊँचा उठनेसे मनुष्य दु:खोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है, गुणातीत हो जाता है।

'**आत्मबुद्धिप्रसादजम्**'—जिस बुद्धिमें सांसारिक मान, बड़ाई, आदर, धन-संग्रह, विषयजन्य सुख आदिका महत्त्व नहीं रहता, केवल परमात्म-विषयक विचार ही रहता है, उस बुद्धिकी प्रसन्नता(गीता—दूसरे अध्यायका चौंसठवाँ श्लोक) अर्थात् स्वच्छतासे यह सात्त्विक सुख पैदा होता है। तात्पर्य है कि सांसारिक संयोगजन्य सुखसे सर्वथा उपरत होकर परमात्मामें बुद्धिके विलीन होनेपर जो सुख होता है, वह सुख सात्त्विक है।

'**यत्तदग्रे विषमिव**'—यहाँ '**यत्तत्**' कहनेका भाव यह है कि '**यत्**'—जो सात्त्विक सुख है; '**तत्**'—वह परोक्ष है अर्थात् उसका अभी अनुभव नहीं हुआ है। अभी तो उस सुखका केवल उद्देश्य बनाया है, जबकि राजस और तामस सुखका अभी अनुभव होता है। इसलिये अनुभवजन्य राजस और तामस सुखका त्याग करनेमें कठिनता आती है और लक्ष्यरूपमें जो सात्त्विक सुख है, उसकी प्राप्तिके लिये किया हुआ रसहीन परिश्रम (अभ्यास) आरम्भमें जहरकी तरह लगता है—'**अग्रे विषमिव।**' तात्पर्य यह है कि अनुभवजन्य राजस और तामस सुखका तो त्याग कर दिया और लक्ष्यवाला सात्त्विक सुख मिला नहीं—उसका रस अभी मिला नहीं; इसलिये वह सात्त्विक सुख आरम्भमें जहरकी तरह प्रतीत होता है।

राजस और तामस सुखको अनेक योनियोंमें भोगते आये हैं और उसे इस जन्ममें भी भोगा है। उस भोगे हुए सुखकी स्मृति आनेसे राजस और तामस सुखमें स्वाभाविक ही मन लग जाता है। परन्तु सात्त्विक सुख उतना भोगा हुआ नहीं है; इसलिये इसमें जल्दी मन नहीं लगता। इस कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह लगता है।

वास्तवमें सात्त्विक सुख विषकी तरह नहीं है, प्रत्युत राजस और तामस सुखका त्याग विषकी तरह होता है। जैसे, बालकको खेल-कूद छोड़कर पढ़ाईमें लगाया जाय तो उसको पढ़ाईमें कैदीकी तरह होकर अभ्यास करना पड़ता है। पढ़ाईमें मन नहीं लगता तथा इधर उच्छृंखलता, खेल-कूद छूट जाता है, तो उसको पढ़ाई विषकी तरह मालूम देती है। परन्तु वही बालक पढ़ता रहे और एक-दो परीक्षाओंमें पास हो जाय तो उसका पढ़ाईमें मन लग जाता है अर्थात् उसको पढ़ाई अच्छी लगने लग जाती है। तब उसकी पढ़ाईके अभ्याससे रुचि, प्रियता होने लगती है।

वास्तवमें देखा जाय तो सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह उन्हीं लोगोंके लिये होता है, जिनका राजस और तामस सुखमें राग है। परन्तु जिनको सांसारिक भोगोंसे स्वाभाविक वैराग्य है, जिनकी पारमार्थिक शास्त्राध्ययन, सत्संग, कथा-कीर्तन, साधन-भजन आदिमें स्वाभाविक रुचि है और जिनके ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृति सात्त्विक हैं, उन साधकोंको यह सात्त्विक सुख आरम्भसे ही अमृतकी तरह आनन्द देनेवाला होता है। उनको इसमें कष्ट, परिश्रम, कठिनता आदि मालूम ही नहीं देते।

'**परिणामेऽमृतोपमम्**'—साधन करनेसे साधकमें सत्त्वगुण आता है। सत्त्वगुणके आनेपर इन्द्रियों और अन्त:करणमें स्वच्छता, निर्मलता, ज्ञानकी दीप्ति, शान्ति, निर्विकारता आदि सद्भाव-सद्गुण प्रकट हो जाते हैं*। इन सद्गुणोंका प्रकट होना ही सात्त्विक सुखका परिणाममें अमृतकी तरह होना है। इसका उपभोग न करनेसे अर्थात् इसमें रस न लेनेसे वास्तविक अक्षय सुखकी प्राप्ति हो जाती है (गीता—पाँचवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

परिणाममें सात्त्विक सुख राजस और तामस सुखसे ऊँचा उठाकर जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है और इसमें आसक्ति न होनेसे अन्तमें परमात्माकी प्राप्ति करा देता है। इसलिये यह परिणाममें अमृतकी तरह है।

'**तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्**'—सत्संग, स्वाध्याय, संकीर्तन, जप, ध्यान, चिन्तन आदिसे जो सुख होता है, वह मान, बड़ाई, आराम, रुपये, भोग आदि विषयेन्द्रिय-सम्बन्धका नहीं है और प्रमाद, आलस्य, निद्राका भी नहीं है। वह तो परमात्माके सम्बन्धका है। इसलिये वह सुख सात्त्विक कहा गया है।

* **सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गुण अन्त:करणमें अमूर्तरूपसे रहते हैं। इनका पता वृत्तियोंसे ही लगता है, जिसका वर्णन चौदहवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक हुआ है।**

परिशिष्ट भाव—चौदहवें अध्यायमें तो सात्त्विक सुखको बाँधनेवाला बताया था—'**सुखसंगेन बध्नाति**' (१४। ६), पर यहाँ उसको दुःखोंका नाश करनेवाला बताते हैं—'**दुःखान्तं च निगच्छति**'। इसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक सुखमें रमण (भोग) करनेसे वह बाँधनेवाला हो जाता है अर्थात् गुणातीत नहीं होने देता। अगर रमण न करे तो वह सात्त्विक सुख दुःखोंका नाश करनेवाला हो जाता है। सुख भोगनेसे दुःखका नाश नहीं होता। भोगका त्याग करनेसे ही योग होता है। इसलिये सात्त्विक सुखसे भी असंगता होनी चाहिये। संग होनेसे बन्धनकारक रजोगुण आ जाता है। सत्त्वगुणमें रजोगुण आनेसे पतन होता है।

विवेकको महत्त्व न देनेके कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह दीखता है। राजस मनुष्य विवेकको आदर नहीं देता। अतः सात्त्विक सुखका आरम्भमें विषकी तरह दीखना राजसपना है। तात्पर्य है कि सात्त्विक सुख दुःखदायी नहीं होता, प्रत्युत मनुष्यकी बुद्धिमें राजसपना होनेसे सात्त्विक सुख भी उसको विषकी तरह दुःखदायी दीखता है। उसका उद्देश्य तो सात्त्विक सुखका है, पर भीतर राजस भाव पड़ा है।

सम्बन्ध—अब राजस सुखका वर्णन करते हैं।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यत्	= जो	**अग्रे**	= आरम्भमें		(अतः)
सुखम्	= सुख	**अमृतोपमम्**	= अमृतकी तरह (और)	**तत्**	= वह (सुख)
विषयेन्द्रियसंयोगात्	= इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे (होता है),	**परिणामे**	= परिणाममें	**राजसम्**	= राजस
		विषम्	= विषकी	**स्मृतम्**	= कहा गया है।
तत्	= वह	**इव**	= तरह प्रतीत होता है;		

व्याख्या—'**विषयेन्द्रियसंयोगात्**'—विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला जो सुख है, उसमें अभ्यास नहीं करना पड़ता। कारण कि यह प्राणी किसी भी योनिमें जाता है, वहाँ उसको विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला सुख मिलता ही है। शब्द, स्पर्श आदि पाँचों विषयोंका सुख पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी प्राणियोंको मिलता है। अतः उस सुखमें प्राणिमात्रका स्वाभाविक अभ्यास रहता है। मनुष्यजीवनमें भी बचपनसे देखा जाय तो अनुकूलतामें राजी होना और प्रतिकूलतामें नाराज होना स्वाभाविक ही होता आया है। इसलिये इस राजस सुखमें अभ्यासकी जरूरत नहीं है।

'**यत्तदग्रेऽमृतोपमम्**'—राजस सुखको आरम्भमें अमृतकी तरह कहनेका भाव यह है कि सांसारिक विषयोंकी प्राप्तिकी सम्भावनाके समय मनमें जितना सुख होता है, उतना सुख मस्ती और राजीपन विषयोंके मिलनेपर नहीं रहता। मिलनेपर भी आरम्भमें (संयोग होते ही) जैसा सुख होता है, थोड़े समयके बाद वैसा सुख नहीं रहता और उस विषयको भोगते-भोगते जब भोगनेकी शक्ति क्षीण हो जाती है, उस समय सुख नहीं होता, प्रत्युत विषयभोगसे अरुचि हो जाती है। भोग भोगनेकी शक्ति क्षीण होनेके बाद भी अगर विषयोंको भोगा जाय तो दुःख, जलन पैदा हो जाती है, चित्तमें सुख नहीं रहता, इसलिये यह राजस सुख आरम्भमें अमृतकी तरह दीखता है।

अमृतकी तरह कहनेका दूसरा भाव यह है कि जब मन विषयोंमें खिंचता है,तब मनको वे विषय बड़े प्यारे लगते हैं। विषयों और भोगोंकी बातें सुननेमें जितना रस आता है, उतना भोगोंमें नहीं आता। इसलिये गीतामें आया है—'**यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः**' (२। ४२); राजस पुरुष स्वर्गके भोगोंका सुख सुनते हैं तो उनको वह सुख बड़ा प्रिय लगता है और वे उसके लिये ललचा उठते हैं। तात्पर्य है कि वे स्वर्गके सुख दूरसे सुनकर ही बड़े प्रिय लगते हैं; परन्तु स्वर्गमें जाकर सुख भोगनेसे उनको उतना सुख नहीं मिलता और वह उतना प्रिय भी नहीं लगता!

'**परिणामे विषमिव**'—आरम्भमें विषय बड़े सुन्दर लगते हैं, उनमें बड़ा सुख मालूम देता है; परन्तु उनको भोगते-भोगते जब परिणाममें वह सुख नीरसतामें परिणत

हो जाता है, उस सुखमें बिलकुल अरुचि हो जाती है, तब वही सुख जहरकी तरह मालूम देता है।

संसारमें जितने प्राणी कैदमें पड़े हैं, जितने चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें पड़े हैं, उसका कारण देखा जाय तो उन्होंने विषयोंका भोग किया है, उनसे सुख लिया है, इसीसे वे कैद, नरक आदिमें दुःख पा रहे हैं; क्योंकि राजस सुखका परिणाम दुःख होता ही है—**'रजसस्तु फलं दुःखम्'** (गीता १४। १६)।

आज भी जो लोग घबरा रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं, वे सब पदार्थोंके रागके कारण ही दुःख पा रहे हैं। जो धनी होकर फिर निर्धन हो गया है, वह जितना दुःखी और संतप्त है, उतना दुःख और सन्ताप स्वाभाविक निर्धनको नहीं है; क्योंकि उसके भीतर सुखके संस्कार अधिक नहीं पड़े हैं। परन्तु धनीने राजस सुख अधिक भोगा है, उसके भीतर सुखके संस्कार अधिक पड़े हैं, इसलिये उसको धनके अभावका दुःख ज्यादा है। जैसे, जो मनुष्य तरह-तरहकी सामग्री भोजन करनेवाला है, उसके भोजनमें कभी थोड़ी-सी भी कमी रह जाय तो उसको वह कमी बड़ी खटकती है कि आज भोजनमें चटनी नहीं है, खटाई नहीं है, मिठाई नहीं है, अमुक-अमुक चीज नहीं है—इस प्रकार नहीं-नहींका ही ताँता लगा रहता है। परन्तु साधारण आदमी बाजरेकी रूखी-सूखी रोटी खाकर भी मौजसे रहता है, उसको भोजनमें किसी चीजकी कमी खटकती ही नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थोंके संयोगसे जितना ज्यादा सुख लिया है, उतना ही उसके अभावका अनुभव होता है। अभावके अनुभवमें दुःख ही होता है।

जिस पदार्थकी कामना होती है, उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य उद्योग करते हैं। उद्योग करनेपर भी वस्तु मिलेगी या नहीं मिलेगी, इसमें संदेह रहता है। वस्तु न मिले तो उसके अभावका दुःख होता है, और वस्तु मिल जाय तो उस वस्तुको और भी अधिक प्राप्त करनेकी इच्छा हो जाती है। इस प्रकार इच्छापूर्ति नयी इच्छाका कारण बन जाती है और इच्छापूर्ति तथा फिर इच्छाकी उत्पत्ति—यह चक्कर चलता ही रहता है, इसका कभी अन्त नहीं आता। तात्पर्य यह है कि इच्छा कभी मिटती नहीं और इच्छाके रहते हुए अभाव खटकता रहता है। यह अभाव ही विषकी तरह है अर्थात् दुःखदायी है।

जब राजस सुख परिणाममें विषकी तरह है, तो फिर राजस सुख लेनेवाले जितने लोग हैं, उन सबको सुखभोगके अन्तमें मर जाना चाहिये? परन्तु राजस सुख विषकी तरह मारता नहीं, प्रत्युत विषकी तरह अरुचिकारक हो जाता है। उसमें पहले जैसी रुचि होती है, वैसी रुचि अन्तमें नहीं रहती अर्थात् वह सुख विषकी तरह हो जाता है, साक्षात् विष नहीं होता।

राजस सुख विषकी तरह क्यों होता है? कारण कि विष तो एक जन्ममें ही मारता है, पर राजस सुख कई जन्मोंतक मारता है। राजस सुख लेनेवाला रागी पुरुष शुभ कर्म करके यदि स्वर्गमें भी चला जाता है, तो वहाँ भी उसको सुख, शान्ति नहीं मिलती। स्वर्गमें भी अपनेसे ऊँची श्रेणीवालोंको देखकर ईर्ष्या होती है कि ये हमारेसे ऊँचे क्यों हो गये! समान पदवालोंको देखकर दुःख होता है कि ये हमारे समान पदपर आकर क्यों बैठ गये! और नीची श्रेणीवालोंको देखकर अभिमान आता है कि हम इनसे ऊँचे हैं! इस प्रकार उसके मनमें ईर्ष्या, दुःख और अभिमान होते ही रहते हैं, फिर उसके मनमें सुख कहाँ और शान्ति कहाँ? इतना ही नहीं, पुण्योंके क्षीण हो जानेपर उसको पुनः मृत्युलोकमें आना पड़ता है—**'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** (गीता ९। २१)। यहाँ आकर फिर शुभ-कर्म करता है और फिर स्वर्गमें जाता है। इस प्रकार जन्म-मरणके चक्करमें चढ़ा ही रहता है—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (९। २१)। यदि वह रागके कारण पाप-कर्मोंमें लग जाता है तो परिणाममें चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें पड़ता हुआ न जाने कितने जन्मोंतक जन्मता-मरता रहता है, जिसका कोई अन्त नहीं आता। इसलिये इस सुखको विषकी तरह कहा गया है।

'तत्सुखं राजसं स्मृतम्'—सात्त्विक सुखके लिये तो (सैंतीसवें श्लोकमें) **'प्रोक्तम्'** पद कहा है, पर राजस सुखके लिये यहाँ **'स्मृतम्'** पद कहनेका तात्पर्य है कि पहले भी मनुष्यने राजस सुखका फल दुःख पाया है; परन्तु रागके कारण वह संयोगकी तरफ पुनः ललचा उठता है। कारण कि संयोगका प्रभाव उसपर पड़ा हुआ है और परिणामके प्रभावको वह स्वीकार नहीं करता। अगर वह परिणामके प्रभावको स्वीकार कर ले, तो फिर वह राजस सुखमें फँसेगा नहीं। स्मृति, शास्त्र, पुराण आदिमें ऐसे बहुत-से इतिहास आते हैं, जिनमें मनुष्योंके द्वारा राजस सुखके कारण बहुत दुःख पानेकी बात आयी है। इसी बातको स्मरण करानेके लिये यहाँ **'स्मृतम्'** पद आया है।

जिसकी वृत्ति जितनी सात्त्विक होती है, वह उतना ही हरेक विषयके परिणामकी तरफ देखता है। अभीके

तात्कालिक सुखकी तरफ वह ध्यान नहीं देता। परंतु राजसी वृत्तिवाला परिणामकी तरफ देखता ही नहीं, उसकी वृत्ति तात्कालिक सुखकी तरफ ही जाती है। इसलिये वह संसारमें फँसा रहता है। राजस पुरुषको संसारका सम्बन्ध वर्तमानमें तो अच्छा मालूम देता है; परन्तु परिणाममें यह हानिकारक है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५। २२)। इसलिये साधकको संसारसे विरक्त हो जाना चाहिये; राजस सुखमें नहीं फँसना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—सांसारिक भोगोंका सुख आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है। अविवेकी मनुष्य आरम्भको ही महत्त्व देता है। आरम्भ तो सदा रहता नहीं, पर उसकी कामना सदा रहती है, जो सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। परन्तु विवेकी मनुष्य आरम्भको न देखकर परिणामको देखता है, इसलिये वह भोगोंमें आसक्त नहीं होता—**'न तेषु रमते बुधः'** (गीता ५। २२)। परिणामको देखनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है। परिणामको न देखना पशुता है।

वास्तवमें आरम्भ (संयोग) मुख्य नहीं है, प्रत्युत अन्त (वियोग) ही मुख्य है। मनुष्य आरम्भकालको चाहता है, पर वह रहता नहीं; क्योंकि प्रत्येक संयोगका वियोग होता है—यह नियम है। आरम्भ अनित्य होता है, पर अन्त नित्य होता है। अनित्यकी इच्छासे ही दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। संसारमात्रका वियोग ही नित्य है। परन्तु राजसी वृत्तिके कारण संयोग अच्छा मालूम देता है। अगर मनुष्य आरम्भकालके सुखको महत्त्व न दे तो दुःख कभी आयेगा ही नहीं। आरम्भको देखनेसे भोग होता है और परिणामको देखनेसे योग होता है।

संसारके संयोगमें जो सुख प्रतीत होता है, उसमें दुःख भी मिला हुआ रहता है। परन्तु संसारके वियोगसे सुख-दुःखसे अतीत अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है।

सम्बन्ध—अब तामस सुखका वर्णन करते हैं।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

निद्रालस्य-प्रमादोत्थम्	= निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला	**सुखम्**	= सुख	**आत्मनः**	= अपनेको
		अग्रे	= आरम्भमें	**मोहनम्**	= मोहित करनेवाला है,
		च	= और	**तत्**	= वह (सुख)
		अनुबन्धे	= परिणाममें	**तामसम्**	= तामस
यत्	= जो	**च**	= भी	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

*व्याख्या—***'निद्रालस्यप्रमादोत्थम्'—**जब राग अत्यधिक बढ़ जाता है, तब वह तमोगुणका रूप धारण कर लेता है। इसीको मोह कहते हैं। इस मोह-(मूढता-)के कारण मनुष्यको अधिक सोना अच्छा लगता है। अधिक सोनेवाले मनुष्यको गाढ़ नींद नहीं आती। गाढ़ नींद न आनेसे तन्द्रा ज्यादा आती है और स्वप्न भी ज्यादा आते हैं। तन्द्रा और स्वप्नमें तामस मनुष्यका बहुत समय बरबाद हो जाता है। परन्तु तामस मनुष्यको इसीसे ही सुख मिलता है, इसलिये इस सुखको निद्रासे उत्पन्न बताया है।

जब तमोगुण अधिक बढ़ जाता है, तब मनुष्यकी वृत्तियाँ भारी हो जाती हैं। फिर वह आलस्यमें समय बरबाद कर देता है। आवश्यक काम सामने आनेपर वह कह देता है कि 'फिर कर लेंगे, अभी तो आराम कर रहे हैं।' इस प्रकार आलस्य-अवस्थामें उसको सुख मालूम देता है। परन्तु निकम्मा रहनेके कारण उसकी इन्द्रियों और अन्तःकरणमें शिथिलता आ जाती है, मनमें संसारका फालतू चिन्तन होता रहता है और मनमें अशान्ति, शोक, विषाद, चिन्ता, दुःख होते रहते हैं।

जब इससे भी अधिक तमोगुण बढ़ जाता है, तब मनुष्य प्रमाद करने लग जाता है। वह प्रमाद दो तरहका होता है—अक्रिय प्रमाद और सक्रिय प्रमाद। घर, परिवार, शरीर आदिके आवश्यक कामोंको न करना और निठल्ले बैठे रहना 'अक्रिय प्रमाद'* है। व्यर्थ क्रियाएँ (देखना, सुनना,

*** आलस्य और अक्रिय प्रमाद एक-जैसे दीखते हुए भी उनमें थोड़ा अन्तर है। आलस्यमें वृत्तियोंके भारी होनेसे सुख होता है और अक्रिय प्रमादमें कर्तव्य-कर्मोंको छोड़नेसे सुख होता है।**

सोचना आदि) करना; बीड़ी, सिगरेट, शराब, भाँग, तम्बाकू, खेल-तमाशा आदि दुर्व्यसनोंमें लगना और चोरी, डकैती, झूठ, कपट, बेईमानी, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षण आदि दुराचारोंमें लगना 'सक्रिय प्रमाद' है।

प्रमादके कारण तामस पुरुषोंको निरर्थक समय बरबाद करनेमें तथा झूठ, कपट, बेईमानी आदि करनेमें सुख मिलता है। जैसे काम-धंधा करनेवाले पैसे (मजदूरी या वेतन) तो पूरे ले लेते हैं, पर काम पूरा और ठीक ढंगसे नहीं करते। चिकित्सकलोग रोगियोंका ठीक ढंगसे इलाज नहीं करते, जिससे रोगीलोग बार-बार आते रहें और पैसे देते रहें। दूध बेचनेवाले पैसोंके लोभमें दूधमें पानी मिलाकर बेचते हैं। पैसे अधिक देनेपर भी वे पानी मिलाना नहीं छोड़ते। ऐसे पापरूप प्रमादसे उनको घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है।

जब तमोगुणी प्रमाद-वृत्ति आती है, तब वह सत्त्वगुणके विवेक-ज्ञानको ढक देती है और जब तमोगुणी निद्रा-आलस्य-वृत्ति आती है, तब वह सत्त्वगुणके प्रकाशको ढक देती है। विवेक-ज्ञानके ढकनेपर प्रमाद होता है तथा प्रकाशके ढकनेपर आलस्य और निद्रा आती है। तामस पुरुषको निद्रा, आलस्य और प्रमाद—तीनोंसे सुख मिलता है, इसलिये तामस सुखको इन तीनोंसे उत्पन्न बताया गया है।

विशेष बात

निद्रा दो प्रकारकी होती है—युक्तनिद्रा और अतिनिद्रा।

(१) **'युक्तनिद्रा'**—निद्रामें एक विश्राम मिलता है। विश्रामसे शरीर, मन, बुद्धि, अन्तःकरणमें नीरोगता, स्फूर्ति, स्वच्छता, निर्मलता और ताजगी आती है। ताजगी आनेसे साधन-भजन करनेमें और सांसारिक काम करनेमें भी शक्ति मिलती है और उत्साह रहता है। इसलिये युक्तनिद्रा दोषी नहीं है, प्रत्युत सबके लिये आवश्यक है। भगवान्‌ने भी युक्तनिद्राको आवश्यक बताया है—**'युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा'** (गीता ६। १७)।

ताजगीमात्रके लिये निद्रा साधकके लिये आवश्यक है। जिस साधकके रागपूर्वक सांसारिक संकल्प नहीं होते, उसको नींद बहुत जल्दी आ जाती है और जो ज्यादा संकल्पशील है, उसको नींद जल्दी नहीं आती। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसारका जो सम्बन्ध है, वह निद्राका सुख भी नहीं लेने देता। निद्रा आवश्यक क्यों है? कारण कि निद्रामें जो स्थिर तत्त्व है, वह साधकको साधनमें प्रवृत्त करनेमें और सांसारिक कार्य करनेमें बल देता है, इसलिये निद्रा आवश्यक है।

यद्यपि नींद तामसी है, तथापि नींदका जो बेहोशीपना है, वह त्याज्य है और जो विश्रामपना है, वह ग्राह्य है। परन्तु हरेक आदमी बेहोशीके बिना विश्रामपना ग्रहण नहीं कर सकता; अतः उनके लिये नींदका बेहोशीभाग भी ग्राह्य है। हाँ, जो साधना करके ऊँचे उठ गये हैं, उनको नींदके बेहोशीभागके बिना भी जाग्रत्-सुषुप्तिमें विश्राम मिल जाता है। कारण कि जाग्रत्-अवस्थामें संसारके चिन्तनका सर्वथा त्याग होकर परमात्मतत्त्वमें स्थिति हो जाती है तो महान् विश्राम, सुख मिलता है; इस स्थितिसे भी असंग होनेपर वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

जो साधक हैं, उनको विश्रामके लिये नहीं सोना चाहिये। उनका तो यही भाव होना चाहिये कि पहले काम-धंधा करते हुए भगवान्‌का भजन करते थे, अब लेटे-लेटे भजन करना है।

(२) **'अतिनिद्रा'**—समयपर सोना और समयपर जागना युक्तनिद्रा है और अधिक सोना अतिनिद्रा है। अतिनिद्राके आदि और अन्तमें शरीरमें आलस्य भरा रहता है। शरीरमें भारीपन रहता है। अधिक नींद लेनेका स्वभाव होनेसे हरेक कार्यमें नींद आती रहती है।

चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने पहले प्रमादको, दूसरे नम्बरमें आलस्यको और तीसरे नम्बरमें निद्राको रखा है—**'प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।'** परन्तु यहाँ पहले निद्राको, दूसरे नम्बरमें आलस्यको और तीसरे नम्बरमें प्रमादको रखा है—**'निद्रालस्यप्रमादोत्थम्।'** इस व्यतिक्रमका कारण यह है कि वहाँ इन तीनोंके द्वारा मनुष्यको बाँधनेका प्रसंग है और यहाँ मनुष्यका पतन करनेका प्रसंग है। बाँधनेके विषयमें प्रमाद सबसे अधिक बन्धनकारक है; अतः इसको सबसे पहले रखा है। कारण कि प्रमाद निषिद्ध आचरणोंमें प्रवृत्त करता है, जिससे अधोगति होती है। आलस्य केवल अच्छी प्रवृत्तिको रोकनेवाला होनेसे इसको दो नम्बरमें रखा है। निद्रा आवश्यक होनेसे बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत अतिनिद्रा ही बन्धनकारक है; अतः इसको तीसरे नम्बरमें रखा है। यहाँ उससे उलटा क्रम रखनेका अभिप्राय है कि सबके लिये आवश्यक होनेसे निद्रा इतना पतन करनेवाली नहीं है। निद्रासे अधिक आलस्य पतन करता है और आलस्यसे भी अधिक प्रमाद पतन करता है। कारण कि मनुष्य ज्यादा नींद लेगा तो वृक्ष आदि मूढ़ योनियोंकी प्राप्ति होगी; परन्तु

आलस्य और प्रमाद करेगा तो कर्तव्यच्युत होकर दुराचार करनेसे नरकमें जाना पड़ेगा[१]।

'यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः'—निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख आरम्भमें और परिणाममें अपनेको मोहित करनेवाला है। इस सुखमें न तो आरम्भमें विवेक रहता है और न परिणाममें विवेक रहता है अर्थात् यह सुख विवेकको जाग्रत् नहीं होने देता। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदिमें भी विवेक-शक्ति जाग्रत् न रहनेसे वे क्रियाके आरम्भ और परिणामको सोच नहीं पाते। ऐसे ही जिस सुखके कारण मनुष्य यह सोच ही नहीं सकता कि इस निद्रा आदिसे उत्पन्न हुए सुखका परिणाम हमारे लिये क्या होगा? उससे क्या लाभ होगा? क्या हानि होगी? क्या हित होगा? क्या अहित होगा? उस सुखको तामस कहा गया है—**'तत्तामसमुदाहृतम्।'**

विशेष बात

(१) **प्रकृति और पुरुष**—दोनों अनादि हैं, और 'ये दो हैं' इस प्रकार इनकी पृथक्ताका विवेक भी अनादि है। यह विवेक पुरुषमें ही रहता है, प्रकृतिमें नहीं। जब यह पुरुष इस विवेकका अनादर करके अविवेकके कारण प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब इस सम्बन्धके कारण पुरुषमें राग पैदा हो जाता है[२]।

जब राग बहुत सूक्ष्म रहता है, तब विवेक प्रबल रहता है। जब राग बढ़ जाता है, तब विवेक दब जाता है, मिटता नहीं। पर विवेक ठीक तरहसे जाग्रत् हो जाय तो फिर राग टिकता नहीं अर्थात् रागका अभाव हो जाता है और उस समय पुरुष मुक्त कहलाता है।

उस रागके कारण मनुष्यकी प्रकृतिजन्य सुखमें आसक्ति हो जाती है। उस आसक्तिके रहते हुए जब मनुष्य किसी कारणवश सात्त्विक सुखको प्राप्त करना चाहता है, तब राजस और तामस सुखका त्याग करनेमें उसे कठिनता मालूम देती है—**'यत्तदग्रे विषमिव।'** परन्तु जब राग मिट जाता है, तब वह सुख अमृतकी तरह हो जाता है—**'परिणामेऽमृतोपमम्।'**

रागके कारण ही रजोगुणी सुख आरम्भमें अमृतकी तरह दीखता है। पर वह सुख परिणाममें प्राणीके लिये जहरकी तरह अनिष्टकारक अर्थात् महान् दुःखरूप हो जाता है। प्रकृतिजन्य सुखकी आसक्ति होनेपर दुःखकी परम्पराका कोई अन्त नहीं आता।

जब वही राग तमोगुणका रूप धारण कर लेता है, तब मनुष्यकी वृत्तियाँ भारी हो जाती हैं। फिर मनुष्य नींद और आलस्यमें समय बरबाद कर देता है तथा आवश्यक कर्तव्यसे विमुख होकर अकर्तव्यमें लग जाता है। परन्तु तामस पुरुषको इन्हींमें सुख मालूम देता है। इसलिये यह तामस सुख आदि और अन्तमें मोहित करनेवाला है।

(२) जो प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है, वह वास्तवमें 'नहीं' है। पर जो 'नहीं' को प्रकाशित करनेवाला तथा उसका आधार है, वह वास्तवमें 'है' तत्त्व है। उसी तत्त्वको 'सच्चिदानन्द' कहते हैं। निरन्तर सत्तारूपसे रहनेके कारण उसे 'सत्' कहते हैं, ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसे 'चित्' कहते हैं और आनन्दस्वरूप होनेके कारण उसे 'आनन्द' कहते हैं। उस सच्चिदानन्द परमात्माका ही अंश होनेसे यह प्राणी भी सच्चिदानन्दस्वरूप है। परन्तु जब प्राणी असत् वस्तुकी इच्छा करता है कि अमुक वस्तु मुझे मिले, तब उस इच्छासे वह स्वतःस्वाभाविक आनन्द—सुख ढक जाता है। जब असत् वस्तुकी इच्छा मिट जाती है, तब उस इच्छाके मिटते ही वह स्वतःस्वाभाविक सुख प्रकट हो जाता है।

नित्य-निरन्तर रहनेवाला जो सुखरूप 'तत्त्व' है, उसमें जब सात्त्विकी बुद्धि तल्लीन हो जाती है, तब बुद्धिमें स्वच्छता, निर्मलता आ जाती है। उस स्वच्छ और निर्मल बुद्धिसे अनुभवमें आनेवाला वह स्वाभाविक सुख ही सात्त्विक कहलाता है। बुद्धिसे भी जब सम्बन्ध छूट जाता है, तब वास्तविक सुख रह जाता है। सात्त्विकी बुद्धिके सम्बन्धसे ही

१-तमोगुणकी वृत्ति जो प्रमाद है, वह तो अच्छी प्रवृत्तिको रोककर खेल-कूद आदि सामान्य फालतू क्रियाओंमें लगाता है; परन्तु जब प्रमादके साथ राग मिल जाता है (जो कि रजोगुणका रूप है), तब उससे कामना पैदा हो जाती है। कामनासे फिर अनेक तरहके पाप, अनर्थ होते हैं, जिनका परिणाम बड़ा भयंकर होता है।

२-रागसे अनेक विकार पैदा होते हैं, पर वे सब विकार प्रकृतिमें ही होते हैं, पुरुषमें नहीं। प्रकृतिके साथ तादात्म्य होनेसे पुरुष प्रकृतिके उन विकारोंको अपनेमें मान लेता है तो यह पुरुष भोगी हो जाता है। परन्तु जब इसको यह बोध हो जाता है कि विकार आते हैं और जाते हैं, उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, पर विकारोंके आदि और अन्तको देखनेवाली अपनी नित्य सत्ता ज्यों-की-त्यों ही रहती है, तब उस अवस्थामें पुरुष योगी हो जाता है।

उस सुखकी 'सात्त्विक' संज्ञा होती है। बुद्धिसे सम्बन्ध छूटते ही उसकी 'सात्त्विक' संज्ञा नहीं रहती।

मनमें जब किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, तब वह वस्तु मनमें बस जाती है अर्थात् मन और बुद्धिका उसके साथ सम्बन्ध हो जाता है। जब वह मनोवांछित वस्तु मिल जाती है, तब वह वस्तु मनसे निकल जाती है अर्थात् वस्तुका मनमें जो खिंचाव था, वह निकल जाता है। उसके निकलते ही अर्थात् वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही वस्तुके अभावका जो दुःख था, वह निवृत्त हो जाता है और नित्य रहनेवाले स्वतःसिद्ध सुखका तात्कालिक अनुभव हो जाता है। वास्तवमें यह सुख वस्तुके मिलनेसे नहीं हुआ है, प्रत्युत रागके तात्कालिक मिटनेसे हुआ है, पर राजस पुरुष भूलसे उस सुखको वस्तुके मिलनेसे होनेवाला मान लेता है। वास्तवमें देखा जाय तो वस्तुका संयोग बाहरसे होता है और प्रसन्नता भीतरसे होती है। भीतरसे जो प्रसन्नता होती है, वह बाहरके संयोगसे पैदा नहीं होती, प्रत्युत भीतर (मनमें) बसी हुई वस्तुके साथ जो सम्बन्ध था, उस वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर पैदा होती है। तात्पर्य यह है वस्तुके मिलते ही अर्थात् बाहरसे वस्तुका संयोग होते ही भीतरसे उस वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्य रहनेवाले स्वाभाविक सुखका आभास हो जाता है।

जब नींदमें बुद्धि तमोगुणमें लीन हो जाती है, तब बुद्धिकी स्थिरताको लेकर वह सुख प्रकट हो जाता है। कारण कि तमोगुणके प्रभावसे नींदमें जाग्रत् और स्वप्नके पदार्थोंकी विस्मृति हो जाती है। पदार्थोंकी स्मृति दुःखोंका कारण है। पदार्थोंकी विस्मृति होनेसे निद्रावस्थामें पदार्थोंका वियोग हो जाता है तो उस वियोगके कारण स्वाभाविक सुखका आभास होता है, इसीको निद्राका सुख कहते हैं। परन्तु बुद्धिकी मलिनतासे वह स्वाभाविक सुख जैसा है, वैसा अनुभवमें नहीं आता। तात्पर्य है कि बुद्धिके तमोगुणी होनेसे बुद्धिमें स्वच्छता नहीं रहती और स्वच्छता न रहनेसे वह सुख स्पष्ट अनुभवमें नहीं आता। इसलिये निद्राके सुखको तामस कहा गया है*।

इन सबका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक मनुष्यको संसारसे विमुख होकर तत्त्वमें बुद्धिके तल्लीन होनेसे सुख होता है; राजस मनुष्यको रागके कारण अन्तःकरणमें बसी हुई वस्तुके बाहर निकलनेसे सुख होता है और तामस मनुष्यको वस्तुओंके लिये किये जानेवाले कर्तव्य-कर्मोंकी विस्मृतिसे और निरर्थक क्रियाओंमें लगनेसे सुख होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो नित्य-निरन्तर रहनेवाला सुखरूप तत्त्व है, वह असत्के सम्बन्धसे आच्छादित रहता है। विवेकपूर्वक असत्से सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर, रागवाली वस्तुओंके मनसे निकल जानेपर और बुद्धिके तमोगुणमें लीन हो जानेपर जो सुख होता है, वह उसी सुखका आभास है। तात्पर्य यह हुआ कि संसारसे विवेकपूर्वक विमुख होनेपर सात्त्विक सुख, भीतरसे वस्तुओंके निकलनेपर राजस सुख और मूढ़तासे निद्रा-आलस्यमें संसारको भूलनेपर तामस सुख होता है; परन्तु वास्तविक सुख तो प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदसे ही होता है। इन सुखोंमें जो प्रियता, आकर्षण और (सुखका) भोग है, वही पारमार्थिक उन्नतिमें बाधा देनेवाला और पतन करनेवाला है। इसलिये पारमार्थिक उन्नति चाहनेवाले साधकोंको इन तीनों सुखोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अत्यन्त आवश्यक है।

परिशिष्ट भाव—तामस मनुष्यमें मोह रहता है—**'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्'** (गीता १४।८)। मोह विवेकमें बाधक होता है। तामसी वृत्ति विवेक जाग्रत् नहीं होने देती। इसलिये तामस मनुष्यका विवेक मोहके कारण लुप्त हो जाता है, जिससे वह आरम्भ या अन्तको देखता ही नहीं।

*** निद्राको तामस सुख कहनेका अभिप्राय यह है कि इसमें बुद्धि मोहित हो जाती है अर्थात् उसमें बेहोशी आ जाती है। उस बेहोशीसे संसारकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है और जाग्रत्-अवस्था सर्वथा दब जाती है, इसलिये इसको तामस सुख कहा गया है। अगर इन्द्रियोंसहित बुद्धि मोहित न हो तो यही अवस्था 'समाधि' हो जाती है। समाधिसे भी विश्राम मिलता है। इस विश्राममें निद्रासे मिलनेवाली जो ताजगी है, वह मिल जाती है; परन्तु इस ताजगीका सुख लेनेसे गुणातीत नहीं होता। गुणातीत तो समाधिके सुखसे असंग होनेसे ही होता है।**

प्रकृति क्रियाशील, परिवर्तनशील है और परमात्मतत्त्व अपरिवर्तनशील, निर्विकार, शान्त, निश्चल है। निद्रावस्थामें उस निश्चल तत्त्वमें स्थिति हो जाती है; परन्तु अन्तःकरणमें भोगोंका महत्त्व रहनेसे निद्राके बाद मनुष्यकी फिर भोग और संग्रहमें ही रुचि हो जाती है और वह उसीमें लग जाता है। इस प्रकार रागके कारण मनुष्य उस निश्चल तत्त्वसे लाभ नहीं ले सकता और निद्रासे केवल थकावट दूर कर लेता है। अगर वह भोग और ऐश्वर्यकी आसक्तिका सर्वथा त्याग कर दे तो उसकी निद्रामें और निद्राके बाद भी स्वरूपमें स्वतः-स्वाभाविक अटल स्थिति रहेगी।

सम्बन्ध—बीसवेंसे उनतालीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने गुणोंकी मुख्यताको लेकर ज्ञान, कर्म आदिके तीन-तीन भेद बताये। अब इनके सिवाय गुणोंको लेकर सृष्टिकी सम्पूर्ण वस्तुओंके भी तीन-तीन भेद होते हैं—इसका लक्ष्य कराते हुए भगवान् आगेके श्लोकमें प्रकरणका उपसंहार करते हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

पृथिव्याम् = पृथ्वीमें, **वा** = या, **दिवि** = स्वर्गमें, **वा** = अथवा, **देवेषु** = देवताओंमें, **पुनः** = तथा इनके सिवाय और कहीं भी, **तत्** = वह (ऐसी कोई), **सत्त्वम्** = वस्तु, **न** = नहीं, **अस्ति** = है, **यत्** = जो, **प्रकृतिजैः** = प्रकृतिसे उत्पन्न, **एभिः** = इन, **त्रिभिः** = तीनों, **गुणैः** = गुणोंसे, **मुक्तम्** = रहित, **स्यात्** = हो।

व्याख्या—[इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहा तो भगवान्‌ने पहले त्याग—कर्मयोगका वर्णन किया। उस प्रकरणका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ने कहा कि जो त्यागी नहीं हैं, उनको अनिष्ट, इष्ट और मिश्र—यह तीन प्रकारका कर्मोंका फल मिलता है और जो संन्यासी हैं, उनको कभी नहीं मिलता। ऐसा कहकर तेरहवें श्लोकसे संन्यास—सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करके पहले कर्मोंके होनेमें अधिष्ठानादि पाँच हेतु बताये। सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंमें कर्तृत्व माननेवालोंकी निन्दा और कर्तृत्वका त्याग करनेवालोंकी प्रशंसा की। अठारहवें श्लोकमें कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहका वर्णन किया। परन्तु जो वास्तविक तत्त्व है, वह न कर्म-प्रेरक है और न कर्म-संग्राहक। कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रह तो प्रकृतिके गुणोंके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही होते हैं। फिर गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके तीन-तीन भेदोंका वर्णन किया। सुखका वर्णन करते हुए यह बताया कि प्रकृतिके साथ यत्किंचित् सम्बन्ध रखते हुए ऊँचा-से-ऊँचा जो सुख होता है, वह सात्त्विक होता है। परंतु जो स्वरूपका वास्तविक सुख है, वह गुणातीत है, विलक्षण है, अलौकिक है (गीता—छठे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

सात्त्विक सुखको **'आत्मबुद्धिप्रसादजम्'** कहकर भगवान्‌ने उसको जन्य (उत्पन्न होनेवाला) बताया। जन्य वस्तु नित्य नहीं होती। इसलिये उसको जन्य बतानेका तात्पर्य है कि उस जन्य सुखसे भी ऊपर उठना है अर्थात् प्रकृति और प्रकृतिके तीनों गुणोंसे रहित होकर उस परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, जो कि सबका अपना स्वाभाविक स्वरूप है। इसलिये कहते हैं—]

'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः'—यहाँ **'पृथिव्याम्'** पदसे मृत्युलोक और पृथ्वीके नीचेके अतल, वितल आदि सभी लोकोंका, **'दिवि'** पदसे स्वर्ग आदि लोकोंका, **'देवेषु'** पदको प्राणिमात्रके उपलक्षणके रूपमें उन-उन स्थानोंमें रहनेवाले मनुष्य, देवता, असुर, राक्षस, नाग, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष आदि सभी चर-अचर प्राणियोंका, और **'वा पुनः'** पदोंसे अनन्त ब्रह्माण्डोंका संकेत किया गया है। तात्पर्य यह हुआ कि त्रिलोकी और अनन्त ब्रह्माण्ड तथा उनमें रहनेवाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो अर्थात् सब-के-सब त्रिगुणात्मक हैं—**'सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।'**

प्रकृति और प्रकृतिका कार्य—यह सब-का-सब ही त्रिगुणात्मक और परिवर्तनशील है। इनसे सम्बन्ध जोड़नेसे ही बन्धन होता है और इनसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे ही मुक्ति होती है; क्योंकि स्वरूप असंग है। स्वरूप 'स्व' है और प्रकृति 'पर' है। प्रकृतिसे सम्बन्ध जुड़ते ही अहंकार पैदा हो जाता है, जो कि पराधीनताको पैदा करनेवाला है। यह एक विचित्र बात है कि अहंकारमें स्वाधीनता मालूम देती है, पर है वास्तवमें पराधीनता! कारण कि अहंकारसे प्रकृतिजन्य पदार्थोंमें आसक्ति, कामना आदि पैदा हो जाती है, जिससे पराधीनतामें भी स्वाधीनता दीखने लग जाती है। इसलिये प्रकृतिजन्य गुणोंसे रहित होना आवश्यक है।

प्रकृतिजन्य गुणोंमें रजोगुण और तमोगुणका त्याग करके सत्त्वगुण बढ़ानेकी आवश्यकता है। सत्त्वगुणमें भी प्रसन्नता और विवेक तो आवश्यक है; परन्तु सात्त्विक सुख

और ज्ञानकी आसक्ति नहीं होनी चाहिये; क्योंकि सुख और ज्ञानकी आसक्ति बाँधनेवाली है। इसलिये इनकी आसक्तिका त्याग करके सत्त्वगुणसे ऊँचा उठे। इससे ऊँचा उठनेके लिये ही यहाँ गुणोंका प्रकरण आया है।

साधकको तो सात्त्विक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख—इनपर ध्यान देकर इनके अनुरूप अपना जीवन बनाना चाहिये और सावधानीसे राजस-तामसका त्याग करना चाहिये। इनका त्याग करनेमें सावधानी ही साधन है। सावधानीसे सब साधन स्वतः प्रकट होते हैं। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें सात्त्विकता बहुत आवश्यक है। कारण कि इसमें प्रकाश अर्थात् विवेक जाग्रत् रहता है, जिससे प्रकृतिसे मुक्त होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। वास्तवमें तो इससे भी असंग होना है।

परिशिष्ट भाव—दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने भक्ति (विश्वास)-की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको अपनेसे उत्पन्न होनेवाली बताया था—'**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्**' (१०। ३९)। यहाँ भगवान् ज्ञान (विवेक)-की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रकृतिजन्य गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली बताते हैं। कारण कि विवेकीकी दृष्टिमें सत् और असत् दोनों रहते हैं, पर भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान् ही रहते हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। विवेकमार्गमें असत्‌का, गुणोंका त्याग मुख्य है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य है।

'संसारकी कोई भी वस्तु तीनों गुणोंसे रहित नहीं है'—यह बात अज्ञानीकी दृष्टिमें है, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें नहीं। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि सत्तामात्र स्वरूपकी तरफ रहती है, जो स्वतः-स्वाभाविक निर्गुण है (गीता—तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—त्यागके प्रकरणमें भगवान्‌ने यह बताया कि नियत कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है। उनका मूढ़तापूर्वक त्याग करनेसे वह त्याग तामस हो जाता है; शारीरिक क्लेशके भयसे नियत कर्मोंका त्याग करनेसे वह त्याग राजस हो जाता है और फल एवं आसक्तिका त्याग करके नियत कर्मोंको करनेसे वह त्याग सात्त्विक हो जाता है (इसी अध्यायका सातवाँ, आठवाँ और नवाँ श्लोक)। सांख्ययोगकी दृष्टिसे सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बताते हुए जहाँ सात्त्विक कर्मका वर्णन हुआ है, वहाँ नियत कर्मको कर्तृत्वाभिमानसे रहित, राग-द्वेषसे रहित और फलेच्छासे रहित मनुष्यके द्वारा किये जानेका उल्लेख किया है (इसी अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। उन कर्मोंमें किस वर्णके लिये कौन-से कर्म नियत कर्म हैं और उन नियत कर्मोंको कैसे किया जाय—इसको बतानेके लिये और साथ ही भक्तियोगकी बात बतानेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

परन्तप = हे परंतप! **ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्** = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य **च** = और **शूद्राणाम्** = शूद्रोंके **कर्माणि** = कर्म **स्वभावप्रभवैः** = स्वभावसे उत्पन्न हुए **गुणैः** = तीनों गुणोंके द्वारा **प्रविभक्तानि** = विभक्त किये गये हैं।

व्याख्या—'**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप**'—यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंके लिये एक पद और शूद्रोंके लिये अलग एक पद देनेका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये द्विजाति हैं और शूद्र द्विजाति नहीं है। इसलिये इनके कर्मोंका विभाग अलग-अलग है और कर्मोंके अनुसार शास्त्रीय अधिकार भी अलग-अलग है।

'**कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः**'—मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उसके अन्तःकरणमें उस कर्मके संस्कार पड़ते हैं और उन संस्कारोंके अनुसार उसका स्वभाव बनता है। इस प्रकार पहलेके अनेक जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, उसीके अनुसार उसमें सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन गुणवृत्तियोंके तारतम्यके अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोंका विभाग किया गया है (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। कारण

कि मनुष्यमें जैसी गुणवृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही वह कर्म करता है।

विशेष बात

(१)

कर्म दो तरहके होते हैं—(१) जन्मारम्भक कर्म और (२) भोगदायक कर्म। जिन कर्मोंसे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होता है, वे 'जन्मारम्भक कर्म' कहलाते हैं और जिन कर्मोंसे सुख-दुःखका भोग होता है, वे 'भोगदायक कर्म' कहलाते हैं। भोगदायक कर्म अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको पैदा करते हैं, जिसको गीतामें अनिष्ट, इष्ट और मिश्र नामसे कहा गया है (अठारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

गहरी दृष्टिसे देखा जाय तो मात्र कर्म भोगदायक होते हैं अर्थात् जन्मारम्भक कर्मोंसे भी भोग होता है और भोगदायक कर्मोंसे भी भोग होता है। जैसे, जिसका उत्तम कुलमें जन्म होता है, उसका आदर होता है, सत्कार होता है और जिसका नीच कुलमें जन्म होता है, उसका निरादर होता है, तिरस्कार होता है। ऐसे ही अनुकूल परिस्थितिवालेका आदर होता है और प्रतिकूल परिस्थितिवालेका निरादर होता है। तात्पर्य है कि आदर और निरादररूपसे भोग तो जन्मारम्भक और भोगदायक—दोनों कर्मोंका होता है। परन्तु जन्मारम्भक कर्मोंसे जो जन्म होता है, उसमें आदर-निरादररूप भोग गौण होता है; क्योंकि आदर-निरादर कभी-कभी हुआ करते हैं, हरदम नहीं हुआ करते और भोगदायक कर्मोंसे जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उसमें परिस्थितिका भोग मुख्य होता है; क्योंकि परिस्थिति हरदम आती रहती है।

भोगदायक कर्मोंका सदुपयोग-दुरुपयोग करनेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है अर्थात् वह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी भी हो सकता है और उसको साधन-सामग्री भी बना सकता है। जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी होते हैं, वे मूर्ख होते हैं और जो उसको साधन-सामग्री बनाते हैं, वे बुद्धिमान् साधक होते हैं। कारण कि मनुष्यजन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः इसमें जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री ही है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको साधन-सामग्री बनाना क्या है? अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो उसको दूसरोंकी सेवामें, दूसरोंके सुख-आराममें लगा दे, और प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग कर दे। दूसरोंकी सेवा करना और सुखेच्छाका त्याग करना—ये दोनों साधन हैं।

(२)

शास्त्रोंमें आता है कि पुण्योंकी अधिकता होनेसे जीव स्वर्गमें जाता है और पापोंकी अधिकता होनेसे नरकोंमें जाता है तथा पुण्य-पाप समान होनेसे मनुष्य बनता है। इस दृष्टिसे किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिका कोई भी मनुष्य सर्वथा पुण्यात्मा या पापात्मा नहीं हो सकता।

पुण्य-पाप समान होनेपर जो मनुष्य बनता है, उसमें भी अगर देखा जाय तो पुण्य-पापोंका तारतम्य रहता है अर्थात् किसीके पुण्य अधिक होते हैं और किसीके पाप अधिक होते हैं*। ऐसे ही गुणोंका विभाग भी है। कुल मिलाकर सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले ऊर्ध्वलोकमें जाते हैं, रजोगुणकी प्रधानतावाले मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोकमें आते हैं, और तमोगुणकी प्रधानतावाले अधोगतिमें जाते हैं। इन तीनोंमें भी गुणोंके तारतम्यसे अनेक तरहके भेद होते हैं।

सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मण, रजोगुणकी प्रधानता और सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रिय, रजोगुणकी प्रधानता और तमोगुणकी गौणतासे वैश्य तथा तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्र होता है। यह तो सामान्य रीतिसे गुणोंकी बात बतायी। अब इनके अवान्तर तारतम्यका विचार करते हैं—रजोगुण-प्रधान मनुष्योंमें सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले ब्राह्मण हुए। इन ब्राह्मणोंमें भी जन्मके भेदसे ऊँच-नीच ब्राह्मण माने जाते हैं और परिस्थितिरूपसे कर्मोंका फल भी कई तरहका आता है अर्थात् सब ब्राह्मणोंकी एक समान अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति नहीं आती। इस दृष्टिसे ब्राह्मणयोनिमें भी तीनों गुण मानने पड़ेंगे। ऐसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी जन्मसे ऊँच-नीच माने जाते हैं और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति

*** जैसे परीक्षामें अनेक विषय होते हैं और उन विषयोंमेंसे किसी विषयमें कम और किसी विषयमें अधिक नम्बर मिलते हैं। उन सभी विषयोंके नम्बरोंको मिलाकर कुल जितने नम्बर आते हैं, उनसे परीक्षाफल तैयार होता है। ऐसे ही प्रत्येक मनुष्यके किसी विषयमें पुण्य अधिक होते हैं और किसी विषयमें पाप अधिक होते हैं, और कुल मिलाकर जितने पुण्य-पाप होते हैं, उसके अनुसार उसको जन्म मिलता है। अगर अलग-अलग विषयोंमें सबके पुण्य-पाप समान होते, तो सभीको बराबर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति मिलती, पर ऐसा होता नहीं। इसलिये सभीके पुण्य-पापोंमें अनेक प्रकारका तारतम्य रहता है। यही बात सत्त्वादि गुणोंके विषयमें भी समझनी चाहिये।**

भी कई तरहकी आती है। इसलिये गीतामें कहा गया है कि तीनों लोकोंमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तीनों गुणोंसे रहित हो (इसी अध्यायका चालीसवाँ श्लोक)।

अब जो मनुष्येतर योनिवाले पशु-पक्षी आदि हैं, उनमें भी ऊँच-नीच माने जाते हैं; जैसे गाय आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं और कुत्ता, गधा, सूअर आदि नीच माने जाते हैं। कबूतर आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं और कौआ, चील आदि नीच माने जाते हैं। इन सबको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भी एक समान नहीं मिलती। तात्पर्य है कि ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति-वालोंमें भी कई तरहके जाति-भेद और परिस्थिति-भेद होते हैं।

परिशिष्ट भाव—चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि चारों वर्णोंकी रचना मैंने गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक की है—'**गुणकर्मविभागशः**' (४।१३) और यहाँ कहते हैं कि चारों वर्णोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं—'**स्वभावप्रभवैर्गुणैः**'। चौथे अध्यायमें तो चारों वर्णोंके पैदा होनेकी बात है और यहाँ चारों वर्णोंके कर्मोंकी बात है। तात्पर्य है, चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने बताया कि चारों वर्णोंका जन्म पूर्वजन्मके गुणकर्मोंके अनुसार हुआ है और यहाँ बताते हैं कि जन्मके बाद चारों वर्णोंके अमुक-अमुक कर्म होने चाहिये, जिनके अनुसार उनकी आगे गति होगी।

सम्बन्ध—अब भगवान् ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म बताते हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

शमः = मनका निग्रह करना;
दमः = इन्द्रियोंको वशमें करना;
तपः = धर्मपालनके लिये कष्ट सहना;
शौचम् = बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना;
क्षान्तिः = दूसरोंके अपराधको क्षमा करना;
आर्जवम् = शरीर, मन आदिमें सरलता रखना;
ज्ञानम् = वेद, शास्त्र आदिका ज्ञान होना;
विज्ञानम् = यज्ञविधिको अनुभवमें लाना
च = और
आस्तिक्यम् = परमात्मा, वेद आदिमें आस्तिकभाव रखना—
एव = (ये सब-के-सब) ही
ब्रह्मकर्म, स्वभावजम् = ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

व्याख्या—'**शमः**'—मनको जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लग जाय और जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाय—इस प्रकार मनके निग्रहको 'शम' कहते हैं।

'**दमः**'—जिस इन्द्रियसे जब जो काम करना चाहें, तब वह काम कर लें और जिस इन्द्रियको जब जहाँसे हटाना चाहें, तब वहाँसे हटा लें—इस प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करना 'दम' है।

'**तपः**'—गीतामें शरीर, वाणी और मनके तपका वर्णन आता है (सत्रहवें अध्यायका चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ श्लोक), उस तपको लेते हुए भी यहाँ वास्तवमें 'तप' का अर्थ है—अपने धर्मका पालन करते हुए जो कष्ट हो अथवा कष्ट आ जाय, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहना अर्थात् कष्टके आनेपर चित्तमें प्रसन्नताका होना।

'**शौचम्**'—अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिको पवित्र रखना तथा अपने खान-पान, व्यवहार आदिकी पवित्रता रखना—इस प्रकार शौचाचार-सदाचारका ठीक पालन करनेका नाम 'शौच' है।

'**क्षान्तिः**'—कोई कितना ही अपमान करे, निन्दा करे, दुःख दे और अपनेमें उसको दण्ड देनेकी योग्यता, बल, अधिकार भी हो, फिर भी उसको दण्ड न देकर उसके क्षमा माँगे बिना ही उसको प्रसन्नतापूर्वक क्षमा कर देनेका नाम 'क्षान्ति' है।

'**आर्जवम्**'—शरीर, वाणी आदिके व्यवहारमें सरलता हो और मनमें छल, कपट, छिपाव आदि दुर्भाव न हों अर्थात् सीधा-सादापन हो, उसका नाम 'आर्जव' है।

'**ज्ञानम्**'—वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदिका अच्छी तरह अध्ययन होना और उनके भावोंका ठीक तरहसे बोध होना तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध होना 'ज्ञान' है।

'**विज्ञानम्**'—यज्ञमें स्रुक्, स्रुवा आदि वस्तुओंका किस

अवसरपर किस विधिसे प्रयोग करना चाहिये—इसका अर्थात् यज्ञविधिका तथा अनुष्ठान आदिकी विधिका अनुभव कर लेने (अच्छी तरह करके देख लेने)-का नाम 'विज्ञान' है।

'आस्तिक्यम्'—परमात्मा, वेदादि शास्त्र, परलोक आदिका हृदयमें आदर हो, श्रद्धा हो और उनकी सत्यतामें कभी सन्देह न हो तथा उनके अनुसार अपना आचरण हो, इसका नाम 'आस्तिक्य' है।

'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'—ये शम, दम आदि ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म (गुण) हैं अर्थात् इन कर्मों-(गुणों-)को धारण करनेमें ब्राह्मणको परिश्रम नहीं पड़ता।

जिन ब्राह्मणोंमें सत्त्वगुणकी प्रधानता है, जिनकी वंश-परम्परा परम शुद्ध है और जिनके पूर्वजन्मकृत कर्म भी शुद्ध हैं, ऐसे ब्राह्मणोंके लिये ही शम, दम आदि गुण स्वाभाविक होते हैं और उनमें किसी गुणके न होनेपर अथवा किसी गुणमें कमी होनेपर भी उसकी पूर्ति करना उन ब्राह्मणोंके लिये सहज होता है।

चारों वर्णोंकी रचना गुणोंके तारतम्यसे की गयी है, इसलिये गुणोंके अनुसार उस-उस वर्णमें वे-वे कर्म स्वाभाविक प्रकट हो जाते हैं और दूसरे कर्म गौण हो जाते हैं। जैसे ब्राह्मणमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेसे उसमें शम, दम आदि कर्म (गुण) स्वाभाविक आते हैं तथा जीविकाके कर्म गौण हो जाते हैं और दूसरे वर्णोंमें रजोगुण तथा तमोगुणकी प्रधानता होनेसे उन वर्णोंके जीविकाके कर्म भी स्वाभाविक कर्मोंमें सम्मिलित हो जाते हैं। इसी दृष्टिसे गीतामें ब्राह्मणके स्वभावज कर्मोंमें जीविकाके कर्म न कह करके शम, दम आदि कर्म (गुण) ही कहे गये हैं।

परिशिष्ट भाव—वर्ण-परम्परा ठीक हो तो ये गुण ब्राह्मणमें स्वाभाविक होते हैं। परन्तु वर्णसंकरता आनेपर ये गुण स्वाभाविक नहीं होते, इनमें कमी आ जाती है।

पूर्वश्लोकमें **'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'** कहा, इसलिये यहाँ स्वभावज कर्म बताते हैं। स्वभाव बननेमें पहले जन्म मुख्य है, फिर जन्मके बाद संग मुख्य है। संग, स्वाध्याय, अभ्यास आदिके कारण स्वभाव बदल जाता है।

सम्बन्ध—अब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म बताते हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शौर्यम् = शूरवीरता,
तेजः = तेज,
धृतिः = धैर्य
दाक्ष्यम् = प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता
च = तथा
युद्धे = युद्धमें
अपि = कभी
अपलायनम् = पीठ न दिखाना,
दानम् = दान करना
च = और
ईश्वरभावः = शासन करनेका भाव (—ये सब-के-सब)
क्षात्रम् = क्षत्रियके
स्वभावजम् = स्वाभाविक
कर्म = कर्म हैं।

व्याख्या—**'शौर्यम्'**—मनमें अपने धर्मका पालन करनेकी तत्परता हो, धर्ममय युद्ध* प्राप्त होनेपर युद्धमें चोट लगने, अंग कट जाने, मर जाने आदिका किंचिन्मात्र भी भय न हो, घाव होनेपर भी मनमें प्रसन्नता और उत्साह रहे तथा सिर कटनेपर भी पहले-जैसे ही अस्त्र-शस्त्र चलाता रहे, इसका नाम 'शौर्य' है।

'तेजः'—जिस प्रभाव या शक्तिके सामने पापी-दुराचारी मनुष्य भी पाप, दुराचार करनेमें हिचकते हैं, जिसके सामने लोगोंकी मर्यादाविरुद्ध चलनेकी हिम्मत नहीं होती अर्थात् लोग स्वाभाविक ही मर्यादामें चलते हैं, उसका नाम 'तेज' है।

'धृतिः'—विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी अपने धर्मसे विचलित न होने और शत्रुओंके द्वारा धर्म तथा नीतिसे विरुद्ध अनुचित व्यवहारसे सताये जानेपर भी धर्म तथा नीति-विरुद्ध कार्य न करके धैर्यपूर्वक उसी मर्यादामें चलनेका नाम 'धृति' है।

'दाक्ष्यम्'—प्रजापर शासन करनेकी, प्रजाको यथा-

*** अपना युद्ध करनेका विचार भी नहीं है, कोई स्वार्थ भी नहीं है, पर परिस्थितिवशात् केवल कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुआ है, वह 'धर्ममय युद्ध' है।**

योग्य व्यवस्थित रखनेकी और उसका संचालन करनेकी विशेष योग्यता, चतुराईका नाम 'दाक्ष्य' है।

'युद्धे चाप्यपलायनम्'—युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, मनमें कभी हार स्वीकार न करना, युद्ध छोड़कर कभी न भागना—यह युद्धमें 'अपलायन' है।

'दानम्'—क्षत्रियलोग दान करते हैं तो देनेमें कमी नहीं रखते, बड़ी उदारतापूर्वक देते हैं। वर्तमानमें दान-पुण्य करनेका स्वभाव वैश्योंमें देखनेमें आता है; परन्तु वैश्यलोग देनेमें कसाकसी करते हैं अर्थात् इतनेसे ही काम चल जाय तो अधिक क्यों दिया जाय—ऐसा द्रव्यका लोभ उनमें रहता है। द्रव्यका लोभ रहनेसे धर्मका पालन करनेमें बाधा आ जाती है, कमी आ जाती है, जिससे सात्त्विक दान (गीता—सत्रहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक) देनेमें कठिनता पड़ती है। परन्तु क्षत्रियोंमें दानवीरता होती है। इसलिये यहाँ 'दान' शब्द क्षत्रियोंके स्वभावमें आया है।

'ईश्वरभावश्च'—क्षत्रियोंमें स्वाभाविक ही शासन करनेकी प्रवृत्ति होती है। लोगोंके नीति, धर्म और मर्यादा-विरुद्ध आचरण देखनेपर उनके मनमें स्वाभाविक ही ऐसी बात आती है कि ये लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं और उनको नीति, धर्मके अनुसार चलानेकी इच्छा होती है। अपने शासनद्वारा सबको अपनी-अपनी मर्यादाके अनुसार चलानेका भाव रहता है। इस ईश्वरभावमें अभिमान नहीं होता; क्योंकि क्षत्रियजातिमें नम्रता, सरलता आदि गुण देखनेमें आते हैं।

'क्षात्रं कर्म स्वभावजम्'—जो मात्र प्रजाकी दुःखोंसे रक्षा करे, उसका नाम 'क्षत्रिय' है—**'क्षतात् त्रायत इति क्षत्रियः।'** उस क्षत्रियके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वे क्षात्रकर्म कहलाते हैं।

परिशिष्ट भाव—क्षत्रिय (राजपूत) बड़े शूरवीर और तेजस्वी होते हैं। परन्तु ईर्ष्या-दोष होनेके कारण जिस राजाका राज्य हुआ, उसने अपने अधीन रहनेवाले राजपूतोंका उत्साह कम करनेकी चेष्टा की, उनकी उन्नति नहीं होने दी, जिससे कि वे प्रबल होकर राज्य न छीन लें। इस प्रकार ईर्ष्याके कारण आपसी फूट होनेसे तथा उत्साहमें कमी होनेसे ही विधर्मीलोग भारतपर अपना अधिकार करनेमें समर्थ हो सके।

सम्बन्ध—अब वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक कर्म बताते हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

कृषिगौरक्ष्य-वाणिज्यम् = खेती करना, गायोंकी रक्षा करना और व्यापार करना (—ये सब-के-सब)
वैश्यकर्म, स्वभावजम् = वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं (तथा)
परिचर्यात्मकम् = चारों वर्णोंकी सेवा करना
शूद्रस्य = शूद्रका
अपि = भी
स्वभावजम् = स्वाभाविक
कर्म = कर्म है।

व्याख्या—**'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'—**खेती करना, गायोंकी रक्षा करना, उनकी वंश-वृद्धि करना और शुद्ध व्यापार करना—ये कर्म वैश्यमें स्वाभाविक होते हैं।

शुद्ध व्यापार करनेका तात्पर्य है—जिस देशमें, जिस समय, जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, लोगोंके हितकी भावनासे उस वस्तुको (जहाँ वह मिलती हो, वहाँसे ला करके) उसी देशमें पहुँचाना; प्रजाकी आवश्यक वस्तुओंके अभावकी पूर्ति कैसे हो, वस्तुओंके अभावमें कोई कष्ट न पाये—इस भावसे सच्चाईके साथ वस्तुओंका वितरण करना।

भगवान् श्रीकृष्ण (नन्दबाबाको लेकर) अपनेको वैश्य ही मानते हैं*। इसलिये उन्होंने स्वयं गायों और बछड़ोंको

*** कृषिवाणिज्यगोरक्षं कुसीदं तुर्यमुच्यते। वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥ (श्रीमद्भा० १०। २४। २१)**
'वैश्योंकी वार्तावृत्ति चार प्रकारकी है—कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और ब्याज लेना। हमलोग उन चारोंमेंसे केवल गोपालन ही सदासे करते आये हैं।'

चराया। मनु महाराजने वैश्य-वृत्तिमें **'पशूनां रक्षणम्'** (मनुस्मृति १। ९०) (पशुओंकी रक्षा करना) कहा है, पर यहाँ भगवान् (उपर्युक्त पदोंसे) अपने जाति-भाइयोंसे मानो यह कहते हैं कि तुमलोग सब पशुओंका पालन, उनकी रक्षा न कर सको तो कम-से-कम गायोंका पालन और उनकी रक्षा जरूर करना। गायोंकी वृद्धि न कर सको तो कोई बात नहीं; परन्तु उनकी रक्षा जरूर करना, जिससे हमारा गोधन घट न जाय। इसलिये वैश्य-समाजको चाहिये कि वह गायोंकी रक्षामें अपना तन-मन-धन लगा दे, उनकी रक्षा करनेमें अपनी शक्ति बचाकर न रखे।

गोरक्षा-सम्बन्धी विशेष बात

मनुष्योंके लिये गाय सब दृष्टियोंसे पालनीय है। गायसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है। आजके अर्थप्रधान युगमें तो गाय अत्यन्त ही उपयोगी है। गोपालनसे, गायके दूध, घी, गोबर आदिसे धनकी वृद्धि होती है। हमारा देश कृषिप्रधान है। अतः यहाँ खेतीमें जितनी प्रधानता बैलोंकी है, उतनी प्रधानता अन्य किसीकी भी नहीं है। भैंसेके द्वारा भी खेती की जाती है, पर खेतीमें जितना काम बैल कर सकता है, उतना भैंसा नहीं कर सकता। भैंसा बलवान् तो होता है, पर वह धूप सहन नहीं कर सकता। धूपमें चलनेसे वह जीभ निकाल देता है, जबकि बैल धूपमें भी चलता रहता है। कारण कि भैंसेमें सात्त्विक बल नहीं होता, जबकि बैलमें सात्त्विक बल होता है। बैलोंकी अपेक्षा भैंसे कम भी होते हैं। ऐसे ही ऊँटसे भी खेती की जाती है, पर ऊँट भैंसेसे भी कम होते हैं और बहुत मँहगे होते हैं। खेती करनेवाला हरेक आदमी ऊँट नहीं खरीद सकता। आजकल अच्छे-अच्छे जवान बैल मारे जानेके कारण बैल भी मँहगे हो गये हैं, तो भी वे ऊँट जितने मँहगे नहीं हैं। यदि घरोंमें गायें रखी जायँ तो बैल घरोंमें ही पैदा हो जाते हैं, खरीदने नहीं पड़ते। विदेशी गायोंके जो बैल होते हैं, वे खेतीमें काम नहीं आ सकते; क्योंकि उनके कन्धे न होनेसे उनपर जुआ नहीं रखा जा सकता।

गाय पवित्र होती है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी पवित्र होती है। गायके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र होते हैं। गोबरसे लिपे हुए घरोंमें प्लेग, हैजा आदि भयंकर बीमारियाँ नहीं आतीं। इसके सिवाय युद्धके समय गोबरसे लिपे हुए मकानोंपर बमका उतना असर नहीं होता, जितना सीमेन्ट आदिसे बने हुए मकानोंपर होता है। गोबरमें जहर खींचनेकी विशेष शक्ति होती है। काशीमें कोई व्यक्ति साँप काटनेसे मर गया। लोग उसकी दाह-क्रिया करनेके लिये उसको गंगाके किनारे ले गये। वहाँपर एक साधु रहते थे। उन्होंने पूछा कि इस व्यक्तिको क्या हुआ? लोगोंने कहा कि यह साँप काटनेसे मरा है।

साधुने कहा कि यह मरा नहीं है, तुमलोग गायका गोबर ले आओ। गोबर लाया गया। साधुने उस व्यक्तिकी नासिकाको छोड़कर उसके पूरे शरीरमें (नीचे-ऊपर) गोबरका लेप कर दिया। आधे घण्टेके बाद गोबरका फिर दूसरा लेप किया। इससे उस व्यक्तिके श्वास चलने लगे और वह जी उठा। हृदयके रोगोंको दूर करनेके लिये गोमूत्र बहुत उपयोगी है। छोटी बछड़ीका गोमूत्र रोज तोला-दो-तोला पीनेसे पेटके रोग दूर हो जाते हैं। एक सन्तको दमाकी शिकायत थी, उनको गोमूत्र-सेवनसे बहुत फायदा हुआ है। आजकल तो गोबर और गोमूत्रसे अनेक रोगोंकी दवाइयाँ बनायी जा रही हैं। गोबरसे गैस भी बनने लगी है।

खेतोंमें गोबर-गोमूत्रकी खादसे जो अन्न पैदा होता है, वह भी पवित्र होता है। खेतोंमें गायोंके रहनेसे, गोबर और गोमूत्रसे जमीनकी जैसी पुष्टि होती है, वैसी पुष्टि विदेशी रासायनिक खादोंसे नहीं होती। जैसे, एक बार अंगूरकी खेती करनेवालेने बताया कि गोबरकी खाद डालनेसे अंगूरके गुच्छे जितने बड़े-बड़े होते हैं, उतने विदेशी खाद डालनेसे नहीं होते। विदेशी खाद डालनेसे कुछ ही वर्षोंमें जमीन खराब हो जाती है अर्थात् उसकी उपजाऊ-शक्ति नष्ट हो जाती है। परन्तु गोबर-गोमूत्रसे जमीनकी उपजाऊ-शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। विदेशोंमें रासायनिक खादसे बहुत-से खेत खराब हो गये हैं, जिन्हें उपजाऊ बनानेके लिये वे लोग भारतसे गोबर मँगवा रहे हैं और भारतसे गोबरके जहाज भरकर विदेशोंमें जा रहे हैं।

हमारे देशकी गायें सौम्य और सात्त्विक होती हैं। अतः उनका दूध भी सात्त्विक होता है, जिसको पीनेसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है और स्वभाव शान्त, सौम्य होता है। विदेशी गायोंका दूध तो ज्यादा होता है, पर उन गायोंमें गुस्सा बहुत होता है। अतः उनका दूध पीनेसे मनुष्यका स्वभाव क्रूर होता है। भैंसका दूध भी ज्यादा होता है, पर वह दूध सात्त्विक नहीं होता। उससे सात्त्विक बल नहीं आता। सैनिकोंके घोड़ोंको गायका दूध पिलाया जाता है, जिससे वे घोड़े बहुत तेज होते हैं। एक बार सैनिकोंने परीक्षाके लिये कुछ घोड़ोंको भैंसका दूध पिलाया, जिससे घोड़े खूब मोटे हो गये। परन्तु जब नदी पार करनेका काम पड़ा तो वे घोड़े पानीमें बैठ गये। भैंस

पानीमें बैठा करती है; अतः वही स्वभाव घोड़ोंमें भी आ गया। ऊँटनीका दूध भी निकलता है, पर उस दूधका दही, मक्खन होता ही नहीं। उसका दूध तामसी होनेसे दुर्गति देनेवाला होता है। स्मृतियोंमें ऊँट, कुत्ता, गधा आदिको अस्पृश्य बताया गया है।

सम्पूर्ण धार्मिक कार्योंमें गायकी मुख्यता है। जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि सोलह संस्कारोंमें गायका, उसके दूध, घी, गोबर आदिका विशेष सम्बन्ध रहता है। गायके घीसे ही यज्ञ किया जाता है। स्थान-शुद्धिके लिये गोबरका ही चौका लगाया जाता है। श्राद्ध-कर्ममें गायके दूधकी खीर बनायी जाती है। नरकोंसे बचनेके लिये गोदान किया जाता है। धार्मिक कृत्योंमें 'पंचगव्य' काममें लाया जाता है, जो गायके दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र—इन पाँचोंसे बनता है।

कामनापूर्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञोंमें गायका घी आदि काममें आता है। रघुवंशके चलनेमें गायकी ही प्रधानता थी। पौष्टिक, वीर्यवर्धक चीजोंमें भी गायके दूध और घीका मुख्य स्थान है।

निष्कामभावसे गायकी सेवा करनेसे मुक्ति होती है। गायकी सेवा करनेमात्रसे अन्तःकरण निर्मल होता है। भगवान् श्रीकृष्णने भी बिना जूतीके गोचारणकी लीला की थी, इसलिये उनका नाम 'गोपाल' पड़ा। प्राचीन-कालमें ऋषिलोग वनमें रहते हुए अपने पास गाय रखा करते थे। गायके दूध, घीसे उनकी बुद्धि प्रखर, विलक्षण होती थी, जिससे वे बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी रचना किया करते थे। आजकल तो उन ग्रन्थोंको ठीक-ठीक समझनेवाले भी कम हैं। गायके दूध-घीसे वे दीर्घायु होते थे। इसलिये गायके घीका एक नाम 'आयु' भी है। बड़े-बड़े राजालोग भी उन ऋषियोंके पास आते थे और उनकी सलाहसे राज्य चलाते थे।

गोरक्षाके लिये बलिदान करनेवालोंकी कथाओंसे इतिहास, पुराण भरे पड़े हैं। बड़े भारी दुःखकी बात है कि आज हमारे देशमें पैसोंके लोभसे रोजाना हजारोंकी संख्यामें गायोंकी हत्या की जा रही है! अगर इसी तरह गो-हत्या चलती रही तो एक समय गोवंश समाप्त हो जायगा। जब गायें नहीं रहेंगी, तब क्या दशा होगी, कितनी आफतें आयेंगी—इसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। जब गायें खत्म हो जायँगी, तब गोबर नहीं रहेगा और गोबरकी खाद न रहनेसे जमीन भी उपजाऊ नहीं रहेगी। जमीनके उपजाऊ न रहनेसे खेती कैसे होगी? खेती न होनेसे अन्न तथा वस्त्र (कपास) कैसे मिलेगा? लोगोंको शरीर-निर्वाहके लिये अन्न-जल और वस्त्र भी मिलना मुश्किल हो जायगा। गाय और उसके दूध, घी, गोबर आदिके न रहनेसे प्रजा बहुत दुःखी हो जायगी। गोधनके अभावमें देश पराधीन और दुर्बल हो जायगा। वर्तमानमें भी अकाल, अनावृष्टि, भूकम्प, आपसी कलह आदिके होनेमें गायोंकी हत्या मुख्य कारण है। अतः अपनी पूरी शक्ति लगाकर हर हालतमें गायोंकी रक्षा करना, उनको कत्लखानोंमें जानेसे रोकना हमारा परम कर्तव्य है।

गायोंकी रक्षाके लिये भाई-बहनोंको चाहिये कि वे गायोंका पालन करें, उनको अपने घरोंमें रखें। गायका ही दूध-घी खायें, भैंस आदिका नहीं। घरोंमें गोबर-गैसका प्रयोग किया जाय। गायोंकी रक्षाके उद्‌देश्यसे ही गोशालाएँ बनायी जायँ, दूधके उद्‌देश्यसे नहीं। जितनी गोचर-भूमियाँ हैं, उनकी रक्षा की जाय तथा सरकारसे और गोचर-भूमियाँ छुड़ाई जायँ। सरकारकी गोहत्या-नीतिका विरोध किया जाय और सरकारसे अनुरोध किया जाय कि वह देशकी रक्षाके लिये पूरे देशमें तत्काल पूर्णरूपसे गोहत्या बन्द करे।

'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्'—चारों वर्णोंकी सेवा करना, सेवाकी सामग्री तैयार करना और चारों वर्णोंके कार्योंमें कोई बाधा, अड़चन न आये, सबको सुख-आराम हो—इस भावसे अपनी बुद्धि, योग्यता, बलके द्वारा सबकी सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।

यहाँ एक शंका पैदा होती है कि भगवान्‌ने चारों वर्णोंकी उत्पत्तिमें सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंको कारण बताया। उसमें तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी उत्पत्ति बतायी और गीतामें जहाँ तमोगुणका वर्णन हुआ है, वहाँपर उसके अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और मोह—ये सात अवगुण बताये हैं (गीता—चौदहवें अध्यायका आठवाँ और तेरहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। अतः ऐसे तमोगुणकी प्रधानतावाले शूद्रसे सेवा कैसे होगी? क्योंकि वह आलस्य, प्रमाद आदिमें पड़ा रहेगा तो सेवा कैसे कर सकेगा? सेवा बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है। ऐसे ऊँचे कर्मका भगवान्‌ने शूद्रके लिये कैसे विधान किया?

यदि इस शंकापर गुणोंकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो गीतामें आया है कि सत्त्वगुणवाले ऊँचे लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणवाले मरकर पीछे मध्यलोक अर्थात् मृत्युलोकमें जाते हैं और तमोगुणवाले अधोगतिमें जाते हैं (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। इसमें भी

वास्तवमें देखा जाय तो रजोगुणके बढ़नेपर जो मरता है, वह कर्मप्रधान मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है—'**रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते**' (गीता १४। १५)। इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यमात्र रज:प्रधान (रजोगुणकी प्रधानतावाला) है। रज:प्रधानवालोंमें जो सात्त्विक, राजस और तामस—तीन गुण होते हैं, उन तीनों गुणोंसे ही चारों वर्णोंकी रचना की गयी है। इसलिये कर्म करना सबमें मुख्य होता है और इसीको लेकर मनुष्योंको कर्मयोनि कहा गया है तथा गीतामें भी चारों वर्णोंके कर्मोंके लिये 'स्वभावज कर्म', 'स्वभावनियत कर्म' आदि पद आये हैं। अत: शूद्रका परिचर्या अर्थात् सेवा करना 'स्वभावज कर्म' है, जिसमें उसे परिश्रम नहीं होता।

मनुष्यमात्र कर्मयोनि होनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यमें विवेक-विचारका विशेष तारतम्य रहता है और शुद्धि भी रहती है; परन्तु शूद्रमें मोहकी प्रधानता रहनेसे उसमें विवेक बहुत दब जाता है। इस दृष्टिसे शूद्रके सेवा-कर्ममें विवेककी प्रधानता न होकर आज्ञापालनकी प्रधानता रहती है—'**अग्या सम न सुसाहिब सेवा**' (मानस २। ३०१। २)। इसलिये चारों वर्णोंकी आज्ञाके अनुसार सेवा करना, सुख-सुविधा जुटा देना शूद्रके लिये स्वाभाविक होता है।

शूद्रोंके कर्म परिचर्यात्मक अर्थात् सेवास्वरूप होते हैं। उनके शारीरिक, सामाजिक, नागरिक, ग्रामणिक आदि सब-के-सब कर्म ठीक तरहसे सम्पन्न होते हैं, जिनसे चारों ही वर्णोंके जीवन-निर्वाहके लिये सुख-सुविधा, अनुकूलता और आवश्यकताकी पूर्ति होती है।

स्वाभाविक कर्मोंका तात्पर्य

चेतन जीवात्मा और जड प्रकृति—दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न है। चेतन स्वाभाविक ही निर्विकार अर्थात् परिवर्तनरहित है और प्रकृति स्वाभाविक ही विकारी अर्थात् परिवर्तनशील है। अत: इन दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न होनेसे इनका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है; किंतु चेतनने प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानकर उस सम्बन्धकी सद्भावना कर ली है अर्थात् 'सम्बन्ध है' ऐसा मान लिया है। इसीको गुणोंका संग कहते हैं, जो जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। इस संगके कारण, गुणोंके तारतम्यसे जीवका ब्राह्मणादि वर्णमें जन्म होता है। गुणोंके तारतम्यसे जिस वर्णमें जन्म होता है, उन गुणोंके अनुसार ही उस वर्णके कर्म स्वाभाविक, सहज होते हैं; जैसे—ब्राह्मणके लिये शम, दम आदि; क्षत्रियके लिये शौर्य, तेज आदि; वैश्यके लिये खेती, गौरक्षा आदि और शूद्रके लिये सेवा—ये कर्म स्वत:स्वाभाविक होते हैं। तात्पर्य है कि चारों वर्णोंको इन कर्मोंको करनेमें परिश्रम नहीं होता; क्योंकि गुणोंके अनुसार स्वभाव और स्वभावके अनुसार उनके लिये कर्मोंका विधान है। इसलिये इन कर्मोंमें उनकी स्वाभाविक ही रुचि होती है। मनुष्य इन स्वाभाविक कर्मोंको जब अपने लिये अर्थात् अपने स्वार्थ, भोग और आरामके लिये करता है, तब वह उन कर्मोंसे बँध जाता है। जब उन्हीं कर्मोंको स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक संसारके हितके लिये करता है, तब 'कर्मयोग' हो जाता है और उन्हीं कर्मोंसे सब संसारमें व्यापक परमात्माका पूजन करता है अथवा भगवत्परायण होकर केवल भगवत्सम्बन्धी कर्म (जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि) करता है, तब वह 'भक्तियोग' हो जाता है। फिर प्रकृतिके गुणोंका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर केवल एक परमात्मतत्त्व ही रह जाता है, जिसमें सिद्ध महापुरुषके स्वरूपकी स्वत:सिद्ध स्वतन्त्रता, अखण्डता, निर्विकारताकी अनुभूति रह जाती है। ऐसा होनेपर भी उसके शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा अपने-अपने वर्ण, आश्रमकी मर्यादाके अनुसार निर्लिप्ततापूर्वक शास्त्रविहित कर्म स्वाभाविक होते हैं, जो कि संसारमात्रके लिये आदर्श होते हैं। प्रभुकी तरफ आकृष्ट होनेसे प्रतिक्षण प्रेम बढ़ता रहता है, जो अनन्त आनन्दस्वरूप है।

जाति जन्मसे मानी जाय या कर्मसे ?

ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब गुण और कर्मके अनुसार ही मिलते हैं। गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है; इसलिये मनुष्यकी जाति जन्मसे ही मानी जाती है। अत: स्थूलशरीरकी दृष्टिसे विवाह, भोजन आदि कर्म जन्मकी प्रधानतासे ही करने चाहिये अर्थात् अपनी जाति या वर्णके अनुसार ही भोजन, विवाह आदि कर्म होने चाहिये।

दूसरी बात, जिस प्राणीका सांसारिक भोग, धन, मान, आराम, सुख आदिका उद्देश्य रहता है, उसके लिये वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना और वर्णकी मर्यादामें चलना आवश्यक हो जाता है। यदि वह वर्णकी मर्यादामें नहीं चलता,

तो उसका पतन हो जाता है[1]। परन्तु जिसका उद्देश्य केवल परमात्मा ही है, संसारके भोग आदि नहीं, उसके लिये सत्संग, स्वाध्याय, जप, ध्यान, कथा, कीर्तन, परस्पर विचार-विनिमय आदि भगवत्सम्बन्धी काम मुख्य होते हैं। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणीके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है, जाति या वर्णकी नहीं।

तीसरी बात, जिसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिका है, वह भगवत्सम्बन्धी कार्योंको मुख्यतासे करते हुए भी वर्ण-आश्रमके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मोंको पूजन-बुद्धिसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही करता है।

आगे छियालीसवें श्लोकमें भगवान्ने बड़ी श्रेष्ठ बात बतायी है कि जिससे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका ही लक्ष्य रखकर, उसके प्रीत्यर्थ ही पूजन-रूपसे अपने-अपने वर्णके अनुसार कर्म किये जायँ। इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। देवता, असुर, पशु, पक्षी आदिका स्वतः अधिकार नहीं है; परन्तु उनके लिये भी परमात्माकी तरफसे निषेध नहीं है। कारण कि सभी परमात्माका अंश होनेसे परमात्माकी प्राप्तिके सभी अधिकारी हैं। प्राणिमात्रका भगवान्पर पूरा अधिकार है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आपसके व्यवहारमें अर्थात् रोटी, बेटी और शरीर आदिके साथ बर्ताव करनेमें तो 'जन्म' की प्रधानता है और परमात्माकी प्राप्तिमें भाव, विवेक और 'कर्म' की प्रधानता है। इसी आशयको लेकर भागवतकारने कहा है कि जिस मनुष्यके वर्णको बतानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझ लेना चाहिये[2]। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणके शम-दम आदि जितने लक्षण हैं, वे लक्षण या गुण स्वाभाविक ही किसीमें हों तो जन्ममात्रसे नीचा होनेपर भी उसको नीचा नहीं मानना चाहिये। ऐसे ही महाभारतमें युधिष्ठिर और नहुषके संवादमें आया है कि जो शूद्र आचरणोंमें श्रेष्ठ है, उस शूद्रको शूद्र नहीं मानना चाहिये और जो ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मोंसे रहित है, उस ब्राह्मणको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये[3] अर्थात् वहाँ कर्मोंकी ही प्रधानता ली गयी है, जन्मकी नहीं।

शास्त्रोंमें जो ऐसे वचन आते हैं, उन सबका तात्पर्य है कि कोई भी नीच वर्णवाला साधारण-से-साधारण मनुष्य अपनी पारमार्थिक उन्नति कर सकता है, इसमें संदेहकी कोई बात नहीं है। इतना ही नहीं, वह उसी वर्णमें रहता हुआ शम, दम आदि जो सामान्य धर्म हैं, उनका सांगोपांग पालन करता हुआ अपनी श्रेष्ठताको प्रकट कर सकता है। जन्म तो पूर्वकर्मोंके अनुसार हुआ है, इसमें वह बेचारा क्या कर सकता है? परन्तु वहीं (नीच वर्णमें) रहकर भी वह अपनी नयी उन्नति कर सकता है। उस नयी उन्नतिमें प्रोत्साहित करनेके लिये ही शास्त्र-वचनोंका आशय मालूम देता है कि नीच वर्णवाला भी नयी उन्नति करनेमें हिम्मत न हारे। जो ऊँचे वर्णवाला होकर भी वर्णोचित काम नहीं करता, उसको भी अपने वर्णोचित काम करनेके लिये शास्त्रोंमें प्रोत्साहित किया है; जैसे—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।'

(श्रीमद्भा० ११। १७। ४२)

जिन ब्राह्मणोंका खान-पान, आचरण सर्वथा भ्रष्ट है, उन ब्राह्मणोंका वचनमात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिये—ऐसा स्मृतिमें आया है[4]। परन्तु जिनके आचरण

१-आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः। छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

(वसिष्ठस्मृति ६। ३)

'शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—इन छहों अंगोंसहित अध्ययन किये हुए वेद भी आचारहीन पुरुषको पवित्र नहीं करते। पंख पैदा होनेपर पक्षी जैसे अपने घोंसलेको छोड़ देता है, ऐसे ही मृत्युसमयमें आचारहीन पुरुषको वेद छोड़ देते हैं।'

२-यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥ (श्रीमद्भा० ७। ११। ३५)

३-शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

(महाभारत, वनपर्व १८०। २५-२६)

४-पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान्। हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

(मनुस्मृति ४। ३०)

'पाखण्डी, विरुद्ध कर्म करनेवाले, बैडालव्रती, शठ, हेतुवादी, बकवृत्ति ब्राह्मणोंका वचनमात्रसे भी आदर न करे।'

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे। न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित्॥

(मनुस्मृति ४। १९२)

'धर्मज्ञ गृहाश्रमी बैडालव्रती, बकव्रती और वेदको नहीं जाननेवाले ब्राह्मणके लिये पानी भी न दे।'

श्रेष्ठ हैं, जो भगवान्‌के भक्त हैं, उन ब्राह्मणोंकी भागवत आदि पुराणोंमें और महाभारत, रामायण आदि इतिहास-ग्रन्थोंमें बहुत महिमा गायी गयी है।

भगवान्‌का भक्त चाहे कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है।*

ब्राह्मणको विराट्‌रूप भगवान्‌का मुख, क्षत्रियको हाथ, वैश्यको ऊरु (मध्यभाग) और शूद्रको पैर बताया गया है। ब्राह्मणको मुख बतानेका तात्पर्य है कि उनके पास ज्ञानका संग्रह है, इसलिये चारों वर्णोंको पढ़ाना, अच्छी शिक्षा देना और उपदेश सुनाना—यह मुखका ही काम है। इस दृष्टिसे ब्राह्मण ऊँचे माने गये।

क्षत्रियको हाथ बतानेका तात्पर्य है कि वे चारों वर्णोंकी शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। रक्षा करना मुख्यरूपसे हाथोंका ही काम है; जैसे—शरीरमें फोड़ा-फुंसी आदि हो जाय तो हाथोंसे ही रक्षा की जाती है; शरीरपर चोट आती हो तो रक्षाके लिये हाथ ही आड़ देते हैं और अपनी रक्षाके लिये दूसरोंपर हाथोंसे ही चोट पहुँचायी जाती है; आदमी कहीं गिरता है तो पहले हाथ ही टिकते हैं। इसलिये क्षत्रिय हाथ हो गये। अराजकता फैल जानेपर तो जन, धन आदिकी रक्षा करना चारों वर्णोंका धर्म हो जाता है।

वैश्यको मध्यभाग कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पेटमें अन्न, जल, औषध आदि डाले जाते हैं तो उनसे शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंको खुराक मिलती है और सभी अवयव पुष्ट होते हैं, ऐसे ही वस्तुओंका संग्रह करना, उनका यातायात करना, जहाँ जिस चीजकी कमी हो वहाँ पहुँचाना, प्रजाको किसी चीजका अभाव न होने देना वैश्यका काम है। पेटमें अन्न-जलका संग्रह सब शरीरके लिये होता है और साथमें पेटको भी पुष्टि मिल जाती है; क्योंकि मनुष्य केवल पेटके लिये पेट नहीं भरता। ऐसे ही वैश्य केवल दूसरोंके लिये ही संग्रह करे, केवल अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मण आदिको दान देता है, क्षत्रियोंको टैक्स देता है, अपना पालन करता है और शूद्रोंको मेहनताना देता है। इस प्रकार वह सबका पालन करता है। यदि वह संग्रह नहीं करेगा, कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य नहीं करेगा तो क्या देगा?

शूद्रको चरण बतानेका तात्पर्य है कि जैसे चरण सारे शरीरको उठाये फिरते हैं और पूरे शरीरकी सेवा चरणोंसे ही होती है, ऐसे ही सेवाके आधारपर ही चारों वर्ण चलते हैं। शूद्र अपने सेवा-कर्मके द्वारा सबके आवश्यक कार्योंकी पूर्ति करता है।

उपर्युक्त विवेचनमें एक ध्यान देनेकी बात है कि गीतामें चारों वर्णोंके उन स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन है, जो कर्म

*** (१) अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥**
(श्रीमद्भा० ३। ३३। ७)

'अहो! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी जीभके अग्रभागपर आपका नाम विराजता है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया।'

(२) विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा० ७। ९। १०)

'मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌के अर्पण कर दिया है; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है; परन्तु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला भगवद्विमुख ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।'

(३) चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः। विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचोऽधमः॥
(पद्मपुराण)

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है, और हरिभक्तिसे रहित ब्राह्मण चाण्डालसे भी अधम है।'

(४) अवैष्णवाद् द्विजाद् विप्र चाण्डालो वैष्णवो वरः॥ सगणः श्वपचो मुक्तो ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्।
(ब्रह्मवैवर्त०, ब्रह्मा० ११। ३९)

'अवैष्णव ब्राह्मणसे वैष्णव चाण्डाल श्रेष्ठ है; क्योंकि वह वैष्णव चाण्डाल अपने बन्धुगणोंसहित भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और वह अवैष्णव ब्राह्मण नरकमें पड़ता है।'

(५) न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः। सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने॥ (महाभारत)

'यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है।'

स्वतः होते हैं अर्थात् उनको करनेमें अधिक परिश्रम नहीं पड़ता। चारों वर्णोंके लिये और भी दूसरे कर्मोंका विधान है, उनको स्मृति-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये और उनके अनुसार अपने आचरण बनाने चाहिये(गीता—सोलहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

वर्तमानमें चारों वर्णोंमें गड़बड़ी आ जानेपर भी यदि चारों वर्णोंके समुदायोंको इकट्ठा करके अलग-अलग समुदायमें देखा जाय तो ब्राह्मण-समुदायमें शम, दम आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। क्षत्रिय-समुदायमें शौर्य, तेज आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। वैश्य-समुदायमें व्यापार करना, धनका उपार्जन करना, धनको पचाना (धनका भभका ऊपरसे न दीखने देना) आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। शूद्र-समुदायमें सेवा करनेकी प्रवृति जितनी अधिक मिलेगी, उतनी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-समुदायमें नहीं मिलेगी। तात्पर्य यह है कि आज सभी वर्ण मर्यादारहित और उच्छृंखल होनेपर भी उनके स्वभावज कर्म उनके समुदायोंमें विशेषतासे देखनेमें आते हैं अर्थात् यह चीज व्यक्तिगत न दीखकर समुदायगत देखनेमें आती है।

जो लोग शास्त्रके गहरे रहस्यको नहीं जानते, वे कह देते हैं कि ब्राह्मणोंके हाथमें कलम रही, इसलिये उन्होंने 'ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है' ऐसा लिखकर ब्राह्मणोंको सर्वोच्च कह दिया। जिनके पास राज्य था, उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमलोग कुछ नहीं हैं क्या? तो ब्राह्मणोंने कह दिया—नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं। आपलोग भी हैं, आपलोग दो नम्बरमें हैं। वैश्योंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमारे बिना कैसे जीविका चलेगी आपकी? ब्राह्मणोंने कहा—हाँ, हाँ, आपलोग तीसरे नम्बरमें हैं। जिनके पास न राज्य था, न धन था, वे ऊँचे उठने लगे तो ब्राह्मणोंने कह दिया—आपके भाग्यमें राज्य और धन लिखा नहीं है। आपलोग तो इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंकी सेवा करो। इसलिये चौथे नम्बरमें आपलोग हैं। इस तरह सबको भुलावेमें डालकर विद्या, राज्य और धनके प्रभावसे अपनी एकता करके चौथे वर्णको पददलित कर दिया—यह लिखनेवालोंका अपना स्वार्थ और अभिमान ही है।

इसका समाधान यह है कि ब्राह्मणोंने कहीं भी अपने ब्राह्मण-धर्मके लिये ऐसा नहीं लिखा है कि ब्राह्मण सर्वोपरि हैं, इसलिये उनको बड़े आरामसे रहना चाहिये, धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर मौज करनी चाहिये इत्यादि, प्रत्युत ब्राह्मणोंके लिये ऐसा लिखा है कि उनको त्याग करना चाहिये, कष्ट सहना चाहिये; तपश्चर्या करनी चाहिये। गृहस्थमें रहते हुए भी उनको धन-संग्रह नहीं करना चाहिये, अन्नका संग्रह भी थोड़ा ही होना चाहिये—कुम्भीधान्य अर्थात् एक घड़ा भरा हुआ अनाज हो, लौकिक भोगोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, और जीवन-निर्वाहके लिये किसीसे दान भी लिया जाय तो उसका काम करके अर्थात् यज्ञ, होम, जप, पाठ आदि करके ही लेना चाहिये। गोदान आदि लिया जाय तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।

यदि कोई ब्राह्मणको श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहे तो वह श्राद्धके पहले दिन दे, जिससे ब्राह्मण उसके पितरोंका अपनेमें आवाहन करके रात्रिमें ब्रह्मचर्य और संयमपूर्वक रह सके। दूसरे दिन वह यजमानके पितरोंका पिण्डदान, तर्पण ठीक विधि-विधानसे करवाये। उसके बाद वहाँ भोजन करे। निमन्त्रण भी एक ही यजमानका स्वीकार करे और भोजन भी एक ही घरका करे। श्राद्धका अन्न खानेके बाद गायत्री-जप आदि करके शुद्ध होना चाहिये। दान लेना, श्राद्धका भोजन करना ब्राह्मणके लिये ऊँचा दर्जा नहीं है। ब्राह्मणका ऊँचा दर्जा त्यागमें है। वे केवल यजमानके पितरोंका कल्याण करनेकी भावनासे ही श्राद्धका भोजन और दक्षिणा स्वीकार करते हैं, स्वार्थकी भावनासे नहीं; अतः यह भी उनका त्याग ही है।

ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये ऋत, अमृत, मृत, सत्यानृत और प्रमृत—ये पाँच वृत्तियाँ बतायी हैं*—

(१) ऋत-वृत्ति सर्वोच्च वृत्ति मानी गयी है। इसको शिलोञ्छ या कपोत-वृत्ति भी कहते हैं। खेती करनेवाले खेतमेंसे धान काटकर ले जायँ, उसके बाद वहाँ जो अन्न (ऊमी, सिट्टा आदि) पृथ्वीपर गिरा पड़ा हो, वह भूदेवों (ब्राह्मणों)-का होता है; अतः उनको चुनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छवृत्ति' है अथवा धान्यमण्डीमें जहाँ धान्य

* **ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ (मनुस्मृति ४। ४)**

'ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमेंसे किसी भी वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे; परन्तु श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्तिसे कभी भी जीवन-निर्वाह न करे।'

तौला जाता है, वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए दाने भूदेवोंके होते हैं; अत: उनको चुनकर जीवन-निर्वाह करना 'कपोतवृत्ति' है।

(२) बिना याचना किये और बिना इशारा किये कोई यजमान आकर देता है तो निर्वाहमात्रकी वस्तु लेना 'अमृत-वृत्ति' है। इसको 'अयाचितवृत्ति' भी कहते हैं।

(३) सुबह भिक्षाके लिये गाँवमें जाना और लोगोंको वार, तिथि, मुहूर्त आदि बताकर (इस रूपमें काम करके) भिक्षामें जो कुछ मिल जाय, उसीसे अपना जीवन-निर्वाह करना 'मृत-वृत्ति' है।

(४) व्यापार करके जीवन-निर्वाह करना 'सत्यानृत-वृत्ति' है।

(५) उपर्युक्त चारों वृत्तियोंसे जीवन-निर्वाह न हो तो खेती करे, पर वह भी कठोर विधि-विधानसे करे; जैसे—एक बैलसे हल न चलाये, धूपके समय हल न चलाये आदि, यह 'प्रमृत-वृत्ति' है।

उपर्युक्त वृत्तियोंमेंसे किसी भी वृत्तिसे निर्वाह किया जाय, उसमें पंचमहायज्ञ, अतिथि-सेवा करके यज्ञशेष भोजन करना चाहिये*।

श्रीमद्भगवद्गीतापर विचार करते हैं तो ब्राह्मणके लिये पालनीय जो नौ स्वाभाविक धर्म बताये गये हैं, उनमें जीविका पैदा करनेवाला एक भी धर्म नहीं है। क्षत्रियके लिये सात स्वाभाविक धर्म बताये हैं। उनमें युद्ध करना और शासन करना—ये दो धर्म कुछ जीविका पैदा करनेवाले हैं। वैश्यके लिये तीन धर्म बताये हैं—खेती, गोरक्षा और व्यापार; ये तीनों ही जीविका पैदा करनेवाले हैं। शूद्रके लिये एक सेवा ही धर्म बताया है, जिसमें पैदा-ही-पैदा होती है। शूद्रके लिये खान-पान, जीवन-निर्वाह आदिमें भी बहुत छूट दी गयी है।

भगवान्ने **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८।४५) पदोंसे कितनी विचित्र बात बतायी है कि शम, दम आदि नौ धर्मोंके पालनसे ब्राह्मणका जो कल्याण होता है, वही कल्याण शौर्य, तेज आदि सात धर्मोंके पालनसे क्षत्रियका होता है, वही कल्याण खेती, गोरक्षा और व्यापारके पालनसे वैश्यका होता है और वही कल्याण केवल सेवा करनेसे शूद्रका हो जाता है।

आगे भगवान्ने एक विलक्षण बात बतायी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने वर्णोचित कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके परम सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८।४६)। वास्तवमें कल्याण वर्णोचित कर्मोंसे नहीं होता, प्रत्युत निष्कामभावपूर्वक पूजनसे ही होता है। शूद्रका तो स्वाभाविक कर्म ही परिचर्यात्मक अर्थात् पूजनरूप है; अत: उसका पूजनके द्वारा पूजन होता है अर्थात् उसके द्वारा दुगुनी पूजा होती है! इसलिये उसका कल्याण जितनी जल्दी होगा, उतनी जल्दी ब्राह्मण आदिका नहीं होगा।

शास्त्रकारोंने उद्धार करनेमें छोटेको ज्यादा प्यार दिया है; क्योंकि छोटा प्यारका पात्र होता है और बड़ा अधिकारका पात्र होता है। बड़ेपर चिन्ता-फिक्र ज्यादा रहती है, छोटेपर कुछ भी भार नहीं रहता। शूद्रको भाररहित करके उसकी जीविका बतायी गयी है और प्यार भी दिया गया है।

वास्तवमें देखा जाय तो जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये शास्त्रोंके अनुसार उतने ही कठिन नियम होते हैं। उन नियमोंका सांगोपांग पालन करनेमें कठिनता अधिक मालूम देती है। परन्तु जो वर्ण-आश्रममें नीचा होता है, उसका कल्याण सुगमतासे हो जाता है। इस विषयमें विष्णुपुराणमें एक कथा आती है—एक बार बहुत-से ऋषि-मुनि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये भगवान् वेदव्यासजीके पास गये। व्यासजीने सबको आदरपूर्वक बिठाया और स्वयं गंगामें स्नान करने चले गये। गंगामें स्नान करते हुए उन्होंने कहा—'कलियुग, तुम धन्य हो! स्त्रियो, तुम धन्य हो! शूद्रो, तुम धन्य हो! जब व्यासजी स्नान करके ऋषियोंके पास आये तो ऋषियोंने कहा—महाराज! आपने कलियुग, स्त्रियों और शूद्रोंको धन्यवाद कैसे दिया!' तो उन्होंने कहा कि कलियुगमें अपने धर्मका पालन करनेसे स्त्रियों और शूद्रोंका कल्याण जल्दी और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

यहाँ एक और बात सोचनेकी है कि जो अपने स्वार्थका

*** ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये यह निषेध आया है कि वह श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति कभी न करे—'न श्ववृत्त्या कदाचन' (मनु० ४।४), 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' (मनु० ४।६)। वास्तवमें सेवावृत्तिका ही निषेध किया गया है, सेवाका नहीं। माता-पिताकी तरह वे नीच-से-नीच वर्णकी नीची-से-नीची सेवा कर सकते हैं। नीच वर्णोंकी सेवा करनेमें उनकी महत्ता ही है। इसलिये वृत्तिकी ही निन्दा की गयी है। मान, बड़ाई, उपार्जन आदि स्वार्थके लिये सेवा करनेकी निन्दा है, स्वार्थका त्याग करके सेवा करनेकी निन्दा नहीं है।**

काम करता है, वह समाजमें और संसारमें आदरका पात्र नहीं होता। समाजमें ही नहीं, घरमें भी जो व्यक्ति पेटू और चट्टू होता है, उसकी दूसरे निन्दा करते हैं। ब्राह्मणोंने स्वार्थ-दृष्टिसे अपने ही मुँहसे अपनी (ब्राह्मणोंकी) प्रशंसा, श्रेष्ठताकी बात नहीं कही है। उन्होंने ब्राह्मणोंके लिये त्याग ही बताया है। सात्त्विक मनुष्य अपनी प्रशंसा नहीं करते, प्रत्युत दूसरोंकी प्रशंसा, दूसरोंका आदर करते हैं। तात्पर्य है कि ब्राह्मणोंने कभी अपने स्वार्थ और अभिमानकी बात नहीं कही। यदि वे स्वार्थ और अभिमानकी बात कहते तो वे इतने आदरणीय नहीं होते, संसारमें और शास्त्रोंमें आदर न पाते। वे जो आदर पाते हैं, वह त्यागसे ही पाते हैं।

इस प्रकार मनुष्यको शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करके उपर्युक्त सभी बातोंको समझना चाहिये और ऋषि-मुनियोंपर, शास्त्रकारोंपर झूठा आक्षेप नहीं करना चाहिये।

ऊँच-नीच वर्णोंमें प्राणियोंका जन्म मुख्यरूपसे गुणों और कर्मोंके अनुसार होता है—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**' (गीता ४। १३); परन्तु ऋणानुबन्ध, शाप, वरदान, संग आदि किसी कारणविशेषसे भी ऊँच-नीच वर्णोंमें जन्म हो जाता है। उन वर्णोंमें जन्म होनेपर भी वे अपने पूर्वस्वभावके अनुसार ही आचरण करते हैं। यही कारण है कि ऊँचे वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी उनके नीच आचरण देखे जाते हैं, जैसे धुन्धुकारी आदि; और नीच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी वे महापुरुष होते हैं, जैसे विदुर, कबीर, रैदास आदि।

आज जिस समुदायमें जातिगत, कुलपरम्परागत, समाजगत और व्यक्तिगत जो भी शास्त्र-विपरीत दोष आये हैं, उनको अपने विवेक-विचार, सत्संग, स्वाध्याय आदिके द्वारा दूर करके अपनेमें स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता लानी चाहिये, जिससे अपने मनुष्यजन्मका ध्येय सिद्ध हो सके।

सम्बन्ध—स्वभावज कर्मोंका वर्णन करनेका प्रयोजन क्या है—इसको अब आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

स्वे, स्वे = अपने-अपने; **कर्मणि** = कर्ममें; **अभिरतः** = प्रीतिपूर्वक लगा हुआ; **नरः** = मनुष्य; **संसिद्धिम्** = सम्यक् सिद्धि (परमात्मा)-को; **लभते** = प्राप्त कर लेता है। **स्वकर्मनिरतः** = अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य; **यथा** = जिस प्रकार; **सिद्धिम्** = सिद्धिको; **विन्दति** = प्राप्त होता है, **तत्** = उस प्रकारको (तू मुझसे); **शृणु** = सुन।

व्याख्या—'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**'—गीताके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि मनुष्यकी जैसी स्वतःसिद्ध स्वाभाविक प्रकृति (स्वभाव) है, उसमें अगर वह कोई नयी उलझन पैदा न करे, राग-द्वेष न करे तो वह प्रकृति उसका स्वाभाविक ही कल्याण कर दे। तात्पर्य है कि प्रकृतिके द्वारा प्रवाहरूपसे अपने-आप होनेवाले जो स्वाभाविक कर्म हैं, उनका स्वार्थ-त्यागपूर्वक प्रीति और तत्परतासे आचरण करे; परन्तु कर्मोंके प्रवाहके साथ न राग हो, न द्वेष हो और न फलेच्छा हो। राग-द्वेष और फलेच्छासे रहित होकर क्रिया करनेसे 'करनेका वेग' शान्त हो जाता है और कर्ममें आसक्ति न होनेसे नया वेग पैदा नहीं होता। इससे प्रकृतिके पदार्थों और क्रियाओंके साथ निर्लिप्तता (असंगता) आ जाती है। निर्लिप्तता होनेसे प्रकृतिकी क्रियाओंका प्रवाह स्वाभाविक ही चलता रहता है और उनके साथ अपना कोई सम्बन्ध न रहनेसे साधककी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, जो कि प्राणिमात्रकी स्वतः-स्वाभाविक है। अपने स्वरूपमें स्थिति होनेपर उसका परमात्माकी तरफ स्वाभाविक आकर्षण हो जाता है। परन्तु यह सब होता है कर्मोंमें 'अभिरति' होनेसे, आसक्ति होनेसे नहीं।

कर्मोंमें एक तो 'अभिरति' होती है और एक 'आसक्ति' होती है। अपने स्वाभाविक कर्मोंको केवल दूसरोंके हितके लिये तत्परता और उत्साहपूर्वक करनेसे अर्थात् केवल देनेके लिये कर्म करनेसे मनमें जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम 'अभिरति' है। फलकी इच्छासे कुछ करना अर्थात् कुछ पानेके लिये कर्म करना 'आसक्ति' है। कर्मोंमें अभिरतिसे कल्याण होता है और आसक्तिसे बन्धन होता है।

इस प्रकरणके **'स्वे स्वे कर्मणि', 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य', 'स्वभावनियतं कर्म', 'सहजं कर्म'** आदि पदोंमें 'कर्म' शब्द एकवचनमें आया है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य प्रीति और तत्परतापूर्वक चाहे एक कर्म करे, चाहे अनेक कर्म करे, उसका उद्देश्य केवल परमात्मप्राप्ति होनेसे उसकी कर्तव्यनिष्ठा एक ही होती है। परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको लेकर मनुष्य जितने भी कर्म करता है, वे सब कर्म अन्तमें उसी उद्देश्यमें ही लीन हो जाते हैं अर्थात् उसी उद्देश्यकी पूर्ति करनेवाले हो जाते हैं। जैसे गंगाजी हिमालयसे निकलकर गंगासागरतक जाती हैं तो नद, नदियाँ, झरने, सरोवर, वर्षाका जल—ये सभी उसकी धारामें मिलकर गंगासे एक हो जाते हैं, ऐसे ही उद्देश्यवालेके सभी कर्म उसके उद्देश्यमें मिल जाते हैं। परन्तु जिसकी कर्मोंमें आसक्ति है, वह एक कर्म करके अनेक फल चाहता है अथवा अनेक कर्म करके एक फल चाहता है; अतः उसका उद्देश्य एक परमात्माकी प्राप्तिका न होनेसे उसकी कर्तव्यनिष्ठा एक नहीं होती (गीता—दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)।

'स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु'—अपने कर्मोंमें प्रीतिपूर्वक तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य परमात्माको जैसे प्राप्त होता है, वह सुनो अर्थात् कर्ममात्र परमात्मप्राप्तिका साधन है, इस बातको सुनो और सुन करके ठीक तरहसे समझो।

विशेष बात

मालिककी सुख-सुविधाकी सामग्री जुटा देना, मालिकके दैनिक कार्योंमें अनुकूलता उपस्थित कर देना आदि कार्य तो वेतन लेनेवाला नौकर भी कर सकता है और करता भी है। परन्तु उसमें 'क्रिया' की (कि इतना काम करना है) और 'समय' की (कि इतने घंटे काम करना है) प्रधानता रहती है। इसलिये वह काम-धंधा 'सेवा' नहीं बन पाता। यदि मालिकका वह काम-धन्धा आदरपूर्वक सेव्यबुद्धिसे, महत्त्वबुद्धिसे किया जाय तो वह 'सेवा' हो जाता है।

सेव्यबुद्धि, महत्त्वबुद्धि चाहे जन्मके सम्बन्धसे हो, चाहे विद्याके सम्बन्धसे; चाहे वर्ण-आश्रमके सम्बन्धसे हो; चाहे योग्यता, अधिकार, सद्गुण-सदाचारके सम्बन्धसे। जहाँ महत्त्वबुद्धि हो जाती है, वहाँ सेव्यको सुख-आराम कैसे मिले? सेव्यकी प्रसन्नता किस बातमें है? सेव्यका क्या रुख है? क्या रुचि है?—ऐसे भाव होनेसे जो भी काम किया जाय, वह 'सेवा' हो जाता है।

सेव्यका वही काम पूजाबुद्धि, भगवद्बुद्धि, गुरुबुद्धि आदिसे किया जाय और पूज्यभावसे चन्दन लगाया जाय, पुष्प चढ़ाये जायँ, माला पहनायी जाय, आरती की जाय, तो वह काम 'पूजन' हो जाता है। इससे सेव्यके चरणस्पर्श अथवा दर्शनमात्रसे चित्तकी प्रसन्नता, हृदयकी गद्गदता, शरीरका रोमांचित होना आदि होते हैं और सेव्यके प्रति विशेष भाव प्रकट होते हैं। उससे सेव्यकी सेवामें कुछ शिथिलता आ सकती है; परन्तु भावोंके बढ़नेपर अन्तःकरण-शुद्धि, भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि हो जाते हैं।

मालिकका समय-समयपर काम-धंधा करनेसे नौकरको पैसे मिल जाते हैं और सेव्यकी सेवा करनेसे सेवकको अन्तःकरण-शुद्धिपूर्वक भगवत्प्राप्ति हो जाती है; परन्तु पूजाभावके बढ़नेसे तो पूजकको तत्काल भगवत्प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि चरणचाँपी तो नौकर भी करता है, पर उसको सेवाका आनन्द नहीं मिलता; क्योंकि उसकी दृष्टि पैसोंपर रहती है। परन्तु जो सेवाबुद्धिसे चरणचाँपी करता है, उसको सेवामें विशेष आनन्द मिलता है; क्योंकि उसकी दृष्टि सेव्यके सुखपर रहती है। पूजामें तो चरण छूनेमात्रसे शरीर रोमांचित हो जाता है और अन्तःकरणमें एक पारमार्थिक आनन्द होता है। उसकी दृष्टि पूज्यकी महत्तापर और अपनी लघुतापर रहती है। ऐसे देखा जाय तो नौकरके काम-धंधेसे मालिकको आराम मिलता है, सेवामें सेव्यको विशेष आराम तथा सुख मिलता है और पूजामें पूजकके भावसे पूज्यको प्रसन्नता होती है। पूजामें शरीरके सुख-आरामकी प्रधानता नहीं होती।

अपने स्वभावज कर्मोंके द्वारा पूजा करनेसे पूजकका भाव बढ़ जाता है तो उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरसे होनेवाली (चेष्टा, चिन्तन, समाधि आदि) सभी छोटी-बड़ी क्रियाएँ सब प्राणियोंमें व्यापक परमात्माकी पूजन-सामग्री बन जाती है। उसकी दैनिकचर्या अर्थात् खाना-पीना आदि सब क्रियाएँ भी पूजन-सामग्री बन जाती हैं।

जैसे ज्ञानयोगीका 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' यह भाव हरदम बना रहता है, ऐसे ही अनेक प्रकारकी क्रियाएँ करनेपर भी भक्तके भीतर एक भगवद्भाव हरदम बना रहता है। उस भावकी गाढ़तामें उसका अहंभाव भी छूट जाता है।

परिशिष्ट भाव—अपने वर्णके सिवाय जिसने जो-जो कर्म स्वीकार कर लिये हैं, वे सब भी '**स्वे स्वे कर्मणि**' के अन्तर्गत लेने चाहिये। जैसे, मनुष्य अपनेको वकील, नौकर, अध्यापक अथवा चिकित्सक आदि मानता है तो उसके कर्तव्यका प्रेमपूर्वक, आदरपूर्वक नि:स्वार्थभावसे ठीक-ठीक पालन करना भी उसके लिये 'स्वकर्म' है।

मनुष्य स्वार्थबुद्धि, पक्षपात, कामना आदिको लेकर कर्म करता है तो वह 'आसक्ति' होती है। वह प्रेमपूर्वक, निष्कामभावसे और लोकहितके लिये कर्म करता है तो वह 'अभिरति' होती है। भगवान्‌ने कर्मोंमें 'आसक्ति' का निषेध किया है—'**न कर्मस्वनुषज्जते**' (गीता ६। ४)। मनुष्य जाति आदिको लेकर न अपनेको ऊँचा समझे, न नीचा समझे, प्रत्युत घड़ीके पुर्जेकी तरह अपनी जगह ठीक कर्तव्यका पालन करे और दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करे तथा अपना अभिमान भी न करे, तब 'अभिरति' होगी।

वास्तवमें 'कर्म' की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'भाव' की प्रधानता है। कर्ताका भाव शुद्ध होगा तो वह कल्याण करनेवाला हो जायगा, चाहे कर्ता किसी वर्णका हो। 'कर्म' में वर्णकी मुख्यता है और 'भाव' में दैवी अथवा आसुरी-सम्पत्तिकी मुख्यता है। अत: दैवी-आसुरी-सम्पत्ति किसी वर्णको लेकर नहीं होती, प्रत्युत सबमें हो सकती है। दैवी-सम्पत्ति मोक्ष देनेवाली और आसुरी-सम्पत्ति बाँधनेवाली है। इसलिये अगर ब्राह्मणमें भी अभिमान हो तो वह आसुरी-सम्पत्तिवाला हो जायगा अर्थात् उसका पतन हो जायगा—

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जाति के अभिमान से, डूबे सभी कुलीन॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

यतः = जिस परमात्मासे, **भूतानाम्** = सम्पूर्ण प्राणियोंकी, **प्रवृत्तिः** = प्रवृत्ति (उत्पत्ति) होती है (और), **येन** = जिससे, **इदम्** = यह, **सर्वम्** = सम्पूर्ण संसार, **ततम्** = व्याप्त है, **तम्** = उस परमात्माका, **स्वकर्मणा** = अपने कर्मके द्वारा, **अभ्यर्च्य** = पूजन करके, **मानवः** = मनुष्यमात्र, **सिद्धिम्** = सिद्धिको, **विन्दति** = प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—'**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्**'—जिस परमात्मासे संसार पैदा हुआ है, जिससे सम्पूर्ण संसारका संचालन होता है, जो सबका उत्पादक, आधार और प्रकाशक है और जो सबमें परिपूर्ण है अर्थात् जो परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्तिसे पहले भी था, जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके लीन होनेपर भी रहेगा और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रहते हुए भी जो रहता है तथा जो अनन्त ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त है, उसी परमात्माका अपने-अपने स्वभावज (वर्णोचित स्वाभाविक) कर्मोंके द्वारा पूजन करना चाहिये।

'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**'—मनुस्मृतिमें ब्राह्मणोंके लिये छ: कर्म बताये गये हैं—स्वयं पढ़ना और दूसरोंको पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरोंसे यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरोंको दान देना[१] (इनमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये तीन कर्म जीविकाके हैं और पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना—ये तीन कर्तव्यकर्म हैं)। उपर्युक्त शास्त्रनियत छ: कर्म और शम-दम आदि नौ स्वभावज कर्म तथा इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना आदि जितने भी कर्म हैं, उन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मण चारों वर्णोंमें व्याप्त परमात्माका पूजन करें। तात्पर्य है कि परमात्माकी आज्ञासे, उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवद्‌बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

ऐसे ही क्षत्रियोंके लिये पाँच कर्म बताये गये हैं—प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयोंमें आसक्त न होना[२]। इन पाँच कर्मों तथा शौर्य,

---

१-अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनु० १। ८८)

२-प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु० १। ८९)

तेज आदि सात स्वभावज कर्मोंके द्वारा और खाना-पीना आदि सभी कर्मोंके द्वारा क्षत्रिय सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें।

वैश्य यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना और ब्याज लेना तथा कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य[1]—इन शास्त्र-नियत और स्वभावज कर्मोंके द्वारा और शूद्र शास्त्रविहित तथा स्वभावज कर्म सेवा[2] के द्वारा सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें अर्थात् अपने शास्त्रविहित, स्वभावज और खाना-पीना, सोना-जागना आदि सभी कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की आज्ञासे, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जो-जो कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं, वे सब संसाररूप परमात्माकी पूजाके लिये ही हैं। अगर साधक अपने कर्मोंके द्वारा भावसे उस परमात्माका पूजन करता है, तो उसकी मात्र क्रियाएँ परमात्माकी पूजा हो जाती हैं। जैसे, पितामह भीष्मने (अर्जुनके साथ युद्ध करते हुए) अर्जुनके सारथि बने हुए भगवान्‌की अपने युद्धरूप कर्मके द्वारा (बाणोंसे) पूजा की। भीष्मके बाणोंसे भगवान्‌का कवच टूट गया, जिससे भगवान्‌के शरीरमें घाव हो गये और हाथकी अंगुलियोंमें छोटे-छोटे बाण लगनेसे अंगुलियोंसे लगाम पकड़ना कठिन हो गया। ऐसी पूजा करके अन्तसमयमें शर-शय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्म अपने बाणोंद्वारा पूजित भगवान्‌का ध्यान करते हैं—'युद्धमें मेरे तीखे बाणोंसे जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रमके कारण जिनके मुखपर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई रज जिनकी सुन्दर अलकावलिमें लगी हुई है, इस प्रकार बाणोंसे अलंकृत भगवान् कृष्णमें मेरे मन-बुद्धि लग जायँ[3]।'

लौकिक और पारमार्थिक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन तो करना चाहिये, पर उन कर्मोंमें और उनको करनेके करणों-उपकरणोंमें ममता नहीं रखनी चाहिये। कारण कि जिन वस्तुओं, क्रियाओं आदिमें ममता हो जाती है, वे सभी चीजें अपवित्र हो जानेसे[4] पूजा-सामग्री नहीं रहतीं (अपवित्र फल, फूल आदि भगवान्‌पर नहीं चढ़ते)। इसलिये 'मेरे पास जो कुछ है, वह सब उस सर्वव्यापक परमात्माका ही है, मुझे तो केवल निमित्त बनकर उनकी दी हुई शक्तिसे उनका पूजन करना है'—इस भावसे जो कुछ किया जाय, वह सब-का-सब परमात्माका पूजन हो जाता है। इसके विपरीत उन क्रियाओं, वस्तुओं आदिको मनुष्य जितनी अपनी मान लेता है, उतनी ही वे (अपनी मानी हुई) क्रियाएँ, वस्तुएँ (अपवित्र होनेसे) परमात्माके पूजनसे वंचित रह जाती हैं।

'सिद्धिं विन्दति मानवः'—सिद्धिको प्राप्त होनेका तात्पर्य है कि अपने कर्मोंसे परमात्माका पूजन करनेवाला मनुष्य प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होकर स्वतः अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर पहले जो परमात्माके समर्पण किया था, उस संस्कारके कारण उसका प्रभुमें अनन्यप्रेम जाग्रत् हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता।

यहाँ **'मानवः'** पदका तात्पर्य केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—इन वर्णों और आश्रमों आदिसे ही नहीं है, प्रत्युत हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी, यहूदी आदि सभी जातियों और सम्प्रदायोंसे है। किसी भी जाति, सम्प्रदाय आदिके कोई भी व्यक्ति क्यों न हों, सब-के-सब ही परमात्माके पूजनके अधिकारी हैं; क्योंकि सभी परमात्माके अपने हैं। जैसे घरमें स्वभाव आदिके भेदसे अनेक तरहके बालक होते हैं, पर उन सबकी माँ एक ही होती है और उन बालकोंकी तरह-तरहकी जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सब क्रियाओंसे माँ प्रसन्न होती रहती है; क्योंकि उन बालकोंमें माँका अपनापन होता है। ऐसे ही भगवान्‌के सम्मुख हुए मनुष्योंकी सभी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं और प्रसन्न हो जाते हैं।

इसी अध्यायके सत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि कोई भी मनुष्य हम दोनोंके संवादका अध्ययन

१-पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ (मनु० १। ९०)

२-एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनु० १। ९१)

३-युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये। मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥ (श्रीमद्भा० १। ९। ३४)

४-'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७। ११७ क)

करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाऊँगा। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई गीताका पाठ करे, अध्ययन करे तो उसको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं। ऐसे ही जो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे विमुख होकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है, उसकी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं।

विशेष बात

कर्मयोगमें कर्मोंके द्वारा जडतासे असंगता होती है और भक्तियोगमें संसारसे असंगतापूर्वक परमात्माके प्रति पूज्यभाव होनेसे परमात्माकी सम्मुखता रहती है।

कर्मयोगी तो अपने पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ संसारका जड-अंश है, उसको स्वार्थ, अभिमान, कामनाका त्याग करके संसारकी सेवामें लगा देता है। इससे अपनी मानी हुई चीजोंसे अपनापन छूटकर उनसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, और जो स्वतः-स्वाभाविक असंगता है, वह प्रकट हो जाती है।

भक्त अपने वर्णोचित स्वाभाविक कर्मों और समय-समयपर किये गये पारमार्थिक कर्मों-(जप, ध्यान आदि-) के द्वारा सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त परमात्माका पूजन करता है।

इन दोनोंमें भावकी भिन्नता होनेसे इतना ही अन्तर हुआ कि कर्मयोगीकी सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह सबको सुख पहुँचानेमें लग जाता है, तो क्रियाओंको करनेका वेग मिटकर स्वयंमें असंगता आ जाती है; और भक्तकी सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माकी पूजन-सामग्री बन जानेसे जडतासे विमुखता होकर भगवान्की सम्मुखता आ जाती है और प्रेम बढ़ जाता है।

भक्त तो पहलेसे ही भगवान्के सम्मुख होकर अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर देता है। स्वयंके अनन्यता-पूर्वक भगवान्के समर्पित हो जानेसे खाना-पीना, काम-धंधा आदि लौकिक और जप, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि पारमार्थिक क्रियाएँ भी भगवान्के अर्पण हो जाती हैं। उसकी लौकिक-पारमार्थिक क्रियाओंमें केवल बाहरसे भेद देखनेमें आता है; परन्तु वास्तवमें कोई भेद नहीं रहता।

कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—ये दोनों अन्तमें एक हो जाते हैं। जैसे, कर्मयोगी कर्मोंके द्वारा जडताका त्याग करता है अर्थात् सेवाके द्वारा उसकी सभी क्रियाएँ संसारके अर्पण हो जाती हैं और स्वयं असंग हो जाता है और ज्ञानयोगी विचारके द्वारा जडताका त्याग करता है अर्थात् विचारके द्वारा उसकी सभी क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण हो जाती हैं और स्वयं असंग हो जाता है। तात्पर्य है कि दोनोंके अर्पण करनेके प्रकारमें अन्तर है, पर असंगतामें दोनों एक हो जाते हैं*। इस असंगतामें कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—दोनों स्वतन्त्र हो जाते हैं। उनके लिये किंचिन्मात्र भी कर्मोंका बन्धन नहीं रहता। केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक), और ज्ञानरूप अग्निसे ज्ञानयोगीके सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। परन्तु इस स्वतन्त्रतामें भी जिसको संतोष नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रतासे जिसको उपरति हो जाती है, उसमें भगवत्कृपासे प्रेम प्रकट हो सकता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**' पदोंमें आये '**प्रवृत्तिः**' पदका अर्थ 'उत्पत्ति' लेना चाहिये; क्योंकि परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति तो होती है, पर क्रिया नहीं होती। क्रिया रजोगुणसे होती है—'**लोभः प्रवृत्तिरारम्भः०**' (गीता १४। १२) पन्द्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भी 'प्रवृत्ति' पद 'उत्पत्ति' अर्थमें आया है—'**यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी**'।

यह संसार भगवान्का पहला अवतार है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। अतः यह संसार भगवान्की ही मूर्ति है, श्रीविग्रह है। जैसे मूर्तिमें हम भगवान्का पूजन करते हैं, पुष्प चढ़ाते हैं, चन्दन लगाते हैं तो हमारा भाव मूर्तिमें न होकर भगवान्में होता है अर्थात् हम मूर्तिकी पूजा न करके भगवान्की पूजा करते हैं, ऐसे ही हमें अपनी प्रत्येक क्रियासे संसाररूपमें भगवान्का पूजन करना है। श्रोता सुनकर वक्ताका पूजन करे, वक्ता सुनाकर श्रोताका पूजन करे—इस प्रकार सभी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक-दूसरेका पूजन करें। दृष्टि भगवान्की तरफ ही हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णकी तरफ नहीं। भगवान् श्रीरामको ऋषि-मुनि प्रणाम करते हैं तो भगवान्के

*** ऐसे तो संसारसे असंग होना कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों योगोंके साधकोंके लिये आवश्यक है। गीतामें 'संगं त्यक्त्वा' (५। ११) पदोंसे कर्मयोगीको, 'मुक्तसंगः' (१८। २६) पदसे ज्ञानयोगीको और 'संगवर्जितः' (११। ५५) पदसे भक्तियोगीको संगरहित होनेके लिये कहा गया है।**

भावसे प्रणाम करते हैं, क्षत्रियके भावसे नहीं। पूजनमें खास बात है—सब कुछ भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही है। जैसे गंगाजलसे गंगाका पूजन करते हैं, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुओंसे भगवान्‌का पूजन करना है। वास्तवमें सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌का ही पूजन हैं, हमें केवल अपनी भूल मिटानी है। भगवान्‌की ही वस्तु भगवान्‌के अर्पित करनेसे अपनी स्वार्थबुद्धि, भोगबुद्धि, फलेच्छा मिट जायगी तथा अपनेमें सामर्थ्य भी भगवान्‌का ही माननेसे कर्तृत्व भी मिट जायगा और भगवत्प्राप्तिका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें भगवद्भावसे संसारका पूजन मूर्तिपूजासे भी विशेष मूल्यवान् है। कारण कि मूर्तिका पूजन करनेसे मूर्ति प्रसन्न होती हुई नहीं दीखती, पर प्राणियोंकी सेवा करनेसे वे प्रत्यक्ष प्रसन्न (सुखी) होते हुए दीखते हैं।

अगर व्यक्तियोंको भगवान्‌का स्वरूप मानकर कर्मोंसे और पदार्थोंसे उनकी सेवा की जाय तो संसार लुप्त हो जायगा और एकमात्र भगवान् रह जायँगे अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जायगा। जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम मिटनेपर साँप तो लुप्त हो जाता है, पर रस्सी तो रहती ही है, ऐसे ही भगवान्‌में जगत्‌का भ्रम मिटनेपर जगत् जगत्‌रूपसे लुप्त हो जाता है और भगवद्रूपसे रहता है। कारण कि जगत्‌की तो मान्यता है, पर 'भगवान् हैं' यह वास्तविकता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है और उनमें मेरेको ही देखता है*, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकारसहित दूर हो जाते हैं।'

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**' (१०। २०) 'सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा भी मैं ही हूँ'। अतः भगवद्भावसे किसी प्राणीकी सेवा, आदर-सत्कार करेंगे तो वह भगवान्‌की ही सेवा होगी। अगर किसी प्राणीका अनादर-तिरस्कार करेंगे तो वह भगवान्‌का ही अनादर-तिरस्कार होगा—'**कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः०**' (१७। ६)।

जैसे ज्ञानमार्गमें गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ('**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**'), ऐसे ही भक्तिमार्गमें भगवान्‌की वस्तुओंसे भगवान्‌का ही पूजन हो रहा है। परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' में जड़ताकी मुख्यता है, जिसका ज्ञानमार्गी त्याग करता है; परन्तु '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' में चिन्मयताकी मुख्यता है, जिसका भक्तिमार्गी ग्रहण करता है। इसलिये भक्तिमार्गमें जड़ता मिट जाती है, संसार संसाररूपसे छिप जाता है और भगवत्स्वरूपसे प्रकट हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें भगवान् ही हैं। साधक अगर जगत्‌को जगत्‌रूपसे देखे तो उसकी 'सेवा' करे और भगवद्रूपसे देखे तो उसका 'पूजन' करे। अपने लिये कुछ नहीं करे। मात्र कर्म अपने लिये करना बन्धन है, संसारके लिये करना सेवा है और भगवान्‌के लिये करना पूजन है।

सम्बन्ध—स्वभावज (सहज) कर्मोंको निष्कामभावपूर्वक और पूजाबुद्धिसे करते हुए उसमें कोई कमी रह भी जाय, तो भी उसमें साधकको हताश नहीं होना चाहिये—इसको आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

*** स्त्री-पुरुषोंमें भगवान्‌को देखनेके लिये इसलिये कहा है कि हम अधिकतर स्त्री-पुरुषोंमें ही गुण-दोष देखते हैं, जिससे उनमें भगवद्भाव नहीं होता। अतः स्त्री-पुरुषोंमें गुण-दोष न देखकर केवल भगवान्‌को देखनेसे सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें सुगमतासे भगवद्भाव हो जायगा।**

स्वनुष्ठितात्	=अच्छी तरह अनुष्ठान किये हुए	**स्वधर्मः**	=अपना धर्म	**कर्म**	=स्वधर्मरूप कर्मको
परधर्मात्	=परधर्मसे	**श्रेयान्**	=श्रेष्ठ है। (कारण कि)	**कुर्वन्**	=करता हुआ (मनुष्य)
विगुणः	=गुणरहित (भी)	**स्वभाव-नियतम्**	=स्वभावसे नियत किये हुए	**किल्बिषम्**	=पापको
				न, आप्नोति	=प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—'**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्-स्वनुष्ठितात्**'—यहाँ '**स्वधर्म**' शब्दसे वर्ण-धर्म ही मुख्यतासे लिया गया है।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यवाला मनुष्य 'स्व' को अर्थात् अपनेको जो मानता है, उसका धर्म (कर्तव्य) 'स्वधर्म' है। जैसे कोई अपनेको मनुष्य मानता है, तो मनुष्यताका पालन करना उसके लिये स्वधर्म है। ऐसे ही कर्मोंके अनुसार अपनेको कोई विद्यार्थी या अध्यापक मानता है तो पढ़ना या पढ़ाना उसका स्वधर्म हो जायगा। कोई अपनेको साधक मानता है, तो साधन करना उसका स्वधर्म हो जायगा। कोई अपनेको भक्त, जिज्ञासु और सेवक मानता है तो भक्ति, जिज्ञासा और सेवा उसका स्वधर्म हो जायगा। इस प्रकार जिसकी जिस कार्यमें नियुक्ति हुई है और जिसने जिस कार्यको स्वीकार किया है, उसके लिये उस कार्यको सांगोपांग करना स्वधर्म है।

ऐसे ही मनुष्य जन्म और कर्मके अनुसार अपनेको जिस वर्ण और आश्रमका मानता है, उसके लिये उसी वर्ण और आश्रमका धर्म स्वधर्म हो जायगा। ब्राह्मणवर्णमें उत्पन्न हुआ अपनेको ब्राह्मण मानता है तो यज्ञ कराना, दान लेना, पढ़ाना आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म उसके लिये स्वधर्म हैं। क्षत्रियके लिये युद्ध करना, ईश्वरभाव आदि; वैश्यके लिये कृषि, गौरक्षा, व्यापार आदि और शूद्रके लिये सेवा—ये जीविका-सम्बन्धी कर्म स्वधर्म हैं। ऐसा अपना स्वधर्म अगर दूसरोंके धर्मकी अपेक्षा गुणरहित है अर्थात् अपने स्वधर्ममें गुणोंकी कमी है, उसका अनुष्ठान करनेमें कमी रहती है तथा उसको कठिनतासे किया जाता है; परन्तु दूसरेका धर्म गुणोंसे परिपूर्ण है, दूसरेके धर्मका अनुष्ठान सांगोपांग है और करनेमें बहुत सुगम है तो भी अपने स्वधर्मका पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ है।

शास्त्रने जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंका विधान किया है, उस वर्णके लिये वे कर्म 'स्वधर्म' हैं और उन्हीं कर्मोंका जिस वर्णके लिये निषेध किया है, उस वर्णके लिये वे कर्म 'परधर्म' हैं। जैसे यज्ञ कराना, दान लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये शास्त्रकी आज्ञा होनेसे स्वधर्म हैं; परन्तु वे ही कर्म क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये शास्त्रका निषेध होनेसे परधर्म हैं। परन्तु आपत्कालको लेकर शास्त्रोंने जीविका-सम्बन्धी जिन कर्मोंका निषेध नहीं किया है, वे कर्म सभी वर्णोंके लिये स्वधर्म हो जाते हैं। जैसे आपत्कालमें अर्थात् आपत्तिके समय वैश्यके खेती, व्यापार आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म ब्राह्मणके लिये भी स्वधर्म हो जाते हैं*।

ब्राह्मणके शम, दम आदि जितने भी स्वभावज कर्म हैं, वे सामान्य धर्म होनेसे चारों वर्णोंके लिये स्वधर्म हैं। कारण कि उनका पालन करनेके लिये सभीको शास्त्रकी आज्ञा है। उनका किसीके लिये भी निषेध नहीं है।

मनुष्य-शरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इस दृष्टिसे मनुष्यमात्र साधक है। अतः दैवी-सम्पत्तिके जितने भी सद्गुण-सदाचार हैं, वे सभीके अपने होनेसे मनुष्यमात्रके लिये स्वधर्म हैं। परन्तु आसुरी-सम्पत्तिके जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे मनुष्यमात्रके लिये न तो स्वधर्म हैं और न परधर्म ही हैं; वे तो सभीके लिये निषिद्ध हैं, त्याज्य हैं; क्योंकि वे अधर्म हैं। दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको धारण करनेमें और आसुरी-सम्पत्तिके पाप-कर्मोंका त्याग करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं, सभी सबल हैं, सभी अधिकारी हैं; कोई भी परतन्त्र, निर्बल तथा अनधिकारी नहीं है। हाँ,

---

*** आपत्तिके समय ब्राह्मण क्षात्रवृत्तिसे निर्वाह कर सकता है और ज्यादा आपत्ति (आफत) आ जाय तो वैश्यवृत्ति भी कर सकता है; परन्तु वैश्यवृत्तिमें फरक यह रहेगा कि ब्राह्मण खेती करे तो सुबह और शाम ठण्डे समय हल चलाये और दो बैलोंका ही हल चलाये, एक बैलका नहीं। ऐसे ही व्यापार करे तो रस-कसका व्यापार न करे अर्थात् चीनी, शक्कर, घी, तेल, नमक आदिका व्यापार न करे।**

ऐसे ही आफतके समय क्षत्रिय वैश्यकी वृत्ति—गौरक्ष्य, कृषि और वाणिज्य कर सकता है और वैश्य शूद्रकी वृत्ति भी कर सकता है।

यह बात अलग है कि कोई सद्‌गुण किसीके स्वभावके अनुकूल पड़ता है और कोई सद्‌गुण किसीके स्वभावके अनुकूल पड़ता है। जैसे, किसीके स्वभावमें दया मुख्य होती है और किसीके स्वभावमें उपेक्षा मुख्य होती है, किसीका स्वभाव स्वतः क्षमा करनेका होता है और किसीका स्वभाव माँगनेपर क्षमा करनेका होता है, किसीके स्वभावमें उदारता स्वाभाविक होती है और किसीके स्वभावमें उदारता विचारपूर्वक होती है, आदि। ऐसा भेद रह सकता है।

'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'—शास्त्रोंमें विहित और निषिद्ध—दो तरहके वचन आते हैं। उनमें विहित कर्म करनेकी आज्ञा है और निषिद्ध कर्म करनेका निषेध है। उन विहित कर्मोंमें भी शास्त्रोंने जिस वर्ण, आश्रम, देश, काल, घटना, परिस्थिति, वस्तु, संयोग, वियोग आदिको लेकर अलग-अलग जो कर्म नियुक्त किये हैं, उस वर्ण, आश्रम आदिके लिये वे 'नियत कर्म' कहलाते हैं।

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको लेकर जो स्वभाव बनता है, उस स्वभावके अनुसार जो कर्म नियत किये जाते हैं, वे 'स्वभावनियत कर्म' कहलाते हैं। उन्हींको स्वभावप्रभव, स्वभावज, स्वधर्म, स्वकर्म और सहज कर्म कहा है।

तात्पर्य यह है कि जिस वर्ण, जातिमें जन्म लेनेसे पहले इस जीवके जैसे गुण और कर्म रहे हैं, उन्हीं गुणों और कर्मोंके अनुसार उस वर्णमें उसका जन्म हुआ है। कर्म तो करनेपर समाप्त हो जाते हैं, पर गुण-रूपसे उनके संस्कार रहते हैं। जन्म होनेपर उन गुणोंके अनुसार ही उसमें गुण और पालनीय आचरण स्वाभाविक ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनको न तो कहींसे लाना पड़ता है और न उनके लिये परिश्रम ही करना पड़ता है। इसलिये उनको स्वभावज और स्वभावनियत कहा है।

यद्यपि **'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'** (गीता १८। ४८) के अनुसार कर्ममात्रमें दोष आता ही है, तथापि स्वभावके अनुसार शास्त्रने जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंकी आज्ञा दी है, उन कर्मोंको अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे किया जाय, तो उस वर्णके व्यक्तिको उन कर्मोंका दोष (पाप) नहीं लगता। ऐसे ही जो केवल शरीर-निर्वाहके लिये कर्म करता है, उसको भी पाप नहीं लगता—**'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'** (गीता ४। २१)।

विशेष बात

यहाँ एक बड़ी भारी शंका पैदा होती है कि एक आदमी कसाईके घर पैदा होता है तो उसके लिये कसाईका कर्म सहज (साथ ही पैदा हुआ) है, स्वाभाविक है। स्वभावनियत कर्म करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता, तो क्या कसाईके कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये? अगर उसको कसाईके कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, तो फिर निषिद्ध आचरण कैसे छूटेगा? कल्याण कैसे होगा?

इसका समाधान है कि स्वभावनियत कर्म वह होता है, जो विहित हो, किसी रीतिसे निषिद्ध नहीं हो अर्थात् उससे किसीका भी अहित न होता हो। जो कर्म किसीके लिये भी अहितकारक होते हैं, वे सहज कर्ममें नहीं लिये जाते। वे कर्म आसक्ति, कामनाके कारण पैदा होते हैं। निषिद्ध कर्म चाहे इस जन्ममें बना हो, चाहे पूर्वजन्ममें बना हो, है वह दोषवाला ही। दोष-भाग त्याज्य होता है; क्योंकि दोष आसुरी-सम्पत्ति है और गुण दैवी-सम्पत्ति है। पहले जन्मके संस्कारोंसे भी दुर्गुण-दुराचारोंमें रुचि हो सकती है, पर वह रुचि दुर्गुण-दुराचार करनेमें बाध्य नहीं करती। विवेक, सद्विचार, सत्संग, शास्त्र आदिके द्वारा उस रुचिको मिटाया जा सकता है।

युक्तिसे भी देखा जाय तो कोई भी प्राणी अपना अहित नहीं चाहता, अपनी हत्या नहीं चाहता। अतः किसीका अहित करनेका, हत्या करनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। मनुष्य अपने लिये अच्छा काम चाहता है तो उसे दूसरोंके लिये भी अच्छा काम करना चाहिये। शास्त्रोंमें भी देखा जाय तो यही बात है कि जिसमें दोष होते हैं, पाप होते हैं, अन्याय होते हैं, वे कर्म 'वैकृत' हैं, 'प्राकृत' नहीं हैं अर्थात् वे विकारसे पैदा हुए हैं, स्वभावसे नहीं। तीसरे अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पाप-कर्म करता है? तो भगवान्‌ने कहा कि कामनाके वशमें होकर ही मनुष्य पाप करता है (तीसरे अध्यायका छत्तीसवाँ-सैंतीसवाँ श्लोक)। कामनाको लेकर, क्रोधको लेकर, स्वार्थ और अभिमानको लेकर जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म शुद्ध नहीं होते, अशुद्ध होते हैं।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे जो कर्म किये जाते हैं, उन कर्मोंमें भिन्नता तो रहती है, पर वे दोषी नहीं होते। ब्राह्मणके घर जन्म होगा तो ब्राह्मणोचित कर्म होंगे, शूद्रके घर जन्म होगा तो शूद्रोचित कर्म होंगे, पर दोषी-भाग किसीमें भी

नहीं होगा। दोषी-भाग सहज नहीं है, स्वभावनियत नहीं है। दोषयुक्त कर्म स्वाभाविक हो सकते हैं, पर स्वभावनियत नहीं हो सकते। एक ब्राह्मणको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय तो प्राप्ति होनेके बाद भी वह वैसी ही पवित्रतासे भोजन बनायेगा; जैसी पवित्रतासे ब्राह्मणको रहना चाहिये, वैसी ही पवित्रतासे रहेगा। ऐसे ही एक अन्त्यजको परमात्माकी प्राप्ति हो जाय तो वह जूठन भी खा लेगा; जैसे पहले रहता था, वैसे ही रहेगा। परन्तु ब्राह्मण ऐसा नहीं करेगा; क्योंकि पवित्रतासे भोजन करना उसका स्वभावनियत कर्म है, जबकि अन्त्यजके लिये जूठन खाना दोषी नहीं बताया गया है। इसलिये सिद्ध महापुरुषोंमें एक-एकसे विचित्र कर्म होते हैं, पर वे दोषी नहीं होते। उनका स्वभाव राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण शुद्ध होता है।

पहलेके किसी पाप-कर्मसे कसाईके घर जन्म हो गया तो वह जन्म पापका फल भोगनेके लिये हुआ है, पाप करनेके लिये नहीं। पापका फल जाति, आयु और भोग बताया गया है, नया कर्म नहीं बताया गया—**'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** (योगदर्शन २। १३)। कर्म करनेमें वह स्वतन्त्र है। यदि उसका चित्त शुद्ध हो जाय तो वह कसाई आदिका कर्म कर नहीं सकेगा। एक सन्तसे किसीने कहा कि अगर कोई अपना धर्म पशुओंको मारना ही मानता है तो वह क्या करे? तो उन सन्तने बड़ी दृढ़तासे कहा कि यदि वह अपने धर्मके अनुसार ही लगातार तीन वर्षतक पवित्रतापूर्वक भगवान्‌के नामका, अपने इष्टके नामका जप करे, तो फिर वह मार नहीं सकेगा। कारण कि उसका पूर्वजन्मका अथवा यहाँका जो स्वभाव पड़ा हुआ है, वह स्वभाव दोषी है। यदि सच्चे हृदयसे ठीक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहेगा तो वह कसाईका काम नहीं कर सकेगा। उससे अपने-आप ग्लानि होगी, उपरति होगी। बिना कहे-सुने उसमें सद्‌गुण स्वाभाविक आयेंगे।

रामचरितमानसमें शबरीके प्रसंगमें आता है—भगवान् रामने शबरीसे कहा—**'नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥'** (३। ३५। ४) फिर नौ प्रकारकी भक्ति कहकर अन्तमें भगवान्‌ने कहा—**'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें'** (३। ३६। ४)। तात्पर्य यह है कि भक्ति नौ प्रकारकी होती है, इसका शबरीको पता ही नहीं है; परन्तु शबरीमें सब प्रकारकी भक्ति स्वाभाविक ही थी। सत्संग, भजन, ध्यान आदि करनेसे जिन गुणोंका हमें ज्ञान नहीं है, वे गुण भी आ जाते हैं। जो केवल दूसरोंको सुनानेके लिये याद करते हैं, वे दूसरोंको तो बता देंगे, पर आचरणमें वे गुण तभी आयेंगे, जब अपना स्वभाव शुद्ध करके परमात्माकी तरफ चलेंगे। इसलिये मनुष्यको अपना स्वभाव और अपने कर्म शुद्ध, निर्मल बनाने चाहिये। इसमें कोई परतन्त्र नहीं है, कोई निर्बल नहीं है, कोई अयोग्य नहीं है, कोई अपात्र नहीं है। मनुष्यके मनमें ऐसा आता है कि मैं कर्तव्यका पालन करनेमें और सद्‌गुणोंको लानेमें असमर्थ हूँ। परन्तु वास्तवमें वह असमर्थ नहीं है। सांसारिक भोगोंकी आदत और पदार्थोंके संग्रहकी रुचि होनेसे ही असमर्थताका अनुभव होता है।

उद्धारके योग्य समझकर ही भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया है। इसलिये अपने स्वभावका सुधार करके अपना उद्धार करनेमें प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है, सबल है, योग्य है, समर्थ है। स्वभावका सुधार करना असम्भव तो है ही नहीं, कठिन भी नहीं है। मनुष्यको मुक्तिका द्वार कहा गया है—**'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'** (मानस ७। ४३। ४)। यदि स्वभावका सुधार करना असम्भव होता तो इसे मुक्तिका द्वार कैसे कहा जा सकता? अगर मनुष्य अपने स्वभावका सुधार न कर सके, तो फिर मनुष्यजीवनकी सार्थकता क्या हुई?

परिशिष्ट भाव—स्वधर्मरूप कर्मको करनेसे पाप बन तो सकता है, पर लग नहीं सकता—**'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'**। पाप लगनेमें मुख्य कारण भाव है, क्रिया नहीं। अतः पाप कर्मोंसे नहीं लगता, प्रत्युत स्वार्थ और अभिमान आनेसे लगता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**न, त्यजेत्**	= त्याग नहीं करना चाहिये;	**अग्निः**	= अग्निकी
सदोषम्	= दोषयुक्त होनेपर	**हि**	= क्योंकि	**इव**	= तरह (किसी-न-किसी)
अपि	= भी	**सर्वारम्भाः**	= सम्पूर्ण कर्म	**दोषेण**	= दोषसे
सहजम्	= सहज	**धूमेन**	= धुएँसे	**आवृताः**	= युक्त हैं।
कर्म	= कर्मका				

व्याख्या—[पूर्वश्लोकमें यह कहा गया कि स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने जो कर्म नियत किये हैं, उन कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि स्वभावनियत कर्मोंमें भी पाप-क्रिया होती है। अगर पाप-क्रिया न होती तो 'पापको प्राप्त नहीं होता' यह कहना नहीं बनता। अतः यहाँ भगवान् कहते हैं कि 'जो सहज कर्म हैं, उनमें कोई दोष भी आ जाय तो भी उनका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि सब-के-सब कर्म धुएँसे अग्निकी तरह दोषसे आवृत हैं।']

'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'— स्वभावनियत कर्म सहज-कर्म कहलाते हैं; जैसे—ब्राह्मणके शम, दम आदि; क्षत्रियके शौर्य, तेज आदि; वैश्यके कृषि, गौरक्ष्य आदि और शूद्रके सेवा-कर्म—ये सभी सहज-कर्म हैं। जन्मके बाद शास्त्रोंने पूर्वके गुण और कर्मोंके अनुसार जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंकी आज्ञा दी है, वे शास्त्रनियत कर्म भी सहज-कर्म कहलाते हैं; जैसे—ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना और कराना, पढ़ना और पढ़ाना आदि; क्षत्रियके लिये यज्ञ करना, दान करना आदि; वैश्यके लिये यज्ञ करना आदि; और शूद्रके लिये सेवा।

सहज कर्ममें ये दोष हैं—

(१) परमात्मा और परमात्माका अंश—ये दोनों ही 'स्व' हैं तथा प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर आदि—ये दोनों ही 'पर' हैं। परन्तु परमात्माका अंश स्वयं प्रकृतिके वश होकर परतन्त्र हो जाता है अर्थात् क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है और उस क्रियाको यह अपनेमें मान लेता है तो परतन्त्र हो जाता है। यह प्रकृतिके परतन्त्र होना ही महान् दोष है।

(२) प्रत्येक कर्ममें कुछ-न-कुछ आनुषंगिक अनिवार्य हिंसा आदि दोष होते ही हैं।

(३) कोई भी कर्म किया जाय, वह कर्म किसीके अनुकूल और किसीके प्रतिकूल होता ही है। किसीके प्रतिकूल होना भी दोष है।

(४) प्रमाद आदि दोषोंके कारण कर्मके करनेमें कमी रह जाना अथवा करनेकी विधिमें भूल हो जाना भी दोष है।

अपने सहज-कर्ममें दोष भी हो, तो भी उसको नहीं छोड़ना चाहिये। इसका तात्पर्य है कि जैसे ब्राह्मणके कर्म जितने सौम्य हैं, उतने ब्राह्मणेतर वर्णोंके कर्म सौम्य नहीं हैं। परन्तु सौम्य न होनेपर भी वे कर्म दोषी नहीं माने जाते अर्थात् ब्राह्मणके सहज कर्मोंकी अपेक्षा क्षत्रिय, वैश्य आदिके सहज कर्मोंमें गुणोंकी कमी होनेपर भी उस कमीका दोष नहीं लगता और अनिवार्य हिंसा आदि भी नहीं लगते, प्रत्युत उनका पालन करनेसे लाभ होता है। कारण कि वे कर्म उनके स्वभावके अनुकूल होनेसे करनेमें सुगम हैं और शास्त्रविहित हैं।

ब्राह्मणके लिये भिक्षा बतायी गयी है। देखनेमें भिक्षा निर्दोष दीखती है, पर उसमें भी दोष आ जाते हैं। जैसे किसी गृहस्थके घरपर कोई भिक्षुक खड़ा है और उसी समय दूसरा भिक्षुक वहाँ आ जाता है तो गृहस्थको भार लगता है। भिक्षुकोंमें परस्पर ईर्ष्या होनेकी सम्भावना रहती है। भिक्षा देनेवालेके घरमें पूरी तैयारी नहीं है तो उसको भी दुःख होता है। यदि कोई गृहस्थ भिक्षा देना नहीं चाहता और उसके घरपर भिक्षुक चला जाय तो उसको बड़ा कष्ट होता है। अगर वह भिक्षा देता है तो खर्चा होता है और नहीं देता है तो भिक्षुक निराश होकर चला जाता है। इससे उस गृहस्थको पाप लगता है और बेचारा उसमें फँस जाता है। इस प्रकार यद्यपि भिक्षामें भी दोष होते हैं, तथापि ब्राह्मणको उसे छोड़ना नहीं चाहिये।

क्षत्रियके लिये न्याययुक्त युद्ध प्राप्त हो जाय तो उसको करनेसे क्षत्रियको पाप नहीं लगता। यद्यपि युद्धरूप कर्ममें दोष हैं; क्योंकि उसमें मनुष्योंको मारना पड़ता है, तथापि क्षत्रियके लिये सहज और शास्त्रविहित होनेसे दोष नहीं लगता। ऐसे ही वैश्यके लिये खेती करना बताया गया है। खेती करनेमें बहुत-से जन्तुओंकी हिंसा होती है। परन्तु वैश्यके लिये सहज और शास्त्रविहित होनेसे हिंसाका इतना दोष नहीं लगता। इसलिये सहज कर्मोंको छोड़ना नहीं चाहिये।

सहज कर्मोंको करनेमें दोष (पाप) नहीं लगता—यह बात ठीक है; परन्तु इन साधारण सहज कर्मोंसे मुक्ति कैसे हो जायगी? वास्तवमें मुक्ति होनेमें सहज कर्म बाधक नहीं हैं। कामना, आसक्ति, स्वार्थ, अभिमान आदिसे ही बन्धन होता है और पाप भी इन कामना आदिके कारणसे ही होते हैं। इसलिये मनुष्यको निष्कामभावपूर्वक भगवत्प्रीत्यर्थ सहज कर्मोंको करना चाहिये, तभी बन्धन छूटेगा।

'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'— जितने भी कर्म हैं, वे सब-के-सब सदोष ही हैं; जैसे—आग सुलगायी जाय तो आरम्भमें धुआँ होता ही है। कर्म करनेमें देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिकी परतन्त्रता और दूसरोंकी प्रतिकूलता भी दोष है, परन्तु स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने आज्ञा दी है। उस आज्ञाके अनुसार निष्कामभावपूर्वक

कर्म करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता। इसीसे भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि 'भैया! तू जिस युद्धरूप क्रियाको घोर कर्म मान रहा है, वह तेरा धर्म है; क्योंकि न्यायसे प्राप्त हुए युद्धको करना क्षत्रियोंका धर्म है, इसके सिवाय क्षत्रियके लिये दूसरा कोई श्रेयका साधन नहीं है' (गीता—दूसरे अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव— निषिद्ध कर्ममें आसक्ति होनेसे अथवा निषिद्ध रीतिसे भोग भोगनेके कारण ही विहित कर्म कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें विहित कर्म सहज स्वाभाविक है, इसमें परिश्रम नहीं है।

इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक 'स्वकर्म', 'स्वधर्म' और 'सहजकर्म' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि गीता स्वकर्म और सहजकर्मको ही 'स्वधर्म' मानती है।

विहित कर्म करनेमें दोष तो होता है, पर कामना, सुखबुद्धि, भोगबुद्धि न रहनेसे दोष लगता नहीं। तात्पर्य है कि दोष लगना या न लगना कर्ताकी नीयतपर निर्भर है; जैसे—डॉक्टरकी नीयत ठीक हो, पैसोंका उद्‌देश्य न होकर सेवाका उद्‌देश्य हो तो ऑपरेशनमें रोगीका अंग काटनेपर भी उसको दोष नहीं लगता, प्रत्युत निःस्वार्थभाव और हितकी दृष्टि होनेसे पुण्य होता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले सांख्ययोगके अधिकारीका वर्णन करते हैं।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

सर्वत्र, असक्तबुद्धिः = जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्तिरहित है, **जितात्मा** = जिसने शरीरको वशमें कर रखा है, **विगतस्पृहः** = जो स्पृहारहित है (वह मनुष्य) **सन्न्यासेन** = सांख्ययोगके द्वारा **परमाम्** = सर्वश्रेष्ठ **नैष्कर्म्य-सिद्धिम्** = नैष्कर्म्यसिद्धिको **अधिगच्छति** = प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—संन्यास-(सांख्य-) योगका अधिकारी होनेसे ही सिद्धि होती है। अतः उसका अधिकारी कैसा होना चाहिये—यह बतानेके लिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें तीन बातें बतायी हैं—

(१) **'असक्तबुद्धिः सर्वत्र'**—जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्तिरहित है अर्थात् देश, काल, घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ आदि किसीमें भी जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती।

(२) **'जितात्मा'**—जिसने शरीरपर अधिकार कर लिया है अर्थात् जो आलस्य, प्रमाद आदिसे शरीरके वशीभूत नहीं होता, प्रत्युत इसको अपने वशीभूत रखता है। तात्पर्य है कि वह किसी कार्यको अपने सिद्धान्तपूर्वक करना चाहता है तो उस कार्यमें शरीर तत्परतासे लग जाता है और किसी क्रिया, घटना, आदिसे हटना चाहता है तो वह वहाँसे हट जाता है। इस प्रकार जिसने शरीरपर विजय कर ली है, वह 'जितात्मा' कहलाता है।

(३) **'विगतस्पृहः'**—जीवन-धारणमात्रके लिये जिनकी विशेष जरूरत होती है, उन चीजोंकी सूक्ष्म इच्छाका नाम 'स्पृहा' है; जैसे—साग-पत्ती कुछ मिल जाय, रूखी-सूखी रोटी ही मिल जाय, कुछ-न-कुछ खाये बिना हम कैसे जी सकते हैं! जल पीये बिना हम कैसे रह सकते हैं! ठण्डीके दिनोंमें कपड़े बिलकुल न हों तो हम कैसे जी सकते हैं! सांख्ययोगका साधक इन जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताओंकी भी परवाह नहीं करता।

तात्पर्य यह हुआ कि सांख्ययोगमें चलनेवालेको जडताका त्याग करना पड़ता है। उस जडताका त्याग करनेमें उपर्युक्त तीन बातें आयी हैं। असक्तबुद्धि होनेसे वह जितात्मा हो जाता है और जितात्मा होनेसे वह विगतस्पृह हो जाता है, तब वह सांख्ययोगका अधिकारी हो जाता है।

'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति'—ऐसा असक्तबुद्धि, जितात्मा और विगतस्पृह पुरुष सांख्ययोगके द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धिको अर्थात् नैष्कर्म्यरूप परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। कारण कि क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है और जब स्वयंका उस क्रियाके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, तब कोई भी क्रिया और उसका फल उसपर किंचिन्मात्र भी लागू नहीं होता। अतः उसमें जो स्वाभाविक, स्वतःसिद्ध निष्कर्मता—निर्लिप्तता है, वह प्रकट हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—नैष्कर्म्यसिद्धिका अर्थ है—कर्म सर्वथा अकर्म हो जायँ, कर्मोंके साथ बिलकुल सम्बन्ध न रहे, कर्म होते हुए भी लिप्तता न हो—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः**' (गीता ४। १८)। कर्मोंको न करना नैष्कर्म्य (निष्कर्मता) नहीं है (गीता—तीसरे अध्यायका चौथा श्लोक), प्रत्युत कर्म करना तो साधकके लिये आवश्यक है (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)।

'**असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः**'—यह कर्मयोगकी सिद्धि है (गीता—दूसरे अध्यायका इकहत्तरवाँ श्लोक), जिसके होनेपर कर्मयोगी सांख्ययोगमें जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका छठाँ श्लोक) और सांख्ययोगसे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मयोगसे तो 'नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है—'**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**' (गीता ३। ४), पर भक्तियोगसे 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग तो 'निष्ठा' है—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा०**' (३। ३), पर कर्मयोग-ज्ञानयोगकी 'परा निष्ठा' भक्तिसे ही होगी—'**निष्ठा ज्ञानस्य या परा**' (१८। ५०)। तात्पर्य है कि 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' और 'परा निष्ठा'—दोनों भक्तिसे होती हैं।

सम्बन्ध—अब उस परम सिद्धिको प्राप्त करनेकी विधि बतानेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

कौन्तेय	= हे कौन्तेय!	**या**	= जो कि	**तथा**	= उस प्रकारको (तुम)
सिद्धिम्	= सिद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि)-को	**ज्ञानस्य**	= ज्ञानकी	**मे**	= मुझसे
		परा	= परा	**समासेन**	= संक्षेपमें
		निष्ठा	= निष्ठा है,	**एव**	= ही
प्राप्तः	= प्राप्त हुआ साधक	**यथा**	= जिस प्रकारसे	**निबोध**	= समझो।
ब्रह्म	= ब्रह्मको	**आप्नोति**	= प्राप्त होता है,		

व्याख्या—'**सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे**'—यहाँ 'सिद्धि' नाम अन्तःकरणकी शुद्धिका है, जिसका वर्णन पूर्वश्लोकमें आये '**असक्तबुद्धिः**', '**जितात्मा**' और '**विगतस्पृहः**' पदोंसे हुआ है। जिसका अन्तःकरण इतना शुद्ध हो गया है कि उसमें किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारकी कामना, ममता और आसक्ति नहीं रही, उसके लिये कभी किंचिन्मात्र भी किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी जरूरत नहीं पड़ती अर्थात् उसके लिये कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता। इसलिये इसको सिद्धि कहा है।

लोकमें तो ऐसा कहा जाता है कि मनचाही चीज मिल गयी तो सिद्धि हो गयी, अणिमादि सिद्धियाँ मिल गयीं तो सिद्धि हो गयी। पर वास्तवमें यह सिद्धि नहीं है; क्योंकि इसमें पराधीनता होती है, किसी बातकी कमी रहती है और किसी वस्तु, परिस्थिति आदिकी जरूरत पड़ती है। अतः जिस सिद्धिमें किंचिन्मात्र भी कामना पैदा न हो, वही वास्तवमें सिद्धि है। जिस सिद्धिके मिलनेपर कामना बढ़ती रहे, वह सिद्धि वास्तवमें सिद्धि नहीं है, प्रत्युत एक बन्धन ही है।

अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ साधक ही ब्रह्मको प्राप्त होता है। वह जिस क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसको मुझसे समझ—'**निबोध मे।**' कारण कि सांख्ययोगकी जो सार-सार बातें हैं, वे सांख्ययोगीके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं और उन बातोंको समझनेकी बहुत जरूरत है।

'**निबोध**' पदका तात्पर्य है कि सांख्ययोगमें क्रिया और सामग्रीकी प्रधानता नहीं है। किन्तु उस तत्त्वको समझनेकी प्रधानता है। इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भी सांख्ययोगीके विषयमें '**निबोध**' पद आया है।

'**समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा**'—सांख्ययोगीकी जो आखिरी स्थिति है, जिससे बढ़कर साधककी कोई स्थिति नहीं हो सकती, वही ज्ञानकी परा निष्ठा कही जाती है। उस परा निष्ठाको अर्थात् ब्रह्मको सांख्ययोगका साधक जिस प्रकारसे प्राप्त होता है, उसको मैं संक्षेपसे कहूँगा अर्थात् उसकी सार-सार बातें कहूँगा।

परिशिष्ट भाव—यहाँ **'सिद्धिम्'** पदका अर्थ है—साधनरूप कर्मयोगसे होनेवाली अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धि, जिसकी प्राप्तिके बाद कर्मयोगी ज्ञानयोगमें अथवा भक्तियोगमें कहीं भी जा सकता है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय।'

अगर कर्मयोगीके भीतर ज्ञानके संस्कार हैं तो वह ज्ञानमें चला जायगा और अगर भक्तिके संस्कार हैं तो वह भक्तिमें चला जायगा।

अगर किसी एकका आग्रह न हो तो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों 'साधन' रूपसे भी हैं और 'साध्य' रूपसे भी हैं। साधनरूपसे तो तीनों अलग-अलग हैं, पर साध्यरूपसे तीनों एक ही हैं। इसलिये गीतामें कहीं तो भगवान्‌ने भक्तिके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति अर्थात् साधन-भक्तिसे साध्य-ज्ञानकी प्राप्ति बतायी है—**'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** (१३। १०), **'मां च योऽव्यभिचारेण...... ब्रह्मभूयाय कल्पते'** (१४। २६), और कहीं ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्ति अर्थात् साधन-ज्ञानसे साध्य-भक्तिकी प्राप्ति बतायी है—**'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र...... सर्वभूतहिते रताः'** (१२। ४), **'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा...... मद्भक्तिं लभते पराम्'** (१८। ५४)।

भगवान्‌ने पहले **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८। ४६)—इन पदोंसे कर्मयोगके द्वारा भक्तिकी सिद्धि बतायी और यहाँ **'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म'** पदोंसे कर्मयोगके द्वारा ज्ञानयोगकी सिद्धि बताते हैं। पाँचवें अध्यायमें भी साधनरूप कर्मयोगसे ज्ञानयोगकी शीघ्र सिद्धि बतायी है—**'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति'** (५। ६)।

सम्बन्ध—ज्ञानकी परा निष्ठा प्राप्त करनेके लिये किस साधन-सामग्रीकी आवश्यकता है, उसको आगेके तीन श्लोकोंमें बताते हैं।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥

विशुद्धया = (जो) विशुद्ध (सात्त्विकी)
बुद्ध्या = बुद्धिसे
युक्तः = युक्त,
वैराग्यम् = वैराग्यके
समुपाश्रितः = आश्रित,
विविक्तसेवी = एकान्तका सेवन करनेवाला (और)
लघ्वाशी = नियमित भोजन करनेवाला (साधक)
धृत्या = धैर्यपूर्वक
आत्मानम् = इन्द्रियोंका
नियम्य = नियमन करके,
यतवाक्कायमानसः = शरीर-वाणी-मनको वशमें करके,
शब्दादीन् = शब्दादि
विषयान् = विषयोंका
त्यक्त्वा = त्याग करके
च = और
रागद्वेषौ = राग-द्वेषको
व्युदस्य = छोड़कर
नित्यम् = निरन्तर
ध्यानयोगपरः = ध्यानयोगके परायण हो जाता है, (वह)
अहङ्कारम् = अहंकार,
बलम् = बल,
दर्पम् = दर्प,
कामम् = काम,
क्रोधम् = क्रोध
च = और
परिग्रहम् = परिग्रहसे

विमुच्य	= रहित होकर (एवं)	**निर्ममः**	= ममतारहित (तथा)	**ब्रह्मभूयाय**	= ब्रह्मप्राप्तिका
		शान्तः	= शान्त होकर	**कल्पते**	= पात्र हो जाता है।

व्याख्या—**'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः'**—जो सांख्ययोगी साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहता है, उसकी बुद्धि विशुद्ध अर्थात् सात्त्विकी (गीता—इसी अध्यायका तीसवाँ श्लोक) हो। उसकी बुद्धिका विवेक साफ-साफ हो, उसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह न हो।

इस सांख्ययोगके प्रकरणमें सबसे पहले बुद्धिका नाम आया है। इसका तात्पर्य है कि सांख्ययोगीके लिये जिस विवेककी आवश्यकता है, वह विवेक बुद्धिमें ही प्रकट होता है। उस विवेकसे वह जडताका त्याग करता है।

'वैराग्यं समुपाश्रितः'—जैसे संसारीलोग रागपूर्वक वस्तु, व्यक्ति आदिके आश्रित रहते हैं, उनको अपना आश्रय, सहारा मानते हैं, ऐसे ही सांख्ययोगका साधक वैराग्यके आश्रित रहता है अर्थात् जनसमुदाय, स्थान आदिसे उसकी स्वाभाविक ही निर्लिप्तता बनी रहती है। लौकिक और पारलौकिक सम्पूर्ण भोगोंसे उसका दृढ़ वैराग्य होता है।

'विविक्तसेवी'—सांख्ययोगके साधकका स्वभाव, उसकी रुचि स्वतः-स्वाभाविक एकान्तमें रहनेकी होती है। एकान्त-सेवनकी रुचि होनी तो बढ़िया है, पर उसका आग्रह नहीं होना चाहिये अर्थात् एकान्त न मिलनेपर मनमें विक्षेप, हलचल नहीं होनी चाहिये। आग्रह न होनेसे रुचि होनेपर भी एकान्त न मिले, प्रत्युत समुदाय मिले, खूब हल्ला-गुल्ला हो, तो भी साधक उकतायेगा नहीं अर्थात् सिद्धि-असिद्धिमें सम रहेगा। परन्तु आग्रह होगा तो वह उकता जायगा, उससे समुदाय सहा नहीं जायगा। अतः साधकका स्वभाव तो एकान्तमें रहनेका ही होना चाहिये, पर एकान्त न मिले तो उसके अन्तःकरणमें हलचल नहीं होनी चाहिये। कारण कि हलचल होनेसे अन्तःकरणमें संसारकी महत्ता आती है और संसारकी महत्ता आनेपर हलचल होती है, जो कि ध्यानयोगमें बाधक है।

'एकान्तमें रहनेसे साधन अधिक होगा, मन भगवान्‌में अच्छी तरह लगेगा; अन्तःकरण निर्मल बनेगा'—इन बातोंको लेकर मनमें जो प्रसन्नता होती है, वह साधनमें सहायक होती है। परन्तु 'एकान्तमें हल्ला-गुल्ला करनेवाला कोई नहीं होगा; अतः वहाँ नींद अच्छी आयेगी, वहाँ किसी भी प्रकारसे बैठ जायँ तो कोई देखनेवाला नहीं होगा, वहाँ सब प्रकारसे आराम रहेगा, एकान्तमें रहनेसे लोग भी ज्यादा मान-बड़ाई, आदर करेंगे'—इन बातोंको लेकर मनमें जो प्रसन्नता होती है, वह साधनमें बाधक होती है; क्योंकि यह सब भोग है। साधकको इन सुख- सुविधाओंमें फँसना नहीं चाहिये, प्रत्युत इनसे सदा सावधान रहना चाहिये।

'लघ्वाशी'—साधकका स्वभाव स्वल्प अर्थात् नियमित और सात्त्विक भोजन करनेका हो। भोजनके विषयमें हित, मित और मेध्य—ये तीन बातें बतायी गयी हैं। 'हित' का तात्पर्य है —भोजन शरीरके अनुकूल हो। 'मित' का तात्पर्य है—भोजन न तो अधिक करे और न कम करे, प्रत्युत जितने भोजनसे शरीर-निर्वाह हो जाय, उतना भोजन करे (गीता—छठे अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। भोजनसे शरीर पुष्ट हो जायगा— ऐसे भावसे भोजन न करे, प्रत्युत केवल औषधकी तरह क्षुधा-निवृत्तिके लिये ही भोजन करे, जिससे साधनमें विघ्न न पड़े। 'मेध्य' का तात्पर्य है—भोजन पवित्र हो।

'धृत्यात्मानं नियम्य च'—सांसारिक कितने ही प्रलोभन सामने आनेपर भी बुद्धिको अपने ध्येय परमात्मतत्त्वसे विचलित न होने देना—ऐसी दृढ़ सात्त्विकी धृति (गीता—इसी अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)-के द्वारा इन्द्रियोंका नियमन करे अर्थात् उनको मर्यादामें रखे। आठों पहर यह जागृति रहे कि इन्द्रियोंके द्वारा साधनके विरुद्ध कोई भी चेष्टा न हो।

'यतवाक्कायमानसः'—शरीर, वाणी और मनको संयत (वशमें) करना भी साधकके लिये बहुत जरूरी है (गीता—सत्रहवें अध्यायका चौदहवाँ, पंद्रहवाँ और सोलहवाँ श्लोक)। अतः वह शरीरसे वृथा न घूमे, देखने-सुननेके शौकसे कोई यात्रा न करे। वाणीसे वृथा बातचीत न करे, आवश्यक होनेपर ही बोले, असत्य न बोले, निन्दा-चुगली न करे। मनसे रागपूर्वक संसारका चिन्तन न करे, प्रत्युत परमात्माका चिन्तन करे।

'शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा'—ध्यानके समय बाहरके जितने सम्बन्ध हैं, जो कि विषयरूपसे आते हैं और जिनसे संयोगजन्य सुख होता है, उन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँचों विषयोंका स्वरूपसे ही त्याग कर देना चाहिये। कारण कि विषयोंका रागपूर्वक सेवन करनेवाला ध्यानयोगका साधन नहीं कर सकता। अगर विषयोंका रागपूर्वक सेवन करेगा तो ध्यानमें वृत्तियाँ (बहिर्मुख होनेसे) नहीं लगेंगी और विषयोंका चिन्तन होगा।

'रागद्वेषौ व्युदस्य च'—सांसारिक वस्तु महत्त्वशाली है, अपने काममें आनेवाली है, उपयोगी है—ऐसा जो भाव है, उसका नाम 'राग' है। तात्पर्य है कि अन्त:करणमें असत् वस्तुका जो रंग चढ़ा हुआ है, वह 'राग' है। असत् वस्तु आदिमें राग रहते हुए कोई उनकी प्राप्तिमें बाधा डालता है, उसके प्रति द्वेष हो जाता है।

असत् संसारके किसी अंशमें राग हो जाय तो दूसरे अंशमें द्वेष हो जाता है—यह नियम है। जैसे, शरीरमें राग हो जाय तो शरीरके अनुकूल वस्तुमात्रमें राग हो जाता है और प्रतिकूल वस्तुमात्रमें द्वेष हो जाता है।

संसारके साथ रागसे भी सम्बन्ध जुड़ता है और द्वेषसे भी सम्बन्ध जुड़ता है। रागवाली बातका भी चिन्तन होता है और द्वेषवाली बातका भी चिन्तन होता है। इसलिये साधक न राग करे और न द्वेष करे।

'ध्यानयोगपरो नित्यम्'—साधक नित्य ही ध्यानयोगके परायण रहे अर्थात् ध्यानके सिवाय दूसरा कोई साधन न करे। ध्यानके समय तो ध्यान करे ही, व्यवहारके समय अर्थात् चलते-फिरते, खाते-पीते, काम-धंधा करते समय भी यह ध्यान (भाव) सदा बना रहे कि वास्तवमें एक परमात्माके सिवाय संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं (गीता—इसी अध्यायका बीसवाँ श्लोक)।

'अहंकारं बलं दर्पं ...... विमुच्य'—गुणोंको लेकर अपनेमें जो एक विशेषता दीखती है, उसे 'अहंकार' कहते हैं। जबर्दस्ती करके, विशेषतासे मनमानी करनेका जो आग्रह (हठ) होता है, उसे 'बल' कहते हैं। जमीन-जायदाद आदि बाह्य चीजोंकी विशेषताको लेकर जो घमंड होता है, उसे 'दर्प' कहते हैं। भोग, पदार्थ तथा अनुकूल परिस्थिति मिल जाय, इस इच्छाका नाम 'काम' है। अपने स्वार्थ और अभिमानमें ठेस लगनेपर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसको 'क्रोध' कहते हैं। भोग-बुद्धिसे, सुख-आरामबुद्धिसे चीजोंका जो संग्रह किया जाता है, उसे 'परिग्रह'[1] कहते हैं।

साधक उपर्युक्त अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह—इन सबका त्याग कर देता है।

'निर्ममः'—अपने पास निर्वाहमात्रकी जो वस्तुएँ हैं और कर्म करनेके शरीर, इन्द्रियाँ आदि जो साधन हैं, उनमें ममता अर्थात् अपनापन न हो[2]। अपना शरीर, वस्तु आदि जो हमें प्रिय लगते हैं, उनके बने रहनेकी इच्छा न होना 'निर्मम' होना है।

जिन व्यक्तियों और वस्तुओंको हम अपनी मानते हैं, वे आजसे सौ वर्ष पहले भी अपनी नहीं थीं और सौ वर्षके बाद भी अपनी नहीं रहेंगी। अतः जो अपनी नहीं रहेंगी, उनका उपयोग या सेवा तो कर सकते हैं, पर उनको अपनी मानकर अपने पास नहीं रख सकते। अगर उनको अपने पास नहीं रख सकते तो 'वे अपने नहीं हैं' ऐसा माननेमें क्या बाधा है? उनको अपनी न माननेसे साधक निर्मम हो जाता है।

'शान्तः'—असत् संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अन्त:करणमें अशान्ति, हलचल आदि पैदा होते हैं। जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अशान्ति कभी पासमें आती ही नहीं। फिर राग-द्वेष न रहनेसे साधक हरदम शान्त रहता है।

'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—ममतारहित और शान्त मनुष्य (सांख्ययोगका साधक) परमात्मप्राप्तिका अधिकारी बन जाता है अर्थात् असत्का सर्वथा सम्बन्ध छूटते ही उसमें ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता, सामर्थ्य आ जाती है। कारण कि जबतक असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक परमात्मप्राप्तिकी सामर्थ्य नहीं आती।

सम्बन्ध—उपर्युक्त साधन-सामग्रीसे निष्ठा प्राप्त हो जानेपर क्या होता है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

१-ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन सबके लिये तो स्वरूपसे ही परिग्रह-(संग्रह-) का त्याग है। अगर गृहस्थमें भी कोई सुख-भोगबुद्धिसे संग्रह न करे, केवल दूसरोंकी सेवा, हितके लिये ही संग्रह करे तो वह भी परिग्रह नहीं है।

२-केवल सांसारिक व्यवहारके लिये वस्तुओंमें अपनापन करना दोषी नहीं है, प्रत्युत उनको सदाके लिये अपना मान लेना दोषी है।

ब्रह्मभूतः	= (वह) ब्रह्मरूप बना हुआ	**शोचति**	= शोक करता है (और)	**भूतेषु**	= प्राणियोंमें
प्रसन्नात्मा	= प्रसन्न मनवाला साधक	**न**	= न (किसीकी)	**समः**	= समभाववाला साधक
न	= न तो (किसीके लिये)	**काङ्क्षति**	= इच्छा ही करता है। (ऐसा)	**पराम्, मद्भक्तिम्**	= मेरी पराभक्तिको
		सर्वेषु	= सम्पूर्ण	**लभते**	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—'**ब्रह्मभूतः**'—जब अन्तःकरणमें विनाश- शील वस्तुओंका महत्त्व मिट जाता है, तब अन्तःकरणकी अहंकार, घमंड आदि वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं अर्थात् उनका त्याग हो जाता है। फिर अपने पास जो वस्तुएँ हैं, उनमें भी ममता नहीं रहती। ममता न रहनेसे सुख और भोग-बुद्धिसे वस्तुओंका संग्रह नहीं होता। जब सुख और भोग-बुद्धि मिट जाती है, तब अन्तःकरणमें स्वतः-स्वाभाविक ही शान्ति आ जाती है।

इस प्रकार साधक जब असत्से ऊपर उठ जाता है, तब वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बन जाता है। पात्र बननेपर उसकी ब्रह्मभूत-अवस्था अपने-आप हो जाती है। इसके लिये उसको कुछ करना नहीं पड़ता। इस अवस्थामें 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ और ब्रह्म मेरा स्वरूप है' ऐसा उसको अपनी दृष्टिसे अनुभव हो जाता है। इसी अवस्थाको यहाँ (और गीता—पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी) '**ब्रह्मभूतः**' पदसे कहा गया है।

'**प्रसन्नात्मा**'—जब अन्तःकरणमें असत् वस्तुओंका महत्त्व हो जाता है, तब उन वस्तुओंको प्राप्त करनेकी कामना पैदा हो जाती है। कामना पैदा होते ही अन्तःकरणकी शान्ति भंग हो जाती है और अशान्ति (हलचल) पैदा हो जाती है। परन्तु जब असत् वस्तुओंका महत्त्व मिट जाता है, तब साधकके चित्तमें स्वाभाविक ही प्रसन्नता रहती है। अप्रसन्नताका कारण मिट जानेसे फिर कभी अप्रसन्नता होती ही नहीं। कारण कि सांख्ययोगी साधकके अन्तःकरणमें अपनेसहित संसारका अभाव और परमात्मतत्त्वका भाव अटल रहता है।

'**न शोचति न काङ्क्षति**'—उस प्रसन्नताकी पहचान यह है कि वह शोक-चिन्ता नहीं करता। सांसारिक कितनी ही बड़ी हानि हो जाय, तो भी वह शोक नहीं करता और अमुक परिस्थिति प्राप्त हो जाय—ऐसी इच्छा भी नहीं करता। तात्पर्य है कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली तथा आने-जानेवाली परिवर्तनशील परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिके बनने-बिगड़नेसे उसपर कोई असर ही नहीं पड़ता। जो परमात्मामें अटलरूपसे स्थित है, उसपर आने-जानेवाली परिस्थितियोंका असर हो ही कैसे सकता है?

'**समः सर्वेषु भूतेषु**'—जबतक साधकमें किंचिन्मात्र भी हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व रहते हैं, तबतक वह सर्वत्र व्याप्त परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव नहीं कर सकता। अभिन्नताका अनुभव न होनेसे वह अपनेको सम्पूर्ण भूतोंमें सम नहीं देख सकता। परन्तु जब साधक हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा रहित हो जाता है, तब परमात्माके साथ स्वतः-स्वाभाविक अभिन्नता (जो कि सदासे ही थी)-का अनुभव हो जाता है। परमात्माके साथ अभिन्नता होनेसे, अपना कोई व्यक्तित्व* न रहनेसे अर्थात् 'मैं हूँ' इस रूपसे अपनी कोई अलग सत्ता न रहनेसे वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हो जाता है। जैसे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम है—'**समोऽहं सर्वभूतेषु**' (गीता—नवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक), ऐसे ही वह भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हो जाता है।

वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम किस प्रकार होता है? जैसे—मनोराज्य और स्वप्नमें जो नाना सृष्टि होती है, उसमें मन ही अनेक रूप धारण करता है अर्थात् वह सृष्टि मनोमयी होती है। मनोमयी होनेसे जैसे सब सृष्टिमें मन है और मनमें सब सृष्टि है, ऐसे ही सब प्राणियोंमें (आत्मरूपसे) वह है और उसमें सम्पूर्ण प्राणी हैं (गीता—छठे अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। इसीको यहाँ '**समः सर्वेषु भूतेषु**' कहा है।

'**मद्भक्तिं लभते पराम्**'—जब समरूप परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव होनेसे साधकका सर्वत्र समभाव हो जाता है, तब उसका परमात्मामें प्रतिक्षण वर्धमान एक विलक्षण आकर्षण, खिंचाव, अनुराग हो जाता है। उसीको यहाँ पराभक्ति कहा है।

* **व्यक्तित्व उसे कहते हैं, जिसमें मनुष्य अपनी सत्ता अलग मानता है और जिससे बन्धन होता है।**

पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जैसे ब्रह्मभूत-अवस्थाके बाद ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति बतायी है—**'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति'**, ऐसे ही यहाँ ब्रह्मभूत-अवस्थाके बाद पराभक्तिकी प्राप्ति बतायी है।

परिशिष्ट भाव—ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो अपने मतका आग्रह नहीं रखता, मुक्ति अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदको ही सर्वोपरि नहीं मानता और भक्तिका खण्डन, निन्दा नहीं करता, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। अतः उसको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भक्ति (प्रेम)-की प्राप्ति हो जाती है।

जो अपनी दृष्टिसे अर्थात् अपनी मान्यतासे ब्रह्मरूप बना हुआ है, ब्रह्म हुआ नहीं है, उसके लिये यहाँ **'ब्रह्मभूतः'** पद आया है। ब्रह्मभूत होनेके बाद जीवका ब्रह्मके साथ तात्त्विक सम्बन्ध (साधर्म्य) हो जाता है—**'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २)। तात्त्विक सम्बन्ध होना ही मुक्ति है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण अनन्तब्रह्माण्डनायक परमात्मामें अपने-आपको विलीन (समर्पित) कर देनेसे परमात्माके साथ आत्मीय सम्बन्ध (अभिन्नता) हो जाता है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)। आत्मीय सम्बन्ध होना ही पराभक्ति (प्रेम)-की प्राप्ति है।

ज्ञानमार्गमें जड़ताका त्याग मुख्य है। जड़ताका त्याग विवेकसाध्य है। विवेकपूर्वक जड़ताका त्याग करनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार शेष रह सकता है, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार नहीं रहता; क्योंकि भक्त त्याग नहीं करता, प्रत्युत सबको भगवान्‌का स्वरूप मानता है—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। प्रेमकी प्राप्ति विवेकसाध्य नहीं है, प्रत्युत विश्वाससाध्य है। विश्वासमें केवल भगवत्कृपापर ही भरोसा है। इसलिये जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं, उसको भगवत्कृपा मुक्तिमें सन्तुष्ट नहीं होने देती, प्रत्युत मुक्तिके रस (अखण्डरस)-को फीका करके प्रेमका रस (अनन्तरस) प्रदान कर देती है।

संसारके सम्बन्धसे अशान्ति होती है, इसलिये कर्मयोगमें संसारसे सम्बन्ध छूटनेपर 'शान्त आनन्द' मिलता है। ज्ञानयोगमें निजस्वरूपमें स्थिति होनेसे निजानन्द अर्थात् 'अखण्ड आनन्द' मिलता है। भक्तियोगमें भगवान्‌से अभिन्नता होनेपर परमानन्द अर्थात् 'अनन्त आनन्द' (प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम) मिलता है।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें पराभक्तिका फल बताते हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

भक्त्या	= (उस) पराभक्तिसे	**अस्मि**	= हूँ—(इसको)	**तत्त्वतः**	= तत्त्वसे
माम्	= मुझे,	**तत्त्वतः**	= तत्त्वसे	**ज्ञात्वा**	= जानकर
यावान्	= (मैं) जितना हूँ	**अभिजानाति**	= जान लेता है,	**तदनन्तरम्**	= तत्काल
च	= और	**ततः**	= फिर	**विशते**	= (मुझमें) प्रविष्ट हो जाता है।
यः	= जो	**माम्**	= मुझे		

व्याख्या—**'भक्त्या मामभिजानाति'**—जब परमात्म-तत्त्वमें आकर्षण, अनुराग हो जाता है, तब साधक स्वयं उस परमात्माके सर्वथा समर्पित हो जाता है, उस तत्त्वसे अभिन्न हो जाता है। फिर उसका अलग कोई (स्वतन्त्र) अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् उसके अहंभावका अतिसूक्ष्म अंश भी नहीं रहता। इसलिये उसको प्रेमस्वरूपा प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है। उस भक्तिसे परमात्मतत्त्वका वास्तविक बोध हो जाता है।

ब्रह्मभूत-अवस्था हो जानेपर संसारके सम्बन्धका तो सर्वथा त्याग हो जाता है, पर 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं निर्विकार हूँ', ऐसा सूक्ष्म अहंभाव रह जाता है। यह अहंभाव जबतक रहता है, तबतक परिच्छिन्नता और पराधीनता रहती है। कारण कि यह अहंभाव प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति 'पर' है; इसलिये पराधीनता रहती है। परमात्माकी तरफ आकृष्ट होनेसे, पराभक्ति होनेसे ही यह अहंभाव मिटता है*। इस अहंभावके सर्वथा मिटनेसे ही तत्त्वका वास्तविक बोध होता है।

---

* प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ (मानस ७। ४९। ३)

'यावान्'—सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको 'समग्र'-रूप सुननेकी आज्ञा दी कि मेरेमें जिसका मन आसक्त हो गया है, जिसको मेरा ही आश्रय है, वह अनन्यभावसे मेरे साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्ध रखते हुए मेरे जिस समग्ररूपको जान लेता है, उसको तुम सुनो। यही बात भगवान्ने सातवें अध्यायके अन्तमें कही कि जरा-मरणसे मुक्ति पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म और सम्पूर्ण कर्मको अर्थात् सम्पूर्ण निर्गुण-विषयको जान लेते हैं और अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझको अर्थात् सम्पूर्ण सगुण-विषयको जान लेते हैं।

इस प्रकार निर्गुण और सगुणके सिवाय राम, कृष्ण, शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य आदि अनेक रूपोंमें प्रकट होकर परमात्मा लीला करते हैं, उनको भी जान लेना—यही पराभक्तिसे **'यावान्'** अर्थात् समग्ररूपको जानना है।

'यश्चास्मि तत्त्वतः'—वे ही परमात्मा अनेक रूपोंमें, अनेक आकृतियोंमें, अनेक शक्तियोंको साथ लेकर, अनेक कार्य करनेके लिये बार-बार प्रकट होते हैं, और वे ही परमात्मा अनेक सम्प्रदायोंमें अपनी-अपनी भावनाके अनुसार अनेक इष्टदेवोंके रूपमें कहे जाते हैं। वास्तवमें परमात्मा एक ही हैं। इस प्रकार मैं जो हूँ—इसे तत्त्वसे जान लेता है।

'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'—ऐसा मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल[1] मेरेमें प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् मेरे साथ भिन्नताका जो भाव था, वह सर्वथा मिट जाता है।

तत्त्वसे जाननेपर उसमें जो अनजानपना था, वह सर्वथा मिट जाता है और वह उस तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है। यही पूर्णता है और इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

विशेष बात

जीवका परमात्मामें प्रेम (रति, प्रीति या आकर्षण) स्वतः है। परन्तु जब यह जीव प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब वह परमात्मासे विमुख हो जाता है और उसका संसारमें आकर्षण हो जाता है। यह आकर्षण ही वासना, स्पृहा, कामना, आशा, तृष्णा आदि नामोंसे कहा जाता है।

इस वासना आदिका जो विषय (प्रकृतिजन्य पदार्थ) है, वह क्षणभंगुर और परिवर्तनशील है तथा यह जीवात्मा स्वयं, नित्य और अपरिवर्तनशील है। परन्तु ऐसा होते हुए भी प्रकृतिके साथ तादात्म्य होनेसे यह परिवर्तनशीलमें आकृष्ट हो जाता है। इससे इसको मिलता तो कुछ नहीं, पर 'कुछ मिलेगा'—इस भ्रम, वासनाके कारण यह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ महान् दुःख पाता रहता है। इससे छूटनेके लिये भगवान्ने योग बताया है। वह योग जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव करा देता है।

गीतामें मुख्यरूपसे तीन योग कहे हैं—कर्मयोग, ज्ञान-योग और भक्तियोग। इन तीनोंपर विचार किया जाय तो भगवान्का प्रेम तीनों ही योगोंमें है। कर्मयोगमें उसको 'कर्तव्यरति' कहते हैं अर्थात् वह रति कर्तव्यमें होती है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'** (१८। ४५)। [कर्मयोगकी यह रति अन्तमें आत्मरतिमें परिणत हो जाती है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ और तीसरे अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक) और जिस कर्मयोगीमें भक्तिके संस्कार हैं, उसकी यह रति भगवद्रतिमें परिणत हो जाती है।] ज्ञानयोगमें उसी प्रेमको 'आत्मरति' कहते हैं अर्थात् वह रति स्वरूपमें होती है—**'योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः'** (५। २४)। और भक्ति-योगमें उसी प्रेमको 'भगवद्रति' कहते हैं अर्थात् वह रति भगवान्में होती है[2]—**'तुष्यन्ति च रमन्ति च'** (१०। ९)। इस प्रकार इन तीनों योगोंमें रति होनेपर भी गीतामें 'भगवद्रति' की विशेषरूपसे महिमा गायी गयी है।

तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोंसे भी योगी

१-जानने और प्राप्त करनेमें काल-भेद नहीं होता।

२-भगवान्में रति या प्रियता प्रकट होती है—अपनेपनसे। परमात्माके साथ जीवका अनादिकालसे स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है। अपनी चीज स्वतः प्रिय लगती है। अतः अपनापन प्रकट होते ही भगवान् स्वतः प्यारे लगते हैं। प्रियतामें कभी समाप्त न होनेवाला अलौकिक, विलक्षण आनन्द है। वह आनन्द प्राप्त होनेपर मनुष्यमें स्वतः निर्विकारता आ जाती है। फिर काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि कोई भी विकार पैदा हो ही नहीं सकता। पारमार्थिक आनन्द न मिलनेसे ही कामादि विकार पैदा होते हैं अर्थात् आनन्द न मिलनेसे नाशवान् वस्तुओंसे सुख लेनेकी इच्छा होती है, जिससे सब विकार पैदा होते हैं।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके साथ अपनापन करनेसे ही यह जीव भगवान्‌से विमुख हो जाता है। विमुखता होनेपर भी भगवान्की प्रियता कभी मिट नहीं सकती। नास्तिक-से-नास्तिक भी आफत पड़नेपर पुकार उठता है कि कोई ईश्वर है तो रक्षा करे!

(समतावाला) श्रेष्ठ है (गीता—छठे अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि जडतासे सम्बन्ध रखते हुए बड़ा भारी तप करनेपर, बहुत-से शास्त्रोंका (अनेक प्रकारका) ज्ञान-सम्पादन करनेपर और यज्ञ, दान, तीर्थ आदिके बड़े-बड़े अनुष्ठान करनेपर जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब अनित्य ही होता है, पर योगीको नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति होती है। अत: तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोंसे 'योगी' श्रेष्ठ है। इस प्रकारके कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी आदि सब योगियोंमें भी भगवान्ने 'भक्तियोगी' को सर्वश्रेष्ठ बताया है (गीता—छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। यही भक्तियोगी भगवान्के समग्ररूपको जान लेता है। सांख्ययोगी भी पराभक्तिके द्वारा उस समग्ररूपको जान लेता है। उसी समग्ररूपका वर्णन यहाँ '**यावान्**' पदसे हुआ है[१]।

इस प्रकरणके आरम्भमें 'अन्त:करणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ साधक जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है'—यह कहनेकी प्रतिज्ञा की और बताया कि ध्यानयोगके परायण होनेसे वह वैराग्यको प्राप्त होता है। वैराग्यसे अहंकार आदिका त्याग करके ममतारहित होकर शान्त होता है। तब वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है। पात्र होते ही उसकी ब्रह्मभूत-अवस्था हो जाती है। ब्रह्मभूत-अवस्था होनेपर संसारके सम्बन्धसे जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व होते थे, वे सर्वथा मिट जाते हैं तो वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हो जाता है। सम होनेपर पराभक्ति प्राप्त हो जाती है। वह पराभक्ति ही वास्तविक प्रीति है। उस प्रीतिसे परमात्माके समग्ररूपका बोध हो जाता है। बोध होते ही उस तत्त्वमें प्रवेश हो जाता है—'**विशते तदनन्तरम्**।'

अनन्यभक्तिसे तो मनुष्य भगवान्को तत्त्वसे जान सकता है, उनमें प्रविष्ट हो सकता है और उनके दर्शन भी कर सकता है (गीता—ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक); परन्तु सांख्ययोगी भगवान्को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रविष्ट तो होता है, पर भगवान् उसको दर्शन देनेमें बाध्य नहीं होते। कारण कि उसकी साधना पहलेसे ही विवेक-प्रधान रही है, इसलिये उसको दर्शनकी इच्छा नहीं होती। दर्शन न होनेपर भी उसमें कोई कमी नहीं रहती; अत: कमी माननी नहीं चाहिये।

यहाँ उस तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाना ही अनिर्वचनीय प्रेमकी प्राप्ति है। इसी प्रेमको नारदभक्तिसूत्रमें प्रतिक्षण वर्धमान कहा है[२]। इस प्रेममें सर्वथा पूर्णता हो जाती है अर्थात् उसके लिये करना, जानना और पाना कुछ भी बाकी नहीं रहता। इसलिये न करनेका राग रहता है, न जाननेकी जिज्ञासा रहती है, न जीनेकी आशा रहती है, न मरनेका भय रहता है और न पानेका लालच ही रहता है।

जबतक भगवान्में पराभक्ति अर्थात् परम प्रेम नहीं होता, तबतक ब्रह्मभूत-अवस्थामें भी 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सूक्ष्म अहंकार रहता है। जबतक लेशमात्र भी अहंकार रहता है, तबतक परिच्छिन्नताका अत्यन्त अभाव नहीं होता। परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सूक्ष्म अहंभाव तबतक जन्म-मरणका कारण नहीं बनता, जबतक उसमें प्रकृतिजन्य गुणोंका संग नहीं होता; क्योंकि गुणोंका संग होनेसे ही बन्धन होता है—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। उदाहरणार्थ—गाढ़ नींदसे जगनेपर साधारण मनुष्यमात्रको सबसे पहले यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ।' ऐसा अनुभव होते ही जब नाम, रूप, देश, काल, जाति आदिके साथ

१-गीतामें 'यावान्' को ही 'वासुदेव: सर्वम्' (७। १९) कहा है। उसी तत्त्वको सत्-असत्, परा-अपरा, पुरुष-प्रकृति, क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र आदि दो रूपोंमें बताया है और उसी तत्त्वको सत्-असत्से पर भी बताया है—'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्' (११। ३७)। उस तत्त्वको गीतामें तीन रूपोंसे भी बताया है—अपरा, परा और अहम् (७। ५-६), क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और माम् (१३। १-२) एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (१५। १६-१७)। इन तीनोंके (आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके पूछनेपर) भगवान्ने छ: भेद बताये हैं—'अपरा'—क्रिया और पदार्थ, 'परा'—सामान्य जीव और कारक पुरुष, एवं 'अहम्'—निर्गुण और सगुण।

इन छ: भेदोंको दृष्टान्तके रूपमें इस तरह समझें—जल-तत्त्व एक होनेपर भी उसके छ: भेद हैं; उसमें परमाणुरूपसे जल निर्गुण ब्रह्म है, भापरूपसे जल सगुण परमात्मा है, बादलरूपसे जल कारक पुरुष (ब्रह्मा) है, बूँदोंके रूपसे जल सामान्य जीव है, वर्षारूपसे जल सृष्टि-रचनारूप क्रिया है, और बर्फरूपसे जल (पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि) पदार्थ है।

२-गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। (नारदभक्तिसूत्र ५४)

यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

स्वयंका सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब 'मैं हूँ' यह अहंभाव शुभ-अशुभ कर्मोंका कारण बन जाता है, जिससे जन्म-मरणका चक्कर चल पड़ता है। परन्तु जो ऊँचे दर्जेका साधक होता है अर्थात् जिसकी निरन्तर ब्रह्मभूत-अवस्था रहती है, उसके सात्त्विक ज्ञान (इसी अध्यायका बीसवाँ श्लोक)-में सब जगह ही अपने स्वरूपका बोध रहता है। परन्तु जबतक साधकका सत्त्वगुणके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक नींदसे जगनेपर तत्काल 'मैं ब्रह्म हूँ' अथवा 'सब कुछ एक परमात्मा ही है'—ऐसी वृत्ति पकड़ी जाती है और मालूम होता है कि नींदमें यह वृत्ति छूट गयी थी, मानो उसकी भूल हो गयी थी और अब पीछे उस तत्त्वकी जागृति हो गयी है, स्मृति आ गयी है। गुणातीत हो जानेपर अर्थात् गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर विस्मृति और स्मृति—ऐसी दो अवस्थाएँ नहीं होतीं अर्थात् नींदमें भूल हो गयी और अब स्मृति आ गयी—ऐसा अनुभव नहीं होता, प्रत्युत नींद तो केवल अन्तःकरणमें आयी थी, अपनेमें नहीं, अपना स्वरूप तो ज्यों-का-त्यों रहा—ऐसा अनुभव रहता है। तात्पर्य यह है कि निद्राका आना और उससे जगना—ये दोनों प्रकृतिमें ही हैं, ऐसा उसका स्पष्ट अनुभव रहता है। इसी अवस्थाको चौदहवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें कहा है कि प्रकाश अर्थात् नींदसे जगना और मोह अर्थात् नींदका आना—इन दोनोंमें गुणातीत पुरुषके किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होते।

परिशिष्ट भाव—'मैं जितना हूँ और जो हूँ, (**यावान् यश्चास्मि**)—यह बात सगुणकी ही है; क्योंकि '**यावान्-तावान्**' निर्गुणमें हो सकता ही नहीं, प्रत्युत सगुणमें ही हो सकता है। चतुःश्लोकी भागवतमें भी भगवान्‌ने '**यावान्**' पदका प्रयोग करते हुए ब्रह्माजीसे कहा है—

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३१)

'मैं जितना हूँ, जिस भाववाला हूँ, जिन रूप, गुण और कर्मोंवाला हूँ, उस मेरे (समग्ररूपके) तत्त्वका यथार्थ अनुभव तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों हो जाय।'

'**यावान् यश्चास्मि**' का वर्णन भगवान्‌ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें '**साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः**' पदोंमें किया था। इससे सगुणकी विशेषता तथा मुख्यता सिद्ध होती है।

ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको जब (ज्ञानोत्तरकालमें) भक्ति प्राप्त होती है तब उसमें तत्त्वसे जानना (**ज्ञात्वा**) और प्रविष्ट होना (**विशते**)—ये दो ही होते हैं, दर्शन नहीं होते। उनमें कोई कमी तो नहीं रहती, पर दर्शनकी इच्छा उनमें नहीं होती। परन्तु आरम्भसे ही भक्तिमार्गसे चलनेवालेको तत्त्वसे जानने (**ज्ञातुम्**) और प्रविष्ट होने (**प्रवेष्टुम्**)-के सिवाय भगवान्‌के दर्शन (**द्रष्टुम्**) भी होते हैं (गीता—ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)। इसलिये ज्ञानमार्गी सन्तोंमें भगवत्प्रेम (भक्ति)-की बात तो आती है, पर दर्शनकी बात नहीं आती।

जैसे विभिन्न मार्गोंसे आनेवाले व्यक्ति दरवाजेमें प्रविष्ट होनेपर एक साथ मिल जाते हैं, ऐसे ही विभिन्न योग-मार्गोंपर चलनेवाले साधक भगवान्‌में प्रविष्ट होनेपर (**विशते**) एक हो जाते हैं अर्थात् अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी न रहनेसे उनमें कोई मतभेद नहीं रहता।

प्रेमकी दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) कभी भक्त प्रेममें डूब जाता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं और (२) कभी भक्तमें प्रेमका उछाल आता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी लीलाके लिये दो हो जाते हैं। यहाँ पहली अवस्थाको बतानेके लिये '**विशते**' पद आया है।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागके तत्त्वके विषयमें पूछा तो उसके उत्तरमें भगवान्‌ने चौथेसे बारहवें श्लोकतक कर्मयोगका और इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक कर्मयोगका तथा संक्षेपमें भक्तियोगका वर्णन किया; और तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक विचारप्रधान सांख्ययोगका तथा उनचासवेंसे पचपनवें श्लोकतक ध्यान-प्रधान सांख्ययोगका एवं संक्षेपमें पराभक्तिकी प्राप्तिका वर्णन किया। अब भगवान् शरणागतिकी प्रधानतावाले भक्तियोगका वर्णन आरम्भ करते हैं।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

मद्व्यपाश्रयः	= मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त	**कुर्वाणः**	= करता हुआ	**अव्ययम्**	= अविनाशी
सदा	= सदा	**अपि**	= भी	**पदम्**	= पदको
सर्वकर्माणि	= सब कर्म	**मत्प्रसादात्**	= मेरी कृपासे	**अवाप्नोति**	= प्राप्त हो जाता है।
		शाश्वतम्	= शाश्वत		

व्याख्या—**'मद्व्यपाश्रयः'**—कर्मोंका, कर्मोंके फलका, कर्मोंके पूरा होने अथवा न होनेका, किसी घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदिका आश्रय न हो। केवल मेरा ही आश्रय (सहारा) हो। इस तरह जो सर्वथा मेरे ही परायण हो जाता है, अपना स्वतन्त्र कुछ नहीं समझता, किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता, सर्वथा मेरे आश्रित रहता है, ऐसे भक्तको अपने उद्धारके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। उसका उद्धार मैं कर देता हूँ (गीता—बारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक); उसको अपने जीवन-निर्वाह या साधन-सम्बन्धी किसी बातकी कमी नहीं रहती; सबकी मैं पूर्ति कर देता हूँ (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)—यह मेरा सदाका एक विधान है, नियम है, जो कि सर्वथा शरण हो जानेवाले हरेक प्राणीको प्राप्त हो सकता है (गीता—नवें अध्यायके तीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक)।

'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः'—यहाँ **'कर्माणि'** पदके साथ **'सर्व'** और **'कुर्वाणः'** पदके साथ **'सदा'** पद देनेका तात्पर्य है कि जिस ध्यानपरायण सांख्ययोगीने शरीर, वाणी और मनका संयमन कर लिया है अर्थात् जिसने शरीर आदिकी क्रियाओंको संकुचित कर लिया है और एकान्तमें रहकर सदा ध्यानयोगमें लगा रहता है, उसको जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसी पदको लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक, शारीरिक आदि सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको हमेशा करते हुए भी मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त मेरी कृपासे प्राप्त कर लेता है।

हरेक व्यक्तिको यह बात तो समझमें आ जाती है कि जो एकान्तमें रहता है और साधन-भजन करता है, उसका कल्याण हो जाता है; परन्तु यह बात समझमें नहीं आती कि जो सदा मशीनकी तरह संसारका सब काम करता है, उसका कल्याण कैसे होगा? उसका कल्याण हो जाय, ऐसी कोई युक्ति नहीं दीखती; क्योंकि ऐसे तो सब लोग कर्म करते ही रहते हैं। इतना ही नहीं, मात्र जीव कर्म करते ही रहते हैं, पर उन सबका कल्याण होता हुआ दीखता नहीं और शास्त्र भी ऐसा कहता नहीं! इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—**'मत्प्रसादात्।'** तात्पर्य यह है कि जिसने केवल मेरा ही आश्रय ले लिया है, उसका कल्याण मेरी कृपासे हो जायगा, कौन है मना करनेवाला!

यद्यपि प्राणिमात्रपर भगवान्का अपनापन और कृपा सदा-सर्वदा स्वतःसिद्ध है, तथापि यह मनुष्य जबतक असत् संसारका आश्रय लेकर भगवान्से विमुख रहता है, तबतक भगवत्कृपा उसके लिये फलीभूत नहीं होती अर्थात् उसके काममें नहीं आती। परन्तु यह मनुष्य भगवान्का आश्रय लेकर ज्यों-ज्यों दूसरा आश्रय छोड़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों भगवान्का आश्रय दृढ़ होता चला जाता है, और ज्यों-ज्यों भगवान्का आश्रय दृढ़ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों भगवत्कृपाका अनुभव होता जाता है। जब सर्वथा भगवान्का आश्रय ले लेता है, तब उसे भगवान्की कृपाका पूर्ण अनुभव हो जाता है।

'अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्'—स्वतःसिद्ध परमपदकी प्राप्ति अपने कर्मोंसे, अपने पुरुषार्थसे अथवा अपने साधनसे नहीं होती। यह तो केवल भगवत्कृपासे ही होती है। शाश्वत अव्ययपद सर्वोत्कृष्ट है। उसी परमपदको भक्तिमार्गमें परमधाम, सत्यलोक, वैकुण्ठलोक, गोलोक, साकेतलोक आदि कहते हैं और ज्ञानमार्गमें विदेह-कैवल्य, मुक्ति, स्वरूपस्थिति आदि कहते हैं। वह परमपद तत्त्वसे एक होते हुए भी मार्गों और उपासनाओंका भेद होनेसे उपासकोंकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न कहा जाता है (गीता—आठवें अध्यायका इक्कीसवाँ और चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। भगवान्का चिन्मय लोक एक देश-विशेषमें होते हुए भी सब जगह व्यापकरूपसे परिपूर्ण है। जहाँ भगवान् हैं, वहीं उनका लोक भी है; क्योंकि भगवान् और उनका लोक तत्त्वसे एक ही हैं। भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं; अतः उनका लोक भी सर्वत्र विराजमान (सर्वव्यापी) है। जब भक्तकी अनन्य निष्ठा सिद्ध हो जाती है, तब परिच्छिन्नताका अत्यन्त अभाव हो जाता है और वही लोक उसके सामने प्रकट हो जाता है अर्थात् उसे यहाँ जीते-जी ही उस लोककी दिव्य लीलाओंका अनुभव होने लगता है। परन्तु जिस भक्तकी ऐसी धारणा रहती है कि वह दिव्य लोक एक देश-विशेषमें ही है, तो उसे उस लोककी प्राप्ति शरीर छोड़नेपर ही होती है। उसे लेनेके लिये भगवान्के पार्षद आते हैं और कहीं-कहीं स्वयं भगवान् भी आते हैं।

परिशिष्ट भाव—ज्ञानयोगीके लिये तो भगवान्‌ने बताया कि वह सब विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक निरन्तर ध्यानके परायण रहे, तब वह अहंता, ममता, काम, क्रोध आदिका त्याग करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है (अठारहवें अध्यायका इक्यावनवाँ, बावनवाँ और तिरपनवाँ श्लोक)। परन्तु भक्तके लिये यहाँ बताया कि वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब विहित कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसने मेरा आश्रय लिया है—'**मद्व्यपाश्रयः**'। तात्पर्य है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे सुगमतासे कल्याण हो जाता है। भक्तको अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अपने बल, विद्या आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न रखकर केवल विश्वासपूर्वक भगवान्‌का ही आश्रय लेना पड़ता है। फिर भगवत्कृपा ही उसका कल्याण कर देती है—'**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**।' भगवान् भी केवल भक्तके आश्रयको देखते हैं* उसके दोषोंको नहीं देखते। रामायणमें आया है—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(बाल० २९। ३)

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(उत्तर० १। ३)

'**मद्व्यपाश्रयः**' का अर्थ है—मेरा विशेष आश्रय अर्थात् अनन्य आश्रय, जिसमें दूसरे किसीका किंचिन्मात्र भी आश्रय न हो।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपना सामान्य विधान (नियम) बताकर अब भगवान् आगेके श्लोकमें अर्जुनके लिये विशेषरूपसे आज्ञा देते हैं।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

चेतसा	= चित्तसे	**मत्परः**	= मेरे परायण होकर (तथा)	**सततम्**	= निरन्तर
सर्वकर्माणि	= सम्पूर्ण कर्म	**बुद्धियोगम्**	= समताका	**मच्चित्तः**	= मुझमें चित्तवाला
मयि	= मुझमें	**उपाश्रित्य**	= आश्रय लेकर	**भव**	= हो जा।
सन्न्यस्य	= अर्पण करके,				

व्याख्या—[इस श्लोकमें भगवान्‌ने चार बातें बतायी हैं—

(१) '**चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य**'—सम्पूर्ण कर्मोंको चित्तसे मेरे अर्पण कर दे।

(२) '**मत्परः**'—स्वयंको मेरे अर्पित कर दे।

(३) '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**'—समताका आश्रय लेकर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

(४) '**मच्चितः सततं भव**'—निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो जा अर्थात् मेरे साथ अटल सम्बन्ध कर ले।]

'**चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य**'—चित्तसे कर्मोंको अर्पित करनेका तात्पर्य है कि मनुष्य चित्तसे यह दृढ़तासे मान ले कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि और संसारके व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सब भगवान्‌के ही हैं। भगवान् ही इन सबके मालिक हैं। इनमेंसे कोई भी चीज किसीकी व्यक्तिगत नहीं है। केवल इन वस्तुओंका सदुपयोग करनेके लिये ही भगवान्‌ने व्यक्तिगत अधिकार दिया है। इस दिये हुए अधिकारको भी भगवान्‌के अर्पण कर देना है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिसे जो कुछ शास्त्रविहित सांसारिक या पारमार्थिक क्रियाएँ होती हैं, वे सब भगवान्‌की मरजीसे ही होती हैं। मनुष्य तो केवल अहंकारके कारण उनको अपनी मान लेता है। उन क्रियाओंमें जो अपनापन है, उसे भी भगवान्‌के अर्पण कर देना है; क्योंकि वह अपनापन केवल मूर्खतासे माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये

---

* **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता ४। ११)**

उनमें अपनेपनका भाव बिलकुल उठा देना चाहिये और उन सबपर भगवान्‌की मुहर लगा देनी चाहिये।

'मत्परः'—भगवान् ही मेरे परम आश्रय हैं, उनके सिवाय मेरा कुछ नहीं है, मेरेको करना भी कुछ नहीं है, पाना भी कुछ नहीं है, किसीसे लेना भी कुछ नहीं है अर्थात् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिसे मेरा किंचिन्मात्र कोई प्रयोजन नहीं है—ऐसा अनन्यभाव हो जाना ही भगवान्‌के परायण होना है।

एक बात खास ध्यान देनेकी है—रुपये-पैसे, कुटुम्ब, शरीर आदिको मनुष्य अपना मानते हैं और मनमें यह समझते हैं कि हम इनके मालिक बन गये, हमारा इनपर आधिपत्य है; परन्तु वास्तवमें यह बात बिलकुल झूठी है, कोरा वहम है और बड़ा भारी धोखा है। जो किसी चीजको अपनी मान लेता है, वह उस चीजका गुलाम बन जाता है और वह चीज उसका मालिक बन जाती है। फिर उस चीजके बिना वह रह नहीं सकता। अतः जिन चीजोंको मनुष्य अपनी मान लेता है, वे सब उसपर चढ़ जाती हैं और वह तुच्छ हो जाता है। वह चीज चाहे रुपया हो, चाहे कुटुम्बी हो, चाहे शरीर हो, चाहे विद्या-बुद्धि आदि हो। ये सब चीजें प्राकृत हैं और अपनेसे भिन्न हैं, पर हैं। इनके अधीन होना ही पराधीन होना है।

भगवान् स्वकीय हैं, अपने हैं। उनको मनुष्य अपना मानेगा, तो वे मनुष्यके वशमें हो जायँगे। भगवान्‌के हृदयमें भक्तका जितना आदर है, उतना आदर करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है। भगवान् भक्तके दास हो जाते हैं और उसे अपना मुकुटमणि बना लेते हैं—**'मैं तो हूँ भगतनका दास भगत मेरे मुकुटमणि'**, परन्तु संसार मनुष्यका दास बनकर उसे अपना मुकुटमणि नहीं बनायेगा। वह तो उसे अपना दास बनाकर पददलित ही करेगा। इसलिये केवल भगवान्‌के शरण होकर सर्वथा उन्हींके परायण हो जाना चाहिये।

'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'—गीताभरमें देखा जाय तो समताकी बड़ी भारी महिमा है। मनुष्यमें एक समता आ गयी तो वह ज्ञानी, ध्यानी, योगी, भक्त आदि सब कुछ बन गया। परन्तु यदि उसमें समता नहीं आयी तो अच्छे-अच्छे लक्षण आनेपर भी भगवान् उसको पूर्णता नहीं मानते। वह समता मनुष्यमें स्वाभाविक रहती है। केवल आने-जानेवाली परिस्थितियोंके साथ मिलकर वह सुखी-दुःखी हो जाता है। इसलिये उनमें मनुष्य सावधान रहे कि आने-जानेवाली परिस्थितिके साथ मैं नहीं हूँ। सुख आया, अनुकूल परिस्थिति आयी तो भी मैं हूँ और सुख चला गया, अनुकूल परस्थिति चली गयी तो भी मैं हूँ। ऐसे ही दुःख आया, प्रतिकूल परस्थिति आयी तो भी मैं हूँ और दुःख चला गया, प्रतिकूल परिस्थिति चली गयी तो भी मैं हूँ। अतः सुख-दुःखमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें, हानि-लाभमें मैं सदैव ज्यों-का-त्यों रहता हूँ। परिस्थितियोंके बदलनेपर भी मैं नहीं बदलता, सदा वही रहता हूँ। इस तरह अपने-आपमें स्थित रहे। अपने-आपमें स्थित रहनेसे सुख-दुःख आदिमें समता हो जायगी। यह समता ही भगवान्‌की आराधना है—**'समत्वमाराधनमच्युतस्य'** (विष्णुपुराण १। १७। ९०)। इसीलिये यहाँ भगवान् बुद्धियोग अर्थात् समताका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं।

'मच्चित्तः सततं भव'—जो अपनेको सर्वथा भगवान्‌के समर्पित कर देता है, उसका चित्त भी सर्वथा भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित हो जाता है। फिर उसपर भगवान्‌का जो स्वतः-स्वाभाविक अधिकार है, वह प्रकट हो जाता है और उसके चित्तमें स्वयं भगवान् आकर विराजमान हो जाते हैं। यही **'मच्चित्तः'** होना है।

'मच्चित्तः' पदके साथ **'सततम्'** पद देनेका अर्थ है कि निरन्तर मेरेमें (भगवान्‌में) चित्तवाला हो जा। भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन तभी होगा, जब 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस प्रकार अहंता भगवान्‌में लग जायगी। अहंता भगवान्‌में लग जानेपर चित्त स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌में लग जाता है। जैसे, शिष्य बननेपर 'मैं गुरुका हूँ' इस प्रकार अहंता गुरुमें लग जानेपर गुरुकी याद निरन्तर बनी रहती है। गुरुका सम्बन्ध अहंतामें बैठ जानेके कारण इस सम्बन्धकी याद आये तो भी याद है और याद न आये तो भी याद है; क्योंकि स्वयं निरन्तर रहता है। इसमें भी देखा जाय तो गुरुके साथ उसने खुद सम्बन्ध जोड़ा है; परन्तु भगवान्‌के साथ इस जीवका स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है। केवल संसारके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही नित्य सम्बन्धकी विस्मृति हुई है। उस विस्मृतिको मिटानेके लिये भगवान् कहते हैं कि निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो जा।

साधक कोई भी सांसारिक काम-धंधा करे, तो उसमें यह एक सावधानी रखे कि अपने चित्तको उस काम-धंधेमें द्रवित न होने दे, चित्तको संसारके साथ घुलने-मिलने न दे अर्थात् तदाकार न होने दे, प्रत्युत उसमें अपने चित्तको कठोर रखे। परन्तु भगवन्नामका जप, कीर्तन, भगवत्कथा,

भगवच्चिन्तन आदि भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें चित्तको द्रवित करता रहे, तल्लीन करता रहे, उस रसमें चित्तको तरान्तर करता रहे[१]। इस प्रकार करते रहनेसे साधक बहुत जल्दी भगवान्‌में चित्तवाला हो जायगा।

प्रेम-सम्बन्धी विशेष बात

चित्तसे सब कर्म भगवान्‌के अर्पण करनेसे संसारसे नित्य-वियोग हो जाता है[२] और भगवान्‌के परायण होनेसे नित्ययोग (प्रेम) हो जाता है। नित्ययोगमें योग, नित्ययोगमें वियोग, वियोगमें नित्ययोग और वियोगमें वियोग—ये चार अवस्थाएँ चित्तकी वृत्तियोंको लेकर होती हैं। इन चारों अवस्थाओंको इस प्रकार समझना चाहिये—

जैसे, श्रीराधा और श्रीकृष्णका परस्पर मिलन होता है, तो यह 'नित्ययोगमें योग' है। मिलन होनेपर भी श्रीजीमें ऐसा भाव आ जाता है कि प्रियतम कहीं चले गये हैं और वे एकदम कह उठतीं हैं कि 'प्यारे! तुम कहाँ चले गये!' तो यह 'नित्ययोगमें वियोग' है। श्यामसुन्दर सामने नहीं हैं, पर मनसे उन्हींका गाढ़ चिन्तन हो रहा है और वे मनसे प्रत्यक्ष मिलते हुए दीख रहे हैं, तो यह 'वियोगमें नित्ययोग' है। श्यामसुन्दर थोड़े समयके लिये सामने नहीं आये, पर मनमें ऐसा भाव है कि बहुत समय बीत गया, श्यामसुन्दर मिले नहीं, क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? श्यामसुन्दर कैसे मिलें? तो यह 'वियोगमें वियोग' है।

वास्तवमें इन चारों अवस्थाओंमें भगवान्‌के साथ नित्ययोग ज्यों-का-त्यों बना रहता है, वियोग कभी होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होनेकी संभावना भी नहीं। इसी नित्ययोगको 'प्रेम' कहते हैं; क्योंकि प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों अभिन्न रहते हैं। वहाँ भिन्नता कभी हो ही नहीं सकती। प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये ही भक्त और भगवान्‌में संयोग-वियोगकी लीला हुआ करती है।

यह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान किस प्रकार है? जब प्रेमी और प्रेमास्पद परस्पर मिलते हैं, तब 'प्रियतम पहले चले गये थे, उनसे वियोग हो गया था; अब कहीं ये फिर न चले जायँ!'[३] इस भावके कारण प्रेमास्पदके मिलनेमें तृप्ति नहीं होती, सन्तोष नहीं होता। वे चले जायँगे—इस बातको लेकर मन ज्यादा खिंचता है। इसलिये इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान बताया है।

'प्रेम'-(भक्ति-)में चार प्रकारका रस अथवा रति होती है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन रसोंमें दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य और वात्सल्यसे माधुर्य-रस श्रेष्ठ है; क्योंकि इनमें क्रमशः भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विस्मृति ज्यादा होती चली जाती है। परन्तु जब इन चारोंमेंसे कोई एक भी रस पूर्णतामें पहुँच जाता है, तब उसमें दूसरे रसोंकी कमी नहीं रहती अर्थात् उसमें सभी रस आ जाते हैं। जैसे, दास्यरस पूर्णतामें पहुँच जाता है तो उसमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—तीनों रस आ जाते हैं। यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण यह है कि भगवान् पूर्ण हैं, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वयं भी पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसारके सम्बन्धसे ही आती है। इसलिये भगवान्‌के साथ किसी भी रीतिसे रति हो जायगी तो वह पूर्ण हो जायगी, उसमें कोई कमी नहीं रहेगी।

'**दास्य**' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ। मेरेपर उनका पूरा अधिकार है। वे चाहे जो करें, चाहे जैसी परिस्थितिमें रखें और मेरेसे चाहे जैसा काम लें। मेरेपर अत्यधिक अपनापन होनेसे ही वे बिना मेरी सम्मति

१-काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे। उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टैरनुक्षणमतो बुधः॥ (भक्तिरसायन १। ३२)

२-वास्तवमें संसारके साथ कभी संयोग हो नहीं सकता। उसका तो नित्य ही वियोग रहता है। जैसे, मनमें किसी वस्तुका चिन्तन होता है, तो वह उस वस्तुका माना हुआ संयोग है, जिससे उस वस्तुके न मिलनेका दुःख होता है। जब वस्तु (बाहरसे) मिल जाती है, तब उस वस्तुका भीतरसे वियोग हो जाता है, जिससे सुख होता है। ऐसे ही किसी कारणसे बाहरसे वस्तु चली जाय, नष्ट हो जाय, तो मनसे उस वस्तुका संयोग होनेपर दुःख होता है और विवेक-विचारके द्वारा 'यह वस्तु हमारी थी ही नहीं, हमारी हो सकती ही नहीं' इस प्रकार वस्तुको मनसे निकाल देनेपर सुख होता है। तात्पर्य यह है कि भीतरसे संयोग माना तो बाहरसे वियोग है और बाहरसे संयोग माना तो भीतरसे वियोग है। अतः वास्तवमें संसारके साथ नित्य वियोग ही रहता है। मनुष्य केवल भूलसे संसारके साथ संयोग मान लेता है।

३-योग और वियोगमें प्रेम-रसकी वृद्धि होती है। यदि सदा योग ही रहे, वियोग न हो, तो प्रेम-रस बढ़ेगा नहीं, प्रत्युत अखण्ड और एकरस रहेगा। अतः प्रेम-रसको बढ़ानेके लिये भगवान् अर्न्तधान भी हो जाते हैं।

लिये ही मेरे लिये सब विधान करते हैं।

'सख्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे सखा हैं और मैं उनका सखा हूँ। वे मेरे प्यारे हैं और मैं उनका प्यारा हूँ। उनका मेरेपर पूरा अधिकार है और मेरा उनपर पूरा अधिकार है। इसलिये मैं उनकी बात मानता हूँ, तो मेरी भी बात उनको माननी पड़ेगी।

'वात्सल्य' रतिमें भक्तका अपनेमें स्वामिभाव रहता है कि मैं भगवान्‌की माता हूँ या उनका पिता हूँ अथवा उनका गुरु हूँ और वह तो हमारा बच्चा है अथवा शिष्य है; इसलिये उसका पालन-पोषण करना है। उसकी निगरानी भी रखनी है कि कहीं वह अपना नुकसान न कर ले; जैसे—नन्दबाबा और यशोदामैया कन्हैयाका खयाल रखते हैं और कन्हैया वनमें जाता है तो उसकी निगरानी रखनेके लिये दाऊजीको साथमें भेजते हैं!

'माधुर्य'* रतिमें भक्तको भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विशेष विस्मृति रहती है; अतः इस रतिमें भक्त भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नता (घनिष्ठ अपनापन) मानता है। अभिन्नता माननेसे 'उनके लिये सुखदायी सामग्री जुटानी है, उन्हें सुख-आराम पहुँचाना है, उनको किसी तरहकी कोई तकलीफ न हो'—ऐसा भाव बना रहता है।

प्रेम-रस अलौकिक है, चिन्मय है। इसका आस्वादन करनेवाले केवल भगवान् ही हैं। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों ही चिन्मय-तत्त्व होते हैं। कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है और कभी प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। अतः एक चिन्मय-तत्त्व ही प्रेमका आस्वादन करनेके लिये दो रूपोंमें हो जाता है।

प्रेमके तत्त्वको न समझनेके कारण कुछ लोग सांसारिक कामको ही प्रेम कह देते हैं। उनका यह कहना बिलकुल गलत है; क्योंकि काम तो चौरासी लाख योनियोंके सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है और उन जीवोंमें भी जो भूत, प्रेत, पिशाच होते हैं, उनमें काम (सुखभोगकी इच्छा) अत्यधिक होता है। परन्तु प्रेमके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुष ही होते हैं।

काममें लेने-ही-लेनेकी भावना होती है और प्रेममें देने-ही-देनेकी भावना होती है। काममें अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करने—उनसे सुख भोगनेका भाव रहता है और प्रेममें अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचाने तथा सेवा-परायण रहनेका भाव रहता है। काम केवल शरीरको लेकर ही होता है और प्रेम स्थूलदृष्टिसे शरीरमें दीखते हुए भी वास्तवमें चिन्मय-तत्त्वसे ही होता है। काममें मोह (मूढ़भाव) रहता है और प्रेममें मोहकी गन्ध भी नहीं रहती। काममें संसार तथा संसारका दुःख भरा रहता है और प्रेममें मुक्ति तथा मुक्तिसे भी विलक्षण आनन्द रहता है। काममें जडता-(शरीर, इन्द्रियाँ आदि-) की मुख्यता रहती है और प्रेममें चिन्मयता-(चेतन स्वरूप-) की मुख्यता रहती है। काममें राग होता है और प्रेममें त्याग होता है। काममें परतन्त्रता होती है और प्रेममें परतन्त्रताका लेश भी नहीं होता अर्थात् सर्वथा स्वतन्त्रता होती है। काममें 'वह मेरे काममें आ जाय' ऐसा भाव रहता है और प्रेममें 'मैं उसके काममें आ जाऊँ' ऐसा भाव रहता है। काममें कामी भोग्य वस्तुका गुलाम बन जाता है और प्रेममें स्वयं भगवान् प्रेमीके गुलाम बन जाते हैं। कामका रस नीरसतामें बदलता है और प्रेमका रस आनन्दरूपसे प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। काम खिन्नतासे पैदा होता है और प्रेम प्रेमास्पदकी प्रसन्नतासे प्रकट होता है। काममें अपनी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है और प्रेममें प्रेमास्पदकी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है। काम-मार्ग नरकोंकी तरफ ले जाता है और प्रेम-मार्ग

*** लोग प्रायः माधुर्यभावमें स्त्री-पुरुषका भाव ही समझते हैं; परन्तु यह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही होता है—यह नियम नहीं है। माधुर्य नाम मधुरता अर्थात् मिठासका है और वह मिठास आती है भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेसे। वह अभिन्नता जितनी अधिक होगी, मधुरता भी उतनी ही अधिक होगी। अतः दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमेंसे किसी भी भावमें पूर्णता होनेपर उसमें मधुरता कम नहीं रहेगी। भक्तिके सभी भावोंमें माधुर्यभाव रहता है।**

अभेद और अभिन्नतामें भेद है। जिसमें केवल एक तत्त्व ही रह जाय, द्वैतभाव सर्वथा समाप्त हो जाय, उसका नाम 'अभेद' है और दो होते हुए भी एक रहनेका नाम 'अभिन्नता' है; जैसे—दो मित्रोंमें भीतरसे घनिष्ठता होनेसे अभिन्नता रहती है। अभिन्नता जितनी गाढ़ होती है, उतना ही माधुर्यरस प्रकट होता है। इसीको प्रेम-रस कहते हैं। भगवान् भी इस प्रेम-रसके लोभी हैं। इस प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये ही भगवान् एकसे अनेक रूपोंमें हो जाते हैं—'एकाकी न रमते' (बृहदारण्यक० १। ४। ३), 'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छान्दोग्य० ६। २। ३)।

भगवान्‌की तरफ ले जाता है। काममें दो होकर दो ही रहते हैं अर्थात् द्वैधीभाव (भिन्नता या भेद) कभी मिटता नहीं और प्रेममें एक होकर दो होते हैं अर्थात् अभिन्नता कभी मिटती नहीं*।

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें शाश्वत पदकी प्राप्ति बताकर अब उसकी विधि बताते हैं कि वह कैसे प्राप्त होगा। साधकके लिये दो ही खास काम हैं—संसारके सम्बन्धका त्याग और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध (प्रेम)। पूर्वश्लोकमें आये '**मद्व्यपाश्रयः**' पदमें भगवान्‌के साथ सम्बन्धकी मुख्यता है और इस श्लोकमें आये '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**' पदमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदकी मुख्यता है।

'**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**' कहनेका तात्पर्य है कि संसारका सूक्ष्म सम्बन्ध भी न रहे—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय**' (गीता २। ४९), किसीके प्रति किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष न रहे।

एकमात्र भगवान्‌का चिन्तन करनेसे समता (बुद्धियोग) स्वतः आ जाती है, इसलिये '**मच्चित्तः सततं भव**' कहा है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें दी हुई आज्ञाको अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक-रीतिसे दृढ़ करते हैं।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥

मच्चित्तः = मुझमें चित्तवाला होकर (तू)
मत्प्रसादात् = मेरी कृपासे
सर्वदुर्गाणि = सम्पूर्ण विघ्नोंको
तरिष्यसि = तर जायगा
अथ = और
चेत् = यदि
त्वम् = तू
अहङ्कारात् = अहंकारके कारण (मेरी बात)
न = नहीं
श्रोष्यसि = सुनेगा (तो)
विनङ्क्ष्यसि = तेरा पतन हो जायगा।

व्याख्या—'**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**'**—**भगवान् कहते हैं कि मेरेमें चित्तवाला होनेसे तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न, बाधा, शोक, दुःख आदिको तर जायगा अर्थात् उनको दूर करनेके लिये तुझे कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ेगा।

भगवद्भक्तने अपनी तरफसे सब कर्म भगवान्‌के अर्पण कर दिये, स्वयं भगवान्‌के अर्पित हो गया, समताके आश्रयसे संसारकी संयोगजन्य लोलुपतासे सर्वथा विमुख हो गया और भगवान्‌के साथ अटल सम्बन्ध जोड़ लिया। यह सब कुछ हो जानेपर भी वास्तविक तत्त्वकी प्राप्तिमें यदि कुछ कमी रह जाय या सांसारिक लोगोंकी अपेक्षा अपनेमें कुछ विशेषता देखकर अभिमान आ जाय अथवा इस प्रकारके कोई सूक्ष्म दोष रह जायँ, तो उन दोषोंको दूर करनेकी साधकपर कोई जिम्मेवारी नहीं रहती, प्रत्युत उन दोषोंको, विघ्न-बाधाओंको दूर करनेकी पूरी जिम्मेवारी भगवान्‌की हो जाती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' अर्थात् मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तर जायगा। इसका तात्पर्य यह निकला कि भक्त अपनी तरफसे, उसको जितना समझमें आ जाय, उतना पूरी सावधानीके साथ कर ले, उसके बाद जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे पूरी हो जायगी।

मनुष्यका अगर कुछ अपराध हुआ है तो वह यही हुआ है कि उसने संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और भगवान्‌से विमुख हो गया। अब उस अपराधको दूर करनेके लिये वह अपनी ओरसे संसारका सम्बन्ध तोड़कर भगवान्‌के सम्मुख हो जाय। सम्मुख हो जानेपर जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे पूरी हो जायगी। अब आगेका सब काम भगवान् कर लेंगे। तात्पर्य यह हुआ

---

* **द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥**
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥
(बोधसार भक्ति० ४२-४३)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है। परन्तु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

'वास्तविक तत्त्व तो अद्वैत ही है, पर भजनके लिये द्वैत है। ऐसी यदि भक्ति है तो वह भक्ति मुक्तिसे भी सौगुनी श्रेष्ठ है।'

कि भगवत्कृपा प्राप्त करनेमें संसारके साथ किंचित् भी सम्बन्ध मानना और भगवान्से विमुख हो जाना—यही बाधा थी। वह बाधा उसने मिटा दी तो अब पूर्णताकी प्राप्ति भगवत्कृपा अपने-आप करा देगी।

जिसका प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ सम्बन्ध है, उसपर ही शास्त्रोंका विधि-निषेध, अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार कर्तव्यका पालन आदि नियम लागू होते हैं और उसको उन-उन नियमोंका पालन जरूर करना चाहिये। कारण कि प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके सम्बन्धको लेकर ही पाप-पुण्य होते हैं और उनका फल सुख-दुःख भी भोगना पड़ता है। इसलिये उसपर शास्त्रीय मर्यादा और नियम विशेषतासे लागू होते हैं। परन्तु जो प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा ही विमुख होकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है, वह शास्त्रीय विधि-निषेध और वर्ण-आश्रमोंकी मर्यादाका दास नहीं रहता। वह विधि-निषेधसे भी ऊँचा उठ जाता है अर्थात् उसपर विधि-निषेध लागू नहीं होते; क्योंकि विधि-निषेधकी मुख्यता प्रकृतिके राज्यमें ही रहती है। प्रभुके राज्यमें तो शरणागतिकी ही मुख्यता रहती है।

जीव साक्षात् परमात्माका अंश है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। यदि वह केवल अपने अंशी परमात्माकी ही तरफ चलता है तो उसपर देव, ऋषि, प्राणी, माता-पिता आदि आप्तजन और दादा-परदादा आदि पितरोंका भी कोई ऋण नहीं रहता*; क्योंकि शुद्ध चेतन अंशने इनसे कभी कुछ लिया ही नहीं। लेना तभी बनता है, जब वह जड शरीरके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और सम्बन्ध जोड़नेसे ही कमी आती है; नहीं तो उसमें कभी कमी आती ही नहीं—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। जब उसमें कभी कमी आती ही नहीं, तो फिर वह उनका ऋणी कैसे बन सकता है? यही सम्पूर्ण विघ्नोंको तरना है!

साधन-कालमें जीवन-निर्वाहकी समस्या, शरीरमें रोग आदि अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं; परन्तु उनके आनेपर भी भगवान्की कृपाका सहारा रहनेसे साधक विचलित नहीं होता। उसे तो उन विघ्न-बाधाओंमें भगवान्की विशेष कृपा ही दीखती है। इसलिये उसे विघ्न-बाधाएँ बाधारूपसे दीखती ही नहीं, प्रत्युत कृपारूपसे ही दीखती हैं।

पारमार्थिक साधनमें विघ्न-बाधाओंके आनेकी तथा भगवत्प्राप्तिमें आड़ लगनेकी सम्भावना रहती है। इसके लिये भगवान् कहते हैं कि मेरा आश्रय लेनेवालेके दोनों काम मैं कर दूँगा अर्थात् अपनी कृपासे साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर दूँगा और उस साधनके द्वारा अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा।

'**अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि**'—भगवान् अत्यधिक कृपालुताके कारण आत्मीयतापूर्वक अर्जुनसे कह रहे हैं कि '**अथ**'—पक्षान्तरमें मैंने जो कुछ कहा है, उसे न मानकर अगर अहंकारके कारण अर्थात् 'मैं भी कुछ जानता हूँ, करता हूँ तथा मैं कुछ समझ सकता हूँ, कुछ कर सकता हूँ' आदि भावोंके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा, मेरे इशारेके अनुसार नहीं चलेगा, मेरा कहना नहीं मानेगा, तो तेरा पतन हो जायगा—'**विनङ्क्ष्यसि**'।

यद्यपि अर्जुनके लिये यह किंचिन्मात्र भी सम्भव नहीं है कि वह भगवान्की बात न सुने अथवा न माने, तथापि भगवान् कहते हैं कि '**चेत्**'—अगर तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। तात्पर्य यह है कि अगर तू अज्ञता अर्थात् अनजानपनेसे मेरी बात न सुने अथवा किसी भूलके कारण न सुने, तो यह सब क्षम्य है; परन्तु यदि तू अहंकारसे मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा; क्योंकि अहंकारसे मेरी बात न सुननेसे तेरा अभिमान बढ़ जायगा, जो सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका मूल है।

पहले चौथे अध्यायमें भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहकर आये हैं कि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' (४। ३) और फिर नवें अध्यायमें उन्होंने कहा है कि हे अर्जुन! तू प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्तका पतन नहीं होता—'**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति**' (९। ३१)। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन भगवान्के भक्त हैं; अतः वे कभी भगवान्से विमुख नहीं हो सकते और उनका पतन भी कभी नहीं हो सकता। परन्तु वे अर्जुन भी यदि भगवान्की बात नहीं सुनेंगे तो भगवान्से विमुख हो जायँगे और भगवान्से विमुख होनेके

---

* **देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥**

(श्रीमद्भा० ११। ५। ४१)

'राजन्! जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्बीजन और पितृगण—इनमेंसे किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

कारण उनका भी पतन हो जायगा। तात्पर्य यह कि भगवान्‌से विमुख होनेके कारण ही प्राणीका पतन होता है अर्थात् वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ता है (गीता—नवें अध्यायका तीसरा और सोलहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)।

विशेष बात

इसी अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्रथम पुरुष '**अवाप्नोति**' का प्रयोग करके सामान्य रीतिसे सबके लिये कहा कि मेरी कृपासे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है, और यहाँ मध्यम पुरुष '**तरिष्यसि**' का प्रयोग करके अर्जुनके लिये कहते हैं कि मेरी कृपासे तू सब विघ्न-बाधाओंको तर जायगा। इन दोनों बातोंका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की कृपामें जो शक्ति है, वह शक्ति किसी साधनमें नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि साधन न करें, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म होना चाहिये; क्योंकि मनुष्य-जन्म केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। मनुष्य-जन्मको प्राप्त करके भी जो परमात्माको प्राप्त नहीं करता, वह यदि ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय, तो भी उसे लौटकर संसार-(जन्म-मरण-)में आना ही पड़ेगा* (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। इसलिये जब यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है, तो फिर मनुष्यको जीते-जी ही भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिये और जन्म-मरणसे रहित हो जाना चाहिये। कर्मयोगीके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि समतायुक्त पुरुष इस जीवित-अवस्थामें ही पुण्य और पाप—दोनोंसे रहित हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका पचासवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म-बन्धनसे सर्वथा रहित होना अर्थात् जन्म-मरणसे रहित होना मनुष्यमात्रका परम ध्येय है।

दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैं अपनी कृपासे भक्तोंके अन्तःकरणमें ज्ञान प्रकाशित कर देता हूँ, और ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैंने अपनी कृपासे ही विराट्‌रूप दिखाया है। उसी कृपाको लेकर भगवान् यहाँ कहते हैं कि मेरी कृपासे परमपदकी प्राप्ति हो जायगी (इसी अध्यायका छप्पनवाँ श्लोक) और मेरी कृपासे ही सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा (इसी श्लोकमें)। परमपदको प्राप्त होनेपर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा सामने आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। फिर भी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तरनेकी बात कहनेका तात्पर्य यह है कि अर्जुनके मनमें यह भय बैठा था कि युद्ध करनेसे मुझे पाप लगेगा; युद्धके कारण कुल-परम्पराके नष्ट होनेसे पितरोंका पतन हो जायगा और इस प्रकार अनर्थ-परम्परा बढ़ती ही जायगी; हमलोग राज्यके लोभमें आकर इस महान् पापको करनेके लिये तैयार हो गये हैं, इसलिये मैं शस्त्र छोड़कर बैठ जाऊँ और धृतराष्ट्रके पक्षके लोग मेरेको मार भी दें, तो भी मेरा कल्याण ही होगा (गीता—पहले अध्यायके छत्तीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक)। इन सभी बातोंको लेकर और अनेक जन्मोंके दोषोंको भी लेकर भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंको, पापोंको तर जायगा—'**सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**' भगवान्‌ने बहुवचनमें '**दुर्गाणि**' पद देकर भी उसके साथ '**सर्व**' शब्द और जोड़ दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि मेरी कृपासे तेरा किंचिन्मात्र भी पाप नहीं रहेगा; कोई भी बन्धन नहीं रहेगा और मेरी कृपासे सर्वथा शुद्ध होकर तू परमपदको प्राप्त हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—भक्तका काम केवल भगवान्‌का आश्रय लेना है, भगवान्‌का ही चिन्तन करना है। फिर उसके सब काम भगवान् ही करते हैं। भगवान् भक्तपर विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' (गीता ९। २२)। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—**विशेषानुग्रहश्च**' (३। ४। ३८) 'भगवान्‌की भक्तिका अनुष्ठान करनेसे भगवान्‌का विशेष अनुग्रह होता है।' वास्तवमें मनुष्यपर भगवान्‌की कृपा तो है ही, पर भगवान्‌का आश्रय लेनेसे भक्तको उसका विशेष अनुभव होता है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

---

* येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ (श्रीमद्भा० १०। २। ३२)

अहङ्कारम्	= अहंकारका	**न, योत्स्ये**	= युद्ध नहीं करूँगा,		(क्योंकि)
आश्रित्य	= आश्रय लेकर	**ते**	= तेरा	**प्रकृतिः**	= (तेरी) क्षात्र-प्रकृति
यत्	= (तू) जो	**एषः**	= यह	**त्वाम्**	= तुझे
इति	= ऐसा	**व्यवसायः**	= निश्चय	**नियोक्ष्यति**	= युद्धमें लगा देगी।
मन्यसे	= मान रहा है कि (मैं)	**मिथ्या**	= मिथ्या (झूठा) है;		

व्याख्या—**'यदहंकारमाश्रित्य'**—प्रकृतिसे ही महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार पैदा हुआ है। उस अहंकारका ही एक विकृत अंश है—'मैं शरीर हूँ।' इस विकृत अहंकारका आश्रय लेनेवाला पुरुष कभी भी क्रियारहित नहीं हो सकता। कारण कि प्रकृति हरदम क्रियाशील है, बदलनेवाली है, इसलिये उसके आश्रित रहनेवाला कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)।

जब मनुष्य अहंकारपूर्वक क्रियाशील प्रकृतिके वशमें हो जाता है, तो फिर वह यह कैसे कह सकता है कि मैं अमुक कर्म करूँगा और अमुक कर्म नहीं करूँगा अर्थात् प्रकृतिके परवश हुआ मनुष्य करना और न करना—इन दोनोंसे छूटेगा नहीं। कारण कि प्रकृतिके परवश हुए मनुष्यका तो 'करना' भी कर्म है और 'न करना' भी कर्म है। परन्तु जब मनुष्य प्रकृतिके परवश नहीं रहता, उससे निर्लिप्त हो जाता है (जो कि इसका वास्तविक स्वरूप है), तो फिर उसके लिये करना और न करना—ऐसा कहना ही नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि जो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखे और कर्म न करना चाहे, ऐसा उसके लिये सम्भव नहीं है। परन्तु जिसने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है अथवा जो सर्वथा भगवान्के शरण हो गया है, उसको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं होना पड़ता।

'न योत्स्य इति मन्यसे'—दूसरे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्के शरण होकर शिक्षाकी प्रार्थना की—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२। ७) और उसके बाद अर्जुनने साफ-साफ कह दिया कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—**'न योत्स्ये'** (२। ९)। यह बात भगवान्को अच्छी नहीं लगी। भगवान् मनमें सोचते हैं कि यह पहले तो मेरे शरण हो गया और फिर इसने मेरे कुछ कहे बिना ही अपनी तरफसे साफ-साफ कह दिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो फिर यह मेरी शरणागति कहाँ रही? यह तो अहंकारकी शरणागति हो गयी! कारण कि वास्तविक शरणागत होनेपर 'मैं यह करूँगा, यह नहीं करूँगा' ऐसा कहना ही नहीं बनता। भगवान्के शरणागत होनेपर तो भगवान् जैसा करायेंगे, वैसा ही करना होगा। इसी बातको लेकर भगवान्को हँसी आ गयी (दूसरे अध्यायका दसवाँ श्लोक)। परन्तु अर्जुनपर अत्यधिक कृपा और स्नेह होनेके कारण भगवान्ने उपदेश देना आरम्भ कर दिया, नहीं तो भगवान् वहींपर यह कह देते कि 'जैसा चाहता है, वैसा कर'—**'यथेच्छसि तथा कुरु'** (१८। ६३) परन्तु अर्जुनकी यह बात कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' भगवान्के भीतर खटक गयी। इसलिये भगवान्ने यहाँ अर्जुनके उन्हीं शब्दों—**'न योत्स्ये'** का प्रयोग करके यह कहा है कि तू अहंकारके ही शरण है, मेरे शरण नहीं। अगर तू मेरे शरण हो गया होता तो 'युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहना बन ही नहीं सकता था। मेरे शरण होता तो 'मैं क्या करूँगा और क्या नहीं करूँगा' इसकी जिम्मेवारी मेरेपर होती। इसके अलावा मेरे शरणागत होनेपर यह प्रकृति भी तुझे बाध्य नहीं कर पाती (गीता—सातवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। यह त्रिगुणमयी माया अर्थात् प्रकृति उसीको बाध्य करती है, जो मेरे शरण नहीं हुआ है (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक); क्योंकि यह नियम है कि प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ प्राणी प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सदा ही परवश होता है।

यह एक बड़ी मार्मिक बात है कि मनुष्य जिन प्राकृत पदार्थोंको अपना मान लेते हैं, उन पदार्थोंके सदा ही परवश (पराधीन) हो जाते हैं। वे वहम तो यह रखते हैं कि हम इन पदार्थोंके मालिक हैं, पर हो जाते हैं उनके गुलाम! परन्तु जिन पदार्थोंको अपना नहीं मानते, उन पदार्थोंके

'हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंके शरण नहीं हैं और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

परवश नहीं होते। इसलिये मनुष्यको किसी भी प्राकृत पदार्थको अपना नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वे वास्तवमें अपने हैं ही नहीं। अपने तो वास्तवमें केवल भगवान् ही हैं। उन भगवान्‌को अपना माननेसे मनुष्यकी परवशता सदाके लिये समाप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य पदार्थों और क्रियाओंको अपनी मानता है तो सर्वथा परतन्त्र हो जाता है, और भगवान्‌को अपना मानता है और उनके अनन्य शरण होता है तो सर्वथा स्वतन्त्र हो जाता है। प्रभुके शरणागत होनेपर परतन्त्रता लेशमात्र भी नहीं रहती—यह शरणागतिकी महिमा है। परन्तु जो प्रभुकी शरण न लेकर अहंकारकी शरण लेते हैं, वे मौतके मार्ग-(संसार-)में बह जाते हैं—**'निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'** (९। ३)। इसी बातकी चेतावनी देते हुए भगवान् अर्जुनसे कह रहे हैं कि तू जो यह कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तेरा यह कहना, तेरी यह हेकड़ी चलेगी नहीं। तुझे क्षात्र-प्रकृतिके परवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा।

'मिथ्यैष व्यवसायस्ते'—व्यवसाय अर्थात् निश्चय दो तरहका होता है—वास्तविक और अवास्तविक। परमात्माके साथ अपना जो नित्य सम्बन्ध है, उसका निश्चय करना तो वास्तविक है और प्रकृतिके साथ मिलकर प्राकृत पदार्थोंका निश्चय करना अवास्तविक है। जो निश्चय परमात्माको लेकर होता है, उसमें स्वयंकी प्रधानता रहती है और जो निश्चय प्रकृतिको लेकर होता है, उसमें अन्तःकरणकी प्रधानता रहती है। इसलिये भगवान् यहाँ अर्जुनसे कहते हैं कि अहंकारका अर्थात् प्रकृतिका आश्रय लेकर तू जो यह कह रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा तेरा (क्षात्र-प्रकृतिके विरुद्ध) निश्चय अवास्तविक अर्थात् मिथ्या है, झूठा है। आश्रय परमात्माका ही होना चाहिये, प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारका नहीं।

यदि प्राणी यह निश्चय कर लेता है कि मैं परमात्माका ही हूँ और मुझे केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है, तो उसका यह निश्चय वास्तविक अर्थात् सत्य है, नित्य है। इस निश्चयकी महिमा भगवान्‌ने नवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें की है कि अगर दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको दुराचारी नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह वास्तविक निश्चय कर चुका है कि मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान्‌का ही भजन करूँगा।

'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'—इन पदोंसे भगवान् कहते हैं कि तेरा क्षात्र-स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा। क्षत्रियका स्वभाव है—शूरवीरता, युद्धमें पीठ न दिखाना (गीता—इसी अध्यायका तैंतालीसवाँ श्लोक)। अतः धर्ममय युद्धका अवसर सामने आनेपर तू युद्ध किये बिना रह नहीं सकेगा।

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें यह बात आयी कि अहंकारके कारण 'फल' ठीक नहीं होगा और इस श्लोकमें यह बात आयी कि अहंकारके कारण 'क्रिया' ठीक नहीं होगी। तात्पर्य है कि सुनने या न सुननेसे पतन नहीं होगा, प्रत्युत अहंकारके कारण पतन होगा। कर्म करना या न करना बाधक नहीं है, प्रत्युत अहंकार बाधक है।

भगवान्‌ने कहा कि मैं अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा और तेरे विघ्नोंको भी दूर कर दूँगा (अठारहवें अध्यायका छप्पनवाँ और अट्ठावनवाँ श्लोक)। परन्तु इतना कहनेपर भी अर्जुन बोले नहीं, जब कि उनको वहाँ **'करिष्ये वचनं तव'** कह देना चाहिये था। तब भगवान् कहते हैं कि अगर तू भूलसे मेरी बात न सुने तो कोई बात नहीं, पर तू अहंकारसे मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। भगवान्‌का भाव है कि जैसे भक्तका सब काम (साधन और सिद्धि) मैं कर देता हूँ, ऐसे ही भक्तको भी चाहिये कि वह सब प्रकारसे मेरा ही आश्रय ले। परन्तु मेरा आश्रय न लेकर वह अहंकारका आश्रय लेगा तो उसका पतन हो जायगा। अहंकारका आश्रय लेनेसे **'मद्व्यपाश्रय'** नहीं होगा; क्योंकि मेरे आश्रयकी जगह मेरी अपरा प्रकृति 'अहंकार' का आश्रय ले लिया। कर्तव्य कर्म (युद्ध)-में एक तो मैं लगाता हूँ और एक प्रकृति लगाती है। अगर तू मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरी क्षात्र प्रकृति तेरेको युद्धमें लगायेगी। प्रकृति लगायेगी तो जिम्मेवारी तेरी होगी और मेरी बात सुनकर कर्तव्यमें लगेगा तो जिम्मेवारी मेरी होगी। तेरी जिम्मेवारी होनेसे तू बद्ध हो जायगा और मेरी जिम्मेवारी होनेसे तू मुक्त हो जायगा।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि प्रकृति तुझे कर्ममें लगा देगी, अब आगेके श्लोकमें उसीका विवेचन करते हैं।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**मोहात्**	= मोहके कारण	**तत्**	= उसको
स्वेन	= अपने	**यत्**	= जिस युद्धको	**अपि**	= भी (तू)
स्वभावजेन	= स्वभावजन्य	**न**	= नहीं	**अवशः**	= (क्षात्र प्रकृतिके) परवश होकर
कर्मणा	= कर्मसे	**कर्तुम्**	= करना		
निबद्धः	= बँधा हुआ (तू)	**इच्छसि**	= चाहता,	**करिष्यसि**	= करेगा।

व्याख्या—**'स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा'**—पूर्वजन्ममें जैसे कर्म और गुणोंकी वृत्तियाँ रही हैं, इस जन्ममें जैसे माता-पितासे पैदा हुए हैं अर्थात् माता- पिताके जैसे संस्कार रहे हैं, जन्मके बाद जैसा देखा-सुना है, जैसी शिक्षा प्राप्त हुई है और जैसे कर्म किये हैं—उन सबके मिलनेसे अपनी जो कर्म करनेकी एक आदत बनी है, उसका नाम स्वभाव है। इसको भगवान्ने स्वभावजन्य स्वकीय कर्म कहा है। इसीको स्वधर्म भी कहते हैं—**'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'** (गीता २। ३१)।

'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्'—स्वभावजन्य क्षात्र प्रकृतिसे बँधा हुआ तू मोहके कारण जो नहीं करना चाहता, उसको तू परवश होकर करेगा। स्वभावके अनुसार ही शास्त्रोंने कर्तव्य-पालनकी आज्ञा दी है। उस आज्ञामें यदि दूसरोंके कर्मोंकी अपेक्षा अपने कर्मोंमें कमियाँ अथवा दोष दीखते हों, तो भी वे दोष बाधक (पाप-जनक) नहीं होते—**'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्'** (गीता ३। ३५; १८। ४७)। उस स्वभावज कर्म (क्षात्र-धर्म)-के अनुसार तू युद्ध करनेके लिये परवश है। युद्धरूप कर्तव्यको न करनेका तेरा विचार मूढ़तापूर्वक किया गया है।

जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, उनका स्वभाव सर्वथा शुद्ध होता है। अतः उनपर स्वभावका आधिपत्य नहीं रहता अर्थात् वे स्वभावके परवश नहीं होते; फिर भी वे किसी काममें प्रवृत्त होते हैं, तो अपनी प्रकृति-(स्वभाव-) के अनुसार ही काम करते हैं। परन्तु साधारण मनुष्य प्रकृतिके परवश होते हैं, इसलिये उनका स्वभाव उनको जबर्दस्ती कर्ममें लगा देता है (गीता—तीसरे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तेरा क्षात्र-स्वभाव भी तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा; परन्तु उसका फल तेरे लिये बढ़िया नहीं होगा। यदि तू शास्त्र या सन्त-महापुरुषोंकी आज्ञासे अथवा मेरी आज्ञासे युद्धरूप कर्म करेगा, तो वही कर्म तेरे लिये कल्याणकारी हो जायगा। कारण कि शास्त्र अथवा मेरी आज्ञासे कर्मोंको करनेसे, उन कर्मोंमें जो राग-द्वेष हैं, वे स्वाभाविक ही मिटते चले जायँगे; क्योंकि तेरी दृष्टि आज्ञाकी तरफ रहेगी, राग-द्वेषकी तरफ नहीं। अतः वे कर्म बन्धनकारक न होकर कल्याणकारक ही होंगे।

विशेष बात

गीतामें प्रकृतिकी परवशताकी बात सामान्यरूपसे कई जगह आयी है (जैसे—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ, आठवें अध्यायका उन्नीसवाँ और नवें अध्यायका आठवाँ श्लोक आदि); परन्तु दो जगह प्रकृतिकी परवशताकी बात विशेषरूपसे आयी है—**'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'** (३। ३३) और यहाँ **'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'** (१८। ५९)*। इससे स्वभावकी प्रबलता ही सिद्ध होती है; क्योंकि कोई भी प्राणी जिस-किसी योनिमें भी जन्म लेता है, उसकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव उसके साथमें रहता है। अगर उसका स्वभाव परम शुद्ध हो अर्थात् स्वभावमें सर्वथा असंगता हो तो उसका जन्म ही क्यों होगा? यदि उसका जन्म होगा तो उसमें स्वभावकी ही मुख्यता रहेगी—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। जब स्वभावकी ही मुख्यता अथवा परवशता रहेगी और प्रत्येक क्रिया स्वभावके अनुसार ही होगी, तो फिर शास्त्रोंका विधि-निषेध किसपर लागू होगा? गुरुजनोंकी शिक्षा किसके काम आयेगी? और मनुष्य दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करके सद्गुण-सदाचारोंमें कैसे प्रवृत्त होगा?

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर यह है कि जैसे मनुष्य गंगाजीके प्रवाहको रोक तो नहीं सकता, पर उसके प्रवाहको मोड़ सकता है, घुमा सकता है। ऐसे ही मनुष्य अपने वर्णोचित स्वभावको छोड़ तो नहीं सकता, पर भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर उसको राग-द्वेषसे रहित परम शुद्ध, निर्मल बना सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि

* **ज्ञानयोगमें ज्ञानी प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, इसलिये उसके लिये प्रकृतिकी परवशताकी बात नहीं आयी है।**

स्वभावको शुद्ध बनानेमें मनुष्यमात्र सर्वथा सबल और स्वतन्त्र है, निर्बल और परतन्त्र नहीं है। निर्बलता और परतन्त्रता तो केवल राग-द्वेष होनेसे प्रतीत होती है।

अब इस स्वभावको सुधारनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगकी दृष्टिसे दो उपाय बताये हैं—

(१) **कर्मयोगकी दृष्टिसे**—तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया है कि मनुष्यके खास शत्रु राग-द्वेष ही हैं। अतः राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये अर्थात् राग-द्वेषको लेकर कोई भी कर्म नहीं करना चाहिये, प्रत्युत शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ही प्रत्येक कर्म करना चाहिये। शास्त्रके आज्ञानुसार अर्थात् शिष्य गुरुकी, पुत्र माता-पिताकी, पत्नी पतिकी और नौकर मालिककी आज्ञाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक सब कर्म करता है तो उसमें राग-द्वेष नहीं रहते। कारण कि अपने मनके अनुसार कर्म करनेसे ही राग-द्वेष पुष्ट होते हैं। शास्त्र आदिकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे और कभी दूसरा नया कार्य करनेकी मनमें आ जानेपर भी शास्त्रकी आज्ञा न होनेसे हम वह कार्य नहीं करते तो उससे हमारा 'राग' मिट जायगा; और कभी कार्यको न करनेकी मनमें आ जानेपर भी शास्त्रकी आज्ञा होनेसे हम वह कार्य प्रसन्नतापूर्वक करते हैं तो उससे हमारा 'द्वेष' मिट जायगा।

(२) **भक्तियोगकी दृष्टिसे**—जब मनुष्य ममतावाली वस्तुओंके सहित स्वयं भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब उसके पास अपना करके कुछ नहीं रहता। वह भगवान्‌के हाथकी कठपुतली बन जाता है। फिर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, उनकी इच्छाके अनुसार ही उसके द्वारा सब कार्य होते हैं, जिससे उसके स्वभावमें रहनेवाले राग-द्वेष मिट जाते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोगमें राग-द्वेषके वशीभूत न होकर कार्य करनेसे स्वभाव शुद्ध हो जाता है(गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक) और भक्तियोगमें भगवान्‌के सर्वथा अर्पित होनेसे स्वभाव शुद्ध हो जाता है (गीता— अठारहवें अध्यायका बासठवाँ श्लोक)। स्वभाव शुद्ध होनेसे बन्धनका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह कभी राग-द्वेषके वशीभूत होकर करता है और कभी सिद्धान्तके अनुसार करता है। राग-द्वेषपूर्वक कर्म करनेसे राग-द्वेष दृढ़ हो जाते हैं और फिर मनुष्यका वैसा ही स्वभाव बन जाता है। सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेसे उसका सिद्धान्तके अनुसार ही करनेका स्वभाव बन जाता है। जो मनुष्य परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर शास्त्र और महापुरुषोंके सिद्धान्तके अनुसार कर्म करते हैं और जो परमात्माको प्राप्त हो गये हैं—उन दोनों-(साधकों और सिद्ध महापुरुषों-) के कर्म दुनियाके लिये आदर्श होते हैं, अनुकरणीय होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—स्वभाव दो तरहका होता है—(१) विहित कर्मोंका स्वभाव और (२) निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव। इनमें विहित कर्मोंका स्वभाव तो स्वतः होनेसे 'स्व-स्वभाव' है, पर निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव आगन्तुक होनेसे 'पर-स्वभाव' है। विहित कर्मोंका स्वभाव तो सजातीय होनेसे जन्य नहीं है, पर निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव विजातीय होनेसे जन्य (आसक्तिजन्य, कुसंगजन्य) है। मनुष्यका खास कर्तव्य है—अपना स्वभाव ठीक करना अर्थात् निषिद्ध कर्मोंके स्वभावका त्याग करके विहित कर्मोंके स्वभावके अनुसार आचरण करना। भगवान्‌ने विहित कर्मोंके स्वभावके अनुसार ही अपने वर्ण-धर्मका पालन करनेकी आज्ञा दी है।

भगवान् कहते हैं कि चाहे कर्तव्यमात्र समझकर युद्ध कर, चाहे मेरी आज्ञा मानकर युद्ध कर, युद्ध तो तेरेको करना ही पड़ेगा। मेरा आश्रय न लेनेसे तेरा अहंकार रहेगा, जिससे विहित कर्म भी बाँधनेवाला हो जायगा। परन्तु मेरा आश्रय लेनेसे अहंकार नहीं रहेगा। अहंकार ही बाँधनेवाला होता है। जो प्रकृतिके परवश नहीं होता, जिसकी प्रकृति महान् शुद्ध होती है, ऐसा ज्ञानी महापुरुष भी जब प्रकृतिके अनुसार क्रिया करता है, फिर प्रकृतिके परवश हुआ तथा अशुद्ध प्रकृतिवाला मनुष्य प्रकृतिके विरुद्ध कर्म कैसे कर सकता है?

सम्बन्ध—जीव स्वयं परमात्माका अंश है और स्वभाव प्रकृतिका अंश है; स्वयं स्वतःसिद्ध है और स्वभाव खुदका बनाया हुआ है; स्वयं चेतन है और स्वभाव जड है—ऐसा होनेपर भी जीव स्वभावके परवश कैसे हो जाता है? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् आगेका श्लोक कहते हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**तिष्ठति**	= रहता है (और)	**सर्वभूतानि**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको (उनके स्वभावके अनुसार)
ईश्वरः	= ईश्वर	**मायया**	= अपनी मायासे		
सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**यन्त्रारूढानि**	= शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए	**भ्रामयन्**	= भ्रमण कराता रहता है।
हृद्देशे	= हृदयमें				

व्याख्या—**'ईश्वरः सर्वभूतानां ······ यन्त्रारूढानि मायया'**—इसका तात्पर्य यह है कि जो ईश्वर सबका शासक, नियामक, सबका भरण-पोषण करनेवाला और निरपेक्षरूपसे सबका संचालक है, वह अपनी शक्तिसे उन प्राणियोंको घुमाता है, जिन्होंने शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान रखा है।

जैसे, विद्युत्-शक्तिसे संचालित यन्त्र—रेलपर कोई आरूढ़ हो जाता है, चढ़ जाता है तो उसको परवशतासे रेलके अनुसार ही जाना पड़ता है। परन्तु जब वह रेलपर आरूढ़ नहीं रहता, नीचे उतर जाता है, तब उसको रेलके अनुसार नहीं जाना पड़ता। ऐसे ही जबतक मनुष्य शरीररूपी यन्त्रके साथ 'मैं' और 'मेरे'-पनका सम्बन्ध रखता है, तबतक ईश्वर उसको उसके स्वभावके* अनुसार संचालित करता रहता है और वह मनुष्य जन्म-मरणरूप संसारके चक्रमें घूमता रहता है।

शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध होनेसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं, जिससे स्वभाव अशुद्ध हो जाता है। स्वभावके अशुद्ध होनेपर मनुष्य प्रकृति अर्थात् स्वभावके परवश हो जाता है। परन्तु शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जब स्वभाव राग-द्वेषसे रहित अर्थात् शुद्ध हो जाता है, तब प्रकृतिकी परवशता नहीं रहती। प्रकृति-(स्वभाव-)की परवशता न रहनेसे ईश्वरकी माया उसको संचालित नहीं करती।

अब यहाँ यह शंका होती है कि जब ईश्वर ही हमारेको भ्रमण करवाता है, क्रिया करवाता है, तब यह काम करना चाहिये और यह काम नहीं करना चाहिये—ऐसी स्वतन्त्रता कहाँ रही? क्योंकि यन्त्रारूढ़ होनेके कारण हम यन्त्रके और यन्त्रके संचालक ईश्वरके अधीन हो गये, परतन्त्र हो गये, तो फिर यन्त्रका संचालक (प्रेरक) जैसा करायेगा, वैसा ही होगा? इसका समाधान इस प्रकार है—

जैसे, बिजलीसे संचालित होनेवाले यन्त्र अनेक तरहके होते हैं। एक ही बिजलीसे संचालित होनेपर भी किसी यन्त्रमें बर्फ जम जाती है और किसी यन्त्रमें अग्नि जल जाती है अर्थात् उनमें एक-दूसरेसे बिलकुल विरुद्ध काम होता है। परन्तु बिजलीका यह आग्रह नहीं रहता कि मैं तो केवल बर्फ ही जमाऊँगी अथवा केवल अग्नि ही जलाऊँगी। यन्त्रोंका भी ऐसा आग्रह नहीं रहता कि हम तो केवल बर्फ ही जमायेंगे अथवा केवल अग्नि ही जलायेंगे, प्रत्युत यन्त्र बनानेवाले कारीगरने यन्त्रोंको जैसा बना दिया है, उसके अनुसार उनमें स्वाभाविक ही बर्फ जमती है और अग्नि जलती है। ऐसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी प्राणी हैं, सब शरीररूपी यन्त्रोंपर चढ़े हुए हैं और उन सभी यन्त्रोंको ईश्वर संचालित करता है। उन अलग-अलग शरीरोंमें भी जिस शरीरमें जैसा स्वभाव है, उस स्वभावके अनुसार वे ईश्वरसे प्रेरणा पाते हैं और कार्य करते हैं। तात्पर्य यह है कि उन शरीरोंसे मैं-मेरेपनका सम्बन्ध माननेवालेका जैसा (अच्छा या मन्दा) स्वभाव होता है, उससे वैसी ही क्रियाएँ होती हैं। अच्छे स्वभाववाले (सज्जन) मनुष्यके द्वारा श्रेष्ठ क्रियाएँ होती हैं और मन्दे स्वभाववाले (दुष्ट) मनुष्यके द्वारा खराब क्रियाएँ होती हैं। इसलिये अच्छी या मन्दी क्रियाओंको करानेमें ईश्वरका हाथ नहीं है, प्रत्युत खुदके बनाये हुए अच्छे या मन्दे स्वभावका ही हाथ है।

जैसे बिजली यन्त्रके स्वभावके अनुसार ही उसका संचालन करती है, ऐसे ही ईश्वर प्राणीके (शरीरमें स्थित) स्वभावके अनुसार उसका संचालन करते हैं। जैसा स्वभाव होगा, वैसे ही कर्म होंगे। इसमें एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि स्वभावको सुधारनेमें और बिगाड़नेमें सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं, कोई भी परतन्त्र नहीं है। परन्तु पशु, पक्षी, देवता, आदि जितने भी मनुष्येतर प्राणी हैं, उनमें अपने स्वभावको सुधारनेका न अधिकार है और न स्वतन्त्रता ही है। मनुष्य-शरीर अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है, इसलिये इसमें अपने स्वभावको सुधारनेका पूरा अधिकार है, पूरी स्वतन्त्रता है। उस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करके स्वभाव सुधारनेमें और स्वतन्त्रताका

* **स्वभाव कारणशरीरमें रहता है। वही स्वभाव सूक्ष्म और स्थूल-शरीरमें प्रकट होता है।**

दुरुपयोग करके स्वभाव बिगाड़नेमें मनुष्य स्वयं ही हेतु है।

ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयदेशमें रहता है—यह कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें सब जगह जल रहनेपर भी जहाँ कुआँ होता है, वहींसे जल प्राप्त होता है; ऐसे ही परमात्मा सब जगह समान रीतिसे परिपूर्ण होते हुए भी हृदयमें प्राप्त होते हैं अर्थात् हृदय सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिका विशेष स्थान है। ऐसे ही तीसरे अध्यायमें सर्वव्यापी परमात्माको यज्ञ-(निष्काम-कर्म-) में स्थित बताया गया है—'**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**' (गीता ३। १५)।

विशेष बात

साधककी प्रायः यह भूल होती है कि वह भजन, कीर्तन, ध्यान आदि करते हुए भी 'भगवान् दूर हैं; वे अभी नहीं मिलेंगे; यहाँ नहीं मिलेंगे; अभी मैं योग्य नहीं हूँ; भगवान्‌की कृपा नहीं है' आदि भावनाएँ बनाकर भगवान्‌की दूरीकी मान्यता ही दृढ़ करता रहता है। इस जगह साधकको यह सावधानी रखनी चाहिये कि जब भगवान् सभी प्राणियोंमें मौजूद हैं तो मेरेमें भी हैं। वे सर्वत्र व्यापक हैं तो मैं जो जप करता हूँ उस जपमें भी भगवान् हैं; मैं श्वास लेता हूँ तो उस श्वासमें भी भगवान् हैं; मेरे मनमें भी भगवान् हैं, बुद्धिमें भी भगवान् हैं; मैं जो 'मैं-मैं' कहता हूँ, उस 'मैं' में भी भगवान् हैं। उस 'मैं' का जो आधार है, वह अपना स्वरूप भगवान्‌से अभिन्न है अर्थात् 'मैं'-पन तो दूर है, पर भगवान् 'मैं'-पनसे भी नजदीक हैं। इस प्रकार अपनेमें भगवान्‌को मानते हुए ही भजन, जप, ध्यान आदि करने चाहिये।

अब शंका यह होती है कि अपनेमें परमात्माको माननेसे मैं और परमात्मा दो (अलग-अलग) हैं—यह द्वैतापत्ति होगी। इसका समाधान यह है कि परमात्माको अपनेमें माननेसे द्वैतापत्ति नहीं होती, प्रत्युत अहंकार-('मैं'-पन) को स्वीकार करनेसे जो अपनी अलग सत्ता प्रतीत होती है, उसीसे द्वैतापत्ति होती है। परमात्माको अपना और अपनेमें माननेसे तो परमात्मासे अभिन्नता होती है, जिससे प्रेम प्रकट होता है।

जैसे, गंगाजीमें बाढ़ आ जानेसे उसका जल बहुत बढ़ जाता है और फिर पीछे वर्षा न होनेसे उसका जल पुनः कम हो जाता है; परन्तु उसका जो जल गड्ढेमें रह जाता है अर्थात् गंगाजीसे अलग हो जाता है, उसको 'गंगोज्झ' कहते हैं। उस गंगोज्झको मदिराके समान महान् अपवित्र माना गया है। गंगाजीसे अलग होनेके कारण वह गंदा हो जाता है और उसमें अनेक कीटाणु पैदा हो जाते हैं, जो कि रोगोंके कारण हैं। परन्तु फिर कभी जोरकी बाढ़ आ जाती है, तो वह गंगोज्झ वापस गंगाजीमें मिल जाता है। गंगाजीमें मिलते ही उसकी एकदेशीयता, अपवित्रता, अशुद्धि आदि सभी दोष चले जाते हैं और वह पुनः महान् पवित्र गंगाजल बन जाता है।

ऐसे ही यह मनुष्य जब अहंकारको स्वीकार करके परमात्मासे विमुख हो जाता है, तब इसमें परिच्छिन्नता, पराधीनता, जडता, विषमता, अभाव, अशान्ति, अपवित्रता आदि सभी दोष (विकार) आ जाते हैं। परन्तु जब यह अपने अंशी परमात्माके सम्मुख हो जाता है, उन्हींकी शरणमें चला जाता है अर्थात् अपना अलग कोई व्यक्तित्व नहीं रखता, तब उसमें आये हुए भिन्नता, पराधीनता आदि सभी दोष मिट जाते हैं। कारण कि स्वयं (चेतन स्वरूप-) में दोष नहीं हैं दोष तो अहंता-(मैं-पन) को स्वीकार करनेसे ही आते हैं।

परिशिष्ट भाव—'भ्रामयन्' का तात्पर्य है कि संसारमात्रका संचालन भगवान्‌की ही शक्तिसे हो रहा है—'**मत्तः सर्वं प्रवर्तते**' (गीता १०। ८)। भगवान् प्राणियोंको उनके स्व-स्वभावके अनुसार कर्म करनेकी प्रेरणा तो करते हैं, पर उसमें अपना आग्रह नहीं रखते। भगवान्‌का आग्रह न होनेके कारण ही मनुष्य अपनी कामना-ममता-आसक्तिके वशीभूत होकर पुण्य अथवा पाप करता है और उनका फल भोगनेके लिये स्वर्गादि लोकोंमें अथवा नरकों और नीच योनियोंमें जाता है। परन्तु जो भगवान्‌के शरण हो जाता है, उसको भगवान् विशेष प्रेरणा करते हैं। अहंकार न रहनेसे वह जो कुछ करता है, भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार ही करता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् यन्त्रारूढ़ हुए प्राणियोंकी परवशताको मिटानेका उपाय बताते हैं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! (तू)	**शरणम्**	= शरणमें	**शान्तिम्**	= शान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति)-को
सर्वभावेन	= सर्वभावसे	**गच्छ**	= चला जा।	**शाश्वतम्**	= (और) अविनाशी
तम्	= उस ईश्वरकी	**तत्प्रसादात्**	= उसकी कृपासे (तू)	**स्थानम्**	= परमपदको
एव	= ही	**पराम्**	= परम	**प्राप्स्यसि**	= प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या—[मनुष्यमें प्राय: यह एक कमजोरी रहती है कि जब उसके सामने संत-महापुरुष विद्यमान रहते हैं, तब उसका उनपर श्रद्धा-विश्वास एवं महत्त्वबुद्धि नहीं होती*; परन्तु जब वे चले जाते हैं, तब पीछे वह रोता है, पश्चात्ताप करता है। ऐसे ही भगवान् अर्जुनके रथके घोड़े हाँकते हैं और उनकी आज्ञाका पालन करते हैं। वे ही भगवान् जब अर्जुनसे कहते हैं कि शरणागत भक्त मेरी कृपासे शाश्वत पदको प्राप्त हो जाता है; और तू भी मेरेमें चित्तवाला होकर मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा, तब अर्जुन कुछ बोले ही नहीं। इससे यह सम्भावना भी हो सकती है कि भगवान्के वचनोंपर अर्जुनको पूरा विश्वास न हुआ हो। इसी दृष्टिसे भगवान्को यहाँ अर्जुनके लिये अन्तर्यामी ईश्वरकी शरणमें जानेकी बात कहनी पड़ी।]

'तमेव शरणं गच्छ'—भगवान् कहते हैं कि जो सर्वव्यापक ईश्वर सबके हृदयमें विराजमान है और सबका संचालक है, तू उसीकी शरणमें चला जा। तात्पर्य है कि सांसारिक उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि किसीका किंचिन्मात्र भी आश्रय न लेकर केवल अविनाशी परमात्माका ही आश्रय ले ले।

पूर्वश्लोकमें यह कहा गया कि मनुष्य जबतक शरीररूपी यन्त्रके साथ मैं-मेरापनका सम्बन्ध रखता है तबतक ईश्वर अपनी मायासे उसको घुमाता रहता है। अब यहाँ **'एव'** पदसे उसका निषेध करते हुए भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि शरीररूपी यन्त्रके साथ किंचिन्मात्र भी मैं-मेरापनका सम्बन्ध न रखकर तू केवल उस ईश्वरकी शरणमें चला जा।

'सर्वभावेन'—सर्वभावसे शरणमें जानेका तात्पर्य यह हुआ कि मनसे उसी परमात्माका चिन्तन हो, शारीरिक क्रियाओंसे उसीका पूजन हो, उसीका प्रेमपूर्वक भजन हो और उसके प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्नता हो। वह विधान चाहे शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिके अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो, उसे भगवान्का ही किया हुआ मानकर खूब प्रसन्न हो जाय कि अहो! भगवान्की मेरेपर कितनी कृपा है कि मेरेसे बिना पूछे ही, मेरे मन, बुद्धि आदिके विपरीत जानते हुए भी केवल मेरे हितकी भावनासे, मेरा परम कल्याण करनेके लिये उन्होंने ऐसा विधान किया है!

'तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'—भगवान्ने पहले यह कह दिया था कि मेरी कृपासे शाश्वत पदकी प्राप्ति हो जाती है (छप्पनवाँ श्लोक) और मेरी कृपासे तू सम्पूर्ण विघ्नोंसे तर जायगा (अट्ठावनवाँ श्लोक)। वही बात यहाँ कहते हैं कि उस अन्तर्यामी परमात्माकी कृपासे तू परमशान्ति और शाश्वत स्थान-(पद-)को प्राप्त कर लेगा।

गीतामें अविनाशी परमपदको ही 'परा शान्ति' नामसे कहा गया है। परन्तु यहाँ भगवान्ने 'परा शान्ति' और 'शाश्वत स्थान' (परमपद)—दोनोंका प्रयोग एक साथ किया है। अत: यहाँ 'परा शान्ति' का अर्थ संसारसे सर्वथा उपरति और 'शाश्वत स्थान' का अर्थ परमपद लेना चाहिये।

भगवान्ने **'तमेव शरणं गच्छ'** पदोंसे अर्जुनको सर्वव्यापी ईश्वरकी शरणमें जानेके लिये कहा है। इससे यह शंका हो सकती है कि क्या भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हैं? क्योंकि अगर भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर होते, तो अर्जुनको 'उसीकी शरणमें जा'—ऐसा (परोक्ष रीतिसे) नहीं कहते।

इसका समाधान यह है कि भगवान्ने सर्वव्यापक ईश्वरकी शरणागतिको तो **'गुह्याद्गुह्यतरम्'** (१८। ६३) अर्थात् गुह्यसे गुह्यतर कहा है, पर अपनी शरणागतिको **'सर्वगुह्यतमम्'** (१८। ६४) अर्थात् सबसे गुह्यतम कहा है। इससे सर्वव्यापक ईश्वरकी अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण बड़े ही सिद्ध हुए।

भगवान्ने पहले कहा है कि मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको

* **'अतिपरिचयादवज्ञा' अर्थात् जहाँ किसीसे अति परिचय होता है, वहाँ उसकी अवज्ञा होती है।**

अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ (चौथे अध्यायका छठा श्लोक); मैं सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता हूँ, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर हूँ और सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् हूँ—ऐसा मुझे माननेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है (पाँचवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक); परन्तु जो मुझे सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और सबका मालिक नहीं मानते, उनका पतन होता है (नवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे भी भगवान् श्रीकृष्णका ईश्वरत्व सिद्ध हो जाता है।

इस अध्यायमें **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८। ६१) पदोंसे अन्तर्यामी ईश्वरको सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित बताया है और पंद्रहवें अध्यायमें **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (१५। १५) पदोंसे अपनेको सबके हृदयमें स्थित बताया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अन्तर्यामी परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण दो नहीं हैं, एक ही हैं।

जब अन्तर्यामी परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं, तो फिर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको **'तमेव शरणं गच्छ'** क्यों कहा? इसका कारण यह है कि पहले छप्पनवें श्लोकमें भगवान्ने अपनी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदकी प्राप्ति होनेकी बात कही और सत्तावनवें-अट्ठावनवें श्लोकोंमें अर्जुनको अपने परायण होनेकी आज्ञा देकर 'मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा'—यह बात कही। परन्तु अर्जुन कुछ बोले नहीं अर्थात् उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। इसपर भगवान्ने अर्जुनको धमकाया कि यदि अहंकारके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। उनसठवें और साठवें श्लोकमें कहा कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—इस प्रकार अहंकारका आश्रय लेकर किया हुआ तेरा निश्चय भी नहीं टिकेगा और तुझे स्वभावज कर्मोंके परवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा। भगवान्के इतना कहनेपर भी अर्जुन कुछ बोले नहीं। अतः अन्तमें भगवान्को यह कहना पड़ा कि यदि तू मेरी शरणमें नहीं आना चाहता तो सबके हृदयमें स्थित जो अन्तर्यामी परमात्मा हैं, उसीकी शरणमें तू चला जा।

वास्तवमें अन्तर्यामी ईश्वर और भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं अर्थात् सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान ईश्वर ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान ईश्वर हैं।

परिशिष्ट भाव—जीव ईश्वरका ही अंश है, इसलिये भगवान् ईश्वरकी ही शरणमें जानेके लिये कहते हैं। ईश्वरके शरण होनेसे अहंकार नहीं रहता। जबतक जीव ईश्वरके वश (शरण)-में नहीं होता, तभीतक वह प्रकृतिके वशमें रहता है। वह जितना-जितना जड़ताकी ओर जाता है, उतनी-उतनी आसुरी-सम्पत्ति आती है और जितना-जितना चिन्मयताकी ओर जाता है, उतनी-उतनी दैवी-सम्पत्ति आती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि तू उस अन्तर्यामी ईश्वरकी शरणमें चला जा। ऐसा कहनेपर भी अर्जुन कुछ नहीं बोले। इसलिये भगवान् आगेके श्लोकमें अर्जुनको चेतानेके लिये उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

इति = यह
गुह्यात् = गुह्यसे भी
गुह्यतरम् = गुह्यतर
ज्ञानम् = (शरणागतिरूप) ज्ञान
मया = मैंने
ते = तुझे
आख्यातम् = कह दिया।
एतत् = (अब तू) इसपर
अशेषेण = अच्छी तरहसे
विमृश्य = विचार करके
यथा = जैसा
इच्छसि = चाहता है,
तथा = वैसा
कुरु = कर।

व्याख्या—**'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया'**—पूर्वश्लोकमें सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्माकी जो शरणागति बतायी गयी है, उसीका लक्ष्य यहाँ **'इति'** पदसे कराया गया है। भगवान् कहते हैं कि यह गुह्यसे भी गुह्यतर शरणागतिरूप ज्ञान मैंने तेरे लिये कह दिया है। कर्मयोग 'गुह्य' है और अन्तर्यामी निराकार परमात्माकी

शरणागति 'गुह्यतर' है[१]।

'विमृश्यैतदशेषेण'—गुह्य-से-गुह्यतर शरणागतिरूप ज्ञान बताकर भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मैंने पहले जो भक्तिकी बातें कही हैं, उनपर तुम अच्छी तरहसे विचार कर लेना। भगवान्ने इसी अध्यायके सत्तावनवें-अट्ठावनवें श्लोकोंमें अपनी भक्ति-(शरणागति-) की जो बातें कही हैं, उन्हें **'एतत्'** पदसे लेना चाहिये। गीतामें जहाँ-जहाँ भक्तिकी बातें आयी हैं, उन्हें **'अशेषेण'** पदसे लेना चाहिये[२]।

'विमृश्यैतदशेषेण' कहनेमें भगवान्की अत्यधिक कृपालुताकी एक गूढ़ाभिसन्धि है कि कहीं अर्जुन मेरेसे विमुख न हो जाय, इसलिये यदि यह मेरी कही हुई बातोंकी तरफ विशेषतासे खयाल करेगा तो असली बात अवश्य ही इसकी समझमें आ जायगी और फिर यह मेरेसे विमुख नहीं होगा।

'यथेच्छसि तथा कुरु'—पहले कही सब बातोंपर पूरा-पूरा विचार करके फिर तेरी जैसी मरजी आये, वैसा कर। तू जैसा करना चाहता है, वैसा कर—ऐसा कहनेमें भी भगवान्की आत्मीयता, कृपालुता और हितैषिता ही प्रत्यक्ष दीख रही है।

पहले **'वक्ष्याम्यशेषतः'** (७। २), **'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे'** (९। १); **'वक्ष्यामि हितकाम्यया'** (१०। १) आदि श्लोकोंमें भगवान् अर्जुनके हितकी बात कहते आये हैं, पर इन वाक्योंमें भगवान्की अर्जुनपर 'सामान्य कृपा' है।

'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' (१८। ५८)—इस श्लोकमें

१-योगयुक्त बुद्धिवाले कर्मफलका त्याग करके अनामय पदको प्राप्त हो जाते हैं (दूसरे अध्यायका इक्यावनवाँ श्लोक); जो प्राप्ति ज्ञानयोगसे होती है, वह प्राप्ति कर्मयोगसे हो जाती है (चौथे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक); योगयुक्त मुनि बहुत जल्दी परमात्माको प्राप्त हो जाता है (पाँचवें अध्यायका छठा श्लोक); कर्मफलका त्याग करनेपर सदा रहनेवाली शान्ति प्राप्त होती है (पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक) आदि श्लोकोंसे कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन सिद्ध होता है। ऐसे कर्मयोगको 'गुह्य' कहते हैं।

जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करके निराकार परमात्माके शरण हो जाना—यह कर्मयोगसे भी अधिक महत्त्वका है, इसलिये इसे 'गुह्यतर' कहते हैं।

सूर्यको मैंने ही उपदेश दिया था, वही मैं तेरेको कह रहा हूँ (चौथे अध्यायका तीसरा श्लोक); सम्पूर्ण जगत् मेरेसे ही व्याप्त है (नवें अध्यायका चौथा श्लोक); क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' मैं ही हूँ (पन्द्रहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक) आदि बातोंमें भगवान्ने अपनी भगवत्ता प्रकट की है, इसलिये ये बातें 'गुह्यतम' हैं।

तू केवल मेरी ही शरणमें आ जा, फिर तेरेको किंचिन्मात्र भी करना नहीं है, मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक-चिन्ता मत कर (अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक)—इस प्रकार अपनी शरणागतिकी बात कहना 'सर्वगुह्यतम' है।

जिसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सब साधनोंका वर्णन होता है, उस योगशास्त्रको 'परमगुह्य' कहा गया है (अठारहवें अध्यायका अड़सठवाँ और पचहत्तरवाँ श्लोक)।

२-गीतामें भक्तिकी बातें इन श्लोकोंमें आयी हैं—सम्पूर्ण योगियोंमें भक्तियोगी श्रेष्ठ है (छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक); मेरी शरण लेनेवाले मायाको तर जाते हैं (सातवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मेरी (भगवान्की) शरण लेनेवाले महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); अनन्य भक्तिसे मैं सुलभ हूँ (आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); अनन्यभक्तिसे परम पुरुषकी प्राप्ति होती है (आठवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक); दैवी-सम्पत्तिके आश्रित महात्मालोग अनन्यमनसे मेरा भजन करते हैं (नवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक); दृढ़ निश्चयवाले भक्त निरन्तर कीर्तन करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुए भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं (नवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); अनन्यभक्तका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक); भक्तद्वारा प्रेमपूर्वक अर्पित पत्र, पुष्प, फल आदिको मैं खाता हूँ (नवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक); तू जो करता है, हवन करता है, दान देता है और तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर (नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक); सब कर्म मेरे अर्पण कर दे तो तू शुभाशुभ फलरूप बन्धनसे मुक्त हो जायगा (नवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक); मेरेमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो और मेरेको नमस्कार कर (नवें अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक); सब प्रकारसे मेरेमें लगे हुए भक्तोंका अज्ञान मैं दूर कर देता हूँ, जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं (दसवें अध्यायका नवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक); अनन्यभक्तिसे ही मैं देखा और जाना जा सकता हूँ तथा मेरेमें प्रवेश किया जा सकता है (ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक); अनन्यभक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है (ग्यारहवें अध्यायका पचपनवाँ श्लोक); मेरा भजन करनेवाला भक्त अति उत्तम योगी है (बारहवें अध्यायका दूसरा श्लोक); जो सब कर्मोंको मेरे अर्पण करके मेरे परायण हो गये हैं, उनका मैं बहुत जल्दी उद्धार करता हूँ (बारहवें अध्यायका छठा-सातवाँ श्लोक); तू मेरेमें ही मन और बुद्धिको अर्पित कर दे तो मेरी प्राप्ति हो जायगी (बारहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक); अव्यभिचारी भक्तियोगसे मनुष्य गुणातीत हो जाता है (चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक); सर्वभावसे मेरा भजन करनेवाला भक्त सर्ववित् है (पन्द्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक), आदि-आदि।

अर्जुनको धमकानेमें भगवान्‌की 'विशेष कृपा' और अपनेपनका भाव टपकता है।

यहाँ **'यथेच्छसि तथा कुरु'** कहकर भगवान् जो अपनेपनका त्याग कर रहे हैं, इसमें तो भगवान्‌की 'अत्यधिक कृपा' और आत्मीयता भरी हुई है। कारण कि भक्त भगवान्‌का धमकाया जाना तो सह सकता है, पर भगवान्‌का त्याग नहीं सह सकता। इसलिये **'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** आदि कहनेपर भी अर्जुनपर इतना असर नहीं पड़ा जितना **'यथेच्छसि तथा कुरु'** कहनेपर पड़ा। इसे सुनकर अर्जुन घबरा गये कि भगवान् तो मेरा त्याग कर रहे हैं! क्योंकि मैंने यह बड़ी भारी गलती की कि भगवान्‌के द्वारा प्यारसे समझाने, अपनेपनसे धमकाने और अन्तर्यामीकी शरणागतिकी बात कहनेपर भी मैं कुछ बोला नहीं, जिससे भगवान्‌को 'जैसी मरजी आये, वैसा कर'—यह कहना पड़ा। अब तो मैं कुछ भी कहनेके लायक नहीं हूँ!—ऐसा सोचकर अर्जुन बड़े दुःखी हो जाते हैं, तब भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही सर्वगुह्यतम वचनोंको कहते हैं, जिसका वर्णन आगेके श्लोकमें है।

परिशिष्ट भाव—'यथेच्छसि तथा कुरु'—यह भगवान् त्याग करनेके लिये नहीं कहते हैं, प्रत्युत अपनी तरफ विशेषतासे खींचनेके लिये कहते हैं; जैसे—गेंद फेंकते हैं विशेषतासे पीछे लेनेके लिये, न कि त्याग करनेके लिये। तात्पर्य है कि पूर्वश्लोकमें अन्तर्यामी निराकार ईश्वरकी शरणागतिकी बात कहकर अब भगवान् अर्जुनको अपनी तरफ अर्थात् सगुण-साकारकी तरफ खींचना चाहते हैं, जिससे अर्जुन समग्रकी प्राप्तिसे रीता न रह जाय। निराकारमें साकार नहीं आता, पर साकारमें निराकार भी आ जाता है।

---

*सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने **'विमृश्यैतदशेषेण'** पदसे अर्जुनको कहा कि मेरे इस पूरे उपदेशका सार निकाल लेना। परन्तु भगवान्‌के सम्पूर्ण उपदेशका सार निकाल लेना अर्जुनके वशकी बात नहीं थी; क्योंकि अपने उपदेशका सार निकालना जितना वक्ता जानता है, उतना श्रोता नहीं जानता। दूसरी बात, 'जैसी मरजी आये, वैसा कर'—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे अपने त्यागकी बात सुनकर अर्जुन बहुत डर गये, इसलिये आगेके दो श्लोकोंमें भगवान् अपने प्रिय सखा अर्जुनको आश्वासन देते हैं।*

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

सर्वगुह्यतमम्	= सबसे अत्यन्त गोपनीय	**शृणु**	= सुन। (तू)	**इति**	= यह (विशेष)
परमम्	= सर्वोत्कृष्ट	**मे**	= मेरा	**हितम्**	= हितकी बात (मैं)
वचः	= वचन (तू)	**दृढम्**	= अत्यन्त	**ते**	= तुझे
भूयः	= फिर	**इष्टः**	= प्रिय मित्र	**वक्ष्यामि**	= कहूँगा।
मे	= मुझसे	**असि**	= है,		
		ततः	= इसलिये		

व्याख्या—**'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'**—पहले तिरसठवें श्लोकमें भगवान्‌ने गुह्य (कर्मयोगकी) और गुह्यतर (अन्तर्यामी निराकारकी शरणागतिकी) बात कही और **'इदं तु ते गुह्यतमम्'** (९। १) तथा **'इति गुह्यतमं शास्त्रम्'** (१५। २०)—इन पदोंसे गुह्यतम (अपने प्रभावकी) बात कह दी, पर सर्वगुह्यतम बात गीतामें पहले कहीं नहीं कही। अब यहाँ अर्जुनकी घबराहटको देखकर भगवान् कहते हैं कि मैं सर्वगुह्यतम अर्थात् सबसे अत्यन्त गोपनीय बात फिर कहूँगा, तू मेरे परम, सर्वश्रेष्ठ वचनोंको सुन।

इस श्लोकमें **'सर्वगुह्यतमम्'** पदसे भगवान्‌ने बताया कि यह हरेकके सामने प्रकट करनेकी बात नहीं है और सड़सठवें श्लोकमें **'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन'** पदसे भगवान्‌ने बताया कि इस बातको असहिष्णु और अभक्तसे कभी मत कहना। इस प्रकार दोनों तरफसे निषेध करके बीचमें (छियासठवें श्लोकमें) **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**—इस सर्वगुह्यतम बातको रखा है। दोनों तरफसे निषेध करनेका तात्पर्य है कि यह गीताभरमें

अत्यन्त रहस्यमय खास उपदेश है।[1]

दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें **'धर्मसम्मूढचेताः'** कहकर अर्जुन अपनेको धर्मका निर्णय करनेमें अयोग्य समझते हुए भगवान्‌से पूछते हैं, उनके शिष्य बनते हैं और शिक्षा देनेके लिये कहते हैं। अतः भगवान् यहाँ (छाछठवें श्लोकमें) कहते हैं कि तू धर्मके निर्णयका भार अपने ऊपर मत ले, वह भार मेरेपर छोड़ दे—मेरे ही अर्पण कर दे और अनन्यभावसे केवल मेरी शरणमें आ जा। फिर तेरेको जो पाप आदिका डर है, उन सब पापोंसे मैं तुझे मुक्त कर दूँगा। तू सब चिन्ताओंको छोड़ दे। यही भगवान्‌का 'सर्वगुह्यतम परम वचन' है।

'भूयः शृणु' का तात्पर्य है कि मैंने यही बात दूसरे शब्दोंमें पहले भी कही थी, पर तुमने ध्यान नहीं दिया। अतः मैं फिर वही बात कहता हूँ। अब इस बातपर तुम विशेषरूपसे ध्यान दो।

यह सर्वगुह्यतमवाली बात भगवान्‌ने पहले **'मत्परः''''' मच्चित्तः सततं भव'** (१८।५७) और **'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'** (१८।५८) पदोंसे कह दी थी; परन्तु **'सर्वगुह्यतमम्'** पद पहले नहीं कहा, और अर्जुनका भी उस बातपर लक्ष्य नहीं गया। इसलिये अब फिर उस बातपर अर्जुनका लक्ष्य करानेके लिये और उस बातका महत्त्व बतानेके लिये भगवान् यहाँ **'सर्वगुह्यतमम्'** पद देते हैं।

'इष्टोऽसि मे दृढमिति'—इससे पहले भगवान्‌ने कहा था कि जैसी मरजी आये, वैसा कर। जो अनुयायी है, आज्ञा-पालक है, शरणागत है, उसके लिये ऐसी बात कहनेके समान दूसरा क्या दण्ड दिया जा सकता है! अतः इस बातको सुनकर अर्जुनके मनमें भय पैदा हो गया कि भगवान् मेरा त्याग कर रहे हैं। उस भयको दूर करनेके लिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्यारे मित्र हो[2]। यदि अर्जुनके मनमें भय या संदेह न होता, तो भगवान्‌को 'तुम मेरे अत्यन्त प्यारे मित्र हो'—यह कहकर सफाई देनेकी क्या जरूरत थी? सफाई देना तभी बनता है, जब दूसरेके मनमें भय हो, सन्देह हो, हलचल हो।

'इष्टः' कहनेका दूसरा भाव यह है कि भगवान् अपने शरणागत भक्तको अपना इष्टदेव मान लेते हैं। भक्त सब कुछ छोड़कर केवल भगवान्‌को अपना इष्ट मानता है, तो भगवान् भी उसको अपना इष्ट मान लेते हैं; क्योंकि भक्तिके विषयमें भगवान्‌का यह कानून है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११) अर्थात् जो भक्त जैसे मेरे शरण होते हैं, मैं भी उनको वैसे ही आश्रय देता हूँ। भगवान्‌की दृष्टिमें भक्तके समान और कोई श्रेष्ठ नहीं है। भागवतमें भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—'तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त मुझे जितने प्यारे हैं, उतने प्यारे न ब्रह्माजी हैं, न शंकरजी हैं, न बलरामजी हैं; और तो क्या, मेरे शरीरमें निवास करनेवाली लक्ष्मीजी और मेरी आत्मा भी उतनी प्यारी नहीं है[3]।'

'दृढम्' कहनेका तात्पर्य है कि जब तुमने एक बार कह दिया कि 'मैं आपके शरण हूँ' (दूसरे अध्यायका सातवाँ श्लोक) तो अब तुम्हें बिलकुल भी भय नहीं करना चाहिये। कारण कि जो मेरी शरणमें आकर एक बार भी सच्चे हृदयसे कह देता है कि 'मैं आपका ही हूँ' उसको मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय (सुरक्षित) कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है[4]।

१-दसवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने 'भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः' कहा और यहाँ 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः' कहा। इन दोनोंमें केवल 'एव महाबाहो' की जगह 'सर्वगुह्यतमम्' पद आया है अर्थात् केवल छः अक्षर ही बदले हैं, बाकी दस अक्षर वे-के-वे ही हैं। वहाँ 'भूय एव महाबाहो' कहकर 'मच्चित्ताः' (१०।९) कहते हैं और यहाँ 'मच्चित्तः' (१८।५७-५८) कहकर 'सर्वगुह्यतमं भूयः' कहते हैं। परन्तु 'मच्चित्ताः' और 'मच्चित्तः' में थोड़ा फरक है। वहाँ 'मच्चित्ताः' में प्रथम पुरुषका प्रयोग करके सामान्य रीतिसे सबके लिये बात कही है, और यहाँ 'मच्चित्तः' में मध्यम पुरुषका प्रयोग करके अर्जुनके लिये विशेष आज्ञा दी है। वहाँ भी 'मेरी कृपासे अज्ञान दूर हो जायगा' ऐसा कहा है और यहाँ भी 'मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंको तर जायगा' ऐसा कहा है।

वहाँ 'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया' (१०।१) कहा है और यहाँ 'ततो वक्ष्यामि ते हितम्' कहा है। वहाँ 'मन्मना भव''''''' (९।३४) कहकर अव्यवहितरूपसे (लगातार, पासमें ही) 'भूय एव महाबाहो''''''' कहा है, और यहाँ 'सर्वगुह्यतमं भूयः''''''' कहकर अव्यवहितरूपसे 'मन्मना भव''''''' (१८।६५) कहा है।

जैसे 'सर्वगुह्यतमम्' पद गीतामें एक ही बार आया है, ऐसे ही 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—ऐसा वाक्य भी एक ही बार आया है।

२-सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥ (मानस १।८९।२)

३-न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥ (श्रीमद्भा० ११।१४।१५)

४-सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ (वाल्मीकि० ६।१८।३३)

'**ततो वक्ष्यामि ते हितम्**'—तू मेरा अत्यन्त प्यारा मित्र है, इसलिये अपने हृदयकी अत्यन्त गोपनीय और अपने दरबारकी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ बात तुझे कहूँगा। दूसरी बात, मैं जो आगे शरणागतिकी बात कहूँगा, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि मेरी शरणमें आनेसे मुझे कोई लाभ हो जायगा, प्रत्युत इसमें केवल तेरा ही हित होगा। इससे सिद्ध होता है कि प्राणिमात्रका हित केवल इसी बातमें है कि वह किसी दूसरेका सहारा न लेकर केवल भगवान्की ही शरण ले।

भगवान्की शरण होनेके सिवाय जीवका कहीं भी, किंचिन्मात्र भी हित नहीं है। कारण यह है कि जीव साक्षात् परमात्माका अंश है। इसलिये वह परमात्माको छोड़कर किसीका भी सहारा लेगा तो वह सहारा टिकेगा नहीं। जब संसारकी कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदि स्थिर नहीं है, तो फिर उनका सहारा कैसे स्थिर रह सकता है? उनका सहारा तो रहेगा नहीं, पर चिन्ता, शोक, दुःख आदि रह जायँगे! जैसे, अग्निसे अंगार दूर हो जाता है तो वह काला कोयला बन जाता है—'**कोयला होय नहीं उजला, सौ मन साबुन लगाय।**' पर वही कोयला जब पुनः अग्निसे मिल जाता है, तब वह अंगार (अग्निरूप) बन जाता है और चमक उठता है। ऐसे ही यह जीव भगवान्से विमुख हो जाता है तो बार-बार जन्मता-मरता और दुःख पाता रहता है, पर जब यह भगवान्के सम्मुख हो जाता है अर्थात् अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें हो जाता है, तब यह भगवत्स्वरूप बन जाता है और चमक उठता है, तथा संसारमात्रका कल्याण करनेवाला हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—'तमेव शरणं गच्छ' (१८। ६२)—इसमें निराकारकी शरणागति है और '**मामेकं शरणं व्रज**' (१८।६६)—इसमें साकारकी शरणागति है। निराकारकी शरणमें जानेसे मुक्ति हो जायगी; परन्तु साकारकी शरणमें जानेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये साकारकी शरणागति 'सर्वगुह्यतम' है। भगवान् भक्तिके प्रसंगमें ही 'परम वचन' कहते हैं। दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्ने कहा है—'**शृणु मे परमं वचः**'।

अर्जुनने भगवान्से कहा था कि मैं आपका शिष्य हूँ—'**शिष्यस्तेऽहम्**' (२। ७), पर भगवान् कहते हैं कि तू मेरा इष्ट मित्र है—'**इष्टोऽसि**'! तात्पर्य है कि गुरु तो चेला बनाता है, पर भगवान् चेला न बनाकर अपना मित्र बनाते हैं!

भगवान्की तो हरेक बात ही हित करनेवाली है, पर उसमें भी विशेष हितकी बात होनेसे भगवान् '**ततो वक्ष्यामि ते हितम्**' कहते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

मद्भक्तः	=(तू) मेरा भक्त	**नमस्कुरु**	=नमस्कार कर। (ऐसा करनेसे तू)	**सत्यम्**	=सत्य
भव	=हो जा,			**प्रतिजाने**	=प्रतिज्ञा करता हूँ; (क्योंकि तू)
मन्मनाः	=मुझमें मनवाला (हो जा),	**माम्**	=मुझे		
		एव	=ही	**मे**	=मेरा
मद्याजी	=मेरा पूजन करनेवाला (हो जा और)	**एष्यसि**	=प्राप्त हो जायगा (—यह मैं)	**प्रियः**	=अत्यन्त प्रिय
माम्	=मुझे	**ते**	=तेरे सामने	**असि**	=है।

व्याख्या—'**मद्भक्तः**'—साधकको सबसे पहले 'मैं भगवान्का हूँ' इस प्रकार अपनी अहंता-(मैं-पन-) को बदल देना चाहिये। कारण कि बिना अहंताके बदले साधन सुगमतासे नहीं होता। अहंताके बदलनेपर साधन सुगमतासे, स्वाभाविक ही होने लगता है। अतः साधकको सबसे पहले '**मद्भक्तः**' होना चाहिये।

किसीका शिष्य बननेपर व्यक्ति अपनी अहंताको बदल देता है कि 'मैं तो गुरु महाराजका ही हूँ।' विवाह हो जानेपर कन्या अपनी अहंताको बदल देती है कि 'मैं तो ससुरालकी ही हूँ', और पिताके कुलका सम्बन्ध बिलकुल छूट जाता है।

ऐसे ही साधकको अपनी अहंता बदल देनी चाहिये कि 'मैं तो भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं; मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है'। [अहंताके बदलनेपर ममता भी अपने-आप बदल जाती है।]

'मन्मना भव'—उपर्युक्त प्रकारसे अपनेको भगवान्‌का मान लेनेपर भगवान्‌में स्वाभाविक ही मन लगने लगता है। कारण कि जो अपना होता है, वह स्वाभाविक ही प्रिय लगता है और जहाँ प्रियता होती है, वहाँ स्वाभाविक ही मन लगता है। अतः भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्रिय लगते हैं। फिर मनसे स्वाभाविक ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला आदिका चिन्तन होता है। भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान बड़ी तत्परतासे और लगनपूर्वक होता है।

'मद्याजी'—अहंता बदल जानेपर अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का मान लेनेपर संसारका सब काम भगवान्‌की सेवाके रूपमें बदल जाता है अर्थात् साधक पहले जो संसारका काम करता था, वही काम अब भगवान्‌का काम हो जाता है। भगवान्‌का सम्बन्ध ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका सेवाभाव पूजाभावमें परिणत होता जाता है। फिर वह चाहे संसारका काम करे, चाहे घरका काम करे, चाहे शरीरका काम करे, चाहे ऊँचा-नीचा कोई भी काम करे, उसमें भगवान्‌की पूजाका ही भाव बना रहता है। उसकी यह दृढ़ धारणा हो जाती है कि भगवान्‌की पूजाके सिवाय मेरा कुछ भी काम नहीं है।

'मां नमस्कुरु'—भगवान्‌के चरणोंमें साष्टांग प्रणाम करके सर्वथा भगवान्‌के समर्पित हो जाय। मैं प्रभुके चरणोंमें ही पड़ा हुआ हूँ—ऐसा मनमें भाव रखते हुए जो कुछ अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति सामने आ जाय, उसमें भगवान्‌का मंगलमय विधान मानकर परम प्रसन्न रहे।

भगवान्‌के द्वारा मेरे लिये जो कुछ भी विधान होगा, वह मंगलमय ही होगा। पूरी परिस्थिति मेरी समझमें आये या न आये—यह बात दूसरी है, पर भगवान्‌का विधान तो मेरे लिये कल्याणकारी ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः जो कुछ होता है, वह मेरे कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के द्वारा कृपा करके केवल मेरे हितके लिये भेजा हुआ विधान है। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् होनेसे जो कुछ विधान करते हैं, वह जीवोंके कल्याणके लिये ही करते हैं। इसलिये भगवान् अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भेजकर प्राणियोंके पुण्य-पापोंका नाश करके, उन्हें परम शुद्ध बनाकर अपने चरणोंमें खींच रहे हैं—इस प्रकार दृढ़तासे भाव होना ही भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार करना है।

'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे'—भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मेरा भक्त होनेसे, मेरेमें मनवाला होनेसे, मेरा पूजन करनेवाला होनेसे और मुझे नमस्कार करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा अर्थात् मेरेमें ही निवास करेगा*—ऐसी मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा प्यारा है।

'प्रियोऽसि मे' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का जीवमात्रपर अत्यधिक स्नेह है। अपना ही अंश होनेसे कोई भी जीव भगवान्‌को अप्रिय नहीं है। भगवान् जीवोंको चाहे चौरासी लाख योनियोंमें भेजें, चाहे नरकोंमें भेजें, उनका उद्देश्य जीवोंको पवित्र करनेका ही होता है। जीवोंके प्रति भगवान्‌का जो यह कृपापूर्ण विधान है, यह भगवान्‌के प्यारका ही द्योतक है। इसी बातको प्रकट करनेके लिये भगवान् अर्जुनको जीवमात्रका प्रतिनिधि बनाकर **'प्रियोऽसि मे'** वचन कहते हैं।

जीवमात्र भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। केवल जीव ही भगवान्‌से विमुख होकर प्रतिक्षण वियुक्त होनेवाले संसार-(धन-सम्पत्ति, कुटुम्बी, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि-) को अपना मानने लगता है, जबकि संसारने कभी जीवको अपना नहीं माना है। जीव ही अपनी तरफसे संसारसे सम्बन्ध जोड़ता है। संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और जीव नित्य अपरिवर्तनशील है। जीवसे यही गलती होती है कि वह प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारके सम्बन्धको नित्य मान लेता है। यही कारण है कि सम्बन्धीके न रहनेपर भी उससे माना हुआ सम्बन्ध रहता है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही अनर्थका हेतु है। इस सम्बन्धको मानने अथवा न माननेमें सभी स्वतन्त्र हैं। अतः इस माने हुए सम्बन्धका त्याग करके, जिनसे हमारा वास्तविक और नित्य-सम्बन्ध है, उन भगवान्‌की शरणमें चले जाना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्‌को प्राप्त ही हैं; अतः यहाँ **'मामेवैष्यसि'** कहनेका तात्पर्य है कि तेरेको समग्र (**'माम्'**)-की प्राप्ति हो जायगी, जिसके लिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें कहा था—**'असंशयं समग्रं मां**

*** भगवान्‌का भक्त होना, उनमें मन लगाना, उनका पूजन करना और उन्हें नमस्कार करना—इन चारोंमें एक भी साधन ठीक तरहसे होनेपर शेष तीनों साधन उसमें स्वतः आ जाते हैं।**

यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु'। फिर तेरी मेरेसे आत्मीयता हो जायगी, जिसके लिये भगवान्ने सातवें अध्यायमें कहा था—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (७। १८), **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (७। १७)।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें अर्जुनको आश्वासन देकर अब भगवान् आगेके श्लोकमें अपने उपदेशकी अत्यन्त गोपनीय सार बात बताते हैं।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सर्वधर्मान्	= सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय	**शरणम्**	= शरणमें		पापोंसे
परित्यज्य	= छोड़कर (तू)	**व्रज**	= आ जा।	**मोक्षयिष्यामि**	= मुक्त कर दूँगा,
एकम्	= केवल	**अहम्**	= मैं		
माम्	= मेरी	**त्वा**	= तुझे	**मा, शुचः**	= चिन्ता मत कर।
		सर्वपापेभ्यः	= सम्पूर्ण		

व्याख्या—**'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**—भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय, धर्मके निर्णयका विचार छोड़कर अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना है—इसको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा।

स्वयं भगवान्के शरणागत हो जाना—यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। इसमें शरणागत भक्तको अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता; जैसे—पतिव्रताका अपना कोई काम नहीं रहता। वह अपने शरीरकी सार-सँभाल भी पतिके नाते, पतिके लिये ही करती है। वह घर, कुटुम्ब, वस्तु, पुत्र-पुत्री और अपने कहलानेवाले शरीरको भी अपना नहीं मानती, प्रत्युत पतिदेवका ही मानती है। तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार पतिव्रता पतिके परायण होकर पतिके गोत्रमें ही अपना गोत्र मिला देती है और पतिके ही घरपर रहती है, उसी प्रकार शरणागत भक्त भी शरीरको लेकर माने जानेवाले गोत्र, जाति, नाम आदिको भगवान्के चरणोंमें अर्पण करके निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक हो जाता है।

गीताके अनुसार यहाँ 'धर्म' शब्द कर्तव्य-कर्मका वाचक है। कारण कि इसी अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक 'स्वभावज कर्म' शब्द आये हैं, फिर सैंतालीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'स्वधर्म' शब्द आया है। उसके बाद, सैंतालीसवें श्लोकके ही उत्तरार्धमें तथा (प्रकरणके अन्तमें) अड़तालीसवें श्लोकमें 'कर्म' शब्द आया है। तात्पर्य यह हुआ कि आदि और अन्तमें 'कर्म' शब्द आया है और बीचमें 'स्वधर्म' शब्द आया है तो इससे स्वतः ही 'धर्म' शब्द कर्तव्य-कर्मका वाचक सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि **'सर्वधर्मान्परित्यज्य'** पदसे क्या धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मका स्वरूपसे त्याग माना जाय? इसका उत्तर यह है कि धर्मका स्वरूपसे त्याग करना न तो गीताके अनुसार ठीक है और न यहाँके प्रसंगके अनुसार ही ठीक है; क्योंकि भगवान्की यह बात सुनकर अर्जुनने कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं किया है, प्रत्युत **'करिष्ये वचनं तव'** (१८। ७३) कहकर भगवान्की आज्ञाके अनुसार कर्तव्य-कर्मका पालन करना स्वीकार किया है। केवल स्वीकार ही नहीं किया है, प्रत्युत अपने क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध भी किया है। अतः उपर्युक्त पदमें धर्म अर्थात् कर्तव्यका त्याग करनेकी बात नहीं है। भगवान् भी कर्तव्यके त्यागकी बात कैसे कह सकते हैं! भगवान्ने इसी अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है कि यज्ञ, दान, तप और अपने-अपने वर्ण-आश्रमोंके जो कर्तव्य हैं, उनका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको जरूर करना चाहिये*।

*** तीसरे अध्यायमें तो भगवान्ने कर्तव्य-कर्मको न छोड़नेके लिये प्रकरण-का-प्रकरण ही कहा है—कर्मोंका त्याग करनेसे न तो निष्कर्मताकी प्राप्ति होती है और न सिद्धि ही होती है (चौथा श्लोक); कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (पाँचवाँ श्लोक); जो बाहरसे कर्मोंका त्याग करके भीतरसे विषयोंका चिन्तन करता है,**

गीताका पूरा अध्ययन करनेसे यह मालूम होता है कि मनुष्यको किसी भी हालतमें कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। अर्जुन तो युद्धरूप कर्तव्य-कर्म छोड़कर भिक्षा माँगना श्रेष्ठ समझते थे (दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक); परन्तु भगवान्‌ने इसका निषेध किया (दूसरे अध्यायके इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक)। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ स्वरूपसे धर्मोंका त्याग नहीं है।

अब विचार यह करना है कि यहाँ सम्पूर्ण धर्मोंके त्यागसे क्या लेना चाहिये? गीताके अनुसार सम्पूर्ण धर्मों अर्थात् कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसमें सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग करना और केवल भगवान्‌का आश्रय लेना—दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं। धर्मका आश्रय लेनेवाले बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—**'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते'** (गीता ९। २१)। इसलिये धर्मका आश्रय छोड़कर भगवान्‌का ही आश्रय लेनेपर फिर अपने धर्मका निर्णय करनेकी जरूरत नहीं रहती। आगे अर्जुनके जीवनमें ऐसा हुआ भी है।

अर्जुनका कर्णके साथ युद्ध हो रहा था। इस बीच कर्णके रथका चक्का पृथ्वीमें धँस गया। कर्ण रथसे नीचे उतरकर रथके चक्केको निकालनेका उद्योग करने लगा और अर्जुनसे बोला कि 'जबतक मैं यह चक्का निकाल न लूँ, तबतक तुम ठहर जाओ; क्योंकि तुम रथपर हो और मैं रथसे रहित हूँ और दूसरे कार्यमें लगा हुआ हूँ। ऐसे समय रथीको उचित है कि उसपर बाण न छोड़े। तुम सहस्रार्जुनके समान शस्त्र और शास्त्रके ज्ञाता हो और धर्मको जाननेवाले हो, इसलिये मेरे ऊपर प्रहार करना उचित नहीं है।' कर्णकी बात सुनकर अर्जुनने बाण नहीं चलाया। तब भगवान्‌ने कर्णसे कहा कि 'तुम्हारे-जैसे आततायीको किसी तरहसे मार देना धर्म ही है, पाप नहीं* और अभी-अभी तुम छः महारथियोंने मिलकर अकेले अभिमन्युको घेरकर उसे मार डाला। अतः धर्मकी दुहाई देनेसे कोई लाभ नहीं है। हाँ, यह सौभाग्यकी बात है कि इस समय तुम्हें धर्मकी बात याद आ रही है, पर जो स्वयं धर्मका पालन नहीं करता, उसे धर्मकी दुहाई देनेका कोई अधिकार नहीं है।' ऐसा कहकर भगवान्‌ने अर्जुनको बाण चलानेकी आज्ञा दी तो अर्जुनने बाण चलाना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार यदि अर्जुन अपनी बुद्धिसे धर्मका निर्णय करते तो भूल कर बैठते; अतः उन्होंने धर्मका निर्णय भगवान्‌पर ही रखा और भगवान्‌ने धर्मका निर्णय किया भी।

अर्जुनके मनमें सन्देह था कि हमलोगोंके लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा युद्ध न करना श्रेष्ठ है (दूसरे अध्यायका छठा श्लोक)। यदि हम युद्ध करते हैं तो अपने कुटुम्बका नाश होता है और अपने कुटुम्बका नाश करना बड़ा भारी पाप है। इससे तो अनर्थ-परम्परा ही बढ़ेगी (पहले अध्यायके चालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक)।

वह मिथ्याचारी है (छठाँ श्लोक); जो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके कर्तव्य-कर्म करता है, वही श्रेष्ठ है (सातवाँ श्लोक); कर्म किये बिना शरीरका निर्वाह भी नहीं होता, इसलिये कर्म करना चाहिये (आठवाँ श्लोक); बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है; क्योंकि केवल कर्तव्य-पालनके लिये कर्म करना बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत कर्तव्य-कर्मकी परम्परा सुरक्षित रखनेके सिवाय अपने लिये कुछ भी कर्म करना ही बन्धनकारक है (नवाँ श्लोक); ब्रह्माजीने कर्तव्यसहित प्रजाकी रचना करके कहा कि इस कर्तव्य-कर्मसे ही तुमलोगोंकी वृद्धि होगी और यही कर्तव्य-कर्म तुमलोगोंको कर्तव्य-सामग्री देनेवाला होगा (दसवाँ श्लोक); मनुष्य और देवता दोनों ही कर्तव्यका पालन करते हुए कल्याणको प्राप्त होंगे (ग्यारहवाँ श्लोक); जो कर्तव्यका पालन किये बिना प्राप्त सामग्रीका उपभोग करता है, वह चोर है (बारहवाँ श्लोक); कर्तव्य-कर्म करके अपना निर्वाह करनेवाला सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है और जो केवल अपने लिये ही कर्म करता है, वह पापी पापका ही भक्षण करता है। (तेरहवाँ श्लोक); कर्तव्य-पालनसे ही सृष्टिचक्र चलता है; परन्तु जो सृष्टिमें रहकर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसका जीना व्यर्थ है (सोलहवाँ श्लोक); आसक्तिसे रहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है (उन्नीसवाँ श्लोक); जनकादि ज्ञानिजन भी कर्तव्य-कर्म करनेसे सिद्धिको प्राप्त हुए हैं; लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी कर्तव्य-कर्म करना चाहिये (बीसवाँ श्लोक); भगवान् अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि अगर मैं सावधान रहकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो मैं वर्ण-संकरताका उत्पादक और लोकोंका नाश करनेवाला बनूँ (तेईसवेंसे चौबीसवें श्लोकतक); ज्ञानी पुरुषको भी आसक्तिरहित होकर आस्तिक अज्ञानीकी तरह अपना कर्तव्य-कर्म करना चाहिये (पचीसवाँ श्लोक); ज्ञानीको चाहिये कि वह अज्ञानियोंमें बुद्धिभेद पैदा न करके अपने कर्तव्यका अच्छी तरहसे पालन करते हुए उनसे भी वैसे ही कराये (छब्बीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार तीसरे अध्यायमें भगवान्‌ने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करनेमें बड़ा जोर दिया है।

* आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥ (मनु० ८। ३५०-३५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचार किये ही मार डालना चाहिये। आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता।'

दूसरी तरफ हमलोग देखते हैं तो क्षत्रियके लिये युद्धसे बढ़कर श्रेयका कोई साधन नहीं है। अतः भगवान् कहते हैं कि क्या करना है और क्या नहीं करना है, क्या धर्म है और क्या अधर्म है, इस पचड़ेमें तू क्यों पड़ता है? तू धर्मके निर्णयका भार मेरेपर छोड़ दे। यही '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' का तात्पर्य है।

'**मामेकं शरणं व्रज**'—इन पदोंमें '**एकम्**' पद '**माम्**' का विशेषण नहीं हो सकता; क्योंकि '**माम्**' (भगवान्) एक ही हैं, अनेक नहीं। इसलिये '**एकम्**' पदका अर्थ '**अनन्य**' लेना ही ठीक बैठता है। दूसरी बात, अर्जुनने '**तदेकं वद निश्चित्य**' (३। २) और '**यच्छ्रेय एतयोरेकम्**' (५। १) पदोंमें भी '**एकम्**' पदसे सांख्य और कर्मयोगके विषयमें एक निश्चित श्रेयका साधन पूछा है। उसी '**एकम्**' पदको लेकर भगवान् यहाँ यह बताना चाहते हैं कि सांख्ययोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सम्पूर्ण साधनोंमें मुख्य साधन एक अनन्य शरणागति ही है।

गीतामें अर्जुनने अपने कल्याणके साधनके विषयमें कई तरहके प्रश्न किये और भगवान्ने उनके उत्तर भी दिये। वे सब साधन होते हुए भी गीताके पूर्वापरको देखनेसे यह बात स्पष्ट दीखती है कि सम्पूर्ण साधनोंका सार और शिरोमणि साधन भगवान्के अनन्यशरण होना ही है।

भगवान्ने गीतामें जगह-जगह अनन्यभक्तिकी बहुत महिमा गायी है। जैसे, दुस्तर मायाको सुगमतासे तरनेका उपाय अनन्य शरणागति ही है[1] (सातवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); अनन्यचेताके लिये मैं सुलभ हूँ[2] (आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); परम पुरुषकी प्राप्ति अनन्य भक्तिसे ही होती है (आठवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक); अनन्य भक्तोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक); अनन्य भक्तिसे ही भगवान्को जाना, देखा तथा प्राप्त किया जा सकता है (ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक); अनन्य भक्तोंका मैं बहुत जल्दी उद्धार करता हूँ (बारहवें अध्यायका छठा-सातवाँ श्लोक); गुणातीत होनेका उपाय अनन्यभक्ति ही है (चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार अनन्य भक्तिकी महिमा गाकर भगवान् यहाँ पूरी गीताका सार बताते हैं—'**मामेकं शरणं व्रज।**' तात्पर्य है कि उपाय और उपेय, साधन और साध्य मैं ही हूँ।

'**मामेकं शरणं व्रज**' का तात्पर्य मन-बुद्धिके द्वारा शरणागतिको स्वीकार करना नहीं है, प्रत्युत स्वयंको भगवान्की शरणमें जाना है। कारण कि स्वयंके शरण होनेपर मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि भी उसीमें आ जाते हैं, अलग नहीं रहते।

'**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**'—यहाँ कोई ऐसा मान सकता है कि पहले अध्यायमें अर्जुनने जो युद्धसे पाप होनेकी बातें कही थीं, उन पापोंसे छुटकारा दिलानेका प्रलोभन भगवान्ने दिया है। परन्तु यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब अर्जुन सर्वथा भगवान्के शरण हो गये हैं, तब उनके पाप कैसे रह सकते हैं[3] और उनके लिये प्रलोभन कैसे दिया जा सकता है अर्थात् उनके लिये प्रलोभन देना बनता ही नहीं। हाँ, पापोंसे मुक्त करनेका प्रलोभन देना हो तो वह शरणागत होनेके पहले ही दिया जा सकता है, शरणागत होनेके बाद नहीं।

'मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा'—इसका भाव यह है कि जब तू सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर मेरी शरणमें आ गया और शरण होनेके बाद भी तुम्हारे भावों, वृत्तियों, आचरणों आदिमें फरक नहीं पड़ा अर्थात् उनमें सुधार नहीं हुआ; भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि नहीं हुए और अपनेमें अयोग्यता, अनधिकारिता, निर्बलता आदि मालूम होती है, तो भी उनको लेकर तुम चिन्ता या भय मत करो। कारण कि जब तुम मेरी अनन्य-शरण हो गये तो वह कमी तुम्हारी कमी कैसे रही? उसका सुधार करना तुम्हारा काम कैसे रहा? वह कमी मेरी कमी है। अब उस कमीको दूर करना, उसका सुधार करना मेरा काम रहा। तुम्हारा तो बस, एक ही काम है; वह काम है—निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक होकर मेरे चरणोंमें पड़े रहना[4]! परन्तु अगर तेरेमें भय, चिन्ता, वहम आदि दोष आ जायँगे तो वे शरणागतिमें बाधक हो जायँगे और सब भार तेरेपर आ जायगा। शरण होकर अपनेपर भार लेना शरणागतिमें कलंक है।

१-इस श्लोकमें 'एव' पद 'अनन्यता' का ही वाचक है।

२-इस श्लोकमें 'अनन्यचेताः' पद अनन्य आश्रयका वाचक है।

३-सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ (मानस ५। ४४। १)

४-काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार। 'व्यास' भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥

जैसे, विभीषण भगवान् रामके चरणोंकी शरण हो जाते हैं, तो फिर विभीषणके दोषको भगवान् अपना ही दोष मानते हैं। एक समय विभीषणजी समुद्रके इस पार आये। वहाँ विप्रघोष नामक गाँवमें उनसे एक अज्ञात ब्रह्महत्या हो गयी। इसपर वहाँके ब्राह्मणोंने इकट्ठे होकर विभीषणको खूब मारा-पीटा, पर वे मरे नहीं। फिर ब्राह्मणोंने उन्हें जंजीरोंसे बाँधकर जमीनके भीतर एक गुफामें ले जाकर बंद कर दिया। रामजीको विभीषणके कैद होनेका पता लगा तो वे पुष्पकविमानके द्वारा तत्काल विप्रघोष नामक गाँवमें पहुँच गये और वहाँ विभीषणका पता लगाकर उनके पास गये। ब्राह्मणोंने रामजीका बहुत आदर-सत्कार किया और कहा कि 'महाराज! इसने ब्रह्महत्या कर दी है। इसको हमने बहुत मारा, पर यह मरा नहीं।' भगवान् रामने कहा कि 'हे ब्राह्मणो! विभीषणको मैंने कल्पतककी आयु और राज्य दे रखा है, वह कैसे मारा जा सकता है! और उसको मारनेकी जरूरत ही क्या है? वह तो मेरा भक्त है। भक्तके लिये मैं स्वयं मरनेको तैयार हूँ। दासके अपराधकी जिम्मेवारी वास्तवमें उसके मालिकपर ही होती है अर्थात् मालिक ही उसके दण्डका पात्र होता है। अतः विभीषणके बदलेमें आपलोग मेरेको ही दण्ड दें[1]।' भगवान्की यह शरणागतवत्सलता देखकर सब ब्राह्मण आश्चर्य करने लगे और उन सबने भगवान्की शरण ले ली।

तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस अपनेपनके समान योग्यता, पात्रता, अधिकारिता आदि कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। छोटा-सा बच्चा भी अपनेपनके बलपर ही आधी रातमें सारे घरको नचाता है अर्थात् जब वह रातमें रोता है तो सारे घरवाले उठ जाते हैं और उसे राजी करते हैं। इसलिये शरणागत भक्तको अपनी योग्यता आदिकी तरफ न देखकर भगवान्के साथ अपनेपनकी तरफ ही देखते रहना चाहिये।

'मा शुचः' का तात्पर्य है—

(१) मेरे शरण होकर तू चिन्ता करता है, यह मेरे प्रति अपराध है, तेरा अभिमान है और शरणागतिमें कलंक है।

मेरे शरण होकर भी मेरा पूरा विश्वास, भरोसा न रखना ही मेरे प्रति अपराध है। अपने दोषोंको लेकर चिन्ता करना वास्तवमें अपने बलका अभिमान है; क्योंकि दोषोंको मिटानेमें अपनी सामर्थ्य मालूम देनेसे ही उनको मिटानेकी चिन्ता होती है। हाँ, अगर दोषोंको मिटानेमें चिन्ता न होकर दुःख होता है तो दुःख होना इतना दोषी नहीं है। जैसे, छोटे बालकके पास कुत्ता आता है तो वह कुत्तेको देखकर रोता है, चिन्ता नहीं करता। ऐसे ही दोषोंका न सुहाना दोष नहीं है, प्रत्युत चिन्ता करना दोष है। चिन्ता करनेका अर्थ यही होता है कि भीतरमें अपने छिपे हुए बलका आश्रय है[2] और यही तेरा अभिमान है। मेरा भक्त होकर भी तू चिन्ता करता है तो तेरी चिन्ता दूर कहाँ होगी? लोग भी देखेंगे तो यही कहेंगे कि यह भगवान्का भक्त है और चिन्ता करता है! भगवान् इसकी चिन्ता नहीं मिटाते! तू मेरा विश्वास न करके चिन्ता करता है तो विश्वासकी कमी तो है तेरी और कलंक आता है मेरेपर, मेरी शरणागतिपर। इसको तू छोड़ दे।

(२) तेरे भाव, वृत्तियाँ, आचरण शुद्ध नहीं हुए हैं तो भी तू इनकी चिन्ता मत कर। इनकी चिन्ता मैं करूँगा।

(३) दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्के शरण हो जाते हैं और फिर आठवें श्लोकमें कहते हैं कि इस भूमण्डलका धन-धान्यसे सम्पन्न निष्कण्टक राज्य मिलनेपर अथवा देवताओंका आधिपत्य मिलनेपर भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता। भगवान् मानो कह रहे हैं कि तेरा कहना ठीक ही है; क्योंकि भौतिक नाशवान् पदार्थोंके सम्बन्धसे किसीका शोक कभी दूर हुआ नहीं, हो सकता नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं। परन्तु मेरे शरण होकर जो तू शोक करता है, यह तेरी बड़ी भारी गलती है। तू मेरे शरण होकर भी भार अपने सिरपर ले रहा है।

१-वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्। राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते। रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥

(पद्मपुराण, पाताल० १०४। १५०-१५१)

२-कौरवोंकी सभामें द्रौपदीका चीर खींचा गया तो द्रौपदी अपनी साड़ीको हाथोंसे, दाँतोंसे पकड़ती है और भगवान्को पुकारती है। अपने बलका आश्रय रखते हुए भगवान्को पुकारनेसे भगवान्के आनेमें देरी लगती है। परन्तु जब द्रौपदी अपना उद्योग सर्वथा छोड़कर भगवान्पर ही निर्भर हो जाती है, तब दुःशासन चीरको खींच-खींचकर थक जाता है और चीरोंका ढेर लग जाता है, पर द्रौपदीका कोई भी अंग उघड़ता नहीं।

(४) शरणागत होनेके बाद भक्तको लोक-परलोक, सद्‌गत-दुर्गति आदि किसी भी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इस विषयमें किसी भक्तने कहा है—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ
ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

'हे नरकासुरका अन्त करनेवाले प्रभो! आप मेरेको चाहे स्वर्गमें रखें, चाहे भूमण्डलपर रखें और चाहे यथेच्छ नरकमें रखें अर्थात् आप जहाँ रखना चाहें, वहाँ रखें। जो कुछ करना चाहें, वह करें। इस विषयमें मेरा कुछ भी कहना नहीं है। मेरी तो एक यही माँग है कि शरद्-ऋतुके कमलकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके अति सुन्दर चरणोंका मृत्यु-जैसी भयंकर अवस्थामें भी चिन्तन करता रहूँ; आपके चरणोंको भूलूँ नहीं।'

शरणागति-सम्बन्धी विशेष बात

शरणागत भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस भावको दृढ़तासे पकड़ लेता है, स्वीकार कर लेता है तो उसके भय, शोक, चिन्ता, शंका आदि दोषोंकी जड़ कट जाती अर्थात् दोषोंका आधार मिट जाता है। कारण कि भक्तिकी दृष्टिसे सभी दोष भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके रहते हैं।

भगवान्‌के सम्मुख होनेपर भी संसार और शरीरके आश्रयके संस्कार रहते हैं, जो भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर मिट जाते हैं[१]। उनके मिटनेपर सब दोष भी मिट जाते हैं।

सम्बन्धका दृढ़ होना क्या है? भय, शोक, चिन्ता, शंका, परीक्षा और विपरीत भावनाका न होना ही सम्बन्धका दृढ़ होना है। अब इनपर विचार करें।

(१) **निर्भय होना**—आचरणोंकी कमी होनेसे भीतरसे भय पैदा होता है और साँप, बिच्छू, बाघ आदिसे बाहरसे भय पैदा होता है। शरणागत भक्तके ये दोनों ही प्रकारके भय मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, पतंजलि महाराजने जिस मृत्युके भयको पाँचवाँ क्लेश माना है[२] और जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी होता है[३], वह भय भी सर्वथा मिट जाता है[४]।

अब मेरी वृत्तियाँ खराब हो जायँगी!—ऐसा भयका भाव भी साधकको भीतरसे ही निकाल देना चाहिये; क्योंकि 'मैं भगवान्‌की कृपामें तरान्तर हो गया हूँ, अब मेरेको किसी बातका भय नहीं है। इन वृत्तियोंको मेरी माननेसे ही मैं इनको शुद्ध नहीं कर सका; क्योंकि इनको मेरी मानना ही मलिनता है—**'ममता मल जरि जाइ'** (मानस ७। ११७ क)। अतः अब मैं कभी भी इनको मेरी नहीं मानूँगा। जब वृत्तियाँ मेरी हैं ही नहीं तो मेरेको भय किस बातका? अब तो केवल भगवान्‌की कृपा-ही-कृपा है! भगवान्‌की कृपा ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है! यह बड़ी खुशीकी, बड़ी प्रसन्नताकी बात है!'

कई ऐसी शंका करते हैं कि भगवान्‌के शरण होकर उनका भजन करनेसे तो द्वैत हो जायगा अर्थात् भगवान् और भक्त—ये दो हो जायँगे और दूसरेसे भय होता है—**'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** (बृहदारण्यक० १। ४। २)। पर यह शंका निराधार है। भय द्वितीयसे तो होता है, पर आत्मीयसे भय नहीं होता अर्थात् भय दूसरेसे होता है, अपनेसे नहीं। प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर-संसार द्वितीय है, इसलिये इनसे सम्बन्ध रखनेपर ही भय होता है; क्योंकि इनके साथ सदा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुषका स्वभाव सर्वथा भिन्न-भिन्न है; जैसे एक जड है और एक चेतन, एक विकारी है और एक निर्विकारी, एक परिवर्तनशील है और एक अपरिवर्तनशील, एक प्रकाश्य है और एक प्रकाशक, इत्यादि।

१-भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर जब संसार-शरीरका आश्रय सर्वथा नहीं रहता, तब जीनेकी आशा, मरनेका भय, करनेका राग और पानेका लालच—ये चारों ही नहीं रहते।

२-अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योगदर्शन २। ३)

३-स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। (योगदर्शन २। ९)

४-तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥
(श्रीमद्भा० १०। २। ३३)

'भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकते।'

भगवान् द्वितीय नहीं हैं। वे तो आत्मीय हैं; क्योंकि जीव उनका सनातन अंश है, उनका स्वरूप है। अतः भगवान्‌के शरण होनेपर उनसे भय कैसे हो सकता है? प्रत्युत उनके शरण होनेपर मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो बच्चेको माँसे दूर रहनेपर भय होता है, पर माँकी गोदमें चले जानेपर उसका भय मिट जाता है; क्योंकि माँ उसकी अपनी है। भगवान्‌का भक्त इससे विलक्षण होता है। कारण कि बच्चे और माँमें तो भेदभाव दीखता है, पर भक्त और भगवान्‌में भेदभाव सम्भव ही नहीं है।

(२) **निःशोक होना**—जो बात बीत चुकी है, उसको लेकर शोक होता है। बीती हुई बातको लेकर शोक करना बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जो हुआ है, वह अवश्यम्भावी था और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी हो ही नहीं सकता तथा अभी जो हो रहा है, वह ठीक-ठीक (वास्तविक) होनेवाला ही हो रहा है, फिर उसमें शोक करनेकी कोई बात ही नहीं है[१]। प्रभुके इस मंगलमय विधानको जानकर शरणागत भक्त सदा निःशोक रहता है; शोक उसके पास कभी आता ही नहीं।

(३) **निश्चिन्त होना**—जब भक्त अपनी मानी हुई वस्तुओंसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देता है, तब उसको लौकिक-पारलौकिक किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं होती अर्थात् अभी जीवन-निर्वाह कैसे होगा? कहाँ रहना होगा? मेरी क्या दशा होगी? क्या गति होगी? आदि चिन्ताएँ बिलकुल नहीं रहतीं[२]।

भगवान्‌के शरण होनेपर शरणागत भक्तमें यह एक बात आती है कि 'अगर मेरा जीवन प्रभुके लायक सुन्दर और शुद्ध नहीं बना तो भक्तोंकी बात मेरे आचरणमें कहाँ आयी? अर्थात् नहीं आयी; क्योंकि मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं रहतीं।' वास्तवमें 'मेरी वृत्तियाँ हैं' ऐसा मानना ही दोष है, वृत्तियाँ उतनी दोषी नहीं हैं। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिमें जो मेरापन है—यही गलती है; क्योंकि जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया और जब सब कुछ उनके अर्पण कर दिया, तो फिर मन, बुद्धि आदि मेरे कहाँ रहे? इसलिये शरणागतको मन, बुद्धि आदिकी अशुद्धिकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये अर्थात् मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं हैं—ऐसा भाव कभी नहीं लाना चाहिये। किसी कारणवश अचानक ऐसी वृत्तियाँ आ भी जायँ तो आर्तभावसे 'हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभो! बचाओ! बचाओ!! बचाओ!!!' ऐसे प्रभुको पुकारना चाहिये; क्योंकि वे मेरे स्वामी हैं, मेरे सर्वसमर्थ प्रभु हैं तो अब मैं चिन्ता क्यों करूँ? और भगवान्‌ने भी कह दिया है कि 'तू चिन्ता मत कर' (**मा शुचः**)। अतः निश्चिन्त होकर मनसे भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाय और भगवान्‌से कह दे—'हे नाथ! यह सब आपके हाथकी बात है, आप जानें।'

सर्वसमर्थ प्रभुके शरण भी हो गये और चिन्ता भी करें—ये दोनों बातें बड़ी विरोधी हैं; क्योंकि शरण हो गये तो चिन्ता कैसी? और चिन्ता होती है तो शरणागति कैसी? इसलिये शरणागतको ऐसा सोचना चाहिये कि जब भगवान् यह कहते हैं कि 'मैं सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा', तो क्या ऐसी वृत्तियोंसे छूटनेके लिये मेरेको कुछ करना पड़ेगा? मैं तो बस, आपका हूँ। हे भगवन्! मेरेमें वृत्तियोंको अपना माननेका भाव कभी आये ही नहीं। हे नाथ! शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि—ये कभी मेरे दीखें ही नहीं। परन्तु हे नाथ! सब कुछ आपको देनेपर भी ये शरीर आदि कभी-कभी मेरे दीख जाते हैं; अब इस अपराधसे मेरेको आप ही छुड़ाइये—ऐसा कहकर निश्चिन्त हो जाय।

(४) **निःशंक होना**—भगवान्‌के सम्बन्धमें कभी यह सन्देह न करे कि मैं भगवान्‌का हुआ या नहीं? भगवान्‌ने मुझे स्वीकार किया या नहीं? प्रत्युत इस बातको देखे कि 'मैं तो अनादिकालसे भगवान्‌का ही था, भगवान्‌का ही हूँ और आगे भी सदा भगवान्‌का ही रहूँगा। मैंने ही अपनी मूर्खतासे अपनेको भगवान्‌से अलग—विमुख मान लिया था। परन्तु मैं अपनेको भगवान्‌से कितना ही अलग मान लूँ तो भी उनसे अलग हो सकता ही नहीं और होना सम्भव भी नहीं। अगर मैं भगवान्‌से अलग होना भी चाहूँ, तो भी अलग कैसे हो सकता हूँ?' क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव मेरा ही अंश है—'**मम एव अंशः**' (गीता १५। ७)। इस प्रकार 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस वास्तविकताकी स्मृति आते ही शंकाएँ—सन्देह मिट जाते हैं, शंकाओं—सन्देहोंके लिये किंचिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं रहती।

१-(१) **राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ (मानस १। १२८। १)**
(२) **होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥ (मानस १। ५२। ४)**

२-**चिन्ता दीनदयालको, मो मन सदा अनन्द। जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोविन्द॥**

(५) **परीक्षा न करना—** भगवान्‌के शरण होकर ऐसी परीक्षा न करे कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया हूँ तो मेरेमें ऐसे-ऐसे लक्षण घटने चाहिये। यदि ऐसे-ऐसे लक्षण मेरेमें नहीं हैं तो मैं भगवान्‌के शरण कहाँ हुआ?' प्रत्युत **'अद्वेष्टा'** आदि (गीता—बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक) गुणोंकी अपनेमें कमी दीखे तो आश्चर्य करे कि मेरेमें यह कमी कैसे रह गयी!* ऐसा भाव आते ही यह कमी नहीं रहेगी, मिट जायगी। कारण कि यह उसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पहले अद्वेष्टा आदि गुण जितने कम थे, उतने कम अब नहीं हैं। शरणागत होनेपर भक्तोंके जितने भी लक्षण हैं, वे सब बिना प्रयत्न किये आते हैं।

(६) **विपरीत धारणा न करना—** भगवान्‌के शरणागत भक्तमें यह विपरीत धारणा भी कैसे हो सकती है कि 'मैं भगवान्‌का नहीं हूँ'; क्योंकि यह मेरे मानने अथवा न माननेपर निर्भर नहीं है। भगवान्‌का और मेरा परस्पर जो सम्बन्ध है, वह अटूट है, अखण्ड है, नित्य है। मैंने इस सम्बन्धकी तरफ खयाल नहीं किया, यह मेरी गलती थी। अब वह गलती मिट गयी, तो फिर विपरीत धारणा हो ही कैसे सकती है?

जो मनुष्य सच्चे हृदयसे प्रभुकी शरणागतिको स्वीकार कर लेता है, उसमें भय, शोक, चिन्ता आदि दोष नहीं रहते। उसका शरणभाव स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है; जैसे—विवाह होनेके बाद कन्याका अपने पिताके घरसे सम्बन्ध-विच्छेद और पतिके घरसे सम्बन्ध स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है। वह सम्बन्ध यहाँतक दृढ़ हो जाता है कि जब वह कन्या दादी-परदादी बन जाती है, तब उसको स्वप्नमें भी यह भाव नहीं आता कि मैं यहाँकी नहीं हूँ। उसके मनमें यह भाव दृढ़ हो जाता है कि मैं तो यहाँकी ही हूँ और ये सब मेरे ही हैं। जब उसके पौत्रकी स्त्री आती है और घरमें उद्दण्डता करती है, खटपट मचाती है तो वह (दादी) कहती है कि इस परायी जायी छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया! पर उस बूढ़ी दादीको यह बात याद ही नहीं आती कि मैं भी तो परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जब बनावटी सम्बन्धमें भी इतनी दृढ़ता हो सकती है, तब भगवान्‌के ही अंश इस प्राणीका भगवान्‌के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, वह दृढ़ हो जाय—इसमें आश्चर्य ही क्या है! वास्तवमें भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ताके लिये केवल संसारके माने हुए सम्बन्धोंका त्याग करनेकी ही आवश्यकता है।

सच्चे हृदयसे प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर उस शरणागत भक्तमें यदि किसी भाव, आचरण आदिकी किंचित् कमी रह जाय, कभी विपरीत वृत्ति पैदा हो जाय अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर (परवशतासे) कभी किंचित् कोई दुष्कर्म हो जाय, तो उसके हृदयमें जलन पैदा

---

* इसे समझनेके लिये एक ग्रामीण कहानी है। एक माँके तीन लड़के थे। दो लड़के बड़े थे और काम-धंधा करते थे। तीसरा लड़का सीधा-सादा और भोला था। उनकी माँ मर गयी। दोनों बड़े भाइयोंने छोटे भाईसे कहा कि माँके फूल (अस्थियाँ) गंगाजीमें डाल दे, इतना काम तू कर दे। उसने कहा—'बहुत ठीक है।' वह माँके फूल लेकर अपने घरसे चला। घरसे गंगाजी ३०० कोस दूर थीं। पैदल रास्ता चलते-चलते वह थक गया तो किसीसे पूछा—भैया! गंगाजी कितनी दूर हैं? वह बोला—तुम तो १५० कोस आये हो, अभी १५० कोस गंगाजी और आगे हैं। उसने सोचा कि गंगाजी कब पहुँचूँगा और फिर लौटकर कब आऊँगा! ऐसे दुःखी होकर उसने वे हड्डियाँ जंगलमें ही फेंक दीं और गाँवके पाससे वर्षाका मीठा जल बर्तनमें भर लिया; क्योंकि गंगाजी जाते हैं तो लौटते समय गंगाजल लाते हैं। फिर वह वहाँसे पीछे चला आया और अपने गाँव पहुँच गया। बड़े भाई सोचने लगे कि अगर यह गंगाजी जाकर आता तो इतने दिनोंमें नहीं आ सकता था, यह गंगाजी गया ही नहीं। बड़े भाइयोंने उससे पूछा—तू गंगाजी जाकर आया है क्या? उसने कहा—हाँ, गंगाजी जाकर आया हूँ; ठीक गंगाजीके ब्रह्मकुण्डमें फूल डालकर वहाँसे गंगाजीका यह जल लाया हूँ। ऐसे वह झूठ बोल गया। भाइयोंने समझ लिया कि यह ठीक नहीं बोल रहा है, इसलिये वे चुप हो गये।

दूसरे दिन नींदसे उठकर एक भाई छोटे भाईसे बोला—अरे भाई! तू सच्ची बात बता दे, क्या तू गंगाजी हो आया और फूल ठीक गंगाजीमें डाल दिये। उसने कहा—हाँ, बिलकुल गंगाजी जाकर आया हूँ। बड़े भाईने कहा—देख, रातको स्वप्नमें मेरेको माँ मिली थीं और माँने मेरेसे कहा कि इसने तो मेरेको गंगाजी पहुँचाया ही नहीं, बीचमें ही डालकर आ गया। अब तू ही बता कि माँकी बात सच्ची या तेरी बात सच्ची? छोटा भाई बोला—माँ इधर ही क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी? अर्थात् १५० कोस तो मैंने पहुँचा ही दिया था, यहाँ न आकर उधर ही चली जाती तो ठीक गंगाजी पहुँच जाती।

इस कहानीका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के शरण होनेके बाद यह कसौटी कसते हैं—परीक्षा करते हैं कि 'भक्तोंके, सन्तोंके लक्षण मेरेमें नहीं आये तो मैं भगवान्‌के शरण नहीं हुआ'—यह माँ उलटी क्यों आयी, सुलटी ही क्यों नहीं गयी कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया तो अब इन लक्षणोंकी कमी क्यों रह गयी? मेरेमें ये लक्षण क्यों नहीं आये?' ऐसी मान्यतासे तो साधक शरणागत हो जायगा और पूर्णता भी हो जायगी। परन्तु यह मान्यता करेगा कि 'मेरेमें ऐसे लक्षण नहीं आये तो मैं शरण नहीं हुआ' तो धोखा हो जायगा!

हो जायगी। इसलिये उसके लिये अन्य कोई प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कृपा करके उसके उस पापको सर्वथा नष्ट कर देते हैं[१]।

भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, गुणों और अवगुणोंको नहीं[२] अर्थात् भगवान्‌को भक्तके दोष दीखते ही नहीं, उनको तो केवल भक्तके साथ जो अपनापन है, वही दीखता है। कारण कि स्वरूपसे भक्त सदासे ही भगवान्‌का है। दोष आगन्तुक होनेसे आते-जाते रहते हैं और वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इसलिये भगवान्‌की दृष्टि सदा इस वास्तविकतापर ही जमी रहती है। जैसे, कीचड़ आदिसे सना हुआ बच्चा जब माँके सामने आता है, तब माँकी दृष्टि केवल अपने बच्चेकी तरफ जाती है बच्चेके मैलेकी तरफ नहीं जाती। बच्चेकी दृष्टि भी मैलेकी तरफ नहीं जाती। माँ साफ करे या न करे, पर बच्चेकी दृष्टिमें तो मैला है ही नहीं, उसकी दृष्टिमें तो केवल माँ ही है। द्रौपदीके मनमें कितना द्वेष और क्रोध भरा हुआ था कि जब दु:शासनके खूनसे अपने केश धोऊँगी, तभी केशोंको बाँधूँगी! परन्तु द्रौपदी जब भी भगवान्‌को पुकारती है, भगवान् चट आ जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌के साथ द्रौपदीका गाढ़ अपनापन था।

भगवान्‌के साथ अपनापन होनेमें दो भाव रहते हैं— (१) भगवान् मेरे हैं और (२) मैं भगवान्‌का हूँ। इन दोनोंमें भगवान्‌का सम्बन्ध समान रीतिसे रहते हुए भी 'भगवान् मेरे हैं'—इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा हो सकती है कि 'भगवान् मेरे हैं तो मेरी इच्छाकी पूर्ति क्यों नहीं करते?' परन्तु 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा नहीं हो सकती; क्योंकि 'मैं भगवान्‌का हूँ तो भगवान् मेरे लिये जैसा ठीक समझें, वैसा ही नि:संकोच होकर करें'। इसलिये साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌की ही मरजीमें सर्वथा अपनी मरजी मिला दे, भगवान्‌पर अपना किंचित् भी आधिपत्य न माने, प्रत्युत अपनेपर उनका पूरा आधिपत्य माने। कहीं भी भगवान् हमारे मनकी करें तो उसमें संकोच हो कि मेरे लिये भगवान्‌को ऐसा करना पड़ा! यदि अपने मनकी बात पूरी होनेसे संकोच नहीं होता, प्रत्युत संतोष होता है तो यह शरणागति नहीं है। शरणागत भक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रतिकूल परिस्थितिमें भी भगवान्‌की मरजी समझकर प्रसन्न रहता है।

शरणागत भक्तको अपने लिये कभी किंचिन्मात्र भी कुछ करना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने सम्पूर्ण ममतावाली वस्तुओंसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर दिया, जो वास्तवमें प्रभुका ही था। अब करने, कराने आदिका सब काम भगवान्‌का ही रह गया। ऐसी अवस्थामें वह कठिन-से-कठिन और भयंकर-से-भयंकर घटना, परिस्थितिमें भी अपनेपर प्रभुकी महान् कृपा देखकर सदा प्रसन्न रहता है, मस्त रहता है। जैसे, गरुडजीके पूछनेपर काकभुशुण्डिजीने अपने पूर्वजन्मके ब्राह्मण-शरीरकी कथा सुनायी, जिसमें लोमश ऋषिने शाप देकर उन्हें (ब्राह्मणको) पक्षियोंमें नीच चाण्डाल पक्षी (कौआ) बना दिया; परन्तु काकभुशुण्डिजीके मनमें न कुछ भय हुआ और न कुछ दीनता ही आयी। उन्होंने उसमें भगवान्‌का शुद्ध विधान ही समझा। केवल समझा ही नहीं, प्रत्युत मन-ही-मन बोल उठे—'**उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन**' (मानस ७। ११३। १)। ऐसा भयंकर शाप मिलनेपर भी जब काकभुशुण्डिजीकी प्रसन्नतामें कोई कमी नहीं आयी, तब लोमश ऋषिने उनको भगवान्‌का प्यारा भक्त समझकर अपने पास बुलाया और बालक रामजीका ध्यान बताया। फिर भगवान्‌की कथा सुनायी और अत्यन्त प्रसन्न होकर काकभुशुण्डिजीके सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया—'मेरी कृपासे तुम्हारे हृदयमें अबाध, अखण्ड रामभक्ति रहेगी। तुम रामजीके प्यारे हो जाओगे। तुम सम्पूर्ण गुणोंकी खान बन जाओगे। जिस रूपकी इच्छा करोगे, वह रूप धारण कर लोगे। जिस स्थानपर तुम रहोगे, उसमें एक योजनपर्यन्त मायाका कण्टक किंचिन्मात्र भी नहीं आयेगा' आदि-आदि। इस प्रकार बहुत-से आशीर्वाद देते ही आकाशवाणी हुई कि 'हे ऋषे! तुमने जो कुछ कहा, वह सब सच्चा होगा, यह मन, वाणी, कर्मसे मेरा भक्त है।' इन्हीं बातोंको लेकर भगवान्‌के विधानमें सदा प्रसन्न रहनेवाले काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महा रिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥

(मानस ७। ११४ ख)

१-स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥ (श्रीमद्भा० ११। ५। ४२)

'जो प्रेमी भक्त भगवान्‌के चरणोंका अनन्यभावसे भजन करता है, उसके द्वारा यदि अकस्मात् कोई पाप-कर्म बन भी जाय तो उसके हृदयमें विराजमान परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसे सर्वथा नष्ट कर देते हैं।'

२-रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥ (मानस १। २९। ३)

यहाँ 'भजन प्रताप' शब्दोंका अर्थ है—भगवान्‌के विधानमें हर समय प्रसन्न रहना। विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी प्रेमी भक्तकी प्रसन्नता अधिक-से-अधिक बढ़ती रहती है; क्योंकि प्रेमका स्वरूप ही प्रतिक्षण वर्धमान है।

यह नियम है कि जो चीज अपनी होती है, वह सदा ही अपनेको प्यारी लगती है। भगवान् सम्पूर्ण जीवोंको अपना प्रिय मानते हैं—**'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'** (मानस ७। ८६। २) और इस जीवको भी प्रभु स्वतः ही प्रिय लगते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि यह जीव परिवर्तनशील संसार और शरीरको भूलसे अपना मानकर अपने प्यारे प्रभुसे विमुख हो जाता है। इसके विमुख होनेपर भी भगवान्‌ने अपनी तरफसे किसी भी जीवका त्याग नहीं किया है और न कभी त्याग कर ही सकते हैं। कारण कि जीव सदासे साक्षात् भगवान्‌का ही अंश है। इसलिये सम्पूर्ण जीवोंके साथ भगवान्‌की आत्मीयता अक्षुण्ण, अखण्डितरूपसे स्वाभाविक ही बनी हुई है। इसीसे वे मात्र जीवोंपर कृपा करनेके लिये अर्थात् भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना—इन तीन बातोंके लिये समय-समयपर अवतार लेते हैं (गीता—चौथे अध्यायका आठवाँ श्लोक)। इन तीनों बातोंमें केवल भगवान्‌की आत्मीयता ही टपक रही है, नहीं तो भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापनासे भगवान्‌का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भगवान् तो ये तीनों ही काम केवल प्राणिमात्रके कल्याणके लिये ही करते हैं। इससे भी प्राणिमात्रके साथ भगवान्‌की स्वाभाविक आत्मीयता, कृपालुता, प्रियता, हितैषिता, सुहृत्ता और निरपेक्ष उदारता ही सिद्ध होती है, और यहाँ भी इसी दृष्टिसे अर्जुनसे कहते हैं—**'मद्भक्तो भव, मन्मना भव, मद्याजी भव, मां नमस्कुरु।'** इन चारों बातोंमें भगवान्‌का तात्पर्य केवल जीवको अपने सम्मुख करानेमें ही है, जिससे सम्पूर्ण जीव असत् पदार्थोंसे विमुख हो जायँ; क्योंकि दुःख, संताप, बार-बार जन्मना-मरना, मात्र विपत्ति आदिमें मुख्य हेतु भगवान्‌से विमुख होना ही है।

भगवान् जो कुछ भी विधान करते हैं, वह संसारमात्रके सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिये ही करते हैं—बस, भगवान्‌की इस कृपाकी तरफ जीवकी दृष्टि हो जाय, तो फिर उसके लिये क्या करना बाकी रहा? जीवोंके हितके लिये भगवान्‌के हृदयमें एक तड़फन है, इसीलिये भगवान् **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** वाली अत्यन्त गोपनीय बात कह देते हैं। कारण कि भगवान् जीवमात्रको अपना मित्र मानते हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (५। २९) और उन्हें यह स्वतन्त्रता देते हैं कि वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसी भी साधनके द्वारा सुगमतापूर्वक मेरी प्राप्ति कर सकते हैं और दुःख, संताप आदिको सदाके लिये समूल नष्ट कर सकते हैं।

वास्तवमें जीवका उद्धार केवल भगवत्कृपासे ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टांगयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी साधन हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के द्वारा और भगवत्तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा ही प्रकट किये गये हैं[१]। अतः इन सब साधनोंमें भगवत्कृपा ही ओत-प्रोत है। साधन करनेमें तो साधक निमित्तमात्र होता है, पर साधनकी सिद्धिमें भगवत्कृपा ही मुख्य है।

शरणागत भक्तको तो ऐसी चिन्ता भी कभी नहीं करनी चाहिये कि अभी भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम नहीं हुआ, अभी वृत्तियाँ शुद्ध नहीं हुईं, आदि। इस प्रकारकी चिन्ताएँ करना मानो बँदरीका बच्चा बनना है। बँदरीका बच्चा स्वयं ही बँदरीको पकड़े रहता है। बँदरी कूदे-फाँदे, किधर भी जाय, बच्चा स्वयं बँदरीसे चिपका रहता है।

भक्तको तो अपनी सब चिन्ताएँ भगवान्‌पर ही छोड़ देनी चाहिये अर्थात् भगवान् दर्शन दें या न दें, प्रेम दें या न दें, वृत्तियोंको ठीक करें या न करें, हमें शुद्ध बनायें या न बनायें—यह सब भगवान्‌की मरजीपर छोड़ देना चाहिये। उसे तो बिल्लीका बच्चा बनना चाहिये। बिल्लीका बच्चा अपनी माँपर निर्भर रहता है। बिल्ली चाहे जहाँ रखे, चाहे जहाँ ले जाय। बिल्ली अपनी मरजीसे बच्चेको उठाकर ले जाती है तो वह पैर समेट लेता है। ऐसे ही शरणागत भक्त संसारकी तरफसे अपने हाथ-पैर समेटकर[२] केवल भगवान्‌का चिन्तन, नाम-जप आदि करते हुए भगवान्‌की तरफ ही देखता रहता है। भगवान्‌का जो विधान है, उसमें परम प्रसन्न रहता है, अपने मनकी कुछ भी नहीं लगाता।

१-हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥ (मानस ७। ४७। ३)

२-भक्त जो कुछ काम करता है, उसको भगवान्‌का ही समझकर, भगवान्‌की ही शक्ति मानकर, भगवान्‌के ही लिये करता है, अपने लिये किंचिन्मात्र भी नहीं करता—यही उसका हाथ-पैर समेटना है।

जैसे, कुम्हार पहले मिट्टीको सिरपर उठाकर लाता है तो कुम्हारकी मरजी, फिर उस मिट्टीको गीला करके उसे रौंदता है तो कुम्हारकी मरजी, फिर चक्केपर चढ़ाकर घुमाता है तो कुम्हारकी मरजी। मिट्टी कभी कुछ नहीं कहती कि तुम घड़ा बनाओ, सकोरा बनाओ, मटकी बनाओ। कुम्हार चाहे जो बनाये, उसकी मरजी है। ऐसे ही शरणागत भक्त अपनी कुछ भी मरजी, मनकी बात नहीं रखता। वह जितना अधिक निश्चिन्त और निर्भय होता है, भगवत्कृपा उसको अपने-आप उतना ही अधिक अपने अनुकूल बना लेती है और जितनी वह चिन्ता करता है, अपना बल मानता है, उतना ही वह आती हुई भगवत्कृपामें बाधा लगाता है अर्थात् शरणागत होनेपर भगवान्‌की ओरसे जो विलक्षण, विचित्र, अखण्ड, अटूट कृपा आती है, अपनी चिन्ता करनेसे उस कृपामें बाधा लग जाती है।

जैसे धीवर (मछुआ) मछलियोंको पकड़नेके लिये नदीमें जाल डालता है तो जालके भीतर आनेवाली सब मछलियाँ पकड़ी जाती हैं; परन्तु जो मछली जाल डालनेवाले मछुएके चरणोंके पास आ जाती है, वह नहीं पकड़ी जाती। ऐसे ही भगवान्‌की माया-(संसार-) में ममता करके जीव फँस जाते हैं और जन्मते-मरते रहते हैं; परन्तु जो जीव मायापति भगवान्‌के चरणोंकी शरण हो जाते हैं, वे मायाको तर जाते हैं—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७। १४)। इस दृष्टान्तका एक ही अंश ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि धीवरका तो मछलियोंको जालमें फँसानेका भाव होता है; परन्तु भगवान्‌का जीवोंको मायामें फँसानेका किंचिन्मात्र भी भाव नहीं होता। भगवान्‌का भाव तो जीवोंको मायाजालसे मुक्त करके अपने शरण लेनेका होता है, तभी तो वे कहते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज।'** जीव संयोगजन्य सुखकी लोलुपतासे खुद ही मायामें फँस जाते हैं।

जैसे चलती हुई चक्कीके भीतर आनेवाले सभी दाने पिस जाते हैं;* परन्तु जिसके आधारपर चक्की चलती है, उस कीलके आस-पास रहनेवाले दाने ज्यों-के-त्यों साबूत रह जाते हैं। ऐसे ही जन्म-मरणरूप संसारकी चलती हुई चक्कीमें पड़े हुए सब-के-सब जीव पिस जाते हैं अर्थात् दु:ख पाते हैं; परन्तु जिसके आधारपर संसार-चक्र चलता है, उन भगवान्‌के चरणोंका सहारा लेनेवाला जीव पिसनेसे बच जाता है—**'कोई हरिजन ऊबरे, कील माकड़ी पास।'** परन्तु यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता; क्योंकि दाने तो स्वाभाविक ही कीलके पास रह जाते हैं। वे बचनेका कोई उपाय नहीं करते। परन्तु भगवान्‌के भक्त संसारसे विमुख होकर प्रभुके चरणोंका आश्रय लेते हैं। तात्पर्य यह है कि जो भगवान्‌का अंश होकर भी संसारको अपना मानता है अथवा संसारसे कुछ चाहता है, वही जन्म-मरणरूप चक्रमें पड़कर दु:ख भोगता है।

संसार और भगवान्—इन दोनोंका सम्बन्ध दो तरहका होता है। संसारका सम्बन्ध केवल माना हुआ है और भगवान्‌का सम्बन्ध वास्तविक है। संसारका सम्बन्ध तो मनुष्यको पराधीन बनाता है, गुलाम बनाता है, पर भगवान्‌का सम्बन्ध मनुष्यको स्वाधीन बनाता है, चिन्मय बनाता है और बनाता है भगवान्‌का भी मालिक!

किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी विशेषता दीखती है, यही वास्तवमें पराधीनता है। यदि मनुष्य विद्या, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, त्याग, वैराग्य आदि किसी बातको लेकर अपनी विशेषता मानता है तो यह उस विद्या आदिकी पराधीनता, दासता ही है। जैसे, कोई धनको लेकर अपनेमें विशेषता मानता है तो यह विशेषता वास्तवमें धनकी ही हुई, खुदकी नहीं। वह अपनेको धनका मालिक मानता है, पर वास्तवमें वह धनका गुलाम है।

संसारका यह कायदा है कि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेमें कुछ विशेषता मानता है, उसको ये सांसारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं, पद-दलित कर देते हैं। परन्तु जो भगवान्‌के आश्रित होकर सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है, उसको अपनी कुछ विशेषता दीखती ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌की ही अलौकिकता, विलक्षणता, विचित्रता दीखती है। भगवान् चाहे उसको अपना मुकुटमणि बना लें और चाहे अपना मालिक बना लें, तो भी उसको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती। प्रभुका यह कायदा है कि जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमें भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है। किसी-किसीमें यहाँतक विलक्षणता उतर आती है कि उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थ भी चिन्मय बन जाते हैं। उनमें जडताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसे भगवान्‌के कई प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही समा गये, अन्तमें उनके शरीर नहीं मिले। जैसे मीराबाई शरीरसहित भगवान्‌के श्रीविग्रहमें

* चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय। दो पाटनमें आयके साबुत बचा न कोय॥

लीन हो गयीं। केवल पहचानके लिये उनकी साड़ीका छोटा-सा छोर श्रीविग्रहके मुखमें रह गया और कुछ नहीं बचा। ऐसे ही सन्त श्रीतुकारामजी शरीरसहित वैकुण्ठ चले गये।

ज्ञानमार्गमें शरीर चिन्मय नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करके, असत्‌से अलग होकर स्वयं चिन्मय तत्त्वमें स्थित हो जाता है। परन्तु जब भक्त भगवान्‌के सम्मुख होता है, तब उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि सभी भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिनकी दृष्टि केवल चिन्मय तत्त्वपर ही है अर्थात् जिनकी दृष्टिमें चिन्मय तत्त्वसे भिन्न जडताकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं होती, तो वह चिन्मयता उनके शरीर आदिमें भी उतर आती है और वे शरीर आदि चिन्मय हो जाते हैं। हाँ, लोगोंकी दृष्टिमें तो उनके शरीरमें जडता दीखती है, पर वास्तवमें उनके शरीर चिन्मय ही होते हैं।

भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जानेपर शरणागतके लिये भगवान्‌की कृपा तो विशेषतासे प्रकट होती ही है, पर मात्र संसारका स्नेहपूर्वक पालन करनेवाली और भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली वात्सल्यमयी माता लक्ष्मीका प्रभु-शरणागतपर कितना अधिक स्नेह होता है, वे कितना अधिक प्यार करती हैं, इसका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। लौकिक व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि पतिव्रता स्त्रीको पितृभक्त पुत्र बहुत प्यारा लगता है।

दूसरी बात, प्रेमभावसे परिपूरित प्रभु जब अपने भक्तको देखनेके लिये गरुडपर बैठकर पधारते हैं, तब माता लक्ष्मी भी प्रभुके साथ गरुडपर बैठकर आती हैं, जिस गरुडकी पाँखोंसे सामवेदके मन्त्रोंका गान होता रहता है! परन्तु कोई भगवान्‌को न चाहकर केवल माता लक्ष्मीको ही चाहता है, तो उसके स्नेहके कारण माता लक्ष्मी आ तो जाती हैं, पर उनका वाहन दिवान्ध उल्लू होता है। ऐसे वाहनवाली लक्ष्मीको प्राप्त करके मनुष्य भी मदान्ध हो जाता है। अगर उस माँको कोई भोग्या समझ लेता है तो उसका बड़ा भारी पतन हो जाता है; क्योंकि वह तो अपनी माँको ही कुदृष्टिसे देखता है, इसलिये वह महान् अधम है।

तीसरी बात, जहाँ केवल भगवान्‌का प्रेम होता है, वहाँ तो भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली लक्ष्मी भगवान्‌के साथ आ ही जाती हैं, पर जहाँ केवल लक्ष्मीकी चाहना है, वहाँ लक्ष्मीके साथ भगवान् भी आ जायँ—यह नियम नहीं है।

शरणागतिके विषयमें एक कथा आती है। सीताजी, रामजी और हनुमान्‌जी जंगलमें एक वृक्षके नीचे बैठे थे। उस वृक्षकी शाखाओं और टहनियोंपर एक लता छायी हुई थी। लताके कोमल-कोमल तन्तु फैल रहे थे। उन तन्तुओंमें कहींपर नयी-नयी कोपलें निकल रही थीं और कहींपर ताम्रवर्णके पत्ते निकल रहे थे। पुष्प और पत्तोंसे लता छायी हुई थी। उससे वृक्षकी सुन्दर शोभा हो रही थी। वृक्ष बहुत ही सुहावना लग रहा था। उस वृक्षकी शोभाको देखकर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे बोले—'देखो हनुमान्! यह लता कितनी सुन्दर है! वृक्षके चारों ओर कैसी छायी हुई है! यह लता अपने सुन्दर-सुन्दर फल, सुगन्धित फूल और हरी-हरी पत्तियोंसे इस वृक्षकी कैसी शोभा बढ़ा रही है! इससे जंगलके अन्य सब वृक्षोंसे यह वृक्ष कितना सुन्दर दीख रहा है! इतना ही नहीं, इस वृक्षके कारण ही सारे जंगलकी शोभा हो रही है। इस लताके कारण ही पशु-पक्षी इस वृक्षका आश्रय लेते हैं। धन्य है यह लता!'

भगवान् श्रीरामके मुखसे लताकी प्रशंसा सुनकर सीताजी हनुमान्‌जीसे बोलीं—'देखो बेटा हनुमान्! तुमने खयाल किया कि नहीं? देखो, इस लताका ऊपर चढ़ जाना, फूल-पत्तोंसे छा जाना, तन्तुओंका फैल जाना—ये सब वृक्षके आश्रित हैं, वृक्षके कारण ही हैं। इस लताकी शोभा भी वृक्षके ही कारण है। इसलिये मूलमें महिमा तो वृक्षकी ही है। आधार तो वृक्ष ही है। वृक्षके सहारे बिना लता स्वयं क्या कर सकती है? कैसे छा सकती है? अब बोलो हनुमान्! तुम्हीं बताओ, महिमा वृक्षकी ही हुई न?'

रामजीने कहा—'क्यों हनुमान्! यह महिमा तो लताकी ही हुई न?'

हनुमान्‌जी बोले—'हमें तो तीसरी ही बात सूझती है।'

सीताजीने पूछा—'वह क्या है बेटा?'

हनुमान्‌जीने कहा—'माँ! वृक्ष और लताकी छाया बड़ी सुन्दर है। इसलिये हमें तो इन दोनोंकी छायामें रहना ही अच्छा लगता है अर्थात् हमें तो आप दोनोंकी छाया-(चरणोंके आश्रय-) में रहना ही अच्छा लगता है!'

सेवक सुत पति मातु भरोसें।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(मानस ४। ३। २)

ऐसे ही भगवान् और उनकी दिव्य आह्लादिनी शक्ति—दोनों ही एक-दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं। परन्तु कोई तो उन दोनोंको श्रेष्ठ बताता है, कोई केवल भगवान्‌को श्रेष्ठ बताता है और कोई केवल उनकी आह्लादिनी शक्तिको श्रेष्ठ बताता है। शरणागत भक्तके लिये तो प्रभु और उनकी आह्लादिनी शक्ति—दोनोंका आश्रय ही श्रेष्ठ है।

एक बार एक प्रज्ञाचक्षु (नेत्रहीन) संत हाथमें लाठी पकड़े हुए यमुनाके किनारे-किनारे चले जा रहे थे। नदीमें बाढ़ आयी हुई थी। उससे एक जगह यमुनाका किनारा पानीमें गिर पड़ा तो बाबाजी भी पानीमें गिर पड़े। हाथसे लाठी छूट गयी थी। दीखता तो था ही नहीं, अब तैरें तो किधर तैरें? भगवान्‌की शरणागतिकी बात याद आते ही प्रयासरहित होकर शरीरको ढीला छोड़ दिया तो उनको ऐसा लगा कि किसीने हाथ पकड़कर किनारेपर डाल दिया। वहाँ दूसरी कोई लाठी हाथमें आ गयी और उसके सहारे वे चल पड़े। तात्पर्य यह है कि जो भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌पर निर्भर रहता है, उसको अपने लिये करना कुछ नहीं रहता। भगवान्‌के विधानसे जो हो जाय, उसीमें वह प्रसन्न रहता है।

बहुत-सी भेड़-बकरियाँ जंगलमें चरने गयीं। उनमेंसे एक बकरी चरते-चरते एक लतामें उलझ गयी। उसको उस लतामेंसे निकलनेमें बहुत देर लगी, तबतक अन्य सब भेड़-बकरियाँ अपने घर पहुँच गयीं। अँधेरा भी हो रहा था। वह बकरी घूमते-घूमते एक सरोवरके किनारे पहुँची। वहाँ किनारेकी गीली जमीनपर सिंहका एक चरण-चिह्न अंकित था। वह उस चरण-चिह्नके शरण होकर उसके पास बैठ गयी। रातमें जंगली सियार, भेड़िया, बाघ आदि प्राणी बकरीको खानेके लिये पासमें आये तो उस बकरीने बता दिया कि 'पहले देख लेना कि मैं किसके शरणमें हूँ, तब मुझे खाना!' वे चिह्नको देखकर कहने लगे—'अरे, यह तो सिंहके चरण-चिह्नके शरण है, जल्दी भागो यहाँसे! सिंह आ जायगा तो हमको मार डालेगा।' इस प्रकार सभी प्राणी भयभीत होकर भाग गये। अन्तमें जिसका चरण-चिह्न था, वह सिंह स्वयं आया और बकरीसे बोला—'तू जंगलमें अकेली कैसे बैठी है?' बकरीने कहा—'यह चरण-चिह्न देख लेना, फिर बात करना। जिसका यह चरण-चिह्न है, उसीके मैं शरण हुए बैठी हूँ।' सिंहने देखा कि 'ओह! यह तो मेरा ही चरण-चिह्न है, यह बकरी तो मेरे ही शरण हुई!' सिंहने बकरीको आश्वासन दिया कि अब तुम डरो मत, निर्भय होकर रहो।

रातमें जब जल पीनेके लिये हाथी आया तो सिंहने हाथीसे कहा—'तू इस बकरीको अपनी पीठपर चढ़ा ले। इसको जंगलमें चराकर लाया कर और हरदम अपनी पीठपर ही रखा कर, नहीं तो तू जानता नहीं कि मैं कौन हूँ? मार डालूँगा!' सिंहकी बात सुनकर हाथी थर-थर काँपने लगा। उसने अपनी सूँड़से झट बकरीको पीठपर चढ़ा लिया। अब वह बकरी निर्भय होकर हाथीकी पीठपर बैठे-बैठे ही वृक्षोंकी ऊपरकी कोंपलें खाया करती और मस्त रहती।

खोज पकड़ सैंठे रहो, धणी मिलेंगे आय।
अजया गज मस्तक चढ़े, निर्भय कोंपल खाय॥

ऐसे ही जब मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है, उनके चरणोंका सहारा ले लेता है, तब वह सम्पूर्ण प्राणियोंसे, विघ्न-बाधाओंसे निर्भय हो जाता है। उसको कोई भी भयभीत नहीं कर सकता, उसका कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

जो जाको शरणो गहै, ताकहँ ताकी लाज।
उलटे जल मछली चले, बह्यो जात गजराज॥

भगवान्‌के साथ काम, भय, द्वेष, क्रोध, स्नेह आदिसे भी सम्बन्ध क्यों न जोड़ा जाय, वह भी जीवका कल्याण करनेवाला ही होता है*। तात्पर्य यह हुआ कि काम, भय,

---

* (१) कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः। सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
(श्रीमद्भा० ७। १। २९-३०)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे। जैसे गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगों-(युधिष्ठिर आदि-) ने स्नेहसे और हमलोगों-(नारद आदि-) ने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है।'

(२) सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः। गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः। रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः। वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः। व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः। अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः॥
(श्रीमद्भा० ११। १२। ३—७)

भगवान् कहते हैं—'निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्संग अर्थात् मेरे सम्बन्धद्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है।

द्वेष आदि किसी तरहसे भी जिनका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया, उनका तो उद्धार हो ही गया, पर जिन्होंने किसी तरहसे भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उदासीन ही रहे, वे भगवत्प्राप्तिसे वंचित रह गये! भगवान्‌के अनन्य भक्तोंके लिये नारदजीने कहा है—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

(नारदभक्तिसूत्र ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

तात्पर्य यह है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर सांसारिक जितने भी जाति, विद्या आदि भेद हो सकते हैं, वे सब उनपर लागू नहीं होते जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो गये हैं[1]। कारण कि वे अच्युत भगवान्‌के ही हैं— '**यतस्तदीयाः**' (नारदभक्तिसूत्र ७३), संसारके नहीं। अच्युत भगवान्‌के होनेसे वे 'अच्युत गोत्र' के ही कहलाते हैं[2]।

शरणागतिका रहस्य

शरणागतिका रहस्य क्या है—इसको वास्तवमें भगवान् ही जानते हैं। फिर भी अपनी समझमें आयी बात कहनेकी चेष्टा की जाती है; क्योंकि हरेक आदमी जो बात कहता है, उससे वह अपनी बुद्धिका ही परिचय देता है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे यहाँ आयी बातोंका उलटा अर्थ न निकालें; क्योंकि प्रायः लोग किसी तात्त्विक रहस्यवाली बातको गहराईसे समझे बिना उसका उलटा अर्थ जल्दी निकाल लेते हैं, इसलिये ऐसी बातको कहने-सुननेके पात्र बहुत कम होते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें शरणागतिके विषयमें दो बातें बतायी हैं—

(१) '**मामेकं शरणं व्रज**' (१८। ६६) 'अनन्यभावसे केवल मेरी शरणमें आ जा'।

(२) '**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत**' (१५। १९) 'वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वभावसे मेरा भजन करता है', '**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत**' (१८। ६२) 'तू सर्वभावसे उस परमात्माकी शरणमें जा।'

हम भगवान्‌के शरण कैसे हो जायँ? केवल एक भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् भगवान्‌के गुण, ऐश्वर्य आदिकी तरफ दृष्टि न रखें और सर्वभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् साथमें अपनी कोई सांसारिक कामना न रखें।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका रहस्य यह है कि भगवान्‌के अनन्त गुण हैं, प्रभाव हैं, तत्त्व हैं, रहस्य हैं, महिमा है, लीलाएँ हैं, नाम हैं, धाम हैं; भगवान्‌का अनन्त ऐश्वर्य है, माधुर्य है, सौन्दर्य है—इन विभूतियोंकी तरफ शरणागत भक्त देखता ही नहीं। उसका यही एक भाव रहता है कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं।' अगर वह गुण, प्रभाव आदिकी तरफ देखकर

मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्संगके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं।

उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग—मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।

१-(१) पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः। न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्॥ (अध्यात्म०, अरण्य० १०। २०)

'मेरे भजनमें पुरुष-स्त्रीका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम कारण नहीं है, प्रत्युत मेरी भक्ति ही एकमात्र कारण है।'

(२) किं जन्मना सकलवर्णजनोत्तमेन किं विद्यया सकलशास्त्रविचारवत्या।
यस्यास्ति चेतसि सदा परमेशभक्तिः कोऽन्यस्ततस्त्रिभुवने पुरुषोऽस्ति धन्यः॥ (ब्र० सं० भ० १७)

'सम्पूर्ण वर्णोंमें उत्तम वर्ण (ब्राह्मण-कुल)-में जन्म होनेसे क्या हुआ? सम्पूर्ण शास्त्रोंके गहरे अध्ययनसे क्या हुआ? अर्थात् कुछ नहीं हुआ जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति विराजमान है, इस त्रिलोकीमें उसके समान दूसरा कौन मनुष्य धन्य हो सकता है?'

(३) व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

(पद्यावली ८)

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी? यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? फिर भी उन लोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। कारण कि भगवान्‌को केवल भक्ति ही प्यारी है। वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।

२-पितृगोत्री यथा कन्या स्वामिगोत्रेण गोत्रिका। श्रीरामभक्तिमात्रेणाच्युतगोत्रेण गोत्रकः॥ (नारदपांचरात्र)

भगवान्‌की शरण लेता है, तो वास्तवमें वह गुण, प्रभाव आदिके ही शरण हुआ, भगवान्‌के शरण नहीं हुआ। परन्तु इन बातोंका उलटा अर्थ न लगा लें।

उलटा अर्थ लगाना क्या है? भगवान्‌के गुण, प्रभाव, नाम, धाम, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदिको मानना ही नहीं है, इनकी तरफ जाना ही नहीं है। अब कुछ करना है ही नहीं, न भजन करना है, न भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदि सुननी है, न भगवान्‌के धाममें जाना है—यह उलटा अर्थ लगाना है। इनका ऐसा अर्थ लगाना महान् अनर्थ करना है।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका तात्पर्य है—केवल भगवान् मेरे हैं। अब वे ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं तो बड़ी अच्छी बात और उनमें कुछ भी ऐश्वर्य नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। वे बड़े दयालु हैं तो बड़ी अच्छी बात और इतने निष्ठुर, कठोर हैं कि उनके समान दुनियामें कोई कठोर है ही नहीं, तो बड़ी अच्छी बात। उनका बड़ा भारी प्रभाव है तो बड़ी अच्छी बात और उनमें कोई प्रभाव नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। शरणागतमें इन बातोंकी कोई परवाह नहीं होती। उसका तो एक ही भाव रहता है कि भगवान् जैसे भी हैं, मेरे हैं*। भगवान्‌की इन बातोंकी परवाह न होनेसे भगवान्‌का ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे, ऐसी बात नहीं है। पर हम उनकी परवाह नहीं करेंगे, तो हमारी असली शरणागति होगी।

जहाँ गुण, प्रभाव आदिको लेकर भगवान्‌के शरण होते हैं, वहाँ केवल भगवान्‌के शरण नहीं होते, प्रत्युत गुण, प्रभाव आदिके ही शरण होते हैं; जैसे—कोई रुपयोंवाले आदमीका आदर करे तो वास्तवमें वह आदर उस आदमीका नहीं, रुपयोंका है। किसी मिनिस्टरका कितना ही आदर किया जाय तो वह आदर उसका नहीं, मिनिस्टरी-(पद-) का है। किसी बलवान् व्यक्तिका आदर किया जाय तो वह उसके बलका आदर है, उसका खुदका आदर नहीं है। परन्तु अगर कोई केवल व्यक्ति-(धनी आदि-) का आदर करे तो इससे धनीका धन या मिनिस्टरकी मिनिस्टरी चली जायगी—यह बात नहीं है। वह तो रहेगी ही। ऐसे ही केवल भगवान्‌के शरण होनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे—ऐसी बात नहीं है। परन्तु हमारी दृष्टि तो केवल भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये, उनके गुणों आदिपर नहीं।

सप्तर्षियोंने जब पार्वतीजीके सामने शिवजीके अनेक अवगुणोंका और विष्णुके अनेक सद्‌गुणोंका वर्णन करते हुए उनको शिवजीका त्याग करनेके लिये कहा, तब पार्वतीजीने उनको यही उत्तर दिया—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(मानस १। ८०)

ऐसी ही बात गोपियोंने भी उद्धवजीसे कही थी—

ऊधौ! मन माने की बात।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल, बिषकीरा बिष खात॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठमें, बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥

भगवान्‌के प्रभाव आदिकी तरफ देखनेवालेको, उससे प्रेम करनेवालेको मुक्ति, ऐश्वर्य आदि तो मिल सकता है, पर भगवान् नहीं मिल सकते। भगवान्‌के प्रभावकी तरफ न देखनेवाला भगवत्प्रेमी भक्त ही भगवान्‌को पा सकता है। इतना ही नहीं, वह प्रेमी-भक्त भगवान्‌को बाँध भी सकता है, उनकी बिक्री भी कर सकता है! भगवान् देखते हैं कि वह मेरेसे प्रेम करता है, मेरे प्रभावकी तरफ देखतातक नहीं, तो भगवान्‌के मनमें उसका बड़ा आदर होता है।

प्रभावकी तरफ देखना यह सिद्ध करता है कि हमारेमें

***(१) असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा। द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥**

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों, वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

(२) आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा। यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

(शिक्षाष्टक ८)

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगाकर हर्षित करें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसे चाहें, वैसे करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

कुछ पानेकी कामना है। हमारे मनमें उस कामनावाले पदार्थका आदर है। जबतक हमारे मनमें कामना है, तबतक हम प्रभावको देखते हैं। अगर हमारे मनमें कोई कामना न रहे तो भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जायगी। केवल भगवान्‌की तरफ दृष्टि होगी तो हम भगवान्‌के शरण हो जायँगे, भगवान्‌के अपने हो जायँगे।

पूतना राक्षसीने जहर लगाकर स्तन मुखमें दिया तो उसको भगवान्‌ने माताकी गति दे दी* अर्थात् जो मुक्ति यशोदा मैयाको मिले, वह मुक्ति पूतनाको मिल गयी। जो मुखमें जहर देती है, उसे तो भगवान्‌ने मुक्ति दे दी। अब जो रोजाना दूध पिलाती है, उस मैयाको भगवान् क्या दें? तो अनन्त जीवोंको मुक्ति देनेवाले भगवान् मैयाके अधीन हो गये, उन्हें अपने-आपको ही दे दिया! मैयाके इतने वशीभूत हो गये कि मैया छड़ी दिखाती है तो वे डरकर रोने लग जाते हैं! कारण कि मैयाकी भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ दृष्टि ही नहीं है। इस प्रकार जो भगवान्‌से मुक्ति चाहता है, उसे भगवान् मुक्ति दे देते हैं, पर जो कुछ भी नहीं चाहता, उसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं।

सर्वभावसे भगवान्‌के शरण होनेका रहस्य यह है कि हमारा शरीर अच्छा है, इन्द्रियाँ वशमें हैं, मन शुद्ध-निर्मल है, बुद्धिसे हम ठीक जानते हैं, हम पढ़े-लिखे हैं, हम यशस्वी हैं, हमारा संसारमें मान है—इस प्रकार 'हम भी कुछ हैं' ऐसा मानकर भगवान्‌के शरण होना शरणागति नहीं है। भगवान्‌के शरण होनेके बाद शरणागतको ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिये कि हमारा शरीर ऐसा होना चाहिये; हमारी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये; हमारा मन ऐसा होना चाहिये; हमारा ऐसा ध्यान लगना चाहिये; हमारी ऐसी भावना होनी चाहिये; हमारे जीवनमें ऐसे-ऐसे लक्षण आने चाहिये; हमारे ऐसे आचरण होने चाहिये; हमारेमें ऐसा प्रेम होना चाहिये कि कथा-कीर्तन सुननेपर आँसू बहने लगें, कण्ठ गद्गद हो जाय; पर ऐसा हमारे जीवनमें हुआ ही नहीं तो हम भगवान्‌के शरण कैसे हुए? आदि-आदि। ये बातें अनन्य शरणागतिकी कसौटी नहीं हैं। जो अनन्य शरण हो जाता है, वह यह देखता ही नहीं कि शरीर बीमार है कि स्वस्थ है? मन चंचल है कि स्थिर है? बुद्धिमें जानकारी है कि अनजानपना है? अपनेमें मूर्खता है कि विद्वत्ता है? योग्यता है कि अयोग्यता है? आदि। इन सबकी तरफ वह स्वप्नमें भी नहीं देखता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ये सब चीजें कूड़ा-करकट हैं, जिन्हें अपने साथ नहीं लेना है। यदि इन चीजोंकी तरफ देखेगा तो अभिमान ही बढ़ेगा कि मैं भगवान्‌का शरणागत भक्त हूँ अथवा निराश होना पड़ेगा कि मैं भगवान्‌के शरण तो हो गया, पर भक्तोंके गुण (गीता—बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक) तो मेरेमें आये ही नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि अगर अपनेमें भक्तोंके गुण दिखायी देंगे तो उनका अभिमान हो जायगा और अगर नहीं दिखायी देंगे तो निराशा हो जायगी। इसलिये यही अच्छा है कि भगवान्‌के शरण होनेके बाद इन गुणोंकी तरफ भूलकर भी नहीं देखें। इसका यह उलटा अर्थ न लगा लें कि हम चाहे वैर-विरोध करें, चाहे द्वेष करें, चाहे ममता करें, चाहे जो कुछ करें? यह अर्थ बिलकुल नहीं है। तात्पर्य है कि इन गुणोंकी तरफ खयाल ही नहीं होना चाहिये। भगवान्‌के शरण होनेवाले भक्तमें ये सब-के-सब गुण अपने-आप ही आयेंगे, पर इनके आने या न आनेसे उसको कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। अपनेमें ऐसी कसौटी नहीं लगानी चाहिये कि अपनेमें ये गुण या लक्षण हैं या नहीं।

सच्चा शरणागत भक्त तो भगवान्‌के गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता और अपने गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता। वह भगवान्‌के ऊँचे-ऊँचे प्रेमियोंकी तरफ भी नहीं देखता कि ऊँचे प्रेमी ऐसे-ऐसे होते हैं, तत्त्वको जाननेवाले जीवन्मुक्त ऐसे-ऐसे होते हैं।

प्राय: लोग ऐसी कसौटी लगाते हैं कि यह भगवान्‌का भजन करता है तो बीमार कैसे हो गया? भगवान्‌का भक्त हो गया तो उसको बुखार क्यों आ गया? उसपर दु:ख क्यों आ गया? उसका बेटा क्यों मर गया? उसका धन क्यों चला गया? उसका संसारमें अपयश क्यों हो गया? उसका निरादर क्यों हो गया? आदि-आदि। ऐसी कसौटी

---

*(१) **अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥**
(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'अहो! इस पापिनी पूतनाने जिन्हें मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये, उनके अलावा और कौन दयालु है, जिसकी शरणमें जायँ?'

(२) गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ। मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादवराइ॥ (विनय-पत्रिका २१४। २)

लगाना बिलकुल फालतू बात है, बड़े नीचे दर्जेकी बात है। ऐसे लोगोंको क्या समझायें। वे सत्संगके नजदीक ही नहीं आये, इसीलिये उनको इस बातका पता ही नहीं है कि भक्ति क्या होती है? शरणागति क्या होती है? वे इन बातोंको समझ ही नहीं सकते। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि भगवान्‌का भक्त दरिद्र होता ही है, उसका संसारमें अपमान होता ही है, उसकी निन्दा होती ही है। शरणागत भक्तको तो निन्दा-प्रशंसा, रोग-नीरोग-अवस्था आदिसे कोई मतलब ही नहीं होता। इनकी तरफ वह देखता ही नहीं। वह यही देखता है कि मैं हूँ और भगवान् हैं, बस। अब संसारमें क्या है, क्या नहीं है, त्रिलोकीमें क्या है, क्या नहीं है, प्रभु ऐसे हैं, वे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले हैं—इन बातोंकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं।

किसीने एक सन्तसे पूछा—'आप किस भगवान्‌के भक्त हैं? जो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करते हैं, उनके भक्त हैं क्या?' तो उस सन्तने उत्तर दिया—'हमारे भगवान्‌का तो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह तो हमारे प्रभुका एक ऐश्वर्य है। यह कोई विशेष बात नहीं है।' शरणागत भक्तको ऐसा होना चाहिये। ऐश्वर्य आदिकी तरफ उसकी दृष्टि ही नहीं होनी चाहिये।

ऋषिकेशमें गंगाजीके किनारे शामको सत्संग हो रहा था। गरमी पड़ रही थी। उधरसे गंगाजीकी ठण्डी हवाकी लहर आयी तो एक सज्जनने कहा—'कैसी ठण्डी हवाकी लहर आ रही है!' पास बैठे दूसरे सज्जनने उनसे कहा—'हवाको देखनेके लिये तुम्हें समय कैसे मिल गया? यह ठण्डी हवा आयी, यह गरम हवा आयी—इस तरफ तुम्हारा खयाल कैसे चला गया?' भगवान्‌के भजनमें लगे हो तो हवा ठण्डी आयी या गरम आयी, सुख आया या दुःख आया—इस तरफ जबतक खयाल है, तबतक भगवान्‌की तरफ खयाल कहाँ? इसी विषयमें हमने एक कहानी सुनी है। कहानी तो नीचे दर्जेकी है पर उसका निष्कर्ष बड़ा अच्छा है।

एक कुलटा स्त्री थी। उसको किसी पुरुषसे संकेत मिला कि इस समय अमुक स्थानपर तुम आ जाना। अतः वह समयपर अपने प्रेमीके पास जा रही थी। रास्तेमें एक मस्जिद पड़ती थी। मस्जिदकी दीवारें छोटी-छोटी थीं। दीवारके पास ही वहाँका मौलवी झुककर नमाज पढ़ रहा था। वह कुलटा अनजानेमें उसके ऊपर पैर रखकर निकल गयी। मौलवीको बड़ा गुस्सा आया कि कैसी औरत है यह! इसने मेरेपर जूतीसहित पैर रखकर मेरेको नापाक (अशुद्ध) बना दिया! वह वहीं बैठकर उसको देखता रहा कि कब आयेगी। जब वह कुलटा पीछे लौटकर आयी, तब मौलवीने उसको धमकाया कि 'कैसी बेअक्ल हो तुम! हम परवरदिगारकी बंदगीमें बैठे थे, नमाज पढ़ रहे थे और तुम हमारेपर पैर रखकर चली गयी!' तब वह बोली—

मैं नर-राची ना लखी, तुम कस लख्यो सुजान।
पढ़ि कुरान बौरा भया, राच्यो नहिं रहमान॥

अर्थात् एक पुरुषके ध्यानमें रहनेके कारण मेरेको इसका पता ही नहीं लगा कि सामने दीवार है या कोई मनुष्य है, पर तू तो भगवान्‌के ध्यानमें था, फिर तूने मेरेको कैसे पहचान लिया कि वह यही थी? तू केवल कुरान पढ़-पढ़कर बावला हो गया है। अगर तू भगवान्‌के ध्यानमें रचा हुआ होता तो क्या मुझे पहचान लेता? कौन आया, कैसे आया, मनुष्य था कि पशु-पक्षी था, क्या था, क्या नहीं था, कौन ऊपर आया, कौन नीचे आया, किसने पैर रखा—इधर तेरा खयाल ही क्यों जाता? तात्पर्य है कि एक भगवान्‌को छोड़कर किसीकी तरफ ध्यान ही कैसे जाय? दूसरी बातोंका पता ही कैसे लगे? जबतक दूसरी बातोंका पता लगता है, तबतक वह शरण कहाँ हुआ?

कौरव-पाण्डव जब बालक थे, तब वे अस्त्र-शस्त्र सीख रहे थे। सीखकर जब तैयार हो गये, तब उनकी परीक्षा ली गयी। एक वृक्षपर एक बनावटी चिड़िया बैठा दी गयी और सबसे कहा गया कि उस चिड़ियाके कण्ठपर तीर मारकर दिखाओ। एक-एक करके सभी आने लगे। गुरुजी पहले सबसे अलग-अलग पूछते कि बताओ, तुम्हें वहाँ क्या दीख रहा है? कोई कहता कि हमें तो वृक्ष दीखता है, कोई कहता कि हमें तो टहनी दीखती है, कोई कहता कि हमें तो चिड़िया दीखती है, चोंच भी दीखती है, पंख भी दीखते हैं। ऐसा कहनेवालोंको वहाँसे हटा दिया गया। जब अर्जुनकी बारी आयी, तब उनसे पूछा गया कि तुमको क्या दीखता है, तो अर्जुनने कहा कि मेरेको तो केवल कण्ठ ही दीखता है, और कुछ भी नहीं दीखता। तब अर्जुनसे बाण मारनेके लिये कहा गया। अर्जुनने अपने बाणसे उस चिड़ियाका कण्ठ वेध दिया; क्योंकि उनकी लक्ष्यपर दृष्टि ठीक थी। अगर चिड़िया दीखती है, वृक्ष, टहनी आदि दीखते हैं तो लक्ष्य कहाँ सधा है? अभी तो दृष्टि फैली हुई है। लक्ष्य होनेपर तो वही दीखेगा, जो लक्ष्य होगा। लक्ष्यके सिवाय दूसरा कुछ दीखेगा ही नहीं। इसी प्रकार जबतक मनुष्यका लक्ष्य एक नहीं हुआ है, तबतक

वह अनन्य कैसे हुआ? अव्यभिचारी 'अनन्ययोग' होना चाहिये—'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' (गीता १३। १०)। 'अन्ययोग' नहीं होना चाहिये अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, अहम् आदिकी सहायता नहीं होनी चाहिये। वहाँ तो केवल एक भगवान् ही होने चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजसे किसीने कहा—'आप जिन रामललाकी भक्ति करते हैं, वे तो बारह कलाके अवतार हैं, पर सूरदासजी जिन भगवान् कृष्णकी भक्ति करते हैं, वे सोलह कलाके अवतार हैं।' यह सुनते ही गोस्वामीजी महाराज उसके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'ओह! आपने बड़ी भारी कृपा कर दी! मैं तो रामको दशरथजीके लाड़ले कुँवर समझकर ही भक्ति करता था। अब पता लगा कि वे बारह कलाके अवतार हैं! इतने बड़े हैं वे? आपने आज नयी बात बताकर बड़ा उपकार किया।' अब कृष्ण सोलह कलाके अवतार हैं—यह बात उन्होंने सुनी ही नहीं, इस तरफ उनका ध्यान ही नहीं गया।

भगवान्के प्रति भक्तोंके अलग-अलग भाव होते हैं। कोई कहता है कि दशरथजीकी गोदमें खेलनेवाले जो रामलला हैं, वे ही हमारे इष्ट हैं—'**इष्टदेव मम बालक रामा**' (मानस ७। ७५। ३); राजाधिराज रामचन्द्रजी नहीं, छोटा-सा रामलला। कोई भक्त कहता है कि हमारे इष्ट तो लड्डूगोपाल हैं, नन्दके लाला हैं। वे भक्त अपने रामललाको, नन्दललाको सन्तोंसे आशीर्वाद दिलाते हैं, तो भगवान्को यह बहुत प्यारा लगता है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी दृष्टि भगवान्के ऐश्वर्यकी तरफ जाती ही नहीं।

या ब्रजरज की परस से, मुकति मिलत है चार।
वा रज को नित गोपिका, डारत डगर बुहार॥

आँगनकी जिस रजमें कन्हैया खेलते हैं, वह रज कोई ले ले तो उसको चारों प्रकारकी मुक्ति मिल जाय। पर यशोदा मैया उसी रजको बुहारकर बाहर फेंक देती हैं। मैयाके लिये तो वह कूड़ा-करकट है। अब मुक्ति किसको चाहिये? मैयाकी केवल कन्हैयाकी तरफ ही दृष्टि है। न तो कन्हैयाके ऐश्वर्यकी तरफ दृष्टि है और न योग्यताकी तरफ ही दृष्टि है।

सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्से मिलना हो तो साथमें साथी भी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो। जब साथी, सहारा साथमें है, तो तुम क्या मिले भगवान्से? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा। परदेमें मिलन थोड़े ही होता है! वहाँ तो कपड़ेका भी व्यवधान होता है। कपड़ा ही नहीं, माला भी आड़में आ जाय तो मिलन क्या हुआ? इसलिये साथमें कोई साथी और सामान न हो; फिर भगवान्से जो मिलन होगा, वह बड़ा विलक्षण और दिव्य होगा।

एक महात्माजीको खेतमें काम करनेवाला एक व्रजवासी ग्वाला मिल गया। वह भगवान्का भक्त था। महात्माजीने उससे पूछा—'तुम क्या करते हो?' उसने कहा—'हम तो अपने लाला कन्हैयाका काम करते हैं।' महात्माजीने कहा—'हम भगवान्के अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो?' उसने कहा—'हम फनन्य भक्त हैं।' महात्माजीने पूछा—'फनन्य भक्त क्या होता है?' तो उसने भी पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है?' महात्माजीने कहा—'अनन्य भक्त वह होता है जो सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्मा आदि किसीको भी न माने, केवल हमारे कन्हैयाको ही माने।' उसने कहा—'बाबाजी, हम तो इन ससुरोंका नाम भी नहीं जानते कि ये क्या होते हैं, क्या नहीं होते; हमें इनका पता ही नहीं है; तो हम फनन्य हो गये कि नहीं?' इस प्रकार ब्रह्म क्या होता है? आत्मा क्या होती है? सगुण और निर्गुण क्या होता है? साकार और निराकार क्या होता है? आदि बातोंकी तरफ शरणागत भक्तकी दृष्टि ही नहीं जानी चाहिये।

व्रजकी एक बात है। एक सन्त कुएँपर किसीसे बात कर रहे थे कि ब्रह्म है, परमात्मा है, जीवात्मा है आदि। वहाँ एक गोपी जल भरने आयी। उसने कान लगाया कि बाबाजी क्या बात कर रहे हैं। जब वह गोपी दूसरी गोपीसे मिली तो उससे पूछा—'अरी सखी! यह ब्रह्म क्या होता है?' उसने कहा—'हमारे लालाका ही कोई अड़ोसी-पड़ोसी, सगा-सम्बन्धी होगा! हमलोग तो जानती नहीं सखी! ये लोग उसीकी धुनमें लगे हैं न? इसलिये सब जानते हैं। हमारे तो एक नन्दके लाला ही हैं। कोई काम हो तो नन्दबाबासे कह देंगी, गिरिराजसे कह देंगी कि महाराज! आप कृपा करो। कन्हैया तो भोला-भाला है, वह क्या समझेगा और क्या करेगा? कन्हैयासे क्या मिलेगा? अरी सखी! वह कन्हैया हमारा है, और क्या मिलेगा? हम भी अकेली हैं और वह कन्हैया भी अकेला है। हमारे पास भी कुछ सामान नहीं और उसके पास भी कुछ सामान नहीं, बिलकुल नंग-धड़ंग बाबा—'**नगन मूरति बाल गुपालकी, कतरनी बरनी जग-जालकी।**' अब ऐसे कन्हैयासे क्या मिलेगा?

यशोदा मैया दाऊजीसे कहती हैं—'देख दाऊ! यह कन्हैया बहुत भोला-भाला है, तू इसका खयाल रखा कर कि कहीं यह जंगलमें दूर न चला जाय।' दाऊजी कहते हैं— 'मैया! यह कन्हैया बड़ा चंचल है। जंगलमें मेरे साथ चलते-चलते कोई साँपका बिल देखता है तो उसमें हाथ डाल देता है, अब इसे कोई साँप काट ले तो?' मैया कहती है—'बेटा! अभी वह छोटा-सा अबोध बालक है, तू बड़ा है, इसलिये इसकी निगाह रखा कर।' अब दाऊ भैया और सब ग्वाल-बाल कन्हैयाकी निगाह रखते हैं। ग्वाल-बालोंसे कोई कहे कि कन्हैया तो सब दुनियाका पालन करता है, तो वे यही कहेंगे कि तुम्हारा ऐसा भगवान् होगा, जो सब दुनियाका पालन करता होगा। हमारा तो ऐसा नहीं है। हमारा छोटा-सा कन्हैया दुनियाका क्या पालन करेगा?

एक बाबाजीकी गोपियोंसे बातचीत चली। वे बाबाजी बात करते-करते कहने लगे कि कृष्ण इतने ऐश्वर्यशाली हैं, उनका इतना माधुर्य है, उनके पास ऐश्वर्यका इतना खजाना है, आदि। तो गोपियाँ कहने लगीं—'महाराज! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है! कन्हैयाके पास क्या है? उसके पास तो कुछ भी नहीं है। कोई उससे माँगेगा तो वह कहाँसे देगा?' इसलिये किसीको कुछ चाहिये तो वह कन्हैयाके पास न जाये। कन्हैयाके पास, उसकी शरणमें तो वही जाये, जिसको कभी कुछ नहीं चाहिये। किसी भी अवस्थामें कुछ भी चाहनेका भाव न हो अर्थात् विपत्ति, मौत आदिकी अवस्थामें भी 'मेरी थोड़ी सहायता कर दो, रक्षा कर दो' ऐसा भाव भी नहीं हो!

भगवान् श्रीरामसे वाल्मीकिजी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(मानस २। १३१)

कुछ भी चाहनेका भाव न होनेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं—'**तुम्ह सन सहज सनेहु।**' जिसमें चाह नहीं है, वह भगवान्‌का खास घर है—'**सो राउर निज गेहु।**' यदि चाहना भी साथमें रखें और भगवान्‌को भी साथमें रखें तो वह भगवान्‌का खास घर नहीं है। भगवान्‌के साथ 'सहज' स्नेह हो, स्नेहमें कोई मिलावट न हो अर्थात् कुछ भी चाहना न हो। जहाँ कुछ भी चाहना हो जाय, वहाँ प्रेम कैसा? वहाँ तो आसक्ति, वासना, मोह, ममता ही होते हैं। इसलिये गोपियाँ सावधान करती हुई कहती हैं—

मा यात पान्थाः पथिभीमरथ्यां
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'अरे पथिको! उस गलीसे मत जाना, वह बड़ी भयावनी है। वहाँ अपने नितम्बविम्बपर दोनों हाथ रखे जो तमालके समान नीले रंगका एक नंग-धड़ंग बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रका अवधूत है। वास्तवमें तो वह अपने पासमेंसे होकर निकलनेवाले किसी भी पथिकके चित्तरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता।'

वह जो काला-काला नंग-धड़ंग बालक खड़ा है न? उससे तुम लुट जाओगे, रीते रह जाओगे! वह ऐसा चोर है कि सब खत्म कर देगा। उधर जाना ही मत, पहले ही खयाल रखना। अगर चले गये तो फिर सदाके लिये ही चले गये! इसलिये कोई अच्छी तरहसे जीना चाहे तो उधर मत जाय। उसका नाम कृष्ण है न? कृष्ण कहते हैं खींचने-वालेको। एक बार खींच ले तो फिर छोड़े ही नहीं। उससे पहचान न हो, तबतक तो ठीक है। अगर उससे पहचान हो गयी तो फिर मामला खत्म। फिर किसी कामके नहीं रहोगे, त्रिलोकीभरमें निकम्मे हो जाओगे!

'नारायन' बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की।
जाहि लगन लगी घनस्याम की॥

हाँ, जो किसी कामका नहीं होता, वह सबके लिये सब कामका होता है। परन्तु उसको किसी कामसे कोई मतलब नहीं होता।

शरणागत भक्तको भजन भी करना नहीं पड़ता। उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक भजन होता है। भगवान्‌का नाम उसे स्वाभाविक ही बड़ा मीठा, प्यारा लगता है। अगर कोई पूछे कि तुम श्वास क्यों लेते हो? यह हवाको भीतर-बाहर करनेका क्या धंधा शुरू कर रखा है? तो यही कहेंगे कि भाई! यह धंधा नहीं है, इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। ऐसे ही शरणागत भक्त भजनके बिना रह ही नहीं सकता। जिसको सब कुछ अर्पण कर दिया, उसके विस्मरणमें परम व्याकुलता, महान् छटपटाहट होने लगती है—'**तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति**' (नारदभक्तिसूत्र १९)। ऐसे भक्तसे अगर कोई कहे कि आधे क्षणके लिये भगवान्‌को भूल जानेसे त्रिलोकीका राज्य मिलेगा, तो वह इसे भी ठुकरा

देगा। भागवतमें आया है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ५३)

'तीनों लोकोंके समस्त ऐश्वर्यके लिये भी उन देवदुर्लभ भगवच्चरणकमलोंका जो आधे निमेषके लिये भी त्याग नहीं कर सकते, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं।'

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

भगवान् कहते हैं कि 'स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता।'

भरतजी कहते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

(मानस २। २०४)

परिशिष्ट भाव— भगवान्‌के साथ कर्मयोगीका 'नित्य' सम्बन्ध होता है, ज्ञानयोगीका 'तात्त्विक' सम्बन्ध होता है और शरणागत भक्तका 'आत्मीय' सम्बन्ध होता है। नित्य सम्बन्धमें संसारके अनित्य सम्बन्धका त्याग है, तात्त्विक सम्बन्धमें तत्त्वके साथ एकता (तत्त्वबोध) है और आत्मीय सम्बन्धमें भगवान्‌के साथ अभिन्नता (प्रेम) है। नित्य-सम्बन्धमें शान्तरस है, तात्त्विक सम्बन्धमें अखण्डरस है और आत्मीय सम्बन्धमें अनन्तरस है। अनन्तरसकी प्राप्ति हुए बिना जीवकी भूख सर्वथा नहीं मिटती। अनन्तरसकी प्राप्ति शरणागतिसे होती है। इसलिये शरणागति सर्वगुह्यतम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है।

'**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' पदका अर्थ 'सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग' नहीं है, प्रत्युत 'सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग' है। तात्पर्य है कि किसी भी धर्म (कर्तव्य कर्म)-का आश्रय न हो। जैसे, पहले अध्यायमें आया है—'**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च**' (१। ३३)। वहाँ भी '**प्राणांस्त्यक्त्वा**' का अर्थ 'प्राणोंका त्याग' न लेकर 'प्राणोंके आश्रय (आशा)-का त्याग' ही लिया जा सकता है; क्योंकि प्राणोंका त्याग करके कोई युद्धमें कैसे खड़ा होगा? असम्भव बात है। इसी तरह पहले अध्यायके नवें श्लोकमें आया है—'**अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः**' तो इसका अर्थ यह नहीं है कि बहुत-से अन्य शूरवीर अपने जीवनका त्याग करके खड़े हैं। इसका अर्थ है कि वे शूरवीर अपने जीवनकी आशाका त्याग करके खड़े हैं अर्थात् उनको अपने जीवनकी परवाह नहीं है। अतः यहाँ भी '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' पदका अर्थ 'धर्मोंके आश्रयका त्याग' लेना चाहिये। जैसे शूरवीरोंको अपने प्राणोंकी अथवा अपने जीवनकी परवाह नहीं है, ऐसे ही भक्तको दूसरे धर्मोंकी परवाह नहीं है। उसकी दृष्टिमें दूसरे धर्मों (कर्तव्य कर्मों)-का महत्त्व नहीं है। कारण कि भगवान्‌की शरणागतिका जितना महत्त्व है, उतना धर्मोंका महत्त्व नहीं है। धर्म (कर्तव्य-कर्म)-में जड़ताका और शरणागतिमें चिन्मयताका सम्बन्ध रहता है। कर्तव्य कर्म अपने वर्णाश्रमको लेकर होता है; अतः उसमें शरीरकी मुख्यता रहती है। परन्तु शरणागति स्वयंको लेकर होती है; अतः उसमें भगवान्‌की मुख्यता रहती है।

'**मामेकं शरणं व्रज**' का तात्पर्य है—बाहरसे (व्यवहारमें) सबके साथ प्रेम, आदर-सत्कारका व्यवहार करनेपर भी भीतरसे किसीकी गरज न हो, किसीका आश्रय न हो, केवल भगवान्‌का ही आश्रय हो—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई॥

(विनय-पत्रिका १०३)

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

वास्तवमें पूर्ण शरणागति भगवान् ही प्रदान करते हैं। जैसे छोटा बालक अपना हाथ ऊँचा करता है तो माँ उसको उठा लेती है, ऐसे ही भक्त अपनी शक्तिसे भगवान्‌के सम्मुख होता है, शरणागतिकी तैयारी करता है तो भगवान् उसको पूर्ण शरणागति दे देते हैं।

अर्जुन पापोंसे छूटना चाहते थे, इसलिये भगवान्‌ने भी पापोंसे मुक्त करनेकी बात कही है; क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। वास्तवमें केवल पापोंसे मुक्ति ही शरणागतिका फल नहीं है। अनन्य शरणागतिसे मनुष्य भगवान्‌से अभिन्न होकर अनन्तरसको प्राप्त कर सकता है! इसलिये साधकको पापोंसे अथवा दुःखोंसे मुक्ति पानेकी इच्छा न रखकर केवल भगवान्‌के शरणागत हो जाना चाहिये। कुछ भी चाहनेसे कुछ (अन्तवाला) ही मिलता है, पर कुछ भी न चाहनेसे सब कुछ (अनन्त) मिलता है! भगवान् भी शरणागत भक्तके वशमें हो जाते हैं, उसके ऋणी हो जाते हैं।

यह शरणागति गीताका सार है, जिसको भगवान्‌ने विशेष कृपा करके कहा है। इस शरणागतिमें ही गीताके उपदेशकी पूर्णता होती है। इसके बिना गीता अधूरी रहती! इसलिये अर्जुनके द्वारा **'करिष्ये वचनं तव'** कहकर पूर्ण शरणागति स्वीकार करनेपर फिर भगवान् नहीं बोले।

सम्बन्ध—अब पूर्वश्लोकमें कहे अत्यन्त गोपनीय वचनको अनधिकारियोंके सामने कहनेका निषेध करते हैं।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

इदम्	= यह सर्वगुह्यतम वचन	**कदाचन**	= कभी		कहना चाहिये
ते	= तुझे	**न**	= नहीं कहना चाहिये	**च**	= और
अतपस्काय	= अतपस्वीको	**च**	= तथा	**यः**	= जो
न	= नहीं	**अशुश्रूषवे**	= जो सुनना नहीं चाहता,	**माम्**	= मुझमें
वाच्यम्	= कहना चाहिये;	**न**	= (उसको) नहीं	**अभ्यसूयति**	= दोषदृष्टि करता है, (उसको भी)
अभक्ताय	= अभक्तको			**न**	= नहीं कहना चाहिये।

व्याख्या—**'इदं ते नातपस्काय'**—पूर्वश्लोकमें आये **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**—इस सर्वगुह्यतम वचनके लिये यहाँ **'इदम्'** पद आया है।

अपने कर्तव्यका पालन करते हुए स्वाभाविक जो कष्ट आ जाय, विपरीत परिस्थिति आ जाय, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहनेका नाम 'तप' है। तपके बिना अन्तःकरणमें पवित्रता नहीं आती और पवित्रता आये बिना अच्छी बातें धारण नहीं होतीं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो तपस्वी नहीं है, उसको यह सर्वगुह्यतम रहस्य नहीं कहना चाहिये।

जो सहिष्णु अर्थात् सहनशील नहीं है, वह भी अतपस्वी है। अतः उसको भी यह सर्वगुह्यतम रहस्य नहीं कहना चाहिये। यह सहिष्णुता चार प्रकारकी होती है—

(१) **द्वन्द्वसहिष्णुता**—राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाना—**'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः'** (गीता ७। २८); **'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैः'** (गीता १५। ५)।

(२) **वेगसहिष्णुता**—काम, क्रोध, लोभ, द्वेष आदिके वेगोंको उत्पन्न न होने देना—**'कामक्रोधोद्भवं वेगम्'** (गीता ५। २३)।

(३) **परमतसहिष्णुता**—दूसरोंके मतकी महिमा सुनकर अपने मतमें सन्देह न होना और उनके मतसे उद्विग्न न होना*—**'एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'** (गीता ५। ५)।

(४) **परोत्कर्षसहिष्णुता**—अपनेमें योग्यता, अधिकार, पद, त्याग, तपस्या आदिकी कमी है, तो भी दूसरोंकी योग्यता, अधिकार आदिकी प्रशंसा सुनकर अपनेमें कुछ भी विकार न होना—**'विमत्सरः'** (गीता ४। २२); **'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः'** (गीता १२। १५)।

*** आपसमें मतभेद होना और अपने मतके अनुसार साधन करके जीवन बनाना दोष नहीं है, प्रत्युत दूसरोंका मत बुरा लगना, उनके मतका खण्डन करना, उनके मतसे घृणा करना ही दोष है।**

ये चारों सहिष्णुताएँ सिद्धोंकी हैं। ये सहिष्णुताएँ जिसका लक्ष्य हों, वही तपस्वी है और जिसका लक्ष्य न हों, वही अतपस्वी है।

ऐसे अतपस्वी अर्थात् असहिष्णु[१] को सर्वगुह्यतम रहस्य न सुनानेका मतलब है कि 'सम्पूर्ण धर्मोंको मेरेमें अर्पण करके तू अनन्यभावसे मेरी शरण आ जा'—इस बातको सुनकर उसके मनमें कोई विपरीत भावना या दोष आ जाय, तो वह मेरी इस सर्वगुह्यतम बातको सह नहीं सकेगा और इसका निरादर करेगा, जिससे उसका पतन हो जायगा।

दूसरा भाव यह है कि जिसका अपनी वृत्तियों, आचरणों, भावों आदिको शुद्ध करनेका उद्देश्य नहीं है, वह यदि मेरी 'तू मेरी शरणमें आ जा, तो मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर'—इन बातोंको सुनेगा तो 'मैं चिन्ता क्यों करूँ? चिन्ता भगवान् करेंगे' ऐसा उलटा समझकर दुर्गुण-दुराचारोंमें लग जायगा और अपना अहित कर लेगा। इससे मेरी सर्वगुह्यतम बातका दुरुपयोग होगा। अतः इसे कुपात्रको कभी मत सुनाना।

'नाभक्ताय कदाचन'—जो भक्तिसे रहित है, जिसका भगवान्‌पर भरोसा, श्रद्धा-विश्वास नहीं है, उसको भी यह बात मत कहना; क्योंकि श्रद्धा-विश्वास और भक्ति न होनेसे उसकी यह विपरीत धारणा हो सकती है कि 'भगवान् तो आत्मश्लाघी हैं, स्वार्थी हैं और दूसरोंको वशमें करना चाहते हैं। जो दूसरोंको अपनी आज्ञामें चलाना चाहता है, वह दूसरोंको क्या निहाल करेगा? उसके शरण होनेसे क्या लाभ?' आदि-आदि। इस प्रकार दुर्भाव करके वह अपना पतन कर लेगा। इसलिये ऐसे अभक्तको कभी मत कहना।

'न चाशुश्रूषवे वाच्यम्'—जो इस रहस्यको सुनना नहीं चाहता, इसकी उपेक्षा करता है, उसको भी कभी मत सुनाना; क्योंकि बिना रुचिके, जबर्दस्ती सुनानेसे वह इस बातका तिरस्कार करेगा, उसको सुनना अच्छा नहीं लगेगा, उसका मन इस बातको फेंकेगा। यह भी उसके द्वारा एक अपराध होगा। अपराध करनेवालेका भला नहीं होता। अतः जो सुनना नहीं चाहता, उसको मत सुनाना।

'न च मां योऽभ्यसूयति'—जो गुणोंमें दोषारोपण करता है, उसको भी मत सुनाना; क्योंकि उसका अन्तःकरण अत्यधिक मलिन होनेके कारण वह भगवान्‌की बात सुनकर उलटे उनमें दोषारोपण ही करेगा।

दोषदृष्टि रहनेसे मनुष्य महान् लाभसे वंचित हो जाता है और अपना पतन कर लेता है। अतः दोषदृष्टि करना बड़ा भारी दोष है। यह दोष श्रद्धालुओंमें भी रहता है। इसलिये साधकको सावधान होकर इस भयंकर दोषसे बचते रहना चाहिये। भगवान्‌ने भी (गीता—तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें) जहाँ अपना मत बताया, वहाँ **'श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः'** पदोंसे यह बात कही कि श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित मनुष्य कर्मोंसे छूट जाता है। ऐसे ही गीताके माहात्म्य (इसी अध्यायके इकहत्तरवें श्लोक)-में भी **'श्रद्धावाननसूयश्च'** पदोंसे यह बताया कि श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित मनुष्य केवल गीताको सुननेमात्रसे वैकुण्ठ आदि लोकोंको चला जाता है।

इस गोपनीय रहस्यको दूसरोंसे मत कहना—यह कहनेका तात्पर्य दूसरोंको इस गोपनीय तत्त्वसे वंचित रखना नहीं है, प्रत्युत जिसकी भगवान् और उनके वचनोंपर श्रद्धा-भक्ति नहीं है, वह भगवान्‌को स्वार्थी समझकर (जैसे साधारण मनुष्य अपने स्वार्थके लिये ही किसीको स्वीकार करते हैं), भगवान्‌पर दोषारोपण करके महान् पतनकी तरफ न चला जाय, इसलिये उसको कहनेका निषेध किया है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने अभक्तको और दोषदृष्टिवालेको सर्वगुह्यतम वचन न कहनेपर विशेष जोर दिया है। अभक्त और दोषदृष्टिवालेको कहनेमें जितना दोष है, उतना दोष अतपस्वी और सुनना न चाहनेवालेको कहनेमें नहीं है; क्योंकि अभक्त और दोषदृष्टिवालेमें विपरीत बुद्धि है।

'अभक्त' का अर्थ है—भक्तिका विरोधी। जिसमें भक्तिका अभाव है, उसको यहाँ 'अभक्त' नहीं कहा गया है। जो भक्त है, उसमें भी बेसमझीसे असूया-दोष आ सकता है[२], पर भक्तिके कारण वह दोष स्वतः मिट जाता है।

'अशुश्रूषवे' का अर्थ है—जो अहंकारके कारण नहीं सुनना चाहता। जो बेसमझीसे नहीं सुनना चाहता, उसको यहाँ **'अशुश्रूषवे'** नहीं कहा गया है।

१-असहिष्णुता और असूयामें थोड़ा अन्तर है। दूसरोंकी विशेषताको न सहना 'असहिष्णुता' है और दूसरोंके गुणोंमें दोष देखना 'असूया' है।

२-श्रद्धा होनेपर भी साथमें असूया-दोष रह सकता है, इसीलिये भगवान्‌ने श्रद्धाके साथ-साथ असूया-दोषसे रहित होनेकी बात भी कही है—'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः' (गीता ३। ३१), 'श्रद्धावाननसूयश्च' (गीता १८। ७१)।

सम्बन्ध—गीताजीका यह प्रभाव है कि जो इसका प्रचार करेगा, उससे बढ़कर मेरा प्यारा कोई नहीं होगा—यह बात भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

मयि	= मुझमें	**परमम्**	= परम	**माम्**	= मुझे
पराम्, भक्तिम्	= पराभक्ति	**गुह्यम्**	= गोपनीय संवाद (गीताग्रन्थ) को	**एव**	= ही
कृत्वा	= करके	**मद्भक्तेषु**	= मेरे भक्तोंमें	**एष्यति**	= प्राप्त होगा—
यः	= जो	**अभिधास्यति**	= कहेगा, (वह)	**असंशयः**	= इसमें कोई सन्देह नहीं है।
इदम्	= इस				

व्याख्या—'**भक्तिं मयि परां कृत्वा**'—जो मेरेमें पराभक्ति करके इस गीताको कहता है। इसका तात्पर्य है कि जो रुपये, मान-बड़ाई, भेंट-पूजा, आदर-सत्कार आदि किसी भी वस्तुके लिये नहीं कहता, प्रत्युत भगवान्में भक्ति हो जाय, भगवद्भावोंका मनन हो जाय, इन भावोंका प्रचार हो जाय, इनकी आवृत्ति हो जाय, सुनकर लोगोंका दुःख, जलन, सन्ताप आदि दूर हो जाय, सबका कल्याण हो जाय—ऐसे उद्देश्यसे कहता है। इस प्रकार भगवान्की भक्तिका उद्देश्य रखकर कहना ही पराभक्ति करके कहना है।

इसी अध्यायके चौवनवें श्लोकमें कही गयी और इस श्लोकमें कही गयी पराभक्तिमें अन्तर है। वहाँ '**मद्भक्तिं लभते पराम्**' पदोंसे कहा गया है कि ब्रह्मभूत होनेके बाद सांख्ययोगी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् भगवान्से जो अनादिकालका सम्बन्ध है, उसकी स्मृति हो जाती है। परन्तु यहाँ सांसारिक मान-बड़ाई आदि किसीकी भी किंचिन्मात्र कामना न रखकर केवल भगवद्भक्तिकी, भगवत्प्रेमकी अभिलाषा रखना पराभक्ति है, इसलिये यहाँ '**भक्तिं मयि परां कृत्वा**' 'मेरेमें पराभक्ति करके'—ऐसा कहा गया है।

'**य इदं परमं गुह्यम्**'—इन पदोंसे पूरी गीताका परमगुह्य संवाद लेना चाहिये, जो कि गीता-ग्रन्थ कहलाता है। '**परमं गुह्यम्**' पदोंमें ही गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम और सर्वगुह्यतम—ये सब बातें आ जाती हैं।

'**मद्भक्तेष्वभिधास्यति**'—जिसकी भगवान् और उनके वचनोंमें पूज्यबुद्धि है, आदरबुद्धि है, श्रद्धा-विश्वास है और सुनना चाहता है, वह भक्त हो गया। ऐसे मेरे भक्तोंमें जो इस संवादको कहेगा, वह मेरेको प्राप्त होगा।

पीछेके श्लोकमें '**नाभक्ताय**' पदमें एकवचन दिया और यहाँ '**मद्भक्तेषु**' पदमें बहुवचन दिया। इसका तात्पर्य है कि जहाँ बहुत-से श्रोता सुनते हों, वहाँ पहले बताये दोषोंवाला कोई व्यक्ति बैठा हो तो वक्ताके लिये पहले कहा निषेध लागू नहीं पड़ेगा; क्योंकि वक्ता केवल उस (दोषी) व्यक्तिको गीता सुनाता ही नहीं। जैसे कोई कबूतरोंको अनाजके दाने डालता है और कबूतर दाने चुगते हैं। यदि उनमें कोई कौआ आकर दाने चुगने लग जाय तो उसको उड़ाया थोड़े ही जा सकता है! क्योंकि दाना डालनेवालेका लक्ष्य कबूतरोंको दाना डालना ही रहता है, कौओंको नहीं। ऐसे ही कोई गीताका प्रवचन कर रहा है और उस प्रवचनको सुननेके लिये बीचमें कोई नया व्यक्ति आ जाय अथवा कोई उठकर चल दे तो वक्ताका ध्यान उसकी तरफ नहीं रहता। वक्ताका ध्यान तो सुननेवाले लोगोंकी तरफ होता है और उन्हींको वह सुनाता है।

'**मामेवैष्यत्यसंशयः**'—अगर गीता सुनानेवालेका केवल मेरा ही उद्देश्य होगा तो वह मेरेको प्राप्त हो जायगा, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है। कारण कि गीताकी यह एक विचित्र कला है कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंसे भी परमात्माका निष्कामभावपूर्वक पूजन करता हुआ परमात्माको प्राप्त हो जाता है (इसी अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक) और जो खाना-पीना, शौच-स्नान आदि शारीरिक कार्योंको भी भगवान्के अर्पण कर देता है, वह भी शुभ-अशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त हो जाता है (नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ-अट्ठाईसवाँ श्लोक)। तो फिर जो केवल भगवान्की भक्तिका लक्ष्य करके गीताका प्रचार करता है, वह भगवान्को प्राप्त हो जाय, इसमें कहना ही क्या है!

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

तस्मात्	= उसके समान	**न**	= नहीं है	**अन्यः**	= दूसरा कोई
मे	= मेरा	**च**	= और	**प्रियतरः**	= प्रियतर
प्रियकृत्तमः	= अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला	**भुवि**	= इस भूमण्डलपर	**भविता**	= होगा
मनुष्येषु	= मनुष्योंमें	**तस्मात्**	= उसके समान	**च**	= भी
कश्चित्	= कोई भी	**मे**	= मेरा	**न**	= नहीं।

व्याख्या—**'न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः'**—जो अपनेमें लौकिक-पारलौकिक प्राकृत पदार्थोंकी महत्ता, लिप्सा, आवश्यकता रखता है और रखना चाहता है, वह पराभक्ति (इसी अध्यायका अड़सठवाँ श्लोक)-के अन्तर्गत नहीं आ सकता। पराभक्तिके अन्तर्गत वही आ सकता है, जिसका प्राकृत पदार्थोंको प्राप्त करनेका किंचिन्मात्र भी उद्‌देश्य नहीं है और जो भगवत्प्राप्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदि पारमार्थिक उद्‌देश्य रखकर गीताके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहता है। ऐसा पुरुष ही भगवद्‌गीताके प्रचारका अधिकारी होता है। यदि उसमें कभी मान-बड़ाई आदिकी इच्छा आ भी जाय तो वह टिकेगी नहीं; क्योंकि मान-बड़ाई आदि प्राप्त करना उसका उद्‌देश्य नहीं है।

भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका प्रचार करनेवाले उपर्युक्त अधिकारी मनुष्यके लिये ही **'तस्मात्'** पद देकर भगवान् कहते हैं कि मनुष्योंमें उसके समान मेरा प्रियकृत्तम अर्थात् अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला कोई भी नहीं है; क्योंकि गीताप्रचारके समान दूसरा मेरा कोई प्रिय कार्य है ही नहीं।

'प्रियकृत्तमः' पदमें जो **'कृत्'** पद आया है, उसका तात्पर्य है कि गीताका प्रचार करनेमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिकी कोई कामना नहीं है: केवल भगवत्प्रीत्यर्थ गीताके भावोंका प्रचार करता है। इसलिये वह प्रियकृत्तम—भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला है।

मनुष्योंमें प्रियकृत्तम कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का अत्यन्त प्यारा बननेके लिये मनुष्योंको ही अधिकार है। संसारमें कामनाओंकी पूर्ति कर लेना कोई महत्त्वकी, बहादुरीकी बात नहीं है। देवता, पशु-पक्षी, नारकीय जीव, कीट-पतंग, वृक्ष-लता आदि सभी योनियोंमें कामनाकी पूर्ति करनेका अवसर मिलता है; परन्तु कामनाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्ति करनेका अवसर तो केवल मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। इस मनुष्ययोनिको प्राप्त करके परमात्माकी प्राप्ति करनेमें, परमात्माका अत्यन्त प्यारा बननेमें ही मनुष्यजन्मकी सफलता है।

'भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि'—जिसमें अपनी मान-बड़ाईकी वासना है, कुछ स्वार्थभाव भी है और जिसका अपना उद्धार करनेका तथा गीताके अनुसार जीवन बनानेका उद्‌देश्य वैसा (प्रियकृत्तमके समान) नहीं बना है; परन्तु जिसके हृदयमें गीताका विशेष आदर है और गीताका पाठ करवाना, गीता कण्ठस्थ करवाना, गीता मुद्रित करवाकर उसकी सस्ती बिक्री करना आदि किसी तरहसे गीताका प्रचार करता है और लोगोंको गीतामें लगाता है, उसके समान पृथ्वी-मण्डलपर मेरा दूसरा कोई प्रियतर नहीं होगा।

अपने धर्म, सम्प्रदाय, सिद्धान्त आदिका प्रचार करनेवाला व्यक्ति भगवान्‌का प्रिय तो हो सकता है, पर प्रियतर नहीं होगा। प्रियतर तो किसी तरहसे गीताका प्रचार करनेवाला ही होगा।

भगवद्‌गीतामें अपना उद्धार करनेकी ऐसी-ऐसी विलक्षण, सुगम और सरल युक्तियाँ बतायी गयी हैं, जिनको मनुष्य-मात्र अपने आचरणोंमें ला सकता है। तात्पर्य यह है कि जो गीताका आदर करता है, ऐसा मनुष्य हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध आदि किसी भी धर्मको माननेवाला क्यों न हो; किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो; अपनी रुचिके अनुसार किसी भी शैली, उपाय, सिद्धान्त, साधनको माननेवाला क्यों न हो, वह यदि अपना किसी तरहका आग्रह न रखकर, पक्षपात-विषमताको छोड़कर, किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेवाली चेष्टाका त्याग करके, मनमें किसी भी लौकिक-पारलौकिक उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुकी कामना न रखकर, अपना

सम्प्रदाय, अपनी टोली बनानेका उद्देश्य न रखकर, केवल अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर गीताके अनुसार चलता है (अकर्तव्यका सर्वथा त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपने कर्तव्यका लोकहितार्थ, निष्कामभावपूर्वक पालन करता है), तो वह भी जीविका-सम्बन्धी और खाना-पीना, सोना-जागना आदि शरीर-सम्बन्धी सब काम करते हुए परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है, महान् आनन्द, महान् सुखको (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक) प्राप्त कर सकता है।

गीता वेश, आश्रम, अवस्था, क्रिया आदिका परिवर्तन करनेके लिये नहीं कहती, प्रत्युत परिमार्जन करनेके लिये कहती है अर्थात् केवल अपने भाव और उद्देश्यको शुद्ध बनानेके लिये कहती है। गीताकी ऐसी युक्तियोंको जो भगवान्‌की तरफ चलनेवाले भक्तोंमें कहेगा, उससे उन भक्तोंको पारमार्थिक मार्गमें बढ़नेकी युक्तियाँ मिलेंगी, शंकाओंका समाधान होगा, साधनकी उलझनें सुलझेंगी, पारमार्थिक मार्गकी बाधाएँ दूर होंगी, जिससे वे उत्साहसे सुगमतापूर्वक बहुत ही जल्दी अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकेंगे। इसलिये वह भगवान्‌को सबसे अधिक प्यारा होगा; क्योंकि भगवान् जीवके उद्धारसे बड़े राजी होते हैं, प्रसन्न होते हैं।

परिशिष्ट भाव—गीताकी शिक्षासे मनुष्यमात्रका प्रत्येक परिस्थितिमें सुगमतासे कल्याण हो सकता है, इसलिये भगवान् इसके प्रचारकी विशेष महिमा कहते हैं। गीताने युद्ध-जैसी परिस्थितिमें भी कल्याण होनेकी बात कही है—**'सुखदुःखे समे कृत्वा०'** (२। ३८), **'यत्करोषि यदश्नासि०'** (९। २७), **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य०'** (१८। ४६) आदि। जब युद्ध-जैसी परिस्थिति (घोर कर्म)-में भी कल्याण हो सकता है, तो फिर अन्य परिस्थितिमें कैसे नहीं होगा?

जो मनुष्य भगवान्‌का प्यारा हो जाता है, उसको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योग प्राप्त हो जाते हैं।

सम्बन्ध—जिसमें गीताका प्रचार करनेकी योग्यता नहीं है, वह क्या करे? इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

यः	= जो मनुष्य	**अध्येष्यते**	= अध्ययन करेगा,	**इष्टः**	= पूजित
आवयोः	= हम दोनोंके	**तेन**	= उसके द्वारा	**स्याम्**	= होऊँगा—
इमम्	= इस	**च**	= भी	**इति**	= ऐसा
धर्म्यम्	= धर्ममय	**अहम्**	= मैं	**मे**	= मेरा
संवादम्	= संवादका	**ज्ञानयज्ञेन**	= ज्ञानयज्ञसे	**मतिः**	= मत है।

व्याख्या—**'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः'**—तुम्हारा और हमारा यह संवाद शास्त्रों, सिद्धान्तोंके साररूप धर्मसे युक्त है। यह बहुत विचित्र बात है कि परस्पर साथ रहते हुए तुम्हारे-हमारे बहुत वर्ष बीत गये; परन्तु हम दोनोंका ऐसा संवाद कभी नहीं हुआ! ऐसा धर्ममय संवाद तो कोई विलक्षण, अलौकिक अवसर आनेपर ही होता है।

जबतक मनुष्यकी संसारसे उकताहट न हो, वैराग्य या उपरति न हो और हृदयमें जोरदार हलचल न मची हो, तबतक उसकी असली जिज्ञासा जाग्रत् नहीं होती। किसी कारणवश जब यह मनुष्य अपने कर्तव्यका निर्णय करनेके लिये व्याकुल हो जाता है, जब अपने कल्याणके लिये कोई रास्ता नहीं दीखता, बिना समाधानके और कोई सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि किंचिन्मात्र भी अच्छी नहीं लगती, एकमात्र हृदयका सन्देह दूर करनेकी धुन (चटपटी) लग जाती है, एक ही जोरदार जिज्ञासा होती है और दूसरी तरफसे मन सर्वथा हट जाता है, तब यह मनुष्य जहाँसे प्रकाश और समाधान मिलनेकी सम्भावना होती है, वहाँ अपना हृदय खोलकर बात पूछता है, प्रार्थना करता है, शरण हो जाता है, शिष्य हो जाता है।

पूछनेवालेके मनमें जैसी-जैसी उत्कण्ठा बढ़ती है, कहनेवालेके मनमें वैसी-वैसी बड़ी विचित्रता और विलक्षणतासे समाधान करनेवाली बातें पैदा होती हैं। जैसे दूध पीनेके समय बछड़ा जब गायके थनोंपर मुँहसे बार-बार धक्का मारता है और थनोंसे दूध खींचता है, तब गायके शरीरमें रहनेवाला दूध थनोंमें एकदम उतर आता है। ऐसे ही मनमें

जोरदार जिज्ञासा होनेसे जब जिज्ञासु बार-बार प्रश्न करता है, तब कहनेवालेके मनमें नये-नये उत्तर पैदा होते हैं। सुननेवालेको ज्यों-ज्यों नयी बातें मिलती हैं, त्यों-त्यों उसमें सुननेकी नयी-नयी उत्कण्ठा पैदा होती रहती है। ऐसा होनेपर ही वक्ता और श्रोता—इन दोनोंका संवाद बढ़िया होता है।

अर्जुनने ऐसी उत्कण्ठासे पहले कभी बात नहीं पूछी और भगवान्‌के मनमें भी ऐसी बातें कहनेकी कभी नहीं आयी। परन्तु जब अर्जुनने जिज्ञासापूर्वक **'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ......'** (२। ५४)—यहाँसे पूछना प्रारम्भ किया, वहींसे उन दोनोंका प्रश्नोत्तररूपसे संवाद प्रारम्भ हुआ है। इसमें वेदों तथा उपनिषदोंका सार और भगवान्‌के हृदयका असली भाव है, जिसको धारण करनेसे मनुष्य भयंकर-से-भयंकर परिस्थितिमें भी अपने मनुष्यजन्मके ध्येयको सुगमतापूर्वक सिद्ध कर सकता है। प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी घबराये नहीं, प्रत्युत प्रतिकूल परिस्थितिका आदर करते हुए उसका सदुपयोग करे अर्थात् अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करे; क्योंकि प्रतिकूलता पहले किये पापोंका नाश करने और आगे अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करनेके लिये ही आती है। अनुकूलताकी इच्छा जितनी ज्यादा होगी, उतनी ही प्रतिकूल अवस्था भयंकर होगी। अनुकूलताकी इच्छाका ज्यों-ज्यों त्याग होता जायगा, त्यों-त्यों अनुकूलताका राग और प्रतिकूलताका भय मिटता जायगा। राग और भय—दोनोंके मिटनेसे समता आ जायगी। समता परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। गीतामें समताकी बात विशेषतासे बतायी गयी है और गीताने इसीको योग कहा है। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, प्राणायाम आदिकी विलक्षण-विलक्षण बातोंका इसमें वर्णन हुआ है।

'अध्येष्यते' का तात्पर्य है कि इस संवादको कोई ज्यों-ज्यों पढ़ेगा, पाठ करेगा, याद करेगा, उसके भावोंको समझनेका प्रयास करेगा, त्यों-ही-त्यों उसके हृदयमें उत्कण्ठा बढ़ेगी। वह ज्यों-ज्यों समझेगा, त्यों-त्यों उसकी शंकाका समाधान होगा। ज्यों-ज्यों समाधान होगा, त्यों-त्यों इसमें अधिक रुचि पैदा होगी। ज्यों-ज्यों रुचि अधिक पैदा होगी, त्यों-त्यों गहरे भाव उसकी समझमें आयेंगे और फिर वे भाव उसके आचरणोंमें, क्रियाओंमें, बर्तावमें आने लगेंगे। आदरपूर्वक आचरण करनेसे वह गीताकी मूर्ति बन जायगा, उसका जीवन गीतारूपी साँचेमें ढल जायगा अर्थात् वह चलती-फिरती भगवद्गीता हो जायगी। उसको देखकर लोगोंको गीताकी याद आने लगेगी; जैसे निषादराज गुहको देखकर माताओंको और दूसरे लोगोंको लखनलालकी याद आती है*।

'ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्याम्'—यज्ञ दो प्रकारके होते हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ। जो यज्ञ पदार्थों और क्रियाओंकी प्रधानतासे किया जाता है, वह 'द्रव्ययज्ञ' कहलाता है और उत्कण्ठासे केवल अपनी आवश्यक वास्तविकताको जाननेके लिये जो प्रश्न किये जाते हैं, विज्ञ पुरुषोंद्वारा उनका समाधान किया जाता है, उनपर गहरा विचार किया जाता है, विचारके अनुसार अपनी वास्तविक स्थितिका अनुभव किया जाता है तथा वास्तविक तत्त्वको जानकर ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है, वह 'ज्ञानयज्ञ' कहलाता है। परन्तु यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तुम्हारे-हमारे संवादका कोई पाठ करेगा तो मैं उसके द्वारा भी ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाऊँगा। इसमें कारण यह है कि जैसे प्रेमी भक्तको कोई भगवान्‌की बात सुनाये, उसकी याद दिलाये तो वह बड़ा प्रसन्न होता है, ऐसे ही कोई गीताका पाठ करे, अभ्यास करे तो भगवान्‌को अपने अनन्य भक्तकी, उसकी उत्कण्ठापूर्वक जिज्ञासाकी और उसे दिये हुए उपदेशकी याद आ जाती है और वे बड़े प्रसन्न होते हैं एवं उस पाठ, अभ्यास आदिको ज्ञानयज्ञ मानकर उससे पूजित होते हैं। कारण कि पाठ, अभ्यास आदि करनेवालेके हृदयमें उसके भावोंके अनुसार भगवान्‌का नित्यज्ञान विशेषतासे स्फुरित होने लगता है।

'इति मे मतिः'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि जब कोई गीताका पाठ करता है तो मैं उसको सुनता हूँ; क्योंकि मैं सब जगह रहता हूँ—**'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९। ४) और सब जगह ही मेरे कान हैं—**'सर्वतः-श्रुतिमल्लोके'** (गीता १३। १३)। अतः उस पाठको सुनते ही मेरे हृदयमें विशेषतासे ज्ञान, प्रेम, दया आदिका समुद्र लहराने लगता है और गीतोपदेशकी यादमें मेरी बुद्धि सराबोर हो जाती है। वह पूजन करता है—ऐसी बात नहीं है, वह तो पाठ करता है; परन्तु मैं उससे पूजित हो जाता हूँ अर्थात् उसको ज्ञानयज्ञका फल मिल जाता है।

---

* **जानि लखन सम देहिं असीसा। जिअहु सुखी सय लाख बरीसा॥**
निरखि निषादु नगर नर नारी। भए सुखी जनु लखनु निहारी॥ (मानस २। १९६। ३)

दूसरा भाव यह है कि पाठ करनेवाला यदि उतने गहरे भावोंमें नहीं उतरता, केवल पाठमात्र या यादमात्र करता है तो भी उससे मेरे हृदयमें तेरे और मेरे सारे संवादकी (उत्कण्ठापूर्वक किये गये तेरे प्रश्नोंकी और मेरे दिये हुए गहरे वास्तविक उत्तरोंकी) एक गहरी मीठी-मीठी स्मृति बार-बार आने लगती है। इस प्रकार गीताका अध्ययन करनेवाला मेरी बड़ी भारी सेवा करता है, ऐसा मैं मान लेता हूँ।

विदेशमें किसी जगह एक जलसा हो रहा था। उसमें बहुत-से लोग इकट्ठे हुए थे। एक पादरी उस जलसेमें एक लड़केको ले आया। वह लड़का पहले नाटकमें काम किया करता था। पादरीने उस लड़केको दस-पन्द्रह मिनटका एक बहुत बढ़िया व्याख्यान सिखाया। साथ ही ढंगसे उठना, बैठना, खड़े होना, इधर-उधर ऐसा-ऐसा देखना आदि व्याख्यानकी कला भी सिखायी। व्याख्यानमें बड़े ऊँचे दर्जेकी अंग्रेजीका प्रयोग किया गया था। व्याख्यानका विषय भी बहुत गहरा था। पादरीने व्याख्यान देनेके लिये उस बालकको मेजपर खड़ा कर दिया। बच्चा खड़ा हो गया और बड़े मिजाजसे दायें-बायें देखने लगा और बोलनेकी जैसी-जैसी रिवाज है, वैसे-वैसे सम्बोधन देकर बोलने लगा। वह नाटकमें रहा हुआ था, उसको बोलना आता ही था; अतः वह गंभीरतासे, मानो अर्थोंको समझते हुएकी मुद्रामें ऐसा विलक्षण बोला कि जितने सदस्य बैठे थे, वे सब अपनी-अपनी कुर्सियोंपर उछलने लगे। सदस्य इतने प्रसन्न हुए कि व्याख्यान पूरा होते ही वे रुपयोंकी बौछार करने लगे। अब वह बालक सभाके ऊपर-ही-ऊपर घुमाया जाने लगा। उसको सब लोग अपने-अपने कन्धोंपर लेने लगे। परन्तु उस बालकको यह पता ही नहीं था कि मैंने क्या कहा है! वह तो बेचारा ज्यादा पढ़ा-लिखा न होनेसे अंग्रेजीके भावोंको भी पूरा नहीं समझता था, पर सभावाले सभी लोग समझते थे। इसी प्रकार कोई गीताका अध्ययन करता है, पाठ करता है तो वह भले ही उसके अर्थको, भावोंको न समझे, पर भगवान् तो उसके अर्थको, भावोंको समझते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं उसके अध्ययनरूप, पाठरूप ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाता हूँ। सभामें जैसे बालकके व्याख्यानसे सभापति तो खुश हुआ ही, पर उसके साथ-साथ सभासद् भी बड़े खुश हुए और उत्साहपूर्वक बच्चेका आदर करने लगे, ऐसे ही गीता पाठ करनेवालेसे भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं तथा स्वयं वहाँ निवास करते हैं, साथ-ही-साथ प्रयाग आदि तीर्थ, देवता, ऋषि, योगी, दिव्य नाग, गोपाल, गोपिकाएँ, नारद, उद्धव आदि भी वहाँ निवास करते हैं*।

परिशिष्ट भाव—भगवान् ज्ञानयज्ञको द्रव्यमय यज्ञसे भी श्रेष्ठ मानते हैं—'**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप**' (गीता ४। ३३)। जब गीताके अध्ययनका ही इतना माहात्म्य है तो फिर उसके अनुसार आचरण करनेका तो कहना ही क्या?

सम्बन्ध—जो गीताका प्रचार और अध्ययन भी न कर सके, वह क्या करे? इसके लिये आगेके श्लोकमें उपाय बताते हैं।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

श्रद्धावान् = श्रद्धावान्
च = और
अनसूयः = दोषदृष्टिसे रहित
यः = जो
नरः = मनुष्य (इस गीता-ग्रन्थको)
शृणुयात्, अपि = सुन भी लेगा,
सः = वह
अपि = भी
मुक्तः = शरीर छूटनेपर
पुण्यकर्मणाम् = पुण्यकारियोंके
शुभान् = शुभ
लोकान् = लोकोंको
प्राप्नुयात् = प्राप्त हो जायगा।

* **गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते। तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै॥**
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः। सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम्। तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि॥

व्याख्या—‘**श्रद्धावाननसूयश्च .... पुण्यकर्मणाम्**’—गीताकी बातोंको जैसा सुन ले, उसको प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावसहित वैसा-का-वैसा माननेवालेका नाम ‘**श्रद्धावान्**’ है और उन बातोंमें कहीं भी, किसी भी विषयमें किंचिन्मात्र भी कमी न देखनेवालेका नाम ‘**अनसूयः**’ है। ऐसा श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित मनुष्य गीताको केवल सुन भी ले, तो वह भी शरीर छूटनेपर सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है।

यहाँ दो बार ‘**अपि**’ पद देनेका तात्पर्य है कि जो गीताका प्रचार करता है, अध्ययन करता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है! पर जो सुन भी लेता है, वह मनुष्य भी शरीर छूटनेपर शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

मनुष्यकी वाणीमें प्रायः भ्रम, प्रमाद, लिप्सा और करणापाटव—ये चार दोष होते हैं*। अतः मनुष्यकी वाणी सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकती। परन्तु भगवान्‌की दिव्य वाणीमें इन चारोंमेंसे कोई भी दोष नहीं रह सकता; क्योंकि भगवान् निर्दोषताकी परावधि हैं अर्थात् भगवान्‌से बढ़कर निर्दोषता किसीमें कभी होती ही नहीं। इसलिये भगवान्‌के वचनोंमें किसी प्रकारके संशयकी सम्भावना ही नहीं है। अतः गीता सुननेवालेको कोई विषय समझमें कम आये, विचारद्वारा कोई बात न जँचे, तो समझना चाहिये कि इस विषयको समझनेमें मेरी बुद्धिकी कमी है, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ—इस भावको दृढ़तासे धारण करनेपर असूया-दोष मिट जाता है। भगवान्‌में अत्यधिक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भक्ति होनेपर भी असूया-दोष नहीं रहता।

चैतन्य महाप्रभुका एक भक्त था। वह रोज गीताका पाठ करते हुए मस्त हो जाता था, गद्‌गद हो जाता था और रोने लगता था। वह शुद्ध पाठ नहीं करता था। उसके पाठमें अशुद्धियाँ आती थीं। उसके विषयमें किसीने चैतन्य महाप्रभुसे शिकायत कर दी कि ‘देखिये प्रभु! वह बड़ा पाखण्ड करता है; पाठ तो शुद्ध करता नहीं और रोता रहता है।’ चैतन्य महाप्रभुने उसको अपने पास बुलाकर पूछा—‘तुम गीताका पाठ करते हो, तो क्या उसका अर्थ जानते हो!’ उसने कहा—‘नहीं प्रभु!’ फिर पूछा—‘तो फिर तुम रोते क्यों हो!’ उसने कहा—‘मैं जब ‘**अर्जुन उवाच**’ पढ़ता हूँ; तो अर्जुन भगवान्‌से पूछ रहे हैं—‘ऐसा मेरेको प्रत्यक्ष दीखता है और जब मैं ‘**श्रीभगवानुवाच**’ पढ़ता हूँ, तो भगवान् अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर दे रहे हैं—ऐसा मेरेको प्रत्यक्ष दीखता है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका आपसमें संवाद हो रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष दीखता है; परन्तु अर्जुन क्या पूछते हैं और भगवान् क्या उत्तर देते हैं, यह मेरी समझमें नहीं आता। मैं तो उन दोनोंके दर्शन कर-करके राजी होता हूँ।’ उसकी ऐसी श्रद्धा-भक्ति देखकर चैतन्य महाप्रभु बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकारकी श्रद्धा-भक्तिवाला मनुष्य गीताको केवल सुन भी ले, तो उसकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं रहता। वह शरीर छूटनेपर सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ ‘**पुण्यकर्मणाम्**’ पदसे सकामभावपूर्वक यज्ञ, अनुष्ठान आदि पुण्य-कर्म करनेवालोंको नहीं लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌ने उनको ऊँचा नहीं माना है, प्रत्युत उनके बारेमें कहा है कि वे बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं (गीता—नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। यहाँ उन पुण्यकर्मा भक्तोंको लेना चाहिये, जिनको भगवान्‌का प्रेम, दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है। ऐसे पुण्यकर्मा भक्तोंको अपने-अपने इष्टके अनुसार वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, कैलास आदि जिन दिव्य लोकोंकी प्राप्ति होती है, असूया-दोषरहित श्रद्धावान् पुरुषको गीता सुननेमात्रसे उन लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—‘शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्’—श्रद्धा-भक्तिके तारतम्यसे गीताको सुननेमें तारतम्य रहता है और सुननेके तारतम्यसे श्रोताका स्वर्गादि लोकोंसे लेकर भगवल्लोकतक अधिकार हो जाता है अर्थात् अधिक श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह भगवान्‌के धामको प्राप्त हो जायगा और कम श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह अन्य लोकोंको प्राप्त हो जायगा।

गीताके अध्ययन और श्रवणकी तो बात ही क्या है, गीताको रखनेमात्रका भी बड़ा माहात्म्य है! एक सिपाही था।

***(१) वक्ता जिस विषयका प्रतिपादन करता है, उस विषयमें वह बिलकुल निःसन्देह न हो, इसे ‘भ्रम’ कहते हैं; (२) वक्ता विवेचनमें आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता, तत्परताकी कमी, लोग समझें या न समझें—इसकी बेपरवाह करता है, इसे ‘प्रमाद’ कहते हैं; (३) वक्ताकी रुपये-पैसे, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, सुख-आराम आदि लौकिक-पारलौकिक कुछ भी पानेकी इच्छा है, इसे ‘लिप्सा’ कहते हैं और (४) वक्ता जिन इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, वाणी आदिसे अपने भाव प्रकट करता है, उन करणोंमें पटुता, कुशलता नहीं है और वह श्रोताकी भाषा, भाव, योग्यताको नहीं जानता, इसे ‘करणापाटव’ कहते हैं।**

वह रातके समय कहींसे अपने घर आ रहा था। रास्तेमें उसने चन्द्रमाके प्रकाशमें एक वृक्षके नीचे एक सुन्दर स्त्री देखी। उसने उस स्त्रीसे बातचीत की तो उस स्त्रीने कहा—मैं आ जाऊँ क्या? सिपाहीने कहा—हाँ, आ जा। सिपाहीके ऐसा कहनेपर वह स्त्री, जो वास्तवमें चुड़ैल थी, उसके पीछे आ गयी। अब वह रोज रातमें उस सिपाहीके पास आती, उसके साथ सोती, उसका संग करती और सबेरे चली जाती। इस तरह वह उस सिपाहीका शोषण करने लगी अर्थात् उसका खून चूसकर उसकी शक्ति क्षीण करने लगी। एक बार रातमें वे दोनों लेट गये, पर बत्ती जलती रह गयी तो सिपाहीने उससे कहा कि तू बत्ती बन्द कर दे। उसने लेटे-लेटे ही अपना हाथ लम्बा करके बत्ती बन्द कर दी। अब सिपाहीको पता लगा कि यह कोई सामान्य स्त्री नहीं है, यह तो चुड़ैल है! वह बहुत घबराया। चुड़ैलने उसको धमकी दी कि अगर तू किसीको मेरे बारेमें बतायेगा तो मैं तेरेको मार डालूँगी। इस तरह वह रोज रातमें आती और सबेरे चली जाती। सिपाहीका शरीर दिन-प्रतिदिन सूखता जा रहा था। लोग उससे पूछते कि भैया! तुम इतने क्यों सूखते जा रहे हो? क्या बात है, बताओ तो सही! परन्तु चुड़ैलके डरके मारे वह किसीको कुछ बताता नहीं था। एक दिन वह दुकानसे दवाई लाने गया। दुकानदारने दवाईकी पुड़िया बाँधकर दे दी। सिपाही उस पुड़ियाको जेबमें डालकर घर चला आया। रातके समय जब वह चुड़ैल आयी, तब वह दूरसे ही खड़े-खड़े बोली कि तेरी जेबमें जो पुड़िया है, उसको निकालकर फेंक दे। सिपाहीको विश्वास हो गया कि इस पुड़ियामें जरूर कुछ करामात है, तभी तो आज यह चुड़ैल मेरे पास नहीं आ रही है! सिपाहीने उससे कहा कि मैं पुड़िया नहीं फेकूँगा। चुड़ैलने बहुत कहा, पर सिपाहीने उसकी बात मानी नहीं। जब चुड़ैलका उसपर वश नहीं चला, तब वह चली गयी। सिपाहीने जेबमेंसे पुड़ियाको निकालकर देखा तो वह गीताका फटा हुआ पन्ना था! इस तरह गीताका प्रभाव देखकर वह सिपाही हर समय अपनी जेबमें गीता रखने लगा। वह चुड़ैल फिर कभी उसके पास नहीं आयी।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें गीता सुननेका माहात्म्य बताकर अब अर्जुनकी क्या स्थिति है, क्या दशा है, आदि सब कुछ जानते हुए भी भगवान् भगवद्गीता-श्रवणके माहात्म्यको सबके सामने प्रकट करनेके उद्देश्यसे आगेके श्लोकमें अर्जुनसे प्रश्न करते हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥ ७२॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**चेतसा**	= चित्तसे	**कच्चित्**	= क्या
कच्चित्	= क्या	**एतत्**	= इसको	**ते**	= तुम्हारा
त्वया	= तुमने	**श्रुतम्**	= सुना? (और)	**अज्ञानसम्मोहः**	= अज्ञानसे उत्पन्न मोह
एकाग्रेण	= एकाग्र-	**धनञ्जय**	= हे धनञ्जय!	**प्रनष्टः**	= नष्ट हुआ?

व्याख्या—‘**कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा**’—‘**एतत्**’ शब्द अत्यन्त समीपका वाचक होता है और यहाँ अत्यन्त समीप इकहत्तरवाँ श्लोक है। उनहत्तरवें-सत्तरवें श्लोकोंमें जो गीताका प्रचार और अध्ययन करनेवालेकी महिमा कही है, उस प्रचार और अध्ययनका तो अर्जुनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। इसलिये पीछेके (इकहत्तरवें) श्लोकका लक्ष्य करके भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ‘मनुष्य श्रद्धापूर्वक और दोषदृष्टिरहित होकर गीता सुने’—यह बात तुमने ध्यानपूर्वक सुनी कि नहीं? अर्थात् तुमने श्रद्धापूर्वक और दोषदृष्टिरहित होकर गीता सुनी कि नहीं?

‘**एकाग्रेण चेतसा**’ कहनेका तात्पर्य है कि गीतामें भी जिस अत्यन्त गोपनीय रहस्यको अभी पहले चौंसठवें श्लोकमें कहनेकी प्रतिज्ञा की, सड़सठवें श्लोकमें ‘**इदं ते नातपस्काय**’ कहकर निषेध किया और मेरे वचनोंमें जिसको मैंने परम वचन कहा, उस सर्वगुह्यतम शरणागतिकी बात (छाछठवाँ श्लोक)-को तुमने ध्यानपूर्वक सुना कि नहीं? उसपर खयाल किया कि नहीं?

‘**कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय**’—भगवान् दूसरा प्रश्न करते हैं कि तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ कि नहीं? अगर मोह नष्ट हो गया तो तुमने मेरा उपदेश सुन लिया और अगर मोह नष्ट नहीं हुआ तो तुमने मेरा यह रहस्यमय उपदेश एकाग्रतासे सुना ही नहीं;

क्योंकि यह एकदम पक्का नियम है कि जो दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक गीताके उपदेशको सुनता है, उसका मोह नष्ट हो ही जाता है।

'पार्थ' सम्बोधन देकर भगवान् अपनेपनसे, बहुत प्यारसे पूछ रहे हैं कि तुम्हारा मोह नष्ट हुआ कि नहीं? पहले अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने अर्जुनको सुननेके उन्मुख करनेके लिये **'पार्थ'** सम्बोधन देकर सबसे प्रथम बोलना आरम्भ किया और कहा कि हे पार्थ! युद्धके लिये इकट्ठे हुए इन कुटुम्बियोंको देखो। ऐसा कहनेका तात्पर्य यह था कि अर्जुनके अन्त:करणमें छिपा हुआ जो कौटुम्बिक मोह है, वह जाग्रत् हो जाय और उस मोहसे छूटनेके लिये उनको चटपटी लग जाय, जिससे वे केवल मेरे सम्मुख होकर सुननेके लिये तत्पर हो जायँ। अब यहाँ उसी मोहके दूर होनेकी बातका उपसंहार करते हुए भगवान् **'पार्थ'** सम्बोधन देते हैं।

'धनंजय' सम्बोधन देकर भगवान् कहते हैं कि तुम लौकिक धनको लेकर धनंजय (राजाओंके धनको जीतने-वाले) बने हो। अब इस वास्तविक तत्त्वरूप धनको प्राप्त करके अपने मोहका नाश कर लो और सच्चे अर्थोंमें 'धनंजय' बन जाओ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर अर्जुन आगेके श्लोकमें देते हैं।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन बोले—

अच्युत	= हे अच्युत!	**मया**	= मैंने	**स्थितः**	= स्थित
त्वत्प्रसादात्	= आपकी कृपासे (मेरा)	**स्मृतिः**	= स्मृति	**अस्मि**	= हूँ।
मोहः	= मोह	**लब्धा**	= प्राप्त कर ली है।	**तव**	= (अब मैं) आपकी
नष्टः	= नष्ट हो गया है (और)	**गतसन्देहः**	= (मैं) सन्देहरहित होकर	**वचनम्**	= आज्ञाका
				करिष्ये	= पालन करूँगा।

व्याख्या—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादा-न्मयाच्युत'**—अर्जुनने यहाँ भगवान्के लिये **'अच्युत'** सम्बोधनका प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि जीव तो च्युत हो जाता है अर्थात् अपने स्वरूपसे विमुख हो जाता है तथा पतनकी तरफ चला जाता है; परन्तु भगवान् कभी भी च्युत नहीं होते। वे सदा एकरस रहते हैं। इसी बातका द्योतन करनेके लिये गीतामें अर्जुनने कुल तीन बार **'अच्युत'** सम्बोधन दिया है। पहली बार (गीता—पहले अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें) **'अच्युत'** सम्बोधनसे अर्जुनने भगवान्से कहा कि दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो। ऐसी आज्ञा देनेपर भी भगवान्में कोई फर्क नहीं पड़ा। दूसरी बार (ग्यारहवें अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें) इस सम्बोधनसे अर्जुनने भगवान्के विश्वरूपकी स्तुति-प्रार्थना की, तो भगवान्में कोई फर्क नहीं पड़ा। अन्तिम बार यहाँ (तिहत्तरवें श्लोकमें) इस सम्बोधनसे अर्जुन संदेहरहित होकर कहते हैं कि अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, तो भगवान्में कोई फरक नहीं पड़ा। तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुनकी तो आदि, मध्य और अन्तमें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ हुईं, पर भगवान्की आदि, मध्य और अन्तमें एक ही अवस्था रही अर्थात् वे एकरस ही बने रहे।

दूसरे अध्यायमें अर्जुनने **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२।७) कहकर भगवान्की शरणागति स्वीकार की थी। इस श्लोकमें उस शरणागतिकी पूर्णता होती है।

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने अर्जुनसे यह कहा कि 'तेरेको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है, मैं सम्पूर्ण संसारको एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ!' इस बातको सुनते ही अर्जुनके मनमें एक विशेष भाव पैदा हुआ कि भगवान् कितने विलक्षण हैं! भगवान्की विलक्षणताकी ओर लक्ष्य जानेसे अर्जुनको एक प्रकाश मिला। उस प्रकाशकी प्रसन्नतामें अर्जुनके मुखसे यह बात निकल पड़ी कि 'मेरा मोह चला गया'—**'मोहोऽयं विगतो मम'** (११।१)।

परन्तु भगवान्के विराट्रूपको देखकर जब अर्जुनके हृदयमें भयके कारण हलचल पैदा हो गयी, तब भगवान्ने कहा कि यह तुम्हारा मूढ़भाव है, तुम व्यथित और मोहित मत होओ—**'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः'** (११।४९)। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुनका मोह तब नष्ट नहीं हुआ था। अब यहाँ सर्वज्ञ भगवान्के पूछनेपर अर्जुन कह रहे हैं कि मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे तत्त्वकी अनादि स्मृति प्राप्त हो गयी—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'**[1]।

अन्तःकरणकी स्मृति और तत्त्वकी स्मृतिमें बड़ा अन्तर है। प्रमाणसे प्रमेयका ज्ञान होता है[2] परन्तु परमात्मतत्त्व अप्रमेय है। अतः परमात्मा प्रमाणसे व्याप्य नहीं हो सकता अर्थात् परमात्मा प्रमाणके अन्तर्गत आनेवाला तत्त्व नहीं है। परन्तु संसार सब-का-सब प्रमाणके अन्तर्गत आनेवाला है और प्रमाण प्रमाताके अन्तर्गत आनेवाला है।[3]

प्रमाता एक होता है और प्रमाण अनेक होते हैं। प्रमाणोंके बारेमें कई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन मुख्य प्रमाण मानते हैं; कई प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण मानते हैं और कई इन चारोंके सिवाय अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और ऐतिह्य—ये तीन प्रमाण और भी मानते हैं। इस प्रकार प्रमाणोंके माननेमें अनेक मतभेद हैं; परन्तु प्रमाताके विषयमें किसीका कोई मतभेद नहीं है। ये प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण वृत्तिरूप होते हैं; परन्तु प्रमाता वृत्तिरूप नहीं होता, वह तो स्वयं अनुभवरूप होता है।

अब इस 'स्मृति' शब्दकी जहाँ व्याख्या की गयी है, वहाँ उसके ये लक्षण बताये हैं—

(१) **अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।**

(योगदर्शन १।११)

'अनुभूत विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना स्मृति है।'

(२) **संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।** (तर्कसंग्रह) 'संस्कारमात्रसे जन्य हो और ज्ञान हो, उसको स्मृति कहते हैं।'

यह स्मृति अन्तःकरणकी एक 'वृत्ति' है। यह वृत्ति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—पाँच प्रकारकी होती है तथा हर प्रकारकी वृत्तिके दो भेद होते हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। संसारकी वृत्तिरूप स्मृति 'क्लिष्ट' होती है अर्थात् बाँधनेवाली होती है और भगवत्सम्बन्धी वृत्तिरूप स्मृति 'अक्लिष्ट' होती है अर्थात् क्लेशको दूर करनेवाली होती है। इन सब वृत्तियोंका कारण 'अविद्या' है। परन्तु परमात्मा अविद्यासे रहित है। इसलिये परमात्माकी स्मृति 'स्वयं'से ही होती है, वृत्ति या करणसे नहीं। जब परमात्माकी स्मृति जाग्रत् होती है तो फिर उसकी कभी विस्मृति नहीं होती, जबकि अन्तःकरणकी वृत्तिमें स्मृति और विस्मृति—दोनों होती हैं।

परमात्मतत्त्वकी विस्मृति या भूल तो असत् संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे ही हुई है। यह विस्मृति अनादिकालसे है। अनादिकालसे होनेपर भी इसका अन्त हो जाता है। जब इसका अन्त हो जाता है और अपने स्वरूपकी स्मृति जाग्रत् होती है, तब इसको **'स्मृतिर्लब्धा'** कहते हैं अर्थात् असत्के सम्बन्धके कारण जो स्मृति सुषुप्तिरूपसे थी, वह जाग्रत् हो गयी। जैसे एक आदमी

१-यहाँ अर्जुनका सांसारिक (गीता—दूसरे अध्यायका बावनवाँ श्लोक) और शास्त्रीय (गीता—दूसरे अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक)—दोनों प्रकारका मोह नष्ट हुआ है।

२-हमें जो संसारका ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा ही होता है; क्योंकि संसार विवेक-विचारका विषय है। परन्तु जो विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत विवेक-विचारका प्रकाशक है, उसको विवेक-विचारद्वारा नहीं जान सकते। कारण कि जो वस्तु प्रकाश्य होती है, वह प्रकाशकको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होती है। इसलिये जो सबका प्रकाशक और आश्रय है, वह परमात्मतत्त्व श्रद्धा-विश्वासका विषय है, विचारका नहीं।

जिन लोगोंकी शास्त्रोंपर श्रद्धा होती है, वे शास्त्रोंसे परमात्माको मान लेते हैं अथवा जिनकी तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त अनुभवी भगवत्प्रेमी सन्त-महापुरुषोंपर श्रद्धा होती है, वे उनके वचनोंसे परमात्माको मान लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं। इसमें उनका अन्तःकरण और इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हैं। इसमें तो शास्त्र और सन्त-महापुरुष ही प्रमाण हैं। जो श्रद्धालु और आस्तिक हैं, उनके लिये तो शास्त्र और सन्त-महापुरुष प्रमाण हो सकते हैं, पर जो अश्रद्धालु और नास्तिक हैं, उनके लिये शास्त्र और सन्त-महापुरुष प्रमाण नहीं हो सकते। तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियों और अन्तःकरणका जो विषय है, वह तो प्रत्यक्ष-प्रमाण है और अनुमान आदि जो प्रमाण हैं, वे प्रत्यक्षमूलक युक्ति-प्रमाण हैं। परन्तु सन्त-महापुरुष और शास्त्र-प्रमाणमें तो केवल श्रद्धा ही मुख्य हेतु है।

३-जिससे जाना जाता है, वह 'प्रमाण' होता है; जिसका ज्ञान होता है, वह 'प्रमेय' होता है और जो जाननेवाला है, वह 'प्रमाता' होता है अर्थात् इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण 'प्रमाण' हैं, संसार 'प्रमेय' है और स्वयं (चेतन) 'प्रमाता' है।

सोया हुआ है और एक मुर्दा पड़ा हुआ है—इन दोनोंमें महान् अन्तर है, ऐसे ही अन्तःकरणकी स्मृति-विस्मृति दोनों ही मुर्देकी तरह जड हैं, पर स्वरूपकी स्मृति सुप्त है, जड नहीं। केवल जडका आदर करनेसे सोये हुएकी तरह ऊपरसे वह स्मृति लुप्त रहती है अर्थात् आवृत रहती है। उस आवरणके न रहनेपर उस स्मृतिका प्राकट्य हो जाता है तो उसे '**स्मृतिर्लब्धा**' कहते हैं अर्थात् पहलेसे जो तत्त्व मौजूद है, उसका प्रकट होना '**स्मृति**' है और आवरण हटनेका नाम '**लब्धा**' है।

साधकोंकी रुचिके अनुसार उसी स्मृतिके तीन भेद हो जाते हैं—(१) कर्मयोग अर्थात् निष्कामभावकी स्मृति, (२) ज्ञानयोग अर्थात् अपने स्वरूपकी स्मृति और (३) भक्तियोग अर्थात् भगवान्के सम्बन्धकी स्मृति। इस प्रकार इन तीनों योगोंकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है; क्योंकि ये तीनों योग स्वतःसिद्ध और नित्य हैं। ये तीनों योग जब वृत्तिके विषय होते हैं, तब ये साधन कहलाते हैं; परन्तु स्वरूपसे ये तीनों नित्य हैं। इसलिये नित्यकी प्राप्तिको स्मृति कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि इन साधनोंकी विस्मृति हुई है, अभाव नहीं हुआ है।

असत् संसारके पदार्थोंको आदर देनेसे अर्थात् उनको सत्ता और महत्ता देनेसे राग पैदा हुआ—यह 'कर्मयोग' की विस्मृति (आवरण) है। असत् पदार्थोंके सम्बन्धसे अपने स्वरूपकी विमुखता हुई अर्थात् अज्ञान हुआ—यह 'ज्ञान-योग'की विस्मृति है। अपना स्वरूप साक्षात् परमात्माका अंश है। इस परमात्मासे विमुख होकर संसारके सम्मुख होनेसे संसारमें आसक्ति हो गयी। उस आसक्तिसे प्रेम ढक गया—यह 'भक्तियोग' की विस्मृति है।

स्वरूपकी विस्मृति अर्थात् विमुखताका नाश होना यहाँ 'स्मृति' है। उस स्मृतिका प्राप्त होना अप्राप्तका प्राप्त होना नहीं है, प्रत्युत नित्यप्राप्तका प्राप्त होना है। नित्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेपर फिर उसकी विस्मृति होना सम्भव नहीं है; क्योंकि स्वरूपमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं। वह सदा निर्विकार और एकरस रहता है। परन्तु वृत्तिरूप स्मृतिकी विस्मृति हो सकती है; क्योंकि वह प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील है।

इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि संसार तथा शरीरके साथ अपने स्वरूपको मिला हुआ समझना 'विस्मृति' है और संसार तथा शरीरसे अलग होकर अपने स्वरूपका अनुभव करना 'स्मृति' है। अपने स्वरूपकी स्मृति स्वयंसे होती है। इसमें करण आदिकी अपेक्षा नहीं होती; जैसे—मनुष्यको अपने होनेपनका जो ज्ञान होता है, उसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती। जिसमें करण आदिकी अपेक्षा होती है, वह स्मृति अन्तःकरणकी एक वृत्ति ही है।

स्मृति तत्काल प्राप्त होती है। इसकी प्राप्तिमें देरी अथवा परिश्रम नहीं है। कर्ण कुन्तीके पुत्र थे। परन्तु जन्मके बाद जब कुन्तीने उनका त्याग कर दिया, तब अधिरथ नामक सूतकी पत्नी राधाने उनका पालन-पोषण किया। इससे वे राधाको ही अपनी माँ मानने लगे। जब सूर्यदेवसे उनको यह पता लगा कि वास्तवमें मेरी माँ कुन्ती है, तब उनको स्मृति प्राप्त हो गयी। अब 'मैं कुन्तीका पुत्र हूँ'—ऐसी स्मृति प्राप्त होनेमें कितना समय लगा? कितना परिश्रम या अभ्यास करना पड़ा? कितना जोर आया? पहले उधर लक्ष्य नहीं था, अब उधर लक्ष्य हो गया—केवल इतनी ही बात है।

स्वरूप निष्काम है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है और भगवान्का है। स्वरूपकी विस्मृति अर्थात् विमुखतासे ही जीव सकाम, बद्ध और सांसारिक होता है। ऐसे स्वरूपकी स्मृति वृत्तिकी अपेक्षा नहीं रखती अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तिसे स्वरूपकी स्मृति जाग्रत् होना सम्भव नहीं है। स्मृति तभी जाग्रत् होगी, जब अन्तःकरणसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होगा। स्मृति अपने ही द्वारा अपने-आपमें जाग्रत् होती है। अतः स्मृतिकी प्राप्तिके लिये किसीके सहयोगकी या अभ्यासकी जरूरत नहीं है। कारण कि जडताकी सहायताके बिना अभ्यास नहीं होता, जबकि स्वरूपके साथ जडताका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। स्मृति अनुभवसिद्ध है, अभ्याससाध्य नहीं है। इसलिये एक बार स्मृति जाग्रत् होनेपर फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती।

स्मृति भगवान्की कृपासे जाग्रत् होती है। कृपा होती है भगवान्के सम्मुख होनेपर और भगवान्की सम्मुखता होती है संसारमात्रसे विमुख होनेपर। जैसे अर्जुनने कहा कि मैं केवल आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा—'**करिष्ये वचनं तव**', ऐसे ही संसारका आश्रय छोड़कर केवल भगवान्के शरण होकर कह दे कि 'हे नाथ! अब मैं केवल आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा।'

तात्पर्य है कि इस स्मृतिकी लब्धिमें साधककी सम्मुखता और भगवान्की कृपा ही कारण है। इसलिये अर्जुनने स्मृतिके प्राप्त होनेमें केवल भगवान्की कृपाको ही माना है। भगवान्की कृपा तो मात्र प्राणियोंपर अपार-अटूट-अखण्डरूपसे है। जब मनुष्य भगवान्के सम्मुख हो जाता है, तब उसको उस कृपाका अनुभव हो जाता है।

'त्वत्प्रसादात् मयाच्युत' पदोंसे अर्जुन कह रहे हैं कि आपने विशेषतासे जो सर्वगुह्यतम तत्त्व बताया, उसकी मुझे विशेषतासे स्मृति आ गयी कि मैं आपका ही था, आपका ही हूँ और आपका ही रहूँगा। यह जो स्मृति आ गयी है, यह मेरी एकाग्रतासे सुननेकी प्रवृत्तिसे नहीं आयी है अर्थात् यह मेरे एकाग्रतासे सुननेका फल नहीं है, प्रत्युत यह स्मृति तो आपकी कृपासे ही आयी है। पहले मैंने शरण होकर शिक्षा देनेकी प्रार्थना की थी और फिर यह कहा था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा परन्तु मेरेको जबतक वास्तविकताका बोध नहीं हुआ, तबतक आप मेरे पीछे पड़े ही रहे। इसमें तो आपकी कृपा ही कारण है। मेरेको जैसा सम्मुख होना चाहिये, वैसा मैं सम्मुख नहीं हुआ हूँ; परन्तु आपने बिना कारण मेरेपर कृपा की अर्थात् मेरेपर कृपा करनेके लिये आप अपनी कृपाके परवश हो गये, वशीभूत हो गये और बिना पूछे ही आपने शरणागतिकी सर्वगुह्यतम बात कह दी (इसी अध्यायका चौंसठवाँ, पैंसठवाँ, छाछठवाँ श्लोक)। उसी अहैतुकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ है।

'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव'— अर्जुन कहते हैं कि मूलमें मेरा जो यह सन्देह था कि युद्ध करूँ या न करूँ (**'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः'** २। ६), वह मेरा सन्देह सर्वथा नष्ट हो गया है और मैं अपनी वास्तविकतामें स्थित हो गया हूँ। वह संदेह ऐसा नष्ट हो गया है कि न तो युद्ध करनेकी मनमें रही और न युद्ध न करनेकी ही मनमें रही। अब तो यही एक मनमें रही है कि आप जैसा कहें, वैसा मैं करूँ अर्थात् अब तो बस, आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा—**'करिष्ये वचनं तव।'** अब मेरेको युद्ध करने अथवा न करनेसे किसी तरहका किंचिन्मात्र भी प्रयोजन नहीं है। अब तो आपकी आज्ञाके अनुसार लोकसंग्रहार्थ युद्ध आदि जो कर्तव्य-कर्म होगा, वह करूँगा।

अब एक ध्यान देनेकी बात है कि पहले कुटुम्बका स्मरण होनेसे अर्जुनको मोह हुआ था। उस मोहके वर्णनमें भगवान्ने यह प्रक्रिया बतायी थी कि विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे पतन होता है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। अर्जुन भी यहाँ उसी प्रक्रियाको याद दिलाते हुए कहते हैं कि मेरा मोह नष्ट हो गया है और मोहसे जो स्मृति भ्रष्ट होती है, वह स्मृति मिल गयी है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।'** स्मृति नष्ट होनेसे बुद्धिनाश हो जाता है, इसके उत्तरमें अर्जुन कहते हैं कि मेरा सन्देह चला गया है—**'गतसन्देहः।'** बुद्धिनाशसे पतन होता है, उसके उत्तरमें कहते हैं कि मैं अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हूँ— **'स्थितोऽस्मि।'** इस प्रकार उस प्रक्रियाको बतानेमें अर्जुनका तात्पर्य है कि मैंने आपके मुखसे ध्यानपूर्वक गीता सुनी है, तभी तो आपने सम्मोहका कहाँ प्रयोग किया है और सम्मोहकी परम्परा कहाँ कही है, वह भी मेरेको याद है। परन्तु मेरे मोहका नाश होनेमें तो आपकी कृपा ही कारण है।

यद्यपि वहाँका और यहाँका—दोनोंका विषय भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है; क्योंकि वहाँ विषयोंके चिन्तन करने आदि क्रमसे सम्मोह होनेकी बात है और यहाँ सम्मोह मूल अज्ञानका वाचक है, फिर भी गहरा विचार किया जाय तो भिन्नता नहीं दीखेगी। वहाँका विषय ही यहाँ आया है।

दूसरे अध्यायके इकसठवेंसे तिरसठवें श्लोकतक भगवान्ने यह बात बतायी कि इन्द्रियोंको वशमें करके अर्थात् संसारसे सर्वथा विमुख होकर केवल मेरे परायण होनेसे बुद्धि स्थिर हो जाती है। परन्तु मेरे परायण न होनेसे मनमें स्वाभाविक ही विषयोंका चिन्तन होता है। विषयोंका चिन्तन होनेसे पतन ही होता है; क्योंकि यह आसुरी-सम्पत्ति है। परन्तु यहाँ उत्थानकी बात बतायी है कि संसारसे विमुख होकर भगवान्के सम्मुख होनेसे मोह नष्ट हो जाता है; क्योंकि यह दैवी-सम्पत्ति है। तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ भगवान्से विमुख होकर इन्द्रियों और विषयोंके परायण होना पतनमें हेतु है और यहाँ भगवान्के सम्मुख होनेपर भगवान्के साथ वास्तविक सम्बन्धकी स्मृति आनेमें भगवत्कृपा ही हेतु है।

भगवत्कृपासे जो काम होता है, वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि साधनोंसे नहीं होता। कारण कि अपना पुरुषार्थ मानकर जो भी साधन किया जाता है, उस साधनमें अपना सूक्ष्म व्यक्तित्व अर्थात् अहंभाव रहता है। वह व्यक्तित्व साधनमें अपना पुरुषार्थ न मानकर केवल भगवत्कृपा माननेसे ही मिटता है।

मार्मिक बात

अर्जुनने कहा कि मुझे स्मृति मिल गयी—**'स्मृतिर्लब्धा।'** तो विस्मृति किसी कारणसे हुई? जीवने असत्के साथ तादात्म्य मानकर असत्की मुख्यता मान ली, इसीसे अपने सत्-स्वरूपकी विस्मृति हो गयी। विस्मृति होनेसे इसने असत्की कमीको अपनी कमी मान ली, अपनेको शरीर

मानने (मैं-पन) तथा शरीरको अपना मानने (मेरापन-) के कारण इसने असत् शरीरकी उत्पत्ति और विनाशको अपनी उत्पत्ति और विनाश मान लिया एवं जिससे शरीर पैदा हुआ, उसीको अपना उत्पादक मान लिया!

अब कोई प्रश्न करे कि भूल पहले हुई कि असत्का सम्बन्ध पहले हुआ? अर्थात् भूलसे असत्का सम्बन्ध हुआ कि असत्के सम्बन्धसे भूल हुई? तो इसका उत्तर है कि अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जीवको जन्म-मरणसे छुड़ाकर सदाके लिये महान् सुखी करनेके लिये अर्थात् केवल अपनी प्राप्ति करानेके लिये भगवान्ने जीवको मनुष्य-शरीर दिया। भगवान्का अकेलेमें मन नहीं लगा—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक १।४।३), इसलिये उन्होंने अपने साथ खेलनेके लिये मनुष्यशरीरकी रचना की। खेल तभी होता है, जब दोनों तरफके खिलाड़ी स्वतन्त्र होते हैं। अत: भगवान्ने मनुष्यशरीर देनेके साथ-साथ इसे स्वतन्त्रता भी दी और विवेक (सत्-असत्का ज्ञान) भी दिया। दूसरी बात, अगर इसे स्वतन्त्रता और विवेक न मिलता, तो यह पशुकी तरह ही होता, इसमें मनुष्यताकी किंचिन्मात्र भी कोई विशेषता नहीं होती। इस विवेकके कारण असत्को असत् जानकर भी मनुष्यने मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया और असत्में (संसारके भोग और संग्रहके सुखमें) आसक्त हो गया। असत्में आसक्त होनेसे ही भूल हुई है।

असत्को असत् जानकर भी यह उसमें आसक्त क्यों होता है? कारण कि असत्के सम्बन्धसे प्रतीत होनेवाले तात्कालिक सुखकी तरफ तो यह दृष्टि रखता है, पर उसका परिणाम क्या होगा, उस तरफ अपनी दृष्टि रखता ही नहीं। (जो परिणामकी तरफ दृष्टि रखते हैं, साधक होते हैं और जो परिणामकी तरफ दृष्टि नहीं रखते, वे संसारी होते हैं।) इसलिये असत्के सम्बन्धसे ही भूल पैदा हुई है। इसका पता कैसे लगता है? जब यह अपने अनुभवमें आनेवाले असत्की आसक्तिका त्याग करके परमात्माके सम्मुख हो जाता है, तब यह भूल मिट करके स्मृति जाग्रत् हो जाती है, इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मासे विमुख होकर जाने हुए असत्में आसक्ति होनेसे ही यह भूल हुई है।

असत्को महत्त्व देनेसे होनेवाली भूल स्वाभाविक नहीं है। इसको मनुष्यने खुद पैदा किया है। जो चीज स्वाभाविक होती है, उसमें परिवर्तन भले ही हो, पर उसका अत्यन्त अभाव नहीं होता। परन्तु भूलका अत्यन्त अभाव होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस भूलको मनुष्यने खुद उत्पन्न किया है; क्योंकि जो वस्तु मिटनेवाली होती है, वह उत्पन्न होनेवाली ही होती है। इसलिये इस भूलको मिटानेका दायित्व भी मनुष्यपर ही है, जिसको वह सुगमतापूर्वक मिटा सकता है। तात्पर्य है कि अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई इस भूलको मिटानेमें मनुष्यमात्र समर्थ और सबल है। भूलको मिटानेकी सामर्थ्य भगवान्ने पूरी दे रखी है। भूल मिटते ही अपने वास्तविक स्वरूपकी स्मृति अपने-आपमें ही जाग्रत् हो जाती है और मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

अबतक मनुष्यने अनेक बार जन्म लिया है और अनेक बार कई वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों, अवस्थाओं, घटनाओं आदिका मनुष्यको संयोग हुआ है; परन्तु उन सभीका उससे वियोग हो गया और वह स्वयं वही रहा। कारण कि वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है, पर संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। इससे सिद्ध हुआ कि संसारसे वियोग-ही-वियोग है, संयोग है ही नहीं। अनादिकालसे वस्तुओं आदिका निरन्तर वियोग ही होता चला आ रहा है, इसलिये वियोग ही सच्चा है। इस प्रकार संसारसे सर्वथा वियोगका अनुभव हो जाना ही 'योग' है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६।२३)। यह योग नित्यसिद्ध है। स्वरूप अथवा परमात्माके साथ हमारा नित्ययोग है* और शरीर-संसारके साथ नित्यवियोग है। संसारके संयोगकी सद्भावना होनेसे ही वास्तवमें नित्ययोग अनुभवमें नहीं आता। सद्भावना मिटते ही नित्ययोगका अनुभव हो जाता है, जिसका कभी वियोग हुआ ही नहीं।

संसारसे संयोग मानना ही 'विस्मृति' है और संसारसे नित्यवियोगका अनुभव होना अर्थात् वास्तवमें संसारके साथ मेरा संयोग था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं—ऐसा अनुभव होना ही 'स्मृति' है।

परिशिष्ट भाव—लौकिक स्मृति तो विस्मृतिकी अपेक्षासे कही जाती है, पर अलौकिक तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। इस तत्त्वकी निरपेक्ष स्मृति अर्थात् अनुभवको ही यहाँ '**स्मृतिर्लब्धा**' कहा गया है।

---

* **कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें स्वरूपके साथ नित्ययोग है और भक्तियोगमें भगवान्के साथ नित्ययोग है।**

वास्तवमें तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी—इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती[1]। अगर ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद फिर विस्मृति हो जायगी! इसलिये गीतामें आया है—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्**' (४। ३५) अर्थात् उसको जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्‌को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको विस्मृति कहते हैं। वृत्तिका हटना और वृत्तिका लगना—यह भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हटनेपर अथवा विमुखता होनेपर भी तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही है। अभावरूप असत्‌को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जायगा।

विचार दो तरहका होता है। एक विचार करना होता है और एक विचार उदय होता है। जो विचार किया जाता है, उसमें तो क्रिया है, पर जो विचार उदय होता है, उसमें क्रिया नहीं है। विचार करनेमें तो बुद्धिकी प्रधानता रहती है, पर विचार उदय होनेपर बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः तत्त्वबोध विचार करनेसे नहीं होता, प्रत्युत विचार उदय होनेसे होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वप्राप्तिके उद्देश्यसे सत्-असत्‌का विचार करते-करते जब असत् छूट जाता है, तब 'संसार है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं'—इस विचारका उदय होता है। विचारका उदय होते ही विवेक बोधमें परिणत हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है और तत्त्व प्रकट हो जाता है; मानी हुई चीज मिट जाती है और वास्तविकता रह जाती है। विचारका उदय होनेको यहाँ '**स्मृतिर्लब्धा**' कहा गया है।

अपरा प्रकृति भगवान्‌की है। परन्तु हमने गलती यह की है कि अपराके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया अर्थात् उसको अपना और अपने लिये मान लिया। यह सम्बन्ध हमने ही जोड़ा है और इसको छोड़नेकी जिम्मेवारी भी हमारेपर ही है। अपराके साथ सम्बन्ध माननेसे ही भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी विस्मृति हुई है और हम बन्धनमें पड़े हैं। इसलिये अपराके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही हमारा कल्याण होगा। अपरासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये 'शरीर मेरा और मेरे लिये नहीं है'—इस विवेकको महत्त्व देना है। विवेकको महत्त्व देनेसे 'अपरा मेरी और मेरे लिये है ही नहीं'—यह स्मृति प्राप्त हो जाती है।

अर्जुनको द्वैत अथवा अद्वैत तत्त्वका अनुभव नहीं हुआ है, प्रत्युत द्वैत-अद्वैतसे अतीत वास्तविक तत्त्वका अनुभव हुआ है। कारण कि द्वैत-अद्वैत तो मोह हैं[2], जबकि अर्जुनका मोह नष्ट हो गया है।

जीव अनादिकालसे स्वतः परमात्माका है, केवल संसारके आश्रयका त्याग करना है। अर्जुनको मुख्य रूपसे भक्तियोगकी स्मृति हुई है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। इसलिये भक्तियोगकी स्मृति ही वास्तविक है। भक्तियोगकी स्मृति है—'**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना '**स्मृतिर्लब्धा**' है। यह अनुभव केवल भगवत्कृपासे ही होता है—'**त्वत्प्रसादात्**'। वचन सीमित होते हैं, पर कृपा असीम होती है।

चिन्तनमें तो कर्तृत्व होता है, पर स्मृतिमें कर्तृत्व नहीं है। कारण कि चिन्तन मनसे होता है, मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे अहम् है और अहम्‌से परे स्वरूप है, उस स्वरूपमें स्मृति होती है। चिन्तन तो हम करते हैं, पर स्मृतिमें केवल उधर दृष्टि होती है। विस्मृतिके समय भी तत्त्व तो वैसा-का वैसा ही है। तत्त्वमें विस्मृति नहीं है, इसलिये उधर दृष्टि होते ही स्मृति हो जाती है।

'**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः**'—पहले क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना ठीक दीखता था, फिर गुरुजनोंके सामने आनेसे युद्ध करना पाप दीखने लगा; परन्तु स्मृति प्राप्त होते ही सब उलझनें मिट गयीं। मैं क्या करूँ? युद्ध करूँ कि नहीं करूँ?—यह सन्देह, संशय, शंका कुछ नहीं रही। मेरे लिये अब कुछ करना बाकी नहीं रहा, प्रत्युत केवल आपकी आज्ञाका पालन करना बाकी रहा—'**करिष्ये वचनं तव**'। यही शरणागति है।

१-ज्ञान होनेपर नयापन कुछ नहीं दीखता अर्थात् पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा नहीं दीखता। ज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान तो सदासे ही था, केवल मेरी दृष्टि उधर नहीं थी। अगर पहले अज्ञान था, पीछे ज्ञान हो गया—ऐसा मानें तो ज्ञानमें सादिपना आ जायगा, जबकि ज्ञान सादि नहीं है, अनादि है। जो सादि होता है, वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त होता है।

२-'द्वैताद्वैतमहामोहः' (माहेश्वरतन्त्र)

'अहो माया महामोहौ द्वैताद्वैतविकल्पना॥' (अवधूतगीता १। ६१)

*सम्बन्ध—पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें '**अथ**' पदसे श्रीकृष्णार्जुनसंवादके रूपमें गीताका आरम्भ हुआ था, अब आगेके श्लोकमें '**इति**' पदसे उसकी समाप्ति करते हुए संजय इस संवादकी महिमा गाते हैं।*

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

संजय बोले—

इति	= इस प्रकार	**च**	= और	**रोमहर्षणम्**	= रोमांचित करनेवाला
अहम्	= मैंने	**महात्मनः**	= महात्मा	**अद्भुतम्**	= अद्भुत
वासुदेवस्य	= भगवान् वासुदेव	**पार्थस्य**	= पृथानन्दन अर्जुनका	**संवादम्**	= संवाद
		इमम्	= यह	**अश्रौषम्**	= सुना।

व्याख्या—'**इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः**'—संजय कहते हैं कि इस तरह मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुनका यह संवाद सुना, जो कि अत्यन्त अद्भुत, विलक्षण है और इसकी यादमात्र हर्षके मारे रोमांचित करनेवाली है।

यहाँ '**इति**' पदका तात्पर्य है कि पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें '**अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः**' पदोंसे संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताका आरम्भ करते हैं और यहाँ '**इति**' पदसे उस संवादकी समाप्ति करते हैं।

अर्जुनके लिये '**महात्मनः**' विशेषण देनेका तात्पर्य है कि अर्जुन कितने महान् विलक्षण पुरुष हैं, जिनकी आज्ञाका पालन स्वयं भगवान् करते हैं! अर्जुन कहते हैं कि हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दो (गीता—पहले अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक), तो भगवान् दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा कर देते हैं (गीता—पहले अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। गीतामें अर्जुन जहाँ-जहाँ प्रश्न करते हैं, वहाँ-वहाँ भगवान् बड़े प्यारसे और बड़ी विलक्षण रीतिसे प्रायः विस्तारपूर्वक उत्तर देते हैं। इस प्रकार महात्मा अर्जुनके और भगवान् वासुदेवके संवादको मैंने सुना है।

'**संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्**'—इस संवादमें अद्भुत और रोमहर्षणपना क्या है? शास्त्रोंमें प्रायः ऐसी बात आती है कि संसारकी निवृत्ति करनेसे ही मनुष्य पारमार्थिक मार्गपर चल सकता है और उसका कल्याण हो सकता है। मनुष्योंमें भी प्रायः ऐसी ही धारणा बैठी हुई है कि घर, कुटुम्ब आदिको छोड़कर साधु-संन्यासी होनेसे ही कल्याण होता है। परन्तु गीता कहती है कि कोई भी परिस्थिति, अवस्था, घटना, देश, काल आदि क्यों न हो, उसीके सदुपयोगसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। इतना ही नहीं, वह परिस्थिति बढ़िया-से-बढ़िया हो या घटिया-से-घटिया, सौम्य-से-सौम्य हो या घोर-से-घोर विहित युद्ध-जैसी प्रवृत्ति हो, जिसमें दिनभर मनुष्योंका गला काटना पड़ता है, उसमें भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है, मुक्ति हो सकती है*। कारण कि जन्म-मरणरूप बन्धनमें संसारका राग ही कारण है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। उस रागको मिटानेमें परिस्थितिका सदुपयोग करना ही हेतु है अर्थात् जो पुरुष परिस्थितिमें राग-द्वेष न करके अपने कर्तव्यका पालन करता है, वह सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। यही इस संवादमें

*** जब हर एक परिस्थितिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे ही कल्याण होता है, तब तो प्राकृत परिस्थितिका घटिया या बढ़िया होना कोई महत्त्व नहीं रखता। हाँ, उससे अलग होनेके उपाय (कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि) अलग-अलग हो सकते हैं। परन्तु इनमें राग मिटाना ही खास उपाय है; क्योंकि राग मिटनेसे द्वेष मिट जाता है और राग-द्वेषके मिटनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होना ही मुक्ति है।**

वास्तवमें जो बद्ध होता है, वह मुक्त नहीं होता और जो मुक्त होता है, वह मुक्त क्या होगा? क्योंकि वह तो मुक्त ही है। तो फिर मुक्त होना क्या है? वास्तवमें मुक्त होते हुए भी जिस बन्धनको स्वीकार किया है, उस बन्धनसे छूटनेका नाम ही मुक्त होना है।

अद्भुतपना है।

भगवान्‌का स्वयं अवतार लेकर मनुष्य-जैसा काम करते हुए अपने-आपको प्रकट कर देना और 'मेरी शरणमें आ जा' यह अत्यन्त गोपनीय रहस्यकी बात कह देना—यही संवादमें रोमहर्षण करनेवाला, प्रसन्न करनेवाला, आनन्द देनेवाला है।

परिशिष्ट भाव—गीतामें 'महात्मा' शब्द केवल भक्तोंके लिये आया है। यहाँ संजयने अर्जुनको भी 'महात्मा' कहा है; क्योंकि वे अर्जुनको भक्त ही मानते हैं। भगवान्‌ने भी कहा है—'**भक्तोऽसि मे**' (गीता ४। ३)।

सम्बन्ध—पारमार्थिक मार्गमें सच्चे साधकको जिस-किसीसे लाभ होता है, उसकी वह कृतज्ञता प्रकट करता ही है। अतः संजय भी आगेके तीन श्लोकोंमें व्यासजीकी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५ ॥

व्यासप्रसादात्	= व्यासजीकी कृपासे	**गुह्यम्**	= गोपनीय	**साक्षात्**	= साक्षात्
अहम्	= मैंने	**योगम्**	= योग (गीता-ग्रन्थ)-को	**योगेश्वरात्**	= योगेश्वर
स्वयम्	= स्वयं	**कथयतः**	= कहते हुए	**कृष्णात्**	= भगवान् श्रीकृष्णसे
एतत्	= इस				
परम्	= परम			**श्रुतवान्**	= सुना है।

व्याख्या—'**व्यासप्रसादात् श्रुतवान्**'—संजयने जब भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुनका पूरा संवाद सुना, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। अब उसी प्रसन्नतामें वे कह रहे हैं कि ऐसा परम गोपनीय योग मैंने भगवान् व्यासजीकी कृपासे सुना! व्यासजीकी कृपासे सुननेका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने '**यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया**' (१०। १), '**इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्**' (१८। ६४), '**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे**' (१८। ६५), '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**' (१८। ६६) आदि-आदि प्यारे वचनोंसे अपना हृदय खोलकर अर्जुनसे जो बातें कही हैं, उन बातोंको सुननेमें केवल व्यासदेवजीकी कृपा ही है अर्थात् वे सब बातें मैंने व्यासजीकी कृपासे ही सुनी हैं।

'**एतद् गुह्यं परं योगम्**'—समस्त योगोंके महान् ईश्वरके द्वारा कहा जानेसे यह गीताशास्त्र 'योग' अर्थात् योगशास्त्र है। यह गीताशास्त्र अत्यन्त श्रेष्ठ और गोपनीय है। इसके समान श्रेष्ठ और गोपनीय दूसरा कोई संवाद देखने-सुननेमें नहीं आता।

जीवका भगवान्‌के साथ जो नित्य-सम्बन्ध है, उसका नाम 'योग' है। उस नित्ययोगकी पहचान करानेके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि योग कहे गये हैं। उन योगोंके समुदायका वर्णन गीतामें होनेसे गीता भी 'योग' अर्थात् योगशास्त्र है।

'**योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्**'— संजयके आनन्दकी कोई सीमा नहीं रही है। इसलिये वे हर्षोल्लासमें भरकर कह रहे हैं कि इस योगको मैंने समस्त योगोंके महान् ईश्वर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे सुना है। संजयको '**योगेश्वरात्, कृष्णात्, साक्षात्, कथयतः, स्वयम्**'—ये पाँच शब्द कहनेकी क्या आवश्यकता थी? संजय इन शब्दोंका प्रयोग करके यह कहना चाहते हैं कि मैंने यह संवाद परम्परासे नहीं सुना है और किसीने मुझे सुनाया हो—ऐसी बात भी नहीं है; इसको तो मैंने खुद भगवान्‌के कहते-कहते सुना है!

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने '**त्वत्प्रासादात्**' कहा है (१८। ७३) और संजयने '**व्यासप्रसादात्**' कहा है। अर्जुनको भगवान्‌की कृपासे दिव्य दृष्टि मिली थी और संजयको व्यासजीकी कृपासे।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

राजन्	= हे राजन्!	**पुण्यम्**	= पवित्र	**संस्मृत्य, संस्मृत्य**	= याद कर-करके (मैं)
केशवार्जुनयोः	= भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके	**च**	= और	**मुहुर्मुहुः**	= बार-बार
		अद्भुतम्	= अद्भुत	**हृष्यामि**	= हर्षित हो रहा हूँ।
इमम्	= इस	**संवादम्**	= संवादको		

व्याख्या—'**राजन्संस्मृत्य ...... मुहुर्मुहुः**'—संजय कहते हैं कि हे महाराज! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह बहुत अलौकिक, विलक्षण संवाद हुआ है। इसमें कितना रहस्य भरा हुआ है कि घोर-से-घोर युद्धरूप क्रिया करते हुए भी ऊँची-से-ऊँची पारमार्थिक सिद्धि हो सकती है! मनुष्यमात्र हरेक परिस्थितिमें अपना उद्धार कर सकता है। इस प्रकारके संवादको याद कर-करके मैं बड़ा हर्षित हो रहा हूँ, प्रसन्न हो रहा हूँ।

श्रीभगवान् और अर्जुनके इस अद्भुत संवादकी महिमा भी बहुत विलक्षण है। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन सदा साथमें रहनेपर भी इन दोनोंका ऐसा संवाद कभी नहीं हुआ। युद्धके समय अर्जुन घबरा गये; क्योंकि एक तरफ तो उनको कुटुम्बका मोह तंग कर रहा था और दूसरी तरफ वे क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना अवश्य कर्तव्य समझते थे। मनुष्यकी जब किसी एक सिद्धान्तपर, एक मतपर स्थिति नहीं होती, तब उसकी व्याकुलता बड़ी विचित्र होती है[1]। अर्जुन भी 'युद्ध करना श्रेष्ठ है या युद्ध न करना श्रेष्ठ है'—इन दोनोंमेंसे एक निश्चित निर्णय नहीं कर सके। इसी व्याकुलताके कारण अर्जुन भगवान्की तरफ खिंच गये, उनके सम्मुख हो गये। सम्मुख होनेसे भगवान्की कृपा उनको विशेषतासे प्राप्त हुई। अर्जुनकी अनन्य भावना, उत्कण्ठाके कारण भगवान् योगमें स्थित हो गये अर्थात् ऐश्वर्य आदिमें स्थित न रहकर केवल अपने प्रेम-तत्त्वमें सराबोर हो गये और उसी स्थितिमें अर्जुनको समझाया। इस प्रकार उत्कट अभिलाषासम्पन्न अर्जुन और अलौकिक अटलयोगमें स्थित भगवान्के संवादकी क्या महिमा कहें? उसकी महिमाको कहनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

परिशिष्ट भाव—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस संवादमें जो तत्त्व भरा हुआ है, वह किसी ग्रन्थ, महात्मा आदिसे सुननेको नहीं मिला। यह भगवान् और उनके भक्तका बड़ा विलक्षण संवाद है। इतनी स्पष्ट बातें और जगह पढ़ने-सुननेको मिलती नहीं। इस संवादमें युद्ध-जैसे घोर कर्मसे भी कल्याण होनेकी बात कही गयी है। हरेक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य हरेक परिस्थितिमें अपना कल्याण कर सकता है—यह बात इस संवादसे मिलती है। इसलिये यह संवाद बड़ा अद्भुत है—'**संवादमिममद्भुतम्**'। केवल संवादमें ही इतनी विलक्षणता है, फिर इसके अनुसार आचरण करनेका तो कहना ही क्या है!

भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी बड़ी विचित्र है[2], उसमें भी भगवान्ने योगमें स्थित होकर गीता कही है[3], फिर इसकी विचित्रता-विलक्षणताका तो कहना ही क्या है! भगवान्के द्वारा कौरव-सभामें होनेवाले राजनीतिक व्याख्यानमें भी इतनी

१-आजकल मनुष्योंमें पारमार्थिक बातोंको जाननेकी जो विशेष व्याकुलता नहीं दिखायी देती, उसका कारण है कि वे धन, कुटुम्ब, मान, बड़ाई, वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, भोग, ऐश्वर्य आदि क्षणिक सुखोंको लेकर संतोष करते रहते हैं। इससे उनकी (वास्तविकताको जाननेकी) व्याकुलता दब जाती है।

२-वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम्। अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम्॥

(महाभारत, उद्योग० ५९। १७)

'(संजय बोले—) तत्पश्चात् मैंने बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी सुनी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको आकर्षित कर लेनेवाली थी।'

३-न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः। परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया॥

(महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

'(भगवान् बोले—) वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है। उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

विलक्षणता थी कि ऋषि-मुनि उसको सुननेके लिये जाते हैं*, फिर यह (गीता) तो पारमार्थिक संवाद है! श्रीमद्भागवतमें भी जब उद्धवजीने देखा कि भगवान् प्रश्नोंका उत्तर बड़ी विलक्षण रीतिसे देते हैं, तब उन्होंने एक साथ पैंतीस प्रश्न कर दिये (श्रीमद्भा० ग्यारहवाँ स्कन्ध, उन्नीसवाँ अध्याय, अट्ठाईसवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक)!

'**हृष्यामि च मुहुर्मुहुः**'—कर्म-ज्ञान-भक्तिकी ऐसी विलक्षण बातें और जगह सुननेको मिली ही नहीं, इसलिये इनको सुनकर संजय बार-बार हर्षित होते हैं।

संजय भगवान्‌को जाननेवाले थे। धृतराष्ट्रके द्वारा इसका कारण पूछे जानेपर संजयने उनको बताया था—

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्॥

(महाभारत, उद्योग० ६९। ५)

'महाराज! आपका कल्याण हो। मैं कभी माया (छल-कपट)-का सेवन नहीं करता। व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) धर्मका आचरण नहीं करता। भगवान्‌की भक्तिसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्रके वचनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको यथावत् जानता हूँ।'

इस प्रकार पहले तो संजय शास्त्रके वचनोंसे भगवान्‌को जानते थे, पर अब वे साक्षात् भगवान्‌के वचनोंसे उनको जान गये!

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

राजन्	= हे राजन्!	**रूपम्**	= विराट्‌रूपको	**विस्मयः**	= आश्चर्य (हो रहा है)
हरेः	= भगवान् श्रीकृष्णके	**च**	= भी	**च**	= और (मैं)
तत्	= उस	**संस्मृत्य, संस्मृत्य**	= याद कर-करके	**पुनः, पुनः**	= बार-बार
अति	= अत्यन्त	**मे**	= मुझे	**हृष्यामि**	= हर्षित हो रहा हूँ।
अद्भुतम्	= अद्भुत	**महान्**	= बड़ा भारी		

व्याख्या—'**तच्च संस्मृत्य ...... पुनः पुनः**'—संजयने पीछेके श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादको तो 'अद्भुत' बताया, पर यहाँ भगवान्‌के विराट्‌रूपको 'अत्यन्त अद्भुत' बताते हैं। इसका तात्पर्य है कि संवादको तो अब भी पढ़ सकते हैं, उसपर विचार कर सकते हैं, पर उस विराट्‌रूपके दर्शन अब नहीं हो सकते। अतः वह रूप अत्यन्त अद्भुत है।

ग्यारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें संजयने भगवान्‌को '**महायोगेश्वरः**' कहा था। यहाँ '**विस्मयो मे महान्**' पदोंसे कहते हैं कि ऐसे महायोगेश्वर भगवान्‌के रूपको याद करनेसे महान् विस्मय होगा ही। दूसरी बात, अर्जुनको तो भगवान्‌ने कृपासे द्रवित होकर विश्वरूप दिखाया, पर मेरेको तो व्यासजीकी कृपासे देखनेको मिल गया!

यद्यपि भगवान्‌ने रामावतारमें कौसल्या अम्बाको विराट्‌रूप दिखाया और कृष्णावतारमें यशोदा मैयाको तथा कौरव-सभामें दुर्योधन आदिको विराट्‌रूप दिखाया तथापि वह रूप ऐसा अद्भुत नहीं था कि जिसकी दाढ़ोंमें बड़े-बड़े योद्धालोग फँसे हुए हैं और दोनों सेनाओंका महान् संहार हो रहा है। इस प्रकारके अत्यन्त अद्भुत रूपको याद करके संजय कहते हैं कि राजन्! यह सब तो व्यासजी महाराजकी

---

* **धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव॥ त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परन्तप।**

(महाभारत, उद्योग० ८३। ६८-६९)

'(परशुरामजी बोले—) शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं।'

कृपासे ही मेरेको देखनेको मिला है। नहीं तो ऐसा रूप मेरे-जैसेको कहाँ देखनेको मिलता?

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने अपना विराट्‌रूप सीमित दिखाया था। अगर अर्जुन न घबराते तो भगवान् और भी रूप दिखाते। पर उतनेसे ही संजय बड़ा आश्चर्य कर रहे हैं।

भगवान्‌के विषयमें पहले तो संजयने शास्त्रमें पढ़ा, फिर अद्भुत संवाद सुना और फिर अति अद्भुत विराट्‌रूप देखा। तात्पर्य है कि शास्त्रकी अपेक्षा श्रीकृष्णार्जुन-संवाद अद्भुत था और संवादकी अपेक्षा भी विराट्‌रूप अद्भुत था। इसलिये संजयने संवादको अद्भुत कहा—**'संवादमिममद्भुतम्'** (१८। ७६) और विराट्‌रूपको अत्यन्त अद्भुत कहा—**'रूपमत्यद्भुतम्'**।

सम्बन्ध—गीताके आरम्भमें धृतराष्ट्रका गूढ़ाभिसन्धिरूप प्रश्न था कि युद्धका परिणाम क्या होगा? अर्थात् मेरे पुत्रोंकी विजय होगी या पाण्डुपुत्रोंकी? आगेके श्लोकमें संजय धृतराष्ट्रके उसी प्रश्नका उत्तर देते हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

यत्र	= जहाँ	**धनुर्धरः**	= गाण्डीव-धनुषधारी	**भूतिः**	= विभूति (और)
योगेश्वरः	= योगेश्वर	**पार्थः**	= अर्जुन हैं,	**ध्रुवा**	= अचल
कृष्णः	= भगवान् श्रीकृष्ण हैं (और)	**तत्र**	= वहाँ ही	**नीतिः**	= नीति है—
		श्रीः	= श्री,	**मम**	= (ऐसा) मेरा
यत्र	= जहाँ	**विजयः**	= विजय,	**मतिः**	= मत है।

व्याख्या—**'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः'**— संजय कहते हैं कि राजन्! जहाँ अर्जुनका संरक्षण करनेवाले, उनको सम्मति देनेवाले, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर, महान् बलशाली, महान् ऐश्वर्यवान्, महान् विद्यावान्, महान् चतुर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाले, भगवान्‌के प्रिय सखा तथा भक्त गाण्डीव-धनुर्धारी अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय, विभूति और अचल नीति—ये सभी हैं और मेरी सम्मति भी उधर ही है।

भगवान्‌ने जब अर्जुनको दिव्य दृष्टि दी, उस समय संजयने भगवान्‌को **'महायोगेश्वरः'*** कहा था, अब उसी महायोगेश्वरकी याद दिलाते हुए यहाँ **'योगेश्वरः'** कहते हैं। वे सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर (मालिक) भगवान् कृष्ण तो प्रेरक हैं और उनकी आज्ञाका पालन करनेवाले धनुर्धारी अर्जुन प्रेर्य हैं।

गीतामें भगवान्‌के लिये 'महायोगेश्वर', 'योगेश्वर' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इनका तात्पर्य है कि भगवान् सब योगियोंको सिखानेवाले हैं। भगवान्‌को खुद सीखना नहीं पड़ता; क्योंकि उनका योग स्वतःसिद्ध है। सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य आदि जितने भी वैभवशाली गुण हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌में स्वतः रहते हैं, वे गुण भगवान्‌में नित्य रहते हैं, असीम रहते हैं। जैसे पिताका पिता, फिर पिताका पिता—यह परम्परा अन्तमें जाकर परम-पिता परमात्मामें समाप्त होती है, ऐसे ही जितने भी गुण हैं, उन सबकी समाप्ति परमात्मामें ही होती है।

पहले अध्यायमें जब युद्धकी घोषणाका प्रसंग आया, तब कौरवपक्षमें सबसे पहले भीष्मजीने शंख बजाया। भीष्मजी कौरवसेनाके अधिपति थे, इसलिये उनका शंख बजाना उचित ही था। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो पाण्डव-सेनामें सारथि बने हुए हैं और सबसे पहले शंख बजाकर युद्धकी घोषणा करते हैं! लौकिक दृष्टिसे देखा जाय तो सबसे पहले शंख बजानेका भगवान्‌का कोई अधिकार नहीं दीखता। फिर भी वे शंख बजाते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि पाण्डव-सेनामें सबसे मुख्य भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं और दूसरे नम्बरमें अर्जुन हैं। इसलिये इन दोनोंने पाण्डव-सेनामें सबसे पहले शंख बजाये। तात्पर्य यह हुआ कि संजयने जैसे आरम्भमें (शंखवादनक्रियामें) दोनोंकी मुख्यता प्रकट की, ऐसे ही यहाँ अन्तमें भी इन दोनोंका नाम लेकर

*** योगीश्वर अर्थात् योगियोंके ईश्वर होना तो सरल बात है पर योगेश्वर अर्थात् सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर होना आखिरी हद है—'सा काष्ठा सा परा गतिः।'**

दोनोंकी मुख्यता प्रकट करते हैं।

गीताभरमें '**पार्थ**' सम्बोधनकी अड़तीस बार आवृत्ति हुई है। अर्जुनके लिये इतनी संख्यामें और कोई सम्बोधन नहीं आया है। इससे मालूम होता है कि भगवान्‌को '**पार्थ**' सम्बोधन ज्यादा प्रिय लगता है। इसी रीतिसे अर्जुनको भी '**कृष्ण**' सम्बोधन ज्यादा प्रिय लगता है। इसलिये गीतामें '**कृष्ण**' सम्बोधनकी आवृत्ति नौ बार हुई है। भगवान्‌के सम्बोधनोंमें इतनी संख्यामें दूसरे किसी भी सम्बोधनकी आवृत्ति नहीं हुई है। अन्तमें गीताका उपसंहार करते हुए संजयने भी '**कृष्ण**' और '**पार्थ**' ये दोनों नाम लिये हैं।

'**तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम**'—लक्ष्मी, शोभा, सम्पत्ति—ये सब '**श्री**' शब्दके अन्तर्गत हैं। जहाँ श्रीपति भगवान् कृष्ण हैं, वहाँ श्री रहेगी ही।

'**विजय**' नाम अर्जुनका भी है और शूरवीरता आदिका भी। जहाँ विजयरूप अर्जुन होंगे, वहाँ शूरवीरता, उत्साह आदि क्षात्र-ऐश्वर्य रहेंगे ही।

ऐसे ही जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण होंगे, वहाँ '**विभूति**'—ऐश्वर्य, महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्य आदि सब-के-सब भगवद्‌गुण रहेंगे ही; और जहाँ धर्मात्मा अर्जुन होंगे, वहाँ '**ध्रुवा नीति**'—अटल नीति, न्याय, धर्म आदि रहेंगे ही।

वास्तवमें श्री, विजय, विभूति और ध्रुवा नीति—ये सब गुण भगवान्‌में और अर्जुनमें हरदम विद्यमान रहते हैं। उपर्युक्त दो विभाग तो मुख्यताको लेकर किये गये हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन—ये दोनों जहाँ रहेंगे, वहाँ अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य, अनन्त सौशील्य, अनन्त सौजन्य, अनन्त सौन्दर्य आदि दिव्य गुण रहेंगे ही।

धृतराष्ट्रका विजयकी गूढ़ाभिसन्धिरूप जो प्रश्न है, उसका उत्तर संजय यहाँ सम्यक् रीतिसे दे रहे हैं। तात्पर्य है कि पाण्डुपुत्रोंकी विजय निश्चित है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

ज्ञानयज्ञः सुसम्पन्नः प्रीतये पार्थसारथेः।
अंगीकरोतु तत्सर्वं मुकुन्दो भक्तवत्सलः॥
नेत्रवेदखयुग्मे हि बहुधान्ये च वत्सरे*।
संजीवनी मुमुक्षूणां माधवे पूर्णतामियात्॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्‌गीतोपनिषद्‌रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'मोक्षसन्न्यासयोग' नामक अठारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १८॥

जिसमें मोक्षका भी संन्यास अर्थात् त्याग हो जाता है, ऐसी भगवद्भक्तिका वर्णन मुख्य होनेके कारण इस अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' रखा गया है।

अठारहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथाष्टादशोऽध्यायः**' के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके आठ, श्लोकोंके नौ सौ नवासी और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग एक हजार तेरह है।

(२) इस अध्यायमें '**अथाष्टादशोऽध्यायः**' के सात, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके पचीस, श्लोकोंके दो हजार चार सौ छियानबे और पुष्पिकाके अड़तालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग दो हजार पाँच सौ छिहत्तर है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें चार उवाच हैं—दो '**अर्जुन उवाच**', एक '**श्रीभगवानुवाच**' और एक '**संजय उवाच**'।

अठारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके अठहत्तर श्लोकोंमेंसे बारहवें, छियालीसवें और बावनवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; तेईसवें, बत्तीसवें, सैंतीसवें, इकतालीसवें, पैंतालीसवें, छप्पनवें और सत्तरवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; तैंतीसवें, छत्तीसवें, सैंतालीसवें और पचहत्तरवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; तेरहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; छब्बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; अड़तीसवें और चौंसठवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; उनचासवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; और तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उनसठ श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

* विक्रमसंवत्सरे २०४२ (दो हजार बयालीस)।

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।

हरि–हिय–कमल–विहारिणि सुन्दर सुपुनीते॥ जय० ॥

कर्म–सुमर्म–प्रकाशिनि कामासक्तिहरा।

तत्त्वज्ञान–विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा॥ जय० ॥

निश्चल–भक्ति–विधायिनि निर्मल मलहारी।

शरण–रहस्य–प्रदायिनि सब विधि सुखकारी॥ जय० ॥

राग–द्वेष–विदारिणि कारिणि मोद सदा।

भव–भय–हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा॥ जय० ॥

आसुर–भाव–विनाशिनि नाशिनि तम–रजनी।

दैवी सद्गुणदायिनि हरि–रसिका सजनी॥ जय० ॥

समता, त्याग सिखावनि हरि–मुख की बानी।

सकल शास्त्रकी स्वामिनि श्रुतियोंकी रानी॥ जय० ॥

दया–सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।

हरि–पद–प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥ जय० ॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम: ॥

साधक-संजीवनी-कोश

विषयानुक्रमणिका

(अध्याय एवं श्लोकके अनुसार देखें)

ख

ग

ब

ह

साधक-संजीवनीमें आयी

गीता-सम्बन्धी मुख्य बातें

१. गीतामें भक्तिकी विशेषता—न. नि.; १८। ५५ वि.
२. गीतामें आये विलक्षण श्लोक—न.नि.
३. गीताका बिना पुस्तक उलटा पाठ करनेसे शान्ति—प्रा.
४. गीतामें करणसापेक्ष शैलीवाले श्लोक—प्रा.
५. गीतामें ज्ञानयोगसे परमात्मप्राप्ति होनेकी बात—२।१५
६. गीतामें 'तस्मात्' पदका प्रयोग—२। १८ टि.
७. गीतामें कर्मयोगसे परमात्मप्राप्ति होनेकी बात—२।७१
८. गीतामें भगवान्‌के अज, अव्यय और ईश्वर—इन तीनों रूपोंको जानने और न जाननेकी बात—४। ६ टि.
९. गीतामें मुख्य निवृत्तिपरक श्लोक—४। २१
१०. गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका मुख्य श्लोक—४। २३
११. गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे सम्पूर्ण पापोंका नाश बतानेवाले श्लोक—४। २३ परि.; ७। १९; १६। ५
१२. गीतामें कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्मप्राप्ति बतानेवाले श्लोक—५। ५ परि.
१३. गीतामें सभी साधनोंकी कसौटी बतानेवाला श्लोक—६। २२
१४. गीतामें ध्यानयोगसे परमात्मप्राप्ति होनेकी बात—६। २८
१५. गीतामें 'महात्मा' शब्दका प्रयोग—७। १९ परि., टि; ८। १५
१६. गीतामें केवल भक्तके लिये प्रयुक्त शब्द—७। १९ परि., टि.
१७. गीतामें सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारकी उपासनाका वर्णन—७। ३० टि.
१८. गीतामें परमात्माके विषयमें आये भिन्न-भिन्न वचनोंका तात्पर्य—८। ४ वि.
१९. गीताके एक ही श्लोकमें सबसे अधिक (पाँच) सम्बोधन—१०। १५
२०. गीतामें एक निश्चयकी महिमा—१०। ३६
२१. गीतामें आयी कुल विभूतियोंकी गणना—१०। ४० परि.
२२. गीतामें 'माम्' पदका प्रयोग—१०। ४० परि.
२३. गीतामें भगवान्‌द्वारा कथित सबसे लम्बा (तिहत्तर श्लोकोंका) प्रकरण—१२। २ से १४। २० तक
२४. गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगमें निर्मम-निरहंकार होनेकी बात—२। ७१; ७। ५; १२। १३ और १८। ५३
२५. गीतामें एक ही परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन—१३। १२ परि.
२६. गीतामें विभूति-वर्णन—१५। १५ वि.
२७. गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (प्रकृति, जीव और परमात्मा)-का एक साथ वर्णन—१५। १६ टि.
२८. गीतामें क्षर (जगत्), अक्षर (जीव) और पुरुषोत्तम (परमात्मा)-का तीनों लिंगोंमें वर्णन—१५। १६ टि.; ७। १९ परि.
२९. गीतामें दैवी-सम्पत्तिका वर्णन—१६। ६
३०. गीतामें 'सत्त्व-रज-तम' के वर्णनमें व्यतिक्रम—१८। ७—९
३१. गीतामें कई रीतियोंसे प्रकृतिद्वारा होनेवाली क्रियाओंका वर्णन—१८। १४ टि.
३२. गीतामें तीनों योगोंमें भगवत्प्रेम—१८। १५ वि.
३३. गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका ईश्वरत्व—१८। ६२
३४. गीतामें आये भक्तिपरक श्लोक—१८। ६३ टि.
३५. गीताके तीसरे अध्यायमें कर्तव्य-पालनकी आवश्यकता बतानेवाले श्लोक—१८। ६६ टि.
३६. गीतामें अनन्यभक्तिकी महिमा—१८। ६६
३७. गीतामें भगवान्‌के लिये तीन बार 'अच्युत' सम्बोधन देनेका अभिप्राय—१८। ७३

साधक-संजीवनीमें आयी
व्याकरण-सम्बन्धी बातें

'साधक-संजीवनी' में मूल गीताके पाठभेद—

१. '**यन्मनोऽनुविधीयते**' (२।६७)—अन्य गीतापाठमें '**यन्मनोऽनु विधीयते**' ऐसा पाठ मिलता है।
२. '**प्रतिजानीहि**' (९।३१)—अन्य गीतापाठमें '**प्रति जानीहि**' ऐसा पाठ मिलता है।
३. '**शठोऽनैष्कृतिकः**' (१८।२८)—अन्य गीतापाठमें '**शठो नैष्कृतिकः**' ऐसा पाठ मिलता है।
४. '**य इदं परमम्**' (१८।६८)—अन्य गीतापाठमें '**य इमं परमम्**' ऐसा पाठ मिलता है।

साधक-संजीवनीमें आयी
कहानियाँ

१. त्वष्टाद्वारा इन्द्रका वध करनेके लिये यज्ञ करना—२। ४० टि.
२. ब्रह्माजीके द्वारा तीन 'द' (दमन, दान, दया)-का उपदेश (बृहदारण्यकोपनिषद्)—३। १४
३. वर्षा न होनेपर किसान-बालकोंका हल चलाना और परिणामस्वरूप वर्षा होना—३। १४
४. फजीती और बदमाश—३। ३९ वि.
५. प्रज्ञाचक्षु सन्तका मन्दिर जाना—६। ४४
६. ध्रुवकी कथा—७। १६
७. एक वैरागी बाबाद्वारा सोनेकी मूर्ति बेचना—७। १९
८. संतको चोर समझकर लाठी मारना—७। १९
९. एक साधु और गोपियोंमें वार्ता—७। १९
१०. चौरासीका चक्कर (द्वार आनेपर सिरपर खुजली आना)—९। ३
११. नामदेवजीका घी लेकर कुत्तेके पीछे भागना—९। २४ टि.
१२. नामदेवजीके द्वारा प्रेतका उद्धार—९। २५ टि.
१३. कर्णपिशाचिनीकी उपासनासे दुर्गति—९। २५ वि.
१४. भावपूर्वक लगाये हुए भोगको भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं—९। २६ वि.
१५. सत्यकामका गुरुके आज्ञापालनसे कल्याण—१३। २५ परि.
१६. भगवान्‌द्वारा यक्षरूपसे इन्द्रका अभिमान दूर करना—१५। १२ परि.
१७. अतिथि-सत्कार करनेसे कपोत-कपोतीका कल्याण (महाभारत)—१६। ६ टि.
१८. धनसे जीवन नहीं चलता—१६। ११
१९. एक सुनारकी कहानी (पापका फल भोगना ही पड़ता है)—१८। १२ टि.
२०. श्यामलाल और रामलालकी कहानी (फौजदारी और दीवानी कोर्ट)—१८। १२ वि.
२१. धर्मका पालन सुख पानेकी इच्छासे नहीं किया जाता—१८। १२ टि.
२२. बनिया और चमार (पाप भगवान्‌के अर्पित नहीं होते)—१८। १२ वि.
२३. वेदव्यासजीके द्वारा कलियुगको, स्त्रियोंको तथा शूद्रोंको श्रेष्ठ बताना—१८। ४४
२४. विभीषणके प्रति भगवान् श्रीरामकी शरणागत-वत्सलता—१८। ६६
२५. माँ इधर क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी?—१८। ६६ टि.
२६. वृक्षकी महिमा है या लता की? इसका हनुमान्‌जी द्वारा उत्तर—१८। ६६ वि.
२७. एक प्रज्ञाचक्षु सन्तकी घटना—१८। ६६ वि.
२८. बकरीद्वारा सिंहकी शरण लेना—१८। ६६ वि.
२९. कुलटा स्त्री और मौलवी—१८। ६६ वि.
३०. भगवान्‌का 'फनन्य' भक्त—१८। ६६ वि.
३१. एक अनभिज्ञ बालकका व्याख्यान—१८। ७०
३२. गीता पासमें रखनेसे चुड़ैलसे छुटकारा—१८। ७१

उद्धृत
श्लोकानुक्रमणिका

द

ध

न

स

ह

हिन्दी पद्यानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

पारिभाषिक शब्दावली
(साधक-संजीवनीके अनुसार)

अक्षौहिणी सेना—एक अक्षौहिणी सेनामें २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, ६५,६१० घोड़े और १,०९,३५० पैदल सैनिक होते हैं। (१। ३ टि.)

अन्न—प्राणोंको धारण करनेके लिये जो खाया जाता है, वह 'अन्न' कहलाता है। (३। १४)

अभिमान—अहंतावाली चीजोंको लेकर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव होना। (१६। ४)

अमर्ष—किसीके उत्कर्ष (उन्नति)-को सहन न करना। (१२।१५)

अर्पण—आदरपूर्वक देना और उसीकी वस्तु उसीको देना 'अर्पण' कहलाता है। (९।२७ परि.)

असुर—जो प्राणोंको बनाये रखना चाहते हैं, प्राणोंमें ही जिनकी रति है, ऐसे प्राणपोषणपरायण लोग—**'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः।'** (१६।५)

अहंकृति—शरीरके साथ तादात्म्य माननेसे शरीरकी क्रियाको लेकर 'मैं करता हूँ'—ऐसा भाव उत्पन्न होना 'अहंकृति' है। (१८। १७)

अहंस्फूर्ति—गाढ़ नींदसे उठते ही सबसे पहले मनुष्यको अपने होनेपन (सत्तामात्र)-का भान होता है, इसको 'अहंस्फूर्ति' कहते हैं। (१८। १७)

अहिंसा—(१) मन, वाणी और शरीरसे कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न देना। (१३। ७)
(२) शरीर, मन, वाणी, भाव आदिके द्वारा किसीका भी किसी प्रकारसे अनिष्ट न करनेको तथा अनिष्ट न चाहना। (१६। २)

आततायी—आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार हुआ, धनको हरनेवाला, जमीन (राज्य) छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छः आततायी कहलाते हैं। (१।३६)

आधि और व्याधि—मनकी चिन्ता 'आधि' (मानसिक रोग) है और शरीरका रोग 'व्याधि' (शारीरिक रोग) है। आधि भी दो तरहकी होती है—१. पागलपन और २. चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि। (७। १६ टि.; १८। १२)

आर्जव—शरीर, वाणी आदिके व्यवहारमें सरलता हो और

मनमें छल, कपट, छिपाव आदि दुर्भाव न हों अर्थात् सीधा-सादापन हो, उसका नाम 'आर्जव' है। (१८। ४२)

आसक्ति—अपने स्वरूपसे विजातीय (जड़) पदार्थोंके प्रति आकर्षण। (३। १९)

ईश्वर—'ईश्वर' शब्द सगुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—शासन करनेवाला। (१५। १७)

उदासीन—उत्+आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ, पक्षपातसे रहित। (१२। १६)

उद्वेग—मनका एकरूप न रहकर हलचलयुक्त हो जाना। (१२। १५)

ऋषि—'ऋष्' धातुका अर्थ है—ज्ञान। उस ज्ञान (विवेक)-को महत्त्व देनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं। (५। २५)

करण—पाणि, पाद, वाक्, उपस्थ और पायु—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये दस 'बहि:करण' हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन 'अन्त:करण' हैं। (१८। १४)

कर्तव्य—(१) कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसको कर सकते हैं और जिसको अवश्य करना चाहिये। (३। १९)

(२) केवल दूसरोंके हितके लिये किया जानेवाला कर्म ही कर्तव्य होता है। जो कर्म अपने लिये किया जाता है, वह कर्तव्य नहीं होता, प्रत्युत कर्ममात्र होता है। (४। ३१)

काम—(१) वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख चाहनेका नाम 'काम' है। (३। ३७ परि.)

(२) नाशवान् संसारमें थोड़ी भी महत्त्वबुद्धिका होना 'काम' है। (३। ३९)

कामना—अप्राप्तको प्राप्त करनेकी चाह 'कामना' है। अन्त:करणमें जो अनेक सूक्ष्म कामनाएँ दबी रहती हैं, उनको **'वासना'** कहते हैं। वस्तुओंकी आवश्यकता प्रतीत होना **'स्पृहा'** है। वस्तुमें उत्तमता और प्रियता दीखना **'आसक्ति'** है। वस्तु मिलनेकी सम्भावना रखना **'आशा'** है और अधिक वस्तु मिल जाय—यह **'लोभ'** या **'तृष्णा'** है। वस्तुकी इच्छा अधिक बढ़नेपर **'याचना'** होती है। ये सभी **'काम'** के ही रूप हैं। (३। ३९)

कारक पुरुष—जो महापुरुष भगवान्को प्राप्त हो चुके हैं और भगवद्धाममें विराजते हैं, वे 'कारक पुरुष' कहलाते हैं। (४। ८ टि.)

कूटस्थ—जो कूट (अहरन)-की तरह स्थित रहता है—**'कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थ:।'** (६। ८)

क्षण—कमलके पत्तेपर सूई मारी जाय तो सूईके दूसरी तरफ निकलनेमें तीन क्षण लगते हैं—पहले क्षणमें स्पर्श, दूसरे क्षणमें छेदन और तीसरे क्षणमें पार निकलना (१५। १ टि.)

क्षमा—बिना कारण अपराध करनेवालेको दण्ड देनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी उसके अपराध सह लेना और उसको माफ कर देना। (१६। ३)

गति—इसके तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। (७। १८ परि.)

चेतन और जड़—जो अपनेको तथा दूसरेको भी जाने, वह 'चेतन' है और जो अपनेको तथा दूसरेको भी नहीं जाने, वह 'जड़' है। (७। २० टि.)

जगत्—जो परिवर्तनशील है, उसको जगत् कहते हैं—**'गच्छतीति जगत्।'** (७। ६)

जाति—'जाति' शब्द **'जनि प्रादुर्भावे'** धातुसे बनता है, जो जन्मसे जातिको सिद्ध करता है। कर्मसे तो 'कृति' शब्द होता है, जो **'डुकृञ् करणे'** धातुसे बनता है। हाँ, जातिकी पूर्ण रक्षा उसके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे ही होती है। (४। १४ परि.)

तप— भूख-प्यास, सरदी-गरमी, वर्षा आदि सहना भी एक तप है, पर इस तपमें भूख-प्यास आदिको जानकर सहते हैं। वास्तवमें साधन करते हुए अथवा जीवन-निर्वाह करते हुए देश, काल, परिस्थिति आदिको लेकर जो कष्ट, आफत, विघ्न आदि आते हैं, उनको प्रसन्नतापूर्वक सहना 'तप' है। (१६। १)

दम— (१) इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना। (४। ३३)

(२) जिस इन्द्रियसे जब जो काम करना चाहें, तब वह काम कर लें और जिस इन्द्रियको जब जहाँसे हटाना चाहें, तब वहाँसे हटा लें—इस प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करना 'दम' है। (१८। ४२)

दम्भ—मान, बड़ाई, पूजा, ख्याति आदि प्राप्त करनेके लिये, अपनी वैसी स्थिति न होनेपर भी वैसी स्थिति दिखानेका नाम 'दम्भ' है। (१६। ४)

दया—(१) दूसरोंको दु:खी देखकर उनका दु:ख दूर करनेकी भावना। (१६। २)

(२) भक्तलोग भगवान्की दयाके दो भेद मानते हैं—कृपा और दया। मात्र मनुष्योंको पापोंसे शुद्ध करनेके लिये उनके मनके विरुद्ध (प्रतिकूल) परिस्थितिको भेजना 'कृपा' है और अनुकूल परिस्थितिको भेजना 'दया' है। (१६। २)

दर्प (घमण्ड)—धन-वैभव, जमीन-जायदाद, मकान-परिवार आदि ममतावाली चीजोंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव होना। (१६। ४)

दान—लोकदृष्टिमें जिन वस्तुओंको अपना माना जाता है, उन

वस्तुओंको सत्पात्रका तथा देश, काल, परिस्थिति आदिका विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार दूसरोंको वितीर्ण कर देना। (१६। १)

द्वन्द्व— एक ही विषयमें, एक ही वस्तुमें दो भाव कर लेना। (२। ४५ टि.)

धर्म— (१) 'धर्म' नाम दो बातोंका है—(क) दान करना, प्याऊ लगाना, अन्नक्षेत्र खोलना आदि परोपकारके कार्य करना और (ख) वर्ण-आश्रमके अनुसार शास्त्रविहित अपने कर्तव्य-कर्मका तत्परतासे पालन करना। (२। ४०)

(२) धर्म कहो चाहे कर्तव्य कहो, एक ही बात है। (२। ३९ परि.)

धृति (धैर्य)—(१) किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिमें विचलित न होकर अपनी स्थितिमें कायम रहनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है। (१६। ३)

(२) बुद्धिके निश्चयको, विचारको दृढ़तासे ठीक तरह रखनेवाली और अपने लक्ष्यसे विचलित न होने देनेवाली धारण-शक्तिका नाम 'धृति' है। (१८। २९)

(३) अपनी मान्यता, सिद्धान्त, लक्ष्य, भाव, क्रिया, वृत्ति, विचार आदिको दृढ़, अटल रखनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है। (१८। ३३)

नैष्कर्म्य—जिस स्थितिमें मनुष्यके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते, उस स्थितिको 'निष्कर्मता' कहते हैं। (३। ४)

पण्डित—सत्-असत्-विवेकवती बुद्धिका नाम 'पण्डा' है। वह 'पण्डा' जिनकी विकसित हो गयी है, वे 'पण्डित' हैं। (२। ११)

परमात्मा—'परमात्मा' शब्द निर्गुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—परम (श्रेष्ठ) आत्मा अथवा सम्पूर्ण जीवोंकी आत्मा। (१५। १७)

परलोक—मरनेके बाद जो जन्म होता है, वह चाहे मृत्युलोकमें हो, चाहे किसी अन्य लोकमें हो, चाहे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि किसी योनिविशेषमें हो, वह सब 'परलोक' ही है। (१६। ८ टि.)

परिग्रह—ममता-आसक्तिपूर्वक अपने सुखभोग और आरामके लिये धनादि पदार्थोंका संग्रह करना। (४। ५)

पिशुनता (चुगली)—किसीके दोषको दूसरेके आगे प्रकट करके दूसरोंमें उसके प्रति दुर्भाव पैदा करना। (१६। २)

प्रकृति—जिसमें अच्छी रीतिसे क्रियाशीलता हो, उसको 'प्रकृति' कहते हैं—'**प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः।**' (१८। ११)

प्रमाद— (१) करनेलायक कामको न करना और न करनेलायक कामको करना। (१४। ७)

(२) बीड़ी-सिगरेट, ताश-चौपड़, खेल-तमाशे आदि कार्योंमें लगना। (१४। १३)

भय— इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशंकासे होनेवाले विकारको 'भय' कहते हैं। (१२। १५)

भूत-प्रेत—जो भूतयोनिमें चले गये हैं, उन्हें 'भूत' कहते हैं और जो मर गये हैं, उन्हें 'प्रेत' कहते हैं। (१७। ४)

भोग— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय, शरीरका आराम, मान और नामकी बड़ाई—इन (आठों)-के द्वारा सुख लेनेका नाम 'भोग' है। (२। ४४)

मद— हमारे पास इतनी विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि है—इस बातको लेकर नशा-सा आ जाना 'मद' है। (१६। १०)

महात्मा—महान् आत्मा अर्थात् अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयतासे सर्वथा रहित आत्मा। (७। १९ परि.)

महारथी—जो शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनोंमें प्रवीण है और युद्धमें अकेले ही एक साथ दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंका संचालन कर सकता है, वह वीर पुरुष 'महारथी' कहलाता है। (१। ६)

मान-बड़ाई—शरीरका आदर-सत्कार होनेसे जो सुख होता है, वह 'मान' का सुख है। नामकी प्रशंसा, वाह-वाह होनेसे जो सुख होता है, वह 'बड़ाई' का सुख है। (१८। १२)

मार्दव—बिना कारण दुःख देनेवालों और वैर रखनेवालोंके प्रति भी अन्तःकरणमें कठोरताका भाव न होना तथा स्वाभाविक कोमलताका रहना। (१६। २)

मोह—शरीरमें अहंता और ममता करना तथा शरीर-सम्बन्धी माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्र, वस्तु, पदार्थ आदिमें ममता करना 'मोह' है। (२। ५२)

यक्ष-राक्षस—'यक्ष' में धन-संग्रहकी मुख्यता और 'राक्षस' में दूसरोंका नाश करनेकी मुख्यता होती है। (१७। ४)

यज्ञ— (१) गीताके अनुसार कर्तव्यमात्रका नाम 'यज्ञ' है। (३। ९)

(२) निष्कामभावपूर्वक किये जानेवाले लौकिक और शास्त्रीय सभी विहित कर्मोंका नाम 'यज्ञ' है। (३। १४)

यज्ञशेष—यज्ञकी सिद्धिके बाद स्वतः अवशिष्ट रहनेवाला 'योग' अपने लिये होता है। यह योग (समता) ही यज्ञशेष है। (३। १३)

यज्ञार्थ कर्म—दूसरोंको सुख पहुँचाने तथा उनका हित करनेके लिये जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी यज्ञार्थ कर्म हैं। (३। ९)

यत्न— भीतरकी लगन, जिसे पूर्ण किये बिना चैनसे न रहा जाय, 'यत्न' कहलाती है। (१५। ११)

योग—(१)—१. '**युजिर् योगे**'—समरूप परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्ध, २. '**युज् समाधौ**'—चित्तकी स्थिरता अर्थात् समाधिमें स्थिति, और ३. '**युज् संयमने**'—संयमन, सामर्थ्य, प्रभाव। (प्रा.)
(२) जीवका भगवान्‌के साथ जो नित्य-सम्बन्ध है, उसका नाम 'योग' है। (१८। ७५)

योगक्षेम—(१) अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। (२। ४५ टि.; ९। २२)
(२) 'योग' नाम भगवान्‌के साथ सम्बन्धका है और 'क्षेम' नाम जीवके कल्याणका है। (९। २२)

राग— संसारके पदार्थोंका मनपर जो रंग चढ़ जाता है, उसको राग कहते हैं। (२। ५६)

लज्जा—शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम करनेमें संकोच होना। (१६। २)

लोक—(१) इसके तीन अर्थ होते हैं—१. मनुष्यलोक आदि लोक, २. उन लोकोंको रहनेवाले प्राणी, और ३. शास्त्र (वेदोंके अतिरिक्त सब शास्त्र)। (३। २०)
(२) जिनके साथ जीवकी तात्त्विक एकता अथवा स्वरूपकी एकता नहीं है, ऐसे प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमात्रका नाम 'लोक' है। (१५। ७)

वर्णसंकर—पुरुष और स्त्री—दोनों अलग-अलग वर्णके होनेपर उनसे जो सन्तान पैदा होती है, वह 'वर्णसंकर' कहलाती है। [परस्परविरुद्ध धर्मोंका मिश्रण होकर जो बनता है, उसको 'संकर' कहते हैं।] (१। ४१)

व्यभिचार—जीव परमात्माका अंश है, इसलिये परमात्माके सिवाय कहीं भी जाना 'व्यभिचार' है और केवल परमात्माकी तरफ चलना 'अव्यभिचार' है। (१८। ३३ परि.)

शम— (१) मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाना। (४। ३३)
(२) मनको जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लग जाय और जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाय—इस प्रकार मनके निग्रहको 'शम' कहते हैं। (१८। ४२)

श्रद्धा—(१) ईश्वर, शास्त्र आदिपर पूज्यभावपूर्वक प्रत्यक्षसे भी अधिक विश्वास करना। (४। ३३)
(२) जिसे हम अपने अनुभवसे नहीं जानते, पर पूर्वके स्वाभाविक संस्कारोंसे, शास्त्रोंसे, सन्त-महात्माओंसे सुनकर पूज्यभावसहित विश्वास कर लेते हैं, उसका नाम 'श्रद्धा' है। (१७। ३ मा.)

सत्य—अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे जैसा सुना, देखा, पढ़ा, समझा और निश्चय किया है, उससे न अधिक और न कम—वैसा-का-वैसा प्रिय शब्दोंमें कह देना। (१६। २)

संकल्प—सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिको लेकर मनमें जो तरह-तरहकी स्फुरणाएँ होती हैं, उन स्फुरणाओंमेंसे जिस स्फुरणामें प्रियता, सुन्दरता और आवश्यकता दीखती है, वह स्फुरणा 'संकल्प' का रूप धारण कर लेती है। (६। २४)

संन्यास—अच्छी तरहसे रखनेका नाम 'संन्यास' है—'**सम्यक् न्यासः संन्यासः।**' तात्पर्य है कि प्रकृतिकी चीज सर्वथा प्रकृतिमें देने (छोड़ देने) और विवेकद्वारा प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेका नाम 'संन्यास' है। (१८। १)

सुहृद् और मित्र—जो माताकी तरह ही, पर ममतारहित होकर बिना किसी कारणके सबका हित चाहनेके और हित करनेके स्वभाववाला होता है, उसको 'सुहृद्' कहते हैं और जो उपकारके बदले उपकार करनेवाला होता है, उसको 'मित्र' कहते हैं। (६। ९)

स्पृहा—(१) शरीरके निर्वाहमात्रके लिये देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिकी जो आवश्यकता दीखती है अर्थात् जीवन-निर्वाहके लिये प्राप्त और अप्राप्त वस्तु आदिकी जो जरूरत दीखती है, उसका नाम 'स्पृहा' है। (२। ७१)
(२) जीवन-धारणमात्रके लिये जिनकी विशेष जरूरत होती है, उन चीजोंकी सूक्ष्म इच्छाका नाम 'स्पृहा' है। (१८। ४९)

स्वाध्याय—अपने ध्येयकी सिद्धिके लिये भगवन्नामका जप और गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदिके पठन-पाठनका नाम 'स्वाध्याय' है। वास्तवमें तो '**स्वस्य अध्यायः (अध्ययनम्) स्वाध्यायः**' के अनुसार अपनी वृत्तियोंका, अपनी स्थितिका ठीक तरहसे अध्ययन करना ही 'स्वाध्याय' है। (१६। १)

स्वाभिमान—दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे 'अभिमान' होता है और अपने कर्तव्यको देखनेसे 'स्वाभिमान' होता है कि मैं साधन-विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ। अभिमान होनेपर तो मनुष्य साधन-विरुद्ध काम कर बैठेगा, पर स्वाभिमान होनेपर उसको साधन-विरुद्ध काम करनेमें लज्जा होगी। (१७। ३ परि.)

संकेत-सूचीः—अव.—अवतरणिका, अ.सा.—अध्यायका सार, टि.—टिप्पणी, दे.—देखें, न.नि.—साधक-संजीवनी परिशिष्टका नम्र निवेदन, परि.—परिशिष्ट, पु.—पुष्पिका, प्रा.—प्राक्कथन, मा.—मार्मिक बात, वि.—विशेष बात, सं.—सम्बन्ध।

॥ श्रीहरि: ॥

श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजी महाराजके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एवं शीघ्र कल्याणकारी पुस्तकें

१-गीता-साधक-संजीवनी (हिन्दी-टीका) बृहदाकार, ग्रन्थाकार, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी एवं बँगला अनुवाद भी
२-साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
३-गीता-दर्पण—(हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती)
४-साधन-सुधा-सिन्धु
५-गीता-ज्ञान-प्रवेशिका
६-गीता-माधुर्य—(संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, तमिल, कन्नड, मराठी, गुजराती, असमिया, उर्दू, नेपाली, बँगला, उड़िया)
७-कल्याण-पथ
८-जित देखूँ तित तू
९-भगवत्प्राप्ति सहज है
१०-सुन्दर समाजका निर्माण
११-मानसमें नाम-वन्दना
१२-जीवनका कर्तव्य
१३-कल्याणकारी प्रवचन—(हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, बँगला)
१४-नित्ययोगकी प्राप्ति
१५-भगवत्प्राप्तिकी सुगमता—(हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड)
१६-भगवान्से अपनापन
१७-वास्तविक सुख
१८-साधन और साध्य
१९-तात्त्विक प्रवचन—(हिन्दी, गुजराती)
२०-तत्त्वज्ञान कैसे हो?
२१-किसान और गाय
२२-जीवनोपयोगी प्रवचन
२३-जीवनका सत्य—(हिन्दी, अंग्रेजी)
२४-अमृत बिन्दु
२५-भगवन्नाम
२६-साधकोंके प्रति
२७-सत्संगकी विलक्षणता
२८-मातृशक्तिका घोर अपमान (तमिल, बँगला)

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थमें इतनी विलक्षणता है कि अपना वास्तविक कल्याण चाहनेवाला किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, सम्प्रदाय, मत आदिका कोई भी मनुष्य क्यों न हो, इस ग्रन्थको पढ़ते ही इसमें आकृष्ट हो जाता है। अगर मनुष्य इस ग्रन्थका थोड़ा-सा भी पठन-पाठन करे तो उसको अपने उद्धारके लिये बहुत ही सन्तोषजनक उपाय मिलते हैं। हरेक दर्शनकेअलग-अलग अधिकारी होते हैं, पर गीताकी यह विलक्षणता है कि अपना उद्धार चाहनेवाले सब-के-सब इसके अधिकारी हैं।

परमश्रद्धेय स्वामीजीने गीताकी यह टीका किसी दार्शनिक विचारकी दृष्टिसे अथवा अपनी विद्वत्ताका प्रदर्शन करनेके लिये नहीं लिखी है, अपितु साधकोंका हित कैसे हो—इसी दृष्टिसे लिखी है। परमशान्तिकी प्राप्ति चाहनेवाले प्रत्येक साधकके लिये, चाहे वह किसी भी देश, वेश, भाषा, मत, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, यह टीका संजीवनी बूटीके समान है। इस टीकाका अध्ययन करनेसे हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मोंके अनुयायियोंको अपने-अपने मतके अनुसार ही उद्धारके उपाय मिल जायँगे। इस टीकामें साधकोंको अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये पूरी सामग्री मिलेगी।

परमशान्तिकी प्राप्तिके इच्छुक सभी भाई-बहनोंसे विनम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ-रत्नको अवश्य ही मनोयोगपूर्वक पढ़ें, समझें और यथासाध्य आचरणमें लानेका प्रयत्न करें।

—प्रकाशक

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

फोन : (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०, २३३३०३०